राधाकृष्ण भक्त-कोश

सं. भगवतीप्रसाद सिंह

1.3

राधाकृष्ण भक्तकोश

चतुर्थ खण्ड

संपादक
भगवती प्रसाद सिंह
निवर्तमान आचार्य तथा अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

सह-संपादक
डॉ० वासुदेव सिंह
प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सत्-शास्त्र प्रकाशन
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान, मथुरा-१
१९८९

प्रकाशक
सत्-शास्त्र प्रकाशन
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान,
मथुरा-१

© प्रकाशक
प्रथम संस्करण : १९८९

मूल्य : चार सौ रुपये

मुद्रक
शिवम् प्रिन्टर्स
सी. २७/२७३, इण्डियन प्रेस कॉलोनी,
मलदहिया, वाराणसी-२

RADHAKRISHNA BHAKTAKOSH

VOLUME FOUR

Editor
BHAGWATI PRASAD SINGH
Professor & Head, Deptt. of Hindi (Retd.)
Gorakhpur University, Gorakhpur

Co-Editor
Dr. BASUDEO SINGH
Professor, Deptt. of Hindi
Kashi Vidyapith, Varanasi

SAT-SHASTRA PRAKASHAN
SHRIKRISHNA-JANMASTHAN SEVA-SANSTHAN
MATHURA-1
1989

Publisher
Sat-Shastra Prakashan
Shri Krishna-Janmasthan Seva-Sansthan
Mathura-1

© Publisher
First Edition : 1989

Price : Rupees Four Hundred

Printed by
Shivam Printers
C. 27/273, Indian Press Colony,
Maldahiya, Varanasi-2

आमुख

राष्ट्र की सत्रह प्रमुख भाषाओं में उपलब्ध कृष्ण-भक्तों के चरित तथा कृतियों का प्रस्तुत कोश के प्रथम तीन खण्डों में परिचयात्मक विवरण देने के पश्चात् शेष दो खण्डों—चतुर्थ तथा पंचम—में हिन्दी भाषी क्षेत्र के कृष्णोपासकों के वृत्त संकलित किये गये हैं। स्वयं भगवान् श्री कृष्ण और उनकी पराशक्ति श्री राधा की अवतार भूमि होने के कारण इस भूभाग तथा इसमें विकसित कृष्णोपासना की अपनी कुछ अलग विशेषताएँ हैं। हिन्दी के विभिन्न क्षेत्रों की विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार श्रीकृष्ण चरित के ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनों पक्ष भक्तों के ध्यान तथा लीलागान के विषय रहे हैं। ब्रजभूमि अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अनुरूप यदि श्रृंगारी अथवा रसिक भक्ति का केन्द्र रही हैं तो अवध तथा राजस्थान मर्यादा-प्रधान दास्य एवं सख्यभाव के पोषक रहे हैं। प्रथम में श्रीकृष्ण की ब्रजलीला को अधिक महत्व दिया गया है तो द्वितीय में मथुरा और द्वारका लीला को। इस प्रकार इस भूभाग में श्रीकृष्ण भक्ति की अनादि काल से प्रचलित तथा पूरे देश में न्यूनाधिक मात्रा में प्रतिष्ठित दोनों प्रवृत्तियां समादृत रही हैं।

एक अन्य बात लक्ष्य करने की यह है कि हिन्दी क्षेत्र में 'रसब्रह्म' के रूप में राधा-कृष्ण की उपासना पराकाष्ठा को प्राप्त हुई। किन्तु इसके साथ ही वात्सल्य तथा सख्यभाव की साधना को भी यहाँ यथोचित सम्मान मिला। इस उर्वर सांस्कृतिक केन्द्र में पहुँचकर ये सभी भाव मात्र व्यष्टि साधना के आलम्बन न रहकर समष्टि अथवा साम्प्रदायिक उपासना के मूलाधार बन गये। गौड़ीय, राधावल्लभीय, हरिदासी, शुक, पुष्टि तथा ललित सम्प्रदाय का उदय इसी का परिणाम था। इनके प्रवर्तक तथा पुरस्कर्ता भक्तों ने उत्तरी भारत के विभिन्न प्रदेशों में घूम-घूमकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इतना ही नहीं इसकी स्थायी व्यवस्था के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर अपनी बैठकें अथवा साम्प्रदायिक केन्द्र स्थापित किये जिससे उनके तिरोधान के बाद भी सम्प्रदाय के आचार्यों तथा साधकों द्वारा अनुगतों को अपेक्षित मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे। मध्यकालीन कृष्ण भक्ति धारा के उन्नायक महापुरुषों द्वारा प्रतिष्ठित ऐसे साम्प्रदायिक प्रकाश-स्तम्भों का पूर्व में बिहार से लेकर पश्चिम में गुजरात तक तथा उत्तर में पंजाब के डेरा गाजी खाँ से लेकर महाराष्ट्र तक एक जालसा बिछा हुआ है। इस प्रकार के विराट् आयोजन आचार्यों द्वारा सम्पन्न चतुर्मुखी यात्राओं अथवा पृथ्वी-परिक्रमा द्वारा संभव हुए थे। इसके माध्यम से इन दूरदर्शी महापुरुषों ने विधर्मी शासन से त्रस्त जनता की वास्तविक स्थिति का अध्ययन किया, अदम्य आस्तिक भावना जागृत कर परिस्थितियों से जूझने के लिए उसे साहस तथा शक्ति प्रदान की और धार्मिक एकता के सूत्र में बाँधने का अभिनंदनीय प्रयास कर किंकर्तव्यविमूढ़ लोकमानस में नई आशा-आकांक्षाओं का संचार किया।

देखते-देखते ऐसे अगणित प्रकाश पुंजों से देश का कोना-कोना आलोकित हो उठा। उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व से उद्भूत आध्यात्मिक जागरण की संतापहारिणी लहरों से निराश जनता के हृदय में उच्चतर जीवनादर्शों की स्थापना में रुचि तथा नैतिक मूल्यों के बल पर परिस्थितियों के बदलने की बलवती इच्छा उत्पन्न हुई। वैष्णव भक्तों ने बिखरी हुई समाज व्यवस्था में, धार्मिक तथा साम्प्रदायिक भावना के माध्यम से, एकसूत्रता स्थापित कर विभिन्न प्रदेशों के अनुयायियों के हृदय में एक दूसरे के प्रति आत्मीयता का भाव जगाया और एकजुट होकर उन्हें सर्वप्रकारेण जातीय संस्कृति की रक्षा के लिए सन्नद्ध किया।

ब्रजकेन्द्रित कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों के देशव्यापी प्रचार से इतर प्रदेशीय भक्तों के हृदय में लीला पुरुषोत्तम की जन्म तथा कर्म भूमि के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ और उसका दर्शन तथा निवास उनके जीवन की साध बन गई। कालान्तर में ब्रजवास तथा उसके रमणीय लीला स्थलों के दर्शन की यह लालसा सुदूर प्रदेशों में कृष्ण भक्ति के प्रचार

और उसके साधनात्मक उत्कर्ष की साधिका बन गई। व्रज के वन-उपवन, कुंड-सरोवर, गिरि-गुफा, कुंज-वीथी, घाट-पुलिन, बस्ती-निर्जन समागत संतों के कथा-प्रवचन-कीर्तनों से गूंजने लगे।

इस नई सांस्कृतिक चेतना ने भक्ति के देशव्यापी प्रसार के साथ ही गृहस्थ तथा विरक्त उपासकों की संख्या-वृद्धि में भी अपूर्व योगदान किया। राजे-महाराजे, शाही खानदान के लोग, उच्चपदस्थ राज कर्मचारी, कवि, कलाविद्, साधु-सन्यासी, व्यापारी, सामन्त, विभिन्न वर्गों, धर्मों, जातियों, आश्रमों तथा सम्प्रदायों के लोग, धार्मिक पुनरुत्थान के इस महाभियान के भागीदार बने। इसके प्रभाव का पता इस बात से चलता है कि अवतारवाद तथा सगुणोपासना के विरोधी निर्गुण मार्गी संत भी श्रीकृष्णलीला के गायक तथा ध्याता बन गये। उनकी तद्विषयक रचनाएँ साम्प्रदायिक कृष्ण भक्तों जैसी ही रसपेशल एवं मर्मस्पर्शी हैं।

इस प्रकार के भाव परिवर्तन का मुख्य कारण था वैष्णव आचार्यों तथा भक्तों का निर्गुण-सगुण विषयक अभेद भाव तथा समन्वयात्मक दृष्टिकोण। इसकी चरम परिणति प्रणामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी प्राणनाथ के उपदेशों में मिलती है। वे भागवत के माध्यम से कुरान की व्याख्या करते थे तथा इस्लामी कलमा 'ला इलाह...' को अपने 'तारतम्य मन्त्र' से अभिन्न मानते थे। इन सारे तत्वों के सम्मिलित प्रभाव से कृष्ण-भक्तों का एक विशाल समुदाय खड़ा हो गया जिसमें समाज के सभी अंगों का प्रतिनिधित्व था। श्री प्रबोधानन्द सरस्वती, आमेर नरेश भगवान दास, ओरछा की महारानी भागमती, अकबर के दरबारी महाराज पृथ्वीराज राठौर, दशनामी काशीगिरि गोसाईं, ताजबीबी, अलीखान पठान, खानखाना अब्दुर्रहीम, कृष्णदास छीपा, भैरूँ लुहार, शिवदास नाई, मौलाराम चित्रकार, शिव बख्श चारण, मावजी, कटहरिया डाकू, संगीत सम्राट् तानसेन, नरहरि महापात्र, नाथूराम दर्जी प्रभृति भक्तों की नामावली नमूने के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं।

इस सन्दर्भ में एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य है जनता के बीच भक्तों के प्रति पूज्य भावना की वृद्धि। कबीर ने गुरु को गोविन्द से बड़ा बताया। तुलसी ने उनसे कुछ आगे बढ़कर 'संत' मात्र को 'अनंत' का प्रतिरूप घोषित कर दिया। इससे मध्यकालीन समाज में भक्तों की अपूर्व लोकप्रियता का पता चलता है।

इसके फलस्वरूप भगवच्चरित तथा भगवन्नाम की भाँति ही संत चरित की रचना, स्मरण तथा गान भक्तिचर्या का एक आवश्यक अंग माना जाने लगा। जीवनी साहित्य की प्रथित साहित्यिक विधा, 'भक्तमाल' परम्पराका प्रवर्तन इसी का प्रतिफल था। इस वैष्णवी गंगा के भगीरथ रामानंदीय संप्रदाय के भक्त नाभादास थे। वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने अपने 'भक्तमाल' में निर्गुण-सगुण दोनों धाराओं के भक्तों को आदरपूर्वक स्थान दिया और 'छप्पय' छंद में उनका संक्षिप्त परिचय आग्रहमुक्त भाव से प्रस्तुत किया। ये तुलसीदास के समकालीन थे। यह संयोग ही कहा जायगा कि उत्तरी भारत के वैष्णव भक्ति साहित्य में 'रामचरित मानस' के बाद 'भक्तमाल' ही सर्वाधिक जनप्रिय रचना सिद्ध हुई। 'मानस' के कथावाचकों की जिस प्रकार 'रामायणी' कह कर अभ्यर्थना की जाती है उसी प्रकार 'भक्तमाल' के व्याख्याता संत-समाज द्वारा 'भक्तमाली' उपाधि से मंडित किये जाते हैं। परवर्ती काल में भक्त चरित वर्णन के लिए इस ग्रंथ को आदर्श मानकर विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों ने अपनी परंपरा के संतों के चरितवर्णन के लिए पृथक्-पृथक् भक्तमालों की रचना की।

कुछ सम्प्रदायों में भक्तचरित-लेखन की अन्य विधाओं का भी प्रवर्तन हुआ। वल्लभसंप्रदाय में 'वार्ता' तथा निर्गुण भक्ति परंपरा में 'परचयी', 'बीतक' आदि शैलियों का विकास इसी दिशा में हुआ। इनके अतिरिक्त नाभादास कृत भक्तमाल की टीकाओं से भी भक्तों की महिमा के लोक प्रचार में सहायता मिली।

साम्प्रदायिक क्षेत्र तथा जनसामान्य में भक्तों की जीवनगाथा के प्रति क्रमशः बढ़ती हुई अभिरुचि के कारण धीरे-धीरे विविध शैलियों में लिखे गये भक्त-वृत्तों का एक विशाल साहित्य प्रस्तुत हो गया। इसकी संख्या २०० के लगभग

बताई जाती है। यहाँ मुख्य रूपेण कृष्णभक्तों से सम्बद्ध इस प्रकार के ग्रंथों की एक संक्षिप्त सूची दी जाती है—

१. भक्तमाल—नाभादास
२. भक्तमाल—भक्तिरस बोधिनी टीका—प्रियादास
३. भक्तमाल सुधाविन्दुस्वादतिलक—श्री सीतारामशरण भगवान प्रसाद 'रूपकला'
४. भक्तमाल —हरिभक्ति प्रकाशिका—ज्वालाप्रसाद मिश्र
५. भक्तभाल—राघवदास
६. नवसंतमाल—रूपमाधुरीशरण
७. भक्तनामावली—श्री वृंदावनदास
८. नवभक्तमाल—गो० राधाचरण
९. उत्तरार्ध भक्तमाल—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
१०. भक्तमाल राम रसिकावली—रघुराजसिंह
११. भक्तनामावली—ध्रुवदास
१२. रसिक अनन्यमाल—भगवतमुदित
१३. रसिक भक्तमाल—यमुना वल्लभ
१४. भक्तमाल—चरनदास
१५. भक्तरसमाल—व्रज जीवनदास
१६. भक्त मंजरी—दीनानाथ
१७. भक्तमाल प्रसंग—वैष्णवदास
१८. भक्तवच्छावली—मलूकदास
१९. राधावल्लभ भक्तमाल—प्रियादास शुक्ल
२०. चौरासी वैष्णवन की नामावली—अली खान पठान
२१. भक्त चरनामृत—सुंदर संत
२२. भक्त कल्पद्रुम—प्रतापसिंह
२३. चौरासी वैष्णवन की वार्ता—गो० गोकुलनाथ
२४. दो सौ बावन वैष्णवन की वर्ता— ,,
२५. चौरासी बैठक चरित्र—गो० हरिराय
२६. घरू वार्ता—गो० गोकुलनाथ
२७. निज वार्सा— ,,
२८. अष्टसखान की वार्ता—,,
२९. श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता—गो० गोकुलनाथ
३०. महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता— ,,
३१. भावसिन्धु— ,,
३२. संप्रदाय कल्पद्रुम—विट्ठलनाथ भट्ट
३३. भक्तमाल टीका—हँड़िया बाबा
३४. भक्त विरुदावली—अज्ञात
३५. साहित्य-रत्नावली—किशोरीशरण अलि

३६. भक्त चरितावली—सथुरादास
३७. पद प्रसंग माला—नागरीदास
३८. संतमाल—चंददास
३९. भक्तगाथा—अज्ञात
४०. प्रथम वसंत प्रबंध—चाचा वृन्दावनदास
४१. द्वितीय ,, ,, — ,,
४२. तृतीय ,, ,, — ,,
४३. चतुर्थ ,, ,, — ,,
४४. ब्यालीस लीला भक्तनामावली—ध्रुवदास
४५. आचार्य महिमा—मनोहरदास
४६. हरिवंश सहस्रनाम—चाचा वृन्दावनदास
४७. सम्प्रदाय बोधिनी - मनोहरदास
४८. रसिक जीवनी— ,,
४९. वैष्णव संकीर्तन— ,,
५०. महत मंगलावली— ,,
५१. क्षणदा-गीत-चिंतामणि— ,,
५२. भक्त सुजसवेली—चाचा वृन्दावनदास
५३. हित कुल शाखा— ,,
५४. हित अनन्य रसिकावली— ,,
५५. वृन्दावन प्रकाशमाला—गो० चन्द्रलाल
५६. भक्तिरत्नावली—वैष्णवदास 'रसजानि'
५७. भक्तमाल संग्रह—ईश्वरी प्रताप राय
५८. भगत विहार—चंददास
५९. द्वादश-यश—युगलदास
६०. श्रीहित वंशावली—खुस्याल
६१. श्रीहित कृपापात्र नामावलि—गो० चन्द्रलाल
६२. रसिक अनन्यसार—जतनलाल
६३. श्रीहित प्राकट्य—गो० रूपलाल
६४. वंशावलि— ,,
६५. भक्तिरसबोधिनी—वैष्णवदास रसजानि
६६. रूपसनातन सहवल्लभाचार्य वर्णन–गो० रूपलाल
६७. श्री नरवाहन परिचय— ,,
६८. श्री बांके बिहारी प्राकट्य श्री स्वामी जी परिचय—गो० रूपलाल
६९. श्री हरिदास स्वामीकौ इतिहास—गो० रूपलाल
७०. अनन्यमाल—उत्तमदास
७१. गुरु-प्रणाली—कृष्णदास भावुक

७२. श्रीहित कृपापात्र नामावलि—गो० चन्द्रलाल
७३. वृन्दावन प्रकाश माला — ,,
७४. मन्दिर विलास — ,,
७५. रसिक अनन्य परचावली—चाचा वृन्दावनदास
७६. गुरु कृपा चरित्र वेली— ,,
७७. हितकल्पतरु — ,,
७८. हित रूप चरित्र वेली— ,,
७९. सेवक चरित्र—प्रियादास
८०. रसिक अनन्य वैष्णव वार्ता—गोपाल प्रसाद

इनके अतिरिक्त नागरीप्रचारिणी सभा काशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, राजस्थान साहित्य अकादमी, चौपासनी शोध संस्थान जोधपुर, राजस्थान संग्रहालय जोधपुर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग आदि हिन्दी सेवी संस्थाओं द्वारा प्रकाशित खोज विवरणों एवं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित स्फुट लेखों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबंधों में कृष्णभक्तों और उनकी कृतियों से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री सुरक्षित है। राजस्थान और मध्य प्रदेश के रजवाड़ों, बिहार एवं उत्तर प्रदेश के तालुकेदारों तथा उत्तरी भारत के साम्प्रदायिक पीठों में एतत्सम्बन्धी सामग्री भरी पड़ी है। उनमें न जाने कितने भक्तों की जीवन गाथा एवं अमरवाणी दबी पड़ी है। उनके परितः परिशीलन से सहस्राधिक अज्ञात कृष्णभक्त प्रकाश में आ सकते हैं।

हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्येतिहास लेखकों ने भक्तमाल परम्परा के ग्रंथों तथा खोज विवरणों के आधार पर देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा लिखे गये ग्रंथों—हिन्दुई साहित्य का इतिहास (गार्सां द तासी), भाषा-काव्य-संग्रह (महेशदत्त शुक्ल), शिवसिंह सरोज (शिवसिंह), दि वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान (सर जार्ज ग्रियर्सन)—को ही अपना मुख्य उपजीव्य माना है। इससे इनके महत्व का मूल्यांकन सहज ही किया जा सकता है। हमारे लिए यह गर्व की बात है कि प्रस्तुत कोश के विद्वान् सहयोगी लेखकों ने संतों के जीवन परिचय में उपर्युक्त स्रोतों के साथ ही समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक स्थिति के निरूपक इतिहास ग्रंथों का भी समुचित उपयोग किया है। इससे सामाजिक इतिहास की लुप्त कड़ियों का पता चला है और उस दिशा में खोज के नए क्षितिज प्रकाश में आये हैं—सम्राट अकबर की गुप्त रूप से वृन्दावन यात्रा और तानसेन के माध्यम से स्वामी हरिदास का दर्शन करना, कुंभनदास का महाराज मानसिंह के अनुरोध पर फतेहपुर सीकरी जाना और भरे दरबार में अकबर को 'संतन को कहा सीकरी सों काम' प्रतीक वाला प्रसिद्ध उपेक्षा व्यंजक पद सुनाना; मुसलमानों, शैवों, शाक्तों तथा नाथ पंथियों के सम्मिलित वैष्णवविरोधी अभियान से आत्मरक्षा के लिए श्री वृन्दावनदेवाचार्य द्वारा जयपुर के स्वामी बालानंद के नेतृत्व में सेना का संगठन तथा वैष्णवों में एकता की स्थापना, ओरछा नरेश मधुकर शाह का शाही आदेश के विपरीत तिलक धारण कर अकबर के दरबार में जाना, गोस्वामी रूपलाल का महाराज जयसिंह के निर्देशों की परवाह न कर राधावल्लीय उपासना पद्धति की दृढ़तापूर्वक रक्षा, गो० गोकुलनाथ द्वारा मुगलबादशाह जहाँगीर की माला-तिलक विरोधी राजाज्ञा का तिरस्कार, गोस्वामी हरिराय का औरंगजेब की कट्टरतापूर्ण नीति से रक्षार्थ श्रीनाथ जी की मूर्ति के साथ ब्रज से निष्क्रमण और मेवाड़ में उसकी स्थापना, स्वामी प्राणनाथ द्वारा भारतीय संस्कृति के रक्षार्थ महाराज छत्रसाल को तलवार भेंट करना, अष्टमपीठ के आचार्य तुलसीदास (लालजी) द्वारा सिंधुतटवर्ती मुस्लिम बहुल प्रदेश डेरा गाजीखाँ में वैष्णवभक्ति का प्रचार, परशुरामदेवाचार्य का सूफीसंत मलंगशाह के आतंक से पुष्करक्षेत्र की रक्षा—जैसे अगणित कार्यव्यापार मध्यकालीन कृष्णभक्तों के प्रखर व्यक्तित्व, अपार साहस, अदम्य उत्साह, धर्मनिष्ठा तथा अलौकिक अध्यात्मशक्ति के परिचायक हैं। इनकी जीवन गाथा के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि विपरीत परिस्थितियों से जूझते हुए इन्होंने अध्यात्म

साधना की उच्चतर उपलब्धियों को आयत्त करने के साथ लोकहित को भी निरन्तर सामने रखा और सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा में सर्वप्रकारेण दत्त चित्त रहे।

भक्तजन समाज के विभिन्न वर्गों, जातियों तथा धर्मों से सम्बद्ध थे, इसलिए लोक जीवन की विविध स्थितियों तथा स्तरों का उन्हें गहरा अनुभव था। अपनी प्रगाढ़ संवेदना, अंतर्भेदिनी दृष्टि तथा तपोबल से वे दलितों-शोषितों की व्यथा का ज्ञान, निदान तथा उपचार सहज ही कर सकते थे। सामन्तीय उत्पीड़न, जातीय पाखंड, पारस्परिक विरोध एवं अविश्वास के गर्त से निकाल कर उन्होंने शताब्दियों से पिसते हुए जनसमुदाय में विश्वास, आत्मगौरव, समानता तथा एकता की भावना जगाई और श्रीकृष्ण के लोक-रक्षक तथा जनमनरंजक मधुर स्वरूप को कथा-कीर्तन, रास, नाटक, लोकोत्सवों, और लोकगीतों के माध्यम से सामने लाकर निराश हृदयों में लौकिक जीवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया। श्रीकृष्ण को प्रेमदेव तथा श्रीराधा को उनकी ह्लादिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर उन्होंने व्रजलीला के ध्यान-गान तथा प्रवचन के माध्यम से प्रेम के मूल्य का व्यापक धरातल पर समाजीकरण किया। अष्टयाम पूजा के सहारे साधना को रहस्य की कंदरा से बाहर निकाल कर सामाजिक स्वरूप प्रदान किया। यही नहीं शताब्दियों से साधना के क्षेत्र में स्थापित विरक्तों के एकाधिकार को ध्वस्त कर इन्होंने गृहस्थों के लिए नवीन आकर्षण उत्पन्न कर दिया। इसकी व्यष्टि एवं समष्टिगत स्वीकृति विशेषरूप से वल्लभीय तथा राधावल्लभीय संप्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रवर्तित विन्दुमार्गी परम्परा से प्राप्त हुई। आगे चलकर गुजरात के स्वामिनारायण सम्प्रदाय ने भी इसी आदर्श को धर्म के क्षेत्र में सदाचार रक्षा के लिए अनुकरणीय ठहराया।

आलोच्य भक्तों में से अनेक के जीवन का पूर्वपक्ष सामान्य लोगों की भाँति काम-क्रोधादि हीन-मनोविकारों से ग्रस्त था। कुछ तो मद्यपान, चोरी, हिंसा आदि दुष्प्रवृत्तियों के बुरी तरह शिकार थे। किन्तु अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से घटित किसी सामान्य घटना के झटके से उनके जीवन की धारा बदल गई और वे परमपद के अधिकारी बन लोक पूज्य हो गये। उनका जीवन इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि कृतसंकल्प उन्नतमना व्यक्ति के लिए कोई भी लौकिक अथवा पारलौकिक सिद्धि अलभ्य नहीं, कोई भी कार्य असंभव नहीं।

राष्ट्र की प्रसुप्त चेतना को जगाने और उसकी सूखी हुई नसों में संजीवनीशक्ति संचरित करने के लिए वैष्णवाचार्यों एवं उनके धर्मदूतों ने प्राचीनकाल से धर्मभाषा के रूप में प्रतिष्ठित संस्कृत की अपेक्षा लोकभाषाओं को वरीयता दी। इससे उन्हें समाज के निम्नतम स्तर तक अपना संदेश पहुँचाने में सहायता मिली। फलतः लोक साहित्य की अनेक विधायें उनकी भावाभिव्यक्ति की माध्यम बनीं। भाषा के बहते नीर तथा भाव की उर्वरा का संबल पाकर लोक मानस में सोए हुए बीज अंकुरित हो गये। इससे हिन्दी की विभिन्न उपभाषाओं एवं बोलियों में विविध शैलियों की रचनाओं का एक अंबार सा लग गया – सबकी अपनी अलग अदा थी, अलग रंग था और अलग सुगंध थी। इस प्रकार के रंग-विरंगे सुवासित पुष्पों से 'बिहारी जी' के 'फूल बंगला' की सजावट भक्ति साहित्य के इतिहास में अभूतपूर्व थी, अश्रुतपूर्व थी।

भक्ति के देशव्यापी प्रचार के लिए इन दीर्घदर्शी महापुरुषों ने पौराणिक कथा-प्रवचनों के साथ ही 'भक्तमाल' की कथा को भी माध्यम बनाया। इससे श्रोताओं में संतों और उनके द्वारा स्थापित आदर्शों के प्रति गहरी निष्ठा का भाव उत्पन्न हुआ जो अंततः पूज्य भावना में परिणत हो गया। इसकी परितुष्टि के लिए भगवद्-विग्रहों की भाँति संतों की भी मूर्तियाँ स्थापित की गईं। गोलोक विहारी के लोकहित साधक प्रतिनिधियों के प्रति सेवक-सतियों की अगाध श्रद्धा का यह मूर्त स्वरूप था। वे आज भी सहस्रों श्रद्धालुओं के प्रेरणा-स्रोत तथा उनकी कृतियाँ अगणित आस्तिक आत्माओं की जीवन ज्योति हैं। युगीन परिस्थितियाँ, साहित्य तथा समाज के बदलते हुए मानदंड, आत्मोद्धार एवं विश्व कल्याण के पथ निर्देशक इन दिव्य-विभूतियों के जीवन-संदेश की सार्थकता तथा प्रासंगिकता पर कदाचित् ही कभी प्रश्न चिह्न लगा सकें?

वसंत पंचमी, सं० २०४५
साकेत, बेतियाहाता गोरखपुर

भगवती प्रसाद सिंह

विषय-सूची

वैष्णव-भक्ति-सम्प्रदायों में श्री कृष्ण १–८
—डा॰ शरण बिहारी गोस्वामी

श्री निम्बार्क-सम्प्रदाय में श्री राधा ९–१५
—पं॰ व्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य

गौड़ीय दर्शन में श्री राधा १६–२०
—श्री निष्किचन स्वामी त्रिदण्डी

श्री हित राधावल्लभीय-सम्प्रदाय में श्री राधा २१–२७
—श्री हित सुकुमारीलाल गोस्वामी

श्री वल्लभ-सम्प्रदाय में श्री राधा २८–३६
—श्री कण्ठमणि शास्त्री

अष्टछाप में श्री राधा ३७-४२
—श्री क॰ गोकुलानंद तैलंग

निर्गुणपंथी संतों की कृष्णभक्ति ४३–६६
—डा॰ राधिकाप्रसाद त्रिपाठी

हिन्दी के राधा-कृष्ण भक्त १–८७८

अक्षर अनन्य १, अखण्डानन्द सरस्वती ४, अखैराम ७, अगमदास 'निर्मोही' ११, अजपादास १२, अजबकुँवरि बाई १२, अजीत सिंह १४, अतवारूलाल 'मुग्ध' १४, अतिवल्लभ १७, अदारंग १९, अनन्तदास अथवा भीकमदास १९, अनन्तलाल गोस्वामी २०, अनन्य अलि २१, अनन्यगोपालदास २५, अनिरुद्ध गोस्वामी २५, अनिरुद्ध सिंह २६, अनूप कुँवरि २७, अनूपजी नौनेरिया २८, अनूपी बाई २९, अब्दुर्रशीद खाँ २९, अब्दुर्रहीम खानखाना ३१, अब्दुल जलील ३४, अभयराम ३५, अमरदास ३५, अमरेशकुमार ३६, अमृतराय पल्लीवाल ३६, अमृत चतुर्वेदी ३८, अमोलकराम शास्त्री ३९, अम्बिका देवी ३९, अयोध्याप्रसाद ४०, अयोध्या प्रसाद वाजपेयी 'औध' ४०, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ४१, अर्जुनदास ४२, अलबेली अलि ४३, अलबेलीशरण ४४, अलबेलीशरणजी 'फूल श्रृंगारी' ४४, अलिकल्याण ४५, अलि भगवान ४५, अलिमोहन ४६, अली खान पठान ४७, अलीबख्श ४९, अली रंगीली ५०, अल्लनाथ ५१, अवधदास (प्रथम) ५३, अवधदास (द्वितीय) ५३, अवधूतदास ५४, अहमद उल्लाह ५४, आत्मानन्द ५५, आत्माराम ५६, आत्माराम इकंगी ५६, आत्माहंस (ठाकुर) ५८, आदिल ५९, आनन्द कवि (प्रथम) ५९, आनन्द कवि (द्वितीय) ६०, आनन्द कवि (तृतीय) ६०, आनन्द कुँवरी ६१, आनन्द कृष्ण बिहारी श्रीवास्तव ६२, आनन्दघन ६३, आनन्दघन चौबे ६४, आनन्ददास ६६, आनन्दलाल ६६, आनन्दीबाई (प्रथम) ६७, आनन्दीबाई (द्वितीय) ६७, आसकरन (राजा) ६८, आसानन्द ७१, आसुधीर ७२, इच्छाराम (प्रथम) ७३, इच्छाराम (द्वितीय) ७३, इन्द्रकुँवरि (प्रथम) ७४, इन्द्रकुँवरि (द्वितीय) ७४, इन्द्रदत्त ७४, इद्रदासजी (काठिया बाबा) ७४, इन्द्रभानु 'ललित लड़ैती' ७५,

इन्द्रमणि गोस्वामी ७५, ईश्वरीप्रसाद राय ७६, ईसुरी ७९, उत्तमदास ८०, उदयभानुलाल ८१, उदयराम ८१, उपगारी जसराम ८३, उमाशंकर द्विवेदी ८३, उरदाम (उड़दाम) ८४, ऊधौदास ८४, ऋषिकेश ८५, एकलिंग उस्ताद ८५, ऐनानन्द ८५, कंचन ८५, कटहरिया ८६, कनकलता ८९, कनकसिंह ८९, कन्हड़ स्वामी/हरेकृष्ण स्वामी ८९, कन्हैयालाल ९०, कन्हैयालाल गोस्वामी ९०, कन्हैयालाल 'शाल' ९१, कपिलनाथ कश्यप ९२, कमलकुंवरि (प्रथम) ९३, कमलकुंवरि 'जुगल प्रिया' (द्वितीय) ९३, कमलकुंवरि (तृतीय) ९४, कमलदास ९६, कमलनयन गोस्वामी ९६, कमलाबाई ९८, करतानन्द ९९, करताराम ९९, करमसी साँखला १००, करमैती बाई १००, कर्मठी बाई १०१, कालीराम १०४, कल्याण जोशी १०४, कल्याणदान १०४, कल्याणदास (प्रथम) १०५, कल्याणदास (द्वितीय) १०५, कल्याणदास (तृतीय) १०६, कल्याण पुजारी १०६, कल्याणमलजी १०७, कल्याणराय १०८, कल्याणराय गोस्वामी १०८, कल्याणी बाई १०९, कविराज अनीराय १०९, कविराज भाट ११३, काक बलबीर ११४, कादिरबख्श ११४, कान्हजी सहाय ११४, कान्हदास ११४, कान्हरदास ११५, कान्हा ११५, कामताप्रसाद ११५, कायम ११६, कारे कवि ११६, कारे खाँ ११६, कालकाप्रसाद ११७, कालीप्रसाद त्रिपाठी 'भृंग' ११८, काशीगिरि ११९, काशीराम (प्रथम) १२०, काशीराम (द्वितीय) १२०, काशीराम (तृतीय) १२०, काशीराम/जैतसी १२१, किर्तननियाँ बाबा १२२, किशन प्यारी (मन्दिरवारी बुआजी) १२२, किशनलाल (कृष्ण कवि) १२३, किशन सिंह १२३, किशोर १२५, किशोरदास (प्रथम) १२५, किशोरदास (द्वितीय) १२७, किशोरदास (तृतीय) १२७, किशोरदास/भानसखी १२८, किशोरदास (महन्त) १२८, किशोरदास (स्वामी) १३०, किशोरलाल (गोस्वामी) १३१, किशोरी (प्रथम) १३१, किशोरी (द्वितीय) १३२, किशोरी अलि १३३, किशोरीदास (प्रथम) १३४, किशोरीदास (द्वितीय)१३६, किशोरीदास (तृतीय) १३७, किशोरीदास (चतुर्थ) १३८, किशोरीदास (पञ्चम) १३९, किशोरीदास गोस्वामी १४०, किशोरीलाल अधिकारी १४१, किशोरीलाल गोस्वामी (प्रथम) १४१, किशोरीलाल गोस्वामी (द्वितीय) १४३, किशोरीशरण (सूरदास) १४५, किशोरीसखी १४६, कीरतलाल गोस्वामी १४७, कीर्तिकेशव १४७, कीर्तिचन्द/चित्रसेन (राजा) १४८, कुंजदास १४९, कुंजदास-गोपीदास १४९, कुंजदास नादिया १५०, कुंजबिहारीदास महन्त (प्रथम) १५०, कुंजबिहारीदास (द्वितीय) १५१, कुंजबिहारीदास (तृतीय) १५२, कुंजलाल गोस्वामी (प्रथम) १५२, कुंजलाल गोस्वामी (द्वितीय) १५३, कुंजोदेवी १५४, कुन्दनदासजी १५४, कुवेर भगत १५५, कुम्भनदास १५६, कुलोमनपंत 'निगुर्णानन्द' १६४, कुशलसिह १६४, कृपाअलीजी १६५, कृपाराम (प्रथम) १६५, कृपाराम (द्वितीय) १६६, कृपाराम (तृतीय) १६६, कृपाराम (चतुर्थ) १६७, कृपालाल १६७, कृष्णअली १६८, कृष्णकुंवरि (प्रथम) १६८, कृष्णकुंवरि (द्वितीय) १६८, कृष्णकुंवरिजी/मनोहरीजी १६९, कृष्णचन्द अग्रवाल १७०, कृष्णचन्द्र आचार्य (किप्टो दाबू) १७०, कृष्णचन्द्र गोस्वामी १७२, कृष्णचन्द्रसिंह १७४, कृष्णचरण १७५, कृष्णचैतन्य 'निजकवि' १७५, कृष्णदत्त त्रिवेदी १७६, कृष्णदत्त शर्मा 'सूरि' १७७, कृष्णदत्तशास्त्री १७७, कृष्णदत्त सिंह (महाराजा) १७७, कृष्णदास (प्रथम) १७८, कृष्णदास (द्वितीय) १७८, कृष्णदास (तृतीय) १७८, कृष्णदास (चतुर्थ) १७९, कृष्णदास (पञ्चम) १८०, कृष्णदास (षष्ठ) १८१, कृष्णदास (सप्तम) १८१, कृष्णदास (अष्टम) १८२, कृष्णदास (नवम) १८२, कृष्णदास अधिकारी १८२, कृष्णदास कायस्थ १८९, कृष्णदास छीपा १९०, कृष्णदास जाड़ा १९१, कृष्णदास पयहारी १९२, कृष्णदास बाबा १९३, कृष्णदास भण्डारी १९५, कृष्णदास भावुक १९५, कृष्णदास स्वामी १९६, कृष्णदास हित १९७, कृष्णदेव १९७, कृष्णलाल गोस्वामी १९८, कृष्णादासी १९८, कृष्णानन्द १९९, कृष्णानन्द व्यासदेव १९९, कृष्णाबाई २००, केलिदास (प्रथम) २००, केलिदास (द्वितीय) २०१, केवलराम (प्रथम) २०२, केवलराम (द्वितीय) २०३, केवलराम स्वामी २०५, केशव किशोर २०६, केशवदास (प्रथम) २०६, केशवदास (द्वितीय) २०७, केशवदास गोसाइं २०७, केशवदेव गोस्वामी २०८, केशवराय २०८, केशोराय (गोस्वामी) २०८, केशोराय (स्वामी) २०९, कैलाशनाथ भार्गव २०९, कोकिलाबाई (बीबादास) २१०, क्षेमदास २१२, खरगसेन कायस्थ २१२, खुमान त्रिपाठी २१३, खुसालाबाई (जनखुसाला) २१४, खूबचंद रावत 'रसेस' २१६, खेतसी २१६,

खेमकरन २१७, खेमजी २१७, खेमदास २१८, खेमहित २२०, गंगकवि २२१, गंगनदास २२६, गंगल ग्वाल गोसाईं २२८, गंगा जमुनाबाई २३०, गंगादत्त २३२, गंगादास (प्रथम) २३२, गंगादास (द्वितीय) २३४, गंगाधर (प्रथम) २३५, गंगाधर (द्वितीय) २३५, गंगाधर व्यास २३६, गंगाबाई क्षत्राणी २३६, गंगाविष्णु २४०, गंगासरन २४०, गंगासिंह २४०, गजराजसिंह २४१, गट्टूलाल भट्ट (भारतमार्तण्ड) २४१, गणपति भारती २४३, गणेशपुरी २४५, गदाधरदास (प्रथम) २४५, गदाधरदास (द्वितीय) २४६, गदाधर भट्ट २४७, गदाधर मिश्र २५०, गरीबदास २५१, गरीबदास गोस्वामी २५२, गल्लूजी 'गुणमंजरीदास' २५२, गवरीबाई २५५, गहर गोपाल २५६, गांगू २५६, गिरधर (प्रथम) २५७, गिरधर (द्वितीय) २५८, गिरधरदास २५८, गिरधरदास राधिकादास २५९, गिरधरदेव २५९, गिरधरलाल (प्रथम) २६०, गिरधरलाल (द्वितीय) २६०, गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' २६०, गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी २६३, गिरिधारी २६५, गिरिधारीलाल (प्रथम) २६६, गिरिधारीलाल (द्वितीय) २६९, गिरिधारीशरणदेव २७०, गिरिराज कुँवरि २७१, गिरिराज प्रसाद मिश्र १७१, गुणमंजरी २७१, गुमान कवि २७२, गुमान त्रिपाठी २७२, गुरछौंना २७३, गुरुदत्त राम २७५, गुरुदत्त सिंह 'भूपति' २७५, गुरुशरनदास २७७, गुलाबदास (प्रथम) २७८, गुलाबदास (द्वितीय) २७९, गुलाबराय २७९, गूजरमल फौजदार २८०, गोकुल कवि २८०, गोकुलदास (प्रथम) २८१, गोकुलदास (द्वितीय) २८२, गोकुलदास कविराज २८२, गोकुलनाथ (गोस्वामी) २८३, गोकुलनाथ/गोपीनाथ/मणिदेव २८९, गोकुलप्रसाद 'वृज' २९०, गोकुलबिहारी २९६, गोकुलवारे बाबा २९६, गोपाल २९७, गोपाल (जनगोपाल) २९७, गोपाल (बख्शी) २९७, गोपालदास (प्रथम) २९८, गोपालदास (द्वितीय) २९८, गोपालदास (तृतीय) २९९, गोपालदास (चतुर्थ) २९९, गोपालदास (पञ्चम) २९९, गोपालदास (षष्ठ) ३००, गोपालदास (सप्तम) ३०१, गोपालदास (अष्टम) ३०३, गोपालदास (नवम) ३०५, गोपालदास (दशम) ३०५, गोपालदास (एकादश) ३०५, गोपालदास (द्वादश) ३०६, गोपालदास (त्रयोदश) ३०६, गोपालदास (चतुर्दश) ३०७, गोपालदास 'उत्सवी' ३०७, गोपालदास क्षत्री ३०७, गोपाल भट्ट ३०८, गोपाल मिश्र ३०८, गोपालराय ३०८, गोपाल लाल ३११, गोपालशरण ३११, गोपालसिंह, राजा ३११, गोपिकालंकार ३१२, गोपीनाथ (प्रथम) ३१२, गोपीनाथ (द्वितीय) ३१२, गोपीनाथ (तृतीय) ३१६, गोपीनाथ कविराज ३१६, गोपीनाथ 'द्विज' ३२५, गोपेश्वरशरणदेवाचार्य ३२५, गोरीदास ३२८, गोवर्धन ३२८, गोवर्धनदास (प्रथम) ३२९, गोवर्धनदास (द्वितीय) ३२९, गोवर्धनदास (तृतीय) ३३०, गोवर्धनदास एवं मन्नालाल ३३१, गोवर्धनदेव ३३१, गोवर्धननाथ ३३२, गोवर्धन भट्ट ३३३, गोवर्धनलाल ३३४, गोवर्धनलाल 'श्याम' ३३५, गोविन्द अलि ३३५, गोविन्दचरणदास ३३६, गोविन्ददास (प्रथम) ३३६, गोविन्ददास (द्वितीय) ३३७, गोविन्ददास (तृतीय) ३३७, गोविन्ददास (चतुर्थ) ३३८, गोविन्ददास (पञ्चम) ३३८, गोविन्ददास (षष्ठ) ३३८, गोविन्ददास खवास ३३९, गोविन्ददास भक्तमाली ३४२, गोविन्ददेवाचार्य ३४२, गोविन्दप्रसाद पाण्डेय ३४५, गोविन्दराय गोस्वामी ३४५, गोविन्दशरण ३४६, गोविन्दशरणदेव ३४७, गोविन्दशरणदेवाचार्य ३४८, गोविन्द सुकवि ३५०, गोविन्दस्वामी ३५०, गौरगणदास ३५५, गौरगुसाइं ३५५, गौरदास ३५५, गौरांगसिंह (गौरसिंह) ३१६, ग्वारिया बाबा ३५६, ग्वारिया भक्त ३५८, ग्वाल कवि ३५९, ग्वाल जी गोस्वामी ३६२, घनदेव ३६२, घनश्याम ३६३, घनश्यामदास ३६४, घनश्याम पाँड़े ३६५, घनश्यामलाल ३६६, घनश्यामशरणदेव ३६६, घनश्यामशरणदेवाचार्य ३६६, घनानन्द ३६९, घनारंग दुबे ३७३, घासीराम ३७३, घासीराम/पतिराम ३७४, घासीराम/प्रियादास ३७४, घासीराम व्यास ३७५, घिसियावनदास ३७५, चंचलससि ३७६, चंददास ३७६, चंदूलाल 'शशि' ३८०, चतुर अलि ३८१, चतुरदास (प्रथम) ३८२, चतुरदास (द्वितीय) ३८२, चतुरदास (तृतीय) ३८३, चतुर विहारी ३८४, चतुर शिरोमणि ३८६, चतुरसिंह जी बावजी ३८८, चतुर्भुज ३९०, चतुर्भुजदास (प्रथम) ३९१, चतुर्भुजदास (द्वितीय) ३९४, चतुर्भुजदास मिश्र ३९७, चन्दकुँवरि ३९९, चन्द्रगोपाल प्रभु ३९९, चन्द्रदास (चन्दसखी) ४०१, चन्द्रभानुसिंह जू देव 'रज ४०२, चन्द्रलाल अधिकारी ४०२, चन्द्रलाल गोस्वामी ४०३, चन्द्रशेखर पाण्डेय 'चन्द्रमणि' ४०५, चन्द्रशेखर वाजपेयी ४०६,

चरणदास (प्रथम) ४१४, चरणदास (द्वितीय) ४१८,
चन्द्रसखी (प्रथम) ४०९, चन्द्रसखी (द्वितीय) ४१०, चरणदास (पञ्चम) ४२१, चरणदास (षष्ठ) ४२२, चरणरेणु
चरणदास (तृतीय) ४२०, चरणदास (चतुर्थ) ४२१, चिन्तामणि काइथ ४२४, चुनचुन पाण्डेय ४२५, चुन्नीलाल भट्ट ४२६,
४२२, चरनदास पुजारी ४२३, चिन्तामणि ४२४, चेतनदास (तृतीय) ४२९, चैनराय ४३१,
चूड़ामणि ४२७, चेतनदास (प्रथम) ४२७, चेतनदास (द्वितीय) ४२८, छत्रकुँवरि ४३३, छत्रपति ४३५,
चौयमल गिरदावर ४३१, चौबे दरियावसिंह 'दिलदरियाव' ४३२, छटंकी खलीफा ४३२, छत्रसाल ४३५, छबीलदास ४३८, छबील दे ४३८, छबीले ४३९, छबीले-बल्लभ ४३९, छबिनायक ४३९, छबिनाथ अवस्थी ४४०, छीतरमल शर्मा ४४०, छीतस्वामी ४४०, जगजीवनदास ४४३, जगतसिंह ४४५, जगतानंद ४४७, जगदीश गोस्वामी ४४९, जगदीश बाबा ४४९, जगदीशबख्श ४५०, जगदीश भट्ट ४५१, जगनिवास नारायण तिवारी ४५३, जगन्नाथ (प्रथम) ४५४, जगन्नाथ (द्वितीय) ४५५, जगन्नाथदास कविराज ४५५, जगन्नाथदास (प्रथम) ४५६, जगन्नाथदास (द्वितीय) ४५६, जगन्नाथदास (तृतीय) ४५६, जगन्नाथदास (चतुर्थ) ४५६, जगन्नाथप्रसाद भक्तमाली ४५७, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ४५८, जग्गा खिड़िया ४६२, जतनी जो ४६३, जनगोपाल ४६३, जनबेगम ४६४, जनभगवान ४६५, जनराज ४६७, जनहरि अलि ४६८, जमुनादास ४६९, जमुनाबाई ४६९, जयकृष्ण ४७०, जयकृष्ण तुलाधार ४७०, जयश्रीकृष्णदास ४७२, जयकृष्ण पुजारी ४७२, जयगोविन्द ४७३, जयजयराम ४७३, जयदेव ४७३, जयदेव ब्रह्मभट्ट ४७४, जयविहारी गोस्वामी ४७४, जयसिंह ४७५, जलालुद्दीन अकबर ४७६, जवानसिंह 'ब्रजराज' (महाराणा) ४७८, जवाहरदान ४८१, जसराम उपगारी ४८२, जगतसिंह राठौर ४८४, जसोदा माई ४८७, जहाँवल सिंह वैद्य ४८७, जाड़ा कृष्णदासजी ४८८, जादवराय ४८९, जादौ रसिक ४९०, जियालाल त्रिपाठी ४९१, जीवणदास ४९२, जीवनदास क्षत्री ४९४, जीवन धन ४९५, जीवन मस्ताना ४९५, जीवनराम ४९६, जीवनलाल ४९६, जीवाभाई खत्री ४९७, जुगतानंद ४९७, जुगलदास (प्रथम) ५००, जुगलदास (द्वितीय) ५०४, जुगलदास (तृतीय) ५०५, जुगलदास (चतुर्थ) ५०५, जुगलदास (जुगलदासि) ५०६, जुगलदास अवधूत ५०७, जुगलदास तुलाधार ५०८, जुगलदास पुजारी ५०८, जुगलमनोहरशरण (मास्टर गंगाबख्श) ५०९, जुगलमाधुरीशरण ५१०, जुगलशरण ५११, जुगलसखी ५११, जुगलसुन्दरदास ५११, जुगलेश कवि ५१२, जुगुल कवि ५१२, जुगुलदास ५१३, जुझारसिंह (महाराज) ५१४, जेठमल ५१४, जैकृष्ण दयाराम/नाथू/सदाराम ५१५, जैतसी ५१५, जैदास (जैदासी) ५१६, जैमल ५१७, जैरामदास ५१९, जोगजीत ५२१, जोरीदास ५२४, जोरीलाल ५२४, ज्ञानचन्द सेठ ५२५, ज्ञानदास ५२५, ज्ञानबाई (ज्ञानाबाई) ५२६, ज्ञानमतीबाई ५२७, ज्ञानानन्द निर्वाणी ५२८, ज्ञानूजी/प्रमदानन्द (ब्रह्मचारी) ५३०, ज्योतिराम ५३२, ज्वालाप्रसाद मिश्र ५३२, टहकन ५३३, ठाकुरदास ५३४, डेविडसन ५३४, तत्ववेत्ता ५३६, ताज बीबी ५३८, तानतरंग ५४१, तानसेन ५४१, तालिब अली 'रसनायक' ५४६, तीर्थराम जोशी ५४७, तुलसा ५४७, तुलसीदास (प्रथम) ५४८, तुलसीदास (द्वितीय) ५४८, तुलसीदास (लालजी) ५४९, तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' ५५२, तुलाराम भट्ट ५५४, तेजसिंह (प्रथम) ५५४, तेजसिंह (द्वितीय) ५५४, त्रिपुरदास कायस्थ ५५५, त्रिलोक स्वामी ५५६, त्रिवेणीदास ५५७, त्रिवेणी बाई ५५८, थिरपाल वाचक ५५९, थूथाजी ५६०, दक्षसखी ५६१, दम्पतिदासी ५६१, दयादास ५६२, दयाबाई ५६२, दयाराम (प्रथम) ५६३, दयाराम (द्वितीय) ५६३, दयाराम/सेवादास ५६३, दयालदास (प्रथम) ५६४, दयालदास (द्वितीय) ५६४, दयालाल ५६६, दयालुदास ५६६, दयासखी ५६७, दयासिन्धुलाल/कृपासिन्धुलाल ५६७, दरिया खाँ ५६८, दरोगा बाबा ५६८, दलसिंह ५७०, दलेलसिंह ५७०, दशरथलाल ५७०, दाऊ कृष्ण किशोरदास ५७०, दामोदर ५७०, दामोदरदास (प्रथम) ५७१, दामोदरदास (द्वितीय) ५७१, दामोदरदास (तृतीय) ५७१, दामोदरदास (चतुर्थ) ५७२, दामोदरदास हरसानी ५७३, दामोरप्रसाद ५७४, दामोदरवर गोस्वामी ५७६, दामोदर स्वामी ५७८, दास कवि ५८१, दासानिदास/सेवादास ५८१, दिग्विजयसिंह 'भूपविजय' ५८२, दीनदयालगिरि ५९२, दीनानाथ 'दिनेश' ५९२, दीपाबाई/कस्तूरोबाई ५९३, दीवान कम्मोदसिंह ५९४, दीवान भैयालाल राजपूत 'गोविन्दशरण' ५९४,

दुर्गादत्त ५९४, दुर्गी माँ ५९६, दुलहिनदासी ५९६, दुलारीप्रसाद ५९७, दुलारे प्रसाद शास्त्री ५९७, दुलारेलाल भार्गव ५९९, देवदत्त (देवकवि) ६०२, देवाचार्य ६०५, देवानंद ६०६, देवी प्रसाद 'अक्खड़' ६०६, देवी प्रसाद 'प्रीतम' ६०७, देवीरत्न अवस्थी 'करील' ६०७, देवीसिंह ६०८, दौलतराम ६०८, दौलतराम हल्दिया ६०८, द्वारकादास ६०९, द्वारकानाथ भट्ट ६०९, द्वारकेशलाल (गोस्वामी) ६११, द्वारिकादास ६१३, द्वारिका देवाचार्य ६१३, द्वारिका प्रसाद 'रसिकेन्द्र' ६१३, द्विजदेव, राजा मानसिंह ६१५, द्विज प्रयाग ६१७, धनञ्जयदास (काठिया बाबा) ६१८, धनजीदास ६१९, धनराज राठौर/हरिनाथ सिंह ६२०, धनीराम बक्शी ६२०, धरणीधरदास ६२१, धरनीधरदास ६२१, धरमदास ६२२, धर्मदास (प्रथम) ६२३, धर्मदास (द्वितीय) ६२३, धर्मदास/वल्लभराम/तुलसीदास ६२४, धर्ममित्र ६२५, धारी ६२६, धीरजराम ६२७, ध्रुवदास ६२७, धोंधी ६३२, नंदकिशोर गोस्वामी (प्रथम) ६३६, नंदकिशोर गोस्वामी (द्वितीय) ६३६, नन्दकिशोरदास गोस्वामी ६३६, नंददास ६३७, नंदराम ६४४, नंदराम स्वामी ६४४, नंदलालदास ६४५, नंदाजी ६४५, नथियाबाई ६४६, नबीबख्श फलक ६४७, नरवाहन ६४७, नरहरिदास (प्रथम) ६५०, नरहरिदास (द्वितीय) ६५५, नरहरि महापात्र ६५७, नरोत्तमदास (प्रथम) ६६३, नरोत्तमदास (द्वितीय) ६६४, नवनदास ६६४, नवनागरीदास (गोस्वामी) ६६५, नवनीत चतुर्वेदी ६६५, नवनीत राय/ब्रजदास/शोभाराम/कृष्णदास ६६६, नवनीतलाल गोस्वामी (प्रथम) ६६६, नवनीतलाल गोस्वामी (द्वितीय) ६६८, नवलदास (प्रथम) ६६९, नवलदास (द्वितीय) ६६९, नवलदास (स्वामी) ६७१, नवल बाई/कल्याणी बाई ६७१, नवललाल/रतनलाल गोस्वामी ६७१, नवलसखी ६७२, नवीन ६७३, नवेलीवाई ६७३, नवेलीशरण ६७४, नवेलीशरण (बड़े मुखिया जी) ६७६, नागरवर (गो०) ६७७, नागर/हरिदास ६७८, नागरीदास (प्रथम) ६७८, नागरीदास (द्वितीय) ६८३, नागरीदास (तृतीय) ६८५, नागरीदास (चतुर्थ) ६८६, नागरीदास जी (पंचम) ६८७, नागरीदास/राधिकादास ६८७, नागाचतुरदास ६८७, नाथकवि ६८८, नाथ भट्ट ६८९, नाथूराम दरजी ६९०, नाथूराम 'प्रवीण' ६९३, नाथूराम शर्मा ६९३, नाथूलाल राणा ६९३, नायक गोपाल ६९४, नायक रसिक मुकुन्द ६९४, नारायणदास (प्रथम) ६९४, नारायणदास (द्वितीय) ६९५, नारायणदास (तृतीय) ६९५, नारायणदास (चतुर्थ) ६९७, नारायणदास (पंचम) ६९७, नारायणदास (ब्रजवासिया) ६९८, नारायणदास सेंगरिया ६९९, नारायण भट्ट ६९९, नारायणशरण देवाचार्य ७०२, नारायण स्वामी (प्रथम) ७०४, नारायणस्वामी (द्वितीय) ७०४, नाहरमल ७०५, निकुंजदास ७०७, नित्यानन्द ७०७, नित्यानन्ददास ७०८, निधिवनदास ७०८, निम्बार्कशरणदेवाचार्य ७०८, निर्भयराम ७०९, निर्मलप्रकाश ७११, नीकाराम ७११, नीलसखी ७१२, नूपीबाई ७१३, नृसिंहदास ७१४, नृसिंहदेव कविराज ७१४, नेवाजदास ७१५, नेही नगरीदास ७१६, नैंनादेव ७१८, नौरंगीलाल चौधरी 'नन्द' ७१८, पतितराम साव ७१९, पद्मदास ७१९, पद्मनाभदास ७२०, पद्माकर ७२१, पन्नालाल (प्रथम) ७२४, पन्नालाल (द्वितीय) ७२५, परमानंद (प्रथम) ७२६, परमानंद (द्वितीय) ७२६, परमानंद (तृतीय) ७२७, परमानंददास (प्रथम) ७२७, परमानंददास (द्वितीय) ७२७, परमानंददास (तृतीय) ७३३, परमानंददास (चतुर्थ) ७३४, परमानंददास (पंचम) ७३५, परशुरामदेवाचार्य ७३७, पर्वत सेन ७४०, पानाबाई ७४१, पार्वती ७४३, पासवान खवासिन ७४३, पीताम्बर/गोपाल/देवकी ७४३, पीताम्बरदास/बालकदास/वृन्दावनदास ७४४, पीताम्बरदेव ७४४, पीताम्बरदेवाचार्य ७४७, पीताम्बर स्वामीजी ७४९, पुरुषोत्तमदास 'सैंया' ७४९, पुरुषोत्तम भट्ट ७५०, पुरोहित प्रतापनारायण ७५०, पुष्करदास ७५२, पूरनदास ७५३, पूरनप्रताप ७५४, पूरनमल ७५६, पूरमासी ७५६, पूर्णदास ७५६, पृथ्वीराज राठौर ७५७, प्रकाशदास ७५९, प्रतापकुँवरि ७५९, प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' ७६०, प्रद्युम्नलाल ७६६, प्रबोधानंद सरस्वती ७६६, प्रभुदयाल 'प्रभु' ७६९, प्रभुदास ७६९, प्रमादास ७६९, प्रह्लाददास ७७०, प्रागदास ७७०, प्रागनि ७७१, प्राणकृष्णदास ७७१, प्राणनाथ ७७१, प्रियतमलाल गोस्वामी ७७३, प्रियादास (प्रथम) ७७३, प्रियादास (द्वितीय) ७७६, प्रियादास (तृतीय) ७७६, प्रियादास (चतुर्थ) ७७६,

प्रियादास (पंचम) ७७७, प्रियादास (षष्ठ) ७७८, प्रियादास (सप्तम) ७७९, प्रियादास (अष्टम) ७८०, प्रियादास (नवम) ७८१, प्रियादास (दशम) ७८१, प्रियादास/तारातनयदास ७८२, प्रियादास और हरिदास ७८२, प्रियादासी ७८३, प्रियाशरण (प्रथम) ७८५, प्रियाशरण (द्वितीय) ७९०, प्रियासखी (प्रथम) ७९०, प्रियासखी (द्वितीय) ७९०, प्रीतमदास ७९१, प्रेमकुँवरि ७९३, प्रेमदास (प्रथम) ७९४, प्रेमदास (द्वितीय) ७९४, प्रेमदास (तृतीय) ७९५, प्रेमदास (चतुर्थ) ७९५, प्रेमदास (पंचम) ७९५, प्रेमदास (षष्ठ) ७९६, प्रेमदास (सप्तम) ७९७, प्रेमदास (काठियाबाबा) ७९८, प्रेमदास गहोई ८००, प्रेमदासीजो ८०१, प्रेममाधुरी बाई ८०३, प्रेमिन बाई/भगवान बाई/लाड़ा बाई दमोदर बाई/धर्म बाई, रति बाई/हंस बाई ८०३, फकीरदास ८०४, फखरुद्दीन ८०५, फरहत ८०५, फलताराम ८०५, फूऱबाबा ८०६, फूल सखी ८०६, बक्सीराम ८०७, बखतकुँवरि 'प्रियासखी' ८०७, बख्तावर सिंह ८०८, बख्शी हंसराज ८०९, बच्चू दूबे ८१२, बड़े राइ ८१२, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ८१२, बनमाली ८१३, बनारसी देव ८१४, बनीठनी ८१४, बफ्त मियाँ ८१६, बलदेव ८१६, बलदेव गोस्वामी ८१७, बलदेवदास ८१७, बलदेवदास जौहरी ८१८, बलदेवप्रसाद अवस्थी 'द्विज बलदेव' ८१९, बलदेवप्रसाद 'शील' ८२०, बलरामदास ८२०, बलवंत भैया साहब ८२१, बलिहारी ८२३, बसुदेव सिंह ८२४, बहादुर सिंह (प्रथम) ८२४, बहादुर सिंह (द्वितीय) ८२६, बाँकावती (रानी) ८२७, बाँकीदास ८२९, बाँकेपिया ८३१, बाँकेबिहारी गोस्वामी ८६२, बालकदास (प्रथम) ८३३, बालकदास (द्वितीय) ८३३, बालकृष्ण (प्रथम) ८३३, बालकृष्ण (द्वितीय) ८३४, बालकृष्ण (तृतीय) ८३४, बालकृष्ण (चतुर्थ) ८३५, बालकृष्ण/तुलाराम (रासमंडली वाले) ८३५, बालकृष्णदास ८३६, बालकृष्णशरणदेवाचार्य ८३७, बालचन्द शास्त्री ८३८, बालमुकुन्ददास ८३९, बालाबक्स बारहठ ८३९, बिसाहूराम ८४०, बिहारिनदेव ८४०, बिहारीलाल ८४४, बिहारीलाल भट्ट ८४६, बिहारी बल्लभ ८४८, बीठलविपुलदेव 'रससागर' ८४८, बीरबल (ब्रह्म) ८५२, बीरां ५८७, बुलाकीदास ८५८, बुलाखीदास ८५९, बेगमदास ८६०, बेनी कवि ८६०, बेनीप्रसाद ८६१, बेनीमाधव 'प्रवीण' ८६१, बैजनाथ ८६२, बैजनाथ सिंह 'किंकर' ८६३, बैजू बावरा ८६३, बैनजी (गो०) ८६४, ब्रजकिशोर ८६४, ब्रजजीवन ८६५, ब्रजजीवनलाल 'निर्मोही' ८६६, ब्रजदास विप्र ८६६, ब्रजदूल्हे ८६७, ब्रजपति भट्ट ८६७, ब्रजपाल भट्ट ८६७, ब्रजभान किशोरी ८६८, ब्रजभूषण (प्रथम) ८६८, ब्रजभूषण (द्वितीय) ८६९, ब्रजभूषण (तृतीय) ८७०, ब्रजराज पण्डित ८७०, ब्रजराय गोस्वामी ८७१, ब्रजलाल बोहरे ८७१, ब्रजवल्लभदेव (बल्लभसखा) ८७२, ब्रजवासीदास ८७२, ब्रजाभरण दीक्षित (गोस्वामी) ८७४, ब्रह्मगोपाल ८७४, ब्रह्मदास (प्रथम) ८७५, ब्रह्मदास (द्वितीय) ८७५, ब्रह्मनिवास ८७६, ब्रह्मानन्द गोस्वामी (प्रथम) ८७७, ब्रह्मानन्द गोस्वामी (द्वितीय) ८७७, ब्रह्मानन्द गोस्वामी (तृतीय) ८७८ ।

नामानुक्रमणिका ८७९-९३३

ग्रन्थानुक्रमणिका ९३४-९६६

सहयोगी-लेखक

चतुर्थ खंड

१. अ० पा० डा० अमरनाथ पाण्डेय—अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी ।
२. अ० अ० डा० अवधेश्वर अरुण—रीडर हिन्दी विभाग, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार) ।
३. आ० श० अ० डा० आत्माराम शर्मा 'अरुण'—५५९/१७, अरुण शोध सदन, विजय पार्क, दिल्ली–११००२२ ।
४. ओ० प्र० अ० डा० ओमप्रकाश अवस्थी—२-कटरा अब्दुलगनी, फतेहपुर (उ० प्र०) २१२६०१ ।
५. उ० शं० दु० श्री उदयशंकर दुबे—३२२-फुलवरिया मार्ग, दारागंज, इलाहाबाद ।
६. कृ० चं० ला० डा० कृष्णचन्द्रलाल—रीडर, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर ।
७. गं० प्र० ब० डा० गंगाप्रसाद बरसैयाँ—१२-एम० आई० जी० हाउसिंग बोर्ड कालोनी, छतरपुर (म० प्र०) ।
८. ग० द० सा० डा० गणेशदत्त सारस्वत—सारस्वत सदन, सिविल लाइन्स, सीतापुर (उ० प्र०) ।
९. ग० मि० डा० गजानन मिश्र—अध्यक्ष हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, चिमनपुर-शाहपुर (राजस्थान) ।
१०. चं० मि० श्री चन्द्रशेखर मिश्र—भागवत विद्यालय पुल के पास, अस्सी, वाराणसी ।
११. ज० श० सि० श्री जगदीशशरण सिंह—ग्राम-पयागपुर, डाकघर-खानपुर, कानपुर (उ० प्र०) ।
१२. ज० सिं० प० डा० जगमोहन सिंह परिहार—आकाशवाणी, जोधपुर (राजस्थान) ।
१३ ज० राय डा० जयनरायन राय—रीडर भौतिकी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर ।
१४. त० ना० डा० तपेश्वरनाथ—आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, भागलपुर वि०वि०, भागलपुर (बिहार) ।
१५. त्रि० ना० चौ० डा० त्रिभुवननाथ चौबे—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गनपत सहाय महाविद्यालय, सुलतानपुर (उ० प्र०) ।
१६. त्रि० ना० शु० डा० त्रिभुवननाथ शुक्ल—रीडर, हिन्दी विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर (म० प्र०) ।
१७. त्रि० ना० सिं० डा० त्रिलोकीनाथ सिंह—रीडर, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, (उ० प्र०) ।
१८. न० चं० बं० डा० नरेशचन्द्र बंसल—पूर्वनिदेशक, वृन्दावन शोधसंस्थान, 'श्रीवास-निलयम्', कासगंज (उ० प्र०)
१९. न० प्र० गु० डा० नर्मदाप्रसाद गुप्त—शुक्लाना, छतरपुर (म० प्र०) ४७१००१ ।
२०. प्रे० चं० सिंह डा० प्रेमचन्द्र सिंह—अध्यक्ष हिन्दी विभाग, उदित नारायणसिंह महाविद्यालय, पडरौना, देवरिया (उ० प्र०)
२१. प्रे० ना० श्री० डा० प्रेमनारायण श्रीवास्तव—हिन्दी विभाग, प्राच्यदर्शन महाविद्यालय, वृन्दावन–२८११२१ ।
२२. भ० प्र० सिं० डा० भगवती प्रसाद सिंह—संपादक ।
२३. म० गो० भा० डा० मनहरगोपाल भार्गव—किरन कार्पेट्स, गणेशगंज, मीरजापुर (उ० प्र०) ।
२४. मु० अ० डा० मुश्ताक़ अली—संपादकीय विभाग, 'माया', इलाहाबाद ।
२५. रा० कु० व० डा० राजेन्द्रकुमार वर्मा—रीडर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ०प्र०) ।
२६. रा० प्र० त्रि० डा० राधिकाप्रसाद त्रिपाठी—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद (उ० प्र०) ।
२७. रा० कृ० श० डा० रामकृष्ण शर्मा—पुष्पेन्द्र भवन, ट्यूबवेल कालोनी, कासगंज, एटा–२०७१२३ ।
२८. रा० ना० उ० श्री रामनारायण उपाध्याय—साहित्य कुटीर, ब्राह्मणपुरी, खंडवा (म० प्र०)

२९. रा० प्र० कु०	डा० रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ—रीडर, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।
३०. रा० पां०	डा० रामेन्द्र पांडेय—हिन्दी विभाग, फीरोजगांधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रायबरेली (उ०प्र०)।
३१. रा० मो० पां०	डा० राममोहन पांडेय—संपादक 'प्रज्ञा', काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५ ।
३२. ल० च० गो०	आचार्य ललिताचरण गोस्वामी—यमुना पुलिन, बड़वाला मुहल्ला, वृन्दावन–२८११२१ ।
३३. वा० सिं०	डा० वासुदेव सिंह (सहसंपादक) —प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी–२ ।
३४. वि० स्ना०	डा० विजयेन्द्र स्नातक—निवर्तमान आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, ए ५/३, रानाप्रताप बाग, दिल्ली ७ ।
३५. वि० कु० पा०	डा० विनयकुमार पाठक—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आरंग, रायपुर (म० प्र०)
३६. वि० ह०	श्री वियोगी हरि—(दिवंगत) ।
३७. वि० ना० शु०	डा० विश्वनाथ शुक्ल – निवर्तमान आचार्य, हिन्दी विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ ।
३८. व्र० व० श०	आचार्य व्रजवल्लभशरण—श्री जी मन्दिर, प्रताप बाजार, वृन्दावन–२८११२१
३९. श० वि० गो०	डा० शरणबिहारी गोस्वामी—प्राचार्य, प्राच्यदर्शन महाविद्यालय, वृन्दावन २८११२१ ।
४०. शि० ना० शु०	डा० शिवनारायण शुक्ल—अध्यक्ष, हिन्दीविभाग, महारानी लालकुँवरि महाविद्यालय, बलरामपुर (उ० प्र०) ।
४१. श्या० बि० खं०	श्री श्यामबिहारी खंडेलवाल—१०४–सेवाकुंज गली, वृन्दावन–२८११२१ ।
४२. श्या० सु० शु०	डा० श्यामसुन्दर शुक्ल—रीडर, हिन्दीविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५ ।
४३. श्र० कु० गो०	डा० श्रवणकुमार गोस्वामी—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डोरण्डा कालेज, राँची (बिहार) ।
४४. सं०	संपादक (डा० भगवती प्रसाद सिंह) ।
४५. श्र० सिं०	श्रीमती श्रद्धा सिंह—पी–४, वीथी १५, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी—२ ।
४६. स० प्र० सिं०	डा० सत्येन्द्रप्रताप सिंह—साकेत, बेतियाहाता, गोरखपुर–२७३००१ ।
४७. स० गु०	डा० सदानन्द गुप्त—प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर ।
४८. सु० श०	डा० सुरेन्द्र शर्मा—बिहारीपुरा, वृन्दावन–२८११२१ ।
४९. सू० प्र० दी०	डा० सूर्यप्रसाद दीक्षित—आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।
५०. ह० नं० भा०	डा० हर्षनन्दिनी भाटिया—रीडर, हिन्दी विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ० प्र०) ।

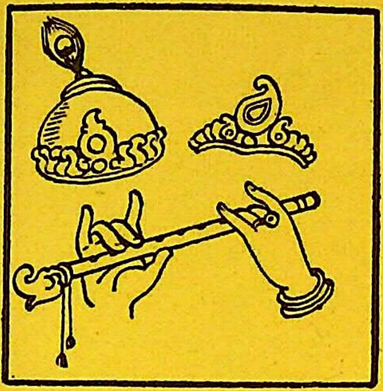

भक्ति सम्प्रदायों में श्री राधाकृष्ण

—डा० शरण बिहारी गोस्वामी
—पं० ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य
—श्री निष्किचन स्वामी त्रिदण्डी
—श्री हित सुकुमारीलाल गोस्वामी
—श्री कण्ठमणि शास्त्री
—श्री क० गोकुलानंद तैलंग
—डा० राधिकाप्रसाद त्रिपाठी

ब्रज मण्डल

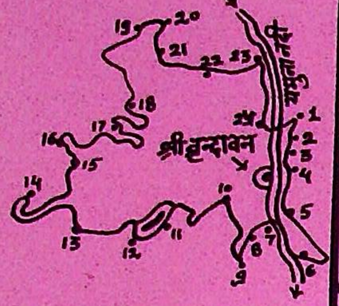
श्रीवृन्दावन
यमुना नदी
1
2
3
4
5
6
7
8
9
10
11
12
13
14
15
16
17
18
19
20
21
22
23
24

1. भद्रवन
2. भाण्डीरवन
3. माट
4. बेलवन
5. लोहवन
6. महावन
7. मथुरा
8. मधुवन
9. तालवन
10. बहुलवन
11. गोवर्धन
12. पूंछरी
13. डीग
14. बूढ़े बद्री
15. घाटा
16. कामवन
17. बरसाना
18. नन्दग्राम
19. कोटवन
20. शेषसाही
21. नन्दनवन
22. पैगाँव
23. शेरगढ़
24. सेई

श्री वृन्दाबन धाम.

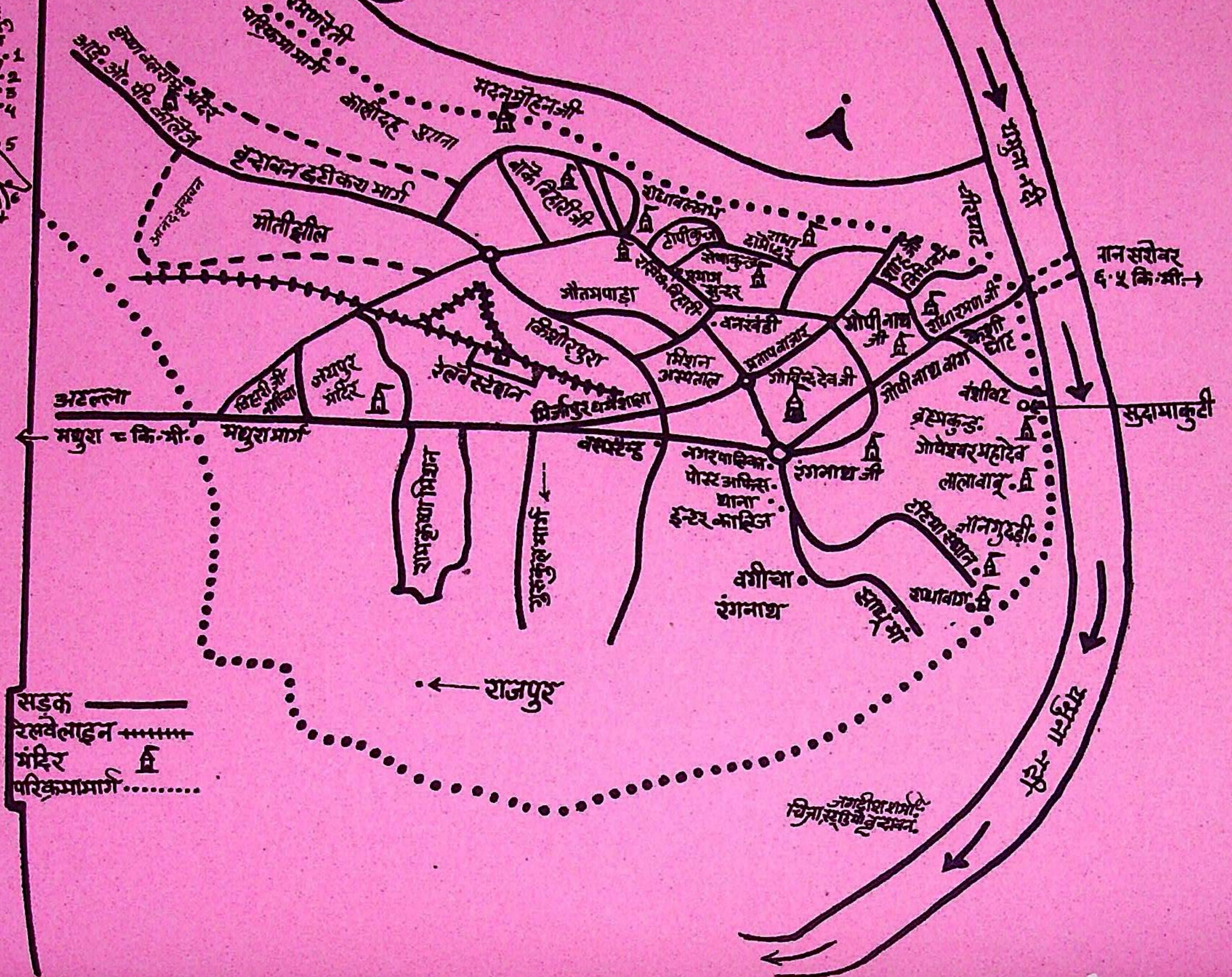
रमणरेती
परिक्रमा मार्ग
कृष्ण बलराम मंदिर
आई० ओ० पी० कॉलेज
मदनमोहन जी
कालीदह पुराना
वृन्दावन हरीकथा मार्ग
आनंदवृन्दावन
मोतीझील
बाँके बिहारी जी
राधावल्लभ
टोपीकुंज
राधा दामोदर
सेवाकुंज
श्याम सुन्दर
रसिक बिहारी
गौतमपाड़ा
किशोरपुरा
रेलवे स्टेशन
मिर्जापुर धर्मशाला
जयपुर मंदिर
बिहारी जी बगीचा
अटल्ला
मथुरा ८ कि० मी०
मथुरा मार्ग
वनखंडी
मिशन अस्पताल
प्रताप बाजार
गोविन्द देव जी
गोपीनाथ जी
राधारमण जी
केशी घाट
गोपीनाथ बाग
चीरघाट
यमुना नदी
मान सरोवर
६.५ कि० मी०
सुदामाकुटी
वंशीवट
ब्रह्मकुण्ड
गोपेश्वर महादेव
लालाबाबू
ज्ञानगुदड़ी
टटिया स्थान
राधाबाग
साधु माँ
रंगनाथ जी
नगरपालिका
पोस्ट ऑफिस
थाना
इन्टर कॉलिज
बगीचा
रंगनाथ
वंसीवट
राजपुर
सड़क
रेलवेलाइन
मंदिर
परिक्रमामार्ग
जगदीश शर्मा
चित्रा सुरुचि वृन्दावन

वैष्णव-भक्ति-सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण

भारतीय जनमानस पर उपास्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर श्रीकृष्ण ने सर्वाधिक प्रभावशाली रूप में शासन किया है। वैष्णवों की धारणा है कि कृष्ण अनादि पुरुष हैं और समस्त कारणों के भी कारण हैं।[१] वैष्णव विद्वानों ने वेदों में भी श्रीकृष्ण-तत्व को ढूंढ निकाला है। 'त्वं नृचक्षा वृषभानुपूर्वी, कृष्णास्वग्ने अरुषो विभाहि'[२] में एवं अन्यत्र गोप-रूप विष्णु के वर्णन में वे श्रीकृष्ण का ही दर्शन करते हैं।[३]

किंतु कतिपय अन्य आधुनिक विद्वान् उपर्युक्त स्थलों की इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। वे श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं।[४] कुछ विद्वानों के अनुसार कृष्ण नामक अनेक व्यक्तित्व थे, जो कालान्तर में एक नाम के अन्तर्गत समाहित हो गये।[५]

इसमें संदेह नहीं कि महाभारत-काल में श्रीकृष्ण इस धराधाम पर पुरुष-रूप में विद्यमान थे, परन्तु भारतीय धार्मिक इतिहास की वह घड़ी अपूर्व थी, जब श्रीकृष्ण को देवता रूप में आदर दिया गया। यहीं से श्रीकृष्ण के विभिन्न धार्मिक रूपों की यात्रा आरंभ होती है और हम देखते हैं कि वे आज भी नित्य नूतन शक्ति-शोभा-धाम होकर भारतीय जनता के उपास्य बने हुए हैं। महाभारत में हमें श्रीकृष्ण के महापुरुष रूप के दर्शन होते हैं, साथ ही वहीं उनके ईश्वर रूप के दर्शन भी स्पष्टतया होते हैं। महाभारत के नारायणीय पर्व में श्रीकृष्ण को ही लोकों का भावन तथा मोहन करने वाला, संहारकर्ता, कारक और कारण बताया गया है।[६] वनपर्व में मार्कण्डेय ने भी उन्हें पुराणपुरुष विभु के रूप में देखा है।[७] महाभारत में श्रीकृष्ण का ईश्वरत्व सिद्ध करने वाले स्थल शतश: हैं, परन्तु महाभारत के ही एक अंश श्रीमद्भगवद्गीता का महत्व इस दृष्टि से सर्वाधिक है। वहाँ श्रीकृष्ण ने स्वयं को परात्पर तत्व बताया है। उनसे परे और कोई नहीं है—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।[८]

ब्रह्म के सम्बन्ध की जितनी भी धारणाएँ हैं, इस ब्रह्माण्ड की जितनी भी शक्ति-सत्ताएँ हैं, निखिल तथ्य और परात्पर सत्य इन सभी के रूप में श्रीकृष्ण का स्वरूप ही गीता में वर्णित है।[९] श्रीकृष्ण के इस स्वरूप-कथन के साथ ही गीता की विशेषता यह है कि उन्हें प्राप्त करने का सहज साधन भक्ति माना गया है।[१०]

धार्मिक उपास्य के पूर्व-प्रचलित समस्त ईश्वर-रूपों का अंतर्भाव क्रमशः श्रीकृष्ण में होता गया। वेदों का प्रधान देवता इन्द्र क्रमशः कृष्ण के रूप में विलीन हो गया।[११] विष्णु और कृष्ण एक हो गये।[१२] सात्वत पांचरात्र अथवा भागवत मत के उपास्य वासुदेव श्रीकृष्ण ही हैं।[१३] इस प्रकार समस्त उपास्य-रूपों को अपने में समेटते हुए श्रीकृष्ण परम दैवत और परब्रह्म रूप में प्रतिष्ठित हुए। 'कृष्णो वै परमं दैवतम्', 'परंब्रह्मैव तत्'।[१४] गोपाल तापनी उपनिषद् में ही उन्हें ब्रह्मा का उत्पन्न करने वाला, आत्मबुद्धिप्रकाश और मुमुक्षुओं का शरण्य कहा गया है।[१५]

श्रीकृष्ण के परब्रह्मत्व का विस्तृत कथन पुराणों में हुआ है। स्कन्द पुराण में उन्हें परब्रह्म पुरुषोत्तम बताया गया है।[१६] विष्णुपुराण एवं अन्यत्र भी सर्वत्र श्रीकृष्ण का परब्रह्मत्व स्वीकृत किया गया है, परन्तु पुराणों में मुख्य हरिप्रिय और श्रेयस्कर वेदतुल्य भागवत पुराण[१७] का श्रीकृष्ण के भगवत् स्वरूप निर्णय में प्रमुख योग है।

भागवतकार की दृष्टि में श्रीष्ण ही अखिलात्माओं के आत्मा हैं। वे जगत् के हित के लिये ही माया द्वारा पुरुष रूप में प्रकट हुए हैं—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्। जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया।[१८]

श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म, सनातन एवं परमानन्द हैं। वे अव्यक्त, आदि, सत्तामात्र, निर्विशेष और निरीह हैं।[१९] श्रीमद्भागवत में तो अवतार के पूर्णत्व की चर्चा कर कहा गया है कि श्रीकृष्ण ही पूर्ण भगवान् हैं।[२०] यही भावना ब्रह्म-संहिता में भी प्रकट की गई है।[२१] श्रीकृष्ण को परात्पर मानने वालों के लिये ये सूत्र दृढ़ नौका के समान हैं।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण को परम तत्त्व बताते हुए कहा गया है कि उन्हीं को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन शब्दों से जाना जाता है।[२२] श्रीकृष्ण के ये विशेषण गीता आदि में भी प्रयुक्त हुए हैं परन्तु श्रीमद्भागवत के इस क्रम के आधार पर वैष्णवाचार्यों ने इनको एक तारतम्य में स्वीकृत किया है। श्री जीव गोस्वामी ने ब्रह्म तत्त्व को सब प्रकार की शक्ति आदि की विकास रहित निर्विशेष अवस्था कहा है। परमात्मा अन्तर्यामी रूप है। वे ही सृष्टि-लयादि के कारण हैं, सर्वशक्तियुक्त हैं और भगवान् का अर्थ सर्वैश्वर्य-संपन्नता है।[२३] अतः श्रीमद्भागवत के अनुसार ब्रह्मत्व के भी पूर्ण विकसित रूप, सम्पूर्ण ऐश्वर्यमंडित स्वरूप साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।

श्रीमद्भागवत में भगवान् कृष्ण का ऐश्वर्य और माधुर्य समन्वित रूप वर्णित है। भगवान् के अवतार का ऐश्वर्यपूर्ण कारण "विनाशाय च दुष्कृताम्"[२४] भागवत में प्रधान रूप से "अनुग्रहाय भूतानां"[२५] रह गया है। भागवतकार ने कहा है कि भगवान् की लीला-कथा-रस-निषेवण के अतिरिक्त इस संसार को पार करने का दूसरा उपाय नहीं है।[२६] अतः श्रीमद्भागवत ने श्रीकृष्ण के मधुर रूप को ही विशेष रूप से लेकर उनका लीला-गान किया है।

श्रीमद्भागवत के पश्चात् भगवान् के माधुर्यमण्डित रूप की उपासना प्रधान हो गई। इस उपासना का पूर्ण विकास १६ वीं शताब्दी में आकर हुआ। गोपीभाव के समस्त सम्प्रदायों के उपास्य परात्परतत्त्व श्रीकृष्ण ही हैं। श्री मध्वाचार्य के सम्प्रदाय में हरि ही परतर हैं।[२७] ये श्रीहरि स्वातन्त्र्य, शक्ति, विज्ञान, सुखादि अखिल गुणों से युक्त, निःसीम, सभी देवताओं के स्वामी हैं। वे ही विष्णु हैं। सर्वगुणों से पूर्ण, संसार-वर्जित, निर्दुःख और नित्यानन्द भोगी हैं।[२८]

निम्बार्क-संप्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थ 'वेदान्त कामधेनु' में स्वभाव से ही समस्त दोषों को अपास्त कर देने वाले, अशेष कल्याण गुणराशि, व्यूहांगी तथा वरेण्य श्रीहरि को ही उपास्य बताया गया है।[२९] इस सम्प्रदाय के विद्वान् आचार्य श्रीनिवास ने भी परब्रह्म, नारायण, वासुदेव आदि शब्दों से अभिधेय श्रीकृष्ण को उपास्य कहा है।[३०] निम्बार्क संप्रदाय की यही परम्परा है।

चैतन्य-सम्प्रदाय में भी परात्पर श्री कृष्ण ही उपास्य हैं। 'सिद्धान्तरत्न' में श्री बलदेव विद्याभूषण कहते हैं कि ज्ञान और भक्ति से गोचर श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं। वे ही भगवान् कहे जाते हैं।[३१] कृष्णदास कविराज ने भी कहा है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। वे ही परतत्व हैं, पूर्णानन्द, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण महत्व हैं।[३२]

श्रीवल्लभाचार्य ने भी श्रीकृष्ण को सच्चिदानन्द परब्रह्म माना है। वे अपने ग्रथ 'सिद्धान्त-मुक्तावली' में कहते हैं कि श्री कृष्ण ही परब्रह्म और व्यापक सच्चिदानन्द हैं।[३३] अन्यत्र भी उन्होंने श्रीकृष्ण को सच्चिदानन्द रूप, व्यापक, अव्यय, सर्वशक्ति स्वतन्त्र, सर्वज्ञ और गुणवर्जित कहा हैं।[३४] वे ही जगत् के कर्ता हैं, सगुण-निर्गुण भी हैं।[३५] अतएव आत्मानन्द-समुद्र-रूप श्रीकृष्ण का ही चिन्तन करना चाहिये।[३६]

निष्कर्ष यह निकलता है कि इन सभी सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण ही उपास्य हैं। वे परब्रह्म हैं। उनसे परे और कोई नहीं है। वे शक्तिमान् हैं। वे अन्तरंग बहिरंग सभी शक्तियों के स्वामी हैं। उनका अधिकार अखण्ड एवं अविभाज्य है।

श्रीकृष्ण-तत्व का पूर्ण रस-रूप में विवेचन होने पर भी रस की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति केवल श्रीकृष्ण के रूप में ही सम्भव नहीं है। कहा जा चुका है कि रस क्रीड़ाशील वस्तु है और क्रीड़ा दो के बीच होती हैं। इन सम्प्रदायों में राधा

और गोपियों के माध्यम से रस-सृष्टि का जो प्रयत्न है, उसमें शृङ्गार रस की पूर्णता नित्य अद्वय युगल की मान्यता के बिना नहीं हो सकती थी। अतः आगे चलकर लीला के दृष्टिकोण से इन्होंने भी राधा-कृष्ण की एकता और समता का प्रतिपादन किया है। परन्तु इस मान्यता को प्रारम्भ और अन्तिम रूप में केवल सखीभाव के उपासक ही लेकर चले। उनके यहाँ उपास्य तत्व सर्वदा युगल तत्व ही है और उसमें भी श्री राधा की प्रधानता है।

दूसरे श्रीकृष्ण के परब्रह्मत्व के कारण जो अखिल ऐश्वर्य, भगवत्ता और शक्तिमत्ता उनके साथ लगी है, उस कारण माधुर्य पक्ष की उपासना होते हुए भी उनका ऐश्वर्य पक्ष कभी तिरोहित नहीं होता। इससे रस की वास्तविक अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न होती है। रसिकों ने ऐश्वर्य-प्रकाश की इस स्थिति को अपने सिद्धान्त में बाधक माना है।

श्रीकृष्ण का जो पौराणिक स्वरूप लीला के लिये इन सम्प्रदायों में गृहीत हुआ है एवं उसके साथ कृष्ण को जो अनेक कर्तव्यादि पालन करने होते हैं उनसे भी पूर्ण रसाभिव्यक्ति में बाधा होती है। सखीभाव के उपासकों ने इस सब के अन्दर से श्रीकृष्ण का केवल रस-रूप ही अपनी उपासना के लिए गृहीत किया है और उस मूल रसस्वरूप का नाम है—नित्य निकुंज विहारी।

श्री निकुञ्ज बिहारी

विशुद्ध सखीभाव में निकुंजबिहारी पूर्ण रस-मूर्ति हैं। वे नित्य आनन्द-स्वरूप हैं, सहज सुख की निधि हैं और प्रेम के सागर हैं।

सखीभाव में नित्यबिहारी के ऐश्वर्य मंडित रूप की चर्चा कथंचित् भी नहीं होती। वे यहाँ अपने परब्रह्मत्व के कारण उपास्य नहीं हैं। परब्रह्मत्व उनका बहुत बड़ा गुण नहीं है। रसिकों का कथन है कि "सृष्टि कौन करता है, उसका धारण और संहार कौन करता है, इस व्यर्थ की बात पर विचार करने के लिये हमारे पास समय नहीं है। राधाकृष्ण क्रीड़ा को कुंजवीथियों की उपासना ही हमारा प्रयोजन है।"[३७] यह सृष्टि तो उसकी एक कला मात्र से उत्पन्न हो जाती है। भगवत रसिक कहते हैं "नित्यविहारी की एक कला मात्र से प्रथम पुरुष उत्पन्न होता है। उसके अंश से माया उत्पन्न होती है। उससे महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्व से अहंकार जन्म लेता है। यह अहंकार ही त्रिविध हो ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप धारण करता है। इन सबसे ही जगत् का उद्भव, पालन और संहार होता है। निश्चित ही इन सबका बीज श्री नित्यविहारी हैं।[३८]

सृष्टि के बीज श्री नित्यविहारी हैं। रहें, पर उससे रसिकों को क्या प्रयोजन ? रसिकों को उसकी विभूति में से किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं है। वह नित्यविहारी का उपासक है न कि उसके ऐश्वर्य का। इन रसिकों ने ऐश्वर्य और वैभव को, ज्ञान अथवा माहात्म्य को उस नित्य माधुर्य का आवरण माना है। श्री ध्रुवदास जी कहते हैं कि, "ऐश्वर्यता, ज्ञान, महातम विषय या रसमाधुरी कौ आवरन हैं। इनतें चित्त काढ़ि माधुर्य रस में देनौ"।[३९] भगवान् के अनन्त गुणों की ओर न देख कर उनके रस-स्वरूप को ही देखना चाहिये। जिस प्रकार नाविक जहाज पर चढ़ कर दूरबीन से अपना लक्ष्य देखता है, उसी प्रकार इस समस्त आवरण को छांटकर प्रकृति-पुरुष से परे जो परम उज्ज्वल रस-रूप नित्यविहारी है, उसे ही देखना चाहिये।[४०]

रसिकजन एवं अन्य भगवद्भक्तों में यही भेद है। भक्त भगवान् के प्रति प्रणत होकर जो कुछ भी उनका बहिरङ्ग लीला विस्तार है, उसको भी अपना उपास्य बनाता है, परन्तु सखीभाव का उपासक रसिक केवल नित्यविहारी की अन्तरङ्ग लीलाओं के महामधुर रस का ही उपासक है। वह भगवान् की भगवत्ता की कभी चर्चा नहीं करता।

यह प्रेम रस ही ऐसा है। यहाँ किसी का बड़प्पन नहीं रहता। प्रेम के राज्य में प्रेमी याचक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अत्यन्त तिरछे, चतुर और छैल बिहारी यहाँ प्रिया जी की जूठन के लिये ललचाते हैं। उनका वैभव और

उनकी ठकुराई यहाँ कहाँ गई ? माँगने पर कठिनाई से यहाँ उन्हें जूठन मिल पाती है। पैरों पड़ कर उन्हें 'हा हा' खानी पड़ती है। उस समय उनसे कोई 'ठाकुर' नाम से बुला भी दे तो वे बड़ा संकोच अनुभव करते हैं। वास्तव में उन्हें अपनी ठकुराई और प्रताप-विस्तार सुहाता भी नहीं है। वे तो रात्रि-दिन अपनी जीविका (विहार) की प्रिया जी से याचना करते रहते हैं।[४१]

श्री बिहारिनदासजी के उपर्युक्त भावों को लेकर ध्रुवदासजी ने लिखा है कि अपनी बड़ाई श्रीकृष्ण ने दीन होकर छोड़ दी है। उन्हें बड़ाई की बातें अच्छी नहीं लगतीं। श्रीराधा को पाकर वे अपने भाग्य को धन्य मानते हैं।[४२] ठीक भी है जो अपने अन्य क्षेत्रों में सब ठाकुरों का ठाकुर है, इस प्रेम राज्य में उस ठाकुर की भी ठाकुर राधा हैं। अन्य उपासना-क्षेत्रों में वैभव के महल पर प्रेम का कलश स्थापित किया गया है परन्तु इस प्रेम-देश में नींव से लेकर कलश तक सभी कुछ प्रेम ही प्रेम है। वैभव और ऐश्वर्य के पक्षी तो यहाँ पर भी नहीं मार पाते।

श्रीनिकुंज-विहारी का सखी-भाव के समस्त साहित्य में जो दैन्ययुत स्वरूपवर्णन है, उसका कारण रस की उपलब्धि की आकांक्षा ही है। यहाँ पुरुषोत्तम अपना पौरुष खो बैठा है। उस पुरुषत्व का तो वह ध्यान भी नही कर सकता। उसके ध्यान से तो वह स्वयं संकुचित हो जाता है। जो व्यक्ति कृष्ण के वैभव और तथाकथित लोकादर्श रूप से परिचित हैं उन्हें नित्य विहारी का यह रूप स्त्रैण-सा ज्ञात होता है परन्तु रसिकों की दृष्टि में, भाव-राज्य में यह स्त्रीत्व ही चरम उपलब्धि है। प्रिया जी की सेवा करने का सौभाग्य सखियों को मिलता है। उस आनन्द में प्रियतम का रोम-रोम पुलकित हो उठता है, और वे सखियों की दशा प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगते हैं।[४३]

श्री लालजी की राधा के प्रति यह रति अद्वितीय है। वे अनोखे प्रेमी हैं। उनका प्रेम अपने प्रिय को पाकर भी पूर्णतया संतुष्ट नहीं होता। रूप का भोग और उसमें निरन्तर आसक्ति, यही प्रियतम का स्वरूप है। भोक्ता और भोग्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए श्री राधा को रति तथा हरि को 'काम' कहा गया है। प्रेम की आत्मा स्वामिनी जी हैं और मन श्रीलाल जी हैं। प्रियास्वरूप विकसित सरोज और प्रियतम अलि हैं।

श्रीविहारी जी साक्षात् शृङ्गार हैं। शृङ्गार का वर्ण शास्त्रज्ञों ने भी श्याम ही माना है। काम का रूप भी श्याम है। अतः नित्यविहारी तत्व भी श्याम है। राधा तत्व सहज उदार होने से गौर वर्ण है। इन दोनों की जोड़ी घन-दामिनि जैसी है।

नाम

नित्यविहारी के उपासक रस के उपासक हैं। अतः अपने उपास्यस्वरूपों के अलग-अलग नामों की आवश्यकता उन्हें नहीं होती।[४४] फिर भी व्रजलीलाओं से अपने उपासना-स्वरूप को पृथक् दिखाने के लिये स्वामी हरिदास जी एवं उनके अनुयायियों ने श्रीनिकुञ्जविहारी के रस-संबंधी नाम ही स्वीकृत किये हैं। व्रजलीला-संबंधी नामों को यहाँ जानबूझ कर स्थान नहीं दिया गया है। नन्दनन्दन, यशोदानन्दन, वासुदेव, गोवर्धनधारी, गोपीनाथ आदि नाम विशुद्ध सखी-भावोपासकों द्वारा नित्यविहारी के लिये प्रयुक्त नहीं होते। यहाँ तक कि श्रीकृष्ण नाम भी व्रजलीला से अत्यधिक सम्बन्धित जान कर यहां प्रायः प्रयुक्त नहीं हुआ है। सखी-संप्रदाय की प्रारम्भिक वाणियों में नित्यविहारी का श्रीकृष्ण नाम प्राप्त नहीं होता। राधावल्लभ संप्रदाय के रसिक श्रीध्रुवदासजी ने एक पद में कुञ्जविहारी के नाम गिनाये हैं, जो उदाहरण के रूप में यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

लाल रंगीलौ गाइयै, तातें प्रीति रंगीली पाइयै ॥
श्रीराधावल्लभ लाडिलौ, दूलह, नित्य किसोर। कुञ्जबिहारी, भांवतौ, मुख प्यारी चन्द चकोर ॥
रस-रंगी, राधा-धनी, राधा-धव, सुकुंवार। कुञ्ज-रवन-शोभा-भवन, वर-सुन्दर सुघर उदार ॥

रसिक, रसीली, रँगमँग्यौ, श्रीवृन्दावन चंद। विपिन-विलासी, छबि महा, पिय-राधा, आनंदकंद ॥
रसिकमौलि, आनंदमणि, मोहन, कृष्ण, कृपाल। सहज सलोनो, सांवरौ, अम्बुज नयन बिसाल ॥
हित ध्रुव यह नामावली, मन धुन सों लै पोइ। ताही की रसना रटै, कुंवरि कृपा जब होइ ॥[४५]

ध्रुवदास जी ने सम्पूर्ण प्रयोज्य नाम नहीं गिनाये हैं। वे हैं भी अनन्त, इससे इतना ही अनुमान हो सकता है कि इस रस-क्षेत्र में रस-संबंधी नाम ही लिये जा सकते हैं।

विग्रह

नित्यबिहारी नित्य तत्व हैं। वे अवतार नहीं, अवतारी हैं। उनका जन्म-मरण नहीं होता। वे नित्य अजन्मा हैं। उनका स्वरूप मानवीय होते हुए भी आनन्द-विग्रह है।[४६] रस ही दिव्य रूप धारण कर क्रीड़ा कर रहा है।

ध्यान

श्री निकुंजविहारी का ललित स्वरूप पुरुषत्व की कठोरता से परे है। यहाँ उनका निकुञ्ज का श्रृङ्गार है, जो बहुत कुछ प्रिया जी के ही अनुकूल है। सम्प्रदाय में कभी अकेले विहारी जी का ध्यान नहीं किया जाता, इसलिये उनके अलग से वेशभूषा के चित्र-बहुत कम प्राप्त होते हैं। भगवत-रसिक जी ने युगल ध्यान वर्णन करते हुए 'लालजू को ध्यान' अलग से लिखा है। इस नख-शिख का सम्पूर्ण विवरण श्रीकृष्ण के सामान्य रूप बर्णनों से बहुत कुछ भिन्न हैं। इसमें श्रीविहारी जी के श्रृङ्गार का वर्णन चरणों से आरम्भ किया गया है। उनकी एड़ियों में महावर लगा है, नख रंगे हुए हैं। अंगुलियों में पायजेब और नूपूर धारण किये हैं। जानुओं से नीचें पायजामा पहने हैं, जिसमें पीले रंग का फुंदना है और बेलबूटे कढ़े हुए हैं, मणियों का अपूर्व श्रृङ्गार है। ऊपर चोली धारण किये हैं। अंग में लेपन हो रहा है। पृथु नितंब हैं, कटि क्षीण है। गम्भीर नाभि है। सुन्दर त्रिवली है। थोड़ी सी तोंद भी है। हृदयस्थल विशाल है। स्कंध पुष्ट हैं और भुजाएँ जंघाओं तक लम्बी हैं" हाथों में पहुँची हैं। हथेली के पृष्ट पर करफूल पहने हैं। अगुलियों में अनेक प्रकार की मुन्दरी पहने है। हथेली में मेंहदी लगाये हैं। उनमें सुन्दर मुरली धारण किये हैं, जिसमें से मधुर राग-रागिनियों से युक्त ध्वनि निकल रही है। अधर अरुण वर्ण के हैं। मुख में पान खाये हैं। नासिका में बेसर और बुलाक है। नेत्र चंचल और विशाल हैं, जिनमें अंजन लगा है। तिरछी भृकुटी हैं। माथे पर प्रिया जी की प्रसादी बिन्दी लगी है। चन्दन की खौर भी लगी है। कपोलों पर भी चित्र-रचना हो रही है। सौरभ में सनी अलकावली उड़ रही हैं। कानों में कुंडल हैं। शीर्ष पर चिकने केशों का 'जूरा' बँधा है, जिस पर अद्भुत मणि-चूड़ा लगा है। सिर पर बाँकी पाग बँधो है जिसके अग्रभाग में 'जराऊ सिरपेंच' है, उस पर कलगी लगी है। एक ओर अनुपम तुर्रा भी लगा है····इत्यादि।[४७]

श्री विहारीजी के इस ध्यान में एक ओर पुरुष रूप का श्रृङ्गार और शरीर-शोभा है तो दूसरी ओर चोली, जैसे वस्त्र, चरणों में पायजेब आदि जैसे आभूषण एवं केश व जूड़ा और उस पर पाग दोनों का वर्णन है। वास्तव में इस मिश्रित वर्णन का कारण एक तो स्वरूप का लालित्य है दूसरे कभी भी प्रिया या प्रियतम का अलग से वर्णन नहीं किया जा सकता, इसलिये ध्यान में प्रिया-प्रियतम का मिला हुआ रूप और शोभा वर्णित रहती है। हम देखते हैं कि लालजी का इतना वर्णन करने के उपरान्त भगवतरसिक जी तत्काल युगल-स्वरूप के वर्णन पर आ गये और तत्पश्चात् दोनों की लीला का वर्णन आरम्भ कर दिया है।

इस रूपवर्णन में दूसरी बात यह भी देखने की है कि इस पर अपने युग की पोशाक का कितना अधिक प्रभाव है। पायजामा और उस पर कसीदाकारी या जरी का काम एवं अन्य वर्णन भगवतरसिक जी के युग का स्मरण ही कराता

हैं। इनके पूर्ववर्ती महात्माओं ने जो वर्णन किये हैं, उनमें पीतांबर इत्यादि का प्रचुर वर्णन मिलता है। स्वामी हरिदास जी द्वारा किये गये ऐसे वर्णन बहुत ही सादा और स्वाभाविक हैं।

सहचरी

नित्यविहार रस-रीति को संपन्न कराने वाली दोनों के मध्य की प्रेम-मूर्तियाँ हैं—सहचरीगण। ये प्रियाप्रियतम के मध्य प्रेरक प्रेम की स्वरूपा हैं। प्रिया-प्रियतम की नित्य लीला में व्यापक रीति से पूरित रह कर ये लीला-सहकारिणी बनती हैं। प्रियाप्रियतम की नित्यकेलि को निष्पन्न कराकर उसका आस्वादन भी ये सखियाँ ही करती हैं। इन सखियों का निष्काम प्रेम इस रस-रीति में विलक्षण है।

संदर्भ

१. अनादिरादिर्गोविन्द सर्वकारणकारणम्।—ब्रह्म संहिता ५, १

२. ऋग्वेद ३. १५. ३. तथा, अयं वा कृष्णो अश्विना हवं ते वाजिनी वसू मध्वय सोमस्य पीतये,
शृणुतं जरितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नरा मध्व, सोमस्य पीतये,—ऋक् संहिता, अ. ६. ७. ८

३. विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथ प्रिया धामान्यमृता दधानः।
अग्निष्ठा विश्वा भुवनानि वेद महाद्देवानामसुरत्वमेकम्॥—ऋक् संहिता, ३. ३. ३९

४. गीता रहस्य अथवा कर्मयोग, बाल गंगाधर तिलक,—पृ० ५४८.

५. देखिये, वैष्णविज्म शैविज़्म ऐन्ड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स,—डा० भांडारकर

६. कृष्ण एव हि लोकानां भावनो मोहनस्तथा।
संहारकारकश्चैव कारणं च विशाम्पते॥—महाभारत, शान्तिपर्व, ३४८. ८८

७. स एव कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणपुरुषो विभुः॥—इत्यादि। महाभारत, वनपर्व, १८९.५४

८. श्रीमद्भगवद्गीता—७, ७.

९. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १०.

१०. श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया—श्रीमद्भगवद्गीता १२. २०

११. भक्ति कल्ट इन ऐन्शियन्ट इण्डिया—श्री वी० के० गोस्वामी—पृ० १०१ से आगे.

१२. देवदेवोह्यनन्तात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः।
प्रधान पुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान्॥
स एव भगवान् विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते।
अनाद्यन्तमजं देवं प्रभुं लोकनमस्कृतम्।—महाभारत, वनपर्व २७२.३१,७२

१३. इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, भा० २३. १८९४, पृ० २४८.

१४. गोपाल तापिनी उपनिषद्, १. ३. १. ४.

१५. यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै विद्यास्तस्मै गोपायति स्मः।
कृष्णं तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वैशरणमनुव्रजेत॥ —गोपाल तापिनी उपनिषद्, १. ३. ४.

१६. वासुदेवः परंब्रह्मः श्रीकृष्णः पुरुषोत्तमः॥ —स्कन्दपुराण, वैष्णवखंड, वासुदेव मा०

१७. मुख्यं पुराणेषु हरिप्रियंच श्रेयस्करं भागवतं पुराणम्। —गरुड़ पुराण

१८. श्रीमद्भागवत १०. १४. ५५

१९. श्रीमद्भागवत १०. ३. २४

२०. एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् । —श्रीमद्भागवत १. ३. २८

२१. रामादिमूर्तिषु कला नियमेन तिष्ठन्, नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु ।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमं पुमान् यो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।—ब्रह्म संहिता, ५. ३९

२२. वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥—श्रीमद्भागवत १. २. ११

२३. देखिये, जीव गोस्वामिकृत षट् संदर्भ, और वैष्णव सिद्धान्त रत्नाकर, वृन्दावन ।

२४. श्रीमद्भगवद्गीता ४. ८

२५. श्रीमद्भागवत १०. ३३. ३७

२६. संसारसिंधुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद्विविध दुःख दवार्तितस्य ॥—श्रीमद्भभागवत १२. ४. ३९

२७. श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्वतो ··· इत्यादि श्लोक, प्रेमपत्तनम्, काशी, भूमिका, पृ० ४ पर उद्धृत,

२८. स्वातंत्र्य शक्तिविज्ञानसुखाद्यैरखिलैर्गुणैः ।
निस्सीमत्वेन ते सर्वे तद्वशा, सर्वदेवताः ॥
विष्णुं सर्वगुणैः पूर्णं ज्ञात्वा संसारवर्जितं ।
निर्दुःखानन्दभुङ्नित्यं तत्समीपे स मोदते ॥—मध्वाचार्य, प्रेमदर्शन मीमांसा भा० २

२९. स्वभावतोऽपास्त समस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥ —वेदान्त कामधेनु,

३०. ब्रह्मशब्दाथस्तुपूर्वंव्युत्पादितः वक्ष्यमाणलक्षण जगत्कर्तृत्वादि गुणगणनिलयः
परब्रह्मनारायणवासुदेवादिशब्दाभिधेयः श्रीकृष्णः ।— श्रीनिवासाचार्य कृत. ब्रह्मसूत्र भाष्य, जिज्ञासाधिकरण

३१. तदेवं द्विविधज्ञानभक्तिगोचरः कृष्णाभिधानः पुरुषोत्तम, कृत्स्नशक्त्यभिव्यंजी
स्वयं भगवानुच्यते —श्रीबलदेव विद्याभूषणकृत सिद्धान्तरत्न, द्वितीय पाद,

३२. स्वयं भगवान कृष्ण, कृष्ण परतत्व, पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द, पूर्ण महत्व —चैतन्य चरितामृत १. २. ५

३३. परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् —सिद्धान्त मुक्तावली ३.

३४. सच्चिदानन्द रूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम् ।
सर्वशक्ति स्वतंत्रं च सर्वज्ञं गुणवर्जितम् ॥—तत्वदीप निबंध, शास्त्रार्थ प्रकरण,

३५. अणुभाष्याचार्य (श्रीवल्लभ), ३. २. २१.

३६. आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।—सिद्धान्त मुक्तावली, ११

३७. दूरे सृष्ट्यादि वार्ता ······कुंजवीथीमुपास्ते ॥—श्री गो० हितहरिवंशकृत श्रीराधासुधानिधि, २३५

३८. नित्यविहारी की कला, प्रथम पुरुष अवतार ।
तासु अंश माया भई, जाको सकल पसार ॥
जाको सकल पसार महातत्व उपज्यो जाते ।
अहंकार उत्पत्ति भई श्रुति कहैं जु ताते ॥
अहंकार त्रैरूप भयो शिव विधि असुरारी ।
भगवत सबको तत्व बीज श्री नित्यविहारी ॥
—अनन्य निश्चयात्मक ग्रंथ, भगवत रसिक पृ० २६

३९. सिद्धान्त विचार लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास पृ० १४

४०. देखै जीव जहाज चढ़ि, दूरबीन धरि नैन ।
ऐसेहि वस्तु विचार वर, लखै आपु उर ऐन ।।
लखै आप उर ऐन उपासक तौन कहावै ।
रहै गुणन के बीच गुणन आसक्त न आवै ।।
भगवतरसिक अनन्य सभा ते आगैं लेखें ।
प्रकृति पुरुष तें परे परम उज्ज्वल रस देखें ।। —अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ, पृ० २६

४१. अति टौंडक अति चिकनियां, अधिक चतुर इतराय ।
कितै विभव कित ठकुरई, जूठन को ललचाय ।
जांचै जूठन पाइयै, पाई परि हा हा खाय ।
जो ठाकुर कहि बोलियै तनक सकुच ह्वै जाय ।।
ताहि सुहाय न ठकुरई बड़ो प्रताप बिस्तार ।
जाँचत है दिन जीविका, सखि मोहि अहारविहार ।। —बिहारिनदास, साखी १४० से

४२. भये दीन यौं तजी बड़ाई, पुनि ताकी बातें न सुहाई ।
मानत है धनि भाग बड़ाई, ऐसी कुंवरि किसोरी पाई ।। —ध्रुवदास, नेहमंजरी पृ० २२६

४३. रोम रोम सब पुलकि तन, कंचुकि स्रम जल भीजि ।
पावँनि परि बिनती करैं, सखि मोहि दसा यह दीजु ।। —बिहारिनदास, साखी ११७

४४. बिहारीदास नाम न कहै, निरखै नित्यबिहार ।—बिहारिनदास साखी ४४८.

४५. ध्रुवदासजी की पद्यावली, पद सं. ४, बयालीस लीला, पृ० २.

४६. भगवान् के श्री विग्रह का स्वरूप मानवीय होते हुए भी आनन्दमात्र अथवा दिव्य माना जाता है, भगवान के कर, पद, मुख, उदर आदि सभी आनन्दमात्र हैं । नारद पांचरात्र में इस संबंध में यह श्लोक मिलता है—
निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतंत्रो निश्चेतनात्मक शरीरगुणैश्चहीन ।
आनन्दमात्र कर पाद मुखोदरादि, सर्वत्र च स्वगतभेद विवर्जितात्मा ।।
ब्रह्मसंहिता में भी कहा गया है—
अंगानि यस्य सकलेन्द्रिय वृत्तिमन्ति पश्यन्ति यान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति ।
आनन्दचिन्मय समुज्ज्वल विग्रहस्य, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।। ५. ३२.

४७. द्रष्टव्य-अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ—ध्रुवदास, पृ० २०-२३ ।

—डॉ० शरण विहारी गोस्वामी

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीराधा

श्रीराधा रासेश्वरी मोहन मदनगुपाल।
अलबेले उर में रहैं व्रजबल्लभ दोउ लाल॥

अशेष-सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्य-कारुण्य आदि गुणगणों के महासिन्धु सर्वाधार श्रीसर्वेश्वर की प्राणप्रिया प्राणाराध्या, आत्मा सर्वेश्वरी श्रीराधा के सम्बन्ध में वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, तन्त्र आदि शास्त्रों में जहाँ-तहाँ संक्षिप्त या विस्तृत व्यक्त-अव्यक्त रूप से जैसा-जैसा वर्णन मिलता है, उसका पूर्ण समन्वय न करके एक-एक आधार से लिखनेवाले लेखकों की अद्भुत कल्पनाओं से पाठकों की भिन्न-भिन्न धारणाओं का बन जाना स्वाभाविक है। पाश्चात्य लेखकों के अनुकरणरूप बँगला, गुजराती, हिंदी आदि भाषाओं की पुस्तकों में कई लेखकों ने बड़ी असम्बद्ध कल्पनाएँ की हैं, इससे श्रीराधा के स्वरूप को और भी बाधाएँ आ गयी हैं।

कुछ लेखक तो यही सिद्ध करने के लिये कटिबद्ध दिखायी देते हैं कि 'राधा' शब्द की सृष्टि ही विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुई होगी। एक लेखक महाशय ने तो यहाँ तक लिख डाला है कि 'दूर दूरके देशोंवाले चाहे श्रीराधा के नाम से परिचित रहे हों, किंतु व्रज के रहनेवालों को विक्रम की सोलहवीं शताब्दी तक भी श्रीराधा के नाम की जानकारी नहीं हो पायी थी।'[1]

इन शोधकों की ऐसी बेसिर-पैर की कल्पनाएँ उपहास के अतिरिक्त और कुछ भी महत्व नहीं रखतीं; किन्तु सुकुमार-बुद्धि पाठकों के चित्त में उनसे भ्रान्ति की सृष्टि होना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में अधिक न लिखकर इतना ही बतला देना पर्याप्त होगा कि पुराणोंका वर्तमान कलेवर यदि उतना पुराना न भी मानें तब भी आधुनिक ऐतिहासिकों की धारणा के अनुसार विक्रम की छठी शताब्दी से अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता। उन में व्रज के महत्व के साथ-साथ वहाँ पर श्रीराधा-कृष्ण की उपासना का पर्याप्त विधान मिल रहा है। हजारों वर्ष पूर्व व्रज-वृन्दावन में बने हुए श्रीराधा-कृष्ण के मन्दिरों के विधर्मियों द्वारा ध्वंस किये जाने के प्रमाण इतिहास-ग्रंथों में उपलब्ध हो रहे हैं। बहुत-सी ऐसी पुरातत्व-सामग्रियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि व्रज में सोलहवीं शताब्दी से बहुत पूर्व श्रीराधा-कृष्ण की उपासना का प्रचार-प्रसार था।

'अमरकोश' और 'गाथासप्तशती' छठी शताब्दी से प्राचीन माने जाते हैं, उनमें श्रीराधा का नाम मिलता है।[2] 'पञ्चतन्त्र' जिसे विक्रम की प्रथम शताब्दी से पूर्व का ग्रंथ कहा जाता है और भिन्न-भिन्न राष्ट्रभाषाओं में मिलनेवाले उसके अनुवाद जिसकी लोकप्रियता को सिद्ध कर रहे हैं, उसमें श्रीराधा का स्पष्ट नामोल्लेख और सांकेतिक परिचय भी मिल रहा है। आठवीं-नवीं शताब्दी के नाटक और काव्य-ग्रन्थों में तो श्रीराधा का नाम और परिचय स्पष्ट रूप से मिलता है।[3]

इन पुष्ट प्रमाणों के मिलते हुए भी, ग्यारहवीं शताब्दी तक 'राधा' शब्द का आविर्भाव न मानना एवं सोलहवीं शताब्दी तक व्रजवासियों को उसका ज्ञान न होना इत्यादि कल्पनाएँ विडम्बना ही कही जा सकती हैं।

वेद आदि शास्त्रों के आधारपर भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य और उनके परवर्ती आचार्यों ने श्रीराधा के सम्बन्ध में जैसा अपना अभिमत व्यक्त किया है, उसी का यहाँ किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है—

श्रीनिम्बार्ककृत 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' (ब्रह्मसूत्र-वृत्ति) में उपास्य, उपासक और उपासना—इन तीनों तत्वों की विवेचना की गयी है। वहाँपर इस तत्वत्रय का ब्रह्म, जीव, प्रकृति—इन नामों से भी उल्लेख मिलता है। उपास्य-

तत्व का प्रतिपादन उन्होंने ब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम, रमाकांत, सर्वेश्वर और रस आदि शब्दोंसे किया है और उन शब्दों का एकवचनात्मक ही प्रयोग किया है। ब्रह्मसूत्र २।२।८ के व्याख्यान में उन्होंने अपनी गुरुपरम्परा का उल्लेख करते हुए भूमा पुरुष को 'पुरुषोत्तम' कहा है। वह निरतिशय सुख एवं अमृतस्वरूप, अपनी महिमा में प्रतिष्ठित रहनेवाला, ऐश्वर्य-माधुर्य-सौशील्य-कारुण्यादि गुणों का समुद्र है। उनके मत से निर्गुण-शब्द का तात्पर्य 'सर्वथा गुणाभाव' नहीं है। संक्षेप में अपने मन्तव्य को प्रकाशित करने के उद्देश्य से उन्होंने 'वेदान्त-कामधेनु' (दशश्लोकी) की रचना की थी। उसमें ब्रह्मतत्व का स्पष्टीकरण इस प्रकारसे किया गया है[४]--

'प्राकृतिक गुण-दोषों से निर्लिप्त, कल्याणकारी, समस्त सद्गुणों के समुद्र, व्यूहों के अङ्गी, कमल के समान प्रफुल्लित नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण परमब्रह्म का हम ध्यान करते हैं।' 'प्रफुल्लित एकरस अनन्त सखियों द्वारा संसेवित श्यामसुन्दर के समान ही सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य-लावण्य आदि गुणोंवाली, अतएव भक्तों के समस्त अभीष्टों को पूर्ण करनेवाली उन वृषभानुजा देवी का हम निरन्तर स्मरण करते हैं, जो सदा श्रीकृष्ण के वाम अङ्ग में विराजमान रहती हैं।'[५] इस प्रकार दो श्लोकों द्वारा ब्रह्म-स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् उन्होंने एक साथ श्रीराधाकृष्ण की उपासना करने का आदेश दिया है। उनका कहना है कि 'अज्ञान-अन्धकार (अविद्या) की अनुवृत्ति रोकने (जन्म-मरणरूपी संसृतिचक्र से छुटकारा पाने) के लिये इसी श्रीराधाकृष्ण-युगलात्मक परमब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। यही उपासना-पद्धति सनकादि मुनियों ने समस्त तत्वों के ज्ञाता श्रीनारदजी को बतलायी थी।'[६] यहाँ श्रीनिम्बार्काचार्य ने अपनी पूर्व-परम्परा का भी संकेत कर दिया है।

दार्शनिक तत्वों का विवेचन करते समय श्रीनिम्बार्काचार्य के पट्टशिष्य श्रीनिवासाचार्य ने भी अपने गुरुदेव की उसी पद्धति को अपनाकर स्वरचित 'वेदान्त-कौस्तुभभाष्य' में ब्रह्म, रमापति, माधव आदि एकवचनान्त प्रयोगोंद्वारा ही ब्रह्म का निर्वचन किया है। स्थान-स्थानपर उन्होंने वेदान्त-कामधेनु (दशश्लोकी) के वाक्यों का उद्धरण भी दिया है। यही शैली श्रीदेवाचार्य और श्रीसुन्दर भट्टाचार्य ने अपनायी है। किंतु आचार्य श्रीनिम्बार्क के अन्यतम पट्टशिष्य श्रीऔदुम्बराचार्य ने युग्मतत्व का विशेष स्पष्टीकरण कर दिया है। उनके वचनों में उस समय की स्थिति का भी थोड़ा संकेत मिल जाता है। उन्होंने कहा है—'सत् ऐतिह्यके मूलतत्व, सुकृतियों के वृत्तों के मूल पोषक, सच्चिदानन्दघन श्रीराधा-कृष्णयुग्मरूप परम तत्व को कोई विरले सज्जन ही जान सकते हैं।[७]'

जैसे जल और उसकी तरंगे — दोनों भिन्न-भिन्न से प्रतीत होते हुए भी एक जल-स्वरूप ही हैं, उसी प्रकार वह श्रीराधाकृष्ण-युग्मतत्व भी वस्तुतः एकस्वरूप है।[८]

उन्हें यह ज्ञान अपने गुरुदेव श्रीनिम्बार्कभगवान् से ही प्राप्त हुआ था—यह आशय उन्होंने स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है।[९]

पुराणों के आलोड़न से पता चलता है कि श्रीराधा की उपासना का अधिकार सर्वसाधारण को नहीं था। वह किसी अधिकारी-विशेष को ही दिया जाता था। यह गोपन-प्रथा प्राचीन समय से ही चली आ रही होगी। सम्भव है इसी कारण से पुराणों में जहाँ-तहाँ श्रीराधा के स्पष्ट नामोच्चारण पर प्रतिबन्ध लगाया गया हो। श्रीमद्भागवत में 'अनयाऽऽराधितो नूनं'' इत्यादि सांकेतिक वचनोंद्वारा श्रीराधानाम के उल्लेखों का भी यही तात्पर्य प्रतीत होता है। यह अवश्य मानना होगा कि वह गोपन-आदेश किसी विशेष उद्देश्य से सम्बन्धित रहा होगा, किंतु कालान्तर में उसका विशेष प्रचार-प्रसार हो गया, जो श्रीनिम्बार्काचार्य के प्रादुर्भाव तक बढ़ता ही गया। उसीका परिमार्जन फिर श्रीनिम्बार्काचार्य ने किया।

ऐतिहासिकों के इस कथन 'श्रीराधा की उपासना के प्रचारकों में श्रीनिम्बार्काचार्य प्रमुख हैं'--की पुष्टि श्रीऔदुम्बराचार्य के वचनों से भी होती है। श्रीनिम्बार्क और उनके परवर्ती कई एक आचार्यों के वचनों से पता चलता है कि उस समय श्रीराधा की उपासना के प्रचार में कुछ अड़चनें उपस्थित थीं। वेदान्त-कामधेनु के सर्वप्रथम व्याख्याकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्य द्वारा श्रीनिम्बार्क-प्रयुक्त 'देवी' शब्द को रुक्मिणीपरक अर्थ लगाने का भी यही आशय हो सकता है। सम्भवतः

श्रीराधा-उपासना को व्यक्त करने और न करने के दो पक्ष सैकड़ों वर्षोंतक चलते रहे होंगे । श्रीनिम्बार्काचार्य के शिष्य-प्रशिष्यों के ग्रन्थों से यह भासित होता है कि कुछ महानुभाव इस उपासना को व्यक्त करने में तत्पर थे और कुछ गोपन के पक्षपाती थे ।

श्रीऔदुम्बराचार्य ने श्रीराधा-नाम के स्पष्ट उच्चारण एवं जप-संकीर्तनपर जितना बल दिया है, उतना ही श्रीराधा की प्रतिमा प्रतिष्ठित करानेका भी अनुरोध किया है । उनका कहना है कि श्रीकृष्ण के साथ हरिप्रिया श्रीराधाकी प्रतिमा को भी प्रतिष्ठापित किया जाय, दोनों की पूजा करने से ही परम गति प्राप्त हो सकती है ।[10]

यद्यपि श्रीनिम्बार्कचार्य के कोई ऐसे वचन उपलब्ध नहीं होते, जिनमें श्रीराधा को श्रीकृष्ण का अंश या शक्ति कहा गया हो अथवा स्वकीया-परकीया-भाव की चर्चा की गयी हो, तथापि प्रेमाधिष्ठात्री श्रीराधा को श्रीकृष्णकी-आह्लादिनी शक्ति बतलानेवाले शास्त्रीय वाक्यों के अनुसार उन्हें 'शक्ति' माना जाता है । अंश और अंशी तथा शक्ति और शक्तिमान् में स्वस्वामित्वरूप भेद-सम्बन्ध माननेपर उनमें कुछ तारतम्य की प्रतीति होना स्वाभाविक है, जिससे उन दोनों में न्यूनाधिकभाव प्रतीत होने लगता है । किन्तु श्रीऔदुम्बराचार्य ने न्यूनाधिक भाव का निषेध किया है । उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'श्रीराधा और श्रीकृष्ण में यत्किंचित् भी न्यूनाधिक-भावना करना महान् अपराध है ।[11]

श्रीसुन्दरभट्टाचार्य, श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्य एवं श्रीजयदेव के पश्चात् श्रीराधा के स्वरूप का वर्णन एवं उनकी आराधना के प्रचार-प्रसार करनेवालों में श्रीभट्टदेवाचार्य तथा उनके पट्टशिष्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्य के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । इस सम्प्रदाय में श्रीभट्टदेवाचार्य ही व्रजभाषा के आदि वाणीकार हैं । उन्होंने भी श्रीनिम्बार्काचार्य की भाँति परिमित पदों में ही अपने मन्तव्य को अभिव्यक्त किया है । उनके कुछ ऐसे भी पद मिलते हैं, जो ठीक श्रीनिम्बार्काचार्य के वचनों के अनुवादरूप हैं । "अङ्गेतु वामे" इस श्लोक का यह अनुवाद है—

सव्य अंग वृषभानुजा, चहुँ दिसि गोपी ग्वाल ।
जय जय कहि करि कीजिये, आरति श्रीगोपाल ।। —युगलशतक व्र० ली०

स्वल्प और अत्यन्त कोमल नयन-गोलक में ऊर्णा या रेशमी धागे का एक छोटा-सा तार भी चुभे बिना नहीं रहता, किन्तु श्रीभट्टदेवाचार्य गौर-श्याम दोनों चन्द्रों को अपने नयन-गोलक में बनाये रखना चाहते हैं । एक को नयन में लाना चाहें तो वे दूसरे के बिना आ नहीं सकते, क्योंकि वे दोनों प्रेमरस में इतने घुले हुए हैं कि एक दूसरे से पृथक् हो ही नहीं सकते--

बसौ मेरे नयननि मैं दोउ चन्द ।
गोर-बरन बृषभानुनंदिनी स्याम-बरन नंद-नंद ।।
गोलक रहे लुभाय रूप मैं निरखत आनंद-कंद ।
जै श्रीभट्ट प्रेमरस बंधन क्यों छूटै दृढ़ फंद ।। --यु० श० ५२

जैसे नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार द्व्यणुकतक विभाग हो सकता है, फिर परमाणु का विभाग नहीं हो पाता, उसी प्रकार यह युगलतत्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म है । अतः इसमें कभी भी विभेद नहीं होता । उन्होंने युगलकिशोर को ही अपना उपास्य (सेव्य) माना है और उसी युगल जोड़ी का अपने को जन्म-जन्म का चाकर बतलाते हुए यह अभिलाषा व्यक्त की है कि 'श्रीश्यामा-श्याम की सेवा में ही हमारा मन निरन्तर उलझा रहे; जहाँपर मङ्गलमयी जोड़ी निरन्तर लीलाविलास करती है, उसी सर्वसुख-स्वरूप श्रीवृन्दावन में रहकर उनके लीलाविलासों का मैं अनुभव करता रहूँ ।'

जहाँ जुगल मंगलमयी, करत निरंतर बास ।
सेऊँ सो सुख रूप श्री, बृंदाबिपिनबिलास ।। --जुगल सहज सुख १०

सहज सुख में उन्होंने प्रिया-प्रियतम-जुगल का जो स्वाभाविक स्वरूप दिखाया है, वही इस सम्प्रदाय को अभिमत है । मेघों में दिखायी देनेवाला इन्द्र-धनुष जैसे बादल-छटा से अन्यत्र नहीं रहता, उसी प्रकार गौर-श्याम नयनाभिराम युग्मतत्व भी सदा-सर्वदा एक ही देश में सुशोभित रहता है ।

गौर स्याम अभिराम बिराजै ।
घटा छटा आखंडल कोदंड दोउ तन एक देस छबि छाजै ॥ --जुगल सहज सुख १०

सदा-सर्वदा एकरस से विहार करनेवाली नख से सिखतक सुन्दरातिसुन्दर नित्य किशोर-किशोरी की सनातन जुगल जोड़ी को रसिक भक्त अपने हृदय-सरोवर में भरे रहते हैं ।

राधामाधव अद्‌भुत जोरी ।
सदा सनातन इकरस बिहरत अविचल नवलकिसोर किसोरी ।
नखसिख सब सुषमा रतनागर भरत रसिक-वर हृदय-सरीरी ।
जै श्रीभट्ट कटककट कुंडल गण्डबलय मिलि समत हिलोरी ॥ --जुगल सहज सुख, ५९

श्रीभट्टदेवाचार्य ने कुछ पदों में अकेले श्रीश्यामसुन्दर का भी नामोल्लेख किया है, किन्तु वह एकवचनान्त प्रयोग भी श्रीराधाकृष्ण-युगल के ही उद्देश्य से हुआ है; क्योंकि उन दोनों में से किसी एक की स्मृति से भी दूसरे की स्मृति स्वतः हो जाती है । कारण, श्रीराधा का श्यामसुन्दर विग्रह है तो श्यामसुन्दर श्रीराधा की ही मूर्ति है । जैसे कोई दर्पणको हाथ में लेकर अपना मुख देखता है तो उसे दर्पण में मुख-मण्डल दिखायी देता है, दर्पणस्थ मुखमण्डल की नेत्र-कनीनिका में दर्पण और नेत्रसहित दर्पण देखनेवाला दिखायी देता है, उसी प्रकार ये दोनों परस्पर में प्रतिबिम्बित रहते हैं । एक क्षण भी इनका पार्थक्य नहीं होता--

दर्पन मैं प्रतिबिंब ज्यौं, नैन जु नयननि माँहि ।
यों प्यारी पिय पलकहूँ, न्यारे नहिं दरसाहिं ॥

प्यारी तन स्याम, स्यामा तन प्यारौ ।
प्रतिबिंबित तन अरसि परसि दोउ, एक पलक दिखियत नहिं न्यारौ ॥
ज्यौं दर्पन मैं नैन, नैन में नैन सहित दर्पन दिखवारौ ।
श्रीभट जोट कि अति छबि ऊपर तन मन धन न्यौछावर डारौं ॥ —जु० स० सु० ६०

श्रीहरिव्यासदेवाचार्य ने 'वेदान्त-कामधेनु' की टीका (सिद्धान्तरत्नाञ्जलि) में कहा है कि यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त के "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्यावहो०" इस मन्त्र में प्रभु की जिन दो पत्नियों का वर्णन है, उनमें 'श्री' शब्द से राधा का ग्रहण किया गया है । अन्यथा 'श्री' और 'लक्ष्मी' को एक ही माननेपर दो चकार और द्विवचनान्त प्रयोग की संगति नही लगती । इसी का स्पष्टीकरण ऋग्वेद-परिशिष्ट श्रुति में मिलता है—

राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका । विराजते० ।

श्रीमहावाणी-ग्रन्थ में उन्होंने श्रीराधातत्व का विशद वर्णन किया है । उसका सहजसुखकर पहला पद यहाँ उद्धृत किया जाता है । इसमें श्रीराधाकृष्ण के गूढ़ भाव को व्यक्त कर दिया गया है :—

सहज सुख रंग की रुचिर जोरी ।
अतिहि अद्‌भुत, कहूँ नाहिं देखी सुनी, सकल गुन कला कौसल किसोरो ॥
एकही द्वै जु द्वै एकही दिपहि दिन किहिं साँचे निपुनई करि सुढोरी ।
श्रीहरिप्रिया दरस हित दोय तन दरसवत एकतन एकमन एक दोरी ॥

वस्तुतः यह सहज सुख की एक अद्भुत जोड़ी है। ऐसी और जोड़ी कहीं देखो सुनो नहीं जाती। सम्पूर्ण गुण, कला और कौशल की राशि हैं। एक ही ज्योति दम्पति रूप से दो रूप में हैं, अतः वस्तुतः दोनों एक ही हैं। जिसे वेद 'नेति-नेति' कहकर वर्णन करता हैं, वह यही युगल जोड़ी हैं, जो दीखने में दो रूपों में दिखायी देती हैं; किन्तु उनके जो तन, मन और इच्छा आदि हैं, वे सब एक ही हैं। श्रीराधा के चरण-कमलों के नूपुर से जो कलरव होता है, वही विश्व में शब्दब्रह्म रूप से व्याप्त हो रहा है—

श्रीराधा-पद-कमल तैं, नूपुर-कलरव होय।
निर्बिकार व्यापक भयौ, सब्द-ब्रह्म कहि सोय॥

श्यामसुन्दर आनन्दस्वरूप हैं और श्रीराधा उस आनन्द का आह्लाद हैं। उसी आह्लाद का आनन्दरूप श्यामसुन्दर है। इस प्रकार बीज-वृक्ष की भाँति इन दोनों का अन्योन्याश्रय भाव है। यह युगलता भी नित्य है।

एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
आनँद के अहलादिनि स्यामा, अहलादिनि के आनँद स्याम॥
सदा सर्बदा जुगल एक तन एक जुगल तन बिलसत धाम।
श्रीहरिप्रिया निरन्तर नितप्रति कामरूप अदभुत अभिराम॥ —महावाणी, सिद्धान्तसुख २६

लक्ष्मी-रुक्मिणी आदि उन्हीं श्रीराधा की अंशकला-रूप हैं और राधा श्रीकृष्ण की साक्षात् आत्मा हैं। अतएव पुराणों में श्रीराधा को ही श्रीकृष्ण माना है और श्रीकृष्ण को ही राधा।[१२] स्वयं श्रीराधाजी ने भी नारदजी से कहा है कि 'मैं योषित् रूप भी हूँ और पुरुषरूप भी। इसलिए हमारे इस दम्पति-रूप में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं होता।[१३] श्रीहरिव्यासदेवाचार्य ने अपने मूल सिद्धान्त को महावाणी के आरम्भ में ही व्यक्त कर दिया है :—

राधां कृष्णस्वरूपां वै कृष्णं राधास्वरूपिणम्।
कलात्मानं निकुञ्जस्थं गुरुरूपं सदाऽऽश्रये॥

आगे के पाँचों प्रकरणों (सुखों) में इसी का विशद रूप से समर्थन किया गया है।

रसिकशेखर स्वामी श्रीहरिदासजी आदि इस सम्प्रदाय के सभी महानुभावों ने इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण में पूर्ण साम्य है, यह सुनकर एकेश्वरवाद की संगति का प्रश्न उठना स्वाभाविक है; क्योंकि समान-शक्ति वाले एकाधिक ईश्वर मानने पर सृष्टि-व्यवस्था में बाधा उपस्थित होना सम्भव है—जैसे कि एक ईश्वर जब सृष्टि को रचना चाहेगा, दूसरा इच्छाभेद के कारण उसी समय उसका प्रलय करना चाहेगा। ऐसी स्थिति में विश्व की क्या गति होगी? दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की इच्छा में एकता होना असम्भव है। किन्तु महावाणीकार ने ठौर-ठौर पर इस प्रश्न का उत्तर देते हुए साधकों को सजग कर दिया है। उनका कहना है कि सृष्टि-व्यवस्था का अंग उसी अवस्था में हो सकता है जब कि श्रीराधा और श्रीकृष्ण इन दोनों के तन, मन, प्राण और इच्छा आदि सर्वथा भिन्न-भिन्न हो; किन्तु जिस युगल के 'एक तन एक मन एक दो री' एक प्राण द्वै गात' 'एक स्वरूप सदा द्वै नाम' हों, वहाँ एकेश्वरवाद के भंग का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण इन दोनों में सर्वेश्वरत्व कैसे रह सकता है? इस प्रश्न का उत्तर नैयायिकों के उद्धरण से समझा जा सकता है। जैसे दो पदार्थों में रहने वाला 'द्वित्व' सम्बन्ध भेद से प्रत्येक में भी रहता है, किन्तु उसकी पूर्ति दो में ही होती है और वह दो पदार्थों का युगल द्वित्वावच्छिन्न रूप से एकता में भी परिगणित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार सर्वेश्वरत्व, परमात्मत्व, ब्रह्मत्व, भगवत्त्व की पूर्ति भी श्रीराधाकृष्ण-युगल में ही होती है। इसलिए उनका द्वैत और अद्वैत भाव नित्य निरन्तर रहता है।

श्रुतियों में जैसे ब्रह्म को निर्गुण और केवल कहा गया है,[१४] उसी प्रकार उसे सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् भी बतलाया है।[१५] एकत्व और बहुत्व के प्रतिपादक वचन भी मिलते हैं।[१६] बहुत्व-बोधक वचनों में ब्रह्म के पति-पत्नी रूप का भी उल्लेख मिलता है।[१७] क्योंकि केवल एक का रमण सम्पन्न नहीं हो सकता।[१८] वह स्वच्छ आकाश एवं आनन्द-स्वरूप ब्रह्म स्त्री (पत्नी) द्वारा ही पूर्ण हुआ है।[१९] पत्नी के बिना पति एक आधे बृगल (दाल) के समान है।[२०] ऐसी अनुभूति लोक में भी होती है। वह अपनी आत्मा के साथ ही रमण और क्रीड़ा करता है और उनके युग्मत्व का पूरक भी उनकी आत्मा ही है; अतः उन्हें श्रुतियों में आत्माराम, आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन कहा गया है।[२१] वह युगलात्मक मिथुन नित्य है।[२२] उनकी वह आत्मा श्रीराधा ही हैं।[२३] जैसे शक्ति के बिना शक्तिमान्, अंशों के बिना अंशी और आत्मा के बिना कायव्यूह का अस्तित्व असम्भव है, उसी प्रकार श्रीराधा के बिना श्रीकृष्ण की स्थिति कही का सकती है। निम्बार्क-सम्प्रदाय में श्रीराधा-सम्बन्धी यही मान्यता है।

सन्दर्भ :

१. 'ग्वालेरी भाषा ही ब्रजभाषा' नामक पुस्तक।

२. मुहमारुएण तं कण्ह गोरअं राहिआए अवणेन्तो।
एताणं बल्लवोणं अण्णाणदि गोरअं हरसि ॥ —गाहा-सत्तसई १।२९

३. कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसम्।
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषों कंसद्विषो राधिकाम्। —वेणीसंहार अ० १, दृश्य १
तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहस्साक्षिणाम्। —ध्वन्यालोक

४. स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्याये कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥

५. अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥

६. उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदायाखिलतत्वसाक्षिणे ॥ – वेदान्तकामधेनु श्लोक ८, ५, ६

७. जयति सततमाद्यं राधिकाकृष्णयुग्मं, व्रतसुकृतनिदानं यत्सदैतिह्यमूलम्।
विरलसुजनगम्यं सच्चिदानन्दरूपं, व्रजवलयविहारं नित्यवृन्दावनस्थम् ॥ —औदुम्बरसंहिता, युग्माराधन-व्रत

८. कल्लोलकौ वस्तुत एकरूपकौ, राधामुकुन्दौ समभावभावितौ।
यद्वत् सुसम्पृक्त निजाकृतिध्रुवावाराधयामो व्रजवासिनौ सदा ॥

९. प्रादात्प्रसिद्धं युगसेवनव्रतं नानाव्यवस्थानविवेकसंयुतम्।
तदादिभूतं शरणं व्रजाम्यहं निम्बार्कमात्मोयगुरुं सुदर्शनम् ॥

१०. निर्माय सह कृष्णेन श्रीराधार्चां हरिप्रियाम्।
साहित्येव सम्पूज्य नित्यमेति परां गतिम् ॥ —औदुम्बर संहिता० अमुद्रित

११. संसेवितुं तत्र न भेदमाचरेत् श्रीराधिकाकृष्णयुगार्चन व्रती।
दोषाकरत्वाद्धि भिदानुवर्तिनां, सत्कर्मणामेवमभेद्यभेदिनाम् ॥ ––औदुम्बर सं० युग्माराधनवत

१२. आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।
तस्या एवांशविस्ताराः सर्वाः श्रीकृष्णनायिकाः।
त एव सा स सैवास्ति, वंशी तत्प्रेमरूपिका ॥ ––स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड

१३. सत्यं योषित् स्वरूपाहं योषिच्चाहं सनातनी।
अहं च ललिता देवी पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं हि नारद॥ ——पद्मपुराण, वृन्दावनमाहात्म्य

१४. केवलो निर्गुणश्च, । — श्वेताश्व० ६।११

१५. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः । ——मुण्डको० १।१।९

१६. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । – छान्दो० ६।२।१
स द्वितीयमैच्छत्''''इममेवात्मानं द्वेधापातयत् । ——बृ० १।४।३

१७. पतिश्च पत्नी चाभवतां । ——बृहदा० १।४।३

१८. स नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते । ——बृ० १।४।३

१९. तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत । ——बृह० १।४।३

२०. तस्मादिदमर्धबृगलमिव । ——बृ० १।४।३

२१. आत्माराम आत्मक्रीड आत्ममिथुनः ।

२२. तस्यैतन्मिथुनं योऽयं सव्येऽक्षन् पुरुषोऽर्धमु हैतदहा,मनो यन्मिथुनं यदा वै सह मिथुनेनाथ सर्वोऽथ कृत्स्नः ।
—शतपथब्राह्मण १०।५।२।८

२३. आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ । आत्मारामतया राजन् प्रोच्यते गूढवेदिभिः । ——स्कन्दपुराण, भागवत-महात्म्य

—पं० ब्रजबल्लभशरण वेदांताचार्य

गौड़ीय दर्शन में श्री राधा

राधाकृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनी भक्तिरस्मादेकात्मानावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद् द्वयं चैक्यमाप्तं राधाभावद्युतिसुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्।

गौड़ीयेश्वर श्रीपाद दामोदर स्वरूप गोस्वामी के इस श्लोक को उद्धृत करके राधा-रस के पूर्ण प्राकट्य·प्रकाशक-स्वयं श्रीकृष्णस्वरूप श्रीश्रीमन्महाप्रभु के श्रीचरणप्रान्त में प्रणत होकर कृपा-प्रार्थना कर रहा हूँ कि अपार सुधासिन्धु-स्वरूप राधा-महिमा का एक अणु-परिमाण कण मेरे अश्मसार कठिन हृदया में उदित होकर उसे सिक्त और आर्द्र कर दे, जिससे उस सुधा-बिन्दु-मदिरा से मत्त होकर मैं श्रीश्रीराधा-भक्त वैष्णवचूड़ामणि महानुभावों के चरणकमलों में प्रणत होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ।

सर्वप्रथम उपर्युक्त श्लोक में जो रसधारा प्रवाहित है, महापुरुषों की कृपासे उसी का लवमात्र आस्वाद प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ; क्योंकि गौड़ीय वैष्णव के लिये श्रीराधा के स्वरूप की उपलब्धि इसी के माध्यम से सम्भव है। वर्तमान युगमें शुद्ध ऐकान्तिक भक्तिस्रोत की गौड़ीयाधारा जब अत्यन्त क्षीण हो चली थी, तब जिन्होंने वङ्गदेश में गङ्गा का स्रोत लानेवाले भगीरथ की भाँति आविर्भूत होकर उस धारा को स्रोतवती बना दिया था, उन श्रीगौर पार्षदवर महाभागवतशिरोमणि श्रीश्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने मुझ-सरीखे संकीर्ण-बुद्धि वराक की समझ में आ जाय, इस रीति से उपर्युक्त श्लोक का निम्नलिखित रूप से अनुवाद और व्याख्या की थी—

अनुवाद—राधा-कृष्ण की प्रणयविकृतिरूप ह्लादिनी शक्ति के रूप में राधा-कृष्ण स्वरूपतः एकात्मक होकर भी विलास-तत्व की नित्यता के लिये राधा और कृष्ण दो स्वरूपों में नित्य विराजमान हैं। वे ही दो तत्व सम्प्रति एक ही स्वरूप में चैतन्य तत्व के रूप में प्रकट हैं। अतएव राधा के भाव और द्युति के द्वारा आच्छादित उस गौररूप में प्रकट कृष्ण-स्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ।'

व्याख्या—अविचिन्त्यशक्तिरूप से राधा-कृष्ण परस्पर-विलास-रसास्वादन करने के लिये नित्य पृथक् हैं, अथच युगपत् एक हैं। राधा वस्तुतः श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति ह्लादिनी हैं; उन्होंने श्रीकृष्ण को परमानन्द में निमग्न कर रखा है, इसी से उनका यह नाम है।'

श्रीचैतन्यचरितामृतकार गौरभक्ताग्रणीजनों में अन्यतम श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी इसकी व्याख्या में श्रीराधा के स्वरूपका इस प्रकार वर्णन करते हैं। (चै. च. आदि ४)

राधिका हयेन कृष्णेर प्रणयविकार। स्वरूपशक्ति ह्लादिनी नाम याँहार॥
ह्लादिनी कराय कृष्णे आनन्दास्वादन। राधा पूर्ण शक्ति, कृष्ण शक्तिमान्॥
दुइ वस्तु भेद नाहि शास्त्र परमाण। राधा कृष्ण ऐछे सदा एकइ स्वरूप॥
लीला-रस आस्वादिते धरे दुइ रूप। प्रेमभक्ति सिखाइते आपनि अवतरि॥
राधः भाव कान्ति दुइ अङ्गीकार करि। श्रीकृष्णचैतन्यरूपे कैल अवतार॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गौडीय के लिये राधातत्व कितना उच्च है। राधाकृष्ण में अभेद है, केवल लीला-रस-आस्वादन के लिये ही दो रूप हैं। राधा के भाव और कान्ति को लेकर श्रीकृष्ण ही अभिन्नरूप से श्रीगौर बनकर अवतीर्ण हुए हैं। हम गौरसुन्दर को राधाकी भाँति ही 'कृष्ण-कृष्ण' पुकारते हुए भावविभोर देखते हैं और उनकी शेष लीला में उनको

दिन-रात कृष्णविरह में अनुभावित होकर उसमें निमग्न पाते हैं। वह विप्रलम्भ-रस में अर्थात् कृष्णविरह में श्रीराधा के ही महाभावजनित दिव्योन्माद की अभिव्यक्ति है। अतएव उनके अन्तिम बारह वर्षों की 'गम्भीरा लीला' के कुछ भाव ग्रहण करें तो श्रीराधातत्व के सम्बन्ध में कुछ समझ सकेंगे। इसीलिये श्रीचैतन्यचरितामृत की अन्त्यलीला के चतुर्दश परिच्छेद-से लेकर ग्रन्थ के शेषतक के भावों को समझने के लिये चित्त को एकाग्र करके विचार करनेपर समझ में आ सकेगा कि श्रीराधा के कृष्ण-विरह-जनित दिव्योन्माद, अधिरूढ़ महाभाव आदि का क्या स्वरूप है।

श्रीश्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव के दासों के लिये श्रीश्रीराधा की सेवा ही सर्वथा वाञ्छनीय है। उसके ऊपर और कुछ नहीं है। वे अकेले श्रीकृष्ण के उपासक नहीं हैं। इसीलिये वे श्रीकृष्ण को वृन्दावन से बाहर एक क्षणके लिये भी नहीं रखना चाहते। उनके श्रीकृष्ण कहते हैं—'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छामि।' वे श्रीकृष्ण को क्षणभर के लिये भी श्रीराधा के सम्पर्क से पृथक् नहीं देखना चाहते। मथुरा या द्वारका के श्रीकृष्ण से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। वे श्रीराधा से पृथक् श्रीकृष्ण को देखने की इच्छा ही नहीं करते और इसीलिये अकेले कृष्ण के उपासकों से भी दूर ही रहना चाहते हैं।

यदि कोई यह सोचे कि 'राधा-कृष्ण के भजन की क्या आवश्यकता है? अकेले श्रीकृष्ण-भजन से ही प्रेम का प्रयोजन सिद्ध हो जायगा। श्रीकृष्ण जब सर्वेश्वरेश्वर हैं, तब उनकी सेवा से ही हमें मङ्गल की प्राप्ति हो जायगी। उनके साथ राधा के संयोग की क्या आवश्यकता है?' तो ऐसा विचार सर्वथा भ्रमात्मक और विशेष अपराधजनक है। श्रीराधा के साथ न रहने पर श्रीकृष्ण किसी की पूजा ग्रहण ही नहीं करेंगे और श्रीराधारानी के प्रति अवज्ञासूचक किसी भी भाव को श्रीकृष्ण सहन नहीं कर सकेंगे। इस अपराध के फलस्वरूप हम माया-सिन्धु के अतल जल में डूब जायँगे और हमारे उद्धार की आशा ही निर्मूल हो जायगी। अतः राधा-रस-सुधा-निधि में ही अवगाहन करना पड़ेगा। इसीलिये साधकों को 'आशाबन्ध, समुत्कण्ठा, नाम-गान में सदा रुचि' के साथ भजन करते हुए आगे बढ़ना पड़ेगा। राधारानी की अवहेलना करके श्रीकृष्णसेवा की दुराशा रखना तो केवल व्यर्थता में परिणत होगा। अभिन्न कृष्ण स्वयं अवतारीतत्व श्रीश्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव भी इस प्रकार के विचारों का तनिक भी आदर नहीं करते। उन्होंने जीवों के लिये राधा-कृष्णभजन का मार्ग सुगम करने के निमित्त ही स्वयं राधाभाव से विभावित होकर अवतार लिया और परम अमन्दोदय दयाका आदर्श स्थापित किया। उन्होंने अपने आचरण से यह स्पष्ट दिखला दिया कि एकमात्र राधा-कृष्ण-भजन के मार्ग से ही जीवन को चरम कल्याण-प्राप्ति की सम्भावना है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। उनके पार्षद भक्तों के आचरण से भी यही स्पष्टरूप से दिखायी देता है। श्री रघुनाथदास गोस्वामीपाद के विचार देखिये—

अनादृत्योद्गीतामपि मुनिगणैर्वैणिकमुखैः, प्रवीणां गान्धर्वामपि च निगमैस्तत्प्रियतमाम्।
य एकं गोविन्दं भजति कपटी दाम्भिकतया, तदभ्यर्णे शीर्णे क्षणमपि नयामि व्रतमिदम्॥

''जिन श्रीराधा की गुणावलि का नारदादि प्रधान मुनियों ने गान किया है, वेद ने जिनको 'गोन्दि-प्रियतमा' बतलाया है—जैसे ऋक्परिशिष्ट में है—'राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका', ब्रह्मवैवर्तपुराण में है—'श्रुतिभिः कीर्तिता तेन परमानन्दरूपिणी।' उन सर्वश्रेष्ठा श्रीगान्धर्विका राधारानीका अनादर करके,जो कपटी दाम्भिकता के वश होकर गोविन्द का भजन करता है, उसके अति जुगुप्सित सङ्गमें मैं एक क्षण भी न जाऊँ, यह मेरा व्रत है।''

उनकी स्तवावली का अनुसरण करते हुए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने गाया है—

राधिका चरणपद्म, सकल श्रेयेर सद्म, यतने ये नाहि आराधिल।
राधापदाङ्कित धाम, वृन्दावन यार' नाम, ताहा ये ना आश्रय करिल॥
राधिकाभाव गम्भीर चित्त येवा महावीर-गण सङ्ग ना कैल जीवने।
केमने से श्यामानन्द-रस-सिन्धु-स्नानानन्द लभिबे बुझ ह एक मने॥

ठाकुर ने और भी गाया है—

राधा भजने यदि मति नाहि भेला। कृष्ण भजन तव अकारणे गेला ॥
केवल माधव पूज्ये सो अज्ञानी। राधा अनादर करइ अभिमानी ॥
कबँहि नाहि करबि ता कर सङ्ग। चित्ते इच्छसि यदि व्रज-रस-रङ्ग ॥

श्री श्रीबिल्वमङ्गल ठाकुर के 'श्रीकृष्णकर्णामृत' के पद्य के अनुवाद की भूमिका में श्रील यदुनन्दन ठाकुर ने कहा है—

हेन राधा पाद-पद्म करि अनादर। गोविन्द भजने यार वाञ्छा निरन्तर।
हेन राधा नाहि भजे, कृष्णे करे रति। 'सेइ त' कपटी दम्भी अति मूढ़ मति ॥

गौड़ीय विचार के अति सम्मानित आचार्य श्रीनरोत्तम ठाकुर ने भी गाया है—

जय जय राधा नाम, वृन्दावन याँर धाम, कृष्णसुख विलासीदेर निधि।
हेन राधा-गुणगान ना शुनिल मोर कान, वञ्चित करिल मोरे विधि ॥
तार भक्त सङ्गे सदा रासलीला-प्रेमकथा ये करे से पाय घनश्याम।
इहाते विमुख एइ, तार कभु सिद्धि नाइ, नाहि येन शुनि ताँर नाम ॥

श्रीपाद रघुनाथदास गोस्वामी की तो सम्पूर्ण रचना ही श्रीश्रीराधारानी के दास्यकी कामना से परिपूर्ण है। उनके श्रीराधिकाष्टक के प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण इसी कामना की अभिव्यक्ति है—

—नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु ?

'विलापकुसुमाञ्जलि' के शताधिक श्लोकों में उन्होंने यही प्रार्थना की है। उनमें से दो श्लोक (९६ और १०२) यहाँ उद्धृत करके उनके आवेगोच्छ्वास का नमूना दिखाया जाता है—

तदैवास्मि तदैवास्मि न जीवामि त्वया विना।
इति विज्ञाय देवि त्वं नय मां चरणान्तिकम् ॥

आशाभरैरमृतसिन्धुमयैः कथंचित् कालो मयातिगमितः किल साम्प्रतं हि।
त्वं चेत् कृपां मयि विधास्यसि नैव किं मे, प्राणैर्व्रजेन च वरोरु बकारिणापि ॥

'हे देवि राधिके ! मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारा हूँ; तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रहूँगा। यह जानकर तुम मुझे अपने चरणों के समीप स्थान दो। हे वरोरु राधे ! मैं सम्प्रति तुम्हारे सेवामृत-सिन्धु में निमज्जित होने के लिये गम्भीर आशा से किसी भी प्रकार अत्यन्त कष्ट से काल-यापन कर रहा हूँ। तुम यदि मुझपर कृपा न करो तो फिर इन प्राणों से या व्रजवास से यहाँतक कि श्रीकृष्ण से ही मेरा क्या प्रयोजन है ?'

श्रद्धेय भजनार्थी पाठक ! देखिये, गौडीय का आर्ति के साथ भजन का कैसा आदर्श है ? श्रीराधापाद-पद्म की सेवा ही गौडीय वैष्णव का जीवन है। उनके लिये राधारहित कृष्णदास्य भी इच्छित नहीं है। देखिये, श्रीराधा के प्रति उनकी कैसी प्रगाढ़ भक्ति है !

श्रीराधातत्व की भूमिका के रूपमें श्रीचैतन्यचरितामृत (आदि ४) में कृष्णदास गोस्वामी ने कहा है—

कृष्णकान्तागण देखि त्रिविध प्रकार। एकल लक्ष्मीगण, पूरे महिषीगण आर ॥
व्रजाङ्गनारूप आर कान्तागण सार। श्रीराधिका हइते कान्तागणेर विस्तार ॥
अवतारी कृष्ण जैछे करे अवतार। अंशिनी राधा हइते तिन गणेर विस्तार ॥

वैकुण्ठ के गोलोक-वृन्दावनधाम में नित्य 'गोविन्दानन्दिनी सर्वकान्ताशिरोमणि' राधाके ही अवतार लक्ष्मीगण वैकुण्ठ में और महिषीगण द्वारका में हैं और नित्य वृन्दावन में गोपीगण उनकी कायव्यूह हैं ।

'श्रीचैतन्यचरितामृत' में राधामहिमापर बहुत कुछ कहा गया है, उसमें से दो एक प्रसङ्ग यहाँ उद्धृत किये जाते हैं । इनसे विषय के समझने में अधिक सुविधा होगी । आदिलीला चतुर्थ अध्याय में आया है -

ह्लादिनीर सार 'प्रेम', प्रेम-सार 'भाव' । भावेर परमकाष्ठा नाम 'महाभाव' ।।
महाभावस्वरूपा श्रीराधा ठकुरानी । सर्वगुणखनि कृष्णकान्ता - शिरोमणि ।।

मध्यलीला के अष्टम अध्याय में है--

सेइ महाभाव हय चिन्तामणि सार । कृष्णवाञ्छा पूर्ण करे एइ कार्य तार ।।
महाभाव-चिन्तामणि राधार स्वरूप । ललितादि सखी तार कायव्यूह रूप ।।

* * *

यार सौभाग्यगुण वाञ्छे सत्यभामा । यार ठाइ कलाविलास सिखे व्रजरामा ।।
यार सौन्दर्यादि वाञ्छे लक्ष्मी पार्वती । यार पतिव्रता धर्म वाञ्छे अरुन्धती ।।
यार सद्गुण गणने कृष्ण ना पाय पार । तार गुण गणिबे केमने जीव छार ।।

रघुनाथदास गोस्वामी अपनी 'मनश्शिक्षा' के दसवें श्लोक में यही कहते हैं—

रतिं गौरीलीले अपि तपति सौन्दर्यकिरणैः, शचीलक्ष्मीसत्याः परिभवति सौभाग्यवलनैः ।
वशीकारैश्चन्द्रावलिमुखनवीनव्रजसतीः, क्षिपत्याराद्या तां हरिदयितराधां भज मनः ।।

सौन्दर्य, सौभाग्य और मनोहारित्व में सभी उनकी अपेक्षा न्यून हैं । इस विषय में श्रीराधा-सुधानिधि में कहा गया है--

यो ब्रह्म-रुद्र-शुक-नारद-भीष्ममुख्यैरालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य ।
सद्योवशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि ।।

सर्वोच्च देव और भगवद्भक्तशिरोमणिगण जिनको सहज ही देख नहीं पाते, वे ही पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण श्रीराधा के वशीकरण से मुग्ध हैं । श्रीरूपगोस्वामी प्रभु के 'विदग्धमाधव' नाटक (५।१८) में श्रीकृष्ण सम्पूर्ण त्रिलोकी को राधामय देखते हैं—

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा, राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा ।
राधा खलु क्षितितले गगने च राधा, राधामयी मम वभूव कुतस्त्रिलोकी ।।

गौड़ीय साहित्य में श्रीराधा के माहात्म्य की आलोचना अति गम्भीर और प्रचुर है । उसके दिग्दर्शन के लिये बड़े धैर्य की आवश्यकता है । यहाँ बहुत थोड़ा ही उल्लेख किया गया है । विशेष जानने के लिये श्रील रघुनाथदास गोस्वामी-की स्तवावली, विशेषतः 'प्रेमाम्भोजमकरन्द-स्तव' और 'विलापकुसुमाञ्जलि', श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती का "राधारस-सुधानिधि', कविराज गोस्वामी प्रभुके 'श्रीचैतन्यचरितामृत' और 'गोविन्दलीलामृत' आदि ग्रन्थोंका गम्भीर अध्ययन करना चाहिये । इस छोटे-से निबन्धमें वह सम्भव नहीं है ।

श्रीरूपगोस्वामीपाद के अपूर्व अलङ्कारशास्त्र 'श्रीउज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ में 'अधिरूढ़ महाभाव' आदि के जो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे भी श्रीराधा के प्रेम वैचित्र्य का समास्वादन अधिकारी पाठक प्राप्त कर सकते हैं ।

वृहद्गौतमीय तन्त्र, ब्रह्मवैवर्त और पद्मपुराणादि में श्रीराधातत्व के बहुत प्रसंग हैं, पर उनसे गौडीयदर्शन के विचारों का ज्ञान होने में विशेष सहायता नहीं मिल सकती, इसलिये उन शास्त्रों के श्लोकों को उद्धृत करके निबन्ध का कलेवर बढ़ाना नहीं चाहता। परन्तु उपसंहार के पूर्व, जिनके अत्यद्भुत भक्तियोग की सुदीप्त प्रभा से आज भी गौडीय-गगन उद्भासित है, उन अस्मदीय गुरुतत्व परमहंस परिव्राजकाचार्य और त्रिष्णुपाद अनन्तश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपादने श्रीचैतन्य चरितामृत के अनुभाष्य में षड्गोस्वामियों में अन्यतम श्रीश्रील जीव गोस्वामीपाद के प्रीतिसन्दर्भ' (५६) को उद्धृत करके शेष व्याख्या में क्या लिखा है, उसे बतलाना है। वे लिखते हैं—'विष्णुपुराण में भगवान् की तीन प्रकार की शक्ति बतलायी गयी हैं, उनमें जो शक्ति भगवान् का आनन्दविधान करती है, वह न तो सांख्य के 'जडानन्द' और न निर्विशेष विचार के केवल 'चिदेकानन्द' के सदृश ही है। ह्लादिनी शक्ति ही भगवान् को आनन्दप्रदान करती है। वे ही राधा हैं।'

श्रील प्रभुपाद ने अन्यत्र कहा है—यद्यपि श्रीकृष्ण विषयतत्व है तथापि वे आश्रय के ही विषय हैं। (यहाँ अलङ्कार-शास्त्रकथित 'विषय' समझना चाहिये)। जड़ जगत् में पुरुष और स्त्री में जैसा पार्थक्य है, ऊँच-नीच भाव है, परस्पर भेद है; श्रीमती राधिका और श्रीकृष्ण में वैसा भेद नहीं है। श्रीकृष्ण की अपेक्षा वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा अश्रेष्ठा नहीं है। श्रीकृष्ण ही 'आस्वादक' और 'आस्वादित' रूप से नित्य दो रूप धारण किये हुए हैं। श्रीराधा के सम्बन्ध में यही गौड़ीय दर्शन है।

अब उपसंहार में ठाकुर श्रील श्रीभक्तिविनोद का यह गीत पढ़िये —

छोड़त धन-जन, कलत्र-सुत-मित, छोड़त करम गेयान।
राधापदपङ्कज मधुरत सेवन भकतिविनोद परमाण॥

और श्रील नरोत्तम ठाकुर ने गाया है--

राधिका चरण रेणु, भूषण करिया तनु अनायासे पावै गिरिधारी॥
राधिका-चरणाश्रय, करे येइ महाशय, तारे मुञि जाउँ बलिहारी॥

इसे गाते हुए श्रीराधाकुण्ड-निवास की योग्यता प्राप्त करके निरन्तर श्रीश्रीराधारानी की दास्यतामें रहकर जीवन के वे शेष कुछ दिन बिताने का सौभाग्य प्राप्त करना क्या मेरे जैसे 'कपटी-दम्भी' के लिये सम्भव होगा? हा राधारानी! अभी इसे अपने श्रीचरण में स्थान दो--

क्रन्दामि राधे तव पादपद्मे, दास्येऽथ दास्यास्तव मां नियुङ्क्ष्व।
त्वत्कुण्डवासं च विधेहि मह्यं निष्किचनं मां हि दयस्व देवि॥
जय राधे जय राधे जय राधे कलुषं मे धुनु देवि ह्यन्तरस्थम्।
सरसं कृष्णरसं प्रेम-सुदीप्तं हृदये मे भर नित्यं भर नित्यम्॥

— श्री निष्किञ्चन स्वामी त्रिदण्डी

●

श्रीहित राधा-वल्लभीय-सम्प्रदाय में श्रीराधा

श्रीराधा के स्वरूप हमें भिन्न-भिन्न रूपों में प्राप्त होते हैं। आगम तंत्र आदि साहित्य में श्रीराधा को प्रकृतिरूपा, आदिशक्तिरूपा, कृष्णात्मा, कृष्णप्रिया, कृष्णशक्ति, आह्लादिनी शक्ति, गोलोकविहारिणी, वृषभानुनंदिनी आदि कहा गया है। पुराणों में गोलोकवासिनी राधा के विषय में उनके ऐश्वर्य व माधुर्य का विशद वर्णन एवं उनके प्रेमी की अतिशय आसक्ति, चाह, चटपटी के आदर्श जहाँ प्राप्त हैं, वहीं पर काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि रूप में लीला का भी कुछ वर्णन मिलता है।

इस प्रकार के श्रीराधा के पौराणिक स्वरूप का आश्रय लेकर श्री जयदेव कवि ने गीतगोविन्द में श्रीराधा की नित्य प्रेमकेलि का गान कर सबका गेय विषय बनाया। तदनन्तर श्रीविद्यापति, श्रीचण्डीदास आदि कवियों ने भी विभिन्न लोक-भाषाओं में श्रीराधा के अद्भुत प्रेम और रूप का गान कर उन्हें सर्वसाधारण जन-समुदाय तक पहुँचाया। फिर वैष्णव संप्रदाय के कुछ आचार्यो ने श्रीराधा का श्रीकृष्ण की स्वकीया तथा परकीया रूप में वर्णन कर श्रृंगार-रस की परिपुष्टि मानी है। इस प्रकार उनके मतानुसार श्रीकृष्ण परमाराध्य हैं और श्रीराधा उनकी आराधिका हैं।

श्रीराधावल्लभीय-सम्प्रदाय में श्रीराधा परमाराध्या इष्ट हैं और श्रीराधाचरणरति की प्रधानता होने से श्रीनाभाजी ने भक्तमाल के छप्पय में श्रीहिताचार्य महाप्रभु को 'राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी' कहा है। इस सम्प्रदाय के मतानुसार श्रीराधा विषय और श्रीकृष्ण आश्रय हैं अर्थात् श्रीराधा श्रीकृष्ण की आराधिका न होकर परमाराध्या हैं। गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभु ने कहा है—जिन श्रीराधा का स्वयं श्रीहरि प्रेमपूर्वक श्रवण करते हैं, जप करते हैं एवं सखियों के मध्य आनन्द पूर्वक जिनका गुणगान करते हैं तथा प्रेमाश्रुपूर्णमुख से जिनका नामोच्चारण करते रहते हैं, वे अमृतरूपा श्रीराधा मेरी जीवन है—

प्रेम्णाऽऽकर्णयते जपत्यथ मुदा गायत्यथालिष्वयं।
जल्पत्यश्रुमुखो हरिस्तदमृतं राधेति मे जीवनम्॥ —रा० सु० नि० ९६

कालिन्दीतटकुञ्जमंदिरगतो योगीन्द्रवंद्यत्पद-
ज्योतिर्ध्यानपरः सदा जपति यां प्रेमाश्रुपूर्णो हरिः।
केनाप्यद्भुतमुल्लसद्रतिरसानंदेन सम्मोहिता,
सा राधेति सदा हृदि स्फुरतु मे विद्या परा द्वयक्षरा॥ —रा० सु० नि० ९५

इसी प्रकार श्रीचतुरासीजी में भी लिखा है—

जपत हरि बिबस तव नाम प्रतिपद बिमल।
मनसि तव ध्यान तें निमिष नहीं टरिबौ॥ —चतुरासीजी ८३

तदनुसार श्रीकृष्ण श्रीराधा की आराधना करते हुए किस प्रकार अधीन रहकर सुखानुभव करते हैं। इसको श्रीव्यासजी अपने पद में वर्णन करते हैं—

चाँपत चरन मोहन लाल।
पलँग पौढ़ीं कुँवरि राधा नागरी नव बाल॥
लेत कर धरि परसि नैननि हरषि लावत भाल।
लाइ राखत हृदै सौं तब गनत भाग बिसाल॥
देखि पिय आधीनता भइ कृपासिंधु दयाल।
'ब्यास' स्वामिनि लिए भुज भरि अति प्रबीन कृपाल॥ —व्यासवाणी, पृ० ३७९-८०

श्रीराधावल्लभीय-सम्प्रदाय में श्रीहिताचार्य महाप्रभु ने जो श्रीराधा का स्वरूप वर्णन किया है, वह पुराणादि स्थलों में वर्णित श्रीराधा के स्वरूप से बिलकुल विलक्षण है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण एक हितरस के दो स्वरूप हैं। उनमें पारस्परिक कोई भेद नहीं है। वे श्रीवृन्दावन में नित्य-निभृत-निकुंज बिहार में उन्मत्त रहने वाले एक ही प्रेमरस-समुद्र के जल-तरंग के समान एक हैं। चतुरासीजी में लिखा है, 'जय श्रीहितहरिवंश हंस हंसिनी सांवल गौर कहौ कौन करै जल तरंगनि न्यारे।' श्रीध्रुवदासजी ने प्रिया-प्रियतम को एक रस व हित के दो देह कहा है—

एक रंग रुचि एक बय, एकै भाँति सनेह।
एकै सील सुभाव मृदु, रस के हित दो देह॥ —रतिमंजरी

श्रीराधासुधानिधि में श्रीहिताचार्यपाद ने श्रीराधा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्हें प्रीति की मूर्ति (हित का स्वरूप) बतलाया है—

प्रीतिरिव मूर्तिमती रससिन्धोः सारसम्पदिव विमला।
वैदग्धीनां हृदयं काचन वृन्दावनाधिकारिणी जयति॥ —रा० सु० नि० १९९

और— पूर्णानुरागरसमूर्ति तडिल्लताभं ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्रहस्यम्।
यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानुगेहे स्यात्किकरीभवितुमेव ममाभिलाषः॥ —रा० सु० नि० ४०

अर्थात्—पूर्ण अनुराग रस की मूर्ति, विद्युल्लता के समान जिनकी ज्योति (प्रकाश) है और भगवान् के रतिमद रहस्य से भी जिनका रहस्य पर है, जो वृषभानु के घर प्रकट हुई हैं, उनकी मैं किंकरी होने की अभिलाषा करता हूँ।

इस प्रकार पूर्णानुराग-रसमूर्तिमती हितस्वरूपा जैसे श्रीराधा हैं, उसी तरह श्रीकृष्ण भी हितस्वरूप हैं, अतः हित के दोनों स्वरूप श्रीराधाकृष्ण देखने में पृथक् जैसे हैं, वैसे ही एकरस हैं। वे अति प्रेमासक्त होने के कारण कभी पृथक् और कभी एक हो जाते हैं। क्योंकि हित का यह स्वरूप ही है कि हित (प्रेम) अकेले नहीं हो सकता। इसलिये हित के ही ये दो रूप श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण हैं। फिर वे दोनों अति प्रेमाधिक्य अवस्था में पृथक् रह भी नहीं सकते। इससे वे पुनः हितरूप एक स्वरूप हो जाते हैं (इसीलिये श्रीराधावल्लभ-संप्रदाय में श्रीराधावल्लभलाल का एक स्वरूप और श्रीप्रियाजी की गद्दी स्थापित है।) वे दोनों परस्पर में कभी प्रिया-प्रियतम और प्रियतम-प्रिया बनते रहते हैं और हित की ही अंश-तत्सुख-सुखी, सखियों को प्रेमानन्द की वर्षा द्वारा आनन्द-प्लावित करते हैं। जैसा कि ध्रुवदासजी की इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

प्रेम रासि दोउ रसिक बर, एक बैस रस एक।
निमिष न छूटत अँग अँग, यहै दुहुँन के टेक॥
अद्भुत्त रुचि सखि प्रेम की, सहज परस्पर होइ।
जैसे एकहि रँग सौं, भरिये सीसी दोइ॥

स्याम रँग स्यामा रँगी, स्यामा के रँग स्याम।
एक प्रान तन मन सहज, कहिबे कौं दोउ नाम॥
कबहुँ लाड़िली होत पिय, लाल प्रिया ह्वै जात।
नहिं जानत यह प्रेमरस, निसिदिन कहाँ बिहात॥

एवं— एकै प्रेमी एकरस, राधावल्लभ आहिं।
भूलि कहै कोउ और ठाँ, झूँठौ जानौ ताहि॥

इस प्रकार एक हित के ही दो स्वरूप श्रीराधा और श्रीकृष्ण के मिलकर एक ही स्वरूप (हितमय) ही होने पर भी सब सखियों को युगल-केलि का आस्वादन होता रहे, इसलिये दोनों के गौर और श्याम वर्ण भेद हुए। श्रीलाड़िलीदासजी के शब्दों में देखिये—

गौर स्याम सीसीन में, भरचौ नेह-रस सार।
पिबत पिबावत परस्पर, कोउ न मानत हार ॥ —सुधर्मबोधिनी

श्रीराधावल्लभीय-सम्प्रदाय में श्रीराधा का हितमय प्रेम-हितरूपी अमृत का जो माधुर्य रूप और रसमय नित्य किशोर- स्वरूप श्रीहिताचार्य महाप्रभुपाद ने रखा है, वह न तो किसी प्रकार शास्त्रों के गतिगम्य है और न देव-ऋषि-मुनियों के ध्यानगम्य है, वह तो केवल वृन्दावन में—वृन्दावन-रस के द्वारा—ही गोचर हो सकता है।

यद् वृन्दावनमात्रगोचरमहो यन्न श्रुतीकं शिरो -
ऽप्यारोढुं क्षमते न यच्छिवशुकादीनां तु यद् ध्यानगम्।
यत्प्रेमामृतमाधुरीरसमयं यन्नित्यकैशोरकं
तद्रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम ॥ —रा० सु० नि ७६

वह न केवल देवताओं से अगम्य हैं अपितु भगवान् के उच्चकोटि के भक्त प्रह्लाद-अम्बरीषादि, मुक्त सनक-जनक-शुकदेव-वामदेवादि और सुहृद अर्जुन-श्रुतदेव-सुदामा-अक्रूरादि की गति से भी अत्यन्त दूर हैं—

देवानामथभक्तमुक्तसुहृदामत्यन्त दूरंच यत्
प्रेमानन्दरसं महासुखकरं चोच्चारितं प्रेमतः। इत्यादि। —रा० सु० नि० ९६

और उनकी चरणरज भी ब्रह्मादि को दुष्प्राप्य है—

ब्रह्मेश्वरादिसुदुरूहपदारविन्द ...' इत्यादि।—रा० सु० नि० २

वह हित स्वरूपा श्रीराधा प्रेमराज्य की राजा हैं और उस ब्रज के अणु समान कण की भी तुलना गोलोकादि नहीं कर पाते। इस बात को एक महात्मा 'रज' श्यामसुन्दर के वचनों में कहते हैं—

प्रेम राज को राजा राधे प्रीति प्रेम रस जाने।
जिनकी चरन पलोटन हित हम बहुतक करें बहाने ॥
गोलोकहु नहिं समता पावत प्रिय ब्रज के अनु कन की।
जहँ से देव अदेवहु जाँचत लहहिं मोच्छ निज मन की ॥
जहाँ तें प्रेम भरयो मम हिय में कैसें ताहि बिसारौं।
त्रिभुवन सहित और निज वैभव निज कर ब्रज पर वारौं ॥

उन श्रीराधा की चरणरति प्राप्त करने के लिये हित साम्राज्य में आकर उनके नित्य निभृत-निकुंज-केलि की खवासिनी अर्थात् तत्सुखसुखित्व-सखीभाव व अनन्यनिष्ठ होना परमावश्यक है। श्रीआचार्यपाद कहते हैं जो श्रीराधा के दासीभाव को बिना मन में धारण किये श्रीकृष्ण-मिलन की आशा से बहुत से प्रयत्न करते हैं, वे अँधियारी अमावस्या की रात्रि में पूर्णचन्द्र के देखने के व्यर्थ परिश्रम को ही प्राप्त करते हैं। और श्यामसुन्दर की गति प्रवाह-नित्यकेलि की लहरी, उसकी बीजस्वरूपा श्रीराधा के स्वरूप को नहीं पहचानते, वे महाअमृत के समुद्र को प्राप्त करके भी उसकी एक बूंद भी नहीं पा सकते—

राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया
सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना काङ्क्षति।
किं च श्यामप्रवाहवारिलहरीबीजं न ये तां विदु-
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुः ॥ —रा० सु० नि० ७९

अनन्य उत्कट व्रतधारी श्रीहित प्रभुपाद का निम्नांकित दोहा उनकी अनन्य-निष्ठा श्रीराधाजी के प्रति जैसी थी, उसके लिये प्रसिद्ध है—

रसना कटौ जु अनरटौ, निरखि अनफुटौ नैन।
श्रवन फुटौ तो अनसुनौ, बिन राधा जस बैन ॥ —स्फुटवाणी

अनन्यनिष्ठा के साथ एक बार के श्रीराधा नामोच्चारण की महिमा देखिये—

गिनत बनै ना अघ, अगनित अपार सोऊ,
एक बार राधा नाम मुख सौं उचारै जो।
सोचत हिय बार बार मोहन मन अति उदार,
याकौं कहा दीजै याकी पटतर अनुसारै को ॥
प्यारी नाम अमृत रस प्यारौ सुनि बिबस होत,
धन्य धन्य सोई अति हित सौं पुकारै हो।
ताको महिमा की सीम परस सकै जो कौन,
ललित लड़ैती पद से उर धारै सो ॥

गोस्वामी श्रीकिशोरीलालजी अधिकारीकृत अनुवाद श्रीरा० सु० नि० श्लोक १५४,

श्रीराधादास्य को ही सर्वस्व मान गोस्वामी श्रीकृष्णचन्द्र महाप्रभु ने 'उपसुधानिधि' में श्रीराधाचरणारविन्द की अपनी अनन्य निष्ठा इस प्रकार दिखलायी है—

सर्वे धर्मा ममाधर्मा साधु सर्वमसाधु मे।
न यत्र लभ्यते राधे त्वत्पदाम्बुजमाधुरी ॥

—उपसुधानिधि

इस सम्प्रदाय में श्रीराधारानी ने श्रीहिताचार्य को श्रीराधावल्लभीय-सम्प्रदाय का मन्त्र प्रदान किया था। इससे वे उनको गुरुरूपा एवं सम्प्रदाय की आचार्य हैं। अतः जैसे प्रत्येक सम्प्रदाय अपने प्रवर्तक के नाम से प्रचलित हैं उदाहरणार्थ रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि वैसे ही इस सम्प्रदाय की आदिकर्ता श्रीराधा होने से यह श्रीराधावल्लभीय-सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध है। श्रीहिताचार्य ने श्रीराधावल्लभजी के स्वरूप के साथ श्रीराधा की प्रतिमा न रखकर उनकी गादी (गद्दी) स्थापित कर गादी सेवा (गद्दी सेवा) का विधान कर दिया।

यहाँ श्रीराधा का एक अत्यनुपम स्वरूप और भी माना गया है, जिसका विशद वर्णन सम्प्रदाय के वाणी-ग्रन्थों में है, उसका संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं। जब नित्य-निकुंज हित महल से श्रीहितप्रभु ने अवतार लेकर भूमंडल पर अपनी स्वामिनी आराध्या श्रीराधा का परम अलौलिक अकथनीय रूप तथा नित्य-विहार का यशोगान कर उनका दिव्य स्वरूप सबको प्रकट किया एवं सर्वात्मना उनको लाड़ लड़ाया, तब हित स्वामिनी श्रीराधा हित की अत्यन्त आसक्तिवश हो अपने हृदय में उमड़ते हुए उनके प्रति स्नेहातिप्रवाह को न रोक सकने के कारण वे श्रीहित के स्वरूप और यश का गान करके चित्त में हित के उफनते प्रबल उद्गारों को हलका करने के निमित्त सेवक रूप में अपने को छिपाने का प्रयत्न करती हुई पृथ्वीतल में प्रकट हुइं। जैसा कि श्रीप्रियादासजी श्रीसेवकजी की बधाई में लिखते हैं—

हित के हित अवतार छैलि ललकत लियौ।
श्रीहरिवंस को नेह रुक्यौ न पलट्यौ दियौ ॥
सेवकता में भुलाइ छिपै निज रूप कौं।
प्रियादासिनु हित मर्म समुझ्यौ सरूप कौं ॥ —सेवकचरित्र

और—

पचि न सक्यौ यह भाव हिये को गोरी सेवक ह्वै भाख्यौ

तथा—

हितराधा मधि नेह तैं हो उपज्यौ सेवक नाम

इस प्रकार हित की स्वामिनी हित की सेवक बन सेवक रूप में अपने को छिपा न सकीं। उनकी वाणी द्वारा श्रीवनचन्द्र महाप्रभु ने उनको पहिचान लिया, 'हित औ राधा बिन को यौं बोलै बलि बनचन्द्र बखानी....।' इस प्रकार श्रीहितप्रभु ने श्रीराधा के अनिर्वचनीय स्वरूप को और श्रीराधा ने श्रीहित के दिव्य स्वरूप को प्रकट किया। इस संप्रदाय में ये श्रीराधा श्रीसेवक रूप से शिष्य भी हैं।

श्रीमद्राधासुधानिधि के 'रसकुल्या' टीकाकार श्रीहरिलाल व्यासजी श्रीराधा का स्वरूप बतलाते हुए श्रीहिताचार्यपाद की वन्दना करते हुए लिखते हैं—

राधैवेष्टं सम्प्रदायैक कर्ताऽऽचार्यो राधा मन्त्रदः तद्गुरुश्च।
मन्त्रो राधा यस्य सर्वात्मनैवं वन्दे राधापादपद्म प्रधानम्॥

अर्थात्—जिनकी श्रीराधा ही इष्ट हैं सम्प्रदाय की आदिकर्ता तथा आचार्य हैं और मन्त्रदाता सद्गुरु हैं तथा वे ही मंत्र हैं। इस प्रकार सर्वात्मन श्रीराधा के पादपद्म-प्रधान जो श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभु हैं उनके लिये मेरा नमस्कार है।

आचार्यपाद श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभु ने श्रीप्रियाजी की बधाई का पद इस प्रकार लिखा है—

चलो वृषभानु गोप के द्वार।
जन्म लियौ मोहन हित स्यामा आनँदनिधि सुकुमार॥
गावत जुवति मुदित मिलि मंगल उच्च मधुर धुनि भार।
बिबिध कुसुम किसलय कोमल दल सोभित बंदनवार॥
बिदित बेद बिधि बिहित बिप्रवर करि स्वस्तिनु उच्चार।
मृदुल मृदंग मुरज भेरी डफ दिवि-दुंदुभि रवकार॥
मागध सूत बंदि चारन जस कहत पुकार पुकार।
हाटक हीर चीर पाटंबर देत सम्हार सम्हार॥
चंदन सकल धेनु तन मंडित चले जु ग्वाल सिंगार।
जय श्रीहित हरिवंस दुग्ध दधि छिरकत मध्य हरिद्रागार॥

इसमें आनन्दनिधि सुकुमारी जो श्यामा हैं, उन्होंने मोहन के हित जन्म लिया है। इससे सब वृषभानु के द्वार पर चलो यहाँ श्यामा पद से आपने अपनी इष्ट श्रीराधा का नित्य किशोरी स्वरूप द्योतन किया है, क्योंकि श्यामा षोडश वर्षीया को कहते हैं।

अब श्रीराधावल्लभजी के मन्दिर में श्रीराधा-अष्टमी के दिन जन्मोत्सव पर समाज में गाये जानेवाले पदों का उद्धरण देते हैं—

प्रगटी श्रीवृषभान गोप के सोभाको निधि आई री।
धन्यभाग कीरतिदा रानी जिन यह कन्या जाई री॥
सुनतहि धाईं सखी सहेलीं मनबांछित फल पाई री।
हाथहि कंचन थार बिराजत मंगल गावत आई री॥
महारानी कीरति आदर दै........

—श्रीकमलनैनजी महाराज

'नवल नृपति वृषभानुराइकें बाजत आजु बधाई री.......' --श्रीकमलनैनजी

भादौं सुदि आठैं उजियारी।
श्रीबृषभानुगोप कें मंदिर प्रगटी राधा प्यारी॥ --श्रीदामोदरहितजी

कुँवरि किसोरी जनमत हीं ब्रजजन फूले तन-मन माई।
श्रीबरसाने गोपाल कैं बाजत सुनी है बधाई॥
रानी जगजानी श्रीकीरति भाग भरी छबि छाई।
रूप प्रेम रस अवधि ललित मुख सुख निधि कन्या जाई॥
सदन सदन आनँद महा मंगल सोभा कहो न जाई।
नर नारी हरषे सब ऐसैं मनौं रंक निधि पाई॥.... --श्रीदामोदरहितजी

रंग बरसै री हेलो कीरति महल में, जस दरसै री हेलो रस की चहल में।

आजु ब्रज फूल्यौ सबै रावल बिनोद सुहावनौ।
उदौ सूरजबंस की नंदराइ मन कौ भवानौ॥
सुकृत फूल्यो री हेली श्रीमहीभान कौ।
आनँद झूल्यौ री हेलो श्रुतिनु बखान कौ॥ —श्रीसहचरिसुखजी

आजु प्रगटी श्री वृषभानु भवन में श्रीबृंदाबन रानी।
रसिक निहित रस सागर नागरि ब्रजघरु करी रवानी॥
सत चित आनँद लली ललावन यह मति बिरले जानी।
नित्य बिहार प्रगट करिबे कौं प्रगटे आनँद दानी॥ —श्रीप्रेमदासजी

श्रीवृषभान नृपति के आँगन बाजति आजु बधाई।
कीरतिदे रानी सुखसानी सुता सुलच्छिन जाई॥
सक्ति सबै दासी हैं जाकी श्रीहु तैं अधिक सुहाई।
निरवधि नेह अवधि रसमूरति प्रगटो सब सुखदाई॥
ब्रह्मादिक सनकादिक नारद आनँद उर न समाई।
'नंददास' प्रभु पलना पौढ़े किलकत कुँवर कन्हाई॥ —श्रीनंददासजी

रतन जटित चौकी पर बैठी लाड़ति कीरति ललित लली है।
त्रिभुवन भाग्यभरी को ऐसी रस मयंक की उगन थली है॥
बदन बिलोकि करज चटकावति सुकृत अवधि के फलन फली है।
बृंदाबन हित रूप जासु कैं श्रीहूँ की स्वामिनि दूध पली है॥ —चाचा श्रीवृन्दावनदासजी

श्रीराधा के दर्शन के लिये सदाशिव के आगमनपर—

अरी मेरी वारी राधा या जोगिया कौं देखत तुरत डरैगी।
अंग भसम बाघंबर धारैं ब्याल गरैं लख को धौं री धीर धरैगी॥
गदगद गावै अलख मनावै बिनु परचे को प्रतीति करैगी।
बृंदावन हित रूप दरस चाहत गोप कन्या कैसे तू रावल फिरि जाहु कोऊ लरैगी॥
(चाचा श्रीवृन्दावनदासजी)

अरी माई मेरो बचन सुनि भागिनु पूरी और कछू नहीं लैहौं।
जननी जनक प्रताप बढावन जनमो अतिलड़ीं याकौ रूप गुन गैहौं॥
लटा छुवाइ चरन कन्या के जंत्र यहै जु अमर करि जैहौं।
वृंदाबन हित रूप सत्य मन क्रम बच करि कैं हरषि आसिका दैहौं॥ —चाचा श्रीवृन्दावनदासजी

आजु बधाई है बरसाने,
कुँवरि किशोरी जनम लियौ सब लोक बजे सहदानै।
कहत नंद वृषभानरायसौं और बात को जानै।
आजु भैया ब्रजभाषी हम सब तेरे ही हाथ बिकानै॥
या कन्या के आगे कोटिक बेटन को अवमानै।
तेरे भलैं भलौ सबहिनु कौ आनँद कौन बखानै॥
छैल छबोले ग्वाल रँगीले हरद दहो लपटानै।
भूषन बसन बिबिधि पहिरें तन गनत न राजा रानै॥
नाचत गावत प्रमुदित ह्वं नर नारिनु को पहिचानै।
व्यास रसिक तन मन फूले हैं नीरस सबै खिसानै॥ —श्री०व्यासजो

—श्रीहित सुकुमारीलाल गोस्वामी

●

श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय में श्रीराधा

वेदान्तानुशीलन की दृष्टि से शुद्धाद्वैत और भक्तिभावना की दृष्टि से परम रहस्य पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्रीवल्लभाचार्य परात्पर पूर्ण पुरुषोत्तम रसस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप में अद्भुत-कर्मत्व, अचिन्त्यानन्तशक्तिशालित्व और विविध-दिव्यगुणैकधामत्व सिद्धान्त के संस्थापक प्रवर्तक हैं। 'कर्तुमकर्तुमन्यकथाकर्तु-समर्थ' भगवान् श्रीहरि अपने दिव्य लीलाधाम में लक्ष्मीसहस्रलीलाओं से सेव्यमान होकर निरस्तसाम्यातिशय आनन्द रूप में विराजमान हैं, विहरणशील हैं। वे अपनी अनुपम लीलाओं द्वारा अनन्य शरणागत भक्तों के मनोरथों की संपूर्ति करते हुए उन्हें मनोहर गुणों, शक्तियों और चरित्रों द्वारा आप्यायित करते रहते हैं। उनका यह विहार और विहार-स्थल सदा-सर्वदा प्रकाशमान अथवा स्वकीय अनुपम छटा से अलंकृत एक ऐसी परमाराध्य वस्तु है, जिसकी कोई उपमा नहीं, जो वर्णनातीत होकर भगवत्कृपा से ही साध्य, अनुभवैकवेद्य है। जैसा कि भगवत्स्वरूप का निर्देश किया गया है, वह—

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाविद्यया चापि मायया च निषेवितम् ॥ --भागवत

इन विशिष्ट शक्तियों से निषेवित हैं; भगवत्सम्पर्क से उन शक्तियों में, गुणों में सुषमा आती है, वे उनके संपर्क से देदीप्यमान हो उठते हैं। प्रभु श्रीहरि 'श्री' के कर-सरोजों से संलालित-चरण हैं, तो 'पुष्टि'—अनुग्रहमयी करुणा से परिपूरित हैं। मधुमयी 'वाग्' देवता से अभिवन्दनीय हैं। दिव्य 'कान्ति' स्वयं उनके श्रीअंग का संपर्क पाकर दीप्तिमती हो उठती है. भुवनपाविनी 'कीर्ति' उनके अवदात गुणों के आमोद को बिखेरती हुई अपने को धन्य मानती है। 'तुष्टि' स्वयं तुष्ट होती और 'इला'—विधृति, 'ऊर्जा'—उत्साह भावना अपने भाग्य की सराहना करती हैं। इधर विविध 'विद्या' और 'अविद्याओं' का सहयोग लेकर 'माया' नटिनी अपने हास-विलास-लास्य से प्रभु को प्रसन्न करने की चेष्टा करती है। इस प्रकार भगवान् अपनी अनन्त शक्तियों के द्वारा यावन्मात्र ब्रह्माण्ड पर स्वकीय करुणा-दृष्टि की वृष्टि करते हुए स्वानन्द-तुन्दिल परम प्रसन्न मुद्रा में विराजमान हो भक्तों को दर्शन देते हैं।

भगवान् की इन शक्तियों की न तो कोई गणना है न इयत्ता। उनका स्वरूप इदमित्थं रूप में समझ लेना असाध्य-असंभाव्य है। जहाँ-तहाँ शास्त्रों में, ब्रह्माण्डों में इन शक्तियों का वर्णन है, साम्राज्य है। भगवान् अपनी इन शक्तियों के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और पालन-क्रिया करते हुए उनके सहज विलास को अंगीकार करते हैं।

श्रीहरि के इस दिव्य स्वरूप की कुछ छटा दिखाते हुए परमयोगीश्वर शुकाचार्य ने भागवत के मंगलाचरण में एक स्थान पर नमन करते हुए कहा है—

निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः। —२/४/१४

भगवान् स्वीय 'राधस्' शक्ति से—जिसका न तो कहीं साम्य है और न कहीं जिससे आधिक्य ही, संवेष्टित होकर मुहुः कुयोगियों के लिए सुतरां अप्राप्य और सात्वतों के लिए परम प्रेष्ठता धारण करते हुए स्वरूपानन्द में स्वयमेव विहार करते हैं। श्रीवल्लभाचार्य ने इस श्लोक को सुबोधिनी में निरूपित किया है—

"काचिद् भगवतः सिद्धिरस्ति 'राधस्' शब्दवाच्या। न तादृशी सिद्धिः क्वचिदन्यत्र, न वा ततोऽप्यधिका। तया सिद्धया भगवान् स्वगृह एव रमते। तच्चाक्षरात्मकं ब्रह्म। रंस्यन्निति स्वनिष्ठमेव रसं

तत्सम्बन्धादभिव्यक्तं करोति इति। एतावता स्वरूपव्यतिरेकेण नान्यत्र रंस्यतीति भगवदीयो रसस्तत्रैव प्राप्तव्यः। गृहं च तस्यैव। तत्साधनं च निरस्तसाम्यातिशया सिद्धिः। अतोऽन्येषां सर्वथा तत्प्राप्तिर्दुलभा, गृहसेवकस्य तु सुलभेति।''

यह है वह श्रीस्वामिनी श्री राधिका का दिव्य स्वरूप, जिसका संकेत दशम स्कन्ध के रासलीला-प्रसंग में 'अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः' वाक्य द्वारा श्री शुकाचार्य ने परोक्ष रूप में करते हुए भी साक्षात् रूप में दिया है।

इन दोनों स्थलों की पारस्परिक संगति ही पुष्टिमार्गीय प्रस्तुत विषय की मूल धारणा है, जो प्रत्यक्ष ओर परोक्ष दोनों रूपों में सम्प्रदाय में वर्णित हुई है। कुछ मान्य विद्वानों का यह कथन है कि पुष्टि-सम्प्रदाय में श्री राधिका-तत्व का निर्देश श्री श्रीवल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थों में नही किया, आश्चर्य में डालता है। परम रहस्य की रहस्यता उसके परोक्ष निर्देश में ही होती हैं, उसे सर्वसाधारण अनधिकारियों के समक्ष साधारणतया वर्णित करने में कोई आकर्षण नहीं रहता। इसीलिए 'परोक्षप्रिया एव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' इस प्रकार श्रुति में कहा गया है। इस अतिशय गोपनीय भागवती मुख्य शक्ति स्वामिनी श्रीराधा का निर्देश भी इसी प्रकार श्रीशुकाचार्य और तदनुसार श्रीवल्लभाचार्य ने किया है। भेदसहिष्णु अभेद की सैद्धान्तिक दृष्टि में लीलापरिकर के आलम्बनभावतया इसकी पृथक् सत्ता भले ही गिनी जाती हो, पर वस्तुतः धर्म-धर्मी की मूलभूत अभेद-भावना के कारण ये दो पृथक् तत्व नहीं हैं, इन्हें एक दूसरे से विलग नहीं किया जा सकता। जहाँ श्रीकृष्ण की सत्ता है, वहाँ श्रीराधिका की भी है। ये दोनों अविनाभाव से सर्वत्र विलसित हो रहे हैं। पृथ्वी और गन्ध, जल और शैत्य, तेज और प्रकाश, आकाश और व्याप्ति के समान इनका स्वाभाविक सयोग है। जैसा कि प्रथम कहा गया है—भागवत में निर्दिष्ट श्री, पुष्टि, गीः, कान्ति आदि सभी शक्तियों की प्राणस्वरूपा यही मुख्य शक्ति है, या यों कहा जा सकता है कि इन सबकी साकार समष्टि श्रीवृषभानुजा राधिका है। 'स्वकीय' और 'परकीय' ये दोनों शब्द सापेक्ष और संकुचित अर्थ के द्योतक हैं; इनमें वह अंतरङ्गता नहीं है, जो धर्म-धर्मी की सतत संयुक्त आत्मा में है। इसीलिए पुष्टि-सम्प्रदाय में श्रीराधिका को न तो 'स्वकीयात्वेन' और न 'परकीयात्वेन' निर्दिष्ट किया गया है; यहाँ तो वे सर्वत्र सच्चिदानन्दरसमय पूर्ण पुरुषोत्तम की मुख्यशक्ति स्वामिनी के रूप में आलेखित हुई हैं।

श्रीराधिका के स्वरूप में अधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक—सभी स्वरूपों की उदात्त आकृति साकार हो उठती है। श्री वल्लभाचार्य के द्वारा ही वर्णित 'भगवत् सिद्धि' और शक्तियों के सामञ्जस्य में 'प्रेमामृत रसायन राधिका-स्तोत्र' में श्री महादेव द्विवेदी ने बड़ा सुन्दर हृदयग्राही चित्रण किया है। स्वकीय प्रियतमा के विरह में मानसिक ताप की शान्ति के लिए भगवान् श्रीकृष्ण उनके जिन नामों का उच्चारण करते हुए उनके मधुर संगम का संस्मरण करते हैं, उनके द्वारा वृषभानुजा के दिव्य स्वरूप की झाँकी हो जाती हैं। *

१. 'श्री' के अभिधेय शोभा और सम्पत्ति के रूप से जहाँ स्वामिनीजी 'सुवर्ण सुन्दर कमनीय कलेवर धारण कर पूर्ण शारदीय चन्द्रमा की सुषमा को अपने मुख कमल से जीत लेती हैं, वहाँ वे अनर्घ आभूषणों की शोभा को बढ़ाने वाली भूषणभूषणाङ्गा हैं, वे विधाता की सृष्टि की रचना नहीं, अपितु ''ब्रह्मसृष्टिबहिर्भूता' हैं। उनकी कोई उपमा नहीं, कोई सारूप्य नहीं।

---

* राधाविरहसंतप्तो मनस्संतापशान्तये।
तत्सञ्ज्ञांस्संस्मरन् कृष्णो जल्पतीदं मुहुर्मुहुः॥

यह स्तोत्र महादेव द्विवेदी ने 'श्रीकृष्णप्रेमामृत' नामक स्तोत्र के प्रतिरूप में निर्मित किया है, जिसका प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

एकदा कृष्णविरहाद्ध्यायन्ती प्रियसंगमम्।
मनोवाष्पनिरोधाय जल्पतीदं मुहुर्मुहुः॥

२. 'पुष्टि'—अनुग्रह के अर्थ में श्रीराधिका जी 'क्षिप्रप्रसादकारिणी' और 'सर्वसौभाग्यवर्द्धिनी' हैं। इस प्रकार वे सौभाग्यशालियों के लिए सुसंदृश्य हैं।

३. 'गीः'— वाणी के रूप में वे 'मधुर-सम्भाषिणी' और 'सुसरस्वती' रूपा हैं।

४. 'कान्ति' के अधिष्ठानतया स्वकीय चरणनखचन्द्र की चन्द्रिका द्वारा वे अखिलजन-तापहारिणी हैं।

५. 'कीर्ति' के वाच्य-अर्थ में स्वयं कीर्तिनन्दिनी होकर 'व्रजसीमन्तिनीरत्न' हैं, 'वृषभानुकुलोत्तसमञ्जरी' होने के कारण उनका यशस्सौरभ सर्वत्र प्रसृत हो रहा है।

६. 'तुष्टि' के रूप में 'रासोल्लासमदोन्मत्ता' होती हुई वे स्वयं रससागर की मर्यादा बनी हुई हैं।

७. 'इला'—धारणात्मिकता शक्ति के रूप में श्रीराधिका भगवद्धामरूप नित्य वृन्दावन में सदा विहरणशीला-व्रजभूमि और व्रजोत्सवस्वरूपा हैं।

८. 'ऊर्जा' - उत्साह के प्रतिरूपक में वे स्वकीय भ्रूवल्लीसंचालन द्वारा प्रियतम के मन को चलायमान करती हैं, तथापि 'मनसो मनो यद्' श्रुति के अनुसार सर्वमनस्स्वरूप भगवान् के लिए 'मनोरमणदक्षिणा' हैं।

९. 'विद्या के स्वरूप में निकट स्थितों की निखिलसंतापहारिणी हैं।

१०. विद्या के अभाव 'अविद्या' से कुयोगियों के लिए सर्वथा अप्रांप्य हैं।

११. 'माया' के चातुर्य में वृषभानुनन्दिनी 'विस्मयस्थानरूपा' होकर परमाश्चर्यधारिणी हैं। सेवारसानभिज्ञ ज्ञानियोंके लिये वे 'ब्रह्मानन्दप्रदायिनी' स्वरूप धारण करती हुई स्वकीय अनन्य चरण सेवकों के लिये 'ब्रह्मानन्दाधिकस्पर्शा' हैं।

तात्पर्य यह कि पुष्टिमार्ग में जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है, उससे किंचिन्मात्र भी अन्तर श्रीस्वामिनी राधिकाजी में नहीं है; एतावता भगवत्प्रियतमा श्रीराधा निखिल निगमागमों की सारभूत, रस की प्रतिमूर्ति, साहित्य की माधुरी, ज्ञान की संसिद्धि, भक्तिभावना की कल्पलता और पूर्णपुरुषोत्तम की अभिन्न मुख्य शक्ति हैं, जिनका सहज विलास विविध रूपों में यत्र-तत्र-सर्वत्र विलसित हो रहा है।

पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्रीवल्लभाचार्य ने स्वरचित 'पुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्र' में एक स्थान पर 'राधाविशेषसम्भोगप्राप्तदोषनिवारकः' रूप में श्री प्रभु का स्मरण किया है, और परिवृढाष्टक में 'कलिन्दोद्भूतायास्तटमनुचरन्तीं पशुपजां०' आदि श्लोकों द्वारा श्री राधिका का साक्षात् दर्शन कराया है। आचार्यश्री 'श्रीकृष्णप्रेमामृत' में 'राधावरुन्धनरतः', 'राधासर्वस्व-सम्पुटः', 'राधिकारतिलम्पटः' आदि रसात्मक विशेषणों द्वारा भगवत्स्वरूप का उल्लेख करते हैं और 'श्रीकृष्णाटक' में 'राधापते ! व्रजजनार्तिहरावतार !' 'श्रीराधिकारमण ! माधव ! गोकुलेन्दो !' 'राधावर प्रिय वरेण्य शरण्यनाथ' तथा 'भक्ति स्वपादाम्बुजे सत्सेव्ये प्रददाति गोकुलपतिः श्रीराधिकावल्लभः' आदि साभिप्राय विशेषणों द्वारा भगवच्चरणसरसीरुहों में स्वकीय मानस श्रद्धा समर्पित करते हुए भगवद्ध्यान-परायणता का प्रतिपादन करते हैं। 'त्रिविधनामावली' के अन्तर्गत प्रौढ़लीलानामों में आचार्यश्री 'राधासहचराय नमः' कहकर प्रभु के साथ उनकी सतत विनोदमयी संचरणशीलता का वर्णन करते हैं।

इस प्रकार पुष्टि के अधिकारियों के लिये आकर्षक प्रत्यक्ष रूप में और अनधिकारी अथवा साधारणजनों के लिये अन्तर्हित परोक्ष रूप में श्रीराधिका के स्वरूप का उल्लेख श्रीवल्लभाचार्य की वाणी में हमें गम्भीररूप में मिलता है।

आचार्यश्री के अनन्तर उनके आत्मज प्रभुचरण श्रीविट्ठलेश्वर के साहित्य में भगदाराध्य इस रहस्य-तत्व के और भी अधिक मञ्जुल दर्शन करने का सौभाग्य अधिगत होता है। 'भुजंगप्रयाताष्टक' नामक स्तोत्र में जहाँ उन्होंने 'सदाऽऽराधिका-राधिका-साधकार्थ-प्रताप-प्रसाद प्रभो कृष्णदेव !' द्वारा भगवत्प्रसादप्राप्ति की कामना की है, वहाँ 'राधाप्रार्थना-

चतुःश्लोकी' में वे अपनी और भी अनुपम अभिलाषा का दिग्दर्शन कराते हुए सर्वातिशायिनी माधुर्यभावना का सुन्दर ढंग से अभिलेखन करते हैं—

कृपयति यदि राधा बाधिताशेषबाधा
किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादयोर्मे,
यदि वदति च किंचित् स्मेरहंसोदितश्री-
द्विजवरमणि-पङ्क्त्या मुक्ति-शुक्त्या तदा किम् ? ॥१॥
श्यामसुन्दर ! शिखण्डशेखर ! स्मेरहास्य ! मुरलीमनोहर !
राधिकारसिक ! मां कृपानिधे ! स्वप्रियाचरणकिंकरीं कुरु ॥२॥
प्राणनाथ ! वृषभानु-नन्दिनी-श्रीमुखाब्जरसलोलषट्पद !
राधिकापदतले कृतस्थितिस्त्वां भजामि रसिकेन्द्रशेखर ! ॥३॥
संविधाय दशने तृणं विभो ! प्रार्थये व्रजमहेन्द्र-नन्दन !
अस्तु मोहन ! तवातिवल्लभा जन्मजन्मनि मदीश्वरी प्रिया ॥४॥

उक्त चतुःश्लोकी में दिव्य पुरुषार्थों का भी वर्णन मिलता है, जो क्रमशः मोक्ष, धर्म, अर्थ और कामरूप से पद्यों में प्रतिफलित हैं। वे निवेदन करते हैं :—

'यदि भगवत्सम्मिलन में उपस्थित होनेवाली निखिल विघ्न-बाधाओं का निरसन करके स्वामिनी श्रीराधा इस जीव को कृपामृत की वर्षा से अभिषिक्त कर देती हैं, तो फिर लोक-वेद-प्रसिद्ध अनुग्रहमार्ग और मर्यादामार्ग में ऐसा कौन-सा फल मिलना शेष रह जाता है, जिसके लिये कठोर साधनों को अपनाना पड़े ? उनके कृपावारिधि में कामना से भी अधिक महार्घ रत्नों की उपलब्धि हो जाती है। जीवन की समग्र कृतार्थता उनकी सेवा में ही समधिगत हो जाती है। इसके आगे यदि वे अनुग्रह-परवश होकर स्वकीय दाड़िमबीजविनिन्दक शुभ्र दशनमणियों को किरणावली के द्वारा मन्दस्मित-पूर्वक अनुपम शोभा बिखेरती हुई दो-चार मधुर बोल बोल देती हैं, तब तो फिर भाग्य की इयत्ता का क्या कहना ? दिव्य मणियों की बहिरन्तस्तमोपहारिणी आभा के सामने 'मुक्तिशुक्ति' को लेकर क्या किया जाय ? वह तो तिरस्करणीय वस्तु है।'

श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण ने इस पद्य में श्रीराधिकाजी के कृपानिरीक्षण और मन्दस्मितपूर्वक मधुर वचन पर ही सब कुछ न्यौछावर कर दिया है। पुष्टि और मर्यादा के मार्ग से आगे बढ़कर वे स्वयं गन्तव्यस्थान पर पहुँच गये हैं। छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े साधनों का यहाँ स्वतः परित्याग हो गया है। यद्यपि पुष्टि में साधनावस्था नहीं है, वह स्वयं फलरूपा है, फिर भी उसके अवान्तरभेदगत साधनों का निराकरण यहाँ स्वतः प्रकट हो जाता है। मर्यादामार्गीय भौतिक साधनों का तो सुतरां असम्पर्क ही अभीष्ट है।

दैहिक और आत्मिक शुद्धि के लिये शास्त्रों में लौकिक, वैदिक उभयविध साधनों का निर्देश किया गया है। मानव-जीवन में भारतीय संस्कृति के अनुसार वर्णाश्रमधर्मानुकूल शारीरिक शुद्धि के लिये स्नान और उसकी पुष्टि के लिये शुद्ध अन्न-जल की आवश्यकता है। अन्नगत और जलगत दोष आसुररूप में मूर्तिमान मुर और नरक हैं, मुर-नरकभिद् भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में समर्पित अन्न-जल निर्दोष हो जाते हैं; एतावता भक्त भगवत्समर्पित प्रसादी वस्तुओं के व्यवहार से ही देहयात्रा चलाते हैं। सो श्री विट्ठलेश प्रभुचरण स्नानादि की आवश्यक मर्यादा की आध्यात्मिकता पर विशेष बल देते हुए श्रीस्वामिनीजी से निवेदन करते हैं :—

श्रीराधे ! प्रियतमदृक्संगमसंजातहासदृक्सलिलैः ।
भवदीयैः स्नानं मे भूयात् सततं न पाथोभिः ॥'—(स्वा० प्रा० १)

'भगवति श्रीराधे ! मेरे स्नान के लिए भौतिक जल की आवश्यकता नहीं, वह तो स्वतः विपुल रूप में इतस्ततः प्राप्त होता है; मुझे तो भगवत्सम्पर्क की आधिदैविक भावना से परिपूत आपकी आध्यात्मिक भावना के प्रतिरूपक सलिलों की अपेक्षा है, जिनका उद्गम आपके आयत लोल लोचनों से तब होता है, जब उनमें नन्दराजकुमार की दृष्टि-सम्मिलन-सूचक मन्दस्मित-लहरियों से सात्विक भाव का अभ्युदय होने लगता है। धन्यातिधन्य उन हर्षाश्रुओं का सम्पर्क ही मेरे लिए परम सौभाग्य की अवधि होगा। वृषभानुनन्दिनि ! भगवान् नारायण के अधिष्ठान इन जलों में वास्तविक 'शिवतम रस' को* अभिव्यक्ति तभी सम्भव है, जब प्रियतम श्री नन्दनन्दन के साकूत निरीक्षण का इनमें संयोजन होता है। आपकी सलज्ज ईषत्स्मित पूर्वक कटाक्षमयी दृष्टि के पारस्परिक सहयोग से समुद्भुत आनन्दाश्रुकण ही मेरी परम पावनता के निसर्ग-कारण हो सकते हैं—

भूयान्मेऽभ्यवहारस्तावकताम्बूलचर्वितेनैव ।
पानं करुणाकूतस्मितावलोकामृतेनैव ॥' (स्वा० प्रा० २)

शारीरिक निर्वाह और उसकी पुष्टि के लिए मानव को जिस आहार की प्रतिदिन अपेक्षा होती है, उसके लिए विट्ठलेश प्रभुचरण श्री स्वामिनीजी से निवेदन करते हैं— 'श्रीकृष्ण-प्राणप्रियतमे ! मेरे लिए इस भौतिक विकारमय श्वोविपरिणामी अन्न की आवश्यकता नहीं ! मुझे तो श्रीमुखारविन्द का चर्वित सुगन्धित ताम्बूल ही संतोषक एवं तृप्तिदायक है, इसे प्रदान करने की कृपा कीजिए।' पिपासा की शान्ति के लिए जिस तर्पक पानीय की अपेक्षा है, उसके लिए पञ्चतत्वों में से अन्यतम की आवश्यकता नहीं है, मेरे लिए तो भगवती का अवलोकामृत वास्तविक जीवनानुजीवन रूप में अधिगम हो सके तो महद्भाग्य, जिसमें असीम करुणाकूतता की सहज सुगन्ध और मनोरम मन्दस्मित की मधुरिमा घुली रहती है। कीर्तिजे श्री राधिके ! उक्त दोनों वस्तुएँ, (अन्न जल) मदीय देह यात्रा के लिए पर्याप्त हैं. और इस प्रकार स्नान-पान-भोजन से लौकिक आवश्यक सदाचार की पूर्ति हो जाती है।'

इस प्रकार लौकिक मर्यादा-पालन के अनन्तर श्री विट्ठलेश प्रभुचरण अपनी वैदिक मर्यादा के पालन की पद्धति के निर्वाहार्थ प्रार्थना करते हैं —

त्रिषवणमिह भवदङ्घ्रिप्रणतिः संध्या प्रकृष्टदैन्येन ।
जपस्तु तापक्लेशैर्विगाढभावेन कीर्तनं नाम्नाम् ॥ —स्वा० प्रा०, ३

'अहरहः संध्यामुपासीत' इस वचन द्वारा व्यक्त की जाने वाली द्विजत्व के असाधारण कर्तव्य की पूर्ति त्रिकाल संध्यावन्दन में मानी जाती है; इसकी अवहेलना सस्कार की परिसमाप्ति है। सो भगवती श्री वृषभानुनन्दिनी ! त्रिकाल-संध्या की इतिकर्तव्यता उसकी आधिभौतिक आचारपरायणता में न होकर कोमल कमल की सुषमा को तिरस्कृत करने वाले आपके युगल ललित-चरणों में प्रह्वीभावपूर्वक प्रणति में ही है। चित्त की परम निस्साधन दशा का द्योतक प्रकृष्ट दैन्ययुक्त यह प्रणाम ही मेरे सर्वोच्च अभ्युत्थान का निदान है; अतः कदाचित् नहीं, प्रत्युत सदा तीनों (प्रातः-मध्याह्न-सायं) कालों में ऐसा सौभाग्य संप्राप्त होता रहे—यह अनुग्रह होना चाहिए। संध्यावन्दन के अन्तर्गत जप की आवश्यकता में किन्हीं मन्त्रों की मुझे स्मृति नहीं, मुझे तो केवल आपकी दर्शन-परोक्षता में विरह-संताप-क्लेश की विगाढ़ अनुभूति होती रहे और उसमें कविवर-वचनों के विश्राम स्थान जगन्मङ्गल आपके सुन्दर नामों का संकीर्तन होता रहे— यही जप

---

* 'यो वः शिवतमो रसः' (श्रुति)

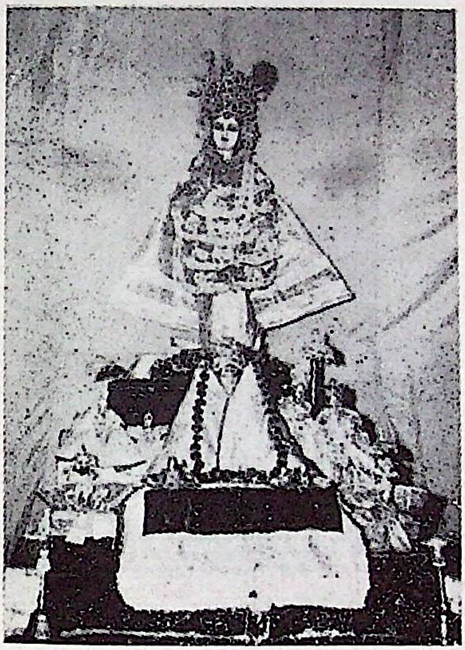

श्री केशवदेव : श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, मथुरा

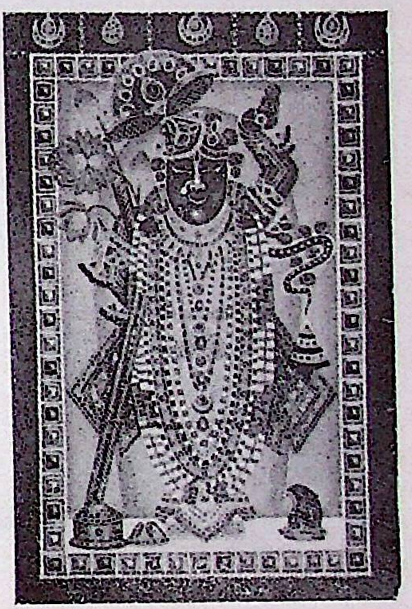

श्रीनाथ जी : स्वामी वल्लभाचार्य के उपास्यदेव

श्री बाँके बिहारी जी (वृन्दावन) : स्वामी हरिदास के उपास्यदेव

श्री साक्षी गोपालजी : साधुबेला आश्रम, वृन्दावन

श्री वंशीवटविहारी जी : श्री प्रभुदत्त
ब्रह्मचारी-आश्रम, वृन्दावन

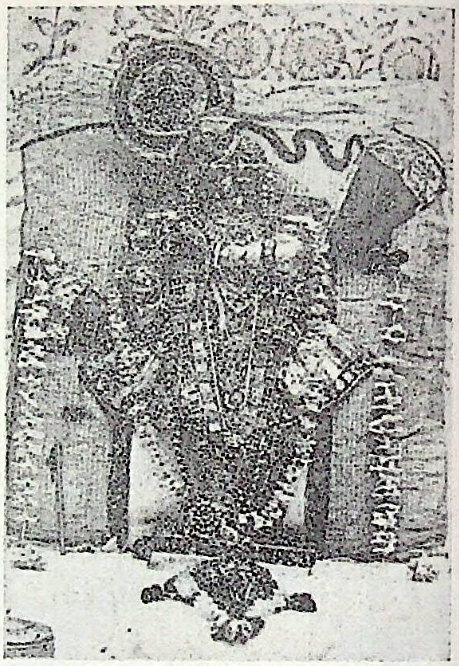

श्री गोपीनाथ जी : वल्लभ सम्प्रदाय के
अष्टम पीठ के उपास्यदेव

श्री गरुड़ गोविन्द : छटीकरा, मथुरा

श्री मुरलीधर युगल (स्वामी चतुर्भुजदास द्वारा
सं० १६६० में प्रतिष्ठापित)

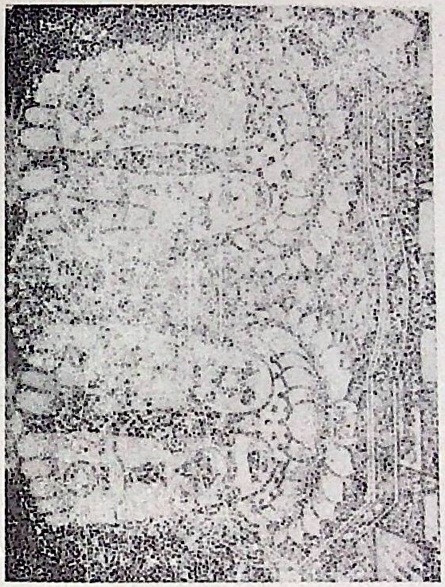

श्री राधाकृष्ण के चरणचिह्न

श्री कुञ्जविहारी : निधिवन, वृन्दावन

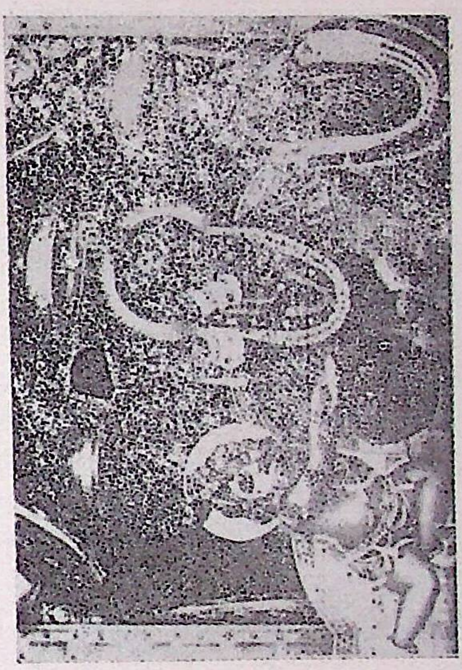

श्रीराधा-श्यामसुन्दर : वृन्दावन

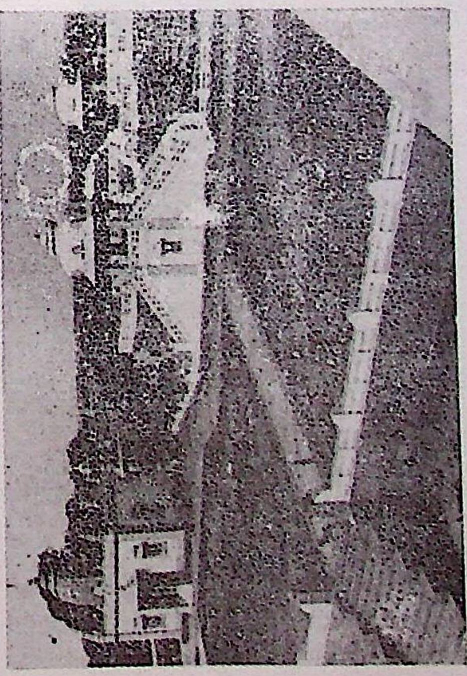

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : मथुरा

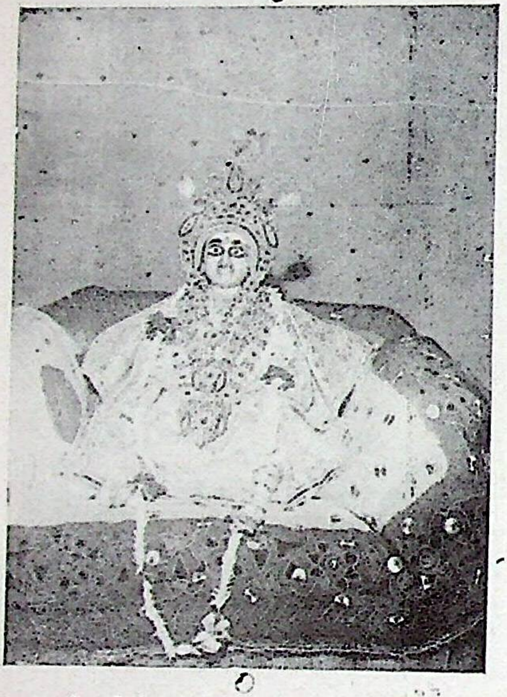

जयदेव जी के मन्दिर के श्री विग्रह : दुसायत

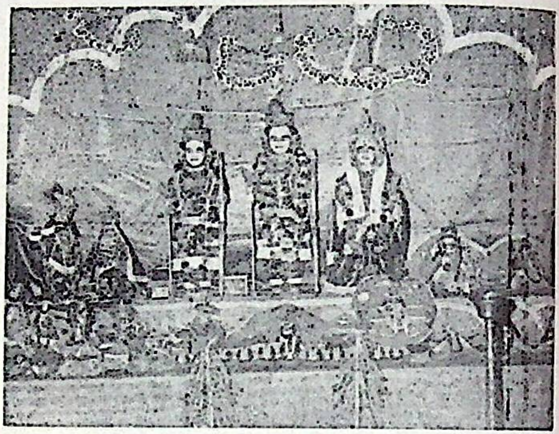

श्री विग्रह : सुदामा कुटी, वृन्दावन

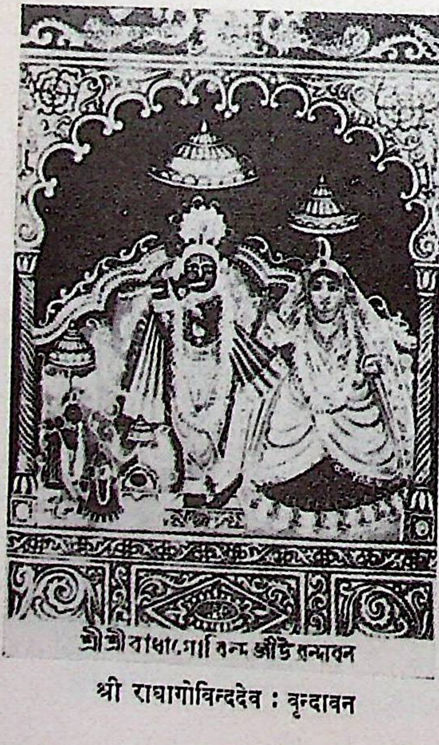
श्रीश्री राधागोविन्द जीउ वृन्दावन

श्री राधागोविन्ददेव : वृन्दावन

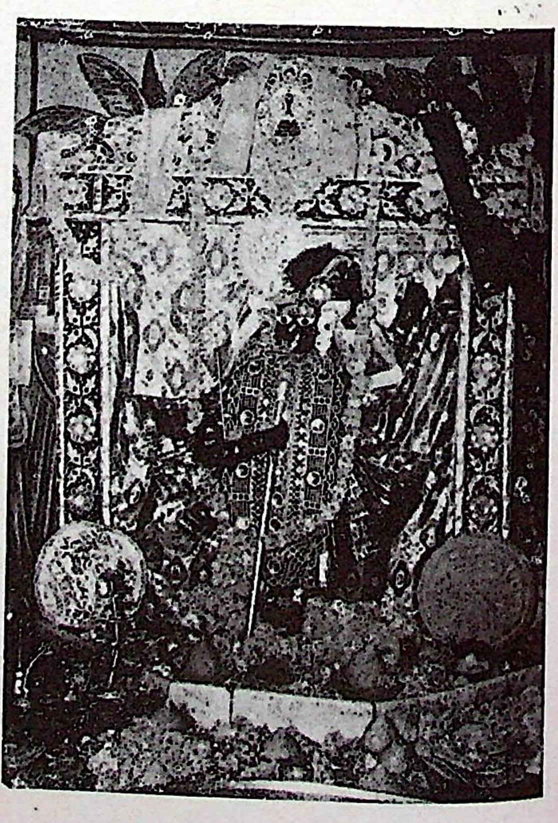

श्री मुखारविन्द : दानघाटी, गोवर्धन

अभीष्ट है। जिह्वा का 'रसना' नाम उन्हीं रसमय नामों के उच्चारण से सफल हो सकता है''''अतः कृपया इस प्रकार के भावोद्रेक का अवसर प्रदान कीजिए।''[1]

संध्यावन्दन और मन्त्र-जप के साथ होम और ब्रह्म-यज्ञ भी अनिवार्य कर्तव्य रूप से शास्त्रों में प्रतिपादित हुआ है, जिसके लिये विट्ठलेश निवेदन करते हैं :—

अस्तं गच्छत्सूर्यांशुशुक्षणौ दिवसदुःखहोमोऽस्तु।
त्वत्पृष्टप्रियवार्ताकथनं मे ब्रह्मयज्ञोऽस्तु॥ —स्वा० प्रा० ४

गोचरणार्थ वृन्दावन में पधारे हुए श्री यशोदानन्दन के दिवस विरहजनित दुःख को कहाँ विसर्जित किया जाय? उस त्याग का कुछ-न-कुछ पारलौकिक फल तो होना ही चाहिए? सो सायंकाल अस्तगामी हुए कर्मसाक्षी इस सूर्यरूपी प्रदीप्त वह्निज्वाला में ही उस दिवस दुःख का होम कर मैं अपने अग्निहोत्र की साधना भी पूर्ण समझूँगा, यह भी एक देवतोद्दिष्ट परोपकारार्थ द्रव्यत्यागरूप होम होगा। प्रतिदिन संध्या के समय गोचरण करके वन से आते हुए व्रज में गोरजच्छुरितकुन्तल गोपराजकुमार के मुखचन्द्र की चन्द्रिका से आगामिनी यामिनी का अन्धकार भी दूर हो जाएगा, अभिनव उल्लासमयी दर्शन की भावना से हृदय आनन्दित हो उठेगा और इस प्रकार मेरे नित्य होम की चरितार्थता हो जायगी। अब रहा 'ब्रह्मयज्ञ' सो आपके द्वारा परिपुष्ट प्रियतम की लीलामयी वार्ताओं के कथन से उसको भी चरितार्थता हो जायगी।

अग्निहोत्र और ब्रह्मयज्ञ के अनन्तर देव-ऋषि-पितरों के दिव्य तर्पण का स्वरूप प्रभुचरण इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं—

भवतीनां प्रिय-संगम-संजात-मनोमहोत्सवेक्षणतः।
तर्पणमिह सर्वेन्द्रिय-तृप्तिर्भवतान्मनोरथाप्त्या मे॥' —स्वा० प्रा० ५

'श्री नन्दनन्दनानन्ददायिनी राधिके! वयस्या प्रियसहचारिणी सखियों के साथ सहसा 'भगवत्प्रादुर्भाव—साक्षाद्दर्शन, सम्मिलन और संलापादि विहारों से भवदीय मनोरथ-महोत्सवों के आयोजनों का निरीक्षण करते रहने से मेरे तर्पण की परिसमाप्ति हो जायगी, इस लीलावलोकन से मेरी समस्त इन्द्रियों की और उनके आधिदैविक देवों की निश्चित ही परितृप्ति होगी। तृप्ति तर्पण मनोरथों की सम्पूर्ति का ही तो नाम है।

इन मनोरम मनोरथों में लौकिक-पारलौकिक सभी प्रकारों का समावेश हो जाता है। आधिदैविक भाव में भागवत के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक इन्द्रिय का एक-एक अधिष्ठातृ-देवता होता है, जो स्वकीय आहुतियाँ इन्हीं शारिरिक इन्द्रियों-द्वारा ग्रहण करता है। इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवों की तृप्ति, तर्पण संतोषानन्द की प्राप्ति इन्हीं के द्वारा संभव जानकर श्रीप्रभुचरण स्वामिनीजी से प्रार्थना करते हैं :—

तर्पणमिह सर्वेन्द्रियतृप्तिभवतान्मनोरथाप्त्या मे।

इस प्रकार का भावमय जीवन ही मानव जीवन की पुमर्थता है, और तदतिरिक्त जीवन भस्त्रा के समान श्वास-प्रश्वास ग्रहण करना मात्र है, निरर्थक जीवन और मरण में कोई अन्तर नहीं। भागवतीय सिद्धान्त में 'मृत्युरत्यन्त-विस्मृतिः'—अत्यन्त विस्मृति का नाम ही मृत्यु है, अतः उक्त जीवन की सार्थकता के अभाव को जीवनेतर अवस्था समझकर श्रीविट्ठलेश प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

इत्थं जीवनमस्तु क्षणमपि भवदङ्घ्रि विप्रयोगे तु--
मरणं भवतादेवंभावे शरणं त्वमेव मे भूयाः। —स्व० प्रा० ६

“निरानन्द कोटिकल्पपर्यन्त व्यर्थ जीवन का क्या मूल्य ? सार्थक परमानन्द-परिवेष्टित क्षणिक जीवन भी निरतिशय महत्वशाली है । अतः अराध्यतम श्रीकृष्ण की प्राणप्रेष्ठा श्रीस्वामिनीजी के चरणसरोज के आमोद से सुरभित क्षणभर का जीवन भी प्राप्त हो सके तो धन्य है. अन्यथा पांचभौतिक देह का कारणों में लय ही मेरे लिये अभीष्ट है । यों सोचकर विट्ठलेश प्रार्थना करते हैं —'भवदङ्घ्रिविप्रयोगे तु मरणं भवतात् ।' पर इस प्रकार के हृद्य जीवन की उभय स्थितियों की समुपलब्धि केवलमात्र शरणागति के द्वारा ही सम्भव है, यहाँ अन्य साधनों की गति नहीं । अतः श्रीराधिके ! आप आश्रय और रक्षक बनकर स्वयं मेरा समुद्धार कीजिये ।”

इस प्रकार दैवी-संपत्तिमय जीवन में आवश्यक कर्तव्यपरिपूर्ति के लिए विज्ञप्ति करने के अनन्तर श्रीगुसाईंजी ने 'श्रीस्वामिन्यष्टक' नामक द्वितीय स्तोत्र में सरस स्तुति करते हुए अपनी वाणी को सफल किया है । आपकी उक्ति है --

रहस्यं श्रीराधेत्यखिलनिगमानामिव धनं
निगूढं मद्वाणी जपतु सततं जातु न परम् ।
प्रदोषे दृङ्मोषे पुलिनगमनायातिमधुरं
चलत्तस्याश्चच्चरणयुगमास्तां मनसि मे ॥ १ ॥

उक्त अष्टक में गुम्फित श्लोकों द्वारा जिस ललित लीलालास्य का वर्णन किया गया है, वह रसिक भावुक भक्तों के लिये गेय वस्तु है । अन्तिम पद्य में दृढ़ धारणा की अभिव्यक्ति द्वारा श्रीगुसांईजी ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि इस अनुपम आनन्दामृत के आगे मेरे लिये अन्य किसी मनोरथ की आवश्यता नहीं है । अन्त में उन्होंने कहा है—

न मे भूयान्मोक्षो न नरमराधीशसदनं
न योगो न ज्ञानं न विषयसुखं दुःखकदनम् ।
त्वदुच्छिष्टं भोज्यं तव पद-जलं पेयमपि तद्-
रजो मूर्ध्नि स्वामिन्यनुसवनमस्तु प्रतिभवम् ॥ ८ ॥

उनकी प्रार्थना है कि श्रीराधिकास्वामिनीजी के चरणपङ्करुह के सुरभित पराग की संप्राप्ति यदि भूतल पर जन्म-धारण करने से ही हो सकती हो तो ऐसे अनेक जन्म लेने के लिये सदा लालायित हूँ । उन-उन जन्मों में यह सौभाग्य मुझे प्रतिक्षण प्राप्त होता रहे बस, यही विनम्र निवेदन है ।

'श्रीस्वामिनीस्तोत्र' नामक एक अन्य स्तोत्र में श्रीविट्ठलेश्वर प्रभुचरण ने श्रीयशोदानन्दन और श्रीकीर्तिजाकुमारी की रहस्य सेवा में दासी रूप में अपने को स्मरण करने और तत्कालोचित यत्किंचित् सेवा प्रदान करने के लिये विज्ञप्ति करते हुए अन्तिम पद्य में कहा है—

गेहे निकुञ्जं निशि संगतायाः प्रियेण तल्पे विनिवेशितायाः ।
स्वकेशवृन्दैस्तव पादपङ्कजं सम्मार्जयिष्यामि मुदा कदापि ॥ १२ ॥

मनोरथ-साफल्य की पराकाष्ठ का जो चित्र यहाँ खींचा गया है, वह अप्रतिम है—स्वकेश-वृन्दैस्तव पाद-पङ्कजं संमार्जयिष्यामि ।'' चरणपङ्कजों में रज का होना स्वाभाविक है, अतः उसके संमार्जन के साधन इन केशवृन्दों से मैं इस सेवा का सौभाग्य एक बार भी कभी प्राप्त कर सकूँ—यही विट्ठलेश्वर प्रभुचरण की सर्वोच्च अभिलाषा है ।

इस प्रकार उक्त स्तोत्रों में युगल स्वरूपों के प्रति प्रकट की गयी परमाराध्यता से श्रीस्वामिनी श्रीराधिकाजी और उनके प्रेष्ठतम प्रभु के साथ जो एकान्तिक अभेद सिद्ध होता है, उससे स्पष्ट कहा जा सकता है कि पुष्टिमार्ग की सेव्य-भावना में युगलस्वरूप में कोई अन्तर नहीं हैं। सर्वोच्च रस—शृङ्गार के संयोग-विप्रयोगात्मक दोनों दलों का रहस्यमय ऐक्य और परमानन्द-रस का पूर्ण परिपाक ही श्रीराधा-कृष्ण-तत्व है, जिसमें लीलात्मक भावना के अतिरिक्त अन्य कोई स्वरूपात्मक विभेद नहीं है। दोनों एक रस, एक स्वरूप और एक आत्मा हैं। धर्मधर्मी के विश्लेषण को भी यहाँ अवकाश नहीं है।

श्रीगुसांईजी ने स्वकीय अन्य ग्रन्थ 'दानलीलाष्टक', 'रससर्वस्व', 'शृंगाररस', 'स्वप्न-दर्शन' आदि लघु और 'शृङ्गाररसमण्डन' जैसे बृहत् ग्रन्थों में जिस भावना एवं पद्धति को लेकर श्रीराधिका का स्वरूप निरूपण किया है, वह अत्यन्त विलक्षण है।

श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण के अनन्तर श्रीहरिराय जी ने पुष्टिमार्गीय भक्तों के सर्वदा सेव्य भगवान् श्रीकृष्ण की चिन्तना के लिए एक प्रकीर्ण ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें वे श्रीप्रभु के चिन्तन का सहज उपाय परिदर्शित करते हैं।

आपका अभिप्राय है कि श्रीप्रभु का चिन्तन उसी माध्यम से हो सकता है; जो सदा उनके स्मरण में लीन हो। सतत भगवद्ध्यान-परायण जगत् में यदि कोई है तो वे श्रीस्वामिनीजी ही हैं, जो संयोग की अवस्था में अविरत भगवद्रस का आस्वादन करती हैं और विप्रयोग-अवस्था में निरन्तर चिन्तन में तल्लीन रहकर शृंगार रस के द्वितीय दल का अनुभव अधिगत करती हैं। "श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकारः" नामक ग्रन्थ में उन्होंने मुख्य शक्तिरूपा श्रीस्वामिनीजी का जो रेखांकन किया है, वह बड़ा ही हृदयग्राही और उनकी (स्वामिनीजी) स्वाभाविक अवस्था का परिदर्शक है। आप निरूपित करते हैं—

"श्रीस्वामिनीजी स्वप्रियतम प्रभु के विरह से व्याकुल होकर व्रजमण्डल के वन-वन, कुञ्ज-कुञ्ज में वृक्ष-लता-वल्लरियों से भगवंत्संकेत का प्रश्न करती हुई इतस्ततः परिभ्रमण कर रही हैं। त्वरित अन्वेषणार्थ ललित-गति होने पर भी आपके बहुमूल्य वस्त्राभरणादि अस्तव्यस्त हो रहे हैं, रसनायक स्वप्रेष्ठ के संस्मरण में श्रम के कारण उनका तालु ईषत् शुष्क हो गया है, विलुलित-केशपाश जहाँ-तहाँ "नाथ! नाथ! हा रमण! हा प्रेष्ठ! आदि सम्बोधनों का उच्चारण करती हुई चली जा रहीं हैं। (३) मञ्जुल उभय चरणारविन्दों से गतिशील होकर वे हार्दिक दुःखवश लोचन युग को बार-बार मीलित कर लेती हैं और जहाँ ध्वजवज्रांकुशादि चिह्नों से अलंकृत भगवच्चरणारविन्दों का उन्हें दर्शन होता है, कातर हो उठती हैं। (४) कहीं दावाग्नि की लोल लपटों से संत्रस्त होकर कष्ट से निश्वास लेने लगती हैं तो कभी गति भंग और प्रस्खलन से धरिणी-पतित होकर अत्यन्त विरहाकुलित चित्त हो जाती है। (५) इसी समय उनके हृदय में भागवद्भाव का प्रादुर्भाव होता है और वे गोकुल नायक का साक्षात्कार करती हुई विकलता से 'हे नाथ! मुझे कर कमल का अवलम्ब देकर उठा लीजिए' यह कहने लग जाती है। (६) पर जब सहसा कोई प्रतिक्रिया होता नहीं देखतीं, तब चिन्ताकुल मानस से अपने अपराधों पर दृष्टिपात करने लग जाती हैं। वे अन्तःकरणस्थित गूढ़भाव के कारण स्वकीय प्रियतम के प्राकट्य की अभिलाषा में आगे बढ़ती ही जाती हैं। (७) सहसा भगवद्भाव के प्रादुर्भाव से उन्हें समस्त लीलाओं का प्रतिस्फुरण होने लगता है, वे नन्द-नन्दन की चरित्रावलियों का अनुकरण करने लग जाती हैं। इस प्रकार लीलानुकृति से जब वे स्वयं निज प्रियतम की प्रिय भावुका हो जाती हैं, कोटिकन्दर्पलावण्य भावात्मा भगवत्स्वरूप के मञ्जुल आश्रय को पाकर सर्वदा उनकी लीला में ही विराजमान अविरल आनन्द का आस्वाद करने लगती हैं। स्वरूप-साक्षात्कार के द्वारा भगवदानन्दमयी हो जाती हैं।

श्रीहरिरायजी का कथन है कि उच्छलत् सर्वोत्कृष्ट परमप्रेष्ठ के सरस स्नेहाभिषेक से प्रक्लिन्न हृदय होकर भक्तों को श्रीहरि की 'श्रीस्वामिनीजी की' इस प्रकार नित्य भावना करनी चाहिए।

भावनीया नित्यमेवंभूता मत्स्वामिनी हरेः ।
तदेकहृदय-स्थायी तद्भावः कृष्ण एव हि ॥१०॥

लीला-सहस्रवलितः सामग्रीं-सहितस्तथा
भावनीयः सदानन्दः सदा नन्दादिलालितः ॥११॥

इस प्रकार श्रीराधिका स्वामिनीजी के चिन्तन द्वारा ही भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन किया जा सकता है; क्योंकि वे स्वयं श्रीस्वामिनीजी के हृदयसरोज में विराजमान और तद्भावरूपा हैं। यावन्मात्र सेवोपयोगिनी मधुर सामग्री के साथ वे उनके साथ ही भक्त मनोहारिणी लीलाओं का नाट्य करते हैं। सर्वदा नन्द यशोदा गोप-गोपी आदि से ललित सदानन्द श्रीप्रभु की इस प्रकार मानस की भावना करने से ही अभीप्सित मनोरथ की सिद्धि और पुष्टिमार्गीय सेवात्मक भक्तिरस की प्राप्ति होती है।

—**श्री कण्ठमणि शास्त्री**

अष्टछाप में श्रीराधा

वात्सल्य, सख्य और श्रृंगार की रस-त्रिपुटि का प्रशस्त आधार लेकर अष्टछाप के भक्तहृदय महाकवियों ने जिस महाभाव की लोक-मंगलकारिणी प्रतिष्ठा भक्ति-काव्य जगत् में की है, उसकी मूल प्रेरक एवं विधायिका शक्ति हमारी वृषभानु-नन्दिनी श्रीराधा हैं। प्रेम-लक्षणाभक्ति 'गोपी-भाव' की रागभूमि से अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होकर उस रस-त्रिपुटि की विविध भाव-व्यंजनाओं की क्रम-कोटियों को पार करती हुई, जिस रस-सिद्धि के चरम उत्कर्ष में परिणत होती है, वही 'महाभाव' है, 'राधा-भाव' है। राधा मानों महारस की प्रतीक, महाभाव की अभिव्यजना ही है। वह रस को अन्तःस्रोत भी हैं, रस की अतल महानिधि भी। समग्र शक्तियाँ उसकी इसी रसनिधिता में अन्तर्हित हैं। रस की स्निग्ध मर्यादा के प्रतिष्ठापन के लिए ही इस भूतल पर उसका अवतरण हुआ है। नन्ददास उसके आविर्भाव का यही लक्ष्य मानते हैं—

श्रीवृषभान नृपति के आँगन बाजति आजु बधाई।
कीरतिदे रानी सुखसानी सुता सुलच्छिन जाई॥
सक्ति सबै दासी हैं जाकी श्रीहु तें अधिक सुहाई।
निरवधि नेह अवधि रसमूरति प्रगटी सब सुखदाई॥
ब्रह्मादिक सनकादिक नारद आनंद उर न समाई।
'नन्ददास' प्रभु पलना पौढ़े किलकत कुँवर कन्हाई॥

आज के उल्लास-विलास की क्या सीमा? वृषभानुरायजी का राग-प्रांगण आज विश्व की समग्र सम्पदाओं, विभूतियों का उद्गम-स्थल बन रहा है। निखिल ऋद्धि-सिद्धि-शक्तियाँ जिसकी सहचरी-अनुचरी हैं, जो महाशक्ति आदि शक्ति के रूप में उन्हें श्री-शोभा-सामर्थ्य के कुछ कणों का दान करके अधिकाधिक समृद्ध करती है, उसके प्रादुर्भाव से भला. किसको प्रसन्नता न होगी? सिद्धि-साधन के धनी, तपोपूत ऋषि-सनक-नारदादि भी आज व्यापक राधा-शक्ति को व्यक्त रूप में पाकर निस्सीम हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। उस लीला-शक्ति के समुदित होने पर विविध हास-विलास, क्रीड़ाओं के दर्शन जो उन्हें करने को मिलेंगे। फिर सर्वोपरि सुखद घटना तो आज यह है कि 'निरवधि नेह अवधि रस-मूरति' राधा का प्राकट्य हुआ है, वह राधा जो स्वयं 'रसेश्वरी', रासेश्वरी, उनकी नियामिका, तथा सर्वस्व-प्राणाधिका हैं। इसीलिए तो वृषभानु-भवन की मंगल बधाइयों को सुनकर बालकृष्ण कुँवर कन्हाई भी नन्द-सदन में पालने में पौढ़े हुए किलक रहे हैं। वह रस-रूपिणी राधा कन्हैया के साथ अनुपल उदीयमान नव-नव-रस-लीलाओं के द्वारा जगत् में निरवधि नेह की माया स्थापित करेगी। 'प्रीति की रीति' कोई राधा से जाकर सीखे।

राधा के स्वरूप की यहो पृष्ठभूमि है, जिसपर नन्दालय, व्रज-गोष्ठ और निकुंज की अनगिनत रस-लीलाओं का विकास हुआ है। अपने हृदय के इसी अन्तःसौन्दर्य पर मुग्ध श्यामसुन्दर की वह प्रियतमा बन गई है। फिर उसमें बाह्य अंग-अंग विलसित रूप-लावण्य की मोहिनी का अनुपम संयोग; क्यों न वे उसके चिर स्नेहानुबन्ध में आबद्ध हो जायँ। छीतस्वामी के शब्दों में देखिये—

राधिका श्यामसुन्दर कौं प्यारी।
नखसिख अंग अनूप बिराजित कोटि चंद दुति वारी॥
इक छिनु संग न छाँड़त मोहन निरखि निरखि बलिहारी।
'छीतस्वामि' गिरिधर बस जाके सो वृषभानु दुलारी॥

नख-सिख अंगों में बिखरती-निखरती उनकी अनंग-सुषमा की माधुरी को अनुपल अपलक नयनों से वे पान करते रहते हैं। कोटि-कोटि सुधांशु की रूप-रश्मियों की सजल डोरियों ने मानों उनके हृदय को बाँध लिया है। एक क्षण का वियोग भी जिन्हें असह्य है, उन गिरधर की राधा के प्रति प्रीति का क्या नाप-तोल ? यह है श्रीराधा के रूप का जादू। रस और रूप जब एक स्थान पर आ सिमटते हैं, तो प्रेम किस परमावधि को पा लेता है, श्रीराधा-कृष्ण के मधुर-मिलन के ऐसे प्रसंगों में स्पष्ट होता है।

फिर हमारे भक्त-हृदय, रस-सिद्ध कवीश्वरों ने—श्यामा-श्याम की व्रज-लीलाओं के गायक-विधायक अन्तरंग अष्ट-सखाओं ने इस रूप-रस-तत्व के साथ मान-दान की मधुर-काव्य-कल्पना का और सुन्दर संयोग किया है, जिसके आधार पर उन्होंने रस-परिपाक एवं प्रीति-विधान के परमोज्ज्वल चित्र उपस्थित किये हैं। चतुर्भुजदास की काव्य-तूलिका का एक चित्रण देखिए—

रस ही में बस कीन्हें कुँवर कन्हाई।
रसिक गोपाल रसिक रस रिझवति
रस ही में तासों रिस तजि री माई॥
पिय कौ प्रेम रिस सों न होइ रसीली राधे
रस ही में बचन स्रवन सुखदाई।
'चत्रुभुज' प्रभु गिरिधर रस बस भए तासौं
कुरस कत मिलि रहै हिरदै लपटाई॥

यहाँ थोड़े-से शब्दों में रस-रीति का कितना सुन्दर विश्लेषण किया गया है! 'रसिक गोपाल और रसीली राधे' का यह प्रतीकात्मक चित्रण है।

'रस' में 'रिस' को 'कुरस' माना गया है, जो प्रिया-प्रियतम के प्रेम में बाधक है। फिर 'रसिक गोपाल' को रिझाने के लिये 'रसीली राधे' के लिए तो यह सर्वथा त्याज्य है। 'कुँवर कन्हाई' तो रस के ही वशवर्ती हैं। रस ही तो रसना का भी विषय है और वही श्रवणों को भी प्रिय है। इस तथ्य को इस पद में भलीभाँति समझाया गया है। मानापनोदन की दिशा में प्रयत्नशील सखी राधा-कृष्ण के परस्पर अनुराग का अंकन करती हुई राधा के रस-रूप के आकर्षण और उनके प्रेम की विजय का भी मोहक रेखा-चित्र खींच रही है।

इसी चित्र को यदि दूसरे दृष्टिबिन्दु से देखें तो इसका दार्शनिक पक्ष भी स्पष्ट झलक जाता है। गोपाल एवं राधा को यदि ब्रह्म और जीव-स्थानीय मान लें तो राधा का मान वा 'रिस' उसके गर्व वा अहंकार सूचक का है, जिसके रहते हुए उनका 'महामिलन' वा महाभाव होने में बाधा है। 'कुरस' के निरसन से ही उनकी द्वैत स्थिति अद्वैत वा एकात्म-भाव में परिणत हो सकती है, जो एकमात्र जीवन का लक्ष्य वा रस की परमावधि है। इस 'अहं' की निवृत्ति 'सर्वस्व-समर्पण' की कोटि में सम्भव है। सखी गुरु-स्थानीय माध्यम रूप होकर इसी के लिये प्रयत्नशील है। काव्य के मान-दण्ड से, कवि इसी प्रसंग को नायक-नायिका के बीच 'मान' का रूपक लेकर उपस्थित हुआ है। इसी को 'प्रपत्ति' कहिये, इसी को 'ब्रह्म-सम्बन्ध' कहिये—यही 'पुष्टिमार्ग' है, 'भक्तिमार्ग' है, और यही 'द्वैत' वा 'अद्वैत' सिद्धि है।

किन्तु सभी स्थितियों में कवि ने यहाँ राधा के रसाधिपत्य, रस-स्वरूपतापर प्रकाश डाला है। भक्त और भगवान् के बीच रस या भाव की महिमा और उनकी प्रेम-वश्यता का निदर्शन ही राधा के इस प्रेम-व्यापार का प्रयोजन सिद्ध होता है। श्यामसुन्दर वृषभानुनन्दिनी की रूप-मोहिनी से आसक्त होकर उसके भोले भावों के ग्राहक-रूप में उसके

कृपा-कटाक्ष की किस दैन्य की सीमा तक मधुर याचना करते हैं, यह गोविन्दस्वामी और भी विशद रूप में चित्रित करते हैं।—

कृपा अवलोकनि दान दै री, महादिन बृषभानुदुलारी।
तृषित लोचन चकोर मेरे तुव बदन इंदु किरनि पान दै री॥
सब बिधि सुघर सुजान सुन्दरी सुनि लै बिनती कान दै री।
'गोविंद' प्रभु पिय चरन परसि कह्यौ जाचक कौं तुव मान दै री॥

प्रिया-प्रियतम में एकात्म भाव की यह परम कोटि है। रसेश श्रीकृष्ण अपनी प्रेयसी राधा को स्वयं से भी अधिक रस-दान में समर्थ मान कर आज उससे 'महादान' की भीख माँग रहे हैं। उनके रूप-रस के प्यासे लोचन एक बार, केवल एक बार प्रिया के कृपावलोकन की माँग कर रहे हैं। चन्द्रानना, मृगनयनी राधा ही उनके लोचन चकोरों की तृषा बुझा सकती हैं। मुख-बिधु से पल-पल निर्झरित पीयूष-रश्मियों के एक कण का रस-दान ही उनका 'महादान' है। आँखों की भाव-भीनी, रस-भीगी कोरों से ही तो अन्तरतम की समग्र राग-वृत्तियाँ सिमट कर, आकुंचित हो कर, प्रियतम की हृदय-गुहा से निस्सृत भावधाराओ के साथ एकीभूत होती हैं। फिर राधा तो परम नागरी, सुजान, सुन्दरी ठहरी। उसका एक कटाक्ष-निपेक्ष ही अन्तर के चिर-संचित अनुराग-पराग को बिखेर कर प्रियतम नन्दनन्दन को धन्य-धन्य कर देगा। इसीलिये वे आज परम मानवती रूप-गुण-गर्विता श्रीवृषभानुजा को अपनी विनती सुन लेने को उद्‌बोधित कर रहे हैं। वह भी चरण पकड़ कर, सामान्य रूप से नहीं। 'मान' और 'दान' का कितना सुन्दर समन्वय हैं!

महाभाव की सिद्धि के लिये राधा के रूप-रस की प्रशस्ति इससे और अधिक क्या हो सकती है? यहाँ, प्रेम की इन अटपटी साँकरी गलियों में एक की स्थिति ही सम्भव है, 'या में दो न समाँय' पर लक्ष्य करते हुए श्यामसुन्दर अपने अस्तित्व को हो राधा के चरणों में विलय कर रहे हैं। प्रेमपत्तन तो एक निराली पण्य-बीथी है, जहाँ खोने-पाने का लेखा-जोखा नहीं होता। प्रेम, अलौकिक उत्कृष्ट प्रेम तो त्याग और बलिदान का पाठ पढ़ाता है, यहाँ तो देना ही देना है, उसी में वह सब कुछ पा लेता है। राधा भी उसी प्रेम की प्रतीक है। प्रकट में उसकी मान की चेष्टाएँ, वस्तुतः उसी सर्वस्व-दान का प्रच्छन्न रूप हैं, रस के उद्दीपन, उसके चरम परिपाक, का तो यह सूचन मात्र है। अन्यथा यह कैसे सम्भव है कि रस-नायक नन्दनन्दन, रसिक शिरोमणि परम नागर हो कर राधा के प्रति अपने को विलय कर दें। हृदय तो हृदय का साक्षी है, उसी के अनुरूप उसकी प्रतिक्रिया होती हैं।

स्वानुभव और आत्मानन्द में लीन हमारे अष्टछाप के रस-लुब्ध कवियों ने 'राधा-तत्व' का कितना लोक-पावन रूप हमारे समक्ष रखा है, यह देखते ही बनता है।

अष्टछाप-काव्य में राधा के रस-विहार के भी स्थान-स्थान पर बड़े मनोरम चित्र उतारे गये है। उसे 'रति-रस-केलि' में परम दक्ष माना गया है। वह जहाँ पावन प्रेम की आदर्श है, रस-मर्यादा की निर्मात्री है, वहाँ रति-रस की केलि-कला में भी निपुण, पूर्ण पारंगता है। कुम्भनदासके शब्दों में—

रसिकिनी रस में रहति गड़ी।
कनक बेलि वृषभानुनंदिनी स्याम तमाल चढ़ी॥

बिहरत लाल संग राधा के कौनै भाँति गढ़ी।
'कुंभनदास' लाल गिरधर संग रति रस केलि पढ़ी॥

रस ही उसका उपजीवन है। रस में सर्वदा आकण्ठ मग्न राधा को रस और रसेश्वर को छोड़ कर और कुछ वाञ्छनीय भी नहीं। वह रस की अधिकारिणी भी तो है। इसीलिये रसराज शृंगार के अधिष्ठाता नन्दनन्दन श्रीकृष्ण भी उसी के साथ रस-क्रीड़ा करने में अपने रसराजत्व की चरितार्थता मानते हैं। उसमें ऐसी न जाने कौन सी चातुरी, कला और रमणीयता है, जिसके कारण लाल गिरिधर, सकल-कला-प्रवीण श्यामसुन्दर, उसके प्रेम-प्राश में बँधे हुए हैं। वह 'कौनै भाँति गढ़ी', इस रहस्य को कोई समझ नहीं पाया। लाल गिरधर के चित्त पर वह ऐसी चढ़ी हुई है, जैसे श्याम तमाल का आश्रय लेकर कनक-बेलि उससे लिपट कर रह गयी है। 'कनक-बेलि' और 'श्याम-तमाल' के इस सहज अंग-संग में उनके परस्पर रूपाकर्षण, तादात्म्य और एकरसता का भी कवि ने कितना सांकेतिक निर्वचन कर दिया है। आखिर दोनों एक ही प्रेम-चटसार के सहपाठी हैं, दोनों ने मिल कर ही तो 'रति-रस' और 'केलि-कला' प्रवीणता प्राप्त की है। राधा के कमनोय कलेवर और रूप-लावण्य, उसके साथ श्यामसुन्दर में उसके एक रस तादात्म्य को कृष्णदास ने और भी स्निग्ध रूप में चित्रित किया है। देखिये—

देखौ माई, मानों कसौटी कसी।
कनक बेलि वृषभानुनंदिनी गिरिधर उर जु बसी॥

मानौं स्याम तमाल कलेवर सुन्दर अंग मालती घुसी।
चंचलता तजि कै सौदामिनि जलधर अंग बसी॥

तेरौ बदन सुढार सुधानिधि विधि कौनै भाँति गसी।
'कृष्णदास' सुमेरु सिंधु तैं सुरसरि धरनि धसी॥

'स्याम तमाल' पर विलसित होने के पहिले 'कनक-बेलि' को कसौटी पर कसना ही चाहिये। यह तो सुवर्ण की अग्नि-परीक्षा है, उसमें किसी प्रकार की न्यूनता 'गिरिधर'-उर में बसने के लिये उसे अयोग्य सिद्ध कर देगी। उसे रसराज श्रीकृष्ण सरीखे एक बहुत बड़े पारखी के हाथ में जाना है। रसिक जनों ने राधा को कसौटी पर खरा पाया है, पूरे सौ टंक, बावन तोला पाव रत्ती नपी-तुली। यह उसके अन्तः और बाह्य सौन्दर्य की परिपूर्णता है। फिर वह केवल 'सुवर्ण' ही नहीं है, सोने में सुगन्ध भी, 'सोने में सुहागा' भी इसे कह सकते हैं। कनकबेलि राधा में यह सुगन्ध, सुहागा वा सौभाग्य उसके अन्तर का स्निग्ध अनुराग-पराग ही है, जो 'श्याम तमाल' को भी रस-भीनी मालती की मादकता-मृदुता से सराबोर किये हैं। मालती की उपमा देकर कवि ने राधा के रूप-माधुर्य को और भी निखार दिया है। कलित-कोमल कलेवरा, गौरवर्णी, अमल-धवल-कान्तिमाना राधा इस उपमान के सर्वथा उपयुक्त है। प्रियतम के प्रति अनुराग-पराग की लालिमा के संयोग से ही मानों वह 'कनक-बेलि' की कमनीयता पा गयी है। इन्हीं गुणों के कारण वह 'श्याम-तमाल' पर सुखेन विश्राम पा रही है। लता और वृक्ष का चिर साहचर्य प्रकृति का सहज धर्म ही जो ठहरा।

राधा-कृष्ण के अभेद, उनकी तद्रूप-तल्लीनता और नित्य-संयोग, नित्य-विहार को कवियों ने विभिन्न रूपकों में बाँधा है। यहाँ मेघ और विद्युत् का संयोग परिदर्शनीय है। विद्युल्लता राधा सजल-नील-जलद घनश्याम के अंगों में किस अचंचल भाव से विराजित है। रसावेश, भावातिरेक वा भाव-शबलता में प्रियतम-प्रिया के मधुर-मिलन की मादक मोह-वेला के बीच यह अचंचलता, स्थिरता स्वाभाविक ही है। यह महाभाव की वह अचिन्त्य परमावधि है, जहाँ आत्म-विस्मृति, आत्म-विभोरता के बीच दो हृदय द्वित्व से एकत्व की स्थिति में आ जाते हैं। फिर यहाँ तो श्यामा-श्याम में चिर-पुरातन स्नेहानुबन्ध है। वे तो 'एक प्राण दो देह' माने गये हैं। 'सौदामिनी' और 'जलधर' की एक-रस-रूपता का यहाँ इसीलिये तो आरोप किया गया है। विद्युत् का मेघ में विलय, रस-कोटि में एक उत्कृष्ट समर्पण कल्पना है। इसी समर्पण की भावना को कवि ने आगे चलकर, राधा के मुख को सुधानिधि का उपमान देते हुए, उसके अनुरूप ही उसके हृदय की रस-धारा को लोक-पावनी, पुण्योज्ज्वल सुरसरि की धारा मान कर और भी विशद किया है। सुमेरु और सिन्धु से गंगा का अवतरण तथा

श्री दाऊ (बलराम) जी : बलदेव

श्री नृत्यगोपाल जी : अखंडानन्द आश्रम, वृन्दावन

श्री राधादामोदर : वृन्दावन

श्री संकेत बिहारी : संकेतवट, बरसाना

श्री नंदराय : वृन्दावन

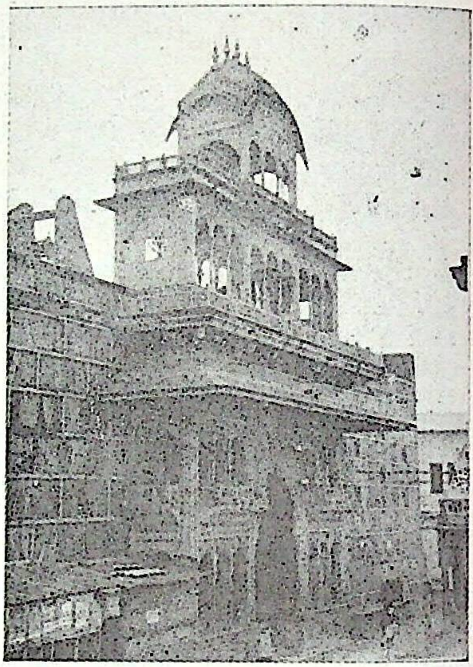

श्री बाँकेबिहारी मंदिर : वृन्दावन

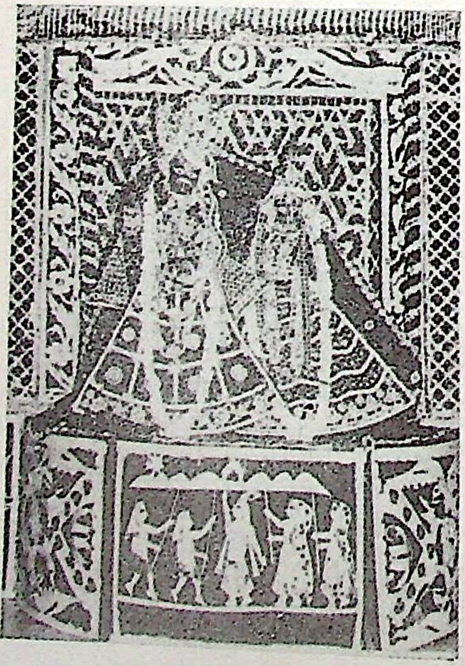

ठाकुर श्री रसिकबिहारी जी : वृन्दावन

श्री राधावल्लभलाल जी : वृन्दावन

हिन्दी के राधाकृष्ण भक्तों के प्रेरणास्रोत

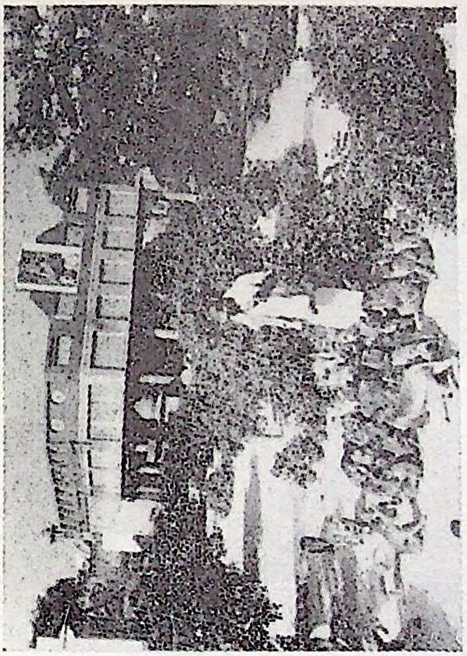

निधिवन : स्वामी हरिदास जी की साधना स्थली, वृन्दावन

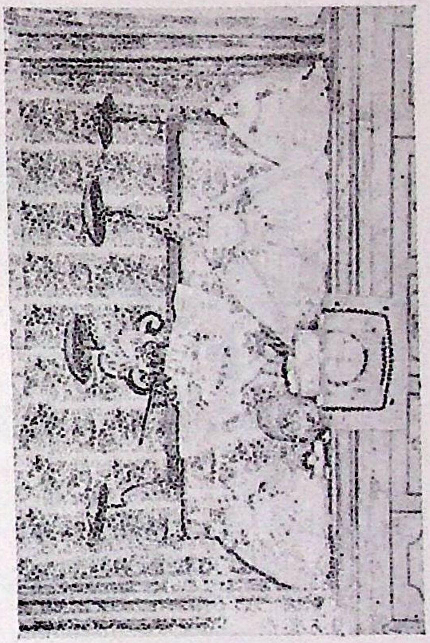

श्री मदनमोहनजी : वृन्दावन

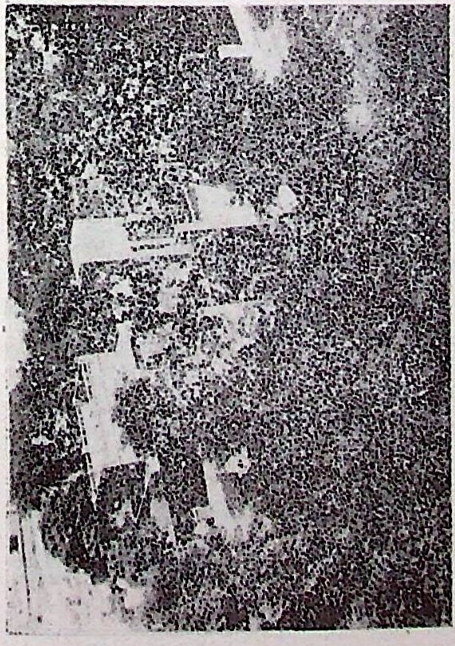

श्री सेवा-कुञ्ज : वृन्दावन

श्री वनविहारी की झांकी : वृन्दावन

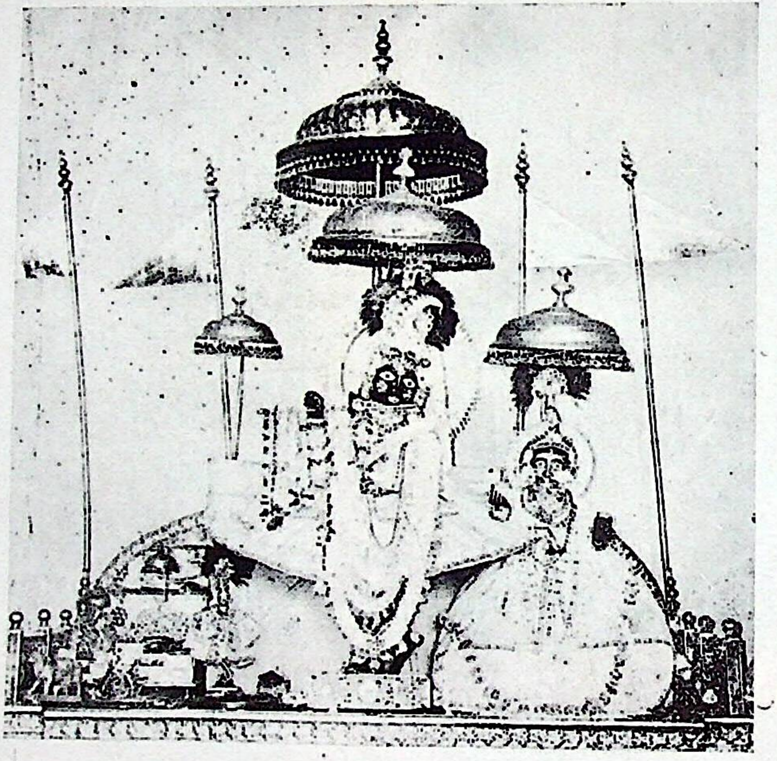

श्रीराधा गोविन्द जी : जयपुर (राजस्थान)

श्री द्वारकाधीश : झालावाड़ (राजस्थान)

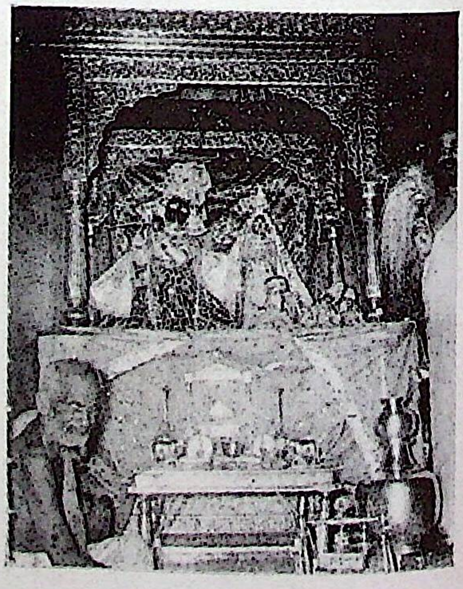

श्री विग्रह : निम्बार्क पीठ, किशनगढ़ (राजस्थान)

उसका अवनितल में समा जाना—श्यामसुन्दर के प्रति राधा के सर्वस्व एकात्म-भाव का ही प्रतिमान है। विधाता की रचना से अतीत महिमामयी राधा का कवि और किन शब्दों में निर्वचन करे ? उसके रूप-रस का प्रतिरूप खोज लाने में कवि को आज मानों अवनि-अम्बर—धरती-आकाश एक करना पड़ रहा है।

यह है, राधा-कृष्ण की एकनिष्ठता। ऐसी स्थिति में उनके विलगाव की कल्पना भी सम्भव नहीं। किन्तु कवि अपनी काव्य-कल्पना की ऊँची उड़ानों के साथ प्रिया-प्रियतम के बीच मान, महामान सरीखी संयोजना करता है। स्वयं प्रियतम-प्रिया अभिन्न, एक-रस-रूप, होते हुए भी कुछ क्षणों के लिये कृत्रिम मान की नाट्य-योजना करने में एक विलक्षण रस, आनन्द का अनुभव करते हैं। काव्य और शृंगार की परिधियों में पूर्ण रस-परिपाक के लिये, चरम भाव-व्यंजना के लिये, ऐसा होना आवश्यक भी है। यह तो एक प्रकार से 'प्रेम-परीक्षा' है, एक रसविनोद है। मान तो रस-दान की पूर्वपीठिका, भूमिका है। कवियों ने राधा के मान अथवा वियोग के अनेक दृश्य अपने काव्य-कौशल से खचित किये हैं। संयोग-शृंगार तो भरपूर वर्णित किया ही गया है, अष्टछाप के महानुभावों ने विप्रयोग-शृंगार के चित्रण में भी कोई कमी नहीं रखी है। राधा की वियोग-विगलित दशा और व्यथा-कथा की कुछ रेखाएँ परमानंददास की वाणी में देखिये —

अनमनो बैठोए रहै।
अंतरगत की बिथा मोहिनी काहू सौं न कहै॥

सूखौ बदन अधर कुम्हलाने नैननि नीर बहै।
रजनो निंदा करत चंद्र की अलकावली दहै॥

तुम्हरे बिरह बियोग राधिका बासर घाम सहै।
बेगि मिलहु 'परमानंद' स्वामी दूती बचन कहै॥

आज वह अनमनी-सी है—मन से वंचित, ठगी और छली हुई। हृदय की व्यथा व्यक्त करते नहीं बनती। मन की चिन्तन और तर्क की शक्ति मानों विलुप्त हो गयी है। अब हृदय की चेतना मात्र है, जो अनुभूति तक ही सीमित है, अभिव्यक्ति में पंगु है, फिर व्यथा का ढिंढोरा नहीं पीटा जाता। चुपचाप, लबों पर 'उफ़' लाये बिना सारी चोट सह कर रह जाती है। प्रीति परम गोपनीय तत्व जो ठहरा। प्रीति की व्यथा वह व्यथा नहीं, जो पीड़ा दे, जलन दे। उच्चकोटि में पहुँच कर तो वह सारी पीड़ा भी रसमयी हो जाती है—सब कुछ मधुर, आस्वाद्य हो जाता है। वह भी तो अपने 'मधुर प्रिय' की ही दी हुई है, अतः वह भी मधुरतम है। इसीलिये 'शिकवा-शिकायत' करके वह प्रेम को कलंकित नहीं करना चाहती। 'काहू सौं न कहै' का यही रहस्य है। फिर भी हृदय के अनुभाव छिपाये नहीं छिपते। चित्त की उन्मनता, वाणी का मौन, अन्तर्व्यथा का गोपन, मुख की विवर्णता वा शुष्कता, अधरों का कुम्हला जाना, नेत्रों से अश्रु-प्रवाह, चन्द्र की सुधा-शीतल ज्योत्स्ना की भी निन्दा अथवा उसमें अरुचि, अलकावलियों का दाह, दिवस के उत्ताप का सहन आदि ऐसी चेष्टाएँ वा गतिविधियाँ हैं, जो उसके अन्तःक्षोभ वा अन्तर्द्वन्द्व की वेदना को स्पष्ट व्यक्त करती है। प्रियतम के मधुर-मिलन के बिना यह सारी स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। 'बेगि मिलहु' ही इस समग्र रोग का उपचार है।

कितना अनुराग है श्यामसुन्दर के प्रति। कैसा सजीव अंकन कवि ने राधा का किया है। फिर भला, अपनी प्राणेश्वरी की पीड़ा को वे निवृत्त क्यों न करेंगे ? दोनों ही एक-दूसरे के हृदय के पारखी हैं—रस, रसनागरी राधा का अलौकिक प्रेम, उसके रूप-रस की मोहिनी, बरबस कन्हैया को उसकी ओर खींच लेती है। सूरदास एक ही पद में युगल-रस-विग्रह दम्पति के स्वरूप का निदर्शन कर देते हैं—

नागरता की रासि किसोरी।
नव सागर कुल मूल साँवरौ बरबस कियौ चितै मुख मोरी॥

रूप रुचिर अंग अंग माधुरी बिनु भूषन भूषित ब्रजगोरी।
छिन छिन कुसल सुगंध अंग में कोक रसभ रस सिंधु झकोरी ॥
चंचल रसिक मधुप मोहन मन राखे कनक कमल कुच कोरी।
प्रीतम नैन जुगल खंजन खग बाँधे बिबिध निबंधनि डोरी ॥
अवनी उदर नाभि सरसी में मनहुँ कछुक मादक मधुरौ री।
'सूरदास प्रीतम सुंदरबर सींव सुदृढ़ निगमनि की तोरी ॥

'नागरता की रासि किसोरी' राधा के स्वरूप के लिये एक सूत्र हैं और 'राखे कनक कमल कुच कोरी' तथा 'सींव सुदृढ़ निगमनिकी तोरी' में उसकी व्याख्या। 'नवनागर, कूल-मूल' श्यामसुन्दर को जिसने अपनी रसीली चितवन मात्र से नेह की डोरी में बाँध लिया, उसकी नागरता का क्या बखान किया जाय ? इस नागरता के साथ अंग अंग-विलसित रूप-माधुरी का अपूर्व संयोग, बस, यही तो उसका अलंकार है, जिससे वह ब्रज की गोरी ग्वालिनी आभूषण के बिना भी सुविभूषित है। रससिन्धु जैसे पवन-वेग से, मलय-सुवासित समीर के झकोरों से हिल्लोलित-कल्लोलित हो रहा हो, ऐसे उसके रूप-यौवन का रस-सागर मानों लहरा रहा है। फिर क्यों न मनमोहन का मधुप-मन रसमत्त होकर पागल हो उठे ? किन्तु उस भावोन्मत्त को भी जो अचंचल कर, अपने हिरण्य-उरोज-पद्म के स्निग्ध परिमल में समेट कर, सम्पुटित कर ले, यही उसकी नागरता है। उसने रमेश प्रियतम के मन को ही बन्दी नहीं बना लिया, वह तो उन्मुक्त भाव-लोक में उड़ानें भरने वाले नयन-खंजन-खग-युग्म को भी अपनी मोहिनी से भाव-विजड़ित करने में समर्थ है, अपने विविध रस-कला के निबन्धों की डोरी में। न जाने ऐसी कौन-सी मादक-माधुरी उसमें है, जिसके कारण महारस के अधिष्ठाता नन्दनन्दन समस्त लोक-मर्यादा, लोक-वेद के विधि-निषेधों का भी अतिक्रमण कर गये और उस परम नागरी के साथ मिल कर ऐसे 'महाभाव' की प्रतिष्ठा की, जो युग-युग, चिरन्तन काल तक, रसकाव्य के स्रष्टा-द्रष्टाओं के लिये आदर्श ही नहीं, साधना-आराधना का प्रतिमान बना रहेगा।

ऐसी है हमारे रस-काव्य विधायक-गायक परम भक्तहृदय अष्टछाप के कवियों की राधा—रसराज की परम प्रेयसी नागरी राधा—भक्तों, कवियों, रसिकों की ध्येय-गेय आराध्या-साध्या राधा ! !

—श्री क० गोकुलानन्द तैलंग

●

निर्गुणपंथी संतों की कृष्णभक्ति

संतमत मुस्लिम संस्कृति के मंदराचल द्वारा भारतीय धर्म-संस्कृति के क्षीर-सिन्धु से उत्पन्न नवनीत है। व्रात्यों, चार्वाकों, जैनियों एवं बौद्धों की श्रमण-परम्परा और महाभारत, गीता, पुराणों एवं वैष्णव-सम्प्रदायों की ब्राह्मण-परम्परा का संयुक्त रिक्थ इसकी विकास-यात्रा का सम्बल रहा है। इसके स्वरूप को सँवारने में तांत्रिकों, शैवों, शाक्तों, सूफियों एवं मुस्लिम एकेश्वरवादियों के अतिरिक्त न जाने और कितने ज्ञात-अज्ञात मत-पंथों का महत्वपूर्ण योगदान है। यही कारण है कि सारे प्रयत्नों के बावजूद अभी तक विद्वान् संतमत के इन संश्लेषों को पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर सके हैं। प्रारम्भ में बहुत समय तक संतों के चिन्तन को एकान्तिक रूप से बौद्ध-सिद्धों, नाथपंथी-योगियों, सूफी साधकों, मुस्लिम एकेश्वरवादियों और कश्मीरी शैव मतावलम्बियों के परिप्रेक्ष्य में देखा-समझा गया था। इस तथ्य की ओर लोगों का ध्यान बहुत देर से गया कि संतों की साधना का मूल स्वर उनकी वैष्णवता में निहित है।

वैष्णवता का आग्रह : संत साहित्य की मूल चेतना

संत कवियों ने अपने आराध्यदेव के लिए हरि, रमापति, माधव, त्रिलोकीनाथ, सारंगपाणि, नारायण, जगदीश, राम आदि जिन नामाभिधानों के प्रयोग किये हैं वे प्रायः वैष्णव-परम्परा से गृहीत हैं। संत कबीर ने उस आराध्य की उपासना के लिए नारदी-भक्ति में निमग्न रहने की बात कही थी—'भगति नारदी मगन कबीरा।' वे नारदी-भक्ति के बिना जीवन को व्यर्थ मानते थे—'भक्ति नारदी हृदय न आयी काछि कूछि तन दीन्हा।' उनकी भक्ति हरि से 'गँठजोरा' कराने वाली है—'भाव भगति हरि सूं गठजोरा।' उन्हें शाक्तों के बड़े गाँव की अपेक्षा वैष्णव की कुटिया भली लगती है—'वैष्णव की कुटिया भली, न साकत को बड़ गाँव।' वे शाक्त ब्राह्मण की तुलना में वैष्णव चण्डाल को अच्छा मानते हैं और उसे साक्षात् गोपाल की भाँति अंकमाल देकर भेंटने की राय देते हैं—

> साकत ब्रामण मति मिलै, वैष्णव मिलै चण्डाल।
> अंकमाल दै भेंटिये, मानो मिले गोपाल॥

परायी पीर जानने वाली वैष्णवता संतों की रहनी की अनिवार्य शर्त है। निरीह जीवों की हत्या संतों को दुःखी करती है। उनकी रहनी वस्तुतः हजारी कपड़े जैसी निर्मल है। परवर्ती संत कवि सरस माधुरीशरण के अनुसार चरणदास ने न केवल श्यामा-श्याम के नाम-रूप, लीला और धाम का सुलभ रीति से गायन किया, बल्कि वैष्णवता के मुख्य मर्म को भी अभिव्यक्त किया—'वैष्णवता मुख्य मर्म यामें जनाये हैं।'

संतों पर सिद्धों, नाथों, मुस्लिम एकेश्वरवादियों और सूफियों के प्रभाव को एकदम नकारा तो नहीं जा सकता, पर उन्हें संतों की साधना का आदर्श सिद्ध करना भी सम्भव नहीं है। कबीर का योगी जग से न्यारा है—'अवधू जोगी जग से न्यारा।' वे अपने योगी को आसन-पवन छोड़कर हरि-भजन करने की सलाह देते हैं—'आसन-पवन दूर करि बवरे, छोड़ि कपट नित हरि भजु बवरे।' पलटूसाहब चौरासी-सिद्धों और नौ-नाथों को बीच में ही भूला हुआ बताते हैं। इसी प्रकार कबीर का स्वामी मुसलमानों के एकेश्वर से भिन्न घट-घट में व्याप्त रहने वाला है—'मुसलमान को एक खुदाई कबीर को स्वामी घट-घट रहा समाई।' अतः संतों की मूल चेतना की पहचान उनके भक्त-रूप से ही हो सकती है।

अन्तर्जगत् की प्रतिष्ठा : रूपोपासना का निषेध

भक्ति-आन्दोलन की मुख्य धारा से जुड़े होने के बावजूद संतों ने बहुत समय तक अवतारवाद और मूर्तिपूजा का विरोध किया। सच यह है कि मध्यकाल में यवन संस्कृति के पदार्पण से रूपोपासना और भौतिक सुख को आत्यंतिक सत्य मानने वाली सामंतीय मनोवृत्ति को गहरा आघात पहुँचा था। नित्यप्रति आँखों के सम्मुख देवलों को ढहते देखकर आस्तिक जनसमुदाय की आस्था के लिए संकट उत्पन्न हो गया था। इसलिए संतों ने एक ओर कंचन और कामिनी जैसे प्रतीकों के माध्यम से भौतिक भोगैश्वर्य का प्रत्याख्यान किया और दूसरी ओर मोहनसाँई के शब्दों में 'यह जुग अंतर में भगवान' जैसा कथन करते हुए मन को मथुरा, दिल को द्वारका, काया को काशी बताया और अन्तस में ही परम सत्ता का साक्षात्कार करने पर बल दिया। उन्होंने आराध्य के तत्त्व, नाम और रूप में से रूप को अलग करके तत्त्व और नाम को अपनाया, जब कि वैष्णव-धर्मान्तर्गत सगुणोपासकों के द्वारा तत्त्व को सैद्धान्तिक स्वीकृति देकर साधना के क्षेत्र में ब्रह्म के नाम और रूप को ग्रहण किया गया था। इसीलिए संतमत के अग्रदूत कबीर और उनके समकालीन संतों की वाणी में निर्गुण-निराकार का आग्रह और अवतारवाद के विरोध का स्वर इतना मुखर है कि वहाँ राम और कृष्ण-कथा को अपनी सारी लोकप्रियता के बावजूद अमान्य घोषित होना पड़ा। कबीर का आराध्य दशरथ के यहाँ अवतीर्ण नहीं हुआ था। वह न देवकी की कोख से पैदा हुआ और न ही यशोदा ने उसे गोद में लेकर खिलाया था। वह न तो ग्वाल-बालों के साथ खेला था और न ही उसने गोवर्धन को धारण किया था। वामन, मत्स्य, कच्छप, परशुराम आदि अवतारों के रूप में भी वह प्रकट नहीं हुआ था—

ता साहिब के लागों साथा, दुख-सुख मेटि के रह्यों अनाथा।
ना दशरथ घरि औतरि आवा, ना लंका का राव सतावा॥

देवै कूख न औतरि आवा, ना जसुदै लै गोद खिलावा।
ना वा ग्वालन के संग फिरिया, गोबर्धन लै ना कर धरिया॥

वावन होय नहीं बलि छलिया, धरनी वेद लैंन उधरिया।
गंडक सालिगराम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहिं नहिं डोला॥

वद्री वैस्य ध्यान नहीं लावा, परसराम ह्वै खत्री न सतावा॥

वस्तुतः कबीर ने अपने उपास्य के पौराणिक एवं अवतारबोधक नामों का प्रयोग करने के बावजूद उसे स्वरूपतः 'अकहुआ' और 'कथनो से न्यारा' कहते हुए—'जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा होइ' बताया है।

निर्गुण की सगुणोन्मुखता : अवतारवाद की पुनर्प्रतिष्ठा

कालान्तर में संत कवि अपनी वाणी के माध्यम से निर्गुण और सगुण के एकत्व का आख्यान करने लगे। असल में सगुण तत्व को स्वीकार किये बिना संतों की राममूलक साधना फलवती नहीं हो सकती थी। इसलिए निर्गुण के चरम शिखर पर पहुँचकर उनका राग आलंबन की तलाश करते-करते खिसककर सगुण के समतल पर आ गया। परिणामतः भीखासाहब के शब्दों में परवर्ती संतों ने निर्गुण के बीच समत्व का दर्शन किया—'निर्गुण और सगुण समताई'। चरणदास ने निर्गुण से सगुण के उत्पन्न होने की बात कही—'निरगुण से सरगुण भयो'। सरस माधुरीशरण ने निर्गुण और सगुण को सूर्य और धूप की भाँति अभिन्न बताया—'ओतप्रोत अगुनसगुन सूरज और धूप सदृश'।

उन्होंने हरि के निर्गुण-सगुण रूप का युगपत् भाव से निरूपण किया—"अगुन-सगुन हरि रूप को कियो तत्त्व

निरधार।' एक ही प्रभु को निर्गुण-सगुण दोनों रूपों में देखा— निर्गुण-सगुण एक प्रभु, देखा समुझ विचार।' इस सम्बन्ध में गुरु अर्जुनदेव का अभिमत और स्पष्ट है—

निरंकार आकार आपि, निरगुण सरगुण एक।
एकहि एक बखाननो, नानक एक अनेक॥

ओअं गुरमुख कियो अकारा, एकहि सूत परोवनहारा।
भिन्न भिन्न त्रैगुण विस्तारं, निरगुण ते सरगुण दृस्टारं॥

फिर तो संतों के यहाँ भी परब्रह्म इच्छानुसार विमल वपु धारण करने लगा। उनके चिन्तन पर पौराणिकता की गहरी छाप अंकित हो गयी। कहना न होगा कि 'षट्-पुराण' के श्री कृष्ण भगवान् शंकर को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'हे शंकर जी, मेरे जिस अलौकिक रूप को आज आपने देखा है वह विशुद्ध प्रेम की घनमूर्ति और सच्चिदानन्द-स्वरूप है। उपनिषत्समुदाय मेरे इसी रूप को निराकार, निर्गुण सर्वव्यापी, निष्क्रिय और परात्पर ब्रह्म कहते हैं। मुझमें प्रकृतिजन्य गुणों की सत्ता को असिद्ध मान करके मुझको निर्गुण कहते हैं और अनन्त होने से ईश्वर बताते हैं।' 'श्रीमद्-भागवत' में भी श्रीकृष्ण को सगुण-निर्गुण तथा अवतारी-अवतार दोनों रूपों में ग्रहण किया गया है। संतमत के विस्तारकाल में संतों में मूर्ति-पूजा का विरोध तो पूर्ववत् बना रहा, पर सगुण की स्वीकृति अवतारवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की सीमा तक आ गयी। यों कहा जाय कि सगुण को मान लेने के उपरान्त अवतार का विरोध बहुत दिनों तक नहीं चल सका। चरणदास के आराध्य भक्तवत्सलता के कारण अवतार ग्रहण करते हैं—'भक्त बछल करतार गुसाईं धरि आये औतारा'। उन्होंने अभय पद की प्राप्ति के लिए दशावतारों की आरती भी की। दशावतारों में राम और कृष्ण के विशेष लोकप्रिय होने से संतों ने इनके वर्णन में विशेष रुचि दिखायी।

कृष्णकथा की लोकप्रियता : संतों का झुकाव

आध्यात्मिक सुख को वाणी देने के लिए स्त्री-पुरुष की प्रेमलीला का प्रतीक अपने यहाँ सदैव से लोकप्रिय रहा है। मानवीय राग के परिष्करण का प्रश्न मानव मात्र के सम्मुख सबसे बड़ी चुनौती के रूप में है। इसीलिए एक ओर काम को अध्यात्म से जोड़ने की साधना होती रही है और दूसरी ओर आध्यात्मिक सुख की अभिव्यक्ति के लिए मानवीय राम को माध्यम के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है। 'वृहदारण्यक उपनिषद्' में कहा गया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी प्रिया द्वारा आलिंगित होने पर बाहर-भीतर की सब बातों को भूल जाता है उसी प्रकार जीवात्मा-परमात्मा से मिलकर समस्त बाहरी व भीतरी बातों के ज्ञान को विस्मृत कर देता है। वस्तुतः आध्यात्मिक प्रियतम को पाने के लिए प्रेम का अनुभव करना और उसके विरह की आग में तिल-तिल करके जलना लोकजीवन में लक्षित दाम्पत्य प्रेम की अनुभूतियों के अत्यन्त निकट पड़ता है। यों कहा जाय कि दोनों चित्र-फलक न्याय से अन्योन्याश्रित हैं। काम को राममय बनाने की इसी साधना के परिणामस्वरूप भारतीय धर्म-साधना में ब्रह्म-माया, पुरुष-प्रकृति, शिव-शक्ति, प्रज्ञा-उपाय, राधा-कृष्ण, सीताराम प्रभृति आराध्य युग्मों का विकास हुआ।

इन आराध्य युग्मों में राधा-कृष्ण सर्वाधिक आकर्षक तथा लोकप्रिय हुए। इसका कारण यह है कि स्त्री-पुरुष के बहुकोणीय प्रेम-सम्बन्ध का जितना सुन्दर निर्वाह राधा-माधव युग्म में हुआ उतना अन्यत्र कहीं दिखायी नहीं पड़ता। राधा ने कभी माँ की तरह कृष्ण को भोजन कराया, कभी रमणी-रूप में कृष्ण को अनेक विध रिझाया, कभी प्रेयसी बनकर कृष्ण को अपने नृत्य-गान से विमोहित किया और कभी श्रीकृष्ण के विरह में चिन्ता-निमग्न होकर आठ-आठ आँसू बहाये। तात्पर्य यह कि प्रेम का सर्वांग स्वरूप और उसकी विविध स्थितियों को रूपायित करने की दृष्टि से राधा और कृष्ण से

श्रेष्ठतर दूसरा कोई प्रतीक अभी तक सामने नहीं आया है। इसीलिए राधा-कृष्ण भारतीय धर्म-साधनान्तर्गत तंत्र, मंत्र, योग, भक्ति आदि विविध साधनाओं में लोकप्रिय हुए।

राधा-कृष्ण युग्म का मूल रूप भारतीय शक्तिवाद में ढूंढा जा सकता है। सांख्य के पुरुष-प्रकृति ही जनमन में शिव-शक्ति के रूप में गृहीत हुए। सहजयानी बौद्धसिद्धों और नाथपंथी योगियों के प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध की भांति वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में राधा और कृष्ण के नित्य-प्रेम की झांकी प्रस्तुत हुई। इसी प्रकार विद्वानों ने जयदेव के "गीतगोविन्द" में वर्णित राधा-कृष्ण की रहस्यमयी केलियों में सहजयानियों के प्रज्ञा और उपाय की अद्वय दशा का दर्शन किया है। संतों की प्रेमाभक्ति अपने स्वरूप में बहुत दूर तक जयदेव से प्रभावित है। कबीर ने भक्ति के रहस्य को जानने वालों में जयदेव का नाम सम्मान के साथ लिया है।

अतः संतसाहित्य में स्त्री-पुरुष को प्रेम-लीला के प्रतीक के सहारे आध्यात्मिक रति भाव को स्पष्ट किया गया है। संतों की आध्यात्मिक प्रेमलीलाओं में प्रेम का रहस्य-ज्ञान, प्रेम-पथ की दुरूहता, मिलन की उत्सुकता, झिझक और विलास-सुख के साथ विरह की तीव्र अनुभूति का वर्णन, लोकजीवन के प्रेम-मिलन और विरह की पद्धति पर है। बाद मे प्रेम की इस अनुभूति के आश्रयालंबन की दृष्टि से कृष्णकथा की उपयुक्तता को ध्यान में रखते हुए संतों ने इसे अत्यधिक प्रेम-प्रीति से अपनाया और संतकाव्यान्तर्गत कृष्णकथाश्रित रचनाओं का मात्रा और गुणवत्ता, दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया। चरणदासी-सम्प्रदाय, प्रणामी-सम्प्रदाय, सतनामी-सम्प्रदाय, मलूकदासी-पंथ, शिवनारायणी-पंथ और गुलाल-पंथ के कवियों की वाणी में कृष्ण-कथा का वर्णन इसी प्रकार का है। प्रणामी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्राणनाथ के गुरु श्री देवचन्द जी गोपियों को रागानुगा-भक्ति से अत्यन्त प्रभावित थे। संत चरणदास ने 'वाराहसंहिता' और 'भागवत दशम् स्कन्ध' के आधार पर 'ब्रजचरित्रवर्णन' 'कुरुक्षेत्रलीला', 'श्रीधरब्राह्मणलीला', 'गोपी-विरह-निवेदन', 'मटकी-लीला', 'कालीनथन-लीला', 'माखनचोरी-लीला', 'दानलीला' आदि ग्रन्थों की रचना की। संत मलूकदास ने "श्रीमद्‌भागवत के दशम् स्कंध का अवधी भाषा और दोहा-चौपाई छन्द में गायन किया। रामसनेही-सम्प्रदाय के संत मलूकदास (द्वितीय) ने महाभारत को हिन्दी में रूपान्तरित किया। सतनामी-सम्प्रदाय के संत नवलदास और देवीदास ने भी 'भागवत दशमस्कंध' को भाषाबद्ध किया था। जगजीवनदास, शिवनारायण, गोपालदास, दूलनदास, दुर्गादास, जगदीशबख्श, बख्शी हंसराज, रामरूप दास आदि संतों की पदावली में सम्पूर्ण कृष्ण-कथा का ललित शैली में वर्णन मिलता है।

संतों की कृष्ण-कथा : विकास के सोपान

संतों की रचनाओं में कृष्ण-कथा के सम्पूर्ण विकास-क्रम को समझने के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त 'शिव-शक्ति' के प्रतीक को पकड़ना होगा, जिससे राधा-कृष्ण के मधुर स्वरूप का प्रारम्भिक विकास-सूत्र जुड़ा हुआ है। वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय के साहित्य में कृष्ण और राधा को शिव-शक्ति का रूप पहले ही माना जा चुका था। यही आध्यात्मिक युग्म बाद में सिद्धों-नाथों से होते हुए संतों की साधना में आया। नाथपंथी योगी ब्रह्मरंध्र में शिव और मूलाधर में शक्ति का निवास मानते हैं। जिस प्रकार नाथपंथी योगी ब्रह्मरन्ध्र में शिव की स्थिति बताते हैं उसी प्रकार वैष्णव-ग्रंथ 'ब्रह्मसंहिता' में ब्रह्मरन्ध्र के भीतर सहस्रदल कमल को कृष्ण का निवास-स्थान 'गोकुल' कहा गया है। शिव-शक्ति के अभेद और मिलन का वर्णन कबीर की रचनाओं में भी मिलता है।

संत गुलाल सहस्रार में शिव-शक्ति का मिलन बताते हैं, जहाँ श्याम-घटा के साथ निर्झर झरता रहता है। अक्षर अनन्य 'जीव-सीव' में अभेद-दर्शन करते हुए दोनों को सहस्रार (गगन) में युक्तिपूर्वक मिलाने वालों को सच्चा योगी बताते हैं। इस प्रकार संत साहित्य में योग तथा ज्ञान परक साधनाओं का सूत्र पकड़कर प्रतीक-रूप में शिव-शक्ति

के व्याज से राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला का प्रवेश एक प्रकार से आरम्भ में ही हो गया था। संतों की साधना योग और भक्ति की समन्वित पीठिका पर स्थित है। अतः राधा और कृष्ण का उल्लेख योग-साधना के प्रतीक-रूप में कबीर से ही शुरू हो गया था। कबीर ने अपने एक पद में मथुरा, कान्ह, दही, भेरी और तूर्य के बजने तथा रुक्मिणी, द्वारका आदि कृष्णकथा के पात्र, स्थानादि का प्रतीक-रूप में स्पष्ट प्रयोग किया है—

बजर परो इहि मथुरा नगरी, कान्ह पियासा जाई रे।
एक दहिड़िया दही जमायो, दुसरी परि गई साई रे॥

इहि वनि बाजै मदन भेरी रे, उहि बन बाजै तूरा रे।
इहि बन खेलैं राही रुकमनि, उहि बन कान्ह अहीरा रे॥

आस-पास तुरसी के बिरवा, मांहि द्वारिका गाऊँ रे।

परवर्ती संतों में प्रतीकों के सहारे कृष्ण-कथा के प्रयोग की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। दरिया साहब (मारवाड़ी) गगन मंडल (सहस्रार) में मुरली (अनहदनाद) बजने का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसकी मधुर ध्वनि से साधक की समस्त इन्द्रिय रूपी गोपिकाएँ विमोहित हो जाती हैं—

मुरली कौन बजावै हो गगन मण्डल के बीच॥

त्रिकुटी संगम होयकर गंग जमुना के घाट।
या मुरली के सब्द से सहज रच्या बैराट॥

गंग-जमुन बिच मुरली बाजै उत्तर दिसि धुन होय।
उन मुरली की टेरहिं सुनि-सुनि रहीं गोपिका मोहि॥

संत पलटूदास ने जीव और ब्रह्म को क्रमशः बलदेव और कृष्ण, सद्‌गुरु को यशोदा और देवकी, प्रेम को नन्द-वसुदेव, अहंकार को कंस, स्नेह को राधा, शील को गोपिका, दया को गाय, सुरति को यमुना, ज्ञान को मथुरा, विश्वास को गोकुल, विवेक को वृन्दावन, क्षमा को कदम्ब वृक्ष, तत्व को माखन, ध्यान को श्रीकृष्ण का मुकुट, शब्द को काछनी और अनहदनाद को मुरली का प्रतीक मानकर सम्पूर्ण कृष्ण-कथा को अपनी साधना का अंग बना लिया है—

सुरति जमुना बही ज्ञान मथुरा बसा, गोकुला ग्राम विस्वास पाया।
संत जसोदा देवकी सतगुरू, नन्द वसुदेव जब प्रेम आया॥

जीव और ब्रह्म श्रीकृष्ण बलदेवजी, कंस हंकार को मारि नाया।
विवेक वृन्दावन छिमा को कदम्ब है, गऊ औ ग्वाल जिय बीच दाया॥

स्नेह की राधिका सील की गोपिका, तत्त माखन लिहे छीनि खाया।
ध्यान सिर मुकुट है सबद की काछनी, कछे हैं लाल जी रहस छाया॥

लगन के कुंज में मगन गोपाल जी, टेर के सुनत आनन्द धाया।
दास पलटू कहैं गगन के बीच में, नाद की बाँसुरी सोर लाया॥

ज्ञान, योग और भक्ति पर आधारित इस प्रतीक-पद्धति में साधना के विविध अंगों को कृष्ण-कथा के किसी निश्चित उपादान से बाँधने की प्रवृत्ति नहीं दिखायी पड़ती। श्रीकृष्ण, राधिका और मुरली तो निश्चित प्रतीक के रूप में

प्रयुक्त हैं, पर अन्य पात्रों और स्थानों का प्रतीकीकरण अलग-अलग ढंग से हुआ है। इस दृष्टि से सतनामी-सम्प्रदाय के संत नेवाजदास का निम्नांकित पद ध्यान देने योग्य है, जिसमें लगभग सम्पूर्ण कृष्ण-कथा दूसरे ही ढंग से योगाश्रित प्रतीकों में बाँधी गयी है। उस पर भक्ति की झिलमिल छाया भी दिखाई पड़ती है—

मुरली बाज बाज अनहद तान होत धुनि आसमान।
इड़ा सरिता जानि जमुना घाट है सुखमान॥

सुन्नि सुन्दर कदम द्रुम पर राजते संग कान्ह।
मोहि पाँच पचीस गोपी त्यागि भर्मंत बान॥

सुनत दवरीं भई बावरि देखि रह सविधान।
होत रह झनकार धुनि सुनि मिटत भ्रम अनुमान॥

गगन मधुबन ग्वाल मन तहँ सुनत करत पयान।
देखिके सतरूप अदभुत्, को करि सकै बखान॥

चरन ऊपर वारि डारौं कोटि ससि औ भानु।
राधिका रुकमनी ललिता तीन भये अमान॥

नंद सूरति निरति यसुदा करति आरति ध्यान।
साह तोंवर मीत मेरा दियो यह बरदान॥

पास रहत नेवाज देखत अलख गति निर्वान॥

उक्त पंक्तियों में वर्णित रहस (रास) की गति अलख है और उस रहस में इड़ा रूपी यमुना के सुषुम्ना रूपी घाट पर स्थित शून्य रूपी सुन्दर कदम्ब वृक्ष पर विराजने वाले और कोटि शशि-भानु की आभा को लज्जित करने वाले श्रीकृष्ण शोभित रहते हैं तथा सुरति-निरति रूपी नंद-यशोदा उनकी मानसी आरती उतारा करते हैं।

श्रीकृष्णकथा पर आधृत इस प्रकार के प्रतीक संत-साहित्य में प्रारम्भ से लेकर ईसा की बीसवीं शती तक प्रयुक्त होते रहे, पर उनमें भक्तितत्व प्रतिष्ठित नहीं हो पाया। भक्ति-भाव से प्रेरित कृष्ण-कथा का प्रचार संतमत के विस्तार काल में १७ वीं से १९ वीं शती के बीच संतों की साधना में सगुणवाद का आग्रह बढ़ने के साथ हुआ। फिर तो संतों की वाणी में दशावतारों के साथ राम-कृष्ण-कथा का वर्णन सगुणोपासकों की शैली में होने लगा। यह बात अलग है कि प्रतीकात्मक कृष्ण-कथा का प्रयोग उसके समानान्तर बाद में भी होता रहा। चरणदास सखी भाव से अपने आराध्य देव पर रीझ उठे—'चरणदासी सखी सब झूलें कोई न पावै भेव।' वे हृदय में प्रेमा-भक्ति का भाव लेकर राधा-माधव, गोपी-ग्वाल, मुरली-वनमाल और आराध्य की लीला-भूमि की जय जयकार करने लगे—

जै जै गोपी जै जै ग्वाल, जै जै सदा बिहारी लाल।
जै जै कुंज गली नन्दलाल, मोर मुकुट मुरली वनमाल॥

जै जै राधे-कृष्ण मुरारी, जै जै श्री सुकदेव दयाल।
इनको नाम जपै जो कोय, प्रेमभक्ति पावत है सोय।

प्रणामी संत मुकुन्दस्वामी वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिए वासनापंक में फँसे प्राणियों को मान-गुमान, पर-निन्दा, स्त्री-आसक्ति, चोरी तथा कंठमाला तिलकादि बाह्याचारों का परित्याग कर अनन्य-भाव से राधा-कृष्ण का भजन करने की सलाह देते हैं—

सुख चाहे तो राधाकृष्ण भजु रे।
सुख संपति तोरे काम न आवै ना हाथी रथ सजु रे॥

चोरी नारी औ परनिन्दा मान गुमान सबै तजु रे।
यमराजा का त्रास कठिन है कंठी माला तिलक न सजु रे॥

कहत 'मुकुंद' सुनो भाई साधो प्रभु के चरण हित चित मन धरु रे॥

उनके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी देवलोक में निवास करते हुए इस बात के लिए दुःख का अनुभव करते हैं कि वे क्यों न भगवान् श्रीकृष्ण के लीला-धाम वृन्दावन के द्रुम हुए। यदि ऐसा होता तो सखियों के साथ रास-नृत्य करते हुए 'श्रीकृष्ण' की चरण-धूलि उनके ऊपर पड़ती और वे धन्य हो जाते—

आली हम न भये वृन्दावन के द्रुम।
हरषित विधि हरि हर ओसर बहु कल्पित बहु कलप रही मन।
जहाँ श्रीकृष्ण सघन वन वनिता विहरत वृन्दावन।
पुहुप-पुहुप द्रुम डार लतन पर उड़ि उड़ि पद रज परत सकल वन॥

ब्रज की रीति प्रीति लखि तिहुँपुर इच्छत पुर नर देव सकल मन।
हम न भये ब्रज के जड़ जीवन काहे न सुरपुर आनि धरे तन॥

इन संतों ने राधा-कृष्ण की सरस-मधुर लीलाओं का अनेकविध गायन किया है। यहाँ श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा गमन तक के विविध प्रसंग मुख्यतः पद-शैली में वर्णित हैं। जगदीश के अवतरित होने से गोकुल नगरी और नंदराय का घर धन्य हो गया—'धनि गोकुल धनि पौर भवन धनि आये हैं जगदीश'। घर घर मंगलचार होने लगा—'घर-घर मंगलचार भये हैं।' श्रीकृष्ण की बालक्रीड़ा से नन्द का घर-आँगन भर गया। उनके नृत्य की मुद्रा पर रीझकर सहजोबाई लिखती हैं —

निरतत नटवर मदन मनोहर कुंडल झलक अलक बिथुराई।
ठुमुक ठुमुक पग धरत धरनि पर बाँह उठाइ करत चतुराई॥
रुनक झुनक नूपुर झनकारत ता ता थेई थेई रिझत रिझाई।

कुछ बड़े होकर श्रीकृष्ण गोचारण-लीला आरंभ कर देते हैं। गायों को चराकर सायंकाल घर को लौटते हुए श्रीकृष्ण का गोरजमंडित शरीर जगजीवनदास को बड़ा ही चित्ताकर्षक लगता है—

बन ते आवत धेनु चराये।
संध्या समय साँवरी मूरति गोपद रज लपटाये॥

धीरे-धीरे श्रीकृष्ण को सूने घरों में घुसकर माखन खाने की बान पड़ जाती है। किशोरावस्था की देहली पर पहुँचते ही वे गोपिकाओं के साथ छेड़खानी शुरू कर देते हैं। उनकी छेड़छाड़ इस हद तक बढ़ जाती है कि एक दिन वे यमुना में स्नान करती हुई गोपियों द्वारा तट पर रखे हुए वस्त्र चुराकर कदम्ब वृक्ष पर जा बैठते हैं। फिर भी गोपियों को श्रीकृष्ण के बिना अच्छा नहीं लगता। श्रीकृष्ण की वंशी की ध्वनि सुनकर वे उनसे मिलने के लिए दौड़ पड़ती हैं। उनकी मुरली का प्रभाव इतना लोकव्यापी है कि गायें चरना बन्द कर देती हैं, बछड़ों के मुख से थन छूट जाता है, पवन का प्रवाह रुक जाता है—

वृन्दावन कान्ह मुरली बजायी ।
जो जैसेहिं वैसेहिं उठि धाईकुल की लाज गँवाई ।।
जौन सुनै सु तो भई बावरी समुझि समुझि पछताई ।
गौवन के मुख तृन न बसत है बछरी पियत न गाई ।।
"शिवनारायण" श्रवण शब्द सुनि पवन रहत अलसाई ।।

श्रीकृष्ण की लीलाओं का चरमोत्कर्ष रासलीला में दिखाई पड़ता है। उसे देखकर ऋषि, मुनि, किन्नर सभी चकित हो जाते हैं। कृष्ण-कथा का यह आनन्द-प्रवाह श्रीकृष्ण के मथुरा जाने के साथ सहसा रूक जाता है। संयोग-सुख की स्मृतियाँ गोपियों को बेचैन करने लगती हैं। गोपाल को देखे बिना उन्हें क्षण भर के लिए भी शांति नहीं मिलती। वहाँ तो श्रीकृष्ण के दर्शन की अतृप्त प्यास के अतिरिक्त कोई दूसरो बात ही नहीं। रामरूप के अनुसार प्रिय का नाम रटते-रटते उनकी जिह्वा में छाले पड़ जाते हैं, बाट जोहते-जोहते आँखों में झाई पड़ जाती है—

छाले पड़ गये जीभ में, कूकत पिव को नाँव ।
नैनन में झाँई पड़ी, लखत पंथ की दाँव ।।

कृष्ण-कथा के इन ललित और लोकरंजक प्रसंगों के अतिरिक्त संतों ने गोबर्धन-धारण, कालीनाग-दमन, श्रीधर ब्राह्मण, पूतनावध, सुदामा दारिद्रय-भंजन, द्रौपदी की लाज बचाने और पाण्डव-उद्धार जैसे लोक-रक्षा के लिए किये गये महनीय कार्यों का भी वर्णन किया है। यह अवश्य है कि संतों की वृत्ति कृष्ण-चरित्र के ललित प्रसंगों में अपेक्षाकृत अधिक रमी है। स्मरणीय है कि श्रीकृष्ण के अवतारी रूप का विशद वर्णन करने के बावजूद संतों की दृष्टि इस कथा के अव्यक्त और सूक्ष्म रूप पर निरन्तर केन्द्रित रही है। कृष्णलीला का वर्णन पढ़ते-पढ़ते हमारे ध्यान का तार उस समय टूट जाता है जब संत शिवनारायण के शब्दों में संत कवि कहता है कि न तो यह क्रीड़ास्थली वह गोकुल नगरी है, न यहाँ पर ऐतिहासिक मथुरा का वर्णन है, न वे गोप हैं और न ही वे ग्वालबाल—

ना यह मथुरा गोकुल नगरो, ना वह गोप नहीं वह ग्वाल ।
धूम मची व्रज शिवनारायण, देखत शोभा भये हैं निहाल ।।

इसी प्रकार संत चरणदास भी श्रीकृष्ण की लीलाभूमि मथुरा को अव्यक्त और सूक्ष्म बताते हैं। उनके अनुसार मथुरा-मंडल प्रकट नहीं है और जो मथुरा प्रकट है उससे उनका प्रयोजन नहीं है। वास्तविक मथुरा वह है जिसे दिव्य-दृष्टि के बिना देखा नहीं जा सकता—

मथुरा मंडल परगट नाहीं परगट है सो मथुरा नाहीं।
मथुरा मंडल वही कहावै, दिव्य दृष्टि बिन दृष्टि न आवै ।।

वस्तुस्थिति यह है कि संतों का आराध्य स्वरूपतः निर्गुण, निराकार, सहजिया और निरंजन है, पर भक्तों के रक्षार्थ वह ग्वाल का वेश धारण करता है—'आदि निरंजन सहजिया भयो ग्वाल के वेष।' इसलिए संत कवियों ने यशोदा-नन्दन का विशद रूप से गुणगान करने के बावजूद अपनी साधना के केन्द्र में सदैव निर्गुण-निराकार को रखा। उन्होंने अपने को श्रीकृष्ण की अष्टयाम-सेवा और षोडशोपचार से दूर रखते हुए उनकी दिव्य लीलाओं का आस्वादन मानसी स्तर पर किया। उनकी अन्तर्मुखी साधना में 'यत् यत्ब्रह्माण्डे तत् तत्पिण्डे' के अनुसार घट ही ब्रह्माण्ड का लघु संस्करण है। अतः उन्हें प्रभु का साक्षात्कार करने के लिए कहीं आने-जाने की आवश्यकता नहीं है—'करत विचार मनहिं

मन उपजा ना कहुँ गया न आया।' इसीलिए संतों के आराध्य श्रीकृष्ण की लीला भी मन के मथुरा में चलती है। प्रियतम का वह देश लोक से न्यारा है। वहाँ बारह मास बसंत रहता है। वहाँ रात-दिन कुछ भी नहीं होता। वहाँ आकाश, पाताल, धरती, अग्नि, यम, काल भी नहीं हैं। चाँद, सूर्य और तारे भी वहाँ नहीं हैं। वह देश दीपक के बिना ही प्रकाशित रहता है। वहाँ जल के बिना ही कमल खिलता है। इसी देश में संतों को प्रस्थान करना होता है। संत शिवनारायण की निम्नांकित पंक्तियाँ इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं—

वही देस बसंत गाइए जहाँ रैनि दिवस नहिं होय हो।
जहाँ धरती आकास न पताल जहाँ, अग्नि दहै न यम काल हो॥

जहाँ चाँद सुरुज नहि तारा जहाँ, बिन दीपक उजियार हो।
जहाँ बिन जल कमल फुलाना, जहाँ मन मद पिया अरुझान हो॥

जहाँ शिवनारायण मन माना, जहाँ संतन कियो है पयान हो॥

संतों ने कदाचित् ऐसा इसलिए किया कि लौकिक राग-भोग-शृंगार से युक्त कृष्ण-लीला का अध्ययन करने वाले पाठक की दृष्टि से कहीं उनकी आन्तरिक साधना का स्वरूप ओझल न हो जाय। सगुणोपासकों ने भी तो अवतारी राम और कृष्ण-कथा का मानवीय स्तर पर वर्णन करते हुए बीच-बीच में पाठकों के हृदय में यह एहसास जमाना जरूरी माना है कि राम और कृष्ण साधारण मानव नहीं हैं, भगवत् स्वरूप हैं। उनके कार्य-व्यापारों पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक की दृष्टि लगी रहती है।

संतों की कृष्ण-भक्ति : स्वरूप विवेचन

भक्ति भारतीय अध्यात्म की सबसे बड़ी देन और आत्मोपलब्धि का सबसे बड़ा साधन है, जहाँ मनुष्य चरमोत्कर्ष को प्राप्त करता है। वैसे तो वास्तविक भक्ति चित्त की एक अवस्था है जहाँ पहुँच कर व्यक्ति के अन्तस् का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है और वह भागवतकार के शब्दों में 'अहेतुक' एवं निष्काम भाव से भगवान् के प्रति अनुरागमय हो जाता है। अनुराग की इस अवस्था को पाने के लिए साधक को कुछ प्रयत्न भी करना होता है। प्रयत्न की यह अवस्था साधनावस्था कहलाती है और इससे प्राप्त अनुराग की दशा को सिद्धावस्था कहा जाता है। वस्तुतः ये दोनों अवस्थाएँ कार्य-कारण भाव से परस्पर सम्बद्ध होती हैं।

उपासना-विधि की दृष्टि से भागवतकार ने भक्ति को "नवविधा" बताते हुए "नवधा-भक्ति" की संज्ञा दी है। भागवत में अन्यत्र इसे "नव-लक्षणा" कहा गया है। यह साधन-दशा की भक्ति है। इसके नौ अंग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पद-सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। कृष्णभक्त संतों ने अपनी वाणी में परमेश्वर को वश में करने वाली प्रेमाभक्ति की प्राप्ति के लिए नवधा-भक्ति को आवश्यक बताया है। चरणदासी-पंथ के कवि रामरूपदास लिखते हैं—

प्रेमभक्ति नवधा सूं पावै, परमेश्वर ता वश ह्वै जावै।

संत गोविन्द साहब ने सारंगपाणि को पाने के लिए ज्ञानी ऋषियों द्वारा नवधा-भक्ति का वरण करने की बात कही है—

नवधा भक्ति करैं मुनि ज्ञानी। जाहि लखत मिलैं सारंगपानी॥

संत चरणदास ने भक्तों के उल्लेखपूर्वक नवधा-भक्ति के जिन नौ अंगों का उल्लेख किया है वे श्रीमद्भागवत में वर्णित नवधा-भक्ति के नौ प्रकारों से अभिन्न हैं। वे नवधा-भक्ति के नौ अंगों की साधना से प्रेमाभक्ति का उत्पन्न होना तो मानते ही हैं (नवों अंग के साधतैं उपजै प्रेम अनूप) नवधा-भक्ति के विविध अंगों को साधने वाले साधकों का नामोल्लेख भी करते हैं—

साधो नवधा भक्ति करो रे।
कलियुग में यह बड़ो पदारथ, गहि गहि ताहि तरो रे॥

जे जे यासों भये शिरोमणि तिनको नाम सुनाऊँ।
वढ़ै कथा विस्तार कहूँ तो याते सूक्षम गाऊँ॥

जन प्रह्लाद तरो सुमिरण ते वन्दन सो अक्रूर।
चरण कमल की सेवा सेती लक्ष्मी रहत हजूर॥

चंदन चर्चंत हूँ पृथु राजा उतरो भव जल पारा।
बलि राजा तन अर्पण कीन्हौं सदा रहै हरि द्वारा॥

परम दास हनुमत हूँ उबरो उत्तम पदवी पाई।
सखा सुभाव तरो है अर्जुन ताकी महिमा गाई॥

मुक्त भयो है परीक्षित राजा सुनि भागोत पुराना।
श्री सुकदेव मुनी से वक्ता हुए रूप भगवाना॥

स्मरणीय है कि चरणदास की उपर्युक्त नवधा-भक्ति ज्योति से ज्योति मिलाने के उद्देश्य से "अनहद ताल" बजाकर की जाती है। अतः उनके साथ अन्य संतों की भक्ति में आराध्य के नाम से सम्बद्ध श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भक्त के भाव से सम्बद्ध दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन के लिए तो कोई कठिनाई नहीं है, पर आराध्य के रूप से जुड़े पद-सेवा, अर्चन और वन्दन बाधित होते हैं। फिर भी संतों की मानसी कृष्ण-भक्ति में इनका किसी न किसी रूप में समावेश हो गया है। अतः इनकी रचनाओं में निरूपित नवधाभक्ति के नौ प्रकारों की विवेचना असमीचीन न होगी।

श्रवण

इसके अन्तर्गत भक्त भगवान् के गुणों का तन्मयता-पूर्वक श्रवण करता है। चरणदास भक्ति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मन लगाकर भगवान् की कथा और उनके यश का श्रवण करने का आग्रह करते हैं—"मन दै सुनिये हरि कथा, सुनिये हरि यश कान"। अन्यत्र वे कोटि उपाय करके कथा-कीर्तन सुनने की सलाह देते हैं—

कथा कीरतन ही सुनौ करि करि कोटि उपाय।

संत कवियों ने सत्संग को बड़ा महत्त्व दिया है जो स्वरूपतः श्रवण-भक्ति का पोषक है। कहना न होगा, चरणदास, रामरूपदास, शिवनारायण, सहजोबाई तथा प्रणामी-सम्प्रदाय के संतों ने कृष्ण-कथाश्रित पौराणिक आख्यानों का गायन करके अपने पाठकों और सत्संगियों को श्रवण-भक्ति का पाठ पढ़ाया है।

कीर्तन

भगवान् के गुणों का गान करना ही कीर्तन है। ठाकुर आत्माहंस आत्मप्रबोधन करते हुए चारों

पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए राधाकृष्ण के पद-पंकज का भजन करने को कहते हैं—"भजु मन राधाकृष्ण पद-पंकज जो दायक फल चारि रे।" संत रविदास कहते हैं कि यदि तुम गोपाल का गुणगान नहीं करोगे तो तुम्हारे सुख में दुःख उत्पन्न हो जायेगा और तुम कभी भी सुख नहीं पा सकोगे—

जौ तुम गोपालहिं नहिं गैहौ।
तौ तुमको सुख में दुःख उपजै सुखहिं कहाँ ते पैहौ ॥

इसीलिए संत चरणदास राधाकृष्ण के नाम का अहर्निश कीर्तन करने पर बल देते हैं—'राधेकृष्ण, राधेकृष्ण राधेकृष्ण गाव रे'। कृष्ण-भक्त संतों ने भगवान् श्रीकृष्ण की भक्तवत्सलता और गरीबनिवाजी को रेखांकित करते हुए उनके विषय में प्रसिद्ध पौराणिक आख्यानों के निमित्त से भी उनका गुणानुवाद किया है।

स्मरण

भगवान् का नाम स्मरण भक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। चरणदासी-पंथ के संत रामरूप के चित्त में आराध्य श्रीकृष्ण का नाम उसी प्रकार रहता है जैसे कामी के चित्त में कामिनी, लोभी के चित्त में दाम और अमली के चित्त में अमल। (मुक्तिमार्ग, पृ० ७९)। ऐसा होता भी क्यों नहीं जबकि ठाकुर आत्माहंस के नन्दकिशोर श्रीकृष्ण स्मरण करते ही बड़े-बड़े अधमों का उद्धार कर देते हैं—

सुमिरत अधम उधारे पल में तू प्रभु नंद किशोर।

पाद-सेवन

आराध्यदेव की चरण-सेवा ही पादसेवन है। संत-कवियों ने यद्यपि बाद में सगुणोपासना को स्वीकृति देने के बावजूद मूर्तिपूजा नहीं की तथापि उनकी रचनाओं में श्रीकृष्ण की पदसेवा का वर्णन अनेकशः हुआ है। वस्तुतः संतों के यहाँ स्वीकृत आराध्य की पदसेवा मानसी है। चरणदास अपने को गिरिधर श्रीकृष्ण के चरणों का दास बताते हुए उनकी शरण में रहने की बात कहते हैं—'चरणदास चरनन को चेरो सदा रहै गिरधर शरणं'। वे जीव मात्र को लोभ का परित्याग कर हरि के पद-पंकज में मन को लगाने का सुझाव देते हैं। सरसमाधुरीशरण चरणदास के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण से पद-कमल सेवा की याचना करवाते हैं—

चरणदास दोउ जोरि कर, या विधि बोले बैन।
सेवा दे निज पद-कमल, निकट रखो दिन रैन॥

इसी प्रकार सतनामी संत दूलनदास उसी प्रिया को आगरी मानते हैं जो प्रियतम के चरणों में चित्त को लगाये। इन कृष्णोपासक संतों ने अपनी वाणी में गुरु की पद-सेवा का भी विधान किया है।

अर्चन

आराध्य की प्रतिमा का विधि-विहित पूजन करना ही अर्चन है। यद्यपि भागवतमतानुसारी भक्ति में अर्चन को अनिवार्य नहीं माना गया है, तथापि भगवान् के पर, व्यूह, विभव और अन्तर्यामी रूप का साक्षात्कार सभी देशकालों में सम्भव न होने से अर्चावतार के अर्चन का विधान किया गया है। संतों ने मन-मन्दिर में स्थित आराध्य की प्रतिमा का अर्चन किसी न किसी रूप में किया है। वहाँ देवल और देव दोनों घट में हैं। इसलिए पत्र-पुष्प चढ़ाने की क्रिया भी घट में ही होती है। अर्चन यद्यपि क्रिया-योग है, तथापि जीवगोस्वामी ने उसे किन्हीं स्थितियों में मानस-पूजा के रूप में स्वीकार किया है—'क्वचिदत्र मानस पूजा च'। कृष्णोपासक संतों की भक्ति में अर्चन का स्वरूप

अपेक्षाकृत अधिक प्रशस्त हो गया है। गुलाल-पंथी संत देवकीनन्दन कृत नंदनन्दन की आरती से सम्बद्ध यह पद ध्यान देने योग्य है—

आरती श्री नंदनंदन तेरी। ब्रज की जुवती करति सब घेरी॥
कंचन थार कमल कर थारी। दीपक तापर अजब सँवारी॥
आखत पुहुप दूब दधि आनी। करति मधुर धुनि गान सुबानी॥
बाँसुरी शब्द बेनु धुन बाजे। सखी मंडली मध्य बिराजे॥
आरती ले बृषभानु किशोरी। फेरति हरि सिर दोउ कर जोरी॥
'देवकी' सुषमा वरनि न जाई। कोटि चंद लखि रह्यो लजाई॥

वन्दन

वन्दन का अर्थ होता है स्तुति—"वंदनं स्तुतिः"। इसका एक अर्थ नमस्कार भी होता है—"वंदनं नमस्कार."। यद्यपि अर्चन के अंग-रूप में भी वन्दन होता है, तथापि स्वतन्त्र रूप से की गयी वन्दना को नवधा भक्ति का अंग माना गया है। ठाकुर आत्माहंस विरचित आराध्य श्रीकृष्ण की वन्दना का एक पद द्रष्टव्य है—

जै जै बिहारी लाल की।
जै जै क्रीट मुकुट मुरली की, जै कौस्तुभ मणिमाल की॥
जै जै वासुदेव राधा की, जै रुक्मिनि ब्रजलाल की।
जै जै नन्द यशोमति जी की, जै ब्रज मथुरा ग्वाल की॥
जै जमुना जै कदम कुंज की, जहँ संका नहिं काल की।
जै जड़ चेतन ब्रज वासिन की, खग मृग श्वान शृगाल की॥
जै हरि गीता प्रीति-चित जाके, जै पांडव भूपाल की।
जन ठाकुर जेहि मनसर विलसत, हंस चरित गोपाल की॥

आराध्य श्रीकृष्ण की स्तुति के साथ भक्तों की स्तुति भी वन्दना मानी जाती है। संत चरणदास तो भक्तों की स्तुति को हरि की ही स्तुति बताते हैं।

दास्य

भगवत्प्रीति के लिए जब भक्त दास की भाँति अपने समस्त कर्मों का अर्पण कर देता है तब उसे नवधा-भक्ति के अन्तर्गत दास्य-भाव कहा जाता है। इसके अन्तर्गत भगवत्कैंकर्य, दैन्य, निष्काम सेवा आदि आवश्यक अंग होते हैं। वैसे तो संतों की भक्ति अपने में आराध्य के प्रति गुलामी का दस्तावेज है, पर संतों की कृष्ण-भक्ति में दास्य-भाव का प्रायः अभाव है। असल में इसके अन्तर्गत कृष्णकथा के मधुरा रति का रंग इतना गहरा है कि उसके सामने दास्य भावगत सेवक-सेव्य जैसी औपचारिकता फीकी पड़ जाती है। अस्तु, संतों की कृष्णभक्ति-परक रचनाओं में दास्य-भाव व्यंजक स्फुट संकेत ही मिलते हैं। यदि कहीं दास्य-भाव का स्पष्ट अंकन है तो उसे अपवाद ही समझना चाहिए। इस दृष्टि से जगजीवनदास का निम्नांकित पद ध्यान देने योग्य है—

ऐसे प्रभु सो यहु मन लाइ जाकी रीति जानि नहिं जाय।
सोरह सहस गोपिका तजिकै कुबरिहिं ते मन भाय॥

सुपच नीच नीचै जग जान्यौ पाण्डव यज्ञ कराय ॥
विदुर हीन हरि का पहिचान्यौ दरसन दीन्ह्यो आय ।
जनजीवन स्वामी दास तुम्हारा तुम्हरी सरनहिं आय ॥

सख्य

अहितकर कर्मों का निषेध करना, हितकर कर्मों में प्रवृत्त करना और आपत्काल में साथ न छोड़ना सखा के लक्षण हैं। इसमें बंधुता का प्राधान्य होता है। संतों की कृष्णभक्ति में सखा-भाव का सम्यक् विकास नहीं हो सका है। वास्तव में कृष्ण के ग्वाल-सखा उनकी लीलाओं में बराबर के साझेदार नहीं हो पाये हैं, साथ ही संतों का अपना दास्य-भाव ग्वाल-बालों के माध्यम से बार-बार छलक पड़ा है। उदाहरणार्थ प्रातःकाल श्रीकृष्ण को गोचारण के लिए बुलाते हुए ग्वाल-बाल जिस प्रकार जै-जैकार करते हुए उनसे दर्शन देने की प्रार्थना करते हैं उसमें उनका सखा-भाव तिरोहित होकर दास्य-भाव उभर आया है। निम्नांकित पद में श्रीकृष्ण और ग्वाल-बालों के मध्य मैत्रीगत अनौपचारिकता का अभाव और सेवक-सेव्य-भाव की स्पष्ट छाया दिखायी पड़ती है—

प्रातः उठि बैठे नन्द किशोर ।
ग्वाल बाल सब द्वारे ठाढ़े करते जै जै शोर ॥
चलो लाल जी देर होति है धेनु चलीं वन छोर ।
पंथी बाट चलन सब लागे यमुना तट की ओर ॥
'जगदीश बख्श' आस चरनन की दरस देव मोहि भोर ॥

आत्मनिवेदन

भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण का भाव लेकर भक्त जब एक ओर भगवान् की पतितपावनता, दीनबन्धुता एवं भक्तवत्सलता का महत्त्व प्रतिपादित करता है और दूसरी ओर अपने दैन्य का प्रदर्शन कर आराध्य से अनुग्रह की भीख माँगता है तब आत्मनिवेदन नामक नवधा-भक्ति के नवें प्रकार का उदय होता है। संतों की कृष्णभक्त्यात्मक रचनाओं में आत्मनिवेदन का भाव पदे-पदे दिखायी पड़ता है। सतनामी संत जगदीशबख्श का निम्नांकित पद आत्मनिवेदन का सुन्दर उदाहरण है—

हमारी सुधि लीजै स्याम बिहारी ।
महापतित लायक कछु नाहीं तुम प्रभु अधम उधारी ॥
राख्यो लाज जाय द्रुपदी की बढ्यो चीर अमिता री ॥

आत्मनिवेदन का ही दूसरा नाम शरणागति या प्रपत्ति है। भक्ति के आचार्यों ने इसके छः प्रकार बताये हैं—अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का वर्जन, रक्षकत्व में विश्वास, गुप्त रूप में वरण तथा दैन्य। भगवदनुकूल कर्मों में प्रवृत होने का निश्चय करना 'अनुकूलता का संकल्प' है। इससे भक्त के चित्त में सत्त्वगुण का विकास होता है और वह भगवदनुग्रह की पात्रता अर्जित करता है। जिन बातों से भगवद्भक्ति में प्रतिकूलता उत्पन्न होती है उनका निषेध ही 'प्रतिकूलता का वर्जन'' है। भगवान् के रक्षक-रूप पर अडिग विश्वास रखना 'रक्षकत्व' में विश्वास है तथा उपास्य का गुप्त रूप में वरण ही 'गोप्तृत्ववरण' है। इसी प्रकार भक्त द्वारा स्वयं को भगवान् के अधीन करना ''आत्मनिक्षेप'' और आराध्य के प्रति दैन्य की अभिव्यक्ति 'कार्पण्य' है। संतों की कृष्णभक्ति में प्रपत्ति के इन सभी अंगों को स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है।

हँसि बोलूँ तो पीव को, जो देखूँ तो पीव।
'रामरूप' वारन किया, तन मन धन अरु जीव॥

कृष्ण भक्त सन्तों ने स्थान-स्थान पर नामस्मरण, शील, दया, लघुता, अहिंसा आदि सात्त्विक वृत्तियों का वरण करने पर भी बल दिया है। प्रतिकूल की वर्जना करते हुए सन्त चरणदास अभिमान को नरक का मूल बताते हैं—"नरक मूल अभिमान"। ये काम, क्रोध, लोभ को भक्ति का रोड़ा बताते हुए इनसे दूर रहने को कहते हैं।

प्रणामी सन्त गोपालदास भगवान् श्रीकृष्ण के भरोसे किसी अन्य को जानने की आवश्यकता नहीं समझते—'मै तो भरोसे दृढ़ तुमरे हूँ और न जानों दूजा कोई'। दूलनदास अपने गाढ़े दिन के मीत को छोड़ना नहीं चाहते, वे उसे छोड़ भी कैसे सकते हैं—'दूलन कैसे छाँड़िये हरि गाढ़े के मीत'। सतनामी सन्त गुरुदत्तदास भगवान् के रक्षक-रूप के प्रति अडिग विश्वास लेकर अपने मन को सम्बोधित करते हैं—

भजु मन रे वृषभानु कै दमदवा।
जल वूड़त गजराज उबारेउ, होय नरसिंह बचायो प्रहलदवा।
द्रुपद सुता कै लज्जा राख्यो, दुष्ट दुशासन काँ करि रदवा॥

हरि जन सुनौ गुनौ औ गावौ, अभय रहौ सतगुरु परसदवा।
जन 'गुरुदत्त' अनूप रूप लखु, नन्द महर को साहबजदवा॥

सन्त जगदीश बख्श भी भगवान् श्रीकृष्ण के रक्षक रूप पर विश्वास करते हुए उसका वरण करते हैं—

तुम सन कृपासिन्धु कहँ पावों।
तुम बिन दुःख हरै को मेरो, केहि दीनता सुनाओं॥

तीन लोक सम्पदा सुदामहिं, देत न कछु सकुचावों।
मैं अनाथ तुम नाथ हो लायक, बार-बार सिर नावों॥

इसी प्रकार ठाकुर आत्माहं[१] अपने आराध्य नन्दकिशोर के प्रति दैन्य निवेदित करते हुए उनकी दीनदयालुता को रेखांकित करते हुए कहते हैं—

निहारो नेक हमारी ओर।
तेरे लखत लखै जग सगरो, सुनु प्रभु नन्दकिशोर।
अतिसै दीन मलीन हीन जग, करनी सब विधि मोर॥

दीनदयाल कृपाल नाम एक, विदित वेद हरि तोर।
केते अधम उधारे छन में, देखत नैनन कोर॥

इस प्रकार नवधा-भक्ति की साधना से सन्त रामरूप के शब्दों में परमेश्वर को वशवर्ती बनाने वाली प्रेमाभक्ति की प्राप्ति होती है, 'प्रेम भक्ति नवधा सूँ पावै परमेश्वर ता वश ह्वै जावै'।

प्रेमाभक्ति

नवधा-भक्ति के सोपान से होकर साधक प्रेमाभक्ति की सिद्धावस्था को प्राप्त करता है, जिसे भक्ति के आचार्यों और भक्ति साधकों ने दशधा, परा, प्रेमलक्षणा, निर्गुणभक्ति, भावभक्ति आदि नाम दिये हैं। सन्त कबीर जब नारदी भक्ति

में निमग्न रहने की बात कहते हैं (भगति नारदी मगन कबीरा) और उसे 'हरि सूँ गठजोरा' कहकर व्याख्यायित करते हैं तब उनका मन्तव्य महर्षि नारद द्वारा निरूपित प्रेमाभक्ति से ही होता है। कहना न होगा सन्त कवियों ने इस प्रेमाभक्ति को धर्म-साधना के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वशाली माना है और उसे प्राप्त कर लेने पर साधक के लिए मुक्ति, सिद्धि, स्वर्ग कुछ भी काम्य न रह जाने का विश्वास व्यक्त किया हैं। प्रेमाभक्ति के अभाव में सन्तों ने जीवन को अकारथ कहा हैं। इसीलिए सन्त चरणदास इसे अनन्य भक्ति की संज्ञा देना युक्तियुक्त मानते हैं. अपनी निष्कामता के कारण वह निर्गुण भी हैं।

सन्त भीखा साहब के अनुसार प्रेमाभक्ति, कल्पद्रुम की छाया सदृश है, जो दैहिक-दैविक-भौकित तापों को भक्त के निकट नहीं रहने देती—

भक्ति भाव कल्पद्रुम छाया, ताप रहै नहिं देई।
चारि पदारथ अज्ञाकारी, करसों कबहि न लेई॥

इससे आराध्य के प्रति प्रीति का भाव दिनानुदिन अभिवृद्धि पाता है तथा काम-क्रोध और सांसारिक मायाजाल विरह की आग में भस्म हो जाते हैं। इसीलिए चरणदास के शब्दों में भगवान् इस अनन्य प्रेम-प्रीति पर आधृत भक्ति के वशीभूत रहते हैं—

प्रेम प्रीति के बस भगवाना।
सकल सासतर कियो बखाना॥

प्रेम का यह पन्थ इतना आसान नहीं है। यहाँ तो बस देना ही देना रहता है। इसे खाला का घर समझना बहुत बड़ी भूल है। कपटी जन इस पथ पर चलते हुए झिझक का अनुभव करते हैं। यहाँ प्रवेश पाने के लिए शीश उतार कर भूमि पर रखना होता है। सन्त रामरूप इसे महादुर्लभ बताते हुए कहते हैं कि यह 'सहज सुहेली' नहीं है। यहाँ स्थान पाने के लिए शीश उतार कर हाथों पर लेना पड़ता है—

प्रेमभक्ति दुर्लभ महा, सहज सुहेली नाहिं।
रामरूप सिर कर गहै, तब पावै निज ठाहिं॥

सन्त कवियों की प्रेमाभक्ति सीधे आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति तो है ही, पर उसका बहुलांश कृष्ण-कथा के पात्रों को आश्रयालम्बन मानकर अभिव्यक्त हुआ है। आत्मपरक भाव-भूमि में कृष्णभक्ति करने वाले सन्तों में सबसे ऊँचा स्वर सहजोबाई का है, जो हमारे चित्त में मीराबाई की याद ताजा कर देता है—

मेरे एक श्री गोपाल और नहीं कोई माई।
आय बसे हिए माहीं और दूजो ध्यान नाहीं, मेरो तो सब कुछ है उनहीं के ताई।
जातहू की कान तजी लोकहू की लाज तजी, दोनो कुल माहिं बजी कहा करै सोई॥
उघरी है प्रीति मेरी निश्चय हुई वाकीं चेरी, पहरी है प्रेम बेरी दुरै नहिं जोई।
मैं तो चरण दास भई गत मत सब त्याग दई, 'सहजोबाई' नाहीं रही उठि गई बोई॥

संतों की श्रीकृष्ण विषयक रति का एक रूप वह भी है जहाँ उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति तीव्र आसक्ति की व्यंजना के लिए एतद्विषयक लोकप्रचलित उपमानों का सहारा लिया है। इस दृष्टि से सरस माधुरीशरण रचित निम्नांकित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

स्वाति बूँद तुम हौ हरी, चातक मोहिं पिछान।
रूप सुधारस पान बिन, तलफत मेरे प्रान॥
गंगाजल सम स्याम तुम, मैं हूँ तुमरा मीन।
तुम माता मैं पुत्रवत, समझो सत्य प्रवीन॥
तुम गैया मैं वत्स सम, मैं पतंग तुम दीप।
यही चाह चित में बसै, निसिदिन रहौं समीप॥

कृष्णकथा तो वैसे भी प्रेमाभक्ति का आगार है, पर सन्तों की कृष्णकथाश्रित रचनाओं में नन्द-यशोदा, गोप-गोपिका और रासेश्वरी राधा के माध्यम से प्रेम-लक्षणा-भक्ति का जो सागर लहरा उठा है व्यापक अर्थ में ग्रहणकरने पर वह सूर के 'सागर' से शायद ही उन्नीस पड़े।

प्रेमाभक्ति के साधक संतों की वाणी में नारदभक्ति-सूत्र' के अन्तर्गत निरूपित एकादश आसक्तियों का गायन बड़ी तन्मयता के साथ हुआ है। कुछ विद्वान् इन आसक्तियों को भक्ति के क्षेत्र में शास्त्रीयता का झमेला समझने का भ्रम पालते हैं, जबकि ये घनीभूत प्रेम के गहन स्तरों का परिचय कराने वाली अलग-अलग स्थितियाँ हैं। इनके नाम हैं—गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने कृष्णकथा के विविध प्रसंगों को ध्यान में रखते हुए कृष्णभक्ति में एकादश आसक्तियों की स्थिति-मीमांसा की है। उनके अनुसार श्रीकृष्ण की लीलाओं में विविध आसक्तियों को निम्नांकित विवरण के अनुसार देखा जा सकता है :—

१—गुण माहात्म्यासक्ति	भ्रमरगीत
२—रूपासक्ति	दानलीला
३—पूजासक्ति	गोवर्द्धन धारण लीला
४—स्मरणासक्ति	गोपी वचन परस्पर
५—दास्यासक्ति	मुरली स्तुति
६—सख्यासक्ति	गोचारण
७—कान्तासक्ति	गोपी-विरह
८ - वात्सल्यासक्ति	यशोदा विलाप
९—आत्मनिवेदनासक्ति	भ्रमरगीत
१०—तन्मयतासक्ति	,,
११—परमविरहासक्ति	,,

डॉ० वर्मा ने कृष्णकथा के विविध प्रसंगों में जिस क्रम से एकादश आसक्तियों का स्वरूप-दर्शन किया है, वे कृष्णोपासक संतों की वाणी में भी किंचित् हेर-फेर के साथ देखी जा सकती हैं। सम्प्रति इन आसक्तियों की स्वरूप-विवेचना हम अलग-अलग शीर्षकों में करना चाहेंगे :—

गुणामाहात्म्यासक्ति

आराध्य के गुण और महत्त्व के प्रति आसक्त होना हो गुणमाहात्म्यासक्ति है। कृष्णोपासक संतों ने अपनी वाणो में आराध्य के गुण और महत्त्व का विशद वर्णन किया है। प्रणामी संत मुकुन्द स्वामी 'अहदी' श्रीकृष्ण का गुण गान करते हुए कहते हैं—

जिन पर श्री ब्रजराज सहाई।
और के बैर काह कोइ करिहै, जो कुल जगत रिसाई।
इन्द्र जु कोपि चढ़े ब्रज ऊपर, तबल निसान बजाई॥

प्रभु परताप बार नहिं बाँको, करि थके कोटि अपाई।
जिनको बल श्रीराधावर को, तिनको कछु न बसाई॥

वेद पुरानन के मधि गावत, मुनिन कह्यो समुझाई।
'दास मुकुंद' मिले सोइ सहजै, निगम नेति कहि गाई॥

सतनामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक संत जगजीवनदास भी श्रीकृष्ण के गुण और महत्त्व का वर्णन करते हुए उनकी शरण में जाने की सलाह देते हैं :—

ऐसे प्रभु सों यहु मन लाइ।
जाकी रीति जानि नहिं जाइ॥

सोरह सहस गोपिका तजिकै कुबरिहिं से मन भाइ।
पतिव्रता को बैठे छाड़ेउ बेस्या विमान चढ़ाइ।
सुपच नीच नीचै जग जान्यो पांडव यज्ञ कराइ।
बिदुर हीन हरि काँ पहिचान्यो दरसन दीन्ह्यो आइ।
'जगजिवनदास' स्वामी दास तुम्हारा तुम्हरी सरनहिं आइ॥

रूपासक्ति

आराध्य के रूप पर आसक्त होना रूपासक्ति है। निर्गुणोपासक होने के बावजूद संतों के कृष्णकाव्य में रूपासक्ति का समावेश हुआ है। सहजोबाई के चित्त में श्रीकृष्ण की जो रूप-माधुरी समायी हुई है उसकी झाँकी देखते ही बनती है। उनके द्वारा वर्णित कृष्ण के मुकुट, उनके मनोहर नटवर रूप, कुण्डल की झलक, बिखरी अलकों, सुन्दर नासिका, चंचल भौंहों, ठुमक-ठुमक कर धरती पर पड़ने वाले पग, नूपुर की झनकार और रिझाने वाले नृत्य से जिस अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि होती है वह हर किसी के अन्तस् में समा जाने वाला है—

मुकुट लटक अटकी मन माहीं।
निरतत नटवर मदन मनोहर, कुण्डल झलक अलक बिथुराई॥

नाक बुलाक हलत मुक्ताहल, होंठ मटक गति भौंह चलाई।
ठुमक ठुमक पग धरत धरनि पर, बाँह उठाय करत चतुराई॥

झुनुक झुनुक नूपुर झनकारत, तता थेई थेई रीझ रिझाई।
चरनदास 'सहजो' हिय अन्तर, भवन करौ जित रहौं सदाई॥

कहना न होगा संतों के आराध्य का उक्त रूप निर्गुण-निराकार ब्रह्म से सम्बद्ध होने के बावजूद हिय-अन्तर में निवास करने वाला है, मानसी है। असल में जो छवि भक्त कवि की आँखों में समायी हुई हैं, वह कभी विस्मृत होने वाली नहीं है।

पूजासक्ति

आराध्य की पूजा-अर्चा में लीन रखने वाली आसक्ति को पूजासक्ति कहा जाता है। चूंकि संतों ने विग्रह-पूजन का निषेध किया है इसलिए उनकी वाणी में पूजासक्ति का मानसी रूप ही दिखाई पड़ता है। चरणदास विरचित आरती के निम्नांकित पद में पूजासक्ति का स्वरूप दर्शनीय है :—

ऐसें आरति करि हुलसावै, दै परिक्रमा सीस नवावै।
तनको थाल अरु मन को चौमुख, ज्ञान ध्यान की बाती लावै।
भक्ति भाव को घी भरि तामें, जगमग जगमग ज्योति जगावै॥
अर्ध उर्ध हित सूं करि फेरै, रचना रचै फूल बरसावै।
सुरति मृदंग अरु निरति तंबूरा, झँगड़ झँगड़ झाँझ बजावै॥
ताल बीन मुरचंग शंख ध्वनि, प्रेम मगन ह्वै हरि गुण गावै।
सोबरन कलसा जल को राखै, धूप अरु अगर सुगंधि धरावै॥
या विधि सों सुकदेव स्याम की, गाय आरती को फल पावै।
युगल किसोर निरखि नैनन सों, चरणदासि सखि बलि-बलि जावै॥

स्मरणासक्ति

आराध्य के नाम का स्मरण करने में मन को तल्लीन रखना ही स्मरणासक्ति कहलाता है। संतों ने अपनी साधना में नाम-स्मरण पर बहुत बल दिया है। संत कबीर ने हरि के नाम स्मरण को ही भक्ति की संज्ञा दी है—'भगति भजन हरि नाम है।' संत कवियों की राधाकृष्ण-भक्ति में स्मरणासक्ति के उदाहरण पदे-पदे मिलते हैं। दूलनदास मनुष्य मात्र को गोपाल का स्मरण करने की सलाह देते हैं—'रे नर सुमिरि ले गोपाल।' गुरुदत्तदास अपने मन को सम्बोधित करते हुए उससे वृषभानु के जामाता श्रीकृष्ण का भजन करने का प्रस्ताव करते हैं—'भजु मन रे वृषभान कै दमदवा।' संत ठाकुर आत्माहंस चतुर्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले राधा-कृष्ण के पद-पंकज का भजन करने का आग्रह करते हैं—'भजु मन राधा कृष्ण पद-पंकज, जो दायक फल चारि रे।' चरणदासी सम्प्रदाय के संत सिद्धराम तो जीवन की क्षणभंगुरता का बोध जगाते हुए गोपाल का स्मरण करने का आग्रह करते हैं :—

रे नर सुमिरि रे गोपाल।
उमर बीती जात पल-पल, आवत छिन छिन काल॥

दास्यासक्ति

आराध्य के प्रति स्वामी-सेवक भाव से आसक्त होना दास्यासक्ति है। संत-काव्य में दास्य-भाव की भक्ति का निदर्शन हुआ है, पर कृष्णभक्ति में दास्यासक्ति के लिए अपेक्षाकृत कम अवकाश है। इस सन्दर्भ में एक रोचक तथ्य यह है कि यत्र-तत्र संतों का दास्य-भाव उनकी कृष्णकथाश्रित रचनाओं में भी उभर आया है। सतनामी संत दूलनदास का निम्नांकित पद उनकी कृष्णभक्ति में दास्यासक्ति का सुन्दर उदाहरण है :—

द्रुपदी रामकृष्ण कहि टेरी।
सुनत द्वारिका से उठि धायो, जानि आपनी चेरी॥

रही लाज पछतात दुसासन, अंबर लाग्यो ढेरी।
हरि लीला अवलोकि चकित चित, सकल सभा भुंइ हेरी॥
हरि रखवार सामरथ जाके, भूल अचल तेहि केरी।
कबहुँ न लागत तात बाव तेहि, फिरत सुदर्सन फेरी॥

• • •

दूलनदास के साँई जगजीवन, इतनो विनती मेरी॥

सख्यासक्ति

आराध्य के प्रति सखा-भाव से आसक्त होना सख्यासक्ति कहलाता है। कबीर ने तो पानी से पतले, धुएँ से सूक्ष्म और पवन-वेग से भी अधिक चंचल परम तत्त्व को अपना दोस्त बनाया था, पर कृष्णोपासक संतों की रचनाओं में सख्यासक्ति का वर्णन बहुत सुन्दर नहीं हो सका है। उदाहरणार्थ जगदीशबख्श के ग्वाल-बाल जब श्रीकृष्ण से दर्शन देने की प्रार्थना करते हैं तब उसमें दास्य भाव उमड़ आता है और सख्य भाव बाधित हो जाता है—

प्रात उठि बैठे नन्द किशोर।
ग्वाल बाल सब द्वारे ठाढ़े करत हैं जै जै सोर।
चलो लाल जी देर होत है धेनु चलीं बन छोर॥

• • •

जन 'जगदीश' आस चरनन को, दरस देव मोहि भोर।

संत बोधदेव के कृष्ण अलव्रत गोचारण करते हुए ग्वाल-बालों के साथ कीड़ा करने में इतने तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें गायों की देखरेख का ध्यान भी नहीं रहता :—

मधुवन श्याम चरावत गैया।
रचिनि खेल एक है बैजल्ला बनिगे चोर कन्हैया।
भूलि गये सब सखा खेल माँ कोउ नहीं हरकैया॥
निसिदिन खेल करत मधुवन माँ जसुमति लेति बलैया।
'बोधदेव' कह सखा स्याम को गावत देखि समैया॥

कान्तासक्ति

कान्ता या प्रिया भाव से आराध्य के प्रति आसक्त होना कान्तासक्ति कहलाता है। वैसे तो संतों की साधना का केन्द्रबिन्दु ही कान्ताभाव है, पर कृष्णभक्त संतों की वाणी में निरूपित कान्तासक्ति का कोई जवाब नहीं है। चरणदास शोभा-सिंधु श्रीकृष्ण से नेह-नाता जोड़ने के बाद उनके प्रति सर्वतोभावेन समर्पित हो जाते हैं और सच्चा प्रियतम पा जाने के बाद अन्य किसी देव से नाता नहीं मानते—

वंशीवारे सों नेहरा कीन्हो री।
काहू को कछु कहो न मानूँ यह तन मन वहि दीन्हों री॥
भर्मत भर्मत बहुतै हारी भटक भटक जग हीनो री।
आन देव सों काज न मेरो सांचो प्रीतम चीन्हो री॥

सोभा सागर गुण को आगर कुँवर किशोर नवीनो री।
नवल लाड़िलो मोहन सोहन सोई वर वर लीन्हों री॥
प्रभु को छोड़ भजूं औरन को तौ कहियो बुधि हीनो री।
'चरणदास' को है सुखदायी श्यामसुन्दर रंगभीनो री॥

स्मरणीय है कि सगुणोपासक भक्तों की कृष्णभक्ति में लोकान्तर्गत अपनी तीव्रता के लिए विख्यात परकीया भाव को अधिक महत्त्व दिया गया है, जबकि संतों की भक्ति मूलत: स्वकीया भाव की है। पर, संतकवियों की कृष्णकथाश्रित रचनाओं में परकीया भाव भी स्वीकृति पा गया है। श्रीकृष्ण की वंशी की मधुर ध्वनि सुनकर ब्रजवनिताएँ गृह के कार्य और अपने पतियों की लज्जा छोड़कर आत्म-विस्मृत-सी श्रीकृष्ण से मिलने को दौड़ पड़ती हैं। चरणदास कहते हैं—

नृत्य करत छबि सों बनवारी।
टेरि लई सबही ब्रज वनिता मुरली मधुर बजाय बिहारी।
सुनत श्रवण धुनि होय प्रेमवश विकल भई सुन्दर सुकुमारी।
गृह के काज लाज तजि पिय की उठि धाई तन सुरति बिसारी॥

वात्सल्यासक्ति

आराध्य को माता-पिता मानकर जब भक्त निष्कलुष भाव से प्रीति प्रदर्शित करता है तब उसे वात्सल्यासक्ति की संज्ञा दी जाती है। नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी की भक्ति इसी प्रकार की है। चरणदासी, प्रणामी और सतनामी सम्प्रदाय के साहित्य में कृष्णकथा के सहारे वात्सल्यासक्ति का समावेश हुआ है। ठाकुर आत्माहंस के श्रीकृष्ण आनन्द-मग्न होकर नृत्य कर रहे हैं। उनका पीत पट, पैरों की पैंजनी और चित्त को चुराने वाली चितवन देखकर माता-यशोदा और नंद के हृदय में वात्सल्य प्रेरित हर्ष-पुलक की उमंगें उठ रही हैं। झाल के साथ गायन करने वाले ग्वाल-बालों की भीड़ लगी हुई है। गोपियाँ वर्ण-वर्ण के वेश सजाकर बहुविध वाद्य-यंत्र बजाती हुई उझक-उझक कर श्रीकृष्ण को देखती हैं और बलि-बलि जाती हैं—

आनन्द नंद रैया, नाचत देखि कन्हैया।
हरषि निरखि सब मातु उमंगि उर कहत लाल कै मैया॥
परम पवित्र पीत पट पहिरे पगु पैजनि सुख पैया।
चोरि लेत चित चितवन चितवत चारु चतुर चमकैया॥
बरन बरन बनि-बनि ब्रज बाला बहुविध बाज बधैया।
उझकि उझकि हरिवदन विलोकत झुकि झुकि लेत बलैया॥
ग्वाल बाल लै झाल ताल दै गावत राग अलैया।
'जन ठाकुर' अति भीड़ देखियत जसुमति के अँगनैया॥

आत्मनिवेदनासक्ति

जब भक्त भगवान् को सद्गुणों का आगार बताते हुए अपने अवगुणों को खोल-खोलकर उनके सामने रखता है और उनकी शरण में जाने की कामना करता है तब आत्मनिवेदन नामक आसक्ति होती है। सतनामी संत जगदीश बख्श के निम्नांकित पद में आत्मनिवेदन का स्वरूप ध्यान देने योग्य है—

हमारी सुधि लीजै स्याम बिहारी।
महापतित लायक कछु नाहीं, तुम प्रभु अधम उधारी।

राख्यौ लाज जाय द्रुपदी की बढ्यो चीर अति भारी।
अजामील गज गनिका तार्‌यो औ गौतम की नारी॥

मथुरा जाय कंस नृप मार्‌यो भयो जग मंगलकारी।
बंदी काटि दुःख प्रभु मेट्‌यो भक्तन के हितकारी॥

उग्रसेन को राज दियो है अपने नजर गुजारी।
जन 'जगदीस' की आस यही है दरस देउ बनवारी॥

संत जगजीवनदास अपनी पतितावस्था का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण से दर्शन देने की प्रार्थना करते हैं—

मोहिं पर कृपा करहु बनवारी।
जनम जनम मोहिं भरमत बीता अब तौ सरन तुम्हारी।
भवसागर मोरि बूड़त नैया अब के पार उतारी॥

अनगन पतित तार्‌यो एकै छन ताते कहौं पुकारी।
'जगजीवनदास' को दरसन दीजै समरथ कृष्ण मुरारी॥

तन्मयासक्ति

विश्व के प्रत्येक कण में प्रभु का निवास मान कर प्रभु में ही तन्मय हो जाना तन्मयासक्ति कहलाता है। सहजोबाई अपने आराध्य श्री गोपाल में इस प्रकार तन्मय हो जाती है कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रह जाती है। वे आराध्य के स्वरूप के साथ एकमेक हो जाती हैं—

मेरे एक श्रीगोपाल और नहीं कोई माई।
आय बसे हिय माहीं और दूजो ध्यान नाहीं॥
मेरो सब (अर्पित है) उनहीं के ताईं॥

जात हू की कानि तजी, लोक हू की लाज भजी।
दोनों कुल माहिं बजी कहा करे सोई॥

उघरी है प्रीति मेरी, निश्चय हुई वाकी चेरी।
पहरी है प्रेम बेरी टूटै नहिं जोई॥

मैं तो चरणदास भई, गत मत सब त्याग दई।
सहजोबाई नाहीं रही उठि गई वोई॥

परमविरहासक्ति

आराध्य के लिए परम विरह का अनुभव करते हुए जब साधक उससे भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है तब भक्ति में परमविरहासक्ति की स्थिति आती है। सन्तों की वाणी में वैसे तो परमविरहासक्ति का वर्णन पदे-पदे मिलता है, पर कृष्णोपासक संतों की गोपियों का विरह इस दृष्टि से अप्रतिम है। संत रामरूप का निम्नांकित पद परमविरहासक्ति का सुन्दर उदाहरण है—

एजी म्हारो सुधि लीजै घनश्याम।
हम व्याकुल तुम बिन अति प्रीतम, नेक न मन आराम॥

विरहा जोर करत है भारी निशिदिन दाझे प्रान।
छिन छिन बीतत बरस बराबर बेगि आओ भगवान ॥
जैसे चन्द की चाह चकोरी जल बिन तलफै मीन।
यों हमरी गति है तुम्हरे बिन ज्यों निर्धन धन हीन ॥
ऐसी व्यथा ब्रज की सखियन की सुनिये हो नन्दलाल।
'रामरूप' चरणदास के बिछुरे ऐसे हैं बेहाल ॥

तात्पर्य यह कि श्रीकृष्ण के प्रति संतों की प्रेमाभक्ति एकादश आसक्तियों के विभिन्न स्तरों से होते हुए परम-विरहासक्ति के शिखर पर विराजने लगती है, जहाँ निकृष्ट दुनियादारी एकदम पीछे छूट जाती है और साधक के लिए आराध्य से पल-छिन का भी वियोग असह्य हो जाता है।

सन्तों की कृष्णभक्ति : रसानुभूति का प्रश्न

धर्म की रसात्मक अनुभूति के रूप में भक्ति का अनुभावन करने-कराने के उपक्रम में भक्ति रस का निरूपण हुआ है। असल में लोकातीत को लोकमानस में उतारने और मन-वाणी से अगम और अगोचर को संवेदना के स्तर पर लाने के लिए कविता से उपयुक्त और कोई दूसरा साधन हो भी नहीं सकता था। अस्तु, संतों की 'प्रेमभगति' विवेक सम्मत वैष्णवता द्वारा कपड़छान किया हुआ रससागर है जिसमें अवगाहन करने वाले हर किसी का मन-मैल प्रक्षालित होने के साथ ही आत्मविस्तार होता है।

रूप गोस्वामी ने भक्ति रस के कुल बारह भेद बताये हैं और उन्हें मुख्य एवं गौण दो वर्गों में विभक्त किया है। मुख्य भक्ति रस के अन्तर्गत वे शान्त, प्रीति (दास्य) प्रेयान् अथवा प्रेयो (सख्य), वत्सल और मधुर रस को रखते हैं तथा गौण भक्ति रस में हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स को। मुख्य भक्ति रस के विविध रूपों में से संतों की दृष्टि शान्त, प्रीति (दास्य) और मधुर रस पर विशेष रूप से केन्द्रित रही है। परवर्ती संतों ने कृष्णकथा के माध्यम से सख्य और वात्सल्य रसों को भी यत्र-तत्र स्वीकार कर लिया है।

शांत रस का स्थायी भाव शम् या निर्वेद वैसे तो भक्ति के सभी भावों में अन्तर्भुक्त रहता है, पर आचार्यों ने इसे भक्त और भगवान् के बीच स्थापित होने वाले पंचधा-भाव-सम्बन्धों से पृथक् महत्त्व दिया है। सांसारिक भोग-विभूति की क्षणभंगुरता शांत रस का स्थायी भाव है। संतकाव्य में जीवन की नश्वरता और संसार के मिथ्यात्व का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है। इसीलिए संतों की कृष्णभक्ति अपने मूल रूप में ऐश्वर्य-प्रधान होने के बावजूद हमें संसार से विरत होकर आराध्य की शरण में जाने का सन्देश देती है। प्रणामी संत मुकुन्द स्वामी विषय-वासनाओं में फँसे हुए सांसारिक जीवों को, सुख-सम्पत्ति और विलासिता की त्याज्यता, चोरी, निन्दा, मान-गुमान आदि की विगर्हणीयता और कण्ठी, माला, तिलक की व्यर्थता सिद्ध करते हुए अनन्य-भाव से राधा कृष्ण का भजन करने और उनके चरणों में चित्त को लगाने की प्रेरणा देते हैं —

सुख चाहे तो राधा-कृष्ण भजु रे।
सुख सम्पत्ति तेरे काम न आवे ना हाथी घोड़ा रथ सजु रे ॥
चोरी नारी औ पर निन्दा मान गुमान सबै कुछ तजु रे।
यमराजा को त्रास कठिन है कंठी माला तिलक न सजु रे ॥
कहत 'मुकुंद' सुनो भाइ साधो प्रभु के चरण हितचित मन धरु रे ॥

वस्तुतः शांत-भक्ति रस के वर्णन में जितनी सफलता निर्गुणोपासक सन्तों को मिली है उतनी सगुणोपासक कृष्ण भक्तों को नहीं मिली। इसका कारण यह है कि सगुणोपासना में आराध्य श्रीकृष्ण के राग भोग और शृंगार के निमित्त से जगत् को स्वीकृति मिल जाती है, जबकि सन्तों के यहाँ कृष्णकथा का सारा भोगैश्वर्य मानसी स्तर पर रह जाता है।

सन्त साहित्य में सेव्य-सेवक भाव पर आधारित प्रीति भक्ति रस का पूर्ण निर्वाह हुआ है। यहाँ संभ्रम प्रीति का वर्णन अधिक है, गौरव प्रीति का प्रायः अभाव है। देशकाल, शुभाशुभ, भेदाभेद की सीमाओं से ऊपर और करोड़ों सूर्य के तेज से मण्डित आराध्य के प्रति वस्तुतः संभ्रम प्रीति ही हो सकती है। गौरव प्रीति तब होती है जब भक्त अपने को आराध्य का कृपापात्र मानने लगता है। संतों में गौरव प्रीति के अभाव का एक कारण यह भी है कि आराध्य से नैकट्य-लाभ करने की स्थिति में पहुँचकर उनकी भक्ति माधुर्य भाव में पर्यवसित हो जाती है। अतः परवर्ती संतों में कृष्णभक्ति का विकास होने पर वहाँ भी दास्यभक्ति के अन्तर्गत सम्भ्रम प्रीति का वर्णन हुआ। सन्तकाव्य में दास्यभक्ति रस की व्यापकता इस बात से भी सिद्ध होती है कि सख्य और वात्सल्य भक्ति रसों पर इसकी छाया दिखाई पड़ती है।

सन्तों की कृष्णकथाश्रित रचनाओं में गोचारण प्रसंग प्रेयो (सख्य) भक्ति रस की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, फिर भी वहाँ सम्यक् रस परिपाक नहीं हुआ है। असल में सख्य-भक्ति रस के अन्तर्गत भक्त और भगवान् के बीच जैसी आत्मीयता और सम्बन्धगत अनौपचारिकता अपेक्षित होती है उसका सन्तों में प्रायः अभाव है।

सन्तकाव्य में राम और कृष्णकथा का सूत्र पकड़कर वत्सल भक्तिरस का समावेश बाद में हुआ। वस्तुतः दास्य भाव की जिस सीमा पर पहुँचकर सन्तों ने अपने को 'कुत्ता' और 'मेहतर' तक कह डाला था वहाँ से सख्य और वात्सल्य की भावभूमि को प्राप्त कर सकना सहज ही सम्भव नहीं था। इसीलिए परवर्ती सन्तों ने यदि कहीं वात्सल्य का वर्णन किया तो वह आराध्य को पिता अथवा माता और स्वयं को पुत्र मानकर किया जबकि वात्सल्य-भक्ति रस में भगवान् ही वात्सल्य का आलंबन हो सकता है यथा—

(क) हरि जननी मैं बालक तेरा। (कबीर)
(ख) रामराय हूँ मैं बालक तेरा। (हरिदेवदास)

सन्तों की वाणी में मधुरा-भक्ति का स्थान सबसे ऊँचा है। परवर्ती सन्तों ने कृष्णकथा के माध्यम से उसे कुछ और स्पष्ट करने का निश्चय किया है। वहाँ बसंत ऋतु में फाग व पावस में हिंडोल और शरद ऋतु में रास का वर्णन तो है, किन्तु शृंगारी कवियों की भाँति संभोग के माँसल चित्र नहीं हैं। सन्तों ने राधाकृष्ण के सौन्दर्य और प्रकृति के रम्य रूप का उद्दीपनपरक वर्णन किया है, पर उसके साथ नायक-नायिका की काम चेष्टाओं का पारे की तरह चढ़ना-उतरना नहीं दिखाया है। वियोग-वर्णन में भी सन्तों की काव्य-प्रतिभा राधा-माधव के अन्तःकरण को टटोलकर सामने लाती है, वेदना की नाप-जोख नहीं करती। सच तो यह है कि गोपियों की विरह वेदना में सन्तों की अपनी विरहानुभूति भी जुड़ गयी है, जिसके नाते उसके वर्णन में अपेक्षाकृत अधिक आत्मीयता आ गयी है। माधुर्य भाव की अभिव्यक्तियों में सन्तों द्वारा अपने आलम्बन के लिए 'जग को दीपक', 'निगम नेति करि गाई', 'गरीब नेवाज' जैसे शब्द-विधान करना हमें उसकी अलौकिकता का स्मरण कराता है। सन्तों का अपने आराध्य के प्रति यह पूज्यभाव मिश्रित प्रेम सच्चे अर्थों में मधुरा-भक्ति रस की प्रतीति कराने में समर्थ है।

हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स रस मुख्य भक्ति रस के अन्तर्गत व्यभिचारी रूप में गृहीत होने के कारण गौण भक्ति रस माने जाते हैं। सन्तकाव्य में अद्भुत, वीर, भयानक और वीभत्स ही स्थान पा सके हैं। उन के कृष्ण काव्य में भी इनके उदाहरण देखे जा सकते हैं।

भक्तिकाव्य के अन्य अंगों की भाँति ही सन्तों के कृष्णकाव्य के रसास्वादन का प्रश्न जटिल है। भक्ति और कविता की मध्यवर्ती भावभूमि की विधिवत् छानबीन किये बिना इस समस्या को सुलझा सकना सम्भव नहीं है। यह कहना तो सरल है कि श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति ही भगवद्विषयक होकर भक्ति रस का स्थायी भाव बन जाता है, पर सामान्य व्यक्ति यह कैसे समझे कि कविता में लौकिक रति किस बिन्दु पर पहुँच कर आध्यात्मिक हो जाती है। इस तथ्य–सत्य का साक्षात्कार अध्यात्म के उच्च धरातल पर पहुँच कर ही किया जा सकता है, क्योंकि भक्तिरस में भक्त का अपना भाव ही आस्वादगोचर होकर रसरूपता ग्रहण करता है। उसकी उत्पत्ति काव्यरस की भाँति अनुकार्य और नट में नहीं होती है। राधा-माधव की केलियाँ भक्तिरस की अनुभूति कराने की दृष्टि से स्वयं में पूर्ण नहीं होतीं, जब कि नाटक में विभाव के रूप में पात्रों के कार्य-व्यापार सामाजिक में प्रकृत-रस की सृष्टि करते हैं। तात्पर्य यह कि भक्ति रस की निष्पत्ति काव्य रस से भिन्न प्रक्रिया द्वारा होती है। अतः सामान्य व्यक्ति जब सन्तों के कृष्ण-काव्य का भावन करने बैठता है तब उसे कठिन स्थिति से गुजरना पड़ता है। फिर भी जो कठिनाई अन्य कृष्णभक्तों की कविता के साथ अनुभव में आती है वह सन्तों के कृष्णकाव्य के साथ नहीं है। वह एक ओर अपने पाठकों में लोकराग को जगाता है और दूसरी ओर निकृष्ट सांसारिकता के भोग-रोग से छुड़ाने का प्रयत्न भी करता है। वह वासनाओं को स्व भोग से हटाकर भगवदर्पित करने का संस्कार देता है। अपनी निश्चित पहचान रखने के कारण पाठकों को कहीं कसकर पकड़ता भी है।

—राधिका प्रसाद त्रिपाठी

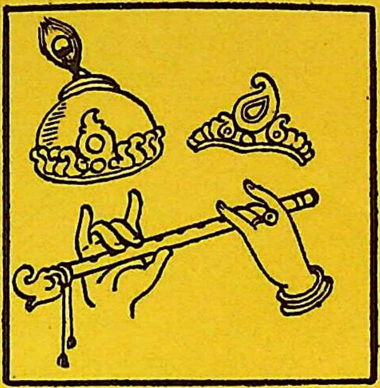

हिन्दी के राधाकृष्ण भक्त

हिन्दी के राधाकृष्ण-भक्त

अक्षर अनन्य

श्री अक्षर अनन्य दतिया (बुन्देलखण्ड) राज्य के अन्तर्गत 'सेहुँड़ा' नामक ग्राम के निवासी एक सन्त-कवि थे। ये जाति के कायस्थ और महाराजा छत्रसाल के समकालीन थे। महाराजा छत्रसाल का जन्म विक्रम संवत् १७०५ में हुआ था। अतः अक्षर अनन्य का भी आविर्भाव इसके आसपास ही अनुमानित किया जा सकता है। इनका कविता-काल विक्रम संवत् १७३० के लगभग रहा होगा। ये दतिया के राजा दलपतिराय के पुत्र और सेहुँड़ा के जागीरदार पृथ्वीचन्द (सिंह) के गुरु थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके सम्बन्ध में लिखा है कि यह दतिया के राजा पृथ्वीचन्द के दीवान थे और विरक्त हो जाने पर पन्ना में रहने लगे थे, जहाँ महाराजा छत्रसाल इनके शिष्य हो गये थे। शुक्लजी ने इनकी जन्मभूमि का नाम 'सेनुहरा' लिखा है। 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास' (भाग ७) के पृष्ठ ४८४ पर एक अन्य अक्षर अनन्य का भी उल्लेख है, जिनके सम्बन्ध में लिखा है कि इनका जन्म दतिया राज्य के 'सहेरे' नामक ग्राम में विक्रम संवत् १७१० के लगभग हुआ था और इन्होंने वेदान्त पर अनेक ग्रन्थों की रचना की थी तथा 'निर्धार-शतक' नामक एक नीति-ग्रन्थ लिखा था, जिसके प्रत्येक दोहे का अन्तिम चरण 'कहि अनन्य निर्धार' है। ऐसा प्रतीत होता है कि उच्चारण-भेद से 'सेहुँड़ा' ग्राम को ही 'सेनुहरा' अथवा 'सहेरे' नामक अलग-अलग ग्राम मानकर कई अक्षर अनन्य कवियों की कल्पना कर ली गयी है। यद्यपि इन सबका सम्बन्ध सन्त-कवि अक्षर अनन्य से ही है। परिणामस्वरूप 'निर्धार-शतक' भी इन्हीं की रचना होगी। श्री गौरीशंकर द्विवेदी ने 'बुन्देल-वैभव' नामक अपने संग्रह-ग्रन्थ में अनन्य कवि का उल्लेख करते हुए इनका जन्म 'सेहुँड़ा' में वि० सं० १७१४ में होना निश्चित किया है। उन्होंने इनकी कविता के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें अनन्य और अक्षर अनन्य दोनों ही उपनाम आये हैं, जिससे यह निश्चित प्रतीत होता है कि अनन्य और अक्षर अनन्य एक ही कवि थे, जिनका जन्म 'सेहुँड़ा' में अनुमानतः वि० सं० १७०५ से १७१५ के मध्य हुआ होगा।

आचार्य शुक्लजी ने लिखा है कि इन्होंने वेदान्त पर 'राजयोग', 'विज्ञानयोग', 'ध्यानयोग', 'सिद्धान्तबोध', 'विवेक-दीपिका', 'ब्रह्मज्ञान', 'अनन्य-प्रकाश' आदि ग्रन्थ लिखे थे और 'दुर्गासप्तशती' का भी हिन्दी पद्य में अनुवाद किया था। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में इनके १४ ग्रन्थों का पता चलता है।

प्रस्तुत लेखक को अक्षर अनन्यजी का 'प्रेमदीपिका' नामक एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, जिसमें २२२ छन्द हैं। ग्रन्थ अपूर्ण है और उसमें कहीं भी रचना-काल अंकित नहीं है। प्रथम ११० छन्दों में उद्धव की व्रजयात्रा और उद्धव-गोपी-संवाद का वर्णन है। इसके उपरान्त उद्धव और बलरामजी की वार्ता और फिर स्वयं बलरामजी के व्रज-गमन की कथा है, जहाँ उनकी उपस्थिति से नन्द-यशोदा तथा सभी गोपी-ग्वाल आनन्दित होते हैं। अन्त में सूर्यग्रहण के अवसर पर श्रीकृष्ण सपरिवार कुरुक्षेत्र जाते हैं, जहाँ संयोगवश नन्दादिक व्रजवासी भी एकत्र होते हैं। प्रेम-मिलन के उस सुखद वातावरण में हास-परिहास और व्यंग्य-विनोद की रसधारा बह चलती है, जो कवि के शब्दों में उतरकर श्रोताओं को रसमग्न कर देती है।

'प्रेमदीपिका' अत्यन्त सरस और मधुर व्रजभाषा में लिखी गयी है। इसमें दोहा, सोरठा, छप्पय, सवैया आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है, जिससे कविता की स्रोतस्विनी विविध विश्रामस्थलों से होती हुई कभी लघु और कभी दीर्घ आकार ग्रहण करके प्रेमानुभूति के रससिन्धु की ओर अबाध गति से अग्रसर होती

जाती है। वर्णन का प्रारम्भ उद्धव और श्रीकृष्ण-संवाद के इस प्रसंग से होता है—

माधौ जू इक दिन कह्यो मधुकर सौं सतिभाउ।
गोपी गोप प्रबोध कौं तुम ब्रजमण्डल जाउ॥
तुम ब्रजमण्डल जाउ प्रेम अति ही उन कीनौं।
जब तैं भयौ बिछोह सोधु हम कबहुँ न लीनौं॥
तुम मम तनु दरसाइ हरौ दुखसिन्धु अगाधौ।
कहियौ सबसौं इहै दूरि तुम तैं नहिं माधौ॥
हरि प्रीतम अति आतुरे तुरत चले रथु जोत।
नन्द गाँव के गँवड़े पहुँचे सन्ध्या होत॥

इसके उपरान्त उद्धव-गोपी-संवाद में भी कवि-परम्परागत उसी प्रणाली का अनुसरण है, जिसमें उद्धव सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त निराकार ब्रह्म की अनुभूति के लिए ज्ञान-मार्ग का साधन ग्रहण करने के लिए उपदेश देते हैं। प्रेमोपासिका गोपियाँ श्रीकृष्ण की रूपासक्ति के कारण विरह-विभोर थीं। वे अपनी तन्मयता और आत्म-समर्पण का ऐसा परिचय देती हैं, जो उद्धव को निरुत्तर और आश्चर्यचकित कर देता है और वे स्वयं इस प्रेमाभक्ति के रसार्णव में मग्न हो जाते हैं। अक्षर अनन्य की वाणी में उद्धव निराकार ब्रह्म का निरूपण इस प्रकार करते हैं—

को काकौ माता पिता को काकौ सुत होइ।
आतम एक अनेक घट ज्यों घट-घट ससि जोइ॥
ज्यों घट-घट ससि जोइ ब्रह्म पूरन इमि जानौं।
सब तन आतम भाउ नहीं ममता भ्रम मानौं॥
रोइ गाइ कह लेहु वृथा मद मोह न छाकौ।
ज्ञान मोद महँ रहौ कहौ जग में को काकौ॥

और फिर श्रीकृष्ण का सन्देश कहते हैं—

हमैं तुम्हैं प्रिय भेदु नहिं देखहु चित्त विचारि।
हम तुम माँ ऐसे रमे ज्यों सब माँहि बयारि॥
तुम सब हौ हमरी कला देखहु आपुहि आपु।
आतम ज्ञान बिचारि कै तजहु बिरह सन्तापु॥
विरह विषै मेरे विषै तुम जनि जानहु बाम।
देखहु जोग समाधि धरि मैं निजु रमिताराम॥
जौ तुम मो चाहति सदा भावत नैकु न दूरि।
तौ देखहु उर कमल महँ जोग ध्यान भरिपूरि॥

गोपियाँ इस प्रकार का सन्देश सुनने के लिए प्रस्तुत नहीं थीं। वे श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में थीं। इसलिए इस ज्ञान-दर्शन से उनका आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने कहा—

ऐसौ तौ संदेसौ ऊधौ केसौ जू भले ही कह्यौ,
दूरि बसे ताही तैं न मोह मत नाधे हैं।
ब्यापक तो हैं ही ताके कहे कौ निहारौ कहा,
स्वर्ग अरु नर्क वैतौ सब ही मैं साधे हैं॥
अच्छर हमारे अच्छ स्वच्छ छबि ही सौं छके,
इह तन और प्रेम डोरि दृढ़ बाँधे हैं।
कीजै कहा कर्म कौ कढ़त नाहीं पापी प्रान,
ब्याकुल हैं पंछी जैसैं पंजर मैं धाधे हैं॥

उद्धवजी ने अपने पक्ष के समर्थन में अनेक तर्क उपस्थित किए, लेकिन उन्हें यही उत्तर मिला—

काहे पर ऊधौ जू वृथा ही बकवाद करौ,
ऐसौ कहा देख्यौ तुम निर्गुन कै रंग तैं।
खोजत हौ जोग जगदीस कै समीप बसि,
खोदत हौ कूप कूल पावनन गंग तैं॥
कैधौं कहि अच्छर बिचारि चले हम ही कौं,
काहे कौं बकावत उठाइ आगि अंग तैं।
विरह की पीर तुम्हैं व्यापी न सरीर माँह,
बिछुरे न वीर जदुवीर जू के संग तैं॥

और अंत में उन कृष्णमयी गोपिकाओं ने अपना दृढ़ निश्चय इन शब्दों में स्पष्ट कर दिया—

कहा जानै ऊधौ हम जोग वै प्रयोगनि मैं,
गूजरी गँवारि पसु लोगनि की भामिनी।
लगनि हमारी तौ लगी है मनमोहन सौं,
जैसे रवि जानै न कमल फूलै जामिनी॥
तुम तौ कहत विषै छाँड़ौ कैसे छाँड़ै हम,
याही तैं कहाइ हरिप्रिया जग नामिनी।
तुम ही मैं कान्ह हमैं एतिक न ज्ञान ऊधौ,
सुनौ लोक बेदहु हमारौ नाम कामिनी॥

उद्धव का गोपियों की इस प्रेमलक्षणा भक्ति से प्रभावित होना स्वाभाविक था। वे गोपियों के इस प्रेमार्णव में निमग्न हो गए और बोले—

बोले तब ऊधौ धनि धनि बड़भागिनी हौ,
तुम्हरे संभाष तैं हौं तत्त्व मत पावहूँ।
दरसन रावरे के परम सनाथ भयौ,
जानि गुरमातु हौं चरनि सिरु नावहूँ॥
मैं तौ पतिहा हौं तातैं छमियौ बचन चूक,
देहु अब आइसु तौ हरि पै सिधावहूँ।
उनकौं सँदेसौ तैसौ बिनयौ तुम्हारैं आगे,
तुम जैसो कहौ तैसो उनकौं सुनावहूँ॥

उद्धवजी की इस दशा का वर्णन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार अंकित है—

वन्दे नन्द व्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

गोपियों द्वारा जो संदेश श्रीकृष्ण के पास भेजा गया वह अत्यन्त मार्मिक है—

ऊधौ जू तुम्हारी सीख सोस मानि लीन्ही हम,
कीन्ही तुम दरस दै परम सनाथ जू।
दसा है हमारी सो सुनाइयौ बिहारी जू कौं,
मनि बिना फनि त्यौं धुनति गोपी माथ जू॥
घर ही, बिपिन माँह बिरह बिहाल फिरैं,
गाइ गाइ जीयती तुम्हारे गुन गाथ जू।
हमरी कथा तैं ऐसौ कहियौ सँदेसौ जाइ,
जारे पर नौनु कहा मीडतु हौ नाथ जू॥

उद्धव-गोपी-संवाद के इस प्रसंग के उपरान्त कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर गोपी-कृष्ण-मिलन का वर्णन है—

देखि व्रज ग्वाल कौं गुपाल जू पुलकि गात,
आतुर ह्वै धाऐ भाऐ प्रीतम हितै रहे।
बाँहीन मैं बाँह हियौ हिलकि हिलकि मिले,
पिले अति प्रेम नैन नीर निरितै रहे॥
सरसि कै आनँद परसपर पाइँ छुए,
दरस प्रमोद अँग दुबिधा बितै रहे।
अच्छर-अनन्य ऐसी प्रीति हरि प्रीतम पै,
कौतुक तकित सक्र चक्रित चितै रहे॥

इस महामिलन की आनन्दमयी अवस्था में व्रज के समस्त गोपी-ग्वाल श्रीकृष्ण के परमदैवत स्वरूप में लीन हो जाते हैं जो उनकी प्रेमाभक्ति का चरम लक्ष्य है। इस प्रकार यह प्रेमदीपिका ग्रंथ गोपियों के विशुद्ध प्रेमतत्त्व का सागर है जिसका रसामृत अक्षर अनन्यजी की मधुर वाणी से प्रवाहित होकर सहृदय पाठकों को विभोर कर देता है। उनके अक्षर-अक्षर और उनकी प्रेमानुभूति अनन्य है।

अक्षर अनन्य परम त्यागी संत थे। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार महाराजा छत्रसाल से अप्रसन्न होकर ये वन में निवास करने लगे। महाराज ने इनसे आने के लिए अनुरोध करते हुए पत्र भेजा। अनन्यजी जैसे संसार से विरक्त महापुरुष की दृष्टि में राजवैभव सारहीन था। इन्होंने महाराज को लिख भेजा—

धाम की टेक तुम्हारै बँधी नृप,
दूसरी बात कहे दुख पावत।
टेक न राखत हैं हम काऊ की,
जैसौ कौं तैसौ प्रमान बतावत॥
मानहि कोऊ भलो कै बुरौ,
नहीं आसरौ काहू कौ चित्त में लावत।
टेक बिवेक सौं बीचु बड़ौ,
हमकौं किहि कारज राज बुलावत॥

महाराज क्षमा-याचना करने के लिए स्वयं इनके निकट गए। उस समय अक्षर अनन्यजी एक झाड़ी में पैर फैलाए हुए लेटे थे। महाराज ने पूछा—'पाँव पसारा कब से?' अनन्यजी ने तुरन्त उत्तर दिया—'हाथ समेटा जब से।' इस संक्षिप्त प्रश्नोत्तर में मुहाविरों के प्रयोग से घटना के सम्पूर्ण विवरण का समावेश हो गया है।

ज० श० सिं०

अखण्डानन्द सरस्वती

स्वामी अखण्डानन्दजी का जन्म वाराणसी-मण्डल के महाइच परगने में गङ्गा के तट पर स्थित महराई नामक ग्राम में सरयूपारीण द्विवेदी ब्राह्मण-वंश में शुक्रवार २५ जुलाई १९११ ई० को हुआ था। इनके पिता-पितामह सनातनधर्मावलम्बी और विद्वान् थे। स्वामीजी के पितामह ने व्रज में जाकर शान्तनुविहारीजी की पूजा की थी और पौत्र की याचना की थी। प्रार्थना के ठीक नौ मास के बाद स्वामीजी का जन्म हुआ था, इसलिए इनका नाम शान्तनुविहारी पड़ा।

सात वर्ष की अवस्था में इनके पिता का देहान्त हो गया। इसलिए इनके पालन-पोषण का भार पितामह और माता पर पड़ा। इन्होंने अपने पितामह से आठ-नौ वर्ष की अवस्था तक सत्यनरायण-व्रत-कथा, दुर्गापाठ, मुहूर्तचिन्तामणि आदि का अध्ययन किया और इसके बाद एक वर्ष तक लघुकौमुदी, रघुवंश, तर्कसंग्रह आदि का स्वाध्याय किया। दश वर्ष की अवस्था में पितामह ने उच्चासन पर बैठाकर इनका तिलक किया, माला पहनायी तथा श्रीमद्भागवत का पाठ कराया।

वाराणसी में अध्ययन करते समय स्वामीजी अनेक विद्वानों के सम्पर्क में आए, जिनमें पं० रामभवन उपाध्याय, पं० काशीनाथ वेदान्ती, पं० रामपरीक्षण शास्त्री, स्वामी मनीषानन्द आदि प्रमुख थे। काशी में रहते हुए इन्होंने पं० भूपनारायण मिश्र से भागवत का श्रवण किया। वाराणसी में ये छः वर्ष तक रहे। उसके बाद पितामह का देहान्त हो गया। अतः गाँव जाकर गृहस्थी का कार्य करने लगे।

स्वामीजी के पितामह ज्योतिषी थे। उनका सम्पर्क ज्योतिषियों से था। उन्होंने स्वामीजी की कुण्डली उनको भी दिखायी। कुण्डली में मारकेश शनैश्चर का दशाभोग था। इस अनिष्टयोग के कारण बालक का बचना कठिन है, ऐसा ज्योतिषियों का मत था। इससे स्वामीजी के मन में मृत्यु का भय व्याप्त हो गया था। ये अयोध्या, ऋषिकेश, चित्रकूट आदि स्थानों में जाते और महात्माओं से मृत्यु-योग से त्राण का उपाय पूछते। स्वामीजी के पितामह के मन में वंश-परम्परा की रक्षा की चिन्ता थी, अतः उन्होंने १२ वर्ष की अवस्था में ही इनका विवाह कर दिया। उन्नीस वर्ष की अवस्था में शान्तनुविहारी की पहली सन्तान का जन्म हो गया था।

इनके गाँव से चार-पाँच मील दूर गङ्गा के तट पर परमहंस रामकृष्ण के प्रशिष्य स्वामी योगानन्द निवास करते थे। स्वामीजी ने उनसे दीक्षा देने के लिए प्रार्थना की। स्वामी योगानन्द ने इन्हें वेदान्त के श्रवण-मनन की प्रेरणा दी। इस पर स्वामी अखण्डानन्द ने गोस्वामीजी की यह चौपाई सुनायी—

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा।
तब सुनिहउँ निरगुन उपदेसा॥

इससे स्वामी योगानन्द अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने इनसे गायत्री का चौबीस लाख का पुरश्चरण करवाया, तदनन्तर इन्हें श्रीकृष्ण-मन्त्र की दीक्षा दी। इसके बाद स्वामी अखण्डानन्द के जीवन में महान् परिवर्तन हुआ।

स्वामीजी का मन धीरे-धीरे अध्यात्म-मार्ग में अग्रसर होने लगा और सन्तों की सङ्गति में इन्हें आनन्द मिलने लगा। इसी बीच ये मोकलपुर तथा मधईपुर के बाबा के सम्पर्क में आए। चित्रकूट जाते समय झूसी के सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारी से इनकी भेंट हुई और उनके अनुरोध पर ये झूसी आश्रम में भागवत और विष्णुपुराण का प्रवचन करने लगे। इन्होंने हरिबाबाजी का भी दर्शन किया। गोरखपुर के एक वर्ष तक चलनेवाले अखण्ड संकीर्तन में इन्हें भागवत पर प्रवचन करने का अवसर मिला। ये कल्याण के सम्पादक-मण्डल में भी सात वर्ष तक रहे। वहाँ श्री हनुमान्प्रसाद पोद्दार के सम्पर्क में आए। गोरखपुर में रहकर इन्होंने भागवत आदि ग्रंथों का अनुवाद किया। वहाँ ये श्री जयदयाल गोयन्दका, श्री हनुमान्प्रसाद पोद्दार तथा श्री चिम्मनलाल गोस्वामी से अत्यधिक प्रभावित हुए। ये इन सज्जनों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। इनके आध्यात्मिक-स्वरूप-विकास तथा व्यक्तित्व के निर्माण में 'कल्याण परिवार', विशेष रूप से उसके संपादक पोद्दारजी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

इन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द से १९४१ ई० में माघ शुक्लपक्ष की एकादशी को संन्यास ग्रहण किया था। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ज्योतिष्पीठ के शङ्कराचार्य के पद पर विराजमान थे। उन्हींसे स्वामी करपात्रीजी ने भी संन्यास लिया था। संन्यास ग्रहण करने पर इनका अभिधान शान्तनुविहारी द्विवेदी के स्थान पर स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती हो गया। दण्ड-ग्रहण करने के बाद स्वामी अखण्डानन्द मध्यप्रदेश के जंगलों में चले गये। परन्तु गुरुदेव ज्योतिष्पीठाधीश्वर शकराचार्य श्री ब्रह्मानन्द स्वामी ने इन्हें वापस बुला लिया और कहा कि मेरे पास रहो। उन्होंने एकान्त में इनसे यह भी कहा कि इस पीठ के शंकराचार्य का पद तुम्हें स्वीकार करना पड़ेगा, किन्तु ये इस दायित्व को स्वीकार करना नहीं चाहते थे। उससे बचने के लिए इन्होंने दण्ड-त्याग करने का निश्चय किया और व्रजभूमि में जाकर यमुना के जल में खड़े होकर दण्ड का त्याग कर दिया।

स्वामी अखण्डानन्द ने अनेक सन्तों के दर्शन तथा सत्सङ्ग का लाभ प्राप्त किया था। इन्होंने पहला चातुर्मास्य कर्णवास-क्षेत्र में किया। वहाँ इन्हें उड़िया बाबा का सान्निध्य प्राप्त हुआ और उनके आदेश पर कुछ दिनों तक माण्डूक्य-कारिका पर प्रवचन का क्रम चलाया। नरवर के ब्रह्मचारी पं० जीवनदत्त, म० म० पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, ब्यावर के पं० रामप्रताप शास्त्री, कविरत्न पं० अखिलानन्द आदि स्वामीजी के प्रवचन को सुनकर इनकी विद्वत्ता पर विस्मय-विमुग्ध हो गये।

स्वामीजी ने अनेक तीर्थों की पैदल यात्रा की थी। इन्होंने अनूपशहर से वृन्दावन, वृन्दावन से ग्वालियर, कर्णवास से ऋषिकेश, ऋषिकेश से वृन्दावन तथा वृन्दावन से प्रयागराज की पैदल यात्रा की।

स्वामीजी का जीवन भागवतमय था। श्रीमद्भागवत की मधुर कथा से ये श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देते थे। इनकी कथा से रस की वर्षा होती थी, एक अपूर्व आनन्द और उल्लास का वातावरण छा जाता था। देश के प्रसिद्ध विद्वानों और महात्माओं ने इनकी भागवत-कथा का आस्वादन कर तृप्ति-लाभ किया था। दण्ड-ग्रहण से बहुत पूर्व इन्होंने कनखल में महात्मा शंकरानन्द को भागवत के सप्तम तथा एकादश स्कन्धों और रासपञ्चाध्यायी का श्रवण कराया था। महात्माजी ने स्वामीजी से एकान्त में कहा था—'तुम साक्षात् ब्रह्म हो, कल्याणस्वरूप हो।' पं० मदनमोहन मालवीयजी ने गोरखपुर में स्वामीजी का भागवत पर प्रवचन सुना था। उस समय उन्होंने इनसे कहा था कि 'कभी काशी आकर भागवत की कथा सुनाना।' संन्यास-ग्रहण करने के तीन दिन पहले स्वामीजी काशी आए और मालवीयजी को 'ऊखलबन्धन-लीला' की कथा सुनायी। श्री करपात्रीजी ने स्वामीजी से ऋषिकेश की कोलघाटी में ऊखलबन्धन की कथा और वृन्दावन में श्री राधाकृष्ण धानुका के घर पर गोपी-गीत पर प्रवचन सुना। श्री हनुमान्प्रसाद पोद्दार तथा श्री चिम्मनलाल गोस्वामी ने स्वामीजी से भागवत-सप्ताह का श्रवण किया था। श्री उड़िया बाबा के आश्रम में प्रतिदिन भागवत की कथा होती थी। एक बार श्री हरिबाबा ने एक वर्ष का अनुष्ठान करके इनसे श्रीधरीसहित सम्पूर्ण भागवत का श्रवण किया था। काशी में आनन्दमयी माँ के आश्रम पर इनकी भागवत-कथा हुई, जिसमें माँ के अतिरिक्त म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, पं० मथुराप्रसाद दीक्षित, पं० जीवनशंकर याज्ञिक, डॉ० पन्नालाल आदि महानुभाव नियमित रूप से उपस्थित होकर कथा सुनते थे। बम्बई के स्वामी कृष्णानन्द ने इनसे भागवत का श्रवण किया था। जबलपुर में भी स्वामीजी की कथा हुई थी। ये चार-चार घण्टे तक कथा सुनाते थे और श्रोता आनन्द-निमग्न रहते थे। श्री प्रेमपुरीजी की उपस्थिति में बम्बई में स्वामीजी के कई दिनों तक प्रवचन हुए थे।

इन्होंने अनेक सन्तों का दर्शन और उनके सत्सङ्ग से आनन्द-लाभ किया था। इनके आध्यात्मिक निर्माण में उड़िया बाबा का सर्वाधिक योगदान था। इन्होंने स्वामी श्री मंगलनाथ का दर्शन उस समय किया था, जब वे अत्यन्त वृद्ध और शय्याग्रस्त हो चुके थे। इन्होंने उत्तरकाशी के महात्मा ब्रह्मप्रकाश का दर्शन किया था और उत्तरकाशी के सन्त देवगिरिजी

तथा तपोवनस्वामी के भी दर्शन-सत्संङ्ग का लाभ उठाया था। उत्तरापथ की यात्रा में इन्हें स्वामी कृष्णाश्रमजी का साक्षात्कार-लाभ हुआ था। एक बार द्वारकापीठाधीश्वर स्वामी अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी के साथ इन्होंने बदरीनाथ से ऋषिकेश तक यात्रा की थी और उनके सत्सङ्ग का आनन्द प्राप्त किया था। इन्होंने दक्षिणापथ की यात्रा में रमणमहर्षि का दर्शन, विष्णुकाञ्ची में काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर श्री शङ्कराचार्यजी के सत्सङ्ग का सुयोग प्राप्त किया था। वृन्दावन में भक्त कोकिलसाईंजी का सत्संग प्राप्त हुआ था।

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती उत्कृष्ट कोटि के लेखक थे। इनका आध्यात्मिक साहित्य विपुल और समृद्ध है। इनमें लेखन की प्रवृत्ति बाल्यावस्था से ही थी। इनका पहला लेख काशी के साप्ताहिक 'सूर्य' में प्रकाशित हुआ था। उस समय इनकी अवस्था १२ वर्ष की थी। इनका दूसरा लेख काशी की ही एक अन्य पत्रिका 'आर्यमहिला' में निकला था। इनके अतिरिक्त 'श्रेय', 'परमार्थ', 'सङ्कीर्तन' आदि पत्रिकाओं में भी इनके अनेक लेख प्रकाशित हुए थे।

स्वामीजी ने प्रचुर मात्रा में आध्यात्मिक साहित्य की रचना की। 'माण्डूक्य-प्रवचन', 'श्रीमद्भागवत-रहस्य', 'ईशावास्य-प्रवचनय, 'अपरोक्षानुभूति', 'साधना और ब्रह्मानुभूति', 'नारदभक्तिदर्शन', 'कपिलोपदेश', 'मानव-जीवन और भागवत-धर्म' 'व्यवहार और परमार्थ', 'भक्ति-रसायन', 'भागवत-दर्शन', 'गीता-दर्शन', 'भक्तिदर्शनामृत', 'श्रीभक्तकोकिल', 'आनन्दोल्लास', 'अष्टावक्रगीता', 'कठोपनिषद्' (भाष्य), 'सत्य की खोज में', 'व्यवहार-शुद्धि', 'भारतीय संस्कृति', 'श्रीमद्वाल्मीकिरामायणामृत', 'भागवतामृत', 'भागवत-सर्वस्व', 'भागवत-व्यञ्जन', 'भक्ति-सर्वस्व', 'प्रार्थनाषट्पदी-प्रवचन', 'निगमचिन्तन', 'रासरस', 'गोपीगीत', 'आत्मबोध', 'चारुचिन्तन' आदि इनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। 'चिन्तामणि' और 'आनन्दबोध' में इनके लेख प्रकाशित होते रहते थे।

स्वामीजी आधुनिक युग की एक महान् विभूति थे। इन्होंने अपने व्याख्यानों और उपदेशों से उपनिषदों, पुराणों तथा भक्ति-साहित्य की व्याख्या द्वारा अध्यात्मतत्त्व के विविध पक्षों के स्वरूप का उन्मीलन किया था। इनका जीवन अत्यन्त सरल तथा भक्तिभावानुप्राणित था, जिससे ये सभी को आकृष्ट कर लेते थे। अपनी शाश्वत साधना, स्वाध्याय और साहित्य से इन्होंने श्रीकृष्ण-भक्ति तथा भागवत-तत्त्व के लोकव्यापी प्रचार-प्रसार में जो सेवाएँ की हैं वे चिरकाल तक स्मरणीय रहेंगी। स्वामीजी अपने वृन्दावन-धाम स्थित आश्रम में पार्थिव शरीर त्याग कर १८ नवम्बर १९८७ को ब्रह्मलीन हो गये।

स्वामीजी की कृतियों से नीचे दो उद्धरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। प्रथम में भावमयी भक्ति का स्वरूप और द्वितीय में भागवत के गोपीगीत प्रसंग का रहस्य उद्घाटित किया गया है—

(१)

“सच्ची पूजा तो यही है कि हमारे हृदय में भगवान् के सद्भाव की, चिद्भाव को, आनन्दभाव की, अद्वितीय भाव की दृढ़ स्थापना हो जाय। यही भगवान् की भक्ति है। भक्ति तो भावमयी है, भावरूपा है। इसीलिए भक्ति को हमने अपने जीवन में उतारा। इसी भक्ति का प्रताप है कि हमारी यशोदा मैया, हमारे नन्दबाबा भगवान् को अपने बेटे के रूप में देखते हैं। भक्तिशास्त्र का सिद्धान्त यह नहीं है कि जो भगवान् पेट में से ही पैदा हों, वे ही अपने बेटे हों। यह तो दुनियादारी की बात है। भगवान् उसीके पुत्र हो जाते हैं, जो उनको अपने भाव से पुत्र मानता है। भागवत में देवकी-वसुदेव और नन्द-यशोदा का चरित्र देखिए। देवकी यह समझती थीं कि उनके पेट से भगवान् प्रकट हुए हैं। वैसे वे प्रकट तो हुए चतुर्भुज रूप से, परन्तु उनका भाव यही था कि भगवान् हमारे पेट में से पैदा हुए हैं। किन्तु यशोदा मैया पेट से पैदा न होने पर भी उनको अपना पुत्र मानती थीं। भाव की दृष्टि से यशोदा-नन्द का प्रेम देवकी-वसुदेव के प्रेम की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया, क्योंकि भगवान् के साथ शारीरिक सम्बन्ध नहीं, भावमय सम्बन्ध होता है। इसीलिए दुनियाँ का कोई भी व्यक्ति भगवान् को पुत्ररूप में मान सकता है।”—भक्तिदर्शनामृत, पृ० ९७-९८

(२)

"यह गोपी-गीत चित्रकाव्य है। इसको ऐसे ढंग से लिखा जाता है कि इससे चित्र बन जाता है, तस्वीर बन जाती है, क्योंकि इसमें अक्षरों के वैसे ही नियम हैं। प्रायः सातवाँ अक्षर वही होता है, जो पहला होता है और दूसरे अक्षर भी अधिकांश मिलते हैं। छन्द की दृष्टि से इसका नाम है—'कनकमञ्जरी'। आप भी इस गोपी-गीत का थोड़ा-सा रसास्वादन कीजिए—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः,
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावका-
स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥

—श्रीमद्भागवत १०.३१.१

गोपियाँ कहती हैं कि 'प्यारे श्रीकृष्ण, तुम्हारे प्रकट होने से व्रज की महिमा बढ़ी है। तुमने अनेक-अनेक भयों से हमारी रक्षा की है। लेकिन आज तुम हमें अपनी आँखों से मार रहे हो—क्या यह हमारा वध नहीं है? एक बार हमें दीख जाओ, जिससे कि हम मरने के पहले तुम्हारा दर्शन कर लें। तुम केवल गोपी-वल्लभ नहीं हो, साक्षात् अन्तर्यामी परमात्मा हो। तुम हमें अपने मुखारविन्द का दर्शन कराओ, अपने चरणारविन्द से हमारा स्पर्श करो। हमारे सिर पर अपना हाथ रख दो। हमें अपने अधरामृत का पान कराओ। हम तुम्हारी ही कथा सुन-सुनकर जीवित रही हैं। अब तुम्हारे बिना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकतीं।'

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं
विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः
कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥

—श्रीमद्भागवत १०.३१.१०

'प्यारे, तुम्हारी वह प्रेमभरी चितवन, तुम्हारा वह उन्मुक्त हास्य, तुम्हारी वह मीठी-मीठी वाणी हमारे हृदयों को मुग्ध कर रही है। हमें दुःख तो इस बात का है कि तुम अँधेरे में छिप रहे हो, तुम्हें कहीं कोई काँटा न लग जाय, कुश न गड़ जाय और तुम्हें कहीं कोई पीड़ा न पहुँच जाय, इस दुःख से हमारे हृदय फटे जा रहे हैं। तुम्हीं हमारे जीवन हो, तुम्हीं हमारे प्राण हो, तुम्हीं हमारे सर्वस्व हो।

इस प्रकार विलाप करती हुई गोपियाँ जब फूट-फूटकर रोने लगीं, तब श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। वे न तो पेड़ पर से उतरे, न पहाड़ पर से आये, न यमुना में से निकले, क्योंकि वे तो गोपियों के बीच में ही थे।'

—भागवतामृत, पृ० २९९-३००

अ० पा०

अखैराम

भरतपुर-नरेश महाराजा बदनसिंह तथा महाराजा सूरजमल के आश्रित भक्त कवि अखैराम के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में इतिहास-ग्रंथों में बहुत कम ही लिखा मिलता है। अखैराम का जन्म एक गर्ग-गोत्रीय ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज अपने नाम के साथ 'मिश्र' लिखते थे। ये शेथरी ग्राम में निवास करते थे।

इन्होंने अपने 'लघुजातक' ग्रंथ में लिखा है—
'बदनसिंह ताकै भयो नगर कुम्हेर स्थान।'

कुम्हेर के पश्चात् बदनसिंह ने डीग को बसाया। सं० १७७९ में बदनसिंह डीग के सिंहासन पर आरूढ़ हुए। डीग में आने के समय कवि की प्रसिद्धि हो गयी होगी। अखैराम-कृत 'आयुधपूजा' में लिखा है, 'इति विजयदशम्यां शस्त्रादि पूजा समाप्त॥ सं० १७९२ शाके १६५७ प्रवर्तिमाने महामांगल्यप्रद मासानां मासोत्तमे चैत्रे मासे शुक्ल पक्षे तिथौ भृगुवासरे लिखितं अखैरामेण। श्री शुभमस्तु लेषक पाठकयो ॥ श्री ॥' इस पुष्पिका से स्पष्ट है कि कवि ने सं० १७९२ में इस ग्रंथ की रचना की। सं० १८६६ में अखैराम के पुत्र सेवाराम के शिष्य ने एक पत्र लिखा. जिसमें गुरुमाता एवं बड़ी गुरुमाता को प्रणाम लिखा है। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि अखैराम की पत्नी सं० १८६६ में जीवित थीं और अखैराम का निधन हो चुका था।

श्री परमातम परम गुर, सेवाराम सुजान।
प्राणत है संतनु सहित, गुण गंभीर निधान।।
श्री सम्वत् अठारह सैकरा, छ्यासठि ऊपर जानि।
भादौं कृष्ण एकादसी, भौमवार सुभ मानि।।

'गुरुमाता को औ गुरुमाता के लरकनि को नाखार पलागनु वंचनै।' इससे हम यह मान सकते हैं कि कवि की प्रसिद्धि यदि २५ वर्ष में हो चुकी थी तो जन्म काल सं० १७६० के आसपास हो सकता है और निधन सं० १८४० के लगभग अर्थात् अनुमानतः ८० वर्ष तक अखैराम जीवित रहे।

अपने पूर्वजों का परिचय देते हुए अखैराम ने 'सुजान विलास' (सं० १८१२) में लिखा है—

भोज नगर जमुना निकट, मथुरा मंडल मांझ।
तहाँ भए भीषम सुकवि, कृष्ण भक्ति दिन सांझ।।
ताकौ मिश्र मलूक पुनि, अति सुन्दर सब अंग।
खोजत वेद पुरान सब, कियौ नहीं चित भंग।।
तेहि घर गोविन्द मिश्र जू, परसराम सम तेज।
तेग त्याग अनुराग में, नवहि सदा पद तेज।।
दामोदर ताके प्रकट, जोतिस अधिक प्रवीन।
नवत रहे तिहि छत्रपति, विविध सुषासन दीन।।
तिहँ घर नाथूराम जू, प्रगटे दीनदयाल।
जाचक जन निज देश के, धन दै किये निहाल।।
मिश्र जगतमनि औतरे, तिंहि घर अधिक प्रवीन।
ब्रज मंडल विख्यात सब, विद्याभूषन कीन।।
अषैराम ताके भए, सहज कविन अनुसार।
जो कुछु चूक्यौ होइ तो, लीजौ सुकवि सुधार।।

अपनी जन्मभूमि 'शेथरी-नगर' का परिचय देते हुए अखैराम ने 'लघुजातक' में लिखा है—

श्री मथुरा मंडल विषै, सरस शेथरी नग्र।
जमना पटरानी बहै, सदा तास के जग्र।।
अग्रे वज दिश तै बसै, श्री मथुरा ते सोय।
योजन डेढ़ प्रमाण के, अन्तर जानों लोय।।

इन्होंने अपने निवास-स्थान का परिचय देते हुए 'मुहूर्त-चिंतामणि' में लिखा है—

कृष्णपुरी के निकट, जोजन डेढ़ प्रमान।
दक्षिण दिसा सुहायनी, वेरो नगर सुथान।।
सो तौ निज अस्थान है, अखैराम को एह।
भरथ नगर सुखवास है, जानि ज्योतिषी गेह।।

शेथरी नगर से कवि अखैराम के पूर्वज कवि भीष्म भोजनगर में आकर बस गये थे। भोजनगर से कवि के पूर्वज गोविन्द वेरीगाँव में, जो अछनेरा मथुरा रेलवे-मार्ग पर है, जाकर बस गये। अखैराम का जन्म वेरीगाँव में ही हुआ था। इसी वेरीगाँव में कवि की परम्परागत गद्दी भी है। इस सम्बन्ध में कवि के पुत्र सेवाराम ने 'गर्ग-चरित्र' में लिखा है—

मथुरा ते दच्छिन दिसा, जोजन डेढ़ प्रमान।
वेरी नगर सुहावनौ, क्षत्रिय वसे सुजान।।
सेवाराम रहे जहाँ, गुरु पद्धति अधिकार।
बास भयौ वट साखिते, जानौ सकल निर्धार।।

अखैराम के पुत्र सेवाराम तथा पौत्र हरनारायण उपनाम हरनाम उच्चकोटि के कवि हुए हैं। कवि सेवाराम के 'नल-दमयन्ती-चरित्र' तथा 'गर्ग-चरित्र' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। कवि हरनारायण-कृत 'रुक्मिणी-मंगल' तथा 'भरतपुर-युद्ध' उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

अखैराम के प्रथम आश्रयदाता भरतपुर-नरेश महाराजा बदनसिंह थे। तत्पश्चात् ये उनके पुत्र महाराजा सूरजमल के आश्रय में रहे। अपने आश्रयदाता सूरजमल के सम्बन्ध में अखैराम ने लिखा है—

गुननि कौ सागर लोक लोकनि उजागर,
सूर वीरन में आगर वर नागर नरेस हैं।
पर दल गंजन पर पीर भीर भंजन,
सौ सौ मित्र मन रंजन दुख गंजन सुरेश हैं।।
अरि सीस टाहन ज्यों, अनीति बल निदाहन,
केते गुन गन गाहन ज्यों अमर अमरेश हैं।
जदुकुल तारन सों सुजान सो उदारन,
कवि दारिद विरास दान देवे को महेश हैं।।

यह माना जाता है कि अखैराम सूरजमल की मृत्यु के पश्चात् अपने गाँव वेरी आ गये थे। तत्पश्चात ग्वालियर-नरेश महाराजा माधवराव सिन्धिया के

दरबार में पहुँच गये। वेरी गाँव में हबीबशाह ने बल्देवजी के मन्दिर का निर्माण कराया, उसी में अखैराम के वंशज रहते आये हैं। इनको काव्य-प्रतिभा से प्रसन्न होकर ग्वालियर-नरेश ने प्रतिमाह कुछ धनराशि प्रदान करने का प्रबन्ध किया तथा कुछ धनराशि मंदिर के निर्माण हेतु भी प्रदान की।

'गंगा-माहात्म्य' ग्रंथ में अखैराम ने अपनी गुरु-परम्परा निम्न प्रकार से दी है—

जय जय श्री सुषदेव गुसाईं।
ग्यान भान जग प्रगटे आई॥
जिनके चरनदास विख्याता।
पार ब्रह्म में निसिदिन राता॥
गुर-छौना पुनि भये कृपाला।
तिनकू ग्यान दियौ तत्काला॥
गुर-छौना गुर पुर वै आसा।
तिनको अषैराम है दासा॥
गुर के चरन हृदै में लाऊँ।
बहुरों गुरु कौ सीस नवाऊँ॥

इस गुरु-परम्परा से स्पष्ट है कि सुखदेव गुसाईं के शिष्य चरनदास और चरनदास के शिष्य गुरुछौना हुए। इनके शिष्य अखैराम थे। अखैराम स्वयं भी गुरु कहलाते थे। इनकी परम्परागत गद्दी वेरी (अछनेरा के पास) गाँव में अब भी है। इनको गद्दी का अधिकार अपने पिता श्री जगतमनि से प्राप्त हुआ था। इनके पश्चात् इनके पुत्र कवि सेवाराम इस गद्दी पर विराजमान हुए।

सिद्धहस्त कवि होने के साथ ही ये अपने समय के श्रेष्ठ साधक और कुशल वैद्य भी थे। इनकी साधना और व्यक्तित्व से प्रभावित होने के कारण ही सन्त चरणदास ने इन्हें अपने मत का प्रचार करने के लिये जयपुर भेजा था।

राजस्थान के बड़े-बड़े परिवारों और राजाओं पर इनका प्रभाव था। एक बार जयपुर-नरेश माधोसिंह बीमार पड़े। शहर के सभी वैद्य-हकीम चिकित्सा करके हार गये, रोग किसी भी प्रकार से दूर न हुआ। महाराज ने इनको भी दर्शन देने के लिए बुलाया। गुसाईं अखैरामजी की दवा से महाराज कुछ दिनों में ठीक हो गये। अतः उन्होंने विहारीजी के भोग के लिए इनके नाम सिरसी नामक ग्राम की माफी का पट्टा लिख दिया।

स्वामी रामरूप-कृत 'गुरुभक्ति-प्रकाश' तथा जोगजीत-कृत 'लीलासागर' में अखैराम का उल्लेख उस घटना को लेकर किया गया है, जिसका सम्बन्ध चरणदास के जयपुर पधारने का है। वह इस प्रकार है—

बात जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह के समय की है। किसी व्यक्ति ने उनकी राजसभा में चरणदास के प्रताप की प्रशंसा की। राजा पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा और उनके दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा हुई। राजा ने दिल्ली पत्र भेजने का निश्चय किया। इतने में उसी सभा के विशिष्ट सदस्य, हलदिया-परिवार के साह छाजूराम दीवान के पुत्र खुशालीराम ने राजा से कहा कि उनके एक पौत्र शिष्य, मुझे अपना सेवक समझकर, मेरे यहाँ रहते हैं। उनके साथ पत्र भिजवाना उचित होगा। अखैराम को सभा में उपस्थित किया गया और राजा ने चरणदास महाराज के दर्शन की आन्तरिक अभिलाषा व्यक्त की। अखैराम दिल्ली गये और चरणदास महाराज से जयपुर पधारने की प्रार्थना की। महाराज जयपुर पधारे, जहाँ उनका भव्य स्वागत हुआ। सवाई प्रतापसिंह ने कोलीवाड़ा ग्राम की माफी का पट्टा संवत् १८३९ में चरणदास के नाम और बाद में संवत् १८५० में अखैराम के नाम लिखा।

सं० १८५८ में जब आप परधाम पधारने लगे तो लोगों से पहले ही कह दिया कि मेरे शरीर को शहर में ही जलाना, शहर के बाहर मत ले जाना। आपने अपनी इच्छानुसार दशम द्वार बेधकर देह त्यागी और धाम में पधारे। राज्याज्ञा के अनुसार शहर में दाह करने की सख्त मनाही थी। अतएव लोग इनके शरीर को उठाकर शहर के बाहर ले जाने लगे। तब आपका शरीर इतना भारी हो गया कि कई मनुष्यों के

४/२

उठाने से भी नहीं उठा। अन्त में आपके शरीर को खींचकर ले जाने के लिए राज्य की ओर से एक हाथी लाया गया, वह भी इनके शरीर को खींचने में असमर्थ रहा। ऐसी सिद्धि देखकर शहर में इनका दाह-कर्म किया गया। आज भी हीदा की मोरी, जयपुर में इनकी चरणपादुका तथा छतरी बनी हुई है। इन्होंने अपने जीवन-काल में अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया। बिहारीजी का मन्दिर, खण्डहरों का रास्ता और मोती कटला इन्हींका बनवाया हुआ है।

इनका लेखन लगभग अर्द्ध शताब्दी में बिखरा हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है कि ये दीर्घ जीवन प्राप्त कर परमगति को प्राप्त हुए। अखैरामजी ने कई ग्रन्थों की रचना की है, जिनकी नामावली इस प्रकार है—'अखैसार' (सं० १८०८), 'विचारचरित्र' (सं० १८१०), 'क्षेत्रलीला' (सं० १८१२), 'बाणगंगा महातम' (सं० १८४०), 'वैद्यबोध' (सं० १८५०), 'ग्यानसमूह' तथा 'शब्द'। 'अखैसार' में प्रश्नोत्तर के माध्यम से माया, ब्रह्म, जीव, संसार, भक्ति और योग का विशद वर्णन किया गया है। 'विचार-चरित्र' में पन्थ के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। 'क्षेत्रलीला' में भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। 'बाणगंगा-महातम' नामक बृहत् ग्रन्थ में एक पहाड़ में रावण के बाण से मारने से उत्पन्न गंगा की एक सहायक नदी की उत्पत्ति, उसके महत्त्व और हलदिया-परिवार के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। 'वैद्यबोध' से अखैरामजी के आयुर्वेद-विषयक ज्ञान का परिचय मिलता है। 'ग्यान-समूह' में सम्प्रदाय के सिद्धान्त और उपासना का वर्णन किया गया है। इनके पदों में श्रीकृष्ण-चरित तथा उनकी भक्ति का भावपूर्ण निरूपण किया गया है। दशधा भक्ति का टेक लेकर हरि-रसपान करनेवाले अखैराम की वाणी 'अनुभूति और अभिव्यक्ति' दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रेमा-भक्ति के व्यंजक इनके कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

(१)

गुरछौना गुरदेवजी त्यारन तिरन दयाल।
ग्यानवन्त गम्भीर सम्प्रदा मध्य उजागर।
जिन प्रगट करी हरि भक्तिजुक्त विज्ञान में नागर॥
जो जन आयो सर्न तास की चाह मिटाई।
दसधा भक्ति की टेक विवेक भरपूर गुसांई॥
सब अंगी उपदेश दे बहुतक नर कीन्हें निहाल।
गुरछौना गुरदेवजी त्यारन तिरन दयाल॥

(२)

बृज का रखैया कान्ह मोही को जान दे रे।
तुम तो मोहन निपट अटपटे चितवन मन हर ले रे॥
हौं तौ दासी तुम चरनन की पल छिन ध्यान रहे रे।
घरी निस-बासर कल न परत है एक लगन मन मेरे॥
ग्वालिन बचन कहत हैं श्याम सों प्रभु मोहे आज्ञा दै रे।
'अखैराम' गुरु-छौन कहत हैं रस दे सरबस ले रे॥

(३)

स्याम सुन्दर के मिलन की सोभा कही न जाय।
अखैराम हरि रुठि कै वलि जू लिये बुलाय॥
गज घोड़े लिये रथ मँगाई।
व्रजवासी पुनि दिये चढ़ाई॥
नन्द पिता अरु जसुदा माई।
रतन जटित रथ लिये चढ़ाई॥
दरसन बिन गइयाँ दुख पावैं।
रांभ रांभ अति सबद सुनावैं॥
हमको उपाय कमाये भारी।
तातें हम गोपाल बिसारी॥

(४)

राधा राधा कृष्ण कहि, कोटिक कटत कलंक॥
अखैराम के मन बसौ, राधा चरन सु अंक॥
भृकुटी बंक कटि किंकनी, कुण्डल मुकट सुढार॥
अखैराम के हिय बसौ, राधा नन्द कुमार॥

(५)

आठहू सिद्धि नऊ निधि चौसठि,
आनि कला विकला छवि छाई।
हीरन की नग लालन की मणि,
मालनि की वरषा वरषाई॥
देव सिहात गुनी विहँसात,
सुजाचिक जात उछीरन पाई।

गोकुल चन्द के चन्द भयौ,
'अखैराम' कहै चिरुजीवो कन्हाई ॥

(६)

भई ब्याह स्यामा-स्याम स्यामा जू उछाह भरे,
ढरे सुरलोक तैं विरंचि सुष पाइकैं।
कोरि तैतीस मिलि सुरनि समाज कीनैं,
गावत बजावत अनेक छवि छाइकैं ॥
हीरा मोती लाल मणिमाणिक जटित जाल,
मण्डल विसाल रच्यौ मण्डफ सजाइकैं।
मनिनि की वैंदी चार्‌यों वेद पढि ब्रह्मा जू नै,
दीनी गाँठि जोरि 'अषैराम' सरसाइकैं ॥

रा० प्र० कु०
म० गो० भा०
बा० सि०, रा० प्र० त्रि०

अगमदास 'निर्मोही'

अगमदास का जन्म दिल्ली के एक खत्री-परिवार में हुआ था। बालपन से ही परमार्थ और सत्संग की ओर इनका झुकाव था। घरवालों के बहुत कहने पर भी इन्होंने विवाह नहीं किया। जब ये सहजोबाई के सम्पर्क में आए तो उनके उपदेशों से काफी प्रभावित हुए और उनके शिष्य बन गए। इनका पूर्वनाम भगवानदास था, दीक्षा के उपरान्त नाम 'अगमदास' पड़ा। गुरु-कृपा से इन्होंने परिवार से नाता तोड़ लिया तथा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं। ये किसीसे कुछ भी दान में नहीं लेते थे। सहजोबाई की परमधाम-यात्रा के बाद ये ही गद्दी पर बैठे तथा वि० संवत् १८६२ में इन्होंने परलोकगमन किया। इनको दो रचनाएँ मिलती हैं—(१) श्रीमद्भागवत-भाषा, (२) स्फुट कवित्त, पद आदि।

इनकी बानी बड़ी सरस और उच्च स्तर की है। इन्होंने प्रेम, विरह और विनय का निरूपण कई पदों में बड़ा सजीव किया है। इनकी बानी में आत्मानुभूति की स्पष्ट झलक मिलती है। भाषा में स्वाभाविक प्रवाह और सरसता है। यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१)

मोहन छैला प्यारो री होरी को मतवारो।
भर पिचकारी मुख पर मारी ॥
भर मूठ गुलाल जु डारो।
हो हो होरी टेर पुकारे
मेरो चूनर झटके न्यारो ॥
मैं सकुचत हूँ मन माहीं,
निधरक पकरे बांही म्हारो।
चोवा चंदन मुख लिपटाई,
सब वृज को मोहन हारो ॥
'अगमदास' तजो कुल काना,
सास ननद भय टारो।
वाके गुलचा दोय लगाना,
बाँकी अँखियन काजर सारो ॥

(२)

वह छबि अटकी मेरे मन में।
नील सरोज श्याम अति सुन्दर,
कोटि इन्दु दुति उदित बदन में ॥
मोर मुकुट सिर ऊपर सोहे,
मकराकृत कुण्डल सरवन में।
नाक बुलाक अलक घुंघरारी,
कर मुरली राजत अधरन में ॥
दृग विशाल अरुण कजरारे,
चित चोरचो बाँकी चितवन में।
भाल तिलक गल में बनमाला,
सुभग पीत-पट फबो जु तन में ॥
नषसिष बनसज आली सुन्दर,
भेष बनावे बन में।
सब शोभा बरनूं क्या प्यारे की,
सोभा सुंदरता नाँहि मदन में ॥
देखत ही मोहित भई सजनी,
लोक लाज अरु तजो भवन में।
'अगमदास' नंदनंदन ऊपर,
सरबस वारों कर दरशन में ॥

म० गो० भा०

अजपादास

सन्त रामरूप के शिष्यों में अजपादास का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। सरसमाधुरीशरण ने इन्हें स्वामी रामरूप का 'अनुपम' और 'नवेला' शिष्य कहा है। ये बड़े ही भजनानन्दी सन्त थे। कहते हैं कि इन्हें सन्त रामरूप की असीम कृपा प्राप्त थी और उन्होंने इन्हें भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य रूप और उनकी महारासलीला का साक्षात्कार करवाया था :

विनय करि हरि दरश करावो,
महारासलीला दरशावो।

• • •

शिष्य की पूरण प्रीति लखि स्वामी हुए दयाल।
नयन मूँद लखि हृदय निज, रास विलास रसाल॥
गुरु आज्ञा सुनि शिष्य ने मूँद लिये निज नैन।
अभ्यन्तर रस-रास लखि तन मन पायो चैन॥

अजपादास के सम्वत् १८४२ के फाल्गुन मास तक वर्तमान रहने का प्रमाण मिलता है। इसी समय पर इन्होंने रामरूपजी-विरचित 'गुरुभक्ति-प्रकाश' नामक पुस्तक की एक प्रति स्वपठनार्थ तैयार की थी। अजपादास-कृत कतिपय स्फुट पद प्राप्त होते हैं, जो अनुभूति की सघनता की स्थिति में लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ एक पद उद्धृत किया जाता है जिसमें अखण्ड-रास में नित्यविहार करनेवाले श्रीकृष्ण के अनगिनत रूप में दिखाई पड़ने और इस लीला को देखकर बुद्धि के थकित होने का वर्णन किया गया है—

करले आशिकां दीदार।
बहुत दिनन सों लगी उमंगा,
हिलमिल के सुख ले पिय संगा॥
तन-मन की सब तपन मिटा ले,
सन्मुख प्रीतम अजब बहार॥
बिरह-बियोग कियो सब दूरा,
ढिग ही पाये जीवन मूरा॥
प्यारे की छबि को कहा बरनूं,
अद्भुत सुन्दर तेज अपार॥
झिलमिल ज्योति अनन्त गुलजारी,
चहूँ दिशा चमके उजियारी॥
अनगिन रूप धरे अति बाँके,
रास अखण्डा नित्त बिहार॥
यह लीला लखि बुद्धि थकाई,
अजर अमर अलबेला साँई॥
रामरूप कहै देख झलक को,
जन 'अजपा' दै शिर बलिहार॥

इनकी एक रचना 'शब्द' उपलब्ध है, जिसमें विभिन्न राग-रागिनियों के पद संकलित हैं। पदों का रचनाकाल वि० सं० १८४७ के पूर्व का होना चाहिए। इन पदों में अनुभूति की सघनता दर्शनीय है। शैली मनोहर तथा भाषा सरल और प्रांजल है—

चलो अगम धाम खेलैं बसन्त।
जहाँ इकरस आनंद अमरकंथ॥
जहाँ काल करम की पहुँच नांहि।
रहैं नित बिलास उस देस मांहि॥
जहाँ हिलमिल प्रीतम गलै बांहि।
जहाँ सुष अपार दुख दुंद जांहि॥
फिर आव जग मैं न होय।
जहाँ जम जालम का भै न कोय॥
जनम-मरन का मैल खोय।
उस निरभ पद मैं चित समोय॥
जहाँ काम क्रोध नहि मोह जाल।
जहाँ कागा पावैं गत मराल॥
जो जावै सो हो निहाल।
जहाँ अजब अजब है अजब ख्याल॥
जहाँ स्वामी हैं रामरूप।
जाकी अद्भुति लीला छबि अनूप॥
जहाँ न कोई छाँहि धूप।
कहै 'अजपादास' यह खेल गूप॥

रा० प्र० त्रि०
म० गो० भा०

अजबकुँवरि बाई

अजबकुँवरि बाई उदयपुर के राणा-परिवार की महिला थीं। दुर्भाग्य से ये बाल-विधवा हो गयी थीं।

कहा जाता है कि ये मीराबाई के पास रहती थीं, इस दृष्टि से कुछ विद्वानों ने इन्हें मीराबाई की देवरानी कहा है। अन्य विद्वानों ने इन्हें मीराबाई की ननद बताया है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि अजबकुँवरि बाई उदयपुर के तत्कालीन राणा उदयसिंहजी की पुत्रवधू थीं। इनकी कविता में 'अजबदासी' और 'अजबकुँवरि' इन दो नामों की छाप मिलती है।

इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं होता, फिर भी विद्वानों ने इनका जन्मस्थान सिहाड़ गाँव माना है, जिसे आज श्रीनाथद्वारा कहा जाता है। 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ के अनुसार विक्रम सं० १६०० में सिहाड़ गाँव में गोस्वामी विट्ठलनाथजी की शरण में अजबकुँवरि बाई आयी थीं। विक्रम सं० १६३४ में अजबकुँवरि बाई व्रज में पधारी थीं और गिरिराज जतीपुरा गयी थीं। तब गोसाइंजी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र गिरिधरजी से कहा था कि यह श्रीनाथजी को अपने देश में पधरायेंगी। इसका प्रमाण 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' में मिलता है—

प्रगटे गोपीनाथ फिर, गिरिधर-गृह सुखदान।
सोलह सै चौंतीस के, पौष कृष्ण छठमान॥
दर्शन करि गिरिधरन के, अजब कर्‌यो गिरि आय।
आतम भाव दरसाय सत्, लीने तुरत रिझाय॥
अजब कर्‌यो हिय अजब लखि, प्रेम भक्ति विट्ठलेस।
कह्यो जो गिरिधरलाल सों, ये पधरावहिं देस॥

बाई अजबकुँवरि श्रीनाथजी की अनन्य सेविका थीं। 'श्रीनाथजी की प्राकट्य वार्ता' में लिखा है कि श्रीनाथजी सिहाड़ पधारकर अजबकुँवरि बाई को दर्शन दिया करते थे और उनके संग चौपड़ खेलते थे। एक दिन अजबकुँवरि बाई ने श्री गिरिराजजी से विनती की कि आपको गोवर्धन वापस आने-जाने में बहुत कष्ट होता है। श्रम बचाने के लिए अच्छा हो कि आप सिहाड़ में विराजा करें। तब श्रीनाथजी ने आज्ञा की—"जब तक गोस्वामी विट्ठलनाथजी और उनके सातों बालक भूतल पर विराजमान रहेंगे, तब तक यह नहीं हो सकेगा। बाद में यहीं इस महल की भूमि पर ही मैं बहुत वर्षों तक रहूँगा।" इस प्रकार श्रीनाथजी की अजबकुँवरि पर बहुत कृपा थी।

गोस्वामी विट्ठलनाथजी के भक्त सेवकों में अजबकुँवरि बाई का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कवि और कीर्तनकार होने की सूचना तो कहीं उपलब्ध नहीं होती, फिर भी इन्हें अल्पज्ञात भक्त कवियों की कोटि में स्थान मिला है। काँकरोली विद्या-विभाग, सरस्वती भण्डार में इनके कई पद मिले है। अजबकुँवरि कहीं-कहीं 'अजब' नाम की छाप भी लगाती थीं। अजब के आगे कुछ लेखकों ने अजबेस नाम कर दिया है, जो नितान्त भ्रामक है। 'मोहनमाल' के रचयिता कविवर गोवर्धनदास ने इनको कवयित्री के रूप में स्मरण किया है—

विरहताप जब होय मन, देखे टेरा खोलि।
श्री विट्ठल गिरिधरन बपु, दरस सरस मुख बोलि॥
चौपरि खेलति हास्य रस, उत्तम धाम सिहारि।
राज नन्दनन्दन सुरुचि, घर श्री अजब कुमारि॥

अजबकुँवरि बाई में भक्ति-भावना एवं विरहासक्ति प्रबल थी। इसलिए तत्कालीन समाज ने इन्हें मीराबाई की पदवी देकर सम्मानित किया, क्योंकि मीरा का उत्तराधिकार समाज ने इन्हें ही दिया था। एक धौल का अंश, जिसमें पुष्टिमार्गीय भावना कूट-कूटकर भरी है, द्रष्टव्य है—

श्रीजी श्री गोवरधन प्रगटिया,
श्रीजी आय विराजो मेराड़ा,
कुँवर बाबा नन्दरा॥ टेक॥

वे रूपासक्ति में इतनी निमग्न रहती थीं कि इन्हें भगवान् के किशोर रूप का दर्शन करते ही तन-मन की सुधि भूल जाती थी। यह बात इन्होंने एक पद में स्पष्ट कही है, जिसका उल्लेख यहाँ अपेक्षित है—

कहा कहों कठिन भई री मोय मूरत देखे सूरति।

इस प्रकार अजबकुँवरि की भक्ति-भावना उच्च दशा को प्राप्त थी। इनके निर्विकार मन की समग्र

क्रियाएँ परमानन्द में ही लीन रहा करती थीं। ये सतत कीर्तनमग्न रहती थीं।

रा० कृ० श०

अजीतसिंह

जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह का जन्म विक्रम सं० १७३५ में चैत्र कृष्ण चतुर्थी के दिन हुआ था। अपने पिता जसवन्तसिंह के समान अजीतसिंह भी डिंगल, पिंगल और संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनके जन्म से कुछ माह पूर्व जसवन्तसिंह का काबुल में निधन हो गया था। बादशाह औरंगजेब के राजनीतिक षड्यन्त्रों के चक्रव्यूह से अजीतसिंह की प्राणरक्षा कर वीरवर दुर्गादास ने मातृभूमि के प्रति अनन्य भक्ति का परिचय दिया था। वीर दुर्गादास ने मुगल बादशाह औरंगजेब के क्रोध को सहकर संकट के अंगार-पथ को चुना था। किंचित् स्वार्थ-सम्पादन की अपेक्षा उन्होंने मारवाड़ के शासक की प्राणरक्षा को श्रेयस्कर माना था।

अद्वितीय योद्धा होने के साथ ही अजीतसिंह काव्य-रसिक व्यक्ति थे। इनके द्वारा रचित 'गुणसागर', 'गज-उद्धार', 'दुर्गापाठ-भाषा' तथा 'निर्वाण-दूहा' ग्रन्थ जोधपुर राज्य के पुस्तक प्रकाश संग्रहालय में उपलब्ध हैं। इन रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने भक्ति के स्फुट दोहे भी लिखे हैं। इनकी भाषा सरल, परन्तु प्रभावशाली है। उदाहरण के लिए 'गज-उद्धार' कृति की कतिपय पंक्तियाँ देखिये—

उण्डै जल में ले चल्याँ,
गज को विकटौ ग्राह।
तब ततकार सँभारीयौ,
राधा नागर नाह॥
जिण साइँ पैदा कीयौ,
सो मौ पास सदाय।
अलख अपम्पर ईसवर,
सोक्यूं अलगौ थांय॥
जल आयौ गज पीठ पर,
डर उपज्यो मनमाँहि।
ग्राह राह बैरी भयौ,
जल उण्डै ले जाँहि॥

इनके कुछ दोहे नीचे दिये जाते हैं। इनमें लोक-भाषा में द्वारका-यात्रा का चित्रात्मक वर्णन किया गया है—

और सबै आणन्द हुऔ, एक बात नंह चाह।
कील्यांणौ राजत तणौ, मुवो द्वारिका माँह॥
सिरदारे साथै हुती, नारी परतग दोय।
ठाली भूली रह गई, साथ गई नंह कोय॥
इंते मरगे राह में, माणस तीन हजार।
ऊँट तुरंगम बेलरी, कर कुण सकै सुमार॥

अजीतसिंह का निधन वि० सं० १७८१ में हुआ था। इनके पुत्र बखतसिंह ने मुगल-शासकों के आदर्श तथा उनकी कूटनीति का अनुसरण करते हुए राज्य-प्रलोभन में अपने पिता की हत्या कर दी थी।

ज० सिं० प०

अतवारूलाल 'मुग्ध'

कवि-हृदय, सन्त-स्वभाव तथा माँ मैथिली और राधा के अनन्य भक्त मुंशी अतवारूलाल का जन्म गाजीपुर के टढ़नी ग्राम में सन् १९०४ में हुआ था। इनके पिता श्री रामजग्गीलाल थे। उन्होंने कठिनाइयों के मध्य अपने इस सरस्वती-पुत्र को गाँव की ही पाठशाला में पढ़ने को भेजा। बचपन से ही इन्होंने साहित्य के प्रति अपनी रुचि का प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिया था। गाँव के मिडिल स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री तेजनारायणराय के त्यागमय व्यक्तित्व तथा उनकी विद्वत्ता का प्रभाव मुंशीजी पर पड़ा। उधर रायसाहब भी इनकी प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए। अतएव मिडिल परीक्षा पास करने के बाद ही अप्रशिक्षित अध्यापक के रूप में इन्हें इसी स्कूल में नियुक्त कर लिया गया। तीन वर्षों के अध्यापन के बाद प्रशिक्षित अध्यापक बनने के लिये ये गोरखपुर चले गए और सन् १९२५ में प्रशिक्षण प्राप्त कर उसी स्कूल में अध्यापन का कार्य करने लगे।

इनका विवाह एक अध्यापक की ही लड़की शाहजादी देवी से हुआ। इन्हें वेदवती नाम की एक कन्या

तथा चार पुत्रों—शिवकुमार लाल, अंजनीकुमार लाल, दुर्गाप्रसाद लाल तथा शारदाप्रसाद लाल की प्राप्ति हुई। अध्यापन-सेवा के बीच इन्हें कई स्थानों पर जाना पड़ा। सन् १९६७ में इन्होंने प्रधानाध्यापक-पद से अवकाश ग्रहण किया। सन् १९८१ में विजयादशमी से ५-६ दिन पूर्व अपने नश्वर शरीर का त्यागकर ये परलोकवासी हो गये।

यों तो मुग्धजी का बचपन से ही काव्य और साहित्य के प्रति झुकाव था, किन्तु इन्होंने सर्जनात्मक साहित्य का शुभारम्भ गोरखपुर से लौटकर ही किया। लगता है कि यहाँ नार्मल स्कूल की वायु में महान् साहित्यकार प्रेमचन्द के साहित्य-सौरभ को उन्होंने पूरी तरह अनुभूत किया और उनसे प्रेरणा लेकर सरस्वती की अर्चना में पूरी तरह जुट गए।

मुंशी अतवारूलाल की माँ दुर्गा, सीता तथा राधा की समर्पिता भक्त थीं। यह संस्कार इन्होंने अपनी माँ से दूध पीते समय ही पा लिया था। इसीलिए इन्होंने अपनी पहली रचना 'पीयूष-प्रवाह' राधारानी और माखनचोर कृष्ण की बाल-लीलाओं पर की। यह पुस्तक लगभग १०४ पृष्ठों की है तथा इसमें ४०० छन्द हैं। यह चार सर्गों—बाल-क्रीड़ा, माखनचोरी, वंशी-ध्वनि तथा यमुना-कूल-लीला—में विभक्त है। यह पुस्तक वास्तव में पीयूषमयी है। पुस्तक के ऊपरी पृष्ठ पर कवि ने श्यामघन की भक्ति को ही सब कुछ बताते हुए कहा है—

धनि पुण्यमय लीला जगत में देख लो दृग खोल के।
निज हृदय निर्मल कर जगत यश लो श्रीहरि बोल के॥
यह जन्म नरतन व्यर्थ है हा, श्यामघन की भक्ति बिन।
ये क्षणस्थायी सौख्य जग के व्यर्थ हैं हरि भक्ति बिन॥

ये राधा-श्याम की भक्ति में आजीवन गोते लगाते रहे।

कवि की दूसरी रचना 'वेदवती' है। इसका कथानक रामायण से लिया गया है। इसमें जनकनन्दिनी सीता के पूर्वजन्म की कथा है। २२३ पृष्ठों की यह पुस्तक चौदह सर्गों में विभक्त है। माँ मैथिली को समर्पित करते हुए कवि प्रारम्भिक वन्दना में कहता है—

माँ मैथिली।

माता तेरी विमल कीर्ति का,
गान पुस्तिका पुण्यमयी।
शुभमाला है जन को सुखदा,
इस मुग्ध हृदय को शान्तिमयी॥
ग्रीवा में कैसे डालूँ माँ!
चरणों में सादर अर्पित है।
अपना लो सदये माँ इसको,
तेरी है तुझे समर्पित है॥

मुग्धजी भक्त कवि होने के साथ-साथ राष्ट्र-भक्त भी थे। महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन से ये बहुत प्रभावित थे, किन्तु सुभाषबाबू इनके आदर्श स्वतंत्रता-सेनानी थे। इन्होंने उनके जीवन से-सम्बद्ध 'सत्य-स्वप्न-सुभाष' पुस्तक को रचना को और इसे अमर शहीदों को समर्पित किया।

व्रण श्रवित सौन्दर्य शोणित भाल पर वेदी सजातीं।
अनुपमेय सुहागिनी स्वाधीनता बन जगमगातीं।
स्वर्ग-गरिमा से बढ़ी जिनकी समाधों पर सिहातीं।
देव-बालायें सुमन-शुभ हार सस्मित आ पिन्हातीं॥
सुरभि यत्र आमत्त गुंजन अमर अलिगन गुनगुनाते।
कीर्ति आभा से सजे दिक्काल आभामय दिखाते।
जन्मभूमि लिए स्वतन धन प्राण तक जिनका समर्पित।
उन शहीदों के करों में सत्य-स्वप्न-सुभाष अर्पित॥

आपका सामाजिक जीवन बहुत ही सफल था। छात्र-जीवन से लेकर अन्तिम अवस्था तक आप अभिनय, काव्यपाठ आदि में भाग लेते थे तथा दूसरों को लेने के लिए उत्साहित करते थे। गाँव की रामलीला के आयोजन में आपकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। ये विद्यालय के छात्रों तथा गाँव के अन्य युवकों से नाटक आदि का मंचन कराते रहते थे। इसके लिए

आपने एक नाटक 'दानवीर कर्ण' की स्वयं रचना की थी। नाटक के अन्त में दानवीर कर्ण ने भगवान् श्रीकृष्ण की वन्दना निम्न प्रकार से की है :

खेल नटवर तुम्हारी अनोखी,
विश्व में दीखता तू ही तू है।
प्राण प्राणों में तू सूर्य शशि में,
किरन बनकर सितारों में तू है।
सन्धि में शान्ति और क्रान्ति रण में,
सद्गुणों में विकारों में तू है।
कर्ता हर्ता और भर्ता तो तू ही,
सर्वव्यापी सदाशक्ति तू है।
तेरी माधव, मुकुन्द, मुरारि,
कीर्ति जादू भरी पा रहा हूँ।
लालता पालता सर्व जग को,
विश्व में दीखता तू ही तू है।
प्राण है कण्ठगत गोद तेरी,
सर्वदा के लिए जा रहा हूँ।

अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में कवि इन्हीं पदों को गुनगुनाता रहता था। जब चेतना कुछ मद्धिम पड़ती तो ये 'चलो ए हंसा अमर लोक को' गाने लगते और कुछ समय बाद सच में हंस अमर-लोक को चला गया।

इनकी लेखनी में यश था। बहुत वर्षों पूर्व गाँव के कुछ युवकों ने इनसे नाटक प्रारम्भ होने के पूर्व वन्दना-गीत लिखने का अनुरोध किया। इन्होंने वन्दना-गीत की रचना की। रचना के बाद वह वन्दना-गीत इतना लोकप्रिय हुआ कि कवि के गाँव में ही नहीं, अपितु क्षेत्रभर में जहाँ कहीं किसी प्रकार के नाटक का मंचन होता था तो उसका प्रारम्भ इनके वन्दना-गीत से ही होता था। मंच पर नटवर नागर के वेश में एक बालक कछनी काछे मुरली लिए अडिग रूप में खड़ा रहता और तब समवेत स्वर में वन्दना प्रारम्भ हो जाती—

आना आना तुम आना दरसाना।
जगदीश यहाँ फिर आना॥
यह क्रीड़ा-भूमि तुम्हारी,
सहती दुख दुसह दवारी,
तुम शान्ति-सुधा बरसाना दरसाना।
जगदीश यहाँ फिर आना॥
जब क्रान्ति आग सुलगेगी,
सम्भ्रान्ति अशान्ति बढ़ेगी,
तब आकर के दहलाना दरसाना।
जगदीश यहाँ फिर आना॥
भक्तों को भरते आए,
सन्तन दुख हरते आये,
फिर भक्त-भरण कहलाना दरसाना।
जगदीश यहाँ फिर आना॥

अब भी रामलीला या दूसरे नाटक का जब मंचन होता है तो यह स्वरलहरी वातावरण में गूँज उठती है।

इन पर सरस्वती की जितनी ही कृपादृष्टि थी, लक्ष्मी की उतनी ही वक्रदृष्टि। ये आजीवन अकिंचन रहे। एक के बाद एक रचना करते रहे, किन्तु इनके पास इतना पैसा कभी नहीं रहा कि अपनी किसी कृति का प्रकाशन कराते। फलतः इनकी सारी कृतियाँ आज भी अप्रकाशित हैं। इनके शिष्यों का एक वर्ग अब इस ओर प्रयास कर रहा है कि उनकी रचनाएँ प्रकाशित हों।

नीचे इनकी दो प्रतिनिधि कविताएँ दी जा रही हैं। दोनों कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध हैं। पहली कविता भोजपुरी बोली में है। जब उद्धवजी भगवान् कृष्ण की पाती लेकर गोकुल में जाते हैं तो गोपियों की, विशेषकर राधा की क्या प्रतिक्रिया होती है, यह इस गीत में दर्शाया गया है। दूसरी कविता इनके काव्य 'पीयूष-प्रवाह' से ली गयी है। किसी ग्वालिन के घर में घुसकर नटवर नागर माखन खा रहे हैं तभी ग्वालिन आ धमकती है। इसके बाद और भी ग्वालिनें आ जाती हैं और कृष्ण को पकड़कर माँ यशोदा के पास ले जाती हैं। यही इस कविता में वर्णित है।

(१)

अइली हरिजी क पतिया जोगिन बने के।
परम पण्डित ऊधो पतिया ले अइलें जोगिन बने के॥
अइली हरिजी क पतिया····।
काँपति-काँपति राधा पतिया उठवली,
छुआइ मथवा फिर लगाइ लीली छतिया,
पतिया लगावले शीतल भइली छतिया,
बाँचत पतिया फिर धधकि ऊठल छतिया॥
अइली हरिजी क पतिया····।
एक संग खेललैं, माखन छीनि खइलैं,
मिटाइ दीहलैं बहु विषम विपतिया।
मधुर माखन से सरस उर जिनकर,
कठिन कइसे न भइली हरिजी क छतिया॥
अइली हरिजी क पतिया····।
तन श्याम मन श्याम रग-रग श्याम,
हमारा अँग-अँग में रमली श्याम की सुरतिया।
श्याम लिखि दीहल कि तू ही लिखि लीहल,
बताव ऊधो न इह केकर लिखल पतिया॥
अइली हरिजी क पतिया जोगिन बने के।

(२)

खात समय चन्द्राननी, पहुँची भीतर आइ।
कहा करत यह काम तुम, मनमोहन बलि जाइ॥
ऐसो कहि मोहन मदन मन मोहन को,
जोरि दृग प्यारी धाय पकरी छवि धाम को।
पाँच सात आठ दश द्वादश चतुर्दश मिलि,
प्यारी मनमोहन को नयानी छवि धाम को।
ताता धिन्ना धिन ता धिन्ना तिक् तिक्,
ताता धिन्ना तिक् थेई तिक् थेई ललित ललाम को।
अन्त में पकरि प्यारी प्यारे भरे उर माँहि,
चलीं सब सदन लै जशोदा पहँ श्याम को।
यौबन मदमाती तिया श्याम कराम्बुज धारि,
सपदि सदन को लै चलीं जहाँ जननि बनवारि॥

राय

अतिवल्लभ

अतिवल्लभ अठारहवीं शती के एक प्रमुख रसिक सन्त और वाणीकार थे। ये श्री कमलनयन गोस्वामी (सं० १६९२–१७५४) के शिष्य थे। आश्चर्य है कि चाचा वृन्दावनदासजी ने अपनी 'रसिक-अनन्य-परचावली' तथा गोविन्दअलिजी ने अपनी 'रसिक-अनन्य-गाथा' में इनका नामोल्लेख तक नहीं किया है। चाचा हितवृन्दावनदास तो इनके समकालीन भी थे। इसी कारण सम्प्रदाय के इतिहास-ग्रन्थों में अतिवल्लभजी के जीवन-वृत्त से सम्बद्ध किसी बात का उल्लेख नहीं है। केवल इनके मित्र तथा हितचौरासी के प्रसिद्ध टीकाकार श्री प्रेमदास ने अपनी टीका (रचना-काल, सं० १७९१) के मंगलाचरण में इनका स्मरण बड़े प्रेम और आदर के साथ किया है। उन्होंने लिखा है—

अतिवल्लभ अतिरसिकवर दुर्लभ तिनकौ संग।
श्री वैयासकि कृपा तैं सुलभ जु भयौ अभंग॥
वे बरनत रसरीति यौं ज्यौं उमड़त निधिवारि।
मो मति जैसे चंचुखग भरी आपु अनुसारि॥

इन दो दोहों से अतिवल्लभजी के सम्बन्ध में दो तथ्य ज्ञात होते हैं। एक तो यह कि ये अत्यन्त एकान्त सेवी थे और कुछ चुने हुए रसिकों को छोड़कर किसी से मिलते नहीं थे। दूसरी बात यह है कि इनको श्री हिताचार्य की रसरीति का तलस्पर्शी अनुभव तो था ही, साथ ही उसके वर्णन में भी ये अत्यन्त कुशल थे। ये जब उसे समझाने लगते थे तो भावनाओं का समुद्र उमड़ पड़ता था और श्रोता-वक्ता दोनों ही उसमें डूबने-उतराने लगते थे।

वस्तुतः अतिवल्लभजी उन मौलिक चिन्तकों में से हैं, जो सम्प्रदाय के सामान्य ढाँचे के अन्दर रहकर सिद्धान्त-कथन की नई पगडण्डियाँ बनाते हैं। इन्होंने अधिक नहीं लिखा है, किन्तु जो कुछ भी कहा है वह अनूठा, अनुपम और रहस्यगर्भित है। उदाहरण के लिये सम्प्रदाय के साहित्य में अनेक 'समय-प्रबन्ध' किंवा अष्टयाम सेवा-विधि उपलब्ध हैं। श्री अतिवल्लभजी का भी एक 'समय-प्रबन्ध' प्राप्त है, किन्तु यह अन्य अष्टयामों से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें सेवा के रहस्य को मनोवैज्ञानिक स्तर पर स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है—

सेवा ये द्वै भाँति की, नैमित्तिक अरु नित्त।
प्यारी प्रियतम सहचरी, इनही की यह वृत्ति॥
वृत्ति अंग अंगनि विषै, व्यापि रही अनुकूल।
सूक्षम अरु स्थूल कौ, अंग अंग ही मूल॥
सेव्य प्रिया सेवा सखी, सेवक प्रीतम संग।
त्रिधा रूप राजत सदा, अरु सब इनके अंग॥
सूक्षम स्थूल समान हैं, अंग-अंगी तिहि भाँति।
सदा एक रस रूप जुत, वाल रूप गुन जाति॥
बात बचन तन रूप गुन, ऐश्वर्यादिक नित्त।
जाति एक माधुर्य रस, तद् अनुगत सब वृत्ति॥
वृत्ति समय लखि होत है, समय प्रिया-प्रिय चित्त।
चित्त बसत हित में सदा, हित भावक में नित्त॥
भावक नित सब भावना, सेवा बिन नहि सोइ।
सेवक सेवा दोऊ मिलैं, सेव्य उपासन होइ॥
—समय-प्रबन्ध १८–२४

इस उद्धरण में अतिवल्लभजी ने नित्य-नैमित्तिक सेवाओं को 'प्यारी-प्रियतम और सहचरियों' की चित्त-वृत्ति बतलाकर बड़ी विदग्धता से भावुक (उपासक) के हृदय में स्थित श्री श्यामा-श्याम के प्रति उसके सहज प्रेम के साथ संलग्न कर दिया है। इस प्रकार दोनों सेवायें उपासक के प्रेम की अन्तरंग और अनिवार्य वृत्तियाँ सिद्ध होती हैं।

इस रचना के अन्त में अतिवल्लभजी ने रसिकों की प्रकट उपासना के आधाररूप प्रकट भावों का वर्ण-विभाग दिया है। इन्होंने बताया है—

प्रथम प्रेम कौ पीत रंग, पके अरुन अनुरागा।
प्यारौ रूप सिंगार कौ, उज्ज्वल मिल्यौ सुहाग॥
स्वेत बरन है रूप कौ, स्याम बरन सिंगार।
पीत अरुन दोऊ प्रेम हैं, बरन हिये में धार॥
रूप मिलै सिंगार कौं, तब सिंगार छबि होय।
प्रेम दृगनि बिन ता छबिहि, कहु देखेगो कोय॥
रूप-रूप में छबि नई, रूप-रूप कर लेय।
उज्ज्वलता सबमें मिले, सबको सब छबि देय॥
पूरब-उत्तर भागकर, पीत अरुण रंग प्रेम।
मिल्यो रूप शृंगार कौ, जुगल प्रेम के नेम॥
मिलन सिखावे प्रेम नित, मिलैं रूप शृंगार।
अलट-पलट के रूप कों, जानें सखी संभार॥
—समय-प्रबन्ध २०१–२०६

अतिवल्लभजी की एक अन्य छोटी-सी रचना 'मंत्र-ध्यान-पद्धति' है। उसमें इन्होंने रसिकों के ध्यान करने के लिये श्री श्यामा-श्याम तथा श्री वृन्दावन के अनुपम शब्द-चित्र दिये हैं। उनसे इनकी मार्मिक रसिकता एवं समर्थ काव्य-प्रतिभा का परिचय मिलता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

कोटिक दामिनी दुति छबि लीनी।
अगनित चन्द्र चन्द्रिका छीनी॥
अमृत माधुरी अमित मिलाई।
कंचन सुरस पराग रलाई॥
कोटि मदन रति सुन्दरताई।
चन्द्र कान्ति मणि की रुचिराई॥
रूप - रूप कौ अतुल सुहाग।
पूरन आनन्द प्रिय अनुराग॥
ये सब मिलै गौर तन कर्‌यौ।
मनों नेह के सांचे ढर्‌यौ॥
ता स्वरूप सौं पिय चख लगे।
कोटिक विरह नाम सुनि भगे॥
हौं लघुमति कैसे करि कहौं।
श्री अम्बुज दृग मुख ते लहौं॥

इस उद्धरण में अतिवल्लभजी ने सौन्दर्य के अनेक उपादानों को एकत्रित करके उनमें प्रियतम के अनुराग का अरुण रंग डाला है और सबको मिलाकर नेह के साँचे में ढाल दिया है। इस ढली हुई अनुपम सौन्दर्य-मूर्ति श्री राधा से त्रैलोक्य-सुन्दर मदन मोहन के नेत्र इस प्रकार उलझ गये हैं कि विरह की संभावना ही पलायन कर गई है।

प्रस्तुत प्रसंग में श्री अम्बुज दृग से अतिवल्लभजी का तात्पर्य उनके गुरु श्री कमलनयन गोस्वामी से है।

ऊपर उद्धृत 'समय-प्रबन्ध' और 'मंत्र-ध्यान-पद्धति' के अतिरिक्त अतिवल्लभजी की अन्य प्राप्त रचनायें हैं—'श्रीवृन्दावनाष्टक', 'श्री यमुनाष्टक', 'हित-वंशावली' और 'हित-चौरासी' के एक पद (५४) की

विस्तृत व्याख्या। इन रचनाओं में भी श्री अतिवल्लभजी ने श्री राधावल्लभ-सम्प्रदाय की रसिकता को नवीन दृष्टि प्रदान करने की चेष्टा की है। उनकी नव नवोन्मेषकारिणी प्रतिभा का चमत्कार इनमें भो दिखलाई देता है।

हित-चौरासी में मलार (वर्षा-वर्णन) का एक बहुत सुन्दर पद है जिसमें श्री हिताचार्य ने वर्षा से भींगकर निखरी हुई श्री वृन्दावन एवं श्री वृन्दावनाधीश्वर की नवीन छबि का वर्णन अपनी अनुपम शैली में किया है। उक्त सुन्दर पद को उद्धृत करने का प्रलोभन संवरण नहीं हो रहा है —

नयो नेह नव रंग नयो रस,
नवल श्याम वृषभान किशोरी।
नव पीताम्बर नवल चूनरी,
नयी-नयी बूंदन भीजत गोरी॥
नव वृन्दावन हरित मनोहर,
नव चातक बोलत मोर-मोरी।
नव मुरली जु मलार नई गति,
स्रवन सुनत आये घन घोरी॥
नव भूषन नव मुकुट विराजत,
नई-नई उरप लेत थोरि-थोरी।
(जैश्री) हित हरिवंश असीस देत मुख,
चिरजीवौ भूतल यह जोरी॥

इस पद में श्री वृन्दावन एवं श्री श्यामा-श्याम से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक क्रिया को नवीन बताया गया है। श्री अतिवल्लभजी ने अपनी व्याख्या में इस नवीनता को बड़ी विदग्धता से स्पष्ट किया है। उदाहरण के लिये—'नयो नेह'—श्रृंगार रस के द्वै विभाग, एक संयोग एक वियोग। यह नयो नेह ऐसो जो संयोग में सदा रहै अरु बढ़न वियोग सों नाहीं देखन सों है - ज्यौं-ज्यौं देखैं त्यों-त्यों बढ़ै, नित्य नयौ रहै—बढ़न निघटै नांही।'

'नयौ रस'—रस कहे ते श्रृंगार रस। ताकौ स्थायी भाव रति है, यह श्रृंगार रस लाल जू कौ स्वरूप है। या स्वरूप की स्थायी प्रियाजी के रूप में है। हित संधित है, रति संधित नांही। याते नयौ रस है।'

ल० च० गो०

अदारंग

अदारंग जाति के मुसलमान थे। ये प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह के दरबार के एक प्रवीण गायक रहे हैं। कृष्ण-भक्ति के पदों की रचना करके ये उन्हें संगीत में ढालकर अपने आराध्य (गोविन्द देव) को सुनाया करते थे। इनके सम्बन्ध में अन्य जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है।

इनकी भक्ति-भावना के स्वरूपव्यंजक दो छन्द द्रष्टव्य हैं—

(१)

ऐरी माई रंगीले लाल ने मेरो मन हर लीनो,
रंग सों रंग मिलनियाँ।
रंग रँगीली सेज बनाई रंग रँगीलो पिय पाया॥

(२)

नैक मोरी मानोजी हम जो कहत
तुम सों यह बतियाँ।
तिहारे ख्याल में रहत 'अदारंग'
आओ लगाओ उनको छतियाँ॥

ग० मि०

अनन्तदास अथवा भीकमदास

अनन्तदास का वास्तविक नाम भीखमशाह था। अनन्तदास इनका उपनाम था। ये हरिवंशदास के पुत्र और उन्नाव जनपद के डौड़िया खेर नामक स्थान के निवासी थे। ये जाति के ब्रह्मभट्ट थे। कालान्तर में ये अपने पुत्र खरगसेन की ससुराल, रायबरेली जिले के उजेहनी नामक गाँव में जाकर बस गये थे। कुछ दिनों तक ये अवध के नवाब शुजाउद्दौला के सूबेदार रहे। वहीं पर किसी सन्त के प्रभाव से भक्ति-मार्ग में चले आये। इन्होंने ज्ञान और भक्ति-सम्बन्धी उन्नीस ग्रन्थों की रचना की। इनका समय १८वीं शताब्दी माना जाता है। कृष्ण-लीला-सम्बन्धी इनका एक ग्रन्थ है—'कृष्ण-केलि' जिसमें महाभारत के आधार पर

कृष्ण के चरित्र का वर्णन है। इसका रचना-काल सं० १७८० है। प्रारम्भ में गणेश और दुर्गा की स्तुति की गयो है। यहाँ दो उदाहरण दिये जा रहे हैं—

(१)

वेद अरु धर्म के हेतु कौं गौरि सुत,
अहो समरस्त तुव सर्व जानी।
सर्वदेव मुनिवृन्द हित चहत त्रिपुरारि,
तुम आदि के पूज्य हरि ब्रह्म मानी॥
ज्ञान अरु ध्यान उपदेश उर मध्य में,
अहो समरस्त तुव सर्व जानी।
कवि भीख की गर्ज गजबदन सुनु,
अर्ज करु सिद्धि गन्नेस शुभ कृत बानी॥

(२)

दुर्गा तुम्ह परतक्ष हौ, लीन्ह्यौं पक्ष तुम्हार।
जानो सुद्ध असुद्ध ना, अक्षर अर्थ विचार॥
अक्षर अर्थ विचार सुमति, शुभ गति सुख पाइय।
त्रिभुवन आदि भुआर जासु यश सुर हर गाइय॥
कहि भीषम कविराय जासु जस बरनत सेसा।
ज्ञान बुद्धि अरु ध्यान हमैं दुरगै उपदेसा॥

वा० सिं०
कृ० च० ला०

अनन्तलाल गोस्वामी

श्री अनन्तलाल गोस्वामी राधारमण मन्दिर, वृन्दावन के सेवायत गोस्वामी वनमाली लालजी महाराज के एकमात्र पुत्र थे। इनका जन्म वि० सं० १९५० की कार्तिक कृष्णा पंचमी को हुआ था। इनके दीक्षा-गुरु पूज्यपाद विद्यावागीश गोस्वामी राधाचरणजी महाराज थे। इन्होंने श्रीमद्भागवत का अध्ययन अपने समय के अद्वितीय वक्ता श्री केशवदासजी महाराज से किया था। १८ वर्ष की अवस्था से ही इन्होंने श्रीमद्भागवत-सप्ताह बाँचना प्रारम्भ किया। भागवत, रामायण तथा गीता पर आपके प्रवचन मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान तथा पूर्व में अनेक स्थानों पर होते रहते थे। श्री राधारमणजी, श्री गोविन्ददेवजी तथा प्रेमावतार श्री चैतन्य महाप्रभु के पादपद्मों में इनकी विशेष भक्ति थी। इनकी अल्पायु में ही पिता, माता, पितामह, पितामही सबका वृन्दावन-वास हो गया था। ढाई वर्ष की अवस्था से ही वात्सल्यमयी मातामही की स्नेहपूर्ण सुशीतल छत्र-छाया में इनके पालन-पोषण, शिक्षा आदि कार्य हुए। ये बड़े मनस्वी और भजनानन्दी थे। जयपुर के श्री विश्वेश्वर गुप्त 'मधुर' इनके कृपापात्र शिष्य थे। लखनऊ के सुकवि बाँकेपिया को रचनाओं के ये बड़े प्रशंसक और प्रचारक थे। वृन्दावन के राधारमणजी के अनुगतों में अपने सुभाव, शालीनता और ठाकुर-सेवा के कारण इनका बड़ा सम्मान था। राधा-कृष्ण-भक्तिभाव में तो ये निरत रहते ही थे, देश की अनेक पत्रिकाओं में अच्छे लेख भी लिखते थे। इनका निधन कार्तिक शुक्ल ११, सं० २०२७ में हुआ। इनका जीवन-दर्शन इनके निम्नांकित उपदेशामृत से स्फुट होता है—

(१) इष्ट के प्रति श्रद्धासहित विश्वास रखो। (२) नामस्मरण से श्रद्धा, विश्वास, दर्शन की इच्छा दृढ़ होती है। (३) व्रज-रज, व्रज-रस, व्रज की लीला के तत्त्व तथा महत्त्व को अधिकारी सज्जन से जानने की चेष्टा करते रहो। (४) मनन-चिन्तन से ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान का सदुपयोग है—आचरण। (५) जीवन की सफलता तथा शरीर और मन की पवित्रता के लिए कुछ सत्‌नियमों का पालन आवश्यक है। (६) श्रीमद्भागवत, रामायण, गीता, चैतन्यचरितामृत आदि अनेक धार्मिक ग्रन्थों को श्रवण करने से अवगुणों से कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, दोषरहित होते हैं। (७) सत्संग से लाभ ही लाभ हैं। (८) दिव्यज्ञान एवं प्रभुभक्ति की प्राप्ति के लिए दीक्षा आवश्यक है। (९) परनिन्दा, दूसरों के दोषों में दृष्टि तथा मिथ्या-कथन पतन के कारण हैं। (१०) मन्त्रजप से मन में शान्ति आती है। (११) श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा दी हुई शिक्षा और उनके 'प्रेमधर्म' को समझकर पालन करने में श्रेय ही श्रेय है। (१२) आपत्ति-विपत्तिजनित संकट के समय में धीरज धारण कर नामस्मरण करने से संकट-काल शीघ्र समाप्त हो जाता है। (१३) गौ का पालन, गरीबों की सहायता सेवाभाव से होनी चाहिये, उपकार की भावना से नहीं। (१४) मान, अपमान, सम्मान को समान मानकर

रहने से अहंकार नहीं होता, जो पतन का कारण है। (१५) प्रभु के नित्य दर्शन-वन्दन से बन्धन कटते हैं, शान्ति प्राप्त होती है।

उपर्युक्त उपदेशामृत इनकी अध्यात्म-निष्ठा का प्रतीक है।

न० च० वं०

अनन्यअलि

'रसिक अनन्य परिचई' में अनन्यअलि के सम्बन्ध में कहा गया है—

श्री गुरु गोविन्द लाल धाम लीला जब कीनी।
लाइक सबविधि जानि टहल प्रभु गृह की दीनी॥
सो आज्ञा प्रतिपाल करी अति भक्ति सचाई।
देह अन्त परजन्त बंक गति सौं रसिकाई॥
हित पद्धति के भजन बिनु सुमति न रंचक जाहि चलि।
श्री व्यास सुवन पथ बाँकुरे बाँकी
अति निपट अनन्य अलि॥

चाचा हित वृन्दावनदासजी कहते हैं कि अनन्यअलि के गुरु श्री गोविन्दलाल गोस्वामी ने अपने लीला-प्रवेश के समय इनको पूर्ण योग्य समझकर अपने परिवार की सेवा में नियुक्त किया था। अनन्यअलि ने इस गुरु-आज्ञा का अपने जीवन के अंत तक भक्तिभावपूर्वक पालन किया। ये अपने भजन में श्री हित-पद्धति का पूर्ण रूप से अनुसरण करते थे। श्री अनन्यअलि श्री हिताचार्य के भक्ति-पथ के अनन्य अनुयायी थे।

इनके प्रारंभिक जीवन का कुछ परिचय इनको एक रचना 'स्वप्न-प्रसंग' से प्राप्त होता है। इसमें इनके पन्द्रह 'स्वप्न' संगृहीत हैं। इनमें से प्रथम नौ प्रसंगों में इन्होंने अपने सम्बन्ध में चर्चा की है। प्रथम प्रसंग में इन्होंने बताया है कि ये आठ वर्ष की अवस्था में अपने देश में ही श्री गोस्वामी गोविन्दलालजी के शिष्य हो गये थे और इन्होंने श्री हित चौरासी के पद उस अल्प आयु में ही कण्ठ कर लिये थे। ये पाँचों पद रास के हैं—'वेनु माई बाजै वंशीवट' (पद सं० ६४), 'मोहन मदन त्रिभंगी' (पद सं० ६३), 'आज नागरी किशोर भाँवती विचित्र जोर कहा कहो अंग-अंग परम माधुरी' (पद सं० १०), 'आज देख ब्रज सुन्दरी मोहन बनी केलि' (पद सं० १७), 'मदन मथन घन निकुंज खेलत हरि राधा रुचिर' (पद सं० ६५)। इन्होंने एक पद स्फुटवाणी का कंठस्थ किया था—'रहौ कोऊ काहू मनहि दिये' (पद सं० २०)। इन्होंने लिखा है कि 'यही पद सब बालकन संग हम गावैं और गवावैं—खेलत में, डोलत में, बैठत में, उठत में यही गावैं और पढ़ने का जाऊँ वहाँ यही गाऊँ—गवाऊँ, यही लिखो, यही पढ़ो, यही पढ़ाऊँ।'

द्वितीय प्रसंग में इन्होंने बताया है कि इसके बाद इन्होंने श्री ध्रुवदासजी की 'बयालिस लीला' में से 'श्री वृन्दावनशत' कण्ठ किया और सोते-जागते, उठते-बैठते उसीको रटते रहे। इस स्थिति में दो वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन स्वप्न में इनको किसीने आवाज देकर जगाया और कहा कि भगवानदास, श्री वृन्दावन चल। उसके बाद यह स्वप्न इनको बार-बार दिखाई देने लगा। स्वप्न में कोई इनकी कोठरी के किवाड़ों पर दस्तक देकर इन्हें जगाता। ये चौंककर जाग उठते और किवाड़ खोल देते। ऐसी घटना प्रतिदिन होते देखकर इनकी माता और भ्राता को चिन्ता हो गयी। भगवानदासजी ने उनको बताया कि प्रतिदिन मुझसे कोई वृन्दावन चलने को कहता है। किन्तु इनकी माता को विश्वास नहीं हुआ और वे यह मानने लगीं कि उनका लड़का पागल हो गया है। किन्तु इनके बड़े भाई श्रीजी के कृपापात्र थे। वे इनकी दशा देखकर शांत बने रहे और इन पर श्रीजी की कृपा मानते रहे। अनन्यअलिजी ने लिखा है कि जब तक ये श्री वृन्दावन नहीं पहुँच गये, तब तक इन्हें इस प्रकार के स्वप्न बराबर आते रहे।

तीसरे प्रसंग में अनन्यअलिजी ने बताया है कि 'मेरे भाई ने मुझे पूरी 'हित-चौरासी' कण्ठ करायी, किन्तु चौरासीजी का एक पद 'चलहिं किन मानिनि कुंज कुटीर' (पद सं० ३७) मुझे किसी तरह भी कण्ठ

नहीं हुआ। जब तक मैं बीस बरस का हुआ, तब तक ८३ पदों का ही पाठ करता रहा।

मेरी आयु के बीसवें वर्ष में मेरे भाई ने शरीर छोड़ा। जब मेरे भाई का शरीर छूटने का समय आया तब उनके शिष्यों ने उनसे पूछा कि भगवानदास से कुछ कहेंगे? भाई ने कहा कि मैं उससे क्या कहूँ, मैं सिर्फ इतना ही कहता हूँ कि वह श्रीजी का भजन करता रहे। अर्धरात्रि के समय भाई ने मुझे जगाकर कहा कि मुझे हित चौरासीजी का पाठ सुनाओ। मैं धीरे-धीरे पाठ करने लगा और सबेरे तक पाठ करता रहा। सबेरा होते ही भाई ने मुझसे कहा कि मेरा शरीर अब छूटनेवाला है। यह कहकर वे खाट पर से नीचे उतरे, स्नान किया, महाप्रसाद लिया और मुझसे कहा कि तुम ध्रुवदासजी की धमार—'देख सखी नवकुंज राधा लाल बने री' मुझे गाकर सुनाओ। यह धमार उन्होंने स्वयं भी गाई और अपने कृपापात्रों से भी गवाई। इस धमार को गाते-गाते उनका शरीर छूट गया और वे सखीस्वरूप प्राप्त करके निकुंज महल में प्रवेश कर गये।

सब लोग भाई के पार्थिव शरीर को ले जाकर उसका दाह-संस्कार कर आये। उनके सब कृपापात्र उस दिन हमारे घर ही रहे और अर्धरात्रि तक सबने मिलकर नाम-संकीर्तन किया। उसके बाद सब लोग सो गये और उनके साथ मैं भी सो गया। जब रात्रि एक पहर शेष रही तब आठ सखियों ने आकर मुझे जगाया। मैंने स्वप्न में ही उनसे कहा कि तुम लोग कौन हो और कहाँ से आयी हो? उनमें से एक सखी हँसकर बोली कि मैं तो तेरा भाई हूँ। मैंने उनसे पूछा कि तुम्हारा ऐसा स्वरूप कैसे हो गया तो उन्होंने कहा कि अब हमारा यही स्वरूप है। तू उठ बैठ। मैं तुझे चौरासीजी का वह पद याद कराता हूँ जो तुझे किसी तरह याद नहीं हो रहा था। यह कहकर उन्होंने 'चलहिं किन माननि कुंज कुटीर' वाला पद मुझे कंठ करा दिया। उसके बाद मैं जाग उठा और रुदन करने लगा। कृपापात्रों ने मुझसे पूछा कि भाई, तुम रोते क्यों हो? तुम्हारे भाई जब मरे तब तो तुम रोये नहीं किन्तु अब क्यों रो रहे हो? जैसे-जैसे सब लोग मुझसे रोने का कारण पूछते थे, वैसे-वैसे ही मेरी छाती फटी जाती थी और मैं रोते-रोते श्वास भी नहीं ले पा रहा था। मेरी यह दशा देखकर सब लोगों ने कहा कि अब ये भी बचेंगे नहीं। मैंने उन लोगों से कहा कि न तो तुम मुझसे बोलो और न ही मेरे पास आओ। मैं इसी तरह तीन दिन तक रोता रहा और कुछ खाया-पिया नहीं। चौथे दिन मेरा भावावेश कुछ कम हुआ और सब लोगों को शान्ति मिली।'

चतुर्थ प्रसंग में श्री अनन्यअलिजी ने बताया है कि 'भाई की मृत्यु के बाद मुझे फिर वही स्वप्न आने लगा जिसमें कोई मुझसे श्री वृन्दावन चलने को कहता था। अपने देश में ही एक दिन मुझे स्वप्न में श्री हितजी महाराज के समाधि मंडल तथा श्रीजी के मन्दिर और यमुनाजी के दर्शन हुए। थोड़े दिनों के बाद हमारे गुरुचरण श्री गोस्वामी गोविन्दलालजी महाराज हमारे गाँव में पधारे। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम अपना विवाह मत होने देना, हम तुम्हें श्री वृन्दावन ले जायेंगे और वे मुझे श्रीवृन्दावन ले आये।'

पंचम प्रसंग में इन्होंने बताया है कि ये सं० १७५९ ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया को श्री वृन्दावन पहुँचे थे। उस समय श्री राधावल्लभलाल आजानगढ़ (कामवन) में विराजते थे। अनन्यअलिजी के श्री वृन्दावन पहुँचने के लगभग २५-२६ वर्ष पूर्व बादशाह औरंगजेब की आज्ञा से श्री राधावल्लभजी का मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। कामवन में इन्होंने देखा कि 'सेवा में केवल श्री श्यामसुन्दर का स्वरूप विराजमान है और उनके निकट केवल एक गादी बचा रही है। 'सम्प्रदाय में श्री राधा की प्रधानता होते हुए भी सेवा में उनका प्रकट रूप न देखकर मैं द्विविधा में पड़ गया। उस दिन रात्रि को जब मैं सोया तब मैंने देखा कि मैं मन्दिर के जगमोहन में खड़ा हुआ दर्शन कर रहा हूँ। दूसरे क्षण में ही मैंने देखा कि श्री राधा की गादी से कोटि-कोटि दामिनी को लज्जित करनेवाला श्री प्रिया का स्वरूप प्रकट हो गया। श्री लाड़िलीजी ने मुझे,

हँसते हुए संकेत करके, अपने पास बुला लिया और मैं निज मन्दिर (गर्भमन्दिर) में सिंहासन के पास जाकर खड़ा हो गया। मैंने अन्दर जाकर देखा कि मेरे भाई भी सखीरूप में वहीं पर खड़े हुए हैं। उन्होंने मुझे डाँटते हुए कहा कि तू मन्दिर के अन्दर क्यों आ गया? मैंने कहा कि मैं तो लड़ैतीजी के बुलाने से आया हूँ। लड़ैतीजी ने भी मन्द-मन्द मुस्कराकर कहा कि यह तो हमारा है। सवेरे जब मैं सोकर उठा तो डेढ़-दो घण्टे तक रोता रहा।'

एक बार ये सेवाकुंज में अन्न-जल त्यागकर तीन दिन तक सघन वृक्षों के नीचे बैठे रहे। चौथे दिन रात्रि को स्वप्न में श्री राधा ने इनसे कहा कि, 'तू हठ मत कर, हम तो तेरे हृदय में नित्यक्रीड़ा करते रहते हैं। तू अपनी कुटी में जाकर प्रसाद ग्रहण कर।' इसके बाद ये जाग उठे और अपने को कृपा का अनाधिकारी समझकर रुदन करने लगे। प्रातःकाल होने पर कुछ रसिक भक्त इनको ढूँढ़ते हुए सेवाकुंज में पहुँचे और उन्होंने भी इनसे यही कहा कि इस धर्म में हठ करने से कोई काम नहीं बनता है। इस तरह से इनको समझा-बुझाकर वे वहाँ से उठा लाये।

दसवें और ग्यारहवें प्रसंग में अनन्यअलिजी ने दुष्ट अन्न-भक्षण के कुप्रभाव का एक उदाहरण दिया है। इनके गुरु श्री गोविन्दलाल गोस्वामीजी की एक वैश्याणी शिष्या थी। उसके पिता और भाई बादशाह औरंगजेब की नौकरी में थे। वैश्याणी अनन्यअलिजी से कुछ भेंट स्वीकार करने का आग्रह करती रहती थी किन्तु ये उसके घर में म्लेच्छों का धान्य समझकर स्वीकार नहीं करते थे। ये उससे कहते रहते थे कि 'बीबी, तेरे यहाँ म्लेच्छों का धान्य है। उसको खाने से हृदय मलिन होता है, भजन-भावना क्षीण होती है और इष्ट से विमुखता हो जाती है।' किन्तु वह वैश्याणी इनके पीछे पड़ी ही रही और निरन्तर आग्रह करती रही। निरुपाय होकर उसने एक दिन अपनी गुरुमाता के यहाँ खीर की रसोई कराई और उनको शपथ दिला दी कि आप भगवानदास को यह न बतावें कि यह खीर मैंने भोग लगाई है और उसको प्रसाद खिला दें। अनन्यअलिजी जब माताजी के पास प्रसाद ग्रहण करने पहुँचे तो उन्होंने इनको खीर भी परोसी। अनन्यअलिजी ने पूछा कि यह किसका मनोरथ है तो माताजी ने कह दिया कि यह मेरे द्वारा ही बनाई गई है। तुम कोई विचार न करके आनन्दपूर्वक प्रसाद ग्रहण करो।

रात्रि को जब ये सोये तो स्वप्न में देखा कि ये दिल्ली के कोट के एक द्वार पर खड़े हैं और इनके हाथ में शौच जाने के लिये मिट्टी का पात्र है। थोड़ी ही देर में इनको एक सवारी सामने से आती दिखाई दी। इन्होंने लोगों से पूछा कि यह किसकी सवारी है तो उन्होंने कहा कि तुम पहचानते नहीं हो—ये बादशाह औरंगजेब हैं। इन्होंने देखा कि चारों ओर से फौज चली आ रही है और बादशाह एक पालकी में बैठा हुआ है। उसकी सफेद लम्बी दाढ़ी है, भारी गर्दन है और उसने सफेद सादे वस्त्र पहन रखे हैं। उसके सामने कुरान की प्रति रखी है जिसको वह पढ़ता जा रहा है। यह सब देखकर ये घबड़ा गये और इनकी आँख खुल गयी।

दूसरे दिन जब ये गुरुजी के यहाँ प्रसाद पाने गये तब इन्होंने माँजी से पूछा कि आप मुझे सच-सच बतलाइये कि खीर किसने बनवायी थी? माँजी ने कहा कि पहले तुम यह बतलाओ कि तुम्हें उसका क्या प्रभाव दिखलायी दिया? इन्होंने उनको औरंगजेब-वाला पूरा स्वप्न सुना दिया। उसे सुनकर माँजी को बहुत कष्ट हुआ और उनके नेत्रों में जल भर आया। उन्होंने वैश्याणी को बुलाकर बहुत डाँटा और उससे कहा कि तू अपने अपराध के लिये क्षमा माँग। वैश्याणी घबड़ा गयी और भविष्य में ऐसा कोई कार्य न करने की शपथ ली।

ग्यारहवें प्रसंग में इन्होंने अन्न-दोष का एक अन्य उदाहरण दिया है।

बारहवें प्रसंग में अनन्यअलिजी ने कठोर वचन बोलने के दुष्परिणाम को अपने जीवन की एक घटना से उदाहृत किया है। इन्होंने बताया है कि 'एक दिन मैंने श्रीजी के कृपापात्र श्यामदास गुजराती से बहुत

कर्कश वचन कहे। मैंने उसको डाँटते हुए कहा कि तू दिनभर सोता रहता है, भजन बिलकुल नहीं करता है। यह बड़ी अनुचित बात है। तुझे श्रीजी का नाम लेना चाहिये, वाणी का पाठ करना चाहिये और सोना नहीं चाहिये। मेरे डाँटने से श्यामदास के मन में बड़ा कष्ट हुआ और इस अपराध से मुझे रात्रि में यमराज के दर्शन हुए। मैंने एक महाभयानक स्वरूप को आकाश से धनुष-बाण लिये हुए अपनी ओर दौड़ते हुए देखा। मैं बहुत डरा और उससे बचने के लिये भागने लगा। मैं जितना दौड़ता था, उसको अपने सामने पाता था। घबड़ाहट में मेरी आँख खुल गयी। मैं उठकर सीधा श्यामदास के पास गया और उसके चरणों में अपना मस्तक रखकर अपने अपराध की क्षमा माँगी।

पन्द्रहवें और अन्तिम प्रसंग में अनन्यअलिजी ने बताया कि एक दिन इनको बहुत जोर से ज्वर आया और ये अचेत हो गये। ये मानसी सेवा किया करते थे। अचेतावस्था में उस दिन रात के समय श्री लड़ैतीलाल को मानसी सेवा में ब्यालू करवाना भूल गये। अर्द्धरात्रि के बाद किसीने इनकी कुटी में पुकारकर कहा कि 'अनन्यअलि, तू उठ और हमें ब्यालू करा। हम बहुत देर से बैठे-बैठे तेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं।' स्वप्न में यह बात सुनकर ये जाग उठे और मन को सावधान करके मानसी में शयन-भोग अर्पण किया।

उपर्युक्त स्वप्नों से अनन्यअलिजी के जीवन से सम्बद्ध निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं—

१. अनन्यअलिजी का पूर्वनाम भगवानदास था।
२. इनके घर में पहले से ही श्री राधावल्लभीय उपासना चली आ रही थी।
३. इनके बड़े भाई श्री हितजी महाराज की भजन-पद्धति का आश्रय लेकर सिद्धावस्था को प्राप्त हुए थे।
४. इनके बड़े भाई के अनेक शिष्य भी थे। इससे सिद्ध होता है कि इनका वंश ब्राह्मणों का था। अनन्यअलिजी ने अपने स्वप्न में जो अपनी वणिक्-वृत्ति का उल्लेख किया है, वह केवल उदरपोषण के लिये प्रतीत होती है।
५. अनन्यअलिजी संवत् १७५९ में श्री वृन्दावन आये थे। उस समय इनकी आयु २० वर्ष की थी। अतः इनका जन्म संवत् १७४० के आसपास माना जा सकता है।
६. श्री वृन्दावन में ये श्री ध्रुवदासजी की कुटी के समीप रहते थे और जीवन के अन्त तक वहीं रहकर भजन करते रहे।
७. ये स्वभाव से अक्खड़ थे और अपने सिद्धान्तों के साथ किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं थे।
८. ये श्री हिताचार्य के द्वितीय पुत्र श्रीकृष्णचन्द्र गोस्वामी के वंशज गोस्वामी गोविन्दलालजी के शिष्य थे।

श्री अनन्यअलि की वाणी का विपुल विस्तार है। इनकी छोटी-बड़ी ८० रचनायें प्राप्त हैं। इनमें से सबसे छोटी 'जीविका को नेम' चार छन्दोंवाली है तथा सबसे बड़ी 'श्री हित हरिवंश जू की नामावली' में ३५१ दोहे हैं। उनकी वाणी के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

जुगल भजन की हाट करि, ऐसी विधि ब्यौहार।
रसिकन सौं सौदा बनै, चर्चा नित्यविहार॥
चित डाँडी पलरा नयन, प्रेम डोर सौं बानि।
हियौ तराजू लेहु कर, तौल रूप मन सानि॥

जल-विहार

लाड़िली लाल सहेलि महा,
उनमत्त रसासव खेल मचावैं।
बेलिनु छत्रिन पै चढ़ि कूदत,
नीर गंभीर सुपार न पावैं॥
दूर किती निकसंत हसंत,
लसंत उभै उर मोद बढ़ावैं।
श्री हरिवंश कृपाबल तै,
सर खेल अनन्यअली दरसावैं॥

पावस-विहार

पावस की रितु आइ सुहाई,
घटा रँग रंग वितानन ताने।

कौंधत हैं चपला चहुँ ओर,
मनो पिय के हिय आइ छिपाने ॥
भाँतिन भाँति वलाकन पाँति,
सुराग मलार विलास बखाने ।
श्री हरिवंश कृपाबल तैं,
वन बानि अनन्यअलि हरसाने ॥

वदन चंद की माधुरी, निरखत नवल किशोर ।
पान करत छवि की सुधा, तृपित न होत चकोर ॥
पगतल कल की माधुरी, नवल विमल चमकन्त ।
तिन में सुन्दर श्याम मुख, प्रतिबिंबित दमकन्त ॥
परसन कौं कर तरसहीं, दरसन दृग चपलाइ ।
होड़ परी भुज नैन सौं, लंपट अति तरलाइ ॥
ये भोरी वे बावरे, दोऊ एक हवाल ।
निरखि निरखि निज सखी सब,
कहत निहाल निहाल ॥
श्री राधा के पद कमल, विमल नवल सुखदाइ ।
श्याम भृंग जिनमें बसैं, लै मकरन्द अघाइ ॥
श्रीफल कंचन गिरि किधौं, कुन्दन कलस अनूप ।
उपमा सब फिसली परैं, सुनिकैं इनकौ रूप ॥

ल० च० गो०

अनन्य गोपालदास

'भक्तगाथा' में श्री अनन्य गोपालदास का परिचय निम्नलिखित रूप में मिलता है—

श्रीहित वल्लभ सेव्य, चाव चित में विस्तारचौ ।
ताही रस बस मगन, जगत छोई करि डारचौ ॥
वैराग्य ज्ञान जल धोय, मलिन हिय निर्मल जान्यौ ।
सुनि सेवक प्रन गिरा, अधिक उत्सव ठिक्र ठान्यौ ॥
करि वृन्दावन वास, व्यासनन्दन मन दीनो ।
मन भाई सब भई कुञ्ज क्रीड़ा रँग भीनो ॥
हित संगी रंगी भजन भाव भावना चाल ॥
झूंठा स्वामी कौ रहै दास अनन्य गोपाल ॥

अनन्य गोपालदासजी श्री झूंठा स्वामी की शिष्य-परम्परा में आते हैं। इन्हें श्रीहित राधावल्लभीय साधुओं के सत्संग से जगत् से ऐसा उत्कट वैराग्य हुआ था कि इन्होंने संसार को ईख की छोई की तरह त्याग दिया था। इस विरक्ति के साथ ही इन्हें गुरुवर की अहेतुकी कृपा से स्वस्वरूप और इष्ट के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो गया था। इस स्वरूपज्ञान की उपलब्धि होने से इनका हृदय माया के सभी विकारों से शून्य होकर ऐसा निर्मल बन गया था, जिसमें श्रीहित दम्पति की कुञ्ज-केलियों का स्फुरण हो सके। वृन्दावन में आकर इन्होंने अपना निवासस्थान उस श्रीहित रासमण्डल को बनाया जिसमें श्रीहितवल्लभजी महाराज की अष्टयाम-सेवा विराजमान थी और रसिकजन हित-पद्धति के अनुसार उनकी सेवा किया करते थे। इनकी सेवाभिरुचि देखकर तत्कालीन साधुओं ने श्रीहितवल्लभजी की सेवा इन्हें ही प्रदान कर दी थी और ये बड़े चाव से उसे सम्पन्न करते थे। श्रीहित रासमण्डल पर समय-समय पर श्री हरिवंश-चरित्रों का कथन-श्रवण होता रहता था, जिसे ये बड़े प्रेम से सुना करते थे। इसी क्रम में जब इन्होंने श्रीहित दामोदरदासजी (श्री सेवकजी) के चरित्र को सुना तो ये उनकी 'हरिवंश नाम-वाणी' से अत्यन्त प्रभावित हुए। इन्हें ऐसा लगा कि श्रीहरिवंश के रूप को एवं श्रीहरिवंश के धर्म को प्रकट करनेवाले एकमात्र श्री सेवकजी ही हैं। इनके हृदय में तभी एक ललक पैदा हो गयी कि हितोत्सव की भाँति श्री सेवकजी महाराज का जन्मोत्सव भी मैं क्यों न करूँ इन्होंने श्रीहित रासमण्डल पर जहाँ पर एक वटवृक्ष में श्री सेवकजी महाराज सदेह अन्तर्हित हो गये थे—उनका जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम से करना प्रारम्भ कर दिया और आजीवन उल्लास के साथ करते रहे। इस प्रकार से श्री हरिवंश भजन में निरत रहते हुए एवं श्रीहित-दम्पति की रसलीला की भावना से छके हुए इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया। इनका विद्यमान काल वि० सं० १७८० से १८६० के मध्य में अनुमानित होता है।

श्या० बिं० ख०

अनिरुद्ध गोस्वामी

अनिरुद्धजी गोस्वामी प्रद्युम्नलालजी के एकमात्र पुत्र थे। आपकी माता का नाम भम्भोदेवी था। आपका

जन्म कवि दूलहकृत स्तुतिपदों के अनुसार कार्तिक शुक्ल १३ चन्द्रवार सम्वत् १७४९ तथा तिरोधान सं० १७८२ में हुआ था। आपके सम्बन्ध में स्तुतिपद लिखते हुए उन्होंने इनको शान्त, परमसात्त्विक, अनासक्त और विदेह तक कह दिया है—

शान्तरूप नहिं द्वेषमन, सत्रुमित्र सम जान।
सुमन सुभग जिमि कर उभय, गन्धभेद नहिं मान ॥
तनविदेह नृप जनक जिमि, सुखदुख छुवत न गात।
जिमि जलसुत जल में रहै, क्षीर न परसै गात ॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि आपका जीवन परमहंस जैसा रहा। वंश-वृक्षावलि में आपकी सन्तान का उल्लेख न होने के कारण यह प्रतीत होता है कि आप आजीवन अविवाहित ही रहे। आपके कुछ ही पद प्राप्त हुए हैं, परन्तु अपने पिता श्री प्रद्युम्नलालजी की स्तुति सम्पूर्ण रूप में प्राप्त हुई है, जिससे इनके भाव-भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—

बन्दों आदि सरूप कों, जय श्री गोपीनाथ।
करुनाकर कसमलहरन, पतितन करत सनाथ ॥
लम्बोदर असरनसरन, एकरदन गजसीस।
विघनविनासन, सुखकरन, नमो नमो गन ईस ॥

आपका एक विनय-सम्बन्धी पद प्रस्तुत है —

श्री गोपीनाथ हमारे स्वामी।
जब तब करत सहाय भक्त हित सबविध
अंतरजामी ॥
हित प्रह्लाद खंभ ते निकसे
ततछन दैत्य संहारचौ।
इन्द्रकोप ते व्रजजन राखे करगोबरधन धारचौ ॥
पाण्डुवधू को नगन करन को, दुर्योधन हठ कीना।
द्वारापुर ते सुनि पुकार प्रभु
अंग न उघरन दीना ॥
गर्भ माँहि अभिमन्युसुत राख्यौ,
करुनामय सुखदाई।
ग्राह ग्रस्यौ गजपति को राख्यौ, दुखभंजन जदुराई ॥
कवन कवन गुन बरनै तेरे महिमा अपर तिहारो।
तैसेइ राख लीजै अनिरुध को दीनानाथ मुरारो ॥

सु० श०

अनिरुद्ध सिंह

महाराजकुमार नौने अनिरुद्ध सिंह जू का जन्म आषाढ़ मास, सं० १८८८ (१८३१ ई०) में जैतपुर (जिला हमीरपुर उत्तर प्रदेश में), हुआ था। आपके पिता का नाम महाराजकुमार गिरिवर सिंह जू था। ये धन्धेरे क्षत्रिय थे और जैतपुर के राज्य से सम्बद्ध थे। इसलिए इन्हें बाल्यकाल से ही अस्त्र-शस्त्र, लक्ष्यवेधन, अश्वारोहण आदि अनेक विद्याओं की अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई। इनके पूर्वज महाराज पारीछत के शासन में उच्च स्तर के सरदारों में रहे, किन्तु पारीछत के बन्दी होने और जैतपुर के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने से अनिरुद्ध सिंह ने जैतपुर छोड़ दिया। इनकी जागीर के भुजगुरा, भैंसवाई आदि गाँव अंग्रेजी राज्य के अन्तर्गत आ चुके थे, इस कारण ये पीरा (जिला छतरपुर) में निवास करने लगे, जो इन्हें बिजावरनरेश भानुप्रताप जू देव की फुआ के कन्यादान में मिला था।

बिजावर के राज्यप्रबन्ध में इनका काफी हाथ रहा, क्योंकि महाराज इन्हींसे प्रायः राय लेते थे। ये ज्यादातर महाराज के साथ ही रहे। उनके साथ इन्हें महीनों तक ब्रज में रहने का अवसर मिला, वहाँ के लीला-स्थल, वन-उपवन, कुण्डसरोवर, मन्दिर आदि के अनेक बार दर्शन किए। फलस्वरूप इनके हृदय में कृष्णभक्ति पल्लवित हुई। इन्होंने संवत् १९४३ में मौजा पीरा में श्रीराधारमण का मन्दिर बनवाया और भक्तिरस में लीन रहकर पूरा जीवन व्यतीत किया।

कहा जाता है कि श्री राधारमणजी की इन पर विशेष कृपा थी। एक बार बिजावर में चार बजे रात को श्री राधारमणजी ने इन्हें स्वप्न में दर्शन दिए और कहा कि आज रात को उनकी पूजा नहीं हुई। जैसे ही जगे, वैसे ही इन्होंने अपने मित्र देवीसिंह लुहानीवालों से यह घटना सुनाई। देवीसिंह ने कहा कि उन्हें पूजा की चिन्ता लगी रही होगी और कोई

समाधान था नहीं। इसी समय पीरा के चौकीदार ने सूचना दी कि पुजारी के कन्या-जन्म और सौर पड़ने के कारण मन्दिर की पूजा नहीं हो सकी, दूसरे पुजारी की व्यवस्था जरूरी है। इस तरह की कई घटनाएँ जनश्रुति में हैं, जिनसे अनिरुद्ध जू का राधाकृष्ण के चरणों का अनुराग और उन पर आराध्यदेव का अनुग्रह सिद्ध होता है।

अनिरुद्धसिंह राधावल्लभ-संप्रदाय के अनुयायी थे, पर इनके गुरु और दीक्षा के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। ये अन्त तक प्रेम से श्री राधारमण का उच्चारण करते रहे और अपनी भक्तिमयी अनुभूतियों को पदों में बाँधते रहे। इनका एक संग्रह 'भजनरत्नमाला' खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से प्रकाशित हुआ था। इनके पदों में बुन्देली मुहावरों के साथ भक्तिभावना अभिव्यक्त हुई है। उदाहरणस्वरूप दो पद यहाँ प्रस्तुत हैं—

लाडिलीजू के पति पद लाग रहौं ॥
तुम तौ नाथ अनाथ नाथ मैं और न सरन गहौं।
जप तप जोग नेम नहिं साधौं राधारमन कहौं ॥
भवसागर की भँवर लहर में अब नहिं भूलि बहौं।
अनरुधदास राधिका माधौ मेष की टेक सहौं ॥ १ ॥

चलो राधाप्यारी तुम्हैं हरि टेरे।
निसदिन नाम रटत हैं तेरो मुरली के सुर फेरे।
जमुना तट में तुव मग जोवत कल नहिं साँझ सबेरें ॥
जो नहिं मानो कहो हमारो तौ न बसब इह खेरें।
कह ललिता सुन लेव लाडिली फिर न मिलें बे हेरें ॥
अनरुधदास पराई अपनी समझ परत है।
न्याव निवेरें ॥ २ ॥

न० प्र० गु०

अनूप कुँवरि

निम्बार्क शोध मण्डल, वृन्दावन में उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह ज्ञात होता है कि अनूप कुँवरि का जन्म राजस्थान में किशनगढ़ (कृष्णगढ़) के निकट गुलगाँव और विवाह उणियारा में हुआ था। आचार्य वल्लभशरण का मत है कि अनूप कुँवरि पीसांगण की राजकुमारी थी। पीसांगण में भी कृष्णगढ़-घराने के राठौर राजाओं का ही राज्य था। तत्कालीन कृष्णगढ़-नरेश महाराज कल्याण सिंह (सं० १८५१-१८९५) को एक पत्र में अनूप कुँवरि ने भतीजा स्वीकार कर सम्बोधित किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनूप कुँवरि का जन्म १९वीं शताब्दी में हुआ था। अनूप कुँवरि के पत्रों में प्रायः तिथि का उल्लेख नहीं मिलता है। श्रीजी महाराज को लिखे एक पत्र में आपने कलजी, अजीतजी, ब्रजलालजी तथा बेटी हर कुँवरि की दण्डवत लिखी है। इससे प्रतीत होता है कि आपके तीन पुत्र तथा एक पुत्री थी।

अपनी वृद्धावस्था में अनूप कुँवरि ने वृन्दावन में वास किया था। इन्होंने आचार्यपीठ के अधिकारी को उणियारा में आचार्यश्री के पधारने के सम्बन्ध में एक पत्र लिखा था–'सर्वोपमा लाइक म्हाराज श्री राज दूधकारीजी बाबाजी दौलतरामजी रामकृष्णदासजी स्वयं रज अनोपा की दण्डौत वोधारज्यो। अठवुठ श्रीजी सहार है।''''श्रीजी म्हाराज पुरह तो लीषज्यो वुणीयार पधाऱ्याह तो पधार जद समाचार लिषज्यो श्री राधा माधोजी क थोड़ा पापड़ मेल्या, वाव्रडतो वुरको दीजो।'

सलेमाबाद (कृष्णगढ़) से लिखा गया श्री व्रजशरण देवाचार्यजी का पत्र (सं० १८१३) अनूप कुँवरि के नाम मिलता है। उससे स्पष्ट है कि उस समय अनूप कुँवरि वृन्दावन-वास कर रही थीं। पत्र में सकतावतीजी के न्यारे बैठने का निर्देश किया गया है। सकतावतीजी (फतेह कुँवरि) स्वर्गीय महाराज प्रतापसिंह की द्वितीय पत्नी तथा तत्कालीन कृष्णगढ़-नरेश कल्याणसिंहजी की विमाता थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि पितृगृह में कलह के कारण वि० सं० १८९२ में वे वृन्दावन चली गयी थीं।

अनूप कुँवरि का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। आपने मुक्तक पदों की रचना की थी। अभी तक के शोध में आपके केवल ४४ पद मिलते हैं। सभी पद

श्रीराधा-कृष्ण के रूप, शृंगार, लीला, बधाई तथा आत्मनिवेदन से सम्बद्ध हैं। कवयित्री अनूप कुँवरि को कृष्ण का वंशीधर रूप तो प्रिय था ही, साथ ही उन्हें नटनागर रूप भी अत्यधिक प्रिय प्रतीत होता है। इस रूप का एक चित्र देखिये—

(१)

(राग बिलावल)

लागे म्हाने नीकी ए टी बंशीवारो।
पीतांबर कछनी कटि काछे
मोर मुकट सिर नन्द दुलारो ॥
केसरि मलय तिलक रुचि राजे
मनमोहन ब्रज प्रान पियारो।
रूप अनूपम या छवि ऊपर
पुनि पुनि तन मन धन बलिहारो।

(२)

(राग टोडी)

वसन्त-विहार का वर्णन अत्यधिक चित्राकर्षक है—

स्याम सखि करत वसन्त विहार।
पीत कुसुम गजरा कर राजे
अबिर गुलाल उड़ावत द्वार।
पीत दुकूल धारि आँगन में
पीत फूल राजत उर हार।
पीतम रूप अनूप पोषि के
कीजै तन मन धन बलिहार।

इन्होंने ब्रजभाषा के अतिरिक्त राजस्थानी भाषा में भी पदों की रचना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनूप कुँवरि ने सर्वात्मभावेन कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण करने का निश्चय कर लिया था। इनका दृढ़ विश्वास था कि श्यामसुन्दर का अनवरत ध्यान करने से युग-युगों में अविचल भक्ति प्राप्त होगी—

(३)

(रागनियारा)

कान्ह कँवर की म्हे दासी बनी रहस्यां।
जो कहसी करिस्यां सो सजनी चरन कमल
कर जुग सो गहस्यां ॥
निशदिन तन मन सों हाजिर ह्वे,
तिहँ चख चितवन चित में चहस्यां।
रूप अनूप ध्यान मो धरि के,
जुग जुग भक्ति पदारथ लहस्यां ॥

व्रज युवती की श्यामसुन्दर से मिलने की उत्कट इच्छा है। अनूप कुँवरि ने पंजाबी भाषा का प्रयोग करते हुए उसके मन की भावना की झाँकी प्रस्तुत की है—

(४)

(राग काफी)

तैंडी सुरत दिल चांइयां।
सितम करै दी साडै चश्मे जुल्फ फन्द गल लाइयां॥
मीठे बोल कपोल गोल जुग मोती लटक सुहाइयां।
रूप अनूप रसिक छवि लखि के
कोटि मदन बलिजाइयां ॥

उपलब्ध रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि अनूप कुँवरि को शास्त्रीय संगीत का भी ज्ञान था, क्योंकि इनके प्रत्येक पद में राग आदि का उल्लेख मिलता है।

रा० प्र० कु०

अनूपजी नौनेरिया

(श्रीहित) अनूपजी नौनेरिया के सम्बन्ध में 'गुरुकृपा-चरित्रबेली' में निम्नलिखित विवरण मिलता है—

हित अनूप सों जुगल कौ जानौ अति ही हेत।
दुतिय नंद व्रज में मनौ कृष्ण जनम .सुख लेत॥
कृष्ण जनम सुख लेत ग्राम नौनेरौ कहिये।
जनम बधाई सजत रीति जैसी विधि चहिये॥
व्रज के संत महंत आपने ग्रेह बुलावैं।
खरचन कौं उद्दार साधु आगम सुख पावैं॥
तहाँ जाइ ता दृस भजन भींजत होत अचेत।
हित अनूप सौं जुगल कौ जानौ अति ही हेत॥९९॥

अनूपजी नंदगाँव के निकटस्थ नौनेरे ग्राम के निवासी थे। ये अपने घर पर 'श्रीकृष्ण-

जन्मोत्सव का विशाल आयोजन किया करते थे। इस धूमधामपूर्ण महामहोत्सव को देखकर ऐसा लगता था कि द्वापरयुग पुनः प्रकट हो गया हो और हित अनूपजी के रूप में नंदबाबा पुनः अवतरित होकर श्रीकृष्ण-जन्म का सुख प्राप्त कर रहे हैं।

श्रीहित अनूपजी इस उत्सव में व्रज के संत-महन्तों को अपने घर पर बुलाते और जब वे इनके यहाँ पहुँचते तो इनका हृदय प्रसन्नता से फूल उठता था। राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य गोस्वामी कुंजलालजी के शिष्य श्रीजुगलदासजी से, जो अपने समय के परम प्रतापी एवं प्रभावशाली महात्मा एवं समाज-संगीत के पूर्ण ज्ञाता थे, श्रीहित अनूपजी का हार्दिक प्रेम था। अतः इस अवसर पर ये उन्हें भी अपने पूरे साज-समाज के साथ आमंत्रित करते, फिर समाज-गान का अभूतपूर्व आयोजन होता था। चाचा श्रीहित वृन्दावनदासजी ने 'गुरुकृपा-चरित्रबेली' में निम्नांकित पदों का समाज-गान किये जाने का उल्लेख किया है—

१. आजु नंद के द्वार—गो० श्रीहित हरिवंशजी
२. अहो रानी जायौ मोहन पूत - श्रीमाधोदासजी
३. सुंदरि ब्र जकी बाला, जुरिचलीहैं बधाये
—श्रीनंददासजी

४. हौं महाराज भानुकुल ढोटी—
५ होरी कौ पद—श्रीरामदासजी

श्री जुगलदासजी के इस रसमय गान को सुनकर सारा समाज रसमय हो उठता था और हितअनूपजी तो प्रेमविह्वल होकर बार-बार इनके चरणों में गिरकर अपना आह्लाद प्रकट किया करते थे। चाचा श्रीहित वृन्दावनदासजी के शब्दों में —

श्री जुगलदास कौ भजन सुनि थकित सबै तिहिकाल।
मानौ नाद सवाद बस चकित मृगन की माल॥
रीझि रीझि चरनन परे हित अनूप लखि रंग।
श्रीकृष्ण जन्म उत्तम सुतरु उलहत प्रेम अभंग॥
—गुरुकृपा चरित्रबेली

समाज-गान की समाप्ति पर ये सभी को वस्त्र-आभूषणों से सम्मानित करते एवं विप्र-गुणियों को बहु-विधि दान देकर तुष्ट किया करते थे।

श्रीहित अनूपजी की प्रीति-रीति को देखकर चाचा श्रीहित वृन्दावनदासजी ने कहा है—

हित अनूप नौनेरिया, कृष्ण सखा उत्पन्य।
भक्ति सुजस जग में छयौ, सबै कहत धनि धन्य॥
—गुरुकृपा चरित्रवेली

इनका विद्यमान-काल विक्रम सं० १७९० से १८०० के मध्य सुस्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

अनूपीबाई

अनूपीबाई का जन्म अनुमानतः संवत् १७४२ में डेहरा-निवासी पं० प्रागदास (प्रयागदास) भार्गव के यहाँ हुआ था। संवत् १७५४ में आपका विवाह पं० हरप्रसादजी से हुआ। ये कृष्णभक्त थीं। ये संवत् १७९३ में चरणदासजी की शिष्या बनीं। रिश्ते में ये संत चरणदासजी की बुआ थीं।

म० गो० भा०

अब्दुर्रशीद खाँ

अब्दुर्रशीद खाँ मुसलमान कृष्ण-भक्त कवियों की समृद्ध परम्परा की सशक्त कड़ी थे। रसखान की भाँति इनका भी काव्य जन-मन-रंजनकारी है। १ जून सन् १९०० ई० को रायबरेली नगर के सैयदराजन मुहल्ले में जन्मे रशीदजी काबुल स्थित काकरजयी पर्वत के पठानों के वंशज थे। इनके पितामह श्री रहम खाँ रायबरेली में आकर बस गये थे। कृष्ण-भक्त रशीद का जन्म यहीं हुआ था। सन् १९१०-११ ई० में बालक अब्दुर्रशीद को भगवान् कृष्ण की ओर आर्कषित होने की प्रेरणा व्रजभूमि से आई एक रासलीला मंडली से प्राप्त हुई। इन्होंने इस लीला-मंडली की रासलीला को अन्त तक देखा और यहीं से कृष्ण-प्रेम की अतृप्त प्यास इनमें जाग उठी। सन् १९१९ ई० में प्राइमरी पाठशाला

के अध्यापन से सम्बद्ध ट्रेनिंग (प्रशिक्षण) के पाठ्यक्रम में गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस का सुन्दरकाण्ड स्वीकृत था। इसके दैनिक पाठ से ये शनैः शनैः हिन्दू-धर्म की ओर आकृष्ट होते चले गये। सन् १९२० ई० में सुश्री सलीमन से इनका विवाह हुआ। कालांतर में ये सात पुत्रों के भरे-पूरे परिवार के मुखिया बने।

श्वेत केश सिर पर सफेद दिल्लीवाल टोपी, प्रिय-दर्शन की अतृप्त प्यास से उद्विग्न चमकती आँखें और दूधिया दाढ़ी से युक्त गेहुएँ रंग का भरा-पूरा चेहरा ऐसी ही कुछ रशीदजी की मुखाकृति थी। इन्हें देखकर लोगों को मुसलमान कृष्ण-भक्त कवि रसखान का स्मरण अनायास ही हो आता था। यही कारण था कि लोक के बीच ये 'रसखानजी' के नाम से जाने और पुकारे जाते थे। पीतपटवारे की ओर इनके विशेष रूप से आकर्षित होने का कारण एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। जनवरी सन् १९५३ ई० में प्रादेशिक अध्यापक मंडल की बैठक मथुरा में आयोजित की गयी थी। रशीदजी रायबरेली जिले से प्रायमरी पाठशाला के अध्यापक-प्रतिनिधि वनकर वहाँ गये। इस प्रकार दैवी कृपा से अध्यापक-मंडल की बैठक में भाग लेने के बहाने व्रजभूमि आये रशीदजी को लगातार चौदह दिनों तक भगवान् कृष्ण की जन्म और कर्मभूमि का दर्शन करने का अवसर प्राप्त हुआ। इन चौदह दिनों में इन्होंने सम्पूर्ण व्रजभूमि का घूम-घूमकर दर्शन किया। कहते हैं वृन्दावन में ही एक अर्धरात्रि को भगवान्कृष्ण ने इन्हें बालरूप में दर्शन दिया। तभी से ये कृष्ण-प्रेम के दीवाने हो गये। कृष्ण-दर्शन की अतृप्त उत्कंठा से उद्वेलित होकर ही इन्होंने 'पुनः दर्शन करने को जी चाहता है' शीर्षक कविता की रचना की थी।

रशीदजी मुख्यतः सखाभाव के उपासक थे। इसीलिए अपने इष्टदेव को ये 'माखनचोर' कहकर ही सदैव सम्बोधित करते रहे। सखाभाव के साथ ही इनके कृष्ण-भक्ति काव्य में माधुर्यभाव की भी झलक मिलती है। इसके अतिरिक्त शांत, दास्य और वात्सल्य भावों का भी सुंदर सामंजस्य इनके कृष्ण-काव्य में विद्यमान है। सूर आदि वैष्णव कवियों की भाँति आधुनिक रसखानजी ने राम, शिव तथा गंगा के सम्बन्ध में भी छंद-रचना की है। दोहा और सवैया छंद रशीदजी को विशेष प्रिय थे। अतः उनकी बहुलता इनके काव्य में है। घनाक्षरी, छप्पय, कुंडलिया इत्यादि छंद भी प्रयुक्त हुए हैं। रशीदजी के कृष्ण-प्रेमपूरित काव्य की कुछ बानगी नीचे दी जाती है—

(१)

श्वेत श्वेत लखि कचन कहँ वृद्ध कहै जनि कोय।
खोजन में घनश्याम के, गयी श्यामता खोय॥
माखन चोरी काह है, लियो पाव द्वै पाव।
जब जानी की चोर हौ, मन-मन भरि लै जाव॥

(२)

पायन पखारि अश्रुधार ही सों बार-बार,
बारि कामना को दीप आरती उतार लो।
प्रेम के सुमन गूँथ मंजुल बना के माल,
साँवरे सलोने गार कर हो सों डार लो॥
भाषत रशीद हृदयासन बिठा के शीघ्र,
नयन झरोखन सों हरि को निहार लो।
जीवन सफल कर उर में जगा के पीर,
नंद के किशोर चितचोर को पुकार लो॥

(३)

अँखिया दुखिया नित ही तरसैं,
तुम आन से नेह लगाते रहो।
बिसराते रहो मोहि जान अयोग,
बियोग की ज्वाल जलाते रहो॥
यह न्याव कहाँ का गोपाल भला,
कल पाके मुझे कलपाते रहो।
बिनती है बिनीत रशीद यही,
ब्रज में घनश्याम बुलाते रहो॥

(४)

पुनः दर्श करने को जी चाहता है।
तेरे प्रेम की बेसुधी चाहता है॥

उसी छबि से घनश्याम इकबार आओ।
वही धरिके अधरों पे मुरली बजाओ॥
उसी भाँति मधुवन की गऊँऐ चराओ।
वही पाठ गीता के आकर सुनाओ॥

'रशीद' एक अभिलाष मन में यही है।
तेरे प्रेम की ये जो सरिता बही है॥
न हो शुष्क बस जो बही सो बही है।
जिसे भी लिखूँ जाने मूरत वही है॥

विलग तुझसे रहना नहीं चाहता है।
पुनः दर्श करने को जी चाहता है॥

(५)

आवत हौ नित नैनन बीच,
धरे मुरली अधरान बजावत।
भावत सीस सुकुण्डल क्रीट,
पितम्बर पीत छटा अपनावत॥
नावत शीश 'रशीद' रहै
नित ही पद पंकज श्याम को लावत।
लावत ही परकास करै उर
सुन्दर श्याम की मूरति आवत॥

(६)

अरुण नयन कर पद कमल, पीत बासन को कंत।
जो लागो उर ते रहै, अपनो सदा बसंत॥

१३ अगस्त सन् १९८१ को ईद-त्योहार के उत्साहपूर्ण वातावरण के बीच आधुनिक रसखान ने अपने आराध्यदेव के सन्निकट रहकर निरन्तर दर्शन करते रहने के लिए इस पार्थिव शरीर को त्याग दिया।

रा० पां०

अब्दुर्रहीम खानखाना

अब्दुर्रहीम खानखाना हिन्दी में रहीम कवि के नाम से जाने जाते हैं। इनके पिता बैराम खाँ तातार (तुर्क) थे। वे प्रथम मुगल बादशाह बाबर और उसके पुत्र हुमायूँ के विश्वसनीय सेनापति रहे हैं। हुमायूँ को पुनः दिल्ली के सिंहासन पर बैठाने का श्रेय उन्हींको है। हुमायूँ के देहावसान के बाद वे शाहज़ादा अकबर के संरक्षक बने। संयोगवश उसी वर्ष (१५२६ ई०) में रहीम का जन्म हुआ। इनकी माँ अकबर की मौसी थीं। शाही खानदान से ये एक अन्य सम्वन्ध से भी जुड़े थे। इनके पिता बैरामखाँ का दूसरा विवाह बाबर की नतिनी सलीमा सुल्ताना से हुआ था। बादशाह से बैरामखाँ की अत्यधिक घनिष्ठता कुछ दरबारियों से देखी न गई। उन्होंने चुगली करके अकबर को बैरामखाँ के विरुद्ध कर दिया। बैरामखाँ ने बादशाह के व्यवहार से रुष्ट होकर बगावत कर दी। किन्तु असफल हुए। अकबर ने पुराने एहसानों को दृष्टि में रखते हुए क्षमा तो कर दिया, किन्तु उन्हें तत्काल हज पर चले जाने का आदेश दिया। उसके अनुसार ये हज के लिए रवाना हुए, किन्तु अभी गुजरात तक ही पहुँचे थे कि मुबारकखाँ नामक एक पठान ने उन पर आक्रमण कर दिया। बैरामखाँ इस संघर्ष में मारे गये और उनका सारा सामान लूट लिया गया। इस समय रहीम चार वर्ष के थे। पिता की मृत्यु के बाद अकबर ने पूरे परिवार के निर्वाह तथा इनके शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। थोड़े ही दिनों में इन्होंने फारसी, अरबी में ही नहीं, संस्कृत में भी दक्षता प्राप्त कर ली। इतिहासकार अब्दुल बाकी के अनुसार ये ११ वर्ष की अवस्था में ही काव्य-रचना करने लगे थे।

सम्राट् अकबर की प्रेरणा से मुगल सामन्त मिर्जा अजीज कोकलताश की बहन बाबू बेगम के साथ इनका विवाह हो गया। किशोरावस्था से ही इनमें युद्धवीर के लक्षण स्पष्ट होने लगे थे। १९ वर्ष की आयु में बादशाह के आदेश पर इन्होंने गुजरात पर आक्रमण करके विद्रोहियों का दमन किया और वहाँ के सूबेदार नियुक्त हो गये। एक बार तो इन्होंने अपनी दस हजार सेना से शत्रुओं की चालीस हजार सेना परास्त कर अतुल शौर्य तथा सैन्य-सञ्चालन-प्रतिभा का परिचय दिया। एक कुशल सेना-नायक के रूप में इन्होंने सिन्ध, अहमदनगर तथा दक्षिण के अन्य राज्यों पर विजय प्राप्त करके मुगल-साम्राज्य की कीर्ति-पताका सुदूर दक्षिणी प्रदेशों में फहराई। इस प्रकार

अकबर के शासन-काल में प्रतिष्ठा तथा लोकप्रियता की चरम सीमा का स्पर्श कर उनके दिवंगत होते ही रहीम के बुरे दिन आ गये। इनका दामाद शाहजादा दानियाल अत्यन्त मद्यपान के कारण भरी जवानी में ही काल-कवलित हो गया। पत्नी का भी अकस्मात् देहावसान हो गया। जहाँगीर की इन पर कृपादृष्टि थो किन्तु नूरजहाँ की वक्रदृष्टि के कारण इन्हें राजकोप का भाजन होना पड़ा। वह अपने दामाद शहरयार को उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी। रहीम उसका समर्थन न कर सके इसलिए इनकी जागीर छीन ली गई और ये कैद में डाल दिये गये। नूरजहाँ ने इन्हें दण्डित तथा अपमानित करने के विचार से एक दिन इनके पुत्र दराबखाँ का सिर कटवाकर एक सजी हुई थाल में रखकर उनके पास जेलखाने में यह कहकर भेजवाया कि बादशाह ने उनके लिए तरबूज उपहार में भेजा है। आवरण उठाते ही पुत्र का खून से सराबोर सिर देखकर ये स्तम्भित हो गये। इनके मुँह से सहसा निकल गया 'तरबूज शहीदी' है। अन्ततः १६२५ ई० में जहाँगीर ने इन्हें कैद से मुक्त कर दिया। जीवन-रक्षा के लिए ये दिल्ली छोड़कर चित्रकूट चले गये।

कहा जाता है कि वहाँ एक दिन क्षुधा-शान्ति के लिए जब एक भड़भूजे से भूजा प्राप्त करने के लिए ये उसके भाड़ में पत्तियाँ झोंक रहे थे तो सहसा रीवाँ-नरेश रामचन्द्र उसी मार्ग से निकले। खानखाना से वे भलीभाँति परिचित थे। इन्हें इस स्थिति में देखकर वे आश्चर्यचकित हो वे बोले—

जाके सिर अस भार, सो कत झोंकत भार अस।

रहीम ने दोहे की दूसरी पंक्ति पूरी करते हुए तत्काल उत्तर दिया—

रहिमन उतरे पार, भार झोंकि सब भार में।

इसके बाद अपने सामन्त मित्र द्वारा दिल्ली छोड़कर चित्रकूट आने का कारण पूछने पर इन्होंने काव्यमयी भाषा में निवेदन किया—

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेस।
जापर बिपदा परति है, सो आवत यहि देस॥

भाग्य के चक्र ने किसी समय मुगल-शासन के प्रधान स्तम्भ को पैसे-पैसे का मुहताज बना दिया था। किन्तु उसे अपनी यह मुफलिसी उस समय मर्मान्तिक पीड़ा देती थी जब इन्हें पूर्व जीवन से परिचित याचकों को यह कहकर निराश लौटाना पड़ता था—

ते रहीम दर दर फिरैं, माँगि मधुकरी खाँहि।
यारों यारी छोड़ दो, वै रहीम अब नाँहि॥

ऐसे अप्रतिम दानी, महान् सेनानायक, अद्भुत काव्य-प्रतिभा के धनी, उदार महापुरुष के जीवन के अन्तिम क्षण बड़ी आपत्ति में बीते। पुत्र, स्त्री, दामाद, पुत्री, जागीर और राजकृपा सब कुछ खोकर अभाव और अवहेलना की यातनाएँ झेलते हुए १६२६ ई० में इनकी दंशपूर्ण जीवन-यात्रा पूरी हो गई।

रहीम की दानशीलता, सहृदयता तथा विदग्धता से सम्बद्ध अनेक जनश्रुतियाँ परंपरया लोक प्रचलित हैं। कुछ नीचे दी जा रही हैं—

इनकी दानशीलता तथा विनम्रता को लक्ष्य करके एक बार किसी कवि ने कहा, 'रहीम के हाथ दान के लिए ज्यों-ज्यों ऊपर उठते हैं त्यों-त्यों इनकी नजर नीची होती जाती है।' इसके उत्तर में रहीम ने तत्काल निम्नांकित दोहा कहा--

देन हार कोउ और है, भेजत है दिन रैन।
लोग भरम हम पर धरैं, ताते नीचे नैन॥

एक दिन एक अत्यन्त रूपवती स्त्री इनके पास आई। उसने इनके चरणों पर सिर रखकर बड़ी विनम्रता से निवेदन किया, 'मेरी इच्छा है कि आपके संसर्ग से मुझे आपके समान ही रूपगुणसम्पन्न पुत्र प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो। इसे पूरा करने की कृपा करें।' रहीम ने बड़े ही मधुर शब्दों में उसे समझाते हुए कहा, 'एक तो हमारे संसर्ग से तुम्हें पुत्र की प्राप्ति हो यह निश्चित नहीं है, दूसरे हो भी तो वह

जैसा तुम चाहती हो वैसा ही हो, यह और भी अनिश्चित है, ऐसी स्थिति में अपनी मनोकामना को पूरी करने के लिए अच्छा है कि तुम मुझे ही अपना पुत्र मान लो।' रहीम के इन शब्दों को सुनकर वह पानी-पानी हो गई और इनकी सच्चरित्रता पर मुग्ध होकर चरणों पर गिरकर क्षमा-याचना करने लगी।

इसी प्रकार रहीम की सहृदयता तथा काव्य-मर्मज्ञता-विषयक एक कथा प्रसिद्ध है—

एक बार सम्राट् अकबर के दरबार में तानसेन ने निम्नांकित पद गाया—

जसुदा बार-बार यों भाखै।
है कोउ ब्रज में हितू हमारो चलत गोपालहि राखै॥

बादशाह ने उपस्थित दरबारियों से बारी-बारी से इसका अर्थ करने को कहा।

'क्रम तानसेन से ही आरम्भ हुआ। उन्होंने उक्त पद का अर्थ इस प्रकार किया—'यशोदा पुनः पुनः यह पुकार लगाती है कि व्रज में हमारा कोई ऐसा शुभचिंतक है जो अक्रूर के साथ जाते हुए मेरे गोपाल को रोक ले।'

शेख फैज़ी ने अर्थ किया, 'यशोदा बार-बार रो-रोकर यह रट लगाती है।' बीरबल के अनुसार 'बार-बार' का अर्थ है–'द्वार-द्वारपर जाकर यशोदा पुकार लगाती है।' खाने आज़म कोका नेकहा, 'बार' का अर्थ दिनहै और इस आधार पर इसका अर्थ है—'यशोदा हररोज़ यही रटती रहती है।' अन्त में अकबर ने अब्दुर्रहीम खानखाना से पूछा। तब रहीम ने कहा—'चूँकि तानसेन गायक हैं, इन्हें एक ही पद बार-बार अलापना रहता है, इसलिए इसी आधार पर इन्होंने 'बार बार' का भाव पुनरुक्ति समझा। शेख़ फैज़ी फारसी के शायर हैं, इन्हें रोने के सिवा और क्या काम है। बीरबल द्वार-द्वार घूमनेवाले ब्राह्मण हैं इसलिए इन्हें 'बार-बार' का अर्थ 'द्वार-द्वार' ही उचित लगा। खाने आज़म कोका नजूमी (ज्योतिषी) हैं, इन्हें तिथि-वार से ही वास्ता रहता है। इसलिए 'बार-बार' का अर्थ इन्होंने 'दिन-दिन' किया। पर हुज़ूर, इसका वास्तविक अर्थ यह है कि यशोदा का बाल-बाल अर्थात् रोम-रोम पुकारता है कि कोई तो मिले जो मेरे गोपाल को ब्रज में रोक ले। ऐसी मार्मिक व्याख्या की अब्दुर्रहीम खानखाना ने जिससे उनकी उस गहरे हिन्दुस्तानी रंग का प्रमाण मिलता है, जो रोमाञ्च को सात्त्विक भाव मानता है, रोम-रोम में ब्रह्माण्ड देखता है; रोम जैसे सूक्ष्म अङ्ग को भी प्राणों का सन्देश-वाहक मानता है, और वनस्पति मात्र को विराट् प्रकृति का रोमाञ्च मानता है।'

ऐसे गुणग्राही, काव्यपारखी तथा संवेदनशील रहीम की प्रशंसा में फ़ारसी और हिन्दी के अनेक कवियों ने स्तुतियाँ लिखीं, जिनमें केशवदास, मंडन, गंग, हरनाथ, अलीकुली खाँ, मीर मुर्दरिस, अलीकुलीबेग, मुल्ला हयाते जीलानी, माहवी हमदानी, उर्फी, तारा कवि, मुल्ला मुहम्मद रज़ानवी, मुकुन्द कवि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

गोस्वामी तुलसीदास इनके समकालीन थे। एक सहृदय कवि और भक्त होने से रहीम से उनका प्रगाढ़ स्नेह-सम्बन्ध था। प्रसिद्ध है कि एक बार एक गरीब ब्राह्मण गोस्वामीजी के पास कन्या के विवाह के लिए सहायता माँगने आया। उसकी आवश्यकता की वास्तविकता का अनुभव कर गोस्वामीजी ने उसे निम्नांकित पंक्ति लिखकर रहीम के पास भेजा—

सुरतिय नरतिय नागतिय, यह चाहत सब कोय।

ब्राह्मण उसे लेकर रहीम के दरबार में उपस्थित हुआ। उदारमना रहीम ने उसका यथोचित आदर-सत्कार करके पर्याप्त धन दिया। उत्तर में दोहे की दूसरी पंक्ति पूरी करके उसके हाथ गोस्वामीजी के पास भेज दिया—

गोद लिये हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय॥

रहीम हिन्दी, संस्कृत तथा फ़ारसी के अधिकारी विद्वान् ही नहीं थे, ये उच्चकोटि की काव्य-रचना

भी करते थे। अब तक इनकी निम्नांकित कृतियाँ प्रकाश में आई हैं—

१. रहीम सतसई, २. बरवै नायिका-भेद, ३. रास-पंचाध्यायी, ४. मदनाष्टक, ५. दीवान (फ़ारसी कविताओं का संग्रह), ६. 'वक़ायात-बाबरी' का फारसी अनुवाद, ७. श्रृंगार सोरठा।

इनमें से रहीम सतसई, बरवै नायिका-भेद, मदनाष्टक तथा रास-पंचाध्यायी में इनके कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी छन्द प्राप्त होते हैं। कृष्ण के प्रति आत्म-निवेदन, गोपियों की रूपासक्ति, कृष्ण के मथुरा-गमन पर नंद-यशोदा और गोपियों की व्याकुलता, कृष्ण की भक्तवत्सलता आदि के वर्णन में इनकी वृत्ति विशेष रूप से रमी है। नीचे इनके भक्तिभाव-व्यंजक कुछ छन्द दिये जाते हैं—

(१)

जे रहीम मन आपनो, कीन्हो चारु चकोर।
निसि बासर लागो रहै, कृष्णचन्द्र की ओर॥

रहिमन कोऊ का करै, ज्वारी, चोर, लबार।
जो पत राखनहार हैं, माखन, चाखनहार॥

जौ रहीम करबौ हुतौ, ब्रज को इहै हवाल।
तौ काहे कर पर धर्यौ, गोवर्धन गोपाल॥

(२)

कमल दल नैनन की अनुमान।
बिसरत नाहि सखी मो मन ते मन्द मन्द मुसकानि।
बसुधा की बसकरी मधुरता सुधा पगी मुसकानि॥
मढ़ी रहै चित उर बिसाल की मुकुत माल थहरानि।
नृत्य समय पीताम्बर हू की फहर फहर फहरानि॥
अनुदिन श्री वृन्दावन व्रज ते आवन आवन जानि।
अब 'रहीम' चित ते न टरति है सकल स्याम की बानि॥

(३)

सुमिरौं मन दृढ़ करिकै नंद कुमार।
जे वृषभान कुँवरि के प्रान अधार॥
लखि मोहन की बंसी, बंसी जान।
लागत मधुर प्रथम पै, बेधत प्रान॥

(४)

अनीता नटवामया तव पुरः श्रीकृष्ण या भूमिका।
व्योमाकाश खखांवराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि॥
प्रीतस्त्वं यदि चेन्निरीक्ष्य भगवन् स्वप्रार्थित देहि मे।
नोचेद् ब्रूहि कदापि मानय पुनस्त्वेतादृशीं भूमिकाम्॥

'हे श्रीकृष्ण! आपकी प्रसन्नता के लिए आज तक मैं नट की चाल पर आपके सामने लाया जाने से चौरासी लाख रूप धारण करता रहा। हे परमेश्वर! यदि आप इसे देखकर प्रसन्न हुए हों तो जो मैं माँगता हूँ उसे दीजिये और प्रसन्न न हों तो ऐसी आज्ञा दीजिए कि मैं फिर कभी ऐसे स्वांग धारण कर इस पृथ्वी पर न लाया जाऊँ।'

(५)

रत्नाकरोस्तु सदनं गृहिणी च पद्मा,
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधा गृहीत मनसे, मनसे च तुभ्यं,
दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण॥

'रत्नों की खान समुद्र आपका गृह है और लक्ष्मी आपकी भार्या हैं तब हे जगदीश्वर! आप ही बतलाइए कि आपको देने योग्य क्या बच गया? राधिकाजी ने आपका मन हरण कर लिया है, जिसे मैं आपको अर्पित करता हूँ, ग्रहण कीजिए।

सं०

अब्दुल जलील

अब्दुल जलील सं० १७३८ वि० में बिलग्राम (जिला हरदोई उ० प्र०) में पैदा हुए थे। ये अरबी, फ़ारसी के अच्छे पंडित थे। अपनी कविताओं में ये अवधी और ब्रजबोली का प्रयोग करते थे। सम्राट् औरंगजेब के यहाँ ये उच्च पद पर थे। इनका कोई काव्यग्रंथ प्राप्त नहीं होता। केवल स्फुट छन्द मिलते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति आत्म-निवेदन को प्रकट करनेवाले इनके बरवै बड़े प्रसिद्ध हैं। उनके कुछ नमूने यहाँ प्रस्तुत हैं—

अधम उधारन नमवा सुनि कर तोर।
अधम काम की बतिया गहि मन मोर॥

मन बच व्यापक निशिदिन अधमी काज।
करत करत मन भरिगा हो महराज॥

बिलगराम कर वासी मीर जलील।
तुम्हरि शरण गहि गाढ़े ये निधिशील॥

सं०

अभयराम

अभयराम जगद्गुरु निम्बार्काचार्य पीठाधिपति श्रीनिम्बार्कशरणदेवाचार्यजी के कृपापात्र थे। इनके जन्म संवत् का ठीक-ठीक पता नहीं चलता किन्तु अन्तःसाक्ष्य एवं वंशपरम्परा आदि के आधार पर सिद्ध होता है कि इनका जन्म १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ होगा। ये जाति के गौरए ठाकुर थे। इनका निवास-स्थान श्रीधाम वृन्दावन का दुसायत मुहल्ला था। ये तत्कालीन मुकद्दम लम्बरदारों में अग्रगण्य थे। इन्होंने अपने समय के वृन्दावन के प्रायः सभी मन्दिरों का वर्णन किया है, किन्तु श्रीजी मन्दिर (निर्माणकाल सं० १८८३), रंगमन्दिर (निर्माणकाल सं० १९०९) जैसे विशाल मन्दिरों का आपने उल्लेख नहीं किया, जिससे प्रतीत होता है कि आपका देहावसान सं० १८८० के आसपास या इससे कुछ पूर्व ही हो गया होगा।

कवि-गोष्ठियों में इनकी काफी धाक थी। आपके अनेक पद वृन्दावन-वासी साधु-समाज एवं रसिकजनों में बहुत ही लोकप्रिय थे।

वि० सं० २००९ में राधावल्लभीय महात्मा श्री तुलसीदासजी द्वारा 'श्री वृन्दावन–रहस्य-विनोद' के तीसरे भाग का प्रकाशन हुआ। इसके अन्तर्गत वृन्दावन के गोपीश्वर, वृन्दादेवी, मदनगोपाल (संभवतः यह मदनमोहनजी के मन्दिर का पूर्वनाम होगा), कालीमर्दन, मनमोहन, युगलविहारी, कुञ्जविहारी, दूसरे कुञ्जविहारी, राधामोहन, राधामाधव, राधावल्लभ, राधाकान्त, अटलविहारी (नागाजी की कुञ्ज, विहारघाट), रसिक, विहारी, छैलचिकनियाँ, जुगलकिशोर, गंगामोहन, नवलगोविन्द, राधारमण, यशोदानन्दन, साखीगोपाल, चतुर शिरोमनि आदि अनेक मन्दिरों की चर्चा की गयी है। यह चर्चा तत्कालीन मन्दिरों की स्थिति का भी चित्र प्रस्तुत करती है।

श्री नागरीदासजी के 'वन-जन-प्रशंसा' की तरह आपने भी व्रज-वृन्दावन के तुच्छ-से-तुच्छ प्राणियों और पदार्थों जैसे चींटी, रेणु, लत्ता, पत्ता आदि की भी प्रशंसा में अनेक पदों का निर्माण किया है। यह आपकी वृन्दावन के प्रति अटूट निष्ठा का परिचायक है। एक पद देखिए—

एक व्रज-रेणुका पै चिन्तामनि वारि डारौं,
लोकन को वारौं सेवाकुञ्ज के विहार पै।
लतन के पातन पै कल्प वृक्ष वारि डारौं,
रम्भाहू को वारि डारौं गोपिन के द्वार पै॥
व्रज पनिहारिन पै शची रती वारि डारौं,
वैकुण्ठहि वारि डारौं कालिन्दी धार पै।
कहैं अभयराम एक राधेजू को जानत हौं,
देवन को वारि डारौं नन्द के कुमार पै॥

आपकी दृष्टि में वृन्दावन की अकिंचन वृद्धाएँ सच्ची साधक हैं, जो अत्यन्त वृद्ध होने पर भी कड़कड़ाती ठंढ में अपने नित्य यमुना-स्नान-व्रत को नहीं छोड़तीं। वे स्नान को जाती हुई सिकुड़ती हुई ऐसी प्रतीत होती हैं मानो अभी ही परमधाम को प्राप्त हो जायेंगी—

धन धन वृन्दावन की डुकरियाँ।
प्रात होत जमुना को जावें, सुकरी जाँय सुकरियाँ॥
आसन बासन घर में नाहीं, नाहीं हँडिया परियाँ।
अभयराम ये हू बड़भागिनि, इनकी त्यार लकरियाँ॥

प्रे० ना० श्री०

अमरदास

सनन्दनादिप्रवर्तित द्वैताद्वैत सिद्धान्तानुयायी पंडित-प्रवर सर्वशास्त्रनिष्णात श्री अमरदासजी एक गण्यमान्य सन्त थे। आप सदा प्रियालाल की सेवा में निमग्न रहते

थे। समय-समय पर यदि कोई जिज्ञासु आकर आपसे अपने विचार प्रकट करता तो आप स्वसम्प्रदाय-सिद्धान्तानुसार ही नहीं बल्कि किसी भी सिद्धान्त के अनुरूप उसकी निष्ठा उसीमें पुष्ट कर देते थे।

प्रे० ना० श्री०

अमरेशकुमार

अमरेशकुमार ने श्रीकृष्ण-लीला-सम्बन्धी 'राधा-कृष्ण रूप युगल विलास' नामक ग्रन्थ की रचना सं० १९२३ में की थी। इन्होंने ग्रन्थ में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि ये शाहपुर के राजा या राजकुमार थे। सम्बद्ध पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

धन्य नगरी धन्य देसा।
सुष सोवे नृपत हमेसा॥
सदा सहाय गिरीसा।
चिर जीवो कोटि बरीसा॥
साहपुर प्रगट भई श्री अमरेंसकुमार।
तिन लीला बरनन करी भक्ति रूप निसतार॥

इससे अधिक इनका विवरण ज्ञात नहीं है।

'राधा-कृष्ण रूप युगल विलास' की हस्तलिखित प्रति श्री सरस्वती भाण्डार, काँकरौली में सुरक्षित है। प्रति अपूर्ण है। इसमें श्रीकृष्ण और बलदेवजी की ब्रजलीला का वर्णन है। ग्रन्थ में प्रकरणों के अनुसार ८१ रंगीन चित्र भी दिये गए हैं। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

दो०-ब्रज भक्तन नैं वीनती, प्रभु सौं करी सुनाय।
सेस सैया निज रूप कौं, इन नैननि दरसाय॥
श्री ठाकुर बलदेवजी, सेस सिरोमन रूप।
अनगिन सेस अनन्त अति अद्भुत अजब अनूप॥
संखचक्र आयुध सरस, गदा पद्म निजि पान।
घन घुमंड घनघोर द्रुपुष्प बरस सुखबान॥
देवन आदि स्वरूप लखि, बिनै कीन्ह कर जोरि।
अब ये रूप दुराईये, मारो कंस कठोर॥

वा० सिं०
कृ० चं० ला०

अमृतराम पल्लीवाल

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में अमृतराम, अमृतराम रावत, अमृतराम निरंजनी (कविता-काल सं० १८६७), अमृतलाल (कुबेरीग्राम) तथा अमृतराज (गुरु गोविन्दसिंह के दरबारी कवि) का उल्लेख मिलता है। हमारे अमृतराम पल्लीवाल महाराजा प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' के समकालीन, उनके कवि-मण्डल के सदस्य तथा विशेष कृपा-पात्र थे। इनके पितामह किसनदास पूर्व उदयपुर राज्य के ठिकाने जेवाणा ग्राम के निवासी थे। महाराजा माधोसिंह, प्रथम (सं० १८०७-१८२४) उन्हें जयपुर ले आये थे। किसनदास के सारंगधर एवं मनीराम नामक दो पुत्र थे। अमृतराम सारंगधर के पुत्र थे, बाद में ये मनीराम के दत्तक पुत्र बने। पं० गोपालनारायण बहुरा अमृतराम को मनीराम का पुत्र स्वीकार करते हैं। अमृतराम ने जयपुरमें अपने निवास-स्थान (नाहरगढ़ रोड) परअटल-बिहारीजी का मन्दिर (सं० १८६८) निर्मित कराया, जिसे आजकल 'लाल हाथियों का मन्दिर' कहते हैं। अमृतराम 'ब्रजनिधि' से अत्यधिक प्रभावित थे। इसीलिए आपने 'ब्रजनिधि का मन्दिर' के अनुरूप 'बिहारी जी का मन्दिर' की स्थापना की और उनकी रचनाओं के अनुकूल स्वयं भी रचनायें कीं। इन्होंने 'ब्रजनिधि' की रचनाओं के अनुकरण पर ही अपनी रचनाओं का नामकरण और विषयों का चयन किया है। ब्रजनिधि की भाँति अमृतराम भी नित्य पद वनाते थे और इष्टदेव को समर्पित करते थे।

अमृतराम पल्लीवाल की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ पता नहीं है, किन्तु यह अवश्य ज्ञात होता है कि महाराजा प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' (सं० १८२१-१८६०) के शासन-काल में ये किशोरावस्था में थे। इनकी अधिकांश रचनायें सं० १८६९ के आस-पास विरचित मिलती हैं। इनके अनेक ग्रन्थ मिलते हैं—'अमृतप्रकाश', 'चौपरिहुलास', 'विरह-तरंग', 'प्रीतिवेलि', 'सुखकरणलता', 'नेहसमर', 'वंशी-विहार', 'रैनरंग', 'प्रेमबहार', 'रास का रेखता',

'कवित्तसंग्रह', 'भ्रमरगीत-पचीसी', 'अमृत-अटल-पदावली', 'अमृत-पद-मुक्तावली', 'पद-रत्नावली', 'पदसंग्रह', 'रेखता भक्ति के' तथा 'स्फुट पद'।

अमृत प्रकाश लगभग १००० पदों का विशाल पद-संग्रह ग्रंथ है, इसको 'अमृत-हजारा' भी कहा जाता है। अमृत-पद-मुक्तावली, पद रत्नावली, पद संग्रह, स्फुट पद आदि के पद अमृतप्रकाश में भी मिलते हैं।

'नेहसमर' (सं० १८६९) में राधाकृष्ण का प्रेम-युद्ध-वर्णन कुण्डलियाँ छन्द में है। राधिका के कटाक्षों से कृष्ण का बुरा हाल हो जाता है—

राधे नैननि नोक सों, झुकि झाँकी झंझरीन।
मानो रूप समुद्र में, परे जाल जुग मीन॥
परे जाल जुगमीन, चुगो मनकी चुगिलीनों।
नटनागर को टूक टूक, करि डार्‌यो सीनों॥
चाहत निरख्यो अटल, छटा विरहा के दाधे।
दरसावत पट नील, निषट तरसावत राधे॥
(नेह-समर)

ब्रजनिधि की 'रंग-चौपड़' की भाँति कवि अमृतराम ने भी राधा-कृष्ण के चौपड़ खेलने का वर्णन २६ दोहों में 'चौपरि-हुलास' ग्रन्थ में किया है।

ब्रजनिधि को 'सुहागरैनि' ग्रन्थ की तरह अमृतराम ने भी 'रैनरंग' ग्रन्थ दोहा और सोरठा में रचा है। ब्रजनिधि की 'मुरलीविहार' रचना की तरह 'वंशीविहार' (सं० १८६९) की रचना अमृतराम ने ३२ दोहों-सोरठों में की है। 'रैनरंग' से एक उदाहरण प्रस्तुत हैं—

नवल स्याम राधा नवल, नवल कुंज छवि पुंज।
फूले नयन सरोज जहँ, भवँर करत मृदु गुंज।
राधा नटनागर जहाँ, करत केलि चित चाहि।
सो मम हिरदै बसो, मुनिजन वंदत जाहि॥

ब्रजनिधि के 'मुरलीविहार' (सं० १८४९) एवं अमृतराम पल्लीवाल के 'वंशीविहार' (सं० १८६९) का तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अमृतराम ने 'मुरलीविहार' ग्रन्थ को सामने रखकर 'वंशीविहार' ग्रन्थ को रचना की है। उदाहरणार्थ 'मुरलीविहार' का एक छंद देखिए—

अधर मधुर रस निडर ह्वै, पीवत तन भरि जाय।
हे मुरली तरसत रहैं, नहिं परसत हम हाय॥

ब्रजनिधि की 'प्रीतिलता' (सं० १८४८) और अमृतराम की 'प्रीतिबेलि' के मंगलाचरण पर हमारी दृष्टि यकायक रुक जाती है—

प्रीतिलता—

गनपति सारद मानिकै, राधे पूजौ पाय।
कृष्ण केलि कौतिग कहौं, ताकी कथा बनाय॥

प्रीतिबेलि—

गणपति गवरि गिरीस गुरु, वन्दत हौं सिर नाय।
रचौं अटल लीला ललित, अमृत रसिक सुभाय॥

अमृतराम पल्लीवाल की रचनायें, दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, बरवै, कुण्डलिया, रेखता तथा पद छन्दों में मिलती हैं। इन्होंने ब्रजभाषा के अतिरिक्त राजस्थानी तथा पंजाबी भाषा का भी प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। यहाँ एक पद प्रस्तुत है—

मैंडे दिल बिच जादू पढ़ दियावे।
प्यारतू साढे सदके जावां रतनजतनसा कोटकियावे॥
मूल गयां तू यारी करके जहर लहर सों जरत हियावे।
चूर चूर है जिगर हमारा अमृत रूप अनूप पियावे॥

इनकी भक्ति-भावना का स्वरूपव्यंजक एक अन्य पद नीचे दिया जा रहा है—

सुनिये टेर दीनदयाल।
मोह-मद में छक्यो निसिदिन रहत हौं इहिकाल॥
नाहि दीखै और कोऊ काज सुबुधि रसाल।
डगमगत मन थिर रहत नहिं पल छिनक उताल॥
काम क्रोध अरु लोभ तृष्णा प्रबल जग को जाल।
सकल फंद निवार करिये कृपा इत प्रतिपाल॥

आसयेक दृढ़ रावरी मोहि तारिये नन्द लाल।
दास अपनो जान अमृत अटल करहु निहाल ॥

रा० प्र० कु०
ग० मि०

अमृतलाल चतुर्वेदी

श्री जगन्नाथदास रत्नाकर तथा पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' की परम्परा के कवि पं० अमृतलाल चतुर्वेदी का जन्म फीरोजाबाद (आगरा) के एक जमींदार-परिवार में आश्विन मास की पूर्णिमा सं० १९५५ को हुआ था। ये माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इन्होंने आगरा के सेण्ट जान्स कॉलेज में कुछ समय तक शिक्षा ग्रहण की। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् नायब तहसीलदार बने, पर यह जीवन पसन्द नहीं आया तो आप आगरा की एतमादपुर तहसील में वकालत करने लगे। एतमादपुर का एकाकी जीवन पसन्द नहीं आया तो इन्होंने आगरा आकर वकालत शुरू की। अपना कार्यक्षेत्र आगरा को ही बनाकर देहावसान-काल (वैशाख कृष्ण छठ सं० २०४१ तदनुसार २१ अप्रैल, १९८४) तक आपने आगरा में ही निवास किया। आगरा-निवासी आपको 'काकाजी' कहकर पुकारते थे। आप 'अमित' उपनाम से व्रजभाषा में काव्य-रचना करते थे।

चतुर्वेदीजी का सम्बन्ध अनेक शैक्षणिक तथा सामाजिक संस्थाओं से था। २८ वर्ष की आयु में ये फीरोजाबाद नगरपालिका की चुंगी के चेयरमैन बने तथा डिस्ट्रिक्टबोर्ड, आगरा के अनेक वर्षों तक उपसभापति रहे। आप आगरा कॉलेज के ट्रस्टी तथा प्रबन्ध-समिति के सदस्य, पं० वैजनाथ बालमन्दिर, आगरा के मंत्री, पं० मोतीलाल नेहरू स्मारक आगरा के अध्यक्ष और माथुर चतुर्वेदी महासभा के महामंत्री भी रहे।

इनकी कविता करने की रुचि बचपन से ही थी। इनकी पहली कविता पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने पत्र 'विशाल-भारत' में सन् १९२८ ई० में 'विकल कली' शीर्षक से प्रकाशित की थी।

पं० अमृतलाल चतुर्वेदीजी के साहित्य का एक बड़ा भाग स्फुट और अप्रकाशित है। इनके प्रकाशित ग्रन्थ १. स्याम-सँदेसौ, २. गालिब अमृत तथा ३. नेता-दर्पण हैं। 'नेता-दर्पण' में इन्होंने देश की दशा पर आँसू बहाये गए हैं और नेताओं पर तीखे व्यंग्य किये गए हैं। आपने गालिब की कविता का व्रजभाषा पद्य में अनुवाद किया और नाम रखा—'गालिब-अमृत', जिसका प्रकाशन गालिब-शताब्दी के अवसर पर हुआ था। पं० पद्मसिंह शर्मा के कहने पर आपने बिहारी सतसई की टीका लिखी, वह भी अभी तक अप्रकाशित है।

चतुर्वेदीजी ने लगभग ५० छन्दों में ब्रह्म तथा उसके अवतारों—राम और कृष्ण—की स्तुति की है। कवि का झुकाव कृष्ण के प्रति अधिक लगता है—

मैं तौ व्रजवारौ औ तू व्रज-रखवारौ प्यारौ,
याही एक नाते का न पार परि जाएगी।
पातक पुजारी दुर दण्ड अधिकारी तऊ,
तोरी कृपा कोरी मोरी झोरी भरि जायगी ॥

व्रजभूमि में उत्पन्न होने के कारण इन्होंने उसका मुक्तकंठ से गुणगान किया है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सुन्दर दरसन नंद-नंदन कौ परसन जमनाजी कौ।
नित नूतन नवनीत दही घृत पीबौ दूध मही कौ ॥
छाछ महेरी ज्वार बाजरी भोजन भात-कढ़ी कौ।
अति ही स्वाद खीर कौ भोजन स्वाद गुवार फरी कौ॥
बिन प्रसाद श्री नंद नंदन के दुर्लभ बास यही कौ।
ब्रज चौरासी कोस के आगे सुरपुर लागत फीकौ ॥

'स्याम-सँदेसौ' उद्धव-गोपी-संवाद अथवा भ्रमर-गीत-परम्परा का एक खण्ड-काव्य है। सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में राधा एवं गोकुलवासियों के साथ श्रीकृष्ण का मिलन एवं संयोग दिखाकर चतुर्वेदीजी ने 'स्याम-सँदेसौ' को सुखान्त बना दिया है। 'स्याम-सँदेसौ' के सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उसका भाव-पक्ष भक्तिकालीन कवियों जैसा है और कला-पक्ष रीतिकालीन काव्य-सौन्दर्य से मंडित

है। प्रस्तुत छन्द में कृष्ण ने उद्धव को प्रेम के स्वरूप का परिचय कराया है—

बातें करो प्रेम नेम जानो नहिं रीति नीति,
प्रीति परतीत मीत जानी नहिं सार का।
प्रेम में न राउ-रंक प्रेम में न सूध-बक,
प्रेम में न बाल-वृद्ध प्रेम नर नारि का॥
प्रेम तो सहोदर है आत्मा कौ ऊधौ सुनौ,
प्रीति में न जीति फेरि यामें होति हारि का।
राधिका हमारी हम राधा गुन चेरे सदा,
चाहे बसैं गोकुल में चाहे बसैं द्वारिका॥

गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

आपु भजौ आपने आनन्द कंद ब्रह्म जू कौ,
हम गिरधारी की हमारे गिरधारी हैं।

ध्वन्यात्मकता लिए एक छंदांश प्रस्तुत है—

नाग कौ नथैया थैय्या थैया को नचैया दैया,
बाँसुरी बजैया गरे गुञ्ज हार डारौ है।
बंसीवट वारौ त्यारौ नन्द कौ दुलारौ प्यारौ,
व्रज रखवारौ सोई आसरौ हमारौ है॥

चतुर्वेदीजी ब्रजभाषा में कवित्त, सवैया, दोहा एवं गेय पदों की रचना करते थे। आपने उर्दू की गजल और शेर के ढंग पर भी रचना की है, जिसकी भाषा ब्रजभाषा मिश्रित-उर्दू है। ये संगीत के भी अच्छे ज्ञाता थे।

रा० प्र० कु०

अमोलकराम शास्त्री

श्री अमोलकराम शास्त्री का जन्म कुरुक्षेत्र के समीप पुण्डरीक नामक गाँव में वि० सं० १९२९ के फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को हुआ था। इनके पिता का नाम पंडित शालिगराम था। इनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। वहीं ये एक तपस्वी महात्मा के सम्पर्क में आये। तभी से इनमें विरक्ति का भाव पैदा हुआ। ये हिमालय की गुफाओं में जाकर तपस्या करना चाहते थे, लेकिन इनकी प्रतिभा को देखकर महात्माजी ने इनसे गृहस्थ-जीवन में रहकर अध्ययन-अध्यापन की सलाह दी। उन्हींकी प्रेरणा से ये वृन्दावन चले गये और संस्कृत का विधिवत् अध्ययन करते रहे। वहीं पर इन्होंने श्री स्वामिनीशरणजी से दीक्षा ग्रहण की और भजन करने लगे। इन्होंने वहीं से व्याकरणाचार्य और वेदान्ताचार्य की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की और न्यायादि पढ़ने नवद्वीप चले गये। वहाँ न्याय-रत्न और तर्क-तीर्थ जैसी उपाधियाँ प्राप्त की। इसी प्रकार इन्हें उभय-वेदान्ताचार्य, विद्यावागीश, द्वैताद्वैत मार्त्तण्ड, सर्वशास्त्र निष्णात आदि उपाधियाँ प्राप्त हुईं। तदनन्तर ये रतलाम में संस्कृत विद्यालय के प्रधानाध्यापक हो गये, लेकिन इनका मन वृन्दावन में ही रमा करता था। वहाँ इनकी नियुक्ति श्री रंग पाठशाला में हो गयी। वहाँ कुछ दिनों तक अध्यापन करने के बाद ये श्री राधावल्लभजी के मन्दिर के निकट एक पाठशाला में प्रधान अध्यापक हो गये। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग ने इनसे अपने यहाँ पढ़ाने का अनुरोध किया, लेकिन ये वृन्दावन छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहते थे। इसलिए नहीं गये। इन्होंने अपने गुरु की खूब सेवा की। कहते हैं, गुरुदेव की कृपा से इन्हें बरसाने में श्रीजी और उनकी सखियों के दर्शन हुए। इन्हें पंडित रामकृष्णदास बाबा बहुत प्रिय थे। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की जिनके नाम इस प्रकार हैं—परपक्षगिरि-वज्र, वेदान्तकौस्तुभ-प्रभा, आत्मपरमात्मतत्त्वादर्श, वेदान्तरत्नमाला, वेदान्ततत्त्वबोध, आचार्यस्तवमाला, अष्टादश सिद्धान्त पदों की टीका, छान्दोग्य-उपनिषद्-भाष्य, वेदान्तरत्नमंजूषा, अष्टादश उपनिषद्-भाष्य। सम्वत् २००१ की पौष शुक्ला १० को शास्त्री की इहलीला समाप्त हो गई।

मु० अ०

अम्बिकादेवी

अम्बिकादेवी का जन्म अलवर के एक भार्गव-परिवार में हुआ था। पारिवारिक वातावरण के फलस्वरूप कृष्ण-भक्ति के बीज बचपन में अंकुरित हो गए थे। ८ वर्ष की उम्र में इनका विवाह बहादुरपुर-निवासी भिखारीदास से हो गया। बड़ी पोल, दिल्ली स्थित

इनके मकान में नित्य कथा-प्रवचन तथा श्रीमद्भागवत का पाठ होता था। आपने अपना सम्पूर्ण जीवन कृष्णाराधन में विता दिया। इनका उपस्थिति-काल विक्रम की १८वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता हैं।

म० गो० भा०

अयोध्याप्रसाद

अयोध्याप्रसाद का जन्म स्वामी चरणदास़जी के कुल में अनुमानतः सन् १८८४ ई० में नवाबगंज (जिला गोंडा) में हुआ था। आपके पिता पं० मथुराप्रसाद भार्गव की मृत्यु सन् १८९१ ई० में हो गई थी, फलस्वरूप चाचा वृन्दावनदास ने आपका लालन-पालन-पोषण किया। चाचा कृष्ण के परम भक्त थे, जिसका प्रभाव भतीजे पर भी पड़ा। अयोध्याप्रसाद संस्कृत-हिन्दी के प्रकाण्ड पण्डित थे। आपने अनेक पुराणों व उपनिषदों पर भाष्य लिखे हैं। आपकी मृत्यु सन् १९५९ ई० में हुई। गीता के सम्बन्ध में आपने लिखा है—"गीता भगवान् कृष्ण की सर्वज्ञता का एक नमूना है। अतः इसमें अपने-अपने भावजनित विषयों की साधन-सामग्री प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है। प्रायः लोग कहते हैं कि गीता संन्यासियों की वस्तु है, दूसरा पक्ष कहता है कि गीता गृहस्थों की चीज है। वास्तव में गीता किसी एक की नहीं, सवकी है।"

म० मो० भा०

अयोध्याप्रसाद वाजपेयी 'औध'

पं० अयोध्याप्रसाद वाजपेयी का जन्म सं० १८६० में हुआ था। इनके पिता व्यापारी थे परन्तु इनके कुल में संस्कृत-साहित्य ज्योतिष, व्याकरण आदि के अध्ययन-मनन की परम्परा थी। इनकी जन्मभूमि सातनपुरवा जिला रायबरेली थी। पड़ोसी गाँव हसनपुरवा के पं० गदाधरप्रसाद ज्योतिषी एवं कवि इनके गुरु थे। भाट कविराजों के सम्पर्क से वाजपेयीजी काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए। इन्होंने छोटे-बड़े कुल मिलाकर १० ग्रन्थ लिखे हैं। ये चन्दापुर, बलरामपुर, गोण्डा, पयागपुर तथा मल्लापुर दरबारों में सम्मानित होते रहे हैं। आचार्य कवि, शिव-भक्त एवं राम-भक्त होने के साथ ही ये कृष्ण-भक्त भी थे। इनका उपनाम 'औध' था। राधा-कृष्ण की भक्ति-भावधारा से सम्बद्ध इनकी निम्नलिखित रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) रागरत्नावली

(२) व्रजव्रज्या

वाजपेयीजी मुख्यतः राम-भक्त थे, पर कृष्ण के प्रति भी इनके हृदय में अगाध अनुराग था। कृष्ण-कथा पर लिखी गई इनकी उक्त रचनाएँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं। इनमें कृष्ण की वन्दना, स्वरूप-वर्णन, राधाकृष्ण की होली आदि शीर्षकों के अन्तर्गत भगवान् कृष्ण और भगवती राधा की मधुर लीलाओं का भक्तिभावपूर्ण शैली में निरूपण है। उदाहरणार्थ—

निरखहु नेकु नजरि नन्दनन्द।
जो जदुनाथ कृपा अवलोकनि अभिमत आनन्दकन्द।
दीनानाथ दयाकरि साजे राजसूय स्वच्छन्द ॥'

रागरत्नावली मात्र २५ छन्दों का एक छोटा-सा काव्य-संग्रह है जिसमें आठ छन्द भगवान् कृष्ण एवं राधा-विषयक हैं। कृष्ण की स्तुति, व्रजलीला तथा होरी-प्रसंग पर 'औध' जी ने अपनी भावना व्यक्त की है। रागानुगा भक्तिभाव से विभोर होकर इन्होंने लिखा है—

(१)

धन्य धन्य भाग मोर आज नंद के किसोर ऐसे,
और होत मोर मेरी ओर आये।
अंग-अंग, रंग-रंग प्रेमसिन्धु की तरंग
देखि दंग भो अनंग ढंग माहि भाये॥
लटपटात धरत पाव, छटपटात बत कहाव,
चटपटात, नटखाट, झटपटात छाये।
कहत कसन पीत वसन लोटि ससन किलकि कसन
माल धसन दाग दसन हसन रखन खाये॥

(२)

समुझि सकल सुखविलास श्रीनिवास रसिक दास
निज.सुपास औध गुन प्रकास भाये।

औधजी ने कृष्ण की वन्दना तथा रूप-स्मरण के साथ व्रजांगनाओं का उलाहना, उद्धव-सन्देश आदि पर भी छन्द लिखे हैं। इन्होंने राधा की विरह-दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—

नभ उमड़ि घुमड़ि घन धावैं।
देखि बिना ब्रजराज आज ब्रजविरहिन भय उपजावैं।
करुना सिन्धु अवध दरसावै अब न हमैं तरसावैं॥

शि० ना० शु०

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म वैशाख कृष्ण तृतीया सं० १९२२ (२५ अप्रैल, सन् १८६५ ई०) को निजामाबाद (जि० आजमगढ़) नामक स्थान में हुआ था। यद्यपि इनके पूर्वज ब्राह्मण थे, किन्तु इन्होंने सिख-धर्म स्वीकार कर लिया था। इनकी विद्यालयी-शिक्षा केवल मिडिल स्कूल तक थी, परन्तु इन्होंने घर पर ही रहकर संस्कृत, फारसी, बंगला, हिन्दी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ये बहुत दिनों तक कानूनगो के सरकारी पद पर कार्यरत रहे थे। अन्त में पं० मदनमोहन मालवीय की प्रेरणा से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हो गए थे।

निजामाबाद में सुमेरसिंह की प्रेरणा से ये साहित्यिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए और काव्य-रचना करने लगे। इन्होंने उपन्यास, नाटक, आलोचना और कविता आदि कई विधाओं में अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. उपन्यास—ठेठ हिन्दी का ठाठ, अधखिला फूल।

२. नाटक—रुक्मिणी-परिणय, प्रद्युम्न-विजय।

३. आलोचना—हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, कबीर-वचनावली।

४. काव्य-संग्रह—चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोल-चाल, पद्य-प्रसून, पारिजात, जात-मुकुर, काव्योपवन, प्रेम-पुष्पोपहार, प्रेम-प्रपञ्च, प्रेमाम्बु-वारिधि, प्रमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेमाम्बु-प्रवाह, रस-कलश।

५. प्रबन्ध-काव्य—प्रिय-प्रवास और वैदेही-वनवास।

इनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए इन्हें साहित्य-रत्न, साहित्य-वाचस्पति, कवि-सम्राट् आदि उपाधियों से भी विभूषित किया गया था। ये हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के अध्यक्ष भी रहे। इनकी मृत्यु ६ मार्च सन् १९४७ ई० को हुई।

कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी इनकी दो रचनाएँ हैं—'रुक्मिणी-परिणय' नाटक और 'प्रिय-प्रवास' प्रबन्ध-काव्य! 'प्रिय-प्रवास' खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है। इस रचना पर इन्हें 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्राप्त हुआ था। यह एक श्रेष्ठ विप्रलम्भ शृंगार-प्रधान काव्य है जिसमें कृष्णके मथुरा-गमन और उनके विरह में संतप्त व्रजवासियों, विशेष रूप से यशोदा तथा राधा की मनोदशा का हृदयग्राही चित्रण किया गया है। यद्यपि इनके पूर्ववर्ती कृष्ण-भक्त कवियों ने भी राधा की वियोग-दशा का वर्णन किया था, किन्तु हरिऔधजी ने सर्वथा नूतन परिवेश में माता यशोदा और प्रियतमा राधा की मनोव्यथा का विस्तृत वर्णन किया है। इसीलिए ग्रन्थ का नाम रखा गया है—'प्रिय-प्रवास' अर्थात् प्रिय कृष्ण के मथुरा-गमन से व्रजवासियों की स्थिति का निरूपण।

यद्यपि 'प्रिय-प्रवास' के कथानक को नया स्वरूप प्रदान किया गया है और उसे आधुनिक सन्दर्भों से जोड़ा गया है, किन्तु उसके मूल में कवि की भक्ति-भावना का भी सूक्ष्म संकेत मिल जाता है। इन्होंने ग्रन्थ की भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है—"अवतारवाद की जड़ मैं श्रीमद्भगवद्गीता का वह श्लोक मानता हूँ 'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छत्वं ममतेजोंशसंभवम्।' अतएव जो महापुरुष है, उसका अवतार होना निश्चित है। मैंने भगवान् श्रीकृष्ण का जो चरित अंकित किया है, उस

चरित का अनुधावन करके आप स्वयं विचार करें कि वे क्या थे, मैंने यदि लिखकर आपको बतलाया कि वे ब्रह्म थे और तब आपने उनको पहचाना, तो बात क्या रही ?''

संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली और वर्णवृत्त में रचना कर हरिऔधजी ने 'प्रिय-प्रवास' को सर्वथा एक नया आयाम दिया है। यद्यपि इसका कथानक नए फलक पर निर्मित है, किन्तु इसके सूत्र परम्परा से जुड़े हुए हैं। ये श्रीकृष्ण को श्रीपति, हरि आदि नामों से भी सम्बोधित करते हैं। जैसे—

प्रणतपाल कृपानिधि श्रीपते !
फलद है प्रभु का पद-पद्म ही।
दुख-पयोनिधि मज्जित का वही
जगत में परमोत्तम पोत है ॥

हाँ, यह अवश्य सत्य है कि प्रिय-प्रवास के कृष्ण लोक-रक्षक और समाज-सेवा-परायण अधिक दिखाए गए हैं। उसकी राधा एक लोक-सेविका के रूप में प्रस्तुत हुई है। फिर भी कवि राधा-कृष्ण के उदात्त प्रेम को व्यञ्जित करने में बहुत सफल रहा है। श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन की सूचना पाते ही राधा कैसी भावविह्वल हो जाती हैं, इसका एक उदाहरण देखिए—

विकसिता कलिका हिमपात से।
तुरत ज्यों बनती अति म्लान है।
सुन प्रसंग मुकुन्द प्रवास का।
मलिन त्यों वृषभानु सुता हुई ॥

इसी प्रकार लोक-सेवा में लिप्त रहते हुए भी वह एक क्षण के लिए भी कृष्ण को विस्मृत नहीं कर पाती। अहर्निश उनके दर्शन की आकांक्षा में आत्मलीन रहती है। कवि के शब्दों में—

निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यतः संयता हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते।
वैसी वांछा जगत हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ॥

श्रीकृष्ण ने राधा तथा व्रजवासियों के प्रति जो सन्देश भेजा है उसमें भी आत्मोत्सर्ग और लोक-सेवा की भावना परिलक्षित होती हैं। वस्तुतः जिस परिवेश में 'प्रिय-प्रवास' लिखा गया वह मध्यकालीन परिस्थितियों से भिन्न था। देश की स्वाधीनता का उद्घोष हो चुका था और समाज में व्याप्त कुरीतियों के उन्मूलन के लिए अनेक समाज-सुधारक और संगठन सामने आ चुके थे। ऐसी स्थिति में कवि या लेखक सामाजिक दायित्व से विमुख कैसे रह सकता था ? श्रीकृष्ण-कथा को युगानुरूप ढालना ही 'प्रिय-प्रवास' का वैशिष्ट्य है। श्रीकृष्ण का लोकहितकारी सन्देश पाकर राधा अनन्य निष्ठा से उसका अनुसरण करने का व्रत लेती है। वह कहती है—

जो इच्छा है परम प्रिय की जो अनुज्ञा हुई है।
मैं प्राणों के अछत उसको भूल कैसे सकूँगी ॥
यों भी मेरे परम व्रत के तुल्य बातें यही थीं।
हो जाऊँगी अधिक अब मैं दत्तचित्ता उसीमें ॥

केवल राधा ही नहीं प्रिय-प्रवास के अन्य पात्र—नन्द, यशोदा, गोपिकाएँ—भी श्रीकृष्ण के लोकरक्षक स्वरूप के उपासक हैं। इस प्रकार हरिऔधजी ने वर्ण्य-विषय और शैली दोनो दृष्टियों से कृष्ण-कथा को सर्वथा नए स्वरूप में प्रस्तुत किया है। इसमें आये हुए पात्रों के माध्यम से इनकी अपनी कृष्णासक्ति भी यत्र-तत्र प्रतिबिम्बित हुई है।

वा० सिं०

अर्जुनदास

प्रणामी-सम्प्रदाय के वाणीकार सन्तों में अर्जुनदास का भी नाम आता है। इनका जीवनवृत्त अभी तक अनुपलब्ध है। महन्त गोपालदास द्वारा सम्पादित 'वली' कविताओं में इनकी रचनाएँ संकलित हैं। इनका 'दानलीला' विषयक एक छन्द नीचे दिया जाता है, जिससे इनकी राधा-कृष्ण-निष्ठा पर प्रकाश पड़ता है—

मैं चली थी सबेरे अबेरो भयो,
प्रभु मारग रोकि रहे बनवारी।

जीते तुम्हीं हम हारी हे मोहन,
दान लेओ हम सों गिरधारी ॥
ऐसी बात सुनी नन्द-नन्दन ने,
हँसि दोऊ चले बन बाग मझारी ।
'अर्जुनदास' के नाथ मनोहर,
नन्द-नन्दन औ वृषभानु दुलारी ॥
रा० प्र० त्रि०

अलबेली अलि

'साहित्य सुधा-निधि' के सन् १८९४ के अंकों में रत्नाकरजी ने अलबेली अलि-प्रणीत 'समय-प्रबन्ध-पदावली' को क्रमशः प्रकाशित किया है। खेद है कि उन्होंने न तो अलबेली अलि के जीवन-वृत्त पर ही कहीं प्रकाश डाला है और न ही 'समय-प्रबन्ध-पदावली' की उपलब्धि के स्रोत का ही उल्लेख किया है।

भक्तप्रवर अलवेली अलि राधा-कृष्ण के परम भक्त थे। इनके हृदय में राधा-कृष्ण की भक्ति-विषयक स्रोतस्विनी इनके गुरु राधामय, परम भक्त श्री बंशी अलिजी की अपार कृपा से प्रवाहित हुई थी। वृन्दावन के अगोचर रहस्य की जानकारी इनको अपने गुरुदेव के उपदेश से ही हुई थी—

विस्तरचो रस पुनि सरस,
अद्भुत प्रेम को अंबुधि बह्यो।
वृन्दा विपिन रस अति अगोचर
रहस सब प्रकटहि कह्यो॥

गुरु-मुख से उक्त रहस्य जानकर अलबेली अलि के हृदय में वृन्दावन के प्रति अगाध श्रद्धा और प्रेम उमड़ पड़ा। राधा-कृष्ण की प्रेम-माधुरी में अनुरक्त इनकी भक्ति भावना कवित्त रूप में प्रकट हो गयी। इनके निम्न पद से वृन्दावन में अचल निवास और राधामय मन से उनकी रूपमाधुरी का गुण-कीर्तन करना स्वतः ही ध्वनित होता है—

जे श्री बंशी अलि गुन गावैं।
श्री वृन्दावन अचल बसैं दिन श्री राधा पन पावैं॥
नवल कुँवरि नव लाड गहेली नव नव भाँति लडावैं।
अलबेली अली रूप माधुरी पीवत और पिवावैं ॥१८॥

लगता है अलबेली अलि ने वृन्दावन में रहकर ही 'समय-प्रबन्ध-पदावली' की रचना की थी। इनके गुरु बंशी अलि भी राधिका के परम भक्त थे। अपने गुरु की वन्दना में लिखते हैं—

जय श्री बंसी अलि राधिका धन धनी।

• • •

जय जय श्री बंसी अलि जे अनुगत भये।
भरम भूलि जग द्वन्द्व तिमिर हिय के गये॥

• • •

जय जय श्री बंसी अलि जे गुन गाइहैं।
श्री वृन्दावन वास कुँवरि पन पाइहैं॥

• • •

जब ते बंशीअलि पद पाये।
श्री वृन्दावन कुञ्जकेलि कऱ लूटत सुख मनभाये॥
रूप सुधा मादिक मद पीयें डोलत घूम घुमाये।
अलबेली अलि तब तैं निज कर स्यामा जू अपनाये॥

राधिका-भक्त बंसी अलि कौन थे ? 'समय-प्रबन्ध-पदावली' में अलबेली अलि ने अपने गुरु का अधिक परिचय नहीं दिया है। महाराजा प्रतापसिंह के जीवन-वृत्त में श्री गोपालनारायण बहुरा ने उनके आश्रित कवियों की सूची निम्नवत् प्रस्तुत की है—

"ये जिस प्रकार स्वयं कवि थे, उसी प्रकार कवियों के आश्रयदाता एवं संरक्षक भी थे। इनके समय में राय अमृतराम पल्लीवाल, ठाकुर बख्तावर सिंह 'बख्तेश', राव शम्भुराम, महाकवि गणपति 'भारती', रसपुञ्ज, रसराशि, चतुर शिरोमणि, सागर कविया, हुकमीचन्द खीडिया, महेशदास म्हाई, हरिदास, मनभावन, महाकवि भोलानाथ, मनीराम, बंशीअली, किशोरी अलि प्रभृति सुकवि-समुदाय इनकी सभा के शृङ्गार थे।"

राधिका की भक्ति में अनन्य भाव से अनुरक्त बंसीअलि निस्सन्देह जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह की

भक्त-बाईसी में रहे थे। इनके शिष्य अलबेली अलि कुछ दिन जयपुर में रहने के पश्चात् वृन्दावन आ गये थे।

अलबेली अलि प्रणीत 'समय-प्रबन्ध-पदावली' नामक एकमात्र रचना अभी तक सुलभ हुई है। इसमें विभिन्न रागों के माध्यम से श्याम-श्यामा की अष्टयाम-चर्या भक्तिमय शैली में वर्णित है। वर्ण्य विषय को भक्त कवि ने मंगल को आगम, सखियन को महल को चलिवो, सखि प्रति सखि के वचन, मंगल को वन-विहार, शृङ्गार को समो, राजभोग को समो, उत्थापन को समो, सैन को समो, सिज्जा को समो आदि उपशीर्षकों में विभक्त किया है। राधिका भक्तिपरक साहित्य में यह काव्यकृति निस्सन्देह विशिष्ट स्थान रखती है। यदि श्रीजगन्नाथदास 'रत्नाकर' अलबेली अलि का परिचय और उनकी 'समय-प्रबन्ध-पदावली' को प्राप्ति-विषयक सूचनाएँ प्रकाशित करा देते तो आज शोधार्थी के सम्मुख समस्या खड़ी न हो पाती। नमूने के रूप में महात्मा अलबेली अलि-कृत 'समय-प्रबन्ध-पदावली' के तीन पद यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१)

राग कल्याण

बैठे बन ठन रास मडलि में नवल किशोर किशोरी।
गौर स्याम घन दामिनि की दुति बनी नवल नवजोरी॥
पिय कटि तास काछिनी काछे नीलाम्बर तन गोरी।
इक ते एक सखी अति सुन्दर नवल प्रेम रंग बोरी॥
नृत्तति सरस सुधंग अंग अति चलत चपल नित चोरी।
गावत आवत लेत सुलप गति तान तरंग झकोरी॥
थेइ थेइ बोलत डोलत रंग भरे चितवत चंद चकोरी।
अलबेली अलि मिलि रस बरसत बँधी प्रेम की डोरी॥

(२)

भोरहिं उठि अलि रूप विचारूँ।
अद्भुत नवलकिशोर माधुरी रूप अनूप निहारूँ॥
करि असनान उबटि अंग अंगनि नाना भाँति सिंगारूँ।
भूषन वसन प्रसादी स्वामिनि पुलकि पुलकि उर धारूँ॥
सदा रहूँ ललितादिक संगी प्रेम भरी अनुहारूँ।
अलबेली श्री बंशी अलि बलि महल टहल अनुसारूँ॥

(३)

देखु सखी इनको नव नेह।
उमडि ढेर धन रूप के मानौ बरसत रस को मेह॥
खान पान वसननि कल भूषन भूले सब सुधि देह।
अलबेली, नहिं जानत निसि दिन परे प्रेम के गेह॥

आ० श०
प्र० ना० श्री०

अलबेलीशरण

पं० रामसजीवनलाल भार्गव के पुत्र अलबेलीशरण का वास्तविक नाम हीरालाल था। इनका जन्म अनुमानतः सन् १८५२ में जयपुर में हुआ था। ये जन्मतः कुशाग्रबुद्धि थे। इन्होंने उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, संस्कृत एवं हिन्दी में प्रवीणता प्राप्त की। राधा-कृष्ण के ये परम भक्त थे और प्रायः वृन्दावन में जाकर एक-दो माह रहा करते थे। वहीं इनकी भेंट महन्त गोविन्ददासजी से हुई, जिनसे दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त इनके जीवन में नया मोड़ आया। ये गृहस्थ होते हुए भी पूर्णतः साधु हो गये। ये 'धर्मावतार', 'धर्ममूरत' आदि के नाम से जाने जाते थे। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

चरणदास→गुरछौना—अषैराम—चेतनदास दूधाहारी–भगवानदास–मोहनदास–खूबदास–गोविन्ददास→अलबेलीशरण। इनका हस्तलेख बहुत सुन्दर था। इनकी उर्दू में 'तकरीर-दिलपजीर' तथा हिन्दी में 'संक्षिप्त-जीवन-चरित्र' नामक रचनाएँ मिलती हैं। दिल्ली-स्थित चरणदासजी के मठ के जीर्णोद्धार में इनका विशेष हाथ था। सम्भवतः सन् १९२८ ई० में इन्होंने महाप्रयाण किया।

म० गो० भा०

अलबेलीशरण जी 'फूल शृंगारी'

अलबेलीशरण 'फूल शृंगारी' पंजाब के निवासी थे। पहले ये अद्वैतवादी संन्यासी थे। कुछ समय पश्चात्

इन्हें गोस्वामी गिरधरलालजी (झाँसीवाले) का सत्संग प्राप्त हुआ। फलतः इनकी चित्तवृत्ति श्री हरिवंशोदित रसोपासना की ओर उन्मुख हो गई और इन्होंने उन्हीं गोस्वामीजी से वृन्दावन-रसोपासना की मंत्र-दीक्षा ग्रहण कर ली। गुरुवर्य के निकुंज-गमनोपरान्त ये श्रीधाम वृन्दावन आ गये और बाबा श्री रंगीदासजी 'फूल सिंगारी' जो श्री राधावल्लभ मन्दिर में रहा करते थे, से विरक्त सन्त-वेष ले लिया तथा उन्हींकी छत्र-छाया में मन्दिर में निवास करने लगे। श्री रंगीदासजी के साहचर्य से इनके हृदय में भी श्रीजी का फूल शृंगार करने की अभिरुचि जागृत हुई और उन्हींके मार्गदर्शन में ये भी फूल शृंगार करने लगे। बाबा श्री रंगीदासजी के निकुंज-गमनोपरान्त श्रीजी की फूल शृंगार-सेवा करने का उत्तरदायित्व इनके ही कन्धों पर आ गया जिसे इन्होंने पूर्ण निष्ठा, निष्कैतव अनुराग और गाढ़ी लगन के साथ आजीवन निर्वाह किया। अन्त में श्रीवनरज में अपने पार्थिव शरीर को मिलाकर नित्यनिकुंजलीला में प्रविष्ट हो गये। इनका विद्यमान-काल अनुमानतः वि० सं० १९२५ से वि० सं० २००० के मध्य स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

अलिकल्याण

'द्वितीय वसन्त प्रबन्ध' में श्री अलिकल्याणजी के सम्बन्ध में जो पङ्क्तियाँ मिलती हैं उन्हें यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

अलि मोहन के तत अति कल्यान।
ब्रज-लीला-रस कौ करहिं गान॥
सुत नन्द सु कुलमणि सुता भान।
इन फागु खेल सुख करिहिं पान॥

—द्वितीय वसन्त प्रबन्ध

अलिकल्याणजी श्री हिताचार्य चरण के शिष्य श्री अलिमोहनजी से श्री हित राधावल्लभीय सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। ये व्रज के लीलास्थलों में प्रायः भ्रमण करते रहते थे। इन्हें नन्दगाँव और बरसाने से अत्यन्त प्रेम था क्योंकि इन्हें नन्दरायजी और वृषभानुराय के मधुर सम्बन्ध की वार्ता से हार्दिक अभिरुचि थी। इन्होंने व्रज-लीला-रस से सम्बद्ध कतिपय पद भी लिखे हैं। इनका विद्यमान-काल विक्रम सं० १६५० से १७५० के मध्य अनुमानित किया जा सकता है।

श्या० ब्रि० खं०

अलि भगवान

अलि भगवान का संक्षिप्त विवरण 'भक्त-गाथा' में इस प्रकार दिया गया है—

अनन्य अली कौ संग रंग राधावर बाढ़े।
श्री कुञ्जलाल अपनाय किये हित महलन ठाढ़े॥
गान कला कर जोरि कैं, ठाड़ी सकल समाज।
वानी भनी विहार रस, नहीं आन रस काज॥
परंपरा निम्वादिती, धरी न मन में आन।
पुनि वृन्दावन ही बसे महत अली भगवान॥

साम्प्रदायिक चरित्र-ग्रन्थों में इनका नामोल्लेख केवल गोविन्द अलिजी-कृत उपर्युक्त 'भक्त-गाथा' नामक रचना में समुपलब्ध होता है। इनका परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है कि ये डूगासरे के निवासी थे। सौभाग्य से इन्हें श्री अनन्य अलिजी का सत्संग प्राप्त हुआ। परिणामतः इनके हृदय में वृन्दावन रस मधुरिमा की लोल लालसा जाग्रत हो उठी। अनन्य अली जी की प्रेरणा से वृन्दावन आकर ये गोस्वामी श्री कुंजलालजी के चरणाश्रित हो गये। इनके पूर्वज परम्परा से निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित होते चले आये थे। किन्तु इन्होंने उस आन को मन में स्थान नहीं दिया।

गुरुवर की कृपा से ये रस-भजन-आनन्द-सागर में अहर्निश डुबकियाँ लगाने लगे और थोड़े ही समय में राधा-किंकरी रूप प्राप्त कर श्री हित महल की खवासी प्राप्त कर ली। जब यह रसिकों के साथ समाजगान करते थे तो ऐसा प्रतीत होता था कि मूर्त्तिमान् संगीत-कला ही अपने परिकर के साथ खड़ी है। इन्होंने विशुद्ध वृन्दावन रस-नित्यविहार रस-से ओतप्रोत वाणी में रचना भी की है, किन्तु आज इनके कुछेक पद ही प्राप्त होते हैं। एक पद नीचे दिया जा रहा है—

खेलत फाग मुदित नटनागर नव नागरि राधा प्यारी ।
उड़त गुलाल कुलाहल सुनियत राग-रंग अति भारी ॥

नवल वधू अति सुन्दर राजत राजत रास बिहारी ।
उत पटपीत अरगजा भिजयौ इत शोभित भीजी सारी ॥

'अलि भगवान' सरस रस बाढ़्यौ देखौ नैन बिहारी ॥

इस प्रकार रसिक-अनन्य जीवन व्यतीत करते हुए अन्त में वृन्दावन-रज प्राप्त की। गो० कुंजलालजी और श्री अनन्य अलिजी के उपस्थिति-काल के आधार पर इनका उपस्थिति-काल १८वीं शताब्दी सुनिश्चित है।

श्री नाभादासजी के भक्तमाल की छप्पय सं० ९४ में वृन्दावन माधुरी के आस्वादक अनेक रसिकों के नामोल्लेख हुए है—

सर्वसु राधारमण भट्ट गोपाल उजागर ।
हृषीकेश भगवान, विपुल, बीठल-रससागर ॥

थानेश्वरी, जगन्नाथ, लोकनाथ, महामुनि मधु, श्रीरंग ।
कृष्णदास पंडित उभै अधिकारी हरि अंग ॥

घमंडी, युगलकिशोरभृत्य, भूगर्भ, जीव, दृढ़व्रत लियौ ।
वृन्दावन की माधुरी इन मिलि आस्वादन कियौ ॥

प्रियादासजी ने न जाने किस आधार पर उक्त छप्पय में आये भगवान् नामक भक्त को 'अलि भगवान' नाम देकर उनका परिचय इस प्रकार दिया है—

अलि भगवान राम सेवा सावधान मन,
वृन्दावन आये कछु औरे रीति भई है ।
देखे रास मण्डल में विहरत रस रास
बाढ़ी छवि प्यास दृग सुधि बुधि गई है ॥
नाम धरि रास औ विहारी सेवा,
प्यारी लागी खगी हिय मांझ गुरु सुनी बात नई है ।
विपिन पधारे आप जाय पग धारे सीस
ईश मेरे तुम सुख पायौ कहि दई है ॥

प्रियादासजी के उक्त वर्णन से भोले भावुकों को यह भ्रान्ति हो सकती है कि गोविन्द अलिजी द्वारा वर्णित अलि भगवान और प्रियादासजी द्वारा वर्णित अलि भगवान एक ही हैं, किन्तु प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों पर विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये एक नहीं अपितु दो हैं। तथ्य निम्नांकित हैं—

(१) प्रियादासजी वर्णित अलि भगवान पहले रामोपासक थे। बाद में वृन्दावन विहारी के उपासक हो गये थे। श्री नाभाजी रचित भक्तमाल के रचना-काल के आधार पर इनका काल सं० १६५० के आस-पास प्रतीत होता है। इनके द्वारा पद-रचना करने का उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

(२) श्री गोविन्द अलिजी द्वारा वर्णित अलि भगवान के पूर्वज निम्बार्क-सम्प्रदायानुयायी थे। किन्तु ये हितधर्म में ही दीक्षित हुए थे। इनका काल १८वीं शताब्दी सुनिश्चित है। इनके द्वारा पद-रचना करने का उल्लेख किया गया है।

श्या० बि० खं०

अलि मोहन

अलि मोहनजी के ऐहिक-जीवन से सम्बद्ध इतिवृत्त विशद रूप में तो प्राप्त नहीं होता किन्तु इनका नामोल्लेख राधावल्लभीय साहित्य में चाचा श्री हितवृन्दावनदासजी द्वारा विरचित 'वसन्त-प्रबन्ध' (प्रथम) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

बकसीस कियौं गुरुवर मुनीस ।
इकतारा लियौ चढ़ाइ सीस ॥
ताते रस बरषै विषै बीस ।
अलि मोहनजी को करै रीस ॥

इस प्रबन्ध में चाचाजी ने वसन्त खेल के माध्यम से गो० श्री हित हरिवंशजी के शिष्यों का वर्णन किया है।

प्रबन्ध की प्रारम्भिक पंक्तियों में चाचाजी ने लिखा है—"व्यास सुवन संग बन्यौ समाज। रितुराज खेल को सबहि साज॥ लिये प्रणत जनन मण्डली

लार। कीयें वसन्त ऋतु कौ सिंगार ॥, तथा शिष्यों की नामावली समाप्त करते हुए खेल-वर्णन से पूर्व लिखा है—"सुख सने फाग औसर जु पाय। अनगतियन सब बाजे बजाइ ॥ दम्पति गुन गुपत सु गाइ गाइ। गन्यौ सफल जनम हित शरण आइ ॥"

इस आधार पर अलि मोहनजी गो० श्री हित हरिवंशजी के शिष्य सिद्ध होते हैं और इनका उपस्थिति-काल १६वीं शताब्दी का उत्तर मध्य काल सुनिश्चित होता है। इनके द्वारा रचित पदावली बहुत थोड़ी संख्या में प्राप्त होती है। पद-रचना सुन्दर है। दो पद यहाँ दिये जा रहे हैं—

पहिरैं चंदन बागे जोरी।
रंग रंग घसि लाइ जुवति वर जिनकैं प्रीति न थोरी ॥
चंदन के सिंघासन तकिया चंदन भूमि सँवारी।
चंदन जात तीज तिथि मंगल चंदन गावत नारी ॥
चंदन कौ लहँगा चन्दन की अँगिया सुन्दर सारी।
चंदन खमकि बनी तन चूरीं शोभित भानु दुलारी ॥
चंदन की सूथन चंदन के पटुका पाग सँवारी।
चंदन के भूषन 'अलि मोहन' निरखि मदन रति वारी ॥

• • •

खेलत वसन्त दोउ नागरी नागर।
कुँवरि कुँवर रस बाढ्यौ है सागर ॥
प्रफुलित वन घन त्रिविध समीर।
वरहि कपोत अलि पिक कुल कीर ॥
अबीर गुलाऊ रोरी चन्दन सुरंग।
केसर चन्दन चौवा छिरकत अंग ॥
ललिता विशाखा भामा इक दिशि भीर।
लोनी फाग की सौंज यमुना के तीर ॥
ताल मृदंग वेना मुरज उपंग।
सुर वीना आवज बाजत इक संग ॥
गौर श्याम सुख कहा कहिये गाइ।
आनन्द 'मोहन अलि' उर न समाइ ॥

श्या० बि० खं०

अली खान पठान

अली खान पठान का जन्म वि० सं० १५७५ में हुआ था। ये पठान जाति के मुसलमान होने के बावजूद गोस्वामी विट्ठलनाथजी के अनन्य सेवक थे। इनके पिता गोरवा क्षत्रिय थे तथा माता मुसलमान थीं। यह मथुरा के समोप ही वच्छ गाँव के रहनेवाले थे। अतः ये मूलतः व्रजवासी थे। आपका परिवार बहुत छोटा था। पत्नी और बेटी के अतिरिक्त आपके परिवार में अन्य कोई सदस्य नहीं था। अली खान की बेटी भी परम वैष्णव थीं। वह भी गोस्वामी विट्ठलनाथजी की शिष्या हो गयी थीं। अली खान श्रेष्ठ पखावज-वादक थे। इन्हें व्रज के कण-कण से प्रेम था। युवावस्था में ही गोसाईंजी की शरण में आने का आपको सौभाग्य प्राप्त हुआ था। नित्य कथा सुनने के लिए ये अपने गाँव से गोकुल आया करते थे। गोसाइंजी इन्हें 'बड़े घर' का कहा करते थे। इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि ये मुगलिया दरवार के शाही व्यक्तियों में से थे। गोस्वामीजी की प्रथम वन-यात्रा का समय विक्रम संवत् १६३४ है। कुछ विद्वानों के अनुसार इसी समय अली खान पठान गोसाइंजी की शरण में आये थे। इनकी भक्तिमयी जीवन-यात्रा का अवसान सं० १६६० में हुआ।

गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी के परम अनुचर के रूप में श्री अली खान पठान की गणना की जाती है। गोकुल के प्रसिद्ध मोरवाले मन्दिर के बगीचे में इनकी छतरी बनी हुई है। इससे यह पता चलता है कि निश्चित ही यह गोसाइंजी के कृपापात्र भगवद्भक्त थे। इनकी रचनाओं में श्री स्वामिनीजी के रूप का खास चित्रण प्राप्त होता है—

प्रेयसि तुम मुख ससिधर सोहे।
स्रोन ताटंक गजमुक्ता बने वास गृह रदन
विसद मराल मोहे ॥
एहि ध्यान 'अलिखान' सदा रहे पाँगुल
गति गिरिन गोहे ॥

श्री अली खान पठान ने चौरासी वैष्णवों की नामावली काव्य-निबद्ध करके प्रस्तुत की है। इस नामावली को देखने पर अनेक भक्त कवियों का सहज स्मरण हो आता है। अपने दीक्षा-गुरु श्री विट्ठलनाथजी का स्मरण और आचार्य वल्लभ के श्रीचरणों

में प्रणत श्रद्धाञ्जलि अर्पण अली खान पठान के परम वैष्णवत्व का परिचायक है।

चौरासी वैष्णवों की नामावली

श्री विट्ठल वर नित्य प्रति गाऊँ।
जाही विधि श्री वृन्दावन पाऊँ।
श्री वल्लभ प्रभु को करौं प्रणाम।
सुमरौं श्री गिरिवरधर नाम॥
सुमरौं श्री गिरिवरधरण वर,
नित्य शरण श्री बल्लभ हरी।
श्री विट्ठलेश कृपाल सागर,
चरण रज मस्तक धरी॥
अब गाऊँ हौं निज जनन के,
गुण सूचिपत्र प्रकट करौ।
निज भक्त चौरासी भए,
अब नाम तिनके उच्चरौं॥
अब श्रीहरसानीदास दामोदर,
कहौं हो एक प्रथम ही।
कृष्ण दास मेघन गाय के,
सुखपाय के आनन्द लही॥
कन्नोज के एक दास दामोदर,
संभलवार ही सुख लहौं।
एक पद्मनाभ विसाल प्रति,
कवि कौन को समता कहौं॥
रघुनाथ, तुलसाँ पार्वती के,
गुण कहौं चित लायके।
एक रामदासजी बड़े भीतरिया,
लसत रजो चायके॥
तहाँ सेठ पुरुषोत्तम कहो,
गोपाल बेटा रुक्मिनी।
तहाँ सारस्वत एक रामदासजी,
कहौं अम्मा क्षत्रणी॥
सुमरों गदाधरदास बेणी,
माधवादास को।
हरिवंश पाठक जानिए,
गज्जनधावन गोविंददास को॥
जहाँ ब्रह्मचारीदास नारायण,
महावन में बसे।
तहाँ सेठ दिनकर कायस्थ,
दास दिनकर जग लसे॥
कायस्थ मुकुन्दही सुमरिए जु,
मुकुन्दसागर जिन कियो।
कहिए जलोटा प्रभुदास ही,
एक मन निश्चय हियो॥
सिंहनदवासी भक्त उत्कट,
भाट एक प्रभुदास है।
क्षत्री जु पुरुषोत्तमदास,
सोभित राजघाट निवास है॥
कायस्थ बरनों त्रिपुरदास ही,
भक्त रत्न उदार है।
जैमल पूरणमल सोभित,
यादवेन्द्र दास कुम्हार है॥
केशव भट्ट माधो काश्मीरी,
लिखी जिन सुबोधिनी।
बरनों गुसांई दास के गुण,
दया सागर वर्द्धिनी॥
पद्मा जु रावल बरनहों,
जोषी कहौ पुरुषोत्तममा।
जगन्नाथ जोषी सुमिर हो,
श्री रामदास जी उत्तममा॥
गोविंद दुबे बडाली के,
कृष्णदास अधिकारी कहो।
प्रोहित जु मीराबाई के भज,
रामदास ही सुख लहो॥
बुलाजु मिश्र सारस्वत एक,
रामानन्द पंडित गनो।
एक वैष्णव विष्णुदास छीपा,
जीवदास कृपा घनो॥
भगवानदास सोहोत्तरा,
कवीराज भाट बड़े भए।
लघु एक पुरुषोत्तम दास,
महामति धीरज अनवसर सहे॥

अब कहों श्री गोपालदासजी
नरोडा जाके छंद है॥
और क्षत्री एक जु सेठ
चोपड़ा जनार्दन आनंद है।
श्री मदन गोपाल प्रकट
नारायण सदन ही में अवतरे॥

• • •

गरुड स्वामी परम विरक्त
कहिए देवा कपूर बिराजहीं।
श्री ललित लाल त्रिभंगमूरति
मोद सों जहाँ राजहीं॥
क्षत्री कन्हैया लाल नरहरीदास
ब्राह्मण बरनिए।
श्लोक उत्तमदास कही
हरीदास पुष्कर्णा कहिए॥
सुनो अब चौहान बड़े
एक रामदास कहावही।
प्रथम बादरायण भट्ट
जनार्दन पाँवही॥
राजा दुबे माधो दुबे द्वै,
विप्र उनके संग लसे।
ब्यास राणादास पिताम्बर
मुकुट मणि रसमय असे॥
गोपालदास ब्रजवासि
जटाधारी महाअनुभव झरे।
गोरजा समराई कहो,
नंदलाल जिनपर ढरे॥
काँहि सूर परमानंद छकड़,
वासुदेव वखाणिये।
बाबाजु वेणु कृष्ण,
जादवदास के गुण गाइए॥
भागो जु क्षत्राणी कहो,
एक अच्युत आनंददास है।
दूजे जो अच्युतदास द्विजवर,
हरिचरण विश्वास है॥
आनंद विश्वंभरदास,
श्यामसुतार के गुण गाइए।
बासी अड़ेल सदा निरंतर,
सुन्दर हरि मन लाइए॥
दिवान ठठ्ठा को नारायणदास,
प्रगट लुवाण है।
माता कहिए सिंहनद क्षत्राणि,
पुत्र वत्सल गान है॥
कहे संतदास महा विरल,
आसवत नित गिरिधरन सों।
आनन्द जगतानन्द द्विजवर,
दिनकर हरि शरण सों॥
कुंभनदास महारसमत्त जिन,
प्रीति प्रभु सों सची।
कृष्णदास ग्वाल कहिए,
जिन गौ नाहरतें बची॥
ए भक्त चौरासी भए तब,
स्याम-स्यामा गाइए।
विनती सुनो अलिखान की,
ब्रजवास कब धौं पाइए॥
अब जात दिन बीते सबै,
मेरी आस कब धौं पूरही।
के दीन या जग माझ निशि दिन
त्रासहो म घूमही॥
ये भक्त जन सौं हेत ताही
छिन तुम्हें जानहीं।
जब दीन को गिरिराज वृन्दा-
विपिन के सुख मानहीं॥

गोसाँई विट्ठलनाथजी के समकालीन एक मुसलमान कवि की रचना होने के कारण इस सूची का सम्प्रदाय और मध्यकालीन भक्त गाथा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

रा० कृ० श०

अलीबख्श

अलीबख्श का जन्म सम्वत् १८९४ में हुआ था। इनके पिता रडेरवाँ मुण्डावर (अलवर) के नवाब

थे। ये जाति से रांधड़ थे जो पहले चौहान राजपूत थे, किन्तु बाद में इन्होंने इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। भारत-विभाजन के फलस्वरूप इनके कुटुम्बीजन एवं सम्बन्धी पश्चिमी पाकिस्तान में जाकर रहने लगे।

नवाब-खानदान में जन्म लेने के कारण इनका बचपन वैभवपूर्ण वातावरण में व्यतीत हुआ। शिक्षा के उचित प्रबन्ध के अभाव में इन्होंने जो कुछ सीखा वह सत्संगति और आत्मानुभव का ही परिणाम था। इनका देहावसान सं० १९५६ में हुआ।

ये प्रारम्भ से ही भ्रमण-प्रेमी थे। आसपास के गाँवों में जाकर श्रीकृष्ण की लीला तथा स्वांग देखने में इनकी गहरी अभिरुचि थी। एक बार मुण्डावर के पास पटेल नामक गाँव में ये स्वांग देखने गए। ये मंच के निकट बैठे थे। बात ही बात में किसी हिन्दू ने इन पर व्यंग्य किया, 'क्या तुम भी ऐसा स्वांग-प्रदर्शन कर सकते हो?' अलीबख्श को यह बात लग गई और उन्होंने स्वांग-प्रदर्शन का निश्चय कर लिया। पटेल गाँव से जब ये अपने घर मुण्डावर आ रहे थे, तब रास्ते में इनकी भेंट गरीबदास नामक साधु से हुई। उन्होंने इन्हें स्वांग-रचना करने का आशीर्वाद दिया। मुण्डावर आकर ये ख्याल-रचना में तल्लीन रहने लगे। धीरे-धीरे ये श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त बन गये और अपना सम्पूर्ण जीवन कृष्णार्पित करके निश्चिन्त हो गए। यह कहा जाता है कि एक बार अलीबख्श जब श्रीकृष्ण के ख्याल-प्रदर्शन हेतु रेवाड़ी (हरियाणा) गए हुए थे तब वहाँ इन्होंने एक दिन पूर्व ही अपने साथियों को भावी आपत्ति का स्वरूप बता दिया था। गाँव के भविष्य सम्बन्धी इस प्रकार के ज्ञान की शक्ति इन्हें अनन्य कृष्णभक्ति से प्राप्त हुई थी।

अलीबख्श ने श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बद्ध अनेक लीलाओं का वर्णन किया है, यथा—देवकी-कंस-प्रसंग-लीला, श्रीकृष्ण को कंस के भय से गोकुल में भेजना, माटी-लीला, दधि-चोरन-लीला, बाँसुरी-लीला, दान-लीला, रास-लीला, वंशी-चोरन-लीला, उद्धव-गोपी-संवाद आदि। इनके दो छन्द प्रस्तुत हैं—

(१)

रोवत है वसुदेव विचारो पुत्र चलो सहारो।
कहा करूं कुछ बस नहीं चल्यो पापी कंस के मोहै मारो॥
रुदन करत है माता देवकी घर से गयो उजारो।
हाय एक ही पुत्र हमारे दै कै चलौ रे लाल घर का तारो॥
अलीबख्श वसुदेव भगत जब घर देखो नांह सहारो।
ऐसा रोया माता-पिता सर दे दे धरनी मारो॥

(२)

एरी मैया मोहे आज मिली एक छोरी।
जिन यह पकड़ी भुज मोरी॥
अपने नाम कह्यो उन आपही,
हूँ बृषभान किशोरी।
सुन्दर बदन सोहनी मूरत,
बाल उमर की थोरी॥

ग० मि०

अली रंगीली

अली रंगीली का जीवन-वृत्त अज्ञात है। इनका 'रास-पंचाध्यायी' नामक एक ग्रन्थ मिला है। इसकी प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में सुरक्षित है। इसके २१ छन्दों में श्रीकृष्ण और गोपिकाओं के रास का वर्णन है। प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

मनमोहन लाल बिहारी,
काम रूप मनुहारी॥
मदन रूप मनुहार मनोहर,
सुन्दर नैन बिसाला॥
पुष्कल चंद किरन जुत देष्यो॥
बन मनसिज मानो साला॥
मोर मुकुट कटि काछिनी काछैं
पीत पीताम्बर धारी॥
मुरली धुनि बोलत प्यारी-प्यारी
मनमोहन लाल बिहारी॥

वंसी जबै बजाई लाल
शब्द सुनत हुलसी ब्रजबाल ॥
हुलसी ब्रजबाल सुनत वंशीरव
लाज शृंखला तोर ॥
हिय मद प्रगट-प्रगट मद हिय में
प्रेमा सिंध झकोर ॥
अस्तव्यस्त शृंगार वस्त्र तज
ग्रह कारज ब्रज-बाल ॥
आई लोल कपोल कुण्डल छवि
बंसी जबै बजाई लाल ॥

वा० सिं०
कृ० चं० ला०

अल्लूनाथ

भक्तकवि अल्लूनाथ कविया-शाखा के चारण थे। इनका जन्म वि० सं० १५६० में, हेमराज कविया के घर, मारवाड़ के सिणली ग्राम में हुआ था। अल्लूनाथ की परमात्म-भक्ति और काव्य से प्रभावित होकर आमेर-नरेश पृथ्वीराज कछवाह के पुत्र रूपसिंह ने इन्हें कुचामन के समीप जसराणा नामक ग्राम प्रदान किया था। इसके बाद ये जसराणा में ही रहने लगे।

अल्लूनाथ ने यद्यपि किसी प्रबन्ध-काव्य का प्रणयन नहीं किया परन्तु इनके लिखे भक्तिगीत और षट्पदियाँ इन्हें उच्चकोटि का कवि सिद्ध करने में सक्षम हैं। जन-जीवन में सिद्ध-अल्लूनाथ के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक कथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि बलख के सुलतान ने वैरागी बनकर राज-वैभव का परित्याग कर दिया था। वे घूमते-घामते हिन्दुस्तान आए। इस घटना के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

सोलह सहस सहेलियाँ, तुरी अठारह लक्ख।
तेरे कारण साँवरा, छोड़ा सहर बलक्ख ॥

बलख के संन्यासी सुलतान की भेंट अल्लूनाथ कविया से हुई थी। इनके द्वारा प्रणीत गीतों और नीसाणियों में इस घटना का संकेत मिलता है। सुलतान के गुरु ने उनके गले में मिट्टी की कच्ची हँड़िया बाँधकर कहा था कि जिस दिन आत्मज्ञान की गर्मी से हँडिया पक जाएगी, तुम पूर्ण योगी बन जाओगे। गले में हँडिया रखने के कारण सुलतान 'हाँड़ी भड़ंग' के नाम से प्रसिद्ध हुए। शेखावाटी के प्रसिद्ध जीवमाता के पहाड़ों में 'हाँड़ी-भड़ंग' की गुफा विद्यमान है। वहाँ रहनेवाले योगी के पास उपलब्ध हस्तलिखित ग्रंथों में भी 'हाँड़ी भड़ंग' को सिद्ध महात्मा बतलाया गया है।

अल्लूनाथ के सम्बन्ध में अनेक भक्त कवियों ने उद्‌गार व्यक्त किए हैं। प्रसिद्ध भक्त कवि नाभादास ने 'भक्तमाल' में अल्लूनाथ और उनके पूर्वज कोल्ह का विवरण देते हुए इन्हें चौरासी रूपकों की रचनाओं में निष्णात चारण भक्त कवि बताया है—

चौमुख चौरा चंड जगत ईश्वर गुन जाने।
करमानंद और कोल्ह अलू अक्षर परवाने ॥
माधो मथुरा मध्य साधु जीवानन्द सीवा।
उदा नारायणदास नाम मांडन तन ग्रीवा ॥
चौरासी रूपक चतुर, चवत बानी जूजुवा।
चरन सरन चारन भगत हरि गायक
एता हुआ ॥

बीकानेर के कवि भैरवदान ने 'राजवंश-प्रकास' में इनकी योग-साधना तथा हरि-भक्ति के सम्बन्ध में लिखा है—

अलू कविया हुव जोग निधान।
लख्यो खट्चक्रन को जिन ज्ञान ॥
किये तित जोग के आठहूँ अंग।
कियो हरि ते हिय हेत अभंग ॥

अल्लूनाथ की भक्ति-संबंधी रचनाएँ डिंगल-काव्य में बेजोड़ मानी जाती हैं। अपरिमित ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और गहनानुभूति के रस में सने इनके कवित्त पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालते हैं। पौराणिक आख्यानों और नवीन प्रतीकों के प्रभावोत्पादक सम्मिश्रण ने अल्लूनाथ के भक्ति-भावपूर्ण कवित्तों को जन-जन का कण्ठहार बना दिया है।

भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्यों तथा उनकी भक्ति की महिमा का बखान इन्होंने बड़ी ही ओजपूर्ण भाषा में किया है। एक उदाहरण देखिए—

गोप नार चित हरण प्रेम लच्छणा समप्पण।
कुंज बिहारी क्रस्ण रास ब्रन्दावन रच्चण॥
गोवरधन उधरण, ग्राह मारण, गज तारण।
जरासिंध सिसपाल भिड़े भू-भार उतारण॥
जमलोक दरस्सण परहरण भो भग्गो जीवण मरण।
ओ मंत्र भलो निस दिन अलू सिमर नाथ
असरण सरण॥

इनकी मान्यता है कि जप, तप, अष्टांग योग-साधना, तीर्थ और व्रत करनेवाले व्यक्ति से अधिक श्रेष्ठ वह व्यक्ति है जिसके मुख से कुंजबिहारी कृष्ण का नाम निरन्तर निकलता रहता है—

औ हिज जप और तप्प,
औ हिज सन्यास स जांणौ।
अनल और हिज अष्टांग,
जोग मारण औ जाणौ॥
औ तीरथ औ तप्प,
व्रत औ हीज बिचारै।
कुंज बिहारी क्रिसण,
चरण पंकज चीतारै॥
इम करै सुभव दुस्तर तरै,
एकोतर कुल उद्धरै।
उर कंठ जीह हूँता अलू,
बिसन नाम मत वीसरै॥

अल्लूनाथ का निधन वि० सं० १६१९ के पश्चात् हुआ था। इन्होंने मारवाड़-नरेश मालदेव के कार्तिक सुदि द्वितीया वि० सं० १६१९ में देहावसान पर शोक-गीत लिखे थे। उनसे इनका दीर्घायु होना सिद्ध होता है।

जसराणा में, भक्त अल्लूनाथ की समाधि बनी हुई है, जहाँ इनकी पाँवडियों की पूजा की जाती है। इसी प्रकार कुचामन के पहाड़ी दुर्ग में सुरक्षित सिद्ध अल्लूनाथ का लोहे का चिमटा और धूनी, उनके उच्च-कोटि के साधक होने की परिचायक है।

कवि अल्लूनाथ की रची श्रीकृष्ण और श्रीराम की षट्पदियाँ राजस्थानी जन-जीवन में बहुत प्रसिद्ध हैं। आज भी राजस्थान में भक्त लोग आराधना के समय अल्लूनाथ की रचनाओं का पाठ करते हैं। डिंगल के कवि प्रभुदान मिश्रण ने हरिनाम-महिमा का दिग्दर्शन करानेवाले कवियों में अल्लूनाथ के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है—

हरि सुमरण रै हेत,
वीण तुंबरु बजाई।
हरि सुमरण रै हेत,
कन्ह कहै कवित्त कताई॥
हरि सुमरण रै हेत,
गीत करमाणंद गाया।
हरि सुमरण रै हेत,
सहस कवि जोति समाया॥
हरि भगति रै हेत ईसर,
अलु, विसन चरण गाई बाँनियाँ।
जिण खाल माँहि पायौ जलम,
पढि रै हरि प्रभुदानियाँ॥

उत्तम कोटि के कवि होने के साथ-साथ ये श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त भी थे। उस भक्ति का ही परिणाम था कि ये बड़े-बड़े राजाओं की भी परवाह नहीं करते थे। एक बार ईडर प्रदेश के राजा वीरमदेव ने इन्हें पूर्णिमा की सन्ध्या को लाख पसाव (एक लाख रुपए वार्षिक आमदनीवाली जायदाद) देना चाहा, लेकिन अल्लूजी ने इस दान को यह कहकर लेने से इन्कार कर दिया कि संध्या के समय वे दान नहीं लेंगे। ईडर-नरेश के अधिक आग्रह करने पर इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि संध्या समय एक ही नहीं, दो लाख पसाव दें तो भी स्वीकार्य नहीं होंगे। ऐसे स्वाभिमानी थे अल्लूजी। अन्ततः इन्हीं अल्लूजी ने ईडर-नरेश वीरमदेव की रक्षा की। यह सब अल्लूजी की भक्ति का ही चमत्कार था। कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध इनके स्फुट

कवित्त (छप्पयं) उपलब्ध होते हैं। कवित्तों की भाषा डिंगल (राजस्थानी) है--

सोही वाण सुवाण,
भजै हरि नाम निरन्तर।
सोही माँण सुमाँण,
भरै भलपण हुँत जाठर॥

सोही लाज सुलाज,
त्रिया पर मेलय तज्जै।
सोही सूर सामंत,
भिड़ै आराण जहँ भज्जै॥

दिल धरम सोही पालै दया,
न्याव सोही पच्छि न करै।
हरिनाम जीह जपतौ रहै,
सो सपूत कुल ऊधरै॥

इनका रचनाकाल सं० १६२० के लगभग माना जा सकता है। इनका रचा हुआ कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। संभव है इन्होंने कोई ग्रन्थ लिखा ही न हो, फिर भी इनके कुछ फुटकर छप्पय एवं गीत मिलते हैं। छप्पयों की संख्या १७० है।

'भक्तमाल' में नाभादासजी ने भी इनका उल्लेख किया है। इनकी भक्ति-भावनास्वरूपव्यंजक दो पद यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१)

गोप नार चित हरण, प्रेम लच्छना समप्पण।
कुंजबिहारी कृष्ण रास व्रन्दावन रच्चण॥
गोवरधन ऊधरण ग्राह मारण गज तारण।
जुरासिंधु सिसपाल भिडै भू-भार उतारण॥
जमलोक दरस्सण परहरण, भौ भग्गौ जीवण मरण।
ओ मंत्र भलौ निसदिन 'अलू' सिमरनाथ असरण सरण

(२)

जेथ नदी जळ बहळ, तेथ थळ विमळ उलट्टै।
तिमिर घोर अंधार, तेथ रवकरण प्रकट्टै॥
राव करीजे रंक, रंक सिर छत्र धरीजै।
'अलू' तास बिसवास आस कीजै सुमरीजै॥
चख लिए अंध पंगुर चलण मुनि सिद्धायत वयण।
तो करत कहा न हुवै, नारायण पंकज नयण॥

ज० सिं० परि०

ग० मि०

अवधदास (प्रथम)

संत अवधदास वृंदावन में निवास करते थे। कहते हैं इन्होंने राधाकृष्ण की रास-लीला के प्रत्यक्ष दर्शन किए थे। ये निरभिमानी संत थे तथा नित्य श्रीमद्भागवत का पाठ करते थे। राधाकृष्ण का ये सदैव ध्यान तथा उनके गुणों का गान करते थे। इन्होंने कृष्ण-भक्ति-विषयक अनेक पद रचे हैं। इनका उपस्थिति-काल विक्रम की बीसवीं शती माना जाता है।

म० गो० भा०

अवधदास (द्वितीय)

बाबा अवधदासजी का जन्म बिहार प्रान्त के भागलपुर जिले में मन्दार-मधुसूदन (बौंसी) नामक गाँव में लगभग सन् १८२६ ई० में हुआ था। ये मैथिल ब्राह्मण थे। दस-बारह वर्ष की आयु में ही ये घर से बाहर निकल पड़े। इन्होंने मिथिलापुरी के श्री हरिकिंकर योगीन्द्रवर्य से दीक्षा ग्रहण की और उन्हींके साथ आश्रम में रहकर भजन करने लगे। अपने गुरु की कृपा से इन्हें पूरा श्रीमद्भागवत कण्ठस्थ हो गया। गुरुदेव के देहान्त के बाद ये श्रीधाम वृन्दावन चले गये। वहाँ धोबी गली में रहकर ईश्वर का भजन करने लगे। ये इतने श्रीमद्भागवतमय हो गये थे कि सदैव उसीकी चर्चा करते रहते थे। श्री गोपालकृष्ण श्रीवास्तव इनके प्रमुख शिष्यों में थे। कहते हैं, एक बंगाली सज्जन ने इनसे दीक्षा ग्रहण की, लेकिन वह बाबा की आज्ञा का उल्लंघन करता रहा। एक दिन इन्होंने उससे कहा, 'मेरी आज्ञा की अवहेलना कर बंदर की तरह इधर-उधर घूमने से कुछ न होगा', लेकिन वह तब भी नहीं सुधरा। जनश्रुति है कि शरीर त्याग कर दूसरे जन्म में वह वास्तव में

बन्दर होकर ही उनके समक्ष प्रकट हुआ। बाबा ११० वर्ष की आयु तक श्रीमद्भागवत का नियमित पाठ करते रहे और उनका पूजन विधिवत् चलता रहा। सन् १९३७ ई० में ये बीमार पड़े। अत्यधिक दुर्बल होते गये। अंत में फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष की द्वितीया को इन्होंने प्राण त्याग दिए।

मु० अ०

अवधूतदास

श्री अवधूतदास फक्कड़ प्रकृति के महात्मा थे, यह आपके नाम से ही स्पष्ट है। ब्रज में घूमना तथा माँगकर खाना ही आपको अभीष्ट था। ये अडींग के रहनेवाले थे। इनका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। सुना जाता है कि जब इनकी अवस्था १५ वर्ष की थी, तो यह अपना घर छोड़कर मथुरा आ गये। यहाँ पर इन्हें श्रीनाथजी की कृपा से महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी के दर्शन हुए थे। भावप्रकाश की टीका में इनकी हलकी-सी चर्चा हुई है। डॉ० सत्येन्द्र ने इन्हें संत कवि के रूप में स्वीकार किया है। ब्रज में जब अकाल पड़ा था तो इनके माता-पिता इन्हें अपने एक वैश्य मित्र के यहाँ छोड़कर परदेश चले गये थे। महाप्रभु आचार्यजी ने ऐसे विरक्त बालक को जो अभी किशोरावस्था में ही था और प्रपंच से ऊपर उठ चुका था, अपना शिष्य बनाना उचित समझा। अवधूतदास ने महाप्रभु से शरण में लेने के लिए बहुत विनती की थी। इसीका परिणाम था कि संत अवधूतदास को आचार्यश्री अपने साथ गोवर्धन ले आये थे और श्रीनाथजी के समक्ष राजभोग के समय ब्रह्म-सम्बन्ध की दीक्षा प्रदान की थी।

पुष्टिमार्ग में यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण की तीन प्रसिद्ध सेवाओं—तनुजा, वित्तजा, मानसी में—मानसी सेवा को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। गुरु-कृपा से इन्हें मानसी सेवा की सिद्धि प्राप्त हो गई थी। एक बार की बात है, आचार्यजी के समक्ष प्रणतभाव से अवधूतदासजी ने निवेदन किया, 'श्री महाराजजी, मेरे मन में यह भाव आया है कि मैं श्री गोवर्धननाथजी को अपने हृदय में धारण करके पूरे ब्रज में घूमा करूँ।' यह कथन सुनकर आचार्यजी ने अपने हाथ में जल लेकर अवधूतदास के ऊपर कई बार छिड़का। इस जल-प्रक्षालन की क्रिया से अवधूतदास की लौकिक देह जलकर भस्म हो गई और इन्हें अलौकिक—दैवी गुणसम्पन्न—देह प्राप्त हुई। इतना ही नहीं, इनकी भूख, प्यास सब चली गई, इन्हें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं रही और ये मानसी सेवा में इतने निमग्न हो गये कि इनका सांसारिक बंधन कट गया।

अवधूतदासजी अपने कीर्तनों में 'अद्भुत' छाप लगाते थे। इनके पदों में दार्शनिक तत्त्व सर्वांशतः समाहित हैं। इन पदों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें शुद्धाद्वैत दर्शन तथा ब्रह्मवाद का लीलात्मक प्रतिपादन है। सम्प्रदाय में इनका यह पद बहुत प्रसिद्ध है—

हरि एक अद्भुत रूप धरचौ,
तन एक अद्भुत मन एक अद्भुत
अपनौ भोग आप ही करचौ।
गति एक अद्भुत, मति एक अद्भुत
पति एक अद्भुत चित्त हरचौ॥
छल एक अद्भुत बल एक अद्भुत
अद्भुत रस रस रसहिं ढरचौ।
अद्भुत फूल फलहिं एक अद्भुत
अद्भुत भाग सुहाग भरचौ।
अद्भुत रूप रूप सौं अरुझ्यौ
अद्भुत कहि न परचौ॥

उक्त पद में भगवान् की विराटता का विस्मयकारी तथा अनिर्वचनीय चित्र अंकित है। इनकी अनेक स्फुट रचनाएँ कीर्तन-संग्रहों में उपलब्ध हैं।

रा० कृ० श०

अहमद उल्लाह

अहमद उल्लाह दिल्ली के बहरियाबाद क्षेत्र के निवासी थे—

'अहमदुल्ला निज नाम है, वासी बहरियाबाद को'

ये मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के समकालीन थे।

'पातसाहि दिल्ली तखत हतो मुहम्मद साहि'

ये ऊँचे कुल में उत्पन्न हुए थे तथा फारसी और अरबी के उत्कट विद्वान् थे। यह भ्रमण के शौकीन थे। कवि ने स्वयं लिखा है—

पढचो मैं ग्रंथ अनग्ग पारसी औ अ (र) ब्बी।
पूरब पच्छिम उत्तर दक्षिन देष्यौ मैं सरब्बी॥

हिजरी सन् ११३४ में ये मदीना हज करने गये। वहाँ से वापस आकर इन्होंने ११३५ में दक्षन-विलास नामक रस और नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा—

ग्यारह सै चौंतीस हतो संवत् जो बीत्यौ।
दक्ष मदीने नगर डगर महमद जो जीत्यौ॥
चौंतीस एकै अंत ग्रंथ में सोधि बनायौ।
"" पासइ तोजीकाद, जो पै यह रस बरसायौ॥
शुभ दक्षन बिलास इहि ग्रंथ कौ
नाम धरचौ मैं प्रीति करि॥

दक्षन इनकी उपाधि थी—'भाषा कवि रसाल तामें दक्षन पद पायौ'। इन्हें हिन्दी कविता अत्यन्त प्रिय थी। 'दक्षन कवि चित भाउ कवि भाषा अति भायौ।' हिन्दी की कविता में अच्छी प्रसिद्धि पाने के कारण ही इन्हें 'दक्षन' उपाधि मिली थी। इसी उपनाम के साथ इन्होंने अपना ग्रंथ प्रचारित किया। 'दक्षन-विलास' इन्होंने अपने मित्र मुहम्मद फाजिल के लिये बनाया था। यह ग्रंथ हिजरी सन् ११४० में समाप्त हुआ—

'महमद फाजिल भीत लागि दक्षन लिष्यौ बनाइ'

इस प्रकार इस कवि का रचना-काल १७७४–७९ वि० माना जा सकता है।

इन्होंने रस और नायिका आदि के वर्णन में बहुधा कृष्ण और राधा का आश्रय लिया है—

तीनों लोक चल देष प्रेम अविचल पेषि,
लीनों अवरेष एक प्रेम राधाप्यारी कौं।
प्रेम कौ सुभर मेरु सूष ही उठाइ कर,
क्यों न लागै फूल तूल गिरि गिरधारी कौं॥
बाँसुरी सौं छूट्यो नेह लूटे साथी लूटौ गेह
झूठी मति झूठी देह तजि गति सारी कौं।
जल के चरित्र भूले जलचर विचित्र भूले
अरि अरु मित्र भूले दक्षन मुरारी कौं॥

इनकी भाषा तत्समता की ओर झुकी हुई हैं, किन्तु मृदु है। कवि ने कवित्त ही नहीं, 'सवैयों' का उपयोग भी किया है और रस के साथ अलंकार-योजना पर भी ध्यान दिया है।

रीति-काल में भक्ति की रंगत कैसे रह सकती है यह बात इस कवि के काव्य से प्रकट होती है। श्रीकृष्ण के माधुर्य-लीला-सम्बन्धी दो छंद यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१)

तुव नैननि लूटि लिए मृग दक्षन,
बैननि लूटि सुधा की मिठाई।
शर मैन के सैनन लूटि लिए,
गज गैनन चाल मतंग सुहाई॥
कटि लूटि नितंब लियो लट तो,
हठि लूटि हे नागिनि की विषताई।
पल मे बटपार हत्यारिनि राधे,
तै लूटिहै नंदकिशोर कन्हाई॥

(२)

राजै एक सेज पर राधिका कुँवरि हरि,
'दक्षन' सुघर बर दोऊ सम रस हैं।
काम की कलोलन सों मीठे-मीठे बोलन सों,
वाके चख-लोलन सौं पीवे रूपरस हैं॥
साँवरे सहाई मीत माइके प्रतीत प्रीति,
सुरति समर जीति आनन्द बरस हैं।
केलि के चरित्र सारे करत न दोऊ हारे,
प्रेम मतबारे एक-एक ते सरस हैं॥

स०

आत्मानन्द

संत चरणदासजी के शिष्य गुसाईं जुगतानन्दजी ने पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली थी। उनको नाम सुन-

कर दक्षिण भारत से एक ब्राह्मण-परिवार पुत्रेच्छा से दिल्ली पहुँचा। गुसाइंजी के आशीर्वाद से उन्हें दो पुत्रों की प्राप्ति हुई। इस द्रविड़ ब्राह्मण-परिवार ने अपना एक पुत्र (संवत् १८६० में) एक वर्ष की अवस्था में गुसाइंजी को अर्पित कर दिया। गुसाइंजी ने दीक्षित करके इसका नाम रखा—आत्मानन्द। ये बहुत होनहार शिष्य थे। इन्होंने ११ वर्ष की अवस्था में गुरु से भक्ति एवं ज्ञान प्राप्त कर लिया। गुरु के परलोक-गमन के कई वर्ष बाद ये बिठूर (कानपुर) पहुँचे, जहाँ इन्होंने अपना निवास-स्थान बनाया। एक दिन ये ब्रह्मावर्त्त घाट पर गंगा किनारे प्रिया-प्रीतम के ध्यान में लीन थे। तन की सुध नहीं थी। उसी समय नवाब की सवारी उधर से गुजरी। लोगों ने कहा—'उठो' परन्तु ये तो युगल-चरण के ध्यान में निमग्न थे - सुने कौन? जब ये नहीं उठे तो नवाब इन्हें देखकर पाखंडी समझकर बहुत कुपित हुआ और आज्ञा दी कि इन्हें हाथी के पाँव के नीचे रौंद दिया जाए। जब हाथी इनके समीप लाया गया तो वह चिंघाड़कर दूर भागा। शोर सुनकर आपने नेत्र खोल दिए, जिस ओर देखा उधर लोगों के पाँव वहीं जमे रह गए। इनका यह प्रभाव एवं शक्ति देखकर नवाब ने हाथी से नीचे उतरकर इनके चरणों में गिरकर क्षमा माँगी तथा प्रार्थना करके आठ गाँव की जमीन भेंट की। इन्होंने बड़ी लम्बी उम्र पाई थी। संवत् १९८७ में परलोक गमन किया।

म० गो० भा०

आत्माराम

आत्माराम के जीवन के सम्बन्ध में विशेष विवरण नहीं मिलता। प्राप्त रचना के आधार पर केवल इतना अनुमान होता है कि ये पश्चिमी राजस्थान के रहनेवाले थे। ये एक उच्चकोटि के भक्त और कवि थे।

इनके दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं—'परचुरण-पद' और 'ब्रजलीला'। इनमें दूसरा ग्रन्थ श्रीकृष्ण की ब्रज-लीला से सम्बद्ध है। प्रथम ग्रंथ में दूसरे ग्रंथ का भी उल्लेख है और दोनों ग्रन्थों में कवि के नाम की छाप भी है।

'अथ परचुरण-पद तथा श्री बालाजी महाराज ने नीत्यनांपद तथा ब्रजलीला लखी छे।'

यहाँ 'ब्रजलीला' से दो उद्धरण दिए जा रहे हैं—

(१)

श्री गरुने चरणोनमु जाचुबे कर जोड़।
ब्रजलीलाने वरणवु कोपन देशुखोड़॥
रामा अवतार पुरण थयो करी राक्षस प्रगटासार।
श्रीकृष्ण चंद्र प्रगट थई उतारो भोमीभार॥
रामा अवतार राक्षस मारी आपु पधारो धामे।
तार पछी फरी राक्षस वलीआ प्रगटा माहा वलवाने॥

महावलीया वलवान तेन केहि।
अरसी कहे हवे को करहि॥
इंद्र कहे इन्द्रासन लीधु।
देव कहे अमने दुख दीधु॥

(२)

जै जै कृष्ण क्रिपाल
हये शुकदेवजो केहे छेरे परीक्षत राय नेरे।
ब्रजनी लीला सुन्दररे ते वरणव था अनैहेरे॥
गोपीनी प्रेम भक्तीरे अमे वरणव करी।
राजा अेरूदेराखीरे भावथी मनधरी॥
धन्य ए व्रीजनी गोपीरे धन्य नंद तात नेरे।
धन्य छे ग्वालबाल नेरे जसोदा मात नेरे॥
धन्य गोकुल ना वासीरे जेने श्रीमुख जोयुरे।
रातदीन क्रीडा करतांरे मन्न क्रष्णजी शुं मोह्यरे॥
मै लीला प्रेमधरी नेरे प्रीते जे सांभलेरे।
त्रीवीधना तापट लीनेरे भुधरमांजइ भले॥

वा० सिं०

आत्माराम इकंगी

आत्माराम इकंगी का जन्म संवत् १७४९ वि० के लगभग घास की मंडी, दिल्ली में हुआ था। आरंभ में ये काफी उद्दण्ड प्रकृति के थे। ईश्वर, जप-तप, पूजा-पाठ आदि में विश्वास नहीं रखते थे। इनके घर में एक गुरु आते थे, जो कंठी दे जाते थे, ये उस पर विश्वास न करके तुलसी के पेड़ पर रख देते थे। एक दिन

आत्माराम अपने परममित्र दासकुँवर के यहाँ उनसे मिलने गए। संयोग से स्वामी चरणदासजी भी वहाँ मौजूद थे। आत्मारामजी ने दासकुँवर से पूछा, "मित्र! ये कौन हैं?" तब दासकुँवर ने बताया—"ये अपनी ही जाति के बड़े पहुँचे हुए महात्मा हैं। कुछ दिनों से यहाँ रह रहे हैं।" इन्होंने कहा कि इस प्रकार के न जाने कितने महात्माओं को मैं देख चुका हूँ। यह कहकर वह उनकी परीक्षा लेने के निमित्त मुस्करा व अकड़कर उनके पास जाकर बैठ गये, प्रणामादि भी नहीं किया। चरणदास सब कुछ समझ गए और मुस्कराकर बोले—"तुम कौन हो?" इन्होंने कहा—"मैं यह नहीं बताऊँगा। आप अन्तर्यामी हैं तो मेरे बारे में बताइए।" चरणदासजी ने ध्यान लगाकर बतलाया—"तुम भार्गव ब्राह्मण हो। फिर तुम ईश्वर-भजन क्यों नहीं करते हो? तुम्हारा गुरु कौन है?" इस पर आत्माराम ने कहा—"मेरा गुरु एक ब्राह्मण है और वह कभी-कभी आकर मेरे गले में कण्ठी बाँध जाता है, किन्तु मैं उसे खोलकर तुलसी के पेड़ में डाल देता हूँ।" चरणदास बोले—"तुम न तो गुरु का कहना मानते हो, न भजन ही करते हो, न गुरु का वेश धारण करते हो और जैसा कि तुम स्वयं कह रहे हो कि तुम कण्ठी तोड़ देते हो। निश्चय ही तुम यमपुर जाओगे और यमदूतों द्वारा नाना प्रकार की यातनाएँ सहोगे।" तब ये बोले—"मैं आपकी इन बातों से डरनेवाला नहीं हूँ। मुझे यमपुरी और यमदूत दिखलाइये, तब मैं मानूँ।" चरणदास ने इनसे कहा—"आँखें मूँदो।" आँखें मूँदने पर इन्हें अनेक नरकों के दर्शन हुए। वहाँ लाखों पापी हाहाकार कर रहे थे। यमदूत उन्हें तरह-तरह की यातनाएँ दे रहे थे। इन दृश्यों को देखकर आत्माराम बहुत डरे और डर के मारे इनका बुरा हाल हो गया। तब चरणदासजी ने उन दृश्यों को हटाया। नेत्र खुलते ही आत्माराम चरणदास के पैरों पर गिर पड़े और बोले—"मेरी रक्षा कीजिये। मुझे अपना शिष्य बनाइये।" तब चरणदास ने कहा—"कुछ दिन हम तुम्हारी चाल-चलन देखेंगे, तब शिष्य बनायेंगे।" इसके बाद आत्माराम नित्य आकर चरणदासजी की सेवा करते थे, परन्तु चरणदास के शिष्य बने बिना उनको चैन नहीं पड़ता था। आखिर एक दिन प्रसन्न होकर चरणदासजी इनके घर गये और संवत् १७९७ में कण्ठी, तिलक, वस्त्र, उपदेशादि देकर अपना शिष्य बना लिया। संवत् १८०२ में चरणदास ने जयपुर ले जाकर इन्हें महन्त बनाया। इनका परलोक-गमन सं० १८२३ की वैशाख कृष्ण षष्ठी, बुधवार को हुआ। इनकी लिखी मात्र एक रचना 'स्वातिग सुभ लक्षिन' प्राप्त हुई है। संकलनों में इनके रचे पद भी मिल जाते हैं। इनकी रचनाओं में जहाँ एक ओर ब्रजभाषा की कोमलकान्त पदावली के दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर अरबी, फारसी की शब्दावली के भी। उदाहरणस्वरूप एक पद तथा एक कवित्त प्रस्तुत है—

महबूब है हमारा वो नंदजी का लाल।
सिरताज है जरा का सुन्दर तिलक है भाल॥
कानों के बीच कुण्डल गल में मोतियन की माल।
बाँकी भौंहें कमान ज्यौं नैनाँ निपट बिसाल॥
बीनी का दुर लटकता लब पर बेंदी मिसाल।
जैसे अरस में तारा रहता है चंद नाल॥
मुरली बदस्त रखता है मोहन मदन गुपाल।
जिसके सदा सूं पति-सुत-घर भूली ब्रज की बाल॥
रच-रच के रास-मंडल बन-बन बजावै ताल।
'आतम' हुआ दिवाना निरख छबि लटकती चाल॥

● ● ●

आनन अनूप रूप लोचन है बिसाल महा,
रति हू तै नीकी देखि ससि तो लजात है।
हाटक सूं सरस अंग कोमल किसोर बैस,
चंपक की डार मानो भँवर लुभात है॥
कमला चपला-सी वृषभान की सुता सोचष,
लष सुचारु रूप मन तो हुलसात है।
कहत सखी 'आतम' स्याम नैको न कीजै न्यारी,
ऐसी प्रिय प्यारी जू बिसारी कैसे जात है॥

म० गो० भा०

आत्माहंस (ठाकुर)

सन्त-परम्परा के कृष्ण-निष्ठावाले स्फुट सन्तों में ठाकुर आत्माहंस का नाम उल्लेखनीय है। इनका जन्म सन् १८३४ ई० में किसी समय बिहार के सहरसा जिलान्तर्गत शाहपुर तालुके में हुआ था। ये जाति के गंधवरिया राजपूत थे। इनके पिता हरिप्रसाद सिंह अपने समय के एक लब्धप्रतिष्ठ जमींदार थे। इनकी माता गायत्रीदेवी पढ़ी-लिखी सुसंस्कृत महिला थीं। इनके किशुनप्रसाद और कालीप्रसाद सिंह नामक दो भाई और थे। इनका बाल्यकाल अत्यन्त सुख के साथ व्यतीत हुआ। इनकी शिक्षा राजमहल के भीतर सम्पन्न हुई। मौलवी महमूद साहब इनके प्रमुख शिक्षक थे। ठाकुर आत्माहंस का विवाह मात्र उन्नीस वर्ष की अवस्था में खैरा स्टेट में रुक्मावती से हुआ, जिससे इन्हें दो पुत्र-रत्न प्राप्त हुए। इस समय इनके परिवार में सदस्यों की संख्या एक सौ से अधिक हो गयी है।

वैदिक और पौराणिक साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन में इनकी गहरी रुचि थी। इन्होंने कभी स्वाध्याय में प्रमाद नहीं किया। ये हिन्दू-धर्म-साहित्य के असाधारण ज्ञाता और व्याख्याता थे। मोहन मस्ताना के अनुसार ये बचपन से ही समाज और परिवार के विषाक्त वातावरण से अलग रहा करते थे तथा साधु-सन्तों की मंडली में बैठकर महाप्रभु चैतन्य की तरह आत्मविभोर हो जाते थे।

फलतः गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करने पर इन्होंने ऐश्वर्य-भोग के बदले दान-धर्म में मुक्तहस्त होकर धन-व्यय किया। इनके दरबार में सन्त-समागम हुआ करता था, किन्तु एक घटना ने अचानक इनकी जीवन-धारा को एकदम बदल दिया। कहते हैं कि एक पटवारी को दण्ड देने और आवेश में आकर एक ब्राह्मण को पीटने के कारण ये धन-सम्पत्ति से एकदम उपराम हो गये और सन् १८७२ ई० में अपनी जमींदारी कोर्ट आफ वार्ड्स को सौंपकर काशी आ गये। काशी में इन्होंने स्वामी विशुद्धानन्द से शास्त्रार्थ किया। इसके अनन्तर इन्होंने हंस-संन्यास में दीक्षा लेकर वेद-वाणी को जीवन में उतारने की साधना की। इनका देहावसान सन् १८९६ ई० में नये हंसतीर्थ (झूँसी) के अहाते में हुआ। इनके जन्मस्थान, शाहपुर में इनका स्मारक आज भी वर्तमान है।

ठाकुर आत्माहंस को विद्वानों ने सन्त-परम्परा में स्थान दिया है। डॉ० महेन्द्रनारायण सिंह ने कबीर और ठाकुर आत्माहंस की सत्यान्वेषण-पद्धति में समता परिलक्षित करते हुए इन्हें सन्त-परम्परा में देखने का प्रस्ताव किया है। उन्होंने इनकी तुलना सन्त दरियासाहब (बिहारवाले) से करते हुए लिखा है – 'दरियासाहब और ठाकुर आत्माहंस दोनों निर्गुण सन्त-परम्परा के दो ऐसे साधक-सुमन थे, जिनकी साधना-सुगन्ध चिरकाल तक दिग्दिगन्त में सुरक्षित रहेगी। दोनों एक ही पथ के पथिक थे। दोनों की रचनाओं के अध्ययन से यह स्वीकारने में कोई कठिनाई नहीं होती है कि दोनों अपने पूर्ववर्ती सन्तों से प्रभावित थे।"

ठाकुर आत्माहंस की साधना का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि इन्होंने अपने नये हंसतीर्थ में राम-जानकी, राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती, लक्ष्मी-नारायण तथा सूर्य-गणेश आदि देवी-देवताओं के मन्दिर भी बनवाये। स्पष्ट है कि राधा-कृष्ण के प्रति इनकी गहरी निष्ठा थी। प्रेमाभक्ति के आश्रयालम्बन-रूप में राधा-कृष्ण की अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्तता के कारण इनके कृष्ण-भक्तिमूलक पदों में विशेष तन्मयता का भाव भर गया है।

इनकी साधनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तीन कृतियों के रूप में हुई है— (१) हंसगुटका भाषा, (२) नवरत्न हंसगुटका, (३) आत्माहंस के पदों का संग्रह। 'हंसगुटका भाषा' मूलतः सिद्धान्त-निरूपक ग्रन्थ है, जिसे द्विजराम नामक उनके किसी शिष्य ने छन्दोबद्ध कर दिया है। इसमें हंस शरीर के पाँच तत्त्वों और उनकी २५ प्रकृतियों के अतिरिक्त सांख्यदर्शन, अद्वैत वेदान्त के सूत्र, हंसमहिमा, हंसतीर्थ की बनावट और उसकी आध्यात्मिक महत्ता,

षट्चक्र-निरूपण तथा प्रयाग-माहात्म्य वर्णित है। 'नवरत्न-हंसगुटका' में मूलतः गीता, देवीभागवतादि ग्रन्थों से जप-तप-ज्ञान-सम्बन्धी सूत्रों को संगृहीत कर उनका अनुवाद हिन्दी में किया गया है। विशद भूमिका में मूल पुस्तक का सारांश कृष्ण और अर्जुन के वार्तालाप के माध्यम से दिया गया है। पुस्तक आकार में लघु होने के बावजूद लेखक के संस्कृत भाषा-ज्ञान और उसकी व्याख्या-शक्ति का परिचय देने की दृष्टि से उत्तम है। तीसरी और अन्तिम कृति 'ठाकुर आत्मा-हंस के ८१ पदों का संग्रह' है। इसमें राधा और कृष्ण के प्रति प्रेमा-भक्ति निरूपण के साथ ही ज्ञान और योग का अद्भुत संगम दिखाई देता है। इनके कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी कुछ पद नीचे दिये जाते हैं—

(१)

धन्य तू राधा प्यारी।
तेरो भाग्य कहौं हम कहँ लगि बलिहारी॥
जाके चरन-कमल रज कारन ध्यान धरत त्रिपुरारी।
सो तेरो पग सीस चढ़ाये, व्यापक विस्व बिहारी॥
जो मन-मोहन मूरति खोजत, सेस सुरेसहुँ हारी।
ते प्रभु तजि सब सखिन विपिन में
लै तोहि संग सिधारी॥
धन्य धन्य अति धन्य तिहारी, जनम जनक महतारी।
प्रेम बिबस निसि-वासर जाके,
'जनठाकुर' बनवारी॥

(२)

जै जै बिहारीलाल की।
जै जै क्रीट मुकुट मुरली की,
जै कौस्तुभ वनमाल की॥
जै वसुदेव - देवकी - राधा,
जै रुक्मिणि व्रजलाल की।
जै जै नन्द - यशोमति जी की,
जै ब्रज - मथुरा - ग्वाल की॥
जै जमुना जै कदम्बकुंज की,
जहँ संका नहिं काल की।
जै जड़ चेतन व्रजवासिन की,
खग मृग स्वान शृगाल की॥
जै हरि गीता प्रति चित जाके,
जै पांडव भूपाल की।
'जनठाकुर' जेहि मन सर विलसत,
हंस चरित गोपाल की॥

रा० प्र० त्रि०

आदिल

आदिल वि० सं० १७६० में उत्पन्न हुए थे। ये कवित्त-सवैयों के बड़े ही अच्छे रचनाकार थे। आलंकारिक पदविन्यास की दृष्टि से इनके छन्द बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं। इन छन्दों का कोई संग्रह अथवा आदिल का कोई स्वतन्त्र सम्पूर्ण काव्यग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। प्रचुर मात्रा में इनके स्फुट छन्द ही काव्यरसिकों के सामने आ पाये हैं।

कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के चित्रण और उनके प्रति भक्ति के माधुर्यभाव का बड़ा ही मनोहारी वर्णन इनकी रचनाओं में है। एक कवित्त उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है—

मुकुट की चटक-लटक बिबि कुण्डल की,
भौंह की मटक नेकु आँखिन देखाउ रे।
ऐरे बनवारी, बलिहारी जाऊँ तेरी,
मेरी गैल किन आउ नेकु गाइन चराउ रे।
आदिल सुजान रूप - गुन के निधान,
कान्ह बाँसुरी बजाइ तन-तपन बुझाउ रे।
नन्द के किसोर चितचोर मोर पंखवारे,
बंसीवारे साँवरे पियारे इत आउ रे॥

कृ० चं० ला०

आनन्द कवि

आनन्द कवि के ऐतिह्य विषयक कोई तथ्य उपलब्ध नहीं हैं।

इनकी दो पुस्तकें मिली हैं—'आनन्द-विलास' और 'ककावली'। इन ग्रन्थों से रचनाकाल अथवा रचनाकार के सम्बन्ध में किसी तथ्य का पता नहीं चलता।

दोनों पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ सरस्वती भाण्डार, काँकरौली में सुरक्षित हैं।

'आनन्द-विलास' में ५९ कवित्त छन्दों में राधा-कृष्ण की लीला का गान है। दो पद द्रष्टव्य हैं—

गरजें जलद अति घटा गहरानी कारी,
चहुँ ओर चञ्चला चलाके बहु न्यारी हैं।
बरसे समूह घन लहरें पवन बहे,
गावत मलार तान गान छबि भारी हैं।
आनन्द कहत तहाँ मोर पिक सोर करें,
दम्पति झरोखा में सुरति सुखकारी हैं।
केरनि पै वेल उरझाय रहीं जैसे यहाँ,
लाज में लिपटी जात साँवरे सो प्यारी हैं॥

• • •

ललिता विसाखा राधा ओरहूँ सखीन लीयें,
क्रीडत कालिन्दी माँझ कंज कर लीने हैं।
ता छिन चलत व्रजचन्द वहाँ ठाढ़े आय,
पेखि व्रज स्यामां स्याम राग बस कीने हैं।
खेलत अनेक रंग नयन अनंग भरे,
आनन्द कहैं पहिरे पट झीने हैं।
इन्दु मुख ऊपर अलक छबि छाय रही,
वेसर ललित मोती केलि रस भीने हैं॥

'ककावली' में बालकों को अक्षर-ज्ञान कराने के लिए श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णानुक्रम से वर्णन किया गया है। इसमें ३६ दोहा-छन्द हैं। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

कका कालिंदी के कूल पर, करत केल रस रास।
कामिन सब जुरि के चलीं, मनमोहन के पास॥
खखा खान-पान तजि ग्रहन तें, सुनि बंसी धुन कान।
विह्वल तन कछु सुध नहीं, आईं परम सुजान॥

• • •

ददा दसन जोत दामिन दमकि, कटि केहर लचकंत।
गजगामिनि चंपक बरन, कुच पर कच लटकंत॥
धधा धनि धनि ये वृज गोपिका, हरि संग करत विहार।
सुर नर मुनि मनसा करे, ध्यान करत पचिहार॥
नना नबला अबला कमल मुख, भई श्रमित अति जानि।
कृष्ण मनोहर संग मिलि, क्रीडत जल महँ आनि॥

वा० सिं०

कृ० चं० ला०

आनन्द कवि (द्वितीय)

आनन्द कवि काशी-निवासी थे और १९वीं शताब्दी में विद्यमान थे। इनके जीवन के विषय में अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनकी एक रचना 'रासपञ्चाध्यायी' मिली है। यह श्रीमद्भागवत की रासपञ्चाध्यायी का पद्य में अनुवाद है। इसका रचना-काल सं० १८३५ दिया गया है। इसमें भी पाँच अध्याय हैं, जिनमें वंशीनाद, गोपिकाओं के आगमन, श्रीकृष्ण की रासलीला, उनके अन्तर्धान होने, गोपियों के विरह तथा उनके द्वारा कृष्ण के खोजने और अन्त में रास-लीला का वर्णन है। कविता की भाषा ब्रज और छन्द दोहा-चौपाई हैं। उससे यहाँ दो उदाहरण दिये जा रहे हैं—

मैं विनती तुमसौं करौं, सुनौ रिषिन के राज।
तुम मोसो करिकै कृपा, कहौ रास कौ काज॥
परब्रह्म श्रीकृष्ण जू कीन्हो रास विलास।
गोपिन कौ सुखदेन कौ कीन्हौ मनहि हुलास॥

• • •

कारन कवन सरद रितु माही।
कीन्हौ रास कान्ह व्रज माही॥
गोपिन सो उन कोन सनेहा।
पारब्रह्म कौ चहिय ना नेहा॥
यह संदेह मिटावहु नीके।
तुम हो गुरु सदा सबही के॥
व्रज की कथा कहौ तुम नीकी।
बाढ़ी प्रीति हमारे हिय की॥

वा० सिं०

आनन्द कवि (तृतीय)

आनन्द कवि का जन्म जैसीनगर (सागर—मध्य-प्रदेश) में हुआ था। जैसीनगर का पुराना नाम जयसिंह

नगर है। इनके विषय में अद्यावधि विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है। स्थानीय लोगों के पास उपलब्ध इनके कुछ पदों से ज्ञात होता है कि इनके आराध्य भगवान् कृष्ण थे। इनकी निम्नांकित रचना से इसकी स्वतः पुष्टि हो जाती है —

तुम्हें ये टेरत हैं बनवारी।
हेरत बाट धाए जमना के
श्री वृषभान दुलारी।
गोरे लाल बाल हँसि बोलत
सुभग वेंग वयवारी॥
चलिये बेग लाल जसुदा के
ह्वै रहे परम दुखारी।
लगत अंगार हार हीरन के
माला नागिनि कारी॥
वंशी विसिखि बयार जुं विस सी
तोरे बिनु पिय प्यारी।
अचल गात रहि थकित नैन भरि
सुधि नहि रहत संभारी॥
राधा राधा राधा टेरत
व्याकुल वदन बिहारी।
सिरस सुमन सुकुमार अंग के
सहिन हिं सकत वयारी॥
ताहित किये रहत अचरन की
छाँहि सदा ब्रजनारी।
मिलहुँ अंक मसि भेंट भुजन सों
तुम सम और न प्यारी॥
'आनन्द' तुम बिन नन्द-नन्दन की
हरहि विथा को भारी॥

त्रि० ना० शु०

आनन्द कुँवरी

आनन्द कुँवरी, सीसोदिया राणावत राजवंश की कुमारी थी। इनका विवाह अलवर के महाराव राजा विनयसिंह के साथ हुआ था। महाराजा विनयसिंह का शासनकाल वि० सं० १८७१ से १९१४ तक रहा। वे कुशल प्रशासक, सहृदय, उदार और साहित्यानुरागी थे। उनके दरबार में विद्वानों का सम्मान किया जाता था। महाराजा विनयसिंह स्वयं अच्छे कवि थे। पति की काव्य-रसिक प्रवृत्ति के कारण महारानी आनन्द कुँवरी ने भी काव्य-प्रणयन आरम्भ किया।

महारानी आनन्द कुँवरी ने १०५ गेय पदों में 'आनन्द-सागर' ग्रंथ का प्रणयन किया। इस कृति की पुष्पिका में कवयित्री का जीवन-परिचय इस प्रकार वर्णित है —

"इति श्री महाराव राजाजी श्री सवाई विनय सिंघजी महाराजि तस्य पाटराणी श्री वड़ा राणांवत-जी कृत्य आनन्द सागर संपूर्ण मासानांमासे उत्तम आसोज मासे सुभे कृष्ण पक्षे भोमवासरे तिथि त्रयोदसी संवत् १९१५ का लिख्यौ मीश्र रामवृक्ष समस्त कल्यांण सदा सुभं भवतुः।"

दोहा

गावै सुनैं जु प्रीत सौं, बाँचि बिचारैं चित्त।
पावै भक्ति अनुपायनी, उर आनन्द रह नित्त॥

'आनन्द-सागर' १०५ गेय पदों की अत्यन्त सुन्दर भक्तिपरक काव्य-कृति है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का अत्यन्त सजीव और प्रभावशाली वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण-लीला की घटनाओं में श्रीकृष्ण-जन्म, पूतना-हृत चरित्राष्टक, कागासुर-लीला, शकटासुर-वध, तृणावर्त्त-वध-लीला, मांटी-खान-लीला, आन्हावन-लीला, माखन-चोरी, दाँवरी-बन्धन-लीला, वृन्दावन-गवन, वत्सासुर-वध लीलाष्टक, बकासुर-वध-लीला, अघासुर-वध लीलाष्टक, ब्रह्मा के मोह को वत्सहरण-लीला, होरी-खेलन, गौ-दोहन-लीला, चीर-हरण-लीला, काली-दमन लीलाष्टक, गिरिराज लीलाष्टक, दान लीलाष्टक, झूला-झूलन लीलाष्टक, रास-लीला, भँवर-गीत, बारहमासी आदि लीलाएँ सुन्दर भाषा-शैली में चित्रित की गई हैं।

कृष्ण-काव्य ब्रजभाषा में लिखा हुआ है। शृंगार, भक्ति और प्रेम-रस का यह कृष्ण-काव्य सुन्दर और

प्रभावपूर्ण है। १०५ पदों में भक्त कवयित्री ने जैजैवन्ती, भैरवी, झिंझोटी, बिलावल, काफी, सारंग, मांड, गौड-मल्हार, धनाश्री, आसावरी, पीलू, बरवा प्रभृति राग-रागिनियों में बहुत सुन्दर भक्ति-काव्य लिखा है। भगवान् श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं के साथ भक्त कवयित्री ने श्रीकृष्ण और मर्यादापुरुषोत्तम राम में अभिन्नता प्रकट करने के लिए 'धनुष-भंजन-लीला' प्रसंग का भी चित्रांकन किया है।

श्रीकृष्ण के जन्म के समय का एक शब्द-चित्र देखिए। इसमें कवयित्री ने कितना अभिराम एवं लालित्यपूर्ण वर्णन किया है —

पुत्र जन्म भयो सुनि जाचक जन
नन्द महर घरि आये।
अमित भाँति करि बंस-प्रसंसा
बाजे बिबिध बजाये।
परम पुनीत अवनि अस्थित ह्वै
बिपुल बधाई गाये॥
रीझत सब नर नारि नौछावर
दै निज वित्त भुलाये।
सिव ब्रह्मादिक सब सुर हर्षित
सुमन मेघ झर लाये॥
नभ अरु नगर भई जै जय धुनि
मुनि सुष होत सवाये।
द्वार-द्वार बाजत निसांन बर
गावत नारि बधाये॥
बहु पट भूषन द्रव्य दांन तैं
जाँचकि लेत अघाये।
रहो सदा आनन्द नन्द-सुत
कहि निज सदन सिधाये॥

विनय के पदों में श्रीकृष्ण की असीम कृपा राशि में से किंचित् अंश की कामना की गई है। कवयित्री अपने आराध्य से निवेदन करते हुए कहती है कि यदि आप ही मुझे उपेक्षित कर देंगे तो फिर मैं किसको आस करूँगी? मेरा एकमात्र सहारा आप ही हैं।

उदाहरण—

हरि बिन अरजी काहि सुनाऊँ।
को त्रिभुवन प्रभु सम दुखभंजन
तिहि निज विपति जनाऊँ॥
काम क्रोध मद मत्सर माया
लोभादिक जय चाऊँ।
आनन्द हरि करि महरि जिताऔ
तौ निर्भय गुन गाऊँ॥

इस प्रकार से कहा जा सकता है कि अब तक अज्ञातप्राय रही श्रीकृष्ण-भक्त कवयित्री आनन्द कुँवरी का काव्य सुन्दर और माधुर्य गुणों से ओत-प्रोत है।

ज० सिं० परि०

आनन्द कृष्णबिहारी श्रीवास्तव

आनन्द कृष्णबिहारी श्रीवास्तव का जन्म कार्तिक शुक्ला १४ सम्वत् १९६४ में जयपुर में हुआ था। आपके पिता का नाम मुंशी रतनलाल था। इण्टर तक नियमित शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ही इन्होंने राजकीय सेवा में प्रवेश ले लिया। नौकरी में रहते हुए भी ये श्रीकृष्ण-भक्तिपरक काव्य-रचना करते रहे। इन्होंने अपने कतिपय पदों में श्रीराम एवं श्रीकृष्ण में अभेद व्यक्त किया है। आपको जयपुर के गोविन्द-देवजी का इष्ट था और उस मन्दिर में आप प्रतिदिन दर्शनार्थ जाया करते थे। आपकी भक्ति-भावना को प्रकट करने वाली एक कविता प्रस्तुत है—

है श्याम वही श्रीराम वही,
वही आप रूप नारायण हैं।
अवधेश लला हैं दशरथ के वही,
नन्दलला जसुमति के वही,
हुए सारथी खुद अर्जुन-रथ के वही,
वही भक्त विभीषण नारायण हैं॥
वही गिरवरधारी गिरधर हैं,
वह सेतुबन्ध रामेश्वर हैं,
वही प्रेम के नागर नटवर हैं,
वही मर्यादा धारायण हैं॥

वही कंस - निकन्दन यदुराई,
हर एक जगह वह प्रकटाई,
भक्तन हित अवतारायण हैं॥
वही चित्त के चोर कन्हैया हैं,
वही सब में रमें रमैया हैं॥
उपदेश गीता के रचैया हैं,
वही बालमीक रामायण हैं।
हर रूप में जलवा तेरा है,
'आनन्द' राम कृष्ण हेरा है,
हुआ दूर हृदय से अँधेरा है,
ये नाम ही भव तारायण हैं॥

ग० मि०

आनन्दघन

आनन्दघन नाम के तीन कवि प्रख्यात हैं—(१) नन्दगाँववासी आनन्दघन, (२) जैन आनन्दघन तथा (३) वृन्दावनवासी आनन्दघन। इनमें अन्तिम दो १७वीं और १८वीं शती के उत्तरार्ध के कवि हैं। नन्दगाँववासी आनन्दघन का उपस्थिति-काल १६वीं शती का उत्तरार्ध है। महाप्रभु चैतन्यदेव ने वि० सं० १५७२ में ब्रज-वृन्दावन की यात्रा की थी और नन्दगाँव में जाकर भगवद्दर्शन किये थे। उस मन्दिर में जो देवविग्रह थे, वे आनन्दघनजी के सेव्य ठाकुर थे। आनन्दघन चैतन्यदेव के अनुगत हुए थे। ये (आनन्दघन) खरोठ गाँव के निवासी थे। जगारामजी लाल, दनकौर बुलन्दशहर-निवासी की पोथी से ज्ञात होता है कि खरोठ में इनके पूर्वज बाबा जीमन (वि० सं० ९१३) और नन्दगाँव में बाबा देवकर्ण (वि० सं० १२८५) सूरजकलश के पास कदमखण्डी में बसकर नन्दबाबा की सेवा करते थे। ये उपाध्याय ब्राह्मण थे, जिनका गोत्र भारद्वाज यजुर्वेदी कात्यायन (सूतक) और शाखा माध्यन्दिनी थी। आनन्दघन बाबा देवकरण के वंश में हुए थे। इनके पुत्रों में दामोदर चेतराम, गोपाल, मुकुन्द, हरिदास, आशानन्द तथा रामानन्द थे। ऐसा लगता है कि सनातन गोस्वामी ने उन्हींके एक पुत्र हरिदास भक्त को उक्त विग्रहों की सेवा सौंपी थी। जगारामजी लाल को सूचना से ऐसा भी ज्ञात होता है कि बाबा देवकरण की शाखा में नरोत्तम, बिहारीदास और हरकरन उत्पन्न हुए थे। नरोत्तम की शाखा में ही आनन्दघन थे, वे 'भगतिया', बिहारीदास के 'कीकलिया' एवं हरकरन के वंशज 'तिलकिया' कहलाये। आनन्दघन के वंशज अब भी मन्दिर की सेवा-पूजा करते हैं और चैतन्यदेव में अपार श्रद्धा रखते हैं। महाप्रभु चैतन्यदेव की उनसे भेंट का समय वि० सं० १५७३ है और उनके पुत्र को सनातनजी द्वारा प्रदत्त सेवाकाल वि० सं० १५९५ है। अतः आनन्दघनजी का उपस्थिति-काल लगभग वि० सं० १५४०–१५९० हो सकता है। कारण, हरिदास की सेवा मिलने से पूर्व देव-विग्रह गुफा में अन्तर्हित थे। उस समय आनन्दघनजी का तिरोभाव हो गया होगा और तब उनकी अवस्था अनुमानतः ५० वर्ष तो रही ही होगी। श्री मीतलजी ने उनका उपस्थिति-काल वि० सं० १५५०–१६०० अनुमानित किया है, जो उक्त तर्क से निरस्त हो जाता है।

परवर्ती आनन्दघन से पूर्वस्थित आनन्दघन-विरचित पद भी मिलते हैं। उन्होंने एक पद चैतन्य महाप्रभु की वन्दना में भी प्रणीत किया था। 'पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ' में आनन्दघन और रूपमती (बाजबहादुर) के पद के अन्तर्गत जो तीन पद आनन्दघनजी के दिये हैं, उनमें से एक पद आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के 'घनआनन्द' में संकलित नहीं हुआ है और मीतलजी ने उक्त संकलन के कुछ पदों को नन्दगाँववासी आनन्दघन द्वारा विरचित होने का अनुमान किया है। प्रस्तुत लेखक को कई प्राचीन पोथियों के अनुशीलन करने का अवसर मिला है। एक पोथी के प्रायः सभी कवि चैतन्य-सम्प्रदाय के हैं और १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का एक भी कवि उसमें संकलित नहीं है। इसमें जो पद दिये गये हैं, वे घनआनन्द (ग्रन्थावली) में उपलब्ध नहीं हैं। मनोहरदासजी द्वारा संगृहीत 'रसिक-जीवनी' (जिसका लिपि-काल वि० सं० १८१६ है) में जो एक पद आनन्दघनजी का है, वह भी उक्त ग्रन्थावली में नहीं है। इस पोथी के समस्त कवि श्री मनोहरदासजी के समकालीन या पूर्ववर्ती हैं। ये मनोहरदासजी श्री प्रियादास (भक्तिरसबोधिनी टीका

रचनाकाल वि० सं० १७६९) के गुरु थे। इनका स्वयं का रचनाकाल वि० सं० १७५४ के आसपास है। इसी प्रकार एक और प्राचीन पद पोथी 'समय-प्रबन्ध' में आनन्दघनजी के जो ३९ पद संगृहीत हैं, उनमें १० पद ऐसे हैं, जो 'घनआनन्द' (ग्रन्थावली) में नहीं मिलते। राधावल्लभी बाबा तुलसीदास द्वारा सम्पादित 'बृहत् पद-संग्रह' में आनन्दघन के जो पद उपलब्ध हैं, उनमें से तीन पद 'घनानन्द' में नहीं हैं, किन्तु बहुत से पद ऐसे भी हैं, जो प्राचीन पद-पोथियों तथा 'घनआनन्द' (ग्रन्थावली) में समान रूप से प्राप्त हैं।

पदों के अतिरिक्त अन्य कोई रचना इनके नाम की नहीं कही जाती। इनकी पदावली बड़ी सरस और भावपूर्ण है। भाषा में सर्वत्र प्रवाह है और अर्थगौरव भी सुरक्षित है। चैतन्य की वन्दना में अर्पित निम्नलिखित पद इनकी रचना-शैली के उदाहरण रूप में प्रस्तुत है—

श्री चैतन्य दयानिधि धीर।
कलिकालीन मलीन दीन जन,
पावन करन परम गम्भीर॥
भाव अभंग तरंग-विभंगित
महामधुर रस रूप सरीर।
वोहित-नाम चढ़ाइ बहुत जन,
प्रेम मगन करि पठएँ तीर॥
पूरन चन्द नन्दनन्दन को
उदय सदा उमगनि की भीर।
निज जन रतन-जाल लुत राजत
धुनि हुँकार उसास समीर॥
विविध ताप तैं जरत जीव जे
सीतल किए परम-पद नीर।
करुणा दृष्टि वृष्टि सों सींचे
जय जय जय आनन्द-मुदीर॥

न० च० वं०

आनन्दघन चौबे

आनन्दघन चौबे का नाम जयपुर-नरेश महाराजा प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' (सं० १८३५–१८६० वि०) की कवि बाईसी में आया है। उससे यह विदित होता है कि यह 'ब्रजनिधि' के समकालीन थे परन्तु इनके जन्म, मृत्यु, निवास तथा कृतित्व के सम्बन्ध में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका है।

'ब्रजनिधि' के समकालीन कवि रसिक गोविन्दकृत 'श्री युगल-रस-माधुरी' के आमुख में डॉ० कुंजबिहारी शरण ने लिखा है—'रसिक गोविन्दानन्दघन' और 'लछमन-चन्द्रिका' इन दोनों ग्रंथों से कुछ सज्जन यह भी अनुमान लगाने लगे थे कि संभव है, रसिक गोविन्द और आनन्दघनजी का परस्पर सम्मिलन हुआ होगा, परन्तु यह सम्भावना ठोस प्रमाणों के मिलने पर ही पुष्ट हो सकती है।

हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध 'आनन्दघन' कवि से रसिक गोविन्द के सम्मिलन की कल्पना तक संभव नहीं है, क्योंकि आनन्दघन की मृत्यु रसिक गोविन्द के जन्म से पूर्व ही सं० १८१४ में अहमदशाह अब्दाली द्वारा ब्रज में किये गये नर-संहार में हो चुकी थी। अतः सं० १८५८ में आनन्दघन से रसिक गोविन्द के मिलन की कोई भी संभावना शेष नहीं रहती है।

रसिक गोविन्द ने ज्येष्ठ भ्रातृपुत्र नारायण के निमित्त रचित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'गोविन्दानन्दघन' (सं० १८५८ वि०) को मित्र सम्बोधन के साथ किन्हीं कृष्णदत्त पांडे को समर्पित किया है—

रच्यौ गोविन्दानन्दघन, श्री नारायण हित्त।
कृष्णदत्त पांडे तिन, दियो जानि निज मित्त॥

'लछमन-चन्द्रिका' (सं० १८८६) में रसिक गोविन्द का यह कथन महत्त्वपूर्ण हैं, 'रसिक गोविन्द को मित्र आनन्दघन चौबे याते ग्रंथ को नाम गुविन्दानन्द धर्‍यौ।'

संभवतः विद्वानों ने आनन्दघन के साथ प्रयुक्त 'चौबे' शब्द पर ध्यान नहीं दिया है, अन्यथा यह सहज स्पष्ट हो जाता कि रसिक गोविन्द के मित्र आनन्दघन मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुंशी एवं कायस्थ-

जाति में उत्पन्न प्रसिद्ध आनन्दघन कवि से भिन्न माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे।

प्रस्तुत आनन्दघन रसिक गोविन्द के समकालीन ही नहीं, जयपुर-नरेश प्रतापसिंह ब्रजनिधि (सं० १८३५–१८६०) के कृपापात्र कवि भी रहे हैं जिनके लिए आनन्दघन ने 'कृपाकन्द-निबन्ध' (सं० १८५६ वि०) एवं 'मनोरथ-मंजरी' की रचना की थी। काल, स्थान आदि का यह साम्य 'लक्ष्मण-चन्द्रिका' के उपर्युक्त कथन को पुष्ट करता है।

'गोविन्दानन्दघन' ग्रन्थ में प्रयुक्त कवि-कथन— 'कृष्णदत्त पांडे तिनदियों जानि निज मित्र' से एक संभावना और व्यक्त होती है कि कृष्णदत्त पांडे का ही उपनाम आनन्दघन रहा हो। इससे इतना निश्चित हो जाता है कि 'गोविन्दानन्दघन' के रचना-काल सं० १८५८ में आनन्दघन नाम के कवि उपस्थित थे और उनका सम्बन्ध जयपुर राजदरबार से था। उनसे रसिक गोविन्द की मित्रता सहज संभव है।

मुंशी आनन्दघन की मृत्यु सं० १८१७ में ब्रज-नर-संहार में हुई थी। चाचा वृन्दावनदास ने इस विपत्ति का समय सं० १८१३ वि० में माना है।

अठारह सौ तेरह बरस हरि ऐसी करी।
जमन विगेयाँ देस विपत्ति गाढ़ी परी।।

सवाई प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' का जन्म सं० १८२१ वि० माना जाता है। अतः हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध आनन्दघन 'ब्रजनिधि' के समकालीन नहीं हो सकते और न उनकी 'बाईसी' में सम्मिलित हो सकते हैं। ये सर्वथा नवीन आनन्दघन हैं। इनके अन्य ग्रंथों का तो पता नहीं चलता, परन्तु सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से इन्होंने 'कृपाकन्द-निबन्ध' तथा 'मनोरथ-मंजरी' की रचना की थी। 'कृपाकन्द-निबन्ध' का रचनाकाल सं० १८५६ वि० है। आलोच्य घनानन्द की नागरीदास (सं० १८०५–१८२१ वि०) के समकालीन होने की संभावना भी कम ही प्रतीत होती है।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त आनन्दघन के अन्य ग्रंथों की सूचना नहीं मिलती, फुटकर पद ब्रजभाषा और राजस्थानी में अवश्य मिले हैं। उदाहरणार्थ, यहाँ उन में से कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी इनके कुछ पद प्रस्तुत हैं—

दैया हम यों ही करी पहिचानि,
निपट निठुर तिहारी बानि।
ब्रजमोहन हे मोहे नहिं कहुँ
कहा जानो अकुलानि।।
हम भोरी तुम चतुर सनेही
कौन रची विधिना यह आनि।
आनन्दघन ह्वै प्यासन मारत
आन पपीहन जानि।।

कृष्ण-सम्बन्धी राजस्थानी भाषा का इनका एक पद देखिए—

आज हमारै आवैला घनस्याम
आनन्द वधावरौ मनाइस्याँ।
कूलाँ केस गुंदाइस्याँ काजलरी
रखे बनाइस्याँ।।
सोंधा चीनी काँचली साइस्याँ,
मोत्यारा हार ढुलाइस्याँ।
आँगनरो चंदन लिपाइस्याँ
गजमोत्या चौक पुराइस्याँ।।
घीयाँ दीवला जगाइस्याँ
चित्र सारी ढोलीयो विछाइस्याँ।
हँसि-हँसि कंठ लगाइस्याँ
आनन्दघन झह वरसाइस्याँ।।

● ● ●

हो जी हो जी आया जी मन-भाया।
ब्रजराजकुमार अमलाँ रा माता आया।।
म्हानै तो थारी औलू सतावैं थे ओठे बिलमाया।
अधराँ अंजन माथै अलतौ लाग्या है खरा सुहाया।।
सघली रैनि आनन्दघन बरस्या पगडै
म्हाँ पर छाया।।

महाराजा प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' ने षट्भाषा में काव्य-सृजन किया है। उसमें पंजाबी भाषा के पद भी मिलते हैं। संभव है, 'ब्रजनिधि' से प्रभावित होकर आनन्दघन ने भी पंजाबी भाषा में रचना की हो, क्योंकि तत्कालीन राजदरबारों में षट्भाषा में लिखने की परंपरा थी—

तैडाँ रंग, लाडला कान्ह जसोदे होवे जीउणा जागणा।
इसदी बलैया मैंनूं लागाँ अंखडियाँ दा लागणा॥
उमरदराज करों रब सैयाँ तुझ जेही केही बड़भागणा।
आनन्दघन ब्रजजीवन प्यारिया सभ सानूँ रस-पागणा॥

रा० प्र० कु०

आनन्ददास

आनन्ददास अज्ञातवृत्त भक्त हैं। 'सुदामा-चरित्र' नामक इनकी एक रचना उपलब्ध है जिसके ९८ छन्दों में सुदामा की कथा वर्णित है। इसके दो छन्द नीचे दिये जा रहे हैं। इसकी भाषा खड़ी बोली है जिसमें अरबी-फारसी शब्दों का बाहुल्य है। इससे लगता है कि रचना परवर्ती है—

उसीने बनाया ज़मीन आसमान।
पवन आब आतस बनाया मकान॥
स्वर्ग मृत्यु पाताल ये भी कीन्हो।
हरीहर जो ब्रह्मा कल्हावे तीन्हो॥

* * *

चरीत्र सुदामा जो कोउ पढ़े।
चला ज्याय बैकुण्ठ ऊपर चढ़े॥
हमेशा कीशन के चरन सो जड़े।
जनम के करो भर कथू न पड़े॥

वा० सिं०
कृ० चं० ला०

आनन्दलाल

गोस्वामी आनन्दलालजी राधावल्लभ-सम्प्रदाय के श्रेष्ठ भक्त और कवि थे। 'रसिक-अनन्य-परचावली' में आपके सम्बन्ध में निम्नलिखित पद मिलता है—

विषम देखि नृप नीति बात मन में नहिंभाई।
लघु भोजन पय पान भजन चित वृत्ति लगाई॥
भजन मानसो टहल महल दिन-दिन अधिकाई।
विलसत कानन केलि भाव अलि मगन महाई॥
हित वित श्री आनन्दलाल के,
भक्ति भाल दीपक दिपत।
श्री मोहनलाल कृपालु सुत,
हिय हिलगन नाहिन छिपत॥

ये रासवंशीय गोस्वामी बिहारीलालजी के बड़े पुत्र गोस्वामी मोहनलालजी के द्वितीय पुत्र थे और अपने समय के उन महापुरुषों में थे, जिन्होंने श्री हरिवंश गोस्वामी के अनन्य उत्कट व्रत का पालन करने में सम्पूर्ण ऐहिक सुखों का बलिदान किया था। उस समय वृन्दावन में जयपुर-नरेश का राज्य था। वह रसिक-अनन्य धर्म का विरोधी एवं वैदिक धर्म के पालन का दुराग्रही था। उसने राजाज्ञा निकाली थी कि मेरी राज्य-सीमा में वही रह सकना है, जो कि वैदिक धर्म का पालन करेगा। गोस्वामी आनन्दलालजी गोस्वामी रूपलालजी की भाँति ही अपने अनन्य धर्म पर दृढ़ रहे। परिणामस्वरूप इन्हें अनेक कष्ट सहने पड़े। यहाँ तक कि इन्हें खान-पान तक के लाले पड़ गये। कभी ये मात्र जल और कभी दूध पीकर रह जाते थे। इस प्रकार अनासक्त रहकर ये युगलवर की मानसी भावना में निमग्न रहा करते थे। जिस प्रकार परिमार्जन करने से पात्र में अधिकाधिक चमक आ जाती है, ठीक उसी प्रकार इन बाह्य आपत्तियों के आते रहने पर भी इनकी रुचि साधन-भजन में उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। यद्यपि इन्होंने अपना बाह्य जीवन सर्वसाधारण व्यक्ति जैसा ही बना रखा था, किन्तु कस्तूरी की भाँति इनकी हृदयावस्थित भावमणि का प्रकाश छिपा न रह सका।

इनके चाचा गोस्वामी ब्रजलालजी का जन्म वि० सं० १७१५ में सुनिश्चित है—इस आधार पर इनका जन्म वि० सं० १७४० के आसपास स्थिर होता है। इनकी कुछ पदावली भी प्राप्त होती है। एक पद नीचे दिया जा रहा है—

झूलत भोग लगावैं श्री राधावल्लभ।
पूआ पूरी जलेबी लडुआ मलाई मिश्री पावैं
श्री राधावल्लभ॥
भोजन करत परस्पर रुचि सौं सखिजन लै लै आवैं
श्री राधावल्लभ।
हित आनन्द श्री व्यास सुवन पै
हरखि - हरखि बलि जावैं,
श्री राधावल्लभ॥

श्या० वि० ख०

आनन्दीबाई (प्रथम)

आनन्दीबाई गोस्वामी रसिकानन्दलाल की शिष्या थीं। इनको 'इष्टवस्तु' दनकोरवाले प्रियादासजी के संग से प्राप्त हुई थी। प्रियादासजी ने इनके सम्बन्ध में लिखा है कि आनन्दीबाईजी ने अपना तन तो श्री राधावल्लभलाल की टहल में लगा दिया, धन उनके भोग-राग में व्यय कर दिया और मन को निकुंज महल के रस में डुबो दिया। रसलीन स्थिति में सहज रूप से दीन बनी हुई ये निकुंज महल की परिचर्या में तन्मय रहती थीं। इन्होंने हितजी महाराज के सम्प्रदाय में बड़े समारोहपूर्वक प्रवेश किया था--

तन लगाय टहलैं दियौ, धन लगाय दियो भोग।
मन लगाय महलैं दियो, हित-पद-रति-संजोग॥
रहत छको अटको महल, नमित दीन रस लीन।
श्री व्याससुवन पथ रीत में, बज धौंसा पग दीन॥

इन्होंने श्री प्रियादास के सम्बन्ध में लिखा है कि 'आप हमसे अमंगली जीवन कौं लीला रस उपयोगी किये हैं सो तो आप ही कौं यह अतुलित सामर्थ हैं सो हमसे जीव कहा तुमरे स्वरूप कों जानेंगे जहाँ इन्द्र ब्रह्मा महेश हू की गम नाहीं है।'

प्रियादासजी के समान ही आनन्दीबाई भी अनुभवी सन्त थीं। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से इनकी वाणी का अधिक महत्त्व नहीं है, किन्तु उसमें इनके प्रत्यक्ष अनुभव की आभा जहाँ-तहाँ झलक उठती है। इनकी सम्पूर्ण रचना दोहा, चौपाई और छप्पयों में है। इनका 'निजभाव विचार श्री हित शेष प्रकाश' नामक एक समय-प्रबन्ध एवं कुछ फुटकर रचनाएँ प्राप्त हैं। 'निजुभाव विचार' सं० १८४० में पूर्ण हुआ था।

अठारह सै चालोसिया संवत माघौ मास।
यह प्रबन्ध पूरन भयौ कृष्ण पञ्चमी सनोवास॥

इनके कुछ चुने हुए छन्द नीचे दिये जाते हैं—

रूप प्रेमरस गहर में, बूड़े ललना लाल।
मदन मुदित मुख खिलि रहे, पानिप बढ़ी रसाल॥
सुहृद अली करि आरती, जगमग-जगमग होति।
श्रीमुख लखौं कि आरती, कै जुग मुख छवि जोति॥
महक सुगन्ध सने विवि अंगा।
छवि पर वारौं कोटि अनंगा॥
स्याम तमाल प्रिय कञ्चन बेली।
बिच लपटी हित नेह नवेली॥

ल० च० गो०

आनन्दीबाई (द्वितीय)

आनन्दीबाई का जन्म वि० सं० १९१२ के कार्त्तिक सुदी पञ्चमी को हुआ था। इनके पिता अमृतसर में सिटी इन्स्पेक्टर थे। प्रारम्भ से ही भगवत्-सेवा और साधु-सेवा में इनका मन रमा रहता था। सगाई होते ही इनके भावी पतिदेव का देहान्त हो गया। माता-पिता के बार-बार कहने पर भी ये दूसरे विवाह के लिए तैयार नहीं हुईं। इन्होंने रामानुज-सम्प्रदाय के आचार्य श्री वंशीधर से दीक्षा ग्रहण कर ली और भजन-कीर्तन करने लगीं। रामानुज-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बावजूद ये राधा-कृष्ण में विशेष निष्ठा रखती थीं। अपने पिताजी से कहकर इन्होंने एक मन्दिर बनवाया, जिसमें राधा-आनन्दवल्लभ की मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। जब इनके माता-पिता और गुरुदेव नहीं रहे, तब इन्होंने घर छोड़ दिया और तीर्थ-यात्रा पर निकल गयीं। विक्रम संवत् १९६३ में इन्होंने वृन्दावन में राधावल्लभजी के घेरे में एक मन्दिर का निर्माण करवाया और स्थायी रूप से वृन्दावन में रहने लगीं। ये अपने मन्दिर में प्रतिष्ठित विग्रह आनन्द-

वल्लभजी को पुत्र तथा राधाजी को पुत्रवधू मानती थीं। श्री रूपमाधुरीशरणजी ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है। आनन्दवल्लभजी की सेवा में रसिक सन्त श्री किशोरीदास बावा इनके अन्तरंग सहायक थे! इन्हें रासलीला से भी बहुत लगाव था। रासलीला के लिए मन्दिर के ऊपर ही इन्होंने एक बड़ा हाल बनवा दिया था। सं० १९९३, अगहन सुदी १५ को इन्होंने अपना शरीर त्यागकर दिव्यधाम की यात्रा की।

मु० अ०

आसकरन (राजा)

राजा आसकरन सम्राट् अकबर क विश्वसनीय सामन्त, प्रसिद्ध भक्त, कवि तथा संगीतज्ञ थे। ये नरवर-गढ़ (आमेर) के राजा भीम सिंह के पुत्र और राजा विहारीमल के भाई थे। इनका जन्म सं० १५८० में हुआ था और २४ वर्ष की अवस्था में ये सिंहासन पर बैठे थे।

इनका विस्तृत विवरण नाभादासजी कृत 'भक्तमाल' में मिलता है। प्रस्तुत छप्पय इनके संपूर्ण व्यक्तित्व पर एक विहंगम दिशा-निर्देश करता है—

धरमसील गुनसींव, महा भागौत राजरिषि।
पृथिवीराज कुलदीप, भीमसुत विदित कीन्हसिखि ॥
सदाचार अति चतुर, विमलबानी रचना पद।
सूर धीर, उद्दार, विनय भलपन भक्तनि हद ॥
सीतापति राधा सुवर, भजन नेम कूरम धर्‍यौ।
(श्री) मोहन मिश्रित पद कमल,
आसकरन जस विस्तर्‍यौ ॥
भक्तमाल, छ० १७४

आसकरन धर्मात्मा, गुणज्ञ, महाभागवत, राजर्षि, पृथ्वीराज के कुलदीप (वंशज) श्री भीमसिंह के पुत्र और रामानंदी सन्त कील्हदेव के शिष्य, कुशल, सदाचारी, विमलवाणी द्वारा मधुर पदों की रचना करनेवाले सुकवि थे। शूरवीर, उदार हृदय, परम-विनयी, संतों के सेवक, श्रीराम तथा श्रीकृष्ण की समान रूप से भक्ति करनेवाले, कूर्मवंशी (कछवाहा) राजा आसकरन 'मोहन-नागर' की पदों में छाप लगाकर काव्य-रचना करते थे।

दादूपंथी महात्मा राघौदास-कृत 'भक्तमाल' में जिसका रचनाकाल वि० सं० १७१७ माना जाता है, राजा आसकरन का उल्लेख इस प्रकार हुआ है :

भींव पिता गुरु कील्ह, भक्त, भगवत, सम देखें।
जो कछू घर मधि माल, जितौ, साधन के लेखें॥
जग्य महोछव रास, दास हरिजी कौ पूजै।
मरम करम कुलरीति, आँन धर्म छांड़े दूजै॥
राघौ राम रच्यौ भलौ, कूरम कुल पृथिवीराज घरि।
आसकरन के आस यहु, मन में मोहनलाल हरि॥

'आसकरन के हृदय में यही अभिलाषा रही कि मोहनलाल उनके मन में निवास करें। इनके पिता भीमसिंह थे और गुरु कोल्हदेवजी थे। ये भक्तों को भगवान् के तुल्य देखते थे। जो कुछ सम्पत्ति घर में थी उसे रासलीलादि महोत्सवों को सम्पन्न करने तथा यज्ञ-यागादिकों को पूर्ण करने में लगा दिया था। अन्य धर्मों को त्यागकर केवल वैष्णव-धम को अगीकार करनेवाले महाराजा आसकरन ने, श्रीराघवेन्द्र श्रीराम के द्वारा प्रर्वत्तित कूर्मवंशी कुलाधिप पृथ्वीराज के वंश में जन्म लिया था।'

रीवाँनरेश महाराजा रघुराजसिंह-कृत भक्तमाला-रामरसिकावली (संवत् १९२१) में भी राजा आसकरन को रामभक्त के रूप में चित्रित किया गया है—

आसकरन नरनाह को अब सुनिये आख्यान।
बड़ौ संत सेवी रह्यौ बड़ौ भूप मतिमान॥

नेम रहे भूपति को ऐसौ।
करे संत दरसन रहे जैसौ॥

लीन्हे बिना संत पद नीरा।
करै प्रयान भूपमति धीरा॥

एक समै कहुँ रहे विदेसू।
वर्षा भई भूरि तेहि देसू॥
जँह तँह गयी सेन बस वर्षा।
रह्यौ अकेल भूप हत हर्षा॥
लगी प्यास भूपति गिरि गयऊ।
बिन चरनोदक जल नहि लयऊ॥
तब हरि साधुरूप धरि आये।
दै चरनोदक जलहिं पियाये॥
भूप उठ्यौ जब कियौ सँभारा।
तौन साधु कौ कहुँ न निहारा॥
तब भूपति जान्यौ प्रभु काहीं।
आयौ करि गलानि घर माहीं॥
भूपति सकल विभूति विहाई।
लियो विराग सुमिर रघुराई॥
तजि सरीर कछु दिन में भूपा।
रामधाम को गयौ अनूपा॥

इससे निम्नांकित तथ्य प्रकाश में आये हैं—

१. राजा आसकरन सन्तों के चरणों में अनन्य अनुराग रखनेवाले थे।

२. वे सन्त का चरणोदक लिये बिना जलपान नहीं करते थे।

३. एक बार सेना के साथ बाहर गये थे। वहाँ प्रचण्ड वर्षा होने के कारण सेना ने इधर-उधर पड़ाव डाल लिया तो आसकरन अकेले रह गये, अपनी प्रतिज्ञानुसार जब इन्होंने जलपान नही किया तो साधु-वेश में हरि स्वयं आये और चरणोदक दिया।

४. आसकरन ने चरणोदक पी लिया तो साधु-रूपधारी हरि अन्तर्धान हो गये।

५. राजा को पता लगा कि साधुरूप में साक्षात् भगवान् आये थे, तो उनके मन में बहुत ग्लानि हुई और वैराग्य ग्रहण कर लिया। कुछ दिनों बाद वे साकेत-धाम को महाप्रयाण कर गये।

इस प्रकार राजा आसकरन के सम्बन्ध में बहुत-सी किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं।

इससे स्पष्ट है कि ये 'कछवाहा' जाति के क्षत्रिय थे। नरवरगढ़ के नरेश ने दत्तकपुत्र के रूप में रखकर, इन्हें नरवरगढ़ की राजगद्दी सौंप दी थी। कतिपय विद्वानों का मत है कि सन् १५४७ ई० में कुछ ही दिनों तक ये आमेर की गद्दी पर बैठे थे, परन्तु भीमसिंह के अनुज बिहारीमल ने इन्हें गद्दी से हटाकर स्वयं को आमेर-नरेश घोषित किया था। इनके पुत्र का नाम राजसिंह था। उसे भी सम्राट् अकबर ने राजा की पदवी प्रदान की थी।

राजा आसकरन वीर योद्धा होने के साथ-साथ अच्छे संगीतज्ञ भी थे। आपकी संगीत-विषयक गुण-ग्राहकता की प्रसिद्धि सुनकर दूर-दूर से गायक इनके दरबार में आते थे। बाल्यावस्था से ही भगवद्भक्ति की माधुरी और संगीत की सरसता के रसास्वादन में इनकी विशेष अभिरुचि थी। संगीत-प्रेमियों और गायकों का आसकरनजी विशेष आदर करते थे। यही कारण था कि इनके दरबार में गवैये हर घड़ी बने रहते थे। एक बार संगीत-सम्राट् तानसेन इनके दरबार में उपस्थित हुए और उन्होंने गोविन्दस्वामी का एक पद रागसारंग में गाकर सुनाया जिसे सुनकर राजा आसकरन का देहाध्यास छूट गया। चेतना आने पर इन्होंने तानसेन की भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजा आसकरन ने तानसेन द्वारा गाये गये 'विष्णुपद' को सीखने की उत्सुकता व्यक्त की और तानसेन से आग्रह किया। इस पर तानसेन ने राजा आसकरन को बताया कि इस शिक्षा का श्रेय गो० विट्ठलनाथजी के अन्तरंग शिष्य गोविन्दस्वामी को है। गोविन्दस्वामी गोसाइंजी के शिष्य हुए बिना किसीको अपने पास भी नहीं बैठने देते -- यह सुनकर राजा आसकरन ने भी गुसाइंजी का सेवक बनने का निश्चय किया और तानसेन के साथ ही गोकुल आकर इन्होंने नवनीतप्रियजी के मंदिर में राजभोग की आरती में गुसाइंजी तथा गोविन्दस्वामी के दर्शन किये। गो० विट्ठलनाथजी से तानसेन ने राजा आसकरन का परिचय कराया तथा इनको शरण में लेने का निवेदन किया। भक्तवत्सल गुसाइंजी ने राजा आसकरन की विनम्रता एवं भक्ति को

देखकर श्रीनवनीतप्रियजी के सामने इनका 'ब्रह्मसम्बन्ध' कराया। 'ब्रह्मसम्बन्ध' के पश्चात् गुसाईंजी ने राजा आसकरन को समस्त पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि का ज्ञान कराया। राजा आसकरन ने इस समय एक पद गाया जो इनके ब्रह्म-सम्बन्ध के विषय में पूर्णतः साक्ष्य देता —

जै श्री विट्ठलनाथ कृपाल।
कलि के महापतित अघरासी
अपने करिकै किए निहाल॥
पुरुषोत्तम निज करले दीने,
ऐसे दानी महादयाल।
आसकरन को अपनो करिकै,
पुष्टि-प्रमेय वचन प्रतिपाल॥

इतिहासज्ञों का मत है कि तानसेन इनके दरबार में सन् १५८२ ई० के लगभग उपस्थित हुए थे। यह वि० सं० १६३९ स्थिर होता है। इस समय राजा आसकरन ६० वर्ष के लगभग थे। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा आसकरन ६० वर्ष की परिणत वय में पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए थे। भक्त-हृदय होने के कारण इनके व्यक्तित्व पर कृष्ण-भक्ति तथा गो० विट्ठलनाथजी की आचार-पद्धति ने पर्याप्त प्रभाव डाला था। राजा आसकरन की प्रार्थना पर गुसाईंजी ने इन्हें सेवा के लिए 'मोहन-नागर' की एक प्रतिमा भी दी थी, जिसका उल्लेख श्री कृष्णानन्द रागसागर-कृत 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' में इस प्रकार हुआ है—

आसकरन नृप विनय सुनि, विट्ठलनाथ प्रवीन।
प्रेम-भक्ति लखि, शिष्य करि, मोहन नागर दीन॥

राजा आसकरन विशुद्ध पुष्टिमार्गीय वैष्णव-भक्त थे। गुसाईं विट्ठलनाथजी के प्रति इनकी असीम श्रद्धा थी। श्री विट्ठलनाथजी भी इन्हें अपना घनिष्ठतम मानते थे। 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' के इस उलेख से इनकी घनिष्ठता की ओर भी पुष्टि हो जाती है कि जब गुसाईं जी ने अपने सात स्वरूपों को एकत्रित कर महोत्सव किया था, तब अपने छठे पुत्र यदुनाथजी को, जो बँटवारे से असन्तुष्ट थे, समझा-बुझाकर गोकुल से गोवर्धन बुलाने को श्री आसकरन को भेजा था। इससे स्पष्ट होता है कि नरवरगढ़ के राजा आसकरन गुसाईंजी के इतने निकट थे कि इनका प्रभाव गुसाईंजी के बालकों पर भी था। आसकरन का सातों कुमार बहुत सम्मान करते थे। इसका प्रमाण प्रस्तुत दोहे हैं—

नन्द महोत्सव पूर्ण करि, श्री विट्ठल द्विजराय।
आसकरन नृप कों जु फिरि, नरवर तें बुलवाय॥

* * *

आसकरन नृप को जु फिरि गोकुल भोर पठाय।
बुलवाये यदुनाथ को परिपूरण समझाय॥

—सम्प्रदाय-कल्पद्रुम, पृ० ९

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भी पुष्ट प्रमाण हैं, जो आसकरन को गुसाईंजी का सेवक सिद्ध करते हैं—

(अ) राजा आसकरन के पदों में 'आसकरन प्रभु मोहन नागर' छाप विशुद्ध रूप से पुष्टिमार्गीय है। 'मोहन-नागर' दो विग्रहों के नामों का भक्त कवि ने संयुक्त प्रयोग किया है। आसकरन को दो विग्रह सेवार्थ दिये गये थे—'श्री मोहनजी' और 'श्री नागरजी'। ये दोनों विग्रह आज भी सम्प्रदाय के मन्दिरों में ज्यों के त्यों विराजमान हैं। 'श्री मोहनजी' धौलका (अहमदाबाद) में वैष्णव चन्दूलाल मजमूदार की हवेली में प्रतिष्ठित हैं तथा 'श्री नागरजी' का विग्रह बम्बई के बड़े मंदिर में गोस्वामी गोकुलनाथजी के अधिकार में है। दोनों विग्रहों के पुष्टिमार्गीय होने के कारण राजा आसकरन स्वतः ही पुष्टिमार्गीय सिद्ध हो जाते हैं।

(ब) इनके पदों की गायन-शैली भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरों के पद-कीर्तनों की गायन-शैली से पर्याप्त मिलती है। इन्होंने अष्टयाम-सेवा (मंगला से शयन-आरती पर्यन्त), नित्योत्सव तथा वर्षोत्सव (जन्माष्टमी से लेकर हिंडोला) आदि के पद लिखे हैं जिनमें एक भावुक पुष्टिमार्गीय कृष्ण-भक्त कवि के हृदयोदधि की कोमल और मधुर भाव-लहरियाँ तरंगायित हुई हैं। राजा आसकरन अपने मार्ग के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने श्रीकृष्ण-लीला के अनेक कीर्तन लिखे हैं—

तुम पौढ़ौ, हौं सेज बनाऊँ।
चाँपों चरन रहौं पाटीतर
मधुरे सुर केदारौ गाऊँ॥

सहचरि सबै चतुर जुरि आईं
दंपति सुख नैननि दरसाऊँ॥
आसकरन 'प्रभु मोहननागर'
यह सुख स्याम सदा हौं पाऊँ॥

प्रस्तुत पद में 'शयन-आरती' के समय की झाँकी का कवि ने मार्मिक अंकन किया है। वह केदार राग में भगवान् को 'लोरी' सुनाकर सुलाना चाहता है। उसके नेत्र सदैव प्रसन्नमुद्रा एवं आनन्ददशा में ही अपने इष्टदेव का दर्शन करना चाहते हैं। आसकरन को पुष्टिमार्गीय सेवा-प्रणाली एवं उत्सव आदि का भी ज्ञान था। उदाहरणस्वरूप––

कनक पवित्रा सोहत स्यामैं।
नगन जटित आभूषण तामैं
मध्य विराजत मुक्ता दामैं॥

इस पद में 'पवित्रा' शब्द पुष्टिमार्ग के 'पवित्रा-उत्सव' की ओर इंगित करता है। पवित्रा-उत्सव श्रावण शुक्ला एकादशी को केवल वल्लभ-सम्प्रदाय में समारोह के साथ मनाया जाता है। इस दिन श्रीनाथजी को (सुनहरे कलाबत्तू के तारवाली) कनक पवित्रा पहनायी जाती है। यह उत्सव स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने चलाया था।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि राजा आसकरन भगवान् के लीला-गायक रसिक कवि तथा अनन्यभक्त थे। इनके पदों में सर्वत्र वात्सल्यभाव की सरिता उमड़ती हुई दिखाई देती है। इनके लगभग पचास पद पुष्टिमार्गीय कीर्तन-संग्रहों में संकलित हैं। कुछ पद अन्य ग्रंथों से भी प्राप्त हुए हैं। ये सभी राग-रागिनियों में निबद्ध हैं।

इनके कृतित्व के परिचायक कुछ पद नीचे दिये जाते हैं—

(१)

खेलन जान न द्रेहौं लाल।
काल्हि जो दीठि लगी मनमोहन दियो चखोटा गाल॥
ताही तैं नहिं पट पहिरावत नहीं मेलत गलमाल।
आसकरन प्रभु जतन करत हूँ मोहन मदन गुपाल॥

(२)

जगावे जसोदा मैया जागो मेरे लाला।
दधि मिसरी वेला भरि लाई
उठो हो कलेऊ करो गोपाला॥
गोदोहन की भई है बिरिया
टेरत सखा संग के ग्वाला।
आसकरन प्रभु मोहन नागर
मुख देखन आईं ब्रजबाला॥

(३)

आज सखी ठाड़े हैं नन्दलाल।
रतन जटित को सीस सेहरो और फूलन की माल॥
सब सोभित वृषभान नन्दिनी गावत कीरत बाल।
आसकरन प्रभु मोहन नागर
दूलह पर आरति वारत थाल॥

(४)

मोहन देखि सिराने नैना।
रजनीमुख आवत सुरभिन संग मधुर बजावत बैना॥
ग्वाल मंडली मध्य विराजत सुन्दरता को ऐना।
आसकरन प्रभु मोहन नागर वारूँ कोटि छवि मैना॥

रा० कृ० श०

आसानन्द

आसानन्द लालचदास के शिष्य और जाति के कायस्थ थे। यह रायबरेली के निवासी थे, किन्तु बाद में हस्तिनापुर जाकर निवास करने लगे थे। आसानन्द के पिता का नाम प्रताप था। वे गुरु और ब्राह्मण के परम भक्त थे।

इनके गुरु लालचदास अपनी लोकप्रसिद्ध रचना 'हरिचरित्र' के केवल ४५ अध्याय ही पूरा कर पाये थे कि उनका देहान्त हो गया। उनके आदेशानुसार शिष्य आसानन्द ने उक्त ग्रन्थ के शेष ४५ अध्याय पूरे किये। आसानन्द ने लिखा है—

संवत केतिक बीति जब गएऊ।
षोडस सत एकोतर भएऊ॥

बिष्नु भगति उपजा बहु भाऊ।
हरिपद लीन आसानन्द नाऊ॥
सुनि हरिकथा हर्ष जिव भएऊ।
आसानन्द भक्ति जिव ठएऊ॥
लालच क्रित आधा भौ आई।
क्रिस्न दयाल समक मैं जाई॥
जो गनपत दाया चित करई।
सारद माए जिमि अनुसरई॥
श्री हरि हिरदै बुधि परगासौ।
कहत-सुनत दुख पातख नासौ॥

इस प्रकार आसानन्द ने भगवान् कृष्ण की भक्ति से प्रेरित होकर सं० १६०१ वि० (सन् १५४४ ई०) में 'हरिचरित्र' की रचना प्रारम्भ की। कवित्व की दृष्टि से इनके काव्य में पर्याप्त प्रौढ़ता है। ख्याति से विरत रहकर इन्होंने 'जनलालच' उपनाम का ही स्वरचित अंश में भी प्रयोग किया है। आसानन्द के जीवन के सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं है।

त्रि० ना० सिं०

आसुधीर

स्वामी आसुधीर का जन्म अलीगढ़ जिले के कोमलपुर नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० ज्ञानधीर था। आप सारस्वत ब्राह्मण थे। पं० ज्ञानधीर ने गिरिराज गोवर्द्धनजी की उपासना कर इन्हें प्राप्त किया था। अतः इनको गोवर्द्धनजी का अवतार माना जाता है।

श्री आसुधीर बाल्यावस्था से ही सांसारिक बातों से विरक्त थे। फिर भी माता-पिता ने २५ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह कर दिया। एक पुत्र की प्राप्ति हुई। तदुपरान्त गृहत्याग कर ये वृन्दावन चले आये। वृन्दावन आकर आपने हरदेवजी से दीक्षा ग्रहण की। हरदेवजी निम्बार्कीय महात्मा व्रजभूषणदेवजी के परम्परानुवर्ती आचार्य थे। शिष्यत्व ग्रहण करने के बाद ये निधुवनराज में निवास करने लगे। आपके श्री हरिदास एवं श्री देवदत्त दो प्रधान शिष्य हुए।

एक समय देवदत्तजी अपनी धर्मपत्नी गिरजादेवी सहित वृन्दावन पधारे। वृन्दावन आकर दोनों ने स्वामी आसुधीर से दीक्षा ग्रहण की और कालान्तर में उनके कृपापात्र बन गये। एक बार ये दोनों गुरु-आज्ञा प्राप्त कर भ्रमण करते हुए गंगाजी के किनारे गढ़मुक्तेश्वर पहुँचे। वहाँ सन्त-समाज के सहित ये भगवद्भजन करने लगे। आपसे प्रभावित हो वहाँ के निवासी तन-मन-धन से सन्तों की सेवा करने लगे। किन्तु यह सात्त्विक समागम वहाँ के कुछ कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को अच्छा नहीं लगा। वे ईर्ष्यावश इनकी निन्दा करते हुए कटु शब्दों का प्रयोग करने लगे। इस पर भी देवदत्तजी ने उनका नम्रतापूर्वक आदर-सम्मान किया। असन्तुष्ट ब्राह्मणों ने कहा कि "आपने यह पाखण्डी वेशभूषा कब से धारण की है? इसका प्रादुर्भाव-क्षेत्र कहाँ है?" तब श्री देवदत्तजी ने श्री भागवत-धर्म की महत्ता का वर्णन एवं अपनी आचार्य-परम्परा का परिचय दिया। किन्तु आत्मप्रशंसा में मदान्ध कर्मकाण्डी ब्राह्मण इससे सन्तुष्ट न हुए। इस तरह वाद-विवाद बढ़ता देखकर देवदत्त की धर्मपत्नी ने उसी समय उन सबके सम्मुख एक गाय के मुख से वेदमन्त्रों का उच्चारण करवा दिया—

सुनि यह देवदत्त की घरनी।
ता छिन प्रकट करी निज करनी॥
निरखि एक ठाढ़ी ढिग गाई।
आयसु दै मुख तुरत बुलाई॥

यह देखकर कर्मकाण्डी ब्राह्मण दंग रह गये। उसी रात उनके आराध्य ने स्वप्न में प्रकट होकर कहा कि "यह तुमने अच्छा नहीं किया। श्री देवदत्त तो परमभागवत हैं। अब तुम उनकी शरण में जाकर क्षमा-याचना करो।" कुछ ने तो आराध्य का आदेश मानकर देवदत्तजी से क्षमा-प्रार्थना को, किन्तु कुछ अपने हठ पर डटे रहे। उसी समय वहाँ पर श्री आसुधीरजी का आगमन हुआ। देवदत्तजी ने गुरुदेव के दर्शन कर उनके चरणों का वन्दन किया। वहाँ सभी ग्रामीण एवं विवादी ब्राह्मण भी एकत्र हो गये। उन लोगों ने अपना-

अपना मत गुरुदेव के समक्ष प्रस्तुत किया। तब स्वामीजी ने कहा कि "दोनों पक्ष श्री गङ्गाजी को प्रसाद अर्पण करें। जिसके हाथों से गङ्गाजी प्रसाद ग्रहण कर लें, वही पक्ष विजयी एवं श्रेष्ठ है।" इस पर दोनों पक्षों ने सहमत हो वैसा ही किया। कहते हैं कि देवदत्तजी द्वारा प्रदत्त प्रसाद श्री गङ्गाजी ने प्रकट हो अपने कर-कमलों से उसी समय स्वीकार कर लिया, किन्तु वेदपाठी कर्मकाण्डी ब्राह्मण प्रातः से संध्या तक अपनी सामग्री को लिये खड़े रहे पर गङ्गाजी ने स्वीकार न किया। इस प्रकार श्री गङ्गाजी के निर्णय को सभी उपस्थित जनसमूह ने एकमत से स्वीकार कर सन्तों का जय-जयकार किया और उन कर्मकाण्डी ब्राह्मणों की भर्त्सना की।

आसुधीरजी द्वारा रचित कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। मात्र दो साखियाँ जिनमें उपर्युक्त घटना का उल्लेख है, प्राप्त होती हैं—

बड़ कुल जनमे कहा भयो,
कहा बसे सुरसरी तीर।
आसुधीर सन्तन भजे,
पावन भयो शरीर॥
धन्य धन्य तिहुँ पुर भयो,
गई बिप्रन की ऐंठ।
आसुधीर जग जानियो,
जब लई सुरसरी भेंट॥

प्रे० ना० श्री०

इच्छाराम (प्रथम)

इच्छाराम का जन्म अठारहवीं सदी में हुआ था। ये पचरुवा के रहनेवाले थे। विश्वस्त सूत्रों के अनुसार इन्होंने तीन ग्रंथों की रचना की थी—१. गोविन्द-चन्द्रिका (सं० १८४७), २. एकादशी-कथा तथा ३. ब्रह्मविलास। 'गोविन्द-चन्द्रिका' भागवत के दशमस्कन्ध का भावानुवाद है। 'एकादशी-कथा' भी भागवत के दशमस्कन्ध पर आधारित है। 'ब्रह्मविलास' का प्रतिपाद्य संभवतः श्रीकृष्ण की ब्रजलीला से ही सम्बद्धित है। इनके किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, लेकिन रचनाओं के आधार पर इन्हें कृष्ण-भक्त मानने में कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती है।

ह० नं० भा०

इच्छाराम (द्वितीय)

इच्छाराम कायस्थ छतरपुर (मध्यप्रदेश) के निवासी थे। इनके दो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं—'द्रौपदी-विनय' और 'राधामाधव-शतक'। इनसे ये कृष्ण-भक्त प्रतीत होते हैं। इनका कविता-काल सं० १९०० दिया गया है। 'गोविन्द-चन्द्रिका' के रचयिता इच्छाराम से ये भिन्न प्रतीत होते हैं। इनके जीवनवृत्त की कोई जानकारी नहीं मिलती। कृतियों से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ये कृष्ण-भक्त थे। कवि की भक्ति किसी सम्प्रदाय से बँधी नहीं है, लेकिन कथा के माध्यम से भावुकता की तीव्रता प्रकट होती है। यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)

कृष्न जू की कीरति की सुरति न गाई जाइ,
सुरति लगाये लागै आन छबि छार-सी।
हंसिनी-सी, हीरक-सी, हिम-सी, हिमांचल-सी,
देवधुनिधारा, छीर - पारावार पार-सी।
'इच्छाराम' रामराज संख चक्र सत्य सेस,
रविबाजि इन्द्रगज इन्दु-सोभा सार-सी।
हर-सी, हरा-सी, हरगिरि-सी, सुसरद-सी,
पारद-सी, नारद-सी, सारद उदार-सी॥

(२)

नाम भजौ मन काम तजौ तब तोष बसै जू।
तोष बसै तब कर्म नसै भवभर्म नसै जू॥
भर्म नसें तें भक्ति लसै तब सर्न लहैगो।
सर्न लहे प्रभु चर्न गहे भवभीति बहैगो॥

न० प्र० गु०

इन्द्रकुँवरि (प्रथम)

इन्द्रकुँवरि के सम्बन्ध में केवल इतनी जानकारी मिल सकी है कि ये अलवर-नरेश शिवदान सिंह (शासन-काल सं० १९१४ से १९२१) की दासी थीं। इनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि ये कृष्ण-भक्त थीं। इनकी प्रमुख काव्यकृति 'शिवदान-प्रकाश' है, जो काव्यरूप की दृष्टि से ककहरा अथवा कक्का-बावनी शैली की रचना है। इसमें कृष्ण का गुणगान उनकी बाल और अवतारी लीलाओं के वर्णन के माध्यम से किया गया है। बाल-लीला व अवतारी लीला के एक-एक छन्द यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१)

छछा छाछि दही छिनन्त फिरै, माखन पै चित ओर।
'इन्द्रकुँवरि' दुख दूरि करि, नागर नन्द किसोर॥

(२)

गंगा गिरि गोवरधन धारियो, गिरिधर नांव कहाय।
गिरि-गिरि गऊ चरावते, 'इन्द्रकुँवरि' गुन गाय॥

ग० मि०

इन्द्रकुँवरि (द्वितीय)

'रसिक-अनन्य-परचावली' में माता इन्द्रकुँवरि की प्रशंसा में निम्नलिखित छन्द मिलता है—

श्री कृष्णदेव गोस्वामि धरनि मन सांचो निष्ठा।
साधे साधन भक्ति न चाहैं जगत प्रतिष्ठा॥
निहकिंचन हरि-भक्त बसैं जे कुंजन छाँही।
असन बसन तिन हेत देत हरषत मन माँही॥
सुमिरन सेवा प्रभु सदन, करति ज्यों हित पद्धति कह्यौ।
परमारथ-पथ समझिबो, माता इन्द्रकुंवरि गह्यौ॥

ये गोस्वामी कृष्णचन्द्र-वंशीय गोस्वामी कृष्णदेवजी की पत्नी थीं। इन्हें अपने कुलसेव्य श्री राधामोहनलालजी की पाक-सेवा आदि कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त था। इष्ट-सेवा के साथ ही श्री हित-धर्मानुयायी रसिकजनों की सेवा में इनकी हार्दिक अभिरुचि थी। इस रुचि के कारण ये हितरसिकजनों की कुटियों में जा-जाकर भोजन और वस्त्रादि की सेवा किया करती थीं। 'जै श्री हित हरिवंश प्रपंच वंच सब काल-व्याल कौ खायौ। यह जिय जानि श्याम-श्यामा-पद-कमल संगी सिर नायौ'——महाप्रभु की इस पंक्ति में संकेतित आचरण——रसिक-रहनी——इनके जीवन में पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हुई थी। सम्भवतः इसीलिए रसिकजन इनका विशेष आदर किया करते थे। लौकिक प्रतिष्ठा से इन्हें सर्वथा अरुचि रहती थी।

इनका उपस्थिति-काल सं० १६७५ से सं० १७५५ तक माना जा सकता है।

श्या० बि० खं०

इन्द्रदत्त

इन्द्रदत्तजी का जीवन-वृत्त सर्वथा अज्ञात है। म्युनिसिपल म्यूज़ियम, इलाहाबाद में एक पद-संग्रह सुरक्षित है जिसमें सूरदास के साथ इन्द्रदत्त नामक कवि के भी कृष्ण-लीला-सम्बन्धी कुछ पद मिलते हैं। ये इन्द्रदत्त कौन थे, इसका कुछ भी पता नहीं चलता है। उदाहृत छन्दों से ज्ञात होता है कि ये कृष्ण-भक्त रहे होंगे। इनका एक छंद यहाँ दिया जा रहा है——

जो पै करुनानिधान करुना चित वनिहै।
मोहू सम दीन को दरद दारुन जनिहै॥
जौ गरीब को नेवाजते गरिबी अनिहै।
करुनामय कबहुँ काहु कहाँ ए गुन गनिहै॥
वेद-विदित विरुद जौ गोपाल जी अकनिहै।
इन्द्रदत्त हूँ ते पतित पावन किए बनिहै॥

वा० सिं०

इन्द्रदासजी (काठियाबाबा)

श्री इन्द्रदासजी का प्रारम्भिक जीवन-वृत्त अज्ञात है। इनके ऊपर श्री गुरुदेव की अत्यन्त कृपा थी, जिसके फलस्वरूप ये परम वैराग्यवान् होकर हिमालय की तलहटी में घूमा करते थे। वहाँ पर आपको वस्त्र से शरीर का आच्छादन कठिन प्रतीत हुआ तो काठ का लँगोटा पहनना आरम्भ कर दिया। कुछ समय बाद जब आपने ब्रज-भूमि में पुनः पदार्पण

किया तो श्री नागाजी के द्वारा की जानेवाली 'चौरासी कोस व्रज-यात्रा' का शुभारम्भ किया जिसका प्रचलन आज भी है और काठिया की चौरासी कोस की परिक्रमा सन्तों के संरक्षण में चलती है।

प्रे॰ ना॰ श्री॰

इन्द्रभानु 'ललित लड़ैती'

श्री इन्द्रभानु के पिता मुंशी टिक्कनलाल पंजाब में डेरा गाजीखाँ के निवासी थे। गो॰ बालमुकुन्दजी इनके गुरु थे। इनका एक ग्रन्थ 'दंपति-विलास' मिलता है। यह विविध राग-रागिनियों में रचा हुआ पाँच भागों का बृहत् काव्य-ग्रन्थ है।

स॰

इन्द्रमणि गोस्वामी

'रसिक-अनन्य' परचावली में गो॰ इन्द्रमणि के सम्बन्ध में निम्नलिखित छन्द मिलता है—

छन्द प्रबन्ध सुगूढ़ रचे अच्छर बहु भायन।
जुगल-रहसि तिन मध्य रसिक रस लह्यौ रसायन॥
धर्म विरुद्धी काल जानि मुख मौन गही अति।
आशय गरुवी निपट सकल लक्षननु महामति॥
श्री जोरीलाल सुवन निपुन हरि-भक्तन सौं चित लगन।
रस चिन्तामणि नित विलसिबौ, समझ अवधि
श्री इन्द्रमणि॥

ये गो॰ गोपीनाथजी के कुल में उत्पन्न गो॰ जोरीलालजी के द्वितीय पुत्र थे। इनका जन्म देववन (सहारनपुर) में हुआ था। ये बाल्य-काल से ही विद्या-व्यसनी थे। इस व्यसन के कारण इनका अधिक समय आगम, निगम, पुराण, संहिता, पटल, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों का गहन अध्ययन करने में ही बीतता था। बहुत समय व्यतीत होने पर भी इन्हें हार्दिक संतुष्टि नहीं हुई तब इन्होंने अपनी वेदना गुरुवर के सामने प्रकट की। गुरुवर्य ने सदय होकर श्री हिताचार्य चरण के श्रीमुख से निःसृत निम्न श्लोक का भावार्थ सुस्पष्ट करते हुए श्री हिताचार्य चरण द्वारा प्रकटित रसोपासना की ओर इनका चित्त आकृष्ट किया—

किं वा नस्तैः सुशास्त्रैः किमथ तदुदितै-
र्वर्त्मभिः सद्गृहीतै-
र्यत्रास्ति प्रेममूर्तेर्नहि महिमसुधा
नापि भावस्तदीयः।
किंवा वैकुण्डलक्ष्म्याऽप्यहह परमया
यत्र मे नास्ति राधा
किं त्वाशाप्यस्तु वृन्दावनभुवि मधुरा
कोटिजन्मान्तरेपि॥

—श्री राधा-सुधानिधि, २१६

इन पंक्तियों ने इन्द्रमणिजी का चित्त आकृष्ट ही नहीं किया अपितु इन्हें वह रस-चिन्तामणि ही प्रदान कर दी जिसे प्राप्त करके उपासक पूर्णकाम हो जाता है। महाप्रभु के शब्दों में निर्दिष्ट इन्हें अब वह वस्तु प्राप्त हो गयी थी जिसे प्राप्त करके प्राप्तकर्त्ता को न तो ऐहिक सुख ही अच्छे लगते हैं, न शास्त्रों में मन रमता है और न रसिकों को छोड़कर अन्य किसीका संग ही भाता है। इन्हें अब देववन में अपने समान सहृदय, सजातीय रसिकों के समूह का अभाव खटकने लगा। परिणामतः सबसे विरक्त होकर मौन धारण कर लिया और एक दिन उस वृन्दावन की ओर चल ही पड़े जिसका संकेत गुरुवर्य के वचनामृत में मिल चुका था।

यहाँ आकर ये रस-व्यसनी हो गये। इनका प्रत्येक क्षण रस-भजन, रस-वाणी-अनुशीलन और रस-लीलाओं की भावना में व्यतीत होने लगा। अन्ततोगत्वा वह अवसर भी आया जब इनके मुख से रसोद्गार छन्दों के रूप में प्रकट होने लगा। इनकी रस-पदावलियों में इनका रसिक रूप तो प्रत्यक्ष हुआ ही है, साथ ही इनका प्रौढ़ कवित्व भी सहृदयों के लिए आकर्षक बना हुआ है। चाचा हितवृन्दावनदासजी ने इनकी कलकीर्त्ति गाते हुए लिखा है—

रस चिन्तामणि ही मनौ, वांछित भक्ति सु देत।
समुझि तज्यौ व्यौहार सब, कानन बसि सुख लेत॥

अनुभव जनित गिरा फुरी, रचना नाना रीति।
रसना इष्ट लड़ाइ कैं, गये कलिकालहि जीति॥
छन्द-प्रबन्ध रचे सुविधि, इष्टकृपा अनुसार।
कमनी निभृत निकुञ्ज कौ, गरुवौ नित्य विहार॥
—हितभक्ति-कल्पतरु

इनके द्वारा विरचित ग्रन्थ 'बृहद्वावनपुराण को माहेश्वरी संहिता के व्रजभाषानुवाद' का रचना-काल सं० १७८६ है—

सत्रह सै अरु छ्यासिया, मास पूस रविवार।
तिथि त्रयोदशी मुकुटमनि, लिख्यौ सु नित्यविहार॥

इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसी सामग्री प्राप्त नहीं है जिसके आधार पर इनका विद्यमान-काल निश्चित किया जा सके। इतना सुनिश्चित है कि ये १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में विद्यमान थे।

इनके कतिपय पद नीचे उद्धृत हैं—

रसिक-लक्षण

जमुना के नीर तीर सन्तन की भीर धीर,
ऐसेही शरीर पोष कीनौ सब जाम कौ।
आनन्द की रुचा लै अरचा है खरचा सुख,
ऐसो मन पर्चा एक चर्चा श्यामा-श्याम कौ॥
जानै धन धूर यहै जीवन कौ मूर पूर,
मानै भाग भूर सूर सेवी धर धाम कौ।
इन्द्रमणि कसक न राखै हैं रसिक ऐसे,
कीजिये प्रणाम जाके लीजिये सुनाम कौ॥

वृन्दावनवासी-लक्षण

जानत हैं एक न विवेक कछु क्रिया कर्म,
धर्म न अधर्म भर्म भूले रहैं धन के।
पुन्य हू न पापन कलाप आप मानत हैं,
जानत हैं जाप थाप राखे रहैं पन के॥
सबहू सौं त्यागी लौ लागी एक दम्पति सौं,
ऐसे बड़भागी अनुरागी फिरैं मन के।
इन्द्रमणि विलासी सुखरासी ए प्रकासी दशा,
जग सौं उदासी तेई वासी वृन्दावन के॥
श्या० वि० खं०

ईश्वरीप्रताप राय

रीतिकालीन काव्य-परम्परा के सशक्त कवि ईश्वरीप्रताप राय (उपनाम प्रताप) ने शृंगारपरक रचनाओं के माध्यम से भक्ति की सरिता प्रवाहित की है। राधा और कृष्ण के चरणों में समर्पित भक्ति-चेतना इनके अनन्य अनुराग एवं निष्ठा की द्योतक है। प्राचीन हिन्दी-साहित्य-रसिकों एवं मर्मज्ञ विद्वानों ने इनके प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ 'रहस्य-काव्य-शृंगार' का अवलोकन कर महत्त्वपूर्ण सम्मतियाँ दी हैं। सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल के प्रधानाध्यापक एवं नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के संस्थापक पं० रामनारायण मिश्र ने अभिमत देते हुए कहा है कि "कवि कोरा धनी-मानी भूमिपति ही नहीं है, वह तो अपने ही शब्दों में 'साधुन को नित संग जिन्हें अरु साधुहि भाव धरे मन माहीं' कोटि का उच्च श्रेणी का महानुभाव है। वह पहले भक्त है, तब भूमिपति है, वह साधु है, सज्जन है, शास्त्रज्ञ है।" लाला भगवानदीन ने तो स्पष्ट शब्दों में स्वीकारा है—"कई विचारों से मैं यह अवश्य कह सकता हूँ कि यह ग्रंथ हिन्दी-साहित्य का एक उत्तम ग्रंथ कहा जा सकता है तथापि हिन्दी-साहित्य के सचेत पाठकों, विद्वानों के लिए आज तक अज्ञात है क्योंकि हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने इसके बारे में कोई जानकारी नहीं दी है, परिणामतः अर्चचित बना हुआ है।"

श्री ईश्वरीप्रताप राय का जन्म पड़रौना राजपरिवार में सन् १८०२ ई० में हुआ था। यह पड़रौना नगर उत्तर प्रदेश के पूर्वोत्तर में बिहार राज्य की सीमांत रेखा को संस्पर्श करता हुआ देवरिया जनपद में स्थित है। इस राजवंश के राजा श्री भवानीबख्श राय के मझले पुत्र के रूप में आपका जन्म हुआ था। पूज्य पिता के गोलोकवासी होने पर ज्येष्ठ भ्राता श्री हरकुमारराय सिंहासनारूढ़ हुए, किन्तु अल्पायु में ही उनकी मृत्यु हो गयी। इसके अनन्तर इनका अल्पवयस्क तथा इकलौता पुत्र अपने चाचा श्री ईश्वरीप्रताप राय के संरक्षण में राज्य गद्दी पर आसीन हुआ, किन्तु कुछ ही समय पश्चात् यह राजकुमार भी काल-कवलित हो गया। अतःविधि के विधान और राजवंश-परम्परा के

अनुरूप ईश्वरीप्रताप राय को राज्य का उत्तराधिकारी बनना पड़ा।

आपने जब राज्य की बागडोर सँभाली तो भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नई-नई सरकार बनी थी। पड़रौना राज और बेतिया राज का सीमा-विवाद चल रहा था। कम्पनी शासन का मुख्यालय कलकत्ता में तथा न्यायालय आगरा में था। राजनयिक विवादों को सुलझाने के लिए आपको बार-बार कलकत्ता और आगरा का दौरा करना पड़ता था। यह संयोग की बात है कि आगरा का प्रवासकाल आपके जीवन के महत्त्वपूर्ण भाव को उजागर करने में काफी हद तक सहायक हुआ। इस काल में आप अपना अधिकांश समय व्रजनायक की लीलाभूमि वृन्दावन में व्यतीत किया करते थे। भक्ति की जो चेतना पूर्वकाल से ही अन्तःकरण में विद्यमान थी, वह यहाँ आकर स्फुरित हो गयी। यहीं इन्होंने निम्बार्क-सम्प्रदाय के सलेमाबाद गद्दी के आचार्य से दीक्षा ग्रहण की और व्रजविहारी तथा व्रजेश्वरी का मनसा-वाचा-कर्मणा गुणगान करने लगे।

इनकी भगवद्-भक्ति के बारे में यह प्रसिद्ध है कि एक बार यमुना-तट पर इन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि राज-मुकदमों में मुझे सफलता प्राप्त हुई तो मैं अपना सारा राज्य राधा-वल्लभ को समर्पित कर दूंगा। सुयोग से जब इन्हें सफलता मिल गई तो पड़रौना में आकर इन्होंने एक लाख मुद्राओं से 'श्यामधाम' नामक विशाल मंदिर का निर्माण कराया तथा सम्पूर्ण राज्य का स्वामी लीलाधारी को मानकर अपने को केवल उनका प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया। इस मंदिर की शोभावृद्धि हेतु इन्होंने यातायात की कठिनाइयों के बावजूद वृन्दावन की मिट्टी और पौधों को पड़रौना मँगाकर 'वृन्दावन-उपवन' का भी निर्माण कराया। ये नित्य नियमपूर्वक प्रातः वेला में मंदिर में उपस्थित होकर आराध्यदेव की आज्ञा प्राप्त कर ही राज्य-कार्य करते थे। इन्हींके विनिश्चय के आधार पर आज भी इस राजपरिवार में राधावल्लभ को ही राज्य का स्वामी माना जाता है।

भक्तवर ईश्वरीप्रताप राय ने राजसुख में भी भक्तों जैसा विनम्र तथा अनासक्त जीवन व्यतीत किया। इनके तीन पुत्र हुए—मदनगोपाल, मदनमोहन और राजवल्लभ। ये ६६ वर्ष की अवस्था में (सन् १८६८ ई० में) आराध्य की नित्यलीला में लीन हो गये।

लगभग २२ वर्ष की अवस्था से आपने काव्य-प्रणयन आरम्भ कर दिया था। आपकी कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी मुक्तक रचनाओं में 'ध्यानमंजरी', 'पंचरत्न', 'मानलीला', 'वृन्दावन-धाम' आदि विशेष महत्त्व की हैं। इन प्रमुख रचनाओं के अतिरिक्त समय-समय पर इनके द्वारा लिखे गये भक्तिपरक छन्दों, विभिन्न राग-रागिनियों में बद्ध मधुर एवं इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तमाल' में आए हुए भक्तिमूलक पदों को 'रहस्य-काव्य-शृंगार' नामक ग्रन्थ में संगृहीत किया गया है।

'रहस्य-काव्य-शृंगार' मूलतः भक्तिपरक काव्य है, किन्तु रीतिकालीन काव्य-परम्पराओं से युक्त है। इसकी प्रतिपाद्य वस्तु तो भक्तिपरक है, किन्तु वर्णन-शैली रीतियुगीन ही है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के १५ छन्द हैं। आरंभिक ५ छन्दों में राधाकृष्ण की युगल-मूर्ति से और शेष पाँच-पाँच छन्दों में व्रजेश्वरी राधिका और शोभावधि माधव से दास्य-भक्ति की विनम्र याचना की गई है।

'ध्यान मंजरी' में कवि ने वृन्दावन में होनेवाली कृष्ण की लीलाओं का विस्तृत वर्णन माधुर्यभाव से किया है। राधा के नख-शिख-वर्णन के साथ इन्होंने कृष्ण के अनुपम सौन्दर्य का भी वर्णन किया है। राधा-माधव की लीला में सहचरी-तत्त्व का समावेश कर लीला-वर्णन को मूर्तिमत्ता प्रदान की गई है। रचयिता के मतानुसार लीला-दर्शन का आनन्द सबको सुलभ नहीं है, यह तो अनन्य रसिकों को ही प्राप्त है—

रसिक अनन्यन बिना आन यह छवि नहिं पावै।
पति वरता को रहस कहाँ गनिका को आवै॥

'विनय-पच्चीसी' में कवि ने कृष्ण के तेज और महान् पराक्रम का गुणगान करते हुए 'दीनबन्धु गोपाल लाल

जू जन प्रताप को ताप हरो' की प्रणतिपूर्वक प्रार्थना की है।

'मानलीला' में रीतिकालीन आचार्य कवियों की भाँति मान का लक्षण और तदुपरान्त राधा-मान के माध्यम से उदाहरण प्रस्तुत कर, लक्षण-लक्ष्य ग्रन्थ-रचना में अपनी सिद्धहस्तता प्रकट की है। मान का लक्षण अत्यन्त सुन्दर ढंग से कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

विहँसत और नारि सों, लखै पीय को तीय।
उर उपजत गुरु मान तहँ, मिटत परे पा पीय॥

'अर्थ-पंचरत्न' में समस्या-पूर्ति के माध्यम से भक्तिपूर्ण छन्दों की रचना की गई है। 'हरी हरी पुकारती हरी हरी लतान मों' इस समस्या-पूर्ति को कवि ने कई रूपों में प्रस्तुत किया है। कृष्ण की लोकाकर्षक वंशीध्वनि को सुनकर राधा किस तरह व्यथित हैं उसको भक्तकवि ने बड़े ही सहज भाव से समस्या-पूर्ति के माध्यम से निरूपित किया है। कुछ नमूने देखिए—

चली गयंद गामिनी मनो सरूप दामिनी,
मनोज पुंज कामिनी कला निधान ध्यान मों।

....

सरीर ना सँभारती सुनैन नीर ढारती,
हरी-हरी पुकारती हरी-हरी लतान मों॥

'स्फुट-काव्य-संग्रह' में श्रृंगार और भक्तिमूलक रचनाएँ हैं। भक्त संसार की नश्वरता तथा शरीर की निरर्थकता को अच्छी तरह जानता है। एतद्विषयक कवि 'प्रताप' की यह उक्ति विचारणीय है—

भनत परताप दुरगन्धि को पिटारो यह,
अन्तहूँ में भस्म वीट-कीट गति पाइये।
रैन-दिन जामें तो मलमय पनारे बहैं,
ऐसे अपवित्र को पवित्र क्यों बनाइये॥

ये राधा और कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनके रूपमाधुर्य पर आप मुग्ध थे। बार-बार उसी सुन्दर मूर्ति का स्मरण कर कल्याण-प्राप्ति की आकांक्षा कवि का उद्देश्य रहा है—

जय जय नन्दकिशोर जयतु वृषभानु कुमारी।

• • •

गौर श्याम शोभा सदन, प्रणतपाल आरत हरण।
जन प्रताप के कल्पतरु, सर्व काव्य पूरण करण॥

'भक्तमाल-संग्रह' इनके द्वारा रचित एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस संग्रह में कवि ने लगभग २८८ भक्तों का संक्षिप्त परिचय ७०० पृष्ठों में सोदाहरण प्रस्तुत किया है। व्रजभाषा गद्य के आरंभिक स्वरूप को जानने में हिन्दी-साहित्येतिहासज्ञों के लिए यह अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

इनकी भक्ति-भावना का स्वरूप समझने के लिए नीचे कुछ पद प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१)

सेत सेत बक के निसान फहरान लागे,
ऐंचि ऐंचि चपला कृपान चमकाए री।
घहरन भुसुण्डी की अवाज सी करन लागे,
बुन्दन के झरन झीने बान झर लाए री॥

भनत प्रताप रति नायक नरेस जू ने,
धीरगढ़ तोरिबे को पावस पठाए री।
एरी मेरी वीर अब कैसे कै धरूँगी धीर,
आए घनश्याम घनश्याम नहिं आए री॥

(२)

यमुना के तीर वा तमालन के नीचे जहाँ,
ललित कदम्ब तहाँ भजन कुटी छाव रे।

रसिकन को संग जहाँ प्रेम की तरंग उठै,
पुलकित ह्वै अंग-अंग राधा-राधा गाव रे॥

निश्चय सतसंग को प्रभाव तू प्रताप पैहै,
वृन्दावन-रज को तजि कहूँ ना धावरे।
प्यार करि साँवरे बसैहैं तोहि गाँव निज,
सदा रसिक भक्तन के शरन रहु बावरे॥

(३)

दोऊ अनूप, अति कोमल पदारविन्द,
मेरे निरंतर उर-सर को कमल भौ,
भृंग भौ सोभा-पराग मतवारो मन,
अंग-अंग आभा मो मीन-दृग-जल भौ।

केहू प्रताप बात-बात सो न हाले अब,
आली सनेह-थल पल-पल प्रबल भौ,
साँवरो त्रिभंगी मृदु मूरति गोपाल जू की,
अब तो प्रताप उर मेरुसो अचल भौ॥

(४)

झिंगली झलकैं सँग स्याम कलेवर,
मोतिन की छवि कानन मैं।
कल नूपुर पंकज-पाय लसै,
कनकांगद सोहैं भुजानन मैं॥

सो मृदु-मूरति बाल-गोपाल
प्रताप सदा धरु प्रानन मैं।
जिहि या छवि को अनुराग नहीं
तिंहि त्यागि मसी दै आनन मैं॥

आपने सन् १८६८ ई० में ६६ वर्ष की अवस्था में अपनी इहलीला संवरण की।

प्रे० चं० सिं०

ईसुरी

बुन्देलखण्ड-वासी जनकवि ईसुरी का जन्म सम्वत् १८८१ के लगभग मैढ़ुकी नामक ग्राम में हुआ था। इनका पूरा नाम ईश्वरीप्रसाद था। ये समूचे बुन्देलखण्ड में लोक-गीतकार के रूप में इतने लोकप्रिय हुए कि इन्हें जनता-जनार्दन की सामान्य अभिव्यक्ति में 'जनकवि ईसुरी' का सम्बोधन मिला। ईसुरीजी जुझौतिया ब्राह्मण थे एवं राधाकृष्ण के एकनिष्ठ भक्त थे। इनके पिता का नाम भगवतीप्रसाद और माता का नाम गंगाबाई था। ईसुरीजी अपने माता-पिता की सबसे छोटी सन्तान थे। इनके दो और बड़े भाई सदानन्द तथा रामदीन थे।

बाल्यावस्था में ही माता की मृत्यु हो जाने के कारण इनका पालन-पोषण इनके मामा जानकीप्रसाद के यहाँ हुआ था। उस समय इनके मामा लुहरग्राम-हरपालपुर में निवास करते थे। वहीं पर इनके अध्ययन की व्यवस्था हुई। बचपन से ही कुछ अजीब-सी धुन होने के कारण इनका मन पढ़ने में नहीं लगा। ये अपने ग्रामीण मित्रों के साथ अथाई (चौपाल) में बैठकर फाग गाया करते थे। ऐसा कहा जाता है कि मामा के भय से अध्ययन में बहुत श्रम करने पर इन्हें किसी प्रकार बारहखड़ी कण्ठस्थ हो सकी थी। यह देखकर इनके मामा ने इन्हें कृषि-कार्य में लगा दिया। अब क्या था, मानों इन्हें अपना मनचाहा वैभव मिल गया हो। ये खेत की रखवाली करते, मित्रों को एकत्रित कर स्वरचित फागें सुनाते तथा होरा-होरहा (चने की भुनी हुई बौड़ियाँ) खाते और खिलाते।

ईसुरीजी का कोई काव्य-संग्रह उपलब्ध नहीं है, किन्तु बुन्देलखण्ड के ग्रामवासियों को इनका अधिकांश साहित्य कंठस्थ है। वहाँ के लोग इनके ललित फाग 'छन्दों' को समय-समय पर विशेष महोत्सवों और मेलों में गाया करते हैं। यहाँ इनकी तीन भक्तिपरक रचनाएँ ससन्दर्भ दी जा रही हैं—

(१)

एक बार जब इनको यह आभास हुआ कि यह पार्थिव शरीर अब नहीं रह सकेगा, तब इन्होंने अपने आराध्य-'रजउ' (राधावर) के प्रति यह भक्तिपरक फाग गाया —

विधिनाकेरि देह ना मेरी,
रजउ के घर की देरी।
आवत-जात चरन की धूरा,
लगती तन हर बेरी॥

लाजौ आन काम के ऐंगर,
बजन लगी बजनेरी।
उठन चहत अब हाट ईसुरी,
बाट बहुत दिन हेरी॥

(२)

इसी प्रकार अन्त समय में ये सबको अभिवादन करते हुए कहते हैं—

मेरी सब खों राधावर की।
भई तैयारी घर की।
बदी भेंट फिर हुइहै ईसुर,
आगे इच्छा हरि की॥

(३)

अनन्य भक्ति का व्यंजक तीसरा सन्दर्भ यह है कि ईसुरी ने अपने मित्रों से निवेदन किया है कि उनकी 'दाह-क्रिया' उनकी उपास्य राधिका के विराजस्थल बुन्देलखण्ड के बगौरा ग्राम में की जाए—

यारो इतनो जस कर लीजो।
चिता अन्त ना दीजौ॥

चलत न सिर कौ गिरै पसीना
भसम कौ अंतस भीजौ।
निगतन खुदै चेटका लातन
उन लातन मत दीजौ॥

वे सुस्ती ना होय रात-दिन,
जिनके ऊपर सीजौ।
गंगा जू लौं मरें ईसुरी,
दाग बगौरा दीजौ॥

त्रि० ना० शु०

उत्तमदास

श्री उत्तमदास राधा-कृष्ण के अनन्य उपासक थे। साम्प्रदायिक ग्रंथों में इनकी बहुत प्रशंसा मिलती है। सम्बद्ध अंश यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं—

येई रसिक चरित्र गुने नीके उर धरि कैं।
रसना लाड़ लड़ाय रहे आनंद में भरि कैं॥

हरिजन के गुन मिष्ट इष्ट ज्यौं सदा विचारैं।
श्री कुंजलाल पद परसि अनन्य पथ दृढ़ व्रत धारैं॥

श्री हरिवंश प्रताप तें, कुंजकेलि कौतिक मिले।
श्री हरजीमल उत्तम-रसिक, उभै जुगल रस में झिले॥

—रसिक-अनन्य-परचावली

उत्तम रतन अमोल रसिक गुहि भाल नवीनी।
ताकौं उर में धारि कुंज-महलन मग लीनी॥

युगल रूप रसपान सखी-सुख में रुचि बाढ़ी।
चँवर विजन लै पानि आनि हित अलि जहँ ठाढ़ी॥

श्री गिरधर हित हाथ, सखी वृन्दा पकरायौ।
पटनावासी रसिक, भर्म हित मर्म बढ़ायौ॥

भक्त-गाथा

पटना भावुक जन भये अनेक।
हित धर्मी मर्मी सुदृढ़ टेक॥
उत्तम सु चन्द गरुवौ विवेक।
रचै चौंज फागु खेलन जितेक॥

—चतुर्थ वसन्त-प्रबन्ध

इनका जन्म बिहार प्रान्त के पटना नामक नगर में हुआ था। इनका पूर्व नाम उत्तमचन्द था। इन्हें श्री हितराधावल्लभीय सम्प्रदाय की रसोपासना की मंत्रदीक्षा गो० कुंजलाल से प्राप्त हुई थी। भक्तों के चरित्रों को पढ़ने एवं सुनने में इन्हें बचपन से ही आनन्द-अनुभव होता था। कदाचित् इन्हें भगवतमुदितजी कृत 'रसिक-अनन्य-माल' को पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। 'रसिक-अनन्य-माल' में वर्णित श्रीहित रसिकों के सुचारु चरित्रों ने ही इन्हें श्री हित-धर्म की ओर उन्मुख किया था। श्री हितधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् इनके हृदय में यह बात खटका करती थी कि 'रसिक-अनन्य-माल' में श्री हित सम्प्रदायानुगत रसिकों के चरित्र तो श्री भगवतमुदितजी ने वर्णन किये हैं, किन्तु गोस्वामी हितहरिवंश महाप्रभु का चरित्र उसमें नहीं है। यह बात कभी-कभी ये तत्कालीन रसिकों से भी कहा करते थे। रसिकों ने इनकी रुचि देखकर इन्हें प्रेरणा दी कि तुम ही आचार्य महाप्रभु का चरित्र-लेखन करो। सजातियों की प्रेरणा का सम्बल प्राप्त करके इन्होंने 'रसिक-माल' की रचना की जिसमें इन्होंने आचार्य महाप्रभु गो० हितहरिवंश-

जी के चरित्र-वर्णन के साथ-साथ श्रीहित शरणागतों के कतिपय कथाप्रसंगों तथा भगवतमुदितजी द्वारा वर्णित रसिकों की सूक्ष्मदर्शिता को भी सन्निहित किया है। इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं ग्रन्थ की समाप्ति पर इस प्रकार किया है—

इते रसिक की परचई, भगवत मुदित बखान।
दृग दरसन बत एक ठाँ, उत्तम कीने आन॥

इस 'रसिक-माल' के लेखन में इनके गुरुभ्राता एवं अपने समय के सुप्रसिद्ध गायक तथा कवि श्री हरजीमलजी का इन्हें सक्रिय सहयोग मिला था। इन्होंने श्री हितधर्म की अनन्यता का पालन आजीवन मनसा-वाचा-कर्मणा किया था। इनका विद्यमान-काल वि० सं० १७०० से १७८० के मध्य स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

उदयभानुलाल

मुंशी उदयभानुलाल दूधनाथलालजी के सुपुत्र थे। इनका जन्म देवरिया जिले के रुद्रपुर कस्बे में एक कायस्थ-परिवार में हुआ था। ये सलेमपुर तहसील में क्लर्क थे। उदयभानुजी श्री राधामाधव की लीला के अनन्य उपासक और संगीत-विद्या में पारंगत थे। संगीतशास्त्र का इन्होंने गम्भीर ज्ञान अर्जित किया था। इसका प्रमाण है इनकी एकमात्र कृति 'भानु-प्रकाशिका' जो मुंशी नवलकिशोर (लखनऊ) के छापेखाने से फरवरी सन् १९०६ ई० में प्रकाशित हुई थी।

इस कृति में उदयभानुजी ने एक लम्बी भूमिका दी है, जिसके अन्तर्गत राग-रागिनियों का विधान बताया है और फिर स्वरचित रचनाओं द्वारा प्रत्येक रागिनी का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

उदयभानुजी के उदाहरणों में कवित्व की छटा भी यत्र तत्र दिखायी देती है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

राधा साले हिया में तोरी तिरछी तकन।
एकहु पल बिसरत नहिं काकहुँ
मन्द-मन्द मुख मोरि हँसन।
झमकि-झमकि पग धरत धरनि पर
चलन समय क्या देत थवन॥
भानु उभार नये यौवन को
देखि बारि दियो तन-मन-धन॥

भानु उपनाम या कविनाम की छाप प्रायः हर छन्द में विद्यमान है। ग्रन्थ में प्राप्त तथ्यों से यह भी संकेत मिलता है कि भानुजी का जन्म १८७० ई० के लगभग हुआ था।

यह निश्चित है कि उदयभानुजी राधा-कृष्ण-भक्ति के प्रति समर्पित संगीत के श्रेष्ठ साधक थे। ये अष्टछापी संगीतज्ञों की परम्परा की एक लुप्त कड़ी के रूप में दिखायी देते हैं।

सू० प्र० दी०

उदयराम

उदयराम जाति के गौतम ब्राह्मण और भरतपुर राज्य के टोंटपुर नामक गाँव के रहनेवाले थे। याज्ञिक बन्धुओं ने 'माधुरी' वर्ष ५ संख्या १ में भरतपुर राज्य के हिन्दी कवियों पर एक खोजपूर्ण लेख लिखा था। उसमें इनको महाराज रणजीतसिंह का समकालीन में राज्याश्रित कवि बताया है और इनका कविता-काल सं० १८३४ से १८६२ तक माना है। इन्होंने राधा-कृष्ण की लीला से सम्बद्ध अनेक छोटे ग्रन्थों की रचना की है। उनमें से इनका 'सुजान-सम्वत' नामक एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, किन्तु वह अपूर्ण है। यह ग्रन्थ राजस्थान-प्राच्य-प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित हो चुका है। इसमें महाराज सूरजमल के चरित का वर्णन है। खोज में एक पुस्तक 'गिरवर-विलास' और प्राप्त हुई है।

इस 'उत्तम काव्य' की रचना उदयराम कवि ने भरतपुर-राज्याश्रित रहकर ही की थी। गोवर्द्धन भरतपुर महाराजा के इष्ट हैं। उनकी सात कोस की परिक्रमा

लगाने की परम्परा अभी तक इस राज्य-परिवार में है। भरतपुर के महाराजाओं की अन्त्येष्टि-क्रिया यहीं होती रही है। कवि उदयराम-कृत 'गिरवर-विलास' से स्पष्ट होता है कि यहाँ भरतपुर के राजा ने अनेक स्थानों का निर्माण कराया तथा प्रसिद्ध उत्सव 'दीन-दान' प्रारंभ किया था। अपने आश्रयदाता महाराजा भरतपुर के इष्ट गोवर्द्धन के प्रति कवि उदयराम का श्रद्धावनत होना सहज स्वाभाविक है। 'गिरवर-विलास' काव्य में कवि उदयराम ने गोवर्द्धन का बड़ा ही आकर्षक वर्णन किया है। गिरिराज की महिमा, उनके प्रति भरतपुर के महाराजाओं का श्रद्धावनत होना तथा वहाँ पर मनाए गये प्रथम उत्सव का वर्णन इस काव्य का मुख्य वर्ण्यविषय है।

'सुजान-विलास' तथा 'गिरवर-विलास' के अतिरिक्त उदयराम द्वारा रचित 'श्रीकृष्ण की सात लीला', 'पक्ष-पच्चीसी', 'बारहमासी', 'सुजान-संवत', 'कृष्ण-प्रतीत-परीक्षा', 'राधा-प्रतीत-परीक्षा', 'संकेत-समागम' तथा फुटकर कवित्त पाये जाते हैं। इनकी रचनाओं में अनुप्रास, उपमादि अलंकारों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग मिलता है। इनकी भाषा श्रुति-मधुर, चमत्कारिक एवं प्रभावोत्पादक है। वर्णनों में सजीवता है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)

जमुना के तीर तीर वृच्छन की भीर जहाँ,
बन्दर चकोर मोर कीर लै पढ़ावै है।
छूटि रही अलकैं अलबेलौ अकेलौ-बन,
बाँसुरी में दै दै हेला गाय जो बुलावै है।
इतने में एक आय बोली 'उदै' औचक ही,
एरे अहीर के! तू ऐसो इतरावै है।
आज तो अकेलो पायो करत मन भायो,
दही लूट खायो, बल कौन कौ दिखावै है॥

(२)

मथुरा तें पच्छिम दिसा, दोइ जोजन सौं ठाम।
देवन को दुर्लभ कह्यौ, है गोवर्द्धन नाम॥
गिरि गोवर्द्धन भुवन की, रचना कहि सक कोइ।
लाजत लखि सुरपति सदन, मदन मोह मन होइ॥
मान-सरोवर मानसी, रची गंग गंभीर।
वहाँ हंस विलसैं यहाँ, परमहंस हैं तीर॥

गिरिराज गोवर्द्धन पर दीपमाला का एक मनोहारी दृश्य देखिए—

(३)

धरैं दीप-माल बृजबाल ग्वाल गिरवर पै,
मानों गिरिराज आज मनि प्रगटाई है।
रंभा रति रमा शारदा सची सिद्ध,
सावित्री सहित मानों मन ललचाई है॥
नागन की नारि अरु पंनग कुमारि केती,
निपुन तन धारि बृज नारि बन आई है।
सुरन की बाला संग अंगना रसाल उदै,
लालन की माला मानों गिरि को पहराई है॥

(४)

अति सुकुमार स्याम तन सुन्दर पीत बसन मन मोहे।
नव घन मनहुँ दामिनी दुरि दबि देखि-देखि छबि छोहे॥
कोटि काम लावण्य स्याम-तन सोभा अमित अमानौं।
सो छबि बसौ उदै उर अन्तर गिरधर रूप रमानौं॥
यह लीला गिरधर-गुपाल की बाल विनोद बिलासी।
जो या सुनै गुनै अरु सीखै सो साँचो ब्रजवासी॥

(५)

चोर-हरण लीला

एक दिना ब्रज नारि निरखि जमुना में न्हाती।
ताक लगा गोपाल करी तिनसों छल छाती॥
चीर चुराये जाय जब, सबकी नजर बचाय।
काहू नै जानीं नहीं, चढ़े कदम पर जाय॥
सिरोमनि ठगन के॥
मगन ह्वै रही नगन नीर तन की गम नाँही।
उछरत बूड़त तिरत फिरत चक ज्यों चकवाई॥
अति चंचल दृग चाहनी, जोबन रूप नवीन।
करत केलि जल में मनौं काम-रूपिनी मीन॥
मगन मन गोपिका॥

आ० श०
वा० सिं०

उपगारी जसराम

चरणदासी-पन्थ के सन्त उपगारी जसराम का नाम सन्त चरणदास के शिष्यों में प्रमुख है। इन्होंने अपनी रचनाओं में पदे-पदे चरणदासजी का गुरुरूप में स्मरण किया है। इनका जन्म विक्रम की सत्रहवीं शती के अन्तिम चरण और अठारहवीं शती के प्रारम्भिक वर्षों में किसी समय हुआ होगा। अन्तःसाक्ष्य से इनका वि० सं० १८३४ और १८४१ के बीच वर्तमान होना सिद्ध होता है। सं० १८३४ वि० में इन्होंने 'भक्तिबोध' नामक ग्रंथ की रचना की थी और १८४१ वि० के आषाढ़ कृष्ण ५ को 'भक्तिबावनी' का लेखन प्रारम्भ कर उसे उसी वर्ष क्वार मास में पूरा किया था।

उपगारी जसरामजी झाझर परगनान्तर्गत सुवाणाँ गाँव के निवासी थे। इनकी माता का नाम आनन्दी और पिता का सीताराम था। इनके हृदय में वैराग्य-भावना का उदय बाल्यकाल में ही हो गया था। चरणदास के शब्द को श्रवण कर ये अत्यधिक प्रभावित हुए। अपने पिताश्री के निधनोपरान्त इन्होंने विरक्त होने का निश्चय किया। इनकी माता ने स्नेहपूर्वक न केवल इन्हें वैराग्य धारण करने की स्वीकृति प्रदान कर दी बल्कि वे इनके साथ जाकर इन्हें सन्त चरणदास की सेवा में सौंप भी आयीं। थोड़े ही दिनों बाद माता का निधन हो जाने पर उपगारी जसराम का रहा-सहा सांसारिक नेह-नाता भी टूट गया। इसके अनन्तर इन्होंने समर्पित होकर गुरु-सेवा शुरू कर दी। गुरु की आज्ञा से इन्होंने धर्म-प्रचारार्थ देश-भ्रमण भी किया।

इनके द्वारा रचित चार ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में आये हैं—१. भक्तिबावनी, २. भक्तिबोध, ३. शब्द, ४. हरिगुरु-स्तोत्र। 'भक्तिबोध' ब्रह्मज्ञानोपदेश-विषयक दोहा, चौपाई छन्दों में रचित ग्रन्थ है। 'भक्तिबावनी' में कवि ने ५२ भक्तों का कीर्ति-गान किया है। 'शब्द' विविध राग-रागिनियों में रचित पदों का संग्रह है। 'हरिगुरु-स्तोत्र' में शीर्षकानुरूप हरि और गुरु की वन्दना की गयी है। उपगारी जसराम के पदों में कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से भक्ति-भावना का निरूपण हुआ है। होरी से सम्बद्ध इनका एक पद द्रष्टव्य है—

होरी खेलत सुन्दर साँवरो हो अहो मोरे ललना।
संग सखा बहु ग्वाल, मना मन'''षा॥
सुबल संतोषा भरि-भरि फेंट गुलाल।
कर लीयें सो रंग पिचकारी, धाये मदन गोपाल॥

• • •

बैठि बिवान आये स्वर गंधर्व देखन फागुन।
उपगारी जसराम मगन हो गावत राग धमाल॥

रा० प्र० त्रि०

उमाशंकर द्विवेदी

श्री उमाशंकर द्विवेदी का जन्म ब्राह्मण-कुल में वि० सं० १९४६ की फाल्गुन शुक्ला सप्तमी को वृन्दावन में हुआ था। आपके पिता का नाम पंडित दुर्गादत्त था। आपकी आरंभिक शिक्षा पिताश्री के ही सान्निध्य में हुई। तत्पश्चात् वृन्दावन के प्रसिद्ध विद्वान् पं० श्री नत्थीलालजी शास्त्री भागवताचार्य से मध्यमा तक शिक्षा प्राप्त कर आप उत्तर प्रदेश के पीलीभीत नामक जनपद में चले गये। वहाँ रहकर इन्होंने आयुर्वेदशास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की। लाहौर की साहित्यशास्त्री की उपाधि भी आपने प्राप्त की थी।

सम्बत १९७४ में ये गुरुकुल काँगड़ी में आयुर्वेद के अध्यापक नियुक्त हुए। इसके बाद वृन्दावन के ऋषिकुल में ६ वर्ष तक मंत्री रहे। उसके अनन्तर वृन्दावन के ही प्रेम-महाविद्यालय में इन्होंने पन्द्रह वर्ष तक स्वास्थ्य-निरीक्षक के पद पर कार्य किया। सं० २०१४ में सेवा-समिति के मंत्री नियुक्त हुए और ६ वर्ष तक इस पद पर रहे। आप अखिल भारतवर्षीय पंचम वैद्य महासम्मेलन के स्वागताध्यक्ष बनाये गये थे। वृन्दावन की अनेक संस्थाओं से किसी न किसी रूप में ये जीवन-पर्यन्त जुड़े रहे। भाषण देने की आपमें अद्भुत क्षमता थी। प्रत्येक विषय पर धाराप्रवाह भाषण देते थे। केवल व्रज क्षेत्र की ही नहीं अपितु देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में आपके लेख, कविता आदि प्रकाशित

होते रहते थे। आपके द्वारा निर्मित 'दृष्टान्तपदी' नामक सौ दोहों की छोटी-सी रचना मिलती है। उससे विदित होता है कि ये अच्छे कवि थे। वृन्दावन में जब दो-तीन वर्ष से सूखा पड़ रहा था तो एक वर्ष हरियाली-तीज के उत्सव पर आपने जो कविता सुनाई थी, उसकी बड़ी प्रशंसा हुई थी। वह कविता यहाँ उद्धृत की जा रही है—

सूखे सर-सरिता सुखाने सब ताल-कूप,
ऊसर भई ससि भूमि आज आली है।
मघवा निगोड़ो अबै दरस तन देत नाहिं,
सूखी घास-पात पै तपत अंसुमाली है।
भनत उपेन्द्र ऐसो तरु न लगत कोऊ,
जाकी फूल-फूल सो हरी-भरी डाली है।
मेघ बरसावन सुतापन नसावन कौं,
आज तीज कैसी यह आई हरियाली है॥

कहते हैं, आपके द्वारा इस कविता के पढ़ते ही आषाढ़ की प्रथम वर्षा की बौछार प्रारम्भ हो गई थी। आप आशुकवि थे। कवि-सम्मेलनों के लिए समस्या-पूर्ति करने में आप बड़े कुशल थे। श्री राधा-कृष्ण की भक्ति से आपका हृदय सदा प्लावित रहता था। भक्तिपरक कई छंदों की रचना आपने की है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

लीलास्थली तेरी चिरकाल लों रही जो भूमि,
तापर तुव करकी मेघमाला-सी तनी रहै।
भोरे ब्रजबासिन की मोद भरी गोद कान्ह,
अंग-अंग रागन सों नित प्रति सनी रहै।
फीको ब्रह्मरूप तामैं नीको सो लगत नाहिं,
हमरी सलोनी स्याम छबि ही घनी रहै।
निपट गरीब गाय-बाल-ग्वाल-गोपिन पै,
अबहूँ गोपाल दया वैसी ही बनी रहै॥

प्रे० ना० श्री०

उरदाम (उड़दाम)

उरदामजी मथुरा के चौबे थे और ग्वाल कवि के समकालीन थे। इन दोनों में परस्पर प्रतिस्पर्धा रहती थी। इस सम्बन्ध में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि एक बार ग्वालजी और उरदामजी दोनों ने ही भगवान् के नूपुर का वर्णन किया। ग्वाल ने चाँदी के और उरदामजी ने सोने के नूपुरों का वर्णन किया। दोनों ही कवियों के छन्द टकसाली थे, किसी एक के छन्द को श्रेष्ठ कहना कठिन था। तब दोनों कवियों ने निश्चय किया कि तत्काल चलकर भगवान् के मन्दिर में देखा जाय और जिसके वर्णन के अनुसार भगवान् ने नूपुर धारण किये होंगे, उसीका छन्द श्रेष्ठ समझा जायगा। कपाट खुले तो देखा गया कि भगवान् ने स्वर्ण-नूपुर धारण किये हैं। इस प्रकार दन्तकथा में तो भगवान् ने उरदाम को श्रेष्ठ ठहराया है, परन्तु इतिहास ने स्मरण ग्वालजी का ही किया है। प्रतीत होता है कि उरदाम ने स्फुट कवितायें ही लिखीं जो अतीत के गर्भ में विलीन हो गयीं। इनके केवल कुछेक छंद जहाँ-तहाँ मिल जाते हैं।

स०

ऊधौदास

ऊधौदास के जीवनवृत्त तथा कृतित्व के सम्बन्ध में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। 'परचावली' के अनुसार ये गोस्वामी कमलनयनजी के शिष्य थे। उन्हीं की सत्कृपा द्वारा इनके हृदय में भक्ति का आविर्भाव हुआ था। ये विरक्त भक्त थे। भिक्षाटन द्वारा जो कुछ भी प्राप्त होता था उसे राधा-वल्लभ की सेवा में अर्पित कर देते थे। अखण्ड भजन एवं अनन्यव्रत का पालन करनेवाले तथा गुरु-इष्ट में दृढ़ आस्था रखनेवाले ऊधौदास एक विनम्र भक्त थे। इनके सम्बन्ध में 'परचावली' का निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है—

रामत करिके दर्बि लाइ प्रभु मन्दिर अर्पहिं।
मानहिं अपुनौ भाग कृत्य सब प्रभु कौ थर्पहिं॥
नवें प्रेम के भाइ संत पदरज तन मण्डित।
सत्य वचन आलाप भजन व्रत धरैं अखण्डित॥
श्री कमलनैन गुरुकृपा मानि, प्रबल भक्ति उर में जगनि।
श्री ऊधौदास अनन्य व्रत, दृढ़ गुरु इष्ट टहल लगनि॥

—रसिक अनन्य परचावली—छन्द, १७४

ल० च० गो०

ऋषिकेश

ऋषिकेशजी के विषय में केवल इतना ज्ञात होता है कि ये वृन्दावन के निवासी थे और १९वीं शताब्दी में विद्यमान थे। इनकी एक रचना 'ऋतुराज-मंजरी' प्राप्त होती हैं जिसमें ३८ छन्दों में षड्ऋतुओं के माध्यम से राधा-कृष्ण की क्रीड़ाओं का वर्णन हुआ है। इसके दो छन्द नीचे दिये जा रहे हैं—

(१)

केलि-कथा रस माधुरी, सुनहु रसिक दै चित्त।
विविध विनोद विलास सों, विपिन बिहारी नित्त॥
नट नागर बिहरत सदा, सुख सागर रस मेलि।
षट्रितु निपट नवेलि निधि, करत अनूपम खेलि॥

(२)

होरी धरी जब तैं चहौं री चित चैन बेली,
नवरंग नवेली हैं लील लेत लहलही।
सुधा-रस सोंची मनमोहन रसिक मनी,
आनँद पुहुप नित महक महमही॥
मिलिबौ सफल स्वादु रस नैन जानैं,
रसना बषानै रुचि गाहक गहगही।
तरुन तमाल लाल मृदुल तन लपटानी,
छवि बरसानी रहो दिन-दिन डहडही॥

कृ० चं० ला०
वा० सिं०

एकलिंग उस्ताद

एकलिंग जी जाति से पालीवाल ब्राह्मण तथा स्थानीय गटियावाड़ा अखाड़ा के उस्ताद थे। व्यायाम से जब भी अवकाश मिलता तो ये काव्य-रचना किया करते थे। कविवर घनश्याम की कविताओं का जवाब आप कविता बनाकर ही देते थे। इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा के साथ मेवाड़ी भाषा का मिश्रण दिखलाई पड़ता है। रचनाएँ अधिकांश फुटकर कवित्तों के रूप में हैं। एक उदाहरण देखिये—

श्रीजी के प्रताप हुते इन्द्रहु रिसानो देख,
सुदर्शन चक्र जल सोख गयो कदी को है।
नाड़े को मेढ़क कहे मेरे तो समुन्द ये,
और सब प्यासे मरे के बचन बदी को है॥
अगस्त्य मुनि सो तो सातों समुद्र पीय गये,
एकलिंगदास वैद्य वाक्य कहे जदी को है।
तू तो कहे फीको यहाँ भाव जमनाजीको,
कवित्त अलंकार सीखो ओछो जल तालड़ी को है॥

उक्त पद से इनकी कृष्ण-भक्ति का संकेत मिलता है।

रा० कृ० श०

ऐनानन्द

ऐनानन्दजी का जन्म सं० १८६९ में ग्वालियर में हुआ था। इनके पिता ग्वालियर-नरेश की सेना में थे। पिता की मृत्यु के बाद इन्हें उनका पद प्रदान किया गया किन्तु अध्यात्म में विशेष रुचि होने के कारण ये उसे त्यागकर दिल्ली चले गये। बाल्यावस्था से ही इन्होंने काव्य-रचना शुरू कर दी थी। भक्ति की ओर इनका झुकाव देखकर इनके गुरु ने इन्हें भक्ति-काव्य लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की। उनमें भक्तिपरक ग्रन्थों की संख्या तीन है—भक्त-रहस्य (सम्वत् १८८४), ब्रह्मविलास (सं० १८८७), तथा श्याम-हितकर (सं० १८९९)। खेद है कि इनकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं।

त्रि० ना० शु०

कंचन

भक्त कवि कंचन का वास्तविक नाम चुन्नीराम दुबे था। ये 'कंचन' के नाम से गीत लिखा करते थे। कंचन इनके एक नौकर का नाम था। कुछ लोगों की यह धारणा है कि कविता लिखनेवाला निर्वंश हो जाता है, अतः दुबेजी ने इस प्रवाद से भयभीत होकर गीत-रचना अपने वास्तविक नाम से न करके नौकर के नाम से की। पर कुछ ऐसा चक्र चला कि दुबेजी की पत्नी भी न रहीं और उनका पुत्र भी दिवंगत हो गया।

इनकी जीवन-कथा अत्यन्त व्यथाभरी है। इनका जन्म संवत् १९१९ में कोराम्बे परगना के बड़काडीह नामक गाँव में हुआ था जो राँची (बिहार) जिला में अवस्थित है। इनका निधन संवत् १९८५ के आस-पास हुआ। कंचन के गीत अनेक विषयों पर मिलते हैं। इन गीतों को संकलित कर प्रकाशित किया जाना अभी शेष है। कृष्ण-सम्बन्धी इनके एक गीत की कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

हो नन्दलाल विना ब्रज लागे सूना।
जलचर जळ बिन, मनी बिनु फनी दीन,
कन्त विना कामिनी मलीना, हो नन्दलाल० ॥
धन बिहुन नर, दीपक बिनु घर,
दुखित नर पर के अधोना, हो नन्दलाल० ॥
जीव विना जिमि देह, प्रीत ऐसन नेह,
अबला निर्बल सब भाँति हीना, हो नन्दलाल० ॥
ब्रज बनिता जत, कहि-कहि बिलपत,
कंचन कब होई सुभ दिना, हो नन्दलाल० ॥

श्र० कु० गो०

कटहरिया

नाभादासजी के 'भक्तमाल' में कटहरिया का नाम अन्य भक्तों के साथ लिया गया है—

काशीश्वर, अवधूत, कृष्णकिंकर कटहरिया।
सोभू, उदाराम, नामड्गर व्रतधरिया ॥
पदम, पदारथ, रामदास, बिमलानन्द अमृत भये।
भवप्रवाह निस्तार हित, अवलम्बन ये जन भये ॥

ये सत्रहवीं शती के पुष्टिमार्गीय कवि हैं। इनका जन्म संवत् अज्ञात है। प्रारम्भ में ये डाकुओं के सरदार थे और लूटमार करते थे। श्री गोसाइं विठ्ठलनाथजी की पाँचवीं ब्रज-यात्रा संवत् १६३१ में हुई थी। जब वे गुजरात से ब्रजभूमि की ओर लौट रहे थे, उसी समय कटहरिया ने उनको घेर लिया। गोसाइंजी के सेवक इस लुटेरे को देखकर सावधान होकर सामना करने के लिए तैयार हो गये। इतनी क्षमता और वहादुरी को देखकर लुटेरों का सरदार कटहरिया गोसाइंजी के रथ के समीप गया और उनके भगवदीय व्यक्तित्व को देख ठगा-सा रह गया। उसने हथियार डाल दिये, अपने साथियों को बिदा कर दिया तथा प्रणिपात होकर श्री गोसाइंजी के साथ गोकुल चला आया। ये ही बाद में पुष्टिमार्गीय कृष्ण-भक्त कवि 'कटहरिया' नाम से प्रसिद्ध हुए।

वार्ता में इनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—'सो एक समै श्री गुसाइंजी गुजरात तें ब्रज कों पधारत हुते। सो मारग में तीन सै असवार लैके कटहरिया लूटतो। सो उन श्री गुसाइंजी की असवारी कौं देखिकै पास आय घेरा दियो। सो श्री गुसाइंजी के संग पन्द्र बीस भारकस हते। सबको रोकि लीने। तब श्री गुसाइंजी के मनुष्य एक-एक भारकस पै ठाढ़े होइ गए। सो उन लोगन कों ऐसे दीसे मानों सिंह ठाढ़े हैं। और वह कटहरिया श्री गुसाइंजी के रथ के पास आयो सो देखे तो साक्षात् पूरन पुरुषोत्तम विराजे हैं। तब तो कटहरिया हथियार डारि दण्डवत करि ठाढ़ो ह्वै रह्यो।'''' तब कटहरिया अपने संग के मनुष्यन को बिदा कियो और आप श्री गुसाइंजी के साथ चल्यो। सो श्री गोकुल आयो। तब श्री गुसाइंजी सों फेरि विनती कीनी, जो''''महाराज कृपा करि ब्रह्म-सम्बन्ध ''''कराइये। तब श्री गुसाइंजी ने एक व्रत करायो। पाछे दूसरे दिन कटहरिया को श्री नवनीतप्रियजी के सन्निधान ब्रह्म-सम्बन्ध कराए। तब बिनको भगवल्लीला-स्फूर्ति भई। सो बाने बोहोत पद गाये हैं''''सो बधाई''''

'आज महामंगल महराजे।'

ऐसे और हू पद गाए।''

लुटेरा होने के कारण इनके जन्मस्थान के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। इनके नाम में लगा हुआ 'कट' शब्द कटियार क्षत्रिय का संकेत देता है। कटियार जाति क्षत्रिय काठियावाड़ में ही अधिक मिलते हैं और आज भी 'काठी' नाम से जाने जाते हैं। वार्ताकार ने गुजरात, मारवाड़ और काठियावाड़ के व्यक्तियों को गुजराती कहा है। वस्तुतः इनका नाम

'हरिया' था। 'कट' तो इनके नाम के आगे जुड़ा हुआ उपसर्ग है। इनके प्राप्त-पदों में 'जनहरिया' तथा 'कटहरिया' दोनों नामों की छाप मिलती है—

'जनहरिया' कोउ लबार लागत
चलत लुगाई रोकत बाट।'

● ● ●

'कटहरिया' प्रभु सों रुचि उपजी
माखन सो चुपरी॥'

इनके पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में कोई सूत्र प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार 'कटहरिया' नाम इनकी जाति का बोध कराता है तथा 'जनहरिया' नाम इनके गोसाइंजी के सेवक होने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

वि० सं० १६३१ में गुजरात से गोसाइं श्री विट्ठलनाथजी के साथ गोकुल आकर 'कटहरिया' इनके सेवक हो गये, और गोसाइंजी से विधिवत् साम्प्रदायिक दीक्षा ग्रहण की। ठाकुर श्री नवनीतप्रियजी के चरणारविंदों के लीलागुणानुवाद करने में कटहरिया इतने तन्मय हुए कि ब्रह्मसम्बन्ध के पश्चात् इनके हृदय में भागवत-भक्ति का स्फुरण हो गया, परिणामस्वरूप इन्होंने अनेक कीर्तन-पद लिखे। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ऐसा लगता है कि श्री गोसाइंजी ने इनको सेवार्थ श्री मदनमोहनजी का विग्रह सौंपा था। इनके एक पद की पंक्ति से इस तथ्य का समर्थन होता है—

चिर जीयो श्रीराधा मदनमोहन जू की जोरी ऊपर,
जनहरिया प्रभु बारत अपनो तन मन प्रान।

वार्ता के चौंतीस कवि-नामों को नाभादासकृत भक्तमाल के कवियों की नामावली से समर्थन प्राप्त होता है। इन चौंतीस नामों में 'कटहरिया' नामक वैष्णव की कविरूप में गणना की गयीहै। वचनामृत-साहित्य से भी 'कटहरिया' नाम की पुष्टि होती है।

इनकी स्वतंत्र रूप से लिखी कोई कृति उपलब्ध नहीं होती। कतिपय कीर्तन-पद स्फुट रूप में ही प्राप्त होते हैं। इनके कुछ स्फुट पदों का संग्रह इन पंक्तियों के लेखक ने किया है। कटहरिया ने पुष्टिमार्गीय भावना को ध्यान में रखते हुए पालना, रास, होली आदि विषयों पर पदों की रचना की है। इनकी भक्ति भावपूर्ण रचनाओं में आद्योपान्त सादगी और प्रवाहमयता विद्यमान है। उनमें से कुछ पद यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं—

(१)

पालनो अति परम सुन्दर गढ़ि,
लाओरे बीर बढ़ैया।
शीतल चंदन कटाय धरि खराद,
रंगलगाय पँचरंग रेसम मँगाय,
विविध चोकरि बुनाय बिच-बिच
हीरा-मोती-लाल लगैया॥
पालनो आन्यौ अति मन मान्यौ,
आछौ सो दिन धराय रोप्यौ
है रंगमहल, झूले मेरौ पारौ कन्हैया।
जनहरिया प्रभु की मैया,
नँदरानी जोइ मागे ताहि देत बधैया॥

(२)

नितंत रास मंडल मधिरंग रह्यौ,
फिरत बाँह जोटी गोपिन मिलि कान्ह।
पाइन नुपूर बजावै हस्तक भेद बतावे,
गिड गिड ताथेई
ताथेई ताथेई ताथेई,
थेई लेत उरपतिरय मान॥
मुरली-धुनि नाद छायौ मनकी गति
पंगु भई श्री यमुना थकित रही
सुरसरि मुनि टर्यो ध्यान।
चिरजीयौ श्रीराधा-मदनमोहन
जुकी जोरी उपर जनहरिया
प्रभु वारत अपनौ तन-मन-प्रान॥

(३)

ठाड़ी रहै अकेली छिपछिप जाति।
जानति नहीं यहाँ दान लागत,
बिना कहे वैसी चलि जाति।
सेहौं उतारि मटकी लै जात सूधी बात।

ना मोहन मैं गौने आई न जानौं
ब्रज की रीति भांत।
ना जानै तो जनाऊं तोकूं, कौन है तात
कौन है जात ?
तात की तोहि कहा परी है,
जात कछू काहू की पलटात।

मैं गांठोली की चम्पकलता गोरे
गूजर मेरी जात कहात।
हा हा ! तुही नई आई है,
नयो गौरस नयो सब ठाट।

नयो नीको है हमारो तू ही,
नयो दानी रोकत बाट।
'जनहरिया' कोउ लबार
लागत चलत लुगाई रोकत बाट।

(४)

लाल की रोटी और बरी।
हींग लगाय मिरच पुट दीन्हों, करुये तेल तरी॥

नहनी कनक दुबारा छानी,
बेलन बेलि करी पतरी।

कटहरिया प्रभु को रुचि उपजी,
माखन सों चुपरी॥

पुष्टि-मार्ग के अनुरूप इन्होंने वर्षोत्सवों के कीर्तन भी लिखे हैं। उनमें भाव-विभोर करने की अपूर्व क्षमता है। श्रीकृष्ण के अनेक लीला-प्रसंगों को समारोह के साथ चित्रित करना इनका वैदग्ध्य है। होली का एक लम्बा पद जिसमें २८ छन्द हैं, यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इस पद में 'होली-विवाह' की लीला का चित्र इतने अनोखे ढंग से अंकित है कि ब्रज-संस्कृति का फागोत्सव-जन्य आनन्द मूर्तिमंत हो उठा है। इस पद से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रज के कृष्णभक्तों की मस्ती और उनके हृदयसिन्धु में उठनेवाली भावना की उत्तुंग तरंगें स्वयं पदकर्त्ता को ही नहीं अपितु इष्टदेव श्रीकृष्ण को भी सराबोर कर जाती हैं। देखें—

नन्दगाम को पाँडे ब्रज बरसाने आयो।
अति उदार ब्रषभान जानि सन्मान करायो॥
पाँडेजु के पाँयन हँसि-हँसि सीस नवायो।
पाँय धुवाय न्हवाय प्रथम भोजन करवायो॥
धाई आई ब्रजनारी जिन यह सूधो पायो।
भान भवन भई भीर फाग को खेल मचायो॥
सीस सरस फुलेल अंग अंगन झलकायो।
हनूमान की प्रतिमा मानो तैल चढ़ायो॥
काजर सों मुख माँडि बदन बिन्दा जु बनायो।
कारे कलश श्रवत मानों चपरा चिपकायो॥
गजगामिन गोछन सों तुक मैया लपटायो।
देह धरें मानों फागुन खेलन ब्रज में आयो॥
कहुँ चन्दन कहुँ-कहुँ चोवा लपटायो।
ऋतु बसन्त जानों केसू को द्रुम नव फूलन छायो॥
काहु गूलरी माला काहू झगला पहरायो।
मानो गजघंटान बीच गजगाह बनायो॥
रंग रह्यो चोंटियन अंगरातो व्है आयो।
गुंजन को गहनो मानो प्रोहित पहरायो॥

माथे ते मोहनी ने छाछ को माट ढुरायो।
मानो काचे दूध को गिरि गोवर्द्धन न्हायो॥
चोर भोर भई खोर मानो गंगाजल चढ़ायो।
महादेव की जटा चूर चरणोदिक आयो॥
लगत दंत सों दंत गिडिगिडा अंग लगायो।
मानो हो सुघर संगीत ताल कठतार बजायो॥
गयो जनेऊ टूट छूट पायन लपटायो।
मानहु चतुर चंदान राहु पग फंदा लायो॥
चंचल चंद्रमुखी चहुँ दिसि ते गुलगुलचायो।
लियो लुगाइन घेरि नरेना नाकें आयो॥
श्री राधा राधा कहि अपनो बोल सुनायो।
अरी भान की कुँवरि शरणहों तेरी आयो॥
सुनिकें प्रेम वचन जु गरो राधा भरि आयो।
बाबाजू को डगला ले प्रोहित पहरायो॥
कीरति जू पाय लागि-लागि तातो पय प्यायो।
तो लों खेलत होरी ब्रज में दूल्हे आयो॥
साँचे स्वाँगन सजिकें सबै समूह सुनायो।
तपाव्यास को पूत धूत शुकदेव बनायो॥

सनकादिक चारों रिस ज्यों सन्यास सुहायों।
घूमत आयो इन्द्र स्वाँग उन्मत्त नचायो ॥
ब्रज की बीथिन बीच कीच में लोट-पुटायो।
चारिबदन को स्वाँग चतुर चतुरानन लायो ॥
पंचानन पाँचो मुख सो संगीत बजायो।
हरि को व्हे जु बावरो नारद नाचत आयो ॥
देखि नन्द के लाल जंत्र धरि गाल बजायो।
महादेव पटतारदेत यह पट प्रभु भायो ॥
हो हो हो हो व्हे रहो हरी हँसीन हँसायो।
माया निपुन भई सो नारद हल हुलरायो ॥
काम कामनी भयो सबन को चित्त चुरायो।
ललिता जोरी गाँठ लाल को व्याह रचायो ॥
गठजोरी वृषभान कुँवरि सो जाय जुरायो।
नवल अंब के मोर को मोरी मोर बनायो ॥
पीत पिछोरी तानि छबीलो मंडप छायो।
फागुन की गारिन को शाखोचार पढायो ॥
होरी की अग्यारी करी दुल्हे परनायो।
होरी को पकवान सो भरि-भरि झोरिन खायो ॥
फूली फाग की फाग फूल्यो जिन यह जस गायो।
'जनहरिया' घनश्याम बास बरसाने पायो ॥

रा० कृ० श०
ह० नं० भा०

कनकलता

श्रीमती कनकलता दतिया-नरेश भवानीसिंह (सन् १८५७–१९०७ ई०) की खवासिन थीं। इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिल सकी। इन्होंने 'हित-चरित्र', 'तीर्थयात्रा', 'वनयात्रा', 'ब्रजभूषण', 'घन-पच्चीसी' और 'रसिक-विनोद' नामक ग्रंथों का सृजन किया था। 'हित-चरित्र' से ये राधा-वल्लभ-सम्प्रदाय की कृष्ण-भक्त कवयित्री सिद्ध होती हैं। इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

न० प्र० गु०

कनकसिंह

कनकसिंह के जीवन के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती। खोज-रिपोर्ट से इनके एक ग्रन्थ का पता चलता है। वह है–'भागवत दशम-स्कन्ध-भाषा'। इसके आरंभ में लिखा गया है—'अथ पोथी दशमस्कन्ध भाषा कनकसिंह कायस्थ लिख्यते।' इससे विदित होता हैं कि ये कायस्थ जाति के थे। इस ग्रन्थ का लिपिकाल सं० १८८५ दिया गया है। स्पष्ट है कि इसकी रचना इस समय से कुछ वर्ष पूर्व ही हुई होगी। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि कनकसिंह अठारहवीं सदी में विद्यमान थे। 'भागवत-दशम-स्कन्ध-भाषा' की रचनात्मक प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर यह माना जा सकता है कि ये कृष्ण-भक्त थे।

ह० नं० भा०

कन्हड़ स्वामी/हरेकृष्ण स्वामी

कन्हड़ स्वामी और हरेकृष्ण स्वामी श्री राधा-वल्लभजी के अंगसेवी थे। श्री कल्याणपुजारी (इनका चरित अन्यत्र दिया गया है) के बाद इन दोनों ने श्री राधावल्लभलाल की अंग-सेवा अत्यंत प्रेमपूर्वक की। ये लोग मंदिर से कुछ नहीं लेते थे और अपना भोग अलग लगाकर उस प्रसाद को साधु-सन्तों के साथ मिलकर ग्रहण करते थे। जिस प्रकार कल्याणजी संतों का उच्छिष्ट लेते थे उसी प्रकार ये भी लेते थे और सेवा से बचे हुए समय में वाणी-पाठ तथा नाम-स्मरण करते थे।

कन्हड़ स्वामी तथा हरेकृष्ण स्वामी ने अपने इष्ट के प्रसाद के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं का प्रसाद नहीं लिया। इसका कारण पूछने पर ये कहते थे कि "हमने बड़े-बड़े ठाकुरद्वारों में एकादशी और सामान्य दिनों के प्रसाद में भेद करते देखा है। जिन लोगों की प्रसाद पर प्रेम-प्रतीति नहीं है उनके हाथ से प्रसाद लेने में निष्ठा की हानि होती है। यदि उनकी प्रसाद में निष्ठा होती तो दुविधा छोड़कर एकरस रूप से प्रसाद लेते रहते। वे लोग अपने ही प्रभु के प्रसाद में भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार करते रहते हैं। वे अपने इष्ट को स्वयं ही भोग अर्पित करते हैं और फिर स्वयं ही उसमें अन्न-बुद्धि कर लेते हैं। वे लोग निर्गुण वस्तु को गुणमय मानते हैं और इष्ट के प्रसाद का प्रताप नहीं जानते।"

श्री राधावल्लभलाल के ये दोनों अंगसेवी व्यवहार में पूर्ण साधुता का निर्वाह करते थे। जिन लोगों को ये काम-क्रोध के वश में देखते थे उनमें भी प्रभु की सत्ता का अनुभव करके उनका आदर करते रहते थे। ये स्वयं कभी कर्कश वचन नहीं कहते थे और जो कोई इनसे कठोर वचन कहता था उसको शान्तिपूर्वक सहन कर लेते थे।

ल० च० गो०

कन्हैयालाल

कन्हैयालालजी का जन्म इलाहाबाद के पं० शंकरलाल भार्गव के प्रसिद्ध घराने में अगहन सुदी ११ वि० संवत् १९४४ (नवम्बर २६ सन् १८८७ ई०) को हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। उर्दू उस समय विशेष रूप से प्रचलित थी। अतः आपने हिन्दी के साथ उर्दू और अंग्रेजी भी पढ़ी। बड़े होने पर आप व्यापार में लग गए। आप और आपके छोटे भाई पंडित मनोहरलालजी में परस्पर घनिष्ठ प्रेम था। दोनों भाई अलिभावसम्पन्न थे। आपके पिता पं० कालकाप्रसाद की यह हार्दिक इच्छा थी कि मंदिर का पुर्ननिर्माण हो। पहले जो मन्दिर था उसमें जगह कम थी। झूला आदि उत्सवों में कठिनाई होती थी। उसका कुछ भाग कच्चा था। दोनों भाइयों ने पिता की यह इच्छा, उनके स्वर्गवास के कुछ ही महीने बाद एक विशाल मंदिर बनवाकर पूरी की। प्रतिवर्ष श्रावण मास में झूला-उत्सव, जन्माष्टमी, रामनवमी व शरद्-पूर्णिमा पर यह मंदिर पूर्ण रूप से चमक उठता था। हर साल कोई-न-कोई नयी बात इस मन्दिर में दृष्टिगोचर होती थी। आपके दो विवाह हुए—प्रथम पत्नी श्रीमती देवकीदेवी (मृत्यु १४ मई १९२३ ई०) सीतापुर की थीं। दूसरा विवाह मेरठ-निवासी श्री रघुवरदयाल की पुत्री कमलादेवी से हुआ था। कन्हैयालालजी की साहित्य-रचना में भी रुचि थी। आपने ब्रजभाषा में 'कृष्णजू को चरित' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जो अनुपलब्ध है। बीमार रहते हुए भी आप भगवान् का भजन करते रहते थे। राधा-कृष्ण जपते हुए आपकी मृत्यु आश्विन बदी १५ संवत् २०२६ (१० अक्टूबर सन् १९६९ ई०) को रात्रि के सवा दस बजे हुई।

म० गो० भा०

कन्हैयालाल गोस्वामी

श्रीमद्वल्लभ-कुल की गोकुल-गद्दी के चतुर्थ पीठाधीश्वर गो० श्री कन्हैयालालजी महाराज, जहाँ अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के प्रतिपादक एवं सेवानिष्ठ आचार्य थे, वहीं साहित्य, संगीत, काव्य और कला के भी मर्मज्ञ एवं अनुरागी थे। ये स्वयं एक उच्च कोटि के कवि थे और कवियों का सदा आदर किया करते थे। इनका जन्म वि० सं० १९२५ में श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी के शुभ दिन मथुरा में हुआ था। आप गोस्वामी श्री रमणलालजी महाराज के पुत्र थे। जन्म के एक मास के भीतर ही चतुर्थ पीठ की गोस्वामिनी श्री चन्द्रावली माँ आपको अपने साथ गोकुल ले गईं। वहीं उन्होंने आपका नाम कन्हैयालाल रखा। आपने संस्कृत-साहित्य एवं काव्य-अलंकार का अभ्यास आशुकवि पं० नन्दकिशोरजी शास्त्री से किया। प्रभु-कृपा से साहित्य, संगीत एवं कला के प्रति आपकी अत्यन्त अभिरुचि और अनुराग था। आप अपने इष्टदेव श्री गोकुलनाथजी की सेवा में सतत रत रहते थे। इसी कारण आपके यहाँ कवि, संगीतज्ञ और कलाकारों का दरबार लगा रहता था। उनका आप यथोचित सत्कार करते थे। ये स्वयं भी काव्य-रचना करते थे। इनकी एक पुस्तक है, 'नई-नई रंग-बहार' जिसमें विविध विषयों पर ४८ कवित्त संकलित हैं। यह पुस्तक सं० १९५३ वि० (सन् १८९६ ई०) में 'भारत-जीवन-प्रेस', काशी से छपी है। इसमें वंश-वर्णन-सम्बन्धी इनका एक छन्द दिया गया है—

पीत 'पुरुषोत्तम' कल्यानराय केतकी में,
बेला 'ब्रजनाथ' आज लागत छबि भारी हैं।
'रमन' बिलास तामें रमन निवास करें,
वरनी 'बालकृष्ण' जुही जीवन बिहारी हैं॥
'गिरधर' गुलाब गुलतुर्रा में 'गोपाललाल',
मोतिया के मालिक 'मधुसूदन' मुरारी हैं।

ब्रज 'ब्रजपाल' घनस्याम कारे कोइल में,
कमल 'कन्हैयालाल' लेत बलिहारी हैं ॥

आपकी इसी कृति में ग्रीष्म ऋतु के सम्बन्ध में दो सुन्दर कवित्त हैं, जिनमें प्रथम में फूलों के नाम आये हैं तथा दूसरे में पहलवान का रूपक है—

चटक चमेली कौन चित्त में चपल चम्पा,
चतुर बिचार देखि बातन छिपाब की।
बरुनी नरम बेला बाहूतें गरम कहूँ,
भूल मत लैयो ऐसी सेबती बिकाब की ॥
केतकी की नई जुही ढिग ते उठाई गई,
पूछत न रहियो अली मोतिया के भाव की।
गेंदा गुलाब गुलतुर्रा गमन करि,
आज काल गरमिल में गरज गुलाब की ॥

• • •

जेठ करै कसरत रितु ग्रीष्म लँगोट बाँधि,
तपत पदारथ की थमली प्रचण्ड चण्ड।
चैत औ बैसाख दोऊ मुगदर प्रबल हल,
लेजम लपट लूह फिरैं करि खण्ड खण्ड ॥
गोला चले अन्ध को सो पतझर गिरै फेरि,
उठत मच्यौ है आज बैठक पर मण्ड-मण्ड।
पहलवान प्रबल प्रचंड ऐसौ मार्तण्ड,
सूधे डण्ड पबन भभूरे चक्कर के डण्ड ॥

आप जहाँ जाते थे वहाँ कवियों को बुलाकर उनकी कवितायें सुनते थे और उनका सत्कार करते थे। सं० १९५३ में जब आप काशी गये तो वहाँ एक कवि-मण्डल स्थापित किया, जिसमें अवध और बिहारवासी ब्रजभाषा के कवियों का एक सम्मेलन कराना आरम्भ किया। इसमें कवियों द्वारा समस्याओं की पूर्ति होती थी। इन सम्मेलनों की समस्या-पूर्तियाँ कवि-मण्डल के मंत्री बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा सं० १९५३ में पृथक्-पृथक् पुस्तकों में भारतजीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित की गई हैं। इन पुस्तिकाओं में अधोलिखित कवियों की रचनाएँ संकलित हैं—

१. श्री कन्हैयालालजी महाराज, २. बाबू रामकृष्ण वर्मा, सम्पादक, भारतजीवन, ३. बाबू माधवदासजी, काशी, ४. छबीले कवि, बनारस, ५. पं० सुखदेव मिश्र, काशी, ६. पं० केदारनाथजी, काशी, ७. पं० द्विजवेनीजी, काशी, ८. बाबू पत्तनलालजी, पटना, ९. पं० ललितप्रसादजी, कानपुर, १०. कवि रंगजी, बस्ती, ११. बाबू शिवनन्दनसहाय, बाँकीपुर, १२. शिवसम्पत सुजान, जौनपुर, १३. पं० सीतारामजी शर्मा, जौनपुर, १४. कविराज लछिरामजी, अयोध्या, १५. कवि विश्वनाथजी, गया, १६. पं० नत्थूमल मिश्र 'द्विजराज', मन्त्री, कवि समाज, कानपुर, १७. गुलाबदासजी, पटना, १८. वासदेवजी, गया, १९. गिरधारीलालजी गयावाल, २०. बाबू जुगलकिशोर ब्रजराज, गंधौली जिला सीतापुर, २१. कविराव नवलजी, कानौड़, २२. मंगलदास, कसबा पैंतेपुर जिला सीतापुर, २३. ठा० महेश्वर बक्ससिंहजी, तालुकेदार रामपुर, मथुरा, २४. श्री कवि शालिग्रामजी, कोपागंज, २५. द्विज बलदेव नगर, बस्ती, २६. बलदेव कवि, दानापुर, २७. बाबू विहारीसिंहजी, छपरा, २८. पं० भैरोप्रसादजी, उपनाम 'विप्रकवि', कानपुर, २९. पं० गोवर्धननाथ पाठक, उपनाम कवि नग, पटना, ३०. ला० हनुमानप्रसादजी, लखनऊ, ३१. बाबू जानकीप्रसादजी, रंगून, ३२. बाबा सुमेरसिंहजी महन्त, उपनाम 'सुमरेस', पटना इत्यादि।

इस प्रकार गोस्वामीजी महाराज ब्रजभाषा की अमूल्य निधि थे। इनका गोलोकवास सं० १९६८ में गोकुल में हुआ। आपकी रचनाओं का संग्रह श्री कैलाशचन्द्र 'कृष्ण', मथुरा के पास है।

रा० कृ० श०

कन्हैयालाल 'शाल'

पुष्टिमार्गीय भक्तों में कन्हैयालाल 'शाल' का विशिष्ट स्थान है। ये श्री विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। इनका जन्म वि० सं० १५४२ में आगरा में हुआ था। वि० सं० १५५६ में श्रीनाथजी के प्राकट्य के समय इन्होंने पुष्टिमार्ग में प्रवेश किया था। ये जाति के क्षत्रिय थे, लेकिन परम वैष्णव होने के कारण आचार-विचार में बड़े ही कर्मकाण्डी भक्त थे।

इनका वार्ता-साहित्य में कोई उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी एक पद के आधार पर इनका वल्लभ-सम्प्रदायी होना सिद्ध है। ये ठाकुर श्री गिरधरन के परम भक्त थे। इनका एक कीर्तन-पद विद्या-विभाग काँकरौली के हस्तलिखित-संग्रह में सुरक्षित है—

सब दुख मिट गये मुख देखे।
श्री विट्ठल नवरंग मनोहर
सकल जनम अवलेखे।
अति कमनीय सीतल सुगंध
विथकि रह्यो बिन धोखे।
जन कन्हैया गिरधरनि श्री विट्ठल
ताते सहि संतोखे॥

प्रस्तुत पद से स्पष्ट है कि श्री हरि के मुख-दर्शन से कवि के समस्त पाप-ताप सहज ही नष्ट हो गये थे। यह इनकी अनुभूति का अपरोक्ष साक्ष्य है, जिसमें ये अपने भक्ति-भावित सच्चे हृदय से स्पष्ट कहते हैं कि अनेकानेक जन्मों का अनुभव आज प्राप्त हो गया है। वे जन्म निरर्थक थे जो विगत हुए, सार्थक यही जन्म हुआ, जिसमें प्रभु के दर्शन मिले। अत्यन्त कमनीय हैं श्रीनाथजी के दर्शन, जिनमें पलक नीचे गिरने का नाम ही नहीं लेती और जहाँ असंतोष का किंचित् भी लेश नहीं है। सम्प्रदाय के प्रति अनन्य निष्ठा, भक्ति के प्रति अगाध आस्था और श्री गुरु-चरणों में एकान्तिक प्रेम, कन्हैयालाल 'शाल' की अपनी विशेषता थी।

रा० कृ० श०

कपिलनाथ कश्यप

श्री कपिलनाथ कश्यप छत्तीसगढ़ के निवासी आधुनिक कालीन कृष्ण-भक्त कवि हैं। इनके द्वारा विरचित 'कृष्ण-कथा' नामक महाकाव्य मिलता है। यह छत्तीसगढ़ी का प्रसिद्ध कृष्णचरितात्मक प्रबन्ध-काव्य है।

मंगलाचरण तथा 'द्वापरराज' से प्रारंभ इस महाकाव्य में कवि ने अपना मत प्रकट किया है कि कृष्ण-कथा में भक्ति रखनेवाला जन मोक्ष को प्राप्त करेगा तथा इसके विपरीत इस गूढ़ कथा में कलह और पाप की बुद्धि रखनेवाला विषय-वासना में लिप्त रहता हुआ जीवनभर पश्चात्ताप करेगा—

भेद भरे ये चरित कृष्ण के जो नर गाही।
कृष्णचंद के चरण-कमल मा भक्ति पाही॥
राजन गूढ़ कथा मा पाप बुद्धि जे लाही।
बिसय-बासना मा परि वो सब दिन पछताही॥

आराध्य के प्रति दीनता का भाव कवि की अपार श्रद्धा और अगाध भक्ति का प्रतीक है। इनका अभिमत है कि ज्ञानी पंडित आराध्य को सुवासित पुष्प अर्पित करते हैं, जब कि मूढ़ कवि म्लान-मस्तिष्क से उद्भूत भावना के बासी पुष्प का अर्घ्य देता है—

तोर चरन मा ग्यानी पंडित,
अरपन करिन महमई फूल।
अड़हा नाथ चढ़ाये मोहन,
अइलाये ये बासी फूल॥

नीचे उक्त ग्रंथ से कुछ अंश प्रस्तुत हैं—

(१)

माखन-चोरी

माखन नइं खाँवय मँय नई जांवय,
जबरन घर ले जायें।
खायें नइं भावै, तथौ खवावैं,
मिसरी लान मिलायें॥
लुगरी पहिरायें बात बनायें,
काजर आंज गवायें।
ता-ता कहवायें छांछ खवायें,
घुंघरू बाँध नचायें॥

(२)

नाग-लीला

उहाँ कृष्ण दहरा मा फन के ऊपर चघके।
नाचे लागिन तीन लोक के बोझा लेके॥
जो फन ऊपर उठय खूंद झट ओका देवँय।
नाच-नाच के ये फन ले वो फन चल देवँय॥

कूद-कूदकर फन के ऊपर अल्लर कर देइन।
उछरे लागिस लहूँ नाथ बोला झट लेइन॥

(३)

चीर-हरण-लीला

आवा बाहिर अपन-अपन लुगरी ले लेवा।
पाप-पुन्न तन-मन सबला अरपन कर देवा॥
यही करे ले पूजा व्रत पूरा हो जाही।
मोह-तुंहर मा भेद-भाव तब नइं रइ जाही॥

(४)

दान-लीला

मथुरा नगरी जान न देवन
अब गोकुल के दूध-दही।
बिन पेट भर खाये तुमन
जान न पावा बात सही॥
अब ले बेंचा मथुरा जाके
चोरी-चोरी दूध-दही।
भर-भर के जो गाय चरावय
पावँय पीये छांछ मही॥

(५)

गोपी मन सब मगन हो गइन,
मनमोहन ला ठाढ़े देख।
मुरदा मा जस प्रान आ गइस,
देख-देख तिरभंगी-भेख॥
बेरा ऊवत देख सुरुज जस,
कमल-फूल लगथे मुसकाये।
बिना सुरुज के रतिया भर वो,
रइथें फेर निचट अइलाये॥

वि० कु० पा०

कमलकुँवरि (प्रथम)

महारानी कमलकुँवरि के प्रारम्भिक परिचय के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, लेकिन इनके ग्रंथों से पता चलता है कि ये अजयगढ़-नरेश महाराज रणजोरसिंह की धर्मपत्नी थीं। अपने स्फुट पदों और गीतों से ये कृष्ण-भक्त सिद्ध होती हैं। इनके पद और गीतों का संकलन 'संगीत-संग्रह' भाग एक एवं दो तथा 'विनयचन्द्रिका' में है, जो डायमण्ड जुबली प्रेस, अजयगढ़ से प्रकाशित हैं। इनके भक्ति-भावनाभरे दो छन्द यहाँ उद्धृत हैं—

(१)

मन लागो समलिया की बाँकी नजर।
सीस मुकुट कटि लसत काछनी,
छबि छाजत पट पियरो कहर।
मृदु मुसक्यात सुहात अलापत,
कर कोमल धर मुरली अधर।
भूल गयो धन धाम काम जग,
हरष निरख सब दीनो निदर।
निसदिन रहत रूप यह ध्यावत,
छन-छन प्रति रानी कमलकुँवरि॥

(२)

नहिं बिसरत छबि मंद हँसन की।
मुख मुरझान न बतात सखन सों;
लसत कसन कटि पियरे बसन की।
अरुन अधर कछु खुलत होत द्युति
दरसत दाड़िम बीज दसन की।
मुख मंडल कुंडल मकराकृत
करत मंद छबि कोट शशिन की।
कमल कुंवरि जुलफन के फंदा
फाँसी मनो दृग मीन फँसन की।

न० प्र० गु०

कमलकुँवरि 'जुगलप्रिया' (द्वितीय)

महारानी कमलकुँवरि 'जुगलप्रिया' का जन्म सं० १९२८ वि० में टीकमगढ़ में हुआ था। इनके पिता टीकमगढ़-नरेश महाराज प्रतापसिंह जू देव और माता महारानी वृषभानुकुँवरि ने उन्हें बचपन से ही अत्यधिक स्नेह दिया था। माता के राम-भक्त होने से इन्हें आध्यात्मिक वातावरण मिला था, इस कारण बाल्यकाल से ही ये भक्ति की ओर झुकी थीं। पाँच मालाएँ जपने के बाद ही इन्हें अन्य कार्य करने की अनुमति थी। आठ वर्ष की आयु से ही ये एकादशी-व्रत रखने लगी थीं। पुत्री

की ऐसी रुझान देखकर पिता धर्मपत्नी से कहा करते थे कि 'बेटी को अपनी तरह बैरागिनी न बना देना।' तात्पर्य यह है कि अपनी माता से भक्ति के बीज लेकर कमलकुँवरि ने श्वशुर-गृह में पदार्पण किया था।

इनका विवाह छत्रपुर-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह जू देव से हुआ था, किन्तु पति के साथ सांसारिक सम्बन्ध न होने पर इनमें भक्ति के अंकुर फूट पड़े थे। भौतिक सुखों को त्यागकर ये कृष्ण की शरण में आ गईं। प्रसिद्ध साहित्यकार और समाजसेवी वियोगी हरि 'कृष्ण-कृपा-रस-रास-रसिकनी' कमलकुँवरि के साथ वर्षों रहे। उन्होंने लिखा है कि इनमें मीराबाई जैसी विलक्षण प्रतिभा थी तथा इनकी जैसी कठिन साधना उनके देखने में नहीं आई। इन्होंने तीन बार तीर्थयात्रा की थी। इनका मन प्रभु-सेवा में ही रमता था। एक बार ये अपने उपास्य के दर्शन के बजाय अपनी बीमार दासी की सेवा में लीन हो गई थीं। ऐसे कई उदाहरण इनकी भक्ति-भावना की प्रगाढ़ता को पुष्ट करते हैं। रसिक भाव की साधिका होने के कारण रचनाओं में ये अपनी छाप 'जुगलप्रिया' रखती थीं। इनके एक दोहे से ये माध्वमत की अनुयायी सिद्ध होती हैं, पर इन्होंने भक्ति को संप्रदाय के घेरे में नहीं रखा। दोहा इस प्रकार है—

जयति माध्व मत माधुरी, जयति कृष्ण चैतन्य।
जयति सदा हरिबंस हित, व्यास सुरसिक अनन्य॥

इस दोहे में हित हरिवंश और व्यासजी के स्मरण से भी ये कृष्णभक्त ही ठहरती हैं। कृष्ण की भक्ति में लीन इनका मन काव्यमय हो गया था। इन्होंने अनेक भक्तिपरक पदों की रचना की है।

जुगलप्रिया के पदों के संग्रह हैं—'जुगलप्रिया-पदावली' (सम्पादक—वियोगी हरि), 'युगलप्रिया-भजनावली' (हस्तलिखित) एवं 'भजन-संग्रह', तीसरा भाग (संकलनकर्ता–वियोगी हरि)। इसमें केवल ३६ पद हैं। ये पद शास्त्रीय राग-रागिनियों से बँधे हैं। इनके दो पद यहाँ नमूने के रूप में प्रस्तुत हैं—

(१)

प्रीतम रूप दिखाय लुभावै
याते जियरा अति अकुलावै।
सुन लीजै बेदरद मोहना
जिनि अब मोहि सतावै॥
हमरी हाल बुरी या जग में
किन बिरहाग जरावै।
जुगलप्रिया मिलिबो अनमिलिबो,
एकइ भाँत लखावै॥

(२)

सुनिये नाथ गरीबनिवाज।
आई सरन जगत सब त्याज॥
अधम उधारन बिरद संभारन
त्रिभुवन के सिरताज॥
कुंजै द्वार खड़ी कबकी मैं
त्राहि त्राहि महाराज।
करुनाकर अब बोलि लीजिये
करिये बिलम न आज।
जुगलप्रिया को अभय कीजिये,
नहीं कछू बड़ काज॥

न० प्र० गु०

कमलकुँवरि (तृतीय)

रानी कमलकुँवरि हितहरिवंश-सम्प्रदाय की एक प्रतिभासम्पन्न कवयित्री थीं। मीरा की भाँति इन्हें भरी जवानी में पति का वियोग सहन करना पड़ा था। साधु-संतों के प्रति इनकी भक्ति-भावना से खिन्न होकर विवाह के कुछ समय बाद पति ने इनका परित्याग कर दिया था। फलतः इन्होंने राधावल्लभ-संप्रदाय में दीक्षा ले ली। इनके दीक्षागुरु गोस्वामी गिरधारीलालजी थे। गुरुदेव का आश्रय पाकर इन्होंने अपने को आराध्य युगलमूर्ति राधा-कृष्ण के चरणों में पूर्णतया अर्पित कर दिया।

इनका जन्म दतिया (म० प्र०) से तेरह मील दूर उदगवाँ नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम बहादुरसिंह था जो दीवान थे। 'करुणा-चौंतीसी'

नामक ग्रंथ में कमलकुँवरि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

विक्रम के वंश में पमार धारा नगरी के,
शंकर सह प्रकट भये नीति के निधान हैं।
हिन्दूपति सुवन तासु कीरति बिलंद छाई,
धन्य बहादुरसिंह जानियो दीवान हैं॥
राधिका-बिहारी की कृपा से हौं प्रकट भई,
जन्मभूमि उदगवाँ विशाल सुखदान हैं।
कमलकुँवरि नाम मेरो तात मात विदित कियो,
पालो कर प्रेम लखो पुत्र के समान हैं॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि ये अपने माँ-बाप की लाड़ली बेटी थीं। इनका विवाह सरीला (हमीरपुर) रियासत के दीवान अनुरुद्धसिंह के प्रपौत्र के साथ हुआ था जो उस समय सिंहासनासीन थे। अपने पतिदेव के विषय में चर्चा करते हुए ये लिखती हैं—

जन्मी विक्रम वंस में, ब्याही बंस दिनेस।
सहर सरीलै वसत है, अनुरर्धसिंघ नरेस॥
हिन्दूपत वन के सुअन, साँच प्रजाप्रतिपाल।
संभु उपासी जगविदित, खल दुष्टन के साल॥
उनके सुत जाहिर तनय, समझौ तेज दिनेस।
बांचौ उलटौ नाम गुन, जनु दूजौ राकेस॥

सरीला छोटी-सी रियासत थी। संवत् १९४७ वि० (सन् १८९० ई०) के लगभग पति-वियोग के साथ ही कमलकुँवरि को सास-ससुर के भी सहसा स्वर्गवास होने का दारुण दुःख सहन करना पड़ा। सरीला में आज भी राधा-कृष्ण का मंदिर है जिसमें बैठकर कवयित्री अपनी रचनाओं से भगवान् कृष्ण को रिझाती थीं। इनके स्वाक्षरों में लिखो रचनाओं की एक प्रति दतिया राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसकी पुष्पिका से ज्ञात होता है कि ये प्रतिवर्ष कुछ पद लिखकर भगवान् को समर्पित करती थीं—

"बधाई श्रीलालजी महाराज की सुभ संपूरन सुभं मंगलं ददाति॥ कुल बधाई ७० आसौं की बनी मिती भादौं बदी १२ संवत् १९४७ मुकाम रियासत सरीलौ॥ श्रीजी कौ निजमंदिर ॥ दोहा॥

येक सहस नौ सै बरस, सैंतालिस की साऊ।
मंगल दिन आनंद कौ, हरिवासर सुविसाल॥
भादौं कृष्ण बखानियै, पूरन भई निरधार।
कमलकुँअरि प्रभु तुअ सरन, बिकी लली के द्वार॥"

कमलकुँवरि ने आजीवन आराध्ययुगल राधा-कृष्ण की यशकीर्ति का गान किया। इन्होंने बधाइयाँ प्रचुर संख्या में लिखी हैं। इनकी एक छोटी-सी-रचना 'तुलसी चरित' भी है जिसका संपादन एवं प्रकाशन पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने किया था। इसके अतिरिक्त इनकी सभी रचनाएँ अप्रकाशित हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—१. हित स्वामीजी की बधाई, २. लालजी की बधाई, ३. श्रीकृष्ण-वंशावली, ४. श्रीकृष्ण की जन्म-कुण्डली, ५. श्रीराधाजू की जन्म-बधाई, ६. हरिवंश स्वामी की बधाई, ७. प्रियाजी की बधाई, ८. गिरधर-लाल स्वामी की बधाई, ९. करुणा-चौंतीसी, १०. भाड़न की नकल, ११. कवित्त-संग्रह एवं १२. तुलसी-चरित।

कमलकुँवरि ने अधिकतर पदों की रचना की है। इनकी 'करुणा चौंतीसी' कुण्डलिया छंद में है। इसके अतिरिक्त दोहा, सोरठा, चौपाई, कवित्त, सवैया आदि छंद भी इन्होंने लिखे हैं। 'करुणा-चौंतीसी' में इनकी मनःकामना देखने को मिलती है—

बृन्दाबन सौ बन नहीं, नंद ग्राम सौ ग्राम।
बंसीबट सौ बट नहीं, कृष्ण नाम सौ नाम॥
कृष्ण नाम सौ नाम तंत्र लीला हरि गाई।
मेरी हैं आराध राधिका अत सुखदाई॥
कमल कुँअरि धर ध्यान संग कर श्री हरिजन सौ।
नंदग्राम सौ ग्राम नहीं बन बृन्दाबन सौ॥

कमलकुँवरि के बधाई के पद बड़े सरस और मार्मिक हैं। राधिकाजू की बधाई के पदों का गायन आज भी सरीला के मंदिर में सुनने को मिलता है। भक्त-हृदया की अभिलाषा है—

कमलकुँअरि के सदा सहायक कृष्ण राधिका प्यारी।
निज दासिन की दासि कीजिये सेवा चरन तुम्हारी॥

वृन्दावन के वासियों, पशु-पक्षियों तथा प्राकृतिक उपादानों से सम्बद्ध वर्णनों में इनका आवेगमय प्रेम प्रकट होता है और अधिकांश पदों में राधाकृष्ण की भक्ति। ये ओरछा-नरेश वीरसिंहदेव और दतिया के राजा की कृष्ण-भक्ति की प्रशंसा करते हुए स्वयं भी 'वृन्दावन' में बसने की इच्छा व्यक्त करती हैं—

धन धन विरसिंह देव भुआल।
इक्यासी मन कंचन दीनौ चौबिन कौ प्रतिपाल ॥
कृपाराम यक गौर संग लै …………विसाल।
वन-उपवन दरसन कर ब्रज में छोड़ो मायाजाल ॥
जस फैलो देसन में भारी, दतिया के नरपाल।
कमलकुँवरि माँगत वृन्दावन बसबो प्यारी लाल ॥

उ० दु०
न० प्र० गु०

कमलदास

कमलदासजी राजस्थान में एक ब्राह्मण-कुल में पैदा हुए थे। इन्होंने नागाजी के अनुयायी निम्बार्कीय सन्त श्री सन्तदासजी से दीक्षा ग्रहण की थी। ये तेरह वर्ष तक बरसाना में गह्वर-कुण्ड के ऊपर रहे। वहाँ व्रजवासियों से प्राप्त भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करते थे। आज भी बरसाना में गह्वर-कुण्ड पर कमलदास बाबा की कुटिया बताई जाती है। ये साधु का स्त्री से संभाषण भी करना पसन्द नहीं करते थे। विरक्त होकर ये आजीवन भ्रमण करते रहे। देहरादून में बीमार पड़े तो किसी प्रेमी से कहा कि आप शीघ्र ही मुझे वृन्दावन पहुँचा दीजिए। वृन्दावन आकर दो दिन बाद इन्होंने शरीर छोड़ दिया।

प्रे० ना० श्री०

कमलनयन गोस्वामी

आपका परिचय देते हुए चाचा हित वृन्दावनदास ने लिखा है—

कोमल मधुर अलाप सकल संतन सुखदाई।
गिरा प्रेम रस सनी भावना दृग दरसाई ॥
सभा सिरोमनि रसिक प्रीति सबसौं प्रति पारत।
सुजनन उर आनंद देत रसरीति उंचारत ॥
चरन सरन जे अनुसरे, जन ते सब भये प्रबीन।
कमल नैन सुख दैन कौं, प्रगट कियौ आनन्द तन ॥

—रसिक-अनन्य-परचावली ६५

'कमलनयनजी मधुरभाषी एवं सभी संतजनों को सुख देनेवाले थे। उनके द्वारा रचित वाणी प्रेमरस में सनी हुई है एवं उसमें अभिव्यक्त भावना श्रोता के नेत्रों में प्रत्यक्ष होती चलती है। वे रसिक-सभा के शिरोमणि थे। सबके साथ उनका व्यवहार प्रेमपूर्ण रहता था। वे जब रसरीति का कथन करते थे तो विज्ञ रसिकजनों के हृदय आनन्दित हो जाते थे। जिन्होंने उनकी शरण ग्रहण की वे सब प्रेम-पंथ में प्रवीण हो गये। वस्तुतः श्री कमलनयनजी का प्राकट्य ही संसार को सुख देने को हुआ था।'

कमलनयनजी श्री हिताचार्य की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम श्री रासदास था। इनका जन्म सं० १६९२ को आषाढ़ कृष्ण ५ को श्री वृन्दावन में हुआ था। वाणीकार श्री कुंजलाल गोस्वामी इनके कनिष्ठ भ्राता थे। कमलनयन के रचे प्रायः प्रत्येक उत्सव के पद मिलते हैं। इनके द्वारा रचित कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इनके कुछ पद यहाँ दिये जा रहे हैं—

(१)

बसन्त

श्री वृन्दावन पूजन बसंत।
मनोरथ बैठे दंपति लसंत ॥
इत धुजा पताका फरहरैं।
उत कदलि आदि तेहि अनुसरैं ॥
इत कंचन मणि-मुक्ता दुकूल।
उत हेम खचित रवि तनया कूल ॥
इत नाना धुनि सुनि भई भीर।
उत कोकिल पिक तहाँ नदित कीर ॥
इत भाजन कुंकुम धरे पूरि।
उत पराग जुत उड़त धूरि ॥
इत पिचकारी भरत रंग।
उत केसरि बहु सुमन अंग ॥

इत चंदन बंदन गुलाल ।
उत हरषत बन राज पाल ॥
जहाँ अष्टसखी वर सुखद गान ।
जै श्री कमलनयन हितकरत पान ॥

(२)

मलार

देखो माई सुंदर कुंज बनी ।
बैठे नवल नागरी-नागर छवि नहिं जात भनी ॥
दादुर मोर पपीहा बोलत बरसत घन सजनी ।
(जै श्री) कमल नैन हित अलि
सचु पायौ जागे सब रजनी ॥

(३)

बधाई लालजी की

मंगल आज नंद के धाम ।
अखिल लोकपति सुत ह्वै जनम्यौ
हित करि नाम धरायौ श्याम ॥
सुरपुर नरपुर बाजे बाजैं,
व्रज में घर-घर घोष रसाल ।
प्रगट्यौ पुण्य पुरबलौ जसुदा,
गोद खिलावत मोहन लाल ॥
नंद भरे आनंद अति राजत
नृपकुल देखि लजाहीं ।
दानन देत सँभारत नाहिन
फूले मन-मन माहीं ॥
ता पाछैं इकबरनी कपिला
कुलपूज्य विप्रन दीनी ।
बहुत दूध की एक वैस सब
सूधी निपट नवीनी ॥
द्वै लख धौरि द्विजन कौं दीनी
और गनी नहिं जात ।
रूप सुभाव शील गुन दाता
कामधेनु सब गात ॥
द्विज बंदीजन सूत रु चारन
जै जै निगम उचारैं ।
जसुदा सुख मुख देख लाल कौ
मुक्त रतन मणि वारैं ॥
आवत गोपी गोप रंगभीने
हाथन थार सुहाये ।
मनु रतिपति इंदीवर इंदुहिं
करि मनुहारि मिलाये ॥
दधि-घृत-दूध-हरद-मधु-केसर
छिरकत अति सुख पावैं ।
हरसत बरसत पट भूषन अति
आनँद मोद बढ़ावैं ॥
जन्म-कर्म हरि के सुखकारी
गावैं सुनैं सुनी कौं ।
(जै श्री) कमलनैन हित वस वृन्दावन
लाड़ लड़ावै जीवनजी कौं ॥

(४)

बधाई श्री प्रियाजी को

नवल नृपति वृषभानु राय कैं
बाजत आजु बधाई री ।
धुरत निसान करत कौतूहल
कीरति कन्या जाई री ॥
अपने-अपने गृह तैं सुनि-सुनि
कंचन थार सजाई री ।
भूषन बसन विविध भाँतिन के
गोपराज घर आई री ॥
कीरति रहसि-रहसि सुख फूली
आनँद उर न समाई री ।
इच्छा सफल भई मन में की
पूरबले दिन पाई री ॥
जसुदा सुनि आनँद अति बाढ्यौ
मोहन की करौं सगाई री ।
(जै श्री) कमलनयन रसिकन की प्यारी
प्रान जीवन सुखदाई री ॥

ल० च० गो०

कमलानन्द

कमलानन्दजी श्री बलदेव (मथुरा) के रहनेवाले ब्राह्मण थे। इनकी रचना 'सुदामा-चरित' की हस्तलिखित प्रति पं० मनोहरलाल पाठक, गाँव बलदेव, जिला

मथुरा के पास है। ग्रंथ-स्वामी का कहना है कि इस ग्रंथ के रचयिता उनके परबाबा थे, जिनकी मृत्यु के लगभग १००-१५० वर्ष हो गये हैं। इस आधार पर इनका समय १८वीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त इनके जीवन के विषय में और कोई तथ्य नहीं मिलता है।

'सुदामा-चरित' सें कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

(१)

निसि वासर याही गयो तुम जन्म गँवायो।
मन मलीन तन छीन सदा दारिद्र रह छायो॥
दुष की रासि जु भुंजते, बीति गये पन चार।
सुष कबहूँ पायो न पिय, कहत सुदामा नार॥
दीन के बन्धु हरि॥
धन बिन धरम न होय वेद बिन यज्ञ अचारा।
स्वजन कुटुम्ब परिवार बिना धन गति व्यवहारा॥
धन बिन धीरज ना रहे, धीरज बिन सत जाय।
तातै कंथ पधारो हरि पै, कहा रहे सिरनाय॥
दीन के बन्धु हरि॥
अरी नारि दुराचार स्वारथ अपनो करि जानै।
पतिव्रता जो होइ न कबहूँ दरिद्रहि मानै॥
दान-पुन्य कीनो नहीं, अपनो कियो न होय।
बिषै पठायो देषि तुम, काहे मरो तिय रोय॥
दीन के बन्धु हरि॥

(२)

तबै सुदामा चले पैंड दस बाहिर आए।
घरहि कहा लै जाउँ षरच हम कछू न पाए॥
हरि हैं चतुर सुजान परम गुन सील के आगर।
माया दई न मोहि कृपा कीन्ही हरि नागर॥
माया कलह की रासि है, धरै त्रिगुण विपरीत।
जाके जाय चैन नहीं, ताकू यह माया की रीति॥

स० गु०
कृ० च० ला०
वा० सिं०

कमलाबाई

श्रीमती कमलाबाई का जन्म गहोई वैश्य-कुल में झाँसी में हुआ था। अपने पितृगृह में ही इनको श्री राधावल्लभीय अनन्य रसिक धर्म की मंत्र-दीक्षा-उपासना प्राप्त हो गई थी। इनके माता-पिता और सम्पूर्ण परिवार राधावल्लभीय था। कहना न होगा कि कमलाजी को राधावल्लभीय धर्म की निष्ठा उत्तराधिकार में मिली थी। इसलिए इनका अन्य किसी मत से परिचय ही नहीं था। हरिवंश नाम के जप में इनकी प्रगाढ़ निष्ठा और श्री राधावल्लभलालजी महाराज की अष्टयाम-सेवा-भावना के प्रति स्वाभाविक अभिरुचि थी। ये अपने घर में श्रीजी का विग्रह विराजमान करके यथासमय, यथासामर्थ्य बड़ी रुचि और लगन के साथ अष्टयाम-सेवा-परिचर्या तथा भोग-राग में ही निरन्तर मग्न रहती थीं। आप बड़ी गुरु-निष्ठ थीं, अपने गुरुदेव गो० श्री अलबेलीलालजी महाराज की तन-मन और धन से परम श्रद्धा के साथ हर्षपूर्वक सेवा करती रहती थीं। यद्यपि इनके पतिदेव और अन्य परिवारवाले इस सेवा का विरोध करते रहते थे किन्तु कमलाजी इसकी तनिक भी परवाह नहीं करती थीं। इनकी ससुराल कटनी में थी। कटनी में इनके सजातीय शताधिक परिवार निवास करते हैं, किन्तु कमलाजी का उनसे कोई सम्पर्क नहीं रहता था। उनकी अपनी एक सहेली श्री उमाशशि त्रिपाठी हितोपासना की अत्यन्त मर्मज्ञ भक्ता थीं। उन्हींके पास बैठकर आप 'श्री हितवाणी', 'श्रीहित चतुरासी', 'सेवकवाणी' तथा श्रीराधा-सुधानिधि' का पाठ करतीं और समाज गान के पदों का गान करते हुए अपना कालक्षेप करती थीं। राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रायः सभी उत्सवों को मनाने में ये बड़ा उत्साह रखतीं और तन-मन-धन से समर्पणपूर्वक उनको सम्पन्न करती थीं।

कमलाजी का हृदय बड़ा कोमल और दया से भरा हुआ था। श्री हरिवंशजी के पदों की पंक्तियों को सुनते ही इनके नेत्रों से आँसू झड़ने लगते थे। इन्हें वेद-पुराण, ज्ञान-ध्यान, कर्म-धर्म और इतिहास आदि की वार्तायें तनिक भी नहीं सुहाती थीं। ये श्री वृन्दावन-विलासी प्रियाप्रीतम के लीलाओं का गान-श्रवण और श्री हितहरिवंशजी महाराज के लीला-चरित्रों के मनन में

अत्यन्त आनन्द लेती थीं और उन्हींके श्रवण के लिए लालायित रहती थीं। ये घर आये हुए सन्त, अतिथि की अभ्यर्थना उदार भाव से करती थीं। एक बार जब स्वामी श्री हितदासजी महाराज अपनी भक्त-मण्डली के साथ श्री दामोदरदासजी) सेवकजी) महाराज की जन्मभूमि गढ़ा गये तो ये भी वहाँ गईं, वहाँ पर ठाकुर श्रीराधा मुरलीधरजी महाराज के व्याहुले-उत्सव का कार्यक्रम बना जिसमें कमलाजी ने तन-मन-धन से सहयोग दिया। अपनी बहुमुखी सेवाओं के द्वारा इनका दूर-दूर तक यश-विस्तार हो गया था। २३ सितम्बर '८३ को प्रातःकाल श्रीजी की मंगला सेवा करते समय इन्हें पक्षाघात हो गया जिससे इनका वामांग शून्य हो गया। अपनी अस्वस्थता की चिन्ता न कर इन्होंने अपनी प्रिय सहचरी उमाशशि को बुलाकर श्रीवृन्दावन-धाम में श्री राधावल्लभलालजी की सेवा के लिए कुछ द्रव्य पहुँचाने की व्यवस्था कराई, तत्पश्चात् बेसुध हो गईं। १ महीना ३ दिन बेहोश रहने के पश्चात् २६ अक्टूबर '८३ को इन्होंने अपने पांचभौतिक देह का परित्याग कर दिया। आश्चर्य तो यह है कि इस बेहोशी की अवस्था में भी इनके मुख से श्री हरिवंश नाम अनवरत रूप से उच्चरित होता रहा।

श्या० बि० खं०

करतानन्द

श्री चरणदास की शिष्या सहजोबाई के शिष्यों में करतानन्द प्रसिद्ध भक्त थे। 'कार्तिक-महातम' नामक रचना से ज्ञात होता है कि ये सरायनरेला (दिल्ली) वासी ब्राह्मण थे और धारी मिश्र के पुत्र थे—

सराय नरेले की बसै, धारी मिश्र सुजान।
ताके सुत पहचांनियै, करतानंद सु मान॥

इन्होंने अपनी प्रथम रचना 'एकादसी-महातम' वि० संवत् १८३२ में रची थी। उस समय यदि इनकी उम्र ३० वर्ष मान ली जाए तो इनका जन्म वि० संवत् १८०३ के लगभग निर्धारित होता है। इन्होंने फर्रुखाबाद में अपना स्थान बनाया था तथा वहीं से परलोकगमन भी किया। इनकी पाँच रचनाएँ उपलब्ध हैं—(१) एकादसी महातम (रचना-काल वि० सं० १८३२), (२) माघ-महातम (रचना-काल वि० सं० १८४२), (३) कार्त्तिक-महातम, (४) वैसाष-महातम, (५) भूगोल-पुराण। अन्तिम तीन रचनाओं का रचना-काल अज्ञात है। 'कार्त्तिक-महातम' में 'पद्मपुराण' के आधार पर कृष्ण-सत्यभामा-संवाद के माध्यम से कार्त्तिक मास का माहात्म्य बताया गया है—

हे सिष्य तै पूछो अबै सोई करहूँ सुनाय।
जो पूछौ श्रीकृस्न सो सतभामा नै जाय॥

म० गो० भा०

करताराम

करताराम देवरिया जिले के सिधुआ नामक गाँव,के निवासी और पड़रौना के राजा प्रबलराय के आश्रित कवि थे। आश्रयदाता की आज्ञा से इन्होंने दो ग्रंथों की रचना की थी—'दधिलीला' तथा 'शालिहोत्र'। इनमें से प्रथम कृष्ण-चरित-विषयक है। उसकी एक खंडित प्रति मिली है जिसमें ४२ छंद सुरक्षित हैं। उनमें से दो नीचे दिये जाते हैं—

(१)

बेसरि औ झुलनी झमकै
थहराति बुलाक जबै सिर डोलै।
तामहँ मोती ढुरै अधरोपरि
सक्र-महीसुत होत किलोलै॥
दंतन मो तड़िता चमकै जब
भागभरी हँसि भामिनि बोलै।
.... धरता-करता कवि
कान्ह बिना कवन घूंघुट खोलै॥

(२)

एक एक बानन्ह सहस्र बान तानि मार्‌यो,
मोहे पंचबान बैठे अबै निज माथ धुनि।
जगत को लाज छूटो काहू को न मन पीर,
धीर कुल कानि सुनि .... ।
मन मोहे गान मो न तान की तनिक सुधि,
बसन न सँभारे परै चरन जो चहत मुनि।

'करताराम' स्यामजी के सरन समानि सर्व,
बावरी भई है गोपी स्याँवरे की बंसी सुनि ॥

वा० सि०

कृ० चं० ला०

करमसी साँखला

करमसी का जन्म रुणँचा (राजस्थान) के एक साँखला राजपूत परिवार में हुआ था। ये उदयपुर के महाराणा उदयसिंह तथा बीकानेर के राव कल्याणमल के समकालीन थे। करमसी साँखला प्रणीत स्फुट कवित्त, छन्द तथा गीतों से विदित होता है कि ये श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त इनकी वि० सं० १६०० में रची 'किसनजी री वेल' भी उपलब्ध हुई है। इस लघु काव्यकृति में २२ छन्द हैं। इसमें रुक्मिणी के सौन्दर्य का लोक-मोहक वर्णन है।

ज० सिं० परि०

करमैती बाई

जयपुर के अन्तर्गत खण्डेला नामक एक स्थान है। वहाँ शेखावत सरदार राज्य करते थे। पण्डित परशुरामजी खण्डेला राज्य के कुल-पुरोहित थे। करमैती बाई इन्हींकी पुत्री थीं। पूर्वसंस्कारवश लड़कपन से ही इनका मन श्रीश्यामसुन्दर में लगा रहता था। ये निरन्तर श्रीकृष्ण के नाम का जप किया करती थीं। नन्हीं-सी बालिका का सरल भगवत्प्रेम देखकर घर के और आसपास के सभी लोग प्रसन्न होते थे।

जब करमैती की उम्र विवाह के योग्य हो गयी, पिता-माता सुयोग्य वर की खोज करने लगे। परंतु करमैती बाई को विवाह की चर्चा अच्छी नहीं लगती थी। ये इस संसार के परे दिव्य-प्रेम-राज्य के अधीश्वर श्यामसुन्दर को मनसा वरण कर रात-दिन उन्हींका चिंतन करती रहती थीं किन्तु पिता के दवाव के कारण इनका विवाह हो गया। कुछ दिन तो यों ही बीत गये। किन्तु एक दिन ससुरालवाले इन्हें लेने के लिए आ गये। इन्हें पता लगा कि जिस घर में ये ब्याही गयी हैं, वहाँ के लोग भगवद्विमुख हैं। वहाँ अपने आराध्यदेव की सेवा का अवसर नहीं मिलेगा यह सोचकर ये व्याकुल हो गयीं और मन ही मन ईश्वर से उन विषयासक्त प्राणियों से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना करने लगीं।

इधर घर में माता-पिता पुत्री को ससुराल भेजने की तैयारी में लगे थे, उधर करमैती के हृदय में तूफान मचा हुआ था। रात को जब सब लोग थककर सो गये, तब इनके मन में स्फुरणा हुई—विषयों का त्याग ही मेरे लिए श्रेयस्कर है। ऐसा विचार कर अर्धरात्रि को अंधकार और सन्नाटे को चीरती हुई करमैती बाई निर्भय चित्त से घर से निकल पड़ीं।

प्रातःकाल जब पिता को ज्ञात हुआ तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। एक तो पुत्री का स्नेह और दूसरे लोकापवाद का भय। वे दुःखी मन से अपने यजमान राजा के पास गये। राजा ने पुरोहित के दुःख में सहानुभूति प्रकट करते हुए चारों ओर घुड़सवार दौड़ाये। दो घुड़सवार उस रास्ते भी गये, जिस रास्ते से करमैती जा रही थीं। दूर से घोड़ों की टाप सुनायी पड़ी तब करमैती को होश हुआ। उसने सोचा, हो-न-हो ये सवार मेरे ही पीछे आ रहे हैं। परन्तु वह छिपे कहाँ? रेगिस्तान का खुला मैदान था। अन्त में एक बुद्धि उपजी। पास ही एक मरा हुआ ऊँट पड़ा था। सियार-गिद्धों ने उसके पेट को फाड़कर मांस निकाल लिया था। वह एक खोह-सा बन गया था। करमैती बेधड़क उसी सड़े तथा दुर्गन्ध से पूर्ण ऊँट के कंकाल में जा छिपीं। सवारों ने उस ओर ताका ही नहीं। तीव्र दुर्गन्ध के कारण वे वहाँ ठहर ही नहीं सके। ईश्वर की कृपा से भक्त बालिका के लिए वह दुर्गन्ध महान् सुगन्ध के रूप में परिणत हो गयी—

आधी निसि निकसी यों बसी हिए मूरति सों
पूरन सनेह तनु-सुधि बिसराई है।
भोर भये सोर पर्यो पिता-माता सोच कर्यो
करिकै यतन ठौर-ठौर ढुँढ़वाई है।
चारों ओर दौरे नर आये ढिग टरी जानि
ऊँट के करँक मध्य देह जा दुराई है।

जग-दुरगन्ध कोऊ ऐसी बुरी लागी जामें
बहु दुरगन्ध सो सुगन्ध लौं सराही है ॥

—भक्तमाल-टीका प्रियादास कृत

तीन दिन तक करमैतीबाई ऊँट के पेट में पड़ी रहीं। चौथे दिन वहाँ से निकलीं। थोड़ी दूर आगे जाने पर तीर्थयात्रियों का साथ मिल गया। करमैती ने पहले हरद्वार पहुँचकर भागीरथी में स्नान किया, फिर वहाँ से चलकर प्रियतम की लीलाभूमि वृन्दावन में जा पहुँचीं। वृन्दावन पहुँचकर ये मानो आनन्द-सागर में डूब गयीं। वहाँ जंगल में ब्रह्मकुण्ड पर रहने लगीं।

इधर पिता परशुरामजी को जब कहीं पता न लगा तो वे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वृन्दावन पहुँचे। वृन्दावन में भी करमैती का पता कैसे लगता? वह तो अपने प्रियतम के प्रेम में डूबी हुई अकेली जंगल में पड़ी रहती थीं। एक दिन परशुराम ने वृक्ष पर चढ़कर देखा तो ब्रह्मकुण्ड पर एक वैरागिनो दिखायी दी। वे तुरन्त उतरकर वहाँ दौड़े गये। जाकर देखते हैं कि करमैती साधु-वेष में ध्यानमग्ना बैठी हैं।

परशुरामजी पुत्री की यह दशा देखकर हर्ष-शोक में डूब गये। पुत्री की बाहरी अवस्था पर तो शोक था और उसके भगवत्प्रेम पर उन्हें बड़ा हर्ष था।

परशुराम को वहाँ बैठे-बैठे कई घण्टे हो गये। वे पुत्री की प्रेमदशा देख-देखकर बेसुध-से हो गये, पर करमैती नहीं जागी। आखिर परशुराम ने उसे हिलाकर होश कराया और बहुत अनुनय-विनय के साथ घर चलकर भजन करने के लिए कहा। करमैती ने कहा—"पिताजी! यहाँ आकर कौन वापस गया है?"

परशुरामजी वापस घर लौट गये। राजा ने जब यह समाचार सुना तो वे भी करमैती के दर्शन के लिए वृन्दावन को चल दिये। वृन्दावन पहुँचकर उन्होंने करमैती की बड़ी ही प्रेमविभोर अवस्था देखी। उनका मस्तक भक्तिभाव से करमैती के चरणों में स्वतः झुक गया। उन्होंने कुटिया बना देने के लिए बहुत प्रार्थना की। परन्तु करमैती बाई इन्कार करती रहीं। अन्त में राजा के श्रद्धापूर्ण आग्रह पर कुटिया बनाने में करमैती ने कोई बाधा नहीं दी। राजा ने कुटिया बनवा दी। करमैती बाई ने शेष जीवन श्रीधाम वृन्दावन में ही बिताया।

स० गु०

कर्मंठी बाई

कर्मंठी बाई उच्चकोटि की कृष्ण-भक्त थीं। इनकी प्रशंसा में साम्प्रदायिक साहित्य में निम्नलिखित छन्द मिलते हैं—

धन्य पिता धनि मात धन्य मति अबला जन की।
तजी विषै संसार विहार निहारत वन की ॥
हसन बेग इक जमन देखि दुष्टता विचारी।
धरि नाहर कौ रूप त्रास दै नाथ उबारी ॥
श्रीहरिवंश प्रसाद तें वन फिरति भरी अनुराग की।
हरि भजन परायण कर्मंठी फबी निकाई भाग की ॥

—रसिक अनन्य परचावली

कांथरिया बागर बसै, द्विज पुरुषोत्तम नाम।
ताकी बेटी करमठी, श्री हितकृपा-प्रधान ॥
भजन भावना में मगन संतन कौ सनमान ॥
रूपवंत अरु चतुर अति, वन सौं प्रीति विशेष।
क्षुद्रन दोष विचारि कैं धरचौ साधु कौ भेष ॥
नाहर बी देखत भज्यौ, तज्यौ ताहु निज धाम।
हसन बेग कौ भ्रात हौं, म्लेच्छ भलौ ही नाम ॥

—भक्तगाथा

कर्मंठी बाई का चरित्र श्री भगवत मुदितजी कृत 'रसिक अनन्यमाल' में विस्तारपूर्वक दिया हुआ है। उसके अनुसार काँथरिया बागर नामक स्थान में पुरुषोत्तम नामक एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी एक परम सुशीला कन्या थी। दैवगति से वह विवाह होते ही बाल्यावस्था में ही विधवा हो गई। जब वह बारह वर्ष की हुई तो पतिकुल और पितृकुल दोनों ही नष्ट हो गये, केवल बालिका के वृद्ध ताऊ (पिता के बड़े भाई) पं० हरिदास शेष रहे। वे महाप्रभु श्री हिताचार्य के कृपापात्र थे। बालिका ने व्रत और तपश्चर्या को ही अपनी दिनचर्या का प्रधान अंग बना लिया था। इसीलिए सब उसे 'कर्मंठी' कहकर पुकारते थे। व्रतों में

ही अमूल्य जीवन को नष्ट करते देखकर पं० हरिदासजी का हृदय करुणार्द्र हो गया और उस वातावरण में बालिका का अधिक दिन तक रहना उन्हें अहितकर प्रतीत होने लगा। अतः वे उसे साथ लेकर वृन्दावन आ गये और उसे महाप्रभु गो० श्री हित-हरिवंश जू के चरणाश्रित कर दिया।

महाप्रभु के शरणापन्न होते ही कर्मंठी बाई का जीवन बदल गया। ये दुःख और सुख दोनों की उपेक्षा कर दिन-रात गुरु, इष्ट और साधु-सेवा में निमग्न रहने लगीं। ये श्री राधावल्लभलालजी का प्रत्येक उत्सव बड़े उत्साह से करतीं और रसिकों के साथ अपने इष्ट की ललित लीलाओं का समाज-गान किया करती थीं। तपश्चर्या के तप से तपा हुआ इनका कनकाभ्ररूप सुन्दर तो था ही, कैशोर के आगमन ने उसमें चार चाँद लगा दिये।

इनके पड़ोस में एक वणिक् रहता था। वह इनके रूपानल में पतंगे की भाँति जला करता था। उस कामान्ध ने अपनी भोगेच्छा-पूर्त्ति के अनेक उपाय किये, किन्तु असफल रहा। सोचा, अकेली रहती है, अतः रात में चलकर अपनी इच्छा-पूर्त्ति करूँगा। किन्तु 'जाकौ राखे साइयाँ मारि सकै नहिं कोय।' वह अभी कर्मंठीजी की कुटिया से बहुत दूर मार्ग में ही था कि उसे साँप ने काट लिया। सर्प के डँसते ही बनिये ने शोर मचाया—"मुझे सर्प ने डँस लिया है, कोई उपचार करो।" बनिया धनी-मानी सेठ था। अतः उसकी पुकार सुनते ही लोग दौड़ पड़े। अनेकानेक उपचार किये गये, किन्तु वह बच न सका।

एक रात उसने अपने बेटे से स्वप्न में कहा—"मैंने कर्मंठी बाईजी का अपराध किया था। भक्त-द्रोह के कारण नरक में पड़ा असह्य यातनायें भोग रहा हूँ। अमुक स्थान पर मेरा बहुत-सा धन गड़ा है, उसे निकालकर कर्मंठी बाईजी के चरणों में भेंट कर दो और मेरी ओर से प्रार्थना करो कि 'आपका अपराध करने के कारण पिताजी नरक की यातनायें भोगते हुए बहुत दुःख पा रहे हैं। आप उनका अपराध क्षमा कर दें। इस धन को हरि-हरिजन की सेवा में लगाकर उनका उद्धार करें'।"

वणिक्-पुत्र ने स्वप्नादेश का पालन किया। कर्मंठीजी उस बनिये की नरक-यातना की कथा सुनकर उसका अपराध भूल गयीं और दयार्द्र होकर वणिक्-पुत्र को उपदेश देने लगीं—"भैया, प्रभु-भजन के बिना सभी को नरक-यातना भोगनी पड़ती है, तुम हरिगुरु की शरण ग्रहण करो। कुल में एक भक्त भी पैदा हो जाय तो सात पीढ़ियाँ पूर्व की और सात पीढ़ियाँ पश्चात् की तर जाती हैं।"

कर्मंठीजी के उपदेश से वह वणिक्-पुत्र श्रीजी के शरणापन्न हो गया और उस धन को हरि-हरिजन की सेवा में लगा दिया। इस प्रकार कर्मंठीजी ने एक पापी और उसके परिवार को भगवान् के अनुगतों में मिला दिया।

उस समय अकबर बादशाह का धायभाई अजीमबेग मथुरा का शासक था। उसने मथुरा के प्रबन्ध के लिए हसनबेग को नियुक्त कर रखा था। वह एक दिन कार्यवश वृन्दावन आया था। संयोगवश कर्मंठी बाई को जमुना में स्नान करते देख लिया। देखते ही काम के बाणों का शिकार हो गया और कर्मंठी को प्राप्त करने के लिए एक दूती को नियुक्त कर दिया। वह दूती कण्ठी-माला और तिलक धारण करके कर्मंठीजी के पास आने-जाने लगी। वह धीरे-धीरे इनके रहन-सहन और प्रकृति की नकल करके इनका मन आकर्षित करने लगी। थोड़े दिनों में वह कर्मंठीजी की विश्वासपात्र बन गई। दूसरे-तीसरे दिन मथुरा जाकर वह हसनबेग को समाचार देती रहती थी।

एक बार वह मथुरा गई और दो दिन तक वहीं रही। तीसरे दिन उसके वृन्दावन पहुँचने पर कर्मंठीजी ने पूछा, तुम दो दिन तक क्यों नहीं आई? उसने कहाकि "मेरे यहाँ एक रसिक अनन्य साधु आये हैं। उन्हींकी सेवा में लगे रहने के कारण नहीं आ सकी।" कर्मंठीजी ने कहा, "यह तो बड़े भाग्य की बात है। मुझे भी ऐसे रसिक सन्त का दर्शन कराने की कृपा

करो।" दूती ने कहा, "मैं उनकी आज्ञा लेकर ही आपको दर्शन करा सकती हूँ।" इस बहाने से उसने मथुरा जाकर हसनबेग को कर्मठी के मथुरा आने की सूचना दी। एकान्त में दोनों के मिलने का प्रबन्ध किया और कर्मठीजी को लेने वृन्दावन आ पहुँची। उसे भय था कि कहीं बाई का चित्त बदल न जाय, अतः उसने बात बनाते हुए कहा कि "मैंने बड़ी मुश्किल से उन रसिक सन्त को केवल आज के लिए रुकने को तैयार किया है। कल तो वे निश्चय ही चले जायेंगे।" कर्मठीजी ने कहा, "तो फिर 'शुभस्य शीघ्रम्', आज और अभी चलो।" दूती को जैसे तपस्या का फल मिल गया हो। वह बड़ी प्रसन्नता से कर्मठीजी को लेकर मथुरा पहुँची। उन्हें उसी पूर्वनिर्दिष्ट स्थान पर बैठा दिया और यह कहकर कि "सन्त भगवान् को ले आऊँ, फिर आपको उनके पास ले चलूँगी"—कमरे के बाहर निकल गई और बाहर से किवाड़ बन्द कर दिये।

थोड़ी देर में भीतर बैठा हुआ पापाचारी हसनबेग इनके पास आया। उसे देखते ही कर्मठीजी डर के मारे काँप उठीं और नेत्र बन्द कर महाप्रभु का स्मरण करने लगीं। महाप्रभु जैसे पहले से ही उपस्थित हों, वे तत्क्षण ही सिंहिनी के रूप में प्रकट हो गये। दुष्ट ने देखा कि एक सिंहिनी मुझे खाने को तैयार है। वह घबड़ाकर जोर से चिल्लाया—"अरे बचाओ! बचाओ! मुझे सिंहिनी खाना चाहती है।" दूती ने किवाड़ खोलकर देखा कि दुष्ट हसनबेग डर के मारे थर-थर काँप रहा है और कह रहा है कि "भाग-भाग, सिंहिनी मुझे खाने को आ रही है।" किन्तु वहाँ न तो कर्मठी ही थी और न सिंहिनी ही।

सावधान होने पर उसने कर्मठीजी का पता लगवाया तो ज्ञात हुआ कि वह वृन्दावन में अपने इष्ट की सेवा में सानन्द संलग्न हैं। अब उसे ज्ञात हुआ कि अपने जन के रक्षक स्वयं भगवान् होते हैं। वह वृन्दावन आया और कर्मठीजी के चरणों में गिरकर अपने अपराध की क्षमा-याचना करने लगा। उसने बहुत-सा धन भी भेंट किया किन्तु कर्मठीजी ने कहा—"यह धन महा अनर्थ की जड़ है। हमें तो हरि और हरिजन की सेवा ही परम प्रिय है और ये ही हमारे महा धन हैं।" कर्मठीजी के सदुपदेश से उस दुष्ट की मति सुधर गई और वह दानव से मानव बन गया। उसने उस समस्त धन को साधुजनों में वितरित कर दिया।

कर्मठी बाई गोस्वामी हितहरिवंशजी की शिष्या थीं, इस आधार पर इनका उपस्थिति-काल सं० १५९० से १६६० तक स्थिर होता है। इन्होंने अकबर के राज्य-काल में हसनबेग को प्रभावित किया था—इस घटना से भी उक्त तथ्य की परिपुष्टि होती है।

यहाँ पर एक बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। कतिपय भोले भावुकों की धारणा है कि श्री नाभाजी विरचित भक्तमाल की छप्पय संख्या १६० में प्रकीर्तित करमैती बाई और प्रस्तुत चरित्र-नायिका कर्मठी दोनों एक ही हैं, किन्तु वस्तुतः ये दोनों पृथक्-पृथक् ही हैं, क्योंकि करमैती के पिता का नाम परशुराम और कर्मठी के पिता का नाम पुरुषोत्तम था। करमैतीजी ने गौने के समय रात्रि को घर छोड़ा था जब कि कर्मठीजी विधवा होकर ताऊजी पं० श्री हरिदासजी के सहयोग से वृन्दावन आकर गो० श्री हित हरिवंशजी की शिष्या बनी थीं।

चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी ने अपनी 'हरि-प्रताप-बेली' नामक रचना में एक ही छन्द में दोनों का नाम पृथक्-पृथक् देकर भोले भावुकों की भ्रान्ति को दूर कर दिया है—

कुंभन स्वामी छीत मीत हरि सौं बनि आई।
करमैती करमठी गंग जमुनादिक बाई॥
गान रिझायौ श्याम कौं, बन बसि प्रेम बढ़ाइ।
विट्ठल-विपुल विहारिनि, पति कौं दुलरायौ
चित चाइ॥

—हरिप्रताप-बेली
श्या० बि० खं०

कलीराम

कलीराम मथुरा के निवासी माथुर चतुर्वेदी थे। इनका आविर्भाव-काल विक्रम की १८वीं शताब्दी है। खोज में इनकी एक पुस्तक 'सुदामा-चरित्र' प्राप्त हुई है जिसमें इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

चतुर्वेद माथुर विदित, मधुर मधुपुरी धाम।
सुकविन को सेवक सदा, कलीराम कवि नाम॥
चरित सुदामा को रच्यौ, हौं निज मति अनुसार।
भूल-चूक होवै कछू, लीज्यौ सुकवि सुधार॥

'सुदामा-चरित्र' का रचनाकाल सं० १७३१ दिया गया है। इसमें दोहा-कवित्त छन्दों में सुदामा-चरित्र का वर्णन है। कविता सरस एवं भावपूर्ण है—

(१)

आदिहि बिसाल गुन भाखी वेदव्यास मुनि,
जैसी-जैसी भाँति हरि मिले द्विज मीत सों।
दास हू ते दास गुन पास ह्वै कें कलीराम,
सेवा लाल गिरधर की कीनी सुख रीत सों॥
और हू कहाँ लौं कहौं रीझि स्याम साँवरे की,
कियो विप्र आप सरि प्रेम की प्रतीत सों।
तैसे ही सकल बिधि बानी सुधा कवि रस,
पढ़ैं हैं कवित्त तुम सुनो साधु प्रीत सों॥

(२)

भाग को सरद रितु माया के नक्षत्र ह्वै कै,
उनये सकल बिधि बानी सुख क्षेम की।
गरजि-गरजि आयो हरिगुन 'कलीराम'
घटा प्रेम-प्रीत-घन घनी उर नेम की।
बरसन लागे बात बात की रसीली बूँदें,
कोमल अलोम ताइ रसना रस नेम की।
कहबे कूँ बाभनजी सुख कौ सिवाती भयो,
सुनिबे को बांभनी पपीहा भई प्रेम की॥

वा० सिं०
कृ० चं० ला०

कल्याण जोशी

कल्याण जोशी गो० विट्ठलनाथजी के प्रथम पुत्र श्री गिरधरजी के सेवक थे। 'श्रीनाथजी की प्राकट्य-वार्ता' में इनकी चर्चा आयी है। इनके पदों से इनकी काव्य-प्रतिभा का परिचय मिलता है। एक पद द्रष्टव्य है —

जन्माष्टमी की बधाई

देबकी उदधि देबकी सीप
बसुदेव स्वाति जल बरख्यौ हो।
उपज्यौ सुबन बिमल मुक्ताफल
सुनि-सुनि सब जग हरख्यौ हो॥
सुर-नर-मुनि जाको ध्यान धरत हैं
सो ब्रज-जुबतिन निरख्यौ हो।
सोई स्याम उर हार बिराजत
कल्यान श्री गिरधर सरिखौ हो॥

रा० कृ० श०

कल्याणदान

गाउण शाखा के चारण और अपने समय के भक्त कवि कल्याणदान लोक-जीवन में भक्त कलजी गाउण के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। इनका जन्म जयपुर के समीप हरमाड़ा ग्राम में हुआ था। इनका समय विक्रम सं० १८५० से १९३० के मध्य स्थिर होता है।

भक्ति-विषयक स्फुट गीतों के अतिरिक्त 'नाग-दमण' नामक इनका एक खंडकाव्य भी उपलब्ध हुआ है। भुजंगप्रयात छन्द में रचित इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण द्वारा कालिय नाग के गर्वमर्दन की कथा का विशुद्ध डिंगल में चित्रण किया गया है। कलजी गाउण कृत 'नाग-दमण' भक्त-समाज में 'नागदूंण' के रूप में प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त सांया-झूला के 'नाग-दमण' में गुजराती मिश्रित राजस्थानी भाषा का प्रयोग हुआ है जब कि कल्याणदान रचित 'नाग-दमण' की कथा शुद्ध डिंगल में लिखी गई है। उदाहरणस्वरूप इसका एक छन्द प्रस्तुत है—

जदूनाथ चौगान पासै जमन्ना।
रचै फूटरौ ख्याल पेखे रमन्ना॥
हयां नाग नाथ्यां बिना नांही छंडू।
जुडें वंश जादू इसो जंग मंडू॥

ज० सिं० परि०

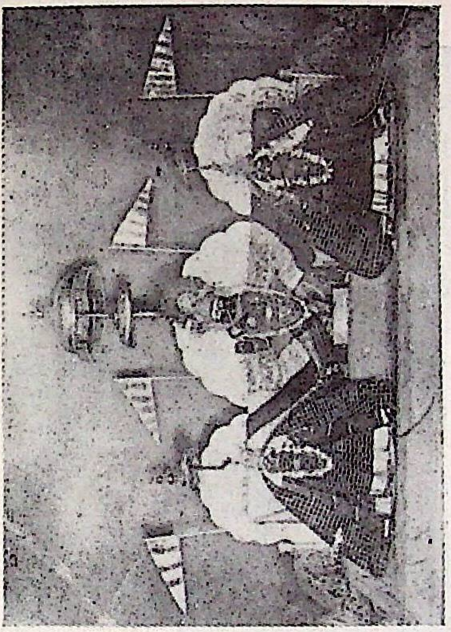

श्री गोपीनाथजी : वृन्दावन

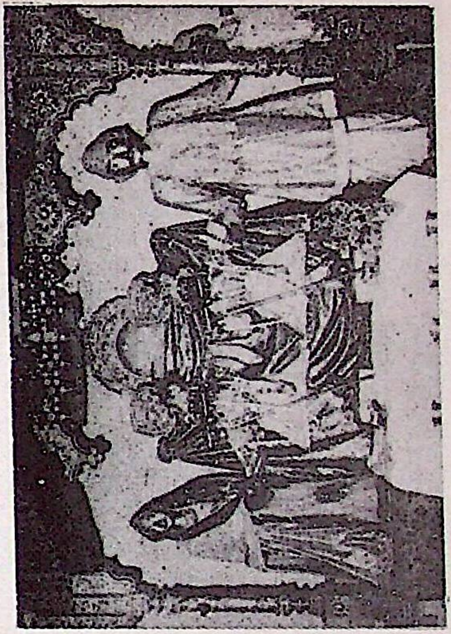

श्री नंदबाबा का मंदिर : नंदगाँव

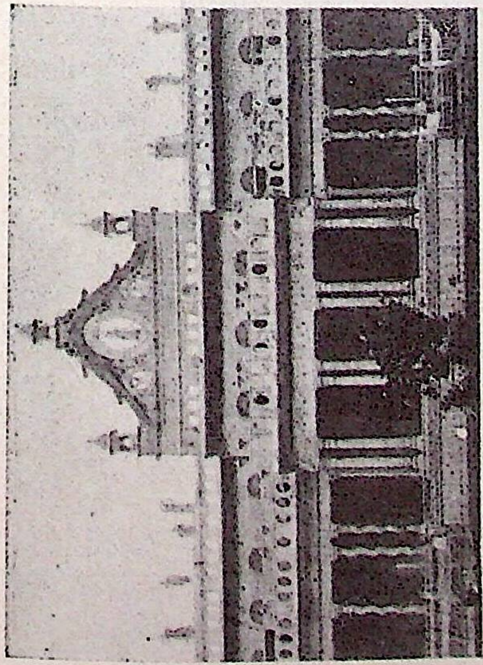

श्री गाहविहारी-मन्दिर : वृन्दावन

श्री गोकुलानन्द जी : वृन्दावन

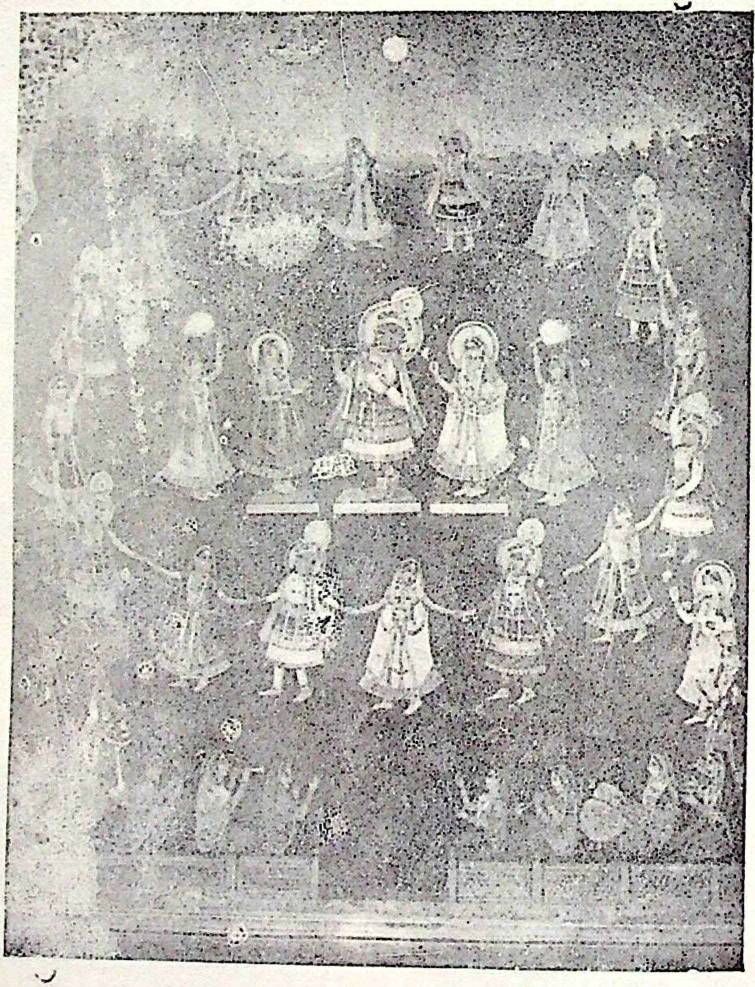

महारास-दर्शन : वंशीवट, वृन्दावन

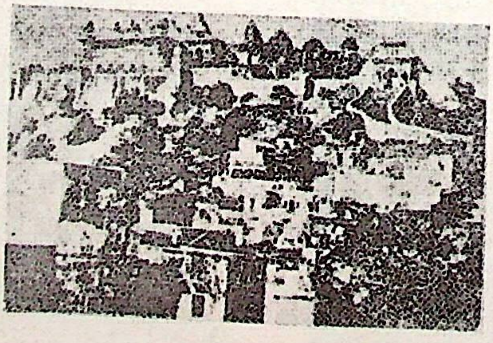

वरसाना का एक विहंगम दृश्य

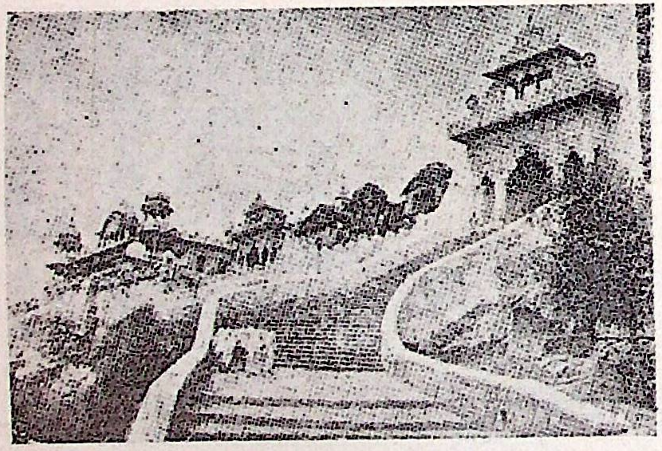

श्री लाड़िली जी का मन्दिर : बरसाना, (श्रीनारायण भट्ट द्वारा स्थापित)

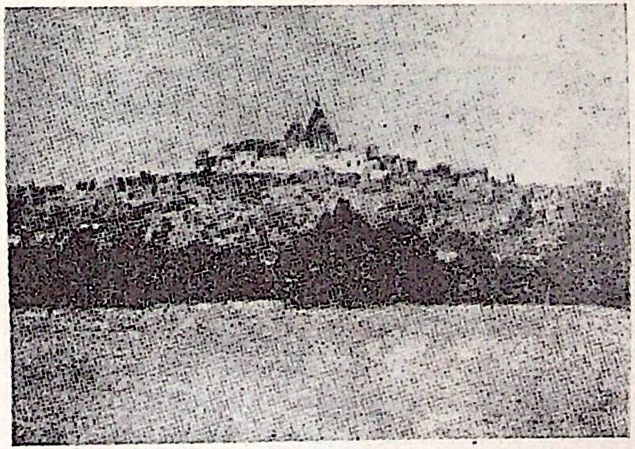

श्री नन्दराय जी का मन्दिर : नन्दगवाँ

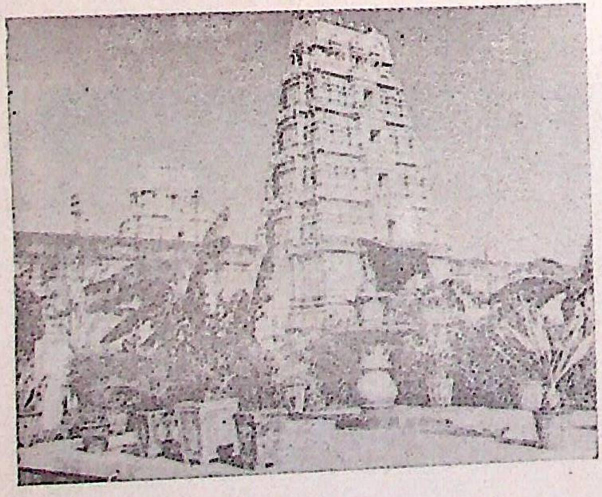

श्रीरंग मन्दिर : वृन्दावन

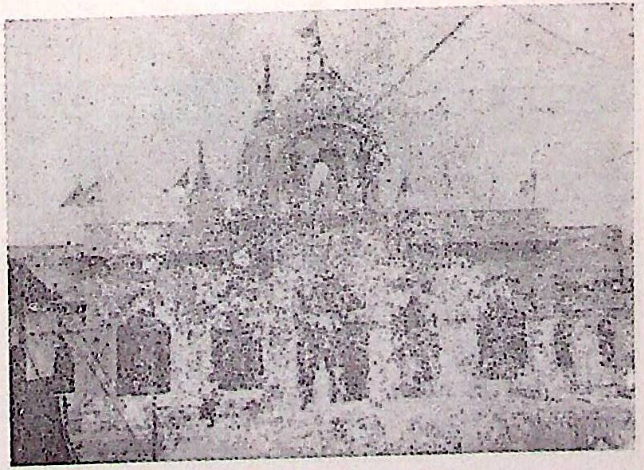

श्रीकृष्ण-बलराम-मन्दिर : रमणरेती, वृन्दावन

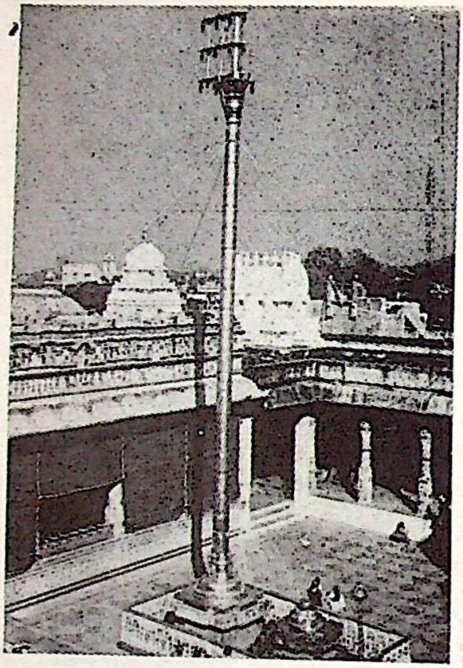

स्वर्णस्तम्भ : श्रीरंग मन्दिर, वृन्दावन

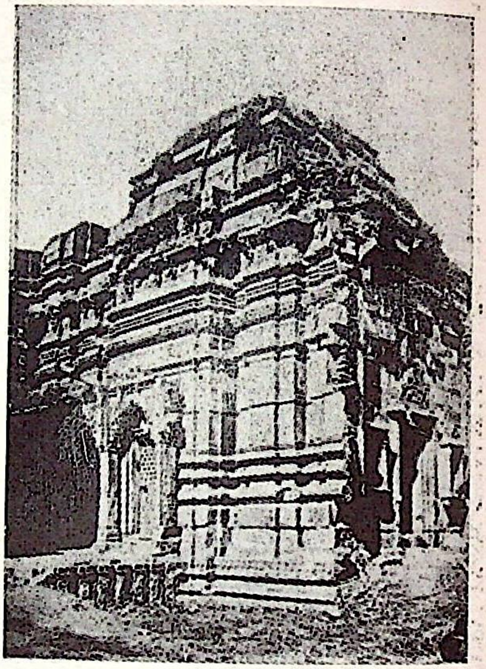

श्री गोपीनाथ मन्दिर : वृन्दावन

स्वामी हरिदास की समाधि : निधिवन, वृन्दावन

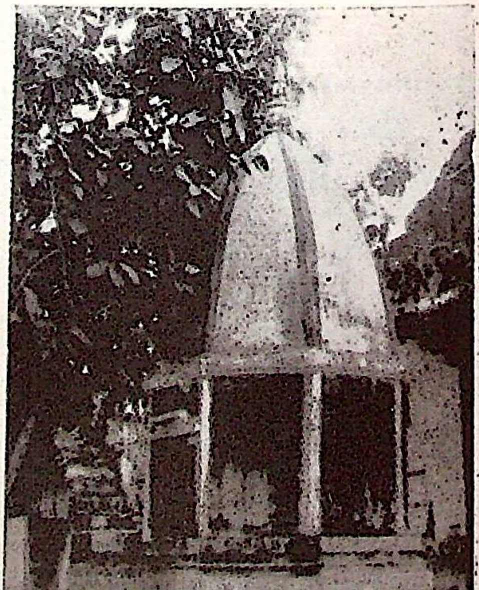

अष्टम पीठाचार्य गो० तुलसीदास (लाल जी) की समाधि : वृन्दावन

कल्याणदास (प्रथम)

कल्याणदासजी ने पाँच वर्ष की अवस्था में ही प्रभास-क्षेत्र में श्री स्वामी जगन्नाथजी महाराज से नैष्ठिक व्रत की दीक्षा ले ली थी। दीक्षोपरान्त आपने साधु-सन्तों की संगति एवं तीर्थाटन किया। अतः इनकी भाषा से जन्मभूमि का पता नहीं चलता। किन्तु अनुमानतः आपकी जन्मभूमि मारवाड़ रही होगी। आप विप्रवंशावतंस थे।

एक बार की वात है कि आप और महंत श्री संकर्षणदासजी नौका से नारायण सरोवर जा रहे थे। अचानक नौका उलट गयी और दोनों ही समुद्र में गिर पड़े, किन्तु प्रभु-कृपा से दोनों ही सकुशल बच गये। इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया था, किन्तु आपकी विशेष रुचि वेदान्तशास्त्र में थी। इन्होंने श्री वृन्दावनवास का संकल्प किया था। यहाँ ज्ञानीजी की बगीची में ही इन्होंने सर्वप्रथम निवास किया। इस बगीची में आपके द्वारा लिखवाये हुए कितने ही ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। साधु-सेवा में आपकी अत्यन्त रुचि थी। इसके अतिरिक्त आपने अनेक अप्रकाशित ग्रन्थों को प्रकाशित करवाया था।

ज्ञानीजी की बगीची में निवास करने के उपरान्त आप पानीघाट पर आ विराजे। यहाँ पर आपने श्री सनत्कुमारदासजी की द्रव्य-सहायता से एक मन्दिर का निर्माण करवाया और उसे ही अपना स्थायी निवास बनाया। आपने प्रायः४०-४५ वर्षों तक श्री वृन्दावनधाम में निवास किया।

अन्त में इस दिव्य विभूति ने ७० वर्ष की आयु में वि० सं० १९९४ की वैशाख शुक्ला १५ को श्री वृन्दावनधाम में हो इहलीला संवरण की। आपके शिष्यों में पं० राधिकादास, बाबा घनश्यामदास एवं राधारमणदास आदि विशिष्ट सन्त-महात्मा हैं। इनके उत्तराधिकारी चतुर्भुजदास हैं।

प्र० ना० श्री०

कल्याणदास (द्वितीय)

कल्याणदास राव जाति के वाघा लखनौत के पुत्र और मेवाड़ में स्थित समेला ग्राम के निवासी थे। अपनी प्रसिद्ध भक्ति-रचना 'गुण-गोविन्द' में इन्होंने अपने पिता और पैतृक ग्राम का उल्लेख करते हुए लिखा है—

बास समेले बाघतणा, लाखणोत कलियाण।
गायो श्री गोविन्द गुण, पाए भगत प्रमाण॥

ये महाराणा प्रतापसिंह के समकालीन और महाराणा राजसिंह के दरबारी थे।

'गुण-गोविन्द' डिंगल भाषा की एक सुन्दर रचना है। विक्रम संवत् १७२५ की लिखी इसकी एक प्रति उदयपुर के सरस्वती-भण्डार में उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का प्रणयन कवि कल्याणदास ने वि० सं० १७०० में किया था—

सतरा सै संवतां बरीष पहिले मैं वखाणं।
मास चेत सुदी दसमी पुष्य रविवार प्रमाणं॥

सरल, सरस और विषयानुकूल भाषा में रचित १९७ छन्दों की इस भक्ति-रचना में भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया गया है। भक्ति एवं साहित्य की दृष्टि से 'गुण-गोविन्द' महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके मंगलाचरण का एक छन्द प्रस्तुत है—

गज आनन गज करन,
दंत गज गजहि सुंडाल।
बदन सुललित कपोल,
चोल चख लोल सुढाल॥
रव रव लंब कदंब,
अम्ब मदमत्त मत्तसरि।
कर मोदक उद्र लम्ब,
करत प्रणाम क्रमा करि॥
गुणदधि गुणनिधि गणपति,
अछर भंडार उधारि कबु।
आरम्भ परम लीला इहव,
सो प्रारम्भ तुव सरण अबु॥

ज० सिं० परि०

कल्याणदास (तृतीय)

श्री कल्याणदास गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पुत्र गोकुलनाथजी के शिष्य थे। विट्ठलनाथजी की मृत्यु सं० १६४२ में हुई। उसके बाद कल्याणदास ने गोकुलनाथजी से वल्लभ-सम्प्रदाय की दीक्षा ली होगी। कल्याणदास का समय सं० १६५० के लगभग होना चाहिए।

आपका एक पद प्रस्तुत है--

सुमिरौं श्री विठलेस कुमार।
अति अगाध अपार भवनिधि भयो चाहो पार ॥
गोकुलेस हृदै बसौ मम माल भाल निहाल।
नव किसोर कल्याण के प्रभु गाऊँ वारम्बार ॥

ह० नं० भा०

कल्याण पुजारी

श्री कल्याण पुजारी बड़े रसिक सन्त थे। इनकी कहनी और रहनी सबसे भिन्न थी। इन्होंने गोस्वामी श्री वनचन्द्र से सं० १६२० में दीक्षा ली थी। गुरुदेव ने इनको श्री राधावल्लभजी की अंग-सेवा में नियुक्त किया था। ये प्रभु को भोग लगाकर अपना प्रसाद सन्तों को खिला देते थे और स्वयं उनका उच्छिष्ट लेते थे। जो सन्त दर्शन के लिये आते थे उनका ये चरणामृत लेते थे। श्री राधावल्लभजी की सेवा में स्पर्शास्पर्श का बहुत विचार रखा जाता है किन्तु ये अपनी रस-मत्तता में इसका निर्वाह नहीं कर पाते थे।

मन्दिर की मर्यादा में विश्वास रखनेवाले अनेक लोग इनके इस कार्य से दुःखी थे। उन्होंने गोस्वामी श्री दामोदरवरजी से पुजारीजी की शिकायत की, किन्तु गुसाँईजी ने उनको यह कहकर टाल दिया कि सम्पूर्ण वैष्णवधर्म भक्त और भगवान् को समान मानता है और यह सिद्धान्त शास्त्रसम्मत भी है। इसलिये पुजारीजी यदि भक्तों का प्रभु के समान आदर करते हैं तो इसमें दोष क्या है? किन्तु जिन लोगों को पुजारीजी का कार्य मर्यादा के विरुद्ध लगता था उनके मन का समाधान इस बात से नहीं हुआ। उन्होंने श्री दामोदरवरजी के दोनों पुत्रों श्री रासदास तथा श्री विलासदास को अपने पक्ष में लेकर पुजारीजी के विरुद्ध खड़ा कर दिया। दोनों पुत्रों ने अपने पिताजी से पुजारी को निकालने का आग्रह करना आरम्भ कर दिया।

कल्याण पुजारी ने विरोध बढ़ता देखकर मन्दिर की ताली श्री दामोदरवर को सौंप दी और स्वयं अत्यन्त दुःखी होकर वन में चले गये। उस दिन सेवा अन्य लोगों ने की किन्तु श्रीजी को उस सेवा में कहीं भी प्रीति नहीं दिखलाई दी। उन्होंने उसी दिन स्वप्न में श्री दामोदरवरजी से कहा कि "हम कल्याण के बिना अत्यन्त दुःखी और भूखे हैं। उसकी जैसी न कोई सेवा कर सकता है और न कोई उतने प्रेम से भोग लगा सकता है। वह हममें और हमारे भक्तों में भेद नहीं मानता। इसमें क्या अपराध करता है? तुम कल्याण को बुलाकर हमारा कष्ट दूर करो।" प्रातःकाल होते ही श्री दामोदरवरजी मंदिर पधारे और सब रसिकों को एकत्रित करके उनको प्रभु की आज्ञा सुना दी। उन्होंने उसी समय कल्याण पुजारी को बुलाकर मंदिर की ताली सौंप दी और उनसे कहा कि तुम जैसा करते आये हो वैसा करते रहो और अपनी निष्ठा न छोड़ो।

पुजारीजी की दूसरी निष्ठा यह थी कि वे अपने इष्ट के दर्शनों के अतिरिक्त अन्य कहीं के दर्शन नहीं करते थे। अनेक लोगों को पुजारीजी की यह बात समझ में नहीं आती थी। उनमें से किसीने इसका कारण जानना चाहा तो पुजारीजी ने बताया कि मैं इसलिये अन्यत्र नहीं जाता हूँ कि दूसरे मंदिर में यदि अपने यहाँ से कुछ विशेषता दिखलाई दे जाय तो अपने प्रति हीनता का भाव आता है। यदि अन्यत्र कुछ कमी दिखलाई देती है तो अपराध लगता है। दोनों प्रकार से मन मैला ही होता है। अतः कहीं गुण-दोष न देखकर सर्वत्र अपने इष्ट का ही दर्शन करना चाहिये। साथ ही यह बात भी है कि जहाँ श्री राधा-चरणों की प्रधानता नहीं है वहाँ विज्ञ रसिकों को सुख नहीं मिलता—

ऐसे निष्ठावान अति, कल्यान पुजारी धीर।
को जाने भगवन्त यह, आसय अति गंभीर॥

पुजारीजी की सम्पूर्ण वाणी का संग्रह वृन्दावन में बाबा तुलसीदास के पास सुरक्षित है। उसमें लगभग २०० कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छन्द हैं। इन्होंने 'कल्याण' और 'कली' छाप से कविता की है। निम्नांकित छन्द इनकी कृष्ण-भक्ति के परिचायक हैं—

(१)

जाके सिर ऊपर श्री व्यासनंद से धनी,
ताहि न परवाह कछू काहू और ठौर की।
चलत सुपथ साधु लक्षन ते साजियत,
बानी मुख कहत रसिक सिरमौर की।
श्रवन सुनत नैन देखत है रूप मन,
ध्यावत सरूप सोभा सिंधु मैं झकोर की।
सदाई 'कल्यान' रस फूले फिरे प्रेमीजन,
गुननु गंभीर धीर मिटी सब रौरकी॥

(२)

देखि री पावस रितु आई।
नाचत मोर कोकिला गावति बाजति प्रेम बधाई॥
स्याम घटा अति सरस नेह निधि
विज्जुलता छबि छाई।
हरषि हरषि बरषत पिउ प्यारी
छतिया 'कली' लगाई॥

ल० च० गो०
बा० सिं०

कल्याणमलजी

साम्प्रदायिक ग्रन्थों में कल्याणमलजी की भक्ति-भावना का परिचय इस प्रकार दिया गया है --

जमन सदन में बन्दि तासु गुरुभ्राता आयौ।
उन रजनी कछु गये नाम हरिवंश जु गायौ॥
सुनत उठ्यौ अकुलाय जाय तब जमन जगायौ।
कुटुंब सहित धन-धाम दैन बंदि ताहि छुड़ायौ॥
श्री जोरीलाल गुरुवर कृपा,
सन्तन सेवा जिहि मति अचल।
गुरुनातें नरवाहन विजै भयौ,
कायथ विदित कल्याणमल॥

—रसिक-अनन्य-परचावली, छप्पय सं० २३१

गुरुनाते नरवाहन समान।
श्री सदानन्द के भृत कल्याण॥
मधुरितु जु खेल रचैं विधिविधान।
मिलि रसिक सजातिनु करैं गान॥

—तृतीय वसन्त प्रबन्ध

कल्याणमलजी का जन्म एक कायस्थ-परिवार में हुआ था। ये देववनवासी गो० गोपीनाथजी के पाँचवें पुत्र श्री सदानन्दजी के परिचारक थे तथा कालान्तर में इन्होंने श्री गो० सदानन्दजी के द्वितीय पुत्र गो० जोरीलालजो से मन्त्र-दीक्षा ले ली थी। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ये देववन-निवासी ही रहे होंगे। कोई आश्चर्य नहीं कि ये देववन-निवासी श्री नाहरमल्लजी के ही वंशजों में से हों।

गो० सदानन्दजी गो० गोपीनाथजी के पाँचवें पुत्र थे—इस आधार पर गो० सदानन्दजी का जन्म सं० १६२५ के आसपास स्थिर होता है। चूंकि कल्याणमलजी श्री सदानन्दजी के भृत्य रहे, उनके शिष्य नहीं हुए—इससे सहज अनुमान किया जा सकता है कि श्री सदानन्दजी के निधन के समय श्री कल्याणमलजी अल्पवयस्क रहे होंगे, अन्यथा उनके ही शिष्य हो जाते। गो० सदानन्दजी का निधन-काल अज्ञात है तथापि उनकी उपस्थिति सम्वत् १७०० तक मानी जा सकती है। अतः यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि सम्वत् १७०० के लगभग कल्याण-मलजी की आयु लगभग १०-१२ वर्ष की रही होगी तथा सम्वत् १७०० के पश्चात् ही ये गो० जोरी-लालजी के शिष्य हुए होंगे। इस प्रकार श्री कल्याण-मल की उपस्थिति सम्वत् १६९० से १८वीं शताब्दी के उत्तर मध्य-काल तक ज्ञात होती है।

कल्याणमलजी तत्कालीन शासक के कोई विशिष्ट अधिकारी थे; साथ ही उस शासक पर इनका कोई विशेष प्रभाव था। यह तथ्य इनके जीवन में

घटित एक घटना से ज्ञात होता है। घटना इस प्रकार है—

'एक दिन कोई व्यक्ति बन्दी बनाकर कारागृह में लाया गया था। रात्रि में जब कि सारा नगर गहरी नींद में सोया हुआ था तब वह बन्दी बड़े आर्त्त स्वर से श्री हरिवंश-श्री हरिवंश—पुकारने लगा। श्री हरिवंश नाम-ध्वनि को सुनते ही कल्याणमलजी को यह पहचानते देर न लगी कि कोई हितधर्मी कारागृह में बन्द है। सजातीय और स्वधर्मी को आपद्-ग्रस्त देखकर उनका हृदय करुणार्द्र हो गया। ये अब एक क्षण भी ठहर न सके और शासक के पास चल दिये। क्रूर शासक गहरी नींद में सो रहा था। इन्होंने जाकर उसे जगाया। ऐसे समय में जगाने पर शासक का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था किन्तु ये उसके पैरों पर गिर गये और कहने लगे—"मेरा अपराध क्षमा करें। आपके कारागृह का एक बन्दी अत्यन्त पीड़ा से चिल्ला रहा है। आप उसे छोड़ दें। मैं उसके बदले में अपना धन, धाम, कुटुम्ब और चाहें तो प्राण भी देने के लिए तैयार हूँ।" इनकी आत्मशक्ति के प्रभाव ने उस क्रूर शासक का हृदय बदल गया और उसने उक्त वन्दी को तत्काल मुक्त करने के लिए कह दिया। कल्याणमलजी उस बन्दी को मुक्त कराकर अपने घर ले आये और उसकी सानुराग सेवा-शुश्रूषा की। इस प्रकार श्री हित हरिवंश चन्द्र पदाश्रित श्री नरवाहनजी के जीवन में घटित घटना को पुनः अपने जीवन में घटित कराकर कल्याणमलजी ने हित-धर्मी-सेवा का एक अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया।

आजीवन श्री हित चरणानुरागी सन्तों की सेवा करते हुए श्री कल्याणमलजी अपनी लोक-लीला संवरण कर कब नित्य-निकुन्ज-वासी हो गये, यह अज्ञात है।

श्या० वि० खं०

कल्याणराय

कल्याणराय गोस्वामी चन्द्रगोपाल के वंशज थे तथा ब्रह्मगोपाल (छोटे) के सुपुत्र थे। इनका जन्म वि० सं० १८३० माना जाता है। पिता के समान ये भी काव्यकला-मर्मज्ञ तथा सजग साहित्यकार थे। इन्होंने 'संकल्प-कल्पद्रुम' तथा 'ब्रजमाधुरी' नामक दो सरस ब्रजभाषा-काव्य-ग्रन्थों की रचना की। इन्होंने कल्याण या कल्याणदास की छाप से कविताएँ की हैं। कवित्त तथा सवैया, दोहा-शैली में ये अच्छी रचना करते थे। इनका देहावसान-काल अनुमानतः वि० सं० १८९० ज्ञात होता है। इनके कतिपय छन्द उदाहरणार्थ नीचे दिए जाते हैं—

(कवित्त)

प्रात रविजात हृद्गात सुखबात सखि,
राधिका प्रानधन चित्त में बसाऊँ।
भोर की चन्द्रिका सीसफूल झूल रहे,
मंगला आरती के समय आऊँ॥
कुंज की केलि सुनि-पेखि नित चाव भरी,
सकल सखीन संग रंग सों गाऊँ।
'दास कल्यान' कौ ध्यान धर बास ब्रज,
रसिक निधि राधिका-माधौ लड़ाऊँ॥

(सवैया)

पृथ्वी तौ घीय कपास आ' धूप,
लियौ जल लोटि सो बारत बारी।
तेज प्रकास जो बाती सों होय,
औ' वायु ढुरावत चौंर सुखारी॥
सब्द जो घंटा औ' झालर कौ,
जहँ भेंट अकास की सब्द की द्वारी।
'दास कल्यान' जिही उपलक्ष है,
आरति पाँच प्रकार उचारी॥

न० च० बं०

कल्याणराय गोस्वामी

कल्याणराय गोस्वामी विट्ठलनाथजी के द्वितीय पुत्र गोविन्दरायजी के पुत्र थे। प्रायः कल्याणदास से इनको भ्रांति कर दी जाती है। आप प्रसिद्ध गोस्वामी हरिरायजी (सं० १६४७—१७७२) के पिता थे। आपका जन्मकाल सं० १६२५ के समीप होना चाहिए। ये उच्चकोटि के कृष्ण-भक्त थे।

ह० नं० भा०

कल्याणी बाई

कल्याणी बाई के सम्बन्ध में 'वसन्त प्रबन्ध' तथा 'श्री हितध्रुववाणी' में दो-दो पंक्तियाँ मिलती हैं। उन्हें यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

बाई कल्याणी हिये नेह।
नित इष्ट लड़ावैं भरी तेह॥
रसिकन समाज साजे सुगेह।
रंग बरसें जैसे भादों मेह॥

—वसन्त प्रबन्ध २–३६

नवल-कल्याणी सखिन की,
मन हो अति अनुराग।
लाल लड़ैती कुँवरि को,
गायौ भाग सुहाग॥

– श्री हितध्रुववाणी

प्राप्त साक्ष्य के आधार पर इतना ही ज्ञात होता है कि ये गो० हित हरिवंश महाप्रभु के पश्चात् आचार्य-गादी को सुशोभित करनेवाले गो० वनचन्द्रजी की शिष्या थीं। समर्थ महापुरुष की कृपा का मधुर फल इन्हें इष्टलाभ के रूप में प्राप्त हुआ था। इन्होंने अपने घर में श्री राधावल्लभलालजी की सेवा पधरा रखी थी और उनका बड़े उत्साह के साथ नवीन-नवीन भावों द्वारा सानुराग लाड़ लड़ाया करती थीं। श्रीजी की मंगला, स्नान, शृंगार, राजभोग, उत्थापन, सन्ध्या और सैन-ये सम्पूर्ण सेवायें ऋतु अनुसार और विविध राग-रंग के साथ किया करती थीं। झूलन, शरद, फागोत्सव आदि में तो इनके उत्साह और अनुराग में उफान आ जाता था। ये रसिकों को आमंत्रित करके उन्हें सब प्रकार से सम्मानित करती थीं। जब ये समाज-गान में लाड़िली-लाल के सुहाग-भाग का गान करती थीं तब तो ऐसा लगता था मानों आनन्द की झरी ही लग रही हो। इनके सुकण्ठ की मधुरिमा-मिश्रित आनन्द-निर्झरिणी में रसिक-समाज आकण्ठ मग्न हो जाता था। गोस्वामी वनचन्द्रजी के शिष्यत्व के आधार पर तथा ध्रुवदासजी के वर्णनानुसार ऐसा ज्ञात होता है कि ये सत्रहवीं शती के अन्तिम चरण में विद्यमान रही होंगी।

श्या० वि० खं०

कविराज अनीराय

कविराज अनीराय अकबरी दरबार के इने-गिने कवियों में कहे जा सकते हैं। ये ब्रह्मभट्ट थे। इनके पिता का नाम अज्ञात है। किंवदन्तियों से इतना पता अवश्य चलता है कि ये दो भाई थे। बड़े भाई का नाम दिल्लराय था। इनके पूर्वज शताब्दियों पहले राजपूताने की ओर से आकर अयोध्या में बस गये थे। वशिष्ठ-कुण्ड के पास इनके मकान के खँडहर अब तक मौजूद हैं। यह भूमि इनके वंशजों के अयोध्या से चले जाने के कारण अब 'नजूल' में आ गयी है। अनीराय के वंश के लोग इस समय गोंडा जिले के दक्षिणी भाग में नवाबगंज के पास 'भटपुरवा' नामक गाँव में रहते हैं। यह स्थान अयोध्या से उत्तर-पश्चिम के कोने पर लगभग बारह किलोमीटर की दूरी पर है।

अनीराय के बड़े भाई दिल्लराय आरम्भ से ही एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। अयोध्या के आसपास किसी गुणग्राही आश्रयदाता को न पाकर उन्होंने काव्य-प्रेमी बादशाह अकबर की शरण लेना ही श्रेयस्कर समझा। वे अयोध्या से दिल्ली चले गये। बादशाह ने उनकी रचना से प्रभावित होकर उनको अपने दरबार के प्रमुख कवियों में स्थान दिया और आज्ञा दी कि दरबार बरखास्त होने के पहले वे पाँच कवित्त नित्य सुनाया करें। यह क्रम कुछ दिनों तक चलता रहा। एक दिन दिल्लराय के प्रथम कवित्त के अन्तिम चरण की पदपूर्ति इस प्रकार हो रही थी—

'दिल्ल' वरंगन बर बरैं।

काव्य-निपुण अकबर ने उन्हें वहीं रोक दिया और बताया कि यह छन्द दोषयुक्त है। अनिष्ट अर्थ की ओर संकेत करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया कि इससे उनके अभीप्सित अर्थ के अतिरिक्त यह ध्वनि भी निकलती है कि दिल्लराय स्त्री के साथ जल जायँ।

दिल्लराय ने अपनी असावधानी पर दुःख प्रकट किया। दोषपूर्ण काव्य के भीषण परिणाम से चिन्तित होकर वे दरबार से घर चले गये।

कहा जाता है कि इस घटना के बाद दूसरे ही दिन बहराइच के सूबेदार फरीदखाँ का लिखा हुआ बादशाह को एक पत्र मिला, जिसमें सूबेदार ने इकौना के राजा महासिंह के उच्छृङ्खल आचरण की शिकायत की थी और उसको दण्ड देने में अपने को असमर्थ पाकर बादशाह से 'कुमक' भेजने की प्रार्थना की थी। बहराइच जिले के गजेटियर से प्रकट होता है कि उस जिले में अकबर का शासन पूर्ण रूप से नहीं जम पाया था। इससे स्थानीय राजे कभी-कभी केन्द्रीय शासन के विरुद्ध स्वतन्त्रता की घोषणा कर दिया करते थे।

दिल्लराय लब्धप्रतिष्ठ कवि ही नहीं, एक रण-कुशल सेनापति भी थे और उसी भू-भाग के रहनेवाले थे जिसको अकबर अपने अधिकार में करना चाहता था। अतएव इकौना के विद्रोही राजा को दण्ड देने का भार बादशाह ने उन्हींको सौंपा। एक विशाल सेना लेकर दिल्लराय ने बहराइच की ओर प्रस्थान किया। इधर महासिंह को भी शाही कुमक के आने का पता लग गया था। उसने भी पूरी तौर से किलेबन्दी कर ली। मुगल सेना ने पहुँचते ही किले का घेरा डाल दिया। यह घेरा कई महीने तक पड़ा रहा। अन्त में खाद्य-सामग्री के चुक जाने पर राजा को विवश होकर फाटक खोलकर शाही सेना का खुले मैदान में सामना करना पड़ा।

इसी अवसर पर फरीदखाँ का हाथी पागल हो गया। उसने सूबेदार की कलँगी उतार ली और उनको सूँड़ में लपेटकर पटकने की चेष्टा करने लगा। सारी सेना में खलबली मच गयी। यह भीषण परिस्थिति देखकर दिल्लराय, जो निकट ही सेना का संचालन कर रहे थे, तत्काल वहाँ पहुँच गये और अपने घोड़े को उछालकर हाथी के मस्तक पर बर्छा मारा। हाथी ने चिग्घाड़कर फरीदखाँ को तो छोड़ दिया परन्तु दिल्लराय के घोड़े को लपेट में लेकर मार डाला। दिल्लराय को भी घातक चोट लगी। अन्ततः मुगलों की विशाल सेना के सामने राजा के थोड़े-से और भूखे सिपाही अधिक देर तक ठहर न सके। मुगल सेना विजयिनी हुई। दिल्लराय रणक्षेत्र से उठाकर डेरे पर लाये गये। उनकी आज्ञा से उसी समय अनीराय को बुलाने के लिए एक सवार अयोध्या भेजा गया। किन्तु अनीराय तीसरे दिन जब अपनी भावज को साथ लेकर इकौना पहुँचे तब दिल्लराय का देहान्त हो चुका था। दिल्लराय की स्त्री पति के शव के साथ अयोध्या में गोलाघाट पर सती हो गयी। इस प्रकार 'दिल्ल वरंगन बर बरैं' शाप-रूप में चरितार्थ हुआ।

इकौना के राजा को पराजित करके जब मुगल सेना दिल्ली लौटने लगी तब अनीराय भी उसके साथ गये। दिल्लराय की अमूल्य सेवा तथा स्वामिभक्ति से प्रसन्न होकर अकबर ने उनके भाई को वही पद दे दिया। अनीराय दरबार में रहने लगे। अभी इन्हें आये कुछ ही दिन हुए थे कि सम्राट् अकबर का देहान्त हो गया, किन्तु जहाँगीर ने उनको उसी पद पर प्रतिष्ठित रखा। धीरे-धीरे अनीराय अपनी प्रतिभा और कार्य-कुशलता से बादशाह के कृपापात्र बन गये। कहते हैं कि वे नित्य जहाँगीर के सामने दरबार में खड़े होकर वीररस की कविताएँ सुनाया करते थे। दरबार के कुछ लोग अनीराय का मान बढ़ता हुआ देखकर उनसे ईर्ष्या करने लगे और उन्होंने बादशाह से शिकायत की कि यह हिन्दू कवि आपके सामने खड़ा होकर जब जोर-जोर से कवित्त पढ़ने लगता है तब उसके मुँह से थूक उड़कर आपके तख्त तक पहुँच जाती है जिससे वह अपवित्र हो जाता है।

बादशाह ने तो इस पर अधिक ध्यान न दिया, परन्तु जब अनीराय को इसका पता लगा तब वे दरबार में जाकर पीछे बैठने लगे। एक दिन जब जहाँगीर ने उनको बुलाकर इसका कारण पूछा, तब उन्होंने निम्नांकित व्यंग्यपूर्ण दोहा पढ़ा—

स्वान समीपै रहत हैं, गजे रहतहैं दूरि।
'अनी' आदरो चाहिए, का नियरे का दूरि॥

कहा जाता है कि इस पर जहाँगीर बहुत प्रसन्न हुआ और अनीराय को बहुत-सा धन देकर पुरस्कृत किया। इसके बाद ये पूर्ववत् बादशाह के समीप ही बैठने लगे।

उधर परिस्थिति से लाभ उठाकर महासिंह ने फिर एक बड़ी सेना एकत्र की और अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। फरीदखाँ के सामने फिर वही समस्या आयी। बादशाह से सहायता की प्रार्थना की गयी। जहाँगीर ने अनीराय के सेनापतित्व में एक विशाल मुगल सेना महासिंह को दण्ड देने के लिए भेजी। पहले की तरह इस बार भी इकौना के किले को मुगलों ने घेर लिया। घेरा कई महीने तक चलता रहा, परन्तु विजय के लक्षण नहीं दिखायी देते थे। फरीदखाँ ने एक दिन अनीराय से कहा—"यदि यह सत्य है कि कवियों की जिह्वा पर सरस्वती का वास रहता है जैसा कि आप कहा करते हैं तो यह बताइये कि किला कब तक टूटेगा ?" अनीराय ने उत्तर दिया, "यह प्रश्न जब मैं कल पूजा करने के लिए बैठूँ तब कीजियेगा।" दूसरे दिन फरीदखाँ के पूछने पर इन्होंने कहा—

'अनी' अकासबानी कहै, होत भोर गढ़ टुट्टिये।

दूसरे दिन प्रातःकाल बारूद के एक ही धड़ाके में सुरंगें उड़ गयीं और किला टूट गया। मुगल सेना टिड्डीदल की तरह किले के भीतर घुस गयी। महासिंह को इसके रहस्य का पता न चला। मुगल काल के सभी इतिहास इस घटना के सम्बन्ध में मौन हैं।

महासिंह के विजित हो जाने पर अनीराय फिर दरबार में आ गये और पहले से भी अधिक सम्मान-सत्कार के साथ रहने लगे। राज-सेवा करते-करते जब इनकी आयु अधिक हो गयी, तब इन्होंने एक दिन समय पाकर जहाँगीर से अवकाश-ग्रहण की प्रार्थना की और जीवन के अन्तिम दिनों में अपनी जन्मभूमि अयोध्या में रहने की इच्छा प्रकट की। जहाँगीर ने प्रसन्न होकर उनसे कुछ माँगने को कहा। अनीरायने इस पर एक कवित्त पढ़ा, जिसका अन्तिम चरण यह था—

कहै अनीराय सुनो जहाँगीर बादसाह,
अवध नगरी के निकट थोरी भूमि दीजिये।

बादशाह ने तुरन्त अवध के सूबेदार के नाम फ़र्मान लिखवा दिया। इनके सम्बन्ध में एक दोहा प्रसिद्ध है—

मुसलमान को सुअर है, हिन्दुवान को गाय।
भुम्मि बकसी जहँगीर की, पाजी होय सो खाय॥

फ़रमान जारी करने का काम उस समय सूरतसिंह करते थे। वे अनीराय से कुछ इनाम चाहते थे। अतएव कई दिनों तक बराबर टालमटोल करते रहे। उनके इस अशिष्ट व्यवहार से रुष्ट होकर अनीराय एक दिन प्रातःकाल ही उनके घर पहुँच गये और आवेश में आकर यह छन्द पढ़ा—

गुनिन के गुन सुनि सुनि कै अनसुनो करै,
जग में तासु कीरति अकीरति कहाय री।

आजु आओ, कालिह आओ सुबू अरु साम आओ,
कहाँ तक दिया करौं भारे कैसो भाँवरी।

निपट कुचेत हौ कि दावे काहू प्रेत हौ,
कि टोनन अचेत हौ, भई मति बावरी।

सेवा किये मूरति पसीजति है पाथर की,
येती बड़ी सूरति पसीजति न रावरी॥

फिर तो सूरतसिंह बहुत ही लज्जित हुए। उन्होंने तुरन्त फ़र्मान तैयार कर के मुहर लगा दी और अनेक प्रकार से क्षमा-प्रार्थना कर अनीराय को बिदा किया। परन्तु अनीराय का क्रोध ठण्डा नहीं हुआ। फ़र्मान लेकर जब ये अपने डेरे की ओर चले तब इन्होंने दूर से ही देखा कि उनका सईस बैठा हुआ तम्बाकू पी रहा है। सईस ने उनको आते हुए देखा तो दम साधकर चुपचाप लेट गया। जब दो-तीन बार आवाज देने पर भी वह न बोला तब उसको शाप देते हुए अनीराय ने कहा—

"न सूते अमाल कमाल किया,
अब सूते नमाल तुम सूते ही पड़े रहौ ॥"

कहते हैं कि इसके पश्चात् वह सदा के लिए वहीं सोता रह गया।

अनीराय के फ़र्मान पाने का पता किसी तरह रूपसिंह को, जो उस समय एक हजार रुपये मालगुज़ारी न देने के अभियोग में दिल्ली में बन्दी थे, लग गया और उन्हें यह भी मालूम हो गया कि कविराज अयोध्या जा रहे हैं। अतएव किले के नीचे होकर जब अनीराय अपने अनुचरों के साथ निकले तब ऊपर खिड़की में खड़े होकर रूपसिंह ने बड़ी दीनता से अपनी सारी कथा कह सुनायी और यह भी कहा कि यदि वे उन्हें कैद से मुक्ति दिलादें तो वे अपने इलाके में से अयोध्या के निकट ही उनको फ़र्मान के अनुसार भूमि दे देंगे। अनीराय उनकी दशा पर दया करके बादशाह के पास गये और सारी कथा कह सुनायी। जहाँगीर ने रूपसिंह की बाकी मालगुज़ारी माफ करके उनको 'बख्श' दिया। रूपसिंह को साथ लेकर अनीराय अपने सेवकों सहित अयोध्या की ओर चले। अपने गाँव (वर्तमान) रूपीपुर पहुँचकर रूपसिंह ने अनीराय को सोलह सौ बीघे का एक 'चक' दिया जो आगे चलकर भटपुरवा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके लिए अनीराय ने अवध के सूबेदार से स्वीकृति भी ले ली। अनीराय के वंशज अब तक उसी गाँव में रहते हैं। उनकी वंशावली इस प्रकार है—

अनीराय, विहारीदास, सेवकराम, बालचन्द, खेमानन्द, मुरलीधर, वंशीधर, बाँकेराय, बाबूराम, (हनुमान प्रसाद) कुंजबिहारी, भगवान दत्त, औधबिहारी, सरजूप्रसाद, रामसुख।

इनमें से बाबूराम को वर्तमान सरकार की ओर से जो सनद मिली है उससे सिद्ध होता है कि इनके पूर्वजों को किसी समय शाही माफी मिली थी।

अनीराय के वंश में काव्य-परम्परा अब तक अबाध गति से चली आ रही है। भाषा और संस्कृत के साथ-ही-साथ फ़ारसी के भी विद्वान् इस वंश में होते आये हैं। कविराज भगवानदत्त गुलिस्ताँ और बोस्ताँ के शेर बड़े प्रेम के साथ वृद्धावस्थामें भी पढ़ा करते थे। उनके बाबा बाँकेराय बड़ी सुन्दर रचना करते थे। उसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

मुसकाय करैं बतियाँ तुतरी,
दँतियाँ द्वै बिराजि रहीं रघुराई।
लच्छन भर्थ भुआल जू खेलत,
आँगन में मिलि चारिहुँ भाई ॥
'बाँके' लखि बानी बिचार कियौ,
छबि की उपमा तिहुँ लोक न पाई।
सो दसरत्थ के जन्म लियौ,
हँसि गोद खिलावति कौसिला माई ॥

अनीराय और तुलसीदास—अनीराय के वंशजों का यह कथन है कि गोस्वामीजी अनीराय के मित्र थे। उन्होंने एक लोटा और गैंडे की सींग का अरघा (अर्घ्य) अनीराय को उपहार के रूप में दिया था। अनीराय के वंश के लोग उसी लोटे तथा अर्घ्यपात्र से प्रातःकाल नित्य सूर्य-तर्पण किया करते थे। लगभग सत्तर वर्ष हुए, उनके घर में आग लग गयी थी। उनमें दोनों वस्तुएँ जल गयीं। कविराज भगवानदत्त ने लेखक को बताया था कि उन्होंने स्वयं बहुत दिनों तक उसका पूजा में प्रयोग किया था।

यह जनश्रुति है कि गोस्वामीजी के ही व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अनीराय ने नर-काव्य लिखना बिल्कुल बन्द कर दिया था और अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भक्ति तथा ज्ञान-विषयक कई पुस्तकों की रचना की थीं। उनका यह दोहा प्रसिद्ध है—

'अनी' जीव अखरा भयौ, कागद भयौ सरीर।
धोये मेटे ना मिटै, कबौं काल के नीर ॥

अनीराय के हाथ की लिखी हुई एक पुस्तक 'गीता-भाषा' मिली है, जिसमें प्रथम तीन पृष्ठ नहीं हैं और कथा भी केवल दसवें अध्याय तक ही है। लगता है कि यह उनकी अन्तिम कृति थी, जिसको पूरा करने

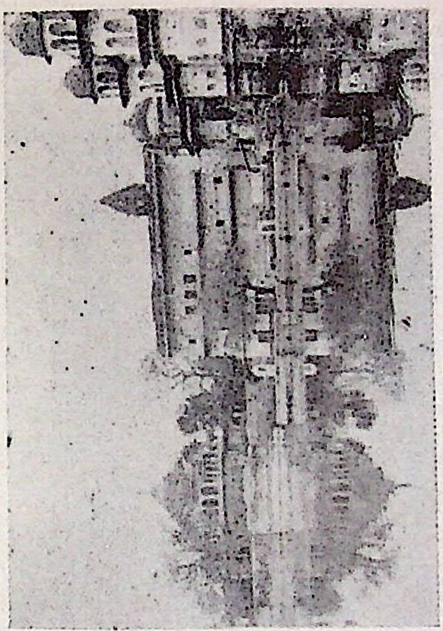

श्री मानसी-गंगा : गोवर्धन

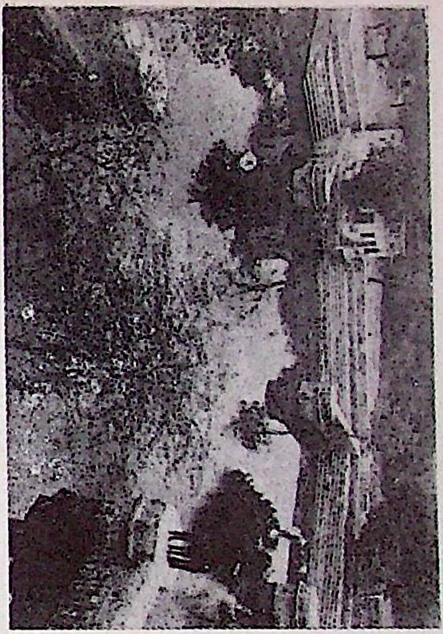

श्री प्रेम-सरोवर :बरसाना

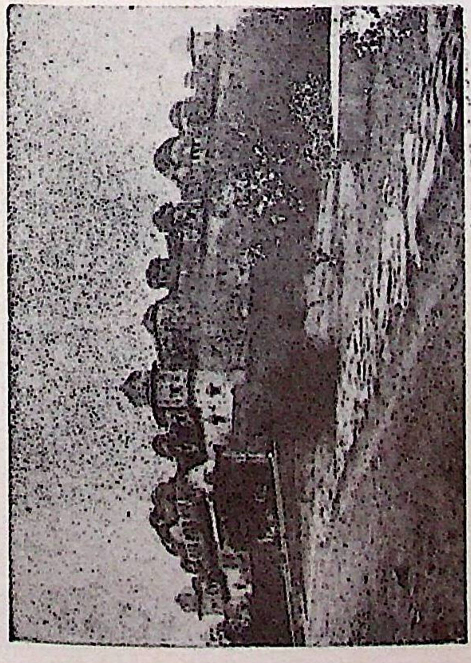

जयपुर नरेश द्वारा निर्मित श्री राधारानी का प्राचीन मन्दिर : बरसाना

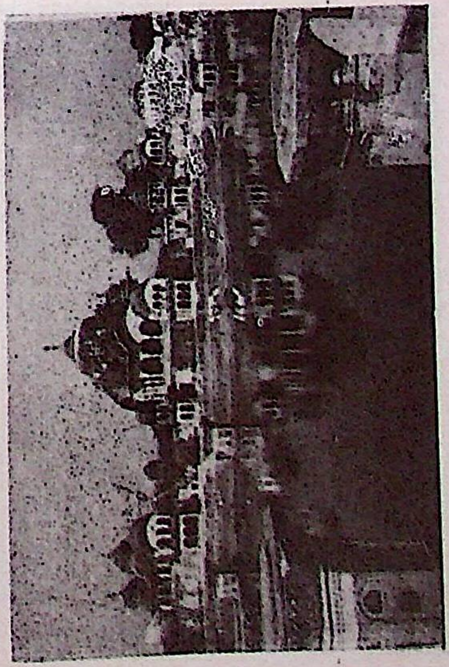

श्री कुसुम सरोवर : गोवर्धन

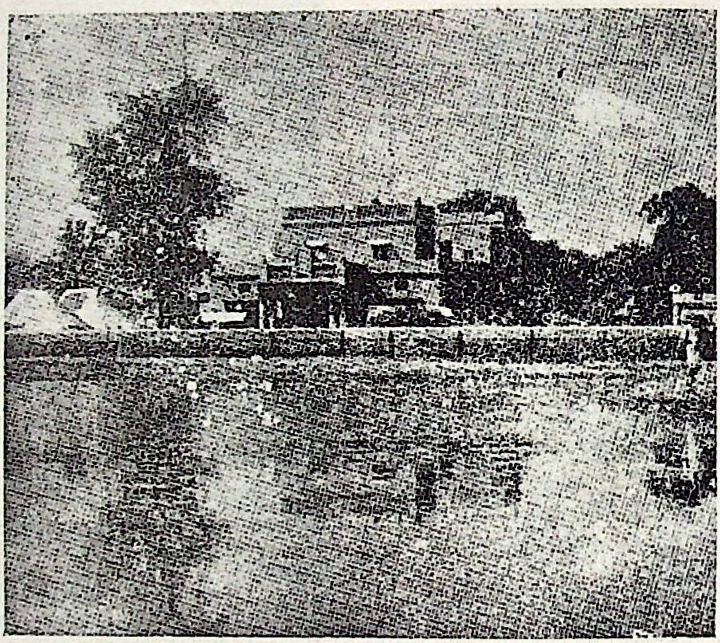

श्री राधाकुड : गोवर्धन

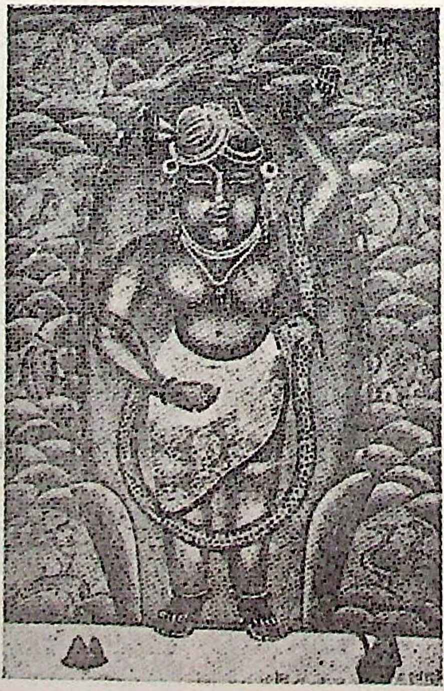

गोवर्धनधारी श्रीनाथ जी

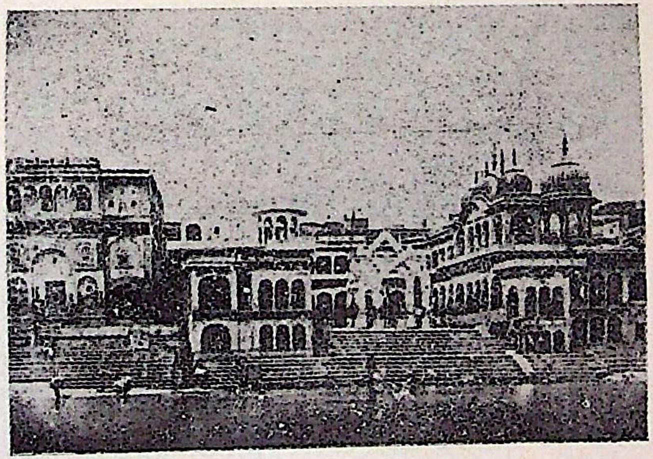

श्री विश्रामघाट : मथुरा

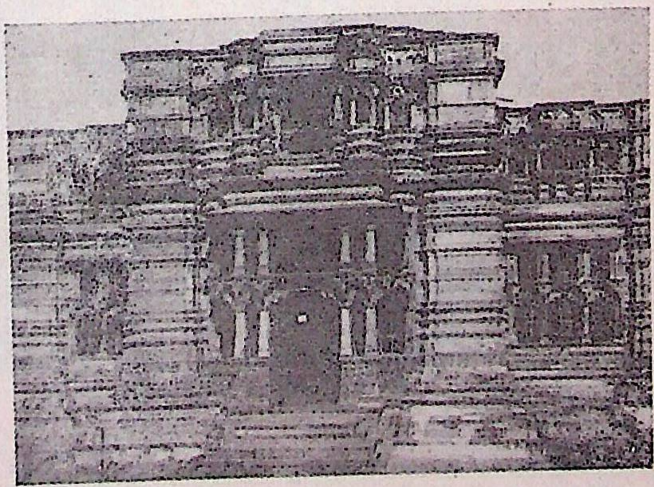

श्री गोविन्ददेव जी का मन्दिर : वृन्दावन

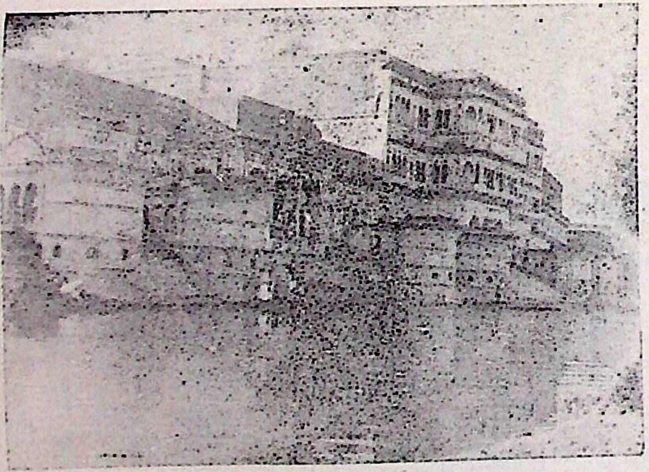

श्री यमुना जी : केसीघाट, वृन्दावन

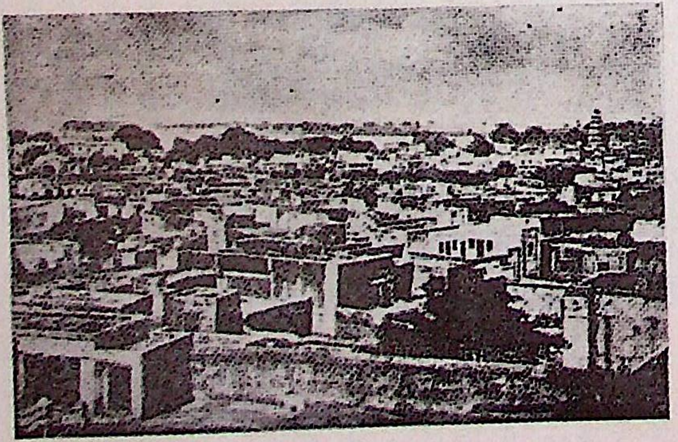

श्री वृन्दावन : एक विहंगम दृश्य

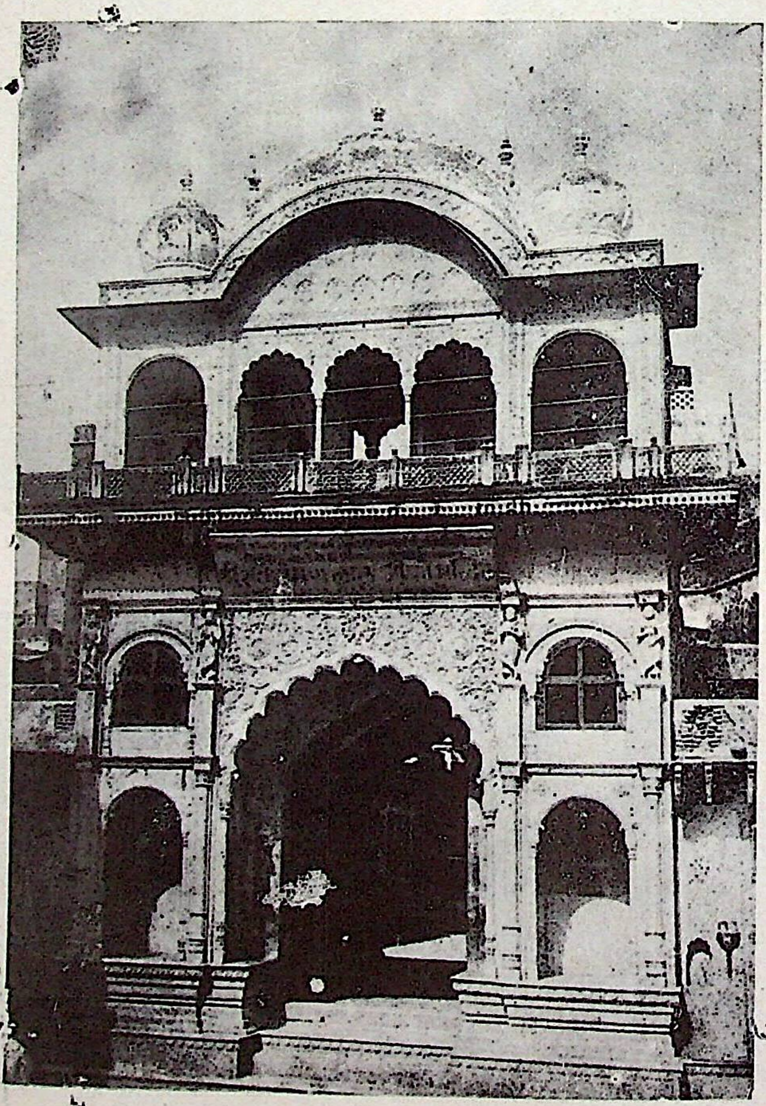

श्री राधारमण मन्दिर : बृन्दावन

के पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया। यह पुस्तक पूर्वी अवधी में दोहा-चौपाई, छन्दोंमें लिखी गयी है। इसकी भाषा मँजी हुई और वर्णनात्मक काव्य के सर्वथा उपयुक्त है। पाँच अर्द्धालियों के बाद दोहा रखा गया है। भाषा सरल, सुबोध और मुहावरेदार है। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

आपन धरम देखि कै पारथ।
मन महँ सोच न करहु अकारथ॥
आपन धरम छाँड़ि नहिं औरै।
छत्रिय कहँ सोभा नहिं ठौरै॥

• •

युद्ध धर्म आपन जो तजहू।
तजि कीरति पारथ जग लजहू॥
रण जूझे प्रापति सुरलोकू।
जिते भोग प्रिथवी नहिं सोकू॥

• •

हानि-लाभ सुख-दुख सम कीजे।
तो जय-अजय पाप नहिं लीजे॥

प्रारम्भिक पृष्ठों के अभाव में तथा सम्पूर्ण प्रति में काव्य-प्रवाह के बीच अनीराय का नाम न आने से उन्हें पुस्तक का रचयिता मानने में संकोच हो सकता था, परन्तु अध्याय के अन्त में पुष्पिका के रूप में जो लिखा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उन्हीं की रचना है। उक्त पुष्पिका इस प्रकार है—

'इति श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भट्टान्वये अनीरायेन विरचिते'

भाषा गीता……(अमुक) अध्यायः समाप्तः।

ऐसा पता चलता है कि छन्द तथा अलंकार पर भी अनीराय के लिखे हुए कई ग्रन्थ थे। बाँकेराय के समय तक उनके अयोध्या में रहने का पता मिलता है। परन्तु बाबूराम अयोध्या छोड़कर जब लखनऊ चले गये तब बीच में बीस वर्षों में वह घर गिर गया। पुस्तकें उसीमें दबकर नष्ट हो गयीं। गीता को उसके धार्मिक महत्त्व के कारण तथा अरघा और लोटे को एक महात्मा का प्रसाद समझकर वे अपने साथ लखनऊ लेते गये थे, जिनमें से अन्तिम दो वस्तुएँ तो अग्निदेव को भेंट हो गईं, शेष गीता ही बच रही है।

प्रस्तुत सामग्री के आधार पर इतना मान लेने में तो कोई अड़चन नहीं दिखायी देती कि अनीराय का रचना-काल संवत् १६५७ से १७०० के बीच रहा होगा। गीता के भाषानुवाद से इनकी श्रीकृष्ण-निष्ठा स्वतः सिद्ध है।

भ० प्र० सिं०

कविराज भाट

कविराज भाट के वास्तविक नाम का पता नहीं चलता। ये ब्रह्मभट्ट थे। अतः कविराज इनकी उपाधि थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार ये पुष्टिमार्गीय भक्त थे। इनका समय अनुमानतः वि० सं० १५६६ के आसपास ही था। ये मथुरा में भूतेश्वर महादेव नामक स्थान पर निवास करते थे और यमुना-स्नान के लिए नित्य विश्रामघाट पर जाया करते थे। एक बार महाप्रभु वल्लभाचार्य महावन से मथुरा पधारे और विश्रामघाट पर आकर सन्ध्या-वन्दन में संलग्न हो गये। इसी समय कविराज भाट को उनके दर्शन हुए। महाप्रभु का दर्शन करते ही इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये उनके किंकर बन गये। उनके अमित तेज को देखकर इन्हें निश्चित ही ऐसा लगा कि वे धुरन्धर विद्वान् हैं। इन्होंने साहस जुटाकर श्री आचार्यजी को दण्डवत् प्रणाम करते हुए बड़े संकोच के साथ निवेदन किया—

"महाराज, कछू पूछौं चाहौं।" सो आचार्यजी कहन लागे—"पूछौ, यामें हिचक काहे की?" तब कविराज कहन लागे, "देवी बड़ी कि महादेव बड़े?" तब श्री आचार्यजी कहन लागे, "शास्त्र-रीति से ठाकुरजी बड़े और जाके मन में जो बड़ो मान्यो ताकों सोई बड़ो।"

इतना सुनकर कविराज भाट की बुद्धि निर्मल हो गयी और आचार्यजी से शरण देने का आग्रह करने लगे। इनका चित्त श्री आचार्य-चरणों में निरत हो गया। आचार्य महाप्रभुजी ने इन्हें नाम-निवेदन कराया और ब्रह्मसम्बन्ध-दीक्षा दी। इस प्रकार भूतेश्वर

महादेव पर कवित्त बनाकर कीर्तन करनेवाला भक्त कविराज भाट श्री गोवर्धननाथजी पर अनेक कवित्त बनाकर गाने लगा।

इनका कोई कवित्त प्राप्त नहीं होता परन्तु वार्ता-प्रसंग से यह सिद्ध होता है कि ये कवि थे तथा श्रीनाथजी के भक्त थे। ये तीन भाई थे और तीनों ही महाप्रभुजी के परम श्रद्धालु थे। वार्ता का उल्लेख प्रस्तुत है—

"पाछें श्रीनाथजी के सन्निधान में बहुत कवित्त पढ़े। नये-नये कवित्त करिकें श्रीनाथजी कों सुनावते। पाछें श्री आचार्य महाप्रभून कों कवित्त सुनाय कै बहुत प्रसन्न कीये। तातें श्री आचार्य महाप्रभूजी कविराज भाट के ऊपर बहुत प्रसन्न रहते। सो वे कविराज भाट आचार्य महाप्रभून के ऐसे परम कृपापात्र भगवदीय हते।"

गोस्वामी गोकुलनाथजी द्वारा रचित 'वैष्णव-नामावली' में कविराज भाट के नाम का उल्लेख हुआ है—

'कविराजो गडुस्वामी उत्तमश्लोकदासकः'

– गोकुलनाथजी कृत नामावली

इसी तरह अलीखान पठान ने भी ८४ वैष्णवों की नामावली में कविराज भाट का स्मरण किया है—

'भगवानदास सीहोत्तरा, कविराज भाट बड़े भए'।

कविराज भाट का कोई कवित्त प्राप्त नहीं होता। अपने समय के प्रसिद्ध कवियों में इनके नाम की चर्चा हो इस बात का प्रमाण है कि ये उच्च कोटि के कवि एवं वैष्णव-भक्त थे।

रा० कृ० श०

काक बलवीर

काक बलवीर का वास्तविक नाम बद्रीदास था। ये वृन्दावनवासी अग्रवाल वैश्य थे। इनकी जीविका का साधन तम्बाकू की दूकान थी। पहलवानी का भी इन्हें शौक था। राधिकाजी में इनकी बड़ी निष्ठा थी। इनकी भावभक्तिव्यंजक तीन कृतियाँ बताई जाती हैं—'ब्रजविनोदहजारा', 'राधाष्टक' तथा 'बालविनोद-पंचासिका।'

स०

कादिरबख्श

कादिरबख्श का जन्म सं० १६३५ वि० में जिला हरदोई के पिहानी गाँव में हुआ था। ये सैयद इब्राहीम के शिष्य थे। मिश्र-बन्धुओं ने बड़े आदर से इनका स्मरण किया है और कहा है कि इनके छन्द तोषकवि के छन्दों के समान सुन्दर और प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। इनकी कोई स्वतन्त्र रचना नहीं मिलती। कुछ स्फुट छन्द प्राप्त हुए हैं। उनमें ने कृष्ण की मधुर-लीलाओं की चर्चा की है। श्रीकृष्ण के वियोग में गोपियों की विरहाकुलता की आलंकारिक अभिव्यक्ति इनके निम्नलिखित कवित्त में देखिए—

पावस न प्यारी चढ़्यौ सैन साजि मैन भारी,
कोकिला नकीब नौल धौल धुजा बकमाल।
बंदीजन मोरगन बूँद जोर बान घन,
दादुर निसान देत दीह दीह नदी ताल॥
प्यारे के निरादर ते 'कादर' करन हारे,
कारे-कारे धूम धारे बादर द्विरद जाल।
दामिनि दमक करवाल की चमक साल,
करति बिहाल हमैं बाल! बिना नन्दलाल॥

ज० उ०

कान्हजी सहाय

कान्हजी सहाय शाहाबाद (बिहार) जिले के धमार नामक ग्राम के निवासी थे। आपका उपस्थिति-काल उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। कृष्ण-भक्त कवि के रूप में आपकी जन-जीवन में प्रतिष्ठा थी। आपके द्वारा रचित पुस्तक 'कन्हाईजी की बधाई' की प्रति राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के अनुसन्धान-विभाग में सुरक्षित है।

अ० अ०

कान्हदास

कान्हदास राधावल्लभीय गोस्वामी भजनलालजी (पौत्र - गो० चतुरशिरोमणिलालजी, पुत्र—गो० आनन्दलालजी) के शिष्य थे। इनके कतिपय

पद गो० रूपलालजी अधिकारी विलासवंशीय के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। अनुमानतः इनका विद्यमान-काल वि० सं० १८७५ से वि० सं० १९५० के मध्य स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

कान्हरदास

कान्हरदास पुष्टिमार्गीय भक्त थे। इनके परिवार के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। गोस्वामी विट्ठलनाथजी जब द्वारका पधारे थे, उस यात्रा में वे अहमदाबाद भी कुछ दिन ठहरे थे। तब उन्होंने कन्हैयालाल शाल को कान्हरदास के साथ ही पुष्टि-मार्ग में दीक्षित किया था। कान्हरदास जाति के क्षत्रिय थे। वे वैष्णवों का नित्य सत्संग किया करते थे। सत्संग के प्रभाव का कान्हरदास ने प्रत्यक्ष अनुभव किया था। राजनगर में इनका निवास-स्थान था। छोटे-से घर में ही ठाकुरजी की सेवा-पूजा एवं नित्य-कीर्तन का आयोजन करना कान्हरदास का स्वभाव बन गया था। ये सद्गृहस्थ थे और वैष्णवों का सत्कार करने में तन-मन-धन अर्पण कर दिया था। सम्प्रदाय में इनके कई कीर्तन प्रचलित हैं।

गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा ग्रहण करने के बाद उनके सान्निध्य से इन्हें श्रीकृष्ण की लीला का साक्षात्कार हुआ था। गोस्वामी गिरधरदासजी के व्यक्तित्व से भी यह प्रभावित हुए थे। लीला-कीर्तन में रात-दिन तन्मय रहकर श्रीकृष्ण की यशोगाथा गान करना इनका परम ध्येय था। अपने समस्त कलि-कल्मष और आधि-व्याधियों को कीर्तन एवं भजन से काटते रहना इन्हें सिद्ध था।

श्री विट्ठलनाथजी की वन्दना में इन्होंने जो पद गाया है, उसमें इनकी प्रज्ञा गुरु और हरि के स्वरूप में कोई भेद न करके अद्वैतमयी बनी हुई है। ये गोस्वामी विट्ठलनाथजी को लोक-कल्याण की कामना से तथा प्रवाहमार्गी जीवों के उद्धार-हेतु अवतरित हुआ मानते थे। इनकी यह भावना प्रस्तुत पद में द्रष्टव्य है—

सदा श्री विट्ठलनाथजू के चरण शरणं॥
श्री वल्लभ-नन्दने कलि दुख खंडनं।
परम पुरुष त्रयताप हरणं॥
सकलदुख दारणं भवसिन्धु तारणं।
जनहित लीलाद्विजदेह धारणं॥
‘कान्हरदास’ प्रभु सब सुख सागरं।
भूतल दृढ़ भक्ति प्रगट कारणं॥

रा० कृ० श०

कान्हा

कान्हा राजस्थानी साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि ईसरदास के पुत्र थे। ये बारहठ-शाखा के चारण थे। इनकी स्फुट रचनाएँ मिलती हैं। इन्होंने वीररस तथा भक्तिरस के सुन्दर गीत लिखे हैं। उदाहरण के लिए इनका एक भक्तिभावपूर्ण गीत नीचे दिया जाता है—

सुर कोडि अवर तेत्रीसइ सरवर,
बलि छिसरे छत्री सह वंस।
हरी नाऊँ मानसरोवर हुंता,
हुए मदूरि अम्हीणा हंस।
पाणी हीण अवर सरे परहरि,
परिहरि सुर नर भूपाल।
श्रीरंग तणौ नाम पाबासर,
मेएहैं मत मूझ मुणाल।
आपणै भलै तणा, ऐ आरिख,
आनि सब सुर न कीजे आस।
हरि मानसरि वसे मुवाई हंस,
बसियै जेणि टले ग्रभवास।
कान्हिया कहै अवर चीतिकीतोई,
धोखों करि सिरिहि सिर धूणि।
प्राण परम हंस पुणावि प्रमेसुर,
चुगि हरि सुजस रसायण चूणि॥

स० गु०

कामताप्रसाद

कायस्थ-परिवार में जन्मे मुंशी कामताप्रसाद रायबरेली जिले के उपनगर बछरावाँ के निवासी थे। इनका जन्म सन् १८५२ ई० में तथा मृत्यु सन् १९३७ में

हुई। मुंशीजी सरल प्रकृति के व्यक्ति थे। प्रायमरी पाठशाला में साठ वर्ष की उम्र तक अध्यापन-कार्य करने के बाद इनकी चित्तवृत्ति भगवान् कृष्ण में रम गयी थी। भक्त होने के साथ ही साथ ये तांत्रिक और कवि भी थे। इनका एक माधुर्यभावपूर्ण छन्द नीचे दिया जाता है—

मोरपखा मुरली बनमाल,
पितम्बर कम्बर आजु छिनैहौं।
माँग भराइहौं सेंदुर सों,
'कविबाल' गुलाल लै गाल लगैहौं।
बेंदी लिलार दोऊ दृग अंजन,
कुन्डल काढ़ि यों खेल दिखैहौं।
डारिकै कानन में झुमका,
तुमका मनमोहन नारि बनैहौं॥

रा० पां०

कायम

कायम कवि का वास्तविक नाम था या उपनाम, अपेक्षित तथ्यों के अभाव में यह बताना कठिन है। इनकी जीवनी विषयक अन्य सूत्र भी प्राप्त नहीं है।

इनका केवल एक छन्द मिलता है जिससे विदित होता है कि ये माधुर्यभाव के निर्गुणपंथी भक्त थे। रसिक प्रियतम कृष्ण के साथ गोपीरूप में खेली गई अपनी रंगभरी होली का वर्णन करते हुए ये कहते हैं—

गुरु बिन होरी कौन खेलावे कोई पंथ लगावै॥
करै कौन निर्मल या जी को माया मनतें छुड़ावै।
फीको रंग जगत के ऊपर पी को रंग चढ़ावै॥
लाल गुलाल लगाय हाथ सों भरम अबीर उड़ावै।
तीस लोक की माया फूंक के ऐसी फाग रमावै॥
हरि हेरत मैं फिरत बावरी नैनन में कब आवै।
हरि को लखि 'कायम' रसिया सों काहे न धूम
मचावै॥

प्रे० ना० श्री०

कारे कवि

कारे कवि का जन्म सं० १६४५ में ओरछा नगर के कजयाना मुहल्ले में हुआ था। मुसलमान होते हुए भी हिन्दुओं के देवी-देवताओं में इनकी अगाध श्रद्धा थी। ये एक बार ओरछा-नरेश के साथ मथुरा-वृन्दावन गये। ओरछा-नरेश को तो बाँकेबिहारी के मन्दिर में दर्शन का लाभ मिल गया, किन्तु मुसलमान होने के कारण इन्हें मन्दिर में प्रविष्ट नहीं होने दिया गया। पुजारियों की इस धार्मिक संकीर्णता पर ये बहुत क्षुब्ध हुए इसलिए कि ये भगवान् कृष्ण पर किसी धर्म-विशेष का अधिकार न मानकर उन्हें सबका आराध्य मानते थे। इसी भावना से ये मन्दिर के पीछे जाकर ध्यानावस्थित हो गये। उसी समय कहा गया इनका निम्नांकित भक्तिपरक छन्द मिलता है —

मुशफिक़, शफीक़, रफीक़, दिलीदोस्त मेरे,
मेरे नजदीको, हकीकी ख्याल कीजिये॥
मेहरबान, कदरदान, आला तू जहान बीच,
मुझसे गरीब का गुनाह माफ कीजिये॥
'कारे' करार पड़ा तेरे दरबार बीच,
अटकी है नाव मझधार पार कीजिये।
हिन्दुन के नाथ तो हमारा कुछ दावा नहीं,
जगत के नाथ तौ हमारी सुधि लीजिए॥

इनका देहावसान सं० १७२५ में हुआ।

त्रि० ना० शु०

कारे खाँ

मुसलमान कृष्ण-भक्त कारे खाँ मध्यप्रदेश के सागर जिले के रेहली नामक गाँव के निवासी थे। उक्त गाँव में आज भी इमली के एक पुराने वृक्ष के पास इनका घर बताया जाता है। ये जाति के रँगरेज (मुसलमान) थे और वृन्दावन के ठाकुर मदनमोहन-जी के सेवायत गो० हरिकिशोर के समकालीन थे। अतः इनका समय सं० १८४४ से पूर्व और सं० १८२८ के बाद निश्चित किया जा सकता है। इसलिए कि गो० हरिकिशोरजी सं० १८२८ से सं० १८४४ तक गद्दी पर रहे।

इनकी उत्कट कृष्ण-भक्ति के सम्बन्ध में एक जन-श्रुति प्रचलित है कि गाँव के एक ब्राह्मण के पुत्र से इनकी मित्रता थी, वह अकस्मात् मर गया। कारे खाँ उस समय गाँव में नहीं थे। ये जब घर आये तो यह

सूचना मिली। किन्तु तब तक लाश श्मशान जा चुकी थी। ये दौड़कर वहाँ पहुँचे। लोग चिता पर शव रखने जा रहे थे। इन्होंने सबको रोक दिया। फिर मृत सखा की ओर देखकर बोले, 'दोस्त, उठो, मैं आ गया।' इसके बाद थोड़ी देर तक उत्तर की प्रतीक्षा की। जब कोई जवाब नहीं मिला तो इन्होंने वहीं १०८ कवित्त बनाकर ठाकुरजी से अपनी आर्त पुकार निवेदित की। कहते हैं कि १०८वाँ कवित्त पूरा होते-होते मृत बालक में प्राण-संचार हो गया और उसने आँखें खोल दीं। वह महानिद्रा से जागकर उठ बैठा। यह देखकर उपस्थित जनसमुदाय आश्चर्यचकित हो गया। इस घटना से कारे खाँ की एक सिद्ध भक्त के रूप में कीर्ति चारों ओर फैल गई।

करौली के कवि त्रिलोकीसिंह ने कारे खाँ की पुकार सुनकर उनके आराध्य श्रीकृष्ण द्वारा ब्राह्मण-पुत्र को जीवित कर देने सम्बन्धी उपर्युक्त तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

जयपुर से करौली पधारे आय दीनानाथ,
श्री गोपाल सिंह जू वीर भक्त तारचो है।
कारे की पुकार सुनी पुत्र को जिवाय दियो,
गूजरी को दुसाला देय लीलापट धारो है।

कारे खाँ द्वारा रचित उपर्युक्त सम्पूर्ण कवित्त-राशि निश्चय ही उत्तम कृष्ण-काव्य है। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य कोई कृति प्राप्त नहीं होती। उपरिनिर्दिष्ट १०८ कवित्तों में से कुछ छन्द मिलते है। उन्हींमें से चार कवित्त नीचे दिये जा रहे हैं—

(१)

माफ किया मुलक मताह दी विभीषन को,
कही थी जुबान कुरबान ये करार की।
बैठिबे को ताइफ तखत दै तखत दिया,
दौलत बढ़ाई थी जुनारदार यार की॥
तब क्या कहा था अब सरफराज आप हुए,
जबकि अरज सुनी चिरीमार खार की।
कारे के करार मांहि क्यों न दिलदार हुए,
ऐरे नन्दलाल ! क्यों हमारी बार-बार की॥

(२)

वृन्दावन कीरत विनोद कुंज कुंजन में,
आनन्द के कन्द लाल मूरति गुपाल की।
कालीदह कवि कारे पताल पैठि नाग नाथ्यौ,
केतकी के फूल तोरि लाये माला हार की॥
परसत ही पूतना परम गति पाय गई,
पलक ही पार पारचौ अजामील नारकी।
गीध गुन गान हार छांछि के उगान यार,
आयो ना अहीर ! क्यों हमारी बार-बार की॥

(३)

सेवत हौं तोहि क्यों बिसारत हौ मोहि,
मैं तो जानत हौं तोहि जैसी माया तू प्रसार की॥
ज्ञान-ध्यान-सीला सब भांति कौ वसीला
मेरौ तुम्हीं है उसीला तूनैं लीला बेशुमार की।
हूजिये दयाल काल दीजिये बहोरि लाल,
कीजिये निहाल मैंने बीनती अपार की।
कारे कौ अधार एक तू ही बार-बार एरे
नंद के कुमार ! क्यों हमारी बार-बार की॥

(४)

बूड़त उबारो ब्रज, मारो मान मघवा कौ,
कहत कवि कारे जैसें आन गिर भार की।
पच्छिन के पच्छ तुम निपच्छन के पूरे पच्छ,
तुच्छन को पच्छ दीनो न करी फेरफार की
तुम ही सहाय मेरे और नहीं दूजा प्रभु,
रहे कार-सार बल जाऊँ अवतार की।
ऐहो रनधीर बलभद्र जू के बीर ! अब,
हरौ मेरी पीर क्यों हमारी बेर बार की॥

न० चं० बं०
न० प्र० गु०

कालकाप्रसाद

पं० रामदास भार्गव के पुत्र कालकाप्रसाद का जन्म सन् १८६६ ई० में इलाहाबाद में हुआ था। ये वृन्दावनबिहारीजी के बड़े प्रेमी थे। इन्होंने मंदिर की शोभा संगीत-सेवा द्वारा बढ़ाने का प्रयास किया। इनके समय से ही प्रयाग में श्रावण मास में झूलनो-

त्सव की परिपाटी चली। स्वभाव से ये बड़े मिलनसार और सज्जन पुरुष थे। सन् १९१४ ई० में इनका देहांत हो गया।

म० गो० भा०

कालीप्रसाद त्रिपाठी 'भृंग'

पं० कालीप्रसाद त्रिपाठी 'भृंग' का जन्म सन् १८८५ ई० में सुलतानपुर (अवध) नगर से ८ कि० मी० दूर ग्राम बैजापुर में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० रामसुमिरन त्रिपाठी था। आपकी विद्यालयीय शिक्षा अत्यल्प हुई थी। बाल्यावस्था से ही भजन-संगीत में इनकी अत्यधिक रुचि थी। अतः अल्पायु में कुछ लोगों के साथ घर छोड़कर संगीत-विद्या सीखने के मोह में कलकत्ता चले गये। १५ साल की आयु में जब वापस आये तो पिता की कड़ी डाँट-फटकार मिली, फलतः भजन-संगीत के दीवाने भृंगजी पुनः कलकत्ता वापस लौट गये। वहाँ से शीघ्र ही अयोध्या नगरी में आकर श्री सन्तशरणजी महाराज मस्त से विधिवत् शास्त्रीय संगीत की शिक्षा ग्रहण की। यही आपके प्रथम गुरु थे। तत्पश्चात् आपने संगीत ऋषि के नाम से ख्यात गायनाचार्य श्रीहकीम चांदनराम (पटियाला) से संगीत का विशद ज्ञान प्राप्त किया। इस अवधि में आपने धर्म-ग्रंथों एवं शास्त्रों का भी गहन अध्ययन किया।

इसके बाद आप रंगून चले गये और वहाँ पर भारतीय संगीत के माध्यम से भगवदाराधन की गहन साधना सम्पन्न की। संगीत के माध्यम से भगवदाराधना में आप स्वामी श्री हरिदास एवं भारत की अर्वाचीन संगीत-विभूति श्री विष्णु दिगम्बर को अपना आदर्श मानते थे। आपकी संगीत-साधना की कीर्ति-पताका देश-देशान्तर में फहरी। रंगून में आपने मामसा-थियेटर की स्थापना कराई। रंगून स्थित शारदासदन गर्ल्स हाईस्कूल के संगीत-शिक्षक के रूप में आपने संगीत की महती सेवा की। रंगून में आपका एक 'संगीत-प्रेस' भी था, जहाँ से आपकी पुस्तकें प्रकाशित होती थीं। आपने भारत के विभिन्न प्रान्तों में ही नहीं, अपितु बर्मा, जापान, कोरिया, लंका, अरब, दक्षिणी अफ्रीका तथा नेपाल आदि देशों का भ्रमण कर भारतीय संगीत (विशेषतः भगवान् कृष्ण-सम्बन्धी भजनों) का प्रचार-प्रसार किया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आप अनुज श्री इन्द्रपाल त्रिपाठी की प्रार्थना पर स्वदेश लौट आये और उन्हींके साथ रहने लगे। आपकी पत्नी का देहावसान पहले ही हो चुका था। आपका एकमात्र पुत्र भी १२ दिन की इहलीला पूरी कर स्वर्गवासी हो चुका था। वृद्धा माता और पिता की आपने खूब सेवा की।

अब आपका जीवन पूर्णतः वैराग्यमय हो गया था। ये प्रभु के भजन-कीर्तन में अहर्निश लीन रहने लगे। भजन-पूजन से जो समय बचता उसमें आप भक्तिपरक काव्य-रचना तथा भक्तों की चरितावली का पद्यमय लेखन करते रहते थे। आपका 'मधुपुरी' शीर्षक प्रबन्ध-काव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें मथुरा के कृष्ण का चरित्र-गायन उत्तम ढंग का हुआ है।

आपको वैद्यक का भी अच्छा ज्ञान था। दीन, हीन, तथा संकटग्रस्त लोगों की सेवा आप बड़ी तन्मयता से करते थे। आपके साधु-सुश्रूषाव्यक्तित्व ने ऊँच-नीच, मूर्ख-पण्डित, गृहस्थ-सन्त सभी को अपने प्रेमपाश में बाँध लिया था। आप कृष्ण जन्माष्टमी का उत्सव या तो स्वयं धूमधाम से सम्पन्न करते थे अथवा अपने सहयोग से उसमें चार चाँद लगा देते थे। राधा-कृष्ण-आराधना-सम्बन्धी उत्सवों में गायन करते समय ध्यानमग्न हो जाते थे। अट्ठासी वर्ष की आयु प्राप्त कर आप सन् १९७३ ई० में गोलोकवासी हुए।

प्रकाशित रचनाएँ : १. विनयवाटिका (सन् १९३३ ई० गीता प्रेस, गोरखपुर), २. नोटेशन गीता-ज्ञान, ३. भजन-भूषण (सितम्बर, १९३९ ई०), ४. सुन्दर संगीत (दिसम्बर, १९३९ ई० —सभी संगीत प्रेस, रंगून से प्रकाशित), ५. कीर्तनकुंज (१९५३ ई०, किशोर प्रेस, टाटानगर), ६. मधुपुरी (प्रबन्ध-काव्य), ७. सरल संगीत (संगीत प्रेस, रंगून से प्रकाशित), ८. स्वर-साधन-शिक्षा, ९. काव्य-कौतुक।

अप्रकाशित रचनाएँ : १. भक्त नर्तकी, २. सूरदास, ३. रैदास, ४. जीवन-प्रयाण, ५.

मीराबाई, ६. प्रेमपंथी, ७. सती अनुसुइया, ८. शबरी, ९. सरगम-सागर, १०. मारुति-मंदिर, ११. पद्य-पीयूष, १२. शरद-स्तवन, १३. सेनानाई, १४. नृसिंह, १५. भक्त प्रह्लाद, १६. ध्रुव-चरित्र।

आपकी कुल पचीस रचनाएँ व्रज, अवधी और खड़ी बोली में हैं। इनमें भक्तिभाव की प्रधानता है। आपकी भक्तिपरक अधिकांश संगीत-रचनाएँ जहाँ संगीत के उस्तादों एवं उच्च गायकों के लिए रची गई हैं वहीं सामान्य जन हेतु सरल संगीत की भी रचना आपने की है। इन कृतियों में वैज्ञानिक शैली में राग-रागिनियों एवं ताल-लय का शास्त्रीय परिचय भी दिया गया है। ये सभी कृतियाँ पूर्णतः इनकी भक्तिचर्या का साधन बन गयीं। आपके इष्टदेव भगवान् कृष्ण थे। विनय-वाटिका सदृश कतिपय रचनाओं में इन्होंने कृष्ण और राम की युगपत् आराधना की है। आपकी रचनाएँ भगवान् नृसिंह, शंकर, हनुमान् आदि देवों पर भी हैं। एक ओर आपने भक्त प्रह्लाद, ध्रुव, शबरी, अनुसूया आदि का स्तवन किया है, तो दूसरी ओर भक्तवर सूरदास, मीराबाई, सेनानाई आदि भक्तों पर काव्य-रचना की है। आपका जीवन भगवान् और भक्तों की सेवा-आराधना में ही व्यतीत हुआ। यहाँ आपके दो छन्द उद्धृत किये जा रहे हैं, जो आपके वैराग्य एवं भक्तिभाव के सूचक हैं :

(१)

राग जोगिया

मन मूरख मानत ना सिख मेरी।
विषय हेतु भटकत निज इत-उत,
कठिन बानि यह तेरी॥
जिनके संग कुमति उपजति अति,
हानि होति बहुतेरी।
तिनकर संग सदा तोहिं भावत,
जिमि तस्करहिं अँधेरी॥
रे हतभाग्य जानि जिय कीने
संचय अघ की ढेरी।
करत अनेक जतन हौं हार्‌यो
पै न चली कछु मेरी॥
अजहूँ चेतु शरण हरि की गहु,
त्यागि आस जग केरी।
चाहत सकल काज तुव बिगरो,
अब न भृंग करु देरी॥

—विनय-वाटिका, पृष्ठ २६–२७

(२)

त्रिताल

तुम्हीं हो निर्धन के घनश्याम॥
धरणीधर, मुरलीधर, श्रीधर,
जगधर, जन हितकारी।
सुर नर मुनि वर, जपत निरंतर,
भव भय भंजन हारी॥
करुणा निधि सुख धाम।
करहु प्रबोध शोध कर भगवान,
बाल अबोध विचारी।
प्रीति हमारी देखि मुरारी,
मेटहु भ्रम अँधियारी॥
भृंग सदा निष्काम॥

—नोटेशन–गीताज्ञान, पृष्ठ १७

त्रि॰ ना॰ चौ॰

काशीगिरि

काशीगिरि नाम से ही प्रकट है कि ये दशनामी गोसाइँ थे। इनके जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। इनकी एक लघु-रचना 'कृष्ण और शिव का अर्धाङ्ग स्वरूप-वर्णन' नाम से प्राप्त हुई है। इसमें कृष्ण और शिव के अर्धाङ्ग स्वरूप का वर्णन किया गया है और दोनों में तादात्म्य स्थापित किया गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

कहै गौरजा सुनो लक्ष्मी देखो पति का रूप।
ऐसा रूप नहीं देखा था सो देखो आज स्वरूप॥
आधे शिर मुकुट आधे शिर गंग भला,
आधे शिर पर चन्द्र और आधे चंदन का है खौर।

इधर मुरछल और उधर हो चौंर भला,
आधे मुख माखन और आधे धतूरे का है कौर ॥
आधा अंग श्याम आधा अंग गोरा भला,
आधे अंग में भस्म लगी, आधे अंग लगी सुगंध ।
आधा अंग है क्रोधवन्त, और आधा अंग अनंद ॥

आधे अंग वस्त्र आधा अंग नंग भला ।
आधे मुख मुरली बाजै आधे मुख नाद ।
न उनका अन्त न उनकी आदि भला ।
आधे मुख अमृत और आधे हलाहल का है स्वाद ।
दूरि करैं क्षण में विघ्न विषाद भला ॥

वा० सिं०
कृ० चं० ला०

काशीराम (प्रथम)

काशीराम का जन्म संत चरणदासजी के कुल में शोभनदासजी भार्गव की १२वीं पीढ़ी में 'नूह' गाँव में हुआ था। आपके पिता महात्मा बहादुरसिंह थे। उनके तीन पुत्र हुए—१. कृष्णचन्द, २. रामसेवक तथा ३. काशीराम।

काशीराम सबसे छोटे थे। इनका जन्म अनुमानतः सन् १७६८ ई० अर्थात् वि० संवत् १८२५ में हुआ था। अपने पिता के समान ये भी युगलोपासक उच्चकोटि के साधक थे। इनकी मृत्यु बरसाने में हुई, किन्तु उसका समय अज्ञात है।

म० गो० भा०

काशीराम (द्वितीय)

काशीराम (द्वितीय) का जन्म सं० १७१५ वि० में सक्सेना कायस्थ-कुल में हुआ था। आरम्भ में ये दशम गुरु गोविन्दसिंह के दरबारी कवि थे। संस्कृत-रचनाओं के आधार पर पहले इन्होंने 'पाण्डव-गीता' की पंजाबी में रचना की। सं० १७५५ में दशमगुरु के कवि दरबार विसर्जन के बाद ये औरंगजेब के सूबेदार निजामत खाँ के आश्रित बने और उनकी प्रशस्ति में एक कवित्त लिखा जो 'दिग्विजय-भूषण' में संकलित है। इनका कविता-काल सं० १७४५ से सं० १७६० वि० तक माना जा सकता है। हिन्दी में इनकी तीन रचनायें 'कनकमंजरी', 'परशुराम-संवाद' तथा 'काशीराम के कवित्त' उपलब्ध हैं। पंजाबी रचनायें हैं—पांडव-गीता, (सं० १७४७), सीहरफी, बारहमाह।

'कनकमंजरी' शुक-शुकी-संवाद पर आश्रित एक प्रेमगाथा-काव्य है। 'परशुराम-संवाद' में १६ कवित्त हैं जो दशमगुरु की आज्ञा से हृदयराम भल्लाकृत 'हनुमन्नाटक भाषा' के खंडित अंश की पूर्ति के लिए लिखे गए थे। काशीराम के अनेक कवित्त विभिन्न संकलनों में संकलित हैं। इन्हीं फुटकर कवित्तों में कुछ राधा-कृष्ण से सम्बद्ध पद मिल जाते हैं।

काशीराम ने राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन करते हुए दोनों की मुग्धता का बड़ा ही आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है—

देषा देषी भई छूट सकुच तब तैं गई,
मिटी कुल कान कैसौ घूंघट को करबो।
लागी टकटकी मिटी और धगधगी गति,
मति मनमथ की ऐसो नेह कोउ धरबो।
चित्रका से दोऊ जन ठाड़े रहे 'काशीराम',
नहिन परवाह भावो लाज लोक लखो।
बाँसुरी बजैबो नटनागर को भूल गयो,
भूल गयो नागरि को गागर को भरबो।

अपनी 'वृषभानु-लली' को इन्होंने लोकजीवन के अधिक समीप लाने का प्रयास किया है—

जीवने की कहा चली कहै वृषभानु लली,
लालन की गली हौं तो लाज वारि जाऊँगी।
कोउ करौ मैलौ मन मेरौ तो यही है पन,
लालहि बिलोकौं जब तब पान पाऊँगी।
'काशीराम' ईठी हो तो पठऊँगी चीठी,
कोऊ करै न बसीठी ताहि नैक न डराऊँगी।
कुबजा कुरैल कहा करैंगी भुरैलौ हों तो,
भोर हूँ चुरैल इवै गुपाले लिपटाऊँगी ॥

रा० प्र० कु०

काशीराम (तृतीय)

'रसिक-अनन्य-परचावली' में श्री काशीराम के सम्बन्ध में कहा गया है—

बहुत दयादीनता सुहृद मन वचन भलाई।
(श्री) गुरु हरिलाल प्रसाद
भक्ति सब विधि बनि आई ॥
संगति सुधरे बहुत संतपथ चाह बढ़ाई।
निरदूषित नित रहनि कहा करि सकौं बड़ाई ॥
श्री व्यास सुवन पद प्रीति दृढ़,
बसिबौ विपिन सु धाम कौ।
हरि गुरु सन्त समान इक,
नित सेवन काशीराम कौ ॥

इनके ऐहिक जीवन का सुस्पष्ट परिचय किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। इन्हें कभी गो० हरिलालजी का सत्संग प्राप्त हुआ था। उसके अमोघ प्रभाव ने इनको गो० जी के चरणाश्रित बना दिया। ये हरि-गुरु और संतों में समान भाव रखते हुए उनकी तन-मन-धन से सेवा किया करते थे। ये इतने अधिक उदार थे कि इनके द्वार पर आकर कोई भी व्यक्ति असफल मनोरथ होकर नहीं लौटता था। चाचाजी ने इनके इस औदार्य का वर्णन इन शब्दों में किया है -

गुरु-भक्त, हरि-भक्त, संतन सौं अनुरक्त,
द्वार आइ कोऊ जू गयौ न मुख मोरिकै।
वृन्दावन हित धन्य जननी जु जायौ जिन,
जाकी मति राखो परमारथ में बोरिकै ॥

—श्री हित-रूप-चरित्र-बेली, ४३३

वृन्दावन में इनकी अनन्य निष्ठा थी। श्री राधा-वल्लभ की रूपासक्ति के कारण इन्होंने अपना निवास-स्थान श्री राधा-वल्लभ-मन्दिर के निकट ही बनाया था। चाचा हित वृन्दावनदास ने इनके घर में रहते हुए ही 'हित-रूप-चरित्र-बेली' नामक ग्रन्थ की रचना संवत् १८२० की चैत्र-पूर्णिमा को पूरा किया था—

ठारह सै बीस बरष साके गत जानिये जू,
चैत्र सुदी पूर्णिमा ग्रन्थ पूरन है भयौ।
कृपा करी व्यासनन्द बरने मैं कछू छन्द
महामधुर जसनै जू रसनै रिझै दियौ ॥
राधावरवल्लभ के मन्दिर तीरे जहाँ,
काशीराम धाम मध्य ग्रन्थ जु बनायौ है।
वृन्दावन हित यौं विवेक हिये दृष्टि खोलि,
दीनी श्री व्यासनन्द यह जस दिखायौ है ॥

—हित-रूप-चरित्र-वेली

इस आधार पर इनका उपस्थिति-काल सं० १८२० तक तो निश्चित हो है, परन्तु इसके आगे और कितने दिनों तक यह धरा-धाम पर विराजे रहे—यह अज्ञात है।

श्या० बि० खं०

काशीराम जैतसी

'भक्तगाथा' में काशीराम और जैतसी के सम्बन्ध में निम्नलिखित पद मिलता है—

फली काँचरी सैंध भये जुग सब सुखकारी।
हित सुगंध के हेत करी बेली फल न्यारी ॥
श्री वृन्दावन को बास करैं रसिकन की सेवा।
सब सौं ह्वै अति दीन इष्ट सम राखैं मेवा ॥
श्री हित रूप प्रसाद बल,
व्यासनन्द पद गति लही।
काशीराम पुनि जैतसी, भक्ति-बेलि हिय लहलही ॥

—भक्तगाथा

इन दोनों भक्तों के हृदय में भगवद्-भक्ति के अंकुर आरम्भ से ही विद्यमान थे। जिस पर प्रभु कृपा करते हैं उसका प्रगति-पथ अपने-आप ही सरल हो जाता है। संयोगवशात् इन्हें वृन्दावन के रस-रसिकों का संग प्राप्त हुआ और ये उन सन्तों के उपदेश से किसी समर्थ गुरु की शरण प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठे। एक दिन इन्हें गो० श्री हितरूपलालजी महाराज से श्री राधावल्लभीय सम्प्रदाय की उपासना का बीज-मंत्र प्राप्त हो गया। समानमना काशीराम और जैतसी दोनों को अपने जन्मस्थान का रहना अप्रिय लगने लगा और ये वृन्दावन की ओर चल दिए। श्रीवन आने पर श्री गुरु-चरण की सेवा और रसिकों का संग इन्हें निरन्तर प्राप्त होने लगा। इस कृपाजल-सिंचन का

योग पाकर इनकी भक्ति-बेलि पल्लवित, कुसुमित और फलित होने लगी। इन्होंने अपने घर में श्रीजी को विराजमान कर उनकी अष्टयामसेवा का सुख लिया और साथ ही महाप्रभु की आज्ञा—'हरि-हरिजन सेवा पधरावहु' के अनुसार रसिक जनों की सेवा करके जीवन का लाभ लिया। अपने असाधारण गुणों के कारण ये दोनों अपने समय के रसिक-समाज के आदरणीय बन गये थे तथापि ये निरतिशय अभिमान-शून्य और सदा दीन ही बने रहते थे।

भक्तगाथाकार ने उक्त परिचयात्मक छप्पय में 'करैं' 'राखैं' आदि वर्तमानकालिक क्रियाओं का प्रयोग किया है। अतः यह तो निर्विवाद ही है कि ग्रन्थ के रचना-काल (संवत् १८४४) तक ये विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त इनके ऐहिक जीवन की अन्य बातें ज्ञात नहीं हैं।

श्या० वि० खं०

कितर्नियाँ बाबा

कितर्नियाँ बाबा इलाहाबाद जनपद की हँडिया तहसील के किसी गाँव में रहा करते थे। बताया जाता है कि किशोरावस्था से ही इनका मन कृष्ण-कीर्तन में लगा और वह अन्त तक लगा ही रहा। बाबाजी का निधन सन् १९१० ई० के आसपास हुआ। आज से २५-३० वर्ष पूर्व तक आपके द्वारा रचित कृष्ण-कीर्तन अनेक मंदिरों में कीर्तन-मंडलियों द्वारा गाये जाते थे। किन्तु अब उनका प्रायः लोप हो गया है। हाँ, जब-तब सुनने को अभी भी मिल जाते हैं। स्वर्गीय पं० रामनरेश त्रिपाठी ने ग्राम-सम्बन्धी अपने एक निबन्ध में इनका नाम दिया है। उदाहरणस्वरूप यहाँ इनका एक कीर्तन प्रस्तुत है—

कृष्ण कृष्ण कृष्ण माधव को प्रेम से,
भजो नित्य नेम से जी।
जागो कृष्णजी के संग सूतो माधव के संग,
खाओ-पीयो राधेश्याम संग प्रेम से,
भजो नित्य नेम से जी।

यह कीर्तन मंदिरों में श्रावण मास में किया जाता था। कितर्नियाँ बाबा की यही विशेषता थी कि ये ऋतु-परक लोकगीतों की धुन में ही कीर्तन बनाते थे और खंझड़ी पर गाया करते थे। नीचे फाग की धुन में गाया जानेवाला एक कीर्तन प्रस्तुत है—

भजु कृष्ण श्याम राधा गोरी।
भजु कृष्ण श्याम राधा गोरी ॥
एक साँवर एक गोरी कलोरी।
दोनों की खूब बनी जोरी ॥ भजु०

चं० मि०

किशनप्यारी (मन्दिरवारी बुआजी)

बीबी 'किशनप्यारी मन्दिरवारी बुआजी' के नाम से जानी जाती थीं। इनका जन्म बुलन्दशहर के सिकन्दराबाद नामक स्थान के एक भाटिया-परिवार में सन् १८८२ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम हरिदेवदास था। इनके हृदय में भक्ति का उदय बाल्य-काल में ही हो गया था। इसका कारण यह था कि इनके पिता धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे जिससे इन्हें साधु-संगति और भगवद्-भजन का संयोग सुगमतापूर्वक उपलब्ध हो गया। ये सदैव भगवत्-चर्चा में लीन रहती थीं। अध्ययन-काल में इन्होंने हिन्दी, संस्कृत तथा उर्दू का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

इनका विवाह बाल्यावस्था में ही उम्र में बड़े और अत्यन्त सम्पन्न व्यक्ति श्री जयनारायण भाटिया से हो गया, जो लखनऊ में दारोगा के पद पर कार्यरत थे। इन्हें ससुराल में पर्याप्त मान-सम्मान एवं धन-वैभव मिला, किन्तु दैवयोग से १६ वर्ष की अवस्था में ही ये विधवा हो गयीं, जिससे ये रात-दिन उदास रहने लगीं। कहते हैं कि एक दिन मदनमोहनजी ने स्वप्न में दर्शन देकर इन्हें आदेश दिया कि वृन्दावन में रहें और अपने सामर्थ्य के अनुसार मंदिर बनवाकर उसमें मूर्ति स्थापित करें। इन्होंने भगवदिच्छा की पूर्ति के लिए वृन्दावन की टकसार-गली में थोड़ी-सी जमीन लेकर एक मंदिर बनवाया और उसमें आराध्य की मूर्ति प्रतिष्ठित की। इसके बाद इनकी भक्तिचर्या अबाध रूप से चल पड़ी और ये मीरा की ही भाँति कृष्ण की दीवानी हो गयीं। किशनप्यारीजी वल्लभ-सम्प्रदाय की

अनुगामिनी थीं, इसलिए उसकी मान्यता के अनुकूल नियमित रूप से कृष्ण की झाँकी सजाती थीं और उन्हीं-की सेवा-पूजा में सदा लगी रहती थीं। इनके ऊपर मदनमोहनजी की बड़ी कृपा थी। उसके प्रभाव से इनके जीवन में अनेक चमत्कारी घटनाएँ घटीं। कहा जाता है कि एक बार एक बालक को किसी सर्प ने डस लिया। झाड़-फूँक के बाद जब वह ठीक न हुआ तो लोग उसे इनके पास लाये। इन्होंने जैसे ही कृष्ण-जप करते हुए मंत्रोच्चार किया, लड़के ने आँखें खोल दीं और थोड़ी देर बाद वह स्वस्थ हो गया।

किशनप्यारीजी ने अपना सारा जीवन भगवद्-स्मरण-कीर्तन में बिताया। जो समय उससे बचा उसे दीनसेवा में लगा दिया। अपनी सहजता, सरलता और मृदुल व्यवहार से इन्होंने लोगों का दिल जीत लिया था। भगवान् की सेवा और पूजा करते हुए इन्होंने ६७ वर्ष व्यतीत किये। सन् १९४९ ई० में इन्होंने इष्टदेव के नित्यधाम के लिए प्रस्थान किया।

किशनप्यारीजी कृष्ण की प्रीति में डूबी रहनेवाली रसावेशी साधिका थीं। भाव की चरम स्थिति में इनके उद्गार काव्यमय भाषा में व्यक्त होते थे। इनकी रचनाओं में 'कृष्णा' छाप मिलती है। इन्होंने अनेक भावप्रवण पदों को रचना की है, जिनमें भाषा की सहजता-सरलता के साथ ही लोक-धुनों का माधुर्य भी विद्यमान है। इनकी किसी स्वतंत्र कृति का पता नहीं चलता, कुछ फुटकर पद या छन्द ही उपलब्ध हैं। नमूने के रूप में यहाँ दो पद दिये जा रहे हैं—

(१)

श्याम झूला झूलन को बुलाय गयो री।
मैं सोई थी अपने भवन में,
कंकरी मार के जगाय गयो री॥
मारी सैन चलो कुंजन में,
नैनों के बाण चलाय गयो री।
अधर मधुर धुनि मुरली बजाय के,
मीठी-सी तान सुनाय गयो री॥
मोर-मुकुट मकराकृत-कुण्डल,
साँवरी सुरतिया दिखाय गयो री।
घाट-बाट में ढूंढ़त डोलूं,
मोहि कृष्णा हो नाम बताय गयो री॥

(२)

अरे मन! गोविन्द क्यों न भजे।
यह संसार सदा नहि रहना एक दिन जाना तुझे॥
काम, क्रोध, मद, लोभ त्याग दे,
सत्य की गाड़ धजे।
चोरी-चुगली पर-घर-निन्दा,
इनको क्यों न तजे।
कृष्णा प्यारी प्रभु यश गावै,
चरनन ध्यान धरे॥

ह० नं० भा०

किशनलाल (कृष्ण कवि)

शतरंज के भारत-विख्यात खिलाड़ी किशनलाल कृष्ण-भक्त थे। इनका जन्म सन् १८७४ ई० तथा मृत्यु सन् १९३७ ई० को हुई। इनके दो ग्रंथ 'गजेन्द्र-मोक्ष' तथा 'कृष्ण-कवितावली' प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

आये भोर उठिकै बिताई प्रिय रैन कहाँ,
आलस उनींदें दृग लाजन सों छूटी है।
अंजन अधर छवि देत मनो नीलम की,
जावक लिलार प्रभा मानिक-सी टूटी है॥
'कृष्ण कवि' कहैं माल बिनु गुन मुकतन की,
ठौर-ठौर अंजन में राजत सूठी है।
साँच कहि दीजै हा हा नेक ना दुराव कीजै,
कौन से नवीन जौहरी की हाट लूटी है॥

ह० नं० भा०

किशनसिंह

ठाकुर किशनसिंह बीकानेर जिलान्तर्गत गारबदेसर नामक स्थान के निवासी थे। ये श्री मुरलीधर के अनन्यभक्त थे। कहा जाता है कि इनको प्रतिदिन पूजन के पश्चात् सवा मासा सोना भगवान् से मिला करता था और ये उक्त सोने को नित्य ब्राह्मणों को दान कर दिया करते थे। एक दिन ठकुरानी साहेबा

ने हठ करके सोना अपने पास रख लिया। उसके बाद मूर्ति द्वारा सोना प्राप्त होना बन्द हो गया।

इनके सम्बन्ध में बहुत सी चमत्कारिक घटनाएँ सुनी जाती हैं।

ठाकुर साहब ईश्वर की शपथ का बहुत मान रखते थे। एक बार कुछ चोरों ने इनको यह शपथ दिला दी थी कि "ठाकुर साहब! हम ऊँटों को ले जाते हैं। यदि आपने किसीसे कहा तो आपको भगवान् की आन (शपथ) है।" ठाकुर साहब ने किसीसे नहीं कहा, परन्तु चोर ऊँटों को रातभर दौड़ाकर सवेरे वापस उसी गाँव में आ गए। प्रातःकाल चोरों ने पूछा—"यह कौन-सा गाँव है?" लोगों द्वारा गारवदेसर सुनकर उनको बहुत ही आश्चर्य हुआ और पकड़े जाने के भय से वे भयभीत होकर ऊँटों को वहीं छोड़कर भाग गये।

एक बार ठाकुर साहब किसी यात्रा में महाराजा के साथ जा रहे थे। राह में पूजा का समय हो जाने से ये कपड़ा ओढ़कर घोड़े पर ही भगवान् की मानसिक पूजा करने लगे। पूजा में आप भगवान् को दही का भोग लगाने की तैयारी कर रहे थे, इसी बीच महाराजा की दृष्टि उधर गयी। उन्होंने दो-तीन बार पुकारकर कहा—"किशनसिंह! नींद ले रहे हो क्या?" ठाकुर साहब मानसी पूजा में मग्न थे। उनको महाराजा साहब का पुकारना सुनायी ही नहीं पड़ा। इससे रुष्ट होकर महाराज ने अपना घोड़ा इनके घोड़े के पास ले जाकर इनका कपड़ा खींचकर दूर कर दिया। फिर महाराजा ने उधर दृष्टि डाली तो उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ क्योंकि ठाकुर साहब की देह तथा घोड़े पर दही-ही-दही फैला हुआ था। उन्होंने ठाकुर साहब से पूछा—"किशनसिंह! यह क्या है?" कुछ समय तो ठाकुर साहब चुप रहे, परन्तु महाराजा के अधिक आग्रह करने पर इन्होंने निस्संकोच बता दिया कि "महाराज! मैं मानसिक पूजन में भगवान् को दही का भोग लगा रहा था, पर आपके वस्त्र खींचने से मैं चौंक उठा। अकस्मात् हिल जाने से मेरा मानसी-दही गिर गया। वही भगवान् की लीला से प्रत्यक्ष हो गया मालूम होता है।" यह सुनकर महाराजा ने गद्गद होकर इनसे कहा—"अब आप घर चले जायँ और भगवान् का भजन करें।"

एक बार सरकारी बकाया देने में देर होने पर महाराजा ने रुष्ट होकर कहा—"किशनसिंह! यह ठीक नहीं है, समय पर सरकारी लगान जमा हो जाना चाहिये।" ठाकुर साहब के मुँह से निकल गया—"दीपावली तक ठहरिये। आपके रुपये जमा करके ही दीपावली का पूजन करूँगा।" यह कहकर ठाकुर साहब घर लौट आये। परन्तु समय पर रुपये इकट्ठे न हो सके। ठीक दीपावली को सन्ध्या तक इन्होंने इधर-उधर से जुटाकर रुपये एकत्र किये। पूजन करने का समय हो जाने पर भीतर से आदमी बुलाने आया, पर वे बिना पूजन किये ही रुपये लेकर घोड़े पर सवार हो गये और सुबह तक साठ मील चलकर बीकानेर पहुँचे। दरबार में इनको देखते ही महाराजा ने पूछा—"किशनसिंह! तुम कल ही जानेवाले थे न? क्या बात है? गये कैसे नहीं? रात को तुम्हारी तबीयत तो नहीं बिगड़ गयी?" महाराजा की बात सुनकर ठाकुर साहब ने कहा—"अन्नदाताजी! मैं तो अभी-अभी रुपये जमा करने के लिए सीधे गाँव से चला आ रहा हूँ। मैं कल यहाँ था ही नहीं, आपको किसी दूसरे की बात का स्मरण रह गया होगा।"

यह सुनकर महाराजा ने कहा—"तुम क्या कहते हो? अभी रुपए जमा कराने आये हो? रुपए तो तुमने कल ही जमा करा दिये थे।"

ठाकुर साहब ने उत्तर दिया—"नहीं अन्नदाता! मैं तो कल गाँव में ही था। आप क्या कह रहे हैं?" अन्त में महाराजा ने रोकड़ में जमा राशि पर अपने और इनके हस्ताक्षर दिखाये! उसको देखते ही ठाकुर साहब की आँखें प्रेमाश्रु से भर गयीं। इनके मुँह से केवल इतना ही निकला—"हाँ! हस्ताक्षर तो मेरे जैसे ही हैं।" ठाकुर साहब इसको भगवान् की लीला समझकर गद्गद हो गये। बीकानेर-नरेश भी भक्त की महिमा और भगवान् की भक्तवत्सलता देखकर मुग्ध हो

गये। ठाकुर साहब ने घर लौटकर भगवान् मुरलीधरजी का मन्दिर बनवाया।

स० गु०

किशोर

किशोरजी का जीवन-परिचय विस्तारपूर्वक सम्प्रदाय के चरित्र-ग्रन्थों में नहीं मिलता, किन्तु इनके नाम का सादर स्मरण प्रायः सभी भक्त-यश-गायकों ने किया है। इनका सर्वप्रथम उल्लेख ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्तनामावली' में किया है। वे लिखते हैं कि श्री किशोरजी ने श्री हितहरिवंश गोस्वामी की रस-भजन-पद्धति का निर्वाह भली प्रकार से किया—

परमानन्द किशोर दोउ सन्त मनोहर खेम।
निर्वाह्यौ नीके सबनि सुन्दर भजन को नेम॥

श्री गोविन्द अलि ने ध्रुवदासजी की उपर्युक्त पंक्तियों में अन्तर्निहित तथ्यों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सुन्दर भजन तथा दृढ़ अनन्य व्रत का भली प्रकार निर्वाह करनेवाले किशोरजी अपने गुरुवर गोस्वामी श्री हितहरिवंशजी की अंगसेवा सानुराग किया करते थे और अहर्निश परमोपास्य श्री लाड़िलीलाल की भावना में पगे रहते थे। इनकी निश्छल तथा प्रीतिपूर्ण सेवा से प्रसन्न होकर श्री हिताचार्य ने अपने हृदय की माला-श्री राधिका-रति-निकुंज-मंडली—का स्फुरण इन्हें प्रदान कर दिया था और इस प्रकार परमधन-दान से धनी बनाकर इन्हें भी अपने बराबर कर लिया था—

श्री हित व्यास कुमार की, करत खवासी नेम।
भाव-भावना में पगे, संत मनोहर खेम॥
संत मनोहर खेम किशोर गांगू गोपाला।
इनहूँ कौ प्रभु रीझि दई अपनो उर माला॥
आप बराबर किये जिये संसृति कौ नासर।
चरणोदक कौ पान सीथ दृढ़ व्रत निसि-बासर॥

—भक्तगाथा

'करत खवासो नेम' से यह तो निश्चित है कि ये श्री हित जू के भृत्य थे। यदि गो० श्री हितहरिवंशजी के साथ चिड़थावल नामक स्थान से आये अनेक अनुगों में से श्री किशोरजी को भी मान लिया जाय तो इनका निवास-स्थान चिड़थावल स्वीकार किया जा सकता है अन्यथा समुपलब्ध तथ्यों के आधार पर हमें इतनी ही जानकारी से सन्तोष करना पड़ेगा कि ये श्री हित जू के कृपा-पात्र भृत्य थे और गुरुवर द्वारा प्रदत्त अमूल्य भाव-निधि से सुसम्पन्न होकर भी इन्होंने अपने को तथा अपनी निधि को छिपाये रखा। इनका उपस्थिति-काल अनुमानतः विक्रम सं० १५५० से सं० १६३० तक माना जा सकता है।

श्या० बि० खं०

किशोरदास (प्रथम)

रसिकाचार्य श्री स्वामी हरिदासजी महाराज के द्वादश शिष्यों में किशोरदासजी का नाम महत्त्वपूर्ण है। ये भक्तवर श्री हरिरामजी व्यास के कनिष्ठ पुत्र थे। व्यासजी महाराज के तीन पुत्र थे—सबसे बड़े थे रामदास, दूसरे विलासदास तथा तीसरे किशोरदास। व्यासजी ने इन तीनों पुत्रों को परीक्षा लेने के लिए अपनी सम्पत्ति को तीन भागों में विभाजित किया जो इस प्रकार थी—१. समस्त संपत्ति, २. सेव्य ठाकुर श्री युगल किशोरजी एवं ३. श्याम-वंदनी अर्थात् उनके द्वारा माथे पर लगाये जानेवाले तिलक और छाप के लिए श्री वृन्दावन की रज। तीनों पुत्रों को बँटवारे के लिए बुलाया गया। सर्वप्रथम उन्होंने रामदास से कहा—"तुम जो चाहो, इन तीनों में से अपना भाग उठा लो।" रामदास ने भौतिक धन-संपत्ति को महत्त्व दिया और वे उसके अधिकारी बन गये। दूसरे पुत्र की बारी आने पर उसने शेष दोनों में से श्री युगल किशोर की सेवा को वरीयता दी। अब तीसरा भाग रह गया-वृन्दावन की रज अर्थात् श्याम-वंदनी। किशोरदासजी ने कहा—"पिताजी, मैंने तो पहले ही इस वस्तु को वरण कर रखा था। यही मेरा अभीष्ट था। अच्छा हुआ, मेरी अभीष्ट वस्तु ही मुझे प्राप्त हो गई।" वस्तुतः श्याम-वंदनी लेने का अर्थ है विरक्त होकर साधना के मार्ग पर चलना। श्री हरिरामजी व्यास ने हृदय से किशोरदासजी को ही अपना वास्तविक उत्तराधिकारी माना।

भक्तमाल के टीकाकार प्रियादासजी ने इस घटना का वर्णन निम्नलिखित कवित्त में किया है—

भये सुत तीन बाँट निपट नवीन कियौ,
एक ओर सेवा एक ओर धन धरचौ है।
तीसरी जु ठौर स्याम-वंदनी औ छाप धरी,
करी ऐसी रीति देखि बड़ौ सोच परचौ है।
एक ने रुपैया लिये, एक ने किसोर जू को,
श्री किशोरदास भाल तिलक लै करचौ है।
छाप दिये स्वामी हरिदास, निसि रास कीनी,
वही रास ललितादि गायौ मन हरचौ है॥

किशोरदास को श्री श्यामाश्याम के प्रेमरस का अन्यतम अधिकारी समझकर व्यासजी इन्हें अपने साथ लेकर रसिकशिरोमणि श्री स्वामी हरिदासजी महाराज की सेवा में निधिवन में उपस्थित हुए। उन्होने किशोरदास के अकिंचन स्वभाव का उल्लेख करते हुए उनसे प्रार्थना की—"अपना शरणागत शिशु समझकर इस बालक को अङ्गीकार करें।" व्यासजी की प्रार्थना पर श्री स्वामीजी महाराज ने नित्य-विहार-रस की दीक्षा किशोरदास को दी और तदनुकूल विरक्त वेश से विभूषित कर दिया।

स्वामीजी ने विरक्त वेश प्रदान करने के पश्चात् इनको वंशीवट पर रहने का निर्देश दिया। जिस दिन ये दीक्षित हुए, उसी रात इन्होंने रास-सम्बन्धी एक पद को रचना को। इनके मन में श्री श्यामाश्याम की दिव्य लीलाओं की अनुभूति की तीव्र लालसा जगी। दिव्य प्रेम-रस के आस्वादन की यह आकांक्षा उत्तरोत्तर बलवती होती गई। गुरुदेव की अहैतुकी कृपा से किशोरदासजी के कर्ण-कुहरों में मृदंग, किंकिणी, मंजीर एवं वंशी की प्राणाकर्षक ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। इनके तन-मन-प्राण आनन्दातिरेक से उन्मत्त होने लगे। उस समय इन्हें दृष्टिगोचर हुआ कि दिव्यरत्नजटित रासमण्डल पर श्री श्यामाश्याम नृत्य कर रहे हैं और सहचरीगण विविध वाद्यों को बजा रही हैं। ललिताजी उसी पद का प्रिया-प्रियतम के समक्ष गान कर रही हैं, जिसको श्री किशोरदासजी ने रचा था। वह पद इस प्रकार है—

लाल लडकंता जोवन भंता,
खेलत रास अनंता।
जमुनातीर भीर जुवतिन की, बाहु जोरि
मंडली बनाई, मध्य राधिका कंता॥
एकनि के कर कुच कपोल
परसत परिरंभन देत हसंता।
किशोरदास के स्वामी बिहारी-
बिहारिनि इहि बिधि केलि करंता॥

ठीक उसी समय इसी लीला का अनुभव श्री व्यासजी को भी हुआ। पिता-पुत्र रसिकशेखर श्री स्वामीजी महाराज को कृपा का स्मरण कर गद्गद हो गये।

व्यासजी एवं किशोरदासजी ने स्वामी हरिदासजी के समक्ष हर्षोन्मत्त हो साष्टांग दण्डवत किया। स्वामीजी महाराज ने मुस्कराते हुए कहा, "व्यासजी! आप लोगों की मुखाकृति व्यक्त कर रही है कि आप दोनों ही किसी गहन मादकता के वशीभूत हैं।" व्यासजी ने निवेदन किया—

सिद्ध प्रसिद्ध भनैं तव कीरति,
पावन पुञ्ज प्रभाव उजासू।
जोति लियौ कलिकाल सु ताकर,
भाँति अनेक भयौ उपहासू॥
आय परें पद-पंकज में जन,
ताहि करौ अपने सम आसू।
नाहिं कोऊ जग माँहि बराबर,
हौ तुमसे तुमहीं हरिदासू॥

किशोरदासजी श्री स्वामो हरिदासजी महाराज द्वारा प्राप्त रहनी-रीति एवं रसोपासना के आदर्श थे—

अनन्यनि कौन परवाह।
कुञ्ज बिहारी (जू) की आसा
लीने कर करवाह॥
कोटि मुक्ति सुख होत गोखरू
जबै लगत तरवाह।

श्री वृन्दावन के देखत भाजत
नैननि के हरवाह।
इतनी आस 'व्यास' की पुजवहु
बाँधि गुदी सरवाह ॥

श० वि० गो०
रा० कृ० श०
प्रे० ना० श्री०

किशोरदास (द्वितीय)

चाचा श्री हितवृन्दावनदासजी कृत 'हित-रूप-चरित्र-बेली' के वर्णनानुसार किशोरदासजी गो० श्री रूपलालजी के समकालीन थे तथा बरसाने में रहा करते थे।

सम्वत् १८०० के माघ मास में गो० श्री हित रूपलालजी बरसाने गये थे। वहाँ के अनेक स्थलों पर किये गये उनके चरित्रों का वर्णन करते हुए चाचाजी ने लिखा है कि "एक दिन गोस्वामीजी मानोखर में स्नान करने गये हुए थे। वहाँ उनको सघन लता-कुंजों के बीच में अभूतपूर्व बिजली की-सी चमक दिखायी पड़ी, साथ ही नूपुर की मधुर ध्वनि भी सुनायी पड़ी। लता-कुंज की ओर टकटकी लगाकर देखने पर उन्हें स्वामिनी श्री राधा के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। आनन्दातिरेक में उनका हृदय धड़कने लगा और वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े, नेत्रों से प्रेमाश्रु, शरीर में कंप, रोमांच, स्तम्भ और विवर्णादि अष्ट सात्त्विक भावों का उदय देखकर साथ के रसिकों ने समझ लिया कि गोस्वामीजी को प्रियाजी के साक्षात् दर्शन हुए हैं। तब अनुगतों ने उठाकर गोस्वामीजी को बैठाया और चैतन्य करने की चेष्टा करने लगे। चैतन्य होने पर गोस्वामीजी ने किशोरदासजी को बुलवाया, जो वहीं पर किसी कुंज में निवास करते थे, इनको एक उपरैना उढ़ाकर इनका सम्मान करते हुए उन्होंने कहा—"श्री प्रियाजी यहाँ पर नित्य खेलती हैं। अतः तुम यहाँ पर एक रासमंडल बनवाकर तैयार करो"--

नाम किशोर जु दास रहै तिहिं कुंज में।
लीनौ ताहि बुलाय भरे सुख पुंज में॥
उपरैना जु उढ़ाय बात हित की कही।
हरिहौ ह्याँ नित खेलति कुँवरि रचौ मंडल सही॥

—श्री हित-रूप-चरित्र-वेली

गोस्वामी श्री रूपलालजी द्वारा श्री किशोरदासजी को उपरैना उढ़ाकर सम्मानित करना तथा मंडल बनवाने की अपने हृदय की एक मधुर अभिलाषा-विशेष पूरो करने का आग्रह करना—इस तथ्य को प्रकट करता है कि किशोरदासजी तत्कालीन रसिकों में एक अच्छे भजन-भावना-परायण और विशिष्ट साधक रहे होंगे; साथ ही इनका गो० श्री रूपलालजी से निकट का साहचर्य भी रहा होगा। हो सकता है कि ये उनके कृपा-पात्र भी रहे हों।

वर्तमान काल में मानोखर पर अनेक मंडलों के भग्नावशेष विद्यमान हैं। उनमें श्री किशोरदासजी द्वारा निर्मित मंडल कौनसा है, यह अनुसन्धेय है।

इनके ऐहिक जीवन से सम्बद्ध अन्य बातें सर्वथा अज्ञात हैं।

श्या० बि० खं०

किशोरदास (तृतीय)

श्री किशोरदास (तृतीय) चित्तौड़ के समीपस्थ किसी स्थान के निवासी और जाति के खण्डेलवाल वैश्य थे। अनुमानतः इनका जन्म वि० सं० १६०० के लगभग हुआ होगा। इनका प्रारम्भिक जीवन भोगमय था। युवावस्था में ही राजपूताना की एक गोसाइँ गद्दी के महन्त हो जाने के कारण ये धन-वैभव की लिप्सा में फँस गये, किन्तु रस-सिद्ध महात्मा श्रीरामराय प्रभु के सत्संग से इनकी भोग-वृत्ति बदल गई और ये विरक्त होकर श्रीधाम वृन्दावन में रहने लगे। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर इनका गोलोकवास वि० सं० १६६० में मानना संगत प्रतीत होता है।

इन्होंने 'कामकलेवर' नामक एक पुस्तक दोहा-सवैया छन्दों में लिखी है। इस रचना से एक छन्द प्रस्तुत है--

आँख रहे अंधौ भयौ, ज्ञान रहे अज्ञान ।
धूरि काम के पाम की, परी शीश में आन ॥
काम फँस्यौ संसार सब, कोऊ अधिक कोउ थोर ।
राजा-रानी रंक-बुध, सुधि नहिं करत किसोर ॥

इनकी दूसरी रचना है 'सेवा-प्रणाली' जिसका रचनाकाल वि० सं० १६४० है। इसका विषय राधाकृष्ण की सेवा-पद्धति है। यह रचना गद्य में है। किशोरदासजी की कविता में उत्कृष्ट भाव-सम्पदा की प्रचुरता के साथ-साथ प्रशंसनीय उद्बोधन-शक्ति भी मिलती है।

न० च० वं०

किशोरदास/भानसखी

श्री किशोरदास तथा भानसखी दोनों ही गोस्वामी हितरूपलालजी के शिष्य थे—

गुरु श्री हित रूप जु चरन भास ।
मन क्रम करैं टहल किशोरदास ॥
पुनि भानसखी रचैं कूट हास ।
कियो देह अन्त लगि विपिन वास ॥

—चतुर्थ-वसन्त-प्रबन्ध

शरणागति-काल से ही इनका मन श्री 'सेवक-वाणी' के पाठ में रम गया था—

प्रथम जु सेवहु गुरु के चरण ।
जिन यह धर्म कह्यौ सब करन ॥

• •

गुरुसेवा तजि करहिं जे आनि ।
यहै अधर्म यहै सब हानि ॥

सेवक-वाणी के ये आदेश इनके जीवन में पूर्णरूप से आचरित देखे जाते थे। ये गुरुदेव के साथ रहकर उनकी प्रत्येक सेवा सानुराग किया करते थे। इस गुरु-चरण-रति के कारण ये दोनों गो० श्री रूपलालजी के दिल्ली प्रवास-काल में भी उनके साथ रहे। गो० जी को जयपुराधीश महाराजा जयसिंह के धर्मोत्पीड़न के कारण २१ वर्ष (सं० १७८० से सं० १८०१ तक) दिल्ली रहना पड़ा था और जब सं० १८०१ में गोस्वामीजी ने पुनः वृन्दावन-वास किया तो ये भी उनके साथ श्रीवन चले आये और आजीवन यहीं निवास किया। गुरु-सेवा का मधुर फल इन्हें इष्ट-साक्षात्कार के रूप में इसी जीवन में प्राप्त हो गया था। इस अमूल्य निधि की उपलब्धि के कारण जब कोई इनकी प्रशंसा करता था तो ये दोनों हास-विनोद में ही उस बात को छिपा जाते थे।

इनका उपस्थिति-काल सं० १७५० से १८२० तक माना जाता है।

श्या० वि० खं०

किशोरदास (महन्त)

पीताम्बरदेवजी के शिष्य श्री किशोरदासजी द्वारा रचित 'निजमतसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ संप्रदाय का इतिहास विस्तार से प्रस्तुत करता है। परन्तु इसमें उल्लिखित घटनाएँ और सन्-संवत् इतिहास से मेल नहीं खाते। इसलिए यह ग्रन्थ अप्रामाणिक माना जाता है। इस ग्रन्थ में किशोरदासजी ने अपना जीवनवृत्त भी दिया है जिसके कतिपय अंशों पर विश्वास किया जा सकता है। उसके अनुसार इनका जन्म राजस्थान के ढूँढाड़ अथवा मत्स्यदेश की राजधानी आमेर में हुआ था। इनके पिता पं० घासीराम एक विद्वान् सारस्वत ब्राह्मण थे। माता का नाम खेमादेवी था जो श्री पीताम्बरदेव की शिष्या थीं। माता के प्रभाव से इनमें भी बचपन से ही भक्ति के बीज अंकुरित होने लगे और अल्पायु में ही सं० १७९१ में ये पीताम्बरदेवजी के शिष्य हो गये।

इनका जन्म संभवतः सं० १७८४ वि० के आसपास हुआ था। माँ की अकस्मात् मृत्यु के उपरान्त ये तीर्थाटन करने निकले और पश्चिमोत्तर भारत की विस्तृत यात्रा की। इस यात्रा में इनके साथ अनेक चमत्कार घटित हुए। मार्ग में इन्हें दो मुसलमान सज्जन मिले, जिन्होंने इनकी माला छीन ली। प्रसिद्ध है कि इनके कष्ट को देखकर भगवान् श्री रणछोरजी स्वयं बालक के रूप में आये और इन्हें माला देकर चले गये। इसी प्रकार जब ये कच्छ की खाड़ी में होकर यात्रा कर रहे थे तब समुद्री तूफान आने से इनकी नाव

भटक गई। नाव में सवार यवनों ने इनको समुद्र में फेंक देना चाहा, परन्तु तभी इनकी प्रार्थना पर गोकुल के गोस्वामियों की एक नाव सहसा वहाँ आ पहुँची। उन्होंने उस नौका के यात्रियों को पानी से निकालकर सभी के प्राण बचाये। इसे सबने किशोरदासजी का चमत्कार मानकर इनकी वन्दना की।

कश्मीर में क्षीरभवानी नामक स्थान के वर्णाश्रमी ब्राह्मणों के दम्भ को इन्होंने दूर किया और वहाँ हरिदासी सन्तों के दर्शन किये। पर्वतों में मार्ग भूल जाने पर इन्हें महाशक्ति के द्वारा मार्ग बताया गया। अच्युतवन नामक स्थान में इन्हें श्यामा-श्याम के दर्शन हुए। इससे आगे बढ़ने पर इन्होंने एक गाँव देखा जहाँ २०० बकरियाँ चर रही थीं। साथ में दस श्वान भी थे। वे सब आधे योजन में बने एक बाँस के घेरे में प्रविष्ट हो गये। ये अकेले थे और वातावरण भयावह था। रात्रि में इन्हें एक विकराल आकृतिवाला दस गज से भी अधिक लम्बा राक्षस दिखाई दिया जो एक बड़े पत्थर के प्याले में दस मन दूध पी जाता था। इस महादैत्य ने इन्हें भी दूध पिलाया और उसके कुत्ते इन्हें मार्ग बता गये। इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग में इन्होंने भूखे होने पर किसी अज्ञात स्त्री द्वारा प्रसाद-प्राप्ति की कथा लिखी है। इन्होंने अपने सामने आये हुए एक शेर के भयभीत होकर चुपचाप चले जाने की एक घटना का उल्लेख किया है। ये सभी घटनाएँ चमत्कारिक हैं। इन पर भावना से ही विश्वास किया जा सकता है।

जो भी हो, तीर्थाटन से लौटने पर किशोरदास अपने गुरु पीताम्बरदेव की आज्ञा से श्री रसिकबिहारी की सेवा करने लगे और वहीं रहकर इन्होंने साहित्य-सृजन किया। इनकी दीर्घायु को देखते हुए सं० १८७० के लगभग इनका देहावसान-काल माना जा सकता है।

इनका साहित्य विविधता लिये हुए है। इनकी कृतियों को सिद्धान्तपरक, रसपरक, बधाई, गुरु-प्रणालिका और इतिहास-संबंधी साहित्यधाराओं में वर्गीकृत किया जा सकता है। इनके सिद्धान्तपरक साहित्य में 'सिद्धान्त-सरोवर', 'सिद्धान्त-सार-संग्रह', 'अद्भुत-आनन्द-सत' एवं 'उपदेश-आनन्द-सत' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। रसपरक साहित्य में 'प्रेमानन्द-पच्चीसी', 'वृन्दावन-विपिन-विलास', 'नेह-तरंग' और 'वर्षोत्सव' हैं। बधाई-साहित्य में 'आचार्योत्सव' की गणना की जा सकती है। इतिहासपरक रचनाओं में 'निजमत-सिद्धान्त', 'आसुधीरजी कौ चरित' तथा 'बिहारिनदेवजी कौ चरित' प्रमुख हैं।

इनके द्वारा रचित 'निजमत-सिद्धान्त', सर्वाधिक विवादास्पद ग्रन्थ है। यह चार खण्डों में विभाजित है। इसकी रचना के तीन मूल कारण दिखाई देते हैं—१. स्वामी हरिदासजी के संप्रदाय को निम्बार्क-संप्रदाय की एक शाखा सिद्ध करने का प्रयास, २. स्वामी हरिदासजी के चरित्र को परम्परा से भिन्न नवीन और कल्पित रूप में लिखने का प्रयास जिससे गोस्वामी-वर्ग को स्वामी हरिदासजी को वंश-परंपरा से पृथक् सिद्ध किया जा सके और ३. संप्रदाय की गौरव-वृद्धि के लिए अन्य संप्रदायों को हीन सिद्ध करने का प्रयत्न।

स्वामी हरिदासजी सं० १६३०—३२ तक इस धराधाम पर विद्यमान थे। 'निजमत-सिद्धान्त' ग्रन्थ की रचना इसके ठीक २०० वर्ष पश्चात् सं० १८३०-३२ में हुई। यह आश्चर्य की बात है कि किशोरदासजी से पूर्व इस संप्रदाय के किसी भी आचार्य ने न तो स्वामी हरिदासजी को निम्बार्क-सम्प्रदाय का अनुयायी बताया है, न स्वयं को। वास्तविकता यह थी कि राजा सवाई जयसिंह ने जब वृन्दावन के प्रेमोपासक संप्रदायों से उनकी वेदानुकूलता का प्रमाण माँगा तो श्री पीताम्बरदेव और किशोरदासजी के समक्ष इसके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं था कि वे या तो चैतन्य-संप्रदाय के आदर्श पर स्वयं एक भाष्य लिखते अथवा अपने संप्रदाय को वेदान्त-दर्शन पर आधारित किसी अन्य सम्प्रदाय से जोड़ देते। किशोरदासजी ने 'निजमत-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ को लिखकर यही किया। उन्होंने हरिदासी संप्रदाय को निम्बार्क-संप्रदाय की एक शाखा घोषित कर दिया।

परन्तु इस हेतु इनके द्वारा लिखी गई गुरु-प्रणालिकाएँ, आदि घटनाएँ और समय-संवत् इतिहास-विरुद्ध सिद्ध होते हैं। 'निजमत-सिद्धान्त' का अनुशीलन करनेवाले सभी विद्वानों ने एक स्वर से उसे एक मनगढ़न्त और अप्रामाणिक रचना माना है। इसी ग्रन्थ के कारण किशोरदासजी का व्यक्तित्व विवादास्पद रहा है। यही नहीं, इनकी अन्य कृतियाँ भी इसी प्रकार के अंतर्विरोध और अप्रामाणिकता से ग्रस्त हैं।

जहाँ तक किशोरदास की सिद्धान्तपरक रचनाओं का प्रश्न है, उनमें भी ये यत्र-तत्र श्री निम्बार्काचार्य का उल्लेख तो करते हैं, परन्तु सर्वोपरिता स्वामी हरिदासजी को ही देते हैं। स्वामी हरिदासजी के नित्यविहार के स्वरूप को इन्होंने दृढ़ता से ग्रहण किया है। उसी आधार पर इन्होंने अपनी रसपरक रचनाओं में नित्य-विहार का वर्णन किया है। यहाँ इनके तीन पद प्रस्तुत हैं—

(१)

खड़े मिलि नव निकुंज के द्वार।
निरखत विपिन सघन सोभा-निधि
सफल सुखन को सार॥
प्रफुलित कुसुम ललित दल कोमल
चित्रित थिर भुज डार।
वलित बेलि बोलत सुक कोकिल
बदन संग सुकुमार॥
परसत पवन रवन-रवनी तन
उदित होत मन मार।
श्री दासि किसोर-किसोरी विहरत
रसवस विविध प्रकार॥

(२)

सबनि पर नित्य विहार उपास।
ब्रह्मा विष्नु स्यंभु सनकादिक पायो प्रगट प्रकास॥
निर्गुण ब्रह्म सेस श्रुति गावत
पद नख को आभास।
सगुन अगुन वपु उदित तास तैं
लहत विवेकी दास॥
येक ही भयो अनेक रमत रस
वृन्दा विपिन निवास।
जनम अपमित बीते जनमत
दास किसोर विलास॥

(३)

(राग-केदारो। दीपक बिहार)

निरखि दम्पति परम प्रेम की यामिनी।
सकल सम्पति भई उदित अह्लाद मणि-
दीप-रचना करत कुंज-वन कामिनी॥
चलत रस-सरित नव नलिन अति भ्रमत तरु
बलित वल्ली कुसुम फलित अभिरामिनी।
तरुणतनु तूल बल तेज-आतुर अमित
अनल मन मदन लख बदन मिलि भामिनी॥
रवन मनभवन मिलि निरखि हरषित चली
मिली रसरत्त मनोमत्त गजगामिनी।
राग रंगिनि रँगी दरसि दृग जगमगी
दास किशोर सब सुयश सुनि स्वामिनी॥

प्रे० ना० श्री०

किशोरदास (स्वामी)

किशोरदासजी का जीवन-वृत्त अज्ञात है। चाचा वृन्दावनदास कृत 'चतुर्थ-वसन्त-प्रवन्ध से इतना ही ज्ञात होता है कि ये झूंठा स्वामीजी की शिष्य-परम्परा में आते हैं। ये साधुओं की जमात लेकर स्थान-स्थान पर भ्रमण किया करते थे और अपने सदुपदेशों, सदाचरणों एवं आदर्श भक्तों के जीवन-चरित्रों के माध्यम से जिज्ञासुओं का कल्याण किया करते थे।

चाचाजी ने इनका नामस्मरण 'चतुर्थ-वसन्त-प्रबन्ध' में किया है। इस आधार पर इनका विद्यमान-काल सं० १७२२ से सं० १८२२ के बीच अनुमानित होता है। 'चतुर्थ-वसन्त-प्रवन्ध' में आपके सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं—

झूंठा स्वामी के भृत्य-भृत्य।
कहा बरनौं दास किशोर कृत्य।

परहित महंत जग माँहि कृत्य ।
होरी कौतिक लख्यौ इष्ट नित्य ॥

श्या० बि० खं०

किशोरलाल (गोस्वामी)

गो० किशोरलाल का संक्षिप्त जीवनवृत्त 'रसिक-अनन्य-परचावली' में इन शब्दों में मिलता हैं—

रहत सदा एकान्त सकल व्यौहार बिहायौ ।
जुगल नाम मुख श्रवित आन कछु चित्त न आयौ ॥
करि संयम नित बैन नैन कछु सुख भरि घूमैं ।
भेदी जानैं मरम कृपा मन्दिर रस झूमैं ॥
श्री किशोरलाल की समझ कौं, समझि सकै को गूढ़ गति ।
भजन मानसी मन रम्यौ, श्री हरिप्रसाद नन्दन सुमति ॥

ये गोस्वामी वनचन्दजी के चतुर्थ पुत्र गो० श्री व्रजभूषणजी के नाती थे। इनके पिता का नाम गो० हरिप्रसाद था। गो० व्रजभूषणजी का जन्म सं० १६१२ सुनिश्चित है। यदि ५० वर्ष पश्चात् भी इनके नाती (गो० श्री किशोरलाल) का जन्म मान लिया जाय तो इनका जन्म-काल सं० १६६२ के आसपास स्थिर होता है। गो० वनचन्दजी के प्रथम पुत्र गो० सुन्दरवर के नातियों (गो० रासदासजी तथा गो० विलासदासजी) का जन्म-समय सं० १६६५ बताया जाता हैं—इस आधार पर भी गो० किशोरलाल का जन्म-काल सं० १६६० से सं० १६७० के बीच माना जा सकता है।

ये गृहस्थाश्रमी होते हुए भी संसारी व्यवहार-व्यापार से प्रायः असंपृक्त रहते थे। इन्हें एकान्त में रहना अधिक प्रिय था क्योंकि इनका मन इष्ट श्री राधा-वल्लभलालजी की मानसी सेवा में सतत संलग्न रहता था। मानसी-भावना में परिलक्षित नित्यलीला-क्रीड़ा के रसोन्माद से इनके नेत्र अरुणाभ और आघूर्णित बने तेरहथे। मितभाषिता इनकी प्रकृति बन गयी थी। यदि कभी बोलते भी थे तो इष्ट की ललित लीलाओं का ही गान किया करते थे।

यह परम उदाराशय और कृपा की तो मूर्ति ही थे। अपनी उदार वृत्ति के कारण ये रसिकों का मनस्तोष एवं परिपोष किया करते थे फिर भी इनका हार्दिक मर्म (भावमय रूप) इन जैसे सूक्ष्म-द्रष्टा, गूढ़ाशय ही समझ सकते थे। श्री गोविन्द अलिजी ने इनके रसिक-सन्तसेवी रूप का वर्णन करते हुए लिखा है—

सेवा कौ चित चाव मंगला की छवि निरखैं ।

• • •

संतनि आये देखिकै अधिक करैं सनमान ।
दम्पति अति सुख देत हैं हिलग हिये की जान ॥
श्रीहरिप्रसाद के नन्द अब श्रीहितजी के पास हैं ।
श्री किशोरलाल के हीय में नवकिशोर की आस है ॥

श्या० बि० खं०

किशोरी (प्रथम)

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के ऐतिहासिक ग्रन्थों में किशोरीजी के जीवन से सम्बद्ध प्रामाणिक तथ्य नहीं मिलते हैं। इनके स्वरचित ग्रंथ 'रस-सार-संग्रह' के मंगलाचरण एवं अन्त में एतद्विषयक निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होता है—

लोभी लम्पट लालची, नहीं भक्ति कौ लेश ।
परसोत्तम पहिले मिले, सतगुरु दियौ उपदेश ॥
कहँ तू कहँ वृन्दाविपिन, कहँ हरिवंश उदार ।
कहाँ किशोरी लाड़िली, ताको सोच अपार ॥
लोभ लग्यौ निज नाम कौ, लालच की गति आन ।
रसिक अनूपम कृपा तें, ध्रुव बानी पहिचान ॥
दिव्य वृन्दावन देववन, रसिक नृपति कौ राज ।
बीठलदास को नायकी, तासों मेरो काज ॥

• • •

जै जै सेवक ध्रुवदास श्याम बीठल सुत जाये ।
जै जै सेवक ध्रुवदास गुरु गोपीनाथ जु पाये ॥
जै जै सेवक ध्रुवदास हित जू तुम कृपा कीनी ।
जै जै सेवक ध्रुवदास लीला बयालीस दीनी ॥
जै जै सेवक ध्रुवदास तुम्हारी शरनै आयौ ।

जै जै सेवक ध्रुवदास आरत जन लै अपनायौ ॥
आरत जन अपनाइ कैं, कंठहि लियौ लगाइ ।
श्री हरिवंश कृपा करी, रसिकन संग सुहाइ ॥
सप्त सूत नव रस रतन की, माला गुही बनाइ ।
लाड़ विहारिन कृपा करी, लीनी कंठ लगाइ ॥
यह माला रस भजन की, लीजौ चित्तहि फेरि ।
भाव-रतन अगनित मनी, वाको नाम सुमेरि ॥
समै समै चित दीजिये, लीजै मनहि लगाइ ।
प्रगट भाव रस भीतरी, लीजै एक मिलाइ ॥
पाठ भजन पढबौ करै, वस्तु विचारी देखि ।
सेवक वाणी में कह्यौ, सारासार विवेक ॥
काँख आँक अँग कृत कियौ, शब्द मिलावा मेक ।
नामा नामी सो लहै, पहिले रवा गहि एक ॥
चौरासी चिन्तामणि, सेवक वाणी सार ।
नागरीदास निरनै कियौ, ध्रुवबानी उर धार ॥
संवत सै अठारह में, औ गुन चालीस ऊन ।
सम्पूरन चालीस में, संग्रह सार अनूप ॥

इन पंक्तियों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये देववन (देवबन्द) के निवासी थे। इन्हें सौभाग्य से पुरुषोत्तम नामक किसी हित-रस-रसिक का सत्संग-लाभ हुआ था जिनकी पुनीत प्रेरणा से इन्हें सम्बन्ध-दीक्षा की प्रेरणा मिली थी। निरन्तर सद्गुरु की खोज करने के फलस्वरूप इन्हें एक दिन श्री नागरीदासजी नामक कोई राधावल्लभीय भक्त मिल गये और ये उनके चरणाश्रित हो गये। नागरीदासजी ने 'श्री हितध्रुववाणी-बयालीसलीला' के आधार पर वृन्दावन रसोपासना की इष्ट-वस्तु का निर्णय करते हुए इन्हें उपासना-पद्धति का सम्यक् ज्ञान करा दिया।

भक्तवर ध्रुवदासजी की वाणी का इनके जोवन में इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्हींमें इनकी इष्ट और गुरु की भावना सन्निहित हो गयी। इतना ही नहीं, ध्रुवदासजी के सम्बन्ध से उनके पिता श्री श्यामदासजी, पितामह श्री वीठलदासजी तथा उनकी जन्मस्थली देववन तक को भी आपने वन्दनीय बताया है। कोई आश्चर्य नहीं कि ये आजीवन देववन में ही निवास करते रहे हों। 'श्रीहितचतुरासी' तथा 'श्रीसेवक वाणी' के मनन-चिन्तन के साथ-साथ श्रीहित ध्रुवदासजी की वाणी में वर्णित लीलाओं के आधार पर ये मानसी-भावना भी किया करते थे।

इनके ग्रन्थ का रचना-काल सम्वत् १७५७ है। इस आधार पर इनका विद्यमान-काल १७०० से लेकर सम्वत् १८०० के बीच स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

किशोरी (द्वितीय)

'हित-कल्पतरु' में किशोरीजी (द्वितीय) का संक्षिप्त जीवन-वृत्त इन शब्दों में दिया गया है—

साखा बरनौं पांचई, श्री वनचन्द कृपालु ।
सुता किशोरी नाम तिन, भक्ति जगमगी भाल॥
पति जु भक्तिभाजन सुमति, नाम विदित गोपाल।
वास सुदृढ़ बृन्दाविपिन, भजन बितायौ काल॥

ये गो० वनचन्द्रजी की पुत्री थीं। चाचा हित-वृन्दावनदासजी ने इन्हें गो० वनचन्दजी की पाँचवीं संतति लिखा है। गो० वनचन्दजी के सबसे बड़े पुत्र गो० सुन्दरवरजी का जन्म सं० १६०९ में होना सुनिश्चित है—इस आधार पर हित किशोरीजी का जन्म-काल सं० १६२९ के लगभग प्रतीत होता है। ये अपने पिता की लाड़िली बेटी थीं। अतः इनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था गोस्वामीजी ने पुत्रों की भाँति ही की थी। इतना ही नहीं, उन्होंने इनका विवाह भी भक्ति-भावना-पूर्ण श्री गोपालरायजी गौड़ नामक सत्पुरुष से वृन्दावन में ही किया था। समानहृदय पतिदेव की उपलब्धि से इनकी अन्तस्थ भक्ति-बेलि और भी अधिक पल्लवित और कुसुमित हो उठी। इनका प्रत्येक क्षण भजन, मानसीसेवा, भक्ति-ग्रन्थों के अनुशीलन और रसिकों के साथ रस-चर्चा में ही व्यतीत होता था। श्री किशोरीजी श्रीहित कृपालभ्य रस-वैभव को अपने अन्तराल में ही छिपाये रखती थीं। किन्तु उसका दिव्यालोक इनके मुखमण्डल पर सतत उद्भासित रहता था। इनकी उपस्थिति सं० १७०० तक मानी जा सकती है।

श्या० बि० खं०

किशोरी अलि

किशोरी अलिजी का पूरा नाम जगन्नाथ भट्ट था। इनके पिता ब्रजनाथ भट्ट मथुरा-निवासी थे। इनकी पत्नी का नाम 'किशोरी' था जिनके देहावसान पर अतिशय आसक्ति के कारण 'किशोरी' की हृदयगत पुकार ने ही इन्हें किशोरी (राधा) के दर्शन कराये। मथुरा से बरसाने आने पर ये श्री वंशीअलि से दीक्षित हुए।

'श्री नवभक्तमाल' में राधाचरण गोस्वामी ने इनका जीवन-परिचय इस प्रकार दिया है—

श्री वंशीगुरुचरण-कमलमधि दृढ़ विस्वासा।
सर्वशास्त्र सम्पन्न सु जयपुर नगर निवासा॥
विविध ग्रन्थ दृढ़ पन्थ कियो पण्डितगण जीते।
भावभावना विशद कुन्ज अनुभव नित कीते॥
श्री वृन्दावन वासरत, पद वाणी निरुपम ललित।
श्री किशोरी अलि जगन्नाथ की, प्रेम-प्रथा जग में विदित॥

श्री विनयचन्द ने 'बधाई-रसिकमाल' में किशोरी अलि का परिचय देते हुए लिखा है—

ब्रजनाथ सुवन की कहा कहौं, बंशीधर कर सिरधरौ।
जगन्नाथ भट्ट मधुपुरी में, अनन्य उपासक अवतरचौ॥

किशोरी अलि तथा चंदलाल गोस्वामी का समय लगभग एक ही माना जाता है। इनके साथ ही रतन अलि, रूपरसिक आदि का भी उल्लेख मिलता है। किशोरी अलि का समय सं० १७८० से सं० १८६० तक माना जाता है। रूपमंजरी (रचना-काल १८११ वि०) से यह विदित होता है कि इनका जयपुर से सम्बन्ध था तथा वहाँ के शासकों पर इनका अत्यधिक प्रभाव था। महाराजा प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' को भक्ति की ओर प्रेरित तथा आकृष्ट करनेवालों में किशोरी अलिजी की विशेष भूमिका रही है। ब्रजनिधिजी (सं० १८३५–१८६० वि०) ने इनको अपनी 'कवि बाईसी' में स्थान दिया था। जयपुर-नरेशों द्वारा इनको जीविका तथा यथोचित सम्मान प्रदान किया गया था।

किशोरी अलि के नाम से २८ रचनायें मिलती हैं—

१. नाम-विरुदावली, २ भ्रमरगीत-भाषा,
३. राधिका-नामावली, ४. रासपंचाध्यायी-भाषा,
५. रूपरसिक को मंगल, ६. भागवत-स्तुति,
७. शुकदेव-स्तुति, ८. ललिता-मंगल,
९. गुरु प्रणालिका, १०. रसिक-महिमा,
११. वृन्दावनमंगल, १२. संकेत-बिहार-लीला,
१३ आँझ, १४. भावना-विलास,
१५. चौरासी की महिमा, १६. सार-चन्द्रिका,
१७. विनय-मंगल, १८. कर्म का कवित्त,
१९. अष्टयाम के पद, २०. रसोलि-कहानी,
२१. वर्षोत्सव के पद, २२. वृन्दावन-महिमा,
२३. बिनती के पद, २४. पद-संग्रह,
२५. वाणी-संग्रह, २६ मनोरथ-बेलि,
२७. व्याहलो तथा २८. शरद-रास के पद।

इनके द्वारा रचित 'मनोरथ-बेलि' एक धार्मिक यात्रा-वृत्त है। यह यात्रा गालवाश्रम (गलता) से श्री राधिकादास के साथ प्रारम्भ हुई थी। ललित कुंज में प्रवेश कर गुरु बंशीअलि की चरण-पादुकाओं को नमन करना इसका लक्ष्य था। इस यात्रा-वर्णन में राम-कृष्ण का नाम बहुत आया है। इस धार्मिक यात्रा के प्रेरक जयपुराधीश महाराजा प्रतापसिंह थे—

नृपति प्रताप कह्यो यह कारण मो मन भायो।
यहै जनम को लाभ सकल औरन जन गायो॥

किशोरी अलि राधा को ही स्वामिनी मानकर विनय करते हैं—

रूपरासि स्वामिनी हमारी।
अलबेली सखियन की जीवनि, लखि लखि जीवत प्रिय कुंज बिहारी॥

राधाकृष्ण भोर में बिछुड़ने के भय से व्याकुल हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में वाणी में यह पद संकलित है—

मिलेई रहत मानत अनमिलवो हरखि दोऊ फिरि फिरि लपटात।

अति-रसलुब्ध मुग्ध मन माहीं तृपित न नैंकु
तृषित सब गात ॥
कबहुँ कहत पिय हाय, पिया कहा,
सुकुँवरि त्यों ही कहि मुरझात।
यहि बिधि बोल परस्पर अलबल,
संभ्रम उन्ने अधिक अकुलात ॥
पुनि-पुनि करत गाढ़ आलिंगन,
धरकत हिय बिछुरबहि डरात।
किशोरी अलि इकटक देखत यह,
अद्भुत प्रेम कह्यो नहि जात ॥

'भ्रमरगीत' में ये गोपियों को विरह-सागर में डूबते-उतराते हुए चित्रित करते हैं, किन्तु इनका मन उनके सौंदर्य-वर्णन में अधिक रमता है। एक गोपिका गाती है—

सौ तुमरोई है नाहीं अनेकनि लाल को।
ये बतरात दोऊ समौ भयो प्रात को ॥
माधव कृष्ण मुरारि पुकारति गोपिका।
जाग उठी श्रुति सार सबै विधि लोपिका ॥

उद्धव के रथ के सम्बन्ध में गोपियों की कल्पना भी विचित्र है—

सो अक्रूर कसाई कहा फिरि आयो दई।
प्रान हमारे निकसे न फेरि विधाई दई ॥
मांस रह्यो तन माँहि सु तो अब लेन को।
कंस अरे हित आये हैं पिंड सु देन को ॥

भक्तिरस-प्लावित भैरवराग में इनका एक पद प्रस्तुत है—

जै जै श्री भागवत पुरान।
निगम कलपतरु को फलरस,
कहा अवनि पर्यो आन ॥
हरि तैं विधि तिन तैं, नारद मुनि,
तिन तैं व्यास कृष्ण दै मान।
ब्रह्मरात तैं उदित भानु सम,
रसिक प्रफुल्लित कमल समान ॥
विष्णुरात सुनि पायो हरि पद,
मद-मत्सर कौ दहन कृसान।
किशोरी अलि वास वृन्दावन,
माँगत जुगल केलि जस गान ॥

उल्लेखनीय है कि उस समय भक्तिरस की कविता करनेवाले कवि प्रायः रागों में निबद्ध पद-रचना ही करते थे क्योंकि काव्य के साथ तब संगीत का ऐसा अपूर्व संगम हुआ था कि जयपुर में जो कुछ लिखा जाता था वह संगीतमय अवश्य होता था। ब्रजनिधि (सवाई प्रतापसिंह) का 'मगन रितु फागण की आली' प्रतीकवाला पद वसन्त ऋतु में विभिन्न मन्दिरों में होनेवाले फागोत्सवों में आज भी गाया जाता है। श्री किशोरी अलि रचित बिलावल राग का एक पद देखिए—

जै जै जै श्री व्यास जू जग कीरति पाई।
महिमा महाप्रसाद की तुम प्रगट दिखाई।
रास-केलि में रमि रहे कर बानी गाई।
त्रिगुण तोरि नूपुर सँवारि लाडिली रिझाई।
जे जन सनमुख अनुसरे तिन बन रज पाई।
किशोरी अली जस गावही संतन सुखदाई।

रा० प्र० कु०

रा० कु० व०

किशोरीदास (प्रथम)

किशोरीदासजी का जन्म अविभाजित पंजाब प्रदेश में ब्राह्मण-कुल में हुआ था। किन्तु ये उसके किस जिले और ग्राम में उत्पन्न हुए, इसका अभी तक पता नहीं चल सका है। यहाँ तक कि इनके माता-पिता के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। बाल्यावस्था से ही इनकी चित्तवृत्ति वृन्दावन-विहारी की ओर लगी हुई थी। अतः सब कुछ छोड़कर ये वृन्दावन चले आये थे। शरीर के साथ-साथ इनका मन भी वृन्दावन में रम गया था।

एक दिन इनकी भेंट निम्बार्ककोट के बाबा गोपालदासजी से हो गयी। वे अपने समय के उच्चकोटि के

विद्वान्, सन्त और श्रीमद्भागवत के अच्छे वक्ता थे। किशोरीदासजी एवं श्री गोपालदास दोनों एक-दूसरे से वार्तालाप करने लगे। सत्संग करते हुए पूरा दिन व्यतीत हो गया, किन्तु इच्छापूर्ति न हुई। फिर दूसरे दिन मिले। अंतत: श्री किशोरीदासजी पर श्री गोपालदासजी के सत्संग का ऐसा रंग चढ़ा कि ये उनके शिष्य हो गये।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के उत्कर्ष में गोपालदासजी का सराहनीय सहयोग रहा है। वृन्दावन में निम्बार्क स्वामी के जयन्ती-महोत्सव, शोभा-यात्रा आदि का प्रारम्भ इन्होंने ही किया था, जो आज भी अक्षुण्ण रूप से श्री निम्बार्ककोट में उल्लास के साथ सम्पन्न होते हैं।

गोपालदासजी के शिष्य होने से पूर्व ये व्रज के बरसाने आदि विविध पुण्यस्थलों में विचरण करते थे, किन्तु शिष्य होने के उपरान्त इन्होंने वृन्दावन को ही अपना स्थायी निवास-स्थान बना लिया। इन्होंने कुछ दिनों जुगलघाट पर भी निवास किया, किन्तु अन्तिम समय में श्री दावानल विहारीजी के मन्दिर में आ गये। यहीं पर लौकिक शरीर का परित्याग कर इन्होंने नित्य-निकुञ्जलीला में प्रवेश किया।

बाल्यावस्था में ही विरक्त हो जाने के कारण इनकी विधिवत् शिक्षा-दीक्षा तो न हो पायी थी, किन्तु विद्वान् गुरुदेव के संसर्ग एवं बाबा श्री हंसदासजी भागवती तथा श्री माधवदासजी भक्तमाली जैसे विद्वद्वरों के सत्संग से इन्हें व्रजभाषा का अच्छा अभ्यास हो गया था। स्मरण-शक्ति अच्छी होने के कारण 'श्री युगल-शतक', 'केलिमाल', 'महावाणी' आदि अनेक सरस रचनाएँ इन्हें कंठस्थ थीं। अष्टसेवा में आपकी अत्यधिक रुचि थी। मानसी-सेवा करते समय तो आप इतने तन्मय हो जाते थे कि दिन-रात का कुछ भी पता नहीं रहता था। मन्दिर के कर्मचारीगण जब याद दिलाते तब कहीं जाकर आप दैनिक चर्या कर प्रसाद ग्रहण करते। आप कभी-कभी प्रभु के आराधनोपरान्त श्री प्रिया-प्रियतम के गुणानुवादस्वरूप रचना भी करते थे।

इनकी कविताओं में अनुभूति का रसास्वादन होता है। उनके अन्तर्गत काव्यगुणों का समावेश स्वाभाविक रूप में हुआ है। इस प्रकार समय-समय पर हृदय से नि:सृत इनके पद्यबद्ध भावों को संकलनकर्त्ताओं ने छोटे-छोटे ग्रन्थों में संकलित कर दिया है। ये रचनाएँ हैं—

१. मनसुबोधिनी, २. वार्षिकोत्सव, ३. अष्टयाम, ४. श्रीकृष्ण-नामामृत, ५. युगल-विनोद, ६. श्रीकृष्ण-नामावली, ७. श्रीकृष्ण-बाराक्षरी, ८. आचार्य-प्रार्थना, ९. आचार्य-परम्परा।

इनकी रचनाओं से कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

(१)

मो सम अधम नहीं कोउ आन !
भाग्यहीन कुलहीन दरिद्री नखसिख अवगुन सान ॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, ईरषा ग्रसित द्रोह अभिमान।
पामर, पतित, मूढ़-मति, लम्पट, निपट कपट की खान ॥
कटु, कुजात, अपमारगगामी विषयन हाथ बिकान।
जनम अनेक भये दुख पावत कबहुँ न हृदय सिरान ॥
बह्यो जात हूँ भवसागर में खैंचि लियो गहि पान।
कर्नधार गुरु वेद बखानत दियो नाम जलयान ॥
मेरी ओर निहारियो जो पै नहिं सत कल्प कल्यान।
मोसे पतित अनेकन तारे सदा विरद यह बान ॥
दीन जान कीनो निज चेरो दीनो मंत्र लाग मो कान।
रोम-रोम हरषात गात पुलकात पाय प्रिय दान ॥
जन अवगुन बिलगाय गहहिं गुन सहजहिं परम सुजान।
किशोरीदास के प्रानजीवनधन श्रीगुरु कृपा-निधान ॥

(२)

करो मन ! हरिभक्तन को संग।
भक्तन बिन भगवत दुर्लभ अति जग यह प्रगट प्रसंग ॥
ध्रुव, प्रहलाद, विभीषण, कपिपति, कामी मरकट अंग।
पूज्य भये यश पाय जगत में जीत्यो रावन जग ॥
गीध, व्याध, गनिका, व्रजगोपी, द्विज-वन्धु, सुवन उपंग।
अजामील अपमारग-गामी लम्पट विवश-अनंग ॥
जातुधान, चारन, विद्याधर, वनपति हिंसक अभंग।
शबरी, केवट पूज्य भये जग राम उतारे गंग ॥
श्री हरिव्यास बिना गति नाहीं तजो मान मद रंग।
किशोरीदास जाचत दीजे प्रभु, सन्तन संग सुरंग ॥

(३)

मेरे परम गुरु हरिदास ।
मन क्रम वचन विचार कियौ यह मन में दृढ़ विश्वास ।।
श्री हरिदास रसिक चूड़ामणि नित्य विहार उपास ।
परिकर सहित द्रवहु मो मन की पूरन करियै आस ।।
श्री हरिवंश व्यासकुल मंडन खंडन यम की फाँस ।
याचत गोपद सार देह प्रभु सेवाकुंज निवास ।।

(४)

श्री हरिवंश प्रसाद लड़ाए श्री किशोर सुख-रास ।
बन्दौं व्यासदास दिनमनि सदा मो हिए करहु प्रकाश ।।
भये जे, अहैं, होंयगे जिनकी पद रज सो भव नास ।
चरन सरन तिनकी जो आवत, मिटत तापत्रय तास ।।
ज्ञान विराग भक्ति बल कर निज चेरी करि देव अनायास ।
किशोरीदास प्रभु हंसकुलदीपक जय जय श्री हरिव्यास ।।

प्रे० ना० श्री०

किशोरीदास (द्वितीय)

किशोरीदासजी (द्वितीय) श्री हिताचार्य के ज्येष्ठ पुत्र गोस्वामी बनचन्द्रजी के चतुर्थ पुत्र गोस्वामी व्रजभूषणजी के शिष्य थे। इनकी वास्तविक जन्म-तिथि अज्ञात है। किन्तु विद्वानों का अनुमान है कि गोस्वामी व्रजभूषणजी का प्रादुर्भाव सम्वत् १६१६ में हुआ था। अतएव किशोरीदास का उपस्थिति-काल सत्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध अथवा अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

ये रासलीला के ध्यान में सदैव निमग्न रहते थे। यही नहीं, रासलीला का मंचन कराने में भी इनका विशेष अनुराग रहता था। ये श्री राधावल्लभ का भजन एवं श्री हरिवंश-वाणी का गान निष्ठापूर्वक करते थे। राधा-माधव की अखण्ड एवं नित्यकेलि का वर्णन करते हुए ये कभी तृप्त नहीं होते थे। इनके सम्बन्ध में चाचा वृन्दावनदास ने लिखा है—

ठौर-ठौर व्रजभूमि विलास दृगनि दरसाये ।
श्री राधावल्लभ इष्ट भाव सौं सदा लड़ाये ।।
श्री हरिवंश गिरा प्रसंस गाइन बहु भाइन ।
नित्यकेलि बनराज अखण्डित बरनी पाइन ।।
श्री व्रजभूषन परसाद गुरु, लीला प्रगट प्रकाश कौं।
रासरचन सुख सचन मति, यह कृपा किशोरीदास कौं।।

— रसिक-अनन्य-परचावली, छं० १५६

इनके केवल नौ पद प्राप्त हैं, जिनमें दो श्री हिताचार्य की जन्म-बधाई, दो उसीरकुंज के और पाँच श्री राधा के जन्मोत्सव की बधाई के हैं। कहा जाता है कि इन्होंने अगणित पदों की रचना की थी, किन्तु वे अब उपलब्ध नहीं हैं। 'अभिलाषमाल' नामक इनकी एक और काव्यकृति बताई जाती है, जो अनुपलब्ध है। इनके एक पद द्वारा यह ज्ञात होता है कि ये बरसाने में रहते थे—

महाराज वृषभान बहुत विध मन की आस पुजाई।
किशोरीदास कौ बाँह पकर कै बरसाने जु बसाई।।

किशोरीदासजी द्वारा निर्मित पदों से यह स्पष्ट होता है कि ये अत्यन्त भावुक एवं उच्च कोटि के भक्त थे। श्री राधावल्लभ-सम्प्रदाय के बधाई-साहित्य में श्री राधा की सर्वोत्तम बधाइयाँ संगृहीत हैं। किन्तु अपनी अद्भुत प्रभावोत्पादकता के कारण किशोरीदासजी की बधाइयाँ प्रमुख उत्सवों पर ही मंदिर के समाज में गायी जाती हैं।

परम्परानुसार श्री राधावल्लभीय सेवा-प्रणाली में रात्रि को शयन-आरती के पश्चात् श्रीजी के दर्शन किसी भी स्थिति में नहीं होते हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार अनेक राजा-महाराजाओं को भी उसके दर्शन-लाभ से वंचित रह जाना पड़ा है किन्तु राधाष्टमी से एक दिन पूर्व सप्तमी की रात्रि को शयन-आरतो के पश्चात् दर्शनार्थ पट खोले जाते हैं और उस समय किशोरीदासजी की बधाइयाँ श्रीजी को सुनायी जाती हैं। भाद्र शुक्ल सप्तमी को शयन-आरतो के बाद किशोरीदास के जो तीन पद गाये जाते हैं, वे निम्नांकित हैं—

(१)

जदुवंशी जिजमान तिहारौ ढाँढ़िया हो।
कुँवरि जनम सुनिकै हौं आयौ राख हमारौ मान ॥
एक बार हौं पहिलै आयौ कहन बधाई ताकी।
नन्दीस्वर ब्रजराज घरनि घर कूख सिरानी जाकी ॥
अब तौ मेरे मन कौ भायौ दोऊ नेग चुकावौ।
नँदरानी कीरतिदा रानी ढाँढ़िन कौं पहिरावौ ॥
बहुत भाँति ढाँढ़ी पहिरायौ गोपराज बड़ दानी।
किशोरीदास कौं निरभय करिकै ब्रज राख्यौ ब्रजरानी ॥

(२)

हौं ब्रजवासिन कौ मँगा।
वल्लभराज गोपकुल मंडन इन द्वै घर को जगा ॥
नन्दराइ इक दियौ पिछौरा तामें कनक तगा।
श्री वृषभान दियौ इन टोडर कंचन जटित नगा ॥
कीरति दई कुँवरि की झँगुली जसुमति अपने
सुत को झँगा।
किशोरीदास कौ लै पहिरायौ नील पीत कौ पगा ॥

(३)

रानी मांगनौ हौं आयौ।
कीरति जू की कुँवरि राधिका ताकौ सदका पायौ ॥
पुरुष जाति बहु दान मान देइ तिन तन नैकु न हेरौं।
बेसर वलय महावर मंडित इनकौं अलप न फेरौं ॥
राज सिंघासन हेमरु हाथी लेऊँ न नर कर ओट।
अँगिया डँड़िया लहँगा मुँदरी इनकौ मेरे कोट ॥
महाराज ब्रजराज नन्द वृषभान बड़े अति दाता।
सुबल सुबाहु श्रीदामा अर्जुन कृष्ण तोक बल भ्राता ॥
इनकौ दान कबहूँ नहिं लैहौं गोधन धन जु अपारा।
रानी दियौ सबै कछु लैहौं दुलरी मुक्तन हारा ॥
वरेयसी श्री ब्रजराज की माता सुख-सागर की करनी।
श्री वृषभान नृपति की जननी सुखदा सब सुख ढरनी ॥
पटुला श्री जसुमति की मैया मुखरा कीरति जननी।
रोहिनी श्री बलराम प्रगट भये ये बड़भागिन गननी ॥
रमा आदि दै और त्रियन पै हौं कबहूँ नहिं जाँचौं।
ब्रज-बनिता जाचक अभिमानी ह्वै निसंक हौंनाचौं ॥
सखी सहेली और सहचरी इनके गुन हौं साँचौ।
जिनकैं कीरति कुवँरि पियारी तिनके दानहिं राँचौं ॥
बरसाने वृषभान गोप की कीरतिदा सुभ नारी।
ताकी कूख मुकुट मणि राधा वंदत चरन विहारी ॥
जोग जज्ञ तीरथ व्रत संजम इनकौं नैकु न साधौं।
दुर्लभ सुलभ बास वृन्दावन राधा-पद आराधौं ॥
बरसगाँठ दिन जनम बधाई श्री राधा की होई।
सदका दियौ वृन्दावन रानी औरु न जाँचौं कोई ॥
आदर करि के निकट बुलायौ मन में इच्छा सोई।
रानी मँगा अनन्य जानि के कृपा-दृष्टि भरि जोई ॥
ललिता, विशाखा, चंपक, चित्रा इनही के गुन गैहौं।
इन्दुलेखा, तुंगविद्या, रंगदेवी, सुदेवी, आदि सुख पैहौं ॥
बड़ी दान पूरन वृन्दा जू इनतें सब सुख लैहौं।
यह परिकर वृषभान लली कौ ताकौं माथौ नैहौं ॥
संग्रह करौं न जाँचौं कबहूँ तुव-पद-धन निजु पाऊँ।
सीस नाइ के दीन न भाखौं ललित लली गुन गाऊँ ॥
यह व्रत कौं तुमही निरवाहौ और कछू नहिं आसा।
दीजै कछु इक टहल आपनी रास-विलास निवासा ॥
हौं अति पामर कृपा-दृष्टि बल और कछू नहिं जानी।
वृन्दा विपिनवास देहु रानी निरभै करि मन मानी ॥
किशोरीदास के नाम धरे की लाज राख बड़ दानी।
ब्रज-बनिता तजि और न जाँचौं हौं जाचक अभिमानी ॥

ल० च० गो०

किशोरीदास (तृतीय)

रसिकवर किशोरीदासजी का श्री हितशरणागत होने से पूर्व का कोई इतिवृत्त प्राप्त नहीं है। चाचा श्री वृन्दावनदासजी द्वारा विरचित 'वसन्त-प्रबन्ध' नामक रचना में इनका एक परिचयात्मक छन्द मिलता है जो इस प्रकार है—

श्री कीर्तिलाल गुरु-कृपा पाइ।
भरे किशोरीदास हिय अमित भाइ ॥
गुरु-इष्ट-सन्त बहुविधि लड़ाइ।
पुनि होरी फाग मन रह्यौ लुभाइ ॥

उपर्युक्त छन्द से हमें निम्नांकित तथ्य प्राप्त होते हैं—

१. श्री किशोरीदासजी गो० श्री कीर्तिलालजी के शिष्य थे।

२. इनका हृदय भाव-भावनाओं से परिपूर्ण रहता था।

३. इन्होंने अपने गुरुवर, अपने इष्ट श्री राधावल्लभलाल एवं रसिक सन्तों का विविध प्रकार से लाड़ लड़ाया था।

गो० कीर्तिलालजी श्री राधावल्लभजी के रासवंशीय सेवाधिकारी हुए हैं। इनके समय में श्री राधावल्लभलालजी कामवन में विराजते थे—'श्री हित-रूप-चरित्र-वेली', 'मन्दिर-विलास', 'कामवन-विलास' आदि ग्रन्थों में इस तथ्य का उल्लेख है। चाचार्जी के उक्त छन्द की यह पंक्ति 'गुरु-इष्ट-सन्त बहु विधि लड़ाइ' स्पष्ट ही बतलाती है कि श्री किशोरीदासजी ने गुरु, इष्ट और संतों की सेवा में जीवन व्यतीत किया था। इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किशोरीदासजी का निवास-स्थान कामवन रहा होगा।

एक प्राचीन हस्तलिखित अभिलेख (गो० ललिताचरण के संग्रहालय में सुरक्षित) में गो० कीर्तिलालजी के बड़े पुत्र गो० चतुरशिरोमणिलालजी का जन्म-काल सं० १८१२, मन्दिर का अधिकार-प्राप्ति-काल सं० १८४२ तथा निकुंज-गमन-काल सं० १८७२ दिया हुआ है। यदि गो० चतुरशिरोमणिलालजी के जन्म के समय गो० कीर्तिलालजी की आयु २५-३० वर्ष लगभग भी मान ली जाय तो गो० कीर्तिलालजी का जन्म सं० १७८५ के आसपास स्थिर होता है। इस गद्दी की पूर्वपरम्परा रही है कि पिता के मरने के पश्चात् बड़े पुत्र को कार्तिक सुदी त्रयोदशी के दिन ही मन्दिर के अधिकारी होने का तिलक किया जाता है। चूँकि गो० चतुरशिरोमणिलाल का अधिकार-काल सं० १८४२ है, अतः गोस्वामी कीर्तिलालजी का निधन-काल सम्वत् १८४१-४२ सुस्थिर होता है। इस प्रकार गो० कीर्तिलालजी का स्थितिकाल सं० १७८५ से सं० १८४२ के बीच प्रतीत होता है। अतः यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि श्री किशोरीदासजी इसी बीच, बहुत अधिक सम्भव है सं० १८२० के आसपास, गो० कीर्तिलालजी के शिष्य हुए होंगे।

गो० चन्द्रलालजी ने 'मन्दिर-विलास' नामक अपनी रचना में गो० चतुरशिरोमणिलालजी के सेवाधिकार-काल में समाजियों (समाजगानकर्त्ताओं) का नामोल्लेख करते हुए इनका भी उल्लेख किया है—

ललित पखावज बजावत हैं प्रियादास,
बालकृष्ण-राधिकादास हैं भजन में।
गावत हैं मुरली सखी, लहरी किशोरीदास,
श्यामादास गूँजत हैं खंजरी की धुन में॥
रासधारी गात प्रेमरंग सरसात उत,
रिझवारि रीझि कै विवस होत तन में।
व्यास के दुलारे ताके नयनन के तारे,
राधावल्लभ जू प्यारे चन्द हित बसौ मन में॥

— मन्दिर-विलास

इससे मात्र इतना पता लगता है कि किशोरीदासजी की विद्यमानता गो० चतुरशिरोमणि के समय में थी। किन्तु वह कब तक रहे और कब निकुंज-गमन कर गये, यह अज्ञात ही है।

इन्होंने किसी ग्रन्थविशेष या पदावली की रचना की है या नहीं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

श्या० बि० खं०

किशोरीदास (चतुर्थ)

किशोरीदासजी (चतुर्थ) जूनागढ़-निवासी श्री साहिबराम व्यास के सुपुत्र और श्री हरिलाल व्यास के कनिष्ठ भ्राता थे। इस आधार पर इनका जन्म-काल सं० १८०० के आसपास रहा होगा। गो० श्री किशोरीलालजी के शरणापन्न होने का सौभाग्य तो इन्हें अपने बड़े भ्राता श्री हरिलालजी व्यास के साथ ही प्राप्त हो गया था। हरिलालजी व्यास ने स्वयं लिखा है—

परम भागवत मम जनक, नाम सु साहिब राम।

• • •

तिन सब परिकर हित शरण, करवाये हित भौन।
श्री गोस्वामी रूप सुत, चरणाश्रित हम कौन॥

चाचा हित वृन्दावनदासजी ने भी इनका परिचय बहुत ही संक्षेप में इसी प्रकार दिया है—

अति प्रेमी साहिबराम व्यास।
पुनि सुत हरिलाल किशोरीदास॥
परिकर जुत हिय रहै यह हुलास।
देखें वृन्दाविपिन वसन्त रास॥

—चतुर्थ वसन्त-प्रबन्ध ४।१२१

इसके अतिरिक्त इनका कोई इतिवृत्त प्राप्त नहीं है।

श्या० बि० खं०

किशोरीदास (पञ्चम)

ब्रजभाषा के कवियों में किशोरीदास नाम के कई महात्मा हो गए हैं। इनमें चैतन्य-सम्प्रदायी किशोरोदास की रचनाएँ परिमाण में विपुल हैं तथा साहित्यिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्व की हैं। नागरी प्रचारिणी सभा के खोज-विवरणों में इनकी 'वाणी' का उल्लेख किया गया है तथा आदि-अन्त के उद्धरण दिए गए हैं। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इन्हें गौड़ीय सम्प्रदाय का अनुयायी बताते हुए वृन्दावन में इनका दो सौ वर्ष पूर्व होना लिखा है। ये 'मिश्रबन्धु-विनोद' के सं० ६०५/१ वाले कवि ज्ञात होते हैं। वहाँ इनका उपस्थिति-काल वि० सं० १७५७ माना गया है। पन्द्रहवें त्रैवार्षिक विवरण संख्या १२१ पर दिए हुए कवि भी यही हैं, किन्तु इन्हें भ्रम से राधावल्लभ-सम्प्रदायी लिखा गया है जबकि उद्धरण चैतन्य-सम्प्रदायी किशोरीदास के दिए गए हैं।

बाबा कृष्णदास ने इनके वृत्तान्त पर किंचित् प्रकाश डाला है। उनके अनुसार ये ग्वालियर राज्यान्तर्गत शिवपुर के बड़े जागीरदार थे। औरंगजेब के अत्याचार के कारण जब वृन्दावन के अनेक देव-विग्रह रियासतों में स्थानान्तरित कर देने पड़े थे, उसी समय बरसाने की श्रीजी का स्वरूप कुछ काल तक शिवपुर में इनके यहाँ रहा था। ये वहाँ के जागीरदार थे और श्रीजी के अनन्य भक्त थे। एक बार ये ब्रज-यात्रा को आए, किन्तु पुनः वहाँ से लौटकर अपने राज्य को नहीं गए। इन्होंने अपना शेष जीवन बरसाने में व्यतीत किया। इनकी निवास-स्थली के रूप में आज भी 'श्योपुर (शिवपुर) वाली कुंज' विद्यमान है।

श्री छुट्टनभट्ट के ग्रन्थागार में इनकी वाणी की हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। उसका जैसा रूप है, उसके अनुसार ये लगभग २५० वर्ष पूर्व विद्यमान रहे होंगे। डॉ० बड़थ्वाल ने इन्हें तब दो सौ वर्ष पूर्व का अनुमानित किया था। यदि मिश्रबन्धुओं का संवत् ठीक माना जाए, तो इनका समय वि० सं० १७५७ मानना होगा। इससे अधिक इनके जीवन का वृत्त ज्ञात नहीं हो सका है। इनके द्वारा विरचित वाणी के प्रारम्भिक पदों से स्पष्ट लक्षित होता है कि इनकी चैतन्य महाप्रभु में अपार निष्ठा थी। उनकी महिमा का इन्होंने प्रचुर वर्णन किया है।

इनकी पदावली 'श्री किशोरीदास की वाणी' नाम से प्रकाशित है। रूप गोस्वामी कृत 'श्री राधाकृष्ण-गणोद्देशदीपिका' पर आधृत एक वंशावली भी इन्होंने लिखी है। वस्तुतः वह एक दीर्घ पद ही है। मंगलाचरण में महाप्रभु की वन्दना की गई है—

जै जै श्री चैतन्य मंगलनिधि गाइये।
प्रेम अवधि ललित लीला अधिकाइये॥
ऐसे गौरकिशोर सदा उर ध्याइये।
ध्याइये गौरांग सुन्दर निरखि नैन सिराइये॥
भजि शचीनन्दन जगतवन्दन त्रिविध ताप नसाइये।
पतित पावन विरद जाको बड़े भागन पाइये॥

इनकी कविता में संगीत-तत्त्व प्रधान है। यही कारण है कि इन्होंने ताल आदि का निर्देश करते हुए राग-रागिनियों के माध्यम से अपने भावोद्गार व्यक्त किए हैं। मन्दिर में गाए जाने के लिए ही इनकी रचना हुई है, ऐसा लगता है। विभिन्न उत्सवों-पर्वों के अवसर पर होनेवाले 'समाज' में आज भी ये पद बरसाना, नन्दगाँव, वृन्दावन आदि स्थलों में बड़े उत्साह से गाए जाते है। इनके द्वारा ५१ राग-रागिनियों का प्रयोग रचयिता की संगीत-प्रतिभा का

परिचायक है। चैतन्य-सम्प्रदाय के ब्रजभाषा-कवियों में इतने अधिक रागों में किसीने भी पद-रचना नहीं की है। इनकी पदावली में जहाँ एक ओर संगीतगत वैविध्य है वहाँ दूसरी ओर विषय-वैविध्य भी है। इनकी कविता अभिधात्मक, किन्तु सरस है। कहीं-कहीं लोक-गीतों की-सी सरल तथा सरस शैली का प्रयोग भी मिलता है।

प्रारम्भ में चैतन्य महाप्रभु की वन्दना तथा बधाई के पद हैं। सम्प्रदाय की भावना के अनुकूल महाप्रभु का इन्होंने अवतार-रूप में वर्णन किया है। उनका माहात्म्य-गुण-कथन इसी रूप में कवि को अभीष्ट था। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

जैसे श्रीकृष्ण चैतन्य हैं अवतरे।
प्रिया अंग लखि गौर बरन निजु वपु धरे॥
भक्ति-रसासव पान करत सब मोद भरे।
भक्त रूप ह्वै प्रेम-पयोनिधि बिस्तरे॥
बिस्तरे प्रेम-पयोधि अंग-अंग
पुलक गद्गद रस ढरे।
नैन नीर-प्रवाह अद्भुत
चलत मानौ पिचकरे॥
रूप सनातन जीव आदिक
शरण दै निजु सम करे।
'किशोरीदास' अनन्य गति
श्रीकृष्ण चैतन्य ह्वै अवतरे॥

इसके उपरान्त सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों की कई पदों में वन्दना है। तदनन्तर लालजू की बधाई, राखी, जन्माष्टमी, पालना, राधाष्टमी, बावन-जन्म, दानलीला, साँझी, विजयादशमी, रासागम, वंशी, महारास, गोवर्द्धन-पूजा, दीपमालिका, गोपाष्टमी, प्रबोधनी, वसन्तागम, होरी, रंगडोल, रामनवमी, फूल-बनावा, फुलवारी, अक्षयतृतीया, चन्दनयात्रा, नरसिंह-जन्म, स्नानयात्रा, रथ-यात्रा, श्री लाड़ली-अभिषेक-दिवस आदि सभी प्रमुख उत्सवों के पद दिए हैं। गाए जाने के कारण इन्हें 'कीर्तन' कहा जाने लगा। दान-लीला और होली के पद अपेक्षाकृत अधिक हैं। नीचे इनकी रचना के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१)

दीजै वृन्दावन कौ वास।
राधा कृष्ण गुन गाऊँ छिन-छिन,
वृथा न खोऊँ स्वास॥
निरखत रहौं कुंजतरु-साखै,
अरु पुनि रास-बिलास।
करौं स्नान श्री जमुना जू में,
ब्रजरज माँहि निवास॥
श्री भागौत सुनौं नित स्रवननि,
सन्त सीत लै करौं हुलास।
श्री ब्रजचन्द्रबिहारी सौं यह,
विनती करत 'किशोरीदास'॥

(२)

फूल फूल द्रुम झुकि रहे, मधुप करत गुंजार।
बोलत कोमल रस भरी, ललित कदम की डार॥
झूम-झूम बादर रहे, बिच चपला दरसाय।
हरित भूमि ओढ़त मनौ, चूनर जटित जड़ाय॥

(३)

किलकि किलकि ब्रजचन्द्र हँसत जब,
जननी पुलकि-पुलकि दुलरावत।
राई-लौन उतारि डारि लखि,
लखि अपने सुत जीव जिवावत।
अलाय-बलाय लाल की कृपा करि,
'किशोरीदास' है सगरी ध्यावत॥

न० च० बं०
न० प्र० गु०

किशोरीदास गोस्वामी

किशोरीदास गोस्वामी का जन्म सं० १६८० में हुआ था। ये बंगप्रदेशीय ब्राह्मण और वंशीदास गोस्वामी के शिष्य थे। वंशीदासजी के अनन्तर ये सं० १७२० के लगभग आचार्य हुए थे। इन्होंने ठाकुर मदनमोहनजो के लिये बहुत सम्पत्ति अर्जित की थी।

ये कविता और संगीत-प्रेमी थे। इनका लिखा हुआ 'राग-वसन्त' पर एक पद मिलता है। इनका परलोक-वास सं० १६८० में हुआ।

स०

किशोरीलाल अधिकारी

किशोरीलालजी अधिकारी के सम्बन्ध में 'श्री हित-अनन्य-रसिकावली' में निम्नलिखित छप्पय मिलता है—

> **गोस्वामी हरिलाल सुवन सेवा की मूरति।**
> **श्री राधावल्लभ लाड़ लड़ावत नित्य हियें रति॥**
> **अति उदार रिझवार प्रसाद जु दै संतोषैं।**
> **साधु जनन सौं प्यार-पोष दै निज हिय पोषैं॥**
> **निशिदिन बितयौ भजन में,**
> **इन सम ये इहि काल जू।**
> **हितकुल कलश कलित भये,**
> **विदित किशोरीलाल जू॥**

इनका जन्म वि० सं० १९०८ में भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के दिन श्रीधाम वृन्दावन में हुआ था। जब ये मात्र २½ वर्ष के थे, तभी इनके पिताश्री गो० हरिलालजी इन्हें छोड़कर निकुंजगामी हो गये। अतः इनके लालन-पालन की जिम्मेदारी इनके बाबा गो० लाड़िलीलालजी के ऊपर आ गयी। किन्तु दैवात् कुछ दिन बाद वह भी इन्हें छोड़कर दिवंगत हो गये। फलतः इनके बाबा के छोटे भ्राता गो० चन्द्रलालजी ने इनका पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। वयस्क होते ही श्री राधावल्लभलालजी के मन्दिर का अधिकार (सम्पूर्ण सेवाओं का उत्तरदायित्व) इन्हें सँभालना पड़ा। इन्होंने यौवन के उदयकाल में ही बड़ी सुरुचि, लगन और बुद्धिमत्ता से इस महत् उत्तरदायित्व का निर्वाह किया। अपनी निष्कैतव अनुरागपूर्ण सेवा से इन्होंने परमेष्ट श्री राधावल्लभलालजी महाराज का अनुग्रह प्राप्त कर लिया और इनका यश-प्रताप चतुर्दिक् फैलने लगा। ऐसी वैभव-सम्पन्न स्थिति में भी इनका मन श्रीजी की सेवा में ही लगा रहा। इनके पास कोई भी परिचित अथवा अपरिचित व्यक्ति आता, तो उसे इष्ट का प्रसाद अवश्य देते थे और अपनी मधुर मिष्ट वचनावली से उसको संतुष्ट करते थे। अपनी इस उदार वृत्ति के कारण ये सभी के स्नेहपात्र और श्रद्धाभाजन बन गये थे।

इन्होंने बहुत से पद रचे हैं तथा कुछ चित्र-काव्य भी लिखे हैं। आपने 'विज्ञ-वृन्दावन' नाम से एक मासिक पत्रिका भी निकाली थी, जिसकी उस समय काफी प्रतिष्ठा थी। आपने गोस्वामी श्री हित हरिवंश चन्द्र महाप्रभु विरचित 'श्रीमद्राधासुधानिधि' का पद्यानुवाद भी किया है जो 'श्रीहितसुधासागर' में प्रकाशित है।

आपका निकुंज-गमन-काल वि० सं० १९९९ है।

श्या० बि० खं०

किशोरीलाल गोस्वामी (प्रथम)

वृन्दावन का केशीघाट निम्बार्कीय वैष्णवों का गढ़ कहा जाता है। यहाँ पर सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड़, सनाढ्य सभी विप्रवंशों के निम्बार्कीय निवास करते हैं। यहाँ के हितमतानुयायी गौड़ गोस्वामियों में केदारनाथजी बड़े ही ख्यातिप्राप्त थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता पर भाष्य एवं भागवत पर टीका लिखी थी। उनके पुत्र श्री वासुदेवशरणदेवाचार्यजी व्रजभाषा, संस्कृत, हिन्दी एवं बंगला के अच्छे विद्वान् थे। श्री किशोरीलाल गोस्वामी इन्हींके पुत्र थे। इनका जन्म वि० सं० १९२२ माघ कृष्ण अमावस्या को हुआ था। आपके नाना श्रीकृष्ण-चैतन्यदेवजी काशी के गोलघर नामक मन्दिर के पुजारी, काशी के प्रसिद्ध सेठ श्री हर्षचन्दजी के गुरु, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के घनिष्ठ मित्र एवं भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के साहित्यगुरु थे। अतः पं० किशोरीलालजी का पठन-पाठन काशी में ही चलने लगा। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' एवं भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के साथ आपका घनिष्ठ सौहार्द था। काशी में आपने योग, व्याकरण, न्याय, वेदान्त, ज्योतिष आदि विषयों का अध्ययन किया एवं साहित्य में आचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की।

बिहार प्रदेश के आरा नामक नगर में आपने प्रसिद्ध विद्वान् श्री पीताम्बरदेवजी तथा रुद्रदत्तजी से संस्कृत-साहित्य का अध्ययन किया। यहाँ पर किसी पुस्तकालय की सुविधा न थी। अतः आपने जनकल्याणार्थ एवं हिन्दी-साहित्य की सेवा के ध्येय से 'आर्य-पुस्तकालय' नाम से एक पुस्तकालय स्थापित किया। आरा के प्रसिद्ध वैद्यराज पं० बालगोविन्द त्रिपाठी की सहायता से इन्होंने 'वर्णधर्मोपयोगिनी' नामक एक सभा की स्थापना की एवं उसी सभा द्वारा 'वर्ण-धर्मोपयोगिनी' पाठशाला का भी शिलान्यास किया। इसी सभा के प्रतिनिधि के रूप में आप वि० सं० १९४७ में दिल्ली के भारत-धर्म-महामण्डल में सम्मिलित हुए। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' एवं भारतेन्दुजी की प्रेरणा से आपने अपने पहले उपन्यास 'प्रणयिनी-परिणाम' का सृजन किया। इस उपन्यास के लेखन के पश्चात् आप 'आरा' से काशी में आकर रहने लगे।

नागरी-प्रचारणी सभा, काशी आदि कई हिन्दी-प्रचारक संस्थाओं के आप विशिष्ट सदस्य थे। हिन्दी की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष के सम्पादकों में से आप भी एक थे। आपने 'नागरी-प्रचारिणी ग्रन्थमाला', 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', 'बालसखा' आदि कई पत्रिकाओं का सम्पादन और अनेक सभाओं का सभापतित्व किया। संस्कृत, बंगला और हिन्दी के ये मर्मज्ञ ही नहीं थे, इन्होंने उनमें अनेक ग्रन्थ भी लिखे हैं जिनमें हिन्दी के ग्रन्थों की प्रचुरता है। आपने प्रचुर कविताएँ, पचासों उपन्यास एवं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे हैं। कुछ प्रमुख ग्रन्थों की सूची निम्नांकित है—

कविता—१. भागवतसार-पच्चीसी, २. समस्यापूर्ति-मञ्जरी, ३. युगलरस-माधुरी, ४. कण्ठमाला, ५. अध्यात्मप्रकाश, ६. अश्रुधारा, ७. चन्द्रोदय, ८. प्रेम-पुष्पाञ्जलि, ९. आकाश-कुसुम, १०. प्रणयोपहार, ११. कवितासंग्रह, १२. प्रेमरत्नमाला, १३. कन्दर्प-विजय, १४. वीरेन्द्र-विजय, १५. काशी-कवि-समाज की समस्यापूर्ति, १६. सुजान-रसखान, १७. रसखान-शतक, १८. प्रेम-पुष्पमाला, १९. कविता-मञ्जरी, २०. कवि-माधुरी, २१. प्रेमवाटिका, २२. बाल-कुतूहल, २३. वीरबाला, २४. एकनारीव्रत, २५. सावित्री।

उपन्यास—१. तारा, २. लीलावती, ३. चपला, ४. रज़िया बेगम, ५. मल्लिकादेवी, ६. कुसुमकुमारी, ७. राजकुमारी, ८. हृदयहारिणी, ९. लवङ्गलता, १०. याकूती-तख्ती, ११ तरुण-तपस्विनी, १२. कटे मूड़ की दो बातें, १३. सुखशर्वरी, १४. कनककुसुम, १५. प्रेममयी, १६. गुलबहार, १७. लावण्यमयी, १८. इन्दुमती, १९. प्रणयिनी-परिणाम, २०. रजिन्दे की लाश, २१. चन्द्रावली, २२. लखनऊ की कब्र, २३. हीराबाई, २४. चन्द्रिका, २५. पुनर्जन्म, २६. त्रिवेणी, २७. माधवी-माधव, २८. जड़ाऊ कंकण में काल-भुजङ्ग, २९. राजराजेश्वरी, ३०. आरसी में हीरे की कनी, ३१. ठगिनी, ३२. बिहार-रहस्य, ३३. भोजपुर की ठगी, ३४. राजगृह की सुरंग, ३५. प्रसन्नपथिक या पथ-प्रदर्शिनी आदि आपके ६५ के करीब उपन्यास हैं।

जीवन-चरित्र - १. हम्मीर, २. अलंमेयो, ३. मरहठों का उदय, ४. मेवाड़-राज्य, ५. औरंगजेब की राजनीति, ६. लॉर्ड रिपन, ७. बुद्धदेव, ८. वर्द्धमान-राजवंश, ९. अशोक-चरितावली, १०. जोजेफाइन, ११. नेपोलियन, १२. मधुच्छका का सोपान, १३. श्रीकृष्णचैतन्यदेव, १४. बाबू श्यामसुन्दरदास, १५. पं० मदनमोहन मालवीय, १६. बाबू राधाकृष्णदास, १७. सर एन्टोनी मैकडानल्ड, १८. राजा लक्ष्मणसिंह, १९. राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द', २०. मैक्समूलर, २१. पं० अम्बिकादत्त व्यास, २२. वाल्मीकि-चरित्र, २३. भीष्म पितामह, २४. पञ्च पाण्डव।

साम्प्रदायिक ग्रन्थ—१. युगलार्चन-कौमुदी, २. नित्य-कृत्य-चन्द्रिका, ३. सम्प्रदाय-सिद्धान्त, ४. वर्षोत्सव-मयूख, ५. सम्प्रदाय-दिवाकर, ६ धर्म-मीमांसा, ७. ब्रह्ममीमांसा, ८. सन्ध्या-प्रयोग, ९. सन्ध्याभाषा, १०. सन्ध्या-संक्षिप्त, ११. गायत्री-व्याख्या, १२.

आचार्य-चरित्र, १३. कपिल-सूत्र, १४. हंसावतार-चरित, १५. राधिकोपनिषद् ।

विविध विषय—१. हठयोग, २. वेदशिक्षा, ३. अष्टांगयोग, ४. तन्त्र-रहस्य, ५. ज्ञान-संकलिनी, ६. निरालम्बोपनिषद्, ७ वैराग्यप्रदीप, ८. चाक्षुषोपनिषद्, ९. तीर्थमहिमा, १०. गङ्गास्थितिसिद्धान्त, ११. कुम्भ-पर्व-व्यवस्था ।

नाटक-रूपक -१. मयंक-मञ्जरी, २ भारतोदय, ३. चौपट-चपेट, ४. नाट्य-सम्भव, ५. प्रणय-पारिजात, ६. प्रियदर्शिका, ७. प्रबन्ध-पारिजात, ८. सावित्री-सत्यवान, ९. स्वर्ग की सभा, १०. प्रभावती-परिणय, ११. वर्षाविहार-गोष्ठी, १२. कन्दर्पकेलि, १३. चण्डाल-चौकड़ी, १४. पोंगाबसन्त, १५. वैशाखनन्दन, १६. वी-जान, १७. दिवाभीति, १८. सालाबाबू, १९. यमराज और हम, २०. गोबर-गणेश, २१ कालासाहब, २२. जोरूदास, २३. एक-एक के दो-दो, २४. स्वर्ग की सीढ़ी, २५. वेश्यावल्लभ ।

इनके लेख एवं कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपते ही रहते थे । आपने सात पुस्तकों की रचना संस्कृत भाषा में भी की है। वे हैं—

१. प्रणयोच्छ्वास, २. मयूष-मालिनी, ३. शृङ्गार-सुधाकर, ४. शृङ्गार-रत्नमाला, ५. शृङ्गार-सुधाबिन्दु, ६. संक्षिप्त सांख्यतत्व, समासकारिका एवं ७. सांख्य-सुधाकर ।

इस प्रकार गोस्वामी श्री किशोरीलालजी का सारा जीवन साहित्य-सेवा में बीता । आपका स्वभाव बड़ा ही विनोदी था । ये अच्छे व्याख्याता भी थे । अपना समस्त जीवन इन्होंने निःस्वार्थ भाव से हिन्दी साहित्य की सेवा करते हुए बिताया ।

इनकी परंपरागत भक्ति-भावना के व्यंजक कुछ छन्द प्रस्तुत हैं—

(१)

परमनिकाम भववारिधि मुदाम जहाँ,
आठो याम त्रिगुन तरंग सब ठाम हैं ।
काम कामना के नक्र वक्र बनि वाम चहूँ,
ग्रसि तन-चाम हरैं सबै गुन-ग्राम हैं ।।
तौहूँ जे अकाम योगी ध्यावैं पूर्ण काम तवैं,
प्रगट सकाम रूप गुण कर्मनाम हैं ।
अति अभिराम भक्त-हृदय, सरोज-धाम,
सोहैं घनश्याम कृष्ण ललित-ललाम हैं ।।

(२)

(वसन्त)

जय राधा माधव गोपीजन श्री वृन्दावन गाम ।
जय कालिन्दीकूल लताद्रुम सुभग-कुंज अभिराम ।।
जयति नन्द-कुल-कुमुद-कलाधर कोटिकामछविधाम ।
जय कीरति-कुलनवल चन्द्रिका-रसिककिसोरि ललाम ।।

प्रे० ना० श्री०

किशोरीलाल गोस्वामी (द्वितीय)

गोस्वामी किशोरीलाल की भक्ति-भावना का परिचय 'रसिक-अनन्य-परचावली' में निम्नलिखित रूप में मिलता है—

अति उदार रिझवार सकल संतन हितकारी ।
प्रफुलित रसिक समाज सेव्य गौरांग-बिहारी ।।
परम रसज्ञ सनेह सींव दम्पति गुन गाइक ।
आरज गुरु रस रीति निवाहन सब बिधि लाइक ।।
जस वर्द्धन हित रूप कौ,
नित पावत प्रेम प्रसाद शुचि ।
श्री रूपलाल नन्दन सुखद,
भजन किशोरीलाल रुचि ।।

—रसिक-अनन्य-परचावली

गो० किशोरीलालजी का जन्म क्वार बदी अष्टमी सम्वत् १७७७ में श्रीधाम वृन्दावन में हुआ था । ये अपने समय के अत्यधिक प्रभावशाली और प्रतापी महापुरुष थे । इसके साथ ही अपने पिता के समान ये भजन-भावना-परायण और तत्कालीन रसिक जनों के परम श्रद्धास्पद भी थे । चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी ने अपनी एक अन्य रचना 'महत्-मंगल-वेली' में भी इनका उत्कर्ष-वर्णन करते हुए लिखा है कि रसिक जनों का इनकी ओर आकृष्ट होने का एक विशेष कारण था,

वह यह कि जन्मकाल से ही इनके मस्तक पर अभयप्रदायिनी स्वामिनी श्री राधा के हस्तकमल का चिह्न अंकित था—

सीस कर वर अभय स्वामिनि,
अचरज कहा बखानिये ।

—महत्-मंगल-वेली

गोस्वामीजी वृन्दावन-रस-रीति के मर्मज्ञ तो थे ही, अनन्यतापूर्ण हित रस-रीति के निर्वाहक भी थे। इनमें उदारता, रिझवारता, परम हितकारिता आदि साधुजनोचित गुण विद्यमान थे। यही कारण है कि इनके पास धर्मनिष्ठ वैष्णवों और साधुओं की भीड़ लगी रहती थी। ये अपने सेव्य श्री राधाकान्त की सेवा अत्यन्त प्रेमपूर्वक किया करते थे। वर्ष में आनेवाले इष्ट के नित्य और निमित्त साम्प्रदायिक उत्सवों को मनाने में इनका उत्साह असीम होता था। गो० चन्द्रलालजी ने लिखा है—

इहि रूप साधन सों उहि रूप सिद्ध होत,
यातें याकों वाकों नीकें करिबौ विचार है ।
यहाँ इहि भाँति रहै वहाँ निजु सुख लहै,
चन्द हित बातनि कौ जानिबौ ही सार है ॥

—मन्दिर-विलास

इस उपासना-विधान को इन्होंने अपने जीवन में लोक-प्रत्यक्ष करके दिखा दिया था। चाचाजी का साक्ष्य है—

उत्सव नित्य निमित्त इष्ट-गुरु कीने विधि जु विधान ।
सिद्ध कियौ वपु साधन एकै कहा गुन करौं बखान ॥
मन क्रम वच श्री राधाकान्त पद सेवै रुचि नहिं आन ।
वृन्दावन हित रूप भली है कियौ जुगल रस पान ॥

—महत्-मंगल-वेली

गो० चन्द्रलालजी ने अपने समय में होनेवाले हितोत्सव का आँखोंदेखा हाल वर्णन करते हुए लिखा है कि उस समय जादौ भक्त श्री हित रासमण्डल पर नाचते, गाते, पुष्प-वृष्टि करते और हर्षोत्फुल्ल होते हुए बड़ी धूमधाम से गो० हित हरिवंश महाप्रभु का जन्मोत्सव मनाया करते थे। उसमें सम्मिलित होने के लिए गोस्वामी श्री किशोरीलालजी हितपरिकर के साथ वहाँ पर चाव (शोभा-यात्रा) ले जाया करते थे, जिसकी अगवानी श्री वंशीधरजी किया करते थे—

माधौ मास जन्म उत्सव करैं जादौं भक्त,
दिन-दिन चौगुने ही चाव सरसात हैं ।
हित परिकर श्री किशोरीलाल चाव ल्यावैं,
गावैं हरषावैं पुष्प वृष्टि बरषात हैं ॥
इततें रसिक श्री वंशीधर आदि सम्मुख,
जावैं गावैं नाचैं मोद उमगात हैं ।
यह सुख कहिबे कौं करत ढिठाई,
देखौ सप्त सिन्धु कहूँ खग चोंच में समात हैं ॥

—वृन्दावन-प्रकाशमाला

इतना ही नहीं, उस समय होनेवाले समाजगान में भी आप प्रीतिपूर्वक भाग लिया करते थे—

हित सब हित कुल किशोरीलाल वंशीधर,
बल्लभ औ तुलसी ये गावत उमंग में ।
धर्म हरीदास बालकृष्ण राधिकादास,
जय कृष्ण बोलैं नित हित सौं प्रसंग में ॥
रसिक अनन्य धीर धर्मी निज कृपापात्र,
थेई थेई कहत भगत प्रेम रंग में ।
बाजत हैं साज मोहि रह्यौ है समाज सब,
लेत हैं झकोर सुख-सिन्धु की तरंग में ॥

—वृन्दावन प्रकाशमाला

'वृन्दावन-प्रकाशमाला' से यह विदित है होता कि उस समय हितोत्सव केवल रासमण्डल पर ही मनाया जाता था, राधावल्लभजी के मन्दिर में नहीं। ऐसा ज्ञात होता है कि श्री राधावल्लभ-मन्दिर में इस उत्सव का शुभारम्भ इन्हीं गोस्वामी जी के द्वारा कराया गया था। यही कारण है कि आज भी हितोत्सव के अवसर पर गोस्वामी किशोरीलाल द्वारा विरचित 'श्री द्विजराज भवन में रंगीली बाजत आजु बधाई'—प्रतीकवाले पद का गायन अनिवार्यतः किया जाता है।

ये श्रीजी को शयन कराकर शय्या के निकट नित्य ही बीन बजाकर विविध राग-रागिनियों में सुमधुर

गायन किया करते थे। वहाँ पर अन्य किसीका प्रवेश वर्जित था। रसिकों की भावना है कि गोस्वामीजी उस समय अपने नित्यसिद्ध वपु सखीरूप से बीन बजाकर श्रीजी को शयन कराते थे। एक अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण और अविस्मरणीय घटना यह है कि अपने सेव्य श्री राधाकान्तजी की श्रृंगार-सेवा करते हुए ही इन्होंने अपने पांचभौतिक शरीर का परित्याग कर नित्य-निकुंज-लीला में प्रवेश किया—

रसिक सभा भूषण जु भावना भजन-परायण।
बीन टहल दई प्रिया रागिनी राग सुगायन॥
गादी श्री हरिवंश तेज जैसैं चलि आयौ।
नन्दन श्री हित रूप प्रगट त्यौं ही दरसायौ॥
श्रीविग्रह कर ही में रह्यौ,
पुनि कुंजभवन कीयौ गवन।
दृग देख्यौ यह कोविद रसिक,
कलिकाल भयौ कौतिक कवन॥

—महत्-मंगल-बेली

यह घटित घटना चाचा वृन्दावनदास के जीवन में हुई थी। उनकी अन्तिम कृति सं० १८४४ की प्राप्त है। अतः 'महत्-मंगल-बेली' की रचना उन्होंने इससे पूर्व ही की होगी। इसके आधार पर श्री किशोरीलालजी का निकुंज-गमन-काल सं० १८४४ के पूर्व सं० १८४० के आसपास ज्ञात होता है।

गोविन्द अलिजी ने भी अपनी 'भक्तगाथा' नामक रचना में इनका परिचय देते हुए भूतकालिक क्रियाओं का प्रयोग किया है तथा लिखा है, 'प्रगट निसान बजाय हित किशोरीलाल महलन गये'। भक्त-गाथा का रचना-काल सं० १८४४ सुनिश्चित है—इस आधार से भी हमारी उक्त धारणा की पुष्टि होती है—

जिनकौ भजन अनन्य विमल रस भर्यौ अगाधा।
सहज विराजैं आय हृदै-वल्लभ श्री राधा॥

दिन-दिन सेवन-भजन-भावना राधाकान्त की।
भाव-चाव-सिंगार-भोग धरौ सभै अंत की॥
प्रगट निसान बजाय हित किशोरीलाल महलन गये।
श्री रूपलाल के नन्द अब, हित परिकर कौं फिरि गये॥

—भक्तगाथा

यह तो हुआ इनके बाह्यरूप का इतिवृत्त, इनके भजन-भावनापूर्ण अंतरंग स्वरूप का तो इनके द्वारा रचित पदावली से आज भी प्रत्यक्ष दर्शन होता है। नीचे इनके दो पद प्रस्तुत हैं—

(१)

भाइ भरे रस चाइन खेलत राधाकान्त वसन्त।
प्रथम पंचमी मनसिज उद्भव वन-वैभव नहिं अंत॥
सौरभ-सार भरत रंग छींटत नौतन वसन लसंत।
जै श्री किशोरीलाल हित रूप मिथुन रस विलसत मन हुलसंत॥

(२)

रंग रँगीले दोउ नव निकुंज मधि,
प्रेम रंग भरि खेलत होरियाँ।
स्यामवरन सखी स्याम संग भईं,
गोरी के संग सहेली सब गोरियाँ॥
फेंटन भरे हैं गुलाल विविध रंग,
तकि-तकि मेलत नवल किशोरियाँ।
जै श्री किशोरीलाल हित सौं गहि,
आन्यौ मुख माड़्यौ करि-करि बरजोरियाँ॥

स्या० बि० खं०

किशोरीशरण (सूरदास)

श्री किशोरीशरण की भक्ति-भावना का परिचय 'श्री हित अनन्य-रसिकावली' में इस प्रकार मिलता है—

अनदेखी जो देखैं कोऊ और न देखैं।
तीन काल की लेखैं बनावैं भागन रेखैं॥
श्री राधा जन्मोतसव चावन भावन करहीं।
गुरु गुरुकुल सन्मान सन्त सेवा विस्तरहीं॥

भये किशोरीशरण पन, राख्यौ और न मुख चहे।
सूरदास हित कृपा सौं, या जग साँचे चख लहे॥

इससे विदित होता है कि ये प्रज्ञाचक्षु थे। अतः सूरदास नाम से भी जाने जाते थे।

इनके लौकिक जीवन के सम्बन्ध में अपेक्षित तथ्य उपलब्ध नहीं है। लगभग २०-२२ वर्ष की आयु में ये श्रीधाम वृन्दावन आये थे और बाबा परमानन्ददास की कृपा से श्री हितचरणशरण-प्राप्ति के अधिकारी बने थे। इनके बड़े गुरुभाई बाबा जीवनदास उच्च कोटि के संगीतज्ञ थे। उनके साहचर्य से इनकी भी रुचि संगीत सीखने की हुई और ये उन्हींसे संगीत सीखने लगे। किन्तु इनकी यह रुचि अधिक दिन तक ठहर न सकी क्योंकि इनका चित्त भजन की ओर अधिक आकृष्ट हो चुका था। बाबा जीवनदास ने इन्हें गो० वनमालीलालजी से श्री हित-सम्प्रदाय की मंत्र-दीक्षा दिला दी। अब ये अपने विरक्त गुरु श्री परमानन्ददास की सेवा में रहकर भजन करने लगे।

बाबा परमानन्ददासजी राधावल्लभीय रसिक होने के साथ तन्त्र-मन्त्रों के भी ज्ञाता थे। उन्होंने सूरदासजी को भी तंत्रों की सांगोपांग विद्या से अवगत कराया। इसके पश्चात् ये तिलपत चले गये और वहाँ बहुत समय तक एकान्त वनस्थली में रहकर तांत्रिक सिद्धियाँ प्राप्त कीं। सिद्धि-सम्पन्न होते ही इनका प्रभाव-प्रताप तूफान की तरह बढ़ने लगा। गरीब की झोंपड़ी से लेकर अमीर की कोठियों तक इनका यश फैलता गया। बड़े-बड़े धनीमानी सेठ तथा राजपुरुष आकर्षित होकर इनके दर्शन के लिए आने लगे।

महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि सूरदासजी ने इस सिद्धि का सच्चा और वास्तविक सदुपयोग किया। इन्होंने प्राप्त वैभव का उपयोग मायिक विलासों में न कर सन्त-स्वरूपानुकूल साधुजनोचित कार्यों में किया—अनेक स्थलों पर श्री राधावल्लभजी के मन्दिर बनवाये और साधुओं के निवास के लिए आश्रम स्थापित किये। श्रीधाम वृन्दावन में भी इन्होंने श्री श्यामा-कुंज का निर्माण कराकर राधावल्लभीय सम्प्रदायानुसार अष्टयाम-सेवा की व्यवस्था की। इस सिद्धि-लाभ का सबसे सुन्दर उपयोग तो इन्होंने यह किया कि अनेकानेक जीवों को अन्य देवी-देवताओं की आराधना से विरत करके परमेष्ट श्री राधावल्लभलालजी महाराज के चरणोन्मुख कर दिया। यह सूरदासजी की ही विशेष कृपा थी जिसने दिल्ली, हरियाणा और पंजाब प्रदेश के अनेक विपथगामी जीवों को सरेबाजार 'राधावल्लभ श्री हरिवंश' की नामध्वनि करते हुए प्रेमविभोर करके नचा दिया था।

सूरदासजी सिद्धियों और निधियों से घिरे रहते हुए भी अपने स्वरूप को नहीं भूले और नहीं भूल सके श्री हरिवंश नाम-वाणी का पाठ-स्मरण, इष्ट-सेवा, गुरु-सेवा और सन्त-सेवा को।

इन्होंने अपने जीवन में कुछ ऐसे भी कार्य किये हैं जो बहुत दिनों तक इनके अमूर्त्त स्मारक के रूप में बने रहेंगे, जैसे—प्रयाग के कुम्भ-स्थल पर राधावल्लभीय खालसा के रूप में श्री राधावल्लभ-नगर की स्थापना करना, गो० श्री हिताचार्य महाप्रभु द्वारा विरचित 'श्रीमद्राधासुधानिधि' ग्रन्थ, उसकी श्री हरिलाल व्यासजी द्वारा की गई 'रसकुल्या' नाम्नी विस्तृत संस्कृत टीका और पं० रामकृष्णदेव और श्री अमीरचन्द्रजी शास्त्री द्वारा किया गया उसका 'रसकलश' नामक हिन्दी अनुवाद का दो खण्डों में प्रकाशन कराना और राधाष्टमी के अवसर पर 'चाव' की शोभायात्र का विशाल रूप में समायोजन करना।

श्री किशोरीशरण (सूरदास) जी ८ अगस्त १९७९ को गोलोकवासी हो गये।

श्या० बि० खं०

किशोरी सखी

श्री किशोरी सखी गोस्वामी मुकुन्दलालजी के पुत्र गो० घनश्यामलालजी के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरुवर्य एवं उनके पुत्रों गो० माधौलाल तथा गोस्वामी नवनीतलाल की जन्म-बधाई के पद लिखे हैं। इनका विद्यमान-काल अनुमानतः वि० सं० १७८० से वि० सं० १८६० के मध्य में स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

कीरतलाल (गोस्वामी)

गोस्वामी कीरतलालजी राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त थे। इनका जन्म सं० १८६६ माना जाता है। ये गोस्वामी लाड़लीलालजी के निकुंज-वास के अनन्तर उनकी पटना-गद्दी के उत्तराधिकारी हुए थे।

इनके दीक्षा-गुरु परम्परानुसार इनके पिताश्री गोस्वामी लाड़लीलालजी महाराज हुए। इनकी पूजा-पद्धति, भजन-सेवा एवं श्रीकृष्ण-भक्ति की गाथा आज भी इस क्षेत्र के पुराने आस्तिक लोगों के मुख से सुनी जाती है। कहते हैं कि इनकी इष्ट-साधना के चमत्कार देखकर तत्कालीन टेकारी (गया) एवं दरभंगा-नरेश विस्मय-विमुग्ध हो गये थे। टेकारी (गया) के महाराज ने तो इनसे दीक्षा भी ली थी। अंग्रेजी-शासन की कई सनदें इस बात को प्रमाणित करती हैं कि इनकी तीर्थ-यात्राओं की व्यवस्था का भार उनके अधीनस्थ अधिकारी सादर वहन करते थे। सन् १८५८ ई० में दिये गये फरमानों में उसका वर्णन तथा विशिष्टता का निदर्शन मिलता है।

श्री राधावल्लभजी की उपासना में आपकी तल्लीनता की अनेक गाथाएँ आज भी चर्चित हैं।

श्री गोस्वामी कीरतलालजी एक बार कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर आयोजित सोनपुर (बिहार) के हरिहर-क्षेत्र में अपने खेमे में बैठे प्रभु के भजन में लीन थे। उसी समय मेले का एक मतवाला हाथी बिगड़कर बाजारों, मण्डपों आदि को रौंदता हुआ इनके खेमे की ओर चला आया। हाथी अपने पूरे वेग से बढ़ता आ रहा था। 'भागो'-'दौड़ो' आदि की तुमुल ध्वनि चारों ओर मची थी। आसपास के लोग अपनी प्राणरक्षा-हेतु भाग निकले। किन्तु आश्चर्य! लोगों ने देखा—हाथी उनके पास पहुँचकर सहसा ठिठक गया। उनकी फेरी ली और पूजा को सामग्री में चन्दन की कटोरी में अपनी सूँड़ डुबोकर उनके मस्तक पर चन्दन-लेपन किया। फिर नतमस्तक हो बिल्कुल शान्त मुद्रा में अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर हो गया।

'भक्तमाल' में इनकी चर्चा मिलती है। इनकी आकृति अत्यंत तेजस्वी और विलक्षण थी। इनका एक भव्य चित्र आज भी इनके प्रपौत्र आचार्य गोस्वामी मधुकरलालजी की पूजा में विराजमान है।

इनका निकुंजवास सं० १९४१ के आसपास हुआ। इनके भजन भक्त-मण्डली में प्रचलित रहे हैं। किन्तु धीरे-धीरे अप्राप्य हो रहे हैं। इनको रचनाओं के कुछ उदाहरण जो इनके प्रपौत्र गद्दीस्थ आचार्य गोस्वामी मधुकरलालजी से प्राप्त हुए हैं, नीचे दिये जा रहे हैं—

(१)

श्री राधे आज मधुर ध्वनि नीकी।
कीर्ति-पताका तेरी फहरी
चहुँ दिसि कीरत हितजी की॥
लाख-लाख तेरी धुनि गावैं अन्य सुमहिमा फीकी।
धन-धन राधा नाम तिहारो
निसि दिन रटना जी की॥
कंठ कटै पै नाम उचारै तेरी छवि चित टीकी।
कीरत दरसन मगन मुदित ह्वै
छाप छपत चरणन की॥

(२)

जय जय श्री राधावल्लभलाल।
ब्रज सौं भटक्यो अटक्यो हित सौं
साँवलिया प्रण पाल॥
जो चाहहु सुख चैन सुजीवन भजहु गोविंद दयाल।
देख सुकीरत मत भरमावै
रसना रट राधा-गोपाल॥

त० ना०

कीर्तिकेशव

इनका पूरा नाम कीर्ति मिश्र था। कीर्तिकेशव या केशवकीर्ति उपनाम था। ये वृन्दावन के निवासी थे। ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्हें 'महाराज' कहकर सम्बोधित किया गया है। इससे अनुमान होता है कि ये साम्प्रदायिक आचार्य थे।

इनका एक ग्रन्थ 'सखी-समाज नाटक' नाम से प्राप्त हुआ है। इसका लिपि-काल सं० १७६० वि० है। रचनाकाल ज्ञात नहीं है, किन्तु रचना पुरानी है। यह नाटक नहीं है जैसा कि शीर्षक से भ्रम हो सकता है। इसमें कृष्ण और राधा के सखा-सखियों का वर्णन है।

ग्रन्थ-रचना के सम्बन्ध में कवि ने एक घटना का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि उसे वृन्दावन में एक दिन स्वप्न में श्रीकृष्ण और गोपियों की रास-लीला का दृश्य दिखाई दिया जिसमें सरस्वती वीणा बजा रही थीं और महाकवि केशवदास ताल दे रहे थे। केशवदास ने ही कवि से कहा कि वह सखी-समाज का वर्णन करें। इसी स्वप्न से प्रेरित होकर उसने 'सखी-समाज नाटक' की रचना की। कवि ने केशवदास की 'रसिक-प्रिया' का भी उल्लेख किया है। स्वप्न-सम्बन्धी अंश इस प्रकार है—

कीन्ही पोथी मै सुवेस, पढ़ै नर वो नरेस,
दिस-दिस देस-देस पुर पटनन मै।
रचिबे को सुभदिन प्रगटत छिन-छिन पै,
सखी-समाज बिनु संक रही मन मै॥
कौन सखी कर्म कौन सखा उपवन भौन,
दोइ ध्यान करो क्यों न करो यों श्रवन मै।
बीना लएँ गिरति सों संग सखा श्रीरति सों,
कह्यो मिश्र कीरति सो केशव स्वपन मै॥

'सखी-समाज नाटक' अध्यायों अथवा प्रभावों में विभक्त है। प्रारम्भ में दो अध्यायों और अन्त में सोलह अध्यायों का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि गृह और उपवन में किन-किन सखियों और कौन-कौन से सखाओं के क्या-क्या कर्म थे। उसका एक अंश यहाँ उद्धृत है —

मालिनि बरइनि अरु जीनी,
नायन सिलपिनि धाय।
रामजनी संन्यासनी,
नदी सुनारि सुनाय।
पटवनि और परोसिनि,
चुरहेरनि चित चाहि।
एते रहतीय दूतिका,
सखी समुझियौ नाहि।
यद्यपि ये वचननि कहति,
प्रियप्रिया दुहु अंग।
तदपि कारज बनत नहिं,
बिना अली परसंग।
यक प्रभाव में बरनियौ,
आगे 'सखी-समाज'।
समै कौन थल सखी को,
सखी नाम किहि काज।
अली नाम तै कहै कर्म,
समै थल औ वास।
अलंकार कौ सार रस,
कीरति केशवदास॥

वा० सिं०

कीर्तिचन्द/चित्रसेन (राजा)

'रसिक-अनन्य-परचावली' तथा 'चतुर्थ-वसन्त-प्रबन्ध' में इनका परिचय देते हुए लिखा गया है—

चित्रसेन तिन सुवन भली पाछै निर्वाही।
दया दीनता अधिक देखि गुरु संत सराहीं॥
जाहि जहाँ गोस्वामि जबहि आदर करि लीजै।
आगे ह्वै पद बंदि बहुत विधि सेवा कीजै॥
सुकृती भक्ति सुधन सच्यौ,
हित कृपा रावरी परै न कहि।
हितकुल प्रसाद वाँछैं सदा,
नृप कीरतिचंद सुबुद्धि लहि॥

—रसिक-अनन्य-परचावली

नृप कीर्तिचन्द पुनि चित्रसेन।
गुरुकुल सेवा सनमान देन॥
बहु वित खरचैं कहैं मधुर बैन।
रसिकनि मिलि मधुरितु सुख जु लैन॥

—चतुर्थ-वसन्त-प्रबन्ध

राजा कीर्तिचन्दजी किस राज्य के अधिपति थे—इस सम्बन्ध में प्राप्त परिचयात्मक छप्पय के आधार पर कुछ भी कहना सम्भव नहीं है, फिर भी चाचाजी

ने 'रसिक-अनन्य-परचावली' की इनसे ठीक पूर्व आयी छप्पय सं० २२३ में वर्धमान (बर्दवान, बंगाल) नरेश को भक्त लालजी का शिष्य लिखा है—इस क्रम को देखते हुए हमारा अनुमान है कि कीर्तिचन्द्रजी वर्धमान-नरेश थे और भक्त लालजी के शिष्य थे। चाचाजी ने अपनी दूसरी रचना—वसन्त-प्रबन्ध-चतुर्थ-में भी प्रायः इसी क्रम में अर्थात् भक्त लालजी के ठीक पश्चात् इनका उल्लेख किया है। इस आधार पर इनका विद्यमान-काल सम्वत् १७२५ से लेकर १९वीं शती के पूर्वार्द्ध तक स्थिर होता है।

राजा कीर्तिचन्द अत्यंत दयालु प्रकृति के थे। सभी संत तथा गुरुजन इनकी प्रशंसा मुक्त कंठ से करते थे। अपने पूज्य गुरुवर्य श्री भक्त लालजी की तरह इन्होंने भी हितधर्मी रसिकों एवं गोस्वामियों की आदरसहित सेवा करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। जब ये किसी हित नाद-बिन्दु परिकर का शुभागमन अपने यहाँ सुनते थे, तो सकुटुम्ब आदर-पूर्वक अगवानी लेने के लिए पहुँच जाते थे। फिर पाँवड़े बिछाकर अपने महल में ले जाकर उनका बहुविधि आतिथ्य-सत्कार किया करते थे। इस प्रकार से श्री हितधर्मियों की सप्रीति सेवा करने के परिणामस्वरूप इन्होंने गुरु-उपदिष्ट उपासना का फल इसी जीवन में प्राप्त कर लिया था।

इनके पुत्र चित्रसेनजी ने पिता की रहनी का यथोचित निर्वाह करते हुए कुलकीर्ति का विस्तार किया था।

श्या० बि० खं०

कुंजदास

कुंजदासजी का जन्म ब्रज के छातई ग्राम के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। पहले ये रास-मण्डली बनाकर ब्रज में यत्र-तत्र घूमा करते थे। कभी ये सहज ही श्रीधाम वृन्दावन का दर्शन करने आये। उसी समय इन्हें मटनटेर पर बाबा नवेलीशरण का सत्संग-लाभ हुआ। उसका प्रभाव इन पर कुछ ऐसा पड़ा कि इन्होंने उसी समय उन्हींके चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया और विरक्त सन्त-वेष लेकर रस-भजन-परायण बन गये। इसके पश्चात् इन्होंने अपने परिवारवालों की ओर मुड़कर भी नहीं देखा, क्योंकि अब ये लाड़िलेलाल के प्रेमी बन गये थे। साधुसेवामय जीवन व्यतीत करते हुए एक दिन इन्होंने अपने पांचभौतिक देह का परित्याग कर नित्यसिद्ध सहचरी वपु को प्राप्त कर लिया। इनका विद्यमान-काल वि० सं० १९५० से वि० सं० २०३० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

कुंजदास-गोपीदास

राधावल्लभीय साहित्य में कुंजदास और गोपीदास नाम के भक्तों का संक्षिप्त परिचय इन शब्दों में प्राप्त होता है—

प्रथम उड़ीसा वास त्यागि वृन्दावन आयौ।
इष्ट-साधु-सेवा करि नर तन सफल बनायौ॥
बंधु जु गोपीदास पाक प्रभु हित जु बनावै।
रीझैं प्रभु के दास भाग कछु कहत न आवै॥
कथा कीरतन प्रीति नित, श्रीहित हरिवंश सुविध भजे।
श्री रूपलाल गुरुवर कृपा, कुंजदास दम्पति सजे॥

—रसिक-अनन्य-परचावली

श्री रूपलाल गुरु-चरन हेत।
उत्कल तजि बसे रस भजन खेत॥
देवन दुर्लभ राधा-निकेत।
गोपी कुंजदास सुख भजन लेत॥

—चतुर्थ-वसन्त-प्रबन्ध

श्री कुंजदास और श्री गोपीदास दोनों सहोदर थे और उत्कल प्रदेश के निवासी थे। संवत् १७६३ में गोस्वामी श्री रूपलालजी पुरुषोत्तमपुरी पधारे थे। चार वर्ष पर्यन्त गौड़ देश में भ्रमण करते हुए इन्होंने अनेकानेक जीवों को श्री हरिवंशोदित रसभक्ति का उपदेश कर वृन्दावन-रसोपासना की ओर आकृष्ट किया था। संवत् १७६७ में वृन्दावन की ओर प्रस्थान करते समय जब वे श्री जगन्नाथजी के दर्शन करने गये थे तो

उस समय श्री जगन्नाथजी के श्री अंग से उपरैना खिसक गया और उनकी माला भी टूटकर नीचे गिर गयी। सभी इस घटना को देखकर आश्चर्यचकित थे। तत्कालीन मन्दिर के पुजारी श्री जगवल्लभजी को यह बात समझने में देर न लगी कि यह उपरैना और माला श्री जगन्नाथजी गोस्वामीजी को देना चाहते हैं। वह तन-मन से प्रेमाप्लुत हो गया और उसने पुलकित हाथों से दोनों वस्तुएँ गोस्वामीजी को लाकर पहना दीं। प्रभु के इस चमत्कारपूर्ण चरित्र से 'जगन्नाथ-जी की जय' और 'गो० श्री रूपलालजी की जय'-- इन जय-ध्वनियों से मन्दिर गूँज उठा। समुपस्थित सभी दर्शक गोस्वामीजी के प्रशंसा-परायण बनकर उनके चरणों में गिर गये--

खिसे उपरैना ताही घरी।
फूलनिमाल टूटि पुनि परी॥
नैननि देखैं सबही दुनी।
पंडा वात हियें यह गुनी॥
प्रभु कौ अंगसेवी मनभेवी जु विचित्र महा,
बार-बार सोचै हियौ प्रेम भरि आयौ है।
लै कै उपरैना दोउ फूलमाल दोउन की,
आनि कैं सनेही हित रूप कौ पहिरायौ है॥
ऐसी तौ कृपा विचारिये हू छके प्रेम अति,
लोटै वह चरननि में कंठ तै लगायौ है।
जगवल्लभ नाम जगन्नाथ प्रेम परचै यौं,
वृन्दावन हित रूप प्रेम सौं बिकायौ है॥
जै जै धुनि मन्दिर में नीलगिरि-नाथ कृपा,
परचौ दियौ अहा कहा मान्यौ बड़ौ हेत जू।
मिले झिले प्रेम दोऊ नैन भरि ढारै नीर,
मुदित होत देखि सबै भूले चित चेत जू॥
माहिली बढ़ाई प्रीति महत कुल देखौ रीति,
भवितवत्सल विरद करुणा-निकेत जू।
बंदै पद बार-बार कहै धन्य रूप हित,
जगन्नाथ नातौ मान्यौ बसैं विपिन खेत जू॥

—श्री हितरूप-चरित्रवेली

श्री गोपीदास और श्री कुंजदास श्री जगन्नाथजी के मन्दिर के पाक-सेवी थे। ये इस घटना से इतने अधिक प्रभावित हुए कि इन्होंने अपने को गोस्वामी-जी के श्रीचरणों में समर्पित ही कर दिया। इतना ही नहीं, समस्त घर-बार छोड़कर ये दोनों भाई गोस्वामी-जी के साथ वृन्दावन चले आये। यहाँ आकर इन्होंने इष्ट और रसिकजनों की सेवा में ही अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया। इन दोनों की रुचि वृन्दावन-रस-कथा-श्रवण और कीर्तन-गायन (समाज-गान) में भी थी। अतः सेवा से अवकाश प्राप्त होने पर ये कथा-श्रवणादि में अपने समय का सदुपयोग किया करते थे। आराध्ययुगल की कुशलतापूर्वक सानुराग पाक-सेवा से इन दोनों ने प्रत्यक्ष ही अपने इष्ट और इष्ट के निजजन—रसिकजन—की रीझन प्राप्त कर ली थी।

इनका उपस्थिति-काल सं० १७४५ से सं० १८१५ के बीच निश्चित किया जा सकता है।

श्या० बि० खं०

कुंजदास नादिया

श्री कुंजदास नादिया का जन्म एक कायस्थ-परिवार में हुआ था। इनका जन्म-स्थान व जन्म-तिथि अज्ञात है। इन्हें गो० गोवर्धनलालजी अधिकारी (रासवंशीय) से श्री हित धर्म की मंत्र-दीक्षा प्राप्त हुई थी। इन्होंने श्री भोलानाथजी (भोरीसखीजी) से विरक्त सन्त-वेष ग्रहण किया था और उनके अनुगत बन गये थे। भोलानाथजी की कृपा से इन्हें श्री हित रसिक वाणियों के कथन-श्रवण में अत्यधिक रुचि हो गई थीं; जिससे इनके हृदय में लाड़िलीलाल की रसमयी केलियों का स्फुरण होता रहता था और ये उसमें छके-से रहा करते थे। इन्होंने श्री हरिवंश नाम-वाणी को ही अपना उपजीव्य बना लिया था। इनका विद्यमान-काल वि० सं० १९२५ से वि० सं० २००० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

कुंजबिहारीदास महन्त (प्रथम)

कुंजविहारीदास का जन्म संवत् १९५६ में हुआ था। इनके पिता श्री भगवान चतुर्वेदी आजमगढ़

(उत्तर प्रदेश) के भोगाइया नामक ग्राम के निवासी थे। हिन्दी-संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करने के बाद (जो काशी तथा शाहगंज में रहकर की थी) इन्होंने अपने पिता के शिष्य-सेवकों के पास आना-जाना प्रारम्भ कर दिया। इस क्रम में बम्बई, कलकत्ता आदि महानगरों में भी आपका जाना हुआ। संवत् १९७९ के लगभग आप चक्खनपुर गये। वहाँ पं० हनुमान्प्रसाद के यहाँ नियमित रूप से श्रीमद्भागवत और महाभारत की कथा श्रवण की तथा विनयपत्रिका के पदों को भी मनोयोगपूर्वक सुना। इसके परिणामस्वरूप इनके हृदय में वैराग्य का अंकुर उत्पन्न हो गया। वहीं पर आपने पिताश्री से निवेदन कर दिया कि हम साधु होंगे। पिता ने बहुत समझाया-बुझाया, विवाह करने के लिए भी आग्रह किया, किन्तु आपने एक न मानी। तब पिता ने झुँझलाकर कहा—'मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ कि मेरा पुत्र साधु हो जाय और यदि साधु हो तो सच्चा साधु होना।' पिता के मन के ऐसे उद्गार जानकर आप पिताश्री से वैराग्य ग्रहण करने की अनुमति लेकर वृन्दावन जा पहुँचे। वृन्दावन में उस समय टोपी-कुंज के महन्त श्री माधवदासजी 'अली-माधुरी' एक उच्चकोटि के सिद्ध सन्त थे। सम्पूर्ण व्रजक्षेत्र में उनकी ख्याति व्याप्त थी। उनका सारा समय श्री राधाकृष्ण की बाँकी झाँको के चिन्तन में ही व्यतीत होता था। वे टोपी-कुंज में कम रहते थे, अधिकतर रमणरेती के परिक्रमा-मार्ग में अवस्थित परम रमणीक 'वन-विहार' नामक स्थल में रहते थे, जो टोपी-कुंज से ही सम्बद्ध था। श्री कुंजबिहारी उक्त श्री अलीमाधुरीजी की शरण में पहुँच गये और उनसे विरक्त-वैष्णवी दीक्षा ग्रहण कर उन्हींकी सेवा में अहर्निश रहने लगे। कुछ समय सेवा में रहने के पश्चात् गुरुदेव की आज्ञा लेकर ये चारों धाम की तीर्थ-यात्रा को निकल पड़े। सम्पूर्ण भारत के अनेक तीर्थों में भ्रमण कर जब वृन्दावन वापस पहुँचे तो गुरुजी ने आपको सर्व प्रकार से योग्य सन्त जानकर अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया और संवत् १९८९ में 'गोपी-कुंज' का महन्त बना दिया। महन्त-पद पर रहते हुए आपने बड़ी निष्ठापूर्वक स्थान का संचालन किया। ये ठाकुर-सेवा और सन्त-सेवा अपने हाथ से करते थे। नित्यप्रति कुंज में ही भगवत-भागवत कथा कहते थे। सन्त-सेवा में आपकी अपार निष्ठा थी। आपके द्वारा निर्मित एक लघु ग्रंथ 'श्रीयुगलकिशोर-कृपाकटाक्ष' काफी प्रसिद्ध है। इसकी रचना सुन्दर पदों में की गयी है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

तुम बिन और कोउ नहिं मेरे।
युगल किशोर किशोरी सुनिये
सत्य कहूँ तव नेरे॥
जितने मिले जगत में मोकूँ
सबै कपट हिय घेरे।
स्वारथ ही में लिप्त भये अति
नाम दाम के चेरे॥
औरन को उपदेश देत नित
जगत मृषा कहि टेरे।
आपुन हिये कबहूँ नहिं देखैं
जो अतिमलिन भये रे॥
जब लगि स्वारथ सिद्ध होय
तबहीं लगि प्रेमी मेरे।
स्वारथ-हीन बात कोइ नाहीं
पाछ शत्रु सम हेरे॥
बिन स्वारथ के आपहि जन के
पुरवत साथ घनेरे।
कुंजबिहारी बिहारिणि ताते
तव पद शरण गहे रे॥

महन्त श्री कुंजबिहारीदासजी का हृदय श्री राधा-कृष्ण की भक्ति से सदैव ओतप्रोत रहता था। आप अधिक समय तक जीवित नहीं रहे। संवत् २००० के लगभग अल्पायु में ही गोलोकवासी हो गये।

प्रे० ना० श्री०

कुंजबिहारीदास (द्वितीय)

कुजबिहारीदास का जन्म जिला गुरुदासपुर (पञ्जाब) में ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। इनके पिता पञ्चगोड़ 'सारस्वत'-कुल के प्रतिष्ठित विद्वान् थे।

पिता के संस्कार इनके ऊपर पड़े और विद्या का फल वैराग्य ही था। अतः घर छोड़कर वृन्दावन चले गये। वहाँ श्री चतुर चिन्तामणि देवाचार्य के परम्परानुवर्ती बाबा किशोरीदासजी के शरणापन्न होकर इन्होंने आजीवन व्रज-वास किया और अन्ततः व्रज में ही विलीन हो गये।

प्रे० ना० श्री०

कुंजबिहारीदास (तृतीय)

श्री कुंजबिहारीदास का जन्म वि० सं० १९२९ में पंजाब प्रांत के अन्तर्गत किसी ग्राम में हुआ था। संयोगवश आप बाल्यावस्था में ही आनन्दीमाई के सम्पर्क में आ गये। १५-१६ वर्ष की अवस्था में श्री आनन्दीमाई के ठाकुरजी के प्रति लाड़-दुलार एवं भक्ति को देख आपके हृदय में भगवद्-भक्ति का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। फलतः आप वृन्दावन आ गये।

वृन्दावन आकर वि० सं० १९४८ में आप श्री निम्बार्क-सम्प्रदायान्तर्गत स्वामी श्री हरिदासजी महाराज की परम्परा के विरक्त महात्मा श्री नवेली-शरणजी के कृपा-पात्र हो गये। १५-१६ वर्ष तक आपने बरसाने में मोरकुटी पर निवास किया। तदुपरांत कई वर्ष श्रीजी के मन्दिर में कोठारी रहे।

बरसाने से पुनः वृन्दावन आकर इन्होंने मुखिया श्री गोकुलदासजी का सतसंग किया। इन दोनों मुखिया मित्रों के द्वारा आचार्योत्सवों में समाज का प्रचलन हुआ।

वि० सं० १९६१-६२ में जब श्री आनन्दीमाईजी ने वृन्दावन आकर राधावल्लभजी के मन्दिर के समीप अपने आराध्य का मन्दिर बनवाया, तब से आप इसी मन्दिर में रहने लगे। वि० सं० १९९३ मार्गशीर्ष शुक्ल १५ को श्री आनन्दीमाई ने व्रज-रज प्राप्त की, तब आप मन्दिर के उत्तराधिकारी नियुक्त हुए। आपके द्वारा विरचित एक पद इस प्रकार है—

राग सारंग

यशुमति गोचारन को बल-
मोहन को करति शिंगार।
कार्तिक गोप अष्टमी उज्ज्वल,
पण्डित कहत विचार॥
बाबा नंद दक्षिणा दीनी,
फूले मन में भये उदार।
रामकृष्ण चिरजीवो जोरी,
बोलत बारम्बार॥
सखा सङ्ग के बनि-ठनि आये,
ते कीने सबलार।
मैया कहति भली विधि तिनसौं,
कीज्यो इनकी सार॥
भूख-प्यास की खबर लीजियो,
ये हैं अति सुकुमार।
जो कबहूँ हों उदास छिनक में,
लीजौ हँसाय सब ग्वार॥
मेवा भाँति-भाँति पकवानन,
छीकाभर दिये और अचार।
खेलत-फुदकत चले गोचारन,
शोभा बढ़ी अपार॥
ब्रजबनिता मिलि मंगल गावें,
देखत नैन पसार।
लगी टकटकी कुञ्जबिहारी सों,
घर की सुधि न सँभार॥

प्रे० ना० श्री०

कुंजलाल गोस्वामी (प्रथम)

कुंजलालजी पुष्टिमार्गीय गोस्वामी बलदेवजी के पञ्चम पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १९२० में हुआ था। आप जहाँ साधु-सन्तों की तरह सरल, सहृदय, निरभिमानी तथा सर्वमानी थे, वहाँ राजा-महाराजाओं की तरह वैभवशाली भी थे। आपके समय में सिन्धु नदी में (सं० १९४६) भयंकर बाढ़ आ गई। सम्पूर्ण नगर 'डेरागाजीखाँ' जलमग्न होकर भूमिसात् हो गया। आपने निरापद स्थान पर नवीन नगर की स्थापना की और श्री गोपीनाथजी के नये मन्दिर का निर्माण कराया। इससे आपकी प्रतिष्ठा हिन्दुओं में ही नहीं, मुसलमानों में भी स्थापित हो गई।

इन्होंने भारत के पश्चिमोत्तर-प्रदेश में अनेक मंदिरों का जीर्णोद्धार तथा निर्माण कराया। आपके जीवन-काल में उस क्षेत्र में श्रीकृष्ण-भक्ति की एक लहर-सी उमड़ पड़ी थी। उससे हिन्दू-मुस्लिम-सौहार्द को प्रोत्साहन मिला था। सं० १९८५ में इनका तिरोधान हो गया।

सु० श०

कुंजलाल गोस्वामी (द्वितीय)

कुंजलालजी का परिचय देते हुए 'रसिक-अनन्य-परचावलो' में लिखा गया है—

महाभजन तप तेज वदन पर दिपत सदाई।
हिये जुगल जगमगत नैन झलकत सो झांई॥
जिनकी रहन अपार
कहन में आवत नाहीं।
मंगलमय गुनचरित बसौ
उर अन्तर माहीं॥
तिनके सुत सब कृपानिधि,
शिष्य समर्थ भये जहाँ लगि।
श्री कुञ्जलाल बन्दौं चरन,
कीरति अमल प्रकास जग॥

ग्रेह मध्य वैराग्य दिखायो
सब विधि करिकै।
स्वाद विवाद विषाद देह
सुखरति परिहरिकै॥
वक्र वचन करि वार
सकल जन संग निवार्यौ।
दंपति-प्रेम-पियूख श्रेष्ठ
जन उरवर धार्यौ॥
दरसत विपुल प्रताप यह,
सरनागत सब रस पगे।
उग्र तेज रस-भजन हद,
श्री कुञ्जलाल जग जगमगे॥

चाचा हित वृन्दावनदासजी कहते हैं कि 'श्री कुञ्जलालजी के मुख पर सदा भजन का तेज चमकता रहता था। हृदय में विराजमान युगल श्री श्यामाश्याम उनके नेत्रों में जगमगाते रहते थे। उनकी रहनी अद्भुत और अकथनीय थी। उनके गुण-चरित्र मंगलमय थे। उनके पुत्र तथा शिष्य सभी भजन-मार्ग में पूर्ण समर्थ हुए।

श्री कुञ्जलालजी ने गृहस्थ-धर्म में रहते हुए पूर्ण वैराग्य का आचरण करके दिखा दिया और देह के सुख-स्वादों का परित्याग कर दिया। अधिक जन-सम्पर्क से बचने के लिये उन्होंने वक्रवचनों की बाड़ अपने चारों ओर खड़ी कर ली थी। वे अधिकांश लोगों से टेढ़े बोलते थे। श्रेष्ठ अधिकारी जनों के हृदयों में उन्होंने प्रेमामृत प्रवाहित कर दिया। उनके विपुल प्रताप का यह स्पष्ट प्रमाण है कि उनके शरणागत सब जीव श्री श्यामाश्याम के प्रेम-रस में पग गये।'

श्री कुञ्जलाल गोस्वामी का जन्म सं० १६९६, आषाढ़ कृष्ण १० को, श्री वृन्दावन में हुआ था। ये श्री रामदास गोस्वामी के तृतीय पुत्र थे और अपनी कुल-परम्परा के अनुसार बाल्यकाल से ही भक्तिभाव में स्थित हो गये थे। इनके कतिपय पद वर्षोत्सवों के संग्रहों में संकलित हैं। कुछ रचनायें नीचे दी जाती हैं—

(१)

वसन्त

बनत न जुगल अँग-अँग फूल।
फूल द्रुम गन रंग रंगन लतन फूलन झूल॥
झूम जल में फूल बरसत हरखि जमुना कूल।
फूल पुञ्ज निकुञ्ज बैठे पहिर पीत दुकूल॥
कंचुकी लहँगा कनक कृत फूल सारिन तूल।
फूल पाग झंगारु पटुका हेममय रस-मूल॥
फूल फूलन रचित भूषन परस्पर अनुकूल।
फूल भ्रम कोउ फूल फल गहि रहत प्रीतम भूल॥
कर फूल सौं कर फूल टारत कटि मटक प्रतिकूल।
फूल हँसि हित कुञ्जलाल विलास रस समतूल॥

(२)

होली

चौंक परी गोरी होरी में
श्याम अचानक बाँह गही री।

सम्हरि छुड़ाय रिसाय चढ़ी भ्रुव
अनखि अधर कछु बात कही री।
चितै-चितै हँसि कै बसि कै रसि,
कसि भुज में रस रासि लही री।
(जय) श्री कुंजलाल हित बाल जाल छवि
ख्याल रसालहि देख रही री ॥

(३)

श्यामा-श्याम निकुंज-महल में
खेलत जुगल जूथ अलि बनि बनि।
लहँगा लाल कंचुकी झीनी
सारी सितन किनारी ठनि-ठनि ॥
पीत पाग कंचुक तन उज्ज्वल
दुहुँ अंगन छवि निकसत छनि-छनि।
जुग सिंहासन सनमुख बैठे,
सौरभ सौंज धरी सखि गनि-गनि ॥
लाल पिचक उरजन तकि छोड़न
उनके दृगन लगन भ्रुव तनि-तनि।
बसनन अतर गुलाब परस्पर
रचत प्रिया प्रिय तन मन सनि-सनि ॥
बाजे विविध बजत कल गावत
मैंन-सनी बतियाँ मुख भनि-भनि।
झूमत नाचत लटकत मटकत,
पटकत पद नूपुर-रव झनि-झनि ॥
परसि पुलक बल मिलत झिलत रस
हँसत लसत करतारिन हनि-हनि।
श्री कुंजलाल हित सों लपटन लखि
मानत भाग आपनौं धनि-धनि ॥

ल० च० गो०

कुंजोदेवी

कुंजोदेवी को सुप्रसिद्ध आचार्य चरणदास की माँ होने का गौरव प्राप्त है। आपका जन्म बहादुरपुर (अलवर) में श्री भिखारीदासजी भार्गव के यहाँ संवत् १७४३ में हुआ था। आपकी माता अम्बिकादेवी थीं। आपके घर में नित्य श्रीमद्भागवत का पारायण होता था तथा सदाव्रत बँटा करता था। आपके ऊपर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। राधाकृष्ण आपके परम उपास्य हो गये। संवत् १७५० में आपका विवाह डेहरा-निवासी पं० मुरलीधर के यहाँ हुआ। इन्होंने अपने पुत्र चरणदास को भक्ति के प्रचार की आज्ञा दी। पुत्र ने घर बैठे गंगा-स्नान करवाया तथा राधाकृष्ण की रास-लीला के दर्शन करवाये। पति की मृत्यु के बाद ये अपने पिता तथा बाद में पुत्र के पास रहीं। संवत् १८१९ को एक दिन राधाकृष्ण का जाप करते हुए ये प्रियाप्रियतम की दिव्य-लीला में लीन हो गईं।

म० गो० भा०

कुन्दनदासजी

महन्त श्री कुन्दनदासजी के सम्बन्ध में 'श्री हित-अनन्य-रसिकावली' में कहा गया है—

संग नागनि की भीर तऊ रहे भजन परायण।
अपने इष्ट अनन्य न जाने देव नरायण ॥
श्री हित वल्लभ सेव्य रास-मण्डल में राजैं।
ललित विलासन भनें सदा जो हिये विराजैं ॥
श्री लाड़िलीदास गुरु कृपाबल,
वृन्दावन रस में पगे।
(जय) श्री हित कुन्दनदास हित, धर्म धीर जग जगमगे॥

इनके ऐहिक जीवन-सम्बन्धी कोई सूत्र उपलब्ध नहीं है। इन्होंने श्री हित-रासमण्डल के महन्त श्री लाड़िलीदासजी से श्री राधावल्लभीय सम्प्रदाय की मंत्र-दीक्षा प्राप्त की थी। दीक्षोपरान्त ये गुरुवर्य के चरणों के सान्निध्य में रासमण्डल पर ही रहने लगे। ये रासमण्डल पर विराजमान नामसेवाजी (श्री हितवल्लभजी) की परिचर्या बड़ी लगन से किया करते थे। श्री हित-दम्पति के चरणों में असीम अनुराग और श्री हितधर्म के प्रति अनन्य निष्ठा इन्हें अपने गुरुवर्य से विरासत के रूप में मिली थी। अपने साधुजनोचित गुणों के कारण इन्होंने रसिकों के हृदय में विशिष्ट स्थान बना लिया था। इनके मानस में रसिक-युगल की रम्य झाँकी प्रगाढ़ रूप में बस गई थी जो इनकी रचना 'ललित-विलास' में प्रत्यक्षतः दिखाई पड़ती है।

इनका आनुमानिक विद्यमान-काल २०वीं शती का उत्तरार्द्ध स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

कुबेर भगत

कुबेर भगत का जन्म वाराणसी जिले के नरवली नामक ग्राम के निवासी झीमल अहीर के घर हुआ था। शैशवावस्था से ही इनके स्वभाव में शालीनता तथा सरलता दिखायी देने लगी थी। कुछ बड़े होने पर इन्हें प्राइमरी स्कूल में शिक्षा ग्रहण करने के लिए भर्ती कराया गया। स्कूल में इन्हें जो कुछ पढ़ा या बता दिया जाता था, उसे ये शीघ्र सीख लेते थे। अपनी कक्षा के छात्रों में ये सदा ही प्रथम रहते थे।

दिन में तो स्कूल जाते और रात्रि के समय अपने बाबा के साथ बैठा करते। इनके बाबा अत्यन्त सरल प्रकृति के थे। वे भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त थे। उनके पास श्री राधाकृष्ण की एक प्रतिमा था जिसे उन्होंने घर में एक अलग स्थान पर विराजित किया था। वे प्रातः-सायं दोनों समय गंगा-स्नान के बाद उसकी पूजा करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण की कथा में उनकी बड़ी रुचि थी। बाबा के साथ ये भी श्रीकृष्ण की लीला-कथा सुनते थे। दस वर्ष के होते ही इन्हें श्रीकृष्ण-चरित्र का अच्छा ज्ञान हो गया। ये जब स्कूल जाते तो रास्ते में अपने सहपाठियों को श्रीकृष्ण-चरित्र सुनाते थे। इनका श्रीकृष्ण से घनिष्ठ प्रेम हो गया था।

बाबा के भक्तिमय व्यक्तित्व तथा पवित्र चरित्र की पूरी छाप इनके ऊपर पड़ गयी। ये उनके साथ ही दोनों समय गंगास्नान करने लगे थे। पूजा के समय ये अपने बाबा के साथ ही रहते थे।

अभी प्राइमरी कक्षा भी पास नहीं कर पाये थे कि सहसा इनके बाबा का परलोकवास हो गया। उसके बाद इनका स्कूल जाना बन्द हो गया। इनके पिता ने श्री राधाकृष्ण को पास में गाँव के बड़े मंदिर में रखवा देना चाहा, परन्तु कुबेर ने ऐसा नहीं होने दिया। दृढ़तापूर्वक उस विग्रह को अपने पास रख लिया और प्रसन्न मन से दोनों समय उसकी पूजा करने लगे।

बाबा की स्वर्गयात्रा के बाद इनका कार्यक्रम बदल गया। श्री राधाकृष्ण के चरणों में इनकी श्रद्धा पहले ही दृढ़ हो गयी थी। इन्होंने अपना तन, मन और जीवन श्रीकृष्ण-चरणों में समर्पित कर दिया।

माता-पिता के आग्रह से इन्होंने विवाह कर लिया। दो-तीन संतानें भी हुईं, परन्तु इनका श्रीकृष्ण-प्रेम निरन्तर बढ़ता ही गया। काम से जब अवकाश मिलता तो गंगा-तट पर चले जाते और किसी साधु-महात्मा के आने की प्रतीक्षा करते रहते। किसी भी साधु को पाकर ये अत्यन्त प्रसन्न होते तथा प्रेमपूर्वक उन्हें अपने घर लाते, बड़ी ही श्रद्धा से उनकी सेवा करते, भोजन कराते, फिर पवित्र चौकी पर कम्बल बिछाकर उन्हें बैठाते और स्वयं पृथ्वी पर हाथ जोड़कर बैठ जाते। कुछ उपदेश करने के लिए उनसे प्रार्थना करते।

कुबेर भगत की जाति के लोग (ग्वाले) बिरहा गाया करते हैं। ये भी बिरहा गाते थे। इनका बिरहा श्रीकृष्ण की लीलाओं का होता था। ये जिस समय गाने के लिए बैठते एक प्रकार का मधुर आनन्द इनके गान के साथ ही बरसने लगता। श्रोता तन्मय हो जाते थे।

कुछ ही समय में इनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। लोग अपना दुखड़ा सुनाने इनके पास आने लगे। कुबेर भगत भीड़ देखकर घबड़ाते थे। किन्तु यह श्रद्धालुओं को रोक नहीं पाते थे। इनके जीवन में अनेक विलक्षण और चकित कर देनेवाली घटनाएँ भी घटी थीं। एक बार की बात है, इनके गाँव के आसपास चारों ओर प्लेग पड़ा था। प्रतिदिन स्त्री-पुरुष तड़प तड़पकर काल के गाल में जा रहे थे। उस समय इनके गाँव में प्लेग का स्पर्श तक नहीं था। नरवली के पास ही के कस्बा धानापुर में चार-छः मौतें प्रतिदिन हो रही थीं। धानापुर के लोगों ने घबड़ाकर भगत के पास जाकर

प्रार्थना की—"महाराज ! किसी तरह रक्षा कीजिए, नहीं तो बाजार उजड़ जायगी।"

कुछ देर चुप रहकर भगत ने कहा—"बीमारी नहीं, यह सबका पाप है, जो इस रूप में प्रकट हो रहा है। आप लोग मुझसे कुछ न कहें। भगवान् से प्रार्थना करें।" धानापुर-निवासियों ने इनसे चलने की प्रार्थना की।

इन्होंने कहा, "मेरा जाना गोपाल की इच्छा के प्रतिकूल होगा।" पर अधिक आग्रह करने पर श्री राधाकृष्ण के चरणों में शीश झुकाकर ये चलने के लिए उद्यत हो गए।

धानापुर में पूजा की तैयारी हुई। सारी रात भजन, कीर्तन, हवन हुआ। पूजा समाप्त होते ही भगत के सिर में चक्कर आने लगा। कई आदमियों के साथ ये घर लौट आये।

हर तरह के उपचार करने पर भी इन्हें कोई लाभ नहीं हुआ। एक लम्बी-चौड़ी चौकी पर कुशासन और उसके ऊपर कम्बल बिछाकर भगत को लेटाया गया। इन्होंने संकेत किया, इनके छोटे भाई ने जल्दी से आसन-सहित प्रिया-प्रियतम की मूर्ति इनके सामने रख दी। इनकी आज्ञानुसार वहाँ भजन-कीर्तन होने लगा। भगत ने गंगा-जल माँगा। इनके भाई ने शीघ्र मुँह में कुछ बूँदें डाल दीं। साथ में तुलसीदल भी था। भगत ने प्रिया-प्रियतम की ओर संकेत किया। इनके छोटे भाई तुरन्त बोल उठे—"आप निश्चिन्त रहें, ये अब परिवार के आराध्यदेव रहेंगे।" श्रद्धालु भाई के मुख से इतना सुनना था कि भगत के मुख पर एक अपूर्व ज्योति छा गयी। देखते ही देखते ये अपने जीवन-सर्वस्व के चरणों में लीन हो गये।

स० गु०

कुम्भनदास

श्री हरिराय-कृत 'भावप्रकाशावली' तथा 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' (१६९७ वि० संवत्) के अनुसार कुम्भनदास ब्रज में गोवर्धन पर्वत से कुछ दूर जमुनावतो नामक गाँव में रहा करते थे। 'गोवर्धननाथजी के प्राकट्य की वार्ता' से इस बात की पुष्टि होती है तथा उससे यह भी ज्ञात होता है कि कुम्भनदास का जमुनावतो गाँव में ही जन्म हुआ था। वार्ता से पता चलता है कि परासौली चन्द्रसरोवर के पास इनके बाप-दादों के खेत थे। कुम्भनदास वहाँ रहकर खेती कराया करते थे किन्तु इनका कुटुम्ब जमुनावतो में ही रहता था। परासौली, चन्द्रसरोवर से ही ये श्रीनाथजी के मन्दिर में समय-समय की सेवा पर कीर्तन करने जाते थे। इनका जन्म गोरवा क्षत्रिय-कुल में हुआ था।

वार्ताओं अथवा अन्य किसी सूत्र से कुम्भनदास के माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं होता। 'गोवर्धननाथजी के प्राकट्य की वार्ता' से ज्ञात होता है कि इनके एक चाचा का नाम धर्मदास था जो बड़े भगवद्भक्त थे। वार्ता में लिखा है कि कुम्भनदास की स्त्री 'जैत' गाँव के पास बहुला-वन की रहनेवाली थी। कुम्भनदास का कुटुम्ब बहुत बड़ा था। इनके सात पुत्र थे और सातों पुत्रों की स्त्रियाँ थीं। इनको एक विधवा भतीजी भी थी जिसे ये बहुत प्यार करते थे। कुम्भनदास के यहाँ धन का सदैव अभाव रहता था। खेती से जो आय होती थी उसी पर ये अपना निर्वाह करते थे। एक बार गोस्वामी विट्ठलनाथ ने विनोद में इनसे पूछा—"कुम्भनदास, तुम्हारे कितने पुत्र हैं ?" इन्होंने उत्तर दिया—"डेढ़, महाराज यों तो सात बेटा हैं तामें पाँच तो लौकिकासक्त हैं, जो वे बेटा काहे के हैं और पूरो एक बेटा तो चतुर्भुजदास है और आधो बेटा कृष्णदास है, सो गोवर्द्धननाथजी की गायन की सेवा करत है।" तब गुसाइंजी ने प्रसन्न होकर कहा, "कुम्भनदास, तुम सच कहत हो, जो भगवदीय है सोई बेटा है और अधिक बेटा हुए तो किस काम के ?" कुछ समय बाद इनके पुत्र कृष्णदास को श्रीनाथजी की गाय चराते हुए सिंह ने मार डाला। पाँच बड़े पुत्रों को इन्होंने अलग कर दिया। केवल चतुर्भुजदास इनके मन का पुत्र था, उसीके साथ ये रहा करते थे।

कुम्भनदास के चाचा धर्मदास बड़े भगवद्-भक्त थे। बाल्यकाल में ये उनके ही संग में रहा करते थे। उन्हींसे कुम्भनदास ने भगवद्भक्ति की ,शिक्षा पाई थी। धर्मदास कृष्णभक्त चतुरनागा (नागा चतुरदास) के शिष्य थे जो सदा ब्रज में विचरण किया करते थे। चतुरनागा की भक्ति का वर्णन नाभादास ने भी किया है। सम्भव है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले कुम्भनदास भी उन्हींसे शिक्षा ग्रहण करते रहे हों। वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के बाद तो वैष्णवों के साथ इनका सत्संग हुआ ही करता था। कुम्भनदास की रचनाओं से ज्ञात होता है कि ये अधिक पढ़े-लिखे न थे। चौरासी वैष्णव को वार्ता में लिखा है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले ये कीर्तन अच्छा गाते थे। इसलिए श्रीवल्लभाचार्य ने इन्हें श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन की सेवा दी थी।

सम्प्रदाय में आने के बाद कुम्भनदास ने वल्लभाचार्यजी के उपदेशों को बड़ी एकाग्रता के साथ ग्रहण किया। इन्होंने आचार्यजी के सिद्धांतों की जानकारी प्राप्त कर केवल अपना ज्ञान ही नहीं बढ़ाया वरन् उन सिद्धान्तों को कार्यरूप में लाकर अपने को भगवान् का उच्चकोटि का भक्त और सेवक भी बनाया था। आचार्यजी द्वारा कुम्भनदास के शिक्षा ग्रहण करने का वृत्तान्त वार्ता में इस प्रकार दिया गया है—एक बार कुम्भनदास ने आचार्यजी से पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त पूछा। आचार्यजी ने तब चौरासी अपराध, राजसी-तामसी-सात्त्विकी भक्तों के लक्षण और प्रातःकाल से शयन पर्यन्त की सेवा की विधि तथा बाललीला और किशोरलीला के भाव का रहस्य कुम्भनदास को समझाया।

वल्लभाचार्य के चार अष्टछापी अनुगतों में से कुम्भनदास ही सर्वप्रथम शिष्य हुए थे। 'श्री गोवर्द्धननाथजी के प्राकट्य की वार्ता' में लिखा है कि संवत् १५३५ वि० वैसाख बदी ११ बृहस्पतिवार को श्री गोवर्द्धन के मुखारविन्द का प्राकट्य गोवर्द्धन पर हुआ। उस समय कुम्भनदास दस वर्ष के बालक थे और श्रीनाथजी के निकट खेला करते थे। संवत् १५४९ वि० फाल्गुन सुदी ११ को झारखण्ड की यात्रा में आचार्यजी को प्रेरणा हुई कि गोवर्द्धन पर श्रीनाथजी का प्राकट्य हुआ है। वे उसी समय यात्रा छोड़कर ब्रज में आये और मथुरा होते हुए श्री गोवर्द्धन की तलहटी में बसे हुए 'आन्योर' गाँव में आकर उतरे। उन्होंने गोवर्द्धन पर श्रीनाथजी के स्वरूप का दर्शन किया और वहाँ के वैष्णवों की सहायता से एक छोटा-सा मन्दिर बनवाया। उसमें श्रीनाथजी का पाट वैठाया। उसी समय रामदास चौहान नाम के एक भगवद्भक्त को उन्होंने अपना शिष्य वनाया था और उसे श्रीनाथजी की सेवा दी थी।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में लिखा है कि उसी समय कुम्भनदास ने समाचार सुना कि आन्योर के पास एक महापुरुष आये हैं और उनके बहुत सेवक हुए हैं। इनके मन में भी सेवक बनने की इच्छा हुई और ये अपनी स्त्री सहित वल्लभाचार्यजी के पास पहुँचे। उस समय कुम्भनदास के कोई सन्तान नहीं थी। उनकी स्त्री ने मनोरथ किया, "मेरे कोई सन्तति नहीं है, सो वे महापुरुष देंय तो होय।" आचार्यजी के पास पहुँचकर कुम्भनदास ने उनसे निवेदन किया—"महाराज, बहुत दिन से भटकत हतो सो अब आप मो ऊपर कृपा करो।" तब आचार्यजी ने कुम्भनदास और उनकी स्त्री को शरण में लिया। तभी उनकी स्त्री ने आचार्यजी से बेटा होने का आशीर्वाद माँगा। कुम्भनदास ने उस समय अपनी स्त्री से कहा—"यह कहा तेने आचार्यजी के पास माँग्यो, जो ठाकुरजी माँगती तो ठाकुरजी देते।" तब स्त्री ने उत्तर दिया, "जो मोको चहियत हुतो सो मैंने माँग्यों और जो तुमको चाहिये सो तुम माँग लेहु।" उसी समय, जैसा कि पीछे कहा गया है, आचार्यजी ने श्रीनाथजी को छोटे मन्दिर में बिठाकर उनकी सेवा रामदास चौहान को दे दो थी। कुम्भनदास कीर्तन बहुत अच्छा गाते थे और उनका कण्ठ भी मधुर था। इसलिए आचार्यजी ने कुम्भनदास को कीर्तन की सेवा दी। आचार्यजी कुम्भनदास के युगल-लीला-सम्बन्धी कीर्तनों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उन कीर्तनों के

'मधुर' भाव के आधार पर उन्होंने कुम्भनदास से कहा—"कुम्भनदास, तुम्हैं निकुञ्ज-लीला-सम्बन्धी रस को अनुभव भयो।" कुम्भनदास ने स्वीकार करते हुए कहा—"महाराज, मों को तो सर्वोपरि यही रस को अनुभव कृपा करिके दीजिये।"

वार्ता में कुम्भनदास के साम्प्रदायिक जीवन की ऐसी अनेक घटनायें दी गई हैं जिनसे उनकी भगवद्भक्ति, भाव की महानता और त्याग का परिचय मिलता है।

जिस समय गोवर्द्धननाथ (श्रीनाथजी) छोटे मन्दिर में ही विराजते थे, उस समय किसी म्लेच्छ ने चढ़ाई की और सब गाँवों को लूटता हुआ श्रीनाथजी के मन्दिर की ओर आया। म्लेच्छ के भय से सद्दू पांडेय, माणिकचन्द पांडेय, रामदास चौहान और कुम्भनदास, ठाकुरजी को एक भैंसे पर बिठाकर टोड़ के वन में भगाकर ले गये। यह घटना संवत् १५६५ वि० से पहले की है, क्योंकि संवत् १५६५ वि० में श्रीनाथजी ने बड़े मन्दिर में प्रवेश किया था, उससे पहले छोटे मन्दिर में ही विराजते थे। वहाँ वन में सब वैष्णवों के पैरों में काँटे गड़ गये और उनकी धोतियाँ फट गईं। वे लोग कई दिन भूखे रहे थे। उस समय कुम्भनदास ने श्रीनाथजी के समक्ष एक विनोदपूर्ण पद गाया—

राग सारंग

भावत है तोहि टोड़ को घनो।
काँटे लगे गोखरू टूटे फटचो जात सब तनो॥
सिंहो कहा लोखरी को डर यह कहा बानक बन्यो।
कुम्भनदास प्रभु तुम गोवर्द्धनधर
वह कौन राँड ढेडनीको जन्यो॥

इसके वाद जव म्लेच्छों का उपद्रव मिट गया तब कुम्भनदास आदि वैष्णव श्रीनाथजी को गोवर्द्धन पर वापस ले आये।

कुम्भनदास ने बहुत से पद बनाये। वे पद अत्यन्त लोकप्रिय हुए। एक बार इनका एक पद किसी कलाविद् ने अकबर बादशाह के समक्ष फतेहपुर सीकरी में गाया। पद सुनकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और उस कलाविद् से पद के रचयिता का परिचय पूछा। कलाविद् के परिचय देने पर अकबर बादशाह को इच्छा कुम्भनदास से मिलने की हुई। उसने कवि को बुलाने के लिए जमुनावतो सवारी भेजी। जब हलकारे कुम्भनदास के पास पहुँचे और बादशाह का हुक्म सुनाया तो उन्होंने उत्तर दिया—"भाई, हमारा बादशाह से क्या काम है?" परन्तु जब उन्होंने सोचा कि यह आपदा टलनेवाली नहीं है, तो वे उन हलकारों के साथ पैदल चल दिये, सवारी पर नहीं बैठे। कुम्भनदास जब फतेहपुर सीकरी पहुँचे और दरबार के भीतर बुलाये गये, उस समय वे "तनिया पहरे, फटी मैली पाग, पिछोरा, टूटे जोड़ा (जूता) सहित देशाधिपति के आगे जाय ठाढ़े भये।" बादशाह ने कहा—"बाबा साहब, बैठिये।" स्थान शाही ढंग से सजा था। इस सजावट का वर्णन करते हुए वार्ताकार कहता है, "तहाँ जड़ाऊ रावटी ही, तामें मोतिन की झालरि लागी रही है और सुगन्ध की लपट आवत है, परन्तु कुम्भनदास के मन में महादुःख, जो जीवतो मानो नर्क में बैठ्यो हूँ, यासों तो मेरे ब्रज के हींसन के रुख आछे हैं जहाँ साक्षात् श्री गोवर्द्धन खेलत हैं।" देशाधिपति ने कुम्भनदास से पद गाने के लिये कहा। कुम्भनदास लाचार होकर पद गाने को उद्यत हुए, परन्तु सोचा कि कोई ऐसा पद गाऊँ जो देशाधिपति को वुरा लगे। "जाको मनमोहन अंगीकार करे। एको केस खसे नहीं सिर ते जो जग वैर परे।" उस समय उन्होंने यह नया पद बनाकर गाया—

भक्तन को कहा सीकरी सों काम।

आवत जात पन्हैया टूटी,
बिसरि गयो हरि नाम।

जाको मुख देखे दुख लागे
ताको करन परी परनाम।

कुम्भनदास लाल गिरधर बिन
यह सब झूठो धाम।

इस पद को सुनकर देशाधिपति बहुत कुढ़ा और उसने सोचा, "इनको कुछ मुझसे लालच हो तो ये मेरा यश गावें, इनको तो अपने परमेश्वर से सच्चा स्नेह है।" बादशाह ने कुम्भनदास से कुछ माँगने के लिये कहा। कुम्भनदास ने उत्तर दिया, "आज पाछे मोकों कबहूँ बुलाइयो मति।" तब देशाधिपति ने कुम्भनदास को बिदा किया। भक्त कवि को ये दो दिन श्रीनाथजी के वियोग में युग के समान दुखदायी बीते। इस घटना से कुम्भनदास की दृढ़ भक्ति, ईश्वर में पूर्ण विश्वास, लौकिक आश्रय का त्याग, हृदय की निर्भीकता तथा निःस्पृहता का परिचय मिलता है।

एक बार राजा मानसिंह दिग्विजय करके आगरा लौट रहे थे। रास्ते में वे मथुरा में केशवरायजी का दर्शन करते हुए गोवर्द्धन आए। वहाँ उन्होंने गोवर्द्धननाथजी के दर्शन किये। मन्दिर में कुम्भनदास भोग-दर्शनों के कीर्तन कर रहे थे। जैसा कोटिकन्दर्प लावण्ययुक्त श्रीनाथजी का रूप था वैसे ही सुन्दर कुम्भनदास के कीर्तन थे। वार्ता में लिखा है कि उन दिनों श्रीनाथजी की सेवा बड़े वैभव के साथ होती थी। गर्मी के दिन थे। तब तक श्रीनाथजी का बड़ा मन्दिर तैयार हो चुका था। 'गोवर्द्धननाथजी के प्राकट्य की वार्ता' के अनुसार नवीन मन्दिर की पूर्ति तथा उसमें श्रीनाथजी का पाटोत्सव संवत् १५७६ वि० में हुआ था। इसलिए कुम्भनदास की राजा मानसिंह से भेंट संवत् १५७६ वि० के थोड़े समय बाद हुई होगी। कुम्भनदास ने उस समय एक पद गाया—

राग नट

रूप देखि नैना पल लागै नहीं।
गोवर्द्धनधर के अंग-अंग प्रति
निरखि नैन मन रहत तहीं॥
कहा कहों कछु कहत न आवै
चित्त चोरय्यो माँगिबे दही।
कुम्भनदास प्रभु के मिलन की
सुन्दर बात सखियन सों कही।

राजा मानसिंह कुम्भनदास के कीर्तनों से ऐसे प्रभावित हुए कि दूसरे दिन वे चन्द्रसरोवर पर कुम्भनदास से मिलने गये। उस समय वे भगवान् के स्वानुभव में मग्न थे। थोड़ी देर में उनकी चेतना लौटी तो उन्होंने अपनी भतीजी से बैठने के लिए आसन और तिलक करने के लिए आरसी (दर्पण) माँगी। उनकी भतीजी ने उत्तर दिया, "बाबा, आसन पड़िया खाय के आरसी पी गई।" तब कुम्भनदास ने कहा, "तो और आसन करिके ले आउ।" इस वार्तालाप को सुनकर मानसिंह को बड़ा आश्चर्य हुआ। इतने ही में वह लड़की एक घास का पूरा और कटोरी में पानी भर के ले आई और उस पूरा पर बैठकर तथा कटोरी के पानी में मुख देखकर कुम्भनदास ने तिलक किया। उस समय राजा मानसिंह ने जाना कि कुम्भनदास के घर द्रव्य का बहुत अभाव है। राजा मानसिंह ने अपनी सोने की आरसी मँगाई और कुम्भनदास के सामने प्रस्तुत की। उस पर कुम्भनदास ने कहा, "भैया, हमारे तो छानि के घर हैं जो यह आरसी हमारे घर में होय तो याके पीछे कोई हमारो जीव लेय, तासों हमारे नाहीं चहियत है।" तब राजा मानसिंह ने हजार मोहरों की एक थैली कुम्भनदास के आगे रखी। उस पर भी कुम्भनदास ने कहा, "यह हमारे काम की नाहीं है, हमारे तो खेती होत है तामें धान उपजत है सो हम खात हैं और कछू हमको चहियत नाहीं।" राजा मानसिंह ने फिर जमुनावतो गाँव कुम्भनदास के नाम करने को कहा। फिर भी कुम्भनदास ने अपने त्याग की टेक न छोड़ी और कहा, "जो मैं ब्राह्मण तो नाहीं जो तेरो उदक लेऊँ, और जो तेरे देनों होय तो काहूँ ब्राह्मण को दीजियो, मोको तिहारो कछु नाहीं चहियत है।" कुम्भनदास ने राजा को एक करील का और एक बेर का वृक्ष दिखाकर कहा, "उष्णकाल में तो मोदी करील है सो फूल और टेंटी देत हैं, और सीतकाल को मोदी झाड़ है सो बेर बहोत देत है सो ऐसे काम चल्यो जात है।" राजा मानसिंह इस महान् त्याग पर चकित हो गये। उनके मुख से सहसा प्रशंसा निकली, "धन्य है

जिसके वृक्ष मोदी हैं, जो मैंने आज ताईं बड़े-बड़े त्यागी-वैरागी देखे, परन्तु ये गृहस्थ, जो ऐसे त्यागी हैं सो ऐसे धरती पर नाहीं हैं।" राजा मानसिंह ने आग्रह-पूर्वक कुम्भनदास से कुछ आज्ञा करने को कहा। इस पर कुम्भनदास ने कहा, "आज पाछे तुम हमारे पास कबहूँ मत आइयो।" फिर राजा मानसिंह ने दण्डवत को और उनको सराहना करते हुए कहा, "तुम धन्य हो, माया के भक्त तो मैं सगरी पृथ्वी में फिरयो सो बहुत देखे, परन्तु श्री ठाकुरजी के साँचे भक्त तो एक ही तुम देखे।" इस घटना से कुम्भनदास के महान् त्याग का परिचय मिलता है।

एक बार, श्री हितहरिवंश, स्वामी हरिदास आदि भक्त कुम्भनदास के उत्कृष्ट काव्य और कीर्तन को प्रशंसा सुनकर उनसे मिलने आये और कहा, "कुम्भनदासजी! आपने युगलस्वरूप के तो कीर्तन बहुत किये हैं, परन्तु स्वामिनीजी का कीर्तन हमने आपके नाहीं सुने।" तब कुम्भनदास ने स्वामिनीजी का एक पद बनाकर गाया। श्री हितहरिवंश तथा श्री स्वामी हरिदास कुम्भनदास के कीर्तन सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उनके पदों को भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। इस प्रसंग से कुम्भनदास के काव्य की उत्कृष्टता का परिचय मिलता है।

एक बार गोस्वामी विट्ठलनाथ ने ब्रज से द्वारका (गुजरात) जाने का विचार किया। उन्होंने अपने साथ कुम्भनदास को भी ले लिया। यात्रा में पहले वे अप्सराकुंड पर ठहरे। कुम्भनदास की श्रीनाथजी में इतनी अगाध आसक्ति थी कि उनको बिछुड़ना असह्य हो गया। कुम्भनदास विचार करते-करते गाने लगे—

कहिये कहा कहिबे की होय।
प्राननाथ बिछुरन की वेदन जानत नाहिन कोय॥

उसी समय श्रीनाथजी के उत्थापन की वेला आ गई। कुम्भनदास के हृदय में श्रीनाथजी का विरह उमड़ आया और आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। वे गुसाइंजी के डेरा के निकट एक वृक्ष के नीचे खड़े होकर मन्द स्वर में गाने लगे—

राग सारंग

किते दिन ह्वै जु गए बिनु देखे।
तरुन किसोर रसिक नन्दनन्दन
कछुक उठति मुख रेखे॥

वह सोभा वह कान्ति बदन की
कोटिक चन्द विसेषे।

वह चितवनि वह हास मनोहर
वह नागर-नट वेषे॥

स्यामसुन्दर संग मिलि खेलन की
आवत जीय उमेषे।

कुम्भनदास लाल गिरधर बिन
जीवन जनम अलेखे॥

जब गुसाइंजी ने कुम्भनदास का यह विरह-वेदना-पूर्ण पद सुना तो उन्होने कुम्भनदास के पास जाकर कहा, "कुम्भनदास, जब तुम्हारी अभी यह दशा है तो तुम्हारा परदेश हो चुका, जाओ गोवर्द्धननाथजी के दर्शन करो।" कुम्भनदास गुसाइंजी की आज्ञा पाकर रोम-रोम से प्रसन्न हो गये। वे तुरन्त उत्थापन के दर्शनों हेतु मन्दिर में आये और यह पद गाया—

राग सारंग

जो पै चोप मिलन की होय।
तौ क्यों रहै ताहि बिनु देखे
लाख करौ जिन कोय॥

जो यह विरह परस्पर ब्यापै
तो कुछ जीय बनै।
लोक-लाज कुल की मर्यादा
एकौ चित न गनै॥

कुम्भनदास प्रभु जाय तन लागी
और न कछू सुहाय।
गिरधरलाल तोहि बिनु देखे
छिन-छिन कल्प विहाय॥

उस समय श्रीनाथजी के समक्ष कुम्भनदास ने प्रार्थना की, "महाराज! मोको यही चहियत हतो और यह अभिलाषा हती, जो तुमसों बिछोय न होय।" इस प्रसंग से श्रीनाथजी में कुम्भनदास की प्रगाढ़ आसक्ति का परिचय मिलता है।

एक बार गुसाईं विट्ठलनाथजी का जन्म-दिवस आया। रामदास चौहान, कुम्भनदास आदि वैष्णवों ने उस दिवस को बड़े समारोह के साथ मनाया। गुसाईंजी उस दिन गोकुल में थे। सब वैष्णवों ने चन्दा लगाकर श्रीनाथजी का विशेष तैयारी के साथ भोग बनाया। कुम्भनदास के यहाँ धन का तो सदैव अभाव रहता था परन्तु गुसाईंजी के प्रति उनकी अगाध भक्ति थी। उन्होंने अपने दो पड्डे और दो पड़िया बेचकर पाँच रुपये चन्दे में दिये। उस दिन कुम्भनदास ने बड़े हर्ष और प्रेम के साथ गोस्वामीजी की अनेक बधाइयाँ बनाकर गाईं। जब गोस्वामीजी को कुम्भनदास के चन्दे में रुपये देने की बात ज्ञात हुई तो उन्होंने कुम्भनदास से पूछा, "कुम्भनदासजी, आपने चन्दा कहाँ से दिया? आपके घर तो रुपये थे नहीं।" इस पर कुम्भनदासजी ने अपनी भक्ति प्रकट करते हुए गुसाईंजी से कहा, "महाराज! मेरो घर कहाँ है, मेरो घर तो आपके चरणारविन्द में है जो यह तो आपको है। अपनो शरीर, प्राण, घर, स्त्री, पुत्र बेचि के आपके अर्थ लागे तब वैष्णव सिद्ध होय, जो महाराज हम संसारी गृहस्थ हैं, सो हमसों वैष्णव धर्म कहा बने, यह तो आपकी कृपा है, दीन जानि के करत हो।" गुसाईंजी का हृदय कुम्भनदास की इस दीनता पर भर आया और वे उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

वार्ता से ज्ञात होता है कि कुम्भनदास बाल्यकाल से ही त्यागी और सत्यप्रिय थे। इनके लौकिक आश्रय के त्याग और निर्लोभी होने का परिचय अकबर बादशाह तथा राजा मानसिंह के भेंट के प्रसंगों से स्पष्ट हो जाता है। ये बड़े सन्तोषी जीव थे। जो कुछ अपने परिश्रम से खेती में उपज होती थी, बस उसीसे अपना और अपने कुटुम्ब का निर्वाह करते थे। इनका जीवन सादा था, विचार उच्च थे। ये सदैव पैदल ही चलते थे, सवारी पर नहीं बैठते थे, यह बात भी वार्ता से विदित है। राजा मानसिंह को इन्होंने अपने मोदी करील और बेर के वृक्ष बताये थे जिससे ज्ञात होता है कि इनका हृदय कितना निःस्पृह, कितना निर्लिप्त और कितना सन्तोषी था। इस पर राजा मानसिंह ने, इनकी यह उचित ही प्रशंसा की थी—"तुम धन्य हो, माया के भक्त तो मैं सगरी पृथ्वी में फिर्यो, सो बहुत देखे, परन्तु श्री ठाकुरजी के साँचे भक्त तो एक ही तुम देखे।"

एक बार कुम्भनदास ने अपने घर से श्रीनाथजी को छाक भेजी, उस छाक के वर्णन से इनके सरल एवं विनम्र स्वभाव तथा सादा भोजन का परिचय मिलता है—"ज्वार की महेरी, दही-दूध, बेझरि की रोटी और टेंटी कों साक सँधानों।" यद्यपि कुम्भनदास के घर धन का सदैव संकोच रहता था, परन्तु कभी इन्होंने द्रव्य-प्राप्ति के विचार से भगवद्-आश्रय को छोड़ किसी सांसारिक व्यक्ति का आश्रय ग्रहण नहीं किया। इनकी भक्ति की प्रशंसा तो गुसाईंजी ने अनेक स्थानों पर अपने मुख से की थी। इनके गोलोकवास के बाद गोस्वामीजी ने रामदास चौहान से कहा—"जो ऐसे भगवदीय अन्तर्धान भये अब भूमि में भक्तन को तिरोधान भयो।" कुम्भनदास के पदों से उनकी अनन्य और अगाध भक्ति का परिचय मिलता है। ध्रुवदास ने भी कुम्भनदास की भक्ति की प्रशंसा की है।

वार्ता से कुम्भनदास की काव्य-रचना के विषय में भी अनेक बातें ज्ञात होती हैं। इससे विदित होता है कि शरणागति के समय कुम्भनदास को कृष्ण की 'कुञ्ज-लीला' के रस का अनुभव हुआ था। इन्होंने उसी रस में अपने मन को रमाया और सम्पूर्ण कीर्तन युगल-स्वरूप सम्बन्धी रस के ही किये। कुम्भनदास के पद इनके जीवनकाल में ही देश में दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गये थे। चौरासी वैष्णवन की वार्ता में इनके काव्य

की जो प्रशंसा मिलती है उसका समर्थन इनके उपलब्ध पदों के पढ़ने से होता है।

वार्ताकार कहता है कि अन्तिम दिनों में कुम्भनदास की देह बहुत अशक्त हो गई। एक बार ये आन्योर के पास संकर्षण-कुण्ड के ऊपर जा बैठे। इनके अशक्त होने के कारण सेवारत पुत्र ने कहा—"गोद में लेकर आपको जमुनावतो गाँव में ले चलें।" तब कुम्भनदास ने कहा कि "अब तो दो-चार घड़ी में देह छूटेगी, इसलिए अब मैं यहीं रहूँगौं।" राजभोग के दर्शनों के समय कुम्भनदास के पुत्र चतुर्भुजदास से गोस्वामीजी को ज्ञात हुआ कि कुम्भनदास संकर्षण-कुण्ड पर अशक्त बैठे हैं। गोस्वामीजी ने कुम्भनदास के पास पहुँचकर उनसे पूछा—"कुम्भनदास, तुम्हारा मन किस लीला में लगा है?" कुम्भनदास अशक्त थे, उनसे उठा नहीं गया। उन्होंने यह पद गाया—

राग सारंग

लाल तेरी चितवन चितहि चुरावै।
नन्द ग्राम बृषभानपुरा बिच
मारग चलन न पावै॥

हों भरिहों डरिहों नहि काहू,
ललिता दृगन चलावै।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धनधर,
धऱ्यो सो क्यों न वतावै॥

इसको सुनकर गोस्वामीजी ने फिर पूछा—"कुम्भनदास! तुम्हारा अन्तःकरण कहाँ है?" कुम्भनदास ने फिर गाया—

राग केदार

रसिकनी रस में रहत गड़ी।
कनक बेलि बृषभानु-नन्दिनी
स्याम तमाल चढ़ी॥

विहरत श्री गिरधरन लाल सँग,
कोने पाठ पढ़ी।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्द्धनधर
रति-रस-केलि बढ़ी॥

यह गाकर कुम्भनदास ने देह छोड़ दी। वार्ताकार कहता है कि "कुम्भनदास देह छोड़ि निकुञ्ज-लीला में जाय के प्राप्त भये।" कुम्भनदासजी ने अन्त समय में भी युगल-स्वरूप का ही वर्णन किया और उसीके ध्यान में प्राण समर्पण किये। इसके बाद चतुर्भुजदास आदि बेटों ने इनकी अन्त्येष्टि-क्रिया की।

पीछे कहा गया है कि जिस समय गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथजी के मुखारविन्द का प्राकट्य हुआ था, उस समय कुम्भनदासजी की आयु दस वर्ष की थी। श्री गोवर्द्धननाथजी के प्राकट्य की वार्ता से ज्ञात होता है कि श्रीनाथजी के मुखारविन्द का प्राकट्य संवत् १५३५ वि०, बैसाख बदी ११, बृहस्पतिवार को हुआ था। इस हिसाब से कुम्भनदासजी का जन्म संवत् लगभग १५२५ वि० सिद्ध होता है। 'गोवर्द्धननाथजी की वार्ता' से ज्ञात होता है कि संवत् १५४९ वि० में वल्लभाचार्यजी ने श्रीनाथजी का पाट छोटे मन्दिर में बैठाया। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'गोवर्द्धननाथजी के प्राकट्य की वार्ता' से ज्ञात होता है कि उसी समय कुम्भनदासजी स्त्रीसहित आचार्यजी की शरण में आये थे। इस प्रकार कुम्भनदासजी का शरणागति-काल सम्वत् १५४९ वि० है।

गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने प्रथम साम्प्रदायिक छप्पनभोग का उत्सव संवत् १६१५ वि० में किया था। इस बात का प्रमाण काँकरौली और नाथद्वार के मन्दिरों में प्रचलित परम्परा से मिलता है। उस समय तक आठों अष्टछापी भक्त जीवित थे, ऐसी भी किंवदन्ती उक्त सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। आठों कवियों के छप्पनभोग के पद भी सम्प्रदाय में गाये जाते हैं। कुम्भनदासजी ने गोस्वामी विट्ठलनाथजी के सातों बालकों की बधाई गाई है। इससे सिद्ध होता है कि कुम्भनदासजी श्री घनश्यामजी के जन्म-समय सं० १६२८ वि० तक जीवित थे। पीछे कहा गया है कि गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अपने ब्रज-गोकुल-निवास (सं० १६२८ वि०) के बाद गुजरात की दो यात्राएँ वहाँ से कीं, एक सम्वत् १६३१ वि० में और दूसरी

संवत् १६३८ वि० में। वार्ता में कुम्भनदासजी के गोस्वामी विट्ठलनाथजी के साथ गुजरात जाने और उनके श्रीनाथजी के प्रति जो विरह का वर्णन है, वह सम्वत् १६३१ वि० की यात्रा के समय की घटना प्रतीत होती है। इससे सिद्ध है कि कुम्भनदासजो सम्वत् १६३१ वि० तक जीवित थे।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में लिखा है कि अकबर ने कुम्भनदास को फतहपुर सीकरी बुलवाया था और वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि दरबार खूब सजा हुआ है और बहुत से डेरे पड़े हैं। इतिहास से विदित है कि फतेहपुर-सीकरी नगर और राजभवन का निर्माण लगभग सन् १५७० ई० (सम्वत् १६२७ वि०) में आरम्भ हुआ और वह सन् १५८० ई० तक बनता रहा। फतेहपुर-सीकरी नगर केवल सन् १५८५ ई० तक ही अकबर की राजधानो रहा। इसके बाद अकबर का दरबार इस स्थान पर कभी नहीं हुआ। सन् १५७५ ई० में धार्मिक प्रार्थना तथा कृत्यों के लिये वहाँ 'इबादतखाना' बना था। इससे हम कह सकते हैं कि अकबर ने कुम्भनदासजी को सन् १५७० ई० से सन् १५८५ ई० तक किसी समय में बुलाया होगा। अकबर की जीवनी से विदित होता है कि उसकी मुसलमान-धर्म की कट्टर मनोवृत्ति छूटकर हिन्दू तथा अन्य धर्मों के महात्माओं से मिलने और उनके धार्मिक विचारों को सुनने की उदार प्रवृत्ति सन् १५७४ ई० (सम्वत् १६३१ वि०) से सन् १५८२ ई० (सम्वत् १६३९ वि०) तक रही। इसी बीच में उसने सन् १५७९ ई० के लगभग सब धर्मों के प्रतिनिधियों की धार्मिक बहसें फतहपुर सीकरी में सुनी थीं। सम्भव है, इन बहसों के सुनने के काल में ही उसने कुम्भनदास की भक्ति की प्रशंसा सुनकर उनको राजधानी में बुलाया हो। वार्ताकार का, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कहना है कि उस समय वहाँ बहुत से डेरे पड़े हुए थे और दरबार सजा था। इतिहास से यह भी विदित होता है कि अकबर ने सन् १५८१ ई० में काबुल से लौटकर अपनी राजधानी फतेहपुर सीकरी में जीत की खुशी में उत्सव मनाया था और उस दरबार में सम्पूर्ण भारतवर्ष के अधीनस्थ सूबेदार आये थे। सम्भव है, जिन डेरों और सजावटों का वर्णन वार्ता में है वे इसी उत्सव में बाहर से आनेवाले लोगों के ठहरने के लिए लगे हों। इससे कुम्भनदास और अकबर की भेंट का समय सन् १५८१ ई० अथवा सं० १६३८ माना जा सकता है। उक्त कथन से हम कम-से-कम इतना तो अनुमान लगा सकते हैं कि कुम्भनदासजी सन् १५८१ ई० तक नहीं तो १५७९ ई० अथवा सम्वत् १६३६ वि० तक तो जीवित थे ही।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से पता चलता है कि सूरदासजी की मृत्यु के समय कुम्भनदासजी जीवित थे। उक्त वार्ता से यह भी ज्ञात होता है कि परमानन्ददासजी के गोलोकवास से पहले ही कुम्भनदास का निधन हो चुका था। कुछ विद्वानों ने सूरदास का गोलोकवास लगभग सं० १६३८ वि० या सम्वत् १६३९ वि० माना है और परमानन्ददासजी का गोलोकवास-काल सम्वन् १६४० वि० बताया है। इसलिये कुम्भनदासजी का गोलोकवास-काल संवत् १६४० वि० स कुछ पहले और उपर्युक्त कथन के अनुसार सम्वत् १६३८ वि० के बाद होना चाहिए। इन पंक्तियों के लेखक का अनुमान है कि कुम्भनदास का निधन लगभग सम्वत् १६३९ वि० में हुआ। उस समय इनकी आयु लगभग ११४ वर्ष की थी। वल्लभ-सम्प्रदाय में यह किंवदन्ती भी प्रचलित है कि अष्टसखाओं में कुम्भनदासजी ने बहुत बड़ी, लगभग ११३ वर्ष को, आयु पाई थी।

कुम्भनदास की जीवनो तथा रचना विषयक पीछे दी हुई आधारभूत सामग्री से, इनके किसी ग्रन्थ की सूचना नहीं मिलती। हिन्दी-साहित्य के अब तक के इतिहास-लेखकों ने यही कहा है कि फुटकर पदों के अतिरिक्त इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है। किन्तु अभी तक इनका कोई पद-संग्रह भी प्रकाश में नहीं आया। लेखक को कवि की रचनाओं की खोज करने पर कुछ हस्तलिखित पद उपलब्ध हुए हैं। इन पदों के

अतिरिक्त छपे रूप में भी कुछ पद अन्य अष्टछापी कवियों के पदों की तरह, वल्लभ-सम्प्रदायी कीर्तन-संग्रहों—'राग - सागरोद्भव', 'राग - कल्पद्रुम' तथा 'राग - रत्नाकर' में मिलते हैं।

रा० कृ० श०

कुलोमनपंत 'निर्गुणानन्द'

कुलोमनपंत का जन्म सं० १९१२ में हुआ था। ये मूलतः नैनीताल-अल्मोड़ा-क्षेत्र के पहाड़ी पण्डित थे, किन्तु इनका स्थायी निवास मथुरा में था। मथुरा के मानिक चौक मुहल्ला में इनका मकान अभी भी मौजूद है। ये मथुरा के रईस गिने जाते थे। ज्योतिष, तन्त्रविद्या, आयुर्वेद और संगीत के कुशल विद्वान् होने के कारण मथुरा के सेठों में इनका बहुत सम्मान था। इन्हें अपनी विद्या के कारण कई गाँव और विपुल द्रव्य प्राप्त हुआ था। मथुरा में इन्होंने वृन्दावन-मार्ग पर एक आलीशान कोठी बनाई थी जो अभी भी इन्हींके नाम से प्रसिद्ध है। इनका निधन सं० १९७३ में हुआ। इनकी संगीतशास्त्रीय रचना 'रसतरंगिणी' तथा भक्तिरचना 'कादिवर्णमाला' है। 'रसतरंगिणी' की रचना इन्होंने १९४५ वि० में की थी। स्वरचित राग-रागिनियों के अतिरिक्त संगीतशास्त्र के विभिन्न अंगों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार इसकी उल्लेखनीय विशेषता है। इसमें संगीतशास्त्र का स्वरूप, उसके आद्य आचार्य, षट्राग-वर्णन, स्वर-उत्पत्ति, अष्टताल, दशनृत्यभेद, रागों के अंग, राग-परिवार आदि का वर्णन है। अपनी रचना के विषय में ये कहते हैं—

खान हरिगुन की बखान नव रसहू कौ,
कीर्तन हरि जू के सुखद ब्रज बोली में।

जनम चरित्र हरि झूला औ मलार मोद,
बहु वर्ण बाँधे हैं बसन्त गीत होली में॥

दीनताई, भर्त्सना मनरंजन अनेक भाँति,
नाना पद पाँति-समताल गति तोली मैं।

ब्रज की ठठोली में सो राग-रंग घोली में,
गोपिन मत भोली लै 'निर्गुन' हाट खोली मैं॥

ये ब्रजबास के परम अनुरागी थे। इनकी यह भावना इस पद में स्पष्टतः व्यक्त हुई है—

बसिबौ या ब्रज ही को नीको।
सुन्दर दरसन नंदनंदन कौ परसन जमुनाजी कौ॥
नित नूतन नवनीत दही घृत पीवौ दूध मही कौ।
छाछ महेरी ज्वार बाजरी भोजन भात कढ़ी कौ॥
अति ही स्वाद खीर कौ भोजन
स्वाद जु ग्वार फरी कौ।
बरनों कहा विंजन ता ऊपर कुरकुराट टेंटी कौ॥
बिन प्रसाद श्री नंदनंदन के दुर्लभ बास मही कौ।
ब्रज चौरासी कोस के आगैं सुरपुर लागत फीकौ॥
'निर्गुण' भ्रमत श्रमित निसिवासर मिल्यौ न
पारधनी कौ।
दृढ़ विश्वास राख हरि चरनन जग है बात
बनी कौ॥

रा० कृ० श०

कुशलसिंह

कुशलसिंह बाराबंकी जनपद के मथुरा नामक ग्राम के निवासी थे और अनुमानतः १९वीं शताब्दी में विद्यमान थे।

इनकी दो पुस्तकें प्राप्त हैं—'रामरतनगीता' और 'गोपीसागर'। इनमें से दूसरी पुस्तक का सम्बन्ध कृष्ण-कथा से है। इसमें श्रीमद्भागवत के आधार पर उद्धव-गोपी-संवाद का वर्णन है। इसका लिपिकाल सं० १८८१ है। प्राप्त हस्तलेख की भाषा बहुत ही अशुद्ध और भ्रष्ट है। इसका कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है—

यहि बिधि ऊधौ धीर जो दीन्हा।
समाधान जसुमति का कीन्हा॥
सुनि प्रभु बातैं भक्ति बढ़ाई।
यही अंतर गोपिन सुधि पाई॥
येक सखी घर-घर फिरि आई।
सुनौ सखी यक बात सोहाई॥
बचन मोर मानो परतीता।
आये क्रिष्ण करौ जिनि चिंता॥

अब आए निजु नंदकुमारा।
ठाढ़ हयो रथ सिंह दुबारा ॥
बहुतै हरष भईं बृज नारी।
मथुरा तैं आये बनवारी ॥
भईं अनन्द सकल ब्रजबाला।
चलीं सखी देखैं नन्दलाला ॥
घर-घर ते गोपी सब धाईं।
नन्द दुवार तुर्त चलि आईं ॥
देखिन जाइ क्रिष्ण ना होई।
महा बिकल भईं तासो सोई ॥

• • •

स्रवन सुना संदेस हरि,
चित दाया प्रभु कीन्ह।
कुसलसींघ प्रभु चर्न पर,
तन-मन-धन नीछावर कीन्ह ॥
संत असंत सुनो जो कोई।
मोछ मुक्ती का प्राप्ती होई ॥
गुरु की दया भयो बिस्वासा।
तब यह कथा कीन्ह परगासा ॥
दुसरे साध संगति बुधि पाई।
वीषु ऊतरी सुमति गति आई ॥
निहचै मैं हौं पसु अग्यानी।
कित पावत यह अंमृत बानी ॥
अधम कर्म कछु धर्म न आही।
बेद पुरान पढ़ा कछु नाही ॥

वा० सिं०

कृपाअलीजी

कृपाअलीजी के ऐहिक जीवन-सम्बन्धी बातों का पता अभी तक नहीं चल सका है। इनके कतिपय पद वाणी-संग्रहों में देखने को अवश्य मिलते हैं। एक पद नीचे द्रष्टव्य है—

निज छबि छटा में छके पिय प्यारी।
जा छबि देखि अपनपौ भूलत
रसिया चतुर विहारी ॥
वे उन वे उनके मदमाते
दोऊ चतुर खिलारी।
ललितादिक हित दुहुँन लड़ावत
तन की दसा बिसारी ॥
कृपा अली हित परिकर की लखि
मगन भईं सुकुवाँरी ॥

इनका उपस्थिति-काल अनुमानतः १९वीं शताब्दी का मध्यकाल प्रतीत होता है।

श्या० बि० खं०

कृपाराम (प्रथम)

साम्प्रदायिक स्रोतों में कृपाराम (प्रथम) की भक्ति-भावना के परिचायक निम्नलिखित उल्लेख द्रष्टव्य हैं—

मूरति गौर प्रसन्न अति सैं ऊँचौ ललाट पट।
रहनी उज्ज्वल रीति दिपत संतन के संघट ॥
श्री नन्दराम परसाद कथा-कीरतन श्रवननि।
सेवा सुमिरन सदा जननि पोषत मृदु वचननि॥
पारीख वंश हित-पथ प्रचुर,
कानन बसिबौ मन ठयौ।
श्री कृपाराम पर कृपा अति,
वृन्दावन प्रापति भयौ ॥

—रसिक-अनन्य-परचावली

मिले कृपाराम पुनि गोपीनाथ।
खेलें फागु संत जन लियें हाथ ॥
भजनीक कहैं हो हो जु गाथ।
रंग बोरैं सबकौं भरैं बाथ ॥

—वसन्त-प्रबन्ध

कृपारामजी का जन्म पारीख आस्पद एक गुजराती ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। वृन्दावन-रस-रसिकों के सत्संग से इन्हें संसार से विरक्ति हो गयी और घर-बार छोड़कर श्रीधाम वृन्दावन में रहने लगे। ये अहर्निश इष्ट की सेवा, नाम-स्मरण और यशगान में ही लगे रहते थे। 'सेवक-वाणी' में इष्टलब्ध रसिकों के जो लक्षण लिखे हुए हैं, वह इनके जीवन में पूर्णरूप से प्रत्यक्ष देखे जाते थे। गौरांग वपु श्री कृपारामजी के उच्च ललाट पटल से भक्ति का अद्भुत तेज झलकता

रहता था। यही कारण है कि आपके पास रसिक सन्तों की भीड़ बनी रहती थी। ये अपनो मृदु वचनावली से तत्कालीन रसिक-समाज का हृदय तुष्ट-पुष्ट किया करते थे। इस प्रकार की रहनी और कहनी के कारण ये सभी के सम्मान्य एवं पूज्य बन गये थे।

यह अपूर्व लाभ इन्हें स्वामी श्री नन्दरामजी से प्राप्त हुआ था। इनके जीवन में उनकी रहनी-कथनी-करनी का पूर्ण प्रभाव पड़ा था। अतः ये भी उन्हींके समान संत-सेवी थे। प्रभुकथा का श्रवण-कथन इनके जीवन का सम्बल बन गया था। सम्भवतः आप अपने गुरुवर्य द्वारा लगाये गये बगीचे--नन्दरामजी का बगीचा--में ही रहा करते होंगे तथा उनके उत्तराधिकारी बने होंगे।

इस प्रकार अखण्ड वृन्दावन-वास करते हुए गुरु-कृपा से ये निकुंज-लीला में प्रविष्ट हुए। यह घटना कब घटी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु चाचाजी ने इनके परिचयात्मक छप्पय में वर्तमान-कालिक क्रियाओं का प्रयोग किया है। इस आधार पर इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि आप चाचाजी के समय में ही निकुंजगामी हुए। इनका विद्यमान-काल सम्वत् १७५० से १८३० के बीच अनुमान किया जा सकता है।

इनका एक ग्रन्थ 'अष्टादश-रहस्य' व्रजभूषण-लालजी राजभोगिया के घर पर है--ऐसा सुना जाता है, किन्तु मेरी दृष्टि में नहीं आया।

श्या० वि० खं०

कृपाराम (द्वितीय)

कृपारामजी (द्वितीय) खिड़िया शाखा के चारण जगराम के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता सीकर के रावराजा लक्ष्मणसिंह थे। लक्ष्मणसिंह ने इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर इन्हें लच्छीपुरा और दाणी नामक ग्राम पुरस्कारस्वरूप प्रदान किए थे। इन्होंने विक्रम सं० १८६५ में अपने सेवक राजिया की अद्वितीय सेवा-भावना से प्रभावित होकर उसे अमर बनाने के उद्देश्य से 'राजिया रा सोरठा' शीर्षक से एक ग्रन्थ का सृजन किया था। नीति, भक्ति, ज्ञान, सदाचार और वीरता से सम्बद्ध ये सोरठे राजस्थानी जन-जीवन में बहुत प्रसिद्ध हैं। 'राजिया' के कुछ सोरठे श्रीकृष्ण-भक्ति और उनके महान् गुणों से सम्बद्ध हैं। एक उदाहरण देखिए —

साँचो मित्र समेत, कह्यो काम न करै किसो।
हर अरजन रै हेत, रथ कर हाँक्यो राजिया॥
सो मूरख संसार, कपट जिणां आगल करे।
हरि सह जांणणहार, रोम रोम री राजिया॥
हित कर जोड़ै हाथ, कांमण सूं अनमी किसा।
नमे त्रिलोकीनाथ, राधा आगल राजिया॥

ज० सिं० परि०

कृपाराम (तृतीय)

कृपाराम (तृतीय) का जीवन-परिचय प्रायः अज्ञात ही रहा है। इनको रचना 'गोवर्द्धन-लीला' देखने से विदित होता है कि कृष्ण-चरित में इनकी प्रगाढ़ आस्था थी। सांया झूला प्रणीत 'रुक्मणी-हरण' और 'नागदमण' की शैली में लिखे इस खण्डकाव्य में श्रीकृष्ण के गोवर्द्धन धारण कर व्रजवासियों को भयमुक्त करने की घटना का डिंगल भाषा में ओजपूर्ण वर्णन किया गया है। भाषा सटीक और सधी हुई है। भुजंगी, मोतीदाम, दोहा, कवित्त आदि छन्दों में श्रीकृष्ण की लीला का चित्रण हृदय को प्रभावित करनेवाला है।

देवराज इन्द्र ने कुपित होकर व्रजप्रदेश पर वर्षा की झड़ी लगा दी। चारों ओर जल ही जल हो गया, नर-नारी और पशु इस विनाश-लीला को देख त्राहि-त्राहि करने लगे। संकट की उस घड़ी में श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत उठाकर इन्द्र के गर्व को चूर-चूर कर व्रजवासियों की प्राणरक्षा की थी। इन्द्र के दर्प-भंग के इस प्रसंग का भक्त कवि ने सुन्दर वर्णन किया है-

कलां चाल कीधी पसू मैं कुकर्म्मी।
संघरा सीस मोटा प्रभू आप धर्म्मी॥
नहीं जाणियो श्रीपती मैं अग्यानी।
करी रूख कांणी हरी आप कांनी॥

करा जोड़ कीनी कृपा कान्ह कीजै।
दयाधार मोको अभै दांन दीजै॥
सुनासीर तौ रावलौ सेव सीरौ।
धराधार म्हासूँ करौ क्रोध धीरौ॥

जं० सिं० परि०

कृपाराम (चतुर्थ)

कृपारामजी (चतुर्थ) श्री-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। ये गोण्डा जनपद के अन्तर्गत नरायनापुर ग्राम के रहनेवाले थे। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित खोज-विवरण में इनका परिचय इस प्रकार दिया गया है—'कृपाराम—रामानुज-सम्प्रदाय के साधु, नरायनापुर (गोण्डा) निवासी। अनन्तर चित्रकूट में रहकर ग्रन्थ-रचना की।' सं० १८३५ के लगभग वर्तमान पं० महेशदत्त शुक्ल ने भी इनका नाम अपने 'भाषा-काव्य-संग्रह' में रखा है। 'इन्होंने सं० १८०६ में अष्टादशरहस्य, सं० १८०८ में भाष्य-प्रकाश तथा सं० १८१५ में 'श्रीमद्भागवत' - दशमस्कन्ध - भाषा' की रचना की।

कृपाराम की 'भागवत - दशमस्कन्ध भाषा' कृष्णभक्ति-विषयक एकमात्र रचना है। ग्रन्थारम्भ में ही इन्होंने भगवान् कृष्ण की वन्दना की है—

श्री बृजनन्दन चरणरज, बन्दौं जुग कर जोर।
अभिमत फलदातार प्रभु, जय-जय युगल किशोर॥

इस ग्रंथ में रचनाकार की अनन्य कृष्णभक्ति के दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ एक छन्द प्रस्तुत है—

हिय अति अनुरागा, सखि बड़ भागा
गोप किये कछु पुण्य महा।
श्रम जुत लघु अंगा कहँहि अनंगा
छबि भृंगा सोउ सरन लहा॥
मम नयन चकोरा सुख नहिं थोरा,
मुख मयंक लखि चैन गहा।
गोरज सो सानी ब्रज सुखदानी
अलक विमानी फेर हरा॥

शि० ना० शु०

कृपालाल

कृपालालजी गोस्वामी कुंजलाल के पौत्र तथा गो० गोपाललाल के पुत्र थे। इनकी जीवनचर्या अपने चाचा गो० प्रियालाल जैसी ही थी। चाचा वृन्दावन-दासजी ने इनका नाम-स्मरण अपनी 'रसिक-अनन्य-परचावली' में इन शब्दों में किया है—

छिन-छिन करत विचार स्वामि परिचर्या मन सौं।
वदन भौन गहि रहत भीतरे भाव लगन सौं॥
नैन वारि जल श्रवित द्रवित प्रभु उर सुधि आवै।
भजन रहसि के मरमी बिनु को भेदहि पावै॥
श्री कृपालाल भ्राता-सुवन, गति यौं ही भजन अछेह की।
श्री प्रियालाल चित नित रहै, सुख समझनि इष्ट सनेह की॥

ये श्री हिताचार्य द्वारा प्रवर्तित रसोपासना के सिद्धान्तों के मर्मज्ञ और संस्कृत-वाङ्मय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। 'राधासुधानिधि' पर की गई अनेक टीकाओं में से एक लोकप्रिय टीका वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुई है जो इन्हींके नाम से प्रचलित है। टीका के आरम्भ में दिया हुआ निम्नांकित श्लोक इसकी पुष्टि करता है—

तत्कृपापांगलेशेन प्रेरितोऽहं नरोत्तमः।
टिप्पणं चषकं कुर्वे श्रीमद्राधासुधानिधेः॥

प्रस्तुत श्लोक से यह स्पष्ट है कि टीकाकार ने किसी नरोत्तम की प्रेरणा से यह टीका प्रारम्भ की है, किन्तु टीका-समाप्ति के अन्तिम श्लोक—

वियद्रामपुराणेब्दे भाद्रे शुक्ले हरेस्तिथौ।
शनौ नरोत्तमेनेदं चषकं पूरितं त्वभूत्॥

—से यह भी ज्ञात होता है कि यह चषकनाम्नी टीका भाद्रपद शुक्ला एकादशी सम्वत् १८३२ में शनिवार के दिन नरोत्तम के द्वारा पूरी हुई। इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गो० कृपालालजी सं० १८३२ के पूर्व ही निकुंजगामी हो गये थे।

श्या० बि० खं०

कृष्ण अली

कृष्ण अली के जीवनवृत्त का कोई पता नहीं चलता। वाणी-संग्रहों में प्राप्त इनके कतिपय पदों से इनके रसिक जीवन का आभास मिलता है। एक पद अवलोकनार्थ नीचे प्रस्तुत है—

प्रफुलित लता लगत अति प्यारी।
झूमि-झूमि लहलात तरुन में,
पाय वारि मनु भई सुखारी॥
शोभा की निधि सीम न दीखत,
हरित भूमि ऊपर तरु डारी।
तैसेइ लेत हिलोरें जमुना,
नभ में छाई घटा अति कारी॥
अंशभुजाधर तिन तर विहरत,
नन्दनन्दन वृषभानु दुलारी।
कृष्ण अली हित जू की कृपा सौं,
यह रस देखन कौ अधिकारी॥

इनका विद्यमान-काल अनुमानतः १९वीं शताब्दी का मध्य प्रतीत होता है।

श्या० वि० खं०

कृष्णकुँवरि (प्रथम)

बाई कृष्णकुँवरिजी (प्रथम) के सम्बन्ध में 'भक्त-गाथा' में यह पद मिलता है—

पति गमन कियौ परलोक आप वृन्दावन आई।
सुत अरु भवन भंडार छाँड हित सम्पति पाई॥
माला मुद्रा धार सीस कौ भद्र करायौ।
पहिरि धोवती सेत व्यासनन्दन मन लायौ॥
कृपा किशोरीलाल की, कुंज महल में नित बसैं।
कृष्णकुँवरि की प्रीति बस, राधावर हिय में लसैं॥

—भक्तगाथा

बाई कृष्णकुँवरिजी कहाँ की थीं—यह अज्ञात है। इन्हें हित-सम्प्रदाय की दीक्षा गो० किशोरीलालजी से, पति के जीवनकाल में ही प्राप्त हो गई थी। फलतः ये घर में ही रहकर श्रीजी की सेवा, श्री हित-भजन और श्री हितवाणी का पाठ किया करती थीं। पति के दिवंगत होने के पश्चात् इन्हें सुत-बित-घरबार से तीव्र वैराग्य हो गया और ये सब कुछ छोड़कर वृन्दावन चली आयीं। यहाँ किसी रसिक सन्त से विरक्त वेष लेकर ये साधुओं में ही रहने लगीं। श्री हितचरण के प्रगाढ़ानुराग के कारण ऐहिक सम्पत्ति के त्याग ने इन्हें वह सम्पत्ति प्राप्त करा दी जो किसी भी साधन से उपलब्ध नहीं होती। इष्ट के चरणानुराग ने इन्हें श्री हितहरिवंश का अनुग्रह प्राप्त करा दिया। इनके लौकिक जीवन-विषयक अन्य कोई सूचना उपलब्ध नहीं है।

श्या० वि० खं०

कृष्णकुँवरि (द्वितीय)

'रसिक-अनन्य-परचावली' में कृष्णकुँवरि (द्वितीय) की प्रशस्ति में कहा गया है—

धनि-धनि माता कृष्णकुँवरि नीकौ व्रत धार्‌यौ।
तिनके दृढ़ विश्वास राधिकापति प्रण पार्‌यौ॥
अन्तरहित की बार प्रगट करि जग दरसायौ।
भजन भक्ति परताप धाम वृन्दावन पायौ॥
भूरि भाग्य कहत न बनै, कौतिक परम अनूप।
सो दिन सबके मन बस्यौ, वन प्रापति मंगलरूप॥

कृष्णकुँवरिजी गो० हरिलालजी की पत्नी और गो० रूपलालजी की माता थीं। गो० रूपलालजी के जीवन में हितधर्म के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा, धर्म पर मर मिटने का अदम्य उत्साह और श्री हिताचार्य-चरण की रसोपासना में स्वाभाविक अनुराग भरने का श्रेय इन्हींको है। जयपुर-नरेश द्वारा हितधर्म पर संकट डालने पर सं० १७८० में गो० रूपलालजी को वृन्दावन छोड़कर सपरिवार दिल्ली जाना पड़ा था। इतना ही नहीं, अनन्यता की रक्षा के लिए उन्हें राजा द्वारा प्रदत्त अनेक यातनाओं को भी सहन करना पड़ा था। उस समय माता कृष्णकुँवरि गोस्वामीजी के साथ ही रहीं और उन्हें समय-समय पर धर्म पर टिके रहने के लिए सम्बलस्वरूप पुण्य-प्रेरणा प्रदान करती रहीं।

संवत् १७९४ में ये अयन्त रुग्ण हो गयीं। इन्हें ज्ञात हुआ कि अब मेरा अन्तिम समय आ गया है।

इन्होंने प्रभु से प्रार्थना की कि 'हे प्रभो ! वृन्दावन के लिए समर्पित यह शरीर क्या वृन्दावन में न पहुँचकर दिल्ली में ही गिरेगा ?' प्रेमाश्रुओं द्वारा निवेदित हृदय के गीले गान ने इनके इष्ट श्री राधावल्लभलाल को झंकृत कर दिया। प्रभु ने इन्हें आश्वासन दिया कि हम तुम्हारा प्रण पूरा करेंगे। अब इनके अधरों पर एक मधुर-मन्द-मुस्कान इनकी अन्तर्भावना को प्रकट कर रही थी। इनकी नाड़ी छूट चुकी थी और आस-पास बैठे पुत्र-पौत्र और भृत्यजन दुःखी हो रहे थे। तभी इन्होंने सभी को सम्बोधन करते हुए कहा—"मेरी स्थिति ठीक है। तुम सब श्रीजी की सेवा और भजन निश्चिन्त होकर करो।" गो० रूपलालजी ने समझ लिया कि माताजी का अन्तिम समय है और उनकी इच्छा वृन्दावन जाने की है। उन्होंने माताजी से वृन्दावन चलने की प्रार्थना की। उनकी आज्ञानुसार पुत्र-पौत्र भृत्यजन सहित माताजी को लेकर वे वृन्दावन की ओर चल पड़े। होड़ल में आते-आते सन्ध्या हो गयी और वहीं पड़ाव डाल दिया गया। रात्रि कुछ ही व्यतीत हुई थी कि माताजी को स्मरण हो आया कि आज अगहन कृष्णा अष्टमी है। इन्होंने गो० रूपलालजी को बुलाकर कहा, "भैया ! आज तो किशोरीलालजी की जन्मगाँठ है। अतः प्रभु को विशेष भोग-सामग्री अर्पित करके श्रीजी का मंगल-गान करो।" जन्मोत्सव सम्पन्न होने पर सबको प्रसाद वितरित किया गया और सभी माताजी के निकट आकर बैठ गये। सबके आग्रह करने पर माताजी ने भी कुछ प्रसाद ग्रहण किया और स्वयं श्रीजी का मंगल—'जै जै श्री हरिवंश व्यास कुल मंडना'—का गान किया। मंगलगान के पश्चात् माताजी ने गोस्वामी हित रूपलाल को आज्ञा दी कि तू 'मोहन मदन त्रिभंगी'—यह पद गा। इस पद-गान को सुनकर पुनः आज्ञा दी कि अब गोस्वामी दामोदरवरजी कृत 'लाल सेज रची दलन अनूप'—इस पद का गान कर। इस पद को सुनते ही इनके मन की वृत्ति उसी स्थान पर पहुँच गयो जहाँ पर लालजी स्वयं शय्या रच रहे थे। अब इनकी बाह्य स्थिति सुस्पष्टतया इस प्रकार दिखाई देने लगी जिससे सबको विश्वास हो गया कि माताजी का समय पूरा होने में देर नहीं है। अतः इन्हें शय्या से उतारकर भूमि पर लिटा दिया गया। एक बार ये पुनः सावधान हुईं और पूछा कि यह कौनसा स्थान है ? तब किसी भृत्य ने कहा कि यह प्रेमधाम वृन्दावन है। 'मुझे वृन्दावन प्राप्त हो रहा है' इस प्रसन्नता में माताजी पार्थिव शरीर को छोड़कर दिव्य दम्पति के सान्निध्य में पहुँच गयीं।

एक सुसज्जित विमान पर प्राणशून्य शरीर को रखकर सभी लोग नाम-ध्वनि करते हुए वृन्दावन के लिए चल पड़े। वृन्दावन में आकर रासमण्डल की परिक्रमा करते हुए धीर-समीर पहुँच गये और वहीं पर इनका दाह-संस्कार किया गया।

ऐसी थी माताजी की वृन्दावन-निष्ठा, जिस पर रीझकर परमेष्ट श्री राधावल्लभलालजी ने अपने चरण-प्रान्तों में इन्हें अखण्ड निवास दिया।

श्या० बि० खं०

कृष्णकुँवरिजी/मनोहरीजी

'रसिक-अनन्य-परचावली' में राधावल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित दो बहनों—कृष्णकुँवरि तथा मनोहरीजी का परिचय इन शब्दों में दिया गया है—

मनोहरी-कृष्णकुँवरि स्वामि सेवा में राँची।
श्री राधावल्लभलाल रिझाये भक्ति सु साँची॥
इच्छा रुचि अनुसार पाक प्रभु भोग धरावैं।
दिन-दिन भक्ति प्रताप बढ़त ज्यौं प्रभु सुख पावैं॥
श्रीहित पतनी मति भूरि अति,
कहा बरनौं भाग विशाल की।
करैं अज्ञा लै प्रभु की टहल,
कहा धनि जननी मोहनलाल की॥

ये दोनों सगी बहनें थीं। इनका जन्म देववन (देवबन्द) के निकट चिड़थावल नामक ग्राम के एक सुसम्पन्न ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम आत्मदेव था। जिस समय गो० श्री हिताचार्य देववन से वृन्दावन के लिए आते हुए तथा मार्ग में

चिड़थावल पर विश्राम हेतु रुके हुए थे—उसी समय श्री प्रियाजी ने इनके पिता को स्वप्न में आज्ञा दी कि तुम अपनी दोनों कन्याओं का विवाह गो० श्री हिताचार्यचरण (जो कि इस समय वृन्दावन जाते हुए चिड़थावल पर विश्राम कर रहे हैं) के साथ कर दो। श्री प्रियाजी की इस आज्ञा को पाकर इनके पिता ने इन दोनों का विवाह श्री हिताचार्यचरण के साथ कर दिया तथा विविध प्रकार की सम्पत्ति के साथ परमाराध्य विग्रह श्रीहित राधावल्लभलालजी महाराज को भी दहेज में प्रदान कर दिया। तब ये दोनों श्री हिताचार्य के साथ वृन्दावन आ गयीं।

ये दोनों श्री राधावल्लभलालजी की सेवा में सतत संलग्न रहती थीं। वैसे तो श्रीजी की प्रत्येक सेवा ही ये सानुराग समय-समय पर किया करती थीं, किन्तु राजभोग और शयनभोग की पाक-सेवा के द्वारा तो इन्होंने श्रीजी की विशेष रीझन प्राप्त कर ली थी।

इनका विद्यमान-काल अज्ञात है, फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि इनका विवाह सम्वत् १५९० की कार्तिक शुक्ला एकादशी को हुआ था। इस आधार पर इनका उपस्थिति-काल सं० १५७० से सं० १६५० के बीच माना जा सकता है।

श्या० वि० खं०

कृष्णचन्द्र अग्रवाल

कृष्णचन्द्र अग्रवाल द्वारा रचित 'कृष्ण-विलास' नामक ग्रन्थ की खण्डित प्रति प्राप्त है। इसका रचनाकाल सं० १७९४ और लिपिकाल सं० १८०४ है। ग्रन्थ के अन्त में कवि ने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि ये वल्लभ-कुल के गोसाइं श्री गुलालचन्दजी के पुत्र द्वारिकानाथ के शिष्य थे और १८वीं शताब्दी में विद्यमान थे।

'कृष्ण-विलास' श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद है। इसके दो पद द्रष्टव्य हैं—

(१)

बानि जाको बदन बिराजे हिये करत उजियारि।
श्री भागौत दसम भाखा किय चाहत उक्ति अनुसारि॥
द्वारकेस गुरुदेव कृपातें मोहि भरोसो है निरधारि॥

(२)

प्रसन परीछत सुकसों कीन्हों।
किहि बिधि सप्तम गर्भ देवकी गर्भ रोहनी लीन्हों॥
बालक येक दूहुन के उदरे बिन देह धरे क्यों जाई।
देह धरे न मन पलटै अचरज बड़ो लखाई॥
तातें कहों श्रीकृष्ण-जनम की लीला सबै बखान।
जो होइ मेरे जोग सुनन के तो कहिये मतिमान॥

वा० सिं०

कृष्णचन्द्र आचार्य (किष्टोबाबू)

श्री कृष्णचन्द्र वन्दोपाध्याय का जन्म भागलपुर (बिहार) नगर से सटे पश्चिम चम्पानगर-क्षेत्र में सन् १८७५ ई० की फाल्गुन पूर्णिमा को एक बंगाली ब्राह्मण-वंश में हुआ था। इनके पूर्वज मुर्शिदाबाद (बंगाल) से आकर यहाँ बस गये थे। इसका भी एक इतिहास है।

मुगल सम्राट् जहाँगीर द्वारा कांदी (मुर्शिदाबाद) में महाशयवंशी श्री राम घोष को जागीर मिली थी। वे पौरोहित्य के लिये वहाँ से अपने साथ ब्राह्मणों को लाए। उन्हींमें से किष्टोबाबू के पूर्वपुरुष श्री देवचाँद आचार्य को राजपण्डित बनाया गया। उनकी पाँचवीं पीढ़ी में श्री कृष्णचन्द्र आचार्य (किष्टोबाबू) का आविर्भाव हुआ।

इनके पिता का नाम श्री रमाकान्त आचार्य था। ४ लड़के और २ लड़कियाँ थीं। उनमें से तीन बड़े थे—चन्द्रकिशोर, भोलानाथ और रामचन्द्र। कृष्णचन्द्र अर्थात् किष्टोबाबू सबसे छोटे थे। किष्टोबाबू के २ पुत्र थे—नित्यानन्द और शिवचन्द्र। नित्यानन्द को ये निताई कहा करते थे।

वंश-परम्परा से इस आचार्य-कुल के लोग शाक्त थे। लेकिन बाल्यकाल से ही किष्टोबाबू ने वैष्णव-पथ अपना लिया था और अन्त तक वैष्णव ही रहे।

इनके दीक्षागुरु श्री पूर्णेन्दुचन्द्र भट्टाचार्य थे। उनके चंपानगर-निवासी पूर्वज भी महाशय के साथ ही आये थे। स्वयं शाक्त होते हुए भी उन्होंने शिष्य की अभिरुचि के अनुसार इन्हें गौड़ीय वैष्णव-मंत्र से ही दीक्षा दी थी। इसके पश्चात् चैतन्यमतानुसार कीर्तन-गान द्वारा भगवद्भक्ति का सन्देश नगर-नगर, गाँव-गाँव में पहुँचाना उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। इन्होंने भारत के विहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि प्रदेशों का पर्यटन करके हजारों श्रद्धालुओं को कृतार्थ किया। अपनी मुख्य कर्मभूमि भागलपुर-क्षेत्र में सचल नाटक मण्डली के भी ये विख्यात संयोजक थे। वह पूरे प्रान्त में घूम-घूमकर खुले मंच पर जनता के बीच धार्मिक नाटकों का भी प्रदर्शन कर भक्ति-भावना को उद्दीप्त करते थे। बीच-बीच में इनके कीर्तन-गान व अश्रुपात द्वारा ऐसी रसधारा बह पड़ती थी जिसमें उपस्थित जनसमुदाय आध्यात्मिक आनन्द से परिप्लावित हो उठता था।

इनके मुख से श्री हरिनाम का उच्चारण होते ही आन्तरिक भक्ति अश्रुधारा के रूप में प्रवाहित हो जाती थी। जाग्रत अवस्था में श्री हरिनाम-जप करने के सिवा किसी भी अन्य कार्य में इनको रुचि न थी। गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते हुए भी ये सांसारिक माया-मोह से बिल्कुल परे थे।

एक समय की बात है, इनकी गृहिणी बीमार थीं। देखते हीं देखते उनकी दशा बिगड़ गई। बचने की आशा जाती रही। कुछ समय बाद इनके बड़े लड़के की हालत भी शोचनीय हो गई। इन्हें खबर दी गई। ये आये तो, पर एक दिन रहकर इन लोगों को देखने के बाद फिर चले गये। चलते वक्त यही कहते गये कि जब चार भुजावाले घर में हैं तो मैं दो भुजावाला इनका क्या उद्धार कर सकता हूँ। ऐसा कहकर उधर वे अपनी यात्रा-मण्डली में चले गये, इधर दोनों की दशा सुधरने लगी। यह भगवान् में इनकी अविचल निष्ठा का ही प्रतिफल था।

किष्टोबाबू अपने समय के एक महान् संकीर्तनकार थे। कीर्तन-गान को ये एक प्रकार से प्रभु में अपने आपको पूर्ण न्योछावर करना समझते थे। कीर्तन द्वारा प्रभु पर ये अपने को न्योछावर कर भी चुके थे। इस विकट आत्मोत्सर्ग को ये कौटुम्बिक जीवन से बिल्कुल परे एक दुर्लभ योग मानते थे। शायद इसी कारण अपने परिवार के लड़कों को ये कीर्तन से अलग रखने की कोशिश करते थे।

ईश्वर की प्रेरणा या आत्मानुभव से ये बड़े पुत्र (निताई) को १९३२ की गर्मी की छुट्टी में अपने साथ मथुरा ले गये। मथुरा जाने के १५ दिन पहले इन्होंने अपने श्राद्धादि का कुल सामान भागलपुर बाजार से खरीदकर अपनी बड़ी लड़की के जिम्मे लगा दिया। इनकी गृहिणी कुछ वर्ष पूर्व ही इनसे बिदा ले चुकी थीं। लड़की ने पूछा—'पिताजी! ये सब सामान आपने क्यों खरीदे?' उत्तर में इन्होंने केवल इतना ही कहा—'बेटी! ये १० दिनों के बाद तुम्हारे काम आयेंगे।' ऐसा कहकर ये अपने बड़े लड़के को साथ लेकर मथुरा रवाना हो गये। जाने के एक दिन पूर्व इन्होंने मुहल्ले के लोगों से मिलकर कहा था कि मैं तो अब जाता हूँ पर, हमारे परिवारवालों की देखरेख अब आप ही लोगों पर है। चाहे किसी भी जाति के क्यों न हों, ये अपनी उम्र से बड़े सब लोगों को प्रणाम किया करते थे।

लड़के और मण्डली के साथ जब ये मथुरा रवाना हुए तो आधा रास्ता तय करने के बाद अपनी मण्डलीवालों से कहा, मैं 'निताई को इसलिए साथ लिये जा रहा हूँ कि अगर बीच में मेरी मृत्यु हो जाय तो इसी के हाथ अग्निसंस्कार करा देना। मथुरा पहुँचने पर इन्होंने अपने प्रेमियों से भी ये ही बातें कहीं और आखिर बिदाई का वह दिन आ ही पहुँचा।

एक दिन ये अपनी मण्डली को लेकर द्वारकाधीश मंदिर गये। कीर्तन आरंभ हुआ। अन्तिम यात्रा और अन्तिम पद उनका यही था—'मा मा बोल आर तोरे

डाकबो ना।' कीर्तन शेष हुआ और उसी क्षण इनका अन्तिम स्वर आराध्य के वंशीरव के साथ मिलकर एकाकार हो गया। यह घटना १२ जून, १९३२ ई० को घटित हुई थी।

देहावसान के कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने अपने दो भतीजों श्री शारदाप्रसाद आचार्य और श्री गोपालचन्द्र आचार्य से कहा था कि अगर इसी कीर्तन को लीला-कीर्तन के रूप में बदल दिया जाय तो और भी आकर्षक होगा तथा जनता पर भी इसका अत्यन्त उत्तम प्रभाव पड़ेगा। इस मंत्रणा का अनुकूल प्रभाव पड़ा और श्री शारदाप्रसाद आचार्य ने बंगला भाषा की इस विषय की कई किताबें मँगाकर इनकी सहायता से हिन्दी में यात्रा नाटक को एक व्यवस्थित रूप दे दिया।

उसका प्रदर्शन सर्वप्रथम १९२७ ई० में भागलपुर में आयोजित अखिल भारतीय कीर्तन-सम्मेलन के अवसर पर हुआ था। इसमें केवल आध्यात्मिक नाटक ही खेले जाते थे। जैसे—वीर लव-कुश, कृष्ण-सुदामा, अनन्त-माहात्म्य, भक्त ध्रुव, त्रिशंकु, सुरथ-उद्धार, जयदेव, सत्य हरिश्चन्द्र आदि। यह देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए कि आज उनके मन की बात सिद्ध हुई। यात्रा पार्टी का नाम भी इनके बड़े भाई —राम और इनके नाम—कृष्ण के आधार पर रामकृष्ण रखा गया। इनके देहावसान के बाद भी यात्रा पार्टी करीब ४० वर्षों तक उनके निर्देशानुसार चलती रही और इस क्षेत्र के व्यापक जनसमुदाय के बीच भक्ति की ध्वजा फहराती रही। इससे इस अंचल की धर्मप्राण जनता भक्ति-रस में आनन्दविभोर होती रही। किन्तु उत्तरोत्तर जैसे-जैसे जन-रुचि पर आधुनिक थियेटर तथा सिनेमा का प्रभाव बढ़ता गया, धार्मिक लोकमंच एवं उसके कलाकारों का आदर घटता गया। अतः भागलपुर की किष्टोबाबू और बलदेव बाबू की सुप्रसिद्ध यात्रा पार्टी का एक प्रकार से अवसान ही हो गया है।

किष्टोबाबू के नाटकों में चैतन्य-सम्प्रदाय के बंगीय पदकर्ताओं के पद, अंगिका (भागलपुरी) के भजन, ब्रज व अवधी के सूर-तुलसी रचित पद तथा मीरा के मधुरगीत अनवरत गूँजा करते थे। कीर्तन करते-करते ये प्रायः भावविभोर हो जाते थे, जिससे सम्पूर्ण वातावरण कृष्णमय हो जाता था। वे अपने साथ सम्पूर्ण मण्डली को रसधार में वैसे ही सराबोर कर देते थे जैसे चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल से वृन्दावन की यात्रा में पार्श्वभूमि को आनन्द से प्लावित किया था।

मथुरा में अपने इष्टविग्रह के समक्ष कीर्तन करते-करते उन्हींमें प्राणों को विर्सजित करने के अनन्तर इनकी मण्डली के शिष्यों और अनुयायियों ने ही उनकी पोथी दबा दी। लाख प्रयत्न करने पर भी उनकी रचनाएँ घरवालों को न मिल सकीं। अब मात्र इनकी कहानी शेष रह गई है। वही सहृदयों को भक्ति-पथ पर अग्रसर होने को प्रेरणा देती रहेगी।

त० ना०

कृष्णचन्द्र गोस्वामी

श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी का परिचय 'रसिक-अनन्य-परचावली' में निम्नलिखित रूप में मिलता है—

रस निधि गिरा प्रसंस ग्रन्थ रचि रचना कीने।
बुद्धि प्रबल रस लुब्ध सार निगमन के लीने॥
करी वृष्टि शुभ दृष्टि जीव जे जगभय भीते।
तिनके पद परताप अजित प्रभु बहुतन जीते॥
आनंद उदधि तब बढ़चौ उर,
टूटी छीलर कर्म विधि।
अति हेत जगत कौ जानि कै,
श्री कृष्णदास सची परम निधि॥

भजन तेज परताप कर्म-वादिनु दल गंजे।
इष्टचरन बल-बली विविध नीरस रस रंजे॥
कृपा दृष्टि आरूढ़ गूढ़ गुन रहसि सु खोले।
मगन सदा अलिभाव आन सुख तृन सम तोले॥
श्री हरिवंश तनय सुमति,
थिर थंभन रस रीति वर।

रस-भक्ति दिवाकर ज्यौं दिपत,
श्री कृष्णदास प्रभु भाल पर ॥

चाचा हित वृन्दावनदास द्वारा चित्रित श्री कृष्णदास अथवा श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी का रसभक्तिरंजित तथा पांडित्यपुष्ट व्यक्तित्व सचमुच मनोहारी है। इनमें तलस्पर्शिनी बुद्धि, मार्मिक रसिकता और प्रचंड भक्ति-तेज का दुर्लभ संयोग था। चाचाजी ने उक्त छप्पयों में इनके संबंध में कुछ मार्मिक बातें कही हैं। एक तो यह कि 'जब इनके हृदय में 'आनद-उदधि' उमड़ उठा तो संपूर्ण छिछली कर्मविधियाँ उसमें डूब गईं। प्रेमाभक्ति के क्षेत्र में कर्म के न्यास का यही सहज स्वाभाविक क्रम है। दूसरी यह कि श्री कृष्णदास ने अपनी संपूर्ण आध्यात्मिक उपलब्धियों का उपयोग संसार के हित में किया। तीसरी यह कि ये सदैव श्री राधाकिंकरी-भाव में निमग्न रहते थे। परिणामतः इनके लिए संपूर्ण जागतिक सुख तृणवत् हो गये थे।

इनका जन्म सं० १५८७ में देवबन्द में हुआ था। ये श्री हित हरिवंश के द्वितीय पुत्र थे। अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री वनचन्द्र गोस्वामी के वृन्दावन आने के थोड़े दिन बाद ये भी आ गये थे। इन्होंने संस्कृत की शिक्षा काशी में पाई थी और अपने अल्प वय में ही धर्म-प्रचार एवं ग्रन्थ-रचना आरंभ कर दी थी। इनके लिखे व्रजभाषा में अनेक पद मिलते हैं। किन्तु इनकी मुख्य रचनायें संस्कृत में हैं। विक्रम की सोलहवीं शती में उदित श्री कृष्ण-भक्ति के तीनों संप्रदायों—श्री वल्लभ, श्री चैतन्य तथा श्री राधावल्लभ के प्रारंभिक युग के महानुभावों में एक सामान्य प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। ये लोग उत्तर भारतीय साहित्य, संगीत और कला को श्रीकृष्ण-भक्ति से मुद्रित ही नहीं करना चाहते थे, उनको प्रेम-भक्ति के रंग में रंजित करना चाहते थे। बाद की शताब्दियाँ साक्षी हैं कि ये लोग इस कार्य में बहुत दूर तक सफल हुए। आज उत्तर भारत के संगीत की अधिकांश राग-रागिनियाँ व्रजलीला के पदों के माध्यम से गाई जाती हैं और कला की कई विधायें भक्तिकाल के अवदान के रूप में प्राप्त हैं।

इस प्रक्रिया के अंतर्गत श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी ने 'कर्णानन्द' नामक एक छन्द-ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें उन्होंने एक अक्षरवाले छंद से लेकर सत्ताईस या उससे अधिक अक्षरवाले 'दंडक' छंद के स्वरचित उदाहरण दिये हैं और वे सब श्री राधाकृष्ण-भक्ति अथवा लीला-परक हैं। एक अक्षरवाले छंद का उदाहरण है, 'वन्दे राधां', दो अक्षरवाले स्त्री-छंद का उदाहरण है, 'कृष्णें-भूयात, बहरी तृष्णा', तीन अक्षरवाला नारी छंद, 'राधायाः प्राणेशं, ध्यायामो निर्बाधम्, चार अक्षरवाला मृगी छंद है, 'सादरं वल्लभं, राधिकाया भजे' इत्यादि। इस ग्रन्थ की शैली गंभीर और मर्मस्पर्शी है। इसकी रचना शकाब्द १५०० (सं० १६३५) में हुई है। इसका एक सुसंपादित संस्करण फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हो चुका है। किन्तु नागरी अक्षरों में इसका कोई संस्करण उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ पर व्रजभाषा पद्य में गो० रसिकलालजी (रचनाकाल सं० १७२४) की रसिकमोहिनी टीका और श्री चन्द्रलाल गोस्वामी की टीका प्राप्त हैं। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि संप्रदाय के एक संग्रहालय में उक्त ग्रन्थ की गोलकुंडा में लिखी हुई एक प्रति विद्यमान है। इस प्रति की पुष्पिका में लिखा है,

कर्णानन्दाभिधो ग्रन्थो व्यलिखद्वाऽमोत्रमः।
श्री वत्सराजसन्मान्यो गोलकुण्डापुरे वरे ॥

श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी की संस्कृत भाषा में अन्य उपलब्ध रचनायें हैं—'श्री उपसुधानिधि', 'श्री राधानुनय विनोद काव्य', 'श्री आशाशतस्तव मानाष्टपदी', 'श्री हरिवंशाष्टक', 'श्रीमानाष्टपदी' (द्वितीय) तथा 'चतुर्गीति'। व्रजभाषा में भी इनके अनेक पद प्राप्त हैं। उनमें से अधिकांश उत्सवों से सम्बद्ध हैं। गोस्वामीपाद ने श्री राधावल्लभजी के मंदिर के निकट एक मंदिर बनवाया और उसमें अपने सेव्य श्री राधामोहनजी के स्वरूप की स्थापना की। यह मंदिर अब भी विद्यमान है।

इन्होंने धर्म-प्रचार के लिये 'पूरब' की अनेक यात्रायें कीं और गया (बिहार) तक के प्रदेश में

संप्रदाय के अनेक केन्द्र स्थापित किये। ऐसी ही एक यात्रा से श्री वृन्दावन आते हुए इलाहाबाद में इन्होंने शरीरत्याग किया। वहाँ त्रिवेणी-तट पर इनको समाधि बनी हुई है। इनके दो पद नीचे दिये जाते हैं—

(१)

देखहु श्यामविपिन जैसो लागत।
उपजत सुख-दुख तन मन भाजत॥

अरुरन किंशुक छवि मनोहर भाँति।
मानहुँ बंदन डारें खेलें तरु पाँति॥
रसाल मंजरी चल सैननि बुलावत।
वल्लरिनु तजि भृंग विट कुल धावत॥

भ्रमत भ्रमर-चय बहुविधि गावत।
मनहुँ अपने सचु लतनि नचावत॥
कुंज शिखर पिक वचन सुनावत।
मानौं मनसिज नृप डिंडिमो बजावत॥

सौरभ पवन भुव मंडल सुवासित।
मनहुँ सयन उठि मदन उसासित॥
कमल कोर कहि विधि विकसात।
मनहुँ सोवत निसि आलस जँभात॥

तैसिये तुम्हारी छवि राधा जू सौं छाजत।
मानौं बिनु रितु घन दामिनी में राजत॥
(जै श्री) कृष्णदास हित नित रसना लड़ावत।
याही तें राधिका-पति पद सुख पावत॥

(२)

हरिदास सौं गर्ब न करिबौ।
इहि अपराध परम पद छूतें,
उतरि नर्क में परिबौ॥

हम कुल जात धनी ये भिक्षुक
रंच न मन में धरिबौ।
राज सिंहासन ऊँट अश्व चढ़ि,
भवसागर नहिं तरिबौ॥

यह मति भली नहीं आपुन बढ़ि,
नर कूकर अनुसरिबौ।
हरि सेवी जस गायक कौं लघु,
मानत नेंकु न डरिबौ॥

अपने दोष निपट आँधे पर,
दोष कुतर्कनि जरिबौ।
वृथा चातुरी बाद जनम तें,
भलौ गर्भ में गरिबौ॥
खान पान ऐंड़ात भले जो,
वदन पसार न मरिबौ।
(जै श्री) कृष्णदास हित धरि विवेक चित,
साधुन संग उबरिबौ॥

ल० च० गो०

कृष्णचन्द्र सिंह

राजा कृष्णचन्द्र, जो लालाबाबू के नाम से विख्यात थे, वारेन हेस्टिंग्ज के दीवान गंगागोविन्द सिंह के वंशधर थे। बंगाल में ये 'पाइक पाड़ा के राजा' के नाम से प्रसिद्ध थे, किन्तु इनका मुख्य निवास-स्थान ग्राम कांदी जिला मुर्शिदाबाद था। इनका जन्म अनुमानतः संवत् १८४७ में कायस्थ-कुल में हुआ था। ये बहुत धनी थे। अपनी माता के श्राद्ध में इन्होंने २० लाख रुपये व्यय किए थे। इन्होंने कुछ काल तक वर्धमान तथा उड़ीसा में काम किया। फिर २० वर्ष की अवस्था में ब्रजमण्डल चले गए और ४० वर्ष की अवस्था में अपना सब ऐश्वर्य परित्याग कर अखण्ड वृन्दावन-वास किया। वहाँ ये मधुकरी माँगकर खाते, जंगलों में भ्रमण करते तथा कृष्ण-भजन में मग्न रहते। आपने संवत् १८६७ में वृन्दावन में तथा कांदी में कृष्णजी का विशाल मंदिर बनवाया। वृन्दावनवाले मन्दिर के सम्बन्ध में ग्राउस ने लिखा है—"The first in time of erection is the temple of Krishna Chandrama, built about the year 1810, at a cost of 25 Lakhs, by the wealthy Bengali Kayasth, Krishna Chandra Singh, better known as Lala Babu." (Muttra District Memoirs—F. S. Growse, p. 237)

भारतेन्दु ने 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में इनकी चर्चा की है—

माँगि-माँगि मधुकरी उदर पूरन नित कीनो।
हरि-मन्दिर अति रुचिर बहुत धन दै बनवायो॥
साधु-सन्त के हेत अन्न को सत्र चलायो।
जिनकी मृत देहहु सब लखत, ब्रज-रज लोटत
फल लहे॥
लाला बाबू बंगाल के वृन्दाबन निवसत रहे।
छोड़ि सकल धन धाम वास ब्रज को जिन लीनो॥

संवत् १८८९ में किसी घोड़े के लात मारने से वृन्दावन में इनका परलोक गमन हुआ। इनके तथा एक अन्य धनाढ्य हरिभक्त पारिख की मृत्यु के सम्बन्ध में ब्रजवासी यह दोहा कहते हैं—

लाला बाबू मर गये, घोड़ो दोष लगाय।
पारिख कौ कीड़ो पड़ो, बिधि सो कहा बसाय॥
म० गो० भा०

कृष्णचरण

कृष्णचरण वृन्दावनस्थ श्री ठाकुर राधारमणजी के सेवायत-घराने के प्रसिद्ध विद्वान् गोस्वामी बलदेवलालजी के सुपुत्र थे। इनका उपनाम कृष्णकवि था। इनका जन्म वि० सं० १९३० में हुआ था। इनका देहावसान ४० वर्ष की अवस्था में वि० सं० १९७० के लगभग हुआ। इनके सुपुत्र गोस्वामी नीलमणि से 'चैतन्य-चन्द्रामृतकणिका' नामक एक रचना कुसुम सरोवर के दिवंगत संत बाबा कृष्णदास को उपलब्ध हुई थी।

'चैतन्य-चन्द्रामृतकणिका' एक लघु रचना है जिसमें कुल मिलाकर सौ दोहे हैं। यह 'वृन्दावनमहिमामृतम्' के प्रख्यात रचयिता श्री प्रबोधानन्द सरस्वती के 'चैतन्य-चन्द्रामृतम्' नामक संस्कृत स्तोत्र-ग्रन्थ का सारगर्भ छायानुवाद है। इसमें चैतन्य महाप्रभु की महिमा भावपूर्ण ढंग से कथित है। चैतन्य-तत्त्व का निरूपण श्री कृष्णचरण ने सम्प्रदाय की निष्ठा के अधीन ही किया है। इनकी रचना-शैली के उदाहरण-स्वरूप कुछ दोहे उद्धृत किये जाते हैं—

अमिय अयन चैतन्य को, कोटि चन्द्र मुख चन्द्र।
भुवन माँहि बाढ़ो निरख, वारिधि प्रेमानन्द॥
भक्त चकोरी चतुरचख, चाखत सो अविराम।
प्रकटो शची समुद्र में, गौर चंद्र गुण धाम॥
ब्रह्मवादि धिक यमी धिक, करमी धिक मन जान।
पायो जिन नहिं गौर मधु, ते नर पशू समान॥
गौर प्रेम रस सिन्धु में, जो नहिं डूबौ हाय।
भवसागर के बीच में, पड़ौ सो गोता खाय॥
अँसुअन सींचत सरस हिय, श्वाँस लेत गंभीर।
हरो गौर ब्रज विरहिणी, भावुक मेरी पीर॥
न० च० वं०

कृष्णचैतन्य 'निजकवि'

गो० कृष्णचैतन्य रासबिहारी गोस्वामी के सुपुत्र थे। इन्होंने 'उक्ति-जुक्ति-रसकौमुदी' नामक स्वरचित ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर स्वयं को 'निजकवि' कहा है। किन्तु उक्त ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति के आरम्भ में 'गोस्वामी कृष्णचैतन्य निजदास' तथा एक छंद में स्वयं को 'रहस बिहारी लाल तासु सुत निजदास' कहा है। अतः इनका वास्तविक नाम गो० कृष्णचैतन्य था और 'निजदास' अथवा 'निजकवि' काव्यप्रयुक्त उपनाम था। इनके पिता गोस्वामी रासबिहारीजी वृन्दावनस्थ श्री राधारमणजी के किसी गोस्वामी-वंश के भाँजे थे। बाबू ब्रजरत्नदासजी के पितामह बाबू बुलाकीदास से इनका विशेष परिचय था। ये पिता-पुत्र चैतन्य-सम्प्रदाय के वैष्णव थे। अपने बड़े भाई श्री राधागोविन्द से इन्हें मन्त्र मिला था। श्री राधारमण इनके इष्ट और चैतन्य महाप्रभु आचार्य थे।

राधारमन सुइष्ट मम, आचरज चइतन्य।
ज्ञाति द्विजन्मा गौड़िया, मध्व संप्रदा जन्य॥
रासबिहारी जू पिता, परम भागवत धाम।
श्री राधागोविन्द मम, बड़े भ्रात कौ नाम॥
ए मेरे हैं मंत्रगुरु, श्री राधागोविन्द।
बार-बार बंदउँ सदा, चरण कमल अरविन्द॥

बाबू ब्रजरत्नदास ने इनका जो परिचय दिया है उससे ज्ञात होता है कि ये संस्कृत तथा ब्रजभाषा के उच्चकोटि के विद्वान् तथा साहित्य-मर्मज्ञ थे। ये ब्रजभाषा के कुशल कवि एवं काव्यकला-विशारद थे। यह इसीसे समझा जा सकता है कि राजा शिवप्रसाद, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, गोस्वामी दम्पतिकिशोर,

मन्नालाल 'द्विज' जैसे साहित्याचार्य इन्हें अपना साहित्यिक गुरु मानते थे। पंडित अम्बिकादत्त व्यास इनके शिष्य थे। गोस्वामी किशोरीलालजी इनके दौहित्र तथा शिष्य थे। इनके यहाँ कवियों का समागम रहा करता था जिसमें मणिदेव के पुत्र हनुमान् कवि, 'द्विजकवि' मन्नालाल, गो० दम्पतिकिशोर आदि काव्य पढ़ते थे। गोस्वामीजी का जन्म वि० सं० १८७० के लगभग हुआ होगा। इनकी रचनाओं की पाण्डुलिपि का काल सं० १९३४ वि० तक आता है। इनका काव्य रचनाकाल अनुमानतः सं० १९००–१९४० वि० के बीच स्थिर होता है। भारतेन्दुकालीन कवियों में परिगणित होते हुए भी ये उनके पूर्ववर्ती थे और रीतिकालीन परिपाटी के अन्तिम समर्थ कवि कहे जा सकते हैं। वस्तुतः ये आचार्य-कोटि के सुकवि थे। इनकी सबसे विशद रचना 'उक्ति-जुक्तिरसकौमुदी' है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति बाबू ब्रजरत्नदास के संग्रह में है। इसका सुविस्तृत परिचय 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' की त्रैमासिक पत्रिका में उन्होंने ही प्रथमतः प्रस्तुत किया था।

'रसकौमुदी' कवि की एकमात्र विशिष्ट साहित्यिक महत्त्व की कृति है। इस ग्रन्थ में ५००० से अधिक पद हैं, जिनमें दोहे, सवैये तथा कवित्त अधिक हैं। छन्द-वर्णन छोड़कर प्रायः सभी काव्यांगों पर विस्तारपूर्वक लिखा गया है। ग्रन्थ में वार्ता द्वारा सूक्ष्म भेद समझाने का प्रयत्न किया गया है। लक्षण, उदाहरण सभी इनके हैं यद्यपि कुछ पूर्ववर्ती रचनाओं से भी उदाहरण दिए गए हैं किन्तु एक-तिहाई से अधिक इनकी रचनाएं हैं। इस ग्रन्थ की द्वितीय कला में 'उद्धव-सन्देश' नामक एक विशद काव्य दिया गया है जो पूर्णतः इन्हींकी कृति है। इसे उक्त रचना में अन्तर्भुक्त होते हुए भी एक स्वतन्त्र रचना समझना चाहिए। इसमें ५०० से अधिक छंद हैं। हो सकता है कि बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' को 'उद्धव-शतक' लिखने की प्रेरणा इसी से मिली हो। साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से 'उद्धव-सन्देश' अपूर्व रस-पेशल रचना है। बाबू ब्रजरत्नदास ने इस सन्दर्भ में टिप्पणी की है, 'यदि निजजी ने केवल एक यही 'उद्धव-मन्देश' लिखा होता तो भी यह कृति इन्हें हिन्दी-साहित्येतिहास में अमरकवि के रूप में स्थान दिलाने में समर्थ थी।'

इनकी अनेक छोटी-छोटी रचनाएँ 'कवि-वचन-सुधा' तथा 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में छपी हैं। सं० १९२७ की सुधा में 'साँझ-वर्णन', सं० १९२८ में 'कौमुदी' का अंश 'पावस-ऋतु-वर्णन' छपा है। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में 'श्रीराधारमण जू को शृङ्गार' सं० १९३५ वि० में छपा है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में इनके अनेक स्फुट छन्द तथा समस्या-पूर्तियाँ प्रकाशित होती रही हैं। 'निजकवि' जी का परलोक-गमन अनुमानतः वि० सं० १९४० में हुआ। इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

प्रीतम चाह अवाँ अगिनि, जाको घर पकि जात।
'निजकवि' सोई हिये मैं, प्रेम अमी ठहरात॥
प्रेम पपीहा को लखौ, निसदिन मरै पियास।
तन पर प्रान धरै नहीं, पन पर प्रान निवास॥

सोच परिहरौ धरौ, धीरज सखा की सौंह
रावरी कुसल हित हरि जू को लाऊँगी।
'निजजू' तिहारे पासु यही ब्रज माँझ तासु,
राखिए बिसासु खासु दरस दिखाऊँगी॥
मथुरा में जाइ ऐन बिरह निवेदन कैं,
नैन वारि चरन पखारि समझाऊँगी।
सपथ किये हौं कहूँ लाए बिना रहूँ नाँहि,
कान्ह हूँ कहों हैं यदि बेगि ब्रज जाऊँगी॥

जमुना तट उपवन सघन, रहे चूमि तरु भूमि।
फैले फूले फले फबि, झाँपि झूल झुकि झूमि॥
कहा बिलोकत अरुनता, यह नहिं फूली साँझ।
राधा-पद तल की परी, किरन बादरन माँझ॥

न० च० बं०

कृष्णदत्त त्रिवेदी

कृष्णदत्त त्रिवेदीजी का जन्म माघ पूर्णिमा सं० १९५८ वि० को ब्रह्मावली (सीतापुर) में हुआ था। आपके पिता श्री महाराजप्रसाद काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। आपका निधन सं० २०२० वि० में हुआ।

इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें 'कृष्णचरितमानस' राज्य-सरकार द्वारा पुरस्कृत एक बृहद् काव्य है। इस ग्रन्थ में भगवान् कृष्ण का चरित्र २१ सर्गों में वर्णित है। सम्पूर्ण ग्रन्थ विशुद्ध खड़ी बोली में लिखा गया है। केवल 'समर्पण' व्रजभाषा में है।

इस ग्रन्थ में दो खण्ड हैं। एक में भगवान् कृष्ण का बालरूप वर्णित है तथा दूसरे में उनके योगेश्वर रूप की व्याख्या है।

ग० द० सा०

कृष्णदत्त शर्मा 'सूरि'

प्रणामी-सम्प्रदाय के आधुनिक गद्य-निर्माता सन्तों में पं० कृष्णदत्त शर्मा 'सूरि' का नाम उल्लेखनीय है। इनका जीवनवृत्त अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है। 'विराट्-षड्दर्शन' शर्माजी की एकमात्र कृति है, जिसमें विराट् के तात्त्विक स्वरूप का अंकन किया गया है। १४ पर्वों में विभक्त इस कृति में १४ भुवनों का स्वरूप-विवेचन और विराट् का विनाश होने के पश्चात् सूक्ष्म कारणरूप विश्व का स्वरूप-निरूपण किया गया है। इस कृति में प्रणामी-सम्प्रदाय के उपास्य स्वलीलाद्वैत-ब्रह्म के साथ ही धाम, स्थान आदि का भी शास्त्र-सम्मत विवेचन किया गया है। 'समाधान-पर्व' नामक अन्तिम प्रकरण ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में है जिससे प्रणामियों के साम्प्रदायिक स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। ये सूरत (गुजरात) की मंगलपुरी फकीरी गद्दी की सन्त-परम्परा के महत्त्वपूर्ण सन्त माने जाते हैं।

रा० प्र० त्रि०

कृष्णदत्त शास्त्री

प्रणामी-सम्प्रदाय में दीक्षित और सम्प्रदायगत मान्यताओं के विश्लेषक आचार्य के रूप में श्री कृष्णदत्त शास्त्री का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनके कृतित्व में 'निजानन्द-चरितामृत', 'सम्प्रदाय-सिद्धान्त' और 'प्राणनाथ-वाणी' का सम्पादन प्रमुख है। श्रीकृष्ण की त्रिधालीला का विवेचन करते हुए इन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के तीन प्रादुर्भाव बताये हैं और प्रत्येक प्रादुर्भाव में उनके शक्तिस्वरूप को अलग-अलग निरूपण किया है। इनका मत है कि अखण्ड बिहारी परमात्मा ने निज अंश द्वारा व्रज में श्रीकृष्णस्वरूप धारण किया। पुनः व्रजविहारी नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के अंशमात्र ने मथुरा-लीला की। इसी प्रकार द्वारकागमनवाले श्रीकृष्ण मथुरावासी कृष्ण के स्वरूप थे।

रा० प्र० त्रि०

कृष्णदत्त सिंह (महाराजा)

उत्तर प्रदेश के बहराइच जनपद में भिनगा के बिसेन-राजवंश में कई कवि, विद्वान् एवं भगवद्भक्त हो चुके हैं। राजा कृष्णदत्त सिंह का आविर्भाव इसी वंश में हुआ था। इनके कुल में सगुण-साकार राम एवं कृष्ण की भक्ति का प्रवाह सदा गतिशील रहा। महाराज शिवसिंह और महाराज कुमार जगतसिंह इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। राजा कृष्णदत्त सिंह का जन्म सन् १८५२ ई० में हुआ था। 'मिश्र-बन्धु-विनोद' में इनका जन्म-काल सम्वत् १९१९ स्वीकार किया गया है। किन्तु डॉ० ग्रियर्सन ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में इनका जन्म सं० १९६२ में होना माना है। भिनगा-राजपरिवार के इतिहास में राजा कृष्णदत्त सिंह के जन्मकाल का उल्लेख नहीं है। 'मिश्र-बन्धु-विनोद' में 'गंगाष्टक' को इनको रचना बताया गया है। इनके द्वारा रचित राधाकृष्ण के रसिकभक्ति-सम्बन्धी कतिपय फुटकर छन्द पाये जाते हैं। शिवसिंह ने 'सरोज' में निम्नलिखित छन्द उद्धृत किया है। इससे इनकी राधा-भक्ति का पता चलता है—

कानन समीर बसैं भृकुटी अपांग अंग,
आसन अजिन मृग अजिन अनाधा के।

आसन भिगोये कोर विसद विभूति अंग,
त्यागो नींद विषय निमेष विष बाधा के॥

कृष्णसिंह कामकला विविध कटाक्ष ध्यान
धारना-समाधि मन्मथ सिद्धि साधा के।

प्रेम के प्रयोगी सुखसम्पत्ति संयोगी अति,
श्याम के वियोगी भये जोगी नैन राधा के॥

शि० ना० शु०

कृष्णदास (प्रथम)

सन्त कृष्णदास (प्रथम) का जीवनवृत्त अतीत के अंधकार में विलीन हो गया है। सम्प्रति इनके विषय में मात्र इतना ज्ञात है कि ये राजापुर पटना के निवासी और प्रणामी-संप्रदाय के अनुयायी थे। इनकी एकमात्र कृति 'संक्षिप्तप्रणालिका' नाम से उपलब्ध है, जिससे इनकी कृष्ण-भक्ति पर प्रकाश पड़ता है। गोपियों की प्रेम-लक्षणा भक्ति के विषय में इनका एक छन्द नीचे दिया जाता है—

यह पद पाई गोपिका, कियो न जप-तप-जोग।
प्रेम लच्छना भक्ति में, भईं सदा संयोग॥

रा० प्र० त्रि०

कृष्णदास (द्वितीय)

कृष्णदास (द्वितीय) का जन्म वृन्दावन में हुआ था। इनके पिता इन्हें अनाथ छोड़कर बचपन में ही परलोकवासी हो गये थे। अतः इनका लालन-पालन माता ने ही किया। इसके साथ ही उन्होंने इन्हें ऐसी अमृत-शिक्षा भी दी जिससे इन्हें बचपन से ही जगत् से विराग हो गया। माताजी के दिवंगत होने के बाद इन्होंने बाबा नवेलीशरणजी से विरक्त वेश ले लिया और उन्हीं के आश्रय में रहने लगे। इनकी माता ने इन्हें अपने जीवन-काल में ही पुजारी मनुआलालजी से श्री हित-धर्म-मंत्र को दीक्षा दिला दी थी।

बाबाजी की कृपा से इनका मन श्री हरिवंश नाम-वाणी में पूर्ण रूप से रम गया था। इनका निधन-काल विक्रम संवत् २०३२ के लगभग है।

श्या० बि० खं०

कृष्णदास (तृतीय)

कृष्णदासजी (तृतीय) के सम्बन्ध में इनकी रचनाओं से बहुत कम सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इनकी कृतियों में 'माधुर्य-लहरी' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस रचना में कृष्णदास ने अपने को निम्बार्क-सम्प्रदाय के महात्मा हरिभक्तदास का शिष्य बताया है। माधुर्य-लहरी के अन्त में कृष्णदास ने चार दोहों के अन्तर्गत ग्रन्थ का रचनाकाल और आत्म-परिचय दिया है—

विन्ध्य निकट तट सुरधुनी, गिरिजापत्तन ग्राम।
हरिभक्तन के आश्रय, कृष्णदास विश्राम॥
ग्रंथ माधुर्य सुलहरि अस, कहिये जाको नाम।
कृष्णदास सुख श्रीकृपा, प्रगट भयो ता ठाम॥
अष्टादशसह संवत्, अरु पुनि बावन संग।
भाद्र-मास सुखसिन्धु श्री, जन्मारंभ तरंग॥
तिरपन संवत् को अमल, अति वैसाख सुमास।
लहरिमाधुरी सुख लह्यो, संपूरन मन आस॥

इन दोहों से ज्ञात होता है कि कृष्णदास विन्ध्यपर्वत के निकट गंगा-तट पर स्थित गिरिजापत्तन नामक ग्राम के निवासी थे। परन्तु 'गिरिजापत्तन' शब्द को लेकर कृष्णदास के निवास-स्थान के विषय में पर्याप्त मतभेद रहा है। 'गिरिजापत्तन' की स्थिति के सम्बन्ध में विचार करते हुए पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'माधुर्य-लहरी' के परिचय में लिखा है—"गिरिजापत्तन या गिरिजापुर ग्राम मात्र या कोई बड़ा जनपद रहा होगा, मिर्जापुर या गाजीपुर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। समुचित सामग्री के अभाव में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।" इसके अनन्तर उन्होंने उक्त लेख में 'गिरिजापत्तन' से ध्वनित होनेवाले स्थानों की समस्या पर विचार करते हुए अपने उक्त निष्कर्ष की पुनरावृत्ति की है (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६२, अंक १, पृ० ८०-८१)। परन्तु श्री वेदप्रकाश गर्ग के अनुसार यह स्थान 'गिरिजापुर' न होकर 'मिर्जापुर' अथवा 'मिरिजापत्तन' है। कृष्णदास ने माधुर्य-लहरी के अतिरिक्त अन्य दो रचनाओं—'भागवत-भाषा' और 'भागवत-महात्म्य' में भीं अपने जन्म-स्थान का उल्लेख किया है।

भागवत-भाषा के हस्तलेख में 'गिरिजापुर वर नाम' को मिश्रजी ने प्रतिलिपिकार की भूल मानते हुए इस बात की सम्भावना व्यक्त की है कि प्रति में इन शब्दों के बदले 'गिरिजापत्तन' ही रहा होगा, परन्तु श्री वेदप्रकाश गर्ग के अनुसार 'गिरिजापत्तन' की स्थिति गंगा के

निकट नहीं बैठती। भूगोल के साक्ष्य के आधार पर 'गिरिजापत्तन' नामक किसी गंगा-तटवर्ती ग्राम का उल्लेख नहीं मिलता। वस्तुतः 'गिरिजापत्तन' में 'पत्तन' शब्द का अर्थ पुर अथवा ग्राम है। प्रतिलिपि में 'गिरिजापत्तन' का 'गिरिजापुर' और 'मिरिजापत्तन' का 'मिरजापुर' हो जाना अधिक सम्भव प्रतीत होता है। प्रतिलिपि परम्परा में 'म' के स्थान पर 'ग' और 'ग' के स्थान पर 'म' का भ्रम होना अस्वाभाविक नहीं है। उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में केवल एक वर्ण के परिवर्तन से सम्पूर्ण शब्द की समस्या का समाधान हो जाता है। श्री बिहारीशरण के अनुसार वृन्दावन में कृष्णदास ने एक स्थान बनवाया था जो 'मिरजापुरवाली कुंज' के नाम से अब तक प्रसिद्ध है। अतः कृष्णदास का वासस्थान 'मिरजापुर' अथवा 'मिरजापत्तन' ही मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

कृष्णदास के जीवन-चरित-विषयक अन्य सूचनाएँ प्राप्त नहीं हैं। रचनाओं के आधार पर इनका काव्य-काल संवत् १८५२ से १८५५ तक निर्धारित किया जा सकता है।

इनकी तीन रचनाएँ प्राप्त हैं—'माधुर्य-लहरी, भागवत-भाषा और भागवत-महात्म्य। मिश्रबन्धुओं ने इनके द्वारा रचित एक 'मंगल' का भी उल्लेख किया है। परन्तु यह रचना कृष्णदास की न होकर विहारिनदास के शिष्य नागरीदास की है। इनके कुछ छन्द प्रस्तुत हैं—

(१)

(गीतिका छन्द)

श्री स्वामिनी पद-कमल-नख-मणि
चारु चंद मयूषता।
ब्रह्माण्ड अमित प्रकाश प्रसर
प्रमोद पूर पियूषिता॥

अनगम्य अकथ अनंत अनवधि
अप्रेमय मही मनं।
कुरुपान चित्त चकोर छवि-रस
कृष्णदास हठी मनं॥

(२)

तिन द्वार पसरें जगत में जन रसिक उर सीपी परैं।
नाम जीवन्मुक्त यातें सकल श्रुति निरनय करैं॥
नरदेह दुर्ल्लभ जानि निश्चय संग तिनको कीजिये।
भक्ति प्रीति प्रतीति अपनी कृपा उनकों दीजिये॥

(३)

युगल तन जो माधुरी सो सखी ललिता गावहीं।
रसिकजन करि पान श्रवनन अवधि सुख की पावहीं॥
सखिन के सर्वस्व स्यामा-स्याम जिय-आधार जो।
प्रथम तिनको रूप बरनें पीय मुदवर सार सो॥

रा० कु० व०
प्रे० ना० श्री०

कृष्णदास (चतुर्थ)

कृष्णदासजी (चतुर्थ) राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसके अतिरिक्त इनके विषय में अन्य कोई तथ्य उपलब्ध नहीं है। इनकी एक रचना 'अष्टक' नाम की मिली है जिसका लिप-काल संवत् १९६८ है। राधावल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार इसमें राधाजी की भक्ति का वर्णन किया गया है।

साहित्यिक दृष्टि से रचना उच्चकोटि की है। उदाहरणार्थ दो छन्द दिए जा रहे हैं—

(१)

भूतल विराजै पै राजै सब लोकनि पर,
फूल्योई रहत सदा सेव निगम बानी कौ।
छाइ रही कंचन की अवनि प्रितिंबिब किधौं,
आरसी मैं देखत मुख सुन्दर सुखदानी कौ॥
बिगसत है थलज जलज अलिगन सुगन्ध अन्ध,
त्रिविध पवन गवन खन खानी कौ॥
कोकिल कलनाद कीर कृष्णा के तीर देखि,
झलमलात वृन्दावन वृन्दावन रानी कौ॥

(२)

नांहि मोहि साधनि अराधनि सुख तीन लोक,
नांहि मोहि लीन खन संपति रजधानी कौ।

नाहिन मोहि चाहन अवगाहन जस आनि-आनि,
नाहि मोहि बानि दरस-परस खान-पानी कौ ॥

कृष्णदास जोपैं प्रभु सींवा तजि बाहर होई,
तऊ हौं न जांऊँ यहै सांची मनमानी कौ ।
रहौं कुन्जद्वार दोऊ खेलत सुकुमार जहाँ,
झलमलात वृन्दावन वृन्दावन रानी कौ ॥

बा० सिं०

कृष्णदास (पञ्चम)

श्री कृष्णदास (पंचम) के जीवन-वृत्तान्त के विषय में इतना हो ज्ञात होता है कि ये षट्सन्दर्भकार श्री जीवगोस्वामी के शिष्य थे—

श्री जीव जीवन मेरी उन्हींकी मैं हूँ चेरी,
जाके राधादामोदर वृन्दावन गाजे हैं ।

• • •

श्रीजुत जीव गुसांई ध्याऊँ ।
नित बंदन करि कृपा मनाऊँ ॥

श्री जीवगोस्वामी का उपस्थिति-काल वि० सं० १५६८ से १६६५ के लगभग है । अतः ये उनके शिष्य वि० सं० १६६५ के पूर्व हुए होंगे और इनकी आयु उस समय ४० वर्ष के लगभग रही होगी । इस प्रकार इनका उपस्थिति-काल वि० सं० १६२० से १६९० के आसपास माना जा सकता है और रचनाकाल वि० सं० १६६० के पूर्व । श्री राधादामोदर इनके आराध्य थे । इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना 'गौरनामरस-चम्पू' की वि० सं० १७४२ में लिखित एक हस्तलिखित प्रति श्री राधादामोदर-मन्दिर में बाबा कृष्णदास को मिली थी । इसमें विक्रमी संवत् के बाद की पुष्पिका खण्डित है तथा प्रारम्भ के तीन पृष्ठ लुप्त हैं । प्रारम्भिक अंशों में कदाचित् इनके जीवन-वृत्त सम्बन्धी कुछ तथ्य मिलें । इन्होंने अपने ब्रजवास और ग्रन्थ का नामोल्लेख इस प्रकार किया है—

कृष्णदास ब्रजवास रचत नाम-विलास,
गौर नाम रस चम्पू जामै रस भाँजे हैं ।

इनकी रचनाओं में 'कृष्णदास' तथा 'कृष्ण कवि' दो छापें मिलती हैं । कदाचित् कृष्ण कवि इनका उपनाम हो ।

'लघुगोपाल-चम्पू' श्री जीवगोस्वामी के 'गोपाल-चम्पू' का अति संक्षिप्त ब्रजभाषा पद्यानुवाद है । गोपाल-चम्पू जैसे प्रकाण्ड पाण्डित्यपूर्ण संस्कृत-ग्रन्थ का यह पद्यबद्ध संक्षिप्त अनुवाद इनके पाण्डित्य का द्योतक है ।

'गौरनामरस-चम्पू' में बंगला का प्रभाव परिलक्षित होता है । सम्भव है कि ये बंगाली रहे हों और बंगाल से आकर ब्रजवास करने लगे हों । उक्त ग्रंथ से इनकी गौर-निष्ठा, ब्रज-निष्ठा तथा राधा-निष्ठा ज्ञात होती है । लगभग १७वीं शती के अन्त में इनके तिरोभाव का काल अनुमानित होता है ।

उपर्युक्त दो रचनाओं के अतिरिक्त इनकी एक रचना 'लघुगोपाल-चम्पू भाषा' भी कही जाती है । 'मुक्ताचरित-नाटक' भी कदाचित् इन्हीं कृष्ण कवि की कृति हो । यह रघुनाथदास गोस्वामी के नाटक का पद्यानुवाद प्रतीत होता है । वृन्दावनस्थ श्री राधादामोदर के मन्दिर में बस्ता नं० १, पु० नं० २० पर कृष्णदास कृत 'दानलीला' नाम दिया गया है । सम्भव है कि यह भी इनकी रचना हो ।

गद्य-पद्य-मिश्रित रचना को चम्पू कहते हैं, किन्तु 'गौरनामरस-चम्पू' आद्यन्त पद्यबद्ध रचना है । इसका विभाजन १६ अंकों में किया गया है जो विचारणीय है । इसे साधारण कोटि की रचना नहीं कहा जा सकता है । इसमें कवि ने खड़ी बोली का भी प्रयोग किया है । संतों की रचनाओं में जिस खड़ी बोली का रूप व्यवहृत हुआ उसकी छाया इसमें भी मिलती है । भाषा की दृष्टि से इस पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जाना चाहिए । यहाँ इसके कुछ छन्द प्रस्तुत हैं—

हरिनाम बिना हरिकाम कहाँ,
काम बिना कहाँ बीज ।
बीज बिना हरि तनु कहाँ,
तनु बिना कहाँ रीझ ॥

हरिराग बिना हरि भाग कहाँ,
भाग बिना कहाँ भोग।
भोग बिना सुखभोग कहाँ,
सुखभोग बिना कहाँ जोग॥
हरिसंग बिना सत्संग कहाँ,
सत्संग बिना कहाँ अंत।
अंत बिना एकान्त कहाँ,
एकान्त बिना कहाँ कंत॥
कंत बिना कंतार कहाँ,
गौर बिना कहाँ श्याम।
श्याम बिना अभिराम कहाँ,
अभिराम बिना कहाँ नाम॥
नील नैन सो लाल भयो,
लाल नैन अति लाल।
कहाँ सुख में नैन पग्यो है,
सो जाने द्विजबाल॥

न० च० बं०

कृष्णदास (षष्ठ)

कृष्णदासजी (षष्ठ) का जीवनवृत्त अज्ञात है। 'भक्तगाथा' में इनके सम्बन्ध में कहा गया है—

वर्षोत्सव के चाय चटपटी में दिन बीतैं।
करी नन्द तेहि भाँति भनी श्रीशुकमुख रीतैं॥
समैं-समैं की भावना, रितु-रितु के अनुसार।
अभिलाषा पूरी करैं, महलनि व्यास कुमार॥
ह्वै अनन्य बन में बसे, तजी जगत कुल-रीति।
श्री कृष्णदास के भाव की, चाव भरी रस-रीति॥

ये कहाँ के निवासी थे, किससे दीक्षित थे, कब वृन्दावन आये और वहाँ किस स्थान पर रहते थे—ये सभी बातें अज्ञात हैं। केवल इतना ही ज्ञात हुआ है कि ये वृन्दावन से बाहर के निवासी थे, किसी सम्पन्न कुल के थे और हित-संगी-रंगी भजन संप्राप्त होने के कारण ये सब कुछ छोड़कर वृन्दावन आ बसे थे और श्री हरिवंशोदित अनन्य धर्म में दीक्षित हो गये थे। ये अपने समय के भावनापरायण रसिकों में अग्रगण्य थे। अपने इष्ट के प्रत्येक उत्सव के आगमन-काल से ही इनका हृदय भाव-चाव से भर जाता था। राधाष्टमी, जन्माष्टमी और श्री हितोत्सव आने पर तो ये आनन्द से विभोर होकर सर्वस्व लुटा देते थे।

चाचा वृन्दावनदास ने अपनी एक रचना के अन्त में एक कृष्णदासजी का उल्लेख इस प्रकार किया है—

श्री हरिवंश प्रताप तें, बरनो करुणावेलि।
व्रजभूषण राधाधनी, दरसायौ रसकेलि॥

सम्वत् सै दस आठ गत, चार वरष उपरन्त।
कृष्णदास अभिलाष हित, कथा सुनौ हरि संत॥

जेठ वदी पांचै सुदिन, बलि हित रूप विचार।
हरि गुरु साधु कृपा करी, बरन्यौ यह सुखसार॥

दीन बन्धु करुणा अवधि, भक्तवत्सल यह नाम।
वृन्दावन हित लेहु सुधि, बिरद बढ़ैं ज्यौ श्याम॥

—श्री हित-करुणा-वेली

हमारी धारणा है कि चाचाजी ने जिन कृष्णदासजी की अभिलाषा-पूर्त्तिहेतु 'करुणा-वेली' का निर्माण किया था, वे श्री गोविन्द अलिजी द्वारा वर्णित उक्त छप्पय में निर्दिष्ट कृष्णदासजी ही हैं।

'करुणा-वेली' का रचनाकाल जेठ बदी पंचमी संवत् १८०४ है। इस आधार पर आलोच्य कृष्णदासजी का उपस्थिति-काल सं० १७५० से सं० १८५० के बीच प्रतीत होता है।

श्या० बि० खं०

कृष्णदास (सप्तम)

कृष्णदासजी (सप्तम) सम्भवतः गो० हीरालाल के पुत्र गोस्वामी भक्त-लाल की कृपा से श्री राधावल्लभ-सम्प्रदायानुयायी बने होंगे। यही कारण है कि इन्होंने उनकी जन्म-बधाई का पद भी लिखा है। ये गोस्वामी चतुरशिरोमणिलालजी के समसामयिक थे—इस आधार पर इनका विद्यमान-काल वि० सं० १८२५ से वि० सं० १९०० के मध्य में अनुमानित होता है।

श्या० बि० खं०

कृष्णदास (अष्टम)

कृष्णदास (अष्टम) पंजाब के निवासी थे। इनकी एकमात्र रचना 'गिरधरलीला' प्राप्त है, जिसमें कृष्ण की बाललोलाओं का सरस वर्णन दोहा-चौपाई छन्दों में किया गया है। इनके जीवन-विषयक अन्य कोई सूचना प्राप्त नहीं है।

ह० नं० भा०

कृष्णदास (नवम)

नागरीदासजी के शिष्य कृष्णदासजी (नवम) हरिदासी-संप्रदाय में कृष्णदास द्वितीय के नाम से विख्यात हैं। प्रथम कृष्णदास बीठलविपुलदेवजी के शिष्य थे, जिनकी प्रशंसा श्री बिहारिनदेवजी ने भी की है।

इनका जीवन-परिचय कहीं भी प्राप्त नहीं है जबकि इनके द्वारा लिखित 'गुरुमंगल' नाम की रचना अष्टाचार्यों की वाणी में बड़े आदर के साथ संकलित की गई है। इनका कविताकाल सं० १६४०–५० के आसपास माना जा सकता है। समाज-गान से पूर्व इनका गुरु-मंगल अवश्य ही गाया जाता है। बड़े 'गुरु-मंगल' नाम से प्रसिद्ध इस रचना के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१)

प्रथम जथामति श्री गुरु-चरन लड़ाइहौं।
उदित मुदित अनुराग प्रेम-गुन गाइहौं।
गौर-स्याम सुखरासि तिन्हैं दुलराइहौं।
देहु सुमति बलि जाउँ आनंद बढ़ाइहौं।
आनन्द-सिन्धु बढ़ाइ छिन-छिन
प्रेम प्रसादहिं पाइहौं।
जै श्रीवर बिहारिनिदासि कृपा तैं
हरषि मंगल गाइहौं॥

(२)

जैं-जैं श्री हरिदास रसिक-कुल मंडना।
अनन्य नृपति श्री स्वामी सकल भै-खंडना।
रसिक-कमल-कुल-भान (सु) प्रगट उदै कियौ।
भ्रम, तम, स्रम सब नासि सबनि कौं सुख दियौ।
दै सबनि सुख अति कृपा करि
प्रगट बिहार सुनाइयौ।
जैं-जै श्री हरिदास रसिक मन भाइयौ॥

(३)

जानि बिहार गुपत अति भूतल प्रगट कियौ।
कीरति जस विस्तार सु रस रसिकनि दियौ
निरनै करि जस गाय तौ परहित बपु धर्यौ।
धंनि-धंनि सब कहैं रसिक अनन्य सु वर बर्यौ।
बर बर्यो धंनि-धंनि कहि-कहि छिन-छिन
प्रति दुलरावहीं।
जैं-जै श्री हरिदास वांछित फल पावहीं॥

(४)

जैं-जै श्री वृन्दावन सहज सुहावनौ।
नित्यविहार अधार सदा मन भावनौ।
परम सुभग श्री जमुना-पुलिन मंजुल जहाँ।
बिमल कमल-कुल हंस सकल कूजित तहाँ।
बिमल कमल कुल हंस कूजित सेवत
खग-मृग सुख भरे।
मुदित वन नव मोर निर्तत
राजत अति रुचि सों खरे॥

(५)

मंदिर नवल निकुञ्ज मदन सेवत रहैं।
मनि-मुक्ता-फल फलित सोभा गुन को कहैं।
श्री कुंजबिहारी बिहारिनि अति सै राजहीं।
नित्तकिसोर सहज रति सुखमय भ्राजहीं।
नित्तकिसोर सहज सदा रति
गौर-स्याम तन सोहहीं।
कंचन तन घन-दामिनि रतिपति
देखत छबि मन मोहहीं॥

छा० बि० गो०

कृष्णदास अधिकारी

कृष्णदास अधिकारी का जन्म गुजरात में राजनगर (अहमदाबाद) मण्डल के चिलोतरा नामक एक गाँव में हुआ था। सांप्रदायिक ग्रन्थों में कृष्णदास का

गुजराती होना नहीं लिखा है और न इनके जन्म-स्थान का ही उल्लेख हुआ है। हरिरायजी की भावप्रकाश-वाली ८४ वार्ता से ज्ञात होता है कि कृष्णदास अधिकारी का जन्म 'कुनबी' (पटेल) कुल में हुआ था। 'कुनबी' पिछड़ी हुई जाति है, क्योंकि वार्त्ता में कई स्थानों पर कृष्णदास को शूद्र कहा गया है। श्री वल्लभाचार्यजी तथा गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अपने सम्प्रदाय में सभी जाति के लोगों को शरण दी थी। उस समय वल्लभ-शरण में आनेवाले अनेक पिछड़ी जाति के लोगों ने भी अपनी भक्ति और योग्यता से वह स्थान पाया था जो उच्चकुल के ब्राह्मणों के लिए भी उस प्रकार की साधना बिना कठिन था। द्विजाति के बड़े प्रतिष्ठित लोग भी इन भक्तों के समक्ष नतमस्तक रहते थे।

कृष्णदास के पिता यद्यपि पिछड़ी जाति के थे, परन्तु अपने गाँव में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। वे उसके मुखिया थे। गाँव के हाकिम होने पर भी वे एक धन-लोलुप व्यक्ति थे और असत्य आचरण से धनोपार्जन करते थे। जब कृष्णदास की आयु बारह-तेरह वर्ष की थी, उसी समय इनके गाँव चिलोतरा में एक बनजारा आया। उसने वहाँ १४ हजार रुपये का व्यापार किया। जब उन रुपयों को लेकर वह रात्रि को सोया तो कृष्णदास के पिता के भेद से चोरों ने उसका सब द्रव्य चुरा लिया जिसमें से १३ हजार रुपये कृष्णदास के बाप ने लिये। कृष्णदास एक सत्यभाषी बालक था। उसने भेद खोल दिया और राजनगर के राजा के सामने पिता के विरुद्ध गवाही दे दी। इस पर इनके पिता मुखिया के पद से हटा दिये गये। वार्ता में लिखा है कि पिता के असत्य आचरण से कृष्णदास को घर से छोटी अवस्था में ही निकल जाना पड़ा। घर से निकलकर ये कुछ दिन तीर्थों में पर्यटन करते रहे। फिर श्री वल्लभाचार्यजी की शरण में आये। इन्होंने अपना विवाह नहीं किया।

कृष्णदास की शिक्षा इनके बाल्यकाल में गाँव में ही और गुजराती भाषा के माध्यम से हुई होगी, क्योंकि ये श्रीनाथजी के मन्दिर के अधिकारी होने के बाद वहाँ का हिसाब गुजराती में ही लिखते थे। साधु-संगति में इनकी विशेष रुचि थी। इसलिए लौकिक शिक्षा के अतिरिक्त उपदेशात्मक शिक्षा इन्हें बाल्यकाल में साधु-महात्माओं की संगति से ही मिली। पिता से यह शिक्षा नहीं मिली, क्योंकि वे तो स्वयं एक असत्याचरणवाले व्यक्ति थे। वार्ता में लिखा है कि जब ये पाँच वर्ष के थे तभी जहाँ कथावार्ता होती, वहाँ जाते थे, यद्यपि इनके माता-पिता इन्हें बहुत रोकते थे। वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के बाद तो इन्होंने पर्याप्त योग्यता का सम्पादन कर लिया था। इससे ब्रजभाषा के ये इतने बड़े पण्डित हो गये थे कि भक्त नाभादास ने इनकी ब्रजभाषा की कविता को निर्दोष और पण्डितों द्वारा आदृत होना लिखा है। हिसाब-किताब में ये बहुत कुशल थे। इसीलिए वल्लभाचार्यजी ने इन्हें मन्दिर का अधिकारी बनाया था। इनकी व्यावहारिक शिक्षा भी बढ़ी-चढ़ी थी। वार्ता में लिखा है कि गोस्वामी विट्ठलनाथजी इनकी व्यावहारिक बुद्धि की प्रशंसा किया करते थे।

धन और पद छिन जाने के बाद पिता ने इनसे कहा था—"तू वा जन्म को फकीर है तासों तैंने हमको हू फकीर कियो है। अब तेरे मन में कहा है। तू घर ते कहूँ दूर चल्योजा, न तोकों देखेंगे, न दुःख होयगो।" यह सुनकर कृष्णदास पिता को नमस्कार कर घर से चल दिये। उस समय इनकी आयु तेरह वर्ष की थी। इन्होंने सोचा कि ब्रज के सब तीर्थों में जाना चाहिए। कुछ दिन पर्यटन के बाद ये मथुरा और फिर वहाँ से गोवर्द्धन गये। इन्होंने सुना था कि गोवर्द्धन पर 'देवदमन' का नया मन्दिर बना है और दो-चार दिन में वे उस मन्दिर में प्रवेश करेंगे। कृष्णदास देवदमन-दर्शन की लालसा से ही गोवर्द्धन आये थे। इन्होंने सर्वप्रथम गोवर्द्धननाथ के दर्शन किये। दर्शनमात्र से इनका मन भगवान् के स्वरूप में जा लगा। उसी समय ये श्री वल्लभाचार्यजी से मिले। रुद्रकुण्ड पर स्नान करने के बाद इन्होंने आचार्य से 'नाम' लिया। उन्हीं दिनों वल्लभाचार्यजी ने गोवर्द्धन-

नाथजी के नये मन्दिर में सेवा का मण्डान किया था और बंगाली ब्राह्मणों को सेवा में लगाया था। कृष्णदासजी की व्यावहारिक तथा कुशाग्र बुद्धि से आचार्यजी बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने इनको भेंटिया का कार्य सौंपा। कृष्णदास 'भेंट' उगाहने के लिए परदेश जाते थे और जो भेंट मिलती उसे श्रीनाथजी के बंगाली सेवकों को लाकर दे देते थे। भेंटिया का कार्य इन्होंने बड़ी कुशलता के साथ किया। कुछ समय बाद वल्लभाचार्यजी ने श्रीनाथजी (गोवर्द्धननाथ) के मन्दिर का अधिकार इन्हें सौंप दिया। उस कार्य को भी इन्होंने बड़ी योग्यता के साथ सम्पन्न किया। कदाचित् उस समय ये गान-विद्या और काव्य-रचना में प्रवीण नहीं थे। इसीलिए आचार्यजी ने इनको कीर्तन का कार्य नहीं सौंपा था। भेंटिया का कार्य करने के समय में इन्होंने साम्प्रदायिक सिद्धान्त तथा सेवा का ज्ञान प्राप्त कर लिया और सूरदास जैसे परम-भक्तों के संसर्ग से गान और काव्य की कला भी सीख लीं। मन्दिर में अधिकारी का कार्य करने के साथ-साथ कृष्णदास भगवान् की भक्ति भी करते थे। उसी भक्ति के आवेश में इन्होंने समय-समय पर कृष्ण की लीलाओं का वर्णन पदों में किया। आचार्यजो ने भगवान् की तीन प्रकार की सेवाएँ—मनजा, धनजा और तनजा, बताई हैं। उनमें से कृष्णदास ने श्रीनाथजी की तनजा सेवा अधिक की।

कृष्णदास के साम्प्रदायिक जीवन में कुछ ऐसी भी घटनायें हुई थीं, जो एक ओर तो नइके व्यावहारिक कौशल, बुद्धिमत्ता, सिद्धान्त की दृढ़ता और परोपकारिता का प्रकाशन करती हैं वहीं दूसरी ओर इनके चरित्र की गरिमा तथा पुनीतता पर प्रश्न चिन्ह लगाती हैं। इन घटनाओं में एक, श्रीनाथजी की सेवा से बंगाली सेवकों का इनके द्वारा निकाला जाना है। बंगालियों के निकालने में कृष्णदास ने बड़ी चालाकी और कठोरता से काम लिया था। इस घटना से जहाँ एक ओर इनका कार्य-कौशल, कूटनीतिज्ञता और व्यवहार-कौशल प्रकट होता है, वहीं दूसरी ओर प्रपंचग्रस्त होने के कारण ये एक उच्चकोटि के भक्त के पद से कुछ नीचे भी उतर जाते हैं।

उक्त घटना के बाद विट्ठलनाथजी ने कृष्णदास को सर्वाधिकार सौंप दिया। सर्वाधिकार का दुशाला उढ़ाते हुए उन्होंने कहा—"कृष्णदास, तुमने बड़ी सेवा करी है, तासों अब सगरो अधिकार श्री गोवर्द्धननाथजी को तुम ही करो, हम हू चूकें तो कहियो, जो कोई बात को संकोच मत राखियो, जो सगरे सेवक टहलुअन के ऊपर तिहरो हुकम और ही कहा है।" आगे एक स्थान पर वार्ताकार कहता है—"और सगरे सेवकन के ऊपर कृष्णदास अधिकारी को मुखिया किये, सो जो काम होय सो पूछनो। सो श्री गुसाईंजी तो सेवा-शृंगार करि जायँ और काहू सो कछू कहे नाहीं। कोई बात कोई सेवक श्री गुसाइंजी सों पूछें तब श्री गुसाइंजी आप कहें जो कृष्णदास अधिकारी के पास जावो जो हम जानें नाहीं।" एक बार आगरे के बाजार में कृष्णदास एक मुग्धा वेश्या पर मोहित हो गये। इन्होंने सोचा कि इसे श्री गोवर्द्धननाथजी के पास ले चलें। रात्रि को उन्होंने उस वेश्या को अपने ठहरने के स्थान पर १०० रुपया देकर बुलाया और उसका गाना सुना। दूसरे दिन उस वेश्या को वे अपने साथ गोवर्द्धन ले गये। वहाँ श्रीनाथजी के समक्ष नाचते-नाचते वह परलोक को चली गई। वार्ताकार का कहना है कि उसको श्री गोवर्द्धननाथजी ने स्वयं अंगीकार कर लिया। इस घटना पर श्री हरिरायजी ने 'भावप्रकाश' में शंका उठाई है—"कृष्णदासजी आचार्य महाप्रभुजी का कृपापात्र सेवक जो सदैव ठाकुरजी पर मोहित रहनेवाला प्राणी, जिनको अप्सरा-देवांगना भी तुच्छ मालूम होती हैं, एक वेश्या पर क्यों मोहित हो गया, कृष्णदास तो परम ज्ञानवान् थे।" आगे हरिरायजी स्वयं इस सन्देह का समाधान करते हुए कहते हैं - "कृष्णदास ने जो किया उसकी देखादेखी जो करेगा सो बहिर्मुख होगा। वास्तव में वह वेश्या एक शापित दैवी आत्मा थी। प्रभु की प्रेरणा से कृष्णदास उस पर मोहित हुए और उन्होंने उसे श्री गोवर्द्धनधर की सेवा में समर्पित

किया।" इस घटना से सम्बद्ध कृष्णदास का कार्य साम्प्रदायिक दृष्टि से परोपकारपूर्ण कहा गया है, परन्तु लोक-दृष्टि से, वेश्या को अपने पास बुलाने में, इन्द्रियलोलुपता का भाव प्रतीत होता है।

कृष्णदास की एक क्षत्राणी गंगाबाई से बहुत मित्रता थी। वार्ताकार का कहना है—"कृष्णदास के संग ते गंगा क्षत्राणी को मन अलौकिक भयो।" एक बार भोग की सामग्री पर गंगाबाई की दृष्टि पड़ गई, इसलिए श्रीनाथजी के लिए गुसाईंजी को भोग की सामग्री दुबारा बनवानी पड़ी। इससे अनुमान होता है कि गंगाबाई को गुसाईंजी अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। इस पर कृष्णदास ने श्री गुसाईंजी पर एक व्यंग्य वाक्य कहा। किसी वैष्णव ने गुसाईंजी से कहा—"महाराज, आज प्रसाद बहुत बना है।" कृष्णदास ने कहा, "जो आपुही करन हारे आपु ही आरोगन हारे, सो क्यों न स्वाद होय।" इस पर गोस्वामीजी ने गंगाबाई और कृष्णदास के सम्बन्ध पर व्यंग्य कसते हुए कहा, "जो तिहारो ही कियो भोग भोगत हैं।" हरिरायजी ने वार्ता के इस स्थल पर टिप्पणी दी है—"सो यह कहि के दोऊ बात जताये, जो गंगाबाई क्षत्राणी सों प्रीति करि वाको बैठारि राखे, सो वाकी राजभोग की सामग्री पै दृष्टि परी सो यह तिहारो कार्य है और तुमने लीला में श्री स्वामिनीजी सों श्राप दिवायो सो तिहारो कार्य है सो तिहारे ही किये भोग भोगत हैं।" गोस्वामीजी की यह बात कृष्णदास के मन में चुभ गई।

कृष्णदास के गंगाबाई से प्रेम करने में किसी अलौकिक प्रेरणा को लेकर उस प्रेम को पवित्र रूप दिया जा सकता है। परन्तु जब पाठक गुसाईंजी के व्यंग्य वाक्य पर हरिरायजी की टीका पढ़ता है—"सो प्रीति करि वाको बैठारि राखे", तो उसे कृष्णदास के चरित्र पर सन्देह होने लगता है। इस घटना के फलस्वरूप एक और घटना भी हुई। कृष्णदास गुसाईंजी के वाक्य से चिढ़ गये। इन्होंने गुसाईंजी से बदला लिया। इन्होंने अपने अधिकार से मन्दिर में गुसाईंजी के बड़े भाई के पुत्र श्री पुरुषोत्तमजी को सेवा-शृङ्गार का अधिकारी बना दिया। गोस्वामी विट्ठलनाथजी परासौली में रहकर श्रीनाथजी के वियोग में दिन बिताने लगे। इस प्रकार छः महीने व्यतीत हो गये। इसी समय बीरबल गोकुल आये। उन्होंने गुसाईंजी के बड़े पुत्र श्री गिरिधरजी से गुसाईंजी के विषय में पूछा। गिरधरजी ने गुसाईंजी की सेवा बन्द होने का सम्पूर्ण वृत्तान्त बीरबल को कह सुनाया। इस पर बीरबल ने कुपित होकर आगरे में कृष्णदास को बन्दीखाने में डलवा दिया। जब गोस्वामी विट्ठलनाथ को ज्ञात हुआ कि उनके कारण बीरबल ने कृष्णदास को बन्दीखाने में डाल दिया है तो उन्होंने प्रण किया कि जब तक कृष्णदास छूटकर नहीं आ जायगा तब तक अन्न-जल ग्रहण न करूँगा। बीरबल गुसाईंजी का बहुत आदर करते थे। उन्हें जब यह बात ज्ञात हुई तब उन्होंने कृष्णदास को गुसाईंजी की कृपालुता और इनकी (कृष्णदास की) क्षुद्रता का बोध कराकर छोड़ दिया। इस घटना से कृष्णदास के अधिकार-प्रभुत्व का मिथ्या अहंकार प्रकट होता है। इसके बाद ये गुसाईंजी में अनन्य भक्ति-भाव रखने लगे। इन्होंने तब गुसाईंजी की स्तुति और प्रशंसा में अनेक पद गाये।

कृष्णदास के जीवन की एक और महत्त्वपूर्ण घटना है। किसी वैष्णव ने श्रीनाथजी का कुआँ बनवाने के लिए कृष्णदास को ३०० रु० दिये थे। उन रुपयों में से सौ रुपये कृष्णदास ने छिपा लिये और दो सौ रुपये से कुआँ बनवाया। एक दिन ये अधूरे कुएँ को देखने गये। वहाँ इनका पैर फिसल गया और उसी कुएँ में गिर गये। लोगों ने इनको निकालने का प्रयत्न किया, परन्तु इनका शरीर लोगों को नहीं मिला। वार्ताकार का कहना है कि ये फिर प्रेत बन गये। प्रेतरूप में ही इन्होंने एक दिन गोपीनाथ ग्वाल से कहा कि अमुक जगह सौ रुपये गड़े हैं। उन्हें लेकर गुसाईंजी अधूरे कुएँ को बनवा दें तो मेरी प्रेत-योनि छूट जाए। गोस्वामीजी ने ऐसा ही किया और फिर कृष्णदास का उन्होंने श्राद्ध किया। इस प्रसंग से भी कृष्णदास के चरित्र की निर्बलता प्रकट होती है।

वार्ता से ज्ञात होता है कि कृष्णदास बाल्यकाल से ही एक विरक्त साधक थे। इनकी बाल्यकालीन सत्यप्रियता का परिचय राजा के सामने अपने पिता का अपराध प्रकट करने से मिलता है। उस समय इन्हें धन-वैभव की लालसा न थी। पिता की हाकिमी छूटने पर इन्होंने कहा था—''पिता, तैंने ऐसो बुरो कर्म कियो हतो जो येहू लोक जातो और परलोकहू बिगरतो, जो जीव तो बच्यो।……जो हाकिमी होती तो और पाप कमावते।'' अधिकार-लिप्सा और अहंकार का जो त्याग इनके आरम्भिक जीवन में मिलता है वह इनके 'अधिकारी' जीवन में नहीं मिलता।

कृष्णदास सिद्धान्त के पक्के थे। एक बार भेंटिया की हैसियत से ये विदेश गये। द्वारका से लौटते समय ये मीराबाई के गाँव में उनके घर गये। वहाँ अन्य कई वैष्णव बैठे थे। कृष्णदास जब चलने लगे तब मीराबाई ने इनसे ठहरने को कहा और वे ११ मोहर इनको भेंट में देने लगीं। कृष्णदास ने मोहरों को फेरते हुए कहा कि ''हम न तो अन्यमार्गीय के यहाँ ठहरते हैं और न अन्यमार्गीय से भेंट लेते हैं।'' इसी प्रकार एक बार ये वृन्दावन गये। वहाँ इनको ज्वर आ गया और बड़ी जोर की प्यास लगी। वृन्दावन के वैष्णवों ने इनको जल दिया, परन्तु इन्होंने अन्यमार्गीय वैष्णवों का जल नहीं ग्रहण किया। एक वैष्णव ने कहा—''यहाँ पुष्टिमार्गीय एक भंगी तो है।'' कृष्णदास ने उस भंगी से जल मँगाया, परन्तु अन्यमार्गीय ब्राह्मणों का जल स्वीकार नहीं किया। इन दोनों प्रसंगों से कृष्णदास के दृढ़ सिद्धान्त-सेवी होने का भाव प्रकट होता है। साथ ही यह भी विदित होता है कि स्वमार्ग में ये छुआछूत का विचार नहीं रखते थे।

पीछे कहा जा चुका है कि ये बड़े व्यवहारकुशल और युक्ति-प्रवीण थे। यद्यपि इनके बाल्यकाल के जीवन से पूर्ण विषय-विरक्ति प्रकट होती है किन्तु श्रीनाथजी के मन्दिर के अधिकारवाले जीवन में इनके मन की शृङ्गारिक वृत्ति का वैषयिक स्वरूप वेश्या तथा गंगाबाई के प्रसंगों से स्पष्ट झलकता है। कृष्णदास की रचनाओं से भी इनके मन की रसिकता प्रकट होती है। लेखक ने इनके जितने पदों (लगभग ८००) का अध्ययन किया है वे प्रायः सब शृङ्गार के ही हैं, जिनमें राधाकृष्ण की निकुञ्ज-केलि का वर्णन है। अधिकारी-पद पर काम करते-करते कुछ समय के लिए इनका अहंकार भी प्रबल हो गया था, जिसके कारण गोसाइँ विट्ठलनाथजी श्रीनाथजी के दर्शनों से छः महीने तक वंचित रहे। गोस्वामीजी स्वयं कृष्णदास के इस अहंकार-विकार से परिचित थे। कृष्णदास की मृत्यु के बाद जब किसीको अधिकार देने का प्रश्न रामदास ने उठाया तब गोसाइंजी ने कहा—''हम कौनसे जीव को कहें, जो कौनसे जीव को बिगार करें, सुधारनो तो बहुत कठिन है और बिगारनो तो तत्काल है। तासों श्री गोवर्द्धनधर को अधिकार हम कौन को देयँ।'' श्रीनाथजी के कुआँ बनाने से सम्बद्ध प्रसंग से इनके अन्तिम काल तक विद्यमान मन की तामसी वृत्ति का भान होता है। इनके कुएँ में गिरने का दुःखपूर्ण समाचार सुनकर गोसाइंजी के समक्ष एक वैष्णव ने कहा था—'तामसानां अधोगतिः' (तामस प्रकृतिवालों की अधोगति होती है)।

चरित्र-सम्बन्धी उपर्युक्त अल्प छिद्र होते हुए भी कृष्णदास अधिकारी एक महान् कवि और श्रीनाथजी के अनन्य सेवक थे। श्रीकृष्ण की कुञ्ज-लीला के इनके पद भाव और भाषा, दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं। कृष्णदासजी की जिस प्रशासनिक योग्यता का पीछे उल्लेख हुआ है उसको तथा उनके काव्य की सराहना गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी श्रीमुख से स्वयं किया करते थे। कृष्णदास की मृत्यु के बाद आचार्यजी ने वैष्णवों से कहा—''कृष्णदास रासादिक कीर्तन ऐसे किये जो कोई दूसरे सों न होय और श्री आचार्यजी के सेवक होय के सेवा हू ऐसी करी जो दूसरे सों न बनेगी और श्रीनाथजी को अधिकार हू ऐसो कियो, जो दूसरे सों न होयगो।''

वार्ता में कई स्थलों पर इनकी पद रचना के विषय में लिखा है कि इन्होंने बहुत कीर्तन गाये और ये नित्य

नये पद बनाकर श्री गोवर्द्धननाथजी को सुनाते थे। कृष्णदासजी की अधिकार-सेवा और काव्य की प्रशंसा भक्त नाभादासजी ने भी मुक्त-कण्ठ से इन शब्दों में की है—**"श्री बल्लभगुरु-दत्त भजन-सागर, गुन-आगर। कवित दोख निर्दोष नाथ-सेवा में नागर।"** पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त-पक्ष के ये इतने ज्ञाता थे कि बहुत से वैष्णव इनसे मार्ग की रीति पूछने इनके पास आते थे। एक बार कुम्भनदासजी कुछ वैष्णवों को साथ लेकर इनके पास गये और कहा—"कृष्णदास, जो सगरे वैष्णवन को मन पुष्टिमारग को रीति सुनिवे को है, सो कहा कहिये, कहा सुमिरन करिये। सो ऐसे पुष्टिमारग को अनुभव होय सो कृपा करिके सुनावो।" कृष्णदास ने विनम्र भाव से उत्तर दिया—"कुम्भनदासजी, तुम बड़े हो, तिहारे आगे मैं कहा कहूँ, तुम सों कछू छपानी नाहीं है।" फिर कुम्भनदासजी के आग्रह से कृष्णदास ने निम्नलिखित दो कीर्तन गाये और उनसे सब वैष्णवों का सन्देह दूर कर दिया। **"कृष्णं श्रीकृष्णंशरणं मम उच्चरे"**, तथा **"कृष्ण मन माँहि गति जानिये।"** कृष्णदास एक सुन्दर व्यक्ति थे। वार्ता में एक स्थान पर लिखा है कि कृष्णदास की आकृति बड़ी तेजस्विनी थी।

पीछे कहा गया है कि कृष्णदासजी की मृत्यु पूँछरी के पास कुएँ में गिरकर हुई। इनकी जीवनी के आधार-भूत ग्रन्थों में इनके जन्म, वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रवेश और गोलोकवास की तिथियाँ नहीं मिलतीं; परन्तु श्री यदुनाथकृत 'वल्लभदिग्विजय', तथा 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के कुछ प्रसंगों, किंवदन्तियों तथा कवि के पदों के आधार पर उक्त तिथियों का अनुमान लगाया जा सकता है।

हरिरायजी के भावप्रकाशवाली ८४ वार्ता का यह उल्लेख "कृष्णदास १३ वर्ष की आयु में घर से निकल गये थे" पीछे किया गया है। कुछ दिनों के पर्यटन के बाद ये सीधे ब्रज में आये और यहाँ आकर गोवर्द्धन पर श्री वल्लभाचार्यजी के शिष्य हो गये। उस समय श्रीनाथजी का नया मन्दिर बना था और उसमें श्रीनाथजी का प्रवेश होनेवाला था। मन्दिर सं० १५५६ में बनना आरम्भ हुआ। कुछ समय बाद पूर्णमल खत्री ने द्रव्य के अभाव के कारण इस मन्दिर को अपूर्ण ही छोड़ दिया; परन्तु श्री वल्लभाचार्यजी ने सं० १५६६ की वैशाख शुक्ल ३ (अक्षय तृतीया) के दिन श्रीनाथजी को नये मन्दिर में प्रविष्ट करा दिया। इसलिए कृष्णदास इसी समय अर्थात् संवत् १५६६ में अक्षय-तृतीया के दो-चार दिन पहले आचार्यजी की शरण में आये होंगे। 'वल्लभ-दिग्विजय' से भी इस बात की पुष्टि होती है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि सूरदास को शरण में लेने के बाद ही, एक-दो दिन के अन्तर से, आचार्यजी ने कृष्णदास को शरण में लिया था। उस समय, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कृष्णदास लगभग १३ वर्ष के थे। सम्भव है, पर्यटन में उन्हें चार-छः महीने लगे हों। सं० १५६६ में से १३½ वर्ष निकालने से सं० १५५२ वि० के लगभग का समय इनके जन्म का आता है।

कृष्णदासजी ने गुसाईं विट्ठलनाथजी के सातों पुत्रों की बधाई गाई है। इससे सिद्ध होता है कि ये सातवें पुत्र घनश्यामजी के जन्म-समय, अर्थात् संवत् १६२८, तक जीवित थे। इन बधाई के पदों में से निम्नलिखित पद के लिखे जाते समय घनश्यामजी की आयु तीन वर्ष की अवश्य रही होगी। इस हिसाब से संवत् १६३१ तक इनका जीवित रहना सिद्ध होता है। उक्त बधाई इस प्रकार है—

धमार (राग गौरी)

श्रीबल्लभ कुल मंडन प्रगट श्री विट्ठलनाथ।
जे जन चरन न सेवत तिनके जनम अकाथ॥
भक्ति-भागवत सेवा निसदिन करत आनन्द।
मोहन लीला सागर नागर आनन्दकन्द॥
सदा समीप विराजे श्रीगिरधर गोविन्द।
मानिनी मोद बढ़ावें निज जन के रवि चन्द॥
श्रीबालकृष्ण मन रंजन खंजन अम्बुज नैन।
मानिनी मान छुड़ावें बंक कटाक्षन सैन॥
श्रीबल्लभ जग वल्लभ करुणानिधि रघुनाथ।
और कहाँ लगि बरनों जगबन्दन यदुनाथ॥

श्रीघनश्याम बाल बल अविचल केलि कलोल।
कुञ्चित केश कमल मुख जानो मधुपन के टोल॥

जो यह चरित बखाने श्रवन सुने मन लाय।
तिनके भक्ति जु बाढ़े आनन्द द्योस विहाय॥

श्रवन सुनत सुख उपजत गावत परम हुलास।
चरण कमल रज पावन बलिहारी कृष्णदास॥

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' तथा श्री नाथद्वारा में प्रचलित परम्परा से ज्ञात होता है कि कृष्णदास अधिकारी की मृत्यु के बाद गुसाइंजी ने चाँपाभाई गुजराती को श्रीनाथजी का अधिकार सौंपा था। चाँपाभाई अधिकारी बनने से पहले गोस्वामी विट्ठलनाथ की प्रदेश-यात्राओं में भण्डारी रहा करते थे। श्री गुसाइंजी ने गुजरात की कई यात्राएँ की थीं। इन यात्राओं में प्रथम यात्रा व्रज से सम्वत् १६३१ में और दूसरी व्रज से ही सं० १६३८ में हुई। चाँपाभाई गोस्वामीजी की सं० १६३१ वि० की गुजरात-यात्रा में उनके साथ उपस्थित थे। यह बात गोस्वामीजी की यात्राओं के वर्णन से ज्ञात होती है। उनकी दूसरी यात्रा में जो उन्होंने सं० १६३८ में की, चाँपाभाई के साथ जाने का उल्लेख नहीं मिलता। अनुमान से वे उस समय श्रीनाथजी के अधिकारी के पद पर थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि कृष्णदास का गोलोकवास १७वीं शताब्दी के चौथे दशक में हुआ। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में चाँपाभाई के वृत्तान्त में लिखा है कि जब चाँपाभाई अधिकारी थे, उस समय गुसाइंजी ने गुजरात की यात्रा की। शीतकाल था। राजा वीरबल ने गोस्वामीजी को शीतकाल में विदेश जाने से रोका था। लेखक के विचार से गुसाइंजीकी यह यात्रा सं० १६३८ विक्रमी की गुजरात-यात्रा थी। इस समय चाँपाभाई को अधिकार ग्रहण किये हुए साल-दो साल हो गये होंगे। इसलिए, अनुमानतः कृष्णदास का निधन सं० १६३२ से सं० १६३८ के बीच हुआ।

श्री हरिराय-कृत 'भावप्रकाश' वाली वार्ता में इनके लीलात्मक स्वरूप के बारे में लिखा है कि ये दिन की गोचारण-लीला में ऋषभ सखा और रात्रि की कुञ्ज-लीला में ललिता सखी हैं।

कृष्णदास अधिकारी की रचनाएँ

कृष्णदास अधिकारी के नाम से निम्नलिखित रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे सभी प्रामाणिक नहीं हैं। इसी क्रम से श्रेणीविभाजन कर नीचे उनका विवरण दिया जा रहा है—

(अ) प्रामाणिक रचनाएँ—वल्लभ-सम्प्रदायी केन्द्रों में हस्तलिखित तथा छपे कीर्तनरूप में पाए जानेवाले पद-संग्रह।

(आ) संदिग्ध रचनाएँ—भ्रमरगीत, प्रेम-सत्त्व-निरूप, वैष्णववन्दन।

(इ) लंबे पद अथवा पदसंग्रह के ही नामांतरवाली रचनाएँ जो स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं कही जा सकतीं—प्रेम-रस-रास, कृष्णदास की बानी।

(ई) अप्रामाणिक रचनाएँ—जुगल-मान-चरित्र, भक्तमाल-टीका, भागवत-भाषानुवाद।

इनकी भक्तिभावना के व्यंजक कुछ पद नीचे दिये जा रहे हैं—

(१)

कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नंदसुवन के संगम सुखवर
अधिक विराजति गोपी॥
करत विधाता गिरिधर पिय हित
सुरत-धुजा सुख रोपी।
वदन कांति कै सुनि री भामिनि
सघनचंद श्री लोपी॥
प्राननाथ के चित चोरन को
भौंह भुजंगिनि कोपी।
'कृष्णदास' स्वामी बस कीने
प्रेम पुञ्ज की चोपी॥

(२)

मृग ज्यों मृगमद तिलकु माथे ऊपर
कछुक जंभात अधर मसिकारे ।
श्रमजल भरे कपोल मंडल बर
सेंदुर रंग राते मोह अनियारे ॥

अभरन बसन पलटि पहिरे अंग
नूपुर कुनित चरण सोहैं भारे ।
सुनि कृष्णदास रसिक गिरिधर पाए
अब तन तें न करिहैं न्यारे ॥

(३)

एरी कान्ह बुलावत चलो मृगनैंनीए
राधा व्रज भामिनी ।
सुनि मन मुगधि बिफल जात हे
रितु कुसुमाकर जामिनी ॥

कामरतन अरु नागर तूं अनुरूपा कामिनी ।
ले मिलि भेंट उर स्थल को फल
राजहंस गजगामिनी ॥
कृष्णदास स्वामी गिरधर पिय
तू जगती की स्वामिनी ॥

(४)

खेलत बसन्त वर विट्ठलेश राय ।
निज सेवक सुख देखत आय ॥

श्री गिरधर, राजा बुलाय ।
श्री गोविन्दराय पिचकारी लाय ॥

श्री बालकृष्ण छवि कही न जाय ।
श्री गोकुलनाथ लीला दिखाय ॥

रघुनाथ लाल अरगजा लाय ।
श्री जदुनाथ चोबा मँगाय ॥

घनश्याम धाय फेंटत भराय ।
सब बालक खेलत एक दाय ॥

सब अपने मनोरथ करत आय ।
तहाँ कृष्णदास बलिहार जाय ॥

कृष्णदास कायस्थ

कृष्णदासजो जाति के सक्सेना कायस्थ और रामपुर जनपद के शमसाबाद गाँव के निवासी थे।

इनकी एक रचना 'रासपंचाध्यायी' की खंडित प्रति प्राप्त हुई है जिसमें इन्होंने अपना परिचय निम्नलिखित शब्दों में दिया है—

'कृष्णदास' मम नाम, हरिजन चरन सरोज रज ।
रहत रामपुर ग्राम, शमशाबाद प्रसिद्ध जो ॥
करी कृपा पूंछी वरन, बरनि सुनावों तोहिं ।
सकसेन्यो कायस्थ कुल, जान दूसरो मोहिं ॥

इसके अतिरिक्त इनके विषय में अन्य कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। 'रासपंचाध्यायी' में इन्होंने कृष्ण की रासलीला का चित्रण किया है। इससे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

(१)

हरिजन हरिहर सुमिरन करहू ।
हरि चरनारविन्द उर धरहू ॥
कोटि जगत जप तप विधि नाना ।
अमित जोग व्रत संजम नाना ॥
प्राग आदिक तीरथ पुनि जेते ।
नाम तुल्य होइ सकें न तेते ॥
वन को अनल तिमिर को भानू ।
त्यों अघ को हरिनाम प्रधानू ॥
मूल मंतर हरिनाम जानो ।
मोछ दुआर कुंजी पहचानो ॥
है हरिनाम पाप को अरनी ।
मोह नदी कहँ सुन्दर तरनी ॥
सुखदायक कलि कालिख भंजन ।
है हरिनाम विस्व-मनरंजन ॥
जग धंधा तजि धंध बिचारो ।
हर उसास हरिनाम सम्हारो ॥

(२)

हरिनाम हरिजन हर उसासन मुखाद पट हर भाखहू ।
अघहरन हरि चरनारविन्दन मन मधुप करि राखहू ॥

हरिनाम ब्रह्मा अपार न पार मुनि जन लहिं सके।
सारद सुरेस गनेस महेस न तासु महिमा कहि सके ॥

(३)

श्री जमुन गिरिधरन कूदेउ
नट ज्यौं उघरि किलकारिके।
गजमत्त मनहुँ तड़ाग बिच धँसि
बैठ जलज बिदारिके ॥
ब्रज बाम सुन्दर स्यामधन पर
अंजुली भरि डारहीं।
बरषत छठा घन तन मनो
सुखरासि हरषि विचारहीं ॥
यक भजै यक पाछे परायन
नाहिं कोउ यक पग टरैं।
यक उछरिती भ्रमरूप छवि
हिय हरषि बर अंकम भरैं ॥
जलबुंद छिरकहिं गज मनोहरि
बिथुरि मुख पर मन हरैं।
ससि निसु नखत धरि अमित बपु
गति हंस मनु ढूंढ़त फिरैं ॥

कृ० चं० ला०
वा० सिं०

कृष्णदास छीपा

राजस्थान के मुसलमान कृष्ण-भक्त रचनाकारों में कृष्णदास छीपा का विशिष्ट स्थान है। ये तोला छीपा के पुत्र थे। इनका जन्म जालोर से ४२ किलोमीटर दूर स्थित रासींण ग्राम में वि० सं० १८७५ की भाद्र कृष्णा अष्टमी को हुआ था। कृष्ण जन्माष्टमी के दिन पैदा होने के कारण इनका नाम किसन (कृष्ण) रखा गया। इनकी शिक्षा जीवनदास और कमलदास नामक भक्तों के सान्निध्य में हुई। संस्कृत, डिंगल, पिंगल, छन्द, अलंकार तथा धर्म-दर्शन के अध्ययन ने कृष्णदास के आध्यात्मिक विचारों को पुष्टता प्रदान की। पारम्परिक रँगाई, छपाई तथा सिलाई के व्यवसाय के प्रति उदासीनता तथा आध्यात्मिक तत्त्वान्वेषण के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ रही अनन्यता ने इन्हें अन्तर्मुखी बना दिया। इनका विवाह पन्द्रह वर्ष की आयु में हुआ था। उससे एक पुत्र हुआ, जिसका नाम इन्होंने प्रभुदास रखा।

कृष्णदास छीपा के बढ़ते भक्ति-प्रभाव को कतिपय संकीर्ण प्रवृत्ति के हिन्दू सहन नहीं कर पाए। उन्होंने स्थानीय जागीरदार ठाकुर नवलसिंह को बहकाकर, कृष्णदास को गाँव से निष्कासित करवा दिया। इस घटना को कृष्णदास ने ईश्वर का प्रसाद मानकर, सहजभाव से स्वीकार करते हुए कहा—

चिंता करसी सोय, जिण रचना एती रची।
हाथी सूंड न होय, कि जल पीवै कसनिया ॥

गाँव के भक्त-हृदय लोगों ने इनसे वहीं रहने का आग्रह किया। परन्तु इन्होंने अधर्म और अन्याय के समक्ष नतमस्तक होना स्वीकार नहीं किया। इनका विचार था कि जिस स्थान पर दया, धर्म न हो और भक्तों का अपमान किया जाता हो, वहाँ पर रहना नरक-यातना से भी अधिक कष्टकारक होता है। इन्होंने ग्राम के सज्जन-वृत्तिवाले लोगों को धैर्य बँधाते हुए कहा—

जिण गाँव दया-ध्रम-दान नहीं,
निज नाम नहीं गिरधारिन को।
भक्त साधुजना हित सेव नहीं,
जठे नेम खरो परनारिन को ॥
अप्रीत-अबूझ-अग्यान बसै,
अरु वेद को वाक्य लबारिन को।
लाख सलाम करो क्रसना,
तज दे इन गाँव गँवारिन को ॥

कृष्णदास के गाँव से प्रस्थान करते ही वहाँ अप्रत्याशित आपदाओं का ताँता लग गया। इनके अनुयायियों तथा प्रशंसकों के अनुरोध पर ठाकुर ने भक्त कृष्णदास को पुनः रामसींण ग्राम में स्थायी रूप से निवास करने के लिए आमंत्रित किया। वि० सं० १९२५ में ग्राम में भीषण अकाल पड़ा और देखते ही देखते विध्वंस की विभीषिका नर-नारियों, पशु-पक्षियों के जीवन के साथ ताण्डव करने लगी। भक्त कृष्णदास

से अकाल-पीड़ितों की यह दुर्दशा देखी नहीं गई। मन्दिर में जाकर इन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण से इस संकट से उबारने की प्रार्थना की—

माँगता नांहीं कछू मनमोहन,
ताकत हूँ शरणागत तेरौ ।
प्राण रखौ तो रखौ प्रभुजी,
लाज रखो न तो पिंजर लेरौ ॥
चूक पड़ी तो हूँ लघु चाकर,
गोविन्द आपको तोल घणेरौ ।
सन्त अनन्त की सहाय करो,
हरि मोहन यों पकरो कर मेरौ ॥

इन्होंने संस्कृत, डिंगल, गुजराती और ब्रजभाषा में सुन्दर भक्ति-काव्य रचा है। इनकी रचनाओं में उर्दू शब्दों का समावेश दिखाई देता है। कृष्णदास छीपा की कृतिओं में मुक्तामणि, विवेकसागर, गुरुमहिमा, प्रेम-पुकार, करुणाष्टक, अद्वैतप्रकाश, जसतिलक, नरहरिलीला, श्रीबोधजानकी, लंकाकाण्ड और जानकीमंगल प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त स्तुतियाँ, गीत, गणपत्रिका, मंजरी, हनुमान्‌जी रौ अष्टक, विष्णुपत्रिका, आपेश्वर-भीमेश्वर, सारणेश्वर-स्तोत्र आदि रचनाएँ भी भक्त-समाज में बहुत सराही जाती हैं।

अपनी भक्ति-रचनाओं में कृष्णदास छीपा ने आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत्, माया, मोह, गुरु, मोक्ष आदि दार्शनिक विषयों को सरल-सुबोध रूप में प्रस्तुत किया है। भाव, भाषा और कला की दृष्टि से इनकी रचनाएँ उत्तम हैं। उनमें मीरा की तड़प, रसखान की मिठास, नरसी मेहता की आस्था, तुलसीदास का दास्यभाव, केशवदास की कलात्मकता, सन्त कबीर की स्पष्टता और रैदास की लघुता का अद्‌भुत समन्वय दिखाई देता है। छन्दों की छटा, अलंकारों की झड़ी और गीतों की लयात्मकता ने भक्त-हृदय के उद्‌गारों को चित्ताकर्षक बना दिया है। एक नमूना देखिए—

कानूड़ा कपटी जो आवड़ा केम थया ।
छल करने छेतरिया है श्याम जो ॥
अतरा रै दिवस मैं नथी जांणता ।
जोया मैं तो धूतारा ना ढंग जो ॥
पानीड़ा पिये नै घर नब बूजिये ।
अजाणपण में कीधा मैं एना संग जो ॥

इनका निधन वि० सं० १९५५ में हुआ था।

ज० सिं० परि०

कृष्णदास जाड़ा

कृष्णदास जाड़ा का विस्तृत जीवन-परिचय सुलभ नहीं है। काँकरौली के सरस्वती भाण्डार में इनके द्वारा रचित 'विदुभदेश' नामक रचना प्राप्त हुई है। 'विदुभ' विदर्भ का तद्‌भव रूप है। इसमें कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है। यह सर्वविदित है कि रुक्मिणी विदर्भ देश के राजा भीष्म की पुत्री थी। ग्रन्थ के अन्त में 'जनकृष्ण' तथा 'जाड़ा' नामों का उल्लेख मिलता है। इनका समय १७वीं शताब्दी है। ग्रन्थ का आरम्भ इन पंक्तियों से हुआ है—

विदुभ देस कुंदनपुर नगरी ।
भीषम नृपति जाके नवनिध सगरी ॥
पाँच पुत्र जाके कन्या एक रुक्मिणी ।
तीनों लोक तरुण सिररंगिनी ॥
रंगिनी ते त्रिभुवन तरुन लायक,
सहस्र ब्रह्मा पचि रची ।
रंग मूरत रमा सरवर,
एकहु अंग नाहिन बची ॥
युगल खोर सुलच्छन ललना,
भनत पिंगल पारखू ।
सोले से आभूषण अंग बिराजे,
दिन-दिन कोउ सवा लखू ॥

• • •

चोरी चढ़े हे गोपाल मुरारी ।
बेठी दक्षिण रुक्मिणी नारी ॥
लीनो हथलेवो सकुँवारी ।
दुलह दुलहनी सुन्दर भारी ॥
जहाँ परनत कृष्ण नरेशा ।
आये ब्रह्मा इन्द्र महेसा ॥

आये सुक सनकादिक सेसा।
आये नारद मुनी उपदेसा॥
आये छप्पन कोटि तेतीसा।
आये गौरी पुत्र गनेशा॥

वा० सिं०

कृष्णदास पयहारी

स्वामी रामानन्द के प्रशिष्य तथा अनन्तानन्दजी के शिष्य, जयपुर की गलता-गादी (गालवाश्रम) के संस्थापक तथा रसिक रामभक्ति-शाखा के प्रवर्तक अग्रदास़जी के गुरु, प्रसिद्ध योगमार्गी राम भक्त श्री कृष्णदासजी पयहारी से पृथक् वृन्दावनवासी कृष्णदास पयहारी नाम के एक महात्मा का वृत्त 'वृन्दावन प्रकाशमाला' में मिलता है। वह इस प्रकार है—

(१)

आगें बाम दिसि ग्राम राजपुर अभिराम,
इत देवीसिंह जू कौ बाग सरसात है।
तहाँ सब ठाढ़े ह्वै पुकारि कहैं राधे-राधे,
उत प्रतिधुनि सुनि हियौ हरषात है॥
भीतर सघन द्रुम लागत सुहाये छाये,
हरी भूमि लखि हिय लोचन सिरात है।
मध्य पैहारी कृष्णदास जू विराजैं मन,
तिनके दरस ही कौं सदा तरसात हैं॥

(२)

कठिन रहनि तिनकी सी कौन रहि सकै,
दसैं दिन दूध लेत तन अति छीन है।
क्षुधा औ पिपासा नहीं जिनकौं करत बाधा,
निसि दिन मन प्रिया-प्रीतम में लीन है॥
वृन्दावन वासिन में हित उमड़्यौ ही परै,
सबन सों कर जोरैं रहत अधीन हैं।
जिनकौ सुभाव एक रस ही रहत जब,
देखौ तब प्रीति चित नित ही नवीन है॥

(३)

भक्ति-रसामृत-सिन्धु नित ही श्रवन करैं,
नन्दराम कहैं आइ कथा रस पीजिये।
कबहूँ भगत प्यारौ आवत समाज लै कै,
बानी रस सानी सुनि प्रेम रंग भीजिये॥
गात पुलकात अश्रुपात चले जात तन,
सुधि भूलि जात यौं छकाय तिन्हैं दीजिये।
सुधि भये कहत उदार तुम बड़े हम,
जाचक तुम्हारे यही कृपा नित कीजिये॥

—वृन्दावन प्रकाशमाला

इनके लौकिक जीवन के सम्बन्ध में सभी बातें अज्ञात हैं। 'वृन्दावन प्रकाशमाला' के उक्त वर्णन से केवल इतना विदित होता है कि ये वृन्दावन-परिक्रमा मार्ग पर रहते थे। उसके एक ओर राजपुर ग्राम और दूसरी ओर देवीसिंहजी का बाग था। वृन्दाविपिन-विलासी रसिक युगल श्री श्यामा-श्याम की ललित लीलाओं के चिन्तन में इनका मन कुछ ऐसा रम गया था कि इन्हें अपने खाने-पीने की भी सुधि नहीं रहती थी। वस्तुतः इनके जीवन का संबल प्रिया-प्रीतम की नवनवायमान लीलाओं से निष्पन्न रूप का दर्शन बन गया था। फलतः भूख और प्यास इनके भजन-मार्ग की अवरोधक नहीं रह गई थीं। ये प्राकृत शरीर में रहते हुए भी उससे ऊपर उठ गये थे। इस अद्भुत एवं विकट रहनी के कारण इनका भौतिक शरीर अत्यन्त कृश हो गया था किन्तु इनकी भावदेह सम्पुष्ट एवं बलिष्ठ थी। पाँचभौतिक शरीर के संचालनार्थ ये दसवें दिन मात्र थोड़ा-सा दूध ले लेते थे। परिक्रमा करते हुए वृन्दावनवासी रसिकजन जब इनके निकट से 'राधे-राधे' कहते हुए गुजरते तो ये आनन्दातिरेक से फूल उठते, नत-मस्तक होकर एवं हाथ जोड़कर उनका अभिवादन करते और उनसे कृपा करने की याचना करते थे।

वृन्दावनवासियों के प्रति अटूट श्रद्धा एवं उनके प्रति निष्कैतव अनुराग पयहारीजी के स्वभाव का एक अंग बन गया था। इनकी यह प्रीति-रीति सदा नवीन बनी रहती थी।

स्वामी नन्दराम, जो गोस्वामी कुंजलालजी के शिष्य थे, नित्य ही इन्हें श्री हित लाड़िलीलाल की रसमयी केलिकथाओं को सुनाने आया करते थे।

कभी-कभी प्यारो भगत भी पूरे साज-समाज के साथ इनके पास आया करते और तब रसिकों की वाणियों के समाज-गान का सुन्दर आयोजन हुआ करता था। पयहारीजी रसमयी कथा और रससाने वाणी-गान को सुनकर प्रेम-विह्वल हो जाया करते थे। इनके शरीर में पुलक, कम्प, प्रस्वेद, अश्रुपात आदि अष्ट सात्त्विक-भाव उदय हो आते और ये रसोन्माद में छके हुए अपनी सुधि-बुधि खो बैठते थे। जब इन्हें होश आता तो कहने लगते—"भैया! तुम बड़े उदार हो, अतः हम तुमसे येही भीख माँगे हैं कै तुम ऐसी कृपा हम पै नित ही बनाये राखौ।"

इनका उपस्थिति-काल वि० सं० १७५० से १८५० के मध्य माना जाता है।

श्या० बि० खं०

कृष्णदास बाबा

संसार में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो किसी विशेष ईश्वरीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही जन्म लेते हैं और अपना समस्त जीवन उसीमें लगा देते हैं। बाबा कृष्णदासजी ऐसे ही संत थे। इन्होंने कृष्णभक्ति-साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था की थी। ये किशोरावस्था में उदर-रोग से अत्यधिक पीड़ित रहते थे। इनका पेट प्रायः फूला रहता था, शरीर अत्यधिक कृश था; किन्तु पढ़ने-लिखने की अभिरुचि प्रारम्भ से ही थी। अतः ये पुस्तकों के संग्रह में लगे रहते थे। किन्तु तब एक विद्यार्थी जैसे ही थे।

नवद्वीप के सुप्रसिद्ध महात्मा श्री हरिदासजी एक बार ब्रज तथा जयपुर पधारे थे। ये उनके व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनको आदर्श मानकर साहित्य-साधना में दत्तचित्त हो गए। बाबा जब कुसुम सरोवर पर रहते थे, तभी इन्होंने ग्रन्थ-प्रकाशन का शुभारम्भ किया था। यह तो निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि कौनसा ग्रन्थ पहले प्रकाशित हुआ, किन्तु संवत् २००१–३ के लगभग 'माधुरी-वाणी', 'मोहिनी-वाणी', 'सुहृद्-वाणी' आदि का मुद्रण हो चुका था। तब बाबा कृष्णदासजी की साहित्य में पर्याप्त पैठ न थी। अतः उस समय इन्होंने सर्वप्रथम प्रकाशित संस्कृत-ग्रन्थ 'प्रेम-सम्पुट' तथा 'गोवर्धनशतक' का हिन्दी अनुवाद पं० हरिकृष्ण कमलेशजी से कराया था।

आरंभ में ये टीका करने तथा भूमिका लिखने में झिझकते थे। तब इन्हें बंगला के अतिरिक्त संस्कृत तथा हिन्दी का अपेक्षित ज्ञान भी न था। किन्तु बाद में अपने अध्ययन एवं अध्यवसाय के द्वारा ये चैतन्य-साहित्य के विशिष्ट विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

पं० हरिकृष्ण कमलेश का ये शुरू से ही अत्यधिक आदर करते थे। ये संस्कृत-ग्रन्थों तथा बंगला-काव्यों का उनसे अनुवाद कराते थे। 'प्रेम-सम्पुट' तथा 'गोवर्धनशतक' के अलावा 'चैतन्य-चन्द्रोदय', प्रेमानन्दकृत 'मनःशिक्षा' (दोनों अप्रकाशित) तथा 'हंसदूत' (प्रकाशित) का कृष्णदासजी के आग्रह पर ही कमलेशजी ने अनुवाद किया था।

कुसुम सरोवर पर रहकर बाबा कृष्णदासजी ने अनेक दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन किया और कुसुम सरोवरवाले बाबा के नाम से प्रसिद्ध हो गए। बाद में प्रेस आदि की सुविधा न होने के कारण तथा श्री उद्धारणदासजी के स्वर्गवास हो जाने से ये मथुरा चले गये और वृन्दावन दरवाजे के कृष्णगंगा नामक स्थान पर गौराङ्ग-कुञ्ज के सामने ऊपर की जीर्ण कोठरी में रहने लगे। बाबा प्रायः ८-१० घण्टे एक आसन से बैठकर जीर्ण-शीर्ण प्राचीन पोथियों की प्रतिलिपि करते रहते थे।

ये सादगी-प्रिय महात्मा थे। इनके नागरी अक्षर बहुत ही सुन्दर बंग-लिपि के अनुकरण पर होते थे। रूखी-सूखी रोटी इनका भोजन था। प्रारम्भ से ही पर्याप्त चावल न मिलने से तथा मधुकरी के टुकड़े खाने से और जलवायु अनुकूल न होने कारण इनका उदर-रोग बढ़ता ही गया। लम्बी बैठक भी रोगवृद्धि में सहायक हुई। अतः पं० हरिकृष्ण कमलेश के पास डींग जाकर चिकित्सा कराने लगे। ये प्रायः मूली का अर्क सेवन करते थे। डींग की प्रसिद्ध कुटी का पानी इन्हें बहुत अनुकूल था, पर इनके सिर पर साहित्य-साधना

का भूत सवार था, अतः कुछ समय के विश्राम के बाद लौट आते थे और दिनोंदिन दूने उत्साह से कार्यरत हो जाते थे। आरम्भ में २-४ वस्त्र तथा कुछ पुस्तकें ही इनका सर्वस्व थीं। बाद में पुस्तक-संग्रह एवं प्रकाशन के अनुराग ने इन्हें परिग्रही तथा अत्यंत व्यस्त बना दिया। यद्यपि बीच-बीच में इनकी साहित्य-साधना अवरुद्ध हुई, पर ज्योंही स्वास्थ्य कुछ ठीक होता कार्य में जुट जाते थे। इस तरह ये जीवनभर एक निःस्पृह साधक की भाँति प्राचीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य का उद्धार करते रहे।

सम्भवतः १९६३ ई० में कुसुम सरोवरवाले ग्वालियर-मन्दिर के ट्रस्टियों के अनुरोध पर बाबा ने मन्दिर के महन्त का कार्यभार स्वीकार किया और वहीं रहने लगे। तब इन्होंने यहीं गौरहरि प्रेस लगाया तथा अधिकांश पुस्तकों को ला जुटाया। यहाँ रहकर इन्होंने कुछ पुस्तकों का प्रकाशन भी किया। ये पुस्तक-कीट थे, साहित्य-रसिक थे, निःस्पृह साधक थे, साहित्य-सेवी संत थे। इनमें न तो मठाधीशों जैसी जोड़-तोड़ की प्रवृत्ति थी, न ठाट-बाट तथा चमक-दमक, खाने पिलाने और भोग-राग आदि में अभिरुचि। अतः इनका 'साधु' महन्त के ढाँचे में न ढल पाया। इन्हें कुछ समय बाद ही कुसुम सरोवर छोड़ना पड़ा। तब बड़ी उलझन में पड़ गए। अन्त में प्रेस एवं पुस्तकें ले जाकर वृन्दावन (सम्भवतः गौराङ्ग-कुञ्ज में) तथा अन्यत्र छोड़ीं और कुछ दिन मथुरा में लाल दरवाजे के पास यमुना-किनारे रहे। बाद में चार-धाम-आश्रम (वृन्दावन) के पास बायीं ओर स्थित कोठरी में रहने लगे। यहाँ ये प्रायः बीमार रहे। फिर इन्हें यहीं एक स्वच्छ कमरा मन्दिर के पीछे मिल गया। यहाँ मानसिक तनाव, बदपरहेजी एवं खान-पान की अव्यवस्था के कारण भयंकर रूप से बीमार पड़े और रमण रेती की गौर-कुंज में मरणासन्न स्थिति में रहे। इस बीमारी ने इनको जर्जरित कर दिया। कुछ दिनों बाद स्वस्थ होने पर पुनः कार्य में जुट गए।

बाबा स्वभाव से बहुत भोले थे। ये चैतन्य-मत के महात्माओं की तरह आजीवन ब्रज-संस्कृति, ब्रज-साहित्य एवं चैतन्य-वाङ्मय के उद्धार में लगे रहे। इन्होंने ब्रज के विशिष्ट स्थानों तथा पर्वत-नदी, तालाबों की रक्षा के लिए ही प्रयत्न नहीं किये, अपितु अकेले होने पर भी एक संस्था से भी अधिक निष्ठा, शक्ति एवं सक्रियता के साथ प्राचीन बंगीय एवं चैतन्य-साहित्य के प्रकाशन के कार्य को सम्पन्न किया और उसे बहुत ही कम मूल्य (न्योछावर) पर सुलभ कराया। इनको यदाकदा सरकार, सेठ हरगुलाल, डालमियाजी आदि ने प्रकाशनार्थ सहायता दी। इन्होंने उस पैसे का यथासम्भव व्यक्तिगत उपयोग नहीं किया।

बाबा का उद्देश्य था कि प्राचीन ग्रन्थों को सानुवाद देवनागरी लिपि में सुलभ करायें। एक बार इन्होंने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था कि "मेरा उद्देश्य व्यापार करना नहीं है, न मैं चमक-दमक से छपाना चाहता हूँ। मैं तो चाहता हूँ कि जो प्राचीन साहित्य लुप्त होने जा रहा है, उसका नागरी लिपि में उद्धार हो जाए। यदि उनकी प्रकाशित (सादे तथा पुराने ढर्रे में छपी) एक भी प्रति किसी गुणज्ञ के हाथ पड़ जाएगी तो ग्रन्थ लुप्त होने से बच जाएगा और मेरा श्रम सफल हो जाएगा।" वास्तव में बाबा को भजन करते हुए कभी नहीं देखा गया। साहित्य-साधना ही इनकी अध्यात्म-साधना थी। अतः यह साहित्यिक सन्त थे। निस्वार्थ साहित्य-सेवा के कारण ये चैतन्य-मत के विशिष्ट विद्वान् के रूप में समादृत थे। ब्रज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री प्रभुदयाल मीतल, डॉ० कृष्णदत्त बाजपेयी, राधेश्याम द्विवेदी, रासविहारी गोस्वामी, बनमालीजी, बन महाराज, वृन्दावनदासजी आदि तथा ब्रज के बाहर के अनेक विद्वानों और बंगाली भक्तों से इनकी आत्मीयता थी। आगरे के डॉ० व्यास आदि इनका बड़ा सम्मान करते थे। साहित्य-शोधकों तथा पण्डितों के लिए इनके ग्रन्थ सदैव उपलब्ध रहते थे। इनके पास अनेक शोधार्थी आते रहते थे। कासगंज के श्री नरेशचन्द्र बंसल, दिल्ली के डॉ० देवीशंकर अवस्थी, आगरे की डॉ० किरणकुमारी आदि शताधिक शोधकर्मियों को

इन्होंने सहायता दी थी एवं प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थ उपलब्ध कराये थे।

बाबा ने अपने जीवन-काल में लगभग ५० ब्रजभाषा के तथा ४० संस्कृत के ग्रन्थों का प्रकाशन किया। इतना कार्य एक संस्था भी क्या कर पाती? इनकी २-३ पुस्तकें प्रेस में चलती रहती थीं। इनकी एक अन्य योजना भी थी। उसके लिए मथुरा-वृन्दावन-मार्ग पर इन्होंने जमीन खरीदी थी। वहाँ प्रेस लगाने, पुस्तकों का विशाल संग्रह स्थापित करने तथा सुधी विद्वानों के आवास की व्यवस्था करने का विचार था। ये अपना अन्तिम समय वहीं व्यतीत करना चाहते थे। उसकी इन्होंने अपेक्षित व्यवस्था भी की थी, किन्तु यह योजना इनके जीवन में पूरी न हो सकी। कृष्ण-भक्ति के प्रसारक तथा साहित्य के उद्धारक संत-रूप में ये अमर रहेंगे।

रा० कृ० श०

कृष्णदास भण्डारी

कृष्णदासजी भण्डारी पंजाब के निवासी थे। इन्होंने वृन्दावन-रसोपासना की मंत्र-दीक्षा गो० रूपलालजी अधिकारी (विलास-वंश) से प्राप्त की थी। दीक्षित होने के पश्चात् ये श्री राधावल्लभलालजी के मन्दिर में ही निवास करने लगे। गुरुवर्य ने इनकी रुचि देखकर इन्हें श्रीजी की भण्डार-सेवा प्रदान कर दी थी जिसे ये पूरी निष्ठा से आजीवन करते रहे। फूल-श्रृंगार-सेवा में भी इनकी रुचि थी। अतः भण्डार-सेवा से अवकाश मिलने पर ये इस सेवा का भी लाभ उठाया करते थे। इनका विद्यमान-काल वि० सं० १९७५ से २०३५ के मध्य अनुमानित होता है।

श्या० बि० खं०

कृष्णदास भावुक

चाचा वृन्दावनदासजी ने कृष्णदास भावुक की प्रशस्ति में लिखा है—

श्री व्यास सुवन दिन जनम बरसि लगि रहैं
उमाहैं।
सर्वसु देत न हटैं मास माधव उत्साहैं॥
वर बानी रस सनी रसिक जन सुनि मति दहलैं।
हित विनोद वल्लभ प्रसाद लहि महल सुटहलैं॥
कहन रहन बाँकी सबै, रहैं जुगल रूप नित
दृग जकी।
अनुराग सहित दृढ़ भावना, श्री कृष्णदास अलि
रस छकी॥

—र० अ० प-२०२

कृष्णदासजी, गोस्वामी विनोदवल्लभ के शिष्य, परम अनुरागी और सुकवि थे। इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ प्राप्त नहीं है। किन्तु वर्षोत्सव-संग्रहों में इनके पद प्रायः प्रत्येक उत्सव में लगे मिलते हैं। सबसे अधिक रचनायें इन्होंने श्री हिताचार्य के जन्मोत्सव के सम्बन्ध में की हैं। महाप्रभु की जन्मस्थली बादग्राम में ये प्रतिवर्ष उनका जन्मोत्सव बहुत चाव से मनाते थे और अपने हृदयोल्लास को स्वरचित बधाइयों में अभिव्यक्ति देते थे। वहाँ इनकी भजन-कुटी आज भी विद्यमान है। वह उस वट-वृक्ष के नीचे ही स्थित है जहाँ महाप्रभु का प्राकट्य हुआ था। इन्होंने अपनी एक बधाई में लिखा है कि उस कुटी में ही इनको श्री हित-जी महाराज के प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे—

बजत नूपुर चरन धरत भूपर
लसत हँसत आवत बरस-गाँठ कीये।
बैठ गावत कृष्णदास को कुटी में
परत पंचम सरस सुरन लीये॥

इनका रचनाकाल सं० १७५० से सं० १८१३ के बीच माना जा सकता है। चाचा वृन्दावनदास कृत 'हरिकला-बेली' से मालूम होता है कि स० १८१३ में अहमदशाह अब्दाली के कुछ सिपाहियों ने श्री वृन्दावन में लूट की थी। उसमें घनानन्द आदि सात रसिक संतों के साथ ये भी मारे गये थे।

ये श्री हिताचार्य के तृतीय अवतार माने जानेवाले श्री रूपलाल गोस्वामी के समकालीन और उनके परिकरों में थे। उक्त गोस्वामीपाद के साथ इनका एक प्राचीन चित्र भी उपलब्ध है। इनकी वाणी के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

(१)

डोल झूलत राधिका नागरी ।
झुकत हिलोर झकोरन में उर लगत श्याम
बड़भाग री ॥
मधुर-मधुर मृदु बैनन नैनन चढ़त मैन रस
पाग री ।
बिबस विलोक भुजन भरि प्रीतम हरख ठरत
अनुराग री ॥
अंग अनंग उमंग सुरंगन झूलत खेलत फाग री ।
कृष्णदास हित निपट निकट ह्वै गावत गीत
सुहाग री ॥

(२)

निरख सखि सन्मुख मृदु मुसकात ।
मानहुँ रूप अनूप सरोवर अमल कमल विकसात ॥
विथकित नैनन पलकैं अलकैं अलि चलि अंत न
जात ।
कृष्णदास हित छवि की मधुरितु नव भायन
सरसात ॥

(३)

निरख सखि नीलाम्बर कौ छोर ।
झूम रह्यौ मनु वदन चन्द्र पर
अध घूंघट घन घोर ॥
हँसन लसन दसनन दामिनि दुति
बरसत सुख नहिं थोर ।
कृष्णदास हित रूप छटा में
नचत मोहन मन मोर ॥

श्री हिताचार्य के जन्म-सम्बन्धी श्री कृष्णदासजी द्वारा रचित छोटी-वड़ी लगभग इक्कीस-बाईस वधाइयाँ प्राप्त हैं। इनमें से केवल दो छोटी बधाइयाँ नीचे दी जा रही हैं। प्रथम बधाई में एक रूपक के द्वारा इन्होंने श्री हिताचार्य की वाणी के वर्ण्य विषय को वड़ी विदग्धता से अभिव्यक्ति दी है—

(४)

मधुरितु माधव मास सुहाई ।
भाग प्रकाश व्यासनन्दन मुख
फूल्यौ कमल अमल छवि छाई ।
श्रवत मधुर मकरन्द सुजस निज,
कुंज-केलि सौरभ सरसाई ।
सेवत रसिक अनन्य भ्रमर मन,
कृष्णदास सुख सार सदाई ॥

(५)

एरी यें मेरे मन की भई ।
फूली व्यासनन्द मुख चाँदिनो आनँद मूल जई ॥
सजल सुधा वृन्दावन धन छवि फूली फूल छई ।
फूली रहसि गहसि रस सानी बानी मोद मई ॥
सिगरे रसिक चकोर गनन-तन-मन की तपन गई ।
भीने प्रेमरंग रससागर बाढ़ी प्रीति नई ॥
फूले गुन उडुगन शोभा की उपमा कौन दई ।
कृष्णदास हित छिन-छिन उपजत सुख की सीर नई ॥

ल० च० गो०

कृष्णदास स्वामी

स्वामी कृष्णदास रसिकाचार्य हरिदासजी की परम्परा में श्री बीठलविपुलदेवजी के शिष्य थे।

श्री बिहारिनदेव इनका आदरपूर्वक उल्लेख करते हुए कहते हैं—

श्री कृष्णदास उपदेस कियौ,
हरिदास चरन-रज काज सँभारी ।

इससे यह प्रतीत होता है कि कृष्णदासजी बिहारिनदेवजी से बड़े थे और उन्होंने श्री बिहारिनदेवजी को उपदेश देकर उनमें श्री स्वामी हरिदासजी की भक्ति को दृढ़ किया था। नागरीदासजी आदि महानुभावों ने भी कृष्णदासजी का बड़े सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है।

'निजमतसिद्धान्त'कार ने लिखा है कि इन्द्रप्रस्थ-निवासी गौड़ ब्राह्मण श्री चतुर्भुज सन्तान के अभाव में बड़े चिन्तित रहते थे। एक दिन वे रसिक-शिरोमणि स्वामी हरिदासजी के दर्शन करने वृन्दावन आये। स्वामीजी ने उनकी उदासी का कारण जानकर उन्हें पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद दिया और यह भी कहा कि

युवा होने पर यह बालक हमारी शरण में आ जायगा। चतुर्भुजदासजी परम प्रसन्न हुए।

चतुर्भुजदासजी को यथासमय पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। उसका नाम कृष्णदास रखा गया। कृष्णदास बचपन से ही हरिभक्त थे। २१ वर्ष तक ये घर पर रहे, तदुपरात विरक्त होकर स्वामी हरिदासजी की शरण में वृन्दावन आ गये। स्वामीजी ने इन्हें आदेश दिया कि बीठलविपुलदेवजी से दीक्षा प्राप्त करो।

कृष्णदासजी बीठलविपुलदेवजी के प्रथम शिष्य थे। उनके द्वितीय शिष्य थे श्री बिहारिनदेवजी। अपने बड़े गुरुभाई के प्रति श्री बिहारिनदेव की बड़ी श्रद्धा थी, जिसका उल्लेख किया जा चुका है।

कृष्णदासजी एक उच्चकोटि के सन्त थे। इनका समय सं० १५८० से १६४० तक समझना चाहिए।

इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं होती।

श० बि० गो०

कृष्णदास हित

कृष्णदास हित राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी और गोस्वामी गोवर्द्धनलालजी के शिष्य थे। इनका समय १७वीं शताब्दी माना गया है। 'समयप्रबन्ध' इनकी प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त इनकी दो रचनाएँ और प्राप्त हुई हैं। उनके नाम हैं—'धमारि' और 'सिद्धान्त के पद'। 'धमारि' में होली के अवसर पर की गई श्रीकृष्ण की लीला का वर्णन है। दूसरी रचना में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का उल्लेख है। दोनों रचनाओं से एक-एक उदाहरण दिया जा रहा है -

(१)

खेलैं री रंग भीनी होरी।
ब्यास सुवन की सुन्दर जोरी॥
नीलांबर अंचल उर मोरैं।
झलमली किरनि किनारी कोरैं॥
मनहु बदन विधुमंडल जोर।
निरखि रहे पिय नयन चकोर॥
भरि लीनी सौंधें पिचकारी।
घात गहन मिस अनत निहारी॥
तितही नेकु निहुरि हरि निरख्यो।
फिरि मुठिकैं सुन्दरि मुख छिरक्यौ॥
मोहन मुठी गुलाल की डारी।
मनौं अपने अनुराग सिंगारी॥
सनमुख आवत भूलि साँवरौ।
मँडरावत मुख फूल झाँवरौ॥
नाचत कुँवर बजावत मुरली।
झुणु णु णु नूपुरधुन सुरली॥
रिझन-रिझन रिझवान परस्पर।
कृष्णदास हित रहत भुजन भर॥

—धमारि

(२)

प्रभु जू करैं सु सेवक मानैं।
अपमानौं ई लाभ हानि तकि,
मन मैं गुन अरु दोष न आनैं।
सुत दारा गृह धनरु वसन सब,
अपनो करि नहिं जानैं।
जो हित करत राधिकावल्लभ,
ताहि कहा पहिचानैं।
कबहूँ न करि हिय सोच पोच तजि,
जाके हाथ बिकानैं।
श्री कृष्णदास हित धरि विवेक चित,
निसिदिन जसहि बखानैं।

— सिद्धान्त के पद

वा० सिं०

कृष्णदेव

राधाकृष्ण के अनन्य सेवक कृष्णदेवजी का परिचय देते हुए 'भक्तगाथा' में कहा गया है—

परम पुरातन प्रीति रीति हित सौं दुलराये।
अंतरंग बहिरंग दिनहि दम्पतिहि लड़ाये॥
देखि दुखी कलि कुटिल गोप्य रस प्रगट प्रकास्यौ।
शरणागत जन जानि तिमिर जिन हियकौ नास्यौ॥
ऐसे त्रिभुवन सौं मिलन, भाग्य चाहिये भाल।
श्री कृष्णदेव के सेव्य नित, श्री राधामोहनलाल॥

ये गो० कृष्णचन्द्रवंशीय श्री सुखदेवजी के सुपुत्र थे। अपने कुलसेव्य श्री राधामोहनलालजी की सेवा में ही ये अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत किया करते थे। सेवा से अवकाश प्राप्त होने पर ये अंतरंग-भावना में निमग्न हो जाते थे। 'श्री हरिवंश जु रस कह्यौ बिरले समुझनहार'—ध्रुवदासजी की इस पंक्ति में जिस गोप्यरस का संकेत किया गया है उस पर आप ऐसा सारगर्भित और मार्मिक प्रवचन किया करते थे जिससे सर्वसाधारण, विद्वद्जन और रसिकजन सभी का हृदय परिपुष्ट होता था। आपने अपनी करुणामयी कृपा का दान देकर अनेक जीवों को हितधर्म का अनुयायी ही नहीं बनाया अपितु उन्हें रस-देश में ही पहुँचा दिया।

इनका आनुमानिक उपस्थिति-काल सं० १६७० से सं० १७४० तक स्थिर होता है।

श्या० वि० खं०

कृष्णलाल गोस्वामी

कृष्णलालजी का जन्म बूंदी के गजाधरलाल गोस्वामी के वंश में वि० सं० १८४० में हुआ था। ये महंत मोहनलाल गोस्वामी के पुत्र थे। बूंदी के महाराव विष्णुसिंह की रानी राठौड़जी के आग्रह पर इन्होंने 'भक्तमाल' की टीका लिखी थी, किन्तु वह अब प्राप्त नहीं है। उसके अतिरिक्त इन्होंने वि० सं० १८७२ में 'कृष्ण-विनोद' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा था जिसमें सानुप्रासिक भाषा और माधुर्यशैली में कृष्ण-लीलाश्रित नायिका-भेद वर्णित है। राधा-विरह का एक छन्द देखिए—

सूखि सफेद भई बिरहै जरि,
गंग सोई गति ऊरध दैनी।
अंग मलीन अंगार के धूम सी,
सो जमुना जग जाहर रैनी॥
....
ताहि समै भयो प्यारे को आवन,
सो अनुराग गिरा गति लैनी॥
....

ज० सिं० परि०

कृष्णादासी

कृष्णादासी वल्लभ-सम्प्रदाय की श्रेष्ठ कवयित्री थीं। इनका जन्म १५७१ विक्रम संवत् में हुआ था। ये गौड़ ब्राह्मण थीं। इनका घर का नाम कृष्णा था। पटना (बिहार) से दो कोस की दूरी पर स्थित एक गाँव में इनका जन्म हुआ था। ये जब पाँच वर्ष की थीं, तो माँ के साथ गंगा-स्नान के लिये गयी थीं। वर्षा ऋतु होने के कारण गंगा का प्रवाह तीव्र था। दैवयोग से किनारा टूट गया और कगार के साथ ही कृष्णा की माँ और कृष्णा दोनों ही गंगा की धारा में बह गईं। माता का तो जलधारा में गिरते ही प्राणांत हो गया परन्तु बालिका कृष्णा के हाथ में एक बहते हुए काठ की लकड़ी आ गई। कृष्णा बहते-बहते प्रयाग के समीप स्थित अरैल गाँव के निकट पहुँच गईं। वहाँ महाप्रभुजी सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे। ये उन्हें तट पर बैठे देखते ही रोने लगीं। कृष्णदास अधिकारी ने इस लड़की की बाँह पकड़कर निकाल लिया और इसे महाप्रभुजी के समीप ले आए। आचार्यजी ने उपचार करने के बाद इसे 'श्रीकृष्णः शरणं मम' अष्टाक्षर मंत्र का नाम-श्रवण कराया। तत्पश्चात् श्री ठाकुरजी का महाप्रसाद खिलाया और इनसे घर का पता पूछकर पटना भेज दिया।

जब ये दस वर्ष की हुईं तो इनके पिता श्री हरिवंश पाठक ने इनके विवाह के लिए वर ढूंढ़ना आरम्भ किया, परन्तु वे असमर्थ रहे और इन्हें गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पास अड़ैल जाकर छोड़ आए। गोसाईंजी की धर्मपत्नी श्री रुक्मिणी बहूजी की चाकरी में ये दिन-रात लगी रहती थीं। इन्होंने अपना पूरा जीवन गोसाईंजी की सेवा में व्यतीत कर दिया। इस बात का प्रमाण रूपाबाई द्वारा रचित प्रस्तुत पद में प्राप्त होता है—

संवत् सोलह सै ने चौबीस जी।
आषाढ़ बदी दौज नरूढ़ियों दिवस जी॥
दामोदरदास कृष्णादासी हरखे जी।
श्री वल्लभ-चरन बदन निरखे जी॥

भक्तहृदया कृष्णा पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों से पूरी तरह अवगत थीं। इसका एकमात्र कारण यह है कि ये निरन्तर गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी के सम्पर्क में रहीं और इन्होंने उनके मुखारविन्द से निकले भक्ति-सिद्धान्तों के गूढ़ रहस्यों का मनन और चिन्तन किया। इसीलिए इनके कीर्तनों में भक्ति की स्रोतस्विनी फूट पड़ी है। इनका पद-साहित्य स्वल्प एवं स्फुट होते हुए भी, समस्त कीर्तन पद महत्त्वपूर्ण हैं। इनका 'शरद निशा उजियारी' पद पुष्टिमार्ग में विशेष आदर के साथ गाया जाता है। इस पद को इन्होंने रुक्मिणी बहूजी के आदेशानुसार गाकर सुनाया था। इसका उल्लेख वार्ता-साहित्य में भीं हुआ है। ब्रज-साहित्य में 'कृष्णादासिनि' का इसलिए भी अधिक महत्त्व है कि ये समर्पिता महिला-भक्त हैं।

श्रीकृष्ण-लीला-सम्बन्धी प्रसंगों में भक्तिमती कृष्णा को इन्द्र के दर्पहरण की लीला का प्रसंग सर्वाधिक आकर्षक लगा था। भगवल्लीलाएँ स्वभावतः आनन्दकारी हैं लेकिन भक्तों के लिए वे परमानन्दकारी हैं। प्रस्तुत पद के अन्तर्गत देवेन्द्र-दर्पहारी श्री गोवर्द्धनधारी के प्रति भावभक्ति का सुन्दर भावोच्छलन देखा जा सकता है—

नमो देवेंन्द्र दर्पहर श्री मुरारी।
विदित अद्‌भुत चरित गिरिराज उद्धरण
गो गोप गोपीजन ताप हारी।
नमो नवल बाल विनोद अखिल गोधन
मोद वाम भुज बलि बार वृष्टि टारी॥
जुवती मुख पद्म मकरन्द लंपट मधुप
कमल लोचन कंज-माल धारी।
नमो सकल सौभाग्य निधि राधिका
प्रानपति घोष पति मुरलिका-रव-बिहारी॥
कृष्णादासिनि नाथ नन्दनन्दन कुँवर
मदन मोहन दुरित नासकारी॥

वसन्त ऋतु की पृष्ठभूमि में श्री राधा और कृष्ण की वृन्दावनीय लीलाएँ तो प्रायः बहुत से भक्त-कवियों ने चित्रित की हैं परन्तु पुष्टिमार्गीय भक्तकवि गोकुल की लीलाओं के प्रति विशेष समर्पित हैं। राधा और श्रीकृष्ण का परस्पर सहज आकर्षण और साहचर्य किस सहृदय को अपने अनुराग के कोमल तन्तु में न बाँध लेगा, फिर जिनके जुगलकिशोर ही इष्टदेव हों उनके चित्त में तो पता नहीं वे किस सीमा तक और कब तक कितने भाव जाग्रत करते रहेंगे, कहा नहीं जा सकता। इसी संदर्भ में कृष्णादासी की भावमग्न दशा में निःसृत एक हृदयहारी कीर्तन प्रस्तुत है—

खेलत बसन्त निस पिय संग जागी।
सखीबृंद गोकुल की सीमा
गिरिधर पिय पद रज अनुरागी॥
नवल निकुंज में गुंजत मधुप पिक
विविध सुगंध छींट तन लागी।
कृष्णादासी स्वामिनी जुवति जूथ
चूडामणि रिझवत प्रानपति
राधा बड़भागी॥

रा० कृ० श०

कृष्णानन्द

कृष्णानन्द श्रीकृष्णनाम-संकीर्तन के विलक्षण प्रेमी थे। ये वृन्दावन में वास करते थे तथा भक्तमाल के अच्छे वक्ता थे। इनका उपस्थिति-काल विक्रम की २०वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

म० गो० भा०

कृष्णानन्द व्यासदेव

कृष्णानन्द व्यासदेव महाकवीश्वर थे। इन्होंने सूरदास तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के पद एकत्र कर 'रागसागरोद्भव' (राग-कल्पद्रुम) नामक ग्रंथ बनाया। इसका वास्तविक नाम 'राग-कल्पद्रुम' है, पर शिवसिंहजी ने इसको 'रागसागरोद्भव' कहा तो यही नाम प्रचलित हो गया।

इनका जन्म सं० १८५१ के आसपास हुआ था। इन्होंने ३२ वर्षों तक देश के विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण कर गीतों तथा पदों का संकलन किया। सं० १९०६ में उनका प्रकाशन पूरा हुआ। दैवयोग से ये इसके चार भाग ही निकाल सके। जब ये मात्र पन्द्रह वर्ष के थे

तभी इन्हें 'रागसागर' की उपाधि मिल चुकी थी। ९४-९५ वर्ष की आयु में आपका सं० १९४५ के लगभग स्वर्गवास हुआ। आप गौड़ ब्राह्मण थे और हीरानन्द व्यासदेव के सुपुत्र थे।

ये अपनी कविता में 'कृष्णानन्द' या व्रज के गोस्वामियों से प्राप्त 'रागसागर' छाप रखते थे।

आपने वैसे तो सभी भक्तों की रचनाएँ संकलित कीं, पर विशेष बल वल्लभ-सम्प्रदाय के कृष्णभक्त कवियों के पदों के संकलन पर रहा। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये पुष्टिमार्गी भक्त थे। इनका एक पद द्रष्टव्य है—

निरधन के धन मेरे माधो।
बारंबार निरख सुख पावत, तजत नहीं पल आधो।
छन-छन परसत अङ्ग मिलावत प्रेम प्रीत गाँठ बाँधो॥
निस दिन चंद चकोर की छवि मिटत परस की साधो।
'कृष्णानन्द' प्रेमरस माते छूट्यो जगत को बाधो॥

—राग-कल्पद्रुम, भाग १ (छंद १२)

ह० नं० भा०

कृष्णाबाई

सुश्री कृष्णाबाई की जन्म तथा मृत्यु-तिथि के बारे कोई जानकारी नहीं मिलती। सरस्वती भण्डार, काँकरौली में इनकी एक रचना 'शरद-निसा' की हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। उसके खोजकर्ता ने इन्हें अडेल-निवासी तथा सं० १६०० से पूर्व विद्यमान होना लिखा है। 'शरद-निसा' में भगवान् श्रीकृष्ण की रासलीला का वर्णन किया गया है। इसके दो छंद प्रस्तुत हैं—

(१)

श्री वृन्दावन नवकुञ्ज में त्रिभुवनपति अति आनन्द।
वेन बजाइ विचित्र सुर तान मान गति छन्द॥
सुर नर पसु खग पवन तरु ब्रज-बनिता अकुलाय।
श्रवन सुनत आतुर चलीं सरद निसा परम सुहाय॥

(२)

एक कहैं ये गोपाल लला री।
जिन दुष्ट पूतना मारी॥
एक भेख मुकुंद को कीनो॥
जिन त्रिनावर्त हरि लीनो॥
एक भेख दामोदर धारी॥
जिन जमला-अर्जुन को तारी॥
प्रेम प्रीति हरि जानि के, आये तिनके पासि।
मुदित भईं सब मानिनी, गुन गावे कृष्णादासि॥

कृ० चं० ला०

केलिदास (प्रथम)

केलिदास की भक्ति-भावना के सम्बन्ध में 'भक्त-गाथा' में निम्नलिखित पद मिलता है—

केलिदास के हिय लसै, गुरु-ग्रन्थन की माल।
भली भाँति वनकी रहनि, कहनी वचन रसाल॥
भजन-भावना नित करैं, हित दम्पति उर आन॥
प्रगट भाल पर जगमगै, चाचाजी को पान।
भाव-चाव निज गुरू को, आज्ञा बितयौ काल।
अति अनन्य गुरुभक्ति में, आज्ञा बितयौ काल॥

इनका जन्म वृन्दावन के ही एक गरीब परिवार में हुआ था। इनके माता-पिता राधावल्लभ-सम्प्रदायानुयायी और गो० रूपलालजी के शिष्य थे। इनकी बाल्यावस्था में ही वे दोनों निकुंजगामी हो गये थे। निकुंज-गमन करते समय इनके पिता ने इन्हें गो० किशोरीलालजी को समर्पित कर दिया था। अतः इनका पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा गो० किशोरीलालजी के द्वारा ही हुई। वीतराग गुरुवर की छत्रछाया में पालित होने के कारण इनका मन संसार के प्रपंच में आसक्त नहीं हुआ और तरुणावस्था में ही इनके मन की रुझान श्रीहित-रसिकों और उनकी श्रीमुख-वाणी के पठन-श्रवण की ओर गयी। गुरुदेव इनकी इस रुचि से परम प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्हें चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी के संग में रहने और उनकी वाणी का लेखन करने की आज्ञा प्रदान की। वाणी और वर्ण्य का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। गुरुवर की आज्ञा का पालन, रसिकों की सेवा और वाणी को इष्टवत् मानने से इन्हें उनमें वर्णित ललित लीलाओं से निष्पन्न रूप भी स्फुरित होने लगा। वाणी-लेखन इनके प्राणों का संबल और

जीवनलक्ष्य बन गया। यही कारण है कि चाचा हित वृन्दावनदास वृन्दावन, कामवन, कृष्णगढ़, भरतपुर आदि स्थानों में जहाँ-जहाँ भी गये, केलिदास उनके साथ रहकर वाणियों की प्रतिलिपि करते रहे। इनकी गुरु-भक्ति और वाणी-लेखन-प्रियता की प्रशंसा स्वयं चाचाजी ने कई स्थलों पर की है। इनका विद्यमान-काल सं० १७९० से १८६५ तक अनुमान किया जाता है।

श्या० बि० खं०

केलिदास (द्वितीय)

'चतुर्थ-वसन्त-प्रबन्ध' में केलिदास (द्वितीय) के सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं—

श्री कुंजलाल गुरु कृपा कौन।
भये भृत्य सबै रस-भजन लीन॥
पुनि फागु खेल में अति प्रवीन।
दम्पति सुख मनु तिरत मीन॥
केलिदास नाम धर्‌यो गुरु सुराज।
दुलरावै बनरी पुनि बना जु॥
भावना-सिन्धु चढ़्यौ सुख-जहाज।
रमै फागु खेल तजि जगत लाज॥

ये गो० कुंजलाल के शिष्य थे। वैसे तो गोस्वामीजी के सभी शिष्य भजन-भावना-परायण तथा इष्ट की नित्य अष्टयाम-सेवा और नैमित्तिक ब्याहुला, होली, हितोत्सव आदि में निष्ठावान् रहे हैं किन्तु उन सबमें केलिदास का स्थान अन्यतम है। इनको एकान्त अधिक प्रिय था। गृह त्यागकर वृन्दावनवासी हो जाने पर भी ये रसिक संघट्ट में न रहकर प्रायः एकाकी रहकर दम्पति की मानसी सेवा-भावना में निमग्न रहते थे। इन्हें श्री हिताचार्य के परमोपास्य अद्वय-युगल का नित्यनव दूलह और नित्यनव दुलहिनी रूप अधिक प्रिय था। अतः ये आये दिन भावना-भावित ललित लीलाओं से सुसम्पन्न बनी-बना रूप का ही गान किया करते थे। रसानन्द के आकण्ठ भर जाने पर स्वभावतः वह उद्गार काव्य के रूप में व्यक्त होता था। श्री केलिदाम के मुख से अनेक बार ऐसे रसोद्गार पदों के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं—

नित्य व्याह श्री वृन्दावन नित दूलह-दुलहिन जोरो जू।
विविध विनोद बाँधि विधि राखे नवलकिशोर-किशोरी जू॥
कुंज द्वार मंडप सचि सखियन सनमुख जुगल बनाये जू।
हेम खंभ नग मणि खचि राखे लागत अतिहि सुहाये जू॥
रतन कलश कल कनक पत्रावलि तोरन-माल बनाई जू।
मोतिन झालर सुभग विराजत विशद अमित छवि छाई जू॥
विद्रुम भूमि सुदेश मनोहर मोतिन चौक पुराये जू।
सखी सुवासिन कोकिल अलिगन हरषि सुमंगल गाये जू॥
कनक पत्र कुमकुम रंग रंजित सखियन तहाँ धराये जू।
दूलह-दुलहिन विविध मंडल पै सुभग भाँति बैठाये जू॥
रीति भाँति हित की सब कीनी शरद हरद लै आई जू।
मधुरितु हित करि तेल चढ़ावनि फूली अंग न माई जू॥
चौक चारु विधि करत सबै मिलि भूषन बसन मँगाये जू।
कुँवरि समर्पि धरे सब भीतर दम्पति सखी न्हवाये जू॥
बसन अमोल बोलि भीतर तें अंगोछि सुरंग पहिराये जू।
लाल मनिनु में रँग मनु पचरँग ऐसी भाँति रँगाये जू॥
अनूप भाँति कान्ति तन औरै सिरी चढ़ी अति राजे जू।
उपमा देउँ न आइ तहाँ कोउ कोटि भान शशि लाजे जू॥
दें सुगंध करि कुसुम अलक गुहि मोतिन माँग सँवारी जू।
रतन जटित भूषन पहिरे सब बनी वृषभानु दुलारी जू॥
सुभग लिलाट पटल पर सोभित रोरी मरुवटि काढ़ी जू।
शील रूप गुन सहज सलजता नवल नेह छबि बाढ़ी जू॥
कंकन पानि मौर-मौरी सिर मेंहदी छबि कर पीके जू।
मदन बरात सजी इत दूलह रति आगौं लिये नीके जू॥

बैठे सुभग कुंज जनवासें ललक विविध पहिराये जू ।
भँवर भेरि नीसान पटह वर दादुर मोर बजाये जू ।।
वेदी पुलिन कुञ्ज चौरी करि लंपट गीतनि गावै जू ।
लगुन विरह द्विज साधि तहाँ पुनि प्रेम हरोरो द्यावै जू ।।
भाँवरि परत परस्पर छबि सौं नेह दाइजौ दीनो जू ।
हरषि रसिकवर मुदित सकल सुख नेग चार सब कीनौ जू ।।
बहु विधि भोग विलास सकल ज्यौंनारनि अति सुख पायौ जू ।
विविध विहार सौंज सचि दीनी पलिका चार सुहायौ जू ।।
अधर-सुधा-मधु दूधाभाती दुलहिन दूलह ज्यावैं जू ।
उलटि पटा गोनौ करि दीनौ महलनि सेज बिछावैं जू ।।
कनक कलस मधुमिव भरि राखे मादिक सौरभ बीरी जू ।
गाँठ जोरि दम्पति सखि ल्यावैं चलनि मधुर गति धीरी जू ।।
प्रवसित कुञ्ज सुखद सज्या पर निरखि प्रान सखि वारति जू ।
मुदित मोद भये अधिक हुलासनि तोरि-तोरि तृण डारति जू ।।
दिपत आरती करत लियें कर रसिक सिरोमनि नागर जू ।
प्रथम दशा लियें अति सुकुवारी पिय ललकि बढ़ी अति सागर जू ।।
चरन कमल परसत कोमल कर पादु बचन मुख बोलत जू ।
अलक लड़ी रति लाड़ लड़ावति पुलक दशा तन लोलत जू ।।
यह रस रीति समीति व्याहकी केलिदास मन भाई जू ।
व्याह-विनोद संग संतत रहौ सुखमय संझ्या गाई जू ।।

इनका उपस्थिति-काल संवत् १७१० से १८०० के मध्य सुस्थिर होता है ।

श्या० बि० खं०

केवलराम (प्रथम)

भक्त केवलरामजी की उत्कृष्ट भक्ति-भावना का परिचय देते हुए नाभादासजी लिखते हैं—

भक्त भागवत बिमुख जगतगुरु नाम न जानै ।
ऐसे लोक अनेक ऐंचि सनमारग आनै ।।
निर्मल रति निहकाम अजा तें सदा उदासी ।
तत्त्वदरसी तम हरन सील करुना की रासी ।।
तिलक दाम नवधा रतन, कृष्णकृपा करि दृढ़ दिये ।
केवलराम कलियुग के, पतित जीव पावन किये ।।

—भक्तमाल, छप्पय सं० १७३

प्रियादासजी ने इस छप्पय की टीका प्रस्तुत की है, वह इस प्रकार है—

घर घर जाय कहै यहै दान दीजै मोकों,
कृष्ण-सेवा कीजै नाम लीजै चित लायकै ।
देखे भेषधारी दस-बीस कहूँ अनाचारी,
दये प्रभु सेवनिकों रीति दी सिखायकै ।।
करुणानिधान कोऊ सुने नहीं कान कहूँ,
बैल के लगायौ सांटौ लोटे दया आयकै ।
उपट्यो प्रगट तन मन की सचाई अहो,
भए तदाकार कहाँ कैसे समझायकै ।।

उक्त छप्पय और कवित्त से केवलरामजी की भगवद्भक्ति, दया और करुणा भावना का यथार्थ परिचय मिल जाता है। 'श्रीकृष्ण की सेवा करो और चित्त लगाकर उनका नाम लिया करो, मुझे यही दान दो' यही इनका उपदेश एवं जीवनलक्ष्य था। इनके भक्त-जीवन से सम्बद्ध अनेक घटनाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि एक बार इनकी उपस्थिति में एक बनजारे ने अपने बैल को कोड़े मारे। स्वामीजी बेसुध होकर धरती पर गिर पड़े। लोगों ने दौड़कर उठाया। लोग यह देखकर चकित रह गये कि इनके शरीर पर साठ कोड़े की मार उभरी हुई है। जीव-दया का इनका यह अनुपम उदाहरण था।

केवलरामजी भक्त होने के साथ-साथ अच्छे कवि भी थे। इनके ग्रन्थ हैं—स्नेहसागर, ज्ञानदीपक, तथा रत्नसागर। इन्होंने श्रीकृष्ण की बाललीला, श्रृंगारलीला

और सिद्धान्त-सम्बन्धी बहुत से सरस पदों एवं दोहों की रचना की है। इनके अनेक रसीले दोहे 'उत्सव-मालिकादि' ग्रन्थों में संकलित हैं।

ह० नं० भा०

केवलराम (द्वितीय)

गो० तुलसीदास (लालजी) के उपरान्त वल्लभ-सम्प्रदाय की अष्टमपीठ में गो० केवलरामजी का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। ये लालजी के पौत्र तथा गो० मथुरानाथजी के पुत्र थे। इनका जन्म चैत्र शुक्ल एकादशी संवत् १६७४ को श्री रामनवमी उत्सव के उपरान्त हुआ था। इसीलिए आपका नाम 'केवलराम' रखा गया।

ये सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न भक्त-कवि थे। ये आज तक एक सिद्धपुरुष के रूप में माने और पूजे जाते हैं। भारत के तत्कालीन भक्तों में इनके महत्त्व का श्री नाभादास कृत भक्तमाल का छप्पय ४३ साक्ष्य देता है।

इनका विवाह रुक्मिणी नामक कन्या से हुआ था। इनके दो पुत्र गो० मदनमोहन तथा गो० जगन्नाथ उत्पन्न हुए। ये गृहस्थ होते हुए भी अनासक्त थे। इनके सामने ही कनिष्ठ पुत्र जगन्नाथ का देहावसान हो गया। उसकी विधवा पत्नी सुखनबाई को इन्होंने वृन्दावन वास तथा श्रीकृष्ण-भक्ति का निर्देश ही नहीं दिया अपितु वृन्दावन आकर उसकी सम्पूण व्यवस्था भी कर दी। आज भी वृन्दावन में वहाँ अष्टम पीठ का सेव्य-विग्रह विराजमान है। यह वही स्थान है और वह गली भी सुक्खनमाता की गली के नाम से ही प्रसिद्ध है।

बड़े भाई गोकुलनाथ की मृत्यु के उपरान्त शिष्यों ने इनसे पीठ का आचार्यत्व सँभालने के लिए विशेष आग्रह किया, परन्तु इन्होंने उसे स्वीकार न कर अपने भतीजे को ही आचार्यत्व दिलाया। जब उसकी भी अकालमृत्यु हो गई, तब इन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र गो० मदनमोहन को आचार्यत्व स्वीकार कर लेने का आदेश देकर सिन्धु नद के तटीय ग्राम 'विलोट' में चले गये और वहीं एकान्त-साधना में लग गये।

विलोट ग्राम-क्षेत्र में 'शाह ईसा' नामक एक प्रसिद्ध फक़ीर रहा करता था। केवलरामजी ने उसके शिष्यों के माध्यम से उस क्षेत्र में निवास की अनुमति चाही। उसने दूध से लबालब कटोरा भिजवाकर यह स्पष्ट कर दिया कि कोई स्थान नहीं है। इसके उत्तर में उस कटोरे पर एक गुलाब का फूल तैराकर इन्होंने यह सूचना दी कि मैं तो बिना किसीका बोझ बने इधर पुष्पवत् वास करता रहूँगा, क्षेत्र को सुवासित ही बनाऊँगा। इसके उत्तर में उसने एक शेर को भेजा, यह सूचित करने के लिए कि यह हिंसकों का देश है तो इन्होंने उस शेर की ही अपने लिए तकिया (मसनद) बनाकर बगल में दबाकर अपने पास रख लिया, यह सूचित करने के लिए कि मेरे लिए हिंसक और अहिंसक सब समान हैं। इस घटना से शाह ईसा प्रभावित हुआ और इनसे मित्रता कर ली।

एक दिन दोनों समुद्र के किनारे विचरण कर रहे थे। शाह ईसा ने चमत्कार दिखाया। वह अपनी चादर सिन्धु नद के जल पर बिछाकर उस पर बैठकर बहने लगा। केवलरामजी उसी समय पर्वत-शृंखला से एक पत्थर उठा लाये और उसे सिन्धु नद में डालकर उस पर बैठ गये जलविहार का आनन्द लेने लगे। इस घटना से उसे पराजय स्वीकार करनी पड़ी। फिर भी वह इन्हें पराजित करने के अवसर ढूँढ़ता ही रहता था।

एक बार दोनों में शर्त हुई कि जो एक-दूसरे के सिर पर अपना हाथ रख देगा उसे हाथ रखनेवाले का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ेगा। केवलरामजी ने शर्त स्वीकार कर ली। परन्तु ये तो उसे शिष्य बनाना ही नहीं चाहते थे क्योंकि ये सर्वनिरपेक्ष थे। इसलिये इन्होंने तीन दिन तक जलसमाधि ले ली, वह चारों ओर ढूँढ़ता फिरा जब ये नहीं मिले तब उसने पराजय स्वीकार कर ली। तभी यह प्रकट हुए। अन्त में उसने इनसे पुत्र-

प्राप्ति के लिए निवेदन किया। इन्होंने उसे आशीर्वाद दिया और उसके पुत्र उत्पन्न भी हुआ इस प्रतिबद्धता के साथ कि चूँकि ईसा प्रभु की रचना को एक स्वार्थ और धर्मप्रतिबद्ध दृष्टि से देखता है। इसलिए एकाक्ष सन्तति ही उत्पन्न होगी। सुनते हैं कि तभी से उसके वंश में एकाक्ष सन्तान उत्पन्न होती आ रही है।

इस घटना के बाद ये हिन्दू-मुसलमान सभी में 'सती बोहड़ी बाला' के नाम से विख्यात हो गये। बोहड़ी मुल्तानी भाषा में वटवृक्ष को कहते हैं। तिरोधान (सम्वत् १७३३ से १७४० का मध्यवर्तीकाल) के उपरान्त इनकी समाधिस्थली पर मेला लगने लगा। वहाँ मिश्री का प्रसाद चढ़ाकर तीर्थयात्रियों में लुटा देने का महत्त्व है। भारत-विभाजन के बाद भी आज तक वह मेला उसी प्रकार लगता है, ऐसा सुनने में आता है।

आपने 'केवल', 'केवलजन', 'केवलराम' इन काव्योपनामों से अनेक रचनाएँ की हैं जिनकी संख्या २१ है। उनकी सूची नीचे दी जाती है—

१. नारायणस्तोत्र, २. प्रिया-प्रीतम विवाह, ३. लालपचीसी, ४. लालशतक, ५. मुल्तानी मांझ, ६. प्रेममंजरी, ७. रसमंजरी, ८. सारपचीसी, ९. बारहमासा, १०. मानलीला, ११. दानलीला, १२ प्रेम-परीक्षा, १३. सनेहसागर, १४. रत्नसागर, १५. ज्ञान-दीपक, १६. उत्सवमालिका, १७. जोगीलीला, १८. व्याहलीला, १९. लीला-सम्बन्धी फुटकर पद, २०. मान-सम्बन्धी फुटकर पद तथा २१. मथुरानाथजी की स्तुति।

'मिश्र-बन्धु-विनोद' में केवलराम नामक दो अन्य भक्तों का भी उल्लेख मिलता है। उनमें से प्रथम केवलराम व्रजवासी (रचनाकाल सं० १६३२) हैं। इस काल में तो इनका जन्म भी नहीं हुआ था। द्वितीय 'वाणी-विलास' कार केवलराम (रचनाकाल संवत् १७५६) है जो समसामयिक होते हुए भी इनसे भिन्न इसलिए हैं कि इन्होंने विलास (शृङ्गार) का स्पर्श तक नहीं किया था।

केवलरामजी नीरक्षीरविवेकी भक्त थे। इनकी रचना पर जहाँ परम्परा से प्राप्त श्रीकृष्ण-भक्ति का प्रभाव परिलक्षित होता है वहीं दूसरी ओर ज्ञानमार्गी सन्तों कबीर, नानक, दादू, रैदास जैसा ज्ञान-विवेचन भी देखने को मिलता है। ज्ञानदीपक इसी शैली की रचना है।

इस प्रकार एक ओर ये सर्वग्राही विद्वान् थे तो दूसरी ओर भावुक रागानुगा भक्ति के प्रचारक कवि भी थे। तीसरी ओर वे एक सर्वनिरपेक्ष योगी तथा सिद्धपुरुष भी थे। आपने श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान किया। उसके साथ ही ज्ञानकर्मयोग की महत्ता का प्रकाशन भी किया। आपके 'सनेहसागर', 'रत्नसागर', 'ज्ञान-दीपक' एक-एक हजार दोहों के विशद ग्रन्थ हैं।

इनकी रसस्निग्ध रचनाओं से दो छंद प्रस्तुत हैं—

(१)

बरसाने ते आवत आज।
राधा सग सकल व्रज रवनी अद्भुत बन्यौ समाज॥
उमड़ि चली चटकीली छवि सों दधि मटकी सिरधार।
लटकत आई खोर साँकरी लोने स्याम निहार॥
झगरत दोनों ओर परसपर हरि माँगत दधिदान।
खिजत हँसत पुनि बदन दुरावत हितरस महासुजान॥
ललिता उरझ मिलाए दोऊ कानन करत विलास।
केवल निरष-निरष सुख पायौ फइल पर्यौ रसरास॥

—रत्नसागर

(२)

साधु की परिभाषा

साधु सोई जिन विमल विचारु।
पूरन तीन लोक ते न्यारे राखत लोकाचारु॥
अन्तरजामी रहत विश्व मों सभ काहू की जानै।
कहै जथामति कोउ आपुनी सो नीके करि मानै॥
दयावान तोषे सभ का मन रहितमान सुषदाई।
सर्वभूत गोविन्द कर देखे उपजे अउर न काई॥
बालक न्याई विचरत भव मँह मिथ्या मोह निवारि।
केवलजन ऐसे साधुन के रक्षक सदा मुरारि॥

मु० प्र०

केवलराम स्वामी

स्वामी केवलराम की प्रशस्ति में 'रसिक-अनन्य-परचावली' में कहा गया है—

हरि प्यारे जे साधु संग में आयु विताई।
भरी भक्ति रस स्वाद रंगीली वानी गाई।
श्री राधावल्लभ इष्ट मिष्ट रस केलि जु पीवनि,
छाप भरी परताप विदित वृन्दावन जीवनि।
देह अन्त लगि बास बन, मचलि गही रविजा तटी।
केवल केवलराम की, प्रीति जुगल चरननि जटी।

इनकी बचपन से ही साधुओं के बीच बैठने-उठने और सत्संग सुनने की हार्दिक अभिरुचि थी। किसी समय इन्हें स्वामी श्री रामदासजी का सत्संग-लाभ हुआ। उनके प्रवचनों से इन्हें संसार की असारता का ज्ञान और वृन्दावन-रस की उपासना का विज्ञान प्राप्त हुआ। फलतः ये उनके चरणाश्रित हो गये। इनका दीक्षाकाल अनुमानतः सं० १७५० के आसपास माना जा सकता है। इसके बाद विरक्त वेष लेकर ये गुरु-आज्ञा से वृन्दावन में ही निवास करने लगे।

उस समय यमुना-तटस्थ स्वामी श्री नन्दरामजी के बगीचे में वृन्दावन-रस-रसिकों का समाज निवास करता था। वह श्रीहितदम्पति की ललित लीलाओं की भजन-भावना में निमग्न रहता था। इस रसिक-समाज ने इनके जीवन को आमूल परिवर्तित कर दिया और ये श्री राधावल्लभलालजी की केलि-कल्लोलिनी में निमज्जन करने लगे। रसानन्द से संप्लुत होने पर दो ही बातें होती हैं—या तो वह मूक हो जाता है अथवा रसोद्‌गार का निर्झरण होने लगता है। श्री केवलरामजी का हृदय आनन्द-सम्भार को सँभाल न सका और वह आनन्द हित-वाणी के रूप में प्रस्फुटित हो गया।

इनके जीवन में अनेक आपत्तियाँ और कई प्रकार के प्रलोभन आये, किन्तु श्री प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद तथा श्रीहित ध्रुवदास की तरह श्री वृन्दावनधामनिष्ठा इनके जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी थी, अतः ये जीवनपर्यन्त वृन्दावन में ही निवास करते रहे। इन्होंने 'केवलराम वृन्दावन जीवनि' छाप से ही पद-रचनाएँ की हैं।

इनकी एक रचना 'पदावली' नाम से मिली है, जिसके अधिकांश पद राधा-कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी हैं। इससे विदित होता है कि ये मूलतः कृष्ण-भक्त थे, यद्यपि इसमें कुछ पद राम, हनुमान्, गंगा आदि के सम्बन्ध में भी हैं। पद रागबद्ध हैं और उनकी भाषा ब्रजी है, जिस पर पंजाबी का प्रभाव परिलक्षित होता है। कवित्व की दृष्टि से ये पद काफी प्रौढ़ हैं। नीचे इनके कुछ पद दिये जाते हैं—

(१)

जसोदा गोपाल पालनै झुलावै।
प्रेम कलोलनि सो नन्दरानी आनन्द लाड़ लड़ावै।
किलकत कँवल नैन सुंदर घन हँसि-हँसि कंठ लगावै।
जाको ध्यान धरत ब्रह्मादिक वाकौं गोद खिलावै।
वारत प्रान करत न्योछावर हरषि-हरषि गुन गावै।
केवलराम वृंदावन जीवनि हित बिन मन में न आवै।

(२)

सखि लखि सुन्दर श्री नंदलाल।
मुकुट की लटकिचटकि कुंडल की
टटकी उर वनमाल।
चंदन खौर अलक घुंघरारी
चंचल नैन विसाल।
मृदु मुसकानि माधुरी मोहन
नागर रूप रसाल।
भृकुटी बंक चपल चितवन चित
चेटक मदनगोपाल।
केवलराम वृन्दावन जीवनि जन हित दीनदयाल।

(३)

सरस रस रंग भीने नवल हरि रसिकवर,
प्रात ही जात इतरात सोहैं।
परम प्रीति के ऐन, हित हुलस जागे रैन,
चैन चित, निरखि द्युति मैन मोहैं॥
मंद मृदुल हँसनि, छवि लसनि मुख माधुरी,
ललित कच, कुटिल दृग, बंक भौंहैं।
मदन गोपाल अवलोकि धीरज धरै,
कहै री सजनि ऐसी बाल को है॥
चकित चितवत, चित्त करत चंचल चखनि,

बिसरि मति, बिबस बावरी होहै ।
सोभा को सदन मुख, बदन की जोति लखि,
होत है कोटि रबि-ससि लजोहैं ॥
लपटि उदगार उर हार कंचन बसन,
प्रेम सिंगार तन मन लगोहैं ।
केवलराम वृन्दावन जीवनि,
छकी सब सखी दृगनि सों रूप जोहैं ॥

(४)

झूलत मोहन रसिक हिंडोरे ।
उर वैजन्तीमाल विराजत
मुकुट चमक चितवन चित चोरै ॥
अलकैं छुटि रहीं जैसी नागिन
लहकि-लहकि लहकत दुहुँ ओरै ।
केवलराम वृन्दावन जीवनि
हँसि चितवन जिय वसि गई मोरे ॥

(५)

लाल पर फगुवा माँगन आई ।
मिलि ब्रजबाल गुपालहि गहि
होरी की गारी गाई ॥
नाचत-गावत बाजे बाजत
श्री जसुधा कौं देत बधाई ।
केवलराम वृन्दावन जीवनि
हँसत हेरि मुसिकाई ॥

इनके गुरु स्वामी रामदासजी गो० कुंजलालजी के शिष्य थे । इस आधार पर इनका उपस्थिति-काल संवत् १७३० से १८०० के बीच प्रतीत होता है ।

श्या० बि० खं०
वा० सिं०

केशवकिशोर

इनके लौकिक जीवन-सम्बन्धी अपेक्षित सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं । अपने सम्बन्ध में इन्होंने केवल इतना लिख है कि ये वल्लभ-सम्दाय के अनुयायी थे ।

इनकी 'आचार्यजी की वंशावली' नामक एक रचना मिली है । उसमें महाप्रभु वल्लभाचार्य और गोसाइं विट्ठलनाथ के चरित्रों का वर्णन है तथा उनकी वंश-परम्परा का भी उल्लेख किया गया है । इससे वल्लभ-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हो सकती हैं । श्री विट्ठलनाथ का परिचय इस प्रकार दिया गया है—

शुक्रवार सुभ लगन बृख
हे सब हीन कों थाप ॥
हस्त नक्षित्र त्रैतल करन
गृह सब नीको ठाँव ॥
देखि मुदित वल्लभ भए
धरचो श्री विट्ठल नाँव ॥
कन्या चन्द्र सु मिथुन गुरु
करक राहु रह्यो आंनि ॥
उसना मंगल रवि बुध सुदसा बखांनि ॥

इनकी कविता के कुछ और नमूने नीचे दिये जा रहे हैं—

द्रावड भक्ति उत्पन्न ह्वै, गूजर पुर लोभाय ।
प्रगटे विट्ठलनाथजी, दांनी बेलि बढ़ाय ॥
सास कही कहि बोलता, ये जानत हैं सिव पूजि ।
अबतें भरा अनन्य सब, रहत रास रस गूँजि ॥
पालत जे जम किंकरें, लाग नहीं कछु घात ।
चित्रगुप्त कागद तज्यो, पूछत नहिं कोउ बात ॥
यह लीला प्रतिदिन पढ़े, उठे मगन ह्वं जाय ।
ताकूँ श्री गोपालजी, राखें चरन लपटाय ॥
इते नाम गुन रूप हैं, भए हमारी बारि ।
आगे भक्ति हू बरनिये, श्री वल्लभ कुल विस्तारि ॥
श्री द्वारिकेसजी कृपा करी, लीनो हूँ अपनाय ।
श्री वल्लभ कुल की केलि पर, केसोकिसोर
बलि जाय ॥

वा० सिं०

केशवदास (प्रथम)

केशवदास ब्रज-क्षेत्र के करहला नामक ग्राम के निवासी अहीर-पुत्र थे । कहा जाता है कि इन्हें यक्षिणी सिद्ध थी । कालान्तर में रामरायप्रभु के सम्पर्क में आने पर इनका अहंकार विगलित हो गया और उनसे चैतन्य-सम्प्रदाय में दीक्षित हो वृन्दावन में निवास करने लगे । रामरायप्रभु में इनकी अपूर्व निष्ठा थी और उन्हें ये

अपना स्वामी समझते थे। इन्होंने लाहौर में वैष्णव-धर्म का प्रचार किया और अनेक यवनों का उद्धार कर उन्हें वैष्णव बनाया। इन्होंने राधाकृष्ण-भक्ति विषयक कुछ रचनाएँ भी की हैं। अनुमान से इनका जन्म काल वि० सं० १५९० तथा निधन काल वि० सं० १६५० ज्ञात होता है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ हैं--१. श्री-गुरुपूर्णिमा, २. वैष्णवभेद, ३. भक्तिवर्द्धिनी, ४. लोकदीपिका, ५. क्रोध-क्रूरता और ६. तत्त्वत्रयी। इन्होंने दोहा, कुण्डली, चौपाई आदि छन्दों का प्रयोग किया है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)

गो इन्द्रिय गोपीजन तेही।
परमात्मा श्रीकृष्ण सनेही॥
हृदय धाम वृन्दावन सोहे।
जहाँ शान्ति सरिता मन मोहे॥
आह्लादिनी अनन्द उचारे।
सो श्रीराधामाधव प्यारे॥
जेही माधव कुञ्ज बिहारी।
प्रलय-काल के काल मुरारी॥
त्रिगुणातीत दरश कर पावै।
त्रिगुन फरचो भारी ललचावै॥

(२)

गोबर्धन-बृन्दाबिपिन, सुमन अनेकन रूप।
दरसन जमुना-पुलिन में, राधा-माधव भूप॥
राधा-माधव भूप, अनूपम रूप सुहाये।
ब्रज-जात्रा निज करी, तबै गुरु सँग पधराये॥
ठौर-ठौर में राग-रंग कीर्तन सुख छाये।
गाँम करहला मोर कुटुंबिन लाड़ लड़ाये॥
जनम सुफल मान्यौ तबै, जब पाये आनन्द-घन।
'केसव' राधामाधवहु, हरषाये गिरि गोरधन॥

न० च० बं०

केशवदास (द्वितीय)

केशवदासजी बाबा रणछोरदासजी के शिष्य थे। ये योग की अनेक क्रियाओं के ज्ञाता थे और जप में प्रगाढ़ निष्ठा रखते थे। हमेशा पुरश्चरण किया करते थे। ज्योतिष-शास्त्र और वैद्यक के भी आप ज्ञाता थे।

प्रे० ना० श्री०

केशवदास गोसाइँ

गोसाइँ केशवदासजी मूलतः वृन्दावन के निवासी थे और किसी गोसाइँ (गोस्वामी) परिवार के सदस्य थे। पुराने अभिलेखों में इनका उल्लेख 'केशवदास गोसाइँ वृन्दावनवासी' के रूप में मिलता है। ये स्वामी रामरूप की दिल्लीवाली महन्त-परम्परा के श्री हरिनारायणजी के शिष्य बताये गये हैं। इस प्रकार यह परम्परा निम्न प्रकार से अंकित की जा सकती है—

चरणदासजी → रामरूपजी → सिद्धरामजी → मलूकदासजी → सेवादासजी → शालिग्रामजी → हरनारायणजी तथा तच्छिष्य केशवदासजी।

प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इनका जीवनकाल सं० १८७५ से १९५० वि० के बीच माना जा सकता है। इनकी एक बृहत्काय कृति प्राप्त है, जिसकी संज्ञा 'इन्द्रप्रस्थ-महातम-ग्रन्थ' है। इसका रचनाकाल श्रावण कृष्णा सप्तमी सं० १९११ वि० है। यह 'सौरभ-संहिता' नामक ग्रन्थ की पद्यबद्ध भाषाटीका है। इसमें दोहा, चौपाई के अतिरिक्त सवैया, कवित्त आदि अनेक छन्दों को वर्णन का माध्यम बनाया गया है। इसकी पाण्डुलिपि जयपुर के सरस-निकुञ्ज में सुरक्षित है। कवि ने इसकी रचना महन्त सेवादासजी (गद्दी परम्परा स्वामी रामरूपजी, दिल्ली) के शिष्य श्री मुक्तिराम (मुक्तदास) के यहाँ दिल्ली में रहते हुए की थी। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि श्री केशवदास गोसाइँ ने श्री हरिनारायण से सं० १९११ वि० से पूर्व ही दीक्षा ले ली थी। सन्त हरिनारायणजी को महन्त-पद की प्राप्ति सं० १९५७ वि० में हुई थी। तब तक हरिनारायणजी काफी वृद्ध हो चुके थे। वे सं० १९५८ वि० में दिवंगत हो गये।

ये वृन्दावन-निवासी और हरिनाराणणजी के शिष्य थे अतः स्वाभाविक रूप से इनकी साधना-सम्बन्धी मान्यता रसिकभावापन्न थी। इनकी रसिकभाव की स्फुट रचनाएँ अब तक अनुपलब्ध हैं परन्तु कहीं

सुरक्षित अवश्य होंगी। ये अच्छे कवि और विद्वान् कथावाचक थे अतः 'इन्द्रप्रस्थ-महातम' के अतिरिक्त अन्य भी कुछ बानियाँ या रचनाएँ उनके द्वारा अवश्य की गई होंगी। इनकी भाषा और अभिव्यक्ति में प्राञ्जलता तथा सरलता विद्यमान है। इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप इनका एक सवैया यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

भीषम द्रोण बिलोकत द्रौपदी खैंचि कै राजसभा
माँहि आनी।
द्वारिकानाथ पुकारत केशव दीन दुखी अति
आरत बानी॥
ताहि समै तन चीर बढ्यौ अंग ज्यौं उमग्यौ
परवाह कौ पानी।
हारि रह्यौ मन माँहि दुसासन खैंचतखैं-चत
बाँह पिरानी॥

श्या० सु० शु०

केशवदेव गोस्वामी

गोस्वामी केशवदेव श्री नन्दकिशोरजी के समकालीन थे। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। संस्कृत भाषा में लिखित 'हरिस्मरण-पद्धति' और 'कुञ्ज-केलिका' इनके काव्य-ग्रन्थ हैं। इनकी व्रजभाषा में की गई रचनाएँ अप्राप्य हैं। इन्होंने पद-रचना की थी। इसका उल्लेख इनके संस्कृत-ग्रन्थों में मिलता है। प्रतीत होता है कि सुरक्षा और प्रकाशन के अभाव में इनकी पाण्डुलिपियाँ अस्तव्यस्त हो गयीं।

प्रे० ना० श्री०

केशवराय

केशवराय या केसौराय नामक किन्हीं कवि का लिखा 'भ्रमरगीत' नामक ग्रंथ मिलता है। ये वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित थे।

शिवसिंह सरोज में 'भ्रमरगीत' ग्रन्थ से निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया गया है—

सब सायर समरत्थ हैं, मैं सेवक लघु एक।
प्रकट करौं गोपिन कथा, जौ देवी दे देक॥

ह० नं० भा०

केशोराय (गोस्वामी)

'रसिक-अनन्य-परचावली' में गो० केशोराय के सम्बन्ध में निम्नलिखित छन्द मिलता है—

सुनत-गुनत चित लाइ भाइ जुत भीने नितही।
सुखहि श्रवित उर द्रवित वचन भाषत मुख
मितही॥
कानन केलि अखंडित मंडित रविजा कूले।
कृष्ण सनेहिनु सहित वही जस बरनत फूले॥
प्रगटे श्री नागर कुल कमल, कृपादृष्टि सब तन
चह्यौ।
ग्रन्थन सार विचार कौं, श्रीकेशोराय रहसि लह्यौ॥

ये गो० नागरवरजी के चौथे पुत्र थे। इनका जन्म वृन्दावन में ही हुआ था। ये अपने समय के मूर्धन्य विद्वान् थे। श्रीकृष्णकथामृत तथा श्रीमद्भागवतामृत का प्रवचन करके ये सभी प्रकार के भक्तों का हृदय प्रफुल्लित किया करते थे और एकान्त में यमुना-तटस्थ श्री वृन्दावन की निभृत निकुंजों की कल-केलियों का वर्णन करके श्री हित-रसिकों का तोष-पोष किया करते थे। भक्ति-शास्त्रों के आलोड़न और उनसे सार-संचित करने में ये सतत तन्मय रहा करते थे। इनके मितालाप और मृदु सम्भाषणयुक्त रस-कथा के कारण रसिकों की भीड़ इन्हें चारों ओर से घेरे रहती थी। इस प्रकार गृहस्थ-आश्रम में रहते हुए भी इन्होंने एक साधु-जीवन का आदर्श स्थापित किया था।

इनके पितृचरण गो० नागरवरजी, गो० वनचन्द्रजी के चतुर्थ पुत्र थे। गो० वनचन्द्रजी के प्रथम पुत्र गो० सुन्दरवरजी का जन्य सं० १६०९ में हुआ था। यदि पाँच-पाँच वर्ष के अन्तर से सन्तानोत्पत्ति मान ली जाय तो गो० नागरवरजी का जन्म सं० १६२४ के आसपास स्थिर होता है। गो० केशोरायजी गो० नागरवरजी के चतुर्थ पुत्र थे। यदि इनके जन्म के समय गो० नागरवरजी की आयु ४५-४६ वर्ष के लगभग मान ली जाय तो गो० केशोरायजी का जन्म-समय सं० १६७० के आसपास स्थिर होता है।

श्री हित रासमण्डल वृन्दावन में लगे एक शिला-लेख के अनुसार इनकी निकुञ्ज-गमन-तिथि आषाढ़ कृष्णा अष्टमी सं० १७६२ है।

श्या० बि० खं०

केशोराय (स्वामी)

स्वामी केशोराय की अनन्य सेवा-भावना का परिचायक यह छन्द 'रसिक-अनन्य-परचावली' में मिलता है--

श्री स्वामी केशोराय भाइ सौं सदा बखानी।
बसत आगरे नगर सकल जन कौं सुखदानी॥

पंडित परम प्रवीन प्रीति सौं इष्ट अराधन।
गुरु मारग अनुसार सार ग्रन्थन कौ साधन॥

श्री हरिवंश प्रसाद तें, प्रेम भक्ति सुख रहे फलि।
कीरति रूपी कृष्ण तन, जग पावन भागौत कलि॥

इनका जन्म आगरे के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। यह अनेक शास्त्रों के ज्ञाता तो थे ही, श्रीमद्भागवत महापुराण के अधिकारी विद्वान् एवं वक्ता भी थे। ये अपने सुमधुर प्रवचनों द्वारा श्रोताओं को आनन्द प्रदान किया करते थे। भगवद्भक्ति इन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी। अतः साधुओं के प्रति विनम्रता और सत्संग-चर्या इनकी हार्दिक रुचि बन गयी थी।

एक दिन इन्हें स्वामी रामदासजी का दर्शन और सत्संग प्राप्त हुआ। उनके विद्वत्तापूर्ण रसभक्ति के सुमधुरातिमधुर प्रवचनों से ये उनकी ओर आकृष्ट हुए। इनका हृदय श्रीमद्भागवत का रसिक तो बना ही हुआ था, जब इन्होंने स्वामी श्री रामदासजी से श्री हिताचार्यचरण मुखोद्गलित 'जै श्रीहित हरिवंश जथामति बरनत कृष्ण रसामृत सार। श्रवन सुनत प्रापक रति राधा पद अम्बुज सुकुमार'—इन पंक्तियों का सारगर्भित व्याख्यान सुना तो कृष्णरसामृत का सार प्राप्त होते ही इनका मन 'एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' की रस-सागर-मर्यादा का अतिक्रमण कर वृन्दावन-रस का लोलुप बन गया। अब ये लोक-मन-रंजन के कार्यों को छोड़कर अपने इष्ट श्री राधावल्लभलालजी को लाड़ लड़ाने में निरत हो गये। इस सेवा से अवकाश प्राप्त होने पर ये वृन्दावन-रस-रसिकों की वाणियों का अध्ययन, मनन, चिन्तन किया करते थे तथा समुद्भूत रस-सागर में गोता लगाकर नवीन-नवीन भावरत्नों को निकालते थे। इस प्रकार भजन-भावना-परायण होकर इन्होंने श्री हरिवंश-चन्द्रोदित रसभक्ति का चरम फल प्राप्त किया।

ये स्वामी रामदासजी के शिष्य थे और रामदासजी गो० कुंजलालजी के शिष्य थे --इस तथ्य के आधार पर इनका विद्यमान-काल सम्वत् १७३० से १८१० के बीच स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

कैलाशनाथ भार्गव

कैलाशनाथ भार्गव का जन्म १० नवम्बर, सन् १९१६ को राजस्थान में हुआ था। ये बचपन से ही पिता की छत्रछाया से वंचित हो गए। सन् १९३७ ई० में आपने आगरा विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में एम० एस-सी० (गणित) की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९३८ से जयपुर के महालेखा कार्यालय में कार्य आरंभ किया। जुलाई, १९७० में आपकी नियुक्ति आन्ध्र प्रदेश के महालेखाकार के रूप में हुई। इस पद पर कार्य करते हुए १६ फरवरी, १९७३ में इनका देहावसान हो गया।

ये कृष्ण के परम भक्त थे। इनके रोम-रोम में कृष्ण बसे थे। कृष्ण के योगी रूप पर इनकी विशेष आस्था थी। भगवद्गीता का इन्होंने गहन अध्ययन किया था। भगवद्-प्रदत्त आध्यात्मिक शक्ति के बल पर ये अनेक लोगों के रोगों का इलाज केवल स्पर्शमात्र से कर देते थे। इन्होंने अँगरेजी में कई पुस्तकें लिखीं--(१) रोड टु हैपिनेस, (२) प्राणायाम एण्ड इट्स क्युरेटिव वैल्यू, (३) डायबिटीज एण्ड योगिक क्योर्स। इनमें से 'रोड टु हैपिनेस' का 'शान्ति-पथ' नाम से हिन्दी

अनुवाद हो चुका है। वस्तुतः यह पुस्तक १९५६ ई० में अँगरेजी में लिखी गई थी। इसमें, गीता के आधार पर, सुख के स्रोत, सुख और चित्त, सुख और विवेक, सुख और धर्म, सुख और स्वास्थ्य, सुख और कर्त्तव्य आदि विषयों की वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। इन्हें सन्त चरणदास के साहित्य से गहरा लगाव था। उनकी रचना 'भक्तिसागर' पर इन्होंने कई लेख लिखे हैं। 'शान्ति-पथ' से एक अवतरण प्रस्तुत है —

"प्रत्येक कार्य करते समय चित्त-दर्पण अर्थात् विवेक पर दृष्टि रखनी चाहिए तथा कार्य करते समय इस बात की सावधानी बरतनी चाहिए कि विवेक को ज्यादा-से-ज्यादा घनात्मक शक्ति मिले। केवल यही कार्य विवेक पर जमा मैल दूर कर सकता है और उसे 'सच्चे स्व' अर्थात् परमात्मा के साथ एकाकार कर सकता है। विश्लेषण एवं तर्क की प्रक्रिया के द्वारा नियंत्रित कार्य मधुर सम्बन्ध स्थापित करते हैं – जो वास्तविक उन्नति के लिए एक अनिवार्य तत्त्व है।"

म० गो० भा०

कोकिलाबाई (बीबादास)

कोकिलाबाई शुक-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य चरणदासजी के १०८ शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ एवं स्वामी रामरूपजी की गद्दी के अधिकारी स्वामी सिद्धराम की शिष्या थीं। इस सम्प्रदाय के साहित्य एवं अभिलेखों में इनके कई नाम मिलते हैं, जो इनके महत्त्व के सूचक हैं। इन नामों में कोकिला बीबी, कोकिला दासी, कोकिला सखी, बीबादासी, बीबादासि और विविदासी बहुशः उल्लिखित हैं। इनके शिष्य मोहनदास तथा प्रशिष्य राधिकादास ने प्रचुर मात्रा में तथा उच्चकोटि की बानियाँ रची हैं। स्वयं कोकिलाबाई भी उत्कृष्ट कोटि की कवयित्री थीं। इनकी साधना मुख्यतः रसिक भाव की थी। इनके नाम से ही इस तथ्य की झलक मिलती है। वस्तुतः इनका शुद्ध उपनाम विविदासी है, जिसका तात्पर्य राधा-कृष्ण युगल (विवि = दोनों) की दासी या सखी है। शेष नाम 'विवि' के ही रूपान्तर हैं।

इनका व्यक्तिगत परिचय प्राप्त नहीं होता। स्वयं इनके शिष्य श्री मनमोहनदास ने अपने 'प्रेम-पयोनिधि' (तीन भागों में) नामक ग्रंथ में इनका साधनामूलक परिचय ही दिया है, व्यक्तिगत परिचय उसमें भी नहीं है। इनके सम्बन्ध में बस इतना ही पता चलता है कि ये दिल्ली के मुहल्ला वल्लोमारान में स्थित चरणदासजी के आश्रम के निकट ही एक स्वतंत्र स्थान बनाकर रहती थीं। इनके स्थान से स्वामी रामरूपजी, सहजोबाईजी और गोसाईं जुगतानन्द के आश्रम अत्यन्त निकट थे। इनके गुरुदेव स्वामी सिद्धरामजी इनका बड़ा सम्मान करते थे। इनके जीवन-काल में दिल्ली और वृन्दावन में इनके अनेक विरक्त एवं गृहस्थ शिष्य थे। ये प्रायः इन्हीं दोनों स्थानों पर घूम-फिरकर रहा करती थीं।

इनके शिष्य मनमोहनदासजी ने अपने 'प्रेम-पयोनिधि' में इनकी स्तुति करते हुए कहा है कि श्री बीबादास रति की प्रतिकृति लज्जा के समान प्रिया-प्रीतम के प्रीति की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। सखी-भावना के प्रचार-प्रसार के लिए मानों युगल ने अपने को श्री बीबादास के रूप में अवतरित किया है—

युगल रूप की रास ह्वै, प्रगटे सखी सरूप।
जै जै बीबादास गुरु, दम्पति रसिक अनूप॥

सुश्री कोकिलाबाई की शिष्य-परम्परा के भक्त प्रायः सखीभाव के ही साधक रहे हैं। स्वयं मनमोहनदासजी, उनके शिष्य राधिकादासजी और उनके शिष्य केवलकृष्णजी की साधना-भावना इसी प्रकार की थी। इनकी निकुञ्ज-प्राप्ति सं० १९५० वि० में ८० वर्ष की अवस्था में हुई थी। इस आधार पर कहा जा सकता है कि इनका जन्म सं० १८७० में हुआ था। चूँकि स्वामी सिद्धरामजी सं० १८७८ वि० तक ही महन्त-पद पर रहे थे और उसके कुछ ही समय पश्चात् उनकी इहलीला पूर्ण हो गई थी। अतः अनुमान किया जा सकता है कि बाईजी ५-६ वर्ष की अवस्था में ही उनके शरणागत हो गई थीं। इनकी बानियों की भाषा में

बड़ा वैविध्य है। कुछ पदों में शुद्ध ब्रजभाषा प्रयुक्त है तो कुछ खड़ी बोली में हैं। इनके कुछ पद पंजाबी में भी हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि बाईजी किसी ऐसे पंजाबीभाषी परिवार से संबद्ध थीं जो दिल्ली में निवास करता था। इनका अधिकांश परवर्ती जीवन वृन्दावन में बीता था और इन्होंने कई बार ब्रज चौरासी कोस की परिक्रमा की थी। इसलिए ब्रजभाषा का ज्ञान भी उन्हें स्वाभाविक रूप से था। इनके कुछ पदों में पूरबीपन की झलक देखते हुए मानना पड़ता है कि इनके भाषा-ज्ञान का क्षेत्र व्यापक था। ऐसा एक पद द्रष्टव्य है—

कोई मिलावौ कन्हइया।
अस मन व्याकुल हरि बिना
केहि विधि धीर धरइया॥

वह मूरति सूरति मन अँटकी
लटक रही मटकइया।
दिन प्रति बीतत छिन पल गिन-गिन
कब दरसन देगो के जिवइया॥

बिरह की हूक उठै तन सुध ना
प्रेम लहर को बुझइया।
चित की पीड़ा चित ही जानै
कासों कहूँ को सुनइया॥

बीबादास सिद्धराम कहत हैं
अपनी ओर निबहिया॥

कोकिलाबाईजी के निम्नलिखित पद में यद्यपि खड़ी बोली ही आधारभूत काव्य-भाषा है लेकिन उसमें पंजाबी की छौंक देखने योग्य है—

मेरा मन लीता वो स्याम बाँसुरी में।
मैं बन गई अकेलोइ ठाढ़ी
छू मन्तर पढ़ लीता वो॥

अब कोई आन मिलावै स्याम कूं
सोई जान मनमीता वो।
वहों मूरति नैननि में अँटकी
और दरस सब रीता वो॥

बीबादास सिधराम कहत हैं
कभी तो मिल मन मीता वो।

भक्त कवयित्री का राग बसन्त में रचित यह माधुर्यपूर्ण पद ब्रजमाधुरी की एक सुन्दर झलक प्रस्तुत करता है—

नन्द-नन्दन वृषभानु-नन्दिनी सदा बसन्त मनावैं।
नित्त विहार करत कुंजन मैं आनन्द मंगल गावैं।
उड़त गुलाल अबीर अरगजा प्रेम रंग बरसावैं।
हिल-मिल खेलत दम्पति छबि
सो शोभा कहत न आवै, नैनन रूप छकावै।
विवादासि सिद्धराम श्याम कूं
तन-मन भेंट चढ़ावैं॥

श्री कोकिलाबाई के शिष्य-परिकर और शिष्य-परम्परा के कवियों ने उन्हें पुरुषवाची संबोधनों से ही स्मरण किया है। इससे सामान्यतया यह भ्रम हो जाता है कि ये स्त्री न होकर पुरुष हैं। संभवतः ऐसा इनके प्रति श्रद्धातिरेक के कारण ही हुआ है।

विभिन्न राग-रागिनियों में रचित इनके ५० पदों के एक संग्रह की पांडुलिपि महन्त प्रेमदासजी (गद्दी स्वामी रामरूपजी, दिल्ली) के यहाँ सुरक्षित है जब कि सरस निकुंज (जयपुर) के संग्रह में इनके पदों की संख्या १०० से भी अधिक है। श्री सरसमाधुरीशरण ने इनकी महत्ता को स्वीकार करते हुए निवेदन किया है—

नमो नमो श्री बीबादासी।
मगन मानसी सेवा में नित
पिय प्यारी की करत खवासी॥

श्री प्यारी प्रीतम दुलराये
करी केलि पद रचना खासी।
इन्द्रप्रस्थ रहिके कुछ एक दिन
फेरि भई वृन्दावन वासी॥

बन-उपबन में रँगी रँगीली
परिकरमा की व्रज चौरासी।

जब लगि रही जगत के माहीं
गाये गुन दम्पति सुखरासी ॥
तन को त्यागि गई निज पद में
भई अचल नवकुंज निवासी ।
सरस माधुरी दीन की बिनती
सहस कान सुनिये सुखरासी ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि राधा-कृष्ण की अनन्य प्रेमोपासिका तथा उच्च कोटि के रसिक काव्य की सर्जिका सुश्री कोकिलाबाई हिन्दी-साहित्य की मध्यकालीन रसिक काव्य-परम्परा की एक सशक्त एवं उल्लेखनीय कड़ी हैं ।

श्या० सु० शु०

क्षेमदास

क्षेमदास पुष्टिमार्गीय गो० तुलसीदासजी के पंचम शिष्य थे । आपका आविर्भाव-काल १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध अनुमानित किया जाता है । आप 'उदी' नामक ग्राम के निवासी थे । एक बार उस क्षेत्र में घोर अकाल पड़ा, जिससे दुःखी होकर आप गो० तुलसीदासजी से प्रार्थना करने हेतु डेरा गाजी खाँ आये । परिणामस्वरूप वहाँ वर्षा हुई और अकाल का अन्त हुआ, तभी से ये श्री गोपीनाथजी एवं गुरुजी की सेवा में आ गये । 'द्वादश-भक्तवर-कथा' के अनुसार गो० तुलसीदासजी की खुरासान-यात्रा के समय आप भी उनके साथ गये थे ।

आपके फुटकर पद प्राप्त होते हैं जिनमें श्री कृष्णलीला-चित्रण एवं गुरुवन्दना को गयी है।

सु० श०

खरगसेन कायस्थ

ग्वालियर-निवासी खरगसेन का उल्लेख 'भक्तमाल' और 'रसिक-अनन्यमाल' में मिलता है, जिनके आधार पर कुछ विद्वान् दोनों खरगसेन को भिन्न मानते हैं, जब कि दोनों में कायस्थकुलोत्पन्न और भक्त होने की समानता है। वस्तुतः उक्त दोनों ग्रन्थों में वर्णित खरगसेन एक ही हैं।

मिश्रबन्धुओं ने इनका जन्म सं० १६६० (१६०३ ई०) एवं रचनाकाल सं० १६८५ (१६२८ ई०) माना है, पर किसी प्रामाणिक साक्ष्य के बिना यह अनुमान मात्र है। इनकी 'दानलीला' का रचना-काल १६२८ ई० है । अतः यही इनका उपस्थिति-काल माना जा सकता है । नारायणदास विरचित 'भक्तिरस-बोधिनी' में इनके सम्बन्ध में प्राप्त एक पद प्रस्तुत है –

गोपी ग्वाल पितु मातु नाम निरनै कियो भारी ।
दान केलि दीपक प्रचुर अति बुद्धि उचारी ॥
सखा सखी गोपाल काल लीला में बितयो ।
कायथ कुल उद्धार भक्ति दृढ़ अनत न चितयो ॥

गौतमी तन्त्र उर ध्यान धर,
तनु त्यागो मंडल रसद ।
श्रीगोविंदचंद गुन ग्रथन को,
षडगसेन बानी बिसद ॥

इससे खरगसेन के भक्तिमय जीवन के साथ ही उनके कुल तथा देहावसान विषयक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। उक्त छंद 'तनु त्यागो मंडल रसद' से रासमंडल के आनन्द में मग्न होकर इनके गोलोकवासी होने का पता चलता है । नागरीदासजी की 'पदप्रसंगमाला' से इस तथ्य का समर्थन होता है— 'एक समै सरद की पूरनमासी कौं रासमंडल चौंतरा पर रास में एक पद बनावत हुते, सो जब भोग दै चुके, तब अपनेई पद पै रीझ प्रेम विवस ह्वै देह छोड़ दई ।'

साम्प्रदायिक स्रोतों के अनुसार ये भानुगढ़ के राजा माधोसिंह के दीवान थे । एक दिन इनके यहाँ वृन्दावन के एक रसिक संत पधारे । उन्होंने इनको श्री हित धर्म का उपदेश किया । उनसे इष्ट और धाम का रहस्य सुनकर इन्होंने श्री राधावल्लभलाल के चरणों में अपने को अर्पित कर दिया और वृन्दावन आकर श्री हिताचार्य से दीक्षा ले ली । श्रीजी की शरण ग्रहण करते ही गृहस्थी एवं जगत् के प्रति इनका दृष्टिकोण एकदम बदल गया । श्री श्यामा-श्याम का अनुपम रूप-माधुर्य इनके नेत्रों में झलक उठा एवं दशों दिशायें

आनन्द से पूरित हो गई। ये अधिक-से-अधिक समय नामवाणी के गान में लगाने लगे। इनका यश चारों ओर फैल गया और दूर-दूर से साधुसंत आकर इनका सत्संग प्राप्त करने लगे। उनकी सेवा-शुश्रूषा में ये मुक्त हस्त से व्यय करने लगे।

इनको अन्धाधुन्ध खर्च करता देखकर, बहिर्मुख लोगों में, कानाफूसी होने लगी और कुछ दिन बाद उन लोगों ने राजा के कान भरना प्रारंभ कर दिया। उनका कहना था कि दीवानजी को वेतन तो सीमित ही मिलता है, किन्तु व्यय असीमित करते हैं। ऐसी स्थिति में राजकोष के अतिरिक्त ये अन्यत्र कहाँ से धन पा सकते हैं। राजा माधोसिंह की समझ में यह बात आ गई कि दीवानजी मेरा ही धन खर्च कर रहे हैं। उन्होंने तत्काल इनको बुलवाया और अत्यन्त कुपित होकर इनसे कहा; 'तूने मेरी चोरी की है। या तो तू एक लाख रुपया दण्ड में दे अथवा मैं तुझे फाँसी पर लटकवा दूँगा।' खरगसेनजी ने राजा को समझाने की बहुत चेष्टा की। इन्होंने कहा—'आप राजकोष की जाँच करा लीजिये और यदि कोई गड़बड़ी निकले तो मुझे दंड दीजिये। अपराध के बिना दंड देना उचित नहीं है।'

किन्तु राजा ने इनकी एक नहीं सुनी और कारागृह में डाल दिया। इनका भोजन-पानी बन्द कर दिया गया। कहते हैं कि रात को राजा जैसे ही सोया उसको यम के दूतों ने आकर घेर लिया और अनेक प्रकार से डराना आरंभ कर दिया। उसके हाथ-पैरों में हथकड़ी-बेड़ी डाल दी। राजा कष्ट से घबड़ाकर रोने लगा। यमदूतों ने उससे कहा—'तूने एक निरपराध हरिभक्त को बन्धनशाला में डाल दिया है, तू उनको शीघ्र मुक्त कर दे अन्यथा तेरी खैर नहीं है।'

राजा मृतकतुल्य मूर्च्छित पड़ा था। यह देखकर उसके उन नौकर-चाकरों को भी बहुत दुःख हुआ जिन्होंने खरगसेन की शिकायत की थी। उन लोगों ने एक होकर विचार किया कि खरगसेन के प्रति किये गये अपराध से ही राजा को यह महान् कष्ट मिल रहा है। अतः उनको ही राजा के पास ले चलना चाहिये। वे तीसरे दिन खरगसेन को लेकर राजा के पास पहुँचे। उनको देखते ही यमदूत राजा के पास से हट गये और राजा स्वस्थ हो गया। खरगसेन के इस प्रभाव को देखकर राजा लज्जित हो गया और उसने उठकर उनके चरण पकड़ लिये। इस घटना के बाद से राजा उनका बहुत आदर करने लगा। कोई राज्य-कार्य आने पर वह स्वयं इनके घर चला जाता था, इनको अपने यहाँ नहीं बुलाता था। वह इनका भगवान् के समान आदर करने लगा। कुछ दिनों बाद उसने इनसे दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। खरगसेन ने उसको श्री वृन्दावन ले जाकर दीक्षा दिलवा दी। खरगसेनजी के सत्संग से राजा के जीवन में आमूल परिवर्तन हो गया। चरित्रकार श्री भगवत मुदित ने सत्संग की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि मनुष्य को एकमात्र सत्संग ही सुधार सकता है। सत्संग से आनन्द की प्राप्ति होती है। सत्संग सम्पूर्ण मंगलों का मूल है और सत्संग में ही भगवान् का सत्यस्वरूप प्रकाशित होता है। सत्संग से विश्वास की दृढ़ता होती है और आध्यात्मिक सुखों का प्रकाश होता है। सत्संग में ही रास-विलास है और सत्संग में ही श्री वृन्दावन-वास है।

खरगसेन ने अपना शेष जीवन सत्संग में ही व्यतीत किया। चौथी अवस्था आने पर इनकी बुद्धि एवं शारीरिक बल सवाये हो गये और ये श्री राधावल्लभलाल की रसात्मिका सेवा में कालयापन करने लगे। इनका महाप्रयाण आराध्य की भावसेवा करते ही हुआ।

ल० च० गो०

न० प्र० गु०

खुमान त्रिपाठी

खुमान त्रिपाठी 'द्विज' गोपालमणि त्रिपाठी के द्वितीय पुत्र थे। गुमानकृत 'कृष्णचंद्रिका' के प्रथम अध्याय के दोहा सं० ७५ से लगता है कि या तो दीनदास इनका नाम है या फिर भक्त का विशेषण—

तिन लघु नाम खुमान को, दीनदास फिर नाम।
श्री क्रस्नायन जिन रच्यौ, सज्जन मन विश्राम ॥

ये चार भाई थे। इनका अनुज गुमान 'कृष्णचंद्रिका' का रचयिता प्रसिद्ध कवि था। उससे इनकी प्रतिश्रुति थी कि ये रामायण की शैली में 'कृष्णायन' और वह 'रामचंद्रिका' की शैली में 'कृष्णचंद्रिका' की रचना करेगा। 'कृष्णचंद्रिका' में लिखा भी है—

यह भरोस दिढ़ मंत्र करि, धीरज मनहिं बँधाइ।
प्रभु गुन कहतहि है भलो, आन न सधै उपाइ ॥

स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण की भक्ति-भावना से प्रेरित होकर दोनों भाइयों में होड़-सी लग गई थी। उसके फलस्वरूप 'कृष्णायन' की रचना पहले हुई और 'कृष्णचंद्रिका' की बाद में। इस प्रकार खुमान के ज्येष्ठ होने और कृष्णायन की रचना सं० १८३८ से पहले होने से ये १७७०–८० ई० में विद्यमान ठहरते हैं। खुमान की भक्तिभावना की अभिव्यक्ति 'कृष्णायन' में हुई है, पर कृति के सुलभ न होने से उसके संबंध में कुछ विस्तार से कहना संभव नहीं है।

न० प्र० गु०

खुसालाबाई (जनखुसाला)

खुसालाबाई जयपुर राज्य के परम्परागत दीवान, बख्शी, सेनानायक एवं सामन्त प्रख्यात हल्दिया-परिवार की पुत्री थीं। इनके पितृ-परिवार में चरणदासजी के अतिरिक्त उनके तीन शिष्यों का बहुत अधिक प्रभाव था। ये शिष्य थे—आतमराम इकगो, श्री नागरीदास गोसाईं और श्री साधुराम दास। चूंकि चरणदासजी ने तत्कालीन जयपुराधीश सवाई महाराज प्रतापसिंह द्वारा प्रदत्त समस्त भेंट अपने शिष्य गुरुछौनाजी के शिष्य एवं सिद्ध महात्मा श्री अखैरामदास को दे दी थी और उन्हें ही विशेष गौरवान्वित किया था, इसलिए हल्दिया-परिवार पर भी अखैरामजी का प्रभाव किसी प्रकार कम न था। यही कारण है कि बाल्यावस्था से ही विरक्त एवं विदुषी सुश्री खुसालाबाई ने उन्हें गुरु बनाया था। प्रारंभ में तो इन्होंने अपने पैतृक आवास में ही हरिभक्ति और काव्यरचना का व्रत निभाया परन्तु बाद में ये अखैरामजी द्वारा स्थापित मन्दिर 'अटलबिहारीजी' के परिसर में निवास करने लगी थीं। गुरुछौनाजी, अखैरामजी तथा इन दोनों के शिष्यों की बानियों के संग्रहों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने का काम इन्होंने बड़ी निष्ठा के साथ किया।

इनका एक व्रत यह भी था कि ये प्रतिदिन बिना एक पद की रचना किए भोजन ग्रहण नहीं करती थीं। अतः स्पष्ट है कि इनकी बानियों की संख्या बहुत अधिक होगी परन्तु जितनी बानियाँ अब तक प्राप्त हैं, वे इस दृष्टि से बहुत कम हैं। 'अखैसागर' या 'अखैरामजी की वाणी' शीर्षक बृहत्काय ग्रन्थ की पृष्ठ-संख्या ३४८–३५० के बीच अखैरामजी द्वारा बनवाये गये मंदिरों का वृत्त समाविष्ट है। इस वृत्त की रचना खुसालाबाईजी ने ही की है। इसमें इन्होंने अखैरामजी द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों पर निर्मित कराये गये सात मंदिरों का विस्तार से वर्णन किया है—

गुरु छौना के सिख अखैरामा।
हरि सुमिरत हैं आठौ जामा ॥
जिनके द्वैत भाव नहिं होई।
निरगुण सरगुण एकहिं सोई ॥

• • •

सत मन्दिर हरि के बनवाये।
जिनमें महाविष्णु पधराये ॥

—अखैरामजी की वाणी, पृ० सं० ३४८

'साधु-महिमा' और 'बुधविलास' नामक इनके दो ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध हैं। इनमें से 'साधु-महिमा' केवल २८ पद्यों की लघु रचना है। इसके उत्तरार्द्ध में 'धर्म-महिमा' का समावेश है। 'धर्म-महिमा' के अन्तर्गत चौपाई, दोहा, सोरठा तथा अन्य छन्दों में एक ऐसे असुर की उपलब्धियों का वर्णन है, जिसने कठोर

तपस्या द्वारा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। पारंपरिक पद्धति के अनुसार देवताओं द्वारा उसकी तपस्या भंग करा दी जानी चाहिए थी परन्तु ऐसा न करके उलटे उस सिद्ध साधक का उन्होंने स्वागत किया। इस प्रकार यह कृति कवयित्री की मौलिक दृष्टि की परिचायिका है। इस काव्य को भी 'अखैराम की बानी' में ही पृ० ३५०–३५६ के बीच संग्रहीत किया गया है।

इनका 'बुधविलास' एक उच्च कोटि की रचना है। इसमें १४४ दोहों का समावेश है। इसका रचना-काल माघ सुदी ११, रविवार, सं० १८३७ वि० है। ज्ञातव्य है कि सं० १८३९ वि० के आरंभ में चरणदासजी सदलबल जयपुर पधारे थे। यही उनकी जीवन-लीला के पटाक्षेप का वर्ष है। इससे स्पष्ट होता है कि ये उस समय तक एक संत एवं कवयित्री के रूप में प्रख्यात हो चुकी थीं। इनकी स्वतंत्र गद्दी भी थी, जो स्यांझापुर (शाहजहाँपुर–अलवर) में थी। यह चरणदासी-संप्रदाय की एक सक्रिय गद्दी के रूप में आदृत थी। यहाँ के महंतगण प्रायः सभी सामूहिक सांप्रदायिक आयोजनों में उपस्थित होते थे। इस गद्दी की शिष्य-परंपरा इस रूप में मिलती है—

चरणदासजी-→गुरुछौनाजी-→अखैरामदासजी-→ सुश्री खुसालाबाई→गोपालदासजी→रामगोपालजी→ बनवारीदासजी→(डहरा और बहादुरपुर की गद्दियों से सम्बद्ध) महन्त बनवारीदास।

ये मूलतः बहादुरपुर के महन्त थे। बहादुरपुर अलवर नगर के निकट स्थित है। चरणदासजी के ननिहाल का स्थान होने के कारण यह इस सम्प्रदाय के गुरुद्वारों में विशेष महत्त्वपूर्ण है। चरणदासजी का बाल्यजीवन यहीं बीता था।

'साधु-महिमा' और 'बुध-विलास' के अतिरिक्त जिन दो अन्य ग्रंथों की रचना संत खुसालाबाई ने की थी, उनके नाम हैं—'नरसी रो भात' और 'सात वार'। 'सात वार' शीर्षक से इस संप्रदाय में अनेक ग्रंथ रचे गये हैं। इनमें सप्ताह के सातों दिनों की वैष्णव-रीति के अनुसार चर्य्या का वर्णन होता है।

खुसालाबाई द्वारा रचित अधिकांश स्फुट पद श्री राधा और कृष्ण के लीलागान से सम्बद्ध हैं। इन्हीं में से 'हिंडोर-लीला' का एक पद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

हिंडोरे झूलत हैं दुहुँ प्यारे।
श्री राधा वृषभान नन्दिनी मोहन नन्द दुलारे॥

गौर स्याम छबि बनी अनूपम अंगन भूषन धारे।
झोंका देइ झुलावत सखियाँ गावत राग मलारे॥

हरी भरी भई भूमि सुहावन बरसत मेघ फुहारे।
बाई खुसाला अखैगुरू किरपा ये सुख नैन निहारे॥

'मल्हार राग' में निबद्ध यह पद भाव और भाषा-प्रयोग की दृष्टि से इस बात का प्रमाण है कि ये उच्चकोटि की संगीतज्ञ कवयित्री थीं। इन्हें विभिन्न राग-रागिनियों और ताल-लय का शास्त्रीय ज्ञान था। यह तथ्य निम्नलिखित पद से भी सिद्ध है—

बधाई का पद (राग ललित)

आछो नीकौ गावो बधाई॥

तीन ग्राम अरु सप्त सुरन ले
मानो आनन्द को झर लाई।
छहों राग छत्तीस रागिनी
एक-एक तें अधिक सवाई॥

ललित, विभास, रामकली, भैरव,
सूहू, बिलावल परम सुहाई।
देवगांधार, आसावरि, टोड़ी,
सारंग आदि सकल जु सुनाई॥

छत्तीसों बाजे अति बाजे
धुन सुन इन्द्रसभा सकुचाई।
अपने-अपने बगर-बगर सूं
प्रेम बढ़ाइ नारि सब धाई॥

भूषन बसन दान अनमोले
देत सबन कूं जसुमति माई।
सेस सहसमुख पार न पावे
केहि विधि बरणे खुसालाबाई॥

खुसालाबाई का सात्त्विक एवं त्यागमय जीवन अन्य नारियों के लिए प्रेरणास्रोत है। अपनी सिद्धियों, विद्वत्ता और सच्चरित्रता की जो छाप इन्होंने जयपुर में छोड़ी है उसकी कथा आज भी जन-प्रिय और अनुकरणीय है।

श्या० सु० शु०

खूबचंद रावत 'रसेस'

जराखर (राठ, जिला हमीरपुर) निवासी श्री राखन रावत के सुपुत्र खूबचंद रावत का जन्म संवत् १९०९ में हुआ था। इन्होंने ग्रामीण हिन्दी अथवा कैथी में लिखना-पढ़ना सीखा, तदुपरान्त उर्दू और हिन्दी का अभ्यास करके धीरे-धीरे संगीत तथा छंदशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। फिर 'रसेस' और 'रसीले' उपनामों से काव्य-रचना प्रारम्भ की। इनका कविजीवन आसपास के जागीरदारों और राजाओं की सभाओं के तलाशने और उनका चक्कर लगाने में बीतने लगा। कहा जाता है कि एक बार राजा गंभीरसिंह की सभा में इन्होंने अपने छंद सुनाये, पर विदाई में इन्हें कुछ न मिला। ये क्रोध से उबल पड़े और राजा के सामने एक छंद पढ़ा जिसका अंतिम चरण था—'राजा श्री गंभीरसिंह छंद खूबचंद के में, विदा में दगा दई न दीन कोऊ दैहै को।' इस घटना का ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये कृष्णभक्त हो गए।

इनके एक संग्रह 'अंगचंद्रिका' में लिखा है कि पं० नारायणदास ने इन्हें कृष्ण-मंत्र की दीक्षा दी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ये किसी विशिष्ट संप्रदाय या मत से नहीं बँधे थे, लेकिन पदों से ये माधुर्यभाव के कृष्णोपासक सिद्ध होते हैं।

इनके कृष्णभक्तिपरक काव्य-ग्रंथों में प्रमुख हैं—कृष्णकुसुमाकर, माखन-चोरी, प्रेमपत्रिका और रसिक-वसीकरण। इन्होंने रागबद्ध पदों एवं लोकधुन पर आधारित दादरा, ख्याल, होरी और फागों में अपनी भक्तिभावना की अभिव्यक्ति की है। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१)

ब्रज भइ प्रकट बात अस घर-घर ॥
नंदलाल जल भरन देत नहिं
तिय मुख देखत अंचल धर-धर।
जात नहीं कोइ बाम बाट वह
लखि अनरीत भगत हिय डर-डर ॥
नागर नट घट छीन लेत झट
सिर ढरकावत जल सों भर-भर।
खूबचंद उत जाय फँसत जो
सो तिय छूटत हा-हा कर-कर ॥

(२)

रसिक सिरोमनि हैं बनवारी ॥
नैनन-सैनन कह मृदु बैनन
मोह लई बृषभान-दुलारी।
प्रात तात जैहैं गोदोहन
तिन सँग हमहूँ जायँ तहाँ री ॥
जो तुम जैहौ धेनु दुहावन
खरक माँझ मोंहि पैहौ प्यारी।
खूबचंद संकेत मिलन हित
अवध बदी श्री कुञ्जबिहारी ॥

न० प्र० गु०

खेतसी

श्री खेतसी सांदू शाखा के चारण नाथूसिंह के पुत्र और जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के आश्रित कवि थे। श्री अगरचन्द नाहटा ने इन्हें गढ़वी चारण बतलाया है, किन्तु 'सूरजप्रसाद' ग्रंथ से भी खेतसी के सांदू शाखा के चारण होने की पुष्टि होती है—

सुतरण 'नाथ' खेतसी बदे, सांदू खग बाहणा।
'वखतौ' खिड़ियौ बदै, रचूँ 'अमरा' जेही रणा॥

इनके 'भाषा-भारत' नामक ग्रंथ की उदयपुर-वाली प्रति से भी इनका सांदू शाखा का चारण होना सिद्ध होता है। कवि का पूरा नाम खेतसिंह था, परन्तु

काव्योल्लेख के समय कवि ने 'सीह' सम्बोधन से ही स्वयं को सम्बोधित किया है। 'भाषा-भारत' खेतसी का बृहद् काव्य-ग्रंथ है जिसमें भक्तिभावों का सुष्ठु प्रकाशन हुआ है। इस ग्रंथ में महाभारत की कथा का तेरह हजार छन्दों में अनुवाद किया गया है। इसका रचना-काल वि० सं० १७९० है। 'भाषा-भारत' डिंगल भाषा का सुन्दर ग्रंथ है जिसमें भक्तकवि ने साहित्यिक डिंगल का प्रयोग कर मोतोदाम, हनूफाल, दूहा, कवित्त, चौपाई आदि छन्दों के माध्यम से वर्ण्य-विषय को आकर्षक और प्रभावपूर्ण बना दिया है।

इनका श्रीकृष्ण-महिमा विषयक एक छंद प्रस्तुत है —

सर मेलप सुख मिलत, निसा मेलप तप नाहिन।
जल मेलप मल घटत, सतह पुरखां चित चाहिन॥

पंडित मेलप प्रकट, मनह हरिनांम पियासै।
गुणीयां मेलप गुणी, बिमल बुद्धि बधण विकासै॥

महिमा समन्द जादव निमल,
देखत व्रन आणंदीयौ।
कवी सीह हठी मेलप करै,
भाखा दध पारह भयौ॥

ज० सिं० परि०

खेमकरन

खेमकरन बाराबंकी जनपद के धनौली नामक गाँव के निवासी थे। इनका जन्मकाल सं० १७७१ और मृत्युकाल सं० १८६१ माना गया है। ये 'भाषा-काव्य-संग्रह' के कर्ता पं० महेशदत्त शुक्ल के नाना थे। इन्होंने सात वर्ष की अवस्था से पढ़ना आरंभ किया था। घर पर प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद ये मथुरा गये और वहाँ छंदशास्त्र का अध्ययन किया। फिर अयोध्या में निरंतर २० वर्षों तक रहकर विद्याध्ययन किया।

इनकी कृष्णभक्ति विषयक एक पुस्तक 'कृष्णचरितामृत' प्राप्त हुई है जिसका लिपिकाल सं० १९२९ है। रचना-काल ज्ञात नहीं है। 'कृष्णचरितामृत' में श्रीकृष्ण के जन्म तथा उनकी रास आदि विविध लीलाओं का भक्तिभावपूर्ण विस्तृत वर्णन किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से रचना सरस और उच्च कोटि की है। यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं —

(१)

रास रचो हरि वृन्दावन में॥

दुइ-दुइ गोप बन्धन के अंतर।
एक-एक श्रीकृष्ण निरन्तर॥

नखशिख रूप अनूप सुहायो।
पट भूषन सबके अति भायो॥

यह छबि छाइ रही सखि मन में।
रास रचो हरि वृन्दावन में॥

(२)

करि प्रभु चरित द्वारिका बसिकै।
पुत्र कलत्र मित्र कुल पुरजन,
परिजन पशु पक्षिन्ह चित कसिकै॥

दस सुत की जननी सब नारी,
तिनकर सब परिवार बिलसिकै॥

सब ऋतु सब सुख दुख नहिं ब्यापत,
मुख लखि कृष्णचन्द्र को लसिकै॥

जल, बन-उपबन, महल, सौध लखि,
हरत सकल मन लसिकै हँसिकै॥

जासु बिभव तकि कलपत सुरपति,
पसुपति जलपति रहत उससिकै॥

चरित सुधा वसुधातल भारी,
डारि दई बसुधा गुनि रसिकै॥

'खेमकरन' जेहि पान किये ते,
होत परम पद प्रभु पद फँसिकै॥

बा० सिं०

त्रि० ना० सिं०

खेमजी

हितवंशीय खेमजी का जीवन-वृत्त राधावल्लभ-सम्प्रदाय के चरित्र-ग्रन्थों में नहीं मिलता, किन्तु इनका

नामस्मरण अवश्य किया गया है। सर्वप्रथम श्री हित ध्रुवदास ने अपनी 'भक्त-नामावली' नामक रचना में इनका नामोल्लेख करते हुए लिखा है कि इन्होंने उत्कट अनन्यव्रतवाली श्री हरिवंश गुसाईं की भजन-रस-रीति का निर्वाह भली प्रकार से किया था—

परमानन्द किशोर दोउ, सन्त मनोहर खेम।
निर्वाह्यौ नीके सबनि, सुन्दर भजन कौ नेम॥

चाचा वृन्दावनदासजी ने श्री हिताचार्य चरण के कीर्त्ति-गान के सन्दर्भ में हित कृपापात्रों की नामावली लिखी है। उसमें आपका स्मरण इस प्रकार किया है—

नमामि श्री हरिवंश नवल निज दासजु परिकर।
नमामि श्री हरिवंश अभय किये खेम मनोहर॥
—श्री हरिवंश सहस्रनाम

गोमुख जु बजावत रसिक खेम।
बाजौ अमोल मढ्यौ चोख्यौ हेम॥
सुनि श्रवन नाद तजै को न नेम।
हिय सागर बाढै लहर प्रेम॥
—प्रथम-वसंत-प्रबंध

श्री गोविन्द 'अलि' ने इनकी भक्ति-भावना का परिचय देते हुए लिखा है कि खेमदासजी प्रिया-प्रियतम की भाव-भावना में पगे और श्री हिताचार्य की अंग-सेवा में निरन्तर संलग्न रहा करते थे। गुरुवर के चरणोदक लेने और उनके उच्छिष्ट पाने का इनका दृढ़व्रत था। इनकी निष्कैतव सेवा से प्रसन्न होकर आचार्यपाद ने अपने गले की माला के साथ ही श्री हित दम्पति की नित्य केलि का स्फुरण प्रदान करके इन्हें श्री राधा-किंकरी-गणों में शामिल कर लिया था—

श्री हित व्यास कुमार की, करत खवासी नेम।
भाव-भावना में पगे, संत मनोहर खेम॥
संत मनोहर खेम किशोर गाँगू गोपाला।
इनहूँ कौं प्रभु रीझि दई अपनी उर माला॥
आप बराबर किये जिये संसृति कौ नासर।
चरणोदक कौ पान सीथ दृढ़व्रत निशि वासर॥
- भक्तगाथा

चाचा हित वृन्दावनदास ने लिखा है कि चिड़थावल-निवासी आत्मदेव नामक ब्राह्मण ने अपनी दो कन्याओं - कृष्णदासी तथा मनोहरी—का गोस्वामी श्री हित हरिवंशजी के साथ पाणिग्रहण कर बिदा करते समय अनेक भृत्य भी दिये थे—

द्वै कन्या दई विप्र, व्याहि वृन्दावन आये।
अश्व रथ पुनि पालकी, बहुत सम्पति सजि लाये॥
प्रथम वास वन कियौ, सेव्य नित राधावल्लभ।
जुगल रहसि दै जननि, छाँह राखे पद पल्लव॥
श्री कृष्णावती-मनोहरी, स्वामि परिचर्या तत्पर।
औरौ अनुग अनन्त लार, श्री वपु पद अनुसर॥
- श्री हरिवंश सहस्रनाम

अधिक सम्भावना यह है कि उन भृत्यों में एक श्री खेमदास भी रहे हों। इस आधार पर इनका निवास-स्थान चिड़थावल माना जा सकता है।

श्री हिताचार्य के अन्तर्धान होने से पूर्व ही ये निकुंज-गमन कर गये अथवा उनके पश्चात् भी धरा-धाम पर बिराजते रहे, इस सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय प्रमाण समुपलब्ध नहीं है, किन्तु ध्रुवदासजी की 'निर्वाह्यौ नीके सबनि सुन्दर भजन कौ नेम' इस पंक्ति से ऐसी व्यंजना ली जा सकती है कि खेमदासजी गो० हितहरिवंशजी के निकुंज-गमन के पश्चात् भी कुछ समय तक जीवित रहे। इस आधार पर इनका आनुमानिक स्थिति-काल सं० १५५० से सं० १६५० के मध्य प्रतीत होता है।

श्या० बि० खं०

खेमदास

हिन्दी-साहित्य में 'खेम' नाम के कई कवि हुए हैं। भक्तमाल में कुल छः 'खेम' चर्चित हैं—१. खेम, गुसाईं, इनका उल्लेख छप्पय सं० ८३ में हुआ है। यह

राम-भक्त थे। २ खेम, छप्पय सं० ९८ में वर्णित **'सूरज कुम्भनदास विमानी, खेम विरागी।'** ३. छप्पय १०० में वर्णित २६ भक्तपाल दिग्गज भक्तों में से एक। **'खेम, श्रीरंग, नन्द, विस्नु, बीदा, बाजूसुत-जोरी।'** ४. छप्पय १४७ में वर्णित २३ भक्तों में से एक —**'किंकर कुण्डा, कृष्णदास, खेम, सोठा, गोपानन्द।'** ५. छप्पय १४९ में वर्णित मधुकरी माँग माँगकर सेवा करनेवाले १३ भक्तों में से एक। यह खेम पण्डा के नाम से प्रसिद्ध थे और गुन्नौर के रहनेवाले थे। **'बोठल ठोंड़े, खेम पण्डा गुनौरे गाजै।'** ६. छप्पय १५० में उल्लिखित अग्रदासजी के सोलह शिष्यों में से एक। ७. एक अन्य खेम का वर्णन 'बुन्देल-त्रैभव' में हुआ है। बुन्देल-वैभव के अनुसार खेमदास या खेम कवि का जन्म संवत् १६५५ वि० में हुआ था। इनका रचना-काल सं० १६८० के लगभग मान्य है। इनके द्वारा रचित एक ग्रन्थ **'सुखसंवाद'** प्रसिद्ध है। ८. मिश्रबन्धु-विनोद (२१८।१) में एक अन्य खेम की भी चर्चा आई है जिनका रचनाकाल वि० सं० १६६० से पूर्व माना गया है। यह दादूदयाल के शिष्य और 'रम्भा-शुक-संवाद' के रचयिता थे। ९. एक खेमदास संत रज्जबजी के शिष्य थे और सरवाड़ में रहते थे। इनका रचना-काल सं० १७०० वि० सं० के आसपास है। अपने 'भक्तमाल' में महात्मा राघवदास ने इनके विषय में लिखा है —

महंत रज्जब के अज्जब शिष्य खेमदास,
जाके नेम नितप्रति व्रत निराकार कौ।

१०. सरोज में सं० १४६।११४ पर निर्दिष्ट खेम कवि (२) व्रजवासी संवत् १६३० में हुए। इनके पद 'रागसागरोद्भव' तथा 'रागकल्पद्रुम' में संकलित हैं।

कवि खेम-सम्बन्धी उपर्युक्त विवरणों के आधार पर एक उलझाव उत्पन्न होता है जिसके बीच कृष्ण-भक्त खेम की पहचान कर पाना अत्यन्त कठिन है। परन्तु अनुसन्धान के आधार पर कहा जा सकता है कि 'सरोज' के खेम तथा 'बुन्देल-वैभव' के खेम अभिन्न हैं और ये ही पुष्टिमार्गीय कवि खेम थे। 'बुन्देल-वैभव' के अनुसार इनका जन्म १६५५ वि० निर्धारित होता है। ये सत्रहवीं शती में विद्यमान थे। इनका एक पद 'सरोज' में दिया हुआ है। बुन्देल-वैभवकार पं० गौरीशंकर द्विवेदी ने भी इसी पद को उद्धृत करते हुए इन्हें कृष्णभक्त सिद्ध किया है—

विलुलत कर पल्लव मृदु बेनु।
हर्षित हुंकृत आवत धेनु॥

कोटि मदन द्युति स्याम सरीर।
विपति कलपतरु जमुना तीर॥

दच्छिन चरन चरनपर धरे।
बाम अंस भ्रूकुण्डल करे॥

बरुह चंदवन धातु प्रवाल।
मनि मुक्ता गुंजाफल माल॥

देखन चलहु खेम नँदलाल।
ललित त्रिभंगी मदन गुपाल॥

प्रस्तुतपद के आधार पर कवि खेम कृष्ण-भक्ति में विभोर दिखाई पड़नेवाले वैष्णव-भक्त हैं। संध्या समय बनवारी वेश में गोचारण कराकर गायों के साथ लौटते हुए भगवान् श्रीकृष्ण का इतना दिव्य दर्शन अपनी वाङ्मयी तूलिका से कोई सिद्धहस्त भक्त कवि ही कर सकता है।

उपर्युक्त पुष्टिमार्गीय कवि खेम जाति के क्षत्रिय थे। बुन्देल-वैभवकार ने इनका जन्मस्थान ओरछा माना है। ओरछा से ये ब्रज में आ गये थे। गोसाइं विट्ठलनाथजी की प्रशस्ति एवं उनकी दिग्दिगन्त-व्यापी कीर्ति-सुरभि का रसास्वाद कर अनेक भावुक भक्त इस समय पुष्टिमार्ग के अनुयायी हो गए थे। खेम ने अपनी कविता में 'खेम', 'क्षेमकरण', 'खेमदास' आदि नामों की छाप लगायी है। कवि खेमदास गो० विट्ठलनाथजी के औरसपुत्र गो० तुलसीदास उपनाम लालजी के शिष्य थे। गो० विट्ठलनाथजी ने उन्हें अपना आठवाँ पुत्र मानकर ठाकुर श्री गोपीनाथजी की सेवा का भार

सौंपा था। उन लालजी के बारह शिष्यों में खेमदास प्रमुख हैं। गो० लालजी की बधाई इन्होंने इस प्रकार गायी है—

संवत बसु नभ रस धरा, श्री लालन अवतार।
जगत उधार्‌यौ आइके, 'खेमदास' बलिहार।।
—खेमदास कृत 'बधाई'

खेमदास के स्फुट पद कीर्तन-संग्रहों में उपलब्ध होते हैं। काफी राग में होली के पद, गोचारण के पद तथा खण्डिता के पद प्राप्त हुए हैं। इनके तीन या चार पद जो यत्र-तत्र प्राप्त हो सके हैं निजी संग्रहों में संकलित हैं। कवि खेम का एक स्फुट पद दतिया राजकीय पुस्तकालय से प्राप्त हुआ है, वह इस प्रकार है—

तुम पै वह टेकु न छूटति जू,
कहौ कैसे रहे रस रीति जुरी।
कवि खेम वह कौन हुती, इतराति,
पिछारि किवारि की ओटि दुरी।।

कहियेऽब कहा मनमोहन जू,
अपनी आँखिन वह देखि मुरी।
तब तैं हरि है न टरैं तिय के,
हिय तेरी सदा तनिकै अँगुरी।।

आलोच्य भक्त कवि खेम का नाम दिनेशचन्द्र सेन द्वारा दी गयी वैष्णवों की सूची में ११ वें स्थान पर दिया हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि ये पुष्टिमार्गीय वैष्णव कवि थे। आपका पद-साहित्य 'ख्याल-टप्पा' नामक हस्तलिखित ग्रंथ में संगृहीत है। यह हस्तलेख जोधपुर-नरेश के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। इसमें कृष्णदास, सूरदास, रसिक प्रीतम, आसकरन, नंददास, श्रीधर, परमानंददास, चतुरबिहारी, गोपालदास, जनहरिया, खेम आदि के पदों का संग्रह है।

रा० कृ० श०

खेमहित

खेमहितजी का परिचय चाचा वृन्दावनदासजी ने अपनी 'रसिक-अनन्य-परचावली' में नहीं दिया है। गोविन्दअलिजी की 'रसिकगाथा' में भी इनसे सम्बद्ध कोई छप्पय नहीं मिलता। किन्तु चाचा हित वृन्दावनदासजी ने अपने 'बसन्त-चतुर्थ-प्रबन्ध' में खेम हितजी के सम्बन्ध में बताया है कि ये चंदसखीजी के शिष्य थे। चंदसखीजी के आसन पर विराजमान रसिकदासजी खेमदासजी के गुरुभाई थे—

बहु चंद सखी साखा प्रकास।।
तिन आसन बैठे रसिकदास।।

पुनि खमदास गुरु भ्रात जास।
दम्पति सुख निरखैं फाग मास।।

श्री नन्दनन्दन की बधाई के प्राचीन पद-संग्रहों में भी खेमदासजी का एक पद मिलता है—

आजु हौं नन्दहि जाँचन आयौ।
जनम सफल करिबे कौं अपनौं
रहसि बधावौ गायौ।।

महरि कहत या बालक कौ गुन
किनहूँ न भेद बतायौ।
भलौ-भलौ सब लोग कहत हैं सोई ग्रन्थन गायौ।।

प्रथम रूप संखासुर मार्‌यौ कमठ पीठ ठहरायौ।
श्री बराह नरसिंघ औतर्‌यौ बलि पाताल पठायौ।।

परसराम छत्रिनु के कारन कैऊ बार छुटायौ।
रघुपति-रावन सीस भुजा हति सीता लै घर आयौ।।

बिभीषन कौं राज तिलक दै लंका में बैठायौ।
अब श्रीकृष्ण प्रगट पुन्यन तें तुम्हरो पुत्र कहायौ।।

बाल केलि सौं केलि करेंगे नटवर वेष बनायौ।
कर गोवर्धन सात द्यौस लौं बाँए अग्र उठायौ।।

रासविलास करैं वृन्दावन गोपिन प्रेम बढ़ायौ।
मार्‌यौ कंस केसी खल मार्‌यौ
औरै साल सवायौ।।

जस अपार लीला अनंत ब्रह्मा हू पार न पायौ।
महरि कहत यह भलौ दसौंधी
सबहिन के मन भायौ।।

बाबा जू हँसि कैं मन्दिर तें बकुचा बेगि मँगायौ।
झगा पगा अरु पाग पिछौरा नीकें करि पहिरायौ॥

हरी दर्याई कौ दगला ऊपर लै उपनंद उढ़ायौ।
सुखानन्द सोने कौ टोडर ढाँढ़ी हाथ गहायौ॥

महानन्द महँगे मोलन कौ ग्रीव-हार पहिरायौ।
परमानन्द प्रीति करिकैं कानन कुण्डल चमकायौ॥

धरानन्द धाराधर के सम कंचन धन झर लायौ।
सीधौ बहुत सुरसुरानन्द ने गाड़िन भरि पहुँचायौ॥

नित्यानन्द सबन सौं कहि कै सब पै दान दिवायौ।
कनक माल कंकन मुँदरी सौं उभै भार भरवायौ॥

बड़े नन्द ठठके बड़ताजी सेवक हाथ गहायौ।
दीनो बड़ौ डौल को हाथी घनघनाइ घन्नायौ॥

गाइ भैंस खैलनि के लहडे गोकुल गाउँ जतायौ।
दस हजार मन गैंहुँन कौ तव एकै खेत बतायौ॥

बेसक उठचौ बंब धरि कैं चढ़ि कैं नीसान बजायौ।
ढाँढ़िनि हूँ पहिरी मंदिर तें सो दत्त जात न गायौ॥

इहि विधि विदा भयौ जब ढाँढ़ी
कीरति जस सौं छायौ।
व्रज वासीन विचारि खेम हित
लिखि पट्टौ पकरायौ॥

ल० च० गां०

गंग कवि

श्री गंग कवि के जन्म-स्थान, काल, जाति आदि के सम्बन्ध में कुछ निश्चित साक्ष्य नहीं मिलते हैं। शिवसिंह सेंगर के अनुसार इनका पूरा नाम गंगाप्रसाद था और इनका जन्म १५९५ वि० में इटावा जिले के कनौर नामक स्थान में हुआ था। किन्तु परवर्ती सूचनाओं के आधार पर इन्हें इटावा जिले के ही इकनौर नामक ग्राम का होना निर्धारित किया गया है। इस मत के पक्ष में कुछ तथ्य भी मिलते हैं—यथा, जहाँगोर के एक सम्बन्धी जैनखाँ द्वारा इकनौर के कुछ ब्राह्मणों को मरवा डालने पर गंग ने जैनखाँ की निन्दा करते हुए निम्नांकित छंद लिखा था—

बारक खाँ विरच विदरभ देस मार्‌यो गंग,
दल खान मारे मीर कन्हर गौर के।
दाही मीर मारि के अनेक देस पस्ति करि,
खानदेस खोहे चित्र मन्दिर मरोर के।
पूरब पछाँह बरदाने मानसिंह मारे,
कासिम खाँ खोदे हैं मवास ठौर-ठौर के।
केसोदास मारु मारि हरम कमठ कारी,
जैनखाँ जुनारदार मारे इकनौर के।

इससे गंग कवि का इकनौर गाँव के ब्राह्मणों से लगाव प्रकट होता है। इस प्रकार का प्रेम जन्मभूमि का ही प्रेम प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त बीरबल और गंग की बालमैत्री भी इन्हें इकनौर का होना प्रमाणित करती है। बीरबल कानपुर जिले के तिकवांपुर नामक स्थान के निवासी थे जहाँ से इटावा जिले का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इन तथ्यों के साथ-साथ शिवसिंह सेंगर भी अपने विचारों को बदलकर इन्हें इकनौर-निवासी ही ठहराते हैं। जन्म-स्थान की भाँति ही इनकी जाति के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कुछ विद्वान् इन्हें ब्राह्मण जाति का मानते हैं तो कुछ ब्रह्मभट्ट। किन्तु स्वयं गंग कवि के अनेक छन्दों से इनका ब्रह्मभट्ट होना ही अधिक मान्य प्रतीत होता है।

उदाहरणार्थ निम्नलिखित छंद में 'कवि गंगभट्ट' की छाप मिलती है—

बैठे दरीखाने बीच साह को समूह दल,
दोनों बीच आन दयो एक राखो है।
रोस करि बचन कहे हैं भुव पाल ते,
सावन को बन्धन बन्धे सत्य भाखो है॥
भनै कवि गंग भट्ट सोर महिमण्डल में,
हाड़ाबंस बीर ने कृपान खोल राखी है।
ठोंक भुज दण्ड प्रचण्ड सो जुझारसिंह,
बूंदीपति राखो सो तुम्हारे हाथ राखी है॥

'भट्ट' ब्राह्मण-जाति के ही होते हैं—ऐसा निर्धारित करते हुए भी उन्होने अपनी जाति का परिचय दिया है—

बाभन को जनमु जनेऊ मेलि जानि बूझि,
जोभ ही बिगारिबे को याच्यो जन-जन में ।
कहि कवि गंग कहा कीजै जो न जाने जात,
वाउ ग्यान देखो जो बुढ़ाई ध्यान धन में ॥

शिवसिंह सेंगर भी इन्हें ब्रह्मभट्ट जाति का ही मानते हैं—

प्रथम विधाता ते प्रगट भए बंदीजन,
पुनि पृथु यज्ञ ते प्रकाश सरसात है ।
माने सूत सौनकन सुनत पुराण रहे,
यश को बखाने महासुख बरसात है ॥
चन्द चौहान के केदार गौरी साह जू के,
गंग अकबर के बखाने गुन गाथ है ।
काग कैसे मांस अजनास धन भाटन के,
लूट धरे ताको खराखोज मिटि जात है ॥

इन सबके अतिरिक्त ब्रह्मभट्टों में यह विख्यात है कि कवि गंग उन्हींकी जाति के कवि थे । 'ब्रह्मभट्ट दर्पण' नामक एक छोटी-सी पुस्तक में संस्कृत और हिन्दी के अनेक भट्ट कवियों का उल्लेख है, जिसमें गंग कवि का भी नाम है । इससे स्पष्ट होता है कि ये ब्रह्मभट्ट-जाति के थे । अकबरी दरबार के प्रमुख कवि बीरबल इनके बालसखा थे । उन्होंने ही १६२७ वि० में इनका परिचय अकबर से कराया था जिसके फलस्वरूप ये अकबर के दरबारी कवि हो गए । वहाँ इनकी मित्रता अकबरी दरबार के प्रतिष्ठित सदस्यों —अब्दुर्रहीम खानखाना और मानसिंह—से हुई, जिनसे इन्हें अत्यधिक प्रतिष्ठा तथा धन समय-समय पर प्राप्त हुआ । कहते हैं कि अब्दुर्रहीम खानखाना ने इन्हें निम्नलिखित छप्पय पर प्रसन्न होकर पारितोषिक रूप में छत्तीस लाख रुपए प्रदान किए थे —

चकित भँवर रहि गयो
गमन नहिं करत कमल बन ।
अहि फनि मनि नहिं लेत
तेज नहिं बहत पवन धन ।
हंस मानसर तज्यो
चबक्क चक्कीन मिलैं अति ।
बहु सुन्दरि पद्मिनि पुरुष
न चहै न करैं रति ।
खल-भलित सेस कवि गंग भन
अमित तेज रविरथ खस्यो ।
खानानखान बैरम सुवन,
जबहिं क्रोध करि तंग कस्यो ।

इस पुरस्कार का उल्लेख गंग के परवर्ती कवि खूबचंद ने भी किया है—

छप्पै पे छतीस लाख गंगै खानखाना दियो,
यातो दीन ह्वै दूनो दान ईदर में ऐहै को ।
राजा श्री गंभीरसिंह छंद खूबचंद के,
बिदा में दगा दई न दीन कोउ पैहै को ।

सम्राट् अकबर के प्रधान सेनापति मानसिंह ने भी इन्हें अत्यधिक सम्मान दिया था । एक बार एक भिक्षुक इनके सन्मुख अपनी पुत्री के विवाह हेतु धन के याचनार्थ आया । गंग ने तुरन्त ही एक हजार रु० की हुण्डी मानसिंह के नाम पर बनाकर भिक्षुक को दे दी । वह भिक्षुक उस हुण्डी को लेकर मानसिंह के पास गया और उसने रुपये प्राप्त कर लिए । किन्तु यह सहायता मानसिंह को बहुत छोटी लगी । अतः इन्होंने गंग कवि को लिखकर भेजा—

इत में हम महराज हैं, उतै आप कविराज ।
हुण्डी लिखत हजार की, लिखत न आई लाज ॥

स्वयं गंग कवि ने इस घटना का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

सिद्धि श्री मानसिंहजी को कीरति बिसद भई,
तौ लौं राज रहै जौ लौं भूमि थिर बेनी है ।
रावरी कुसल हम सिसुन समेत चाहैं,
घरी-घरी पल-पल यहाँ हु सुचैनी है ॥
हुण्डी एक तुम परकरी है हजार की सो,
कविन सो राखो मान साह जोग देनी है ।

पोहिचे प्रमान मान बंस में सपूत मान,
रोक गिनि देने जस लेने लिख देनो है ।।

इससे विदित होता है कि कवि गंग दिल्ली-दरबार के अनेक विशिष्ट व्यक्तियों के सम्पर्क में आए थे। मानसिंह, रहीम, बीरबल, टोडरमल आदि सम्मानित व्यक्तियों द्वारा इन्हें सम्मान की प्राप्ति हुई थी। अपनी आर्थिक विपन्नता के कारण इन्होंने बालसखा बीरबल की सहायता ली थी, जिसकी पुष्टि निम्नलिखित पंक्ति से होती है—

आगे सुदामा कृष्ण हैं, गंग बीरबल फेर।
ता दिन में तंदुल हते, येहि दिनन में बेर।।

इससे पता चलता है कि इन्होंने अपने जीवन का आरम्भिक काल अति विपन्नता में बिताया था। अतएव अपनी दरिद्रता के विमोचनार्थ बेर के कुछ फल लेकर बीरबल के पास गये थे। सम्भवतः तभी साहित्यानुरागी बीरबल ने कविता-प्रेमी अकबर से इनका साक्षात्कार कराया होगा। सं० १६२७ में गंग का अकबर के दरबार में उपस्थित रहना प्रमाणित है, जब उन्होंने अपनी गद्य-रचना 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' अकबर को सुनाई थी। अकबर समय-समय पर अपने दरबारी कवियों के समक्ष समस्याएँ प्रस्तुत करते थे। उनकी पूर्ति में गंग का प्रधान भाग रहता था। गंग कवि ने अपने जीवनकाल में वैभव और निर्धनता, सम्मान और तिरस्कार, सभी का अनुभव किया था—जहाँगीर के शासन में राजकीय विरोध के कारण उन्हें बुरे दिन देखने पड़े थे।

एक दिन ऐसो जामे शिबिकाहू गज बाजि रहे,
एक दिन ऐसो जामे सोयबो को सहसो।
एक दिन ऐसो जामे गिलम गलीचा लागे,
एक दिन ऐसो जामे तागे को न पयसो।।

एक दिन ऐसो जामे राजन सो प्रीति होत,
एक दिन ऐसो जामे दुश्मन को धहसो।
कहै कवि गंग नर मन में विचार देख,
आज दिन ऐसो जात काल दिन कयसो।।

• • •

कई बार इहि छिति छोटनि में छोट भयो,
कई बार छिति में छतीसा पायो नाऊँ मैं।
कई बार देवलोक देवन में देव भयो,
देखि-देखि देइ दुःख दुंदुनि डराऊँ मैं।।

गंग के छन्द से ज्ञात होता है कि इन्होंने अपने जीवन के तीन 'पन' बिताकर चौथे 'पन' में प्रवेश किया था। एक 'पन' के २५ वर्ष मान लेने से इनकी अवस्था उक्त छन्द-रचना के समय ७५ वर्ष निर्धारित होती है।

काम क्रोध मद लोभ मोह तिनही के बस पर्‌यो,
तिहुँ पुर नायक बिसार्‌यो तिहुँ पन में।
कालिमा के चलत कलापति त्यों चेत होति,
केस आए सेत ह्वै न केसो आए मन में।

बादशाह जहाँगीर के सम्बन्ध में इनके अनेक पद मिलते हैं जिससे इनका जहाँगीर के शासन-काल तक जीवित रहना सिद्ध होता है। जहाँगीर का शासन-काल सं० १६६२ से १६६९ तक रहा। इसके बाद उसने शासन की बागडोर नूरजहाँ के हाथों में सौंप दी थी। अतः तब तक तो गंग कवि का रहना मान्य है। किन्तु इनकी मृत्यु कब और कैसे हुई--इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ पता नहीं चलता।

इस बात का संकेत मिलता है कि इन्होंने सहज मृत्यु नहीं पाई थी अपितु किसी राजाज्ञा के तहत इन्हें मृत्युदण्ड मिला था। प्रसिद्ध हिन्दी कवि देव ने अकबरी दरबार से सम्बद्ध तीन कवियों—बीरबल, केशव और गंग की मृत्यु का वर्णन करते हुए लिखा है—

केसव से गंग से प्रसिद्ध कविवर से जे,
कालहिं गए न वृथा कालहि बितावहीं।
साहिब की सेवा सुख नाहिन बिचारि देखो,
लोभ की उमाहिन पै पीछे पछतावहीं।।

• • •

अकबर बीरबर बीर कविवर केसो,
गंग को सु कविताई गाई रस पाथी ने।

बरनि-बरनि नारी नरनि धरनीपति,
मोह लीने ताना ही ताथनंग ताथी ने ।।
बिन भगवंत के भजन अंत विपति पै देव,
गति न पाई काऊ संपति के साथी ने ।
एक दल सहित बिलाने एक पहली में,
एक भए बभूत एक मीज मारे हाथी ने ।।

अतएव यह सम्भावना की जाती है कि किसी राजाज्ञा द्वारा इन्हें हाथी का शिकार बनना पड़ा और यह राजा अन्य कोई नहीं—जहाँगीर ही रहा होगा। जहाँगीर की क्रूरता के कई उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। वह अपने मनोरंजन के लिए मनुष्यों को हाथी और शेर से लड़वाता था और जब वह मनुष्य हिंसक जन्तुओं का शिकार बन जाता था तब वह अति आनन्दित होता था। 'तुजुक-जहाँगीरी' में इस प्रकार की अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

जहाँगीर सं० १६६२ में सिंहासनारूढ़ हुआ था। उस समय गंग ६७ वर्ष के रहे होंगे (सं० १५९५-जन्मकाल के अनुसार)। अतः उस समय वह अपने पिता के समय के कवि का आदर करता था। इसका आभास कवि के ही छन्दों से होता है—

दलहिं चलत हलहलत भूमि
जल थल जिमि चलदल ।
पल पल खल खलभलत
बिकल बाला कर कुल कल ।।
जिव पट्टहिं ध्वनि युद्ध धुन्धु
धुद्धुव धुद्धुव हुव ।
अरर अरर फटि दरकि गिरत धस मसति
धुकनि ध्रुव ।।
भनि गंग प्रवलमिह् चलत दल, जहाँगीर तुव
भार तल ।
फुं फुं फंरिद फुंकरत महि सहस, गाल उगिलत
गरल ।।

इसमें कवि ने जहाँगीर की अजेय सेना के आतंक का चित्रण कर उनकी प्रशंसा की है। सं० १६६९ में नूरजहाँ को जहाँगीर ने राजकाज की देखभाल सौंप दी। तभी से राजकीय व्यवस्था गड़बड़ होने लगी। शासनतन्त्र में योग्य पुरुषों की कमी एवं अयोग्यों की भरमार होने लगी। फलतः वह दरबार के वरिष्ठ व्यक्तियों का निन्दा-पात्र बन गया। सभी शाहजादे शाहजहाँ को उदार तथा एक कुशल शासक के रूप में चाहने लगे। गंग ने भी संभवतः शाहजहाँ की प्रशंसा में कुछ छन्दों की रचना की थी।

दरबारी व्यक्तियों की इस प्रवृत्ति का आभास नूरजहाँ को भी था। अतः वह उनसे द्वेष करती थी। गंग की भी नूरजहाँ के प्रति कोई श्रद्धा नहीं थी—उसकी प्रशंसा में गंग का एक भी छन्द नहीं मिलता। इसके विपरीत उन्होंने नूरजहाँ के रिश्ते के भाई जैनखाँ द्वारा इकनौर में ब्राह्मणों की हत्या कराए जाने पर उनकी निन्दा व भर्त्सना के छन्द लिखे थे। ये छन्द किसी प्रकार नूरजहाँ के कानों तक पहुँच गए जिससे क्रुद्ध होकर उसने गंग को हाथी से कुचलवा देने की आज्ञा दी। इसका उल्लेख 'दरबारे-अकबरी' में इस प्रकार किया गया है—

'जहाँगीर बादशाह एक दिन तीरंदाजी कर रहा था। किसी भाट की यावागोई पर खफा होकर हुक्म दिया कि इसे हाथी के पाँव तले पामाल करे। खानखाना पास खड़ा था। फिक़रा मजकूर की हाजिरजवाबी उसकी जबानदराजी से भी बढ़ी हुई होती है। उसने अर्ज की कि 'हुजूर ! जरे नाचाज़ के लिए हाथी क्या करेगा। एक चुहे चिड़े का पाँव भी बहुत है। हाथी का पाँव खानखाना के लिए चाहिए कि बड़ा आदमी है।'

खानखाना ने इस ढंग की पैरवी निश्चित ही अपने मित्र गंग के लिए की होगी, किन्तु खानखाना की इच्छानुसार जहाँगीर ने नूरजहाँ की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया। जल्लादों द्वारा वृद्ध कवि को मतवाले हाथियों के सम्मुख खड़ा कर दिया गया। अन्तिम समय में कवि ने निम्नलिखित छन्द उच्चरित किए—

कबहुँ न भड़आ रन चढ़े, कबहुँ न बाजी बंब ।
सकल सभाहि प्रनाम करि, बिदा होत कवि गंग ।

इसके अतिरिक्त कई अन्य कवियों ने भी इस घटना का उल्लेख किया है -

कायर को खेत कहा कपटी सो हेत कहा,
विसवा विसास कहा कबलों पताइये ।
बाखवारी भीत कहा ओछन सों प्रीत कहा,
राँगे को रुपैया कहा बार-बार ताइये ।।

काठ तलवार धारि कौंन जग जीत आयो,
कागज को घोड़ा कहौ कैसो दौराइये ।
कहै ये गुलाम के तिलाम तिनके जे साह,
गंग से गुनीन को गयंद पै तुराइये ।।

सब देवन को दरबार जुर्‌यो,
तहँ पिंगल छंद बनाय कै गायो ।
जब काहू ते अर्थ कह्यो न गयो,
तब नारद एक प्रसंग चलायो ।।

मृत लोक में है नर एक गुनी,
कवि गंग को नाम सभा में बतायो ।
सुनि चाह भई परमेसर को,
तब गंग को लेन गनेस पठायो ।।

दरबारी कवि होने के साथ ही गंग युगीन प्रवृत्ति के अनुसार भक्त भी थे। इन्होंने यद्यपि राम-चरित का भी यत्र तत्र गान किया है, किन्तु मुख्य रूप से ये कृष्ण-भक्त कवि ही थे। श्रीकृष्ण की बाल-लीला, उनका रूप-सौन्दर्य, राधाकृष्ण-प्रेम तथा यमुना-महिमा आदि से सम्बद्ध इनके छन्द अत्यन्त उच्च कोटि के हैं। इनके नाम से तीन ग्रन्थ बताए जाते हैं—(१) गंग-पदावली, (२) गंग-पच्चीसी और (३) गंग-रत्नावली। किन्तु इनमें से एक भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। खोज-रिपोर्टों या प्राचीन संग्रह-ग्रन्थों में प्राप्त बहुत से कवित्त इनकी रचनाशीलता के प्रमाणरूप में विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त खड़ी बोली गद्य में लिखित 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' के लेखक भी गंग भट्ट ही कहे जाते हैं।

सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी गंग ने शृंगार और वीर दोनों रसों में उत्कृष्ट काव्य की सर्जना की। शृंगार के दोनों पक्षों, संयोग और वियोग —में इनकी गहरी-पैठ थी। इसके साथ ही नीति-काव्य की भी इन्होंने सफलतापूर्वक रचना की है। प्रकृति-चित्रण, समस्या-पूर्ति और सूक्ष्म अभिव्यक्ति में ये बड़े सिद्धहस्त थे। भक्ति-सम्बन्धी इनके पद अत्यन्त चित्ताकर्षक हैं। इन्होंने राधाकृष्ण के सौन्दर्य, उनकी प्रेम-क्रीड़ाओं, संयोग वियोग आदि का अत्यन्त चित्रात्मक वर्णन किया है।

इनके काव्य की भाषा फारसी मिश्रित ब्रजी है। कवित्त, सवैया और दोहा छन्दों में इन्होंने अपनी बात अधिक कही है। इनके काव्य के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है—

उत्तम पद कवि गंग के उपमा में बलबीर।
केशव अर्थ गंभीरता सूर तीन गुन धीर।

भिखारीदास ने तो कवित्व-शक्ति में इन्हें तुलसी के समतुल्य माना है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।

इनकी भक्तिपूर्ण रचनाओं के कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं—

(१)

को बरनै उपमा कवि गंग
सुतोही में है गुन ऊरबसी के।
जा दिन ते दरसे मुसुकानि सो
कान्ह भए बस तेरी हँसी के।

चंद से आनन में तिल राजत
ऐसे विराजत दाँत मसी के।
फूलन की फुलवारिन में मनो
खेलत हैं लरिका हबसी के।

(२)

गयंद की चुराई चाल सिंहिनी को लंक चोर्‌यो,
मुख तेरे चंद चोर्‌यो नासा चोरी कीर की।
म्रिगनि के नैन चोर्‌यो पिकनि के बैन चोर्‌यो,
ओंठ तेरे लाल चोर्‌यो दंत छवि हीर की।

कहै कवि गंग बैनी नाग तें चुराइ लाई,
भौंह तो कमान पल अर्जुन के तीर की ।

जेते तुम लूटे ते पुकारत कन्हैया जू पे,
एतनि की चोरी कहा छपेगी अहीर की ।

(३)

गुंजन की माल मोर पंख को मुकुट में जु,
मुरली की घोर तें मरोरे मारियति हौं ।
कहि कवि गंग केहूँ कल न परति मोहि,
कालउ के काल कालकूट सो पियति हौं ।

ता दिन जु ताही छिन होत ही विदा जु मेरो,
हियो न विदरिगो तो हौं ही बदियत हौं ।
महिमा कहत मेरे मोहन को मुँह सूखे,
वह मुख देखे बिनु नीके ही जियति हौं ।

(४)

जा दिन ते माधो मधुबन को सिधारे सखी,
ता दिन ते द्रिगनि दवागनि सी दै गयो ।
कहि कवि गंग अब सब ब्रजवासिनु की,
सोभा औ सिंगार सुख संग लाई लै गयो ॥

आछे मन भावने वे विविध बिछावने जे,
सकल सुहावने डरावने से कै गयो ।
फूले-फूले फूलनि में सेज के दुकूलनि में,
कालिंदी के कूलन बिसासी बिस दै गयो ॥

(५)

जा दिन कंत बिदेस चले सखि
ता दिन ते बहु लागत जीको ।
अंग सिंगार अंगार से लागत
मानिनि के मन लागत फीको ॥

सेज समै कमला भइ व्याकुल
सीस रह्यो लटको तरुनी को ।
गंग कहै सुन साह अकब्बर
नैनु के नीर में भीजत टीको ॥

(६)

द्रौपदी की लाज काज द्वारका ते दौरि आए,
छूम छल छाइ रह्यो अँचभो अथाइए ।
पेटहु में पेट मिलै राख्यो राजा परिछत,
हेर हेर हेर ही विरद सरनाइए ॥

कहि कवि गंगु सब संसार जंजीर जेर,
जंजीरनि जर्‌यो जनु कैसे के छिड़ाइए ।
गिरि के धरन हार गैव्रर के रछपाल,
गरुर के असबार गरूर न लाइए ॥

(७)

जो कहो मोहन जू मथुरा में तो
मंदिर में मढ़ई इक छाऊँ ।
जो कहो तो तुलसी वनमाल
तमालन बीच नचौं अरु गाऊँ ।

स्वांग अनेक करौं कवि गंग जु
कैसेहु कान्ह तिहारो कहाऊँ ।
काल गहे कर डोलत मोंहि
कछू इक बेर खुसी कर पाऊँ ।

वा० सिं०

कृ० चं० ला०

श्र० सिं०

गंगनदास

श्री गंगनदास चरणदासजी के प्रशिष्य तथा गुरुछौनाजी के प्रबुद्ध, प्रिय एवं गुरुसेवी शिष्य थे। इनके कुछ पदों में इनके नाम के साथ 'सखि' या 'सखी' शब्द जुड़ा हुआ मिलता है, जो इस बात का द्योतक है कि इनके ऊपर वृन्दावन की रसिक-साधना का गहरा प्रभाव था। गुरुछौनाजी द्वारा रचित 'षट्रूप-मोक्ष' की प्राप्त अधिकांश पांडुलिपियों के लिपिकर्त्ता गंगनदास ही थे। अनुमानतः ये शिक्षित एवं अच्छे लिपिकार थे। ये प्रायः गुरुछौनाजी की सीताराम बाजार, दिल्ली स्थित गद्दी में ही रहा करते थे। संभवतः गुरु के बाद यही उस गद्दी के प्रथम महंत बने थे। इस गद्दी की शिष्य-परम्परा इस प्रकार मिलती है—

चरणदासजी→गुरुछीनाजी→गंगनदासजी→आदीरामजी→मोतीरामजी→श्रीकृष्णदासजी। ये जयपुर की गद्दी के साथ संबद्ध थे।

इनके शिष्य आदीरामजी अच्छे कवि थे। उनकी बानियाँ प्राप्त होती हैं। इनके प्रशिष्य मोतीराम या मुक्तरामजी प्रसिद्ध संत और कवि थे। उन्हींके यहाँ रहते हुए सं० १९११ वि० में वृन्दावनवासी गो० केशवदासजी ने 'इन्द्रप्रस्थ-महातम' नामक प्रबंध-काव्य की रचना पूरी की थी। इसी ग्रंथ में उक्त शिष्य-परम्परा दी हुई है।

श्री गंगनदास की बानियाँ जयपुर के इनके प्रख्यात गुरुभाई अखैरामजी के 'अखैसागर' नामक काव्य-संग्रह की पांडुलिपि की पृष्ठ सं० ३९८ से ४०० के बीच संकलित हैं। 'अखैसागर' की पाण्डुलिपियाँ जयपुर राज्य के दीवान एवं बखशी हल्दिया-परिवार की विदुषी कन्या और अखैरामदास की शिष्या खुसालाबाई द्वारा तैयार की गई मिलती हैं। इनकी 'बानी' की एक स्वतंत्र पांडुलिपि सरसनिकुंज, जयपुर में उपलब्ध है। उक्त बानियों के संग्रह की जो पांडुलिपि इन पंक्तियों के लेखक के पास है वह १३ पत्रों (२६ पृष्ठों) में है। इसमें गंगनदासजी के ४१ पद और ८ दोहे संगृहीत हैं। गंगनदासजी को रचनाओं में भाषा का सहज प्रवाह और लालित्य मिलता है। उनमें ज्ञान, वैराग्य, चेतावनी, आत्म-निवेदन, उपदेश आदि के साथ ही भक्ति और विरह-निवेदन-विषयक पदों का समावेश हुआ है। 'बानी' के अतिरिक्त इनका एक अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध है, जिसका शीर्षक 'चेतनसार' है। गुणवत्ता में यह भी उच्चकोटि की काव्यकृति है। यह ग्रंथ गुरु-शिष्य-संवाद की शैली में और दोहा-चौपाई छंदों के माध्यम से रचित है। इसका वर्ण्य-विषय ब्रह्मनिरूपण है। यह छः खंडों में विभक्त है। इन खंडों के शीर्षक क्रमशः जीव-ब्रह्म-संबंध, उत्तम-मध्यम कर्म-निर्णय, वैराग्य-निर्णय, विचार-निर्णय, ज्ञानी-लक्षण, गुरुस्तुति तथा अधिकारी-अनधिकारी-निर्णय हैं। इस ग्रंथ के छंदों की कुल संख्या १५८ है। इसीमें इन्होंने अपने नाम—गंगनदास या गगनदास का रहस्योद्‌घाटन इस प्रकार किया है—

गगन हमारो जात है, गगन हमारो नाँव।
गगन हमारो गाँव है, गगन हमारो ठाँव॥

इनका व्यक्तित्व बड़ा ही निराला और मस्तमौला था। इन्हें विश्वास था कि ये चरणदासजी जैसे सिद्ध एवं ईश्वरोपम महात्मा के शिष्य हैं। अतः इन्हें यमराज का कोई भय नहीं है। इनका यह विश्वास इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—

अब जम क्या करेगा मेरा,
मैं तो चरनदास का चेरा।
सब्द गुरू का बख्तर पहना,
निहचै तरकस बाँधा।
जन गंगन अब निरभै होकर
अलष पुरुष को चीन्हा॥

गंगनदासजी की तीसरी कृति 'भ्रमरगीत' अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि श्री नंददास का स्मरण दिलाती है। यह १३७ छंदों का काव्य है, जो ६″ × ४″ के आकार-वाले ४८ पृष्ठों में पूरा हुआ है। इसकी प्राप्त पाण्डुलिपि के प्रत्येक पृष्ठ में १२ पंक्तियाँ हैं। इस प्रकार इसकी कुल पंक्तियों की संख्या ५७६ है। इसकी आरंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

एक समै श्रीकृष्ण जू सुध आई वृजवास।
ऊधौ मित्र बुलाइकै तेहि बैठायो पास॥

ऊधौ सूं ऐसी कही हरि जी बचन उचार।
हम वृजवासिन सूं कही आवैंगे इक बार॥
बचन यह साँच करि आवो।

वै मो बिन व्याकुल सदा जैसे जल बिनु मीन।
तिनकूं जा उपदेश द्यौ ऊधो जन परबीन॥

जोग जुगत अरु ग्यान कर तुम जानत सब भेद।
सब विधि सूं समझाय करि मेटो उनकर खेद॥
सहैं दुख प्रेमकर भारी।

इस काव्य की अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

गोपेश्वर रूप दिखाय कर ऊधौ कियो निहाल ।
जन गंगन पर हूजियै ऐसे ही किरपाल ॥

मेरा इसमें गम नहीं अगली है सब साख ।
छाया ले पोथी करी उलट-पुलट कर भाख ॥
विरद यह पालियै अपना ।

अति पवित्र है सोहनी गाथा श्री भागौत ।
भँवरगीत सबकूं प्रिय जामें भक्ति अद्वैत ॥

सो सब विधिवत कही है जामें राग न दोष ।
प्रेमीजन याकूं गहैं पावैं जीवन मोष ॥
कष्ट ना कोई रहै जी कूं ॥

श्री गंगन ने न केवल पारम्परिक छंदों और काव्यरूपों में रचनाएँ की हैं बल्कि कृष्ण भक्ति-वर्णन के लिए कुछ अप्रयुक्त नई शैलियों का भी उपयोग किया है। 'राग ख्याल' में निवद्ध इनका एक पद द्रष्टव्य है—

भाई मेरा मोहन चित बिरमाया ।
साँवरी सूरत माधुरी मूरत नैनन माँहि समाया ॥

ना जानूं कुछ टोना कोनौ तन-मन सब बौराया ।
जो टारूँ तो कबहूँ न टरता भीतर-बाहर छाया ॥

सरबस वारूँ प्राण प्रीतम पर यही मेरे मन भाया ।
जन गंगन गुरु छौन दया सूँ प्रीतम ध्यान समाया ॥

इसी स्वर से इनका यह स्वर भी मिला हुआ है—

अरी मांई अजहूँ मोहन न आया ।
घर अँगना में खड़ी पुकारूँ किन दूती बिरमाया ॥

इन्होंने अनेक पदों के माध्यम से श्रीकृष्ण और राधाजी की जन्मबधाई और विविध लीलाओं का गान करके अपना 'सखी गंगन' नाम सार्थक किया है —

मोहन अपनी कर मोह जांन ।
कै मैं थारै संग रहौंगी कै त्यागूंगी प्रांन ॥
तुम बिन म्हारै और न कोई छाड़ि दई कुल कांन ।
अपने मन को आप ही जानो मोंहि तिहारी आंन ॥

तुम नागर नट अधिक सयाने मैं मूरख अज्ञांन ।
सखी 'गंगन' गुरछौंन तिहारी पल नहिं बिसरो ध्यांन ॥

'राग बारामास का मंगल' इनका एक विशिष्ट काव्यकृति है जिसमें मंगल और बधाई गान की प्रमुखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इनके काव्य में प्रयुक्त छंदों और गान शैलियों को इतनो अधिक विविधता, व्यापकता और सरसता इन्हें उच्चकोटि-का कवि सिद्ध करती हैं।

म० गो० भा०
श्या० सु० शु०

गंगल ग्वाल गोसाइँ

श्रीकृष्ण-चरित के अन्तर्गत माखन-चोर-लीला बड़ा सरस प्रसंग है। अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त अन्य भक्त कवियों ने इस लीला को हास्य-व्यंग्य प्रधान रूप में प्रस्तुत कर अपनी काव्य-रचना का प्रमुख विषय बनाया है। स्वामी चरणदास और ब्रजवासीदास कृत माखन-चोर-लीला ग्रन्थ अब भी भक्तों के कण्ठहार बने हुए हैं। इनके पूर्व गंगल ग्वाल गुसाइँ (गंग ग्वाल) ने 'माखन-चोर-लीला' नामक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की थी, किन्तु ग्रन्थ की अनुपलब्धता के कारण हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इनकी इस रचना का नामोल्लेख नहीं हो पाया।

गंगल ग्वाल गोसाइँ का विशेष परिचय ज्ञात नहीं है। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में इनका नाम गंग और उपनाम गंग ग्वाल कहा गया है तथा रचनाकाल लगभग संवत् १६३५ वि० दिया गया है। नाभादास के 'भक्तमाल' एवं ध्रुवदास की 'भक्त-नामावली' में इनके नामोल्लेख के अतिरिक्त और कोई सूचना नहीं मिलती। नाभादास के भक्तमाल की छन्द-संख्या १७८ में गंग ग्वाल का वर्णन है। रूपकलाजी ने नाभादास के 'ब्रजनाथ गुरु भक्त चरणरज अननि जाति' में आये ब्रजनाथ से वल्लभाचार्य के प्रपौत्र ब्रजनाथजी का

तात्पर्य ग्रहण किया है और गंग ग्वाल को उनका शिष्य बताया है। शिवसिंह सरोज में ग्वाल कवि बन्दीजन मथुरा-निवासी के साथ ग्वाल प्राचीन का उल्लेख हुआ है। सरोजकार ने इनकी उपस्थिति संवत् १७१५ वि० मानी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तमाल में आये गंग ग्वाल ही प्राचीन ग्वाल के नाम से अभिहित किये गए हैं। इनकी एकमात्र रचना 'माखन-चोर-लीला' से ज्ञात होता है कि इनका पूरा नाम गंगल ग्वाल गोसाईं था।

'माखन-चोर-लीला' की एक ही प्रति मिलती है जो इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में है। इस ग्रन्थ के साथ एक ही जिल्द में और भी कई ग्रन्थ संगृहीत हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. गीतगोविन्द–जयदेव	पत्र १७	अपूर्ण
२. गंगाष्टक ,,	,, २	पूर्ण
३. माखन-चोर-लीला- गंगल ग्वाल गुसाईं	,, ६	,,
४. करुणाभरण नाटक-लछिराम	,, २२	,,
५. दानलीला–मोहनदास	,, ३	,,
६ मानलीला-नन्ददास	,, ५	,,
७. धरलीला-अग्रदास	,, २	,,
८. माधव-विदग्ध-लीला (गद्य)- अज्ञात	,, ३५	,,
९. श्रीकृष्ण-ध्यान पचीसी- दामोदर गोसाईं	,, ५	,,

इस प्रकार इस संग्रह में ९ ग्रन्थ हैं। प्रति का लिपिकाल अज्ञात है। प्रति पृष्ठ ३१ पंक्तियाँ हैं। 'माधव-विदग्ध-लीला' की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि गोविन्ददास वैष्णव की प्रति से राधावल्लभदास ने वृन्दावन में शोभाराम तिवारी के पठनार्थ इन ग्रंथों की प्रतिलिपि की थी।

'माखन-चोर-लीला' में चौपाई-दोहा कवित्त छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनकी संख्या क्रमशः १३२, २, ३ है। ग्रन्थारम्भ की प्रथम पंक्ति में कवि अपने गुरु का स्मरण करके, 'माखन-चोर-लीला' का प्रारम्भ कर देता है। ग्रंथान्त में लीला की फलश्रुति दी गई है। सरल ब्रजभाषा में लिखी गई यह अपने ढंग की एक निराली रचना है। उससे कुछ छन्द नमूने के रूप में नीचे दिये जाते हैं—

(१)

श्री गुरु चरन कमल शिर नाऊँ।
माखन चोर की लीला गाऊँ॥

मंगल करनी सब दुख हरनी।
प्रेम माधुरी अमृत शरनी॥

गोकुल महिमा प्रथमहि पढ़ो।
चतुरंग लछमी चहुँधाँ बढ़ो॥

घर-घर घोष घमर कहि ऐसैं।
भादौं बादर गर्ज्जहि जैसैं॥

(२)

येक ग्वालिनी दधि लै चली।
गलियारैं मोहन कौं मिली॥

नैक चितै वाकौ चित चोरयौ।
पोछैं तै दधि भाजन फोरयौ॥

नख शिख दधि मैं भीजत भई।
उलटि ग्वालि जसुमति पै गई॥

देख री तेरे कान्ह कहा इह कीनौं।
गोरस डारि सीस तें दीनौं॥

और बेर झूठी मानत ही।
धोटा कूं सांचो जांनत ही॥

अपनैं नैन देखि किन लीजे।
पोछै हमकौं दोष न दीजे॥

तब गुपाल पोछैं चलि आवै।
अरी मैया यह सब झूठ बनावै॥

(३)

एक कहै कान्ह मेरे
लरिकैं खिलायो करि,

लौन मेलि छाछि दैहौं
आछी धुंगारि कैं।
याके ढिग बैठो याकी
फिरकी फिरायो करि,
दूध कौं हौं देखौं जाय
बिल्ली दैहै डारि कैं ॥

गोपो घर माँझ गई, इत उत
कोऊ देख्यो नाहि, उठचो है सम्हारि कैं।
फिरकी छिनाय लीनो,
मुँह पर थपेर दीन्ही,
ऊपर तैं द्वै लात दीन्ही
भाजि गयो मारिकैं ॥

फैलो-फैलो फिरत बौली
देखी दौरे लरिका को,
लेहु मेरी रांनी हम
छाड़े छांनि छपरा।

(४)

जो इह लीला रुचि करि सुनैं।
ताहि वृजनाथ आपनौं गनैं ॥
जो इह लीला रुचि करि गावै।
सो वृजवासनि मैं वासो पावै ॥
सोधि-सोधि देखी सब ठौर।
वृज की पटतर कोई न और ॥
सहजहि होय वृज कौ उपासी।
तापर कृपा करैं वृजवासी ॥
गंगल ग्वाल सरन जँह रहै।
सो माखन-चोर की लीला कहै ॥

उ० शं० दु०

गंगा जमुनाबाई

गंगा तथा जमुनाबाई के सम्बन्ध में 'रसिक-अनन्य-परचावली' मे यह उल्लेख मिलता है—

सुनौ संत हरि कृपा प्रगट संसार दिखाई।
जनम त्रास तें छुटीं गंग यमुना द्वै बाई ॥
सदन घेरि बैठारि जमन दुष्टता विचारी।
धरचौ सिंह कौ रूप कृष्ण जन के हितकारी ॥
जनम मृत्यु लखि पग पर्‌यौ, अबलनि प्रभु रक्षा करें।
निकट सदाई स्यामघन, अपुनै जन के साँकरे ॥

ये दोनों उपासिकायें ब्रज के कामबन नामक गाँव की रहनेवाली थीं। कामबन उस समय डाकुओं का केन्द्र हो गया था। बादशाह अकबर के शासनकाल में भरतपुर के थानेदार ने कामबन पर चढ़ाई करके वहाँ के डाकुओं को नष्ट कर दिया। ये दोनों बहनें उस समय ८-९ वर्ष की थीं। ये किसी तरह से बादशाह के सैनिकों से बचकर जंगल में छिप गईं और कई दिन तक वहीं भूखी-प्यासी पड़ी रहीं।

संयोगवश एक दिन मनोहरदास नामक एक वृद्ध वैष्णव उधर से निकले और कन्याओं पर करुणा करके अपने साथ मथुरा ले गये। मनोहरदासजी संगीत-विद्या में बहुत निपुण थे। उन्होंने दोनों कन्याओं को संगीत की शिक्षा दी और नृत्य भी सिखाया। इनके वयस्क होने पर मनोहरदास ने उन्हें किसी राजा के हाथों बेचकर द्रव्यलाभ करने का विचार किया। वे आगरा जाकर राजा मानसिंह से मिले और कन्याओं के रूप-गुण की प्रशंसा करके उन्हें दो हजार रुपये में राजा साहब को दे देने का प्रस्ताव किया। राजा ने कन्याओं को देखना चाहा तो मनोहरदास उनको लेने के लिये मथुरा आये। वहाँ पहुँचते ही उनको तीव्र ज्वर हो गया। अपना मरणकाल निकट देखकर उन्होंने अपने गाड़े हुए तीस हजार रुपये कन्याओं को बता दिये और शरीर छोड़ दिया। कन्याओं ने उनकी अंतिम क्रिया अच्छे ढंग से कर दी।

गोस्वामी हितहरिवंशजी के शिष्य परमानन्ददासजी कभी-कभी मनोहरदास के यहाँ जाकर उनका तथा कन्याओं का कीर्तन-गान सुनते थे और कन्याओं को भक्ति-वैराग्य का उपदेश देते थे। मनोहरदास के देहान्त के बाद वे जब कन्याओं से मिले तो उन्होंने देखा कि उन पर वैराग्य छाया हुआ है और वे किसी समर्थ गुरु की तलाश में हैं। कन्याओं की उत्सुकता

देखकर परमानन्ददास उनको श्री वृन्दावन ले गये और वहाँ श्री हितमहाप्रभु का दर्शन कराया। उन्होंने कन्याओं का पूर्व इतिहास बताकर उनकी मनःस्थिति का परिचय दिया। महाप्रभुजी ने कन्याओं की श्रद्धा देखकर उनको दीक्षा दे दी। दोनों कन्याओं ने अपने पालक पिता का सम्पूर्ण धन श्री महाप्रभु को अर्पित कर दिया। महाप्रभु नें कन्याओं के घर में श्रीजी की सेवा पधरा दी और उनको आज्ञा दी कि तुम इस धन को भगवद् एवं भक्तजनों की सेवा में लगा दो।

गंगा-जमुनाबाई ने बड़े समारोह के साथ सेवा आरंभ कर दी। धन में कोई आसक्ति न रखकर और उसे प्रभु की संपत्ति समझकर ये मुक्तहस्त से उसे व्यय करने लगीं। ये प्रभु को उत्तम भोग लगाकर संतों को खिला देती थीं और अपने नृत्य-गान के द्वारा प्रभु को रिझाती थीं। सभी प्रकार के भोग विलास से इनकी आसक्ति समाप्त हो गई और सम्पूर्ण जगत् में इनको प्रभु की सत्ता का भान होने लगा। एक बार इनके पालक पिता मनोहरदास स्वप्न में दिखाई दिये। उनको मथुरा में प्रेतयोनि मिली थी। उन्होंने कहा कि 'तुमने मेरे धन को हरि-हरिजनों की सेवा में लगाकर बहुत अच्छा किया है। अब तुम मुझे प्रेतयोनि से छुड़ा दो। इसके लिये तुम अपना चरणोदक मुझे पिला दो।' यह सुनकर दोनों मथुरा में उस स्थान पर गईं जिसका संकेत मनोहरदास ने उनको दिया था। वहाँ इन्होंने भक्तों को एकत्र करके प्रभु को भोग-सामग्री निवेदित की और सब भक्तों को भोजन कराया। इसके बाद नामकीर्तन कराकर भक्तों का चरणोदक लिया और उसमें अपना भी डाल दिया। संकेतित स्थान पर चरणोदक डालते ही मनोहरदास का प्रेतयोनि से उद्धार हो गया। किन्तु इसके साथ ही गंगाबाई-जमुनाबाई के जीवन की सबसे बड़ी चुनौती उनके सामने आ गई।

उस समय मुगल-शासन की ओर से अजीजबेग नाम का एक व्यक्ति मथुरा का हाकिम था। वह बड़ा स्त्री-लंपट था। गंगा तथा जमुनाबाई ने अपने पालक पिता के लिये जो बृहद् आयोजन किया था उसकी सूचना उसको मिल गई थी तथा दोनों के अद्भुत रूपसौन्दर्य की चर्चा भी उसके पास पहुँच गई थी। उसने अपने आदमी भेजकर बुलाया और इनकी सुन्दरता को देखकर मोहित हो गया। उसके मन की बात भाँपकर वे अपने इष्ट का स्मरण करने लगीं। अजीजबेग ने इनको एकान्त स्थान में बंद करा दिया था। रात को वह उनसे मिलने के लिये आया किन्तु उसने एक सिंह को उस स्थान की रखवाली करते हुए देखा। सिंह ने गर्जना करके उसको अच्छी तरह से डरा दिया। अजीजबेग भागकर जैसे-तैसे अपने महल में पहुँचा और वहाँ मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। रातभर उसको महाकष्ट हुआ। इधर गंगाबाई-जमुनाबाई आनन्द से प्रभु का यशगान करती रहीं और प्रभु के द्वारा अनायास अपनी रक्षा किया जाना देखकर पुलकित होकर अश्रुपात करती रहीं। सबेरा होने पर गंगाबाई-जमुनाबाई अपने घर पहुँची ही थीं कि अजीजबेग भी घबड़ाया हुआ वहाँ आ गया और उनके चरणों में गिरकर उनको माँ का संबोधन करके अपना अपराध क्षमा करने की प्रार्थना करने लगा। इतना नहीं, उसने उनको बहुत सा धन भी भेंट रूप में दिया। गंगाबाई-जमुनाबाई ने उसके धन का स्पर्श भी नहीं किया। इन्होंने उसको श्री हरि और उनके भक्तों की महिमा सुनाई। उसने दोनों साध्वियों की बार-बार चरण-रज ली और अपनी करनी पर पश्चात्ताप किया।

कुछ दिनों बाद उसने इनके पास श्री वृन्दावन में बहुत सी भेंट भेजी और यह आग्रह किया कि इस भेंट को वापस न किया जाय। गंगाबाई-जमुनाबाई ने उस धन से अपने 'श्रीजी' का उत्सव करा दिया। अजीजबेग उस उत्सव में स्वयं सम्मिलित हुआ। उसको जगत् से वैराग्य हो गया और वह हरि-हरिजनों से प्रीति करने लगा।

ध्रुवदास ने 'भक्त-नामावली' में कहा है कि गंगा-जमुनाबाई ने वाणी-रचना भी की थी, किन्तु अब उनकी वाणी उपलब्ध नहीं है—

गंगा-यमुना तियन में परम भागवत जान ।
तिनकी वाणी सुनत ही बढ़ै भक्ति उर आन ॥

—भ० ज० ९२

ल० च० गो०

गंगादत्त

गंगादत्त 'सिरमौर' की रानी हृदयश्री के दरबारी कवि थे। इन्होंने अपनी कृति 'लीला-सागर' में सिरमौर (पंजाब) की राजधानी विलासपुर का वर्णन किया है। यह नगर सतलज नदी के तट पर स्थित है।

'लीला-सागर' का लिपिकाल सं० १८८९ है। यह दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध में तिरपन तरंगें हैं और उत्तरार्ध में पचपन। सम्पूर्ण ग्रन्थ नारद-कृष्ण-संवाद के रूप में लिखा गया है। नारद प्रश्न करते हैं और श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं। इस पर महाभारत का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसकी भाषा ब्रजी है और काव्य की दृष्टि से सरस है। यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं। इनमें से एक में राधाजी की तथा दूसरे में ग्रंथ के रचनास्थल विलासपुर की महिमा का वर्णन किया गया है—

(१)

सेवन करत मुनि देवन के काज सरे,
पावत न भेव बीच आवत न मन के।
सुरसरि आय निर्धि हरत सकल पाप,
प्रबल प्रताप ताप मेटत सबन के ॥

धारन धरनि जगें पावन सुधारन हे,
धरा में उधारन धरत अधमन के।
साधा के वरन मनसाधा के सुमिर जग,
बाधा के हरन पग राधा के रमन के ॥

(२)

चरचा रहति जहाँ वेदन के भेदन की,
अरचा सदैव देव जगर मगर हैं।
सरम के सिंधु भले करम अनेक करें,
धरम धरनहार बगर-बगर हैं ॥

गुननि गंभीर धीर बीरन को भीर बसें,
गंगादत्त सुकवि बखानत अगर हैं।
सकल विलास को निवास त्रास दुष्टन को,
नगर विलासपुर सोभित नगर हैं ॥

वा० सिं०

गंगादास (प्रथम)

'श्री गंगादास' (प्रथम) राधावल्लभ-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध संत थे। इनके परिचय में 'हित-अनन्य-रसिकावली' में कहा गया है—

हित चरणन आसक्ति विरक्ति अनूपम पाई।
अद्‌भुत चरितन किये कीर्ति कल धुज फहराई ॥

हित गढ़ बाद बनाय करी हित जन्म बधाई।
हित रँग तन-मन रचे नचे कल कीरति गाई ॥

हित जस रस रतनन सचे, पचे न वैदिक कर्म में।
अति अनन्य बाँके भये, (श्री) गंगादास हित धर्म में ॥

गंगादासजी के नाम से प्रसिद्ध श्री हितप्रसादजी का जन्म एक सम्पन्न वैश्य के घर में सं० १९१० के लगभग हुआ था। लाड़ले पुत्र होने के कारण इन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त हुई। अल्प आयु में ही ये हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, बंगला आदि भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हो गये। अंग्रेजी में बी० ए० करने के पश्चात् इनका मन पढ़ने से विरत हो गया। इसके बाद इनका अधिकाधिक समय स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, गोस्वामी तुलसीदास और कबीर जैसे महात्माओं के चरित्रों एवं उपदेशों को पढ़ने तथा सुनने में व्यतीत होता था। संतों के संग और उनके उपदेशों के अमोघ प्रभाव ने इन्हें जगत् से पूर्ण विरक्त कर दिया और एक दिन घर-बार छोड़कर ये किसी रामानन्दी महात्मा के शिष्य बन गये।

अभी इन्हें रामानन्दी साधु बने कुछ ही दिन व्यतीत हुए थे कि ये घूमते-घूमते वृन्दावन पहुँच गये। वृन्दावन में इन्हें राधावल्लभी महात्मा प्रीतमदास का सत्संग प्राप्त हुआ। बाबाजी ने इन्हें श्री प्रबोधानन्द सरस्वती का चरित्र सुनाते हुए कहा कि

सरस्वतीपाद को मानसरोवर में दृढ़ निश्चय के साथ एक रात रहने पर ही उस स्थल की अलौकिकता का अनुभव हो गया था। फलतः वे श्री हिताचार्य चरण के आश्रित हो गये थे—'गरुवी लगन कहा न करावै'। दूसरे ही दिन ये प्रातः चुपचाप मानसरोवर चले गये। श्री हरिवंश नाम-स्मरण की महिमा तो ये प्रीतमदासजी से सुन ही चुके थे। अतः ये भी अहर्निश इसी नाम का स्मरण करने लगे। ये जंगल में किसी वृक्ष के नीचे चुपचाप पड़े भजन करते रहते और दोपहर को भूख लगने पर आसपास के किसी ग्राम में पहुँचकर भिक्षा माँगकर क्षुधा शान्त करते थे। परिचय से बचने के लिए ये न किसीसे सम्भाषण करते और न किसीसे मिलते-जुलते। एकान्त में छिपकर नाम-स्मरण एवं हित-चरण-चिन्तन करना ही आपकी जीवनचर्या बन गयी थी। इसी प्रकार भजन करते हुए छः-सात वर्ष बीत गये।

एक दिन इन्हें सहसा भगवदादेश हुआ कि 'तुम वृन्दावन के गो० श्री कन्हैयालाल से दीक्षा लो।' इधर गोस्वामी कन्हैयालालजी को भी इसी प्रकार स्वप्नादेश हो चुका था कि गंगादास नामक आगन्तुक व्यक्ति को दीक्षा प्रदान कर हितप्रसाद नाम देना।

गंगादासजी वृन्दावन आकर गो० कन्हैयालाल से मिले और प्रभु का आदेश सुनाते हुए मंत्र-दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। गोस्वामीजी ने सहर्ष श्री हित-उपासना का मंत्रदान कर इन्हें गंगादास से 'हितप्रसाद' बना दिया। अब ये प्रीतमदासजी की छत्र-छाया में रहकर भजन-भावना में निमग्न हो गये। प्रीतमदासजी ने कृपापात्र समझकर इन्हें अपनी निधि—श्री हित-चरणों के प्रति सर्वतोभावेन पूर्ण अनन्यता—प्रदान कर दी। इस अनन्यता की रक्षा के लिए आपने एक बार अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी थी। इन्होंने भजन के प्रताप से अजेय काम को जीत लिया था। इस विजय की गौरव-गाथा का वर्णन संतजन आज भी इस प्रकार करते हैं कि एक बार बाबाजी बंगाल में किसी नदी में स्नान कर रहे थे। उसी समय दो बंगाली नवयुवतियाँ इनके सामने नग्न होकर अठखेलियाँ करने लगीं। किन्तु ये भी योगिराज की तरह नग्न होकर उनके सामने स्नान करते ही रहे। इस प्रकार से बाबाजी महाराज ने अविकृत मन और अविकृत इन्द्री रहने का असम्भव-प्राय व्रत-पालन करके एक आदर्श स्थापित किया था।

बंगाल से लौटने के पश्चात् इन्होंने गो० श्रीहित हरिवंशजी की जन्मस्थली वादग्राम को अपना स्थायी निवास बना लिया था। उस समय ग्राम के वासी क्षुद्र देवी-देवताओं, यहाँ तक कि पीर और सैयद पूजकों से अत्यधिक प्रभावित थे। उनकी इस हीन दशा को देखकर बाबाजी का हृदय दयार्द्र हो उठा। इन्होंने उन सबको उस दुष्प्रभाव से मुक्त करने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति अपनाकर प्रवंचक विधर्मियों को आतंकित करके सदा के लिए गाँव से बाहर भगाकर वहाँ के निवासियों को श्री हरिवंश-चरणोन्मुख कर दिया।

उस समय वादग्राम में श्री हित हरिवंश के जन्मोत्सव का शुभारम्भ करनेवाले कृष्णदासजी की कुटी (जिसमें श्रीमन्महाप्रभु ने उन्हें व्यासनन्दन वपु 'बालरूप' में दर्शन दिये थे) भग्न हो चुकी थी और जन्मोत्सव मनाने का क्रम भी टूट जैसा गया था। इस स्थिति को देखकर हितप्रसादजी को हार्दिक पीड़ा हुई और इन्होंने संकल्प किया कि मैं वादग्राम में 'हितगढ़' नामक व्यासनन्दन भवन का निर्माण कराऊँगा और श्री हित हरिवंश-प्राकट्य-महोत्सव भी प्रतिवर्ष किया करूंगा। उपर्युक्त संकल्पानुसार इन्होंने वृन्दावन से श्री हित नाद-बिन्दु परिकर और समाजियों को बुलाकर श्री हित हरिवंश-प्राकट्य-महोत्सव का शुभारम्भ बड़ी धूमधाम से किया।

उत्सव में सम्मिलित होनेवाले व्रजवासी-व्रजवासिनी, साधु-सन्त एवं गोस्वामीगणों को ये बिदाई के रूप में भूषण-वसन तथा भेंट देकर समादृत किया करते

थे। इसी प्रकार ढाँढ़ी और ढाँढ़िन बननेवाले व्रजवासियों को भी उनकी मनचाही वस्तु देकर हर्षोत्फुल्ल हुआ करते थे। इनके तन-मन का उल्लास उस समय दिखाई देता था जब ये स्वयं भाँड़ बनकर नृत्य, गान और सबकी नकल बनाया करते थे। इस उत्सव को अत्यधिक रागरंगपूर्ण बनाने के उद्देश्य से ये दतिया से समाज-गान के कलाविद् गायकों को बुलाकर समाज-गान कराया करते थे। दतियानरेश, जिन्हें इन्होंने प्रभावित कर अपना आज्ञाकारी बना लिया था - भी इस उत्सव में तन-मन-धन से सहयोग दिया करते थे।

बाबाजी के दूसरे संकल्प को पूरा करने के लिए इनके आदेशानुसार भवन का नक्शा तैयार हुआ। किले की चारों सुदृढ़ दीवारें बन गयीं। मन्दिर-निर्माण के समय आप वहाँ स्वयं उपस्थित रहते थे और भोजन का समय होने पर प्रसाद मँगवाकर ग्रहण कर लिया करते थे। प्रतिदिन की भाँति एक दिन मंदिर का पुजारी बाबाजी के लिए प्रसाद की थाली लाया। पुजारी ने थाली रखी ही थी कि इन्होंने पुजारी से कहा—"तू यहाँ से जल्दी भाग।" उसने पूछा—"महाराज! आज ऐसा क्यों कह रहे हो?" बाबाजी ने उसके प्रश्न का कोई उत्तर न देकर "अब शीघ्र भाग जा"- पुनः कहा। पुजारी कुछ ही दूर पहुँच पाया था कि सहसा नींव के बगल में स्थित एक पुरानी दीवार बाबाजी को लेकर नींव में गिर पड़ी। चारों ओर हाहाकार मच गया। लोग दौड़ पड़े। शीघ्रता से बीसों आदमी फावड़ों से मिट्टी हटाने लगे। थोड़ी देर बाद बाबाजी महाराज का शरीर निकल आया, किन्तु प्राणपखेरू उड़ चुके थे। कुछ ही क्षणों में यह समाचार फैल गया। वृन्दावन से बड़ी संख्या में संत-महात्मा तथा गोस्वामीगण वहाँ पहुँच गये। व्रजवासियों की भीड़ की तो कोई सीमा ही न थी। बड़ी सजधज के साथ विमान बनाया गया। उस विमान को लेकर रसिकजन 'श्री राधावल्लभ श्री हरिवंश' नाम-संकीर्तन करते हुए कोले ग्राम पहुँचे और उनके पार्थिव शरीर को श्री यमुनाजी में प्रवाहित कर दिया गया। इनका निकुंज-गमन-काल पौष पूर्णिमा सं० १९६७ है।

यह तो हुआ बाबाजी के साधु-जीवन का इतिवृत्त। इनके बाँके अनन्य रसिक रूप का दर्शन इनकी रचनाओं में प्राप्त होता है, जिनमें से कुछ पद नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—

(१)

हैं हम हित रसिकन के चेरे।
जिनकी चरण शरण अनुकम्पा प्राण जीवन हित मेरे॥
'हित प्रसाद' अपनाय कृपा करि माथ कमल कर फेरे।
महल-टहल दीनी मन मानी कृपा-दृष्टि पुनि हेरे॥

(२)

और लतन सौं हित लता, सुन्दर गति सरसाय।
सुमन लगैं पहिलै यहै, फिर पाछे हरियाय॥

(३)

हम व्यास नंद चंद के अनन्य भाँड़ हैं।
कुल नाद बिन्दु जाँचें ब्रह्मादि छाँड़ हैं॥

दुनिया में सभी स्वारथ में राचे हैं भरपूर।
जिसकी न हित में तृप्ति उसके मुँह में धूर॥

हरिवंश नाम हीन खीन दीन सब भरैं।
अब ऐसा प्रभु छाँड़ि द्वार कौन के अरैं॥

हित जू की शरण होके पूजैं जो देवी दूत।
भाँड़ों की राय लेकर उसके मुँह में मूत॥

शेरों का शेर होकर गीदड़ की खुशामद।
'प्रसाद हित' उस हीजड़े की आ गई शामत॥

व्या० बि० खं०

गंगादास (द्वितीय)

गंगादासजी (द्वितीय) के जीवन के विषय में अपेक्षित जानकारी नहीं मिलती। इनकी एक रचना 'कृष्ण-मंगल' मथुरा-निवासी महेशप्रसाद के पास सुरक्षित है जिससे ज्ञात होता है कि ये कृष्णभक्त

थे। इनकी रचना-शैली के नमूने के रूप में नीचे कुछ पंक्तियाँ दी जा रही हैं—

प्रथम सुमरि गुरुदेव गणेश मनाइये।
सारद कूँ सिरनाय कृष्ण-गुन गाइये॥

राजत तहँ घनस्याम वृन्दावन रुचि रहे।
मोर मुकुट सिर छत्र पिताम्बर काछिनी हे॥

संग सखा नन्दलाल सुकुंजन क्रीड़ा करैं।
बैठि कदम्ब की डार चीर गोपिन को हरै॥

राखत वदन विसाल स्याम अति सोहने।
सुन्दर लोल कपोल जगत प्रभु मोहने॥

राखत हिय वनमाल लाल रंग रुचि रहै।
सुर नर मुनि धरि ध्यान संत जै जै करै॥

राखत काछिनि पीत बाँसुरी कर धरे।
नख पर गिरिवर धारि ब्रज रक्षा करे॥

सुंदर राधेस्याम आनन्द मंगल घने।
घर-घर गोपी ग्वाल रूप शोभा बने॥

खेलत हैं नँदलाल ग्वाल संग साथ हे।
घेरे जमुना घाट दान की बात हे॥

संग ग्वाल चरावत धेनु स्याम बन-बन फिरत।
तिलक बिराजत भाल कुंडल झलमल करत॥

वा० सिं०

कृ० चं० ला०

गंगाधर (प्रथम)

गंगाधर (प्रथम) के आविर्भाव एवं तिरोभाव के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इतना अवश्य पता चलता है कि आप गोस्वामी मदनमोहन (अष्टमपीठ) के समकालीन थे। अतः आपका समय अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निर्धारित किया जाता है। ये अष्टमपीठ की बहावलपुर-शाखा के गोस्वामी थे। इनके पिता का नाम गो० कमलनयन था। इनके कुछ फुटकर पद प्राप्त हुए हैं।

इष्टदेव एवं गुरुवन्दना का एक पद उदाहरणरूप में प्रस्तुत है—

परमनिधि श्री लाल मोहि दीनी।
जो देवन सुरपति हू निश्चय कबहूँ स्वप्न न चीनी॥

पूरन ब्रह्म नन्द कौ नन्दन तिनकौ हाथ गहायौ।
निगम सार गोपी जन वल्लभ सो मोहि नाम बतायौ॥

पुष्टि मार्गमत श्री भागवत कौ पुनि सेवा रस स्वाद।
ब्रजलीला सुन्दर कौ अनुभव अस मुरली कौ नाद॥

श्री पुरुषोत्तम कौ अधरामृत आनन्दमय बरसायौ।
लालकृपाल कृपादृग हू ते 'गंगाधर' फल पायौ॥

सु० श०

गंगाधर (द्वितीय)

गंगाधर (द्वितीय) का जीवन-परिचय अज्ञात है। इनकी दो रचनाएँ 'गोवर्द्धन-लीला' और 'नाम-लीला' प्राप्त हुई हैं। कृतियों का रचनाकाल अथवा लिपिकाल ज्ञात नहीं है।

'गोवर्द्धन-लीला' में इन्द्र-गर्व-हरण की प्रसिद्ध कथा लिपिबद्ध है। श्रीकृष्ण के निर्देश पर जब इन्द्र-पूजा बंद हो गई और व्रजवासियों द्वारा गोवर्द्धन-पूजा प्रारम्भ कर दी गई, तब इन्द्र ने ब्रज पर कोप किया और मूसलाधार वर्षा की। उस समय श्रीकृष्ण ने प्रलयकारी वर्षा से व्रजवासियों की रक्षा की थी। प्रस्तुत कृति का यही प्रतिपाद्य विषय है। एक छंद प्रस्तुत है—

चढ़े देखो दल बादल आमें।
दामिनी दमकत ही लामें॥

मेघ परलै का बरसामें।
भागि अब कहो कित कूं जामैं॥

कहौजी अब कैसी करैं,
पर्‍यो इन्द्र सो बैर।
कोप्यो सब पृथ्वी को पालक,
किस बिधि होगी खैर॥

जतन में कीजैं ना देरी।
नाथ हम शरणागत तेरी॥
ब्रजैं सबै इन्दर ने घेरी॥

बरषत बरषत हारियो
यों जान्यों जगदीश ।
दोऊ कर जोर निवाजे
इन्दर धरो चरण में शीश ।।

बुद्धि मेरी माया ने घेरी ।
नाथ हम शरणागत तेरी ।।
ब्रजें सबै इन्दर ने घेरी ।।

इनकी दूसरी कृति 'नाग-लीला' का विषय है—श्रीकृष्ण द्वारा कालिय-दमन। रचना भक्तिभावपूर्ण तथा सरस है। यहाँ दो अंश उद्धृत हैं—

(१)

बसत एक जमुना मैं काली ।
नाथ कर लाए बनमाली ।।

चरावन गौवन को धाये ।
चलत प्रभु कालीदह आए ।।

गोप जल पीये और प्याये ।
पीवत जल सबहीं मुरझाये ।।

पीछे सों आए कृष्णजी,
सबको लिए जिवाय ।
निर्मल आज करूँ पटहनी,
चढ़े कदंब पै जाय ।।

गिरत ही जमुना मैं हाली ।
बसत एक जमुना में काली ।।
नाथ कर लाए बनमाली ।।

(२)

गए जब नागिन के आगे ।
नाग तेरा सोवै कै जागे ।।
लुक्यां कहो किनरो भय लागे ।
जुद्ध को आये इन आगे ।।

यों मन में गुरब्यो घनों,
का दूँ जमुना पार ।
नागिन सुनत हँसत भई,
मन में कियो विचार ।।
जगावन भरता को चाली ।
बसत एक जमुना में काली ।।
नाथ कर लाये बनमाली ।।

वा० सिं०

गंगाधर व्यास

गंगाधर व्यास का जन्म छतरपुर (म० प्र०) में सं० १८९९ में हुआ था। ये छतरपुर-नरेश के राज्याश्रित कवि थे। इनके पूर्वज महोबा से आकर छतरपुर में बस गये थे।

व्यासजी की प्रमुख कृतियाँ हैं—नीति मंजरी विश्वनाथ पताका, व्यंग्य-पचासा, और गो-माहात्म्य। ये सहृदयों को विविध भावभूमियों का संस्पर्श कराती हुई भक्तिभाव में निमज्जित करती हैं। 'नीतिमंजरी' में विविध विषयक दोहों के होते हुए भी भक्तिपरक दोहों की संख्या अधिक है। आराध्य युगल से संबद्ध एक पद इस प्रकार है—

जो तिल लगत गाल को नीको मन मोहत सबही को।
कै पूरन पूनो के ससि में कुश जामौ रजनी को ।।
कै निरमल दरपन के ऊपर, सुमन धरौ अरसी कौ।
गरल कंठ लै आय विराजौ कै पति पारबती को ।।
'गंगाधर' मुख लखत स्यामरो राधा चन्द्रमुखी को ।।

त्रि० ना० शु०

गंगाबाई क्षत्राणी

भक्त कवयित्री गंगाबाई क्षत्राणी गो० विट्ठलनाथजी की शिष्या थीं। इनका जन्म वि० सं० १६२८ में हुआ था।

श्रीनाथजी जतीपुरा से वि० सं० १७२६ में सिहाड़ (वर्तमान श्रीनाथद्वारा, मेवाड़) को गये थे। इस समय इनके साथ गंगाबाई भी मेवाड़ आ गयी थीं। सिहाड़ में ही गंगाबाई का वि० सं० १७२८ में गोलोकवास हुआ था।

'गंगाबाई' के नाम के साथ जुड़ा हुआ 'क्षत्राणी' शब्द ही इस बात का द्योतक है कि ये क्षत्रिय जाति

की थीं। इनकी माँ महावन (गोकुल के पास) की रहनेवाली थीं। इस दृष्टि से इनका जन्म-स्थान भी महावन ही सिद्ध होता है। सम्प्रदाय में इनको 'गंगा-बेटी' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता रहा। 'गंगाबेटी' के नाम से एक पत्र साम्प्रदायिक साहित्य में प्राप्त होता है जो विष्णुदास छीपा को गंगाबाई की ओर से लिखा गया था और जिसमें महाप्रभुजी, गुसाइंजी एवं अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाएँ और उनकी तिथियाँ दी हुई हैं। 'गंगाबाई' का 'गंगास्त्री' नाम भी मिलता है। बंगाली विद्वान् दिनेशचन्द्र सेन ने वैष्णवों तथा वैष्णव-साहित्य पर कई पुस्तकें लिखी हैं। इनकी कृतियों में कुछ हिन्दी के कवि और पदकर्त्ताओं का भी उल्लेख हुआ है, जिसमें वैष्णव-कवयित्री गंगाबाई को 'गंगास्त्री' नाम से अभिहित किया गया है।

चाचा वृन्दावनदास कृत—'रसिक-अनन्यमाल-परचावली' में वैष्णव भक्तों के स्फुट प्रसंग मिलते हैं। इस ग्रन्थ में षष्ठ स्थान पर 'गंगाबाई' नाम से एक वैष्णव-कवयित्री की चर्चा हुई है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट (१९०८ ई०) में संख्या ३३ पर 'गंगा' नामक एक बुन्देलखण्डी स्त्री का उल्लेख है। सम्भवतः वह यही 'गंगाबाई' है, जो गलती से बुन्देलखण्डी मान ली गयी हैं। 'गंगाबाई' ने अपने पदों में 'श्री विट्ठलगिरिधरन' छाप (उपनाम) लगाकर काव्य-रचना की है। इनके पदों में कहीं-कहीं 'श्री विट्ठलगिरिधारी' छाप का प्रयोग भी मिलता है। भावलोक में भगवल्लीलाओं का साक्षात्कार करनेवाली गंगाबाई सम्भवतः स्वयं को अपने काव्य की रचयित्री नहीं मानतीं अपितु अपने गुरु-गोविन्द को ही, एकमात्र प्रेरक एवं सर्जक मानकर उन्हींके नाम की संयुक्त छाप लगाती हैं।

गंगाबाई का जन्म महावन नामक गाँव में हुआ था। यह स्थान गोकुल से दो मील दूर पूर्व में स्थित है। इसी गाँव में गंगाबाई क्षत्राणी की माँ रहती थीं। यह वार्ता-साहित्य से स्पष्ट है। गंगाबाई के परिवार के विषय में कोई विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं होती। केवल माता के विषय में वार्ताकार ने लिखा है—"सो वह गंगाबाई की माता रूपवती बोहोत ही सुन्दर हती जाकी छाया धरती में परे ऐसी हती।" इनकी माता का नाम रूपवन्ती था तथा वे बहुत सुन्दर और धनवान् थीं। गुसाइं विट्ठलनाथजी के प्रति गंगाबाई की माँ को अनन्य भक्ति थी। रूपवन्ती की विट्ठलनाथजी के श्रीचरणों में इतनी अगाध भक्ति थी कि वे एक क्षण भी विट्ठलनाथजी के दर्शनों के बिना रह नहीं सकती थीं। वार्ता की भावप्रकाश टीका में श्री गंगाबाई को स्वप्न-सृष्टि के रूप में गुसाइंजी की पुत्री बताया गया है।

श्री गंगाबाई को छह वर्ष की अवस्था में ही गोसाइं विट्ठलनाथजी ने नाम-निवेदन करा दिया था। वार्ता-प्रसंग से इस बात की पूर्णरूपेण पुष्टि हो जाती है कि बहुत छोटी अवस्था में हो इनका 'ब्रह्म-सम्बन्ध' हो गया था तथा तभी श्री ठाकुरजी की सेवा भी इनको सौंप दी गयी थी। श्री गंगाबाई का शरण (दीक्षा) काल वि० सं० १६३६ ठहरता है। पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होने के बाद गंगाबाई का जीवन समग्रतः उस सम्प्रदाय के नियमों में बँध गया था। ये प्रातःकाल यमुना में स्नान करके महावन जाती थीं। इनके घर पर ठाकुरजी की अष्टयाम-सेवा का क्रम विधिवत् चलता था। यहाँ श्री ठाकुरजी से तात्पर्य श्रीनाथजी से ही है।

गंगाबाई सम्प्रदाय की उन महिलाओं में से हैं, जिनका व्यक्तित्व अत्यन्त महान् और सरल था। इनके वैष्णव-हृदय की उदात्तता का प्रमाण वार्ता-साहित्य से प्राप्त होता है। ये कभी भी बिना किसी वैष्णव को भोजन कराये स्वयं अन्न-जल ग्रहण नहीं करती थीं। जिस दिन इन्हें कोई वैष्णव नहीं मिलता था, उस दिन ये स्वयं भी उपवास किया करती थीं। गो० विट्ठलनाथजी से गंगाबाई का प्रगाढ़ पारिवारिक नैकट्य था। गुसाइंजी का समस्त परिवार गंगाबाई

का आदर व सम्मान करता था—"सो श्री गुसाइंजी तथा बालक और बहू-बेटी गंगाबाई की घनो कानि राखते।" वार्ता-साहित्य के इस तथ्य से श्री विट्ठलनाथजी और गंगाबाई के मध्य प्रगाढ़ पारिवारिक संबंध का पता चलता है। ये नित्यप्रति गोकुल से महावन श्रीठाकुरजी की सेवा करने जाया करती थीं और रात्रि को गुसाइंजी के पास गोकुल आकर उनसे श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध की टीका 'सुवोधिनी' सुना करती थीं। जिस-जिस श्लोक के भाव को ये सुनती थीं, उसी-उसी भाव के कीर्तन बना करके ये तत्क्षण गुसाइंजी को सुना देतो थीं। गोसाइं विट्ठलनाथजी की कृपा से इनके हृदय में लीला-भाव उदित हो गया था। श्रीनाथजो के चरणों में गंगाबाई की अगाध भक्ति थी। 'श्रीनाथजो को प्राकट्य-वार्ता' से पता चलता है कि जब श्रीनाथजी जतीपुरा से सम्वत् १७२६ में मेवाड़ पधारे थे, तब ये (गंगाबाई) साथ ही गयी थीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इस प्रसंग की चर्चा गंगाबाई की प्रगाढ़ भक्ति-भावना के सन्दर्भ में अपने 'उत्तरार्द्ध-भक्तमाल' में को है—

जवन-उपद्रव जब श्री प्रभु मेवाड़ पधारे।
मारग में यह साथ रहीं हिय भगति बिचारे॥

जब रथ कहुँ अड़ि जात तबै सब इनहिं बुलावैं।
श्री जी के ढिग भेजि नाथ इच्छा पुछवावैं॥

श्री विट्ठल गिरिधर नाम सों पद रचि हरिलीला गई।
गंगाबाई श्रीनाथ की अतिहि अंतरंगिनि भई॥

-- उत्तरार्द्ध-भक्तमाल

भक्तिमती गंगाबाई श्रीनाथजी की अन्तरंग सहचरी थीं। पुष्टिमार्ग के भक्त कवियों में भक्ति-भावना की दृष्टि से सूरदासादि अष्टछापी कवियों और गो० हरिरायजी के पश्चात् गंगाबाई का ही स्थान है।

इनकी परधाम-यात्रा के संबंध में संप्रदाय में यह कथा प्रचलित है कि एक दिन श्रीनाथजी ने श्रीहरिरायजी के हृदय में अन्तर्ध्वनि की, "जो गंगाबाई को वस्त्र आभूषण अति सुन्दर पहिराय के रात को जगमोहन में बैठाय देवो। तब बैठाय दीन्हीं। तब रात को जगमोहन में ते श्रीनाथजी गंगाबाई कों देह सहित लीला में ले गये।" विदित होता है कि गंगाबाई की अनन्यता इतनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी कि ये जगमोहन (मंदिर-द्वार) पर बैठी ही बैठी सदेह भगवल्लीला को प्राप्त हो गयीं। गंगाबाई का गोलोकवास १०० वर्ष की परिपक्व अवस्था में सिहाड़ नामक स्थान में संवत् १७२८ में हुआ था।

गंगाबाई ने प्रचुर मात्रा में पदों की रचना की है जो भक्ति-भावना एवं काव्य-सौन्दर्य दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं। श्रीकृष्ण-जन्म की बधाई, उनकी दान-मान-रासादि विविध लीलाएँ, नित्य-नैमित्तिक-उत्सवादि तथा आचार्य श्रीवल्लभ एवं गो० श्री विट्ठलनाथजी की महिमा एवं बधाई से सम्बद्ध अनेक पदों की सृष्टि गंगाबाई ने को है। ये पद पुष्टि-सम्प्रदाय के कीर्तन संग्रहों में उपलब्ध होते हैं। इनके लगभग ढाई सौ पद निजी संग्रहों में संकलित हैं। गंगाबाई ने गुरुवर गो० विट्ठलनाथजी की बधाई में अनेक कीर्तन गाए हैं। उनमे से एक कीर्तन प्रस्तुत है -

प्रगटे श्री विट्ठल ब्रज के भूषण।
सुवस बसायो गाम
श्री गोकुल गोवरधन वृन्दावन॥
चंद कोटि छवि नखसिख सुंदर
सोभित तन मानो नवघन।
श्री विट्ठल गिरिधारी राखत
निज जन को पन॥

गुरु के चरणों में अनन्यानुराग रखनेवाली गंगाबाई श्रीनाथजी तथा गो० विट्ठलनाथजी में कोई अन्तर नहीं मानती थीं। इनकी छाप 'श्री विट्ठल-गिरिधरन' से यही दृष्टि चरितार्थ हुई है। इन्होंने कीर्तनों की रचना इसी छाप के प्रयोग के साथ की

है। इनकी गुरुभक्ति एवं हरिभक्ति की चर्चा रामरसिकावली (भक्तमाला) के रचयिता रीवाँ-नरेश रघुराज सिंह ने इस प्रकार की है—

गंगाबाई की कथा
अब बरनौं चित लाय ।
जाहि सुनत गुरु बचन में
अति विश्वास दिढ़ाय ॥

गंगाबाई भै हरिदासी ।
हरि की कथा माँहि बिस्वासी ॥

गुरु को परमेश्वर करि माने ।
गुरु के वचन वृथा नहि जाने ॥

इनके द्वारा रचित एक स्वतन्त्र ग्रंथ 'गंगाबाई के पद' नाम से उपलब्ध हुआ है। इसमें प्राप्त उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि इन्होंने अधिकांशत: कृष्ण की वात्सल्यपरक लीलाओं के ही कीर्तन गाये हैं। इनके संगृहीत कीर्तन-पदों को सुविधा की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. कृष्ण-जन्म के पद ।
२. कृष्णलीला-पालना, छठी, राधा-अष्टमी, दानलीला आदि के पद ।
३. रास, रूपचतुर्दशी, दीपमालिका, अन्नकूट, मल्हार तथा धमार-सम्बन्धी पद ।
४. आचार्यजी की बधाई तथा गो० श्री विट्ठलनाथजी की बधाई के पद ।

गंगाबाई ने कृष्ण-काव्य-धारा की कवयित्रियों में वात्सल्यभाव को प्रधान रूप से ग्रहण किया है। मातृहृदय का उल्लास तथा उसकी सूक्ष्म विश्लेषणात्मक भावाभिव्यक्ति गंगाबाई के पदों में सर्वत्र दर्शनीय है। इनका काव्य भावना की गहराइयों को छूने में समर्थ है। निम्नांकित पदों से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

(१)

कमल सो अँखियाँ लाल तिहारो ।
तिनसों तकि-तकि तीर चलावत
बेधत छतियाँ हमारी ॥

इन्हें कहा कोउ दोष लगावत
यह अजहूँ न सम्हारी ।
श्री विट्ठल गिरिधरन कृपानिधि
सूरत ही सुखकारी ॥

(२)

सखियन रुचि-रुचि सेज बनाई ।
रंगमहल में परे हैं परदा
धरी है अँगीठी सुखदाई ॥

सीत समैं ग्रीषम रितु कीनी
अति सुंदर बरराई ।
श्री विट्ठलगिरिधरन कृपानिधि
पौढ़े ओढ़ि रजाई ॥

(३)

रानी जू सुख पायो सुत जाय ।
बड़े गोप बधून की रानी हँसि-हँसि लागत पाय ॥

बैठी महरि गोद लिए ढोटा, आछी सेज बिछाय ।
बोलि लिए ब्रजराज सबनि मिलि यह सुख देखो आय ॥

जेई-जेई बदन बदी तुम हम सों ते सब देहु चुकाय ।
ताते लेहु चौगुने हम पै कहत जाइ मुसकाय ॥

हम तो बहुत भए सुख पायो, चिरजीवो दोउ भाइ ।
श्री विट्ठल गिरधरन खिलायो, ये बाबा तुम माइ ॥

(४)

जो सुख नैनन आज लह्यौ ।
सो सुख मो पै मोरी सजनी नाहिन जात कह्यौ ॥

हौं सखियन संग श्री वृन्दावन बेचन जात दह्यौ ।
नंद कुमार सलोने ढोटा आँचर धायि गह्यौ ॥

बड्डे नैन विसाल सखी री मो तनु नैकु चह्यौ ।
मृदु मुसकाई बानी हँसि ही कुँवर कह्यौ ॥

व्याकुल भई, धीर नहिं आयो, आनंद उमगि बह्यौ ।
श्री विट्ठल गिरिधरन छबीलो, मम उर पैठि रह्यौ ।।

(५)

उमड़ि-घुमड़ि घन आवत बदरा कारे ।
पुलक-पुलक गावत पिय प्यारी
कंठ भुजा उर धारे ।।

लेत तान जब नवल नागरी
मगन होत तब नंददुलारे ।
श्री विट्ठल गिरिधरन छबीले,
दंपति अति रिझवारे ।।

(६)

आज नँदनंदन मुख चन्दबन राजैं ।
जटित मणि मुकुट औ सुभग कुण्डल
चटक बसन पट पीत भ्रुव मटक छाजैं ।।

रास में रसिकवर ललित संगीत स्वर
मधुर मुरली मृदंग ताल बाजैं ।
श्री विट्ठल गिरिधरन क्वणित नूपुर चरण
सुनत भई थकित घोष तिय थकित आजैं ।।

रा० कृ० श०
कृ० चं० ला०

गंगाविष्णु

गंगाविष्णु का जन्म परीक्षितपुरा (दिल्ली) में पं० हरप्रसाद भार्गव तथा श्रीमती अनूपीबाई के पुत्र के रूप में अनुमानतः वि० संवत् १७६५ को हुआ था। इन्होंने संवत् १७९३ में संत चरणदास से दीक्षा ग्रहण की। साम्प्रदायिक संकलनों में इनके रचे कुछ पद प्राप्त होते हैं। इनके परम आराध्य श्रीकृष्ण थे। दिल्ली में ही इनका परलोकवास हुआ।

म० गो० भा०

गंगासरन

गंगासरन के सम्बन्ध में विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। इनकी एक छोटी-सी रचना 'चौर्यलीला' खोज में प्राप्त हुई है। ११० छन्दों की यह रचना काँकरौली के सरस्वती भाण्डार में सुरक्षित है। इसमें श्रीकृष्ण की दधि-माखन-चोरी लीला का वर्णन है। कुछ अंश इस प्रकार है—

गोपी एक स्यान जु कर्‌यो ।
छींके दधि को मथनां धर्‌यो ।।

तापर अलोखल आनि बनायो ।
वा ऊपर ले सखा चढ़ायो ।।

ता ऊपर चढ़े नंदकुमार ।
कर न पोहोंचे कियो विचार ।।

वाकों छेद लकुटो सों करे ।
दोले ग्रीववदन कर धरे ।।

• • •

जो इह लीला रुचि कें गावे ।
ब्रजवासी में बासो पावे ।।

सोधि-सोधि देख्यो सब ठोर ।
ब्रज सो ब्रज पटतर नहिं ओर ।।

सहज होय ब्रज को जो उपासी ।
ताको कृपा करे ब्रजवासी ।।

श्री गुरु चरन कृपा ते कहे ।
'गंगासरन' भक्तनि के रहे ।।

बा० सिं०

गंगासिंह

दीवान बहादुर गंगासिंह, दीवान हीरासिंह के सुपुत्र और रावबहादुर जुझारसिंह के अनुज थे। ये अपने अग्रज के बाद १९१३ ई० में चरखारी राज्य की गद्दी पर आसीन हुए थे। ये राधाकृष्ण के भक्त थे। इन्होंने भक्तिपरक पदों, भजनों एवं लोकगीतों के प्रणयन में विशेष रुचि दिखाई तथा उनके संग्रहों के प्रकाशन की व्यवस्था की। 'कूप-विनय-दोहावली' (१९१५ ई०), 'विवाह-गीतावली' (१९१६ ई०), 'राधाकृष्ण-विहार' (१९१९ ई०), 'तुरंग-मंगल' आदि इनके संग्रह आज भी लोकप्रिय हैं। यहाँ 'राधाकृष्ण-विहार' से दो छन्द उद्धृत हैं—

(१)

जौन समय तुम गौवन के संग
बनकौ गवन करे जू।
तेई समय तुमारे कोमल
चरनन ध्यांन धरे जू॥

कंकर और सु काँटे दोऊ
कसकत हृदय हमारे।
प्राननाथ जो तुव पद लागत
मम जिय गड़ांहि सु भारे॥

भोरहि गये साँझ कौं आये
चार पहर मैं सोई।
हमकौं कहत हते प्रभु ऐसैं
चारौं जुग सम जोई॥

सनमुख बैठ तुमारे हे प्रभु
सुंदर बदन निहारैं।
अपने जी में यह बिचार कर
बिध मैं दूषन धारैं॥

(२)

है मूरख बिध बहुत बिध
पलक बनाये नैन।
लेत दरस हम श्याम के
बाधा बहु बिध दैन॥

इक टक नांहि दरसन मिलै,
अरु नांहि नैन अघात।
ऐसे दोषी ये पलक,
झपक-झपक झप जात॥

न० प्र० गु०

गजराज सिंह

गजराज सिंह का जन्म सं० १९२४ वि० में कैमहरा (जिला सीतापुर) में हुआ था। इनके पिता ठाकुर विभूतिसिंह कैमहरा के तालुकेदार थे। ठा० गजराज सिंह संस्कृत तथा फारसी के विद्वान् थे, साथ ही, फलित ज्योतिष पर भी इनका अधिकार था। छप्पन वर्ष की अवस्था में सं० १९८० वि० में आपका निधन हुआ।

ये व्रजराज के उपासक थे। 'श्री घनश्याम घुनघुनियाँ' आपकी वात्सल्य-रस की उत्कृष्ट रचना है। इसमें बाल-कृष्ण के विभिन्न रूपों का गुण-गान है। हाथों में 'घुनघुनियाँ' लिये हुए भगवान् कृष्ण की वन्दना निम्नलिखित पंक्तियों में दर्शनीय है—

झुनझुनिया जाके पगै, घुनघुनियाँ जेहि हाथ।
विमल गात सो करहिगो, वेगि अनाथ सनाथ॥

जाके डर एकहु नहीं, हाऊ को डरि जात।
हरिहै भय मेरो वही, श्याम सुघर घन गात॥

जिनको चलि आवै नहीं, चलत घुटूरन चाल।
चाल सुधारहि हाल ते, खसिलन हारे लाल॥

नेकु नहीं थिर होत जे, खेलमग्न व्रजराज।
थिर तेई करि देंहिगे, चित तेरो 'गजराज'॥

नंग धड़ंगे लाड़िले, बिनहिं लँगोटी बार।
लाज तिहारी राखिहैं, तकु करि बन्द किवार॥

चाई-माई जो करै, निज नैनन को मीचि।
नंदनंदन घन साँवरो, भ्रम हरिहैं ना हीचि॥

'अनखाधर' भगवान् कृष्ण के प्रति भक्तकवि की अनन्य निष्ठाभाव का इस छंद में देखिए—

जप जोग समाधिहि कौन धरै
तपसानल में तन को अरपै।
व्रत तीरथ नेम दमादिक साधन
कौन करै विनती नर पै।
कछु पैबै सो पाइ चुक्यो 'गजराज'
धरे फल चारिहु हैं कर पै।
अब तो मन आइ फँस्यो सुख सों
छवि-सागर श्री अनखाधर पै।

ग० द० सा०

गट्टूलाल भट्ट (भारतमार्तण्ड)

पं० गट्टूलालजी का भारतेन्दुयुगीन पुष्टिमार्गी कृष्ण-भक्तों में मूर्धन्य स्थान है। इनका जन्म वि० संवत् १९०१ की माघ कृष्णा १२ को हुआ था। इनके पिता श्री घनश्याम भट्ट महान् वैयाकरण तथा

वेदान्तशास्त्रज्ञ थे। यज्ञोपवीत के पूर्व ही अपने पिताश्री से ये अनेक शास्त्र पढ़ चुके थे। यज्ञोपवीत के बाद साङ्ग कृष्णयजुर्वेद तथा दर्शनों का अध्ययन भी आपने पिताजी से ही किया और १३ वर्ष की अवस्था में सुहृद्वरों का आकर्षण-केन्द्र 'रुक्मिणी-चम्पू' रच डाला। इसके बाद 'शुद्धाद्वैत चन्द्रोदय' आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। इन्होंने २१ वर्ष में 'वेदान्त चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ रचा। यह वल्लभ-सम्प्रदाय की एक अमूल्य निधि है। तदनंतर सम्पूर्ण शास्त्र के सारगर्भित कसौटी स्वरूप 'मारुतशक्ति' नामक ग्रन्थ रचा।

ये इतने उद्भट विद्वान् थे कि चौबीस मिनट में १०० श्लोक बना डालते थे। श्री गोवर्धनलालजी महाराज इन्हें अपने साथ बनारस लेकर गये। वहाँ भारतप्रसिद्ध श्री बालशास्त्री, श्री शिवकुमार शास्त्री, श्री दामोदर शास्त्री तथा श्री गंगाधर शास्त्री आदि के सम्मुख आपने अपना वैदुष्य प्रकट किया तथा आशु-कवितादि से उन्हें चकित कर दिया। जगदीश-यात्रा प्रसंग में कलकत्ता जाकर महानैयायिकों की एक सभा में अपना पांडित्य प्रदर्शित कर आपने एक प्रतिष्ठापत्र भी प्राप्त किया। इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) से शतावधान के कारण, वहाँ के विद्वानों ने आपको 'भारतमार्तण्ड' की उपाधि प्रदान की। गोवधनलालजी ने स्वयं भी इन्हें 'वेदान्तभट्टाचार्य' की उपाधि से विभूषित किया। आपने अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की तथा कई टीकाएँ लिखीं। उपनिषद्-भाष्य, भगवद्गीता टीका, सत् सिद्धान्त मार्तण्ड, कृष्णाभिसार, कृदन्त-व्यूह आदि इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

एक समय भारतमार्तण्ड गट्टूलालजी जब भारतेन्दु बाबू से मिलने काशी गये, तब मार्तण्ड और इन्दु का ऐसा सुयोग हुआ कि उस अवसर पर भारतेन्दुजी ने इनके सम्मानार्थ काशी में एक बड़ी भारी सभा की। अंग्रेज लोग भी उस सभा में उपस्थित हुए। गट्टूलालजी के आश्चर्यजनक कार्यों को देखकर सबको बहुत ही अचम्भा हुआ। भारतमार्तण्ड यद्यपि दोनों आँखों से अन्धे थे, परन्तु इनकी ज्ञान-दृष्टि आश्चर्यजनक थी। लोग भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न प्रश्न कर जाते थे और प्रश्नों के समाप्त होते ही आप क्रमानुसार सभी को उत्तर देकर चमत्कृत कर देते थे। महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने आपकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होकर भी भारतेन्दुजी के प्रभाव से आपने हिन्दी में राधाकृष्ण की भक्तिपरक रचनाएँ कीं। इनके संस्कृत तथा हिन्दी के दो कृष्णभक्तिपरक छंद प्रस्तुत हैं—

(१)

श्रीमद्बालमुकुन्दमिन्दुवदनं
वृन्दावनानन्दितं
वन्दे सुन्दरमेकमेव न परा-
न्निन्दामि वृन्दारकान् ।
वर्तन्तामचिरन्तनारिविषदो-
ऽनन्ता, 'अनन्त तले'
मन्तु 'ते' गणयन्तु नायमितरान्
मूर्द्धा निनन्तु क्षमः ॥

शक्त्या खिलागमगतिः खलु पण्डितः स्यात्
साभ्यासमेकमपि शास्त्रमवाप्य शास्त्री ।
श्लोकार्थमात्र मतिरैव न वैदुषी स्यात्-
प्रायो धनैव सुलभा किल भाति सापि ॥

(२)

माथे पै मुकुट मोर चन्द्रिका सरस सोहै,
कुंडल किरण देखि कोटि भानु लाजे हैं।
मोतिन की माल गरे भूखन बसन अंग,
केसर तिलक भाल लाल छबि छाजे हैं।
आनन्द के कन्द गोकुलचन्द नन्द प्यारे,
जसोदा के द्वारे लखि पाप पुंज भाजे हैं।
फागुन बदी सप्तमी, सब जग जाने ताहि,
धन्य, धन्य श्रीनाथजी, पाट पै बिराजे हैं॥

रा० कृ० श०

गणपति भारती

महाराजा प्रतापसिंह ब्रजनिधि (सं० १८२५-१८६० वि० सं०) के कवि-मण्डल अर्थात् कवि-बाईसी के प्रमुख कवि गणपति भारती उनके साहित्य-गुरु भी थे। ये ब्रजनिधि की आज्ञा से रचना करते थे तथा स्वयं शासक-कवि को सृजन हेतु प्रेरणा देते थे—

हुक्म कियत परताप नृप, गणपति सों करि नेहु ।
भाषा गीत गुव्यंद की, तुमही किनि करि देहु ॥

कृपापात्र लखि तासु को, हुकम कियत महाराज ।
भारत की भाषा करो, सबके समझन काज ॥

'ब्रजनिधि' ने ही इन्हें 'भारती' की उपाधि से विभूषित किया था तथा राज्य की ओर से जागीर, पालकी, चँवर प्रदान कर सम्मानित किया था। प्रतापसिंह अपनी रचनाओं को उचित संशोधन हेतु 'भारती' जी को दिखाया करते थे।

इनकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। ये माथुर चतुर्वेदी श्री रामकृष्ण चतुर्वेदी के पौत्र तथा पं० मथुरामल के पुत्र थे। यह परिवार ब्रज से जयपुर आया था। इनके पिता पं० मथुरामल सवाई माधोसिंह प्रथम (सं० १८०७ वि० से १८२४ वि० सं०) के दरबारी कवियों में थे। गणपति भारती ने अपनी कृतियों में पिता का नाम मथुरामल और उनके गुरु का नाम रघुपति बताया है—

चिदघन आनन्द रूप नाम रघुपति गुर्जर कुल ।
विद्या अपरम्पार कहौ कैसे अतुल तुल ।
तासु शिष्य यो पिता ज्ञाति माथुर मथुरामल ।
पातंजल को सोधि बहुरि राख्यो कविता बल ।
तिन पे महीप माधव नृपति, कृपा दृष्टि करि ऊनयो ।
सुनि ग्रंथ इक्क तिनके सुमुष, ग्राम खदक तव ही दयो ॥
—भीष्मपर्व

पुरोहित हरिनारायण शर्मा विद्याभूषण का मत है कि गणपति भारती के पिता कवि और महात्मा थे, जिनको महाराजा माधोसिंहजी बूंदी से लाये थे।

गणपति भारती बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। ये संस्कृत, ब्रज, उर्दू, राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। आपने रस, अलंकार, भक्ति, वेदान्त, ज्योतिष तथा संगीत आदि विषयों के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से अनेक काव्य ग्रन्थों की रचना की है। भक्ति और शृंगार-सम्बन्धी इनके पद शास्त्रीय और लोक-संगीत की राग-रागिनियों में निबद्ध हैं।

गणपति भारती के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डॉ० सत्येन्द्र तथा पुरोहित हरिनारायण शर्मा, गणपति भारती का रचनाकाल सं० १८३५ से १८६० वि० सं० मानते हैं। डॉ० गजानन मिश्र इनका रचनाकाल सं० १८३० से १८६० वि० सं० तक मानते हैं। गणपति भारती की प्रमुख रचनायें हैं—योगवासिष्ठसार (सं० १८२२ लिपिकाल), ऋतुकल्पद्रुम (रचना सं० १८१९ वि०), सांख्य-योगशाखा (सं० १८५६) तथा सौध-सुधानिधि (वि० १८५६)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका रचनाकाल वि० सं० १८१९ से १८६० वि० तक था, किन्तु अभी तक 'अमृतध्वनि' तथा 'रणकौतुक-प्रवन्ध' का रचनाकाल विदित नहीं है। इन ग्रन्थों की प्रणयन-तिथि ज्ञात हो जाने पर गणपति भारती के रचनाकाल की सही स्थिति स्पष्ट हो जायेगी।

भारतीजी ने विभिन्न विषयों पर २४ ग्रन्थ लिखे हैं। उनका वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

काव्य—१. अमृतध्वनि, २. ऋतु-कल्पद्रुम, ३. नेहपचीसी, ४. कर्णकौतुक, ५. विरह-पचीसी, ६. ब्रज-निधि-व्याहुला, ७. सौध-सुधानिधि।

भक्ति—८. पद-रत्नावली।

वेदान्त—९. तत्त्वार्थ प्रबोधिनी, १०. योगवासिष्ठ-सार, ११. सांख्य-योगशाखा।

संगीत—१२. संगीत-सागर।

रस-अलंकार—१३. अलंकार-सुधानिधि, १४. नवरस-सरवर, १५. रस-भास्कर, १६. रस-शृंगार, १७. रस-सिरताज, १८. वीर-रत्नाकर।

भाषानुवाद—१९. श्री राधागोविन्द-लीलामृत-सरिता, २०. समर-भास्कर।

ज्योतिष—२१. प्रताप-मार्तण्ड।

प्रकीर्ण—२२. प्रहेलिका, २३. मुक्तमाला, २४. साँझी के कवित्त।

उपर्युक्त ग्रन्थों में से 'नेह-पचीसी', 'विरह-पचीसी', 'व्रजनिधि-व्याहुला', 'नवरस-सरवर', 'रस-भास्कर', 'रस-शृंगार', 'रस-सिरताज', 'सांख्य-योगशाखा', 'पद-रत्नावली', 'श्री राधागोविन्द-लीलामृत-सरिता', 'मुक्तमाल' आदि ग्रन्थों का सम्बन्ध राधाकृष्ण से है। 'श्री राधागोविन्द-लीलामृत-सरिता' (सं० १८५०) जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' का भाषानुवाद है। 'सांख्य-योगशाखा' (सं० १८५६) भगवद्गीता का हिन्दी रूपांतर है। 'व्रजनिधि-व्याहुला' (सं० १८४८) में जयपुर के व्रजनिधि-मन्दिर में मूर्ति की प्रतिष्ठा तथा विवाह का वर्णन है। 'नवरस-सरवर' (सं० १८५५), 'रस-भास्कर' (सं० १८४३), 'रस-शृंगार' (सं० १८४१), 'रस-सिरताज' (सं० १८४८) रस से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं। इनमें श्रीराधाकृष्ण की शृंगाररसात्मक लीला का वर्णन है। 'मुक्तमाल' (सं० १८५४) में विभिन्न देवी-देवताओं के वर्णन हैं। इसमें कृष्णावतार का भी वर्णन है। 'पद-रत्नावली' (सं० १८५०) में राधा-कृष्ण से सम्बद्ध विभिन्न कवियों के पदों का संकलन है। 'विरह-पचीसी' (सं० १८५०) तथा 'नेह-पचीसी' (सं० १८५२) में गोपी-उद्धव-संवाद है। ये दोनों भ्रमरगीत-परम्परा के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

इन्होंने अपनी रचनाओं में वर्णिक तथा मात्रिक दोनों प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। पद-रचनाओं में संगीत के आधार पर रागों का उल्लेख भी मिलता है जिससे इनके संगीत-ज्ञान की पुष्टि होती है। संगीत-सागर (सं० १८४८) की रचना से इस तथ्य की पुष्टि स्वतः हो जाती है।

'नेह-पचीसी' तथा विरह-पचीसी' से कुछ छंद प्रस्तुत हैं—

(१)

जानत न पीर व्रजअंगना सरीरनि की,
मेरी पीर जानें यह केऊ नटखट है।
व्याह्यो न वरात गयो प्राण लयो चाहत हे,
आयो है कहाँ तें बाट चलत उबट हे॥
गोकुल में को कुलवधू है सो न वतरात,
अँसुवा प्रवाहनि सों भीजें अंग पट है।
दूरि ही ते देखि अकरूर को कहत अरी,
कैसो अकरूर जामें कूरता प्रगट है॥

—विरह-पचीसी

(२)

जोग की डौंड़ी दे गोकुल में तुम
नाचत तोड़ी को नाच नचायो।
ले कफनी उफनी सु करे कहा
जासुनें नाथ सो रंग रचायो।
अब तो मन पानी को लोन भयो
निकसें न कहूँ छवि छैल सचायो।
जाहु चले अपने घर कों इहाँ
ऊधव ऊधम काहे मचायो॥

(३)

क्रूर अक्रूर कहा समुझे यह
प्रेम को पंथ बुरो कि भलो री।
नातर अंग अनंग भुजंग
डसें गहरे लहरें निगलो री॥
निर्दय को दया आई न तो मों
हिमालय आलय माँझ गलो री।
फेल सबै तजि सेल अली अब
गोकुल छैल के संग चलो री॥

रा० प्र० कु०
ग० मि०

गणेशपुरी

पातावत बारहठ शाखा के चारण गणेशपुरी का जन्म मारवाड़ के चारणवास ग्राम में वि० सं० १८८३ में हुआ था। काशी में शिक्षा-प्राप्ति के बाद इन्होंने संन्यास ले लिया था। इनके संन्यासी होने की घटना के सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं कि महाकवि सूर्यमल मिश्रण की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर गणेशपुरी उनसे मिलने बूंदी गये, परन्तु अशिक्षित चारण कहकर सूर्यमल ने इनसे मिलने से इन्कार कर दिया। इस अपमान से क्षुब्ध होकर इन्होंने सांसारिक वैभव, शैक्षिक योग्यता तथा वेशभूषा के आधार पर व्यक्तित्व का मूल्यांकन करनेवाले समाज को तिलांजलि देकर संन्यास ले लिया।

स्वामी गणेशपुरी संस्कृत, हिन्दी, डिंगल, पिंगल और आध्यात्मिक विषयों में निष्णात थे। मेवाड़ के महाराणा सज्जनसिंह इनके काव्यकौशल और बहुमुखी प्रतिभा से बहुत प्रभावित थे। इन्होंने स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त महाभारत के 'कर्ण-पर्व' पर आधारित 'वीर-विनोद' नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ को इन्होंने वि० सं० १९४७ में पूरा करके अपने पिता पद्मजी को समर्पित किया था। अनेक भाषाओं के ज्ञाता होने के कारण इनके काव्य में क्लिष्ट शब्दों का समावेश साधारण स्तर के पाठकों के लिए कठिनाई उत्पन्न करनेवाला है। काव्य की भाषा पिंगल है। उदाहरण के लिए 'वीर-विनोद' के मंगलाचरण का एक छंद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

पाहन ससुर चोरे सत्यभामा चोर्‌यो तरु,
चोरी बंसी राधिका ने कह्यौ फेर उर को।
चोरी कहो रावरी तौ जीभ नाहीं लम्बी चोरी,
चोर्‌यो दधि दूध जामे हिस्सा हलधर को॥

चोरन के चोर वसुदेव नंदराय चोर,
चोरन को जने पारे, मात चोर पर को।
जानो हरि ग्रन्थ के अमंगल हूँ चोरि जैहै,
जैहै कित चोरी को सुभाव सब घर को॥

ज० सिं० परि०

गदाधरदास (प्रथम)

गदाधरदासजी पुष्टिमार्ग के भक्त कवि थे। ये कपिलगोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण थे। पुष्टिमार्गीय भाव-भावना के अनुसार इनका नाम 'कलकंठी' था। इनका जन्म ओरछा के पास कड़ा नामक ग्राम में हुआ था। ये पंडिताई का कार्य करते थे और इसके लिए इन्होंने ओरछा को अपना केन्द्र बनाया था। न इनका विवाह हुआ था और न इनके माँ बाप ही जीवित थे। ये ३० वर्ष की अवस्था (विक्रम सं० १५६६) में प्रयाग में आचार्य वल्लभ की शरण में आये थे। दीक्षा ग्रहण करने के उपरांत महाप्रभुजी से बिदा लेकर ये अपने घर ओरछा चले गये थे।

प्रयाग-प्रवास में तीन दिन तक आचार्य वल्लभ के साथ जो सत्संग हुआ था, वह इनके जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि थी। इसी अवधि में महाप्रभु ने इन्हें पुष्टिमार्गीय सेवापद्धति का सारा ज्ञान करा दिया था। श्री वल्लभ ने भक्तिवर्धनी ग्रन्थ के 'अव्यावृतो भजेत् कृष्णं' श्लोक की व्याख्या के द्वारा इनके हृदय में पुष्टिमार्गीय सेवा का बीज वपन किया था। श्री गदाधरदासजी को अपने चाचा से जो ठाकुरजी का स्वरूप प्राप्त हुआ था, ये उसे लेकर महाप्रभुजी के पास आये थे और उन्होंने इस स्वरूप को पंचामृत में नहलाकर इनका नाम मदनमोहनजी रख दिया था।

सुना जाता है कि गदाधरदास अत्यंत भावुक भक्त थे भक्तों और भगवान् की सेवा में ही इनका सारा दिन चला जाता था। ये त्याग, सेवा तथा सहिष्णुता की मूर्ति तथा उच्चकोटि के वैष्णव थे। कुछ दिन तक ठाकुरजी को अर्पित करने के लिए भोग-सामग्री सुलभ न हुई तो आप मंगला से लेकर शयन पर्यन्त मात्र जल से भरी लोटी ही ठाकुर के लिये भोग में रखते रहे किन्तु उधार लेकर भगवान् के लिये भोग अर्पण करना उचित नहीं समझा।

पुष्टिमार्गीय मन्दिरों में अष्टयाम-कीर्तन-सेवा के अन्तर्गत अष्टछापी कवियों के साथ आठ-आठ अंग-

गायक भी रहा करते थे। कविवर परमानन्ददासजी के आठ अंग-गायकों में गदाधरदास की गणना की जाती है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के मूर्धन्य भक्तों में गदाधरदास का उल्लेख नाभादासजी ने अपने 'भक्तमाल' में किया है—

लाल बिहारी जपत रहत निसिबासर फूल्यो।
सेवा सहज सनेह सदा आनन्दरस झूल्यो॥
भक्तन सों अति प्रीति रीति सबही मन भायी।
आसय अधिक उदार रसन हरि कीरति गाई॥

हरि विश्वास हिय आँजिकें, सपनेहु आन न आस की।
भलीभाँति निबही भगति, सदा गदाधरदास की॥

उत्तरार्द्ध भक्तमाल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी भक्त गदाधरदास का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है—

जजमान आश्रम भोग मदनमोहन के राखे।
जो आवे सो सकल तुरत अपने अभिलाखे॥

जा दिन कछु नहिं मिलै छानि जल-अर्पन करते।
भूखे ही रहि आप वैष्णवन-हित-अनुसरते॥

गदाधरदास की भक्ति-भावना की झलक इनके कीर्तनों में मिलती है—

गोविन्द पद पल्लव सिर पर विराजमान,
तिनको कहा कहि आवै सुख को प्रमान।

ब्रज दिनेश देस बसत कालानल हू न त्रसत,
बिलसत मन हुलसत करि लीला रस पान।
भीजे नित नैन रहत, हरि के गुन गान कहत,
जानत नहिं त्रिबिध ताप मानत नहिं आन।
तिनके मुखकमल दरस, पावत पद रेनु परस,
अधम जन गदाधर से पावत सनमान॥

युगलस्वरूप की रूपमाधुरी का पान करते हुए इन्होंने अनेक पद गाए हैं, उनमें से एक पद यहाँ प्रस्तुत है—

जुगुलवर आवत हैं गठजोरें।
सग सोभित वृषभानु नंदिनी,
ललितादिक तृण तोरें॥

सीस सेहरौ बन्यौं लाल के
निरख हरख चित चोरें।
निरख-निरख बलि जाय 'गदाधर'
छबि न बढ़ी कछु थोरें॥

यमुना और गंगा के स्तवनों में भी इनकी भक्ति-धारा का प्रवाह सर्वत्र दृग्गोचर हो रहा है—

मेरे कलु कलमष सब नासै
देखि प्रभात प्रभाकर कन्या।
वे देखो पाप जात जित तित ते
ज्यों मृगराज देख मृग सैन्या॥

पोषत दे पय पान पुत्र लों
हे जगजननी धन्य सुधन्या।
दियो चाहे गदाधरहूँ कों
चरणकमल निजभक्ति अनन्या॥

पुष्टिमार्गीय भक्तों ने जितनी गहनता एवं सघनता से श्री यमुना के प्रति अपनी प्रणति निवेदित की है उतनी ही गहन भक्ति का आवेश उन्हें श्री गंगा के पवित्र प्रवाह को देखकर भी होता है। द्रष्टव्य है—

गंगा जगत तारन कौं आई।
पापी दुष्ट अजामिल गनिका
पतित परम गति पाई।
परमपुनीत प्रीत ब्रह्मादिक
वेदव्यास मिलि गाई॥

रास, मुरली, हिंडोरा, मान, विरह आदि प्रसंगों पर आपने अनेक कीर्तन लिखे हैं।

रा० कृ० श०

गदाधरदास (द्वितीय)

गदाधरदास का जन्म सन् १६३०–४० के आसपास बंगाल के हुगली जिलान्तर्गत नातिकपुर ग्राम में हुआ था, किंतु इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन

वृन्दावन स्थित 'ब्रह्मकुण्ड' पर 'श्रीकृष्णचन्द्रमा' और 'श्री राधारानी' की सेवा में बिताया। इनकी मृत्यु वसंतपंचमो के दिन 'दावानल-कुण्ड' पर हुई थी। लोगों का कहना है कि सम्पूर्ण जीवन 'ब्रह्मकुण्ड' पर बितानेवाले बाबा गदाधरदासजी का मृत्यु के दिन 'दावानल-कुण्ड' पर चले जाना संयोगमात्र नहीं था वरन् उस दिन इनके उपास्य 'श्रीकृष्णचन्द्रमा' ने इन्हें स्वप्न में 'दावानल-कुण्ड' पर दर्शन देने की बात कही थी। तभी ये उनकी पूजा और भोग की सामग्री लेकर वहाँ पहुँचे थे। ये एक उच्चकोटि के भावावेशी महात्मा थे।

अ०

गदाधर भट्ट

श्री गदाधर भट्ट आन्ध्र-प्रदेश के वैल्लनाटीय तैलंग ब्राह्मण थे। बाँदावाले गदाधर तथा वल्लभाचार्यजी के गदाधर मिश्र से ये भिन्न हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों में इनको चैतन्यमहाप्रभु के शिष्य मानने का भ्रम रहा है। चैतन्यदेव को जो गदाधर भागवत सुनाया करते थे वे इनसे भिन्न थे। वस्तुतः वे गदाधर पंडित गोस्वामी थे और जीवगोस्वामी की प्रेरणा से वृन्दावन में आकर श्री रघुनाथ भट्टजी के अनुगत शिष्य हुए थे। यही नहीं, उनका भागवत का समर्थ वक्ता होना भी एक कारण रहा होगा। उनका महाप्रभुजी से कभी साक्षात्कार नहीं हुआ था। दूसरे, वे गदाधर बंगाली थे और ये दाक्षिणात्य। 'श्रीवल्लभ वंशवृक्ष' तथा आन्ध्र-तैलंगभट्ट वंशवृक्ष' से ज्ञात होता है कि उत्तर भारतीय तैलंग-समुदाय में 'भट्ट' शब्द ही इनकी जाति के सभी वर्गों के साथ प्रयुक्त होता है। यह इनके वैदुष्य और प्रकाण्ड प्रतिभा का द्योतक है तथा एक महत्त्वपूर्ण उपाधि भी है। वृन्दावन का 'करंज' तथा 'षट्भ्रातृ' कुटुम्ब माध्व और चैतन्य-मतावलम्बी रहा है। इसी प्रकार नीमराना का 'मदरसा-ब्रजिया' कुटुम्ब तथा 'माध्व-ब्रजिया' ऊँचा ग्राम भी इसी दाक्षिणात्य-वंश की शाखा-प्रशाखाओं से सम्बद्ध है। वृन्दावन में इनके मूल पुरुष गदाधर भट्टजी हैं जो वि० सं० १५६० में चैतन्य-सम्प्रदाय के अनुगत हुए। इस कुटुम्ब में भागवत के अनेक प्रसिद्ध वक्ता हुए हैं। इनका मूल ग्राम अज्ञात है। इनकी भाषा एवं वेश-भूषा ब्रजमण्डलीय और सम्प्रदाय की आचार-परम्परा चैतन्य-सम्प्रदाथ की है।

गदाधर भट्ट के सम्बन्ध में भक्तमालकार नाभादासजी लिखते हैं —

सज्जन, सुहृद, सुशील, बचन आरज प्रतिपालय।
निर्मत्सर, निहकाम-कृपा-करुणा कौ आलय ॥
अनन्य भजन दृढ़ करनि धर्‌यो बपु भक्तनि काजै।
परम धरम कौ सेतु, बिदित वृन्दावन गाजै ॥
भागौत सुधा बरषै बदन, काहू कों नाहिन दुखद।
गुन निकर 'गदाधर भट्ट' अति, सबहिन कौ लागे सुखद ॥

प्रियादासजी ने उसकी टीका में आठ कवित्त निवेदित किए हैं। ध्रुवदासजी 'भक्त-नामावली' में लिखते हैं—

भट्ट गदाधर नाथ भट, विद्या भजन प्रवीन।
सरस कथा बानी मधुर, सुनि रुचि होत नवीन ॥

नागरीदास, भगवत रसिक आदि रस-सिद्ध कवियों ने भी इनके समुज्ज्वल चरित्र, उत्कट भक्ति-भावना, वाणी की सुमधुरता तथा इनको भागवत-कथा की सरसता की बड़ी प्रशंसा की है। प्रियादासजी की टीका से ज्ञात होता है कि वृन्दावन आने से पूर्व ही ये भक्ति-समन्वित सुन्दर पद लिखते थे। ऐसी अनुश्रुति है कि 'सखी हौं स्यामा रंग रँगी' टेकवाला पद सुनकर जीव गोस्वामी ने इन्हें निम्नलिखित श्लोक लिख भेजा था जिसे सुनकर गदाधर भट्टजी बाह्यदशाशून्य हो गये थे—

अनाराध्य राधापदाम्भोज युग्म-
मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदांकाम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान्
कुतः श्याम सिन्धोः रसस्यावगाहः ॥

जीव गोस्वामी के उक्त श्लोक को सुनकर ये सीधे वृन्दावन चले आए और भागवत-कथा के

अद्वितीय वक्ता श्री रघुनाथ भट्टजी के शिष्य हो गये। ये भागवत-कथा के बड़े रसिक वक्ता थे। इनकी कथा का भक्त-समाज में अतिशय आदर और प्रभाव था। इन्हें कवि-हृदय तो पहले से मिला था, संस्कृत के ये प्रकाण्ड पण्डित थे ही, अब अपने मर्मज्ञ गुरु से भागवत-रहस्य पाकर कथा प्रवचन में इनका भावुक हृदय ढल-ढलकर प्रकट होने लगा। इन्हींके वंश में 'प्रेम-पत्तन' के प्रणेता रसिकोत्तंस पर्याय नाम यदुपति भट्ट और 'मधु केलिवल्ली' के लेखक गोवर्द्धन-भट्ट जैसे भागवत के अलौकिक और धुरन्धर वक्ता हुए।

इनकी वैष्णवता, सज्जनता और कथा-शैली से अभिभूत होकर भावुक श्रोताओं का प्रेमाश्रु बहाना स्वाभाविक था। नागरीदासजी ने इनके विषय में कोई नवीन सामग्री नहीं दी है। प्रियादास के आशय को ही गद्यबद्ध किया है। प्रियादासजी ने 'भक्तमाल' की अनुक्रमणिकास्वरूप एक लघुकृति 'भक्त-सुमिरिनी' में इस प्रकार लिखा है—

भट्ट गदाधर परम रसज्ञ। चौमुख कीर्ति कथा सरवज्ञ॥

इनके उपस्थिति-काल का अनुमान इनके वृन्दावन-आगमन से लगाया जा सकता है। प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार ये वि० सं० १५९० के लगभग वृन्दावन आए थे। अतः वि० सं० १५९०-१६११ के मध्य ही इनका दीक्षा ग्रहण-काल ज्ञात होता है। वृन्दावन आने से पूर्व ये गृहस्थ थे, अतः उस समय उनकी आयु २५ से ३५ वर्ष के बीच अनुमानित होती है। इस प्रकार इनका जन्म वि० सं० १५६० के आसपास सम्भाव्य है।

गदाधर भट्ट के सेव्य ठाकुर श्री राधामदनमोहनजी थे जो इन्हें यमुना की रेणुका से वसन्तपंचमी के दिन प्राप्त हुए थे। यह विग्रह वर्तमान में अठखम्भा मुहल्ला में विद्यमान है और उनकी सेवा भट्टजी के वंशज ही परम्परा से करते चले आ रहे हैं। यहाँ आज भी बड़े उत्साह और उल्लास के साथ 'समाज' का आयोजन होता है जो वृन्दावन में बहुत प्रसिद्ध है। भट्टजी के यहाँ श्रीविग्रह की सदाचार-पूर्ण बड़ी भावमयी सेवा होती है। ब्रजभाषा के प्रख्यात कवि वल्लभ रसिक तथा संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित और रसज्ञ भक्त रसिकोत्तंस इनके वंशधरों में थे।

गदाधर भट्टजी की अद्यावधि कोई स्वतन्त्र रचना नहीं मिली है। 'योगपीठ' नामक इनकी स्वतन्त्र रचना मानी जा सकती है। यही रचना 'ध्यानलीला' के नाम से (विक्रम संवत् १८९२ की प्रतिलिपि) डॉ० चन्द्रिकाप्रसाद को प्राप्त हुई है और इसी नाम से एक प्रति ना० प्र० स० खो० रि० में उल्लिखित है। इसमें सौ के लगभग फुटकर पद मिलते हैं। परिमाण में थोड़ा होते हुए भी इनकी कविता उत्कृष्ट कोटि की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके पद-विन्यास की बड़ी प्रशंसा की है। इसमें सखी-भाव ही प्रधान है और अभिव्यक्ति में वह हरिवंशजी से होड़ लेती है। इनकी रचना का विषय चैतन्य-सम्प्रदाय की भावना-उपासना के नितान्त अनुरूप है। इनके पदों में कैशोरलीला की प्रधानता है। इनमें युगल-स्वरूप-वर्णन, रास, होरी, योगपीठ, बधाई, यशोदानन्द आदि की वन्दना, वंशी, अनुराग, मान, कालियमर्दन, लीला, विवाह, ज्योनार, वर्षा, झूलन, विनय, नाम-महिमा आदि का भावपूर्ण निरूपण है किन्तु इनकी विशेष दृष्टि धमार, झूलन, पावस, रूपछवि और रास-वर्णन पर रही है—इनमें भी सर्वाधिक धमार पर। धमार, वसन्त, हिंडोल चैतन्य-सम्प्रदाय की मधुर-भावना के सर्वथा अनुकूल विषय हैं।

नन्दगाँव, बरसाना और वृन्दावनस्थ भट्टजी के मन्दिर के समाजों में गदाधर भट्ट की धमार बड़े उल्लास से प्राचीन परम्परा के अनुसार गायी जाती है। बाबा कृष्णदासजी कुसुमसरोवरवालों ने सर्वप्रथम इनकी रचनाओं का एक संकलन वि० सं० २००० में जयपुर से प्रकाशित कराया था, पश्चात् इसका पुनर्मुद्रण भी कराया जिसमें ८५ पद संकलित हैं।

'योगपीठ' नामक रचना इससे पृथक् है जो उपासना के सूक्ष्म रहस्य को हृदयंगम कराने के लिए लिखी गयी स्वतन्त्र कृति ज्ञात होती है। कुछ संस्कृत के पद भी हैं जो स्तोत्र-काव्य के लक्षण के अनुकूल हैं। उक्त संग्रह की पद-संख्या २० को गदाधर भट्टजी ने 'स्तव' ही कहा है। ११, ५३ और ८५ संख्यक पद स्पष्टतः किसी 'कल्याण कवि' के द्वारा विरचित हैं। शेष रचनाएँ गदाधर भट्ट की हैं। भट्टजी के पदों की सबसे बड़ी पहचान यह है कि वे संस्कृतनिष्ठ, सुष्ठु सशक्त-भाव-व्यंजनायुक्त तथा संगीत-प्रवण हैं। इनकी भाषा तथा भाव बड़े रसपेशल हैं। माधुर्य-भक्ति एवं व्रजरस की प्रगाढ़ व्यंजना इनके पदों में सर्वत्र विद्यमान है। आज भी इनके पद प्रायः सभी कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों की कीर्तन-पोथियों में संकलित हैं और बिना किसी साम्प्रदायिक दुराग्रह के उनका सेवानुरूप पाठ होता है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं—

(१)

वाम भाग सौभाग सोम श्रीराधा रमनि मनि।
ताके नव-नव प्रीति राग रहे पिय तन मन सनि॥

अहिकुल अलिकुल वरहिकुल, केस-वेस लखि लाजि।
रहे रसा महि कमल महि, निरजन बन में भाजि॥

वदन सदन आनन्द चन्द चारुता लजानी।
नैन मैन सर पैन भौंह धनुहीं जनु तानो॥

मृगमद तिलक ललाट पर ताटंक श्रवन बनि।
खुटि खुटिला झुलमुली अलक झलमलत महामनि॥

नासा मोती अधर भासता सित थरहरई।
दसन दाड़िमी बीज भंजिता बोल मुखरई॥

(२)

हरि की नव घन करत आरती।
गर्जनि मंद शंख ध्वनि सुनियति दादुर वेद भारती॥

पचरंग-पाट बाति सुरधनु की दामिनी दीप उज्यारती।
जलकन कुसुम जाल परखावत बगगण चमरनि ढारती।
घंटा ताल झाँझि झालरि पिक चातक केकी क्वान।
तातैं भयौ 'गदाधर' प्रभु के श्यामल अंग समान॥

(३)

झूलति नारि नागर लाल।
मंद-मंद सब सखी झुलावति
गावत गीत रसाल॥

फरहरात पटपीत नील के
अंचल-चंचल चाल।
मनहु परस्पर उनकि ध्यान छबि
प्रकट भई तिहि काल॥

सिलसिलात अतिप्रिया सीसते
लटकति बेनी गाल।
जनु प्रिय-मुकुट-विरही-भ्रम बस
तहँ व्याल विकल विहाल॥

मल्ली भाल प्रिया के उर को
पिय तुलसीदल भाल।
जनु सुरसरि रबितनया मिलिकै
सोभित श्रेनिमराल॥

स्यामल गौर परस्पर प्रति छबि
सोभा विसद विशाल।
निरखि गदाधर रसिक कुँवरि मन
परखो सुरस जंजाल॥

(४)

सहस दल अरविन्द विकसित वदन वर सोभा।
जाहि देखत उठत सखि आनन्द की गोभा॥

नैन धीर अधीर कहुँ-कहुँ असित सित राते।
प्रिया आनन चन्द्रिका मधुपान रस माते॥

वंसिका कलहंसिका मुख कमल रस रांची।
पवन परिसत अलक अलिकुल कलह-सी माची॥

ललित लोल कपोल मण्डल मधुर मकराकार।
जुगल शिशु सौदामिनी मनु नचत नट चटसार॥

विमल झलक सुढार मुक्ता नासिका दीन्हों।
ऊँच आसन पर असुर गुरु उदय सो कीन्हों॥

भौंह सोहनि का कहौं अरु भाल कुमकुम विन्दु ।
श्याम बावर रेख परि मन अबहिं ऊगउ इन्दु ।।
लग्यो मन ललचाय तातें टरत नहिं टार्यो ।
अमित अद्भुत माधुरी पर गदाधर वार्यो ।।

न० च०बं०

गदाधर मिश्र

श्री गदाधर मिश्र पुष्टिमार्ग के अनुयायी एवं परमविवेकी भक्तकवि हुए हैं। गोस्वामीविट्ठलनाथजी के प्रिय एवं विद्वान् शिष्यों में 'संप्रदाय-प्रदीप' ग्रन्थ के रचयिता श्री गदाधर मिश्र एवं 'वल्लभाख्यान' के रचयिता श्री गोपालदास का विशिष्ट स्थान है।

ये कपिल सारस्वत ब्राह्मण थे और कुंडा ग्राम के निवासी थे। कुंडा गाँव ब्रज-क्षेत्र की सीमा में आता है। इनका जन्म १५८० वि० सं० में हुआ था। 'भक्तमाल' के रचयिता ने गदाधर मिश्र का उल्लेख 'गदाधर' सम्बोधन से किया है, जो अन्य कवियों के साथ स्मरणीय है—

गुन गन विसद गुपाल के ऐते जन भए भूरिदा ।
बोहिथ रामगुपाल कुँवर वर गोविंद मंडिल ।।
छीतस्वामी जसवंत गदाधर अनंतानंद भल ।

गदाधर मिश्र के परिवार में मात्र इनका एक पुत्र ही था जो असमय ही कालकवलित हो गया था। इस शोक से ये कई बार मूर्च्छित हो गये थे। गोस्वामी विट्ठलनाथजी अपने दीक्षित शिष्य के पुत्र शोक में मूर्च्छित होने पर इनके घर गये थे। गुरुदेव को आया हुआ देखकर परमभावुक भक्त ने अपने हाथों झाँझ उठा ली और बधाई गाने लगे—

आज नंदलाल मुखचंद नैनन निरखि
परम मंगल भयौ भवन मेरे ।
कोटि कन्दर्प लावण्य एकत्र करि
जवहीं वारौं तब ही नेक हेरे ।।
सकल सुख सदन हरखित बदन गोपवर
प्रबल दल मदन दल संग घेरे ।
कहो कोऊ कैसेहु नाहिन सुध बुध रहत
गदाधर मिश्र प्रभु गिरिधरन हेरे ।।

ये समर्पित भावनावाले कृष्ण-भक्त थे। इनका सारा जीवन कृष्णनाम-संकीर्तन में व्यतीत हुआ। ये गोस्वामी विट्ठलनाथजी को श्रीराधाकृष्ण की युगल लीलाओं के स्वरचित कीर्तन सुनाया करते थे।

इनकी रचनाएँ संस्कृत में भी उपलब्ध हैं, जिससे ज्ञात होता है कि ये संस्कृत भाषा के उद्भट विद्वान् थे। इनके ब्रजभाषा के पद सरस, आकर्षक एवं लालित्यपूर्ण हैं। उनमें भक्त-हृदय की विभोरता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है एक छंद देखिए—

सुंदर स्याम सुजान सिरोमनि
देउँ कहा कहि गारी जू ।
बड़े लोग के औगुन बरनत
सकुच होत जिय भारी जू ।।

(निज-संग्रह)

इस पद का संस्कृत में अनुवाद अहमदाबादवाले गोस्वामी ब्रजरायजी ने किया था। यह पद १६ युग्म का है। इनकी अन्य रचनाएँ भी प्राणवन्त हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण श्री वृषभानुनंदिनी के साथ वंशीवट के नीचे रासलीला के लिए उद्यत खड़े हुए हैं। जैसे लतावेष्टित फूला हुआ कदम्ब खड़ा हो। ठाकुर का रूप-चित्रण ही नहीं अपितु उनके माहात्म्य का भी निरूपण प्रस्तुत पद में द्रष्टव्य है—

नवल ब्रजराज कौ लाल ठाढ़ौ सखी,
ललित संकेतबट निकट सोहै ।
देखि री देखि अनिमेष या वेष कौं,
मुकुट की लटक त्रिभुवन जु मोहै ।।
स्वेदकण झलक, कछु झुकी-सी पलक,
मानो प्रेम की ललक, रसरास कोये ।
परम बड़भाग वृषभानु-नृप-नंदिनी,
राधिका अंश पर बाहु दीये ।।
मणि जटित भूमि रही नवलता झूमि,
रसपुंज, सुभकुंज छवि कहि न जाई ।

नंदनंदन-चरण परस हित जानि यह,
मुनिन के मनन मिलि पांत लाई ॥

परम अद्‌भुत रूप, सकल गुणभूप यह,
मदनमोहन बिना कछु न भावै ।
धन्य हरिभक्त जिनकी कृपा तैं सदा,
कृष्णगुन गदाधर मिश्र गावै ॥

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने 'उत्तरार्द्ध-भक्तमाल' में सरस पद-निर्माता एवं रसिक कवि के रूप में श्री गदाधर मिश्र का स्मरण किया है। देखें—

भट्टगदाधर, मिश्र गदाधर, गंग-गुआला ।
कृष्णजीवन, हरि, लछीराम पद रचत रसाला ॥
रा० कृ० श०

गरीबदास

गरीबदास कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। माता-पिता का निधन इनकी शैशवावस्था में ही हो गया था। इसी अनाथदशा में ये किन्हीं रामगिरि नामक संन्यासी के शिष्य हो गए। नित्यानंदजी के शिष्य श्री रामराय प्रभु से दीक्षा लेने के पूर्व इनका नाम गोविन्दगिरि था। कहते हैं कि एटा जनपद के सोरों क्षेत्र में रामराय प्रभु के साथ इनका समागम हुआ। उनके सम्पर्क का परिणाम यह हुआ कि इनका अहंकार विचूर्ण हो गया। इन्हें श्री रामराय प्रभु ने राधामाधव की फूल-सेवा बतलाई।

इनके द्वारा रचे हुए तीन ग्रन्थों का 'बारह वैष्णवन की वार्ता' में उल्लेख हुआ है, वे हैं—'श्रृंगार-शतक', 'आनन्द-शतक' और 'वृन्दावन-शतक'। ये तीनों ही रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं।

'आनन्द-शतक' की रचना वि० सं० १५८० में हुई थी। इससे अनुमान होता है कि इनका जन्म वि० सं० १५५० के लगभग 'आनन्दशतक' की रचना के अनुमानतः तीस वर्ष पूर्व हुआ होगा। इन्होंने सभी आनन्दों में 'कृष्णानंद' को ही प्राप्तव्य माना है—

ब्रह्म कह्यौ श्रुति नेति
पार कोहू नहि पायौ।
अगनित ताके नाम
कविन कितनौ करि गायौ ॥

ताके रूप अनेक
दोय बरनित हैं जानौं।
ब्रह्मानन्द अमंद मंद विषयानंद मानौं ॥

विषयानंद विलीन दीन डूबे भवसागर।
जो श्री कृष्णानंद प्रगट त्रयलोक उजागर ॥

'वृन्दावन-शतक' में चैतन्य-सम्प्रदाय की भावनानुसार वृन्दावनधाम का स्वरूप और उसके माहात्म्य का वर्णन किया गया है। इन्होंने धामानुराग बिना साधना में सफलता संभव नहीं मानी है। भक्ति का स्फुरण धाम के प्रभाव से होता है। वहीं साधक के उपास्य अहर्निश लीलानिरत रहते हैं। अतः कृष्ण-भक्ति तथा राम-भक्ति के जितने मधुर सम्प्रदाय हैं, उनमें भगवान् के लीलाधाम को अतिशय महत्त्व प्रदान किया गया है। चैतन्य-महाप्रभु के प्रियपार्षद श्रीप्रबोधानंद सरस्वती की धामनिष्ठा उनके द्वारा प्रणीत 'वृन्दावन-महिमामृतम्' में देखी जा सकती है गरीब दासजी की यह रचना इनकी धामनिष्ठा का परिचायक है। इससे दो कुण्डलियाँ नीचे प्रस्तुत की जाती हैं—

(१)

श्रीराधा-माधव दरस, अति उत्कंठा होय।
तो वृंदावन सेइये, और न साधन कोय ॥

और न साधन कोय, मोय यह लागत प्यारो।
श्री वृषभानु कुमारि, प्रान-धन नंद दुलारो ॥

सिद्ध स्वरूप अनूप, सदा रस नैनन तारो।
आनंद की जो खान, मान धरि ध्यान सँवारो ॥

'दासगरीबहि' श्री रामराय गुरु करुना साधा।
सेवन वृंदाविपिनलाल श्रीमाधवराधा ॥

(२)

वृन्दावन को चूहरौ, आन गाम कौ भूप।
ताको सरवर ना करै, वेच खाय जो सूप ॥

बेच खाय जो सूप, रूप-रसछक्यौ न जानै ।
कहा मोहि करतव्य, नामबनराज बखानै ॥
रजरानी की कृपा मिली प्यारी पिय छानै ।
ब्रह्मादिक जहाँ चकित रहैं, धरि-धरि हिय ध्यानै ॥
जहँ 'गरीब' के बोल, बोलिवे को अपान पन ।
श्री राधा माधव रामराय, गुरु गज वृन्दावन ॥

न० च० वं०

गरीबदास गोस्वामी

प्रतीतराय लक्ष्मणसिंह रचित 'श्री लोकेन्द्र व्रजोत्सव' में भक्तकवि हरिराम व्यास के वंशजों में गरीबदास गोस्वामी नाम के दो भक्त उल्लिखित हैं—एक भगवानदास गोस्वामी के सुपुत्र थे और दतिया-नरेश दलपतराव (१६८३–१७०७ ई०) के समय में अपनी भक्तिभावना के कारण बहुख्यात थे तथा दूसरे प्रेमनारायण गोस्वामी के सुपुत्र थे और भक्तिभावना में लीन होकर काव्य-रचना करते थे ।

अभीष्ट भक्तकवि इनमें से द्वितीय गरीबदास थे । इनका जन्म सं० १६०१ में हुआ था । जन्म से ही इन्हें भक्ति के संस्कार प्राप्त थे, व्यासजी के वंश में राधावल्लभी भक्तिभावना व्याप्त थी । इसलिए जब ये दतिया-नरेश भवानीसिंह (१८५७–१६०७ ई०) के दीवान हुए, तब इन्होंने अपनी भक्तिमयी उदारता से शासन को जनप्रिय बनाया । ये संस्कृत और हिन्दी दोनों में कविता करते थे । इनका निधन सं० १६४८ में हुआ था ।

गोस्वामीजी के प्रति बैजनाथजी की निम्नांकित प्रशस्ति से पता चलता है कि ये श्रीप्रिया राधा की उपासना करते थे और इनके काव्य का विषय युगलकिशोर की प्रेमलीला का वर्णन था—

राखै खास पास की उपासना हिये के बीच,
आस श्रीप्रिया को रास रंग में किये हुलास ।
युगलकिशोर गुणगान में सदैव मग्न,
प्रेमध्यान धारणा को चित्त में रहै प्रकास ।
बैजनाथ प्रभुता प्रत्यक्ष दरसात प्रभु,
कोर जो कृपा की सो करोर सिद्धि ठाढ़ी पास ।
और भक्त जक्त में सुने ते भक्तमाल बीच,
नैनन निहारे हैं गुसाइँ श्री गरीबदास ॥

इनके कुछ भक्तिभावपूर्ण छंद प्रस्तुत हैं––

(१)

परम प्रिया के मुखचन्द्र को अमंद देख,
फेर देख चन्द्र सुखकन्द निरधारो है ।
चित्त में विचारो भारो इनमें से कौन होत,
अक़ल तराजू माँहि दोहिन को धारो है ।
काम कला जोती कर पला नैन पंकज भर,
डंडी ध्यान मान के प्रमान से समारो है ।
तारन समेत तारो नभ को सिधारो हारो,
भयो है दुखारो न्यारो अंकित निहारो है ॥

(२)

बहै आँखन ते अँसुआ नद धार
उसासन यों बिष ज्वाल गरै ।
धरैं धीरज क्यों छबि जाल परे
नटसाल बिंधे तें न टारे टरै ।
हितुवा तू हिये को न जान कछू
अनुमानै न जौ पुन सौंहैं करै ।
उर फार के कौन कैं आगे अली
यहि पीर कौ जाइ निबेरौ करै ॥

न० प्र० गु०

गल्लूजी 'गुण मंजरीदास'

गल्लूजी वृन्दावन के प्रसिद्ध आचार्य और आधुनिक हिन्दी-साहित्य के गौरव भारतेन्दु बाबू (हरिश्चन्द्र) के सहयोगी गोस्वामी राधाचरण के पिता थे । ये श्री राधारमण मंदिर के गोस्वामी दामोदरदासजी के वंशज रमणदयालुजी के सुपुत्र थे । 'गुणमंजरी' इनका साधनापरक नाम था ।

इनका जन्म ज्येष्ठ कृष्ण ८, सं० १८८४ को वृन्दावन में हुआ था । इनके पिता अधिकतर

फर्रुखाबाद में रहते थे वि० सं० १६०१ में फर्रुखाबाद के श्री जगन्नाथ पुरोहित की कन्या सखीदेवी से इनका प्रथम विवाह हुआ। उनके निधनोपरान्त लोगों के अतिशय आग्रह करने पर वृन्दावन के ही जगन्नाथ मिश्र की कन्या सूर्यदेवी के साथ इनका दूसरा विवाह हुआ। गल्लूजी दूसरे विवाह के पक्ष में न थे। पिताजी के आग्रह करने पर इनका उत्तर था—'यदि मेरा वास्तविक कल्याण चाहते हैं, तो दुबारा गार्हस्थ्य की बेड़ियाँ न पहनाइये। यदि पहनानी हों तो लोहे की क्यों, सोने की पहनाइये। विवाह सम्बन्ध फर्रुखाबाद में न कर वृन्दावन की किसी कन्या से कीजिये, जिससे कम-से-कम उसके सम्बन्ध से वृन्दावन जाना-आना होता रहे।'

प्रारम्भ से ही गल्लूजी की मानसिक स्थिति साधारण लोगों से पृथक् थी। ये सत्यनिष्ठ थे। संतुलित शब्द बोलते थे। दैन्य एवं विनय इनकी वाणी से प्रतिपल झरता था। ये उत्कट सेवाभावी थे। लोभ से ये कोसों दूर थे। इनकी मान्यता थी कि भक्तिरूपी वृक्ष पर समस्त सद्गुण फलते हैं। भक्ति इनकी प्रकृत सम्पत्ति थी। ये सब बातों का मूल्यांकन भक्ति के निकष पर ही करते थे।

दुर्भाग्यवश इनका अपना संसार भगवत्-सेवा के अनुकूल न था। आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। इनके पिता पर वृन्दावन में बहुत कर्ज हो गया था। इन्होंने अपने संकल्प-बल से, भागवत-कथा के माध्यम से इस विपन्नता को दूर किया। पहली कथा इन्होंने मात्र १० वर्ष की उम्र में लखनऊ के शाह बिहारीलालजी के घर पर कही। उस कथा में इन्हें उस समय ५०० रुपये की भेंट चढ़ी। वृन्दावन आने के बाद गल्लूजी का चैतन्य-मत के प्रसार-प्रचार में काफी योगदान रहा। आधुनिक युग के महान् विरक्त संत शाह कुंदनलाल (श्री ललितकिशोरी) और शाह फुंदनलाल (ललितमाधुरी) इनमें गुरु-बुद्धि रखते थे। उन्हें ये उपासना-सम्बन्धी उपदेश देते और हरिकथा सुनाया करते थे। काशी, शाहजहाँपुर और भरतपुर आदि स्थानों में इनकी कथाओं की धूम मची रहती थी। भरतपुर-नरेश के मन्दिरों में जब ये कथा कहने जाते, तो बाजार में इनकी सवारी निकलती थी और जन-समुदाय इन्हें अपने श्रद्धा-सुमन चढ़ाने के लिए उमड़ पड़ता था।

गोस्वामी राधाचरणजी ने लिखा है कि इन्होंने कथा द्वारा प्रायः एक लाख रुपया उपार्जित किया, किन्तु वह सब भगवत्-सेवा और परमार्थ में खर्च कर दिया। वि० सं० १६३२ में इन्होंने वृन्दावन में श्री षड्भुज-महाप्रभु का मन्दिर स्थापित किया। वि० सं० १६३७ से ये निरन्तर वृन्दावन-वास करने लगे थे। इन्होंने कई स्थानों पर अपने इष्टदेव ठाकुर श्री राधारमणजी के मन्दिर बनवाये और चैतन्य-सम्प्रदाय का प्रचार किया। वैष्णव-भक्ति के प्रतिकूल आचार-विचार के ये प्रबल विरोधी थे और अभारतीय भाषाओं से इन्हें अरुचि थी। ये ब्रजभाषा में ही कथा कहते थे। एक बार शाह ललितकिशोरीजी के यहाँ इन्हें कथा-प्रसंग में बन्दूक छोड़ने की बात कहनी थी। किन्तु यह बन्दूक शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहते थे, तो यह वाक्य कहा, 'लौह-नलिका में स्यामचूर्ण प्रवेश करके अग्नि-संस्कार कियो तो भड़ाम शब्द भयो।' एक बार मार्ग में इन्हें लुटेरे मिल गये और इनकी गाड़ी में घुस आए। गल्लूजी महाराज की बहुमूल्य ग्रन्थों से भरी हुई सन्दूक वे ले जाने लगे, तो इन्होंने कहा—'भैया, इसमें केवल पुस्तकें हैं, यह तुम्हारे काम की नहीं हैं। इन्हें छोड़ जाओ और जो चाहो सो ले जाओ।' लुटेरे पुस्तक छोड़ गए, शेष सामान लेकर चंपत हुए। वृन्दावन आने पर इनकी श्री राधारमणजी में प्रीति-निष्ठा अनुदिन दृढ़तर होती गई।

श्री राधारमणजी के मन्दिर में बहुत सेवक थे जो बारी-बारी से सेवा करते थे। इनकी सेवा प्रति ढाई वर्ष बाद आती थी, लेकिन मंगला की सेवा यह दूसरों से माँग लेते थे। इस सेवा के लिए इन्हें बड़े भोर में चार बजे स्नानादि कर मन्दिर में जाना होता

था। इसलिए ऐसी कष्ट-साध्य सेवा से बचने के लिए अन्य सेवक प्रायः इनके स्नेहिल आग्रह पर उसे (मंगलाकी सेवा) इन्हें सौंप देते थे। जिस दिन इन्हें सेवा न मिलती, तो यह कहते—'आज मोपै श्रीजी कौ कछु अपराध बन गयौ है, जाईसौं सेवा नांय दीनी'। उस दिन ये मन्दिर के बाहर बुहारी-सेवा करके ही संतुष्ट हो जाते थे और श्रीजी के प्रति अनुरागयुक्त व्यंग्य करते—'तुम्हारे घर को कुत्ता, तुम ठुकराओ तो ठुकराओ, जाऊँगो कहाँ ? द्वार पर पड्यौ रहिकै सेवा तुम्हारी ही करोंगो।' राधारमणजी की मंगला-आरती के पश्चात् ये श्री महाप्रभुजी की आरती करते थे। बस, इन दोनों की सेवा में ही ये निमग्न रहते थे। भगवद्भक्ति, कथा-कीर्त्तन, श्री राधारमणजी की सेवा-पूजा, दर्शन-झाँकी करते हुए वि० सं० १९४७ में ६३ वर्ष की आयु में मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को इनका नित्यधाम-प्रवेश हुआ। गोस्वामी राधाचरणजी ने इनके विषय में लिखा है—

जुगल प्रेम सर्वस्व, भजन-भावन-गत अहनिस।
ब्रज-वासिन कों करन सरन भक्तन कों सर्वस ।।

राधारमन लड़ाय रहत ताही रंग राते।
श्री भागौत-सुरूप इष्ट ग्रन्थन रसमाते ।।

पद-रचना पावन किये, देस-देस भव-भंजरी।
श्री गल्लूजी गुणमंजरी, दास अपर गुणमंजरी ।।

इसी प्रकार ललितकिशोरीजी ने भी इनके प्रति श्रद्धासंवलित शब्दों में लिखा था—

पग अरविन्दन श्री गल्लूजी
गोस्वामी नित उर में धारौं।
निज अधिकार निकुंज गवन कौ
दीनों मुहि छिन नाहिं बिसारौं ।।

ये ब्रज-भाषा के उत्कृष्ट कवि थे। इनके पद पुरानी परिपाटी के होते थे। इन्होंने 'श्री गोपाल-भट्टशतक', 'प्रार्थना' (३४ पद), 'युगल छद्म' (६८ दो० चौ०), 'श्रीराधारमण पदमंजरी' (७७ पद), 'भागवत-पदमुक्तावली' (४६५ पद), 'रहस्यपद', 'पदावशेष' (१०० पद) आदि ग्रन्थों की रचना की। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट (२९/१०३) में 'मंगला-आरती' और 'सुरमावारी' नामक दो अन्य रचनाओं का भी उल्लेख है किंतु 'मंगला-आरती' इनकी रचना नहीं है। इसमें प्राचीन भक्तों के मंगला-आरती के पद गल्लूजी द्वारा संग्रहीत भी नहीं हैं। 'सुरमावारी' छद्म है, जो 'युगल छद्म' से अभिन्न प्रतीत होती है। इनके पदों का शब्द-विन्यास और अर्थ-लालित्य अद्भुत है। आज भी श्री राधारमणजी के मन्दिर में विभिन्न तिथियों पर 'श्री राधारमण-पदमंजरी' के पद ही गाये जाते हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

(१)

प्यारी चरनन में नव बसंत।
दस नख ससि-किरननि नित लसंत ।।

अरुनित अँगुरी हैं नव प्रवाल।
बिछुवा घुंघरू मुकुलित रसाल ।।

मेंहदी द्युति केसू कौ प्रकास।
जावक नव-बेली कर विलास ।।

द्विप बोलत स्यामल गुनि सरूप।
कोकिल कुहकति है अति अनूप ।।

दामन-लामन मलया समीर।
सुरभित चहुँदिसि मिलि हरित धीर ।।

केसर उर की प्रिय सगी आय।
गुन-गुन 'गुनमंजरी' मधुप धाय ।।

(२)
(होली)

प्रिय, प्यारी खेलत होरी।
श्री वृन्दावन कुंजभवन में श्री जमुनाजी ओरी ।।

नंदनंदन रसिकेस रसीले, श्री वृषभान किसोरी,
भरें हिय भाव कमोरी।

तरल कटाच्छ मंजु पिचकारी,
छूटत तन-मन बोरी,
लगत है नयो-नयो री ।।

हँसन, अबीर हीर दुति सुंदर
उजलत परम उजोरी।
गौर-स्याम छवि मिलि कै चोवा,
अंग-अंग चरचो री।
सुगंधन चित्तनि चोरी ॥

गोल कपोल, कुमकुमा दोऊ,
धारत हैं, मुख सों री।
कंकन ताल किंकिनी ढप रव,
बाजत हैं सुर सों री।
मधुर बंसी धुनि थोरी ॥

श्री ललितादिक सखी सहेली,
यह आनन्द लहो री।
'गुनमंजरि' राधा-माधव पर,
बारति हैं तृन तोरी।
सिरावति नैन हियोरी ॥

न० च० बं०

गवरीबाई

गवरीबाई का जन्म डूँगरपुर नगर के एक नागर ब्राह्मण-परिवार में सं० १८१५ में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं हो सका। पाँच-छः वर्ष की अल्पायु में ही इनका विवाह हो गया था और विवाह के एक वर्ष पश्चात् ही इनके पति दिवंगत हो गये थे। ऐसी स्थिति में इस बालिका को अपना सारा जीवन विधवा के रूप में बिताना पड़ा। ऐसे संकट के समय हरि-स्मरण और भगवद्-भक्ति ही सात्त्विक जीवन-यापन के लिए सम्बल रहता है। यही समझकर गवरीबाई के माता-पिता ने अध्ययन की व्यवस्था की और कुछ समय पश्चात् ही इन्होंने भागवत पुराण, गीता और अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। इन्होंने अपना इष्ट श्रीकृष्ण को बनाया और अहर्निश उन्हींकी स्तुति-वन्दना, पूजा-अर्चना में तन्मय रहने लगी।

शनैः शनैः इनकी ज्ञान-गरिमा और भगवद् भक्ति की महिमा चारों ओर फैलने लगी और लोग भजन तथा श्रीकृष्ण-महिमा के पद सुनने के लिए इनके दर्शनार्थ आने लगे। इस प्रकार गवरीबाई की कीर्ति बढ़ते-बढ़ते डूँगरपुर-नरेश महारावल शिवसिंह के कानों तक पहुँची। वे स्वयं इनके घर उपस्थित हुए और इनसे भगवद्भक्ति की महिमा सुनकर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इनके लिए श्रीकृष्ण का एक मन्दिर बनवा दिया।

गवरीबाई यहाँ आकर कृष्णभक्ति-साधना में लीन रहने लगीं। इनके साथ इनकी विधवा भानजी चातुरी, यमुना तथा एक वृद्धा भी उस मंदिर में रहती थी। इनका सारा समय भगवद्भजन, ज्ञानोपदेश तथा लोकसेवा में बीतता था।

अपने अन्तिम समय में गवरीबाई काशी चली गयी थीं और वहीं सं० १८६५ के लगभग इनका देहान्त हुआ। इनको मीरा का अवतार माना गया है। मीरा की तरह ये भी श्रीकृष्ण को अपना पति मानती थीं। इन्होंने उसी भाव से श्रीकृष्ण की भक्ति में फुटकर पद लिखे हैं। इन पदों की संख्या ६०० है। इनमें ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य का चित्रण हुआ है। इनके पदों पर पूर्ववर्ती भक्तकवियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, फिर भी इनकी मौलिकता, मार्मिकता एवं तन्मयता उल्लेखनीय है।

गवरीबाई की रचनाएँ राजस्थानी कृष्णभक्ति-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इनके पदों मे विरह का स्वर प्रधान है।

इनकी रचना-शैली एवं भक्ति-भावना को स्पष्ट करने के लिए कुछ पद नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं।

(१)

प्रभु मोकूँ एक बार दरसन दइये।
तुम कारन मैं भई रे दिवानी
उपहास जगत को सहिये ॥

हाथ लकुटिया कंधे कमलिया
मुख पर मुरली बजैये।

हीरा मानिक गरल भंडारा
माल मुलक नहिं चहिये ।।
'गवरी' के ठाकर सुख के सागर
मेरे उर अन्तर रहिये ।।

(२)

होरी खेले मदनगोपाल ।
मोर मुकुट कटि कछनी काछे
चंचल नैन विसाल ।।
सब सखियन में मोहन सोहत
ज्यूँ तारन बिच चंद उजाल ।
चोवा चन्दन औ कुमकुम
उड़त अबीर गुलाल ।।
ताल मृदंग झाझ डफ बाजे
गावत बसंत धमाल ।
'गवरी' के प्रभु नटवर नागर,
निरखत भई नेहाल ।।

(३)

म्हारा द्वारका रा नाथ ।
मारा गयो बुहारूँ कालचिया री कारे सूँ ।
मुगती नी हीमालै गलियाँ
जलम सुधवसो धारै मिलियां
वैलगौ दै आतम पाट ।
म्हारा गोपियां रा सांम ।।

ग० मि०
स० गु०

गहर गोपाल

गहर गोपाल के जीवन के सम्बन्ध में अपेक्षित सूचनाएँ प्राप्त नहीं हैं पर इतना निश्चित है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के प्रतापी पुत्र श्रीमद् विट्ठलेश्वर के चतुर्थ कुमार गोस्वामी श्री गोकुलनाथजी पर इन्होंने 'गोकुलेश-प्रताप-मार्त्तण्ड' शीर्षक ग्रंथ की रचना की थी।

इस आधार पर इनका उपस्थिति-काल सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध ठहरता है। इन्होंने उनके एकांतिक निवास 'वल्लभ-घाट' का वर्णन किया है जिसकी स्थापना सन् १६५८ ई० में की गई थी—

वल्लीम घाट पै हाट करें मिलि
आठहु आम श्रीवल्लभ प्यारे ।

ह० नं० भा०

गांगू

गांगूजी का जीवन के सम्बंधी तथ्य सर्वथा अज्ञात हैं। इनके गुरुवर्य श्री हिताचार्य चरण की एक हस्त-लिखित पत्री में—जिसे उन्होंने वृन्दावन से अपने शिष्य विट्ठलदास के पास लिखकर भेजी थी—इनका नामोल्लेख इस प्रकार मिलता है—

"गांगू मेघा कौ कृष्ण सुमिरन बांचनौ"

इस पंक्ति से ज्ञात होता है कि पत्री के लेखन काल (लगभग विक्रम सम्वत् १६००) में गांगूजी श्री हिताचार्य की छत्र छाया में वृन्दावन में निवास करते थे। पत्री की उक्त पंक्ति से ज्ञात होता है कि विट्ठलदासजी इन (गांगूजी) से पूर्णतया परिचित थे। इससे यह भी विदित होता है कि गांगूजी देववन के निवासी थे।

सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि ये श्री हिताचार्य के साथ ही देववन से वृन्दावन आये थे और तभी से आजीवन गुरुवर की अंग-सेवा तथा परमाराध्य श्री राधावल्लभ की मन्दिर-परिचर्या करते रहे थे। चाचा वृन्दावन दास ने इस तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया है —

नमामि श्री हरिवंश परम करुणा जु भरे मन ।
गांगू गोविन्ददास खवासी दीनी निज तन ।।
—श्री हितहरिवंश-सहस्रनाम

गोविन्द अलि जी ने अपनी 'भक्त-गाथा' में उपर्युक्त तथ्य की सम्पुष्टि करते हुए लिखा है कि गांगू जी गो० श्री हित हरिवंश जू की सेवा नित्य नियमपूर्वक किया करते थे। ये अपने गुरुवर का

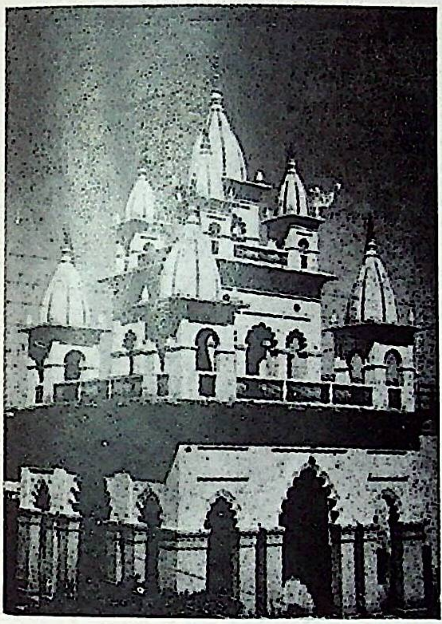

श्री गौड़ीय मठ : वृन्दावन

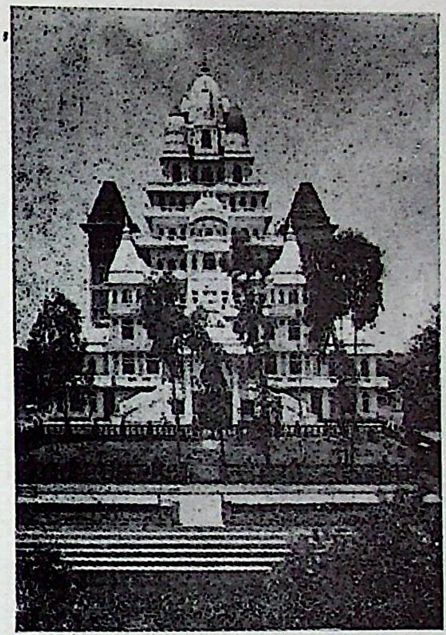

श्री पागल बाबा का मन्दिर : वृन्दावन

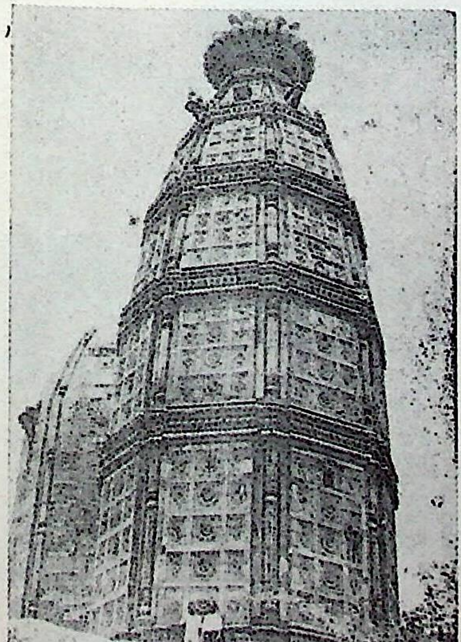

श्री मदनमोहन मन्दिर : वृन्दावन

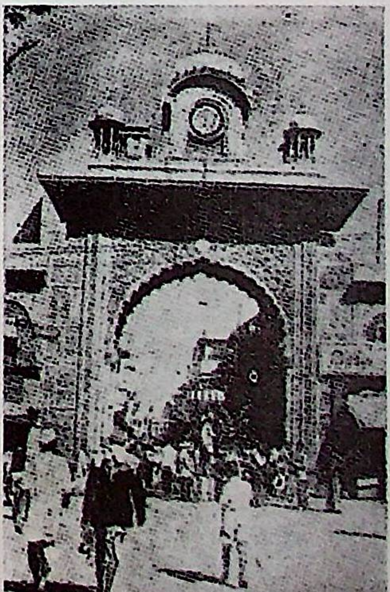

श्री तिलक द्वार : मथुरा

श्री बांकेविहारी जी के मन्दिर का प्रांगण : वृन्दावन

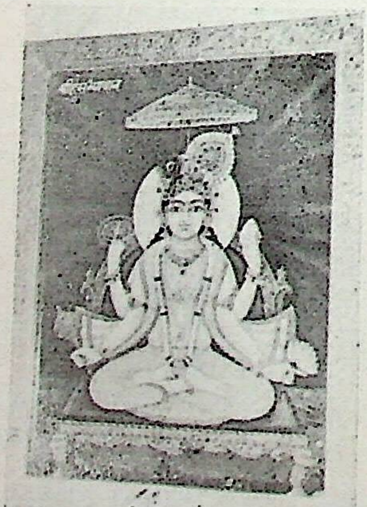

श्री हंस भगवान्

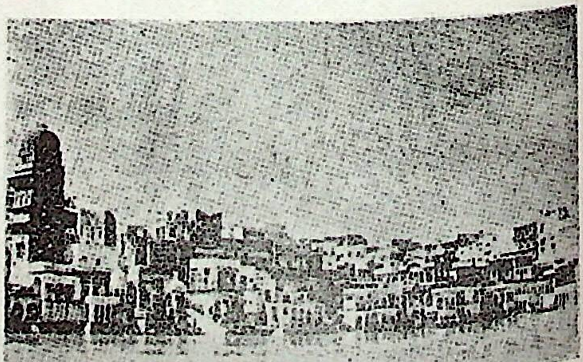

मथुरा नगर : यमुनातट

श्री उड़ियाबाबा

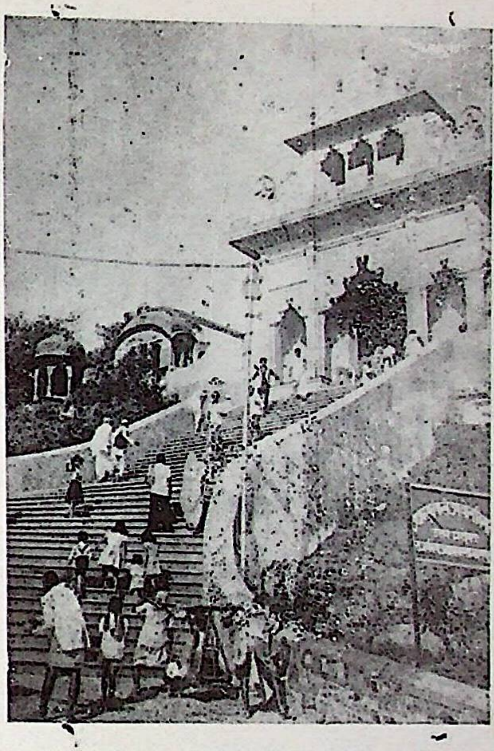

श्रीजी (श्रीराधारानी) मन्दिर, बरसाना का प्रवेशद्वार

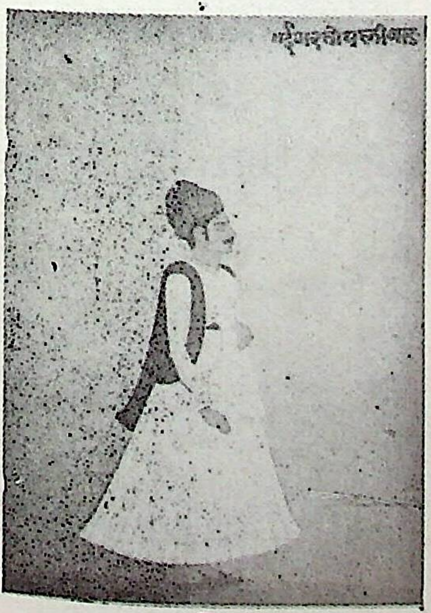

श्री अमृतराम पल्लीवाल (पृ० ३६)

श्री किशोरीलाल अधिकारी (पृ० १४१)

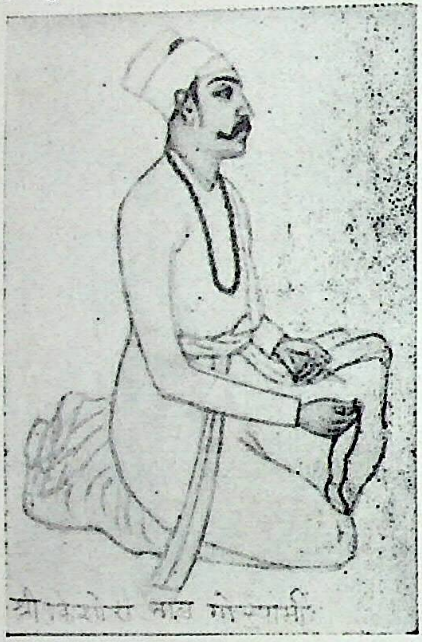
श्री किशोरी लाल गोस्वामी

श्री किशोरीलाल गोस्वामी (पृ० १४१)

श्री किशोरीशरण (सूरदास) जी (पृ० १४५)

श्री गोस्वामी कीरतलाल (पृ० १४७)

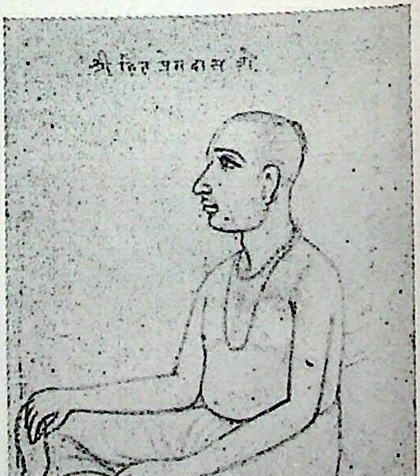
श्री हित प्रेमदास जी

श्री कृष्णदास भावुक (पृ० १९५)

चरणामृत और उच्छिष्ट निष्ठापूर्वक लेते थे। इनकी सेवा से प्रसन्न होकर गुरुवर ने इन्हें अपनी उरमाला, श्री राधिका रति निकुंज मंडली—प्रदान करके इनके हृदय में श्री युगल का नित्यविहार प्रकाशित कर दिया था—

> श्री हित व्यास कुमार की, करत खवासी नेम।
> भाव-भावना में पगे, संत मनोहर, खेम॥
>
> संत मनोहर खेम किशोर गांगू गोपाला।
> इनहूँ कौ प्रभु रीझि दई अपनी उर माला॥
>
> आपु बराबर किये जिये संसृति कौ नासर।
> चरणोदक कौ पान सीथ दृढ़व्रत निशिवासर॥
>
> —भक्त गाथा

श्री हिताचार्य के अन्तर्धान से पूर्व ही ये निकुंज-गामी हो गये अथवा उनके पश्चात् भी धराधाम पर विराजते रहे, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाण अनुपलब्ध है। हाँ, एक बहुचर्चित किंवदन्ती के अनुसार श्री हिताचार्य के निकुंज गमन का संवाद सुनते ही इन्होंने अपना पंचाभौतिक शरीर त्याग दिया था। इस आधार पर इनका देहावसान काल सं० १६०९ स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

गिरधर (प्रथम)

गो० विट्ठलनाथजी के सात पुत्र थे और सातों ही श्री कृष्ण के अनन्य सेवक तथा विद्वान् थे। उन्हीं में एक गिरधर जी थे।

आपका जन्म सं० १५९७ की कार्तिक शुक्ल द्वादशी को अडैल में हुआ था। घर का नाम गोबरधन था। आपकी पत्नी का नाम भामिनी था। आपके तीन पुत्र थे—मुरलीधरजी (जन्म सं० १६३०), दामोदरजी (जन्म सं० १६३२), श्री गोपीनाथजी (जन्म सं० १६३४)। वेणी, महालक्ष्मी और सुभद्रा नामकी तीन बेटियाँ भी थीं।

आपकी दो बैठकें प्रसिद्ध हैं—एक गोकुल में, दूसरी कामर में। आपके तीन श्लोक श्रीनाथजी की स्तुति के मिलते हैं, जो प्रकाशित हो चुके हैं।

अकबर के दरबार में आप 'यती' के नाम से प्रसिद्ध थे। कामर, जतीपुरा से सीधे रास्ते से लगभग बीस कोस पड़ता है और कोसी से तीन या चार कोस की दूरी पर है। ऐसा प्रसिद्ध है कि गिरधरजी "कामर" प्रतिदिन जाते-आते थे। वहाँ एक गुफा में आपकी बैठक है, जहाँ एक घी का दीपक आज भी जलता रहता है। उस स्थान पर अब 'विष्णु-स्वामी-सम्प्रदाय' का एक मंदिर बना हुआ है।

ये सं० १६७७ वि० तक विद्यमान थे। जब श्री गोकुलनाथ ने "माला" सत्याग्रह किया, तब आप श्रीनाथजी की रक्षा के लिए जतीपुरा में ही रहे थे। सम्प्रदाय का यह नियम है कि श्री महाप्रभुजी की और श्री गुसाइंजी तथा गिरधरजी की पादुकाएँ एक साथ सेवा में प्रतिष्ठित की जाती हैं। यह क्रम श्री गोकुलनाथजी का चलाया हुआ है। गोकुलनाथजी के सेवक "भड़ूची" गोपालदास ने अपने 'माला-काव्य' में ऐसा भूल से या द्वेष से लिख दिया कि श्री गिरधरजी ने माला उतार दी थी। यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। ये सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में पूर्ण आस्था रखते थे। माला-प्रसंग के समय समस्त सेवा का भार आप ही पर था।

गिरधरजी शास्त्रों के उच्चकोटि के ज्ञाता थे। "विद्वन्मण्डन" ग्रन्थ के प्रश्नकर्त्ता आप ही हैं और उत्तर श्री गुसाइंजी के हैं। सम्प्रदाय में यह प्रचलित है कि इन प्रश्नों को करते समय आप कंठी उतार कर पूरे मायावादी का रूप और आवेश धारण कर लेते थे। यह भी प्रसिद्ध है कि इसके समाप्त होने पर आपने गुसाइंजी से फिर दूसरी बार "ब्रह्म-सम्बन्ध" प्राप्त किया था। बटवारे में आपको 'श्री नवनीत-प्रियजी' और 'श्री मथुरेशजी' के स्वरूप प्राप्त हुए थे।

गिरधरजी ने पुष्टिमार्ग का प्रचार करने की दृष्टि से पिता का अनुकरण किया था और वहुत लम्बी-लम्बी यात्राएँ की थीं। गरिमा तथा वैदुष्यपूर्ण व्यक्तित्व देखकर श्रीविट्ठलनाथ जी ने गुजरात की यात्राओं का कार्यभार श्री गिरिधरजी को सौंप दिया था। इनकी व्रज के पाँच स्थानों में बैठकें अवस्थित हैं। यहाँ श्री गिरिधरजी ने श्रीमद्भागवत का पारायण किया था। ये हैं—गोकुल, कामर, जतीपुरा, नरी सेंमरी और कामवन।

गिरधरजी में शिष्य-सेवक वनाने की इच्छा नहीं रहती थी। अतः इन्होंने वहुत थोड़े शिष्य वनाये थे। इन्होंने कामर गाँव में मायावादियों को परास्त कर उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया था। इनके आचार्यत्व-काल में पुष्टिमार्ग की अपूर्व प्रगति हुई। इनमें भक्तिप्रचार की अलौकिक क्षमता थी। आप अड़ैल से गोकुल तक श्री नवनीत प्रियजी को अपने सम्पुट में पधराकर लाये थे। सं० १६२३ में श्री विट्ठलनाथजी के गुजरात चले जाने पर उनकी अनुपस्थिति में इन्होंने श्रीनाथजी को कंधे पर रखकर, मथुरा के 'सतधरा' में लाकर प्रतिष्ठित किया था।

इन्होंने वि० सं० १६७७ में गोकुल में ही लीला प्रवेश किया था। गोलोकवास के उपरान्त सम्प्रदाय के आचार्य श्री गोकुलनाथजी ने आपके दायित्व का निर्वाह किया और आपके परिवार की देख-रेख की।

नाभादासजी ने आपके भक्ति-ज्ञान मंडित व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए इन्हें वल्लभकुल में कल्पवृक्ष की संज्ञा दीं है—

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, भक्ति अनपायनि दाता।
हस्तामल श्रुति ज्ञान सबही सास्त्र को ज्ञाता।
परिचर्या ब्रजराज कुंवर के मन कों कर्षे।
दासन परम पुनीत सभा तन अमृत वर्षे॥
विट्ठलेस नन्दन सुभाव, जग कोऊ नहिं ता समान।
श्री वल्लभ के वंश में, सुरतरु गिरधर भ्राजमान॥

रा० कृ० श०
ह० नं० भा०

गिरधर (द्वितीय)

श्री गिरधरजी (द्वितीय) काँकरौली स्थित वल्लभ सम्प्रदाय के तृतीय पीठ के संस्थापक श्री बालकृष्ण के पौत्र और द्वारिकेश्वरजी के पुत्र थे। इनका समय संवत् १६६२ से सं० १७१९ तक माना जाता है। इनकी एक रचना 'समर्पण श्लोक गद्यार्थ की टीका' मिलती है जिसमें पुष्टि मार्गीय दीक्षा सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। यह टीका ब्रजभाषा में लिखी गयी है।

पुष्टि मार्ग में दीक्षा के अवसर पर ब्रह्म-मन्त्र दिया जाता है। उसी मन्त्र की आपके द्वारा ब्रजभाषा में विस्तृत टीका की गई है।

कृ० च० ला०

गिरधरदास

बाबू गोपाल चन्द उपनाम गिरधरदास का जन्म काशी के एक अत्यन्त सम्पन्न अग्रवाल वैश्य घराने में हुआ था। ये सुप्रसिद्ध साहित्यकार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता थे। इनके द्वारा विरचित चालीस ग्रंथों की चर्चा मिलती है—

जिन श्रीगिरिधर दास कवि, रच्यो ग्रन्थ चालीस।
ता सुत श्री हरिचन्द को, को न नवावै सीस॥

इनका जन्म सं० १८९० में हुआ और स्वर्गवास अल्प आयु में ही सं० १९१७ में हो गया।

ब्रजरत्नदासजी ने इनके लिखे २४ और श्रीराधाकृष्णदास ने बीस ग्रन्थों का उल्लेख किया है। सुप्रसिद्ध 'नहुष' नाटक आपके द्वारा ही रचित है।

इनके ग्रंथों में—कीर्तन के पद, मलार के पद, बसन्त के पद, बहार, कालियकालाष्टक, राधास्तोत्र आदि कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित हैं। आपने भक्ति के विविध अंगों पर काव्य-रचना की है। ये कुलपरम्परा से वल्लभ-सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे जिसका स्पष्ट प्रभाव भारतेन्दु-रचित 'चन्द्रावली-नाटिका' पर दिखाई देता है।

आपकी रचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

रजोगुन रंगवारी, जावक सुरंगवारी,
आनंद उमंगवारी, स्वच्छ छवि छाकी है।
सौतिगन भंगवारी, सखी सतरंगवारी,
नवल नरंग वारी, अंगवारी ताकी है।
'गिरिधर' कहै सोहै संपुट सरोजवारी,
बसी कर-मंत्रवारी, जंत्रवारी बांकी है।
पिय-मन-बेडी, अच्छ लच्छन निबेडी बेस,
उपमा न छेड़ी, राजै एड़ी राधिका की है।

ह० नं० भा०

गिरधरदास/राधिकादास

गो० गिरधरदास तथा राधिकादास के भक्त रूप का परिचय 'रसिक-अनन्य-परचावली' में इस प्रकार दिया गया है—

श्री राधिकादास हुलास विपिन संपति निज बरषत।
दोऊ भ्राता सुमति गाइ गुन दम्पति हरषत॥

सहनशील संजुक्त चारु मुख वचन सुहाये।
भजन भाव रस पोषि तोषि जन हिये सिराये॥

श्री मोहन सुत भक्ति हृद,
साधु समागम देत सुख॥

श्री गिरधर अति धीर मति,
द्रवित चित्त भंजन कलुष॥

—रसिक-अनन्य-परचावली

ये दोनों गो० हित हरिवंश के सबसे छोटे पुत्र गो० मोहनचन्द्र के पुत्र थे। जयकृष्णजी के लेखानुसार इनमें गिरधरजी बड़े थे तथा गो० राधिकादास उनसे छोटे थे—

तिनके द्वै बालक रस सानें।
दीरघ श्री गिरधर जी जाने॥
श्री राधिकादास जु लहुरे।
तिनके चरन सुदृढ़ जन गहुरे॥

—हितकुलशाखा

जयकृष्णजी ने इन दोनों के जन्म-संवतों का उल्लेख न कर मात्र इनकी जन्मतिथियों का निर्देश करते हुए गो० गिरधरजी का जन्म आषाढ़ सुदी एकादशी को तथा गो० राधिकादासजी का जन्म सावन वदी नौमी को बताया है—

ग्यास अषाढ़ सुखद उज्ज्वल अति।
श्री गिरधर के जनम दिवस गति॥
सावन बदि नौमी सब जानैं।
जन्म राधिकादास प्रमानैं॥

—हितकुलशाखा

ये दोनों ही अपने पितृचरण की भाँति इष्ट सेवा-परायण तथा सन्तचरणानुरागी थे। इसीलिए इन दोनों का अधिकाधिक समय उपासना और सन्त-सेवा में व्यतीत होता था। श्री हिताचार्य द्वारा संस्थापित 'समाजगान-पद्धति' के संचालन का उत्तरदायित्व इन्होंने बड़ी कुशलता से निभाया था। ये अपने समय के वृन्दावन-रस-शास्त्र के ज्ञाता ही नहीं, अधिकारी प्रवक्ता भी थे। इनके सुमधुर भाषण को सुनकर रसिक समुदाय का हृदय अत्यन्त तुष्ट और पुष्ट होता था। भजनभाव के तेज से प्रतिभासित इनके मुख-दर्शन से ही अनेकानेक जीव श्रीजी के चरण चंचरीक बन गये। ये सरलता, दयालुता आदि साधु जनोचित गुणों से सुसम्पन्न थे।

इनका उपस्थितिकाल संवत् १६२५ और सं० १७१० के बीच ज्ञात होता है।

श्या० बि० खं०

गिरधरदेव

गिरधरदेवजी निम्बार्क संप्रदायानुयायी श्री द्वारिका देवाचार्य के शिष्य थे। ये विरक्त सन्त थे। स्वभाव से मृदुभाषी एवं एकान्त सेवी थे। संग्रह-परिग्रह से सर्वथा दूर रहना आपका आजीवन लक्ष्य रहा। भिक्षा करके ठाकुरजी की सेवा करना ही इनका परम्पराप्राप्त धर्म था। आपने कई बार तीर्थों की यात्रा की परन्तु सबसे अच्छा आपको ब्रज-मण्डल ही लगा था। अतएव ब्रजमण्डल में ही वास करते हुए आपने जीवन बिता दिया।

प्रे० ना० श्री०

गिरधरलाल (प्रथम)

श्री गिरधरलाल (प्रथम) का जन्म पौष कृष्ण ३, वि० संवत् १८४७ को हुआ था । आपके पिता वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी गोपाललाल थे । पिताजी के साथ श्रीनाथद्वारा (मेवाड़) जाकर इन्होंने गोस्वामी दामोदरजी से दीक्षा ग्रहण की थी । उन्हीं की आज्ञा से इन्होंने वैशाख शुक्ल १३, वि० सं० १८८७ में श्री मुकुन्दरायजी को श्रीनाथद्वारा से लाकर काशी के गोपाल मन्दिर में पधराया था । ये गृहस्थ थे । इनकी श्यामा नामक एक पुत्री थी । ये बड़े विद्वान् और चमत्कारी पुरुष थे तथा भारतेन्दुजी के पितामह हर्षचन्द्रजी के गुरु थे । इन्होंने गद्य में 'श्री मकुन्दरायजी की वार्ता' संवत् १८८७ में लिखी, जिसमें उक्त घटना का विस्तार से वर्णन है । आपका इतना अधिक प्रभाव था कि सभी महाजन अपनी बिक्री पर सवा पाँच आने सैकड़ा काटकर मन्दिर के लिए देते थे । आपके आशीर्वाद से ही बाबू हर्षचन्द्र को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई थी । श्री गिरधरलालजी की कृपा से जन्म होने के कारण ही गोपालचन्द्रजी कविता में अपना नाम 'गिरधरदास' लिखते थे । बाबू हर्षचन्द्रजी ने इन्हें मौजा कोल्हुआ तथा मुहल्ला नाटी-इमली के बाग दान में दिए थे । नाटी-इमली का बाग आज भी काशी के प्रसिद्ध बागों में से एक है और 'मुकुन्द-विलास' के नाम से जाना जाता है । आपने वि० सं० १८९६ में परलोकयात्रा की ।

म० गो० भा०

गिरधरलाल (द्वितीय)

श्री गिरधरलाल काँकरौली के रहने वाले पुरुषोत्तमजी के पुत्र थे । इनकी दो रचनाएँ मिलती हैं—१. श्री द्वारिकानाथजी के घर की उत्सवमालिका तथा २. श्री गिरधरलालजी के वचनामृत । ये रचनाएँ सं० १९३३ के आस-पास लिखी गयीं थीं । इनके आधार पर कहा जा सकता है कि गिरधरलालजी १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे । इनकी दोनों रचनाओं में वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्त और सेवा-भावना का वर्णन हुआ है । 'द्वारिकानाथजी के घर की उत्सव-मालिका' में पुष्टिमार्गीय सेवा-प्रणाली, वर्षभर के उत्सवों और नित्यसेवा का वर्णन है । दूसरा ग्रन्थ गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में लिखा गया है । इसमें शिष्य सम्प्रदाय के सम्बन्ध में प्रश्न करता है और गुरु उनके उत्तर देता है ।

वा० सिं०
कृ० च० ला०

गिरिधर शर्मा 'नवरत्न'

पं० गिरिधर शर्मा, 'नवरत्न' का जन्म ज्येष्ठ शुक्ला ८ सं० १९३८ वि० अर्थात् ६ जून, १८८१ ई० रविवार को झालरापाटन में हुआ था ।

आपके पिता का नाम श्री ब्रजेश्वर शर्मा एवं माता का श्रीमती पन्ना देवी था । आप प्रश्नोरा नागर गुजराती ब्राह्मण थे । पिता ने घर पर ही आपकी शिक्षा का प्रबन्ध किया था । वहीं इन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, फारसी आदि विभिन्न भाषाओं का अध्ययन किया । आपकी संस्कृत-शिक्षा जयपुर में श्री कान्हजी व्यास तथा परम वेदज्ञ द्रविड़ श्री वीरेश्वरजी शास्त्री और बनारस में म० म० पंडित गंगाधरजी शास्त्री के सानिध्य में हुई ।

आषाढ़ कृष्णा ३ सं० २०१८ वि० अर्थात् २ जुलाई, १९६१ ई० को ब्राह्ममुहूर्त में आपने अपनी इहलीला संवरण की ।

नवरत्नजी ने प्रचुर मात्रा में मौलिक तथा अनूदित साहित्य की रचना की है । आपने फारसी, अंग्रेजी, संस्कृत, गुजराती और बंगला से भी अनुवाद किया है । इनकी कृतियों का विवरण इस प्रकार है—

संस्कृत (प्रकाशित)—१. अमर सूक्ति सुधाकर (उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद), २. भवानी-सिंह सद्वृत्त पुष्प गुच्छः (राजप्रशस्ति), ३. भवानी सिंह कारकरत्नम् (कर्म, करण आदि विभिन्न कारकों का वर्णन) ४. जापान विजय, ५. न्याय वाक्सुधा,

६. सौर मण्डलम्, ७. अभेद रसः, ८. ईश्वर प्रार्थना, ९. योगी (गोल्ड स्मिथ के 'हर्मिट' का अनुवाद) १०. नवरत्न नीति ११. प्रेमपयोधिः (नन्ददास के भँवर गीत का पद्यानुवाद) १२. गिरधर सप्तशती।

हिन्दी (प्रकाशित)–राई का पर्वत (नाटक), २. उषा भाव (गद्य), ३. जयाजयन्त (नान्हालाल दलपतराम के नाटक का अनुवाद) ४. प्रेम कुंज (नाटक) ५. युगपल (काव्य), ६. सरस्वती चन्द्र, ७ हिन्दी माघ (सर्ग एक तथा दो का पद्यानुवाद), ८. अमरवचन-सुधा (उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद), ९. गीतांजलि (रवीन्द्रनाथ टैगोर की कृति का बंगला भाषा से अनुवाद), १०. फल संचय (गद्य काव्य), ११. चित्रांगदा (नाटक', १२. बागवान (ब्लैंक वर्स), १३. आरोग्य-दिग्दर्शक, १४. शुश्रूषा, १५. अर्थशास्त्र, १६. व्यापार-शिक्षा, १७. पद्यरत्न-प्रभा, १८. कठिनाई में विद्याभ्यास, १९. सावित्री (हिन्दी का प्रथम प्रबन्ध काव्य, वर्णिक छंदों में) ।

जैन साहित्य (प्रकाशित)—१. श्री भक्तामर स्तोत्र का गद्यानुवाद, २. कल्याण-मंदिर (स्तोत्र का अनुवाद), ३. रत्नकांड, ४. जैनस्तवन माला, ५ एकांकी भाव, ६. बाहरभाव, ७. विषापहार, ८. भूपाल-चौबीसा।

अप्रकाशित ग्रन्थ (संस्कृत)—१. करुण प्रशस्ति, २. करुणानिधि, ३. नीति सौंदर्योद्यानम् (शेखसादोके-गुलिस्तां का काव्यानुवाद), ४. चाणक्य-सूत्र-कारिका, ५. नागरतंत्रम्, ६. श्रमचुर्विशति, ७. नक्षत्रमाला, ८. नवरत्नोपदेश, ९. उपदेशावलि, १०. आत्मनिवेदन, ११. प्रश्नोत्तर-माला, १२. गीतांजलि (रवीन्द्र काव्यानुवाद), १३. अभिनवकारकरत्नम्, १४. अभिनवसद्वृत्तपुष्पगुच्छ, १५. षोडशी, १६. वीरेश्वर प्रशस्ति, १७. श्री बालाष्टकम्, १८. श्री गंगाष्टकम्, १९. मूलज्योत्स्ना, २०. उमरखैयाम की रुबाइयों का फारसी से संस्कृत में अनुवाद, २१. सुधाचषक।

हिन्दी—१. श्रीमद्भागवत का हिन्दी अनुवाद २. द्वितीय स्कंध ३. पंचगीत ४. आनन्द-लहरी ५. महिम्नस्तोत्र ६. शेख नीति (गुलिस्तां का अनुवाद) ७. उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद ८. न्याय-दोहावली ९. सांख्यदोहावली १०. वेदान्त-दोहावली ११ शुद्धाद्वैतदोहावली १२. तत्वदीप-दोहावलो १३. भर्तृहरि नीति शतक १४. बाबा ताहिर की रुबाइयाँ १५. गिरिधरगरिमा १६. चाणक्य-दोहावली १७. काव्यकुंज १८. कविताकुसुम (तीन भाग) १९. स्फुट कविताएँ ।

जैन साहित्य—श्री भक्तामरस्तोत्र २. कल्याण समस्या ३. सूक्ति-मुक्तावली ४. सभारंजन-स्तोत्र ५. सामयिका ६. संवर्त तीर्थंकर-स्तोत्र ७. अंतर्लालसा।

गुजराती—१ नीति शतक २. बालचन्द्र ३. नवरत्नवर्णमाला ४. आनन्द लहरी।

इस प्रकार 'नवरत्न' जी के प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या ३७ है तथा अप्रकाशित ग्रन्थों को ४६। सम्पूर्ण साहित्यिक कृतियों का योग ९० के लगभग है।

नवरत्नजी के काव्य की मुख्य दिशा भगवद्-भक्ति के रूप में प्रकट हुई है। इस प्रकार की इनकी रचनायें हैं—१. पंचस्तुति, २. गिरिधर-गरिमा, ३. सती-सावित्री और अंशुमती तथा ४. नागर तंत्रम्।

'पंचस्तुति' इनकी ईश-वन्दना परक लघु काव्य-कृति है। इसके समर्पण में लिखा है, 'भारतीय भावना के भावुक भक्तों और देशोदय के लिए धार्मिक विचारों को आवश्यक मानने वाले महानुभावों को सादर समर्पित।' 'गिरिधर-गरिमा' ३५ स्फुट कविताओं का संकलन है। 'सती-सावित्री' चार सर्गों का खण्ड-काव्य है। यह हिन्दी का प्रथम अतुकान्त काव्य माना जाता है।

धार्मिक आस्था की दृष्टि से ये वैष्णव सम्प्रदाय की पुष्टिमार्गीय शाखा के अनुयायो थे। षोडशी, अभेद रसः, आत्म निवेदनम्, श्री कृष्णाष्टकम् आदि कविताओं में इनकी आराध्य श्री कृष्ण के प्रति अनुरक्ति, दैन्य,

दर्शनाभिलाषा, आत्म समर्पण, अनुग्रहयाचना आदि विविध भाव निवद्ध हैं। इन्होंने 'अभेदरसः' में भगवान् के साथ अपने तादात्म्य का विभिन्न प्रकार से निरूपण किया है।

'आत्मनिवेदनम्' में नवरत्नजी ने पुष्टिमार्गीय गुह्य-साधना की शब्दावली का प्रयोग किया है। इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग वही कवि कर सकता है जो पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो, साथ ही उसकी पूजा-अर्चना में विश्वास करता हो। उदाहरणार्थ कुछ पद यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। भगवान् कृष्ण का कहना है कि यज्ञ, तप, मंत्र, उपासना और ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं, यदि कृष्ण मैं तेरा हूँ (कृष्ण तवास्मि) ऐसी ध्वनि मन-वीणा से निकलती रहे—

इष्टैः किं किमु तप्रैर्मन्त्रोपास्तैश्च किं किमु ज्ञातेः।
यदि कुरुते प्रक्वर्णन कृष्ण तवास्मीति मानसी वीणा ॥

'गोपियों से मक्खन, दही, दूध, छाछ आदि मांगते हुए 'मैं तुम्हारा हूँ' कहने वाले कृष्ण की जय हो'—

नवनीतं दधि दुग्ध प्रपानकुं किं महाल्पमपि तक्रम्।
गोपीः प्रयाचमान कृष्ण तवास्मि ब्रुवन् जयसि ॥

'हे नटनागर, मैं क्या तुम्हें अपने मुँह से बताऊँ कि 'मैं तुम्हारा हूँ।' इतना भी तुम स्वतः नहीं जान सकते हो। फिर किस वात के नागर हो, ग्रामीण ही हो'—

कृष्ण तवास्मि मयातो नागरमणयेऽपि
वाच्यमधिकं किम्।
वेत्सि चेन्न हृत्तत्वं नूनं ग्रामीण एव त्वम्।

'पंचस्तुति' ग्रंथ से श्रीकृष्ण-स्तुति के कुछ अंश उद्धृत है।

(१)

श्री नाथ ! गोवर्धन ! गोप
गोपांगनाके हृदयाधिनाथ !

(२)

गोविन्द तू, गोकुल चन्द्रमा तू
गोपाल तू, तू यमुना बिहारी।
तू ही व्रजेशात्मज सौख्यकारी
तू हो मुरारी रसिकेश तू ही ॥

(३)

हे नन्दसूनो ! बलदेवबंधो !
हे प्रेममूर्ते ! हे पूर्ण ब्रह्म !
हे कृष्ण ! अपने इस जीव को तू,
न भूल, आनन्दमयी बना दे ॥

'नवरत्न' जी ने अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास के 'भँवरगीत' का पद्यानुवाद किया है। 'भँवरगीत' का संस्कृत अनुवाद ठीक उन्हीं छंदों में है, जिनका प्रयोग नन्ददास ने किया था। संस्कृत में तुक भी उसी प्रकार लगाया गया है जो देखते ही बनता है। 'प्रेम-पयोधिः' नाम से यह अनुवाद १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ था।

उद्धव गोपियों की समस्त विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उनसे श्री कृष्ण का उपदेश सुनने का आग्रह करते हैं जिसे वे स्वय अपने शब्दों में कहने वाले हैं। नंददास जी को पंक्तियाँ हैं—

ऊधौ कौ उपदेश सुनौ ब्रज नागरी।
रूप, सील, लावण्य, सब गुन आगरी ॥
प्रेमधुजा, रस-रूपिनी उपजावनि सुखपुंज।
सुन्दर-स्याम-विलासिनी नव वृन्दावन-कुंज ॥
सुनौ ब्रज नागरी।

उपर्युक्त पद का 'नवरत्नजी' ने 'प्रेमपयोधि:' में निम्न प्रकार से अनुवाद किया है--

उद्धवोक्तमुपदेशमिमं श्रृणुत ब्रजवनिताः
रूपसी लावण्य सकल गुण-संवलिताः।
प्रेम पताका हरिरता रसरूपिण्यः साचि
वृन्दावन संचारिकाः कुरुत रुचि मम वाचि।
स्नेह पुंजान्तराः।

उद्धव के ज्ञानोपदेश पर खीझ भरे स्वर में टीका-टिप्पणी करती हुई गोपियाँ एक सुन्दर तर्क देती हैं कि हम ज्ञान की आँखें कहाँ से लाएँ, उन्हें तो कृष्ण ने अपना सुन्दर रूप दिखाकर हर लिया है—

कौन ब्रह्म को जोति ग्यान कासौ कहै ऊधौ।
हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधौ ॥
नैन-बैन-श्रुति-नासिका मोहन रूप दिखाइ।
सुधि-बुधि सब मुरली हरी प्रेम ठगौरी लाइ ॥
सखा ! सुनि स्याम के।

नंददासजी के उपर्युक्त पद का अनुवाद नवरत्नजी ने निम्नलिखित प्रकार से किया है—

उद्धव ! काऽसौ ब्रह्म जोतिरथकिंमिदं ज्ञानं।
सरलतरं न : श्याम प्रेममय पथ रसायनम् ॥
मधुर श्रुति नासावदन वचन लोचना भाति।
श्याम मूर्तिरति मोहिनी वेणुनन्यंवाति ॥
हृदयहरणं परम्।

गोपियाँ कृष्ण के प्रति उपालम्भ देती हुई कहती हैं कि हम मीन की भाँति तुम्हारे प्रेम-जल के अधीन हैं। तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकतीं—

वारं वारं छवि दर्शयित्वैष्यदर्शनं
अहो त्वया प्रिय ! कृतो शिक्ष्यदः कपटदर्शनम्।
वयं रसाधीना स्ततो वाच्यो दीना जातु
रसं विना मीनाः कथं दधतु जीवं हा तु ॥
निचारय मानसे ॥

एक अन्य छंद है—

गोपी आप दिखाइ एक करिकै बनवारी।
ऊधौ के भरे नैन डारि व्यामोहक जारो ॥
अपनौ रूप विहार कौ लीनी बहुरि दुराय।
नन्ददास पावन भयौ सो यह लीला गाय।
प्रेमरस पूजती।

नवरत्न कृत इसका संस्कृत रुपान्तर है—

कृष्ण स्मरण यतो भवेत् ता रचना धन्याः,
यमुना धन्या गोप्यो धन्या गावे धन्याः।
हरिरसमत्तमधुकरं नन्ददासममिवाद्य,
तद्गोरस कुम्भो मया धृतो गिरिबरेणाऽद्य
पीयतां तद्रसः ॥

पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' ने संस्कृत में एक नवीन प्रयोग किया और नन्ददास की शैली के आधार पर संस्कृत भाषा को नया छंद दिया।

नवरत्नजी ने कृष्ण से सम्बन्धित स्फुट पद भी लिखे हैं। ऐसे कुछ पद 'भजनमाला' में संकलित हैं, जिसका सम्पादन सुधाकरजी ने किया था। एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जो देश राग में है—

नहीं भूलता इन नयनों से पीताम्बर का रंग।
हाय हुआ क्यों विश्वमोहिनी मुरली का स्वर भंग ॥

विस्तृत कालिंदी के तट पर,
कुसुमों की नव कलियां सजकर,
सुनती थी संगीत न उनमें भी है शेष उमंग।
नहीं भूलता इन नयनों से पीताम्बर का रंग ॥

सूना है सरस नन्दन वन ॥
कहां छिपा पीताम्बर वाला, लिए उमंगे संग।
नहीं भूलता इन नयनों से पीताम्बर का रंग ॥
रा० प्र० कु०

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

मूलतः मथुरा निवासी पश्चात् मेवाड़ प्रवासी और अन्त में जयपुर नगर के स्थायी निवासी माथुर चतुर्वेदी पं० गिरिधरशर्मा श्री गोकुलचन्द्र चतुर्वेदी के पुत्र थे। इनका जन्म पौष शुक्ला दशमी सं० १९३८ वि० को हुआ था। आपकी आरम्भिक शिक्षा घर पर हुई थी। पं० राधावल्लभ पाण्डे ने इनको अमरकोश कण्ठस्थ कराया। पितामह श्री जीवन लाल ने सं० १९४६ में महाराजा संस्कृत कॉलेज जयपुर की प्रथम कक्षा में इनका प्रवेश कराया।

चतुर्वेदी जी की विद्यालयी शिक्षा का आरंभ हिन्दी भाषा के व्याकरण 'भाषा-भास्कर' तथा लल्लूजी

लाल कृत 'प्रेमसागर' से हुआ था। 'लघुकौमुदी' का अध्ययन श्री मदनलालजी गौड़ तथा श्री जानकी लालजी वोहरा ने पूर्ण कराया। इन्होंने प्रवेशिका परीक्षा, सं० १९५२ में सर्वोच्च अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण की तथा सं० १९५५ वि० में व्याकरणोपाध्याय परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त किया। सं० १९५८ में शास्त्री परीक्षा भी पं० लक्ष्मीनाथ जी शास्त्री के पास विशेष अध्ययन कर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इसके अनंतर सं० १९६० में व्याकरणाचार्य तथा सं० १९६३ में पंजाव विश्वविद्यालय की न्याय-शास्त्री परीक्षा में भी उच्चतम स्थान प्राप्त किया। इन्होंने व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि विषयों का विधिवत् अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त साहित्य, वेद, पुराण, उपनिषद्, ज्योतिष और धर्मशास्त्र का भी अनुशीलन किया। विज्ञान के रहस्यों का विशिष्ट अध्ययन पं० मधुसूदन झा के सानिध्य में किया। वेद विज्ञान-रहस्य को प्राप्त करने में चतुर्वेदीजी को ३७ वर्ष लगे।

चतुर्वेदी जी ने अपनी मित्र मण्डली—श्री मथुरानाथ शास्त्री, कन्हैयालालजी न्यायाचार्य, चन्द्रदत्त ओझा, सूर्यनारायण व्याकरणाचार्य, दुर्गाप्रसाद शर्मा, लक्ष्मीराम स्वामी, मदनलाल शर्मा आदि विद्वानों के सहयोग से अध्ययन काल में 'संस्कृतोपयोगिनी सभा' की स्थापना की थी। सभी सदस्य रामनिवास बाग, जयपुर में एकत्र होकर कविता, निबन्ध आदि का पाठ करते थे। आपने 'संस्कृत-रत्नाकर' तथा 'ब्रह्मचारी' (सं० १९७०) नामक मासिक पत्र का भी सम्पादन किया।

इनके दो विवाह हुए थे. प्रथम विवाह नौ वर्ष की अल्पायु में हुआ था। इनकी प्रथम पत्नी का नाम विद्यादेवी था। उनसे तीन पुत्रियाँ हुई। द्वितीय विवाह रामगढ़ निवासी पं० सोहनलालजी की पुत्री गुलावी देवी के साथ सम्पन्न हुआ था। असाधारण योग्यता के कारण आप दिगम्बर जैन महाविद्यालय, सहारनपुर में सं० १९६३ में प्रधानाध्यापक पद पर नियुक्त हुए। सं० १९६६ वि० में आपकी नियुक्ति हरिद्वार के ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम के प्रधान के रूप में हुई।

सं० १९७६ में ये सनातन धर्म कालेज, लाहौर में नियुक्त हुए। इन्होंने लाहौर रहकर ओरियण्टल कान्फ्रेन्स आयोजित की। जयपुर के महाराजा संस्कृत कालेज के वरिष्ठ अधिकारियों के अनुरोध पर आप दिसम्बर १९२४ ई० में जयपुर में नियुक्त हुए और २० वर्ष तक इस संस्था की सेवा की। यहाँ स्वामी लक्ष्मीराम वैद्य की इच्छानुसार आपने अखिल भारतीय आयुर्वेद सम्मेलन का आयोजन किया। आपको सन् १९४९ ई० में काशी के राजकीय संस्कृत कॉलेज में दीक्षांत भाषण देने का निमन्त्रण मिला। हिन्दू विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० लिट् के समकक्ष 'वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया। पं० मदनमोहन मालवीय के पुत्र तथा हिन्दू विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति श्री गोविन्द मालवीय ने इनको हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत शिक्षा संचालक के पद पर नियुक्त किया। भारत सरकार ने सन् १९५८ ई० में आपको सम्मानित किया तथा केन्द्रीय साहित्य अकादमी से पुरस्कार मिला। संस्कृत विश्वविद्यालय में आपने वेद-विज्ञान पर व्याख्यान दिये। आप वहाँ के सम्मानित प्राध्यापक भी बनाये गये।

सन् १९६२ ई० में इन्होंने कामरूप की यात्रा की। इससे पूर्व ये केदारनाथ, बद्रीनाथ की यात्रा कर चुके थे। सन् १९६६ ई० में आपने सांसारिक जीवन के बंधन से मुक्ति प्राप्त की।

महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा मूल रूप में संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे और विशेषकर वेद-पुराण तथा उपनिषद साहित्य पर आपने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की। ये हिन्दी, राजस्थानी तथा व्रजभाषा में कविता किया करते थे। कृष्णभक्ति सम्बन्धी इनकी कुछ कविताएँ उपलब्ध हैं। 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' ग्रन्थ में श्री कृष्णावतार,

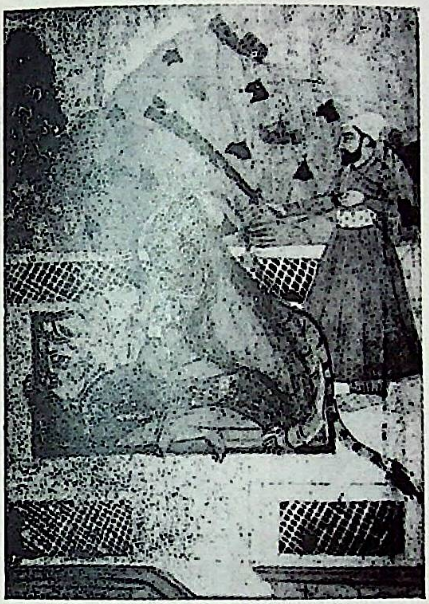

श्री केवलराम सतीबोहड़ीवाला, अष्टमपीठ (पृ० २०३)

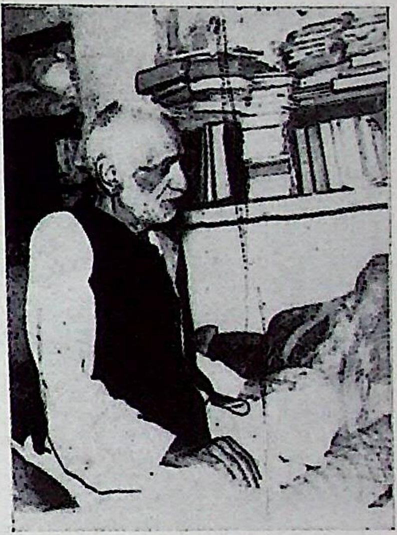

पं गिरिधरशर्मा 'नवरत्न' (पृ० २६०)

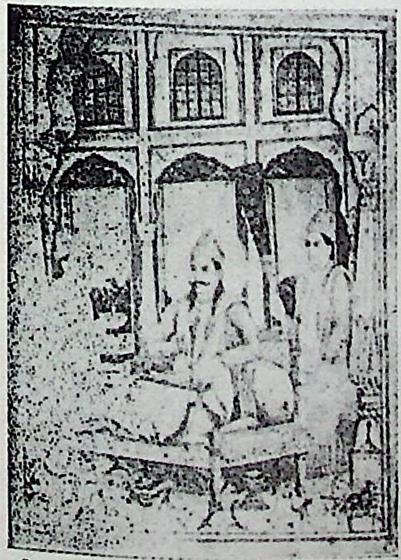

श्री गुरछौनां (दायें) श्री साधुराम (बायें)
श्री चरणदास (मध्य) (पृ० २७३)

श्री गोकुल प्रसाद 'वृज' (पृ० २९०)

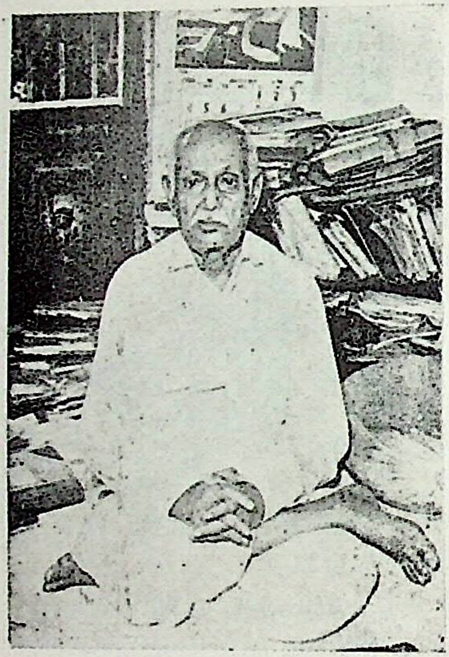

पं० गोपीनाथ कविराज (पृ० ३१६)

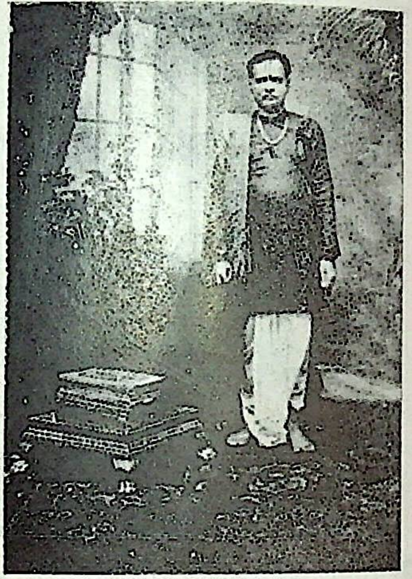

गोस्वामी गोवर्धनलाल (पृ० ३३४)

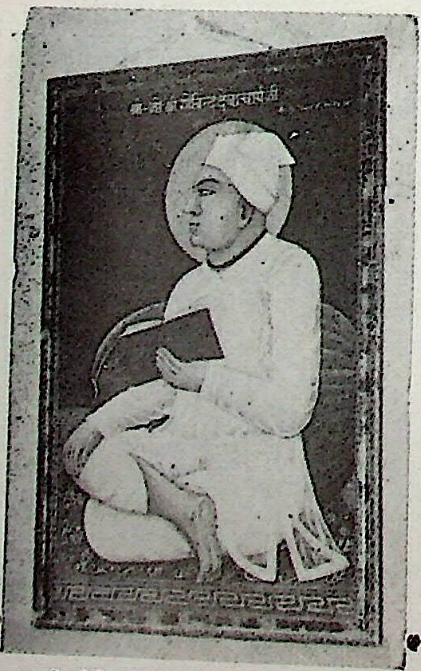

श्री गोविन्ददेवाचार्य (पृ० ३४२)

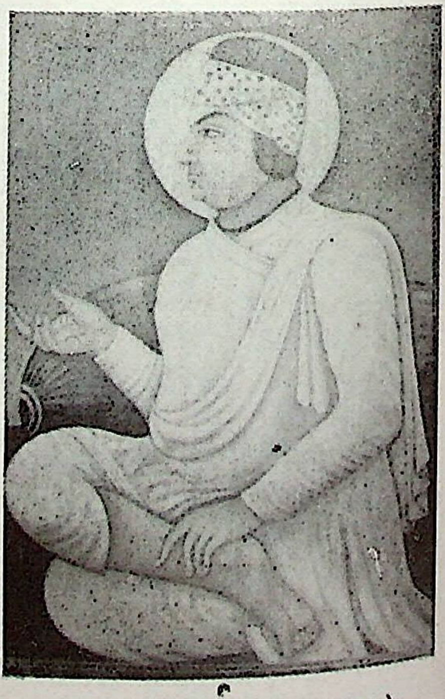

श्री गोविन्दशरण देवाचार्य(पृ० ३४८)

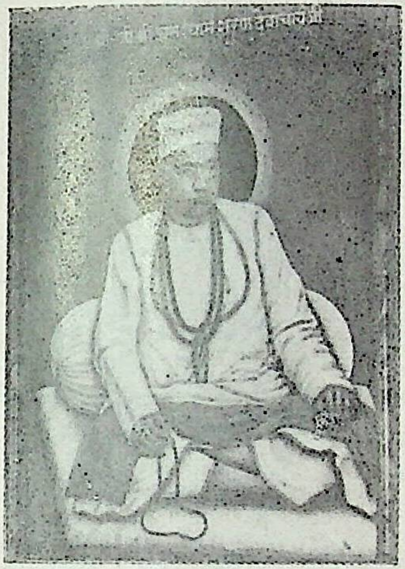

श्री घनश्यामशरण देवाचार्य (पृ० ३६६)

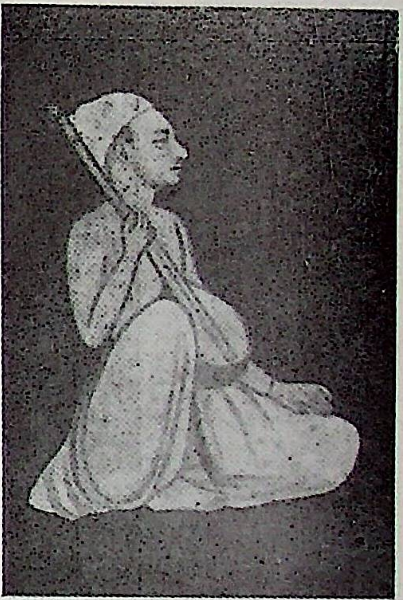

श्री घनानंद (पृ० ३६९)

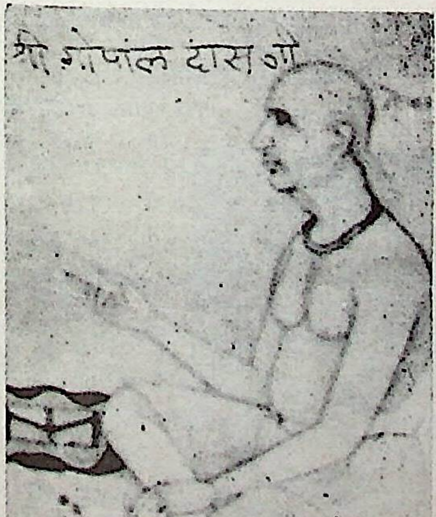

श्री गोपालदास' (पृ० ३०३)

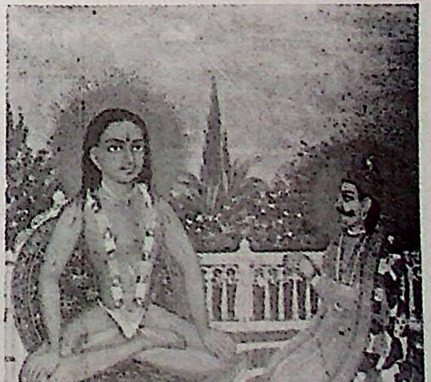

शुकसम्प्रदाय के प्रवर्त्तक
श्री चरणदास तथा श्री शुकदेव मुनि (पृ० ४१४)

स्व० श्री चुनचुन पाण्डेय

श्री चुनचुन पांडेय (पृ० ४२५)

पं० जगन्नाथ प्रसाद जी 'भक्तमाली' (पृ० ४५७)

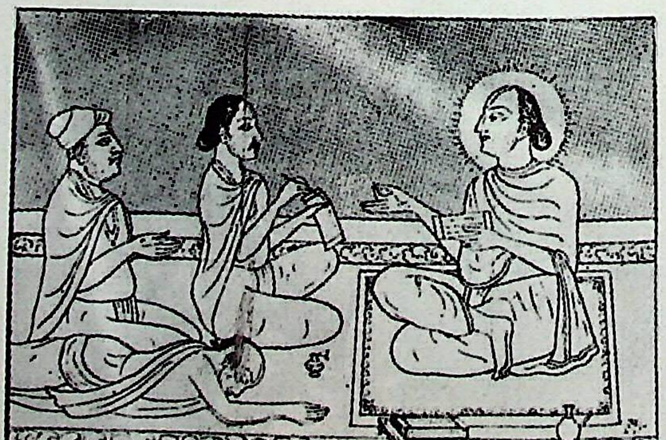

श्री दामोदरदास हरसानी, श्री वल्लभाचार्य, श्री माधव भट्ट तथा श्री कृष्णदास मेघन (पृ० ५७३)

श्री राधा और श्री कृष्ण पर आपने विद्वतापूर्ण विवेचन किया है। कृष्णभक्ति सम्बन्धी रचनाओं में 'छवि गिरधारी श्याम की', (सं० १९६३) 'माखन चोर है', 'राधा महारानी के', 'भ्रमर लेहु पहिचान', 'वेणु वजावत धेनु चरावत', आदि प्रमुख हैं।

चतुर्वेदी जी के समय में समस्यापूर्ति, कवि सम्मेलनों का एक आवश्यक अंग माना जाता था। इन्होंने 'दही' विषय पर समस्या पूर्ति करते हुए भगवान् श्री कृष्ण के जीवन को चित्रित करते हुए लिखा है कि वे गोलोक के अमृत को छोड़कर, इस लोक में दही प्राप्त करने हेतु अवतरित हुए थे—

देव अगोचर छांड़ि गोलोकहि
गाय चरावन आयो मही।
खेलत गोपन संग लइयो सुख
सो महिमा नहिं जात कही।
मांगत बारहि बार बिनै करि
दाय दिये बिन रोवौ सही।
वा सुरलोक सुधा तजि यों हिय
ग्वालिन को प्रिय लागे दही।

एक अन्य समस्यापूर्ति है—'सब ठौर'। इस पर महोमहापाध्यायजी ने एक दोहा लिखा—

जिमि गयन्द की सुनत धुनि,
तुरत बचायो दौर।
इमि मेरी हूँ विनय सुनि,
राखु गोविन्द 'सब ठौर'।

श्री कृष्ण के सौन्दर्य के सम्बन्ध में इनकी निम्नलिखित कविता सर्वोत्कृष्ट मानी गयी थी और इसे सुनकर महाराज मानसिंह ने आपको बहुत सम्मान प्रदान किया था—

वेणु वजावत धेनु चरावत
सीस सजावत मोरपखा वर।
भाल सुहावत रौर मचावत
कान जड़ावत कुंडल सुन्दर।।
माल धरावत कण्ठ विभावत
दैत्य परावत दूर सखोजन।
वाहित पावत देखि लुभावत
बालन भावत संग सखावनि।।

महामहोपाध्यायजी का काव्यकाल सन् १९०४ ई० से सन् १९६६ ई० तक रहा है। यह २०वीं शती का महत्वपूर्ण समय था। अंग्रेजों का शासन-सूर्य देदीप्यमान था। अनेक धार्मिक आन्दोलन चल रहे थे। आपने वैदिक-विज्ञान और भारतीय संस्कृति के मूलाधार उपनिषद् और पुराणों का गहन परिशीलन किया था। संस्कृत भाषा पर इनका असाधारण अधिकार था, साथ ही राजस्थानी व्रज और हिन्दी में भी इन्होंने कविताएँ लिखीं। इनका सम्पूर्ण साहित्य है—वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, गीताव्याख्यान माला (तीन भाग), साहित्यिक निबंध, दर्शन-अनुचिंतन, वेदविज्ञान-बिन्दु. पुराण-पारिजात, पुराण-परिशीलन, उपनिषद्-परिशीलन, आत्मकथा और संस्मरण, विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा (२ खण्ड), वैदिक विज्ञानम्, अम्बिका-परिणय-चम्पू (अनुवाद), ब्रह्मसिद्धान्त।

सन् १९६६ ई० में महामहोपाध्याय जी ने अपनी सारस्वत साधना पूरी करके वेदवेद्य परम पुरुष के दिव्यधाम के लिए प्रस्थान किया।

रा० प्र० कु०

गिरिधारी

गोस्वामी गिरिधारीजी बल्लभ सम्प्रदाय की अष्टमपीठ के प्रवर्तक गोस्वामी तुलसीदासजी (लालजी) के तृतीय पुत्र थे। परिवार के श्रीकृष्णभक्तिपरक वातावरण का आपके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। जहाँ एक ओर श्री गोपीनाथजी की नित्यसेवा में आपका निरन्तर सहयोग रहा, वहाँ दूसरी ओर आप मल्लविद्या के भी अभ्यासी रहे। व्रज की 'बगीची' परम्परा का आपने डेरागाजी खाँ में श्रीगणेश किया। साथ ही घुड़सवारी में भी आपकी अत्यन्त रुचि रही। सुनते हैं कि आप घोड़े पर चढ़कर ही अपने शिष्य-

परिकर में श्री कृष्ण-भक्ति के प्रचार हेतु जाया करते थे।

'डेराइस्माइल खाँ' में आपके प्रवचनों का व्यापक प्रभाव पड़ा। समय-समय पर उत्सवों के अवसर पर आपका वहाँ निरन्तर प्रवास रहता था। पिताजी ने इनके इस बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर अपने पूर्वजों द्वारा सेवित विग्रह 'श्री नागरजी' को इन्हें सौंपकर आज्ञा दी कि 'तुम उस क्षेत्र में ही रहकर भक्ति का प्रचार-प्रसार करो।' अतः आप उधर ही चले गये और वहाँ श्री नागरजी के सुन्दर मन्दिर का निर्माण करवाया तथा श्री वल्लभ-सेवा-पद्धति से अष्टयाम सेवा प्रारम्भ कर दी। आप वहाँ स्थायी रूप से निवास भी करने लगे। आगे चलकर यह अष्टमपीठ की 'डेराइस्माइल-खाँ-शाखा' नाम से प्रसिद्ध हुई।

आपके गो० भगवानलाल, गो० कमलनयन, गो० बद्रीनाथ तथा गो० तारालोचन नामक चार पुत्र हुए, जिनके वंशधर आज भी दिल्ली, फरीदाबाद, गुड़गाँव, हरिहार, थानपुर आदि स्थानों पर पुष्टिमार्गी भक्ति के प्रचार में रत हैं। भारत विभाजन के उपरान्त श्री नागरजी का विग्रह कानपुर में प्रतिष्ठित हुआ। परम्परागत विधान से इनकी सेवा-पूजा आज भी चल रही है।

आपका जन्म संवत् १६५० है। किन्तु इनके तिरोधान काल के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नहीं हो सकी है। आपने विनय तथा लीला के कुछ पदों की रचना की है।

सु० श०

गिरिधारीलाल (प्रथम)

भक्त कवि गिरधारीलाल का जन्म १८वीं शती के अंतिम चरण में ग्राम सातनपुरवा (अहरवा-भवानी) जिला रायबरेली में हुआ था। ये जाति के ब्राह्मण थे। इनके पिता श्रीमद्भागवत के अच्छे कथावाचक थे। कृष्ण भक्ति की ओर इनकी रुझान के कारण स्वयं इनके पिता थे। उन्होंने इन्हें भगवान कृष्ण की अलौकिक लीलाओं को सुनाया था। यद्यपि गिरिधारी विशेष पढ़े लिखे न थे, फिर भी इन्होंने सरस्वती की कृपा से श्रीमद्भागवत के श्लोकों का ब्रजभाषा में काव्यानुवाद करना प्रारम्भ कर दिया। कालांतर में रीतिकालीन परम्परा से हटकर इन्होंने कृष्णभक्ति प्रधान सरस काव्य धारा भक्तजनों हेतु प्रवाहितकी।

नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज रिपोर्ट (१९१२-१४) में गिरिधारीलाल कृत 'कृष्ण-चरित्र' के प्राप्त होने की सूचना दी गई है किन्तु १९२३-२५ ई० की खोज रिपोर्ट में इनके द्वारा कई ग्रंथों के लिखे जाने का संकेत किया गया है। उनमें से भागवत दशम स्कंध भाषा (कृष्णचरित), सुदामा चरित, रहस्य मण्डल तथा गिरधारी-चरित नामक ग्रंथ प्राप्त हैं। कैप्टेन शूरवीर सिंह ने फतेहपुर से प्रकाशित होने वाले अर्द्ध-शासकीय पत्र 'पंचदूत' में 'कृष्ण-चरित्र' (भागवत दशम स्कंध की कथा), 'रस-मशाल' और 'शृंगारगीता' के प्राप्त होने की सूचना दी है (वर्ष ४, अंक १७)। 'सुकवि' पत्र में भी रस-मशाल, गिरधारी सतसई और भागवत दशम स्कंध का अनुवाद—नाम के तीन ग्रन्थों के गिरधारी रचित होने की सूचना दी गई है (वर्ष ३, अंक ७, १९ अक्टूबर १९३०)।

उपर्युक्तग्रंथों में 'शृङ्गार-गीता' लालगिरधर की लिखी हुई है। ये गिरिधारी से भिन्न व्यक्ति हैं। मिश्रबन्धुओं ने लालगिरिधर का कविता-काल १८३२ ई० माना है। उनके कथनानुसार इन्होंने पदों में 'नायिकाभेद' लिखा है। खोज रिपोर्ट में 'रहस्य-मण्डल' नाम की गिरधारी रचित एक पुस्तक उपलब्ध हुई बताई गई है और उसके वर्ण्य-विषय का प्रारूप दिया गया है जिसे देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रहस्य-मण्डल' में दिये गये कवित्त वस्तुतः भागवत दशम स्कन्ध की कथा (कृष्ण-चरित्र) ग्रंथ के 'रास-वर्णन' के छन्द हैं। अतः यह सुनिश्चित है कि 'रहस्य-मण्डल' कोई पृथक् रचना नहीं है।

'भागवतदशमस्कन्ध भाषा' (कृष्ण चरित्र) की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं -

'रसमशाल' ग्रंथ की एक प्रति ठा० रामशरण सिंह के पास है। 'सुदामा-चरित्र' की एक प्रति पं० सूरज प्रसाद शुक्ल, भगवन्तनगर हायर सेकेण्डरी स्कूल, भगवन्तनगर (उन्नाव) के पास है। इसका विवरण खोज रिपोर्ट (१९२३-२५ ई०) में दिये गये 'सुदामा-चरित्र' के विवरण से मिलता-जुलता है तथा वही कवित्त दोनों में मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वे ग्रन्थ कवि गिरधारी द्वारा रचित हैं।

सुदामा-चरित्र गणेश-वंदना से प्रारम्भ किया गया है। तदनन्तर सुदामा की दरिद्रावस्था से लेकर कृष्ण के यहाँ जाने की कथा और श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये वैभव का वर्णन ठीक उसी प्रकार किया गया है, जैसा नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित्र' में मिलता है। दोनों कवियों के 'सुदामा-चरित्र' का मिलान करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि गिरधारी का यह ग्रंथ नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित्र' से प्रभावित है।

भागवत दशम स्कन्ध की कथा (कृष्ण चरित) के प्रारम्भ में एक कवित्त में गणेश वंदना की गई है। यह वही कवित्त है जो 'सुदामा-चरित्र' की गणेश वंदना में दिया गया है। अन्तर केवल इतना है कि अंतिम तुकान्त पंक्ति में 'चरित सुदामा को' के स्थान पर 'चरित स्याम-स्यामा को' कर दिया गया है। इस रचना में निम्नलिखित प्रसंग हैं जिनके अन्तर्गत कथानक का विस्तार किया गया है।

कृष्ण-जन्म, बाललीला, दानलीला, गोवर्द्धन उद्धारन, ब्रह्ममोह, गोचरावन वर्णन, मुरली वर्णन, प्रेम दृढ़ाइबो, रहस्यलीला वर्णन, पनघट-लीला वर्णन' राधिका दृष्टि उपालम्भ सखी को, राधे मान, राक्षस-वध वर्णन, मथुरा प्रवेश तथा उद्धव गमन (उद्धव-गोपी संवाद)।

गिरिधारी लाल रचित 'कृष्ण-चरित्र' का आधार मुख्यतः 'श्रीमद्भागवत' है। भागवत की कथा से इसका मिलान करने पर कवि की मौलिकता स्पष्ट झलकती है। रचना-शैली, वर्णन-माधुर्य तथा संवादों में वाग्विदग्धता के द्वारा रचयिता की उत्कृष्ट काव्य शक्ति का परिचय मिलता है। कवि ने रासलीला की सामग्री हरिवंश तथा विष्णुपुराण से ली है। ग्रन्थ के कथा-वर्णनों में सजीव दृश्य उपस्थित करने की पूर्ण क्षमता लक्षित होती है।

'कृष्ण-चरित्र' में यशोदा और कृष्ण, यशोदा और गोपियाँ, कृष्ण और गोपियाँ तथा उद्धव और गोपियों के पारस्पिरिक हास-परिहास, व्यंग, छेड़-छाड़ आदि के आकर्षक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं—

(१)

भूषन के नाते उर गुंज माल दामरी की,
स्यामरी सवोह बांधे कामरिया कारी है।
कहै गिरधारी अमल अमीर कैसो,
जाति के अहीर गौएं पालन परारी है॥
रोकत डगर डरवावत झगर गहि,
दानु देहु दान देहु रगर बगारी है।
कबहूँ न लीन्हो दान आजु लैके जायो घर,
दान लेन लायक की सकल तुम्हारी है॥

(२)

कहत कन्हाई हम जैसे हैं तैसे हैं जू,
तुम्हैं कहा परी कहूँ बानक बनक में।
कहैं गिरधारी काम करो जिन बातन को,
करो तौन बातें और करौ ना सनक में॥
देती हौ न दान तुम येती हौ गुमान भरी,
थोर से बहुत हौना चाहत तनक में।
समुझि अहीर सूधो छिनकौ महीर अब,
छोर की कहा है चीर छीनि हैं छनक में॥

गिरधारी ने प्रकृति-वर्णन उद्दीपन रूप में किया है जो कथानक के प्रवाह को सुरुचिकर बनाने और उसमें माधुर्य की सुन्दर योजना समाविष्ट करने में सहायक हुआ है। कृष्ण की मुरली ध्वनि तथा कृष्ण और गोपियों के रास वर्णन के लिए कबि ने शरद् की राकेन्दु युक्त निस्तब्ध रात्रि का सहारा लिया है।

वृन्दावन सखिन की उपमा न भाषी जाति,
मन अभिलाषी होत गोपद गरद की ।
कहै गिरधारी तहाँ बैठे बनवारी बन,
कम्बर में छाजै छवि अम्बर जरद की ।।
होत भयो अमल मयंक को उदौत मंजु,
बीज उपजावै जो मनोज के दरद की ।
सेत सेत रेत सेत सेत चांदनी के फूल,
सेत सेत चांदनी बिराजत सरद को ।।

'गिरिधारी चरित' भक्तिभावना प्रधान ३३३ छंदों का खंडकाव्य है। इसकी कथावस्तु के लिए कृतिकार ने सूरसागर के दशम स्कंध से प्रेरणा ली है। प्रस्तुत काव्य में कृष्ण-जन्म से लेकर उद्धव गोपी-संवाद तक की कथा का सम्यक् निर्वाह मनोमुग्धकारी है। दान-लीला, चीर-लीला, रास-लीला, राधा कुंज-गमन, ऊधवप्रसंग आदि सम्पूर्ण काव्य को सजीवता और चित्रमयता से परिपूर्ण करते हैं। इस काव्य में संयोग तथा विप्रलम्भ दोनों प्रकार के अलौकिक श्रृंगार का चित्रण है। यह कृति कवि गिरिधारी के माधुर्योपासक होने का सहज ही बोध कराती है। कृष्ण-वियोग में गोपियों की व्यग्रता और उनकी खीझ सभी कुछ मनोवैज्ञानिक है। इस काव्य में पूर्ववर्ती कवियों की भाँति गिरिधारी ने ज्ञान-मार्ग पर भक्ति-मार्ग की विजय दिखाई है।

नीचे इनकी रचनाओं से कुछ छंद दिये जा रहे हैं—

(१)

माता सो कहत उठि आँखिन उनींदे श्याम,
चाखन को दाखन दे माखन दे रोटी दे।
कहै गिरिधारी दही दोना दै खिलौना दे री,
माल दे मुकुट दे विशाल लाल मोती दे ।।
गायन को छोरि दे बहोरि दे बछेरुन को,
गायन चरायबे को साँटी बड़ी छोटी दे।
बेनु दे विसन दे वसन दे बांसुरी दे,
कामरी दे, काँधनी दे, काछनी कछोटी दे ।।

—श्रीकृष्ण चरित, गोचारण प्रसंग

(२)

जाय कहूँ जंगल में जोगिन सिखावो चलि,
ब्रह्म को उपासना को बासना विशेषा है।
कहैं गिरिधारी एक नेम नंद नन्दन को,
घर घर मही और दूसर न लेखा हैं।
वारे कोटि कोटि काम अंग अभिराम श्याम,
सुन्दर की शोभा सोई जानै जिन देखा है।
ऊधौ तिन आँखिन के आगे कैसे आवे वह,
अलख अनूप जाके रूप औ न रेखा है।

—कृष्ण चरित्र, गोपी-उद्धवसंवाद

(३)

पंडित परम गुणमंडित अखंडित है
खंडित न होत कबों जप तप सामा है।
कहै गिरिधारी धर्म कर्म अधिकारी बड़ो,
वेद मति धारी साधु पतिव्रत वामा है ।।
शिक्षावृत्ति कै कै नित भोजन करत हरि,
भजन भरोसे मन धन कौन कामा है।
रामही से काम उर सुमिरत राम नाम
सदापुर आपने में बसत सुदामा है ।।

(४)

आठो याम धाम ही में बैठे कैसे काम चलै,
गांठी में न दाम औ न कोऊ कहूँ चाकरे।
कहै गिरिधारी आयो दारिद दबाय अब,
क्यों करि कै जीजिये चबाय कन कांकरे ।।
द्वारिकालौं जात तुम काहे को लजात जहाँ,
आस कै कै जात बड़े-बड़े भूप आँकरे।
साँकरे में मीत भाई ढिग जाइ कंत
मीत अरुभाई तो साहयै हौत सांकरे ।।

(५)

जाव जाव व्दारिका को लागी जक तेरे पै न,
जात बनै श्याम जू के निठुर सुभावते।
मीत जो बढ़ै तो बढ़ावै मीत आपने को,
नीति है पुनीत यह चारों बेद गावते।

कहै "गिरिधारी" भये व्दारिका बिहारी आप,
खबरि हमारी नहीं कबहूँ मँगावते।
जो पै जदुनाथ हमें जानते सघाती तौ जू,
कबौं निज हाथ की न पाती पहुँचावते ?

(६)

वृंदावन चन्द ही के हाथन बिकानी हम,
वृन्दावन चन्द ही की रंग रस बोरी हैं।
वृंदावन चन्द की ही गुनही गुलामी हम,
बृन्दाबन चन्द ही की गहे गुन डोरी हैं।
कहै "गिरिधारी" हम जनम जनम भईं
वृन्दावन चन्द पद-कंजन की भोरी हैं।
वृंदाबन चन्द ही कौ चाहत हमारे चित्त,
ऊधौ हम वृन्दावन चन्द को चकोरी हैं।

—गिरधारी-चरित
त्रि० ना० सि०
रा० पा०
वा० सि०

गिरिधारी लाल (द्वितीय)

गिरिधारी लाल का जन्म मध्य प्रदेशान्तर्गत दमोह जिले के सीतानगर नामक ग्राम में वि० सं० १९५५ में पालीवाल ब्राह्मण कुल में हुआ था। सीतानगर बड़ा ही रमणीक ग्राम है। यह अनेक भगवद्भक्त महात्माओं की निवास-स्थली रहा है। इसके आस-पास का प्राकृतिक वातावरण अत्यंत मनोरम है। आपके पिता का नाम श्री तुलसीराम था, जो उक्त गाँव के जागीरदार थे। इनके बाल्यावस्था में ही पिता का देहान्त हो गया। उस समय वृन्दावन वासी श्री वृजलाल बोहरे सीतानगर की जायदाद की व्यवस्था करने पधारे और कई वर्षों तक वहीं निवास करते हुए देखभाल करते रहे। उनके सम्पर्क से इनके हृदय में भगवद्भक्ति का अंकुर फूट पड़ा जिसके फलस्वरूप ये वृन्दावन आने-जाने लगे। बोहरेजी स्वयं अच्छे भगवद्भक्त थे। अन्य वृन्दावनवासी संतों का संग भी इन्हें प्राप्त हुआ। अतः इनके हृदय में भक्ति लता लहराने लगी।

गिरिधारीलालजी बाल्यावस्था से ही कुछ तार्किक स्वभाव के थे। तर्क भी ये अपनी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए ही करते थे। इनके निवास-स्थान पर दस-बीस लोगों की भीड़ प्रायः लगी ही रहती थी। राजनीतिक व्यवस्था, ग्राम पंचायत तथा कितने ही ग्राम वासियों के आपसी झगड़ों का निबटारा आप सहज ही कर देते थे, जिसे सभी लोग सहर्ष स्वीकार कर लेते थे। इससे जो समय बचता उसे ये भगवद्-भजन, सेवा-पूजा आदि में व्यतीत करते थे। आपके विशाल मकान के ही चौक में श्री ठाकुरजी का मंदिर था। जिस प्रकार वृन्दावन में मंदिरों में समय-समय पर उत्सव, समाज-गायन आदि के कार्य होते रहते हैं, वैसे ही आपके श्री ठाकुरजी के मंदिर में भी वार्षिक उत्सव-महोत्सव चलते ही रहते थे। समाज-कीर्तन आदि आप स्वयं बैठकर करते थे। संगीत, गायन-वादन में भी आपकी बड़ी रुचि थी। कार्तिक मास में श्री निम्बार्काचार्य का जयन्ती महोत्सव बीस दिन तक बड़े धूम-धाम से मनाया जाता था। वह बाद में वृहत् भंडारे के साथ समाप्त होता था। इनके पुस्तकालय में अनेक रसिक संतों की वाणियाँ संग्रहीत हैं। कुछ तो इतनी दुर्लभ हैं कि वृन्दावन में भी सुलभ नहीं हैं।

गिरिधारी लालजी संप्रदायाचार्य युगलशतककार श्री भट्ट देवाचार्य का जयन्ती-महोत्सव एवं समाज-गायन प्रतिवर्ष नियमित रूप से वृन्दावन के नागावाली कुंज तथा विहारघाट में करते थे। यह कुंज आपके ही अधीन था। यहाँ के श्री ठाकुरजी के मंदिर की सेवा-पूजा की व्यवस्था आपके द्वारा ही की जाती थी। वृन्दावन के संतों-भक्तों से आपका घनिष्ठ परिचय था। इनके आग्रह से वृन्दावनवासी अनेक संत प्रतिवर्ष सीता-नगर में आयोजित उत्सवों में भाग लेते थे। इनमें महात्मा श्रीरामकृष्णदासजी, ग्वारिया बाबा आदि प्रमुख थे। आपका अध्ययन गहन-गंभीर था। अपने

संप्रदाय के अतिरिक्त अन्यान्य संप्रदाय (जैसे गौड़ीय, राधावल्लभ आदि) की वाणियों का भी इनके पास अच्छा संग्रह था। प्राचीन भक्तों की वाणियों की व्याख्या करते समय ये भावावेश में आ जाते और अश्रु प्रवाह होने लगता था। सन् १९८३-८४ में आपने वृन्दावन में ही शरीर त्याग किया।

इन्होंने कुछ फुटकर पदों की रचना की है, जिनमें से एक पद यहाँ प्रस्तुत है—

अवगुण की खानि, नाथ ! कहाँ लौं चितावै।
एक कृपा दृष्टि ही की मोकों सुधि आवै ॥
बुद्धि की अब नाथ ! तुम्हें कहा मैं सुनाऊँ।
ज्यों-ज्यों दौड़ाऊँ ताहि त्यों-त्यों दुःख पाऊँ ॥
हार्‌यौ सब ठौर हूते रावरो भरोसो।
सुनो कै न सुनो कोऊ और नाँहि तोसों ॥
बिनती मो संता नाथ ! सोऊ न बनत है।
कैसे तोहि कहौं प्रभु ! यही मन गुनत है ॥
माया प्रपंच परि और कछुक चाहूँ।
दीजै नहि नाथ सकल दारुन दुःख दाहूँ ॥
केवल यह मांगत गिरिधारी आस धरिकै।
श्री हरिप्रिया की शरण मोहि दीजै दया करिकै ॥

प्रे० ना० श्री०

गिरिधारी शरणदेव

गिरिधारी शरण देव का जन्म सन् १९९८ ई० में जयपुर राज्य में सवाई माधोपुर के निकट लसोड़ा ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री महोवतराम सनाढ्य ब्रह्मण थे। उनके तीन लड़के थे—नन्दराम, गणेशराम और अमरनाथ। इनकी जीविका का मुख्य साधन व्यापार था। सामान को इधर-उधर ले जाने के लिए ये बहुत से बैल रखते थे। एक दिन जब ये सामान लेकर कहीं से लौट रहे थे तब इनके एक बैल पर सिंह ने आक्रमण कर दिया और मार डाला। घर पहुँचने पर बैल की रक्षा न कर पाने के कारण इनकी भाभी ने इन्हें इस कायरता के लिए अनेक-विध लांछित करते हुए कहीं डूब मरने को कहा। यह बात गणेशराम के हृदय में चुभ गयी। अपने गाँव से एक मील दूर स्थित झोझा झील में कूद कर इन्होंने आत्महत्या का प्रयत्न किया, किन्तु सफल नहीं हुए। गाँव वालों ने इन्हें बाहर निकाल लिया। आत्महत्या में विफल होकर भी यह घर वापस नहीं लोटे। इस प्रयत्न में झील से इन्हें शालिग्राम की एक मूर्ति मिली जिसे इन्होंने भगवान् के दिव्य उपहार के रूप में ग्रहण किया। वह मूर्ति लेकर ये वृन्दावन चले गए। उस समय इनकी आयु १७-१८ वर्ष के आस-पास थी। वृन्दावन पहुँचकर इन्होंने वंशीवट के महात्मा श्री बलदेवदास से दीक्षा ग्रहण की। तब इनको एक नया नाम – गिरिधारी शरण-मिला। इन्होंने गुरु से भजन के स्थान के संबंध में जिज्ञासा की तो उसी स्थान पर जाने की आज्ञा हुई जहाँ शालिग्राम की मूर्ति मिली थी। झोझा की झील पर लगातार बारह वर्ष तक गोपाल मंत्र का जप करने के बाद इन्हें उक्त मंत्र सिद्ध हुआ। मत्र-सिद्धि के बाद इन्हें वाक्-सिद्धि प्राप्त हो गयी। अब ये जिसे जो आशीर्वाद दे देते, वही फलीभूत हो जाता। कुछ दिनों बाद ये वृन्दावन चले गये और वंशीवट पर रहकर भजन करने लगे। कहते हैं, बाबा के आशीर्वाद से ही ईशरदा (जयपुर) के राजा श्री रघुवीर सिंहजी के सरदार सिंह और कायम सिंह नामक दो पुत्र हुए। इन्हीं के आशीर्वाद से ग्वालियर के महाराज जियाजी राव को पुनः राज्य प्राप्त हुआ और राजकुमार माधवराव का जन्म हुआ। पहले राजासाहब ने प्रसन्न होकर छोटीकुंज का निर्माण करवाया और बाद में १२०० रुपए की वार्षिक आमदनी की जागीर का पट्टा बाबा के नाम लिख दिया। बाबाजी की प्रेरणा से ही माधव सिंहजी ने बरसाने में गिरिशिखर पर और वृन्दावन में मथुरा रोड पर दो मंदिरों का निर्माण करवाया। राजपुर में दाऊजी के मंदिर सहित कई मंदिर इन्हीं की प्रेरणा से बने। जयपुर और ग्वालियर के राजा इनके शिष्य तो हुए ही ओल, कासगंज, कांकेर, हाथरस आदि स्थानों के अनेक धनी

मानी व्यक्ति तथा नेपाल के राणा जंगवहादुर भी इनके शरणागत हुए। सम्वत् १९४६, फाल्गुन शुक्ल १५ को बाबा ने अपनी इहलीला का संवरण कर लिया।

स० मु० अ०

गिरिराज कुँवरि

भरतपुर की राजमाता गिरिराज कुँवरि का जन्म विक्रम संवत् १९०२ में हुआ था। इनकी रचनाओं में श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति-भावना दिखाई देती है।

इन्होंने कृष्णभक्ति सम्बन्धी स्फुट पदों के अतिरिक्त 'ब्रजराज-विलास' तथा 'पाक-शास्त्र' नामक दो अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी। इनकी कृतियों में माधुर्य भावना प्रधान शैली में अपने भक्ति-भावों का सरल भाषा में चित्रण हुआ है। एक पद प्रस्तुत है—

मो सम कौन अधम जग मांही।
सगरी उमर बिसयन में खोई
हरि की सुधि बिसराई ॥

मन भायो सोई तौ कीनौ
जग में भई हंसाई।
काम, क्रोध, मद, लोभ मोह के
घेरे हुए सिपाही ॥
इन तें मोहि छँड़ावौ स्वामी
दै गिरिराज सरणाई ॥

इनका देहावसान वि० सं० १९८० में हुआ।

ज० सिं० परि०

स० गु०

गिरिराज प्रसाद मित्र

गिरिराज प्रसाद का जन्म भरतपुर (राजस्थान) निवासी श्री नारायन लाल के यहाँ आश्विन कृष्णा ७ सं० १९५७ को हुआ था। ये अग्रवाल वैश्य थे और व्यापार से अपनी जीविका चलाते थे। भरतपुर के पं० गोकुल चन्द दीक्षित को आपने अपना काव्य गुरु माना था। आपकी पहली रचना सं० १९७८ में प्रकाशित हुई। तब से मृत्यु पर्यंत आप काव्य रचना करते रहे। इनकी दो कृतियाँ—'धड़े का धड़ाका' और 'कमला-माला-शतक' प्रकाशित हो चुकी हैं तथा 'नारान्तक वध' अप्रकाशित है।

मिश्र जी की गणना भरतपुर की वृहद्त्रयी में होती है, अन्य दो हैं—कुलशेखर तथा चम्पालाल मंजुल। इनकी शिक्षा नहीं के बराबर हुई थी, परन्तु अनुभव गहरा और व्यापक था। ये मूल रूप में हास्य-व्यंग्य के कवि थे। आपने आध्यात्मिक तथा सामाजिक विषयों पर भी काव्य रचना की है।

इनके द्वारा विरचित बारहमासा, षट्ऋतु वर्णन तथा चौमासा के अनेक कवित्त-सवैये मिलते हैं। कवि सम्मेलन आपके बिना सूने समझे जाते थे। आप कवि सम्मेलनों के लिए समस्यापूर्ति भी करते थे। श्री हिन्दी पुस्तकालय समिति, डीग (भरतपुर) के स्वर्ण जयन्ती समारोह के अवसर पर कवि सम्मेलन में प्रस्तुत आपकी समस्यापूर्ति 'झाँकी हैं' ने बहुत प्रसिद्धि पाई थी।

इन्होंने राधाकृष्ण सम्बन्धी अनेक फुटकर कवित्त, सवैया, छप्पय तथा कुण्डलियों की रचना की है। राधा के मान पर इनका एक छंद नीचे दिया जा रहा है—

दूर यदि हमसे रहोगी एक इंच प्यारी,
हमकों भी दस इंच हटके ही पाओगी।
तोड़कर नेही सो सनेह ना लहोगी लाहु,
'गिरिराज' करके गुमान पछिताओगी।
खिल उठतीं हैं कली पाकर हमारा संग,
मस्त मधुकर है फेरि चाह कर चाहौगी।
ऐंठी हो रहौ ऐंठ तुमको धरैंगी ऐंठ,
हमको कलपाओगी न आप कल पाओगी ॥

रा० प्र० कु०

गुणमंजरी

गुणमंजरी साधनापरक नाम है। मूलनाम का पता नहीं चलता। इनका जन्म सं० १७७५ के लग-

भग हुआ था। ये वृन्दावन के सुप्रसिद्ध गोस्वामी गोपाल भट्ट की शिष्य परम्परा में हुये थे। इनके जीवन सम्बन्धी अन्य तथ्य अंधकाराच्छन्न है।

रूप गोस्वामी पाद की कृति 'स्मरण-मंगल' पर गुण मंजरी ने अपनी 'स्मरण-मंगल-भाषा' नामक रचना चौपाई छन्द में लिखी है। इनका अन्य वृत्त अज्ञात है।

सं०

गुमान कवि

गुमान कवि के विषय में कोई विवरण नहीं मिलता। इनकी एक रचना 'रुक्मिणी-मंगल' नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में सुरक्षित है। इसमें श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है। इसकी भाषा ओज-गुण सम्पन्न है। इससे दो छंद दिये जा रहे हैं—

(१)

हय हहनान लागे, घंटा ठहनन लागे,
बाजे बजन लागे अनेक अलवाद के।
निसान फहरन लागे रथ गज सजन लागे,
हौंदा धरन लागे चिकारत दौड़ के ॥
भूप सब सजन लागे, भाट जस कहन लागे,
ढाढ़ी पहन लागे सूर नर गाढ़ के।
दीह दल सजन लागे, विरही दहलन लागे,
उठन लागे बादल ज्वा अगिन अनाद कै ॥

(२)

नाग नर किन्नर देव कीट पसु पंछिन मैं,
जल थल अकाश जेति ब्रह्म को पसारो है।
असरन के सरन दुख दीनन के हरन हार,
करन निधान कान बिरद तुम्हारो है।
कहत गुमान मन मानौ न सोच कछू
सकै कौन चालि जौ गुपाल रखवारो है।
बाँह गहि रुक्मिनि रथ पै चढ़ाइ लयौ,
जैसे गजराज सिंधु बूड़त उबार्यौ है ॥

वा० सिं०

कृ० च० ला०

गुमान त्रिपाठी

गुमान महेबा (बुन्देलखण्ड) के निवासी त्रिपाठी आस्पद के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गोपाल स्वामी था। ये चार भाई थे–दीपसाह, खुमान, गुमान और अमान। 'कृष्णचन्द्रिका' में इन्होंने अपना परिचय स्वयं दिया है—

नगर महेबा बसत है, बिप्र त्रिपाठी जांन।
तिन में दुज गोपाल मनि, प्रभुपद में सग्यान॥

चार पुत्र तिनके भये, चारु चार सुख दैन।
हर आइस गिर पर रच्यो, हर मंदिर छब ऐन॥

जेस्ट जेस्ट प्रभु पदनि पुन, दीप साह गुन ग्यान।
निस बासर जिनकै बसै, हरि लीला उर ध्यान॥

तिन लघु नाम खुमान कौ, दीन दास फिर नाम।
श्री कृस्नायन जिन रच्यौ, सज्जन मन विश्राम॥

तिन लघु नाम गुमान कौ, उपदेस्यौ आनंद।
कृष्णचंद्र को चंद्रिका, रचहुँ सुमति स्वच्छंद॥

तिन लघु नाम अमान जे, सहनसील परवीन।
गुरु गुरुजन हरिभक्ति में, रहत सदा लवलीन॥

वसु गुन वसु ससि टीक दै, यह संवत निरधार।
मधु माधव सित पच्छ की, त्रयोदसी गुरवार॥

ताहो दिन नंदनंद पद, बदि महा आनंद।
कृस्नचंद्र की चंद्रिका रचो, सुमति बहु छंद॥

इससे यह विदित होता है कि गुमान त्रिपाठी के पिता पं० गोपालमणि त्रिपाठी का परिवार कृष्णभक्त था। बुन्देलखण्ड में ऐसे कई कृष्णभक्त परिवार हुए हैं। भक्तकवि गुमान ने भक्ति का प्रसाद अपने पिता से पाया था। ये अपने निवास महेबा (जिला छतरपुर) की एक पहाड़ी पर अपने अग्रज द्वारा बनवाये गये गोपाल मन्दिर में प्रतिदिन आराध्य के दर्शन करने जाते थे। आज भी वह मंदिर वर्तमान है उसकी मूर्तियों का पाद लेख इस प्रकार है—'श्री लाडली जू अवतार सं० १८२२ शाके १६८९ कार्तिक सुदी १३ भृगुवासरे पै० व० पंचांग सुध दिवसे नग्र महेबा अस्थाने सेवक पं० तिवारी दीपदास शुभमस्तु।'

त्रिपाठीजी की दूसरी कृति–'बारामासी' में इनका निवास बैंहटपुरी बताया गया है—'बैंहटपुरीत्रिय संघ की, को कर सकै बषान। राधेमोहन निकटई तहाँ गुमान अस्थान ॥' बैंहटपुरी बीहट को कहा गया है, जो धसान नदी के किनारे हरपालपुर (जिला छतरपुर) से लगभग १० मील दूर एक जागीर थी और इतिहासकार श्यामलाल के अनुसार अर्जुनपाल के पुत्र सोहनपाल बुन्देला के वंशजों के अधिकार में थी। राधेमोहन से तात्पर्य राधाकृष्ण मन्दिर से है जो आज भी बीहट में धसान नदी के किनारे एक पवित्र तीर्थ माना जाता है। इससे प्रकट है कि त्रिपाठीजी महेवा छोड़कर सं० १८६१ के आसपास बीहट में निवास करते थे।

'कृष्णचंद्रिका' और 'बारामासी' का रचनाकाल क्रमशः १८३८ और सं० १८६१ है। 'कृष्णचन्द्रिका' जैसा प्रौढ़ प्रबन्ध कवि ने 'द्रिढ़मन्त्र' कर ३०-३५ की की आयु में ही रचा होगा। इनका उपनाम 'मान' था। इनके स्फुट छंदों का पता नहीं चलता। महेवा की जनश्रुतियों से ज्ञात हुआ है कि इन्होंने बन्दूक से आत्महत्या कर ली थी।

गुमान राधाकृष्ण के भक्त तो थे, पर अपनी रचनाओं में किसी संप्रदाय के प्रति प्रतिबद्ध नहीं मालूम पड़ते। इन्होंने 'कृष्णचन्द्रिका' में किशोर राधाकृष्ण के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की है—

(१)

राधाक्रस्न किशोर के, करि चरनन को ध्यान।
दुःख दूर हो तुरत ही, यह जिय मान गुमान ॥

(२)

सुन्दर मुकुट बिसाल भाल मृगदान बिन्द फबि।
कच कुंचित अभिराम स्याम मुख रहे छूट छबि ॥
कुंडल मकर अमोल लोल झलझलत कपोलन।
अम्भोरुह दृग अरुण अमृत बरसत मृदु बोलन ॥
भनि 'मान' बच्छ लच्छन चरन,
श्रीनिवास सुख को भवन।
श्रृंगार रूप बाधादमन, जै जै जै राधारमन ॥

(३)

खग मोहे म्रग मोहे नग मोहे नाग मोहे,
पन्नग पताल मोहे धुनि सुन जासुरी।
सुर मोहे नर मोहे सुरन सुरेस मोहे,
मोहि रहै मुनि कें असुर अरु आसुरी।
भनत 'गुमान' कहैं मोहिबे को कहा बानि,
चर औ अचर मोहे उमग हुलास री।
गोपिन के वृन्द मोहे आनंद मुनिन्द मोहे,
चंद मोहे चंद के कुरंग मोहे बाँसुरी ॥

न० प्र० गु०
स० गु०

गुरछौनां

गुरछौनां जी संत चरणदास के पट्ट शिष्य थे। ये दिल्ली-निवासी किसी बड़े सरदार के पुत्र थे और अत्यधिक रूपवान् थे। एक दिन ये घोड़े पर सवार होकर कई नौकरों को साथ लिए यमुना-स्नान को पहुँचे। वहाँ चरणदासजी विद्यमान थे। उन्होंने इनको देखकर कहा कि महल तो अच्छा है, पर दीपक नहीं है। छौंनाजी ने उत्तर दिया कि ज्ञान-रूपी प्रकाश करने वाला कोई दीखता ही नहीं है। तब चरणदास ने कहा कि प्रभु-भक्त प्रभु की कृपा से सब कुछ कर सकते हैं। इस पर गुरछौंनां ने कहा कि मेरे घोड़े से 'राम राम' बुलवा दो। चरणदास ने घोड़े के मुख से तीन बार 'राम राम' कहलवा दिया। तब ये चरणदास के शिष्य बन गए। इनके निवास स्थल की चर्चा करते हुए कान्तिमुनिसागर ने लिखा है कि ये ब्रज और राजस्थान की सीमा के निवासी जान पड़ते हैं, कारण कि भरतपुर और वैरिगढ़ में इनके सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं।

एक बार इन्होंने महाराज चरणदास से वृन्दावन में रास रचाते राधाकृष्ण के दर्शन कराने की प्रार्थना

की। चरणदासजी ने अपनी अलौकिक शक्ति से इन्हें रास-लीला के दर्शन कराए।

इनके दीक्षा-काल का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। 'लीलासागर' की हस्तलिखित प्रति में एक चित्र मिलता है, जिसमें राजसी वेश-भूषा में बैठे चरणदास जी की, मुरछल द्वारा, गुरछींनांजी सेवा कर रहे हैं। इनके उक्त राजसी वेश-भूषा धारण करने का समय भादौं वि० संवत् १७९२ था। अतएव गुरछींना संवत् १७९२ के पहले दीक्षित हुए थे। संत जोगजीत (दीक्षाकाल वि० संवत् १७९०) की इनकी दीक्षा के विषय में अनभिज्ञता, इन्हें पूर्ववर्ती शिष्य सिद्ध करती है। इस प्रकार इनका दीक्षा-काल वि० संवत् १७८८ अनुमानित किया जा सकता है। उपरिवर्णित कथा से स्पष्ट है कि यमुना-स्नान के समय ये युवक थे तथा चरणदास से अवस्था में छोटे थे। घुड़सवारी के कारण, यमुना-स्नान के समय यदि इनकी उम्र १८-१९ वर्ष मान ली जाए तो इनका जन्म-काल वि० १७७० के आसपास हो सकता है। इनका परलोक गमन संवत् १८३६ में हुआ था। चरणदास के शिष्यों में सर्व प्रथम इन्होंने ही मांचल में वि० संवत् १७९८ में गद्दी स्थापित की थी।

गुरछींनांजी परम योगी और सफल साधक थे। इनके साहित्य में जहाँ एक ओर योग तथा दर्शन की विशद चर्चा है, वहाँ दूसरी ओर सगुण ब्रह्म की भी। इनकी वाणी आध्यात्मिक रस से ओत-प्रोत है। अटपटी शैली में लिखी गई ये रचनाएँ इनकी आन्तरिक मस्ती का आभास देती हैं। इनकी मात्र दो कृतियाँ उपलब्ध हैं—१. षट्-रूप-मुक्त (संवत् १८०४), २ हरिपद या गुरछींनांजी की वाणी। 'षट्-रूप-मुक्त' में गुरु-शिष्य संवाद के रूप में छह प्रकार की मुक्तियों (सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य, विदेह और जीवन्मुक्ति) की चर्चा है। 'हरिपद' चेतावनी, होली, रास-लीला, कृष्णभक्ति आदि विषयक १०९ पदों और १६ दोहों का संग्रह है। इनके पद-साहित्य में अच्छा रस-परिपाक हुआ है।

उदाहरण स्वरूप दो पद दिए जा रहे हैं—

(१)

म्हांरै नैंना दरस पियासे हो।
तन गयो सूखि हाय हिय बाढ़ो,
जीवतहू वहि आसा हो॥

बिछुरन थारो मरण म्हारो,
मुख मैं चलैं न गासा हो।
नींद न आवै रैंनि बिहावैं,
तारे गिनत अकासा हो॥

भये कठोर दरद नहिं जानो,
तुमकूं नेंक न साँसा हो।
म्हारी गति दिन दिन औरै हो,
बिरह वियोग उदासा हो॥

मोहन प्यारे मत रहु न्यारे,
आनि करो उर बासा हो।
गुरछींनां अपनो करि जानो,
करि निज चरनन दासा हो॥

(२)

म्हारी मटकी छाँड़ कन्हाई।
काहे खेंचत मोरे कर ते,
आजहिं नयी मँगाई॥

नाहिं कछु यामहिं सलौना,
औ कछु नाहिं मिठाई।
छींक भई जब घर ते निकसी
तें कहाँ रार मचाई॥

श्री ठाकुरजी बचन

दधि को दान देहु जब ग्वारिन,
तब तुम जाने पाई।
नातर दही लूट सब खैहैं,
ग्वारन देहैं सिखाई॥

सखी बचन

कहाँ को दान लगायो मोहन,
कहाँ पाई ठकुराई ।
ज्यों किहुँ कंसराय सुन पावै,
निकस जाय चतुराई ।।

श्री ठाकुरजी बचन

को है कंस बंस काके मैं,
जाकी करत बड़ाई ।
छिन में मार निकासूँ पुर ते,
ब्रज की करों सहाई ।।

सखी बचन

इतनी सुनत बलैया ले करि,
ग्वारन सन्मुख आई ।
मगन होय कर दान दियो जब,
सुनी बात मन भाई ।।

धन बृजमंडल नंद महर धनि,
धन्य धन्य यशोमति माई ।
चरनदास जित हरि परगट भये,
छौना के सुखदाई ।।

म० गो० भा०

गुरुदत्त राम

गुरुदत्त राम चरणदासी संप्रदाय के एक अल्पज्ञात भक्त हैं। इनकी रचनाओं की मात्र एक प्रतिलिपि मिलती है, जिसके आधार पर इनके सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है। ये चरणदास के समकालीन थे। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

चरणदास→गुसाईं जुगतानंद→गुसाईं गैबीराम→गुसाईं गुरुदत्त राम।

इनका जन्म हरियाणा के लमहटा गाँव में संवत् १८०५ के लगभग हुआ था। इनके पिता का नाम प्राणनाथ था। १२ वर्ष की अवस्था में ही ये सत्संग के लिए घर से निकल पड़े। माता-पिता ने पीछा करके इन्हें पकड़ लिया। किन्तु वे संसारी बंधन में इन्हें बाँध नहीं सके। तीन-चार वर्ष बाद ये फिर घर से निकल गए। घूमते-फिरते ये लुहारी गाँव (जिला रोहतक) पहुँचे। वहाँ चरणदासी वैरागियों के सम्पर्क में आए। यहीं इन्होंने संवत् १८२६ में गुसाईं गैबीराम से दीक्षा ग्रहण की और उनके सम्पर्क में सहजयोग की कठिन साधना की। बाद में उनके साथ टूसर कुंज, वृन्दावन में वास किया। यहाँ निरन्तर भक्ति-रस में लीन रहने के कारण इन्होंने अति ऊँचो अवस्था को प्राप्त किया। इसके बाद गुरु-आज्ञा प्राप्त कर इन्होंने अनेक स्थानों का भ्रमण किया और छोटी-छोटी कई रचनाएँ लिखीं। अंत में बघेलखंड पर्वत पर स्थान बनाया और यहीं सायुज्य मुक्ति को प्राप्त हुए। ये न केवल संत एवं भक्त थे, वरन् ज्योतिष, तंत्र-मंत्र तथा सामुद्रिक शास्त्र के भी अच्छे जानकार थे, इनका कृतित्व इस बात का ज्वलंत प्रमाण हैं। इनकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

(१) ध्यान तरंग (रचनाकाल संवत् १८३४) रचना-स्थान, गढ़मुक्तेश्वर; (२) तारिक मंत्र, (३) समुद्र सार, (४) कवित्त (१८ कवित्त)।

'ध्यान तरंग' में वृन्दावन के महत्त्व का निरूपण करते हुए ये लिखते हैं—

बिंदराबन जाइयें बोहूत सुष पाइये,
उहां पै न जाइयै तो नाहिं रह्यो जात है।
लीजियें सु वास कुंज गली के बिलास,
देखे पै मन मोहन पीतांबर फरकात है ।।

घरबार त्याग दीजै कीधौं जोग लीजै कीधौं,
हूजै फकीर और बभूत लाई गात है।
कहत है गुरुदत्तराम हम तो हैं पूर,
मोको तेरी वासिष्ठ कथा बोहूत सुहात है ।।

म० गो० भा०

गुरुदत्त सिह 'भूपति'

अमेठी उत्तर प्रदेश के. सुलतानपुर जिले में स्थित, एक ऐतिहासिक राज्य-केन्द्र है। प्रसिद्ध सूफी कवि

मलिक मुहम्मद जायसी के जीवनवृत्त में इसका नाम आता है। यही उनका समाधि स्थल है। यहाँ के राजाओं में अपने बल, वीर्य, पराक्रम एवं कवित्त्व शक्ति तथा धर्मपरायणता में सर्वाग्रणी राजा गुरुदत्त सिंहजी 'भूपति' ने अपने पिताश्री की विरासत को श्रेष्ठतापूर्वक वहन करते हुए उसे द्विगुणित किया। आपने हिन्दू धर्म के रक्षार्थ अवध के नवाब सआदत खाँ द्वारा १७४१ ई० में अमेठी पर किये गये आक्रमण में शत्रुओं के दाँत खट्टे कर दिये थे। यद्यपि इस युद्ध में आपको धन-जन की बड़ी हानि उठानी पड़ी। लेकिन जब नबाव सआदत खाँ ने रामजन्मभूमि अयोध्या के पूजा-अर्चनादि कार्य में अनावश्यक हस्तक्षेप कर हिन्दू मात्र को चुनौती दी, तब राजा गुरुदत्त सिंहजी ने उक्त चुनौती का मुंहतोड़ उत्तर अपने प्रवल नेतृत्व में आक्रमण करके दिया और नवाबी सेना के पाँव उखड़ गये। राजकवि कवीन्द्रजी ने उनके शौर्य का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। निम्नांकित पंक्तियाँ नवाबी सेना के पराजय की द्योतक हैं—

समर अमेठी के नरेश गुरुदत्त सिंह,
सादत की सेना समसेरन सो भानी है।
भनत कवीन्द्र काली हुलसी असीसन को,
सीसन को शिव की जमात सरसानी है ॥

मिश्रवन्धुओं ने धर्मरक्षक एवं भक्तिभाव परायण राजा गुरुदत्त सिंहजी की कारयित्री प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा 'भूपति सतसई' के संदर्भ में इस प्रकार की है।

'राजा श्री गुरुदत्त सिंहजी अमेठी के राजा थे, इनकी बनाई हुई 'सतसई' की हस्तलिखित प्रति हमारे पास वर्तमान है। इसके देखने से जान पड़ता है कि इन्होंने 'कण्ठाभरण' और 'रसरत्नाकर' नामक दो और दोहों के ग्रन्थ वनाये हैं। खोज में 'भागवत-भाषा' और 'रसप्रदीप' नामक इनके दो ग्रंथ और भी मिले हैं, अतः कुल मिलाकर इनके पाँच ग्रन्थ हुए। इनकी कविता सरस, सुन्दर और भाषा सुहावनी होती थी। बिहारी लालजी के अतिरिक्त और किसी भी दोहाकार की कबिता उत्तमता और सरसता में इनकी कविता से नहीं बढ़ पाती।"

नवीन खोज के अनुसार भूपतिजी की कुल छः रचनाएँ उपलब्ध हैं। भूपति सतसई के अतिरिक्त इनकी अन्य पाँच रचनाएँ हैं - (१) भाषा-भागवत (२) कण्ठाभरण, (३) सरस-रत्नाकर, (४) रस-प्रदीप, (५) रस-रत्नावली। भूपति सतसई को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। ये ग्रन्थ अमेठी राज्य के ग्रन्थालय में सुरक्षित हैं।

भूपति सतसई' इनकी सर्व श्रेष्ठ कृति है। इसका रचनाकाल सं० १७९१ है। यद्यपि दोहा शैली में लिखित प्रधान रूप से यह एक शृंगारिक लक्षण ग्रन्थ है, तथापि इसमें कृष्णलीला सम्बन्धी वात्सल्य तथा भक्ति रस एवं चमत्कार पूर्ण पर्याप्त दोहे समाहित हैं। कवि ने गोपाल कृष्ण की अभ्यर्थना सरस आलंकारिक शैली में इस प्रकार की है:

मोर मुकुट सिर पर लसत, बसत सबन के प्रान।
तऊ न हरि के रूप को, नेकु मिलत परमान ॥

रसे बसे वृज में सदा, गो गोपिन के साथ।
करत विचार विचार पर, हिये बसत ब्रजनाथ ॥

जाके हिय में बसत हौ, आनि गोपाल छपाइ।
तदपि फनूस प्रदीप लौं, प्रतिभा परम लखाइ ॥

धरे रूप मंजुल सगुन, निरगुन एक अनूप।
जगत भुलान्यो रूप को, जगत भुलान्यो रूप ॥

इसी प्रकार कृष्णभक्ति का भाव प्रवाह सतसई के बांसुरी उत्तर-प्रत्युत्तर (गोपी-कृष्ण-संवाद) शांत रस आदि प्रकरणों में देखा जा सकता है। भक्त कवि ने अपनी कृष्णोन्मुखी भक्ति-भावना को हरिनाम-कीर्तन तथा पद रति के माध्यम से बड़ी निष्ठा के साथ प्रकाशित किया है—

मन हेरो घर घट करै, कपट देइ तजि हाल।
जब याही डर उर धरे, तब उर बसे गोपाल ॥

यह भव सिन्धु अगाध अति, गावत छंद विशाल।
हरि तुव नाम जहाज लहि, जात पार जग जाल॥

यह जग मानस नेह नहिं, जासों कीजसु नेह।
तजि तजि इनसों नेह मग, हरि चरनन मन देह॥

जोग जुगति नहिं काम की, नहीं काम को काम।
ऐहैं काम अकेलई, मन मोहन को नाम॥

त्रि० ना० श्री०

गुरुसरनदास

श्री गुरुसरनदास चरणदासजी के प्रशिष्य, आतमराम इकंगी के शिष्य तथा लक्ष्मीदास या लक्षिदास के शिष्य थे। इस प्रकार ये चरणदास जी की शिष्य परम्परा में चौथी पीढ़ी में हुए थे। इसे इस तरह भी समझाया जा सकता है—

श्री चरणदास → श्री आतमराम इकंगी → श्री लक्षिदास→श्री गुरुसरनदास।

ये अपने गुरु (लक्षिदास जी) के बारह गनगौर (जयपुर) स्थित आतमकुंज नामक आश्रम में रहकर साधना एवं सतसंग किया करते थे। आतमकुंज में इनकी जो छतरी निर्मित हुई है, उस पर इनका निधनकाल सं० १८७५ वि० अंकित है। ३२६ पद्यों की इनकी सर्वप्रथम रचना 'बानी-प्रकाश' श्रावण कृष्ण ३, सं० १८३३ वि० में पूर्ण हुई थी।

अष्टादश शत वर्ष परि, तीस अरु तीन बिचार।
सावण बदि सुभ तीज कूं, पोथी रची सुधार॥

उसके तीन-चार वर्ष पूर्व ही ये लक्षिदास जी के शिष्य हो गये होंगे क्योंकि इस कृति में इन्होंने अपने गुरु के रूप में लक्षिदासजी की वंदना की है। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इनका जन्मकाल सं० १८०० वि० के आस-पास रहा होगा। इनके 'बानी-प्रकाश' का एक अन्य शीर्षक 'भक्ति-सुधानिधि' भी मिलता है। ये दोनों नाम एक ही ग्रन्थ के हैं। दिल्ली, जयपुर और वृन्दावन में सुरक्षित इनकी इस पोथी की तीनों पाण्डुलिपियों के लिपिकार इनके शिष्य श्री हरिदास हैं।

'बानी-प्रकाश' के पत्रों की संख्या ४६ और पृष्ठों की संख्या ९२ है। इसकी सभी प्राप्त प्रतियाँ सं० १८६० से लेकर १८७० वि० के बीच की हैं। इस ग्रन्थ का कथ्य गुरु-शिष्य संवाद-शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसमें कुल ३२६ पद्य हैं, जिनमें १६१ चौपाइयाँ, १५८ दोहे और सात छप्पय हैं। ज्ञान, योग और भक्ति इसके वर्ण्य विषय हैं।

श्री गुरुसरनदास का दूसरा प्राप्त ग्रन्थ 'द्वादस-महावाक्य-ग्रन्थ' है। यह मात्र १६ पृष्ठों (८ पत्रों) की रचना है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि इस सृष्टि की स्थिति और लय आनंद ही में होता है। ब्रह्म स्वयं सच्चिदानन्दमय है। अतः आनन्द में ही उसने सृष्टि का उद्भव भी किया है। इस ग्रन्थ पर शैवागम सिद्धान्त का प्रभाव दिखाई देता है। कवि का यह कथन विचारणीय है—

आनन्द तें सब सृष्टि उपावै।
फिर आनंद के माहि समावै॥

ज्यों तरंग है सागर माहीं।
जगत ब्रह्म यूं अंतर नाहीं॥

लहर सिंधु तें भिन्न न दोय।
कोटि उपाय करो किन कोय॥

अन्य चरणदासी कवियों की भाँति इन्होंने भी निर्गुण संत शैली और सगुण माधुर्य भाव की शैली—दोनों में बानी-रचना की है। उसका एक अंश नीचे दिया जाता है—

ये जग झूण रे भाई।
चलता फिरता सबकूं दीखे
खोज किये मिट जाई॥

नट बाजीगर स्वांग बनावे
मूढ़ देख ललचाई।
मृग तृष्णा जल साँच जानकर
भटक-भटक बौराई॥

हरि को भजो तजो सब व्याधा
लक्षिदास समझाई।

गुरुसरना सब बंधन छूटे
निश्चय हो मुक्ताई ।।

वेदान्त दर्शन और रसिक भावना दोनों का इनकी चिन्तन शैली पर सामंजस्यपूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। भाषा पर अधिकार और अभिव्यक्ति-प्रौढ़ता की दृष्टि से गुरुसरनदास जी किसी भी अच्छे कवि से कम नहीं हैं। इन्होंने जो भी कहना चाहा है, बड़े वेलाग ढंग से और कलात्मक शैली में कहा है।

ये वहुभाषाविद् प्रतीत होते हैं। इनकी भाषा में पंजावी, राजस्थानो, पूरबी और फारसी की शब्दावली और विशेषताएँ वहुतायत से प्राप्त होती है। वैसे मुख्यतः ये खड़ो बोली और व्रज भाषा के कवि है। पंजावी के पुट से युक्त खड़ो बोली की इनकी एक वानी यहाँ द्रष्टव्य है। इसमें नन्दनन्दन और उनके ग्वाल-वाल सखाओं की टोली की होली का वर्णन है—

नन्द नन्दन ब्रजराज साँवरो
होली मिलने आवंदा है।
ग्वाल वाल संग ले पिचकारी
रग दी झड़ी लगावंदा है ।।

डफन बजावत रोझ रिझावत
हो हो होली गावंदा है।
केसर चंदन और कुमकुमा
लाल गुलाल उड़ावंदा है ।।

नाचत गावत मिलत परसपर
नइ नइ तान सुनावंदा है।
देखि देखि या सुख को सजनी
दिल मेरा ललचावन्दा है ।।

मैं गुरुजन डर डरपति सखि री
और न कछू सुहावन्दा है।
गुरुसरन लक्षिदास पियारे
मेरे दिल विच भावन्दा है ।।

इसी क्रम में श्री गुरुसरनदास के इष्टदेव 'छैल-बिहारी' की बाँकी छटा का एक शब्द चित्र भी द्रष्टव्य है—

जादू डारो री स्याम सुंदर बनवारी।
मोर मुकुट माथे पर सोहे कुंडल की छबि न्यारी ।।

सुंदर भौंह कुटिल अनियारी तिरछी चितवनि प्यारी।
कुंकुम तिलक ललाट विराजै विहँसत मदन मुरारी ।।

सखि सनमुख ताको रस लेवें भली बनी छबि गारी।
कटि किंकिणि को शब्द होत है पग नूपुर झनकारी ।।

लक्षिदास प्रभु कृष्णचन्द्र के छबि ऊपर बलिहारी।
गुरुसखा कूं दास देखायो बांके छैल बिहारी ।।

इस प्रकार गुरुसरनदासजी ने झूला, बसंत, होरी धमार, जन्म-बधाई, आरती, भोग, सांझी आदि के पदों की रचना के साथ ही ज्ञान-वैराग्य और भक्ति-जनित मिलन-विरह आदि विविध शैलियों, काव्यरूपों एवं पद्धतियों में प्रचुर पद रचना करके एक उच्चकोटि के कवि की अर्हता प्राप्त की है। अभी तक इनकी बानियों का अप्रकाशित रह जाना सारस्वत क्षेत्र की बहुत बड़ी क्षति है।

श्या० सुं० शु०

गुलाबदास(प्रथम)

श्री गुलावदास राव जाति के थे और अलवर राज्य में स्थित राजगढ़ के निवासी थे। इनका जन्म वि० सं० १८८७ में हुआ था। ४१ वर्ष की अवस्था में ये बूंदी चले गये और वहाँ रहते हुए काव्य रचना करने लगे। बूंदी के राजा ने इनकी काव्य प्रतिभा से प्रभावित होकर दो गांव, हाथी, ताजीम और दुशाला भेंट कर सम्मानित किया था। विविध पत्र—पत्रिकाओं में प्रकाशित इनकी कविताओं ने पाठकों के बहुत बड़े वर्ग को प्रभावित किया था। कानपुर की 'रसिकसभा' ने इनको 'साहित्य-भूषण' की उपाधि से विभूषित किया था।

गुलावदास डिंगल, पिंगल, संस्कृत और व्रजभाषा के विद्वान् थे। इन्होंने प्रचुर मात्रा में काव्य रचना

की है। इनकी कृतियाँ भक्ति, रीति और नीति से सम्बन्धित हैं। उनमें प्रमुख हैं—रुद्राष्टक, रामाष्टक रस पच्चीसी, गुलाबकोष, गंगाष्टक, बालाष्टक, वायस-पच्चीसी, प्रन-पच्चीसी, समस्या-पच्चीसी, नामचंद्रिका, भूषणचंद्रिका, व्यंग्यार्थचंद्रिका, नाम-सिन्धुकोष, वृहद्-व्यंग्यार्थ-चंद्रिका, नीतिसिन्धु, नीतिमन्जरी, ललितकौमुदी, नीतिचंद्र, काव्य-नियम, वनिता-भूषण, चिन्ता-तन्त्र, वृहद्-वनिता भूषण मूर्खशतक, आदित्यहृदय, ध्यान-रूप, सवतिकाबद्ध-कृष्णचरित्र कृष्णलीला, रामलीला, सुलोचना-लीला, विभीषण-लीला, दुर्गास्तुति, लक्षण-कौमुदी, कृष्णचरित्र, कृष्ण-चरित्र सूची और शारदाष्टक।

इनके काव्य में ब्रजभाषा का लालित्य, प्रांजलता और कर्ण-प्रियता जैसी विशेषताएँ अपने उत्कर्ष पर दिखाई देती हैं। गोपी विरह विषयक इनका एक छन्द हैं—

छैहैं बक मंडली उमड़ि नभ मंडल में,
जुगनू चमक ब्रजनारिन जरहैं री।
दादुर मयूर झोने झींगुर मचैहैं सोर,
दौरि दौरि दामिनी दिसान दुख दैहैं री॥

सुकवि गुलाब ह्वैहैं किरचै करेजन की,
चौंकि चौंकि चौपन सौ चातक चितैहैं री।
हंसिन लै हंस उड़ि जैहैं ऋतु पावस में,
ऐहैं घनश्याम घनश्याम जो न ऐहैं री॥

ज० सि० परि०

गुलाबदास

प्रणामी सम्प्रदाय के सन्त गुलाबदासजी पन्ना के निवासी थे। ये साम्प्रदायिक मान्यताओं में गहरी पैठ रखते थे। इन्होंने अपने पदों को संगीत की विविध रागिनियों से युक्तकर लालित्य मंडित कर दिया है। प्रणामी सम्प्रदायान्तर्गत मान्य परब्रह्म का स्वरूप निरूपण करते हुए ये लिखते हैं—

भया परब्रह्म सबके परे, तापर और न कोय।
अक्षरातीत अनादि पद, परसि प्रेम रस सोय॥
परसि प्रेम रस सोय, पलक पल नैन निहारो।
पल पल सुमिरो तासु, हिये ते नाहिं बिसारो॥
कहत गुलाबदास सुनो मन मेरो भाई।
कोटि पलक की पाँति, हिये ते नाम न जाई॥

गुलाबदास कृत 'पद-कीर्तन', 'व्रज-लीला', 'रास-लीला', 'चेतावनी के पद' और 'बाराखड़ी' शीर्षक रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं। 'पद कीर्तन', 'व्रज-लीला' और रासलीला' से गुलाबदास की कृष्णभक्ति पर प्रकाश पड़ता है। व्रजराज श्रीकृष्ण शरद ऋतु की रात में यमुना के तट पर वंशी बजाते है, जिसे सुनकर भक्त हृदय गदगद् हो जाता है—

वंशी धुनि बाजे भाई जमुना तीर।
अधर धरी ब्रजराय बँसुरिया, रैनि शरद मुख सीर॥

माई मेरो मन मोह्यो बेन बजाय।
मदन-मथन त्रिभंगी मूरति, करत गान गति लाय॥

वंशी की मधुर ध्वनि भक्त के हृदय को प्रेम की गाँसी बनकर बेध देती हैं—

आज गई मैं बंशीवट में,
देखो री कान्ह बजावत बंसी।
अधर धरे मधुरे सुर गावत,
बेधि गई उर प्रेम की गाँसी॥

इस प्रकार गुलाबदास की कृष्ण-भक्ति में मात्र साम्प्रदायिक औपचारिकता का निर्वाह नहीं हुआ है, वरन् भक्त-हृदय की गहन अनुभूतियों के दर्शन भी होते हैं।

रा० प्र० त्रि०

गुलाबराय

गुलाब राय छतरपुर (मध्यप्रदेश) जिले के निवासी थे। इनका जन्म सम्बत् १९३१ में हुआ था। ये राधाकृष्ण के परम भक्त थे। अपने आध्यात्मिक औदात्य के कारण ये छतरपुर नरेश श्री विश्वनाथ सिंह जूदेव के कृपा पात्र हो गये थे। इनके कई ग्रन्थों की जानकारी मिलती है, जिनमें 'काली-पंचक',

'हरिश्चन्द्र-पंचक', 'सती-माहात्म्य' और 'भक्ति संग्रह' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये श्री राधाकृष्ण-नाम-साधना को अधिक महत्व देते थे और उसे ही परमार्थसाधन का मुख्य स्रोत मानते थे। इनका एक छंद यहाँ दिया जा रहा है—

समयो न जानि जात चौथोपन आनो जात,
गात शिथिलानो जात जोरहू हिरानो जात,
पीपर के पात सो है ग्रीवा को सुभाव रे।
कटि लटिकानो जात छवि को सुखानो जात,
देखत बुझानो जात लौह कैसो ताप रे।
कहत गुलाब आब चाहत दूहुँ लोचन तो,
भाव सहित राधाकृष्ण राधाकृष्ण गाव रे।

त्रि० ना० शु०

गूजरमल फौजदार

श्री गूजरमल की प्रशंसा में 'श्रीहितरूप-चरित्र-वेली' में निम्नलिखित पद मिलता है—

सुनिपत औ पानीपत पाई है फौजदारी,
नाम गूजरमल्ल जू रैवारी वासी जानिये।
तहाँ जब आइ कैं बुलाये हित रूप जू ए,
दिन दिन प्रीति अधिक बढ़ो यौं बखानिये॥

आग्या लिये रहै सदा उत्सव प्रभु बड़े कीने,
धन्य कुल आभीर अैसी रीति पहिचानिये।
ब्रजवासी विप्र जितें आवैं हित रूप ताकी,
जथा जुक्ति करी टहल भाग भूरि मानिये॥

गूजरमल जी का जन्म हरियाणा प्रान्त के रेवाड़ी नामक स्थान में हुआ था। ये आभीर जाति के थे। इन्हें सोनीपत और पानीपत की फौजदारी मिली हुई थी। इन्हें कभी (सम्भवतः दिल्ली आने पर) गोस्वामी श्री रूपलालजी के दर्शनों का लाभ और उनकी अमृतमयी वाणी को श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था जिसने इन्हें बलात् उनकी ओर आकृष्ट कर लिया और ये गोस्वामीजी के कृपापात्र बन गये।

दीक्षित होने के पश्चात् इन्होंने अपने घर पर लाड़िली-लाल की अष्टयामसेवा विराजमान कर ली थी और हार्दिक अनुराग के साथ उन्हें लाड़ लड़ाया करते थे। वर्ष में आने वाले प्रत्येक उत्सव को ये बड़ी धूम-धाम से किया करते थे।

इन्होंने अनेक बार अपने गुरुवर्य को अपने यहाँ आमंत्रित किया था। जब वे इनके यहाँ पहुँचते थे तो इनकी प्रीति-रीति देखते ही बनती थी। गुरुदेव के साथ जो ब्रजवासी ब्राह्मण इनके यहाँ जाते थे, ये उनका भी यथाशक्ति सम्मान करके अपने को सौभाग्यशाली अनुभव करते थे। वि० सं० १८०० की क्वार सुदी चौदस को जब महाराज जयसिंह परलोकवासी हो गये थे, तब इस सूचना से गूजर मल्लजी ने ही गोस्वामीजी को अवगत कराया था। इस आधार पर इनका विद्यमान काल वि० सं० १७५० से वि० सं० १८३० तक अनुमानित होता है।

श्या० बि० खं०

गोकुल कवि

गोकुल कवि के विषय में केवल इतना ज्ञात होता है कि ये बल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनकी एक रचना 'नखशिख' सरस्वती भण्डार, काँकरौली में सुरक्षित है जिसमें कुल २१ छंद उपलब्ध है। इसमें कृष्ण के स्वरूप का अत्यन्त सरस वर्णन हुआ है। दो छन्द द्रष्टव्य हैं—

(१)

श्री नंद नंदन आनंद कंद
गोपी बल्लभ रास बिहारी।
लाल गोपाल मनोज मनोहर
विमोहन राधा महासुखकारी॥

अंग चरित्र विचित्र प्रभा वपु
चित्र यथामति बानि उचारी।
श्रीमद् बल्लभराज-कृपा-बल,
गाइए रंग भर्‌यो गिरधारी॥

(२)

जे श्रुति सुन्दर कुंडल रंजित
राजत हे नवकंज धरे पुनि।

जे मृदु कर्ण प्रकर्ण मनोहर
मोहि रहे सुर गोप सुता सुनि ॥
जे नव कानन कानन में सब
कामिनि वारि धरी दुति को धुनि ।
ते शब्दालय गोकुल की
विनती सुनिहौ कब ही ब्रजजीवनि ॥

वा० सि०
कृ० चं० ला०

गोकुलदास

'ब्रजभाषा-ग्रन्थत्रय' नाम से बाबा कृष्णदास जी ने जो रचनाएँ प्रकाशित की हैं, उनमें एक 'भजन-पद्धति' भी है, किन्तु इसके रचयिता का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। ग्रन्थ के अंत में जो पुष्पिका दी गई है, उसमें रचनाकार के नाम का उल्लेख मिलता है—

'इतिश्री भजन पद्धति ग्रन्थे रात्रिविहार लीलावर्णनं नाम अष्टम विभाग सम्वत् १८५० एवं अक्षरमिदं गोकुलदासस्य शुभमस्तु।'

इससे ऐसा जान पड़ता है कि इस रचना के लिपिकर्ता और रचयिता दोनों गोकुलदास नामक एक ही व्यक्ति हैं। इसकी रचना वि० सं० १८४० में हुई थी। वि० सं० १८४० रचनाकाल होने के कारण गोकुल दास जी का जन्म वि० सं० १८०० तथा देहावसान वि० सं० १८६० के लगभग हुआ होगा। ग्रन्थारम्भ में इन्होंने श्री चैतन्य महाप्रभु, नित्यानन्द प्रभु तथा अद्वैतप्रभु की वंदना के अनन्तर सनातन, रूप, गोपालभट्ट, रघुनाथदास, रघुनाथ भट्ट, जीव गोस्वामी आदि के प्रति अपनी भक्ति व्यक्त की है। पश्चात् अपनी गुरु-प्रणालिका दी है 'जीवगोस्वामी→कृष्णदास गोस्वामी → नंदकुमार गोस्वामी → ब्रजकुमार गोस्वामी→लाला वृन्दावन→गोपीरमण गोस्वामी→नवललाल गोस्वामी→गोविन्दलाल'गोस्वामी→गोकुलदास। अपनी गुरु-परम्परा देते हुये इन्होंने पूर्वाचार्यों के मंजरी-स्वरूपों का भी उल्लेख किया है। वे नाम इस क्रम से हैं—विलास मंजरी→कनक मंजरी→नवीन मंजरी→विहार-मंजरी→विकास मंजरी→गुण मंजरी→विपिन मंजरी→ललितमंजरी→गंध मंजरी। इन्होंने अपने गुरु का उल्लेख एक दोहे में इस प्रकार किया है—

गंध मंजरी की मैं तो, जनम-जनम की दास।
इहि आशा पूरी करौ, सदा लहौं वृन्दावन वास॥

इससे ज्ञात होता है कि ये कहीं बाहर से वृन्दावन आए थे। गोविन्दलाल गोस्वामी के सम्बन्ध में गोपाल कवि ने लिखा है कि वे एक बार सवाई राजा जयसिंह से हठ करके वृन्दावन चले आये थे और जयपुर से राधा दामोदर के विग्रह को वृन्दावन वापस ले आये थे—

ते जय सिंध नृपति सों जिद कैं, वृंदावन उठि आए।
जयपुर ते राधादामोदर कौं वृंदावन लाऐ॥

—वृन्दावनधामानुरागावली

वे बड़े भजनानंदी महात्मा थे। उन्हीं की कृपास्वरूप गोकुलदासजी को चैतन्य-सम्प्रदाय की रागानुगा भक्ति-पद्धति का गूढ़ मर्म उपलब्ध हुआ था जिसका उल्लेख इन्होंने 'भजन-पद्धति' में किया है।

'भजनपद्धति' में आठ विभाग हैं—'गुरु वंदना, ६४ अंग भक्ति, साधन-भक्ति, वृन्दावन-महिमा, सखीनाम वर्णन, प्रातः लीला, गोष्ठवर्णन और रात्रि विहारलीला। इस रचना में ४५० दोहे हैं। इनकी रचना शैली के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

प्रेमानंद की छकनि सों, गाढ़ौ मन जब होय।
श्रीकृष्ण जू तिन ढिग में, ठाड़ौ आप तें होय॥

मन की गति है कृष्ण में, मुक्ति चाह नहिं और।
प्रेमानंद में डूब्यौ रहे, रसिकन के सिरमौर॥

रैंनी बनी है प्रेम की, मन पढ़ि लेतु जु बोरि।
कृष्ण रंग सदा एकरस, मूल कबहुँ मत छोड़ि॥

ऐसे मन होइहै कभूँ, पड़ि रहु जमुना तीर।
तरु शाखा निरखों सदा, नैंननि भरि-भरि नीर॥

टूक टूक ह्वै जात तन, पावै दुःख जु अनेक।
तौ न छाँड़िये वृन्दाविपिन, मन में राखि विवेक॥

मोरमुकुट शीश सोहैं, कुण्डल की छबि न्यारि ।
घुंघरि वारी अलकैं झलकैं, नासा मुक्ता छबि भारि ॥

न० च० वं०

गोकुलदास (द्वितीय)

श्री गोकुलदास मुखिया का जन्म जयपुर राज्यान्तगंत महुआ नामक ग्राम के एक विप्रकुल में हुआ था । १२ वर्ष की अवस्था में ये लाला-महाराज-मंदिर भरतपुर के महात्मा श्री रेवतीरमणदासजी के शिष्य हो गये । दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त आपने दो-तीन वर्ष तक गुरुदेव की सेवा की । तत्पश्चात् किसी रामलीला मण्डली में चले गये । उसमें इन्हें श्रीरामजी के स्वरूप का अभिनय करने का सुयोग्य प्राप्त हुआ । कुछ दिनोपरान्त आपने स्वयं की मंडली बनाई एवं उसका संचालन किया । फिर कुछ दिन जयपुर में आपने निम्बार्कीय वैष्णव एवं भगवद् भक्तों का सत्सं किया ।

वि० सं० १९६६-६७ में ये वृन्दावन आ गये । यहाँ कुछ दिन निवास करने के वाद सलेमाबाद चले गये । वहाँ इनकी गानविद्या से श्री जी महाराज अत्यन्त प्रभावित हुए । उन्होंने प्रसन्न होकर इन्हें वृन्दावन की छोटी कुञ्ज की सेवा अर्पित कर दी । इस छोटी कुञ्ज में रहते हुए ही वि० सं० १९७५ में आपने श्री नित्यकिशोर के नित्य-निकुंज-धाम में प्रवेश किया ।

इन्होंने कुञ्ज की सेवा, संगृहीत वाणियाँ आदि अपने शिष्य श्री किशोरदासजी एवं केशवदासजी के सुपुर्द कर दी थी । इन्होंने रसिकों एवं आचार्यों के पद तथा वाणियों के तीन ग्रंथ-संग्रह किये थे । वे हैं 'नित्यकीर्तन', 'आचार्य-बधाई' एवं वर्षोत्सव । इसी संग्रह में आपके द्वारा विरचित पद भी संकलित हैं । इन्होंने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया है, ये हर्षप्रिया एवं 'कृष्णअली' छाप से पद रचना करते थे । कुछ उदाहरण देखिए—

(राग चर्चरी)

अबतो विनय करिये कान अरुणजू के वारे ।
दीनन दुखहरन नाथ ! करुणा रूप धारे ॥

जानी निज धर्म हानि प्रगट भयो सुख की खानि,
युग-युग उपकार करत अमित विघ्न टारे ॥

पतित पावन नाम सुन्यो सकल शास्त्र वेद भन्यो,
चक्ररूप भक्तभूप कलिमल भ्रम जारे ॥

काम क्रोध लोभ मोह तृष्णामर्ष मद क्षोभ,
इंद्री लोलुप अपार खुले दशहूँ द्वारे ।
अब ना कहू चलत जोर घेर्‌यो जग अटवी चोर,
माया-तम-घोर निशा हाथ पति तिहारे ॥

हा, हा, प्रभु ! एती देर दरशन लागी आशा,
छिन छिन हिये हूक उठत लागत दिन भारे ।
आशा श्रीवन-निवास हरि व्यास जनन पास,
'हर्ष प्रिया' प्रीतम-पद सेवा सुख सारे ॥

प्रे० ना० श्री०

गोकुलदास कविराज

श्री गोकुलदास वृन्दावन के श्री हरिदासाचार्य के पुत्र थे । इनके छोटे भाई का नाम श्रीदास था । ये काँचन गढ़िया के रहने वाले थे । हरिदासाचार्य द्विज हरिदास तथा श्री गौरांग महाप्रभु के अनन्य भक्त थे । श्री गौरांग के अप्रकट होने पर महाप्रभु के विरह से कातर होकर इन्होंने प्राण त्याग करने का दृढ़ संकल्प किया । स्वप्न में महाप्रभु ने इनको निवारण किया और श्री वृन्दावन जाने की आज्ञा दी । उसी समय ये वैराग्य ग्रहण कर श्री वृन्दावन चले आये । श्री निवासाचार्यजो से वहीं इन्होंने कहा था कि आप स्वदेश जाकर हमारे दोनों पुत्रों को दीक्षा दीजियेगा और भक्ति-शास्त्र पढ़ाइयेगा । श्री निवासाचार्य के जो बंगाल लौट जाने के थोड़े ही दिनों पश्चात् श्री हरिदासाचार्य ने नश्वर शरीर त्याग दिया । अपने पिता के तिरोभाव के उपलक्ष्य में माघ बदी एकादशी को गोकुलदास ने बड़ा उत्सव मनाया और भवन-कीर्तन तथा वैष्णव-सेवा की । श्री निवासाचार्य

प्रभु इस महोत्सव में आए और इन लोगों को दीक्षा दी।

श्री गोकुलदास आचार्य के साथ रहकर शास्त्र-अध्ययन करने लगे। भगवान् की सेवा में इनकी बड़ी रुचि थी। ये सारी सेवा अपने हाथ से करते थे। भगवान् की सेवा के निमित्त ये स्वयं जल लाते और बड़ा सुन्दर शृंगार करते थे। आचार्य इनसे बहुत प्रसन्न रहते थे। महोत्सवों में वे इनको अपने साथ ले जाते और भगवान् के ऋंगार का काम इन्हीं को सौंप देते थे।

ये महाकवि तथा संगीतज्ञ थे। भगवान् के शृङ्गार का नित्य नूतन पद बनाकर बड़े भाव तथा तालस्वर से गाते थे। दर्शक मंडली पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ता और लोग घण्टों बैठकर इनका कीर्तन सुनते थे।

न० चं० बं०

गोकुलनाथ (गोस्वामी)

श्री गोकुलनाथ विट्ठलनाथजी के चतुर्थ पुत्र थे। आपकी माता का नाम रुक्मिनी देवी था। इनका जन्म विक्रम सं० १६०८ गुरुवार मगशिर सुदी सप्तमी को, अड़ैल में हुआ था।

सम्प्रदायिक ग्रंथों के अनुसार इनका विवाह सं० १६२४ में आषाढ़ कृष्ण द्वितीया गुरुवार के दिन मथुरा में हुआ था। इनकी प्रथम पत्नी का नाम पार्वती देवी (बहूजी) था। उनके तीन पुत्र हुए थे। प्रथम पुत्र श्री गोपालजी का जन्म सम्वत् १६४२, द्वितीय पुत्र विट्ठलेशजी का सम्वत् १६४५ और तृतीय पुत्र ब्रजरत्नजी का सम्वत् १६५० में हुआ था। इनकी पुत्री का नाम रोहिणी था।

बटवारे में इनके भाग में गोकुलनाथ ठाकुरजी मिले, जो आज भी गोकुल में विद्यमान हैं और इन्हीं के वंशजों के पास हैं। श्री गुसाइंजी के तिरोधान के अनन्तर सम्प्रदाय की गद्दी के तिलकायत रूप में यद्यपि श्री गुसाइंजी के प्रथम पुत्र गिरधरजी रहे, किन्तु सम्प्रदाय में गोकुलनाथजी की विद्वता, व्यवहार-कुशलता और वाणी के रस के कारण सबसे अधिक प्रभाव था। इनके वचनामृतों से यह जाना जाता है कि श्री गुसाइंजी के जो कृपापात्र और अन्तरंग सेवक थे, यह उन सब पर श्रद्धा और कृपा रखते हुए उनकी देख-रेख करते थे और उनकी आत्मतुष्टि अपने वचनामृतों द्वारा किया करते थे। श्री गुसाइंजी के ऋण को भी इन्हीं ने चुकाया था। श्री गुसाइंजी के पीछे विशेष कर के विदेश (गुजरात इत्यादि) भी यही जाया करते थे। गुजरात के वारह गाँवों में विशेषरूप से इनके सेवक होते चले आए है। उन वारह गावों के नाम देवगढ़वारिया, बाड़ा सीनोर, मोढ़ाशाह, कपड़वनज, आंतरसुबा आदि हैं।

अपने कुटुम्ब पर भी इनका बहुत प्रभाव था। आपसी झगड़ों का निबटारा यही किया करते थे। इतने प्रभावशाली व्यक्तित्व से सम्पन्न होते हुए भी इनकी नम्रता सराहनीय थी। ये अपने बड़े भाई के प्रति अति आदर भाव और पूज्य बुद्धि रखते थे। अन्य भाइयों और भतीजों से भी इन्हें यथेष्ट प्रेम था। भाइयों के प्रति इनकी प्रेम-पराकाष्ठा का एक उदाहरण सम्प्रदाय में इस प्रकार प्रसिद्ध है। इनके पुत्र श्री गोपालजी ने अपने चाचा श्री घनश्यामजी से रुष्ट होकर जब उनके ठाकुर मदनमोहरजी की चोरी करवा दी और उस स्वरूप को श्री गोकुल से बाहर भिजवा दिया, तब इन्होंने कहा कि जिसने हमारे "घन्नू" (श्री घनश्यामजो) को कष्ट दिया है, उसका वंश नष्ट हो जायेगा।

तब किसी ने कहा कि महाराज ऐसा मत कहिये बहुत सम्भव है कि वह आपके अपने घर का ही कोई व्यक्ति हो। इस पर भी आपने कहा कि—'उसका भी वंश न चलेगा।" हुआ भी कुछ ऐसा ही। आगे से फिर न तो गोपालजी के कोई पुत्र हुआ और न विट्ठलेशजी के। यह घटना सं० १६६९ की है। विट्ठलेशजी के पुत्र श्री गोवर्द्धनजी इस घटना के पूर्व ही

सं० १६६५ में दिव्य लीला में पधार चुके थे। इतना ही नहीं हुआ, आगे से गोवर्धनजी का भी वंश नहीं चला। इनका शरीर सम्वत् १६९७ विक्रमी फाल्गुन वदी नवमी के दिन छूटा था। इस प्रकार ८९ वर्ष २ मास और ९ दिन यह पृथ्वी पर रहे।

भक्तमाल में गोकुलनाथजी से सम्वन्धित कई छप्पय हैं—

(१)

श्री गिरिधर जू सरससील, गोविन्द जु साथहि।
बालकृष्ण जसबीर, धीर, श्री गोकुल नाथहि॥
श्री रघुनाथ जु महाराज श्री जदुनाथहि भजि।
श्री घनश्याम ज् पगे प्रभु अनुरागी सुधि सजि॥
ए सात प्रगट बिभु भजन जस, जग तारन तस गाइयै।
बिट्ठलेस सुत सुहृद श्री, गोबरधनधर ध्याइयै॥

(२)

उदधि अक्षोभ सहज सुन्दर मित भाषी।
गुरु वत्तन गिरिराज भलप्पन सब जग साषी॥
बिट्ठलेश की भक्ति भयौ बेला दृढ़ ताकैं।
भगवत तेज प्रताप नमित नरवर पद जाकैं॥
निर्विलीक आसय उदार, भजन पुंज गिरिधरन रति।
बल्लभ जू के वंश में, 'गुननिधि' गोकुलनाथ अति॥
—भक्तमाल ६-१६६

इसकी टीकारूप में निम्नलिखित कवित्त मिलते हैं—

(१)

आयौ कोऊ शिष्य होन ल्यायौ भेंट लाखन की,
माखन की चातुरी पै मेरी मति रीझियै।
कहूँ है सनेह तेरो जाकैं मिलै बिना,
देह व्याकुलता होय जौ पै, तो पै दीक्षा दीजियै।
बोल्यौ 'अजू मेरौ काहू वस्तु सों न हेतु नैंकु'
नेति नेति कहो हम गुरू ढूँढ़ि लीजियै।
प्रेम ही की बात इहाँ करही पलटि जात,
गयो दुख गात, कहो कैसे रंग भीजियै॥

(२)

कान्हा हो हलालखोर, घोरि दियौ मन लैकै,
स्याम रससागर मैं नागर रसाल है।
निसि को सुपन मांझ, निपुन श्रीनाथ जू नै,
आज्ञा दई भीत नई भई ओट साल है।
गोकुल के नाथ जू सौं बेगि दै जताइ दीजै,
कीजै याहि दूर छबि पूर देखौ ख्याल है।
भोर जौ विचारै, नहिं धीरज को धारै,
उहां जाउँ कोऊ मारै, पैंड़े पर्‌यौ यह लाल है॥

इसी आधार पर कहा गया है।

धन्य धन्य भंगी बड़ भागी।
जगत पूज्य हरिपद अनुरागी॥

गोकुलनाथजी के जीवन की सबसे प्रसिद्ध घटना सम्प्रदाय के इतिहास में 'माला-प्रसंग' के नाम से विख्यात है। वह सम्प्रदाय के इतिहास में ही नहीं, भारत के धर्म-सम्प्रदायों के इतिहास की एक अद्वितीय घटना है। अहिंसात्मक प्रतिरोध और सत्याग्रह जिसे आधुनिक युग में गाँधीजी ने स्वतन्त्रता संग्राम की नीति के रूप में दृढ़ता पूर्वक अपनाया उसका आदर्श दो सौ वर्ष पूर्व १७वीं शताब्दी में मुगलशासक के सम्मुख प्रस्तुत कर इन्होंने धर्मयुद्ध में विजय प्राप्त की थी। इससे प्रभावित होकर सूरत निवासी कवि गोपालदास ने 'माला-प्रसंग' नामक गुजराती काव्य की रचना की थी तथा उस समय के सुप्रसिद्ध अन्य गुजराती और हिन्दी कवियों ने पद और कविताएँ रची थीं। इनमें शेख, श्रीपति, प्राणनाथ, वृन्दावन-बिहारी और गहरगोपाल के नाम उल्लेखनीय हैं। 'माला-प्रसंग' काव्य में अनेक ऐतिहासिक घटनाओं और पुरुषों तथा प्रसंगों का उल्लेख है। इस संदर्भ में जहाँगीर से भेंट के लिए काश्मीर जाते हुए जिन ग्रामों में श्री गोकुलनाथजी ने विश्राम किया था, उनके नाम भी आगए हैं। 'माला प्रसंग' की घटना इस प्रकार है—

गुजरात के बहियल परगना में 'हिलोल-बसना' नाम का एक गाँव है। वहाँ का एक गौड़ ब्राह्मण संन्यासी

होकर उज्जैन में नगर के बाहर क्षिप्रा नदी के किनारे भर्तृहरि की गुफा में रहने लगा था। उसने अपना नाम 'चिद्रूप' रक्खा था। वह वैष्णवों से अकारण ही द्वेष करता था। एक बार श्री गोकुलनाथजी के दो सेवक 'गोपाल पंड्या' और 'मचिया व्यास' अपने गाँव बेसनगर से उज्जैन आए हुए थे। वे अपने गले में तुलसी की माला धारण किये थे। उनको देखकर उसने पूछा कि 'ब्राह्मण होकर यह माला क्यों धारण करते हो। तुम अच्छे ब्राह्मण नहीं, गरोड़ा (हीन जाति के) प्रतीत होते हो।' इस पर मचिया व्यास ने चिद्रूप से कहा कि 'संन्यासी होकर आपको निन्दा करना शोभा नहीं देता है, फिर भी आप तुलसी और वैष्णवों की निन्दा करते हो, आपका यह व्यवहार शास्त्र विरुद्ध है।' इस पर वह बहुत खीझा। कालान्तर में उसका यह द्वेष भाव बढ़ता ही गया और सम्वत् १६७३ विक्रमी (ईस्वी १६१६) में जब बादशाह जहाँगीर गुजरात गया तो इसने अवसर पाकर बादशाह को ऐसा समझाया कि उसके राज्य में तुलसी की माला और ऊर्ध्वपुंड्र तिलक धारण करने वालों से राज्य का अहित हो रहा है और इन्हें रोकना आवश्यक है। कहा जाता है कि बादशाह जहाँगीर उसके चमत्कारपूर्ण कृत्यों से ऐसे प्रभावित हुए कि उन्होंने राजाज्ञा कर दी कि मथुरा, वृन्दावन, श्री गोकुल और अन्य जहाँ कहीं कोई वैष्णव माला और तिलक किए मिले, उसकी माला उतरवा ली जाय और तिलक बिगाड़ दिया जाय या बिगड़वा दिया जाय। आसफखाँ नामक बादशाह के मंत्री ने श्री गोकुलनाथजी को गुप्त रूप से इस हुकुम की सूचना भेजी। गोकुलनाथजी पहले चुप रहे और उन्होंने इस मूर्खतापूर्ण आदेश की उपेक्षा की, पर जब राज कर्मचारियों ने इस आज्ञा के अनुसार वैष्णवों को सताना आरम्भ किया और दूर-दूर से समाचार आने लगे कि राज्य कर्मचारी वैष्णवों की माला तोड़ डालते हैं और तिलक बिगाड़ देते हैं, तो इन्होंने इसका विरोध किया। उज्जैन में श्री गोकुलनाथजी के सेवक देवाभाई सरानियाँ को हाकिमों ने हाथी से कुचलवाने का असफल प्रयास किया। श्री गोकुलनाथजी ने इस अत्याचार का प्रतिरोध करने का निश्चय किया। दैवयोग से उन्हीं दिनों चिद्रूप मथुरा आ रहा था। इसकी खबर श्री गोकुलनाथजी को श्री श्यामदास जेतली ने दी। वे स्वयं उससे मिलने के लिए गए और उसे अपने यहाँ भिक्षा के लिए आमंत्रित किया, पर वह न आया और शास्त्रीय चर्चा में भी इनको ठीक उत्तर न दे सका। मथुरा आने पर उसने मथुरा-वृन्दावन के वैष्णवों को वहाँ के हाकिमों के द्वारा कष्ट देना आरम्भ किया और श्री गोकुलनाथजी के पास भी कर्मचारी भेजे कि आप भी राजाज्ञा का पालन कीजिए, पर गुसाइंजी ने इस आदेश की सविनय अवज्ञा की।

इसके कुछ दिन पश्चात् दिल्ली जाते समय जहाँगीर कर्णवलि में ठहरा था और श्री गोकुलनाथजी आशीर्वाद देने आए थे। उसने इनसे भी कंठी-माला के विरुद्ध अपने आदेश का उल्लेख किया। इस पर श्री गोकुलनाथजी ने कहा, 'पहले इसे कोई शास्त्र विरुद्ध सिद्ध कर दे, तब यह प्रसंग आयेगा।' इस पर बादशाह ने चिद्रूप से शास्त्रार्थ के लिए कहा। पर उसका साहस न पड़ा। यह खबर जब बादशाह की हिन्दू स्त्री (मानबाई) क्षत्राणी को लगी, तो उसने तथा बादशाह की माता 'मरियमजमानी' ने जहाँगीर को श्री गोकुलनाथजी के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार करने से रोका और बादशाह अकबर तथा गुसाईं विट्ठलनाथ के सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध का स्मरण कराया। नूरजहाँ और उसके भाई आसफखाँ तथा एतबारीखाँ ने भी प्रयत्न किया कि चिद्रूप श्री गोकुलनाथजी के प्रति अपना द्वेष त्याग दें, पर सबके प्रयत्न असफल रहे। इस घटना के बाद चिद्रूप के विरुद्ध ब्रज में ऐसा वातावरण हो गया कि बादशाह को उसकी रक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ा। किन्तु झगड़ा शान्त न हुआ। जहाँगीर चिद्रूप से कुछ ऐसा प्रभावित था कि उसने उक्त आज्ञा नहीं लौटाई। इसके अनन्तर चिद्रूप ने श्री गोकुलनाथ को अपने पास बुलाने के लिए मथुरा के हाकिम वंश-

गोपाल को भेजा, पर श्री गोकुलनाथजी नहीं आए और उन्होंने उससे मिलना अस्वीकार कर दिया। इस विवाद का समाचार वैष्णवों द्वारा जब आगरा पहुँचा, तब वहाँ के हाकिम लशकरखाँ ने वंशगोपाल को आगरा बुला भेजा। यह झगड़ा लगभग पाँच वर्ष तक चलता रहा। कई एक हाकिमों तथा मथुरा के कोतवाल सदयराम ने श्री गोकुलनाथजी को समझाने की चेष्टा की। इस पर श्री गोकुलनाथजी ने बादशाह की लिखित आज्ञा का प्रमाण माँगा। बात बढ़ती ही गई। एक ओर मालायें तोड़ी जाती थीं, दूसरी ओर श्री गोकुलनाथ अपने अदम्य साहस के साथ फिर से मालाएँ देते चले जाते थे। श्री गोकुलनाथजी के इस शान्तिपूर्ण विद्रोह का समाचार बादशाह के पास काश्मीर भेजा गया और उसने श्री गोकुलनाथजी को काश्मीर बुलाया। काश्मीर में आसफखाँ ने श्री गोकुलनाथजी को एकान्त में समझाया कि बादशाह के सामने 'माला' उतारना स्वीकार कर लीजिए, पीछे व्यवहार में चाहे ऐसा न कीजिए। पर श्री गोकुलनाथजी सहमत न हुए। इस पर उसने बादशाह को सलाह दी कि इनके सामने आप दो शर्तें रखिये कि या तो गोकुल छोड़ दें या माला पहनना बन्द करें। क्योंकि गोकुल यह छोड़ न सकेंगे, इसलिए माला पहनना बन्द कर देंगे। जब यह बात श्री गोकुलनाथजी के सामने रखी गयी, तो इन्होंने गोकुल छोड़ना स्वीकार कर लिया पर माला धारण करना छोड़ना स्वीकार नहीं किया। इन्होंने बादशाह की आज्ञा से 'सोरों' जिला एटा में गंगा तट पर रहना आरम्भ कर दिया। कुछ दिन बाद जब बादशाह गोकुल आये, तो देखा कि वह और जन-शून्य हो रहा था। वहाँ के विशाल भवन खाली पड़े थे। उसने इसका कारण पूछा तो राज्य कर्मचारियों ने उसे श्री गोकुलनाथजी के निष्कासन की याद दिलायी। इस पर उसने सोरों से श्री गोकुलनाथजी को बुला भेजा और उनको फिर गोकुल में बसने की आज्ञा दी। उस बीच में चिद्रूप की व्रज में अवज्ञा हो चुकी थी। इनके सोरों प्रवास का काल इस प्रकार है—सम्वत् १६७६ वि० मार्गशीर्ष सुदी ६, सोमवार को दोपहर को आपने गोकुल छोड़ा और तीन मास बारह दिन सोरों में रहकर सम्वत् १६७७ की चैत बदी दशमी, बुधवार को लौट आए।

श्री गोकुलनाथजी ने माला की रक्षा में अपूर्व साहस, दृढ़ता और सहनशीलता का परिचय दिया था। इसमें अप्रत्याशित विजय ने इनके प्रभाव को निश्चय ही राजा और प्रजा दोनों में बढ़ाया होगा। श्री गोकुलनाथजी जब काश्मीर की लम्बी यात्रा पर गए थे, इस समय उनकी अवस्था लगभग सत्तर वर्ष की थी। काश्मीर में ये रामरायजी के बाग में ठहराए गये थे।

व्रज से काश्मीर जाते समय इन्हें गोकुल से आगरा २८ कोस, २२ कोस आमल खेड़, ९ कोस जसखेड़ ६ कोस, ८ कोस अकराबाद, ८ कोस कोर, ८ कोस चंडोस, १५ कोस दलपुर, ८ कोस सूरजपुर, ८ कोस दिल्ली, ५ कोस बादलबली, ७ कोस बटेला, ८ कोस सोनपुर, ८ कोस गुनोर, ५ कोस पानीपत, ७ कोस सभूलकछ, ७ कोस घमोदा, ७ कोस करनालक ७ कोस तलाबड़ी, ८ कोस थानेश्वर, १० कोस शहाबाद, ८ कोस कछुआनो कोट, ५ कोस अम्बाला, ६ कोस घरघर, ७ कोस अलोड्डया, ७ कोस सिहरद ६ कोस खन्ना, ३ कोस रामराया, ३ कोस राजा की सराय, ४ कोस दुरहास्ता, ८ कोस लुधियाना, ४ कोस फूलोर, ८ कोस नूरमहल की सराय, १ कोस उप्पल, ४ कोस निकोदर, ८ कोस सस्तेखान, २ कोस सुलतानपुर, ६ कोस गोविन्दव्रल, ९ कोस पटीबार, १६ कोस लाहौर, ७ कोस फैजाबाद, १३ कोस अहमदाबाद, ६ कोस चीमा, ६ कोस चिनखनी, ४ कोस छोटी गुजरात, १२ कोस भिन्नरगर, ५ कोस घाटी, १६ कोस चिगस, ७ कोस राजौर, ८ कोस थाना, ८ कोस रतन पंजाल, ६ कोस कोसाणू, १६ कोस मुहम्मद कुली की घाटी, ७ कोस हरिपुर, १०

कोस सराह, १० कोस काश्मीर। इस प्रकार कुल ४४० कोस की यात्रा करनी पड़ी थी।

'माला-प्रसंग' की सत्यता की निम्नलिखित कवियों की रचनाओं से, जो वल्लभ सम्प्रदाय के नहीं थे, पुष्टि होती है—

प्राणनाथ—

(१)

"प्राननाथ" कहे बात सुनो सवै कान दै,
मति जानो ख्याल श्री गोकुलनाथजी की माला है।
वेदहू बखानी मरजाद हू बखानी जाहि,
डारे गुदी बीच माला अमृत रसाला है ।।

बुलाए जहाँगीर ने जाय के जुआब दियो,
हिन्दू को पतिराखी श्री गोकुलनाथ प्रतिपाला है।

(२)

गोकुल का फकीर देखो आए कौन भाव से,
तें डारे गुदि बीच गुंज औ बन माला है।
मागता हूँ माल वे देता हैं जीव की,
करें याद साईं कों संग नंदलाला है।
हुआ है निडर मैं तो देता हूँ दुसाला।
मेरे लाला बंद और ग······ साला है।
प्राननाथ बात कहै सुनो सबै कान दे।
मति जानो खयाल श्री गोकुलनाथ जी की माला है।

वृन्दावनदास—

अधम उद्धारन तुम नाम वल्लभ।
भक्त पैज प्रतिपारन,
तपसी त्रास निवारन,
दुष्ट संहारन कारन,
तिलक भाल उद्धारन।
माननी मान निवारन,
रसिक सिरोमनि रस संचारन
कीरति उज्वल जग विस्तारन
वृन्दावन "गोकुलपति" नागर
प्रगटे निज जन कारन।

कल्याण कवि—

सेस सुरेस दिनेस कही
सुनि ही सब गोकुल की रजधानी।
चिदरूप तें वे गरज्यो ब्रज में
द्विजराज करी सों तिहूँपुर जानो ।।

तो पै यह बात करी "कल्याण"
महीपति आगे जु जाय बखानी।
आज अजौं ब्रज मंडल माँझ
रहो मुख गोकुलनाथ के पानी ।।

बिहारी—

टेक की, टेक की, टेक को रे,
गिरि टेक टरै तो टरै ध्रुवतारो।
श्री गोकुलनाथ जु माला तजै,
तौ शेष न शीस धरै भुव भारो ।।

पौन थकै तो थकै ब्रज को पन,
कौन करै महिते रजन्यारो।
श्री वल्लभ वंस बिहारी कहै,
कवि जागत है जग में जस धारो।

सेख—

मिटि गयौ मौन पौन साधना की सुधि भूली,
भूलो योग युगति विसार्‌यो तप बन कौ।
"सेख" प्यारे मन कौ उजारो भयो प्रेम-नेम,
तिमिर अज्ञान गुन नास्यौ बालपन को ।।

चरन कमल की मैं लोचननिलौच धरो,
रोचन है राच्यौ सोच मिट्‌यो धाम धन कौ।
सोक लेस नेक न कलेस हू को लेस नहीं,
सुमिरितैं गोकलेस मिटे कलेस मनकौ ।।

गहर गोपाल—

चलत अदीठ चक्र चहुधां कनात सोई,
कीरत के धर्म धीर थापि के दृढ़ायौ है।
धरम के मोरचा पै सुमेर सों मेखें गाड़ि,
प्रबल प्रताप डौरी खैंचि के तनायौं है ।।

"गहर गोपाल" कहें तात रिनिवास किये,
दुखयन दारिद्रन पहरिया नसायौ है।

बिट्ठल के नंद सुखकंद गोकुलेस तब,
सुजस कौ तंबू जंबूदीप पर छायौ है ॥

गोकुल विहारी—

माला को अकार हू तो गयो थो संसार हूतें,
राखी टेक करिकै प्रताप गिरधारी जू ।
नेक के कहत तोरि डारी सब स्वामियन,
धीरज न धर्यो नेक डर भयो भारीजू ।
मंदिर आवास धर तजत न लय्यो मन,
लीला को विलास मान्यो गोकुलविहारी जू ।
अजहूँ जे मुक्त भये केते जग बीत गए,
सगर के वंस हैत आप पाँव धारी जू ।

खेम (बुन्देलखंडी)—

औरन स्वांग धरे सब पेट के
एक हुकूमत जींद रहाला ।
तैं कुल जक्त न धर्म तज्यो,
सिध-साधक भूलि गयो मतवाला ।
खेम चहूँ धनि धन्य कहै,
प्रेम पुलक्क सौं भक्त रसाला ।
श्री विट्ठलनाथ के गोकुलनाथ जू
तुमने पहरी जग में जसमाला ।

श्री हरिरायजी (जो उस समय तीस वर्ष के थे) –

ताताज्ञैक परः पराशयविदो वर्यः परानन्ददो,
माला येन सुरक्षिता निज महायत्नेन कण्ठे सतां ॥

धर्मो येन विवर्धितः पूत पदाचार प्रचारैः सदा ।
स गोकुल नायकः करुणया भूपाद्वशे सेविनाम् ॥

श्रीपति—

शाह कही सो तैं न करी,
करी सोइ जो वेद पुरानन भाखी ।
माल तिलक्क जनेऊ के कारन
क्रूर को ऐंड़न पैंडन नाखी ॥
श्रीपति कहें जहाँगीर के खान
अरु उमराव जिते सब साखी ।

श्री विट्ठलनाथ जू के गोकुलनाथ जू
सो सब हिन्दुन की पति राखी ॥

भाषा-बधाई—

जयति विट्ठल सुवन, प्रगट वल्लभ बलो,
प्रबल पन करी तिलक माल राखी ।

श्री गोकुलनाथ जी अपने पूर्वजों और वंशजों की भाँति उच्च कोटि के वक्ता, लेखक और कवि थे। "सम्प्रदाय-कल्पद्रुम" के अनुसार इन्होंने तेरह ग्रन्थों की रचना की थी—

सर्वोत्तमेरु सुबोधिनी, वेणुगीत परमान ।
गोकुलनाथ स्वतंत्र किये, भक्ति सुधी सुखदान ॥

सर्वोत्तम अरु गुप्त रस, गद्यरु षोडश ग्रन्थ ।
वल्लभाष्टक अर्थ किय प्राकृत सुगम सुपंथ ॥

दंडो मद गर्दन जु फिर, माला-वाद सुजान ।
भाव रसायन ग्रंथ किय, निर्णयार्थ नृपमान ॥

वचनामृत चौबीस किय, देवी जन सुखदान ।
वल्लभ-विट्ठल-वारता, प्रगट कीन नृपमान ॥

इसके अनुसार आपके ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है— (१) 'सर्वोत्तम' पर छोटी टीका, (२) 'वेणुगीत' आदि की सुबोधिनी पर स्वतन्त्र लेख, (३) 'गुप्त-रस' की टीका, (४) गद्य 'ब्रह्मसम्बन्ध-मंत्र' पर टीका, (५) 'षोडश-ग्रन्थों' पर टीकाएँ, (६) 'वल्लभाष्टक' पर टीका, (७) 'प्राकृत-सुगम-सुपंथ,' में ब्रजभाषा के सभी ग्रन्थ, (८) 'दण्डी-मद मर्दन' (शास्त्रार्थ) (९) 'मालावाद' (शास्त्रार्थ) (१०) 'भाव-रसायन,' (११) 'निर्णयार्थ' (१२) चौबीस-वचनामृत' (ब्रजभाषा), (१३) 'वल्लभ-विट्ठल-वार्ता' ।

वास्तव में ये तेरह ग्रंथ न होकर केवल तेरह नाम हैं। ग्रन्थ इससे अधिक हैं। जैसे षोड़श ग्रन्थ की टीका में 'पुष्टि प्रवाह मर्यादा', 'सिद्धांत रहस्य', 'भक्ति-वर्धिनी', 'अन्तः करण-प्रबोध', 'सन्यास-निर्णय' पर

स्वतन्त्र टीकाएँ हैं। ये पृथक् रीति से पाँच स्वतन्त्र रचनाएँ हुई। 'प्राकृत सुगम सुपंथ' का अर्थ होता है प्राकृत (ब्रजभाषा) में मार्ग को सुगम दृष्टि से सुलभ करनेवाले ग्रन्थ। इसमें (१) 'हास्य-प्रसंग', (२) 'वचनामृत', (३) 'स्वरूप-भावना' तथा (४) 'लीला-भावना' समाविष्ट है।

इसी भाँति 'वल्लभविट्ठल-वार्ता' में (१) 'निज-वार्ता', (२) 'घरूवार्ता', (३) 'बैठक-चरित्र', (४) 'आचार्यजी की प्राकट्य वार्ता', (५) 'श्री गुसाइंजी की निजवार्ता', (६) 'श्री गोपीनाथजी की वार्ता', (७) 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', (८) 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', (९) 'भावसिन्धु', (१०) 'श्रीनाथजी को प्राकट्य' आदि बारह स्वतंत्र ग्रन्थ सम्मिलित हैं।

इस प्रकार इनकी ग्रन्थ-संखया कम-से-कम बत्तीस ठहरती है।

'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' के ग्रन्थकर्त्ता श्री विट्ठलनाथ भट्ट ने केवल शीर्षकों के आधार पर ग्रन्थ-संख्या तेरह निर्धारित कर दी है, जो उपर्युक्त तथ्यों के अनुसार एक संक्षिप्त उल्लेख-मात्र है।

उपर्युक्त ग्रन्थ श्री गोकुलनाथजी को संस्कृत और ब्रजभाषा गद्य का एक उच्च कोटि का लेखक सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त ये कवि भी थे, यह इनकी सम्प्रदाय में प्रचलित रचनाओं के आधार पर प्रमाणित होता है। इनके पद सम्प्रदाय के कीर्तन-संग्रहों में 'श्रीवल्लभ' छाप से मिलते हैं। श्री गिरधरलालजी के वचनामृतों में भी इस बात का उल्लेख है। उन्होंने कवियों के प्रसंग कहे हैं उनमें आपका उल्लेख है। इनका यह पद बहुत प्रसिद्ध है—

बैठे हरि राधे संग कुंज-भवन अपने रंग।
कर मुरली अधर धरे सारंग मुख गाइए॥

गोकुलनाथजी के सेवकों में अठहत्तर के नाम प्रसिद्ध हैं। उनमें से कई कवि और ग्रंथकार थे। इनके सेवकों में मुख्य 'मोहन भाईजी' भड़ौच के बनिए थे। वे आगरे के एक विख्यात राज्याधिकारी थे और मुहल्ला गोकुलपुरा में रहते थे। 'मोहनभाईजी' श्री गोकुलनाथजी के साथ ही वल्लभकुल के अन्य सभी सेव्य स्वरूपों और बालकों को भी मानते थे। उन्होंने सातों घरों को 'पिछवाई' दी है, पर इनके पीछे के सेवकों ने श्री गोकुलनाथजी को छोड़कर अन्य घरों और ठाकुरजी को वैसी मान्यता नहीं दी।

गोकुलनाथजी का गोलोकवास सम्वत् १६९७ माघ बदी ९ को हुआ। ये ८९ वर्ष २ मास तथा ९ दिन भूतल पर रहे और अपनी प्रिय स्थली गोकुल में ही शरीर छोड़ा।

रा० कृ० श०
ह० नं० भा०

गोकुलनाथ/गोपीनाथ/मणिदेव

श्री गोकुलनाथ काशीनरेश महाराज उदितनारायण सिंह के आश्रित कवि थे। इनके पुत्र गोपीनाथ भी सुकवि हुए। मणिदेव भरतपुर के निवासी थे। अपनी विमाता के दुर्व्यवहार से तंग आकर मणिदेव काशी चले आये और गोपीनाथ के शिष्य हुए। सरोजकार ने गोकुलनाथ का आविर्भाव-काल सं० १८३४, गोपीनाथ का सं० १८५० तथा मणिदेव का सं० १८९६ बताया है। मिश्रबंधुओं ने गोकुलनाथ का कविता-काल सं० १८२८ तथा इनके महाभारत का समाप्ति-काल सं० १८८४ लिखा है। यह सूचना उन्हें मणिदेव के पौत्र कवि सीतलाप्रसाद से प्राप्त हुई थी।

'शिवसिंह-सरोज' में गोकुलनाथ रचित दो पुस्तकों के नाम दिये गये हैं—(१) 'चेतचंद्रिका', (२) 'गोविन्द-सुखद-विहार'। इनके अतिरिक्त महाराज उदितनारायण सिंह की आज्ञा से इन्होंने महाभारत के भाषाअनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया था जिसे बाद में गोपीनाथ और मणिदेव ने पूरा किया।

नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज रिपोर्ट (१९०४ ई०) में 'महाभारत-दर्पण' के प्राप्त होने की सूचना दी गई है। मिश्र-बंधुओं ने गोकुलनाथ की

रची हुई ४ पुस्तकों तथा खोज में मिली हुई ५ पुस्तकों के नाम दिये हैं—(१) 'चेतचंद्रिका', (२) 'गोविन्द-सुखद-विहार',(३) 'राधाकृष्णविलास', (४) 'महाभारत'. (५) 'राधाजी का नखशिख', (६) 'नामरत्नमाला-कोश', (७) 'सीताराम-गुणार्णव', (८) 'अमरकोष-भाषा' तथा (९) 'कवि-मुख-मंडन'। इनमें से 'महाभारत' तथा 'हरिवंश' नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से सं० १९३० में प्रकाशित हो चुके हैं। 'ब्रज भारती' में गोकुलनाथ के दो काव्यों—'यमुना-यश' और 'कृष्ण-गोपी-प्रेम'–की सूचना और इनके ६-६ कवित्त दिये गये हैं। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ३ ग्रन्थों का रचना-काल दिया है—(१) 'राधाकृष्ण-विलास' (सं० १८५८), 'नामरत्नमाला-कोश' (सं० १८७०) और 'अमरकोष-भाषा' (सं० १८७०)।

'चेतचन्द्रिका' में महाराज चेतसिंह काशीनरेश की वंशावली दी गई है। इसमें अलंकारों का निरूपण बड़ी विशदता से किया गया है। 'राधाकृष्ण-विलास' में रससम्बन्धी प्रकरण बहुत सुन्दरता से लिखे गये हैं। 'कवि-मुख-मंडन' अलंकार ग्रन्थ है। 'सीताराम-गुणार्णव', 'अध्यात्म-रामायण' का भाषानुवाद है जिसमें रामचरित की कथा दी गई है। 'महाभारत' और 'हरिवंश' का भाषानुवाद एक बृहदाकार ग्रन्थ है जिसमें १८६६ पृष्ठ हैं। यह भाषानुवाद बहुत ही सफलता के साथ किया गया है। इसकी कविता-शैली सरस और सराहनीय है। इन तीनों कवियों (गोपीनाथ, गोकुलनाथ और मणिदेव) ने कथाक्रम का निर्वाह कुछ इस प्रकार किया है कि सारी रचना एक ही व्यक्ति की लिखी हुई ज्ञात होती है, किन्तु अध्यायों के अंत में तीनों रचयिताओं ने अपने-अपने नाम दे दिये हैं। रचना दोहा, चौपाई, सवैया, घनाक्षरी, छप्पय, कुंडलिया, कवित्त आदि विविध छंदों में की गई है। भाषा मुख्यतः ब्रजी है, किन्तु उसमें वैसवाड़ी का मिश्रण बड़ी स्वाभाविकता से किया गया है जिससे कविता के रस में और भी वृद्धि हुई है। ये कृतियाँ इन तीनों की कृष्णचरित में गहरी आस्था व्यक्त करती हैं।

त्रि० ना० सिं०

गोकुलप्रसाद 'बृज'

कविवर गोकुलप्रसाद श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनका जन्म चैत्र कृष्ण १, सं० १८७७ को बलरामपुर नगर (जिला गोंडा) के बलुहा मुहल्ले में हुआ था। इनके पिता का नाम भाईलाल और पितामह का रंगीलाल था। अपनी कुलपरम्परानुसार घर पर हिन्दी और फारसी का साधारण ज्ञान प्राप्त करने के बाद इनकी इच्छा संस्कृत पढ़ने की हुई। कई वर्षों तक अभ्यास करके इन्होंने उसमें अच्छी गति प्राप्त कर ली। इसके अतिरिक्त नेपाली, द्रविड़, पंजाबी, भोजपुरी आदि भाषायें भी इन्होंने सीखी थीं और उनमें सरलतापूर्वक काव्य-रचना कर लेते थे। उन दिनों बलरामपुर के निकट राप्ती नदी के उत्तरी तट से एक मील की दूरी पर स्थित समगरा ग्राम में पं० गदाधर शर्मा नाम के एक विद्वान् रहते थे। काव्यशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में उनकी बड़ी ख्याति थी। गोकुल उनके शिष्य हो गये। गुरुकृपा और अपनी असाधारण प्रतिभा से ये शीघ्र ही काव्यांगों के निष्णात पंडित हो गये—

> सुबुध गदाधर शर्म को, विद्या गदा प्रहार।
> नहिं कोइ कवि कोविद भयो, सहनशील संभार।
> तासु निकट विद्या पढ़े, भूरि शिष्य मतिमंत।
> तिनमें एक गोकुल भयो, रचना में बलवन्त॥
> सुगुरु कृपा पीयूष पिय, प्रतिदिन करि अभ्यास।
> साहित्यागम सिंधु मथि, रतन लह्यो अनयास॥
> —दिग्विजयभूषण की भूमिका, पृ० १

पं० गदाधर शर्मा बलरामपुर के महाराज दिग्विजयसिंह की बाल्यावस्था में मुख्य संरक्षक और राज्य के प्रबन्धक रह चुके थे। इनका एक हस्तलिखित ग्रन्थ 'दिग्विजय चम्पू' प्रस्तुत लेखक के संग्रह में है।

कविता करने का अभ्यास भी साथ-साथ चलता रहा। छन्दों में ये अपनी छाप 'बृज' रखते थे—

श्रीवास्तव कायस्थ कुल, गोकुल नाम प्रतच्छ।
कहूँ कवित में 'बृज' धरे, छंद बनै जेहि स्वच्छ॥

काव्य-रचना में रुचि देखकर इनके चाचा अपने साथ इन्हें महाराज दिग्विजयसिंह के दरबार में ले जाया करते थे। महाराज की गुणग्राहकता से आकृष्ट होकर दूर-दूर से आनेवाले कवियों का वहाँ नित्य जमघट लगा रहता था। इस साहित्यिक वातावरण में गोकुल की काव्यप्रतिभा के विकास का अच्छा अवसर मिला। धीरे-धीरे ये अपनी रचनायें महाराज को सुनाने लगे। छोटी आयु में ही लिखे गये इनके वैचित्र्यपूर्ण छन्दों को सुन कर दरबार में उपस्थित लोग आश्चर्यचकित हो जाते थे।

परमहंस दीनदयाल गिरि की ख्याति सुनकर ये अध्ययन के लिए काशी गये और उनकी छत्रछाया में रीतिशास्त्र का विधिवत् अनुशीलन किया—

श्री गुरु दीन दयाल गिरि, परमहंस अवतंस।
पाये जा पदप्रीति सों, कवित रीति सारंस॥

परमहंस अवतंस जासु जस जग अस राजै।
विलसै विजै विभूति, विरति विज्ञान विराजै॥

राजै विजै विभूति जाहि के दरसन पाये।
काव्य-कलानिधि रूप भूप कवि पार को जाये॥
—चित्र-कलाधर, पृ० ४-५

काव्यशिक्षा समाप्त होने पर काशी से गोकुल पुनः अपनी जन्मभूमि बलरामपुर को लौट आये और राज्य में नौकरी कर ली। इनकी प्रथम नियुक्ति कटरा और पहाड़ापुर के कोतवाल पद पर हुई। सिंहाचंदा (जिला गोंडा) के तालुकेदार कृष्णदत्तराम पांडे से इनका परिचय इसी समय हुआ। उनके प्रीत्यर्थ इन्होंने 'कृष्णदत्तभूषण' नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना की। इस पद पर कुछ ही वर्ष कार्य करने के पश्चात् त्यागपत्र देकर ये तुलसीपुर (गोंडा) के राजा द्रिगराजसिंह के आश्रय में चल गये। वहाँ इन्हें बांकेपुर के इलाके में मालगुजारी वसूल करने का काम मिला। उन दिनों बलरामपुर और तुलसीपुर राज्यों के बीच काफ़ी तनातनी चल रही थी। द्रिगराजसिंह के व्यवहार से ये असंतुष्ट थे। अतः महाराज दिग्विजयसिंह के आमंत्रण पर तुलसीपुर राज्य की नौकरी त्यागकर सं० १९०५ से गोकुल बलरामपुर-नरेश की सेवा में पुनः लग गये। महाराज ने पहले इन्हें फूलपुर (जिला बस्ती) में भवन-निर्माण के निरीक्षक पद पर नियुक्त किया। उस कार्य के समाप्त होने पर ये सीर के अफसर बनाये गये। दिग्विजयसिंह ने इनकी काव्यशक्ति पर मुग्ध होकर थोड़े ही दिनों बाद माल विभाग से स्थानान्तरित कर इन्हें अपने दरबार के कर्मचारी-वर्ग में स्थान दे दिया। महाराज का निजी पत्र-व्यवहार और तोशकखाना की देखभाल—इनके जिम्मे यही दो कार्य सौंपे गये। इस नई व्यवस्था के फलस्वरूप गोकुल को अपनी रुचि के अनुकूल काव्यसाधना में अधिक समय मिलने लगा। इनकी नौकरी के शेष वर्ष इसी पद पर कार्य करते व्यतीत हुए। महाराज ने इनकी साहित्यिक सेवाओं से प्रसन्न होकर दो गाँव पुरस्कार में दिये, जो बहुत दिनों तक इनके वंशजों के अधिकार में रहे।

इन दो आश्रयदाताओं के अतिरिक्त गोकुल कवि मेहनौन (गोंडा) के राजा अचलसिंह और पयागपुर (बहराइच) के ठाकुर विजयराज सिंह के भी कृपापात्र रहे हैं। उनके लिये इन्होंने क्रमशः 'अचल-प्रकाश' और 'महावीर-प्रकाश' की रचना की थी। किन्तु ये उनके यहाँ किस समय और कितने दिनों तक रहे, यह ज्ञात नहीं है।

गोकुल कवि के पारिवारिक जीवन-विषयक जो तथ्य प्रकाश में आये हैं उनसे ज्ञात होता है कि इनके पिता का देहावसान पहले ही हो चुका था, किन्तु माता सं० १९०५ तक जीवित रहीं। बलरामपुर राज्य के पुराने कागजों में इनका एक आवेदन-पत्र और उस पर महाराज दिग्विजयसिंह का पद्यबद्ध आदेश प्राप्त हुआ है,

जिसमें माता की मरणासन्न स्थिति में सेवा के लिये छुट्टी देने की प्रार्थना की गई है। उसकी प्रतिलिपि नीचे दी जाती है—

'दरख्वास्त गोकुलप्रसाद की। माता, उनकी मृत्यु सन्निकट है याते सेवा करै के घर रहिबे के लिये।'

दसखत महराज बहादुर कै—

> मातु पिता तीरथन सों, अधिक कहत सब लोग।
> ताते मन बच कर्म ते, इनको सेइब जोग॥
>
> आपद काल विशेष है, औषधि जतन बनाय।
> याते तुम घर में रहो, पुत्र धर्म को पाय॥

गोकुल के तीन विवाह हुए थे। इनकी प्रथम पत्नी फुलवरिया गोपालपुर (जिला बहराइच) के निवासी मुंशी पहलवानलाल की पुत्री थीं। प्रथम पत्नी के देहावसान पर शोकाकुल हो गोकुल कवि ने यह छंद लिखा था—

> अरविंद विलोचन कुंदकली
> दसनावलि चंदकला मुख भावै।
> मुसकानि सुधा अधरानि मयूष
> मनोहर बैन सुने बनि आवै॥
>
> जेहि अंग में सोभ सुगंध सने
> 'बृज' मेद जवादि सुगंध लगावै।
> तिहि देह पै काठ कठोर दबावत
> आगि लगावत आह न आवै॥

—अष्टयाम प्रकाश, पृ० १६९

दूसरा और तीसरा विवाह बलरामपुर के निकटवर्ती शाहडीह गाँव के लाला कबीरदयाल के यहाँ हुआ था। इन तीनों पत्नियों से इनके चार पुत्र हुए—लालसाहब, सुन्दरलाल, दूधनाथ और प्राणनाथ। दैवयोग से इन चारों में से किसीका भी वंश नहीं चला। किन्तु गोकुल के भ्रातृकुल के लोग अब भी बलरामपुर में बसे हुए हैं।

कविवर गोकुल वाणी के एकान्त साधक नहीं थे। वे दरबारी कवि थे और अपने जीवनकाल में इसी रूप में उन्होंने प्रसिद्धि पाई थी। महाराज दिग्विजयसिंह के दरबार में प्रायः आगन्तुक कवियों के प्रतिभाज्ञान की परीक्षा के लिए काव्यशास्त्रीय विषयों पर शास्त्रार्थ अथवा समस्या-पूर्ति-सम्मेलनों की आयोजना हुआ करती थी। गोकुल के जौहर इन्हीं अवसरों पर प्रकट होते थे। इस सम्बन्ध में प्रचलित जनश्रुतियों में से कुछ नीचे दी जाती हैं।

प्रसिद्ध है कि बलरामपुर दरबार में बाहर से आये हुए किसी कवि ने कविता और वनिता का सादृश्य-विधान करते हुए नायिका-भेद पर लिखे गये अपने ग्रंथ की भूमिका के लिये उपस्थित कवियों से छंद-रचना का प्रस्ताव किया। गोकुल कवि ने उसी समय यह छंद बनाकर सुनाया—

> सब्द देह पाणि पगु छंद मुख व्यंजना सो,
> व्यंग्य जीव मंजुध्वनि वाणी निकसतु है।
> लक्षणैद्विविधि अक्ष हाव-भाव है कटाक्ष,
> श्रौन है विभाव गुण गुणै सरसतु है॥
>
> नासिका विसद वृत्ति रीति कुलकानि बानि,
> भूषणनि भूषण बसन बिलसतु है।
> कविता दसांग बर बनिता को कवि पति,
> 'ब्रज' पुन्य पुंज ही सों दूनौ दरसतु है॥

एक बार जयपुर से कोई 'प्रसाद' नाम के कवि महाराज के काव्य-प्रेम की चर्चा सुनकर बलरामपुर आये। दरबार लगने पर उन्होंने कुछ स्वरचित छंद सुनाये। महाराज ने प्रसन्न होकर उन्हें दो सौ रुपया और एक सुसज्जित घोड़ा बिदाई देने की आज्ञा दी। अस्तबल के दारोगा ने कविराज को जो घोड़ा दिया, वह देखने में बड़ा सुन्दर था, चाल भी बहुत अच्छी थी, किंतु उसमें एक बड़ा भारी दोष यह था कि पानी में पैठते ही वह लोटने लगता था। कविजी को तत्काल इसका पता न चल सका। वे महाराज को आशीर्वाद देकर प्रसन्न मन बिदा हुए। बलरामपुर

नगर से लगी हुई सुआँव नदी में उस समय घुटनों के ऊपर पानी था। प्रसाद कवि घोड़े पर चढ़े हुए ही उसे पार करने लगे। नदी में थोड़ी दूर चलकर घोड़ा अपने स्वभावानुसार बैठ गया और तंग कसे हुए ही उसमें लोटने लगा। कवि महोदय का सारा कपड़ा कीचड़ में लथपथ हो गया। बड़ी मुश्किल से उन्होंने घोड़े को पानी के बाहर निकाला। अपने कपड़ों में लगा हुआ कीचड़ धोकर वे उल्टे पाँव दरबार में पहुँचे और महाराज के समक्ष पुरस्कार में प्राप्त घोड़े की शिकायत करते हुए यह सवैया पढ़ा—

सदा सुन्दर चाल चलै मग मैं
कतहूँ ठिठकै बिगरै न अरै।
पर बाजि बिलोकत ही निकसै
अरु पौन के गौन ते बेगि लरै॥

दियो भूपति दिग्विजै सिंह जो बाजि
'प्रसाद' सु केतिक लोग डरै।
तेहि औगुन एक कहा कहिये
जल देखै जहीं तहीं लोटि परै॥

शिकायत सरे दरबार की गई थी। महाराज के इशारे पर गोकुल कवि ने तत्काल घोड़े की प्रशंसा में निम्नांकित छंद लिखकर उसके पानी में बैठ जाने का दूसरा ही कारण बताते हुए कहा—

कमर कलाई कान कल्ला छवि छोटि छाइ,
सोना सुम चकले हैं सिगरे बखानी मैं।
बेगि पावै मन आसमान को करै पयान,
सीखे सीघ्रताई हरियान गति जानी मैं॥

'गोकुल' तुरंग ऐसो कहैं मति मंद लोग,
पानी में प्रवेस यहि हेतु अनुमानी मैं।
असुचि सवार को विसुचि करिबे के हेतु,
याते बाजी पैठि गयो बैठि गयो पानी मैं॥

गोकुल को इस हाजिरजवाबी से प्रसाद कवि पानी-पानी हो गये। महाराज ने प्रसाद कवि को रिसाले से उनकी पसंद का एक दूसरा घोड़ा दिलाकर सम्मान-पूर्वक विदा किया।

शिकार यात्राओं में भी महाराज दिग्विजयसिंह गोकुल को साथ रखते थे। इन्हें स्वयं शिकार खेलने का शौक न था किन्तु देखने में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। महाराज इन्हें प्रायः अपने समीपवाले हाथी या मचान पर बैठाते थे। नेपाल के जंगलों में दिग्विजय-सिंह द्वारा शेर के शिकार का प्रत्यक्षदर्शी के रूप में वर्णन करते हुए ये लिखते हैं—

(१)

दपटि डहारि डौंकि चौंकि उठे जो मतंग,
निकसो प्रचंड बाघ गाढ़े गिरि झाली के।
घोर घहराइ धाइ आयो है चलाक चंड,
आवत समीप हेत किये चल चाली के॥

त्योंहीं महाराज दिग्विजै सिंह दीठि जोरि,
साधे दीदबान सों सिकार परनाली के।
घायल घुमड़ि बाघ भागो अहदंक संक,
गाज लौं गँभीर गोली लागी है दुनाली के॥

(२)

दगी दुनाली गाज ज्यों, बाघ लंक लगि जाय।
भागो घायल विपिन में, झाली माहिं लुकाइ॥

महाराज हरषाइ, चढ़ि गज पर हेरन चले।
आगे निरखे जाइ, झाली में वह शेर है॥

तीनि बौंरि मोटी त्वचा, एक विटप ते आइ।
लपटी दूजे वृक्ष में, जनु विधि जाल बँधाइ॥

एक बौरि मुख पर परी, एक गरे में आइ।
एक लंक में लपटि गै, यहि विधि बाघ लखाइ॥

(३)

लागे लंक घाव बाघ डपटि डहारि डौंकि,
चलो गज चौंकि फेरि हारो पीलवान है।
खसे हैं खवास पाछे हौदा में जकरि जोर,
गिरे सेर आगे तीनि गज जो प्रमान है॥

उठि बैठे मारे गोली परो बाघ भूमि सिर,
स्रोनित स्रवत यह कीन्हे उपमान है।

तीरथ अनन्य पुन्य काल है अखेट दिन,
भारती के नीर मानो भूप को नहान है ।।

(४)

लगो सीस क्षत स्त्रवत है, स्त्रोनित व्यथा प्रवाह ।
ऐसे दुख में नहिं कढ़े, भूपति के मुख आह ।।
महाराज दिग्विजै सिंह, खेलैं सदै सिकार ।
कबहूँ ऐसो नहिं भयो, होनहार बरियार ।।

(५)

जबै गज चौंकि चलो गिरे महराज महि,
तीनि गज पर परो बाघ जेहि ठाम है ।
पंजा लपकावै नहिं पावै कटि मुख बाझि,
बौरिन के व्याज कसि बाँधे निज दाम है ।।
गोकुल बिलोकि तबै हिम्मत अचल मति,
स्त्रोनित स्त्रवत सिर सिखा वेध छाम है ।
सूरताई सैनन ते नैनन ते धीरताई,
बीरताई बैनन ते बिलसै बिराम है ।।

यह घटना सं० १९३७ की है। इस घातक चोट के बाद महाराज का स्वास्थ्य नहीं सुधरा। दो वर्ष बाद सं० १९३९ में उनका परलोकवास हो गया। उनके साथ ही बलरामपुर दरबार से साहित्यचर्चा भी उठ गई। आश्रयदाता के दिवंगत होने पर गोकुल कवि ने राजसेवा से विश्राम ग्रहण कर लिया। किन्तु उनकी लेखनी चलती रही। इसके पश्चात् उन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की। उनमें से एक है 'महारानी-धर्म-चन्द्रिका', जो मनुस्मृति का पद्यानुवाद है। इसका निर्माण सं० १९५४ में महाराज दिग्विजयसिंह की द्वितीय पत्नी महारानी जयपाल कुँवरि की आज्ञा से हुआ था। सं० १९६१ में यह ग्रंथ खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर (पटना) से प्रकाशित हुआ था। इनकी दूसरी कृति है—'गद्दी प्रकाश' जो महाराज दिग्विजयसिंह के उत्तराधिकारी दत्तकपुत्र महाराज भगवतीप्रसाद सिंह की राजगद्दी के अवसर पर, सं० १९५७ में लिखा गया था। यह गोकुल की अन्तिम कृति थी। इसके पश्चात् ये पाँच वर्ष और जीवित रहे।

अपने जीवन के अन्तिम दिन गोकुल कवि ने भगवच्चिंतन और नामजप में बिताये। उनका जो चित्र इस ग्रंथ में दिया गया है वह इसी वार्द्धक्य जर्जर अवस्था का है जिसमें वे माला फेरते दिखाये गये हैं। वैशाख शुक्ल ९, शनिवार सं० १९६२ की रात्रि को ढाई बजे, ८५ वर्ष की आयु भोगकर ये परलोकवासी हुए।

अब तक गोकुल कवि की कुल २२ कृतियों का पता चला है। उनमें से १९ की रचना बलरामपुर दरबार की छत्रछाया में हुई, शेष गोंडा तथा बहराइच के तीन अन्य सामन्तों के लिए लिखी गई थीं। उनकी सूची नीचे दी जाती है—

क बलरामपुर दरबार के आश्रय में विरचित ग्रन्थ—

१. अर्जुन विलास (मदनगोपाल कवि कृत) की पद्यबद्ध भूमिका-सं० १९१९, २. अष्टयामप्रकाश-सं० १९१९, ३. दूतीदर्पण-सं० १९१९, ४. दिग्विजय भूषण-सं० १९१९-१९२५, ५. नीतिरत्नाकर (महाराज दिग्विजयसिंह के साथ)-सं० १९२१, ६. चित्रकलाधर-सं० १९२१, ७. पंचदेव-पंचक-सं० १९२४, ८. नीतिमार्त्तण्ड-सं० १९२६, ९. सुतोपदेश-सं० १९२८, १०. वामविनोद-सं० १९२९, ११. चौबीस अवतार-सं० १९२६-१९३२, १२. शोकविनास-सं० १९३२, १३. शक्ति प्रभाकर (अद्भुतरामायण)-सं० १९३३, १४. सुहृदोपदेश (टिट्टिभि-आख्यान)-सं० १९३५, १५. मृगया-मयङ्क-सं० १९३७, १६. दिग्विजय-प्रकाश-सं० १९३९, १७. एकादशी-माहात्म्य-सं० १९३९, १८. महारानीधर्मचन्द्रिका सं० १९५४, १९. गद्दी प्रकाश-सं० १९५७।

ख अन्य सामन्तों के लिए निर्मित ग्रन्थ —

२०. कृष्णदत्तभूषण, २१. अचल प्रकाश, २२. महावीर प्रकाश।

शिवसिंह सेंगरजी ने इनमें से केवल चार ग्रन्थों (दिग्विजय भूषण, अष्टयाम, चित्र कलाधर और दूतीदर्पण) का नाम दिया है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने, संभवतः इसी आधार पर 'लाला गोकुल परसाद बलिरामपुरी' का परिचय देते हुए इनके द्वारा विरचित ग्रन्थों की संख्या चार ही बताई है, जिनकी नामावली 'सरोज' से अभिन्न है। उक्त दोनों महानुभावों ने गोकुल कवि की अन्य रचनाओं की संभावना व्यक्त की है किन्तु उनकी नामावली नहीं दी है। संभव है, इसका कारण उनकी अनुपलब्धि रही हो। हिन्दी-साहित्य के प्रचलित इतिहासों में प्रस्तुत कवि का कोई वृत्तान्त नहीं मिलता।

गोकुल रीति-परम्परा के कवि थे। इनके रीतिबद्ध ग्रन्थों में उदाहरण के रूप में कृष्णचरित-सम्बन्धी बहुत से छंद मिलते हैं। संकलित से इनका राधा-कृष्ण-प्रेम व्यंजित होता है। नमूने के रूप में कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं—

(१)

जिन अंगन मैं अँगराग लग्यौ
तिहि अंग बिभूति लगाए कसाला।
हिय हारहूँ को न बिहार में अन्तर
सों 'बृज' देखिबे को परे लाला॥

प्रिय जोबन भोग बिहाय हहा
तिय जोबन में जपैं जोग की माला।
हरि कूबरी साला दुसाला दिए
बृजबाला बिछावन को मृगछाला॥

(२)

बृज बरसाने की बधूटी बनी चंद रूप,
खेलिबे को होरी होरी गावैं गोरी गाथ के।
अगर अबीर छोरी केसरि गुलाब घोरी,
जोरी लै कुसुंभ कुंभ ढारैं रोरी माथ के।
कुंज की गलीन बीच 'गोकुल' मची है फागु,
भयो भटभेरो दोऊ दौरे देखै साथ के।
बोरिवे को अंग रंग लये पिचकारी संग,
हाथ ही की हाथ रही राधा—राधानाथ के॥

(३)

गायन के पाछे-पाछे चटक लटक चाल,
आछे कटि पीत पट काछे दीह दौर पर।
माथे पै मुकुट मोरपच्छ के लकुट हाथ,
स्वच्छ गुच्छ मंजरी रसाल छबि छोर पर।
'गोकुल' बिलोकि बाल कज्जल कलित आँसु,
गिरे मुखु पर ढरे छहरे उरोज पर।
मानो कंजकोस ते कढ़ी कलिंद नंदिनी है,
चढ़ी चंद मंडल पै मंडित सुमेर पर॥

मत्तगयंद—

जो परदेस पयान करो हरि
साथहि मैं हूँ पयान करौंगी।
राखे न येक घरी बनिहै
'बृज' लोग लुगाई न धीर धरैंगी॥

मेरे सनेह समूह को पाइ
हिए बिरहागि जबै पजरैंगी।
देह धरै फिरि गेह जरैं पुर
पौरि जरैं बन बाग जरैंगी॥

(४)

पर से न कहे बनि आवै कछू
अवलोकि प्रिया परभा बरसो।
बरसो घन ता समै घेरि घटा
यह देखो छटा ललिता दर सो।
दरसो है बिलोचन पाछे परे
मुख आछे बिलोकि छपाकर सो।
करसो बृषभान कुमारि मुरारि
सबै अंग हेरि हरे परसो॥

(५)

जग मैं बड़े जाहिर माहिर हैं
परबीन कुलीन सिरोमनि हैं।
गुन आगर रूप उजागर वै
'बृज' सील के सागर में गनिहै॥

परिपूरन पुन्य कहाँ इतनो
मन ही को मनोरथ को जनिहैं।
सखि सूरति साँवरी मूरति मैन
निहारत नैन कहा बनिहै ॥

(६)

राधानाथ राधा नैन नीर के निहारे नद,
हेरि हारें हृद को न पाए वारपारे को।
दोषाकर वंस स्याम क्यों न करैं कूर बाम,
लिखी नाहीं पाती काती ऊधो मोंहि मारे को ॥
दीन के दयाल सोई दीन पै दयाल होइ,
'गोकुल' बखानै यह गाथ बूढ़ बारे को।
कही जोग बातैं बतरातैं कढ़ी आह अंग,
पीर पियराई चढ़ो राई लोन बारे को ॥

सं०

गोकुलबिहारी

प्राचीन काव्यसंग्रहों में गोकुलबिहारी नाम के एक कृष्ण-भक्त का उल्लेख मिलता है। ये सत्रहवीं शती में विद्यमान थे। इनके बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती। इन्होंने कृष्ण और कंस के कुवलयापीड हाथी के युद्ध का वर्णन किया है। एक छंद द्रष्टव्य है—

झूमत झुकत मतवारो अति भारो गज,
गरजन गरजत महा प्रलैकाल की।
कोमल कमल उत गोकुल बिहारीलाल,
जैसी कोऊ कुंज में फिरत कंजनाल की ॥
देखा-देखी भई सूँडि चापि कै द्विरद दौर्‌यो,
केहरि सों सरस गरुर नन्दलाल की।
कंस के अबारे की सो दौरि नाँहि बिसरत,
बारन को धावन औ भावन गोपाल की।

हृ० नं० भा०

गोकुलवारे बाबा

गोकुलवारे बाबा का जन्म श्रीकृष्ण की जन्मस्थली गोकुल के एक सनाढ्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनका मूल नाम शुकदेव और पिता का नाम घनश्याम था।

ये बाल्यकाल से ही संतोषी प्रवृत्ति के थे। इनके पिता उदयपुर-नरेश महाराणा फतेहसिंह के ज्येष्ठ भ्राता गजसिंह के पास रहा करते थे। यद्यपि शुकदेवजी विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे, पर श्रीमद्भागवत उन्हें प्रायः कण्ठस्थ था। पिता की मृत्यु के बाद ये बहुत वर्षों तक उदयपुर में ही रहे। वहाँ निरन्तर श्रीमद्भागवतादि भक्ति-ग्रन्थों के अनुशीलन से इनका हृदय धीरे-धीरे संसार से विरक्त हो गया। इनके एक कन्या और एक पुत्र था। पत्नी पुत्र को ६ वर्ष की छोटी आयु में ही छोड़कर दिवंगत हो गयी थी। कन्या विवाह के कुछ दिनों बाद दिवंगत हुई। ये कभी उदयपुर और कभी ब्रजभूमि में पर्यटन करते हुए एकांत और विरक्त जीवन बिताने लगे।

निरन्तर भगवदाराधन ही इनका कर्म था। ये श्रीमद्भागवत का निरन्तर अनुशीलन करते और यथालाभ-संतोषभाव से जीवन बिताते थे। इन्हें नन्दगाँव, बरसाना, कोकिलावन आदि ब्रज के शांत स्थलों में रहने में आनन्द आता था। व्रजवासियों के घरों से थोड़ा-बहुत जो कुछ मिल जाता उसीमें तृप्ति का अनुभव करते हुए ये जीवनयापन करते थे। लोग इन्हें असली नाम से न जानकर 'गोकुलवारे बाबा' के नाम से ही सम्बोधित करते थे।

एक समय की बात है, एक झोपड़ी में ये सो रहे थे, उसीमें एक साँप घुस आया। कुछ लोग जो वहाँ थे, इन्हें झोपड़ी से बाहर निकालने के लिये उठे तो इन्होंने रोककर कहा—'नहीं-नहीं, ऐसा न करो, जब मैं इस झोपड़ी में रहता हूँ तो ये भी क्यों न रहें।' रातभर सर्प इनकी झोपड़ी में रहा और ये भी भजन करते रहे। सर्वदा की तरह जब समय हुआ तो ये बेधड़क पृथ्वी पर सो गये। सबको ईश्वरप्रतिरूप समझनेवाले को किसका डर ? प्रतिवर्ष चौरासी कोश की व्रजयात्रा करना तथा तीर्थ-सेवन यही इनके साधक जीवन का नियम था।

देह छोड़ने से तीन दिन पहले ही इन्होंने सबसे क्षमा माँगी। अपने ज्येष्ठ भ्राता से बातें करते और बिना किसी कष्ट या विषाद के 'रासपंचाध्यायी' का पाठ करते हुए इन्होंने शरीर छोड़ दिया। मरते समय इन्होंने केवल दो चीजें घरवालों को दी थीं—एक श्रीमद्भागवत की पुस्तक तथा दूसरी माला। यह सम्पत्ति इनके घर में स्थापित बालगोपाल के मन्दिर में रख दी गयी।

स० गु०

गोपाल

गोपाल कवि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में अपेक्षित तथ्य प्राप्त नहीं हैं। अपने ग्रन्थ का रचनाकाल इन्होंने इस प्रकार बताया है—

संवत सत्रह सो समै, त्रैपन भाद्रपदाहि।
श्रीनारायण हेत किय, लीजहु संत निबाहि॥

इससे स्पष्ट है कि ये सं० १७५३ में वर्तमान थे। इनकी एक ही रचना प्राप्त है। उसका नाम 'सुदामाचरित्र' है। उससे कुछ कृष्णभक्ति-व्यंजक छंद प्रस्तुत हैं—

(१)

आनन्द के कंद दुख-दन्द के निकंदन हैं,
तिन चरनारविंद उर ते न टारिये।
सब विधि लायक हैं सब सुख दायक हैं,
संकट में निपट सहायक बिचारिये॥

(२)

राम सौ कहत स्याम मित्र है सुदामा नाम,
छुपे हैं निपट धाम कौन भाँति भरिये।
भेंट कछू ल्यावत हैं फूले-फले गावत हैं,
सोचत से लोचन असोच कैसे करिये॥

(३)

भाभी कछु दीन्हें मोहि लीन्हें पट टकटोरि,
कौन सौ छपावो गथ भौन के दुखारे हो।
पाछिली समुझि बात हाँसी पेट में न मात,
आदि हो के मीत तुम लालची हमारे हो॥

(४)

धाइ जदुराइ उर लाइ लीन्हों भुज भरि,
भरि-भरि अंक भरे आनंद सौ भारे हैं।
अन्तर की जानि बात बूझत हैं कुसलात,
नीके करे आइ धाम पावन हमारे हैं॥

स० गु०

गोपाल (जनगोपाल)

इनका पितृप्रदत्त नाम गोपाल था, किंतु भक्त होने के कारण बाद में जनगोपाल के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। ये १८वीं शताब्दी के श्रीकृष्ण-भक्त कवि थे। 'रास-पंचाध्यायी' नामक इनका एक ग्रन्थ मिला है जिसका रचनाकाल सं० १७५५ है। इसमें श्री कृष्ण की रास-लीला का वर्णन है। इसकी रचना में कवित्त, दोहा, चौपाई, छप्पय, भुजङ्गप्रयात, गीतिका, सवैया आदि विविध प्रकार के छन्दों का सफल प्रयोग हुआ है जिससे अनुमान होता है कि ये उच्चकोटि के कवि थे। यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१)

श्री राधा चरणारविंद आनंद मोदवर।
नव पल्लव दल मंजु ललित जावक जुत सुंदर॥
अभिराम सकल छबि धाम मनु काम वास वंचत रहत।
दुखदंद फंद दंदन सकल सु नंदनंदन वंदन करत।

(२)

इहि भाँति रासविलास विलसत रसिक सुंदर स्याम।
बंदि चरन सरोज गोपी चलीं धामनि धाम॥
जोग जग्य अनेक व्रत तप दान तीरथ आस।
लहै फल पल येक मैं नर श्रवन सुनि हरिदास॥

वा० सिं०

गोपाल (बख़्शी)

रीवाँ के महाराजा विश्वनाथ सिंह के यहाँ गोपाल नाम के एक कामदार थे। इनका लिखा 'गोपाल-पचीसी' ग्रन्थ उपलब्ध है। इसकी रचना सं० १८८५ में हुई थी—

संवत सर वसु ससी, चैत द्वैज सित पक्ष।
बार सोम सु समय येहि, भो संपूरन स्वच्छ॥

आत्मोल्लेख के अनुसार उक्त ग्रंथ का नाम 'श्रृंगारपचीसी' है, न कि 'गोपाल-पचीसी'—

श्री बगसी गोपाल, विरचि सिंगार पचीसिका ।
किय यह तिलक रसाल, सुनत गुनत सुकविंहि सुखद ।

उक्त रचना से विदित होता है कि ये कृष्ण-भक्त थे, पर किस सम्प्रदाय से सम्बद्धित थे, यह स्पष्ट नहीं है । उदाहरण के रूप में निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य है—

तूरत फूल कलीन नवीन,
गिरो मुँदरी को कहूँ नग मेरो ।
संग की हारीं हेराइ 'गोपाल',
गईं अलसाइ डेंराइ अँधेरो ॥

साँसति सासु की जाइ सकौं न,
अहो छिन एक न गैयन फेरो ।
कुंजबिहारी तिहारी थली यह
जात उँघारी दया करि हेरो ॥

ह० नं० भा०

गोपालदास (प्रथम)

गोपालदास (प्रथम) के सम्बन्ध में केवल इतना पता चला है कि ये जाति के स्वर्णकार थे और गंगाविष्णु गोसाइं के शिष्य थे । इनकी एकमात्र ज्ञात रचना का नाम है 'गोवर्धन-चरित्र' । उसमें इन्होंने जनगोपाल छाप रखी है ।

'गोवर्धन-चरित्र' में श्रीमद्भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण की गोवर्धन-धारण-लीला का वर्णन है । कुछ अंश इस प्रकार हैं—

सबै रजोगुन मूल ये, अंबर जलद समाज ।
जल बरषत जग जिअतु सब, कहा करत सुरराज ॥
मघवा लखहि प्रयोजन काहा ।
धेनु विप्र पूजहु नर नाहा ॥
जो पितु मो मत नीको जानहु ।
तौ गिरराज हेतु मख ठानहु ॥
नंद आदि ब्रज गोप सयाने ।
सुनि प्रभु बचन सबै हरषाने ॥
जानि भाग निज नृपतन धारी ।
उपदेसत लख दसा बिसारी ॥
गोवर्धन मख सुरपति क्रोधा ।
कहेउ बरनि जसुमति परबोधा ॥
यह लीला जो सुनै सुनाई ।
सब सुख लहि जल-भीति न पाई ॥
ललन-लड़ैती चरित अनूपा ।
सर्व काल निर्वान सरूपा ॥
जो गैहै करि दृढ़ विस्वासा ।
सो पैहै वृन्दावन वासा ॥
बकता श्रोता सबन को, करै सप्रेम प्रनाम ।
जथा उचित 'गोपाल' जन, है किंकर बिनु दाम ॥

वा० सिं०

गोपालदास (द्वितीय)

गोपालदासजी (द्वितीय) मुखिया श्री गोकुलदासजी की परम्परा के एक अत्यन्त तेजस्वी तथा प्रतिभावान् महात्मा थे । आपका स्थान लालामहाराज का मन्दिर भरतपुर था । श्री गोकुलदासजी ने अपनी परम्परा में इनका नामोल्लेख इस प्रकार किया है—

रमन रेवतीदास जुत, मम स्वामी सुखदानि ।
गोकुलदास अनाथ के, दियो सीस पर पानि ॥
रामदास जगविदित प्रभु, जिन बाँध्यो भवसेत ।
श्री लालदास कविता सुनत, होय हिये में चेत ॥
तिनके गंगादासजू, पावन परम अनूप ।
मतवादिन मद चूर करि, कह्यो इष्ट को रूप ॥
जुगल रहस्य बरनन करत, दासगुपाल कविंद ।
राम सनातन दास जुत, भक्त-चकोरन-चन्द ॥

आपके द्वारा निर्मित पद आचार्य-मंगल-बधाइयों में संगृहीत हैं । कुछ उदाहरण देखिये—

(१)

रानी पूजति आज दिनेश ।
गोद लसे सुत कौन गुनी छबि सेवत जाहि सुरेश ॥
नाम सुदर्शन रूप सु दरशन निरखत शारद शेष ।
निंबचंद अवतार धर्‍यो हरि, तारन जीव असेस ॥

कियो सकल रसिकन मन भायो, रह्यो न दुख को लेस।
गोपाललाल सुख लह्यो निरखि पद, ब्रह्मरूप शिशु बेस।।

(२)

नवलवर जोरी आज बनी।
धारे सुरँग चीर पिय-प्यारी, भूषन रतन सनी।।

कुंवरि दृगन की कोर निहारत, बाँकी भौंह तनी।
गोपाललाल हिय बसत निरंतर, यह छबि सौंधे सनी।।

प्रे० ना० श्री०

गोपालदास (तृतीय)

परखम व्रज का प्रसिद्ध ग्राम है। कहा जाता है यहाँ व्रह्माजी ने भगवान् कृष्ण के बछड़ों का हरण कर उनकी परीक्षा ली थी। इसी परखम ग्राम में भगवान् कृष्ण के अन्यतम सखा गोपालदासजी (तृतीय) ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य की परीक्षा देने हेतु उत्पन्न हुए थे। ये व्रजरस-मर्मज्ञ श्री विहारीदास त्यागी के शिष्य थे। इनकी दिनचर्या बहुत ही विलक्षण थी। प्रातः उठकर निम्बार्क-स्तव आदि का पाठ करके आसन का त्याग कर देते थे। नित्यक्रिया के पश्चात् पुष्प की एक सुन्दर माला बनाकर रख देते थे, दूध लाकर वृद्ध गुरुवर्य के लिए काढ़ा बनाते, गुरुजी के उठने पर उनको माला पहनाकर साष्टांग दंडवत करते, फिर काढ़ा को भेंट में देते थे। इसके बाद स्वयं गौतम ऋषि आश्रम वृन्दावन के ठाकुर श्री राधा-व्रजचन्द्र-विहारी की सेवा में लग जाते थे। गुरुजी जब टहलने के बाद वापस आते तो ये उनकी सेवा में पुनः पहुँच जाते थे। उनको स्नान कराकर पूजा के लिए सामग्री जुटाकर रख देते। जब गुरुदेव आराधना में तल्लीन हो जाते तो यह भी भगवत्-सेवा करने लगते। राजभोग लग जाने के बाद ये अपने उदर की पूर्ति के लिए बाहर गाँव में जाकर मधुकरी करते। उसके बाद दर्शन आदि करके पुनः सेवा में उपस्थित हो जाते। यह इनकी दैनिक चर्या थी।

एक समय ये ज्वर से पीड़ित हो गये। सेवा-कार्य यथावत् करते रहे। रोग का निदान न होने से वह तीव्र गति से बढ़ने लगा। कुछ ही दिनों में ऐसी स्थिति हो गयी कि इनको एक कदम चलना भी मुश्किल हो गया। श्री गुरुचरणों के समक्ष हाथ जोड़कर बोले कि 'मेरे द्वारा किये गये अपराधों को आप क्षमा कर दें। यदि मेरा शरीर यहाँ आश्रम में छूटेगा तो आपको उठाना पड़ेगा। सन्तों को भी परेशानी होगी। इसलिए मुझे आज्ञा दें कि मैं यमुना-तट पर स्वयं ही चला जाऊँ।' गुरुदेव यह सुनकर प्रेम से गद्‌गद हो गए, किन्तु कुछ बोल न सके।

ये यमुना-तट पर पहुँचकर एक कदम्ब के वृक्ष की छाया में लेट गये। महात्मा को भविष्य का निश्चयात्मक ज्ञान था। कुछ घण्टों के पश्चात् इन्होंने अपने पार्थिव शरीर का परित्याग कर दिया। व्रजवासियों के लिए अपने प्यारे सखा के बिछुड़ने का दुःख असहनीय था। जिसे जहाँ पता चला रोते-चिल्लाते सब आश्रम पर आ गये। सन्तवृन्दों ने पुष्पक विमान सजाकर इनका अंतिम संस्कार किया। इन भजनानंदी महात्मा की कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

प्रे० ना० श्री०

गोपालदास (चतुर्थ)

गोपालदासजी (चतुर्थ) का जन्म सं० १९०१ में पन्ना में हुआ था। ये आयुर्वेद और संस्कृत के ख्यातिलब्ध विद्वान् थे। इसलिए पन्ना दरबार में इनकी नियुक्ति राजवैद्य के रूप में हुई थी। इनके उपास्य राधाकृष्ण थे। इनके दो ग्रन्थों का पता लगता है—'छन्द-लावनी' और 'भजन-लावनी'। इनके विषय में अभी तक विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। इतना ज्ञात होता है कि इन्होंने राधाकृष्ण-विषयक पदों की रचना की थी। सम्भवतः ये पद 'भजन-लावनी' में संगृहीत होंगे। इनका निधन सं० १९५८ में हुआ।

त्रि० ना० शु०

गोपालदास (पञ्चम)

श्री गोपालदास (पञ्चम) का जन्म गौड़-विप्रवंश में वि० सं० १८७२ के लगभग हुआ था। बाल्यावस्था में ही आपने गोदावाव (गिरनार) के

निम्बार्क-सम्प्रदायानुयायी महन्त श्री सेवादासजी से दीक्षा ग्रहण की थी। दीक्षोपरान्त आपने चारधाम की यात्रा की। यात्रा के बाद ये व्रज में आये और कामवन में श्री गोपाल मन्दिर के महन्त श्री रघुवरदासजी से भागवतादि ग्रन्थों का अध्ययन किया। तदुपरान्त हृदय में अत्यन्त तीव्र वैराग्य की भावना का उदय होने के कारण पूर्व विरक्त वेष धारण कर लिया, गङ्गा तट पर श्रीमद्भागवत का पारायण किया और पुनः वृन्दावन आकर साधु-सन्तों की सेवा करते हुए निवास करने लगे। जो द्रव्य आता उसे ये दाऊजी का भोग लगाकर भक्तों को खिला देते थे। एक दिन स्वप्न में दाऊजी ने आपको अखंड वृन्दावनवास करने का आदेश दिया। तभी से आप स्थायी रूप से वृन्दावन-धाम में निवास करने लगे।

एक बार आप श्रीजी की बगीची में ध्यानमग्न वैठे थे। आपके हृदय में अकस्मात् प्रेरणा हुई कि आचार्योत्सव द्वारा आचार्यों की कीर्ति बढ़ानी चाहिए। उसी वर्ष से आपने श्री निम्बार्काचार्य-जयन्ती-महोत्सव करना प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप अनेक राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार आपके कृपापात्र हो गये। अपार धन आने लगा। जो कुछ धन आता उसे ये साधुसेवा एवं उत्सव में लगा देते थे।

गोपालदासजी हमेशा कथा-कीर्तन एवं सत्संग में लगे रहते थे। आपकी वाणी सिद्ध थी। सैकड़ों भगवद्विमुख आपके मुखारविन्द से कथा श्रवण कर हरिभक्त वन गये। आपके शिष्यों में श्री हंसदासजी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। श्री हंसदासजी ने गुरुदेव (गोपालदासजी) के विषय में लिखा है—

श्री गुरु के कछु गुण प्रगटाऊँ।
दिशामात्र रसना से गाऊँ॥
उत्तम गौड़ ब्रह्मकुल पालक।
हरि दास विमुख विमुखता घालक॥
रास-विलास रसिक रससाने।
राधाकृष्ण चरण सरसाने॥
कथा-कीरतन के पनधारी।
आचारज उत्सव शुभकारी॥
श्री निम्बार्क उत्सव प्रगटायो।
सम्प्रदाय-रस सबहि चटायो॥
हंस सनक नारद निम्बारक।
तिनकी प्रतिमा मन्दिर धारक॥
चरनामृत सन्तन को धारैं।
भागवत के सप्ताह सारैं॥
परम उदार बहु गुण नयसोले।
संशय-छेदक रसिक रसीले॥

वृन्दावन के प्रसिद्ध महात्मा श्री सुदर्शनदासजी ने इनके विषय में लिखा है—

वृन्दावन-वासी सुखरासी गुण ज्ञानरत,
पंडित प्रवीन मति उदधि अपारसों॥
हरि पद प्रीति की न रीति कोउ जानो जाहि,
करत बड़ाई आछे लोग बार-बार सों॥
कथा-कीरतन, परमारथ करत नित,
सुनि सुख पावैं लोग सौगनों हजार सों॥
समय-समय करैं उत्सव श्री आचारज की,
वारसी क्रिया सों मानों भवनिधि पार सों॥

इस प्रकार अनेक प्रसिद्ध महात्माओं ने आपका गुणगान किया है। आचार्य-उत्सव की जिस पद्धति का आपने प्रवर्तन किया, वह आज भी अक्षुण्ण रूप से प्रचलित है।

प्रे० ना० श्री०

गोपालदास (षष्ठ)

श्री गोपालदास (षष्ठ) उपनाम 'गुपाल कवि' खड़गराय के पुत्र और वृन्दावन के रहनेवाले ब्रह्मभट्ट थे। ये चैतन्य-मतानुयायी रामबक्सजी के शिष्य थे। इनका जन्म अनुमानतः सं० १८६० और देहावसान सं० १९३० के लगभग हुआ था।

इनकी निम्नलिखित रचनायें बताई जाती हैं—दंपति-काव्यविलास, दूषणविलास, ध्वनिविलास, भावविलास, भूषणविलास, मानपचीसी, रससागर, रास-पंचाध्यायी, ब्रजयात्रा, बनयात्रा, वृन्दावन-

माहात्म्य, श्री वृन्दावनधामानुरागावली, वंशीलीला, वर्षोत्सव, गोपाल भट्ट-चरित्र, वृन्दावनवासिनी के कवित्त और भक्तमाल टीका।

इसके अतिरिक्त इनके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है।

स०

गोपालदास (सप्तम)

गोपालदासजी (सप्तम) भक्त कवियों में शीर्षस्थ हैं। आपने स्वरचित संकीर्तन-पदों में 'दास गोपाला' की छाप लगाई है। ये सेठ पुरुषोत्तमदास के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १५५१ में काशी में हुआ था। जब यह एक वर्ष के थे, तभी सेठ पुरुषोत्तमदासजी ने इन्हें महाप्रभुजी से मंत्र-दीक्षा दिलवा दी थी। 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में उल्लेख है कि सेठजी ने सं० १५५२ में अपने साथ ही पुत्र गोपालदास को और इनकी छोटी बहन रुक्मिणी को नाम-निवेदन कराया था। उस समय गोपालदास डेढ़ वर्ष के थे और रुक्मिणी एक वर्ष से भी कम की रही होगी। भावोपासना के क्षेत्र में गोपालदास पिता की प्रेरणा से पुष्टिमार्गीय बालभक्त के रूप में अवतरित हुए थे।

सेठजी का पूरा परिवार काशी में चोपड़ा खत्री कुल के नाम से प्रसिद्ध था। इनके पितामह सेठ कृष्णदासजी रायपुर जिले के हाकिम थे और महाप्रभुजी के पिता श्री लक्ष्मण भट्ट के शिष्य थे। प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि गोपालदासजी के पितामह चम्पारण्य स्थित रतनपुर के राजा का मन्त्रित्व छोड़कर काशी में आ बसे थे।

सेठ गोपालदास आचार्य महाप्रभु के प्रारम्भिक दो-चार शिष्यों में गिने जाते हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार इनके परिवार का एक चित्र उपलब्ध होता है जो अत्यंत प्राचीन और प्रामाणिक है। यह सेठ पुरुषोत्तमदासजी के काशी स्थित घर का चित्र है। जिसमें भगवत्-विग्रह के साथ पुत्र गोपालदास, बेटी रुक्मिणी तथा सेठ पुरुषोत्तमदास और सेठानी विद्यमान हैं। महाप्रभुजी ने इनके पिता के माथे ठाकुर मदनमोहनजी की सेवा सौंपी थी। इसका प्रमाण इनके हृदय से निकले इस कीर्तन में विद्यमान है—

गोपालदास मदनमोहन कुंज भवन बसति रंग।
मुदित अवनि भावति सु मानि कै रली ॥

(निज संग्रह)

उक्त पद में उल्लिखित मदनमोहन का स्वरूप सं० १५५० में गोपालदासजी को नींव खुदवाते समय मिला था और आचार्यजी ने इन्हें ही सौंप दिया था। आचार्य महाप्रभुजी को भाव-साधना में भगवान् का विरह सर्वप्रिय था। इसका पूरा प्रभाव सेठ गोपालदासजी के चित्त पर पड़ा था। जब इन्हें भगवान् का विरह सताता था, तब ये कई दिनों तक रात-दिन उसमें ऐसे डूब जाते थे कि इनको शरीर की भी सुधि नहीं रहती थी।

गोपालदासजी को एक बार होली के अवसर पर बहुत विरह हुआ, तब इन्होंने 'वेणु-गीत' और 'जुगल-गीत' की भाँति ही 'ललना-गीत' गाये। ललना, ब्रज की गोपिकाएं, भगवान् श्रीकृष्ण के वियोग में जिस तरह विलाप करके भजन-कीर्तन गाती हैं, वैसे ही गोपालदासजी भी विरहाकुल होकर रात-रात-भर कीर्तन करते थे और प्रभु के विरह में विलाप किया करते थे। रात्रि में श्री गोपालदासजी को विरहाकुल स्थिति में नींद नहीं आती थी और बार-बार ये अपने इष्टदेव 'श्री मदनमोहनजी' को पुकारते थे, तो मन्दिर से उत्तर आता था—"हे गोपालदास, क्यों पुकारत हो, हौं तुम्हारे पास ही हूँ।" तब गोपालदास निवेदन करते थे—"हे प्रभु! मेरो तो यह स्वभाव है, आप न जागिये।" इस पर मदनमोहनजी कहते—"मुझसे तेरौ विरह नाय सह्यौ जाय"। सुना जाता है कि 'ललना-कीर्तन' करते ही परमविरहासक्ति की अवस्था में भक्त गोपालदासजी को ठाकुरजी ने श्रीजी के साथ लीलासहित दर्शन दिये थे।

सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार गोपालदासजी आचार्य के निबन्ध और गोसाइंजी के ग्रन्थों का

पारायण करते थे। इसलिए इनके हृदय में पुष्टिमार्ग का बोध स्थिर हो गया था। गोसाइं विट्ठलनाथजी के समय तक गोपालदासजी जीवित थे। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सं० १६४२ तक यह वर्तमान थे और तत्पश्चात् गोलोकवासी हुए।

गोपालदासजी प्रसिद्ध कीर्तनकार थे। इनके नामाराशी कई गोपालदास भक्त कवि हुए हैं। एक गोपालदास बाँसवाड़ेवाले, एक गोपालदास पंजाबवाले, एक गोपालदास जटाधारी और एक गोपालदास नरौड़ा क्षत्री थे। इनके अतिरिक्त एक निर्गुणिया गोपालदास भी हैं जो दादूपंथी संतमत में आते हैं। इस नाम के कुछ अन्य भक्त भी हुए हैं।

सेठ गोपालदास की चर्चा कई भक्तों ने अपनी कृतियों में की है। गोस्वामी गोकुलनाथ ने 'भक्त-नामावली' में लिखा है कि—"रजो-पुरुषोत्तमो रुक्मिणी भक्त गोपालदासकः।" आपकी रचनाओं में 'गोवर्धन-लीला' और 'ललना' भक्ति-भाव से आपूरित हैं। आपके लगभग ५० स्फुट कीर्तन, जो 'राग-कल्पद्रुम' तथा कीर्तन-संग्रहों में विखरे पड़े हैं, उन्हें भक्ति का विशिष्ट कोष कहा जा सकता है। भक्तिमती मीराबाई के प्रसिद्ध पद की भाँति ही एक पद गोपालदासजी ने भी लिखा है। मीरा के नेत्रों में गोपाललाल के वसने के लिए भक्त-हृदय का आग्रह छिपा है तो सेठ गोपालदास के नेत्रों में नंदलाल बस चुका है—

बसे मेरे नैनन में नंदलाल।
साँवरी सूरति माधुरी मूरति,
राजीवनैन बिसाल॥

मोरमुकुट मकराकृत कुंडल,
अरुन तिलक दिए भाल।
संख चक्र गदा, पद्म बिराजत,
कौस्तुभ मनि बनमाल॥

बाजूबंद जरी के भूषन,
नूपुर सबद रसाल।
दास गोपाल मदन मोहन प्रिय
भगतन के प्रतिपाल॥

(निज संग्रह)

आपके 'ललना' बहुत प्रसिद्ध हैं। एक 'ललना' यहाँ उद्धृत है—

श्याम छबीले मन हर्यो श्री वृन्दावन के चंद ललना।
मोहन मेरे द्वार ह्वै उझकि चले जब मोर ललना॥

झलकत श्री मुख देखिए चितै लियो चित चोर ललना।
मस्तक पंख मयूर के गरे गुंजा के पुंज ललना॥

बेनु बजायो हे सखी नागर नवल निकुंज ललना।
सुंदर श्याम सुहावनो औ सुन्दर बनमाल ललना॥

ओढ़े सुन्दर पट पीयरो सुन्दर नैन बिसाल ललना।
हिये परी जो तलावली सुन मुरली की घोर ललना॥

चलि सखि देखन जाइए नागर नवलकिशोर ललना।
माई री मन न रहै क्यों राखिए राखत नहीं रहाय ललना॥

कोटि जतन जो कीजिए जहाँ प्रीतम तहाँ जाय ललना।
कैसे राखूँ? क्यों रहै? कैसे के बनजाय ललना?
कैसे कै गिरधर मिलै? सो मिस कौन कराय ललना?
कैसे संगमिलि खेलिए सास-ससुर की लाज ललना?
लाज किए दुख पाइए बिन मिले होय अकाज ललना।
ऊँचे जो गिरधर बसै जो नीचे घर होय ललना॥

बिन बुलाए बोलिए नैन निरखि सुख होय ललना।
मदन मोहन के कारन बलि-बलि दास गोपाल ललना॥

यह पद 'संध्या-आरती' के समय आज भी बड़े चाव से गाया जाता है।

इनका रूपासक्तिव्यंजक एक अन्य पद प्रस्तुत है—

मोर अंग-अंग सोभा स्याम के भली।
मानहु बिगसित विचित्र नील कमल को कली॥

प्रिय उरसि लग्न राग, सरस फुरित छबि पराग,
पवन परसि मंद लै सुगंध को चली।

कलि प्रवेस घ्रान द्वार, हरति जुवति चित्तसार,
मरम बेधि समर बान काम ते बली॥

पलटि बसन सुखनिधान, मत्त मधुप करत गान,
सुरत समै सुजस सुनौ स्रवन दै अली ।।
'गोपालदास' मदनमोहन कुंजभवन बलित रंग,
लखि अवनि भावनी सु मानि के रली ।।

गोवर्धनपूजा का पुष्टिमार्ग में अत्यधिक महत्त्व है । गोवर्धन को इष्टदेव श्रीनाथजी का ही विराट रूप माना जाता है । गोसंरक्षण एवं गोधन संवर्धन गोपाल के ही बाँटे पड़ा है । इसीलिए एक रूप से पूजने और दूसरे रूप से पुजने की लीला श्रीकृष्ण ने ही की थी । भक्त कवि गोपालदासजी ने अपने भावद्रवित चित से गोवर्धन-पूजा का संकीर्तन किया है—

बोल लिए सब ग्वाल कहत गिरि पूजिए ।।

दीपमालिका आज गोवर्धन लीला गावै ।
नंद महोत्सव होय चलो सब देखन जावै ।।

कनक थार मोतिन भरे दीपक बरैं मझार ।
सब मिलि आईं गोपिका हो गावत मंगल चार ।।
कहत गिरि पूजिए ।।

सो जन को बड़ भाग, गोवर्धन लीला गावैं ।
सीखे सुने विचार, भगत जन कोटिक पावैं ।।

नंद के गृह क्रीड़ा करी, सुख दीने ब्रजपाल ।
परब्रह्म लीला करी हो बलि-बलि दास गोपाल ।।
कहत गिरि पूजिए ।।

इस प्रकार गोपालदासजी की भक्ति-भावना का पूरा परिचय हमें मिल जाता है । आपकी रचनाओं में 'गोवर्धन-लीला' तथा 'ललना' लीला के कीर्तन बहुत प्रसिद्ध हैं ।

रा० कृ० श०
ह० नं० भा०

गोपालदास (अष्टम)

गोपालदासजी (अष्टम) के सम्बन्ध में 'श्री हित अनन्य रसिकावली' में कहा गया है—

महा विकट वैराग्य राग की मूरति मानौं ।
उर अन्तर की लाग भाग्य कहि कहा बखानौं ।।
इष्ट प्रसाद अनन्य रीति रस हित के मर्मी ।
सदा रहें अनबोले बोलें मिलि हितधर्मी ।।

गोपालदास को सिद्ध भई,
टहल भावना महल की ।
देह दसा ऐसी रही ,
ज्यौं रसिकन कही जु विरल की ।।

—श्री हित-अनन्य-रसिकावली

इनके जीवन-सम्बन्धी सभी बातें अज्ञात हैं । बहुचर्चित किंवदन्ती है कि ये गो० दयासिन्धुलाल के शिष्य थे और किसी एकान्त निर्जन स्थान में निवास किया करते थे । हित सेवकजी ने अपनी वाणी में कहा है—'जे हरिवंश प्रेम रस झिलै, क्यों सोहें लोगन में मिलें'—यह बात इनके जीवन में पूर्ण रूप से प्रकट हुई थी । ये अहर्निश श्री हरिवंशोदित रस-भजन और रस-भावना में निमग्न रहा करते थे । आज भी बड़े-बूढ़े रसिक इनकी भावना-सिद्धि की चर्चा करते हुए गौरवान्वित होते हैं । रसिकजन कहा करते है कि श्री गोपालदासजी अपनी कुटिया में बैठे-बैठे ही श्री राधावल्लभलालजी की रस-लीलाओं का दर्शन किया करते थे । जब कोई रसिक राधावल्लभलालजी के दर्शन करके इनके पास जाता और इनसे कहता कि 'आज तो श्रीराधावल्लभलालजी का रूप एक अद्भुत शृंगार से परम रमणीय हो रहा है । आप भी दर्शन करने पधारो ।' तो ये हँसकर कह देते—'भैया ! मैं तेरे पास ही खड़ो-खड़ो दर्शन करि रह्यौ हों । अमुक रंग की पोशाक श्रीजी के श्री अंग में बड़ी ही सुन्दर लगि रही ही ।' वह रसिक प्रत्यक्षदर्शी की भाँति इनके वर्णन को सुनकर आश्चर्य में पड़ जाता था ।

इनके जीवन से सम्बद्ध एक और आश्चर्यजनक बात रसिक-समाज में बहुचर्चित है । वे सब कहते हैं कि श्री हित गोपालदासजी का भरण-पोषण कैसे होता था, ये मधुकरी माँगकर खाते थे या स्वयं पाकसिद्धि करके श्रीजी को भोग लगाकर प्रसाद लेते थे—यह अज्ञात है क्योंकि न तो कोई इन्हें

अपनी कुटिया से बाहर निकलकर मधुकरी माँगते ही देखता था और न कुटिया में पाक-सिद्धि करते ही, फिर भी शरीर से ये हृष्ट-पुष्ट दिखाई देते थे। सच पूछो तो इन जैसे भजन-भावना-परायण, एकान्त-अनन्यनिष्ठ और श्री हरिवंशोदित अद्भुत निधि-लब्ध महात्मा के जीवन में ऐसी चमत्कृति कोई आश्चर्य की बात नहीं है। श्री सेवकजी महाराज की घोषणा है—

श्री हरिवंश नाम सब सिद्धि,
सबै रसिक विलसैं नव निद्धि,
भुगतैं देहि न जाँचहीं॥

पोषण भरन न चिन्त कराहिं,
श्री हरिवंश विभव विलसाहिं,
श्री वृन्दावन की माधुरी॥

अपने उत्कट अनन्यव्रत के कारण ये सम्पूर्ण वृन्दावनीय रसिक-समाज के लिए दर्शनीय और आदर्श बन गये थे। अतः रसिकजन इनके दर्शनों के लिए प्रायः पहुँचते ही रहते थे। शाह कुन्दनलाल एवं फुन्दनलाल (ललित किशोरी और ललित माधुरी) ने भी सुना था कि श्रीहित गोपालदासजी अपने इष्ट श्री राधावल्लभलालजी के ही दर्शन करते हैं और उनका ही प्रसाद पाते हैं, अन्य के इष्ट का नहीं। एक बार उन्होंने विनोद-व्याज से इनकी अनन्यता की परीक्षा लेनी चाही। वे श्री राधावल्लभलालजी के प्रसाद के साथ-साथ अन्य कई मन्दिरों का प्रसाद एक ही पात्र में रखकर इनके पास ले गये और प्रार्थना की—"महाराजजी ! श्री राधावल्लभलालजी का प्रसाद लीजिये।" श्रीहित गोपालदास जी ने उसी प्रसाद को लिया जो कि वास्तव में शाहजी ने श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में भोग लगवाया था। और शेष को उन्हें ही लौटा दिया। शाहजी ने कहा—"कुछ और लीजिए न।" श्रीहित गोपालदासजी ने हँसते हुए कहा—"भगतजी ! मैंने तुम्हारा मनोरथ सफल तो कर दिया, अब आग्रह क्यों करते हो ?" श्री गोपालदासजी के इस व्यंजनापूर्ण वाक्य को सुनकर शाहजी मन ही मन अत्यन्त लज्जित और स्तम्भित हो गये। उनकी आँखें पलकें उठाने में असमर्थता का अनुभव कर रही थीं। गोपालदासजी से यह बात छिपी न रही। शाहजी ने साहस बटोरकर पुनः प्रार्थना की, 'महाराजजी ! कोई सेवा बतायें।" श्रीहित गोपालदासजी बोले—"अवश्य-अवश्य, अब तुम भविष्य में यहाँ कभी नहीं आना, यही तुम्हारी सबसे बड़ी सेवा होगी।" शाहजी कुछ न कह सके और न ठहर सके गोपालदासजी की मंदस्मित मूर्त्ति के सामने। ऐसी थी श्रीहित गोपालदासजी इष्ट प्रसाद की अनन्यता।

एक वैश्य मथुरा से इनके पास आया करता था और बार-बार कहता था कि मैं घर छोड़ देना चाहता हूँ, किन्तु गोपालदासजी उसे बार-बार टाल दिया करते थे। एक बार वह दृढ़तापूर्वक कहने लगा कि मुझे तो दर्शन करा ही दीजिये। वैश्य की गाढ़ी लगन एवं आन्तरिक अनुराग देखकर गोपालदासजी बोले—"भैया ! श्री राधावल्लभजी के मन्दिर के पीछे जो भड़भूजा रहता है, वह चने के साग के साथ बाजरे की रोटी श्रीजी को नित्य भोग लगाता है और आज भी उसने यही भोग लगाया है। श्रीजी भी सानुराग समर्पित उसकी रोटियों को प्रेमपूर्वक पाते हैं। तुम वहाँ चले जाओ, तुम्हें दर्शन अवश्य होंगे।" वैश्य बाबाजी की आज्ञानुसार वहाँ पहुँचा और उसे भोग-आरोगते हुए श्रीजी के दर्शन हो गए। दूसरे ही दिन सबने सुना कि वैश्य भक्त के प्राणपखेरू उड़ गये हैं। सौन्दर्य-सागर का दर्शन करने के बाद फिर मायिक रूपों को देखने के लिए किसका जी चाहेगा ?

श्रीहित गोपालदासजी का आनुमानिक विद्यमान-काल—श्री ललित किशोरीजी के जीवन-काल के आधार पर—विक्रम संवत् १८७० से लेकर विक्रम संवत् १९६० के मध्य स्थिर होता है।

श्या० बि० ख०

गोपालदास (नवम)

गोपालदास (नवम) वल्लभ-संप्रदाय के कृष्ण-भक्त थे और अठारहवीं सदी में विद्यमान थे। इन्होंने सं० १७५५ में 'रास-पंचाध्यायी' की रचना की थी—

संवत सत्रह सै समय, पचपन भादव मास ।
आठौं बुध गोपाल जन, बरन्यो रास विलास ।

इसके अतिरिक्त इनके बारे में अन्य कोई जानकारी नहीं मिलती ।

ह० नं० भा०

गोपालदास (दशम)

'भक्तगाथा' में गोपालदास (दशम) का विवरण इस प्रकार मिलता है—

श्री राधा रस कौ पाठ सदा दम्पतिहि सुनावैं ।
रतन पेंच सिर पेंच कुसुम गुहि कै पहिरावैं ॥

निरदूषित वासीन सौं, ज्यों मधुकर रस लेह ।
बूड़े अति अनुराग में, भींजे सरस सनेह ॥

श्री चन्द्र लाल बल पाय कैं, कुंज महल द्वारौ लियौ ।
गोपालदास वन वासि करि, गुरु सेवी अति प्रण कियौ ॥

इनके ऐहिक जीवन का वृत्त सर्वथा अज्ञात है। ये गो० वनचन्द्र की पुत्री हित किशोरीजी के वंश में उत्पन्न गो० चन्द्रलालजी के कृपापात्र थे और गुरु-सेवा का अनन्य व्रत लेकर श्रीधाम वृन्दावन में ही निवास किया करते थे। ये बड़े ही मृदु-मधुर स्वरों में 'श्री राधारससुधानिधि' का पाठ अपने परमेष्ट श्रीहित लाड़िलीलाल को नित्य सुनाया करते थे। ग्रीष्मकाल में आराध्ययुगल की रुचि के अनुसार रतनपेंच और सिरपेंच आदि फूलों के आभरणों का निर्माण करके ये उनका शृंगार हार्दिक प्रीति के साथ किया करते थे। घंटों अपलक दृष्टि से उस फूलभरी शोभा को देखकर इनका तन-मन फूल उठता था। इनके जीवन में एक विलक्षणता यह थी कि ये व्रजवासियोंमें किसी प्रकार का दोष नहीं देखते थे और कहा करते थे—'जिनकी प्रीति गुलाब सौं, सों काँटन तें न डराय।' हित-वाणियों के रस में छके होने के कारण इन्होंने रसगुंग दशा को प्राप्त कर लिया था।

इनका विद्यमान-काल सं० १७६० से सं० १८४० के बीच अनुमानित किया जा सकता है। गोविन्द अलिजी की छप्पय की पंक्ति 'कुंज महल द्वारौ लियौ' से इतना तो निश्चित ही है कि 'भक्तगाथा' के रचना-काल सं० १८४४ के पूर्व ये निकुंजवासी हो गये थे।

श्या० बि० खं०

गोपालदास (एकादश)

ध्रुवदासजी ने लिखा है कि श्री गोपालदासजी (एकादश) ने इसी जीवन में श्री युगलवर की माहिली-सेवा प्राप्त कर ली थी। उन्होंने यह भी लिखा है कि सेवा से अवकाश मिलने पर ये आराध्य का रस-जस-गान किया करते थे—

बालकृष्ण मुरलोधरन, पद सेये सब काल ।
तैसेहिं दास गोपालजी, गाये ललना लाल ॥

—भक्त-नामावली

'भक्त-नामावली' में जिन भक्तों के साथ इनका नामोल्लेख किया गया है वे सबके सब हित हरिवंशजी के कृपापात्र और देववन-वासी हैं। इस आधार पर रसिकवर गोपालदासजी भी देववन-वासी ही ज्ञात होते हैं। अपनी अभिनव और मौलिक खोज के आधार पर भक्तों के चरित्र लिखनेवाले श्री गोविन्द अलिजी ने इन्हें स्पष्ट शब्दों में गो० श्रीहित हरिवंश का कृपापात्र घोषित करते हुए लिखा है कि "गोपालदासजी गुरुवर की श्री अंगसेवा निरन्तर प्रीतिपूर्वक किया करते थे। ये अहर्निश परमोपास्य श्री लाड़िलीलालजी की भाव-भावना में निमग्न रहा करते थे। इनकी निष्कैतव और प्रीतिपूर्ण सेवा से प्रसन्न होकर श्री हिताचार्यचरण ने अपने हृदय की माला इन्हें प्रदान कर दी थी। इस प्रकार से अपनी अमूल्य निधि से धनी बनाकर इन्हें भी अपने ही बराबर कर लिया था।" तात्पर्य यह कि राधा-

किंकरी रूप देकर श्री वृन्दावन नित्य निकुंज में प्रवेश का अधिकारी बना दिया था—

श्री हित व्यास कुमार की करत खवासी नेम ।
भाव-भावना में पगे सन्त मनोहर खेम ॥
सन्त मनोहर खेम किशोर गांगू गोपाला ।
इनहूँ कौ प्रभु रीझि दई अपनी उर माला ॥
आप बराबर कियेजिये संसृति कौ नासर ।
चरणोदक कौ पान सीथ दृढ़ व्रत निसि वासर ॥

प्राप्त ऐतिह्य के आधार पर इनका उपस्थिति-काल वि० सं० १५५० से सं० १६३० के मध्य स्थिर होता है।

श्या० वि० खं०

गोपालदास (द्वादश)

'वृन्दावन-प्रकाशमाला' में श्री गोपालदास (द्वादश) का जीवन परिचय इन शब्दों में दिया गया है—

बावरी बनाई जहाँ लक्ष्मण सिंह जू के,
दम्पति सहित सेवा संत जहाँ रहैं हैं ।
निकट है चौतरा विशाल सब काल तहाँ,
श्री गोपालदास श्रीमद्भागवत कहैं हैं ॥
संतन की मंडली सदैव जहाँ बैठे आइ,
कृष्ण-रसामृत छके नित सुख लहैं हैं ।
रहनि कहनि साँची वस्तु सर्वत्र लखैं,
ऐसे संत जनन की कृपा हम चहैं हैं ॥

इनके लौकिक जीवन-सम्वन्धी वहुत कम तथ्य प्रकाश में आ सके हैं। वृन्दावन के परिक्रमा-पथ पर राजपुर ग्राम के आने से पूर्व ही श्री गोपालदासजी का निवास-स्थल पड़ता था। इनके यहाँ सन्त-सेवी श्री लक्ष्मणसिंहजी ने एक बावली का निर्माण कराया था। इस बावली के निकट ही एक चौतरा था जहाँ पर ये नित्य श्रीमद्भागवत की कथा कहा करते थे। उसे सुनने के लिए संत-रसिकों का एक विशाल समुदाय एकत्रित होता था। इनके कथा कहने का ढंग कुछ ऐसा था कि जो इनकी कथा को एक बार सुन लेता वह नित्य आने के लिए वाध्य हो जाता था। एक विशेषता और भी थी, वह यह कि परिक्रमा करते हुए यदि कोई थोड़ी देर के लिए इनकी कथा सुनने के लिए बैठ जाता तो फिर उसका बीच में से उठने का मन ही नहीं होता था। वस्तुतः कथा तो इनके भजन का साधन बन गयी थी, इनका स्वयं का मन उसमें डूबता-उछलता रहता था, इनकी कथनी-करनी का अन्तर समाप्त हो गया था, ये सर्वत्र अपने इष्ट का साक्षात्कार प्राप्त करते थे।

श्री गोपालदासजी के निवास-स्थान पर एकात्म-युगल श्री राधा-माधव की अष्टयाम-सेवा विराजमान थी, जिसे ये गाढ़ी लगन से किया करते थे। इनके आश्रम में अनेक संत निवास करते थे जिनकी सेवा कर ये अपने-आपको सौभाग्यशाली मानते थे। इस प्रकार हरि-हरिजन की सेवा करते हुए और उन्हें सुख पहुँचाकर अपने को सुखी अनुभव करते हुए एक दिन ये निकुंज-महल में प्रविष्ट हो गये। इनका आनुमानिक उपस्थिति-काल विक्रम सं० १७७५ से १८५० के मध्य सुस्थिर होता है।

श्या० वि० खं०

गोपालदास (त्रयोदश)

सूरत की गद्दी के परम्परान्तर्गत स्वामी प्राणनाथ की नवीं पीढ़ी में श्यामदास के बाद गोपालदास (त्रयोदश) महंत-पद पर प्रतिष्ठित हुए। प्रणामी-सम्प्रदाय के सिद्धान्त-व्याख्याता रूप में गोपालदासजी का बड़ा महत्त्व है। इनके द्वारा रचित तीन ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—परदेशी-समाचार, कवितावली और शब्दावली। 'परदेशी-समाचार' का गुजराती रूपान्तर भी स्वयं गोपालदास द्वारा किया गया है। 'कवितावली' में मुरलीधर, छत्रसाल और अर्जुनदास के साथ गोपालदास की बाराखड़ी संकलित है। 'कवितावली' के संयुक्त संपादक रूप में गोपालदासजी की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

रा० प्र० त्रि०

गोपालदास (चतुर्दश)

बाबा श्री गोपालदास (चतुर्दश) का जन्म मणिपुर के इम्फाल नगर में लगभग सन् १८५१ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री मेघवर्ण शर्मा था। वे बड़े भगवत्-भक्त थे। इसका प्रभाव इन पर भी पड़ा। बाल्यावस्था से ही ये विरक्त प्रवृत्ति के थे। इनमें भगवत्-भजन के प्रति प्रेम की भावना अत्यन्त प्रबल हो गयी थी। इन्होंने अपने पिताजी से ही दीक्षा ली तथा उन्ही की आज्ञा से ब्रज चले गये। वहाँ श्री विनोददासजी से इन्होंने वेश ग्रहण किया। गुरु की आज्ञा से ये राधाकुण्ड चले गये। वहाँ तीन वर्षों तक रहकर इन्होंने बाबा ईश्वरदासजी से श्रीमद्भागवत तथा गोस्वामी-ग्रन्थों का अध्ययन किया। इसके बाद ये ब्रज में ही भ्रमण करते रहे। कुछ दिनों बाद ये कौन्ही ग्राम में वंशीकुण्ड पर रहने लगे। वहाँ लगभग ४० वर्षों तक रहे। श्री हरिगोपालदासजी इन पर अत्यधिक स्नेह रखते थे। इसीलिए ये सूरजकुण्ड चले गये और वहाँ एक मन्दिर में रहकर भजन करने लगे। ये नित्य एक अध्याय भागवत-पाठ करते थे। ९० वर्ष की आयु में जब इनकी दृष्टि-शक्ति नष्ट हो गयी, तब ये अत्यन्त दुःखी रहने लगे।

एक दिन चिंतन की तन्द्रा में इन्हें राधारानी के दर्शन हुए। उन्होंने कहा, 'चिन्ता मत करो। अपनी आँखों पर राधेश्याम नामांकित एक कपड़ा बाँधकर सो जाना। कल सबेरे तुम्हारी आँखों में दृष्टि आ जायगी।' ऐसा ही हुआ और इनकी आँखों में ज्योति आ गयी। ये पूर्ववत् भागवत-पाठ करने लगे।

ये अपने उपदेशों में सन्त-सेवा, नाम-निष्ठा, और ब्रज-रज की महिमा पर विशेष बल देते थे। इनका विचार था कि अन्तिम समय में नाम-जप भी छूट सकता है लेकिन ब्रज-रज के प्रति श्रद्धा-भाव रखने से वह साधक को नहीं छोड़ती। आषाढ़ कृष्ण ५, १३ जून १९७१ ई० को इन्होंने शरीर त्यागकर दिव्य धाम प्राप्त किया।

मु० अ०

गोपालदास 'उत्सवी'

श्री गोपालदास 'उत्सवी' का का जन्म टीकमगढ़ के पास गौड़-ब्राह्मण-कुल में सम्वत् १८६८ में हुआ था। अल्पावस्था में ही जूनागढ़ के श्री सेवादासजी महाराज से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की और चारों धाम की यात्रा पर निकल पड़े। इसके बाद ये कामवन में रहने लगे। इन्होंने परसराम द्वारे के पण्डित रघुवरदास से श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। भागवत-कथा में इनकी आसक्ति इतनी बढ़ी कि ये गंगाजी को ही श्रीमद्भागवत सुनाने लगे। इनका सारा समय राधा-कृष्ण की दिव्य लीलाओं के मनन और चिंतन में बीतता था। इनकी कथा-शैली इतनी रोचक होती थी कि शुक-सम्प्रदाय के रसिक संत श्री सरसमाधुरीशरणजी भी उसका रसास्वादन करने आया करते थे। वैष्णवों की सेवा में इन्हें अत्यधिक निष्ठा थी। श्री निम्बार्काचार्य के जन्मोत्सव के अवसर पर ये विशाल शोभायात्रा, श्रीमद्भागवत-सप्ताह, रासलीला, समाज-गान और ब्राह्मण-वैष्णव-भोजन आदि की व्यवस्था करते थे। ये इतने उत्सव-प्रेमी थे कि इनका नाम ही 'उत्सवीजी' पड़ गया था।

ये भक्तमाल की कथा अत्यंत रोचक ढंग से कहते थे। टोपीकुंज के बाबा माधवदास ने भक्तमाल का अध्ययन इन्हींसे किया था। अनेक भक्तों ने इनसे मंत्र-दीक्षा ग्रहण की थी। श्री हंसदास, बाबा श्यामदास, बाबा कारे कृष्णदास, बाबा किशोरीदास, बाबा राधिकादास, राजा भवानीसिंह, श्रीमती गोपालीबाई आदि इनके प्रधान शिष्यों में थे। इसके अतिरिक्त श्री सुदर्शनदासजी (ललितप्रियाजी) जैसे अनेक रसिकों ने इनसे भजन-प्रणाली की शिक्षा ग्रहण की थी। सम्वत् १९५२ में इनका तिरोधान हुआ।

मु० अ०

गोपालदास क्षत्री

गोपालदास क्षत्री का उपस्थिति-काल सं० १५४० से १५७६ के मध्य ठहरता है। ये पंजाब के निवासी पुष्टिमार्गी भक्त थे।

'वार्ता' में इनके बारे में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है—

"और एक समय गोपालदास श्री आचार्यजी के दरसन को अड़ैल आये। सो आचार्यजी को जन्म-दिन आयो। सो केसर सों न्हाय मार्कण्डेय पूजा करन को विराजें। ता समय गोपालदास छंद विलावल राग में यह गाया—

माधव मासे भरि वैसाखे, श्री वल्लभ हरि जनम लियो।
प्रकटिया जिन भक्ति मारग बंध जीव छुड़ाइयाँ।

यह चोखरा सुनिकें श्री आचार्यजी गोपालदास के ऊपर बहोत प्रसन्न भये। सो गोपालदास ऐसे भगवदीय श्री आचार्यजी के कृपापात्र हैं। इनकी वार्ता कहाँ ताई कहिए।"

'भावप्रकाश' से इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित जानकारी मिलती है—

यह पंजाब के रहनेवाले थे। वहाँ से ये काशी होते हुए वृन्दावन गए थे। लौटते समय इनका श्री आचार्य महाप्रभुजी का साथ हो गया था। मार्ग में इन्हें ठगों ने लूट लिया था। इस पर यह महाप्रभुजी से पाँच रुपया उधार लेकर साथ चले और आगरे में श्री महाप्रभुजी की शरण में आए थे। श्री महाप्रभुजी की अन्तिम व्रजयात्रा का समय सं० १५८६ है। इसलिए ये इसीके आसपास शरणागत हुए होंगे। इसके अतिरिक्त इनके विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती।

ह० नं० भा०

गोपाल भट्ट

गोपाल भट्ट श्री नारायण भट्टजी की चौथी अथवा पाँचवीं पीढ़ी में व्रजस्थ ऊँचेगाँव की गद्दी के अधिकारी हुए थे। इनका जन्म सं० १७०० के लगभग अनुमानित होता है। इनके नाम से व्रजभाषा में रचे हुए कुछ पद मिलते हैं।

स०

गोपाल मिश्र

गोपाल मिश्र का जन्म सं० १६९० में रतनपुर (छत्तीसगढ़) में हुआ था। मिश्रजी के पिता पं० गंगाराम संस्कृत के ख्यातिलब्ध विद्वान् एवं महान् भक्त थे। उन्होंने प्राचोन धार्मिक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। उनके प्रभाव के कारण ही गोपाल मिश्र भी भक्त कवि हो गये। ये रतनपुर के हैहयवंशी नरेश राजासिंह के दीवान थे।

गोपाल मिश्र ने कई ग्रंथों की रचना की है। किन्तु भक्ति की दृष्टि से उनकी महत्त्वपूर्ण रचना 'भक्ति-चिन्तामणि' (सं० १७५८) है। यह एक खण्डकाव्य है। इसका प्रतिपाद्य है—कृष्णलीला का वर्णन। ये सगुणोपासक कृष्णमार्गीय भक्त कवि थे। इन्होंने स्वयं इसका उल्लेख किया है—

नामभक्ति चिन्तामणि सुन्दर,
काव्यमाल करि हृदय धरी।
बालबोध हित जानि मनोहर,
अमित कृपा गोपाल करी ॥

छमियो सुकवि दोष पद छंदनि,
उकति जुगति नहिं जान परी।
अगम अपार चरित गुनसागर,
हरिसागर की सुख लहरी ॥

गोपिकावल्लभ की मुरली का प्रभाव बताते हुए कवि ने प्रकारान्तर से अपने आराध्य की सर्वव्यापकता पर प्रकाश डाला है—

जबै मोहना मोह-वंशी बजायो।
मनो लैन को मैन को दूत धायो ॥
जहाँ जौन जैसी हुती गोपनारी।
तहाँ तौन तैसी चलीं रैन भारी ॥

त्रि० ना० शु०

गोपालराय

गोपालराय वृन्दावन के निवासी ब्रह्मभट्ट थे। चैतन्य-सम्प्रदाय के श्री रामबख्श इनके गुरु थे। पिता

का नाम खड्गराय उपनाम 'प्रवीनराय' था। ब्रह्मभट्ट होने से काव्य-रचना इनका वंशानुगत व्यवसाय था। पटियाला के राजा वर्णसिंह के छोटे भाई अजीतसिंह इनके प्रधान आश्रय-दाता थे। खोज में पटियाला-दरबार से सम्बद्धित गोपालराय के ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। राजा अजीतसिंह के लिए इन्होंने 'रासपंचाध्यायी सटीक' नामक ग्रन्थ लिखा था। इनके पिता खड्गराय या प्रवीनराय के हस्तलेख में दो ग्रन्थ हमें अपनी खोज में देखने को मिले थे। एक प्राचीन पदों का संग्रह है जिसकी पुष्पिका में वृन्दावन के मध्य किन्हीं गिरधरदास द्वारा 'षरगराय' से पोथी लिखाने का उल्लेख है। गिरधरदास, श्री भट्टजी (गदाधर भट्टजी की परम्परा में आनेवाले प्रसिद्ध भक्त) के कृपापात्र बताए गए हैं। किन्तु इसमें रचना या लिपिकाल का उल्लेख नहीं है। दूसरी पोथी 'प्रेमसम्पुट' है। इसका लिपिकाल १८६८ वि० सं० है और प्रवीन के हस्ताक्षर हैं। इनके अन्य ग्रन्थ 'वृन्दावन-धामानुरागावली' की कवि के हाथ की लिखी जो हस्तलिखित प्रति राधारमण-मंदिर के पुस्तकालय में उपलब्ध है उसमें उसका रचना-काल वि० सं० १९०० निर्दिष्ट है। अतः इनका जन्म-काल सं० १८५५ और निधन-काल १९२० वि० सं० के लगभग हो सकता है। 'वनयात्रा' के आरम्भ में कवि ने महाप्रभु चैतन्यदेव की वन्दना की है। इनके पिता चैतन्य-सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे। अतः इनके चैतन्यमतानुयायी होने में कोई सन्देह नहीं है।

गुरुदेव ने उपासना हेतु इन्हें एक बहुत छोटे आकार के ठाकुरजी को दिया था, जिनकी यह नियमित पूजा किया करते थे। इनके पिता खड्गराय का वृन्दावन के भक्ति-सम्प्रदायों से निकट सम्बन्ध था और वे स्वयं चैतन्य-मत के सम्पोषक थे। गोपालराय का जन्म ऐसे परिवार में हुआ था जो एक ओर ब्रज-वृन्दावन की भक्ति में रस लेता था तो दूसरी ओर जीविका और यशःकामना के लिए राज्याश्रय में रहकर काव्य-विलास भी करता था। गोपालराय की कुछ रचनाओं में माधुर्यभाव की अच्छी गमक है। इनमें 'मानपच्चीसी' विशिष्ट है। गोपालराय अच्छे विद्वान् और ब्रज-वृन्दावन के अनुपम अनुरागी थे। इन्होंने ब्रजभक्ति तथा ब्रज-महत्त्व पर विस्तृत प्रकाश डाला है और अपनी कृतियों के प्रारंभ में श्री राधारमण तथा वृन्दावनेश्वरी की वन्दना की है। कवि की अधिकांश रचनाओं में वृन्दावन धाम की महिमा का किसी न किसी प्रकार अन्तर्भाव हुआ है। यमुना को इष्ट की पटरानी और वृन्दावन की रज को ये विश्व की सर्वश्रेष्ठ रज बताते हैं—

तीनि लोक जानी जहाँ बहैं पटरानी ऐसी,
वृन्दावन जू को हम रहैं रजरानी ह्वै।

'वृन्दावन-धामानुरागावली' में कवि का वृन्दावन के श्रद्धा-केन्द्रों तथा व्यक्तियों के प्रति अनुपम राग व्यक्त हुआ है। 'गोपालभट्ट-चरित' में उसने श्री राधिकारमणजी के प्रति आस्था प्रकट की है। 'वनयात्रा' के प्रारम्भ में महाप्रभु चैतन्य की वन्दना करते हुए ये कहते हैं—

श्री आचारज महाप्रभुन कौं बन्दहुँ बारम्बारा।
जिनकी शिक्षा मन्त्रहि सुनि नरनारि भये भवपारा।।

अपने गुरु के विषय में ये लिखते हैं—

रामबख्श मिश्रहि के तहँ राधिका बिहारी राजें।
पंडितराज प्रतापी त्यागी भजनानंद विराजें।।
ते मम गुरु करि कृपा सु तिननें ठाकुर इक मुहि दीनों।
सो गुपाल कवि को ठाकुर तहँ राजत नित्य नवीनों।।

इनकी एक नवोपलब्ध हस्तलिखित प्रति 'वृन्दावनवासिन के कवित्त' में महाप्रभु कृष्णचैतन्य तथा उनकी परम्परा के प्रति एकान्त समर्पण का भाव और वृन्दावन के साधु-सन्तों में निष्ठा व्यक्त की गई है।

इनकी उपलब्ध रचनाओं में कविनाम की छाप गोपालकवि, कविगोपाल, सुकविगोपाल, दासगोपाल, गोपालदास, रायगोपाल और गोपालराय मिलती है।

अब तक इनकी २४ रचनाओं की सूचना प्राप्त हुई है—१. गुरु-कौमुदी, २. गोपालभट्ट-चरित, ३. रससागर, ४. मानपच्चीसी, ५. वृन्दावनवासिन के कवित्त, ६. सभावर्णन, ७. वृन्दावनाष्टक, ८. वृन्दावन-धामानुरागावली, ९. दम्पति-वाक्यविलास, १०. गंगाष्टक, ११. स्फुट कवित्त, १२. यमुनाष्टक, १३. सुधासर, १४. ध्वनिविलास, १५. भावविलास, १६. दूषणविलास, १७. भूषणविलास, १८ वर्षोत्सव, १९. वनयात्रा, २०. वृन्दावन-माहात्म्य, २१. रासपचाध्यायी सटीक, २२. वैराग्यशती, २३. स्वर्गारोहण पर्व भाषा तथा २४. प्रह्लाद-चरित्र। वंश-परम्परा एवं प्राप्त ग्रन्थों के विषय से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि गोपालराय काव्य-शास्त्र के अच्छे जानकार थे तथा व्रजभक्ति पर इनकी सहज आस्था थी। भाट होने के कारण राजवंशों से सम्बद्ध होने पर भी इनका भक्तिभाव अविचल रहा।

इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन वृन्दावन के समस्त समसामयिक मंदिर, मठ, देवालय, देव-विग्रह, कुंज-उत्सव, संत-महात्मा, समाधि आदि का विश्वसनीय व्यक्तियों से सुना हुआ और प्रत्यक्ष देखा हुआ विस्तृत वर्णन है। इसके पूर्व गो० हितचन्दलाल द्वारा सं० १८२४ में 'वृन्दावन-प्रकाशमाला' लिखी जा चुकी थी। यह उसी परम्परा का ४० अध्यायों में पूर्ण होनेवाला विशाल ग्रन्थ है। इसका उद्देश्य वृन्दावन की चक्रवेधी परिक्रमा करना है। इस रचना का निर्माण स्वामी हरिदासजी की परम्परा में महन्त नरोत्तम स्वामी की प्रेरणा से हुआ था। इसके आधार पर यदि स्थानों और व्यक्तियों के नामों की अनुक्रमणिका तैयार की जाए तो महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध हो सकती हैं। इसकी शैली सुबोध तथा सरस है।

'दम्पति-वाक्यविलास' १३१ पृष्ठों का बड़ा ग्रन्थ है। इसमें परदेश के सुख, दुख, व्याह, यात्रा, सवारी, निवास, काव्य, वनिज, जातियों आदि का वर्णन है। 'रससागर' नायिका-भेद का ग्रंथ है। 'वनयात्रा' में ललित छन्द में व्रज की परिक्रमा और तीर्थों का वर्णन है। 'वृन्दावन-माहात्म्य' पद्मपुराण पर आधारित ग्रन्थ है।

'ध्वनि-विलास' ध्वनि-काव्य है। 'रासपंचाध्यायी सटीक' कवित्तबन्ध ग्रन्थ है। 'भावविलास' रस-सम्बन्धी रचना है। 'दूषण-विलास' में काव्य-दोषों का निरूपण है। 'भूषण-विलास' ९७ पृष्ठों का बड़ा अलंकार-ग्रंथ है। 'वर्षोत्सव' में वर्षभर के वैष्णव-उत्सवों एवं त्योहारों का वर्णन है। 'मान-पच्चीसी' में मुद्रालंकार की अद्भुत छटा है। इस ग्रंथ से ज्ञात होता है कि रचयिता के पिता का नाम प्रवीनराय था। 'वैराग्यशती' में पटियाला-नरेश नरेन्द्रसिंह तथा उनके पुत्र युवराज रघुराजसिंह की मृत्यु का वर्णन है। कुछ छंद वैराग्य-सम्बन्धी हैं। 'स्फुट-कवित्त' एक संग्रह-ग्रंथ है जिसमें देव, गिरिधर, प्रताप आदि कवियों की दुर्गा, गंगा, जमुना, राम आदि सम्बन्धी रचनाएँ संकलित हैं।

इनकी विभिन्न रचनाओं से कुछ छन्द प्रस्तुत हैं—

(१)

सामल बरण अरुनाई अधरन मांथे,
चन्द्रिका धरण कलकुंडल करण मैं।
फैलि रही तरुण किरनि की-सी आभा ओप,
आभरन बीच गरें मोती की लरन मैं॥

बरन-बरन अतरन तर अंबरन,
राजत 'गुपालकवि' दरन-दरन मैं।
विघन-हरन सुख-संपतिकरन ऐसे,
राधिकारमन के चरनन की सरनि मैं॥

(२)

परब्रह्मरूप माया त्रिगुण ते न्यारी सदा,
सुधा सौ सलिल रत्नजटित सु गाइयै।
जहाँ के गुपाल सरवर तरवर वट,
नदी नद परबत अति सुखदाइयै॥

वन-उपवन धाम पुर परबत ग्रांम,
सब हरि रूप नाम कहाँ लौं गनाइयै।

लता रही झूमि लीनी हरि मुख चूमि ब्रज-
भूमि की-सी भूमि कहूँ भूमि में न पाइयै ॥

(३)

पुनि श्री राधारमन गुसाँइन कौ राजत इक घेरौ।
तहँ श्री राधारमन विराजत रूप जात नहिं हेरौ ॥

सुन्दरता चिकनई चमत्कृति स्याम सरूप सु ताकौ।
ऐसो कोउ न त्रिलोकी में ठाकुर दूसरो अदा कौ ॥

नाना भोग राग उत्सव करि अति आनँद में पागे।
हित कौतुक हिय पगे जगमगे सकल जगत सुख त्यागे ॥

वृन्दावन माधुरो अगाधहि कौ सवाद जिन लीनौ।
ह्वै सरनागत सीत लियौं तिनकौं सुरसिक करि दीनौं।

गुन कौं गहत तजत औगुन कौं जीवनि पै अनुरागा।
धर्मसेत करुना-निकेत भव भक्त भूप बड़ भागा ॥

न० च० वं०

गोपाललाल

श्री गोपाललाल के जीवन-वृत्त के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। इनकी एक रचना 'सुदामा-चरित' प्राप्त हुई है, जिसका रचनाकाल सं० १८५३ है। इसके आधार पर इनका उपस्थिति-काल उन्नीसवीं शताब्दी का द्वितोय चरण निश्चित होता है।

हृ० नं० भा०

गोपालशरण

अठारहवीं शती में विद्यमान राजा गोपालशरण सिंह की कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं। उनमें राधा-रूप के वर्णन-सम्बन्धी पद अत्यन्त ललित हैं। इससे इनका राधापरत्व स्पष्ट है किन्तु ये किस सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे? यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। राधाजी के रूपवर्णन-सम्बन्धी इनका एक पद प्रस्तुत है—

सोभित भामिनि मुकुलित केस।
मानों संभु कंठ ते रिंगि कै,
ससि संग मधु पीवत है सेस ॥
भृकुटि-चाप मनमथ कर इहि विधि,
साजत प्रथम प्रवेस।
ता मधि नैन बिसाल चपल अति,
तीछन बान लखे पिय पेस।
नासा कीर, अधर विद्रुम छबि,
हँसि बोलत मानो तड़ित लसेस।
कंठ कपोत, मृनाल भुजा,
करकमलन मानों इन्द्र धनेस।
कुच निसोत, कटि छीन, जंघ युग
कदलि दिपत मनु उलटि असेस।
गजपति चाल चलत गौहन दुति,
'नृप गोपाल' पिय सदा बसेस ॥

हृ० नं० भा०

गोपालसिंह, राजा

राजा गोपाल सिंह अज्ञात वृत्त भक्त हैं। महाराजा म्यूजियम, जयपुर में इनका रचा एक ग्रन्थ 'रसिक-प्रिया' (राग-माला) सुरक्षित है। १३० पत्रों की यह रचना वि० संवत् १८११ में लिखी गई थी। इसमें राधा-कृष्ण की प्रेमलीला की अनेक स्थितियों का चित्रण है। दो नमूने प्रस्तुत हैं—

(१)

दूरि ते देखिबे कौं ह्वै दीन
मनाई हुती लिखिही लखि चीठी।
देखि मिल्यौ मनु हौं हूँ मिली
खेलिबे कौं आइ मिली मति मीठी ॥

ऐसे मैं और चलाइहौ केसव
कैसैहूँ काह कुमार दै दीठी।
ह्वैहै न बार मुरार के तार लौं
टूटैगी कान्ह हमैं तुमैं ईठी ॥

(२)

धाइ नहीं घर दाई परी
जुर आई खिलाई की आँखि वहाँऊँ।
पौरियै आवै रत्यौंधु इते पर
ऊँचौं सुनैं सु महा दुखु पाँऊँ ॥

कान्ह निबेरहु न्याउ न जो यह
आलिनि कौ लगि हौं बहराऊँ।
मो संग ये सब सोवन आवैं
कि हौं इनके संग सोवन आऊँ।।

म० गो० भा०

गोपिकालंकार

श्री गोपिकालंकार के द्वारा व्रजभाषा गद्य में लिखित 'श्रीनाथजी की सेवा-विधि' नामक रचना की हस्तलिखित प्रति काँकरौली के सरस्वती भाण्डार में सुरक्षित है। इसमें श्री नाथद्वारा में स्थित श्रीनाथजी की बारह मास की सेवा-विधि का वर्णन है। इसके लेखक श्री वल्लभाचार्य के वंश में उत्पन्न मथुरानाथजी के पौत्र और द्वारिकेशजी के पुत्र थे। इनके एक पूर्वज काका वल्लभ के नाम से प्रसिद्ध थे। लेखक ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

'श्री वल्लभाचार्य के वंश में भए काका श्री वल्लभजी तिनके मुख्यवंश में प्रगट भए श्री मथुरानाथजी सुत श्री द्वारिकेसजी महासय सुत श्री गोपिकालंकारजी ने कृत शुभमस्तु।'

वा० सिं०
कृ० च० ला०

गोपीनाथ (प्रथम)

आचार्य गोपीनाथजी का जन्म श्री वल्लभाचार्यजी द्वारा किए गये तीसरे सोमयज्ञ की समाप्ति के पश्चात् सम्वत् १५६८ में आश्विन कृष्ण १२ के दिन हुआ था। उन दिनों महाप्रभु अड़ैल में रह रहे थे। इनके जन्म के पश्चात् ही आप चुनार गये थें जहाँ सम्वत् १५७२ में श्री विट्ठलनाथजी का जन्म हुआ था। संवत् १५७३ में जब यह पाँच वर्ष के थे, तभी इनका विद्याध्ययन आरम्भ हो गया था। अठारह वर्ष की अवस्था में सम्वत् १५८४ में इनका विवाह हो गया। इनके एक पुत्र, पुरुषोत्तमजी तथा दो पुत्रियाँ सत्यभामाजी और लक्ष्मीजी नाम की थीं। सम्वत् १५७८ में श्री आचार्यजी के नित्यलीला-प्रवेश के पश्चात् ये काशी से अड़ैल में आकर रहने लगे और वहाँ से सम्प्रदाय का संचालन करने लगे। कृष्णदासजी अधिकारी की सूचना पर ये दोनों भाई अड़ैल से संवत् १५८९ में गिरिराज आये थे और वहाँ की व्यवस्था की थी। आपके समय से ही साँचौरा ब्राह्मणों का प्रवेश श्रीनाथजी की सेवा में हुआ।

गोपीनाथजी का यह नियम था कि यदि श्री विट्ठलनाथजी अड़ैल में रहते थे, तो आप श्रीनाथजी की सेवा के लिए जतीपुरा ठहर जाते थे और जब वह गोपालपुर रहते थे, तो ये अड़ैल में माता की सेवा के लिए चले जाते थे। संवत् १५९५ में आपने जगन्नाथजी की यात्रा की थी और वहाँ वैशाख के महीने में 'श्रीकृष्णदास-गुच्छिवार' को एक वृत्तिपत्र लिख दिया था। इसमें महाप्रभु की संवत् १५४५ की यात्रा का भी उल्लेख है। अड़ैल में आपने सोमयज्ञ और विष्णुयज्ञ किए थे। इसके पश्चात् आपने गुजरात, सिंध, द्वारका आदि स्थानों की यात्रा की और एक लाख रुपये के चाँदी-सोने के बर्तन बनवाकर श्रीनाथजी को भेंट किए। ये अत्यंत शान्त और सरल प्रकृति के व्यक्ति थे। इनके समय में ही श्रीनाथजी की सेवा का वैभव बढ़ा था। कृष्णदासजी अधिकारी ने इनके तिरोधान के बाद ही श्री विट्ठलनाथजी को मन्दिर में प्रवेश करने से रोक दिया था और फिर श्री गिरधरजी ने उन्हें शासन की सहायता से दंड दिलाया था। इसके पश्चात् इनकी पत्नी सम्पत्ति और ग्रन्थों को लेकर दक्षिण चली गई थीं। अतः इनके ग्रन्थों में केवल एक 'साधन-दीपिका' ही प्राप्त है। ऐसा प्रसिद्ध है कि इनका नित्यलीला-प्रवेश श्री जगदीशपुरी में संवत् १५९९ में हुआ था।

सम्प्रदाय के लिए आचार्य गोपीनाथजी की देन अनुपम थी। उच्च कोटि की विद्वत्ता, सरलता और गम्भीरता के साथ प्रबन्ध दक्षता का आपके चरित्र में अपूर्व मिश्रण था।

रा० कृ० श०

गोपीनाथ (द्वितीय)

गो० गोपीनाथ (द्वितीय) की भक्ति-भावना का

परिचय 'रसिक-अनन्य-परचावली' में इन शब्दों में मिलता है–

प्रेम भक्ति उपदेश कर्म भ्रम तोरी टाटी।
परम प्रीति संयुक्त चलत आरज परिपाटी॥

श्री रंगीलाल लड़ाइ नैंन सुख अतुलित लीयौ।
जिंहि सिर करवर धरचौ अभय पद तिनकौं दीयौ॥

शरणागत-पालक जनन,
वचन श्रवत ज्यौं सुधा झर।

करुणा सु धाम मंगल स्वरूप,
श्री गोपीनाथ उर कृपा भर॥

इनका जन्म देववन, जिला सहारनपुर में सम्वत् १५८८ की माघ शुक्ला पूर्णिमा को हुआ था।

पन्द्रह सै अठासिया आयौ।
तेरह मास उरैं जस गायौ॥

फागुन मास लगत की पून्यौं।
श्री गोपीनाथ जन्म सुख दूनौं॥

—श्री जयकृष्णजी कृत 'हित-कुल-शाखा'

ये गो० कृष्णचन्दजी से १३ मास छोटे थे। वृन्दावन-रसोपासना की मंत्र-दीक्षा इन्हें अपने पितृचरण गोस्वामी श्री हित हरिवंश जू से अल्पवय में ही प्राप्त हो गई थी। सम्वत् १५९० में गो० हित हरिवंशजी देववन से वृन्दावन आ गये थे। अतः इन्हें अपनी माता रुक्मिणीदेवी के आश्रय में ही रहना पड़ा।

सम्वत् १६०९ की शरद् पूर्णिमा को गो० हित हरिवंशजी के निकुंजगामी होने के अवसर पर देववन से उनके तीनों पुत्र (गो० वनचन्दजी, गो० कृष्णचन्दजी तथा गो० गोपीनाथजी) वृन्दावन आये थे। उनके चतुर्थ और सबसे छोटे पुत्र गो० मोहनचन्दजी तो यहाँ पर थे ही। सबसे बड़े पुत्र होने के कारण गो० वनचन्दजी को राधावल्लभ-सम्प्रदाय का आचार्यत्व तथा मन्दिर का सेवाधिकार मिला। अन्य तीनों भाई उनके अभिन्न सहयोगी रहे। इस प्रकार चारों भाई कुछ दिन वृन्दावन में निवास कर हित-धर्मप्रचार में संलग्न रहे।

किंचित् काल बीतने के पश्चात् गो० वनचन्दजी ने गो० गोपीनाथजी से कहा—"देववन श्री हित जू का क्रीड़ा-स्थान है। श्री हित जू महाराज को वहीं पर श्री राधिका जू के द्वारा द्वादश अक्षरयुक्त मंत्र प्राप्त हुआ था। इन्होंने श्री रंगीलाल जू को प्रकट कर (कुएँ से निकालकर) श्री प्रियाजी की गादी-सेवा संयुक्त अष्टयाम-सेवा का प्रावधान वहीं से प्रारम्भ किया था। इस प्रकार वह राधावल्लभीय सम्प्रदाय का मूलपीठस्थान होने के कारण सभी का पूज्य है। तुम वहाँ जाकर श्री रंगीलालजी की सेवा एवं श्री हित धर्म-प्रचार-प्रसार करो।" इस आज्ञा को शिरोधार्य करके गो० गोपीनाथजी पुनः देववन चले गये।

चारचौ भाई भूतल राजैं।
प्रगटे रसिक सभा सुख काजैं॥

कछुवक दिन बीते भई इच्छा।
श्री वनचंद दई यह सिच्छा॥

श्रीहित जू कौ क्रीड़ा स्थान।
देवन दिव्य भजन रस दान॥

द्वादस अंक मंत्र इक अद्‌भुत।
(श्री) प्रिया प्रानवल्लभ हित संजुत॥

चल दल पत्र मध्य श्री राधे।
लिखि दीनो गुन गुननि अगाधे॥

(श्री) हित जू के कर वर विख्यात।
लह्यौ सु आनन्द उर न समात॥

देवन धाम सकल सुख जहाँ।
सबको सेव्य ठौर है तहाँ॥

श्री गुरु की अग्या प्रतिपालक।
कर्मठ कुटिलन के घर घालक॥

श्री गोपीनाथ तहीं फिर बसे।
जस जगमगत सबनि उर लसे॥

—श्री जयकृष्णजी कृत 'हित-कुल-शाखा'

वहाँ ये रंगीलालजी की अष्टयाम-सेवा अत्यन्त प्रीतिपूर्वक करने लगे; साथ ही हित-धर्म का विपुल प्रचार-प्रसार भी किया। आपने अपने सदाचरण एवं सदुपदेशों द्वारा विषयासक्त, भक्ति से सर्वथा बहिर्मुख तथा ज्ञानशून्य जीवों को भी 'ब्रह्मेश्वरादि सुदुरूह' 'शुकनारदभीष्ममुख्यैरलक्षितो न सहसा' 'न खलु हरिभक्तैर्न सुहृदादिभिः सुविदितम्'—ऐसी वृन्दावन की नित्य-निभृत-निकुंज-लीला का रसलोलुप बना दिया—

श्री राधा रंगीलाल भार जिनके सिर सोहै।
श्री गोपीनाथ उदार निरखि सबको मन मोहै।।

मन मोह भक्ति बढ़ाय उर में आय चरननि अनुसरे।
कलि कुटिल जंजालिन हिये तें काढ़ि कलमल हित धरे।।

प्राकृत सुख दलभले किये हित सहचरि संगी।
श्री हित धर्म प्रकास सेव्य श्री राधा रंगो।।

—श्री गोविन्द अलिजी कृत 'भक्तगाथा'

गौड़ीय मतावलम्बी और राधावल्लभ-सम्प्रदाय के सर्वप्रथम रसिक-चरित्र-लेखक श्री भगवत मुदितजी ने इनका प्रशस्ति-गान करते हुए लिखा है—

सुत श्री हित हरिवंश के, गोपीनाथ उदार।
तिनके शिष्य प्रशिष्य बहु, करे जीव भव पार।।

प्रथम राधिका वर कौ मन्दिर।
देवन माहि सकल सुख कन्दर।।

सेवत इष्टहि रसिक शिरोमणि।
भक्ति प्रवर्तक त्रिविध ताप हनि।।

रसिक अनन्य धर्म प्रतिपालक।
कर्मठ सठ कुटिलन घर धालक।।

राग भोग आरति सब साधैं।
इहि विधि अपनैं इष्ट अराधैं।।

—श्री भगवत मुदितजी कृत 'रसिक-अनन्यमाल'

इनकी भजन-भावना का अमोघ प्रभावकारी प्रकाश इनके श्री अंगों में दीप्तिमान रहता था जिसके दर्शनमात्र से दर्शक की मनोवृत्तियाँ बदल जाती थीं और हृदय में सहज ही भक्ति का अंकुर प्रस्फुटित हो जाता था। श्री लालस्वामीजी का पवित्र चरित्र इसका ज्वलन्त उदाहरण है जो इनकी शरणागति से पूर्व एक शिकारी तथा परमार्थ-पथ से सर्वथा विमुख थे—

लालदास द्विज कुल उत्पन्न।
करत आमिली गुन सम्पन्न।।

सिकरा लै खेलैं जु सिकार।
नखशिख सब क्षत्री आकार।।

परमारथ में दीसत हीन।
हैं विवहार क्रिया परवीन।।

—श्री भगवत मुदितजी कृत 'रसिक-अनन्यमाल'

किन्तु इनके प्रथम दर्शन से ही उनके जीवन में आमूल परिवर्तन हो गया और वे इनके चरणाश्रित हो गये—

गोपीनाथ आरती करैं।
जो देखें तिनके मन हरैं।।
गौर बरन छबि नैन विसाला।
केश सगबगे तिलक जु माला।।

मुक्तमाल उर तुलसी माल।
कुंडल कनक मुद्रिकन जाल।।

लालदास कौ मन हर लियौ।
देखि रूप चित्र सौ भयौ।।

देह गेह धन सुधि बिसराई।
इक टक रह्यौ कह्यौ नहिं जाई।।

आरति लखि सब घर कौं गये।
लाल पकरि कोनो छबि छये।।

देखि सरूप भक्ति उर आई।
पिछली अपनी कुमति सुनाई।।

कृपा करी गुरु दिक्षा दई।
रीति भाँति पद्धति सुनि लई।।

—श्री भगवत मुदितजी कृत 'रसिक-अनन्यमाल'

भजन-भावना से इनका मुखमण्डल तो ज्योतिर्मय था ही, इनकी रस-निर्झरिणी वाणी भी इतनी रस-पेशल थी कि उसे सुनकर वृन्दावन रस-रसिकवृन्द इनके चारों ओर भौंरों की तरह मँड़राया करते थे। निकट द्रष्टा श्री कल्याण पुजारीजी इस तथ्य को इन शब्दों में वर्णन करते हैं—

> गोपीनाथ निधि देह दरसि करि कवन जाइ घर।
> कोटि काम कमनीय उदित उद्दार अभय कर॥
>
> रसिक वृन्द रस मत्त चित्त नहिं अन्तहिं लावैं।
> श्री हरिवंश सुवन गिरा रस रीतिन गावैं॥
>
> देखत सुख लागै न पल,
> रोम पुलक दृग द्रवत जल।
> श्री व्यास वंश अविचल रहौ,
> दियौ दान कल्याण कल॥

—श्री कल्याण पुजारीजी की वाणी

इनसे प्रभावित होकर अनेक व्यक्ति इनके शिष्य हुए। निर्हेतुक कृपा और उदारता से युक्त गोस्वामीजी में एक अद्भुत बात यह थी कि ये जिनके सिर पर अपना वरदहस्त रख देते थे, वह तत्काल ही सफल-मनोरथ हो जाता था अर्थात् उसी समय श्री वृन्दावन का अद्भुत युगल-विहार उसके हृदय में स्फुरित होने लगता था—

> श्री गोपीनाथ पद उर धरै, महागोप्य रस सार।
> बिनु विलम्ब आवै हिये, अद्भुत युगल-बिहार॥

—श्री हित ध्रुवदासजी की वाणी

गोस्वामीजी के जीवन में यह तथ्य मूर्तरूप में प्रत्यक्ष हुआ था। इन्होंने जिन्हें भी अपने कृपाजल से अभिसिंचित किया उसे अपने बराबर ही बना लिया। श्री गोविन्द अलिजी के शब्दों में—

> श्री गोपीनाथ उदार ने
> जिनके सिर पर कर धर्यौ।
> आप बराबर किये
> सुजस जग विस्तर्यौ॥
>
> विस्तर्यौ सब जग सुजस
> अद्‌भुत कुंज महलनि ह्वै छये।
> श्री राधिकावर हित अली
> जहाँ अंक भर-भर कैं लये॥
>
> वास वृन्दा विपिन संतत
> गह्यौ रसिकन हाथ।
> निसदिन झिले रस रंग में
> कर धर्‌यौ गोपीनाथ॥

—गोविन्द अलिजी कृत 'भक्तगाथा'

इन्होंने किसी ग्रन्थविशेष का निर्माण किया अथवा नहीं—यह तो ज्ञात नहीं है किन्तु ब्रजभाषा में रचित इनके कुछ पद अवश्य प्राप्त होते हैं। इनकी वाणी में निकुंज-लीला का ही गान किया गया है। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार प्रकट होता है। भाषा-सौष्ठव के साथ पदों के मधुर भाव मर्मस्पर्शी हैं। पद यद्यपि बहुत थोड़े हैं तथापि कवि को कल्पना के धनी कहलवाने के लिए पर्याप्त हैं। एक-दो पद नमूने के रूप में नीचे द्रष्टव्य हैं—

(१)

> श्यामा जू ठाढ़ी हैं मज्जन कीयें,
> टारति नखनि तें मुखनि तें सगबगी अलकैं।
> नीलाम्बर छबि फबि जु रही
> तामें राजत अंगन झलकैं॥
>
> ताहू में अति चपल नैंन
> पिय के सम्भ्रम चैन न पावत पलकैं।
> 'हित गोपीनाथ' आइ तिहिं औसर
> निरखत छबि मन बढ़ी रति ललकैं॥

(२)

> नवल घनश्याम वर नवल वर राधिका
> नवल नव कुंज नव केलि ठानो।
> नवल कुसुमावली नवल शय्या रचो
> नवल कोकिल कीर भृंग गानो॥
>
> नवल सहचरि वृन्द नवल वीना मृदंग
> नवल सुर तान नव राग बानो।

नवल 'गोपीनाथ' हित नवल रस रीति सौं
नवल हरिवंश अनुराग दानी ॥

श्या० वि० खं०

गोपीनाथ (तृतीय)

गोपीनाथजी (तृतीय) श्री कुंजलालजी के प्रशिष्य तथा स्वामी रामदास के शिष्य थे। चाचा श्री हित वृन्दावनदास ने इस तथ्य का उल्लेख निम्नांकित छन्द में इस प्रकार किया है—

यह बेलि सफल श्री कुंजलाल ।
भये एक तें एक सुमति विशाल ॥
स्वामी रामदास कर धर्‌यौ भाल ।
सब रँगे जुगल होरी सु ख्याल ॥

—चतुर्थ-वसन्त-प्रबन्ध, ४-७७

ये स्वामी नंदरामजी के शिष्य कृपारामजी के साथ नंदरामजी के बगीचे में ही संतसमूह के बीच रहा करते थे और कृपारामजी की भाँति ही हित-वाणियों के कथन-श्रवन-गायन-आलोड़न एवं भजन-भावना में छके रहते थे।

इनका विद्यमान-काल सं० १७५० तथा १८३० के बीच अनुमित किया जा सकता है। 'चतुर्थ-वसंत-प्रबंध' में इनकी प्रशस्ति में कहा गया है—

मिलि कृपाराम पुनि गोपीनाथ ।
खेलैं फागु सन्त जन लियें साथ ॥
भजनीक कहैं हो हो जु गाथ ।
रंग बोरैं सबकौं भरैं बाथ ॥

श्या० वि० खं०

गोपीनाथ कविराज

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज आधुनिक युग की उन विशिष्ट आध्यात्मिक विभूतियों में थे, जिनके तपोमय जीवन एवं ज्ञानालोकपूर्ण कृतियों का भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के निगूढ़ तत्त्वों को वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने में अपूर्व अवदान है। इनके लोकोत्तर व्यक्तित्व में वैदिक ऋषियों की क्रांतिदर्शिता, मध्यकालीन आचार्यों की तर्कणा-शक्ति और वैष्णव-भक्तों का उच्छल भावावेश विलक्षण अनुपात में समाहित था। भारतीय दर्शन के विभिन्न अंगों की भाँति ही ख्रीष्टीय, इस्लामी, चीनी तथा तिब्बती दर्शन एवं साधना-पद्धतियों पर भी इनका असाधारण अधिकार था। आगम और तंत्रों को जो प्रतिष्ठा आज प्राप्त है, उसका बहुत कुछ श्रेय कविराजजी की मर्मोद्घाटिनी निर्वचन-पद्धति तथा व्याख्याओं को है। 'पातंजल-योगसूत्र' के गह्वर में प्रवेश कर इन्होंने उसकी विशिष्टताओं का जिस सरल-सुबोध शैली में उद्घाटन किया है, वह उसके सुविज्ञ अध्येताओं को भी विस्मय-विमुग्ध कर देती है। तुलनात्मक शैली में दार्शनिक विवेचन इनकी अपनी पद्धति थी, जिसके द्वारा विश्व के नाना धर्मों तथा सम्प्रदायों की चिन्तनधाराओं में इनकी अबाध गति पदे-पदे अभिव्यक्ति पाती थी। ऐसे 'दिसापामोक्ख' आचार्य और परमानुभूतिसम्पन्न महापुरुष के पुण्य-जीवन की यथार्थ पर्यालोचना कोई समशील व्यक्ति ही कर सकता है। कविराजजी प्रायः कहा करते थे 'देवो भूत्वा यजेत् देवं।' यह वर्तमान पीढ़ी का परम सौभाग्य था कि उसे ऐसे विदेहमार्गी महात्मा के दरस-परस का सुयोग प्राप्त हो गया। दुर्भाग्यवश हमारी मंडूक-प्रवृत्ति दिग्दिगन्त को सुवासित करने-वाले इस दिव्य कमल के मकरंदपान में निरन्तर बाधक रही। अतः इनके स्थूल जीवन की सामान्य घटनाओं का भी मर्म समझने में हम असमर्थ रहे, फिर सूक्ष्म अंतर्धाराओं के दुर्भेद्य रहस्यों के उद्घाटन की तो बात ही अलग है। इन प्रकृतिगत सीमाओं के कारण सहृदयों के समक्ष कविराजजी के 'जीवन-दर्शन' के रहस्यपूर्ण तत्त्वों की मीमांसा की अपेक्षा सतही तथ्यों के विवरणों से आप्लावित यह स्मृति-चर्चा क्षम्य होगी।

कविराजजी का भौतिकजीवन पिंड में प्राणसंचार के क्षण से ही महाशक्ति का अद्भुत क्रीड़ा-क्षेत्र रहा

है। इनके पिता श्री वैकुण्ठनाथ कविराज, स्वामी विवेकानन्द, श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी तथा श्री व्रजेन्द्रनाथ सील जैसी प्रतिभाओं के मित्र एवं सतीर्थ तथा अपने समय के प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता के सर्वाधिक मेधावी छात्र थे। साधारण बीमारी से उनका एम० ए० द्वितीय वर्ष के अध्ययन-काल में ही शरीरान्त हो गया। उस समय ये मातृगर्भ में थे, पाँच महीने बाद २२ सौर बुधवार सं० १९४४, ७ सितम्बर, १८८७ ई० को भूमिष्ठ हुए। माता सुखदा सुन्दरीदेवी पूर्ववंग के प्रसिद्ध तीर्थ धामराई मंदिर के मुख्य सेवक हरिश्चन्द्र मौलिक की पुत्री थीं। उनके माता-पिता का देहान्त विवाह के पूर्व ही हो चुका था। ऐसी स्थिति में निराश्रिता माँ, पितृहीन बालक को छाती से लगाये अपने दुर्दिन धर्ममाता वामा सुन्दरी तथा श्वशुर के मामा पं० कालाचन्द सान्याल की छत्रछाया में काटती रहीं। उक्त दोनों अभिभावकों के यहाँ कोई बालक न था, अतः नवजात शिशु उनका अनन्य स्नेहभाजन बन गया। नानी वामा सुन्दरी ने इनका प्यार का नाम 'निवारण' रखा, उनकी पुत्री स्वर्णमयी को 'अक्खय' अभिधान अधिक रुचिकर लगा, किन्तु नाना कालाचंद ने नामकरण-संस्कार के समय अपने गृहदेव 'गोपीनाथ' के प्रसाद-रूप में प्राप्त बालक को वही संज्ञा दे दी।

कविराजजी की प्रारंभिक शिक्षा कालाचन्द सान्याल महाशय की छत्रछाया में कांठालिया में हुई। ग्यारह वर्ष की आयु तक ये वहीं बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी पढ़ते रहे। इसके पश्चात् माध्यमिक शिक्षा के लिये माता इन्हें धामराई ले आयीं। स्थानीय विद्यालय के अध्यापक पं० प्रसन्नकुमार चक्रवर्ती तथा पं० हाराणचन्द्र चक्रवर्ती का सुयोग्य निर्देशन प्राप्त कर इनके मन में संस्कृत भाषा तथा साहित्य के अध्ययन की तीव्र उत्कंठा जाग्रत हुई। पं० कालाचन्द ने इसी बीच उस प्रदेश के प्रसिद्ध विद्वान् पं० कार्तिकशंकर तर्कालंकार की भतीजी कुसुमकामिनी देवी से इनका विवाह कर दिया। तर्कालंकारजी का कुशाग्रबुद्धि गोपीनाथ पर अपार स्नेह था। संयोगवश विवाह के एक ही वर्ष बाद गोपीनाथजी के अन्यतम अभिभावक पं० कालाचन्द सान्याल का धनुषटंकार (टिटनेस) रोग से अकस्मात् देहावसान हो गया। इस प्रकार दूसरा आश्रयस्थल भी ध्वस्त हो गया। नाना के मरते ही उनके पट्टीदारों ने घर और जमीन पर अधिकार कर असहाय माता और पुत्र को कराल कालचक्र की दया का भिखारी बना दिया। माता को बहू के नैहर में शरण मिली किन्तु पुत्र धामराई में नानी के घर रहकर ही अध्ययन करता रहा। यहीं तीसरी (आज की आठवीं) कक्षा पास कर उच्च माध्यमिक शिक्षा के लिए ढाका जाने की योजना बनी। अर्थाभाव के कारण माता पढाई का व्ययभार वहन करने में असमर्थ थीं। अतः मित्रों और परिचितों का सहारा पाकर ये ढाका गये और वहाँ यदुनाथ सान्याल तथा अविनाशचन्द्र सरकार नामक दो मित्रों ने इनके निवास तथा भोजन की व्यवस्था कर दी। पं० कार्तिकशंकर अपनी स्थिति के अनुसार कुछ सहायता कर दिया करते थे किंतु उससे कपड़े, कापियों तथा पुस्तकों का पूरा खर्चा नहीं चल पाता था। इस आड़े समय में इनके नाना कालाचन्द सान्याल के परिचित और उस क्षेत्र के प्रसिद्ध महाजन शाह भैरवनाथ राय काम आये। उन्होंने १४ रु० मासिक वृत्ति बाँधकर इन्हें आर्थिक चिंता से मुक्ति दिला दी।

कविराजजी के आध्यात्मिक तथा बौद्धिक विकास की दृष्टि से ढाका के छात्र-जीवन के दो वर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। पूर्ववंग के विश्रुत संत योगिराज लोकनाथ ब्रह्मचारी के शिष्य बाबू मथुरामोहन ढाका के जुबिली स्कूल के आचार्य थे। वे गोपीनाथ पर पुत्रवत् स्नेह करते थे। इनके बाल-जीवन पर उनकी उच्चस्तरीय नैतिकता का गहरा प्रभाव पड़ा। दूसरे महापुरुष थे 'बांधव' के सम्पादक कालीप्रसन्न घोष। तत्कालीन धार्मिक समाज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उनकी 'निशीथचिंता',

'भक्तिरजय' आदि पुस्तकें इनके बालहृदय में तत्त्वानुसंधान की प्रेरणा का संचार करने में विशेष सहायक हुईं।

संस्कृत के अध्ययन का जो संस्कार इन्हें पिता से रिक्थरूप में प्राप्त हुआ था, वह उनके द्वारा संगृहीत ग्रन्थों के अध्ययन से पल्लवित हुआ। बाल्यावस्था में ही इन्होंने सैकड़ों उद्भट श्लोक कंठस्थ कर लिये। पूर्वमाध्यमिक शिक्षाकाल में प्रारंभिक संस्कृत व्याकरण पं० कन्हाईलाल गोस्वामी से पढ़ा था। ढाका आने पर इन्होंने पाणिनीय व्याकरण का सांगोपांग अध्ययन पं० रजनीकांत अमीन तथा पं० विधुभूषण गोस्वामी के चरणों में बैठकर किया। पुस्तकों के संग्रह तथा अध्ययन में अहर्निश व्यस्त रहने का आदर्श ढाका के प्रवासकाल में ही इन्होंने बाबू कालीप्रसाद घोष के जीवन से ग्रहण किया। अंग्रेजी-साहित्य के अध्ययन की अभिरुचि भी इनके हृदय में इसी काल में जगी। इसके प्रेरक थे ढाका के जगन्नाथ कॉलेज के प्रिंसिपल हेरम्बचन्द्र मैत्र। उनके निर्देश से एण्ट्रेंस कक्षा में ही इन्होंने अंग्रेजी के प्रसिद्ध साहित्यकारों शेक्सपियर, मिल्टन, बाइरन, वर्ड्सवर्थ, इमर्सन आदि की सारी कृतियाँ पढ़ डालीं। ऐसे उदार तथा योग्य गुरुजनों की छत्रछाया में अपने जीवन के दो महत्त्वपूर्ण वर्ष व्यतीत कर इन्होंने १९०५ ई० में एण्ट्रेंस परीक्षा उत्तम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

अब उच्च माध्यमिक कक्षा में प्रवेश की समस्या आयी। दैवदुर्विपाक से इन्हीं दिनों मलेरिया के आक्रमण से ये महीनों शय्याग्रस्त रहे। इसलिये १९०५ ई० की जुलाई से आरम्भ होनेवाले सत्र में पढ़ाई स्थगित रही। वायु-परिवर्तन के लिए डॉक्टरों की सलाह पर देवघर गये। पैसे पास में थे नहीं, इसलिए रुग्णावस्था में भी इन्हें वहाँ एक ट्यूशन करना पड़ा। यह प्रवासकाल आध्यात्मिक उपलब्धि के विचार से विशेष फलप्रद सिद्ध हुआ। यहाँ महात्मा शिशिरकुमार घोष और धर्माचार्य रामदयाल मजूमदार के सत्संग लाभ का सुयोग प्राप्त कर ये कृतकृत्य हो गए। घोष महाशय से परलोक-सम्बन्धी आलोचना में अभिरुचि तथा मजूमदारजी से त्यागमय धार्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। वह वर्ष स्वास्थ्य-लाभ करने में बीत गया। १९०६ ई० की जुलाई में एफ० ए० में भर्ती होने का मसला उपस्थित हुआ। मलेरिया के भय से बंगाल में रहना इन्हें स्वीकार्य नहीं था। बाहर जाकर पढ़ाई चलाने के लिए अपेक्षित धन का अभाव था। ऊहापोह में कुछ दिन बीत गए। इस बीच एक अज्ञात शक्ति इन्हें जयपुर जाने की प्रेरणा देने लगी। मन को समझाने के लिए कुछ अनुकूल तर्क गढ़ लिए; जयपुर मलेरिया-मुक्त स्थान है, वहाँ का मुख्यमन्त्री बंगाली है, वह वीरों की भूमि है—आदि-आदि। संकल्प दृढ़ हो जाने पर १९ वर्ष की छोटी आयु में १६ जुलाई १९०६ ई० को ज्ञानार्जन की उत्कट पिपासा शांत करने के लिए कुछ पुस्तकें और यथोपलब्ध यात्रा-व्यय लेकर इन्होंने एक अपरिचित प्रदेश के लिए अकेले प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचने पर बंगाली उच्चारण की विचित्रता के कारण एक दिन मुख्यमन्त्री बाबू संसारचन्द्र का मकान ढूँढ़ने में लग गया। ईश्वर की कृपा से महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के छोटे भाई श्री मेघनाद भट्टाचार्य ने शरण दे दी। उन्हींकी संस्तुति से मुख्यमंत्री संसारचन्द्र सेन ने इनके निवास और भोजन की स्थायी व्यवस्था करा दी। महाराजा कॉलेज में प्रवेश मिल गया। १५ रु० मासिक की छात्रवृत्ति भी स्वीकृत हो गयी। अतः अध्ययन सुचारु रूप से चलने लगा। इसी वर्ष (१९०६ ई०) में अखिल भारतीय कांग्रेस का कलकत्ता-अधिवेशन हुआ। गोपीनाथजी इसमें राजस्थान के प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य के रूप में सम्मिलित हुए, इस लोभ से कि वहाँ देश की विशिष्ट प्रतिभाओं के दर्शन का सुअवसर प्राप्त होगा। जयपुर में अध्ययन करते हुए इन्होंने भारतीय धर्म-दर्शन तथा पुरातत्त्व के अतिरिक्त मध्ययुगीन यूरोपीय साहित्य का भी गंभीर अनुशीलन किया। १९१० ई० में वहाँ से बी० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर आगे की शिक्षा में सहायतार्थ

स्नेहियों से कुछ परिचय-पत्र लेकर ये कलकत्ता चले आये।

एम० ए० की पढ़ाई कहाँ हो? इस सम्बन्ध में इनके समक्ष दो विकल्प थे—कलकत्ता तथा काशी। कलकत्ता मलेरिया का क्षेत्र था, अतः वहाँ रहने का साहस न कर सके। अबकी बार काशी का आकर्षण अधिक सशक्त सिद्ध हुआ। वहाँ इनके चाचा पं० दीनबंधु कविराज केदारघाट पर रहते थे। इतना सहारा काशीवास के लिए पर्याप्त था। कॉलेज में प्रवेश के लिए उपस्थित होने पर प्रथम साक्षात्कार में ही डॉ० वेनिस संस्कृत-साहित्य तथा पुरातत्त्व में इनकी अद्भुत गति देखकर आश्चर्यचकित हो गये। इनकी रुचि को देखकर उन्होंने अपने निर्देशन में भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व और महामहोपाध्याय पं० कैलाशचन्द्र शिरोमणि एवं पं० वामाचरण सान्याल के सान्निध्य में प्राचीन परिपाटी से संस्कृत के अध्ययन की व्यवस्था करा दी। इन दोनों पाठ्यक्रमों की कक्षाओं में उपस्थित होने के लिये कविराजजी को केदारघाट से संस्कृत कॉलेज दो बार नित्य पैदल आना-जाना पड़ता था। इससे इनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। दुर्बल शरीर कठोर श्रम सहन न कर सका। सत्रान्त में एम० ए० प्रथम वर्ष की परीक्षा देने ये इलाहाबाद गये। परीक्षाकाल में ही मलेरिया का आक्रमण हो गया। इस आपत्तिकाल में इनके सहपाठी (आचार्य नरेन्द्रदेव) ने बड़ी तत्परता से चिकित्सा कराई। किसी प्रकार परीक्षा समाप्त कर ये काशी आये। ग्रीष्मावकाश में जन्मभूमि पूर्वबंग गये, किन्तु स्वास्थ्य में कोई सुधार न हुआ। वहाँ से १९११ ई० की जुलाई में एम० ए० द्वितीय वर्ष में नाम लिखाने काशी आये। परन्तु गिरते हुए स्वास्थ्य ने अध्ययन का क्रम स्थगित करने के लिये विवश कर दिया। हृदयाघात से इनकी स्थिति बिगड़ती देखकर डॉ० वेनिस ने चिकित्सा के लिये इन्हें कलकत्ता भेज दिया और उसका सारा व्यय छात्रवृत्ति देकर पूरा किया। इस प्रकार १९११-१२ ई० का सत्र स्वास्थ्य-लाभ में बीत गया।

१९१२ ई० की जुलाई में एम० ए० (द्वितीय वर्ष) में भर्ती हुए। अब इनके अभिभावक पं० दीनबन्धु कविराज देवनाथपुरा में रहने लगे थे। वहाँ से भी कॉलेज दूर था। अतः डॉ० वेनिस ने १० अगस्त १९१२ ई० को कॉलेज के छात्रावास में ही इन्हें कमरा दे दिया। १९१३ ई० के अप्रैल महीने में ये स्नातकोत्तर परीक्षा देने इलाहाबाद गये। उस वर्ष मौखिकी के परीक्षक प्रसिद्ध पुराविद् डॉ० डी० आर० भण्डारकर थे। डॉ० वेनिस को यह जानकर अपार हर्ष हुआ कि इन्होंने उस परीक्षा में प्रथम स्थान ही नहीं प्राप्त किया था, अपितु इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्ववर्ती छात्रों द्वारा स्थापित अंक-प्राप्ति के सारे कीर्तिमान भी तोड़ दिये थे।

इस असाधारण सफलता के परिणामस्वरूप परीक्षाफल प्रकाशित होते ही ओरियण्टल कॉलेज लाहौर तथा मेयो कॉलेज अजमेर से इनकी नियुक्ति विषयक दो तार डॉ० वेनिस के पास आ गये, किन्तु वृत्ति में लगने से बौद्धिक विकास रुक जायगा, इस आशंका से उन्होंने इन्हें अपने निर्देशन में शोध-कार्य करने का आदेश दिया और स्नातकोत्तर अनुसंधायक की छात्रवृत्ति स्वीकृत कर १९१३ ई० की जुलाई में अशोक के शिलालेखों पर एक ग्रंथ तैयार करने को कहा। इसके एक वर्ष बाद अवसर मिलते ही डॉ० वेनिस ने ४ फरवरी १९१४ ई० को इनकी नियुक्ति सरस्वती भवन के ग्रन्थालयी पद पर कर दी। १९१५ ई० में डॉ० वेनिस इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पोस्ट वैदिक आसन पर प्रोफेसर हो गये। उसी विभाग के अंतर्गत रीडर पद की सृष्टि होने पर उन्होंने उस पर कविराजजी की नियुक्ति करा दी। इस पद के साथ ही ये रजिस्ट्रार तथा परीक्षायोजक का भी काम सँभालते रहे। संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य-पद पर डॉ० वेनिस के उत्तराधिकारी म० म० पं० गंगानाथ झा हुए। ये भी डॉ० वेनिस के शिष्य थे, अतः कविराजजी से बड़ा स्नेह रखते थे। १९२४ ई०

में डॉ० झा के कार्य-निवृत्त होने पर उनके स्थान पर कविराजजी प्रिंसिपल बनाये गये।

संस्कृत कॉलेज में स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए काशी-आगमन के कुछ ही समय बाद से इनकी रुचि और अध्ययन की दिशा में परिवर्तन संघटित होना आरम्भ हो गया था। पुरातत्त्व और अंग्रेजी-साहित्य के अध्ययन से विरत होकर इनका मन उत्तरोत्तर भक्ति तथा दर्शन में रमता गया और ये यूरोपीय, मध्य एशियाई तथा भारतीय गुह्य-विद्यासम्बन्धी साहित्य के गंभीर अनुशीलन में प्रवृत्त हुए। गोरखपंथ, तांत्रिक दर्शन, काश्मीर शैव-दर्शन तथा गौड़ीय वैष्णव-धर्म—इनके विशेष अध्ययन के क्षेत्र बन गये। स्वाध्याय के साथ ही सत्संग और साधु-दर्शन का भी क्रम नियमित रूप से चलने लगा। बाल्यावस्था में स्वामी शिवराम किंकर योगत्रयानन्द का 'आर्यशास्त्र प्रदीप' नामक ग्रन्थ पढ़कर ये अत्यन्त प्रभावित हुए थे। काशी आने पर संयोगवश एक दिन उनका साक्षात्कार प्राप्त कर आनन्द-विह्वल हो गये। इन महाशय की योग-सिद्धि, स्वच्छन्द प्रवृत्ति, अनन्य रामभक्ति तथा अगाध ज्ञान से प्रभावित होकर कविराजजी की इच्छा उनसे मंत्र-दीक्षा लेने की हुई। तदर्थ सहमत न होने पर भी स्वामीजी इनके आत्मिक विकास के लिये सतत प्रयत्नशील रहे। १९१७ ई० तक कविराजजी को इनका वरदहस्त प्राप्त रहा। योगत्रयानन्द महाशय के सम्पर्क से इन्हें भगवान् की कृपाशीलता एवं शरणागतवत्सलता में अगाध विश्वास हो गया।

स्वामी योगत्रयानन्द के अनुग्रह से कविराजजी को उनसे वियुक्त होने के एक वर्ष के भीतर ही गुरु-चरणों की प्राप्ति हो गयी। उन दिनों परमहंस विशुद्धानन्द काशी में ही निवास करते थे। कुछ दिनों के सम्पर्क के अनन्तर उनकी अलौकिक सिद्धियों और आध्यात्मिक विभूतियों से अभिभूत होकर २१ जनवरी १९१८ ई० को इन्होंने गुरुदेव के हनुमानघाट पर स्थित आश्रम में विधिवत् दीक्षा ग्रहण कर ली। इसके पश्चात् ये नियमित रूप से गुरुसेवा में उपस्थित होकर साधनापथ पर अग्रसर हुए। प्रिन्सिपल के पद का उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्यभार परमार्थचर्या में निरन्तर व्यवधान उपस्थित करता था। कॉलेज की व्यवस्था, अनुशासन आदि औपचारिक कार्यों में काफी समय निकल जाता था। यह व्यावहारिक जीवन-पद्धति इनकी बदली हुई मनोदशा के प्रतिकूल पड़ती थी। फिर भी दैव-नियोजित कर्तव्य समझकर १९३७ ई० तक ये किसी प्रकार उक्त पद पर कार्य करते रहे। इसी वर्ष इन्हें बेरी-बेरी की बीमारी हो गयी। उसने स्वास्थ्य जर्जर कर दिया। इसीके आसपास ११ जुलाई १९३७ ई० को गुरुदेव का लोकान्तरण हो गया। इन झटकों ने कविराजजी की बढ़ती हुई विरक्ति-भावना को और भी उद्दीप्त कर दिया। इन्होंने प्रिन्सिपल के पद से कालपूर्व सेवा-निवृत्ति का दृढ़ संकल्प कर लिया और उसकी सूचना शासन को दे दी। सरकार ने अनेक सूत्रों से इनकी सेवाएँ सुरक्षित करने का प्रयास किया, किंतु इनकी दृढ़ता देखकर उसे विवश होकर इन्हें १३ मार्च १९३७ ई० को कार्यमुक्त करना पड़ा। इसी वर्ष इनका सिगरा स्थित मकान तैयार हो गया और अवकाश-ग्रहण के तत्काल बाद ये उसमें सपरिवार रहने लगे।

मनसा वीतराग होते हुए भी कविराजजी व्यक्तिगत औदार्य एवं पारिवारिक उत्तरदायित्व के निर्वाह में सतत सचेष्ट रहे। अवकाश लेने के बाद आय के स्रोत क्षीण हो जाने के बावजूद ये अपनी दिवंगता धर्मनानी वामासुन्दरी की पुत्री स्वर्णमयी देवी और उनके पति कैलाशचन्द्र नियोगी को पूर्ववंग से काशी ले आये और उनके जीवन-पर्यन्त सारा व्ययभार स्वयं वहन करते रहे। इसी प्रकार अपने द्वारा पुत्र-वत् पोषित सीताराम पाण्डेय के भी कुटुम्ब को साथ रखकर उसके योगक्षेम की आजीवन व्यवस्था करते रहे।

सेवानिवृत्ति के अनन्तर इनका सारा समय प्रवचन, स्वाध्याय, संतदर्शन और आध्यात्मिक विषयों पर साहित्य-रचना में बीतने लगा। पुत्री सुधारानी का

विवाह १९२५ ई० में ही कर दिया था। पुत्र जितेन्द्रनाथ भी १९३३ में गृहस्थी के बंधन में बँध गये। १९४६ ई० में उनकी सेवावृत्ति की व्यवस्था हो जाने से उस ओर से ये निश्चिन्त हो गये। किंतु इसके कुछ ही समय बाद एक वज्रपात ने परिवार की सुखशान्ति सदा के लिये समाप्त कर दी। पाँच-छः घण्टों की सामान्य बीमारी से अत्यन्त रहस्यपूर्ण स्थिति में माता-पिता के देखते-देखते जितेन्द्रनाथ का शरीरान्त हो गया। सारा घर माँ, पत्नी, बच्चों और बन्धु-बान्धवों के असह्य आर्तनाद से झंकृत हो गया। किंतु कविराजजी इस भीषण कुहराम के मध्य पूर्ववत् शान्त एवं स्थितप्रज्ञ बने रहे। स्वजनों ने पुत्र के शवदाह की व्यवस्था की। इस घटना के कुछ ही घण्टों बाद ये अपनी नियमित अध्यात्मचर्या में लग गये। शोक-संवेदना के लिए समागत मित्र और परिचित यह दृश्य देखकर अवाक् थे। दो महीने बाद पुत्रवधू भी दिवंगत हो गयी। उसके तीन संतानें थीं—दो पुत्रियाँ और एक पुत्र। कालांतर यथासमय उनके विवाह की व्यवस्था करके कविराजजी इस पारिवारिक दायित्व से निवृत्त हो गये। पुत्रशोक से माँ का स्वास्थ्य निरन्तर क्षीण होता गया। अन्ततोगत्वा उठने-बैठने में भी वे अशक्त हो गयीं। कभी-कभी अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए वे कहती थीं—"बाबूजी तो ज्ञानी हैं, उनका मन आप लोगों से धर्म-चर्चा करने में बहल जाता है, किंतु मैं कैसे धीरज धरूँ—जितेन्द्र हमारी कमर तोड़कर चला गया।"

अवकाश ग्रहण करने के बाद साधना तथा अध्ययन-प्रवचन में निरंतर व्यस्त रहने के कारण शारीरिक श्रम के अभाव में कविराजजी का स्वास्थ्य सुरक्षित न रह सका। पैरों के कमजोर हो जाने से १९५७ ई० के बाद घूमना-फिरना प्रायः बन्द हो गया। १९६१ ई० में पेचिश हो गयी। काशी में उपचार से लाभ होते न देखकर माँ आनन्दमयी इन्हें निदान के लिए दिल्ली ले गयीं। वहाँ परीक्षण करने पर उन्नत स्थिति के कैंसर का पता चला। तत्काल वम्बई ले जाकर उन्होंने टाटा कैंसर संस्थान में डॉ० बरजेस द्वारा ऑपरेशन की व्यवस्था कराई। ईश्वर की कृपा से रोग निर्मूल हो गया। तेईस दिन अस्पताल में रहकर ये स्वास्थ्य-लाभ हेतु पूना स्थित माँ के आश्रम में चले गए। तब से स्वास्थ्य सामान्यतः ठीक रहा। एक बार विषम-ज्वर की चिकित्सा में इन्जेक्शन लगने के प्रतिक्रियास्वरूप श्रवणशक्ति क्षीण हो गयी। वृद्धावस्था में रक्त में शर्करा का अनुपात बढ़ जाने से ८० वर्ष की अवस्था के बाद से इनमें विशेष शिथिलता आ गयी। १९६९ ई० के अगस्त महीने के अन्तिम सप्ताह में भीषण मूत्रकष्ट हुआ। दैवयोग से उसी अवसर पर विश्व में उक्त रोग की शल्य-चिकित्सा की नयी विधि के आविष्कारक डॉ० फेरी (कनाडा) का हिंदू विश्वविद्यालय के मेडिकल कॉलेज में एक दिन के लिये आगमन हुआ। इस सुविधा से लाभ उठाकर आश्रमवासियों ने १ सितम्बर १९६९ ई० को कविराजजी को वहाँ ले जाकर ऑपरेशन कराया। इससे मूत्र-कष्ट तत्काल और सदा के लिए दूर हो गया।

इसके अनन्तर इनकी जीवनचर्या बिल्कुल बदल गयी। अर्धतन्द्रा में लीन-से रहते हुए ये शय्याग्रस्त हो गए। आँखों से भी कम दिखाई देने लगा—किंतु चश्मा के प्रयोग से विरत रहे। आवश्यकता पड़ने पर बड़ी कठिनाई से हस्ताक्षर कर पाते थे। लिखना-पढ़ना तो बहुत पहले बन्द हो चुका था। श्रद्धालुओं और जिज्ञासुओं की भीड़ लगी रहती थी, किंतु ये दृष्टिमात्र से सबको संतुष्ट करते हुए प्रायः मौन रहते थे। यह कालक्षेप जीवनमुक्तावस्था के भोगरूप में हो रहा था। पहले तो किसी सेवक का सहारा लेकर सामनेवाले बरामदे में कुछ टहल लेते थे, किंतु १९७५ के बाद वह भी बन्द हो गया था। इस स्थिति में भी इनको संध्या के नियम-पालन का स्मरण बराबर रहता था। भीषण रूप से ज्वर-ग्रस्त रहने अथवा रक्तशर्करा के प्रकोप-काल में भी प्रातः-सायं संध्या का मुहूर्त उपस्थित होने पर वे माला और चादर देने का संकेत करते। यदि बैठने में कष्ट होता तो

लेटे ही लेटे नियम समय से पूरा कर लेते थे। इस वर्ष (१९७६ ई०) के अप्रैल महीने में कुछ दिन ज्वर हुआ। उससे भोजन में अरुचि हो गयी। फलतः शक्ति क्षीण हो गयी। अचानक श्वास-कष्ट बढ़ गया। संवाद पाकर ५ मई को माँ आनन्दमयी प्रवास से एक दिन के लिए उन्हें देखने के लिए काशी आयीं। ६ मई के बाद अवस्था सुधरी, किन्तु वह लाभ क्षणस्थायी था। जून के प्रारम्भ में श्वास-कष्ट का पुनः प्रकोप हुआ। अबकी बार गले से कुछ रक्त भी आया। हालत बिगड़ती देखकर इन्हें आश्रम से माँ आनन्दमयी चिकित्सालय में ले जाया गया। वहाँ आक्सीजन दिया गया और रक्त चढ़ाने की भी व्यवस्था हुई। किंतु सुधार के सारे प्रयास निष्फल सिद्ध हुए। शारीरिक स्थिति अंतिम परिणति की ओर अग्रसर रही। १२ जून की संध्या को ५.२० बजे मातृशक्ति के अन्यतम उपासक का पार्थिव शरीर माँ की गोद में चिरनिद्रा में लीन हो गया।

यही कविराजजी के भौतिक जीवन की स्थूल रूपरेखा है। तंत्रशास्त्र के मर्मज्ञ होते हुए भी परमार्थ-साधन में इन्होंने स्वयं तो शव-साधना की प्रक्रिया का आश्रय नहीं लिया, किन्तु परिस्थितियों ने इनकी जीवनयात्रा को ही शव-साधना का रूप दे दिया। मातृगर्भ में ही पिता की मृत्यु, उसके शीघ्र पश्चात् निराश्रित माँ और पुत्र के अनन्य आश्रयदाता नाना कालाचंद सान्याल का अकस्मात् देहावसान, विवाहित युवक पुत्र का आँखों के सामने सहसा निधन, निराश्रिता पत्नी और छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर दामाद का शरीरान्त और पुत्र-शोक की अन्तर्ज्वाला में आजीवन जलती हुई पत्नी का लोकान्तरण – एक के बाद दूसरे शव के विसर्जन के ये हृदयद्रावक दृश्य इनके जीवनपट पर चलचित्र की भाँति गुजरे थे। लोकार्थ तथा परमार्थ-साधन का मूल उपादान शरीर बाल्यावस्था से ही व्याधि-मंदिर बन गया था। कोमलवय में दीर्घकालव्यापी मलेरिया का प्रकोप, उसके भय से राजस्थान-पलायन, स्नातकोत्तर परीक्षा के समय ज्वर का आक्रमण, रोगाक्रान्त निर्बल शरीर पर हृदयरोग का आघात, परिणतवय में 'बेरी-बेरी' के उपद्रव से शक्तिक्षीणता, पदनिवृत्त होने के बाद कैन्सर जैसे प्राणलेवा रोग का प्राकट्य, वार्धक्य-जर्जर शरीर में मूत्रकृच्छ्र-व्याधि की उत्पत्ति और रक्त-मधु की उपस्थिति से आलस्य तथा शिथिलता की निरन्तर व्याप्ति जैसी अगणित व्याधियों से अहर्निश जूझते हुए ही इनके अशक्त चरणों ने जीवन के काले कोसों की यात्रा पूरी की। ऐसे एक-दो धक्के ही बड़े-से-बड़े पुरुषार्थी और धैर्यवान् व्यक्ति को धराशायी कर देते हैं, किन्तु कविराजजी इन सारी आपत्तियों को प्रारब्ध का भोग मानकर, शरीर-धारण का फल समझकर, अविचल भाव से झेलते रहे। इनकी आत्मा की तो बात ही क्या, मन भी उनसे असंपृक्त तथा अप्रभावित रहा। लौकिक जीवन के दृश्यमान अंधकार पर विजय प्राप्त करने में इनका अंतःप्रकाश सहायक हुआ था। इस आत्मज्योति की पहचान और अनुभव उन्होंने शरीर से ऊपर उठकर प्राप्त किया था।

आत्मतत्त्व के निगूढ़तम प्रदेश में प्रवेश प्राप्त करने के लिए इन्होंने स्वाध्याय तथा साधनापूर्ण जीवन बाल्यावस्था से ही व्यतीत किया था। जीवन की विषम परिस्थितियों में भी यह क्रम निर्बाध रूप से चलता रहा। ढाका के छात्र-जीवन की एक घटना से विदित होता है कि इनके मानस में दिव्यानुभूतियों का प्रकाश किशोरावस्था से ही होने लगा था। एक दिन स्नान के लिए जाते समय दिव्य-लोक का दर्शन कर ये घंटों नदी की उपकंठ भूमि में बेसुध पड़े रहे थे। संस्काररूप में उपलब्ध इस उन्नत आध्यात्मिक स्थिति की रक्षा एवं संवृद्धि साधु-दर्शन, सत्प्रसंग तथा सत्साहित्यानुशीलन द्वारा की गई। किन्तु इस प्रक्रिया में इन्होंने कभी अन्धविश्वास को प्रश्रय नहीं दिया। संतों के शास्त्रज्ञान तथा बाह्य प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर उनके अंतरंग जीवन का अन्वीक्षण ही इनका इष्ट रहा। सत्संग-वार्ता के क्रम में ये शास्त्रों

में वर्णित तत्त्वों के साथ साधक के निजी अनुभवों की तुलना द्वारा ही उसके आध्यात्मिक उत्कर्ष का स्तर-निर्धारण करते थे। प्रथम दर्शन में ही अपनी प्रकृत दृष्टि से ये उनके वैशिष्ट्य की परख कर लेते थे। यदि उनके ज्ञान अथवा साधना में कोई विशेष आकर्षण का तत्त्व न भी मिलता तो भी ये निराश नहीं होते थे। उनकी रहनी में ही किसी वैलक्षण्य का अनुसंधान कर ये तृप्त हो जाते थे। ऐसी विलक्षणता जिसको इन्हींके नेत्र लक्षित कर सकते थे। यह इनकी तत्त्वग्राहिणी जिज्ञासु-वृत्ति की चरम परिणति थी। संतों की जाति, सम्प्रदाय, आश्रम तथा दर्शनगत विभिन्नता की उपेक्षा कर इन्होंने विभिन्न मतों और साधना-पद्धतियों के अनुयायी महापुरुषों का सम्पर्क प्राप्त किया। प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी विचारधाराओं के महात्माओं को समान रूप से महत्त्व दिया। यह समन्वयात्मक उदार दृष्टि इन्हें आगम-साहित्य के अनुशीलन से प्राप्त हुई थी। द्विविध रूपात्मक जगत् में मौलिक एकसूत्रता का संधान आगमों की समन्वयात्मक दृष्टि ही कर सकती है, यह उनका दृढ़ विश्वास था। आगमों को ये सभी दर्शनों का संयोजक और द्वैत-अद्वैत ग्रंथि का भेदक मानते थे। इसलिए मानव-चिन्तन के व्यापक फलक तथा अनुभव-स्तर में सोपान-परम्परा न्याय से ये प्रत्येक धर्म और दर्शन की उपयोगिता को स्वीकार और उनके वैशिष्ट्य का सत्कार करते थे।

आज के वैज्ञानिक युग में चमत्कारों को अविश्वसनीय एवं उपहासास्पद समझा जाता है। कविराजजी ने योगदर्शन के विभूतिपाद में वर्णित सिद्धियों की यथार्थता का प्रत्यक्षानुभवसिद्ध महापुरुषों के संसर्ग में रहकर किया था। गुरुदेव स्वामी विशुद्धानन्द का सूर्य-विज्ञान द्वारा अभीष्ट कार्यों का सम्पादन एवं वस्तुओं की सृष्टि, रामठाकुर महाशय की आकाशमार्ग से यात्रा, सिद्धि माता के शरीर में ज्योतिर्मय कायाभेदी वाणी का प्राकट्य, तारकेश्वरी माँ की रोगशमन-क्षमता, ज्योतिजी और केदारमालाकर का सूक्ष्म देह से दिव्य-लोक-भ्रमण आदि आश्चर्यजनक कृत्य इन्होंने अपनी आँखों से देखे थे और अनुगतों के लिए उनका साक्षात् अनुभव प्राप्त करने की प्रेरणा एवं व्यवस्था की थी। इसी प्रकार कालजयी तथा सिद्धदेहधारी महात्माओं से परिचय और हिमालय में दिव्याश्रमों के अस्तित्व का बोध उन्हें गुरुदेव तथा रामठाकुर महाशय के साहचर्य से प्राप्त हुआ था। कभी अलक्षित रूप से और कभी सहसा प्रकट होकर संतों द्वारा आश्रितों की रक्षा और पथ-प्रदर्शन के वृत्त उन्होंने प्रामाणिक महापुरुषों तथा उनके द्वारा उपकृत साधकों के मुख से सुने थे। इसकी परितः पुष्टि गुरुदेव के शरीर-त्याग के पश्चात् भी उनसे प्रत्यक्ष सम्पर्क तथा दिशा-निर्देश लाभ करने पर हुई। इतना होते हुए भी ये सिद्धियों और चमत्कार-प्रदर्शन को अध्यात्म-साधना की उत्कृष्ट स्थिति का द्योतक नहीं मानते थे। इस सम्वन्ध में परमहंस विशुद्धानन्दजी से इन्होंने एक बार स्वयं जिज्ञासा की थी, 'इन योग-विभूतियों से अध्यात्म-साधना का क्या सम्बन्ध है? इसे लेकर हम क्या करेंगे?" इसके उत्तर में बाबा ने चमत्कार का उद्देश्य योग-विज्ञान में आस्था उत्पन्न करना मात्र बताया था। इसी प्रकार गुरुदेव के निर्देशन में इन्होंने मंत्र-शक्ति का भी प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया था। दीक्षा लेने के बाद इन्होंने सात दिन तक अनुष्ठानपूर्वक मंत्र-जप किया था। अन्तिम दिन सारा पूजा-गृह अलौकिक विद्युत्-प्रवाह से आवेशित हो गया। फिर गुरुदेव ने बताया कि एक छोटे-से मंत्र में जितनी शक्ति है, उतनो सम्पूर्ण विश्व की पुंजीभूत विद्युत्-शक्ति में भी संभव नहीं है। इसी प्रकार पारलौकिक विश्व के सम्बन्ध में शास्त्रीय उल्लेखों के समर्थन के लिए इन्होंने उस क्षेत्र में रुचि एवं गति रखनेवाले साधकों से सम्पर्क स्थापित कर अपनी जिज्ञासा निवृत्त की थी। केदारमालाकर को सूक्ष्म शरीर से दिव्यलोक-भ्रमण का निर्देश देकर उनके द्वारा दिये गये विवरणों को इन्होंने सर्वथा शास्त्र-सम्मत पाया था। तात्पर्य यह कि इनको क्रांतदर्शी प्रतिभा ने अध्यात्मविषयक प्राचीन मान्यताओं को प्रत्यक्षानुभव

की कसौटी पर कसने के वाद ही अपनी आस्था का अंग वनाया था ।

यह तत्त्वानुसंधान-पद्धति कविराजजी का अपनी अन्तरार्जित सम्पत्ति थी, किसी बाह्य गुरु अथवा महात्मा से प्राप्त नहीं । योग, तन्त्र तथा आगम-शास्त्र के ये विश्व में अन्यतम विद्वान् माने जाते थे, किन्तु इन्हें इन शास्त्रों का उपदेश देनेवाले गुरु का संधान आज तक न उनकी जन्मभूमि वंगदेश में प्राप्त हो सका, न कर्मभूमि काशी में । इस विषय पर प्रश्न करने पर भी श्रीचरणों ने नकारात्मक उत्तर ही दिया । संयोगवश इन्होंने स्वानुभूति-संवेदन की जो सामग्री इन पंक्तियों के लेखक को दी है और जिज्ञासुओं को लिखे गये पत्रों में अनुभवसिद्ध योगी के रूप में उच्च आध्यात्मिक दशाओं का जैसा आधिकारिक निरूपण किया है, उससे इनके ज्ञानार्जन का स्रोत अनायास ही विवृत्त हो जाता है ।

जीवन के महालक्ष्य से सम्बद्ध अनुभवों का प्रकाश कविराजजी को अपनी लोक-यात्रा के आरम्भिक काल से ही होने लगा था । १९१६ ई० में रेवाड़ी स्टेशन पर एक वेंच पर वैठे हुए इन्हें सहसा दिव्यानुभव का प्रकाश मिला । इसके वाद कुछ वर्षों तक लम्वे व्यवधान के वाद उसकी आवृत्ति होती रही । १९१८ ई० में दीक्षा के पश्चात् गुरुदेव ने स्वप्न में दर्शन देकर इन्हें ज्योति और प्रकाश का अन्तर हृदयंगम करने का आशीर्वाद दिया । उनके द्वारा उपदिष्ट रीति से साधना करते-करते इन्हें दिव्य ज्ञान की उपलब्धि हो गयी । इन्हें ज्ञात हुआ कि प्राकृत प्रकाश से बाह्य जगत् तथा अप्राकृत प्रकाश से नित्यधाम, अप्राकृत देहादि प्रकाशित होते हैं । विशुद्ध प्रकाश अथवा चिदात्मक स्वयंप्रकाश विशुद्ध स्वरूप का विस्फुरण है । इस बोध के साथ ही इनके अध्यात्मविषयक सारे संशय निवृत्त हो गये । फिर गुरु-शिष्य, प्रवुद्ध-प्रवुद्धमान भाव से आन्तरिक प्रक्रिया द्वारा प्रश्नोत्तर सहज ही चलने लगा । प्रवुद्धमान सत्ता और नित्य प्रवुद्ध सत्ता दोनों का परस्पर उन्मुख होना ही योगियों की आवर्जन-क्रिया है । इसके द्वारा इनके सारे संशय छिन्न हो गये और अपेक्षित साधना-पद्धतियों और शास्त्रों का ज्ञान स्वतः प्राप्त हो गया । इस प्रकार की अनुभूतियों के अवतरण-काल में इनको आँखों के सामने से प्राकृत आवरण हट जाता था और दैवी वाणी स्पष्ट सुनाई देने लगती थी, भीतर से शब्द विद्युत्-प्रकाश की भाँति प्रस्फुटित होते थे । स्मृति-पटल पर अंकित उन शब्दों को ये लेखबद्ध कर लेते थे । आध्यात्मिक मनोदशाओं का निरूपण करते समय यदा-कदा उद्दीप्त इनका सात्त्विक आवेश परम सत्ता के प्रत्यक्ष दर्शन और तात्कालिक बोध का ही फल था ।

अखण्ड आत्मानन्द में निरन्तर मग्न रहते हुए इन्हें जीवन के घोर झंझावात प्रभावित नहीं कर सके । बड़ी-से-बड़ी आपत्तियाँ आयीं, किन्तु वे महासागर की सतह को स्पर्श करती हुई क्षितिज में लीन हो गयीं । स्वाराज्य के अपार वैभव के भोक्ता इस महामानव की दृष्टि में लौकिक पद-प्रतिष्ठा सदैव तुच्छ एवं उपेक्षणीय रहे । इनके साधनापुष्ट पाण्डित्य की अभ्यर्थना में शासन तथा राष्ट्र की गण्यमान्य संस्थाओं ने उपाधियों की वर्षा की, किन्तु वह इस लोकोत्तर महापुरुष के प्रशान्त मानस को रंचमात्र भी हर्षोद्वेलित न कर सकीं ।

जीवनव्यापी अर्थाभाव इनकी परमार्थ-साधना में किंचिन्मात्र भी व्यवधान उपस्थित करने में समर्थ न हो सका । इस प्रकार इनकी अखण्ड-महायोग-साधना लोकलीला में पदे-पदे प्रकाशित होती रही । दार्शनिक अनुभूतियाँ आचरण में व्यक्त हो साधकों के लिए अजस्र प्रेरणा-स्रोत बन गयीं । ज्ञान आचार का स्वरूप प्राप्त कर कृतार्थ हो गया ।

कविराज महाशय श्री राधाकृष्ण के 'ज्ञानी भक्त' थे । बाल्यावस्था में इनके द्वारा की गई कुलदेवता 'गोपीनाथ' की आराधना जीवनव्यापी साधना द्वारा परिणतवय में किस प्रकार ढली थी, इसका किंचित् आभास इनकी प्रसिद्ध कृति 'श्रीकृष्ण-

प्रसङ्ग' की निम्नांकित पंक्तियों से प्राप्त किया जा सकता है—

> श्रीकृष्ण-तत्त्व युगनद्ध अवस्था का द्योतक है। इसको साधारणतः युगभाव कहा जाता है अर्थात् कृष्ण व राधा ये दोनों अंश सम्मिलित होकर एक ही परम तत्त्व के रूप में प्रकाशित होते हैं। कृष्ण राधा से विरहित भाव से एवं राधा कृष्णविरहित भाव से आपेक्षिक स्वतंत्रता लेकर प्रकाशित हो सकती हैं, यह ठीक है। किन्तु तब वह युगलतत्त्व नहीं है। युगलतत्त्व अविनाभाव-सम्बन्ध के बिना सिद्ध नहीं होता। यद्यपि महाचैतन्य से युगलतत्त्व को किंचित् निम्न कोटि में रखकर ग्रहण किया गया है तथापि यह सत्य है कि दोनों के बीच वास्तव में उच्च-नीचभाव नहीं है। केवल तत्त्वविश्लेषण व परिस्फुटता के लिए एक कल्पित भेद स्वीकार करके महाचैतन्य से पृथक् रूप से युगलतत्त्व की व्याख्या की जाती है। वस्तुतः एक व दो पृथक् नहीं हैं। तीन से ही पार्थक्य या बहुत्व की सृष्टि होती है। एक पहलू से जो एक है दूसरे पहलू से वही दो है। वस्तुतः दोनों ही पहलू मूलतः एक ही वस्तु हैं। इस कारण ही दार्शनिक परिभाषा में एक को समझाने के लिए दो पृथक् शब्द नहीं है। एकमात्र द्वय या द्वैत शब्द से ही अद्वैत या अद्वयरूप में एकत्व की कल्पना की जाती है। वस्तुतः साम्य ही एकत्व है, वैषम्य ही द्वैत है। राधाकृष्ण की जो अद्वैत अवस्था है, जिस अवस्था में राधाकृष्ण के परस्पर पार्थक्य की प्रतीति नहीं होती, वही अद्वय ब्रह्म है और जिस अवस्था में अद्वय ब्रह्म में क्षोभ न रहने पर भी क्षोभ का विकास होता है वही राधाकृष्ण युगलतत्त्व है। पारमार्थिक दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है।
>
> —श्रीकृष्णतत्त्व, पृ० २८६-२८७

भ० प्र० सिं०

गोपीनाथ 'द्विज'

गोपीनाथ 'द्विज' नाम के एक भक्त का उल्लेख 'भक्तमाल' में आया है, किन्तु तथ्यों के अभाव में यह कहना कठिन है कि ये दो व्यक्ति थे या अभिन्न। ये मैनपुरी जिले की करहल तहसील में स्थित दिहुली ग्राम के निवासी थे। गोपीनाथ 'द्विज' अकबर के राज्यकाल में उपस्थित माने जाते हैं। इनके गुरु चतुर्भुजजी आगरा के रहनेवाले थे। इन्होंने सं० १६३९ में 'भागवत-दशम-स्कन्ध-पूर्वार्द्ध' का भाषा में पद्यानुवाद किया था। इस काव्यकृति के मात्र ४१ पन्ने प्राप्त होने की सूचना खोज-रिपोर्ट १९२९–३१ नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से मिलती है। इसमें कृष्ण के बाल तथा कैशोर जीवन की घटनाएँ भागवत के दशम-स्कन्ध के आधार पर वर्णित हैं।

ह० नं० भा०

त्रि० ना० सिं०

गोपेश्वरशरणदेवाचार्य

श्री गोपेश्वरशरणदेवाचार्य निम्बार्क-पीठ परम्परा की ४५वीं पीढ़ी में विद्यमान थे। इनका जन्म जयपुर मण्डलान्तर्गत हस्तेड़ा नामक ग्राम के गौड़ ब्राह्मण-वंश में हुआ था। इन्होंने सम्प्रदाय पर छाये हुए विपरीत वातावरण के कारण जयपुर की लाखों रुपये की सम्पत्ति का परित्याग कर त्याग एवं धर्मनिष्ठा का परिचय दिया था। संक्षेप में यह घटना इस प्रकार है—

श्री गोपेश्वरशरणदेवाचार्य विक्रम सं० १९०० में श्री निम्बार्काचार्य-पीठ पर आसीन हुए। उस समय जयपुर के सिंहासन पर महाराजा सवाई रामसिंहजी विराजमान थे। कुछ दिन तक तो सभी कुछ सामान्य रूप से चलता रहा, महाराजा अपनी सभी पूर्व मर्यादाओं का भली प्रकार पालन करते रहे। किन्तु कुछ समयोपरान्त बक्शीराम नामक एक व्यास को महाराजा रामसिंहजी की सेवा में रख दिया गया। इस व्यास के द्वारा नियुक्त कुछ अवैष्णव तांत्रिकों ने राजा पर अपनी तंत्रविद्या का प्रयोग करना आरंभ कर दिया। परिणामस्वरूप वे शैव-मत के कट्टर अनुयायी हो गये। फलतः जयपुर नगर धार्मिक वाद-विवाद का केन्द्र बन गया। यह वि० सं० १९११ का समय था।

एक बार जब महाराजा रामसिंह जगदीश-यात्रा के अवसर पर वाराणसी पधारे तो विशिष्ट स्मार्त और वैष्णव विद्वानों ने एक पत्र पर हस्ताक्षर कर वैष्णव-धर्म की सर्वोत्तमता प्रमाणित कर आपको दिया एवं अपने हठ का परित्याग कर वैष्णव-धर्म को स्वीकार करने का नरेश से आग्रह किया। किन्तु महाराजा के विचारों में कोई परिवर्तन न आया, अपितु यह हठ उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। महाराजा के इस दुराग्रह से जयपुर की धार्मिक जनता एवं बहुत से राजपुरुष खिन्न थे। अन्त में महाराजा की इस हठवादिता से खिन्न होकर महन्तों एवं वैष्णवाचार्यों ने विचार-विमर्श कर निर्णय किया कि "यदि नरेश दुराग्रहपूर्वक वैष्णव-धर्म की अवहेलना करना नहीं छोड़ेंगे तो हमारे लिए सबसे अच्छा उपाय है कि 'कर्णौ पिधाय निरयात्' के अनुसार सभी वैष्णव जयपुर का परित्याग कर दें।'

इस निर्णय के कुछ दिनोपरान्त महाराजा श्री रामसिंह 'श्रीजी' के मन्दिर में दर्शनार्थ पधारे। दर्शनोपरान्त नरेन्द्र ने आचार्य (गोपेश्वरशरणदेवजी) से प्रार्थना की—"आचार्य! आप चाहें भस्म एवं रुद्राक्ष-धारण न करें, हमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु हमारा आपसे यह अनुरोध है कि जब भी आपकी सेवा में भस्म और रुद्राक्ष अर्पित किये जायँ, तब आप उन्हें स्वीकार कर लें। आप उन्हें स्पर्श ही कर। लें बस, यही हमारी प्रार्थना है।" इस पर आचार्य ने राजा को समझाते हुए कहा कि "नरेन्द्र! भस्म और रुद्राक्ष ऐसी कोई गर्हित वस्तु नहीं, जिसका कि हम स्पर्श भी न कर सकें। अपितु यह तो महाकालेश्वर भगवान् शंकर की आराधना में परमोपयोगी एवं पुनीत वस्तु हैं। किन्तु जिस देव की आराधना में जिस वस्तु का उपयोग करना शास्त्रों में वर्णित है उसी वस्तु द्वारा आराध्य की उपासना करना उचित एवं श्रेयस्कर है, जिस प्रकार कि लवण और दूध दोनों वस्तुएँ परमोपयोगी हैं किन्तु यदि इन दोनों का मिश्रण करके प्रयोग में लाया जाय तो वह एक निरर्थक एवं हानिकारक आहार होगा। अतः किसी देवता के पूजा-विधान की वस्तु का अन्यदेव की आराधना में उपयोग करने का परिणाम अहितकर ही होगा। भगवान् विष्णु एवं उनके अवतारों (राम-कृष्णादि) की आराधना में तुलसी का ही उपयोग होता है, रुद्राक्ष का नहीं। अतः आप अपने इस राजहठ का परित्याग कर दीजिये, क्योंकि आपका यह दुराग्रह अनुचित एवं हमारा धर्महठ शास्त्रसम्मत है। फिर यदि हम आपके इस अनुचित राजहठ के आगे झुक गये तो एक तो यह शास्त्रविरुद्ध होगा, दूसरे आज हम समस्त वैष्णव-सम्प्रदायों के कर्णधार के रूप में मान्य हैं एवं धर्म-रक्षा के प्रति वचनबद्ध हैं, कल ही हमारी अपकीर्ति चारों ओर फैल जायेगी कि अमुक सम्प्रदायाचार्य ने आजीविका के प्रलोभन में धर्म-विरुद्ध होकर समस्त समाज को धोखा दिया। इसके विपरीत यदि आप अपने दुराग्रह का परित्याग करते हैं तो आपकी सुकीर्ति एवं सुयश का प्रसार होगा। लोग कहेंगे कि जयपुर-नरेश महान् धार्मिक हैं, जिन्होंने अपने हठ का परित्याग कर वैष्णव-धर्म की महानता को स्वीकार कर धर्म की ध्वजा को और भी ऊँचा किया। इसलिए आप इस राजहठ का परित्याग कर वैष्णव-धर्म की गरिमा को स्वीकार करें। इसीमें आपकी महानता है एवं यही श्रेयस्कर है।

इसके विपरीत यदि आप समझते हैं कि आपके द्वारा ही हमारा जीविकोपार्जन हो रहा है तो यह आपका भ्रम है। सर्वेश्वर प्रभु का साम्राज्य तो चारों दिशाओं में है। दुनिया का समस्त वैभव वहीं है जहाँ हमारे प्रभु हैं।"

आचार्यश्री का यह वक्तव्य सुनकर राजा निरुत्तर हो अपने राजमहल को लौट आये। इस घटना के कुछ दिनोपरान्त वैशाख शुक्ला १५ वि० सं० १९२१ को आचार्य श्री गोपेश्वरशरणदेवाचार्य ने राजा को बिना सूचना दिये ही जयपुर से प्रस्थान कर दिया। जब महाराज को इसकी सूचना मिली तब तक आचार्यश्री जयपुर से ४-५ मील दूर चले गये थे। सुनते ही

नरेन्द्र अश्रुपूरित नेत्रों से घोड़े पर चढ़कर आचार्यश्री को लौटाने चल पड़े। किन्तु चार-पांच मील चलने पर भी श्रीजी महाराज न मिले। तब साथवालों ने महाराज से कहा कि "महाराज आप महल लौट चलिये। श्रीजी महाराज जयपुर छोड़कर कहीं नहीं गये हैं। अभी अधिकारी पुजारी आदि यहीं हैं, आचार्य अवश्य ही लौटकर आयेंगे।" सबके समझाने पर नरेन्द्र लौट आये।

एक वर्ष व्यतीत होने पर भी जब आचार्य न लौटे तो नरेन्द्र स्वयं सलेमाबाद गये, किन्तु उस समय श्रीजी महाराज जोधपुर गये हुए थे, अतः दोनों का सम्मिलन न हो पाया। धीरे-धीरे मन्दिर के अधिकारियों को जयपुर से सलेमाबाद बुला लिया गया। इस विवाद में सभी वैष्णवाचार्य एकमत थे। जब श्रीजी महाराज ने जयपुर छोड़ा तो वल्लभकुल के श्री गोकुलचन्द्रमाजीवाले गोस्वामीजी ने भी जयपुर छोड़कर कामवन को अपना निवासस्थान बना लिया।

जयपुर-नरेश ने आचार्यश्री को पुनः जयपुर बुलाने के अनेक प्रयत्न किये, किन्तु दृढ़प्रतिज्ञ आचार्य ने अपना निश्चय नहीं बदला। हारकर जयपुर-नरेश ने वि० सं० १९२४ को श्रीजी महाराज के मन्दिरों का पूरा प्रबन्ध राज्याधीन कर दिया। आचार्य को तो जयपुर से इतनी ग्लानि हो गयी थी कि ये उसका नाम तक नहीं सुनना चाहते थे। इतना ही नहीं, जब ये वृन्दावन आदि जाते थे तो जयपुर राज्य की सीमा समाप्त होने तक जल भी ग्रहण नहीं करते थे। इस प्रतिज्ञा का आपने जीवनपर्यंत पालन किया।

आपके त्याग का एक अन्य उदाहरण भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। जिस समय आचार्यश्री ने जयपुर राज्य का परित्याग किया, उस समय आचार्यपीठ में साधु, सन्त और कर्मचारियों को मिलाकर कुल तीन सौ के लगभग व्यक्ति थे। एक तो आय कम और खर्च ज्यादा, दूसरे एक-दो वर्ष अकाल का सामना भी करना पड़ा। ऐसी स्थिति में पीसांगणां के रावराजा ने अपना समस्त राज्य श्री सर्वेश्वर प्रभु को भेंट कर दिया। जब आचार्य ने राजा साहब द्वारा अर्पित उस भेंट-पत्र को पढ़ा तो आप उनकी भक्ति-भावना से अत्यन्त प्रभावित हुए। आचार्य ने नरेन्द्र को समझाया—"राजन्! श्री सर्वेश्वर प्रभु सर्वशक्तिमान् एवं समस्त विश्व के राजा हैं। मात्र जयपुर राज्य की जागीर छोड़ने से उनकी सेवा में किसी प्रकार का व्यवधान आने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर आपका राज्य-परिकर भी श्री सर्वेश्वर प्रभु का ही परिवार है। अतः आप अपने राज्य का स्वयं उपभोग करें। इस राज्य का भरण-पोषण करना एक तरह से सर्वेश्वर प्रभु की सेवा के ही समान है।"

किन्तु आचार्य के अनेक प्रकार से समझाने पर भी रावराजा न माने। अन्ततः आचार्य ने कहा कि "हमें आपकी भेंट स्वीकार है। किन्तु आपको प्रसादी तो अवश्य ही लेनी पड़ेगी। लीजिये, ये श्री सर्वेश्वर प्रभु की प्रसादी स्वरूप पीसांगणां राज्य की जागीरी। इस प्रसादी को स्वीकार कर आप मात्र दो सौ रुपये श्री युगलकिशोर श्री श्यामाश्याम के सेवार्थ प्रतिवर्ष अर्पण कर दिया करें।" इस आदेश को राजा ने 'गुरोराज्ञा गरीयसी' मानकर शिरोधार्य किया। पीसांगणां-नरेश ने श्री सर्वेश्वर प्रभु की आदर्श एवं अनुकरणीय सेवा की। इस कुल की राजमहिषी सहित समस्त परिजनों ने सर्वेश्वर प्रभु की सेवा का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया।

जब आचार्य प्रभु के सहित तीर्थाटन को जाते थे तो आपके साथ हाथी, घोड़े, ऊँट, रथ, पालकी एवं सर्वेश्वर प्रभु के दुग्धाभिषेकवाली सुरभी (गाय) भी चलती थीं, किन्तु आचार्यश्री इस समस्त वैभव को श्री सर्वेश्वर प्रभु का वैभव मानकर श्री राधाकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति श्रीमद्भागवत को हाथी पर विराजमान कराकर एवं श्री सर्वेश्वर प्रभु को अपने गले में धारण कर स्वयं पैदल चलते थे। आपके इस तपोमय आदर्श से राजस्थान के भक्तजन अत्यन्त प्रभावित थे।

इस प्रकार आदर्श आचार्य के समस्त गुणों का निर्वाह करते हुए विक्रम सम्वत् १९२८ को अनादि-वैदिक सद्धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए आपने श्रीराधासर्वेश्वर प्रभु की नित्य निकुञ्ज-लीला में प्रवेश किया।

आपका पाटोत्सव माघ कृष्णा दशमी को मनाया जाता है।

प्रे० ना० श्री०

गोरीदास

श्री गोरीदास राधा-कृष्ण के अनन्य उपासक थे। 'रसिक-अनन्य-परचावली' तथा 'चतुर्थ-वसंत-प्रबंध' नामक ग्रन्थों में इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं—

कुंज भवन प्रिय रवन प्रीति सौं सेइ सदाई।
श्री व्रजपति गुरु परसाद साधुता सवविधि पाई॥

आरज मुख की गिरा बाँचि रसिकन रस प्यावै।
विरक्त जनन सौं हेत प्रसाद बाँटि नित पावै॥

करि उत्थापन प्रभु कौ सुचित,
तन तज्यौ मध्य द्वै घरी भर।
अति कृपा करी सो लखि परो,
नव गोरी गोरीदास पर॥

—रसिक-अनन्य-परचावली

श्री व्रजपति गुरु तें लहि प्रसाद।
रस भजन परायन गोरी दास॥

श्री कुंज-रवन सेये अति हुलास।
फगुवा मिल्यौ पहुँचे जुगल पास॥

—चतुर्थ-वसन्त-प्रवन्ध

इन्हें श्री हित राधावल्लभीय सम्प्रदाय की मंत्र-दीक्षा गो० कृष्णचन्द्रवंशीय गो० व्रजपति से प्राप्त हुई थी। ये सेवाकुंज में विराजमान श्रीजी की अष्टयाम सेवा-पूजा वड़ी प्रीति से करते थे। सेवा से अवकाश प्राप्त होने पर ये श्री हित-वाणियों पर सरस प्रवचन किया करते थे जिसे सुनकर भक्तों का हृदय रस-स्नात हो जाया करता था। "श्री हरिवंश प्रेम रस झिले-क्यों सोहें लोगन में मिलै"—ऐसे विरागी और वृन्दावनरसानुरागी रसिकों को ढूँढ़-ढूँढ़कर उन्हें श्रीजी का प्रसाद खिलाकर हो भोजन ग्रहण करने का इनका नित्य नियम था। वृन्दावन-रस-भजन-परायण साधुओं में जो अलौकिक गुण कहे गये हैं—वे सब इनमें विद्यमान थे। एक दिन श्रीजी का उत्थान (अपराह्न में श्रीजी को शय्या से उठाकर सिंहासन पर विराजमान) करने के बाद ही इस भौतिक शरीर को छोड़कर ये सवके सामने ही निकुंज महल में प्रविष्ट हो गये। इस घटना को देखकर सभी रसिकों ने कहा था कि गौरांगी श्री प्रियाजी की कृपा तो वास्तव में गोरीदासजी पर हुई है।

इनका विद्यमान-काल सं० १७२० से सं० १८०० तक अनुमानित किया जा सकता है।

श्या० बि० खं०

गोवर्धन

गोवर्धनजी की प्रशंसा में 'चतुर्थ-वसंत-प्रबंध' में निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होता है—

गोवर्धन फगुवा लह्यौ एह।
प्रभु मुख आज्ञा पायौ सु मेह॥

राधा गृह आइ बसे सदेह।
मिल्यौ अलभ लाभ बढ्यौ पद-सनेह॥

ये गो० कुंजलालजी के कृपापात्र स्वामी रामदासजी के शिष्य थे। ये कहाँ के निवासी थे, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। स्वामी रामदासजी से मंत्र-दीक्षा लेने के उपरान्त यह अपने जन्मस्थान में ही पारिवारिक जीवन व्यतीत कर रहे थे। एक दिन इन्हें स्वप्न में प्रभु ने आज्ञा दी—'तुम भूल गये क्या! जै श्री हित हरिवंश अनत सचु नाहीं बिनु या रजहिं लिये।' यह सुनते ही गोवर्धनजी उठ खड़े हुए और विचारने लगे कि इसका क्या अर्थ है? प्रेरक प्रभु की इच्छा से इन्हें इस आदेश का रहस्यमय अर्थ भी ज्ञात हो गया और ये चल पड़े,

वृन्दावन की ओर, इस उद्देश्य से कि मुझे वृन्दावन-रज-प्राप्ति हो जाय। वृन्दावन में आकर ये गुरुवर के सान्निध्य में निवास करने लगे। समर्थ गुरुचरणारविन्दों की कृपा से इनके जीवन में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। गुरु और इष्ट की प्रत्येक सेवा सानुराग करते हुए ये अनुक्षण श्री हरिवंश-नाम का स्मरण करते रहते थे। यहाँ तक कि सोते समय भी इनके दोनों ओष्ठ चलते ही रहते थे जिसे देखकर रसिकों को विश्वास हो गया था कि ये निद्रावस्था में भी श्री हरिवंश-नाम का जाप करते हैं। कालान्तर में परमोपास्य युगलवर के महल की माहिली प्रीति इन्हें प्राप्त हो गयी। उस परम-प्रीति-प्राप्ति के उन्माद में ये कभी रोते, कभी गाते, कभी हँसते और कभी-कभी तो घंटों एकटक दृष्टि से न जाने किसको निहारते रहते थे। इन लक्षणों को इंगित करते हुए लोग कहते थे कि इन्हें गुरु-कृपा प्राप्त हो गयी है। सेवकजी ने कहा है—

निरखत नित्य विहार पुलकित तन रोमावली।
आनँद नैंन सुढ़ार यह कृपा जु श्री हरिवंश की॥

• • •

छिन-छिन रुदन करन्त, छिन गावत आनन्द भरि।
छिन-छिन हहर हसंत, यह कृपा जु श्री हरिवंश की॥

इसी रसोन्माद-दशा में जीवन के अन्तिम दिवस व्यतीत करते हुए ये तन-मन से वृन्दावन में लीन हो गये। सभी रसिकों के मुख से एक ही स्वर निकल रहा था—

'वृन्दावन पायौ तौ पाइवौ कहा रह्यौ।'

इनका विद्यमान-काल सं० १७५० से सं० १८३० के बीच अनुमानित है।

श्या० बि० खं०

गोवर्धनदास (प्रथम)

गोवर्धनदासजी का आविर्भाव-काल एवं जन्म-स्थान अज्ञात है। ये गोस्वामी दामोदरवरजी (सं० १६३५-१७१५) के शिष्य थे। नाम-जप एवं भाव-साधना में इनकी अगाध निष्ठा थी। ये सदैव एकरस रहते हुए श्री राधावल्लभ का यश-श्रवण किया करते थे। कहा जाता है कि कुंज-क्रीड़ा के आनन्दरस में ये निरन्तर निमग्न रहते थे। यही कारण है कि ये हरि एवं हरि-जनों के आजीवन स्नेह-भाजन बने रहे। व्रज के बरसाना आदि लीला-स्थलों का भ्रमण इनकी दिनचर्या थी। इनके सम्बन्ध में 'रसिक-अनन्य-परचावली' का निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है—

सुमति सदा रस एक रहत राधापति जस में।
भीने अति आनन्द कुञ्ज कौतिक के रस में॥

श्री दामोदर गुरु शरन भरन अभिलाषा मन के।
याही तैं अति भये भावते हरि, हरि-जन के॥

श्री हरिवंश कृपा करी, नित पावत प्रेम उछिष्ट कौं।
गोवर्धनदास ब्रजधर रमत, नाम सदा रुचि इष्ट कौं॥

—रसिक-अनन्य-परचावली, छन्द १६५

ल० च० गो०

गोवर्धनदास (द्वितीय)

गोवर्धनदास भार्गव ईश्वरीप्रसादजी के आत्मज थे। इन्होंने व्रजवासीदासजी के 'व्रज-विलास' ग्रन्थ के आधार पर 'व्रजविलास सारावली' की रचना की थी। ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण के अन्तर्गत इन्होंने स्पष्ट लिखा है—

व्रजविलास ब्रजराज को, सकल सार को सार।
ललित काव्य तुम कृत बिदित, कथा अमित बिस्तार॥
रचौं ग्रन्थ सारावली ब्रजबिलास को सार।

भूढ़र-वंश में जनमे गोवर्धनदासजी ग्राम भोयड़े के निवासी थे—

भूढ़र वंस जनम लियो भयो गोवर्धनदास।
पुत्र ईश्वरीसिंह को ग्राम भोयड़े वास॥

'व्रजविलास सारावली' का रचनाकाल १८९० ई० के निकट स्थिर किया जा सकता है। ग्रन्थ की समाप्ति पर कवि ने लिखा है—

पढ़ो न विद्या काव्य की, लख्यो न कोऊ ग्रन्थ।
सुमिरन हरि हरिजनन को, पायो सूधौ पंथ ॥

इस ग्रंथ में कवि के अनुसार "श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के जन्म से भँवरगीतपर्यन्त की कथा संक्षेप रीति से सरल दोहों में वर्णित है।" यह ग्रन्थ बड़े आकार के ११५ पृष्ठों में फैला हुआ है। इसमें कुल ११७३ दोहे हैं। अध्यायों का क्रम श्रीकृष्ण-लीला के अनुसार रखा गया है। इसकी भाषा काव्योपयोगी व्रजभाषा है। कवि ने कला-चातुरी को महत्त्व न देकर भक्तिभाव के निश्छल उद्‌गारों को अपेक्षाकृत अधिक प्रश्रय दिया है। इन रचनाओं के आधार पर गोवर्धनदासजी को उच्चकोटि का वैष्णव और विशिष्ट कवि माना जा सकता है।

सू० प्र० दी०

गोवर्धनदास (तृतीय)

गोवर्धनदासजी का जन्म रीवाँ के 'ककरा' नामक ग्राम के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके पिता श्री राधाकृष्ण के परमभक्त एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। पिता ने इनका नाम कुञ्जबिहारी रखा था। वाल्यावस्था से ही श्री जगन्नाथजी की महिमा सुनते-सुनते आपके हृदय में उनके प्रति प्रेम का अंकुर पनपने लगा। धीरे-धीरे यह प्रेम अपनी परिपक्वता को प्राप्त करने लगा। अंततोगत्वा घरबार छोड़कर ये श्री जगन्नाथजी के दर्शनों के लिए चल पड़े। मार्ग में राजनाँद नामक ग्राम में ठहरे। यहाँ पर निम्बार्क-सम्प्रदाय का एक वहुत सुन्दर आश्रम था। परम्परानुसार यहाँ के राजा इसी आश्रम के शिष्य होते थे। संयोगवश ये उसी आश्रम में ठहरे। उस समय वहाँ के राजा श्री घासीरामजी दर्शनार्थं आश्रम में पधारे। यहाँ राजा का इनसे परिचय हुआ। राजा ने आपसे प्रभावित होकर अपनी सुपुत्री भक्तिमती अन्नपूर्णादेवी का विवाह (सं० १९३८ में) आपके साथ बड़े धूमधाम से किया। इसके बाद ये निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। 'गोवर्धनदास' नाम इसी समय दिया गया। किन्तु कालान्तर में स्थानीय जन-समाज द्वारा प्रदत्त इनका 'दाऊजी' नाम ही अधिक प्रचलित हुआ। कुछ दिनोपरान्त राजकुमारी अन्नपूर्णा का देहान्त हो गया। पत्नी की मृत्यु से आपको बहुत दुःख हुआ। राजा ने अपनी द्वितीय पुत्री का विवाह भी इनके साथ कर दिया। राजकुमारी अत्यन्त सुन्दरी एवं विदुषी थीं। अतः आप पुनः घर-गृहस्थी के चक्कर में फँस गये। किन्तु ईश्वर को तो इन्हें सांसारिक मायाजाल से मुक्त कराकर अपनी शरण में लेना था। अतः इस राजकुमारी का भी वि० सं० १९४७ में स्वर्गवास हो गया।

परमविदुषी एवं सुन्दरी धर्मपत्नी के बिछोह से आपको गहरा आघात लगा और समस्त सांसारिक वैभव-विलास से विरक्ति हो गयी। परिणामस्वरूप सब काम छोड़कर ये 'भवरमरा' नामक स्थान पर सं० १९५२ में चले आये। यहाँ आकर ये श्री गोपालजी की सेवा में लग गये। कष्ट पर कष्ट सहने के कारण आपका हृदय अत्यन्त संवेदनशील एवं सहिष्णु हो गया था। साधु-सन्तों के प्रति आपकी निष्ठा और भी बलवती हो गयी थी।

इनके द्वारा रचित पद बड़े ही सरस, सुन्दर एवं सरल बन पड़े हैं। इनके पदों में श्री राधाकृष्ण एवं सखियों के परस्पर हास-विलास एवं लीलाओं की सुन्दर अभिव्यंजना दृष्टिगोचर होती है। देखिए उदाहरणस्वरूप कुछ पद—

(१)

अरे मन ! राधा राधा रट रे ॥

निज तन नयन तमाशा निरखहु,
सलिल फेन कस तट रे।
स्वप्न-सरिस सुख सकल साहबी,
समुझि तजौ नटखट रे ॥

कौन दिवस किन घड़ी पलक में,
होय नाश तन चटपट रे।
गोवर्धन शठ बनै काह जब,
चलै ठाट मरघट रे ॥

(२)

अलीरी ! लखि गई दधि को चोर।
काह कहों सखि चतुर साँवरो,
छलिया नन्दकिशोर।
मिलत न कोटि यतन बहु कीन्हें,
औचक ही मिले भोर;
गोवर्धन कहु कैसे बने सखि !
वह ऐसो बरजोर।

(३)

आज परम आनन्द नन्द घर,
जसुमति सुत जायो मनहारो।
पूरन ब्रह्म सनातन प्रगटे,
जाको जस गावत श्रुति चारो॥

शेष गणेश दिनेश सुरेश महेश,
निरन्तर औ मुख चारी।
वीथिन वीथि मची दधि कीच,
मनोहर रागन गतिहि नारी॥

गोवर्धन लखि मगन होहि अति,
मुखछवि निरखि जात बलिहारी॥

(४)

अटकी नेह नवल नागर के,
और काहू ते कहा सरैगो।
नहिं रहि सकत नैन नयनन बिनु,
सुन सजनी का पंथ परैगो॥

कठिन पंथ निबहै विरलो जन,
नातर ऊपर पात परैगो।
गोवर्धन नव रसिक लाल रस,
नित रँग रंग रँगैगो॥

प्रे० ना० श्री०

गोवर्धनदास एवं मन्नालाल

श्री गोवर्धनदास एवं मन्नालाल ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए थे और सगे भाई थे। ये गुजरात में किसी स्थान के निवासी थे। इनका विस्तृत परिचय प्राप्त नहीं है। 'वार्ता-साहित्य' में इनके गोकुल आकर गो० विट्ठलनाथजी की शरणागति प्राप्त करने की चर्चा मिलती है। वार्ता में लिखा है—

> "सो वे दोऊ भाई गोकुल आये। सो ता समय श्री गुसाँईजी श्री नवनीतप्रियजी कौं राज भोग धरिकैं श्री जमुना स्नान संध्यावंदन करिबे को पधारे तो वैष्णवन के संग में गोवर्धनदास, मन्नालाल दोऊ भाई आये। तब श्री गुसाँईजी ने उन दोऊ भाइन को नाम सुनायौ। पाछे वे श्री गुसाँईजी की आज्ञा ले व्रजयात्रा को गये।"

स्पष्ट है कि गो० विट्ठलनाथजी ने इन्हें अपनी शरण में लिया था और इन्हें सेवा का कार्य भी सौंपा था। ये श्रीकृष्ण भट्टजी के यहाँ उज्जैन आया-जाया करते थे। इनकी स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। वैष्णव कवियों के बहुत से वृत्तांत इन्हें कंठस्थ थे और ये ७२ घंटे तक अखण्ड रूप से श्रीकृष्ण-भक्त वैष्णवों की वार्ता मौखिक रूप में सुनाने की शक्ति रखते थे। कहा जाता है कि इनकी वार्ताओं को सुनकर ही श्रीकृष्ण भट्ट ने उनको लिखित रूप दिया था। श्री राधा-कृष्ण-भक्तों में पुष्टिमार्गीय वैष्णवों की वार्ताओं के समर्थ प्रचारकों में इनका नाम अग्रगण्य है।

इनकी कोई भी रचना प्राप्त नहीं होती; लेकिन दोनों भाई भक्ति-भावपूर्ण थे। उसका यह प्रमाण है कि इन्हें श्री भगवान् की लीलाओं से जितना प्रेम था, उससे कहीं अधिक भक्तों की लीला से।

रा० कृ० श०

गोवर्धनदेव

श्री गोवर्धनदेव स्वामी पीताम्बरदेवजी के प्रशिष्य एवं हरिदेवजी के कृपापात्र थे। अपने गुरुदेव हरिदेवजी के पश्चात् ये रसिकविहारी मन्दिर के आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हुए। ये ललितमोहिनीदेवजी के समकालीन थे। इनके आचार्य-पद पर विराजमान

होने का समय वि० सं० १८२३ के लगभग था। वि० सं० १८२३ से १८५८ के मध्य तक आपने साहित्य-सृजन किया। इन्होंने रसिकविहारी मन्दिर (वृन्दावन), श्री नारदकुण्ड का मन्दिर (गोवर्धन) तथा सहाने ग्राम में श्री सनकादि मन्दिर का पुनरुद्धार कराया।

ये बड़े ही तेजस्वी एवं प्रभावशाली आचार्य थे। आपने निम्ब ग्राम में श्री निम्बार्कस्वामी के मन्दिर का भी निर्माण कराया। बड़े-बड़े सेठ-साहूकार आपसे प्रभावित होकर आपके अनुयायी बन गये। साधु-सन्तों का ये बहुत आदर-सत्कार करते थे। आपके कृपापात्र श्री विद्यानिधिजी ने आपकी प्रशस्ति में कहा है—

जय जय श्री गोवर्धनदेव महाप्रभु,
राधारसिक विहारी।
दरस-परस मन-मोद बढ़त नित,
रस पीवत सुखनिधि सारी॥

सुखरासी हरिदासी रसनिधि,
बीठल विपुल विहारी।
सरस नरहरि रसिक पीताम्बर,
हरि गोवर्धनधारी॥

इनके चरन-सरन जे आये,
ते जन विदित सुखारी।
वृन्दावन आनन्द विनोदी,
हिय बसि नित्य विहारी॥

जिनके चरन-सरन की महिमा,
आगम-निगम विचारी।
विद्वत जन विस्रामहि पावैं,
छकि रहे रूप निहारी॥

भवसागर सब दुख कौ आगर,
तामें मगन दुखारी।
'विद्यानिधि' कौं सरन राखि प्रभु,
भंजे भव-भय भारी॥

इनके द्वारा रचित कुछ फुटकर पद प्राप्त होते हैं जो अष्टाचार्यों की वाणी में संगृहीत हैं। आपके द्वारा रचित एक पद प्रस्तुत है—

सुमिरन श्री वृन्दावन धाम।
आनंदकंद प्रकाशित कलरव
सब विधि पूरन काम॥

सीतल नीर गंभीर सुगंधित
श्री यमुना फिर दाम।
कलियुग दोष दुखिन जनन को
यह निजजन विश्राम॥

जो सुमिरैं हृदय में आवत
तुरतहि श्यामाश्याम।
सुन्दर भाम मनोहर गुननिधि
यह आसा सेवत निज वाम॥

ब्रह्मादिक सुर नर मुनि गावत
पावत नाहिन नाम।
हंस सनक नारद निंबारक
श्रीनिवास शुभ नाम॥

श्री विश्वाचार्य पुरुषोत्तम
श्री विलास रूप अभिराम।
रसिकानन्य विहार सुगायक
श्री हरिदास सुं काम॥

श्री वीठल विपुल विहारि सरस मिलि
श्री नरहरिदेव ललाम।
श्री रसिक पीताम्बर श्री हरिशरने
गोवर्धन को यह वनठाम॥

प्रे० ना० श्री०

गोवर्धननाथ

भक्त-चरित्रों के अनुशीलन में दत्तचित श्री गोवर्धननाथ की प्रशस्ति 'रसिक-अनन्य-परचावली' के इन शब्दों में की गई है—

श्री गोवर्धन नाथ रमै निशिदिन सतसंगति।
कोविद रचना अर्थ रसिक रस गिरा पहुँच मति॥

ललित विशाल सु भाल मधुर मूरति सुख दैनी।
सज्जन परम सुशील बुद्धि समञ्जन गुन पैनी॥
श्री प्रियादास मिलि चुनि गुनै,
भक्तनि चरित्र सुख काज के।
कुल श्री बनचन्द सुता प्रगट भये,
भूषन रसिक समाज के॥

गो० श्री वनचन्दजी की पुत्री हित किशोरीजी के वंश में समुत्पन्न श्री गोवर्धननाथजी श्री रामनाथ-जी के बड़े पुत्र थे। ये अपने समय के रसिक-समाज के शिरोभूषण थे। इनका अधिक समय साधुओं के सत्संग में व्यतीत होता था। श्री हित-वाणियों के गूढ़ार्थ रत्नों को निकालने में इनकी अच्छी पैठ थी। ऐसी सुन्दर रहनी और कहनी होते हुए भी ये स्वभावतः निरभिमानी एवं परम सुशील थे। भक्त-चरित्रों के अनुशीलन और लेखन में इनकी जन्मजात रुचि थी। नाभादासजी के भक्तमाल के प्रसिद्ध टीकाकार श्री प्रियादासजी गौड़ीय ने इन्हींका सहयोग प्राप्त करके भक्ति-रसबोधिनी नामक टीका का निर्माण किया था। प्राप्त पदावली से दो रचनाएँ नीचे उद्धृत हैं—

(१)

उसीर भवन छायौ सुमन तामें बैठे,
राधा रवन एरी अंस भुजानि मेलि।
मृगमद घसि अँग लगाइ करपूर जल सिंचाइ अलप,
बूंदें चुचाइ सीत दोउ लागै री करत सुखद केलि॥

गावत सारंग सरस कोकिला सुनि होत विवस,
चल होत अचल या रस पुलकित द्रुम वेलि।
गोवर्धन हित विलास ग्रीषम रितु अति निवास,
ललितादिक निरखि नैन प्रवेश सुरस झेलि॥

(२)

हित सागर आगर तें प्रगटे,
श्री वनचन्द महा सुखदाई।
सकल रसिक उड़गन कौ राजा,
सदा सुथिर अथवै न सुहाई॥

पूरन कला विराजत दिन प्रति,
रह्यौ प्रकाश सकल जग छाई।
दिनकर ताप त्रिविध दुख मेटत,
करत परम सियराई॥

प्रफुलित होत रसिक हित कुमुदिन,
प्रेम बेलि सरसाई।
पूरन करी कामना सब विधि,
भई सबन मन भाई॥

नव निकुंज रस अमृत बरखत,
घर-घर बजत बधाई।
गोवर्धन हित नन्दन प्रगटे,
श्री राधा पद रज निधि पाई॥

श्या० वि० खं०

गोवर्धन भट्ट

श्री गोवर्धन भट्ट का चरित्र-वर्णन गोस्वामी चन्द्रलालजी ने अपनी 'वृन्दावन-प्रकाशमाला' नामक रचना में (रचनाकाल वि० सं० १८२४) किया है। ये श्रीकृष्ण भट्ट के वंशज थे। बहुत अधिक सम्भव है कि ये उनके पुत्र ही रहे हों क्योंकि गो० चन्द्रलालजी ने 'वृन्दावन-प्रकाशमाला' की रचना अपनी पूर्वस्मृति के आधार पर रूपनगरस्थित शाहपुरा में निवास करते हुए की था। इसमें जादौं रसिक द्वारा 'हित-रासमण्डल' पर हितोत्सव करने का विस्तार से उल्लेख हुआ है। श्री जादौं रसिक का निकुञ्ज-गमन-काल वि० सं० १८१३ सुनिश्चित है।

इनको जन्म से ही भक्तिपूर्ण वातावरण तथा रसिकों का सत्संग प्राप्त था। इनके पिता श्रीकृष्ण भट्टजी श्रीमद्भागवत के पटु वक्ता थे और भीमकुञ्ज पर नित्य ही अपनी रसमयी कथा द्वारा रसिकों के हृदय को तोष प्रदान किया करते थे। अपने पिताजी के निकुञ्ज-गमन के पश्चात् श्री गोवर्धन भट्टश्री ने श्रीकृष्ण-कथा के उस नित्य आयोजन-क्रम को जिसे इनके पिताश्री ने स्थापित किया था भलीभाँति सँभाला। आपकी सरस कथा को सुनने के लिए

रसिक-समाज लालायित बना रहता था। ये जब सरल-सुबोध शब्दों में गूढ़ातिगूढ़ भावों को खोलकर प्रस्तुत करते तो रसिकों को परम सुख की अनुभूति होती थी क्योंकि शब्दों में निहित भावार्थ के स्पष्ट होते ही रसिकों के नेत्रों के समक्ष लीलाविहारी राधा-माधव का वह भावचित्र आ खड़ा होता था। रसिकों ने कहा भी तो है—"शब्द-अर्थ की कुंज में, बिहरत श्यामा-श्याम।"

इनमें भक्त के सम्पूर्ण गुण विद्यमान थे। ये हरि-गुरु-हरिजन में अभेद-दृष्टि रखते थे। महाप्रसाद में निष्ठा और धाम की अनन्यता इनमें कूट-कूटकर भरी थी। ये वृन्दावन को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं गये और इन्होंने एक दिन इसी वन-रज में अपने पांचभौतिक देह को विलीन कर दिया। इनका विद्यमान-काल वि० सं० १७५० से वि० सं० १८४० के मध्य सुस्थिर होता है।

श्या० वि० खं०

गोवर्धनलाल

गोस्वामी गोवर्धनलाल का जन्म संवत् १९३३ में कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को हुआ था। ये राधा-वल्लभ-सम्प्रदाय की पटना-गद्दी के महात्मा कीरत-लालजो के बाद अधिकारी बने थे। इनकी बचपन से ही श्री राधावल्लभ तथा श्रीधाम वृन्दावन में अगाध श्रद्धा थी।

अपने समय के प्रख्यात भक्त होने के साथ ही ये अनेक भाषाओं के ज्ञाता भी थे। इनकी धार्मिक निष्ठा एवं भक्ति का प्रसाद पत्रकारिता को भी मिला। बिहार के आदिपत्र 'बिहार-बन्धु' का सम्पादन-भार जब इनके हाथ में आया तो इन्होंने सम्पादकीय स्तम्भ के ऊपर 'श्री राधावल्लभो जयति' एवं श्री राधाकृष्ण के चित्र के साथ मुखपृष्ठ पर गीता का श्लोक देना आरम्भ किया। सन् १९७६ ई० में इनकी जन्म-शताब्दी सम्पूर्ण भारत में मनाई गई थी।

प्रसिद्ध है कि इन्होंने श्री जगन्नाथपुरी में भगवान् के रथ के पीछे चलते-चलते ७०० पदों के 'प्रेम-जगदीश' नामक भक्तिकाव्य की रचना कर डाली थी। विद्वत्-समुदाय ने इनकी इस अद्भुत काव्य-शक्ति पर मुग्ध होकर इन्हें 'कवि-चूड़ामणि' उपाधि दी थी। इनकी दूसरी रचना है 'महाप्रसाद-महिमा'। वैष्णव-भक्ति के प्रचार के निमित्त रचित इनके अन्य ग्रन्थ 'अनन्य-वैष्णव-धर्म-प्रेम-प्रभा', 'पाखण्ड-मुख-चपेटिका', 'विलासिनी-कर्मठी-कार्य' आदि हैं। ये कई भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु अब अप्राप्य हैं। इनके अतिरिक्त प्रेमशतक, प्रेमप्रकाश, रागमाला आदि अनेक ग्रन्थ इनके द्वारा रचित बताये जाते हैं।

कवि-चूड़ामणि अपने असंख्य शिष्यों को छोड़ 'श्री राधा-राधा' कहते हुए सं० १९०० की श्रावण पूर्णिमा को निकुञ्ज-लीला में प्रविष्ट हो गये।

श्री जगन्नाथ-दर्शन के बारे में गद्‌गद चित्त से लिखा गया 'प्रेम-जगदीश' का एक पद है—

जय जगदीश हरे धुन सुन-सुन,
ध्यान नाथ कौ कीनौ।
शीतल तरु तल, शयन हस्तगल,
सोवत दर्शन दीनौ ॥

इष्ट-भजन से तुष्ट भये हम,
आव भक्त हरिवंशो।
इष्ट-भक्ति रति बढ़त रहै तुम,
प्रगट प्रेम हित अंशो ॥

यश-विस्तार निहार वेद-वपु,
प्रगट करौ जन काजैं।
मम प्रसाद भक्षण कर आगें,
फल कहियो भ्रम भाजैं ॥

जय जगदीश हरे, फिर धुन सुन,
चमकि उठ्यौ मग चाल्यौ।
मन-मन घुटत स्वप्न-सुख गद्‌गद,
लोग कहैं मतवालौ ॥

'चैतन्य-प्रेम-प्रभा' में अपना जीवनलक्ष्य व्यक्त करते हुए ये लिखते हैं—

कोइ राजा महराज कोइ, कोइ रानी महरानि।
हौं पायौं सब तीर्थमनि, वृन्दावन रजधानि॥

कोइ धनवान दयालु जग, कवि रसिकन रखवार।
गोवर्धन तन-मन गहत, लैं वृन्दावन डार॥

कोइ दस-बीस कृपालु मिल, जन साधारण मोय।
श्री वृन्दावन बसवाइये, कन जुग लै कर सोय॥

नहिं चाहौं धन घन तहाँ, अवगाहौं घन वारि।
तपन-सुता कुंजन चहौं, कन जूठन गिरधारि॥

इक टुकड़ा माधूकरी, श्रीहित जूठन शोध।
देवै जो वोही बड़ौ, (श्री) राधावर अविरोध॥

त० ना०

गोवर्धनलाल 'श्याम'

गोवर्धनलाल 'श्याम' का जन्म विदिशा जिले के गंजबसौदा नामक गाँव में सन् १८७९ ई० में हुआ था। ये शिक्षा हेतु बनारस गये। वहाँ जाकर सन् १८९५ ई० में इन्होंने क्वीन्स कॉलेज द्वारा संचालित मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। शान्तमय एवं पवित्र वातावरण में कृष्णोपासना के साथ जीने की इच्छा ले इन्होंने सन् १८९६ ई० में अध्यापकी प्रारम्भ की। ये अन्त तक इसी व्यवसाय में रहकर सन् १९३५ ई० में हिन्दी प्रधानाध्यापक-पद पर कार्य करते हुए सेवानिवृत्त हुए।

इनका 'प्रीति-प्रमोद' नाम से एक काव्य-संग्रह प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं 'कवीन्द्र', 'वाटिका' 'कवि', 'सुकवि', 'रसिक-रहस्य' आदि में इनकी ब्रजभाषा की अनेक कृष्णभक्तिपरक कविताएँ प्रकाशित होती थीं। इनका एक छन्द उदाहरणस्वरूप यहाँ दिया जा रहा है—

छावत हिये में सुख लावत तरंग संग,
आवत बसंत पीर उमग्यो अनंग है।
कूकै लगे कोकिल कपोत हूँ गटकै लगे,
मूकै लगे विरही लखात और रंग है॥
बाग बन फूलै लगे जोगी जोग भूलै लगे,
भोगी अनुकूलै लगे उड़त तरंग है।
श्याम ऐसे समय विचारि करि गौर देखा,
श्याम बिन गोकुल को होत कैसो ढंग है॥

त्रि० ना० शु०

गोविन्द अलि

श्री गोविन्द अलि के ऐहिक जीवन-सम्बन्धी सूत्र किसी भी सूत्र से समुपलब्ध नहीं होते। इनकी एकमात्र रचना 'भक्तगाथा' में उल्लिखित अन्तःसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि ये गो० कृष्णचन्द्रवंशीय गो० कृष्णदेव के आत्मज गो० व्रजलालजी के कृपापात्र थे तथा गो० कृष्णचन्द्रजी के सेव्य ठाकुर श्री राधामोहनजी के मन्दिर में ही रहा करते थे—

यह विनती गोविन्द की, सुनियौ रसिक अनन्य।
व्यास नन्द अरविन्द पद, बास सदा आरन्य॥

अभिलाषा वनराज में, उठी हंसजा पास।
राधामोहन वास अलि, गोविन्द हिये हुलास॥

श्री व्रजलाल कृपालु हित, कृष्णदेव के नन्द।
अपनाये गोविन्द अलि, काटि सकल भय फन्द॥

— भक्तगाथा

इन्होंने अपने जीवन में ही अनुभूत एक घटना का उल्लेख 'भक्तगाथा' के अन्त में बड़े ही सुन्दर और सरस शब्दों में किया है। वह घटना इनके रसिक-रूप का यथार्थ परिचय देती है। घटना इस प्रकार है—

रसिकों को अपना प्राण-सर्वस्व माननेवाले श्री गोविन्द अलि एक बार उनसे प्रार्थना कर रहे थे—'हे सुजान रसिको! मुझ पर ऐसी कृपा करो कि मुझे रसिकयुगल श्री श्यामा-श्याम का निकट साहचर्य प्राप्त हो जाय।' उसी समय इन्होंने अपने अन्तश्चक्षुओं से देखा कि प्रियाजी ने इन्हें अपने हाथ से अपना उतारन वस्त्र दे दिया है, श्री लालजी ने अपने गले की माला उतारकर इन्हें पहना दी है, श्री हित सखीजी ने बड़े लाड़ के साथ इनके सिर पर हाथ रखते हुए कहा—'अरी गोविन्द अली! तू बहुत ही

भाग्यशालिनी है, तभी तो तुझे श्री स्वामिनीजी ने यह बकसीस दी है।' वहीं पर उपस्थित इनकी गुरु अलि श्री व्रजलताजी ने रीझकर इन्हें अपनी उच्छिष्ट पान की वीरी भी प्रदान कर दी—

गोविन्द अलि की प्रार्थना, सुनियौं रसिक सुजान।
शरणागत अपनाय सिर, धरौ अभय कौं पान॥

धरौ अभय कौ पानि आनि गति नाहिंन मेरें।
तव प्रसाद सौं मिलें व्यास नन्दन जू नेरें॥

परौ रहौं वन राज धरि, आस हृदय अरविन्द।
प्रिया चरन तर देखिहौं, लुठत मुकुट गोविन्द॥

दियौ उतारन आप कर, प्रिया वसन तेहि काल।
झमकि उतारी तिहि समै, लाल गरें तें माल॥

ह्वै कृपालु श्री हित सखी, धरौ अभय कर सीस।
भले भाग्य तेरे अली, कुँवरि करी बकसीस॥

ये कौतुक व्रजलता गुरु, भृत्य आपनो जान।
दासी अलि गोविन्द कौं, दसन खंड दियौ पान॥

—भक्तगाथा

'भक्तगाथा' का रचना-काल श्री अलिजी के शब्दों में ही श्रावण कृष्णा पंचमी विक्रम सं० १८४४ है—

सम्वत अष्टादश अधिक, चालिस ऊपर चार।
सावन कृष्णा पंचमी, गाथा भक्त विचार॥

उक्त आधार पर इनका विद्यमान-काल वि० सं० १७६० से वि० सं० १८६० के मध्य में अनुमानित होता है।

श्या० वि० खं०

गोविन्दचरणदास

श्री गोविन्दचरणदास चैतन्य-संप्रदाय के अनुयायी थे। इनकी साधना-स्थली कुसुम सरोवर थी।

बाबा कृष्णदासजी के हस्तलिखित पोथीसंग्रह में 'रासपंचाध्यायी' नामक ३८ पृष्ठों की एक छोटी रचना प्रायः दो दशक पूर्व हमने देखी थी। इसकी लिपि वंगाक्षर में है और इसकी पुष्पिका वि० सं० १८८९ की है। यह रचना श्री गोविन्द महामन्दिर योगपीठ, वृन्दावन में पूर्ण हुई थी। रचना के परिशेष में 'गोविन्दचरनदास दीनहु भाषा पद कर गावहिं' दिया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गोविन्दचरणदास ने श्रीमद्भागवत की 'रासपंचाध्यायी' का ब्रज-भाषा अनुवाद किया जो श्रीधाम में पूर्ण हुआ था। लिपिकर्ता बंगाली महाशय पण्डितराज जगदीश ने सनातन महान्त के पठनार्थ यह कृति लिखी थी। लिपिकर्ता के बंगाली होने से कहीं-कहीं बंगला उच्चारण आ गया है अन्यथा उसकी भाषा आद्यन्त ब्रजी है। ग्रंथ के रचनाकाल से ग्रन्थकार का जन्म सं० १८५० वि० तथा तिरोधान वि० सं० १९१० के लगभग अनुमानित होता है।

ग्रंथारंभ में गुरु की स्तुति है, किन्तु गुरु के नाम का उल्लेख नहीं है, केवल महाप्रभु चैतन्य, नित्यानन्द प्रभु तथा षड्गोस्वामियों का अनुस्मरण है। रचना जिस रूप में लिपिबद्ध है, वह प्रायः अशुद्ध है। सम्पूर्ण श्लोकों का दोहा, चौपाई छन्दों में क्रमबद्ध अनुवाद किया गया है।

न० च० बं०

गोविन्ददास (प्रथम)

श्री गोविन्ददासजी चरणदासजी के शिष्य गुसाईं जुगतानंदजी के शिष्य थे। इनकी कोई स्वतंत्र रचना नहीं मिलती है। इनका अवस्थिति-काल वि० सं० १८५०-१९०० माना जा सकता है। इनके रचे कुछ पद संकलनों में मिलते हैं, जो सरस और प्रांजल हैं। यहाँ दो पद दिये जा रहे हैं—

(१)

आज दोऊ निकसे कुंज तें भोर।
आलस भरे नींद रस पागे निस जागे इक ठौर॥
आगे श्री वृषभाननंदिनी पाछें नंदकिसोर।
झूमत चलत झुकत ज्यों मायल लटके पटके छोर॥
दै चुटकी जमुहात परस्पर सुंदर स्यामल गौर।
तजि मारग चलि जात अनत ही दंपति अति चित चोर।
जन 'गोविन्द' बलिहारी चरन की आनन्ददायक मोर॥

(२)

अब मोहे कब अपनैहो श्याम।
भरमत-भरमत बहु दिन बीते पायो नहिं विश्राम ॥
अधम अजामिल कुमति कुजाति कूबरी के बस काम।
आन पुरुष निसदिन मन आसा पापिन गनिका बाम ॥
रैदासा अरु सदन कसाई गिनतो में नहिं नाम।
अति कुल नीच नीच सब करनी बेचत आमिस चाम ॥
बालमीक ठग सब जग जाने लूटत आठों जाम।
सो सिरमौर कियौ सुर-मुनि तें रीझें तुम्हरे काम ॥
कोटि-कोटि तुम पतित उधारे पहुँचाये निज धाम।
रह्यो जात है सबके पीछे जन 'गोबिन्द' गुलाम ॥

म० गो० भा०

गोविन्ददास (द्वितीय)

गोविन्ददासजी वृन्दावन में सेवाकुंज के पास रहते थे। यह सदैव निष्काम भाव से राधाकृष्ण की उपासना एवं ध्यान करते थे। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

चरणदास → गुरछौना → अषैराम → चेतनदास→ भगवानदास→मोहनदास→खूबदास→गोविन्ददास।

संसार से विरक्त रहते हुए इन्होंने संवत् १९६६ में परलोक-गमन किया।

म० गो० भा०

गोविन्ददास (तृतीय)

श्री गोविन्ददास हरिदासजी के भाई थे और तूंवर (तोमर) क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए थे। ये राजस्थान के खीरहटी परगने के बिहारीपुर गाँव के रहनेवाले थे तथा गोस्वामी श्री नागरवर के शिष्य थे। श्री गुरु ने इनके घर में श्री राधावल्लभलाल को पधरा दिया था। उनकी सेवा ये गुरु-परिपाटी के अनुसार बड़े समारोह से करते थे। ये उच्चकोटि के संगीतज्ञ भी थे और बहुत सुन्दर मुरली बजाते थे। इनके यहाँ सदैव साधुओं एवं गुणीजनों का समागम रहता था। इनका नियम था कि ठाकुरजी के अतिरिक्त अन्य किसीके सामने मुरली नहीं बजायेंगे। इनको बादशाह शाहजहाँ से मनसब मिला हुआ था। अपने इष्ट की सेवा-अर्चा से निवृत्त होकर ये अपने इलाके का कार्य देखते थे। चारों ओर इनकी शूरवीरता एवं न्यायप्रियता की ख्याति फैली हुई थी।

एक बार इनको बादशाह ने दिल्ली बुलाया। ये अपनी सेवा को चौडोल में विराजमान करके उसके पीछे चलते हुए दिल्ली पहुँचे। दिल्ली में भी इन्होंने अपना सवा प्रहर सेवा करने का क्रम जारी रखा। उसके पश्चात् ये बादशाह की सेवा में उपस्थित होते थे। इनकी निष्कपट स्वामिभक्ति से आकर्षित होकर बादशाह इनसे प्रेम करने लगा और उधर चुगलखोरों ने इनके विरुद्ध बादशाह के कान भरने आरम्भ कर दिये। वे लोग जानते थे कि गोविन्ददासजी अपने ठाकुरजी के अतिरिक्त अन्य किसीके सामने मुरली नहीं बजाते हैं। अतः उन्होंने बादशाह से इनके मुरली-वादन की प्रशंसा करना आरम्भ किया।

एक दिन बादशाह ने दरबार में गोविन्ददासजी से मुरली बजाने के लिये कहा। गोविन्ददासजी चुगलखोरों की दुरभिसंधि समझ तो गये किन्तु उन्होंने निर्भयतापूर्वक बादशाह से प्रार्थना की कि मैंने अपने प्रभु के सामने ही मुरली बजाने का प्रण ले रखा है। आपकी सेवा में तो मेरी तलवार उपस्थित है। उसको आप जहाँ कहें मैं चला सकता हूँ। बादशाह को यह सुनकर क्रोध आ गया और उसने झुंझलाकर कहा कि तलवार की ही बात करते हो तो उसे अम्बर के ऊपर चलाके दिखाओ। वह आज कितने ही दिनों से हमारे विरुद्ध विद्रोह करता घूम रहा है और किसीके हाथ नहीं आ रहा है। गोविन्ददासजी ने झुककर बादशाह को सलाम किया और अपने डेरे पर आकर राजद्रोही अम्बर की तलाश में लग गये। इनको पता चला कि अम्बर पालकी में सवार होकर अमुक दिन एक गाँव से दूसरे गाँव जायेगा। इन्होंने जाकर उसको घेर लिया और उसकी पालकी

पर पूरी ताकत से तलवार चला दी। तलवार पालकी के बाँस को काटकर अम्बर के सिर में घुस गई और उसका अंत हो गया। बादशाह यह समाचार पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने इनके मनसब में वृद्धि कर दी।

गोविन्ददासजी ने अपने भ्राता-पुत्र आदि सभी को दीक्षा दिलवा दी थी। सब ही परम गुरुभक्त एवं इष्ट-भजनपरायण थे। इनकी एक विवाह-योग्य पुत्री भी थी जिसको इन्होंने श्री गुरु की आज्ञा से अपने से हीन क्षत्रिय-कुल में प्रसन्नतापूर्वक दे दी। जाति-बन्धन के उस कठोरतावाले युग में इस बात की बहुत चर्चा हुई, किन्तु इन्होंने किसीकी परवाह नहीं की। इनके सम्बन्ध में परम्परा से निम्नांकित दोहे प्रचलित हैं—

प्रभु सेवा में निपुन ज्यों, त्यौं व्यौहारहि जान।
भगवत डर्‌यौ न साह सों हरिप्रताप उरआन॥

जिनके भृत्यन भृत्य तें, डरपें बड़े नरिन्द।
तृण सम तिर्नाहि गन्यौ नहीं, गोविन्द बल गोविन्द॥

ल० च० गो०

गोविन्ददास (चतुर्थ)

गोविन्ददासजी जन्मना वृन्दावनवासी थे। पुजारी श्री मनुआलालजी से इन्होंने श्री हित-धर्म की मंत्र-दीक्षा प्राप्त की थी। विरक्त वेश लेने के पश्चात् ये श्री नन्दरामजी के बगीचे में निवास किया करते थे। श्रीजी की अष्टयाम-सेवा करना और किसी साधु को नित्य प्रसाद पवाकर ही स्वयं प्रसाद लेना इनका अनन्यव्रत था। सबसे असंग होकर मितभाषी और सबसे असंगी बनकर अपनी कुटिया में ही भजन करना इनका सहज स्वभाव बन गया था। इस प्रकार एकाकी साधना करते हुए एक दिन ये निकुंजवासी हो गये। इनका निकुंज-गमन-काल अनुमानतः वि० सं० २०१० के आसपास है।

श्या० बि० खं०

गोविन्ददास (पञ्चम)

गोविन्ददास (पञ्चम) जो का जन्म दरभंगा जिले के लोहना गाँव में सोलहवीं शताब्दी में श्रोत्रिय ब्राह्मण-कुल में हुआ था। आप असाधारण कवि, विद्वान् और अनन्य कृष्ण-भक्त माने जाते हैं। इनकी कृष्ण-भक्ति के सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं जिनका उल्लेख 'गोविन्द-गीतावली' में श्री मथुरा-प्रसाद दीक्षित ने किया है। आपकी रचनाओं का संग्रह 'गोविन्द-गीतावली' नाम से प्रकाशित है। आपके द्वारा रचित कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी फुटकल पद तो मिलते हैं लेकिन आपकी महत्त्वपूर्ण रचना 'कृष्ण-लीला' अनुपलब्ध है। एक उदाहरण दिया जा रहा है—

भजहु रे मन नन्दनन्दन अभय चरणारविंद।
दुलभ मानुष जनम सत्संग तरह ए भवसिन्धु॥
शीत आतप बात बरखा ए दिन जामिनी जागि।
विफल सेवन कृष्ण दुरजन चपल सुख सम लागि॥
इ धन यौवन पुत्र परिजन एतेक अछि परतीति।
कमल दल जल जीवन टलमल भजहु हरि-पद नीति॥
श्रवण कीर्तन स्मरण वन्दन पाद सेवन दास।
पुजन ध्यान आत्मनिवेदन गोविन्ददास अभिलाष॥

अ० अ०

गोविन्ददास (षष्ठ)

राधावल्लभीय गोविन्ददासजी के जीवनवृत्त-सम्बन्धी तथ्य सुस्पष्ट रूप से सम्प्रदाय के चरित्र-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं। इनके नाम का उल्लेख श्री हिताचार्यचरण ने अपनी उस पत्रिका में किया है जिसे उन्होंने विक्रम सम्वत् १६०० के लगभग अपने शिष्य देववन-निवासी श्री बीठलदासजी के लिए वृन्दावन से लिखी थी। पत्री में अंकित पंक्ति इस प्रकार है—

"गोविन्ददास संतदास की दण्डौत"

इस पंक्ति से ज्ञात होता है कि श्री गोविन्ददास-जी पत्री-लेखन-काल में अपने गुरुवर्य गो० श्री हित-

हरिवंशजी के सान्निध्य में ही रहते थे, साथ ही यह भी निर्भ्रान्त रूप से ज्ञात होता है कि ये देववन के ही निवासी थे और वीठलदासजी से पूर्वपरिचित थे। कोई आश्चर्य नहीं कि देववन के निवासकाल में ही इनको श्री हिताचार्य-चरण का सान्निध्य, आश्रय और सेवा प्राप्त हुई हो।

साम्प्रदायिक जगत् में गांगू-गोविन्ददासादि श्री हिताचार्यचरण के निज अंगसेवीरूप में स्मरण भी किये जाते हैं। इसकी सम्पुष्टि चाचा हित वृन्दावनदासजी ने निम्न शब्दों में की है—

नमामि श्री हरिवंश परम करुणा जु भरे मन।
गांगू गोविन्ददास खवासी दीनो निज तन॥

—श्री हरिवंशसहस्रनाम

चाचाजी ने अपनी एक ऐतिहासिक रचना में इनके रसिक रूप का चित्रण करते हुए लिखा है कि ये श्री हिताचार्यचरण की श्री अंगसेवा हार्दिक प्रेम और रुचि के साथ किया करते थे। इतना ही नहीं, गुरुदेव के निवास-स्थान को प्रभु-मन्दिर मानकर वहाँ की प्रत्येक टहल रुचि के साथ किया करते थे, साथ ही श्री हिताचार्यचरण की श्री मुखवाणी—'श्री राधासुधानिधि', 'श्री हितचतुरासी', 'स्फुटवाणी' और 'यमुनाष्टक' का पठन-श्रवण निरन्तर किया करते थे। उन्होंने यह भी लिखा है कि जब गुरुवर श्री राधावल्लभलाल जू की प्रकट तथा मानसी सेवा किया करते थे तब भी उनके साथ रहकर उनकी आज्ञानुसार ये कैंकर्यरत रहते थे। इस प्रकार से गुरु-सेवा में ही इष्ट-सेवा का लाभ इन्होंने इसी जीवन में प्राप्त कर लिया था—

व्यास सुवन के संग अंग सेवा रुचि भारी।
गुरु-मन्दिर की टहल करैं आज्ञा अनुसारी॥
श्री मुख वाणी भजन सदा श्रवनन पथ धारैं।
बरनौं कहा बड़भाग रहैं श्री हित पद लारैं॥
मन लीयें बहु चित दियें,
लहैं अमित लाभ गुन गंस के।
रंगा गोविन्ददास पुनि,
ए निज भृत श्री हरिवंश के॥

—रसिक-अनन्य-परचावली

गुरुवर्य के अन्तर्धान होने के पश्चात् ये धराधाम पर कब तक विद्यमान रहे अथवा उनके पूर्व ही निकुञ्जगामी हो गये—इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, तथापि इनका उपस्थिति-काल विक्रम सं० १५५० से विक्रम सं० १६०९ तक स्थिर होता है, जिसका आधार बहुचर्चित एक जनश्रुति है। वह यह है कि आचार्यप्रवर गो० हित-हरिवंशजी सं० १६०९ की शरद् पूर्णिमा के दिन मानसरोवर में मानसी भावना करने गये थे किन्तु वहाँ से लौटे नहीं। वहीं पर भँवर-भँवरनी वन में (सघन निकुञ्ज में) सदेह प्रविष्ट हो गये। बहुत देर तक बाहर न आने पर श्री गोविन्ददासजी भी अपना पाँचभौतिक शरीर त्यागकर नित्यलीला में प्रवेश कर गये।

श्या० बि० खं०

गोविन्ददास खवास

श्री गोविन्ददास खवास गो० विट्ठलनाथजी के अनन्य सेवक थे। इनके जन्म संवत् का कोई संधान प्राप्त नहीं होता। गो० विट्ठलनाथजी की शरण में ये संवत् १६२१ में आये थे और दीक्षा ग्रहण की थी।

'भावप्रकाश' की वार्ता के अनुसार गोविन्ददासजी मथुरा के रहनेवाले थे। इनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु व्रजभाषी होने से यह विदित होता है कि यह मथुरा जिले के अन्तर्गत ही किसी गाँव में उत्पन्न हुए थे। ये जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे।

श्री गोविन्ददास खवास ने जो कीर्तन किए हैं उनमें 'जनगोविन्द' की छाप प्राप्त होती है। श्री राधाचरण गोस्वामी ने अपने 'नव-भक्तमाल' में जनगोविन्द की चर्चा की है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र

ने अपने 'उत्तरार्द्ध-भक्तमाल' में इन्हें 'गोबिन्दा' नाम से अंकित किया है—

भट्ट गदाधर मिश्र
गदाधर गंग गुआला।
कृष्ण जीवन लछीराम
पद रचत रसाला॥

जनहरिया घनस्याम
'गोबिन्दा' प्रभुकल्याना।
विचित्र बिहारी प्रेम सखी,
हरि सुजस बखाना॥

रस-रसिक बिहारी गिरिधरन
प्रभु मुकुन्द माधव-सरस।
श्री ललितकिशोरी भाव सो
नित नव गायौ कृष्ण-जस॥

इनके माता-पिता एवं परिवार में कोई जीवित नहीं था। ये इस पीड़ा से आक्रांत होकर विरक्त हो गये थे। गो० विट्ठलनाथजी ने इन्हें श्री नवनीतप्रियजी की सेवा सौंपी थी। जब गुसाईंजी शृंगार आरती के समय श्री नवनीतप्रियजी के समक्ष सेवार्थ उपस्थित होते थे उस समय श्री गोविन्ददासजी घुँघरू बाँधकर नृत्य किया करते थे। नृत्य करते-करते ये इतने विभोर हो जाते थे कि इनको देह की भी सुधि नहीं रहती थी। श्री नवनीतप्रिय प्रभु के समक्ष भक्ति-भाव से नृत्य-कीर्तन करना ही इनकी दैनिक चर्या थी। पुष्टि-मार्ग के सुप्रसिद्ध नर्तक के रूप में गोविन्ददास खवास की चर्चा सर्वत्र हुई है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपने ग्रन्थ 'व्रजस्थ वल्लभ-सम्प्रदाय का इतिहास' में लिखा है—

'गोविन्ददास खवास और कृष्णदास सुप्रसिद्ध नर्तक थे। जसरथ और मौली कीर्तनियाँ थे। ध्यानदास सारंगी-वादक थे और गोविन्दी गायिका थी।

'जनगोविन्द' की छाप से प्राप्त होनेवाले पदों में भक्तिभाव की झाँकी सर्वत्र दर्शनीय है। मात्र श्री श्यामा-श्याम की झाँकी का दर्शन करके ही तृप्त हो जानेवाले भक्तों में श्री गोविन्ददास की गणना नहीं होती। ये अनन्य कृष्णाराधक साधकों में शीर्षस्थ माने जाते हैं। भक्ति की स्रोतस्विनी इनके हृदय में सतत प्रवाहित होती रही। श्री श्यामा-श्याम के प्रेम में विभोर हुए श्री गोविन्ददास की वाणी में जो आराध्य के प्रति आकर्षण है, उसका मनोहारी रूप प्रस्तुत पद में द्रष्टव्य है—

मो मन बसो स्याम-स्यामा।
श्याम तन मन श्याम कामर
माल की मनि स्याम।
स्याम अंगन स्याम भूषन
बसन हैं अति स्याम॥

स्याम स्याम के प्रेम भीने
गोविन्द जन भये स्याम॥

श्रीराधा और श्रीकृष्ण का युगल रूप इनके मन-प्राणों में रचा-पचा है। वे अपने चित्त को श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कर चुके हैं। श्री गोविन्ददासजी की तन्मयतासक्ति उच्चकोटि की थी। इनके कृतित्व का परिचय निम्नांकित पदों में प्राप्त हो सकता है—

(१)

ऋतु बसंत सुख खेलिये हो आयो फागुन मास।
होरी डाँडो रोपियो सब ब्रजजन मन हुल्लास॥
गोकुल के राजा॥

रजनीमुख व्रज आइयो गोधन खरिक मझाँर।
सखा नाम सब बोल कें घर-घर ते देत व गार॥

बड़े गोप वृषभान के आये सब मिल पोरि।
श्रवन सुनत प्यारी राधिका चढ़ी चित्रसारी दौरि॥

उझकि झरोखा झाँकियो दोउन मन आनंद।
ऐसी छबि तब लागियो मानो निकरयो घटातें चंद॥

बासर खेल मचाइयो नेरे आयो फाग।
झूमक चेत व गावही मन मोहन गौरी राग॥

नरनारी एकत्र भये घोष राय दरबार।
चहुँदिस ते सब दौरियो भूषन बसन सिंगार॥

अगणित बाजे बाजहीं रुंज मुरज निसान ।
डफ दुंदुभी अरि झालरी कछुव न सुनियत कान ॥

पिचकारी कर कनक की अरगजा कुंकुम घोर ।
प्राणपिया कों छिरकहीं तक-तक नवल किसोर ॥

बहुरि सखा सब दोरियो आगें दे बलवीर ।
जुवतीजन पर बरखहीं नवल गुलाल अबीर ॥

ललिता विसाखा मतो मत्यो लीनों सुबल बुलाय ।
चेरी तेरे बाप की नेक मोहन कों पकराय ॥

तबे सुबल कौतुक रच्यौ सुनों सखा एक बात ।
इनें भीतर जान देहु बोलत जसोदा मात ॥

हरें हरें सब रेंगि चली नेरें निकसी आय ।
सेन सबे दे दोरियो पकरें बल मोहन जाय ॥

प्यारी कौ अंचल लियो और पिय को पटपीत ।
सकत ही गठजोरो कियो भले बने दोऊ मीत ॥

फगुवा में मुरली लई ओर कंठ को हार ।
श्री राधा को पहराइयो हँसत दे-दे करतार ॥

मेवा मोल मँगाइयो फगुवा दियो निबेर ।
मन भायो कर छाँडियो हँसत बदन तन हेर ॥

यह बिधि होरी खेलहीं व्रजवासिन संग लगाय ।
युगल कुँवर रूप पे जन गोविन्द बल जाय ॥

(२)

ते मोहन को मन हर्यो और
तो बिन रह्यो न जाय री प्यारी ।

कुंज महल बैठे पिया नवपल्लव तल्प सँवार ।
बीच जुही बिच सेवती बिच-बिच नवल निवार ॥

तुव पथ बैठे निहारहीं कुंजकुटी के द्वार ।
लोचन भर-भर लेत हैं सुंदर ब्रजराज कुमार ॥

अपने कर नख गूथहि विविध कुसुम की चोली ।
तेरे उर पहरावहीं चलो बेग उठ बोली ॥

कबहुँ नैनन मूंद के करत बदन तुव ध्यान ।
तन पुलकित भुज भेटहीं करत सुकी धरपान ॥

चंद देख आनंदहीं तुव मुख की अनुहार ।
यह छबि वाहि न पूजहो निरख कलंक बिचार ॥

जदपि सकल ब्रज सुंदरी कब हूँ न मन अरुझाय ।
चातक जलधर बूंद ज्यों भुव जल तृषा न जाय ॥

पिय को प्रेम सखी मुख सुन्यो तबही चली उठि धाय ।
गोविन्दप्रभु पिय सो मिली रहसि कंठ लपटाय ॥

(३)

श्याम रँगीली चूनरी रंग रँगी हे रँगीले बिहारी हो ।
अति सुरंग पचरंग बनी तन पहरे श्री राधा प्यारी हो ॥

चंपक तन कंचुकी खुली स्याम सुदेस सुढार ।
मांडन पिय पट पीत की ता ऊपर मोतिन हार ॥

सोसफूल शिर सोहही मोतिन माँग सवाँरि ।
विविध कुसुम बेनी गुही चंपक बकुल निवारि ॥

श्रवनन झलमल झूलही सिर सटकारे केस ।
खुटिला खुभी जराय की मृगमद आड सुदेस ॥

नकबेसर अति जगमगे दूर करे नव जोती ।
कंठसुरी ओर मुक्तसरी बीच जंगालो पोती ॥

चोको हेम जराय की रत्नखचित निरमोल ।
नोगरो अरु कर पहोंचिया रवये नवरा अति गोल ॥

कटि किंकिणी रुनझुन करें पग नूपुर झनकार ।
चलत हंसगति मोहियो शोभा कहत न पार ॥

यहि विधि बनि ब्रजसुंदरी चली रसिक पिय पास ।
कुंजमहल मोहन मिले पूजी मन अभिलाष ॥

ब्रज वृन्दावन भूपती पिय प्यारी की जोरी ।
गोविन्द बल बल जाय नवल किशोर किशोरी ॥

(४)

विराजत स्याम मनोहर प्यारो ।
प्रभु तिहूँ लोक उजियारो ॥ ध्रु० ॥

सरस वसंत समें वन सोभा श्री व्रजराज विराजें ।
सुर नर मुनि सब कौतिक भूले देखि मदन कुल लाजें ॥

रंग सुरंग कुसुम नाना विधि सोभा कहत न आवे ।
नवल किसोर अरु नवल किसोरी राग रागिनी गावे ॥

चोवा चंदन अगर कुंकुमा उडत गुलाल अबीर ।
छिरकत केसरि रंग बंसीवट कालिंदी के तोर ॥

ताल मृदंग उपंग मुरज डफ ढोल भेरी सहनाई।
अद्‌भुत चरित्र रच्यो ब्रजभूषन शोभा बरनि न जाई॥
दुरि मुरि सब ब्रजजुवती निरखत निरखि-निरखि सुख पावैं।
तृन तोरत बलि जाय बदन पर तन को ताप नसावैं॥
या ब्रजकुल प्रभु हरि की लीला सुर नर मुनि सब गावें।
निरखि हरखि गोविन्द बलिहारी चरन रेनु निधि पावें॥

रा० कृ० श०

गोविन्ददास भक्तमाली

गोविन्ददास भक्तमाली गोविन्ददास ब्रजवासी के नाम से जाने जाते हैं। इनका आविर्भाव-काल सं० १६११ माना जाता है। भक्तमाल के छप्पय सं० १९२ में इनका परिचय देते हुए लिखा गया है कि ये नाभादासजी के शिष्य थे और इन्होंने उनका 'भक्त-माल' पढ़ा था। सम्बद्ध छन्द इस प्रकार है—

रुचिर सीलघन नील लील-
रुचि सुमति सरित पति।
विविध भक्त अनुरक्त,
व्यक्त बहुचरित चतुर अति।
लघु दीरघ सुर सुद्ध
बचन अविरुद्ध उचारन।
बिस्व बास बिस्वास
दास परिचय विस्तारन।
जानि जगत हित सब गुननि,
सु सम नारायण दास हिय।
'भक्त-रत्नमाला' सुधन,
गोविन्द कंठ बिकास किय।

इनके पद 'रागसागरोद्भव' में संकलित हैं।

ह० नं० भा०

गोविन्ददेवाचार्य

श्री गोविन्ददेवाचार्य का उपस्थिति-काल विक्रम की १८वीं शताब्दी माना जाता है। आचार्य-गद्दी को वि० सं० १८०० से १८१४ तक आपने अलंकृत किया था।

श्री वृन्दावनदेवाचार्य के नित्यधाम में प्रवेश के उपरान्त किशनगढ़ (राजस्थान) के निम्बार्कपीठ के आचार्यपद हेतु दो महानुभावों के प्रस्ताव रखे गये, जिनमें महाराष्ट्रदेशीय श्री शेष जयरामजी का आचार्यपद पर आसीन किये जाने का आग्रह जयपुर, जोधपुर, कोटा, उदयपुर, करौली आदि नरेशों का तथा श्री गोविन्ददेवजी के पीठासीन किये जाने का अनुरोध सन्त-महन्त तथा विरक्त सन्तों का था। ये दोनों ही महानुभाव बड़े ही प्रतिभाशाली विद्वान् और महान् भक्त थे। इनमें श्री शेष जयरामजी के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा गुण था किसी भी विषय पर सुरुचिपूर्ण एवं उत्तम कविता करना। दूसरी तरफ श्री गोविन्द-देवजी कवि तो थे ही, लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत और भजनानन्दी महात्मा भी थे। यह विवाद बहुत जोरों से चला। अन्ततः काफी तर्क-वितर्क, शंका-समाधान और सोच-विचार के बाद यह निश्चय किया गया कि आचार्यपीठ की गद्दी को श्री गोविन्ददेवजी महाराज ही विभूषित करें। इस तरह सन्त-महन्त एवं राजा-महाराजा दोनों ही पक्षों की सम्मति के अनुसार विक्रम सं० १८०० में श्री गोविन्ददेवजी पीठासीन किये गये।

आप हिन्दी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् और विशिष्ट कवि थे। आपके पद बड़े ही ललित हैं। एक पद देखिए—

जयति वृषभानु-नन्दिनी जगवन्दिनी,
कृष्णहियचन्दिनी रंग-सेवी।
प्रणत 'गोविन्द' नँद नंद सुखकन्द,
सर्वेश निजदास हरि प्रिया देवी॥

आपने फुटकर पदों की रचना की है, जिनमें से कुछ का संकलन 'हरि-गुरु-सुयश-भास्कर' नाम से हुआ है। इनकी शेष वाणी अनुपलब्ध है। इनके पद सुकुमार, गेय एवं मनोरम हैं। शब्द-विन्यास इतना सरल, सरस और सुसंगत है कि पाठक पढ़ते ही रस-मग्न हो जाता है। उदाहरणतः देखिए राधिका-स्तवन से सम्बद्ध एक पदांश—

जयति श्री राधिका, कृष्ण-सुख-साधिका,
भक्त-दुःख-बाधिका महाभामा ।
जयति-पिय-मोहिनी, सकल अँग-सोहनी,
कृष्ण-छबि-जोहनी, प्रिया श्यामा ।।

जयति नवनागरी, रूप-गुन आगरी,
कृष्ण-सुख-सागरी, महोदारा ।
जयति श्री स्वामिनी, महा अभिरामिनी,
देह-द्युति-दामिनी, छबि अपारा ।।

जयति अहलादिनी, प्रान प्रिय वादिनी,
प्रेम-उत्पादिनी, कृष्ण-मित्रा ।
जयति वृषभानुनन्दिनी जगवन्दिनी,
कृष्ण-हिय-चन्दिनी रंग-सेवी ।
प्रणत 'गोविन्द' नँदनन्द सुखकन्द,
सर्वेश निजदास हरिप्रिया देवी ।।

आपकी तीर्थाटन में बड़ी रुचि थी। 'सचलतीर्थ' की जो संज्ञा साधु-सन्तों को दी जाती है, वह आप पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। एक बार आप तीर्थाटन करते हुए कुरुक्षेत्र में पहुँचे। सत्संग के समय आप भक्त-वृन्द को प्रवचन कर रहे थे कि आपके दर्शनों के लिए एक यवन-मतावलम्बी युवक आया। उसे आदरसहित बुलाया गया। वह युवक अभिवादन कर एक निर्दिष्ट आसन पर बैठ गया। प्रवचनोपरान्त आचार्यवर्य ने उस युवक से कहा—"संसार का नियामक ईश्वर है, वह जिस व्यक्ति से जब तक जो कार्य करवाना चाहता है, उसे वह अवश्य ही करना पड़ता है। अतः आपके हृदय में जो भटकाव है वह व्यर्थ है। जीव को तो ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट कार्य को करना ही चाहिए, यही उसके लिए कल्याणकारी है।" यह सुन युवक आश्चर्यचकित रह गया। कारण कि युवक के बिना बताये ही आचार्यश्री ने उसके हृदय की बात को जान लिया। युवक के द्वारा यह पूछे जाने पर कि "आपमें यह विलक्षण शक्ति कैसे आयी ?" आचार्य ने मुस्कराकर कहा—"बच्चे में माँ का दूध पीने की समझ कैसे आती है ? जड़ों के द्वारा वृक्ष में भोजन ग्रहण करने की सामर्थ्य कैसे आती है ?" युवक—"कुदरत ही यह सब देती है।" आचार्य—"जिसे आप कुदरत कहते हैं वही ईश्वर की शक्ति है। इसी प्रकार ईश्वर या कुदरत ने मुझे यह शक्ति प्रदान की है। मुझसे यह उत्तर भी ईश्वर ही दिलवा रहा है।" युवक—"क्या आपने ईश्वर को देखा है ? वह कहाँ रहते हैं ?" आचार्य—"ईश्वर प्रत्येक स्थान तथा कण-कण में निवास करता है। किन्तु उसे कोई देख नहीं सकता, उसका तो मात्र अनुभव किया जाता है। किन्तु यह अनुभव सभी नहीं कर पाते। यह तो मात्र उन्हें ही होता है, जिन्हें ईश्वर करवाना चाहता हैं। युवक—"अन्तिम प्रश्न कि आप यह जो मूर्ति-पूजा करते हैं इससे ईश्वरोपासना का क्या सम्बन्ध है ?" आचार्य—"आपका यह प्रश्न बड़ा ही उत्तम है। देखिए, जिस प्रकार नीबू के अन्दर खट्टापन है किन्तु उसके इस खट्टेपन को नीबू से अलग रखकर नहीं जान सकते। दूसरे इस खट्टेपन का आस्वादन आप जीभ के अतिरिक्त शरीर के अन्य किसी अंग से नहीं कर सकते। अतः जिस प्रकार स्थूल रस में सूक्ष्म स्वाद है, स्वाद स्थूल नहीं है, उसी प्रकार स्थूल जीभ में स्वाद लेने की शक्ति भी सूक्ष्म है, स्थूल नहीं। ठीक इसी प्रकार ईश्वर भी स्वाद-अनुभूति (ज्ञान) स्वरूप परमसूक्ष्म है और उसका आस्वादन करनेवाली आत्मा भी स्वाद लेने की शक्ति के सदृश सूक्ष्म है। अतः जिस प्रकार स्थूल रस के माध्यम से स्थूल जीभ रस का आस्वादन करती है, उसी प्रकार ये स्थूल जीभ, नाक, कान, शरीर, मन आदि स्थूल ईश्वर (मूर्ति) के माध्यम से ही उस (ईश्वर) का सूक्ष्म आस्वादन कर पाते हैं। ईश्वर का आकार होगा, तो हम आत्मा के आकारवाले शरीर से उसकी उपासना करेंगे। उसके नाम होंगे तो हम भी रसना से उसका नाम-स्मरण करेंगे, उसमें गुण होंगे तो उनका गुणगान करेंगे। इस प्रकार हमारे शरीर का एक-एक अंग उसी ईश्वर के काम आयेगा। वैसे तो

सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं। किन्तु निर्गुण ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि दो बच्चे खेलते हुए एक-दूसरे को पकड़ने की इच्छा करते हैं। जब बच्चा पकड़ में आ जाता है तो कहता है कि तुमने मुझे कहाँ पकड़ा? यह तो मेरा हाथ है। वह बच्चा फिर दूसरे अंग को पकड़ता है तो वह कहता है कि यह तो मेरा सिर है, अर्थात् वह जो कुछ भी पकड़ता है, वह अंग का नाम ले लेता है। अन्ततः पकड़नेवाला बालक निराश हो जाता है। ठीक इसी प्रकार निर्गुणोपासकों के हाथ भी यही निराशा लगती है।"

अन्ततः युवक ने प्रभावित हो आचार्य के चरण पकड़ लिये। तब आचार्य ने कहा कि "अब आप अपने महल को जाइये, आपकी बेगम आपका इंतजार कर रही होंगी। दिल्ली भी यहाँ से दूर है और शाम होने को आयी।" वह युवक यह सुनकर और भी प्रभावित हुआ तथा आपसे अपने महल में पधारने का आग्रह किया। आचार्य ने स्वीकार कर इसे विदा किया। कहा जाता है कि यह युवक दिल्ली के बादशाह-वंश से सम्बद्ध था।

कुछ दिनों बाद आपने दिल्ली जाकर उस युवक के महल को अपने चरणों से पवित्र किया एवं भक्ति-रूप उपदेशामृत द्वारा उसके परिवार के सभी जनों को कृतार्थ किया।

किशनगढ़-नरेश श्री सावंतसिंह (श्री नागरीदासजी) और उनके छोटे भ्राता श्री बहादुरसिंहजी की आपस में अनबन बनी रहती थी। परिवार के सदस्यों एवं राजा-महाराजाओं के कई बार समझाने पर भी इन्हें कुछ समझ में न आया। वि० सं० १८१४ में श्री बहादुरसिंहजी किशनगढ़ से और श्री सावंतसिंहजी रूपनगर से आपका दर्शन करने आये। संयोगवश दोनों एक ही दिन आपके पास पहुँचे। उस समय आप कुछ अस्वस्थ थे। जब दोनों ने इनके चरणों के समीप बैठकर कुशलक्षेम पूछी तो आपने कहा कि "जब तक रूपनगर और कृष्णगढ़ राज्य का कलह शांत न होगा, तब तक भला मैं कैसे कुशल से रह सकता हूँ। जब इन दोनों राज्यों का कलह शान्त हो जायेगा तभी मेरा स्वास्थ्य सुधरेगा।" तब दोनों ने आचार्य से आदेश देने की प्रार्थना की। आचार्य ने कहा—"सावंतसिहजी! आप रूपनगर और कृष्णगढ़ की गद्दी पर श्री बहादुरसिंह का अभिषेक करके वृन्दावन-वास करिए।"

आप हिन्दू-मुस्लिम सभी में समान भाव रखते थे। कहा जाता है कि जब बादशाह के आग्रह पर आचार्यश्री ने दिल्ली में महल के अन्दर सर्वेश्वर भगवान् की पधरावनी की तो कुछ वैष्णव-अनुयायियों ने आपत्ति उठाई। तब आचार्य ने कहा—"पारस गुन अवगुन नहिं, चितवत कंचन करत खरो।" भगवान् की भक्ति तो एक पारसमणि के समान है, जिसको स्पर्श करने से व्यक्ति खानदान, जाति-पाँति आदि की संकुचित सीमा के बन्धन से मुक्त हो ईश्वर का पार्षद बन जाता है। औषधि रुग्ण व्यक्ति के काम आये तभी उसका उपयोग है, अन्यथा वह स्वस्थ व्यक्ति के लिए बेकार ही है। इसलिए जिस प्रकार वैद्य हिन्दू-मुसलमान, अमीर-गरीब किसी भी प्रकार के भेद को न मानकर रोग के उन्मूलन का प्रयत्न करते हैं, तब सिद्ध, फकीर और साधु-सन्त इन तुच्छ बातों को अपने मन में न लाकर मानवीय अन्तःकरण के रोगों का उन्मूलन करने से पीछे क्यों रहें? यदि कोई सन्त-महात्मा इन विचारों को मन में ला मानवीय उपकार करने से हिचकिचाता है तो यह उसकी भूल है। वही श्रेष्ठ महात्मा है जिसके विचारों की शीतलता से बिना किसी भेदभाव के, बिना ऊँच-नीच, जाति-पाँति का भेदभाव किये मानव के उत्तप्त अन्तःकरण को सुख और शान्ति प्राप्त होती है।

एक बार एक वैश्य पुत्र की कामना से आपके दर्शनों को आया। साथ में उसकी पत्नी भी थी। वैश्य ने आचार्य का बड़ा ही आदर-सत्कार किया।

आचार्यश्री ने भी उसे भगवद्-भक्ति का उपदेश दिया, किन्तु उसे उपदेश से क्या लेना-देना। अन्ततः उसने अपने मन का उद्गार आचार्यश्री के सम्मुख रखा कि "महाराजजी, मेरे कोई पुत्र नहीं है।" आचार्य ने उससे उलटा प्रश्न पूछा—"तुम्हारे कोई पुत्र है या नहीं इस बात को छोड़कर पहले तुम बताओ कि तुम किसीके पुत्र हो या नहीं ?" वैश्य ने कुछ संकोच-सहित उत्तर दिया—"संसार के सभी लोग किसी न किसीके पुत्र होते हैं, फिर भला मैं क्यों न होऊँगा ?" तब आचार्य ने उससे उसके माता-पिता के विषय में पूछा कि "वह कहाँ हैं ?" वैश्य ने कहा कि "वे अलग रहते हैं, मेरे दूसरे भाई के साथ।" आचार्य ने पूछा कि "तुम उनकी सेवा क्यों नहीं करते ?" तो वैश्य ने उत्तर दिया—"उन्हें मेरी सेवा की कोई आवश्यकता नहीं है।" तब आचार्य ने उस वैश्य से निर्णयात्मक स्वर में कहा—"बस, जिस प्रकार तुम्हारे माता-पिता को तुम्हारी सेवा की आवश्यकता नहीं, उसी प्रकार तुम्हें भी पुत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। जब तक तुम्हारे माता-पिता को तुम्हारी सेवा की आवश्यकता न होगी और तुम सच्चे हृदय से अपने माता-पिता की सेवा न करोगे, तब तक तुम्हें पुत्र-प्राप्ति असम्भव है।"

कहते हैं, इन वाक्यों को सुन उस वैश्य ने, जिसने अपने माँ-बाप को अलग कर दिया था और जिसे उनकी कोई चिन्ता ही न थी, अपनी सेवा से माता-पिता को प्रसन्न किया। तब जाकर उसे पुत्र-प्राप्ति हुई।

इस प्रकार की परोपकार-भावना से युक्त आचार्य के अनेक चरित्र जनश्रुतियों के रूप में प्रचलित हैं। आपका नित्य-निकुंज-धाम में प्रवेश-काल कार्तिक कृष्णा ५ (पंचमी) सं० १८१४ है।

प्रे० ना० श्री०

गोविन्दप्रसाद पाण्डेय

श्री गोविन्दप्रसाद पाण्डेय 'मंजुलता' का जन्म दतिया जिले में हुआ था। ये राधाकृष्ण के उपासक थे। इनकी पाँच कृतियाँ उपलब्ध हैं। वे हैं—'रसिक-सुधार्णव', 'रस-कल्पद्रुम', 'दीनविनय-शतक', 'हनुमत्-कीर्तिमाला' और 'गंगापचीसी'। इन सबका प्रतिपाद्य भक्ति ही है। यहाँ कृष्णभक्ति-सम्बन्धी इनका एक छन्द दिया जा रहा है—

आज लख्यों सपनें सखी हौं,
जमुना-तट पैं पहुँचो कहुँ जाय कैं।
औचक आय तहाँ घनश्याम,
गह्यो कर कंज मुखैं मुसकाय कैं॥
मंजुलता लखि मैं हूँ 'गोविन्द'
चह्यो मिलिबैं को भुजानि उठाय कैं।
ता छन आँखि खुली सखिये
हमैं लूट लियो वह बीन बजाय कैं॥

त्रि० ना० शु०

गोविन्दराय गोस्वामी

श्री गोविन्दराय, गोस्वामी विट्ठलनाथ के द्वितीय पुत्र थे। इनका जन्म सं० १५९९ वि० की मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी को अडैल में हुआ था। इनकी धर्मपत्नी का नाम श्री रानी बहूजी था। इनका घर का नाम 'राजाजी' था। आपके चार पुत्र थे—श्री कल्याणराय (जन्म सं० १६२५), श्री गोकुलोत्सव (जन्म सं० १६३४), श्रीकृष्णराय (जन्म सं० १६३७) और श्री लक्ष्मीनरसिंह (जन्म सं० १६४१)।

बँटवारे में आपको श्री विट्ठलनाथ ठाकुर मिले थे। श्री विट्ठलनाथजी गोकुल से पहले खिमनौर गये, फिर यहाँ से कोटा गये। कोटा से जयपुर रहे और फिर श्री नाथद्वारा में विराजमान हुए। 'श्री विट्ठलाष्टक' आपकी प्रसिद्ध रचना है, पर अभी तक यह अप्रकाशित ही है। आपका देहावसान काल सं० १६५० वि० के आसपास है। आपकी दो बेटियाँ थीं—श्री रुक्मिणी और श्री राजकुँवरिजी। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में आपका उल्लेख सं० १६५० तक प्राप्त होता है।

आपके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि आपको सेवा करने का ऐसा आग्रह था कि अपने व्याह के समय घोड़े पर बैठे हुए जैसे ही उत्थापन का समय हुआ आप अधीर हो गए। आपके उत्साह और लगन को देखकर श्री गुसाइंजी ने आपको पहले सेवा करने की आज्ञा दे दी और पीछे से व्याह करने के लिए दूसरी लग्न साधनी पड़ी।

श्री कल्याणराय के जन्म के अवसर पर जो नूपुर श्री गुसाइंजी ने श्रीनाथजी को भेंट किये थे, वे आज भी श्री नाथद्वारे में वर्तमान हैं। इन नूपुरों में 'श्री गोविन्द' लिखा हुआ है। प्रसिद्धि यह है कि पुत्र-रत्न प्राप्त होने पर श्रीनाथजी ने श्री गुसाइंजी से बधाई माँगी थी और आपने ये नूपुर भेंट किये थे।

रा० कृ० श०

गोविन्दशरण

गोविन्दशरणजी चरणदासजी के शिष्य श्री श्यामाशरण बड़भागी के वरिष्ठ शिष्य थे और बिठूर स्थित उनकी मुख्य गद्दी के महन्त थे। बड़भागीजी एक सिद्ध महात्मा थे। तत्कालीन अनेक राजा-रजवाड़े, बड़े-बड़े व्यापारी, श्रीमन्त और प्रशासनिक हिन्दू-मुसलमान-अधिकारी उनके आशीर्वाद के आकांक्षी रहते थे। पेशवा राजाओं से उन्हें ५० गाँवों की जमींदारी प्राप्त हुई थी। उनकी प्रचुर चल-अचल संपत्ति के मुख्य व्यवस्थापक श्री गोविन्दशरण ही थे। इस रूप में उन्होंने अपनी प्रवन्धपटुता का अच्छा प्रमाण प्रस्तुत किया था। अच्छे साधक होने के साथ ही वे उच्चकोटि के कवि भी थे। यह गुण उन्हें अपने गुरु से प्राप्त हुआ था जो 'लीलासागर' के रचयिता एवं प्रसिद्ध साम्प्रदायिक इतिहासकार श्री जोगजीत के कथनानुसार आशुकवि थे। बड़भागीजी के सम्बन्ध में उनकी यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

गजल रेखता और रुबाई।
शब्द जु साखी बहुत बनाई॥

—लीलासागर, पृ० १८४

गोविन्दशरणजी ऐसे योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे। इनका विस्तृत परिचय प्राप्त नहीं होता। ये श्यामाशरण बड़भागीजी के इहलीला-संवरण के पश्चात् ही बिठूर की गद्दी के प्रधान महन्त बने थे—इस बात के प्रमाण प्राप्त होते हैं। बड़भागीजी के सं० १८७० वि० तक वर्तमान होने के साक्ष्य प्राप्त हैं। एक उल्लेख के अनुसार गोविन्दशरणजी सं० १८७२ से १९१० वि० तक महन्त-पद पर रहे। इसके पश्चात् इनके शिष्य गिरधरशरणजी उत्तराधिकारी हुए।

महन्त गोविन्दशरण का एक अन्य नाम गोविन्द-निवास भी मिलता है। बड़भागीजी द्वारा निर्मित या प्राप्त मंदिरों की उपासना वैष्णव-रीति से होती थी। इनके कई मन्दिर कानपुर, लखनऊ, शिवराजपुर और तिन्दुवारी (जिला–बाँदा) में थे। चित्रकूट और बुन्देलखंड के अन्य कई चरणदासी मन्दिर भी इनके प्रभाव के अन्तर्गत थे। गोविन्दशरणजी को इन सबकी सरदारी विरासत में प्राप्त हुई थी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इनका जीवन बड़ा ही व्यस्त एवं व्यावहारिक रहा होगा। इनकी साधना-संबंधी रुचि रसिकोपासना की ओर अधिक थी। इनके यहाँ वृन्दावन तथा अयोध्या—दोनों स्थानों के रसिकोपासकों का जमघट रहता था। इनके अन्य गुरुभाई भी रस-साधना की ओर ही उन्मुख दिखाई देते हैं। रचनाओं के साक्ष्य के आधार पर इस निष्कर्ष पर आसानी से पहुँचा जा सकता है कि श्री श्यामाशरण बड़भागी की शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा ने ज्ञान और योग-मार्ग का लबादा उतार फेंका था और प्रेम की चादर ओढ़ ली थी। इसी पृष्ठभूमि में महन्त गोविन्दशरण की बानियों का मूल्यांकन उचित होगा। इनका राग काफी में निबद्ध एक होरी का पद द्रष्टव्य है—

होरी खेलन आज चलो री॥
कुंजन पुंज अलिन के ठाढ़े उड़त अबीर भलो री।
चातुर चारु सकल छबि आगर श्री वृषभान किशोरी,
करे चितवन में चोरी॥

चंचल नैन अंजन अनियारे खंजन की-सी जोरी।
कुंदन बदन मदन रति लाजे दामिनि ज्योति हरो री,
अजब छबि राधा गोरी ॥
मच रहि कीच बीच गलियन में, रँग बरसत चहुँ ओरी।
छायो लाल गुलाल गगन में, खान-पान बिसरो री,
नहि कुछ सूझ परो री ॥
नंदनंदन को घेरि लियो है, मान साँच तूँ गोरी।
गलिन-गलिन व्रजबनिता ठाढ़ी, अनगिन भई इकठौरी,
जतन नहिं निकसन को री ॥
जन गोविंद सखि स्याम सरन है, फगुवा ले भर झोरी।
ऐसो अवसर फिर नहिं पैहौ अब जनि बिलंब करो री,
करें बिनती कर जोरी ॥

गोविन्दशरणजी के १०० से अधिक ऐसे पद प्राप्त हैं जिनमें अनेक राग-रागिनियों और ताल-लय में निबद्ध श्री राधाकृष्णयुगल को विविध प्रेम-लीलाओं का गान किया गया है। ये पद प्रायः मंगला आरती से आरम्भ हो करके रात्रिशयन तक के लाड़ लड़ाने से संबद्ध हैं। उनमें से कुछ विशिष्ट पर्वों और उत्सवों से संबद्ध एवं अवसरोचित हैं। श्री लालजू को बधाई और प्रियाजी की बधाई के दो पद यहाँ उद्धृत हैं—

(१)

लालजू की बधाई

जन्म लियो नन्दनन्दन, जसोमति
कूक मल्हावे मंगल गावे।
कर रसरीत पुनीत द्वार पै,
तोरण बंदनवार बँधावे ॥
चित्र-विचित्र करे बहु रचना,
सुंदर कदली खंभ रुपावे।
गोविंद बधाई बाजे सब व्रज,
सुर पुष्पन की झर बरसावे ॥

(२)

प्रियाजू की बधाई (राग मल्हार)

बधाई श्री वृषभान के धाम।
पिय मोहन हित प्रगट भई श्री राधा अभिराम ॥
भादों सुदि आठैं दिन प्रगटे तन मन पूरण काम।
जन गोविंद सखि स्याम सरण है रटत निरन्तर नाम ॥

इनके विनय के पदों में दैन्य, आत्मनिवेदन और विनय का गहन भाव परिलक्षित होता है। उदाहरण-रूप में कवि का यह विनय द्रष्टव्य है—

एक अधम रावरे द्वार पुकारे।
पापी दुखी अनाथ नाथ बिन
बाधा कौन निवारे ॥

राधा रानी महरानी के
बिनती स्रवनन डारे।
हे ललिता तुम निकट निवासिन
आवत-जावत द्वारे ॥

राखो लाज बिरद अपने की
आन परो दरबारे।
जन गोविंद आरत यह माँगे
महरानी न बिसारे ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या भक्तिभाव और क्या अभिव्यक्ति—दोनों क्षेत्रों में श्री गोविन्दशरण खरे उतरते हैं।

श्या० सु० शु०

गोविन्दशरणदेव

गोविन्दशरणदेवजी श्री शोभूराम द्वारे के हरिव्यासी संत थे। ये नामजापी, परम उदार एवं मानसिक सेवापरायण महात्मा थे। इसके प्रभाव से ही इनके जीवन में कई अलौकिक घटनायें हुई थीं।

एक बार श्री ठाकुरजी का मन्दिर आपकी देखरेख में एक सेवक द्वारा बनाया जा रहा था। उस समय एक विशाल पत्थर की पटिया अचानक कारीगरों के ऊपर गिरने लगी। पटिया का गिरना कई व्यक्तियों की मृत्यु की सूचना देनेवाला था। सहसा आपने उसे एक छड़ी द्वारा रोक दिया। इस घटना के कुछ क्षण पश्चात् आपने सेवक से पूछा कि "यह पैसा कैसा है?" यह प्रश्न सुनकर वह बोल उठा कि "यह राजधन है।" फिर आपने कहा—"आज श्री ठाकुरजी को बड़ी

मेहनत करनी पड़ी। अतः तत्काल सूजी का मोहन-भोग लगाना चाहिए।" कुछ ही समय में सेवकों की तत्परता से भोग लगाकर साधुओं को वँटवा दिया गया।

प्रे० ना० श्री०

गोविन्दशरणदेवाचार्य

श्री गोविन्दशरणदेवाचार्य श्री निम्बार्काचार्य-पीठ के प्रतिभासम्पन्न भक्त थे। आप उक्त पीठ पर विक्रम सं० १८१४ से १८४१ तक विराजमान रहे। आपने वंगाल के सुप्रसिद्ध कवि श्री जयदेवजी के आराध्य ठाकुर श्री राधामाधवजी (जो कि व्रज-मण्डलस्थ श्री राधाकुण्ड-श्री निवासाचार्यजी की वैठक-पर स्थित थे, को विक्रम सं० १८२३ में वहाँ से लाकर वर्तमान निम्वार्क-पीठ सलेमावाद में प्रतिष्ठापित किया था।

आपसे पूर्ववर्ती निम्बार्काचार्य-पीठाधीश आचार्यों को श्री स्वामीजी, महाप्रभुजी, श्री गोस्वामीजी आदि विशेषणों से विभूषित किया जाता था, किन्तु आपके समय से आचार्य-चरणों को 'श्रीजी' नाम की संज्ञा से विभूषित किया जाने लगा। इस प्रसंग में एक जनश्रुति इस प्रकार है—

जव राजा-महाराजाओं की महारानियाँ श्री सर्वेश्वर भगवान् के दर्शनों के लिए आती थीं तो पीठ में पुजारी के अतिरिक्त अन्य कोई उस स्थान पर उपस्थित नहीं रहता था। इसी तरह जव वे आचार्य के दर्शनों को उपस्थित होतीं, तो केवल आचार्य ही उन्हें दर्शन देते थे, उस स्थान पर अन्य किसीको आने का आदेश न था। जब आचार्य रनिवासों के आमंत्रण पर महलों में जाते, तब भी ऐसी ही व्यवस्था थी। परिचारक-गण ड्योढ़ी पर खड़े रहते थे और आचार्य अंदर महारानियों को दर्शन देते थे। आचार्यश्री का जब रानी एवं उनकी परिचारिकाएँ पूजन-अर्चन करतीं एवं सदुपदेश श्रवण करतीं, तो कुछ समय तो लगता ही। एक बार आचार्यश्री गोविन्दशरणदेवजी जयपुर महाराज के आमंत्रण पर रनिवास में पधारे। उधर कुछ विरोधी एवं नीच विचारोंवाले व्यक्तियों ने जयपुर-नरेश को बहकाया। परिणामस्वरूप महाराज विना पूर्वसूचना के महलों में जा पहुँचे। वहाँ जाकर देखा कि रानी एवं परिचारिकाएँ उपदेश श्रवण कर रही हैं, आचार्य सिंहासन पर आसीन हैं। किन्तु यह देखकर भी नरेश को सन्तोष न हुआ। उनके मन की भावना आचार्य से छिपी न रह सकी। तत्क्षण नरेश क्या देखते हैं कि सिंहासन पर आचार्य के स्थान पर साक्षात् श्री किशोरीजी विराजमान हैं। यह देख एवं किशोरीजी का दर्शन कर राजा कृतकृत्य हो गया। अब तो नरेश अपनी भावना और कृत्य पर लज्जित हो पश्चात्ताप करता हुआ आचार्य के चरणों में गिर पड़ा और क्षमा-याचना की। उसी समय नरेश ने आपको 'श्रीजी' की उपाधि से विभूषित किया। तदुपरान्त 'श्रीजी' शब्द श्री निम्बार्काचार्य-पीठाधिपति आचार्यों के उपनाम के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा।

एक बार श्री निम्बार्क-सम्प्रदाय के रसिक-शेखर एवं भक्त-शिरोमणि कवि श्री जयदेवजी के आराध्य श्री राधामाधवजी ने आपको स्वप्न में आदेश दिया कि 'हमारी अभिलाषा अब पुष्कर-क्षेत्र में निवास करने की है, अतः आप हमें पुष्कर-क्षेत्र स्थित सलेमाबाद ले चलें।' तब आचार्यश्री ने कहा कि 'महाराज, आपका यह विशाल विग्रह इतनी दूर कैसे ले जाया जा सकेगा और फिर व्रज जैसे पदार्थ आपके प्रसाद के लिए वहाँ कहाँ मिलेंगे, क्योंकि वह रेगिस्तान है।'

तब प्रभु ने मुस्कराकर उत्तर दिया, 'आप तो रथ में सवार होकर यात्रा करते हैं। क्या हमें रथ में बिठाकर नहीं ले जा सकते ? रही पदार्थों की बात, तो सुदामा के तण्डुलों, शबरी के सूखे बेरों और विदुर के शाक में कौन-सा पदार्थ था ?'

बस, फिर क्या था ? आचार्यश्री को श्री राधा-

माधवजी का आदेश मानना पड़ा। राधामाधवजी को उनके आदेशानुसार रथ में विराजमान कराया गया। वहाँ के व्रजवासियों और बंगाली सज्जनों को जब यह मालूम हुआ तो वे दौड़े चले आये। अभी तक आचार्यश्री भरतपुर ही पहुँच पाये थे। वहाँ पर श्री राधामाधवजी की पूजा-अर्चना चल रही थी कि वे लोग वहाँ पहुँच गये। इन व्रजवासियों ने कहा कि 'श्री राधामाधवजी व्रज के ठाकुर हैं। अतः ये व्रज में ही रहेंगे।' आचार्य ने कहा कि 'जब ठाकुर व्रज में रहना चाहें तब न? मेरी तो हार्दिक इच्छा है कि ये व्रज में ही रहें, किन्तु ये तो सलेमाबाद जाने की ही ठाने हुए हैं।' किन्तु आचार्यश्री की बात पर किसीने विश्वास न कर भरतपुर-नरेश से जाकर आग्रह किया कि 'आप हमारे व्रज के ठाकुरजी को वापस भिजवाने की व्यवस्था कर दें।' तब भरतपुर-नरेश ने कहा कि 'यदि आपको आचार्यश्री के कथन पर विश्वास नहीं है तो आप रथ को खींचकर वापस ले जाइये, आचार्य कोई अवरोध उत्पन्न न करेंगे।' फिर क्या था? समागत व्रजवासियों एवं बंगाली भक्तों ने रथ में रस्सी बाँधकर उसे राधाकुण्ड की तरफ वापस ले जाने का भरसक प्रयास किया। किन्तु वे रथ को एक पग भी न ले जा सके।

तदुपरान्त नरेश ने आचार्य से अपने घोड़े रथ में जोतकर खींचने को कहा, साथ ही यह भी कहा कि 'यदि घोड़े रथ को न खींच सके, तो हम यह समझेंगे कि श्री ठाकुरजी की इच्छा भरतपुर में रहने की है।' श्री आचार्य ने घोड़े जुतवाकर, राधामाधव से प्रार्थना कर रथ खिंचवाया। रथ तुरन्त चल पड़ा। इस प्रकार सबको विश्वास हुआ और श्री राधामाधवजी सलेमाबाद पधारे।

श्री गोविन्दशरणदेवाचार्यजी को सन्तसेवा का अद्भुत व्यसन था। आपके यहाँ प्रतिदिन नियमित सन्त-सेवा एवं विशिष्ट सेवाएँ भी साथ-साथ चला करती थीं।

इस प्रकार श्री गोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज के कितने ही महिमापूर्ण चरित्र मिलते हैं। उपर्युक्त घटनाओं का उल्लेख एक छन्द में इस प्रकार किया गया है—

जै जै गोविन्दशरणदेव दुःख-दैन्य-विनासक।
श्री राधामाधव की अभिलाषा के साधक॥
धरि 'श्रीजी' कौ रूप भूप को संशै नास्यौ।
सत्त भाव कौ तत्त जीव कौं प्रगट प्रकास्यौ॥
गिरी न टूटी छत्त हू राखि लिए सब सन्त।
श्री सर्वेश्वर को सुजस गायौ भाँति अनन्त॥

श्री गोविन्दशरणदेव ने एक 'बृहद्वाणी-ग्रन्थ' की रचना की थी, किन्तु वह समग्ररूप में अभी प्राप्त नहीं है। जितना अंश उपलब्ध है, उसीका संकलन करके 'श्री गोविन्दशरणदेवाचार्यजी की वाणी' नाम से प्रकाशित कराया गया है। इसमें ईश्वरानुरक्ति, शरणागतिधर्म-निरूपण, अष्टयाम-सेवा-विधान, राधाकृष्ण-स्वरूप-वर्णन, नित्यविहार-तत्त्व-चिन्तन तथा साम्प्रदायिक भक्ति-सिद्धान्त-निरूपण आदि में सांप्रदायिक द्वैताद्वैतदर्शन की दृष्टि अपनाई गई है। इसमें मिलनेवाले पदों में इनके हृदय की स्वच्छता, भक्ति-प्रवणता, विशालता, आस्था, निष्ठा, समन्वयभाव, निरभिमानता एवं समर्पण की भावना आदि का परिचय मिलता है। इसके साथ ही श्री युगलकिशोर की बाँकी झाँकी का भी दिग्दर्शन होता है। एक उदाहरण देखिए—

नैंन-कँवल कर कँवल फिरावत,
बसि कीनैं जल जात।
बोलनि, हँसनि, लसनि को सजनी,
कहि न परत कछु बात॥

बृन्दावन बंसीवट बिहरत,
मो हिय सदा सुहात।
गोविन्दसरन बड़भागि जोई या,
सुख दिन-रैन बिहात॥

इस प्रकार २७ वर्ष पर्यंत श्री निम्बार्कपीठ को सुशोभित कर विक्रम संवत् १८४१ में आपने श्री नित्ययुगलकिशोर की निकुञ्जलीला में प्रवेश किया। आपका पाटोत्सव कार्तिक कृष्णाष्टमी को मनाया जाता है।

प्रे० ना० श्री०

गोविन्द सुकवि

गोविन्द सुकवि का जीवन-परिचय ज्ञात नहीं है। इनकी एक 'राधा-मुख-षोडशी' नामक लघु रचना प्राप्त हुई है जिसमें १६ कवित्त छन्दों में राधा के मुख के सौन्दर्य का वर्णन है। उपलब्ध छन्दों की संख्या केवल १२ है, जो काव्य की दृष्टि से अत्यन्त सरस और प्रौढ़ हैं। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१)

कोऊ तो सराहे सदा गिरिजा गनेश पुनि,
कोऊ तो सराहे सदा नंद जू को नद को।
कोऊ तो सराहे सदा सारदा स्वयंभू पुनि,
कोऊ तो सराहे सदा शंभु सुरचंद को।
कोऊ तो सराहे सदा बौध व्यास वामन को,
कोऊ तो सराहे रामचंद सुखकंद को।
'गोविन्द सुकवि' पर हम तो सराहें सदा,
आनन्द के कंद एक राधा मुखचंद को॥

(२)

चंद में कलंक तेरो मुख निकलंक सदा,
विमल विलोकि बाढ़े हिय में हुलास है।
दिन में मलीन और घटे-बढ़े चद पुनि,
तेरे मुखचंद जू को अखंड आभास है।
षोडश कला है चंद तेरे मुखचंद जू की,
रदन ललित कला बतीस विकास है।
गोविन्द सुकवि यातें चन्द ते अधिक प्यारी,
तेरो मुखचंद सदा पूरन प्रकास है॥

वा० सि०

गोविन्दस्वामी

गोविन्दस्वामीजी का जन्म आँतरी ग्राम में हुआ था। आँतरी ग्राम भरतपुर राज्य के अन्तर्गत बताया जाता है। वार्ता में लिखा है कि गोविन्दस्वामी वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले महावन में रहते थे, परन्तु साथ में यह भी लिखा है कि ये पहले आँतरी ग्राम में रहते थे। इससे विदित होता है कि इनका जन्म-स्थान आँतरी ग्राम ही था।

आँतरी गाँव से आकर ये कुछ दिन महावन में रहे। वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के पश्चात् ये गोकुल और महावन के टीलों पर बैठकर कीर्तन किया करते थे। बाद में ये गोवर्द्धन चले गये और अन्त समय तक वहीं रहे। गिरिराज की कदमखण्डी में इनका स्थायी निवास-स्थल था। यह स्थान अब भी 'गोविन्दस्वामी की कदमखण्डी' नाम से प्रसिद्ध है।

वार्ता से विदित होता है कि इनका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था। वार्ता अथवा अन्य किसी भी सूत्र से इनके माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं होता। वार्ता से यह तो ज्ञात होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले ही इनके मन की वृत्ति भगवान् की भक्ति की ओर लग गई थी, परन्तु ये गृहस्थ बने रहे। इनके सन्तान भी थी। इनकी बड़ी बहन कानबाई थीं जो इनके साथ गुसाइंजी की सेविका हो गई थीं और उन्हींके साथ रहती थीं। अष्टछाप में इनकी एक बेटी का भी उल्लेख है। एक बार इनकी बेटी आँतरी से इनके पास आई। वह कुछ दिन इनके पास रही, परन्तु गोविन्दस्वामी उससे बोले नहीं। उनकी बहन ने पूछा, "गोविन्ददास ! तू कबहूँ बेटी सों बोलत ही नाहीं, योहूँ न पूछे जो तू कब आई है ?" आपने कहा, "मन तो एक है। सो श्री ठाकुरजी में लगाऊँ के बेटी में लगाऊँ ?" इससे ज्ञात होता है कि एक बार गृहस्थी छोड़ने के बाद इन्होंने अपने कुटुम्ब की ओर से पूर्ण वैराग्य ले लिया था।

गोविन्दस्वामी की आरम्भिक शिक्षा और इनके शिक्षा-गुरु का उल्लेख किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। वार्ता से ज्ञात होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले ये कवीश्वर थे और पद बनाकर गाया

करते थे। साधु-संगति से इनके मन की वृत्ति भक्ति की ओर झुक गई थी। आँतरी गाँव में रहते हुए ही उस स्थान पर इनके बहुत से सेवक हो गये थे। वार्ता से यह स्पष्ट नहीं है कि ये सेवक गान-विद्या और काव्य-विद्या सीखने के लिए हुए थे अथवा किसी सम्प्रदाय के आचार्य बनकर लोगों को दीक्षा देते थे। अनुमान है कि लोग इनके पास गान और कविता करने की शिक्षा लेने ही आते थे। इनकी साधुवृत्ति तो थी ही, इसीलिए लोग उन्हें 'स्वामी' कहने लगे थे। गायन और काव्य-रचना की शिक्षा इन्होंने किस गुरु से सीखी इसका किसी भी सूत्र से पता नहीं चलता। वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के बाद तो इन्होंने अपने सम्प्रदाय के सूरदास जैसे महात्माओं से तथा श्री गोस्वामी विट्ठलनाथजी से ज्ञान प्राप्त किया था।

वार्ता के आधार पर पीछे कहा गया है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले गोविन्दस्वामी का मन भगवान् की भक्ति की ओर झुक गया था। इनके मन की वृत्ति का यह आध्यात्मिक मोड़ कैसे हुआ, यह वार्ता से विदित नहीं होता। अनुमान से कहा जा सकता है कि जीवन की किसी विषम परिस्थिति से ठेस पाकर तथा साधु-महात्माओं के उपदेश से इनकी यह वृत्ति बनी होगी। कुछ समय गृहस्थ-आश्रम का भोग करने के बाद इनके मन में ब्रज-धाम में निवास करने का विचार आया।

घर छोड़कर ये ब्रज आये और महाबन में रहने लगे। वहाँ रहकर ये अपना समय पद बनाने और भगवद्कीर्तन करने में बिताने लगे। जब कुछ वैष्णव गोविन्दस्वामी के पद सीखकर गोकुल में श्री गोसाइं विट्ठलनाथजी के समक्ष गाते तो वे बहुत प्रसन्न होते थे। उन वैष्णवों ने यह बात गोविन्दस्वामी से आकर कही। धीरे-धीरे गोविन्दस्वामी का मन गोस्वामी विट्ठलनाथजी की ओर आकृष्ट हो गया और उनसे मिलने की उत्कण्ठा जाग्रत हुई। एक दिन एक वैष्णव के साथ ये गोकुल आये। उस समय गोस्वामीजी जमुना-तट पर सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे। गोविन्दस्वामी को गुसाइंजी का यह आचरण देखकर बड़ा विस्मय हुआ, कहाँ यह वेदोक्त सन्ध्या-वन्दन का कर्मकाण्ड और कहाँ भगवान् की भक्ति? जब गोस्वामीजी से इनका साक्षात्कार हुआ और मन्दिर में इन्होंने उनके दर्शन किये तब अपनी शंका उनके समक्ष प्रकट की। इस पर गोस्वामीजी ने उत्तर दिया—"जो भक्ति-मार्ग है सो तो फूलरूपी है और कर्ममार्ग काँटारूपी है। सो फूल तो रक्षा बिना फूले न रहें, ताते वेदोक्त कर्ममारग है सो भक्तिरूपी फूलन की काँटेन की बाड़ है। ताते कर्ममार्ग की बाड़ बिना भक्तिरूपी फूल को जतन न होय।" कर्म और भक्ति के योग का उपदेश सुनकर गोविन्दस्वामी का मन बहुत प्रसन्न हुआ। इसके बाद इन्होंने शरणागति की प्रार्थना की और गोस्वामीजी ने इन्हें शरण में ले लिया। गोविन्द स्वामी अब 'स्वामी' से 'दास' बन गये।

कुछ समय महाबन में निवास करने के बाद ये गोकुल में ही आ गये और यहाँ रहकर भगवद्भक्ति और श्री गोसाइंजी के व्याख्यानों से श्रीमद्भागवत का ज्ञान प्राप्त करने लगे। इनकी यमुना में परम भक्ति थी, परन्तु ये कभी उस में स्नान नहीं करते थे। इनका विचार था कि अपनी पापी देह को पवित्र यमुना से कैसे स्पर्श कराऊं? वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले आँतरी ग्राम में जो लोग इनके शिष्य हो गये थे, वे भी इनके प्रभाव से गोकुल में आकर गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य हो गये। इस विषय में वार्ता में एक बड़ी रोचक कथा दी गई है।

एक समय गोविन्दस्वामी के कुछ शिष्य आँतरी गाँव से इनकी खोज में गोकुल आये। जब वे पूछते-पूछते गोविन्दस्वामी के घर पहुँचे तो उन्हें उनकी बहन कानबाई से ज्ञात हुआ कि वे स्नान करने गये हैं। शिष्यगण यशोदाघाट पर आये। वहाँ उन्होंने स्वामीजी को पहचाना नहीं और उन्हींसे पूछा—'गोविन्दस्वामी कहाँ हैं?' गोविन्दस्वामी ने उन्हें पहचान लिया था, परन्तु अपने को गुप्त रखते हुए उत्तर

दिया, 'गोविन्दस्वामी तो मर गये और उन्हें मरे बहुत दिन हो गये।' यह उत्तर पाकर वे सब आश्चर्य में पड़े और गोस्वामीजी के घर लौट गये। इतने में ही गोविन्दस्वामी घर पहुँच गये। जब उन शिष्यों ने उन्हें पहचाना, तब उनसे पूछा कि आपने यह क्यों कहा कि 'गोविन्दस्वामी तो मरि गये।' गोविन्दस्वामी ने उत्तर दिया कि गोविन्दस्वामी तो अब हम नहीं हैं, अब तो हम गोविन्ददास हैं। 'स्वामीपना' बहुत दिन पहले छूट गया। उसके बाद उन सब शिष्यों ने भी श्री गोस्वामी विट्ठलनाथजी की शरण ले ली।

गोकुल में कुछ समय रहने के बाद गोविन्दस्वामी श्रीनाथजी की सेवा में गोवर्द्धन चले गये और फिर मृत्युपर्यन्त वहीं रहे। वहाँ रहते हुए इन्होंने अनेक पदों की रचना की। श्रीनाथजी के मन्दिर में इनको भी कीर्तन की सेवा दी गई थी। अपने बनाये पदों को ये इष्ट श्रीनाथजी के समक्ष गाया करते थे। गोविन्दस्वामी की सखाभाव की भक्ति तथा श्रीनाथजी के साथ उनकी सख्यलीला के कई प्रसंग वार्ता में दिये हुए हैं जिनमें कुछ का उल्लेख प्रियादासजी ने भी भक्तमाल की अपनो टीका में किया है।

नाभादासजी ने लिखा है कि गोविन्दस्वामी उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। इनके मन की दृढ़ वैराग्यवृत्ति का परिचय इनकी बेटी के गोकुल-आगमन पर उसके प्रति उदासीनता के भाव के प्रसंग से चलता है। जब इन्होंने अपनी बहन से कहा था, 'किजो कन्हीयाँ। मन तो एक है, सो श्री ठाकुरजी में लगाऊँ।' वार्ता से पता चलता है कि भक्ति-पक्ष में गोविन्दस्वामी में दैन्यभाव न था। वे श्रीनाथजी की सखा-भाव से भक्ति करते थे।

इनकी प्रकृति कुछ विनोदशीला भी थी। जब आँतरी गाँव के शिष्य इनसे मिलने आये तब इन्होंने उनसे 'गोविन्दस्वामी तो मरि गये' कहकर भ्रम में डाल दिया था। वार्ता का यह प्रसंग पीछे दिया जा चुका है। इनकी अनन्य सखा-भाव की भक्ति प्रकट करते हुए वार्ताकार ने इनकी विनोदशीला अल्हड़ प्रकृति का कई प्रसंगों में उल्लेख किया है। एक बार इन्होंने श्रीनाथजी के कंकड़ी मारी। गोस्वामीजी के हटकने पर इन्होंने उनसे कहा—'महाराज! आपनों सो पूत, परायो ढठींगर, मोकों इनने तीन काँकरी मारी हैं।' और एक समय वसन्त के दिनों में गोविन्दस्वामी मन्दिर के मणिकोठा में खड़े ध्यान-मग्न-कीर्तन करते थे। इन्होंने एक नई धमार बनाकर गाई। जब तीन तुक गा चुके तब चुप हो गये। गोस्वामीजी ने पूछा—'गोविन्ददास, धमार क्यों नहीं गाते?' इन्होंने उत्तर दिया—'महाराज! धमार तो भाजि गई अरु मन अरुझाय गयो सो वह तो भाजि गये ताते ख्याल उतनो ही रह्यो।' यद्यपि इस प्रसंग से गोविन्ददास की मानसिक भक्ति के उत्कर्ष का परिचय मिलता है, परन्तु जिस ढंग से 'महाराज! धमारि तो भाजि गई' कहकर इन्होंने गुसाइंजी को उत्तर दिया उससे उनकी विनोदशीला प्रकृति का भी पता चलता है। इसी प्रकार के और प्रसंग वार्ता में आये हैं। गोविन्दस्वामी पाग इतनी कुशलता से बाँधते थे कि उसके फटे होने का किसीको अनुमान भी नहीं होता था। एक बार एक व्रजवासी ने इनकी पाग के पेंच सुन्दर देखकर उसको इनके सिर से उतार लिया और लेकर चलने लगा। गोविन्दस्वामी ने अपनी हँसोड़ प्रकृति का परिचय देते हुए कहा, 'सारे, सोलह टूक हैं, सँभारि लीजो, हों सकारे तेरे घर आय कें ले जाऊँगो।' यह सुनकर वह व्रजवासी बहुत लज्जित हुआ और उसने पाग वापस दे दी।

गोविन्दस्वामी भक्त और उच्च कोटि के कवि होने के साथ एक सिद्ध संगीतकार भी थे। गान-विद्या में ये इतने निपुण थे कि वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के पहले ही इनके अनेक शिष्य हो गये थे, जिन्होंने इन्हें 'स्वामी' की पदवी से विभूषित किया था। वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के बाद तो इनके गान की ख्याति दूर-दूर फैल गई थी। अकबर के

दरबार के नवरत्नों में से एक रत्न 'तानसेन' जो पहले स्वामी हरिदासजी के शिष्य थे, इनसे गाना सीखने आते थे। वार्ता में इनके सहस्रावधि पद लिखने का उल्लेख है और इनकी गान-विद्या की कई स्थलों पर वार्ताकार ने प्रशंसा की है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में नवगढ़ के राजा आसकरन की कथा में भी गोविन्दस्वामी के सहस्रावधि पद लिखने और उनके 'तानसेन' को पद सिखाने का उल्लेख है। परन्तु गोविन्दस्वामी के २५२ पद बहुत प्रसिद्ध हैं जिनकी प्रतियाँ वैष्णव-घरानों में उपलब्ध हैं। इन पदों का एक संग्रह लेखक के पास भी है। इन २५२ पदों के अतिरिक्त इनके और भी पद लेखक के देखने में आये हैं।

गोविन्दस्वामी विद्वान्, गायनाचार्य, कवीश्वर और परम भक्त थे। इनका स्वभाव निश्शंक और निर्भीक था। मोह उनको छू तक न गया था।

गोविन्दस्वामी के अन्त समय और गोलोकवास का प्रसंग न तो 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है और न 'अष्टसखान की वार्ता' में। श्री गिरिधरलालजी के १२० 'वचनामृत' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि जब श्री गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने लीला में प्रवेश किया तभी गोविन्दस्वामी ने देह-सहित गोवर्धन की कन्दरा में प्रवेश किया और नित्य-लीला में पहुँचे। 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' के अनुसार सं० १५९२ में गोविन्दस्वामी गोस्वामी विट्ठलनाथजी की शरण में आये। वार्ता में लिखा है कि शरणागति के समय ये एक कवीश्वर और प्रसिद्ध गवैये थे। गान-विद्या सीखने के लिए इनके अनेक शिष्य भी हो गये थे जिसके कारण ये 'स्वामी' कहलाने लगे थे। उस समय इनका विवाह हो गया था और सन्तान भी थी। लेखक का अनुमान है कि कुछ समय गृहस्थी का भोग करने के बाद ही इनके चित्त में भगवद्-भक्ति-प्राप्ति की इच्छा प्रबल हुई होगी। भगवद्-प्राप्ति की प्रेरणा ही इन्हें व्रज में लाई और कुछ समय तक ये महावन में रहे। इस समय गोविन्दस्वामी की अवस्था कम-से-कम तीस वर्ष की अवश्य रही होगी। इस प्रकार सं० १५९२ वि० में से ३० वर्ष निकालने पर इनका जन्म-काल सं० १५६२ वि० के लगभग ठहरता है।

इनके आत्म-चरित्र में कहा जा चुका है कि इन्होंने भी गोस्वामीजी के सातवें पुत्र की बधाइयाँ गाई हैं। उससे इनका सं० १६२८ वि० (गोसाइँ-जी के सातवें पुत्र घनश्यामजी की जन्म-तिथि) तक जीवित रहना सिद्ध होता है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता में सूरदास की वार्ता के अन्तर्गत लिखा है कि सूरदास की मृत्यु के समय रामदास, कुम्भनदास, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास आदि वैष्णव उपस्थित थे। सूरदास के निधन का समय सं० १६३८ से सं० १६४० के बीच का माना गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गोविन्दस्वामी सं० १६३८ तक अवश्य जीवित थे। श्री गिरिधरलालजी के १२० 'वचनामृत' नामक ग्रन्थ से तो गोविन्दस्वामी के गोलोकवास की तिथि सं० १६४२ निश्चित हो जाती है।

वार्ता में इनके लीलात्मक स्वरूप के विषय में लिखा है कि ये श्रीदामा सखा और भामा सखी थे।

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों तथा लेखकों ने गोविन्दस्वामी के किसी ग्रन्थ अथवा पद-संग्रह का उल्लेख नहीं किया है। अब तक दस-बीस स्फुट पदों को छोड़कर हिन्दी-संसार को इनका कोई पद-संग्रह उपलब्ध नहीं हुआ था। लेखकों का बहुधा यही कथन रहा है, "इनके स्फुट पद इधर-उधर मिलते हैं।" सौभाग्य से अष्टछाप के अन्य कवियों के पद-संग्रह की भाँति इस कवि का भी पद-संग्रह लेखक को खोज में प्राप्त हुआ है। हस्तलिखित पद-संग्रह के अतिरिक्त, पीछे कहे वल्लभ-सम्प्रदाय के छपे हुए कीर्तन-संग्रहों में गोविन्दस्वामी के पद मिलते हैं। नीचे इन दोनों प्रकार के पद-संग्रहों का परिचय दिया जाता है।

छपे कीर्तनों में 'राग-सागरोद्भव-राग-कल्पद्रुम' में गोविन्दस्वामी के विविध रागों के अन्तर्गत लगभग ६५ तथा 'राग-रत्नाकर' में केवल १० पद संगृहीत हैं। वल्लभसम्प्रदायी कीर्तन-संग्रहों के पीछे कहे तीनों भागों में इस कवि के पदों की संख्या विषयानुसार नीचे लिखे प्रकार से है—

१. जन्माष्टमी की बधाई के पद ६, २. ढाढ़ी के २, ३. राधाजी की बधाई के ३, ४. वामनजी के १, ५. दशहरा के १, ६. पालना के ३, ७. बाल-लीला के १, ८. दान के १८, ६. देवी-पूजन के १, और १०. रास के ५ पद।

इनके चार पद यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१)

तू आज देखि री मन मोहन वीर विराजैं।
मदन मोहन पीय मणि मंदिर
तें बैठे बनि कसि आप छाजैं।
लटपटी पाग उर माल मरगजो
लटपटात मधुप मधु काजैं।
गोविंद प्रभु के जु सिथिल अरुण द्रग
देखियत कोटि मदन लाजैं।

(२)

मानरी मानरो, मोहन द्वारे ठाढ़े॥
तेरी तो प्रकृत आनि पिय की पीर न जानें॥
बातें तो बोहोत डकानें त्यों-त्यों
आ गरे कपाट दिए गाठे॥
बरखा रैंनि कारी तो सो तोहि लगत भारी॥
ऐसे ललन पर तन मन धन
वारि फेरि दीजे मान गाढ़े॥
सुनत बचन प्यारी कंठ लगी गिरधारी॥
गोविन्द प्रभु को हृदो प्रेम जल
सों बुझावों आए विरहानल डाढ़े॥

(३)

विराजत स्यांम मनोहर प्यारो॥
प्रभु तिहूँ लोक उजियारो॥
सरस बसन्त समें बन सोभा
श्री व्रजराज विराजें॥

सुर नर मुनि सब कौतिक भूलें
देखि मदन कुल लाजें॥

रंग सुरंग कुसुम नाना रंग
सोभा कहत न आवें॥

नवल किशोर और नवल किशोरी
राग रागिनी गावें॥

चोवा चंदन अगर कुमकुमा
उड़त गुलाल अबीर॥

छिरकत केशरि नव वंशोवट
कालिंदी के तीर॥

ताल मृदंग उपंग मुरज डफ
ढोल भेरि सेहनाई॥

अद्भुत चरित्र रच्यो वृजभूषन
शोभा बरनी न जाई॥

(४)

जागो कृष्ण जसोदा जू बोले
यह ओसर कोउ सोवे हो।

गावत गुन गोपाल ग्वालिनी
हरखित दह्यो बिलोंवे हो॥

गो दोहन धुनि पूर रह्यो ब्रज
गोपी दीप सँजोवे हो।

सुरभी हूँ के बछरुवा जागे
अब मुख मारग जोवें हो॥

बेन मधुर धुनि मह्वर बाजे
ग्वाल गहें कर सेटी हो।

अपनी गाय सब ग्वाल-ग्वाल दुहत हैं
तिहारी गाय अकेली हो॥

जागे कृष्ण जगत् को जीवन
अरुन बेंन मुख सोहें हो।

गोविन्द प्रभु दुहत हैं धोरी
गोपवधू मन मोहें हो॥

रा० कृ० श०
बा० सि०

गौरगणदास

गौरगणदास के जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित तथ्य ज्ञात नहीं हैं। चैतन्य-मतानुयायी भक्त होना इनकी रचनाओं से सिद्ध होता है। इनका समय सनातन गोस्वामी के बाद का प्रतीत होता है। इनकी रचनायें इस प्रकार हैं—गौरांग-भूषण-विलास, श्रृंगार-मञ्जावली (पूर्व और उत्तर), सिद्धान्त-प्रणाली-शाखा। ये व्रजभाषा में लिखी गई हैं। इससे ये व्रज-प्रदेशवासी बंगाली-भक्त ज्ञात होते हैं।

स०

गौर गुसाइं

श्री गौर गुसाइं महाकवि भूषण के वंशज थे। आप कुछ समय तक जयपुर के पास मनोहरपुर के रावराजा के यहाँ मंत्री-पद पर रहे। उस पद से अवकाश लेने के पश्चात् आपने संन्यास ग्रहण कर लिया और श्रीकृष्ण की भक्ति में अपने शेष जीवन को लगाया। आपका स्वर्गवास विक्रम सं० १९५० में हुआ।

गौर गुसाइं का एक छन्द यहाँ प्रस्तुत है—

तैसी अँधियारी कारी घटा घिर भारी भारी,
गरजत करारी देखे लागत डरारी है।
बिजरी उचारी चखचौंध डारी न्यारी-न्यारी,
तैसी ही अँधियारी नभ भूतल पसारी है॥
पाठली सँभारी ब्रजबीरन बिचारी हम,
अबला बिचारी 'गौर' शरण तुम्हारी है।
ए हो गिरधारी! तुम अन्तर दरपहारी,
अब को है रखवारो इन प्रलय धार धारी है॥

ग० मि०

गौरदास

बाबा गौरदास सिद्ध पुरुष थे। ये नन्दग्राम में पावन सरोवर के तीर पर श्री सनातन गोस्वामी की प्राचीन भजनकुटी में भजन करते थे। ये नित्य प्रेम-सरोवर के निकट गाजीपुर से फूल चुनकर लाते और माला पिरोकर श्रीकृष्ण को पहनाते थे। पुष्प-चर्या के द्वारा ही इन्होंने श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त की थी।

पुष्पचर्या करते उन्हें ६ वर्ष हो गये, पर लगा जैसे अभी आराध्य की कृपा नहीं हुई है। इन्होंने सोचा—'इतने दिन से फूल-सेवा करता आ रहा हूँ, फिर भी लालाजी ने कृपा नहीं की। उनका हृदय बड़ा कठोर है। पर वृषभानुनन्दिनी के मन-प्राण करुणा से आप्लावित हैं। इतने दिन उनकी सेवा करता तो वे अवश्य कृपा करतीं। मैं आज ही बरसाने चला जाऊँगा, यहाँ नहीं रहूँगा।'

संध्या समय कंथा आदि पीठ पर लादकर ये बरसाने की ओर चले। जब नन्दग्राम से एक मील दक्षिण की ओर एक मैदान से होकर जा रहे थे तो बहुत से ग्वालबाल गोचारण कराकर गाँव को लौट रहे थे। एक साँवले रंग के सुन्दर बालक ने इनसे पूछा—'बाबा, तू कहाँ जाय ?'

डबडबाये नेत्रों से बाबा ने उत्तर दिया—'लाला! हम बरसाने जाय रहे हैं।'

बालक ने व्याकुलता से बाबा की ओर देखते हुए ऊँचे स्वर में कहा—'बाबा, मत जा!'

बाबा बोले—'ना लाला, मैं ६ वर्ष यहाँ रहा। मुझे कुछ नहीं मिला। अब और यहाँ रुककर क्या करूँगा ?'

बालक ने दोनों हाथ फैलाकर रास्ता रोकते हुए कहा, 'बाबा! मान जा, मत जा।'

बाबा झुंझलाकर बोले, 'छोरा, क्यों ऊधम करे है ? रस्ता छोड़ दे।'

'तो मेरो फूल-सेवा कौन करेगो ?' बालक ने ऊँचे स्वर में कहा।

बाबा के मन में आश्चर्य हुआ कि फूल-सेवा जानने-वाला यह बालक कौन है ? जैसे ही कहा—'तू कौन है

रे ?' और देखा तो वहाँ न तो गायें थीं और न बालक और उसके साथी। अब सारा रहस्य बाबा की समझ में आ गया। ये चोखकर गिर पड़े और विलाप करने लगे।

उधर मन्दिर के पुजारी को आदेश हुआ—'देख, गौरदास मेरी फूल-सेवा न छोड़े। मैं और किसीकी फूल-सेवा अंगीकार नहीं करूँगा।'

स० गु०

गौरांगसिंह (गौरसिंह)

राँची जिले के पंचपरगना क्षेत्र में पाँच परगने सम्मिलित हैं—बुण्डू, तमाड़, राहे, बरंदा और सिल्ली। इन पाँच परगनों में जो बोली प्रचलित है वह पंचपरगनिया कहलाती है। पंचपरगनिया नागपुरी की एक विभाषा है, जो बंगला प्रभाव के कारण वर्तुलाकार उच्चरित होती है। इसमें दो प्रमुख कवि हुए हैं। गौरांगसिंह और विनोदसिंह। यहाँ गौरांगसिंह गौरसिंह तथा गौरांगिया के नाम से भी जाने जाते हैं। सिल्ली के राजाबहादुर उपेन्द्रनाथसिंहदेव ने सन् १६५६ में 'आदि-झूमर-संगीत' नामक एक पुस्तक का प्रकाशन किया था, जिसमें इनके भी कुछ झूमर संकलित हैं। इसी संकलन से एक गीत यहाँ दिया जा रहा है।

राधा दूती से कहती है—

(१)

सुनो गो बो दुती, आमार विनती
बारे बारे मोरे बोलना।
प्रेम करियो ना, की करीब मन माने ना॥

(२)

से बड़लम्पट, कुटिल कपट
पिरितीर चरित्र जाने ना।
प्रेम करियो ना, की करीब मन माने ना॥

(३)

ताहारी प्रमाण, सकली सभान
स्वर्ण पितल चिन्हे ना।
प्रेम करियो ना,की करीब मन माने ना॥

(४)

परिमुल ताहार, परे गुन्जी का हार
गौरांगिया भावे भुले ना।
प्रेम करियो ना, की करीब मन माने ना॥

श्र० कु० गो०

ग्वारिया बाबा

ग्वारिया बाबा का जन्म १८४३ ई० में बुन्देलखंड के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। किशोरावस्था से ही ये भगवान् कृष्ण की सख्यभाव की भक्ति करने लगे और आजीवन उसी भाव में निमग्न रहे। १६ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह कर दिया गया था। गर्भवती पत्नी की प्रसव-पीड़ा से व्यथित होकर इन्होंने एक दिन आधी रात को ही घर छोड़ दिया।

ये उद्धव की भाँति भगवान् कृष्ण को अपना मित्र मानते थे और उन्हींकी भक्ति में निरन्तर तल्लीन होकर इधर-उधर विचरण किया करते थे। एक बार ये दतिया पहुँचे। वहाँ एक गहरे तालाब में मगरमच्छ रहते थे। इसलिए दतिया के राजा ने वहाँ पहरा बैठा दिया था कि भूलकर कोई तालाब में घुसने न पाये। एक दिन ग्वारिया बाबा चुपके से तालाब के मध्य जा खड़े हुए। जब पहरेदार की दृष्टि इनके ऊपर पड़ी तो वह बहुत घबड़ाया और बाबा से आग्रह करने लगा कि वह तुरन्त बाहर निकल आयें, नहीं तो मगरमच्छ उन्हें निगल जाएँगे। बाबाजी ने उसकी बात अनसुनी कर दी तो उसने तत्काल इसकी सूचना दतिया-नरेश भवानीसिंह को दी। उन्होंने आकर देखा कि बाबा निश्चिंत

होकर मगरमच्छों के बीच खड़े हुए हैं। राजा के आग्रह पर ये बाहर आये। इनका बाल बाँका नहीं हुआ था। सब लोग अचरज में पड़ गये। कुछ दिनों दतिया में रहकर ये कृष्ण-भक्ति का प्रचार करते रहे।

राजा ने राजकुमार का राज्याभिषेक करने का निश्चय किया और उन्होंने उसे ग्वारिया बाबा का आशीर्वाद लेने भेजा। वह बहुत प्रसन्नमन इनके पास आया तो बाबा ने आशीर्वाद देने के बजाय उसके एक तमाचा जड़ दिया। बाद में इन्होंने राजा से बताया कि 'उसे अहंकार हो गया था। मैं चाहता हूँ कि यह दुःख का भी अनुभव करे।' राजा ने इसे बाबा की शुभकामना ही मानी।

बाबा ने दतिया के निकट तीन वर्षों तक तप किया। इन्हें संगीत से बड़ा प्रेम था। ये संगीत के प्रचारार्थ भगवत्-प्रेरणा से वृन्दावन चले गये।

यमुना के तटवर्ती वनों में आनन्दभाव से विचरण करते हुए इन्होंने एक बार भगवान् कृष्ण के दर्शन किये। फिर तो इनके आनन्द की सीमा न रही। उधर दतिया-नरेश इन्हें पुनः बुलाने आये। उनके आग्रह करने पर ये एक दिन अपने मुँह पर कालिख लगाकर और गधे पर सवार होकर राजा के पास गये और कहा कि वृन्दावन छोड़नेवालों की यही वेषभूषा होनी चाहिए।

जयपुर-नरेश वृन्दावन में भगवान् कृष्ण का मन्दिर बनवा रहे थे। बाबा चुपके से मजदूर बनकर काम करते रहे। पहचाने जाने पर इन्होंने राजा को बतलाया कि हम तन से भगवान् की सेवा कर रहे हैं।' जयपुर-नरेश आग्रह कर इन्हें कुछ समय के लिए श्री गोविन्ददेवजी के मन्दिर जयपुर ले गये। पुजारी ने जब एक दिन भोग लगाया तो बाबा ने कहा कि 'भगवान् इसे कैसे स्वीकार करेंगे ? इसमें शकर पड़ी ही नहीं है।' रसोइये ने अपनी भूल स्वीकार की। इससे लोग बड़े चमत्कृत हुए।

इस प्रवास के समय एक दिन बाबाजी अजमेर के किले में देवीजी का दर्शन करने गये। मार्ग में एक प्यासी बारात मिली। उसके ५० व्यक्तियों को बाबा ने अपने एक कमंडल से ही पानी पिलाकर तृप्त कर दिया और पानी कम न हुआ। बाराती श्रद्धा एवं बिस्मय से अभिभूत हो गये।

इसी प्रकार की बाबा के अनेक चमत्कारों की बातें व्रज-क्षेत्र में प्रचलित हैं। उनमें से कुछ उल्लेखनीय घटनाएँ इस प्रकार हैं—

एक दिन बाबा ने दो बोरी सेब मँगाये और उसे गालव ऋषि की गुफा में रखवा दिया। लोगों की समझ में जब यह बात नहीं आयी तो उन्हें लेकर ये गुफा में गये और वहाँ सेब समेत बोरे गायब मिले। फिर ये आकर बरसाने के एक उद्यान में ठहरे जहाँ ये श्रीजी के दर्शन और रात्रि में भगवान् कृष्ण का ध्यान करते थे।

एक बार ये चोरों के दल में शामिल होकर चोरी करने गये। एक गोसाईं के घर में घुसे और ठाकुरजी के मन्दिर में जाकर कहा—'यार! मैं तुम्हारे घर आया हूँ, कुछ कलेऊ करा दो।' फिर घंटी बजा दी। चोरों को भागना पड़ा, खुद पकड़े गये। लोगों ने इन्हें बहुत पीटा किन्तु पहचानने पर इनके पैरों पर गिर पड़े। ऐसे थे बाबाजी के कौतुक।

कहते हैं कि एक बार बाबाजी ने जल निकालने के लिए एक सूखे कुएँ में लोटा डाला तो कुएँ में पानी भर गया जो बाद में भी भरा रहा। यमुना-तट के धोबियों ने यह दृश्य स्वयं देखा था। एक दिन बाबा भूखे पड़े थे तो भगवान् कृष्ण एक बालक के रूप में आकर इन्हें एक लोटा दूध देकर चंपत हो गये। बिहारीजी स्वयं बाबा के हाथ से लड्डू खाते थे और इनकी गोद में खेला करते थे। जयपुर के श्री गोविन्ददेवजी के मंदिर की भाँति वृन्दावन में भी एक रोचक घटना घटित हुई। राधावल्लभजी का भोग लग रहा था किन्तु साग में नमक नहीं पड़ा था। भगवान् कृष्ण

ने यह बात बाबा को बतलाई तो वह नमक लिए हुए दौड़े आये। यहाँ भी रसोइये से सचमुच भूल हो गई थी।

इस प्रकार इनके जीवन के अनेक स्मरणीय प्रकरण हैं। इनका गोलोकवास सन् १९३८ ई० में हुआ।

त्रि० ना० सिं०

ग्वारिया भक्त

महाभाग ग्वारिया की कृष्ण-भक्ति की महिमा का गान 'रसिक-माल' की इन पंक्तियों में मिलता है—

मानसरोवर तट इक ग्वाल।
गावत हित कृत पद जु रसाल॥

ताहि मिले श्री लाड़िलीलाल।
पाछैं फिरत सुनत दै ताल॥

नील बसन पहिरें तन गोरी।
कटि पट पीत अरुण सिर खोरी॥

मुरली अपनी ग्वाल बजाई।
इतहू लाल अनूप सुनाई॥

ग्वाल छक्यौ लखि नवलकिशोर।
तासौं कहन लगे चितचोर॥

तोसों एक हमारौ काम।
बेगि जाहु हरिवंश के धाम॥

खीर कढ़ी ह्वाँ करी जु लावहु।
जु कछु करचौ सो सब पहुँचावहु॥

तौ लौं गाइ घेरिहौं तेरी।
गाऊँ गैयनि आगे हेरी॥

आइ ग्वाल हित जू सौं कही।
लै पहुँचे सब मानी सही॥

परिकर सहित भोज रुचि पायौ।
जल तंबोल लै बदन रचायौ॥

उनमानी ही हमसे एऊ।
गावत बेनु बजावत सेऊ॥

अब तौ ठाकुर ही करि जानैं।
सखी यूथ जुत सब पहिचानैं॥

जबही ग्वाल भेद लखि पायौ।
मूर्छित परचौ धरनि थहरायौ॥

रूप-माधुरी सौं मन लायौ।
तनहिं छाड़ि परिकरहि समायौ॥

—उत्तमदासजी कृत 'रसिक-माल'

संगीत और साहित्य से सर्वथा अनभिज्ञ अपनी मस्ती में झूमते, अलगोजा बजाते कुछ ग्वाले मानसरोवर के आसपास गाय चराया करते थे। उनमें से एक ग्वारिया रसिकों के द्वारा गाये जानेवाले पदों को बड़ी रुचि से सुना करता था। बहुत से पद उसे सुनते-सुनते याद हो गये थे और उन्हें वह प्रायः गाया करता था। उन दिनों श्री हिताचार्यचरण की पदावली अपनी सहज माधुरी के कारण रसिक-समाज से लेकर जनसाधारण तक का कंठहार बन चुकी थी। एक दिन वह गोप-बालक श्री हितजू विरचित 'श्री हित चौरासी' का यह पद गाते हुए अपनी गायें चरा रहा था—

बनी श्री राधा मोहन जू की जोरी।
इन्द्रनील मणि श्याम मनोहर
सात कुम्भ तन गोरी॥

भाल विशाल तिलक हरि कामिनि
चिकुर चन्द बिच रोरी।
गज नायक प्रभु चाल गयन्दनि
गति वृषभानुकिशोरी॥

नील निचोल जुवति मोहन पट
पीत अरुण सिर खोरी।
(जै) श्री हित हरिवंश रसिक राधापति
सुरत रंग में बोरी॥

श्री हित-दम्पति इसे सुन-सुनकर परम प्रसन्नता के साथ ताली दे-देकर ग्वाल के पीछे-पीछे घूम रहे थे। पद समाप्त करके गोपकुमार ने अपना अलगोजा बजाया। परमकौतुकी चतुरशिरोमणि श्री लालजी

ने भी मधुर मुरली वजा दी। ध्वनि के साथ श्रवण, श्रवण के साथ मनन और मनन के साथ गोपकुमार के नेत्र-द्वय उस मधुर मेचक के मुखमण्डल पर जा टिके। एक क्षण के लिए वह आश्चर्यचकित हो गया। उसने सोचा कि यह किसी बौहरे का बालक होगा। श्री लालजी ने गोपकुमार से कहा—"अरे भैंया! तो सूँ हमारो एक काम है।"

गोपकुमार ने कहा—"कहा काम है?"

लालजी ने कहा—"काम ये है कि तुम हरिवंश गुसाइं के घर चले जाउ। उन्ने खीर, फुलका और कढ़ी करी है। सो तुम माँगि लावौ। हमकौं भूख लग रही है।"

ग्वाले ने कहा—"तुमइं चले जाहु ना। मैं तो अपनी गैय्या छोड़ि कैं नायँ जाऊँ।"

चतुरचूड़ामणि लाल ने कहा—"अरे भैया! तेरी गैय्या तब ताइं मैं ही घेरे रक्खूंगौ।"

ग्वाले ने कहा—"अरे भैया! तू तौ काहू बौहरे कौ छोरा दीसै है। तू गाय घेरिबैं कहा जानै।"

लालाजी ने मन्द-मन्द हँसते हुए कहा—"हम्बै भैया! ये बात तौ तैनें साँची कही। मैं गाय घेरिबैं नांय जानूँ। पै तेरी गाय तौ घिरी ही रहैंगी।"

गोप-बालक ने सोचा, 'अच्छी बात तो है, अपनी हू ताड़ लगैगी।' वह चल पड़ा। पूछते-पूछते महाप्रभु के पास आ गया और उसने वह सन्देश कह दिया। महाप्रभु जैसे जाने को तैयार ही बैठे थे। सुनते ही सब सामग्री लेकर ग्वाले के संग मानसरोवर पहुँचे। महाप्रभु से आँख मिलते ही श्री हितदम्पति जू मुस्कराये और भोग-सामग्री की प्रशंसा करते हुए खाने लगे। उस अनुपम रूप के दर्शन कर गोपकुमार के नेत्र झूमने-से लगे। वह अपने को सम्हाल न सका और मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। श्री हितदम्पति ने भोजन करते-करते ही उसकी ओर संकेत किया। श्री हितमहाप्रभु ने देखा और उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"अरे, तोकूं कहा ह्वै गयौ भैया!" काँपते हुए स्वर में वह महाभाग ग्वारिया इतना ही कह सका—"आपनकूँ सब पतौ है।"

इस विवरण से स्पष्ट है कि ये श्री हितहरिवंश के समकालीन थे।

श्या० बि० खं०

ग्वाल कवि

महाकवि ग्वाल का समय उन्नीसवीं शताब्दी है। ये अत्यन्त प्रभावशाली आचार्य कवि थे। आपकी कृतियों में रीतिकालीन साहित्य का चरमोत्कर्ष एवं आधुनिक साहित्य का विकास दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार आपकी रचनाओं में रीति-परम्परा के निर्वाह के साथ ही आधुनिक प्रगतिशीलता के आयामों की प्रतिष्ठापना के भी दर्शन होते हैं। आपका कविता-काल ४५ वर्ष है, जिसमें प्रथम २१ वर्ष (सं० १८७९ वि० से १९०० वि० तक) रीति-काल अन्तिम चरण और अन्तिम २४ वर्ष (१९०० वि० से १९२४ वि० तक) आधुनिक विकासशील-युग का प्रारम्भिक सोपान है। इस प्रकार आप 'संक्रमण-काल' के कवि हैं।

ये उर्दू-काव्य के प्रथम अनुवादकर्त्ता के साथ ही काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रौढ़ आलोचक के रूप में भी सदा याद किये जायँगे।

इनका जन्म वृन्दावन-निवासी एक मध्यमवर्गीय मागध बंदीजन-परिवार में सं० १८५९ में हुआ था। मागध बन्दीजन अधिकतर काव्यप्रतिभा-सम्पन्न होते रहे हैं। इस वंश की परम्परा में माथुरराय, मुकुन्दराय, जगन्नाथराय प्रभृति प्रसिद्ध विद्वान् एवं साहित्य-सर्जक हो चुके हैं। ग्वाल कवि के पिता का नाम सेवारामराय एवं पितामह का नाम मुरलीधरराय कविराज था। आपके पितामह श्री मुरलीधरजी भागवत के अच्छे अनुवादकर्त्ता थे। आप भरतपुर के महाराजा केहरीसिंह (जो उस समय नाबालिग थे) के अभिभावक श्री राजा नवलसिंहजी के आश्रित थे। आपने बाँदा के महाराजा हिम्मतबहादुर (पद्माकर कवि के आश्रयदाता) के

दरवार में भी यश प्राप्त किया था। पिता श्री सेवा रामजी अच्छे कवि और संगीतज्ञ थे। आपके द्वारा प्रणीत 'भँवर-गीत' का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार ग्वाल कवि को काव्य-सृजन वंश-परम्परा द्वारा आजीविका के रूप में प्राप्त हुआ था।

जव ये दस वर्ष के थे, तभी इनके पिता श्री सेवारामजी का स्वर्गवास (वि० स० १८६६) हो गया। अतः आपकी शिक्षा-दीक्षा की कोई उचित व्यवस्था न हो सकी। वृन्दावन के राधारमणीय एवं राधा-वल्लभीय गोस्वामियों के कुलगुरु श्री दयानिधिजी की पाठशाला में इस बालक की शिक्षा हुई। इनकी शिक्षा दयानिधिजी के लिखे हुए अन्योक्ति-पच्चीसी, नृसिंह-चरित्र और उद्धव-पच्चीसी नामक प्रसिद्ध ग्रन्थों तक ही सीमित रही। तदुपरान्त काव्य-शास्त्र की शिक्षा काशी में श्री दीनदयालगिरि गोसाइँ नामक आचार्य द्वारा पूर्ण हुई। यहीं पर आपने संस्कृत के प्रसिद्ध शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन किया। बरेली के खुशहाल नामक कवि द्वारा आपने भाषाकाव्य की शिक्षा ग्रहण की एवं उन्हें अपना काव्य-गुरु बनाया। अपनी वंश-परम्परा का परिचय देते हुए इन्होंने लिखा है—

श्री वृषभानु कुमारिका, त्रिभुवन तारन नाम।
शोश नवावत ग्वाल कवि, सिद्ध कीजिए काम॥

बासी वृन्दा विपिन के, श्री मथुरा सुखवास।
श्री जगदंब दई हमें, कविता-विमल-विकास॥

बिदित बिप्र बंदी बिसद, बरने ब्यास पुरान।
ता कुल सेवाराम को, सुत कवि ग्वाल सुजान॥

आपने सर्वप्रथम 'निम्बार्क-स्वाम्यष्टक', 'नेह-निर्वाह' एवं 'यमुना-लहरी' का सृजन किया। इसके पश्चात् अपनी काव्य-रचना को आजीविका के रूप में स्वीकार कर नाभा-नरेश (पंजाव) महाराजा जसवंतसिंह के दरवार में प्रवेश किया। उनकी आज्ञा से इन्होंने सं० १८७९ में 'रसिकानन्द' नामक ग्रन्थ का सृजन किया। तदुपरान्त अमृतसर के सरदार देसासिंह मजीठिया की प्रेरणा से 'हमीर-हठ' और 'कवि-दर्पण' नामक ग्रन्थों की रचना की। श्री देसासिंह-जी के पुत्र लहनासिंह के सम्पर्क में आने पर आपका प्रवेश लाहौर-दरबार में हुआ क्योंकि श्री लहनासिंह महाराजा रणजीतसिंहजी के सेनापति थे। लाहौर-दरबार में आप १९०१ से १९०२ तक रहे। यहीं पर आपने अपने सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'विजय-विनोद' का सृजन किया। 'विजय-विनोद' तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल का आँखोंदेखा काव्यवद्ध विवरण है।

राजनीतिक अस्थिरता के कारण इन्हें लाहौर छोड़कर अन्य पंजाबी रियासतों में घूमना पड़ा। अन्ततः पटियाला होते हुए ये सुकेतमण्डी पहुँचे। यहाँ के राजा ने इनको एक गाँव और रहने को मकान दिया। यहीं पर इनका पुत्र भी पहुँच गया। आप यहाँ वहुत दिनों तक रहे। सं० १९०४ में ग्वालजी ने नाभा पहुँचकर 'रस-रंग' नामक रसग्रन्थ की रचना की। तदुपरान्त सं० १९१७ वि० तक ये राजस्थान, मथुरा एवं पंजाब के राजदरबारों का भ्रमण करते रहे। इसी भ्रमण-काल में आपने साहित्य-शास्त्र के विविधांगों पर गवेषणात्मक बृहत् ग्रन्थ 'साहित्यानन्द' की रचना की। सं० १९१७ वि० में नाभा-नरेश भरपूरसिंह के आश्रय में रहकर इन्होंने उर्दू की प्रसिद्ध मसनवी 'सहर-उल-बयान' का काव्यानुवाद 'इश्क-लहर-दरियाव' नाम से किया। इसके पश्चात् मथुरा आकर आपने अपने स्फुट ग्रन्थों का संकलन 'भक्त-भावना' नाम से किया एवं एक विशाल भवन बनवाया, जो 'ग्वाल की हवेली' के नाम से प्रसिद्ध है। मथुरा में ही इन्होंने अपने उपासनार्थ शिवजी के 'ग्वालेश्वर' मन्दिर का भी निर्माण करवाया।

एक बार रामपुर के शाहजादे इमदादुल्ला खाँ 'ताब' मथुरा आये। वे ग्वाल कवि से अत्यन्त प्रभावित हुए एवं इनके शिष्य वन गये। शाहजादे के अनुरोध पर ये रामपुर-दरबार में रहने लगे। यहीं पर भाद्रपद शुक्ला ११ सं० १९२४ वि० को अपने नश्वर शरीर का परित्याग कर ये परलोकवासी हुए।

आपके दो पुत्र थे–श्री खेमचन्द और श्री खूबचन्द। खूबचन्दजी का बाल्यावस्था में ही स्वर्गवास हो गया था। श्री खेमचन्द विवाहित थे जो सुकेतमण्डी में रहने लगे थे। ग्वाल कवि की मृत्यु के उपरान्त इनकी पुत्रवधू इनके द्वारा निर्मित मथुरावाली हवेली में रहने लगीं। किन्तु नाथूलाल शाह नामक एक विश्वासघाती ने उन्हें हवेली से निकालकर उस पर अधिकार कर लिया। कुछ दिनोपरान्त वह भी स्वर्ग सिधार गयीं। पुत्र खेमचन्द का क्या हुआ, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस तरह महाकवि ग्वाल का कोई वंशधर शेष न रहा।

ग्वाल कवि की पुत्रवधू की मृत्यु के उपरान्त इनकी हवेली के ग्रन्थागार में आग लगने के कारण अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भस्म हो गये। कोई उत्तराधिकारी या सँभालनेवाला न होने के कारण इनका रामपुर स्थित पुस्तकालय भी तितर-बितर हो गया। इस प्रकार इनकी अधिकांश कृतियाँ अनुपलब्ध हो गयीं। प्राप्त रचनाओं की सूची इस प्रकार है—'नेहनिबाह', 'श्री निम्बार्क-स्वाम्यष्टक', 'यमुना-लहरी', 'हमीर-हठ', 'रसिकानन्द', 'श्रीकृष्ण जू को नख-शिख', 'कविदर्पण', 'रसरंग', 'विजय-विनोद', 'बलवीर-विनोद', 'इश्कलहर-दरियाव', 'दृग्शतक', 'गुरु-पचासा', 'प्रस्तार-प्रकाश', 'षट्ऋतु-वर्णन', 'गोपी-पचीसी', 'कुब्जाष्टक', 'प्रस्तावक-कवित्त', 'राधाष्टक', 'गंगा-पंचदशी', 'ज्वाला-बीसा', 'बंसी-बीसा', 'प्रथम-गणेशाष्टक', 'कृष्णाष्टक', 'रामाष्टक', 'महाविद्या-पंचदशी', 'भक्तिशान्ति के कवित्त', 'शिवादि-स्तुति'।

इन ग्रन्थों के माध्यम से ग्वाल कवि ने शुद्ध साहित्यिक तथा भक्तिभावसमन्वित १० हजार छंद वाग्देवता एवं आराध्यदेव की अर्चना में अर्पित किये।

इनके कृष्णभक्तिपरक कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं—

(१)

आई एक ओर तें अलीन लै किशोरी गोरी
आयो एक ओर ते किशोर वाम हाल पै।
भाजि चल्यो छैल छरी छोड़ पै, छबीलन ने
छरी को उठाय, धाय मारी उर माल पै।
'ग्वाल कवि' हो-हो कहि, चोर कहि चेरो कहि
बीच मैं नचायौ थेई ततथेई ताल पै।
ताल पै तमाल पै गुलाल उड़ि छायो ऐसो
भयो एक और नंदलाल नंदलाल पै॥

(२)

प्रीति कुलीनन सौं निबहै
अकुलीन को प्रीति मैं अन्त उदासी।
खेलत खेल गयो अबहीं हमैं
योग पठाय बन्यो अविनासी।
त्यों 'कवि ग्वाल' बिरंचि विचारि कै
जोड़ी जुड़ाइ दई अति खासो।
जैसिई नंद को पालित कान्ह सो
तैसियै कूबरी कंस की दासी॥

(३)

लै गयो है जब ते अकरूर
अरी तब ते बहुरंगी भयो।
प्रीति तजी सब गोपिन ते
इकलो कुबिजा को इकंगी भयो।
यों कवि ग्वाल ही भाल लिखो हुतो
मीत सही पै कुढंगी भयो।
माय न बाप को अंगी भयो
सो हमारी कहौ कब संगी भयो॥

(४)

ख्याल जमुना के लखि नाके भये चित्रगुप्त,
बैन करुना के बोलि मेरी मति ख्वै गई;
कौन गहै कर मैं कलम कौन काम करै,
रोस की दवाइति सों रोसनाई ध्वै गई।

'ग्वाल कवि' काहे ते न कान दै जमेस सुनौ,
नौकरी चुकाय कहाँ तेरी आँख स्वै गई;
लेखो भयो ड्योढ़ो रोजनामा को सरेखो भयो,
खाता भयो खतम फरद रद है गई ॥

प्रे॰ ना॰ श्री॰

ग्वालजी गोस्वामी

ग्वालजी गोस्वामी पुष्टिमार्गीय आचार्य तुलसीदासजी (लालजी) के चतुर्थ पुत्र थे। आपका जन्म संवत् १६५४ में अनुमानित होता है। श्री वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रचलित रागसेवा का उत्तरदायित्व इन्हींको दिया गया था। आपने अष्टयाम-सेवा तथा उत्सव-सेवा के लिए भावानुकूल पदों का संकलन 'वर्षोत्सव-पद संग्रह' नाम से तैयार किया था।

आपको संगीत से जन्मजात प्रेम था। इन्होंने संगीत की शिक्षा लेकर परम्परागत हवेली-संगीत को राग-सेवा के लिए सुरक्षित बना दिया तथा उसे एक प्रामाणिक रूप भी प्रदान किया। कहा जाता है कि पद-गायन करते-करते आप भाव-गद्गद हो जाया करते थे।

भक्त-जन आपको भक्त-सम्मेलनों में लीला-पदों को सुनाने के लिए विशेष आग्रहपूर्वक आमन्त्रित किया करते थे। इसी बीच ये अपनी रचनाएँ भी सुना दिया करते थे। वे पद क्षेत्रीय भाषा में ही हुआ करते थे, फिर भी उन पर व्रज-भाषा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। आज भी इनकी 'मुल्तानी मांझ' को भक्तजन गाया करते हैं। इन मांझों में भाव की दृष्टि से क्षेत्रीय प्रभाव स्पष्टतया दिखाई देता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

चित कूं चेती पाई नहीं,
क्या चुन को चेती पाये।
जब लग खाक करे नहि मनकों,
क्या तन कूं खाक लगाये ॥

शील सन्तोस न पहरे गिन्दी,
क्या गिन्दी भेष बनाये।
इवें ग्वाल न दियौ खाविन्द,
क्या कर भेष धराये ॥

मांझ मुल्तानी भाषा का प्रिय गेय छन्द है। इस प्रकार आपने क्षेत्रीय शैली में ही कविता के माध्यम से भक्ति का प्रचार किया।

सु॰ श॰

घनदेव

घनदेव के विषय में केवल इतना ज्ञात है कि ये काशी-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनकी 'नवल-नेह' नामक रचना सरस्वती भाण्डार, काँकरौली में सुरक्षित है। इसका रचना-काल सं॰ १८५४ है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना इन्होंने द्वारका के राजा राणा सुरतान के आश्रय में की थी—

संमत अष्टादस सुसत, चौवन ही परमानि।
माघ मास दसमी सुकल, वार भानुसुत जानि ॥

कहे ग्रन्थ घनदेव कवि, विप्र बनारस वास।
कान्यकुब्ज दूबे सही, जैसो बुद्धि प्रकास ॥

पच्छिम धरि द्वारावती, देस कुसस्थल जानि।
पुरी सुदामा बसत तहाँ, महा मुक्ति की दानि ॥

तहाँ भूमिपति जानिये, राणा श्री सुरतान।
दाता ईस मानि पुनि, वीर जथा हनुमान ॥

'नवल-नेह' में राधा-कृष्ण के नवोदित प्रेम का वर्णन है। इसके अन्तर्गत शृंगार के दोनों पक्षों-संयोग-वियोग-का अत्यन्त सरस निरूपण है। कुछ अंश इस प्रकार है—

(१)

एक समय ब्रज नागरी गईं जमुन-जल लेन।
देख रूप नँदनंद को गई सुध बुध तेन।
घर आईं बेबस भईं बैठीं आँगन माँझ।
खान-पान माँगत नहीं भई भोर ते साँझ।

(२)

चंद समान भए बृज चंद जो
हौं जो चकोर को रूप धरोंगी।

सूरसमान कहे हरी सो जुपे
कंज मैं कंज को रूप करोंगो ।
जो रस रास कहे उनसो
वृज नारि ह्वै पाइन जाय परोंगो ।
वो नदनँद सो नित्त मिलौं सखी
रूप-सुधा अँखियान भरोंगो ।

वा० सिं०
कृ० चं० ला०

घनश्याम

गुसाईं विट्ठलनाथजी की द्वितीय पत्नी पद्मावतीजी से घनश्यामजी का जन्म वि० सं० १६२८ में अगहन कृष्णा त्रयोदशी को गोकुल में हुआ था। माता का शरीर इनको बाल्यावस्था में ही छूट गया था। अतः इनका लालन-पालन श्री गुसाइंजी के प्रथम पुत्र श्री गिरधरजी की पत्नी भामिनी बहूजी ने किया था। इससे प्रसन्न होकर श्री गुसाइंजी ने भामिनी बहूजी को आशीर्वाद दिया था कि तेरी कोख सदा हरी रहेगी। आज भी जो गोस्वामी बालक विद्यमान है, उनमें श्री गिरधरजी और श्री यदुनाथजी का ही वंश चल रहा है। शेष घरों में इनमें से ही गद्दी पर गोद लिए जाते हैं। श्री घनश्यामजी को बँटवारे में श्री महाप्रभुजी के पूर्वजों के ठाकुर श्री मदनमोहनजी, जिनका प्राकट्य इस वंश के मूल पुरुष यज्ञनारायण भट्ट के यज्ञ से हुआ था, मिले थे। यह ठाकुर सातवीं गद्दी के मालिकों के अधिकार में कामवन (भरतपुर) में विद्यमान हैं।

घनश्यामजी का विवाह कृष्णावतीजी के साथ हुआ था। इनके दो पुत्र और जानकी नाम की एक कन्या थी। प्रथम पुत्र सं० १६५२ में हुआ जिनका नाम ब्रजपाल रखा गया। दूसरे पुत्र का जन्म वि० सं० १६६३ में हुआ था। वे पीछे चाचा गोपेशजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्हें गोपेन्द्रजी भी कहते थे। श्री घनश्यामजी के शरीर छूटने के सम्बन्ध में सम्प्रदाय में यह प्रचलित है कि एक बार वि० सं० १६६९ में अन्नकूट के दिन इनमें और श्री गोकुलनाथजी के प्रथम पुत्र श्री गोपालजी में सुखपाल के डंडे की लम्बाई के पीछे भारी विवाद हो गया और श्री गोपालजी ने पीछे से गर्मी के दिनों में गोकुल वाले मन्दिर से इनके ठाकुरजी को चुरा लिया और उन्हें गोकुल से बाहर भेज दिया। श्री घनश्यामजी ने उनके वियोग-जनित दुःख में कुछ दिन बाद ही शरीर छोड़ दिया। इनकी निधन-तिथि सं० १६६९ मानी जाती है।

इन्होंने संस्कृत और व्रज भाषा में कई रचनाएँ की हैं। इनकी संस्कृत रचनाओं में 'मधुराष्टक' और 'गुप्तरस' की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इनके व्रजभाषा के पद श्री द्वारकादास पारीख के निजी संग्रह (सुरभी-कुण्ड, जतीपुरा) में सुरक्षित हैं।

अपने सेव्य ठाकुर श्री मदनमोहनजी के चोरी हो जाने के पश्चात् घनश्यामजी ने उनके वियोग में कुछ पद लिखे थे। उन्हींमें से दो पद प्रस्तुत हैं –

(१)

सगुन मनावत हौं दिन रैन ।
मो घर श्याम कबै आवेंगे परत नहीं जिय चैन ॥

कहा करौं यह नैना लोभी चढ्यौ मदन मन मैन ।
प्रभु 'घनश्याम' मिलें जब मोकौं तब होई सीतल नैन ॥

(२)

विकल-अवस्था का पद (वियोग में संयोगानुभव)

अब मैं पायौ है चितचोर ।
चोरो करन श्याम घर आयो पकरि लियो उठि भोर ॥

यह सुनि सबै परोसिन जागीं घर-घर माच्यो सोर ।
देख-देख यह कौन छिनु-छिनु काहे के मन चोर ॥

जब मुख देख्यो स्याम सुन्दर को हँसी सकल मुख मोर ।
श्री 'घनश्याम' प्रभू की लीला बाँधे दामन छोर ॥

इनके धमार आदि कीर्तन-संग्रह-ग्रन्थों में प्रकाशित हो चुके हैं।

रा० कृ० श०

घनश्यामदास

संत चरणदासजी के १०८ प्रमुख विरक्त वानाधारी शिष्यों में केवल दो ही ऐसे थे जो गृहस्थ थे। विशेष परिस्थितियों के कारण चरणदासजी ने उन्हें गृहस्थ रहकर ही साधना करने की अनुमति प्रदान की थी—

गृहस्थपन हू राखियो, औ सजियो बैराग।
शिष्य शाखा हू कीजियो, साँची हरि से लाग॥
—श्री जोगजीत कृत लीलासागर (प्रकाशित)
पृ० २८९

संयोग से ये दोनों ही प्रयाग-निवासी एवं वाल-सखा थे। इन दोनों में श्री घनश्यामदास वरिष्ठ थे। दूसरे ऐसे शिष्य थे वाल गुपालजी, जो चरणदासजी के उक्त १०८ शिष्यों में सबसे वाद के शिष्य थे। इन्हें गृहस्थ रहने की छूट संभवतः इसलिये मिली थी कि प्रयाग में हर ६ वर्ष पर अर्द्धकुंभ और १२ वर्ष पर कुंभ का जो महापर्व होता है, उसके लिए चरणदासी संतों की तीर्थराज में उचित व्यवस्था एवं सेवा-शुश्रूषा में सुविधा हो।

घनश्यामदासजी ने अपने विशुद्ध आचरण एवं साधना-संवंधी औदात्य के कारण प्रयाग तथा उसके आसपास के क्षेत्र में प्रभूत यश एवं प्रभाव अर्जित किया था। इन्होंने मुट्ठीगंज (प्रयाग का एक मुहल्ला) में एक सुंदर मन्दिर का निर्माण कराया था, जो आज भी विद्यमान है। प्रयाग के निकट कर्मा नामक स्थान में अनेक चरणदासी-परिवार अव भी हैं। यहाँ एक चरणदासी मन्दिर भी है। ज्ञातव्य है कि घनश्यामदासजी जाति से कायस्थ थे और उनका निवास-स्थान झूँसी (प्रयाग) में था। इनके सं० १८७० वि० तक जीवित रहने का उल्लेख प्राप्त होता है। अनुमानतः इनका जन्म सं० १८०० वि० के आसपास हुआ होगा। इनके परलोकवास के उपरान्त इनके शिष्य श्री हरनामदासजी मुट्ठीगंजवाले स्थान पर सं० १९६० वि० तक रहे। वे १०८ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवासी हुए थे। वे चरणदासी-संप्रदाय के प्रायः हर बड़े आयोजन में सम्मिलित होते थे। इस गद्दी की शिष्य-परम्परा अभी भी चल रही है।

घनश्यामदासजी की वानियाँ जयपुर के सरस निकुंज में, स्व० रूपमाधुरीशरणजी (वृन्दावन) के यहाँ तथा वीकानेर के श्री रामसहाय श्रीवास्तव के पास उपलब्ध हैं। वानियों की वास्तविक संख्या अज्ञात है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये अच्छे वानीकार एवं पहुँचे हुए महात्मा थे।

श्रावण शुक्ला एकादशी को सम्पन्न होनेवाले 'पवित्रा' नामक उत्सव के अवसर के लिए रचित श्री घनश्यामदास के निम्नलिखित पद इनकी वृन्दावनधाम में प्रगाढ़ निष्ठा तथा रसिकसाधनोन्मुखता का द्योतक है—

राग मल्हार

पवित्रा पहने श्यामा श्याम।
सोभित सुभग सरूप अंग छबि
निरखि सकल व्रज बाम।
सुर नर मुनि सब देखि मगन भये
रति मोहे अरु काम॥
सावन सुदी एकादशी की छबि
पावन परम ललाम।
जन घनश्याम सखी बलि-बलि सब
जै वृन्दावन निज धाम॥

श्रीकृष्ण की वंशी की ध्वनि विश्वमोहिनी थी। इस आशय का वर्णन श्रीमद्भागवत तथा अनेक भक्त कवियों द्वारा रचित पदों में मिलता है। घनश्यामदासजी वंशी ध्वनि की मनोमुग्धकारी चमत्कृति का चित्रण इस प्रकार कर रहे हैं—

मोरी आली वंसी धुनि बाजि रही री।
कैसे तजूँ या व्रज को बसिबो
पीर न जात सही री॥

गुरुजन कानि नैकु नहिं मानैं
ना जानौ कौन बिथा भइ बावरो।
धुनि सुनि सिद्ध समाधि तजी
नव वल्लभ चपल रहे री॥

बालक वक्ष क्षीर नहिं खैंचें
तृन न चरत मृग
धार जमुना न बही री।
दौर चले पति रोकन कौं
छाँड़ि दई कुल कानि
भई आनंदमई री॥

शिव सनकादिक औ ब्रह्मादिक
नारद भूलि रहे री।
सो वंशी बाजत है आली
सोइ घनश्याम गही री॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री घनश्यामदास कोमल भावों की सरल-स्वाभाविक अभिव्यक्ति में तो निपुण थे ही, उन्हें गान-विद्या का भी अच्छा ज्ञान था।

श्या० सु० शु०

घनश्याम पाँड़े

घनश्यामजी पाँड़े का उल्लेख किसी भक्त-चरित्र-ग्रन्थ में नहीं मिलता। इनके द्वारा विरचित पदावली में अन्त:साक्ष्य के रूप में समुपलब्ध सामग्री के आलोड़न से ज्ञात होता है कि इन्होंने किसी नरहरिदास नामक महात्मा अथवा नरहरि नामक किसी गोस्वामी से राधावल्लभ-सम्प्रदाय की मंत्र-दीक्षा ग्रहण की थी—

नंद गाँव कौ पाँड़े ब्रज बरसाने आयौ।
भरि होरी के बीच सजन समध्याने धायौ॥
पूरण भये मनोरथ रोम-रोम सुख छायौ।
नरहरिया घनश्याम वास बरसाने पायौ॥

इससे यह ज्ञात होता है कि ये बरसाने के मूल निवासी नहीं थे अपितु कहीं से आकर वहाँ रहने लगे थे। कोई आश्चर्य नहीं कि ये पाँड़े आस्पदधारी सरयूपारीण ब्राह्मण रहे हों और भावावेष्टित होकर नंदगाँव के पाँड़े के रूप में बरसाने जाकर नृत्य किया हो। इनके पदों में आये पूर्वांचल की भाषा के शब्दों से हमारा ऐसा भी अनुमान है कि ये पूर्वाञ्चल के किसी ग्राम के निवासी रहे होंगे। निम्नांकित पद में आये पूर्वाञ्चलिक शब्द द्रष्टव्य हैं—

सुवन बनो रुचि मनी कनक की
तनक तरुकुली कान हो।
बिटियाँ बहुत अहीरन को
मिलि खेलत साँझी साँझ हो॥

प्रेम प्रिया रुचि सौं लै आई
पारिजात की वौंड़ो।
सबही कौ मन मथ्यौ सखी
मनमथ भालो की मौंड़ो॥

विथक्यौ पथ कौं रथ कौं
नहिं चन्द चलावई।
वंशीधर की नाईं
वंशी बजावई॥

जो भावै सो लै ललना
कलना पलना मोहि प्यारो।
तोहि ददा की सौहैं ग्वालिन
दै वंशी हा हा रो॥

इनका विद्यमान-काल १७वीं शताब्दी का मध्य-भाग प्रतीत होता है। इनके पद वि० सं० १७९७ की वर्षोत्सव-पोथी में प्राप्त होते हैं। पदों को पढ़कर या सुनकर पाठक के हृदय में इनके रसिक रूप की प्रतिच्छाया झलकने लगती हैं। ये महानुभाव अपने समय के निश्चय ही सम्मान्य रसिक रहे होंगे क्योंकि इस संग्रह में चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी से भी पूर्ववर्ती रसिकों के पद संगृहीत हैं। इनका एक पद नीचे दिया जाता है—

गौंहन परचौ री मेरे गौंहन परचौ,
साँवरौ सलौना ढोटा गौंहन परचौ॥

याकी घाली मेरी आली कहौं कित जाउँ,
बाँसुरी में गावै वह लै लै मेरौ नाउँ ॥

साँवरे कमल नैन आगे नेकु आइ,
लाजन के मारे मोपै गयौऊ न जाइ ॥

जो हौं चितऊँ आड़ौ दै दै चीर,
सैंनन में कहै चलि कुंज कुटीर ॥

अँगना में ठाड़ी हूँ अटा चढ़ि आवै,
मुकुट की छहियाँ मेरे पाँयन छुवावै ॥

हित घनश्याम मिलौंगो धाइ,
साँवरे सलौने विनु रह्योऊ न जाइ ॥

श्या० वि० खं०

घनश्यामलाल

घनश्यामलालजी जाति के सनाढ्य ब्राह्मण तथा मूलतः व्रजवासी थे। किन्तु इनके पिता व्रजप्रदेश से काँकरौली (राजस्थान) चले गये थे। अपना परिचय देते हुए ये एक स्थान पर लिखते हैं—

प्रथम तौ विप्र व्रजवासी व्रजपति जू कौ।
नाम घनश्याम कुछ सुजस प्रकासी हौं ॥

काँकरौली में ही सं० १९१६ में घनश्यामलालजी का जन्म हुआ। कुलपरम्परानुसार पुरोहिताई से सम्बद्ध होते हुए भी इनकी काव्यरचना में रुचि थी। इस दिशा में इन्हें आचार्य बालकृष्णजी से विशेष प्रोत्साहन मिला। ये उन्हींके आश्रय में रहने लगे। बालकृष्णजी ने काशी कवि-समाज की स्थापना की थी, जिसके ये भी सदस्य हो गये। काँकरौली के बाद ये नाथद्वारा आ गये। वहाँ तत्कालीन तिलकायत गो० गोवर्धनलालजी ने इनको मुखिया नियुक्त किया। नाथद्वारा में ही ५२ वर्ष की आयु में सं० १९६८ में इनका स्वर्गवास हुआ। इनके निम्नलिखित ग्रंथ प्राप्त हैं—

(१) घनश्याम-सागर, (२) महबूब-सागर, (३) छप्पनभोग-वर्णन तथा (४) चन्द्रकुँवर-खेल।

इनमें 'चन्द्रकुँवर-खेल' को विशेष ख्याति मिली। इनकी कविता के दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१)

निकसी निकुंज तें अचानक विलोक्यौ वीर,
चीर में करें जो मेरे प्रानन में बसिगौ।
घनश्याम कठिन पर्‍यौ री अब कैसे करूँ,
जतन विचार्‌यौ एते वाहीं ते निकसिगौ।
फेर हँसि नैनन नचाय, मुसकाय मन,
मिस मिस आयके लपेट पेंच कसिगौ।
पीतपट वारौ, वह छोहरा लकुट वारौ,
बंसीवट वारौ मेरे नैनन में बसिगौ।

(२)

सखी सब झूलत हिंडोरे तीज सावन की,
मोहिं मनभावन की सुरता सतावेरी।
कहे 'घनश्याम' सब हरी जलभरी भूमि,
जलघन घूमि-घूमि झूमि झरलावेरी।
कूकि-कूकि कोयल कलापी कुंज-कुंजन में,
कोहू अपराधी ये मल्हार राग गावेरी।
मदन जगावे मोहि विरहा सतावे आली,
देखि घनश्याम घनश्याम याद आवेरी ॥

ह० नं० भा०

घनश्यामशरणदेव

घनश्यामशरणदेव निम्बार्क-सम्प्रदाय के व्रजदूलह श्री चतुरचिन्तामणिदेवजी की परम्परा के एक विरक्त सन्त गोविन्दशरणदेवजी के शिष्य थे। ये उदयपुर के पास 'तुलसाना' गद्दी के महन्त थे। ये बड़े उदार, सन्तसेवी तथा भजननिष्ठ महात्मा थे। इनके अनेक शिष्य विरक्त होकर इस परमपावनी भूमि पर भ्रमण करते थे। उन्हींमें से बाबा श्री रणछोरदासजी भी एक महान् सन्त थे।

प्रे० ना० श्री०

घनश्यामशरणदेवाचार्य

श्री घनश्यामशरणदेवाचार्यजी श्री गोपीश्वरशरणदेवाचार्य के कृपापात्र थे। आपने श्री गोपीश्वरशरणदेवाचार्य के पश्चात् निम्बार्काचार्य-पीठ सलेमा-

बाद की गद्दी को सुशोभित किया था। आपका जन्म जयपुर जिले के हस्तेड़ी नामक ग्राम के उसी गौड़ ब्राह्मण-वंश में हुआ था, जिसमें आपके गुरुदेव ने जन्म लिया था। आप वि० सं० १९२८ से १९६३ तक आचार्यपीठ पर विराजमान रहे।

ये बड़े ही सरल, शान्त, सौम्य एवं समदर्शी महापुरुष थे। आपके समय में आचार्यपीठ का ऐश्वर्य चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। परम्परागत श्री राधामाधव और सर्वेश्वर भगवान् की सेवा के साथ ही साथ श्री हरिनाम-स्मरण और सन्तसेवा में भी इनकी विशेष रुचि थी। श्रीमद्भागवत का स्वाध्याय तथा वैष्णव-सेवा आपका नित्यनियम था। जोधपुर, बूँदी, बीकानेर आदि रियासतों के भक्तों के यहाँ आपकी पधरावनी प्रायः होती रहती थी। इन्होंने कई बार तीर्थाटन के आयोजन भी बड़े ठाट-बाट के साथ किये थे। तीर्थयात्रा के समय भी आप श्री सर्वेश्वरप्रभु के गौरव का पूर्ण ध्यान रखते थे तथा पूजा-अर्चना में किसी भी प्रकार की त्रुटि नहीं आने देते थे। आपके समय में श्री परशुरामदेवाचार्यजी की धूनी की भस्म और नालाजी के जल से बहुत से भक्तों की मनोकामनायें पूरी हुईं। आपकी सिद्ध-वाणी से भी अनेक भक्तजनों के लौकिक-अलौकिक मनोरथ पूरे होते रहे। आपके आशीर्वाद के प्रभाव-सम्बन्धी एक चमत्कारपूर्ण वृत्त यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

श्री निम्बार्काचार्य-पीठ (सलेमाबाद) से पश्चिम की ओर लगभग दो मील की दूरी पर मालाराम चाड़ नामक एक गूजर रहा करता था। उसके परिवार में उसके अतिरिक्त, उसकी पत्नी एवं विधवा पुत्री—यही कुल तीन प्राणी थे। उसकी आजीविका का साधन भेड़-बकरी-पालन था।

एक दिन वह श्री सर्वेश्वर प्रभु के जंगल (सागरमाला) से चुपचाप लकड़ी काट रहा था, उसके पशु पास ही चर रहे थे। उसी समय आचार्यपीठ के पंडित श्री लक्ष्मीनारायण एवं श्री रामधनजी उधर से गुजर रहे थे। गूजर ने उन्हें देखकर प्रणाम किया। पंडितजी ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा—"मालाराम! तुम्हें दूसरों की हानि करने में कोई संकोच नहीं होता? जब तुम स्वयं भगवान् सर्वेश्वर के जंगल से लकड़ी काट रहे हो और पशु चरा रहे हो, तो फिर तुम्हारा भला कैसे संभव है?" इस पर चरवाहे ने कहा—"भगवान् तो पहले ही मेरा भला कर चुके हैं, इससे ज्यादा क्या करेंगे? घर के नाम पर एक कच्ची कोठरी है। संतान के नाम पर उसने मुझे एक कन्या दी, जो कि विवाह के कुछ दिन बाद ही विधवा हो गयी। अब तुम्हारा भगवान् इससे भी ज्यादा कुछ करेगा तो वह भी सिर झुकाकर स्वीकार कर लूंगा।"

उसके इन वचनों को सुनकर पण्डितजी ने कहा कि "यह तो तुम्हारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल है, ईश्वर किसी भी मनुष्य की हानि नहीं करता। उसको कार्य-कारण-सम्बन्धानुसार कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। हाँ, यदि मानव अपनी भूल स्वीकार कर उसे भविष्य में न करने का संकल्प करे, तो प्रभु उस पर अवश्यमेव कृपा करते हैं।" इस पर उस लकड़हारे ने कहा—"महाराज! मैं गँवार एवं मूर्ख हूँ, भला आपकी ज्ञान-ध्यान की बातों को क्या समझूं। मुझे तो आप यह बताइये कि क्या ऐसा भी कोई उपाय है जिससे प्रभु मेरी उजड़ी जिन्दगी को गुलजार कर दें, मुझे एक पुत्र का मुख दिखा दें?"

तब पण्डितजी ने कहा "तुम निराश न हो, वह समर्थ प्रभु सब कुछ कर सकता है। इस जंगल के मालिक श्री सर्वेश्वर प्रभु के कृपापात्र श्रीजी महाराज बड़े ही सिद्धपुरुष हैं, वे यदि तुम्हें आशीष दे दें तो तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे। तुम उनकी कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न करो।" लकड़हारा निराश होकर बोला—"महाराज! यह तो और भी कठिन है। जिन श्रीजी महाराज के समक्ष बड़े-बड़े राजे-महाराजे, सेठ-साहूकार हाथ बाँधे खड़े रहते हैं, भला उनकी

कृपा मुझे कैसे मिल सकती है ?" उसके इन वचनों से द्रवित हो पण्डितजी वोले—"तुम चिन्ता न करो। संसार की समस्त सम्पत्ति से श्रद्धा एवं प्रेम-भावना सर्वोपरि होती है। यदि तुम्हारे अन्दर सच्चो भावना है, तो आचार्य से हम प्रार्थना कर सकते हैं।"

इस पर मालाराम ने नम्रतापूर्वक कहा—"महाराज, अंधे को क्या चाहिए ? दो आँखें। यदि आचार्य मेरी कुटिया पर पधारें, तो मैं अपना सौभाग्य समझूंगा।" इसके बाद दोनों पण्डित उसे आश्वासन दे मन्दिर को चले आये।

दूसरे दिन जब वे पण्डित मन्दिर में आचार्यश्री को पंचांग-श्रवण कराने हेतु सेवा में उपस्थित हुए तो आचार्य को प्रसन्न मुद्रा में देख उन्होंने निवेदन किया—'महाराज! आपकी बस्ती का एक गूजर आपकी पधरावनी कर चरण-पूजन करना चाहता है। उसकी आपके श्रीचरणों में अत्यन्त श्रद्धा है। फिर उस सेवक का घर कोई दूर नहीं है। जिधर आप प्रतिदिन टहलने जाते हैं बस वहीं उसका घर है। लौटते समय १०-१५ मिनट के लिए कृपा हो जाय।" 'श्रीजी' महाराज की स्वीकृति प्राप्त होने पर पण्डितों ने गूजर को सूचित कर दिया। उसने भी निर्देशानुसार यथाशक्ति तैयारी कर ली। निर्धारित समय पर श्रीचरणों का उसके घर पधारना हुआ। मालाराम ने पग-पाँवड़ापूर्वक पधरावनी कराई एवं यथाशक्ति भेंट दी। जब आरती करने लगा तो उसके हाथ काँपने लगे एवं नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

उसकी ऐसी दशा देख तत्काल ही परमदयालु आचार्यश्री ने कहा—"भक्तवर! क्या बात है जो तुम्हारी ऐसी दशा हो गयी ?" तब दोनों पण्डितों ने उसकी दशा का कारण श्रीजी महाराज को बताया। इसे सुन श्रीजी महाराज ने प्रसन्न होकर कहा—"कोई चिन्ता की बात नहीं है, अभी इसकी कोई अधिक उम्र भी नहीं है। ३०-४० वर्ष कोई अधिक नहीं होते। सर्वेश्वर प्रभु की कृपा हुई तो इसके एक नहीं, सात पुत्र होंगे।" अब क्या था, समस्त श्रद्धालुओं ने श्री सर्वेश्वर प्रभु एवं श्रीजी महाराज का जय-जयकार किया।

कुछ दिनोपरान्त श्रीजी महाराज के आशीर्वाद से उस जाट के क्रमशः सात पुत्र हुए। फिर तो उन सातों की सन्तान द्वारा इतनी वंशवृद्धि हुई कि जिस स्थान पर मालाराम चाड़ का घर था, उसी स्थान पर 'मोतीपुरा' नामक एक ग्राम बस गया। इस गाँव के अतिरिक्त इससे कुछ ही दूर इसी वंश के घासी चाड़ की दाणी भी प्रसिद्ध है। आज यह वंश धन-जन से सम्पन्न है। इस वंश की आचार्यश्री में अपार श्रद्धा है।

जिस प्रकार मालाराम चाड़ के ७ पुत्र और एक विधवा लड़की थी उसी क्रमानुसार उसके वंश में जिस किसीके भी सात पुत्र हुए तो उसके मात्र एक लड़की ही हुई और शादी के कुछ दिनोपरान्त वह निश्चित रूप से विधवा हो गई। यही क्रम लगातार चला आ रहा है। आज भी घासीराम चाड़ के ७ लड़के हैं और एक विधवा लड़की।

इसी प्रकार पीसांगण-नरेश की भी पुत्र-कामना आपके आशीर्वाद से पूर्ण हुई। उसके बाद राजा ने राजभोग तथा राजकुमार के चोटी जडुला संस्कार आदि,आचार्यपीठ में, श्रीजी श्री स्वामीजी महाराज की तपस्थली में आकर उत्साहपूर्वक सम्पन्न किया था। पीसांगण-नरेश के यहाँ से आया हुआ रथ, पालकी आदि आज भी पीठ में विद्यमान है।

इसके अतिरिक्त एक बार रिड़ के राठी-परिवार ने भी आपकी पधरावनी कराई और दस हजार कलदार चाँदी के रुपयों की चबूतरी बनवाकर श्रीजी महाराज को विराजमान कराकर चरण-पूजन करके वह समस्त धनराशि भेंट कर दी थी। इस पर आचार्यश्री ने कहा कि "भाई! हम तो साधु हैं, इस धनराशि का क्या करेंगे ? इसे आप अपने परिवार के भरण-पोषण में ही लगायें तो उचित रहेगा।" इस पर उन लोगों ने

कहा—"महाराज, यह तो अब आप के श्री चरणों में ही समर्पित है।"

बहुत अनुरोध करने पर आचार्य ने कहा कि "इस चाँदी से श्री राधामाधवजी के किवाड़ की जोड़ी और एक बङ्गला बनवा दीजिये।" आदेशानुसार वही किया गया। यह बङ्गला और किवाड़ की जोड़ी आज भी आचार्यपीठ में विद्यमान है।

प्रे० ना० श्री०

घनानन्द

घनानन्दजी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ रीतिमुक्त कवि एवं वृन्दावन की प्रगाढ़ निष्ठावाले भक्त थे। आपका जन्म अनुमानतः वि० सं० १७३० के लगभग कायस्थ-कुल में हुआ था।

प्रारम्भ में ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह रँगीले के दरबार में मीरमुंशी के सम्मानित पद पर आसीन थे। इसी समय आपका परिचय किशनगढ़-नरेश महाराजा सावंतसिंह (नागरीदासजी) से हुआ। नागरीदासजी से परिचय होने के कारण आपने कुछ दिन सलेमाबाद में भी निवास किया। सलेमाबाद में ही आपने श्री नागरीदासजी, जयराम शेषजी एवं व्रजानन्दजी के साथ श्री वृन्दावनदेवजी से उच्च संगीत की शिक्षा एवं निम्बार्कपीठाचार्य श्री नारायणदेवजी से दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार घनानन्दजी ने श्री निम्बार्क-सम्प्रदाय को प्रीति-पद्धति को अपने जीवन-यापन की उत्तम सरणि माना।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद भी आप राज्य-कार्य में पूर्ण सहयोग देते रहे। आपकी कार्य-क्षमता एवं बुद्धि-प्रखरता के कारण उखड़ते हुए मुगल-शासन में कुछ स्थिरता आयी, किन्तु बादशाह के दुर्भाग्य से एक ऐसी घटना घट गयी जिसने घनानन्दजी को राजसी भोग-विलास से दूर कर श्री श्यामाश्याम के चरणारविन्दों में पहुंचा दिया। वह घटना इस प्रकार है—

बादशाह मुहम्मदशाह रँगीले के दरबार में राजनीतिक वातावरण कम, सुरा और सुन्दरी का साम्राज्य अधिक था। सुन्दरियों में एक वेश्या थी, सुजान। वह अद्वितीय सौन्दर्य की स्वामिनी होने के साथ-साथ गुणी भी थी। दैवयोग की बात कि घनानन्दजी इस वेश्या पर आसक्त हो गये। किन्तु उनका भोला प्रेम यह नहीं जानता था कि वेश्या का सब कुछ धन होता है। सुजान दरबार की सर्वश्रेष्ठ गायिका थी। उसका सबसे बड़ा गुण गायन-कला ही था। अतः उसे चिन्ता हुई कि यदि बादशाह ने घनानन्द के संगीत का रसास्वादन कर लिया तो उनकी दृष्टि में उसकी कला फीकी पड़ जायेगी। फलतः वह एक दिन अपने छद्म प्रेम के सहारे घनानन्दजी को छलने उनके घर पहुँच ही गयी।

रात्रि के समय घनानन्दजी भवन की छत पर सङ्गीत-साधना में लीन थे। उसी समय उनकी प्राणवल्लभा सुजान उनके समीप जा पहुँची। घनानन्दजी सुजान को देखते ही खिल उठे, मानो पपीहे को स्वाति-बूँद की प्राप्ति हो गयी हो। उन्हें प्रसन्न देख सुजान ने उनके समक्ष कपट-प्रेम का नाटक किया। जब घनानन्दजी ने उसे अपने निर्दोष प्रेम के विषय में बताया, तब वेश्या ने उनसे अपने लिए कुछ कुर्बान करने के लिए कहा। घनानन्दजी ने उससे कहा, "तुम यदि प्राण भी माँगो तो मैं देने को तैयार हूँ।" तब वेश्या ने कहा, "प्राणों की जरूरत तो कातिलों को होती है। मुहब्बत के खरीदारों को तो दिल की ही चाहत होती है।" घनानन्द बोले, "वह तो तुम्हारे कदमों में पहले से ही कुर्बान है।"

सुजान ने कहा—"और यह संगीत किसका है?" घनानन्द का उत्तर था—"यह संगीत भी तुम्हारी ही देन है। तुम ही मेरी संगीत की आत्मा हो। फिर मेरा संगीत, मेरा सब कुछ तुम्हारा है। अतः अपना आशय प्रकट करो।" तब सुजान बोली—"यदि यह संगीत मेरा है, तो मुझे छोड़कर इसका आस्वादन अन्य कोई क्यों करे? अतः आप मेरे इस संगीत

को मेरे अलावा किसी और को न सुनायें।" प्रेम-दीवाने को इस छल-कपट से क्या लेना-देना ? घनानन्द ने प्रतिज्ञा कर ली कि "मैं अपना संगीत सुजान के अलावा किसी अन्य को नहीं सुनाऊँगा।" इस प्रकार अपना उद्देश्य पूरा कर वह वेश्या अपने निवास पर चली गयी।

इस प्रतिज्ञा के कुछ दिनोपरान्त दरबार में बादशाह से किसी व्यक्ति ने घनानन्दजी के संगीत की प्रशंसा करते हुए कहा--"आपका मीरमुंशी बहुत ऊँचा गायक है।" फिर क्या था ? बादशाह ने घनानन्दजी से दरबार में गाना गाने को कहा। अब तो घनानन्दजी असमंजस में पड़ गये, क्योंकि संगीत और काव्य तो ये अपनी प्रियतमा सुजान को समर्पित कर चुके थे। उसे ये बादशाह को कैसे सुना सकते थे ? बहुत देर तक तो ये टालमटोल करते रहे, अन्ततः इन्हें गाना सुनाना पड़ा, किन्तु घनानन्द ने गाना बादशाह की तरफ मुखातिब होकर सुनाने की अपेक्षा सुजान की तरफ मुखातिब होकर गाया। घनानन्द ने अपने गायन से संगीत की ऐसी धारा प्रवाहित की कि सारा शाही दरबार झूम उठा। इस मदहोशी के वातावरण से मुक्त हो जब बादशाह होश में आया तो घनानन्द की गुस्ताखी पर तिलमिला उठा। परिणामस्वरूप इन्हें देशनिकाले का आदेश दे दिया गया।

इस आदेश से घनानन्दजी को कोई विशेष दुःख नहीं हुआ, वरन् इन्हें प्रसन्नता ही हुई कि इन्होंने अपनी प्रेम-परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। दिल्ली छोड़ते समय ये अपनी प्रेयसी के पास गये, क्योंकि इन्हें विश्वास था कि प्रियतमा इनका साथ देगी। किन्तु वहाँ उल्टा हुआ। भला दौलत की प्यासी को प्रेम से क्या मतलब। इससे घनानंदजी को राज्यादेश से भी कई गुना अधिक दुःख हुआ। इनका दिल टूट गया। परिणामस्वरूप तीव्र वैराग्य की उत्पत्ति हुई। इनका भौतिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम में परिणत हो गया। लौकिक आलम्बन 'सुजान' अलौकिक भावों के आलम्बन 'कृष्ण' में परिवर्तित हो गयी !

इस प्रकार सांसारिक मायामोह से छुटकारा पा आप वृन्दावन पधारे और वहाँ की पावन रज में लोट-लोटकर अपने कलंकित वपु को पावन किया। अपनी संगीत-कला और कविता से लौकिक मानव को रिझाने के स्थान पर इन्होंने परमाराध्य श्यामसुन्दर को रिझाने का संकल्प कर लिया। यमुना-पुलिन के कुञ्ज-कुटीरों में बैठकर संगीत का निर्झर बहाया। इतना कुछ होने पर भी इन्होंने सुजान को न छोड़ा। उदात्तीकरण द्वारा इन्होंने लौकिक प्रियतमा सुजान के स्थान पर श्यामसुन्दर को प्रेमास्पद बना दिया। इस प्रकार आपने वृन्दावन में श्री सर्वेश्वर-घाट पर अपना निवासस्थान बनाया। इन्होंने वृन्दावन में ही निरंतर वास करने की प्रतिज्ञा की थी। कृष्णगढ़ के राजकीय चित्रालय में आपका एक पुराना चित्र मिला है जिसके पृष्ठ पर यह छप्पय अङ्कित है—

रचैं कँटीली काव्य स्तुति कछु परत न गाई।
अनुपम अक्षर-जटित चोज चेटक सरसाई॥

श्रवन परत हिय द्रवै छकनि-झूलै सब झूलै।
मानो मोहन मंत्र महा सुधि की सुधि भूलै॥

गान-कला में अति कुशल, सुनत बढ़ै आह्लाद मन।
वृन्दावन में अटल ह्वै, बास कियो 'आनन्द-घन'॥

ये सखीभाव से वृन्दावन में श्री श्यामसुन्दर एवं प्रियाजी का गुणानुवाद करते हुए विचरण करते लगे। साम्प्रदायिक सिद्धान्तानुसार इनका रहस्यनाम 'बहुगुनी सखी' था। इसका उल्लेख घनानन्दजी ने 'वृषभानुपुर-सुषमा' नामक अपने ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—

राधा नावँ बहुगुनी राख्यौ।
सोई अरथ हिये अभिलाख्यौ॥

• • •

नीको नावँ बहुगुनी मेरो। बरसाने ही सुन्दर खेरो॥

बहुगुनी अपनी कला को प्रदीप्त कब करती है उसने इसका भी संकेत किया है।

रीझनि बिवस होत जब जानौं।
तब बहुगुनी कला उर आनौं॥

ताते सरहि साध कछू बोलौं।
प्रेम लपेटनि गाँसनि खोलौं॥

दुरी बात हूँ उघरि परै जब।
सो सुख कह्यो न परत कछू तब॥

'प्रियाप्रसाद' में भी उल्लिखित है कि यह नाम श्री राधाजी का दिया हुआ है—

राधा धर्‌यो बहुगुनी नाऊँ।
टरि लगि रहौं बुलाए जाऊँ॥

प्रियाजी की यह प्रिय सखी 'बहुगुनी' सदैव उनके साथ रहती है, प्रियाजी भी अपनी प्रिय सखी का साथ कभी नहीं छोड़तीं। कारण कि प्रियाजी की 'बहुगुनी' संगीत-कला में निष्णात है और अपनी इसी तान-गान की कला से उसने श्यामाजी को अपने वशीभूत कर रखा है—

राधा सब ठाँ सब समै, रहति बहुगुनी संग।
तान रमन-गुन-गान को, ले बरसावति रग॥

राधा अचल सुहाग के, ललित रँगीले गीत।
रागनि भीजी बहुगुनी, रिझवति राधा-मीत॥

राग-रागिनियों में रचित सहस्राधिक पद इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं कि घनानन्दजी संगीत-कला में पूर्ण निष्णात थे। इन्होंने ४१ रचनाओं का सृजन किया, जो निम्नांकित हैं—

१. सुजान-हित
२. कृपाकंद
३. वियोग-वेलि
४. इश्कलता
५. यमुना-यश
६. प्रीति-पावस
७. प्रेम-पत्रिका
८. प्रेम-सरोवर
९. व्रजविलास
१०. सरस वसंत
११. अनुभव-चन्द्रिका
१२. प्रेम-पद्धति
१३. रग-बधाई
१४. गोकुल-गीत
१५. वृषभानुपुर-सुषमा
१६. गिरि-पूजन
१७. नाम-माधुरी
१८. विचार-सार
१९. भावना-प्रकाश
२०. दानघटा
२१. धाम-चमत्कार
२२. कृष्णकौमुदी
२३. प्रिया-प्रसाद
२४. वृन्दावन-मुद्रा
२५. व्रज-स्वरूप
२६. प्रेम-पहेली
२७. गोकुल-चरित्र
२८. रसनायश
२९. गोकुल-विनोद
३०. व्रज-प्रसाद
३१. मुरलिका-मोद
३२. मनोरथ-मंजरी
३३. व्रज-व्यवहार
३४. गिरिगाथा
३५. व्रज-वर्णन
३६. छंदाष्टक
३७. त्रिभंगीछंद
३८. कवित्त-संग्रह
३९. स्फुट
४०. पदावली
४१. परमहंस-वंशावली।

इन रचनाओं में त्रिभंगीछंद, छंदाष्टक, कवित्त-संग्रह तथा स्फुट वस्तुतः स्वतंत्र कृतियाँ नहीं हैं। 'व्रज-वर्णन' का पता केवल छतरपुरवाले हस्तलेख से प्राप्त होता है। यह अभी तक अप्राप्य है। यदि यह 'व्रज-स्वरूप' ही है, तो घनानंदजी की सभी कृतियाँ प्राप्त तथा प्रकाशित हो चुकी हैं। इन रचनाओं में निम्बार्कीय भक्तिरस एवं सिद्धान्त का विवेचन सरस एवं प्रांजल भाषा में किया गया है, राधा, कृष्ण, सखी तथा वृन्दावन-तत्त्व-चिन्तन में घनानन्द की द्वैताद्वैत-वादी भावना व्यक्त हुई है।

आपका निधन १७१८ ई० में हुआ था। इस विषय में एक किंवदन्ती प्रचलित है। अहमदशाह अब्दाली सन् १७१८ ई० में दूसरी बार भारत पर आक्रमण करता हुआ व्रज-प्रदेश तक पहुँच गया। उसने अनेक सन्त-महातमाओं की हत्या की एवं धार्मिक स्थलों को नष्ट-भ्रष्ट किया। इस कुकृत्य को करता हुआ वह वृन्दावन पहुँचा। घनानंदजी एक वृक्ष के नीचे भक्ति-भावना में विभोर होकर विराजमान थे। अहमदशाह ने इनसे किसी महन्त

का पता पूछा, किन्तु ये तो श्यामाश्याम के ध्यान में मग्न थे। इन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। क्रोधित होकर अहमदशाह ने इनकी गर्दन पर तलवार का वार किया, किन्तु आश्चर्य! इनकी गर्दन पर कृपाण का कोई प्रभाव न हुआ। कई बार जब तलवार के वार का कोई असर न हुआ तब घनानंदजी नें ने उससे कहा—"तुम चाहे जीवनपर्यन्त इस गर्दन पर कृपाण चलाते रहो, किन्तु इसे धड़ से जुदा न कर पाओगे। क्योंकि श्री सुदर्शन चक्र मेरे मस्तक की रक्षा कर रहे हैं। तुम मेरा सिर काटना ही चाहते हो तो पहले मुझे भगवान् से प्रार्थना कर लेने दो। तब तुम अपने इस कार्य में सफल हो पाओगे। मुझे भी यह अच्छा नहीं लग रहा है कि मेरे कारण मेरे प्रभु को इतना कष्ट उठाना पड़ रहा है।" कहते हैं कि घनानन्दजी ने भगवान् से प्रार्थना की। इनकी प्रार्थना को मानकर सुदर्शन चक्र वहाँ से बिदा हो गये। तदुपरान्त घनानन्द के कहने पर अहमदशाह के सिपाहियों ने इनकी गर्दन पर कृपाण का वार किया, जिससे सर कटकर अलग जा गिरा। किन्तु यह देखकर सभी आश्चर्यचकित रह गये कि सर से एक बूंद भी रक्त नहीं निकला। कहते हैं, उसी समय एक दिव्य विमान आकाश से उतरा और रुण्ड को लेकर ऊपर उड़ गया। इनके शव के प्रत्यक्षदर्शी गवाह थे श्री चाचा हितवृन्दावनदासजी। घनानन्दजी की इच्छा मात्र यही थी कि उनका शरीर व्रज-रज में ही मिले। यह इच्छा श्री युगलकिशोर की कृपा से पूर्ण हुई। इनकी निकुञ्ज-गमन की अभिलाषा की पूर्ति पर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए चाचा हितवृन्दावनदास कहते हैं—

बिरह सौं तायौ तन निबाह्यौ बन साँचो पन,
धन्य घन-आनंद मुख गाई सोई करी है।
एहो व्रजराज कुंवर! धन्य-धन्य तुमहूँ कौ,
कथा नीकी प्रभु यह जग में बिस्तरी है॥

गाढ़ौ व्रज-उपासी जिन देह अंत पूरी पारी,
रज की अभिलाष सो तहाँ ही देह धरी है।
वृन्दावन हितरूप तुमहू हरि उड़ाई धूरि,
ऐ पै साँची निष्ठा जन ही की लखि परी है॥

—'हरिकला-वेलि'

घनानन्दजी प्रेम की अनेक अन्तर्वृत्तियों के उद्घाटक, संयोग-वियोग की अगणित प्रेम-दशाओं के मार्मिक द्रष्टा, भावना-भेदों के कुशल-चितेरे, प्रेमरस से सिक्त भावुक, मिलन और विरह की हृद्गत अशांति के अनुभावक और भाषा-शक्ति के अप्रतिम उद्घाटक थे। इस गुण का निर्देश करते हुए श्री व्रजनाथजी ने इनके काव्योत्कर्ष के पारखी के गुणों को इस प्रकार उद्घाटित किया है—

नेही महा व्रजभाषाप्रवीन औ,
सुन्दरतानिके भेद कौं जानै।
जोग-वियोग की रीति में कोविद,
भावना-भेद-स्वरूप कौं ठानै॥
चाह के रंग में भीज्यौ हियौ,
बिछुरे मिलैं प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रवीन, सुछन्द सदा रहै,
सो घनजू के कवित्त बखानै॥

इनकी कविता सृजन की हुई नहीं, वरन् स्वयंसम्भूत है, अन्त:साधना में लीन हो जाने पर वह आपसे-आप उद्भूत हुई है। वह तो कवि के हृद्गत भावों से स्वयं उत्पन्न काव्यरूप है। घनानंदजी ने स्वयं कहा है—

तीछन ईछन बान बखान सो,
पैनी दसान लै सान चढ़ावत।
प्राननि प्यारे भरे अति पानिप,
मायल घायल चोप चढ़ावत॥

हैं घन आनँद छावत भावत,
जान सजीवन ओर तैं आवत।
लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
मोहि तो मेरे कवित्त बनावत॥

घनानन्दजी के अन्तिम काल में विरचित छंद निम्नलिखित है। प्रसिद्ध है कि इसे इन्होंने अपने रक्त से लिखा था—

बहुत दिनान की अवधि आस-पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि-कहि आवन छबीले मन-भावन को,
गहि-गहि राखति ही दै-दै सनमान को॥

झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घन-आनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

प्रे० ना० श्री०

घनारंग दुबे

घनारंग दुबे का जन्म शाहाबाद जिले के धनगाँई नामक ग्राम में सन् १८१९ ई० में हुआ था। ये घना मलिक नाम से भी प्रसिद्ध थे। सुकवि के साथ-साथ ये संगीत के भी प्रख्यात ज्ञाता थे। ये एक पहुँचे हुए कृष्ण-भक्त थे। आपका मन भगवान् कृष्ण की भक्ति-भावना में ही बराबर डूबा रहता था। स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त इनकी एक पुस्तक 'कृष्ण-रामायण' मिलती है। इसमें कृष्ण के अनुरोध पर यशोदा राम-कथा सुनाती हैं और पार्वती के अनुरोध पर शिव कृष्ण-कथा सुनाते हैं। इसीलिए इसका नाम कृष्ण-रामायण है।

अ० अ०

घासीराम

नागपुरी के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि घासीराम का जन्म सन् १८५९ ई० में करकट नामक गाँव में हुआ था जो राँची (बिहार) में अवस्थित है। इनके पिता का नाम भादेराम था। ऐसा कहा जाता है कि घासीराम ७१ वर्ष की आयु तक जीवित रहे, परन्तु इनके पुत्र हुलासराम का कहना है कि उनके पिता ६७ वर्ष की आयु में ही दिवंगत हो गये थे।

ये चोरेया के यू० पी० स्कूल में शिक्षक थे। बाद में इन्होंने यह काम छोड़कर पोस्ट मास्टर का पद स्वीकार कर लिया था। अपने जीवन-काल में ही इन्हें जमींदार-परिवारों से अपने गीतों के कारण पर्याप्त सम्मान मिला। इनकी रचनायें प्रकाशित तथा अप्रकाशित, दोनों रूपों में मिलती हैं। प्रकाशित रचनायें हैं—१. नागपुरी फाग शतक, २. ललना-रंजन तथा ३. दुर्गा-सप्तशती। अप्रकाशित रचनाएं—१. चंडी-पुराण, २. राम-जन्म, ३. राम-स्वयंवर, ४. कृष्ण का जीवन (राधा-विलाप तक), ५. शिवजी की स्तुति, ६. शिवजी की शादी, ७. चौंतीसा (चौतीस अक्षरों पर गीत), ८. सुदामा-चरित, ९. सुन्दरकाण्ड, १०. उषा-हरण तथा ११. नाग-वंशावली।

इनके अतिरिक्त हुलासराम ने स्वयं अपने पिता घासीराम की रचनाओं को संकलित कर निम्नलिखित कृतियों को प्रकाशित किया था—१. शिव-वन्दना, २. फगुवा, ३. नागपुरी फाग-शतक तथा ४. नागपुरी गीत-पुस्तक।

मसमानो ठाकुरगाँव (राँची) के जमींदार लाल गोकुलनाथ शाहदेव ने घासीराम की लोकप्रिय रचना 'नागपुरी-फाग-शतक' को संवत् १९६८ में प्रकाशित करवाया था। यह पुस्तक अब अनुपलब्ध है। इसी पुस्तक से एक गीत नीचे दिया जा रहा है—

श्यामसुन्दर हो, श्यामसुन्दर प्रभु बनमाली।
मोही बिसराली निपटे निठुर प्राण नहीं आली॥ध्रु०॥

दुती मुखे सुनली अवन के सँदेसा।
भये भरोस मन छुटल कलेशा॥

बाढ़े उर एहो बाढ़े उर आनन्द अधिकाला।
अति हरषाली मिलन के साज सजली हाला॥

करी अलंकार प्रदिप उजियारो।
भवन सुमंगल सकल सँवारी॥

रचि-रचि एहो रची-रची सेज सुगंध मालो।
परिमल परिमल अंग डालो॥

पंथ जोहते मन ललचाली॥

चारी पहर निसी बैठी बिताई,
कान्ह कठोर न आई,
जड़ घासी एहो जड़ घासो,

बिरहे मुरछाली आज सुनु आली।
आस देखते हम अनसाली ॥

श्र० कु० गो०

घासीराम/पतिराम

श्री घासीराम का जन्म ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। ये बरसानां के निवासी थे। पतिरामजी इन्हींके पुत्ररत्न थे। श्री हित राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य के गो० श्री हित रूपलालजी अपने समय के अत्यन्त प्रभावी-प्रतापी एवं धर्मध्वजी महापुरुष थे। वे अपने जीवन में कई वार श्री प्रियाजी के दर्शनार्थ बरसाने गये थे। बरसाने में श्री हित रूपलालजी के सुचारु चरित्रों को देखकर श्री घासीरामजी अपने सम्पूर्ण परिवार सहित श्री हित रूपलालजी के चरण-शरण हो गये। शिष्य होने के पश्चात् इनका मन वृन्दावन-रस-रसिकों की वाणियों के कथन-श्रवन-गायन और आलोड़न में अधिक लगने लगा। वाणी में मन रमने के फलस्वरूप कहते हैं कि इन्हें इस जीवन में ही शब्द-अर्थ के कुञ्ज में विहरणशील श्यामा-श्याम के दर्शन प्राप्त हो गये।

इनका विद्यमान-काल सं० १७४० से सं० १८४० के बीच अनुमानतः स्थिर होता है। 'चतुर्थ-वसंत-प्रबंध' में इनकी प्रशंसा में कहा गया है—

रहै घासीराम अन्तर सु वेद।
फागुन सुख विलसैं रस के भेद ॥

पतिराम सुवन लियें मृग सु मेद।
बजैं तूर देत हैं ताल भेद ॥

श्या० वि० खं०

घासीराम/प्रियादास

चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी ने 'गुरु-कृपा-चरित्र-वेली' नामक अपनी रचना में श्री जुगलदासजी (भीमकुंजवाले) का चरित्र वर्णन करते हुए लिखा है—

पुलिन सुभग जमुना जहाँ, वंशीवट तट जाइ।
बैठत विशद समाज मिलि, रस लीला भरि भाइ ॥
दीरघ मूरति भजन पुनि, तेज जगमगत अंग।
वह समयौ देखें बनै, जो तब उपजत रंग ॥
श्री घासीराम रसज्ञ अति, व्यास वंश उद्दोत।
श्री प्रियादास आरज गिरा, अरथ रचन सुख होत ॥
ए सब मिलि एकत्र ह्वै, करत जुगल-रस-पान।
राधा हरि गुन गुनन कों, पूरित भक्ति वितान ॥

—गुरु-कृपा-चरित्र-वेली

इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि घासीरामजी और श्री प्रियादासजी—दोनों रसिक श्री जुगलदासजी के सम-सामयिक थे। ये सभी रसिक वंशीवट के निकट यमुना-पुलिन में एकत्रित होकर श्री श्यामा-श्याम के अद्भुत रस-लीला-विहारों की चर्चा किया करते थे। श्री प्रियादासजी जब अपने पूर्ववर्ती रसिकों की वाणियों के शब्दों में छिपे गूढ़ भावों का विवेचन प्रस्तुत करते थे तो सारा रसिक-समाज रससंप्लुत हो जाया करता था। उक्त उल्लेख से श्री घासीरामजी का रसज्ञ होने के साथ-साथ व्यास-वंश में उत्पन्न होना तो ज्ञात होता है, किन्तु श्री प्रियादासजी के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती। हमारा ऐसा अनुमान है कि श्री प्रियादासजी भी व्यास-वंश में ही उत्पन्न हुए थे। इस अनुमान का आधार भक्तगाथाकार श्री गोविन्द अलि का वह छप्पय है जिसमें उन्होंने प्रियादासजी के सेव्य ठाकुर श्री त्रिभंगीलालजी का मन्दिर व्यासजी के घर पर होने का उल्लेख किया है। छप्पय इस प्रकार है—

व्यासदास के ऐन चैन करि संतत राजैं।
जिन सौं मन की लाग साख सब रसिक समाजैं ॥
अंतरंग हित संग महल में करत खवासी।
पद पलोट पर्यंक बैठि वल्लभ ह्वै दासी ॥
श्री किशोरीलाल हित कृपा करि, पहिराई उर माल।
श्री प्रियादास के सेव्य बस, भये त्रिभंगीलाल ॥

इनका विद्यमान-काल अनुमानतः विक्रम संवत् १७०० से १८०० के अन्तर्मध्य में सुस्थिर होता है।

श्या० वि० खं०

घासीराम व्यास

कविवर घासीराम व्यास का जन्म सन् १९०३ ई० में ओरछा में हुआ था। इनके पिता का नाम मदनमोहन व्यास था। व्यासजी के विषय में कोई अन्य प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। स्थानीय लोगों से केवल इतना ज्ञात होता है कि ये कृष्णोपासक भक्त-कवि थे। इनके कुछ छन्द वहाँ अब भी श्रुति-परम्परा में सुरक्षित हैं। उन्हीं में से एक छन्द दिया जा रहा है—

हम योग-कुयोग को जानैं कहा
रसना रस कृष्ण रसालिनी हैं।
गुणहीन, गँवारिनो ग्वालिनी हैं
पर प्रीति प्रतीति की पालिनी हैं॥

द्विज व्यास कहें तुम ऊधौ सुनो
सदा सीधी सुचालु सुचालिनी हैं।
भले भूखे रहें कि चुगैं मुक्ता
हम मानसराज मरालिनी हैं॥

त्रि० ना० शु०

घिसियावनदास

बाबा घिसियावनदास का जन्म सन् १७९३ ई० में रायबरेली जिलांतर्गत जमली मजरे फूला (अहोरवा भवानी) में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० बलदेवप्रसाद द्विवेदी था। घिसियावनदास को बाल्यावस्था में कोई विशेष शिक्षा नहीं मिल पाई थी फिर भी इनका ज्ञान संतों के सान्निध्य में रहने के कारण निरंतर विस्तार पाता गया। बचपन से ही भगवद्भक्ति में लीन होने के कारण आपका सांसारिक कार्यों में मन नहीं लगता था। कुछ दिनों पश्चात् ये अयोध्या में जाकर संतों के निकट रहकर सत्संग और भजन में रत हो गये। यहीं पर इन्होंने बड़ा स्थान (बड़ी छावनी) के महंत श्री रामप्रसाद के संप्रदाय में दीक्षा ली। कालांतर में ये अपनी जन्मभूमि को लौट आये और जमली के ही निकट ग्राम खेखरुवा के पश्चिमवाले जंगल में रहने लगे। यद्यपि वहाँ इनके रुकने की इच्छा न थी, किन्तु सेमरौता के राजा रुद्रप्रताप सिंह के विशेष आग्रह से ये वहीं रुक गये। रुद्रप्रताप सिंह ने इन्हें भगवान् की सेवा हेतु गंगापुर नाम का एक ग्राम दे दिया। यहीं पर रहते हुए सन् १८७५ ई० में ८२ वर्ष की उम्र में ये स्वर्गवासी हुए।

बाबा घिसियावनदास मूलतः राम-भक्त थे किन्तु वैष्णव-धर्म की और उसमें भी रामानुज-सम्प्रदाय की धार्मिक उदार-भावना का इनमें प्राबल्य था। इसलिए ये भगवान् राम और कृष्ण में कोई अंतर नहीं मानते थे। इनकी प्रकाशित भक्तिप्रधान काव्यकृति 'राम-कृष्ण-कीरत' में इसीलिए राम और कृष्ण दोनों की अलौकिक एवं भक्तों के लिए आनन्दप्रदायिनी लीलाओं का मनोमुग्धकारी वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ से बाबा घिसियावनदास के भक्त-हृदय का पूरा परिचय प्राप्त होता है। इनके कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी दो छन्द निम्नांकित हैं—

(१)

वोई मनमोहन दोहन किये धेनु को,
वोई नन्द-जसुदा के लाल जू कहाये हैं।
वोई सब ग्वालन को माखन चखन किये,
वोई कुंज-कुंज टेरि बेनु को बजाये हैं।
नाग नाथि लाये औ गोबरधन उठाये वोई,
वोई ब्रज बालन को मन्डल नचाये हैं।
उनहीं 'घिसियावनदास' निरतत थेई-थेई।
उनहीं को ध्यान हरि भूषन बताये हैं॥

(२)

आय के द्वार पुकार किए सब
देखु जसोमति हाल हमारे।
तोहर पूत महा यह धूत
सपूत कहावै पियार तिहारे।
गारी गराय अभूसन छोरिसि
फारत है कपरे सब पारे।
दास घिसियावन गागरि बोरत
लागत है जमुना के किनारे।

रा० पां०

चंचल ससि

मध्यकालीन कृष्ण-भक्त चंचल-ससि के जीवन के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती। ऐसा प्रतीत होता है कि 'चंचल-ससि' रचनाकार का उपनाम था। मूलनाम ज्ञात न हो सका। इनका राग टोड़ी में रचित एक पद मिलता है। वह यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

राग टोड़ी

मेरी बलाइ आवै।
जो घरी-घरी मोहि खिझावै ॥
ऐसौ लँगर ढीठ काउरे न देखै
सबन छाँडि मों नेह जनावै ॥

गुरुजन में ठाढ़ी तिन्ह में मोहि लजावै।
सगरी तियनि में मोहि भौंह चलावै ॥
चंचलि ससि प्रभु अति ही बहुनायक
काउऐ भावै यै काउऐ न भावै ॥

रा० कृ० व०

चंददास

फतेहपुर में हसवा नामक एक गाँव है। दूसरे फतेहपुर नामधारी स्थानों से अलग रखने के लिए इसे 'फतेहपुर हसवा' या 'हसवा फतेहपुर' कहा जाता रहा है। इस गाँव का नाम पहले हंसपुरी विख्यात था। यहीं पर स्वामी चंददास की समाधि है और वर्तमान समय में इन्हींके नाम से एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय भी चलता है। ये पंजाबी खत्री थे और इसी हंसपुरी में आकर रहे थे। साहित्यिक कार्य उन्होंने यहीं आकर किया। अंतःसाक्ष्य से भी यह विदित होता है कि इनका जन्म-स्थान हसवा नहीं था। इन्होंने स्वयं ही लिखा है—

निज वंश महिमा बहुरि बरनौ,
चरन हरि उर आन के।
तज भोग माया जोग लीन्हो,
दिव्य मारग जान के ॥
पय पान प्रान सुधार दीन्हो,
चरन सतगुरु मान के।
तन विपुल खत्री बरन पायो,
साधु रज मन सान के ॥
गंगा-जमुना मध्य में,
हंसध्वज को ग्राम।
हंसपुरी शुभ नाम तेहि,
तहाँ कियो निज धाम ॥

'तवारीख हसवा' में इनके जीवित समाधि लेने का उल्लेख है। इन्होंने संवत् १८२८ में जीवित समाधि ली थी। इस प्रकार इनकी खत्री-वंश में उत्पत्ति, सांसारिकता के बाद वैराग्य-धारण और हंसपुरी में आकर निवास करना अंतःसाक्ष्य के आधार पर प्रमाणित हो जाता है। हिन्दी-साहित्य का बृहद्-इतिहास (षष्ठ भाग) में एक चंददास नामधारी कवि का उल्लेख किया गया है और उनकी बनाई हुई कृति 'श्रृंगार-सागर' बताई गई है। उक्त इतिहास में लिखा गया है–'चंददास का और परिचय प्राप्त नहीं हो सका। इनका ग्रंथ 'शृङ्गार-सागर' ही मिला है। इसकी रचना संवत् १८११ में हुई थी। इसका आधार 'रास-पंचाध्यायी' है। ग्रन्थ में २२५ कवित्त, ७३ दोहा तथा २८ सोरठा छन्द हैं। यह रचना राधा-कृष्ण के विनोद और विलास का वर्णन करती है। अतः इसे भक्ति-शृङ्गार का ग्रन्थ कहना चाहिए। उक्त ग्रन्थ का रचनाकाल इस प्रकार दिया गया है—

दस अष्ट सत व्रत वर्ष रची पुन
नव सुभ नीत विवेक विचारो।
श्रावण मास कला शशि की
दुतिया शुभ संजय धर्म विचारो ॥
ग्राम सु हंसपुरी बसिकै यहु
प्रश्न सुदिव्य पुरान सँवारो।
चंद तजे रसभाव सबै,
सब जोग सो छोरहि आन बिसारो ॥

अभी तक इस ग्रंथ का उल्लेख चंददास की कृतियों में नहीं मिलता था। इनके ग्रंथों में 'रामविनोद'

(१८०४), कृष्णविनोद (१८०५), भगवद्गीताज्ञान (१८०६), भगत-विहार (१८०७), शिवसारंगाध्यावली (१८११), विष्णु-सहस्रनाम, भाषाप्रबंध-पंचाङ्ग, साखी, रागमाला तथा स्फुट पदों का उल्लेख किया गया है। इस ग्रंथसूची में 'शृङ्गार-सागर' की चर्चा नहीं है। 'शृङ्गार-सागर' चन्ददासजी की ही कृति है और यह कोई दूसरे चंददास नहीं, हसवावासी चंददास ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'शृङ्गार-सागर' का नामकरण भी लक्षदास की कृति 'कृष्ण-रस-सागर' के अनुकरण पर ही किया गया हो।

ये सगुणोपासक महात्मा थे। इनकी रचनाएँ अवधी और व्रज दोनों में है। यत्र-तत्र पंजाबी शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। इन्होंने उस समय की प्रचलित लिपि 'कैथी' का प्रयोग अपनी रचनाओं के लिखने के लिये किया है। ये ९५ वर्ष की आयु में समाधिस्थ हुए। इस प्रकार इनका जन्मकाल सं० १७३३ ठहरता है। इनकी कृतियों में कृष्णाश्रयी और रामाश्रयी सगुण भक्ति के साथ योगसाधना का भी परिष्कृत रूप मिलता है।

इनके विषय में कई प्रकार की किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहते हैं, जहाँ पर आज चंददास की समाधि बनी हुई है वहाँ पहले खेती होती थी। स्वामीजी को वह स्थान आश्रम बनाने के लिये मिला। लेकिन उस समय उस भूमि में फसल खड़ी थी। स्वामीजी ने फसल के मालिक को फसल काटने के लिये कहा तो उसने फसल को कच्ची होने की बात कही। इस पर स्वामीजी ने उससे कच्ची ही फसल काटने के लिये कहा और आश्वासन दिया कि इस बार पहले से दूनी उपज होगी। फसल काटी गई और जब अनाज इकट्ठा हुआ तो वास्तव में उसमें दूनी फसल उत्पन्न हुई थी। इसी प्रकार इनके विषय में एक किम्वदन्ती यह भी है कि इनके एक भक्त इनके दर्शनार्थ रायबरेली की ओर से आ रहे थे। जिस समय वह गंगा पार करने लगे तो उनकी नाव गंगा की भँवर में चक्कर काटने लगी। स्वामी चंददास को अपने आश्रम में बैठे हुए ही इस घटना की जानकारी हो गई और योगबल से इन्होंने उस नाव को डूबने से बचा लिया। जब वे लोग चंददासजी के आश्रम में पहुँचे तो उन्होंने उस घटना का उल्लेख किया। स्वामीजी का अनुमान सच निकला। इनके विषय में हसवा में विख्यात है कि ये त्रिकालदर्शी महात्मा थे।

इनका समस्त साहित्य भक्ति-धारा से अनुप्राणित है जिसमें जन-कल्याण की भावना सर्वत्र ही पाई जाती है। इनकी भक्ति में भगवत्-नाम-स्मरण को विशेष महत्त्व दिया गया है। इनकी अधिकांश रचनाएँ विभिन्न प्रकार के छंदों में लिखी गई हैं। 'रामविनोद' में ८९१ कवित्त, ११३ छंद, ८३७ दोहे, ६१८ सोरठा और बीच-बीच में छन्दात्मक टीकाएँ हैं। इसी प्रकार 'कृष्ण-विनोद' में १०७१ छन्द, २१६ कवित्त और १२०० दोहे हैं। शिवसारंगाध्यावली योग निरूपक ग्रन्थ है जिसमें १०५ दोहे और लगभग इतनी ही चौपाइयाँ हैं। शृंगार-सागर का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी इनकी रचनाओं का परिचय नीचे दिया जाता है—

१ **कृष्ण-विनोद** - यह ग्रन्थ ९० अध्यायों में पूर्ण हुआ है। कैथी लिपि में लिखित कृष्ण-विनोद की एक खण्डित प्रति मिलती है जिसमें १८० पृष्ठ हैं। ग्रन्थ के अन्त में दी गई पुष्पिका में 'श्रीमद्भागवत दशम स्कंध चन्ददास कृत भाषा-प्रबंध समाप्त शुभमस्तु। ·· मिति अषाढ़ बदी सप्तमी सं० १८०७ साके सालिवाहने स्थान हसवा दस्तखत चन्ददास कै' दिया गया है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—कवि ने इस ग्रन्थ में उसके दोनों नाम रखे हैं, यह प्रतिलिपि सं० १८०७ में स्वयं चंददास ने लिखी थी।

ग्रन्थारम्भ में ग्रन्थ की रीति बताकर स्तुति की गई है। देवकी-विवाह से लेकर कंस-वध तक की कथा का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके

बाद गुरु-पुत्र-प्रदान, नंद-उद्धव-संवाद, उद्धव-ज्ञान-वर्णन, अक्रूर - पाण्डव - गृह - गमन, गिरिवर - प्रवेश, जरासंध-युद्ध, कालयवन-वध, बलभद्र-रेवती विवाह, रुक्मिणी-संदेश, रुक्मिणी का हरण और विवाह, जाम्बवन्ती और सत्यभामा से विवाह, शम्बर-वध, प्रद्युम्न-विवाह. नरकासुर, वज्रनाभ, रुक्म आदि का वध, अनिरुद्ध-बंधन, हर-हरि-संग्राम. उषा-विवाह आदि के प्रसंग, जरासंध और शिशुपाल-वध, दुर्योधन-मानभंग, बलदेव की तीर्थयात्रा, सुदामा-दारिद्रय-भंजन, रुक्मिणी-द्रौपदी-संवाद, कुरुक्षेत्र-यात्रा, देवकी का ६ पुत्रों को पुनः प्राप्त करना, वेद-स्तुति, दिग्विजय-वर्णन एवं स्तुति।

२. श्री भागवत महापुराण—'कृष्ण-विनोद' की उपर्युक्त प्रति के अतिरिक्त 'श्री भागवत-महापुराण' नाम की कैथी लिपि में लिखी हुई एक खण्डित प्रति और मिलती है जिसके प्रारम्भ में पृष्ठ-संख्या १६ और अंत में पृष्ठ-संख्या २८६ दी गई है। इसमें भी श्रीमद्भागवतानुसार कृष्ण-कथा का वर्णन है। उपलब्ध प्रति में एकादश स्कंध तक की कथा मिलती है।

३ श्री भागवद्गीता—यह श्रीमद्भगवत गीता का भाषानुवाद है। प्रारम्भ में हनुमान्‌जी तथा कृष्ण के ब्रह्मरूप की स्तुति की गई है। इसके बाद गीता के १८ अध्यायों का भाषानुवाद प्रस्तुत किया गया है। अंत में चन्ददास के निवास-स्थान की स्थिति, उनके संयम, नियम, त्याग एवं दुग्धकल्प आदि का संकेत किया गया है। यह ग्रन्थ सं० १८०६ में लिखा गया था। यह प्रति पूरी है जिसमें १२९ पृष्ठ हैं। यह नागरी लिपि में है।

४. भगत-विहार—इस में चंददास ने लगभग २०० भक्तों के विषय में लिखा है। भगत-विहार' में भक्तों के चरित पृथक्-पृथक् अनुराग (अध्याय) में दिये गये हैं। अन्त में कवि ने आत्मपरिचय दिया है तथा ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १८०७ लिखा है।

५. पदावली—चंददासजी के पदों के संग्रह को 'काव्य-कौमुदी' नाम दिया गया है, किन्तु वस्तुतः 'काव्य-कौमुदी' नाम की कवि-रचित कोई कृति प्राप्त नहीं हुई है। 'पदावली' नाम से चंददास की रचनाओं का संकलन अभी हाल में डॉ० विद्याधर अग्निहोत्री ने किया है, यह सूचना डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने दी है। यह प्रकाशित संकलन अभी तक देखने में नहीं आया है। पदावली के पद या तो पंचदूत में प्रकाशित हुए हैं या हस्तलिखित प्रतियों में सुरक्षित हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि कवि ने ये पद विभिन्न राग-रागिनियों में लिखे हैं जिनमें सीता-राम तथा राधा-कृष्ण के शोभा वर्णन के मनोरम चित्र हैं। इनके अतिरिक्त जीवन की असारता, राम-नाम की महिमा, जीवनोद्धार के उपाय, आत्मनिवेदन, दैन्य आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें शुद्ध सात्त्विक भक्ति की मंदाकिनी प्रवाहित हुई है। राम तथा कृष्ण-भक्तिपरक दास्य और सखीभाव से लिखे गये पदों में कवि की विनयशीलता उच्चकोटि की है। चंददास-रचित इस प्रकार के पदों की संख्या ९८० है जो कवि की प्रतिभा का परिचय देते हैं।

६. शृंगार-सागर (राधारमण-विलास)—'शृंगार-सागर' का रचनाकाल श्रावण मास की द्वितीया संवत् १८०९ है। ग्रन्थारम्भ में कवि ने लिखा है कि भक्त-विहार, राम-विनोद और कृष्ण-विनोद लिख लेने पर मित्रों की इच्छानुसार उन्होंने काव्यरस में 'राधा-रमण-विलास' की रचना 'शृंगार सागर' नाम से की है। इस ग्रन्थ में १२ उल्लास या अध्याय हैं। यह ग्रन्थ जयदेव के 'गीतगोविन्द' की परम्परा का अनुसरण करता हुआ राधा-कृष्ण के परकीया-स्वकीया स्वरूपों की बानगी प्रस्तुत करता है। अन्त में गंधर्व-विवाह हो जाने पर कृष्ण के साथ स्वकीया राधा की रति-केलि तथा हास-विलास का विविध ऋतुओं में वर्णन किया गया है। अन्य ग्रंथों की भाँति इस रचना में भी चंददासजी ने सगुणोपासना से समाधि लगाने

और योग साधने को ही सिद्धि-प्राप्ति का प्रमुख मार्ग बताया है।

मध्ययुग में भक्ति की जिस परम्परा का मार्ग-दर्शन सूर, तुलसी और मीरा ने किया था, चंददास ने उसे अपनी कविताओं में ग्रहण करके एक नये भावलोक की सृष्टि की। ये जहाँ एक ओर सगुणोपासना से प्रभावित दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर निर्गुणमार्गी संतों की विचारधारा से भी अछूते नहीं हैं। चंददास की रचनाओं में राम और कृष्ण दोनों में अभेद मानकर उनकी लीलाओं के भावुकतापूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है। सूरदास ने मुख्यतः 'कृष्ण-चरित्र' और तुलसीदास ने 'रामचरित्र' को आधार मानकर रचनाएँ कीं। इन दोनों भक्त कवियों ने राम और कृष्ण के चरित्र का भी वैविध्य से वर्णन किया, फिर भी उनके इष्टदेव का एक 'स्वरूप' निश्चित था। सूर कृष्ण-भक्त कवि थे और तुलसी राम-भक्त। चंददास ने एक कदम आगे बढ़कर राम और कृष्ण तथा सीता और राधा में अभेदभाव मानकर उनकी लीलाओं को ऐसे भावप्रवण शब्दों में चित्रित किया है कि पाठकों का मन-मयूर नाचने लगता है। चंददास के पदों में सूर, तुलसी, लक्षदास और मीरा की भाँति गेयता, माधुर्य तथा प्रसाद गुण मिलता है। इन्होंने छोटे-छोटे पदों में समय-समय पर मन में उठे हुए 'भक्ति-भावों' को चित्रित किया है।

चंददासजी की रचनाओं में दोहा, चौपाई, चौपई, गीतिका, छंद, सवैया कवित्त, छप्पय, सोरठा, पद आदि विविध प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है। पदों के लिखने में कवि की एक विशिष्ट पद्धति रही है। जिन पदों में सीता और राधा की शोभा का वर्णन किया गया है, वे तो पर्याप्त बड़े हैं, शेष सभी पद प्रायः ४ या ६ पंक्तियों के हैं। इन पदों की टेक या तुक अन्य पंक्तियों से नहीं मिलता। पहली पंक्ति के अंतिम शब्द या शब्दों को प्रत्येक पंक्ति के साथ जोड़कर गाने से पद में एक नई आभा आ जाती है और माधुर्य बढ़ जाता है।

इनकी रचनाओं से कुछ छंद प्रस्तुत हैं—

(१)

जन्म जात सिरान तेरो।
अंजली को नीर जैसे होत
अह-निशि हानि तेरो।
साँस छीजत पंथ आवत
घटत घट पर वान तेरो।
उड़त तन पर शीश हू पर
काल प्रबल सचान तेरो।

(२)

अंजुलि को जल जैसे घटै
इमि छीजत आयुद्दार छिनोछिन।
वेदन की विधि भूलि गई अरु
बाढ़त है पितृदेवन को रिन।
नाथ कह्यो चल्यो आवतु है
जमदेव के देस को देखन को दिन।
आपनो काज करै कस ना
रसना तू रसै-रसे राम कहै किन।

(३)

हक पराया त्यागियो, सोई हक्क हलाल।
चंद कहा सो पीरने, दिलवर खेति सनाल॥

(४)

नींद मोहनी तज के प्रात हरि।
शिशु जन संघ चले कानन को
अंग अनंगहि सज के प्रात हरि॥
गुंजमाल उर लाल रत्नमणि
पीत पटा धन भजके प्रात हरि।
मौर पक्ष धृत शीश मंजुली
मनोभान छवि छज के प्रात हरि॥

त्रि० ना० सिं०

आ० प्र० अ०

चंदूलाल 'शशि'

चंदूलाल पंजाब के मालेरकोटला नामक स्थान के निवासी तथा जाति के ब्राह्मण थे। 'शशि' इनका उपनाम था। इनके गुरु का नाम 'गणपति' था, जिनके प्रति उनके हृदय में अटूट श्रद्धा थी। चन्दूलाल अखाड़ेबाज कवि थे जिसमें उन्हें अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। इसके अतिरिक्त अनेक सभा-समागमों में वाद्य-यन्त्रों के साथ ये अपनी रचनाओं को प्रस्तुत किया करते थे। ये स्वभाव से अति विनम्र थे। इन्हें अपनी विद्वत्ता व कवित्व-शक्ति का तनिक भी अभिमान न था। ये स्वयं को 'कविदास', 'गुनियों का चेरा' आदि कहा करते थे। आरम्भ में ये जैनाचार्य श्री विजयानन्द सूरि के मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे तथा श्री विजयानन्द सूरि के साथ ही साम्प्रदायिक कार्यों से भ्रमण पर जाया करते थे। उनके सम्पर्क से ही प्रभावित होकर इन्होंने जिन-मूर्ति-पूजा से सम्बद्ध रचनाओं के प्रणयन में अपनी कवित्व-शक्ति का प्रयोग किया था। परिणामस्वरूप 'स्तवन-मञ्जरी', 'भक्ति-कल्पद्रुम' और 'आत्माराम-चरित' नामक इनके ग्रन्थ प्रकाश में आए। सं० १९५७ में विजयानन्द सूरि का देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु के साथ ही इस सम्प्रदाय की धार्मिक गति-विधियाँ मन्द पड़ती गईं। इसी समय चन्दूलाल नेत्र-रोग से पीड़ित होकर अन्धत्व को प्राप्त हो गए। अतः सं० १९५७ के वाद इन्होंने घूमना-फिरना बन्द कर दिया और स्थायी रूप से मालेरकोटला में रहने लगे। इनके अन्धत्व का संकेत इनकी इस पंक्ति से मिलता है—

देख आँख से नहीं, अधर से अधर लगाता।

इस अन्धत्व ने उन्हें जैन-सम्प्रदाय से विलग कर दिया और तव इनकी कवित्व-शक्ति ने एक नया मोड़ लिया। इसी वर्ष इन्होंने कृष्ण-भक्ति-परक ग्रन्थ 'कृष्ण-सुधाधर' की रचना की। इसका रचना-काल १९५७ वि० है। कवि ने स्वयं इसका रचना-काल इन शब्दों में बताया है—

शुभ संवत् विक्रम गिरी, तत्त्व अंक निसिराज।
लीला कालीदमन की, सम्पूरन भई आज॥

इस पद के आधार पर इसका रचना-काल १९५७ वि० ठहरता है।

आगे 'अषाढ़ मास सित पक्ष दूज तिथिवार दनुज गुरु सुखकारी' कहकर कवि इस रचना-काल को और भी स्पष्ट करता है।

'कृष्ण-सुधाधर' इनकी एक भक्तिपरक रचना है, जिसका आरम्भ भगवान् के दशावतार के वर्णन से होता है। इस अवतार-वर्णन के माध्यम से कवि ने कृष्ण को विष्णु के अवतार की ही शृंखला माना है। इनके अनुसार ये दस अवतार क्रमशः इस प्रकार हैं—मत्स्यावतार, कच्छपावतार, कोलावतार, नृसिहावतार, वामनावतार, परशुरामावतार, रामावतार, कृष्णावतार, बुद्धावतार तथा कल्कि अवतार।

अवतार-वर्णन के पश्चात् इस ग्रन्थ में कृष्ण-कथा को विस्तृत रूप दिया गया है। इसमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर कंस-वध तथा रुक्मिणी से विवाह तक की कथा वर्णित है। बालक कृष्ण के दर्शनार्थ भगवान् शिव स्वयं गोकुल आते हैं तथा उन्हें आशीर्वाद देते हैं—

पूछे ब्रजनार शिव आए पहुँचे द्वार।
अलख उचार कहा मुख से पुकार॥
लाओ अपना कुमार पाना हमने दीदार।
खुशी बसे हमेशा तुम्हारे ग्राम॥

इसके पश्चात् कवि चन्दूलाल ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का मनमोहक चित्रण किया है—

निरत-निरत पद धरत धरत चल,
छगण छगण घुंघरू बजैया जू।
अधर अधर मुरली करत धुनि,
ततक ततक तक शब्द बजैया जू॥

इसी प्रकार यमुना-तट पर कृष्ण द्वारा रास-रचाना, बाँसुरी-वादन, राधा के प्रति अगाध प्रेम आदि के इन्होंने अनेक बिम्ब प्रस्तुत किए हैं, किन्तु इन सबके चित्रण के साथ-साथ ये इस बात के लिए निरंतर सजग रहे हैं कि श्री कृष्ण का ईश्वरत्व कहीं खण्डित न हो, उनका अवतारी रूप कहीं दबने न पाए—

यमुना का तीर जहाँ निर्मल नीर
तहाँ शाम शरीरधीर बाँसुरी बजामदा।
बाँसुरी की धुनि सुनि मोहित हैं सब मुनि
वर्णी न जात कुल गौएँ चरामदा ॥

कृष्ण द्वारा सताईं जाने पर गोपियाँ माता यशोदा के पास उपालम्भ लेकर आती हैं। वे कृष्ण से प्रेम भी करती हैं और रूठने का अभिनय भी करती हैं। इस प्रकार गोपीवल्लभ कृष्ण का रूपांकन किया गया है।

इसके पश्चात् नाग-लीला का विस्तृत वर्णन किया गया है। एक दिन ग्वाल-बालों के साथ क्रीड़ारत कृष्ण के मन में कालिय नाग को नाथने की इच्छा जाग्रत होती है। अतः वे खेल-खेल में जान-बूझकर अपनी गेंद कालियादह में गिरा देते हैं। तब ग्वाल-बाल अपना कन्दुक लाने के लिए हठ करते हैं। इसलिए उनकी इच्छा-पूर्ति हेतु कृष्ण यमुना में कूद पड़ते हैं और सुप्त कालीनाग को जगाकर उसकी शक्ति व गर्व का हरण कर उसे वश में कर लेते हैं तथा उसके फणों पर नृत्य करते हुए बाहर निकलते हैं—

सजें प्रभु काली सिर कैसे।
श्याम गिरि के शिखर ऊपर
श्याम घन सावन का जैसे ॥

• • •

गर्ज-तर्ज कालो उठा, सुन नागिन के बैन।
घन गरजे आँधो चलो, दिन से हो गई रैन ॥

क्रोध कर फिरता काली यमुना में।
फन-फन ऊपर मणि चमकती
हुआ उजाला यमुना से ॥
कदम-कदम पर फन को पटके
उठी जुआला यमुना में ॥

नागलीला के पश्चात् कवि ने कृष्ण के मथुरा-गमन तथा कंस-वध की कथा का सांकेतिक रूप से चित्रण किया है। इसके बाद रुक्मिणी-हरण, रुक्मिणी से उनके विवाह, द्रौपदी-चीर-हरण तथा कृष्ण द्वारा वस्त्रदान की कथा को कवि ने चित्रित किया है। ग्रंथ के उत्तरार्द्ध में कृष्ण-महिमा, उनका यश-गान, उनकी विविध लीलाओं की चर्चा, अन्य अवतारों का उल्लेख तथा उनके दुष्ट-संहारक व भक्त-वत्सल रूप की स्थापना की गई है। कुछ छन्द द्रष्टव्य हैं—

कहूँ क्या नाग कि नागिन।
कि हैं ये कृष्ण की अलकन ॥

नयन न देखा सुना न कानन
तुम-सा कपटी मीत।
चंदूलाल दर्शन बिन पल-पल
युग सम होत बतीत ॥

क्या काली मारे मुझे, अपना आप सँभाल।
अब तो अपनी जान का, जान मुझे तू काल ॥

फन-फन ऊपर चमके तुमरे
चिह्न हमारे चरणन का।
चिह्न हमारे चरण कमल के
देख गरुड़ सुख पावेगा ॥
यह दशावतार जो बार-बार
चित हित से सुने सुनावेगा।
सो विष्णु-लोक में हो निशोक
चिरकाल अमर पद पावेगा ॥

श्र० सिं०

चतुर अलि

चतुर अलि का ऐहिक इतिवृत्त सर्वथा अज्ञात है। इनकी कतिपय रचनाएं अवश्य प्राप्त होती हैं। उनका आलोड़न करने से यह तथ्य निर्भ्रान्त रूप से ज्ञात होता है कि इनका जन्म काठियावाड़ प्रान्त के

किसी स्थान पर हुआ था तथा इन्होंने श्री हित-सम्प्रदाय की रसोपासना की मंत्र-दीक्षा गो० मुकुन्द-लाल के पुत्र गो० घनश्यामलाल से ग्रहण की थी। अन्तःसाक्ष्य रूप में कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

जै श्री हित घनश्याम श्यामा
सुख झिलत जात कापै भनै।
चतुर अलि हित भागि के फल
सबनि मिलि अधिकैं गनै ॥

जै श्री हित घनश्याम श्यामा सुख
रंगभरे मन भावहीं।
चतुर अलि हित गोकुल
फिरि-फिरि रावल आवहीं ॥

मंगल छन्द में विरचित एक अन्य पद की प्रारम्भिक पंक्तियों में इन्होंने अपने गुरु-कुल की वंशावली का वर्णन करते हुए गुरुवर्य के पौत्र गो० माखनलाल, धीरजलालजी और गो० किशोरी-लालजी के पौत्र गो० दयासिन्धुलाल तथा गो० कृपासिन्धुलाल तक का नामोल्लेख किया है—इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इनका समय १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक रहा होगा। इन्होंने जीवन के अन्तिम दिन श्री वृन्दावन में भजन करते हुए व्यतीत किये थे।

इनकी पद-रचनाएँ अत्यन्त सरस हैं। दो पद नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—

(१)

दोऊ मेरे नैनन माँझ अरे री।
सखी कदम्ब कदम्ब तर ठाड़े
अंसनि बाहु धरे री ॥
चितवनि मुसकनि मनहरन
रति रस-रंग भरे री।
चतुर हित अली निरखत शोभा
तन-मन-धन बलि करे री ॥

(२)

जीवनधन राधावल्लभलाल।
प्रेम-चरित्र करि अद्‌भुत राजैं
आनँद रूप रसाल ॥

कभूँ एक में द्वै जु लखावत
महा मनोहर ख्याल।
कभूँ द्वै जु एकै दरसावत
श्याम अंग सँग बाल ॥

ललित कनक की वेली लिपटी
सुन्दर श्याम तमाल।
चतुर अलि हित या छवि कौं
निरखत होत निहाल ॥

श्या० वि० खं०

चतुरदास (प्रथम)

श्री चतुरदास (प्रथम) का जन्म अनुमानतः सन् १५५५ ई० (सम्वत् १६१२ वि०) कोडेहरा (अलवर) में हुआ था। ये शोभनदासजी के पुत्र थे तथा उन्हीं-के समान युगल स्वरूप (राधाकृष्ण) के उपासक थे। ये गृहस्थ थे और निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन भगवद्-भक्ति में व्यतीत किया। अन्त में एकलौते पुत्र को छोड़कर लगभग संवत् १६८२ में परमधाम को प्राप्त हुए।

म० गो० भा०

चतुरदास (द्वितीय)

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध के आधार पर दोहा-चौपाई छन्द में अवधी में कृष्णकथा के रचना-कारों में चतुरदास (द्वितीय) का भी नाम उल्लेखनीय है। मिश्रबन्धुओं ने चतुरदास को सोम संतदास का शिष्य बतलाया है। इन्होंने सं० १६९२ वि० (सन् १६३५ ई०) में दो ग्रन्थों की रचना की थी—१. 'एकादश-स्कन्ध-भागवत-भाषा' और २. 'श्री हित जू को मंगल'। खोज-रिपोर्ट में भी चतुरदास की कृति 'एकादश-स्कन्ध-भागवत-भाषा' मिली है। डॉ० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस' ने उक्त ग्रन्थ को तीन प्रतियाँ

विभिन्न स्थानों पर देखी हैं जिनमें सम्मेलन संग्रहालय की प्रति पूर्ण और २९० पृष्ठों की है। इसकी प्रतिलिपि गोविन्दपुरवासी आनन्दचन्द मिश्र ने कार्तिक कृष्णा १३ सं० १८८६ वि० (सन् १८२९ ई०) को पूरी की थी। 'श्री हित जू को मंगल' की प्रति अनुपलब्ध है।

'एकादश-स्कन्ध-भागवत-भाषा' ग्रन्थ अवधी में दोहा और चौपाई छन्दों में लिखा गया है। उसमें ३१ अध्याय हैं। ज्ञान विषय के चार वार्ताकार हैं— योगेश्वर जनक से, नारद वसुदेव से, श्रीकृष्ण उद्धव से और शुकदेवजी परीक्षित से कहते हैं कि हरि की प्राप्ति ज्ञान और वैराग्य से ही संभव है—

ज्ञान बिना नाहीं अधार ॥
ताते ब्रह्म ज्ञान समझाऊँ।
प्रथम ही दृढ़ वैराग उपाऊँ ॥

पंषी उड़ै पंष द्वै जैसे।
ज्ञान वैराग मिलै हरि ऐसे ॥

ग्रन्थ के आरम्भ में यदुकुल के विनाश का वर्णन किया गया है। फिर आत्मविद्या-उपदेश, परमज्ञान, विधि-निषेध ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि का वर्णन है। अन्त में भगवान् कृष्ण के बाण लगने की कथा दी गई है। वधिक और भगवान् दोनों विमान में एक साथ बैठकर स्वर्ग जाते हैं। देवकी, वसुदेव, रोहिणी, उग्रसेन, अर्जुन आदि इस समाचार को सुनकर दुखी होते हैं। हस्तिनापुर जाकर अर्जुन यह कथा पांडवों को सुनाते हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ रोचक, ज्ञानवर्धक और कृष्ण-भक्ति से ओतप्रोत है। शान्त और करुण इसके अंगी रस हैं।

त्रि० ना० सिं०

चतुरदास (तृतीय)

चतुरदासजी (तृतीय) निम्बार्क-मतानुयायी भक्त-कवि के रूप में चर्चित हैं। इन्होंने 'मनमौज-चरित्र' नामक एक लघु ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें "निज भक्तजन प्रणपालक असुरकुल घालक वृजजनानन्ददाता चतुर्दश-भुवन-पाता, वृषभानुसुतामुख-कमल-प्रकाशी, सर्वसुखराशी श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द और राधिका महारानी की लीला आदि बहुत से माहात्म्य उत्तम दोहा, सोरठा, कुण्डलियाँ आदि में वर्णित हैं।"

'मनमौज-चरित्र' मुंशी नवलकिशोर के छापेखाने (लखनऊ) में मार्च सन् १८८६ ई० में छापा गया था। यह बड़े आकार की १३ पृष्ठों की कृति है, जिसमें प्रायः दोहा-छन्दों में भक्ति और नीतिपरक उद्‌गार व्यक्त किए गए हैं।

इस कृति में चतुरदासजी ने यत्र-तत्र अपना परिचय भी दिया है। उसके अनुसार सलेमाबाद में निम्बार्क-संप्रदाय की एक विशाल गद्दी थी। वहीं गुरु परशुराम की कृपा से चतुरदासजी को कृष्ण-भक्ति का यह प्रसाद मिला था। गुरु की प्रेरणा से इन्होंने परिजन-पुरजन आदि को त्यागकर श्री राधाकृष्ण-भक्ति का अवलम्बन लिया था—

चेत चतुरभुज कृष्ण कूँ, जन्म बदित्या जात।
मात-पिता परिवार ये, नाहिन तेरे साथ ॥

कृति के अन्त में चतुरदासजी ने कुछ और परिचय के सूत्र दिये हैं—

कहै चतुर धनिराम, गंग पितु-मात हमारी।
भ्रात एक घनश्याम, भक्ति गायन बिस्तारी ॥

इसके अनुसार इनके पिता का नाम धनीराम, माता का नाम गंगा और भाई का नाम घनश्याम था। इनके जन्म-स्थान, अवन्तिका के निकट रत्नपुरी, का संकेत भी यहाँ मिलता है—

रत्नपुरी आनन्दमय, इन्द्र शिरी रणजीत।
चतुरदास जेहि पीर पै, गावै परम पुनीत ॥

वा साहब श्री सोदणी, मंदिर कियो तयार।
सोइ सज्जन मम धाम है, जाहिर जप्यो मुरार ॥

इसके अनुसार रणजीत सिंह इनके शाहेवक्त, सोदणीजी इनके आश्रयदाता और प्रताप इनके चरित-

नायक थे। इस ग्रन्थ की रचना इन्होंने 'सप्तपहर दिन दोय में' की थी। यहाँ रचना-काल १८३५ वि० लिखा गया है-तिथि 'जेठ मास द्वितीया'। काव्य-कला की दृष्टि से ग्रन्थ वहुत उत्तम कोटि का नहीं है, किन्तु एक भक्त-हृदय के मार्मिक उद्‌गार इसमें अवश्य हैं। कहीं-कहीं दर्शन की ऊँचाइयाँ भी हैं, जैसे—

कोटि भान सो तेज, स्वास जिन बेद प्रकासै।
नाभि-कमल के बीच चतुरमुख बेद हुलासै॥

कहै चतुर कर जोर मेरो यहै ईख है।
भृकुटी से त्रिपुरारि हरी जगदीख है॥

सू० प्र० दी०

चतुरविहारी

श्री चतुरबिहारी परम वैष्णव-भक्त थे। गो० विट्ठलनाथजी ने आपको दीक्षा दी थी। इनका जन्म वि० सं० १६०५ में आगरा में हुआ था। ये जाति के क्षत्रिय थे। 'मिश्रवंधु-विनोद' और 'शिवसिंह सरोज' दोनों में इनको 'ब्रजवासी' कहा गया है। इनके पदों में 'चतुरविहारी' नाम का ही उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं 'चतुर' नाम की छाप भी प्राप्त होती है।

इन्होंने विक्रम संवत् १६२८ में पुष्टिमार्गीय दीक्षा ग्रहण की और साम्प्रदायिक जीवन का श्रीगणेश किया। गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी ने इन्हें श्री नवनीतप्रियजी के सन्निधान में मार्ग में प्रविष्ट किया, और ब्रह्मसम्बन्ध कराया तथा सेवा सौंपी। गोस्वामीजी के प्रति इनके द्वारा किया गया कृतज्ञता-ज्ञापन निम्नांकित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

जीवनमुक्त सदा तेही जन,
जे वल्लभ नंदन के चेरे।
'चतुर' कहे श्री विट्ठलनाथ प्रभुसौं,
हमे हूँ गिनिए तिनमें
भले करे तो तेरे॥

—निजपद संग्रह

एक अन्य पद में भी यह कृतज्ञता-प्रदर्शन प्राप्त होता है—

श्री विट्ठल चरन सरन, सुभकरन, हरन दुःख
सौभग वैभव विमल उदोत॥

—निजपद-संग्रह

श्री चतुरबिहारी को राजभोग के समय श्री नवनीतप्रियजी के लीलासहित दर्शन हुए थे। इसी समय इन्होंने एक पद बनाया जिसकी ध्रुव प्रस्तुत है—

कीजे जो चटक-मटक ठाड़े रहत पनघट पर।

इसे सुनकर गोसाइंजी बहुत प्रसन्न हुए और चतुरबिहारी को साथ लेकर श्रीनाथद्वारा गये। वहाँ श्रीनाथजी के दर्शन प्राप्त कर इनका जन्म कृतार्थ हुआ। श्रीनाथजी के दर्शनों के समय मंगला आरती की वेला थी। उस समय चतुरबिहारीजी ने श्रीनाथजी के सन्निधान में जो कीर्तन किया, वह अत्यन्त मनोहर था—

अनत न जइए, पिय रहिये मेरे महल।
जोई-जोई कहोगे सोई-सोई करौंगी टहल॥

सोधौ सामिग्री बसन आभूषन
सब बिधि कर राखोंगी पहल।
चतुरबिहारी गिरधारी पिया की
रावरी यही सहल॥

इनकी कीर्तन-सेवा में पुष्टि-भक्ति की प्रगाढ़ता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। इनके गोपीभाव-भावित हृदय का प्रेमोच्छलन इनके उद्‌गारों में यत्र-तत्र प्रकट हुआ है—

रहत मड़रानो री द्वार मेरे।
हौं कैसें निकसौं मेरी आली री
बार ठाढ़ौ ही देखौं,
निसदिन रहत घेरे॥

कबहुँक बेनु बजावत गावत
पिछवारे ह्वै बोल सुनावत टेरें।
हौं घरी-पल डरपत हूँ चतुरबिहारी
जिन आवे घर में दीये दरेरे॥

गो० विट्ठलनाथजी का आश्रय प्राप्त कर भक्तप्रवर चतुरविहारी गोलोकवास काल तक व्रज में ही रहे। ये व्रज के दो ही स्थानों–गोकुल और गोवर्धन–में विशेष रूप से निवास करते थे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में उल्लेख मिलता है कि 'जहाँ ताँई चतुरविहारी की देह चली, तहाँ ताइँ श्री गोवर्धननाथजी के दरसनन कूँ तथा श्री गोकुल कूँ छोड़ि कै कहूँ न गए।'

श्री चतुरविहारी के हृदय में श्री ठाकुरजी के प्रति भक्ति की दृढ़ता अविकल रूप से विद्यमान थी। गो० विट्ठलनाथजी जब राजभोग-आरती, संध्या-आरती और शयन-आरती के उपरान्त अपनी बैठक में आकर बैठते थे, तब श्री चतुरबिहारी उन्हें श्रीकृष्ण-लीला के पद सुनाया करते थे। अपनी विनोदी प्रवृत्ति के कारण ये समस्त वैष्णव-समुदाय के लिए प्राण-प्रिय थे। चार-पाँच वैष्णव एकत्रित हुए कि चतुरजी के व्यंग्य-विनोद की फुलझड़ियाँ छूटने लगती थीं।

कवि एवं कीर्तनकार के रूप में वैष्णव-समाज में इन्हें सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। 'भावप्रकाश' की टीका से ज्ञात होता है कि आप जन्मजात प्रतिभाशाली कवि थे। आठ वर्ष की आयु में ही ये कवित्त-रचना करने लगे थे। आगरे में महात्मा संतदास के सान्निध्य में आने पर आप गो० विट्ठलनाथजी के शिष्य बने थे। अष्टछापी भक्त श्रीकृष्णदासजी के सहगायकों में चतुरबिहारी का प्रथम स्थान था। आपके द्वारा रचित कीर्तनों का संग्रह विभिन्न पोथियों में मिलता है।

श्री चतुरबिहारी द्वारा रचित पद आराध्ययुगल की विविध लीलाओं से सम्बद्ध हैं। रास, दान, पनघट, अक्षयतृतीया, हिंडोरा, खण्डिता, शयन, उष्णकाल, चूनरी, शृंगार तथा राजभोग से सम्बद्ध भावोद्गार आपकी रचनाओं में विद्यमान हैं।

यहाँ इनके कुछ पद प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१)

जन्माष्टमी का पद

पूत भयौ री नंद के
सब नाचो गावो ग्वालि री।
बदत न काहू परस्पर आली
बारत हाटक लाल री॥

हरद दूब दधि चन्दन छिरकत
प्रकट भये गोपाल री।
चतुर बिहारी भक्तन हित कारन
गोकुल आये परम कृपाल री॥

(२)

उनींदी आँखें रंग भरी,
दुख नहीं पट-ओट।
मीन खंजन मृग हीन भये हैं,
और कमलदल वारि डारौं लखकोट॥
दुरत मुरत झपकत अनियारो,
चंचल करति हैं चोट।
'चतुरबिहारी' प्यारी की छबि निरखत,
बाँधत सुख को पोट।

(३)

बाँकी भौंह टेढ़ी पाग पियरे अनुराग,
पियरे 'पिछोरा' मध्य झलकत तनिया।
निसि के उनींदे नैन तोतरात मीठे बैन,
काजर की रेख माल छूटो लर मनियाँ।
जावक लाग्यो लिलार सजिके सुरत नाह,
खुले न कपाट कोई कपटी के मनियाँ।
मोय तजि रहो न्यारे सुनो गिरधारी प्यारे,
तोई पै जो सिधारो क्यों न ताहीं निसवनियाँ।
सुनि त्रिया बचन रसिक धाय लिए
आनन्द विनोद किए प्रेम भगनियाँ।
गिरधारी गोकुलेश रस सों भीजें विशेष
'चतुर' को चित चोर्‌यो चतुर चिकनियाँ।

(४)

उष्णकाल का पद

सीतल उसीर गृह छिरक्यौ गुलाब नीर,
परिमल पाटीर घनसार बरखत हैं।
सेज सजी पत्रन की अतर सों तर कीनी,
अरगजा अनूप अंग मोद दरसत हैं।।

बीजना बियार सीरी छूटति फुहारैं नीके,
मानो घन में न्हेंनी-न्हेंनी फुहीं बरषत हैं।
चतुरबिहारी प्यारी रस सों विलास करत
ज्येष्ठ मास हेमंत ऋतु सरिस दरसत हैं।।

(५)

हिंडोरा का पद

आजु झूली रंग हिंडोरे
प्यारी पिय के संग।
गोरे तन फबी सुरंग चूनरी अरुन पिछोरा
सोहे सुभग साँवरे अंग।।

तैसेई सुधए बादर ओल्हर आये बरन-बरन
सारी पहिरें गावत ललिता भरि रंग।।

'चतुर बिहारी' बिहारिनछबि पर
वारौं कोटि अनंग।।

रा० कृ० श०
ह० नं० भा०

चतुरशिरोमणि

चतुरशिरोमणि महाराजा सवाई प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' (सं० १७७८-१८०२) के दरबारी कवियों में थे। पं० गोपालनारायण बहुरा ने 'लिटरेरी हेरिटेज ऑव दि रूलर्स ऑव आमेर एण्ड जयपुर' में चतुर अलि, चतुर कवि तथा चतुरदास का उल्लेख किया है। 'ब्रजनिधि' के प्रमुख दरबारी कवि 'चतुर अलि' ही 'चतुरशिरोमणि' हैं। ये वृन्दावन भट्टाचार्य के शिष्य थे। इनके सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं होता है, किन्तु अन्तस्साक्ष्य के आधार पर ये राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कुछ अधिक निकट प्रतीत होते हैं। 'ब्रजनिधि' के समय में वृन्दावन के अनेक महात्मा जयपुर आकर उनके पास रहा करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि 'चतुर अलि' भी वहीं से जयपुर आये होंगे।

चतुरशिरोमणि की निम्नलिखित रचनायें उपलब्ध हैं—

'राधा-वर्णन', 'वंशी-प्रशंसा', 'गोदोहन', 'विलास-माधुरी', 'ब्रज-लालसा', 'नन्द-बधाई के पद', 'पदसंग्रह' और 'दोहा फुटकर'।

चतुरशिरोमणि तथा ब्रजनिधि की रचनाओं में भाव-साम्य मिलता है। उदाहरणार्थ कुछ छन्द इस प्रकार हैं—

चतुरशिरोमणि

हे प्रिय प्रिय यों कह उठे, आवत क्यों नहि पास।
लो अधरामृत बूँद की, मो चालग हिय आस।

ब्रजनिधि

मोहन मोहे मोहनि, नई नेह बढ़वारि।
हा राधे हा हा प्रिया, कहत पुकारि-पुकारि।

ब्रजनिधि

कहुँ लकुट कहूँ मुरलिका, पीताम्बर सुधि नाहि।
मोहर चन्द्रिका झुकि रही, प्रिया ध्यान मन माहि।
—प्रीतिलता

चतुरशिरोमणि

राधे नाम सुनत ही गिरे सु मुरछित होय।
कहूँ पीत पट मुरलिका सुधि न रही कछु कोय।
—विलास-माधुरी

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि चतुरशिरोमणि का रचना-काल अब भी अज्ञात है। अतः निश्चित रूप से यह कहना कि यह भाव-साम्य 'ब्रजनिधि' के दरबार में आने से पूर्व का है अथवा दरबार में आने के पश्चात् का, संभव नहीं है। इसके सम्बन्ध में अनुसंधान अपेक्षित है।

'पद-संग्रह' ग्रंथ में कुल २४४ पद संकलित हैं। यह ४१ पृष्ठों की पुस्तक है। पदों में कृष्ण-जन्म-वर्णन तो अभीष्ट है, ही कवि ने इस अवसर का उल्लसित वर्णन किया है। नंद के घर पुत्रोत्पत्ति पर बधाई बज रही है। नंदरानी के हर्षोल्लास की सीमा नहीं है तथा नंद भी चतुरशिरोमणि श्रीकृष्ण का जन्म सुनकर फूले नहीं समाते हैं—

नंद घर बजत बधाई आज।
मन मान्यौं देत नन्दरानी पुत्र के उदे के काज।
नर-नारी सब बनि बनि आये करि केसरिया साज।
चतुर सिरोमणि प्रगट भये सुनि फूले फिरत ब्रजराज।।

'नन्द-बधाई के पद' संग्रह में नन्द-बधाई के कतिपय पद तो पूर्व संग्रह में संकलित हैं। इस संग्रह में स्फुट पद संकलित किये हुए प्रतीत होते हैं। पदों का विषय राधा-कृष्ण-चरित्र-वर्णन, भक्तिभाव एवं उपालम्भ (ऊधौ-गोपी) निरूपण रहा है। नन्दकिशोर ब्याहने के लिए आये हैं। नवेली राधा दुलहिन है। विवाह की तैयारियों में सखो-सहेली जुट गयी हैं—

ब्याहन आयो है री नंदकिशोर।
सुंदर स्याम सलोनी मूरत सोभत है सिर मौर।
सषी सहेली सब मिल सजनी सांभी आई दौर।।
सकल सौज ले कलस बँधायो कर नौछावर कोर।
चुहल-पहल अति मचि रही है सोभा है अति जोर।।
चतुरसिरोमन दुलहिन राधे बाँध्यो है गठजोर।।

उपालम्भपरक पद भी द्रष्टव्य हैं। सखी कह रही है कि कृष्ण को नित नवेली चाहिये। हम पुरानी हो गयी हैं। कितनी व्यंग्यभरी खिजलाहट एवं विवशता है—

उधौजी अब हम बात पिछानी।
नागर नवल त्रिया मथुरा की
अब हम भई पुरानी।
नित्त नवीन ही चहिये उनको
हम तो यह जिय जानी।
चतुर कूबरी लेकर तब ही
कीनी है पटरानी।।

'पोथी-राग की' में २३७ राग-पद 'चतुरशिरोमणि', 'चतुर अलि', 'चतुर सखी' के नाम से हैं। पदों में भक्ति के पाँचों भाव उभरे हैं, किन्तु प्रमुखता दास्यभाव की है। सखीभाव के भक्तों के लिए राधा-कृष्ण-चरित्र में अष्टयाम-वर्णन प्रमुख रहा हैं। आठों याम युगलासक्त रहना इन्हें अभीष्ट है। दास्यभाव के अनुरूप कवि की दीनता, लघुता, विनय एवं आत्म-निवेदन के दो चित्र प्रस्तुत है—

हे करुनामय करुना कीजे,
अभैदान मोहि दीजै।
यह भव-बाधा जनम-जनम की
सो बेगहि हरि लीजै।
मैं कामी हौं कुटिल महा अति
साधन कछु नहिं कीनो।
पतित पावन जन मुरारी
यह सरनो में लीनो।
मैं सठ मूरख हंहु अंजानो
ब्रथा ही आयु गमाई।
यह तुमरी माया अति अद्भूत
तामें रहो लपटाई।
दीनबन्धु हो चतुरशिरोमणि
सुनिये रूप अगाधा।
हे पीतम अब हील न करिये
यह हरिये बेगउ बाधा।।
सुधि क्यों दीनी छोर।

(२)

तुम बिन मोकौ कल न परत है
नैन श्रवै निस भोर।।
तुम बिन मेरी गति नहिं दूजी
सुन हो नंदकिसोर।
'चतुरसिरोमनि' प्रीतम प्यारे
अबहिं करौ पिय गौर।।

चतुरशिरोमणि ने 'श्री राधाकृष्ण-जन्म' कृति में दोहा और चौपाई के माध्यम से राधाकृष्ण-जन्म-विषयक वर्णन किया है। उपलब्ध रचना में १७वीं चौपाई इस प्रकार है—

अगनित त्यारी कुंज सवारी।
जहँ विहरत हैं श्री बनवारी।
सरस सोभ सोभित सुषकारी।
मैं बरनी मो मति अनुसारी।

'व्रज-लालसा' कृति चौपाई में लिखी गई है। 'चतुरशिरोमणि' की लालसा समस्त सांसारिक संबंधों को त्यागकर व्रज-अवनि पर रहने की है—

ऐसे जन को संग न दोजे।
रसिक जनम को दास नु कीजै।
व्रजराज अचवन निसदिन पीजे।
आन गैर नाहक तब हीजे।

'विलास-माधुरी' दोहा-चौपाई छन्दों में लिखी गई है। ग्रन्थ का विषय राधा-कृष्ण की परस्पर चाह, मनोलग्नता तथा विरह-व्यथा का विस्तार है। अभिसार से लौटी राधा सखियों को उत्तर देती है—

हेरत-हेरत सषि जब आई।
प्यारी जू लषि अति सरमाई॥

कहँ हो तुम सब है अलबेली।
गहवर बन मोहि छोड़ि अकेली॥

वन के भँवरे अति दुष दयो।
बेली जानि लपट हौं गयो॥

दार्‍यो के धोषे तबे करी कुचन पर नैठि।
रोंम-रोंम चूचैं लगी नीनें आन अमेठि॥

ग्रन्थ के अन्त में चतुरशिरोमणि ने लिखा है—

जो याको गावै सुनै, सो पाये ब्रज वास।
प्रिया सहित सहचरि सनै, ते पूजे मन आस॥

'गो-दोहन' एक लघु कृति है। उपलब्ध कृति में ८ दोहे व सोरठे मिले हैं—

गिरी हाथ ते दोहिनी, परी मोहनी सीस।
चतुर सिरोमणि कहत हैं, हारे बिसवा बीस॥

'वंशी-प्रशंसा' कृति में चतुरशिरोमणि ने शरद् ऋतु में कृष्ण के मुरली-वादन एवं उसके मोहक प्रभाव से प्रभावित व्रजवालाओं की स्थिति चित्रित की है—

नटवर भेष बनायके, मंद-मंद मुसकाय।
मुरली मधुर बजायकें, घिर-घिर दिये थकाय॥

तो आगें हारी सबै, बस न चलत है कोय।
तब व्याकुल ह्वै के सबैं, छूटि तहँ हम रोय॥

रा० प्र० कु०
ग० मि०

चतुरसिंहजी बावजी

महाराज चतुरसिंहजी बावजी का जन्म विक्रम सं० १९३६ माघ कृष्ण १४, सोमवार तदनुसार ९ फरवरी १८८० को मेवाड़ के करजाली नामक स्थान में हुआ था। ये मेवाड़ के महाराणा भगवंत सिंह के पितृव्य थे। इनके पिता सूरतसिंह भक्त-प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। इसका प्रभाव महाराज चतुरसिंह पर भी पड़ा। फलतः बाल्यावस्था से ही इनमें निःस्पृहता, सरलता, भक्ति आदि गुण दिखायी देने लगे थे। उन्नीस वर्ष की आयु में चतुरसिंह का विवाह जयपुर के समीपस्थ छापोली ग्राम में हुआ। विवाहसूत्र में बँधकर भी आपकी दिनचर्या में कोई बाधा नहीं पड़ी। इन्होंने विद्याध्ययन का क्षेत्र चुना और विभिन्न भारतीय दार्शनिक पद्धतियों तथा भक्ति-साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया। स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान और चिंतन-मनन से उत्पन्न भावों को काव्य का रूप भी देने लगे। कालान्तर में इन्हें एक पुत्री की प्राप्ति हुई, जिसका विवाह विजयनगर (गुजरात) के महाराज हमीरसिंह के साथ हुआ।

कुछ ही वर्ष उपरान्त इन्हें दो भौतिक आघातों को सहना पड़ा। दैवयोग से इनकी धर्मपत्नी और एकमात्र पुत्री असमय परमधाम सिधार गयीं। इन

अप्रत्याशित वज्राघातों ने इनके मन की रही-सही भौतिक वासना को समाप्त कर दिया। इनकी जीवन-धारा परिवर्तित हो गयी। ये क्रमशः अन्तर्मुखी होते गये। भक्ति-साहित्य के अध्ययन और भक्ति-काव्य के सर्जन की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती गयी। इन्होंने मेवाड़ के बाठरड़ा क्षेत्र के गुमानसिंह से योग-विद्या की शिक्षा ग्रहण की। वहाँ से लौटकर नगर के बाहर सूखेर नामक ग्राम के समीप एक पहाड़ी पर झोपड़ी बनाकर निवास करने लगे। यहाँ प्रकृति के स्वच्छन्द तथा एकांत वातावरण ने इनकी काव्य-प्रतिभा को और भी विकसित किया। इन्होंने अपना जीवन स्वाध्याय तथा लोक-सेवा को समर्पित कर दिया, सरल-सुगम भाषा में काव्य की रचना की और जनता को आध्यात्मिकता का संदेश दिया।

महाराज चतुर्रसिंह का निधन आषाढ़ कृष्णा नवमी वि० सं० १९८६ अर्थात् 1 जुलाई १९२९ में हुआ।

इनकी अठारह रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें भक्ति, वैराग्य, नीति, सदाचार, न्याय, समाज-सुधार, जीवन की क्षणभंगुरता आदि का सजीव चित्रण किया गया है। भगवद्गीता की गंगाजली टीका, परमार्थ-विचार, योगसूत्र-टीका, शेष-चरित्र, चतुर-प्रकाश, हनुमान्-पंचक, चतुर-चिंतामणि, अनुभव-प्रकाश, अलख-पचीसी, सांख्य तत्त्व समाज की टीका, सांख्यकारिका की टीका, मानव-मित्र रामचरित्र, तुंही अष्टक, महिम्नस्तोत्र, चन्द्रशेखराष्टक प्रभृति इनकी रचनाएँ लोक-जीवन की अमूल्य धरोहर बन गई हैं।

चतुर्रसिंह ने राजस्थानी और ब्रजभाषा में काव्य-रचना की है। अनुभव-प्रसूत ज्ञान को सीधे-सरल शब्दों में व्यक्त कर भक्त-कवि ने अपने काव्य को जनोपयोगी बनाया है। वैसे तो भाव और अर्थ-गाम्भीर्य की दृष्टि से सभी रचनाएँ उत्तम हैं, परन्तु मेवाड़ी बोली में रचित 'भगवद्गीता की गंगाजली टीका' विशेष उल्लेखनीय है। उदाहरण के रूप में इसकी कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

भगवान् आज्ञा करो—

धर्म री घटती होवे, जीं जीं समय अर्जुण।
अधर्म बधवा लागे, जदी म्हूं अवतार लूं॥

पदी पदी धर्म री घटती व्हेवे ने,
हे भारत अर्जुन,
अधर्म बधवा लाग जाह्वे है,
जदे म्हं म्हने वणाय लूँ हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीता की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए इन्होंने लिखा है—

वचन अतीता होय के, भव की भीता खोय।
गीता जननी गोद में, रहो नचीता सोय॥

क्रोड उपाय न ले सके, रावण रूपी काम।
गीता सीता रे जशी, पावै आतम राम॥

गीता गंगा री करी, गंगोतरी गुमान।
चतुर करी गंगाजली, आपण घट अनुमान॥

चतुर्रसिंह-रचित नीति के दोहे तो अपने भीतर 'गागर में सागर' समेटे हुए हैं। कुछ नमूने देखिए—

नियति के ऊपर किसीका जोर नहीं चलता। होनी तो होकर ही रहती है। सींदरी और पाग दोनों सूत से बनती है, परन्तु दोनों के बाँधने में अन्तर होता है—

वणी सूत री सींदरी, वणो सूत री पाग।
बँधवा बंधवा में फरक, जथ्यो जणो रौ भाग॥

रहँट और चरखा दोनों का काम चलना है, परन्तु दोनों के चलने के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। रहँट चलकर भूमि को उपजाऊ बना देता है, जब कि चरखा चलकर अपने चारों ओर कचरे का ढेर लगा देता है। इसीलिए महापुरुषों ने सत्पुरुषों के संसर्ग को उपयोगी बतलाया है—

रेंट फरे चरख्यौ फरे, पण फरवा में फेर।
एक बाड़ हरयो करे, इक छूतां रो ढेर॥

परमात्मा की प्राप्ति के अनेक पंथ हैं। पंथ चाहे कोई हो, परन्तु विवेक के बिना ब्रह्म-साक्षात्कार संभव नहीं—

धरम धरम सब एक है, पण बरताव अनेक।
ईश जाणणो धरम है, जींरो पंथ विवेक॥

चतुरसिंह के नीति-सम्बन्धी दोहे भी कम महत्त्व-के नहीं हैं। बिना सम्मान के अथवा निमंत्रण के किसीके घर में कदम नहीं रखना चाहिये, निर्जीव इंजन भी सिग्नल देखकर ही आगे बढ़ता है—

पर घर पग नीं मेलगो, बिना मान-मनवार।
अंजन आवे देखने, सिंगल रो सतकार॥

अपनी रचना 'चतुर-प्रकाश' में कवि ने गोपिकाओं की भाव-विह्वलता का मार्मिक चित्रण किया है। विरह-विदग्धा गोपियों के लिए हेमंत ऋतु असह्य प्रतीत होती है—

अनत गये अतनु कर, गनत दिवस का कंत।
बनत नहीं बरतन विरह, हनत प्रान हेमंत॥

गोपियाँ उद्धव से अपनी व्यथा निवेदित करती हुई कहती हैं—श्याम से कह दो कि या तो ब्रज में लौट आएँ या हमारे प्राण ले जाएँ—

उद्धव अपने श्याम को, यों कहियो तुम जाय।
आय बसे कै ब्रज बिचैं, कै प्राणहु ले जाय॥

कवि ने 'तुंही अष्टक' में परमात्मा के विविध रूपों का परिचय देते हुए उसकी सर्वव्यापकता की ओर संकेत किया है—

यहाँ भी तुही है, वहाँ भी तुही है।
जहाँ दोखता है, वहाँ ही तुही है॥
तुझे शोध पाता, तुझे ही तुही है।
तुही है, तुही है, तुही है, तुही है॥

इनकी रचना 'परमार्थ प्रकाश' गद्य में है, जिसमें बोलचाल की भाषा में परमात्म-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

'मानव-मित्र-रामचरित्र' में भी गद्य का आकर्षक रूप देखने को मिलता है। यह रामचरित से सम्बद्ध है। 'योगसूत्र-भूमिका में योग की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

संत कवि चतुरसिंहविरचित इन भक्ति-ज्ञान-समन्वित रचनाओं का विश्लेषण करते हुए कहा जा सकता है कि ये अपने समय के उच्चकोटि के भक्त-कवि थे, जिन्होंने जनभाषा में अपने भावों को अभिव्यक्त कर केवल मातृभाषा के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा का परिचय ही नहीं दिया, अपितु उन्हें जनसाधारण तक पहुँचाया। आज मेवाड़ ही नहीं, सम्पूर्ण राजस्थानी समाज में उन्हें बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता है।

स० गु०
ज० सि० प०

चतुर्भुज

राजकवि चतुर्भुज किशनगढ़ राज्य (राजस्थान) के निवासी तथा मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह (द्वितीय) के समसामयिक थे। इनकी काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर महाराणा ने इन्हें 'राजकवि' की उपाधि से सम्मानित किया था। अपने आश्रयदाता की कीर्ति एवं दानशीलता का उल्लेख करते हुए इन्होंने लिखा है—

अभंग साख सस सूर जुग च्यार राळण अचड़,
छीजवण दलु दखणाग छातां।
यल तगौ हुंतौ अभलेस राणे अमर,
पोल रो दीयौ अभसेर पातां॥

इन्द्र अवतार दातार गुरु अरेदण,
सुदन संसार गुण करण सीसो।
चत्रगण तणो ढीलो कमल पडंतां,
ताकुआं दीयौ दरबार टीडो॥

ये अहर्निश भगवद्-भक्ति में तल्लीन रहते थे। लम्बे समय तक संतान न होने के कारण चतुर्भुज अत्यधिक खिन्न रहने लगे। इस खिन्नता के कारण इनकी भक्ति-भावना का उत्तरोत्तर विकास होने लगा। जनश्रुति के अनुसार इनकी अनन्य भक्ति से प्रभावित होकर भगवान् ने इन्हें कन्या-प्राप्ति का वर प्रदान किया। इस कन्या का विवाह मेवाड़ प्रदेश में स्थित ढोलकिया के ठाकुर कमजी दधवाड़िया के साथ किया गया। इसी कन्या की कोख से इतिहास-प्रसिद्ध कविराजा श्यामलदान का जन्म हुआ था।

कवि चतुर्भुज द्वारा निर्मित स्फुट गीत उपलब्ध हुए हैं। इन गीतों में परमात्मा के प्रति अनन्य भक्ति-भावना का प्रकाशन हुआ है। कविप्रणीत ये गीत भक्ति-रस से ओतप्रोत तथा मर्मस्पर्शी हैं। पौराणिक ग्रन्थों के दृष्टान्तों के समायोजन से गीतों की रोचकता बढ़ गयी है। अपने भक्ति-गीतों में इन्होंने भगवान् की कृपाशीलता का गान करते हुए भवसागर से पार लगाने का अनुरोध किया है। उदाहरण के लिए इनका दो पद दिये जाते हैं—

(१)

तारियो अजामिल सजन ते तारियो,
गीध ऊधारियो वेद गावे।
रखावण विरद गिरवर नरवां धारियो,
पार नंह सेस महेस पावे।।

ऊबारे प्रभू पति सापते अहेल्या
तवे जग सरब अमरीख तारे।
सेन रे हेत नाई हुवौ साँवरा।
सदा भगतां तणा काज सारे।।

(२)

बारहठ चत्रभुज करे यूँ वीनती,
दीन तो अधारे कोन दीजै।।

सरब दुख मेट म्हारो अनै साँवरा,
क्रपा कर आपरे थकौ कीजै।।

ऊधारे कीर कालू कुटम आपरौ,
लहै कुग, आपरा गुणां लेखौ।।
रमापतिराज रा विरद राखौ रिधू,
दसा मो दीन री ओर देखौ।।

स० गु०

चतुर्भुजदास (प्रथम)

स्वामी चतुर्भुजदास (प्रथम) का जन्म गढ़ा (जबलपुर) में सम्वत् १५८५ के निकट माना जाता है। इनके जन्मस्थान का उल्लेख 'भक्तमाल' में इस प्रकार मिलता है—

गायौ भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व बढ़ायौ।
राधावल्लभ भजन अनन्यता वर्ग बढ़ायौ।।
मुरलीधर की छाप कवित अति हो निर्दूषन।
भक्तनि की अंघ्रिरेनु वहै घाटीसिक भूषण।।
सत्संग महा आनन्द में, प्रेम रहत भीज्यौ हियो।
हरिवंश भजन करि, चतुरभुज गोड़ देश तीरथ कियो।।

नाभादासजी के उपर्युक्त छप्पय में कवि के जन्म-स्थान (गढ़ा), सम्प्रदाय (राधावल्लभ), छाप (मुरलीधर) और गुरु (हरिवंश) का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही 'गौड़ देश तीरथ कियो' से स्पष्ट है कि नाभादासजी की दृष्टि में चतुर्भुजदास का कितना महत्त्व था और उनके कारण गोड़ देश अर्थात् गौड़वाना भक्तों की दृष्टि में कितना ऊँचा उठ गया था।

श्री भगवतमुदित ने भी 'अनन्य-रसिकमाल' में चतुर्भुजदास के जीवन-वृत्तान्त पर प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है—

चरण कमल हरिवंश बल, बनमाली गुरु आस।
गौड़ देश पावन कियौ, रसिक चतुर्भुजदास।।

इस पद से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि चतुर्भुजदास हरिवंशजी के अनुयायी थे और उन्होंने उनके आत्मज बनमाली (वनचन्द्र) गोस्वामी से दीक्षा ली थी।

किसी समय गौड़ देश में गढ़ा नामक प्रसिद्ध गाँव था। अब यह जबलपुर नगर का एक प्राचीन ऐतिहासिक मुहल्ला है। वास्तविक (पुराना) जबलपुर यही है। इसी गाँव (गढ़ा) में चतुर्भुजदास का जन्म हुआ था। श्री सेवकजी आपके सुहृद् कहे जाते हैं। श्री सेवकजी का समवयस्क होने के कारण इनका जन्म-समय सम्वत् १५८५ के आसपास ठहरता है।

गढ़ा के स्वामी चतुर्भुजदास और अष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास एक नहीं हैं। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में मिश्रबन्धुओं ने गढ़ा के स्वामी चतुर्भुजदास एवं अष्टछाप के भक्त चतुर्भुजदास को एक ही माना है। इन्हींके आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने भी अपने इतिहास-ग्रन्थों में भ्रमपूर्ण बातें लिखी हैं। इस भ्रम का निराकरण सर्वप्रथम डॉ॰ दीनदयाल गुप्त ने अपने शोधप्रबन्ध "अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय" में किया। डॉ॰ गुप्त ने अष्टछाप के चतुर्भुजदास के नाम से सन्दर्भित सभी प्रख्यात ग्रन्थों का प्रामाणिक एवं शोधपरक विवेचन करके दोनों का पृथक् अस्तित्व सिद्ध किया है, जो कि सर्वथा प्रामाणिक एवं मान्य है।

इनके सम्बन्ध में एक भक्तिप्रेरक कथा मिलती है। वृन्दावन के प्रबुद्ध महात्माओं द्वारा यह बताया गया है कि गढ़ा ग्राम के संतद्वय श्री सेवकजी तथा चतुर्भुजदासजी की जीवनी के सम्बन्ध में एक कथा इस प्रकार है। कहा जाता है कि गढ़ा ग्राम के श्री सेवकजी तथा चतुर्भुजदासजी भक्ति-भावनासंवलित जीवन व्यतीत करते थे। वृन्दावन से पहुँचनेवाले महात्माओं का ये आतिथ्य-सत्कार बड़ी श्रद्धा और लगन से करते थे। एक बार श्री नवलदासजी अपनी जमात के साथ गढ़ा पहुँचे और रात्रि में समाज का आयोजन किया। इस आयोजन से दोनों गढ़ावासी भक्त बहुत प्रभावित हुए। इन दोनों ने मंत्र-दीक्षा की उत्कंठा प्रकट की, तब श्री नागरीदासजी ने महाप्रभु गोस्वामी श्री हित हरिवंशजी की यशोगाथा सुनाई, साथ ही इनसे आग्रह किया कि वृन्दावन पहुँचकर उनसे दीक्षा-मंत्र प्राप्त करो और जीवन को सार्थक बनाओ। पर काफी समय तक ये दोनों गृहस्थी की झंझटों के कारण घर से निकल नहीं पाये। कुछ दिन बाद समाचार मिला कि महाप्रभु निकुंज-वास कर गये। इसके बाद चतुर्भुजदासजी ने सेवकजी से वृन्दावन चलने और महाप्रभु के ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचन्द्रजी से दीक्षा प्राप्त करने का आग्रह किया। इस पर सेवकजी ने अपना दृढ़ संकल्प सुनाया कि मैं तो महाप्रभु से ही दीक्षा लूँगा, अन्यथा इस शरीर को छोड़ दूँगा। कहते हैं कि वे एक आसन पर सात दिन लगातार बैठे रहे। इनकी इस निष्ठा से प्रसन्न होकर महाप्रभु प्रकट हुए और सेवकजी को मंत्र-दीक्षा दी। उन्होंने कंठी तथा चतुरासीजी की पोथी देकर दिव्य वृन्दावन का सम्पूर्ण वैभव दिखाया। उसके बाद सेवकजी की चित्तवृत्ति इतनी परिष्कृत तथा उदात्त हो गयी कि उन्हें चतुरासी के प्रत्येक पद का गूढ़ातिगूढ़ अर्थ अपने-आप आ गया। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने १६ प्रकरणों में हरिवंश-माहात्म्य तथा राधावल्लभ-सम्प्रदाय का तात्त्विक विवेचन करनेवाली वाणी की रचना की। जब इस वाणी की प्रतिलिपि वृन्दावन पहुँची तो महाप्रभु वनचन्द्रजी ने उसे पढ़कर घोषणा कर दी कि "चतुरासी अरु सेवक वाणी। इक संग लिखत पढ़त सुखदानी।" उसी समय से चतुरासी तथा सेवक-वाणी एक ही साथ लिखी तथा पढ़ी जाती है।

चतुर्भुजदासजी का पूर्वनाम गिरिधर था। ये गिरिधर से स्वामी चतुर्भुजदास कैसे हुए, इस संबंध में एक रोचक जनश्रुति है। कहते हैं कि श्री सेवकजी तथा गिरिधरजी आगन्तुक महात्माओं की सेवा-शुश्रूषा बहुत मनोयोगपूर्वक करते थे। एक बार साधुओं की एक जमात गढ़ा पहुँची। सबको प्रसाद (भोजन) पाने के लिए पंक्ति में बैठा दिया गया। गिरिधरदासजी एक लँगोटी लगाये थे। इनके शरीर पर भगवान् का बचा हुआ केसरिया चन्दन

का लेप लगा था। कुछ साधुओं ने उसे कोढ़ समझ लिया। वे आपस में चर्चा करने लगे—'देखो, इस साधु के हाथ और छाती पर कोढ़ है। इसके हाथ का भात नहीं खाना चाहिए।' इन शब्दों की भनक गिरिधरदासजी के कानों में पड़ गई। वे हाथ में भात का थाल लिए एक क्षण भगवान् का ध्यान कर स्तब्ध रह गये। मन ही मन भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि यह क्या सुना रहे हो? यदि ये साधु उठकर चले गये तो मेरी और तुम्हारी क्या दशा होगी? इसी समय उनकी लँगोटी छूटकर गिर गई। वे इससे और भी असमंजस में पड़ गये तथा भगवान् से कहने लगे कि अव रही-सही लाज भी मिटा रहे हो। भात का थाल नीचे रख नहीं सकते। लँगोटी कैसे लगावें? तभी ऐसा चमत्कार हुआ कि गिरिधरदासजी की दोनों कोहनी से दो हाथ प्रकट हुए और उन्होंने लँगोटी यथावत् लगा ली। इस चमत्कार को देखकर वे साधुगण जो अभी दोषारोपण कर रहे थे–'चतुर्भुजदास की जय, चतुर्भुजदास की जय' कहकर इनके चरणों पर गिरकर क्षमा-याचना करने लगे। फिर वे बोले-"इनके ही अंगों से दो हाथ और प्रकट हुए और लँगोटी ठीक कर दी। इसीलिए आज से ये 'चतुर्भुजदास' हो गये।"

इस घटना का उल्लेख गोस्वामी युगलदासजी ने भी 'द्वादश-यश' की टीका की भूमिका में किया है। स्वामी चतुर्भुजदासजी के साथ इसी प्रकार की अनेक चामत्कारिक घटनाएँ जुड़ी हुई हैं जिनमें एक चोर के उद्धार की घटना. उक्त ग्रन्थ की भूमिका में, आचार्य ललिताचरणजी ने लिखी है। इसी तरह सियरमऊ स्थान में इनके द्वारा प्रेतों के उद्धार की एक घटना का सम्बन्ध बताया जाता है। इस घटना का उल्लेख 'द्वादश-यश' की हस्तलिखित टीका में निकुंजवासी श्री युगलवल्लभजी ने भी किया है। यह स्थान रायसेन जिले में है। घटना इस प्रकार है—

होशंगाबाद जिले की सोहागपुर तहसील के अन्तर्गत शोभापुर नाम का ग्राम है। वहाँ के भूतपूर्व गौंड़राजा उमरावसिंह जू देव का विवाह सियरमऊ के राजघराने में हुआ था। वहाँ स्वामी चतुर्भुजदासजी द्वारा प्रेतों के उद्धार की कथा आज भी प्रचलित है।

इस संदर्भ में स्वामो चतुर्भुजदास द्वारा किये गये ऐतिहासिक महत्त्व के कार्यों में मुरलीधर की स्थापना का भी उल्लेख करना उपादेय होगा। सम्वत् १६६० में स्वामी चतुर्भुजदासजी ने गढ़ा में भगवान् मुरलीधर की स्थापना की और मन्दिर का निर्माण कराया। आज भी उस स्थान पर एक शिलालेख उपलब्ध है। शिलालेखीय प्रमाण से इस ऐतिहासिक कार्य की प्रामाणिकता और भी पुष्ट एवं असन्दिग्ध हो जाती है। शिलालेख पर टंकित पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

'जयति श्री हितहरिवंश अयं देवालयः श्री वंशीधरस्यास्ति। अमुं श्री स्वामिना चतुर्भुजदासनाम्ना विरचयित्वा गंगासागरस्य गढाग्रामस्थानेऽस्य समीचीनाचलप्रतिष्ठा कृता अस्थापनादिष्ठा श्री वि० शुभ सम्वत् १६६० प्रमिते गताब्दे भाद्रपदमासस्य शुक्लाष्टम्यां इति।'

चतुर्भुजदास द्वारा प्रणीत 'द्वादश-यश' एक बहुसमादृत काव्यकृति है। यह रचना वारह यशों (अध्यायों) में विभक्त है। इन यशों के नाम इस प्रकार हैं—शिक्षा सकल समाज यश, धर्मविचार यश, भक्तिप्रतापयश, सन्तप्रताप यश, शिक्षासार यश, हितोपदेश यश, पतितपावन यश, मोहिनी यश, अनन्यभजन यश, राधासुप्रताप यश, मंगलसार यश तथा विमुखमुखभंजन यश। कृतिकार ने स्वयं ही इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका भी लिखी है। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है, प्रेमलक्षणा भक्ति—

प्रेम भक्ति ब्रज में अति भारी।
ता बस अटके कुंज बिहारी॥

इनका एक पद प्रस्तुत है—

निरधन को धन दीनदयाल।
अकुलनि कौ कुल नंद को लाल॥

तौ काल सन्तरिपु कौ सहि जू ।
जौ सुमिरे राधावर नाम ।
सदा सुख सिन्धु अभै निज धाम ।।

जो सेवै श्री राधा नाम ।
तहाँ कृपा करें अति श्याम ।।

श्याम नाम राधा कृपा ।।
सकल तू बल छल छाँड़ि मुग्ध सेवै मुरलीधर ।
मिटहिं महा भव द्वन्द कन्द कटिहहिं राधावर ।।

इनका निकुंजवास सं० १६९० में हुआ ।

त्रि० ना० शु०

चतुर्भुजदास (द्वितीय)

अष्टछापी भक्त चतुर्भुजदासजी (द्वितीय) का जन्म-स्थान व्रज में जमुनावतो गाँव था। ये जाति को गोरवा क्षत्री तथा अष्टछाप के प्रसिद्ध भक्त कुम्भनदासजी के पुत्र थे।

चतुर्भुजदासजी अपने पिता के सातवें तथा सबसे छोटे वेटे थे। वाल्यकाल से ही भगवद्भक्त होने के कारण माता-पिता का इनके ऊपर विशेष प्रेम था क्योंकि इनके पिताजी स्वयं एक त्यागी भक्त थे। चतुर्भुजदासजी के पाँच वड़े भाइयों की वुद्धि लौकिक व्यवहार में वहुत संलग्न रहती थी। इसलिए वे पाँचों अपने भक्त भाई चतुर्भुजदास और पिता कुम्भनदास से अलग रहते थे। इनके एक भाई कृष्णदास को श्रीनाथजी की गाय चराते समय सिंह ने मार डाला था। ये और इनकी एक चचेरी वहन, जो गुसाइं श्री विट्ठलनाथजी की शिष्या थी, अपने पिता कुंभनदासजी के साथ रहते थे। वार्ता में लिखा है कि इनका विवाह हुआ था। वार्ता से यह भी ज्ञात होता है कि इनके राघवदास नाम का एक पुत्र भी था जो भगवद्भक्त और कवि था। यद्यपि चतुर्भुजदास अपने पिता की तरह गृहस्थ थे, परन्तु गृहस्थी में इनकी आसक्ति नहीं थी। ये सदैव श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा में लगे रहते थे।

चतुर्भुजदासजी की शिक्षा इनके पिता कुम्भनदास तथा श्री गो० विट्ठलनाथजी की देख-रेख में हुई। गान-विद्या इन्होंने अपने पिता से सीखी थी। काव्य-रचना भी इनके पिता की ही देन थी। कुम्भनदासजी इन्हें बाल्यकाल से ही कृष्ण की लीलाओं का रहस्य समझाया करते थे—"ता दिन ते कुम्भनदासजी रहस्य-लीला वार्ता चतुर्भुजदास सो करते।" वार्ता से यह विदित ही है कि ये श्रीनाथजी के समक्ष कीर्तन किया करते थे और इन्होंने वहुत से पद कृष्ण की बाल-लीला, विनय और विरह के भावों के बनाये थे।

वार्ता में लिखा है कि चतुर्भुजदास के जन्म के बाद जब शुद्धि-स्नान हुआ तव इनके पिता कुम्भनदासजी बालक चतुर्भुज को श्री गुसाइं विट्ठलनाथजी के पास ले गये और विनती की—"महाराज, कृपा करके चतुर्भुजदास को नाम सुनाइये .... यह सुनि के चतुर्भुजदास ताही समे किलक के हँसे।" इसके बाद उसी दिन राज-भोग के समय गुसाइंजी ने नवजात शिशु को शरण में लिया। उन्होंने कुंभनदासजी से कहा—"या पुत्र सों तुमकों वहुत ही सुख होयगो। सो तुम्हारे मन में जैसो मनोरथ हतो ताही भाँति सों तुम्हारे मनोरथ सिद्ध भये हैं।"

जब चतुर्भुजदास कुछ वड़े हुए तो श्रीनाथजी की गायों को चराने के लिए जाने लगे। इनको शिक्षा अपने पिता और गुरुदेव गुसाइंजी के निकट हुई। वार्ता में बालक चतुर्भुजदास की आरम्भिक काव्य-रचना से सम्बन्ध रखनेवाला एक प्रसंग इस प्रकार दिया हुआ है—

एक समय कुम्भनदास और चतुर्भुजदास दोनों जमुनावतो गाँव में अपने घर बैठे थे। आधी रात का समय था। श्री गोवर्धननाथजी के मन्दिर में दीपक जल रहा था। उसका प्रकाश झरोखों से निकलकर बाहर दिखाई देता था। उसे देखकर कुम्भनदासजी ने चतुर्भुजदास को सुनाकर एक चरण कविता में कहा—"वह देखो बरत

झरोखन दीपक हरि पौढ़े ऊँची चित्र-सारी" और इस चरण को कहकर वे चुप हो गये। उसी समय चतुर्भुजदास ने दूसरा चरण बनाकर इस प्रकार कहा—"सुन्दर बदन निहारन कारन, राखे हैं बहुत जतन करि प्यारी।" यह सुनकर कुम्भनदास बहुत प्रसन्न हुए। इसके बाद चतुर्भुजदासजी ने समय-समय पर अनेक लीलाओं के पद बनाकर गाये।

चतुर्भुजदास के जन्म से पहले कुम्भनदासजी अपने छः पुत्रों की लौकिक वृत्ति देखकर कामना किया करते थे कि मेरे कोई भगवद्भक्त सन्तान हो। चतुर्भुजदास के जन्म से उनकी यह कामना पूरी हो गई। चतुर्भुजदासजी भी अपने पिता की तरह आरम्भ से ही त्यागी थे। इन्होंने अपना विवाह लोगों के बहुत आग्रह के बाद किया था। इनकी लोक से अनासक्ति और भगवान् के साथ आसक्ति का भाव वार्ता के इन शब्दों से प्रकट होता है—"तब श्री गोवर्द्धनाथजी ने चतुर्भुजदास सों कह्यो जो चतुर्भुजदास तू ब्याह करि, तब चतुर्भुजदास ने कही, जो महाराज मैं यह सुख छाँड़ि के आपदा में क्यों पड़ूँ? तब श्री गोवर्द्धननाथजी ने फिर आज्ञा करी जो बेगि ब्याह करि।"

चतुर्भुजदासजी श्रीनाथजी के मन्दिर को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते थे। इससे विदित होता है कि ये एकान्तप्रिय व्यक्ति थे। एक बार गोस्वामी विट्ठलनाथजी गुजरात-यात्रा को गये, उस समय गुसाइंजी के बड़े पुत्र गिरधरजी श्रीनाथजी के स्वरूप को मथुरा ले गये। जितने दिन श्री गोवर्द्धनाथ (श्रीनाथजी) मथुरा रहे उतने दिन गोवर्द्धन पर चतुर्भुजदास ने अपने दिवस बहुत विरह में काटे। इस बीच इन्होंने विरह के बहुत से पद लिखे थे।

'अष्टसखान की वार्ता' में लिखा है कि जब श्री विट्ठलनाथजी ने श्री गिरिराज की कन्दरा में जाकर नित्यलीला में प्रवेश किया, उस समय चतुर्भुजदास इस समाचार को सुनकर अपने गाँव से गिरिराज पर आये और कन्दरा के आगे गिरकर विलाप करते हुए कहने लगे—"महाराज, पधारत समय मोकों आपके दरशनहू न भये और मैं आप विना या पृथ्वी ऊपर कोन कों देखूँगो? ताते अब या पृथ्वी ऊपर मोकों मति राखो। मोहू को आपने चरणारविन्दु के पास निकट ही राखो, मोहू को बुलाय लीजे।" इसके बाद इन्होंने उनके विरह में दो पद गाये—

'फिर ब्रज बसहु श्री विट्ठलेश।'

तथा

'विट्ठल सो प्रभु भये न ह्वैहैं।'

इस प्रकार के विरह के कीर्तन करते-करते चतुर्भुजदास ने भी अपनी देह छोड़ दी। चतुर्भुजदास के बेटे राघवदास तथा अन्य वैष्णवों ने उनका अग्नि-संस्कार किया।

गोस्वामी विट्ठलनाथजी सं० १५९७ वि० में गिरधरजी के जन्म के बाद नन्द-महोत्सव करके ब्रज में आये थे। अष्टछाप वार्ता में लिखा है कि कुम्भनदासजी ने चतुर्भुजदासजी के जन्म के बाद 'पिड़रू' संस्कार किया और फिर शुद्ध होकर पुत्र चतुर्भुजदास को स्नान कराया और दूसरे दिन उन्हें श्री गोस्वामी विट्ठलनाथजी की शरण में दिया। श्री द्वारकानाथजी के मन्दिर काँकरोली में लेखक को ज्ञात हुआ कि वल्लभ-सम्प्रदाय के गृहस्थ लोगों में बालक के जन्म से ४१वें दिन शुद्धि-स्नान हुआ करता है। इस हिसाब से कहा जा सकता है कि चतुर्भुजदास अपने जन्म से ४१वें दिन गोस्वामीजी की शरण में गये। इस तरह इनका जन्म तथा शरणागति संवत् एक ही है जो सम्प्रदाय-कल्पद्रुम के अनुसार सं० १५९७ वि० है।

इनके आत्मचारित्रिक उल्लेखों से एक तो यह सिद्ध होता ही है कि ये सं० १६२८ वि० (श्री विट्ठलनाथजी के सातवें पुत्र घनश्यामजी के जन्मकाल) तक विद्यमान थे, क्योंकि इन्होंने घनश्यामजी की बधाई

गाई है। दूसरे, पीछे दिये गये इनके पदों से यह भी सिद्ध है कि इनका देहान्त श्री गोस्वामी विट्ठलनाथजी के गोलोकवास के बाद हुआ था। अष्टछाप-वार्ता से विदित है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ के गोलोकवास के तत्काल बाद इन्होंने भी देह छोड़ दी थी। गोस्वामीजी के गोलोकवास की तिथि सं० १६४२ वि० फाल्गुन कृष्ण ७ वल्लभ-सम्प्रदाय में भी मानी जाती है। 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' में यह समय सं० १६४४ वि० दिया गया है, परन्तु वल्लभ-सम्प्रदायी अनेक प्राचीन प्रमाणों के आधार पर सं० १६४२ वि० ही गुसाईंजी के गोलोकवास की प्रामाणिक तिथि ठहरती है। इस हिसाब से चतुर्भुजदासजी का गोलोकवास लगभग ४५ वर्ष की अवस्था में फाल्गुन कृष्ण ७ या ८ सं० १६४२ वि० को हुआ। ब्रज में रुद्रकुण्ड के ऊपर एक इमली के वृक्ष के नीचे इनका महाप्रयाण-स्थान बताया जाता है।

अन्य अष्टछापी कवियों की तरह चतुर्भुजदास के पद भी वल्लभ सम्प्रदायी कीर्तन संग्रह, 'रागसागरोद्भव-रागकल्पद्रुम' तथा 'रागरत्नाकर' में मिलते हैं। 'रागसागरोद्भव-रागकल्पद्रुम' के प्रथम तथा द्वितीय भागों में कवि के ५९ पद तथा 'रागरत्नाकर' में ५ पद संकलित हैं। विभिन्न उपशीर्षकों के अन्तर्गत कीर्तन भाग १ में ३६ पद, कीर्तन भाग २ में १९ पद तथा कीर्तन भाग ३ में ५२ पद छपे हैं। इस तरह कुल मिलाकर चतुर्भुजदास के १७१ छपे पद उपलब्ध होते हैं। इन पदों के अतिरिक्त कुछ पद हस्तलिखित रूप में भी प्राप्त हैं। कांकरौली से इनका एक पदसंग्रह छपा है।

चतुर्भुजदास की भाषा ब्रजभाषा है जो बहुत श्रुतिमधुर है। इनके पद सूर, परमानन्ददास तथा नन्ददास के पदों के समान काव्य-गुण-सम्पन्न नहीं हैं, परन्तु उक्त तीन महान् भक्तों की रचनाओं को छोड़कर अन्य पाँचों अष्टछाप कवियों की रचना समान रूप से माधुर्य-गुणयुक्त तथा सरस है। इनके तीन पद प्रस्तुत हैं—

(१)

राग बिलावल

माई री आज और काल्ह और,
दिन प्रति और।
देखिये रसिक गिरिराजधरन
दिन प्रति नई छबि बरणे सो कौन कवि,
नित ही शृङ्गार बागे बरन-बरन।
शोभासिन्धु श्याम अंग छवि के उठत तरङ्ग।
लाजत कोटिक अनङ्ग विश्व को मनहरन
चतुर्भुज प्रभु श्री गिरधारी को स्वरूप सुधा।
पान कीजिये जीजिये रहिये सदा ही सरन।

(२)

गोपाल को मुखारबिन्द देखि जु जीजै।
तन-मन त्रै ताप तिमिर निरषत ही नसाई।
सरस सरोज सुधा नैंनन भरि पाई।
सुख समुद्र शोभा मोपे कही न जाँई।
धर्म कर्म लोक लाज सुत पति तजि धाई।
चतुर्भुज प्रभु गिरधर मैं जाचै री माई।

(३)

राग जैतश्री

एकहि आंक जपै गोपाल।
अब यह तन जानै नहि
सखि और दूसरी चाल॥

माता पिता पति बन्धु बेद-
विधि तजे सबै जंजाल।
स्याम सरूप चित में चुभ्यो
परि बीते जो बहुकाल॥

गह्यो नैमु नित तोरि जबै
हँसि चितये नैंन बिसाल।
चतुर्भुजदास अटल भए उर
घट परसौ गिरधरलाल॥

इनके अतिरिक्त चतुर्भुजदास रचित 'श्री गोवर्द्धन-रूपमाधुरी' नामक एक और रचना प्राप्त हुई है जिसका प्रारम्भिक अंश खण्डित है इसलिए ग्रन्थ के रचना-काल अथवा लिपिकाल का पता नहीं लग सका।

प्रस्तुत कृति में श्रीकृष्ण भगवान् से गोवर्द्धन पर्वत पर अनन्तकाल तक रहने की प्रार्थना की गई है। गोवर्द्धन पर्वत के प्रति ममत्व के कारण अनुमान होता है कि प्रस्तुत रचना अष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास की ही है। रचना में भगवान् कृष्ण के प्रति अपूर्व भक्ति प्रदर्शित की गई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

दृष्टि परे जा दिवस ते लाल तबतें रुचे न आन।
रजनी नींद न आवही बिसर्‌यो भोजन-पान हो॥

दर्शन को नेना तपे लाल वचन सुनन को कान।
मिलवे कूँ हियरा तपे मेरे जिय के जीवन प्रान हो॥

मन अभिलाषा है रही लाज लागत नाहिन लेष।
एकटक देषों भावतो प्यारो नागर नटवर भेष हो॥

कुंज भवन क्रीड़ा करो लाल सुखनिधि मदन गोपाल।
हम वृंदावन मालति तुम भोगी भमर गोपाल हो॥

जुग-जुग अविचल राखिये लाल यह सुख शैल निवास।
श्री गोवर्द्धन रूप पै बलि जाय 'चत्रभुजदास' हो॥

रा० कृ० श०
बा० सिं०

चतुर्भुजदास मिश्र

वैष्णव चतुर्भुजदास मिश्र अष्टछापी चतुर्भुजदास से भिन्न हैं। ये बीरबल के समकालीन थे। बीरबल का जन्म-संवत् १५८५ है। श्री चतुर्भुजदास मिश्र भी १५८५ वि० सं० के आसपास ही उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार १६वीं शती के अंत में इनका जन्म होना निश्चित है। ये १७वीं शती के मध्य तक वर्तमान रहे।

भक्तमाल तथा खोज-रिपोर्टों के आधार पर चतुर्भुज नामक कई कवियों का उल्लेख सामने आता है। अष्टछापी चतुर्भुजदास क्षत्रिय (गोरवा) थे। भक्तमाल में अष्टछापी चतुर्भुजदास की चर्चा नहीं है। यहाँ दो अन्य चतुर्भुजदास हैं—

१. करौली-नरेश चतुर्भुजदासजी

यह करौलीधीश की तन-मन-धन आगें धरें।
चतुर्भुजनृपति की भक्ति को कौन भूप सरवर करें॥
—भक्तमाल, छप्पय ११४

सरोजकार ने प्रमादवश विवरण में अष्टछापी एवं इन करौली-नरेश चतुर्भुजदास का घालमेल कर दिया है। करौली-नरेश कवि नहीं थे। सरोज में दिये गये उदाहरण अष्टछापी चतुर्भुजदास के हैं।

२ दूसरे चतुर्भुजदास जिनका भक्तमाल (छप्पय १५८) में उल्लेख है, मुरलीधर की छाप रखनेवाले हितहरिवंशानुयायी चतुर्भुजदास हैं।

३. तीसरे चतुर्भुजदास बाजपेयी सातनपुरवा जि० रायबरेली के रहनेवाले थे। ये सं० १८६० के लगभग वर्तमान थे। प्रसिद्ध कवि अयोध्याप्रसाद 'औध' के ये भाई थे।

४ चौथे चतुर्भुज मिश्र कुलपति मिश्र के वंशज थे और भरतपुर-नरेश महाराजा बलवंत सिंह के दरबारी कवि थे। इनका अवस्थिति-काल १९वीं शती का उत्तरार्द्ध है। ये गौतमगोत्रीय अहलुवा अल्ल के ब्राह्मण थे। इन्होंने 'अलंकार-आभा' की रचना की है।

उपर्युक्त चार चतुर्भुज नामधारी कवि तथा अष्टछापी चतुर्भुजदास को मिलाकर पाँचों कवियों से अष्टछापेतर वैष्णव कवि चतुर्भुजदास मिश्र पृथक् हैं। वैष्णव चतुर्भुजदास के लिए वार्ता में आया है—'सो वे चतुर्भुजदास बड़े पंडित हते। विद्या बहोत पढ़े हुते। इनको पात्साह सो बहोत मिलाप रहतो। सो पात्साह जो कछू पूछतो वाको ताही समै उत्तर देतो। सो पात्साह इनपै बोहोत प्रसन्न रहतो। सो एक समै पात्साह ने बीरबल के आगे चतुर्भुजदास की बोहोत सराहना करी। तब

बीरबल ने कह्यौ, जो ये तो मेरौ चाकर हुतो। सो ये बात पात्साह ने चतुर्भुजदास सों कहीं। तब चतुर्भुजदास ने पात्साह सो कह्यौ, जो साहब ! आपके मिलवे के ताईं किन-किनकी चाकरी न करी।' इस प्रसंग से कई तथ्य सामने उभरकर आते हैं। प्रथम तो चतुर्भुजदास राजदरबार में नौकरी किया करते थे और प्रारम्भ में ये बीरबल के अधीन थे। धीरे-धीरे अकबर की कृपा से इनकी पदोन्नति हो गई। दूसरे, ये बहुत वाक्पटु तथा चतुर कार्यकर्त्ता थे जैसा कि उपर्युक्त वार्ता-प्रसंग से स्पष्ट है। तीसरे, वार्ताकार ने इनको बहुत बड़ा विद्वान् निरूपित किया है।

श्री चतुर्भुजदास मिश्र सारस्वत ब्राह्मण थे तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के रहनेवाले थे। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका एक श्लोक डॉ० हरिहरना टण्डन ने अपने ग्रंथ—'वार्ता-साहित्य : एक बृहत् अध्ययन' में उद्धृत किया है—

विद्या भागवतावधिः सुकविता गोविन्दगानावधिः।
कीर्तिर्दास्यकथावधिश्चतुरता श्रीकृष्णसेवाविधिः॥

लाभः सत्प्रणयावधिः मधुरता भक्तिः किशोरावधिः।
भक्तिः काव्यनुरागिणो व्रजपतेः श्री विट्ठलेशावधिः॥

इनके परिवार के विषय में कोई प्रामाणिक सूचना नहीं मिलती। इनके छंदों में 'चतुर्भुज' और 'चतुर्भुज मिश्र' दोनों नामों की छाप प्राप्त होती है।

वि० सं० १६३० के लगभग चतुर्भुजदास मिश्र ने पुष्टिमार्ग में प्रवेश किया था। एक बार ये यमुना-स्नान के लिये मथुरा आये थे तब विश्रांत घाट पर इनकी भेंट एक पुष्टिमार्गीय वैष्णव से हुई। उसके साथ वार्तालाप करते हुए इन्होंने कहा—'विद्या भागवतावधिः'—अर्थात् भागवत विद्या की सीमा है—यह सुनकर वैष्णव पण्डित तत्काल बोला—'चातुरो विट्ठलेशावधिः'—अर्थात् गो० विट्ठलनाथजी चतुरता (प्रवीणता) की सीमा हैं। इसी बात से आकर्षित हो चतुर्भुजदास मिश्र ने उस वैष्णव पण्डित से श्री विट्ठलनाथजी का दर्शन कराने हेतु आग्रह किया। उक्त वैष्णव के साथ ये गोकुल चले गये। श्री विट्ठलनाथजी ने इनका वैदुष्य तथा भक्तिभाव देखकर इन्हें पुष्टिमार्गीय दीक्षा दे दी। श्री गोवर्धननाथजी के चरणों में मिश्रजी की तन्मयता इतनी अगाध हो गयी थी कि इनका मन सांसारिक विकारों से विमुख हो गया था। अकबर बादशाह के द्वारा भेजे गये बुलावे के उत्तर में इन्होंने जो पंक्तियाँ अपने पत्र में लिखीं, वे द्रष्टव्य हैं—

जाकौ मन नँदनंदन सों लाग्यौ नीको।
सुख संपति की कहाँ लौं बरनौं
सब जग लागत फीकौ।

गोसाईं श्री विट्ठलनाथजी का आदेश शिरोधार्य कर ये गोपालपुर (जतीपुरा) में रहने लगे थे। आपने अपने कीर्तनों में श्री विट्ठलनाथजी की स्तुति एवं पद-वंदना की है—

भजे विमलं श्री विट्ठल सुखद चरनं।
ताप तन सोक भय मोह माया पटल
विपति सम रटन दुख दुरित हरनं।
भक्तहित प्रगट भय दुख दूरिकरन
घोषपति रसिकरस विदित करनं।
अमित माया जलद सोकसवंज्ञ नृप
निगम पथ नर भुवन सुदृढ़ दृढ़नं॥

बचन पीयूष मधु सुरत करुना उदधि
दरस परस स्मरन त्रिविध तरनं।
अमर नरलोक पुर दुतीया समता नाहीं
जन 'चतुर्भुज' अंघ्रि कमल सरनं॥

वार्ता से ये कवि प्रतीत नहीं होते परन्तु सम्प्रदाय में इनके कीर्तन प्रचलित हैं। इनके बहुत से पद अष्टछापी चतुर्भुजदास के नाम पर दे दिये गये हैं या घुल-मिल गये हैं इसलिए उनका पता नहीं चलता। इनके पद विभिन्न कीर्तन-संग्रहों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

रा० कृ० श०

चन्द्रकुँवरि

रानी चन्द्रकुँवरि ने 'चन्द्रप्रकाश' में अपना परिचय इस प्रकार दिया है--

राजति सुखधाम जहाँ मनपुरा सुग्राम,
राव रनधीरसिंह देव के समान हैं ।
तिनकी ह्वै बेटी पायो चन्द्रकुँवरि नाम त्यों,
देवी के रूप भक्ति शील गुणखान हैं ।
रानी लोकेन्द्र जू की महाराजा गोविन्दसिंह,
दतिया सुहायो नग्र सुख को निधान हैं ।
तिननें रचो है ग्रंथ कृपा पाई कृष्ण जू को,
भूल चूक सुजन सुधार लैबी मान है ।।

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि चन्द्रकुँवरिजी मनपुरा ग्राम के राव रनधीरसिंह की सुपुत्री थीं। ये दतिया-नरेश गोविन्दसिंह (१९०७-५२ ई०) की प्रथम रानी थीं। इनके विषय में इसके अतिरिक्त कोई अन्य जानकारी नहीं मिलती, पर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि महाराज गोविन्दसिंह से इनका विवाह १९०७ ई० के पूर्व ही हुआ होगा। इनकी कृति 'चन्द्रप्रकाश' सं० १९६९ (१९१२ ई०) में प्रकाशित हुई थी। इस तथ्य से ऐसा सम्भव है कि ये किशोरावस्था से ही काव्य-रचना करती रही होंगी। इनका जन्म लगभग १८८७ ई० में अनुमित किया जा सकता है क्योंकि ये विवाह के समय पन्द्रह-बीस वर्ष की रही होंगी।

'चन्द्रप्रकाश' के मुखपृष्ठ में 'युगल सरकार के पदारविन्द की अनुरागिणी' छन्द दो में 'रसिक' और छन्द नौ में 'सहचारिन', 'दूती' आदि के प्रयोगों से चन्द्रकुँवरि सखी-सम्प्रदाय की भक्त प्रतीत होती हैं। अभी तक इनकी एक ही पुस्तक 'चन्द्रप्रकाश' उपलब्ध है, जिसमें इनकी भक्ति-भावना सहज रूप में अभिव्यक्त हुई है। दो उदाहरण देखिए—

(१)

ए मन तूँ चपलाई बिहाय
सिराय के सीख सुनो सुचि मोरी ।
ताग सनेह समेटि सबै बटि
बाँधि प्रियाप्रिय के पद डोरी ।
चन्द्रकुँवरि नित नाम रटैं
बसुयाम प्रनाम करैं करजोरी ।
स्वामिनि-स्वामि सखा मम हैं
श्री नंदलला वृषभानुकिशोरी ।।

(२)

अटके मोरे नैन, बांके बिहारी सों अटके ।
मोर मुकुट मकराकृति कुंडल
अलक कपोलन लटके ।
हाथ लकुटिआ काँधे कमरिया
दर्शन नागर नट के ।
चन्द्रकुँवरि सब जनम सिरानो
जग से करो निखटके ।।

न० प्र० गु०

चन्द्रगोपाल प्रभु

श्री चन्द्रगोपाल प्रभु चैतन्य-सम्प्रदाय के अनुयायी और भक्त थे। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इनका कोई वृत्त नहीं मिलता। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने एक कुंडलिया में इनका एवं रामरायजी का उल्लेख किया है तथा इन्हें चित्रासखी जैसा सुन्दर रूपवाला बतलाया है। इनका उल्लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक) में प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी-ग्रंथों की खोज के अन्तर्गत भी किया गया है। गोस्वामी यमुनावल्लभजी की सामग्री के आधार पर ये गो० गौरगोपालजी के कनिष्ठ पुत्र थे। श्री रामराय इनके ज्येष्ठ भ्राता थे। इनका जन्म वि० सं० १५७७ की चैत्र शुक्ला नवमी को लाहौर में हुआ था। वहाँ बारह वर्ष व्यतीत करने के बाद काशी में गोकुलानन्द विद्यासागर से इन्होंने विद्याध्ययन किया। फिर लाहौर होते हुए एक महात्मा के साथ ये वृन्दावन आए। अपने भजन के बल से वंशीवट के निकट श्री राधामाधवजी के साक्षात् दर्शन कर ये ग्रन्थ-रचना में प्रवृत्त हुए। रामराय प्रभु की प्रेरणा से ही ये चैतन्य-सम्प्रदायाश्रित हुए थे—

गौर चरन की रति दई,
दई दास गति मोय ।

बलिहारी ता बंधु की,
जा सम कोऊ न होय ॥

• • •

रामराय बांधव करुना करि
दीनों मोहि अनौखो दान ।
श्री प्रभु चन्दगोपाल लाड़िली
लाल भये रस एक महान ॥

'चन्द्र-चौरासी' की पुष्पिका के अनुसार ये गौड़ेश्वर-सम्प्रदाय के सप्तम पीठाधिपति श्री राधामाधव निकुंज मन्दिर सेवाधिकारी श्री चित्रा सहचरी के स्वरूप ज्ञात होते हैं। बंगाल के राजा रसिकमोहन इनके अनन्य भक्त थे जो अपनी रचनाओं में 'रसिक सेवक' की छाप रखते थे और १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान थे। इनके अतिरिक्त मोहनदास, नारायणदास तथा वृन्दावनदास चन्द्रगोपालजी के तीन शिष्य और थे। इनके पुत्र श्री राधिकानाथजी व्रजभाषा के उत्तम कवि हुए। वि० सं० १६२२ को माघ शुक्ला ११ को इनका गोलोकवास हुआ।

चैतन्य महाप्रभु प्रवर्तित रागमार्ग में इनकी गहरी निष्ठा थी। उनके अनुराग में रंजित इनकी वाणी बड़ी ही ललित, परिमार्जित तथा रसपेशल है। इसका बहुत कुछ कारण इनका संस्कृत परिज्ञान भी है। इनकी कृतियाँ इनके पांडित्य की द्योतक हैं।

इनकी प्रेमानुभूति बड़ी गहरी और रस-व्यंजना अत्यन्त सशक्त है। इनके द्वारा प्रणीत संस्कृत और व्रजभाषा की निम्नलिखित रचनाओं का पता चला है-संस्कृत रचनाएँ—'श्रीराधामाधव', 'गायत्री-मन्त्र-भाष्यम्', 'श्री राधाष्टकम्', 'श्री माधवाष्टकम्'। व्रजभाषा-रचनाएँ—'चन्द्र-चौरासी', 'अष्टयाम-सेवा-सुधा', 'गौरांग-अष्टयाम', 'राधा-माधव-ऋतु-विहार', 'श्री राधा-विरह-शतक'।

'चन्द्र-चौरासी' में सुधा नाम से तीन भाग हैं। प्रथम भाग में चैतन्य-सम्प्रदाय का संक्षिप्त वर्णन है, द्वितीय में सेवा-भावना का तथा तृतीय में उत्सव-कार्यों का। इस प्रकार इसमें सिद्धान्त, उत्सव और नित्यसेवा के कुल मिलाकर चौरासी पद हैं जिसके कारण इस रचना का नाम चन्द्र-चौरासी हुआ। बीच-बीच में दोहे दिए हुए हैं। यह बड़ा ही भावनाप्रधान एवं सरस काव्य है।

'अष्टयाम-सेवा-सुधा' में ठाकुर श्री राधामाधव की अष्टकालीन सेवा का सरल किन्तु सरस शैली में वर्णन हुआ है। इसमें कुल मिलाकर पैंतीस पद हैं। 'गौरांग-अष्टयाम' में चैतन्य महाप्रभु की अष्टयाम-सेवा का निरूपण किया गया है। इस दृष्टि से यह चैतन्य-सम्प्रदाय में अपना विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। चैतन्य-महाप्रभु के मिलित विग्रह के साथ उन्हें राधाकृष्ण में एकत्र अवतारी पुरुष कहा गया है। 'राधामाधव-ऋतु-विहार' में वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर नामक षड्ऋतुओं में राधाकृष्ण की विलासमाधुरी का छप्पय छन्द में वर्णन तथा सांकेतिक रूप से सिद्धान्त-कथन किया गया है। इसमें कुल मिलाकर ११ छप्पय हैं तथा एक दोहा है। 'श्री राधा-विरह-शतक' में राधा-विरह का अरिल्ल छन्द में हृदयहारी वर्णन है। इसमें कुल एक सौ अरिल्ल हैं।

इनकी रचना के कुछ उदाहरण रसास्वादन के लिए प्रस्तुत हैं—

प्रान-प्रिया प्रिय पद पंकज पय
पीवत प्रेम पूर परधान ।
उछटावत चहुँ दिसि चरनोदक
चपल चंद्रिका रस की खान ।
अंग-अंग अँगुछाय अलौकिक
उज्ज्वल आभा अमित उफान ।
इन्द्रनील मनि हेम दलित द्रुति
तरु-तमाल-वल्ली मुसकान ।
रस बरसत डूबत धारा में
राधामाधव मुदित महान ।
श्री प्रभु 'चन्द्रगोपाल' एक द्वै
श्री चैतन्य चतुर तेहिं मान ॥

बन-ठन के नित आइ, कन्हाई भोर हीं ।
मुरली मधुर बजाय, सबै हँस भोर हीं ॥

सखि वाके छल छंद, कहो अब को कहै ।
'चन्द्र' रसिक नंदनन्द, पढ़्यौ जेहि कोक है ॥

बात बनावत कहत, मिलौ मोहि अतर सौं ।
भीजैं सौंधे बार, भये सनि अतर सौं ॥

फूली केसर ललित, सुगन्धी बाट में ।
तोलै ऐसौं को है, जहैं सुख बाट में ॥

'चन्द्र' गुसाइं करी अरिल्लें एक सौ ।
सिजरा मुजरा मिलिबौ तिनकौ एकसौ ॥

न० च० वं०

चन्द्रदास (चन्दसखी)

चन्द्रदासजी श्री चरणदास के शिष्य श्री आतमराम इकंगी के प्रशिष्य और लक्षिदासजी के शिष्य थे। श्री चन्दसखी की स्थिति चरणदासजी की शिष्य-परम्परा में इस रूप में अधिक स्पष्ट की जा सकती है—

संत चरणदास→आतमराम इकंगी→श्री लक्षिदास→श्री चन्द्रदास या चन्दसखी ।

इनका निवास मुख्यतः आतमकुंज-जयपुर में तथा श्री धाम-वृन्दावन में रहा। इन्हें वृन्दावन-वास अधिक प्रिय था। इनकी साधना प्रधानतः निकुंजोपासना की थी। इन्होंने अपनी वाणियों में श्री राधा और कृष्ण की रस-लीला और तज्जनित आनन्द के वातावरण के चित्रण को प्रमुखता दी है। इनकी वाणियों के संग्रह की जो पाण्डुलिपि 'सरस-निकुंज' में सुरक्षित है, वह लक्षिदासजी के जीवनकाल की ही है। अतः कहा जा सकता है कि महन्तपद की प्राप्ति और गुरु के इहलीला-पटाक्षेप के पूर्व ही ये अच्छे साधक और कवि के रूप में प्रख्यात हो चुके थे।

इनका पूर्वनाम संभवतः चन्द्रदास या चन्ददास था परन्तु मधुरोपासना की ओर उन्मुखता के कारण उन्होंने 'चन्दसखी' या 'चन्द्रसखी' नाम धारण कर लिया था। श्री आतमराम इकंगी की शिष्य-परम्परा में निकुंजोपासना की मान्यता अपेक्षाकृत कुछ अधिक ही थी लेकिन चन्दसखी की भाँति किसी अन्य अनुगत ने 'सखी' अभिधान को स्थायी रूप से धारण नहीं किया था। इस प्रकार कुछ रसिकभावापन्न पदों में यत्र-तत्र अपने नाम के साथ 'सखि' या 'सखी' शब्द जोड़कर लिखने की परम्परा केवल इन्हीं लोगों में नहीं बल्कि चरणदासजी सहित इस संप्रदाय के प्रायः सभी कवियों में रही है। अतः इस दृष्टि से चन्द्रदासजी का व्यक्तित्व निराला है। इतना ही नहीं बल्कि इनकी वाणी भी पूर्णतः निकुंज-रस से सराबोर है जब कि अन्य चरणदासी कवियों में ऐसे पदों की संख्या १० से २५ प्रतिशत तक ही है।

ऐसे रसिक भक्त कवि के जीवन-परिचय के विषय में कुछ भी ज्ञात न होना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। कतिपय पदों की भाषा में पंजाबी शब्दावली का प्रचुरता के साथ मिलनेवाला प्रयोग हमें यह अनुमान करने की प्रेरणा देता है कि इनका पंजाब से घनिष्ठ संबंध था। संभवतः ये मूलरूप से पंजाबी थे परन्तु कृष्ण-भक्ति के आवेश में वृन्दावन और जयपुर में रहने लगे थे। इनकी आराध्या श्री लाड़लीजी या प्रिया जू थीं। इनके अधिकांश पद उन्हींके माहात्म्य और लीला-गान से परिपूर्ण हैं परन्तु यह इनकी बाध्यता रही है। जहाँ राधाजी का लीला-गान होगा वहाँ उनके चिरसहचर या प्राणाधिपति श्रीकृष्ण कैसे विस्मृत किये जा सकते हैं? चाहते हुए भी निकुंजरसोपासक कवि ऐसा नहीं कर पायेगा इसलिए उसे कहना ही पड़ेगा—

भज ले श्री राधागोविन्द ।
मात पिता सुत वित दारा तन ये सब झूठो दंद ॥
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद ये माया के फंद ।
अंत समय संगी को तेरो भरमि रह्यो को अंध ॥
लक्षिदास कहे फारि फंद कूँ चेत सबेरे चंद ॥

अन्त में इस कवि की मनोवृत्ति के अनुकूल एक पद उद्धृत करके अपनी बात को समाप्त करना

उचित होगा। निम्नांकित पद में श्री राधा अपनी स्वाभाविक आनन्दमयी मुद्रा में हिंडोरे का आनन्द लेती हुई भक्तजनों के नेत्र और मन को शीतल करती चित्रित की गई हैं। पद द्रष्टव्य है—

हिंडोले झूलति लाड़ली राधा।
हरित रंग सारी तन सोहे गोरी रूप अगाधा॥

सुन्दर स्याम सुजान पिया की
पुजवत दृग मन साधा।
चन्दसखी लक्षिदासि स्वामिनी
निरखि मिटी सब व्याधा॥

पंजाबी भाषा के इनके तीन पद आंशिक रूप में यहाँ उद्धृत हैं, जो पूर्वोक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं—

(१)

ओ मुड़ि आवी वो वंसीवारे।
कूकदीवानी दी सुनो साँवरे मदनमोहन मतवारे॥

(२)

स्याम सलोने जादू कीता।
किस विध काटाँ रैन असानूँ बहुत दुखाँ दिन बीता॥

(३)

वो साँवले दी बेपरवाहिया।
असी नहीं जाणी तुसी कामण कीते
करदा है वो निठुराइयाँ॥

श्या० सु० शु०

चन्द्रभानुसिह जू देव 'रज'

चन्द्रभानुसिंह जू देव का जन्म विन्ध्यप्रदेश के गौर-गरीली राज्य में हुआ था। 'रज' इनका कवि-नाम था। ये इसी उपनाम से कविता किया करते थे। 'रज' की ख्याति सुपठित भक्त एवं कवि के रूप में है। इनके आराध्य श्रीकृष्ण थे। रजजी के तीन काव्य-ग्रन्थों की जानकारी मिलती है। ये हैं—'प्रेमसतसई', 'नेहनिकुंज' और 'भ्रममानलीला'। इन सबका प्रतिपाद्य है कृष्ण-भक्ति। सतसई में इन्होंने राधाकृष्ण की विविध लीलाओं का चित्रण किया है। इनकी काव्य-रचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

ईस-प्रेम है एक रज, यही वेद को लेख।
जिमि बाढ़े नव अंक नउ, रूप एक ही देख॥

प्रेम-प्रेम की नाव रज, प्रेमहिं खेवनहार।
प्रेम चढ़ै भव सिन्धु तैं, प्रेम लगावै पार॥

प्रेमहिं ते बृज अवतरे, फिरैं चरावत गाय।
हरि बँधि राजा प्रेम में, 'रज' बन बिहरत जाय॥

प्रेमरूप श्री राधिका, प्रेमरूप श्री श्याम।
तासों निसिदिन रहत 'रज', जुगुल रूप हित नाम॥

त्रि० ना० शु०

चन्द्रलाल अधिकारी

गो० चन्द्रलाल अधिकारी राधा-माधव के अनन्य उपासक थे। 'रसिक-अनन्य-परचावली' में आपकी प्रशस्ति में कहा गया है—

चित्त मुदुल नवनीत चरित बन जुगल रहे रमि।
ग्रंथनि सार विचार भाव फलि रहे सील नमि॥

गहरो समझ गुनज्ञ रहै मन करि निरदूषन।
मधुर बचन वर वदन साधुता ही तन भूषन॥

श्री ललितलाल अति ललित गुन,
श्री दयालाल दम्पति जजन।
श्री सुन्दरलाल तनय सुमति,
श्री चन्द्रलाल गरुवे भजन॥

ये रासवंशीय अधिकारी गो० व्रजलाल के नाती एवं गो० सुन्दरलाल के पुत्र थे। इनके पितामह व्रजलालजी का जन्म सं० १७१५ में सुनिश्चित है—इसके आधार पर इनका जन्म सं० १७६५ के आस-पास अनुमानित किया जा सकता है। इन्होंने अपने पिता के पश्चात् श्री राधावल्लभजी के मन्दिर का सेवाधिकार-भार बड़ी कुशलता से सँभाला था। श्री हरिवंश गुसाइँ की भजन-रीति का आचरण इनके जोवन में प्रत्यक्ष दिखाई देता था।

इनका मन युगलवर के रस-चरित्र-वन में रमण किया करता था। श्री हित-वाणी ग्रन्थों का अनुशीलन कर उनसे प्राप्त अमूल्य रत्नों के ये धनी माने जाते थे। इस प्रकार की रस-समृद्धि प्राप्त होने पर भी इन्हें अभिमान का स्पर्श भी नहीं हुआ था। उसके स्थान पर चित्त की मृदुलता, नम्रता, सुशीलता, मृदुभाषिता, मितालाप आदि अनेक साधुजनोचित गुणों से ये सुसम्पन्न थे।

इनका आनुमानिक विद्यमान काल सं० १७६५ से १८३० तक है।

श्या० वि० खं०

चन्द्रलाल गोस्वामी

श्री चन्द्रलाल गोस्वामी के सम्बन्ध में 'रसिक-अनन्य-परचावली' में कहा गया है—

श्री बनचंद सुताजुवंश आदरैं रसिकजन।
बानी सानी अमी वदन उच्चरत मुदित मन॥
हित मारग रसरीति अर्थ विस्तरन विचक्षन।
कृपा द्रवित रहै हियौ सुमति संचयौ भजन धन॥
सुत श्री गोवर्धननाथ, मूरत सुभव्य द्रग देखिये।
श्री चन्द्रलाल लाली अधिक, सज्जनता हिये विशेखिये॥

—र० अ० प०, पृ० २४५

श्री हिताचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचन्द्र गोस्वामी की पुत्री श्री किशोरीजी के वंश में ऐसे अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया जिनके द्वारा राधावल्लभ-संप्रदाय का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ तथा सांप्रदायिक साहित्य की अनुपम श्रीवृद्धि हुई। उनकी सातवीं पीढ़ी में श्री गोवर्धननाथ गोस्वामी उत्पन्न हुए जिन्होंने राजस्थान में संप्रदाय का प्रचुर प्रसार किया। नाभाजी के भक्तमाल की भक्तिरसबोधिनी टीका के रचयिता प्रियादासजी ने श्री गोवर्धननाथ को अपना प्रेरणास्रोत और उक्त टीका में सहकर्ता बताया है—

गोवर्धननाथ जू के हाथ मन पर्‌यौ जाकौ,
कर्‌यौ वास वृन्दावन लीला मिलि गाई है।

श्री चन्द्रलाल गोस्वामी गोवर्धननाथजी के यशस्वी पुत्र थे। इनका कार्यक्षेत्र राजस्थान था। इन्होंने उस प्रदेश के कई राज्यों में श्री राधावल्लभजी के विशाल मन्दिर बनवाये।

संवत् १८१३ और सं० १८१८ में मुसलमान लुटेरों द्वारा व्रज में कत्लेआम और लूटपाट की गई थी। उसके कारण अनेक रसिक संतों को वर्षों तक बाहर रहना पड़ा था। श्री वृन्दावन में अनन्य निष्ठा रखनेवाले इन संतों को इससे मर्मान्तिक कष्ट हुआ था। श्री चन्द्रलाल गोस्वामी ने अपनी वियोग-वेदना के वेग को कुछ कम करने के लिये सम्वत् १८४० में 'वृन्दावन-प्रकाशमाला' नामक एक छोटे-से ग्रन्थ की रचना की। उसमें इन्होंने परिक्रमा के क्रम से श्री वृन्दावन में रहनेवाले संतों तथा वहाँ के उत्सवों का परिचय अपनी ललित शैली में दिया है। ग्रन्थ के अन्त में इन्होंने लिखा है—

वृन्दाविपिन वियोग भयो हिय दुख भयो भारी।
तब श्री वृन्दावन-प्रकाश-माला उर धारी॥
जाही छिन इहि ग्रन्थ कौं, पढ़ैं-सुनैं चितसौं सरस।
श्री वृन्दावन चद कौ, ताही छिन पावै दरस॥
रूपनगर के मध्य इहि, ग्रन्थ महा सुख दीन।
शाहपुरा में चन्द यह, हित सौं पूरन कीन॥

गोस्वामी चन्द्रलालजी सुकवि थे। इनके काव्य में पूर्ण भावुकता के साथ वाग्विदग्धता के दर्शन होते हैं। राधावल्लभीय साहित्य में श्री लालस्वामी को छोड़कर अन्य किसी संत कवि ने कवित्त-सवैया की ओर ध्यान नहीं दिया है। गोस्वामी चन्द्रलालजी ने उक्त दोनों छन्दों की रचना बड़ी सफलतापूर्वक की है। इनके कवित्त-सवैये रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं की समकक्षता कर सकते हैं।

गोस्वामीजी की अनेक रचनायें उपलब्ध हैं और प्रायः सबका रचना-स्तर समान है। इन्होंने सम्प्रदाय के कई संस्कृत ग्रन्थों के ब्रजभाषा पद्य में बड़े सफल भाषांतर किये हैं। गोस्वामी कृष्णचन्द्रजी कृत 'कर्णानन्द' और 'उपसुधानिधि', श्री प्रबोधानंदजी कृत 'वृन्दावन-महिमामृत' और श्री हित महाप्रभु कृत 'यमुनाष्टक' के पद्यानुवाद प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त 'वृन्दावन-प्रकाशमाला', 'कामवन-मन्दिर-विलास' तथा 'श्री हितकृपापात्र-नामावलि' इनकी ऐतिहासिक रचनायें हैं। 'कामवन-मन्दिर-विलास' में उस काल का परिचय है जब श्री राधावल्लभजी वहाँ विराजते थे। औरंगजेब द्वारा मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट किये जाने के बाद श्री राधावल्लभजी कामवन चले गये थे और वहाँ लगभग सौ वर्ष विराजे थे। सं० १८४२ में नया मन्दिर बन जाने के बाद ही वे श्री वृन्दावन आये।

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त गोस्वामीजी की कुछ अन्य स्वतन्त्र कृतियाँ भी प्राप्त हैं जिनमें 'अभिलाष-बत्तीसी', 'भावना-पच्चीसी', 'समय-पच्चीसी', 'अष्ट-याम', 'यमुनाष्टक', 'हिताष्टक' और 'स्फुट-कवित्त' मुख्य हैं।

इनके कुछ छन्द यहाँ दिए जा रहे हैं—

(१)

राधाकृष्ण गावै रोम-रोम हरसावै,
मोद झरी सी लगावै पुलकावै अंग-अंग में।
बात यौं बनावैं तामें रूप लै दिखावै,
आप छकै औ छकावै सुख पावै या प्रसंग में।।
पामर पतित महाकपटी कदर्ज नर,
तिनहूँ कौं खैंचि बोरि देत प्रेमरंग में।
कहत अभंग में यौं हिय की उमंग में जू,
मोहि राखो सदा ऐसे रसिकन के संग में।।

—अभिलाष-पच्चीसी

(२)

हिय अकुलात तरसात सरसात सदा,
बार बार कहौं अजू कृपा बेग कीजिये।
अंतराय पलहू कौ मैं तो न सम्हार सकौं,
छिन-छिन माँझ मेरौ यह तन छीजियै।।
रूपसिन्धु भीजिये यौं कृपा रस पीजिये औ,
कबहूँ न पतीजिये जू यही जस लीजिये।
साँचे तौ अनेक तारे प्यारे लाल-बाल एक,
चंद झूँठे हू कौं बास वृन्दावन दीजिये।।

—अभिलाष-पच्चीसी

(३)

मन की गति तौ तुम जानत हौ
तन सौं नहिं काज कछू बनि आइबो।
जानत नाहिं धौं कौंन कृपाबल
श्री हरिवंश कौ पंथ मिलाइबौ।।

कैसे कहौं जू दयालुता रावरी
जैसे अनुग्रह सौं हित छाइबौ।
ऐसी करौ सतसंग के रंग में
श्री बन वास निरन्तर पाइबौ।।

—कर्णानन्द, श्लोक २२ का अनुवाद

(४)

देवता पितर तुम सब मिलि सुनौं-आस,
छाँडियौ हमारी यह बलि न तुम्हारी है।
देवता पितर तौ हमारे श्री मुकुन्द नित,
भई अभिलाष याकै वेई अधिकारी हैं।।

तुमहूँ सो चाहौं तऊ लहौं सब जननि सौं,
हानि-लाभ हमें नहिं बात यौं बिचारी है।
सब भय छाँड़ि अब लाड़िली की आड़ लीजै,
बिपिन-बिहारी कौ भरोसौ हमें भारी है।।

— कर्णानन्द-टीका, श्लोक २२ का अनुवाद

(५)

वृन्दावन-वास श्याम-श्यामा कौ निवास जहाँ
चित्त के हुलास जुत आसहिं लगाइहौं।

रसिक उपासक अनन्यनि कौ संग गहि,
बानी रससानी नित प्रीति ही सौं गाइहौं ॥

कोऊ कहौ बुरौ फेरि कोऊ कहौ भलो मोहि,
दोऊ सों न काज हिय दम्पति बसाइहौं ।
यह तनु पाइ राधावर गुन गाइ चन्द,
हित कौ कहाय और कौंन कौ कहाइहौं ।

—वृन्दावन-प्रकाशमाला

ल० च० गो०

चन्द्रशेखर पाण्डेय 'चन्द्रमणि'

श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय का जन्म श्रावण शुक्ला प्रतिपदा सम्वत् १९६५ (३० जुलाई सन् १९०८ ई०) में रायबरेली जिले के बन्नावाँ (बछरावाँ) ग्राम में हुआ था। ये लोक में अपने 'चन्द्रमणि' उपनाम से विख्यात हुए। चन्द्रमणिजी ने प्रमुखत एक धर्मोपदेशक के रूप में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया और उसी रूप में ये जनमानस की श्रद्धा और भक्ति के पात्र रहे।

चन्द्रमणिजी को भारतीय अध्यात्म और दर्शन से जुड़ने की प्रेरणा अपने पितामह सुप्रसिद्ध संत श्री १०८ स्वामी बदरीप्रपन्नजी महाराज त्रिदंडी से प्राप्त हुई थी। इनकी विदुषी माँ सरस्वती जी ने भी बालक चन्द्रमणि की ज्ञानवृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन्हीं सबके फलस्वरूप श्रीमद्भागवत, पद्म-पुराण, ब्रह्मवैवर्त-पुराण, गर्गसंहिता तथा महाभारत जैसे कृष्ण-भक्तिप्रधान ग्रन्थों में इनका गहन प्रवेश था। उनका विशद विवेचन अपने प्रवचनों के माध्यम से करना इनके जीवन का अनिवार्य अंग बन गया था। चन्द्रमणिजी ने राधा तथा कृष्ण की आनन्दमयी केलि तथा उनके लोकोत्तर चरित्रों को लेकर अनेक नाटकों, काव्य-ग्रन्थों तथा कथाकाव्यों की रचना की थी। स्फुट रूप में भी इनके कीर्तन-संकलनों में राधाकृष्णविषयक पदों की प्रधानता है। चन्द्रमणिजी के कीर्तन लोक में इतने अधिक प्रचलित हुए कि एक समय उनकी पार्श्ववर्ती क्षेत्र में धूम मच गयी थी। इनका राधा तथा कृष्ण-भक्ति-विषयक साहित्य इस प्रकार है—

'अजामिल', 'शल्यवध', 'राजर्षि परीक्षित' तथा 'स्यमंतकमणि' चन्द्रमणिजी के कृष्ण-कथाप्रधान नाटक हैं। इनके अतिरिक्त इकना 'द्वारका-प्रवेश' खण्डकाव्य द्वारकाधीश कृष्ण की लीलाओं को आधार बनाकर रचा गया है। 'संतलोक' और 'गीतालोक' काव्यों में भी कृष्ण-भक्ति की प्रधानता है। चन्द्रमणिजी धार्मिक मंच से जुड़े थे। इसीलिए इन्होंने राधा तथा कृष्ण की अलौकिक लीलाओं से जनता का तादात्म्य स्थापित कराने के लिए अनेक कथाकाव्यों की रचना की थी। इनके कृष्ण-भक्ति-प्रधान कथाकाव्यों में 'प्रेमयोगिनी मीरा', पतित अजामिल', 'भक्त जयदेव', 'कृष्णार्जुन-संग्राम', 'बिल्व-मंगल' (सूरदास) एवं 'भक्त अहीर-बालक' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनोय हैं। इसके अतिरिक्त इनके कीर्तनों के चार बृहद् संकलनों—'कीर्तन-कुसुमांजलि', 'संकीर्तन-सरिता', 'कीर्तन-कलाप' और 'माधुरी-भजनावली' में भी राधा-कृष्णविषयक कीर्तनों की बहुलता है।

इस प्रकार चन्द्रमणिजी ने सम्पूर्ण जीवन राधा तथा कृष्ण की आनन्दमयी लीलाओं के चित्रण और गान में व्यतीत कर शनिवार २७ फरवरी सन् १९८२ ई० को उन्हींका स्मरण करते हुए प्राणोत्सर्ग कर दिया।

चन्द्रमणिजी के कृष्णलीला से सम्बद्ध कतिपय छन्द प्रस्तुत किये जा रहे हैं। लोक-जीवन में इनके सैकड़ों कीर्तन और फाग लोगों के गले के हार रहे हैं। अतएव उनका ही विशेष रूप से उल्लेख करना उचित होगा—

(१)

माथ पै मुकुट रत्नजटित प्रकाशमान,
मोर पंख को किरीट ललित ललाम है।

अलकावली असित, कुंडल कपोलन पै,
मुखचंद्र मुरली अमित अभिराम है ॥
पीत पट पटुका लपेटे कटिकिंकिणि,
मयंकमुखी राधा संग छटा अभिराम है।
मंद-मंद हँसत अनंद नंद-नंदन के,
चारु चरणों में 'चन्द्रमणि' का प्रणाम है ॥

(२)

किये छाया कदम की डाली,
खड़ा वंशी बजावै वनमाली।

ग्वाल-बाले हँसैं दै तारी,
लखैं छबि प्यारी,
सुनि राधा हुई मतवाली,
खड़ा वंशी बजावै वनमाली।

कलँगी मुकुट सिर सोहै,
मदन मन मोहै,
घुंघराली लटैं काली-काली,
खड़ा वंशी बजावै वनमाली।

नभ ते सुमन सुर बरसैं,
मुदित मन हरसैं,
'चन्द्रमणि' ये छटा है निराली,
खड़ा वंशी बजावै वनमाली।

(३)

कृष्ण करि चतुराई। रहस की धूम मचाई ॥
वंशीबट जमुना निकट में कुंज लता तरु छाई।
बाजत ढोल मृदंग झाँझ डफ रुचिर बाज समुदाई,
सुखी निज मन अधिकाई ॥
गावत राग सरस सुन्दर पग नूपुर झनक सुनाई।
थिरकि-थिरकि पग धरत धरनि में निरतत राधा-कन्हाई,
दमक दामिनी-सी सुहाई ॥
बेंदी झलक गीत मुरली की देखि देव हरषाई।
झाँकी राधे और श्याम की देखत मन ललचाई,
चमक कलँगी की सुहाई ॥
रच्यौ रास गोपिन संग मोहन सोहन कृष्ण कन्हाई।
चकित 'चन्द्रमणि' सुयश बखानत देव सुमन झरि लाई,
लहर जमुना की सुहाई ॥

रा० पा०

चन्द्रशेखर वाजपेयी

कवि चन्द्रशेखर वाजपेयी का जन्म उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जिले के मुअज्जमाबाद नामक गाँव में पौष शुक्ल १० संवत् १८५५ को हुआ था। इनके पिता श्री मनीराम एक उत्तम कवि थे। यह परिवार वंश-परम्परा से कवियों का परिवार था। इनके पूर्वज कवि हंसराज गुरु गोविन्दसिंह के दरबारी कवि थे और असनी-निवासी करनेस महापात्र (सं० १८७० वि० के आसपास के शिष्य थे। चन्द्रशेखर वाजपेयी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे, परन्तु इनके संस्कृत के गुरु के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। अपनी कृति 'नखशिख' (सं० १९२४) में वाजपेयीजी ने अपने पिता एवं वंश का उल्लेख इस प्रकार किया है, 'इति श्रीमद्विद्वज्जन मंडली मण्डन वाजपेयी वंशावतंस श्रीमानूलालात्मज कवि चन्द्रशेखर वाजपेयी विरचित नखशिख वर्णन समाप्तः।' इस पुष्पिका पर श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'चन्द्रशेखर के पिता का नाम मानूलाल लिखा है। यह प्रति स्वयं चन्द्रशेखर के पिताजी के हाथ की लिखी हुई है। परन्तु इनके पुत्र गौरीशंकरजी ने मुझे अपने पितामह का नाम मनीराम लिखवाया है। संभव है, मानूलाल नाम हो और मनीराम छाप हो।'

वाजपेयीजी विद्यार्जन के पश्चात् २२ वर्ष की आयु (सं० १८७७ वि०) में दरभंगा के राजदरबार में गये और सात वर्ष पश्चात् अर्थात् सं० १८८४ में जोधपुर के महाराजा मानसिंह के दरबार में पहुँचे। जोधपुर में ये ६ वर्षों तक रहे किन्तु मानसिंह के पुत्र महाराजा तख्तसिंह से मनमुटाव हो जाने के कारण सं० १८९० में पटियाला में महाराजा कर्मसिंह के राज्याश्रय में आ गये। यहाँ उनके पुत्र महाराजा

नरेन्द्रसिंह (सं० १९०२-१९२९ वि०) तथा पौत्र महाराजा महेन्द्रसिंह (सं० १९२९-१९३३) के आश्रय में रहे। पटियाला-दरबार में अधिक सम्मान मिलने के कारण ये वहाँ अधिक समय तक रहे। इन्होंने अपनी कृतियों में पटियाला-नरेशों की प्रशस्ति लिखी है।

इनका निधन ७७ वर्ष की आयु में सं० १९३२ वि० में वृन्दावन में हुआ। वाजपेयीजी स्वाभिमानी कवि थे। अतः जोधपुर के महाराजा तख्तसिंह द्वारा दुबारा बुलाये जाने पर उनके दरबार में नहीं गये। ये पटियाला-नरेशों से अवकाश लेकर वृन्दावन आया करते थे। वृन्दावन की महिमा में इन्होंने 'वृन्दावन-शतक' लिखा है। ये श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक थे। वृन्दावन-यात्रा का विवरण इनकी फुटकर रचनाओं में भी मिलता है।

कवि चन्द्रशेखर वाजपेयी की रचनायें हैं—शांतिपर्व, देवीभागवत दो भाग (सं० १९०१ वि०), हम्मीरहठ (सं० १९०२ वि०), रसिक-विनोद (सं० १९०३ वि०), विवेक-विलास (सं० १९०५ वि०), हरिभक्ति-विलास (सं० १९०५ वि०), नखशिख (सं० १९२४ वि०), श्री गुरुभक्ति-पंचाशिका, माधवी-वसंत (सं० १९२३ वि०), भारती-भण्डार, वृन्दावन-महिमा तथा ज्योतिलता-ताजक।

उपर्युक्त ग्रन्थ-सूची के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें कुछ ग्रन्थ मौलिक हैं और कुछ संस्कृत भाषा से अनूदित हैं। वाजपेयीजी की रचनाओं में एक ओर दरबारी वातावरण मुखरित होता है तो दूसरी ओर उस समय पंजाब में रचित साहित्य की प्रवृत्तियों—पौराणिक ग्रन्थों का भाषा-रूपान्तर, वीर, शृंगार, प्रेम, नीति तथा भक्ति आदि के दर्शन होते हैं।

कवि चन्द्रशेखर वाजपेयी रचित कृष्णभक्ति-साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। इन्होंने लगभग सभी ग्रन्थों के आरंभ में आराध्ययुगल राधा-कृष्ण का स्मरण किया है। उपलब्ध ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ है—'शांतिपर्व' जो महाभारत के शांतिपर्व के 'आपद्धर्म' प्रसंग का भाषान्तर है। ग्रंथ का आरम्भ इस प्रकार है—

श्री व्रिजपति अरु सारदा, गनपति चरन मनाय।
पारासर प्रभु सुमिर उर, रचों ग्रंथ सुखदाय॥

सवैया

स्याम सरोरुह सुंदर गात
लसे रुचि कंचन रूप अगाधा।
प्रेम पयोनिधि वारि तरंग
विनोद अनंदमयी सुखसाधा।
शेखर श्रीवन ईस अनंत
हरे सरनागत की भव बाधा।
मंगल मूल अमंगल घायक
संत सहायक श्री हरि-राधा।

इसी प्रकार 'देवीभागवत-भाषा', 'रसिक-विनोद', 'हरिभक्ति-विलास', 'नखशिख' आदि ग्रन्थों का आरम्भ राधा-कृष्ण के मंगलाचरण से हुआ है। 'हरिभक्ति-विलास' ग्रन्थ पद्मपुराण के पातालखण्ड के ६९ से ८४वें अध्याय अर्थात् श्रीकृष्ण-चरित का भाषा-रूपान्तर है। यह ग्रन्थ पटियाला-नरेश महाराज नरेन्द्रसिंह की आज्ञा से लिखा गया था। 'नखशिख' की रचना मनमोहन के मन को मोहित करनेवाली राधा के अनिंद्य सौंदर्य को चित्रित करने के उद्देश्य से की गई है। इस ग्रन्थ का भक्तिभाव से पारायण करने से पाठक पर नन्दनन्दन की कृपा सदैव बनी रहेगी—ऐसा कवि का विश्वास है—

यह नखशिख बरनन कियो, श्री राधा को रूप।
मन मोहन को मनहरन, निज मति के अनुरूप॥

यह नखशिख को जो पढ़े, समुझि अरथ दे चित्त।
नंदनंदन ता पर करें, कृपा निरन्तर नित्त॥

संयोग शृंगार के उद्दीपक वातावरण की सृष्टि करने के लिये इन्होंने फाग-क्रीड़ा, जल-क्रीड़ा तथा

हास-परिहास आदि क्रिया-व्यापारों का भी वर्णन किया है। श्रीकृष्ण और राधा एक-दूसरे पर अबीर-गुलाल मलते हैं। कवि ने इस दृश्य का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है—

आयो नन्दलाल साज होरी को हंगामो उत,
इतैं ते किसोरी चली लाल की उबाली में।

दोउन के बीच मची केसर की कीचु,
लगे सेखर उलीचन अबीर चली चाली में।

घूघर गुलाल कीच मारनि की धूम तहाँ,
घूमि-घूमि उठे मैन मद की कहाली में।

धावैं भरि झोरी औ लगावैं मुख रोरी भागि,
आवैं पुनि गोरी ओ हेराई जाति लाली में।

संयोग-शृंगार के वर्णन में चन्द्रशेखर अश्लीलता के पुट से वच नहीं पाये हैं। यहाँ तक कि सुरति और विपरीत रति तक का अनेक स्थानों पर चित्रण किया गया है। इन्होंने षट्ऋतु-वर्णन भी किया है। शरद् ऋतु में मुरली की ध्वनि सुनने की प्रवल कामना लेकर ही शरद् पूर्णिमा का चन्द्र उदित हुआ है। व्रजांगनाएँ सुसज्जित होकर उल्लासपूर्वक रासक्रीड़ा के लिए उद्यत होती हैं। देखते ही देखते श्रीकृष्ण प्रेम से अनुरक्त होकर किसी मयंकमुखी को अंक में भर लेते हैं—

सरदागम पूरन चंद उग्यो
मुरली सुनि आतुरता मन में।
खिलवारे मचे व्रज सो बनिकै
तहँ आई आनन्द भरे तन में।
वर बागे लला अनुरागे अलौकिक
लागे कला बरतै वन में।
कवि सेखर रीझि मयंक मुखी
इकवार ही अंक भरी छन में।

कविवर वाजपेयीजी ने कृष्ण के उपासक होने के कारण श्री राधा तथा कृष्ण की स्तुति की है और दरवारो वातावरण के प्रभाव के कारण विभिन्न देवो-देवताओं तथा सिखों के दस गुरुओं का समान रूप से स्तवन किया है। इन्होंने अपनी रचनाओं में व्रजभाषा का प्रयोग किया है। भाषा में अलंकारों का प्रयोग इनकी आलंकारिक प्रवृत्ति एवं भाषा-सामर्थ्य दोनों का द्योतक है। शव्द-भण्डार में दरवारी वातावरण के प्रभाव के कारण अरवी-फारसी के शव्दों का वाहुल्य है।

वाजपेयीजी की कृतियों में कृष्ण-भक्ति की दृष्टि से 'वृन्दावन-शतक' का विशेष महत्त्व है। इन्हें वृन्दावन अत्यंत प्रिय था। अलवर-आवास की अवधि में ये वरावर वृन्दावन आते-जाते रहे। बाद में पटियाला आने पर भी इन्हें वृन्दावन का स्मरण आता रहा।

भक्त कवि चन्द्रशेखर वाजपेयी कृत तीन छंद यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

(१)

गोकुल को जाइबे को यमुना नहाइबे को,
तीनों ताप तपनि बुझाइबे की बारी है।
गिरिराज पेखिबे को, वृन्दावन देखिबे को,
जनम सफल करि लेखिबे की पारी है।
मकर महीना का महात्म्य मुनि गायो,
आगम में शेखर पुरान में निहारी है।
हिन्द को पनाहो नरनाह श्री नरेन्द्रसिंह,
अरजी हमारी जो पै मरजी तुम्हारी है।

(२)

सेखर सदैव गुनी है अधीन राजन के,
राजन को छिति के अधीन लेखियतु है।
छिति के अधीन पानी, पानी के अधीन प्रान,
प्रान के अधीन देह साँची पेखियतु है॥
देह के अधीन नेह, नेह के अधीन नारी
नारी के अधीन हाव-भाव सेखियतु हैं।
भाव के अधीन साधु, साधु के अधीन भक्ति
भक्ति के अधीन कृष्नचंद देखियतु हैं॥

(३)

अकथ अनूप रूप कह्यौ न परत कृश्न,
वृंदावन ईस्वर निगम निरधारौ है ।
संतत विराजत वृजेन्द्र को विभव येकु,
बृज बलभद्र जू को प्रानन तें प्यारौ है ॥
वयस किशोर आयौ जोबन चहत जामैं,
ऐसो दिव्य छवि किन नैनन निहारौ है ।
अलख अनादि आदि सकल चराचर के,
आनंद को कंद नंद गोप को दुलारौ है ॥

रा० प्र० कु०
आ० श० अ०
ह० नं० भा०

चन्द्रसखी (प्रथम)

राधावल्लभ-सम्प्रदाय में चन्द्रसखी नाम के दो रसिक भक्त हुए हैं। हमारे चरित्र-नायक चन्द्रसखीजी गो० वनचन्द्रजी के प्रपौत्र, गो० किशोरलालजी के पुत्र तथा गो० उदैलालजी के शिष्य थे। इनके ऐहिक जीवन-सम्बन्धी सूत्र अभी तक ज्ञात नहीं हो सके हैं तथापि इनकी प्राप्त कतिपय पद-रचनाओं से इनके रसिक रूप की झाँकी अवश्य आभासित होती है। ये चन्द्रसखी-जो दूसरे चन्द्रसखी के, जो गो० हरिलालजी के शिष्य थे तथा जिन्होंने रासमंडल के स्वामी बालकृष्णजो से विरक्त सन्त-वेष ग्रहण किया था—के पूर्ववर्त्ती हैं। इनके कतिपय पद नीचे दिए जा रहे हैं--

(१)

चलि खेलैं री हिलमिलि वसन्त ।
संग रँगीले रसिक कन्त ॥

सुन्दर वर नटनागर मोहन
गोहन सब सुख लीजै ।
प्रेम माधुरी रूप सुधा निधि
अँखियाँ झँकियाँ कीजै ॥

यह सुनि चलीं भली विधि सौं सब
साज समाजन जोरैं ।
विविध सिंगार हार मुक्तावलि
कंचुकि केसर बोरैं ॥

धाइ जाइ प्रीतम के अँग सँग
अति आनन्द बढ़ायौ ।
खेलत हँसत परस्पर सब मिलि
सुख समूह बरसायौ ॥

यह छवि निरखत देव वधुनि कौ
धीरज रह्यौ न मन में ।
भाग सराहत ब्रजगोपिनु कौ
प्रेम मुदित भईं तन में ॥

या रस की महिमा को बरनै
सुर मुनि पार न पावैं ।
श्री राधावल्लभ चरण रेणु हित
चन्द सखी गुन गावैं ॥

(२)

आजु बधाई व्यास मिश्र के सुखनिधि प्रगटे श्री हरिवंश ॥

नव किशोर सुखरासी विपिन विलासी हिये विचारी ।
नित्यविहार नवलरस दुर्लभ भुवन मध्य विस्तारी ॥

अद्भुत हरष भयौ सबहिनु के घर-घर वांछित पायौ ।
नर-नारी नाचैं अरु गावैं मंगल मोद बढ़ायौ ॥

गृह-गृह तें निकसीं व्रजनारी गावत गीत सुहाये ।
सजि-सजि कंचन थार आरती मणि दीपक चमकाये ॥

अपने-अपने मेल मिलीं सब गावत झूमत भारी ।
कृष्ण जनम फिर भयौ कुलाहल आनन्दित नर-नारी ॥

द्वार-द्वार प्रति कलस विराजैं तोरन मुक्ता छाये ।
सुर मुनि देव दुन्दुभी बाजै सुमन झरत मन भाये ॥

प्रेम-मगन सब नाचत-गावत व्यासमिश्र गृह आये ।
हरद दूध दधि काँदौं माधौ भादौं झर जु लगाये ॥

बहु विधि जन्त्र बजावैं सुख बरसावैं आनन्द भीने ।
श्री व्यासनन्द जग प्रगट होत ही सफल मनोरथ कीने ॥

जै श्री उदैलाल हित प्रगट भये सुख सागर रस के दानी ।
चन्दसखी कौ भायौ भावतौ निधि पाई मनमानो ॥

इनके और दूसरे चन्द्रसखीजी के पदों में निम्नांकित पार्थक्य है—

१. इनके पद 'चन्द्रसखी भजि बालकृष्ण छवि' छाप से पद-संग्रहों में उल्लिखित न होकर वृन्दावन-रस-रसिक प्राचीन महानुभावों के पदों से साम्य रखने के कारण वृन्दावन के वर्षोत्सव पद-संग्रहों की प्राचीन प्रतियों में उल्लिखित हैं।

२. इनके अधिकांश पदों में गो० श्री उदैलालजी के स्मरण तथा उनके उत्कर्ष का वर्णन है तथा गोस्वामी हरिलालजी तथा स्वामी बालकृष्णजी के नाम का सर्वथा अभाव है।

३ इनके पद साहित्यिक गुणों से समलंकृत हैं, अर्थात् वे सरल, सुबोध, सरस और मधुर हैं। इसके साथ ही उनमें भावाभिव्यक्ति की प्रचुरत है। इनका भाषा पर पूरा अधिकार है। इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण तथा परिमार्जित है, कहीं-कहीं अलंकारों की छटा के भी दर्शन हो जाते हैं।

४. इनके पद राधावल्लभीय सम्प्रदाय के रस-सिद्धान्त और भावना-परिधि के अन्तर्गत हैं अर्थात् सखीभाव और अनन्यता का पूर्ण निर्वाह है, जो राधावल्लभीय रसिकों की अपनी अलग विशेषता है।

श्या० वि० ख०

चन्द्रसखी (द्वितीय)

'रसिक-अनन्य-परचावली' में आपके सम्बन्ध में यह छप्पय दिया गया है—

महत् सभा आभरन अनंत सन्त रहैं लारैं।
अति कमनीय किशोर चरित पद रचि विस्तारैं॥
जिते भूप हरि भक्त रहैं अज्ञा अनुसारी।
श्री हरिलाल प्रसाद भजन प्रभुता भई भारी॥
श्री हरिवंश प्रशंस चित, बालकृष्ण हित छाप तैं।
श्री चन्द्रसखी जग जगमगैं, निजु राधा इष्ट प्रताप तैं॥

चाचा वृन्दावनदासजी कहते हैं कि चन्द्रसखीजी महत्जनों की सभा के भूषण थे। उनके साथ बहुत से सन्त रहते थे। कमनीय युगलकिशोर के प्रेम-चरित्रों का उन्होंने पद-रचना करके विस्तार किया। उनके समय में जितने हरिभक्त भूप थे, वे सब उनके आज्ञानुवर्ती थे। श्री हरिलाल गोस्वामी की कृपा से उनको भजन का अपार ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने 'बालकृष्ण-हित' की छाप से पद-रचना की है। श्री राधाइष्ट के प्रताप से चन्द्रसखीजी को अद्भुत लोकप्रियता एवं यशलाभ हुआ था।

इस छप्पय से चन्द्रसखीजी के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—

१. चन्द्रसखीजी उच्चकोटि के लोक-संग्रही रसिक-भक्त थे।
२. ये राधावल्लभीय साधुओं का समूह लेकर चलते थे जिसमें अनेक भजनानन्दी सन्त सम्मिलित रहते थे।
३. बहुत से हरिभक्त राजे इनके आज्ञानुवर्ती थे।
४. इनको प्रसिद्ध वाणीकार श्री रूपलाल गोस्वामी के पिता श्री हरिलाल गोस्वामी की कृपा प्राप्त थी।
५. इनकी रचनाओं में 'बालकृष्ण-हित' की छाप मिलती है।

चाचाजी के उक्त छप्पय से यह स्पष्ट नहीं होता कि चन्द्रसखीजी के गुरु कौन थे? चन्द्रसखीजी ने अपने पदों में बालकृष्ण-हित की छाप दी है और श्री हरिलाल गोस्वामी की भी कृपा इनको प्राप्त थी। चाचा हित वृन्दावनदासजी ने अपने 'वसन्त-प्रबंध' में इस गुत्थी को सुलझा दिया है। उन्होंने बताया है कि श्री बालकृष्ण स्वामी श्री हरिलाल गोस्वामी के शिष्य थे और वे अपनी रासमण्डली बनाकर घूमते थे।

धर्‌यौ कर गुरु श्री हरिलाल माथ।
भये बालकृष्ण स्वामी सनाथ॥

फिरैं रास-मंडली लिएँ साथ।
फागुन सुखेल की सौंज हाथ॥

—चतुर्थ प्रबन्ध ५१

चाचाजी ने 'रसिक-अनन्य-परचावली' में भी बालकृष्णजी का परिचय (छप्पय सं० १९७ में) दिया है।

चन्द्रसखीजी के छप्पय में श्री हरिलालजी और श्री बालकृष्णजी दोनों के नाम देखकर यह अनुमान होता है कि चन्द्रसखीजी के गुरु बालकृष्णजी थे। चन्द्रसखीजी ने इसीलिए अपने पदों में उनके नाम की छाप दी है। श्री बालकृष्ण गोस्वामी श्री हरिलाल गोस्वामी के शिष्य थे। अतः अपने कतिपय पदों में चन्द्रसखीजी ने अपने दादागुरु श्री हरिलाल गोस्वामी का नामोल्लेख भी कर दिया है। चन्द्रसखीजी के कई पदों में गोस्वामी उदयलालजी का भी नाम मिलता है। श्री उदयलालजी हरिलालजी के समकालीन थे और श्री हरिलालजी की ही भाँति श्री हिताचार्य की छठी पीढ़ी में प्रादुर्भूत हुए थे।

चन्द्रसखीजी का केवल एक ग्रन्थ 'ज्ञान-चौगुणी' नाम सम्प्रदाय में परम्परया प्राप्त है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने जब वृन्दावन में इसकी खोज की तो उनको 'ज्ञान-चौगुणी' नाम वाली कोई पुस्तक नहीं मिली। किन्तु चन्द्रसखीजी की परम्परा के दो सन्तों के पास 'ज्ञान-चौगुणी' नाम की एक पुस्तक की दो अपूर्ण प्रतियाँ मिल गईं। ये पुस्तकें संस्कृत में हैं और नितान्त अशुद्ध हैं। किन्तु उससे चन्द्रसखीजी के जीवन-वृत्त पर काफी प्रकाश पड़ता है। मीतलजी ने अपनी रचना 'चन्द्रसखी का जीवन और साहित्य' में 'ज्ञान चौगुणी' के श्लोक उद्धृत किये हैं। उसके आधार पर निम्नलिखित सूचनायें प्राप्त होती हैं—

१. चन्द्रसखीजी के गुरु श्री बालकृष्णजो थे।
२. बुन्देलखंड के ओड़छा नगर में ७-८ वर्ष निवास करने के बाद ९० वर्ष की आयु में आषाढ़ मास की कृष्णा एकादशी को चन्द्रसखीजी का देहावसान हुआ था।
३. उस समय ओड़छा में उदोतसिंह नामक राजा का शासन था। उन्होंने चन्द्रसखीजी की तन-मन-धन से सेवा की थी।

'ज्ञान-चौगुणी' की पुष्पिका में उसे चन्द्रसखीजी कृत बताया गया है। किन्तु मीतलजी के अनुसार यह रचना चन्द्रसखीजी के किसी शिष्य की है और सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। उदोतसिंह राजा के साथ चन्द्रसखीजी के सम्बन्ध की पुष्टि उनके नाती शिष्य वल्लभसखी की एक रचना से भी होती है। वल्लभसखी ने लिखा है—

उदवत सिंह राजा बड़े, जिन्ह प्रीत लगाई।
चन्द्रसखी कों पूजि, अष्ट सिधि नौ निधि पाई॥

पद-रचना बहु विधि करी, फिरी प्रेम-दुहाई।
बुंदेलखंड पावन कर्‌यौ, हरि-भक्ति दृढ़ाई॥

देव अबोरा गाँव दै, हित प्रीत बढ़ाई।
रसिक-चरन माथे धरे, 'बल्लभ' गति पाई॥

उदोतसिंह का राज्यकाल सम्वत् १७५६ से १७९३ तक माना जाता है। यदि चन्द्रसखीजी का निकुंजगमन संवत् १७९० के लगभग माना जाय तो उनके ओड़छा-निवास का समय सम्वत् १७८२ से १७९० तक और जन्म सम्वत् १७०० के लगभग मानना होगा।

चन्द्रसखीजी के जन्मस्थान, पूर्वज और कुटुम्ब-परिवार के सम्बन्ध में कोई विवरण ज्ञात नहीं है। इन्होंने अपनी रचनाओं में इसका कोई संकेत नहीं दिया है। मीतलजी ने चन्द्रसखीजी से सम्बद्ध अपने ग्रन्थ में उनको श्री हरिराम व्यास का वंशज माना है। यह अनुमान उन्होंने इस आधार पर लगाया है कि 'ज्ञान-चौगुणी' के अनुसार चन्द्रसखीजी के जीवन के अन्तिम वर्ष ओड़छा में व्यतीत हुए थे, किन्तु चन्द्रसखीजी ने अपने किसी पद में श्री व्यासजी से अपना सम्बन्ध होने का उल्लेख नहीं किया है। मीतलजी ने श्री हरिराम व्यास के वंश का जो वंश-वृक्ष अपने ग्रन्थ में दिया है उसके अनुसार गरीबदास-

जी चन्द्रसखीजी के ताऊ होते हैं। गरीवदासजी के कई पद राधावल्लभीय वर्षोत्सवों में संगृहीत हैं। उनमें गरीवदासजी ने अपने को स्पष्ट रूप से व्यास-वंश का लिखा है। वधाई के एक पद के अन्त में ये कहते हैं—

गरीबदास कछु यह जस बरन्यौं लघुमति अपनी घातैं।
जसुमति बोलि पंजीरी दीनी व्यासवंश के नातैं॥

चन्द्रसखीजी के किसी पद में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त इनके पदों की भाषा पर भी बुन्देलखंड का कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। अतः चन्द्रसखीजी का जन्म-स्थान ओड़छा होना तथा उनका श्री हरिराम व्यासजी से सम्वद्ध होना सम्भव नहीं लगता।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के नागा साधु निर्मोही अखाड़े के अन्तर्भुक्त हैं। चन्द्रसखीजी ने राधावल्लभीय नागाओं को संगठित करके एक नया 'थोक' कायम किया था जो अभी तक चन्द्रसखीजी के नाम से प्रसिद्ध है। चाचा वृन्दावनदासजी ने अपने 'चतुर्थ-वसन्त-प्रवन्ध' में लिखा है कि चन्द्रसखीजी के अनेक शिष्यों की शाखायें चलीं। उन्होंने वताया है कि चन्द्रसखीजी के आसन पर रसिकदास वैठे। रसिकदासजी के गुरु-भाई खेमदासजी थे। खेमदासजी को अनेक शिष्य-शाखायें मिलती हैं। खेमदासजी के एक भावनासिद्ध शिष्य श्यामदासजी थे। उनके शिष्य वालकदासजी तथा लाड़िलीदासजी रसभजनी हुए। रसिकदासजी के भगीरथदासजी वहुत यशस्वी शिष्य हुए। वे हितधर्म के पूर्ण मर्मज्ञ थे। (चतुर्थ प्रवन्ध ९३,९४,९५)

चन्द्रसखीजी के शिष्य रसिकदासजी के शिष्य वल्लभसखीजी की एक जीर्ण और खण्डित रचना वृन्दावन में उपलब्ध है। उसमें ५८ पद हैं। रचना प्रवाहयुक्त एवं भावपूर्ण है। चन्द्रसखीजी के एक शिष्य लालदासजी के भी पद व्रज के कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं। उनसे वसन्त का एक पद नीचे दिया जाता है—

श्री राधे तेरे ललित अंग।
तिहिं देखि स्याम मन रँग्यौ रंग॥

सुंदर बदन सरोज बिराजत
राजत अलकें संग।
सीसफूल ताटंक श्रवन-
सुक-नासा वेसरि मंग॥

बैना बन्यौ जराऊ जगमग
जटित सु चुनी सुरंग।
मंद हँसन, सुख-सदन नैन
कल कज्जल सोभित रंग॥

केसर खौरि कपोल कलित कल
भृकुटी धनुष निसंग।
छुटत कटाक्ष सु बान बिलोकति
बेधत मदन कुरग॥

भुजा लता कोमल कर पल्लव
मुँदरी मनिनि तरंग।
कुच कल फल अदभुत मनों सोभित
सुबरन सरस उतंग॥

कटि केहरि कदली जंघा गति
मथत मदन जु मतंग।
चारु चरन जावक रँग रंजित
भूषन सजत अभंग॥

हरित कीमखाप को लहँगा
सारी सुही सुरंग।
कंचुकि केसर के रंग रंगित
निरखत लजत अनंग॥

खेलि बसंत उड़ाय गुलालहिं
लसे सेज चतुरंग।
श्री चन्द्रसखी हित बालकृष्ण लखि
'लालदास' दृग पंग॥

चन्द्रसखीजी के शिष्य रसिकदासजी की भी रचनायें प्राप्त हैं। उनका एक पद नीचे दिया जाता है—

श्री हरिवंश नाम सुखदायी ।
तिनकी महिमा करौं बड़ाई ॥

करम धरम एकौ नहिं करों ।
श्री हरिवंश नाम अनुसरों ॥

श्री हरिवंश हिये अनुराग ।
प्रीति निरंतर रस में पाग ॥

जो कोउ राधा-राधा बोलै ।
तिनके संग सदा हरि डोलै ॥

राधावल्लभ कहाँ विराजैं ?
'रसिक' जनन के हिये में गाजैं ॥

रसिकदासजी का एक विशाल कुंज वृन्दावन में केसीघाट पर था। अब उसके मात्र भग्नावशेष रह गये हैं। चन्द्रसखीजी के जीवन का अधिक काल धर्म-प्रचार हेतु देशाटन में व्यतीत हुआ। अवकाश मिलने पर वे श्री वृन्दावन आकर अपने कुञ्ज में ही निवास करते थे। चन्द्रसखीजी का एक मन्दिर ओड़छा में भी बताया जाता है। इनके नाम से अनेक पद बुन्देलखण्ड और राजस्थान में प्रसिद्ध हैं। किन्तु उनमें कई पद राधावल्लभ-सम्प्रदाय की भावना एवं सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। वस्तुतः ऐसे पदों का ही संख्या अधिक है। नीचे इनके कुछ प्रामाणिक पद दिये जा रहे हैं—

(१)

ए दोऊ राजत प्रीतम-प्यारी ।
सुख की रासि स्याम-सुदर वर
श्री वृषभान-दुलारी ॥

खेल रास ठाढ़े दंपति गहे
कुंज कदंब की डारी ।
भूषन-बसन लसन अति अँग-अँग
सोभा रूप उजियारी ॥

रीझि परस्पर हँसत-हँसावत
लाड़िली-लाल बिहारी ।
'चन्द्रसखी' राधावल्लभ पर
तन-मन-धन बलिहारी ॥

(२)

कालिंदी-कूल केलि करत नवल कमलनैन,
परम प्रेम प्यारी संग, रंग भरी राजैं ।
सघन कुंज, सुखद पुंज, सौरभ अलि मत्त गुंज,
त्रिविध पवन गवन, तैसी कोकिला कल गाजैं ॥

बरन-बरन तन सिंगार, चंदन चित्रक सम्हार,
अंग-अंग द्युति तरंग, अदभुत छबि छाजैं ।
दंपति आनंद बदन, सोभा-गुन-रूप सदन,
'चन्द्रसखी' निरखि कोटि-कोटि मदन लाजैं ॥

(३)

ए दोऊ रंग भरे रस-साने ।
आनँद-कंद, रूप-निधि सजनी
नीके आजु दरसाने ॥

अँग-अँग छबि की उठत तरंगें
अरुन नैन अरसाने ।
पोछैं कज्जल-पीक कपोलनि
अचल लै ललिता ने ॥

रोचक पवन निकट जमुना
वृंदावन कुंज ठिकाने ।
सुख-समूह, दंपति-संपति की
महिमा कौन बखाने ॥

अपरंपार पार को पावै
इनकी एई जाने ।
'चन्द्रसखी' हित बालकृष्ण गुन
गावत वेद-पुराने ॥

(४)

लगन कौ नाम न लीजै, रे बौरे ।
जो कोऊ लगन लग्यौ ही चाहै,
सीस की आस न कीजै, रे बौरे ॥

लगन कौ पैंड्यौ महा कठिन है,
पग धरते तन छीजै, रे बौरे ।
'चन्द्रसखी' गति यह पतंग की,
वारि-फेरि जिय दीजै रे बौरे ॥

ल० च० गो०

चरणदास (प्रथम)

स्वामी चरणदास (प्रथम) का जन्म अलवर (राजस्थान) जिले के डहरा नामक ग्राम में हुआ था। इनका बचपन का नाम रणजीत था। ये जाति से भार्गव (भृगुवंशी ब्राह्मण) थे। जन्म के समय इनके पिता पं० मुरलीधर, माता कुंजोदेवी, पितामह पं० प्रयागदास तथा पितामही यशोदादेवी जीवित थीं। इनकी जन्म-तिथि भाद्रपद शुक्ला तृतीया वि० संवत् १७६० बतलाई जाती है। इस तिथि को विद्वानों एवं साम्प्रदायिकों की मान्यता प्राप्त है। चरणदासजी के शिष्यों की कृतियों (जोगजीत कृत 'लीलासागर', रामरूप कृत 'गुरुभक्ति-प्रकाश', जसराम उपगारी कृत 'भक्तबावनी', सहजोबाई कृत 'सहजप्रकाश' आदि) में भी इसी तिथि का वार, नक्षत्र, घड़ी, राशि आदि के विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है, किन्तु ज्योतिष-गणना करने पर यह तिथि-विस्तार सही नहीं उतरता है। ध्यातव्य है कि इन कृतियों के मूल हस्तलेख अनुपलब्ध हैं। साम्प्रदायिकों की इनके कृष्णावतार होने की मान्यता, कृष्णजी के जन्म-मास का भादों होना, मूल हस्तलेखों की अनुपलब्धि, 'भादों' की 'आसो' तथा 'दूज' की 'तीज' के साथ मात्रागत संगति, डहरा में वि० संवत् १९३७ से जन्मोत्सव का आरंभ होना आदि कतिपय ऐसे प्रच्छन्न संकेत हैं, जो तिथिविषयक संशय की पुष्टि करते हैं। इन प्रतियों का विधिवत् अध्ययन करने पर कुछ ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं, जिनके पाठ-परिवर्तन की ओर संशोधकों का ध्यान ही नहीं गया। उक्त कृतियों का सम्यक् अध्ययन एवं सत्यासत्य की परख करने से ज्ञात होता है कि चरणदास का जन्म मंगलवार, आश्विन शुक्ल द्वितीया वि० संवत् १७६१ को सूर्योदय के उपरान्त २ घंटा ५५ मिनट से ३ घंटा १२ मिनट के मध्य, चित्रा नक्षत्र के तृतीय चरण, तुला राशि में हुआ था।

चार वर्ष की अवस्था में ही ये मस्तक पर तिलक लगाने तथा सुमिरन-माला फेरने लगे थे। पाँचवें वर्ष गाँव की नदी के किनारे इन्हें किसी महापुरुष के दर्शन हुए। इन्हें छठे वर्ष एक पाण्डेजी की चटशाला में पढ़ने के लिए भेजा गया। वहाँ ओनम की पट्टी में वर्णमाला पढ़नी आरंभ की। एक दिन उदास होकर इन्होंने पाण्डेजी से कहा—'आप मुझे भगवन्नाम क्यों नहीं पढ़ाते ?' पाण्डेजी ने इन्हें पढ़ाने के लिए कई प्रकार से यत्न किए, किन्तु ये पढ़ने-लिखने को तैयार नहीं हुए। फलतः इन्हें अभिभावकों के पास छोड़ दिया गया। वि० संवत् १७६७ में पिता, पितामह व पितामही की मृत्यु हो गई। पौष संवत् १७६८ को ये अपनी माता के साथ दिल्ली पहुँचे, जहाँ बड़ीपोल पर इनके नाना भिखारीदास व नानी अम्बिकादेवी रहती थीं। उन लोगों ने इनको मुल्ला शेख क़ादिरबख्श के मकतब में पढ़ने के लिए बैठाया। मुल्ला के यहाँ पढ़ते हुए आठ महीने व्यतीत हो गए, जिसमें इन्होंने मात्र 'ख़ालिक़बारी' पूरा और चौथाई 'कलिमा' पढ़ डाला। फिर वहाँ पढ़ने से भी इनका मन उचट गया। इस बीच इनके विवाह की बात चली। विवाह तथा पढ़ने के लिए माता, नाना व नानी ने समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु अन्त में जीत चरणदास की ही हुई।

इन्होंने नवें वर्ष माथे पर टीका तथा हाथ में माला धारण की। नाना के घर नित्य श्रीमद्भागवत का पारायण होता था, जिसका इन पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। संवत् १७७६ में ये योग्य गुरु की खोज में निकल पड़े। श्री जोगजीत, रामरूप तथा जसरामजी उपगारी के उल्लेखानुसार इन्हें चैत्र शुक्ल १, संवत् १७७९ को व्यास-पुत्र शुकदेव मुनि के दर्शन हुए। उन्होंने कंठी आदि देकर दीक्षित किया तथा इनका नाम रणजीत से बदलकर चरणदास रखा। चरणदास ने इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकारा है—"गुरु मिले शुकदेव नाम चरणदास धरायो।" यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या अठारहवीं शती में व्यास-पुत्र शुकदेव ने सचमुच दर्शन दिए थे ? साम्प्रदायिक आस्था, मठों में अवस्थित प्राचीन

मूर्तियों, छतरियों तथा पाण्डुलिपियों के प्राचीन चित्रों को देखकर ऐसा लगता है कि चरणदास को वास्तव में शुकदेव मुनि के दर्शन प्राप्त हुए थे, किन्तु काल का दीर्घ अन्तराल इस बात को सहज रूप से स्वीकार न करने को प्रेरित करता है। चरणदास ने एक स्थान पर लिखा भी है—"व्यासपुत्र तुम मम गुरुदेवा, करूँ मानसी तुम्हरी सेवा।" इस आधार पर हम कह सकते हैं कि व्यासपुत्र शुकदेव इनके मानसगुरु थे। वस्तुतः चरणदास के ज्ञान-चक्षु श्रीमद्भागवत के गहन अध्ययन से खुले थे, अतएव इन्होंने श्रीमद्भागवत के वक्ता शुकदेव मुनि को सर्वत्र अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है।

अलवर से दिल्ली आकर इन्होंने योग-साधना आरंभ की। वहीं संवत् १७८१ की माघ शुक्ला पंचमी (वसन्तपंचमी), दिन भृगुवार को सम्प्रदाय की स्थापना की तथा शिष्य बनाने प्रारम्भ किए। चरणदासजी पीली टोपी व पीला चोला धारण करते थे।

आपने अनेक चमत्कार दिखाए। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—सिंह को दीक्षा देना, घोड़े से राम-राम बोलवाना, नरक का दर्शन कराकर भक्त बनाना, माता को गोलोक का दर्शन व गंगास्नान कराना, आँवले के पेड़ से स्वर्ण-मुद्राओं की वर्षा कराना, लड़की से लड़का बना देना आदि। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण घटना नादिरशाह-सम्बन्धी है, जिसका उल्लेख जेम्स हेस्टिंग्ज ने अपने 'इन्साइक्लोपीडिया' तथा गार्डन सैण्डर्स ने 'दि लिस्ट ऑव मुहम्मडन एण्ड हिन्दू मॉन्यूमेन्ट्स' में किया है। संवत् १७९५ के भादों मास में निकट भविष्य में नादिरशाह के आगमन की चरणदास ने भविष्यवाणी की तथा एक कागज पर आक्रमण-तिथि, कत्ल-ए-आम, गमन-तिथि आदि विस्तारपूर्वक लिखवाकर बादशाह मुहम्मदशाह 'रंगीला' के पास भिजवा दी। भविष्यवाणी के अनुसार फाल्गुन शुक्ला दशमी, दिन शुक्रवार संवत् १७९५ को नादिरशाह ने दिल्ली में प्रवेश किया तथा कत्ल-ए-आम करवाया। मुहम्मदशाह ने नादिरशाह से जब इस भविष्यवाणी के सम्बन्ध में बतलाया, तो उसे आश्चर्य हुआ। उसने खोजा भेजकर चरणदास को बुलवाया। चरणदास ने आने से इन्कार कर दिया। तब नादिरशाह ने निशकची को हुक्म दिया कि इन्हें पकड़कर ले आओ। दरबार में पहुँचने पर नादिरशाह ने इनसे करामात दिखाने को कहा। इन्होंने उसके सिर की ओर देखा तो उसकी कलँगी पक्षी बनकर उड़ गई। उसने इन्हें जादूगर समझा और पैर में बेड़ियाँ डलवाकर जेल में डलवा दिया। दूसरे दिन काजी ने इनके लिए 'संगसार' (पत्थर की मार) की सजा निर्धारित की। ताला खोलकर जब देखा गया तो बेड़ियाँ तो पड़ी थीं, किन्तु चरणदास गायब थे। इनकी खोज हुई तो अपने स्थान पर पाये गये। निशकची ने नादिरशाह का संदेश सुनाया। तुरन्त ही ये अन्तर्ध्यान हो गए और दरबार में पहुँचे। नादिरशाह ने फिर कोठरी में बंद करके बड़ा ताला स्वयं लगाया और महल में जाकर सो गया। कहते हैं कि अर्द्धरात्रि के समय महाराज चरणदास उसके पास पहुँचे। लात मारकर जगाया और कहा कि 'व्यर्थ अपना जन्म बरबाद न कर। खुदा को याद कर।' नादिरशाह ने इनसे माफी माँगी और इनकी आज्ञानुसार निश्चित तिथि को स्वदेश के लिए कूच कर गया।

आपकी अलौकिक शक्तियों से प्रभावित होकर मुगल सम्राट् आलमगीर द्वितीय, शाहआलम द्वितीय, जयपुर-नरेश ईश्वरीसिंह, सवाई प्रतापसिंह आदि नतमस्तक हुए। वि० संवत् १८३९ की मार्गशीर्ष कृष्ण सप्तमी, दिन बुधवार को आप योग-साधना द्वारा ब्रह्मलीन हो गए।

चरणदासजी की रचनाओं का वितान अत्यन्त विस्तृत है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों में यत्किंचित् नामान्तर के साथ ५६ रचनाओं का उल्लेख मिलता है। इनकी समस्त रचनाओं का संग्रह 'भक्तिसागर' नाम से नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हो चुका है। अनुसंधित्सुओं

ने 'भक्तिसागर' में संगृहीत एवं प्रकाशित सभी रचनाओं को प्रकारान्तर से प्रामाणिक मान लिया है, केवल इस आधार पर कि इन ग्रन्थों को साम्प्रदायिक मान्यता प्राप्त है। सच तो यह है कि चरणदास की रचनाओं का मूल सूत्र उलझकर खो गया है। इनके शिष्यों की अनेक रचनाएँ 'चरणहिदासा' या 'चरणहिदास' छाप लगाकर भक्तिसागर में सम्मिलित कर दी गई हैं। पाठालोचनात्मक अनुशीलन करने पर मुझे प्रकाशित २९ रचनाओं में से केवल ११ रचनाएँ प्रामाणिक जान पड़ीं—१. व्रजचरित, २. अमरलोक, ३. संदेहसागर, ४. ज्ञान-स्वरोदय, ५. भक्तिपदारथ, ६. ब्रह्मज्ञान, ७. शब्द, छप्पय, कवित्त, लीलाविषयक छन्द, ८. जागरण-माहात्म्य, ९. दानलीला, १०. कालीनथन-लीला तथा ११. नासकेत। डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल को 'पाण्डवन को यज्ञ-लीला' नामक एक और रचना प्राप्त हुई है, किन्तु उसकी प्रामाणिकता के विषय में निर्विवाद रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इनकी रचनाओं का विषयानुसार विभाजन इस प्रकार हो सकता है—(क) कृष्ण-भक्तिविषयक—व्रजचरित, अमरलोक, जागरण-माहात्म्य, दानलीला, कालीनथन-लीला, लीलाविषयक छन्द; (ख) राम एवं कृष्ण-लीलाविषयक शब्द, छप्पय और कवित्त; (ग) पौराणिक—नासकेत; (घ) योग तथा ज्योतिष—संदेह-सागर, ज्ञान-स्वरोदय; (च) दर्शन—ब्रह्मज्ञान।

कृष्ण-भक्तिविषयक रचनाओं का बाहुल्य हमें बिना किसी ननुनच के चरणदासजी को एकांत कृष्ण-भक्त घोषित करने के लिए बाध्य करता है। वस्तुतः इनकी रचनाओं पर श्रीमद्भागवत का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। फिर भी इनकी राम के प्रति पर्याप्त आस्था थी। चरणदास अपने नाम के स्थान पर हस्ताक्षर में 'राम-राम' ही लिखते थे। गुरु शुकदेव ने भी इन्हें 'राम-नाम' रूपी मंत्र दिया था—'गुरु शुकदेव मंत्र निज दीन्हो राम नाम ततसारा'। इसीलिए चरणदासजी उन्हें कृष्ण से अभिन्न, सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, सर्वसहायक एवं गुरु मानते हैं—

वही तौ अडिग्ग राम चौथे पद वास जाको,
वही तौ अडिग्ग राम मथुरा में आयो है।
वही तौ अडिग्ग राम जोगी जाको ध्यान धरैं,
वही तौ अडिग्ग राम सीतापति पायो है॥

वही तौ अडिग्ग राम सभी ठाम रमि रह्यो,
वही तौ अडिग्ग राम संतन सहायो है।
वही तौ अडिग्ग राम चरणदास चेरो जाको,
वही तौ अडिग्ग राम काया खोजि पायो है॥

चरणदासजी की रचनाओं में भक्ति के विविध रूप मिलते हैं, यथा—वैधी, प्रेमा, परा आदि। उसमें एकादश आसक्तियों तथा छहों प्रपत्तियों के भी दर्शन हो जाते हैं। माधुर्योपासना में इन्होंने सखीवेश भी धारण किया। जोगजीत ने इनकी तत्कालीन वेशभूषा का वर्णन करते हुए लिखा है—

सखी भेष चरणदास जु धारे।
चूड़ी माँग सिंदूर सँवारे॥
कर मेंहदी पग कंकण साजें।
सखी भेष पटभूषण साजें॥

ये अपने जीवनकाल में ही सखीभावोपासक संत के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। समकालीन ललित-सम्प्रदायानुयायी किशोरीअलिजो ने इस बात की स्पष्ट चर्चा की है—

श्रीमुख को यह वचन है, राधा जीवन प्रान।
तिनकी छबि को निरखि कै, ह्वै रही सहज बिकान॥

ता स्वामिनि की सखी ह्वै, सेवा पाई आप।
प्रिया चरन सेवन करत, मिली चरन को छाप॥

चरनदास यह नाम धरि, प्रगट जगत में आय।
जे-जे जन सनमुख भये, ते लीने अपनाय॥

निम्बार्क-सम्प्रदायानुयायिनी बाई सुन्दरकुँवरि, जो चरणदास की समकालीन थीं, ने अपनी 'मित्र-

शिक्षा' नामक रचना में तो चरणदासजी का सखीभावपरक नाम 'प्रेममंजरी' तक बता दिया है –

श्री प्रेममंजरी नाम जिहिं, चरनदास ह्वै अवतरी।
श्री शुक शिष्य जग माँह, सम्प्रदाय शुक प्रगट करी॥

चरणदासजी की प्रारम्भिक दो रचनाएँ—'ब्रजचरित' तथा 'अमरलोक' लीलापरक होते हुए भी चिन्तन-मननप्रधान हैं। वस्तुतः इन लीलाओं की योगपरक व्याख्या अपेक्षित है। राधा महाकुण्डलिनी-स्वरूपा हैं, इड़ा-पिंगला आदि नाड़ियाँ गोपियाँ हैं। शरीरस्थ चक्र ही निकुंजें अथवा तीर्थं हैं, यथा—मूलाधार : मायापुरी, स्वाधिष्ठान : कांची, मणिपूर : अवन्तिका, अनाहत : मथुरा-वृन्दावन, विशुद्ध : द्वारका, आज्ञा : काशी, सहस्रार : अयोध्या। सुरति के बाग—वृन्दावन—में राधाकृष्ण का मिलन होता है, रस की अखंड वर्षा और अनन्त आनन्द की उपलब्धि यहीं होती है। यही महासुख है, नित्यरास है।

इन रचनाओं की भाषा मेवाती व अहीरवाटी का मिश्रित रूप है।

चरणदास द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय 'शुक-सम्प्रदाय' के नाम से जाना जाता है। इस सम्प्रदाय की ५२ गद्दियाँ एवं १४०० स्थान थे। स्वयं चरणदासजी ने अपने स्थान का उत्तराधिकारी किसीको नियुक्त नहीं किया। इनकी बगीची के पास अवस्थित तीनों गद्दियाँ (गुसाइं जुगतानंदजी की, स्वामी रामरूपजी की व सुश्री सहजोबाई की) सदर गद्दियाँ कहलाती हैं। शेष सभी गद्दियाँ एवं स्थान इन्हीं गद्दियों के अधीन हैं।

इनके चार भक्तिपरक पद नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं—

(१)

बाजत घुँघरू की झनकारी हो।
नृत्यत अजब अनोखी गति सूँ
कृष्णकुँवर गिरधारी हो॥

४/५३

मुकुट जटित सिर अधिक विराजत
अलक झलक घुँघरारी हो।
तान मान सुर ताल मधुर धुन
तत्त तत्त ततकारी हो॥

उघरत गति संगीत कला सब
पग नूपुर झनकारी हो।
जुगल स्वरूप रूप अद्भुत धर
विहरत दे-दे तारी हो॥

रसिक सिरोमनि लाल मनोहर
संतन को रखवारी हो।
चरनदास सुकदेव स्याम के
चरनकँवल पर वारी हो॥

(२)

साधो प्रेमनगर के माँहि होरी होय रही।
जबसूँ खेली हमहूँ चित दै
आपनहूँ कूँ खोय रही॥

बहुतन कुल अरु लाज गँवाई
रहो न कोई काम।
नाचि उठैं कभी गावन लागैं
भूलें तन धन धाम॥

बहुतन की मति रंग रँगी है,
जिनकूँ लाग्यो प्रेम।
बहुतन कूँ अपनी सुधि नाहीं,
कौन करै ऐसो नेम॥

बहुतन की गदगद ही वाणी,
नैंनन नीर ढुराय।
बहुतन को बौरापन लाग्यो,
ह्वाँ की कही न जाय॥

प्रेमी की गति प्रेमी जानै
जाके लागी होय।
चरनदास उस नेहनगर को
सुकदेवा कहि सोय॥

(३)

हमारे घर आये हो सुन्दर श्याम ।
तन की तपन मिटी देखत ही नैनन भये आराम ।।

आँगन लिपाऊँ चौक पुराऊँ फूल बिछाऊँ धाम ।
आनंद मंगलचार गवाऊँ सुन ये पूरणकाम ।।

अब जागे सखि भाग हमारे मन पायो विश्राम ।
चरणदास शुकदेव पियाकूँ हितसों करूँ प्रणाम ।।

(४)

हिंडोला झूलत नन्दकुमार ।
जोड़ी युगलकिशोर बिराजै नान्हीं परत फुहार ।।

कंचन खंभ जटित हीरनसों नग लागे ता माँहि ।
पटुली अधिक अनूपम सोहै डोरी सुरंग सुहाँहि ।।

चहूँ ओर बदरा घेरि आये उमड़-घुमड़ घहराहीं ।
गरजत मेघ पवन झकझोरत दामिनि दमक दुराहीं ।।

गावत गीत मलार सहेली मिल-मिल दै-दै तार ।
झोरा देत विशाखा ललिता आनँद बढ़ो अपार ।।

बोलत मोर पपीहा कोयल दादुर हंस चकोर ।
हरी भूमि ऋतु भई सुहाई भौंर करत अतिशोर ।।

भीजत रंगरँगीले प्यारे शोभा कही न जाय ।
चरणदास शुकदेव श्याम को दोउ कर लेत बलाय ।।

म० गो० भा०
रा० प्र० त्रि०

चरणदास (द्वितीय)

गोस्वामी चरणदासजी (द्वितीय) का विस्तृत जीवन-परिचय प्राप्त नहीं होता, परन्तु इतना निश्चित है कि ये श्री स्वामी रसिकदेवजी महाराज के शिष्य थे। 'शिक्षा-प्रकाश' नामक अपने ग्रन्थ के मंगलाचरण में इन्होंने स्वयं लिखा है—

श्री रसिकदेव रसिकन मुकुट, श्री स्वामी सिरताज ।
रसिक अनन्यता रीझि कछु, बरनत हौं महाराज ।

किशोरीदासजी ने 'निजमत-सिद्धान्त' में इनके सम्बन्ध में लिखा है कि इन्होंने माथुर (कायस्थ) कुल को पवित्र किया था—

श्रीमत चरणदास रंग भीनी ।
माथुर कुल को पावन कीनी ।
सखीभाव को कीन प्रकासा ।
श्रीगुररसिक चरन की आसा ।।

पीताम्बरदेवजी ने श्री चरणदास की प्रशस्ति गाते हुए उनके चरणों की धूल की याचना की है—

चरनदास जय नागरी, हरि के दास विलास ।

• • •

इनके पद की रज झरौं, पीताम्बर के सीस ।।

स्वामी पीताम्बरदेवजी भी श्री रसिकदासजी के शिष्य थे। इनके द्वारा की गई चरणदासजी की स्तुति से यह सिद्ध होता है कि चरणदासजी इनके ज्येष्ठ गुरु-भ्राता थे । स्वामो रसिकदेवजी का गद्दी पर बैठने का समय सं० १७४१ वि० से सं० १७५८ वि० तक माना जाता है। इधर श्री किशोरदासजी के ग्रन्थ 'शिक्षा-प्रकाश' का लिपिकाल सं० १८३६ है। इनके अन्य ग्रन्थ 'रहस्यदर्पण' का लिपिकाल सं० १८१२ तथा 'रहस्यचन्द्रिका' का लिपिकाल सं० १८१८ है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में इन सबके आधार पर श्री चरणदासजी (द्वितीय) का समय सं० १७१०–१७८० वि० के बीच निश्चित किया गया है।

इनके चार में से तीन ग्रन्थों का रचनाकाल सं० १७५३ से १७६१ के बीच माना गया है। ये ग्रन्थ बाई इंदुकुँवरि और बाई श्यामदासी के लिये लिखे गये थे।

चरणदासजी पीताम्बरदासजी आदि अनुगतों को लेकर टटियास्थान के समाज में सम्मिलित हुआ करते थे, ऐसा उल्लेख राधावल्लभीय गोस्वामी चन्द्रलालजी

ने अपने ग्रन्थ 'वृन्दावन-प्रकाशमाला' में किया है। यह समाज श्री ललितकिशोरीदेवजी के समय में स्वामी श्री हरिदासजी महाराज के जन्मोत्सव पर आरम्भ किया गया था।

स्वामी चरणदासजी ने 'शिक्षा-प्रकाश', 'भक्तिमाला', 'रहस्य-दर्पण' एवं 'रहस्य-चन्द्रिका'–इन चार ग्रन्थों की रचना की। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज-रिपोर्ट में भी इन्हीं ग्रन्थों का उल्लेख है।

इनके दो ग्रन्थ 'रहस्य-दर्पण' और 'रहस्य-चन्द्रिका' वृन्दावन शोध-संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित हैं, जो उसे मथुरा के पं० मुरारीलाल शर्मा के ग्रन्थागार से प्राप्त हुए हैं।

'रहस्य-दर्पण' कुल ४४ पृष्ठों की एक छोटी-सी रचना है। इसमें नित्यविहार की ललित लीलाओं का गान किया गया है। ब्रजभाषा के अतिरिक्त कुछ पदों में राजस्थानी आदि भाषाओं के प्रभाव से युक्त रचनाएँ भी हैं। नित्यविहार को ये स्वामी हरिदासजी की ही सम्पत्ति मानते हैं, उन्हींकी कृपा से यह उपासक को प्राप्त हो सकती है, ऐसा इनका कथन है–

यह बिहार अरु सुख-संपति।
यह सब हरिदासी की संपति॥

याकी सम कोऊ जिनि जानौ।
थोरी कही बहुत करि मानौ॥

पुनि कहि कहा बढ़ाऊँगाथ।
यह सब हरिदासी के हाथ॥

इनकी कृपा धरनि जब होई।
तब यह संपति बिलसै कोई॥

प्रिया-प्रियतम की लीलाओं के दो अत्यन्त समृद्ध चित्र इन छन्दों में प्रस्तुत हैं—

(१)

रस कौ निकेत, मोनकेत के विजेत धाम,
सरस संकेत तहाँ प्रेम अनुकूल्यौ है।
ढिग हरिदासी निवारत हैं भँवर-भीर,
तहाँ स्याम-स्यामा मुख देखत मन फूल्यौ है।

चरनदास उपमा अनूठी यह दैबे कौं,
मेरौ मन आनंद कौ सिंधु रस झूल्यौ है।

चन्द के प्रकास कंज प्रफुलित सुन्यों नाहि,
अद्भुत यह चंद कौ प्रकाश कंज फूल्यौ है॥

(२)

होड़हि परी है, किधौं परी है सहज बानि,
सुखनिधि स्यामा-स्याम सुंदर सलौनो सौं।

इकटक ओक नितैं पान करे रूप-सुधा,
निभृत निकुंजनि सु दोऊ चरन दौनो सौं।

चरनदास महल की नाहीं सहल बात,
कहा कहौं चंद गह्यौ गात वै बौनो सौं।

अलि हरिदासी नित कौतुक निहारे तहाँ,
खेलत खिलैया प्रेम-दंपति खिलौनो सौं॥

अपने ग्रन्थ 'रहस्य-चन्द्रिका' में श्री स्वामी हरिदासजी की कृपा को ही इन्होंने सर्वोपरि माना है–

राम-कृष्ण के विष्णु के, भक्तन कौ नहि पार।
पै हरिदासी कृपा बिनु, लहै न नित्य बिहार॥

सखीभाव की साधना के प्रवर्तक श्री स्वामीहरिदासजी की प्रशंसा इन्होंने भावविभोर होकर की है—

श्री ललिता हरिदास नित, सहचरि कुंजनि केलि।
तिनको कृपा मनाय करि, कहूँ दंपति रसकेलि॥

कहूँ दंपति रस-केलि, कहत हौं वरविहार को।
बिहरत कुसुमित कुंज, सेव्य नित कोटि भार की॥

तहाँ अखंडित बहत, प्रेम पूरित सुख-सरिता।
नेह-नाव-खेवक-प्रवीन, श्री हरिदासी ललिता॥

स्वामी चरणदासजी नित्यविहार के टकसाली गायक हैं। रीतिकाल का भाषा-सौष्ठव, अलंकरण एवं चित्रोपमता इनके काव्य में सहज रूप से

विद्यमान हैं। ये एक समर्थ कवि और उच्चकोटि के भक्त हैं, इसमें संदेह नहीं।

श० वि० गा०

चरणदास (तृतीय)

श्री चरणदासजी (तृतीय) राधाकृष्ण के अनन्य रसिकोपासक थे। 'श्री हित-अनन्य-रसिकावली' में इनकी अभ्यर्थना इस प्रकार की गई है—

अति सूधे पै विकट पंथ पै चले भाँति भल।
अति भोरे पै चतुर रीति हित निर्मल निश्छल।।

अनत नहीं विश्राम नाम वाणी हरिवंशहि।
अपने इष्ट सु सेवा में मन मगन सदा रहि।।

बहुत छिपायौ छिप्यौ नहिं, भजन तेज माथै दिपे।
हित चरणदास ऐसे रहे, ज्यों गूदरि हीरा छिपे।।

इनका जन्म संवत् १९५० में व्रज के रार ग्राम में एक वैश्य-परिवार में हुआ था। बहुत छोटी अवस्था में माता-पिता का निधन हो जाने के कारण इनका लालन-पालन इनके बड़े भाई वृन्दावनदासजी ने किया था। बाल्यकाल में खेलने में इनकी अधिक रुचि थी। फलतः बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी इन्हें हिन्दी का मात्र अक्षर-ज्ञान ही हो सका। बड़े भाई ने इन्हें वाणिज्य-कार्य (दुकानदारी) में लगाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु इनका मन उस काम में भी नहीं लगा, इस कारण से बड़े भाई वृन्दावनदासजी अत्यन्त दुःखी रहते थे।

वृन्दावनदासजी कभी-कभी वृन्दावन में बाबा संतदासजी के पास आया करते थे। बाबाजी महाराज की साधु-सेवा, सदुपदेशों तथा साधुजनोचित सद्गुणों से वे अत्यधिक प्रभावित थे। कभी-कभी वे बाबाजी के पास दो-चार दिन रह भी जाते और साधु-सेवा किया करते थे। एक दिन उन्होंने अपने छोटे भाई चुन्नू (श्री हित चरणदासजी) की जीवन-चर्या सुनाते हुए प्रार्थना की—"महाराज ! मैं उससे बहुत दुःखी हूँ और वह भी मुझसे बहुत दुःखी है। कृपा करके आप मुझे ऐसा उपाय बतायें जिससे वह भी सुखी रहे और मैं भी सुखी हो जाऊँ।"

बाबाजी ने कहा—"**सुखी मीन जहँ नीर अगाधा जिमि हरिशरण न एकौ बाधा।।** —इसलिए भैया वृन्दावनदास ! तुम अपने छोटे भाई चुन्नू को प्रभु के चरणों में डाल दो। उसका जीवन सुधर जायगा।"

बाबाजी की बात वृन्दावनदासजी के गले उतर गयी। अतः उन्होंने दूसरे दिन ही अपने छोटे भाई चुन्नू को लाकर श्री हित संतदासजी के चरणों में डाल दिया। इस समय चुन्नू की आयु २८ वर्ष की थी। बाबाजी ने चुन्नू को गो० युगलवल्लभजी महाराज से दीक्षित कराकर संत-वेश प्रदान किया और इनको चुन्नू से चरणदास बना दिया।

उस समय बाबाजी के पास श्री हित नवेलीशरणजी तथा श्री हित नागरीदासजी नामक दो और नवयुवक साधु थे। समवयस्क होने के कारण उनके साथ हितचरणदास का मन खूब रम गया। अब ये इन दोनों के साथ रहकर बाबाजी महाराज के निर्देशन में साधु-सेवा करने लगे। साधु-सेवा से अवकाश मिलने पर बाबाजी इन्हें 'श्री हित-चतुरासी' तथा 'श्री हित-सेवकवाणी' आदि रसिक-वाणियाँ कंठस्थ कराया करते थे। बाबाजी की विशेष अनुकम्पा से इनका अक्षर-ज्ञान काफी बढ़ गया। इससे थोड़े ही दिनों में इन्हें 'श्री राधा-सुधानिधि', 'श्री राधा-उपसुधानिधि', 'भक्त-नामावली', 'वृन्दावनसत', 'आनन्दाष्टक', 'भजनाष्टक', 'यमुनाष्टक', 'श्री हरिवंशाष्टक', 'मनशिक्षा', 'मंगल-विनोद-वेली', 'श्री राधाकृपाभिलाष वेली' और 'करुणा-वेली' आदि अनेक वाणियाँ कंठस्थ हो गईं। इनका पाठ ये चलते-फिरते और सेवा-कार्य करते हुए नित्यप्रति किया करते थे।

कुछ दिन बाद हित संतदासजी की आज्ञा से श्री नवेलीशरणजी मदनटेर जाकर साधु-सेवा करने

लगे। अब बाबा हित चरणदास के कंधों पर ही गुरु-स्थान की साधु-सेवा का भार आ पड़ा जिसे गुरुदेव बाबाजी के निर्देशन में इन्होंने यथोचित रूप में हार्दिक अनुराग और गाढ़ी लगन के साथ पूरा किया। सं० १९२३ में श्री संतदासजी निकुंज-धाम में प्रविष्ट हो गये। इसके पश्चात् कुछ दिनों तक तो ये गुरु-स्थान की साधु-सेवा का दायित्व सम्हाले रहे, किन्तु बाद में श्री हित श्यामदासजी (श्री संतदासजी महाराज के छोटे गुरुभाई) को वह स्थान देकर आप श्री हित सेवकशरणजी महाराज के प्रश्रय में आकर नन्दराम के बगीचे में रहने लगे। इनकी साधुजनोचित दिनचर्या, रसिक-रहनी और श्रीजी की सेवा के प्रति आन्तरिक प्रीति देखकर हित सेवकशरणजी अपनी सेव्य 'श्रीजी की नाम-सेवा' की सम्पूर्ण परिचर्या इन्हींसे कराने लगे और इनका भी हृदय इस सेवा को प्राप्त कर तुष्ट-पुष्ट होने लगा। वाणी-पाठ इस समय भी अबाध गति से ज्यों का त्यों चलता रहा।

हित चरणदासजी साधु-समाज में रहकर भी अपने को एकाकी अनुभव करते थे। रसिकों ने कई बार देखा था कि ये सेवा करते तथा वाणी-पाठ करते समय किसीसे कुछ बातचीत कर रहे हैं। ये कभी 'हूँ' कहते और कभी 'न' कहते, कभी हँसते तो कभी मौन हो जाते थे। इन्होंने एक बार स्वयं भी रसिकवर हित नवेलीशरणजी से कहा था—"बाबा! मेरे काम में कधू दिनान तें श्री हित चतुरासी और श्री सेवकवाणी कौ पाठ सौ गूँज्यौ करै है और कबहुं-कबहूँ श्री हरिवंश-श्री हरिवंश नाम की गुंजार सुनाई परै है, मैं कहीं बावरौ तौ नाँय ह्वै जाऊँगौ।" वहाँ पर उपस्थित सभी रसिकजन इनकी भोली बातों को सुनकर हँसने लगे। बाद में श्री हित नवेलीशरणजी ने कहा कि "इनकी यह उन्मादपूर्ण दशा और यह भोलापन श्री हित दम्पतिरूपी निधि प्राप्त होने का परिचायक है।"

परिणतवय में इनका शरीर रुग्ण रहने लगा था। शारीरिक कमजोरी के कारण श्री राधावल्लभलाल के दर्शन नित्यप्रति नहीं कर पाते थे। यह बात रो-रोकर इन्होंने कई रसिकों से सुनाई। इनकी आन्तरिक व्यथा समझकर कुछ महात्मा इन्हें श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में ही ले आये। इनकी आनन्दोन्माद-दशा बढ़ती ही गई। परिणामतः एक दिन ये अपने पांचभौतिक शरीर को त्यागकर श्री राधावल्लभजी महाराज की निकट परिचर्या में पहुँच गये। इनका निकुंज-गमन-काल सं० २०२० है।

श्या० बि० खं०

चरणदास (चतुर्थ)

चरणदासजी (चतुर्थ) का जन्म कन्देली जिला नरसिंहपुर में हुआ था। इनके विषय में केवल यह ज्ञात हुआ है कि ये वल्लभ-सम्प्रदायी कृष्ण-भक्त कवि थे। इन्होंने 'धर्मप्रकाश' एवं 'विनयप्रकाश' शीर्षक ग्रन्थों की रचना की थी। उनका प्रतिपाद्य भागवत-संप्रदायानुकूल आराधना बताई जाती है।

त्रि० ना० शु०

चरणदास (पञ्चम)

स्वामी चरणदास का (पञ्चम) जीवनवृत्त अनुपलब्ध है। इनके नौ ग्रन्थों का पता चला है जो विविध विषयों से सम्बद्ध हैं। इनमें से एक रचना श्रीकृष्ण की दधि-लीला के निरूपण से सम्बद्ध है। 'मटकी और होली' इसमें गोपियों के विरह का अच्छा वर्णन मिलता है। कवि अथवा रचना के सम्बन्ध में विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

मुरली की धुन सुन बिरह बान लग
आय कलेजे में खटकी।
दध भाजन लै धरो सीस पर
मोहन देखन को सटकी॥
चरनदास काहु कि न मानें
सास-ननद केतो हटकी।
चार दिरग जब भये स्याम रूप
चट चौपट मटकी पटकी॥
हँस्ता देख मदन मोहन कूं
ग्वालन आपन कूं ठठकी।

दौर कन्हैया जाय गहो जब
पकर चीर कर सूं झटकी ॥

चरनदास हूँ हाहा करती
सुन्दर पायन कूं लटकी ।
केतो कहो जु कछू नहीं मानत
ले मटकी चौपट पटकी ॥

वा० सि०

चरणदास (षष्ठ)

कृष्णभक्त दयाराम मिश्र के तृतीय पुत्र चरणदास (षष्ठ) का जन्म सं० १८६७ (१८१० ई०) में कौड़िया ग्राम में हुआ था । पिता के संस्कार पुत्र को मिले और चरणदास श्रीहरि जू के उपासक हो गए। इन्होंने जीवनभर कृष्ण की आराधना की और अस्सी वर्ष की आयु में सं० १९४७ में कौड़िया में परम गति प्राप्त की ।

चरणदासजी ने कृष्ण-भक्ति से प्रेरित स्फुट पदों की रचना की है, पर अभी तक इनके अधिक पद प्राप्त नहीं हुए हैं । यहाँ एक पद बानगी के रूप में प्रस्तुत है—

मन तू कृष्ण-चरन अनुरागौ ॥
माया जाल समूह महा दुख विषय-भोग-रस त्यागौ ।
जो सुख चाहौ अपने तन को नित हरि-भजन में पागौ ॥
हरि-जस गाय नाम-सुमिरन कर आठ पहर नित जागौ ।
'दास चरन' जीवन के काजें भक्ति-मुक्ति गति माँगौ ॥

न० प्र० गु०

चरणरेणु

चरणरेणु के विषय में विशेष सूचना उपलब्ध नहीं है । इनकी जन्म-तिथि, जन्म-स्थान और माता-पिता के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञात नहीं है। ये निम्बार्कपीठाधीश्वर गोविन्दशरण देवाचार्यजी की शिष्या थीं, इसका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रन्थ 'सरन-प्रताप' में किया है—

(श्री) गोविंद देव सुख रास रहि, सीत चरन की ठाँह ।
सरन लिये बहु तर गये, जाकी पकरी बाँह ।
गोविंद सरन उदारता, कही कौन पै जाय ।
नाना जीव उधारता, रह्यो सुजस जग छाय ॥

चरणरेणु निम्बार्क-सम्प्रदाय में बचपन में ही दीक्षित हो गयी थीं, परन्तु इसका ज्ञान इन्हें बाद में हुआ था । इन्होंने लिखा है—

मैं ऐसी जानी नहीं, सरन लिवायो मेरी माय ।
गुरू लई अपनाय मोहि, मात-पिता की नांय ॥

चरणरेणु ने संन्यस्त जीवन व्यतीत किया था । ऐसा प्रतीत होता है कि गृहस्थ-जीवन का पूर्ण सुख भोग करने के बाद इन्होंने विरक्त-जीवन में प्रवेश किया था । सम्भव है कि इन्हें वैधव्य-दुःख का अनुभव हुआ हो और इस दुःख से संत्रस्त होकर इन्होंने श्री गोविन्दशरणदेव की शरण ग्रहण की हो । एक स्थान पर इन्होंने इसका संकेत इस प्रकार किया है—

लग्यो नहीं हरि रंग कुसंग को संग सुहायो ।
मात पिता सुत बंधु ससुरारहि देखि फुलायो ॥

संन्यस्तावस्था में ये सलेमाबाद में ही रही होंगी । इन्होंने अपने ग्रन्थ 'सरन-प्रताप' में श्री सर्वेश्वरशरण की प्रशस्ति लिखी है जो श्री गोविन्दशरणदेवजी के पश्चात् गद्दी पर सुशोभित हुए थे ।

चरणरेणु कृत 'सरन-प्रताप' उपदेश-निरूपक रचना है । इसमें ४० छन्द हैं जिनमें १० दोहे तथा ३० ख्याल हैं । 'सरन-प्रताप' में गुरुचरणशरण का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है । इन्होंने आत्म-निवेदन के भी पद लिखे हैं, जिनमें अपनी अल्पज्ञता, अज्ञता, वासनात्मक भावनाओं एवं कुत्सित चेष्टाओं को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है । श्री गोविन्दशरणदेव के चरणों में इन्होंने सर्वात्मभाव से समर्पण किया था—

ह्वै है नांहि यासो हेत सिर पर आये सेत ।
एक अवगुन कह्यो नहिं जाय कैसो करूँ महाराज॥

पाँव से लगाय लै के सीस ते भराई है।
ऐसो जीव येहि जानि, अरज करत है सोई मानि,
सरन पर्याँ की प्रभु आप ही को सरम है॥

चरणरेणुजी ने गुरुदेव की चरण-शरण के आधार तथा उनकी वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण की प्यारी श्री राधारानी का भरोसा किया है क्योंकि वे ही अनाथों के नाथ हैं। ये कहती हैं कि गुलाम का उद्धार करना पड़ेगा क्योंकि मैंने आपका सुयश सुनकर आपकी शरण ग्रहण की है—

भारी तो भरोसो मोहिं,
वृन्दावनचन्द प्यारी लाडिली गोविंद को।
अनाथन के नाथ जान गिरधारी सिर धारे,
गैल के बतावन हरि ऐसे संत जनन को॥

झषत हं काल जाल नावं नहीं लियो जाये,
परिगई यहि बानि रसना चुपकारी को॥

गज गीध गनिका तारे अजामिल सो
उबारे बिरद ऐसे लये भारे,
अब कहा भूलो देखि मोसे अभिमानी को।
याहि से सिर जोर जाने
पतितन में सिरमौर माने
जासे ही बिसारे आप ऐसे सुन अधम को॥

करत है बड़ाई जन सुनिकें पतित मन,
जासे आइ लई सरन, करो अब निखाते,
प्यारे मोसे गुलाम को॥

'सरन-प्रताप' ग्रन्थ ४० छन्दों में लिखा गया है। इसमें मुक्तक छन्द का प्रयोग किया गया है। सम्प्रदाय के वैष्णव उसे 'ख्याल' कहते हैं।

रा० प्र० कु०

चरनदास पुजारी

श्री चरनदास पुजारी राधावल्लभीय भक्त थे। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इनकी प्रशस्ति इस प्रकार की गई है—

श्री राधावल्लभ इष्ट प्रीति सौं सदा सिंगारे।
तिनहीं के समतूल गनै जे प्रभु के प्यारे॥
रसिक संग रस झिलत
मिलत सुख बचन सुधाकर।
जुगल चरित आसक्त
विचार रहत आनन्द भर॥
बहु कृपा भीतरे भाव की,
श्री कमलनैन गुरु पद नमित।
सेवा की मूरति मनो,
श्री चरनदास पुजारी गुन अमित॥

—रसिक अनन्य-परचावली

पुनि अम्बुज नैन कृपा प्रसंग।
चरनदास पुजारी सुमति अंग॥

सेवैं राधावल्लभ हिय उमंग।
होरी के खेल छकि जात रंग॥

—चतुर्थ-वसन्त-प्रबन्ध

इनका जन्म वृन्दावन के किसी ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इन्हें श्री हित-चरणानुरक्ति माता के दूध के साथ ही प्राप्त हुई थी। माता-पिता के लाड़ले पुत्र होने के कारण ये अधिक पढ़-लिख तो नहीं सके, किन्तु गुरुवर गो० श्री कमलनैनजी की कृपा से महल की भावना का परिज्ञान और उसका स्वरूप-प्रकाश इनके हृदय में बढ़ता ही चला गया। श्री राधावल्लभलालजी की रूपमाधुरी में आसक्ति और मन्दिर की परिचर्या में गाढ़ी लगन देखकर गोस्वामीजी ने इन्हें श्री राधावल्लभलालजी की अंग-सेवा करने का सौभाग्य प्रदान किया। ये परमाराध्य श्री हित राधावल्लभलालजी का शृंगार परम प्रीति के साथ किया करते थे। सेवकजी की ये पंक्तियाँ—

श्री राधावल्लभ भजत भजि, भली-भली सब होय।
रसिक अनन्य सजाति भजि, भली-भली सब होय॥

और 'रसिकन सों प्रीतम कहैं' की यथार्थता इनके जीवन में मूर्त्त रूप से प्रत्यक्ष देखी गई थी। रसिक-

जनों के शुभागम और दर्शन से इनका हृदय प्रसन्न हो जाता था और ये प्रभु के समान ही उनकी सेवा किया करते थे। इनके पास रसिकों का संघट्ट वना रहता था। इनके मृदु सम्भाषणपूर्ण रस-चर्चा से रसिकों का हृदय तुष्ट-पुष्ट हुआ करता था। इस प्रकार की रस-परिचर्चा से समुपलब्ध रस की खुमारी इन्हें जड़ जैसी बना देती थी और तव ये श्री युगलवर की ललित लीलाओं के चिन्तन में मग्न हो जाते थे। आसक्ति का स्वरूप ही ऐसा है।

इनका विद्यमान-काल सं० १७०० से लेकर सं० १७८० के वीच अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

चिन्तामणि

चिन्तामणि के आविर्भाव-काल के सम्वन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। 'रासमण्डल' नामक इनकी एक रचना उपलब्ध है जिसका लिपिकाल सं० १८२५ दिया गया है। इसमें झूलना छन्द में कृष्ण व गोपिकाओं की रास-लीला का वर्णन है। ३० झूलना छन्दों के वाद एक छप्पय छन्द दिया गया है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से यह रचना उच्च कोटि की प्रतीत होती है। यहाँ नमूने के रूप में कुछ छंद दिए जा रहे हैं—

(१)

बापु बहु गोपिका जुगल के मध्य
बहु रूप संगीत की गति प्रवीनो।
विकच वृंदाविपिन बीच बहु बेलि अरु
जोन्ह छीरोद छबिपुंज लीनो।
मधुर गन्धरब गन मुरज धुनि करी
अपसरन कल गान करि तान दीनो।
मध्य श्री राधिका संग माधव मधुर,
रासमंडल रसिकराय कीनो ॥

(२)

कियो गंधरब अपसरन मिलि गान अरु
ताल बीना मुरज मृदु बजायो।
सकल सुषमानि को एक आवास हरि
रास रसरास सज्जिय सुहायो ॥

(३)

बजत सुर दुंदुभी मुरज बीना प्रणत
तार आदिक विविध मधुर बाजे।
निकट नभ विमाननि उघट संगीत की
देव बनितानि कलगान साजे ॥

प्रथम गोपी बहुरि कान्ह गोपी बहुरि
कान्ह यों जुगल छबि पुंज छाजे।
बिरचि मंडल नचत नंदनंदन सहित
सुंदरीवृंद सुंदर बिराजे ॥

वा० सिं०

चिन्तामणि काइथ

चाचा वृन्दावनदास ने 'रसिक-अनन्य-परचावली' में इनका परिचय देते हुए लिखा है—

रन्तिदेव नृप रीति ग्रेह बसि रहि निहकिंचन।
इष्ट भजन में धीर बच्यौ कलि के परपंचन ॥

फाके बीते तीन प्रसाद अन्यास जु आयौ।
लावनवारौ कौन सु काहू मरम न पायौ ॥

सब जुग सबहीं काल मधि,
प्रभु भक्तनि बस आदि तैं।
चिन्तामणि काइथ रसिक,
श्री ब्रजपति गुरु परसाद तैं ॥

—रसिक-अनन्य-परचावली, छप्पय नं० २१३

इससे विदित होता है कि चिन्तामणिजी कायस्थ-कुल में उत्पन्न हुए थे और गोस्वामी ब्रजपतिजी के शिष्य थे। इसके अनुसार ये कृष्णदास के वंशज थे। इसका अर्थ यह है कि गोस्वामी ब्रजपतिजी श्री हिताचार्य के द्वितीय पुत्र गो० श्री कृष्णचन्द्रजी के वंश में प्रादुर्भूत हुए थे। किन्तु इससे यह नहीं पता चलता कि ये उनकी किस पीढ़ी में हुए थे, अतः श्री ब्रजपतिजी का काल-निर्णय करने में कठिनाई है।

चाचाजी ने उनका छप्पय श्री व्रजलाल गोस्वामी से सम्बद्ध छप्पय के पश्चात् और गो० सुखलालजी से सम्बद्ध छप्पय से पूर्व दिया है। इससे यह अनुमानित होता है कि व्रजपतिजी विक्रम की १८वीं शती के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। अतः वही चिन्तामणिजी का समय माना जा सकता है।

श्रीमद्भागवत में राजा रन्तिदेव की कथा आई है। उन्होंने गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भगवद्-प्राप्ति की थी। चाचाजी ने बताया है कि चिन्तामणिजी ने निष्किंचन होते हुए भी राजा रन्तिदेव की भाँति गृहस्थ-आश्रम में रहकर अत्यन्त धीरतापूर्वक अपने इष्ट का भजन किया और कलियुग के प्रपंचों से बचे रहे। एक बार इनको तीन दिन तक भोजन प्राप्त नहीं हुआ। तीसरे दिन कोई व्यक्ति इनके पास प्रसाद लेकर आया, किन्तु किसीको यह पता नहीं चला कि वह कौन था। प्रभु ने चारों युगों में अपने भक्तों की रक्षा की है और उनके अधीन रहते आये हैं।

इससे इनकी उत्कृष्ट साधनात्मक स्थिति का पता चलता है।

ल० च० गो०

चुनचुन पाण्डेय

श्री चुनचुन पाण्डेय का जन्म भागलपुर (बिहार) जिलान्तर्गत रामपुर-भगवान नामक गाँव में सरयूपारी कान्यकुब्ज ब्राह्मण-परिवार में १८९२ ई० में हुआ था। पिता का नाम पं० दामोदर पाण्डेय उपनाम बबुआजी था। वे अत्यन्त न्यायप्रिय, दानवीर, पुराने जमींदार, परम वैष्णव और कुश्ती तथा संगीत में रुचि रखनेवाले थे, साथ ही व्रज, संस्कृत और फारसी के लेखक भी थे। माता श्रीमती मैनादेवी धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं। ऐसे ही वैष्णव-कुल में चुनचुन पाण्डेय का जन्म हुआ था।

सामान्य विद्यालयीय शिक्षा प्राप्त करने के बाद अपनी प्रतिभा से ये हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला में पटुता प्राप्त करने के साथ उर्दू-फारसी, ज्योतिष और गणित के भी अच्छे ज्ञाता बन गये थे। किन्तु साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास में सामाजिक तथा राष्ट्रीय गतिविधियाँ बाधक हो गईं और ये आजादी की लड़ाई से सक्रिय रूप से जुट गये। देखते ही देखते ये महान् क्रांतिकारी के रूप में उभरने लगे। फिर इनका सम्बन्ध प्रसिद्ध क्रांतिकारी संस्था 'ढाका अनुशीलन-समिति' से जुड़ गया और ये पूर्वांचल के नेता बन गये। इस अभियान में इनका सम्पर्क महान् क्रांतिकारी रासविहारी बोस, रेवतीमोहन नाग आदि के साथ हो गया। फलतः ये 'देवघर-षड्यन्त्र-केस' के मुख्य अभियुक्त बन गये। फलतः सन् १९१६-१७ में ये जेल में डाल दिये गये।

जेल से छूटने के बाद क्रांतिकारी दल के निर्णयानुसार उसके गुप्तचर के रूप में सरकारी सेवा में प्रवेश कर ये मधेपुरा (सहरसा) के अनुमण्डलाधिकारी के पेशकार हुए। एस० डी० ओ० श्री अतुल्यधन बनर्जी को इन पर सन्देह हुआ क्योंकि उस समय तक पूर्वाञ्चल में चुनचुन पाण्डेय का नाम अंग्रेजों के लिए हौआ बन गया था। अंततः एस० डी० ओ० को इनकी सही परख हो गई और उसने इन्हें खादी पहनकर आफिस न आने की सलाह दी। इन्होंने सिद्धांत-रक्षा के लिए नौकरी से इस्तीफा दे दिया। किन्तु उसने इस्तीफा स्वीकार न करके इनको बर्खास्त कर दिया। बात यहीं समाप्त नहीं हुई। अंग्रेजी-सरकार के कोप के कारण इनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। फिर ये जीविका के लिए एक स्कूल में हेड पण्डित हो गये और समाज की सेवा करते रहे।

सन् १९२३ ई० में इनके जीवनचक्र में महान् परिवर्तन हुआ। ये राधावल्लभ-सम्प्रदाय के संस्थापक श्री हितहरिवंश गोस्वामी की १२वीं पीढ़ी में अवतरित श्री गोवर्धनलाल गोस्वामी कविचूड़ामणि के सपरिवार शिष्य हो गये। इसके बाद ये धार्मिक नाटक, रासलीला, रामलीला तथा स्वैच्छिक कीर्तन-मण्डलियों की स्थापना व निःशुल्क संचालन में व्यस्त रहने लगे।

पाण्डेयजी राधाकृष्ण के अनन्य एवं दृढ़ भक्त थे। भक्ति के आगे पारिवारिक जीवन को भी दाँव पर लगा देने में ये हिचकते न थे। क्रांति तो इनके जीवन की बुनियाद ही थी। यहाँ भी भक्तिजनित क्रांति होती रही। इसके कई दृष्टान्त हैं। इनके दो पुत्र थे—सच्चिदानन्द पाण्डेय और परमानन्द पाण्डेय। एक बार इनका ज्येष्ठ पुत्र चेचक से आक्रांत हो अन्तिम साँस ले रहा था। इसी समय गुरु का बाहर जाने को आदेश हुआ और ये सब लोगों के मना करने पर भी तत्काल घर छोड़कर बाहर चले गये। भगवान् पर दृढ़ आस्था के कारण पुत्र स्वस्थ हो गया। दूसरी घटना यह है कि एक बार इनके पुत्र को विषैले गेहुँअन ने डँस लिया। लोगों के बहुत कहने पर भी इन्होंने उसकी झाड़-फूंक नहीं करायी और न दवा-दारू के लिए उसे अन्यत्र ले गये। केवल वहीं बैठे-बैठे भगवान् का नाम जपते रहे। मृतप्राय पुत्र धीरे-धीरे होश में आ गया। ऐसी अनेक घटनाएँ इनकी इष्ट-निष्ठा की द्योतक हैं। इनका गोलोकवास ९ फरवरी, १९४७ ई० को हुआ।

हिन्दी और बंगला में इन्होंने राधाकृष्ण के भक्ति-पदों की रचना की है तथा संस्कृत के भी कुछ श्लोक लिखे हैं। उनके कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१)

आजु बन बिहरत स्यामा-स्याम ॥
पावस में ज्यों उमगत क्रीडत नभ दामिनि घन स्याम।
छन प्रगटत छन दुरत अंक भरि अम्बर अति अभिराम॥

त्रिविध पवन परसत मन हरसत रस सरसत सुखधाम।
रुनझुन पग पायल रसनाधुन चुनचुन ललित ललाम॥

(२)

कबहुँ हम निरखें जुगल किशोर।
श्री वृन्दावनधाम कुंजबन निवसैं प्रेम-विभोर॥
राधा-राधा रटत रहैं नित नहिं जानैं निसि भोर।
रस बस रीझैं रसिक सिरोमनि चुनचुन के चितचोर॥

त० ना०

चुन्नीलाल भट्ट

चुन्नीलालजी भट्ट श्री कृष्णभट्ट कलानिधि के पौत्र तथा पं० द्वारकानाथ भट्ट के पुत्र थे। ये व्रजपाल भट्ट के नाम से भी साहित्य में जाने जाते हैं।

आपका 'राधागोविन्द-संगीतसार' (सं० १८३८) ग्रन्थ संगीतशास्त्र से सम्बद्ध है। 'महाभारत का छन्दानुवाद', 'चाह-पचीसी', 'ग्रीष्म-विलास' तथा 'मीराजी की लीला' आपकी अन्य रचनाएँ हैं। बृहत् ग्रन्थ 'राधागोविन्द-संगीतसार' के रचयिताओं में आप प्रमुख थे। इससे प्रसन्न होकर महाराजा सवाई प्रतापसिंह ने आपको सं० १८३८ में बदरवास ग्राम दान में दिया था। इनके ज्येष्ठ पुत्र मंडना भट्ट ने 'रावल-चरित्र' में इसका उल्लेख किया है—

तिनके (द्वारकानाथ) सुत ब्रजपाल हुअ,
कवि कलानिधि के गेह।
श्री प्रताप महाराज सो, बाढ़्यो निसि दिन नेह।
कियो राधागोविन्द के, नाम नयो संगीत।
प्रीति पाय महाराज को, पाय सुरन की रीति॥

इनका 'चाह-पचीसी' ग्रन्थ सवाई प्रतापसिंह के प्रीत्यर्थं लिखा गया था। इस ग्रन्थ में कृष्ण-मिलन के प्रसंग में गोपियों की कठिनाइयों का चित्रण दिया गया है। श्रीकृष्ण से मिलने के लिए व्रजनारियाँ सभी मर्यादाओं को तोड़ती हैं। उनको वस्त्र तथा शरीर तक की सुधि नहीं रहती है। वे माता-पिता को भी छोड़कर चली जाती हैं। एक पद में व्रज-नारी को इस प्रकार चित्रित किया गया है कि वह पति के चरणों में गिरकर कृष्ण को देखने के लिए आज्ञा माँग रही है। यह सामाजिक बंधन प्रेमी और प्रिय के बीच दीवार बनकर दोनों की प्रणय-व्यथा को बढ़ा देता है। यह विरह-वेदना ही गोपियों

का सर्वस्व है क्योंकि विरह प्रेम की कसौटी है। इनका एक कवित्त द्रष्टव्य है—

कोऊ पति पास कोऊ सासन की त्रास,
कोऊ जेंवत निवास कोऊ अंग के मिलन को।
तामें सुनि बाँसुरी को प्रेम में मगन भईं,
पट न सँभार धीर धारे न दिलन को।
रोके न रहति तिन्हैं गहि-गहि हारैं सब,
तिन सम तोरि चलीं लाज के किसलन को।
हरबर गईं घरबर सुधि भूलीं तिय,
हरबर धाईं हरि बर के मिलन को।

कहा जाता है कि चुन्नीलालजी महाराज प्रतापसिंह के विश्वस्त पार्षद थे और उन्हें गीति-रचनाओं की प्रेरणा दिया करते थे। इनके द्वारा लिखित गीति-रचनाओं को सुनकर 'ब्रजनिधि' स्वयं गीति-रचना करते थे। इनकी रचनायें जयपुरी (राजस्थानी) भाषा में भी हैं। इनके संगीतविषयक छन्द 'प्रतापसागर' ग्रन्थ में उपलब्ध हैं।

रा० प्र० कु०

चूड़ामणि

चूड़ामणिजी के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। इनकी एक रचना 'नागलीला' उपलब्ध है जिसका प्रतिलिपि-काल सं० १८९० दिया गया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान थे। 'नागलीला' की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

सदा नाग सौ गरड़ फेरौ मिलायौ।
कहै लालजी नाग आगै जु आयौ॥
उठौ नागजी सेतरा दीप जावौ।
तबै नागजी सेतरा दीप मेल्यौ।
कालो नाग ज नाथि कैं, बैठे कृष्ण गोपाल।
चूरामणि कहै चित्त धरि, प्रगटे नंदकुमार॥

कृ० चं० ला०
वा० सिं०

चेतनदास (प्रथम)

श्री चेतनदास (प्रथम) की अनन्य भगवत्-निष्ठा का वर्णन 'भक्तगाथा' में इन शब्दों में मिलता है—

व्यासनन्द गति गिरा करी हस्तामल सबहीं।
अगम पंथ पग धार भजन बल डिग्यौ न कबहीं॥

रस अनन्य व्रत धार रायजी कौ सँग कीनो।
जुगल भावना मगन संत-सेवन मन दीनो॥

जादौं भक्त के फल लगे, सुन्दर मधुर सुवास।
पगे सु दम्पति कुंज रस, चतुर सु चेतनदास॥

ये कहाँ के निवासी थे—अपेक्षित साक्ष्य के अभाव में यह बताना कठिन है। इन्हें श्री कृष्णोपासना की दीक्षा राधावल्लभीय संत श्री जादौ रसिक से प्राप्त हुई थी। 'श्रीमद् राधासुधानिधि' और 'श्री हितचतुरासी' में संगुप्त रस-रत्नों को इन्होंने गुरुवर की कृपा से प्राप्त कर लिया था और उसी हितवैभव के रसोन्माद में ये दिन-रात छके रहते थे। श्री व्यासजी ने जिस भक्ति-साधना की दुर्गमता बताते हुए लिखा है—'अनन्य व्रत खाँड़े की-सी धार'—उस पथ में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं के आने पर भी रस-भजन के बल से ये कभी विचलित नहीं हुए। संत-सेवा करने में इनकी हार्दिक रुचि थी। ये श्री हित दम्पति की रसमयी लीलाओं की भावना में अहर्निश निमग्न रहा करते थे। इनके अर्धोन्मीलित और रसघूर्णित नेत्र ही प्रकट करते थे कि ये कुंजलीला का रस-पान करते हैं।

इनका विद्यमान-काल सं० १७७० से सं० १८४५ के बीच स्थिर होता है। इनके दो पद प्रस्तुत हैं—

(१)

श्री वृन्दावन सुख को हद सिरमौर।
बरनि सकै यह वैभव को कवि
मति सरसुति भई बौर॥

अति तर कोमल धरनि चरन तें
उपमा कहा कहौं और ।
सघन लता द्रुम लपटि झूमि झुकि
ठगि राखत मन ठौर ॥

भृंग विहग कुरंग सुरंग भरे
रस की मचवत रौर ।
सब रितु समय सबही गुन सम्पति
रहत सदा इहि पौरि ॥

विवि तट त्रिविध कमल भर सौरभ
श्री जमुना बहै चहुँ दिसि जोर ।
तहाँ हित की सखी नेह मदमाती
सजाती साँवल गौर ॥

जोवन जोर किशोर वहिक्रम
छके डारि सिर छोर ।
कहि-कहि अकह अकह न कह कछु
इहि रस छोर न ओर ॥

हँसि-हँसि विहँसि विहँसि हँसि विहँसत
अहिसत अंग अँगोरि ।
रति रतैल मतैल मदन मद
छैल छकैल छछोर ॥

नागरता के आगर नागर
भोरे कहि साँझहि भोर ।
अँग-अँग चोज मनोज ओज अति
बोजल भये वुड़ोर ॥

विथकित बिबस बूड़ि हिय गहवर
हित मद बोर हिलोर ।
लगी लतानि पियें अलि प्यासी
कियें ओक दृग कोर ॥

दरस-दरस सरसत हित जादौं
तृषित होत नहिं तौर ।
येई बान परी मोकौं या
रस बिनु रुचत न और ॥

यह रस श्री हित चरण शरण बिनु
खोज न लहत खखोर ।
तिहि ठाँ पगी ठगो हित चितवनि
सब तें नाक सकोर ॥

(२)

हौं भोरी यह नट नव नागर
रस भीनो बतियनि बस कीनो ।
तैं दई सैन मैन मतवारे कौं
बिन अंकुश कसि कसरि न कीनो ॥

हौं हू सोच रही री हेरी
निज अलि मेरी नेह नवीनो ।
कछु झुकि चितई नैन कजरारे
पोहि गई चितवनि अति पीनो ॥

रति रन सूर धीर नव नागर
घायल घूमि गिरचौ मद मैनी ।
मृदु मुसिकाय जगाइ अंक भरि
अधर सुधा संजीवनि दीनो ॥

गावत जस तेरौ सहचरि गन
प्यारी तू अति परम प्रवीनो ।
तेरी मधु बोलनि हित चितवनि
भोइ गई अँग अँग रँग भीनो ॥

श्या० बि० खं०

चेतनदास (द्वितीय)

प्रणामी सन्त जुगुलदास के शिष्यों में चेतनदास (द्वितीय) अत्यन्त लोकप्रसिद्ध थे। इनका समय १९वीं शताब्दी का मध्यकाल है। इनका जीवनवृत्त यद्यपि अतीत के अन्धकार में विलीन हो गया है, तथापि ये अपनी रचनाओं के कारण कीर्तिशेष हैं। इनके पदों में एक ओर जीवन की नश्वरता का गान किया गया है और दूसरी ओर भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति पराकोटि की अनुरक्ति का वर्णन है। इनकी मधुराभक्ति का परिचय देनेवाले दो पद नीचे दिये जाते हैं—

(१)

लिये जाय रे मोहन मन हरि के ॥

हर घड़ी मोहें पार बुलावे,
कैसे के आऊँ मैं जमुना उतरि के।
जमुना के तीरे-तीरे धेनु चरावै,
मुरली बजावै मुख धरि के ॥

बृन्दाबन की कुंज गली में,
छोड़ि गये वैरागिन करिके।
मैं जानो पिया मोहि मनावै,
उलटि मनाऊँ पैयाँ परिके ॥

(२)

केता दुख सखी एहि ब्रज बसिके।
जाउ हे ऊधो ! माधोपुर नगरी,
एती अरज मेरी कहियो अबसि के ॥

हित अनहित भए प्रभु तजि गये,
पापी प्राण नहिं जात निकसि के।
पिय पिय रटत पीली भई देहिया,
सूक गये कमल नैन नीर झरिके ॥

रा० प्र० त्रि०

चेतनदास (तृतीय)

चेतनदासजी (तृतीय) संत चरणदास के प्रसिद्ध प्रशिष्य अखैरामदासजी के शिष्य थे। इनकी गुरु-परम्परा नामी संतों की रही है। इनके गुरु अखैरामजी जयपुर में खंडार के रास्ते पर अटलबिहारीजी का मन्दिर निर्मित कराकर एवं आश्रम स्थापित करके रहा करते थे। जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह इन्हें गुरु मानते थे। ये महाराजा के निजी चिकित्सक भी थे। अखैरामजी के गुरु गुरुछौनाजी चरणदास जी के योग्यतम शिष्यों में थे। चेतनदास जी को चरणदास-जी, गुरुछौनाजी तथा अखैरामजी की सिद्धियों एवं ज्ञानानुभूतियों का लाभ उठाने का भरपूर अवसर मिला था। आरम्भ में ये गुरुचरणों में जयपुर में ही भजन और योगाभ्यास करते थे परन्तु एक ऐसी घटना घटी, जिससे इन्हें जयपुर नगर से विरक्ति हो गई।

इनकी सुदीर्घावधि की समाधि की दूर-दूर तक ख्याति थी। ये प्रायः एक-एक महीने की समाधि लगाया करते थे। तत्कालीन जयपुराधीश श्री प्रतापसिंह ने इनकी समाधि-शक्ति की परीक्षा-हेतु इनसे निवेदन किया। चेतनदासजी को महाराज का यह हठ अच्छा नहीं लगा परन्तु यह सोचकर कि कहीं उनके प्रति महाराज और अन्य लोगों में अविश्वास न उत्पन्न हो, इन्होंने समाधि लगाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। समाधि की वास्तविकता की परीक्षा के लिए इनके समाधि-स्थल पर राजसेवक नियुक्त कर दिये गये। जब तीन माह तक चेतनदास-जी की समाधि भंग नहीं हुई तो इन्हें मृत मान लिया गया। फिर भी अखैरामजी के आश्रमवासियों के निवेदन पर इनकी अन्त्येष्टि का प्रयास राजदरबार की ओर से नहीं किया गया और निरीक्षण चलता रहा। छह मास के बाद चेतनदासजी ने समाधि तोड़ी। प्रकृतस्थ होने के पश्चात् इन्होंने महाराज से उनके हठ के लिए आक्रोश व्यक्त किया और जयपुर नगर को छोड़कर ये अलवर के पास स्थित माचल ग्राम चले गये। अपने सात मन्दिरों के निर्माण क्रम में अखैरामजी ने यहाँ भी अटलबिहारीजी का मन्दिर, कूप और मठ निर्मित कराया था। चेतनदासजी ने इसे स्वतन्त्र गद्दी का रूप दे दिया और अखैरामजी की निकुंज-प्राप्ति के उपरान्त उसे ही प्रधान गद्दी का दर्जा प्रदान कर ये प्रायः वहीं रहने लगे। बीच-बीच में आवश्यकतानुसार अत्यल्प काल के लिए जयपुर आते रहे। परन्तु इनके शिष्य शीतलदासजी ने जयपुर को पुनः प्रधान गद्दी के रूप में विकसित किया। इनके दूसरे प्रभावशाली शिष्य हंसदासजी ने झींद में स्वतंत्र गद्दी स्थापित की। इनके एक अन्य शिष्य श्री भगवानदास ने वृन्दावन के जुगल-घाट को अपने धर्मप्रचार का केन्द्र बनाया। यहाँ अखैरामजी ने श्री चैनबिहारीजी का मन्दिर निर्मित कराया था। इस प्रकार अकेले चेतनदासजी ने अपने योग्य शिष्यों की सहायता से ४-५ स्वतन्त्र गद्दियाँ स्थापित कर दीं। इन गद्दियों के माध्यम

से इन्होंने चरणदासजी और अखैरामजी के संदेशों एवं उपदेशों का खूब प्रचार-प्रसार किया। तात्पर्य यह कि ये बड़े यशस्वी महात्मा हुए हैं।

सम्प्रदाय-प्रसार की दृष्टि से तो इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है ही, साथ ही साहित्य-सृजन के क्षेत्र में भी इनकी उल्लेखनीय देन है। इनके द्वारा स्थापित केन्द्रों के शिष्यों-प्रशिष्यों और उनकी शिष्य-परम्पराओं में अनेक अच्छे कवि हुए हैं। इनके शिष्य हंसदासजी, शीतलदासजी, रामदासजी और भगवानदासजी का साहित्यिक अवदान उल्लेखनीय है।

चेतनदासजी की दो रचनाएँ प्राप्त हैं— १. वरुण-चरित्र तथा २. वाणी। इनके वरुण-चरित्र की तीन पाण्डुलिपियाँ अभी तक ज्ञात हैं, जिनमें से प्रथम सरस-कुंज जयपुर में, द्वितीय अखैरामजी के मोती-कटलेवाले स्थान में तथा तृतीय श्री जगदीशजी राठौर (वृन्दावन) के यहाँ सुरक्षित है। यह एक अच्छा चरित-काव्य है। इन तीनों में इनकी स्फुट वाणियों का संग्रह भी है, जिसे 'चेतनदासजी की वाणी' का शीर्षक दिया गया है। प्रथम दो पाण्डुलिपियों में इनके मात्र २५ पद संकलित हैं जब कि मोती कटलेवाली प्रति में इनके पदों की संख्या ९० से भी अधिक है।

इन पदों का अवलोकन करने के बाद इस निष्कर्ष पर आसानी से पहुँचा जा सकता है कि ये अच्छे संगीतज्ञ थे। इन्हें राग-रागिनियों का पर्याप्त ज्ञान था और ये एक सुविज्ञ महात्मा थे। इनके अधिकांश पदों में नाम की छाप 'चेतराम' दी गई है। अतः कहा जा सकता है कि इनका कविनाम यही था जब कि धर्म-प्रचारक के रूप में या महंत के रूप में इनका नाम चेतनदास था।

यद्यपि इनकी कुछ वाणियाँ निर्गुण काव्य की शैली में रचित हैं परन्तु अधिकांश कृष्ण-लीला-परक ही हैं। इनके पद अपेक्षाकृत विस्तृत हैं उसमें से कुछ तो १६ से २० पंक्तियों तक के हैं। ऐसे पद प्रायः वर्णन-प्रधान हैं। दोहा में रचित-रास-रस-वर्णन का इनका एक ऐसा ही पद द्रष्टव्य है—

सीस मुकुट कुंडल महा, अलक रही बलखाय।
पीताम्बर उर भृगुलता, जन चेतन बलि जाय॥

मोतिन की माला गरे, बीच धुकधुकी ऐन।
नूपुर सुघर सुहावने, मुर्लाहि बजावत बैन॥

कटि कछनी छुद्र घंटिका, मुँदरी रतन जराव।
इक्कीस चिन्ह चरणन लिये, जन चेतन चित चाव॥

सखियन की उपमा सकल, कह लौं करौं बखान।
घुमर घुमर निरतत सबै, बीच साँवरो कान॥

ताल मृदंग मुहचंग ले, कोउ बजावत बीन।
कोउ तंबूरा खंजरी, गावत राग प्रवीन॥

धिनन धिनन अंग मोरि के, गावत भाव बताय।
सबहिन कर सों कर पकर, नृत्य करत हरिराय॥

कबहुँक नाचें सब सखी, छबि देखें यों स्याम।
कबहुँक निरतत आपही, संग ले राधे बाम॥

ठुमुक ठुमुक गति मति लगे, नैन सैन मुसकाय।
चरण चलत घुंघुरू बजत, झुनुन झुनुन झुनकाय॥

अखैराम गुरुदेव के, सुखदाई हैं बैन।
चेतराम दर्शन किये, तृप्त होत हैं नैन॥

इस प्रकार के सुन्दर, मनोहारी और विस्तृत वर्णन इनकी अनेक वाणियों में मिलते हैं। झाँकी और छवि-वर्णन में चेतरामजी की निपुणता दर्शनीय एवं प्रशंसनीय है। शब्दों के माध्यम से बिम्ब-निर्माण एवं चित्र उभारने में ये पटु हैं। इनकी निर्गुणपरक वानियों में भी सगुण-साकार आराध्यमूर्ति की झलक यत्र-तत्र मिलती रहती है। इससे यह कहना असंगत नहीं होगा कि इन्होंने निर्गुण शैली की वाणियाँ मात्र परम्परा-निर्वाह के लिए रची हैं, वस्तुतः ये आपादमस्तक माधुर्यरसमयी भक्ति में सराबोर हैं।

श्या० सु० शु०

चैनराय

चैनरायजी ओरछा के निवासी और राज्य के साधारण कर्मचारी थे। ये स्वयं लिखते हैं—

प्रगट अवनि में ओरछा, बासी नगर मँझार।
चौकी नवीस है चैनराय, प्रधान कटेरावार।
रसविलास बरनन करो, चैनराय करि ध्यान।
अष्टसिद्ध नवनिद्ध है, कृष्णचन्द्र के ध्यान।

इनका प्रामाणिक वृत्त उपलब्ध नहीं है। इनकी कृतियों में भी उसके विस्तृत सूत्र नहीं मिलते।

इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना 'रसविलास' है। इसके स्तर को देखते हुए कहा जा सकता है कि ये अपने समय के अच्छे कवि थे। हो सकता है कि इनकी और भी रचनायें हों। 'रसविलास' यद्यपि नायिका-भेद का शास्त्रीय ग्रन्थ है, किन्तु सारे लक्षण राधाकृष्ण के रूप और चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत किये गये हैं। कवि ने स्वयं इसे भक्तिपरक रचना कहा है। कृति और उसके रचनाकाल के सम्बन्ध में इन्होंने लिखा है—

अट्ठारह सै संवत सही, ऊपर उनतालीस।
माह सुकल सुभ पंचमी, बार बरनि गुन ईस।
कृष्णचन्द्र को ध्यान यह, चैनराइ गुन गाय।
मंजुल मूरत माधुरी रही दृगन मैं छाय।

इनकी काव्य-शैली के दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)

चन्द से वदन अरविन्द से नयन जाके,
करिकै कटाछ करि नैसुक चितै गई।
श्रीफल उरोज ओप सुन्दर अथोर भोर,
कंचुकी कसन मेरे हिय को हितै गई॥

चैनराय जाके रूप रति सी न रति होत,
मृदु मुसकाइ बैन मानो कछु कै गई।
घेरवार घांघरो किनारीदार सारो प्यारी,
लामी लटवारी सो लपेट मनु लै गई॥

(२)

झूमि झूमि पुरवा घुमंड घन घूमि घूमि,
बरसं जलद जाल जोर सो नगर में।
चपला चमकै रैन भादों की अँधेरी ऐन,
दिनहू में रैन बैन पेषिये डगर में॥

बोलत पपीहा मोर दादुर करत सोर,
देह की दिपति जो जगर मगर में।
चैन धरत हेली कोउ संग न सहेली,
सजे दोहनी अकेली जात नंद के अगर में॥

ग० प्र० व०

चौथमल गिरदावर

चौथमलजी गिरदावर का जन्म वि० सं० १९३७ में एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। आप कोर्ट आफ वार्ड्स में मैनेजर के पद पर कार्य करते थे। नौकरी करते समय भी आप बीच-बीच में वृन्दावन आते-जाते रहते थे। वैष्णव-जनों के सत्संग से आपके हृदय में भक्ति का अंकुर फूट पड़ा। फलस्वरूप सब कुछ छोड़कर वृन्दावनवास करने लगे। वि० सं० १९९० में आप वृन्दावन आ गये थे। आप पर श्रीजी की पूर्ण कृपा थी। आप बड़े ही सरलहृदय और भगवद्भक्त थे, अहर्निश भजन कीर्तन में ही निरत रहते थे। आपके द्वारा रचे गये ग्रन्थ इस प्रकार हैं— 'श्री निकुंज-वृन्दावन', 'फूल-निकुंज-वृन्दावन', 'युगल-शृंगार-वर्णन', 'श्री राधामाधव-स्तव', 'श्री हरिपद-भजन-चेतावनी', 'श्रीकृष्णसहस्रनाम' तथा 'श्री वृन्दावन-वैचित्र्य-प्रभा'। इनकी कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

कोटिन चन्द प्रकाशित श्री अंग,
लोचन कोटिन चन्द समाये।
कोटिन चन्द के पुंजन सो मुख,
कोटिन अंबुज मानो खिलाये॥

प्रे० ना० श्री०

चौबे दरियावसिंह 'दिलदरियाव'

चौबे दरियावसिंह 'दिलदरियाव' का जन्म सन् १८८७ ई० के आसपास नयागाँव पालदेव स्टेट ग्राम विहारा (मध्यप्रदेश) में हुआ था। ये स्वामी हरिदासजी के शिष्य थे। आपने अपनी सभी रचनाओं के मंगलाचरण में हरिदासजी की वंदना की है—

श्री स्वामी हरिदास पद, बंदि बहोरि बहोरि।
जासु कृपा नितप्रति लखत, बंक विलोकन मोरि॥

आपका जन्म एक भौतिक एवं आध्यात्मिक वैभव-सम्पन्न कुल में हुआ था। भौतिक वैभव का संदर्भ यहाँ राज्य से और आध्यात्मिक से तात्पर्य सात पीढ़ियों से निरन्तर हो रही गोपालजी की सेवा से है। इस प्रकार इन्हें दोनों दृष्टियों से सम्पन्नता उत्तराधिकार में मिली थी। ये सद्गृहस्थ, राधाकृष्ण के अनन्य उपासक एवं भक्त कवि थे। इनकी भतीज-बहू ६५ वर्षीया श्रीमती रेवाबाई 'राधादासी' से इनके विषय में कुछ रोचक तथ्य ज्ञात हुए हैं। वे इस प्रकार हैं—'दिलदरियाव' जी भोजन पर तभी बैठते थे जब कोई व्यक्ति अथवा परिवार का सदस्य 'जय श्री राधे' बोलता था। आप अपना अधिकांश समय ध्यान और भक्तिपूर्ण पदों की रचना में लगाते थे। लिखते-लिखते जब काफी समय बीत जाता था और रचना-कार्य में अत्यधिक तन्मय हो जाने के कारण आपको भोजन का ध्यान नहीं रह जाता था तब कोई न कोई आकर कहता था—'जय श्री राधा-वल्लभ, जय श्री राधे, रात के दुइ बज गये हैं, आप अभी भोजन नहीं किये हो।' तब ये भोजन करते थे।

हरिदासी सम्प्रदाय के भक्तों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनसे सम्बद्ध एक घटना इस प्रकार है। दिलदरियावजी की भतीज-बहू श्रीमती रेवाबाई 'राधादासी' प्रतिदिन बिहारीजी का दर्शन करने जाया करती थीं। उनको दर्शन करने हेतु जाते देखकर वृन्दावन के पण्डित श्री गोपालदासजी कहा करते थे—'अरे बाई' तू काये को बिहारीजी जाय, तेरो तो घरइ में देवता विराजे हैं। तू तो घरइ में बाबा (दिलदरियाव) को दर्शन कियो कर। अरे, क्यों डोली डोली फिरे है?'

आपके जीवन का अधिकांश समय वृन्दावन के 'हरिदासी सम्प्रदाय' के कुंज में ही बीता। वहीं पर आपका गोलोकवास हुआ।

आपके कई भक्तिपरक काव्यसंग्रह प्रकाशित हैं। सम्प्रति इनके तीन संग्रह मिलते हैं—'राधाषोडसी', 'युगल-विनय' और 'वंकविलोचन'। इन तीनों का प्रतिपाद्य राधा-कृष्ण-भक्ति है। नीचे इनसे तीन छन्द दिये जा रहे हैं—

(१)

कुंजन कुंज कदम्ब फल, कोकिल केकी कीर।
श्री राधे राधे रटत, रंजित रविजा तीर॥
बंक बिहारी बंक छवि, बंक विधान जु ध्याय।
वांछित दिल दरियाव सोइ, बंक विलोचन पाय॥

(२)

नमो कृष्णकान्ता कृपालू किशोरी।
सुनो प्रार्थना है कहूँ पानि जोरी॥
मिलै वृन्द आरण्य को वास मोकों।
विहारस्थली श्याम-श्यामा विलोकों॥

(३)

श्री राधे रासेश्वरी, रास-वासिनी स्वामि।
कृष्णप्रिया रसिकेश्वरी, लसति कृष्ण अंग बामि॥
लसति कृष्ण अंग बामि धाम वृन्दावन राजै।
परमानन्द स्वरूप सरस सहचरि सुख साजै॥
दिलदरियाव कृपालु कृपा करि पुरवहु साधे।
देहु जुगल-पद-प्रीति, सदा स्वामिनि श्री राधे॥

त्रि० ना० शु०

छटंकी खलीफा

छटंकी खलीफा जाति के दर्जी थे। ये लोगों के कपड़े सिलकर रोजी कमाते थे। इनके गाँव (रोटहा-वाराणसी) के बूढ़े लोग इनका समय सन् १८८० से १९४० के बीच का मानते हैं। इस मुसलमान कृष्ण-भक्त की, अपनी जाति पर ही आधारित, एक अत्यधिक ललित रचना देखें—

(१)

ए हो ब्रजवारे कजरारे नैनवारे श्याम,
जौन किछु बीति गई तौन मन से भुलाउ ।
मोर बात मानि जाउ तरक न करो नाथ,
दुई नाहीं सहि जात अब ई दुई मिटाउ ॥
कहत खलीफा को तो मोहि तू बुलाइ लेहु,
की तो एक दिन मोरे घर यार चलि आउ ।
मोरे कान्ह कीतो मोंहि हिन्दू तू बनाइ लेउ,
की तो मोरे संग तू मुसलमान बनि जाउ ॥

(२)

आपन मैं घर छोड़ूँ तुहूँ निज घर छोड़ि,
किछु दूरि हम जाई किछु दूरि तुहूँ आउ ।
की तो जहाँ बाटी हम तहाँ चलि आवो नाथ,
की तो कहाँ बास करो पता हमके बताउ ॥
कहत खलोफा अलगौझो कौन मोर-तोर,
भोगि चुके बहुत न अब ढेर क भोगाउ ।
मोरे कान्ह की तो मोहि हिन्दू तू बनाइ लेउ,
की तो मोरे संग तू मुसलमान बनि जाउ ।

चं० मि०

छत्रकुँवरि

महारानी छत्रकुँवरि महाराज सावंतसिंह (नागरीदास जी) के सुपुत्र महाराजा सरदारसिंह की पुत्री थीं । सरदारसिंह जी की तीनों रानियों—बदनकुँवरि, सकतावती तथा गुलाबकुँवरि से कोई भी सन्तति होने का उल्लेख नहीं मिलता। इनकी पासवान (उपपत्नी) सहज कुँवरिजी के एक पुत्र व तीन पुत्रियाँ—अभयकुँवरि, महाकुँवरि और छत्रकुँवरि थीं । इनका विवाह सं० १८२४ की वैशाख बदी ९ को महाराजा सरदारसिंह जी के परधामगमन के उपरान्त महाराज विरदसिंह ने किया था ।

कृष्णगढ़ राजघराने के अनेक कवि एवं कवयित्रियाँ अपनी कृतियों से साहित्य जगत् की श्रीवृद्धि के साथ ही साथ अपने यशःशरीर को अमरता प्रदान करती रही हैं । छत्रकुँवरजी इसी उद्यान की एक ऐसी कलिका हैं, जिनके काव्य-सौरभ से भक्तिकाव्य सुरभित हुआ है । यह तो सर्वविदित है कि महाराजा सावंतसिंहजी के शासनकाल से ही कृष्णगढ़ राजघराना वैमनस्य की कालिमा से कलुषित हो गया था, जिससे परिवार की दृढ़ आधार शिला डगमगा चुकी थी । फलतः इस घराने की राजकन्याएँ भी प्रायः व्यथित रहने लगीं । किन्तु महारानी बाँकावती, राजकुँवर-सावंतसिंह – (नागरीदासजी) एवं राजकुमारी सुन्दर कुँवरि द्वारा प्रवाहित भक्ति, काव्य एवं संगीत की त्रिवेणी ने इस राजघराने को ऐसा गौरवान्वित किया कि इनके वंशज इस परम्परा का अनुकरण करने में अपने को गौरवान्वित समझने लगे ।

छत्रकुँवरि जी का दाम्पत्य जीवन सुखमय नहीं रहा क्योंकि पतिगृह में राजनीतिक उथल-पुथल अधिक रहती थी । आप अपनी ससुराल कोठड़ा से रूपनगर आ गयीं और शेष जीवन वहीं पर व्यतीत किया ।

इन्होंने सलेमाबाद आचार्यपीठ के अधिष्ठाता श्री श्री गोविन्द देवाचार्य (श्रीजी) से निम्बार्क सम्प्रदाय की वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की थी । 'प्रेम-विनोद' में अपनी दीक्षा तथा कुल का परिचय इन्होंने निम्नलिखित प्रकार से दिया है—

रूपनगर नृप राजसिंह, जिन सुत नागरिदास ।
तिन्हन पुत्र जु सरदार सिंह, हौं तनया मैं जास ॥
छत्र कुंवरि मम नाम है, कहिबे कौ जगमाँहि ।
प्रिया सरन दास्युत ते, हौं हित चूर सदाहि ॥
शर्न सलेमाबाद की, पाई तिहुं जु प्रताप ।
आश्रम है जिन रहसि के, बरन्यो ध्यान सजाप ॥

गुरुदेव के सम्बन्ध में ये लिखती हैं—

सो प्रभु श्री गोविन्द कृपाल ।
जिन पद-रज मम रह्यो जु भाल ॥
जिन दास्युत की पाई छाप ।
युगल शर्न हौं तिहीं प्रताप ॥

इसकी रचना वि० सं० १८४५ में हुई थी—

संवत है नवदून से, पैंतालीस बदन्त ।
साके सत्रह सै दस, सिद्धारथ सु कहंत ॥

मास आषाढ़ सु सुकल पष, तीज वृहस्पति वार ।
सम्पूरन यह वारता, कीनी मति अनुसार ॥

इस ग्रंथ में राधा-कृष्ण का हास-परिहास तथा विलास बड़ी सरल एवं प्रभावपूर्ण भाषा में प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथारम्भ विभिन्न देवताओं की वंदना से किया गया है। भक्तों की पदरज के ध्यान से छत्रकुँवरि को श्रीराधा-कृष्ण की निकुंजलीला के दर्शन का लाभ मिला था। उसमें राधाकृष्ण दोनों ही चित्त को चुराने वाले हैं, दोनों ही प्रेमी चौपड़ का खेल खेलते हैं, कृष्ण राधा का पांसे फेंकना देखते ही रह जाते हैं—

रसिक बिहारी प्यारी खेलत खिलारी मिलि,
बाढ़्यो रंगभरी राँचे रंग रिझवारी है।
झमकि उठाय पासे रमकि चलाय प्रिया,
रूपनिधि मानों कर लहर पसारी है ॥
तामें मन मीन पिय लीन ह्वै किलौलत हैं,
निकसन चाहै कैसे मौज सुखकारी है।
लम्पट हुवे नैन आन पान कंज संपुट में,
कढ़त न लोभी अलि गति मतवारी है।

राधा-कृष्ण दोनों प्रेम से खेलते हैं। प्रिया दाँव दे रही हैं, प्रियतम झूठे ही दोष लगाकर रूठने का नाट्य कर रहे हैं। चौपड़ की वाजी में मन और बुद्धि की बाजी लगी हुई है। दोनों के नेत्र मिलते हैं, तो वे परस्पर रीझ जाते हैं—

बाढ़ी चित चाह दोऊ खेलत उछाह भरे,
दसा प्रेम पूर छिन्न अंग दरसत है।
प्रिया दाँव देत पिय झूठे ही रगढ कहैं,
कहे बानि पानि रिस मिसे परसत है।
चौपर की बाजी माँहि, बाजी लागी गति-मति की,
चाह की चहुल मन मौज सरसत है।
नैनन में नैन मिले चरचा चरचा में रीझ,
रीझ, रिझवार तहाँ रंग बरसत है ॥

छत्र कुँवरि ने अपनी रचनाओं में रसव्यंजना को प्रधानता दी है। इसीलिए वे ग्रंथान्त में लिखती हैं—

काव्य दोष कवि हेरिहैं, सो मम नांहिन काज।
हेरहु रहसिहि रसिक जन, छत्र कुँवरि ब्रजराज ॥
रमिहहिं या रस रसिक जे, ते मुहि कहियो तोहि।
सुफल फली आसा यही, यही सुदृढ़ रति होहि ॥

'प्रेम-विनोद' की गणना प्रेमनिरूपक ग्रंथों में की जाती है। इस काव्य में प्रसाद और माधुर्य गुणों का समावेश विशेष रूप से हुआ है। यह ग्रंथ बूंदी-राज्य की राजमाता द्वारा सुन्दरि कुँवरि कृत ग्यारह ग्रंथों के साथ प्रकाशित हो चुका है।

छत्रकुँवरि खवास (पासवान) की पुत्री थीं। अतः कृष्णगढ़ के ऐतिहासिक सूत्रों में इनके सम्बन्ध में कम सूचनायें उपलब्ध हैं। सं० १८४५ के पश्चात् की इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं होती है। अतः इनकी मृत्यु सं० १८४६ ई० के लगभग स्वीकार की जा सकती है।

अपनी उत्कृष्ट भक्ति तथा रसमयी रचनाओं के कारण साम्प्रदायिक साहित्य में इन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त है—

भाव भव्य सुठि सरस छन्द रचना निज कीन्हीं।
छटा युगल-छबि छाकि अपनपौ सर्वस दीन्हीं ॥
पूजि कृष्णगढ़ भूप पिता-कुल प्रकटो पावन।
प्रियतम-प्रिया रिझाय गाय जस रस मनभावन ॥
'प्रेमबिनोद' सुग्रंथ रचि, प्रेम-तत्व रसिकन दई।
रखि आदर्श अमेय जग, कुँवरि सु पद दुर्ल्लभ लई ॥

इनकी प्रसिद्ध रचना 'प्रेमविनोद' का एक अंश प्रस्तुत है—

सजैं सिंगार सुप्रिया उमाहि।
जब साँझी फूलन हित ताँहि ॥
तब अति चायन भान दुलारी।
उमँगि बुलावैं गोपकुमारी ॥
बेऊ सजि अद्भुत सिंगार।
आवैं सबै चोप अति धार ॥
लखत कुँवरि को अतिहि लुभावैं।
रंग भरी बातन बतरावैं ॥
कुँवरि लड़ैती के मिलि संग।
फूल लेन को चले उमंग ॥

सबमें भान कुंवरि यों दरसैं।
उडुगन मधि शशि ज्यों छबि सरसैं॥

स्याम सखी हँसि कुँवरि दिसि, बोली मधुरे बैन।
सुमन लेन चलिये अबै, यहि बिरियाँ सुख दैन॥
यहि बिरियाँ सुखदैन जानि मुसक्यात चली जब।
नवलसखी करि कुंवरि संग सहचरि विथुरीं सब॥
प्रेम भरी सब सुमन चुनत जित तित साँझी हित।
ये दुहुँ बेबस संग फिरत निजगति मति मिश्रित॥
अरुझन में अरुझन नवल, गुरुजन रंग अपार।
ज्यों डारन सों डार त्यों, उर हारन सों हार॥
उर हेरन सों हार अलक अलकन लपटानी।
नैंन नैंन बैंनान सुगल की कथा कहानी॥
प्रेमसिन्धु छिल ललकि लहरि इत अति सरसानी।
कुँवरि सकुचि सतराय झिझकि ढिग सखिन बुलानी॥

रा० प्र० कु०
प्रे० ना० श्री

छत्रपति

काशी निवासी छत्रपतिजी जाति के ब्राह्मण थे। श्याम के रंग में ये ऐसा रंग गए थे कि अपना सब कुछ छोड़ कर वृंदावन जा पहुँचे। वहाँ ये सबसे पूछते-फिरते कि श्याम कहाँ मिलेंगे? कोई कहीं तो कोई कहीं बतलाता? एक सच्चे भक्त ने बतलाया कि अर्ध-रात्रि में सेवा कुंज में आपको श्याम के दर्शन हो जाएँगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ये जाकर सेवा-कुंज में छिप गए। कहा जाता है कि इन्हें अर्ध-रात्रि में राधा-कृष्ण के दर्शन हुए। अपार आनन्द में मग्न हो इन्होंने उसी समय इह-लोक छोड़ कर परलोक को गमन किया। इनका उपस्थिति-काल विक्रम की २०वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

म० गो० भा०

छत्रसाल

महाराज छत्रसाल का जन्म ज्येष्ठ शु० ३ संवत् १७०६ वि० में बुन्देलखण्ड के ककर-कनए ग्राम में हुआ था। इनके पिता चंपतरायजी की गणना मध्यकालीन भारतीय इतिहास के प्रख्यात लोकनायकों में होती है। इनकी माता का नाम लाल कुँवरि था। इनके सारवाहन, अंगदराम, रतनशाह और गोपाल नाम के चार भाई और थे। सारवाहन का देहान्त छत्रसाल के जन्म से पहले ही बाकी खाँ से युद्ध करते हुए हो गया था।

छत्रसाल का बाल्य जीवन माता और मामा की स्नेहच्छाया एवं कुशल-निर्देशन में व्यतीत हुआ। इन्हें बाल्यकाल में ही तीर, तलवार, भाला और बन्दूक चलाने के साथ घुड़सवारी तथा मल्लयुद्ध में दक्षता प्राप्त हो गयी थी। पिता के निधनोपरान्त छत्रसाल राजा जयसिंह की सेना में भर्ती हो गये। इन्होंने कुछ समय शिवाजी के साहचर्य में भी व्यतीत किया था। इस प्रकार कूटनीति और युद्ध-कौशल में नैपुण्य लाभकर ये बुन्देलखण्ड की स्वतन्त्रता के लिए संवत् १७२८ वि० में खड्गहस्त हुए और एक वर्ष की लघुकालावधि में मऊ के आस-पास के क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

महाराज छत्रसाल कलम और तलवार दोनों के धनी थे। इनकी गौरव-गाथा आज भी बुन्देलखण्ड के कण-कण में गूँजती है। यमुना से नर्मदा तथा चम्बल और टोंस के मध्यवर्ती विशाल भू-भाग पर इनका पूर्णाधिकार था। इस विषय में आज भी एक उक्ति लोक-प्रसिद्ध है—

इत यमुना उत नर्मदा, इत चम्बल उत टौंस।
छत्रसाल सो लरन को, रही न काहू हौंस॥

इस प्रकार के अद्भुत शौर्य के साथ प्रगाढ़ अध्यात्म निष्ठा इनकी एक उल्लेखनीय प्रकृतिगत विशेषता थी। प्रणामी सम्प्रदाय में छत्रसाल का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। प्राणनाथ से इनकी सर्वप्रथम भेंट रामनगर में उस समय हुई जब वे धर्म-प्रचार करते हुए औरंगाबाद से यहाँ आये थे। छत्रसाल के भतीजे देवकरण ने उन्हें प्राणनाथधी से मिलने के लिए प्रेरित किया था। उन दिनों छत्रसाल औरंगजेब की धार्मिक नीतियों के विरुद्ध संघर्षशील थे। स्मरणीय है

कि स्वामी प्राणनाथ तत्कालीन धार्मिक और सांस्कृतिक संक्रमण के विरुद्ध जनजागरण करने में प्रवृत्त थे।

महाराज छत्रसाल प्राणनाथ के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होकर परिजन-पुरजन सहित उनके शिष्य वन गये। विजयादशमी के पुण्य पर्व पर स्वामी प्राणनाथ ने महाराज छत्रसाल को भारतीय संस्कृति के रक्षार्थ एक तलवार भेंट की। अस्तु छत्रसाल ने तन-मन-धन से प्रणामी सम्प्रदाय के अध्यात्म-चिन्तन और कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। इस सम्बन्ध में इनकी एक उक्ति ध्यान देने योग्य है, जिसमें इन्होंने अपने को भगवान् श्रीकृष्ण से विशेषरूप से जोड़ा है —

तुम घनश्याम हम जाचक मयूर मत्त,
तुम सुचि स्वाती हम चातक तुम्हारे हैं।
चारु चन्द्र प्यारे तुम लोचन चकोर मोर,
तुम जगतारे हम छतारे उचारे हैं॥
छत्रसाल मीत सिंधुजा के तुम व्रजराज,
हमहूँ कलिंदजा के कूल पै पुकारे हैं।
तुम गिरिधारी हम कृष्ण-व्रत-धारी,
तुम दनुज प्रहारी हम यवन प्रहारे है॥

छत्रसाल वीर ही नहीं उच्चकोटि के काव्य-रसिक और रचनाकार भी थे। वंगश-विपत्ति में फँसने पर इन्होंने वाजीराव पेशवा से सहायता की प्रार्थना कविता में ही की थी—

जो बीती गजराज पर, सो बीती अब आय।
बाजी जात बुंदेल की, राखो बाजी राय॥

कहा जाता है कि इस छंद से प्रभावित होकर वाजीराव पेशवा ने तत्काल ससैन्य आकर इनकी सहायता की थी और नवाबवंगश को परास्त होकर लौटना पड़ा था। औरंगजेब और वंगश से अपनी स्वतंत्रता तथाराष्ट्र की मर्यादा–रक्षा में इनकी अंतःस्थ भगवद्भक्ति सहायक हुई थी। उसका किंचित् आभास इनको निम्नांकित पंक्तियों में मिलता है—

सुदामा तन हेरे तब रंक हूँ ते राव कीन्हों,
बिदुर तन हेरे तब राज कियो चेरे तें।
कहत छत्रसाल प्रहलाद की प्रतिज्ञा राखी,
हिरनाकुश मारो नेक नजरन फेरे तें।
ए रे गुरु ज्ञानी अभिमानी भए कहा होत,
नामो नर होत गरुड़गामी के हेरे तें॥

छत्रसाल के समकालीन कवि 'लाल' ने अपने प्रबन्ध काव्य 'छत्रप्रकाश' में स्पष्ट किया है कि बचपन से ही छत्रसाल ईश्वर-भक्त थे। महेवा के मन्दिर में श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ ये सात वर्ष की छोटी आयु से ही जाने लगे थे। कहा जाता है कि एक बार इनकी भक्ति से प्रसन्न होकर बालगोविन्द इतना नाचे थे कि मन्दिर के पण्डा तक ने देखा था—

प्रेम प्रतीति प्रीति उर पागे।
नाचे छुटक भगत के आगे॥
चेतन तन नाचे हुते, व्रजवनितन के संग।
छत्रसाल के प्रेम ते, नचे अचेतन अंग॥
छत्रप्रवास ४-९

किशोर कृष्ण को आराध्य मानने वाले संत प्राणनाथ का छत्रसाल पर गहरा प्रभाव पड़ा था। कुछ इतिहासकार और विद्वान् उनको छत्रसाल का दीक्षा-गुरु मानते हैं, पर पं० कृष्णदास ने वृन्दावन से प्राप्त एक अभिलेख के आधार पर स्वामी हरिदास की पाँचवीं पीढ़ी के स्वामी नरहरिदेव को छत्रसाल का गुरु बताया है। उन्होंने अपनी सूची में स्वामी हरिदास, वीठल विपुल, विहारिन देव, सहस्देव, नरहरिदेव आदि नाम दिये हैं, जिससे छत्रसाल हरिदासी (सखी) सम्प्रदाय के अनुयायी ठहरते हैं, निम्बार्क सम्प्रदाय के नहीं। पण्डितजी ने एक दोहा भी उद्धृत किया है—

श्री स्वामी हरिदास की, करत छता नित आस।
कुंजकेलि रस प्याय जो, हरत दृगन की प्यास॥

इस दोहे से इनके सखी, हरिदासी मतानुयायी होने की पुष्टि होती है। दूसरी ओर राधाभक्ति संबंधी छंदों से ये राधावल्लभी लगते हैं, परन्तु कृष्णभक्तिपरक मुक्तकों से इनके काव्य का मूल स्वर साम्प्रदायिक नहीं प्रतीत होता। प्रणामी मत के अनुयायियों ने

अपने कतिपय प्रकाशित ग्रंथों में छत्रसाल की छाप के कुछ पद, चर्चरी आदि संग्रहीत किये हैं, जिससे ये स्वामी प्राणनाथ के शिष्य और प्रणामी मतानुयायी ज्ञात होते हैं। कुछ बीतकों में भी इन्हें स्वामी प्राणनाथ का शिष्य बतलाया गया है। इन सब मतभेदों के बावजूद यदि छत्रसाल के ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक व्यक्तित्व को ठीक से परखा जाय, तो उसमें कुछ ऐसी अनाग्रही प्रवृत्ति लक्षित होती है; जिससे ये किसी सम्प्रदाय से बँधे नहीं लगते। इसी कारण कुछ विद्वानों ने इन्हें रसिक रामभक्त मान लिया है। वास्तविकता यह है कि ये उदार वैष्णव भक्त थे। एक ओर इनकी भक्ति-भावना के आधार श्याम-श्यामा थे, तो दूसरी ओर रघुकुलभूषण राम **अमित भरोसो मोहिं राम रघुरैया को। छत्रसाल कों अधार वाही श्याम-श्यामा को।**

इक्यासी वर्ष की अवस्था तक धर्म, राजनीति और साहित्य की त्रिपथगा में अपनी जीवन-साधना का दीपदान करने के उपरान्त ४ दिसम्बर सं० १८८८ ई० को ये परमगति को प्राप्त हुए।

महाराज छत्रसाल ने मुगल शासन से जीवन व्यापी संघर्ष के लिए सारी शक्ति भक्ति से ही प्राप्त की थी। ये जीवनभर आराध्य की अहैतुकी कृपा पर आस्था रख कर चले और उनकी अर्चना हेतु भक्तिपरक छंदों की रचना की। इनकी कृष्ण भक्तिपरक रचनाएँ हैं— 'राधाकृष्ण-पचीसी,' 'कृष्णावतार के कवित्त' और काशी नागरीप्रचारिणी सभा के विवरण के अनुसार 'राजविनोद' (पर वह छत्रसालकृत नहीं लगती)। वास्तव में छत्रसाल ने स्फुट छंद ही रचे हैं, संग्रहों का नामकरण तो बाद में किया गया है। इनके दास्य तथा माधुर्यपरक भावों की निश्छल व्यंजना के कुछ छन्द यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१)

उपमा न आन कहूँ दुरद उबारबे की,
दारिद बिदारबो सुधारबो सुदामा को।
जवन प्रहारबो जगाय मुचकुंद ब्याज,
सुरतरु ल्यायबो लड़ाबो सत्यभामा कौ।
सबरी कौ केवट कौ, बिदुर कौ, मान राख्यो,
कीनो है अकाज क्रूर केसी कंस मामा कौ।
लोक बेद रीति तें नियारी सब रीत जाकी,
छत्रसाल कों अधार वाही स्याम-स्यामा कौ॥

(२)

जाको मान हुकुम सुभानु तम नास करे,
चन्द्रमा प्रकाश करे नखत दराज कौ।
कहै छत्रसाल राज राज है भंडारी जासु,
जाकी कृपा कोर राज राजै सुरराज कौ।
जुग कर जोर जोर हाजिर त्रिदेव रहें,
देव परिचार गहें जाके चार काज कौ।
नर की उदारता में कौन है सुधार मैं तो,
मनसबदार सरदार ब्रजराज कौ॥

(३)

बजाय गयो रे, मेरे अंगना में मुरली॥ टेक॥
मैं तो ठाढ़ी आली अपने द्वार पै,
फूलन को गेंद मारे नंदलाल॥
मुरली की घाली आली बन जाऊँ,
मुरली में तान टेरे लै लै मेरो नाम॥
कित गई गौयें कित गये ग्वाल,
कित गये मुरली बजावनहार॥
निकस आई गौयें निकस आये ग्वाल,
निकस आये मुरली बजावन हार॥
बन गयीं गौयें गोकुल गये ग्वाल,
कृष्ण गये अपने ससुरार॥
अटा अटारिन चढ़ि गोउ धाए,
मुकुट की शोभा मोयें बरनि न जाए॥
छोटे-छोटे चरण बड़े बड़े नैन,
कुंज गलिन में मारि गयो सैन॥
"छत्रसाल" के स्वामी रस के रसाल।
पाये दर्शन हो गये निहाल॥

(४)

जल जोर महा घनघोर घटा
ब्रज ऊपर कोप सचीवर कौ।

कहि भूप छता सब गोपिय गोप
लखैं मुख श्री मुरलीधर कौ ॥
करतें धरियो धरनीधर को
धरक्यौ न हियो धरनीधर कौ ।
करि के कर तैं करकंज लियौ
कर सोभित यों करुनाकर कौ ॥

(५)

माखन चोर सु नंदलला घुसि,
ग्वालिनि गेह घनी दधि खाई ।
आय गई तबही वह ग्वालिनि,
धाय धर्‌यो तब बेगि कन्हाई ॥
ले जसुदा ढिग ठाढ़ कियो वहि,
वाम को कन्त बन्यो बलभाई ।
चोर उजागर साहु भयो,
इमि चोर ने साहु को चोरी लगाई ॥

न० प्र० गु०
रा० प्र० त्रि०

छबीलदास

'रसिक-अनन्य-परचावली' में श्री छबीलदास के सम्बन्ध में यह छप्पय दिया गया है—

बालकाल के सखा निरन्तर संग मिलि खेले ।
जब श्रीगुरु वन बसे सुनत उठि चले अकेले ॥
करी विनय कर जोरि युगल अविलोकौं इहि पल ।
गुरु समरथ तिहिं काल रास दरसायो वन भल ॥
श्री व्यास सुवन परसाद तैं, जिहिं मग बहुत गये सुनैं ।
गुन गूढ़ छबीलेदास के, हित कृपा बिना कहौ को गुनैं ॥

इससे ज्ञात होता है कि छबीलदासजी देववन के रहने वाले थे। ये जाति के तम्बोली थे तथा श्री हिताचार्य के समवयस्क एवं बालसखा थे। महाप्रभु ने जब श्री रंगीलालजी का स्वरूप कुएँ में से निकाल कर सेवा में प्रतिष्ठित किया तब से छबीलदासजी श्री रंगीलालजी की वीटिका (पान की) सेवा करने लगे। जब महाप्रभु देववन से श्री वृन्दावन आ गये तब छबीलदासजी को बहुत दुःख हुआ। इनका मन कामकाज से उचट गया और ये अत्यन्त उदास रहने लगे। कालान्तर में यह स्थिति इन्हें असह्य प्रतीत होने लगी तो ये हितजी महाराज का दर्शन करने के लिएश्रीधाम को चल पड़े।

श्री वृन्दावन में महाप्रभुजी इनसे अत्यन्त स्नेह पूर्वक मिले और इनको बहुत आदर दिया। छबीलदासजी ने कुछ दिन के बाद प्रार्थना की कि मैं श्री श्याम-श्यामा के दर्शन करना चाहता हूँ। महाप्रभुजी ने अपने एक शिष्य को साथ देकर इन्हें वन में भेज दिया। वहाँ वन के एक सघन कुंज में रास-विलास में प्रवृत्त श्री श्यामा-श्याम के दर्शन छबीलदासजी को अनायास हो गये। उनके अप्रतिम, दिव्य रूप-सौन्दर्य का दर्शन करके छबीलदासजी मूर्च्छित होकर वहीं गिर गये। साथ गये हुये व्यक्ति ने इनको जगाने की बहुत चेष्टा की, किन्तु इनकी मूर्छा दूर नहीं हुयी। कुछ अन्य लोग भी वहाँ एकत्र हो गये और इनको किसी प्रकार उठाकर श्री महाप्रभु के पास लाये। महाप्रभु ने इनसे पूछा कि संसार में कुछ दिन और रहोगे या निकुंज-केलि के सुख में लीन होना चाहोगे ? छबीलदासजी ने महाप्रभु के चरणों में अपना सिर रख दिया और शरीर छोड़कर युगल श्री श्यामा-श्याम के अनाद्यनन्त रसरंग में प्रविष्ट हो गये।

ल० च० गो०

छबील दे

माता छबील दे का जीवन राधा-कृष्ण तथा उनके भक्तों के लिए समर्पित था। 'रसिक-अनन्य-परचावली' में इनका परिचय इन शब्दों में दिया गया है—

अति महत गुननि भरी ।
छबील दे यह नाम रहत मन प्रभु की ओरी ।
भाव सहित रमि रही हिये राधा-हरि जोरी ॥
घाट बाट अरु तरु तरें रहैं जे भक्त अकिंचन ।
तिन पोषन कों सदा रहत उतकंठा अतिमन ॥
उर रंचक सींची भक्ति पन,
हरि अधिक भांति सौं आदरी ।
श्री उदेलाल गोस्वामि की,
माता अति महत गुननि भरी ।

—रसिक अनन्य परचावली

ये गो० रामदासजी के प्रपौत्र गो० आनन्दलालजी की पत्नी तथा गो० उदैलालजी की माता थीं। पारिवारिक कार्यों का उत्तरदायित्व-निर्वहन करते हुए भी ये उनसे सर्वथा अनासक्त रहती थीं। इनका मन इष्टवर श्री राधावल्लभलालजी की सेवा तथा उनके लीला-चिन्तन में लगा रहता था। ये प्रकृतितः साधु-सेवा-परायण थीं। अतः जिन जिन स्थानों में श्रीहित-भजन निष्ठ साधु निवास किया करते थे, उन स्थानों पर जाकर ये भोजन-वस्त्रादि से उनकी सेवा किया करतीं थीं।

गोस्वामी आनन्दलालजी का आनुमानिक विद्यमान काल सं० १७४० से सं० १८००ई० तक माना जाता है। इस आधार पर इनकी उपस्थिति सम्वत् १६४५ तथा सं० १८१० के बीच मानी जा सकती है।

श्या० वि० खं०

छबीले

ब्रजवासी कृष्ण-भक्त कवि छबीलेजी का उल्लेख सूदन ने प्रणम्य कवियों की सूची में किया है। इनका विशेष परिचय नहीं मिलता। इनका उपस्थिति काल सं० १७०० माना जाता है। 'रागसागरोद्भव' में इनके पद मिलते हैं। 'शिवसिंह सरोज' में भी इनका एक पद संकलित है, जो इस प्रकार है —

मुकुट माथे धरे, खौर चंदन करे,
माल मुक्ता गरे कृष्ण हेरे।
पीत पट कटि कसे, कान कुंडल लसे,
निसि दिन उर बसे, प्रान मेरे ॥
मुरलिका मोहनी, कर कमल सोहनी,
लै कनक दोहनी, खरिक नेरे।
लाल लोचन बने, ललित रस में सने,
मैन से अनगने ग्वाल टेरे ॥
किंकिनी काछनी, देत सोभा घनी,
देखि कौस्तुभ मनी, सुर छके रे।
प्रभु छबीली रंगीली रसीली अली,
लगन की मगन में बसेरे ॥

हु० नं० भा०

छबीले-वल्लभ

गोस्वामी छबीले वल्लभजी का जन्म संवत् १९७६ में हुआ था। हरिदासी सम्प्रदाय के विद्वान् रचनाकारों में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपने शास्त्री, साहित्य-रत्न और साहित्यालंकार उपाधियाँ अर्जित की थीं। हरिदासी रसोपासना का आपको अद्भुत ज्ञान था। आपने कठोर परिश्रम करके 'श्रीकेलिमाल' और 'श्रीहरिदास अभिनन्दन ग्रन्थ' का प्रकाशन कराया। आप ब्रजभाषा के सुकवि थे। आपके द्वारा ब्रजभाषा में की गई रचनाओं में, 'कुँजविहारी-अष्टक', 'श्री राधिका-स्तवराज', 'रसतरंग' आदि प्रमुख हैं। इनकी भाषा में पाण्डित्य की झलक मिलती है। इनका एक छंद प्रस्तुत है—

(१)

तजि सब आस करें वृन्दावनवास खास,
कुंजनि की सेवा में निसंक चित्त धारे हैं।
जपतप योग यज्ञ संयम समाधि राग,
ज्ञान ध्यान धारणा में मन नाँहि धारे हैं ॥
देव पितृ भैरव भवानी भूत प्रेत यक्ष,
लोक-परलोक तैं छबीले भए न्यारे हैं।
एक बात जानैं जग दूजी पहिचानैं नाँहि,
हम हैं बिहारी के, बिहारी जी हमारे हैं ॥

(२)

नंद नंद नंदनि बदनी, दुख द्वन्द कंद निकंदिनी।
छबिचंद मंद अमंद सुख, रससिंधु भव अभिनंदिनी ॥
निर्गुण-सगुण की संधि सुचि, कलकामना निसकाम की।
हे राधिके ! अब करि कृपा, हर कालिमा हृद-धामकी ॥

प्रे० ना० श्री०
हु० न० भा०

छविनायक

मध्यकालीन कृष्ण-भक्त पदकार 'छविनायक' जी के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती। संग्रहों में इनके फुटकर पद मिलते हैं। इनका एक पद इस प्रकार है —

राग-आसावरी

आज तोहि न छाँड़ोगी, मींड़ोंगी मुख सो गुलाल।
औचक आन फेंट गहि मेरी, दै गारी गरु काल॥
अपनी ओर जोर जुबतिन सों, हँस रस चाखत लाल।
'छविनायक' अब बस परे मेरे, छींनोंगी मुरली माल॥

रा० कु० व०

छविनाथ अवस्थी

श्री छविनाथ अवस्थी उपमन्यु गोत्र के कान्यकुब्ज अवस्थी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गोविन्द दास था। ये गंगानदी के तट पर स्थित बक्सर (बिहार प्रदेश) के निवासी थे। उस स्थान पर एक ओर चण्डी तथा दूसरी ओर महादेव का मन्दिर था। वहाँ के राजा भवानीसिंह थे। छविनाथ द्वारकेश (श्रीकृष्ण) के भक्त थे और जयपुर के महाराजा सवाई माधवसिंह के आश्रय में रहकर ग्रन्थ-रचना किया करते थे--

गंगा जी के निकट सहर बगिसर सोहैं,
जामें एक ओर चंडी दूजी ओर महेश हैं।
जामे चारिवर्ण हू कौं पालै मरजाद ही सों,
सुख सों भवानीसिंह प्रबल नरेस हैं॥
तामैं गोविन्ददास उपमन्युवंशी अवस्थीक,
ता पुत्र छविनाथ सेवे द्वारकेस हैं।
तिहि सिरताज महाराज माधवेस जू कौ,
सुजस प्रकास हेत कीनो ग्रन्थ एस हैं॥

छविनाथ अवस्थी की निम्नांकित कृतियाँ उपलब्ध हैं--

१. माधव सुयश प्रकाश
२. श्रृंगार-पच्चीसी
३. कवित्त रचनावली
४. गोपी-विरह-वर्णन
५. प्रभु वर्णन अष्टक

ये सवाई माधवसिंह प्रथम के समकालीन थे, जिनका शासन काल सं० १८०७ से १८३३ ई० के बीच रहा है। अतः इनका उपस्थिति-काल इसी के बीच माना जा सकता है।

ग० मि०

छीतरमल शर्मा

श्री छीतरमल शर्मा मथुरा जिले के छाता तहसील के गाँव अकबरपुर के निवासी थे। इनका जन्म सं० १९०३ और निधन सं० १९५७ में हुआ था। ये वृन्दावन के महात्मा गुणमंजरीदास के कृपापात्र थे। इनके गुरु श्री गदाधर पण्डित गोस्वामी के परिकर तपाजी थे। इनकी एक छोटी सी रचना 'श्री हरिनाम माला' का उल्लेख प्राप्त होता है।

छीतस्वामी

प्रसिद्ध अष्टछापी भक्त श्री छीतस्वामी का जन्म-स्थान मथुरा था और ये मथुरा ही में रहा करते थे। वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के बाद ये गोवर्द्धन पर श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन करते थे, परन्तु इनका कुटुम्ब मथुरा में ही रहता था। 'वार्ता' तथा नागरीदासजी की 'पद-प्रसंग-माला' नामक रचना से ज्ञात होता है कि ये मथुरिया चौबे थे।

वार्ता साहित्य अथवा अन्य सूत्रों से इनके माता-पिता का कोई वृत्तान्त ज्ञात नहीं होता। इनका विवाह हुआ था अथवा नहीं, इनकी सन्तान भी थी अथवा नहीं, इन बातों का स्पष्ट समाधान 'वार्ता' से प्राप्त नहीं होता है, परन्तु उस के कुछ प्रसंगों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ये गृहस्थ थे। वार्ता में लिखा है कि ये अकबर के दरबार के रत्न बीरबल के पुरोहित थे। वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के बाद एक बार ये बीरबल के पास अपनी "बरसोंड" लेने गये थे किन्तु वहाँ बीरबल के एक वाक्य पर रुष्ट होकर ये बिना उसे लिये चले आये थे। जब गोस्वामी जी ने यह समाचार सुना तो उन्होंने लाहौर के वैष्णवों को छीतस्वामी के बारे में लिखा कि यह ब्राह्मण गरीब है, इसकी सेवा अच्छी प्रकार से करना। छीतस्वामी पत्र लेकर लाहौर तो नहीं गये, परन्तु पत्र उन वैष्णवों के पास भेज दिया गया और प्रत्येक वर्ष सौ रुपये की हुण्डी लाहौर के वैष्णवों से छीतस्वामी के पास आने लगी। इस वृत्तान्त से अनुमान होता है कि छीतस्वामी विरक्त नहीं थे। इनका

कुटुम्ब भी रहा होगा, जिसके पोषण के लिए ये बीरबल के यहाँ से 'बरसोंडी' लाते थे और जिसके लिए गोस्वामी जी ने दो सौ रुपये सालाना इनको लाहौर से दिलवाने की व्यवस्था की थी। 'वार्ता' से ज्ञात होता है कि शरणागति के बाद छीतस्वामी ने गोस्वामीपाद से आज्ञा माँगी, "महाराज ! आज्ञा होय तो मैं अपने घर जाऊँ।" इससे भी ज्ञात होता है कि ये गृहस्थ थे।

'वार्ता' से विदित है कि छीतस्वामी वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले कवि थे और गान-विद्या में प्रवीण थे। गोस्वामी विट्ठलनाथजी की प्रथम भेंट के समय ही इन्होंने पद बनाकर गाया था। 'वार्ता', नागर-समुच्चय' तथा' पद-प्रसंग-माला' से यह भी पता चलता है कि इनकी चारित्रिक स्थिति अच्छी नहीं थी। 'वार्ता' में इनको सम्प्रदाय में आने से पहले एक मसखरा, लम्पट और गुण्डा लिखा गया है और यह भी कहा गया है कि ये 'छीतू' के नाम से प्रसिद्ध थे। नागरीदास ने इनको झगड़ालू प्रकृति का व्यक्ति बताया है।

वल्लभ-सम्प्रदाय की शरणागति के बाद गोस्वामी विट्ठलनाथजी की शिक्षा के प्रभाव से इनका चरित्र सुधर गया और ये एक उच्चकोटि के कवि तथा भक्त बन गये। इनके गुणों की प्रशंसा, जैसा कि पीछे कहा गया है, इनके समकालीन भक्त नाभादास जी तथा ध्रुवदास जी ने भी की है।

वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले गोविन्दस्वामी की तरह ये भी "स्वामी" कहलाते थे। सम्भव है, गान-विद्या और कविता सीखने के लिए इनके पास आने वाले शिष्यों ने इनको स्वामी की पदवी दे दी हो। इनके किसी सम्प्रदाय की दीक्षा देने वाले स्वामी होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

नागरीदास जी के कथनानुसार छीतस्वामी वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले शैव तथा लौकिक प्रवृति के व्यक्ति थे। इनके चार चौबे मित्र मथुरा में और थे। एक बार इन पाँचों ने सोचा कि गोकुल के गुसाईं श्री विट्ठलनाथ जी की परीक्षा लेनी चाहिए। एक-एक खोटा रुपया और थोथा राख से भरा हुआ नारियल साथ लेकर वे पाँचों गोकुल में श्री विट्ठलनाथ जी के निकट "मसखरी" करने आये। वहाँ छीतस्वामी के चार मित्र तो बाहर बैठे रहे और छीतस्वामी भीतर गोस्वामी जी के पास गये। उस समय गोस्वामी जी के स्वरूप को देखकर इन पर ऐसी मोहिनी पड़ी कि इनके स्वभाव की चंचलता तथा "मसखरी" सब गायब हो गई और इनके मन में पश्चाताप का भाव संचरित हो गया। ये हाथ जोड़कर कहने लगे, "महाराज ! मेरो अपराध क्षमा करो, और मोकों शरण लीजे। हम नाहीं जानत कौन अपराध त स्वामी भये हैं, हमारे अब भाग्य खुले हैं जो आपके दरशन पाये। अब ऐसी कृपा करो जो स्वामित्व छूटे। जो आपके दास कहाइबे की इच्छा है, और मन की कुटिलता तो बहोत हुती, परि आपके दरशन करत ही सब कुटिलता दूरि भाजि गई, तातें अब हों आपके हाथ बिकानों हों, दीनानाथ हो, दयासिन्धु हो, या जीव की ओर प्रभुन को कहा देखनो। ताते महाराज अब मोकों आपनों ही करि जानिये, आपुनो सेवक करिये।" इस प्रकार छीतस्वामी के विनय करने पर गोस्वामी जी ने इन्हें नाम सुनाया और शरण में ले लिया। उसी समय इन्होंने यह पद गाया—

भई अब गिरधर सों पहिचान।
कपट रूप धरि छलिबे आयो, पुरुषोत्तम नहिं जान ॥
छोटो बड़ो कछू नहिं जान्यो, छाय रह्यो अज्ञान।
छीतस्वामी देखत अपनायो, श्री विट्ठल कृपानिधान।

इसके बाद बैठे-बैठे ये मन में विचारने लगे—"मैं संसार-समुद्र में बह्यो जात हतो, मोको बाँह पकरि के काढ़े और मेरे मन में खोटे नारियल को और खोटे रुपिया को पश्चाताप हतो, सोऊ ताप मेरो दूरि कर्‌यो, जो मो पर श्री गुसाईं जी ने बड़ी कृपा करी।" यह सोचते-सोचते ये हर्ष में ये निम्नाङ्कित प्रतीक कापद गा उठे—

हौं चरणातपत्र की छैयाँ।

इसके बाद छीतस्वामी ने गोकुल में श्री नवनीतप्रिय जी के और गोवर्द्धन पर श्री गोवर्द्धननाथ जी

(श्रीनाथ जी) के दर्शन किये। इन दर्शनों से इनके मन की परिवर्तित वृत्ति और भी निखर गई और फिर आत्मसमर्पण कर गुसाईं जी से आज्ञा माँग कर अपने घर मथुरा वापस चले गये। मथुरा में इनके मित्र इनसे मिले, छीतस्वामी के चरित्र के इस महान् परिवर्तन को देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। 'वार्ता' में लिखा है कि इसके बाद श्री गुसांई जी की कृपा से छीतस्वामी भगवदीय कवीश्वर और कीर्तनकार हुये। इन्होंने परवर्ती काल में अनेक भक्ति भावपूर्ण पद बनाकर गाये और श्रीनाथजी की सेवा में अपना जीवन व्यतीत किया।

छीतस्वामी अपनी आन के पक्के तथा दृढ़ संकल्पी महात्मा थे। इन्होंने गो० विट्ठलनाथजी को साक्षात् कृष्ण-रूप मान कर बीरबल के समक्ष उनकी प्रशंसा में एक पद गाया जो उनको पसन्द नहीं आया। इस पर अपने विश्वास का अपमान समझ कर छीतस्वामी बिना "बरसोंडी" लिए ही चले आये। इससे यह भी विदित होता है कि इनमें कोई धन-द्रव्य की लिप्सा न थी। जब गोस्वामी जी पत्र देकर इन्हें लाहौर के वैष्णवों के पास भेजने लगे तो इन्होंने विनम्र होकर श्री चरणों के समक्ष निवेदन किया, "जो महाराज मैं वैष्णव भयो सो कछु वैष्णव के पास से भीख माँगन को नाहीं भयो। जो महाराज, मेरे तो राज के चरण-कमल छाँड़ि के कछु काम नाहीं और कहूँ न जाऊँगो। और अब कहा ऐसे कर्म करूँगो, जो वैष्णव होय के कहा भीख माँगूंगो।" इससे भी छीतस्वामी के मन का सन्तोष-भाव प्रकट होता है। गुरु-भक्ति और ब्रज-प्रेम का परिचय तो इनके अनेक पदों से मिलता है। मथुरा के चतुर्वेदियों में यह बात प्रचलित है कि वल्लभ-सम्प्रदाय की सेवा-विधि का जो मण्डान गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने विस्तार से प्रचलित किया था उसकी उद्भावना में बहुत कुछ छीतस्वामी का हाथ था।

'२५२ वैष्णवन की वार्ता' तथा 'अष्टसखान की वार्ता' में इनके अन्त समय का वृत्तान्त नहीं दिया हुआ है। इनके गोलोकवास का प्रसंग केवल श्री गिरधरलाल जी के "एक सौ बीस वचनामृत" में दिया हुआ है। उक्त ग्रन्थ के लेख का आशय इस प्रकार है कि जब गो० विट्ठलनाथ जी का गोलोकवास हो गया और श्री छीतस्वामी ने यह दुखद समाचार सुना तो उन्हें मूर्छा आ गई। उस मूर्छा में श्रीनाथजी के साक्षात् दर्शन इन्हें, यह सान्त्वना देते हुए कि अब तक तो मैं दो रूपों द्वारा (श्री आचार्य जी और श्री गुसाईं जी) अनुभव कराता था, किन्तु अब मैं सात रूपों से अनुभव कराऊँगा। यह अनुभव करके छीतस्वामी की चेतना जगी, उसके बाद इन्होंने गोस्वामी विट्ठलनाथजी के सातों पुत्रों की बधाई गाकर देह त्याग दी। इस प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि छीतस्वामी का गोलोकवास भी गो० विट्ठलनाथ जी के गोलोकवास के आसपास ही हुआ।

"सम्प्रदाय-कल्पद्रुम" के अनुसार छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी दोनों सं० १९९२ वि० में गो० विठ्ठलनाथ जी की शरण में आये थे। इस विषय पर अन्य कोई प्रामाणिक सूत्र न होने पर यहाँ "सम्प्रदाय-कल्पद्रुम" के सम्वत् को ही स्वीकार किया गया है। जैसा कि पीछे कहा गया है कि 'वार्ता' तथा नागरीदासजी के कथन से ज्ञात होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले छीतस्वामी पाँच प्रसिद्ध "गुण्डे" चौबों में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे और ये स्त्रियों की ओर बहुत देखा करते और उनसे मसखरी भी किया करते थे। इससे अनुमान होता है कि उस समय छीतस्वामी की पूर्ण यौवनावस्था रही होगी, जिसको हम बीस या पच्चीस वर्ष की मान सकते हैं। वार्ता के कथनानुसार शरणागति के समय ये कवि थे और 'स्वामी' कहलाते थे। जिस समय गोस्वामी जी को छलने के लिए ये गए और पास जाकर उनको दण्डवत् प्रणाम किया, उस समय गोस्वामी जी ने इनसे कहा—"तु तो चौबे हो, हमारे पूजनीय हो। तुमको तो सब आपही ते सिद्ध है, तुम हमको दण्डवत काहे को करत हो और ऐसे कहा कहत हो।" गोस्वामी जी के ये शब्द

भी इस बात की सूचना देते हैं और छीतस्वामी के कवि होने तथा स्वामी कहलाने से भी यह बात पुष्ट होती है कि ये उस समय युवा थे। तब अनुमानतः ये २५ वर्ष के अवश्य रहे होंगे। सं० १५९२ वि० (शरणागति का समय) में से २५ घटाने पर इनका जन्म-काल सं० १५६७ वि० के लगभग निश्चित किया जा सकता है।

पीछे कहा गया है कि श्रीछीतस्वामी का निधन गो० विट्ठलनाथजी के गोलोकवास का शोक-संवाद सुनने से कुछ समय की मूर्छा के बाद हो गया था। गोस्वामी जी का देहावसान सं० १६४२ वि० फाल्गुन कृष्ण ७ को हुआ था। इसलिए छीतस्वामी के गोलोकवास की तिथि सं० १६४२ वि० फाल्गुन कृष्ण ८ हो सकती है। साधनाकाल में इनका अवस्थिति स्थल गिरिराज (गोवर्द्धन) के ऊपर, "पूछरी" नामक स्थान पर श्याम-वृक्ष के नीचे बताया जाता है। इनके लीलात्मक स्वरूप के विषय में 'वार्ता' में लिखा है कि ये सखा-रूप में सुबल और सखी रूप में पद्मा के प्रतिरूप थे।

अष्टछाप के अन्य कई कवियों की तरह श्री छीतस्वामी की रचनाओं के विषय में भी, हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा कविता-संग्रहों से, कोई स्पष्ट सूचना नहीं प्राप्त होती। मिश्रबन्धुओं ने इनके ३४ पदों का संग्रह अपने पास बताया है। छीतस्वामी के कुछ पद वल्लभ-सम्प्रदायी कीर्तन-संग्रहों में भी मिलते हैं। उन्हीं में से चार यहाँ दिये जाते हैं—

(१)

मेरी अँखियन के भूषण गिरधारी।
बलि बलि जाऊँ छबीली छबि पर
अति आनन्द सुखकारी॥
परम उदार चतुर चिंतामणि दरस-परस दुख हारी।
अतुल प्रताप तनक तुलसी दल मानत सेवा भारी॥
छीतस्वामी गिरिधरन विशद यश गावत गोकुल नारी।
कहा बरनों गुनगाथ नाथ के श्री विट्ठल हृदय विचारी॥

(२)

बादर झूम-झूम बरसन लागे।
दामिनी दमकति चौंकि चमकि स्याम घन की गरज
सुनि जागे॥
गोपीजन द्वारे ठाढ़ीं नारी नर भींजत मुख देखति
अनुरागे।
छीतस्वामी गिरिधरन श्री विट्ठल, ओत-प्रोत रस पागे॥

(३)

राधे रूपनिधान गुण आगरी नन्दनन्दन रसिक सङ्ग
खेली।
कुञ्ज के सदन अति चतुर बर नागरी
चतुर नागर सों करति केली॥
नील पट तन लसे पीत कंचुकी कसे
सकल अङ्ग भुवननि रूप रेली।
परम आनन्द सों लाल गिरधर न
हृदै सों लागि लागि भुजन करिमेली॥
छीतस्वामी नवल वृषभानु नन्दनी करति
सुखरासि पीय सङ्ग नवेली।
सहचरी मुदित सब जाल रंध्रनि निरखि
मानी अपनो भाग करत केली॥

(४)

अरी हों स्याम रूप लुभानी।
मारग जात मिले नन्दनन्दन तन की दसा भुलानी॥
मोर मुकुट सीस पर वाको बांकी चितवनि सोहे।
अङ्ग अङ्ग भूषन बने सजनो जो देखे सो मोहे॥
मो तन मुरि कें जब मुसकाने तब हों छाकि रही।
छीतस्वामी गिरधर की चितवनि जाति न कछू कही॥

जगजीवनदास

सतनामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक साहेब जगजीवनदास का जन्म माघ शुक्ला सप्तमी, सं० १७२७ वि० को बाराबंकी जिले में कोटवा से ६ किलोमीटर दूर सरयू-तट पर स्थित सरदहा नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री गंगा सिंह और माता का कमला देवी था। ये जाति के चंदेलवंशी क्षत्रिय थे। सामान्य कृषक

परिवार से सम्वद्ध होने के कारण इन्हें खेती-बारी भी देखनी पड़ती थी। किन्तु आठ वर्ष की अवस्था से ही भगवद्-भक्ति की ओर आकृष्ट हो जाने के कारण ये सत्संग, भजन और साधु सन्तों की सेवा में अधिक प्रवृत्त रहने लगे।

विद्यालयीय शिक्षा की दृष्टि से ये अशिक्षित थे, पर सत्संग और गुरु-कृपा से इनके अनुभव-ज्ञान का अपार विस्तार हुआ था। इनकी रचनाओं में यत्र-तत्र ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं, जिनसे प्रकट होता है कि इन्होंने साक्षात् राम को ही अपना गुरु बना लिया था, पर साम्प्रदायिक सूत्रों से पता चलता है कि इन्होंने काशी निवासी विश्वेश्वरपुरी नामक सिद्ध सन्त से दीक्षा प्राप्त की थी।

ये घर में रहकर ही वन का व्रत लेकर साधना करने वाले सन्त थे। इनके मतानुसार ईश्वर का परमप्रिय और सर्वोत्तम भक्त वह है जो जगत् में रहते हुए परमतत्त्व की साधना करता है। अतः इन्होंने वैवाहिक जीवन की मर्यादा के साथ वर्जनामुक्त जीवन व्यतीत किया। इनकी पत्नी का नाम मोतिन्ह था, जिन्होंने शोभादास, अनन्तदास, पत्तादास, बालदास और जलालीदास नामके पाँच पुत्रों को जन्म दिया।

जगजीवनदास जी ने अपने जन्म-स्थान सरदहा को छोड़कर उससे ६ किलोमीटर की दूरी पर स्थित कोटवा नामक ग्राम को अपनी साधना-भूमि बनाया। इनकी साधना का केन्द्र-विन्दु नामोपासना है। इनके अनुसार जिसे नाम का विश्वास है उसके पास सभी तीर्थों का निवास रहता है—

तीरथ सर्व ताहि के पासा। जेहि के नाम अहै विश्वासा॥

फिर भी इन्होंने कहीं-कहीं तीर्थों में विश्वास प्रकट किया है। काशी को ये पाप-कर्म का नाशी मानते हैं—

काशी करम पाप कै नासी।

जगजीवन दास जी की साधना में निर्गुण-सगुण के अतिवाद को महत्त्व नहीं मिला। इन्होंने अपनी साधना के द्वारा निर्गुण और सगुण के मध्य सेतु-निर्माण किया। निर्गुण की साधना करते हुए इन्होंने जहाँ एक ओर आत्मतत्त्व का अनुसन्धान किया, वहीं राम, कृष्ण और हनुमान की समर्पित भाव से भक्ति भी की। इसीलिए इनकी साधना का मार्ग हिन्दू-मुसलमान और ब्राह्मण-शूद्र हर किसी के लिए समानरूप से खुला है। सभी जाति-वर्ण के लोगों ने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया।

इनकी शिष्य-शाखा का विस्तार चार पावा और चौदह गद्दियों के माध्यम से हुआ। चार पावा के अन्तर्गत इनके चार पट्ट शिष्यों—गोसाँई दास, देवीदास, दूलनदास और खेमदास—का नाम आता है। चौदह गद्दियों में इनके संस्थापक अहलाद दास (सरदहा), नवलदास (उमापुर), उदयरामदास (हरचन्दपुर), भवानीदास (बहरेला), मेड़नदास, बलदीदास, रामदास (तीनों अटवा), माधवदास (हथोधा), पियारेदास (जरौली), कायमदास (रसूलपुर), शिवदास (पंजाब), बालदास (अमरापुर), मंशादास (ग्वारिच) और कृपादास (खरथरि) का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। ये सभी जगजीवनदास के प्रख्यात शिष्य थे।

अनेक विद्वान् इनका निधन सं० १८१८ में मानते हैं, किन्तु साम्प्रदायिक सूत्रों से इनका देहावसान सं० १८१७, वैशाख कृष्ण ७ को हुआ था। इस सम्बन्ध में बोधमल्लदास कृत "भक्तिविनोद" की निम्नांकित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

संवत अठारह सै सत्रह, करि आसन भे मौन।
कृष्णपक्ष तिथि सत्तमी, बैसाख भौम करि गौन॥

जगजीवन साहेब द्वारा रचित छोटे-बड़े कुल १८ ग्रन्थ हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—"अघविनास," "उग्रज्ञान", "कहरानामा," "चरण-बंदगी," "ज्ञान-प्रकाश," "दृढ़ध्यान," "परमनाम," बारहमासा", "बुद्धि-वृद्धि", "मनपूरन", "आगमपद्धति", "महा-प्रलयलीला", "विवेकज्ञान", "विवेकमंत्र", "शब्द-सागर", "महावीरस्तुति", "सप्तमी-माहात्म्य" तथा "शरणबंदगी"।

निर्गुणोपासक होते हुए भी इनके पदों में कृष्ण-भक्ति का बड़ा ही विशद् वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं के माध्यम से इन्होंने माधुर्य-भावाश्रित भक्ति का जैसा अंकन किया है, उसका स्वरूपवोध कराने की दृष्टि से तीन पद नीचे दिये जाते हैं --

(१)

नाचत करि-करि रंग संग ।।
गोपिन को मुरली बजाय सुनायो, सबकी भै मतिभंग।
जो जस सुमिरा तेइ तस देखा करि सो नेम तरंग ।।
गोपी ग्वालबाल सब मोहे परि पारस परसंग।
'जगजिवनदास' सबहो मा व्यापित खेलत अहै निहंग।।

(२)

अरि रहिं नयन सों नयन मिलाइ ।।
गली चलत मोहिं मिले कन्हैया से अब बिसरि न जाइ।
रूप दिखाइ मोहिं बौराइसि डारिसि घर बिसराइ ।।
सो वह रूप बरनि नहिं आवै चाँद सुरज छपि जाइ।
"जगजीवनदास" सखि भाग्य बड़े हैं
जिन्ह वह दरशन पाइ ।।

(३)

सखि आजु राधिका रूप बना ।।
श्याम सुन्दर खेलत धमारि हैं संग लिहे अपनी सैना।
कोऊ लै लीलासिंह मारै कोऊ उड़ावै अबीर घना ।।
राधा लीलासिंह मारैं कृष्ण उड़ावैं अबीर घना।
कोई यशोदहि लै गरियावै कोऊ बोले अमृत बैना ।।

रा० प्र० त्रि०

जगतसिंह

महाराज कुमार जगतसिंह का आविर्भाव गोंडा (उत्तर प्रदेश) जिले के इतिहास-प्रसिद्ध बिसेन राजवंश में हुआ था। यह गोरखपुर, देवरिया के 'मल्ल' उपाधिधारी बौद्धकालीन सूर्यवंशी विश्वसेन क्षत्रियों की एक शाखा थी, जिसका मूलस्थान मझौली था। इस वंश के राजा पृथ्वी मल्ल के पुत्र प्रताप मल्ल ने १६वीं शताब्दी में एक बड़ी सेना की सहायता से गोंडा के डोमकटार क्षत्रिय नरेश उग्रसेन को हराकर इस क्षेत्र में अपना राज्य स्थापित किया था। कालान्तर में इस वंश की एक शाखा वहराइच जिले के भिनगा नामक राज्य की अधिकारी हुई। जगतसिंह के पिता ठाकुर दिग्विजय सिंह इसी से सम्वद्ध थे और देवतहा नामक इलाके के तालुकेदार थे।

जगतसिंह की जन्मतिथि के विषय में न तो कहीं इनकी रचनाओं में उल्लेख मिलता है, न कोई वाह्य साक्ष्य ही उपलब्ध है। इनकी प्रथम रचना की तिथि सं० १८२७ है। उस समय इनकी आयु यदि अनुमानतः २५ वर्ष की मान ली जाए, तो इनका जन्म-काल सं० १८०२ के आसपास स्थिर किया जा सकता है।

इनकी वाल्यावस्था पिता के सानिध्य में देवतहा में व्यतीत हुई। इनकी कृतियों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पिता ने इनकी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था की थी। काव्यशास्त्र में विशेष रुचि होने के कारण इन्होंने संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया था, यह इनकी कृतियों में सन्दर्भित संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों तथा आचार्यों के नामोल्लेख से स्पष्ट हो जाता है। गोंडा-दरबार के आश्रित कवियों और विद्वानों के सम्पर्क से इनकी जन्मजात काव्यप्रतिभा विकसित हुई।

उन दिनों गोंडा की गद्दी पर महाराज शिवप्रसाद सिंह आसीन थे। वे कवियों के प्रसिद्ध आश्रयदाता और उच्चकोटि के कृष्ण-भक्त थे। 'जैमिन-पुराण' के रचयिता कविराज सदानन्द उनके मुख्य पार्षद थे। उनके संसर्ग में आने से जगतसिंह के काव्य-प्रेम तथा कृष्णभक्ति के विकास के लिए पर्याप्त अवसर मिला। फिर तो देवतहा की अपेक्षा गोंडा ही इनका मुख्य निवास-स्थान बन गया। इनकी प्रसिद्ध कृति 'साहित्य-सुधानिधि' की निम्नांकित पंक्तियों से इसका आभास मिलता है—

श्री सरयू के उत्तर गोंडा नाम।
तेहिपुर बसत कविन जन आठौ जाम ।।

तिन महँ एक अल्पकवि अति मति मंद।
जगत सिंह सो बरनत बरवै छंद॥

महाराज कुमार जगतसिंह को भक्ति, काव्य-रचना तथा कवियों के सम्मान के संस्कार पूर्वजों से प्राप्त हुए थे। इन्होंने अनवरत साधना से उन्हें पुष्पित तथा पल्लवित किया। इनके काव्य-प्रेम से आकृष्ट होकर असनी (फतेहपुर) के शिव कवि अरसेला बन्दीजन ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिन्धिया का आश्रय त्यागकर गोंडा चले आये थे। उन्हें जगतसिंह से अपूर्व सम्मान प्राप्त हुआ। अपना काव्य-गुरु बनाकर ये उन्हें गोंडा से देवतहाँ ले गये, जहाँ वे जीवन के अन्तिम क्षण तक इनके साथ रहे।

जगतसिंह की अब तक १२ रचनाएँ प्रकाश में आई हैं, जो इस प्रकार हैं—१. चित्रकाव्य (सं० १८२७), २. साहित्य-सुधानिधि (सं० १८५८), ३. रसमृगांक (सं० १८६३), ४. भारती कंठाभरण (सं० १८६४), ५. उत्तम मंजरी (सं० १८६३), ६. रत्न-मंजरी-कोश (सं० १८६३), ७. अलंकार-साठि-दर्पण (सं० १८६४), ८. जगत-प्रकाश (सं० १८६५), ९. नायिकादर्श (सं० १८७७), १०. नखशिख (सं० १८७७-८० अन०), ११. रामचन्द्रिका-तिलक (सं० १८८५) तथा १२. जगत-विलास (सं० १८९६)।

इनके अतिरिक्त जगतसिंह विरचित कुछ स्फुट छन्द प्राचीन काव्य-संग्रहों में संकलित मिलते हैं।

महाराज कुमार जगतसिंह की उपर्युक्त रचनाओं की निर्माण-प्रक्रिया के प्रकाश में इनका कविता-काल सं० १८२७ से १८७७ तक, लगभग ५० वर्ष ठहरता है। इस अर्द्ध शताब्दी की अवधि में इन्होंने काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों पर जो कृतियाँ प्रस्तुत कीं, वे रीतिकालीन साहित्य की अमूल्यनिधि हैं।

जगतसिंह का निधन कब हुआ? यह जानने के साधन अवशिष्ट नहीं रहे। किन्तु इनकी अन्तिम रचना का समय ज्ञात होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका परलोकवास सं० १८७७ से १८८० के बीच किसी समय हुआ होगा, जब ये ७५ वर्ष की सीमा पार कर चुके थे।

इनके कोई सन्तान नहीं थी, अतः इन्होंने अपने सगोत्रीय भिनगा के महाराज शिवसिंह के तृतीय पुत्र कालीप्रसाद सिंह को गोद ले लिया। इस प्रकार इनके उत्तराधिकारी भिनगा-राजवंश के ही लोग हुए। इनके वंशज अब तक बलरामपुर (गोंडा) की निकटवर्ती, इनकी कर्म तथा काव्यसाधना स्थली, देवतहाँ में बसे हुए हैं।

महाराज कुमार जगतसिंह की काव्य-रचना का प्रधान क्षेत्र काव्यांगों का निरूपण रहा है और ये आचार्य-कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। किन्तु जहाँ तक व्यक्तिगत अध्यात्मनिष्ठा का सम्बन्ध है, अपने अनेक पूर्ववर्ती तथा समकालीन रीतिबद्ध रचनाकारों की भाँति राधाकृष्ण के प्रति अनन्य निष्ठा इनकी प्रायः सभी कृतियों में लक्षित की जा सकती है। जहाँ कहीं भी इन्हें अवसर मिला है, काव्यांगों के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत छन्दों में इन्होंने कृष्ण के प्रति अपना गूढ़ प्रेम व्यक्त किया है। कहीं-कहीं तो यह प्रेम बहुत सहज किन्तु अत्यन्त ही गम्भीर रूप में प्रकट हुआ है। ऐसे कुछ छन्द उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत हैं—

(१)

मोर पखानि बनौ सिर मौर,
लसैं अति केसर भाल अनूप।
छुटे झलकैं स्रुति कुण्डल मोतिन,
माल गरे लखिये सुत भूप॥
पीत पटा तन अंगद बाहु,
कलानिधि सो मुख है अनुरूप।
बेनु बजावत आवत साँझ,
गयौ गड़ि नैनन लोनौ सौ रूप॥

(२)

सीस मुकुट श्रुति कुंडल केसरि भाल।
पीत बसन तन मुरली कर उर माल॥

जाते अवर न दूसर आदिहु अंत।
नेति नेति ज्यहि गावत निगम निरंत॥
चरन अब्ज रज बंदौं अमृत मूरि।
जासु कृपा करि पायौं करि मति भूरि॥
जय वृन्दावन पावन जय बृज-कुंज।
जय जमुना जल बिगसित सरसिज पुंज॥

(३)

राधे तो समता को राधे तोहि।
रहे कहावत मोहन मोहन मोहि॥
हरि राधा यक सेज पै सोयी जाइ।
मरकत कनक छरी जनु धरो मिलाइ॥
या संसार सपन सो माया फंद।
तातें तजि भजि लीजै श्री नँदनंद॥

स० प्र० सिंह

जगतानंद

पुष्टिमार्गीय भक्त कवि श्री जगतानंद उपनाम 'जगतनंद' अथवा 'जगनंद' का संक्षिप्त परिचय 'मिश्रबन्धु-विनोद' में उपलब्ध होता है। उसमें इनका जन्म-काल वि० सं० १६५८ तथा रचना-काल वि० सं० १६८५ दिया हुआ है। इनके भक्तिकाव्य के उदाहरण 'हजारा' में भी मिलते हैं। इनके ग्रन्थों में 'ब्रज-परिक्रमा' तथा 'भागवत-लीला' प्रमुख हैं। कवि ने 'श्रीवल्लभ-वंशावली' नामक एक और ग्रंथ की भी रचना की है। 'जगतनंद' नाम के एक अन्य कवि का भी पता चलता है, परन्तु जगतानंद की शैली पर पुष्टिमार्गीय भक्ति की अपनी छाप है। इसलिए ये अपने नामराशी अन्य कवियों से भिन्न हैं। इनका अपना अलग व्यक्तित्व दिखाई देता है। छंदानुरोध से ही इन्होंने 'जगतनंद', 'जगनंद' एवं 'नंद' आदि विविध छापों का प्रयोग किया है।

इनके 'श्रीवल्लभ-वंशावली' नामक ग्रंथ की रचना सं० १७८१ में पूर्ण हुई थी। इस ग्रन्थ में कवि ने अपना विस्तृत परिचय दिया है। इसके मंगलाचरण में इन्होंने "श्री गोवर्धनेश जी" का गुरुदेव के रूप में स्मरण किया है, जिसकी पुष्टि श्री गुसाँई जी की 'वनयात्रा' से भी होती है। गोवर्धनेश जी गो० विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलेश जी के पौत्र के कनिष्ठ पुत्र श्री विट्ठलराय जी के आत्मज थे। 'वल्लभ-वंशावली' में श्री गोवर्धनेश जी का जन्म-काल सं० १६७३ और अन्तिम समय वि० सं० १७१०-१५ तक माना गया है। गुसाँई गो० विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र तथा सप्तम पुत्र श्री घनश्याम जी इस समय विद्यमान थे और जतीपुरा में गिरिराज पर सातों निधियाँ विराजमान थीं। 'जगतनंद' ने इनका उल्लेख किया है।

'वल्लभ वंशावली' में इन्होंने गुसाँई जी के अन्य बालकों के जन्म-संवत् न देकर केवल गोकुलनाथ जी के वंशजों के ही जन्म संवत् दिये हैं। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि यह कवि इस चतुर्थ घर का ही शिष्य-सेवक है। जगतानंद ने इस प्रसंग में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है--

श्री गोवर्धनेश ईश प्रभु, हृदै रहो करि धाम।
जिनके पद जुग कमल कों, करि जगनंद प्रनाम॥

इस दोहा द्वारा इन्होंने अपने गुरु का अभिवादन किया है और उनका विशेष परिचय अपने प्रथम मंगलाचरण में इस प्रकार दिया है--

सौ बातन की बात, भजौ श्री विट्ठलनाथै।
गोकुलनाथ सुनाथ राय विट्ठल मम माथै॥
गोवर्धन ईश गुरन के चरन मनाऊँ।
उपखानों के सहित दशम की लीला गाऊँ॥

इस काव्यांश से श्री गोकुलनाथ जी के पौत्र श्री विट्ठलराय जी के पुत्र गोवर्धनेश जी का स्पष्टतः परिज्ञान हो जाता है। श्री विट्ठलराय जी के स्पष्ट उल्लेख का एक कारण यह भी है कि श्री जगतानंद ने पिता से अष्टाक्षर मंत्र लिया था और पुत्र से दीक्षा ली थी।

इनका जन्म-स्थान कहीं भी रहा हो, परन्तु प्रौढ़ वय में इनका निवास-स्थान गोकुल ही रहा था।

'व्रजवर्णन' में इन्होंने यह स्वीकार किया है—"**तामें श्री गोकुल महा, मोकौ लागत इष्ट।**" इन्होंने गोकुल की महिमा के सम्बन्ध में अत्यन्त भक्ति-भाव-पूर्ण अनेक उद्गार व्यक्त किये हैं। कृष्ण भक्ति का तत्त्व और रहस्य इन्होंने श्री गोकुल में प्रत्यक्ष लीला करते हुये इष्ट-दर्शन द्वारा प्राप्त किया था। इसीलिए गोकुल से अन्यत्र जाने की बात तो दूर उसे इनका मन एक पल के लिये भी छोड़ना नहीं चाहता था। गोकुल में इन्हें नंदनंदन श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन होने से इनकी मान्यता है कि जिस भक्त ने गोकुल में आकर भक्ति कर ली उसका कुल अमर हो गया—

गोकुल अति देख्यौ रसिक, श्री गोकुल के मांझ।
गोकुल चित दीनों इहाँ, सो कुल कबहु न बांझ॥

जगतानंद की रचनाओं में इनकी भक्ति-निष्ठा के साथ समर्थ भाषा का प्रयोग भी दिखाई देता है। अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम इन्होंने जिन छन्दों को बनाया है, वे निश्चय ही भावों को प्रकट करने में सक्षम सिद्ध हुए हैं। रचनाओं से इनके व्यापक ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। जगतानंद का जीवन आराध्य की समर्पणपूर्ण सेवा में ही व्यतीत हुआ था। अगाध विश्वास, एकान्तिक निष्ठा और सहज स्नेह इनके पदों में सर्वत्र दिखाई देता है। इनके काव्य का प्रेरक तत्त्व इष्टदेव श्रीकृष्ण की बाल लीलाएँ ही हैं। इन लीलाओं का चित्रण इन्होंने अनेक लौकिक मुहावरों तथा लोकोक्तियों के माध्यम से किया है।

अबतक इनके छः ग्रंथ प्रकाश में आये हैं—श्री वल्लभ वंशावली, श्रीगुसाईं जी की वनयात्रा, व्रज-वस्तु-वर्णन, व्रजग्राम-वर्णन, दोहा, साखी तथा भागवत का दशमस्कंध-भाषा। इनका संकलन विद्या विभाग, कॉकरौली से प्रकाशित हो गया है। इनके अतिरिक्त इधर 'व्रज-परिक्रमा' नामक इनकी एक और रचना प्रकाश में आई है।

श्रीजगतानंद की रचनाओं में व्रजभूमि की महिमा का वर्णन तथा श्रीकृष्ण की लोकाकर्षक बाल-लीला की घटनाओं का आकर्षक चित्रण हुआ है। यही विशेषता इस कवि को वल्लभ सम्प्रदाय के अन्य कवियों के मध्य मौलिक तथा सहज काव्य-रचयिता का पद प्रदान करती है।

नीचे इनके भक्तिभाव-व्यंजक कुछ छंद दिये जाते हैं—

(१)

शकटासुर-बध

धोबी को सो कूकरा घर को भयो न घाट
घर को भयो न घाट एक सकटासुर भोंड़ो।
गयो महाबन बीच कंस भूपति कौ लौंड़ो।
गाड़ा में छिपि रह्यौ कान्ह जू मारि गिरायौ।
ना जानें कित गयो कहूँ ढूंढ्यौ नहि पायो।
ढूँढ्यौ नहि पायो कहूँ कंस निहारे बाट।
धोबी को सो कूकरा घर को भयो न घाट॥

(२)

माखन चोरी-लीला

सूनो घर भिड़यन कौ राज।
इक ग्वालिन घर खबर मँगाए।
दोइ चारि जुरि सखा पठाये॥
ग्वाल कहें वहाँ कोउ नाँहि।
कृष्ण कहें सब चलौ तहाँहि॥
घर में जाइ धँसे गलगाज।
सूनो घर भिड़यन कौ राज॥

(३)

नृत्य-लीला

नाँच न आवै आँगन टेढ़ौ।
बैठी जसुमति रोहिन मैया।
सखन मध्य खेले दोउ भैया॥
नाचत गावत नाना भाँति।
जगमगात अंगन की काँति॥
दाऊजी को नाच न आवै।
धरती में कछु दोष बतावै॥
कान्ह हँसत बोलत अब रेढ़ौ।
नाच न आवै आँगन टेढ़ौ॥

(४)

ग्वाल-लीला

मूँग मोठ में कौन बड़ौ है।
बच्छ चरावत बन बन डोलै।
वेनु बजावै मधुरे बोलै ।।
भाँति-भाँति ग्वालन संग खेलै।
कण्ठन बीच भुजा को मेलै ।।
चढ़ा-चढ़ी खेलत सुख पावै।
अपनी पीठि पै उन्हें चढ़ावै ।।
कबहूँ कूदत कबहूँ झटकै।
आप गिरै ग्वालनि धरि पटकै ।।
होत बराबर करे न कानि।
अपनी जात एक पहचानि ।।
इह विधि खेलत लाल लड़ो है।
मूँग मोठ में कौन बड़ो है ।।

(५)

श्री गोबरधन के ईस कौं, भजौं चरन सुखकंद।
ब्रज मैं जितनी वसा है, सो कथे तूहै जगनंद।
ब्रज चौरासी कोस मैं, इतनी वस्तु प्रकास।
ताको बर्नन करत है, जगतनंद कर आस ।।
यह चोतर हरि रूप है, ब्रज चौरासी कोस।
नाम लेत जगनंद जो, कटै कली के दोष ।।
मो बुध सुध आए जिते, तेते कहे समुझाय।
जहाँ तहाँ ते ढूँढ़ के, कहे जगनंद बनाय ।।

(६)

जौ लौं तेरी आय, तौ लौं हरि की सरन आव,
करिलै उपाव कृष्ण नाम में अटकि जा।
बन्यो तेरो दाँव, चित चाव अति भाव ही सों,
गोवर्द्धननाथ रूप-माधुरी गटकि जा।
ममता बहाय, काम क्रोध को दहाय,
प्रेम पंथ ही में आय दुख दंद को पटकि जा।
कहै जगनंद, काहे होत मति मंद,
अब छाँड़ि सब फंद ब्रजभूमि को सटकि जा ।।

रा० कृ० श०
वा० सिं०
ह० न० भा०

जगदीश गोस्वामी

गोस्वामी जगदीश जी स्वामी हरिदास जी के वंशज थे। ये 'मथुरा डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर' के लेखक एफ० एस० ग्राउज के समकालीन थे। इन्होंने स्वामी जी के सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ ग्राउज साहब को दी थीं। इनकी रचनाएँ मुख्य रूप से संस्कृत भाषा में हैं। संस्कृत में लिखित "यमुना-लहरी' इनकी प्रसिद्ध रचना है। इनका 'कुंजविहारी-अष्टक' उपासनापरक सुन्दर ग्रन्थ है। इनकी रचनाओं से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ये आशुकवि थे। इनकी भाषा स्पष्ट, सरल, प्रांजल एवं मार्मिक है। इस पद में इनकी भाषा की सरलता द्रष्टव्य है—

साँवरो सलोनौ री बांकुरौ बिहारी।
झाँकी अनौखी री सोभा अति न्यारी ।।
लाल और प्रिया की छबि पर तृन तोरूँ।
आखिन में भरूँ रूप चित्त नहीं मोरूँ ।।
रास में विलास प्रिया कुंज केलि करना।
सहचरि जगदीश प्रान-प्यारे जुगल भरना ।।

प्रे० ना० श्री०

जगदीश बाबा

जगदीश बाबा का जन्म एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में वर्धमान (बंगाल) में हुआ था। दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व ये एक प्रसिद्ध डॉक्टर थे और कालना में प्रैक्टिस किया करते थे। पचास वर्ष की अवस्था में इन्होंने कालना के सिद्ध श्री भगवानदास बाबा से दीक्षा ग्रहण किया। संसार का मोह त्यागकर उसी समय ये वृन्दावन चले गये। वहाँ कुछ दिनों तक श्री मदनमोहन के पुराने मंदिर में रहकर भजन किया फिर कालीदह के पास एक छोटी-सी कुटिया बनाकर रहने लगे। ये अत्यंत विरक्त प्रवृत्ति के थे और मधुकरी द्वारा ही अपना जीवन-निर्वाह करते थे। ये अपने गुरु के आदेश से रागानुगा-पद्धति से भजन करते तथा सदैव श्रीकृष्ण-लीला-स्मरण में लीन रहते थे। ये मधुकरी के लिए प्रतिदिन श्रृंगारवट में श्री नित्यानंद प्रभु की

गद्दी पर जाते और वहाँ की रज में लोटकर भजनोल्लास की स्फूर्ति पाते थे। श्रीकृष्ण लीला-समुद्र में ये मीन की भाँति सदैव तैरते, डूबते और उतराते रहते थे। ये निरंतर सावधान रहते कि इनसे जाने-अनजाने कोई अपराध न हो जाय। किसी में दोष निकालना या किसी की निन्दा करना इनके स्वभाव के विरुद्ध था। ये उत्सव आदि भी नहीं पसंद करते थे। एक बार इनके मन में आया कि कालीदह में एक दीर्घिका का निर्माण कराया जाय। जब धन आदि इकट्ठा हो गया और इनसे दीर्घिका खोदने के लिए अनुमति माँगी गयी, तब इन्होंने कहा कि दीर्घिका की वासना लेकर मेरे भजन में भयंकर बाधा उपस्थित हो गयी थी। यदि इसका कार्य प्रारम्भ होगा तो मेरा सब कुछ चला जायगा। प्रेम-भक्ति के सम्बन्ध में इनका विचार था कि जो अपने को तृण से भी तुच्छ मानकर, वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होकर, स्वयं सम्मान की अभिलाषा न रखते हुए, दूसरों को सम्मान देते हुए, निरंतर हरि-कीर्तन में रत रहेगा, वही प्रेम-भक्ति की साधना में सफल होगा।

श्री गौरांगदास बाबा पर इनका अतिशय स्नेह था। सौ वर्ष पूरे होने पर इनकी शरीर त्यागने की इच्छा प्रवल होने लगी, लेकिन श्री गौरांग बाबा के स्नेह के कारण उनके सम्मुख इहलीला समाप्त करना इनके लिए असम्भव हो गया। तब इन्होंने गौरांगदास बाबा को बरसाने जाकर भानुखर सरोवर की सेवा करने के लिए भेज दिया और सन् १९१५ ई० की आषाढ़ शुक्ला षष्ठी को परधाम के लिए प्रयाण किया।

मु० अ०

जगदीशबख्श

सतनामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त जगजीवन साहब की वंश-परम्परा में सनोमानदास के द्वितीय पुत्र जगदीश बख्शजी अपनी शान्त प्रकृति और रचनात्मक प्रतिभा के कारण विख्यात हैं। हरिशरणदास जी के अनुसार इनका जन्म वि० सं० १९४२ में कोटवाधाम में ही हुआ था। किन्तु, कोटवा स्थित समाधि के शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि सं० १९४२ में जगदीशबख्शजी के बड़े भाई सत्यनाम बख्श पैदा हुए थे। इसके अनुसार जगदीश बख्श का जन्मकाल सं० १९४५ वि० के आसपास प्रतीत होता है। इनका शरीपात विक्रम सं० १९६८ में कोटवाधाम (जिला बाराबंकी) में हुआ।

सन्त जगदीशबख्श की शिक्षा घर पर ही हुई थी, किन्तु इन्होंने स्वाध्याय से हिन्दी और उर्दू भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। धर्म-प्रचार और साम्प्रदायिक संगठन में इनकी विशेष अभिरुचि थी। जगजीवन साहब की जन्म-तिथि के अवसर पर प्रतिवर्ष माघ शुक्ला सप्तमी को मेला लगवाने की परम्परा इन्होंने ही चलायी। इसी अवसर पर इन्होंने सतनाम-कोष की भी स्थापना की।

सतनामी संप्रदाय की परम्परानुसार ये दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करने वाले सन्त थे। इनके जगन्नाथबख्श और रामेश्वरबख्श नामक दो पुत्र थे। कनिष्ठ पुत्र रामेश्वर बख्श का जन्म जगदीशबख्श जी के निधन के कुछ मास बाद हुआ था। इनके ज्येष्ठ पुत्र जगन्नाथबख्श दास जी ने अनेक वर्षों तक बाराबंकी के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के मेरुदण्ड-रूप में कार्य किया। जिला परिषद्, बाराबंकी के अध्यक्ष पद से इन्होंने इस जनपद की अनेकविध सेवा की।

जगदीशबख्श दास जी की साम्प्रदायिक साहित्य के अनुशीलन और संग्रह में गहरी रुचि थी। परिणामतः इनके पास पाण्डुलिपियों का अच्छा-सा संग्रह तैयार हो गया था। साम्प्रदायिक साहित्य के अनुशीलन से ही इनमें वाणी-रचना की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ। इनकी रचनाओं का संग्रह 'जगदीशबख्श की पदावली' नाम से प्रकाशित हो गया है। जिसमें यद्यपि मात्र पचीस पद संकलित हैं, तथापि इनमें इनकी रचनात्मक प्रतिभा का सम्यक् निदर्शन हुआ है।

'जगदीश बख्श जी की पदावली' पर सूर और मीरा के पदों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उसमें कृष्ण-भक्ति का पौराणिक रूप दिखाई पड़ता है,

जिसमें पतितोद्धारक भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का अनेकविध वर्णन है। इसमें श्रीकृष्ण के परब्रह्म रूप का अंकन हुआ है। इनकी कृतियों में भक्ति का शृंगारिक पक्ष मर्यादित रूप में अभिव्यक्त हुआ है। भाषा पर इनका पूरा अधिकार दिखाई पड़ता है। फारसी की सुष्ठु और प्रवाहमय शैली का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। कृष्ण भक्ति की व्यंजना करने वाले इनके कुछ पद नीचे दिये जाते हैं--

प्रात उठि बैठे नन्दकिशोर।
ग्वाल बाल सब द्वारे ठाढ़े, करत हैं जय जय शोर।
चलो लाल जी देर होत है, धेनु चलीं बन छोर॥
पंथी बाट चलन सब लागे यमुना तट की ओर।
जन 'जगदीश' आस चरनन की दरश देव मोंहि भोर॥

हमारी सुधि लीजै हो ब्रजराज।
मैं अधीन ह्वै दीन पुकारत राखो मेरी लाज॥
राधा छोड़ि कुबरी को ध्यावत हमरे कौने काज।
हमरे काज जोग लिखि पठवत आप बने महराज॥
दरश देव मोंहि आस यही है गोपिन के सरताज।
जन 'जगदीश' की अरज यही है सुनौ गरीब नेवाज॥

श्याम पियारे हमारे नहिं आये।
सगरी रैन मोंहि जागत बीती आये भोर उजियारे॥
अंजन अधर कपोलन राजत बेंदी भाल लगाये।
चिह्न गाल को कहँ लगि छपिहै, कंगन पीठि गड़ाये॥
बात बनाय कहत हरि मोसों नाहिन छपत/छपाये।
जन 'जगदीश' देखि यह लीला आनन्द उर न समाये॥

रा० प्र० त्रि०

जगदीश भट्ट

पं० जगदीश भट्ट श्रीकृष्ण भट्ट 'कलानिधि' के पुत्र एवं द्वारकानाथ भट्ट 'सरसुती' के अनुज थे। श्रीकृष्ण भट्ट 'कलानिधि' को सवाई जयसिंह, बूंदी के राव राजा बुधसिंह से माँगकर लाये थे। इसके पश्चात् भट्ट-परिवार जयपुर में ही रहने लगा। श्री जगदीश भट्ट जयपुर-नरेश महाराजा प्रताप सिंह 'ब्रजनिधि' के कवि-मंडल के एक सम्मानित कवि थे।

आपने अपने अग्रज पं० द्वारकानाथ भट्ट से 'चिन्तामणि' नामक मंत्र की दीक्षा ली थी, उन्हीं से शास्त्रों का अध्ययन किया था और कविता-लेखन भी सीखा था। पं० जगदीश भट्ट पं० चिमनलाल के दत्तक पुत्र थे। इनके सम्बन्ध में पं० मथुरानाथ भट्ट देवर्षि ने 'जयपुर वैभवम्' में लिखा है--

यस्त्वनुजो जगदीश कविः किल दत्तकतामगमत्सुकृती।
स हि भागवताद्यनुवादमधाद्वयदधाद्बहुग्रंथ गणँगणपति।
वत येन प्रताप नरेश प्रताप कृतो
प्रहिता कविता सुदती।
सततं स हि सांम्रियमाण कृती रसवाग्
जयताज्जगदीश कृती॥

मिश्रबन्धुओं ने जगदीश भट्ट का उल्लेख करते हुए इनके केवल एक ग्रंथ—'जगत-रसरंजन' की सूचना दी है। डॉ० सत्येन्द्र ने अपने 'ब्रज साहित्य का इतिहास' में इनके ७ ग्रंथों का उल्लेख किया है और इनका जन्मकाल सं० १७८० माना है। डॉ० गजानन मिश्र ने 'जयपुर के हिन्दी कवियों का योगदान' में इनके निम्नलिखित १४ ग्रंथों का उल्लेख किया है—

१. काव्य-विनोद, २. किशोर-सुखसागर, ३. जगत-रसरंजन, ४. जगत-भक्त-विलास, ५. भक्ति-अर्गजा, ६. पद-मकरंद, ७. पद-पंकज, ८. लक्ष्यात्मक ग्रंथ, ९. ब्रह्मवैवर्त पुराण का अनुवाद, १०. बल्लभाचार्य के षोडश ग्रन्थों का अनुवाद, ११. माघ के शिशुपाल वध का अनुवाद, १२. महाभारत के शांति पर्व का अनुवाद, १३. भर्तृहरि शतक का अनुवाद, १४. अमरुकशतक का अनुवाद।

उपर्युक्त रचनाओं में से 'काव्य-विनोद' (सं० १८३१) तथा 'किशोर-सुखसागर' के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों को पं० उमेश चतुर्वेदी ने अपने निबंध 'जयपुर नरेश और साहित्य समाज' में सवाई जगत सिंह (सं० १८६०–१८७५) के आश्रित कवि गोविन्दराव तैलंग की रचना माना है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अति-

रिक्त पं० जगदीश भट्ट के निम्नलिखित ग्रन्थ जयपुर के पोथीखाना में उपलब्ध है--

१. अलंकार-कौतुक, २. गोविन्द-लीलामृत, ३. गोविन्द जू को नखशिख, ४. गोविन्द-माधव-कथा, ५. छंद-पच्चीसी (सं० १८५३), ६. प्रताप-पीयूष, ७. प्रहेलिका-प्रकाश (सं० १८२९), ८. बहादुर-विजय-रासो, ९. ब्रजनिधि-व्याहलो, १०. महाभारत के वन पर्व का अनुवाद (सं० १८५२), ११. शल्य पर्व का अनुवाद (सं० १८४७), १२. रस-रत्नाकर, १३. लगन पचीसी (सं० १८५९), १४. वसंतराज-शकुन-वचनिका, १५. शीताष्टक, १६. कवित्त संग्रह।

प्रतिपाद्य विषय के आधार पर उपर्युक्त ग्रन्थों को हम निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं--

(१) रस-अलंकार--अलंकार-कौतुक, गोविन्द जू को नख-शिख, प्रताप-पीयूष, बहादुर-विजय-रासो, रस-रत्नाकर।

(२) भक्तिपरक--गोविन्द-लीलामृत, गोविन्द-माधव-कथा, छंद पच्चीसी, ब्रजनिधि व्याहलो, लगन पचीसी।

(३) अनुवाद--महाभारत वन पर्व, शल्य पर्व, वसंत-राज-शकुन-वचनिका।

(४) प्रकीर्ण-- प्रहेलिका-प्रकाश, शीताष्टक।

पं० जगदीश भट्ट ने 'काव्य-विनोद' की रचना महाराजा पृथ्वीसिंह के प्रीत्यर्थ की थी। 'प्रहेलिका-प्रकाश' (बुद्धिबल परीक्षा) सवाई पृथ्वीसिंह के लिए लिखी गई थी। 'किशोर सुख सागर' की रचना गौड़ देश के राजा किशोर सिंह की आज्ञा से हुई थी। यह नौ रसों का विवेचन करने वाला लक्षण ग्रन्थ है। 'जगत-रस-रंजन' महाराजा जगत सिंह रचित नवरसों का सांगोपांग विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। इसकी रचना सं० १८६२ में हुई थी। 'जगत-भक्त-विलास' देवरति विषयक लक्षण ग्रन्थ है। 'अलंकार-कौतुक' अलंकार निरूपक लक्षण-ग्रन्थ है इसकी रचना प्रताप सिंह की आज्ञा से हुई थी। भक्तिपरक ग्रन्थ 'गोविन्द-लीलामृत' २३ सर्गों में विभाजित है। इसका अपर नाम 'पीयूषपान' है, जिसके पढ़ने से 'गोविन्द लीलामृत' का सहज ही ज्ञान हो जाता है। ग्रन्थ का विषय कृष्ण-लीला एवं अष्टयाम-वर्णन है। 'गोविन्द जू को नखशिख' में कृष्ण के नख-शिख का वर्णन १८ छंदों में है।

उपालम्भ काव्य-परम्परा में 'छंद-पच्चीसी' ग्रन्थ आता है, जिसमें २५ छंद हैं। यह रचना गोपियों की विरह सम्बन्धी कचोटने वाली उक्तियों से परिपूर्ण है-

कौंन गरू करि प्रीति करी
सुनि श्रौननि बात महाभय भीनी।
लै जगदीश गुपाल गुपालिनी
दोष बिना दुख सिंधु में दीनो॥
कीनी भली तब जो जग की
अब ल्याये कहाँ सो ये बात नवीनी।
पीर पराई बतासे समान सुनी ही
सु आँखिन हीं लखि लीनी॥

'प्रताप-पीयूष' रसपरक ग्रन्थ है। इसमें नवरसों का विवेचन है। 'प्रहेलिका-प्रकाश' की रचना सं० १८२९ में हुई थी। यह बुद्धि-परीक्षा सम्बंधी ग्रन्थ है। 'बहादुर विजय रासो' बहादुर शाह की दक्षिण में कामवख्स पर चढ़ाई से सम्बन्धित है। 'ब्रजनिधि-व्याहलो' में ब्रजनिधि मंदिर में भगवान ब्रजनिधि की मूर्ति-स्थापना (सं० १८४८) के पश्चात् विवाह का विवरण दिया गया है।

ब्रजनिधि (श्रीकृष्ण) का विवाह दौलतराम हल्दिया के घर हुआ था। विवाह पूर्व के सभी कार्य-क्रम यथा—बिनौरी निकालने, मार्ग साफ करने तथा आभूषण व वस्त्रादि निर्माण के काम यहीं सम्पन्न कराए गए। जेठ शुक्ल ६ को विवाह में भाग लेने के लिए सभी संत, महंत एवं गोसाईं जनों को आमंत्रित किया गया। मथुरा, वृन्दावन एवं अन्य स्थानों के विभिन्न सम्प्रदायों के महात्मा इस अवसर पर जयपुर में एकत्र हुए थे--

निज महलनि के ढिग कियो, मंदिर दुरसद राज।
तहँ ब्रजनिधि पधराइये, श्री प्रताप महाराज॥

श्री ब्रजनिधि को थापिकै, किए विवाह उछाह।
संत महंत बुलाइये, श्री प्रताप नर नाह ॥

महाभारत वन पर्व (अनुवाद) की रचना सं० १८५२ में हुई थी। इसे अरण्य पर्व भी कहा गया है। शल्य पर्व की रचना सं० १८४७ में हुई थी। इसका वर्ण्य विषय है–– सैन्य संचालन हेतु कौरव पक्ष द्वारा शल्य को सेनापति बनाना। 'रसरत्नाकर' शृङ्गार रस का वृहद् ग्रन्थ है। इसमें दस अध्यायों में शृंगार के विभिन्न पक्षों का विवेचन किया गया है। पचीसो संख्यक रचनाओं की परम्परा में 'लगन-पचीसी' है, जिसकी रचना सं० १८५९ में हुई थी। इसमें कृष्ण, गोपी एवं ब्रज-नारियों के अनेक लीला प्रसंग वर्णित हैं। ब्रज-नारियों की एक व्यंग्योक्ति देखिए––

पतिन सों तोरि मातपितन सों फेरि
बंधु, हितुन सों तोरि करि ए के मतिमान को।
तेरी बाँसुरी के गान मोहित हैं प्रान प्यारे,
आंई ढिग दौरि ठाँनि मति गति यांन को ॥
कवि जगदीश सुधी हाय उँघी उपटी यों,
कपटी रे आइ देषु छिदी छतियान को।
ऐसे निर्जन वन मांहि तुव बिन कौन आहि,
रतिया में छाँड़े को नूतन तियांन को ॥

कितना मधुर उपालम्भ है अपने प्रिय कृष्ण को, जिसने ब्रज-युवतियों को निर्जन वन में अकेला छोड़ दिया है।

'वसंतराज-शकुन वचनिका' बसंतराज शकुन का वचनिका रूप है जिसे कवि ने नृपाज्ञा से प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ दो अध्यायों में विभक्त है। 'शीताष्टक' में हेमन्त ऋतु तथा शीतऋतु का वर्णन कवित्त छंद में किया गया है।

पण्डित जगदीश भट्ट ने अपनी रचनाओं में दोहा, कवित्त, सवैया, तोमर, त्रोटक, छप्पय, कुण्डलिया, हरिगीतिका, भुजंगी, चौपाई, लावनी आदि छन्दों का प्रयोग किया है। इसकी भाषा ब्रजभाषा एवं ढूंढाणी है, जिसमें संस्कृत के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

जगदीश जी का एक अन्य पद यहाँ 'रसरत्नाकर' से प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसमें गोपियों ने उद्धव के ज्ञानोपदेश का उत्तर दिया है–

जब सुधि आवे तब तन बिन सुधि होत,
बिनु सुधि आये मन होत पात पात है।
सेवक हैं सारद सहेटकी वे गीत गुन,
बाँसुरी विहीन नर साल गात गात है।
तुम कही मानो उपदेश हम कही नाहीं,
जैसी एक नाहि तैसी नाहि सैक्र सात है।
हा हा हियो राख्यो जिन प्रेम सो विसार्यौ तिन,
ऊधो लाख बातन की सूधो एक बात है ॥

रा० प्र० कु०

जगनिवास नारायण तिवारी

जगनिवास नारायण तिवारी का जन्म ग्राम— बोड़ेया, जिला राँची (बिहार) में श्रावण कृष्ण चतुर्दशी सं० १९३७ को हुआ था। इनके पिता का नाम मधुसूदन नारायण तिवारी था। इन्हें मिडिल तक शिक्षा प्राप्त हुई थी, किन्तु स्वाध्याय के बल पर इन्होंने काव्यशास्त्र की अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली। ये स्वयं एक अच्छे गायक थे। मांदर लेकर जब ये अखाड़ा में आ जाते थे, तो अपने गीतों से लोगों को बाँध लेते थे। 'रसतरंगिणी' इनको हस्तलिखित पुस्तक है, जिसमें लगभग ६०० गीत हैं। इन गीतों में शृंगार रस की छटा, अलंकारों का सौन्दर्य तथा उक्तिपटुता दर्शनीय है। इन गीतों के आधार पर इन्हें नागपुरी का श्रेष्ठ गायक-कवि माना जा सकता है। १६ दिसम्बर १९६५ को आपका देहान्त आरा (राँची) में हो गया, जहाँ आप अपने परिवार के साथ रहा करते थे। इनके गीतों को सहज ही समझ पाना कठिन है। कृष्ण के मुरलीवादन से सम्बद्ध 'रसतरंगिणी' का एक गीत नीचे दिया जा रहा है—

मुरली मधूरी धूनीं कींरती कीशोरी सुनीं
चढ़ो पुनी अटारी उपर संग सखी करऽ ॥
टारो घुँघुट तकऽ हरी हेरी–ढीग थकऽ
जक चकऽ रंकसटकर सनेह वरऽ ।ः

फीरत चराये धेनूं गोरज जमुनां फेनुं
धरीवेनूं कर अधर समर तरऽ ॥
सीसु संग घेरो त्रीत गावे गीत पुलकीत
सीहकीतऽ लखीअमर अमर परऽ ॥
जगनीवास सीसऽ तीलक झलक इसऽ
काननोसऽ कूण्डल मकर हीम कर डरऽ ॥

कृष्ण की मुरली की मधुर तान सुनकर कीर्ति-किशोरी राधा अपनी सखियों के संग कृष्ण को देखने के लिए कोठे पर चढ़ जाती हैं ॥ १ ॥ जिस प्रकार चकवा प्रेम से राकेश को देखते-देखते थक जाता है, उसी प्रकार राधिका घूँघट निकाल कर कृष्ण को एकटक देखते-देखते थक गईं ॥ २ ॥ गायों को चराते हुए कृष्ण घूमते थे, गोरज अर्थात् गायों के चलने से जो धूल उड़ती थी वह कृष्ण के शरीर पर बैठ जाती थी, जो देखने में ऐसी प्रतीत होती थी मानो जमुना का फेन हो। होठों पर कृष्ण बाँसुरी रख लेते हैं, जिसके सौन्दर्य के आगे कामदेव भी नतमस्तक हो जाता है ॥ ३ ॥ कृष्ण बच्चों के साथ घेरे में नाचते हैं और पुलकित होकर गीत गाते हैं, यह देखकर देवतागण ललचा रहे हैं कि ग्वाल-बाल वह आनन्द लूट रहे हैं, जिससे हम वंचित हैं ॥ ४ ॥ शीश पर तिलक, कानों में सोने के मकराकृत कुण्डल हैं, जिन्हें देखकर चन्द्रमा को भी भय मालूम होता है ॥ ५ ॥

श्र० कु० गो०

जगन्नाथ (प्रथम)

जगन्नाथ जी उच्चकोटि के रसिक भक्त थे। साम्प्रदायिक साहित्य में इनके सम्बन्ध में यह छप्पय मिलता है—

विदित बरारी वास प्रान सम व्रज जन मानै ।
तिनहूँ ते सतगुने रहे जे जे बरसानै ॥
नंद और वृषभानु सुता सुत व्याह सगाई ।
या नातें मन बिध्यौ रहै रह छक्यौ सदाई ॥
पैज बाँधि वृषभानुपुर तन त्याग्यौ धारि सुदृढ़ पनै ॥
श्री व्रजलाल प्रसाद गुरु जगन्नाथ भाग कहत न बनै ।
जगन्नाथ भाग कहा कहौं अनूप ।
वासी सु बरारी विप्र भूप ।
गौरंग श्याम सुख फागु तूप ।
मन बिक्यौ स्वाद यह निरखि रूप ॥

—बसन्त-प्रबन्ध-चतुर्थ

ये कोसी और बरसाने के बीच स्थित बरारी नामक गाँव के निवासी थे। इन्हें दैवात् किसी राधावल्लभीय रसिक का संग प्राप्त हुआ। फलतः इनका हृदय जगत् से विरक्त और राधावल्लभ लाल जी के श्रीचरणों में अनुरक्त हो गया। अब इनका अधिक से अधिक समय वृन्दावन-रस-रसिकों के सान्निध्य में व्यतीत होने लगा। ये अधिक दिनों तक निवास-स्थान में न रह सके। वहाँ रहना इन्हें असह्य होने लगा। इस आसक्ति ने एक दिन इन्हें श्री राधावल्लभ जी के मन्दिर में पहुँचा दिया और ये गो० व्रजलाल जी के शरणापन्न हो गये।

उस समय श्री राधावल्लभ लाल जी कामवन में विराजते थे। वहाँ से श्री प्रिया जी का जन्म-स्थान 'बरसाना' अत्यन्त निकट है। प्रिया जी का जन्म और लीला का स्थान होने के कारण नागरीदास जी की तरह इनका भी मन बरसाने में रम गया और ये स्थायी रूप से वहाँ रहने लगे। वैसे तो ये सभी व्रजवासियों को अपने प्राणों से भी अधिक मानते थे, किन्तु बरसाने के निवासियों से इनकी हार्दिक प्रीति थी। इन्होंने बरसाने की पुण्यभूमि में ही अपना शरीर छोड़ा।

नेही नागरीदास जी के समय से ही राधावल्वभीय रसिक समाज राधाष्टमी के समय बरसाने जाया करता था और वहाँ लाड़िलीजी के महल में समाजगान का आयोजन करता था। इसका प्रभाव जगन्नाथ जी पर अमिट रूप से पड़ा। इस आनन्दोत्सव में सर्वतोभावेन लीन हो जाने के कारण आनन्दोद्गार के रूप में इन्हें वाणी स्फुरित हो गई। ऐसी ही कुछ रचनाएँ नीचे उद्धृत की जा रही हैं। इनकी वाणी में प्राञ्जलता है, प्रवाह है—इस आधार पर कहा जा सकता है कि इनकी पदरचनायें अधिक मात्रा में रही

होंगी, किन्तु खेद है कि वे उपलब्ध नहीं हैं। इनके तीन भावपूर्ण छन्द प्रस्तुत हैं—

(१)

सुनि कैं बधाई धाइ चले विप्र बन्दीजन,
मारग में मिले भीर भई अतिभारी है।
धुरहिं निसान वान बैठें हैं विमान मांझ,
शोभित गज वाजि डोरि ओर कोर न्यारी है॥
सूरजमुखी झुकी जाति चँवर धुजा फरहराति,
बूझत सकात बात कौन दिशा धारी है।
पढ़त चले हैं जस जानि सखो जगन्नाथ,
भूपति न होंहि वृषभान के भिखारी हैं॥

(२)

एक ओर विप्र वेद बन्दीजन वदत विरद
एक ओर चारन हजारन पढ़ें खरे।
एक ओर देश के नरेश आइ पांइ लागि,
देत भेंट मंगल उमंग रंग सौं भरे॥
सुनि व्रजराज लै समाज साज एक ओर,
आइ कैं लुटाइ निधि आनक नये धरे।
आज गोपराज बरसाने कौ नरिन्द्र देखि,
जगन्नाथ जाचक अजाचक सबै करे॥

(३)

राधिका जनम जग जाचक जहाँ लै आइ
पाइ रहे छाइ सुधि कुंवरि उदै भई।
घुरहिं निसान यौं वितान तने ठौर ठौर,
पढ़त पुरान द्विज मंगल घटा उनई॥
इत बरसानैं को नरिन्द्र गाजि घोरि घोरि,
बरसत रतन मनि भूषन विभौ दई।
गोधन के ठाठ औ भंडार हाट जगन्नाथ
बाँटि गोपराज आजु कीरति करी नई॥

(४)

श्याम सुन्दर तेरी घोरियाँ, तेहि चढ़ ब्याहन चलियौ।
आज सुफल सब होंयगी, बरसाने की गलियाँ॥
चंचल चपल तुरंगिनो, चली चाल सुहाई।
चित्र विचित्र लेखन लिखो कहु छबि बरनी न जाई॥
दुमची जीन जराय के फोंदा सुभग सुहाये।
राग-बाग मुहरा बन्यो नगनि मेलि लगाये॥
सोहैं छत्र कलाइचे मुख अति मृदु मुसकाई।
चौर विजन छवि सों ढुरें, अरु पट पीत सुहाई॥
रतन जटित सिर सेहरौ, मोतिन लर न्यारो।
प्रीति दुराई बन्यौ दुरै, आँखिन में प्यारो॥
कुण्डल मुकुट जराइ के गल मोतिन माला।
पहुँची पदक बनाइकी, बलि गई नैन विशाला॥
नंद बाबा कौ लाड़िलौ, रस भर कुँवर कन्हाई।
राई नौन उतारई, बलि गई जसुमति माई॥
मंगल गावैं गोपियाँ, मिलि सब संग सहेली।
बारें रतन अँगूठियाँ, छवि भरी कंचन बेली॥
वह छिन कैसी होइगो, जब मिले कुँवरि किशोरी।
जगन्नाथ अविचल रहो, श्री राधा पति जोरी॥

यद्यपि इनके जीवनवृत्त सम्बन्धी सभी बातें अज्ञात हैं, फिर भी गो. व्रजलाल जी के शिष्यत्व के आधार पर इनका उपस्थिति काल सम्वत् १७२० से १७८० तक अनुमान किया जा सकता है।

श्या० वि० खं०
ल० च० गो०

जगन्नाथ (द्वितीय)

जगन्नाथजी (द्वितीय) श्री जुगलदास के पुत्र थे। इनका जन्मकाल संवत् १८०० के लगभग माना जाता है। ये छतरपुर के निवासी तथा 'कृष्णायन' आदि कई ग्रन्थों के रचयिता थे। 'कृष्णायन' में २०२८ छन्द बताये जाते हैं। ये स्वयं लिखते हैं—

दुज रिछारिया सेव जू, कौसिक गोत्र बषान।
कृष्णाइन भाषा करी, लिखी प्रीत उर आन॥
बान वेद वपु दंड लौ अंक वाम गति चार।
आसुन सुदि दसमी गुरौ, कृष्णाइन अवतार॥

गं० प्र० ब०

जगन्नाथदास कविराज

अकबरकालीन कवि जगन्नाथदास की कुछ रचनाएँ जगन्नाथ राय छाप से मिलती हैं। आप गोसाँई

विट्ठल नाथ जी के दौहित्र और अपने समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे।

आप का एक पद सरोज में उद्धृत है—

प्रिय औचक मूंदे री पाछे ते नैंन।
हौं जु निर्भरमी बैठी,
अछन अछन पग धरत
धरनि पर आवत जाने मैं न।
हौं इतने ही चौंकि परी आली,
छतियाँ धीर धरै न।
'जगन्नाथ कविराय' के प्रभु रीझि हँसे
तब हौं हूँ हँसी वह सुख कहत बनैन।

ह० न० भा०

जगन्नाथदास (प्रथम)

जगन्नाथदासजी (प्रथम) गहवरवन निवासी श्री जी के भण्डारी बाबा किशोरीदास जी के कृपापात्र थे। इनका जन्म मिथिला प्रदेश में ब्राह्मण कुल में हुआ था। सं० १९८५ में आप वृन्दावन धाम के दर्शनार्थ आये। इस परमपावन भूमि में आकर पुनः वापस जाने की आपकी इच्छा न हुई। यहाँ के रसिक सन्त महानुभावों के सत्संग तथा दर्शन से इनके मनमें उत्कट वैराग्य का उदय हुआ। व्रज-परिभ्रमण करते-करते एक बार बाबा किशोरीदास का नाम सुनकर ये उनसे मिलने गहवरवन (बरसाना) गये और उन्हीं से दीक्षित होकर व्रजवास करने लगे। आजीवन व्रजवास करते हुए इन्होंने बरसाना धाम में ही शरीर त्याग किया।

प्रे० ना० श्री०

जगन्नाथदास (द्वितीय)

शोभनदास जी के वंशज महात्मा जगन्नाथदास का जन्म उनकी ५वीं पीढ़ी में लाहड़दास के पुत्र के रूप में अनुमानतः सन् १६४० (संवत् १६९७ वि०) में डेहरा (अलवर) में हुआ था। ये युगलोपासक तथा गृहस्थ थे। इनके तीन पुत्र एवं एक पुत्री हुईं— प्रागदास, श्यामदास, सुन्दरदास, तथा रामादेवी। इनकी मृत्यु अनुमानतः संवत् १७५७ वि० में हुई। रामादेवी का विवाह कोटकासिम में हुआ था, किन्तु दो पुत्रों के जन्मोपरांत वे विधवा हो गयीं। इनके पुत्र श्यामदास तथा सुन्दरदास भी कृष्णभक्त थे।

म० गो० भा०

जगन्नाथदास (तृतीय)

बाबा जगन्नाथदास का जन्म बंग प्रदेश के वर्धमान जिले में हुआ था। युवावस्था में ही यह राधारानी की कृपाकांक्षा मनमें लिए बरसाने चले आये थे और यहाँ भानुकुण्ड के तीर पर कुटी बनाकर रहते थे। ये बड़े ही निष्किंचन महात्मा थे। मधुकरी के सहारे ही अपना जीवन-निर्वाह करते थे, किन्तु साधु-सेवा में कभी कोताही नहीं करते थे। एक बार दुर्भिक्ष के समय जब इन्हें आस-पास के गाँवों में मधुकरी हेतु जाने में संकोच होने लगा, तो इन्होंने बरसाना छोड़ देने का विचार किया और श्रीधाम को नमस्कार करके चल पड़े। किन्तु जैसा कि लोगों का कहना है राधारानी ने इन्हें रास्ते में दर्शन देकर एक सज्जन के यहाँ से नियमित रूप से भिक्षा की व्यवस्था करवा दी। बाबा फिर मृत्यु-पर्यन्त बरसाने में ही रह गये।

जगन्नाथदास (चतुर्थ)

श्री जगन्नाथदास (चतुर्थ) वृन्दावन के शृंगारवट-वासी श्रीजगदानन्द गोस्वामी के शिष्य थे। ये गोवर्धन-निवासी सिद्ध श्रीकृष्णदास के वेश-शिष्य थे और व्रज-मण्डल के मुकुटमणि माने जाते थे। ये परम स्वतंत्र, निरपेक्ष और निर्भीक विचारों के थे। ये छः महीने ब्रज में और छः महीने नवद्वीप में रहते थे। ये बराबर चलायमान रहते और टिकते बहुत कम थे। इनकी शिष्य परम्परा अत्यन्त समृद्ध थी। श्री विहारीदास, श्री भगवानदास, श्री गौरहरिदास, श्री रामहरिदास, श्री रामदास, श्री नित्यानन्ददास (बरसाने वाले) तथा श्री श्रीकृष्णदास (कदमखण्डी वाले) इनके प्रमुख शिष्यों में थे। बिहारीदासजी पर इनका अत्यधिक स्नेह था। उनके बिना ये नहीं रह पाते थे।

जगन्नाथदास जी ने श्रीबिहारीदास जी को उपदेश देते हुए कहा था कि किसी अखाड़े में न्योता न खाना क्योंकि स्त्री-संग, उनके संगी का संग और उनके संगी के संगी का साथ कभी नहीं करना चाहिए। वृषभानुनन्दिनी को ही ये अपना इष्टदेव मानते थे। इनसे सम्बन्धित अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। एक कथा इस प्रकार है—जब ये सूर्यकुण्ड में रहते थे तो एक दिन कुछ डकैतों ने मंदिर पर हमला कर दिया और कहा, 'अपनी सब धन-सम्पत्ति निकालकर दे दो।' बाबा ने कहा, 'मैं तो सेवक हूँ। मेरे मालिक तो भीतर हैं। उनके पास जाओ।' डाकू मंदिर के भीतर गये। जो कुछ हाथ लगा, कम्बल में बाँधकर ठाकुर सहित ले जाने लगे। मंदिर से निकलते समय दरवाजे की चौखट से उनका माथा ऐसा टकराया कि वहीं गिर पड़े। किसी तरह सबेरा होते-होते ठाकुर को छोड़कर भाग निकले।

अपने जीवन के अंतिम बत्तीस वर्ष इन्होंने नवद्वीप में ही बिताये। वहीं १४७ वर्ष की अवस्था में इन्होंने नित्यलीला में प्रवेश किया।

मु० अ०

जगन्नाथप्रसाद भक्तमाली

पं० जगन्नाथप्रसाद जी भक्तमाली का जन्म मध्यप्रदेश के गुना जिले के चाचोड़ा नामक ग्राम में वि० सं० १९५५ की माघ कृष्ण १२ को हुआ था। इनके पिता का नाम श्री आशाराम एवं माता का नाम श्री फूलबाई था। आपकी बाल्यावस्था से ही विद्याध्ययन एवं भगवद्भजन में रुचि थी। आपने अपने ग्राम में ही विद्याध्ययन किया एवं वहीं पर अध्यापन भी करने लगे।

पंडितजी बाल्यावस्था से ही भगवान के अनुराग में रंग गये थे। जिन पण्डितजी से आपने गीता पढ़ी थी, उन्हीं के पास एक चित्र था, जिसमें ध्रुवजी को भगवान दर्शन दे रहे थे। आपने पण्डितजी की सेवा कर वह चित्र माँग लिया और उसी की पूजा करने लगे।

एक दिन ये गृह-त्याग कर बिना टिकट ट्रेन में बैठकर वृन्दावन के दर्शनार्थ निकल पड़े और किसी तरह वृन्दावन पहुँच गये। यहाँ आकर टटियासंस्थान के महन्त श्री भगवानदास जी से विधिवत् वैष्णवी दीक्षा ग्रहण कर इन्होंने विरक्त वेष प्राप्त किया। सन्तों के आदेश से ये कुछ दिन के लिए स्वदेश लौट गये, किन्तु वहाँ मन नहीं लगा, अतः पुनः वृन्दावन आ गये।

यहाँ आकर आपने बाबा रामकृष्णदास जी, हंसदास जी, श्रीबाबा, माधवदासजी आदि महापुरुषों का सत्संग किया। आपने 'भक्तमाल' का अध्ययन टोपीकुन्ज के बाबा माधवदास जी तथा श्रीमद्भागवत का रहस्य अपने गुरुदेव से प्राप्त किया था।

एक बार आप एवं आपके छोटे भ्राता लाड़िलीदासजी बैठे भगवद्भजन कर रहे थे कि एक अत्यन्त सुन्दर दिव्य किशोर आपके पास आया। भक्तमालीजी ने उसे किसी रासमण्डली का स्वरूप समझा। परिचय पूछने पर उसने अपना नाम लड्डूगोपाल एवं स्थान मतरौड़ मंदिर बताया। भक्तमाली जी ने उसे पेड़े खिलाये फिर कुछ गाने के लिए कहा। बालक ने बड़े ही मधुर स्वर से थोड़ा-सा गाना सुनाया और चुप हो गया। दोनों ही बालक के सौन्दर्य और स्वर पर मुग्ध थे, किन्तु न जाने किस प्रेरणावश लाड़िलीदासजी के मुख से निकल गया कि 'आप जाइये। हमारे यह भइया तो बच्चों को ऐसे ही बहकाया करते हैं।' बालक उठकर चल दिया। भक्तमाली जी उसके पीछे भागे और उसके चरणों को छूकर प्रणाम किया। बालक हँसता हुआ चला गया। अन्त में दोनों ही पछताने लगे। सोचने लगे कि कहीं यह लीला बिहारी ही तो नहीं है, क्योंकि ऐसी सुन्दरता और मीठा स्वर सामान्य व्यक्ति में सम्भव न था।

दूसरे दिन दोनों घाट पर मतरौड़ मन्दिर में गये। वहाँ जाकर जब बालक लड्डूगोपाल का पता पूछा तो ज्ञात हुआ कि वहाँ इस नाम का कोई बालक नहीं है, वरन् यह नाम तो मन्दिर के आराध्य का

है। जब पुजारीजी को सारा वृत्तान्त बताया गया, तो उन्होंने कहा कि हमारे पास पैसों की कमी थी, कई दिन से पेड़े मँगाने की सोच रहे थे, किन्तु मँगा न सके, फलतः गोपालजी आपके यहाँ पेड़े खाने गये थे। यह कह कर पुजारी के नयनों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

इस प्रकार गोपालजी ने भक्तमाली जी को अनेक बार दर्शन दिये। एक बार आप अयोध्या में एक स्थान पर ठहरे थे। प्रातः ही एक बालक आया और आपके पैरों में गुदगुदी लगाकर जगाने लगा। जब भक्तमालीजी ने जगकर देखा तो वह हँसता हुआ भाग गया और फिर नहीं आया। इसी प्रकार एक बार जब भक्तमालीजी विश्राम कर रहे थे तो स्वप्न में भगवान् श्रीश्याम सुन्दर अपने समस्त सौन्दर्य के साथ प्रकट हुए और गीता का यह श्लोक सुनाने लगे **'पत्रं-पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।'** इतना सुनाकर वे अन्तर्धान हो गये। जब आपकी आँखें खुलीं तो आपको बड़ी व्याकुलता हुई कि प्रभु ने आधा ही श्लोक सुनाया। दूसरे दिन फिर स्वप्न में देखा कि भगवान् श्याम सुन्दर मन्दिर में बैठे हैं और फिर शेष आधा—**'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः'** श्लोक भी सुना दिया।

जगन्नाथदास जी भक्तमाल की कथा बड़े ही सुन्दर एवं प्रभावशाली ढंग से कहते थे। आपकी कथा श्रवण कर श्रोता प्रेम-विह्वल हो प्रेमाश्रु बहाने लगते थे। कई बार तो आप श्रीमद्भागवत-सप्ताह यज्ञों में प्रधान व्यास बनाये गये। जहाँ भी आप आमन्त्रित होते, वहाँ ही भक्त आप की प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते थे। अयोध्या, हरिद्वार, काशी, वृन्दावन आदि के प्रतिष्ठित सन्त समाज में आपको विशेष सम्मान प्राप्त था।

भाद्रपद शुक्ला षष्ठी संवत् २०४१ को शरीर त्यागकर आपने भक्तवत्सल के दिव्यधाम के लिए प्रस्थान किया।

प्रे० ना० श्री०

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म संवत् १९२३ में, भादों सुदी ५, ऋषि-पञ्चमी के दिन, काशी में हुआ था। इनका कविता का उपनाम 'रत्नाकर' था और इसी नाम से ये अधिक प्रसिद्ध भी थे। इनके पिता का नाम पुरुषोत्तमदास था। ये दिल्लीवाले अग्रवाल वैश्य थे। इनके पूर्वपुरुष सफीदों (सर्पदमन), जिला पानीपत के रहनेवाले थे। पानीपत के दूसरे युद्ध के बाद वे मुगल बादशाह अकबर के दरबार में गये और मुगल साम्राज्य की अभिवृद्धि के दिनों में भिन्न-भिन्न उच्च पदों पर काम करते रहे। मुगलराज्य के पतन हो जाने पर रत्नाकर जी के परदादा काशी चले आये और वहीं बस गये।

इनकी शिक्षा का प्रारम्भ उर्दू-फारसी से हुआ। छठे वर्ष में हिन्दी और आठवें वर्ष में अंग्रेजी की पढ़ाई शुरू हुई। १८९१ ई० में क्वीन्स कालेज, वाराणसी से बी० ए० करने के बाद इन्होंने एल० एल० बी० और एम० ए० (फारसी) का अध्ययन आरम्भ किया, किन्तु माता की मृत्यु के कारण वह पूरा नहीं हो सका।

रत्नाकर जी के पिता पुरुषोत्तमदासजी फारसी के अच्छे विद्वान् थे, पर हिन्दी कविता पर भी उनकी अडिग श्रद्धा थी। उन्हीं के प्रभाव से रत्नाकरजी के हृदय में कविता-प्रेम अंकुरित हुआ। उनके मकान पर अच्छे-अच्छे कवियों का हमेशा जमघट लगा रहता था; बाहर से आये हुए कविजन सदा उन्हीं के पास ठहरते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी, उनके मित्र और संबंधी होने के कारण, प्रायः उनके यहाँ जाया करते थे। बालक रत्नाकर इस साहित्य-गोष्ठी में प्रायः बैठते और कभी-कभी कुछ बोल भी उठते थे। इसी प्रकार एक दिन आपकी किसी उक्ति से प्रसन्न होकर भारतेन्दु जी ने कहा, "यह लड़का आगे चलकर कभी अच्छा कवि निकलेगा।" भारतेन्दु की यह भविष्य-वाणी सत्य सिद्ध हुई। रत्नाकरजी पर उक्त साहित्यिक सत्संग का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि पहले उर्दू में

'जकी' और फिर हिन्दी में 'रत्नाकर' उपनाम से कविता लिखने लगे। इनकी साहित्य साधना का प्रारम्भ बचपन में समस्या-पूर्तियों से हुआ था।

सन् १९०० में रत्नाकरजी की नियुक्ति आवागढ़ स्टेट में हुई। वहाँ की जलवायु इनके स्वास्थ्य के अनुकूल न थी। अतः दो वर्ष योग्यतापूर्वक काम कर नौकरी छोड़ ये काशी लौट आये। कुछ समय के अनंतर सन् १९०२ ई० में अनन्य हिन्दी-प्रेमी अयोध्या-नरेश महामहोपाध्याय महाराजा सर प्रतापनारायण सिंह ने रत्नाकरजी को अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया और थोड़े ही दिनों बाद इनकी कार्यकुशलता से प्रसन्न होकर इन्हें चीफ सेक्रेटरी का पद दे दिया। सन् १९०६ के अंत में अयोध्या-नरेश का स्वर्गवास हो जाने पर श्रीमती महारानी जगदंबा देवी ने रत्नाकरजी को अपना प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त किया। मृत्यु-पर्यन्त ये उसी पद पर रहे।

रत्नाकरजी प्राचीनता के उपासक तथा भारतीय संस्कृति के पूर्ण समर्थक थे। इनका स्वभाव सरल और हृदय कोमल था। इतने हँसमुख और मिष्ठभाषी थे कि इनकी मंडली में बैठकर हँसी रोकना कठिन हो जाता था। इनकी स्मरणशक्ति बड़ी तीव्र थी।

रत्नाकरजी अत्यन्त सुरुचि सम्पन्न एवं सामन्तीय प्रवृति के व्यक्ति थे। इनका ठाट-बाट रईसाना था। हुक्का, इत्र, पान, घुड़सवारी, व्यायाम और कबूतरों के ये विशेष शौकीन थे। मध्यकालीन साहित्य के ये मर्मज्ञ थे। संस्कृत, फारसी, प्राकृत, अपभ्रंश, मराठी, बंगला, पंजाबी के अतिरिक्त आयुर्वेद, संगीत, ज्योतिष, व्यायाम, छन्दशास्त्र, विज्ञान, योगदर्शन, इतिहास, पुरातत्व आदि की भी इन्हें अच्छी जानकारी थी। इन्होंने हरिद्वार, नाथद्वारा, जगन्नाथपुरी, कश्मीर, कलकत्ता आदि भारत के प्रायः सर्व प्रमुख स्थानों का भ्रमण किया था।

काशी में नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना में परम उत्साही रत्नाकरजी का भी हाथ था। 'सरस्वती' के 'प्रारम्भिक प्रकाशन' के अवसर पर संपादकों में इनका भी नाम आया था। उसी समय के आसपास इन्होंने निम्नलिखित काव्य-ग्रंथ रचे थे—'हिंडोला', 'हरिश्चन्द्र', 'समालोचनादर्श', 'साहित्य-रत्नाकर', 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर', 'कलकाशी' और 'अष्टक-रत्नाकर'। तदुपरान्त राज-काज के अनेक झंझटों में व्यस्त रहने के कारण रत्नाकरजी ने साहित्यिक क्षेत्र से दीर्घ काल तक अवकाश ग्रहण कर लिया। अपने जीवन के पिछले दस वर्षों में, जब से महारानी जगदंबा देवी के आग्रह से ये पुनः कविता के क्षेत्र में उतरे, तब से इनकी लेखनी नवीन स्फूर्ति के साथ बराबर चलती रही। सच तो यह है कि इन्हीं पिछले दस वर्षों में रत्नाकरजी हिन्दी-साहित्य जगत में यथार्थ रूप से प्रकट हुए। विक्रम-संवत् १९७८ को मेष संक्रान्ति के पर्व पर महारानी के साथ रत्नाकरजी भी हरिद्वार गए थे। वहीं 'गंगा सप्तमी' की कथा पूछने पर रत्नाकरजी ने वाल्मीकि रामायण में से गंगा-अवतरण की कथा श्रीमतीजी को सुनाई। वह वर्णन महारानी को बड़ा रोचक लगा और उन्होंने गंगावतरण की कथा भाषा काव्य में रचने के लिए रत्नाकरजी से आग्रह किया। कविता का अभ्यास बहुत दिनों से छूटा होने के कारण रत्नाकरजी को अपनी अभिव्यंजनाशक्ति पर कुछ संदेह-सा हुआ, पर महारानी की प्रेरणा और प्रोत्साहन से इन्होंने भगवती वीणापाणि का स्मरण किया। रत्नाकरजी की सोई हुई प्रतिभा विलक्षण आवेग के साथ जागृत हुई और सरस्वती ने इनकी साध हृदय से निकलकर पूरी की—

सुमिरत सारदा हुलसि हँसि हंस चढ़ो,
  विधि सौं कहति पुनि सोई धुनि ध्याऊँ मैं।
ताल तुक हीन अंग भंग छबि छीन भई,
  कविता विचारी ताहि रुचि रस प्याऊँ मैं॥
नंददास, देव, घनआनँद, बिहारी सम,
  सुकवि बनावन की तुम्हें सुधि द्याऊँ मैं।
सुनि 'रत्नाकर' की रचना रसीली नैकु,
  ढीली परी बीनहिं सुरीली कर ल्याऊँ मैं॥

रत्नाकरजी ने 'गंगावतरण' काव्य की रचना प्रारम्भ कर दी। यह संवत् १९८१ में प्रकाशित हुआ। यह काव्य जब अधूरा ही था, तभी इनकी रचना शैली से प्रसन्न होकर अयोध्या की महारानी ने रत्नाकरजी को एक सहस्र रुपये का पारितोषिक प्रदान किया था। रत्नाकरजी, कविता अंतःप्रेरणा से करते थे, राजा-रानियों को प्रसन्न करने के लिए नहीं। अतः इन्होंने कविता का पारितोषिक स्वयं लेना उचित न समझा और महारानी की आज्ञा शिरोधार्य कर उक्त पारितोषिक के रुपये काशीनागरीप्रचारिणी सभा को यह कहकर दे दिया कि इसके व्याज से प्रति तीसरे वर्ष ब्रजभाषा के सर्वोत्तम काव्य-ग्रंथ पर दो सौ रुपये का पारितोषिक दिया जाय। उक्त 'गंगावतरण' काव्य पर इलाहाबाद की 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' ने भी सन् १९२९ में पाँच सौ रुपये का पुरस्कार प्रदान किया था।

रत्नाकरजी के इस नूतन साहित्य-प्रवेश से ब्रज-भारती का नया शृंगार सज गया। पचीसों कवि-सम्मेलनों के ये सभापति हुए। कानपुर के अखिल भारतीय हिन्दी कवि-सम्मेलन का सभापतिपद भी इन्होंने सुशोभित किया। उस अवसर पर दिया गया इनका भाषण हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि है। इनकी साहित्य-सेवा पर मुग्ध होकर हिन्दी संसार ने इन्हें संवत् १९८९ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता के अधिवेशन का सभापति चुन कर इनका समुचित सम्मान किया।

'रत्नाकरजी' केवल कवि ही न थे। ये अच्छे भाष्यकार, भाषातत्त्वविद् एवं पुरातत्त्वान्वेषी भी थे। प्राकृत का अच्छा अभ्यास होने के कारण शिलालेखों को पढ़ने तथा प्राचीन शोध का कार्य करने में आपकी विशेष रुचि थी। बिहारी की सतसई पर 'बिहारी-रत्नाकर' नामक एक अत्यंत विद्वतापूर्ण शुद्ध टीका की। इसके अतिरिक्त आपने चंद्रशेखर के 'हमीर हठ', कृपाराम की 'हिततरंगिणी' और दूलह कवि के 'कंठाभरण' का भी संपादन किया। 'साहित्य-सुधा-निधि' नामक मासिक पत्र के भी आप कई वर्षों तक संपादक रहे।

रत्नाकरजी की अंतिम रचना 'उद्धवशतक' नामक मुक्तक काव्य है, जो संवत् १९८६ में समाप्त हुआ। जीवन के अंतिम वर्षों में वे 'सूर-सागर' का संपादनकार्य अत्यन्त शोधपूर्वक कर रहे थे और इसके लिए इन्होंने कई हजार रुपये भी खर्च किये थे। 'सूर-सागर' का लगभग तृतीयांश ये समाप्त कर चुके थे, शेष भाग अन्य लव्धप्रतिष्ठ विद्वानों के द्वारा काशीनागरी-प्रचारिणी सभा ने पूरा कराया।

हृदय-व्याधि से पीड़ित होने के कारण रत्नाकरजी संवत् १९८९ में हरिद्वार चले गये थे। वहीं अयोध्या-हाउस, विष्णुघाट पर आषाढ़ सौर ७, सं० १९८९ को आपका देहावसान हो गया।

वास्तव में, रत्नाकर जी के निधन के साथ ही भारतेन्दु-काल की अन्तिम आभा लुप्त हो गई। ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवियों की भाँति ही रत्नाकरजी को भी राजसी ठाट-बाट नसीब था। कविता पढ़ने का ढंग आपका बड़ा ही ओजस्वी और सुरीला था। इस नीरस युग में भी इनकी कविता घनानन्द और पद्माकर का स्मरण दिलाती है। ब्रजभाषा की सरसता तथा विशुद्धता पर आपने विशेष ध्यान दिया। सानुप्रास वर्णों का अधिक प्रयोग करने पर भी रत्नाकरजी की भाषा में एक प्रौढ़ता है और निखरापन है, जिससे विदित होता है कि ये ब्रजभाषा को विविध विषयों के अनुकूल एक परिमार्जित काव्य-भाषा का पद देना चाहते थे। छायावाद की दुर्बोध कविताओं से रत्नाकरजी बहुत घबराते थे। ब्रजभाषा के प्राचीन कवियों में भाषा की जो किंचित् उच्छृङ्खलता मिलती है वह रत्नाकरजी में नहीं थी; लघु-दीर्घ वर्ण करने की स्वतंत्रता का उपयोग रत्नाकरजी ने बहुत कम किया है। ओज और प्रसाद गुण इनकी कविता में विशेष रूप से पाए जाते हैं। गंगावतरण काव्य में प्रकृति चित्रण बड़ा ही सुन्दर हुआ है। भावों की मौलिकता चाहे अधिक न मिले, पर शैली की

मौलिकता रत्नाकरजी की कविता में पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

'उद्धव-शतक' में रत्नाकरजी ने दिव्य वियोग श्रृंगार का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। इनकी कविता में जो लालित्य और रस-प्रवाह अंतर्निहित है, वह इस शैली के कुछ ही प्राचीन रचनाकारों की कृतियों में देखने में आता है।

रत्नाकरजी ब्रजभाषा के मर्मज्ञ तथा उच्चकोटि के कवि होने के साथ ही व्रजेश्वर के भक्त भी थे, यह उनके द्वारा संपादित सूरसागर, बिहारी सतसई की टीका, श्रीकृष्ण चरित पर लिखे गये स्फुट छन्दों तथा कालजयी कृति 'उद्धव-शतक' से स्पष्ट हो जाता है—

व्रजभाषा-लालित्य-मधुप—साहित्य-गुनाकर।
कृष्ण-प्रेम-रस-लीन मीन कविवर रतनाकर॥
'समालोचनादर्श' 'हरीचंद' 'गंगावतरन'।
रचि, सतसैया-मथन कियौ रसिकनि रस-वितरन॥
ब्रज-रस-प्रवाह पूरन कियौ 'उद्धव-शतक' प्रकासिकैं।
कविदेव-सरिस रचना रची, बानी विमल बिलासिकैं॥

इनकी रचनाओं से एतद्विषयक कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

उद्धव-गोपी-संवाद

उद्धव शतक

(१)

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की,
सुधि व्रज गावनि मैं पावन जबै लगी।
कहै रत्नाकर गुवालिन की झौरि झौरि,
दौरि दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगी॥
उझकि उझकि पदकंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहन छवै लगीं।
हमकौ लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौ लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं॥

(२)

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप
धारे प्रन फेरत कौ मति ब्रजबारी की।
कहै 'रत्नाकर' पै प्रीति-रीति जानत ना,
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की॥
मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तौहूँ हमैं भावति न भावना अन्यारी की॥
जैहै बनि-बिगरि न वारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की॥

(३)

आये हौ सिखावन कौं जोग मथुरा ते तोपै,
ऊधौ, ये बियोग के वचन बतरावौ ना।
कहै 'रत्नाकर' दया करि दरस दीन्यौ,
दुख दरिबै कौं तोपै अधिक बढ़ावौ ना॥
टूक-टूक ह्वै है मन-मुकुर हमारो हाय,
चूकि हूँ कठोर बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसिकै उजारयौ मोहिं,
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना॥

(४)

नेम-ब्रत-संजम के पींजरें परैं को जब,
लाज-कुल-कानि-प्रतिबंधहि निवारि चुकीं।
कौन गुन-गौरव कौ लंगर लगावै जब,
सुधि-बुधिही कौ भार टेक करि टारि चुकीं।
जोग-रत्नाकर मैं साँस घूँटि बूड़े कौन,
ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं।
मुक्ति-मुक्ता कौ मोलमाल ही कहा है जब,
मोहनलला पै मन-मानिक ही वारि चुकीं॥

(५)

कीजै ज्ञान भानुकौ प्रकास गिरि श्रृंगनि पै,
ब्रज मैं तिहारी कला नेंकु खटि है नहीं।
कहै रत्नाकर न प्रेम तरु जैहै सूखि,
याकी डारपात तृन तूलि घटिहै नहीं॥
रसना हमारी चारु चातकी बनी है ऊधौ,
पी-पी को बिहाइ और रट रटिहै नहीं॥

लोटि पोटि बात को बवंडर बनावत क्यों,
हिय तैं हमारे घनश्याम छुटिहैं नहीं ॥

(६)

वे तौ बस बसन रमावत मन रंगत ये,
भसम रमावत वे ये आपुही भसम हैं ।
साँस साँस माँहि निसि बासर बितावत वे,
इनके प्रतेक साँस जात ज्यों जनम है ॥
ह्वै कै जग भुक्ति सों विरक्त मुक्ति चाहत वे,
जानत ये भुक्ति मुक्ति दोऊ विष सम हैं ।
ऊधौ करि सूधौ सो विचार मन में तो लखो,
जोगो सों वियोग भोग भोगी कहाँ कम हैं ?

(७)

रावरे पठाये जोग देन कौं सिधारे हुते,
  ज्ञान-गुन-गौरव के अति उदगार मैं ।
कहै 'रत्नाकर' पै चातुरी हमारी सबै,
  कित धौं हिरानी दसा दारुन अपार मैं ॥
उड़ि उघिरानी किधौं ऊरध उसासनि मैं,
  बलि धौं बिलानी कहूँ आँसुनि की धार मैं ।
चूर ह्वै गई धौं भूरि दुख कै दरेरनि मैं,
  छार ह्वै गई धौं बिरहानल की झार मैं ॥

भीष्मप्रतिज्ञा

(८)

भीषम भयानक प्रचारचौ रनभूमि आनि,
छाइं छिति छत्रिन की गीति उठि जायगी ।
जीति उठि जायगी अजीत पांडु पूतन की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जायगी ॥
कहै रत्नाकर रुधिर सौं सनैगो धरा,
लोथिन पै लोथिन की भीति उठि जायगी ।
कैधौं प्रीति-रीति की सुनीति उठि जायगी कै,
आज हरि प्रन की प्रतीति उठि जायगी ॥

वि० ह०
सा० सिं०

जग्गा खिड़िया

जग्गा खिड़िया राजस्थान में बिलाड़ा के समीप स्थित रामासनी ग्राम के निवासी और खिड़िया शाखा के चारण रतना के पुत्र थे। इनके जीवन से सम्बन्धित इससे अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। इनका पूरा नाम जगमल था, परन्तु इन्होंने उसके लोक-प्रचलित एवं संक्षिप्त रूप 'जग्गा' छाप से ही काव्य रचा है। अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक कृति "वचनिका-राठौड़-रतनसिंघजी महेसदासौतरी" में अपना नामोल्लेख करते हुए जग्गा ने लिखा है—

जोड़ि भणै खिड़ियौ जगो, रासो रतन रसाल ।
सूरा पूरा सांभलौ, भड़ मोटाभूपाल ॥

कतिपय विद्वानों ने इन्हें जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह का सेनापति बतलाया है। परन्तु यह कथन समीचीन नहीं लगता। जसवन्तसिंह की सेना में जग्गा नामक सेनापति अवश्य था, लेकिन वह जग्गा खिड़िया से सर्वथा भिन्न था। स्वयं जग्गा ने उस योद्धा का उल्लेख करते हुए "वचनिका" में लिखा है—

दल डोहे दरिआउ, हैवे वहि हढमाल री ।
जोड़े रिणमालां जगो, रहिओ मारु राउ ॥

वीर और शृंगार रस के इस कवि ने भक्ति काव्य का भी प्रणयन किया है।

भगवान् का नाम पतितों को तारने वाला है। भक्तों पर आए संकट को भगवान् कृष्ण पल भर में दूर कर देते हैं। विविध पौराणिक घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में भक्त कवि जग्गा खिड़िया ने उनकी इस भक्त-वत्सलता का मुक्त कंठ से गुणगान किया है। उदाहरण के लिए इनका एक छन्द प्रस्तुत है—

पत राखे द्रोपदी, प्रभू विरदां प्रतपाले ।
ब्रह्म पत राहवी, वेद च्यारे ही गावाले ॥
पत राखे पंडवां, अंब कर मांझि उपाये ।
गजपत पत राहवे, अनंत खगपत चढ़ आये ॥
करणांनिधांन जगियौ कहूँ, बहनामी वह बूझि इण ।
कलजुग इसा मांहे किसन, राखे पत राधारमण ।

ज० सिं० परि०

जतनी जी

जतनी जी के सम्बन्ध में एकमात्र विवरण 'रसिक-अनन्य-परचावली' में उपलब्ध है। उसके अनुसार ये दामोदरवर जी (सं० १६३५-१७१५) के शिष्य थे। उन्हीं की कृपा से इनके हृदय में भक्ति का प्रकाश हुआ था। ब्रजवासियों से इनका अगाध प्रेम था। गुरु एवं इष्टदेव के दर्शन ये नित्य किया करते थे। यत्न (जतन) पूर्वक श्रीराधावल्लभ के ध्यान में निरन्तर निमग्न रहने के कारण इनका नाम 'जतनी' पड़ गया था। चाचा वृन्दावनदास ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—

श्री दामोदर चरन परसि भइ भक्ति सुमति अति।
रसिकनि संग सुदेश निहारी बन घन संपति॥
ब्रज जन सौं बहु प्रेम नेम गुरु इष्ट दरस कौ।
प्रीति सहित बनवास हेत जमुना जु परस कौ॥
श्री हरिवंश अनन्य पथ रस भींजे अनुसरहिं जब।
जतन सदा हरिभजन कौ यातैं जतनी कहत सब॥

र० अ० प०–छं० १५४

ल० च० गो०

जन गोपाल

जन गोपाल जी शुकसंप्रदाय के प्रवर्त्तक सन्त चरणदासजी के शिष्य थे। ये मूलतः दिल्ली नगर के ही निवासी थे। इनका अपर नाम गोपाल दास था। इनका जीवनवृत्त ज्ञात नहीं है। इनकी गुरुभक्ति की प्रशंसा करते हुए इनके वरिष्ठ गुरुभाई श्री जोगजीत ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'लीलासागर' में कहा है—

गुरु की भक्ति माहिं अति पूरा।
ज्यों रण में ललकारे सूरा॥
सद्गुरु जी का संत नवेला।
प्रेम मगन दीखे अलबेला॥

जोगजीत जी के कथनानुसार इन्होंने लोक-लाज और कुल की मर्यादा की चिन्ता छोड़कर गुरुसेवा में मन रमाया था। इनका व्यक्तित्व बड़ा ही सुन्दर एवं आकर्षक था। ये ज्ञान-ध्यान में पूर्ण थे। इन्होंने सतत एवं अथक रामत (यात्रा) द्वारा दूर-दूर तक जाकर अपने उपदेशामृत का वितरण किया था। ये एक प्रख्यात सन्त थे। इनका मुख्य कार्यक्षेत्र गंगा-यमुना के मध्य का दुआबा क्षेत्र था। यह क्षेत्र मुजफ्फरनगर जनपद के आस-पास का है।

इनकी वाणियाँ अप्राप्त हैं। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में इनकी 'रासपंचाध्यायी' नामक एक पांडुलिपि सुरक्षित है। यह ग्रंथ श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध) के अध्याय संख्या २९ से ३३ तक का पद्यानुवाद है। अभी तक यह कृति देखने में नहीं आई है। वर्तमान चरणदासी विद्वानों द्वारा प्राप्त सूचना के अनुसार इनकी १०-१२ बानियाँ विभिन्न प्राचीन चरणदासी वाणी संग्रहों में संकलित मिली हैं। इनमें से निम्नलिखित पद बीकानेर निवासी श्री जगदीश राठौर के सौजन्य से प्राप्त हुआ है—

मो सम और न कोउ बुरो।
त्रिविध गुनन सूँ देह बनी है ममता पाप घुरो॥
सेवा भजन भाव में आलस सन्तन को निदरो।
जगत प्रपंच में राचि रह्यो नित जासुं तुम्हें बिसरो॥
ऐसी गति ह्वै रही है मेरी अब कैसे निबरो।
जन गोपाल चरण को दासो कृपा सु दृष्टि करो।

जन गोपाल जी की स्वतंत्र गद्दी का स्थान कहाँ था, इसका पता नहीं चलता। इनकी गणना छोटी गद्दी के महन्तों में की गई है। ज्ञातव्य है कि चरणदास जी के १०८ महन्त शिष्यों में से ५२ शिष्य बड़ी गद्दियों के संस्थापक माने गये हैं, शेष ५६ शिष्यों के प्रचार केन्द्रों (डेरों या आश्रमों) को छोटी गद्दी की सूची में परिगणित किया गया है। इनका उपरिलिखित पद इन्हें एक अच्छा कवि सिद्ध करता है। साधक के रूप में ये प्रख्यात सन्त थे ही। चरणदास जी के अन्य शिष्यों की भाँति जन गोपाल भी कृष्ण भक्त रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं। स्वयं इनका नाम ही इनकी वृत्ति का परिचायक है। ये गोपाल (श्री कृष्ण) के भक्त थे, यह निर्विवाद है।

श्या० सु० शु०

जनबेगम

जनबेगम का मूल नाम बेगमदास था, लेकिन इनकी भक्ति और विरक्ति की गहनता को देखते हुए चरणदासी सम्प्रदाय और उसके साहित्य में इन्हें जनबेगम के नाम से ही ख्याति मिली थी। ये चरणदास जी के शिष्य श्री गुरुछौना जी के योग्यतम शिष्यों में से थे। कहा जाता है कि ये गुरुछौना जी की जयपुर की गद्दी के उत्तराधिकारी एवं जयपुरनरेश सवाई महाराज प्रतापसिंह के गुरु श्री अखैराम के छोटे भाई थे। इनका जन्म-स्थान अलवर से बहरोड़ जाने वाली सड़क पर अलवर से कोई ५-६ मील दूर जिंदौली नामक ग्राम था। यहाँ अखैराम जी ने चतुर्भुज जी का मन्दिर निर्मित कराया था। यह विभिन्न स्थानों पर उनके द्वारा निर्मित आठ मन्दिरों में से एक था।

जनबेगम जी का उपस्थिति काल स० १८०० से १८७० वि० के मध्य माना जाता है। ये अखैराम जी की सेवा में आजीवन रहे। अखैराम जी को विभिन्न राजाओं एवं सामन्तों से प्राप्त भू-संपत्ति के संरक्षण का भार मुख्यतः इन्हीं पर था। इन्होंने अपनी कोई स्वतंत्र गद्दी नहीं स्थापित की। इनकी काव्य-कृतियों के आधार पर कहा जा सकता है कि ये शिक्षित, बहुज्ञ और भजनानन्दी जीव थे। इनकी चार रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जिनके नाम हैं—१. वैराग-बारहमासी, २. एकादशी-महात्म्य या श्रीमद्भागवत भाषा, ३. सुदामाचरित्र और ४. बानी।

इनकी 'वैराग' या 'वैराग्य-बारहमासी' एक जोरदार कृति है। इसमें संत कबीर की भाँति धक्कामार और उखाड़-पछाड़ वाली भाषा प्रयुक्त हुई है। संक्षेप में कहना हो तो कहा जा सकता है कि यह वैराग्योत्पादन और उसकी अभिवृद्धि के उद्देश्य से रचित कृति है। इसकी कुछ पंक्तियाँ बानगी के रूप में यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

सावण सिर पै काला ठाढ़ा चेत क्यों न सबार ही।
तज देह झूठी बासना कर साध संगत प्यार ही॥
भादों भरम कहा भुलाने नार सुत धन धाम में।
संत को नहिं जानकै कुल गोत नातो परा झूठे काम में॥

'बैराग-बारहमासी' को छोड़कर शेष रचनाएँ श्रीकृष्ण भक्तिपरक हैं। 'एकादशी-माहात्म्य' और 'सुदामा-चरित' में भगवान् श्रीकृष्ण की दयालुता, दानशीलता, मित्र और भक्त वत्सलता तथा लीलाप्रियता का विस्तृत वर्णन करके बेगमदास जी ने अपनी कृष्णभक्ति का परिचय दिया है। इनकी कविता की उदात्तता और भावप्रवणता इनके पदों में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त है। इनका एक होली का पद द्रष्टव्य है, जिसमें इन्होंने अपने नाम के साथ 'सखी' शब्द का प्रयोग किया है—

राग पञ्चम

नन्द को लाल गोपाल घनश्याम जू
भली विधि सों खेले आज होरी।
संग लिये ग्वाल सब महा बाँकी जु
छबि कहा बरणन करूँ बुधि थोरी॥
कुंकुमा गुलाल अबीर और अरगजा
सखा सगरे की भरी झोरी।
जमुना को नीर सुखकरन संशयहरन
भरे कुंभ केसर जु बोरी॥
कनक पिचकारी करन सबन के अति
बनी पीत पट अंग चंदन की खोरी।
बहुत भूषन बने रूप अद्भुत घने
देखि ब्रजनारि मोहीं जु गोरी॥
श्री राधिका इष्ट सखी आदि जेती
सकल भीजि रहीं रंग में फिरैं दौरी।
गुरुछौन गुरु की दया सकल
आनन्द भया सखी बेगम लही जुगल जोरी॥

इसी क्रम में श्री राधा की विवाह-लीला का एक शब्द-चित्र कवि द्वारा इस रूप में अंकित किया गया है—

राग झंझोटी

अहो लाड़ लड़ी बनि प्यारी।
कीरति और वृषभाननंदिनी कहा कहूँ सोभा थारी॥

कोटि भानु छबि देखि लजाने रति तुम ऊपर वारी।
सखि बेगम नित जुगल चरण पै बार बार बलिहारी॥

जन बेगमदास जी ने केवल दुल्हन बनी श्रीराधा के सौंदर्य का ही वर्णन नहीं किया है। उन्होंने वररूप में सजे-सँवरे साँवरे की भी झाँकी चित्रित की है—

राग झंझोटी

अहो हरियाला बनड़ा प्यारा।
सुंदर स्याम सोहन मनमोहन अनुपम रूप उजारा॥
नख सिख भूषण बसन सजे अति चितवन काम नगारा।
सखि बेगम राधावर प्यारो जीवन प्राण हमारा॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि जनबेगम या बेगमदासजी एक उच्चकोटि के रसिक कृष्ण भक्त कवि हैं। इनकी वाणियाँ प्रकाश्य एवं मननीय हैं। इनके पदों में प्रसादगुण के साथ ही तन्मयता प्रदान करने वाले तत्व भी निहित हैं।

श्या० सु० शु०

जनभगवान

श्री जनभगवान गोरवा क्षत्रिय थे। इनका जन्म व्रज में ही हुआ था। विशेषकर ये गोकुल में ही रहते थे। ये दो भाई थे, दोनों भाई मिल-जुलकर कीर्तन किया करते थे और जनभगवान नाम से रचना करते थे। इनका गोकुल से बरसाना और बरसाना से गोकुल आना-जाना लगा रहता था। इस प्रकार व्रज मण्डल में घूमना ही इन्हें रुचिकर था। दोनों बचपन से ही गोसाईं विट्ठलनाथ जी की शरण में आ गये थे।

वि० सं० १६२७ के बाद गोस्वामी विट्ठलनाथ स्थायी रूप से व्रजवास (गोकुलवास) करने लगे थे। अतः इसी समय ये दोनों भाई श्री गोसाईं जी की शरण में आए थे और पुष्टिमार्ग के सेवा सिद्धान्त के अनुकूल अपने को ढालकर कीर्तन करते थे। इनका यह स्वभाव था कि यह वाचा-व्यवहार मात्र वैष्णव से ही करते थे, अन्यमार्गी साधकों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। इनका जब मन आता था, तो बरसाने में रह जाते और जब इच्छा होती, तो गोकुल निवास करते थे। प्रतिदिन नवीन पद रचना करके गाना इनका स्वभाव था।

गो० विट्ठलनाथजी ने दोनों भाइयों को बचपन से ही शरण में ले लिया था। अतः इनके मन में भगवान् की लीला और गुणानुवाद गायन के प्रति प्रारम्भिक अवस्था से ही संस्कार अंकुरित हुए थे, जिनका इनकी प्रौढ़ावस्था तक विकास होता रहा। जनभगवान प्रातःकाल ही गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के दर्शनों के लिए नित्य नियम से आया करते थे। उनका यह पद सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है—

प्रात समय श्रीमुख देखन कौं
सेवकजन ठाढ़े सब द्वार।

गो० विट्ठलनाथ जी इस पद को सुनकर बहुत प्रसन्न होते थे।

एक बार श्रीनाथजी के दर्शन करने के लिए जनभगवान जन्माष्टमी पर्व पर श्रीनाथ द्वारा—काँकरौली भी गये थे। वहाँ जाकर इन्होंने यह पद बनाकर गाया था—

ग्वाल बधाई माँगन आये।
गोपी गोरस सकल लिये सँग सबहि आय सिरनाये॥
अब ये गर्व गिनत नहिं काहू करियत मनके भाये।
जहाँ नंद बैठे नांदीमुख जहाँ गहन कौ धाये॥
बरन बरन पाये पट ब्रजजन उर आनँद न समाये।
जनभगवान जसोदा रानी जग के जीवन जाये॥

इन्होंने इस प्रकार के अनेक कीर्तन लिखे थे, परन्तु दुर्भाग्य से ये अब उपलब्ध नहीं होते। इनके पदों में श्रीकृष्ण के अन्यान्य लीला प्रसंगों की चर्चा हुई है। बाललीला के प्रसंगों में 'छाक' का यह पद द्रष्टव्य है—

'आगें आउ री छाकि हारी।
जब तू बोली तब हौं न बोल्यौ सुनियत टेर हमारी॥
मैया छाक सबारी पठई तू कित रही अबारी।
अहो गोपाल गैल हौं भूली सुनी न टेर हमारी॥

गोवर्धन उद्धरन धीर सौं प्रीत बढ़ी अति भारी ।
'जनभगवान' मगन भई ग्वालिनि
तन की दसा बिसारी ।।

श्रीकृष्ण के द्वारा नृत्य और मैया के द्वारा श्री बालकृष्ण को नचाये जाने का दृश्य प्रस्तुत पद में अंकित हुआ है —

जसुमति आनंदकंद नचावति ।
पुलकि पुलकि हुलसहि देखत मुख
अति सुख पुंजहि पावति ।।
बालयुवा वृद्धा किशोरि मिलि,
चुटकी दै दै गावति ।
नूपुर स्वर मिश्रित ध्वनि उपजत,
शिव विरंचि बिरमावति ।।
कुंचित ग्रंथित अलक मनोहर
झपकि बदन पर आवति ।
'जनभगवान' मनहुँ घन विधु
मिलि मंथर चाँदनी लजावति ।।

जनभगवान ने अपने गुरु गोसाईं विट्ठलनाथ जी की महिमा का गान कई पदों में किया है । उनमें इनका आत्म-निवेदन तथा गुरुनिष्ठा का भाव प्रकृत एवं सशक्त शैली में अभिव्यक्त हुआ है । नीचे ऐसे कुछ पद उद्धृत किये जा रहे हैं—

(१)

श्री विट्ठल प्रभु नमो नमो ।
भक्त हेत प्रगटे पुरुषोत्तम,
गोपीनाथ अनुज नमो नमो ।
श्रीगिरधर सुर-नर-मुनि बंदन,
श्रुति छंदन नमो नमो ।।
प्रेम समुद्र सकल परिपूरन,
रसिक सिरोमनि जय नमो नमो ।
अति सुंदर वर भूषण भूषित,
निज जन पोषण नमो नमो ।
श्री बालकृष्ण गोकुलपति,
रघुपति यदुपति, जय नमो नमो ।
श्री घनश्याम लाल बलि सुंदर,
अखिल भुवनपति नमो नमो ।
यह प्रागट्य भक्त हित कारन,
जगत उद्धारन जय नमो नमो ।
जनभगवान जाय बलिहारी,
श्रीवल्लभ कुल नमो नमो ।।

(२)

रसिक राम श्रीवल्लभ सुत के
भजिहों चरण कमल सुखदायक ।
काल अकाल रहित पुरुषोतम
प्रगट पुहुमि श्री विट्ठल नायक
देवलोक भुवलोक रसातल
उपमा को कोई नाहिने लायक ।
चार पदारथ महलन पावत
अष्ट महासिधि द्वारे पायक ।
बदन इन्दु बरसत निसि बासर
वचन सुधा श्रीभक्ति बढ़ायक ।
श्रीवल्लभसुत परम कृपाल ।
तैसेई श्रीगिरिधर श्रीगोविंद
बालकृष्णजू नयन बिसाल ।।
महामोह मद दोष दुखी जन
प्रकट भये षटदरसन ईस ।
जीव अनेक किये किरतारथ
कोमल कर धारत पर सीस ।।
जो दर्सन सुर नर को दुर्लभ
सरनागत को सुलभ अपार ।
जन्म मरन भवबन्धन छूटे
जिन श्रीमुख देखो एक बार ।।
श्रीवल्लभ रघुपति श्रीजदुपति
मोहन मूरति श्रीघनस्याम ।
'जनभगवान' जाय बलिहारी
यह सुनि जपौं तिहारो नाम ।।

रा० कृ० श०,
हु० न० भा०

जनराज

जनराज का मूल नाम डेडराज था। इनके पूर्वज गढ़वारे में रहते थे। इनका जन्म सिंहल गोत्रीय अग्रवाल वैश्य परिवार में हुआ था। इनके पिता दयाराम अपने मूल निवास स्थान गढ़वारे गाँव को छोड़कर जयपुर में आ बसे थे। जनराज के पितामह कृपाराम और प्रपितामह हीरानन्द थे। जनराज ने 'कविता-रस-विनोद' में अपना वंश-परिचय इस प्रकार दिया है—

अब मैं अपनो कुल कहौं, उपज्यौ तिन में आनि।
अगरवाल मम वंश है, सिंगल गोत बखानि ॥
गढ़वारे इक ग्राम के, वासी आदि सुजान।
हीरानन्द तिनके सुवन, कृपाराम सुखदान ॥
दयाराम तिनके सुवन, आए जैपुर ग्राम।
तिनके हौं मतिमंद भो, डेडराज सो नाम ॥

डेडराज वैश्य ने जयपुर के प्रसिद्ध तीर्थस्थान एवं रामानन्द सम्प्रदाय के प्रमुख पीठ गलता के नवें आचार्य श्रियाचार्य जी (सं० १८१४–१८३९ वि०) से 'इष्ट-दीक्षा' और 'काव्य-शिक्षा' दोनों ग्रहण की थी। दीक्षा लेने के पश्चात् डेडराज वैश्य 'जनराज' के नाम से प्रसिद्ध हुए। श्रियाचार्यजी के दीक्षित शिष्य होने के साथ-साथ ये गुरुद्वारे के सेवक भी रहे हैं। इसलिए आचार्य पीठ में ही रहते थे। आचार्य जी से काव्य-प्रेरणा प्राप्त कर ये भक्ति-पदों की रचना करने लगे। आचार्य चरण ने शिष्य को काव्य सृजन में निपुण देखकर अपने इष्ट के निमित्त प्रतिदिन 'देवभोग' में नवीन पदों से अर्चना के लिए कहा। ये रामानन्द सम्प्रदाय में 'जनराज' नाम से ही प्रसिद्ध हुए। 'कविता-रस-विनोद' में 'जनराज' ने उल्लेख करते हुए लिखा है—

गलतौ धाम प्रसिद्ध जग, सब तीरथ सिरताज।
गालव रिषि तिन में भए, सकल रिषिन के राज ॥
प्रगटे तिनके वंस में, श्रिय आचारिज नाम।
तिन यो सो दिख्या दई, इष्ट धर्म के काम ॥
पुनि मोपै कीनी कृपा, काव्य ही लगे बतानि।
तिनके पाइ प्रसाद ते, रचन लग्यौ कवितान ॥
बिना भोग के कवित्त मैं, केत्ते दिए बनाय।
श्री आचारिज देखि के, रीझि रहे मन लाय ॥
तब उन मोसो यों कही, भोग कवित्त में देह।
नाम धर्यो जनराज तब, श्री मुख ते करि नेह ॥

'जनराज' ने अपने काव्य-गुरु कृष्ण कवि का उल्लेख किया है, जो अजमेर निवासी भागचन्द दाधीच के पुत्र थे—

भागचंद अजमेर के, विप्र दाहिमां जाति।
तिनके सुत भौ कृष्ण कवि, बड़े मती अवदाति ॥
तिन मोपर करिके कृपा, कविता दई बताय।
ताके पाय प्रसाद मैं, रचन लग्यौ कविताय ॥

जयपुर नरेश सवाई पृथ्वीसिंह (सं० १८२४–१८३५) भी इनसे प्रभावित थे। उन्होंने 'जनराज' को अपने यहाँ बुलाकर पुरस्कृत किया था। तब से 'जनराज' जयपुर में ही रहने लगे। आपने सवाई पृथ्वीसिंह का यश-वर्णन भी किया है—

करि सु जैपुर नग्र में, प्रथीसिंघ वर राज।
तिनको प्रगट्यो जगत में, ऐसौ तेज समाज।
प्रथीसिंह तब रीझि के, दीनी कृष्ण इनाम।
तब मैं नृप के नग्र में, बस्यो महा सुखधाम ॥

अब तक की खोज में 'जनराज' कवि की तीन रचनाओं की सूचना मिलती है—

१. कविता-रस-विनोद (ज्येष्ठ शुक्ल १०, सं० १८३३), २. कृष्णचन्द्र लीला, ३. ललित विनोद। कविता-रस-विनोद काव्य के विविधांगों का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने वाला एक वृहद् रीति-ग्रन्थ है। काव्य विवेचन २४ विनोदों में वर्गीकृत है। ईश वन्दना के पश्चात् प्रथम विनोद में काव्य लक्षण तथा छन्द, षट् कर्म वर्णन के साथ वर्ण्य विषय प्रारम्भ हुआ है। २४वें विनोद में राजवंश वर्णन, नगर वर्णन, मित्र वर्णन, पृथ्वीसिंह नरेश द्वारा कवि को पुरस्कार हेतु बुलाए जाने आदि का वर्णन है। कवि का उद्देश्य

काव्य-प्रेमियों को काव्य सम्पदा से सम्पन्न बनाना है जिससे वे विद्वद् समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकें—

कविता रसहि विनोद यह, पढ़ै सुनै कवि लोग।
सभा मद्धि सोभा लहै, चहै सुवांछित भोग।

रचयिता ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'कविता-रस-विनोद' का सृजन याचना की दृष्टि से अथवा अन्य किसी की प्रेरणा से नहीं अपितु अपने भक्ति भाव एवं काव्य प्रेम (प्रेमप्रभाव) की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है—

कहू न जाचन को कियो, कियो भजन मैं गाय।
अपने प्रेम प्रभाव तैं, रच्यौ ग्रन्थ सुखदाय।

'जनराज' कवि मूल रूप में रामानन्द सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, किन्तु उन्होंने कृष्ण से सम्वन्धित रचनाएँ भी की हैं। कृष्णचन्द लीला १४ विनोदों में विभक्त है। प्रथम विनोद में श्री वलदेव जन्म, द्वितीय विनोद में वृन्दावन प्रवेश, तृतीय विनोद में दावानल, चतुर्थ विनोद में गोवर्धन लीला, पाँचवें विनोद में जग परतीत भोजन, छठवें विनोद में रामलीला, सातवें विनोद में अक्रूर सम्वाद, आँठवें में कंस नरेश हत, नौवें विनोद में उद्धव-सम्वाद, दसवें विनोद में कृष्ण वलदेव द्वारका प्रवेश, ग्यारहवें विनोद से चौदहवें विनोद तक में विवाह-प्रसंग वर्णित है।

(१)

मधुकर करत गुंजार अति, तिहि काल ह्वै आय।
वचन कहत सब सुंदरी, उद्धव ताहि सुनाय॥

(२)

मुकुट की लटक धार चन्द्रिका चटक धरै,
लटकै अलक स्याम कुटिल विसाल गति।
बिंब अधरान धरै बैन 'जनराज' प्रभु,
सप्त सुर साधि गावें रागन रसाल गति।
फन पै फनकि फनकि चंचल चलत चाल,
पाइ घुघरान को धमक धमाल गति।
नंदादिक ग्वाल बाल देहै करताल ताल,
काली के कपाल पर नाचत गुपाल गति।

(३)

गोकुल गाँव तज्यौ नंदनंदन,
छांड़ि हमैं तिहि काल सिधाये।
औधि करी फिरि आवन की,
उत जाय सबै बृज को बिसराये।
कारज कौन लगे मथुरा 'जनराज',
इते अभिमान लसाये।
भाग जगे हमरे अलि उद्धव,
आजि तुमै घनस्याम पठाये।

(४)

नागरि चार नवीन महा
बृजमंडल की सब गोप कुमारी।
ते उनके मन मांझ बसौ नित
प्रान समान लगौ अति प्यारी॥
केलि कला रस रंगन तैं
जनराज करी तुम संग बिहारी।
ते बन कुंजन के सुखपुंज
रहै हग मैं अभिलाष तुमारी॥

(५)

कुंजन ते इक द्यौस चली घर
आत भली वृषभानु कुमारी।
कांटो लग्यो इक पाय में आय
परी बिविहाल सखीन की लारी॥
आय गए जनराज तहाँ जब
काढत वे ब्रजचन्द बिहारी।
पीर गई तन भूलि तिया
पिय के मिलिबे तै बढ्यौ सुख भारी॥

रा० प्र० कु०
बा० सि०
ग० मि०

जनहरि अलि

जनहरि अलि का बचपन का नाम जनहरिदास था। ये रूपरसिकजी के पुत्र थे। किशोरी अलिजी की अनेक बधाइयाँ इनके द्वारा रचित मिलती हैं, जिसमें इन्होंने अलि जनहरि की छाप अंकित की है।

इनका एक पद प्रस्तुत है। इसमें भाव और भाषा की प्रांजलता द्रष्टव्य है—

बाजत आज बधाई, कुंजसदन मन भाई।
अति आनन्द भयो सबहिन में, पुहुप वृष्टि वरषाई ॥
ललिताजू को परम सहेलो, वर बंसो गृह आई।
रस को खानि जानि निज अपनो, दंपति द्रुति दरसाई ॥
रोरो तिलक संवारि सखिन रुचि, फूलमाल पहिराई।
अलि जनहरि हिय हरखि प्रिया
प्रिय कर धार सिर अपनाई ॥

प्रे० ना० श्री०

जमुनादास

जमुनादास जी के ऐहिक जीवन सम्बन्धी सूत्र अज्ञात हैं। इन्हें श्रीहित धर्म की दीक्षा गो० चतुरशिरोमणि लाल से प्राप्त हुई थी। इनकी एक रचना हिताष्टक देखने को मिली है। यहाँ हम उसका कुछ अंश उद्धृत कर रहे हैं—

(१)

श्रीवृन्दावन सुखद मनोहर अलक लड़ी
राजत हैं प्यारी प्रीतम संग विहरंश।
सखियन सभा झमक रही चहुँ दिसि
उपजत परम प्रेम कौ वंश ॥
दोउ प्रीतम अनुराग परस्पर
थकित चकित दीयें भुज अंश।
श्रीहित कीरति चतुरशिरोमनि
श्री राधावल्लभ श्री हरिवंश ॥

(२)

यहै नित आस रहौं नित पास
खवासी खवास लड़ैती ललंश।
नहिं साधन और कछू करिवे धरिवे
यह व्रत मन कर्म वचंश ॥
कुंजन के तर जमुना कौ भर
श्रीहित कौ घर खेलत दोउ भरे उमगंश।
श्रीहित कीरति चतुरशिरोमनि
श्री राधावल्लभ श्री हरिवंश ॥

इनका विद्यमान काल १९ वीं शताब्दी का मध्य सुनिश्चित होता है।

श्या० वि० खं०

जमुना बाई

जमुना बाई की प्रशंसा में 'रसिक अनन्य परचावली' में निम्नलिखित छन्द मिलता है :—

श्री बरसाने वास भक्ति अति निष्ठा बाढ़ी।
भक्त आगमन मुदित रहत उत्कंठा गाढ़ी ॥
गहवर गिरि द्रुम कुंज जहाँ तहाँ ढूढ़ति डोले।
दूध दही जल अन्न असन दै मधुरी बोले ॥
श्रीरासदास गुरुवर कृपा रहत भरी आनन्द मन ॥
ज्यौं जल सींचत बेलिबढ़त यौं जमुनापोषति साधुजन।

ये बरसाने की रहने वाली थीं। नागरीदास जी के समय से ही श्री राधा जन्मोत्सव मनाने के लिए वृन्दावन से श्रीहित नादविन्दु कुल के रसिक जन बरसाने जाया करते थे। किसी समय गो० रासदास जी इसी महा महोत्सव के अवसर पर बरसाने गये थे। उनकी सौम्य मूर्ति के दर्शन और उनके मृदु मधुर सम्भाषण से प्रभावित होकर जमुना जी का हृदय वृन्दावन-रस की ओर आकृष्ट हुआ और ये गो० रासदास की शिष्या वन गईं। गुरुवर के श्री मुख से निकले हुए ये शब्द—

जै श्रीहित हरिवंश प्रपंच वंच
सब काल व्याल कौ खायौ।
यह जिय जानि श्याम श्यामा
पद कमल संगी सिर नायौ ॥

इनके हृदय में इस प्रकार जम गये कि इन्होंने रसिक-सन्त-जनों की सेवा को इष्ट सेवा से भी बढ़कर माना। ये हर समय इसी की बाट देखा करती थीं कि हमारे घर रसिक जन आयें और हम उनकी सेवा करें। रसिकों का आगमन होने पर ये परम प्रसन्नता का अनुभव करती थीं और उनका प्रीतिपूर्ण आतिथ्य-सत्कार करतीं। जिस दिन उनके घर कोई रसिक नहीं पहुँचता तो वे स्वयं गहबर वन, साँकरी खोर, कदम्बखण्ड आदि स्थानों में छिपे रसिकों को ढूँढ़-

ढूँढ़कर दूध-दही-जल-असन और वसन से उनकी सेवा किया करती थीं। उनकी प्रीतिपूर्ण सेवा से रसिक जन इसी प्रकार आनन्दित होते जिस प्रकार जल सिंचन से द्रुम वेलियाँ लहलहा उठती हैं।

भक्तिमती जमुना वाई ने रसिक जनों की आजीवन सेवा करके रसिक-रसिकनी श्री श्यामा-श्याम के महल की टहल प्राप्त कर लीं। इनका विद्यमान काल सं० १६८० से सं० १७५० तक अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० वि० खं०

जयकृष्ण

श्री गोविन्द ने 'भक्तगाथा' में जयकृष्णजी का संक्षेप में परिचय देते हुए लिखा है—

प्रथम वास सुनसौर रास हित पद्धति धारी।
कुंज महल की रमक झमक जोरी विस्तारी।
श्रीराधावल्लभ लालहि लग मन को दुलराये॥
बहुविधि रंग दुकूल विविध भूषण पहिराये।
श्रीगुरु ललित लता अली अनुकम्पा बन वास॥
अनुराग भरौ जैकृष्ण हिय हित पद कियौ प्रकास॥

श्री जयकृष्ण जी सुनसौर ग्राम के निवासी थे। सौभाग्य वश ये श्रीधाम वृन्दावन आये और यहाँ इन्हें परम विरक्त रसिक प्रवर श्री ललितलताअलि जी का सत्संग प्राप्त हुआ। उनसे प्रभावित होकर इन्होंने स्वयं को उनके श्री चरणों में समर्पित कर दिया। भक्त हृदय जयकृष्ण विरक्त वेश लेकर उनके साथ ही रहना चाहते थे, किन्तु गुरुवर्य ने गृहस्थाश्रम में रहकर ही इन्हें हित धर्म का आचरण करने के लिए कहा। उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर जयकृष्णजी ने हित पद्धति के अनुसार अपनी रास मण्डली बनायी। ये श्रीहित दम्पति की निभृत निकुञ्ज लीलाओं का अनुकरण प्रस्तुत कर वृन्दावन-रस-रसिकों को आत्मतोष प्रदान किया करते थे। पहले ये रास मण्डली लेकर व्रज में यत्र-तत्र विचरण किया करते थे, किन्तु वाद में ये अखण्ड रूप से श्री वृन्दावन में ही रहने लगे।

जयकृष्णजी अत्यन्त भावुक थे। रसिकों की वाणी गाते समय इनके नेत्रों से अश्रु धारा बहने लगती थी। श्री राधावल्लभलालजी की सेवा में इनका इतना प्रगाढ़ अनुराग था कि ये आये दिन उनके लिए नई-नई पोशाक और नये-नये भूषण बनाकर अर्पित किया करते थे और फिर अपलक दृष्टि से घण्टों उनका सुरम्य रूप निहारा करते थे। इन्हें अपने शरीर का ध्यान ही नहीं रह जाता था। जिसके हृदय में हित-पद का प्रकाश हो गया है उसके लिए इस रस-दशा की उपलब्धि होना कोई आश्चर्य नहीं है। ध्रुवदास जी ने कहा है—

हरिवंश चरन उर धरनि धर, मन वच करि विश्वास।
कुँवरि कृपा ह्वै है तबहि, अरु वृन्दावन वास॥

गोविन्दअलि जी कृत 'भक्तगाथा' का रचना काल सं० १८४४ है। इस भक्तगाथा में ही श्री जयकृष्णजी का उक्त परिचय प्राप्त होता है। इस आधार पर इनका विद्यमान काल सं० १८४४ के पूर्व सुनिश्चित है।

श्या० वि० खं०

जयकृष्ण तुलाधार

जयकृष्णजी तुलाधार उच्चकोटि के माधुर्योपासक थे। 'रसिक-अनन्य-परचावली' तथा 'भक्तगाथा' में इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार मिलता है—

सुमति व्याह विधि रची प्रगट वृषभानु लली को।
अपि धाम धन दियौ दाइजौ लोक भलों को॥
रची सरस ज्यौनार उचित जैसी विधि चहिये।
यौं प्रभु गुरु आदरे भाग्य कहा महिमा कहिये॥
कठिन काल में बुद्धि यह हित कृपा संत संग भई खरी॥
जय कृष्ण भक्त तुलाधार ने समझि बड़ी हिरदै धरी।

—रसिक-अनन्य-परचावली

सेई वच्छवन ठाम भक्त जैकृष्ण विराजैं।
वृन्दावन कौ बास कियौ परमारथ काजैं॥
प्रिया ब्याह मंडप रच्यौ प्रीतम अति सुख देत।
वेदी रची सुहावनी हित सखी भामरे देत॥

गुरु गुरुकुल पूजन दियौ दान दायजौ साज।
भूषन बसन भंडार सब दीये प्रभु के काज॥

—भक्तगाथा

जयकृष्ण भक्त कियौ विपिन वास।
होरी जस गायक हिय हुलास॥
रच्यौ दम्पति ब्याह सु फागु मास।
दियौ सर्वसु इक पट रह्यौ पास॥

——चतुर्थ-वसन्त-प्रबन्ध

इनका जन्म वच्छवन के एक सुसम्पन्न वैश्य परिवार में हुआ था। हरि और हरिजन की सेवा करने की रुचि इन्हें माता के दूध के साथ ही मिली हुई थी। धीरे-धीरे इनका यह सेवानुराग बढ़ता ही गया। फलतः इनका अधिकाधिक समय साधुओं के संग में प्रभु-यश के कथन-श्रवण में व्यतीत होने लगा। नित्य-प्रति के रसिक संग से व्यास जी के ये शब्द इनके उर में गूँजने लगे और इन्होंने निश्चय कर लिया कि निष्ठावान् जनों का संकल्प सत्य होता है। श्री जयकृष्णजी इस सुसंकल्प के साथ ही सपरिवार चलकर श्रीवन में आ बसे—

'हरि मिलिहैं वृन्दावन में।
साधु वचन मैं साँचे जाने फूल भई मेरे मन में॥
विहरत संग देखि अलिंगन जुत निविड़ निकुंजभवन में।
नैंन सिराइ पाइ गहिवी तब धौं रज रहै कवन में॥
कबहुँक रास विलास प्रगटि है सुन्दर सुभग पुलिन में।
विविध बिहार अहार सच्यौ है व्यास वास लोचन में॥'
'अब न और कछु करनै रहनै है वृन्दावन।
हौनौ होइ सो होइ किनि
दिन दिन आयु घटति झूठे तन॥'

उस समय गो० कमलनयनजी अपनी सुमधुर रस-चर्चा से रसिक जनों को सुख प्रदान किया करते थे। उनके सम्पर्क ने इन्हें वृन्दावन-रस का लोलुप बना दिया और ये उन्हीं के चरणों में आत्म-समर्पण कर उनके शिष्य बन गये। इन्होंने स्वरचित 'व्याह पदावली' में एक स्थल में गुरुवर्य गो० कमलनयन को इस प्रकार स्मरण किया है—

श्रीकमल नैंन प्रभु उभय ब्याह सुख
सुनत सबनि मन भावै।
हरद हाथ अरु तेल वान विधि
जन जैकृष्ण गुण गावै॥

—श्रीकृष्णावतिजी द्वारा संकलित—व्याह विलास

इन्होंने एक वार राधा-कृष्ण विवाह का एक मांगलिक आयोजन किया था जिसमें इन्होंने वधू-पक्ष की ओर के सम्पूर्ण कार्य यथाविधि स्वयं सुसम्पन्न किये थे। अपने भव्य भवन के प्रांगण में इन्होंने व्याह का मांगलिक मण्डप रचाया जिसमें वर-वधू को बिठा कर भाँवरे डाली गयीं और दान-दहेज में इन्होंने अपना सर्वस्व लुटा दिया। इस विवाहोत्सव में इन्होंने भूषण, वस्त्र तथा भवन तक देकर अपने पास केवल एक धोती रखकर अपने को गौरवशाली अनुभव किया। व्याह में आमंत्रित गुरु, गुरु-कुल तथा रसिक-जनों को विविध प्रकार के षट रस भोज्य पदार्थों को अर्पित कर ज्यौनार की विधि भी सम्पन्न की। इस विवाहोत्सव का वर्णन इन्होंने स्वयं अपने पदों में किया है। हमारी धारणा है कि इन पदों के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनायें भी अवश्य होंगी जैसा कि चाचा श्रीहित वृन्दावनदासजी की "होरी जस गायक हिय हुलास", इस पंक्ति से ध्वनित होता है। गो० कमलनयन के शिष्यत्व के आधार पर इनका विद्यमान काल सं० १६८५ से सं० १७५५ तक प्रतीत होता है।

इनके द्वारा रचित विवाह का एक पद नीचे द्रष्टव्य है—

पलिकाचार (राग-देवगंधार)

आज विराजत है नव जोरी
दूलह नन्द सुवन सुख दायक
दुलहिनि श्री वृषभानु किशोरी॥
उन सिर मौर मनोहर राजत
इन सिर रतन जटित बनो मौरी।
वारौं कोटि काम जुवती जुत
होत न सम दामिनि घन कौरी॥

बैठे पलँग बने अति सुन्दर
उभै चन्द ललितादि चकोरी।
मुदित देत परिक्रमा भान नृप
सुखद गांठ कीरति सौं जोरी ॥
सुकृत की रासि साँवरो सजनी
पाई प्रिया प्रेम रस बोरी।
तन मन धन सब वारि निहारत
जन जैकृष्ण-सखी दुहुँ ओरी ॥

श्या० वि० खं०

जयश्रीकृष्णदास

जयकृष्णदास का जीवनवृत्त अज्ञात है। इनके द्वारा रचित 'ढाढ़िया-दान' नामक रचना की एक हस्तलिखित प्रति सरस्वती भाण्डार, काँकरौली में सुरक्षित है। इसमें रचना-काल नहीं दिया गया है।

इसके अन्तर्गत श्रीकृष्ण के जन्म के समय ढाँढ़ी के द्वारा उनके यश-गान करने का वर्णन है। नन्द प्रसन्न होकर उसको प्रचुर मात्रा में धन देते हैं। ग्रन्थ वल्लभ सम्प्रदाय की परम्परा में लिखा गया है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

पुत्र भयो आनन्द ह्वै पूरन परमानन्द।
ढाँढ़ी आयो जाचने तन मन भरि आनन्द ॥
बनो सभा सुंदर महा सोभा बरनि न जात।
इन्द्र सभा जहाँ वारिए औरन को कहा बात ॥
रतन जटित खंभा बने कनक भई सब भूमि।
लगी बितानन झालरी मोतिन की रही भूमि ॥
सत्यलोक शिवलोक की बैकुण्ठहु की जानि।
रही संपदा छायके तिहूँ लोक की आनि ॥

....

नवहु नंद कौ जस अमल जानत सब संसार।
रोम रोम रसना करों तऊ न पाऊँ पार ॥
कहा बरनौं श्री नंद कौ बरनत बेद पुरान।
पुत्र भये ऐसो कोहू दियो न देहै दान ॥
पुत्र भये सुख होय सति एक एक परिवार।
यह सुख व्याप्यो सकल हिय, थिर चर जो संसार ॥
प्रहसित ह्वै श्रीलक्ष्मी, आनि खरी भइ द्वार।
अन धन देत घटे नहीं, अक्षय भरे भंडार ॥
मैं बिचार मनमैं कियो, अरु सुन्यो पुरानन मांहि।
नंद गेह परगट भए, पुरुषोत्तम भ्रम नाहिं ॥

....

वरषा वरषे जैसैं, दीन्हों ब्रज नारिन ऐसैं।
चारिहु दिसि संपति छाई, द्रग दृष्टि नहीं ठहराई ॥
ठहराई नहिं द्रिग दृष्टि, जगमग सोन के परबत लगे।
लेहि कहा लगि चकित ह्वै रहे, परम सुख तनमन पगे।
पगे सुख दोऊ लगे नाचन, देत आसिष चाव सौं।
बरन्यौ यह जस निर्मल अति, जैकृष्ण जन बहु भाय सौं ॥

वा० सि०

जयकृष्ण पुजारी

साम्प्रदायिक साहित्य में जयकृष्ण पुजारी का संक्षिप्त परिचय इन शब्दों में प्राप्त होता है—

हरिकृष्ण पुजारी वृन्दारण्य।
सेवैं राधावल्लभ पद अनन्य ॥
जैकृष्ण भ्रात भावक सु धन्य।
रस फाग खिलारी सम न अन्य ॥

ये श्री राधावल्लभ मन्दिर के पुजारी हरेकृष्णजी के छोटे भाई थे। ये अपने अग्रज की तरह ही श्रीराधावल्लभलालजी के सेवानिष्ठ और वृन्दावन वास के प्रति अनन्य निष्ठ थे। "सर्वसु महा प्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी"—गो० श्रीहित हरिवंशजी के प्रति श्रीनाभाजी के ये उद्गार, इनके जीवन में मूर्त रूप से प्रत्यक्ष थे। विशेषता यह थी कि ये हितधर्मी-रसिकों को प्रसाद खिलाकर उनका उच्छिष्ट ही पाया करते थे। इनका सम्पूर्ण समय रसिकों के बीच में व्यतीत होता था।

पुजारी जयकृष्णजी का नामोल्लेख चाचा श्रीहित वृन्दावनदासजी ने तृतीय वसन्त प्रबन्ध में गो० दामोदरवरजी के शिष्यों के बीच में किया है। इस आधार पर यही अनुमान होता है कि ये गो० दामोदरवरजी के अनुगत थे और सं० १६६० से सं० १७३० तक विद्यमान थे।

श्या० बि० खं०

जयगोविन्द

भक्त कवि जयगोविन्द के संबंध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनका घर राँची जिले के टाटीसिलवे नामक गाँव में था। यहाँ से सात-आठ मील दूर पश्चिमोत्तर में एक गाँव है—कोइलारी। प्रायः यहीं रहकर जयगोविन्द अपनी खेती-बारी की देख-रेख करते थे। इनका पूरा नाम जयगोविन्द मिश्र और इनके पिता का नाम नगराज मिश्र था। इनके जन्म तथा निधन के संबंध में किसी निश्चित तिथि की जानकारी नहीं मिलती। पर ऐसा अनुमान है कि ये उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में अवश्य विद्यमान रहे होंगे। इनके गीत 'जयगोविन्द' के नाम से प्रचलित हैं। इनकी एक पुस्तक "लंकाकाण्ड" प्रकाशित हुई थी, जो अब उपलब्ध नहीं है। यह पुस्तिका इनकी ख्याति का आधार है। इसमें पचास गीत हैं। कृष्णभक्ति संबंधी इनके अनेक गीत आज भी लोगों के बीच प्रचलित हैं। उसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे प्रस्तुत हैं —

करली हम कवन कसूर,
तैंजी गेली मोहीं मधुपुर।
बाल समये साथ,
रही प्रभु जदुनाथ,
जोबन समये बिछूर,
तैंजी गेली मोहीं मधुपुर॥

श्र० कु० गो०

जयजयराम

पं० जयजयरामजी का जन्म नूह गाँव में अनुमानतः सन् १८०८ अर्थात् संवत् १८६५ वि० में हुआ था। ये काशीराम भार्गव के पुत्र थे तथा 'रामानुज सम्प्रदाय' में दीक्षित थे, फिर भी पूर्वजों की परम्परानुसार 'राधाकृष्ण' के भक्त थे।

इनके सम्बन्ध में एक किंवदंती प्रसिद्ध है कि ये नित्य जब शौच करने जाते तो वहाँ आवाज आती, "लालाजी ! राम ! राम !" ये जवाब देते—"शाहजी ! राम ! राम !" एक बार जयजयरामजी ने किसी महाजन को कई सौ अशर्फियाँ उधार दीं। उसने अकस्मात् एक दिन अपना दिवाला बोल दिया। जयजयरामजी बड़े दुखी हुए और उस दिन जब ये शौच करने आए तो फिर वही आवाज आई—"लालाजी ! राम ! राम !" इन्होंने उतरे मुँह से जवाब दिया कि "शाहजी राम ! राम !" शाहजी बोले—"लाला ! आज तुम्हारा चेहरा उतरा-उतरा क्यों है ?" लालाजी ने जवाब दिया, "क्या बताऊँ शाहजी ! मैंने एक महाजन को कई सौ अशर्फियाँ उधार दी थीं। उसने आज अपना दिवाला बोल दिया। मेरा बहुत नुकसान हो गया। अब उससे पैसे कैसे वसूल होंगे ?" शाहजी बोले, "घबराओ मत, लालाजी ! तुम्हारे पैसे वापिस मिलेंगे।"

रात को महात्मा जयजयरामजी सो रहे थे कि उस महाजन ने आकर रात को १२ बजे दरवाजा खटखटाया। ये बोले क्या बात है? महाजन ने कहा—"अपनी अशर्फियाँ ले लो।" लालाजी बोले, "तुम्हारा तो दिवाला निकल गया था। क्या डाका मार कर अशर्फियाँ लाए हो ?" वह बोला—"अशर्फियाँ मेरे पास थीं। पैसों के लिए सबसे लड़ा जा सकता है, किन्तु भूतों से कौन लड़े ? न बाबा न, आप अपनी अशर्फियाँ लीजिए।"

इनकी मृत्यु सन् १८७८ ई० में हुई।

म० गो० भा०

जयदेव

जयदेवजी का प्रादुर्भाव सम्वत् १६०९ में हुआ था। इसके अतिरिक्त इनके लौकिक जीवन के सम्बन्ध में अन्य कोई सूचना उपलब्ध नहीं है।

इनका हृदय सदैव भक्ति-रस में निमग्न रहता था। भक्तों की सेवा को ये सर्वोपरि कर्त्तव्य समझते थे। महान् भक्तों की वाणी में पूर्ण आस्था एवं तदनुकूल आचरण इनका स्वभाव बन गया था। राधा-वल्लभ के प्रति इनमें अगाध निष्ठा थी। ये

राधा-कुण्ड में स्थित श्रीहिताचार्य की 'बैठक' के निकट रहकर एकान्त भजन किया करते थे। इनके सम्बन्ध में चाचा वृन्दावनदास का कथन है—

श्रीसुन्दरवर कृपा-सदन सिर करवर दीयौ।
हरिजन सेये सदा भक्ति सुख भीज्यौ हीयौ ॥
आरज वचन विचारि धारि उर त्यौं अनुरागी।
पुनि-पुनि करहिं प्रशंस भाग की महिमा जागी ॥
श्रीराधा-पति रसना रहैं चित वित श्रीहरिवश हित।
श्रीकुंड वास दृढ़ करि कियौ स्वामी श्री जैदेव नित ॥

—रसिक अनन्य परचावली-छन्द १६६

ल० च० गो०

जयदेव ब्रह्मभट्ट

श्री जयदेव ब्रह्मभट्ट श्रीधाम वृन्दावन के निवासी थे। ये पूर्णमल के पौत्र, इन्द्रमल के अनुज तथा वृन्दावन के पुत्र थे। इन्होंने अपनी कृति 'यमक पच्चीसी' में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

सद् वृन्दावन प्रेम कर, श्री बृन्दावन चन्द,
दीजै बृन्दावन सुतहि, बृन्दावन आनन्द ॥

और 'राधिकाशतक' में इस प्रकार है—

लौकि जनक भये बृन्दावन चन्द्रि नाम,
जननी सुखद भई ग्राम हरसाने की।

संयोगवश पूर्णमल, इन्द्रमल और बृन्दावन तीनों ही उच्चकोटि के कवि रहे हैं। अतः जयदेव को बाल्यावस्था से ही घर में साहित्यिक वातावरण मिला। ये अलवर नरेश जयसिंह के दरबार में राजकवि के रूप में सम्मानित थे। इनका रचनाकाल सं० १९६८ से सं० १९८४ तक है। युवावस्था में विधुर हो जाने तथा निस्सन्तान होने के वावजूद इन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया और सारा जीवन राधा-कृष्ण की उपासना में बिताया।

इनकी निम्नांकित रचनाएँ मिलती हैं—

१. राधिका शतक (रचनाकाल सं० १९६८)। २. वर्णमाला–कक्का बावनी (सं० १९६८)। ३. भाषा प्रश्नोत्तरी (सं० १९७०)। ४. यमक पच्चीसी (सं० १९७९)। ५. बजरंग विनय (सं० १९८४)।

'वर्णमाला' काव्य रूप की दृष्टि से 'कक्का बावनी' की रचना की गई है। इसमें स्वर तथा व्यंजन के सभी अक्षरों का क्रमशः प्रयोग छन्द के प्रारम्भिक शब्दों में किया गया है। श्रीकृष्ण की गुणगान सम्बन्धी इस रचना में उनकी अवतारी-लीलाओं का वर्णन किया गया है—

कमलनयन कैटभदवन, काल कराल कृतान्त।
करुणाकन्द कृपालु कलि, कामद कमलाकान्त ॥

● ● ●

गहि गोवर्द्धन गेंद गति, गोये गोपी ग्वाल।
गर्व गमायो गोत्रमिद, गरुड़गामि गोपाल ॥

इसी प्रकार 'यमक-पच्चीसी-काव्य' में यमक अलंकार के माध्यम से श्रीकृष्ण का महिमा गान किया गया है—

भव चन्दन वर वंश भव, चन्दन भ्राजत भाल।
मुख सम चन्दन भक्ति उर, चन्दन कृष्ण कृपाल ॥
पाव न महिमा कहि सके, जिन्ह के पावन हार।
तिन्ह पावन मो मन करो, पावन नन्द कुमार ॥

'राधिका शतक' में रचयिता की स्वामिनी-परत्व-भावना व्यंजित हुई है—

एक गिरि गोबन उठायो करि यत्न प्यारे,
ताहि के प्रभाव नाम पाये गिरधारी हैं।
स्वामिनी के तनु के विलोकि युग स्वर्ण शैल,
कम्पित ह्वै सारी सुधि देह को बिसारी है ॥
कवि 'जयदेव' अब जनि भाखौ गर्व बैन,
जानि परी नीके बलवंतता तिहारी है।
जाकी सखी या विधि अनेक परिहास करैं,
सोई बृषभानुसुता रक्षक हमारी है ॥

ग० मि०

जयविहारी गोस्वामी

गोस्वामी जयविहारी जी का जन्म वि० सं० १९५१ में स्वामी हरिदासजी की वंशपरम्परा में हुआ था। ये हरिदासी-सम्प्रदाय के आचार्य थे। ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् एवं श्रीमदभागवत के

प्रसिद्ध वक्ता थे। इन्होंने दिल्ली एवं अन्य नगरों में हरिदासी रसोपासना का प्रचार-प्रसार किया। जीवन के अन्तिम वर्षों में इन्होंने विरक्त होकर वृन्दावन वास किया। ये स्वामी हरिदासजी की तपःस्थली नधिवन की नित्य-सेवा करते थे। इनकी प्रेरणा से ही निधिवन का जीर्णोद्धार हुआ। आप 'जयविहारिनिदास' के नाम से प्रसिद्ध हैं। आपका जीवन चमत्कारपूर्ण था। नित्य-विहार में इनका अद्वितीय अनुभव था। इनकी वाणी प्रसाद गुण से ओत-प्रोत है। इनकी कुछ रचनाएँ ब्रजभाषा में भी मिलती हैं, यथा :—

जय जय श्रीस्वामी हरिदास।
कुंज विहारो रस जस गायौ, कियौ विहार उजास।
सिव सनकादिक भेद न पायौ, नारद तुंबरु ब्यास॥

* * *

महल बाहिरे निकसि न जाने निधिवन लतनि निवास।
जयविहारिनी दास तिहारी निसिदिन करत खवास॥

प्रे० ना० श्री

जयसिंह

महाराज जयसिंह मिर्जा राजा जयसिंह के नाम से विख्यात हैं। इनका जन्म १५ जुलाई, १६११ को हुआ था। ये महासिंह के पुत्र थे। इनकी माता का नाम दमयन्ती था, जो मेवाड़ राजघराने की थीं। भावसिंह निस्संतान मर गये थे। उनकी मृत्यु के बाद ७ वर्ष के जयसिंह को इनके स्थान पर गद्दी पर बैठाया गया। इनका लालन-पालन दौसा में हुआ था।

बचपन में इनकी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था की गयी थी। फलस्वरूप ये फारसी, तुर्की, उर्दू, हिन्दी आदि भाषाओं के पूरे जानकर हो गये थे। संस्कृत का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। ये इतिहास, भूगोल आदि विषयों में भी पारंगत थे। साहित्य में इन्हें बचपन से ही रुचि थी।

ये कूटनीति में अत्यन्त दक्ष, सूझबूझ के धनी और शान्त स्वभाव के थे। इन्हें कार्य कुशल, बुद्धिमान, विलक्षण, निर्भीक, उद्यमी और नीति-पटु बताया गया है।

इन्होंने अनेक लड़ाइयों में विजय प्राप्त की थी। बलख, बीजापुर, कन्धार, मूंगेर आदि स्थानों पर शत्रुओं से घोर युद्ध करके इन्होंने मुगलिया सल्तनत की नींव दृढ़ की थी। शाहजहाँ ने इन्हें सर्वोच्च सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित किया था।

प्रारम्भ में इनका मनसब ४००० जात और २५०० सवार का था जो इनकी विजय-यात्रा के साथ निरन्तर बढ़ता गया। दक्षिण में इन्होंने खानजहाँ लोदी के विद्रोह को कुचल दिया। अहमदनगर को हस्तगत किया। शाहजी भोसले को इन्होंने जाकर दबाया था। आगे चलकर इन्हें शिवाजी के विरुद्ध भेजा गया। कई दुर्गों को खोने के बाद इन्हीं के प्रयत्न से अन्ततः शिवाजी के साथ पुरन्दर की सन्धि हुई।

शिवाजी को फुसलाकर इन्होंने मुगल दरबार में भेजा था जहाँ उनका अपमान हुआ और वे बचकर निकल आए। इन्होंने बीजापुर को दबाया और मोंड प्रदेश को हस्तगत किया। मऊ के किले पर कब्जा करने में इन्होंने अद्भुत साहस और चातुरी का प्रदर्शन किया था। कुछ समय के लिए इन्हें दक्षिण का सूबेदार बनाया गया था।

१६४७ ई० में ये काबुल गये और कन्धार की तीन लड़ाइयों में भाग लिया जो १६४९ से १६५३ तक हुईं। इन लड़ाइयों में इनकी रण चातुरी और निर्भीकता से बादशाह बहुत प्रसन्न हुए। इन्होंने एक मस्त हाथी को अदम्य साहस दिखाकर अपने वश में किया था।

शाहजहाँ की बीमारी की अवस्था में जब उसकी सन्तानों में आपस में लड़ाई छिड़ गई तो इन्हें शुजा के विरुद्ध भेजा गया जिसे इन्होंने परास्त किया।

इन्होंने अन्त में पक्ष बदल दिया और औरंगजेब का साथ देने लगे। दारा का पीछा कर इन्होंने उसे

गिरफ्तार किया जिसे आगे चलकर औरंगजेब ने कत्ल कर दिया।

इनकी मृत्यु वुरहानपुर में एक दुर्घटना में २८ अगस्त, १६६७ ई० को हुई। मृत्यु के समय ये ५७ वर्ष के थे।

ये काव्यप्रेमी, गुणी एवं गुणियों का आदर करने वाले नरेश थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बिहारी इन्हीं के दरबार में थे जिन्हें इन्होंने प्रत्येक दोहे के लिए एक अशर्फी प्रदान की थी।

बिहारी सतसई में जयसिंह की प्रशंसा में कई दोहे मिलते हैं। कुछ प्रतियों में ७ और कुछ में न्यूनाधिक दोहे हैं। बिहारी ने जयसिंह की प्रशंसा में जो दोहे बनाये वे इस प्रकार हैं—**'यों दल काढ़े बलक तैं, तैं जयसिंह भुवाल।'** तथा **'पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी जयसाहि।'** सामन्तीय परम्परानुसार इनके कई रानियाँ थीं। उनमें प्रमुख रानियों के नाम निम्नलिखित हैं—

मृगावती राठौड़, जादमजी, रूपकुँवरी, चन्द्रावत, हरिकुँवरी, बीकावत, आनन्दकुँवरि चौहान।

मिर्जा राजा जयसिंह के बनाये हुए १७ दोहे मिले हैं। ये दोहे सवाई माधोसिंह प्रथम के गुरु भट्टराज सदाशिव के हस्तलिखित ग्रन्थों में संकलित हैं। वैसे मिर्जा राजा जयसिंह के कवि होने का उल्लेख हमें नहीं मिलता है। पण्डित गोपाल नारायण का मत है कि कुलपति तथा बिहारी जैसे ब्रजभाषा के प्रतिष्ठित कवियों के सत्संग में रहकर मिर्जा राजा जयसिंह ने इन दोहों की रचना की होगी।

उनमें से उदाहरणार्थ कुछ नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

तासूं कीजे नेह, नाहि बोझ सिर धरि सकै।
साधन कौन सनेह, टूटे काचे सूत सौ॥
इत खैंचत मनमोहिनी, उत खैंचत चितचोर।
चित ढूंढत मन हेम ज्यौं, बाढ़त देऔ और॥
दरसन देखत स्याम को, उर लागत किहि हेत।
नैन पियासे रूप के, घूंट-घूंट रस लेत॥
सखी न रूपहि नरखिहों, लखे हरी यों सांझ।
सखी समोवन ह्वै गई, अँखियाँ अँखिया मांझ॥

इधर 'भ्रमरगीता दोहावली' नाम की इनकी एक रचना मिली है जिसमें गोपी-उद्धव-संवाद का निरूपण रसपरिप्लुत तथा साहित्यिक शैली में किया गया है। नमूने के रूप में उक्त दोहे नीचे दिये जाते हैं--

ऊधौ ब्रज में जाइकै, एक बड़ो जस लेहु।
ब्रह्मज्ञान सखियान कौं, सखा सिखावन देहु॥
ऊधौ कहो सुनौ कहौ, उतर दैन की बुद्धि।
हमैं अगम को गम नहीं, निगम न पावत सुद्धि॥
अष्ट सिद्धि नवनिद्धि दधि, चाटति रहैं बिलाइ।
मुक्ति कुती भूंका करै, नंद घर टूका खाइ॥

उपर्युक्त दोहों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मिर्जा राजा जयसिंह चाहे कृष्ण के प्रति पूर्णतः समर्पित न रहे हों, किन्तु जीवन के व्यस्त क्षणों से हटकर जब ये आत्मस्थ होते थे तो कृष्ण के प्रति इनका प्रेम समय-समय पर अवश्य स्फुरित होता था।

रा० प्र० कु०
स० प्र० सिं०

जलालुद्दीन अकबर

प्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर, बाबर के पौत्र तथा हुमायूँ के पुत्र थे। इनका जन्म हमीदा बानू बेगम के गर्भ से अमर कोट के किले में १५४२ ई० में हुआ था। अपने पिता हुमायूँ कि मृत्यु के बाद १५५६ ई० में ये सिंहासन पर बैठे। इसी वर्ष पानीपत के मैदान में इनके सेनापति तथा संरक्षक बैरम खाँ ने हेमू को हराकर गृहकलह के कारण मुगल शासन की डाँवाडोल स्थिति को समाप्त कर दृढ़ता प्रदान की। बाल्यावस्था में पिता के निरन्तर आपदग्रस्त रहने और अंततः दिवंगत हो जाने से इनकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था न हो सकी थी। किन्तु अपने अदम्य उत्साह, शौर्य तथा विलक्षण प्रतिभा के द्वारा पढ़े-लिखे न होने पर भी इन्होंने नीति निपुणता और दूरदर्शिता से एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया और शताब्दियों बाद देश को

शान्ति तथा सुव्यवस्था के वातावरण में जीने का सुअवसर प्रदान किया। तुर्कों और अपने पूर्वजों की कट्टरवादी धार्मिक नीति का परित्याग कर अकबर ने हिन्दुओं के प्रति अभूतपूर्व सहिष्णुता का व्यवहार किया और उन्हें शासन के सर्वोच्च पदों पर प्रतिष्ठित किया।

अपनी हिन्दू प्रजा को प्रसन्न करने के लिए अकबर ने गोहत्या को शासनादेश द्वारा बन्द करा दिया। कहते हैं उन्हें इसकी प्रेरणा अपने आश्रित कवि नरहरि महापात्र के एक छप्पय से प्राप्त हुई थी,—कविराज ने जिसे एक गाय के गले में बाँधकर सम्राट् के समक्ष उसको आवेदनकर्ता के रूप में प्रस्तुत किया था—

अरिहु दन्त तृन धरैं, ताहि नहिं मारि सकत कोइ।
हम संतत तृन चरहिं, वचन उच्चरहि दीन होइ॥
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महिथंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिं॥
कहकवि नरहरि अकबर सुनौ, विनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहिं मारियत, मुएहु चाम सेवत चरन॥

उदार तथा न्यायप्रिय बादशाह ने निरीह गोमाता की इस अर्जीपर गोवंश की रक्षा की स्थायी व्यवस्था कर दी।

अकबरी दरबार से सम्बद्ध कविराज होलराय ने बादशाह की प्रशासन दक्षता, लोकप्रियता तथा गुणग्राहकता का आकलन एक प्रशस्तिपरक कवित्त में किया है। उससे समकालीन हिन्दू समाज में उसके प्रति समादर भाव व्यंजित होता है। उक्त छंद इस प्रकार है—

दिल्ली तें न तख्त ह्वै है, बख्त न मुगल कैसो,
ह्वै है न नगर बड़ आगरा नगर तें।
गंग ते न गुनी, तानसेन ते न तानबाज,
मान तें न राजा न दाता बीरबर तें॥
खान खाना-खाना ते न, नर नरहरि तें न।
ह्वै है ना दीवान कोऊ बेडर टुडर तें।
नवो खंड सातदीप, सात हू समुद्र पार,
ह्वैहै न जलालुदीन साह अकबर तें॥

इतना ही नहीं उसने हिन्दू धर्म-दर्शन तथा संत-महात्माओं को भी समुचित महत्त्व प्रदान कर सर्वधर्मसम्मान की जिस नीति का प्रवर्तन किया उससे शताब्दियों से प्रताड़ित तथा तिरस्कृत हिन्दू जनता को अपने धर्म एवं सांस्कृतिक परम्परा की रक्षा तथा विकास का अवसर मिला। इसके परिणाम स्वरूप अकबर का शासनकाल मध्यकालीन भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। भक्ति आन्दोलन के अबाध विकास के लिए अवसर प्रदान कर उसने धार्मिक कटुता एवं संकीर्णता की समाप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। 'माधवानल काम कंदला' के रचयिता समकालीन कवि आलम की निम्नांकित पंक्तियों से उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है—

दिल्लीपति अकबर सुलताना।
सप्तदीप में जाको आना॥
धरमराज सब देस चलावा।
हिंदू तुरक पंथ सब लावा॥

इसी के फलस्वरूप उसका शासन काल साहित्य, कला, दर्शन आदि सामाजिक जीवन के विविध तत्त्वों के अपूर्व विकास से समलंकृत हुआ। स्वामी हरिदास, गोस्वामी विट्ठलनाथ, स्वामी अग्रदास, सूरदास, तुलसीदास, रहीम, गंग, तानसेन, बीरबल, नरहरि बंदीजन जैसी विभूतियों की उपस्थिति से इस युग के महत्व का आकलन सहज ही किया जा सकता है। कहना न होगा कि अकबर की नीति-निर्धारण तथा उसके कार्यान्वयन में बहुत अंश तक इनके व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव प्रेरणा स्रोत का काम कर रहा था।

अकबर के हृदय में वैष्णव भक्ति साधना में अगाध आस्था थी। मध्यकालीन सगुण भक्ति धारा के मूलाधार राम और कृष्ण दोनों अवतारों और उनके भक्तों के प्रति उसका अगाध अनुराग था। भारत के इतिहास में पहली बार मृत्यु के कुछ ही महीने पूर्व १६०५ ई० में रामसीय भगति की स्वर्ण तथा रजत मुद्राएँ प्रचलित कर जहाँ एक ओर उसने राम में श्रद्धा व्यक्त की, वहीं

दूसरी ओर वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार हेतु अनेक सुविधाएँ प्रदान कर उसने लीला पुरुषोत्तम कृष्ण में हार्दिक श्रद्धा व्यक्त की थी। इतना हीं नहीं, स्वामी हरिदास की ख्याति सुनकर वह तानसेन के साथ उनके दर्शनार्थ स्वयं उनके वृन्दावनस्थ आश्रम में उपस्थित हुआ था।

सम्राट् अकबर कवियों के आश्रयदाता ही नहीं, एक अच्छे कवि भी थे। प्राचीन काव्य संग्रहों में सर्वप्रथम 'दिग्विजय भूषण' में अकवर के तीन छन्द प्राप्त होते हैं। शिवसिंह जी ने 'सरोज' में इन्हें ही उद्धृत किया है। इधर श्री मायाशंकर याज्ञिक ने इनकी स्फुट रचनाओं को श्रमपूर्वक संकलित कर 'अकबर संग्रह' नाम से प्रकाशित किया है। इससे अकबर का रचनाकार होना असंदिग्ध हो गया है। इतना ही नहीं, उपलब्ध छन्दों से कवि का व्रजभाषा पर असाधारण अधिकार प्रकट होता है। इनके द्वारा रचित व्रजभाषा में कुछ छन्द उपलब्ध हैं, उनमें प्रचलित परम्परानुसार कुछ नीतिपरक, कुछ शुद्ध शृंगारिक हैं तथा कुछ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला से सम्वन्धित हैं। इनमें रचयिता की कृष्णासक्ति व्यञ्जित हुई हैं। तीनों प्रकार के छन्द नीचे दिये जा रहे हैं—

(१)

साहि अकब्बर बाल की चाह अचित
गही चल भीतर भौने।
सुन्दरि द्वार ही दृष्टि लगाइके
भागिवे को श्रम पावत गौने॥
चौंकत सी सब ओर विलोकत
संक सँकोच रही मुख भौने।
यौं छबि नैन छबीली के छाजत
मानो बिछोह परे मृगछौने॥

(२)

साहि अकब्बर एक समे चले,
कान्ह विनोद विलोकहि बालहि।
आहट ते अबला निरख्यौ चकि,
चौंकि चली कर आतुर चालहि॥
त्यों बल बैनो सुधारि धरी सु भई,
छबि यौं ललना अरु लालहि।
चंपक चारु कमान चढ़ावत काम,
ज्यों हाथ लिए अहि बालहि॥

—दिग्विजय भूषण, पृ० ५११

(३)

जाको जस है जगत में, जगत सराहै जाहि।
ताको जीवन सफल है, कहत अकब्बर साहि॥

(४)

राग-भैरव

लाल के संग ललना रैन जागो,
भए लाल लोचन लगोंहे आली,
माँनो बधू-पसीठे।
ता मधि पूरी ऐसी सोभा
माँनों भँवर लपटात उन्ह मधि,
उड़ि परे रंग मँजीठे॥
उन्ह के देखे भूख न रही री मेरे जाँन,
खंजन कमल मीन मृग लगे बसीठे।
'साह अकब्बर' पिय मोहन अरसाने नींदन,
अलख लड़े पुनि बाँट छबि-ढोली चितवन मीठे॥

—पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ से उद्धृत

भ० प्र० सिं०
रा० घु० व०

जवानसिंह 'ब्रजराज' (महाराणा)

महाराणा भीम सिंह के देहावसान के बाद वि० सं० १८८५ में महाराणा जवानसिंह मेवाड़ के राजसिंहासन पर आसीन हुए। इनका जन्म वि० सं० १८५७ को हुआ था। ये बड़े ही पितृ-भक्त थे। पिता के निधन पर ये बहुत शोक-सन्तप्त हुए। कप्तान कॉफ इन्हीं के समय टीके का दस्तूर लेकर उदयपुर आए थे। गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक से ये भेंट करने अजमेर गए थे। तब इनके साथ लश्कर में पैदलों की संख्या के अतिरिक्त सवारों की संख्या १०००० थी। दो कोस तक लॉकिट साहिब (राजपूताना के एजेण्ट गवर्नर जनरल) आदि आठ अंग्रेजी अफसर महाराणा की पेशवाई को आए थे। इन्हें १९ तोपों की सलामी दी गई थी।

ये पिता के श्राद्ध के लिए गया गए। रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह की बेटी सुभद्रकुमारी (महाराणी बाघेली) इनकी रानी थी। इनकी पत्नी का निधन वि० सं० १८८९ में हुआ। इससे इनको बड़ा सदमा पहुँचा। गया तीर्थयात्रा पर जाते समय ये वि० सं० १८९० में द्वितीय भाद्रपद शुक्ल १० को श्रीगोवर्धन पहुँचे और १२ को श्रीधाम वृन्दावन आए। यहाँ जप-पूजा, दान-पुण्य आदि किया। आश्विन कृष्ण २ को मथुरा में टिके और श्रद्धाभाव से तीर्थयात्रा की। आश्विन कृष्ण ५ को ये गोकुल पहुँचे थे। वहाँ से चलकर कानपुर में गंगा-स्नान किया, प्रयाग में त्रिवेणी-स्नान के उपरान्त यथोचित दान-पुण्य किया। कार्तिक कृष्ण ७ को प्रयाग से कूचकर अयोध्याजी में डेरा हुआ। इस क्षेत्र में लखनऊ के बादशाह नसीरुद्दीन हैदर की ओर से इनकी जोरदार आवभगत के द्वारा मित्रता का भाव व्यक्त किया गया। ये सुन्दर और सरल-स्वभाव के थे। राजा रामचन्द्र जी के वंशधर रूप में ये एक अरसे के बाद पधारे थे।

लखनऊ के नवाब की ओर से अयोध्या के नाजिम राजा दर्शन सिंह ने महाराणा पर फूल बरसाए। इसके बाद वाराणसी आकरके वहाँ पुण्य क्षेत्रों तथा पंचकोशी की यात्रा बड़ी भक्ति से की और विद्वान् पण्डितों को दान दिया। गया जी पहुँच कर वहाँ अष्टतीर्थ एवं बोध गया आदि की यात्रा करके विधिपूर्वक श्राद्ध किया। अपने तीर्थ पुरोहित आसाराम को हाथी, घोड़ा, ऊँट, पालकी, रथ, मियाना, सिरोपाव, गहना, ढाल, तलवार के अतिरिक्त बहुत-सा सोने-चाँदी का मूल्यवान सामान और १०००० रुपए दक्षिणा में दिए। आसाराम के बेटे को कड़ा, डोरा, सिरोपाव, पालकी तथा उसके भतीजे को कड़ा, डोरा सिरोपाव आदि प्रचुर सामान दान दे दिया। तीर्थगुरु गंगाधर को भी हाथी, घोड़ा, सिरोपाव, गहना तथा काफी रुपया भेंट किया। गया से लौटते हुए ये विन्ध्यवासिनी देवी का दर्शन करने गए। रीवाँ के महाराजकुमार विश्वनाथ सिंह भी साथ हो लिए। महाराजा जयसिंह देव के छोटे राजकुमार लक्ष्मण सिंह की कन्या के साथ, बहुत आग्रह किए जाने पर, स्नेहानुरोध से इन्होंने विवाह करना स्वीकार किया। मुगलों के समय में उदयपुर के महाराणाओं को ऐसी तीर्थयात्राएँ करना सम्भव न था। मराठों के उत्पात के समय भी मुश्किल हो गयी थी, किन्तु अंग्रेजी अमलदारी के प्रभाव से प्रथम बार महाराणा जवानसिंह ने ही तीर्थ यात्रा का मार्ग प्रशस्त किया।

वि० सं० १८९५ में महाराणा को अचानक शिरोपीड़ा हुई। सारे उपचार व्यर्थ गए और अन्ततः भाद्रपद शुक्ल १० वृहस्पतिवार को इनका शरीरपात हो गया। इनका मझला कद, गेहुआँ रंग, पुष्टशरीर, प्रशस्त वक्षस्थल, गहरी और बड़ी डाढ़ी, कजरारी बड़ी-बड़ी आँखें सभी को आकृष्ट करती थीं। ये बेहद मधुरभाषी थे।

ये स्वभाव से बड़े हँसमुख थे। सेवकों को पिता के समान ममत्व देते थे। यहाँ तक कि उनके मरने पर उनकी सन्तानों की प्यार से परवरिश करते थे। दयालुता इनके हृदय में भरी हुई थी।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध काव्यगुरु सुकवि गो० दयालाल 'दयानिधि' से इनका निकट सम्पर्क था। कुँवर जवान सिंह इनकी कविता के बड़े रसिक थे। अंतस्साक्ष्य से ज्ञात होता है कि गो० दयानिधि ने एक 'अष्टक' इनकी प्रार्थना पर सद्यः बनाकर सुनाया था। एक हस्तलिखित पोथी में हमें इनके सम्बन्ध में यह छन्द प्राप्त हुआ था—

सुघर शिरोमणि श्री कुँवर जवान सिंघ
एक दिन विरह कवित्त मो सों सुनि-सुनि।
आय कब आनंद को घन बरसाइहो, या
कवित्त पै अष्टक बनै यों कहो पुनि-पुनि ॥
बचन-प्रमान 'दयानिधि ने बखान किये,
बरन वियोग के हिये जो राखे चुनि-चुनि।
गुन-गुन भीम नन्द पाय हो अनंद त्यौं,
सराहिहैं वियोगी रीझि-रीझि माथ धुनि-धुनि।

इतिहास प्रसिद्ध परमसुन्दरी कृष्णाकुमारी इन्हीं की बहन थी। उसकी विषपान जनित अकाल मृत्यु

से इनके हृदय पर गहरा आघात लगा था। वैसे ये स्वभाव से विदग्ध और सरस-हृदय थे। ये ब्रजभाषा में 'ब्रजराज' की छाप से सरल, स्वाभाविक और श्रुतिमधुर रचनाएँ करते थे। इन्होंने गेयपद भी यथेष्ट लिखे हैं। इन्होंने मन्दिरों का निर्माण कराया था। इनमें मुख्य हैं—१. जवानस्वरूपेश्वर का मन्दिर, २. जगत शिरोमणि का मन्दिर, ३ जवान सूरजबिहारी का मन्दिर। जवान स्वरूपेश्वर मन्दिर के सरोवर में महाराणा जवान सिंह की संगमरमर की प्रतिमा है। उनकी गोद में बाईं ओर बाघेली रानी भी बैठी हुई है। यह महादेव जी का मन्दिर है। श्रीजगत शिरोमणि का मन्दिर कलापूर्ण तथा आकर्षक है। यह मन्दिर पुष्टिमार्ग का है। इसमें श्रीराधाकृष्ण की मूर्तियाँ स्थापित हैं। इस मन्दिर में एक बड़ी प्रशस्ति भी स्थापित है। इससे ज्ञात होता है कि इसका निर्माण महाराणी बाघेली सुभद्र कुमारी द्वारा हरि-अर्पण किए गए निजी धन से महाराणा जवानसिंह ने करवाया था। सूरजविहारी के मन्दिर को वाँकुड़ेविहारी का मन्दिर भी कहा जाता है। यह रानी सूरजकुँवरि के लिए बनवाया गया था। इसमें युगलमूर्ति राधाकृष्ण विराजमान हैं। कवि बखत राम आसिया द्वारा निर्मित 'कीरत प्रकाश' (अप्रकाशित) में महाराणा जवानसिंह जा जीवन-चरित वर्णित है।

महाराण ने स्फुट कविताएँ ही रचीं। वि० सं० १८८२ में ही इन्होंने एक कृष्णभक्तिपरक पद निर्मित किया था। वि० सं० १८८३ में महाराणा ने किशनजी आढ़ा से केशवदास की 'कविप्रिया' पढ़ी थी। ऐसा कहते हैं कि ये कवित्त, सवैया, दोहा, पद आदि लिख-लिखकर अपने परोहित शिवलाल, मोतीचन्द साँभर, गुणेशनाथ, जोशीनन्द जी, बाबू भट्ट मेवाड़ा, नन्दराम पाणेरी, चन्द्रेश्वर गोरवाल, ठाकुर जोरावर सिंह आदि मुसाहिबों के द्वारा किशनजी आढ़ा के पास पहुँचा देते थे। विषयवस्तु की दृष्टि से इनकी रचनाओं को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—१. विनय-माधुरी, २. शृङ्गार माधुरी और ३. पद माधुरी।

इनकी कविता में रीतिकालीन रंग दिखाई जरूर देता है पर इनकी भाववृत्ति भक्ति की ओर ही अधिक झुकी हुई है। इनकी भक्ति-भावापन्न ऋजु हृदया वैष्णव पत्नियों के तथा परिस्थिति परिवेश से भी इन्हें भक्ति काव्यरचने की प्रेरणा मिली। राजपूताने की तत्कालीन राजनीतिक कर्दम की दुर्गन्ध ने, निरपराधा भगिनी कृष्णाकुमारी की अकाल मृत्यु ने, इनके मानस को अतिभावुक बना दिया था। संयोगवश उसी समय दयानिधि गोस्वामी जैसा वृन्दावनी रस-भावना का सजग और सशक्त कवि इन्हें काव्य गुरु के रूप में उपलब्ध हो गया था। जिस प्रकार दयानिधि शृङ्गार की कमनीय कल्पना में मग्न रहकर भी भक्ति की मधुर पयस्विनी में निमग्न रहते थे उसी प्रकार महाराणा जवानसिंह 'ब्रजराज' ने भी माधुर्य भक्ति में लीन होकर आत्म-समर्पणमयी प्राञ्जल पदावली की सृष्टि की। इनकी रचना का प्रथमस्रोत एक भक्तिभावापन्न पद के रूप में ही फूटा था। इनके पदों में सरसता, तल्लीनता और स्वर-संगति की त्रिधारा बहती दिखाई देती है। सरस्वती भण्डार, उदयपुर में इनकी रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं। इन्होंने अन्य छन्दों के अतिरिक्त लगभग १५० पद लिखे थे। डॉ० महेन्द्र भानावत ने 'ब्रजराज-काव्य-माधुरी' नाम से इनका संग्रह प्रकाशित किया है।

इनकी रचना के चार उदाहरण दिए जाते हैं—

(१)

जमुना तट जाय स्यांम बाँसुरी बजाई।
सगरी ब्रज नार कांन सैंन दे बुलाई॥ टेक॥
मधुरे सुर लई तान रंचक धुन परी कान,
ग्रह ग्रह तैं चाहि चाहि गोपिन उठ धाई।
व्याकुल ह्वै अति अधीन जल बिन ज्यौं परैं मीन,
काहू की न संक कीन आतुर ह्वै आई॥
भूल गई खान पान सुंदर तिय आन कान,
परी कौन बान यहै कान्हर की माई।
ठाढ़ौ इक रोक गैल नटवर पिय रसिक छैल,
कहा कहौं सखी तोहि ढीठि की ढिठाई॥

मिली जबै आय ग्वाल पूछी तब नंदलाल
कहौ कहा काम कछु कौन को पठाई।
मोहन तुम हो सुजान बूझत क्यौं ह्वै अजान
झूठी कर बातैं तुम साँच सी सुनाई॥
रावरे ही दरसकाज मेटी सब लाज पाज
करौ कहा प्रीतम तुम अैसी चतुराई।
हमकौं पुन दोस दियौ अपनौं हू काज कियौ
प्रीति हू की रीति कहूँ दुरै ना दुराई॥
मधुरे से सुनत बैन तन मन को भयो चैन
मोहन 'ब्रजराज' आज छाक सी छकाई।
आनंदमय भई बाल सबहो तिय ह्वै निहाल
गिरधर रस लै गुपाल रीझकै रिझाई॥

(२)

नंद के नंदन अति सुख के सदन तुम,
दुख के कदन दया दिल पै धरौगे कब।
मैं तौ हूँ अनाथ नाथ गहौ मेरे दोऊ हाथ
लैहो अपनाय पीर चित की हरौगे कब।
तार्‌यौ ग्रह गीध गज नाम हू कौ नेम पार्‌यौ
करुनानिधान मेरी करुना करौगे कब।
'ब्रज के सुराज' धीर एहौ हरि बलबीर,
बिरत बिचार स्यांम जिन बिसरौगे कब॥

(३)

उद्धव आय गये ब्रज में
सुनि गोपिनके मन में सुख छायौ।
आनंद सों उमगी सगरी चलि
प्रेम भरी दधि आन बंधायौ॥
पूछति हैं मनमोहन की सुधि
बोलत ही दृग नीर चलायौ।
देखि सनेह सखा हरिकै
घनस्याम वियोग कछून सुनायौ॥
ब्रज में सुनि आगम उद्धव को
चहुँ ओर सखीजन आन खरी।
सुधि पूछत हैं वहि प्रीतम की
तन में मन में अति प्रेम भरी॥
ठगलै हमको नंदलाल तबै
अब नैह दुरावन की जु करी।
मिलिहैं कब श्याम सुजान कहो,
तुम जानत मो मन की सगरी॥

(४)

विकल भई सब ब्रज बधू, गई देह सुधि भूल।
मन मोहन के चलत ही प्रगट लही उर सूल॥
कब मिलिहैं मोहन अलि अति सनेह दुख दैन।
जब जानत जोवो सफल सुनिहैं सुन्दर बैन॥
उद्धव तुम आये यहाँ करत जोग की बात।
बरत बचन ऐसे लगे करत ब्रज को घात॥
कहत तुम्हीं सौं ब्रजबधू, बात बिचारि बिचारि।
नारि मारिबै कौं मनौ, हैं मोहन तरवारि॥

न. च. वं.
ग. मि.

जवाहरदान

श्री जवाहरदान का जन्म सं० १९११ में थौखड़ा (राजगढ़) में हुआ था। इसके पिता का नाम नगजी रत्नू था। सीकर जिले में कपूरियावास नामक गाँव में इनकी ससुराल थी। ये राजगढ़ से अलवर में आकर रहने लगे थे। इनकी भक्ति भावना एवं कवित्व शक्ति से प्रभावित होकर अलवर नरेश जयसिंह ने इन्हें सम्मान प्रदान किया था। ऐसी जनश्रुति है कि जवाहरदान ६० वर्ष कीअवस्था में अन्धे हो गए थे, लेकिन भक्ति के प्रभाव से १०-११ वर्ष पश्चात् इन्हें नेत्र-ज्योति पुनः प्राप्त हो गई। अंधावस्था में भी जवाहदान ने अष्टक-काव्य तथा स्फुट पदों की रचना की। अष्टक-काव्य में इन्होंने राम और कृष्ण के परम्परा या प्रसिद्ध भक्त-उद्धारक रूप का एक साथ चित्रण किया है। इनका निधन सं० १९८९ में हुआ।

भक्ति भावना के स्वरूप-व्यंजक इनके दो छन्द प्रस्तुत हैं –

(१)

भीड़ पड़ी प्रह्लाद में बहोत सी,
आइ गये हरिणाकुश मारन।
ग्राह गस्यो गजराज को सिन्धु में,
दीन के बंधु गये तुम तारन।
गौतम की घरणी पति आय सूं,
होय गई सिल से ये उजारन।
रावरे पांव के धूर लगी,
सुख पूर गई सुरलोक सिधारन ॥

(२)

हाथ कुम्हार लगाय धर्यो,
तिन बीच रहे मनीयां जो मंझारन।
ज्वाल जगाय दई चहुँधा,
तिनके तन ताव लगी नहीं तारन ॥

भारथ में भरदूल के अंडहि
राख लिये गजघंट को डारन।
सैन के काज संवार करी,
प्रभु नाइ बने तुम भूपात द्वारन ॥

थान भलो निपजायो धनां घर,
नाम दे छीपो की छान छबारन।
या 'जवाहर' की बेर इती,
करुनानिधि देर करी किहि कारन ॥

ग० मि०

जसराम उपगारी

श्री जसराम उपगारी (उपकारी) चरणदासजी के योग्यतम शिष्यों में गिने जाते हैं। इनके परोपकारी चरित्र और स्वभाव के ही कारण गुरु द्वारा इन्हें 'उपकारी' को उपाधि प्राप्त हुई थी। सांप्रदायिक अभिलेखों में यही शब्द 'उपगारी' के रूप में व्यवहृत मिलता है। ये मूलतः सुवाना ग्राम (परगना झज्झर, जिला-रोहतक, हरियाणा) के निवासी थे। इनके पिता का नाम सीताराम तथा माता का नाम आनन्दी देवी था। साधु-सेवा, अतिथि-सेवा और हरिभजन की ओर बचपन से ही इनका झुकाव था। ये आजीवन अविवाहित रहे। माता-पिता के परलोकवास के पश्चात् इन्होंने गृहत्याग कर दिया था। इनका जन्मकाल सं० १८०० वि० के आस-पास माना जाता था। ये जाति के ब्राह्मण थे और इनका अध्ययन-मनन विस्तृत तथा गहन था।

गुरु के आदेश से रिवाड़ी तहसील के खरक कलाँ ग्राम में आश्रम बनाकर इन्होंने भक्ति का प्रचार किया। ये खरक के साथ ही रिवाड़ी के निकटस्थ बिहारीपुर ग्राम में भी रहा करते थे। यह गाँव इन्हें माफी के रूप में प्राप्त हुआ था। इनके उत्तराधिकारी शिष्य श्री रामदयाल ने यहाँ मन्दिर और आश्रम का निर्माण कराया था।

रामदयालजी का सम्प्रदाय में कितना सम्मान था, इसका प्रमाण यह है कि सं० १८३४ वि० में चरणदासजी ने अपनी रचनाओं का संग्रह 'भक्ति-सागर' लिपिबद्ध कराकर और अपना हस्ताक्षर करके उसे अनुग्रह स्वरूप इन्हें दिया था।

इनके अतिरिक्त उपकारीजी के दो अन्य शिष्यों का भी उल्लेख मिलता है। इनके नाम हैं—छबीलीदासजी और चेतनदासजी। उपकारीजी की कृतियों की जितनी पांडुलिपियाँ मिलती हैं वे प्रायः इन्हीं दोनों शिष्यों द्वारा लिखित हैं।

उपकारीजी के खरक स्थित थाँभे की शिष्य-परम्परा इस प्रकार मिलती है—

श्री चरणदासजो→जसराम उपकारीजी (महंत पद का काल सं० १८३४ वि० से १८७० वि०)→ महंत रामदयालजो→किशोरदासजी→मथुरादासजी→ जानकीदास→गृहस्थ गद्दी।

सम्वत् २०२० वि० के पश्चात् उपकारीजी की यह गद्दी एक ऐसे महन्त के हाथ में आई, जो गृहस्थ बन गया। इस प्रकार इसका इतिहास यहीं समाप्त हो गया।

अब तक ज्ञात विभिन्न सूत्रों के आधार पर उपकारीजी के चार ग्रन्थों का पता चला है जिनके नाम इस प्रकार हैं–(१) भक्त बावनी, (२) भक्ति प्रबोध, (३) हरिगुरु स्तोत्र और (४) शब्द या वाणी।

भक्तबावनी––यह उपकारीजी की सर्वोत्तम कृति है। इसकी प्राप्त पांडुलिपि २२६ पत्रों (४५८ पृष्ठों) की एक विस्तृत रचना है। इसका वर्ण्य-विषय ४ खण्डों में विभक्त है। ५२ अध्यायों में अलग-अलग अध्यायानुसार एक-एक भक्त का वर्णन इसकी मुख्य विशेषता है। इनमें से अम्बरीष, शुकदेव, मोरध्वज, सुदामा आदि १५ भक्तों के चरित्र-वर्णन के अतिरिक्त नरसी, जयदेव, कबीर, पीपा, रैदास आदि ३७ संत-महात्मा ऐसे हैं, जिनका उल्लेख मध्यकालीन साधनामूलक साहित्य के कृती रूप में हमें ज्ञात ही है। 'भक्तबावनी' में समाविष्ट भक्तों के आख्यान प्रायः प्रामाणिक हैं। इस ग्रंथ का रचना काल सं० १८२६ वि० है। उस समय उपकारीजी की अवस्था २४-२५ वर्ष की रही होगी। रचनाओं के कालक्रमानुसार यह इनकी प्रथम कृति है। इसके १५वें प्रभाव में शुकदेवजी तथा ५१वें प्रभाव में चरणदासजी का वृत्त वर्णित है। अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण यह कृति चरणदासी संप्रदाय सहित अन्यान्य वैष्णव संप्रदायों के भक्तों-संतों और गृहस्थों के लिए नित्य पाठ का साधन बन गयी है। इसका अभी तक अप्रकाशित रहना दुःखद बात है।

भक्तिप्रबोध––यह ग्रंथ उपकारीजी के आचार्यत्व का द्योतक है। इसमें चौपाई, दोहा, सोरठा और सवैया छंदों में इन्होंने भक्ति के शास्त्रीय पक्ष का विवेचन किया है। इसके छंदों की संख्या २७४ है। यह ग्रंथ भक्ति को अंग, साधु महिमा को अंग, वैराग उपजावन को अंग और सांख्य भेद को अंग, इन चार अंगों में विभक्त है। यह चरणदासी सम्प्रदाय का सिद्धान्तनिरूपक ग्रंथ है। इसका रचनाकाल सं० १८३४ वि० है। इस प्रकार उपकारीजी के ये दोनों ग्रंथ चरणदासजी के जीवनकाल में ही रचे गये थे।

शब्द–उपकारीजी के शब्दों (पदों) की प्राप्त संग्रहात्मक पांडुलिपि में १५ दोहों और १०० पदों का समावेश है। पदों के साथ उनके रागों के नाम भी अंकित हैं। इस संग्रह में विभिन्न उत्सवों, सामूहिक आयोजनों और अष्टयाम पूजा के समय गाने योग्य पदों के साथ ही शुकदेवजी, चरणदासजी, श्री कृष्णजी और राधाजी की जन्मबधाई के पद भी संकलित हैं। इसके कुछ पद संतवाणी शैली के भी हैं। परन्तु प्रधानता लाड़ले और लाड़ली जू के लीलागान संबंधी पदों की ही है, क्योंकि कवि इनके परमाराध्य रूप के प्रति कृतज्ञता भाव से पूर्ण है। कवि इस उपकार का स्मरण इस प्रकार कर रहा है––

राग ललित

मैं हरि जाने दीन दयाल।
सब जीवन के हो रिछपाल॥

पानी सूं तन पैदा कीया।
खान पान गर्भ माहीं दिया॥

जठर अगिनि जरते रख लीया।
ह्वाँ प्रभु जी कीन्हीं प्रतिपाल॥

जनम लिया फिर जग में आया।
माता अस्तन दूध उपाया॥

कर जोरै जसराम अधीना।
आलकसो हूँ करनी हीना॥

सुमिरन ध्यान नहीं जप कीना।
मोकूं तारो हे गोपाल॥

मैं हरि जाने दीन दयाल॥

श्री वृन्दावन विहारी को शयन कुंज में पधारने का निमंत्रण देते हुए उपकारी जो निवेदन करते हैं—

पौढ़ो प्यारे रंग महल मँझारी।
रतन सिंहासन पुष्प बिछाये
सुंदर सेज सँवारी॥

चोवा चंदन अबीर अरगजा
अष्ट सुगंध मतवारी।
जुगल सहेली चँवर डुलावें
ललित बिसाखा प्यारी॥

जसराम सखी बिनवे अति
हित सूं सुनिये अर्ज हमारी।
चरणदासि होइ चरण पलोटूं
यह वर देउ बिहारी॥

श्री कृष्ण की होली भक्तों के लिए बड़ी ही सुखद एवं प्रेरणाप्रद रही है। इसीलिए चरणदासी अन्य भक्त कवियों की भाँति जसरामजी ने भी अपने कई पदों में श्यामाश्याम युगल और उनके सखा-सखी परिकर की होली का वर्णन किया है। निम्न पद में इसी दृश्य की एक झलक प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है—

होरी खेलत सुंदर साँवर हो॥
अहो मेरे ललना संग सखा बहु ग्वाल।
मना मनसुखा सबल संतोषा
भर भर फेंट गुलाल॥

अपने आराध्य श्री नंदनंदन के दर्शनार्थ जसराम जी के हृदय में जो विकलता है, वह इन शब्दों में व्यक्त हो रही है—

नन्दनन्दन मनमोहना
मोहिं लागो री प्यारो।
साँवरि सूरत माधुरी मूरत
बड़े बड़े नैना वारो॥

वा देखे बिन कल न परत मोहिं
कछु टोना सों डारो।
लोक लाज मरजादा त्यागी
तन मन भवन बिसारो॥

बहुतक गोपी गर्व गुमावन
तिनको मान न धारो।
चरनदास जसराम सखी कूं
चरनन लाय निस्तारो॥

जसरामजी की वाणियों में कहीं-कहीं उनका नाम 'जसराम' और कहीं 'जसराम सखी' भी मिलता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि श्री जसराम उपकारी एक उच्चकोटि के भक्त कवि थे।

श्या० सु० शु०

जसवंत सिंह राठौर

श्री जसवन्त सिंह राठौर अपने समय के अति विख्यात रसिक भक्तों में से थे। इसलिए श्री नाभा जी, श्री ध्रुवदासजी, श्री भगवतमुदितजी, गोस्वामी जतनलालजी, चाचा श्री हितवृन्दावनदासजी और गोविन्द 'अलि' जी आदि सभी महानुभावों ने इनका चरित्र लिखकर अपनी लेखनी सफल बनायी है।

भक्तनि सौं अति भाव
निरन्तर अन्तर नाहीं।
कर जोरें इक पाँय
मुदित मन आज्ञा माहीं
श्री वृन्दावन वास
कुंज क्रीड़ा रुचि भावै।
श्री राधाबल्लभ लाल
नित्य प्रति ताहि लड़ावै॥

परम धर्म नवधा प्रधान
सदन साँच निधि प्रेम जड़॥
जसवंत भक्ति जय माल की
रूड़ा राखी राठवड़॥

—श्री नाभाजी कृत भक्तमाल

गुरुवर श्री वनचंद कृपा तें
भक्ति चरन रति।
दान सहित सनमान देन कौं
उदित महामति॥

हरिजन वेष बनाइ
आनि ठग सुत बध कीयौ!
देखि चरन रज बन्दि
सुता दै आदर दीयौ॥

धीर वीर धरि धर्म दृढ़
आवै ऐसी कामु बनि॥

रस भजन भक्ति कौ सुकृत फल
जैमल जसवन्त धनि ॥

—रसिक-अनन्य-परचावली

इनका जन्म १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में राठौर वंश में हुआ था। चाचा श्री हितवृन्दावनदासजी अपनी अनेक रचनाओं—रसिक-अनन्य-परचावली, भक्ति प्रसाद बेली, हरिप्रताप बेली आदि में इन्हें जैमलजी राठौर का पुत्र तथा गो० वनचन्दजी का शिष्य लिखा है—

जसवन्त करी सो को करै।
धनि राठौर वंश जैमल सुत,
जाकी करनी मन हरै ॥

जैसें वेद व्यास के शुक मुनि,
भक्ति सतगुनी विस्तरै।
ऐसें ही जसवन्त पिता की
रहनि चरनि आगें धरै ॥

—भक्ति प्रसाद बेली

जैमल सुत जसवन्त राज रिषि विपिन उपासी।
गुरु श्री जुत वनचन्द कृपा तें सुमति प्रकासी ॥

श्री राधा वल्लभ भांवते भजे हृदय धर नेम।
सुत वध देख्यौ संत तें सुता बढ़ायौ प्रेम ॥

—हरि-प्रताप-बेली

श्री गोविन्द 'अलि' जी ने इन्हें जयमलजी का अनुज और श्री हित जू का शिष्य कहकर प्रकीर्तित किया है तथा श्री नाभाजी इन्हें जयमल की भक्ति की टेक का रक्षक लिखा है—

हित गुरु चरण प्रताप भाव भक्तन में पूरौ।
संगी श्यामा श्याम चरण कमलन मग रूरौ ॥

दै आदर सनमान साधु कौं जान न दीयौ।
निज कृत से भयभीत व्याह बेटी संग कीयौ ॥

निष्ठा लखि गुरु रीझि कैं पुत्र फेरि जीवन नयौ ॥
जसवन्त भक्त जैमल अनुज तनुज संत कर वध भयौ ॥

—भक्त गाथा

गोविन्द अलिजी के मत की संपुष्टि के लिए अन्य कोई प्रमाण नहीं मिलता जब कि चाचा हित वृन्दावनदासजी के उल्लेख का समर्थन नाभाजी की पंक्ति—'जसवंत भक्ति जयमाल की रूड़ा राखी राठवड़'—से हो जाती है क्योंकि कुल या पिता की टेक की रक्षा का श्रेय पुत्र को ही होता है, भाई को नहीं। इतिहास में ऐसे अनेक प्रमाण हैं। अतः चाचाजो की बात ही प्रामाणिक सिद्ध होती है। समय की दृष्टि से भी गोविन्द अलि जी की बात प्रामाणिक नहीं ठहरती क्योंकि ये चाचाजो के बहुत समय पश्चात् के लेखक हैं।

गुरु शरणागत होते ही इन्हें संसार से वैराग्य हो गया था। व्यासजी की भाँति इन्होंने भी माला-तिलक का उत्कर्ष स्थापित किया था। इन्होंने वृन्दावन में एक मन्दिर निर्मित कराया था, किन्तु पता नहीं वह कहाँ पर बनवाया गया था, आज वह है भी या नहीं, और यदि है तो वह किसके अधिकार में है?—ये तथ्य अज्ञात हैं। ये हरि, गुरु और संत की सेवा निरभिमान होकर किया करते थे। ये अपने युग के आदर्श साधु सेवी थे। इतना ही नहीं इन्होंने अपने पुत्र और स्त्री आदि सभी पारिवारिक जनों को सन्त सेवा में समर्पित कर रखा था। इनकी दृष्टि में हरि और हरिदास में कोई भेद ही नहीं रह गया था। किसी भी माला-तिलकधारी के घर पधारने पर ये सपरिवार तन-मन-धन से सेवा कर उसे सन्तुष्ट करते थे। इनकी यह ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी—

तिया सुता अरु बन्धु आदि जे।
भक्तन आगे टहल करैं ते ॥

दुख सुख लाभ-हानि सम मानैं।
हरि हरिजन में भेद न मानैं ॥

—रसिक-अनन्य-माल

एक दिन कोई ठग इनकी इस साधुनिष्ठा से लाभ उठाने की लालसा से साधु का वेष बनाकर इनके यहाँ आया। जसवंतजी ने उसकी आदर सहित समुचित सेवा की और उसके दर्शन से अपने को सौभाग्य-

शाली अनुभव किया। ठग भी नित्य माल उड़ाने की इच्छा से कथा-कीर्तन—भजनादि से जसवन्तजी को प्रसन्न कर स्थायी रूप से वहीं रहने लगा। वह छद्म वेषधारी इस प्रकार का साधु-आचरण और साधुजनोचित व्यवहार का ढोंग करता कि जिसे देखकर सभी को यह विश्वास हो गया था कि वह एक सच्चा साधु है।

आपके एक अतीव सुन्दर पुत्र-रत्न था। पूर्व प्रथानुसार तथा राजकुमार होने के कारण बालक सदा ही बहुमूल्य आभूषणों से समलंकृत रहता था। बालक के इन आभूषणों ने उस छद्म वेषधारी साधु की बुद्धि भ्रष्ट कर दी। वह उन नग-आभूषणों को हड़पने का उपाय सोचने लगा। कुत्सित भावना से प्रेरित होकर उसने बालक से अत्यधिक मेल-जोल बढ़ा लिया। एक दिन वह राजकुमार को एक निर्जन वन में ले गया। वहाँ पर उसे मारकर गड्ढे में गाड़ दिया। उसके सब गहने बाँधकर भाग ही रहा था कि रास्ते में जसवन्तजी मिल गये। उन्हें देखते ही इसके काटो तो खून नहीं। डर के कारण मुँह पर मुर्दनी छा गई। जसवन्तजी को इसकी पाप क्रिया सर्वथा अज्ञात थी। इन्होंने सानुनय निवेदन किया कि—"महात्मन्! उदास होकर आप कहाँ जा रहे हैं? क्या घर में किसी ने आपकी आज्ञा उल्लंघन कर दी है? या किसी ने आपका किसी प्रकार अपमान करके आपको असन्तुष्ट किया है? आपकी अप्रसन्नता का क्या कारण है? आप तो सहज दयालु हैं। आपका संयोग से मेरा भजन भली प्रकार से बनता था। अतः आप सभी अपराधों को क्षमा करके वापस चलिए।"

किन्तु डर के मारे उसकी स्थिति दयनीय हो रही थी। वह ठग निरुत्तर होकर काँप रहा था। जसवन्तजी कुछ समझ नहीं पा रहे थे। वे उसके पैरों पर पड़कर कहने लगे—'महाराज! मेरा अपराध क्षमा कीजिये और घर पधारिये"। अन्ततः वे उसे अपने साथ घर ले ही आये।

सन्ध्या होने तक जब कुमार घर नहीं आया तब महल में चिन्ता और शोक का वातावरण छा गया। नगर में डौंड़ी (मुनादी) करवा दी गई कि राजकुमार खो गया है। उसका पता लगाने वाले को पुरस्कृत किया जायगा। जसवंतजी ने नगर तथा आस-पास के वनों का कोना-कोना छनवा डाला, पर कुमार का पता नहीं चला। दूसरे दिन जसवन्तजी के पास एक फकीर आया और उसने कहा—"आपके महल में जो वैरागी रहता है उसी ने राजकुमार को मारकर अमुक स्थान में गाड़ दिया है।" उसके बताये हुए स्थान को खुदवाने पर बालक का मृत शरीर मिल गया। जसवन्तजी बालक के मरने के दुःख की उपेक्षा करके इस भावी चिन्ता से व्यग्र हो उठे कि यदि फकीर की बात का प्रचार हो गया तो साधु समाज कलंकित हो जायगा। यह सोचकर उन्होंने उस फकीर को ही पकड़ लिया और कहा कि "तूने ही मेरे पुत्र की हत्या की है और अपने प्राण बचाने के लिए उस साधु का नाम ले रहा है। परन्तु यदि तू जिन्दा रहना चाहता है तो तू अब यह बात किसी से मत कहना और मेरे राज्य की सीमा से आज ही बाहर निकल जा।"

फकीर तो चला गया, किन्तु बात कुछ फैल ही गई। अतः जब यह बात उस ठग को ज्ञात हुई तो उसने समझ लिया कि अब तो बात मेरे सिर पर आ गई। इसलिए वह बालक के गहने लेकर फिर भागा। होनहार की बात थी कि जसवन्तजी उसे रास्ते में फिर मिल गये। वह बहुत ही डर गया और गहने फेंककर भागने लगा। जसवन्तजी हाथ जोड़कर कहने लगे—"सन्तवर! ऐसा मत कीजिये, आभूषणों के साथ कुछ और भी ले लीजिये। आपके प्रति मेरे मन का भाव ज्यों का त्यों बना हुआ है, अतः आप मेरे संग घर चलिये। बालक की आयु विधाता ने इतनी ही लिखी थी। यदि वह आपके हाथ से मर गया है तो उसने तो परमगति प्राप्त कर ली है क्योंकि आप में तथा प्रभु में कोई भेद नहीं है।

इसलिए आप मन का भ्रम दूर करके मेरे संग घर पधारें।" इस प्रकार उस साधु को घर लाकर पहले से भी अधिक सेवा करने लगे। इतना ही नहीं बालक के उन आभूषणों के साथ-साथ एक सौ मुद्रायें और भी भेंट कर दीं, तब तो वह छद्म वेषधारी सन्त बहुत ही लज्जित हुआ। उसकी दुर्बुद्धि नष्ट हो गयी और हृदय में भक्ति का प्रकाश हो गया। वह कहने लगा—"अब मैं कहाँ जाऊँ। आपने मुझे खरीद लिया। अतः मुझे अपना बनाकर अपने चरणों में ही रखिये।" उसके निश्छल और दीन वचन सुनकर जसवन्तजी अपनी स्त्री के पास गये और कहा कि यह साधु मुझे बहुत ही अच्छा लगता है। ऐसा कौन सा उपाय किया जाय कि वह भूल जाय कि "मैंने बालक का वध किया है और जसवन्तजी यह बात याद करके दुःखी होंगे।"

कुछ देर सोचने के बाद दोनों ने यह निश्चय किया कि अपनी कन्या का विवाह इसके साथ कर देने से यह सारी बातें भूल जायगा और हम दोनों भी निश्चिन्त होकर परमार्थ में लग जायेंगे। जसवन्तजी की सच्ची साधु-निष्ठा देखकर प्रभु ने बालक को पुनर्जीवित कर दिया। सबेरे बालक खेलते हुए पहले उस साधु के पास ही आया जिसने उसका बध किया था। उसी समय जसवन्तजी भी बाहर आये और देखा कि बालक उसी साधु के साथ खेल रहा है। जसवन्तजी ने बालक से पूछा कि—"अब तक तू कहाँ था?" बालक ने कहा कि "मैं इन्हीं के साथ खेल रहा था।" फिर जसवन्तजी उसे भीतर ले गये। उसे देखते ही माँ ने उसे गले से लगा लिया और उससे पूछने लगी कि "तू अब तब कहाँ रहा?" किन्तु हँसने के सिवाय उसने कुछ भी नहीं कहा।

ऐसी थी इनकी साधु-निष्ठा जिसने भगवान् को भी मृत बालक को जीवित करने के लिए विवश कर दिया। इस प्रकार जसवन्तजी ने सुत-घातक छद्मवेषी साधु को भी कन्यादान कर उत्कृष्ट साधु-सेवा का आदर्श उपस्थित किया।

जसवंतसिंहजी की भक्तनिष्ठा से सम्बद्ध इस घटना का संकेत करनेवाली नाभाजी की छप्पय संख्या ५१ में निम्नांकित पंक्तियाँ मिलती हैं—

आशै अगाध दुहूँ भक्त कौ हरि तोषन अतिसै कियौ।

• • •

सुत वध हरिजन पेखि कैं दै कन्या आदर दियौ॥

इस छप्पय में नाभाजी ने जसवन्त या सदाव्रती महाजन इन दोनों का नामोल्लेख नहीं किया है। फिर न जाने किस आधार से श्री प्रियादासजी (वि० सं० १७६९) ने जसवन्तजी के जीवन से सम्बन्धित "सुत वध" की उस घटना को, जिसका वर्णन विक्रम सम्वत् १७१० और ३० के लगभग भगवतमुदितजी ने अपनी 'रसिक-अनन्य-माल' में पहले ही कर दिया था—सदाव्रती महाजन नाम की कल्पना कर उनके चरित्र के साथ जोड़ दिया है।

श्या० वि० खं०

जसोदा माई

जसोदा माई अपने नाम के अनुरूप ही वात्सल्यमयी थीं। ये कृष्ण की वत्सल-भाव से उपासना करती थीं। विवाहिता होने के बावजूद परिवार से इन्होंने नाता तोड़ लिया था। वृन्दावन में इन्होंने शरीर त्यागा। इनके पदों में कृष्ण की बाल-लीला का बड़ा सुन्दर वर्णन है। इनका उपस्थितिकाल वि० की बीसवीं शती माना जाता है।

म० गो० भा०

जहाँबल सिंह वैद्य

सागर निवासी जहाँबलसिंह वैद्य दैनिक व्यायसायिक कार्य से निवृत्त होने के बाद अपना शेष समय कृष्णोपासना में लगाते थे। इनका जन्म सम्वत् १९१९ माना जाता है। यद्यपि इनका कोई काव्य संग्रह उपलब्ध नहीं होता, किन्तु इनके नाम से यत्र-तत्र कुछ पद मिलते हैं। इनका एक छन्द नीचे दिया जा रहा है—

नन्दबाबा के रनिया दो तनु लाला उठा ले कनियाँ।
रोवत आवै घुटरू टेक धाये धूर भरे तब तनियाँ।
हाति परे तन झिरी झगुरिया खसक परे करधनियाँ।
गृह कारज में ई काहे लागी कान्ह लेत उचकनियाँ।
दूध दही सालक ले प्यारे छोड़त म्यो न मथनियाँ॥

त्रि० ना० शु०

जाड़ा कृष्णदास जी

जाड़ा कृष्णदासजी का पुष्टिमार्गीय कृष्ण-भक्त कवियों में मूर्धन्य स्थान है। व्रज मण्डल में इन्हें प्रायः सभी 'चाचा' कहते थे। ये विशेष मोटे थे, अतः इन्हें 'जाड़ा' कहा जाता था। राजस्थानी भाषा में 'जाड़ा' मोटे व्यक्ति को कहते हैं। 'जाड़ा चाचा' बड़े चतुर थे। एक दिन गोसाइंजी की परीक्षा लेने आप गोकुल पधारे। इस समय गो० विट्ठलनाथजी श्री नवनीतप्रियजी ठाकुरजी को झूला झुला रहे थे। जाड़ा कृष्णदास ने देखा कि कभी ठाकुरजी को गोसाइंजी झूला झुला रहे हैं और कभी ठाकुरजी गोसाइंजी को झूला झुला रहे हैं। ऐसा दृश्य देखते ही जाड़ा कृष्णदास आश्चर्य चकित हो गये। मन में सन्देह हो गया। इनमें ठाकुरजी कौन हैं? जब श्री गो० विट्ठलनाथजी बाहर पधारे, तब उनके रोम-रोम में श्री नवनीतप्रियजी के दर्शन हुए। यह देखकर जाड़ा कृष्णदास श्री चरणों में प्रणत हो गये। वे रुदन करते हुए बोले, 'राज, मोय शरण में लेउ।' विनती सुनकर गो० विट्ठलनाथजी ने इन्हें अपनी शरण में ले लिया।

जाड़ा कृष्णदासजी क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुए थे। वार्ता में इनके जन्म-स्थान का उल्लेख नहीं हुआ है, परन्तु ये राजस्थानी थे। डॉ० टण्डन ने इनको गुजराती माना है। ये अच्छे विद्वान् थे। पौराणिक, धार्मिक और शास्त्रीय परिसंवादों के माध्यम से संतों-महात्माओं की परीक्षा लेना इनके स्वभाव में बस गया था। एकबार 'जाड़ा चाचा' वृन्दावन पहुँचे और यहाँ रूपसनातनजी से भेंट करके उनसे पूछा कि ठाकुरजी क्या कर रहे हैं? तो रूपसनातनजी ने उत्तर दिया कि 'ठाकुरजी भोजन करें हैं।' यह सुनकर कृष्णदास ने कहा कि 'श्री भगवान् की तो सभी लीलाएँ नित्य हैं। उनकी लीला तो सर्व व्यापक हैं। आप कहते हैं कि ठाकुरजी भोजन करते हैं।' यह सुनकर रूपसनातनजी ने जाड़ा कृष्णदासजी से कहा कि इस प्रकार के दर्शन गो० विट्ठलनाथजी के ठाकुरजी सदैव कराते हैं। यह सुनकर जाड़ा कृष्णदास परम प्रसन्न हुए।

एक समय जाड़ा कृष्णदासजी श्री द्वारकाजी की यात्रा पर जा रहे थे। मार्ग में एक गाँव पड़ा। यहाँ देवी का एक बहुत बड़ा मंदिर था। इस समय नवरात्र चल रहा था। एक मनुष्य देवी-बलिदान के लिए इसी समय एक बकरा लेकर आया। जाड़ा कृष्णदास ने इस आदमी से कहा कि सभी लोग बकरे की बलि देते हैं, कोई सिंह की बलि क्यों नहीं देता? इस पर वह आदमी कहने लगा कि बकरा पकड़ा जा सकता है, सिंह नहीं पकड़ा जा सकता। जाड़ा कृष्णदास को यह बात सहन नहीं हुई और वे जंगल में जाकर घड़ी-दो घड़ी में ही सिंह को पकड़कर ले आये। सिंह को देखकर बलि देने वाले 'जाड़ा चाचा' के चरणों में पड़ने लगे और कुछ भाग गये। जाड़ा कृष्णदास ने उनको उपदेश दिया कि 'जीव हिंसा करना अधर्म है।' वे सभी इनकी बात मानकर बिना बलि दिये ही वापस हो गये। इस घटना से जाड़ा कृष्णदासजी की कीर्ति का व्यापक प्रसार हुआ।

एक दिन जाड़ा कृष्णदासजी की चाचा हरिवंशजी से भेंट हुई। इस समय 'जाड़ा' ने श्री हरिवंशजी से प्रश्न किया कि पुष्टि मार्ग में किन-किन शास्त्रों के वचन प्रामाणिक हैं? तब चाचा हरिवंशजी ने बताया कि वेद, श्रीकृष्ण वाक्य (गीता), व्याससूत्र और श्रीमद्भागवत प्रमुख हैं।

इस प्रकार प्रकट होता है कि ये विवेकवान एवं विचारवान महात्मा थे। ये जीवन पर्यन्त गोपालपुर में श्रीनाथजी की सेवा में सतत संलग्न रहे। इन्होंने

श्रीकृष्ण लीला के अनेक पद बनाये । इन्द्रकोप, रासपञ्चाध्यायी, माधव-रुक्मिणी-केलि, भोजन के पद (स्फुट) आदि इनकी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं।

इनके द्वारा विरचित होली क्रीड़ा का अभिराम दृश्य इस पद में बड़े सुन्दर ढंग से व्यंजित हुआ है—

खेलें फाग यमुना तट नंद कुमार ।
द्रुम मोरे विपिन अठार भार ॥

हलधर गिरिधर ग्वाल संग ।
मिलि भरत परस्पर करत रंग ॥

बाजे मिरदंग उपंग चंग ।
राजे सुन्दर विचित्र अंग ॥

ताल मुरज उपंग ढोल ।
बहु वंदन उड़त गुलाल रोल ॥

वास लुबध आये मधुप टोल ।
तेऊ भरुन भये अलिवर निचोल ॥

बहुरि मधुप गये अपने ठाँय ।
भरतान पर भमरी नहिं पत्याय ।
तुम राते भये पति कौन भाय ॥

कोऊ कपट रूप मति बैठो आय ।
खटपद कहे तुम भूली बाल ।
जहाँ धरा गिरि अम्बर भयो लाल ।
तहाँ ऋतु बसंत बिहरत गुपाल ॥

जाड़ा कृष्ण को प्रभु मोहन लाल ।

'ग्वालिन' के पदों में एक पद द्रष्टव्य है—

मनो ब्रज ते करिणी चली मदमाती हो ।
गिरिधर गज पै जाइ, ग्वालि मद माती हो ।
कुल अकुंस माने नहीं, मदमाती हो,
शृंखल वेद तुराइ ग्वालि मदमाती हो ॥

वृन्दावन विपिन फिरै मदमाती हो,
निरभै संक मानै नहीं मदमाती हो ॥

सिंघ मदन दल ठाल, ग्वालि मदमाती हो,
करति तरुनि जल केलि ग्वालि मदमाती हो ।
अवगाहें जमुना नदी मदमाती हो,
करति मदन मन केलि ग्वालि मदमाती हो ॥

सब मिलि छिरके स्याम कौ, मदमाती हो,
सुंड दण्ड भुजा पेलि, ग्वालि मदमाती हो ॥

कुचनि कुंभ-स्थल उर परे मदमाती हो,
मुक्ताहार सुहाइ ग्वालि मदमाती हो ॥

मानो जुग गिरि बिच सुरसरी मदमाती हो,
नागबेलि चरती फिरे मदमाती हो ॥

आदिक मध्य कपूर ग्वालि मदमाती हो,
मंडति माँग सेंदुर ग्वालि मदमाती हो ॥

घूमति गर बहियाँ गहे, मदमाती हो,
मर्नहिं महावत पेलिके मदमाती हो ॥

देत सुरतिसुख दान, ग्वालि मदमाती हो ।
किंकिन नूपुर बाजहीं मदमाती हो ॥

घूघुंरु घंट समान ग्वालि मदमाती हो ।
मानहु करि करिनी मिली, मदमाती हो ।
केलि कलाहि निधान ग्वालि मदमाती हो ॥

वैरख पट अंचल उड़ै मदमाती हो,
घनदामिनि उनधर, ग्वालि मदमाती हो ॥

कृष्ण जाड़ा क्रीड़ा करे मदमाती हो ।
ब्रजपति ब्रज की नारि ग्वालि मदमाती हो ॥

श्री जाड़ा कृष्णदास की प्रसिद्धि, जहाँ कृष्ण भक्त कवियों में थी, वहीं ये पण्डितों के मण्डल में भी ख्याति प्राप्त थे । भक्तमाल में छप्पय की अधोलिखित पंक्तियाँ उनकी यशोमयी गाथा व्यक्त करती हैं—

"जाड़ा हरन जग जड़ता, कृष्णदास देह धरी ।
चालक चरचरी चहूँ दिसि,
उदधि अंत लौ अनुसरी ॥"

रा० कृ० श०

जादवराय

श्री जादव राय का जन्म मुअज्जमाबाद (रेवाड़ो) निवासी श्री जीवन राम भार्गव के यहाँ हुआ था।

ये संस्कृत तथा फारसी के प्रकाण्ड पंडित थे। इनको श्री कृष्ण से बचपन से ही लगन थी, जो इन्हें मथुरा खींच लाई। ये वहाँ गऊघाट पर किराये का मकान लेकर रहने लगे। ये नित्य 'गीता' का पाठ करने के उपरान्त ही अन्न-जल ग्रहण करते थे। इन्होंने महाभारत का फारसी में अनुवाद किया। इसका रचना काल वैशाख सुदी २ संवत् १८६० दिया है। इन्होंने दूसरी पुस्तक 'ज्ञानमाला' लिखी। इसका रचनाकाल चैत्र सुदी १० संवत् १८६० है। अन्तिम समय में ये कई-कई दिनों तक भजन-नृत्य किया करते थे। उस समय इन्हें अपने तन की सुध नहीं रहती थी। एक दिन मथुरा में भगवान् की सेवा में नृत्य करते हुए ये नटनागर की दिव्य लीला में प्रविष्ट हो गए।

म० गो० भा०

जादौ रसिक

जादौ रसिक की रसिकोपासना का परिचय 'रसिक-अनन्य-परचावली' तथा 'भक्तगाथा' नामक दोनों ग्रन्थों में मिलता है। दोनों पद यहाँ उद्धृत हैं—

गुज्जर घर जिहि बास,
संत सेवा अनुरागो।
सुनत गिरा ध्रुवदास,
सुरत वृन्दावन लागो ।।

जाँति पाँति कुल छाँड़ि,
वास रुचि कानन कीयौ।
विधि निषेध परिहरचौ,
चित्त हित चरननि दीयौ ।।

राधा सु धाम त्याग्यौ जु तन,
यह अलभ लाभ पायौ जगत ।।

हित धर्म बढचौ विस्वास दृढ़,
धनि धन्य जन्म जादौं भगत।

—रसिक-अनन्य-परचावली

सुनत कथा ध्रुवदास रसिकता उर में धारी।
छाँड़ि लोक कुल कान आनि वन भूमि निहारी ।।
संतन की सेवा अधिक परमारथ की देह।
जुगल महल की भावना वास नंद पद नेह ।।
अति अनन्य व्रत धारि हिय भीठा जी हित गति लये।
गुज्जर घर सागर विमल रत्न भक्त जादौं भये ।।

—भक्त गाथा

श्री जादौ भक्त का जन्म गुजरात प्रान्त के किसी नगर में हुआ था। इन्होंने कभी राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अन्यतम रसिक श्री हित ध्रुवदासजी की जीवन-कथा सुनी। इसी संदर्भ में उन्होंने यह भी सुना—'वाणी हित ध्रुवदास की सुनि जोरी मुसिकात।' अब इनका हृदय छटपटाने लगा, उस वाणी को देखने के लिए, जिसे सुनकर श्री हित ललना-लाल पुलकित हो उठते हैं। खोज करने पर इन्हें वह वाणी प्राप्त हो गयी। वाणी में वर्णित 'श्री वृन्दावन सत लीला' ने इन पर ऐसा प्रभाव डाला कि जाँति-पाँति, कुल और स्वजन सनेहियों से इनका चित्त सदा के लिए उपरत हो गया और इन सबको तिलाञ्जलि देकर ये वृन्दावन की ओर चल पड़े। वृन्दावन में उस समय गुर्जर प्रान्त के ही पूर्व निवासी भक्त भीठाजी अपने रसिक आचरणों और सरल प्रवचनों द्वारा रसिकजनों को आत्मतोष प्रदान किया करते थे। इन्होंने भी उनका प्रवचन सुना और इस विश्वास के साथ कि मुझे वृन्दावन की अमूल्य-निधि इन्हीं से प्राप्त होगी, ये उनके चरणाश्रित हो गये।

भीठाजी जैसे परम विरक्त गुरुवर की कृपा से इनका मन प्रकृतितः ऐहिक सुखों से विरत हो गया और रत हो गया तन-मन से संत सेवा में। अनेक जन्मों से मन में जिन विधि-निषेधों का संस्कार बना ही रहता है, जिनका छोड़ना अत्यन्त दुष्कर होता है—श्री हरिवंशोदित रसोपासना में सन्निष्ठ होते ही ये विधि-निषेध इनके मन से ही सर्वथा विलग हो गये और हित-धर्म के प्रति इनकी कायिक, वाचिक और मानसिक अनन्यता दृढ़ हो गई है—

श्री हित ध्रुव वाणी में जिस लीलामय रूप और रूपमयी लीलाओं का वर्णन है—उन लीलाओं की

भावना में अब इनका मन तल्लीन रहने लगा। इस रसोपासना के प्रादुर्भावक एवं वृन्दावन-रस के एकमात्र प्रदाता आचार्य गो० श्री हित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु के श्री चरणों में इनकी अगाध प्रीति थी। ये उनका प्रागट्य महोत्सव श्री हित रासमण्डल पर गाढ़ी लगन, अद्भुत चाव और अनूठे समारोह के साथ किया करते थे, जिसका वर्णन गो० चन्द्रलालजी ने इस प्रकार किया है—

माधौ मास जन्म उत्सव करैं जादौं भक्त,
दिन दिन चौगुने ही चाव सरसात हैं।
हित परिकर श्री किशोरी लाल चाव लावैं,
गावैं हरषावैं पुष्प वृष्टि बरसात हैं॥

इततें रसिक श्री वंशीधर आदि सम्मुख,
जावैं गावैं नार्च मोद उमगात है।
यह सुख कहिबे कौं करत ढिटाई,
देखो सप्त सिन्धु कहूँ खग चोंच में समात है॥

—वृन्दावन प्रकाशमाला

श्री हित ध्रुव वाणी से प्राप्त जिस वृन्दावन निष्ठा के साथ इनका अभिनव रसिक जीवन प्रारम्भ हुआ था उसका चरम आदर्श रूप उस समय दिखाई दिया जब इन्होंने सभी कामनाओं का परित्याग करके एक मात्र इष्ट साक्षात्कार का निश्चय करके निकुंजेश्वरी के द्वार पर आसन जमाया। इष्ट सम्मिलन की मधुर प्रतीक्षा म एक वर्ष इन्होंने किस प्रकार व्यतीत किया इसे तो वे ही जानें, हाँ इतना सबने देखा कि एक दिन उनकी वृन्दावन-निष्ठा की बहुत ही कठिन परीक्षा हुई और ये पूर्ण रूप से सफल भी हुए जिसका वर्णन चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी न बड़े ही मार्मिक शब्दों में इस प्रकार किया है—

पूरौ वैराग त्याग देह अंत रह्यौ अचल,
धन्य जादौ दास गहो सुदृढ़ वन थली है।
चाहना के बीज इष्ट प्रापति आँच जारि,
डारे एक आसन बैठि कैं बिताई वर्ष भली है॥
तन हू कौं आनि कैं मलेच्छन जब पीड़ा दई,
बार बार यहो रज अंगन लै मली है।
वृन्दावन हित रूप धन्य ऐसे साधुजन,
जिनके भजन की कहानी जग चली है॥

—हरिकला बेली

जिस यवनोत्पात में जादौ रसिक निकुंजगामी हुए थे उस घटना का काल सं० १८१३ है। इस आधार पर इनका विद्यमान काल सं० १८१३ तक सुनिश्चित ही है।

श्या० वि० ख०

जियालाल त्रिपाठी

त्रिपाठीजी रामकोट (सीतापुर जनपद) के निवासी थे। यह ग्राम मिश्रित (मिसरिख) तीर्थ के उत्तर में स्थित है। इनका जन्म सं० १९२० वि० के आसपास तथा निधन अनुमानतः १९७०-७१ वि० में हुआ। त्रिपाठीजी संस्कृत के पण्डित थे। इस पाण्डित्य के दर्शन इनके समग्र साहित्य में होते हैं।

इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु केवल पाँच ही उपलब्ध हैं—'नासिकेतोपाख्यानभाषा', 'भक्ताम्बुनिधि', 'कर्तव्याकर्तव्य प्रकाशिनी,' 'नन्दमहोत्सवार्णव' तथा 'भजनावली।' इनमें से अन्तिम दो कृष्ण-विषयक हैं। 'नन्दमहोत्सवार्णव' में भगवान् कृष्ण के जन्म-सम्बन्धी उन उत्सवों का वर्णन है, जो व्रज में सम्पन्न हुए थे। ऐसे उत्सवों में घरेलू संस्कारों के अतिरिक्त 'दधि-काँदव' का विस्तृत वर्णन है। यह वर्णन अनेक छन्दों में है। उनमें से एक प्रस्तुत है। इसमें चित्रित हर्षोल्लास का वातावरण दर्शनीय है—

केतकि केतक और गुलाबहु,
तैल सुगन्ध धरे घट न्यारे।
नीर सुगंध भरे घट भाँतिन,
रंग अनेक सुजाति न प्यारे॥

लागो सबै उलचैं कुलचैं सुलचैं,
अंग मोरि अनन्द अपारे।
भारी तबै उमड़्यो दधि काँदव,
भादव तोय समान पनारे॥

भक्त कवि ने व्रज की साज-सज्जा का विस्तृत वर्णन किया है। निम्नलिखित पंक्तियों में नन्द-भवन की शोभा द्रष्टव्य हैं—

आलय नन्द के आँगन जो शुभ,
सोहत है वह मोल मणीन सों।
केरन खंभ हैं चारहु ओर,
औ बंदनवार जड़ाई कणीन सों।
ऊपर ताने चँदोवा जरीन के,
मोतिन झालरि दीरघ खीन सों।
ता अध बेदी रची अति सुन्दर,
मंगल साज सजाये प्रतीन सों।

'भजनावली' में स्फुट भजन हैं। ये भजन गीति-काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। नमूने के रूप में एक पद प्रस्तुत है—

राखौ नाथ लाज अब मेरी।
द्रुपद सुता कुरुराज सभा में भर दुस्सासन घेरी।
विनय सुनत अम्बर वपु हरि किये,
कीन्हों नेक न देरी।
खैंचत चीर दुसासन हारो,
करि करि युक्ति घनेरी।
'जियालाल' ताको का डर है,
जा शिर हरि कर फेरी।

ग० द० सा०

जीवणदास

चरणदासी-सम्प्रदाय में एक ही काल-खंड में दो प्रसिद्ध जीवणदास हुए हैं। इनमें से आलोच्य जीवणदास जहाँ आत्माराम इकंगीजी के पिता थे वहीं दूसरे जीवणदास इकंगीजी के शिष्य थे और जयपुर में निवास करते थे। इन जीवणदास की प्राप्त बानियाँ अधिकांशतः निर्गुण शैली की हैं।

जीवणदासजी संत चरणदासजी के शिष्य थे। इन्होंने सपरिवार चरणदासजी का शिष्यत्व ग्रहण किया था। इनका जन्म सं० १७७५ वि० के आसपास दिल्ली के घास की मंडी नामक मुहल्ले में भार्गव कुल में हुआ था। सहजोबाईजी (चरणदासजी की शिष्या) श्री नन्दराम (चरणदासजी के प्रथम शिष्य) और जीवणदासजी परस्पर संबंधी थे। स्वयं चरणदासजी के परिवार से भी ये संबद्ध थे। इसी नाते से चरणदासजी योगसिद्ध एवं प्रसिद्ध महात्मा होने के बाद भी यथावसर इन तीनों के घर आते-जाते थे। उनकी सिद्धियों से प्रभावित होकर सर्वप्रथम जीवणदासजी के सुपुत्र श्री आत्माराम (आतमराम इकंगी) ने चरणदासजी का शिष्यत्व ग्रहण किया था। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार सं० १८२६ वि० में २३ वर्ष की अवस्था में आत्मारामजी ने चरणदासजी से गुरुदीक्षा प्राप्त की थी। इसके अनन्तर सं० १८२८ या १८२९ वि० में जीवणदासजी ने चरणदासजी से विरक्त शिष्य-बाना धारण किया था। श्री जीवणदास की पौत्री (श्री आत्माराम इकंगी की पुत्री) सुश्री नूपी बाई भी संत चरणदास की शिष्या थीं। यह भी उल्लेख मिलता है कि जीवणदासजी की पत्नी ने भी पति के साथ ही विरक्त-बाना धारण कर लिया था।

जीवणदासजी की गणना दिल्ली के संभ्रान्त नागरिकों में थी और दूसरवंशीय भार्गवों में तो ये एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माने ही जाते थे। ये प्रकृत्या सात्विक वृत्ति एवं अतिथि-साधु-गुरुसेवी सद्गृहस्थ थे। इनके यहाँ चरणदासजी और उनके शिष्यों का पर्याप्त समादर होता था। यह उनके भजनानन्दी स्वभाव का ही परिणाम था कि उनका पूरा परिवार चरणदासजी का शिष्य हो गया। जीवणदासजी के पुत्र श्री आतमराम इकंगी ने जयपुर के बारह गनगौर नामक स्थान में अपने आश्रम की स्थापना की थी, जिसे 'आतमकुञ्ज' के नाम से ख्याति मिली। आगे चलकर आत्मारामजी के दो-तीन और स्थान जयपुर-नगर में निर्मित हुए। उनकी शिष्य-परम्परा में पचीस-तीस अच्छे भक्त कवि हुए। आत्माराम जी की पुत्री सुश्री नूपी बाई भी उच्चकोटि की कवयित्री हुई हैं।

जीवणदासजी, उनके पुत्र आत्मारामजी तथा पौत्री नूपी बाई ने चरणदासजी का शिष्यत्व ग्रहण कर तीन पीढ़ियों को एक ही कोटि में रखने का अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत किया। एक अर्थ में ये तीनों गुरुभाई-बहन हो गये। इस प्रकार जीवणदासजी ने अपनी उदात्तता का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। ये कितने पहुँचे हुए साधक थे और ये क्या थे, इस पर प्रकाश डालते हुए चरणदासजी के प्रवुद्ध शिष्य, जीवणदासजी के गुरुभाई और चरणदासी सम्प्रदाय के इतिहास के रचयिता श्री जोगजीतजी कहते हैं—

पूरे संत भये सुख दाये।
ग्यान ध्यान सब गुरु समझाये॥
महाराज के आज्ञाकारी।
तारन तरन भये अधिकारी॥

• • •

जग जंजालहिं त्याग के, संत भये सुख चैन।
जोगजीत सुमिरा करैं, गुरु गोविंद दिन रैन॥

—लीला-सागर, पृ० ३०६

अपने गुरु श्री चरणदास के जीवनकाल तक (सं० १८३९ वि० तक) तो जीवणदासजी दिल्ली में ही रहे, परन्तु उसके पश्चात् ये अपने गुरुभाई श्री सबगत राम (प्रथम) के साथ दिल्ली के निकटस्थ बाभनौली ग्राम (जिला–मेरठ) के एक बगीचे में आश्रम बनाकर सत्संग, भजन और प्रवचनादि में कालक्षेप करते रहे। यह ग्राम सबगतराम जी का जन्म स्थान था। अतः इन दोनों महात्माओं का वहाँ बड़ा आदरपूर्ण स्थान था। जीवणदासजी के जीवनकाल तक (सं० १८५० वि० तक) आतमराम इकंगी और सुश्री नूपी बाई का भी जयपुर से बाभनौली आना-जाना होता रहता था, परन्तु जीवणदासजी की इहलीला समाप्ति के बाद सबगतरामजी ने बाभनौली का स्थान छोड़कर मेरठ नगर के ही पाड़ामल का बाड़ा नामक मुहल्ले में स्थान निर्मित कर लिया और वहीं रहकर धर्मप्रचार में लगे रहे।

जब तक जीवणदासजी बाभनौली में रहे, वहाँ चरणदासी संतों तथा अन्य सम्प्रदायों के साधुओं और सत्संग-प्रेमियों की भीड़ बनी रही क्योंकि वे एक अच्छे कवि और पहुँचे हुए संत थे। समृद्धि की भी कोई कमी नहीं थी। उनके आश्रम में भजन-कीर्तन, यज्ञ-याग आदि का क्रम चलता रहता था। आरंभ में एक संपन्न सद्‌गृहस्थ एवं आगे चलकर एक सिद्ध साधक के रूप में ख्यात जीवणदासजी का कवि-व्यक्तित्व एक मस्तमौला व्यक्ति के रूप में उन्हें प्रस्तुत करता है। संत कवियों के समान वे एक शूरमा साधक थे, इस तथ्य पर उनकी निम्न पंक्तियाँ बहुत अच्छा प्रकाश डाल रही हैं—

(१)

(राग अलहिया)

हम तो स्याम नाम के सूरे।
सस्तर बाँध नगर में पैठे, हाथ धरचो गुरु पूरे॥

पाँच मवासी पहिलै बाँधे, पाछे दुख सुख दोऊ।
खोट कपट का फाटक तोरा, और पचीसो सोऊ॥

जत सत का हम बख्तर पहरचा, सील छिमा का तोड़ा।
सुरति निरति के घोड़े चढ़िया, काम क्रोध दोउ मोड़ा॥

सतगुरु सबदी तेग लगाई, सत का टोप बनाया।
धीरज ढाल गही जब करमें, तब गढ़ भीतर धाया॥

साहेब श्यामचरण पग गहिया, जिनके हैं हम चाकर।
जीवणदास जान जन अपनो, दीनी भक्ति कृपा कर॥

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जहाँ आत्माराम इकंगी और उनके शिष्य-प्रशिष्य वर्ग के कवियों का साहित्य व्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है, वहीं इनके पिता श्री जीवणदासजी की बानियाँ अप्राप्त हैं। आत्मारामजी के शिष्य लक्षिदासजी, मानदासजी और उनके प्रशिष्य जैदासजी ने आजीवन बानी संग्रह, लेखन और उनकी सुरक्षा की उत्तम व्यवस्था में अपना योगदान किया, वहीं उन्होंने जीवणदासजी की वाणियों की कोई सुरक्षा नहीं की। संप्रति

जीवणदासजी की मात्र १०-१२ बानियाँ चरणदासी संप्रदाय के विभिन्न वाणी संग्रहों में स्फुट रूप से संकलित हो पाई हैं, परन्तु इतनी कम वाणियों के आधार पर इनके कविरूप पर इदमित्थम् कह पाना कठिन है।

बाभनौली में इनके द्वारा निर्मित श्री युगलविहारीजी का मन्दिर चरणदासी-संप्रदाय के संपन्न मन्दिरों में से एक गिना जाता है। जैसा कि जोगजीत जी ने इनके विषय में संकेत किया है, ये श्री राधागोविन्द के भजन और उनकी मानसी उपासना में लीन रहने वाले महात्मा थे।

श्या० सु० शु०

जीवनदास क्षत्री

जीवनदासजी क्षत्री श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य के सेवकों में अग्रगण्य थे। जैसा कि इनके नाम से ही विदित है, ये क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे। इनका जन्म दिल्ली के पास सिहनद नामक गाँव में विक्रम संवत् पन्द्रह सौ के बाद हुआ था। इनके पिता बहुत गरीब थे। अतः वे गाँव छोड़कर दिल्ली में दलाली का काम करने चले गये थे। आपके परिवारीय जनों में माता-पिता एवं पत्नी की चर्चा विभिन्न वार्ताओं में हुई है। इससे सिद्ध होता है कि ये गृहस्थ थे। जीवनदासजो अपने पिता के साथ दिल्ली में ही रहा करते थे। वहाँ इनको एक बहुत बुरा रोग लग गया था। ये पिता से नजर बचाकर वेश्याओं के नाच में काफी पैसा उड़ाते थे। पिता को इनकी इस कुप्रवृत्ति का जब पता चला, तो उन्होंने इन्हें ताड़ना दी और दो सौ रुपये देकर सिहनद को रवाना कर दिया। पिता के कहने पर जीवनदास घर को चल दिए, लेकिन रास्ते में उसी जोश के कारण आगरा आने वाले वेश्या-दल में मिल गये और आगरा आकर कपड़े की दलाली करने लगे।

एक दिन इनको सौ रुपये का नुकसान हुआ। इनकी कपड़ों की गठरी ठगों ने उड़ा ली। इस पर दुकानदार ने इन्हें कारागृह में डलवा दिया। दैवी प्रेरणा से इन्होंने कारागृह के कर्मचारियों से यमुना स्नान की इच्छा प्रगट की और जब ये यमुनाजी में स्नान करके बाहर निकल रहे थे, तो इनकी दृष्टि अचानक आचार्य महाप्रभुजी पर पड़ी और ये श्री आचार्यजी के चरणों में गिर पड़े। महाप्रभुजी करुणामय तो थे ही, उन्होंने अपने वात्सल्य द्वारा, इन्हें दुकानदार को सौ रुपए देकर कारागृह से मुक्त करा दिया और अनेक प्रार्थनाओं के बाद जीवनदास को श्री आचार्यजी ने अपनी शरण में ले लिया। विक्रम संवत् १५८७ में इन्हें महाप्रभुजी ने दीक्षा देकर नाम श्रवण कराया था।

जीवनदासजी परम वैष्णव भक्त थे। इस बात का प्रमाण वार्त्ता प्रसंग की एक घटना में मिलता है। एक बार गाँव सिहनद से जीवनदासजी के साथ अनेक वैष्णव श्री महाप्रभुजी के दर्शनों के लिए अड़ैल की यात्रा कर रहे थे, उस समय मार्ग में विश्राम हेतु सभी वैष्णव एक स्थान पर रुके और अपना-अपना चौका लगाकर रसोई बनाने लगे। इसी समय गर्जना करते हुए, बादल आ गए और वर्षा होने लगी। तब सभी वैष्णव कहने लगे 'आज रसोई होना कठिन है।' उस समय जीवनदासजी ने बड़ी निष्ठा और भक्ति में भरकर कहा, "तुम कोई चिन्ता मत करो।" भक्त जीवनदास बादलों की ओर देखकर, आवेश में भरकर बोले—'अरे बादल! तुझे श्री आचार्यजी की आन है, जो तू अब वर्षा करे'। इतना कहना था कि धीरे-धीरे बादल छँट गये और वर्षा रुक गयी। इस घटना से भक्त हृदय की अगाध आस्था और दृढ़ विश्वास पुष्ट होता है।

जीवनदास सत्-प्रतिज्ञ वैष्णव थे। पुष्टिमार्गीय भावना एवं सिद्धान्त के अनुरूप चलकर साम्प्रदायिक मर्यादा का पालन करने में आपका कोई सानी नहीं था। जब आचार्यजी के साथ, ये अड़ैल से आगरे आए और आगरे से लौटकर थानेश्वर गए, तो इनके पिता को इनके साधु होने का पता चला और खबर

पाकर वे इन्हें बुलाने आये, उस समय जीवनदास ने अपने पिता से कहा, "तुम घर जाकर मेरी स्त्री तथा माता को यहाँ ले आओ। जब तुम सभी श्री आचार्य-जी के सेवक बनोगे, तब मैं घर चलूँगा।" अन्त में ऐसा ही हुआ। इस तथ्य से साम्प्रदायिक निष्ठा और समर्पण भावना का पुनीत-भाव व्यक्त होता है।

जीवनदासजी द्वारा रचित निम्नांकित पंक्तियों में गोस्वामी विट्ठलनाथजी के प्रताप और यश का आँखों-कानों से देखा-सुना वृत्त मिलता है—

मो मन प्रीति रस रीति निरंतर एक टक लौ लाई।
श्रीविट्ठलनाथ प्रताप चहुँ जुग, मूल श्री जीवन पाई॥

श्री जीवनदासजी को साम्प्रदायिक ग्रंथों में भले ही कवि न बताया गया हो, परन्तु इनके अनेक पदों से यह प्रमाणित होता है कि ये परम भक्त थे। सिद्धान्ततः भक्त होना ही अधिक श्रेयस्कर है। कतिपय महत्वपूर्ण पदों का अध्ययन इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि इनका भावजगत् अधिक विकसित था।

आचार्य वल्लभ का दर्शन करने पर इनके दैहिक, दैविक एवं भौतिक ताप नष्ट हो गये थे। इस बात का प्रमाण निम्नांकित पंक्तियों में प्रस्तुत है—

श्री वल्लभ चरन चित लाग्यौ।
देखत तन त्रय ताप जु भाग्यौं॥

आचार्य वल्लभ की वन्दना में ये गाते हैं—

श्री वल्लभ पद कमल केवल काहु न मन में आनों।
निसिदिन श्री वल्लभ के रूप गुन बखानों॥

जे अन्य सेवक जन तिन्हें नहीं पहचानों।
तन मन धन जीवन दें श्री वल्लभ हाथ बिकानो।
अब तो गति और नाहिने चरन कमल लिपटानो॥

आचार्य वल्लभ की वन्दना में जीवनदासजी ने अनेक पद लिखे हैं। इनके कुछ पद लीला सम्बन्धी भी हैं।

रा० कृ० श०

जीवनधन

जीवनधनजी का जीवन-परिचय अज्ञात है। इनकी एक कृति 'सुरतान्त-लीला' लिपिकाल सं० १८४० की प्राप्त हुई है। इसमें राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला, विशेष रूप से स्नान, शृंगार, रूप-वर्णन, भोजन, कुंज-क्रीड़ा आदि का वर्णन है। इसकी भाषा व्रज है और मुख्य रूप से दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। यहाँ कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१)

अति ही सुठौनौ मृदु सुंदर सलौनौं सखी,
कहाँ लौं बखानौं छबि दंपति रसाल की।
भृकुटी मटक पट पीरे को चटक चारु
मुकट, लटक आछो लटकनि लाल की।
कुंडल कपोलनि कलोलनि सलोल छबि,
दलमल निकाम दुति हाल बनमाल की।
भाइन भरी है मनभावन छबीली,
ऊठि बनी मेरी आँखिन में आवनि गुपाल की॥

(२)

करि अंचल गहि छोर हरषि असीसैं देति सखि।
मन भावन चित चोर हुलसौ विलसौ सुख सदा॥

लाड भरे भागनि भरे रंग भरे चितचोर।
"जीवनधन" नव लाडिले दंपति अवचल जोरि॥

वा० सि०

जीवन मस्ताना

प्रणामी सम्प्रदाय के लोक विश्रुत सन्त जीवन मस्ताना का जन्म उत्तर प्रदेश के हरदोई जिले के रहसो नामक ग्राम में हुआ था। इनकी जन्म तिथि अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी है। इनका रचनाकाल सं० १७५१ में बताया गया है, जिसके आधार पर इनका जन्म विक्रम की अठारहवीं शती के प्रथम चरण में माना जा सकता है। ये जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

इनके जीवन से सम्बन्धित अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ कही जाती हैं। प्रसिद्धि है कि एक बार ये लखनऊ शहर से कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक सुन्दर जलाशय मिला। उत्तम स्थान देखकर ये वहाँ भाँग पीसने लगे। चौकीदार ने मना किया, किन्तु ये माने नहीं। जब चौकीदार डाँटने-फटकारने लगा, तब ये अप्रसन्न होकर भाँग सहित सारा सामान जलाशय में फेंक कर वहाँ से चल पड़े। चौकीदार ने देखा कि जलाशय का सारा पानी भाँग के रंग का हो गया है। उसने यह वृत्त नवाब को सुनाया। नवाब ने जीवन मस्ताना को ढुँढ़वाकर बुलवाया और उनसे क्षमा-याचना की। मस्ताना ने कहा—'जा, रंग तो रहेगा पर नशा उतर जायेगा।' कहते हैं, आज भी उस जलाशय का रंग भाँग जैसा है।

जीवन मस्ताना अपनी 'पंचक दहाई' नामक एक मात्र रचना के लिए प्रणामी सम्प्रदाय में बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके पंचकों में अनुभूति की गहराई और भाषा की सहजता का मणि-कांचन योग हुआ है। राधा-कृष्ण के प्रति इनकी प्रेमा-भक्ति का परिचय देने वाले 'पंचक-प्रकाश' की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

"जीवन मस्ताने" ध्यान लगावे,
सामलिया सुलताने से।
मुरली मधुर बजावत,
सुन्दर शब्द सुनावत ताने से॥

लिए दोहनी गौओं की
ब्रज घर घर फिरा गुमाने से।
दधि खाई दधि बासन फोरे,
सब में रहा सयाने से॥

कालिन्दी के कौल मूल में,
सब अटकाये दाने से।
कोई खलफत जान न पावे,
काम परा भगवाने से॥

आपइ मेहर करै तौ छेड़े,
डरत न राजा राने से।
सबै पुकारा जाय कंस को,
उठि के इस अभिमाने से॥

अब न रहों नगरी तेरी मैं,
अजलत हो इस दाने से।
पैदा हुआ नन्द के कोई,
जुलुम किया ते जाने से॥

कहा कंस ने पकरि मगावे,
तुम सब सोई साने से।
जरा जरा के जीव जीवे,
कर सब पर परसाने से॥

होते पुत्र मुलक के जेते,
टोढी फेरो अदल इमाने से।

रा० प्र० त्रि०

जीवनराम

जीवनरामजी अभेद-भावना के भक्त थे। ये राम तथा कृष्ण दोनों में समान रूप से आस्था रखते थे। निम्नांकित पद से इनकी यह भावना स्पष्ट हो जाती है।

सबरी आँगन इन कुबरी के मौन गौन,
दीनबन्धु सील सिन्धु चरन मनाइए।
परम धाम राम स्यामरूप कृष्ण नाम
राम एही रघुनाथ द्वैत भावनो मिटाइए॥

ये सन् १७६१ से सन् १७७६ तक मिथिला के शासक थे। इनकी पुस्तक का नाम है—राधागोविन्द-संगीत-सार। इसमें राधा कृष्ण के सौन्दर्य और प्रणय-क्रीड़ा का वर्णन है।

अ० अ०

जीवनलाल

जीवनलाल जो बूंदी (राजस्थान) निवासी नागर-ब्राह्मण थे। इनका जन्म वि० सं० १८७० में हुआ था। ये तुलाराम के पुत्र और बूंदी-राज्य के प्रधान मंत्री थे। अपनी कर्तव्य-परायणता तथा

ईमानदारी से इन्होंने बूँदी की अविस्मरणीय सेवाएँ कीं। अपूर्व कर्तव्यनिष्ठा के कारण इन्हें बूँदी नरेश द्वारा ताजीम, कटार, हाथी आदि प्रदान कर सम्मानित किया गया था।

ये फारसी, हिन्दी तथा संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनकी रचनाओं में 'कृष्ण-खण्ड', 'उषाहरण', 'दुर्गा-चरित्र', 'भागवत-भाषा', 'रामायण', 'गंगा-शतक', 'अवतारमाला' और 'संहिता-भाष्य' प्रसिद्ध हैं। कृष्ण-खण्ड का प्रणयन कवि ने सोलह वर्ष की अवस्था मे किया था। इस ग्रन्थ में बारह हजार छंद हैं। अपनी भक्ति-रचनाओं में इन्होंने भक्ति और श्रृंगार का सुन्दर समन्वय किया है। मधुर-भाषा-शैली में भक्ति-भावों का प्रकाशन जीवन लाल के काव्य की अपनी विशेषता है। नमूने के रूप में एक छंद देखिए—

निरखि निरखि नैन सुनि सुनि गान बैन,
हरखि हरखि मैन सैन रचिबौ करैं।
फिरि फिरि फेरि लै लै इत उत आतु जातु,
उठि उठि बैठि बैठि अति पचिबौं करैं॥

सुनहु सुजान प्यारी आँखे अनियारी बारी,
रोकैहू कहाँ लगि यों तापैं बचिबौं करैं।
उमगि अनंग राग-रंग मधु भृंग भयो,
तेरे संग संग मन मेरो नचिबौ करैं॥

कुशल प्रबन्धक और अपने युग के प्रसिद्ध कवि जीवनलाल का देहावसान वि० सं० १९२६ में हुआ था।

ज० सिं० परि०

जीवाभाई खत्री

श्री जीवाभाई खत्री का संक्षिप्त विवरण 'भक्त-गाथा' में मिलता है। सम्बद्ध छप्पय उद्धृत किया जा रहा है—

खत्री कुल कौ जन्म बास सूरत सुखदाई।
श्री वृन्दावन निधि लई दई निधि जीवाभाई॥

रस अनन्य व्रत धार भावना हृदय प्रकासी।
दम्पति रस करि पान काल कलि को भय नासी॥

श्री व्रजपति सुत के तनय प्रेम गुरु सींच्यौ हियौ।
पद व्यासनन्द अरविन्द रस आपुन लियौ मोकौं दियौ॥

इनका जन्म गुजरात प्रदेश के सूरत नगर निवासी किसी खत्री परिवार में हुआ था। इन्होंने श्री हित धर्म की दीक्षा गो० कृष्णचन्द्र वंशीय गो० व्रजपति के पौत्र गो० प्रेमपति से प्राप्त की थी। इन्होंने वृन्दावन आने पर अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अपने इष्ट के श्री चरणों में समर्पित कर दी थी। इस समर्पण से रीझकर गुरुवर ने इन्हें वृंदाविपिन विलासी श्री हित दम्पति रूपी अलभ्य निधि प्रदान कर दी थी।

वृन्दावन आगमन काल में इनकी आयु लगभग ३०-४० वर्ष की थी; जिस आयु में कलिकाल के काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि दूत भजन में बाधक हो ही जाते हैं; परन्तु गुरुवर की कृपा से इन सबकी एक न चली और ये इनसे निर्भय होकर श्री हित दम्पति की भजन-भावना में अहर्निशि लीन रहते थे। इस प्रकार अनन्य व्रत का निर्वाह करते हुए इन्होंने वृन्दावन रस का पान और दान करके अपना रसिक जीवन व्यतीत किया था। इनका विद्यमान काल वि० सं० १७७० से वि० सं० १८४० के अन्तर्मध्य में अनुमान किया जा सकता है।

श्या० बि० खं०

जुगतानंद

चरणदास के शिष्य गुसाईं जुगतानंद अपने समय के अत्यन्त प्रतिभाशाली एवं बहुमुखी व्यक्तित्व वाले संत थे। संस्कृत भाषा के ज्ञान के अतिरिक्त ये गायन-वादन में अत्यन्त प्रवीण थे। इनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि इतर सम्प्रदाय के संत भी महंत-निर्वाचन के समय इन्हें अवश्य बुलाते थे।

जुगतानंद जी का जन्म मेवात के हरसौरा गाँव (अलवर के समीप) के एक धनी ब्राह्मण परिवार में संवत् १७९४ में हुआ था। पाँच वर्ष की उम्र में इनकी मृत्यु हो गई। कहा जाता है कि जब यमदूत इन्हें धर्मराज के पास ले गए तो उसने आज्ञा दी कि

इसे शीघ्र पृथ्वीलोक पहुँचाओ। यह हरिभक्त है, इसे तो अनेक जीवों का उद्धार करना है। फलस्वरूप इन्हें तुरन्त पृथ्वी पर लाया गया। बालक में चेतना देखकर परिवार के समस्त सदस्य अत्यन्त प्रफुल्लित हुए। ज्यों-ज्यों इनकी उम्र बढ़ती गई, त्यों-त्यों भगवद्-भक्ति का रंग गहरा होता गया, सत्संग में रुचि बढ़ने लगी और संत-महात्माओं से प्रेम होने लगा। माता-पिता ने सगाई-विवाह आदि का प्रयत्न किया तो इन्होंने साफ मना कर दिया। धीरे-धीरे इन्होंने कुटुम्ब के सब कर्म त्याग दिए। बालपन के सब खेल छोड़कर ये जहाँ कथा-कीर्त्तन होता, वहाँ बड़े चाव से बैठते। प्रभु से मिलने के लिए ये भजन-कीर्त्तन करने लगे। कुछ समय बाद इनके माता-पिता की मृत्यु हो गई। अब ये निर्बन्ध होकर इधर-उधर विचरण करने लगे। संतों से पूछते कि भगवान् कैसे मिलेंगे? आपको जब भूख लगती तो कभी पीली मिट्टी घोल कर पी लेते या दूध-फल-अन्न में से जो कुछ सहज में मिल जाता, उसे खा लेते। ये दिन-रात भगवद्-भजन में तल्लीन रहते थे। एक बार ध्यान में ईश्वर ने आज्ञा दी कि चरणदास मेरे ही स्वरूप हैं, उनके शिष्य बनो। तबसे आपने चरणदास को अपना इष्ट बनाया। इन्होंने पीत वस्त्र धारण करना तथा मस्तक पर पीत श्री तिलक लगाना शुरू किया। ये चरणदासजी का नाम मुख से जपते तथा चरणदासी संतों की बहुत प्रेम के साथ सेवा करते थे। इस प्रकार छह मास व्यतीत हो गए। एक दिन संत चरणदास ने प्रकट होकर इनको दर्शन दिया। इन्होंने परिक्रमा करके प्रणाम किया। चरणदास ने हाथ पकड़कर इन्हें हृदय से लगाया और 'जुगतानंद' कह कर बुलाया। उन्होंने कहा कि बिना किसी शंका और चिंता के तुम मेरे स्थान पर दिल्ली आओ। इन्हें आबखोरा सौंप कर चरणदास अन्तर्ध्यान हो गए। कुछ दिनों बाद ये उनके दर्शन के लिए व्याकुल हो उठे। एक दिन इनसे न रहा गया। ये सीधे नयी बस्ती, दिल्ली पहुँचे। वहाँ संत चरणदास की परिक्रमा एवं दण्डवत् की तथा उनका पूजन कर अपना तन-मन भेंट में दे दिया। चरणदास ने आश्विन संवत् १८११ को इन्हें दीक्षित कर मंत्र, कंठी, टोपी, चोला आदि दिया। अपने पास रखकर उन्होंने योग, ज्ञान, ध्यान तथा नवधा-भक्ति की सब रीतियाँ समझाइँ, भगवान् कृष्ण के दर्शन कराए। बसंत पंचमी संवत् १८१८ को महाराज चरणदास अपने स्थल पर विद्यमान थे। उनके सम्मुख कीर्त्तन-भजन हो रहा था। उसी समय जुगतानंदजी ने आकर साष्टांग प्रणाम किया। महाराज चरणदास मन में अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने पीला चोला मँगवाकर इनको बख्शा। इनका रंग गोरा तथा कद ठिगना था, फलतः चोला बहुत ढीला था। इन्होंने चोला उतार कर महाराज चरणदास को प्रणाम किया। उन्होंने इनसे कहा कि अब तो अपनी देह बढ़ाओ। उन्होंने इनके शरीर पर हाथ फेरा और इनकी देह बढ़ गई। चोला इतना ठीक आया मानो किसी दरजी ने इनके लिए ही सिला हो। इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी रावप्रताप सिंह (अलवर), दीवान रामसेवक (अलवर) तथा अनेक शिष्य सेवक आदि थे। उसी समय इन्हें 'गुसाइँ' की उपाधि से विभूषित किया गया। चरणदास ने इन्हें संत समाज के साथ रामत की आज्ञा दी। घूमते-घूमते इन्हें पंजाब में एक ब्राह्मण मिला। उसने इनसे कहा कि श्री तिलक में कई दोष हैं। इन्होंने अनेक प्रकार से शास्त्र आदि का प्रमाण देकर समझाया, परन्तु वह ब्राह्मण नहीं माना। तब इन्होंने उससे पूछा कि तुम श्री तिलक पर कैसे विश्वास करोगे? उसने कहा कि यदि शालिग्रामजी के श्री तिलक अपने-आप निकल आए तो मेरे मन में विश्वास जम जाएगा। इन्होंने कहा कि शालिग्रामजी को ले आओ और स्वयं कपड़े से ढँक दो। उस ब्राह्मण ने ऐसा ही किया। तब इन्होंने आँख मूँद कर महाराज चरणदास का ध्यान किया, उन्होंने कहा कि कार्य सिद्ध होगा। फिर इन्होंने आँख खोलकर ब्राह्मण से कहा कि कपड़ा हटा दो। कपड़ा हटाने पर ब्राह्मण ने देखा कि शालिग्राम पर श्री तिलक लगा हुआ है। तब वह ब्राह्मण गुसाइँ जुगतानंद के चरणों पर गिर पड़ा और उनका शिष्य बन गया

घूमते-फिरते ये लोग वागड़ गाँव पहुँचे। वहाँ ठाकुरजी का एक मन्दिर देखकर सबने अपना डेरा जमाया। वहाँ का पुजारी संत-महन्तों से बहुत चिढ़ता था। इन सबको देखकर वह बहुत चिढ़ा और उसने सायंकाल ही शयन आरती करके ठाकुर जी को सुला दिया। संतो के प्रवचन, कीर्त्तन आदि में आधी रात बीत गई। तब गुसाइंजी ने अपना तंबूरा उठाया और राग बिहाग में एक भजन गाया। ठाकुरजी की लेटी हुई मूर्त्ति खड़ी हो गई। पुजारी को जब पता चला तो वह दौड़ा आया। वह 'लाल-बिहारी' को खड़े देखकर आश्चर्यचकित हो गया। गाँव भर में यह खबर फैल गई। गाँव का मुखिया गाँव वालों के साथ दर्शन के लिए आया और सभी महाराज चरणदास के भक्त बन गए।

चलते-चलते ये लोग चूरू शहर पहुँचे। वहाँ एक वैरागी के घर ठहरे। दुर्भाग्यवश उसके घर चोरी हो गई। उसने सारा आरोप इन लोगों के सिर पर मढ़ दिया। चूरू के सरदार ठाकुर हरीजू सिंह ने आज्ञा दी कि महंत जुगतानंद के साथ सभी साधुओं को तोप के मुँह पर लगा कर उड़ा दो। जुगतानंद सहित सभी साधुओं ने संत चरणदास का ध्यान किया तथा शीघ्र ही सहायता की याचना की। चरणदास ने ध्यान में ही बताया कि सभी चोर किले में छिपे पड़े हैं। खोज करने पर सभी चोर पकड़ लिए गए और चोरी गई वस्तुएँ भी वापस मिल गईं। सरदार बहुत लज्जित हुआ। वह आकर गुसाइंजी के चरणों में गिर पड़ा और उनसे क्षमा माँगी।

ये अत्यन्त सिद्ध पुरुष थे। राजा बलवन्त सिंह, झाँझर के नवाब हाजी, बादशाह शाहआलम द्वितीय आदि के मनोरथ इन्होंने पूर्ण किए थे। फलस्वरूप उन लोगों ने इन्हें अनेक गाँव तथा जागीरें दीं। सन् १८१२ में सिक्ख-महाराजा रणजीतसिंह दिल्ली पधारे तथा गुसाइं जुगतानंद को पूजा-भेंट चढ़ाई। इन्होंने पहले मुर्शिदपुर (गुड़गाँव) में, फिर तख्त-वाली गली, कूचा पातीराम, दिल्ली में स्थान बनाया। बाद में कृष्ण जी की प्रेरणा से वर्तमान स्थान पर आए। यद्यपि चरणदासजी ने इन्हें 'श्रीमहंत' नियुक्त किया था, किन्तु उनके परलोक गमन के बाद उत्तराधिकार के लिए झगड़ा हुआ। मामला शाहआलम के पास गया। उसने इन्हें सम्प्रदायाचार्य नियुक्त किया। इन्होंने अपने १२५ शिष्यों में से अनेक को विभिन्न स्थानों पर महन्त बनाया। ज्येष्ठ शुक्ल नवमी संवत् १८७१ को आपने परमधाम की यात्रा की।

जुगतानंदजी की रचनाओं का परिमाण विपुल है। उसमें प्रमुख हैं—१. भक्त प्रबोध (र० काल संवत् १८२४), २. सप्त सल्लोकी गीता भाषा, ३ चौमासा, ४. आठ पहर, ५. आठ पहर दूजें मूल चेत परसंग, ६. बारहमासा, ७. इतिहास सार समुच्चै (र० काल वि० १८३२), ८. चार पदारथ निरूपन, ९. बिचार बोध, १०. भगवतगीता माला, ११. श्रीमद्भागवत भाषा, १२. शब्द। इनके नाम से 'रुक्मिनी मंगल' तथा 'दसम स्कंध भाषा' नाम की दो कृतियाँ और मिलती हैं, जो स्वतंत्र रचनाएँ न होकर श्रीमद्भागवत भाषा की अंश हैं।

इनकी रचनाएँ रस-मंडित हैं। उनमें अलंकारों का सुन्दर प्रवाह है। इनकी भाषा ब्रज एवं मेवाती के निकट है। इनकी रचना-शैली के दो नमूने प्रस्तुत हैं—

(१)

रहत अनूठी चाल तिलक लगाय भाल,
सुधा कृष्ण रस पिये हरखत हैं।
घूमत बिशाल नैन बोलत अम्रित बैन,
श्रवन करत तिहुँ ताप नस जात है।
स्वर्गादिक काटे फंद बही लोक लाज बंध,
प्रकट सतोगुन ब्रति बिष्णु ज्यों दिखात है।
'जुगता' मन वारे शरन चरन कौ करत ध्यान,
मेरे तो इष्ट यह आन ना सुहात है॥

(२)

अति ही नवीन फेंटो बाँधत है नोकी छबि,
मोती गल माल भ्रकुटी तिलक हू बियो है।

नीमो तो जरद तंग घुंडी जड़ाऊ जरी,
बाहन में बाजू कर पहुँची सज लियो है ॥
बालन में बालक ज्ञानिन में अति प्रवीन,
भक्ति में निपुन कृष्ण ध्यान हू छयो है।
पाँय में जंजीर अरु कँगना विराजमान,
'जुगता' उर इष्ट गुरु चरन को ठयो है ॥

म० गो० भा०

जुगलदास (प्रथम)

'रसिक-अनन्य-परचावली' तथा 'चतुर्थ बसंत प्रबंध' में जुगलदास (प्रथम) का इतिवृत्त इन शब्दों में दिया गया है—

नव नव उत्सव सचित,
रचित वचनावलि हरषत।
जबहि गान उच्चरत,
प्रेम धारा ज्यौं वरषत ॥
भूषन रसिक समाज,
महत जन मान बढ़ावत।
नृप आग्या आधीन,
राधिका पति दुलरावत ॥
श्री कुंज लाल सिर कर धरयौ,
कीरति सब जग विस्तरी ॥
श्री हरिवंश कृपा अधिक,
श्री जुगल दास के उर भरी।

—रसिक-अनन्य-परचावली

रस भक्ति थंभ श्री जुगल दास।
गावैं धमारि पद हिय हुलास।
उर द्रवै प्रेम जन जिते पास।
प्रभुता गुन बहु कहा कहौं जास ॥

—चतुर्थं वसन्त प्रबन्ध

श्री जुगलदासजी गोस्वामी कुंजलालजी के शिष्य थे। ये अपने समय के बहुत ही प्रतापी महापुरुष, सन्तसेवी, श्री हित भजन-भावना परायण रसिक, गायक और वाणीकार थे। यही कारण है कि हित-कुल के नाद और विन्दु दोनों परिवार इनका आदर किया करते थे। चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी ने इनके रसिक चरित्र का आख्यान अपनी 'गुरु कृपा चरित्र बेली' नामक एक रचना में अत्यन्त मार्मिक शब्दों में किया है।

श्री जुगलदासजी की 'हरिवंश' और 'राधा' नाम में हार्दिक रति थी। श्री राधा-नाम-रूप-गुण का कथन-श्रवन-गायन करते-करते आप प्रेमाविष्ट हो जाते थे और नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी। सेवकजी महाराज की तरह श्री हरिवंश नाम को सर्वस्व जानकर आपने अपना सब कुछ हरिवंश नाम पर न्यौछावर कर दिया था—

श्री हरिवंश नाम कौं सर्वसु जानि कैं।
आनन्दित परशंसित अति रुचि मानि कैं॥

श्री जुगलदास हित रीझि रावरे भाइ सौं।
(हरि हाँ) बिके नाम हरिवंश हिये के चाइ सौं॥

श्री राधा यह नाम कहि दृग भरि आवत वारि।
साँचे नाते अंगीकृत किये श्री वृषभानु कुँवारि॥

—गुरु कृपा चरित्र वेली

यद्यपि श्री राधावल्लभलालजी के प्रत्येक उत्सव को ही ये हार्दिक भाव-चाव से मनाया करते थे, किन्तु हिताचार्य चरण और श्री राधा जन्मोत्सव से इनका प्रगाढ़ अनुराग था। ये पूरे वर्ष भर इन उत्सवों की उमंग में उत्सव सम्बन्धी सामग्री एवं धनादि का संचय और इन उत्सवों का विशाल आयोजन करते। श्री राधा जन्मोत्सव के समय ये वृन्दावन से सम्पूर्ण रसिक समाज को लेकर बरसाने जाते और इतने अधिक उत्साह, लाड़-चाव और धूमधाम के साथ इस उत्सव को करते मानों श्री नेही नागरीदासजी, जिन्होंने श्री प्रियाजी की आज्ञा से श्री राधा जन्मोत्सव का शुभारम्भ बरसाने में किया था, पुनः अवतरित होकर श्री प्रियाजी का जन्मोत्सव कर रहे हैं। चाचा श्रीहित वृन्दावनदास जी ने इसका विशद वर्णन करते हुए लिखा है—

जुगल नागरी दास कौ दरसत एकत भाउ।
कीरतिजा हित नाम रति यातें परत लखाउ॥
—गुरु कृपा चरित्र बेली

इसी प्रकार वैशाख, (श्रीहिताचार्य का जन्म मास) लगते ही इनके उत्साह में पूर्णता आ जाती थी। यद्यपि चैत्र पूर्णिमा से ही श्री हरिवंश जन्म बधाई का समाज गान प्रारम्भ हो जाता था, किन्तु वैशाख शुक्ल दसमी और एकादशी के दिन तो ये विशेष आयोजन करते थे। दसमी को प्रातःकाल हो चंदन घिस-घिस कर अनेक घट भर लिये जाते, साधु-सन्त-महन्तों एवं रसिक वैष्णवों को आमंत्रित किया जाता, सभी के मस्तक पर चंदन चर्चित करके एक अभूतपूर्व उत्साह के वातावरण में श्रीहित जन्म-बधाई का समाज-गान प्रारम्भ होता, समाज-गान समाप्त होने पर सब एक दूसरे से आबद्ध-वक्ष होते, एक दूसरे के चरण छूते और फिर राजभोग आरती के पश्चात् विशाल भंडारा होता तथा सबको भेंट आदि देकर ससम्मान विदा किया जाता। दूसरे दिन एकादशी की सन्ध्या को फिर नाद-विन्दु परिकर के रसिक जनों को घर-घर से बुलाकर लाया जाता। कलाविद्-गायकों, वादकों, प्रेमीहृदय साधु-वैष्णवों के संघट्ट में श्रीहित हरिवंश वाणी का सुमधुर रस-गान होता। अर्द्धरात्रि में मध्यावकाश में सभी को सुगन्धित सुमधुर पेय (आपानक) पिलाया जाता और फिर समाज प्रारम्भ हो जाता। इस प्रकार रात भर समाज-गान के सुख का आदान-प्रदान होता। प्रातः काल सभी युगलवर की केलि-सुख से छके और आनन्द में पगे एक दूसरे से गले लगकर मिलते। चाचा हितवृन्दावन दास ने जुगलदासजी की रस-दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—

श्री हरिवंश.प्रसंस रसिक मणि चक्कवै।
गिरा गहर रस सिन्धु विश्व जाकौ नवै॥
छिन छिन सो आहार प्रेम जुत नाद सौं।
(हरि हो) वृन्दावन हित बोधे जुगल सवाद सौं॥
—गुरु कृपा चरित्र बेली

श्री हिताचार्यचरण द्वारा प्रवर्तित नित्य रासलीलानुकरण के दर्शन में श्री जुगलदासजी की हार्दिक अभिरुचि थी। उस समय स्वामी श्री किशोरीदासजी के पुत्र स्वामी श्री हरिनाथजी रासलीला का मंचन कुशलतापूर्वक किया करते थे। ये इस रासलीला को देखकर भाव-तन्मय हो जाते थे—

सुवन किशोरीदास के अति रसज्ञ हरिनाथ।
निरखे रास-विलास सुख जुगलदास मिलि साथ॥

जुगलदासजी का सौहार्द गो० श्री हित रूपलालजी, श्री सेवासखीजी और श्री वल्लभदासजी से भी था। गो० श्री हित रूपलालजी की आज्ञा से श्री सेवासखीजी ने बरसाने में वृषभानु बाबा का जो मन्दिर निर्माण कराया था उसमें इनका सक्रिय सहयोग था—

जुगलदास सेवा सखी वल्लभ श्री हित रूप।
मिलि मन्दिर कुंजें रची थाप्यौ रावल भूप॥

स्वामिनी श्रीराधा के नाम के नाते श्री राधाकुंड से भी इनका बहुत लगाव था। यही कारण है कि कार्तिक बदी अष्टमी—जिस दिन रात्रि में राधाकुण्ड में स्नान करने की चिर पुरातन परम्परा है—को ये जहाँ कहीं भी होते थे, वहाँ से चलकर राधाकुंड पहुँचते एवं उसका दर्शन कर अति पुलकायमान हो जाते। ये वहाँ श्री गोवर्धनजी का छप्पन भोग कराते एवं फिर वहाँ के व्रजवासीगणों एवं सन्तजनों को सप्रीति भोजन कराकर पारस भी देते। इस प्रकार जो कुछ भी द्रव्य बाहर से लाते, उसे रसिकों, सन्तों, व्रजवासियों के लिए खर्च कर देते थे। आपने राधाकुंड में रसिकभक्तों के निवास हेतु कुछ कुंजें भी बनवाई थीं—

भक्ति ही कौ ग्रेह किधौं मूरति यह नेह,
जाकें रहै अभिलाषा नई संत सनमान की।
करुणा निकेत किधौं प्रेम ही कौ खेत सदा,
सुमति सचेत इष्ट मिष्ट गुन गान की॥

सुख कौ किधौं ऐन जल पूरि रहै नैन,
लसैं मीठे मुख बैन गुन कृपा रसदान की।
जुगलदास आस फली सुधा सी कहानी चली,
छाई है निकाइ जग जस के वितान की ॥
कुंड तीर संत भीर तामें लसैं गुन गंभीर,
भानुजा सरोज पद मति अनुरागी है।
कुंज रचि बनाई जहाँ भक्तन निवास तहाँ,
प्यारी अति भूमि प्यारी नाम नाते लागी है ॥
साधुता कौ आलय जानौ कृपा की अवधि मानौ,
किधौं रस-रसज्ञन की भागमनि जागी है।
श्री जुगलदास गुन प्रकास जीवनि विलास रास,
हिय की हिलग हित रीति माँहि खागी है ॥
—गुरु कृपा चरित्र वेली

इनके रसिक जीवन से प्रभावित होकर कोटा नरेश भीमसिंह जी इनके केवल चरणाश्रित ही नहीं हो गये, उनका जीवन साधु जीवन बन गया था। उन्होंने गुरुदेव के सेव्य श्री जुगलविहारीजी की भोग-राग एवं उत्सव आदि की सुव्यवस्था के लिए एक गाँव भी भेंट किया था तथा उसका नाम अपने गुरुदेव के नाम पर जुगलपुर रख दिया था। एक समय वर्षा न होने के कारण व्रजवासीगण अकालग्रस्त हो गये। सम्पूर्ण व्रज में त्राहि-त्राहि मच गयी। उसी समय श्री जुगलदासजी के शिष्य कोटा नरेश श्री भीम सिंहजी का आकस्मिक आगमन हुआ। दीन-दुख-द्रवित श्री जुगलदासजी ने उनको आज्ञा दी कि श्री जी ने तुम्हें अवसर दिया है कि तुम उनके प्रिय व्रजवासियों, सन्तों, महन्तों और गोस्वामीगणों की सेवा करो। वे आज्ञाकारी तो थे ही, सबकी रुचि के अनुसार पात्र-भेद के बिना उन्होंने सबकी सेवा करके सभी का मनस्तोष किया।

इसी प्रकार प्रसिद्ध है कि एक बार शीतकाल में श्री राधावल्लभलालजी ने इन्हें स्वप्न में आज्ञा दी कि जड़ावर (जाड़े के पोशाक) बनवाकर मुझे धारण कराओ। पुलकित हृदय श्री जुगलदासजी उठ खड़े हुए और अपने पास ही सोये हुए अपने शिष्य श्री सेवादासजी को जगाकर इष्ट की यह आज्ञा सुनायी और उन्हें आगरा जाकर पोशाक बनवा लाने की आज्ञा प्रदान की। गुरु-आज्ञा से श्री सेवादासजी प्रातःकाल ही आगरे गये और पोशाक के लिए कपड़े लेकर शीघ्र लौटे। जब वह पोशाक बनवाकर श्रीजी को धारण कराई गयी तो उनके दर्शन कर सभी रसिकों के हृदय फूल उठे।

एक बार इनके गुरुवर्य गो॰ श्री कुंजलालजी ने इनसे कहा कि तुम किसी साधु को लिवा कर लाओ जो गो॰ श्री हित हरिवंशजी कृत 'हित चौरासी' का गायन कर सके। आज्ञा शिरोधार्य करके ये अपने गुरु भ्राता श्री हरजीमल को अपने साथ लेकर गुरुवर के पास पहुँचे। दोनों ने मिलकर हित चौरासी के पदों का गायन विभिन्न राग-रागिनियों में किया। रस-गान की तन्मयता में सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत हो गई, किन्तु इन्हें इसका आभास ही नहीं हुआ। गान की समाप्ति पर गुरुवर ने रीझकर इन्हें अपने कंठ से लगा लिया।

उत्सव के समय में ही नहीं, इनके जीवन का प्रत्येक क्षण अपने इष्ट श्री जुगलबिहारीजी की अष्टयाम सेवा में व्यतीत होता था। अनेक परिचारकों के होते हुए भी इष्ट की प्रत्येक सेवा ये स्वयं किया करते थे और समाज-गान तो इनके जीवन का प्रमुख अंग ही बन गया था। अपने निवास स्थान-भीमकुंज में अपने इष्ट के समक्ष ये नित्य ही समाज गान किया करते थे—

पुनि नित नेम भीम की कुंज।
करि रस गान देत सुख पुंज ॥

ऐसी रस वानी मति धुरै।
जुगलदास कौ अनुभव फुरै ॥

जुगलदासजी का श्रीकृष्ण भट्टजी से बड़ा प्रेम था। चाचाजी ने लिखा है कि ऐसा लगता है कि विधाता ने इनके शरीर तो दो अलग-अलग रचे हैं किन्तु प्राण दोनों के एक ही हैं। वे रस-कथा द्वारा तो ये रस गान द्वारा सभी को प्रेम-विह्वल बना देते हैं।

इस समय का यह समाज विश्व दुर्लभ है। जब श्री कृष्ण भट्ट श्री शुक मुखोद्‌गलित भागवत का पारायण करते थे तो ये अनेक सन्त-महन्तों के मध्य में विराजमान हुए ऐसे लगते थे जैसे साक्षात् परीक्षित जी बैठे हों—

श्री कृष्णभट्ट श्री जुगल कौ परम प्रीति जुत संग ॥

वे प्रवीन ए महामति दुहूँ मन अतिसैं नेह।
मनु बिधि एकै प्रान की द्वै निर्मित करी देह ॥

द्वै निर्मित करी देह सबहि कौ यौं मन सरसै।
वह रस रंग समाज विश्व में दुर्लभ दरसै ॥

वे शुक मुख रस द्रवैं श्रवैं ए गान महारस।
को न प्रेम बस होय जाहि सुनि थकित रहे पशु ॥

• • •

कुंज सुभग जमुना निकट पारायण जब होत।
कृष्ण कथा श्री कृष्ण भट्ट उमगि अमी मनु सोत ॥
मुनिनु सभा अभिमन्यु सुत शुक सनमुख रिषिराज।
श्री जुगल दास इहि विधि लसत संत अनंत समाज ॥

नौनेरे निवासी हित अनूपजी से भी इनकी हार्दिक प्रीति थी। उन दिनों हित अनूपजी अपने घर में नन्दोत्सव बड़ी धूम-धाम से किया करते थे। वे ब्रज के संत-महन्तों को अपने यहाँ बुलाते, जन्म बधाई के समाज गान का आयोजन करते और आगन्तुकों का विशेष आतिथ्य पूर्ण सम्मान करते। श्री जुगलदास जी भी इसमें भाग लेते थे। उनके इस समय के समाज गान की प्रशंसा करते हुए चाचाजी कहते हैं—

श्री जुगलदास कौ भजन सुनि,
थकित सबै, तिहि काल।
मानौ नाद सवाद बस,
चकित मृगन की माल ॥

एक समय श्री जुगलदासजी इस उत्सव के समाप्त होने पर नौनेरे से नन्द गाँव आये। उत्सव के राग रंग से प्रेमाप्लुत हृदय श्री जुगलदासजी नन्द बाबा के मन्दिर में ही अर्द्ध निद्रित अवस्था में सोये हुए थे तभी वंशी ध्वनि के साथ मृदंग आदि विविध वाद्यों की ध्वनि इन्हें सुनायी दी। सुनते ही ये चौंक उठे और चल पड़े उस स्थल की खोज में जहाँ से वंशी ध्वनि आ रही थी। ये पागलों की तरह वन-वन में खोजते हुए एक खेत में जा पहुँचे। खेत में निवसित किसी व्रजवासी को देखकर ये उससे पूछने लगे—"यह वंशी कहाँ बज रही है?" उसने कहा—"भैया! तुम बावरे ह्वै गये दीसौ, तुम अपने घर कूँ जाउ, ये काऊ रास-मंडली की रास में बजिबेवारी वंशी की ध्वनि नांय" इसके बाद क्या हुआ? यह तो वह वंशी बजाने वाला और श्री जुगलदासजी ही जानें।

व्यासजी की वंश परम्परा में आने वाले श्री घासीरामजी, श्री प्रियादासजी आदि अनेक वृन्दावन-रस-रसिकों के साथ श्री जुगलदासजी श्री यमुना पुलिन में वंशीवट के निकट होने वाली रस-परिचर्या में अवश्य सम्मिलित होते थे। जुगलदासजी का दिव्य वपु तथा उच्च ललाट पर जगमगाता भक्ति-तेज देखते ही बनता था। चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी के शब्दों में—

पुलिन सुभग जमुना जहाँ वंशीवट तट जाइ।
बैठत विशद समाज मिलि रस लीला भरि भाइ ॥

दीरघ मूरति भजन पुनि तेज जगमगत अंग।
वह समयौ देखे बनै जो तब उपजत रंग ॥

श्री घासीराम रसज्ञ अति ब्यास वंश उद्दोत।
श्री प्रियादास आरज गिरा अरथ रचन सुख होत ॥

ए सब मिलि एकत्र ह्वै करत जुगल रस पान।
राधा हरि गुन गुनन कौ पूरित भक्ति वितान ॥

जुगलदासजी को जब आभास हुआ कि हमारे जीवन का अन्तिम समय आ गया है तब ये अपने शरीरादि से ममत्व छोड़कर श्री हरिवंश नाम के अखण्ड स्मरण और मानसी भावना में तल्लीन हो गये। अधिक भोजन से आलस्य में वृद्धि होती है यह सोचकर ये अल्पाहार लेने लगे थे। इस स्थिति का

समाचार शीघ्र ही सम्पूर्ण रसिक समाज में फैल गया और सब इनके पास आ-आकर बैठने लगे और कहने लगे—"महात्मन्! यह भजन-जहाज हम लोगों की आँखों से क्यों ओझल होने जा रहा है ?" शरीर की अशक्त स्थिति में भी वे किसी प्रकार से असावधान नहीं हुए। संवत् १७९२ के पौष के महीने के किसी दिन इनकी स्थिति अत्यन्त गंभीर हो गई, तब भी इन्होंने श्री हित चतुरासी के पदों का पाठ किया। सुबह से ही रसिकों के आने-जाने का ताँता नहीं टूट रहा था। मंगला आरती हुई, शृंगार आरती हुई और समयानुसार राजभोग की भी आरती हुई। इस आरती में इनकी हार्दिक आर्ति का प्रवाह करुण हो गया और ये उस प्रवाह में बह गये। उस प्रीति-प्रवाह में बहते हुए इन्हें अनुभव हुआ कि श्री प्रियाजी मुझे अपने महल में बुला रही हैं। इन्होंने सबकी दण्डवत् की और सबसे अन्तिम विदा माँगी और सारंग राग में राजभोग के पश्चात् सैन का पद गान करते हुए नित्य निकुंज में प्रविष्ट हो गये—

विदा माँगि दण्डौत करि श्री गुरु कृपा मनाइ।
श्री जुगलदास पहुँचे महल सारंग राग सुनाइ॥

भजन सचाई की परख जानि परत तिहि काल।
सावधान रहै तन तजत यह साँची टकसाल॥

संवत सत्रह सै बानवा पूस मास कीयौ गवन।
श्री राधे विपिनेश्वरी राखे अपने भवन॥

श्री गुरु कृपा चरित्र बेली

'मिश्र-बन्धु-विनोद' से ज्ञात होता है कि इन्होंने व्रजभाषा में श्री हित चतुरासीजी पर एक टीका और 'जुगल कृत्य' नामक एक ग्रन्थ की रचना की है, ये रचनाएँ छतरपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ रस-पदावलियाँ भी प्राप्त होती हैं, जिनमें से दो यहाँ उद्धृत हैं—

खेलत चौंपर प्रिया बिहारी।
सेज विसांति बिछाय रंगीली,
बहु रंग भाव सार विस्तारी॥

सेत असेत अरुन चितवनि के,
पाँसे सुभग चलत दुहुँधाँ री।
बाजी लगी लाल अरु ललना,
जो जीते सो भरै अँकवारी॥

फूल्यौ चाव भरचौ पिय प्यारौ,
जीतन के बहु दाव बिचारी।
हार्‌यौ उमगि चढ़ी मुख दूनो,
जीती प्रिया लाज भरी भारी॥

जब हित अलि बोली अहो प्यारी,
खेलत में इक जीतै इक हारी।
क्यों न देहु जो होड़ बदी है,
कहा सोच कीजै हौं वारी॥

सुनि हित वचन समझि मन माहीं,
प्रीतम कैं गरवाहीं डारी।
यह सुख निरखि जुगल नैननि तें,
तन मन प्राण करत बलिहारी॥

• • •

आजु मन मोहन की दरस बरस गाँठि,
हुलसे सु गोप अंग उमगे परत हैं।
ब्रज की कुरंग नैना वसन सुरंग सजे,
जसुदा सदन आइ रंगनि भरत है॥

नृत्तत हैं नृत्तकारी लोचन सुभाइ भरे,
बरसे रतन तन वारने करत हैं।
नंद गाँव बरसानौ हिलमिल एक भयौ,
धमड़े जुगल नैन आनन अरत हैं॥

श्या० बि० खं०

जुगलदास (द्वितीय)

जुगलदास (द्वितीय) के न तो ऐहिक जीवन का ही कोई परिचय प्राप्त है और न रसिक स्वरूप का ही। इनके द्वारा विरचित गो० चतुर शिरोमणिलालजी एवं गो० भक्तलालजी के पुत्र गो० हीरा लालजी की बधाई के पद बाबा श्री संतदासजी द्वारा लिखित एक पद संग्रह में देखने को अवश्य मिलते हैं। यह पदसंग्रह विलासवंशीय अधिकारी गो० राधेशलालजी

के यहाँ संग्रहालय में सुरक्षित है। बहुत वर्ष पूर्व मैंने बाबा संतदासजी के पास ही इस संग्रह को देखा था किन्तु उस समय उन बधाइयों को अपने पास नोट न कर सका। उनके निकुंज गमन के पश्चात् उनका सम्पूर्ण साहित्य अधिकारीजी के यहाँ चला गया। अब वहाँ से उस पद संग्रह को निकलवाकर उन पदों को यहाँ उद्धृत करना एक दुष्कर कार्य ही है। उक्त संग्रह से प्रतीत होता है कि ये गो० चतुरशिरोमणि लालजी अथवा गो० हीरालालजी के शिष्य रहे होंगे। ये दोनों गोस्वामी सम-सामयिक हैं। संवत् १८६७ में गो० चतुरशिरोमणिलालजी का 'भावना सागर' नामक ग्रंथ पूर्ण हुआ। इस आधार पर श्री जुगलदासजी का विद्यमान काल १९ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध प्रतीत होता है।

श्या० बि० खं०

जुगलदास (तृतीय)

जुगलदास (तृतीय) रामराय जी के चौथे शिष्य थे। ये जाति के कपूर खत्री और दिल्ली के निवासी थे। प्रारंभ में ये निर्वाणपुरी नामक किसी संत के शिष्य थे जो अष्टांगयोग के सिद्ध साधक थे। कहा जाता है कि पुरीजी के रज प्राप्त होने के तीसरे दिन ही रामराय प्रभु के सत्संग तथा उपदेश से प्रभावित होकर ये उनके सेवक हो गए। बाद को श्रीरामराय प्रभु ने उनके उस अष्टांगयोग में भक्ति के अंगों को योग के आठ अंगों में बड़े ही अद्भुत ढंग से रूपान्तरित किया है। मंगला (यम), श्रृङ्गार (नियम), गोपाल-दर्शन (आसन), राजभोग (प्राणायाम), उत्थापन (प्रत्याहार), इच्छाभोग (धारणा), संध्यायोग (ध्यान) और शयनभोग (समाधि) में प्रतिवर्तित करके उन्होंने भगवान् को भोक्ता और शेष सबको भोग्य बतलाया। इनके अनुसार भोगार्पण से ही योग की उपलब्धि सम्भव है।

अष्ट-सखियाँ समर्पण की आठ-विधियाँ हैं और 'परा श्रीराधाजूके संग मिले माधवलाल की सेवा करे है सोही योग द्वारा प्रभु की प्राप्ति सहज बने तासूँ या योग को ही नित्य सेवन करनो इनके लिखे।' 'भक्ति-योग' और 'योग कल्पवल्ली' के सोलह दोहे 'बारह वैष्णवन की वार्ता' में उद्धृत हैं। उदाहरणों से ज्ञात होता है कि काव्य-दृष्टि से जुगलदासजी की रचना साधारण श्रेणी की है—

श्रीगुरु श्री जयदेव हरि, श्री वृंदावन चंद।
बंदन करि बरनन करूँ, जोगकल्प स्वच्छंद॥

जोग कल्पवल्ली ललित, लाल-लाड़िली रूप।
पात्र प्रेम निश्चै रसी, मेलौ अमृत-कूप॥

जा जोगी ने नहिं लखी, जेहि बानी रस-धार।
रूखे-सूखे जोग में, भटकत हैं संसार॥

भक्ति-प्रेम जोगी कहैं, सोही आठौं जाम।
राधामाधव चाकरी, श्री वृंदावन धाम॥

न० च० बं०

जुगलदास (चतुर्थ)

श्री जुगलदास (चतुर्थ) के सम्बन्ध में 'भक्त गाथा' में कहा गया है—

जुगलदास भींजे रहैं जुगल रूप रस रंग।
व्यासनन्द पद कमल बल दास लाड़िलो संग॥

दास लाड़िली संग करैं दम्पत्ति की सेवा।
धरैं निशोथी भोग खीर में बहुत विधि मेवा॥

गुज्जर घर ऊदा हुते वन मीठा सींचा नवल।
भजन गान सुनि कैं मगन भये रसिक नेही जुगल॥

ये गुजरात प्रदेश के निवासी थे। किसी समय इन्हें किसी वृन्दावन रस रसिक का सत्संग प्राप्त हुआ। फलस्वरूप ये परिजनों के मोह-ममता का परित्याग कर श्रीधाम वृन्दावन आ गये। उस समय रास मंडल स्थित श्री मीठाजी, श्री जादौं रसिक जी, श्री लाड़िलीदासजी आदि महानुभाव श्री हरिवंश के अनन्य धर्म एवं अपूर्व भजन-रस-रीति का निर्वाह कर रहे थे। श्रीजुगलदासजी श्री मीठाजी के चरणों में अपने को समर्पित कर एवं श्री हरिवंश भजन में आरूढ़ होकर रासमण्डल पर ही रहने लगे। ये

लाड़िलीदासजी (खीर स्तव रचयिता) के साथ रहकर युगलवर की सेवा में समय व्यतीत किया करते थे। ये प्रतिदिन अर्द्धरात्रि में मेवा युक्त खीर बनाकर युगल को निशीथी-भोग लगाया करते थे। कोई आश्चर्य नहीं कि इन्हें स्वप्न में आदेश हुआ हो। श्री जादौं रसिक (इनके गुरु भाई) उस समय श्री हिताचार्य महाप्रभु का जन्मोत्सव बड़े धूमधाम से मनाया करते थे। इस उत्सव के प्रति श्री जुगलदास जी का प्रगाढ़ अनुराग था। इनके अन्तर का आह्लाद अनेक रूपों में बाहर प्रस्फुटित होता, कभी ये नाचने लगते, कभी कवित्त पढ़ने लगते। गो० चन्द्रलालजी ने 'वृन्दावन-प्रकाश माला' में इनकी इस स्थिति का वर्णन निम्न शब्दों में किया है—

> जुगलदास वृन्दावनदास तहाँ ठाड़े ह्वै कैं,
> पढ़त कवित्त गुन गन भरे सोहे हैं।
> रूप के आवेस की छकनि माँझ छकि जात,
> याहीं तें ये सकल समाज मन मोहे हैं॥
> भाट बंदीजन बानी कहैं रीझि लहैं ये तो,
> नित्त हित परिकर की कृपा हो कौं जोहैं हैं।
> वानी रस पीवत हैं ताहीं सौं ये जीवत हैं,
> दम्पति में भींजे चित निपट लगोहैं हैं॥

गोविन्द 'अलि' जी ने उक्त परिचयात्मक छन्द में वर्तमानकालिक क्रियाओं का प्रयोग किया है, इससे अनुमान होता है कि इनका विद्यमान काल सम्वत् १७६० से सं० १८४० तक है।

श्या० वि० खं०

जुगलदास (जुगलदासि)

सन्तशिरोमणि जुगलदासजी शुक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सन्त चरणदासजी के सजातीय (ढूसर भार्गव-वंशीय) शिष्य थे और मूलतः दिल्ली निवासी थे। इनके वरिष्ठ गुरुभाई श्री जोगजीत ने चरणदासजी के १०८ प्रमुख शिष्यों में से मात्र ७०-७२ का संक्षिप्त परिचय दिया है, शेष का उन्होंने केवल नामोल्लेख करके ही छोड़ दिया है। ऐसे गुरुभाइयों में जुगलदासजी भी हैं। इनके कार्य-स्थल और इनसे संबंधित अन्य बातों की ओर जोगजीतजी ने कोई संकेत नहीं किया है। इतना अवश्य है कि 'समुदाई सन्तन को चरित्र' शीर्षक के अन्तर्गत जहाँ उन्होंने भार्गववंशीय अन्य कई गुरुभाइयों का उल्लेख किया है, वहाँ इनका नाम भी समाविष्ट है—

> चरणदास के संत हैं ढूसर नन्द जु राम।
> और नारायणदास प्रेमघन सुख के धाम॥
> जुगलदास महादास संत जो सेवक दासा।
> चरण सहाय नंदलाल जु श्याम निरंजन दासा॥
> अतीतराम जयदेव जू गरीबदास उज्जैन में।
> हरीकृष्ण मेवात मध्य जु करी भक्ति सुख चैन में।
> —लीलासागर

इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि 'लीलासागर' की रचना पूर्ण होने तक अर्थात् सं० १८३९ वि० तक श्री जुगलदास ने कोई स्वतंत्र स्थान नहीं बनाया था और ये गुरु के आश्रम में रहकर ही भजन भाव में लगे रहते थे। चरणदासजी की निकुंज प्राप्ति (सं० १८३९ वि०) के उपरान्त किसी समय इन्होंने श्रीधाम (वृन्दावन) को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। उस समय वृन्दावन तथा उसके आस-पास इनके गुरुभाइयों (चरणदासजी के शिष्यों) के बीस से भी अधिक डेरे या आश्रम थे। संभवतः इन्होंने अपनी कोई ऐसी स्वतंत्र गद्दी स्थापित नहीं की, जिसकी शिष्य परम्परा कुछ पीढ़ियों तक चली हो। यह इनकी निस्पृहता, असंगता और विरक्ति का उदाहरण है।

चरणदासजी ने शिष्यों की विरक्त दीक्षा के समय प्रायः जो सांप्रदायिक नामकरण किया, वह उनकी साधना एवं व्यावहारिक रुझान को देख कर ही किया। इस आधार पर श्री जुगलदास का नाम भी श्री राधाकृष्ण युगल की सेवा-उपासना के प्रति इनकी अनन्य भक्ति को देखकर ही किया गया है। यह बात इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि इनकी

प्राप्त बानियों में से अधिकांश रसिक भावापन्न हैं। अपनी बानियों में आराध्य युगल की अष्टयाम लीलाओं का इन्होंने बड़ा ही सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। इनके पदों में 'जुगलदासि' की छाप इस बात की ओर इंगित करती है कि ये मुख्यतः निकुञ्जोपासक थे। यह भावना चरणदासियों के लिए अपरिचित नहीं है। स्वयं चरणदासजी ने भी अपने कई पदों में अपने नाम के साथ 'सखी' अभिधान का प्रयोग किया है। इतना ही नहीं, बल्कि अष्टयाम की लीला में उनके आठ भिन्न-भिन्न सखीनाम और काम भी इस संप्रदाय के साहित्य में निर्दिष्ट हैं। यहाँ इनके कुछ पद प्रस्तुत हैं—

हिंडोल-लीला (राग-मल्हार)

झूलत श्री दंपति सुखरास।
सुन्दर स्यामल गौर अनूपम,
अंगन रूप प्रकास॥

हरित भूमि भई उमड़ि घुमड़ि,
घन बरसत सावन मास।
कोकिल मोर पपइया धुनि सुनि,
सुख उपजत अनिआस॥
झोंटा देत झुलावत सखियाँ,
मन महँ मोद हुलास।
जै जै बोल लेत बलिहारी,
लख सुख विपिन विलास॥

यह रस मोहिं कृपा कर दिखयो,
सतगुरु श्री चरनदास।
जुगलदासि निरखि छबि छाको
पूरण मन अभिलाष॥

इसी प्रकार मंगल भोग से संबंधित यह पद भी द्रष्टव्य है—

भोगलीला (राग रामकली)

जेंवत मंगलभोग पियारे।
अरस परस हँसि स्वाद बखानत,
दम्पति छबि निधि रस मतवारे॥
सामग्री ले सखी सयानो,
ठाढ़ी सनमुख रूप निहारे।
रुचि लखि परसत कर कमलन सों
लै लै सामां नाम उचारे॥

जुगलदासि है दासि चरण की
अपनो तन मन सरबस वारे॥

श्या० सु० शु०

जुगलदास अवधूत

'हरिकला बेली' में श्री जुगलदास अवधूत की प्रशंसा निम्नलिखित पंक्तियों में मिलती है—

गूदरी न कम्बर दिगम्बर अवधूत वेष
पर हथहि भोजन ऐसी जाकी रहनी है।
मूक गहै तरु तरै फिरै जड़ बावरौ सो
ऐसो वैराग देखौ कहा और कहनी है॥

प्रगट निर्गुनवाद सौ दिखावै जु हियें,
और जुगलदास भींज्यौ नेह लीला रूप चहनी है।
वृन्दावन हित रूप ऐसे हू संत कोने बध,
मलेच्छ ने करौ सो सिर सहनी है॥

ठारह सौ तेरहों और ठारह सै सत्रह वर्ष दूहूँ बार
जमन आइ जनन ताप दियौ है।
हरि ही द्वै कला खेलि सबनि कौ हर्‌यौ गर्व
दास कौ तौ पहिले आप श्रीमुख निर्मयौ है॥

चेतौ रे चेतौ उपदेश प्रभु कर्‌यौ है
यह देह सनबन्ध सब सुपन सम भयौ है।
वृन्दावनहित रूप बस न चल्यौ काहू कौ
देखौ महा अचिरजमय खेल सौ ह्वै गयौ है॥

ये सदा दिगम्बर वेष में रहते थे। शीत-गर्मी और वर्षा इन तीनों ऋतुओं में ये किसी भी प्रकार के वस्त्र धारण नहीं करते थे। किसी स्थान में निवास करके ये एक दिन एक पेड़ के नीचे निवास करते थे। भूख और प्यास पर भी इन्होंने अधिकार प्राप्त कर लिया था। जब कोई इनके लिए भोजन ले आता तो उसके हाथ से ही भोजन कर लेते थे, पिला देते

पर पानी पी लेते थे, अन्यथा मौन ग्रहण किये हुए बैठे रहते थे। इस प्रकार ये जड़ भरत की तरह अपना जीवन व्यतीत किया करते थे। बाहर से देखने पर ये एक निर्गुनवादी जैसे प्रतीत होते थे, किन्तु वास्तविकता यह थी कि ये वृन्दावन विहारी-विहारिन की ललित-लीलाओं में अहर्निश छके रहते थे।

इनका निधन काल अज्ञात है। किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि सं० १८१३ अथवा सं० १८१७ में हुए यवनों के उत्पात में ही इनकी निर्मम हत्या कर दी गई थी।

इसके अतिरिक्त इनका कोई परिचय प्राप्त नहीं होता।

श्या० बि० खं०

जुगलदास तुलाधार

'भक्त गाथा' में श्री जुगलदास तुलाधार की प्रशस्ति में निम्नलिखित पद मिलता है—

हित उपासकन संग रंग रँनी रस पागे।
वृन्दावन कर वास रहसि वानी अनुरागे॥

श्री व्यासनन्द अपनाय कैं कुञ्जकेलि सुखलाय।
सहचरि सुख में मगन ह्वै निधनी ज्यौं धन पाय॥

श्रीगुरु व्रजपति पूरी करी जुगलदास मन आस।
तुलाधार घर जन्म है नारनौल कौ वास॥

रसिकवर जुगलदासजी नारनौल (राजस्थान) के निवासी थे। इनका जन्म तुलाधार वंश में हुआ था। इनके गुरुदेव गो० कृष्णचन्द्र वंशीय गो० ब्रजपति जी थे। इन्हें सौभाग्यवश वृन्दावन-रस-रसिकों का सत्संग प्राप्त हुआ। परिणामतः ये श्रीहित शरणापन्न हो गये। वृन्दावन-रस के आस्वादन के लोभ ने इन्हें वृन्दावन-वास के लिए विवश कर दिया और ये सभी ऐहिक सुखों को त्यागकर वृन्दावन आ गये। यहाँ आकर निरन्तर श्रीहितवाणी का पाठ-भजन-अनुशीलन-कथन-श्रवन इनके जीवन का अंग बन गया। इनका इस प्रकार का पाठ-भजन केवल नियम निर्वाह तक सीमित नहीं रहा अपितु इनके हृदय में वृन्दावनीय रस-लीलाओं से निष्पन्न रूप की भी स्फूर्त्ति होने लगी। श्री सेवकजी महाराज की यह उक्ति—

निरखत नित्य बिहार पुलकित तन रोमावली।
आनन्द नैन सु ढ़ार यह कृपा जु श्री हरिवंश की॥

इनके जीवन में पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हुई थी, जिसे इनके नेत्रों और इनकी मधुर वचनावली में सभी ने देखा था। इस प्रकार से इसी जीवन में ही 'सहचरि-सुख' के अलभ्य लाभ से धनी होकर अन्त में ये निकुञ्ज में प्रविष्ट हो गये। प्रेमदासजी कृत 'श्रीहित चतुरासी' की टीका का रचनाकाल सं० १७९१ हैं। उसमें रचयिता ने श्री जुगलदासजी के पूज्यगुरुवर्य श्री व्रजपति का आदर के साथ इन शब्दों में स्मरण किया है—

श्री कृष्णदास के वंश में श्री व्रजपति जु उदार।
प्रगट भये सुख की अवधि निरख्यौ नित्य विहार॥

ऐसेई तिनके भये हरि के सम औतार।
सुख की अवधि श्री इन्द्रपति वरस्यौ आनन्द वारि॥

उक्त दोहों में प्रयुक्त भूतकालीन क्रियाओं के आधार पर यह तो निश्चित ही है कि गो० व्रजपतिजी तथा गो० इन्द्रपतिजी सं० १७९१ से पूर्व निकुञ्जगामी हो गये थे। साथ ही ऐसा मानने के लिए भी विवश होना पड़ता है कि प्रेमदासजी ने इनके दर्शन अवश्य किये थे। इस आधार पर गो० व्रजपति जी का विद्यमान काल सं० १७०० से लेकर सं० १७७० तक के बीच ठहरता है। गो० व्रजपतिजी के इस विद्यमान काल के आधार पर श्रीजुगलदास का विद्यमान काल सं० १७१० से सं० १७९० तक माना जा सकता है।

श्या० बि० खं०

जुगलदास पुजारी

राधावल्लभ सम्प्रदाय के उत्कृष्ट भक्त कवि श्री जुगलदास पुजारी की प्रशस्ति में साम्प्रदायिक ग्रंथों में कहा गया है—

शान्त सुशील स्वभाव संत जन आदर देई ।
श्री बरसाने वास पौरि कीरति पति सेई ॥

आरज वचन प्रमाण भजन में काल बितावै ।
श्री हरिवंश कृपालु चरण मन वच क्रम ध्यावै ॥

श्री सेवा सखी प्रसाद गुरु गर्व नहीं जाके तनक ।
जुगलदास पुजारी प्रीति सौं सेये राधा जननी जनक ॥

—रसिक-अनन्य-परचावली

जुगलदास पुजारी मति सचेत ।
कीरति पति कौ नहिं तज्यौ निकेत ॥

सेये राधा तात सु हिय के हेत ।
खेलें फागु खेल जहँ वट संकेत ॥

—चतुर्थ-वसंत-प्रबंध

इनके सांसारिक जीवन से सम्बन्धित अधिकांश बातें अज्ञात हैं। ये स्वामी जुगलसुन्दरजी के शिष्य श्री सेवासखी के शिष्य थे और सेवासखीजी द्वारा बनवाये गए वृषभानु बाबा के मन्दिर के सर्वप्रथम पुजारी हुए थे। इस मन्दिर का निर्माण सम्वत् १७८० के पूर्व हुआ था। इस तथ्य का उल्लेख 'श्रीहित रूप चरित्र वेली' में आया है। इस प्रकार पुजारीजी का दीक्षा काल सं० १७८० के पूर्व ही ठहरता है।

चाचाजी द्वारा दिये गये उपर्युक्त परिचयात्मक छन्दों में प्रयुक्त वर्तमान एवं भूतकालीन क्रियाओं को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इन रचनाओं की निर्मिति के पूर्व ही ये निकुञ्जगामी हो गये थे। 'रसिक-अनन्य-परचावली' का रचनाकाल सं० १८३० से पूर्व अनुमान किया जाता है। इस आधार से पुजारीजी का समय सं० १८२५ तक माना जा सकता है।

ये स्वभाव से अत्यंत शान्त प्रकृति के थे। संत जनों की सेवा ये अति आदर एवं प्रीतिपूर्वक किया करते थे। पूर्व परम्परानुसार भगवद् भजन का निर्वाह इनके जीवन में प्रत्यक्ष देखा जाता था। इन्होंने आजीवन बरसाने में निवास किया। इनके द्वारा रचित कुछ पद प्राप्त हैं। एक रचना नीचे उद्धृत है—

श्री राधे वृषभानु लली की साँझी भली बनि आई ।
बरन बरन फूल बीनि कैं अपने हाथ बनाई ॥

नंद गाँव तें सखी रूप धरि आये कुँवरि कन्हाई ।
जुगलदास साँझी के पूजत तन मन नैंन सिराई ॥

श्या० बि० खं०

जुगलमनोहरशरण (मास्टर गंगाबख्श)

विगत सौ वर्षों की अवधि में श्री शुक संप्रदाय (चरणदासी संप्रदाय) में जो उल्लेखनीय विभूतियाँ प्रादुर्भूत हुई हैं उनमें श्री जुगलमनोहर शरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये इस संप्रदाय के पुनरुद्धारक एवं अलौकिक व्यक्तित्व के महापुरुष श्री सरसमाधुरी-शरण के शिष्य थे। ये एक सिद्ध साधक थे तथा अनाहतनाद श्रवण, त्रिकाल दृष्टि, सूक्ष्म रूप तथा इन्द्रियातीत ध्वनि और गन्ध के वेत्ता और सजग समाज सुधारक थे। जीवन के उत्तर काल में तो ये प्रायः चिन्मय जगत् में ही खोये रहने वाले प्राणी हो गये थे। इनका जीवन इतना त्याग और समर्पणमय था कि आगे चलकर ये कभी-कभी दिगंबर वेश में ही रहने लगे थे।

ऐसे विलक्षण व्यक्तित्व के धनी श्री जुगलमनोहर शरण का जन्म जयपुर के एक प्रतिष्ठित कुल में मार्गशीर्ष कृष्ण ६, सं० १९३९ वि० में हुआ था। चार वर्ष के अल्प वय में ही माता की छाया इन पर से उठ गई। इनका पालन-पोषण दादी द्वारा संपन्न हुआ। इनका पारिवारिक नाम मूलचंद था। इनके पिता श्री महादेव प्रसाद छिगनीवाले कपड़े के व्यवसायी थे। उन्होंने अपने मेधावी बालक मूलचंद को बी० ए० तक शिक्षा दिलाई। मूलचंदजी अपने छात्र जीवन में सदैव कीर्तिमान स्थापित करने वाले छात्र सिद्ध हुए और अनेक बार पुरस्कृत भी हुए।

सं० १९६२ वि० में बी० ए० की कक्षा उत्तीर्ण करने के साथ ही ये राजस्थान की राजकीय शिक्षा-सेवा में गणित, भूगोल और विज्ञान पढ़ाने के लिए सहायक अध्यापक नियुक्त हुए। अपनी सादगी, शिष्य

वत्सलता, लगन, परिश्रम और भक्ति की ओर उन्मुखता के कारण इनका नाम 'भगतजी' पड़ गया था। ३६ वर्षों तक अध्यापन कार्य करने के उपरांत सं० १९९७ वि० में ये सेवानिवृत्त हुए।

इनका विवाह छोटी अवस्था में ही हो गया था, परन्तु २७ वर्ष की आयु में इन्हें संतान-प्राप्ति हुई। इनकी ५ संतानों में से ज्येष्ठ पुत्र श्री राधेश्याम को छोड़कर शेष सभी जाते रहे। राधेश्यामजी ने एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की और सरकारी नौकरी में बजट अधिकारी के रूप में कार्य करते हुए सेवानिवृत्त हुए।

मास्टर साहब आरंभ से ही विद्याव्यसनी व्यक्ति थे। ये अनेक भाषाओं, शास्त्रों और विषयों के ज्ञाता थे। अध्ययन-वृत्ति के साथ ही भक्ति, वैराग्य और योग-साधना की ओर इनकी स्वाभाविक रुझान थी। १८ वर्ष की अवस्था में एक बार ये गृहत्याग कर वृन्दावन-वास-हेतु चले गये थे। बड़े प्रयास के उपरान्त इन्हें गृहोन्मुख किया जा सका था। सेवा से निवृत्त होने के पश्चात् सं० १९९९ वि० में ये वृन्दावन के शुक-भवन में रहने लगे थे। एक वर्ष बाद 'शुक-भवन' की निर्मात्री एवं प्रसिद्ध रसोपासिका सुश्री प्रेममाधुरी बाई से इन्होंने विरक्त वेश धारण किया और इसी के साथ इनका नाम जुगलमनोहरशरण हो गया।

श्री जुगलमनोहरशरण की सेवा अर्चावतार की थी। विरहानुभूति प्रधान गोपी-प्रेम इनकी साधना का आदर्श था। कभी-कभी ये विरहावेश में होकर आत्मविस्मृति को प्राप्त हो जाते थे। तब इन्हें भोजन, वस्त्र, नित्य-कर्म, नैमित्तिक-कार्य एवं लोक-व्यवहार का भी भान नहीं रहता था। इन्होंने उत्तर भारत के पुण्य-स्थलों की अनेक बार तीर्थ-यात्रा की थी। शुक सम्प्रदाय तथा अन्य वैष्णव-संप्रदायों के आचार्यों की जयन्तियाँ आयोजित करने का इन्हें बड़ा चाव था। ये एक चमत्कारी संत हुए हैं। इनसे संबंधित ग्रंथों में अनेक चमत्कारों का उल्लेख प्राप्त होता है।

इस महापुरुष का नित्यलीला-प्रवेश सत्तर वर्ष की अवस्था में सं० २००९ वि० में हुआ। इनके अनेक शिष्य आज राजस्थान और वृन्दावन में इनके संदेशों का प्राचर-प्रसार कर रहे हैं। उनमें श्री प्रेमस्वरूप ब्रह्मचारी, नारायणलालजी माथुर और प्रह्लाददासजी शर्मा विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें जाति, धर्म, संप्रदाय और क्षेत्र आदि किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं था। प्रायः सभी धर्मों में इनके मित्रगण फैले हुए थे, जो इनके साथ विचारों का आदान-प्रदान करते रहते थे। इस मस्तमौला एवं विद्वान् साधक की वाणियों को देखने का मुझे अवसर नहीं मिला। परन्तु इतना निश्चित है कि ये अच्छे वाणीकार और लेखक थे। वृन्दावन के रसिकोपासकों में इनकी भी गणना होती है। अपने समय में इन्होंने युगलोपासकों में एक सम्मानपूर्ण स्थान बनाया था। इनका चरित्र सर्वथा अनुकरणीय है।

श्या० सु० शु०

जुगलमाधुरीशरण

जुगलमाधरीशरण का वास्तविक नाम गोविन्दप्रसाद था। इनके पिता श्री हरदेवप्रसाद श्रीवास्तव राधा-कृष्ण के परम उपासक थे। भाद्रपद कृष्ण १२, संवत् १९४५ को जन्मे गोविन्दप्रसादजी में जन्मना भक्ति के बीज अंकुरित हो उठे। समयानुसार इनका विवाह हो गया। ये भावुक भक्त थे। सन् १९११ में ये सरसमाधुरीशरणजी के सम्पर्क में आये और उनसे प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की। ये महाराजा कालेज, जयपुर में अँगरेजी के प्राध्यापक थे और लोगों के बीच 'प्रोफ़ेसर साहब' के नाम से प्रसिद्ध थे। सन् १९४६ में अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् ये आजीवन पूर्ण रूप से सप्रदाय के प्रचार एवं प्रसार में रत रहे। गुरु में इनकी अपार श्रद्धा थी। उनको समर्पित करते हुए इन्होंने कई पद लिखे हैं। पदों के अतिरिक्त गज़ल एवं लीलाएँ भी लिखी हैं। इनकी रचनाओं में नैसर्गिक प्रतिभा एवं भक्त की अपूर्व तन्मयता पाई जाती है। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

चरणदास→ रामरूप →रामकृपाल →बिहारीदास → ठाकुरदास → बलदेवदास → सरसमाधुरीशरण→ जुगलमाधुरीशरण।

ये सरसकुंज, पान-दरीबा, जयपुर में आयोजित होने वाले प्रत्येक उत्सव में तन-मन-धन से भाग लेते थे। एक बार उत्सव में भावविभोर होकर नृत्य करते-करते ही इन्होंने महाप्रयाण किया।

म० गो० भा०

जुगलशरण

जुगलशरणजी का जन्म सागर जिले के जैसीनगर (जयसिंह नगर) में सम्वत् १९२२ में हुआ था। इनका वास्तविक नाम जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी था। राधाकृष्ण के एकनिष्ठ भक्त होने के कारण इन्होंने अपना नाम जुगलशरण रखा। इनके पिता का नाम छोटेलाल 'लाल' था। इनके दो ग्रन्थों की जानकारी मिलती है—'जुगल चन्द्रिका' और 'संकेत कौमुदो'। इनका प्रतिपाद्य भक्ति है। यहाँ एक उदाहरण दिया जा रहा है—

रूप सरोवर सुभग भावना तीर विराजै।
अभरण बहुरंग देख घाट चतुरानन लाजे॥

यौवन अंग सिंगार जलज फूले सर माहीं।
तन सुगन्ध बहुबीचि मोंहि हरि पुनि पुनि जाहीं॥

श्री राधा प्रेम अगाध सों बध्यो प्रकट परबस भयो।
गोपी प्रेम अगाध जल कृष्ण मौन मन भयो॥

त्रि० ना० शु०

जुगल सखी

'भक्त गाथा' में श्री जुगल सखी की भक्ति-भावना की प्रशंसा में निम्नलिखित छंद मिलता है—

कहा कहूँ कहत न बनै कैसेहु कही न जाय।
जुगल सखी की आस हित महल रही ठहराय॥

महल रही ठहराय मिथुन मिलि अति सुख बरसै।
दिन ही शरद वसंत केलि कल कर अति परसै॥

ता रस के स्वादी दृगन औ रस पिय न चहूँ।
गण व्यासनंद मंडल सभा ढरे कहन को कहा कहूँ॥

इनके ऐहिक जीवन का परिचय किसी भी भक्त चरित में नहीं दिया गया है, परन्तु इनके रसिक स्वरूप का चित्रण करते हुए श्री गोविन्द अलि ने उसे अकथनीय बताया है। ये अपने समय के विरक्त समाज में रसिकता की अन्यतम मूर्ति माने जाते थे। इष्ट मिलन की आतुरता इनकी आँखों में ऐसी झलक मारती थी मानो इन्होंने अभी-अभी अपने इष्ट की ललित लीलाओं का दर्शन किया है। कभी ये जड़वत् हो जाते थे और कभी नाचने-गाने और हँसने लगते थे। इस प्रकार युगल-केलि के रसोन्माद की अभिव्यक्ति इनके तन-मन-प्राण और रोम-रोम में झलका करती थी। ये रासमण्डल स्थित हित धर्मी साधुओं की संगति में रहा करते थे।

परिचयात्मक छन्द में वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग-बहुल है। कोई आश्चर्य नहीं कि ये महात्मा श्री गोविन्दअलिजी के सामने ही निकुंज-गामी हुए हों। गोविन्दअलिजी का रचना काल सं० १८४४ है। इस आधार से इनका समय सं० १७६० से सं० १८४५ तक माना जा सकता है।

श्या० बि० खं०

जुगलसुन्दरदास

स्वामी जुगलसुन्दरदास की प्रशंसा में 'चतुर्थ-बसंत प्रबंध' में निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं—

स्वामी जुगल सुन्दर जिनको सुनाम।
मुरलीधर सेवें अष्ट जाम॥

गुरुवर विलास किये सफल काम।
चाचरि जु खिलावैं श्यामाश्याम॥

स्वामी जुगलसुन्दरजी के ऐहिक जीवन से सम्बन्धित सभी बातें अज्ञात हैं। उक्त परिचयात्मक छन्द से इतना ही ज्ञात होता है कि ये गो० श्री विलासदासजी के कृपापात्र थे। ये अपने सेव्य ठाकुर श्री मुरलीधरजी की अष्टयाम सेवा में निरन्तर लगे रहते थे। इस सेवानुराग ने इन्हें सहज ही इष्टोपलब्धि करा दी थी।

इनके प्रधान शिष्य श्री सेवासखीजी ने अपनी 'विवेक सार सूरति' नामक कृति के मंगलाचरण में इनकी वन्दना निम्न प्रकार से की है—

श्री गुरु जुगल सुन्दर वर वंदौ इनके पाँय ।
जिन मोहि दीनौ धर्म वैष्णव की भक्ति दृढ़ाय ।।

सर्व शिरोमनि भक्ति धर्म है इन समान नहिं आन ।
इनको महिमा को कहै जाके बसि भगवान ।।

सेवा सखीजी के शिष्य श्री निर्मलानन्दजी ने अपनी रचना 'निर्मल प्रकाश' में गुरुदेव का चरित्र वर्णन करते हुए उनका जन्म मार्गशीष शुक्ला पंचमी सं० १६९९ में तथा पन्द्रहवर्ष की अवस्था के लगभग अर्थात् सम्वत् १७१४ में स्वामी जुगलसुन्दरजी से मंत्र प्राप्त होना लिखा है। इस तथ्य से यह तो सुनिश्चित ही है कि श्री स्वामी जुगलसुन्दरजी का प्रभाव सं० १७१४ में पर्याप्त रूप से फैल चुका था, तभी तो सेवा सखीजी जैसे जन्मजात सिद्ध महापुरुष सं० १७१४ में इनके शिष्य हुए थे।

स्वामीजी के पूज्य गुरुवर्य गो० विलासदासजी का विद्यमान काल सं० १६६५ से १७३५ तक माना जाता है। यदि गो० विलासदासजी की ३५ वर्ष की उम्र में स्वामीजी ने उनसे मंत्र लिया हो तो स्वामीजी का दीक्षा काल सं० १७०० के लगभग ठहरता है।

उक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए स्वामीजी का विद्यमान काल सं० १६६० से सं० १७४० तक अनुमान किया जा सकता है।

श्या० बि० खं०

जुगलेश कवि

जुगलेश कवि का पूरा नाम पं० युगलकिशोर मिश्र था। ये अपने कुलनाम युगलकिशोर मिश्र के रूप में न जाने जाकर 'कवि' रूप में 'जुगलेश' के रूप में लोकप्रिय हुए। इनका जन्म सम्वत् १९२० के निकट दतिया में हुआ था। ये दतिया नरेश महाराज भवानी सिंह जू देव के आश्रित कवि थे। कृष्णोपासक होने के नाते ये कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी कविताएँ लिखा करते थे। इनका कोई काव्य संग्रह नहीं मिलता, किन्तु कुछ फुटकल रचनाएँ उपलब्ध होती है। दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)

जे पग चाहत छुवन कौ, वे पग छुअन न देत।
नंगा ठाढ़ो गैल में चोर बलैया लेत ।।

(२)

एक ब्रजवाम के घुसे हैं धाम सूने श्याम।
खाय दधि माखन कियो है चित चंगा को ।।

ताहि समय ग्वालिनी अचानक आ पहुँची तहाँ।
खोलि कै कपाट झट भागौ तज दंगा को ।।

आगे 'जुगलेश' आली धाय दौरी पीछे एक,
मारग में शम्भू मिले धारे शीश गंगा को।
देखे हर हरि को पग छुओ न छुअन देत,
लेत है बलैया चोर देखि-देखि नंगा को ।।

त्रि० ना० शु०

जुगुल कवि

'शिवसिंह सरोज' में एक जुगुल कवि (सं० १७५५) का उल्लेख मिलता है। वहाँ मात्र इतना परिचय दिया गया है कि 'इनके बनाए हुए पद अति अनूठे एवं महाललित हैं।' इसको आधार मानकर जार्ज ग्रियर्सन ने भी जुगुल कवि तथा जुगुलदास को दो व्यक्ति मानते हुए भी, अभिन्न होने की संभावना व्यक्त की है क्योंकि जुगुल तथा जुगुलदास दोनों की छाप से पद मिले हैं। जो ललित पद 'सरोज' में उद्धृत है, वह इस प्रकार है—

दोऊ गलबहियाँ धरे हैं
रति रतिपति मति मोह दलित करि,
ललित कदंब तरे हैं।
घन दामिनी जामिनी कर की दुति,
तन मुख मंजु अरे हैं।
कमल मीन मद अंजन खंजन,
छवि चख चारु भरे हैं।

नील पीत पट, मीत अलौकिक,
सकल सिंगार करे हैं।
मंद मंद मुसकात परसपर,
प्रेम के फंद परे हैं।
छतियाँ 'जुगुल' जुगुल सियरावत,
बतियाँ करत खरे हैं।

इस ललित पद के आधार पर सरोज-सर्वेक्षणकार डॉ० किशोरीलाल गुप्त ने इनको राधावल्लभी सम्प्रदाय से सम्बद्ध बताया है।

जुगुलदास का रचनाकाल सं० १८२१ स्वीकार किया गया है। 'सरोज' में जो सं० १७५५ दिया गया है वह कवि का जन्मकाल हो सकता है।

नागरीप्रचारिणी सभा के तत्वावधान में किये गये खोज कार्य की कुछ रिपोर्टों में जुगुलदास के अन्य पद भी मिले हैं—

जुगलदास जस कीट भ्रंग, कृष्ण सुमिरि हो कृष्ण रंग।
चमक परत बनत मास, पुहमिं पुहमि पर प्रकाश,
ठान्यो जनु दुतिय रास, निरखत अधिकारी।
सब विधि मतिमन्द जासु, बरनत कवि जुगुलदास,
दीजै रति रसिक रास, आन आस टारी॥

इनके कुछ पदों में मात्र 'जुगुल' छाप भी मिलती है—

ब्रह्म सनातन सहित प्रेम,
जुगुल कियो बस बिनहि नेम।

एक अन्य पद का अंश—

मैं न के जाल विसाल नैन दोउ,
मैन फँसी ऐसी को न फँसी है।
जुगुल जाहि अनुराग न या छवि,
ताहि त्यागि मुँह लाइ मसी है।
सुर मुनि गावत पार न पावत,
जा जस दस आठ चार, षट।
जुगुल जाहि सिव धरत समाधि,
ताहि लगी राधा राधा रट॥

इनके युगलोपासना परक प्रचुर पद प्राप्त होते हैं।

ह० नं० भा०

जुगुलदास

झाँसी की रानी लक्ष्मीवाई के गुरु स्वामी जुगुलदास प्रणामी सम्प्रदाय के सम्मानित सन्त थे। इनका जन्म दतिया राज्य के एक लव्धप्रतिष्ठ कायस्थ परिवार में हुआ था। इनका जन्मकाल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, किन्तु शाहगढ़ नरेश महाराजा बखतवली सिंह जू देव के दरबार में उच्चासन पाने के आधार पर इन्हें उनका समकालीन और १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान कहा जा सकता है। स्वभावगत सरलता और मृदुता के कारण गाँव के लोग इन्हें 'जिया महाराज' कहा करते थे। इनका अधिकांश समय माँडेर में व्यतीत हुआ। इनकी समाधि माँडेर में आज भी है। कहते हैं कि जब छत्रसाल के वंशजों ने प्रणामी सम्प्रदाय के सन्तों को सताना शुरु कर दिया, तब जुगुलदास ने इस अत्याचार के विरुद्ध राजा हरवंशराय को पत्र लिखा था।

'परमधाम को बड़ी वृत्ति', 'मनमोहन रसानन्दसागर', छोटी और बड़ी पत्री, 'तारतम्य की प्रणालिका', 'वैराट निरूपण', 'महाकारण' और कुछ स्फुट पद इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। 'रसानन्दसागर' जुगुलदास की प्रसिद्ध गद्य-रचना है। इसमें प्रणामी सम्प्रदाय की साधना का विश्लेषण किया गया है। गार्हस्थ्य आश्रम वाले लोगों के द्वारा राधाकृष्ण को वशवर्ती बनाने के विषय में इन्होंने लिखा है—

'आचार रीति भाँति या दिनचर्या निजधाम पहुँचने की, पूर्णब्रह्म मिलने की, गृहस्थ आश्रम में फकीरी (त्याग वृत्ति वैराग) करने को जिस पद के त्याग से परमात्मा तक लोग पहुँचते हैं तिस पद को गृहस्थाश्रम द्वारा पहुँचने की और परलोक सुधारने की तथा श्याम-श्यामाजी तथा सद्‌गुरु सुन्दरनाथ को वश करने की लिखी।'

इनकी रचना-शैली और सखीभाव की कृष्ण-भक्ति के उदाहरण-रूप में एक पद नीचे दिया जाता है—

अचवन कीजै जुगल पियारे ।।
झाँझर भरि जमुना जल ल्याई,
धोइए मुख कर सतके माहीं ।
एक सखी रूमाल ले आई,
दूजिए बीड़ियाँ जुगल बनाई ।।

सकल मसाले ले बीड़ियाँ लगाई,
धरी आम हस्त कमल के माहीं ।
बीड़ी आरोग मुख प्राणपति,
कीन्ह गमन सिंहासन पाहीं ।।

मंद मंद मोरत मुख बीड़ी,
मंद मंद मुसकत बतराहीं ।
रंग सेज पर रंग रंगीले,
करत केलि पूरन चित चाहीं ।।

सम समै सुख भयो साथ जो,
"जुगल" सखी मुख आवत नाहीं ।।

रा० प्र० त्रि०

जुझारसिंह (महाराज)

दीवान हीरासिंह के सुपुत्र जुझारसिंह चरखारी-नरेश मलखानसिंह के बाद चरखारी की गद्दी पर १९०६ ई० में आसीन हुए थे। बुन्देलखण्ड की रियासतों के नरेश अधिकतर कृष्णभक्त रहे हैं, जबकि रानियाँ रामभक्त। दोनों माधुर्योपासक या रसिकभक्त हुए हैं। यही कारण है कि कृष्णभक्ति की माधुर्योपासना या सखी भाव की भक्ति नरेशों में और रामरसिक भक्ति रानियों में एक सुदीर्घ परम्परा के रूप में स्थिर रही। कहा जाता है कि ओरछा नरेश मधुकर-शाह और महारानी गणेश कुँवरि से दोनों भक्ति-धाराएँ प्रवाहित हुई थीं। जुझारसिंह भी युगल सरकार के भक्त थे। इनकी एक पंक्ति से यही संकेत मिलता है --

सिंह जुझार उर सर भयौ,
जहँ फूले युगल सरोज ।

जुझारसिंह ने रागबद्ध पदों और लोक काव्यात्मक गीतों का सृजन सरस शैली में किया था, जिनका संग्रह 'पूजन प्रकाश' (सं० १९४९) और 'भजन चंद्रिका' (सं० १९५३) में प्रकाशित हुआ था। भक्ति भावना से ओत-प्रोत इनके दो पद प्रस्तुत हैं—

(१)

कब मिलिहौ वृंदावन वासी ।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल,
गोल कपोलन डोलन खासी ।।

भौंह कमान कमल सम नैना,
कुंचित अलक अलिन द्युति भासी ।
नीलाम्बुज मुख शुक सम नासा,
अरुण अधर मुसक्यांन सुधा सी ।।

कोटि अनंग अंग पर वारौं,
पीरौ पट घन द्युति तड़िता सी ।
राव बहादुर पद युग वंदति,
होहु आंनि उर अजिर निवासी ।।

(२)

शरद चाँदनी सरस खिली री ।
उज्वल अमल व्योम राजति तर,
उद्दीपन रस रहल थली री ।
मणिन चाँदनी चमक रहीं अति,
प्रफुलित नवला कुसुम कली री ।
राव बहादुर राधा माधव,
पद पंकज मकरंद अली री ।।

न० प्र० गु०

जेठमल

जेठमल कायस्थजातीय कृष्णभक्त कवि हैं। ये सत्रहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। इनकी एक कृति 'श्री नरसी मेहता या मूंता की हुंडी' मिली है, जिसके अंतिम दोहे के अनुसार इसका रचनाकाल सन् १७६३ (सं० १८२०) है—सत असट दस ऊपरै, बीस बरस गुरुवार। इसके अतिरिक्त इनके बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती।

हु० नं० भा०

जैकृष्ण/दयाराम/नाथू/सदाराम

सर्वश्री जैकृष्ण, दयाराम, नाथू और सदाराम की भक्ति साधना का उल्लेख करते हुए 'चतुर्थ-वसंत प्रवन्ध' में कहा गया है—

जै कृष्ण मुकुट मणि भक्त भूप ।
दयाराम सु नाथू गुन अनूप ॥

दई भक्ति इन्हैं गुरु श्री हित रूप ।
सदाराम सहित लहो भक्ति ऊप ॥

ये चारों गो० श्री हित रूपलालजी के शिष्य थे। सम्भवतः ये बरसाने के वासी थे। इन चारों में जयकृष्णजी का स्थान भजन-भावना, अनन्य धर्म पालन तथा अन्य साधुजनोचित गुणों के कारण सर्वोच्च था।

इसके अतिरिक्त इनके ऐहिक जीवन से सम्बन्धित सभी बातें अज्ञात हैं।

गो० रूपलालजी के शिष्यत्व के आधार पर इनका विद्यमान काल सं० १७२५ से सं० १८२५ के मध्य स्थिर होता है।

श्या० वि० खं०

जैतसी

भक्तवर जैतसी की प्रशस्ति 'रसिक-अनन्य परचावली' तथा 'चतुर्थ बसंत प्रवंध' में इन शब्दों में की गई हैं—

रस बानी सौं प्रीति रीति गुरु मारग गहि कैं।
जहाँ रसिक संघट्ट संग तहँ करत उमहि कैं॥

वंश महाजन साधु शील गुन परम उपासी ।
श्री कुंजलाल गुरु भजन तेज बल सुमति प्रकासी ॥

भक्ति सकल कुल संचरी,
पुनि पूजत संत सु चेत सी ।
श्री वृन्दावन बसिबौ सदा,
रुचि कियौ नेम सौं जैतसी ॥

—रसिक अनन्य परचावली

हित धर्म परायण गनौ एह ।
जैतसी भक्ति मूरति सनेह ॥

रचैं फाग समाज जु आप ग्रेह ।
चित प्रेम द्रवे जाके अछेह ॥

—चतुर्थ-वसंत-प्रबंध

इनका जन्म एक सुसम्पन्न वैश्य कुल में हुआ था। ये बीकानेर (राजस्थान) के निवासी थे।

चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी ने 'हित रूप चरित्र वेली' नामक अपनी रचना में गो० हित रूपलालजी को प्रेषित गो० हरिलालजी का एक पत्र उद्धृत किया है जिसमें गोस्वामीजी ने लिखा है—'बीकानेर के महाजन हैं, वैष्णव हैं, जैतसी के बंधु वर्ग हैं, ये कुछ चाहैं तौ रुपया दीजौ।' (पत्र लेखन काल—कातिक वदी नौमी सं० १७६७)

किसी समय ये एक यात्री-मंडल के साथ वृन्दावन-दर्शनार्थ आये थे। यहाँ श्री राधावल्लभलालजी के दर्शन करके ये ऐसे विमुग्ध हुए कि इनको अपना घर-बार सब कुछ भूल गया और ये यहीं के हो गये। इनका अधिक समय रसिकों की संगति में व्यतीत होने लगा। रसिक संग ने इनके ऊपर ऐसा रंग चढ़ाया कि ये एक दिन गो० श्री कुञ्जलालजी के चरणों में आत्म समर्पण करके श्री हित धर्म परायण बन गये। गुरुवर्य के दर्शन और ओजस्वी प्रवचन से इन्हें वृन्दावन-रस-संप्लुत वाणियों और वृन्दावन वास के प्रति अनन्यता प्राप्त हो गई; फलतः इन्होंने वृन्दावन में ही निवास-स्थान बनवाकर आजीवन हरि-गुरु और संतों की सेवा-व्रत का निर्वाह किया। इतना ही नहीं, इनका समस्त परिवार ही इनकी हितैषणा पूर्ण ममता के कारण श्री हित चरणाश्रित बन गया।

'ये गो० कुञ्जलालजी (आषाढ़ वदी दसमी सं० १६९६ एवं निधन सं० १७६५ के आसपास) के शिष्य थे तथा सं० १७६७ में गो० हरिलालजी द्वारा लिखे एक पत्र में इनका स्मरण किया गया है'—इस

आधार पर इनका विद्यमान काल सं० १७०० से सं० १७७० तक अनुमान किया जा सकता है।

श्या० वि० खं०

जैदास (जैदासी)

जैदासजी सन्त चरणदासजी के शिष्य श्री आत्माराम इकंगी के प्रशिष्य (आत्मारामजी के शिष्य मानदासजी के शिष्य) थे। आत्मारामजी और इनके दो शिष्य श्री मानदास एवं लक्षिदास, जयपुर, दिल्ली तथा वृन्दावन में रहते हुए बड़े सम्मानित भक्त कवि हुए हैं। जैदासजी एक सिद्ध तथा प्रसिद्ध महात्मा हुए। चरणदासी अभिलेखों और स्वयं इनकी वाणियों से यह भ्रान्ति व्यापक रूप से व्याप्त है कि ये पुरुष नहीं बल्कि नारी थे। परन्तु अनेक अन्तर्साक्ष्यों तथा पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध होता है कि श्री जैदास रसिकोपासक भक्त महापुरुष थे। इनकी उपासना निकुञ्जोपासना की रीति की अनुवर्तिनी थी। इसलिये इनकी वाणियों में इनके नाम के साथ तथा अन्य उल्लेखों में इनके लिए स्त्री वाचक संकेत ही अधिक प्रयुक्त हैं।

इन्होंने अपनी 'भक्तिरतन-पोथी' नामक कृति में अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार अंकित की है—

दोहा

चरनदास सुभ नाम को, को करि सकै बखान।
निगम अगम महिमा कहैं, चरन सरब सुख खान॥
ता सिख आतमराम जू, तज माया जोगीश।
सो वै ब्रह्म सरूप हैं, मानदास के ईश॥

चौपाई

परणम आतमराम गुसाईं।
मानदास उपजे ता माहीं॥

पूरन ब्रह्म औतार गुसाईं।
संत सरूप धरयो जग माहीं॥

परमहंस मगन सुख भारो।
भ्रम तम भय गत आनंदकारी॥

भक्तप्रवर जैदासीजी के ऐहिक जीवन का परिचय अप्राप्त है। इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं—भक्तिरतन पोथी, कका बत्तीसी और (३) शब्द।

इनकी 'भक्तिरतन-पोथी' का रचना काल मंगलवार, ज्येष्ठ शुक्ल ११, सं० १८३७ वि० है। उस समय इनके परदादा गुरु श्री चरणदासजी विद्यमान थे। इस आधार पर कहा जा सकता है कि संत चरणदासजी के जीवनकाल (सं० १८३९ वि०) तक उनकी चौथी शिष्य पीढ़ी संप्रदाय-प्रचार तथा साहित्य-सृजन के क्षेत्र में सक्रिय हो चुकी थी। ऐसा सौभाग्य बहुत ही कम लोगों को प्राप्त होता है। 'भक्तिरतन पोथी' में कुल २३२ छंद समाविष्ट हैं। दोहा, छप्पय, अरिल्ल, चौपाई और सोरठा छंदों तथा गुरु-शिष्य-संवाद शैली में ज्ञान, भक्ति, नीति और लीलागान सम्बन्धी विषयों का इस ग्रंथ में बड़ा ही तर्क पूर्ण एवं सरस वर्णन प्रस्तुत किया गया है। जैदासजी एक अनुभवी विद्वान्, दार्शनिक, बहुपठित एवं बहुश्रुत रसिक भक्त थे। इनका यह ग्रंथ भक्ति की अपेक्षा ज्ञानमार्गोन्मुख अधिक दिखाई देता है। इसकी ज्ञान-वैराग्य युक्त कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सुन जैदास कहूँ समुझाई।
आतम अंश जीवता पाई॥

अनादि काल तें भरमत आयो।
अपना रूप आप बिसरायो॥

करम पेंच की गाँठ गुहायो।
तातें चौरासी भटकायो॥

भव अटवी में खेद अपारा।
ताके दुःख को वार न पारा॥

इनकी 'कका बत्तीसी' में क्रमशः भक्ति, प्रेम, ज्ञान और कर्म—इन चारों विषयों से सम्बद्ध ३२-३२ दोहे वर्णानुक्रम से वर्णित हैं। इस प्रकार इसके छन्दों की संख्या ३२×४=१२८ है। इन दोहों में कवि सानुप्रासिकता और बुद्धिवैभव का प्रदर्शन

की परिपक्व कवित्व शक्ति के परिचायक हैं। उदाहरणार्थ 'ट' और 'ठ' से आरम्भ 'ज्ञान को अंग' के निम्न दोहे देखने योग्य हैं—

टकर लगी गुरु शब्द की, टार भरम जग ब्याध।
टिके रहो निज समझ मैं, टीकों ब्रह्म अनाद ॥

ठहरा करमन की दिशा, ठाहर देख निज सार।
ठिठक रहै अज्ञान तम, ठोक ज्ञान उर धार ॥

जैदासजी के २७ पद सरसकुंज, जयपुर की पांडुलिपि संख्या ३२१ में संकलित हैं। इनके शब्दों का संग्रह काल सं० १८६९ वि० अंकित है। संभव है कि तब तक ये जीवित रहे हों। इनके संग्रहकर्ता एवं लिपिकार जैदासजी के शिष्य केवलदासजी हैं, जो स्वयं भी अच्छे कवि थे।

जैदासजी के अधिकांश शब्द या पद राधा-कृष्ण युगल के सौंदर्य वर्णन या उनकी लीला वर्णन से संबद्ध हैं। इस तथ्य को प्रमाणित करने वाले 'शृंगार-आरती' के इनके तीन पद यहाँ उद्धृत हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१)

करत सखी सृंगार आरती।
कंचन थार कपूर की बाती ॥

ज्योति जगाइ अंगन पै वारति।
गौर स्याम सोभा के सागर ॥

इक टक नैनन रूप निहारति।
निरतत तान गान धुनि छाई ॥

हिल मिल जै जै शब्द उचारति।
अंसन भुज धरि बैठे सिंहासन ॥

दोउ दिसि सहचरि चांवर ढारति।
जैदासी सुखरासि जुगल की ॥

यह सोभा निज उर धरि धारति,
करत सखी सृंगार आरती ॥

(२)

राग झिंझोटी

लाल तेरी लटक चाल पै वारी।
मोर मुकुट सिर बंसी अधर धरि, करत कटाक्ष विहारी ॥

अलक रही बल खाय कपोलन, कुंडल झलक सुढारी।
ग्रीव लटकि मोतियन की माला बनमाला उरधारी ॥

पीतांबर कटि सुंदर सोहै नूपुर की झनकारी ॥
चरन कमल सोभा कहँ बरनौं कोटि चंद उजियारी ॥

मानदास गुरु प्रीतम प्यारे अद्भुत लीला धारी।
जैदासी लखि अलबेली छबि नैंकु न रही सँभारी ॥

(३)

अरी मैं मोहन रूप लुभांनी।
मोर मुकुट हीरामणि सोहै भाल तिलक दुतमांनी।
भौंहें कुटिल तीखे रुचि नैना चंचल चपल बिनांनी ॥

स्याम बदन नासा छबि मोती करन कुंडल झलकांनी।
अरुन अधर पर मुरली राजै अलक रही बिथरांनी ॥

मानदास गुर अंतरजामी दरस कटाछि लखांनी।
'जैदासी' मन मगन होय करि तन मन दे बलि जांनी ॥

श्या० सु० शु०
म० गो भा०

जैमल

जैमल क्षत्रिय कुल में उत्पन्न राधावल्लभीय भक्त थे। इनका अधिकांश समय कथा कीर्तन, नित्य नैमित्तिक सेवा-सत्संग आदि में व्यतीत होता था। इन्होंने तन-मन-धन प्रभु को अर्पित कर दिया था और अहंता-ममता का इनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं रहा था। एक दिन इनको विचार आया कि स्वामी और सेवक मकान की एक ही मंजिल में नहीं रहने चाहिये, प्रभु का मन्दिर अपने निवास की जगह से ऊँचा होना चाहिये। यह सोचकर इन्होंने अपने घर पर एक नई मंजिल बनवाई और बहुत-सा धन खर्च करके उसकी सज्जा करवाई। वहाँ इन्होंने गमलों में अनेक प्रकार के पुष्प और लतायें लगाकर श्री वृन्दावन का

दृश्य उपस्थित किया। इन्होंने साम्प्रदायिक परिपाटी के अनुसार समय-समय की सेवा और भोग-राग का प्रवन्ध किया और उसका पूर्ण भार अपने ऊपर ही रखा। इन्होंने एक नसैनी बनवा रखी थी जिस पर चढ़कर ये गुप्तरूप से मन्दिर में जाते थे और सेवा करने के बाद उस नसैनी को उठाकर रख देते थे। इनकी रानी को भी इस बात का पता नहीं होने पाया था। वह इस रहस्य को जानने के लिए बड़ी उत्सुक थीं।

एक दिन जैमलजी भक्तों के साथ सत्संग कर रहे थे। रानी यह अवसर देखकर सीढ़ी द्वारा ऊपर की मंजिल में पहुँच गई। उसने मंदिर के किवाड़ खोले और युगल को स्वर्ण शैया पर लेटे हुये देखा। महीन वस्त्र ओढ़े हुये गौर और श्याम दो तेज शयन कर रहे थे और उस नवनिर्मित भवन में उनकी छवि झलमला रही थी। विद्युत के समान इस अद्‌भुत रूप-प्रभा को देखकर रानी काँप उठी और गिरती-पड़ती सीढ़ियों से उतर कर नीचे आ गईं। उसने अवसर देखकर पति को यह घटना सुनाई। जैमलजी ने क्रुद्ध होकर उससे कहा कि तूने अनवसर में शैया के किवाड़ क्यों खोले? किन्तु मन में उन्होंने पत्नी के भाग्य की सराहना की और प्रभु की करुणा का विचार करके गद्‌गद हो गये।

जैमलजी अनेक वर्षों तक इसी प्रकार सेवा और सत्संग करते रहे। ये गुरु रीति से पाँच आरती और सात भोग की अष्टयाम सेवा अत्यन्त प्रीतिपूर्वक करते थे। उसमें इनको सवा प्रहर (पौने चार घंटे) लग जाते थे। सेवा से निवृत्त होकर ये सभा में आते थे और वहाँ अपने सब सरदारों से नाम जप-कराते थे। इन्होंने बड़े-बड़े तुलसी के मनियों की एक लम्बी माला बनवा रखी थी। ये और इनके सरदार एक ही माला फेरते थे। माला का सुमेरु जैमलजी से आरंभ होता था और पौने दो घंटे बाद वह घूमता हुआ पुनः इनके हाथ में आ जाता था। इनके शत्रुओं ने अनेक बार भजन में विघ्न डालना चाहा, किन्तु श्री राधावल्लभ लाल सदैव इनकी रक्षा करते रहे। मड़ोवर का राव इनसे बहुत द्वेष रखता था। उसने कई बार इन पर आक्रमण किया, किन्तु सदैव पराजित हुआ। वह सदैव जैमलजी को नीचा दिखाने का अवसर ढूँढ़ा करता था। किसी ने उसको यह सूचना दी कि जैमलजी सेवा और नाम जप में लगभग छः घंटे का समय प्रतिदिन लगाते हैं। इस समय में ये किसी की कोई बात नहीं सुनते। यदि कोई कुछ कहता है तो उसे दण्ड देते हैं। यदि आप उन पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं तो इसी समय चढ़ाई कर दीजिये। राव की समझ में यह बात आ गई और उसने दस हजार घुड़सवार एवं तीस हजार पैंदल सैनिक लेकर जैमलजी के नगर को घेर लिया।

जैमलजी उस समय सभा में बैठे हुये सरदारों के साथ माला फेर रहे थे। नगर के लोग राव के नगाड़ों की आवाज सुनकर एकदम भयभीत हो गये और जैमलजी के पास कोलाहल करते हुये पहुँचे, किन्तु किसी का साहस उनसे कुछ कहने को नहीं हो रहा था। अंत में प्रजाजनों ने जैमलजी की वृद्धा माताजी से आग्रह करके उनको जैमलजी के पास भेजा। माताजी ने अपने पुत्र से कहा कि मड़ोवरियों ने नगर घेर लिया है और तुमने अपने सब सरदारों को नाम जप में अटका रखा है। जैमलजी ने शांतिपूर्वक अपनी माँ से कहा कि तुम घबराओ नहीं, प्रभु की इच्छा से सब ठीक होगा। इस बात को सुनकर सब लोग निराश हो गये और अपनी मृत्यु निश्चित मान ली।

उधर जैमलजी की अद्भुत निष्ठा देखकर भगवान् का हृदय अकुला उठा और वे तत्काल जैमल का रूप धरकर उनके गढ़ में उपस्थित हो गये। अश्वपालक ने जैमलजी की सवारी के लिये घोड़ा सजा रखा था। जैमल रूपधारी भगवान् उस घोड़े पर सवार होकर गढ़ के बगीचे वाले दरवाजे से बाहर निकले। मड़ोवरियों को वे काल के रूप में दिखाई दिये

और राव की सम्पूर्ण सेना में महाभय की लहर फैल गई। घोड़े पर सवार एक भगवान् उनको अनेक जैमल के रूप में दिखलाई देने लगे। वीर सैनिकों ने उनका मुकाबला करना चाहा, किन्तु जब एक तीर से सौ-सौ आदमी मरने लगे तब राव की सेना में भगदड़ मच गई और अधिकांश सैनिक अपने शस्त्रों को वहीं छोड़कर भाग खड़े हुये। मैदान साफ देखकर भगवान् गढ़ में वापस आ गये। उन्होंने घोड़े को उसके स्थान पर बाँध दिया और अन्तर्धान हो गये। चरितकार ने लिखा है कि—

यों अनन्य जन के वश श्याम।
अपनो मान करत सब काम॥

उधर जैमलजी का जब नित्य नियम पूरा हुआ तो उन्होंने युद्ध के लिये अपना घोड़ा मँगाया। अश्वपालक ने निवेदन किया कि घोड़े पर से अभी तो आप उतरे हैं। अब पुनः सवारी क्यों कर रहे हैं? जैमलजी ने जाकर देखा तो घोड़े के शरीर से पसीने की धारायें बह रही हैं। यह देखकर जैमलजी को बहुत आश्चर्य हुआ। बगीचे में से निकलकर जब ये बाहर आये तो उनको युद्धक्षेत्र की स्थिति देखकर और अधिक विस्मय हुआ। किसी बात का निश्चय न कर पाने से इन्होंने पाँच सवार वास्तविक स्थिति समझने के लिये भेजे। सवारों ने आकर कहा कि आप अभी तो शत्रुओं को भगाकर आये हैं। इस समय शत्रु का कोई सैनिक दूर-दूर तक नहीं दिखाई दे रहा है। जैमलजी ने गद्गद् होकर कहा कि प्रभु ने सदैव भक्तों के कार्य सँभाले हैं और उनकी रक्षा की है। चारों युगों में वे भक्तों की रक्षा के लिये दौड़ते रहे हैं। मुझसे तो उनकी कोई भक्ति बनी नहीं, मैं इस बात को समझ नहीं पा रहा हूँ कि वे मेरी किस बात पर रीझ गये—

भक्तन के दुःख दुःखी प्रभु सुख सौं सुखी सुजान।
भगवत साँचे प्रेमवश कहत जो वेद पुरान॥

महाराज रघुराजसिंह ने इस घटना का विवरण निम्नलिखित छंद में दिया है—

जानि निज सेवक निरत निज पूजन में,
चढ़ि कै तुरंग श्याम रंग कौ सवार है।
कर करवाल धारि कालहू को काल मानो,
पहुँच्यो उताल जहाँ सैन्य बेशुमार है॥

चपला सों चमकि चहूँ कित चलाइ बाजी,
भटन की राजी काटि करत प्रहार है।
रघुराज भक्तराज लाज राखिबे के काज,
समर विराज्यौं वसुदेव कौ कुमार है॥

इनकी भक्ति के प्रताप का प्रशस्तिगान चाचा वृन्दावनदास ने भी किया है—

लक्ष नाम की दाम नेम सों नित प्रति फेरै।
दूत बतायौ भेद आइ अरि पुर कौं घेरै॥

धाइ चढ़े रन श्याम शत्रु सब मरिबौ मान्यौ।
ऐसे जन आधीन विदित जग परचौ जान्यौ॥

श्री हरिवंश कृपा करी साधु सेइ सुख रहे भरि।
जैमल भक्ति प्रताप तें अस्व पलान्यौ आपु हरि॥

(रसिक अनन्य परचावली—१२७)

ल० च० गो०

स० गु०

जैरामदास

जैरामदासजी संत चरणदासजी के यशस्वी शिष्य थे। 'लीला सागर' के अनुसार इनका जन्म स्थान दिल्ली के निकट स्थित खूबड़ू नामक ग्राम था। जैरामदासजी के जन्मस्थान और जाति के संबंध में चरणदासजी सम्प्रदाय के आचार्यों में एक मान्यता यह है कि ये काशी की पंचक्रोशी की परिक्रमा में पड़ने वाले शिवपुर (स्यापुर या शाहपुर) के मूल निवासी थे और जाति के ब्राह्मण थे। तीर्थाटन के क्रम में एक बार जब ये वृन्दावन गये तब वहाँ चरणदासजी की ख्याति सुनकर उनके दिल्ली स्थित आश्रम में जा पहुँचे। इस प्रकार चरणदासजी से दीक्षित होकर उनके शिष्य हो गये और उनके आदेश से पुनः काशी में स्थान बनाकर धर्मप्रचार में रत हुए। परन्तु 'लीलासागर' के रचयिता एवं गुरुभाई

श्री जोगजीत ने इनके विषय में जो तथ्य अंकित किया है, वह इस मान्यता से भिन्न है और विश्वसनीय भी है।

जोगजीत के कथनानुसार ये उक्त खूवड़ू नामक ग्राम के एक मध्यमवर्गीय परिवार के सद्गृहस्थ थे। एक बार जब जोगजीतजी रामत (धार्मिक यात्रा) के क्रम में साधु-मंडली सहित कुछ दिनों के लिए खूवड़ू में टिके थे, उनका प्रवचन सुनने के लिए जैरामदासजी भी आया करते थे। इस कार्यक्रम से ये इतने प्रभावित हुए कि इन्होंने गृहत्याग का निश्चय कर लिया। जैरामदासजी के परिवार वालों और स्वयं जोगजीतजी ने ऐसा करने से रोकने का पर्याप्त प्रयत्न किया, परन्तु ये अपने निश्चय पर अडिग रहे।

जोगजीतजी की साधु-मंडली ने खूवड़ू गाँव से चलकर भट्ट नामक गाँव में डेरा डाला। उन्हीं दिनों जैरामदासजी चरणदासजी का आश्रय ग्रहण करने के लिए चुपचाप दिल्ली चले गये। जब इनके घर के सदस्यों को इस बात का पता चला तो इन्हें वापस लाने के लिए वे लोग चरणदासजी के यहाँ पहुँचे। जब चरणदासजी को जैरामदासजी के विषय में ये सब बातें ज्ञात हुईं तो उन्होंने जैरामदास को आदेश दिया कि ये घर लौट जायँ और वहीं रहकर भजन-भाव करें।

गुरु के आदेश का प्रत्यक्ष तो जैरामदास ने उल्लंघन नहीं किया, परन्तु मूत्रत्याग के बहाने आश्रम के बाहर जाकर इन्होंने अपना लिंग ही काट डाला और उसे घर के लोगों के समक्ष रख दिया। इस घटना से इनके परिवार तथा संबंध के लोग बड़े दुखी और निराश हुए। इनकी इस दृढ़ता को देखकर चरणदासजी बहुत प्रभावित और द्रवित हुए। उन्होंने जैरामदासजी का उपचार कराया और स्वस्थ हो जाने पर इन्हें अपना शिष्य बना लिया।

इसके आगे का वृत्त श्री जोगजीतजी ने इस प्रकार दिया है—

साधु वेश दे शिष्य करायो।
जैरामदास जु नाम धरायो॥

योग युक्ति रख पास सधाये।
ज्ञान ध्यान विज्ञान दृढ़ाये॥

तारन तरन जु संत बनायो।
रामत को तेहिं विदा करायो॥

प्रथम जन्म भूमि मधि आये।
करि बहु शिष्य हरि भक्ति दृढ़ाये॥

बहु उपदेश किये और ठौरी।
रमत गये काशीपुर ओरी॥

सो० धन्य जु शाहपुर गाँव, जैरामदास जहाँ बसे।
बहुत भयो सरनाम, जोगजीत परताप तिन॥

इस कथन के साक्ष्यानुसार दीक्षाग्रहण के उपरान्त काफी समय तक जैरामदासजी दिल्ली में ही रहे। गुरु के आदेश से धर्मप्रचार (रामत) करने के क्रम में सर्वप्रथम ये अपने जन्मस्थान खूवडू नामक गाँव में गये। वहाँ कुछ दिनों तक सत्संग, भजन और भक्तिपरक प्रवचन का लाभ अपनी मातृभूमि के निवासियों को देने के उपरान्त क्रमशः पूर्व की ओर बढ़ते हुए ये काशी नगर में पहुँचे। कुछ लोगों की मान्यता यह है कि ये काशी (वाराणसी) न जाकर उत्तराखंड में स्थित काशीपुर नामक स्थान में रहकर धर्मप्रचार करते थे।

काशी की पंचक्रोशी परिक्रमा में जितने भी शिवपुर या शाहपुर नामक स्थान हैं, वहाँ पूर्वकाल में स्थापित किसी भी चरणदासी स्थान का अवशेष वहाँ के निवासियों की जानकारी में नहीं है। स्व० महन्त गंगादासजी की सूचना के अनुसार श्री जैरामदास का आश्रम वर्तमान दुर्गा मंदिर के आस-पास कहीं था। इस आधार पर खोज करने पर पता चला कि मानस मंदिर और दुर्गाजी के मंदिर के सामने स्थित बादशाह बाग मूलतः चरणदासियों का ही स्थान था, जो बाद में अवध के नवाबों की संपत्ति हो गया और अब तो

वहाँ आवास-विकास परिषद् की आवासीय कॉलोनी बन गई है।

चरणदासी संप्रदाय के पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा और राजस्थान में आयोजित हुए सत्रहवीं या गद्दीनशीनी के सामूहिक आयोजनों में काशी से कभी कोई नहीं उपस्थित हुआ है। अतः कहा जा सकता है कि जैरामदासजी सं० १८५० वि० के पूर्व परलोकगामी हो चुके थे और उनकी शिष्य-परम्परा एक-दो पीढ़ी के आगे नहीं चली थी। मुंगेर, हजारीबाग और मुर्शिदाबाद की चरणदासी गद्दियों या बैजनाथ जी की यात्रा हेतु पश्चिम से चले साधुगण प्रायः काशी में जैरामदासजी के स्थान में रुकते रहें होंगे, परन्तु चरणदासजी, स्वामी रामरूपजी और गोसाईं जुगतानंद आदि वरिष्ठ एवं नियामक आचार्यों के अभाव में सुदूरवर्ती केन्द्रों से संपर्क टूटता गया होगा। जैरामदास की गद्दी के संबंध में भी यही बात लागू होती है।

जैरामदासजी की वाणियाँ अप्राप्त हैं। इनकी साधना अन्य चरणदासी गुरुभाइयों के समान ही राधाकृष्ण युगल की अष्टयाम उपासना रही होगी, इसमें संदेह नहीं है।

श्या० सु० शु०

जोगजीत

संतप्रवर जोगजीत चरणदासी संप्रदाय के प्रवर्त्तक एवं विख्यात मध्यकालीन कृष्णभक्त कवि श्री चरणदास के वरिष्ठ शिष्य थे। इनका जन्म सं० १७७४ वि० में दिल्ली नगर के एक भार्गव परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री गोविन्दराम था। जोगजीतजी का पारिवारिक नाम हरिदास था। १२ वर्ष के अल्पवय में ही इन्होंने चरणदासजी की शरणागति ग्रहण कर ली थी। इन्होंने तब से लगातार १३ वर्ष तक योगाभ्यास किया। इनकी योगजन्य सिद्धि के कारण ही गुरुदेव ने इन्हें 'जोगजीत' की उपाधि प्रदान की थी। इनके ध्यानयोग की निपुणता ने भी चरणदासजी को प्रभावित किया था। इसीलिए श्री जोगजीत को 'ध्यानेश्वर' की उपाधि देकर उन्होंने इनकी योग्यता को सम्मानित किया था। इनकी गुरुनिष्ठा भी सब प्रकार से अनुकरणीय तथा प्रशंसनीय थी। इसीलिए ये 'गुरुभक्तानन्द' के नाम से भी विख्यात थे।

जिस समय ये योग साधना के अभ्यास में रत थे, एक दिन इन्होंने अपने समर्थ गुरु श्री चरणदास से राधाकृष्ण युगल के प्रत्यक्ष दर्शन की लालसा प्रकट की। गुरु ने समाधि की स्थिति में इन्हें दर्शन करा दिया। तबसे ये स्वयं ही एक सिद्ध महात्मा हो गये। इन्होंने दिल्ली और वृन्दावन के बीच कई बार रामत (धर्म-यात्रा) करते हुए सहस्रों व्यक्तियों का उपकार किया और अपने सिद्धिबल से प्रभावित करके उन्हें अपना शिष्य बनाया। इनके द्वारा रचित चरणदासी सम्प्रदाय के इतिहास ग्रन्थ 'लीलासागर' में इनकी अनेक सिद्धियों और तज्जनित चमत्कारों का वर्णन है। इन चमत्कारों में मृत व्यक्तियों को जीवित करने, बालिका को बालक रूप में परिवर्तित कर देने, विकलांगों को स्वस्थ-सुन्दर रूप प्रदान करने और अकाल-महामारी आदि दैवी विपदाओं के निवारण के अनेक वृत्त समाविष्ट हैं।

गुरु के जीवनकाल में ही सं० १८२० वि० के आस-पास खुर्जा में इन्होंने अपना प्रथम थाँभा (आश्रम) स्थापित किया था जिसे इनके शिष्य सनेहीदासजी ने पर्याप्त विकसित रूप प्रदान किया। चरणदासजी यहाँ कई बार पधारे थे और कई-कई दिनों तक सत्संग और भंडारा का कार्यक्रम चला था।

खुर्जा के अतिरिक्त कुरुक्षेत्र, अजराड़ा (हापुड़) सवाद (थानेश्वर, हरियाणा), शाहजहाँपुर (रिवाड़ी) और जगाधारी में भी जोगजीतजी के प्रचार केन्द्र (आश्रम या थाँभे) स्थापित हुए थे। इनके शिष्यों में ब्रह्मपरसादजी (कुरुक्षेत्र), रामसनेहीजी (सवाद), रतनदासजी (अजराड़ा), मोहननिवासजी (जगा-

धरी), गुरुनिवासजी और मुरारदासजी बड़े ही योग्य और प्रभावशाली संत हुए। इन सभी गद्दियों का इतिहास प्राप्त है।

जोगजीतजी चरणदासी साहित्य धारा में एक महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जहाँ इस संप्रदाय के अधिकांश कवियों ने स्फुट वाणियों या आख्यानों आदि की रचना की है, श्री जोगजीत ने दो महाकाव्यों की रचना की है। उनका प्रथम प्रबंध काव्य है 'लीला सागर', जिसके नायक स्वयं श्री चरणदास हैं। दूसरे प्रवन्ध काव्य 'जैमिनि अश्वमेध पर्व भाषा' को भी इनकी मौलिक कृति मानना चाहिए। यद्यपि 'जैमिनि अश्वमेध' के साथ 'पर्व' और 'भाषा' शब्द जोड़कर इन्होंने इसे अनूदित रचना होने का आभास दिया है, परन्तु तथ्य ऐसा नहीं है। संभवतः मूल पांडुलिपि के प्रतिलिपिकारों ने अपने विशेष ज्ञान का उपयोग करके इस प्रकार का शीर्षक दिया है। वस्तुतः महाभारत में वर्णित इस कथा को आधार बनाते हुए भी जोगजीतजी ने इसे मौलिक प्रबन्ध काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है। इसकी जो पांडुलिपि मेरे देखने में आई है वह नागौर (नगर) निवासी एवं साहित्यान्वेषी श्री जगदीशजी राठौर के यहाँ सुरक्षित है।

इसके अतिरिक्त इनकी स्फुट वाणियों का भी एक संग्रह उपलब्ध है जिसमें निर्गुण और सगुण साधना विषयक २०० से अधिक पद संगृहीत हैं। ये पद विभिन्न शास्त्रीय एवं अर्धशास्त्रीय रागरागिनियों में निवद्ध तथा ज्ञान, वैराग्य, ज्ञान-विरह, उपदेश, चेतावनी और श्री राधाकृष्ण युगल की लीला के गान आदि से संवद्ध हैं। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, गुरु कृपा से तथा स्वतः की साधनामूलक सिद्धियों से श्री जोगजीत को कई बार रास परिकर सहित श्री श्यामाश्याम युगल के दर्शन हुए थे। यह इनकी रसोपासना, अष्टयाम सेवा, मानसी ध्यान और शुद्ध आचार-विचार का प्रतिफल था। श्री जोगजीत न केवल चरणदासी सम्प्रदाय के इतिहास रचयिता, सिद्धान्त व्याख्याता और उच्चकोटि के भक्त थे वल्कि एक महाकवि के रूप में भी इनका स्थान अक्षुण्ण है। हिन्दी जगत् इनकी कृतियों से अनभिज्ञ रहने के कारण एक अमूल्य काव्य निधि से वंचित है।

जोगजीतजी का 'लीलासागर' चरणदासजी के जीवनकाल का एक आँखों देखा हाल प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। इस काल खंड में हुए मुहम्मदशाह रंगीले सहित पाँच मुगल बादशाहों, जयपुर नरेश सवाई जयसिंह, ईश्वरीसिंह, माधोसिंह और प्रताप सिंह तथा अलवर, कोटा, बूंदी, पानीपत, कर्नाल, लाहौर और अवध के तत्कालीन शासकों आदि का वृत्त जिस प्रामाणिकता एवं तटस्थता के साथ इन्होंने 'लीलासागर' में वर्णित किया है, वह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। वस्तुतः चरणदासजी का व्यक्तित्व इतना अलौकिक और व्यापक था तथा जोगजीतजी उनके इतने निकट थे कि इनकी यह कृति अद्भुत रूप से प्रामाणिक और शोध-सम्पन्न हो पाई।

इस ग्रन्थ में प्रयुक्त भाषा में भी देश, काल और पात्र के प्रसंगानुसार बड़ा वैविध्य है। जहाँ किसी मुसलमान की उक्ति प्रयुक्त हुई है या मुस्लिम परिवेश का वर्णन प्रारम्भ हुआ है, जिसकी बानगी लीलासागर के निम्न पद में परिलक्षित है—

हिल मिल खुशी होन जब लागे।
खुलक प्यार के रस में पागे॥

रदल बदल खालिक की आई।
जात सिकात सभी समझाई॥

दरजे दरजे ही सब खोले।
उनकी ही बोली में बोले॥

शगल इश्क की चालो बातें।
मगन भया बहुतें मन यातें॥

शेर रुबाई आयत हदीसा।
चरचा हुई जु बिस्वा बीसा॥

तारीफें करने लगा, होकर वह महजूज।
तुम हो कामिल औलिया, बड़ी समझ अरु सूझ ॥

इसी प्रकार प्रकृति वर्णन करते समय कवि शब्द-चित्र रचना में पूरा नैपुण्य प्रकट करता है। इस संबंध में ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

बिजुरी चमकि गगन घनघोरा।
जित तित बोलत दादुर मोरा ॥

उमड़े बादर झड़ी लगाई।
सरिता उमगि अधिक गहराई ॥

हरी भूमि ऋतु नई सुहाई।
झींगुर शब्द सों टेर लगाई ॥

बाग वृक्ष फल फूल सुहाये।
बेलि बेलि में पुहुप दिखाये ॥

अब श्री राधाकृष्णयुगल की विविध लीलाओं के गान से संबंधित वाणियों में से दो पद कवि की निकुंज रस-भावना के परिचायक रूप में यहाँ उद्धृत हैं—

(१)

राग भैरूँ

होरी हरि खेलत रंग भरी।
हौं जावत जमुना जल भरने,
परबश जाय परी ॥

भरि पिचकारी मुख पर मारी,
सुध बुध सब बिसरी।
अबिर गुलाल उड़ावत लालन,
चल न सकत मग री ॥

टोना सी कछु कीनों री,
आली चितवन चित्त हरो।
वै मूरति मन मोहनि मेरे,
हिय बिच रहत अरी ॥

निशि वासर सोवत अरु जागत,
बिसरत नाँहि परी।
जोगजीत चरणदासी होकर,
भव जल पार तरी ॥

(२)

वंशी का पद

ऐ ब्रजबासी साँवरे नेकु,
बंसी मधुर धुनि टेर हो।
जबतें भनक परी मेरे श्रवननि,
तबतें रहत उसेर हो ॥

जैसी तू वा दिना बजाई,
वैसी सुनावो फेर हो।
तड़पत प्राण धरत नहि धीरज,
ज्यों ज्यों होत अबेर हो ॥

छिन छिन में गति और हमारो,
मरतक तन जिय गेर हो।
जोगजीत महाराज लेउ सुधि,
चरण कमल लगि तोर हो ॥

इनके श्री राधा संबंधी पदों में कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन दिखाई नहीं देता। जोगजीत जी की राधा विश्वमोहिनी, जगज्जननी, मर्यादा की खानि और भक्तवत्सल हैं। उनका श्री कृष्ण के साथ जो चिर-स्नेह का संबंध है वह पूर्णतः आदर्शमय तथा मर्यादित है। स्वामिनी श्री राधा के समक्ष जोगजीत जो आर्त्त भाव से निवेदन करते हुए कहते हैं—

मेरी प्राण जीवन राधे,
तुम बिन कैसे रहिये।
जो पल प्यारी होवत न्यारी,
तरफ तरफ जिव दैये ॥

बिरह बिथा अति ही बाढ़त है,
ये दुख कासों कहिये।
बाँह गहे की लाज निभावो,
तुमको यौं नहिं चहिये ॥

प्रणतपाल कृपाल किशोरी,
अपनी जान निभैये।

जोगजीत चरण दासि तिहारी,
जनम जनम की कहिये ॥

जोगजीतजी स्वयं तो कवि क्या, महाकवि थे ही, साथ ही इनके कई शिष्य-प्रशिष्य भी अच्छे कवि हुए हैं। इस प्रकार जोगजीत जी ने हिन्दी भक्ति साहित्य भंडार को समृद्धि प्रदान की है, वह सब प्रकार से प्रशंसनीय है।

श्या० सु० शु०

जोरीदास

जोरीदास गोस्वामी कमलनयन (सम्वत् १६९२-१७५४) के शिष्य थे। ये अत्यन्त विरक्त महानुभाव थे और आटे की चुटकी माँगकर अपना निर्वाह करते थे। जो आटा ये माँगकर लाते थे उसी की रोटियाँ बनाकर ठाकुरजी को भोग लगाते थे। रोटियों के साथ अनेक दोनों में जमुना-जल भरकर ठाकुरजी के सामने रख देते थे और उस जल में अनेक प्रकार के व्यंजनों की भावना करते थे। भोग लगने के बाद यदि कोई इनसे प्रसाद माँगता था तो ये उसको उसका माँगा हुआ व्यंजन उन दोनों में भरकर दे देते थे। माँगने वाले को उन दोनों में भरे हुये जमुना जल में उक्त व्यंजन का स्वाद मिल जाता था। चाचा वृन्दावनदासजी ने कहा है कि इनके गुरु कमलनयनजी की कृपा से इनके मन में युगल दर्शन की कामना बहुत तीव्र बढ़ गई और इनकी भावना सफल हो गयी। 'रसिक अनन्य परचावली' में इनके सम्बंध में कहा गया है—

चुटकी लावैं माँगि,
तासु कौं पाक बनावैं।
जमुना जल भरि दोंननि,
बिंजन भोग लगावैं॥
विविध स्वाद तिन माँहि,
प्रसाद लेहि सोई जानैं।
गीता साखि प्रमान भक्ति सौं,
प्रभु रुचि मानैं॥
श्री कमल नैन गुरु कृपा तें,
बढ़ी जुगल दास मन कामना।
विरक्त जोरीदास उर,
उज्ज्वल दरसी भावना॥

ल० च० गो०

जोरीलाल

'रसक अनन्य परचावली' में गो० जोरीलाल की प्रशस्ति में कहा गया है—

श्री जुत जोरी लाल दया आगर अति नागर।
सेव्य सु रंगीलाल नगर देवन जु उजागर॥
भजन तेज करि दिपत विमुख जन कायर कूरन।
शरणागत ही होत भक्ति रस कीने पूरन॥
श्री हरिवंश प्रसाद लहि सदा भावना मन मुदित॥
श्री सदानन्द नन्दन गुनी दुनी विदित हित कुल उदित॥

गो० श्री जोरी लाल जी का जन्म सहारनपुर जिले के देववन नामक नगर में हुआ था। इनके पिता गो० श्री गोपीनाथात्मज श्री सदानन्दजी थे। परमाराध्य विग्रह श्री रंगीलालजी की सेवा इन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी। अतः इनका अधिक समय इष्ट की अष्टयाम सेवा में व्यतीत होता था। सेवा से अवकाश मिलने पर ये इष्ट की मानसी सेवा में लग जाते थे। इन्हें अनेक शास्त्रों के साथ-साथ श्री हिताचार्य चरण के उपासना सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान था। अतः इनके पास हित-रस-रसिकों तथा सर्वसाधारण जिज्ञासुओं की भीड़ बनी रहती थी। अनेक कलाओं के मर्मज्ञ होने के साथ-साथ यह परम दयालु प्रकृति के थे। इन्होंने अपने सदुपदेशों के द्वारा अनेकानेक विमुख-जनों को भी श्रीहित-पथ-पथिक एवं रसिक बना दिया। आपके उज्जवल ललाट पटल से भक्ति का तेज झलकता था। आपकी कल-कीर्त्ति उस समय काफी छायी हुई थी।

इनके द्वारा रचित कुछ पदावली संग्रह प्राप्त हैं। उनमें इनके रसिक रूप के दर्शन होते हैं। यहाँ दो पद उद्धृत हैं—

(१)

प्रात समय श्री तारा सुत कौ,
उठत रसना लीजिये नाम।
अधम उधारन कलि मल तारन,
प्रेम भक्ति दृढ़ पूरन काम॥
वंश रूप जगत हितकारी,
लाड़ लड़ावत श्यामा श्याम।
जै श्री जोरी लाल जी का,
आसा पुजवहु वास देहु वृन्दावन धाम॥

(२)

व्यास महल आजु आनंद बधावनौ।
हरिषत तारा रानी, निधि पाई मनमानी,
जायौ ऐसो पूत, सब जग जश गावनौ॥

जुरि आई द्विज नारी, भर भर सौंजन थारी,
निरखि ललन मुख, सब दुलरावनौ।
महत सभा में चाह, नाम रूप अवगाह,
हरि हरिवंशी जप राधा पद पावनौ॥

जै श्री जोरी लाल हित रूप, रसिक जनन भूप,
कृपा करि श्यामा श्याम, वृन्दाविपिन बसावनौ॥

अनुमानतः इनका उपस्थिति काल सम्वत् १६५५ से सं० १७३५ के बीच स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

ज्ञानचन्द सेठ

ज्ञानचन्द सेठ आगरा के रहने वाले थे। ये श्री कृष्ण के परम उपासक थे। इनकी भक्ति से प्रभावित होकर गुसाइं विट्ठलनाथजी ने इन्हें अपनी शरण में लिया था। आगरा के निवासी महात्मा संतदास गोस्वामी विट्ठलनाथजी के भक्त थे। उन्ही की कृपा से ये गोस्वामीजी के शिष्य बने थे। इनके पिता आगरा के प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में उत्पन्न हुये थे। इनके यहाँ सर्राफि का व्यापार होता था। इसी परिवार में ज्ञानचन्दजी का जन्म हुआ था। अल्प अवस्था में ही पिताने इनका विवाह कर दिया था। दैवयोग से युवावस्था में ही इनकी पत्नी का देहान्त हो गया था। उसके वियोग के कारण इनका मन संसार से उचट गया और ये श्री भगवान् के ध्यान में निमग्न रहने लगे।

सत्संग-प्रेमी होने के कारण इनकी भेंट गुसाइंजी के कृपा-पात्र भक्त संतदासजी से हुई और श्री संतदासजी इन्हें आगरे से गोकुल लाये। वहाँ गोस्वामी विट्ठलनाथजी के दर्शन प्राप्त कर ज्ञानचंद कृतार्थ हुए और पुष्टिमार्ग में ब्रह्मसम्बन्ध ग्रहण किया। श्री गुसाइंजी के सेवक होने के बाद ये कुछ दिन तक गोकुल में ही रहे। बाद में गुरुदेव की आज्ञा से ये आगरा जाकर पुष्टिमार्गीय ग्रन्थों का पारायण करते रहे। स्वाध्याय से इनके मन का उत्कर्ष हुआ और ये श्री कृष्ण-लीला-संकीर्तन में निरत रहने लगे।

वार्ता में लिखा है कि गोस्वामी विट्ठलनाथजी जब भी आगरा आते थे तब सेठ ज्ञानचंदजी के घर पर ही ठहरते थे। ज्ञानचंदजी के ऊपर गुसाइंजी की बड़ी कृपा थी। कुछ दिनों बाद जब इनकी देह शिथिल हो गयी, तो ये क्षेत्र-सन्यास ग्रहण करके भगवत् स्मरण करने लगे थे। अन्तिम समय में श्री गुसाइंजी का स्मरण करते हुए, समस्त वैष्णवों से 'जयश्रीकृष्ण' कह कर ही इन्होंने देह को छोड़ा था। इनकी भक्ति-भावना का कोई ओर-छोर नहीं था। सम्प्रदाय की पोथियों में इनके कई पद प्राप्त होते हैं। उनमें से बधाई का एक पद यहाँ प्रस्तुत है—

जयति तैलंग तिलक यह लक्ष्मण तनुज,
वल्लभाधीश पद कमल वंदे।
हरि वेद अनल अवतार सुकुमार तनु,
निरख नैनन जीव सब अनन्दे।
होत जय जय कुसुम बरखत सुर समूह,
सुर पढ़त द्विजवर अजर मुदित छदे।
धन्य निज 'ज्ञान' पाय चरण रेनु धन,
सीस धर सुयश कित दुरत फंदे।

रा० कृ० श०

ज्ञानदास

प्रणामी सन्त ज्ञानदास का जीवनवृत्त अभी तक अनुपलब्ध है। 'निजानन्द-भजनावली' में इनके कुछ

पद संकलित हैं। प्रेम-पथ के इस पथिक को आराध्य श्रीकृष्ण की लीला-भूमि अत्यन्त प्रिय लगती थी—

जग से है वृन्दावन न्यारा,
देखे कोई वराह संहिता, सब लोकन के पारा ॥

वस्तुतः उस स्थल को भुलाया भी कैसे जाय जहाँ परम प्रियतम श्रीकृष्ण का प्रेम-मिलन होता हो। इसीलिए ज्ञानदास जी कहते हैं—

ठाढ़ रे श्याम मग मारत नजरिया ।
बाँके नैन मरोर के मारत,
बस करि राख्यो सबहि गुजरिया ।
मैं जमुना जल भरन जात रही,
काँकरी मारत श्याम मोरी गगरिया ॥

निम्नांकित पद में साधु-लक्षण बताते हुए ज्ञानदास ने अपनी कृष्ण-प्रीति का आदर्श शलभ को बताया है—

समझ मन यह साधुन की रीति ।
निशिदिन करत-करत साहेब पर, जरन सलभ की प्रीत ॥

धन-वन पर त्रिय अशुभ कर्म ते सदा रहत भयभीत ।
परनिंदा अपवाद श्रवन से त्याग जान तक जीत ॥

विरह फिराक धनी की राखत, गावत तिनहिं के गीत ।
नीर खीर के विलग करन को बुद्धि हंस खचीत ॥

ऐसे प्रीत करहु मन मेरे, तुम हो साँचे मीत ।
'ज्ञानदास' सन्त गुरु सीतलपद, गहु तू परम पुनीत ॥

रा० प्र० त्रि०

ज्ञानबाई (ज्ञानाबाई)

सुश्री ज्ञानबाई चरणदासजी के प्रशिष्य एवं सिद्ध महात्मा स्वामी सिद्धरामजी की शिष्या थीं। सिद्धरामजी चरणदासजी के शुक सम्प्रदाय प्रवर्त्तक तथा दिल्ली की तीन आचार्य गद्दियों में से सर्व प्रथम और सर्वाधिक व्यापक गद्दी के प्रतिष्ठापक स्वामी रामरूपजी के ८२ गुणी महन्त शिष्यों में से वरिष्ठतम थे। सिद्धरामजी के शिष्यों में से २५-३० शिष्य विशेष ख्याति प्राप्त थे। इनमें उनकी तीन शिष्याएं भी सम्मिलित हैं, जिनके नाम हैं सुश्री कोकिला बाई, मैनाबाई और ज्ञानबाई।

स्वामी सिद्धरामजी की तीनों शिष्याएँ काव्य-रचना और साधना-उपासना के क्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ रही हैं। इनमें से कोकिलावाईजी (उपनाम-विविदासी या बीवादास) का परिचय यथास्थान दिया जा चुका है। कोकिलावाईजी की ही भाँति ज्ञानबाईजी भी अधिकांशतः वृन्दावन में ही निवास करती थीं। ये मूलतः दिल्ली की निवासिनी थीं। इनका अन्य वृत्त अज्ञात है। चरणदासी सम्प्रदाय में अब भी इनका नाम आदर से लिया जाता है।

सुश्री ज्ञानबाई का जीवनकाल अनुमानतः सं० १८२० से १८८० वि० के बीच रहा होगा। स्वामी रामरूप की निकुंज प्राप्ति के पश्चात् सं० १८४७ वि० में सिद्धरामजी गुरु की गद्दी के महन्त हुए। उसके कुछ काल उपरान्त ही ज्ञानबाई उनसे दीक्षित हुई होंगी। ज्ञानबाई की गुरु भगिनी सुश्री कोकिलाबाई, कोकिला बाईजी के शिष्य मनमोहनदासजी और इनके भी शिष्य राधिकादासजी के साथ ही ज्ञानबाईजी की भी बानियाँ एक ही जिल्द में संगृहीत हैं। विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत अन्य गुरुभाइयों और समसामयिक चरणदासी कवियों के साथ इस संग्रह में ज्ञानबाईजी के भी ५०-५२ पद संगृहीत हैं। ये पद प्रायः युगलोपासना और लीला-गान से सम्बद्ध हैं।

श्याम-श्यामा युगल के हिंडोला झूलने की लीला का एक शब्द-चित्र ज्ञानबाईजी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

हिंडोले झूले मुरलीवारो कान्ह ।
संग सोहैं वृषभान कुमारी प्यारी प्रान समान ॥

सब सखियाँ मिलि नाचैं गावैं सोभा बढ़ी महान ।
ज्ञानाबाई या छबि ऊपर तन मन वारूँ प्रान ॥

ज्ञानबाईजी के निम्न पद में एक सखी की श्रीकृष्ण द्वारा होली खेलते समय सखियों के साथ की गई बरजोरियों की शिकायत की एक झलक दृष्टव्य है—

जाने दै री ऐसी होरी खेलै कौन ?
अब होरी खेलन नहिं जैहौं,
मोहन वृषभान लली पै हँसौ न ॥
होरी न खेलबो नाच नचावै,
अपनी बार को गहि रहै मौन ।
शीतल जल भरि सरस भिजोवै,
बंसीवट की चल रही पौन ।
हमैं खिसियावत रह कह कछु ना,
और कटे पर लावत लौन ।
ज्ञानबाई सिधराम कहत है,
इन सबहुन कौं कीनी टौन ।

कवयित्री का यही स्वर इस पद में भी व्यक्त हुआ है—

अरे हो स्याम बरजोरी होरी खेली ।
लाला तुम आज करी बरजोरी, कैसे खेलौं होरी ॥
कर कंचन पिचकारी लिये हैं अबीर लिये भर झोरी ।
नागर नगर फिरै अलबेले संग सखा लिये जोरी ॥
खेलैं नाहि तो रार मचावै और करैं ये निहोरी ।
ज्ञानबाई सिधराम कहत है बिनती सुनौ हरि मोरी ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुश्री ज्ञानबाई की भक्ति के साथ ही काव्यपटुता भी प्रशंसनीय है ।

श्या० सुं० शु०

ज्ञानमती बाई

सुश्री ज्ञानमती बाईजी संत चरणदासजी के परम कृपापात्र शिष्य श्री आत्माराम इकंगी की शिष्या थीं। ये संभवतः जयपुर की रहने वाली थीं। ये स्वामी सिद्धराम की शिष्या सुश्री ज्ञानबाई से भिन्न हैं। दोनों का अस्तित्व काल लगभग एक ही है। ज्ञानबाई का जन्म-कर्म क्षेत्र दिल्ली नगर था, जब कि ज्ञानमती बाई का जन्म और कर्म क्षेत्र जयपुर नगर था। वृन्दावन से इन दोनों का लगाव था। गुरु से विरक्त दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त ये मुख्यतः आतमकुंज (जयपुर के बारह गणगौर नामक मुहल्ले में स्थित इकंगीजी का आश्रम) में ही रहीं। बीच-बीच में व्रज चौरासी कोस की परिक्रमा में पड़ने वाले तीर्थों का भी भ्रमण-दर्शन कर लेती थीं। इनके व्यक्तिगत परिचय के संबंध में अभी तक कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं है। ये परम गुरुभक्ता एवं अनन्यरसिका साधिका हुई हैं। इनकी ५० से अधिक वाणियाँ प्राप्त हैं। श्री आत्माराम इकंगी और उनके शिष्यों की वाणियों के साथ ही इनकी वाणियाँ भी संकलित हैं। इस संकलन की पांडुलिपि जयपुर के पानदरीवा मुहल्ले में स्थित श्री सरसनिकुंज के समृद्ध पांडुलिपि संग्रहालय में उपलब्ध है। इस संग्रह में संकलित इनकी वाणियाँ मुख्यतः संत कवियों की वाणी शैली में रचित मिलती हैं, परन्तु उनमें से १०-१२ पद श्यामाश्याम युगल के लीलागान से भी सम्बद्ध हैं। इन्हीं में से निम्न पद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है जिसमें युगल की अष्टयाम लीला की अंतिम लीला अर्थात् शयन लीला चित्रित है—

(राग सोरठ, पौढ़ावनी का पद)

अब तुम पौढ़ो प्रीतम प्यारी ।
आलस छाय रह्यौ अंगन में,
नैनन नींद खुमारी ॥

कुंज महल में सेज बिछी है,
तुम हित सखी सँवारी ।
अद्भुत रचना कहत न आवै,
मनि दीपक उजियारी ॥

रस की केलि करौ सुख,
बिलसौ नित्य संयोग बिहारी ।
ज्ञानमती प्रभु चरण पलोटौं,
पल न करौ मोहि न्यारी ॥

चरणदासी विद्वान् संत श्री सरस माधुरी शरण जी के कथनानुसार सुश्री ज्ञानमतीबाई की सेवा निकुंज में पंखा झलने की है। इस प्रकार उनकी मान्यता है कि इनकी भक्ति से रीझकर दंपति ने इन्हें प्रत्यक्ष सेवा का अवसर दिया था। इनकी इसी उपलब्धि से सरसमाधुरीजी गद्गद होकर इनके प्रति विनय निवेदित करते हुए कहते हैं—

आतमराम इकंग की शिष्य परम गुण धाम।
ज्ञानमती बाई परम सुन्दर तिनको नाम ।।

पद प्रणमों श्रीमति ज्ञानमती बाई,
शयन कुंज सेवा रस भीनी।
पौढ़ावति शय्या दंपति को,
बचन चातुरी प्रेम प्रवीनी ।।

उज्वल रस आराधन अनुदिन,
करत रहत सर्वोपरि झीनी।
मैं बलिहार निहोरत तिन सूं,
सुन बिनती निज जान अधीनो ।।

अपनैये बहियाँ मम गहिये,
सरस शरण चरणन को लीनी ।।

संत ज्ञानमती बाई के कुछ पद हमें मारवाड़ी-गुजराती भाषा की सुप्रसिद्ध कवयित्री सुश्री मीराँबाई की याद दिलाते हैं। इनमें वहीं आत्मसमर्पण, दैन्य, तीव्र विरहानुभूति और मार्मिकता है जिसके लिए मीराँबाई प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के रूप में निम्न पद द्रष्टव्य है—

राग परज

सैंया म्हारौ नेह निभावौ हो।
जनम जनम री दासी की,
मिलि आस पुजावौ हो ।।

मन तीरथ कूं ना चलै,
अरु नौधा छूटी हो।
मन प्रेमा में सनि रह्या,
ज्यों कंचन गूंठी हो ।।

अवगुणगारी मैं,
पिया गुणवंता म्हारा हो।
निसि वासर लग्यो रहै,
मोहिं ध्यान तिहारा हो ।।

कर जोरां बिनती करां,
वेगा सुधि लीजै हो।
ज्ञानमती प्रभु आत्तम प्यारे,
हांसि न कीजै हो ।।

ज्ञानमती बाई के कुछ पदों में प्रतीकों, रूपकों और उलटवासियों का बहुतायत से प्रयोग इन्हें एक सिद्धहस्त कवि सिद्ध करने में पूर्णतः सक्षम हैं।

'सारसंग्रह' (वि० सं० १८४८) में इनके रचे सात पद संकलित हैं। उन्हीं में से एक यहाँ प्रस्तुत है—

सैयां म्हें हरि रंग भीनी हो।
लोक लाज सब त्यागि कै,
सतसंगति कीनी हो ।।

काहू कूं बल जोग को,
काहू कूं बल विद्या हो।
मेरे तौ बलबीर ही,
मिटी आन अविद्या हो ।।

कोई तप तीरथ करै,
कोई संजम पूजा हो।
मेरै तौ श्रीस्याम बिन,
कोई नाहिं न दूजा हो ।।

कोई मोती कोई सेवरा,
कोई दूधाधारी हो।
'ज्ञानमती' प्रभु आतम सूं,
तू प्यारे हूँ दासि तिहारी हो ।।

श्या० सुं० शु०

ज्ञानानन्द निर्वाणी

ज्ञानानन्दजी चरणदासजी के शिष्य त्यागीराम जी के शिष्य थे। ये एक विख्यात साधक, कवि, प्रवचनकर्त्ता, धर्मप्रचारक और पुराणज्ञ संत थे। चरणदासजो के ये बड़े कृपापात्र थे और त्यागीराम जी के शिष्यों में सर्वाधिक योग्य थे। इनका कवि-जीवन सं० १८४० वि० से पूर्व ही आरंभ हो गया था। सं० १८३९ वि० के पूर्वार्द्ध तक तो चरणदासजी की इहलीला चल रही थी। अतः मानना चाहिए कि ये सं० १८३० वि० के आस-पास ही त्यागोरामजी के शिष्य हो गये थे। ज्ञानानन्दजी बड़े ही विद्वान् और बहुपठित व्यक्ति थे। संस्कृत भाषा का इन्हें प्रगाढ़

ज्ञान था। इनकी 'चौबीस अवतार कथा' नामक कृति की रचना का समाप्ति काल सं० १८४० वि० है।

श्री ज्ञानानंद निर्वाणी का जन्म सं० १८०० वि० के लगभग रोहतक जिले के किसी स्थान में हुआ होगा। इस संबंध में प्रामाणिक उल्लेख अनुपलब्ध है। इनके गुरु त्यागीरामजी ग्राम मुडोला, तहसील साँपला, जिला रोहतक के त्यागी उपाधिधारी संपन्न ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। अनुमानतः ज्ञानानन्द जी भी जाति से त्यागी ही रहे होंगे। ये सुनाम (संगरूर) की गद्दी के महन्त थे। यह स्थान त्यागीरामजी द्वारा निर्मित हुआ था। सुनाम की नगरपालिका के भवन के निकट ही श्री राधाकृष्ण का मंदिर है, जो ज्ञानानंदजी द्वारा निर्मित कराया गया था। इसे 'मंदिर श्री ठाकुरजी' या 'चरणदासी मंदिर' कहते हैं। इस गद्दी की शिष्य-परम्परा सं० १८५० वि० से सं० २०२५ वि० तक अक्षुण्ण बनी रही, परन्तु अब यह गृहस्थ संपत्ति के रूप में अपना पूर्वरूप खो चुकी है। यहाँ के वर्तमान महन्त श्री भगतानन्दजी गृहस्थ हो गये हैं।

ज्ञानानन्दजी की ५ कृतियाँ उपलब्ध हैं जिनके नाम हैं—१. चौबीस अवतार कथा, २. दसम स्कंध भागवत भाषा, ३. चौबीस एकादशी कथा, ४. अवतार अष्टक और ५. वाणी।

इनमें से प्रथम तीन की चरणदासी सम्प्रदाय में बहुत बड़ी ख्याति रही है। यही कारण है कि इनकी कई पांडुलिपियाँ उपलब्ध हैं। श्रीमद्भागवत के दसम और एकादश स्कंध का पद्यानुवाद अपने आप में श्रमसाध्य तथा विद्वत्तापूर्ण काम है जिसे ज्ञानानन्दजी ने बखूबी सम्पन्न किया है।

वस्तुतः 'दसम-स्कंध भागवत भाषा' और 'एकादश स्कंध भागवत भाषा' दो अलग-अलग ग्रंथ नहीं हैं। ये दोनों श्रीमद्भागवत के ही अंग हैं। इन दोनों की पांडुलिपियाँ भी प्रायः एक ही हैं। केवल इनका अलग-अलग नामकरण ही भ्रान्ति का कारण है। मूल श्रीमद्भागवत में दसम अध्याय के अन्तर्गत ही चौबीस अवतारों की कथा ९० अध्यायों में समाविष्ट है, अतः 'चौबीस अवतार भाषा' को भी स्वतंत्र कृति मानना उपयुक्त नहीं है। अतः सिद्ध है कि प्रारंभिक तीन ग्रंथ मूलतः श्रीमद्भागवत् के ही मात्र दो स्कंधों के अनूदित रूप हैं। एकादश स्कंध का भाषान्तर निर्वाणीजी द्वारा ३१ अध्यायों में समाविष्ट है।

इसी प्रकार निर्वाणीजी का 'अवतार अष्टक' भी कोई स्वतंत्र कृति नहीं है। 'चौबीस अवतार भागवत भाषा' से ही आठ मुख्य अवतारों की कथा लेकर एक अलग जिल्द या ग्रंथ का रूप दे दिया गया है। इसके आरंभ में आठ संस्कृत-हिन्दी मिश्रित भाषा में रचित श्लोक हैं। मात्र उन्हें ही स्वतंत्र अंश मान सकते हैं। इसका रचनाकाल कार्तिक कृष्ण ६, मंगलवार सं० १८४५ वि० है।

'चौबीस अवतार कथा' के आरंभ में कवि का संकल्प इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

व्यासपुत्र को हाथ है, चरनदास के शीश।
जिनके त्यागीराम हैं, ज्ञानानंद के ईश॥

भक्तवछल भगवान जू, धरे जु बहु औतार।
जो हैं अति विख्यात ही, तिनको करूँ उचार॥

इसी क्रम में इन्होंने भगवान् विष्णु के २४ अवतारों की सूची दी है और फिर हर अवतार की विस्तृत कथा कही गई है। अंत में कवि ने कहा है—

श्री परीक्षित सौं शुकदेव नैं, कही सौनकान सूं सूत।
ज्ञानानंद भाषा करी, नां अपनी करतूत॥

श्री शुकदेव के शिष्य जो, चरनदास सुखरास।
जिनके त्यागीराम हैं, ज्ञानानंद तिन दास॥

संत कृपा सतगुरु दया, भया मन माँहि हुलास।
दसम स्कंध भागौत का, ज्ञानानंद कहा भास॥

श्री ज्ञानानंद निर्वाणी की 'वाणी' संज्ञक कृति अनेक राग-रागिनियों में निबद्ध और विविध विषयों से संबद्ध पदों का संग्रह है। सांसारिक विषय-

वासनाओं में भटक रहे मनुष्य के लिए इनका एक चेतावनी मूलक पद इस प्रकार है—

ज्यूं कसतूरी रहत सदा ही मृग की नाभि मँझारा।
आपन में निरखत वह नाहीं ढूँढत फिरत उजारा॥
जैसे नाहर रूप आपनो गयो जु आप भुलाई।
जान दूसरो केहरि वह परो आप कूप में आई॥
जैसे काँच महल के माहीं कूकर फिरत भुंसाई।
ज्यों बनचर ने गही मुष्ठ डिढ़ लीनो आप बँधाई॥
अरु जैसो नलिनी को सुवटा धोखे रह्यो फँसाई।
यों ज्ञाननन्द ब्रह्म बिन जाने रह्यो अविद्या छाई॥

चरणदासी सम्प्रदाय में श्री ज्ञानानन्द निर्वाणी की कृतियों का जितना व्यापक आदर हुआ है, उसे देखते हुए यह कथन कुछ विचित्र प्रतीत होगा कि इनकी भाषा बड़ी असंयत और अपरिपक्व है। भर्ती के शब्दों का प्रयोग, लघु-दीर्घ मात्राओं के प्रति असावधानी तथा मात्राओं का न्यूनाधिक्य इतने बड़े कवि-की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं हैं। फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि श्री ज्ञानानंद निर्वाणी का कवित्व और साधनाजनित स्थान चरणदासी सम्प्रदाय में विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है।

श्या० सुं० शु०

ज्ञानूजी / प्रमदानन्द (ब्रह्मचारी)

ज्ञानूजी तथा ब्रह्मचारी श्री प्रमदानन्दजी के ऐहिक जीवन से सम्बन्धित तथ्य साम्प्रदायिक चरित्र-ग्रन्थों में अनुपलब्ध हैं। मात्र ध्रुवदासजी, चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी और श्री अतिवल्लभजी के निम्नलिखित उल्लेख ही प्राप्त होते हैं—

ज्ञानु नाहर मल्ल की, देखी अद्भुत रीति।
हरिवंश चन्द पद कमल सौं, बाढ़ी दिन दिन प्रीति॥

—श्री हित ध्रुवदासजी कृत भक्त नामावली

इक दिन ग्यानू भक्त देखि बालक गन माहीं।
गये परीक्षा लैन कछू सुधि है कै नाहीं॥
ता ढिग गये एकान्त कुंज वैभव जु प्रकासो।
काहु न जान्यौ भेद महल की दई खवासो॥
भींजे परमानन्द गूढ़ दरसाइ भक्ति पथ।
करुणा घुमड़नि जलद प्रणत जन भरन मनोरथ॥

— चाचा श्री हित वृन्दावनजी कृत-
श्री हितहरिवंश सहस्रनाम

लिये मुरज करन ज्ञानू रसाल।
देइ मित्र रंगीलो कर सु ताल।
औसर वसंत जगमगै भाल।
राधावल्लभ के पढ़त ख्याल॥

—चाचा श्री हित वृन्दावनजी कृत-
प्रथम वसन्त प्रवन्ध

इनसे ज्ञात होता है कि ये दोनों देववन वासी थे और श्री हिताचार्य के लोकोत्तर गुणों और चमत्कार-पूर्ण अलौकिक बाल चरित्रों से प्रभावित होकर उनके शरणागत हुए थे। गुरुदेव की अहेतुकी कृपा से अभीष्ट सिद्धिलाभ करके ये आराध्य के चरणों में लीन हो गये थे, इसीलिए इनके चरित्र कुछ ही व्यक्तियों की जानकारी तक सीमित रह गये।

श्री व्यासजी मिश्र के अग्रज श्री नृसिंहाश्रमजी द्वारा नगर में यह बात पर्याप्त रूप से फैल चुकी थी कि व्यास पुत्र श्री हरिवंश-प्रभु के अवतार हैं। नृसिंहाश्रमजी इस बात का प्रचार मात्र नहीं करते थे अपितु प्रतिदिन बालक हरिवंश के दर्शन करने भी जाया करते थे। ज्ञानू नामक एक अद्वैतवादी भक्त जो कि श्री नृसिंहाश्रमजी के परम मित्र और उनके निकटवासी थे—उन्हें नृसिंहाश्रमजी की यह बात अच्छी नहीं लगती थी। वे कहा करते थे कि नृसिंहाश्रमजी माया के चक्कर में आ गये हैं। वे भाई के मोह-ममतावश उनके पुत्र को भगवदवतार कहने लगे हैं। प्रभु की यह कैसी विडम्बना है? कभी-कभी इस प्रश्न को लेकर दोनों में वाद-विवाद भी हो जाता था। एक दिन श्री ज्ञानूजी ने निश्चय किया कि इसकी परीक्षा क्यों न ले ली जाय कि बालक हरिवंश प्रभु के अवतार हैं अथवा नहीं?

ऐसा निर्णय करके ये एक दिन व्यास मिश्र की वाटिका में पहुँच गये और बगीचे के द्वार पर ही खड़े-खड़े देखा कि कुमार हरिवंश अपने समवयस्क बालकों के साथ बाल क्रीड़ा कर रहे थे। वे मन ही मन हँसते हुए कह रहे थे कि—'देखो तो सही-ये ही है पूर्ण प्रभु का अवतार–फिर भी मैं परीक्षा लूँगा।' अभी वे यह निश्चय नहीं कर पाये थे कि परीक्षा किस प्रकार लूँ, तभी उन्होंने देखा कि बालक हरिवंश अपनी मण्डली के साथ ही अदृश्य हो गया है और उस मण्डली के स्थान पर दिव्य प्रभायुक्त किशोरी-वृन्द के मध्य एक अत्यन्त सुन्दर किशोरदम्पति नृत्य कर रहे हैं। वे विस्फरित नेत्रों से देखते हुए विचार करने लगे—'अरे! वे सब कहाँ गये ?' तब तक वह किशोर मण्डली अदृश्य हो गई और उसके स्थान पर पुनः बालक हरिवंश की मण्डली क्रीड़ा करती दिखाई दी। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण चेतना समेटते हुए मन में कहा–'अरे! यह सब मेरी आँखों का भ्रम है। तब तक बालक हरिवंश की मण्डली अदृश्य हो गई और वही आँखों में चकाचौंध करने वाली अलौकिक किशोर मण्डली पुनः विनोद-मग्न दिखाई देने लगी।

व्यामोह विमुग्ध ज्ञानूजी को अब पूर्ण रूप से निश्चय हो गया कि मैं ज्ञानू नहीं, अज्ञानू हूँ। बालक हरिवंश वास्तव में पूर्ण प्रभु ही हैं। इन्होंने मन ही मन उनके चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया और अनुभव किया कि पूर्ण प्रभु हरिवंश ने हँसते हुए उनके मस्तक पर अपना सुकोमल हाथ रख दिया है। रंक जैसे महानिधि प्राप्त करके हर्षोत्फुल्ल होता है, उसी प्रकार फूले-फूले मन से ये अपनी कुटी की ओर चल दिये। कुटी में पहुँचते ही श्री ज्ञानूजी ने श्री नृसिंहाश्रमजी के चरण स्पर्श किये और कहा कि आज पूर्ण प्रभु हरिवंश ने मुझे अपना बना लिया है। श्री नृसिंहाश्रमजी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया और कहा— 'भैया! तुम भाग्यशाली हो।'

प्रमदानन्द ब्रह्मचारी श्री ज्ञानूजी के पास ही रहते थे। उन्होंने ज्ञानूजी के मुख से सारी बातें सुनी और उनके मुख पर विराजमान किसी अद्भुत कान्ति के दर्शन किये। उन्हें लगा कि ज्ञानूजी को अवश्य ही कोई दिव्य वस्तु प्राप्त हुई है। वे विलख-विलख कर रोने लगे, एक भूखे बालक की भाँति और कहने लगे कि क्या मुझे यह वस्तु न मिल सकेगी, जो आपको मिली है ?

ज्ञानूजी ने कहा,—'क्यों नहीं मिलेगी भैया! जब वे मुझ जैसे ज्ञानाभिमानी पामर को दे सकते हैं तो तुम जैसे विनीत हृदय को क्यों नहीं देंगे। उनके चरणों में प्रणत होने की देर है। मेरे ख्याल से तो उनका अवतार ही देने के उद्देश्य से हुआ है।' प्रमदानन्द ने ज्ञानूजी के पैर पकड़ लिये और रुंधे कंठ से इतना ही कह सके कि 'आप………।'

ज्ञानूजी उसी समय प्रमदानन्द को साथ लेकर व्यास मिश्र के बगीचे में आये और बालक हरिवंश की ओर संकेत करके कहा, 'प्रमदानन्द! पकड़ लो, दाता के श्री चरण, सम्पूर्ण आत्म समर्पण के साथ।' प्रमदानन्द ने बालक हरिवंश के श्री चरणों में अपना मस्तक रख दिया और रोने लगे। बालक हरिवंश ने मस्तक पर अपना वरद् हस्त रखते हुए प्रमदानन्द से पूछा, 'क्या तुम भी खेलोगे ?' बालक हरिवंश का कर स्पर्श पाते ही ये उठे और विस्फारित नेत्रों से उनका अद्भुत खेल देखने लगे, न जाने कितनी देर तक ? होश उन्हें तब आया जब ज्ञानूजी ने उनका हाथ पकड़ कर कहा, 'चलो, प्रमदानन्द आश्रम में चलो और वे चल दिये—यन्त्र चालित मूर्त्ति की भाँति उनके पीछे-पीछे।

यही ज्ञानू और प्रमदानन्द का चरित्र है। इन भक्तों के विषय में और कुछ ज्ञात न हो सका।

श्री हरिवंश सहस्रनाम में आयी पंक्तियों—'एक दिन ज्ञानू भक्त देखि बालक गन माहीं, गये परीक्षा लैन कछू सुधि है कै नाहीं'—से बहुत अधिक स्पष्ट है कि गो० श्री हित हरिवंशजी के कौमार काल में श्री ज्ञानूजी पूर्ण वयस्क थे, सम्भवतः ४०-५० वर्ष के

रहे होंगे। इस आधार पर इनका जन्म काल सं० १५२५ के आस पास ठहरता है। श्री हित शरणापन्न होने के पश्चात् ये कब तक धराधाम पर अवस्थित रहे—प्रमाणों के अभाव में इस सम्बन्ध में कुछ कहना संभव नहीं है। प्रमदानन्दजी दीक्षा प्राप्ति के समय ज्ञानूजी से बहुत छोटे तथा श्री हरिवंशजी से बड़े सम्भवतः २०–२५ वर्ष के रहे होंगे। इस आधार पर श्री प्रमदानन्द का जन्म काल सम्वत् १५४५ के लगभग स्थिर होता है। इनके अन्तर्धान काल के सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं है।

श्या० बि० खं०

ज्योतिराम

श्री ज्योतिरामजी का जन्म मथुरा के निकट विजयी का नगला गाँव में सन् १८९८ में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री बालमुकुन्द अग्रवाल था। कुछ दिनों तक इन्होंने मथुरा के अग्रवाल विद्यालय में अध्यापन कार्य किया, फिर मथुरा जिले के माँट तहसील के मुख्तार हो गये। श्री गौरांगदास बाबाजी की प्रेरणा से इन्होंने श्रीरामदास बाबाजी से दीक्षा ग्रहण की। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी ये वैरागी प्रकृति के थे। इनके ऊपर इनके पाँच लड़कों, तीन लड़कियों, छोटे भाई तथा उनके बच्चों के भरण-पोषण का बोझ था। इनकी आमदनी भी कम न थी, लेकिन साधु-संतों पर ये बहुत अधिक खर्च करते थे। यहाँ तक कि उनके लिए ये कर्ज भी ले लेते थे। बाबा इन पर अत्यधिक स्नेह रखते थे। इसके अतिरिक्त श्री रामदास बाबा और श्री राधारमण-चरणदास बाबा की भी इन्हें कृपा प्राप्त थी। यदि श्री ज्योतिरामजी चाहते तो पर्याप्त धन कमा सकते थे, लेकिन ये ज्यादा समय भजन-कीर्तन में देते, कचहरी में तो नाम मात्र का समय देते। अपने मुवक्किलों की भी चिन्ता नहीं करते थे। अपने तिरोधान की सूचना इन्होंने पहले ही दे दी थी। १३ अक्टूबर, सन् १९७० ई० को पूर्णिमा की रात को इन्होंने अपना शरीर त्याग दिया।

मु० अ०

ज्वालाप्रसाद मिश्र

पं० ज्वालाप्रसाद ने माँ भारती के भण्डार को भरने के लिये अनेक मौलिक और अनूदित ग्रंथ लिखे। सन् १९१६ की सरस्वती में श्री ज्वालादत्त शर्मा ने पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र रचित ग्रंथों की सूची दी है, जिसमें अष्टादश पुराण दर्पण को इन्होंने दो बार गिनाया है—१. दयानंद तिमिर भाष्कर, २. यजुर्वेद पर मिश्र भाष्य, ३. अष्टादशपुराण दर्पण, तिलक के 'गीता रहस्य' में उल्लेख, ४. गो० तुलसीदासजी की रामायण पर तिलक, ५. वाल्मीकि रामायण (अनुवाद), ६ शिव महापुराण (अनुवाद), ७. वैद्यक और ज्योतिष के कुछ ग्रंथों का अनुवाद, ८. तंत्र-ग्रंथों पर टीकाएँ, ९. सिद्धान्त कौमुदी अनुवाद, १०. पंचतंत्र का अनुवाद, ११. जाति निर्णय विषयक ग्रंथ, १२. स्व० पं० बलदेवप्रसाद मिश्र के टाड राजस्थान का हिन्दी अनुवाद। इनके अतिरिक्त डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में मिश्र जी लिखित 'भक्तमाल-हरिभक्ति प्रकाशिका' (सं० १९२१) ग्रंथ का उल्लेख किया है।

श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई के सूचीपत्र में मिश्रजी के लिखे हुए ६० ग्रंथ बताये गये हैं जिनमें मौलिक और अनूदित ग्रन्थ तथा भाष्य सम्मिलित हैं। इस तालिका के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका अध्ययन व्यापक था और ये वैद्यक, ज्योतिष तथा धर्मग्रंथों के अच्छे ज्ञाता थे। कवि ज्वालाप्रसाद मिश्र रचित 'विश्राम सागर' ग्रंथ हमें देखने को मिला है (रचनाकाल सं० १९४१)। इसको भी अन्य विश्राम सागरों की भाँति तीन खण्डों में बाँटा गया है—१. इतिहासायन, २ कृष्णायन, ३. रामायण।

निगम तथा पुराणों के अतिगूढ़ शब्दों की कथा को जनता के हितार्थ सरल और सुबोध भाषा में लिखा गया है। कृष्णायन खण्ड में कथा कृष्ण-जन्म से प्रारम्भ करके प्रद्युम्न-रति-विवाह तक के प्रसंगों में

१२ अध्यायों में विकसित की गई है। कथा में प्रवाह है। भाषा सरल, स्वाभाविक एवं बोधगम्य है। कविता बैसवाड़ी में लिखी गई है, किन्तु बीच-बीच में व्रजभाषा का भी प्रभाव दिखाई देता है। इनकी कविता में सूर और तुलसी की भाँति उच्चकोटि के काव्यत्व का चमत्कार तो नहीं है, फिर भी सारी कथा रसरिक्त भी नहीं कही जा सकती है। इस ग्रंथ में सारे रसों का समावेश हुआ है

यह काव्य मुख्यतः दोहा–चौपाई छंद में लिखा गया है, किन्तु सोरठा, छंद, कवित्त, रोला, पुराणों से उद्धत श्लोक, तारक छंद और सवैया आदि छंद भी व्यवहार में लाये गये हैं। अलंकारों का प्रयोग भी बहुत ही स्वाभाविक रूप में हुआ है। कवि की रचना से उसकी शैली की प्रौढ़ता का पता चलता है।

त्रि० ना० सि०

टहकन

टहकन जलालपुर (पंजाब) के रहने वाले चोपड़ा क्षत्रिय (खत्री) थे। इनके पिता का नाम रंगीलदास था। अपनी कृति 'अश्वमेघ भाषा' में अपना संक्षिप्त परिचय इन्होंने निम्नलिखित रूप में दिया है—

टहकन कवि जलालपुर वासी ।
छत्रि धरम नन्दलाल उपासी ।
पिता रंगीलदास जिहि नामा ।
जाति चोपरा कुल अभिरामा ।
समै पाइ कवि भयो सिपाही ।
है क्रिति भाषा करी तहांही ।
प्रिथम संसक्रिति स्तुति सुनि लीनो ।
ता पाछे भाषा वर कीनी ।
चौपाई दोहरा सुभ वानी ।
क्रिपा करी कालिका भवानी ।
अद्‌भुत ग्रन्थ रचो सुविलासा ।
करुणा कीनी श्री नन्दलाला ।।

टहकन कृष्ण के उपासक थे। इन्होंने महाभारत के अश्वमेध पर्व का भाषा रूपान्तर—'अश्वमेघ भाषा' नाम से दो खंडों में किया है—

संवतसर दस सप्तसत अधिक वरस षटवीस ।
मिति त्रयोदस आषाढ़ वदि बुध वासर सुभ दीस ।

प्रथम खंड में अश्वमेध यज्ञ की कथा वर्णित है। यह 'महाभारत' के अश्वमेध पर्व के अनुकूल है। दूसरे खंड में विविध आख्यानों तथा दान-महिमा का वर्णन है। यह अंश महाभारत के वैष्णव धर्म उपपर्व से सम्बद्ध है। दूसरी कृति 'रतनदास' है। यह अमरकोष की भाँति उन्तीस प्रभावों में वर्गीकृत है। अन्त में श्री कृष्ण का नखशिख वर्णन है—

टहकन कृत 'अश्वमेध-भाषा' मूलत. कृष्ण भक्तिपरक रचना है। अश्वमेध पर्व के द्वितीय भाग की समाप्ति पर कवि ने **'धर्मयज्ञ व्याख्याने कृष्णचरित्रे'** कहा है। इसमें युधिष्ठिर की अपेक्षा कृष्ण को ही अश्वमेध यज्ञ का सारा श्रेय दिया गया—

अश्वमेध्य क्रित वीरवर,
क्रिसनचंद कियु आपि ।
सुजसु जुधिष्ठिर को दिया,
कीनो भगति प्रतापि ।।

जग्ग युधिष्ठिर सफल भये तवि ।
सावधान ठाड़े गिरधारी कवि ।

टहकन कवि ने दान और श्रीकृष्ण के वंशवर्णन में मूल की मर्यादा की अपेक्षा अपने दृष्टिकोण और भावनाओं को प्रमुखता दी है। अन्त में श्रीकृष्ण के महत्व का जो वर्णन किया है वह महाभारत से कुछ भिन्न है। ग्रंथ के नायक यद्यपि युधिष्ठिर हैं, परन्तु टहकन ने स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण का ही स्तवन किया है--

दीनबन्धु दयासिंधु आरत हरन भारी,
द्रौपदी उबारी तैसे मोहू को उबार ले।
गनका उधारी गजसंकट निवारि,
प्रह्लाद हितकारी भव सागर उतार ले।
गौतम तिया तारी चरन जुग रजधारी,
द्विज हितकारी दुख दारिद निवार ले।

टहकन प्रभु नंदलाल दीनन के भक्तपाल,
करुण कृपाल लाल विरद सभार ले ॥

टहकन कृत 'रतनदास' अमरकोष का अनुसरण करते हुए भी अपनी वर्णन प्रक्रिया में स्वतंत्र है। इसमें रीतिकालीन परम्परा का अनुसरण करके नायिका भेद और अंत में श्रीकृष्ण का नखशिख वर्णन प्रस्तुत किया गया है। 'रतनदास' कोश-लक्षण तथा काव्य का समन्वित रूप है। श्रीकृष्ण के 'नख-शिख' सम्बन्धी कुछ छंद प्रस्तुत हैं--

(१)

नव अलि जालं रूनत रसालं,
लजत मरालं गत चालं।
जगु जानु सुधंगे निदरत रंभे,
अंग अंग छवि वरूणालं।
काछनी सुरंग अद्‌भुत रंग,
लजत अनंगं दुषु हरणं।
जय श्री नंदलाल त्रिभुवन पालं,
दीन दयालं तुय सरणं ॥

(२)

अनछंद

छुद्र घंटि कटि तट सुभ साजं।
रूण झुजंति रूणकवि कलि बाजं ॥

(३)

छप्पय

जगमगाति छबि ललित अंग अंगनि त्रिभंग।
पगनूपुरि कटि छुद्र घंटि काछनी सुरंग।
उर मंडल वनमाल अधर मुरली छवि छाजं।
कल कपोल गति लोल स्रवनं कुण्डल रवि लाजं।
सिर मोर क्रीट पटपीत दुत, रूप चतुरभुज धरे तन।
जन टहकन हिए बसौ सदा, नंदलाल आनन्दघन ॥

रा० प्र० कु०

ठाकुरदास

ठाकुरदास जाति के ब्राह्मण थे तथा दिल्ली के पास ही निवास करते थे। घूमते-घामते ये ककरोई गाँव जा पहुँचे जहाँ इनकी भेंट विहारीदासजी से हुई। योग्य गुरु की कृपा से कृष्णभक्ति का रंग गहरा हो गया। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है--

संत चरणदास→रामरूप→रामकृपाल→विहारी-दास→ठाकुरदास

ये प्रेमाभक्ति के रसिक साधक थे, साथ ही योगी भी। दो-दो दिन तक श्रीकृष्ण के ध्यान में व्यतीत हो जाते तथा तन की सुध नहीं रहती। इनको वचन सिद्ध था। चरणदासी वैष्णवों में ये बड़े प्रसिद्ध संत थे। इन्होंने लुकसर ग्राम में कृष्णजी का मन्दिर बनवाया था। एक बार बाहर के गाँव से कुछ लोग लुकसर आए। रात्रि में वे सब मन्दिर में ठहरे। भोर होने पर लोगों ने देखा कि उनमें से एक व्यक्ति मर गया है। कुछ लोगों ने कहा कि थाने में सूचना दे दो, किसी ने कहा कि बाबा ठाकुरदास के पास भी तो खबर करो। खबर मिलते ही ये खड़ाऊँ पहने हुए वहाँ पहुँचे और मृत व्यक्ति को चरण की ठोकर देकर कहा—'उठ, संतों को क्यों परेशान करता है?' तत्काल ही वह मनुष्य जी उठा और चरणों पर गिर पड़ा।

ठाकुरदासजी जब प्रसाद पाने बैठते तो कभी रोने लगते, कभी हँसने लगते। शिष्यों के बारम्बार पूछने पर इन्होंने बताया कि जब मैं भोजन करता हूँ तब गोपालजी मेरे साथ थाल में भोजन करने लगते हैं। यह सोचकर रोता हूँ कि मैं कितना बड़ा पापी हूँ जो अखिल विश्व के नायक को परेशान करता हूँ। मैं हँसता हूँ, यह सोचकर कि ईश्वर का मेरे प्रति कितना वात्सल्य और प्रेम है। इनका उपस्थिति-काल विक्रम की १९वीं शती है।

म० गो० भा०

डेविडसन

लगभग सन् १९१८ की बात है कि बाबूगढ़ जिला मेरठ में एक अंग्रेज डा० डेविडसन मेडिकल अफसर होकर आए थे। डेविडसन साहब बड़े

ही मिलनसार, सज्जन और सात्त्विक विचारों के पुरुष थे। इनके सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध थी कि इन्होंने अपनी श्रीकृष्ण-भक्ति, श्रीकृष्णनाम-जप और श्रीकृष्ण-प्रार्थना के बल पर अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं। इनका प्राचीन ऋषियों की आत्माओं से सम्बन्ध स्थापित हो गया था और ये उनसे बातें करते थे। इनमें इतना ज्ञान आ गया था कि ये घर बैठे सब जगह की बातें जान लेते थे।

डॉ० डेविडसन के कमरे में मनुष्य के बराबर आकार वाली एक बहुत ही सुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण की प्रतिमा थी। ये उस प्रतिमा के सामने खड़े होकर प्रेम में विभोर हो नृत्य करते हुए श्रीकृष्ण-कीर्तन किया करते थे। श्रीकृष्ण-कीर्तन करते हुए ये उसमें इतना तन्मय हो जाते थे कि अपने शरीर की भी सुध-बुध खो बैठते थे।

एक दिन हापुड़ निवासी इनके कुछ भारतीय मित्र इनसे मिलने के लिए इनके निवास बाबूगढ़ पहुँचे। उस समय डॉ० डेविडसन का कमरा अन्दर से बन्द था और उसके अन्दर से कुछ गाने की-सी ध्वनि आ रही थी। जिज्ञासु मित्रों ने उनके कमरे में पीछे से जंगले की राह से झाँका तो देखा कि 'कमरे के अन्दर मनुष्य के आकार की एक बड़ी सुन्दर श्रीकृष्ण भगवान् की मूर्ति स्थापित है और डेविडसन साहब भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने उछल-कूद करते नाच रहे हैं। साथ-साथ कीर्तन भी कर रहे हैं। आगन्तुकों ने समझा अंग्रेज लोग शराब पीते हैं, आज डॉ० डेविडसन ने शायद ज्यादा शराब पी ली है और उसी के नशे में नाच-कूद रहे हैं। इसलिये अब इनसे मिलना और बातें करना उचित नहीं है।' अपने मन में ऐसा विचारकर ये लोग वहाँ से चुपचाप चल दिए।

डॉ० डेविडसन को श्रीकृष्ण नाम-जप, श्रीकृष्ण नाम-कीर्तन और श्रीकृष्ण-प्रार्थना के द्वारा दूसरों के मन की बात जान लेने की अद्भुत शक्ति प्राप्त हो गई थी।

इसलिए ये आगन्तुक मित्रों के मनकी बात भली-भाँति जान गए। वे लोग कुछ ही दूर गए थे कि इन्होंने झट से अपना कमरा खोलकर चपरासी को संकेत करके कहा 'सामने जाने वाले लोगों को हमारे पास बुला लाओ।' लौट कर इनके पास पहुँचने पर उन लोगों से इन्होंने कहा कि 'बताइये, आप लोगों ने क्या देखा और क्या समझा है? शायद आप लोगों को यह भ्रम हुआ है कि आज साहब शराब अधिक पी गए हैं और शराब के नशे में ही झूम-झूम कर नाच रहे हैं। पर ऐसी बात नहीं है, यह आपका भ्रम ही है।' अपने मन की सोची बात को सुनकर सभी दंग रह गए और कहने लगे 'वास्तव में हमारे मन में यही बात आई थी, पर आपको हमारे मन की बात मालूम कैसे हो गयी?' इसके बाद जब डेविडसन साहब सबको अपने कमरे में बुला ले गये। उन लोगों ने देखा कि कमरे के अन्दर मनुष्य के आकार की एक बड़ी ही सुन्दर संगमरमर की भगवान् श्री कृष्ण की दिव्य प्रतिमा विराजमान हैं और वह बहुत ही सुन्दर वस्त्र-आभूषणों तथा पुष्प-मालाओं से सुसज्जित है। साहब ने बताया कि मैं इन्हीं अपने परम इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण के सामने नृत्य-कीर्तन कर इनको रिझा रहा था और इनके दिव्य प्रेमासव के नशे में झूम रहा था और कोई बात नहीं थी।

डॉ० डेविडसन साहब मांस-मंदिरा का खाना-पीना तो दूर रहा, छूना भी पाप मानते थे। ये एक परम वैष्णव बन गए थे। वेदों तथा हिन्दू धर्म के अन्य ग्रंथों में आपकी बड़ी आस्था थी। ये हिन्दू सनातन धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ और एक मात्र पूर्ण धर्म मानते थे। श्रीकृष्ण के प्रति आकर्षण और कृष्ण-भक्ति का सूत्रपात इनके मानस में सर्वप्रथम अफ्रीका में हुआ था। इससे कुछ ही दिनों पश्चात् संयोगवश इनका भारत आगमन हुआ। यहाँ पहुँचने पर ये आराध्यदेव की लीला-भूमि मथुरा-वृन्दावन का दर्शन करने गये और वहाँ कुछ दिन तक निवास किया। इसके बाद ये कृष्ण-भक्ति में सर्वात्मना लीन हो गये। जब तक जीवित रहे, ये नित्यप्रति अपने

इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने नृत्य-कीर्तन करते रहे।

जीवन-व्यापी कृष्ण भक्ति-साधना से डॉ० डेविडसन को अलौकिक शक्ति प्राप्त हो गई थी। इसकी अभिव्यक्ति इनके क्रियाकलाप में प्रायः होती रहती थी। इनकी सिद्धियों तथा चमत्कारों से सम्बद्ध अनेक किस्से कहानियाँ आज भी इनके परिचय-क्षेत्र के लोगों के बीच कही-सुनी जाती है।

रा० कृ० श०

तत्ववेत्ता

तत्ववेत्ताजी निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख पीठाचार्य श्री परशुरामदेवजी के परम प्रतापी शिष्य थे। किंवदन्ती के अनुसार इनका जन्म जेतारण (राजस्थान) के सन्निकट फूलमाल नामक ग्राम के दाधीच ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम तो कुछ और था, किन्तु गाँव वाले उन्हें 'भगताँ महाराज' कहते थे। भगताँजी सन्तोषी ब्राह्मण थे। उनके दो पुत्र थे। ज्येष्ठ का नाम रेवती था। तत्ववेत्ताजी उनसे छोटे द्वितीय पुत्र थे।

एकबार जब भगताँ महाराज की धर्मपत्नी जल भरने के लिए जाने को तैयार थीं कि उनके द्वार पर एक महात्माजी मधुकरी के लिए आये। वह उनके लिए कुछ गुड़ एवं एक कटोरी आटा ले आईं। आटा झोली में डाल ये गुड़ खाने लगे। किन्तु ब्राह्मणी ने देखा कि महात्मा गुड़ खाने में कम उसे देखने में अधिक तल्लीन हैं, तो उसे कुछ बुरा लगा। वह महात्मा से कुछ कहने ही वाली थी कि महात्मा बोले 'हे माता! इस समय यह शरीर तुम्हारा नहीं, अपितु यह तो 'सन्त का निवास' है। अतः इसे अधिक कष्ट न देना।' इतना कहकर महात्मा ने प्रस्थान किया। ब्राह्मणी ने मुड़कर जब घड़ा उठाना चाहा तो चमत्कृत हो गयी, क्यों कि घड़ा जल से भरा था।

इस घटना के उपरान्त ब्राह्मण दम्पति के गृह में विक्रम संवत् १५६० के आश्विन शुक्ला ४ को सूर्योदय के समय एक शिशु ने जन्म लिया जिसका नाम त्रिविक्रम, टीकम या तीकोंदास रखा गया। बालक त्रिविक्रम बचपन से ही दयावान था। अपने पिता-भाई को खेत जोतते समय बैलों पर चाबुक से प्रहार करते देख उसका हृदय तड़प उठता। वह उनसे कहता कि 'पिताजी जिस प्रकार आपके माथे में दर्द होता है या घर का कोई सदस्य बीमार हो जाता है तो वह कार्य नहीं करता, उसी तरह हो सकता है इन बैलों के भी कोई कष्ट हो गया होगा, तभी तो यह जल्दी-जल्दी नहीं चल पा रहे हैं। अतः आप इन्हें न मारकर स्वयं चलने दें, या इन्हें खोल दें। मुझे किसी को भी मारा जाना अच्छा नहीं लगता।' घर के सदस्य बालक की बात सुनकर हँस देते। बालक त्रिविक्रम बचपन से ही ईश्वर के विषय में जानने का इच्छुक था।

माँ-बाप के वृद्धावस्था में पहुँचने पर बड़े पुत्र रेवती का विवाह हो गया। बहू आई, उसने आते ही घर का नक्शा बदल दिया। वह बड़े भूमिधर की बेटी थी। अतः वह इस घर की भी प्रगति कर आस पास उसकी प्रसिद्धि करना चाहती थी। उसने गृह के सभी सदस्यों को मशीन बनाना चाहा। स्वयं भी एक मशीन की तरह ही घर के काम में व्यस्त रहती थी। उसकी इस प्रवृत्ति का बालक त्रिविक्रम पर कोई प्रभाव न पड़ा। इधर माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। रेवती अपनी पत्नी की बुद्धिमत्ता के सामने पराजित था, किन्तु त्रिविक्रम का मन तो पक्का था। उस पर अन्य रंग चढ़ना असम्भव था। जो काम भैया-भाभी कहते उसे करते, किन्तु खेत जोतते तो बैलों के थकने पर उन्हें विश्राम दे स्वयं खेत फावड़े से गोड़ने लगते, पानी देते तो पहले सभी कीड़े-मकोड़ों को ऊँचे स्थान पर रख आते, उनके बिलों के आस-पास ऊँची मेंड़ बना देते जिससे पानी बिल में न चला जाय। यह था उनका कार्य करने का ढंग।

कुछ दिन तक तो उनकी इस कार्य प्रणाली पर किसी ने कुछ न कहा, किन्तु एक दिन इनकी भाभी

ने खेत में पानी देने का कार्य इन्हें सौंपा। इन्होंने कार्य शुरू किया, किन्तु पूर्वोक्त विधि के अनुसार। फिर क्या था? भाभी का क्रोध फूट पड़ा 'यह दया-माया खेती-बाड़ी में नहीं चलती। लाला! ये तो साधु-सन्तों के समाज में ही चलेगी। खाने के समय तो तोंद फैलाकर बैठ जाते हो, काम के समय पाखण्ड सूझता है। ऐसा ही करना है तो किसी बाबाजी के पास चले जाओ। हमारी छाती पर क्यों मूंग दल रहे हो।' भाभी के इन कटु वचनों की त्रिविक्रम पर कोई प्रतिकुल प्रतिक्रिया नहीं हुई अपितु इनके अंदर सोई साधु संगति की इच्छा जाग्रत हो गयी। उसी समय माता समान भाभी के चरण स्पर्श कर इन्होंने घर छोड़ दिया और देशाटन करते हुए एक महात्मा के समीप जा पहुँचे।

वे सन्यासी और यशस्वी महात्मा थे। उन्होंने तत्ववेत्ताजी को सदुपदेश दिये, मनन-चिन्तन कराया। तत्ववेत्ताजी ने उनका बहुत दिनों तक सत्संग किया, फिर भी अपने अन्दर रिक्तता-सी महसूस की। एक दिन ये विश्राम कर रहे थे कि इन्हें स्वप्न में एक दिव्य महात्मा ने दर्शन दिये और कहा कि 'पुत्र पूर्वजन्म में तू एक महाज्ञानी भक्त था, किन्तु अभिमान के कारण तुझे पुनः जन्म लेना पड़ा। महान् सन्त होने का वरदान तो मैं तुझे गर्भ में ही दे चुका हूँ। अब तू पुष्करराज में जाकर मेरे शिष्य परशुराम देवजी से वैष्णवी दीक्षा ग्रहण कर, क्योंकि अब तेरी अन्तरात्मा परम सात्विक, निर्मल और प्रिया-प्रियतम के नित्यरस विलास के योग्य हो चुकी है।' इतना कह कर वे अन्तर्धान हो गये।

महात्मा के इन शब्दों को सुनकर ये व्याकुल हो स्वप्न से जाग गये। प्रातः होने पर सन्यासीजी से आज्ञा ले ये पुष्करराज आये और परशुरामदेवजी से वैष्णवी दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। वहाँ पर रखे हुए श्री हरिव्यासदेवाचार्यजी के चित्र को देखा तो वह स्वप्न के महात्माजी से अभिन्न लगा। इन्होंने यह वृत्तान्त वहाँ उपस्थित समस्त सज्जनों को सुनाया। इसके बाद परशुरामदेवाचार्यजी से दीक्षा प्राप्त कर तदनुकूल साधना करने लगे।

वैष्णवी भक्ति में दक्ष होने के उपरान्त गुरुदेव ने इनको धर्म के प्रचार-प्रसार का आदेश दिया। वैसे तो ये गुरुजी के समक्ष नतमस्तक ही रहा करते थे और कुछ न बोलते थे, किन्तु बाद में सभी शंकालुओं की शंका का समाधान बड़ी निपुणता से किया करते थे। शंका समाधानोपरान्त ये कहा करते थे कि "वैसे ये सब बातें झगड़े की जड़ हैं, तत्व की बात तो प्रभु का भजन है।" अतः इनकी तात्विक बातों से प्रभावित हो गुरुदेव ने इन्हें 'तत्ववेत्ता' नाम प्रदान किया। इनका शिष्यों को उपदेश था कि—

तत्ववेत्ता संसार में पाँच बात हैं सार।
हरिसेवा, गुरु भक्ति रति, विद्या, तप, उपकार॥

इनके अनेकों चमत्कार युक्त चरित्र मिलते हैं जिनमें से कुछ प्रस्तुत किए जा रहे हैं। दीक्षा-प्राप्ति के कुछ समयोपरान्त मथुरा, वृन्दावन से गुरु की आज्ञानुसार ये अपनी जन्मभूमि (जैतारण-जयपुर) लौटे। कृष्णगढ़ के पास एक गाँव में जब ये पहुँचे, तो वहाँ के कुछ दुष्ट प्रकृति के निवासियों ने इन्हें भोजन में विष मिलाकर दे दिया। किन्तु भगवत्कृपा से ये जान गये और शिष्यों से कहा 'इसमें विष है।' शिष्यों ने इसकी परीक्षा हेतु कुछ अन्न कुत्ते को खिलाया। जब कुत्ता अन्न खा मरणासन्न हुआ, इन्होंने तुरन्त उसे उपचार द्वारा चैतन्य कर दिया। तब तत्ववेत्ताजी ने कहा कि 'हर हमारा-हर हमारा' अर्थात् भगवान् हमारा है, वही हमारी रक्षा करता है। इस 'हर हमारा' के आधार पर ही इस गाँव का नाम 'हरमारा' पड़ा।

एक बार अजमेर में हिन्दू-मुसलमानों में वाद-विवाद हुआ कि हिन्दू बड़े या मुसलमान। अजमेर ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह होने से मुसलमानों का पवित्र तीर्थ एवं राजा अजयपाल की नगरी होने के कारण हिन्दुओं का मुख्य केन्द्र माना जाता

है। वहाँ हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करते हुए तत्ववेत्ताजी ने कहा—'चोटी ईश्वर द्वारा प्रदत्त मनुष्य मात्र की सम्पत्ति है और आप लोग भी ईश्वर की ही सन्तान हो। आपलोग मुसलमान हैं। आप में अधिकांश हिन्दुओं की सन्तान हैं, जो बादशाहों द्वारा जबरन मुसलमान बना लिये गये थे।' मूर्तिपूजा के विषय में कहा कि क्या आप लोग मूर्ति पूजक नहीं हैं ? क्या कब्र ताजिये आदि की पूजा बुतपरस्ती नहीं है ?'

इनके इस प्रकार के निर्भीक विचारों को सुन सूबेदार ने इनका आसन वहाँ से हटाने का आदेश दिया। इधर इन्होंने उपद्रव शान्त्यर्थ श्रीनृसिंह भगवान् की प्रार्थना की। नृसिंहजी की कृपा से उन मुसलमानों को चारों ओर दहाड़ते सिंह दिखाई देने लगे। इस प्रकार ये उसी स्थान पर आश्रम लगाये रहे। यह स्थान अजमेर में सरकारी बाग के समीप है।

इस घटना के उपरान्त ये पुनः जैतारण लौटे। उस समय वहाँ कनफटे योगियों का प्राधान्य था। जब श्री तत्ववेत्ताजी वहाँ पहुँचे तो इनका भव्य स्वागत हुआ। उन योगियों को यह बुरा लगा। उन्होंने इनसे शास्त्रार्थ किया, जिसमें तत्ववेत्ताजी विजयी हुए।

महाराजा उदयसिंहजी (जोधपुर) की इनमें बड़ी श्रद्धा थी। जैतारण में इन्होंने 'गोपाल द्वारा' की स्थापना की। यहाँ के निवासी सभी उदावत ठाकुर इसी 'गोपाल द्वारा' के शिष्य होते हैं। इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने अजमेर, आँधी थोलाई (जयपुर) आदि भिन्न-भिन्न स्थलों पर अनेकों मठ-मन्दिरों का निर्माण कर वैष्णवधर्म का प्रचार-प्रसार किया।

'श्री तत्ववेत्ताजी की वाणी' इनकी रचनाओं का एक सुन्दर संग्रह है। इसकी रचना पद, छन्द, छप्पय आदि में हुई है। इसमें भगवान् की विभूतियों, उनकी लीलाओं तथा भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि का विवेचन किया गया है। निर्गुण-सगुण ब्रह्म का समन्वय, जीव, जगत्, माया आदि का चिन्तन परिष्कृत शैली में वर्णित है। इसमें द्वैताद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार श्री तत्ववेत्ताजी श्री निम्बार्क-सम्प्रदाय के बड़े ही यशस्वी आचार्य हुए हैं। श्री विहारीशरण ने अपने ग्रंथ 'निम्बार्क माधुरी' में इनकी प्रशस्ति में लिखा है—

विप्र-वंश-मधि जन्म निज देश भक्ति रस सान्यो।
पूर्व-जन्म-कृत-पुण्य बहु सिद्धि शक्ति उर आन्यो॥
आत्म-तत्व को ज्ञाता उत्कट विमुख नाम सो वैर।
जिन सिद्धान्त गहि अमित नर भव-वारिधि गए तैर॥
श्री हरि व्यास-पद-पद्माश्रित तत्ववेत्ता तत्त्वहि लह्यो।
आज्ञा श्री गुरुदेव लै, जैतारन मधि दृढ़ बसि रह्यो॥

तत्ववेत्ता की कृष्ण-भक्ति-भावना की स्वरूप-व्यंजक कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं—

आदि चन्द्र हरिचन्द्र, अनंत चंदा अबिकारा।
अम्रित चन्द उदार, अघट अविचल इकतारा॥

महाचन्द्र मुख चन्द्र, महा महिमा विस्तारा।
गोकुल चंद गोपाल, पाप परचंड प्रहारा॥

रामचन्द्र रघुनाथ, रवण राजण के राजा।
कृष्णचन्द्र कल्याण, सर्व सुरनर सिरताजा॥

'ततवेता' तिहुँ लोक में, वृन्दावन चन्द विस्तरि रह्या।
सर्वचन्द कूं सुमिरतां, परम चन्द परचै भया॥

प्रे० ना० श्री०
ग० मि०

ताज बीबी

ताज बीबी का जन्म फतेहपुरी (शेखावाटी-राजस्थान) के कायमखानी नवाब वंश में सातवें नवाब फदनखाँ के यहाँ सं० १६०० से १६५० के मध्य हुआ था। फतेहपुरी तथा झुंझनू के कायमखानी मुसलमान धर्मान्तरित क्षत्रिय थे। फदन खाँ इसी वंश के थे। ताज बाल्यावस्था से ही अनिंद्य सौन्दर्यशालिनी थी। इनके अद्‌भुत रूप लावण्य से प्रभावित होकर अकबर ने इनके साथ विवाह किया था।

श्री अगरचन्द नाहटा ने स्वसम्पादित ताज की कृति 'बाबी बाँदी का झगड़ा' में ताज को अकबर सम्राट् की पत्नी माना है। पं० झाबरमल शर्मा ने भी स्वीकार किया है कि ताज नवाब अलफखाँ के पितामह नवाव ताज खाँ की सहोदरा थी। विवाह के अनन्तर ये श्रीकृष्ण की अनन्य उपासिका बन गई थीं। कायमखानी इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'क्यामखाँरासो' में फदनखाँ की पुत्री का विवाह अकबर के साथ होना लिखा है, किंतु पुत्री का नाम नहीं दिया गया है। रासो की वे पंक्तियाँ यहाँ दृष्टव्य हैं—

फदन खाँ सौ यौं कह्यौ छत्रपति अकबर साह।
हमसे तुम नातो करहु पूजे मन की चाह॥
अकबर को बेटी दई फदन खाँ चौहान।
बढ्यौ प्यार बहु प्यार में अति सुख उपजे प्रान॥

भक्त कवयित्री ताज के जीवन परिचय के विषय में इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी।

भक्तिमती ताज गोस्वामी विट्ठलनाथजी की अनन्य सेविका थीं। गजेटियर (मथुरा) के अनुसार अकबर का संवत् १६२७ में मथुरा वृन्दावन के गोस्वामियों से भेंट करने का उल्लेख है। गजेटियर के इस तथ्य की पुष्टि गोस्वामी गोकुलनाथ कृत 'भाव-सिन्धु' की वार्ता से भी होती है। 'भाव-सिन्धु' की वार्ता के आधार पर ताज गोस्वामी विट्ठलनाथजी की शिष्या सिद्ध होती है। सम्राट् अकबर ने गोस्वामी विट्ठलनाथजी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर जहाँ एक ओर उनकी न्यायप्रियता के कारण उन्हें ब्रज क्षेत्र का मानद न्यायाधिकारी नियुक्त किया था, वहीं दूसरी ओर उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनका चित्र अपने महल में लगाया था। भक्तिमती ताज को इस चित्र से ही स्वरूपासक्ति हुई और उन्होंने बीरबल की बेटी शोभावती के द्वारा गोसांई जी को एक पत्र लिखाया जिसमें सम्राट् अकबर को वशीभूत करने के लिये किसी वशीकरण मंत्र की याचना की गयी थी। गोसाइंजी ने इसके उत्तर में एक दोहा लिखकर भेज दिया—

कामिन टोना, टोटका, ये सब डारो धोय।
पिया कहै सो कीजिए, आपुही तैं बस होय॥

कुछ दिन बाद अन्य बेगमों को पता चला, तो किसी एक ने सम्राट् अकबर से मंत्र सम्बन्धी शिकायत की। जब अकबर ने उसको खोलकर पढ़ा तो गोसाइं जी का हाथ से लिखा गया उक्त दोहा पढ़कर सम्राट् अकबर श्रद्धा से भर उठा और उसने ताज बीबी को विट्ठलनाथजी का शिष्यत्व ग्रहण करने की अनुमति दे दी। इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि ताज बीबी गोसाइं जी के गोकुल निवास (विक्रम संवत् १६२८) के बाद ही उनकी शिष्या बनीं।

वैष्णवी दीक्षा प्राप्त करने में कृष्ण-भक्ति के प्रति इनका आन्तरिक आकर्षण प्रेरक सिद्ध हुआ। वैष्णव जीवन पद्धति के प्रति इनकी ललक निम्नांकित पंक्तियों में स्पष्टतः व्यंजित हुई है—

एरे दिलजानी म्हारे दिलकी कहानी,
तुब दस्त हू बिकानी बदनामी हू सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी औं निवाज हू भुलानी,
तजे कलमा कुरान थारे गुन ना गहूँगी मैं॥

साँवला सलौना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
तेरे नेह दाग में निदाघ हो, दहूँगी मैं॥

नंद के फरजंद कुर्बान थारी सूरत पै,
हूँ तो मुगलानी हिन्दुआँनी हो रहूँगी मैं॥

इससे इनका वैष्णव सम्प्रदाय के प्रति अद्भुत राग प्रकट होता है। कहा जाता है कि पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद भक्तिमती ताज को श्री गोवर्धन-नाथजी ने दिव्य दर्शन दिये थे। ताज प्रेमाभक्ति में निमग्न परम विरहासक्तिमयी साधिका थीं। कुछ

दिनों तक इन्होंने श्री ललित त्रिभंगीराय के स्वरूप की अपने महल में प्रतिष्ठा करके सेवा की थी। एक समय फाल्गुन मास में ताज वीवी इतनी बिरहाकुल हुईं कि इन्हें श्री नाथजी के दर्शनों का अभाव असह्य आंतरिक वेदना का कारण बन गया। यहाँ तक कि इन्हें खान-पान की भी सुधि नहीं रही। इनका देहबोध समाप्त हो गया। होली के दिन थे। ठाकुरजी ने इन पर कृपा की और श्री गोवर्धननाथजी स्नेह के धागे में बँधकर होली-क्रीड़ा हेतु भक्तिमती ताज की आँखों के समक्ष सपरिकर उपस्थित हो गये और इनको अपने स्वरूप का पूर्ण बोध कराया। भक्तिमती ताज सचेत होकर धमार राग में यह कीर्तन गाने लगीं—

बहुरि डफ बाजन लागे हेली।
खेलत मोहन साँवरो हो केहि मिस देखन जाय।
सास ननद बैरिन भई अब कीजै कौन उपाय॥

इनका यह धमार 'साढ़े बारह धमार' के नाम से बल्लभ-सम्प्रदाय में प्रख्यात है और यह आज भी सम्प्रदाय के मंदिरों में भक्तिभाव के साथ गाया जाता है।

एक बार भक्तिमती ताज को श्रीनाथजी का अपार विरह हुआ और वह इतना अधिक बढ़ गया कि ये प्रेम में दीवानी हो गयीं। प्रियतम श्रीनाथजी से मिलने को आतुर होकर अपनी सेविकाओं के पकड़े जाने पर भी भाग चलीं। इन्होंने इस समय जो उद्‌गार व्यक्त किये, वे इन दोहों में हैं—

प्रीतम बसैं पहाड़ पै, मैं जमुना के तीर।
अब कौ मिलनों कठिन है, पाँइन परी जंजीर॥

अगर आगरे में रहूँ, गिरि पै बसत जु नाथ।
तोरि जँजीरनि जोम सों, मैं प्रीतम के साथ॥

इन दोहों में ताज की चरम भावासक्ति के दिव्य दर्शन होते हैं। यह उस कोटि की दशा है, जिसमें प्रेमी को प्रेमास्पद के बिना रहना असह्य हो जाता है और जीवन सूना-सा लगता है तथा एक क्षण भी उसके दर्शन के बिना नहीं कटता। ताज का जीवन भी इसी श्रेणी का था। ब्रज-गोकुल से इन्हें इतना लगाव था कि इन्होंने आगरे में भी गोकुलपुरा नाम से एक पृथक् बस्ती बसायी थी। आज भी गोकुलपुरा भक्तिमती ताज का जीता-जागता स्मारक है।

वैष्णव जन अपनी इह लीला का अन्त आराध्य के विग्रह में तल्लीन होकर किया करते हैं। वे भगवान् के विशिष्ट श्री अंग बन जाते हैं। वैष्णव कवयित्री ताज की भी यही स्थिति हुई और ये मुकुट काँछनी के श्रृंगार में होली-क्रीड़ा करते हुए श्री नाथजी का दर्शन कर इतनी विह्वल हो गयीं कि इन्हें शरीर की सुधि नही रहीं। इसी समय श्री गोविंदस्वामी द्वारा गाये जाने वाले उसी पद—"बहुरि ढफ बाजन लागे हेलो"—को सुनकर ठाकुर से मिलने को प्रेम में उद्दीप्त होकर दौड़ीं तो पुनः सेविकाओं के प्रयास के बावजूद भक्तिमती ताज रोकी नहीं जा सकी। ये अपने प्रभु में लीन हो गयीं और शरीर सेविकाओं की गोद में पड़ा रहा। इनका लघु चैतन्य विराट् चैतन्य में लीन हो गया। इन्हें दंडौती-शिला के पास नीचे ले आया गया। आज भी इनका मकबरा इनके परम-प्रिय स्थल, गोकुल में रमणरेती के मध्य बना हुआ है।

ताज की गणना विशिष्ट पुष्टिमार्गीय कवियों में की जाती है। आज तक इनकी स्फुट रचनाएं ही उपलब्ध थीं, परन्तु सिहोर निवासी श्री गोविंद गिल्ला भाई को ताज रचित एक पुस्तक मिली है, जिसमें निम्नांकित विषयों पर इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में उल्लेख है—

१. गणेश स्तुति, २. सरस्वती समाराधना, ३. भवानी वंदना, ४. हरदेवजी की प्रार्थना, ५. मुरलीधर के कवित्त, ६. दशावतार वर्णन, ७. निरोध कविता, ८ होरी-फाग, ९. बारहमासा (छप्पयों में), १०. बारहमासा (कवित्तों में), ११. बारहमासा (कुंडलियों में) १२. भक्ति परक कवित्त, १३. स्फुट।

इन रचनाओं के देखने पर ऐसा लगता है कि ताज का कवित्व व्यापक है। इनके पदों में प्रसिद्ध पद होली का ही है, वही उपलब्ध हुआ है। इसके साथ इनके तीन प्रसिद्ध कवित्त प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१)

बहुरि डफ बाजन लागे हेली।
खेलत मोहन साँवरो हो किहि मिसि देखन जाय॥

सास ननद बैरिन भयीं अब कीजै कौन उपाय।
ओजत गागर डारिये जमुना जल के काज॥

यह मिस बाहिर निकस के हम जाय मिलें तजि लाज।
आओं बछरा में लिये बनकों देहि बिडार॥

वे दैहे हम ही पठै हम रहेगी घरी द्वै चार।
हा हा री हौं जात हो, मो पै नाहिन परत रह्यौ॥

तू तो सोचत ही रही तैं मान्यो न मेरो कह्यौ।
राग रंग गहगड मच्यौ नंदराय दरबार॥

गाय खेल हंस लीजिये, फाग बड़ो त्यौहार।
तिनमें मोहन अति बने, नाचत सबै गुवाल॥

बाजे बहु विधि बार्जाहि संग मुरज ढफ ताल।
मुरली मुकुट विराजहो कटि-पट बांधे पीत॥

नृत्यत आवत ताज के प्रभु गावत होरी गीत।

(२)

छैल जो छबीला सब रंग में रंगीला,
बड़ा चित्त का अड़ीला सब देवतों से न्यारा है।
माल गले सोहै नाक मोती सेत जोहै कान,
कुंडल मन मोहै लाल मुकुट सिर धारा है।
दुष्ट जन मारे सब सन्तन उबारे 'ताज',
चित्त हितवारे प्रेम प्रीतिकर वारा है।
नन्द जू को प्यारा जिन कंस को पछारा,
वह वृन्दावनवारा कृष्ण साहेब हमारा है॥

(३)

काहू को भरोसो वेद चारहू जो पढ़ै होत,
काहू को भरोसो गंगा न्हाये सहस धार को।
काहू को भरोसो सब देवन को पूजे 'ताज',
काहू को भरोसो विधि शंकर उदार को।
काहू को भरोसो मनि पाये मिले पारस को,
काहू को भरोसो सूर-वीदन के लार को।
तारन तरन कृष्ण सुने जो जहान बीच,
मोको तो भरोसो एक नन्द के कुमार को॥

रा० कृ० श०
ग० मि०

तानतरंग

'तानतरंग' का जीवनवृत्त सर्वथा अज्ञात है। यह कवि का उपनाम मालूम पड़ता है, मूलनाम क्या था ? यह जानने के साधन शेष नहीं रहे। 'तान-तरंग' छाप से कृष्ण-लीला सम्बन्धी मात्र एक पद प्राप्त है, वह नीचे दिया जा रहा है—

अब ही डारि दै रे ईंडुरिया कन्हाई,
मेरी पँच-रँग-पाट की।

हा-हा खात तेरे पैयाँ परति हों,
लालच मोहि मथुरा-नगर-हाट की॥

मेरे संग की दूरि निकसि गईं,
हों न रहो किहुँ घाट की।

'तानतरंग' प्रभु झगरौ ठाँन्यों,
हँसत लुगाई बाट की॥

उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार तानतरंग अकबरी दरबार के प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन के भाई थे। इनके पिता मकरंद पांडेय भी मुसलमान स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। संगीतज्ञ पिता की छत्र-छाया में इनकी संगीत की शिक्षा हुई और तत्सम्बन्धी प्रतिभा का विकास हुआ। तानतरंग की भाँति ही इन्होंने भी कृष्णभक्ति संबंधी प्रचुर पदों की रचना की।

रा० कु० ब०

तानसेन

भारत के महान् संगीतज्ञों एवं उच्कोटि के गायकों में तानसेन का नाम बहुत प्रसिद्ध है। ये

मुगल-सम्राट् अकबर के दरबारी गायक और उनके नवरत्नों में से थे। संगीत के क्षेत्र में इतने विख्यात हुए कि इन्हें अपने काल का संगीत सम्राट् कहा जाता है। वड़े आश्चर्य की वात है कि इनके जैसे सुप्रसिद्ध कलाकार का प्रामाणिक जीवन वृत्तान्त सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। इनके समकालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में इनके गायन कौशल की तो खूब प्रशंसा की गई है, किन्तु इनके जीवन वृत्त पर, विशेष रूप से इनकी आरम्भिक जीवनी पर, अत्यल्प प्रकाश डाला गया है। इनकी रचनाओं में भी इनके जीवन वृत्तान्त के समुचित सूत्र नहीं मिलते हैं।

अकवरी दरबार के मीर मुंशी अबुल फजल तानसेन के समकालीन ही नहीं, साथी भी थे। उन्होंने अपने सुविख्यात ऐतिहासिक ग्रंथ 'आइने अकवरी' और 'अकबर नामा' में तानसेन के गायन की अत्यधिक प्रशंसा की है। उन्होंने सम्राट् अकवर के दरबारी गायकों की सूची में तानसेन को प्रथम स्थान प्रदान किया है, फिर भी तानसेन के आरम्भिक जीवन पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। यही कारण है कि इनके जन्म-स्थान, जन्म काल, कुटुम्ब-परिवार, जाति आदि के सम्बन्ध में अनुश्रुतियों के अतिरिक्त विश्वसनीय तथा प्रामाणिक तथ्यों का अभाव है। ऐसी स्थिति में कुछ प्रामाणिक जान पड़ने वाली परम्परागत अनुश्रुतियों और आधुनिक अनुसंधान से उपलब्ध कतिपय शोधात्मक तथ्यों के आधार पर इनके जीवन वृत्तांत को लिखने की चेष्टा की गई है।

तानसेन का जन्म ग्वालियर के निकटवर्ती बेहट नामक ग्राम में विक्रम की १६वीं शती के उत्तरार्ध के किसी संवत् में हुआ था। इनका जन्म काल अनिश्चित एवं विवादग्रस्त है। हमने अनुसंधान द्वारा ज्ञात सं० १५६३ को अपने ग्रंथों में तानसेन का जन्म काल लिखा था। किन्तु इधर जो नवीन तथ्य उपलब्ध हुए हैं, उनसे ऐसा अनुमान होता है कि तानसेन का जन्म सं० १५७० के लगभग हुआ होगा।

तानसेन जन्मना हिन्दू थे और ये पाण्डेय आस्पद के ब्राह्मण थे। इनके निम्नलिखित ध्रुपद में इनका ब्राह्मण होना ज्ञात होता है—

जै-जै कर पूजौ, धौलागढ़ की रानी ने।
वीर बली वंश, ब्राह्मण कुल-ताज, तानसेन वरदानी ने॥

यह किवदंती बहुत प्रसिद्ध है कि हिंदू कुल में जन्म लेने के पश्चात् तानसेन बाद में मुसलमान हो गये थे। इन्होंने अपना धर्म-परिवर्तन, स्वेच्छा से किया अथवा इन्हें बलात् मुसलमान बनाया गया था, इस संबन्ध में कई अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि अपने आचार-विचार एवं आहार-व्यवहार में ये बड़े स्वच्छन्द थे और इनका मुसलमानों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क था। यहाँ तक कि इन्हें मुसलमानों के साथ खान-पान में भी परहेज नहीं था। इनकी हिन्दू पत्नी के अतिरिक्त दूसरी पत्नी अथवा उपपत्नी कोई मुसलमान सुन्दरी भी थी। इन सब कारणों से आस्तिक हिन्दुओं ने इन्हें जाति-बहिष्कृत कर मुसलमान घोषित कर दिया था।

कारण कुछ भी हो, किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इन्होंने कभी इस्लाम धर्म स्वीकार नहीं किया था और ये आजीवन हिन्दू रहे थे। इसकी पुष्टि इनके देहावसान की घटना से होती है। मुंशी अबुल फजल ने 'अकबर नामा' में तानसेन की शव-यात्रा के विषय में लिखा है कि सम्राट् अकबर के आदेशानुसार बहुसंख्यक गायक एवं वादक गण विवाहोत्सव की भाँति गाते-बजाते हुए तानसेन के शव को अंतिम संस्कार के निमित्त ले गये थे। मुसलमानी मजहब में गान-वाद्य के बजाय चुपचाप मुर्दे को दफनाया जाता है, जबकि हिन्दुओं में किसी बड़े-बूढ़े की मृत्यु होने पर उसके शव की दाह-क्रिया हँसी-खुशी, बाजे-गाजे के साथ करने की प्रथा है।

ग्वालियर में तानसेन का जो मकबरा है, उसे इनके मुसलमान इष्ट मित्रों एवं शिष्यों ने इनकी स्मृति कायम रखने के लिए निर्मित कराया होगा। यहाँ

यह उल्लेखनीय है कि तानसेन की मृत्यु ग्वालियर में न होकर संभवतः आगरा में हुई थी। इनकी लाश का निधन-स्थल से ग्वालियर ले जाकर दफनाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि तानसेन अपने अंतिम काल तक हिन्दू रहे थे और जीवन पर्यन्त हिन्दू रीति-रिवाजों का पालन तथा हिन्दू देवी-देवताओं के प्रति अविचल श्रद्धा-भावना प्रकट करते रहे थे।

यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि तानसेन इनका मूल नाम नहीं था, उपाधि थी, जो इनकी गायन कला की प्रशंसा में दी गई थी। इनका मूल नाम तन्ना अथवा त्रिलोचन था। बाँधवगढ़ के राजा रामचन्द्र ने इनके गायन पर प्रसन्न होकर इन्हें तानसेन की उपाधि से अलंकृत किया था।

तानसेन के पिता मकरंद पाण्डेय थे, जो सम्भवतः कुशल संगीतज्ञ थे। उन्हीं से तानसेन को आरंभिक संगीत-शिक्षा प्राप्त हुई थी। उनके तीन पुत्र थे, जिनमें से एक का नाम सुरति सेन था, अन्य दो के नाम तान तरंग खाँ एवं विलास खाँ थे। सुरतिसेन का जन्म उनकी हिन्दू पत्नी से और तानतरंग एवं विलास खाँ का जन्म उनकी मुसलमान पत्नी से हुआ था। तानसेन की एक पुत्री भी थी। उसका विवाह उस काल के प्रसिद्ध वादक मिश्रीसिंह उपनाम नौबत खाँ के साथ हुआ था। उक्त पुत्रों एवं पुत्री के वंशजों के द्वारा इनके कुटुंब-परिवार का विस्तार हुआ था।

यह किंवदंती बहुत प्रसिद्ध है कि तानसेन को संगीत की शिक्षा इनके जन्म स्थल बेहट के निकटवर्ती ग्वालियर नगर में प्राप्त हुई थी। तानसेन के जन्म से पहले ही ग्वालियर के संगीतज्ञ नरेश मानसिंह तोमर के प्रयत्न से वह नगर संगीत कला का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया था। मानसिंह के प्रोत्साहन से उस काल के अनेक महान् गायक एवं संगीताचार्य विविध स्थानों से आकर ग्वालियर में एकत्र हुए थे और उन्हें राज्याश्रय प्राप्त हुआ था। उनमें बैजू, बख्शू, पांडवीय और महमूद लोहंग जैसे सुविख्यात संगीतशास्त्री भी थे। उन्हीं में से किसी से तानसेन ने संगीत की शिक्षा प्राप्त की होगी। फिर अपने निरंतर अभ्यास से ये उस कला में उत्तरोत्तर प्रवीण होते गये थे। कालांतर में अपने उत्तर जीवन में इन्होंने अनुश्रुति के अनुसार वृन्दावन के संत संगीताचार्य स्वामी हरिदास और वल्लभ-संप्रदायी 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार अष्टछापी संगीताचार्य गोविंद स्वामी के सत्संग में रहकर अपनी गायन कला एवं संगीतज्ञता की संपुष्टि की थी।

तानसेन हिंदू धर्मावलंबी पिता के पुत्र थे। इनके मुसलमान हो जाने के विषय में जो किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, उनकी अप्रामाणिकता सिद्ध की जा चुकी है। जब ये स्वामी हरिदास और गोविंद स्वामी जैसे महान् भक्त संगीताचार्यों के सम्पर्क में आये थे, तब ये भगवान् श्रीकृष्ण के निष्ठावान भक्त हो गये थे। तभी इन्होंने कृष्ण-लीला के बहुसंख्यक ध्रुपदों की रचना की थी। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार इन्होंने गो॰ विट्ठलदासजी से वल्लभ-सम्प्रदाय की दीक्षा प्राप्त की थी। इसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति इनकी श्रद्धा भावना में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई थी।

तानसेन के आरंभिक जीवन पर किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता है, किन्तु इनके उत्तर जीवन पर वल्लभ-संप्रदाय का प्रभाव जान पड़ता है। इनके उत्तर काल की रचनाओं पर यह प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

ग्वालियर में संगीत की शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर तानसेन ने अपनी जीविका का आधार संगीत कला को ही बनाया था। उस समय ग्वालियर का राज्य मुगलों के अधीन हो जाने से अपनी संगीत प्रतिष्ठा खो चुका था, और वहाँ के राज्याश्रित संगीतज्ञ ग्वालियर छोड़कर जीविका के निमित्त अन्य राज्यों में जाने को विवश हुए थे। उसी परिस्थिति में तान-

सेन ने भी ग्वालियर का परित्याग किया था। ये सर्वप्रथम आगरा गये, जहाँ शेरशाह सूरी के उत्तराधिकारी इस्लाम शाह सूर के राज्याश्रय में रहे थे। वहाँ से ही इनकी गायन कला की प्रसिद्धि होने लगी थी। इस्लाम शाह के पश्चात् उसका चचेरा भाई आदिल शाह (अदली) राज्याधिकारी हुआ था। वह संगीत कला में अत्यंत निपुण था। उस काल के अनेक प्रख्यात संगीतज्ञ उसके प्रति गुरुवत् श्रद्धा रखते थे। तानसेन ने अदली के संपर्क में रहकर अपनी संगीत कला को प्रगति के पथ पर अग्रसर किया था।

उसी काल में बाँधवगढ़ के राजा रामचन्द्र ने तानसेन की ख्याति सुनी। राजा रामचन्द्र संगीत-कला के मर्मज्ञ और गायकी के प्रोत्साहनकर्ता थे। उन्होंने तानसेन को आदरपूर्वक बुलाकर इन्हें अपना दरबारी गायक नियुक्त किया था। वहाँ पर तानसेन को प्रतिष्ठा के साथ-साथ विपुल धन-वैभव भी प्राप्त हुआ। इनके कई ध्रुपदों में बाँधव नरेश रामचन्द्र की गुणग्राहकता और उदारता की प्रशंसा मिलती है।

राजा रामचन्द्र के दरबार में रहने के समय तानसेन की अत्यन्त व्यापक प्रसिद्धि हुई थी। जब इनके गायन की प्रशंसा उस समय के महान् मुगल सम्राट् अकबर ने सुनी, तब वे तानसेन को अपना दरबारी गायक बनाने के लिए लालायित हुए। उन्होंने अपने एक उच्च कर्मचारी जलाल खाँ को शाही फरमान सहित राजा रामचन्द्र के पास भेजा कि वह तानसेन को उनके पास भेज दें। चूँकि राजा रामचन्द्र अकबर के अधीनस्थ सामंत थे, अतः वे शाही फरमान के अनुसार कार्यवाही करने को बाध्य थे। अतएव उन्होंने विवश होकर अपने प्रिय गायक को बहुमूल्य उपहार देकर विदा किया। इस प्रकार सं० १६१७-२० में तानसेन का अकबरी दरबार में प्रवेश हुआ था।

जिस समय तानसेन अकबरी दरबार में शाही गायक के रूप में नियुक्त हुए थे, उस समय इनकी आयु ५० वर्ष से कुछ अधिक थी। तब तक ये अनुपम गायक एवं उत्कृष्ट संगीतज्ञ के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। अकबरी दरबार से सम्बद्ध होने पर इनकी कीर्ति का और भी विस्तार हुआ। साथ ही इनके धन-वैभव में भी अत्यधिक वृद्धि हुई। मुंशी अबुल फजल कृत 'आइने-अकबरी' में लिखा मिलता है कि तानसेन के प्रथम गायन पर ही सम्राट् अकबर ने इन्हें पुरस्कार स्वरूप दो लाख मुद्राएँ अर्पित की थीं। बाद में वह विभिन्न अवसरों पर इन्हें विपुल धन प्रदान करते रहे। साथ ही उन्होंने इनको अपने दरबार के ३६ सर्वश्रेष्ठ गायकों का मुखिया बनाया था और दरबारी नवरत्नों में भी इन्हें सर्वोच्च स्थान प्रदान किया था। तानसेन अपने अंतिम काल तक अकबरी दरबार से सम्बद्ध रहे थे।

तानसेन की रचनाओं में सर्व प्रथम उल्लेखनीय वे बहुसंख्यक ध्रुपद हैं, जो लिखित एवं मौखिक दोनों रूपों में उपलब्ध होते हैं। लिखित ध्रुपदों का संकलन कई संगीत ग्रंथों में किया गया है, जो विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हुए हैं। ऐसे ग्रंथों में 'राग-कल्पद्रुम' और 'नाद-विनोद' प्रमुख हैं। 'राग कल्पद्रुम' में तानसेन के सर्वाधिक ध्रुपदों को संकलित कर प्रकाशित किया गया है। यह महान् संगीतोद्धारक श्री कृष्णानंद व्यास की देन है, और इसका प्रकाशन काल सं० १८९८ है।

तानसेन कृत स्फुट ध्रुपदों के अतिरिक्त इनके रचे हुए दो संगीत-ग्रंथ भी मिलते हैं, जिनके नाम संगीत-सार' और 'रागमाला' हैं। ये हस्तलिखित एवं मुद्रित दोनों रूपों में उपलब्ध हैं। इनकी रचना दोहा छंदों में हुई है। संगीत सार में १८४ और रागमाला में २०८ दोहे हैं। कुछ दोहे दोनों ग्रंथों में समान रूप से मिलते हैं।

लिखित एवं प्रकाशित स्फुट ध्रुपदों एवं ग्रन्थों के अतिरिक्त तानसेन की कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं, जो संगीत-साधकों एवं गायकों के कंठों में सुरक्षित हैं। इनका गायन, संगीत की मजलिसों में परम्परा से

होता रहा है। इनमें कुछ रचनाएँ प्रक्षिप्त भी हैं, जो तानसेन के नाम छाप से प्रचलित रही हैं। ये सभी रचनाएँ अप्रकाशित हैं। यदि इन्हें संकलित कर प्रकाशित करा दिया जाय, तब एक ओर इनसे तानसेन की रचनाओं में वृद्धि हो सकती है और दूसरी ओर उनके प्रामाणिक अथवा प्रक्षिप्त होने का भी निश्चय किया जा सकता है।

'अकबर-नामा' से ज्ञात होता है कि तानसेन का देहावसान अकबरी शासन के ३४वें वर्ष अर्थात् सं० १६४६ में हुआ था। ईसवी सन् के अनुसार इनके तिरोधान की तिथि २६ अप्रैल सन् १५८९ बताई गई है।'अकबर-नामा' से ऐसा संकेत मिलता है कि तानसेन की मृत्यु सम्राट् अकबर की राजधानी आगरा में हुई थी और इनका अंतिम संस्कार भी संभवतः उसी नगर में हुआ था।

ग्वालियर में किले के निकट दो स्मारक बने हुए हैं, जिनमें से एक कलात्मक एवं बड़ा है और दूसरा सामान्य एवं छोटा है। बड़े को सूफी फकीर ग़ौस मोहम्मद का मकबरा बतलाया जाता है और छोटे को तानसेन की कब्र कहा जाता है। इसके कब्र होने की विज्ञप्ति पुरातत्व विभाग द्वारा की गई है, किन्तु वैसा करने से पूर्व उसके सम्बन्ध में समुचित रूप से ऐतिहासिक अनुसन्धान नहीं किया गया है। वस्तुतः निराधार किंवदंतियों के आधार पर ही उसे तानसेन की कब्र घोषित किया गया था।

तानसेन का देहावसान ग्वालियर में न होकर आगरा में हुआ था। इनकी लाश को आगरा से ग्वालियर ले जाकर दफनाया गया, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। फिर जब तानसेन अपने अंतिम काल तक हिन्दू थे, तब इनकी कब्र होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। ऐसा जान पड़ता है, तानसेन की मृत्यु के पश्चात् इनके ग्वालियर निवासी मुसलमान शिष्यों ने अपने गुरु की यादगार कायम रखने के लिए एक स्मृति-स्थल का निर्माण करा दिया था। चूंकि वह ग़ौस मोहम्मद के मकबरा के निकट था, अतः कालांतर में उसे भ्रमवश तानसेन की कब्र कहा जाने लगा। वह भ्रम अभी तक दूर नहीं हुआ है।

तानसेन द्वारा रचे हुए बहुसंख्यक ध्रुपदों में से केवल तीन यहाँ उदाहरण स्वरूप दिये जाते हैं—

(१)

निराकार महिमा (रागिनी टोड़ी चौताला)

तू ही एक आदि निरंजन निराकार नाद रूप,
तेरो ही पसारौ पूरौ सब संसार।

अलख अव्यक्त तू ही, तू ही जग निस्तारक,
तू ही एक पाक-परवर, तू ही अपरंपार॥

जल-थल धरिनी माँहि तू ही परिपूरन,
सकल मही मंडल तेरौ ही आधार।

तानसेन के दुख दारिद्र दूरि करौ
तू ही कर्त्ता-हर्त्ता, तू ही करतार॥

(२)

सरस्वती नन्दना (राग भैरव, चौताल)

जै सारदा भवानी, भारती विद्यादानी,
महावाक दानी तोहि ध्यावै।
सुर नर मुनि मानो, तू ही त्रिभुवन में जानो,
जाकी मन इच्छो जो सोई तू पुजावै॥

मंगला, बुधि दानी ज्ञान की निधानी तू
बीना पुस्तक धारिनी तू प्रथम ताहि गावैं।
तानसेन तेरी वंदना कहाँ लौं बखानैं,
सप्त सुर तीन ग्राम, राग-रंग लय अक्षर आवैं॥

(३)

कृष्ण-स्मरण (राग भैरव चौताल)

प्रथम उठि भोर ही, कृष्ण-कृष्ण कहो मन,
जासौ होवै सब सिद्ध काज।
इहलोक परलोक सबहिं के स्वामी,
ध्यान धरौ श्री ब्रजराज॥

पतित उद्धारन, जन प्रतिपालन,
दीन दयाल नाम लेत जायँ दुख भाज ।।

तानसेन प्रभु कौ सुमिरौ प्रात ही,
जासों जग में रहै तेरी लाज ।।

तानसेन कृत दो संगीत ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम 'संगीत सार' और 'रागमाला' हैं। इनमें से प्रत्येक से दो-दो दोहे उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

(१)

गीत, वाद्य अरु नृत्य कौ, कह्यौ नाम संगीत ।
तानसेन मत सहस गनि, सप्त मतहि मन चीन ।।

(२)

द्वै प्रकार संगीत है, मारग देसी जान ।
मारग ब्रह्मादिक कह्यौ, देसी देस बखान ।।
—संगीतसार

(१)

षरज रिषभ, गंधार अरु, मध्यम पंचम जान ।
धैवत और निषाद कौं, मींयाँ सरस बखान ।।

(२)

औड़व कहिये पाँच सुर, षाड़व षट सुर सोह ।
संपूरन मींयाँ कहै, सप्त सुरन मिलि सोह ।।
—रागमाला

तानसेन के कुछ ध्रुपद ऐसे हैं जिनका प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है। ये ध्रुपद अधिकतर पुरानी परम्परा के गायकों को कण्ठस्थ हैं। इनमें से केवल दो ध्रुपद यहाँ उदाहरणार्थ दिये जाते हैं—

(१)

चरन सरन ब्रजराज कुँवर के ।
हम विधि-अविधि कछू नहिं जानत,
रहत भरोसे मुरलीधर के ।
बसत आसरे ब्रजमंडल में,
भुजा छाँह तरुवर गिरिधर के ।
तानसेन के प्रभु सुखदायक,
हाथ विकाने हम राधावर के ।।

(२)

केते दिन गए हो अरजी,
हरि बिनु देखैं ।
उरजु तपत वाके नख-सिख कारन,
नैन तपै बिनु देखैं ।।

पतियाँ न पठावत है,
आपु न आवत हैं रहो री अबलौं धोखैं ।
तानसेन के प्रभु सुखदायक,
जोवन जात परेखैं ।।

प्र० द० मी०

तालिबअली 'रसनायक'

श्री तालिबअली १८वीं शती के उत्तरार्द्ध में बिलग्राम में पैदा हुए थे। इनका उपनाम 'रसनायक' था। यही नाम छन्दों में नाममुद्रा के स्थान पर मिलता है। तालिब को उर्दू-फारसी का भी बोध था, किन्तु काव्य-रचनाएँ इन्होंने प्रायः ब्रजभाषा में ही की। कवित्त-सवैया छन्दों में इनकी स्फुट रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। अर्थचमत्कार और सूक्तिमयता की दृष्टि से इनके छंद बहुत ही अच्छे हैं। मधुर एवं सरस तथा सघन भावात्मक प्रसंगों के प्रति इनकी विशेष रुझान थी। यही कारण है कि इन्होंने अपनी रचनाओं में कृष्णचरित को बार-बार वर्ण्य-विषय के रूप में अंगीकार किया है। कृष्ण की वंशीवादन लीला के वर्णन से सम्बन्धित इनका एक कवित्त, जो बहुत ही सुन्दर और प्रसिद्ध है, यहाँ प्रस्तुत है—

जल की न घट भरैं मग की न पग धरैं,
घर की न कछु करैं बैठी भरैं साँसु री ।
एक सुनि लोट गई एक लोटपोट भई,
एकन के दृग ते निकसि आए आँसु री ।
कहै 'रसनायक' सो ब्रजबनितन बधि,
बधिक कहाये हाय हुई कुल हाँसु री ।
करिये उपाय बाँस डारिये कटाय,
नहीं उपजैगो बाँस नहीं बाजेगी बाँसु री ।।

सं०

तीर्थंराम जोशी

श्री तीर्थंराम जोशी का जन्मकाल १६०० वि० के लगभग माना जाता है। ये मारवाड़ के गूढ़ाग्रामवासी ब्राह्मण थे और यजमान वृत्ति से धनोपार्जन करते थे। स्वभाव से कृपण होने के कारण संचित धन का ये कोई उपयोग नहीं करते थे। श्री रामराय प्रभु के प्रभाव से इनकी भावनाएँ पलट गईं और उनका ऐसा प्रभाव हुआ कि ये त्यागी-विरागी होकर वृन्दावन में आ बसे, जहाँ इन्होंने—१. द्रव्यदोष, २. त्यागतरणि, ३. श्री हरिलीला, ४. रसिकाचार्य चर्चा और ५. व्रजवास नामक पाँच रचनाएँ प्रणीत कीं।

इनकी रचनाओं में कवित्त, सवैया, चौपाई और पदशैली मिलती हैं। यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है—

भोग के भोग में रोग करैं,
सब जोग डरैं बिन बात बुलाये।
सोक कौ सोक गयौ सो भयौ,
पुनि आयौ न हर्ष मुखाम्बुज पाये ।।

राजा के राजा भये बिन ताज,
समाज के मुख्य भये सुख पाये।
एक प्रताप है त्याग कौ 'तीरथ',
कौन नहीं जाकों जी ललचाये ।।

अनुमान है कि इनका देहावसान वि० सं० १६६० में हुआ होगा।

न० च० बं०

तुलसा

भक्तिमती तुलसा श्री पद्मनाभदास की बेटी थीं। ये कन्नौज में पैदा हुई थीं। इनके पिता उच्चकोटि के वैष्णव थे। तुलसा ने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति सर्वात्मना समर्पण कर दिया था। इसीलिए ये आजीवन कुमारी रहीं। पिता के सारे गुण बेटी तुलसा में चरितार्थ हुए थे। गोस्वामी विट्ठलनाथजी की सेवा में इनका मन अधिक रमता था। गुसाइंजी तुलसा की वैष्णवोचित बातों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ करते थे। एक बार तुलसा की सेवा से प्रसन्न होकर उन्होंने भक्तवर पद्मनाभदासजी से कहा था 'तुम्हारी संतति तुम्हारे अनुरूप ही होनी चाहिये थी और हुआ भी ऐसा ही है।' ठाकुरजी की तुलसा पर इतनी कृपा थी कि वे इनके द्वारा अर्पित किया गया नैवेद्य पूर्ण तृप्ति के साथ खाते थे। ठाकुरजी की कृपा से वैष्णव तुलसा समागत वैष्णवों का स्वागत-सत्कार करने में कोई कोर-कसर नहीं रखती थीं।

एक दिन एक वैष्णव, जो आचार्य महाप्रभु वल्लभ का शिष्य था, भक्तिमती तुलसा के घर आया। इस समय तुलसा ने राजभोग सेवा के अवसर पर ठाकुरजी को भोग समर्पित किया था। अभ्यागत वैष्णव से निवेदन करती हुई इन्होंने कहा कि आप भी स्नान करने के बाद भगवान् के महाप्रसाद को ग्रहण करें। तुलसा के निवेदन को नकारते हुए वैष्णव ने स्नान करने के बाद महाप्रसाद अपने घर जाकर ग्रहण करने को कहा। यह सुनकर तुलसा चुप रहीं और वैष्णव चला गया, परन्तु तुलसा के मन में इस घटना से भारी क्षोभ हुआ। ये निरन्तर यही सोचती रहीं, 'आज अच्छा नहीं हुआ कि मेरे घर से वैष्णव भूखा चला गया। निश्चित ही उस वैष्णव के मन में जाति का व्यवहार प्रधान रहा होगा, इसी लिए उसने हमारे सखरा-प्रसाद को नहीं लिया।' प्रातःकाल होते ही तुलसा ने मैदा छानकर सखरा तैयार किया और मन में संकल्प किया कि 'अब किसी भी वैष्णव को आज से सखरा प्रसाद नहीं दूँगी।'

दुःखी मन से तुलसा रात्रि को सो गयी। रात्रि में उसे स्वप्न हुआ और ठाकुरजी ने स्वप्न में कहा—'बा वैष्णव को सखरा महाप्रसाद लिबाइयौ वह वैष्णव अपने घर प्रसाद नाहि लैगो। पाछे बा वैष्णव सौं स्वप्न में कही जो सकारैं तू सखरा महाप्रसाद तुलसा के घर लीजियौ।' दोनों ही भक्तों को इस तरह स्वप्न में श्री ठाकुरजी ने महाप्रसाद के सम्बन्ध में यह

वोध कराया कि प्रसाद में सखरा-अनसखरा कुछ भी नहीं होता। वैष्णव स्वप्न देखकर दंग रह गया। सुवह ही उठा और तुलसा के घर के लिए चल दिया। भक्तिमती तुलसा अपने ठाकुर श्री मथुरानाथ जी को मैदा की पूरी वनाकर, समर्पित कर रही थी। इसी बीच वैष्णव तुलसा के घर पहुँच कर श्री ठाकुरजी के समक्ष दण्डवत प्रणाम करके बैठ गया। तुलसा ने वैष्णव का सत्कार करते हुए स्नान आदि की व्यवस्था की और तिलक-मुद्रा से वैष्णव ने अपना मस्तक सज्जित कर, प्रसाद प्राप्त करने के लिए तुलसा से निवेदन किया। तुलसा ने महाप्रसाद में आज श्री ठाकुरजी को पूरी और बूरा अर्पित किया था, उसे ही उसने वैष्णव के आगे लाकर समर्पित किया, परन्तु वैष्णव ने कहा कि 'मैं तो सखरा महाप्रसाद ही खाऊँगा।' इस पर तुलसा ने कहा कि 'आप संकोच न करें पूरी और बूरा ही खाएँ। जाति व्यवहार से सखरा और अनसखरा चलता है।' तव वैष्णव ने अपनी भूल स्वीकार करते हुए कहा कि 'प्रारम्भ में मैंने यही अनुभव किया था, लेकिन अव तो श्री ठाकुरजी की आज्ञा हुई है कि वैष्णव जाति सव जातियों से ऊपर है।' इस प्रकार वैष्णव ने भक्तिमती तुलसा के घर सखरा महाप्रसाद ही लेकर संतोष की साँस ली।

वार्ता के इस प्रकरण से विदित होता है कि तुलसा में जो वैष्णवत्व के संस्कार अंकुरित होकर परिपक्व हुए थे, उनमें श्री गुरु के प्रति निष्ठा और सम्प्रदाय के प्रति आस्था अकाट्य रूप में विद्यमान थी। श्रीकृष्ण प्रिय भक्तों में वैष्णव तुलसा का स्थान मूर्धन्य है।

रा० कृ० श०

तुलसीदास (प्रथम)

तुलसीदासजी प्रथम) का उपस्थिति काल विक्रम की १९वीं शती का उत्तरार्द्ध है। ये श्री सुखलाल के शिष्य थे। ये ग्रीष्म ऋतु में रात-दिन राधावल्लभलाल का पंखा खींचते रहते थे और उनको अपनी अन्तरंग प्रीति से रिझाते रहते थे। श्री गुरु की कृपा से श्री हिताचार्य की रहस्यमयी रस-रीति इनको प्रत्यक्ष हो गयी थी और ये उसी में दिन-रात निमग्न रहते थे। ये मौन रहकर गूँगे के गुड़ की भाँति श्री श्यामा-श्याम के अनुपम प्रेम-सौंदर्य का निरन्तर आस्वाद करते रहते थे। जिस प्रकार मोर बादलों को देखकर आनन्दित होता है उसी प्रकार ये रसिकजनों के मिलने से प्रसन्न होते थे। तुलसीदासजी की आसक्ति नितान्त तीव्र थी और इन्होंने श्री हितधर्म को समझकर ग्रहण किया था। इनकी प्रशस्ति में यह पद मिलता है—

> ग्रीषम पंखा करत सकल निसि द्यौस बितावै।
> श्री राधा बल्लभ इष्ट माहिले हेत रिझावै।
> गुरुवर श्री सुखलाल रहसि को रीति लखाई।
> ताही में नित मगन गूँगा मनु खात मिठाई।
> घन गरजत हरषत मोर ज्यों,
> यौं मुदित रसिक मिलैं जिहिं घरी।
> समुझि गह्यौ हित रीति पथ,
> हिय तुलसीदास लगनि खरी॥

—रसिक अनन्य परचावली

ल० च० गो०

तुलसीदास (द्वितीय)

तुलसीदास (द्वितीय) नामक एक राधा-कृष्ण भक्त का भी पता चलता है। 'चतुर्थ वसंत प्रवन्ध' में इनके सम्बन्ध में कहा गया है—

> देखौ तुलसीदास अति ही रसज्ञ।
> भावना परायण पुनि श्रवज्ञ॥
>
> चित वृत्ति इष्ट चरनन सौं लग्य।
> संतनि संग फागु रमै कृतज्ञ॥

इनके प्रारम्भिक जीवन सम्बन्धी बहुत कम जानकारी मिलती है। श्री हित वल्लभीय-सम्प्रदाय की रस-पद्धति की मन्त्र-दीक्षा इन्होंने किससे ग्रहण की थी इस सम्बन्ध में यद्यपि निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है तथापि ऐसा प्रतीत

होता है कि ये झूँठा स्वामी के प्रशिष्यों में से थे। विरक्त जीवन ग्रहण कर ये साधुओं के समूह में रहते हुए ही अपना अनुक्षण व्यतीत किया करते थे। रसिकों के इस निरंतर संग ने इनके हृदय में श्री हित दम्पत्ति के नित्य विहार की भाव-भावना स्फुरित कर दी थी। परिणामतः ये दिन-रात इष्ट की रस-लीलाओं के दर्शनानन्द में छके रहते थे। इसी प्रकार का भावना परायण जीवन व्यतीत करते हुए इन्होंने एक दिन अपनी इहलोक लीला संवरण कर नित्य निकुंज में प्रवेश प्राप्त कर लिया। इनका उपस्थिति काल अनुमानतः विक्रम संवत् १७५० से १८५० के अन्तर्मध्य में सुस्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

तुलसीदास (लालजी)

श्री वल्लभाचार्य के कनिष्ठ पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी को जब सम्प्रदाय का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ, तब उन्होंने सम्प्रदाय को नवीन व्यवस्था दी। उसी क्रम में जब उन्होंने अपने सात पुत्रों को भगवद् विग्रह देकर सात पीठों की स्थापना की, तभी पुत्र की तरह पोषित तुलसीदास को श्री गोपीनाथजी का विग्रह देकर अष्टमपीठ की स्थापना की। गो० विट्ठलनाथ अपने पुत्रों को लालजी के नाम से पुकारते थे, उसी प्रकार तुलसीदास को भी 'लालजी' के नाम से पुकारते थे। इसी कारण ये तुलसीदास की अपेक्षा 'लालजी' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए। इनको भारत का उत्तर-पश्चिमाञ्चल क्षेत्र प्रचार के लिए सौंपा गया। यों तो उत्तर पश्चिमाञ्चल क्षेत्र में लालजी नाम के अनेक भक्त हुए हैं; परन्तु वल्लभ-सम्प्रदाय में लालजी के नाम से एक मात्र आप ही प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

इनका जन्म माघ शुक्ल सप्तमी बुधवार संवत् १६०८ में कौशल-गोत्रीय ललरी उपगोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण कुल में सिन्धुप्रदेश के लाड़काना क्षेत्र के सेवन ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम अजूदेव तथा माता का नाम देवकी था। इनके सम्बन्ध में "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" में उल्लेख मिलता है कि पिता अजूदेव तथा माता देवकी तुलसीदास को लेकर व्रज-यात्रा पर आये, गो० विट्ठलनाथजी से शिष्यता ग्रहण की और पति-पत्नी ने व्रज में ही देह त्याग किया। मातृ-पितृ विहीन बालक तुलसीदास का गोस्वामीजो ने पुत्रवत् लालन-पालन किया और पिता द्वारा की गई जलघड़िया की सेवा इन्हें प्रदान की। परन्तु अन्तःसाक्ष्यों से प्रमाणित हो चुका है कि ये अपने गाँव में ही मातृ-पितृ विहीन हो गये थे। संवत् १६२५ में सत्रह वर्ष की आयु में ये स्वयं अकेले व्रज यात्रा पर आये, गोस्वामीजी के शिष्य हुए, इनको पुत्रवत् स्नेह मिला, साथ ही श्रीनाथजी की जलघड़िया की सेवा भी। ये प्रतिदिन गोवर्धन से मथुरा आते थे और श्रीनाथजी की सेवा के लिए विश्रामघाट से श्री यमुना जल लेकर प्रतिदिन गोवर्धन जाया करते थे।

बारह वर्ष तक शिर पर जल ढोते-ढोते इनके शिर में व्रण (घाव) हो गये, फिर भी इन्होंने सेवा में व्यवधान नहीं आने दिया। जब घावों में कीड़े पड़ गये तब भी भाव-साधना में देहाध्यास विस्मृत ही रहा। जब कोई कीड़ा कुलबुला कर इनके शिर से नीचे गिर जाता था, तब जीवदया से अभिभूत होकर उसे पुनः अपने शिर पर व्रण में रख लिया करते थे—

> द्वादश वर्ष अधिक कछु, शीष गागर भर धार।
> ब्रह्मरन्ध्र घिस कृमि परे, रही न कछू सभार॥
>
> देह साधन विस्मृत भयौ, गुरु की करुणा धार।
> कीट गिरें पुनि लेंइ धर, हों साजीव विचार॥

—निजवार्ता, दोहा २०, २१

इनकी इस सेवा से श्रीनाथजी प्रसन्न हुए और एक दिन जब ये जलघड़ा लेकर श्रीनाथजी के मन्दिर में प्रविष्ट ही हुए थे कि एक बालक ने अधिक प्यासा होने की बात कहकर इनसे जल पिलाने का आग्रह किया। इन्होंने कहा कि इस सेवा-जल को रख कर अभी जल पिलाता हूँ; फिर भी वह बालक उसी घड़े का जल पीने का हठ करने लगा और इन्हें छू लिया।

तव विवश होकर इन्हें जल पिलाना पड़ा। घड़े से जल पिलाते समय वालक के कपड़े भीग गये। ये जल पिलाकर पुनः जल लेने के लिये मध्याह्न की कड़-कड़ाती धूप में मथुरा के लिए लौट पड़े। जब शोर मचा कि सेवाजल अभी नहीं आया? क्या कारण हुआ? लालजी अभी क्यों नहीं लौटे? तब सेवक वर्ग में चिन्ता की लहर दौड़ गई। जव तृतीय प्रहर में ये लौटे, तब सब कथा इन्होंने कह कर सुना दी। सन्ध्या के उत्थापन काल में जव श्रीनाथजी के मन्दिर में पुजारी ने प्रवेश किया, तो अद्भुत दृश्य देखा कि श्रीनाथजी के सभी वस्त्र भीगे हुए हैं। तभी सभी को विश्वास हुआ कि श्रीनाथजी ने ही वालक के रूप में तुलसीदास से जल पिया था। गो॰ विट्ठलनाथजी इस कथा को सुनकर गद्गद हो गये। तभी से इनसे जलघड़िया की सेवा हटा ली और इन्हें समय-समय पर लीला-पद गायन की सेवा सौंप दी। जब कभी गो॰ विट्ठलनाथजी सेवा में जाया करते थे तब इनसे कह कर लीला-पदों का गायन करवाया करते थे तथा इन्हें बीड़ो-माला-प्रसाद देकर अनुगृहीत करते थे।

अपने इस व्रजवास काल में ही इन्होंने समवयस्क गुरु पुत्र श्री गोकुलेश जी से श्रीमद्भागवत और सम्प्रदाय प्रणाली का अध्ययन किया तथा गो॰ विट्ठलनाथजी से सेव्य-सेवक-भाव, मान्यग्रन्थ, वैष्णव-आचार, वेद, शरणमन्त्र, ब्रह्म गायत्री, लीलाकीर्तन तथा अष्टयाम सेवा का विधिवत् ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार ब्रजभाषा के साथ संस्कृत-भाषा पर भी इनका अधिकार हो गया।

गो॰ विट्ठलनाथजी ने जब समस्त सेवा विग्रहों की सेवा का बँटवारा अपने सातों पुत्रों को कर दिया, और इन्हें कुछ भी सेवा-भाग न मिला तो ये किञ्चित् क्षुब्ध हुए जिसे गोस्वामीजी ने पहचान लिया तब इन्हें भी भाद्रपद कृष्ण ११ संवत् १६४० को श्री गोपीनाथजी का विग्रह सेवार्थ सौंप दिया, साथ ही गोस्वामी पद और शरण-मन्त्र देने का अधिकार भी। यह आदेश भी दिया कि सप्तसिन्धु प्रदेश में भगवद्-भक्ति-प्रचार करो तथा श्रीमद्भागवत् आदि सम्प्रदाय-मान्य ग्रन्थों को भाषाबद्ध करके वहाँ के मन्द-बुद्धि-जीवों का उद्धार करो।

इस प्रकार पन्द्रह वर्ष व्रजवास कर अपनी आयु के तैंतीसवें वर्ष श्री गोपीनाथ जी के विग्रह को अपने मस्तक पर रखकर इन्होंने गोवर्धन से प्रस्थान किया। मार्ग में पड़ने वाले ग्रामवन-उपवनों में निवास करते हुए जब ये पानीपत पहुँचे, तब वहाँ भक्तों के विशेष आग्रह पर अन्नकूटोत्सव मनाया और देवोत्था-पनी एकादशी तक विश्राम किया। वहाँ से कुरुक्षेत्र, फिर लाहौर में विश्राम किया। इसी प्रकार ये सिन्धु-तटवर्ती क्षेत्र में पहुँच गये। सिन्धु नदी के किनारे-किनारे ये सिन्धु प्रदेश जाना चाहते थे। मार्ग में 'डेरा गाजी खाँ' पड़ा, जहाँ विश्राम किया। वहाँ की स्थिति को देखकर इन्हें क्षोभ भी हुआ, परन्तु श्री गोपीनाथजी ने इन्हें आदेश दिया कि मैं यहीं निवास करूँगा, कुछ दिनों बाद यही क्षेत्र ब्रज के समान मंगलमय बनेगा। उनकी आज्ञा से इन्होंने वहाँ पर ही पीठ की स्थापना करने का निर्णय ले लिया।

प्रारम्भ में इन्होंने नगर के पास सिन्धु नदी के तट पर एक टीलेनुमा स्थान का चयन कर वहाँ सेवा पूजा प्रारम्भ कर दी। उस स्थान के स्वामी ऊँचो राम ने इनसे वहाँ से हट जाने के लिए कहा। तब दुःखी होकर इन्हें कहना पड़ा कि जब तू नहीं रहेगा तब हम यहाँ रहने लग जायेंगे। विधि का विधान विचित्र निकला, उसी रात्रि ऊँचोराम का उदर पीड़ा में देहावसान हो गया, जब परिवार के लोगों को इस अपराध का पता चला तब वे इनसे आग्रह करते पहुँचे और ऊँचोराम के शव को भी ले गये। कोमल हृदय तुलसीदास को मना लिया। जैसे ही ऊँचोराम के शव का उनके परिवारी जनों ने चरण स्पर्श कराया कि वह जीवित हो गया।

उसी ऊँचोराम ने वह स्थान भेंट कर वहाँ एक मन्दिर और गौशाला का निर्माण कराया। सं० १६४१

और सं० १६४३ के मध्य श्री गोपीनाथजी की आज्ञा से ही इन्होंने तुलसी नाम की ब्राह्मण कन्या से विवाह किया। इनके ४ पुत्र तथा एक पुत्री क्रमशः मथुरानाथजी (संवत् १६४५), कन्याधारी (संवत् १६४७), गिरिधारी (संवत् १६५०), भगवान् (सं० १६५२) तथा ग्वाल (संवत् १६५४) उत्पन्न हुए।

यहाँ इन्होंने सम्प्रदाय-विस्तार के लिए तीन पद्धतियों को अपनाया—१. ग्रन्थ रचना, २. शिष्यों को शरणमत्र की दीक्षा देना और ३ पर्यटन। जिन ग्रन्थों की इन्होंने रचना की उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—१. श्रीमद्भागवत् (व्रजभाषा पद्यबद्ध रचना), २. नित्यसेवा एवं वर्षोत्सव सेवा पद्धति, ३. श्रीमद्भगवद् गीता, ४. निजवार्ता, ५. सप्तग्रन्थी, ६. धर्मसंवाद, ७. दसमस्कन्ध, ८. सप्तश्लोकी गीता, ९. निजघर की पद्धति, १० एकादश चतुष्पदी, ११. एकादशी माहाम्य तथा ५०० के लगभग लीला के स्फुट पद, जो यत्रतत्र उत्सव-मालिकाओं में बिखरे पड़े हैं। ये सभी रचनाएँ व्रजभाषा में पद्यबद्ध हैं।

इनके बारह शिष्य प्रसिद्ध थे, जिनका उल्लेख प्रेमदास कृत 'द्वादश भक्तवर कथा' में मिलता है। इनके नाम हैं—१. द्वारकादास, २. ऊँचीराम कालड़ा, ३. हित जगदीश त्रणेजा, ४. खेमदास पुष्करण, ५. परमानन्द ब्राह्मण, ६. रस जगदीश खत्री, ७. परमानन्द सचदेव, ८. दण्डोराम ब्राह्मण, ९. भगवतदास पम्पू, १०. सन्तदास पुष्करण, ११. कल्याणदास पुष्करण और १२. वीरू भगत।

इनके जीवनकाल में पीठ की प्रतिष्ठा उस क्षेत्र में व्यापक हो गई। ऐसा भी सुनने में आता है कि काबुल, कन्धार तक इनके सेवक गये और भक्ति का प्रचार हुआ। मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में व्रज-संस्कृति की प्राण-प्रतिष्ठा का गुरुतर दायित्व इनकी ही भक्तिनिष्ठा तथा विद्वत्ता को दिया जा सकता है। मन्दिर में वल्लभीय रीति-नीति के अनुसार ही भोग-राग-सेवा चलती रहती थी।

ये ६७ वर्ष तक जीवित रहे। अपना अन्तिम समय आया हुआ समझकर ये श्री वृन्दावन आ गये, जहाँ भाद्र पद शुक्ला ६, संवत् १६७५ को प्रभु में लीन हो गये। आज भी वृन्दावन कूल पर इनकी समाधि देखी जा सकती है। इस सम्बन्ध में एक जनश्रुति भी प्रसिद्ध है कि जब इनका अन्तिम समय निकट आया, तब ये लुकार (लोई=ऊनी वस्त्र) ओढ़कर सो गये और यह कह दिया कि जब तक कोई पुत्र न आये तब तक यह लुकार उठाना मत। उस समय इनके पुत्र धर्म प्रचारार्थ प्रवास पर गये हुए थे। जब वे लौटकर आये और लुकार को उठाकर देखने लगे, तब वहाँ कुछ भी नहीं था। अन्त में लोई का ही दाह-संस्कार करना पड़ा। क्रिया-कर्म से निवृत्त होकर जब इनके पुत्र वृन्दावन में इन्हें ढूंढने लगे, फिर भी न मिले, उन्होंने क्रन्दन किया तब उन्हें दर्शन दिया और ज्येष्ठपुत्र के पुत्र रूप में जन्म लेने का आश्वासन देकर अन्तर्धान हो गये। उन्हीं के पौत्र केवलरामजी को गो० तुलसीदासजी का अवतार माना जाता है।

इनकी रचनाएँ यद्यपि व्रजभाषा में ही हैं तथापि उनपर स्थानविशेष की छाया देखने को मिलती है। इनकी रचना में माधुर्य है, कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

प्रिय रस रतनारे सदा टार्‌यौ टरै न नैन।
पल सों पल लागें नहीं, छक्यौ रहत दिन रैन॥
प्रीति रीति जानै जेऊ, तिन सुधि रहै न काइ।
लाल दास प्रेमी देऊ, प्रिय छवि रहे बिकाइ॥
—एकादश चतुष्पदी

श्री यशोदा द्वारा श्रीकृष्ण के शृङ्गार करने का एक चित्र—

रानी लाल शृंगार बनावै।
ऋतु अनुसार वसन पहिरावत विविध सिंगार बनावै॥
रतन जटित अमोल आभूषण शुभ अंग अंग पहिरावै।
मृगमद तिलक ढिठौना काजर देकर मुकुर दिखावै॥

मन मोहन प्रतिविम्ब निरख निज बारबार मुसकावै।
'लालदास' गोपीजन ठारी, निरख केलि बल जावै ॥
—फुटकर पद संग्रह

एक विनय का पद—

अब मैं कैसें तरों विकारी।
परनिन्दा परतिय लपटानौ,
काम कुटिल मति धारी ॥
बक ज्यों ध्यान कियौ तट सागर,
सन्त समाज दुसारी।
बीतौ जनम विषय के लालच,
हरिजस नांहि संभारी ॥
करौ सहाय वेग करुणामय,
सन्त जना हितकारी।
'लाल' सरन दुख भंजन कृपानिधि,
बंधन सकल निवारी ॥

सु० श०

तुलसीराम शर्मा 'दिनेश'

श्री तुलसीराम शर्मा 'दिनेशजी' का जन्म भिवानी (हरियाना) के निकट कैरू नामक गाँव में सं० १९५३ में हुआ था। ये इस दोहा को पत्र-संकेत के रूप में प्रयोग करते थे—

नगर भिवानी के निकट, कैरू ग्राम सुधाम।
विप्र लालचन्द के तनय, अनुचर तुलसीराम ॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इन्हें भाषा की दृष्टि से श्रेष्ठ कवि स्वीकार किया है। इनका निधन केवल ४५ वर्ष की आयु में ही (सं० १९९८ में) हो गया था। इनके पिता श्री लालचन्द्रजी अत्यन्त धार्मिक विचारों के व्यक्ति थे और अपना अधिकांश समय भगवद्-भक्ति तथा पूजा पाठ में ही लगाते थे। उनको आय का साधन कृषि तथा मन्दिर की भेंट पूजा ही थी।

दिनेशजी पर उनके पिता के धार्मिक विचारों का गम्भीर प्रभाव पड़ा था। ये बाल्यकाल से ही श्रीकृष्ण-भक्ति की ओर उन्मुख हो गये थे। परिणामस्वरूप बाल-सुलभ खेलों से भी इन्हें अरुचि हो गई थी। इनकी भक्ति-भावना की छाप इनके साहित्य पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। इनके प्रति इनके भाई तथा बहनों का भी बड़ा प्रेम था।

इनकी प्रारम्भिक शिक्षा कैरू स्थित राजकृष्ण विद्यालय में हुई। इन्होंने शीघ्र ही उर्दू भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया। अपने भाई श्री सत्यनारायण की सद्प्रेरणा से हिन्दी भाषा के प्रति इनका झुकाव हुआ। गाँव में प्राथमिक शिक्षा समाप्त करके ये भिवानी के वैश्य विद्यालय में प्रविष्ट हुए। इन्होंने हिन्दी, संस्कृत, महाजनी तथा अंग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने मुनीमी के साथ वैद्यक का ज्ञान भी प्राप्त किया। मुनीमी परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् स्कूली शिक्षा का अवसर इनके जीवन में फिर कभी नहीं आया। वैसे इनका अध्ययन तथा मनन चलता रहा। गुरु पुष्करदत्तजी के पदों से प्रभावित होकर इनके मन में कविता-सृजन का भाव जागृत हुआ। यहीं से इनकी साहित्यिक प्रतिभा प्रस्फुटित हुई और कालान्तर में अनेक काव्य रचनाओं के रूप में पल्लवित और पुष्पित हुईं।

इनकी कविता से प्रभावित होकर गायनाचार्य पण्डित नन्दकिशोरजी ने इनको हारमोनियम का ज्ञान कराया तथा इनका उपनाम 'दिनेश' रखा। भगवद्-भक्ति की ओर प्रवृत्ति हो जाने तथा हरिभक्तों की गाथाओं के अध्ययन-मनन से इन्होंने जीवन की सत्यता को समझ लिया था। फलतः इन्होंने लौकिक पदार्थों के आकर्षण को त्यागकर तपस्वी जीवन बिताना श्रेयस्कर समझा और आजीवन ब्रह्मचारी रहने का निश्चय किया। इनको उस समय नौ सौ रुपये मुनीमी से प्रतिमास मिलते थे, परन्तु इनकी वैराग्य भावना अनेक दोहों में स्पष्ट होती है—

लाला नित लागो रहे, सो खाता पहिचान।
जो सब ही खाता रहे, सो खाता पहिचान ॥

यह कटु सत्य है कि लाला की लालसा बढ़ती ही जाती थी। अंततोगत्वा मुनीमी का परित्याग कर मन्त्री मेलारामजी के अनुरोध पर ये मारवाड़ी हाई-स्कूल में अध्यापन कार्य को स्वीकार कर अमृतसर पहुँच गये। वहाँ से कुछ दिनों के लिये मेवाड़ (उदयपुर) भी चले गये थे। एक ऊँटवाले से प्रभावित होकर इन्होंने 'मारवाड़ महत्व' नामक काव्य की रचना की तथा मातृभूमि-स्तवन, मरुसमुद्र सौन्दर्य, कृषि दृश्य, स्त्री शिक्षा आदि विषयों पर लेखनी चलाई—

भारतभूमि सकल ही यद्यपि मुझे प्राण से प्यारी।
मगर मरुस्थल की रज रज पर सारी वारी॥

एक दिन भिवानी में महात्मा गाँधी के प्रभावशाली भाषण को सुनकर इनका झुकाव स्वतन्त्रता संग्राम की ओर हुआ। इन्होंने गाँधी गीत का बहुत प्रचार किया।

जागो गाँधी जी आज जगाते हमें।
सुनो ध्यान से जो वे सुनाते हमें॥

तत्पश्चात् श्री किशनलाल जालान के स्नेह पूर्ण आग्रह से 'दिनेशजी' ने बम्बई में निवास किया। इन्होंने वहाँ 'मीरा मन्दिर प्रकाशन संस्थान' की स्थापना की, जहाँ से इनके कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। जालानजी ने पंचामृत, पुष्पांजलि आदि काव्यों का बड़े उत्साह से प्रकाशन कराया। इन्हीं दिनों मीरा के पावन चरित्र से प्रभावित होकर 'मतवाली-मीरा' नाटक लिखना प्रारम्भ किया था। इन्होंने बम्बई निवास काल में 'श्याम-सतसई' के अनेक दोहों की रचना की थी। लेकिन पाम (खाज-खुजली) हो जाने के कारण पामा-निवारण औषधि स्वयं तैयार की थी। पाम ठीक नहीं हुई। इन्होंने भगवान् से विनती की—

भली लगाई पाम रामजी भली लगाई पाम॥
छूटा भजन पठन लेखा सब रहा एक ही काम।
खाते पीते बैठे चलते खुर खुर आठो याम॥
तुलसी हो जब कृपा रावरी होगा तब आराम।
भली लगाई पाम रामजी भली लगाई पाम॥

ये राजयक्ष्मा से पीड़ित होकर कुछ दिन के लिये चिकित्सा के लिये बीकानेर चले गये, किन्तु पिताजी के मरणासन्न होने पर अपनी जन्मभूमि में वापिस लौट आये। दिनेशजी जब एक दिन अपनी रोगशय्या पर सोये हुए थे तब इनको एक स्वप्न हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण और रुक्मिणीजी स्वर्ण रथ पर आरूढ़ होकर खेतों की ओर प्रस्थान कर रहे थे। वहीं वे अकाल के कारण कृषि की हानि की पूर्ति हेतु कृषकों को मोहरें आदि वितरण कर रहे थे। बीच में दिनेशजी का खेत रह जाने से किसानों ने उन्हें स्मरण कराया। तब भगवान् ने कहा—'मैं दिनेश का चिरऋणी हूँ और उन्हीं के पास जा रहा हूँ।' प्रभु ने दिनेश के सम्मुख आकर कहा, 'तुम ऋद्धि, सिद्धि तथा मोक्ष आदि जो कुछ चाहो वही तुम्हें प्राप्त होगा। बोलो, तुम्हें क्या चाहिए ?' दिनेशजी ने कहा—'स्वामी ! मुझे तो केवल अपने पद-कमलों में स्थान देकर कृतार्थ कीजिये।' भगवान् ने स्वीकृति दी और अन्तर्धान हो गये।

दिनेशजी श्रीकृष्ण-भक्त होने के साथ-साथ एक महान् साहित्यकार भी थे। इनकी सुप्रसिद्ध रचनाएं इस प्रकार हैं—

१. पुरुषोत्तम महाकाव्य, २. तिलक संदेश खण्ड-काव्य, ३. पंचामृत, ४. सत्याग्रही प्रह्लाद, ५. भक्त भारती, ६. मारवाड़ महिमा, ७. वासुदेव विज्ञान (अपूर्ण), ८. भागवत रूप, ९. कर्मसंहार, १०. प्रेम पुष्पांजलि, ११. वीर घोषा, १२. श्याम सतसई, १३. सच्चा हिन्दू (नाटक), १४. मतवाली मीरा (नाटक), १५. मंगल में दंगल (नाटक), १६. बन्धु भरत, १७. माधव महोदधि (अपूर्ण)।

इन्होंने दार्शनिक तथा भक्तिपरक निबन्धों की रचना भी की थी। इनके भक्तिपरक कुछ पदों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

मोहन तेरे खेल को मैं हूँ मृदु फुटबाल।
मार मार कर ठोकरें मन की खूब निकाल ॥

खा-खा तेरी ठोकरें उछलूं सौ-सौ हाथ।
मगर तो कभी भूलकर लगा दो निज हाथ ॥

• • •

मन के गल में बाँधकर श्रद्धा का पाषाण।
हरि महानद में बोर दो तब जानो कल्याण ॥

• • •

हम दीन हैं तुम दीन बंधु,
अनाथ हम तुम नाथ हो।
तुम तो अनाथों के लिये,
रखते सुदर्शन हाथ हो ॥

'वासुदेव-काव्य' में श्री कृष्णावतार का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

शुभ चार बाहु मृनाल सी हैं, शंख चक्रादि लिये।
श्री वत्स चिह्न विशेष सुन्दर लग रहा हरि के हिये ॥
कौस्तुभ सुमणि गल में अलौकिक दमकती।
माना सजल घन में चमाचम चपले चमकती ॥

व्र० नं० द०

तुलाराम भट्ट

प्रणामी-सम्प्रदाय में 'तारतम्यसागर' के रचनाकार तुलाराम भट्ट अपने कृतित्व के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के बावजूद बहुत दिनों तक पूर्णतः प्रकाश में नहीं आ सके। साधना के क्षेत्र में इनका नाम 'करुणावती सखी' था।

'तुलाराम प्रिया पर वारी' एवं 'प्रेमी तुलाराम बलिहारी' जैसी छाप तारतम्यसागर के प्रायः सभी पदों में मिलती है। ये सूरत निवासी ब्राह्मण थे और इनके प्रथम गुरु पुरुषोत्तमदास वल्लभ सम्प्रदायान्तर्गत दीक्षित थे। कालान्तर में तुलारामजी देवचन्दजी के अनुयायी हो गये। 'तारातम्यसागर' के अतिरिक्त इनकी दो और रचनाओं—'श्री परमधामना पच्चीसपक्ष' और 'महाकरण की प्रश्नोत्तरी' का उल्लेख मिलता है। दोनों परवर्ती कृतियों में वल्लभ-सम्प्रदाय और गुरु देवचन्दजी के विचारों एवं उनकी कृष्ण-भक्ति का सामंजस्य हुआ है।

रा० प्र० त्रि०

तेजसिंह (प्रथम)

तेजसिंह (प्रथम) का जीवन-वृत्तान्त अज्ञात है। 'भ्रमरगीत' नामक इनकी एक रचना प्राप्त हुई है जिसका विषय उद्धव-गोपी संवाद है। काव्य की भाषा व्रज है और इसमें कवित्त-सवैया छन्दों का प्रयोग हुआ है। पद अत्यन्त सरस और प्रौढ़ हैं। यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१)

चाहत वै जोग हम भरी है वियोग,
बिसरायो वह भोग जामे दधि दूध महियो।
आपु करैं राज लागै तनको लाज इहाँ जपतप,
साज हमहीं सों कहै गहियो ॥

तुम हो सुजान देख जात जैसो ठान,
तैसो कहियो निदान हूँ सकुच मति रहियो।

छोड़ी वृजवाम कीन्हो कुबिजा को काम,
ऊधो ऐसो घनस्याम सों प्रनाम जाइ कहियो ॥

(२)

केलि करी हरिजू बहु भाँति सों,
दान लियो हम सों दधि दूधो।
प्रीति की रीति बिसारि कै 'तेज',
संदेस पठावत वेद विरुधो ॥

प्राण पियारे को छोड़ि कै काहू,
कियो तप है हम पूछती सूधो।
जोग सिखावन आवत हो,
बृजवासिन के घर घालन ऊधो ॥

बा० सिं०
कृ० चं० ला०

तेजसिंह (द्वितीय)

तेजसिंह (द्वितीय) का जन्म सन् १६७६ ई० में मारवाड़ के टहला ग्राम में हुआ था। ये सम्राट् अकबर के

प्रसिद्ध दरबारी कवि नरहरिदास के पौत्र तथा अजबसिंह बारहठ के पुत्र थे। स्वाभिमानी प्रवृत्ति के होने के साथ तेजसिंह उच्चकोटि के भगवद्भक्त भी थे। इनके लिखे 'मुक्तिप्रकाश' तथा 'भगवद्गीता का भाषानुवाद' ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। शान्त रस प्रधान इन कृतियों में भक्ति और दार्शनिक तत्वों का विवेचन हुआ है।

इनका देहावसान सन् १७४३ ई० में हुआ था। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि जोधपुर के महाराजा अजीत सिंह की हत्या के बाद मारवाड़ की राज-गद्दी पर बैठते ही बखतसिंह को कोढ़ हो गया था। बखतसिंह को ऐसा परामर्श दिया गया कि यदि किसी बारहठ के दर्शन उन्हें करवाए जाएँ तो इस भयानक रोग से मुक्ति मिल सकती है।

भक्तकवि तेजसिंह बारहठ के पास जब महाराजा बखतसिंह के कोढ़ दमन हेतु मिलने का निमन्त्रण भिजवाया गया तो इन्होंने अपने पिता के हत्यारे का मुँह देखने की अपेक्षा प्राणों को त्याग देना श्रेयस्कर समझा। अतः आराध्य देव का स्मरण करते हुए इन्होंने तत्काल प्राण त्याग दिए।

ज० सिं० परि०

त्रिपुरदास कायस्थ

श्री त्रिपुरदासजी कायस्थ जाति में उत्पन्न हुये थे। इनका जन्म-स्थान आगरा मण्डल के अंतर्गत शेरगढ़ गाँव है। ये गोवर्धन में मानसी गंगा के तट पर रहा करते थे। श्रीनाथजी के स्वरूप में ये इतने आसक्त हो गये थे कि इन्हें कहीं अन्यत्र अच्छा ही नहीं लगता था। इनकी श्रीगोवर्धनधर में अखण्ड और अनन्य भाव-भक्ति थी। इनके नेत्र बड़े विशाल थे। इसलिये पुष्टिमार्गीय भक्त इन्हें 'हिरनी' कहा करते थे।

एक दिन श्री आचार्य बल्लभ ने त्रिपुरदास से पूछा—"अरे भाई तू कौन है? तू यहाँ दो महीने से पड़ा है, जाता क्यों नहीं?" इस पर संत त्रिपुरदासजी ने कहा—'महाराजजी! मुझे श्रीनाथजी का क्षण भर का वियोग भी सहन नहीं है। आप कहते हैं कि मैं यहाँ से भाग जाऊँ।' इस प्रकार की परम-भक्ति देखकर महाप्रभु वल्लभाचार्यजो ने त्रिपुरदासजी को अष्टाक्षर मन्त्र द्वारा नाम निवेदन कराया था और ठाकुरजी का चरणामृत एवं महाप्रसाद दिया था।

त्रिपुरदासजी पुष्टिमार्ग के कट्टर अनुयायी थे। इनका श्रीनाथजी के श्रीचरणों में अत्यधिक ममत्व था। ये श्रीनाथजी को कभी पीठ नहीं देते थे। मन्दिर से जब जाते तो उल्टे पैरों ही लौटते थे। जो भी नवीन वस्तु ऋतु के अनुसार आती, उसे ये सबसे पहले ठाकुरजी को ही अर्पित करते थे, चाहे वह अन्न हो, साक हो, फल-फूलादि हो अथवा वस्त्र हो। जब तक श्रीनाथजी स्वीकार न कर लेते, तब तक भक्त हृदय त्रिपुरदासजी उसे छूते ही न थे। इस प्रकार उनका 'कृष्णार्पणमस्तु'—सब कुछ श्रीकृष्ण के लिए ही अर्पित हो—वाला संकल्प हृदय में रम गया था। ये बैठे, खड़े, चलते, सोते, बात करते, तो श्री नाथजी का उच्चारण करते जाते। इस तथ्य से स्पष्ट है कि उनकी श्रीनाथजी के प्रति अनन्य-भक्ति थी।

भारतेन्दु हरिश्चद्र ने इनकी प्रशस्ति में लिखा है–

श्री हरि के रंग रँगे प्रभुन पद पदुम प्रीति अति।
सही कैद दई जिन्हें तुरुक बहु मार मन्द मति॥

बिन चरनोदक महाप्रसाद लिए न पियत जल।
इन कहँ सेवति जानि ठाकुरहु परत न छन कल॥

गज्जी की फरगल इनहिं की हरे सीत श्रीनाथ के।
घर त्रिपुरदास को सेरगढ़, हुते सुकायस्थ जात के॥

—उत्तरार्ध भक्तमाल

सुना जाता है कि इनकी अनन्य एवं गहरी आसक्ति के कारण इनके बिना श्रीनाथजी को भी चैन नहीं पड़ता था। एक बार ऐसा हुआ कि इन्होंने शीतकाल में अर्थाभाव के कारण श्रीनाथजी को रजाई न बनवाकर केवल गजी की चादर बनवाई, तो ठाकुर की ठंढ ही दूर नहीं हुई। जब गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने यह पूछा कि त्रिपुरदास की रजाई प्रतिवर्ष की भाँति

इस वर्ष भी आई होगी, तो भक्तों ने वताया कि इस वर्ष तो गजी आई है। गोसाइंजी ने शीघ्र ही उस गजी में रुई डलवा दी और श्रीनाथजी को उढ़ाई तो उनकी ठण्ढ दूर हुई। जब त्रिपुरदास को मालूम हुआ कि श्रीनाथजी ने मेरी गजी की बनी रजाई स्वीकार की है, तो ये गद्‌गद होकर यह कीर्तन गाने लगे—

नवरंग ललन बिहारी मेरौ कहै,
मोंहि जाड़ौ अधिक सुहाय।
पहेरि कवाँइ ओढ़ि लई फरगुल,
तौहू शीत सतावत आय॥

अचरज भये सुनि बल्लभ नंदन,
कनक अँगीठी धरी है मँगाय।
पुनि जिय सोचि रजाई उढ़ाई,
भजि गई शीत हँसे जदुराय॥

ऐसे परम कृपालु दयानिधि,
बिसरति नाँहि करत सहाय।
त्रिपुरारी गिरधारी की बातें,
कहा जानें कोउ, देहि बताय॥

श्रीनाथजी के सामीप्य तथा श्रीवल्लभाचार्यजी के शिष्य होने का इन्हें पूरा लाभ मिला था। शिष्य होने के बाद ये समस्त विवादों से मुक्त होकर केवल भक्ति-भाव में डूब गये थे। महाराज रघुराज सिंह के 'राम-रसिकावली' नामक ग्रन्थ में इस बात का उल्लेख मिलता है—

त्रिपुरदास मन माँहि विचारी।
वृन्दावन को गयौ सिधारी॥

श्री वल्लभाचार्य सिख भयऊ।
वाद-विवाद त्यागि सब दयऊ॥

इनके पदों का संग्रह अष्टछापेतर पुष्टिमार्गीय कवियों के काव्य-प्रबन्ध में किया गया है। त्रिपुरदासजी के कुछ ही पद उपलब्ध होते हैं।

त्रिलोक स्वामी

श्री त्रिलोक स्वामी राधावल्लभ-सम्प्रदाय के उच्च कोटि के संतों में गिने जाते हैं। साम्प्रदायिक ग्रंथों में इनकी प्रशंसा इन शब्दों में मिलती है—

प्रभु चरितन सौं प्रीति सेव्य रज वृन्दावन की।
कृष्ण कमल दल नैन चरन रुचि बाढ़ी मन की॥

विनय वचन संयुक्त महत संतन कौ आदरु।
हरि रस सागर झिले तज्यौ जग छीलर गादरु॥

श्री हरिवंश सुमति दई रहत हिये आँनद भरचौ॥
जन तिलोक भुव लोक में हरि जस मंगल विस्तरचौ॥
—रसिक-अनन्य-परचावली

श्री राधा वल्लभदास शरण सर्वोपरि पाई।
निर्मोहिन कौ संग रास मण्डल परचाई॥

हित वल्लभ पधराय नाम हित जू को लेवें।
मान सरोवर पाय प्रियाजी के पद सेवैं॥

नागा सवल जमात में धर्म हेत कबहुँ न नटैं॥
श्री राधारानो प्रियाजी त्रिलोक स्वामि निशिदिन रटैं॥
—भक्त गाथा

फिरैं प्रेम रंग मगे जन त्रिलोक।
मुख माँड़ै हँसि दैंइ चरन धोक॥
रचैं खेल झुकैं पुनि दैंइ झोक,
गनि परै खिलारिन के न थोक॥
—तृतीय-वसन्त-प्रबन्ध

श्री त्रिलोक स्वामीजी का जन्म कब और कहाँ हुआ था इस सम्बन्ध में कोई सूत्र समुपलब्ध नहीं है। इन्होंने श्री हित राधावल्लभीय सम्प्रदाय की मंत्रदीक्षा गो० वनचन्दजी के पुत्र गो० राधावल्लभदासजी से प्राप्त की थी। इन्हें सम्भवतः स्वामी चतुर्भुजदासजी अथवा झूंठास्वामीजी अथवा इनके साथ रहने वाली राधावल्लभीय साधुओं की जमात के उपदेश से जगत् से पूर्ण विरक्ति हो गई थी और ये उन्हीं के साथ लग गए थे। इन्होंने बहुत दिनों तक साधुओं के साथ घूम-घूमकर प्रभु के यश-रस का गान विस्तार किया था तथा अनेकानेक

लोगों को भगवदोन्मुख कर उनके जीवन को सार्थक बनाया था, किन्तु जब ये वृन्दावनस्थ श्री हित रासमण्डल पर रहने लगे तब इनका मन वृन्दावनरस में ऐसा निमग्न हो गया कि इन्हें स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही फीके लगने लगे। अब इन्हें या तो एकान्त प्रिय लगता था जहाँ पर बैठकर ये श्री हितदम्पति की रसमयी भावनाओं में छके रहते थे अथवा वृन्दावन-रस-रसिकों का वह समाज अच्छा लगता था जहाँ पर श्री हितदम्पति की ललित लीलाओं का कथन-श्रवन हुआ करता था। इन्होंने ही श्री हित रासमण्डल पर 'श्री हित वल्लभजो' जी की अष्टयाम सेवा स्थापित की थी। ये उनका हार्दिक प्रीति से लाड़-दुलार किया करते थे। समागत साधुजनों के आतिथ्य सत्कार एवं उनकी समुचित सेवा में ये किसी प्रकार का शैथिल्य नहीं आने देते थे। श्री हरिवंश नाम-वाणी में इनकी अटूट निष्ठा थी। जीवन के अन्तिम क्षण इन्होंने मानसरोवर के उस एकान्त स्थल में व्यतीत किये थे जहाँ पर श्री हिताचार्यचरण नित्य प्रति मानसी-भावना करने जाया करते थे। इनका विद्यमान काल अनुमानतः वि० सं० १६२० से १७०० के मध्य स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

त्रिवेणीदास

त्रिवेणीदास की रसिकोपासना के सम्बन्ध में 'श्री हित अनन्य रसिकावली' में यह छप्पय मिलता है—

श्री वृन्दावन धाम सु रज तन मन करि सेई।
अपनौ सर्वसु दै जु रसिक जन रीझन लेई॥
श्री राधा वल्लभ रूप माधुरी अनुदिन गटके।
भोरे सूरे निपट चले हित पन्थ न भटके॥
टहल मिली आसा फली भली सदा रुचि रास की।
सन्त सेव पूरी पड़ी रसिक त्रिवेणी दास की॥

श्री हित रसिक त्रिवेणीदासजी का जन्म मध्यप्रदेशान्तर्गत रीवाँ जिले के मुकुन्दपुर नामक ग्राम में चैत्र वदी पंचमी संवत् १६२० के दिन हुआ था। इनके पिता महाजन श्री रघुनाथ प्रसादजी बालक त्रिवेणी को बाल्यकाल में ही छोड़कर परलोक गमन कर गये थे। अतः इनका लालन-पालन इनके चाचा भारतदीन ने पुत्रवत् किया था। भारतदीन अपने समय के श्री सम्पन्न तथा धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। इस वृत्ति का प्रभाव बालक त्रिवेणी पर पूर्ण रूप से पड़ा। इस प्रवृत्ति से प्रेरित होकर श्री त्रिवेणीदासजी ने बहुत से कुएँ, तालाब, छतरी और मन्दिर बनवाये थे तथा चारों धाम की यात्रा भी की थी। उदारता इनमें इतनी अधिक थी कि जरूरतमंद को आवश्यकता से अधिक दे दिया करते थे। किसी दीन-दुःखी को देखकर तो ये रोने ही लगते थे और उसके बिना कहे ही तन-मन-धन से उसकी सेवा किया करते थे। साधु-सेवा की रुचि तो वास्तव में इन्हें जैसी मिली थी, ऐसी कम देखी सुनी जाती है। यदि किसी साधु को इनके चाचा (भारतदीन) उसकी इच्छानुसार वस्तु न देते तो ये उसके पीछे-पीछे जाकर उसकी माँग पूरी करके उसे प्रसन्न कर दिया करते थे। इनके गुरुवर श्रीपतिशरणजी डिहिया ग्राम के निवासी थे। गुरुवर की सेवा त्रिवेणीदासजी प्रभु की भाँति ही किया करते थे।

एक बार किसी सन्त ने इनसे कहा, 'बच्चा! हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। जिस दिन तुम्हारा भगवन्नाम जप छः करोड़ पूरा हो जायगा, उसी दिन तुम्हें प्रभु के दर्शन होंगे।' सन्त के वाक्य सुनकर इन्हें अपार आनन्द हुआ और ये एक अद्भुत उल्लास और पूर्ण आशा के साथ लग गये भगवन्नाम जप में। ये अथक परिश्रम और पूर्ण निष्ठा के साथ नाम जप करते हुए प्रतीक्षा करने लगे उस मधुर क्षण की जिसका संकेत भगवत् स्वरूप संत स्वयं कर गये थे। उन दिनों इन्हें एक ही रट थी कि मुझे वृन्दावन रहना है और व्रजवासियों के टूक खाने हैं। परिश्रम का फल मीठा होता है। इनकी अद्भुत लगन और अनुराग से प्रभु ने रीझकर स्वप्न में गुरुवर ही के रूप

में दर्शन देते हुए कहा—'त्रिवेणीदास ! तुम तो कहते थे कि मुझे वृन्दावन में रहना है और व्रजवासियों के टूक खाने हैं। तुम वृन्दावन में ही पड़े हो क्या ?'

यह सुनते ही इनकी नींद खुल गयी और प्रभु विरह की अग्नि से इनका तन-मन झुलसने लगा। इन्होंने प्रातः होते ही परिवारी जनों से कहा—'मैं वृन्दावन जाऊँगा। तुम सब प्रसन्न चित्त से मुझे विदा कर दो।' यह सुनते ही परिवारीजनों में शोक की लहर दौड़ गयी। वे सब रोने लगे। किन्तु इनका मन तो प्रभु से मिलने के लिए रो रहा था। अतः उन सबको रोता हुआ छोड़कर ये हँसते-हँसते चल दिये श्री वन की ओर। यह अविस्मरणीय घटना सं० १९७५ की है।

श्री धाम वृन्दावन आ जाने पर गुरुवर की आज्ञानुसार इन्होंने अपना निवास स्थान श्री राधावल्लभजी के मन्दिर को बनाया। प्रातः यमुना स्नान के पश्चात् मन्दिर की सोहनी सेवा, तत्पश्चात् श्रीवन की परिक्रमा—यह इनका दैनिक कृत्य था। 'एक लाख नाम-जप कर भोजन-पान करना'—इनका यह नियम तो वृन्दावन आने के पूर्व से ही चल रहा था जो कि यहाँ पर भी पूर्ववत् चलता रहा।

साधुओं की प्रसन्नता में इन्हें अपने इष्ट की प्रसन्नता की अनुभूति हुआ करती थी। इसलिए साधुओं का उच्छिष्ट, साधुओं का चरणामृत तो ये लिया ही करते थे, किन्तु उनकी चरण-सेवा करके इन्हें किसी अद्भुतानन्द का अनुभव हुआ करता था। कोई-कोई महात्मा इनके इस भोलेपन और निष्कैतव साधु-निष्ठा की परीक्षा लेने के लिए कह दिया करते थे कि 'जा हम तुझसे चरण नहीं दबवायेंगे, हमारे लिए पेड़े लेकर आयेगा तभी दबवायेंगे।' यह सुनकर ये रोने लगते और जहाँ-तहाँ से पेड़े माँगकर लाते और उन्हें खिलाकर प्रसन्न कर लिया करते थे।

जब कभी कोई सन्त इनसे कहते—'त्रिवेणीदास ! चलो अमुक मन्दिर में चलें, वहाँ बड़े जोर के दर्शन हो रहे हैं, बड़ा आनन्द आ रहा है।' तब ये हँसकर कह देते—'महात्माजी ! हमका इतना ही चाही, हमारे पेट हियन के आनन्द से ही भरि जात है।' महात्माजी इनको इस आसक्ति और इस अनन्यता पर रीझकर मुस्करा दिया करते थे।

वृन्दावन रज से इनकी हार्दिक प्रीति थी। ये अपने सारे शरीर में रज लगाया करते थे, रज का ही तिलक करते और रज में ही सोया करते थे। उन दिनों श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में संगमरमर का फर्श नहीं बना था, द्वार की पौरी भी कच्ची थी। उसी पौरी में इन्होंने अपने हाथ से एक रज निर्मित्त चबूतरा बनाया था। यही इनका आसन और पलंग था।

विक्रम संवत् १९७९ की शरद पूर्णिमा की रात्रि थी। श्री राधावल्लभलालजी महाराज का शारदीय श्रृंगार किया गया था। समाज में गो० श्री हित हरिवंश महाप्रभु कृत 'मोहन मदन त्रिभंगी' पद गाया जा रहा था, किन्तु ये अपने उसी चबूतरे पर बैठे हुए थे। तभी किसी सन्त ने कहा—'त्रिवेणीदास ! रास के दर्शन करो। यहाँ बैठे-बैठे क्या कर रहे हो ?' किन्तु त्रिवेणीदासजी की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। अतः सन्त ने त्रिवेणीदासजी को झकझोरा तब इनका निर्जीव शरीर चबूतरे पर ही लुढ़क गया। तभी सन्त के मुख से निकल गया—'अरे ये तो पहुँच गये उस रास में जिसे ये नित्य रुचि के साथ देखा करते थे।'

श्या० बि० ख०

त्रिवेणी बाई

श्रीमती त्रिवेणी बाई का जन्म सन् १९२१ ई० में हुआ था। ये बाल्यकाल से ही शान्त और विनयी थीं। प्राथमिक शिक्षा के शीघ्र पश्चात् आपका विवाह पं० श्री रामसेवक त्रिपाठी के साथ हो गया। वे उन दिनों कटनी (जिला-जबलपुर) में अध्यापक थे। श्री त्रिपाठीजी बाल्यकाल से भगवान् श्री कृष्ण के निष्ठावान् अनन्य भक्त थे। उनके सत्संग से श्रीमती त्रिवेणी

बाई के जीवन में अपूर्व परिवर्तन आया। ये निरन्तर श्री कृष्ण-दर्शन के लिए व्याकुल रहने लगीं। शरीर-सुख, खान-पान, शृंगार, वस्त्राभूषण और विषय-भोगों से इनको उपरति हो गयी। इन्होंने अपने पतिदेव के साथ रहते हुए लगातार आठ वर्षों तक नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। इन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार नहीं होगा तब तक मैं गृहस्थाश्रम के किसी भी कार्य में रुचि नहीं लूँगी। फलतः ये एक श्री कृष्ण विरहिणी गोपी की भाँति अपने जीवन के दिनों को प्रियतम श्री कृष्ण के स्मरण-चिन्तन में व्यतीत करने लगीं। उन दिनों ये भोजन में अत्यल्प सामग्री १½ रोटी मात्र लेतीं और सारी रात रोदन करती रहतीं। इस प्रेम-साधना के फलस्वरूप इन्हें भाव-समाधि लग जाया करती। ऐसा कई बार देखा गया कि पतिदेव के पाठशाला जाने के पश्चात् ये भोजन आदि से विरत होकर रोती विलखती बेहोश पड़ी हैं। एक बार तो दोपहर के बर्तन माँजते-माँजते ये सायं ५ बजे तक भाव-विभोर दशा में मांजन-सने बर्तनों पर हाथ रखे बैठी रह गयीं। इन्हें तन-वदन की कोई सुधि नहीं रह गयी थी। श्री त्रिपाठीजी के सावधान करने पर इन्होंने आँसू बहाते अपनी विवशता के लिए क्षमा याचना की।

त्रिवेणी बाई के जीवन में एक घटना बड़े चमत्कार की घटी। इनको भगवान् श्री कृष्ण ने दर्शन देकर आदेश किया कि मैं तुम्हारे साथ विवाह करूँगा। पश्चात् आठवें दिवस की अर्द्धरात्रि को भगवान् श्री कृष्ण स्वयं आये और नाना प्रकार के मिष्ठान्न, पकवान्न लेकर उपस्थित हुए। पूरी विधि के साथ उन्होंने त्रिवेणीजी के साथ विवाह किया और विदा हुए तो घर के द्वार तक पहुँचाने भक्ता त्रिवेणी गयीं। उसी समय इनके पतिदेव की निद्रा भंग हो गई। पूछने पर सारा वृत्तांत बता दिया और विवाहोत्सव का प्रसाद सबने सानन्द पाया। उन दिनों परमभागवत स्वामी श्री हितदासजी महाराज जो कि पं० रामसेवकजी के सहपाठी मित्र हैं, श्री वृन्दावन नें थे। अतः पार्सल द्वारा वह प्रसाद उनके लिए भी भेजा गया था। श्री त्रिपाठीजी के यहाँ स्वामीजी का आना-जाना प्रायः छठे मास होता रहता था। श्री त्रिवेणी बाई उन्हें अपना पूज्य और प्रिय भाई मानती थीं और संत रूप में श्रद्धा भी रखती थीं।

श्री कृष्ण दर्शन की अभिलाषा पूर्ण होने के पश्चात् ये श्री वृन्दावन-दर्शन के लिए अत्यन्त लालायित रहती थीं। जब स्वामी श्री हितदासजी एक बार छतीसगढ़ से वापस होते हुए कटनी पहुँचे तो उन्हें पता चला कि त्रिवेणीजी को पाँच मास से लगातार ज्वर है। फलतः इनकी जाँच करायी गयी तो पता चला कि इनको टी० वी० है और टी० बी० दूसरी स्टेज पर पहुँच चुकी है। उपचार प्रारम्भ हुआ, बहुत प्रयास किये जाने पर भी परिणाम दुखद ही रहा। अन्तिम स्थिति समझकर इन्हें श्री वृन्दावन लाया गया। वहाँ ये कुल सात दिन ही रह सकीं। इस बीच इन्हें श्री राधावल्लभीय-सम्प्रदाय की दीक्षा भी दिलायी गयी। आठवें दिन प्रातः अपने पूज्य पतिदेव की गोद में सिर रखे हुए श्रीवृन्दावन रज की शैय्या में लेट कर श्री त्रिवेणीजी ने सन् १९४६ ई० में अपने पंचभूतमय देह का परित्याग कर दिया। ये प्रियतम के देश में पहुँच गयीं। अन्तिम दिनों में प्रेम की तन्मयता के कारण ये विश्व विलास से अत्यन्त उपराम हो गयी थीं। श्री त्रिवेणी बाई का जीवन साधक से उठकर परम सिद्धि भगवत्प्राप्ति करने वाले साधक भक्तों के लिए एक महान् आदर्श है।

श्या० बि० खं०

थिरपाल वाचक

श्री थिरपाल वाचक का आविर्भाव अठारहवीं शताब्दी में हुआ था। ये जैन धर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय तथा बडगच्छ परम्परा से सम्बन्धित थे। इनकी लिखी पन्द्रह रचनाएँ प्राप्त हुई हैं जिनके आधार पर इनका रचनाकाल विक्रम संवत् १७३९ से १७६३ के मध्य में स्थिर होता है। वैदिक धर्मशास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों तथा उपनिषदों में पारंगत होने के साथ-

साथ ये काव्य और संगीत कला में भी सिद्धहस्त थे। 'भवानी-विनती' सम्बोधन से इन्होंने राग-विलावल में देवी-स्तुति के पदों का सृजन किया है।

इनकी सबसे महत्वपूर्ण रचना 'श्रीभगवतगीता प्राकृत भाषा वेलि रूपक' है जिसमें भक्तकवि ने अठारह अध्यायों में महाभारत में वर्णित भीष्मपर्व तथा भगवद्गीता का अत्यन्त प्रौढ़ एवं दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। थिरपाल ने इस कृति में गीता, भागवत और रामचरितमानस से सूक्तियाँ लेकर उनको आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है। रचना का आरम्भ सरस्वती वन्दना से करके श्रीकृष्ण जन्म का विविध छन्दों में सरस वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण जन्म का उद्देश्य वस्तुतः दानवी शक्तियों का मर्दन एवं लोकरक्षण था। सत्य, शील, न्याय और मानवता की रक्षा को श्रीकृष्ण के अवतार ग्रहण का उद्देश्य बताते हुए ये लिखते हैं—

लिव लीध द्वापर जुग लीला आप माया आपणी।
प्रति साधुजन प्रतिपाल प्रगट्यौ,
ध्रम उधारण निज धणी।
कंसादि कंटक भय त्रिडारण,
उंड कजि उदिम कियौ॥

अंगीकार करुणा तेण कारणि।
लीला अवतार जमै लियौ॥

इस ग्रंथ की रचना मारवाड़ के 'वातां' नामक ग्राम में हुई थी। रचना के अंत में उसके सृजनकाल का उल्लेख करते हुए कवि ने लिखा है—

पचानबे प्रसिधि सतरसै बरस समेतं।
गीता ग्यान सुगम्य ग्रन्थ गुण वेलि सुहेतं॥

निज संपद निज नेत्र पेखि प्राणियाँ प्रसंसा।
हरि सर्वातमा हेत मन तन पवित्र करंसा॥

आतमा हेत परमातमा अति,
परखि परम गुरु पेखियंइ।
गीतार्थ ग्यांन चेतन सगति,
दरसण निज द्रव देखियंइ॥

जैन मतानुयायी होते हुए भी कवि ने श्रीकृष्णावतार में जैसी आस्था व्यक्त की है, वह उसके दृष्टिकोण की उदारता के साथ ही भगवान् कृष्ण के लोकार्षक आध्यात्मिक व्यक्तित्व का परिचायक है।

जं० सिं० परि०

थूथाजी

थूथाजी की अनन्य-रसिक-भावना का परिचय 'वृन्दावन प्रकाशमाला' में इस प्रकार मिलता है—

ताही के निकट कुंज थूथाजी की सोहत है,
कूप है अनूप शीत द्रुम लता छावै हैं।
भोर साँझ ढोलक औ झाँझ कर माँझ छकैं,
राधा कृष्ण नाम नित प्रीति जुग गावै हैं॥

जनम अष्टमी कौ उत्सव करै नीकी भाँति,
प्रात समै सुख रंग झर बरषावै हैं।
स्वाँग कौं बनावैं समौ प्रगट दिखावैं वे तौ,
सकल समाज मोहि चित्र सो लखावै हैं॥

इनके ऐहिक जीवन से सम्बन्धित सभी बातें अज्ञात हैं। 'वृन्दावन प्रकाशमाला' के उक्त छंद से केवल इतना ज्ञात होता है कि ये वृन्दावन में शृंगार-वट और श्री हित रास-मण्डल के मध्य किसी कुंज में रहा करते थे। इस कुंज के भीतर ठंडे पानी का एक कुआँ था। द्रुम-लताओं से आच्छादित इस कुंज से प्रातः और सायंकाल नाम-संकीर्त्तन की सुमधुर-धुन दूर-दूर तक सुनाई पड़ती थी। थूथाजी कभी झाँझ बजाकर और कभी ढोलक बजाकर नाम-संकीर्त्तन किया करते थे। प्रेम-पूरित हृदय से राधा-कृष्ण नाम लेते हुए ये स्वयं तो भाव-विभोर होते ही थे, वृन्दावन-परिक्रमा-पथ से गुजरने वाले प्रत्येक रसिक के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे।

ये रसावेशी भक्त थे। उत्सवों में इनके भावुक-हृदय का प्रत्यक्षीकरण होता था। श्री कृष्ण-जन्माष्टमी का उत्सव ये बड़ी धूमधाम से मनाया करते थे। दूसरे दिन प्रातः नन्दोत्सव के समय जब ये विभिन्न प्रकार के स्वाँग बनाकर अपनी कला का परिचय देते

थे तो दृष्टा-रसिकों को ऐसी अनुभूति होती थी कि हम द्वापरकालीन नंद-मंदिर में बैठे हुए श्री कृष्ण-जन्मोत्सव का साक्षात् दर्शन कर रहे हों। 'वृन्दावन-प्रकाशमाला' की प्रशस्ति से इनका विद्यमानकाल वि० सं० १७७५ से १८५० के मध्य अनुमानित होता है।

श्या० बि० खं०

दक्षसखी

'दक्षसखी' कवि के सिद्धदेह का नाम है। इनका प्रकृत नाम अज्ञात है। ये गोस्वामी गोपालभट्ट की शिष्यपरम्परा में गुणमंजरी के शिष्य, गोस्वामी गल्लूजी महाराज 'गुणमंजरी दास' से भिन्न तथा काफी पूर्ववर्ती थे। 'वनविहार-लीला' नामक रचना में इन्होंने अपने गुरु का संकेत इस प्रकार किया है—

जयति जयति राधारमन श्री चैतन्य कृपाला।
जयति सखीगन वृन्द जयति श्री भट्ट गोपाला ॥

• • •

श्री गुनमंजरी कृपाल जू, यह माँगत है भृत्य।
अपनो मोकों जानि के, कृपा करोगे नित्य ॥

इनकी दो रचनाओं 'वनविहार-लीला' तथा 'अष्टकाल-लीला' का रचनाकाल क्रमशः वि० सं० १८३५ तथा १८३६ है। इनका जन्म-काल अनुमानतः वि० सं० १७९० है। इनके जीवन-वृत्त के संबन्ध में कुछ विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता।

'दक्षसखी' द्वारा विरचित छोटी-छोटी चार रचनाएँ उपलब्ध हैं— मंगला-आरती, व्यंजनावली, वनविहार लीला तथा अष्टकाल-लीला। इनकी सभी रचनाओं में 'अष्टकाल-लीला' परिमाण तथा गुण में श्रेष्ठ है। उदाहरण स्वरूप एक छन्द नीचे प्रस्तुत है—

सहजरूप के चंद द्वै, सो छबि कही न जाय।
तृषित चकोरी चख सखी, पीवत हू न अघाय ॥
बिन बानी दृग थकि रहे, बानी के दृग नाहिं।
यह सुख कैसे कह सकत, छूट रहत मन माहिं ॥
नैन दीप हिय थार कर, प्रेम स्वच्छ घृत डार।
लीने हिय के करन सौं, आरति सखी उतार ॥

—अष्टकाल-लीला

न० च० बं०

वा० सिं०

दम्पतिदासी

दम्पतिदासी के ऐहिक जीवन सम्बन्धी सूत्र अभी तक ज्ञात नहीं हो सके हैं। इनके तीन पद हमें कृष्णदासीजी, विपिनदासीजी, दुलहिनदासीजी तथा चतुरअलीजी के पदों के साथ ही एक संग्रह में देखने को मिले हैं। उक्त सभी बाइयाँ गो० कुंजलालजी और उनके वंशजों गो० मुकुन्दलालजी. गो० रूपलालजी तथा गो० घनश्यामलालजी की शिष्यायें थीं। अतः हमारा अनुमान है कि दम्पतिदासी भी इसी घराने के किसी गोस्वामी की शिष्या रही होंगी।

प्राप्त पदों की भाषा विशुद्ध काठियावाड़ क्षेत्र की है। इस आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये भी काठियावाड़ की ही निवासिनी थीं। ऐसा भी अनुमान होता है कि इन पाँचों बाइयों का एक दूसरे से कोई पारिवारिक सम्बन्ध भी रहा होगा, कारण कि ये सभी एक ही देश की थीं और एक ही घराने की शिष्यायें हुईं। इनका एक पद नीचे दिया जा रहा है—

म्हारी प्यारी जी रा पासा रंग रा।
खेलनि बैठे पिय मदनमनी,
धरि करि करि नखरा अंग रा ॥
दीना दान सुजानि मानि मन,
जीतनि मुसकनि नरद चलाई,
जुग जोरचा अँगसंग रा ॥
जीति लिय पिय भुज भरि,
तिय येई खेल सु ढंग रा।
दम्पति दासि हित कैसें सुरझैं,
प्रेमी हैं मति पंग रा ॥

इनका विद्यमान काल १९वीं शताब्दी का मध्यकाल अनुमानित होता है।

श्या० बि० खं०

दयादास

श्री दयादास गुसाइँ जुगतानंद (शिष्य चरणदास) के अनुगत थे। ये शिष्य मण्डली में कदाचित् काफी छोटे थे और संवत् १८६५ के आस-पास दीक्षित हुए थे। इन्होंने बुन्देलखंड में कहीं स्थान बनाया था। इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति 'विनैमाल' दुर्भाग्यवश दयाबाई के नाम से छप गई और हिन्दी-संसार में उक्त कृति के रचयिता के रूप में दयाबाई को ही स्मरण किया जाता रहा है। यह सही है कि इस कृति के रचयिता ने कहीं भी अपना परिचय नहीं दिया है, किन्तु उसके द्वारा चरणदास के साथ जुगतानंद को भी सादर याद किए जाने से स्पष्ट होता है कि रचयिता चरणदास का शिष्य न होकर गुसाइँ जुगतानंद का शिष्य है—

चरनदास जुगतानन्द स्वामी दोउ पुरुषन के भूप।
परम सनेही नाम के हो गये बिमल सरूप॥

इनके रचे ग्रन्थ का नाम 'विनैमाल' है, न कि 'विनयमालिका'। बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित संस्करण की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

बिनैमाल जो कह सुनै, तन-मन-धन अनुराग।
चार पदारथ पावही, दयादास बड़ भाग॥

ग्रन्थ का रचनाकाल अज्ञात है, किन्तु प्राप्त पाण्डुलिपियों के आधार पर इसका निर्माणकाल संवत् १८८० के आस-पास ठहर सकता है। इस ग्रन्थ से कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत है—

कान्ह कूरम कृपानिधि, केसव कृश्न कृपाल।
कुंजबिहारी क्रीटधर, कंसासुर को काल॥
हौं गरीब सुन गोबिंदा, तुही गरीब निवाज।
दयादास आधीन के, सदा सुधारन काज॥
बड़े-बड़े पापी अधम, तरत लगी ना बार।
पूंजो लगै कछु नन्द की, हे प्रभु हमरी बार॥

म० गो० मा०

दयाबाई

श्री चरणदास की शिष्यायों में सहजोबाई के साथ दयाबाई ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। इनके जीवन के सम्बन्ध में विद्वानों ने जो भी सामग्री प्रस्तुत की है, वह प्रायः कल्पनाप्रसूत है।

दयाबाई का जन्म अलवर जिले के वहरोड़ नामक गाँव में अनुमानतः संवत् १७६१ में हुआ था। इनके माता-पिता के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती है। हाँ, इनके एक भाई शाह बंशीधर थे, जो पहुँचे हुए फक़ीर थे। उनके आशीर्वाद से तिन्दवारी निवासी एक कायस्थ परिवार को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई थी। अतः उन लोगों ने तिन्दवारी में राधा-कृष्ण का एक मन्दिर बनवा दिया था। इस कायस्थ परिवार का ननिहाल वहरोड़ में था। वहीं शाह बंशीधर से इन लोगों की मुलाकात हुई थी। बाद में वे लोग इन्हें तिन्दवारी ले गए। जब शाह बंशीधर के ताऊ हरिप्रसाद जी का परिवार अपने चारों पुत्रों और सहजोबाई के साथ संत चरणदास का शिष्य बना तो दयाबाई भी संवत् १७६७ में उनकी शिष्या हो गईं।

ये आजन्म अविवाहित रहीं। आरम्भ में अपने भाई के साथ तिन्दवारी (बाँदा) में रहीं। वहीं इन्होंने चैत्र शुक्ल सप्तमी संवत् १८१८ को 'दयाबोध' की रचना की। संवत् १८२८ में संत चरणदास ने विठूर (कानपुर) में एक गद्दी स्थापित की, जिसका इन्हें महन्त नियुक्त किया। संवत् १८५२ में इनके भाई ने परलोक-यात्रा की। अंतिम समय में ये अपने भाई को विठूर ले आईं थीं। उनकी स्मृति में इन्होंने विठूर में मन्दिर के बगल में एक धर्मशाला का निर्माण करवाया। आज भी यह 'धर्मशाला शाहजी' के नाम से जानी जाती है। विठूर में ये कई वर्ष रहीं। सन् १८५७ के गदर में इन्होंने झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई को सेना सहित शरण दी। अतः रातों-रात इन्हें विठूर छोड़ना पड़ा। वहाँ से भागकर ये कुछ महीने परिहर में रहीं। बाद में परिहर से दो-तीन मील दूर गंगापार रमेल गाँव में जा बसीं, जहाँ संवत् १९१५ में इन्होंने अपना शरीर छोड़ा। उक्त गाँव में इनकी चरण-पादुकाएँ एवं छतरी बनी हुई हैं। विठूर में इन्होंने अनेक पद रचे। क्रान्ति के समय इनके रचे अधिकांश पद

विनष्ट हो गए। संकलनों में स्फुट पद मिल जाते हैं। इनकी रचनाओं में दयादासी तथा दयाकुंवर छाप भी मिलती है।

इनकी भक्ति-भावना का उद्रेक अत्यन्त सरल और दीनवाणी में 'दयाबोध' में प्रकट हुआ है। इनकी भक्ति-भाव-व्यंजक कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

कोई बतलाओ री मुरली वाला कान्ह।
बिन देखें घनश्याम के मेरे महा विकल हैं प्रान॥
मुरली मधुर बजाईया री जाको अद्भुत घोर।
धुनि सुनिकरि मनवसि भयौ मेरे चित कूं ले गयौ चोर॥
मोर मुकुट मांथे बन्यौं री अलक रही बल खाय।
साँवरी मूरति लाल की मेरे हिये मैं रही समाय॥
पीतांबर को चोलना री गल बैजन्ती माल।
केसर तिलक सुहावनौ री सोभा बनौ बिसाल॥
चरनदास चेटक दियो री ऐसी रूप बताय।
दासी दया इस साँवरे की छबि ऊपरि बलि जाय॥

म० गो० भा०

दयाराम (प्रथम)

दयाराम (प्रथम) का जीवन परिचय अज्ञात है। इनकी एक पुस्तक 'केवलभक्ति' उपलब्ध है। इसका रचना-काल एवं लिपि-काल अज्ञात है। ग्रन्थ में श्रीकृष्ण की भक्ति का महत्व प्रतिपादित करते हुए उनके प्रति निष्ठा रखने का उपदेश दिया गया है—

केवल भक्ति कृष्ण की कीजै।
राम नाम हिरदै धरि लीजै॥
तासौं मुक्ति परापति होई।
और भर्म भूलौ जनि कोई॥
खोजौ चारौ वेद पुराना।
तहाँ नाम निकसौ भगवाना॥
तातै सुमिरि लेहु मन मेरो।
होइ सकल सब कारज तेरो॥

श्र० सिं०

दयाराम (द्वितीय)

बुन्देलखण्डी कृष्णभक्त दयाराम (द्वितीय) बाबा हिम्मतदासजी के सुपुत्र थे जिनका जन्म सं० १८२७ (१७७० ई०) में बरायछ (पन्ना से ८ मील दूर) ग्राम में हुआ था। इन्होंने अल्पकाल में व्याकरण और धर्मशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, परन्तु युवावस्था में ये लौकिक सुखों की ओर अधिक आकृष्ट हो गये थे। इसलिए भक्त पिता ने अपने पुत्र को कई बार सीख दी. आखिर पुत्र पर प्रभाव पड़ा और वह कृष्ण-भक्ति की ओर उन्मुख हो गया। इस परिवर्तन का संकेत बाबा हिम्मतदास के एक छंद में मिलता है—

चेतत न चित्त नर देख के अचेत भये,
हिम्मत विलासी दयाराम संतशाला में।
होइगा बिहाला जब आइ परे काला तब,
क्यों न भजे लाला नंदलाला मनमाला में॥

दयारामजी कौड़िया ग्राम में रहकर अपनी साधना में लीन रहने लगे और वहाँ के लोग इनके भक्त हो गये। इनके स्फुट पदों में राग-रागिनियों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। इनका देहावसान बरायछ में सं० १९०३ (१८६४ ई०) में हुआ था। इनके भक्तिभावना से भरे पद आज भी अमर हैं। एक पद द्रष्टव्य है—

द्रिगन छब लागे है नीकी।
माथे मुकुट तिलक की सोभा,
भौंह कमान सोह गत तीकी॥
बदन मयंक नैन रतनारे,
हेरन बसीकरन है जी की।
स्याम सरीर हिये बनमाला,
छब बरनौं का पीरे पट की॥
'दयाराम' लख ले मोहन कों,
भई कृपा अब तोपै गुरु की॥

न० प्र० गु०

दयाराम/सेवादास

श्री दयारामजी, गो० कुंजलालजी के शिष्य श्री जुगुलदासजी के प्रधान शिष्य थे। श्री सेवादासजी इन्हीं के कनिष्ठ गुरुभ्राता थे। ये दोनों गुरुवर की सेवा में सतत् संलग्न रहते हुए सेवाकुंज (वृन्दावन) के निकटस्थ गुरुस्थान 'भीमकुंज' में निवास करते थे—

श्री जुगलदास दियौ मन्त्र दान।
भये दयाराम तिनही समान॥

सेये जुगल किशोर जु रस विधान ।
पूजे हरिजन दियो अधिक मान ।।
इनके गुरु भ्राता सेवादास ।
गुरु पद सेये नित रहि कैं पास ।।
भृत श्यामदास हिय अति हुलास ।
प्रभु पुजई जो मन हुतो आस ।।

—चतुर्थ-बसन्त-प्रबन्ध

गुरुवर के निकुंज गमन के उपरान्त प्रधान शिष्य होने के नाते दयारामजी भीमकुंज के महन्त हो गये। इन्होंने गुरु की भाँति ही इष्ट और सन्त सेवा के उत्तरदायित्व का निर्वाह यथोचित रूप से किया था। इनका विद्यमान काल वि० सं० १७४० से सं० १८२० के मध्य स्थिर होता है।

श्री सेवादासजी की गुरुभक्ति की प्रशंसा करते हुए चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी ने इनके गुरुदेव का चरित्र वर्णन करते हुए 'गुरुकृपा-चरित्रवेली' में लिखा है कि एक बार श्री जुगलदासजी से श्रीजी ने स्वप्न में कहा—'हमें जाड़े की पोशाक धारण कराओ।' इष्ट की इस आज्ञा को सुनकर श्री जुगलदासजी ने उसी समय अपने पास में ही सो रहे श्री सेवादासजी को जगाया और श्रीजी की आज्ञा सुनाते हुए कहा कि 'तुम आगरे जाकर श्रीजी के लिए बढ़िया कपड़े की जाड़े की पोशाक बनवा कर लाओ।' सेवादासजी इस गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य कर रात्रि में ही आगरे के लिए चल पड़े और शीघ्र ही पोशाक बनवाकर ले आये। वह पोशाक धारण किए हुए जब श्रीजी के दर्शन इन्होंने किये तो इनका रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठा। गुरुवर ने इनके सिर पर हाथ रखकर अपनी रीझन प्रगट कर दी। इस घटना के कुछ ही दिनों बाद श्रीजी ने भी इन्हें अपने निकुंज में बुला लिया।

श्या० बि० खं०

दयालदास (प्रथम)

दयालदास (प्रथम) गुजराती वैष्णव थे। इनकी राधा-कृष्ण के प्रति अगाध भक्ति थी। ये जाति के वैश्य थे। संस्कार श्रेष्ठ होने के कारण इनमें वैष्णव संतों के लक्षण प्रत्यक्ष दिखाई देते थे। वि० सं० १६०० में द्वारका-यात्रा के समय गुसाईं विट्ठलनाथजी ने इन्हें अपनी शरण में लिया था। इनका भवन राजनगर में बना हुआ था। ये लखपती वैश्य थे लेकिन अत्यन्त कृपण थे। वैष्णव श्रीभाइला कोठरी के सत्संग से इनका कलुषित चित्त निर्मल हो गया था। कोठारीजी की प्रेरणा से ही गुसाईंजी की द्वारका-यात्रा के समय दयालदास पत्नी के साथ गोस्वामी विट्ठलनाथजी के चरणों में शरण लेने आये थे। गोस्वामीजी ने इनकी श्रद्धा और आस्था देखकर पति-पत्नी दोनों को ही ब्रह्मसम्बन्ध कराया था। इनके कवि होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी इनका एक पद सम्प्रदाय में प्रचलित है—

हरि सेवा वल्लभ सुत जाने ।
चरण कमल मकरन्द लुब्ध अलि आन कुसुम पहिचाने ।।
यह कलिकाल गुपाल भजन दृढ़ सुनत श्रवण जड़ जीव सिराने ।
लोक वेद मरजादा राखी साखी दे गोबरधन राने ।।
जाको मुख देखे सुख उपजे प्रगट प्रताप बिदित सबजाने ।
गुन अशेष न शेष कहि पावे पिय 'दयाल' कहा तुम्हें बखाने ।।

दयालदास नाम के कई कवि हुए हैं। परन्तु इनका राधा-कृष्ण भक्त परम्परा में अन्यतम स्थान है।

रा० कृ० श०

दयालदास (द्वितीय)

श्री स्वामी हरिदासजी महाराज की शरण में आने से पूर्व दयालदासजी (द्वितीय) का नाम दयाराम था। ये पंजाब प्रान्त के जसरोटा नामक ग्राम के निवासी एक परम अकिंचन ब्राह्मण थे। इनका विवाह लाड़ो बाई के साथ हुआ था। पति-पत्नी दोनों ही धार्मिक एवं अत्यन्त ही तितिक्षु स्वभाव के थे। एक दिन साधुसेवा का लोभ संवरण न कर सकने के कारण दयारामजी की भार्या लाड़ोदेवी ने अपने पति को सुझाव दिया कि 'यदि आप ऋक्षराज श्री जामवन्त की पूजा-अर्चना करें तो वे अवश्य ही कृपा कर

हमें साधुसेवा के निमित्त मनोवाञ्छित अर्थ प्रदान करेंगे।' पत्नी का यह प्रस्ताव दयारामजी को उचित लगा। अतः ये उपासना के निमित्त उस गुफा में जा पहुँचे जो श्री जामवन्त जी की साधना-स्थली थी।

आठ दिन तक दयारामजी ने अन्न-जल का परित्याग कर ऋक्षराज की आराधना की। तदुपरान्त श्री जामवन्तजी प्रकट हुए। भक्तराज को पारसमणि प्रदान कर ऋक्षराज ने कहा 'विप्रवर! यह पारस १२ वर्ष तक तुम्हारे पास रहेगा'। यह कहकर वे अन्तर्धान हो गये। दयारामजी पारस लेकर अपने ग्राम में आ गये। १२ वर्ष तक इन्होंने उस पारस का धार्मिक कृत्यों एवं साधुसेवा में सदुपयोग किया। तदुपरान्त वे दोनों तीर्थाटन को निकल पड़े।

अनेक तीर्थों में भ्रमण करते हुए दम्पत्ति बैजनाथ धाम जा पहुँचे। यहाँ पर दोनों को आशुतोष भगवान् के साक्षात् दर्शन हुए। दयारामजी ने भगवान् से निवेदन किया कि 'प्रभो! मेरे हृदय में दीक्षा लेने की अत्यधिक उत्कण्ठा है। कृपया मुझे किसी सद्गुरु की शरण दिलाने की कृपा करें।' इस पर भोलानाथजी ने उत्तर दिया कि 'जो भी सन्त तुम्हारे द्वारा पारस भेंट करने पर उसे पाषाणवत् नगण्य समझ उपेक्षा करे, उसे ही तुम अपना सद्गुरु समझ दीक्षा ग्रहण कर लेना।' आशुतोष की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर श्री दयाराम पत्नी सहित काशीपुरी आये। श्रीमती लाड़ो मुक्तिप्रदा काशी में आकर गोलोकवासी हो गयीं। दयारामजी भगवान् के मङ्गलमय विधान का अनुभव कर प्रिया के वियोग से उद्विग्न न हुए। पत्नी का अन्तिम संस्कार कर ये श्री वृन्दावन आ पहुँचे। श्री स्वामी हरिदासजी महाराज की ख्याति सुन ये उनके दर्शनार्थ निधिवन जा पहुँचे। स्वामीजी के चरणों में दण्डवत् करने के उपरान्त मणि को ज्यों ही उनके चरण में रक्खा, त्यों ही स्वामीजी ने आगन्तुक भक्त को सम्बोधित किया कि 'भक्तवर! यह मणि परमार्थ पथ के पथिकों के लिए उसी प्रकार अनुपयोगी है, जिस प्रकार पाषाण। श्री श्यामा-श्याम के प्रेम के प्यासे विरक्त सन्तों के लिए तो रसिकों का सत्संग ही विशुद्ध पारस मणि है, जो अपने स्पर्श से अनादिकाल से माया-जाल में फँसे निकृष्ट लोह-स्वरूप जीव को अपना कंचनमय स्वरूप प्रदान कर देता है।' श्री स्वामीजी महाराज के मुखारबिन्दु से इन वचनों को सुन दयारामजी परम आह्लादित एवं कृतकृत्य हो गये। उन्होंने गुरुदेव के समक्ष अपना कृपापात्र बनाने की प्रार्थना की। स्वामीजी महाराज ने भक्त को आदेश दिया कि इस पारस को श्री यमुनाजी को अर्पित कर दो एवं यमुना में स्नान करके आओ।'

गुरुदेव की आज्ञा सुन तत्क्षण दयाराम को श्री आशुतोष भगवान् की वाणी का स्मरण हो आया। ये अत्यन्त प्रसन्न हुए और भावोन्मत्त हो श्री स्वामीजी के चरणों में दण्डवत् कर श्री यमुनाजी के किनारे जा पहुँचे। गुरु आज्ञानुसार पारस यमुनाजी को अर्पित कर एवं स्नान कर गुरुजी के समक्ष उपस्थित हुए। स्वामीजी ने पात्र देख इन्हें दीक्षा एवं विरक्त-वेष प्रदान कर दिया। दीक्षोपरान्त ये दयाराम से दयालदास बन गये।

एक दिन दयालदासजी विचार निमग्न बैठे थे कि संस्कार वश इन्हें पारसमणि की स्मृति हो आई। श्री स्वामीजी महाराज तत्काल ही इनके मन की बात समझ गये। उन्होंने मुस्कराते हुए दयालदासजी से कहा 'वत्स! श्री यमुनाजी से एक अञ्जुलि भर रज ले आओ।' गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर दयालदासजी श्री यमुनाजी से रज निकालने लगे तो इनकी अञ्जुलि पारसमणियों से भर गई। यह देख इन्हें गुरुदेव के दिव्य प्रताप का स्मरण हो आया। इनके हृदय में अत्यन्त ग्लानि हुई कि मैंने अपने मन में ऐसे तुच्छ विचारों को क्यों आने दिया? उन मणियों को पुनः यमुनाजी में विसर्जित कर ये श्री गुरुदेव के पास जा पहुँचे तथा नेत्रों में पश्चात्ताप के आँसू भर उनके चरणों में गिर पड़े। परम कृपालु गुरुदेव ने शिष्य के ऐसे भाव को देख उसके मस्तक पर अपना वरदहस्त

रखा और अभय प्रदान कर श्री श्यामा-श्याम की नित्यलीला में निमग्न होने का उपदेश दिया।

श्री दयालदास द्वारा विरचित मात्र एक पद प्राप्त होता है, जिसका उल्लेख नीचे किया जा रहा है-

इक रस रहिबो कठिन, कठिन सज्जनता पालन।
मोह रहित अति कठिन, कठिन कामादिक जारन ॥
जोग जुगुत अति कठिन, कठिन निसदिन को दहिबो।
कठिन बहुत बैराग्य, कठिन अति मन कौ गहिबो ॥
पतिव्रत पालन अति कठिन, कठिन भजन निसदिन करन।
'दयाल' येते जग कठिन, श्रीहरिदास प्रापति अति कठिन ॥

प्रे० ना० श्री०

दयालाल

श्री दयालालजी के जीवन के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। 'प्रेम-बत्तीसी' नामक इनकी एक रचना मिली है, जिसका रचनाकाल अथवा लिपिकाल अज्ञात है। इसका विषय उद्धव-गोपी-संवाद है। यह ३२ कवित्त छन्दों की लघु रचना है। उनमें से यहाँ एक छंद दिया जा रहा है—

स्याम के हिये में इत रहै तालबेली अति,
मेरी जे महेली ते अकेली मेली हाय क्यों।
उन बिन मैं हू सूनौ अरु उन्हैं दुख दूनौ,
कैसे ह्वैहैं बोल ऊनौ यहै सोच माय क्यों ॥
बेग कहि आयौ अैबौ बनत अभी न जैबो,
कछु तो संदेस दैबौ नहीं दुख जाय क्यों।
सुधि न सहाय क्यौं हूँ कछू न सुहाय क्यों हूँ,
प्यारिन कौं छोड़ि दुख लयौ इहाँ आय क्यों ॥

वा० सिं०

दयालुदास

श्री दयालुदास पीताम्बर देवाचार्यजी के कृपा-पात्र थे। इनका जन्म विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के चतुर्थ भाग में हुआ था। ये ढूंढाढ़ प्रदेश (जयपुर) के निवासी थे। एक दिन दयालदास श्री पीताम्बर देवाचार्यजी की महिमा से आकृष्ट हो गृह त्याग कर उनकी शरण में वृन्दावन आ गये। श्री पीताम्बर देवाचार्य ने इनकी भक्ति भावना से प्रभावित होकर इन्हें वैष्णवी दीक्षा प्रदान कर विरक्त वेष तथा दयालुदास नाम प्रदान किया। ये गुरुदेव के अत्यन्त भक्त थे। बिना उनकी चरणसेवा एवं सीथ-प्रसादी ग्रहण किये भोजन नहीं करते थे। जब तक ये गुरुदेव के साथ रहे यह व्रत अबाध रूप से चलता रहा।

एक समय कुछ भक्तों के अनुरोध पर पीताम्बर देवाचार्य गणेश्वर तीर्थ पर पधारे। यह आश्रम श्री गोपाल मन्दिर से १४ मील की दूरी पर स्थित था। प्रस्थान करते समय पीताम्बरदेवाचार्यजी ने दयालुदासजी से कहा—"तुम यहीं श्री श्यामा-श्याम की आराधना करते रहना। हम सायंकाल तक लौट आने का प्रयास करेंगे।" गुरु की आज्ञानुसार दयालुदासजी ने श्री गोपालजी की मंगला-आरती, श्रृंगार, राजभोग, उत्थापन, शयन-सेवा आदि विधिपूर्वक सम्पन्न की, किन्तु श्री गुरुदेव की सीथ-प्रसादी एवं दर्शन न मिलने के कारण इन्होंने गोपालजी के चरणोदक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं ग्रहण किया। यही क्रम दूसरे दिन भी चला, किसी कारणवश गुरुदेव न आ सके। इस प्रकार चार दिन-रात व्यतीत हो गये, पाँचवें दिन जब गुरुदेव लौटकर आये तो दयालुदासजी की दशा देख उनका हृदय अत्यन्त द्रवित हो गया। प्रेम से विह्वल होकर गुरुदेव ने दृढ़व्रती शिष्य को आशीर्वाद देकर कहा कि 'संसार में तुम्हारी कीर्ति विस्तीर्ण होगी एवं परलोक में तुम्हें श्री श्यामा-श्याम के परम शान्तिप्रद चरणों की प्राप्ति होगी।"

'श्री गोपाललहरी' के एक स्तोत्र में इनकी जीवन-झाँकी का दिग्दर्शन इस प्रकार हुआ है—

दयालोः सेवातः परमिह न किं साधनमिति,
मतंयैस्ते याता गुरुरतिरता एव सुगतिम्।
न मन्दोऽन्यस्तेभ्यः सुलभ अपि ये यान्ति न रतिं,
श्रये तं गोपालं विभुरपि चलायां चलति यः ॥

दयालुदासजी की इस गुरुभक्ति को देख एक दिन श्री पीताम्बरदेवजी ने इनको आदेश दिया-

'प्रिय दयालुदास ! शास्त्रों में ज्ञान, कर्म और गुरु-आज्ञानुवर्तन ये सभी साधन, साधन कोटि में ही माने गये हैं और भक्ति साध्य कोटि में आती है। 'भक्तिरेवमुक्तिः' के अनुसार तुम्हें भगवद्भक्ति प्राप्त हो चुकी है। अतः इन साधनों को यदि तुम छोड़ दो तो कोई हानि नहीं है। इसलिए जब भी तुम्हें भगवत् प्रसादी प्राप्त हो तभी उसे पा लेना, क्योंकि इसमें सभी कुछ समाविष्ट रहता है।' इस प्रकार गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर श्री दयालुदास भगवद् उपासना में तल्लीन रहने लगे।

गुरुदेव से इनको इतना प्रेम था कि जब वे श्री नित्यनिकुञ्ज धाम में प्रवेश कर गये तब ये उनके वियोग में इतने विह्वल हो गये कि सुध-बुध तक नहीं रही। इन्होंने गुरुदेव की स्मृति में बहुत बड़ा समारोह किया। इस अवसर पर बहुत से भक्तों ने इनको भूमि दान किया, जिसका उपयोग इन्होंने गौ, ब्राह्मण, अतिथि-अभ्यागत, साधु-सन्त आदि की सेवा में किया। इससे इनका यश आज भी विस्तीर्ण हो रहा है। इनके खेमदासजी, भगवानदासजी जैसे अनेक बड़े प्रतापी शिष्य हुए।

प्रे० ना० श्री०

दयासखी

दयासखीजी की अनन्य सेवा-भावना का परिचय 'वृन्दावन-प्रकाश-माला' में इन शब्दों में मिलता है—

तातें परै श्री बिहार घाट बिबि छत्री तीन,
बैठक तिबारी द्रुम छबि अति भारी जू।
वाकी शोभा देखि फिर कौन हल सकै,
प्यारी पिय भये जहाँ अटल बिहारी जू॥
तिनके समीप हैं किशोर वय दयासखी,
गान मान तान प्रान दम्पति रिझावैं हैं।
बीन कौ बजावैं औ परन उपजावैं गावैं,
मृदु मुसिकान कौ प्रसाद नित पावैं हैं॥
रूप कौ निहारैं तन सुधि कौ बिसारैं,
अश्रु पलक को धारैं बानी सरस बनावै हैं।
गुन तौ अनेक एक रसना सौं कैसे कहौं,
तिनकी कृपा कौ हम सदा ललचावै हैं॥

दयासखीजी के ऐहिक जीवन सम्बन्धी कोई सूत्र प्राप्त नहीं है। प्राप्त तथ्यों के अनुसार ये श्रीधाम वृन्दावन आ गये थे और विहार घाट पर अटल-विहारीजी के मन्दिर के समीपस्थ किसी कुंज में रहा करते थे। इन्होंने श्री हितधर्म की दीक्षा गो० रूपलालजी के अग्रज गो० मुकुन्दलालजी के पुत्र गो० घनश्यामलालजी से प्राप्त की थी। नीचे इनका एक पद उद्धृत किया जा रहा हैं—

महा धूम मची री जमुना तट पनियाँ भरन
कैसे अब जाऊँ री आली पनघट।
जैसी है अमानी भट्ट है कोऊ नव वधू,
छल बल कर तन भरत रंग झटपट॥
नाना स्वांग बनाये अद्भुत डफन को,
गर्जन मची है पहपट।
दयासखी घनश्यामलाल सबन में,
मुख्य नन्द कौ री नटखट॥

इनका विद्यमान काल अनुमानतः वि० सं० १७८० से १८६० के बीच माना जाता है।

श्या० बि० खं०

दयासिन्धुलाल/कृपासिन्धुलाल

श्री दयासिन्धुलाल तथा कृपासिन्धुलाल सगे भाई थे। ये दोनों गोस्वामी किशोरीलालजी के पौत्र एवं गोस्वामी रसिकानन्दलालजी के पुत्र थे। दोनों अपने समय के अत्यन्त प्रतापी महापुरुष थे। इससे लोग इन्हें बड़े सरकार और छोटे सरकार कहकर सम्बोधित किया करते थे। इनके वंशज आज भी बड़ी सरकार और छोटी सरकार वाले गोस्वामी कहलाते हैं। इनके कुछ पद प्राप्त होते हैं, जो इनके रसिक-रूप का दिग्दर्शन कराते हैं। इनका एक पद अवलोकनार्थ प्रस्तुत है—

श्री राधाकान्त खेलत रस होरी।
चरचत अतर अरगजा हँसि हँसि,
मुख लपटावत वदन रोरी॥
हो हो कहत देत करतारी,
गावत तान मदन रँग बोरी।

सखिन मनोरथ भरत रसिक श्री
कृपासिन्धु हित लाल किशोरी ।।

इनका उपस्थिति काल वि० सं० १८२५ से वि० सं० १९२५ के बीच में स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

दरिया खाँ

दरिया खाँ रुहेल खाँ के छोटे पुत्र थे। उदार सूफी भक्त होने के कारण ये राम-कृष्ण में भी आस्था रखते थे। इनके रचित कुछ फुटकल पद मिलते हैं। श्रीकृष्ण के होली खेलने का वर्णन इन्होंने इन शब्दों में किया है—

श्याम सुन्दर आयौ री सखी ! मेरौ कानु,
बिन्दराबन में खेले होली।
सनमुख श्याम किशोरी राधा रूप बनायौ री ।।
हे री ! सखी ! मिल मंगल गावौ,
चंग मृदंग पै चोट चलाऔ रंग रस लाल भयो री।
दर्याखान यह पद तँह पाया,
सद्गुरु शब्द में सहज समाया, आपुन आप गुण
गायौ री ।।

स०

दरोगा बाबा

श्री दरोगा बाबा के विषय में केवल इतना ज्ञात है कि एक दरोगा बाबा थे और श्री गिरिराज गोवर्धन की परिक्रमा में दरोगाई करते थे। पहले तो इनसे इस सम्बन्ध में कोई कुछ पूछता ही नहीं था, क्योंकि सभी लोग बाबा के चमत्कार को किसी न किसी रूप में देखते रहते और इनको पहुँचे हुए सन्त के रूप में मानते थे, फिर भी यदि कोई नया ब्रजवासी या साधु इनसे इस सम्बन्ध में पूछ बैठता तो बाबा लाठी धरती ठोकते हुए कहते–'मैं दरोगा हूँ, भगवान् श्रीकृष्ण ने मुझे तुम लोगों की देखभाल करने के लिए यहाँ भेजा है। मैं तुम्हारे बुरे कार्यों की सूचना भगवान् के पास भेजता रहता हूँ।' यह कहते हुए अपनी गर्दन में पड़ी डोरी में बँधी हुई सीटी को बजाते हुए चले जाते और फिर आगे जाकर ब्रजवासियों के बीच या ग्वाल-बालों की टोली में अपना उपदेश सुनाने लग जाते थे।

दरोगा बाबा का उपदेश पूरी तरह दरोगाई ढंग का होता था। वह कहते—'भोजन भगवान का प्रसाद है, इसे जूठन समझकर बाहर मत फेंको। जल जीवन है, इसे व्यर्थ खर्च मत करो। अपने पड़ोसी को भूखा मत सोने दो', फिर धमकी देते कि 'अगर मेरी बात नहीं मानी तो मैं तुम्हारी रपट भगवान् श्रीकृष्ण को भेजकर ऐसा कड़ा दण्ड दिलवाऊँगा कि जीवन भर याद रखोगे।' बाबा इसी प्रकार उपदेश देते फिरते थे, किन्तु ब्रजवासी उन्हें न कभी गम्भीरता से लेते और न उन पर कभी कोई ध्यान ही देते, हँसकर पीछे कहने लगते—'साधु सन्त हैं, अपने रंग में रंगे हैं।' पर बाबा को उस समय हार्दिक वेदना होती जब बचा हुआ भोजन उन्हें किसी द्वार पर कूड़े के स्थान पर पड़ा हुआ मिलता। वह घर की महिलाओं से तो कुछ नहीं कहते, सीधे घर के बूढ़े (मुखिया) के पास जाते और उसे झिड़की लगाते हुए कहते—'अरे ! थोड़ा तो विचार करो ? ब्रजभूमि में जन्म लिया है, ठाकुरजी के प्रसाद का इस प्रकार निरादर करोगे तो तुम्हें नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा।' यह कहते-कहते भावावेश में आकर रोने लगते और पड़े हुए भोजन के कण-कण को बीन कर ग्रहण करते। उसका परिणाम यह होता कि फिर उस घर–मुहल्ले की ही क्या गाँव भर की महिलाएँ बचा हुआ भोजन कभी भूलकर भी बाहर नहीं फेंकती थीं।

जब से ये ब्रज में आये, जीवन पर्यन्त उस को छोड़कर कहीं बाहर नहीं गये। वैसे इन्होंने कई बार ब्रज चौरासी कोस की परिक्रमा की और जब मन की तरंग आती तो मथुरा, वृन्दावन के दर्शन भी कर आते, किन्तु इनका अधिकांश जीवन श्री गोवर्धन के आसपास स्थित कुसुम सरोवर पर ही व्यतीत हुआ। बाबा प्रातः कुसुमसरोवर से चलते और श्री गिरिराज परिक्रमा में लग जाते तथा आन्यौर, पूँछरी, जतीपुरा, राधाकुण्ड होकर सायं को सरोवर पर आ जाते। इनकी अपनी कोई न रहने की कुटी थी और न कोई सामान ही

था। कुसुम सरोवर के तट ही पर पड़े रहते और करील के सघन कुंज में घुसकर वर्षा-शीत को काट देते। टाट की लंगोटी, हाथ में डंडा और गर्दन में पड़ी सीटी, यही कुल तीन अदद सामान था।

दरोगा बाबा के साधक जीवन की झाँकी इसी से परिलक्षित होती है कि इन्होंने न कभी मधुकरी भिक्षा की और न कभी किसी का दिया हुआ कोई सामान ही ग्रहण किया। यह लम्बी आयु तक जीवित रहे, किन्तु जब तक इनका शरीर रहा, इन्होंने उसका पोषण व्यर्थ समझ कर बाहर फेंके गये भोजन के द्वारा ही किया। परिक्रमा-मार्ग में ब्रजवासी अपने घर ले जाकर प्रसाद ग्रहण करने का इनसे आग्रह करते, कुछ ब्रजवासी तो कुसुम सरोवर पर ही भोजन लेकर पहुँच जाते किन्तु बाबा सहज रूप में उनसे कह देते—'भैया! मैं तुम्हारा भोजन करूँगा तो तुम्हारे यहाँ जन्म लेकर इस भोजन को चुकाना पड़ेगा', और जब कोई हठपूर्वक इनसे आग्रह करता तो बाबा अपने दरोगाई ढंग से उसे झिड़क देते—'खबरदार! दरोगा को घूस देने की कोशिश की तो वह रपट लिखवाऊँगा कि नरक में पड़े-पड़े सड़ते रहोगे।' इनकी इस मीठी झिड़की को सुनकर श्रद्धालु डर जाते और फिर कुछ देने का हठ नहीं करते। उन्हें भय रहता कि दरोगा बाबा क्रोध में आकर उन्हें कोई शाप न दे दें। सभी जानते थे कि दरोगा बाबा इस रूप में विचरण करने वाले एक निराले सिद्ध पुरुष है।

दरोगा बाबा महान् साधक और ब्रजरस के लिए समर्पित ही नहीं थे, अपितु इन्हें महान् सिद्धियाँ प्राप्त थीं, जो ब्रजवासियों को समय-समय पर देखने को मिलती रहती थीं।

एक बार भरतपुर के महाराजा किशन सिंह जी श्री गिरिराज की परिक्रमा करने के लिए गोवर्द्धन आने वाले थे। यहीं पर कुसुम सरोवर स्थित 'दादी माँ' की समाधि पर भी उन्हें दर्शन करने आना था। महाराजा के आगमन से पूर्व उनका घुड़सवार सैनिक दस्ता कुम्हेर से पूंछरी होकर कच्चे मार्ग से गोवर्द्धन आ रहा था। अनेक सैनिक दरोगा बाबा को पहचानते थे। उन्होंने पूँछरी ग्राम में श्री गिरिराज की तलहटी में ग्वालों के बीच दरोगा बाबा को देखा तो दण्डवत्-प्रणाम किया और अपने घोड़े दौड़ाते हुए चल दिये। कुसुम सरोवर स्थित दादी माँ की समाधि पर जब सैनिक पहुँचे तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने थोड़ी देर पहले तीन कोस दूर पूँछरी ग्राम में छोड़े दरोगा बाबा को उसकी सीढ़ियों पर बैठे देखा। बाबा ने सैनिकों के मन के भाव देखे तो बिना कुछ कहे-सुने कहने लगे—'तुम आश्चर्य मत करो, मैं यहाँ का दरोगा हूँ, सात कोस की परिक्रमा में देखभाल करना मेरा काम है, मैं तुम लोगों से ज्यादा काम करता हूँ।' फिर बोले—'तुम्हारे महाराजा अब सात दिन बाद परिक्रमा करने आयेंगे' और सचमुच दूसरे दिन गोवर्द्धन आने वाले महाराजा किन्हीं आवश्यक कारणों से नहीं आ सके और सातवें दिन ही आये।

बाबा ने जीवन में कभी किसी की सेवा स्वीकार नहीं की। अन्तिम समय में जब वह बुरी तरह ज्वर से पीड़ित थे, तब भी वह किसी के द्वारा दिया हुआ पीने का जल तक ग्रहण नहीं करते थे। रुग्णावस्था में भी वह घिसट-घिसट कर जाते और कुआँ से जल खींचकर पीते। उनका कहना था कि थोड़ी-सी सेवा लेने पर मुझे उसे चुकाने के लिए जन्म लेना पड़ेगा। इन्होंने अपने इस विश्वास को दृढ़ता के साथ निभाया कि शरीर-त्याग के पश्चात् भी इनके पार्थिव देह के लिए लोगों को कुछ भी नहीं करना पड़ा। वह रात्रि को कुसुम सरोवर की ऊँची बुर्ज पर सो गये और न जाने कब सरोवर में छलाँग लगाकर अपनी इह लीला समाप्त कर दी। कई दिन पश्चात् लोगों को पता चला कि दरोगा बाबा कुसुम सरोवर में डूब गये हैं और उनकी पार्थिव देह को कछुए जल में खींच ले गये।

दरोगा बाबा अब इस संसार में नहीं हैं, किन्तु उनका समर्पित जीवन, निष्काम-सेवा, परोपकार और

श्रीकृष्ण-भक्ति की चर्चाएँ आज भी गोवर्द्धन क्षेत्र की पुरानी पोढ़ी याद करती है।

रा० कृ० श०

दलसिंह

(राजा) दलसिंह का उल्लेख प्राचीन साहित्य के उद्धारक शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन और मिश्रबंधुओं ने किया है। ग्रियर्सन के अनुसार इनका जन्म १७२४ ई० में हुआ था, जबकि मिश्रबंधु इसे इनका कविता-काल ठहराते हैं। अस्तु, इससे स्पष्ट है कि ये १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में एक भक्त कवि के रूप में प्रसिद्ध थे। इनके ग्रंथ 'प्रेमपयोनिधि' में राधामाधव का लीलाविहार वर्णित है। इनके जन्म और जीवन के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। इनकी कृष्ण-भक्ति की अनन्यता व्यंजक एक छंद द्रष्टव्य है—

मेरो तन मन स्याम रंग ही सों रंगि रह्यो,
और रंग देखे होत नैन मन साल है।
नील पट नील मनि भूषन सुखद लागैं,
नील जल जमुना को अति सुखपाल है॥
भनै दलसिंह नृप नील बन सहज ही,
तामें सुठि प्रिय लागै विपिन तमाल है।
नील फल नील फूल नील गिरि नील कंठ,
नील घन देखे दृग मानत निहाल है॥

न० प्र० गु०

दलेल सिंह

दलेल सिंह हजारीबाग जिले में स्थित रामगढ़ के राजा थे। इनकी 'गोविन्द-लीलामृत' नामक रचना मिलती है। इसमें राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का बड़ा ही मनोरम वर्णन है। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त राम और शिव सम्बन्धी भी इनकी रचनाएँ मिलती हैं। उनके नाम हैं—रामरसार्णव, शिवसागर और राज-रहस्य। इनका समय ई० की सत्रहवीं शती माना जाता है।

अ० अ०

दशरथ लाल

श्री दशरथलाल का जन्म दुर्ग जिले में सम्वत् १९३० में हुआ था। ये कृष्णोपासक भक्त कवि के रूप में विख्यात हैं। इन्होंने अपने आराध्य श्रीकृष्ण की लीला-सम्बन्धी पदों की रचना की है। यहाँ रासलीला का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

चहुँ चहुँ चिहिर चिरैया चारु कुंजन में,
लह-लह ललित लतान करियत है।
कुहु कुहु कोकिल सुकण्ठ कल कुहकत,
मृदुल मनोहर मयूर मचलत है॥
रचे रमणीय रास राधिका रमण राधा,
देखि ताहि सबहि महोत्सव मनियत है।
सारी स्याम सरस सुहावनी सखिन सुभ,
सीतल सुगंधित समीर बहियत है॥

त्रि० ना० शु०

दाऊ कृष्णकिशोरदास

दाऊ कृष्णकिशोरदासजी राजनादगाँव, जिला दुर्ग (मध्य प्रदेश) के निवासी थे। इनके घर में राधाकृष्ण की उपासना पारम्परिक रूप से चली आ रही थी। अतः इनका मन युगल-चरणों में रम जाना स्वाभाविक ही था। इन्होंने श्रीमद् भागवत पर आधारित "राधाकृष्ण-चन्द्रिका" शीर्षक काव्य-ग्रन्थ की रचना सं० १९२५ की थी।

सर दृग निधि शशि अंकमित, विक्रम संमत जान।
भादव सुभ भृगु चौथ को, कियो ग्रन्थ यह गान॥

त्रि० ना० शु०

दामोदर

श्री दामोदर १९वीं शताब्दी में उपस्थित ओरछा-नरेश हमीरसिंह देव के गुरु थे। ओरछा-नरेश विक्रमाजीत ने अपने जीवन काल में ही अपने पुत्र धर्मपाल को गद्दी दे दी थी, किन्तु वे वि० सं० १८९१ में दिवंगत हो गये। फलतः इन्होंने फिर से गद्दी संभाली, पर संयोगवश ये भी उसी वर्ष स्वर्गवासी हो गये। इनके भाई तेजसिंह ने सं० १८९८ तक राज्य किया। सं० १९२२ में हमीर सिंह को महाराजा की पदवी मिली। दामोदरजी इन्हीं के गुरु थे। 'शिवसिंह सरोज' में इनका एक छंद दिया गया है, जो इस प्रकार है—

पंकज चंचक बेलि गुलाब की,
माल बनावति आनंद पावै ।
आछे अंगोछें से अंग अंगोछि,
गुलाब फुलेलरु सोंधो लगावै ॥
भूषन बास संवारि 'दामोदर'
आछे के केस में फूल भरावै ।
मिस ही पिय को मग जोवति है,
हठि द्वार त्यों चित्र अली की दिखावै ॥

इनके निम्नलिखित ग्रंथों का उल्लेख मिलता है—रस-सरोज, बलभद्र-शतक, बलभद्रपचीसी, उपदेशाष्टक, वृन्दावनचन्द्र-सिखनख-ध्यानमंजूषा। ये श्री बल्लभाचार्य के अनुयायी थे।

ह० न० भा०

दामोदरदास (प्रथम)

श्री दामोदरदास (प्रथम) के नाम से 'स्मरण-मंगल' नामक एक साधारण रचना उपलब्ध है। यह रूप गोस्वामीजी की कृति 'स्मणस्तोत्र' के आधार पर लिखी गई है। उसमें श्री राधाकृष्ण की अष्टकालीन दैनंदिन लीलाओं का वर्णन किया गया है। 'स्मरण-मंगल' के प्रत्येक प्रकाश के अंत में निम्नलिखित कथन के साथ उक्त प्रकाश का नामोल्लेख किया गया है—

'श्री गदाधर चैतन्य पद, सरन दामोदर दास।
सुमिरन मंगल कौ कियौ, सूक्षम प्रथम प्रकास ॥"

इससे ज्ञात होता है कि दामोदरदास गदाधर पंडित गोस्वामी की शिष्य परम्परा में हुये थे।

'दामोदर' की छाप के कुछ स्फुट पद भी मिलते हैं, जो सम्भवतः इन्हीं दामोदरदास के हैं।

सं०

दामोदरदास (द्वितीय)

महंत दामोदरदास (द्वितीय) की भक्तिनिष्ठा का परिचय 'वृन्दावन-प्रकाश-माला' में इन शब्दों में मिलता है—

तासौं लगी कुंज रूपराम की लसत द्रुम,
बसत जहाँ महन्त दामोदर दास हैं।
सबन कौं सुखद सुशील गुनवन्त महा,
हित पद बिनु जाकें और नहिं आस है ॥
गान में प्रवीन राखैं प्रीति कौ नवीन,
रहैं रसिक अधीन सदा चित में हुलास है।
दम्पति की सेवा सीस उत्सव करत सब,
यातें रीझि दयौ जाकौ वृन्दावन वास है ॥

इनके ऐहिक जीवन-सम्बन्धी कोई तथ्य उपलब्ध नहीं है पर इतना निश्चित है कि ये वृन्दावन से बाहर के निवासी थे तथा विरक्त वेश लेने के पश्चात् अखण्ड-वृन्दावन वास का व्रत लेकर रूपराम की कुंज में रहा करते थे।

इनका विद्यमान काल वि० सं० १७७० से १८५० के बीच में अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

दामोदरदास (तृतीय)

श्री दामोदरदासजी (जपराधेबाबा) की प्रशस्ति में 'श्री हित-अनन्य रसिकावली' में एक छप्पय मिलता है। श्री यमुना बल्लभ ने भी इनकी प्रशंसा में लिखा है। दोनों छंद यहाँ उद्धृत हैं—

घ र र र घ र र र धुनि निरन्तर मुख तें निकसैं।
राधा नाप सदाई यौं जपि मुख अति विकसै ॥
अति उत्कट वैराग राग कौं रहे दुराये।
झूले फूले लतन तरें रहे छिपे छिपाये ॥
नित्य विनोदी युगलवर, मोद विनोदन उर भरचौ।
जपराधे के भजन कौ, रहसि न काहू लखि परचौ ॥
अष्टयाम सुखधाम भावना भाव उपासी ॥
एक वस्त्र कोपीन पीन वपु प्रेम प्रकासी ॥
आज्ञा श्रीमुख प्रिया अटल वृन्दावन वासी।
सदा मगन मन माँहि भक्तिधन सब रस रासी ॥
धरि अनन्यव्रत हृदय मधि, गये कुंज कहते घ र र।
श्री प्रिया पूज्य हित मार्ग श्री, जपराधे अति रसिक वर ॥

श्री दामोदरदास (तृतीय) का जन्म मारवाड़ प्रदेश के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनका बचपन का नाम जयमाल था। ब्राह्मणोचित शिक्षा में मन न लगने के कारण अठारह-बीस वर्ष की आयु

तक ये पहलवानी करते रहे। उसके पश्चात् पिताजी ने इन्हें पलटन में भरती करा दिया। जब इनकी अवस्था तीस वर्ष की थी तब ये उसकी एक टुकड़ी के साथ काशीजी में निवास करते थे। संयोग से इनकी भेंट कुछ राधावल्लभीय साधुओं से हुई। वे साधु निर्मोही अखाड़े के थे। उनके पास बैठने और बात-चीत करने में इनका मन खूब लगता था। साधुओं के उपदेश के प्रभाव से इन्होंने अपने अधिकारी के पास नौकरी का त्यागपत्र भेज दिया। इसके बाद ये नागा श्री लाड़िलीदास के शिष्य बन गये। गुरुजी ने इनका नाम जयमल से बदलकर दामोदरदास रख दिया।

कुछ दिनों तक ये उसी नागा जमात के साथ घूमते रहे। तभी किसी समय इनकी भेंट श्री यमुनादासजी नामक से हुई। उन्होंने इन्हें वृन्दावन जाने का आदेश दिया। अतः ये वृन्दावन आ गये और श्रीहित रासमण्डल (गोविन्दघाट स्थित) पर निवास करने लगे, किन्तु नागा साधुओं में इनका मन न लगा। फलतः ये कैमारी वन के निर्जन स्थान में चले गये।

एक कोपीन और मिट्टी के करुआ के अतिरिक्त ये अपने पास कुछ नहीं रखते थे। अनायाची वृत्ति थी। कैमारी वन की लता पर पड़ा हुआ झूला ही इनका निवासस्थान था। ये अपने हाथ में एक छोटी सी मूर्त्ति रखते थे जिसे ये 'राधा चोट्टी' कहते थे। जब कभी इनके पास कोई कुछ खाने-पीने को लाता तो ये उस सामग्री को उस मूर्ति को अर्पित करके ही खाया करते थे। इनके मुख से राधा नाम की अखण्ड ध्वनि निकला करती थी। एक स्वांस में कई बार राधा-राधा नाम निकलने के कारण वह ध्वनि ध र र र ध-र र र जैसी सुनाई देती थी। इसी कारण इनका नाम 'जपराधे बाबा' पड़ गया था।

इनकी सिद्धि से प्रभावित होकर जयपुरनरेश ने अपने मन्दिर में इन्हें ले जाने की बहुत चेष्टा की। किन्तु इन्होंने उनकी कोई सेवा स्वीकार नही की।

एक बार एक ब्रजवासी ने कुछ पूड़ियाँ और लड्डू लाकर इनसे खाने का आग्रह किया। इन्होंने कहा—'भैया! हम तो रूखौ-रूखौ प्रसाद ही पावैं हैं। यह प्रसाद तो तुम ब्रजवासियों के लिए ही है।' ब्रजवासी ने पुनः कहा—'बाबाजी! या प्रसाद कूँ पायबे तें तेरो कछू नुकसान है जायगौ का?' बाबाजी महाराज ने कोई उत्तर न देकर ब्रजवासी से कहा --'लाला! वो दर्पण उठा ला।' ब्रजवासी के दर्पण ले आने पर बाबाजी महाराज ने उस दर्पण पर लड्डू-पूरी को चूरण बनाते हुए मल दिया और फिर ब्रजवासी से कहा—'बच्चा! जामें तू अपनौ मोहड़ो देख।' ब्रजवासी ने देखा और कहा—'बाबा! जामें तौ कछू ही नाय दीखें।' तब बाबाजी महाराज ने अपनी झोली से सूखी रोटियों के टुकड़े निकालकर कहा—'भैया! अब इन सूखी रोटिन कौ चूरण बनाय कैं या दर्पण पै मल देओ और फिर अपनौ मोहड़ो देखो।' ब्रजवासी ने ऐसा ही किया। अब दर्पण साफ हो गया था। अतः उसका मुख साफ दिखाई देने लगा। तब बाबाजी महाराज ने कहा—'बच्चा! चिकने पदार्थन कूँ खाइवें तें हमारौ हृदय भी दर्पण की तरह धुँधलौ ह्वै जाय है और ब्रजवासिन के रूखे-सूखे टूक खाइवे तें वह साफ बन्यौ रहै है और वामें श्री राधावल्लभलालजी कौ रूप सदैव झलक्यौ करै है।'

इस प्रकार से भाव-भावना में निमग्न रहते हुए ये १०० वर्ष की आयु तक झूले में ही झूलते-झूलते रहे और एक दिन वहीं पार्थिव शरीर को त्यागकर निकुंज-महल में चले गये। यह घटना विक्रम संवत् १९७५ की है।

श्या० बि० ख

दामोदर (चतुर्थ)

दामोदरदासजी (चतुर्थ) श्री हित हरिवंश महाप्रभु के पुत्र गोस्वामी गोपीनाथ के शिष्य श्री लाल स्वामी के अनुगत थे। ये सं० १६८७ से १७९२ के मध्य विद्यमान थे। इनके निम्नलिखित ग्रंथों का पता चलता है—जजमान-कन्हाई-जस, नेमबत्तीसी, गुरु-प्रताप-लीला, पद-दामोदर-स्वामी, राधाकृष्ण वर्णन,

रास-पंचाध्यायी, रहसविलास, रासलीला-पावस वर्णन, स्वगुरुप्रताप, वसंतलीला और हरिनाम-महिमा।

'दामोदर स्वामी के पद' में वृन्दावन में होली के अवसर पर राधाकृष्ण की प्रेम-लीला का वर्णन है। उससे यहाँ एक पद दिया जा रहा है—

नागरि नवलाल संग रंगभरी राजैं।
स्याम अंस बाहु दिये, कुंवर पुलकि पुलकि हिये,
मंद मंद हँसनि पिया कोटि मदन लाजैं।।
तरु तमाल स्याम लाल लपटि अंग-अंग बेलि,
निरखि सखी छबि सकेलि नूपुर कल बाजैं।
'दामोदर हित' सुबेस सोभित सखि सुख सुदेस,
नव निकुंज अंबर गुंज, कोकिल कल गाजैं।।

वा० सिं०
ह० न० भा०

दामोदरदास हरसानी

दामोदरदासजी हरसानी महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के प्रथम शिष्य-सेवक थे। इनको महाप्रभु ने अपनी व्रज-यात्रा के समय गोकुल के गोविन्द घाट पर पुष्टि-सम्प्रदाय की दीक्षा दी थी। इनका जन्म विक्रम संवत् १५३१ माघ सुदी चतुर्थी को श्री रंगपट्टन (दक्षिण-भारत) में हुआ था। किसी उपद्रव के कारण पिता रंगपट्टन छोड़कर वर्धा (महाराष्ट्र) आ गये थे। इनके पिताका नाम धीरदास और माँ का नाम यशोदा था। वर्धा में ही विक्रम संवत् १५४६ में ये महाप्रभुजी के सान्निध्य में आये थे। महाप्रभुजी के सम्पर्क में आने के वाद ये आजीवन ब्रह्मचर्यव्रती रहे। महाप्रभु इनको 'दमला' कहकर पुकारते थे।

गोवर्धननाथजी ने सांसारिक जीवों की मुक्ति हेतु श्री महाप्रभु वल्लभाचार्यजी को ब्रह्मसम्बन्ध (पुष्टि-मार्गीय-दीक्षा) का आदेश श्रावण-शुक्ल एकादशी के दिन अर्ध-रात्रि को दिया था। श्री वल्लभाचार्यजी ने इसी समय दामोदरदास हरसानी से पूछा था कि तुमने श्री ठाकुरजी का संवाद सुना है या नहीं। इन्होंने कहा, **"महाराज श्री ठाकुरजी के वचन सुनै तो सही, परन्तु कछू समझ्यौ नाहीं"** तदनन्तर महाप्रभुजी ने ब्रह्म संबंध का रहस्य बताते हुए भक्त हरसानीजी से कहा, **"मोकू श्री ठाकुरजी ने आज्ञा कीनीं है, जो तुम जीवन कौं ब्रह्मसंबंध करावोगे, तिनकौ हौं अंगीकार करूँगौं, तिनके सकल दोष निवृत्त होयगें, तातै ब्रह्म-संबंध अवश्य करनो।"** इनको श्री महाप्रभुजी ने पुष्टिमार्ग का रहस्य-ज्ञान करा दिया था।

इन से महाप्रभुजी बहुत प्रभावित थे। उन्होंने इनसे यहाँ तक कह दिया था कि यह पुष्टिमार्ग मैंने तेरे लिये ही उद्घाटित किया है और तुम्हारे जैसे अन्य जीवों का भी इस मार्ग से उद्धार होगा। इन पर महाप्रभुजी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी का भी परम अनुग्रह था। ये महाप्रभुजी की भाँति ही उनके पुत्र में भी अनन्य-निष्ठा रखते थे। श्री विट्ठलनाथजी का नित्य चरणोदक ग्रहण करना इनका नियम था। यदि कभी इस क्रिया का उल्लंघन हो जाता तो अस्वस्थ हो जाते थे। ये निरंतर गोसाइंजीके साथ सत्संग किया करते थे।

श्री वल्लभाचार्यजी की कृपा से इनके हृदय में पुष्टिमार्ग का गहरा प्रभाव स्थापित हो गया था। एक समय इनके पिता का श्राद्ध था। उस दिन श्री गोसाइंजी इनके घर आये और पिता का श्राद्ध सम्पन्न कराया। तत्पश्चात् दक्षिणा में उन्होंने सिद्धान्त रहस्य के कुछ श्लोकों की व्याख्या हेतु हरसानीजी से निवेदन किया। गुरु-कृपा से पुष्टिमार्ग की प्रणाली के अनुसार ही इन्होंने समस्त शंकाओं का निवारण करते हुए श्री गोसाइंजी को अनेक प्रकार से श्लोकों की व्याख्या करके समझाया। तब से गोसाइंजी इन को अभिवादन नहीं करने देते थे। उनकी धारणा बन गई थी कि दामोदरदास के हृदय में महाप्रभुजी सदा सर्वदा विराजमान रहते हैं और दामोदरदासजी के मन में यह धारणा दृढ़ थी कि श्री गोसाइंजी स्वयं महाप्रभुजी के स्वरूप हैं।

महाप्रभुजी की इनके प्रति अटूट प्रीति थी। वे श्रीनाथजी से सदैव यही माँगते थे कि मेरी

आँखों के सामने मेरे जीवनकाल में श्री दामोदरदास की देह न छूटे। सभी वैष्णव श्री दामोदरदासजी को परम ज्ञानवान तथा पुष्टिमार्ग के रहस्यज्ञाता मानते थे। महाप्रभु की इनके प्रति ऐसी अलौकिक प्रीति थी कि वे इनसे कोई भी तत्त्व गोपनीय नहीं रखते थे। इन्होंने गुरुदेव के चरणों में निम्नांकित पद गाकर अर्पित किया है—

‘जब तें श्री बल्लभ प्रगट भये।
अमृत सुधानिधि बरखत प्रभु को सब दुख दूरि गये।।
लक्ष्मण वंश उजागर सागर भक्ति जु वेद ठए।
मायावाद खंड-खंडन करि अति आनन्द जए।।
गिरिधरलाल विस्तार करन कों दिन दिन केलि नए।
दामोदर सिर हस्त-कमल धरि चरणांबुज जुग दए।।

ये महाप्रभु को श्री नाथजी से भी बड़ा मानते थे। इनकी धारणा थी कि महाप्रभुजी ने कलियुग के जीवों का उद्धार करने के लिये अवतार लिया है। उनके संबंध में इनका यह पद अपने पिता धीरदास के नाम की छाप से युक्त है जिसे कभी-कभी ‘थिरदास’ की छाप लगाकर भी गाया जाता है—

श्री बल्लभ गुन गान किये।
कलि प्रचण्ड पाखण्ड न लागत,
त्रिविध ताप तम दूर किये।।

सब साधन सुकृत और ब्रत को,
फल गहत एक नाम लिये।
परमावधि पूरन पुरुषोत्तम,
भजनानन्द पियूष पिए।।

जय मंगल जय कारज सो धर,
जनकृत जग अवतार लिये।
जन धीरदास जाय बलिहारी,
श्री गिरिधारी गति दान दिये।।

श्रीनाथजी के प्रति इनकी अनन्यता का परिचय हमें निम्नांकित पद में प्राप्त होता है—

श्रीनाथजी को ध्यान मेरे निशिदिना री माई।
मोहनी मूरति सोहनी सूरति चित्त लियो है चुराई।।
लाल पाग लटकि भाल चिबुक बेसरि कंठ माल
करणफूल मन्द हास लोचन सुखदाई।
मोरपिच्छ सीस धरे मोतिन के हार गले
बाजूबन्दपोहुँची कर मुद्रिका सुहाई।।

छुद्र घण्टिका जे हरि पग नूपुर बिंदिया सुदेश
अंग-अंग देखि उर आनन्द न समाई।
मुरलिका अधर धरे श्याम ठाड़े ब्रज जुवति माँह
सप्तसुरनि तीन ग्राम गोवर्धन राई।।

निरखि रूप अति अनूप छाके सुरनर विमान
बल्लभपद किंकर दामोदर बलि जाई।।

एक बार विक्रम संवत् १६०५ में कृष्णदास अधिकारी ने महाप्रभुजी को श्रीनाथजी के दर्शन करने से रोक लगा दी, तब श्री दामोदरदास हरसानी ने चन्द्र सरोवर पर यह स्पष्ट घोषित किया था कि महाप्रभुजी में और गोसाइंजी में कोई अंतर नहीं है। वे दोनों एक हैं। इस तरह श्री दामोदरदासजी की बात को सभी ने माना था और गोसाइंजी को श्रीनाथजी के दर्शन सुलभ हुए थे। गोसाइंजी सदैव इन्हें बड़ा करके मानते थे। श्री दामोदरदासजी ने गोसाइंजी की स्तुति में यह कीर्तन लिखा है—

कामधेनु की कहा कहौं कल्पद्रुम कीजै।
अष्ट सिद्ध नवनिद्धि वारि न्यौछावर दीजै।।

श्री कृष्ण भजन निर्मोल दान दाता जग विट्ठल।
श्री बल्लभ कुल अवतार नाम जाको श्री विट्ठल।।

घर घरनि कहो थिरदास सुनि समुझि समुझि चित लाइए।
द्विजवर नरेन्द्र गिरिवर धरन श्री विट्ठलेश पै जाइए।।

रा० कृ० श०

दामोदर प्रसाद

श्री दामोदर प्रसाद का जन्म मध्यप्रदेश के विलासपुर जनपद में महानदी के तट पर स्थित मल्दा नामक गाँव में सं० १९१२ में एक कुर्मी परिवार में हुआ था।

स्वयं आचार्य होने के बावजूद ये अपने ब्राह्मण शिष्यों का चरण-स्पर्श तथा वैष्णव शिष्यों का 'सीताराम' शब्दों से अभिवादन करते थे। ये वैष्णव पंथ के अनुयायी और कृष्ण के अनन्य भक्त थे। इन्हें भगवती की सिद्धि थी। कई प्रकार की विपदाओं को ये देवी की आराधना से दूर कर देते थे। एक बार ये अपनी प्रजा के साथ जगन्नाथपुरी की पद-यात्रा में जा रहे थे। मल्दा से पुरी लगभग तीन सौ दस मील है। रास्ते में एक प्रेत लोगों को सताने लगा। लोगों ने श्री दामोदरजी से प्रेत-बाधा दूर करने की विनती की। इन्होंने **'मन रहो जगन्नाथ पद ध्याई'** गीत की रचना कर सस्वर पाठ किया। इस गीत में भगवान् के दशावतार की प्रार्थना है। इस भजन को सुन कर उस प्रेत को मुक्ति मिल गई। भक्तों के गीत मंत्र होते हैं, इसे भक्त कवि ने प्रमाणित कर दिखाया।

ये 'मानस' के भी मर्मज्ञ थे। विलासपुर जिले में सर्वप्रथम 'रामलीला' व 'नवाह्न' रामायण पाठ का आयोजन इन्होंने ही किया था। जब ये साठ वर्ष के हो गये, तब इन्होंने अपने बड़े भतीजे कन्हैयालालजी को जमीदारी का भार सौंप दिया और राम-कृष्ण की भक्तिसाधना में तल्लीन हो गये।

इनके गुरु महात्मा लाली बाबा थे। वे बोराई नदी (महानदी) के किनारे देवगाँव के निकट भाठागाँव में रहते थे। देवगाँव मल्दा से दस मील पूर्व दिशा में स्थित है। लाली बाबा अपने आश्रम से इन्हें पढ़ाने आते थे। वे सिद्ध पुरुष थे। उन पर वर्षा-शीत-ग्रीष्म का कोई प्रभाव नहीं होता था। ये उफनती नदी में भी चलकर आ जाते थे।

एक बार ये श्मशान के रास्ते से जा रहे थे, तभी इन्हें अंतःप्रेरणा हुई और वहीं रुककर इन्होंने साथियों से कहा—'यहाँ खोदो, कोई अंदर से ऊपर आने की कोशिश कर रहा है।' वास्तव में वहाँ एक व्यक्ति दफनाया गया था, जिसकी मृत्यु छह माह पूर्व सर्प-दंश से हो गयी थी। खोदने पर बात सत्य निकली। उस व्यक्ति को बाबा ने मंत्र द्वारा पुनः जीवित कर दिया, जो कालांतर में दीर्घायु को प्राप्त हुआ। इस घटना से लाली बाबा की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। बाबा ने अपने अंतिम समय में ग्राम मल्दा के छह मोहल्लों में हनुमानजी की छः मूर्तियों की विधिवत् स्थापना की और कहा कि चालीस वर्ष तक मल्दा ग्राम में किसी प्रकार की बीमारी नहीं आयेगी। यह भविष्यवाणी आगे चलकर अक्षरशः सत्य निकली।

भक्त दामोदर प्रसाद में संचय की प्रवृत्ति नहीं थी। इनका हृदय विशाल था। विक्रम संवत् १९५६ में जब भीषण अकाल पड़ा, तब भक्त दामोदर प्रसाद ने अपने बारह गाँवों के धनधान्य को उस क्षेत्र (महानदी के उत्तरी-पश्चिमी भाग) की जनता में बाँट दिया। तब से वहाँ कीजनता इन्हें 'धर्मा-मालिक' के नाम से संबोधित करने लगी। अकाल से मुक्ति के लिए इन्होंने आराध्य कृष्ण के प्रति विनयपरक छंद निर्मित किये—

छप्पन के साल में हाल हुआ सुन लीजै,
परिगै काल सु नाथ चरण-चित दीजै।

कहा जाता है कि भक्त दामोदर प्रसाद ने क्रांतिकारी बीरनारायण सिंह के शहीद होने के बाद उनके अत्यंत विश्वासपात्र सरदार निर्भय सिंह एवं बैजनाथ सिंह को राजकुमार के साथ कुछ दिनों तक अपने संरक्षण में रखा था, जिससे क्रुद्ध होकर अंग्रेजों ने दामोदर प्रसाद के पिता श्री बोधसाय के चौबीस ग्रामों में से बारह को निकालकर दूसरों को बाँट दिया। दामोदर प्रसाद बोधसाय के छोटे पुत्र थे। बड़े पुत्र का नाम कृपाराम था। उपर्युक्त दोनों सरदारों के वंशज आज भी मल्दा में बसे हैं।

पंडित देवीप्रसाद शर्मा के अनुसार दामोदर प्रसाद का स्वर्गवास अगहन कृष्ण अष्टमी विक्रम संवत् १९९४ को ग्राम मल्दा (चाँपा) में ८२ वर्ष की आयु में हुआ। मृत्यु के समय भी ये पूर्ण स्वस्थ थे और परिजनों से भगवच्चर्चा कर रहे थे।

आराध्य कृष्ण के सम्बन्ध में इनके द्वारा लिखित 'श्री श्यामविहार' की पाण्डुलिपि मिली है, जिसमें श्रीकृष्ण का विहार-वर्णन मार्मिक ढंग से चित्रित है। यह ग्रंथ भजनों का संग्रह है। भाषा सरल-सहज, सुबोध और भक्ति-रस से परिपूर्ण है—

प्रबल प्रेम के पाले पड़कर प्रभु को नियम बदलते देखा।
अपना मान चाहे टल जावे जन का मान न टलते देखा॥
जिनकी केवल दया-दृष्टि से सब सृष्टी को पलते देखा।
उनको गोपिन के गोरस पर सौ-सौ बार मचलते देखा॥

रामेश्वरम्, बद्रीनारायण तथा प्रयाग में स्थित धर्मशाला इनकी अजस्र भक्ति-भावना का प्रतीक है।

वि० कु० पा०

दामोदरवर गोस्वामी

गोस्वामी दामोदरवर श्री हिताचार्य के प्रपौत्र श्री सुन्दरवरजी के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१५ में हुआ था। इनके जन्म के सम्बन्ध में कहा जाता हैं कि इस संवत् में सम्पूर्ण रस प्रकट हुआ था—

संवत सोलह सै पैंतीसा। प्रगट भयौ रस बिस्वैबीसा॥

इसीलिए इनको श्रीहित महाप्रभु का द्वितीय अवतार माना जाता है।

श्री दामोदरवरजी के एक शिष्य प्राणनाथजी ने अपने 'प्रश्नोत्तर' नामक छोटे से ग्रंथ में इनके परमोज्वल जीवन की कुछ घटनाओं का संकलन किया है। उन्होंने अपने गुरुदेव से समय-समय पर जो प्रश्न किये थे उनको भी उत्तरों सहित संगृहीत कर दिया है। यह ग्रन्थ सम्प्रदाय के साहित्य में अपने ढंग का अनूठा है, किन्तु अभी तक अप्रकाशित है। नीचे इसी के आधार पर दामोदरवरजी के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया जा रहा है—

'एक दिन श्री गुरुदेव एकान्त स्थल में विराजमान होकर वीणा बजा रहे थे सहसा उन्होंने दीर्घ निःस्वास ली और वीणा उनके हाथ से छूटकर गिर गई। उनकी नाड़ी छूट गई, श्वास बंद हो गया और शरीर सर्वथा निचेष्ट हो गया। श्री गुरुदेव की यह स्थिति उनके सेवकों ने प्रथम वार देखी थी। वे घवड़ाकर विलाप करने लगे। इस घटना का समाचार सुनकर श्री गुरुदेव का कुटुम्ब भी वहाँ आकर उपस्थित हो गया और उनको होश में लाने के लिये अनेक प्रकार के उपचार होने लगे। यह स्थिति डेढ़ प्रहर (साढ़े चार घंटे) तक रही। उसके बाद प्राण शरीर में लौट आये। प्राण-वायु का संचार होते ही श्री गुरुदेव का शरीर एकदम उछल कर मसनद पर गिर गया। अपने सम्पूर्ण कुटुम्ब को एकत्रित देखकर इनको बहुत संकोच हुआ। घर के लोगों के चले जाने के बाद श्री गुरुदेव अपने निकट के सेवकों पर खीझ उठे और उनसे कहा कि तुम लोगों ने ही अकारण यह शोर मचा डाला। सेवकों ने निवेदन किया कि आज आपकी ऐसी दशा हो गई थी कि धैर्य रखना कठिन हो गया।'

प्राणनाथजी ने लिखा है कि 'उस दिन से यह दशा श्री गुरुदेव के शरीर में बार-बार उत्पन्न होने लगी, किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ बात पूछने का साहस किसी का नहीं होता था।

एक दिन इस प्रेमदशा के उत्पन्न होने पर सब शिष्यों ने मिलकर श्री गुरुदेव के अल्प वयस्क कनिष्ठ पुत्र श्री विलासदासजी को श्री गुरुदेव से यह बात पूछने को तैयार किया। बालक ने विनम्रता पूर्वक उस दिन की घटना का रहस्य पूछा और यह जानना चाहा कि साढ़े चार घंटे तक उनका मन कहाँ रमा रहा था? यह प्रश्न सुनते ही श्री गुरुदेव का शरीर रोमांचित हो गया, स्वर गद्‌गद हो गया और उनके नेत्रों से अश्रु की धारा वह निकली। वे कहने लगे कि जो साधक योग का अभ्यास करते हैं वे यत्नपूर्वक पतन को अपने वश में करके क्रमश समाधि की स्थिति प्राप्त करते हैं। हमने तो कभी योग-

साधना की नहीं, फिर भी प्रभु ने करुणा करके समाधि से भी अत्यन्त अद्भुत स्थिति हमको प्राप्त करा दी। मैं इस स्थिति का वर्णन करने में अपने आपको असमर्थ पा रहा हूँ। भगवद्-कृपा से जिनको यह स्थिति प्राप्त होती है वही इसके रहस्य को समझ पाते हैं। फिर भी तुम्हारे विनोद के लिये मैं इसका कुछ परिचय देने की चेष्टा करता हूँ।

'उस दिन वीणा बजाते हुये मैंने देखा कि अत्यन्त कमनीय श्री वृन्दावन में अनेक प्रकार के वड़े सुन्दर हिंडोले पड़े हुये हैं। उनमें से एक अत्यन्त आकर्षक हिंडोले पर युगलकिशोर श्री श्यामा-श्याम विराजमान हैं और सखियाँ अत्यन्त मधुर स्वर से गान करती हुई उनको प्रेमपूर्वक झुला रही हैं। सखियों के गान के मध्य श्री राधा ने एक ऐसी अद्भुत तान ली जिसको सुनकर सब सखियाँ नितान्त विवश हो गईं। वे अपनी देह की सुध भूल कर इधर-उधर गिर गईं। सम्पूर्ण नृत्य संगीत की परावधि श्री प्रिया की इस एक तान से उस समय ऐसा प्रबल प्रेम-सागर उमड़ पड़ा कि स्वयं मदन मोहन उसमें निमग्न हो गये और नेत्र बंद करके झूमने लगे। उन सखियों के साथ हम भी थे। इसलिये हमारी भी वही दशा हो गई।' इतना कह कर श्री गुरुदेव चुप हो गये।

थोड़ी देर बाद कहने लगे कि "प्रेमानंद जनित उस विवशता में से निकलकर हमारा मन जब चैतन्य हुआ तो हमने श्री ठकुरानीजी से प्रार्थना की कि हमको यहीं रहने की आज्ञा दे दी जाये। हमारी बात सुनकर श्री प्रियालाल ने स्वीकृति दे दी और हित सखीजी की ओर देखकर बोले--'क्योंजी, यदि ये यहाँ हमारे पास रहें तो अच्छा ही है न?" हित सखीजी ने उत्तर दिया कि 'अभी कुछ दिन और इनका वहीं रहना ठीक है। इनके वहाँ रहने से अनेक संसारी जीवों को उपदेश प्राप्त होगा और अनेक लोग आपकी शरण ग्रहण करके सुख प्राप्त करेंगे।' इस प्रकार इस बार तो हम श्री हितजी महाराज की आज्ञा से ही यहाँ आये हैं। प्राणनाथजी ने लिखा है कि मेरा उद्धार-कार्य पूरा होना था, इसीलिये श्री गुरुदेव इतने वर्षों तक प्रकट लीला में विराजमान रहे।

एक दिन श्री गुरुदेव करुणा करके स्वयं ही कहने लगे कि श्री युगल के चरणों में जब मन लग जाता है तो प्राकृत देह की सुध भूल जाती है, श्वासोच्छ्वास बंद हो जाता है और शरीर जड़ हो जाता है। तीन प्रहर से अधिक यह स्थिति रहे तो शरीर छूट जाता है। अतः एक या दो प्रहर ही श्यामा-श्याम के अपार-अगाध रूप-सिंधु में डूबना चाहिये। योगी लोग महा-परिश्रमपूर्वक समाधि को स्थिति में रहते हैं। फिर भी जिस अपार प्रेम-सौन्दर्य का अनुभव रसिक भक्तगण करते हैं उसको वे प्राप्त नहीं कर पाते।

इसी प्रकार की एक अन्य घटना है—

राय भारतीचन्द बादशाह अकबर के समय में एक उच्च पदाधिकारी थे। वे शिव भक्त और अभक्ष्य भोजन करने वाले थे। एक बार वे अपने हाथियों सहित व्रज में आये। उनके महावतों ने व्रज के वृक्षों को काटकर हाथियों को खिलाना आरम्भ किया। इसे देखकर व्रजवासियों को परम कष्ट हुआ। व्रजवासीगण एकत्र होकर श्री गुरुदेव के पास आये और उनसे इस नृशंस कार्य को बन्द करने के लिए प्रार्थना की।

व्रज के वृक्षों की रक्षा हेतु श्री गुरुदेव राय भारतीचंद से स्वयं जाकर मिले। भारतीचन्द ने अपने निवास स्थल से बाहर आकर उनकी अगवानी की और उनको उच्च आसन प्रदान किया। श्री गुरुदेव ने विराजमान होने के पश्चात् राय को प्रसाद की थैली प्रदान की जिसे उसने आदरपूर्वक ग्रहण किया। भारतीचंद ने जैसे ही थैली खोली कि उसमें से एक चींटा निकल आया। चींटे को देखकर राय को मजाक सूझा और उसने हँसकर श्री गुरुदेव से पूछा कि क्या यह चींटा भी प्रसाद है? श्री गुरुदेव गंभीर हो गये और उन्होंने उसका गर्व हनन करते हुये उत्तर दिया 'सुनो रायजी, जो जीव महाप्रसाद

की महिमा को नहीं जानते उनसे हम इस चींटे को उत्तम मानते हैं क्योंकि जो ज्ञान से अथवा अज्ञान से प्रसाद ग्रहण करते हैं. उनको श्री हरि के चरण-कमलों की प्राप्ति होती है और जो समझ-बूझकर प्रसाद का अनादर करते हैं उनको नर्क प्राप्त होता है।' राय इन वचनों को सुनकर लज्जित हो गया और उसने विनम्रतापूर्वक अपना अपराध क्षमा कराया। श्री गुरुदेव ने व्रज के वृक्षों के न काटने के सम्बन्ध में उसको जो आज्ञा दी वह उसने स्वीकार कर ली और उसके अनुसार आदेश जारी कर दिया।

इनके दो पद नीचे दिये जाते हैं—

(१)

नागरी नव लाल संग रंगभरी राजैं।
श्याम अंस बाहु दिये कुँवरि पुलक-पुलक हिये,
मन्द-मन्द हँसत प्रिये कोटि मदन लाजैं॥

तरु तमाल श्याम लाल लपटी अंक कनक बेलि,
निरखि सखी छबि सुकेलि नूपुर कल बाजैं।
(जै श्री) दामोदर हित सुदेश सोभित रस सुख सुवेस,
नव निकुंज भँवर गुंज कोकिल कल गाजैं॥

(२)

जोरी राजत रंग भरी।
नव किशोर घनश्याम तड़ित छवि मोहन रूप हरी॥

सस्मित मुख जुग सहज माधुरी रसनिधि निरखि तरी।
प्रान अधार नैन चंचल गति कोटि तरंग अरी॥

ये रस भेद विविध रस सागर लोचन अग्र धरी।
(जै श्री) दामोदर हित प्रान
बस्यो सुख देह दसा विसरी॥

ल० च० गो०

दामोदर स्वामी

श्री दामोदर स्वामी कीर्तिपुर के निवासी थे और श्री हित महाप्रभु के तृतीय पुत्र श्री गोपीनाथजी के शिष्य लालस्वामीजी के शिष्य थे। घर छोड़ने के बाद इन्होंने निरन्तर श्री वृन्दावन वास किया। इनके निवास स्थल में भी इनके पांडित्य एवं साधुता का बहुत प्रभाव था। वृन्दावन आने के पश्चात् इनके क्षेत्र के लोग इनको भेंट भेजते रहते थे जिसका उपयोग ये श्री राधावल्लभ लाल को उत्तम सामग्री का भोग लगाने में करते थे। मंदिर से प्रसाद मिलने पर ये उसको गुप्त रूप से संतों को खिला देते थे।

इनका श्री यमुनाजी से बहुत प्रेम था। ये नित्य प्रति उनकी पूजा करते थे और उन्हें श्री राधावल्लभ-जी का प्रसाद, तुलसी, चन्दन, माला आदि नित्य-प्रति अर्पित करते थे। एक दिन स्वामीजी को तीव्र ज्वर हो गया और ये दो दिन तक श्री यमुनाजी नहीं जा पाये। दूसरे दिन अचानक यमुनाजी का प्रवाह बढ़ने लगा और श्री वृन्दावन की गलियों एवं बाजारों में जल भर गया। प्रवाह को शांत करने के लिये अनेक लोगों ने श्री यमुनाजी की पूजा की और उनको भेंट चढ़ाई, किन्तु यमुनाजी का बढ़ना रुक ही नहीं रहा था। नगर में अत्यन्त भय व्याप्त हो गया। रानी भागमतीजी उस समय श्री वृन्दावन में ही थीं। यमुनाजी ने स्वप्न में दर्शन देकर उनसे कहा कि मैं स्वामी को देखना चाहती हूँ। भागमतीजी ने सब लोगों की उपस्थिति में यह बात स्वामीजी से कही। स्वामीजी ने उसी समय उठ कर मंदिर से श्रीजी का प्रसाद आदि मँगाकर अपनी भेंट श्री यमुनाजी को अर्पित किया और उसी समय एक पद-रचना करके उनका यशगान किया। श्री यमुनाजी स्वामीजी से मिलकर तत्काल पीछे हटने लगीं और कुछ घंटों में ही अपने स्थान पर पहुँच गईं।

स्वामीजी कुटी पर श्रीजी की सेवा रखते थे और प्रत्येक उत्सव बड़े ठाठ-बाट से करते थे। ब्रजवासी लोग इनको बहुत धनी मानने लगे थे। एक रात उनमें से दो ब्रजवासी चोरी करने के लिये स्वामीजी की कुटी पर पहुँच गये। स्वामीजी उस समय जाग रहे थे, किन्तु कुछ बोले नहीं। वे सोच रहे थे कि यह सब वस्तुएँ प्रभु की हैं, वे जिसको देना चाहें दें, मैं

बोलने वाला कौन होता हूँ ? चोरों ने सब सामानों की दो बड़ी गठरियाँ बाँधी और एक चोर एक गठरी लेकर अपने घर चला गया। दूसरी गठरी अधिक भारी थी और वह चोर से उठ नहीं रही थी तो स्वामीजी ने उठकर स्वयं उसके सिर पर रख दी। चोर ने समझा कि मेरा साथी अपनी गठरी रख कर आ गया है और उसी ने यह गठरी उठा दी है। गठरी को लेकर जब वह बाहर निकला तो सामने से आता हुआ उसका साथी मिला। उसने इससे पूछा कि इतनी भारी गठरी तूने कैसे उठा ली? इनकी बातचीत पड़ोस के लोगों ने सुन ली। उन्होंने बाहर निकलकर एक चोर को पकड़ लिया और उसे मार डाला। पड़ोसियों ने गठरी उठाकर स्वामीजी के पास पहुंचा दी।

स्वामीजी ने जब सुना कि लोगों ने चोर को मार डाला है तो इनको बहुत कष्ट हुआ और इन्होंने उस दिन प्रसाद नहीं ग्रहण किया। दूसरे दिन इन्होंने उस गठरी के सामान को बेच डाला और यह विचार करके कि यह सामान उस चोर का ही था, उसके पैसे से उसका महोत्सव किया और चोर की जय बुलवाई।

इसके बाद ब्रजवासियों ने कई बार इनके यहाँ चोरी की और स्वामीजी सदैव इससे हर्षित होते रहे। उधर बड़े-बड़े धनी उपासकों ने जब यह सुना कि स्वामीजी के यहाँ चोरी हो गई है तो वे लोग बहुत-सा सामान और भेंट लेकर स्वामीजी के पास आये, परन्तु इन्होंने उसे हाथ से छुआ तक नहीं। एक दिन प्रसिद्ध रसिक उपासक पुहकरदासजी बहुत से सोने-चाँदी के बर्तन, वस्त्र, आभूषण लेकर आये। स्वामीजी उनको मना नहीं कर सके और चुपचाप मानसरोवर उठकर चले गये। वहाँ पहुँचकर इन्होंने विचार किया कि चोर के मारे जाने से मुझे शिक्षा लेनी चाहिये और भविष्य में किसी प्रकार का संग्रह नहीं करना चाहिये। संग्रह देखकर चोर आते हैं। उनको जो दण्ड दिया जाता है उससे मुझे अपराध लगता है और ब्रजवासी कष्ट पाते हैं। अपनी इस निष्ठा को दृढ़ करने के लिये इन्होंने इस दोहे की रचना की—

सखी सखा सब कृष्ण के, ब्रजवासी नर नार।
दामोदर जन नै चलो, उत्तम यहै विचार ॥

इस प्रकार का निर्णय लेकर श्री दामोदर स्वामी ने अपनी स्वरूप-सेवा अन्यत्र पधरा दी और अपने पास केवल नाम-सेवा रख ली। इन्होंने अपने धातु के पात्र लोगों में वितरित करके उनके स्थान में दोना-पत्तल एवं ब्रजरज के पात्र रख लिये।

श्री दामोदर स्वामी उच्च कोटि के रसिक संत थे। ये अपना एक क्षण भी नष्ट नहीं होने देते थे। सेवा और भजन से निवृत्त होकर ये या तो वाणी रचना करते थे या बड़े सुन्दर अक्षरों में श्रीमद्भागवत की प्रति लिखते थे। अपने श्री वृन्दावन निवास काल में इन्होंने श्रीमद्भागवत की दस प्रतियाँ लिखीं और अधिकारी विद्वानों को वितरित कर दीं। इन्होंने रासपंचाध्यायी का सुललित ब्रजभाषा में भाषान्तर भी किया था। इसके अतिरिक्त इन्होंने सैकड़ों सुन्दर पदों की रचना की। सौभाग्य से इनकी सम्पूर्ण वाणी उपलब्ध है। स्वामीजी के छहों ऋतुओं के तथा सभी प्रमुख उत्सवों के पद मिलते हैं। ये जन्मजात कवि थे और बड़ी प्रौढ़ ब्रजभाषा में रचना करते थे।

इनको जब अपने देह-त्याग के समय का पूर्वाभास मिला तो इन्होंने अपनी वाणी-पोथी आदि मंदिर के पुस्तक भंडार में दे दी। इसके बाद इन्होंने श्री वृन्दावन के संत-महन्तों को एकत्रित किया और उनके चरणों में गिरकर उनसे विदा ली। राजभोग आरती के बाद श्रीजी का प्रसाद लेकर इन्होंने पूर्ण स्वस्थ स्थिति में देह त्याग करके कुंज महल को प्रयाण कर दिया—

भगवत दामोदर कहन, रहन तिही अनुसार।
प्रन पाल्यौ श्री व्यास सुत, दियौ दिखाय बिहार ॥

यहाँ इनके कुछ भक्ति-भाव व्यंजक पद दिए जा रहे हैं—

(१)

कीजिये भरोसौ ऐसे वृन्दावन चंद कौ।
शिव विधि सिधि दाता, जगत कौ पित माता,
सबही कौ भ्राता नेता हंता दुख वृन्द कौ॥
निगम बखानै जस सुर नर जाके बस,
रिषि मुनि ध्यावैं गावैं मूल सुख छंद कौ।
रूपनिधि-गुननिधि मंगल आनन्दनिधि,
दामोदर हित राधा पति प्यारौ नन्द कौ॥

(२)

करि हरि नाम कौ उच्चरन।
रहे जुरि-जुरि कोटि कल्मष भस्म छिन में करन॥
योग यज्ञ विराग तीरथ धर्म याकी सरन।
मुक्ति भाजन ज्ञान-दीपक सकल संसै हरन॥
नारदादि शिवादि शिव विधि रटत धरनीधरन।
सिद्ध साधक अमर रवि ससि जपत आश्रम बरन॥
निगम तरु कौ परम फल है होत कबहुं न छरन।
वारिनिधि संसार दुस्तर होत सुख ही तरन॥
कालदंड प्रचंड पावक नाहिं पावै जरन।
भरम भंजन काम गंजन नरक पुर उद्धरन॥
संत संपति अगति की गति सकल सुख उर भरन।
हित दामोदर हरि मिलावै छुटै जन्मन मरन॥

(३)

श्रीकृष्ण-जन्म की बधाई

बाजत बधाई आजु द्वार नन्दराइ कैं।
नेति जाकी कहैं छन्द, ऐसौ वृन्दावन चंद,
भयौ है महरि कें भवन सुत आइ कैं।
मनोरथ भये सिद्ध, नाचत तरुन वृद्ध,
भयौ है उछाह अति हँसत हँसाइ कैं।
कछु न परत कही, दूध घृत हरद दही,
खोर भई ऐसी दई सरिता बहाइ कैं।
बढ़्यौ है अपार सुख, दूरि भयौ सब दुख,
पायौ दान द्विज बँदीजनहूँ अघाइ कैं।
आन जे मँगत जन, सबन के पूरे मन,
मुदित उदार महीराज बेटा पाइ कैं।
सुनिकैं ब्रज की नारि नव पट तन धारि,
बदन उबटि मन आनन्द बढ़ाइ कैं।
राजत करन थार, रुरकत उर हार,
चलीं ऐसी छबि सौं मदन चौंध लाइ कैं।
आईं जसुदा के धाम, जायौ जहाँ लौनौं स्याम,
देखि दृग अंग-अंग रहीं छबि छाइ कैं।
देत हैं असीस बाल, चिरु जियौ तेरौ लाल,
पूरिहैं कामना कान्ह सबहीं को भाइ कैं।
बाढ़ी तबही तें प्रीति, दिन-दिन औरै रीति,
घिरि रहे आँगन सुमंदिर बिहाइ कैं।
जाइ जो कबहूँ भौंन, रह्यौ तहाँ परै तौन,
मीन ज्यौं मन की वृत्ति जो न देखै जाइ कैं।
ऐसी भाँति सुख धाम, प्रगटे जहाँ सुंदर स्याम,
वृषभान गोप गृह बधाई बजाइ कैं।
दामोदर हित जोरी, स्याम पिय राधा गोरी,
बसौ मेरे हिय नित जीऊँ जस गाइ कैं।

(४)

श्रीराधा-जन्म की बधाई

श्री वृषभान कैं आज बधाई।
आनंद निधि सोभानिधि सुखनिधि कीरति कन्या जाई॥
फूले नर नारी बरसाने घर-घर मंगल गाई।
फूले नंद जसोदा मन में फूल्यौ कुंवर कन्हाई॥
फूलीं आँगन नाचत जुवती अंग-अंग छबि छाई।
फूले रसिक दामोदर हित जे आनंद उर न समाई॥

(५)

रास

वृन्दावन सुन्दर घन फूल बन्यौ बरन-बरन,
रास रच्यौ सुभग तीर भानुनंदिनी।
नव मृदंग नवल ताल नवल बसन नवल माल,
नवल लाल नवल बाल आनंदकंदिनी॥

नवल तान नव बंधान नवल सुर सौ गान जान,
नवल उरप तिरप मान नवल चंदिनी ।
दामोदर हित सुचारु देखि री यह नव विहार,
जोरी पिय-गोरी रतिराज बंदिनी ।।

ल० च० गो०

दास कवि

दास कवि के जीवन सम्बंधी सभी तथ्य अज्ञात हैं। खोज में 'ब्रज-महात्म्य-चन्द्रिका' नामक इनकी एक रचना प्राप्त हुई है। इसका रचना काल सं० १८०५ है।

छह प्रकाशों में विभक्त इस कृति में श्री कृष्ण की भक्ति और ब्रज की महिमा का वर्णन है। रचना-काल इस प्रकार दिया गया है—

शिव मुख ख वसु सुधा निधि, संवत्सर आधार ।
कातिक कृष्ण चतुदर्शी, ग्रन्थ लिख्यो रविवार ।।

प्रस्तुत रचना में ३२९ छन्द हैं। प्रकाशों के नाम इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रकाश—अनुकूल संकल्प, द्वितीय प्रकाश-गोपत्व वर्णन, तृतीय प्रकाश—प्रतिकूल त्याग प्रार्थना, चतुर्थ प्रकाश—ब्रजवास विश्वास, पञ्चम प्रकाश—अनन्य साधन कार्य व अन्य साक्षात्कार-अनुसन्धान-योग और षष्ठ प्रकाश—आत्मनिवेदन ।

इसके प्रारम्भिक प्रकाशों में श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बद्ध कथाओं का निरूपण है। बाद में ब्रज की महिमा का वर्णन है। कुछ छन्द द्रष्टव्य हैं—

(१)

राजकाज अभिमानी राजधानी मथुरा तें,
"दास" लाज काज साजि ब्रज को नवायौ हौ ।
कंस कूप अंध तामै पर्यो महामंद हरि,
ऐसे बन्धु प्रेम सिंधु मैं नहवायौ हौ ।
माँगतु हौं सखि मोहि दीजै सीख भीख आयौ,
सखिन सिखावन कौ सीखन को आयौ हौ ।
मेरी मोह मेटन कौं अपनौं समेटन कौं,
दै कैं भेंटन को भेंटन ठायौ हौ ।।

• • •

लोक वेद रीति कही मेंटन अनीति कही,
भेटन कौ परी प्रीति रीति कही वास की ।
ब्रज अनुराग कह्यौ जगत विराग कह्यौ,
विरह सुहाग कह्यौ जैसी रोकी रास की ।
अवतार गति कही हरि मति रति कही,
सती पतिनो की वृत्ति कृति कही दासकी ।
अर्थनि सौं भरी ग्रन्थ कोठरी की कूंची कही,
सूची पत्र करि जो प्रकासै आस आसको ।।

वा० सि०

दासानिदास/सेवादास

श्री दासानिदासजी और श्री सेवादासजी सगे भाई थे। इनमें दासानिदासजो बड़े और सेवादासजी छोटे थे। ये चैनपुर सरैया के निवासी थे।

चैनपुर जु सरैया तहाँ वास ।
तिन नाम सुनौ दासानिदास ।।

भक्तनि की भीर नित रहै पास ।
करैं फागु खेल हिय बढ़ै हुलास ।।

इनके ही बन्धु निज सेवादास ।
हित धर्म धोर दम्पति उपास ।।

सब तजि बृन्दावन कियौ वास ।
रंग भरहिं भरावहिं फागु मास ।।

—चतुर्थ-बसन्त-प्रबन्ध

इन्हें श्री हितधर्म की मंत्र-दीक्षा रासवंशीय गो० कुंजलाल के कृपापात्र स्वामी रामदासजी से प्राप्त हुई थी। ये दोनों ही श्री हितधर्म की उत्कट अनन्यता का पालन करने में बड़े शूर थे। दासानिदासजी तो अपने जन्म-स्थान चैनपुर में रहते हुए ही हित पद्धति से अपने इष्ट श्री श्यामा-श्याम का परम प्रीति के साथ लाड़ लड़ाया करते थे। किन्तु श्री सेवादास सब कुछ छोड़कर श्री धाम वृन्दावन

आ गये थे और अखण्ड रूप से यहीं पर साधुओं की संगति में अपना जीवन व्यतीत करने लगे थे। गुरुवर की कृपा से थोड़े ही दिनों में इनका अभीष्ट सिद्ध हो गया और ये हित दम्पति के निजी महल में प्रविष्ट हो गये। इनका विद्यमान काल वि० सं० १७४० तथा सं० १८२० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० वि० खं०

दिग्विजय सिंह 'भूपविजय'

उत्तर प्रदेश में सबसे बड़े जमींदारी राज्य के संस्थापक महाराज दिग्विजयसिंह जनवार क्षत्रिय थे। इनके पूर्वजों की मूल भूमि पावागढ़ (चम्पानेर-गुजरात) का जानवार प्रदेश था, जो नीमच छावनी के निकट स्थित है। राजा नयसुखदेव इसी भूखंड के शासक थे—

पावागढ़ गुजरात ते, आये नृप जनवार।
सुभट बीर बरिखंड बहु, संग में सैन अपार॥

सूबा अवध को जेर करि, छीनि मुल्क सब लीन।
तामहँ वह बलिरामपुर, सुभग थली निज कीन॥

केतक भजि तजि राज गे, केतक भे जिमि दीन।
केतक दंड दै सरन परि, भये भूप आधीन॥

एक छत्र यहि औध में, भयो भूप जनवार।
सर कीन्हों यहि मुल्क को, नाम धरे सरवार॥

—दिग्विजयचंपू (पं० गदाधर शर्मा)

इनके छह पुत्रों में बरियारशाह बड़े शूरवीर थे। दिल्ली के सुलतान की प्रेरणा से ये सं० १३२५ में अवध आये और यहाँ अकौना राज्य (जिला-बहरायच) पर अधिकार करके स्थायी रूप से बस गये।

गोंडा गज़ेटियर के अनुसार बरियारशाह का सुलतान फ़ीरोजशाह तुग़लक के साथ अवध आगमन १३७४ ई० (सं० १४३१) में हुआ। दिग्विजय-भूषण में दी हुई तिथि (सं० १३२५) से इसमें १०६ वर्ष का अंतर पड़ता है। हमने राजकीय कागज-पत्रों पर आधारित राजकवि गोकुल के एतद्विषयक उल्लेख को ही अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय माना है।

संवत् विक्रम भूप के, तेरह सै पच्चीस।
राज अकौना को लह्यो, बड़ बरियार महीस॥

—दिग्विजय-भूषण, पृ० २८

अपने बाहुबल से इन्होंने इस प्रदेश में फैली हुई अराजकता और विरोधी तत्त्वों का मूलोच्छेद करके एक सुदृढ़ राज्य स्थापित किया। इसी वंश में आगे चलकर सं० १४९६ में राजा माधवसिंह अकौना की गद्दी पर बैठे। उन्होंने रामगढ़ गौरी के तत्कालीन सामन्त खेमू चौधरी और उसके सहायक बादल बढ़ई को पराजित करके उनका राज्य अपने अधीन कर लिया। कुछ ही दिनों बाद इस नवविजित प्रदेश में शासन-व्यवस्था दृढ़ करने के उद्देश्य से छोटे भाई गणेशसिंह को अकौना राज्य का प्रबन्ध सौंपकर वे रामगढ़ गौरी में जा बसे। इन्हीं माधवसिंह के द्वितीय पुत्र बलरामशाह के नाम पर वर्तमान बलरामपुर नगर की स्थापना हुई। तब से रामगढ़-गौरी के स्थान पर बलरामपुर ही जनवार वंश के इस दूसरे राज्य का केन्द्र बन गया। कालान्तर में अकौना वाली शाखा में पयागपुर, गंगवल, चर्दा और भिनगा के छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए। उनमें कोई ऐसा असाधारण शक्ति-सम्पन्न एवं प्रतिभाशाली शासक नहीं हुआ जिसका अपने समकालीन राजनीतिक जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान रहा हो। किन्तु इसी राजवंश की बलरामपुर वाली शाखा में छत्रसिंह, नवलसिंह तथा बहादुरसिंह जैसे पराक्रमी एवं नीतिकुशल नर-रत्नों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने अवध के नवाबों द्वारा नियुक्त चकलेदारों और नाज़िमों की सेनाओं को अनेक बार परास्त कर और केन्द्रीय शक्ति की निरन्तर अवज्ञा कर अपना साका स्थापित किया। इन उदार शासकों की छाया में उनके वंशधर जनवार धीरे-धीरे बलरामपुर के चतुर्दिक् फैल गये। जेवनार, शाहडीह, समगरा,

महादेव, किठूरा, दुलहापुर, सिसई, बेनीजोत आदि गाँवों में वे अब तक बसे हुए हैं।

महाराज दिग्विजयसिंह का जन्म अवध के इसी लोकविश्रुत राजवंश में बेला के किले में आश्विन कृष्ण १२, बुधवार सं० १८७६ को हुआ। बालक दिग्विजय को आरंभ से ही आपत्तियों का सामना करना पड़ा। माता सूतिकागृह में ही रोगग्रस्त हो गईं। अतः इनके पिता महाराज अर्जुन सिंह ने दाई द्वारा दूध पिलाने की व्यवस्था करके पुत्र की प्राणरक्षा की। चार वर्ष की अवस्था में आँगन में खेलते समय आग पर रखे हुए गर्म दूध से इनका सारा शरीर बुरी तरह जल गया। इसके प्रभाव स्वरूप स्वस्थ हो जाने पर भी इनका बायाँ अंग चलने पर कुछ झुक जाया करता था।

सात वर्ष की आयु में इनका विद्यारंभ संस्कार हुआ। उन दिनों नवाबी शासन के प्रभाव से अवध के संभ्रान्त कुलों में फारसी-अरबी का बड़ा प्रचार था। दिग्विजय सिंह की शिक्षा पहले इसी परिपाटी पर हुई, पीछे दर्शन, काव्य, ज्योतिष और राजनीति विषयक संस्कृत ग्रंथों के पढ़ाने की भी व्यवस्था की गई—

पढ़े फारसी आरबी ग्रंथ रूरे।
पढ़े वेद भेदै सबै अंग पूरे॥
पढ़े मंत्र तंत्रादि यंत्राधिकारी।
पढ़े काव्य के अंग जेते विचारी॥
पढ़े राजनीतै अनीतै बिहाई।
पढ़े जोतिसै जो षटो अंग भाई॥
पढ़े वेद-वेदांत के अंग भारी।
पढ़े न्याय के पंथ नीके विचारी॥

इन्होंने अरबी-फारसी मिर्जा जुल्फ़िकार बेग से पढ़ी थी और संस्कृत का अध्ययन बाबा केशवदास तथा रघुनाथदास से किया था। महाराज अर्जुन सिंह ने मानसिक विकास के साथ ही पुत्र की शारीरिक उन्नति पर भी ध्यान रखा। बाना-पट्टा सिखाने के लिये मुहम्मद खाँ, बादल खाँ और सरदार सिंह तथा तैरने की शिक्षा के लिये मीरन जान नियुक्त हुए। मनोरंजन के लिये संगीत कला का व्यावहारिक ज्ञान इन्होंने उस्ताद मुहब्बत खाँ से प्राप्त किया। घुड़सवारी और अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा में पिता तथा बड़े भाई जैनरायन सिंह ने व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी ली। प्रातः-सायं स्वयं समय देकर उन्होंने दिग्विजय सिंह को युद्धविद्या में पटुता प्रदान की।

इनका यज्ञोपवीत संस्कार ११ वर्ष की अवस्था में फागुन कृष्ण २, सं० १८८७ को हुआ। संयोगवश इस समारोह के सात ही दिन बाद महाराज अर्जुन सिंह का परलोकवास हो गया। पिता की श्राद्ध-क्रिया समाप्त होने पर चैत्र शुक्ल १, सं० १८८८ को बड़े राजकुमार जैनरायन सिंह गद्दी पर बैठे। अभी उन्हें राज्य करते छः वर्ष भी पूरे न हुए थे कि अचानक कार्तिक पूर्णिमा सं० १८९३ को वे दिवंगत हो गये। इन पारिवारिक आपत्तियों ने १८ वर्ष की छोटी आयु में दिग्विजय सिंह को राजदंड धारण करने के लिए विवश किया।

महाराज के अल्प वयस्क होने से राज्य का सारा प्रबंध नायब नल सिंह के हाथ में चला गया। उन्होंने अपना एकाधिकार स्थिर रखने के उद्देश्य से राज्य के हितैषी कई पुराने कर्मचारियों को पृथक् करके उनके स्थान पर महाराजजी की आज्ञा प्राप्त किये बिना ही अपने समर्थक लोगों को नियुक्त कर दिया। इतना ही नहीं, महाराज की व्यक्तिगत सेवा के लिए तैनात पाँच स्वामिभक्त अंगरक्षक भी निकाल दिये गये। दिग्विजय सिंह इस अवज्ञापूर्ण आचरण से तमतमा उठे। इन्होंने उसी क्षण अपने शक्तिशाली, किन्तु स्वामिद्रोही नायब को दंड देने का निश्चय कर लिया। सेना के उच्च अधिकारियों तथा सिपाहियों को नलसिंह का समर्थक जानकर इन्होंने अपने दो विश्वासपात्र सिपाहियों—रामआसरे तिवारी तथा ऊधोगिरि गोसाईं—को लेकर नलसिंह के घर पर रात में धावा किया और उन्हें बंदी बना लिया।

प्रातः काल नायब तथा उनके कुटुम्बियों के बहुत अनुनय विनय करने पर ३० हजार रुपये जुर्माना वसूल करके उन्हें मुक्त कर दिया। नलसिंह ने स्वामिभक्ति की शपथ ली। इसके बाद उन्हें पुनः पूर्व पद दे दिया गया। किन्तु मनोमालिन्य चलता रहा। नलसिंह को भय लगा रहता था कि राजा पुनः कोई न कोई बहाना निकाल कर उन्हें दंडित करेंगे। अतः एक रात को अपने कुटुम्ब समेत वे भाग खड़े हुए। उनके स्थान पर गजाधर सिंह नायब बने।

नलसिंह ने बलरामपुर से भाग कर उतरौला के राजा मुहम्मद खाँ की शरण ली। उतरौला और बलरामपुर राज्यों में सीमा सम्बन्धी विवाद को लेकर बहुत दिनों से शत्रुता चली आ रही थी। मुहम्मद खाँ ने शत्रु के रहस्यों का पता लगाने के लिये नलसिंह का स्वागत किया और उन्हें अपने यहाँ की नायबत दे दी। नलसिंह भी अपना बैर चुकाने की ताक में थे। उन्होंने महाराज दिग्विजय सिंह की हत्या कराने का दो बार असफल प्रयत्न किया। अन्त में चारों ओर से हार कर उन्होंने उतरौला के राजा से बलरामपुर के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करा दी। उतरौला की सेना बुरी तरह पराजित हुई। नगर पर दिग्विजय सिंह का अधिकार हो गया। इससे आतंकित होकर तुलसीपुर के राजा दानबहादुर सिंह ने भी अधीनता स्वीकार कर ली और चौथ, चौकीदारी तथा भेंट द्वारा दिग्विजय सिंह को संतुष्ट किया।

इन्हीं दिनों अवध शासन की ओर से शंकर सहाय पाठक को गोंडा—बहराइच की निज़ामत प्रदान की गई। उनकी नीति अत्यन्त कुटिल थी। प्रत्यक्ष रूप से दिग्विजय सिंह के साथ मैत्रीभाव प्रदर्शित करते हुए भी उन्होंने भीतर ही भीतर बलरामपुर के पुराने शत्रुओं—उतरौला और तुलसीपुर के राजाओं से मिलकर इनका राज्य हड़पने की योजना बनाई। दैवयोग से इस षड्यन्त्र के सफल होने के पूर्व ही उन्होंने बहराइच के काजी के पुत्र की हत्या करा दी। इस अभियोग में वे नाज़िम के पद से हटा दिये गये। राजकोप से अपने प्राणों की रक्षा के लिये शंकर सहाय पाठक ने नेपाल के दुर्गम जंगलों की शरण ली और वहीं उनकी मृत्यु हो गई।

इसके अनन्तर सं० १८९९ में अयोध्या के राजा दर्शन सिंह नाज़िम बनाये गये। महाराज दिग्विजय सिंह के प्रभाव से वे भली भाँति परिचित थे। वे यह जानते थे कि बलरामपुर की शक्ति को समाप्त करके ही घाघरा के उत्तर-पूर्वी प्रदेश में उनकी धाक जम सकती है। अतः बिना किसी कारण अथवा पूर्व सूचना के उन्होंने बलरामपुर पर चढ़ाई कर दी। उनकी विशालवाहिनी के समक्ष बलरामपुर की छोटी सेना अधिक दिनों तक ठहर न सकी। घमासान युद्ध के पश्चात् बलरामपुर और पटोहाँ के कोट तोड़ दिये गये। सारे बलरामपुर राज्य पर दर्शन सिंह का अधिकार हो गया। दिग्विजय सिंह को विवश होकर अज्ञातवास में जाना पड़ा।

अवध की सीमा त्याग कर ये अंग्रेजी राज्य में चले गये। गोरखपुर इनका प्रधान केन्द्र बन गया। यहीं से ये अपने सहायक एवं समर्थक श्रीदत्त सिंह को गोरिल्लायुद्ध के लिये प्रोत्साहित करते रहे और अन्त में बलरामपुर स्थित नाज़िम की सेना को पराजित किया। दर्शनसिंह ने परेशान होकर मुअज्ज़म खाँ मेवाती को दिग्विजयसिंह के पास सुलह का प्रस्ताव लेकर भेजा किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। इससे चिढ़कर उन्होंने दिग्विजयसिंह के आवास औरहवा छावनी (महाराजगंज तराई—गोंडा) पर सं० १९०६ में आक्रमण कर दिया। राजा दर्शनसिंह के भतीजे बोधीसिंह के गिरते ही सेना में भगदड़ मच गई। बुरी तरह पराजित होकर अवशिष्ट सेना के साथ वे बलरामपुर चले आये। यह युद्ध नेपाल की सीमा में हुआ था। अतएव दिग्विजयसिंह की शिकायत पर अवध तथा नेपाल के बीच पुरानी संधि की अवहेलना करने के अपराध में नवाब वाजिद अली-

शाह ने दर्शनसिंह को लखनऊ बुलाकर जेलखाने में डाल दिया।

परिस्थिति से लाभ उठाकर दिग्विजयसिह ने पिपरा में एक सेना एकत्र की और बलरामपुर पर धावा बोल दिया। नाज़िम की सेना शत्रु के इस अचानक आक्रमण से घबड़ा गई। साधारण युद्ध के बाद दिग्विजयसिंह ने अपने खोये हुए राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया।

लखनऊ में वंदी जीवन व्यतीत करते हुये दर्शन सिंह ने दिग्विजयसिंह से अपने अपमान का बदला लेने के लिए एक युक्ति सोची। उन्होंने अंग्रेजी राज्य के कुछ निवासियों से रेजीडेण्ट के पास दिग्विजयसिंह पर हत्या का आरोप विषयक एक आवेदन पत्र दिलाया और नवाब के कर्मचारियों को घूस देकर उन्हें कैद करने का फरमान निकलवा दिया। रेजीडेण्ट को भी इस आरोप की सत्यता पर विश्वास हो गया। इससे अंग्रेज्ञ तथा नेपाल सरकार ने भी दिग्विजयसिंह पर वारण्ट जारी कर दिये। इस भीषण आपत्ति से अपनी रक्षा के लिए इन्हें पुनः जन्मभूमि छोड़नी पड़ी। कुछ विश्वस्त सेवकों के साथ वेष बदलकर ये बाँसी, गोरखपुर और आजमगढ़ होते हुए बनारस पहुँचे। वहाँ पूर्व परिचित फूला नाम की एक मालिनि के मकान में ठहरे। बाद को भेद खुल जाने की आशंका से इन्होंने सारनाथ के पास पं० शिवलाल दुबे के बगीचे का मकान किराये पर ले लिया। बनारस के अंग्रेज कलक्टर को गुप्तचरों द्वारा एक दिन इसका पता चल गया। मकान संध्या होते ही घेर लिया गया। दिग्विजयसिंह बड़ी कठिनाई से पुलिस का घेरा तोड़कर निकल गये।

काशी से फूलपुर, जौनपुर, शाहगंज तथा अयोध्या के मार्ग से ये किसी प्रकार अपने पुराने किले पटोहाँ कोट में आ गये। गोंडा के राजा देवीबख्शसिंह ने इस आपत्तिकाल में इनकी रक्षा के लिए दो सिपाही नियुक्त कर दिये थे। वे इन्हें गोंडा से पटोहाँ कोट सकुशल पहुँचा कर लौट गये। दिग्विजयसिंह का पटोहाँ कोट में अधिक दिन तक ठहरना निरापद नहीं था। अतः वहाँ से ये बुटवल (नेपाल) चले गये और छिपे तौर से राना बमबहादुर के मेहमान होकर कई महीने रहे। जलवायु अनुकूल न होने से ये बुटवल से महाराजगंज (गोंडा) चले आये। यहाँ से अपना वकील गोरखपुर के कलक्टर रीड साहब के पास वारण्ट रद्द कराने की पैरवी के लिए भेजा। सौभाग्य से उस समय वहाँ कर्नल स्लीमन भी उपस्थित थे। कंपनी शासन ने इनकी नियुक्ति ठगों और डाकुओं का दमन करने के लिए की थी। बलरामपुर के वकील की बातें सुनकर कलक्टर रीड ने स्लीमन के सामने यह प्रस्ताव रखा कि यदि दिग्विजयसिंह उस प्रदेश के प्रसिद्ध डाक रामसिंह को कैद करा दें तो वे इनके विरुद्ध कंपनी द्वारा जारी किया गया वारण्ट वापस ले लेंगे। स्लीमन ने यह स्वीकार कर लिया। वकील ने इसकी सूचना दिग्विजयसिंह को दी। इसके कुछ ही दिनों बाद दिग्विजयसिंह ने रामसिंह को कैद करके गोरखपुर भेज दिया। पूर्व निश्चय के अनुसार कंपनी शासन ने इनके ऊपर लगाया गया आरोप खारिज करके वारण्ट वापस ले लिया।

दर्शन सिंह के उत्तराधिकारी नाजिम मुहम्मद अली खाँ और वाजिद अली खाँ ने दिग्विजय सिंह से मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया। किंतु वे इस पद पर अधिक समय तक ठहर न सके। एक ही वर्ष बाद सं० १९०३ में उन्हें हटा कर नवाब ने दर्शनसिंह के पुत्र रघुबरदयालसिंह को निजामत दे दी। वे अपने पिता के प्रबल शत्रु दिग्विजय सिंह को नीचा दिखाने का अवसर ढूंढ़ ही रहे थे कि अत्याचार और कुशासन के अभियोग में वर्ष भर के अन्दर ही हटा दिये गये। उनके उत्तराधिकारी हुए दर्शन सिंह के भाई इच्छा सिंह। सरकारी कोष का धन हड़पने के जुर्म में उन्हें भी एक ही वर्ष निजामत नसीब रही। सं० १९०५ में मीरमुहम्मद हसन नाजिम हुए। गोंडा के राजा पांडेय रामदत्त राम और महाराज दिग्विजय सिंह इस पद की प्राप्ति में उनके मुख्य सहायक थे। नये नाजिम

और पांडेय रामदत्त के बीच रुपये के लेन-देन में कुछ मनमुटाव हो गया। एक दिन भेंट करने के लिये आये हुए रामदत्त को उसने अपने खेमे में ही मरवा डाला। महाराज दिग्विजय सिंह इस घटना के कुछ क्षण पूर्व वहाँ से उठ कर अपने डेरे पर चले आये थे। जब इस हत्या की खबर नवाब के पास पहुँची, मुहम्मद हसन पदच्युत कर दिये गये।

इन्हीं दिनों तुलसीपुर के राजा द्रिगराज सिंह को उनके पुत्र द्रिगनारायन सिंह ने बलपूर्वक गद्दी से उतार दिया और राज्य पर अधिकार कर लिया। सब ओर से निराश होकर द्रिगराज सिंह ने दिग्विजय से सहायता माँगी। उधर द्रिगनारायन सिंह ने नवाब के दरबारियों की जेब गर्म करके तुलसीपुर का इलाका अपने नाम लिखा लिया। दिग्विजय सिंह के सामने यह एक वैधानिक अड़चन थी, जिससे चाहते हुए भी वे द्रिगराज सिंह की सहायता करने में असमर्थ थे। अतः पहले उन्होंने इसे ही दूर करने का प्रयत्न किया। उन्हें एक अच्छा अवसर हाथ लगा। इसी समय कर्नल स्लीमन ने रेजीडेण्ट के रूप में पूर्वी अवध का दौरा किया। १४ दिसम्बर १८४९ ई० को उनका पड़ाव गोंडा में था। दिग्विजय सिंह के इशारे से द्रिगराज सिंह ने उनके समक्ष अपने अधिकारच्युत होने का वाद प्रस्तुत किया। रेजीडेण्ट ने उन्हें लखनऊ आकर भेंट करने का आदेश दिया। द्रिगराज सिंह बलरामपुर के वकील के साथ यथासमय स्लीमन साहब के समक्ष उपस्थित हुये। रेजीडेण्ट के हस्तक्षेप से द्रिगराजसिंह को पुनः तुलसीपुर का राज्य शाही फरमान द्वारा प्रदान किया गया। महाराज दिग्विजय सिंह पर इस फरमान को कार्यान्वित करने का भार सौंपा गया। इन्होंने एक विशाल सेना लेकर कमदा कोट घेर लिया। कई दिनों तक युद्ध करने के वाद किले के भोतर एकत्रित खाद्य-सामग्री के समाप्त हो जाने से तुलसीपुर की सेना पराजित हुई। बूढ़े राजा द्रिगराज सिंह को पुनः तुलसीपुर की गद्दी पर बिठाया गया।

सं० १९०८ में दर्शन सिंह के वंशधर मानसिंह (द्विजदेव) नाज़िम हुये। पैतृक शत्रुता का बदला चुकाने के उद्देश्य से उन्होंने लखनऊ जाते समय दिग्विजय सिंह को मार्ग में ही कैद कर लेने की योजना बनाई। किन्तु उसका भंडाफोड़ समय से पूर्व ही हो गया। दिग्विजय सिंह ने वह रास्ता छोड़ कर गंगवल (बहरायच) के मार्ग से घाघरा पार किया और बाराबंकी होते हुए सीधे लखनऊ चले गये। वहाँ रेजीडेण्ट स्लीमन और नवाब सय्यद अली नक़ी खाँ से मिलकर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया। इसी यात्रा में इन्हें नवाब ने 'राजा बहादुर' का खिताब दिया।

तुलसीपुर के राजा द्रिगराज सिंह सं० १९०९ में अपने पुत्र द्वारा पुनः सिंहासन से हटा दिये गये। नवाब की सम्मति लेकर दिग्विजय सिंह ने द्रिगराज सिंह का स्वत्व स्थापित करने के लिये तुलसीपुर पर आक्रमण किया। इस युद्ध में नाज़िम के विश्वासघात करने पर भी जनरल वेनीमाधव पांडे के सेनापतित्व में बलरामपुर की फ़ौज विजयी हुई। द्रिगराज सिंह की छूटी हुई गद्दी मिल गई, किन्तु उसका निष्कण्टक भोग वे अधिक दिनों तक नहीं कर सके। बलरामपुर की सेनाओं के लौटते ही उनके पुत्र ने तुलसीपुर पर चढ़ाई की। बूढ़े द्रिगराज सिंह को उसने बन्दी बना कर जेल में डाल दिया। महाराज दिग्विजयसिंह यह समाचार पाकर व्यग्र हुये किन्तु इसके पूर्व कि वे पदच्युत राजा की सहायता कर सकें, पुत्र द्वारा दी गई असह्य यातनाओं ने द्रिगराज सिंह की ऐहिक-लीला जेलखाने में ही समाप्त कर दी।

गोंडा के राजा देवी बख्श सिंह और दिग्विजय सिंह में आरम्भ से ही मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था, किन्तु एक प्रश्न को लेकर उनमें गहरा मतभेद हो गया। वह था दिग्विजय सिंह का गोंडा के विसेन राजवंश की कन्या इन्द्रकुँवरि से विवाह। परम्परा से बलरामपुर के जनवारों की कन्यायें बिसेनों के यहाँ ब्याही जाती रही हैं। राजा देवी वखश शिंह स्वयं बलरामपुर के सगोत्री पयागपुर के राजा के यहाँ ब्याहे थे।

दिग्विजय सिंह के उक्त विवाह से इस सामाजिक मर्यादा की स्पष्ट अवहेलना हुई थी। इस घटना ने अवध के इन दो शक्तिशाली राज्यों में स्थायी बैर का बीजारोपण किया, जिसका परिणाम आगे चल कर समूचे राष्ट्र के लिये अहितकर हुआ। १८५७ ई० (सं० १९१४) के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में जिस समय देवीबख्श सिंह ने नवाब का पक्ष लेकर अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्तिकारियों का नेतृत्व किया, दिग्विजय सिंह ने पुरानी शत्रुता की प्रतिक्रिया में फिरंगियों की सहायता करने में ही अपनी आन की रक्षा समझी।

अवध की राजनीतिक स्थिति में इसी समय एक युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। अंग्रेज रेज़ीडेण्ट के निरन्तर हस्तक्षेप, कर्मचारियों की भ्रष्टाचारी प्रवृत्ति तथा सामन्तों एवं चकलेदारों की प्रवंचना से तंग आकर ७ फरवरी १८५६ (सं० १९१३) को एक फ़रमान द्वारा नवाब ने अवध का शासन ईस्ट इंडिया कंपनी को सौंप दिया। इसके फलस्वरूप वह अंग्रेजी राज्य का एक अंग हो गया। सर चार्ल्स विंगफील्ड गोंडा और बहरायच के प्रथम कमिश्नर नियुक्त हुये। रेज़ीडेण्ट ने इनसे पहले ही दिग्विजय सिंह की प्रशंसा कर रखी थी। अतः घाघरा पार करते ही उसने इन्हें बुलाने के लिये दूत भेजे। दिग्विजय सिंह की विंगफील्ड से प्रथम भेंट सिकरौरा छावनी (कर्नैलगंज-गोंडा) में हुई। इसी भेंट में विंगफील्ड द्वारा दिये गये निमंत्रण पर दिग्विजय सिंह ने बाद को पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली तथा मसूरी की यात्राएँ की थीं।

महाराज दिग्विजय सिंह भ्रमण से लौटे ही थे कि १८५७ ई० का स्वतंत्रता संग्राम छिड़ गया। उत्तर प्रदेश में इसका सूत्रपात् १० मई को मेरठ की छावनी से हुआ। एक मास के भीतर ही गोंडा और बहरायच में इसकी लपटें फैल गईं। दिगंतव्यापी क्रान्ति से त्रस्त हो कमिश्नर विंगफील्ड ने दिग्विजय सिंह से गोंडा तथा सिकरौरा में रहने वाले अंग्रेज परिवारों को शरण देने की याचना की। महाराज ने उनकी प्रार्थनानुसार शरण दे दी। पूर्वी अवध अब तक क्रान्ति का मुख्य केन्द्र बन चुका था। गोंडा के राजा देवीबख्श सिंह, बौंड़ी (जिला बहरायच) के राजा हरदत्त सिंह, तुलसीपुर की रानी और चरदा के राजा खुले रूप से क्रान्तिकारियों का नेतृत्व कर रहे थे। ऐसी दशा में बलरामपुर में शरणागत अंग्रेज परिवारों की सुरक्षा संदिग्ध समझकर दिग्विजय सिंह ने उन्हें अपने सैनिकों की देख-रेख में १२ जून १८५७ (सं० १९१४) को सकुशल गोरखपुर पहुंचा दिया। वहाँ से वे सब कलकत्ता चले गये।

स्वातंत्र्य संग्राम के नेताओं को जब दिग्विजय सिंह के इस कृत्य का पता लगा तो प्रतिशोध की भावना से उन्होंने शाहजादा बिरजिसक़दर से एक फरमान निकलवा कर बलरामपुर राज्य की ज़ब्ती की घोषणा करा दी। प्रान्त के अधिकांश से अंग्रेजी शासन समाप्त हो चुका था। अतः दिग्विजय सिंह अपने परिवार तथा विश्वासपात्र सैनिकों सहित बलरामपुर छोड़कर पटोहाँकोट चले गये और वहाँ आठ महीने रहे। इस बीच क्रातिकारियों ने उन पर चार बार आक्रमण किया, किन्तु क़ब्ज़ा न कर सके। निरन्तर होने वाले इस युद्ध से उद्विग्न होकर इन्होंने अपने परिवार को नेपाल भेज देने का निश्चय किया। इस सम्बन्ध में नेपाल के प्रधान मंत्री राणा जंगबहादुर से पत्र व्यवहार करके इन्होंने बुटवल में निवास स्थान का प्रबन्ध भी कर लिया।

अंग्रेजों के सौभाग्य से भारतीयों की अनुभवहीनता, पारस्परिक द्वेष तथा राष्ट्रीय चेतना के अभाव के कारण क्रान्ति अधिक दिनों तक ठहर न सकी। सिख और गोरखा पल्टनों की सहायता से अंग्रेज़ सेनाध्यक्ष सर कालिन कैम्पबेल और उसकी गोरी पलटन ने अवध की क्रान्ति बुरी तरह कुचल दी। नवाब वाजिदअली शाह की बेगम साहिबा अपने पुत्र बिरजिसक़दर सहित पराजित हुईं। मीर मुहम्मदहसन और राजा देबीबख्श सिंह, अयोध्या के राजा

मानसिंह के फूट जाने से, फैजाबाद की ओर से होने वाले अंग्रेजी सेना के आक्रमण को रोक न सके ।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अपने पैर उखड़ते देखकर नाना साहब और बालाराव अवध की ओर बढ़े । घाघरा पार करके वे गोंडा होते हुये बलरामपुर आये । यहाँ उन्हें दिग्विजय सिंह के पटोहाँकोट में रहने का समाचार मिला । उसी दिन राप्ती पारकर उन्होंने पटोहाँकोट को घेर लिया । दिग्विजय सिंह ने मराठों की प्रशिक्षित सेना का मुकाबला करने में अपने को असमर्थ पाया । अतः इन्होंने ३० हजार रुपया दंड देकर अपना पिंड छुड़ाया । क्रान्तिकारी पटोहाँ कोट से तुलसीपुर चले गये ।

उधर अंग्रेजों की विजयिनी सेना लखनऊ को क्रांतिकारियों के शासन से मुक्तकर गोंडा की ओर बढ़ी । सर कालिन कैम्पबेल और सर होपग्रान्ट की सेनाएँ सम्मिलित रूप से क्रान्तिकारियों का पीछा करते हुये घाघरा उतर आईं । यह सुनकर तुलसीपुर में एकत्रित क्रान्तिकारी नेता धीरे-धीरे नेपाल की ओर बढ़ने लगे । बालाराव और नाना साहब की सेना से मेजर ब्रूस और सर होप ग्रान्ट द्वारा संचालित अंग्रेजी सेना का जरवा के समीप घमासान युद्ध हुआ । अंग्रेजों को विजय के साथ ही प्रतिपक्षियों की २२ तोपें और बहुत-सा लड़ाई का सामान लूट में मिला । अवध की पूर्वी सीमा पर स्वतंत्रता संग्राम का यह अन्तिम एवं निर्णायक युद्ध था । इसके पश्चात् इस प्रदेश के विशिष्ट क्रान्ति-संचालक हताश हो नेपाल की पहाड़ियों में चले गये ।

शान्ति स्थापित होने पर क्रान्ति के महान् आपत्तिकाल में अंग्रेजों के प्रति किये गये सौहार्दपूर्ण व्यवहार के उपलक्ष में महाराज दिग्विजय सिंह को तुलसीपुर तथा बाँकी का इलाका उपहार में दिया गया । १४ मई १८५९ (सं० १९१६) को इन्हें 'महाराज बहादुर' की उपाधि से विभूषित कर अंग्रेजी सरकार ने कृतज्ञताज्ञापन किया । २२ सितम्बर १८५९ (सं० १९१६) को लार्ड कैनिंग ने लखनऊ में अवध के तालुकेदारों का एक दरबार किया । उसमें महाराज दिग्विजय सिंह को प्रथम स्थान दिया गया । १८६६ ई० (सं० १९२३) के आगरा दरबार में इन्हें के० सी० यस० आई० की पदवी प्रदान की गई और १८७७ ई० (सं० १९३४) के दिल्ली दरबार में १३ तोपों की सलामी देकर तत्कालीन राजसमाज में इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई गई ।

अंग्रेजी शासन की स्थापना के पश्चात् वास्तव में महाराज दिग्विजय सिंह के कर्मठ राजनीतिक जीवन का अंत हो गया । इनकी आयु के शेष वर्ष राज्य की सुव्यवस्था, आमोद-प्रमोद, जनहितसाधना, शिकार, तीर्थयात्रा और काव्यचर्चा में व्यतीत हुये ।

सं० १९१७ में राज्य के सेनाध्यक्ष और नायब जनरल बेनीमाधव पाण्डेय की मृत्यु हो गई । उनके स्थान पर लाला रामशंकर की नियुक्ति हुई । सं० १९२२ (१८६५ ई०) में वे पृथक् कर दिये गये । इसके पश्चात् महाराज के अनौरस पुत्र जंगबहादुर सिंह और उनके सहायक औतार सिंह ने आठ महीने तक किसी प्रकार काम चलाया । अंत में क्षमायाचना करने पर जेनरल रामशंकर पुनः अपने पूर्व पद पर प्रतिष्ठित किये गये । उन्होंने जीवन पर्यन्त अपना कर्तव्य बड़ी तत्परता एवं स्वामिभक्ति के साथ पालन किया ।

माघ कृष्ण १, सं० १९३७ को दिग्विजय सिंह शिकार के लिए बनकटवा गये । वहाँ तीन महीने ठहर कर इन्होंने समीपवर्ती जंगलों में कई शेर मारे । इसी सिलसिले में चैत्र शुक्ला दशमी को जंगली लताओं में हौदे के फँस जाने से शेर के भय से भागते हुये हाथी की पीठ से गिर कर ये बुरी तरह घायल हो गये । ढलती हुई आयु में लगे भीषण आघात ने इनका शरीर जर्जर कर दिया । इस घटना के बाद महाराज दो वर्ष और जीवित रहे । सं० १९३८ में ये जलोदर से पीड़ित हुए । बलरामपुर और गोंडा के प्रसिद्ध डाक्टरों की चिकित्सा से कोई

लाभ होता न देखकर ये लखनऊ गये। वहाँ भी कोई फ़ायदा न हुआ। अपना अंतिम समय निकट जानकर इन्होंने प्रयाग जाने की इच्छा प्रकट की। यहाँ कुछ दिनों तक उपचार चलता रहा, किन्तु स्थिति दिन-प्रतिदिन शोचनीय होती गई। अंततः त्रिवेणी की लोकपावनी धारा में ज्येष्ठ शुक्ल १०, सं० १९३९ को दिग्विजय सिंह ने परमगति प्राप्त की।

रीवाँ निवासी संत कवि ने आश्रयदाता की मृत्यु पर दो छंद लिखे थे, वे नीचे दिये जाते हैं—

निद्धि गुन नन्द चन्द विक्रम के संवत में,
जेठ सुदी दसमी को सनिवार भाइगो।
बलरामपुर के महीप दिग्विजै सिंह,
साहिबी समेत 'सन्त' प्रागराज आइगो॥

हेम हय हाथी दान दीन्हें द्विज लोगन को,
हेरे न मिलत आपु बेनी में हेराइगो।
बिधि लोक गयो कैधौं सिव लोक गयो कैधौं,
विष्णुलोक जाइ ब्रह्मरूप में समाइगो॥

• • •

भूप दिग्विजै सिंह जाइकै त्रिवेनी बीच,
पाँच तत्व पाँचौ में मिलायो है विनोद मैं।
'संत' कहै आई धाइ भारती कलिन्दी लिए,
हंस और गरुड़ जान परम प्रमोद मैं॥

दौरी जन्हु कन्यका लै बैल को बिसाल धुजा,
फैलि फैलि फहरानी दिग चहुँ कोद मैं।
बीचिनि उलीचिनि ते छीनि सिवलोक गई,
गंगा गरबीली लै महीपति कौं गोद मैं॥

आश्रयदाता और कवि के रूप में अवध के साहित्य प्रेमी राजाओं में महाराज दिग्विजय सिंह का विशिष्ट स्थान है। हिन्दी सेवा इन्हें अपने पूर्वजों से रिक्थ में मिली थी। इनके पितामह महाराज नवलसिंह और उनके दोनों पुत्र—राजा बहादुर सिंह तथा राजा अर्जुन सिंह बड़े ही काव्य मर्मज्ञ थे। उनके आश्रित कवियों में असनी के बन्दीजन शिवनाथ और फतूहाबाद (लखनऊ) के मदन गोपाल शुक्ल विशेष उल्लेखनीय हैं। शिवनाथ कवि महाराज नवल सिंह की मृत्यु के बाद भी बलरामपुर दरबार की सेवा करते रहे। इधर खोज में इनकी दो कृतियाँ 'रायसा भैया बहादुर सिंह' और 'अर्जुन-प्रकाश' उपलब्ध हुई हैं। प्रथम ग्रन्थ की रचना सं० १८५३ में युद्ध के अनन्तर हुई थी और उस अवसर पर महाराज ने रचयिता को पुरस्कार रूप में पर्याप्त धन एवं भूमि देकर संतुष्ट किया था।

दिग्विजय सिंह ने बलरामपुर दरबार की परम्परागत काव्यचर्चा को निभाया ही नहीं वरन् व्यक्तिगत रूप से सक्रिय सहयोग देकर उसे विकास की चरम सीमा तक पहुँचाया। इनकी गुणग्राहकता से आकृष्ट होकर सुदूर प्रदेशों से कवि आने लगे। कुछ ही दिनों में इनका दरबार अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कविरत्नों से अलंकृत हो गया। उनमें प्रमुख थे—गदाधर शर्मा, संत कवि (रीवाँ—मध्य प्रदेश), रघुनाथ कवि, ललित कवि, रसदेव, रामदास, रामस्वरूप और गोकुल प्रसाद 'बृज'। इनके अतिरिक्त राज्य के पुराने कागजात मे ऐसे अनेक कवियों के छंद सुरक्षित हैं जो समय-समय पर महाराज के द्वारा पुरस्कृत होते रहे हैं। वे वाग्वैदग्ध्य पूर्ण रचनाओं से इन्हें सन्तुष्ट कर विदाई लेकर चले जाते थे। उनका वृत्त अब जन-श्रुतियों में ही शेष रह गया है। इस वर्ग के कवियों की प्रवृत्ति का चित्रण करते हुए एक स्थान पर दिग्विजय सिंह ने लिखा है—

हारे कवि कोविद सबै छोड़ लाज के चार।
खड़े रहत प्रतिहार सों धन दातन के द्वार॥

धन दातन के द्वार करैं पर्वत सो राई।
राई मेरु समान बरनि तेहि बात बड़ाई॥

बात बड़ाई त्यागि तुरँग त्रिस्ना असवारे।
ढीले लोभ लगाम जगत मैं फिरत न हारे॥

ऐसे स्वभाव के कवियों को ये साधारण रीति से पुरस्कृत कर चलता कर देते थे। किन्तु विदग्ध-

कवीश्वरों के लिए तो ये कल्पवृक्ष ही थे। इनका सिद्धान्त था—

गुन सोई सुनि रीझिए, रीझि सोइ कछु देय।
देब सोई जो पाइकै, स्वामि न दूजो सेय॥

दिग्विजयसिंह का यह काव्यप्रेम दूर-दूर तक विख्यात हो गया। गुजरात के प्रसिद्ध कवि दलपतराय डाहियाभाई नागर गुजराती के पास इन्होंने राजकवि गोकुल कृत 'सुतोपदेश' ग्रन्थ भेजा। इससे सम्मानित अनुभव करके दलपतराय ने अपनी 'श्रवणाख्यान' नामक कृति इन्हें समर्पित की। उक्त ग्रन्थ में इनकी चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—

महाराज दिग्विजय जू, मो प्रति पठये ग्रन्थ।
तिनमें पेख्या पितर का, प्रत्युपकारक पंथ॥

पिता भक्त यहि पुहुमि पर, परमधर्म धुरधीर।
सुन्यौ दिग्विजय सिंह नृप, विश्वविदित वर बीर॥

यों पठयों यह ग्रंथ सुभ, रचि निज मति अनुमान मैं।
महाराज दिग्विजै सिंह के, शारद-संग्रह-स्थान मैं॥

दलपतराय सौराष्ट्र (गुजरात) के मध्य में स्थित झाला जिले के वढ़वान (वर्द्धमान) नामक नगर के निवासी थे—

सोरठ गुर्जर संधि में, जिल झाला राजान।
जन्मभूमि मेरी जहाँ, बसत शहर बढ़वान॥

दिग्विजय सिंह का साहित्य प्रेम मनोविनोद का साधन मात्र न था। इनका राजनीतिक जीवन भी इससे सराबोर था। इनके राज्य का सारा काम हिन्दी में होता था। प्रार्थना पत्र तो प्रायः पद्यवद्ध हिन्दी में ही लिये जाते थे और उन पर महाराज का निर्णय भी छंद में होता था। याचिकाओं की एक वही राज्य के पुराने कागजों में इन पंक्तियों के लेखक को प्राप्त हुई है जिसकी आरंभिक पंक्तियों में लिखा है—

सिद्धि सदन गनपति बदन, करिवर रदन प्रकास।
विघन सघन बन दलमलै, गति बरदायक दास॥

अरजी गरजी लोग के, लखि कै श्रीमहराज।
छंदन में दसखत किए, हेतु जथारथ काज॥

इससे कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) अर्जी मुंशी छबिलाल की—

पाँच पेड़ फल खान को, मिलो हुकुम के साथ।
सो रोकत यह साल माँ, कारन कौन सो नाथ॥
कहत सिपाही बाग मों, पेड़ तरे ना जाव।
हुकुम लेव सरकार को, तब याको फल खाव॥

दसखत महाराज बहादुर कै—

बाबू अमृत लाल, रखवारे को डाँटिये।
अमल करै छबिलाल, अउर हमेसा खाय फल॥

काव्य-रचना

महाराज दिग्विजय सिंह कवियों के आश्रयदाता होने के अतिरिक्त स्वयं भी कविता करते थे। इनकी लिखी हुई कुछ फुटकर रचनायें 'नीति-रत्नाकर' में गोकुल कवि ने संकलित की हैं। इनका पूरा नाम 'दिग्विजय सिंह' छन्दों में सरलता से नहीं बैठता था, अतः ये अपनी कृतियों में 'भूपविजै' अथवा 'विजैभूप' छाप रखते थे—

नाम दिग्विजै सिंह प्रगट, विजै भूप धरि नाम।
पद कोमलता कबित हित, आरोपित अभिराम॥

जनश्रुतियों में इनके आशुकवित्व और प्रत्युत्पन्नमतित्व के भी प्रमाण सुरक्षित हैं। कहते हैं कि एक बार महाराज राजसी वेष-भूषा में अंगरक्षकों के साथ घोड़े पर किसी उत्सव में सम्मिलित होने जा रहे थे। रास्ते में एक साधु ने इन्हें सुनाकर कहा—

'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं'

महाराज ने तत्काल ही इसके उत्तर में निम्नांकित अर्द्धाली बनाकर सुनाई—

जो प्रभुता जानत परछाहीं।
प्रभुता पाइ ताहि मद नाहीं॥

दिग्विजयसिंह की कविताओं का मुख्य विषय नीति है। एक शासक के रूप में इन्होंने इस प्रकार की रचनाओं में अपनी अनुभूतियाँ बड़े मार्मिक शब्दों में व्यक्त की हैं। इससे इनका तत्कालीन सामन्तीय जीवन का गहरा व्यावहारिक ज्ञान अभिव्यक्त होता है। इनकी काव्य-शैली की सबसे बड़ी विशेषता है—अवध में प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों का छंदों में सटीक प्रयोग। इसी से इनके द्वारा प्रयुक्त भाषा की प्रांजलता एवं प्रवाहात्मकता का अनुमान लगाया जा सकता है। जीवन के विविध पक्षों से सम्बद्ध इनकी कुछ सूक्तियाँ बहुत ही हृदयग्राही हैं। ऐसी रचनाओं में यद्यपि काव्यात्मकता की अपेक्षा इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता रहती है फिर भी रहीम, गिरिधर और वृन्द की तरह वे अनुभव-सिक्त एवं ज्ञान-वर्द्धक हैं। इस सन्दर्भ में नीचे दिग्विजयसिंह की रचनाओं के कुछ छन्द दिये जा रहे हैं। इनसे दिग्विजयसिंह की काव्य-प्रतिभा तथा श्री कृष्ण-भक्ति में आस्था का अनुमान लगाया जा सकता है—

(१)

पतित बिना क्यहि तारि हरि, बिनु हरि पतित को तार।
रीझि बिना गुन को गहै, बिनु गुन को रिझवार॥

बिनु गुन को रिझवार, बिना विद्या के बूझै।
बिना बूझि बुधि मन्द, बाल विद्या नहिं सूझै॥

नहिं सूझै खल खोझि, भनै यह 'विजय महीपति'।
प्रजा छीन नृप बिना, प्रजा बिन दीन प्रजापति॥

(२)

चिंता के बढ़त चित घटै बल बुद्धि काम,
काम जो बढ़त उपहास जग ठानि है।
क्रोध के बढ़त ज्ञान बोध को न रहै सोध,
लोभ के बढ़त जात मान आनबानि है॥

भनै 'विजय भूप' पाप बढ़े बेस बंस नासै,
बाढ़त अनीति प्रजा नसि नृप पानि है।
दया धर्म दान कर्म चारि बढ़े चारि फल,
रारि रिपु रिनि रोग बाढ़े बड़ी हानि है॥

(३)

गुर से कपट त्याग संत सँग चोरी त्याग,
बड़े सँग बैर त्याग स्वाद त्याग रोग मैं।
पंच त्यागै पचछ परपंच परबीन त्यागै,
मान त्यागै मंगन औ प्रान प्री-वियोग मैं॥

भनै 'विजय भूप' पर स्वारथ में सत्य त्याग,
आरत में कर्म सुभ लोभ त्याग भोग मैं।
त्यागिये कुसंग लाभ छोह छाया बैरी संग,
चोर संग दाया माया मोह त्याग जोग मैं॥

(४)

थल मानस मैं सतसंगति बीज,
जमाइयो दै जलरीति महान को।
सुभ साख बढ़ाइयो धर्मन्ह की,
छिति छाँह बराबरि न्याय निदान को॥

नवनीति को पात समै सो करै,
परसून प्रकास विवेक विधान को।
भनि 'भूप विजय' फल नेक लहै,
परवृद्धि सदा सुख बुद्धि लतान को॥

(५)

हरि हार हूँ को न बिहार मैं अन्तर,
चोठिहू को लिखिबो उबठोई।
सँग भोग बिलास बिहार किए,
सुधि जोग सिखावन आये भलोई॥

भनि 'भूप विजय' हित हेत लिये,
चित चेत किये इतनो दिन खोई।
सखि साँझ भुलान जो भोरहि आवत,
ताहि भुलान कहै नहिं कोई॥

(६)

कोमल गुलाब दल सेज सोए दूखै देह,
कंबल कमण्डलै दै तिन्हैं कियो चाहौ तोष।

घने घनसार तन घिसे न घटत ताप,
ताहि को तपायो चहौ पाँचऊ अगिनि चोष ।।
भनै 'विजय भूप' भोग कूबरी कुरूप संग,
व्रजबाला जोग जागैं सखा स्याम के अनोष ।
धोख मति दीजै रोष काह करि कीजै ऊधौ,
आपनो जो माल खोटो कौन परखैयै दोष ।।

भ० प्र० सिं०

दीनदयाल गिरि

श्री दीनदयाल गिरि गोसाइं सहपऊ निवासी व्रजवासी थे। कालान्तर में ये काशी में भैरव मन्दिर के महन्त हो गये थे। इन्होंने—'अन्योक्तिकल्पद्रुम' और 'अनुराग बाग' नामक दो ग्रन्थ रचे हैं। अन्योक्ति लिखने में हिन्दी काव्य जगत् में इनका स्थान सर्वोपरि है। इनकी कविता पाण्डित्यपूर्ण है। श्री कृष्ण के मिलन को आतुर मथुरा की एक गोपी की दशा पर इन्होंने लिखा है—

(१)

कवित्त

पीतपट कसी बसी श्याम की सुरति चित्त,
तापै कुलकानि फाँस गाँस कौं सहति है।
आनँ नहीं धीर एक प्रीति की परी है टेक,
करिकैं अनेक कला लला कौं चहति है ।।
कबधौं मिलैगो वह साँवरो कुँवर मोहि,
लाख लाख याही अभिलाख कौं गहति है।
खिरकी के माँहि खरी हिरकी हरी कौ हेरै,
घरी घरी फिरकी लौं थिरकी रहति है ।।

(२)

अन्योक्ति—(कहि मुकरी) यमुना को जल—

सुख की तरंग सो उठैं हैं अंग अंगनु में,
सोहैं कंज मंजु गुंज भौरन की भीर है।
द्विजन की सेनी मुद नीकौ रहै प्रकास,
जाके आसपास बहै सुरभि समीर है ।।
सिसकी भरी सशंक अंक आइ लिपटाती,
अंजन मिटाइ कियौ रंजन न धीर है।
देखत रसाली छवि साली प्रीति की कटाली,
कहा बनमाली नां री कालिन्दी कौ नीर है ।।

मुकरियों की रचना में भी ये सिद्धहस्त थे।

रा० कृ० श०

दीनानाथ 'दिनेश'

श्री दीनानाथ 'दिनेश' का जन्म सन् १९१० की विजयादशमी को दिल्ली निवासी पं० शम्भूदयालजी भार्गव के यहाँ हुआ था। प्रारम्भ से ही संत परम्परा के कवियों और धर्म की ओर इनका झुकाव रहा। ८-१० वर्ष की ही उम्र में उन्होंने तुलसी, सूर, मीरा आदि के पद-भजन-चौपाइयाँ कण्ठस्थ कर ली थीं। १२ वर्ष की आयु में ये ग्वालियर के वन में रहने वाले महात्मा लोचनदास के सम्पर्क में आए। तीन वर्ष उनके संसर्ग में रहकर योग तथा भक्ति की दीक्षा ली। उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने सन् १९३२ में 'श्री हरिगीता' की रचना की। तदुपरान्त लगभग २० ग्रन्थ और लिखे जिनमें गीता का भाष्य 'गीता ज्ञान' १८०० पृष्ठों का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें गीता के श्लोकों का पदच्छेद, शब्दार्थ, सरलार्थ और पद्यानुवाद प्रस्तुत किया गया है। इसके अलावा इनके द्वारा लिखे ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—गीता के सप्त स्वर, उपनिषद्-ज्ञान (खण्ड १), सत्यनारायण की कथा, अपना-अपना राग है, दैनिक प्रार्थना, शिव-साधना, गायत्री साधना, शक्ति-साधना, युग निर्माता महापुरुष, भगवान् बुद्ध, श्री सूक्त, सन्ध्या-वन्दन, होली, बाल पद्यमाला, मणिमाला, व्यावहारिक जीवन, गीता अध्ययन, गौ माता, योगेश्वर श्री कृष्ण, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, अकबर और भूदेव, आँखों देखा चमत्कार। आकाशवाणी, दिल्ली से प्रसारित इनके गीता-प्रवचन वर्षों तक लोकप्रिय रहे। इनका कण्ठस्वर इतना मधुर था कि 'हिज़ मास्टर्स वॉइस' ग्रामोफ़ोन ने इनके कर्मयोग सम्बन्धी व्याख्यानों के रिकार्ड बना लिए। इनका सम्पूर्ण जीवन धर्मनिष्ठ, सेवा-

मय एवं सार्वजनिक रहा। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० राधाकृष्णन, पं० गोविन्द वल्लभ पन्त, डॉ० पट्टाभि सीतारमैय्या आदि ने आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। ये कर्मकाण्डी भी थे। अप्रैल १९, सन् १९७४ ई० को इहलोक छोड़कर इन्होंने परलोक को प्रयाण किया। इनकी कृष्ण-भक्ति विषयक कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

गम्भीर स्नेह की शब्द-ग्रन्थि से,
गूँथ गूँजती स्वर-माला।
व्याकुल होकर तुझसे मिलने,
आएगा नटवर नंदलाला॥
कृत्य-कृत्य कल्पना के कुंजों में,
कृष्ण कला छिटकाता है।
मग में मोहन मिल जाता है।

उस ज्योतिर्मय की ज्योति देख,
पल-पल ज्वलन्त हो जाएगा।
गिरधारी सहज स्नेह से तेरा,
जीवन-भार उठाएगा।
जब वह बन्धन में बँध जाता,
तब जीवन-मुक्त बनाता है।
मग में मोहन मिल जाता है।

उसको वंशी का स्वर बनकर,
जन तेरा जीवन बोलेगा।
तू सुस्थिर हो या अस्थिर,
कान्हा आगे पीछे डोलेगा॥
क्षर हो या अक्षर, उसे सुहाता,
शुद्ध स्नेह का नाता है।
मग में मोहन मिल जाता है।

म० गो भा०

दीपाबाई/कस्तूरीबाई

दीपा बाई तथा कस्तूरी बाई राधावल्लभ सम्प्रदाय की उच्च कोटि की सेविका थीं। इनकी प्रशंसा में कहा गया है—

बाई दीपा कस्तूरी सु नाम।
सेवैं इष्ट आपु पधराइ धाम॥
हिय चरन लगन रहै अष्टयाम।
फागुन वित खरचैं धन्य भाम॥

—वसन्त प्रबन्ध

सुकृत गाँठ गथ वयौ भयौ सब मन कौ भायौ।
असन-वसन सन्मान संत जन कौ बनि आयौ॥
सेवा उज्ज्वल प्रीति रीति सौं प्रभु की कीनी।
कथा कीर्तन नेम भुराई भक्ति नवीनो॥
श्रीकुंजलाल परसाद तें बड़भाग देह बन रज धरी।
हित मारग चित भक्ति पथ नित दीपाबाई अनुसरी॥

— रसिक-अनन्य-परचावली

ये दोनों भक्तिमती बाइयाँ गो० कुंजलालजी की शिष्या थीं। इन्होंने गुरुवर्य की आज्ञा से अपने घर पर परमेष्ट श्री राधावल्लभलालजी की सेवा विराजमान की थी और अनुराग के साथ उनका लाड़ लड़ाया करती थीं। सेवा से अवकाश प्राप्त होने पर महाप्रभु की रस वाणियों के कथन-श्रवन-गायन जन्य रसानन्द में निमग्न हो जाती थीं। रसिकजनों की सेवा में तो इनका अनुराग इष्ट-सेवा से भी कहीं अधिक दिखाई देता था। ये भक्तों की इच्छानुसार असन-वसन देकर उनका सम्मान किया करती थीं। श्री हिताचार्य चरण की गूढ़ रस-भजन रीति और उत्कट अनन्य व्रत का निर्वाह इन्होंने भली प्रकार से किया था। अपने इष्ट का दर्शन तथा प्रसाद पाने का व्रत कल्याण पुजारी की भाँति ही इनके जीवन में भी आचरित होते देखा गया था। "पावै सोई वस्तु कों जाकैं है व्रत एक"—ध्रुवदासजी के इस कथन के अनुसार इन्हें भी वह अमूल्य निधि प्राप्त हो गई थी जिसके लिए श्री नाभा स्वामीजी ने लिखा है—

श्री व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानिहै।
श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानिहै॥

—भक्तमाल

इस प्रकार से रसिक जीवन व्यतीत करते हुए ये अपने पार्थिव शरीर को वृन्दावन रज में मिलाकर निकुंज-लीला में प्रविष्ट हो गयीं। इनका विद्यमान

काल सं० १७१५ से १७९० तक अनुमान किया जा सकता है।

श्या० बि० खं०

दीवान कम्मोद सिंह

दीवान कम्मोद सिंह बड़ो-बड़ौन (दतिया) के जागीरदार थे। इन्होंने १८६४ ई० में 'प्रेमसुधानिधि' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। २४ वर्ष की अल्प आयु में ही इनका देहान्त हो गया था। ये राधावल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनके छंद सरल, सरस और भक्तिमय हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

जानत हैं पर मानत हैं न बिलोकत बारहीं बार निकाई।
हौं बहुबार कही तुमसों यह हेरन में हिय जात हिराई।
रोकत लाल लखे तब ही अब निंदत नैनन आतुरताई।
आपनौ तौ मन हाथ नहीं अँखियान कौ दोष कहा कहुनाई

न० प्र० गु०

दीवान भैयालाल राजपूत 'गोविन्दशरण'

दीवान भैयालाल राजपूत का जन्म वि० सं० १९६० की आश्विन शुक्ला त्रयोदशी को जिला सागर (म० प्र०) के सागोनी (पड़रिया) ग्राम में हुआ था। इनके पिता ठा० श्री धरनीधरजी राजपूत बड़े ही धर्मावलम्बी व्यक्ति थे। घर में साधु-ब्राह्मणों का आवागमन लगा ही रहता था। धार्मिक वातावरण का प्रभाव वाल्यकाल में भैयालालजी पर भी पड़ा और आगे चलकर ये भी धार्मिक प्रवृत्ति के बन गये। अपनी पितृभूमि छोड़कर ये स्थायी रूप से जिला सागर (म० प्र०) के ही अन्तर्गत ग्राम सेवन में आकर रहने लगे थे। इनकी एक ही पुत्री थी जिसे इन्होंने सर्वस्व दान कर दिया था। वैराग्य भाव उत्पन्न होने पर ये वृन्दावन आकर टोपीकुंज के प्रसिद्ध महात्मा पीठाचार्य श्री सनतकुमारदाजी से वैष्णवी दीक्षा प्राप्तकर भजन-साधन में जुट गये। जव ये श्री गोवर्धन अथवा श्री वृन्दावन की परिक्रमा लगाते तो 'राधे' 'राधे' की रट लगाते हुए नाचते-कूदते चलते थे। ये सुन्दर भक्तिमयी कविता भी करते थे। स्वयं रसिया गाते भी देखे जाते थे। उपर्युक्त चित्रानुसार इनका वैष्णवी व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक था। दिन-रात श्री राधाकृष्ण का भजन करते हुए वि० सं० २०४१, वैशाख शुक्ला एकादशी को इनका स्वर्गवास हो गया।

प्रे० ना० श्री०

दुर्गादत्त

पं० दुर्गादत्त का जन्म मैनपुरी जिले के जगतनगर नामक ग्राम में वि० सं० १९१३ पौष सुदी तृतीया को सनाढ्य वंश में हुआ था। इनके पिता पं० श्री नन्दकिशोरजी शास्त्री सिद्धान्तवागीश एक अच्छे पौराणिकाचार्य थे।

कहा जाता है कि इनके पूर्वज श्री मुरारीजी वि० सं० १०२३ में बसई नामक ग्राम से आकर वृन्दावन से एक मील पर स्थित 'राजपुर' नामक ग्राम में आ बसे थे। मुरारीजी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके पश्चात् इनके वंशज श्री श्यामदेवजी मंत्रशास्त्री वैद्यराज सम्वत् १६२३ में जाट राजा गोधने के बुलाने पर राया चले गये थे।

राया से एक बार श्री दुर्गादत्त के पिता प्रवचन हेतु जगतनगर गये थे। श्री दुर्गादत्त का जन्म वहीं हुआ था। इनके शिक्षा-गुरु राया के गोपालमठ के श्री निम्बार्क-सम्प्रदायानुयायी महंत हरिनामदासजी थे। दुर्गादत्तजी सं० १९४५ में वृन्दावन आकर निरंतर वहीं निवास करने लगे। ये हिन्दी एवं संस्कृत के अच्छे विद्वान्, सफल कवि-लेखक एवं कथाकार थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी को इन्होंने रास-पंचाध्यायी की कथा सुनाई थी। कई जगह शास्त्रार्थों में इनको पदक तथा उपाधियाँ प्राप्त हुई थीं। ये दरभंगा नरेश महाराज श्री रामेश्वर सिंहजी द्वारा संस्कृत समस्या 'वर्ण दोषः' की पूर्ति पर 'विद्यारत्न' की उपाधि एवं भारतधर्म महामण्डल द्वारा 'महामहोपदेशक' की उपाधि से विभूषित हुए थे।

ये परम वैष्णव थे। इष्ट, गुरु, उपासना सिद्धान्तादि में इनकी पर्ण निष्ठा थी। इन्होंने हिन्दी-संस्कृत में

सैकड़ों छोटे-वड़े ग्रन्थों का सृजन किया। जातीय, सामाजिक, ज्ञान-वैराग्य-भक्ति, धर्म आदि विभिन्न विषयों पर इन्होंने ग्रन्थ रचना की। कुछ ग्रन्थों का नामोल्लेख किया जा रहा है—

संस्कृत के ग्रंथ—१. श्री गंगातरल संदर्भ, २. श्री सरजू लहरी, ३. श्री यमुना लहरी, ४. श्री मालीपञ्चकम्, ५. कुंभ पर्व व्यवस्था, ६. दीक्षाविधिनिवन्ध, ७ श्री राधा प्रेममंजरी, ८ श्री नंदवंशप्रदीप, ९. श्री गोपाल सहस्रनाम भाष्य पर दुर्गार्थप्रदीपाख्याम्, १०. श्री ध्यान सर्वस्वम्, ११. आभीर दर्पणम्, १२. ब्राह्मण दर्पण, १३. श्रीराधा विज्ञप्तिकलाप, १४. जव कंद, १५. श्री राधाष्टक पंचकम्, १६. श्री नाम वनमाला, १७ निमंत्रणश्लोकावली, १८. सिद्धान्तपद्याष्टक, १९. सनाढ्यदर्पण की दुर्गार्थदीपिका टीका, २०. श्री कृष्णचरितविकास, २१. सभानियमावली, २२. वलानिषेध, २३ श्री राधा पीयूषस्तवम्, २४. बुद्धविनयपुष्पाञ्जलि, २५. विचित्र स्तवम्, २६. ईश्वर साकार निराकार व्यवस्था सूत्र, २७. सनाढ्य समर्चा, २८. मनुष्य कर्त्तव्य सूत्र, २९. मूर्तिपूजा सूत्र, ३०. अवतार विषयसूत्र, ३१. श्राद्धविषय सूत्र, ३२. रामभक्ति सूत्र, ३३. सनातन धर्मसूत्र, ३४. सत्संग सूत्र, ३५. संतोपदेश सूत्र एवं ३६. विधात्वेकारण सूत्र।

हिन्दी में रचित ग्रंथ—१. दंपतिछटा, २. भक्तिरसोदय, ३. दीनवचनिका, ४. दीनपत्रिका, ५. टीडोनामशतकम्, ६. खलस्तवराज, ७. धर्मसंग्रह, ८. जनोपदेश, ९. बलभद्र विनोद, १०. समस्यापूर्तिविनोद, ११. श्रीराधा रस लहरी, १२. बालपिया की बारहमासा, १३. कूटावली, १४. बालाष्टक पंचक, १५. कूटपिया की बारहमासा, १६. सनाढ्य मीमांसा।

जातीय ग्रन्थ—१. सनाढ्यकौमुदी, २. सनाढ्यदर्पण, ३. सनाढ्यगीति, ४. सनाढ्यरीति, ५ सनाढ्यआह्निक, ६. सनाढ्यगौरव, ७. सनाढ्य पद्धति, ८. ब्राह्मणभेद विचार, ९. विवाहरीति विचार, १०. विवाह-सिद्धान्त, ११. विवाह समय, १२. कुरीतिहर गीति, १३. विद्यागीति, १४. निमंत्रण श्लोकावली, १५. भारतीय विद्या-प्रशस्ति, १६ वेश्यानृत्यनिरोध, १७. गालोगीति-निरोध, १८. सुन्दरीशिक्षा टीका, १९. स्त्री-शिक्षानुक्रम, २०. शिशु-शिक्षा विचार, २१. स्त्री शिक्षा विचार, २२. अपत्य-विक्रय निषेध, २३. जातिसिद्धि, २४. जाति सुधार, २५. जातिरीति नियमावली. २६. विज्ञविनय पुष्पाञ्जलि, २७. त्वष्टिरान्वय-पद्धति, २८ लक्ष्मीजाति-विचार, २९. पार्द्धपिज्ञातिमीमांसा, ३० एकता, ३१. अश्लीलाचारनिरोध, ३२. समाज सुधार, ३३. सत्योपदेशस्वात्म समृद्धि, ३४. गृह्यादर्श, ३५. विद्यागीति, ३६. पुस्तक महत्व, ३७. विद्यामहिमा, ३८. पुस्तकालयदीपिका, ३९. शास्त्रानुक्रम, ४०. अपव्यय निषेध एवं ४१. सरस्वती महिमा।

इनकी समस्त रचनायें काव्यगुणों से युक्त हैं। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनकी भाषा भावानुभाव संयुक्त प्रसाद-माधुर्यादि गुणों से युक्त एवं अलंकारों से अलंकृत है। कूट एवं व्यंग्य भी बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है।

इस प्रकार दुर्गादत्तजी श्री धाम वृन्दावन के एक विशिष्ट विद्वान् भक्त तथा कवि थे। इन्होंने साहित्य सृजन, शास्त्रार्थ प्रवचन आदि से वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा की। आपका गोलोकवास वि० सं० १९७५ में हुआ। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

(१)

(राग-आसावरी)

लखौ कोइ एक ज्योति दो रूप।
उपमा ढूंढ़ि सकै नहिं कविजन अद्भुत विशद अनूप॥
बाईं ओर प्रिया छवि सोहति चम्पक कनक निरूप।
दाहिन छटा छैल अलबेलो सुन्दर श्याम स्वरूप॥

दोऊ रसिक रसिकजन-वल्लभ रसनिधि रसमययूप।
अकथनीय रस मारण दर्शक रसिकगम्य रस-भूप॥
यह रस लगे रसिक के नासत त्रिविध ताप भव-कूप।
दुर्गा यह रस विषयि अगोचर सेवत करत अरूप॥

(२)

(राग-कुमुद)

लख्यो मैं अनुपम रस एक रात ।
दम्पति छटा कहति नहि आवै देखत हृदय सिरात ।।
पौढ़े रत्न-जड़ित पलका पर दोऊ हिय हुलसात ।
मानो चिदघन तेज कान्तियुत सतगुण पर सरसात ।।
गौर-श्याम छवि एक भाव ह्वै एकहि ज्योति दिखात ।
ध्यान भक्ति-रसगम्य अगोचर याहि सकल श्रुति गात ।।
प्रात होत पुनि द्वै छवि देखी भक्त-पाल मृदु गात ।
गुढ़ तत्व यह देखि भक्ति बल 'दुर्गा' रसिक सिहात ।

प्रे० ना० श्री०

दुर्गी माँ

श्री दुर्गी माँ का जन्म जम्मू प्रदेश के मीरपुर सिदड़े ग्राम में सन् १८५८ में हुआ था। ये जाति की सुनार थीं। इनके पिता का नाम श्री मोतीचन्द और माता का नाम श्रीमती शिवा बाई था। इनकी माँ की मृत्यु सात वर्ष की अवस्था में ही हो गयी। तभी से इनके पिता इन्हें लेकर तीर्थाटन पर निकल गये। वहाँ से लौटने के वाद इनको इनकी ननिहाल पलवहाल भेज दिया। तेरह वर्ष की अवस्था में ही इनकी शादी जम्मू के लूनी नामक गाँव में श्री सरनू भाई के साथ हो गयी। इनके सास, ससुर, ननद आदि का स्वभाव अत्यंत उग्र था। परिणामस्वरूप इनका मन गृहस्थी से विरत हो भजन-साधना की ओर उन्मुख हो गया। इनके पति को यह स्वीकार नहीं था कि ये किसी और पुरुष की भक्ति करें। परिणाम यह हुआ कि इनके ऊपर गालियों और लात-जूतों की बौछार पड़ने लगी। ऐसे नारकीय जीवन को सत्रह वर्षों तक इन्होंने बिताया। इनके कुल सात बच्चे हुए। अपने ऊपर होने वाले अत्याचार से ऊबकर तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने घर त्याग दिया। भटकते-भटकते ये देहरादून से जम्मू, फिर लाहौर और हरिद्वार पहुँचीं। वहाँ जम्मूवाला धर्मशाला में रहकर इन्होंने लड़कियों को स्कूल पहुँचाने की नौकरी कर ली। यहाँ रहते हुए इनकी भक्ति-साधना में विशेष उन्नति हुई। हरिद्वार में दस वर्ष रहने के वाद ये वृन्दावन चली गयीं। वहाँ कुछ दिनों तक ये केशीघाट पर जम्मूवाली कुंज में और कुछ दिनों तक जगन्नाथ घाट पर जगन्नाथजी के मंदिर में रहीं। फिर, श्री रामानुजहयग्रीव मंदिर, बड़ा खटला में रहने लगीं। इन्होंने वहीं के आचार्य स्वामीजी से दीक्षा ग्रहण किया और गोपाल की सेवा में लीन हो गयीं। डिप्टी कलेक्टर श्री निर्जनदास इनके पक्के भक्त थे। अंतिम दिनों में इन्हें हर वस्तु में अपने ठाकुर के दर्शन होते थे। ५ अगस्त, सन् १९७७ में ११९ वर्ष की अवस्था में वृन्दावन में ही शरीर त्यागकर इन्होंने परमधाम प्राप्त किया।

मु० अ०

दुलहिनदासी

दुलहिनदासी के ऐहिक जीवन सम्बन्धी सूत्र अनुसन्धान के गर्भ में है। इनके द्वारा रचित दो पद हमें एक संग्रह में देखने को मिले हैं, जिनमें से एक पद को पढ़ने से ऐसा ध्वनित होता है कि ये वृन्दावन से बाहर सम्भवतः काठियावाड़ प्रान्त की निवासिनी थीं, इसीलिए इन्होंने अखण्ड वृन्दावन वास प्राप्ति की लालसा व्यक्त की है। इनके निम्नांकित पद की प्रथम पंक्ति से यह भी स्पष्ट होता है कि इन्हें श्रीहित धर्म की दीक्षा गो० रूपलालजी महाराज से प्राप्त हुई थी। पद इस प्रकार है—

प्रथम जोरि पानि सिर नाऊं।
गुरु हित रूप जू कृपा मनाऊं ।।

देहु दया करि यह मैं चाऊं।
व्यास नन्दन जू शरण सुख पाऊँ ।।

यमुना मान सरोवर न्हाऊँ।
श्री वृन्दावन अटल बसाऊँ ।।

अनन्य दासिन के दास कहाऊँ।
हित ललितादिक होहु सहाऊँ ।।

सब धर्मिन तें लघु लड़क्याऊं।
निसि दिन चरण कमल लपटाऊँ ।।

कुंज केलि देखत न अघाऊँ।
लाल लाड़िली सुख दुलराऊँ ।।

कभूँ अंस धरि बीन बजाऊँ।
दुलहिनि दासी हित गुन गाऊँ ।।

दूसरे पद में इन्होंने श्रीहित दम्पति की सुरतान्त शोभा का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है। इस पद में जहाँ एक ओर इनके परम आराध्य युगल के सुरतान्त केलि की झाँकी देखने को मिलती है, वहीं दूसरी ओर इनके उस रसपूर्ण हृदय का दर्शन भी मिल जाता है, जिस हृदय में श्री हितदम्पति अनुक्षण केलि-कल्लोल किया करते हैं। पद इस प्रकार है—

लखि सखि जोरि मोर मन भाये।
मदन केलि करि सुविधि सराये ।।

घूमत झूमत छबि सौं आये।
नैन असित सित अरुन सुहाये ।।

अरुन सुहाय वसन मरगजे शिथिल भूषन तन बने।
चलत हलत जब पीठ वैनी गिरन हैं कुसुमनि घने ।।

ये छबि देखत रहि गये पीछें लालन अति सुख पाये।
दृगन लगावत रेणु चढ़ावत भाल आवत मनभाये ।।

आइ खरे फुलवारिनि माई।
इक रसना छबि कही न जाई ।।

लड़कि लपटि दीयें गरवाई।
देखि छकीं हित के हितवाई ।।

हित के हितवाई देखत फूले दृगन अलिगन सहो।
येई हैं फुलवारि मानौं रंग रंग सुगंधनि बहो ।।

हँसत खेलत करत बातन रस रहसि सुखदाई।
सँग फिरत मत्त करनी यौं खरे फुलवारिनि माई ।।

निकसत सांकरी कुंजनि गली।
लिपटि चिपटि जोरि रंग रली ।।

सरकि जात प्रफुलित वली।
लखि मृदुलांग लाल लली ।।

लाल लली लखि प्रेम भरि,
सखि कुंज कुटीरैं लै चलीं।
नलिन दल रचि सेज बिछाई,
तापर राजैं भाँतिन भली।
शिथिल अलक मुख झलक,
पानिप केलि रसनिधि में झली।
नैन सिरावत ललितादिक,
खेलनि सांकरी कुंजनि रंग रली ।।

विवि रस विवस नेक सुधि नाईं।
विसुध दसा लखि सखि ढिग आईं ।।

सुरत सूर काहि तें कहाई।
दिय उराहने तिय मुसिकाई ।।

तिय मुसिकाई लखि चतुराई अधर पान पिय कौं दिये।

....

मदन रस माते सुहाते दोउ रैन दिन सरसाई ।।

दुलहिनि दासि हित प्यारी लड़ाई विवि रस विवस
नेक सुधि नाईं ।।

इनका विद्यमान काल वि० सं० १७५० से १८५० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० वि० खं०

दुलारी प्रसाद

दुलारो प्रसाद जाति के ब्राह्मण, संसार-त्यागी और विरक्त साधु थे। ये वृन्दावन में बिहारीजी के बाग में रहते थे तथा राधाकृष्ण के परम भक्त थे। अनेक सेठ-साहूकार इनके शिष्य बने। इन्होंने मस्ती एवं अनुरागभरी बानी रची। इनका उपस्थिति काल वि० का बीसवीं शताब्दी माना जाता है।

म० गो० भा०

दुलारे प्रसाद शास्त्री

पं० दुलारे प्रसाद शास्त्री (श्री हरिप्रियाशरण जी) का जन्म कानपुर जिले के बाघपुर ग्राम में वि० सं० १९२० चैत्र कृष्ण अष्टमी को हुआ था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण और पण्डित श्री चन्द्रिकाप्रसादजी के सुपुत्र थे। इनका जन्म एक पवित्र तिथि एवं महत्वपूर्ण उत्सव पर हुआ था। अतः वह एक विलक्षण आनन्दप्रद अवसर था। होलिकोत्सव के पश्चात् वैष्णव अष्टमी उत्सव का दिन था। पिता

और स्वजनों में अपार आनन्द का सागर उमड़ रहा था। जब आपने बाल्यावस्था को पार कर कुमार अवस्था में प्रवेश किया, उस समय भी आप बाल्यावस्था की भाँति भगवत्सेवा-पूजा में ही निमग्न रहते थे। पूर्वजन्म के संस्कारानुसार ये बाल्यावस्था में भी भगवत्सम्बन्धी खेल ही खेलते थे।

इनकी आरम्भिक शिक्षा ग्राम से ही आरम्भ हुई। वहाँ की पाठशाला में हिन्दी की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ग्राम के ही समीपस्थ श्री मणिराम शास्त्रीजी से सिद्धान्त कौमुदी नामक संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया। यह अध्ययन पूर्ण कर लेने पर बन्धुवर्ग एवं पिताजी के आग्रह से इनका वैवाहिक संस्कार भी अल्पावस्था में ही सम्पन्न कर दिया गया। निरन्तर अभ्यास करते रहने से ये व्याकरण के पूर्ण विद्वान् हो चुके थे। अन्यान्य शास्त्रों के अध्ययन की रुचि भी हृदय में बढ़ने लगी। शास्त्र अध्ययन हेतु ये काशी पहुँचे। वहाँ वेदान्तभास्कर श्री मनीषानन्दजी शास्त्री एवं षडशास्त्राचार्य सुप्रसिद्ध पंडित शिवकुमारजी शास्त्री से ब्रह्मसूत्रादि दर्शन ग्रन्थ भली भाँति पढ़े। काशी से घर वापस आने पर कानपुर जिले के विद्वानों ने इनका अभिनन्दन किया।

पूर्व संस्कारानुसार इनके हृदय में श्रीधाम वृन्दावन जाने की प्रबल उत्कण्ठा जागृत हुई और ये वि० संवत् १९५२ में श्री वृन्दावन गये। श्रीवन आकर ये श्री राधाकृष्ण की प्रेम भक्ति में ऐसे बँध गये कि वहाँ से छोड़कर वापस घर जाने की इच्छा ही नहीं थी। ये वृन्दावनस्थ कानपुर वाले मन्दिर में स्थित पाठशाला में बालकों को विद्यादान करते हुए निवास करने लगे। इसी समय इन्होंने निम्बार्क-सम्प्रदाय के परम विरक्त संत श्री तपस्वीदासजी से वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की। श्री तपस्वीदासजी उस समय श्री शाहविहारी मंदिर के निकट भ्रमर घाट पर युगलबगीची में निवास करते थे। ये श्रीमद्भागवत के प्रकाण्ड विद्वान् एवं भजनानन्दी संत पुरुष थे।

इन्होंने जिस वर्ष वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की, उसी वर्ष कार्तिक कृष्णा द्वादशी से पाँच दिन तक श्री हरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में श्री महावाणी-समाज-गायन, श्री हरिनाम-संकीर्तन, श्री मद्भागवत पाठ पारायण एवं वैष्णव-साधु-सेवा का आयोजन समारोह पूर्वक आरम्भ किया जो अद्यावधि निर्बाध गति से चल रहा है। श्रीवृन्दावन में कुछ वर्ष निवास करने के बाद इन्होंने श्री जगन्नाथधाम, सेतुबंध रामेश्वर, द्वारका आदि तीर्थों का दर्शन किया। तीर्थ-यात्रा के पश्चात् अपने जन्मस्थान पर पहुँचकर बृहत् श्रीमद्भागवत सप्ताह आयोजित किया, जिसमें दूर-दूर से विद्वानों को बुलाकर उनका सम्मान किया। वहाँ से उत्सव समाप्त कर श्रीवृन्दावन धाम वापस आये। वृन्दावन पहुँचकर इन्होंने श्रीमान् राजर्षि बनमालीरायजी के द्रव्य से प्रकाशित होने वाले अष्टटीका सहित श्रीमद्भागवत ग्रन्थ का संशोधन किया और पुनः एक वर्ष के लिए श्री बदरीनाथ धाम की यात्रा की। तीर्थ यात्रा से वापस आकर इन्होंने वृन्दावन छोड़कर अन्यत्र कहीं भी न जाने की प्रतिज्ञा की।

श्री वृन्दावन में निवास करते हुए पण्डितजी ने श्री गोपालमन्त्रराज का पुरश्चरण किया, जिसके प्रभाव से इनको श्री ठाकुरजी की विशेष कृपा एवं स्वप्न-दर्शन आदि का सुख प्राप्त हुआ। इनकी अद्भुत भक्ति एवं भजन-निष्ठा से प्रभावित होकर अनेक सेठ-साहूकार इनके शिष्य बन गये, जिनमें सेठ जानकीदास, लक्ष्मीचन्द, रामजीलाल भाई, धनलालचन्द, जयलाल, हरजूलाल, रतनलाल, कँवरलाल आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी सेठ-साहूकारों के सहयोग से इन्होंने वृन्दावन में श्री बिहारीजी की बगीची के निकट एक श्री निम्बार्क संस्कृत विद्यालय की भी स्थापना की, जो आजकल 'क' वर्गीय संस्कृत महाविद्यालय की श्रेणी में चल रहा है।

इन्होंने सर्वप्रथम 'दीक्षातत्त्व प्रकाश' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ से साम्प्रदायिक लोगों

को बहुत ही लाभ हुआ। अपनी विस्मृत दीक्षा विधि को लोगों ने पुनः सँभाला। इसके पश्चात् 'वेदान्त कामधेनु की टीका', 'श्रीराधिकोपनिषद् की टीका', 'सारसंग्रह' तथा 'श्रीभगवन्नामचन्द्रिका' नामक चार ग्रन्थ आपके द्वारा प्रणीत हुए। इन ग्रन्थों से भगवद्-भक्तों एवं साम्प्रदायिक वैष्णवों को भारी लाभ हुआ। पण्डितजी जैसे विद्वान् थे, वैसे ही श्रीराधाकृष्ण के अनन्य भक्त भी थे। ये वैष्णव सन्तजनों से अत्यन्त प्रेम करते थे। इनका किसी से द्वेष नहीं था। प्रायः सभी मिलने वालों से आत्मीयता से मिलते थे। यद्यपि ये कर्मनिष्ठ साम्प्रदायिक वैष्णव थे, किन्तु भगवत्प्रसाद में इनकी अपार निष्ठा थी। प्रसाद मात्र श्रवण करते ही उत्कण्ठित हो उठते थे। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी साम्प्रदायिक हिन्दी काव्य ग्रन्थों—'यूगलशतक'. महावाणी' आदि में इनकी अपार श्रद्धा थी। श्रीहरिव्यासदेव कृत महावाणी' तो इनकी सर्वाराध्य वस्तु थी। श्रीमहावाणी का निरन्तर पठन-मनन इनका दैनन्दिन कृत्य था। वि० संवत् १९८९ में श्री श्यामा-श्याम का चिन्तन करते हुए ये गोलोकधाम पधारे।

प्रे० ना० श्री

दुलारेलाल भार्गव

दुलारेलाल भार्गव का जन्म अनुमानतः सन् १८९८ में लखनऊ में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० प्यारेलाल भार्गव था। इन्होंने बी० एस-सी० तक शिक्षा प्राप्त की थी। इनकी विशेष ख्याति 'माधुरी' तथा 'सुधा' के सम्पादक के रूप में है। इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, किन्तु साहित्यिक कृति 'दुलारे दोहावली' है। इस रचना पर ओरछा नरेश ने २००० रुपये का प्रथम 'देव पुरस्कार' प्रदान किया था। इनकी मृत्यु अनुमानतः सन् १९७५ में हुई। ये राधा के अनन्य भक्त थे। दोहावली का पहला दोहा राधा को ही समर्पित है—

श्रीराधा बाधा हरनि नेह अगाधा साथ।
निहचल नैन निकुंज में नचौ निरंतर नाथ॥

म० गो० भा०

दुलारे सिंह

श्री दुलारे सिंह का जन्म १५ जून १८९४ को डीघ नामक ग्राम में माधव सिंह के यहाँ हुआ था। ९ वर्ष की अवस्था में ही इनकी माँ का स्वर्गवास हो गया और इनकी शिक्षा इनकी बुआ के यहाँ हसवा में हुई। इनकी बुआ धार्मिक विश्वास की महिला थीं। अल्पायु में ही उन्होंने रामचरितमानस और महाभारत की कहानियों से इनके जीवन में प्राण फूंकने शुरू किये। सन् १९१२ में इन्होंने हिन्दी मिडिल प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। १९१५ में उर्दू मिडिल, १९१६ में हिन्दी नार्मल तथा १९२३ में उर्दू नार्मल और १९२४ में हिन्दी एडवांस पराक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। इनकी हिन्दी, उर्दू के अलावा गणित में भी अच्छी गति थी। ये सन् १९२१ में ही अध्यापक हो गए थे और ६२ साल पूरे करने के बाद सन् १९५६ में सेवा-निवृत्त हुए।

इन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में भी भाग लिया तथा छात्रों को अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। इन्हीं समर्पणों में लिप्त रहने के कारण न तो इन्होंने घर गृहस्थी बनाई और न हीं इन्होंने विवाह आदि झंझटों में अपने को उलझाया।

इनका शरीर बहुत ही हृष्ट-पुष्ट और लम्बा था। कुछ ही ऐसे दरवाजे थे जिनमें यह बिना गरदन झुकाए घुस पाते रहे हों। छात्रों के प्रति इनका व्यवहार बाहर से बहुत ही कठोर था और छात्र इनके सामने थर-थर काँपते रहते थे। इनके यहाँ जिसने इस कठोर अनुशासन में तीन साल काट लिए वह जीवन में कभी असफल नहीं हुआ। इनके कार्य-क्रम में किसी भी प्रकार का अवरोध नहीं हो सकता था। एक बार जिला विद्यालय निरीक्षक अकस्मात् आ पहुँचे। स्कूल के बसंत कहार ने इनको सूचना दी। जब घण्टा पूरा हो गया तो यह पढ़ा कर निकले और डिप्टी साहब से आकर इन्होंने भेंट की। इनके अनुशासन और मारपीट के इतने आख्यान हैं कि उनकी गणना नहीं हो सकती। बिना इनकी

अनुमति के कोई लड़का स्कूल से बाहर नहीं जा सकता था। एक बार बिन्दकी के दो तीन दुकानदार स्कूल के लड़कों की शिकायत लेकर आए। मुंशीजी ने कहा कि मेरे स्कूल के बच्चे नहीं हो सकते जो आपकी दुकान पर जाकर उद्दंडता करें। दुकानदार ने कहा कि आप ही के स्कूल के लड़के हैं। मुंशीजी ने दुकानदारों को अगले दिन १० बजे बुलवाया। प्रार्थना हो चुकने के बाद सबकी हाजिरी उस दिन मैदान में ही हुई। पूरे स्कूल में एक लड़का बीमारी के कारण उपस्थित नहीं था। मुन्शीजी उन दुकानदारों से कहा कि लड़कों को पहचानो। सभी छात्र सावधान की मुद्रा में पंक्तियों में खड़े थे और दुकानदार सभी छात्रों को बड़े गौर से देखते हुए निकले। उन्होंने कहा कि वे लड़के इनमें नहीं हैं। मुंशीजी का क्रोध अपने पूरे रंग में था। सभी छात्र अपने-अपने कमरों में चले गए और दोनों दुकानकारों को मुंशीजी ने चार बजे तक वहीं खड़ा रखा। उन्हें बैठने भी नहीं दिया। जब कभी हम लोग बाजार जाते तो उन दुकानदारों से 'जयहिन्द' करते और उनसे कहते मुंशीजी ने तुमको बुलाया है। इस पर दुकानदार चिढ़ते और इस चिढ़ाने में हम लोगों को बड़ा मजा आता। एक दिन इसकी शिकायत लेकर वे दुकानदार फिर मुंशीजी के पास आए। मुन्शीजी ने सभी छात्रों को बुलाया और पूछा कि कौन छात्र हैं जो इन्हें चिढ़ाते हैं। उनके इतना कहते ही चार छात्र अपनी पंक्ति से बाहर होकर खड़े हो गये। मुन्शीजी का यह अनुशासन देखकर दुकानदार चुप। मुन्शीजी ने कहा 'तुम लोग एक ही दिन में रोने लगे ये तो तीन साल से यहीं भोगते हैं।' उनके चले जाने पर उन चारों छात्रों को मुन्शीजी ने बुलाया। हम लोग डरते-डरते पहुँचे। उस दिन ग्रह-दशा अच्छी थी। मैंने इतनी नम्रता से बात करते हुए उन्हें कभी देखा नहीं था। मुन्शीजी बोले 'सुनो इस स्कूल का नाम तुम्हारी ही बदौलत है। क्या स्कूल की नाककटाओगे।' अब कभी उनको मत चिढ़ाना। वे स्वभाव से बहुत कठोर थे। जब मैं अध्यापक होने के बाद उनके सम्पर्क में आया तो उन्होंने बताया कि चूंकि उनके स्वयं परिवार और बच्चे तो थे नहीं इसलिये उन्हें बच्चों के निर्माण में वैसा ही ध्यान रखना पड़ता था कि सब बच्चे मेरे अपने ही हैं।

इनके चरित्र में एक अद्भुत बड़प्पन. आदर्श तथा नैतिकता का समन्वय था। राष्ट्रीयता इनमें कूट-कूट कर भरी थी और सच्चे अर्थों में ये देश-भक्त और राष्ट्र-प्रेमी थे। इन्होंने साहित्य जगत् में द्विवेदी काल से लेकर अकविता वालों तक का समय देखा था। इनकी जीवन साधना तिलक, सुभाषचन्द्र बोस और चन्द्रशेखर आजाद की नीतियों से परिचालित थी। गांधीजी इन्हें अच्छे लगते थे परन्तु अनुकरणीय नहीं। इन्होंने पर्याप्त मात्रा में कविताएँ भी लिखी थीं और बहुत उच्च स्वर से उनको सुनाते भी थे। इनकी आवाज की गम्भीरता और महाघोष ध्वनि जीवन पर्यन्त बनी रही। इनकी रचनाओं में 'बाल गीत', 'जीवनगीत', 'विचित्रा' (सचित्र काव्य संकलन) 'वीर गर्जना', 'अद्भुत बलिदान' तथा 'कृष्ण दर्शन' मुख्य हैं। इनमें से 'कृष्ण दर्शन' अप्रकाशित है, शेष प्रकाशित हैं।

बालगीत में बच्चों के चरित्र निर्माण और आदर्श बालकों के गुणों को लेकर कविताएँ लिखी गई हैं। 'जीवन गीत' सौंदर्यवादी काव्य संकलन हैं। 'विचित्रा' में कविताएँ और चित्र एक दूसरे के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से चलते हैं। 'वीर गर्जना' में सतयुगीन भरत से लेकर लालबहादुर शास्त्री तक के कुछ आदर्शवादी, शिक्षाप्रद तथा वीर पुरुषों के जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं पर कविताएँ लिखी गई हैं। 'अद्भुत बलिदान' में पृथ्वीराज, चन्दवरदायी तथा मुम्हम्मद गोरी के चरित्रों को मिलाकर आख्यान काव्य रचा गया है। 'कृष्ण दर्शन' वस्तुतः इनकी कृष्ण भक्ति का प्रमाण है। यह महाकाव्य १८ दर्शनों (सर्गों) में विभक्त है। इसमें मुख्य रूप से महाभारत के कृष्ण को ही आधार बनाया गया है। भारत-भारती, जयद्रथवध, कुरुक्षेत्र और कृष्णायन का

इस ग्रंथ पर विशेष रूप से प्रभाव देखा जा सकता है। 'कृष्ण दर्शन' की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं विभाजित भारत की पीड़ा व्यक्त हुई है।

इनकी कविता का मुख्य रस वीर है। ये साक्षात् वीर रस की मूर्ति थे। ये कविता में भी अपना उपनाम 'वीर' ही रखते थे। भाषा बहुत ही सरल और प्रवाहपूर्ण होती थी और उसमें दूसरी भाषाओं के शब्द नहीं होते थे। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे उद्धृत हैं—

हरिजन हैं तुम्हें पुकार रहे,
मठ मन्दिर तुम्हें बुलाते हैं।
ये अनाचार ये पाप पुंज,
हे प्रभुवर बढ़ते जाते हैं।
आओ फिर आदि काव्य नायक,
युग संस्कृति तुम्हें बुलाती है।
युग रावण तुम्हें बुलाते हैं,
युग सीता तुम्हें बुलाती है।

—वीर गर्जना से

कहीं कहीं भाषा विवाद है,
कहीं कहीं हा ! प्रान्तवाद है।
सम्प्रदाय का जोर कहीं है,
कहीं कहीं सीमा विवाद है।
अपनी डफली राग कही है,
अपनी लाठी भैंस कहीं है।
स्वार्थ सिन्धु लहरें लेता है,
राष्ट्र धर्म को बात नहीं है।
युग रावण के दुर्योधन के,
दुख बादल घनघोर घिर गये।
अपनी प्रबल भुजाओं के बल,
चक्र व्यूह को चलो तोड़ने।
बढ़ो वीर ! अभिमन्यु ! राष्ट्र पर
युग युग के अभिशाप बढ़ गये॥

इनका देहावसान १० अप्रैल, १९७९ को हुआ।

ओ० प्र० अ०

देवकीनन्दन साहब

श्री देवकीनन्दन साहब मूलतः निर्गुण-भक्ति शाखा के कवि थे। ये श्री गुलाल साहब के शिष्य, हरलालसाहब के वंशज, तेजधारी साहब के पुत्र और कौशिकवंशीय क्षत्रिय थे। इनका आविर्भाव-काल १९वीं शताब्दी है। ये चिटबड़ा गाँव के सत्यनामी मठ के महन्त थे तथा बावरी साहिबा के सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे।

खोज में इनकी चार रचनाएँ मिली हैं—१. चतुर मासा तथा फुटकल पद, २. शब्द, ३. शब्द और ४. कुंडलियाँ। इनमें से पहली और तीसरी रचना में श्री कृष्ण-लीला का वर्णन है। रचनाओं को देखने से लगता है कि ये एक प्रौढ़ कवि थे तथा झूलना, कवित्त, अरिल्ल और कुण्डलियाँ आदि छन्दों के सिद्धहस्त रचयिता थे। इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१)

सखी री कान्ह बिदेस न आयो।
गगन घटा घहरायो॥

चलत त्रिविधि समीर पावन बहत जमुना नीर।
चहुँ ओर ते घन दरपित तरपत भइ छन दुतो थोर॥

उड़त है बक पंक्ति सुक पिक भँवर करत गुंजार।
चढ़यो मास आसाढ़ प्रभु बिनु विरह तन दुख भार॥

—चतुरमासा तथा फुटकल पद

(२)

जबहि हरो गयो ब्रज छाड़ि इतो।
तबही बिपरीत भयो सुख दुख उर बढ़त कीतो॥

चंदन चंद पवन जमुना जल दाहत अनल नीतो।
सेज भुअंग अंग मह लागत परत न पलक मीतो॥

बरखत बुंद झराझरी सावन बीत्यौ अवधी भीतो।
"देवकी" प्रान न रहत छनक घट भई सब आस रीतो॥

—चतुरमासा तथा फुटलक पद

(३)

दीजे कान्ह कहाँ अहै मेरो मोती माला।
हम तुम काली जमुन जल बिहरब
पल संग सकल ब्रिज बाला ॥

नींद न परी भई जुग सम निसि
मोहन कीएबो कवन एह प्याला।
बार बार आतुर होए माँगति
बोलत नहीं कहो गोपाला ॥

तब उरमाँह हँसी सी लागत
मम तन भयो यह सोच बिसाला।
"देवकी" स्याम फेंट गहि कर
दीन्हें वो हरि बिहँसि नन्दलाला ॥

—शब्द

वा० सि०

देवदत्त (देव कवि)

छप्पय

ब्रज-साहित्य-सिंगार सरल रचना में नागर।
उक्त अनूठी, भव्य काव्य-गरिमा-गुन-आगर ॥

कृष्ण-केलि-रसमधुर-माधुरी-मत्त रँगीलो।
प्रेम-भाव कौ रूप, रसिक सरबस, गरबीलो ॥

श्रीहित-कुल-आश्रित, अनुभवी रह्यौ इटाये प्रेममय।
जेहि ग्रंथ-कदंब रचे सुभग, कवि-चूड़ामनि देव जय ॥

—वियोगी हरि

महाकवि देवदत्त, उपनाम देव, इटावा के निवासी थे। इनका जन्म सं० १९३० में हुआ था। इन्होंने १६ वर्ष की अवस्था से ही कविता लिखना आरंभ कर दिया था, जैसा 'भाव-विलास' नामक ग्रन्थ से पता चलता है—

सुभ सत्रह सौ छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
कढ़ो देव मुख देवता, भाव-विलास सहर्ष ॥

'सुखसागर-तरंग' की भूमिका में विद्वद्वर मिश्र-बन्धुओं के पूज्य पिता पंडित बालदत्तजी मिश्र ने इनके संबंध में लिखा है—

'इनके गुरु स्वामी हितहरिवंशजी थे। श्रीस्वामी हितहरिवंशजी की अष्टछाप (?) अर्थात् ब्रज के प्रसिद्ध आठ कवियों में गणना है और इनके पद बहुत अनूठे व सूरदासजी के पदों से समानता करते हैं। इन महाराज के १२ शिष्य थे और इन बारह में से देवजी मुख्य थे।' यह तो स्पष्ट ही है कि स्वामी हितहरिवंशजी महाराज का जन्म सोलहवीं शताब्दी में हुआ था और उनकी गणना वल्लभीय 'अष्टछाप' में नहीं की जाती। देवजी उनके शिष्य कैसे हो सकते हैं? हाँ, यह हितकुलावलंबी थे, किन्तु इनके गुरु का क्या नाम था, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इन्होंने सबसे पहले १६ वर्ष के आरंभ में 'भावविलास' बनाकर औरंगजेब के बड़े पुत्र काव्य-रसिक आजमशाह को सुनाया। इसके बाद 'अष्टयाम' की रचना की। देवजी भवानीदत्त वैश्य. कुशलसिंह (फफूंद. इटावा निवासी) राजा उदोतसिंह, भोगीलाल (पिहानी वाले), अकबरअली खाँ आदि के आश्रय में रहे; पर इनके मन का, भोगीलाल के अतिरिक्त, कोई भी आश्रयदाता न मिला। प्रांत-प्रांत में घूमने से इन्हें बड़ा अनुभव प्राप्त हुआ। इसी अनुभव के फलस्वरूप इन्होंने 'जाति-विलास' जैसे ग्रन्थ की रचना की। आश्रयदाताओं के प्रति असंतुष्ट होने के कारण अंत में इन्हें कुछ विरक्ति-सी हो गई थी और यह शृंगार रस से हट कर शांतरस में उतर आए। इन्होंने शांत रस का भी अच्छा वर्णन किया। 'देवमाया-प्रपंच-नाटक,' 'वैराग्य-शतक,' 'तत्व-दर्शन-पच्चीसी,' 'आतम-दर्शन-पच्चीसी,' 'जगद्दर्शन-पच्चीसी,' 'ब्रह्मदर्शन-पच्चीसी,' एवं 'नीतिशतक' आदि शांतरस-प्रधान ग्रन्थों को लिखकर यह सिद्ध कर दिया कि विशुद्ध शृंगार के उपासक शांत रस पर भी किस सफलतापूर्वक लिख सकते हैं। किसी-किसी के मत से इनके ७२ और किसी के मत से ५२ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। अब तक इनके निम्नलिखित २७ ग्रन्थों का पता चला है—

१. भाव-विलास; २. भवानी-विलास; ३. कुशल-विलास; ४. जाति-विलास; ५. रस-विलास; ६.

राधिका-विलास; ७. पावस-विलास; ८. वृक्ष-विलास; ९. अष्टयाम; १० सुन्दरी सिंदूर (संग्रह); ११. सुजान-विनोद; १२. प्रेम-तरंग; १३. राग-रत्नाकर; १४. देव चरित्र; १५. प्रेम-चन्द्रिका; १६. काव्यरसायन; १७. सुखसागर तरंग (संग्रह); १८. देवमाया-प्रपंच (नाटक); १९. ब्रह्मदर्शन-पच्चीसी; २०. आत्मदर्शन-पच्चीसी; २१. तत्वदर्शन-पच्चीसी; २२. जगद्दर्शन-पच्चीसी; २३ नीति-शतक; २४. नखशिख; २५. रसानन्द लहरी; २६. प्रेमदीपिका; २७. सुमिल-विनोद।

देव की कविता की भाषा शुद्ध ब्रज है, पर कहीं-कहीं इन्होंने शब्दों का तोड़-मरोड़ बुरी तरह से किया है। इनकी कविता में ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों गुण पाये जाते हैं। उक्तियाँ तो इनकी बड़ी ही अनूठी हैं। महाकवि बिहारीलाल के बाद भाव-व्यक्तीकरण में इन्हीं का स्थान है। स्वर्गीय पं० बालदत्तजी मिश्र तो इनको सर्वश्रेष्ठ कवि मानते थे। उन्होंने 'सुख-सागर-तरंग' के आदि में लिखा है—

सूर सूर, तुलसी सुधाकर, नक्षत्र केसव,
सेष कविराज को जुगुनू जनायकैं।
दोऊ परिपूरन भगति दरसायौ अब,
काव्यरीति मो सन सुनहु चित्त लायकैं॥

देव नभमंडल समान हैं कबोन-मध्य,
जामें भानु सितभानु तारागन आयकैं।
उदय होत अथवत, चारों ओर भ्रमत पै,
जाकौ ओर छोर नहिं परत लखायकैं॥

मिश्रजी ने इस कथन की पुष्टि भी यथाशक्ति खूब की है। आपने देव के आगे तुलसी-सूर को भी निस्तेज-सा दिखाया है और कबीर को कवि ही नहीं माना! 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' के सुबुद्ध रचयिताओं की भी कुछ ऐसी ही राय है। हमारी तुच्छ सम्मति में देव की इस प्रशंसा में निश्चय ही घोर अत्युक्ति है। माना कि, इनकी कविता बड़ी सरस, भावपूर्ण, ओजस्विनी और अनोखी है, पर सूर और तुलसी को तो जाने दीजिए, वह केशव और बिहारी की रचनाओं से भी आगे नहीं बढ़ सकी। कुछ दिनों हिन्दी-साहित्य-संसार में इस विषय पर भारी वाद-विवाद चला। कोई देव को सातवें स्वर्ग पर चढ़ा देता था तो कोई उन्हें बिहारी के मुकाबिले नीचे गिरा देता था। देव-बिहारी, केशव-देव, दास-देव आदि तुलनात्मक आलोचनाओं से वृथा पक्षपात के कारण एक प्रकार से साहित्य-हत्या ही हुई है। साहित्यिक महारथियों को इस पर निष्पक्ष रीति से विचार करना चाहिए था, वह नहीं हुआ। देव ने अपनी प्रखर प्रतिभा के प्रताप से पूर्ववर्ती सुकवियों के कई भाव ज्यों-के-त्यों उठा कर अपनी रचनाओं में रख दिए हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इनके ग्रंथ सर्वथा निर्दोष हैं, या देव के आगे कोई कवि 'न भूतो न भविष्यति' ही कह सकते हैं। तुलना का काम बड़ा कठिन होता है। सहसा किसी को बहुत ऊँचाई पर चढ़ा देना या एकदम नीचे गिरा देना न्याय संगत नहीं। ऐसी एकपक्षीय आलोचनाओं से भ्रम और द्वेष के प्रचार के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं होता।

इसमें संदेह नहीं कि देव व्रजभाषा साहित्य के इने-गिने महाकवियों में से थे। पर प्रश्न यह है कि इनकी कविता का प्रचार क्यों नहीं हुआ? एक बात तो यह है कि इनके पद्य प्रायः जटिल-से हैं और दूसरे, गूढ़ोक्तियों के कारण, वे कुछ दुर्बोध से हो गए हैं। शृंगार का बाहुल्य भी इसका एक कारण हो सकता है, किन्तु प्रचाराधिक्य के अभाव से यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी कविता उत्तमता की दृष्टि से हीन है। लोकप्रियता ही सत्कविता की एकमात्र कसौटी नहीं है। प्रायः देखा गया है कि रद्दी पुस्तकों का भी खूब प्रचार होता है। तो क्या इस प्रचार से उनका महत्व बढ़ जाता है? देव की कविता लोकप्रिय न हो, पर पंडित-प्रिय तो वह अवश्य है। वास्तव में, देव-जैसे महाकवियों के कारण प्राचीन व्रजभाषा साहित्य का मस्तक सदा ऊँचा रहेगा। देव-सदृश सर्वव्यापी दृष्टिवाले कवि-रत्नों के

प्रकाश से साहित्य-संसार सदा जगमगाता रहेगा, इसमें संदेह नहीं।

अभी तक इनके चार-पाँच ग्रंथ ही प्रकाशित हुए हैं। महाकवि देव के कतिपय ग्रंथों से कुछ उत्तम पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। इनसे विदित होता है कि रीतिकालीन कवि बिहारी की भाँति ही शृंगारी काव्य रचना में रुचि लेते हुए भी श्री राधाकृष्ण में इनकी अगाध निष्ठा थी—

(१)

पायन नूपुर मंजु बजैं,
कटि किंकिन में धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत,
हियें हुलसै बनमाल सुहाई॥

माथे किरीट, बड़े दृग चंचल,
मंद हँसी मुखचंद-जुन्हाई।
जै जग-मंदिर-दीपक सुन्दर,
श्री ब्रजदूलह देवसहाई॥

(२)

सूनो कै परम-पदु, ऊनों कै अनंत मदु,
दूनो कै नदीस नदु इन्दिरा फुरै परी।
महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
ईसन की सिध्रि ब्रज-बीथी बिथुरै परी॥

भादौं की अँधेरी अधराति, मथुरा के पथ,
आई मनोरथ देव देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन, अपार, परब्रह्म रासि,
जसुदा के कोरे एक बारक कुरै परी॥

(३)

धाये फिरौ ब्रज में, बधाये नित नंदजू के,
गोपिन सधाये, नाचो गोपन की भीरी में।
देव मति मूढ़ै तुम्हैं, कहाँ पावै, चढ़े,
पारथ के रथ, बैठे जमुना के नीर में॥

आंकुस है दौरि हरनाकुस कौ फारचौ उर.
साथी न पुकारचौ हते हाथी हिय तीर में।
बिदुर की भाजी, बेर भीलनी के खाय,
विप्र चाउर चबाय, दुरे द्रौपदी के चीर में॥

(४)

धार में जाय धसी निरधार ह्वै,
जाय फँसी उकसो न उबेरी।
री! अँगराय गिरो गहिरी,
गहि फेरे फिरी न घिरी नहिं घेरी॥

'देव' कछू अपुनों बस ना,
रस-लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगहीं बूड़ि गई पँखियाँ,
अँखियाँ मधु की मँखियाँ भई मेरी॥

(५)

कालिय काल महाविषज्वाल,
जहाँ जल ज्वाल जरै रजनी दिनु।
ऊरध के अध के उबरै नहिं,
जाकी बयारि बहै तरु ज्यों बिनु॥

ताफनि की फन-फाँसिन में फँसि,
जाय फँसी, उकस्यौ न अजौं छिनु।
हा ब्रजनाथ! सनाथ करौ,
हम होती हैं नाथ अनाथ तुम्हें बिनु॥

(६)

'देव' मैं सीस बसायौ सनेह कै,
भाल, मृगम्मद बिंदु कै राख्यौ।
कंचुकी में चुपरचौ करि चोवा
लगाय लियौ उर सौं अभिलाख्यौ।
लै मखतूल गुहे गहने, रस
मूरतिवंत सिगार कै चाख्यौ।
साँवरे लाल कौ साँवरौ रूप मैं,
नैननि कौ कजरा करि राख्यौ॥

(७)

औचक अगाध सिंधु स्याही कौ उमँगि आयौ,
तामें तीनों लोक बूड़ि गये एक संग में।
कारे-कारे कागद लिखे ज्यों कारे आखर,
न्यारे करि बाँचै कौन नाचे चित्त भंग में॥

आँखिन में तिमिर अमावस की रैनि अरु,
जंबूरस बूँदि जमुना-जल-तरंग में।
यों ही मन मेरो मेरे काम कौ न रह्यौ 'देव'
स्यामरंग ह्वै करि समान्यौ स्याम रंग में॥

(८)

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे! हाथ-पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो॥

चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक-चितवनीन मारि मुँह मोरतो।
भारी प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सो बाँधि,
राधावर-विरुद के वारिध में बोरतो॥

(९)

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो नरलोक, परलोक बरलोकनि में,
लीन्हो मैं अलोक, लोक-लीकनि तें न्यारी हौं॥

तन जाउ, मन जाउ, 'देव' गुरुजन जाउ,
प्रान कि न जाउ, टक टरति न टारी हौं।
वृन्दावन वारी बनवारी को मुकुटवारी,
पीतपटवारी वहि मूरति पै वारी हौं॥

वि० ह०

देवाचार्य

श्री देवाचार्य महाराज ने भरतपुर राज्यान्तर्गत किसी ग्राम में जन्म लिया था। कुछ बड़े होने पर इनकी शिक्षा-दीक्षा उस काल के परम रसिक सन्त श्रीमुकुन्द देवाचार्यजी महाराज की देख-रेख हुई थी।

एक बार ये श्रीयुगल की सेवा में तत्पर रहने के कारण अपने ललाट में श्याम बिन्दु धारण करना भूल गये। एक तरफ सेवा की तत्परता, दूसरी ओर प्रेम-भाव की निमग्नता ही इसका कारण थी।

इनके गुरु जी वैदिक-विधि से सम्पादित श्रीयुगलवर की अर्चा-पूजा को अपना मुख्य धर्म मानते थे। वे बिना श्याम-विन्दु के सेवा करना कैसे पसन्द कर सकते थे? आरती का समय हो गया था। उस समय स्वयं कारुण्य सुशीलता दिव्य-गुण-निधि श्री स्वामिनीजी के विग्रह ने निजकर-कमल से अपने प्रसादी चंदन की शुक्ल विन्दु इनके ललाट पर मंडित कर दी। यह देख श्री मुकुन्ददेवजी ध्यानस्थ होकर यथार्थ का पता लगाकर बोले कि युगलवर की ऐसी ही इच्छा है। तत्पश्चात् अधिकांश शिष्य-प्रशिष्यों में शुक्ल बिन्दु धारण करने की परम्परा चल पड़ी।

कुछ समय बाद ये व्रज में ही निवास करने लगे थे। ये विधि-निषेध के बड़े कट्टर अनुयायी थे। व्रजवासी श्रीहरि के अत्यन्त प्यारे हैं। अतः समय-समय पर वे उनके साथ उनको सुख प्रदान करने के लिये लीला किया करते हैं। भक्ति के वशीभूत होकर श्रीहरि ने इनके साथ भी यहीं लीला की। एक बार ये किसी व्रजवासी के घर भिक्षा करने गये थे। श्री ठाकुरजी उस समय उसके बालकों के साथ मिलकर भोजन कर रहे थे। यह देखकर कि उपनिषदों का ज्ञेय तत्त्व आज मूर्त्तिमान होकर किस तरह से अपने भक्तों को सुख प्रदान कर रहा है? उस अनुपम छवि का बार-बार दर्शन करते हुए देह की सुधि को खो बैठे और उसी थाल के दिव्य प्रसाद को याचना किया, लेकिन उस समय इस प्रकार की दिव्य-लीला-दर्शकों का अभाव था। अतएव इनके हृदय-कमल से निस्सरित इन भावों को कौन समझता?

भिक्षा की आवाज सुनकर व्रज-वासिनो माता भिक्षा लेकर आई तो उस समय बार-बार सम्बोधित करके उनको चेतना प्रदान कराई। प्रकृतिस्थ होने पर पुनः ये उसी दिव्य-प्रसाद की याचना करने लगे। इस घटना को देखकर सभी व्रज-वासी आश्चर्यान्वित हो गये। इसके बाद ये श्रीवृन्दावन

पधारे। इनकी भक्ति, निष्ठा तथा विद्वत्ता के सम्बंध में श्रीरसिक भक्तमाल में यह छप्पय मिलता है—

परम मनस्त्री यशस्वी श्रेष्ठ तपस्वी देव मुनि,
निज विद्या परमार्थ कियो श्रीवृन्दावन में।
श्रीनिम्बार्क विनोद ध्यान कर ज्ञान भजन में॥

छात्रन को रस-भरित भागवत शास्त्र पढ़ायो।
शिष्य दुलारे लाल शास्त्री समकरि यश पायो॥
मन्दिर सुन्दर शाहजो बसे सदा सौभाग्य धनि।
परम मनस्वी यशस्वी श्रेष्ठ तपस्वी देव मुनि॥

प्रे० ना० श्री०

देवानंद

'रसिक अनन्य परचावली' में देवानंदजी के सम्बन्ध में कहा गया है—

श्री सेवक गुरु परसाद सु
जुगल रहस के मरमी॥

व्यास सुवन पद्धति रति
वृन्दावन रज धरमी।
देवानन्द सुवन ताही
विधि भरे भक्ति रस॥

श्री हरिवंश नाम रुचि
पाई परम प्रेम वस।
अभिलाषा व्रज वास बहु
जिहि निशिदिन लागी रहत उर॥

नित्यानन्द भजन आलय भये
उत्कल देश विप्रकुल जाजपुर।

श्री देवानन्द का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये उत्कल (उड़ीसा) प्रान्त के अन्तर्गत जाजपुर नामक ग्राम के निवासी थे। इनके पिता श्री नित्यानन्दजी रस-भक्ति सिद्धान्त के मूर्धन्य भाष्यकार श्रीहित नाद कुलभूषण श्री सेवकजी महाराज के कृपापात्र थे। फलतः इन्हें रस-भक्ति का अंकुर अपने पितृ चरण से उत्तराधिकार के रूप में मिला था और ये भी उन्हीं की तरह रस-भजन की उन्मत्त दशा को प्राप्त हुए थे।

श्री सेवक महाराज के कथनानुसार—हरि हरिवंश भेद नहिं करै। श्री हरिवंश नाम उच्चरै। छिन छिन प्रति विसरै नहीं॥ —हरि और हरिवंश में अभेद बुद्धि रखते हुए ये मन-क्रम-वचन से अपने को हरिवंश नाम के प्रति समर्पण करके सहज प्रीति के साथ निरन्तर हरिवंश नाम का जाप किया करते थे। इस नाम स्मरण के प्रताप से इन्हें नाम का फल-नामी (हरि, राधा, सहचरि, वृन्दावन) का नित्य सान्निध्य और साक्षात्कर प्राप्त था।

इनके मन में अहर्निशि राधा-कानन—श्री वृन्दावन—में निरन्तर वास करने की अभिलाषा बनी रहती थी। इनका उपस्थिति काल सं० १६०० से १६८० के बीच अनुमान किया जा सकता है।

श्या० बि० खं०

देवी प्रसाद 'अक्खड़'

श्री देवी प्रसाद 'अक्खड़' जाति के बर्नवाल वैश्य थे। ये मीरजापुर जनपद में स्थित भारत विख्यात शक्ति पीठ विन्ध्याचल के रहने वाले थे। इनकी मृत्यु सन् १९४५ के आस-पास हुई थी। स्वभाव से अक्खड़ होने के कारण लोग इन्हें 'अक्खड़' कहने लगे थे। कृष्ण-भक्ति पर आधारित अनेक स्फुट छन्दों की रचनाएँ इन्होंने की हैं। इनका 'अभिमन्यु पराक्रम' नामक एक लघु काव्य प्रकाशित भी हुआ था। विन्ध्याचल के वृद्ध काव्य-प्रेमियों को अभी भी इनकी याद बनी हुई है—

राधे श्याम श्याम श्याम राधे गाये चलो।
जिनगी बाकी बा जेतनी बिताये चलो॥

श्याम जो का पिपरी छोड़ि।
अपनी पगड़ी से जोड़ि।
जोगो प्रेम की गुदड़िया सियाये चलो।
राधे श्याम श्याम श्याम राधे गाये चलो॥

जहाँ जहाँ लेइके जाय।
रहो पीछे पछियाय॥

लगन नेम अउर प्रेम से लगाये चलो।
राधे श्याम श्याम श्याम राधे गाये चलो॥

• • •

कान्हा तेरी गाय में, भागी मेरी गाय।
चरवाहो साथे करूँ, तू न हमें अलगाय॥

चं० मि०

देवी प्रसाद 'प्रीतम'

श्री देवी प्रसाद 'प्रीतम' का जन्म बिजावर, (मध्यप्रदेश) में हुआ था। ये राधा-कृष्ण के उपासक थे। इनके ६ ग्रंथों का पता चलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—'श्री कृष्ण जन्मोत्सव', 'प्रह्लाद चरित्र', 'राजुल चरित्र', 'सुदामा चरित्र', 'शान्ति शतक' और 'शृंगार शतक'।

सम्प्रति ये ग्रंथ उपलब्ध न हो सकने के कारण इनके प्रतिपाद्य का वर्णन और उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं।

त्रि० ना० शु०

देवीरत्न अवस्थी 'करील'

सन् १९१२ में हारम, जिला-बस्तर (मध्यप्रदेश) में जन्में श्री देवीरत्न अवस्थी 'करील' का आरम्भिक जीवन संघर्षमय रहा। राजनैतिक स्वतंत्रता संग्राम-सेनानियों के निरंतर सान्निध्य में रहने के कारण ये भी राष्ट्रीय भावना से उद्वेलित होकर अंग्रेजों के कट्टर विरोधी हो गये थे। इसीलिए मध्यप्रदेश सरकार ने इन्हें प्रदेश निकाला दे दिया था। ऐसी स्थिति में सन् १९४० में ये मध्यप्रदेश से आकर अपने पूर्वजों के जनपद रायबरेली के उपनगर लालगंज में बस गये। इनके पूर्वज रायबरेली जिलांतर्गत बरदर ग्राम के निवासी थे। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन, बाबू सम्पूर्णानंद, और पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र की भाँति ही राजनैतिक जीवन से निरंतर जुड़े रहकर भी ये भारतीय अध्यात्म और दर्शन का निरंतर अध्ययन और मनन करते रहे। यही कारण था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इनकी साहित्यिक प्रतिभा उत्तरोत्तर निखरती और विकसित होती चली गयी। देश के स्वतंत्र होने के बाद ये पूरी तरह से भक्ति-साधना में लग गये। 'मधुपर्क' (प्रबंधकाव्य) इनके कृष्णानुराग का ज्वलंत प्रमाण है। सम्वत् २००९ (शरद-पूर्णिमा) से इन्होंने 'मधुपर्क' के प्रणयन का शुभारम्भ किया जो अनवरत १० वर्षों तक लिखा जाता रहा और सम्वत् २०१९ की बसंत पंचमी को कृष्ण-भक्ति प्रधान यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ। उन्नीस सर्गों वाले इस प्रबंध-काव्य का सन् १९६८ में चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी द्वारा प्रकाशन सम्भव हो सका।

'मधुपर्क' ब्रजभाषा में प्रणीत है। प्रस्तुत प्रबंध काव्य की भाषा के सम्बंध में स्वयं कृतिकार का वक्तव्य है—'मधुपर्क को मैंने जानबूझ कर ब्रजभाषा में लिखा है। ब्रजभाषा के प्रति मेरा वैसा कोई आग्रह नहीं है, जैसा रत्नाकर या कविरत्न सत्यनारायण जी को था।'

जिस प्रकार अयोध्या सिंह 'हरिऔध' ने 'प्रिय-प्रवास' में कृष्णचरित्र को नये संदर्भों में प्रस्तुत किया था, कुछ ऐसा ही प्रयत्न मधुपर्क में 'करीलजी' का प्रतीत होता है। वैदिक सभ्यता से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण कृष्ण के ईश्वर रूप को वैचारिक रूप से भले ही न स्वीकार करते रहे हों, किन्तु उनकी भावनात्मक सत्ता बराबर कृष्ण के ईश्वरत्व से अभिभूत है। यही कारण है कि मधुपर्क में कृष्ण का ब्रह्मस्वरूप अनायास ही व्यक्त हुआ है। इस प्रकार आलोच्य कृति में कवि का ब्रजानुराग, उसकी कृष्ण-भक्ति, गोपीकृष्ण प्रेम तथा कृष्ण का सम्पूर्ण युग-पुरुष रूप उभर कर सामने आता है। यद्यपि कृति में अनेक प्रकार के छंदों का करीलजी ने प्रयोग किया है, फिर भी कृष्णकाव्य ब्रजभाषा और कवित्त, सवैयों तथा पदों का काव्य रहा है। इसीलिए इस कृति में भी 'करीलजी' के कवित्त और सवैया ही पाठकों पर प्रभाव की सृष्टि करने में अधिक सफल रहे हैं।

श्री देवीरत्न अवस्थी का 'करील' नाम उनके कृष्णभक्ति से प्रभावित होने का स्वतः ही परिचय

देता है। ये अपने को वैदिक कहते हैं। इधर आर्यसमाजियों ने वेदों को प्रामाणिक मानकर राम-कृष्ण के ईश्वरत्व को चुनौती दे डाली है, किन्तु इनका यह निर्णय भारत की श्रद्धालु जनता को रास नहीं आया। आलोच्य कृति में भी एक ओर कवि का तार्किक रूप है तो दूसरी ओर इनकी आत्मा कृष्णभक्ति से आप्लावित है। इसी कारण कृतिकार कृष्ण के व्यक्तित्व को कोई एक (निश्चित) रूप दे पाने में सफल नहीं हो सका। कृति के कतिपय भावपूर्ण स्थल द्रष्टव्य हैं—

देखि कै गुबिन्द के सुहावने पदारबिन्द।
रास रस रसिक मिलिन्द मड़राइ उठे।
जानु लौं भुजानि की भरानि बलखानि देखि,
देव सुखदानि वै षड़ानन अवाइ उठे॥

उर की उठानि पसरानि, विकसानि पर,
सहित कलानि चक्रपानि ललचाइ उठे।
देखि मुखचंद चन्द चपरि चुपाइ उठे,
देखत बिलोचन त्रिलोचन सिहाइ उठे॥

मोहन की पायनि की मुंज पाँवरीन पर,
जसुदा की नेह की प्रसूति उमड़ी परै।
अम्बर अवनि तें मनोहर पितम्बर मैं,
कलित कला की करतूति घुमड़ी परै।
चारु उत्तरीय के जुगल हेम छोरनि पै,
छबि बनमाल की बिभूति ह्वै जड़ी परै।
लकुट मुकुट मुरली पै मुरलीधर की,
रति राधिका की अनुभूति ह्वै अड़ी परै॥

रा० पां०

देवीसिंह

चंदेरी (बुंदेलखण्ड) के राजा देवीसिंह (प्रथम) राजा रामशाह की चौथी पीढ़ी में थे। इन्होंने १६३४ ई० में मुगलों के ओरछा पर आक्रमण के समय उनका साथ दिया था, इसलिए ये ओरछा के राजा बनाये गए। लेकिन दो वर्ष बाद १६३६ ई० में फिर चंदेरी जाने को विवश हुए। ये कृष्णभक्त थे और इन्हें यह भक्ति पूर्वजों से उत्तराधिकार में मिली थी। बुंदेलखण्ड के बुंदेला राजघरानों में अधिकतर राजा कृष्णभक्त थे और रानियाँ रामभक्त। देवीसिंह ने १६३४ से १६७६ ई० तक भक्तिपरक रचनाएं की हैं, पर इनकी दो रचनाएँ – रहसलीला और बारामासी ही प्राप्त हुई हैं। रहसलीला में कृष्ण की रासलीला और बारामासी में कृष्ण-वियोग की वेदना का भावपरक वर्णन है। उनकी भक्तिभावना की अभिव्यक्ति का एक उदाहरण पर्याप्त है—

लगत अषाढ़ गाढ़ भुइ परी।
बिरह् अगिनि अंतर मँह जरी॥

ज्यों ज्यों पवन चलत चहुँ ओरी।
त्यों त्यों जरी जात झकझोरी॥

सब कोउ धाम घरै हरषावै।
मोहि सेज निसि नींद न आवै॥

हौं तजि धाम काम बस भई।
कंत अंत सुधिऔ नइँ लई॥

न० प्र० गु०

दौलतराम

पं० राजाराम भार्गव के पुत्र दौलतराम का जन्म परीक्षितपुरा, दिल्ली में संवत् १८२० को हुआ था। जब ये आठ वर्ष के थे तो दुमंजिले से नीचे लुढ़क गए, तब संत चरणदासजी ने इनकी रक्षा की। संवत् १८३० के लगभग ये उनके शिष्य बने। एक बार ये राजा बलवंतराय के पास पहुँचे और उनको बतलाया कि चरणदास के शिष्य गुसाइं जुगतानंद उन्हीं के समान हैं। राजा ने आकर गुसाइं जुगतानंद के दर्शन किए और कई गाँव भेंट किए।

म० गो० भा०

दौलतराम हल्दिया

संत चरणदास के शिष्य दौलतराम का जन्म माँचहड़ी (अलवर) में हुआ था। ये जाति के खण्डेलवाल वैश्य थे। पारम्परिक व्यापार हल्दी होने के कारण इनका परिवार हल्दिया कहलाया। इनके पिता छाजूराम अलवर-नरेश राव प्रतापसिंह के

मंत्री थे। इन्होंने भी कुछ वर्ष वहाँ सेनानायक के रूप में कार्य किया। ५०० सवारों के साथ संवत् १८२२ में भरतपुर-नरेश जवाहरसिंह से युद्ध किया और विजय प्राप्त की। संवत् १८३५ में सिंहासनारूढ़ होने पर जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह ने इन्हें अपना मुसाहब नियुक्त किया। ये उच्च कोटि के राधाकृष्णोपासक थे। इन्होंने संवत् १८४८ में अपनी आराध्या राधिकाजी के विग्रह की सवाई प्रतापसिंह के आराध्य श्री ब्रजनन्दनजी की प्रतिमा के साथ बड़ी धूम धाम से विवाह किया। समस्त वैवाहिक कार्य वैदिक रीति से सम्पन्न हुए। इन्होंने कन्यादान किया तथा दहेज में समधी सवाई प्रतापसिंह को अपनी सारी जागीर, आभूषण, एक हवेली, बगीचा आदि दे दिया। संवत् १८४९ में जयपुर-नरेश ने इन्हें रावबहादुर' की उपाधि से विभूषित किया। संवत् १८५० में इनका परलोकवास हो गया।

म० गो० भा०

द्वारकादास

श्री द्वारकादास गोस्वामी दामोदरचन्द्रजी के शिष्य थे। गुरुसेवा में इनकी अपूर्व निष्ठा थी। एक बार इन्होंने गुरुदेव को अपने घर पधराया और उनके चरणों में सर्वस्व अर्पित कर दिया। पति-पत्नी दोनों ने अपने पास केवल एक-एक धोती शेष रखी। उनकी भेंट में इन्होंने अस्सी हजार नकद रुपयों के अतिरिक्त बहुत से आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र, चाँदी के बर्तन, रथ, पालकी, घोड़े, दास-दासियाँ आदि अर्पित किये। तत्पश्चात् इन्होंने हाथ जोड़कर श्री गुरु से प्रार्थना की कि 'यह सब वस्तुएँ आपकी ही हैं। हमने तो इनमें व्यर्थ की ममता लगा रखी थी। आप ही जग के सर्जक, पालक और संहारक हैं। आप ही स्वर्ग और नरक से रक्षा करने वाले हैं। जो जीव सम्पत्ति को अपनी मानते हैं उनको नरक में जाना पड़ता है। आपने करुणा करके हमको नाम सुनाया है और परम धर्म की नीति समझाई है।' द्वारकादास के ऐसे निष्कपट वचन सुनकर गुरुदेव ने प्रसन्न होकर कहा कि 'इस धन के तुम्हीं अधिकारी हो। हमारी आज्ञा के अनुसार तुम इस धन को प्रभु के भोगराग में खर्च करो और संतों का पूजन करो। इस सम्पत्ति को हम अपनी करके तुम्हें दे रहे हैं।'

इस प्रकार अपने सेवक का पोषण करके श्री दामोदरचन्द्रजी श्री वृन्दावन वापस आ गये।

उधर द्वारकादासजी ने गुरु-आज्ञा के अनुसार अपने घर की सेवा तथा श्री वृन्दावन में विराजमान श्री राधावल्लभलाल की सेवा में सर्वस्व लगाकर स्वयं को कृतार्थ कर लिया। इसके परिमाण स्वरूप कुछ ही दिनों में हितधर्म के सम्पूर्ण रहस्य इनके हृदय में प्रकाशित हो गये।

ल० च० गो०

द्वारकानाथ भट्ट

श्री द्वारकानाथ भट्ट देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट कवि-कलानिधि के पुत्र थे। श्रीकृष्ण भट्ट कविकलानिधि के वंशज प्रो० कलानाथ शास्त्री का जन्म सं० १७७० वि० तथा मृत्यु काल सं० १८५० मानते हैं। ये जयपुर के महाराज प्रताप सिंह 'ब्रजनिधि' (सं० १८३५-१८६० वि०) के कवि मंडल के प्रमुख कवि थे तथा सवाई माधव सिंह प्रथम (सं० १८०७-१८२४) एवं सवाई पृथ्वीसिंह (सं० १८२४-१८३५ वि०) के समकालीन थे।

श्री द्वारकानाथ भट्ट सरसुती, वाणी और भारती उपनाम से रचनायें करते थे। यह माना जाता है कि इनकी विद्वता से प्रसन्न होकर महाराजा माधव सिंह (प्रथम) ने ये उपनाम प्रदान किये थे। 'भारती' उपनाम इन्होंने महाराजा पृथ्वीसिंह से प्राप्त किया था। इनके वंशज मण्डन भट्ट ने 'रावल चरित्र' में लिखा है—

द्विजकुल कवि श्रीकृष्ण भये, पंच द्रविड़ तैलंग।
तिनके तिन ही से भये, तनय द्वारकानाथ।
माधवेश महिमान के, रहे रैन दिन साथ।।
प्रभु को राजो करि लियो, सरसुति सुकवि खिताब।
जिनके जग में जगि रहे, सुजस सरद महताब।।

पृथ्वीसिंह परताप को, किये गुन सों भरपूर ।
'बानी : भारती' नाम लिय, जग में रह्यौ जहूर ॥

देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट कवि कलानिधि के वंशज देवर्षि मथुरानाथ शास्त्री ने 'जयपुर वैभवम्' में इनके सम्बन्ध में चार पदों की रचना की थी ।

'ब्रजनिधि' के कवि-मंडल के एक अन्य कवि गणपति भारती में 'भारती' सम्मिलित होने के कारण इनके लिए यह उपनाम अधिक प्रचलित नहीं हो सका । 'हितैषी' पत्रिका में द्वारकादास, द्वारकानाथ ('मधुकरकलानिधि', 'पृथ्वीसिंहजी का व्याहुला', 'रागचन्द्रिका' तथा 'शब्द चन्द्रिका' के रचयिता), द्वारकानाथ ('वाणी वैराग्य' के रचयिता) का उल्लेख मिलता है । तीनों ही नाम एक कवि देवर्षि द्वारकानाथ भट्ट के लिए ही है ।

इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । इन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। डॉ० सत्येन्द्र ने 'ब्रज साहित्य का इतिहास' (पृ० ४७२) में मधुकर कलानिधि, वाणी वैराग्य, रागचन्द्रिका, शब्द चन्द्रिका, पृथ्वीसिंह महाराजा का व्यावला, प्रतापसिंह के सभासदों का ध्यान, अलंकार ग्रन्थ आदि इनके सात ग्रंथों का उल्लेख किया है । देवर्षि कलानाथ शास्त्री ने मधुकर कलानिधि (अलंकारशास्त्र का लक्षण ग्रन्थ), वाणी वैराग्यम् (भर्तृहरि के वैराग्य शतक का ब्रजभाषा पदों में अनुवाद), रागचन्द्रिका, शब्द-चन्द्रिका (व्याकरण ग्रन्थ), पृथ्वीसिंह महाराज का व्यावला आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है । इन्होंने महाराजा पृथ्वीसिंह को पढ़ाने के लिए 'शब्द-चन्द्रिका' ग्रन्थ की रचना की थी जो 'सिद्धान्त कौमुदी' का अनुवाद है । 'देवर्षि मथुरानाथ शास्त्री : व्यक्तित्व और कृतित्व' शोध-प्रबन्ध में द्वारकानाथ भट्ट के निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—

संस्कृत--गालवगीतम्, वृक्षपक्षि (वर्णनात्मक संस्कृत पद्य) ।

ब्रजभाषा — मधुकर कलानिधि, वाणी-वैराग्य, सभासद-वर्णन, रागचन्द्रिका, शब्द-चन्द्रिका, पृथ्वीसिंह महाराज का व्यावला अलंकार ग्रन्थ ।

पं० द्वारकानाथ भट्ट के पोथीखाना (जयपुर) से निम्नलिखित रचनाओं की सूचना मिलती है—

संस्कृत ग्रन्थ — प्रहेलिका-विनोद, माधव विजय काव्यम्, शब्द-चन्द्रिका-व्याकरणम् (भाषार्थ साहित्य)।

हिन्दी—प्रहेलिका-विनोद (सं० १८२६ वि०, सवाई पृथ्वीसिंह प्रीत्यर्थं) भारत-भाषा, सदयवत्स सावलिंगा कथा (सं० प्रतापसिंहाज्ञया), सारस्वत-सार-मधुकर कलानिधि (पृ० सं० १८२२ वि०, सवाई माधवसिंह प्रथम प्रीत्यर्थं) ।

इस प्रकार अब तक इनकी निम्नलिखित रचनाओं की सूचना उपलब्ध हुई है—

रीतिकाव्य धारा—कवित्त संग्रह, प्रतापसिंह-हजारा, सारस्वतसार-मधुकरकलानिधि (सं० १८२२ वि०, दससई (महाराजा माधव सिंह की आज्ञा से), सदयवत्स सावलिंगा-कथा, प्रहेलिका-विनोद (सं० १८२६ वि० सवाई प्रतापसिंह के पठनार्थ) ।

प्रशस्ति वर्णन—पृथ्वीसिंह महाराज का व्यावला, प्रतापसिंहजी के सभासदों का वर्णन ।

अनुवाद ग्रंथ—भारत भाषा (महाभारत का अनुवाद), वाणी-वैराग्य (वैराग्य मंजरी का अनुवाद), पृथ्वी मंगल (हितोपदेश भाषा, सवाई पृथ्वीसिंह देवाज्ञा, सं० १८२८ वि०) ।

संस्कृत ग्रन्थ—रागचन्द्रिका, शब्द-चन्द्रिका, भगवन्नामचिंतामणि, गालवगीतम्, प्रहेलिका-विनोदम्, माधवविजय काव्यं ।

उपर्युक्त ग्रंथों में से कवित्त संग्रह, प्रतापसिंह हजारा, दससई तथा अन्य स्फुट पदों में कृष्णभक्ति सम्बन्धी विवेचन मिलता है । कृष्ण पद गोपियों का खिजलाहट भरा व्यंग्य भी अपने आप में बेजोड़ है—

सेली सहेली विभूति है चंदन,
छाती उरोज सो मंच बजावैं।
कानन की धरि के मुदरा चुग,
कंकन पानि केदार सुहावैं॥

आसन जोग जिते विधि आसन,
कौतूहर को घर में समुझावैं।
उधवजू हम ऐसी सुनी उहाँ,
कूबरी गोरखनाथ कहावैं॥

सारस्वतसार मधुकर कलानिधि से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

बरन विचार लघु गुरु लोकलीकन कौं,
साधि सोधि रसना के सुबरन पत्र पर।
चितहि कै कर चतुराई चारु लेखनि लै
सबद अरथ रंग व्यंगनि उजास घर।
'सरसुति राधिका कुँअर ब्रज चंदजू के,
रूप की घटानि बरसावै रस रंग झर।
नेह के नगर जग जगरमगर ऐसे,
सुघर सुघर वन्दो भारती के चित्र कर।

'ब्रज कविता वीथी' में से एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है—

केसरानी जालदार पगिया सुहानी सिर,
तैसा पचतोरिया को बागो छापेदार है,
बानी कहें ललित त्रिभंग तनु, मुसकात,
बैन में बजात मोहिनी को मंत्रसार है॥

फूलन के सिरपेच लटकन फूलमाल,
अगरजा चोली में लगायौ इकसार है।
आनंद अपार, सुकुमारथन जीते मार,
ब्रज के हिये को हार नन्द को कुमार है॥

रा० प्र० कु०

द्वारकेशलाल (गोस्वामी)

आचार्य वल्लभ की चौदहवीं पीढ़ी में गोस्वामी श्री द्वारकेशलालजी महाराज का जन्म मथुरा वाले गोस्वामी घनश्यामलालजी के यहाँ पोरबन्दर (सौराष्ट्र) में वि० सं० १९५६ में हुआ था। इनके पिता मथुरा से वि० सं० १९५३ में पोरबन्दर की श्री द्वारिकानाथजी की हवेली में गोद आये थे। ये अपने समय के प्रसिद्ध हारमोनियम वादक भारतीय राग विज्ञान के ज्ञाता तथा गंभीर विद्वान् थे। हारमोनियम जैसे सामान्य वाद्य में से तंतुवाद्य की झमक निकालने में ये बड़े कुशल थे। अतः संगीतकला श्री द्वारकेशलालजी महाराज को वंशानुक्रांत हुई। घनश्यामलालजी की महफिल में फैयाज खाँ एवं अब्दुल करीम खाँ, कलकत्ता के श्री श्यामबाबू जैसे लोक-विश्रुत कलाकर आते रहते थे। इन्हें उनके घनिष्ट सम्पर्क में आने का अवसर मिला।

इनके बाल्यकाल का अधिकांश मथुरा में बीता जहाँ इन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय के उच्च आदर्शों, सिद्धान्तों एवं आचार-विधान का ज्ञान अपने पूर्वजों की छत्र-छाया में प्राप्त किया। इनके पितामह गो० रमणलालजी महाराज मथुरा वाले श्री छोटेमदनमोहन जी के मन्दिर के अधीश्वर थे। उनके सम्पर्क में रहने के कारण ये वल्लभ-सम्प्रदाय की सर्वोच्च भाव-भावना, सेवाप्रकार तथा आचार-विचार के अत्यन्त आग्रही बन गये। इसके साथ ही इन्होंने सम्प्रदाय के विद्वान् पण्डितों से न्याय, व्याकरण, वेदान्त, मीमांसा, गीता, भागवत एवं पुष्टिमार्गीय ग्रन्थों—अणुभाष्य, सुबोधिनी, तत्वदीप निबन्ध आदि का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया तथा पैतृक सम्पत्ति के रूप में पुष्टि-मार्गीय-सेवा, शृंगार, चित्रकला, काव्यकला, संगीत-कला आदि में भी दक्षता प्राप्त की।

भारतीय धर्म-दर्शन तथा वल्लभ-सम्प्रदाय के तात्विक सिद्धांतों के अध्ययन की मंगल प्रेरणा इन्हें बम्बई के गो० श्री गोकुलनाथजी, प्रो० मगनलाल शास्त्री, मूलचन्द्र सेलीवाला, धीरजलाल साँकलिया आदि विद्वानों के द्वारा मिली। ये जब श्रीमद्वल्लभाचार्यजी प्रणीत षोडश ग्रन्थ तथा श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी टीका का प्रवचन करते थे तो श्रोताओं को अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती थी। संगीत के एक कुशल

कलाकार होने के कारण ये मथुरा तथा पोरबन्दर के संगीत समारोहों में अन्य कलाकारों के साथ अपनी कला प्रस्तुत करते रहते थे। भारत के महान् संगीतज्ञ पंडित ओंकारनाथ ठाकुर, सितार वादक पंडित रविशंकर, कृष्णराव शंकर पंडित, पंडित जसराज, गुलामरसूल खाँ, स्व० उस्ताद फैयाज खाँ जैसे चोटी के संगीतज्ञों से इनका प्रगाढ़ परिचय एवं मैत्रीभाव था। ये मृदंग भी वहुत अच्छा वजाते थे। यह कला इन्होंने अपने अग्रज गो० दामोदरलाल की प्रेरणा से प्राप्त की थी। इन्हें कई भाषाओं का ज्ञान था। ये एक अच्छे वक्ता थे, चाहे धार्मिक विषय हो या साम्प्रदायिक, राजनीतिक विषय हो या दर्शन। ये हिन्दी, ब्रजभाषा तथा गुजराती में धारा-प्रवाह भाषण करते थे। मथुरा, पोरवन्दर, राजकोट, दिल्ली, वम्वई, कलकत्ता, वाराणसी, जयपुर, लखनऊ, नाथद्वारा, जूनागढ़, अहमदावाद, इन्दौर, बड़ौदा, सूरत, नागपुर, रायपुर, कराँची, नगरठट्टा, ग्वालियर, हैदरावाद (सिन्ध), द्वारका, धोराजी, उपलेटा, जामनगर, भावनगर आदि नगरों एवं गाँवों में इनके महत्वपूर्ण प्रवचन हुये थे। इसके अतिरिक्त कृष्णभक्ति के प्रचारार्थ इन्होंने देश के विभिन्न प्रान्तों का पर्यटन भी किया था।

ये विद्वान् एवं कला मर्मज्ञ होने के साथ ही सुकवि भी थे। धर्मप्रवाह, वैश्वानगर, नवप्रकाश, सत्संग, अनुग्रह, वेणुधर, वल्लभीयसुधा, परिषद्-संदेश, वल्लभविज्ञान, श्रीमद्वल्लभप्रकाश, अग्निकुमार आदि कई मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों में इनकी रचनाएं छप चुकी हैं। ब्रजभाषा में इन्होंने १५० पदों की रचना की है जो 'ब्रज-माधुरी-निकुंज' तथा 'ब्रज-माधुरी-सुधा' नाम से छप चुकी हैं। इनकी ब्रज-भाषा रचनाओं में अपूर्व माधुर्य दृष्टिगोचर होता है। राजनीति में भी इनकी रुचि थी। पोरबंदर में वि० सं० २००८ में कांग्रेस के प्रथम चुनाव में प्रधानमन्त्री श्री नेहरूजी के प्रवचन में इनको उच्च स्थान दिया गया था। रसिकलाल पारिख, ढेबरभाई, साँवलदास गाँधी, डॉ० जीवराजमेहता, सेठ गोविन्ददास आदि राजपुरुषों से इनका प्रगाढ़ परिचय था।

ब्रज की चौरासी कोस की यात्रा करने का इनका व्रत था। वि० सं० २०१७ में इनकी 'बैठक-यात्रा' हुई। इस वीच सौराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश आदि प्रान्तों में इन्होंने जिन स्थानों पर महाप्रभुजी की बैठकें थीं, वहाँ पधार कर कथा-प्रवचन के साथ ही वृहद् भोज समारोह आयोजित किये और समागत वैष्णवों को अपने हाथ से परोस कर संतृप्त किया।

गो० द्वारकेशलालजी कीर्तन-सेवा के अच्छे ज्ञाता थे। अष्टछाप के पदों को बड़े सुन्दर ढंग से गाते थे। कीर्तन-वधाइयों में ये अपने प्रिय कीर्त्तन, होरी धमार भी गाते थे। इनके सम्पर्क से अनेक व्यक्ति ऊँचे कलाकार हो गये। इनकी बहू श्री रत्नप्रभा ने 'कुमुदिनी' उपनाम से सहस्रावधि हिन्दी-ब्रज एवं गुजराती पदों की रचना की है जो 'रसिक-कौमुदी' नाम से समादृत हुई। इनकी बड़ो बेटी रसिकप्रियाजी हिन्दी, ब्रज एवं गुजराती भाषा की कवयित्री हैं। इनके बड़े पुत्र गो० माधवरायजी कवि, पत्रकार, लेखक एवं कलाकार हैं और छोटे पुत्र रसिकराय भी गुणज्ञ हैं। 'नाथद्वारा कांड' सम्बन्धी आंदोलन में इन्होंने प्रमुख नेता के रूप में भाग लिया था। नाथद्वारा में धार्मिक अधिकारों की माँग के लिये जब वैष्णवों का आंदोलन चला तो ५०० व्यक्तियों का नेतृत्व करके ये नाथद्वारा पधारे थे। पुष्टिमार्गीय जीवन-दर्शन के प्रचार में आजीवन संलग्न रहकर इन्होंने वि० सं० २०१९ में अपनी इहलीला का संवरण किया। इनकी रचनाओं के नमूने नीचे प्रस्तुत हैं—

(१)

मधुर कों मधुरन सों मधु पान।
मधुर हृदय सों भेंट मधुर कों मधुर करें रस दान॥
मधुर बंक चितवन मद भीनी मधुर हसन भुव बान।
मधुर बचन द्युति मधुर दसन की मधुर स्वरन सों गान॥

मधुर प्रीत अरु रीत मीत सों मधुर अलापत तान ।
मधुर भुजन भर भेंट मधु कों मधुर लंक लचकान ।।
मधुर दान अरु मान मधुर बिच मधुर केलि रसरान ।
मधुर तमाल स्याम रस बेली मधुर भेख उलटान ।।

मधुर विविध बंधन मृदु फुंदन मधुर पटन फहरान ।
मधुर फलित फल को रस देनी श्रम सरिता रस खान ।।

हों जु पर्यौं इन चरन-सरोवर मेटी सब कुलकान ।
'द्वारकेश' कों राखों निज करि अनुचर अपनो जान ।।

(२)

आयो नूतन सरस बसंत ।
डार-डार पल्लव द्रुम बेली
पगी लगी मिलि प्रफुलित हसंत ।।

बन उपवन कुंजन रस भूमि भई
नई दंपति जहाँ लसंत ।
मधुर बिहार केलि हित चित तहाँ
कोटि काम रति होत लजंत ।।

चितवन बंक दृगन अवलोकन
सूचित संचित भाव फलंत ।
नूतन नख सिख विविध भाँति
शृंगार ललित ललना करंत ।।

रस लोभी चंचल नव मधुकर
नव पराग हित झुकि परंत ।
अति उदार शतदल नयना
नव चारु चतुर चंचल अनुसरंत ।।

मधुर हँसन बिच कान्ति दसन
निरखत मन होत कहूँ न खलंत
ब्रज ललना भावात्मक आंतर
रसबस ह्वै पिय उरसि भरंत ।।

नूतन खेल पेलि मन्मथ दन्त
चित्र-विचित्र सुरीत छलंत ।
नूतन रस आयुध फेंकत सन्मुख
ह्वै तीछन कोटि अनंत ।।

नूतन रति-संग्राम उभय बिच
जान न परी कौन बलवंत ।
ज्यों-ज्यों लरत भरत नूतन विध
त्यों-त्यों जागत मदन ज्वलंत ।।

'द्वारकेश' नूतन श्यामा के
बने नवीन श्याम रस कंत ।
रस भक्तन उर सदा नित्य
नूतन औरन सों रहत दुरंत ।।

न० च० बं०

द्वारिकादास

द्वारिकादासजी निम्बार्क सम्प्रदाय के शोभूराम-द्वारे से सम्बद्ध थे । श्री बाबा किशोरीदास से शिष्यत्व स्वीकार कर उन्हीं के चरणों में सेवार्थ रहने लगे । ब्रज के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा रखते थे । सदा भगवान् के नाम का जप करते रहते और ब्रजवासियों का भिक्षा का आश्रय लेकर इन्होंने सारा जीवन ब्रज में व्यतीत कर गोलोक धाम प्राप्त किया ।

प्रे० ना० श्री०

द्वारिका देवाचार्य

ब्रज की नित्य परिक्रमा करने वाले श्री द्वारिका देवाचार्य के यद्यपि अनेक शिष्य थे, परन्तु उनमें द्वारिका देवाचार्यजी का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान था । ये अपने गुरुदेव की तरह अत्यन्त विनम्र एवं विरक्त स्वभाव के थे । एक जगह पर नहीं रहते थे और जलपात्र के अतिरिक्त अपने पास कुछ नहीं रखते थे । कई राजा-महाराजा भी इनके शिष्य थे, परन्तु इन्होंने किसी को मठ-मन्दिर बनाने के लिए प्रेरणा नहीं दी क्योंकि मठ-मंदिर को आप साधु के लिए कलंक समझते थे ।

प्रे० ना० श्री०

द्वारिका प्रसाद 'रसिकेन्द्र'

बहरायच नगर के बीसवीं शती के प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि श्री द्वारिका प्रसाद 'रसिकेन्द्र' जाति के वैश्य और गुदड़ी मुहल्ला के निवासी थे । इनका

घर बड़ी संगत के पास था। इनके पिता का नाम लक्ष्मीनारायण था। अयोध्या प्रसाद वाजपेयी 'औध' इनके अभिन्न मित्र वताये जाते हैं। ये भारतेन्दुजी के अनुयायी थे। इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—१ 'परिजात' और २. द्वारिका शतक'। ये दोनों कृष्ण-भक्ति की भात्रधारा से मण्डित हैं। रसिकेन्द्रजी ने अपने परिचय में जो छन्द लिखा है उससे उनकी राधाकृष्ण भक्ति का प्रमाण मिल जाता है—

लक्ष्मी नारायाण पिता को है हमारे नाम,
फटक अवध बहराइच मो वास है।
क्षत्रिय सरीन नाम द्वारिका प्रसाद मेरी,
गुदड़ी मुहल्ला घर संगत के पास है॥

एक से कवित तोन तीन सौं अधिक कौन
आन रचना न नेकु युगुल विलास है।
पढ़ै वा पढावै भक्ति पावैं नन्द नन्दन की
भूल चूक कीजै माफ राधाकृष्णदास है॥

ये अत्यन्त भावुक भक्त थे। इनके यहाँ उस समय के कवि प्रायः आया करते थे। ये कविता करने के साथ-साथ कवियों का सम्मान भी करना अपना धर्म समझते थे। 'औध' और 'भारतेन्दु' के तो ये बहुत ही प्रिय थे। रसिक शिरोमणि कृष्ण इनके इष्ट देव थे। इनका 'द्वारिका शतक' कृष्ण-लीला को लेकर लिखा गया ऐसा काव्य है जो रत्नाकर के 'उद्धव शतक' का स्मरण करा देता है। 'द्वारिका शतक' के दो छन्द उद्धृत किए जाते हैं—

(१)

बीती गयी तेंहि सोचन बावरे
बाकी रहो तेहि को मति खोवै।
भूल फजूल जो आगे भई
तेंहि में दुःखमानि वृथा किमि रोवै॥

कृष्ण कृपाल को नाम भजै अब
संसै तजै चित में कछु होवै।
होत है कर्मंहि को फल द्वारिका
लूनै वही जेहि खेत में बोवै॥

(२)

बानि परी अब आन तुम्है तौ
प्रवीन महार्महिं काम किये मैं।
एक उपाय बताऊँ तुम्है,
नफसाद करूँ कछु बाँट लिये मैं॥

सूरज को न प्रकाश जहाँ न
जनाई परो जुमसाल दिये मैं।
माखन चोरि कै चाहौ छिपौ तौ
छिपौ हरि मेरे अंधेरे हिये मैं।

पं० सतगुरु शरण अवस्थी ने 'द्वारिका शतक' की भूमिका में लिखा कि इनकी 'भाषा सुबोध और प्रभाव डालने वाली है। उर्दू के शब्द बेधड़क प्रयोग किये गये हैं।'

'पारिजात' इनके द्वारा (चित) खंड काव्य है जो उपलब्ध नहीं है। गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित सन् १९३१ ई० के कल्याण के 'कृष्णाङ्क' में द्वारिका प्रसाद जी रसिकेन्द्र की 'इन्द्र पर चढ़ाई' शीर्षक से सोलह पंक्तियाँ छपी थीं, जिसके विषय में यह भी अङ्कित था कि ये पंक्तियाँ उनके 'पारिजात' नामक अमुद्रित काव्य से ली गई हैं। इन पंक्तियों में कृष्ण के वीर पुरुषोत्तम रूप की चर्चा की गई है—

सज्जित विशेष हुए ऋषीकेश शीघ्र फिर,
आवाहन किया प्रियवाहन खगेश का।
बोले ब्रजराज, खगराज से कि आज चल,
प्रियबन्धु देखें राज अमरेश देश का।
कर मनमानी अभिमानी को छका दें पूर्ण,
पानी दिखला दे भारतीय वीर वेश का।
बनके हुतासन कुशासन जला दें और,
आसन हिला दें पाक शासन सुदेश का॥

रसिकेन्द्रजी का यह छन्द भारत में राष्ट्रीयता के जागरण काल की अनुभूतियों से प्रभावित कृष्ण के अपौरुषेय व्यक्तित्व की अभ्यर्थना है, जिसमें खड़ी बोली का सुन्दर प्रयोग है। रसिकेन्द्रजी राधा के अनन्य उपासक थे। 'द्वारिका शतक' के प्रारम्भ में

मंगलाचरण के रूप में इन्होंने राधा की ही वन्दना की है—

उमा औ महेस जुगनेस नारदापि गाय
गुन जेंहि रिषि मुनि मगन रहत हैं।
इन्द्र जम वरुन कुबेर ध्रुव प्रहलाद
जाके पदपंकज की रज को गहत हैं।
आन उपमान ताहि करै को बखान जाहि
कृष्ण भगवान तन मन सो चहत हैं।
द्वारिका भनत भागवत से पुरान कान
राधिका कहेते नर आनंद लहत हैं।

शि० ना० शु०

द्विजदेव, राजा मानसिंह

अयोध्यानरेश मानसिंह 'द्विजदेव' का जन्म अगहन सुदी पंचमी सं० १८७७ में शाकद्वीपी ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता राजा दर्शन सिंह अवध के नवाबी शासन में उच्चपदस्थ अधिकारी थे। उन्हें राजा की उपाधि नवाबों द्वारा ही प्राप्त हुई थी। पिता ने बाल्यावस्था में इनकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था की, जिससे हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं की इन्हें अच्छी जानकारी प्राप्त हो गई। सामान्य-साहित्य के साथ ही इन्होंने काव्यशास्त्र का भी अध्ययन कविवर बलदेव सिंह से किया जिससे थोड़े ही समय में इनको रीति-काव्य के विविध अंगों का समुचित ज्ञान प्राप्त हो गया।

पिता दर्शन सिंह के देहावसान के बाद राज्य में अव्यवस्था फैली किन्तु अपने साहस तथा शौर्य से इन्होंने उसका शीघ्र ही दमन कर शांति स्थापित कर ली।

१८५७ ई० की प्रसिद्ध क्रान्ति में इन्होंने अंग्रेजों का साथ दिया और अंग्रेजों के कई परिवारों को क्रान्तिकारियों द्वारा समाप्त किये जाने से बचाया। इससे अंग्रेज सरकार ने इन्हें निकटवर्ती गोंडा तथा फैजाबाद जिलों में दो लाख रुपए वार्षिक आय का इलाका पुरस्कार स्वरूप प्रदान किया।

गोंडा के राजा देवीबख्शसिंह ने क्रान्तिकारियों का साथ दिया था। उनकी सेना सरयू के इस पार अंग्रेजी सेना की फैजाबाद छावनी पर आक्रमण करने के लिए पड़ी थी। मानसिंह ने अंग्रेजों के दबाव में आकर आधी रात को उनकी सेना पर अचानक आक्रमण करने के लिए नावों से सरयू पार करने की सुविधा दे दी। अप्रत्याशित आक्रमण से क्रान्तिकारियों के पाँव उखड़ गये और अंग्रेजी फौज को गोंडा के राजा के नेतृत्व में एकत्रित सेना को पराजित करने में सफलता मिल गई।

अंग्रेजों की इतनी सहायता करने के बावजूद बाद में कुछ विरोधियों के उकसाने पर अंग्रेज सेनाध्यक्ष को इनकी नीयत पर संदेह हो गया जिससे अंग्रेजी शासन इनको बंदी बनाने की योजना बनाने लगा। इसकी भनक पाने पर मानसिंहजी अपनी रक्षा के लिए भूमिगत हो गये। अज्ञातवास का यह समय इन्होंने वृन्दावन में बिताया।

वृन्दावन में अधिक समय तक निवास करने के कारण इनका सम्पर्क वहाँ के रसिक संत-महात्माओं से हुआ। राधा-कृष्ण के बीज इनके हृदय में पूर्व से ही विद्यमान थे। उपयुक्त वातावरण पाकर वे अंकुरित हो गये। श्यामा-श्याम की लीलाभूमि में इस दीर्घ कालीन प्रवास से इनका जीवन एक नए साँचे में ढल गया और ये शृंगारी कृष्ण-भक्ति के एकान्त साधक बन गये। यह बात इनके द्वारा विरचित तीन ग्रन्थों—शृंगार लतिका, शृंगार बत्तीसी और शृंगार चालीसी के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाती है। सं० १८७१ में वृन्दावन धाम में ही इनका परलोकवास हो गया।

द्विजदेवजी रीति काल के अंतिम सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनके छंदों से विदित होता है कि इनकी रचना करते समय रीति परंपरा का रचना विधान निरंतर ध्यान में रहता था। अलंकारों के साथ रसों की सफल योजना इनके काव्य की एक उल्लेखनीय विशेषता है। अराजकता, राजनीतिक

दाँव-पेंच तथा विरोधी तत्त्वों के प्रकोप की ज्वाला से आत्मरक्षा करते हुए इन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा तथा भक्ति-भावना का दीप आजीवन प्रज्वलित रखा—यह इनके साहस तथा संस्कारों की दृढ़ता का ही परिणाम था।

सिद्धहस्त कवि होने के अतिरिक्त ये एक उदार आश्रयदाता भी थे। इनके दरबारी कवियों में लछिराम, पंडित प्रवीन, जगन्नाथ अवस्थी तथा बलदेव विशेष उल्लेखनीय हैं।

राधा-कृष्ण-भक्ति से परिप्लुत इनके कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

(१)

श्री राधा वंदना

भूषन सारे सजाये जड़ाऊ,
जिन्है लखि तारे लगैं प्रति फीके।
त्यों द्विजदेव जू आनन की छवि,
अंग सबै सरमायें ससी के।
ताहू पै भानु प्रभा निदरे लसैं,
सुन्दर कुंडल कानन नीके।
मोहमयी तम क्यों न मिटै,
इमि ध्यान धरे वृषभानु लली के॥

(२)

बोलि हारे कोकिल बुलाय हारे केकी गन,
सिखै हारीं सखी सब जुगति नई नई।
द्विजदेव की सौं लाज बैरिन कुसंग इन,
अंगन ही आपने अनीति इतनी ठई।
हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे श्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधा मई।
आवन समै मैं दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समै में चल पल न दगा दई॥

(३)

अब मत दैरी कान कान्ह की बसीठिन पै,
झूठे झूठे प्रेम के पतौवन कों फेरि दै।
उरझि रही थी जो अनेक पुरखा तैं सोऊ,
नाते की गिरह मूंदि नैननि निबेरि दै।
मरन चहत काहू छैल पै छबीलो कोऊ,
हाथन उचाइ ब्रज बीथिन में टेरि दै।
तेह री कहाँ कौ जरि खेह री भई तौ मेरो,
देह री उठाइ वाकी देहरी पै गेरि दै।

(४)

भूले भूले भौंर बन भावरैं भरंगे चहुँ,
फूलि-फूलि किंसुक जके से रहि जाइ है।
द्विजदेव की सौं वह कूजनि बिसारि कूर,
कोकिला कलंकी ठौर ठौर पछिताइ है।
आवत बसंत के न ऐहैं जो पै स्याम तो पै,
बावरी ! बलाइ सों हमारे हूँ उपाइ है।
पीहैं पहिलेई तैं हलाहल मँगाइ या,
कलानिधि की एकौ कला चलन न पाइ है।

(५)

औरै भाँति कोकिल, चकोर ठौर ठौर बोले,
औरै भाँति सबद पपीहन के बै गए।
औरै भाँति पल्लव लिए हैं वृंद वृंद तरु,
औरै छवि पुंज पुंज कुंजन उनै गए।
औरै भाँति सीतल सुगंध मंद डोलै पौन,
द्विजदेव देखत न ऐसे पल द्वै गए।
औरै रति और रंग औरै साज औरै संग,
औरै बन औरै छन औरै मन ह्वै गए।

(६)

जैसी कछु कीन्हीं द्विजदेव की बिनै के बस,
कीन्हीं अब सोई 'द्विजदेव' चित चाँहे तैं।
मोहिं तौ भरोसौ नाहिं अपनी कुबुद्धि लखि,
निबहै हमारी अब तेरेई निबाहे तैं॥

कीन्हें कंठभूषन बिदूषन पैं दीन्हें कर,
पग पग पूरैं धुनि अमित उमाहे तैं।
तजि कमलासनै जु आई हौ हुलासनै तौ,
चित्त कमलासनै न भूषौ देबि काहे तैं॥

(७)

राती भई भूमि सो तौ जावक की छाप,
चुनरी की छाप रंग ऐसौ बरसै असेष घन।
सखी पगपातन गुलाल गुंफ से हैं खिले,
ए हैं जरतारी जिन्हैं जानत अबीर कन॥

'द्विजदेव' ऐसी छबि देखि देखि दौरौ कहा,
फागुन के भोरैं ब्रजमंडल के सारे जन।
सहज सखीन संग राधाजू पधारीं आज,
सावन मैं सूधे ही सुभायन असोक बन॥

(८)

कातिकी के द्यौंस कहूँ आइ न्हाइबे कौं वह,
गोपिन के संग जऊ नैंसुक लुकी रही।
'द्विजदेव' दीहद्वार ही तैं घाटबाट लगि,
खासी चंद्रिका सी तऊ फैली विधु की रही॥

घेरि वारपार लौं तमासे हित ताही समै,
भारी भीर लोगन की ऐसिऐ झुकी रही।
आली, उत आज 'बृष भानुजा' बिलोकिबे कौं,
भाँनुतनयाऊ घरी द्वैक लौं रुकी रही॥

(९)

एकहि ह्वै बिबि रूप राधिका स्याम कहावैं।
ह्वै बस-ब्रज जुबतीन चतुर चातुर मन भावैं॥

पंचबान रति कोटि अंग अंगनि मैं वारे।
छल बल करि ब्रज सुजस परम पावन बिस्तारे॥

'द्विजदेव' सातहूँ भुवन में अष्ट-सिद्धि-दाता बिदित।
मन सेवहु-नवधा-भक्ति-जुत नवरसमय व्रजराज नित॥

अयोध्या में इन्होंने 'राधा व्रजराज' का मंदिर निर्माण कराया था। इनके देहावसान के बाद उत्तराधिकारी राजा प्रताप नारायण सिंह ने उसकी समुचित सेवा-पूजा की व्यवस्था की थी।

इस प्रकार अपने राजनीतिक जीवन के लांछन को व्रजराज तथा व्रजभाषा साहित्य की सेवा द्वारा इन्होंने बहुत कुछ धो डाला था।

स० प्र० सिं०

द्विज प्रयाग

श्री द्विज प्रयाग १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। इनके अतिरिक्त इनके विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। इनकी एक रचना 'नाग-लीला' प्राप्त हुई है जो खड़ी बोली में लावनी पद्धति पर लिखी गई है। इसमें अरबी-फारसी के भी शब्द पाए जाते हैं। 'नाग-लीला' में श्रीकृष्ण द्वारा कालीय नाग के दमन का वर्णन है। यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१)

सात बरस का हुआ कन्हैया खेलै गोदी वालों में।
पाग केसरी मोर पखौआ मोती झलकै कानों में॥

बाँकी भौंह पर हुआ है आसिक जुलफ देत आई छिन में।
स्याम बदन पर खौर बिराजै चन्द छिपे मानो बादल में
कमल नैन नासिका बेसर धरे बाँसुरी अधरों में।
गले बिच मोतिन्ह के माल हीरा लाल लगे जिसमें॥

भुज बीच जोसन के जोड़ा बनमाला सोहै उर में।
कड़ा बीच हाथों के सोहैं सुभग लगे हीरा जिसमें॥

पाँव पैंजनी कसे काछनी पीत बसन भावे मन में।
लटक चाल झोंके से चलता थिरकि-थिरकि नाचे वृज में
एक समै खेलन को निकला ग्वालबाल लीन्हें संग में।
गया तीर जमुना के मोहन गुलफुल्ला देखा वन में॥

(२)

हलधर हाथ गहे प्रभु के ढिग,
वाम भाग नागिन सोहै।
बीच कान्ह काली के ऊपर,
नटवर भेष धरे विहँसे॥

अद्भुत रूप देखि बृजवासी,
मनमोहन महिमा बरनैं।
चढ़े विमान देव गुन गावैं,
अरि गंजन कहि नाम धरैं॥

वा० सिं०

धनञ्जयदास (काठिया बाबा)

श्री धनञ्जयदासजी 'काठिया बाबा' के नाम से प्रसिद्ध थे। इनका जन्म पश्चिमी बंगाल के बाँकुड़ा जिले के भंडार नामक गाँव में एक चक्रवर्ती ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये चतुःसम्प्रदाय के मूर्धन्य मनीषी तथा सिद्ध पुरुष थे। इनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व परम उदार रहा है। इनको विविध प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त थीं। भारत के विभिन्न प्रांतों में इनके शिष्य अधिकांशतः कालेजों के प्राध्यापक, वकील, डॉक्टर, न्यायाधीश आदि बुद्धिजीवी महानुभाव रहे हैं। व्याकरण, न्याय, वेदान्त और आंग्ल भाषा के विद्वान् होते हुए भी इनके व्यक्तित्व में सरलता, नम्रता, व्यवहार-कुशलता तथा सादगी आदि सभी गुण समाहित थे। वि० सं० १९९४ में श्री वृन्दावन कुंभावसर पर इनको "श्री बालकृष्ण शरणदेवाचार्यजी ने एक प्रशंसापूर्ण पत्र लिखा था। उसकी इन्होंने वर्तमान आचार्यजी से कई बार चर्चा की थी।

श्री बालकृष्णशरणदेवाचार्यजी के परमलोकवासी हो जाने के उपरान्त सर्वसम्मति से "श्री सर्वेश्वर संघ" नामक एक संस्था की स्थापना की गई, जो किशनगढ़ राज्य में पंजीयित कर दी गयी। उसका सभापति व्रजविदेही चतुःसम्प्रदाय श्रीमहन्त धनञ्जयदासजी (काठिया बाबा) को बनाया गया था।

इसी समय वर्तमान आचार्य श्री राधासर्वेश्वर शरणदेवाचार्यजी के अध्ययन की व्यवस्था सम्बन्धी चर्चा चली। यह कार्य इन्हें सौंपा गया। इनका आचार्य पीठ के अतिरिक्त अजमेर में चारभुजाजी के मन्दिर तथा उदयपुर भी पधारना हुआ था।

प्रत्येक कुम्भ में तो चतुःसम्प्रदाय के श्री महन्त होने के कारण ये चार-सम्प्रदाय-खालसा में अपना शिविर लगाकर सन्त सेवा करते थे, किन्तु शाही जूलूस के अवसर पर ये श्रीजी महाराज के साथ ही पैदल चलते थे। इस प्रकार श्री निम्बार्काचार्य पीठ के प्रति श्री काठियाबाबा की अगाध निष्ठा थी। इसी प्रकार अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ द्वारा आयोजित विराट् सनातन-धर्म सम्मेलन की 'स्मारिका' ग्रन्थ का विमोचन 'श्रीजी' महाराज के तत्वाधान में इनके द्वारा ही श्रीजी के मन्दिर वृन्दावन में सम्पन्न हुआ।

'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज द्वारा प्रणीत श्री स्तवरत्नाञ्जलि नामक ग्रन्थ का विमोचन भी इनके ही करकमलों द्वारा यमुना जयंती सं० २०३७ को हुआ। 'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज के अध्ययन में इन्होंने स्मारणीय योगदान किया। इनका लीला प्रवेश ११ मई १९८३ को सायंकाल ७ बजकर २० मिनट पर कलकत्ता में भगवती गंगाजी के पावन तटवर्ती सुखचर स्थान में ८२ वर्ष की अवस्था में हुआ। इनके उपदेशामृत के कुछ कण नीचे दिये जाते हैं—

१. भगवत्स्मरण करके ही प्रतिदिन जीवन व्यतीत करें।

२. बीती हुई बातों पर चिन्ता न करें। अपराध हो जाने पर सरल एवं निष्कपट भाव से गुरुदेव के समक्ष क्षमा याचना करें, गुरुदेव अपराध को अवश्य क्षमा करेंगे।

३. गुरुदेव के प्रति आत्मीय सर्ववस्तु के समर्पण करने से साधक सर्वथा निश्चिन्त और निर्भय रहता है।

४. श्री गुरुदेव और भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण करना सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है।

५. जप-तप-साधनों की अपेक्षा प्रतिक्षण भगवत्-स्मरण करने से उनकी शीघ्र प्राप्ति हो सकती है।

६. श्रीभगवान् तथा गुरुदेव के प्रति परम अनुरक्ति एवं शरणागति ही साधक को भगवद्

कृपा के प्रति आकर्षण कराने में सक्षम है। भगवद् दर्शन गुरु कृपा से ही संभव है।

७. गुरुनिष्ठ एवं गुरुदेवात्म शिष्य का प्रारब्ध कर्म गुरु कृपा से ही मिट जाता है।

प्रे० ना० श्री०

धनजीदास

श्री धनजीदास सिंगाजी के शिष्य थे। इन्होंने निमाड़ी भाषा में अपने ढंग की अनूठी और अनुपम रचनाएँ की हैं। ये जाति के नाई थे। इनका जन्म गोगाँवा के समीप एक गाँव में हुआ था। वेदा नदी के किनारे आज भी इनकी समाधि बनी हुई है। यों तो इनकी लिखी 'अभिमन्यु-व्याह', 'लीलावती', 'सुभद्रा व्याह' आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, लेकिन इन सबसे अधिक विख्यात इनकी 'मोती-लीला' है। यह रचना १७५ पदों में पूरी हुई है। इसमें इन्होंने एक धार्मिक कथा के आधार पर अत्यन्त ही मौलिक एवं नवीन कल्पना संजोई है। भाव, भाषा, उपमा और अलंकार की दृष्टि से यह एक सर्वांग सुन्दर कृति है। इसमें इन्होंने रूठी हुई राधा को मनाने के लिये मोतियों के व्यापारी के रूप में कृष्ण का वर्णन किया है। कथा इस प्रकार है—

एक दिन राधिका खूँटी पर अपना हार रख कर पानी लेने चली गईं। वहाँ से लौटीं तो हार गायब था। इन्होंने अपनी पड़ोसिन सहेलियों से पूछा कि, 'यहाँ कोई आया था।' उनका उत्तर था, 'हाँ नन्द के लाल कृष्ण आये थे और वे ही तुम्हारा हार ले गये हैं।'

इस पर राधाजी ने कृष्ण से पूछा तो उन्होंने अनेकों कसमें खा-खाकर हार के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। राधिकाजी ने अपनी युक्तियों से उनकी कसमों को झूठा सिद्ध कर दिया। पति-पत्नी के विनोद के माध्यम से इसमें भगवान् कृष्ण के कार्यों की अच्छी चुटकी ली गई है। कुछ नमूने देखिए—

कृष्ण कहते हैं कि '६६६ नदियों का पानी लाओ। अगर हमने हार लिया होगा, तो हम डूब जायेंगे।' इस पर राधिकाजी कहती हैं कि, 'सात समुद्र भरे थे, उसमें से तो तुमने मथकर चौदह रत्न निकाल लिये। वहाँ नहीं डूबे, तो यहाँ क्या डूबोगे ?'

इस पर कृष्ण कहते हैं 'हे राधे! अभी अग्नि लाओ और उसमें गरम गोले तपाओ, उन्हें हम हाथ में रखेंगे, अगर हमने हार लिया होगा तो हमारे हाथ जल जाएँगे।' राधिका उत्तर देती हैं, 'प्रह्लाद के लिए गरम खम्ब किया था, उसमें तो तुम जले नहीं, तो आग के गोले में क्या जलोगे ?'

कृष्ण पुनः कहते हैं 'राधिका! इसी समय एक ऐसा घड़ा लाओ जिसमें जहरीला नाग हो। उसे हम हाथ में लेंगे, अगर हमने हार लिया होगा तो वह हमें डस लेगा।' इस पर खीझ कर राधिकाजी कहती हैं, 'गेंद के लिए तुम कालिय दह में कूदे थे और वहाँ से नाग नाथ लाये थे। उसने तो तुम्हें डसा नहीं, तो यह क्या डसेगा ?'

इस तरह श्रीकृष्ण की एक भी बात का विश्वास न कर राधिकाजी रूठ कर अपने मैके चली जाती हैं। तब वहाँ कृष्ण मोतियों के व्यापारी बनकर जो लीला करते हैं उसीका इसमें अत्यन्त सुन्दर वर्णन है।

इनके गुरु सिंगाजी का काव्यकाल संवत् १५७६ के आस-पास माना जाता है। उनका निधन संवत् १६१६ को श्रावण सुदी में हुआ। यही समय धनजीदास का भी रहा है।

निमाड़ी भाषा में रचित 'मोतीलीला' की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

तिरिया को सिंगार कंठ जो लागऽ सुहावणो,
बाला हारी रे म्हारो हार देवो।
अबला नु अवात कंठ जो लागऽ सुहावणो,
राधेजी पाणी संचरया, खूंटो वळ्यो छे हार॥
पाणी लई न पलटिया, हुया कौन हवाल।
कि हो पड़ोसेण, कुण हो आया, आया नन्दजी का लाल॥

आया हो प्रभुजी हार लई गया, तिरिया नु श्रृंगार ।
नवसौ निन्याणु नदियाँ बहे, तेही को जल इकट्ठो करो ।।

ओ हिरे जल हम डूबो मरा, नहीं तो तिरा जल माय ।
सात समुंदर जल भर्या, वाको महिड़ो बिलोयों ।।

महिड़ो बिलोई चौदह रत्न लाया, तब डुबीया न काय ।
अगिन बुलाओं राधा, या घड़ो ताता गोफा तपावो ।।

वाही रे गोळा हम हाथ धरा, जलई जासा ठांय ।
ताता हो खंभ तपाविया, भक्त प्रह्लाद कारण ।।

वाही रे खम्ब तु भेदिया, जब जळया नी काय ।
कुम्भ बुलाओ राधा या घड़ी, जाये मोटो छै नाग ।।

वाही रे नाग हम हाथ धरा, तबं डसी जासे ठांय ।
गेंद कारण, जमुना कूदिया, नाथो लाया वासुकी नाग ।।

सेली पेरई न गोकुल लाया, जवं डसिया नी काय ।

रा० ना० उ०

धनराज राठौर/हरिनाथ सिंह

चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी ने भक्त धनराज को राठौरवंशी और हरिनाथ सिंह को कूपावत क्षत्रिय होने का उल्लेख किया है—

श्री किशोरी लाल जिहि गुरु प्रशंस ।
धनराज भक्त राठौर वंश ।।

हरिनाथ लखे हिय जुगल वंश ।
सतसंगति करि भेटी जु शंश ।।

—चतुर्थ बसन्त प्रबन्ध

उत्कण्ठा धनराज भक्त हित प्रेरि कराई ।
उदित वंश राठौर भक्ति जा हिये सचाई ।।

—श्री हरिवंश सहस्रनाम

कूपावत हरिनाथ सिंह अरु वारठि ब्रजदास ।
तिनसौं पूछ्यौ कौन ये करौ जु नाम प्रकास ।।

—अभिलाषा बत्तीसी

ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों का जन्म कृष्णगढ़ राज्य में हुआ था। ये दोनों ही गोस्वामी किशोरीलालजी के शिष्य थे। श्री हरिवंश नाम-वाणी और हित रसिकों में इनकी अगाध प्रीति थी। चाचा श्री हित वृन्दावनदास से इनका घनिष्ठ प्रेम था। धनराज भक्त की प्रेरणा पर ही चाचाजी ने 'श्री हरिवंश-सहस्रनाम' की रचना वि० सं० १८१२ में की थी। चाचाजी अनेक वर्षों तक कृष्ण गढ़ नरेश बहादुर सिंहजी के यहाँ रहे थे। 'अभिलाष बत्तीसी' में हरिनाथ सिंहजी वि० सं० १८३५ में चाचाजी के साथ कृष्ण गढ़ में उपस्थित बताये गये हैं। इस आधार पर इनकी विद्यमानता वि० सं० १८५० तक अनुमानित की जा सकती है।

चाचाजी जैसे रसिकों के सान्निध्य में रहकर इन्होंने इसी जीवन में वह अलभ्य निधि प्राप्त कर ली थी जिसे पाकर अन्य कुछ पाने की कामना शेष ही नहीं रह जाती।

श्या० बि० खं०

धनीराम बक्शी

धनीराम बक्शी शुकनाथ बक्शी के पुत्र थे। इनका जन्म चाईबासा, जिला सिंहभूमि (बिहार) में १४ जनवरी १८९६ को हुआ था। इनका देहावसान यहीं २२ मई १९६६ को हो गया। चाईबासा में इन्होंने 'हितैषी कार्यालय' नामक एक संस्था की स्थापना की थी, जहाँ से इन्होंने नागपुरी में अनेक छोटी-बड़ी पुस्तिकाओं का प्रकाशन कर नागपुरी साहित्य की लुप्त होती जा रही परम्परा को नया जीवन प्रदान किया। ये स्वयं नागपुरी के सशक्त गद्यकार तथा कवि थे। इनकी गणना नागपुरी के 'बृहत्-त्रयी' में की जाती है। शेष दो बृहत् घासीराम और पीटर शांति नवरंगी माने जाते हैं। श्री विश्वनाथ दुबे ने 'धनीराम बक्शी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' नामक शोधग्रन्थ में इनका मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। इनकी रचनाओं की सूची बहुत लम्बी है। अतः विस्तारभय के कारण यहाँ उनका विवरण नहीं दिया जा रहा है।

'नगपुरिया फगुआ गीत' (दूसरा भाग) से बक्शीजी का एक कृष्ण-भक्ति परक गीत नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

पिरिति का भड़कल आगि,
हो गोरी बुझहु कुबरी बड़ भागी ।।

धन जौवन गेल, कुल कलंकित भेल,
निशि बीतल सारी जागि,
हो गोरी बुझहु कुबरी बड़ भागी ।।

घर दुरा छुटि गेल, कानन अंगना भेल,
बने बनली बिरागी,
हो गोरी बुझहु कुबरी बड़ भागी ।।

बदन मलिन भेल, बसन छेछेरा भेल,
जरत जियरा लागल आगि,
हो गोरी बुझहु कुबरी बड़ भागी ।।

निहारि भुलली बाँका, कलपत काहे बोका,
'धनि' कहैं दरशन लागि,
हो गोरी बुझहु कुबरी बड़ भागी ।।

श्र० कु० गो०

धरणीधरदास

धरणीधरदासजी गोस्वामी दामोदरवरजी के शिष्य थे। श्री हित चतुरासी पर इनकी व्रजभाषा टीका [रचनाकाल–वि० सं० १७४९] प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त इनके ऐहिक जीवन का कोई इतिवृत्त प्राप्त नहीं होता। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर इनका विद्यमान काल अनुमानतः वि० सं० १६७० से १७६० के मध्य स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

धरनीधरदास

धरनीधरदासजी के लौकिक एवं रसिक जीवन से सम्बन्धित सूत्र यद्यपि राधावल्लभीय सम्प्रदाय के ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्राप्त नहीं हैं, तथापि श्री राधावल्लभीय-सम्प्रदाय के आद्य आचार्य गो० श्री हित हरिवंशजी की व्रजभाषा रचना 'श्री हित चतुरासी' की उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन टीका, जो कि इन्हीं के द्वारा की गई है, समुपलब्ध है। दोहा-सवैया छन्दों में विरचित इस व्रजभाषा टीका की वि० सं० १७४९ में उदयपुर में श्री परमानन्दजी पाठक के हस्तलेख में की गई प्रतिलिपि, जो कि श्री धरनीधरदासजी के पुत्र रत्न श्री जगजीवनदासजी के पठनार्थ की गई थी, गो० श्री हितानन्दजी (बड़काला मोहल्ला, वृन्दावन) के निजी संग्रहालय में आज भी सुरक्षित है। इस टीका की प्रारम्भिक एवं अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

प्रारम्भ—"श्री राधा वल्लभो जयति"
"श्री व्यास नंदनो जयति"
"श्री दामोदर मनिर्जयति"
रागु-ललित—जोई जोई प्यारौ करै
—सम्पूर्ण पद

• • •

अंत—इति श्री चौरासी सटीक सम्पूरनं ।।
शुभमस्तु मंगलं ददात् ।।

दोहा

वानी हित हरिवंश की, सागर तें गंभीर ।
कही गई मोपै जिती, तिती गहै खग नीर ।।

जुग रस माते रसिकवर, तिन में होहु जु वास ।
हित धरनीधर दास को, पुरवो यहई आस ।।

कियौ बुद्धि अनुसार यह, टीका अर्थ सभाइ ।
धरनीधर है दास हित, मन वच प्रेम सुभाइ ।।

टीका नाम जु क्यों धरौ, नहिं वानी उनमान ।
जुगल भजनु यह जानियौ, कीर्तन नाम सुजान ।।

विनती रसिकनि सौं करौं, हौं अति मति करि हीन ।
भूल्यौ हौंहि सुधारियौं, कोविद परम प्रवीन ।।

संवत् १७४९ फाल्गुन…………सम्पूर्ण ।।
लेखक नाम पाठिक परमानंद अस्थान उदयपुर ।।

शुभमस्तु-श्रीरस्तु ।।
सुहस्त धरनीधरदास सुत श्री जग जीवनदास के ।।

टीका की उक्त प्रारम्भिक एवं अन्तिम पंक्तियों से हमारी धारणा है कि—

१. श्री धरनीधरदासजी राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य गोस्वामी दामोदरवरजी के शिष्य थे।

प्रारम्भ में आयी 'श्री दामोदर मनिर्जयति'—यह पंक्ति इस तथ्य को प्रमाणित करती है।

२. श्री धरनीधरदासजी वृन्दावन से बाहर, बहुत अधिक सम्भव है कि उदयपुर में ही, निवास करते थे और वहीं इन्होंने यह टीका की थी। यही कारण है कि उन्होंने अन्तिम पंक्तियों में जुग-रस-माते वृन्दावनीय रसिकों के बीच में स्थायी निवास प्राप्त होने की अभिलाषा व्यक्त करते हुए उसे पूर्ण करने की श्री हित प्रभु से प्रार्थना भी की है।

श्री धरनीधरदासजी के रसिक-हृदय का परिचय प्रदान करने के लिए 'श्री हित चतुरासी' के वसंत के एक पद—'राधे देखि वन की बात'—की उनकी टीका एवं राग-मालश्री में गेय एक पद जो कि श्री हित चतुरासी की इनकी टीका की प्राप्त प्रतिलिपि में टीका समाप्ति के पश्चात् लिखा है, नीचे दिया जा रहा है—

(१)

दोहा

कहति सखी हे भामिनी, सुनौं हमारी बात।
देखों नव रितु सोहई, कुसुमित बन फल पात॥

जथा सवैया

बैनु बजावत लाल सुनौं धुनि,
बोलत है सुर माँझ सु ऐसें।
जानति हौ तुम राधिका नागरि,
जौ रु कहो तौ सुनाऊँ मैं तैसें॥
होतु विलम्बु उभै कल केलि कौं,
जाइ वृथा यह औसर कैसें।
यौं सुनि बैस कियौ अब सेज पै,
राजत ज्यौं मनि कंचन जैसें॥

(२)

राग-मालश्री

ऐ माई कुंज सदन बैठे रँग भीने,
सुख विलसत दोउ लाल।
अंस बाहु दै नाहु नवेली,
कीने अंकनि माल॥

ए विटप तमाल स्याम लपटानी,
कंचन बेली बाल।
भयौ उदोतु मनोज सूर कौ,
टरै तिमिर अलि जाल॥

चुंबन परिरंभन छबि बाढ़ी,
आइ तुरत त्रिवि भाल।
कोक कला निधि पूरन दम्पति,
बोलत केकि मराल॥

रध्र कुंज सुख पुंज निहारति,
विवस भई तिहि काल।
धरनीधर हित बाढ़चौ अति सुख,
अलिगन नैन निहाल॥

इनका विद्यमान काल अनुमानतः वि० सं० १६५० से १७४९ के कुछ पूर्व विदित होता है।

श्या० बि० खं०

धरमदास

श्री धरमदास वि० सं० १६०० के बाद उत्पन्न हुए थे। वार्ता साहित्य और इतिहास ग्रंथों से इनका कवि होना सिद्ध होता है। पुष्टिमार्गीय पद संग्रह-कर्त्ताओं ने श्रीधरमदासजी के पद-कीर्तनों का संग्रह किया है। इन्होंने गो० विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली थी।

एक बार गो० विट्ठलनाथजी गोकुल से घोड़े पर वरसाने की ओर आ रहे थे। धरमदासजी ने गोसाइंजी की प्रशस्ति सुनकर मन में उनसे मिलने की ठान ली थी। गोसाइंजी प्रतिदिन व्यवस्था देखने हेतु गोकुल से बरसाने और गोपालपुर आया-जाया करते थे। धरमदास ने यह बात पता कर ली थी। इन्हें मालूम था कि गोसाइंजी करुणा के आकर हैं। अतः वे प्रज्ञाचक्षु धरमदास को अपनी शरण में उसी प्रकार ले लेंगे जिस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूरदास को लिया था।

गो० विट्ठलनाथजी के बरसाने जाते समय अडींग के पास ही श्री धरमदास ने उनका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। नेत्रों से हीन धरमदास के ऊपर जब गोसाइंजी का घोड़ा चढ़ने लगा तो श्री विट्ठल नाथजी को अनुभव हुआ कि यह व्यक्ति अन्धा है। उन्होंने घोड़ा रोका और परिचय पाकर दयार्द्र हो उठे। उन्हें अन्धे ब्राह्मण धरमदास पर दया आ गई और घोड़े से नीचे उतर कर उन्होंने अपनी झारी में से जल लेकर उसकी छीटें धरमदास की आँखों के ऊपर ज्यों ही छिड़कीं त्यों ही उनके नेत्रों में ज्योति का संचार होने लगा। कुछ समय बाद गुसाइंजी के गोपाल पुर जाते समय धरमदासजी इतने प्रभावित हुए कि इनके पीछे-पीछे चलकर गोपालपुर पहुंचे। गोपालपुर में पूरी तरह दर्शन लाभ लेकर श्री धरमदास ने निवेदन किया कि एक दीन ब्राह्मण को आप अपनी शरण में लेकर उसका जन्म कृतार्थ करें। इनकी दीनता भरी पुकार पर द्रवित होकर करुणासिन्धु गोसाइंजी ने जेठ सुदी १० सं० १६२८ में श्री धरमदास को अपनी शरण में ले लिया। इनका जन्म अडींग में हुआ था। शीतला (बड़ी चेचक) के प्रभाव से इनकी आँखें समाप्त हो गई थीं। अतः मथुरा गोवर्धन मार्ग पर ये भीख माँग कर अपनी उदर पूर्ति किया करते थे।

शरण में आने के पश्चात् धरमदासजी ठाकुर जी के चरणों में बैंठकर हरिनाम संकीर्तन बड़ी तन्मयता से किया करते थे। गो० विट्ठलनाथजी ने इन्हें 'श्रीवल्लभाष्टक' की शिक्षा देकर मार्ग की प्रणाली का बोध कराया था। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक ग्रन्थों का अध्ययन भी गुरुदेव के निर्देशन में किया था गो० विट्ठलनाथजी की दृष्टि में श्री धरमदास एक उच्चकोटि के वैष्णव थे। श्रीराधा और कृष्ण की अनेक लीलाओं का चित्रण करना इन्हें प्रिय लगा है। यहाँ धरमदास जी के दो पद प्रस्तुत हैं। इनमें उपालम्भ और हिडोंरे के प्रसंग चर्चित हैं—

(१)

अहो हरि भामते।
भावती कहु कीनो।
नई प्रीति की रीति सुनो,
क्यों न नातो तासो गामते।
इन सकुचन पतियाँ हु न लिखत,
दुख पावें सुनत मेरे नाम तें।
धरमदास प्रभु तुमकूं दोष नहीं।
बीच पर्‌यौ काहू वाम तें॥

(२)

मदन मोहन के संग झूलत,
तैसौई सुरंग वन्यौ हिडोंरना।
प्रति हुलास भुव विलास सप्त सुरन मिलि गावत।
ए ए पिय मन भावत,
अमृत बचन मधुर मृदु बोलना।
नव नव जो बनिया तन-तन,
कुसूमी सारी बरन बरन पहिरे खोलना।
धरमदास प्रभु प्रवीन लीला विचित्र।
सबहिन के मन भावत लालना।

रा० कृ० श०

धर्मंदास (प्रथम)

श्री धर्मंदास (प्रथम) कृत 'महाभारत' ग्रन्थ का विवरण ना० प्र० सभा के खोज विवरण (१९२०-१९२२) में दिया गया है। यह सं० १७११ वि० (सन् १६५४ ई०) की रचना है। इन्होंने उक्त ग्रन्थ की रचना राजा प्रतापशाह सेंगर की आज्ञा से की थी। यह महाभारत का पद्यबद्ध अनुवाद है। इसकी उपलब्ध प्रति में वर्ण्य-विषय का अत्यंत सजीव चित्रण प्राप्त होता है। उनमें वासुदेव कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना गया है।

त्रि० ना० सिं०

धर्मंदास (द्वितीय)

प्राणनाथी-सम्प्रदाय के आधुनिक सन्त कवियों में धर्मंदासजी (द्वितीय) का नाम उल्लेखनीय है।

इनके भौतिक जीवन के विषय में मात्र इतनी जानकारी प्राप्त होती है कि इन्होंने प्रणामी-सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र जामनगर के खिजड़ा मन्दिर को महंत परम्परा में धनीदासजी के बाद आचार्य पद को सुशोभित किया था। 'प्रणामी-मत-सिद्धान्त', 'विधि-निषेध' और 'सेवापूजा' शीर्षक रचनाओं के अतिरिक्त इनके द्वारा रचित कुछ स्फुट पद भी प्राप्त होते हैं। परमधाम में होली के अवसर पर आयोजित राधा और कृष्ण के अखंड रास का इन्होंने सुन्दर वर्णन किया है। इनके अनुसार श्यामा-श्याम की आठ तारतम्य लीलाओं से उनके दर्शन होते हैं। इनके कृष्ण-भक्ति विषयक कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

खेलत सबही सब मिल होरी।
सखो सहेली मिलकर आई रंग बिरंगी गोरी॥

नवसत सजि सिंगार उमंगे आई जुवतिन जोरी।
खेले ब्रज अरन-अखंड रास में जागनी रंग में बौरी
'धरम' हाथ जो जोरी॥

प्रथम तारतम आवेश, यंत्र तारतम्य दुजो जान।
निध तारतम तीसरो, तारतम को तारतम भान॥

तारतम वाणी पंचम, छट्ठो तारतम नूर।
तारतम लीला सातमो मूलतार वसु पूर॥

अष्ट प्रकार तारतम के भेद पावे जो कोय।
श्यामाश्याम सुन्दर सही, दर्शन सबके होय॥

रा० प्र० त्रि०

धर्मदास/वल्लभराम/तुलसीदास

धर्मदास, वल्लभराम तथा तुलसीदास की साम्प्रदायिक साहित्य में संयुक्त रूप में मात्र निम्नांकित चर्चा मिलती है—

करैं धर्मदास धर्मोनु प्रीति।
विद्या सु गान रस रंगोली रीति॥

पुनि वल्लभ राम सहज समोति।
हित पद साँची जिनके प्रतीति॥

—चतुर्थ वसन्त प्रबन्ध

ताके आगे कुंज गुजराती की वसत वामें,
तुलसी औ वल्लभ ये दोऊ एक प्राण हैं।
हित जू की वाणी गावैं नेकु न अघावैं आप,
छकैं औ छकावैं कौन इनकी समान है॥

निशि दिन हित रस छके ही रहत सदा,
सबकों सुखद लेत रंग भरी तान हैं।
वृन्दावन गौर श्याम हित धन जिनके हैं,
तेई मेरो धन और गति नहिं आन हैं॥

—वृन्दावन प्रकाश माला

ये तीनों महानुभाव किनके शिष्य थे, इस सम्बन्ध में कोई सूत्र उपलब्ध नहीं है। गोस्वामी चन्द्रलालजी के वर्णनानुसार वल्लभरामजी तथा तुलसीदासजी अभिन्न हृदय थे और सेवाकुंज वृन्दावन के निकटस्थ गुजराती की कुंज में रहा करते थे। चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी ने श्री धर्मदासजी की श्री वल्लभराम जी से सहज प्रीति होने का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि श्री धर्मदासजी भी इन्हीं के आसपास कहीं रहा करते थे।

ये तीनों ही भजन-भावना परायण, संतसेवी और वीतराग महात्मा थे। चाचा श्री हित वृन्दावन दास एवं गोस्वामी चन्द्रलालजी ने इनकी गान-कला की भूरि-भूरि प्रशंसा अनेक स्थलों पर की है। इनके हृदय में श्री सेवकजी महाराज की ये पंक्तियाँ घर कर गई थीं—

सेवक शरण सदा रहै, अनत नहीं विश्राम।
कै वाणी हरिवंश की, कै हरिवंशहि नाम॥

● ● ●

नाम-वाणी जहाँ, श्याम श्यामा तहाँ

● ● ●

नाम वाणी निकट, श्याम श्यामा प्रगट

● ● ●

नाम वाणी सुनत श्याम श्यामा सुवस

फलतः ये हित-नाम-वाणी के अनन्य व्रतैकनिष्ठ बन गये थे। ये जब श्री हित चतुरासी के पदों का

मधुर गायन करते थे तब स्वयं तो भाव-समुद्र में डूब ही जाते थे, रसिक श्रोतागणों को भी रस से आपूर्ण कर दिया करते थे। श्रीजी के उत्सवों के आगमों से इनका हृदय फूल उठता था। ये बधाइयाँ गाते समय इतने आनन्द-विभोर हो जाते थे, झूलन गाते समय ऐसे झूमने लगते थे और फाग गाते समय ऐसे रागोन्मत्त हो जाते थे मानों इन उत्सवों ने इन्हें गान के माध्यम से फूल-झूल और उन्माद बाँटने के लिए ही नियुक्त किया हो। गोस्वामी चन्द्रलाल ने विक्रम संवत् १८१३ से पूर्व श्री जादौ भक्त द्वारा श्री हित रास-मण्डल पर किये जा रहे हितोत्सव का वर्णन करते हुए इन तीनों का नामोल्लेख समाज गायकों के मध्य इस प्रकार किया है—

हित सब हित कुल किशोरीलाल वंशीधर,
वल्लभ और तुलसी ये गावत उमंग में।
धर्म हरीदास बालकृष्ण राधिकादास,
जयकृष्ण बोलैं नित हित सौं प्रसंग में।।
रसिक अनन्य धीर धर्मी निज कृपापात्र,
थेई-थेई कहत भगत प्रेम रंग में।
बाजत हैं साज मोहि रह्यौ है समाज सब,
लेत हैं झकोर सुख सिन्धु की तरंग में।।

—वृन्दावन प्रकाश माला

इस प्रकार से वृन्दावनीय रसिकों की सम्पति हित दम्पति के राग-रंग में पगे रहते हुए इन्होंने इसी जीवन में उनकी रीझन प्राप्त कर ली थी और अन्त में पंचभौतिक देह का परित्याग कर ये सदा-सदा के लिए दिव्य वृन्दावन के उस रस-रास-रंगपूर्ण वातावरण को प्राप्त हो गये।

इनका विद्यमान काल विक्रम संवत् १७६० से विक्रम संवत् १८४० के मध्य अनुमानित होता है।

श्या० बि० खं०

धर्ममित्र

श्री धर्ममित्र का जन्म भाद्रपद कृष्ण नवमी विक्रम संवत् १९२२ को नारनौल में पं० श्रीराम भार्गव के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम श्रीमती राधादेवी था। बाद में ये जयपुर निवासी निरंजनलालजी के यहाँ गोद आए। इनका वास्तविक नाम किशोरीरमन था। ३० वर्ष की आयु में वृन्दावन-निवासी महन्त गोविन्ददास से दीक्षा ग्रहण कर बानाधारी साधु बन गए। इन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति कृष्णार्पित कर दी, पुत्रों को गोद दे दिया तथा स्वयं को सब प्रकार के मोह से मुक्त कर लिया। इन्होंने शुकतार, नैमिषारण्य, डेहरा, वृन्दावन आदि स्थानों पर सम्प्रदाय के मन्दिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार करवाया। ये सनातन धर्म व शुक सम्प्रदाय के एक प्रमुख स्तम्भ एवं प्रचारक ही नहीं, बल्कि अपने नाम के पर्याय भी बन गए। संवत् १९७१ की मकर संक्रान्ति को सपत्नीक (श्रीमती कौशल्या) इनको शुकदेवजी के दर्शन हुए। इन्होंने जयपुर में श्री राधाकृष्ण के मन्दिर का निर्माण करवाया, जो बिहारीजी के मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

चरणदास→गुरछौना→अषैराम→चेतनदास दुधाहारी→मोहनदास→भगवानदास→खूबदास→गोविन्ददास→धर्ममित्र।

ये संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, अरबी तथा फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता और शुक सम्प्रदाय के एक सिद्धहस्त लेखक व कुशल उपदेशक थे। 'हिन्दू धर्म दिवाकर', 'हेमू वीर', 'भार्गव महत्त्व', 'भार्गव दर्पण', 'चमनिस्तान', श्री श्यामाचरणदासाचार्य के चतुर चमत्कार व चतुरामृत चरित्र', 'कृष्ण·दर्शन' (संवत् २००६) तथा सम्प्रदाय के आचार्यों की यशोगाथा से पूर्ण अन्य रचनाएँ इनकी मुख्य कृतियाँ हैं। इन्होंने 'धर्मतत्त्व प्रबोधिनी' नामक पत्रिका भी निकाली थी। जगद्गुरु शंकराचार्य, म० म० गिरधर जी शर्मा, श्री रामानुज तथा वल्लभ-सम्प्रदाय के शीर्षस्थ महन्तों ने इनकी काफी प्रशंसा की है। जयपुर के तत्कालीन मंत्री सर गोपीनाथ ने इनके विषय में लिखा है—"I should Call him a

sincere Sadhu, the Like of whom are rarely met within the world. Sometimes I have realised that he Foresees the things long before they actually happen."

ये एक वीतरागी पवित्र आत्मा थे। इनके कर्मों में निष्ठा एवं पवित्रता की ज्योति थी। इनके आशीर्वादों में दिव्य शक्ति थी। संवत् २००७ में इन्होंने महाप्रयाण किया। इनके 'कृष्ण-दर्शन' से उदाहरण-स्वरूप कतिपय पंक्तियाँ अवतरित हैं—परमात्मा श्री कृष्ण से करीब ३१०० वर्ष पश्चात् मुरारी वंश में ईसा पैदा हुआ। यह बालक बड़ा होनहार था, इस लिए पैलेसटाइन के यादवों ने कहा कि यह तो ऐसा ही चमत्कारी तेजस्वी पुत्र पैदा हुआ जैसा कि हमारा पूर्वज परम ईश श्री कृष्ण हुआ है। 'ईशा' का अर्थ संस्कृत में 'बहुत बड़ा' है, इसलिए ईशा नाम रखा। दूसरा नाम क्राईस्ट इसलिए रखा कि कृष्ण को बंगाल वगैरह में क्रस्टो बोलते हैं। बस, संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार क्रस्टो का बेटा क्राईस्ट नाम हुआ जैसे कि यदु का बेटा यादव, वसुदेव का बेटा वासुदेव। अनुमान से पौष महीने के आखीर में इसका जन्म हुआ। हिन्दुओं की रीति के अनुसार बालक पैदा होने के एक सप्ताह तक खुशी की। जब आठवाँ दिन हुआ तब महीनों के नाम बदले गए और नये सम्वत् का रिवाज दिया। सात दिन खुशी के बाद आठवें से पहले महीने का नाम जनवरी रखा गया, क्योंकि ईसा का जन्म हुआ। फाल्गुन व फाल्गुनी नक्षत्र के कारण फरवरी, चैत्र में माता देवी का पूजन। अतः मार्च नाम रखा, क्योंकि चैत्र में दुर्गा-पूजन होता है। अरचा पूजन को कहते हैं। आप्रय एक देवता वेद का है, जिसका पूजनबसंत ऋतु में होता है, अतः अप्रैल नाम हुआ। सावन जिसमें जल की वर्षा बहुत होती है, जिसका नाम जुलाई रखा अर्थात् जल आई। भादों के अन्त में अगस्त ऋषि का तारा उदय होता है, अतः अगस्त नाम रखा। चूँकि नवीन वर्ष अर्ध चैत्र या संक्राति साल वैशाख से शुरू होता है। इसी हिन्दी कायदे से सातवें महीने का सैप्टेम्बर, आठवें महीने का नाम अक्टूबर से बिगड़ कर अक्टूबर हो गया और नवें महीने का नाम नौवम्बर व दसवें महीने का नाम दिसम्बर रखा।"

म० गो० भा०

धारी

सुश्री धारी गो० तुलसीदासजी (लालजी) की एक मात्र पुत्री थीं। इनका जन्म सं० १६४७ है। एक-मात्र कन्या होने के कारण परिवार में बड़े लाड़-प्यार से इनका पालन-पोषण हुआ। परिवार के भक्त-मय वातावरण का इनके ऊपर प्रभाव पड़ा। इस लिए प्रेमलक्षणा-भक्ति और उसमें तन्मयता की अभिव्यक्ति इनकी रचनाओं से मिलती है।

इनके विवाह तथा गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। इतना अवश्य है कि इनका अधिकतर समय पितृगृह में ही व्यतीत हुआ, क्योंकि पुत्री धारी के नाम का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। इनके मृत्यु काल के सम्बन्ध में भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

इनकी रचनाएँ पुस्तकबद्ध न होकर फुटकर ही हैं। परन्तु प्राप्त पदों के भाव एवं भाषा से यह अनुमान लगाया जाता है कि इन्होंने पर्याप्त पद लिखे होंगे, जो देश-विभाजन के समय पीठ के पुस्तकालय डेरा गाजीखाँ (पाकिस्तान) में ही रह जाने के कारण इस समय अप्राप्त हैं। अब पीठ के पुस्तकालय की क्या दशा होगी ? कहा नहीं जा सकता।

एक उदाहरण प्रस्तुत है जिसमें मानिनी राधा से दूती मान त्याग करने के लिए अनुनय करती हुई उनके प्रति श्री कृष्ण के प्रेम की अनन्यता का वर्णन करती हुई कहती हैं—

सघन कुञ्ज तले तोहि श्याम बोले।
ऐसे ही लालन बिन क्यों रहै अबोले॥
चुन चुन कलियाँ मैं सेज सँवारी।
तुम बिन कल न परत जो बिहारी॥

तू ही तन तू ही मन तू ही प्रान प्यारी।
'धारी' के प्रभु प्यारी जो कौ पन्थ हो निहारी॥

सु० श०

धीरजराम

ना० प्र० सभा की खोज में श्री धीरजराम की 'सुदामा चरित्र' नामक एक रचना मिली है। इसमें इन्होंने अपना जो संक्षिप्त परिचय दिया है उसके अनुसार ये शाकद्वीपी ब्राह्मण और रामगढ़ के निवासी थे। ये चार भाई थे। अन्य तीन भाइयों के नाम थे—गोविन्दराम, मनसाराम और दसाराम। ये विष्णुसिंह नामक किसी राजा के दरबारी थे। कवि के शब्दों में—

विष्णुसिंह नृप नगर में बसौ सदासुख पाय।
दानमान सनमान जत, देखत अवर सिहाय॥
साकलद्वीपी कुल भयो, 'मोहनाख्य' गुणमाल॥
तासु तनै श्रीकांत भौ, गुण अपार मति धीर।
दामोदर तिन्हकै तनै, जासु बुद्धि गंभीर।
मुरलीधर तिनके तनै, तासु तनै भौ चारि॥
'धिरजाराम' सुनामतिन्ह, जिन्ह ए कथा सुधारि॥
अनुजह 'गोविन्दराम' ता सुतै सो मनसाराम।
दशाराम लघु सभन्हिते सोहौ गुण को धाम॥
सहर रामगढ़ महँ रहै, अहै तहा मम धाम।
स्याम सुदामा की कथा, वरणत 'धोरजराम'॥

'सुदामाचरित्र' का आख्यान कृष्ण-सुदामा की प्रसिद्ध कथा से संवद्ध है। इसका रचनाकाल सं० १७८७ है, जो कवि ने स्वयं इस प्रकार दिया है—

नग वसु सागर चंदलौ, भौ संवत संचार।
मेचक पछ वैसाख के, कथा कोन्ह अनुसार॥

इनकी कविता का एक नमूना इस प्रकार है—

(१)

आजुहि आवन मीत कहो,
नहि नेकु नगारो सुनात कहीं।
कोउ नाहीं पथ आवत पेखहि
दूरिलौं लोचन लाए रही॥
बूझत कै धिरिजा जिन्हके गुण
आनद चित्त विसाल लहो।
केतिक सैन चलै तिन्हको
जेहि कारन आवत बेगि नही॥

(२)

ठाढ़ दुओ कर जोरि जहाँ,
सुवृंद नरेंद्रन भोरि घनेरा।
झूमत द्वार खड़े गज मत्त,
दुहूँ दिसु राजित बाजि अडेरो॥
पूछैगों को तितु मोहि भिखारिहि
धूसरु अंगु कुरंग बसेरो।
सूचति मूरति सोच भये
दिज जाउ उतै फिरि जीउ के डेरो॥

वा० सिं०

ध्रुवदास

श्री सेवकजी एवं श्री ध्रुवदासजी राधावल्लभ सम्प्रदाय के आरम्भ के ऐसे दो रसिक महानुभाव हैं, जिन्होंने श्री हिताचार्य की रचनाओं के आधार पर इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को सुस्पष्ट रूप-रेखा प्रदान की थी। सम्प्रदाय के प्रेम-सिद्धान्त और रस-पद्धति के निर्माण में श्री ध्रुवदासजी का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

ध्रुवदासजी देवबंद, जिला सहारनपुर के रहने वाले थे। इनका जन्म वहाँ के एक ऐसे कायस्थ कुल में हुआ था, जो आरम्भ से ही श्री हिताचार्य के सम्पर्क में आ गया था और उनका कृपा-भाजन बन गया था। इनका जन्म सं० १६२२ माना जाता है। इनके पिता श्यामदासजी श्री हितप्रभु के शिष्य थे और ये स्वयं उनके तृतीय पुत्र श्री गोपीनाथ गोस्वामो के कृपापात्र थे। इसी से इनके चरित्रकार महात्मा भगवतमुदितजी ने इनको 'परम्पराइ अनन्य उपासी' लिखा है।

श्री हरिवंश कृपा से अल्प वय में ही गृहस्थ से विरक्त होकर ये वृन्दावन में वास करने लगे थे। आरम्भ से इनका एक ही मनोरथ था कि मैं कृपाभिसिक्त वाणी से प्रेम-स्वरूप श्री श्यामा-श्याम के अद्भुत, अखंड प्रेम-विहार का वर्णन करूँ। किन्तु हृदय में नित्य विहार का प्रकाश हो जाने पर भी वह वाणी में प्रस्फुटित नहीं हो रहा था। निरुपाय होकर इन्होंने अन्न-जल त्याग दिया और श्री हिताचार्य द्वारा स्थापित रास-मंडल पर जाकर पड़ गये। दो दिन तक ध्रुवदासजी वहाँ पड़े रहकर अजस्र अश्रुपात करते रहे। इनकी इस करुण स्थिति को देखकर श्री राधा का कोमल हृदय विगलित हो उठा और उन्होंने तीसरे दिन मध्य रात्रि में प्रकट होकर अपने चरण-कमल का स्पर्श ध्रुवदासजी के मस्तक से करा दिया। चरण का आघात होते ही उसमें धारण किये हुये नूपुर वज उठे और उनकी दिव्य ध्वनि ध्रुवदासजी के तन-मन में पूरित हो गयी। इसके साथ ही इनको ये शब्द सुनाई दिये—

वानी भई जु चाहत कियो।
उठि सो वर तोकौं सब दियौ॥

कृतज्ञता के पूर्ण अनुभव के साथ ध्रुवदासजी ने वृन्दावन विहारी श्री श्यामा-श्याम की नित्य-लीला का गान मुक्त कंठ से आरम्भ कर दिया और एक ऐसी अद्भुत प्रभाववाली वाणी की रचना हो गयी जो उनके चरित्रकार के अनुसार, थोड़े ही दिनों में चारों दिशाओं में प्रचलित हो गयी और रसिक जन उसका अनुशीलन अपनी परम निधि मानकर करने लगे। इस वाणी के प्रभाव से अनेक लोग घरबार छोड़कर वृन्दावन में वास करने लगे। श्री भगवतमुदित ने लिखा है—

वाणी श्री ध्रुवदास की, सुनि जोरी मुसिकात।
भगवत् अद्भुत रीति कछु, भाव-भावना पाँति॥

ध्रुवदासजी से पूर्व एवं उनके समकालीन प्रायः सभी श्री राधा-कृष्णोपासक महानुभावों ने फुटकर पदों में लीला-गान किया था। ये पद अपने आप में पूर्ण होते हैं, किन्तु उनमें लीला के किसी एक अङ्ग की ही पूर्णता होती है, अन्य अंगों की अभिव्यक्ति के लिये दूसरे पदों की रचना करनी होती है। ध्रुवदासजी ने नित्य-विहार-लीला को एक अखण्ड धारा बताया है—

नित्य विहार अखण्डित धारा।
एक वैस रस जुगल विहारा॥

इसकी धारावाहिकता का निर्वाह करने के लिये ध्रुवदासजी ने पद शैली का आश्रय न लेकर दोहा-चौपाइयों में लीला वर्णन किया है। इनसे पूर्व केवल प्रबन्ध-काव्यों में दोहा-चौपाइयों का उपयोग किया जाता था। ध्रुवदासजी ने पहली बार लीला वर्णन में इसका उपयोग किया और बड़ी सफलतापूर्वक किया। इनकी लीलाओं में प्रेम की विभिन्न दशायें समुद्र में तरंगों की भाँति उन्मज्जन-निमज्जन करती रहती हैं, जिससे लीला की अखण्डता की सहज व्यंजना होती चलती है।

श्री राधा-कृष्ण को रस-स्वरूप किंवा प्रेम-स्वरूप माना जाता है। प्रेम एक भाव है, अतः ये दोनों भाव स्वरूप हैं। श्री हिताचार्य के सिद्धान्त में हित किंवा प्रेम ही परात्पर तत्व है, जो एक साथ मूर्त और अमूर्त दोनों है। हित के सहज मूर्तरूप श्रीराधा-कृष्ण हैं। इनके श्री अङ्ग तथा इनसे सम्बन्धित धाम, वस्त्राभूषण आदि सम्पूर्ण वस्तुएँ प्रेम की ही विभिन्न मूर्त परिणतियाँ हैं। उनमें प्रेम भाव के अतिरिक्त अन्य किसी भाव या अन्य किसी तत्व का स्पर्श नहीं है। जब हृदय में परात्पर प्रेम का एक कण उद्भासित होता है तो कुछ अत्यन्त विरल महाभाग्यशाली उपासकों को छोड़कर, वह एक अमूर्त भावानुभूति किंवा स्फूर्ति के रूप में होता है। उपासक का प्रथम परिचय इस कृपोपलब्ध अमूर्त भाव के साथ होता है और फिर वह रसिकाचार्यों की वाणियों के सहारे श्री श्यामा-श्याम के मूर्त प्रेम-स्वरूप को हृदयंगम करने की चेष्टा-करता है। अन्य सब वाणियों की तुलना

में ध्रुवदासजी की वाणी उपासक की अमूर्त भाव से मूर्त भाव तक की यात्रा में सबसे अधिक सहायक बनती है। सामान्यतया अमूर्त को मूर्त की सहायता से समझाया जाता है। ध्रुवदासजी मूर्त प्रेम (श्री श्यामा-श्याम) की अमूर्त प्रेम के साथ तुलना करके उसको स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। उदाहरण के लिये श्री श्यामा-श्याम के सुन्दर भालों पर लगी हुई लाल और काली बिंदियों की शोभा का वर्णन करते हुये ये कहते हैं कि दोनों भालों पर दोनों रंग की अनुपम बिंदियाँ इस प्रकार सुशोभित हैं, जैसे अनुराग और शृङ्गार की मूर्त जोड़ी बनी हो। इसी प्रकार श्री राधा के वक्षस्थल पर धारण की हुई मोतियों की माला आदि को देखकर ये कहते हैं कि ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों अनुराग के सरोवर में रूप के तरङ्ग उठ रहे हैं—

बिबि भालन बिबि बरन की,
बेंदी दई अनूप।
मनु अनुराग सिंगार की,
जोरी बनी सरूप॥

जलज हार हीरावली,
रतनावली सुरंग।
अनुराग सरोवर में मनौं,
उठत हैं रूप तरंग॥

रहस्य-मञ्जरी-लीला में, ध्रुवदासजी ने श्री राधा का वर्णन इसी शैली से करते हुये उनकी भावमूर्तता को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। ये कहते हैं कि सखियाँ श्री राधा के अङ्गों में प्रेमरूपी उबटन लगाकर उनको आनन्द-जल से स्नान कराती हैं। फिर उनको लाजरूपी साड़ी पहनाकर उनके वक्षस्थल पर प्रीतिरूपी अँगियाँ खींचकर बाँध देती हैं। श्री राधा के अङ्गो में हाव-भावरूपी आभूषण सुशोभित हो रहे हैं और उनमें से अनेक भाँति के सौरभों की फुहार उठ रही हैं। सखियों ने शृङ्गार रस का अंजन उनके नेत्रों में डाला है और अनुराग की मेंहदी से उनके कर और चरण रंगे हैं। उनकी रससिक्त बङ्क चितवन से मानो करुणा की वर्षा हो रही है। उनके मुख पर सुहाग की ज्योति जगमगा रही है और नाक में लावण्य का मोती सुशोभित है। उनके केश स्नेह के फुलेल से भीगे हुये हैं, जिनमें उल्लास के फूल गुथे हुये हैं—

सखी हेत उद्वर्तन लावैं।
आनन्द रस सौं सबै न्हवावैं॥

सारी लाज की अति ही बनी।
अंगिया प्रीति हिये कसि तनी॥

हाव भाव भूषन तन बने।
सौरभ गुन गन जात न गने॥

रस पति रस कौं रचि पचि कीन्हौ।
सो अंजन लै नैनन दीन्हौ॥

मेंहदी रंग अनुराग सुरंगा।
कर अरु चरन रचे तेहि रंगा॥

बंक चितवनो रस सौं भीनो।
मनु करुना की बरषा कीनो॥

झलमल रही सुहाग की जोती।
नासा कबि रह्यो पानिप मोती॥

नेह फुलेल बार वर भीने।
फूल के फूलन सौं गुहि लीने॥

इस प्रकार के वर्णन श्री श्यामा-श्याम की प्रेम-स्वरूपता को हृदयंगम करने में बहुत सहायक होते हैं। इसके द्वारा उपासक का मन जागतिक प्रेम की स्थूलताओं का परित्याग करके दिव्य-भगवत्-प्रेम की सूक्ष्मतओं का अवगाहन करने लगता है। ध्रुवदासजी की वर्णन शैली की उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखने से उनकी वाणी को समझने में सहायता मिलती है।

उनके द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ बताए जाते हैं—

ग्रन्थों की तालिका

१. जीवदशा-लीला, २. मनशिक्षा-लीला, ३. ख्याल-हुलास-लीला, ४. वैद्यकज्ञान लीला, ५. वृन्दा-

वनसत-लीला, ६. वृहद् बावन पुराण की भाषा लीला, ७ भक्तनामावलो-लोला, ८. सिद्धांत विचार-लीला (गद्य वार्ता), ९. प्रीतिचौवनी-लीला, १०. आनंदाष्टक-लीला, ११. भजनाष्टक-लीला, १२. भजन-कुण्डलिया-लीला, १३. भजनसत-लीला, १४ भजन-श्रृंगार-सत-लीला, १५. मनश्रृंगार-लीला, १६. हितश्रृंगार-लीला, १७. सभामंडल-लीला, १८ रस-मुक्तावलो-लीला, १९. रसहीरावली-लीला, २०. रस-रतनावली-लीला, २१ प्रेमावती-लीला, २२. प्रिया जू नामावली-लीला, २३. रहस्यमंजरी-लीला, २४. सुखमंजरी-लीला, २६. नेहमंजरी-लीला, २७. वन विहार-लीला, २८. रंगविहार-लीला, २९. रसविहार-लीला, ३०. रंगहुलास-लीला, ३१. रंगविनोद-लीला, ३२. आनंददशाविनोद-लीला, ३३ रहस्यलता-लीला, ३४. आनंदलता-लीला, ३५. अनुरागलता-लीला, ३६. प्रेमदशा लीला, ३७. रसानन्द-लीला, ३८ व्रज-लीला, ३९. जुगलध्यान-लोला, ४०. नृत्यविलास लीला, ४१. मान लीला और ४२. दानलीला।

ध्रुवदासजी के ग्रन्थों का संक्षेप में हम मूल्यांकन इस प्रकार कर सकते हैं—

१. ध्रुवदासजी की वाणी राधावल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धांतों का उद्‌घाटन करने वाली सबसे समर्थ और व्यापक वाणी है। परवर्ती महानुभावों ने इनको वाणी के अनुशीलन द्वारा ही सैद्धांतिक मर्म को हृदयंगम किया। श्री हितहरिवंश वाणी के भाष्यकार और व्याख्याकार के रूप में ध्रुवदासजी का स्थान मूर्धा पर है।

२. ध्रुवदासजी की वाणी में काव्यसौष्ठव इतनी प्रचुर मात्रा में है कि कहीं-कहीं रीतिकालीन श्रृङ्गारी कवियों से साम्य परिलक्षित होता है। 'हित-श्रृङ्गार-लीला' आदि ग्रन्थों में जो कवित्त और सवैए लिखे हैं उनका बाह्य अभिधेयार्थ रीतिकाल के कवियों के समकक्ष ही है। शब्दशक्ति, अलंकार, काव्यगुण और भाषा का प्रवाह यह बताता है कि ध्रुवदासजी ने साहित्यशास्त्र का विधिवत् पारायण किया था। काव्यरूढ़ियों का भी आपकी वाणी में निर्वाह है। नायिकाभेद, नखशिख, ऋतुवर्णन आदि रूढ़परंपरा में ही लिखे गए हैं। दोहा, कवित्त, सवैया, अरिल्ल, कुंडलियाँ और गेय पदरचना पर इनका असाधारण अधिकार परिलक्षित होता है।

३. नित्यविहार के मर्म को विशद विस्तार के साथ सर्वप्रथम ध्रुवदासजी ने ही प्रस्फुटित किया। निकुंजलीला का अन्य लीलाओं से भेद करने वाले भी ये ही हैं।

४. इनकी गद्यवार्ता (वचनिका) एक अपूर्व रचना है। इसमें एक ओर जहाँ सैद्धांतिक गूढ़ तत्वों पर सरल भाषा में प्रकाश डाला गया है, वहीं दूसरो ओर गद्य साहित्य का भी प्राचीन रूप देखने में आता है। इस गद्य का ऐतिहासिक महत्व अभी तक अज्ञात रहा है। गद्यसाहित्य का अनुसंधान करने वालों को ध्रुवदासजी की इस रचना में अभिव्यंजना संबंधी अनेक तत्व उपलब्ध होंगे। इस गद्य का यथोचित मूल्यांकन होना आवश्यक है।

५ माधुर्य-भक्ति की तल्लीनता और रसव्यंजक पदावली की रोचकता जैसी ध्रुवदासजी में है, वैसी मध्ययुगीन-भक्तों में कम ही देखी जाती है। यदि छंद, भाषा और शैली-वैविध्य की दृष्टि से इनकी रचना पर विचार किया जाए तो निस्सन्देह ये रीतिकालीन और भक्तिकालीन कवियों की श्रृंखला जोड़ने वाले रससिद्ध कवि माने जाएँगे।

नीचे इनके कुछ विशिष्ट ग्रन्थों के प्रतिपाद्य का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है·—

'भजनाष्टक-लीला' का लिपिकाल सं० १८३५ है। यह ग्रन्थ जिस हस्तलेख में सुरक्षित है उसमें ध्रुवदास जो की २२ रचनाएँ और संकलित हैं। 'भजनाष्टक' में श्री राधा-कृष्ण की भक्ति का उपदेश दिया गया है। यहाँ कुछ दोहे दिए जा रहे हैं—

वृन्दावन नित सहज हो नित्य सखी चहुँ ओर ।
मध्य विराजत एक रस रसमैं मधुर किशोर ॥

छैल छबीली लाडिली छैल छबीलै लाल ।
छैल छबीली सहचरी मनौं प्रेम की माल ॥

पंच बांन जिहि पांन है देखि गिर्यौ यह रंग ।
तेइ बान तिहिं फिरि लगे जर्जर भए सब अंग ॥

विवश भयौ सुधि रहि न कछु मोह्यो महा अनंग ।
लज्जित ह्वै रह्यौ नमित अति करत न सीस उतंग ॥

'मन-शृंगार-लीला' में एक सौ दो दोहों में राधा के अंगों का वर्णन है। जैसे—

हरिवंस हंस आवत हिये,
होत जु बहुत प्रकास ।
अद्भुत आनन्द प्रेम को,
फूले कमल प्रकास ॥

नवल किसोरी सहज ही,
झलकत सहजहि जात ।
उपमा दै उरनी तिन्है,
यह दीढ्यौ अति होत ॥

'प्रिया जू की नामावली' में श्री राधा के १०८ नामों का उल्लेख है और अन्त में बताया गया है कि उनकी इस नामावली का स्मरण करने से राधा-कृष्ण प्रसन्न होते हैं। अन्तिम दोहे इस प्रकार हैं—

प्रेम सिंधु के रतन ये अद्भुत कुँवरि के नाम ।
जाकी रसना रटैं ध्रुव सो पावै सुख धाम ॥

ललित नाम नामावली जाके उर झलकंत ।
जाके हिय में बसत रहैं स्यामा स्यामल कंत ॥

'दान-लीला' का विषय है दानलीला। कृष्ण के दान माँगने पर राधा अपने को ही समर्पित कर देती हैं। 'आनन्दाष्टक' में आठ दोहों में राधा-कृष्ण का यश-गान किया गया है। जैसे—

सखी सबै उडगन मनौ,
ये किवारि आनंद ।
पिय चकोर ध्रुव छकि रहे,
निरखि कुँवरि मुखचन्द ।
ऐसी अद्भुत सुभावनी,
इकछत सुख की रासि ।
फूले फूल आनन्द के,
सहज परस्पर हासि ॥

• • •

यह रस जिन समुझ्यौ नहीं,
ताके ढिग जिन जाहु ।
तज सत संगत सुधारस,
सिंधु सुतहिं जिन खाहु ॥

वृन्दावन रस अति सरस,
कैसे करौं बखान ।
जिहि आगे बैंकुंठ कौ,
फीकौ लगत पयान ॥

'रति मंजरीलीला' में राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ा के साथ ही राधा की सखियों—चित्रा, कुण्डला, चन्द्रिका, सुचरिता, चन्द्रलता, रसालिका, सुगन्धिका आदि-की सेवा का भी वर्णन किया गया है। जैसे—

चित्रा सखि दुहुनि मन भावै,
जल सुगंधि लै आनि पिवावै ।
जहाँ लागि रस पीवै के आहि,
अलि सुगंध बनावै ताहि ॥

जिहि छिन जैसी रुचि पहिचानै ।
तबही आनि करावत पानै,
निसि दिन मनुजु कुंवर के चरना ।
प्रेम उजारी कुंकुम वरना ॥

• • •

एक सारंगी बीन सुनावैं,
एक मृदंग अनूप बजावैं ।
तिरपलेत झलकत तन ऐसे,
बहुत अंगकी दामिनि जैसे ।।

राग रागिनी मूरति धरैं,
सखी रूप सेवा सब करैं ।
कोटिक लय जो यह सुख देखैं,
रुचि न घटै छिनकी सम लेखैं ।।

'जुगल-ध्यान-लीला' में राधा-कृष्ण की छवि का ध्यान करने का उपदेश दिया गया है। युगल मूर्ति का जिस रूप में ध्यान आवश्यक है, कवि ने उसी का सरस वर्णन किया है। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

प्रिया वदन छबि चन्द मनो, प्रीतम नैंन चकोर ।
प्रेम सुधारस माधुरी, पान करत निसि भोर ।।
अंगन की छबि कहा कहूँ, मनमें रहत विचारि ।
भूखन भए भूखननि के, अति सरूप सुकमार ।।

• • •

अति सुकुमारी लाडिनी, पिय किसोर सुकमार ।
इकटक प्रेम छके रहे, अद्भुत जुगल विहार ।
स्यामल चरन गोर वरन, सदा बसौ मम चित्त ।
जैसे घन औ दामिनी एक संग रहे नित्त ।।

दोहा-चौपाइयों की भाँति इनके द्वारा रचित पद भी अत्यंत रससिक्त एवं काव्यगुण से सम्पन्न हैं। दो उदाहरण पर्याप्त होगें—

मेरी अँखिया रूप के रंग रँग ।
युगल चन्द अरविन्द वदन छवि,
तिहि रस माँहि पगीं ।।

नव-नव भाइ विलास माधुरी,
रहीं सुख स्वाद लगीं ।
हित ध्रुव और जहाँ लगि,
रुचि ही ते सब छाँड़ि भगीं ।।

(२)

सुनि सखि दशा होत जब प्रेम की ।
ज्ञान कर्म विधि वैभवता सब,
नहिं ठहरात व्रत नेम की ।।

रहत अधीर ढरत नैनन जल,
मिटत सकल चंचलता मन की ।
परत चित्त आनन्द सिन्धु में,
लजि तजि जात लाज गुरुजन की ।।

निद्रा आदि लगत सब नीरस,
घटत विषय तृष्णा सब घट की ।।

रहत मगन औरै रस सजनी,
जब ये दोऊ अँखियाँ अटकी ।

रुचत न रसन स्वाद षट रस के,
अरु कछु होत छीन गति तन की ।

हित ध्रुव रहत एक सुख नैनन,
छिन-छिन चोंप युगल दर्शन की ।।

ल० च० गो०

वि० स्ना०

वा० सिंह

धोंधी

महात्मा धोंधी पुष्टिमार्गीय वैष्णव कवि थे। कई प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित हो गया है कि इन्होंने विक्रम संवत् १६२८ में गोकुल आकर गोस्वामी विट्ठलनाथजी का शिष्यत्व ग्रहण किया था। 'भाव-प्रकाश' के आधार पर 'धोंधी' अपनी जाति वालों से मिलने के लिये आगरा से महावन आये थे। उस समय इनकी अवस्था ३० वर्ष की थी। विक्रम संवत् १६२८ में धोंधी यदि ३० वर्ष के थे, तो उनका जन्म संवत् १५६८ स्वतः सिद्ध हो जाता है। धोंधी उच्च कोटि के कवि थे। ये आगरा और दिल्ली के मध्य में स्थित किसी गाँव के रहने वाले थे। भावप्रकाश की टीका के अनुसार—"धोंधी की बड़ी जाति हती।" उस

समय बड़ी जाति का अर्थ मुगलया शासकों के कारण मुसलमानों के लिये अभिप्रेत था।

मुंशी मुहम्मद करीम इमाम खाँ के ग्रन्थ "मादुनुल मुश्की" के अनुसार सम्राट् हुमायूँ और अकबर के दरबार में धोंधी खाँ नायक था। विद्वानों का मत है कि 'खाँ' शब्द ही मुसलिम जातिवाचक है और धोंधी ने वैष्णव धर्म में आने पर इसे अपने नाम से हटा दिया था। धोंधी को वैष्णव समुदाय 'धोंधे' 'दास धौंवे' तथा 'महात्मा धोंधी' आदि नामों से सम्बोधित करता रहा। इन्होंने गृहस्थ धर्म में प्रवेश नहीं किया था। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन भक्ति भावना से परिपूरित संगीतमयी पुष्टिमार्गीय कीर्तन-साधना के लिये अर्पित कर दिया था। भक्ति साहित्य के विद्वानों ने तथा संगीत साधकों ने धोंधी को मधुर-कंठी संगीतज्ञ नाम से सम्बोधित किया है।

'धोंधी' की सर्वप्रथम गोस्वामी विट्ठलनाथजी से भेंट हुई थी। प्रथम दर्शन में ही इनका हृदय गोस्वामी जी की अद्भुत तेजस्विता से प्रभावित हुआ था और तत्क्षण इन्होंने अपने मन में गोस्वामीजी का शिष्य बनने का संकल्प ले लिया था। गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने जब महात्मा धोंधी का संगीतमय कीर्तनगान सुना तो वे बहुत प्रभावित हुए और इनको ठाकुर श्री नवनीतप्रिय के मंदिर में ब्रह्म सम्बन्ध की दीक्षा दे दी।

नाम मन्त्र और दीक्षा मन्त्र की शक्ति से धोंधी का हृदय निर्मल हो गया और इनके अन्तःकरण से श्री कृष्णलीला का स्फुरण होने लगा। इन्होंने श्री गोसाइंजी को तत्काल एक कीर्तन गाकर सुनाया, जिसकी टेक (प्रथम पंक्ति) इस प्रकार है—

दुपहरी झनक भई तामें आये पिय मेरे,
मै उठि कीनों आदर।

इस पद को सुनकर श्री गोसाइंजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने धोंधी के लीला गान को अद्भुत समझकर ठाकुर श्री नवनीतप्रियजी के सन्निधान में कीर्तन गान का आदेश दिया। गोस्वामी पाद ने धोंधी को कीर्तन-सेवा का कार्य इसलिए सौंपा था कि इनमें संगीत की गहरी पैठ थी और कीर्तन गान में बड़ी तन्मयता थी। पुष्टिमार्गीय मंदिरों में यह मान्यता आज भी है कि ठाकुर श्री नवनीतप्रिय धोंधी का उन्मेषपूर्ण लयात्मक कीर्तन सुनकर प्रमुदित हो उठे थे और ताली बजाने लगे थे। श्री गोसाइंजी के बड़े पुत्र श्री गिरधारी यह सारा दृश्य देख रहे थे और इतने भाव-भक्ति में डूबे संगीत निपुण साधक धोंधी को देखकर उन्होंने अपने हाथ के सोने के कड़े ठाकुरजी को न्यौछावर करके धोंधी को पहना दिये थे। इन तमाम घटनाओं से पता चलता है कि महात्मा धोंधी मुसलमान होते हुए भी श्रीकृष्ण-लीला के प्रति कितनी अधिक अनुरक्ति से भरे हुए थे। यह तथ्य इनके अनूठे व्यक्तित्व का परिचायक है।

धोंधी का समस्त जीवन ठाकुरजी के चरण-कमलों में समर्पित था। ब्रज के कण-कण से धोंधी को असीम अनुराग था। एक घटना इनके जीवन से सम्बन्धित है। धोंधी गोसाइंजी के बाग की रखवाली किया करते थे और किसी को वृक्षों के पत्ते तक नहीं तोड़ने देते थे। इसका एकमात्र कारण यह था कि इन्हें ब्रज उपवन के इन वृक्षों में, लता-वल्लरियों में अपने इष्टदेव श्री गोवर्धननाथजी के अपरोक्ष दर्शन होते थे।

भक्त धोंधी मुगल दरबार के उन जाने-माने संगीतज्ञों में से एक थे, जिनका सम्राट् अकबर बहुत आदर करता था। वार्ता में आया है—'सो धोंधी कौ कण्ठ सुन्दर हतो" सो यह बहुत सुन्दर गावैं और मृदंग हूँ आछी बजावैं'।

मुगलकालीन संगीत गायकों में धोंधी की अग्र-पंक्ति में गणना की जाती थी। तत्कालीन गायन शैली ध्रुपद के सर्वोत्तम कलावंतों को नायक की उपाधि

प्रदान की जाती थी। धोंधी को भी मुगल दरबार में नायक की उपाधि से विभूषित किया गया। 'धौंढिया मल्लार या धोंधी की मल्हार, के नाम से इनका एक राग भी प्रचलित है। इन तथ्यों से ऐसा लगता है कि धोंधीदास ने मौलिक तथा नवीन रागों की रचना भी की थी। यह तथ्य इनके उच्चकोटि के संगीतकार होने का परिचायक है। जगन्नाथ कविराज ने एक ध्रुपद रचना में प्रमुख नायकों के उपनामों की चर्चा करते हुए धोंधी को 'वाणी रसाल' कहा है—

सर्वकला संपूरन मति अपार विस्तार,
'नाद को नायक' बैजू गोपाल।
ता पाछे 'बक्सू' बिहँसि बस कीन्हौं महमूद,
महि मंडल में उदोत चहुँचक भरो॥

डिढ़ विद्या निधान सरस धरूँ बस डिढ़ताल,
भगवंत सुरभरन रामदास जसु पायौ॥

तानसेन जगत गुरू कहायो, धोंधी बानी रसाल,
सुरत विलास हरिदास डागुर जगन्नाथ कविराज।
तिनके पग परसिबे कौं स्याम राम रंग लाल॥

इन ध्रुपद से स्पष्ट होता है कि धोंधी की वाणी अत्यंत मधुर थी, रस संचारिणी थी।

पुष्टिमार्गीय कवि के रूप में धोंधी की प्रसिद्धि कम नहीं है। उनके पद विभिन्न कीर्तन संग्रहों तथा संगीत संग्रहों में संकलित हैं। उनके अनुशीलन से पता चलता है कि इनके पद श्रीकृष्ण की बाल तथा किशोरलीलाओं से सम्बन्धित है। इनके पदों में दान-लीला तथा मान-लीला का चित्रण मनोहर रूप में हुआ है। कल्पना और भावना में धोंधी जैसा अनूठा समन्वय अन्य कवि के सामर्थ्य की बात नहीं। धोंधी की रचनाओं में विरह है तथा खंडिता नायिका के अनेक पद विद्यमान हैं। एक पद द्रष्टव्य है—

आवन कहि गये अजहुँ न आए,
सब निशि बीती मोहि गिनगिन तारे।
दीपक ज्योति मलिन भई है,
बिन द्रुतियन बिरमाये प्यारे॥

तमचर बोले बगर सब खोले,
फूले कमल मधुर गुंजारे।
धोंधी के प्रभु तुम बहुनायक,
आये निपट सकारे।

श्रीकृष्ण जन्मोत्सव या वर्ष-गाँठ सम्बन्धी निम्नांकित पद कितने उल्लास के साथ भक्त हृदय से निःसृत हुआ है—

आँगन दधि को उदधि भयौ।
गोपी ग्वाल फिरत भहराने
सकल संताप गयौ॥

बक्सत पगा पिछोरी गुनियन
अति आनंद भयौ।
नन्द जसोदा के मन आनन्द
धोंधी के प्रभु जनम लयौ॥

धोंधी के द्वारा रचित पदों में जिस प्रवाहपूर्ण सरस पदावली का प्रयोग हुआ है, वह अन्यत्र दिखाई नहीं देती। दान के पदों में यह भाव-भंगिमा अवलोकनीय है—

तेरो कोऊ है रे, कहैया सुनैया कन्हैया।
दधि मेरो खाय मटुकिया फोरी,
और प्रानन के लिवैया॥

हार मेरो तोर्‌यो कमल कर मोर्‌यौ,
और फारी है उर की कंचुकिया।

धोंधी के प्रभु हाथ दूर राखौ
जानेंगी सास ननदिया ॥

निम्नांकित पद में यशोदाजी से किये गये उलाहने का वर्णन गोपी-भाव-भावित धोंधी ने इस तरह किया है—

नेकु धीरौ-धीरौ रे ढोटा,
जाइ कहौं जसुदा सों।
हौं दधि बेचन जात मधुपुरी,
निपट निकट आवे नीरौ ॥

कापर करत एती ठकुराई,
कापर होत है रातो पीरौ।
धोंधी के प्रभु हौं नीके जानत
आखिर जात अहीरौ ॥

धोंधी द्वारा रचित पदों में राम कथा से संदर्भित भी कतिपय पद हैं। इनमें से एक पद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

जबै भरत घर जाय माता सो कहा रिसाई।
बिछुरे सीता राम लच्छमन से दोऊ भाई ॥

बैठी कैकेयी राज करो दशरथ त्यागे प्रान।
ऊँचे-नीचे महल देख के कौन हमारौ काम ॥

पैकरमा कर पूज पाँवरी, भरत कीन्ह परनाम।
धोंधेदास विरह वियोगी जय बोलो सीताराम ॥

कहा जाता है कि एक बार ये राधाकृष्ण के भजन गाते पैदल ही मथुरा गए थे। जब ब्रज के क्षेत्र में पहुँचे तो इन्होंने 'राधा-राधा' पुकारना शुरू कर दिया और द्वारकाधीश मन्दिर के सामने जाकर भक्ति पद गाते रहे। कुछ देर बाद इन्हें राधा की मूर्ति का आभास हुआ, इसलिये ये मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। लेकिन मुसलमान जानकर पुजारियों ने इन्हें रोक दिया, इस कारण ये मन्दिर के एक तरफ चले गये और 'राधा-राधा' की पुकार में पूरी रात बिता दी। प्रातःकाल मन्दिर का पुजारी इन्हें राधाकृष्ण के सामने बैठा गया। प्रसिद्धि है कि उसे रात में स्वप्न देकर भगवान् ने आदेश दिया था कि वह धोंधी को सम्मानपूर्वक मन्दिर में ले आए। धोंधी श्री राधिका को अपलक देखते रहे और इन्होंने दो ध्रुपद पूरी तन्मयता के साथ गाए। इन पदों में इनकी भक्ति-भावना की तीव्रता मिलती है, साथ ही पदकार के रूप में इनकी प्रतिभा का पता चलता है—

(१)

अचल सुहाग निहारौ री घाटी,
प्राण प्रिया को बस करि पाये।
मान गुमान काहूँ सों न करिये,
न जाने कौन भाग ऐसन वर पाये ॥

प्रीति की रीति प्रभु सबके मनकी जानत,
प्रेम ही सों ऐसो तोसन नेह लगाये ॥

(२)

'धोंधी' के प्रभु प्रथम तिहारो नाम,
पाछे आपन नाम चलायो।
तेरे सिर कुसुम विपुर रह्यो भामिनी,
सोभा देत मानो नभ घन तारे ॥

स्याम अलक छूट रही वदन पर,
चन्द्र छिप्यो मानों बादर कारे।
मोतिन माल मानो मान सरोवर,
कुच चकवा दोउ न्यारे न्यारे ॥

धोंधी के प्रभु तीन लोक बस,
तू बस कीन्हो नन्द दुलारे ॥

रा० कृ० श०

न० प्र० गु०

नंदकिशोर गोस्वामी (प्रथम)

नंदकिशोर गोस्वामी (प्रथम) उच्चकोटि के रसिक भक्त थे। इनकी प्रशस्ति साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इन शब्दों में मिलती है -

भजनानन्द सुसील इष्ट अति यह वन धरनी।
श्रीमोहन कुल दीप दिपत मूरति मन हरनी॥
वंशीवट नित नेम कथा रस गान श्रवन सुनि।
जुगल भाव आरूढ़ हिये आवत गहवर पुनि॥
पर कारज अति कुशल मति रहे छकि प्रेम विलास में॥
को ज्ञाता श्री नन्दकिशोर से निर्दूसित वन वास में॥

—रसिक अनन्य परचावली

मन उदार गुन विमल भक्ति रस हिय में सोहैं।
दृग विशाल कमनीय बाल मृग की छबि कोहै॥
भाव चाव अनुराग बस दम्पति रस ही में पगे॥
सुत श्री मेघ श्याम के भजन भावना में पगे॥
दिन प्रति लाड़ लड़ाय कैं निरखैं कुंज विलास॥
श्री नन्दकिशोर निशि भोर लौं बसैं जुगल के पास॥

——भक्त गाथा

श्री नन्दकिशोर गोस्वामी (प्रथम , का जन्म श्री हितजी के सबसे छोटे पुत्र गोस्वामी श्री मोहनचन्दजी के वंश में हुआ था। ये उनके प्रपौत्र थे। इनके पिता का नाम गोस्वामी मेघश्याम था। इन्होंने वृन्दावन धाम में वास करने की अनन्यनिष्ठा का श्री प्रवोधानन्द सरस्वती पाद की तरह आजीवन निर्वाह किया। इनके जीवन में प्रत्यक्ष एक आदर्श यह था कि ये गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी मोह-माया से सर्वथा असम्पृक्त हो रसिक-जीवन व्यतीत किया करते थे।

उस समय वंशीवट में श्री लाल स्वामीजी के शिष्य श्री दामोदर स्वामी थे। उनके एक शिष्य वृन्दावन रस की कथा कहा करते थे। ये नित्य ही उस रस-कथा-वार्त्ता को सुनने जाया करते थे। यह इनके जीवन का एक नियम विशेष वन गया था। रस कथा को सुनकर ये इतने भाव विह्वल हो जाते थे कि इन्हें अपने तन की भी सुधि नहीं रह जाती थी।

इनका हृदय अत्यन्त कोमल था। "परहित सरिस धर्म नहिं भाई"——यह उक्ति इनके जीवन में पूर्ण रूप से चरितार्थ होतो थी। इष्टवर श्री राधावल्लभलालजी की प्रगट अष्टयाम सेवा ये अत्यन्त निष्ठापूर्वक किया करते थे। साथ ही मानसी-सेवा द्वारा इन्होंने इसी जीवन में निकुंज-विलासी श्रीश्यामाश्याम के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त कर लिया था।

इनका उपस्थिति काल सम्वत् १६८० से सं. १७५० तक प्रतीत होता है।

श्या० वि० खं०

नंदकिशोर गोस्वामी (द्वितीय)

श्री नन्दकिशोर गोस्वामी (द्वितीय) का समय १९ वीं शती माना जाता है। ये संस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान् थे। इनके द्वारा संस्कृत भाषा में रचित 'हरिदास महिमामृत', 'निजमत-सिद्धान्त' के साथ तथा पृथक् रूप में भी प्रकाशित हो चुका है। काव्य की कसौटी पर यह खरी एवं सुन्दर कृति है। ब्रजभाषा में भी इनकी रचनाएं मिलती हैं जिनमें 'प्रेमपचीसी', 'बारहमासा' एवं 'स्फुट-पद' प्रमुख हैं। इनका एक पद यहाँ प्रस्तुत है :——

आजु भयो मेघरन को अति सोर।
गरजि गरजि उनए अलि बदरा, कूकत दादुर मोर॥
दे गरबाहीं बिहरत लाडिलि, प्रीतम करत निहोर।
उघटत ताल उचंग चंग सखि जन जुरि आइ अथोर॥
पवन बहुत फहरत पीताम्बर प्यारी कौ पटछोर।
नन्दकिशोर मधुर धुनि छाई हरषत जुगलकिशोर॥

प्रे० ना० श्री०

नन्दकिशोरदास गोस्वामी

श्री नन्दकिशोरदास गोस्वामी नित्यानन्द प्रभु के वंशज थे। इनके कुछ वंशजों ने बीच-बीच में निवास स्थान बदला था। श्री नित्यानन्द प्रभु की छठीं पीढ़ी

में रसिकानन्द प्रभु हुए जो बाँकुड़ा जिला पूर्णिया के निवासी थे। गोस्वामी नन्दकिशोरदास इन्हीं के पुत्र थे। इनका प्रारम्भिक नाम परमानन्द था। ये बाल्यकाल से ही विषयों के प्रति अनासक्त थे। इन्होंने श्रीधाम वृन्दावन में वास के लिए वैराग्य धारण किया और विवाह नहीं किया। ये श्रीयुगल किशोर की केलि स्थलियों का दर्शन कर परमानन्दित हुए। इन्होंने अपने परिचय को गुप्त रखकर श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती महाशय से धर्मग्रंथों का अध्ययन किया तथा भजन की शिक्षा भी ली। ग्रंथाध्ययन पूर्ण न हो पाया था कि पूर्णिया से कुछ वैष्णव इनको ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वृन्दावन धाम आ पहुँचे और श्री चक्रवर्तीपाद से इन्हें घर लौटकर विवाह करने की आज्ञा देने की प्रार्थना की। उन वैष्णवों के प्रति दयार्द्र होकर चक्रवर्तीपाद ने इन्हें दक्षिणा रूप में घर लौटने की आज्ञा दी। पूर्णिया में आकर इन्होंने अपनी माता के अनुरोध से विवाह किया और एक पुत्र उत्पन्न होने के बाद पुनः भक्तिभावापन्न मन से घर छोड़कर वृन्दावन आ गये।

ब्रज में आते समय ये तत्कालीन शासक से निर्देश-पत्र बनवाकर बंगदेश से श्री निताईगौरांग की मूर्ति भी साथ लाए। यह घटना वि० सं० १८१५ की है। इनकी दिव्य प्रतिभा से आकर्षित हो जोधपुर के राजा एवं धनपतियों ने इन्हें प्रचुर द्रव्य दिया।

जिन दिनों ये शृंगारवट में श्रीगौरांगनिताई की सेवा करते थे, उन दिनों भौंदू नाम का एक ब्रजवासी बालक इनकी गो सेवा के लिए नियुक्त था। वह नित्य भोर में ही बालभोग खा कर गाय चराने यमुना पार माट या कभी-कभी भांडीरवट चला जाता था। कहते हैं कि श्री कृष्ण बलराम भी ग्वालवालों सहित वहाँ गाय चराते और भौंदू से प्रतिदिन मिलते। इस प्रकार उसकी उनसे मित्रता हो गई। अब तो वे इससे खाने-पीने को कुछ माँगने लगे। भौंदू नन्दकिशोर गोस्वामीजी के भण्डार-में से छुप-छुप कर खाने का सामान ले जाने लगा। जब काफी सामान कम हो चला तो गोस्वामीजी को एक दिन सन्देह हुआ और उन्होंने भौंदू से पूछा तो उसने सच्ची बात बता दी। श्रीगोस्वामी जी अब उनके दर्शनों के लिए समुत्कण्ठित हो उठे और गोपाष्टमी के उपलक्ष्य में सब ग्वाल-बालों एवं श्रीकृष्ण-बलराम के लिए भौंदू द्वारा निमंत्रण भिजवा दिया, किन्तु श्रीकृष्ण-बलराम ने गोस्वामीजी के यहाँ आने से इनकार कर दिया। तब भौंदू भी प्रणयमान दिखाता हुआ अपनी गायों को ठसक के साथ उनसे अलगकर चल दिया। अन्ततः अनेक प्रकार से अनुनय-विनय करने पर श्रीकृष्ण-बलराम इस शर्त पर राजी हुए कि गोस्वामी नन्दकिशोर यदि अपने मस्तक पर स्वयं सामग्री ले आवें तो हम ग्रहण कर लेंगे। दूसरे दिन गोस्वामीजी बहुत-सी खाद्य सामग्री मस्तक पर रखकर भांडीरवन पहुँचे और भगवान् श्रीकृष्ण-बलराम के क्रीड़ाविनोद के दर्शन कर कृत-कृत्य हो गए। कुछ क्षणों बाद उनके अन्तर्धान हो जाने पर वे अचेत होकर गिर पड़े। तब आदेश हुआ—'अधीर न हो, घर जाओ और मेरी लीला-स्थलियों का वर्णन करो।' इस आदेश को पाकर गोस्वामीजी ने 'श्री वृन्दावन लीलामृत' एवं 'श्रीरसकलिका' नामक ग्रंथों की रचना की। इसके कुछ समय बाद ये नित्यलीला में प्रविष्ट हो गए।

न० च० बं०

नंददास

श्रीकृष्ण-काव्य-धारा में नंददासजी की कृतियों का विशेष स्थान है। अन्य अष्टछापी कवियों की भाँति नंददासजी का भी जीवनवृत्त स्पष्ट नहीं है। बाह्य प्रमाणों के आधार पर इनकी जीवनी के सम्बन्ध में कुछ तथ्य प्रस्तुत हैं। 'अष्टसखान की वार्ता' में लिखा है कि शरणागति के बाद गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने नंददास को कुछ समय सूरदास के सत्संग में रखा। काँकरौली के वैष्णवों से यह किंवदंती सुनने को मिली है कि 'साहित्य लहरी' की रचना सूरदास ने उसी समय नंददास को मन की एकाग्रता प्राप्त कराने तथा उनकी विद्वत्ता के अभिमान को चूर्ण करने के लिए की

थी। 'साहित्य लहरी' की–'नंद नंदनदास हित साहित्य लहरी कीन्ह' पंक्ति में 'नंद नंदनदास' से तात्पर्य नंददास का है। 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' में लेखक ने सिद्ध किया है कि साहित्य लहरी' की रचना १६१७ वि० में हुई थी। इसलिए नंददास की शरणागति का समय १६१६ वि० के लगभग अनुमान किया जा सकता है। किंवदंती में यह भी कहा जाता है कि नंददास की लौकिक वृत्ति उन्हें फिर से गृहस्थी में खींच ले गई। गोस्वामी विट्ठलनाथजी के गोकुल में स्थायी रूप से निवास करने के बाद लगभग १६२४ वि० में ये फिर गोस्वामीजी की शरण में आए और फिर गोवर्धन छोड़कर कहीं नहीं गये। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में जो पद—**'जयति रुक्मिणीनाथ पद्मावती प्राणपति विप्रकुल छत्र आनंदकारी'**—नंददास द्वारा गाया हुआ बताया गया है, वह १६२४ वि० के बाद का है, क्योंकि इस पद में गोस्वामी विट्ठलनाथजी की द्वितीय पत्नी पद्मावती का उल्लेख है जिनका विवाह लगभग १६२३ वि० में हुआ था।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में लिखा है कि शरणागति के समय नंददास की मानसिक वृत्ति लौकिक विषयों की ओर अधिक थी तथा ये तुलसीदास के साथ काशी में रहा करते थे। उस समय तक इनका विवाह हुआ था अथवा नहीं, वार्ता साहित्य में इस बात की कोई सूचना नहीं मिलती, परन्तु यह कहा जाता है कि जैसे तुलसीदास विवाह के कुछ वर्ष बाद स्त्री के प्रबोधन से वैराग्य लेकर तथा रामानन्दी-सम्प्रदाय को अंगीकार काशी में रहने लगे थे, उसी प्रकार नन्ददास का भी विवाह हो गया था और ये भी अर्ध-वैराग्य से काशी में तुलसीदास के साथ रहते थे। अनुमानतः उस समय इनकी आयु २५ या २६ वर्ष की रही होगी। इस प्रकार सम्वत् १६१६ (शरणागति समय) में से २६ निकालने पर इनका जन्मसंवत् लगभग १५९० वि० आता है।

कवि ने स्वयं अपनी रचनाओं में जन्म-स्थान का कहीं उल्लेख नहीं किया है। 'भक्तमाल' में नन्ददास का निवास-स्थान रामपुर ग्राम दिया हुआ है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' उन्हें पूर्व देश का निवासी बताती है। 'अष्टसखान की वार्ता' की एक हस्तलिखित प्रति में नन्ददास को रामपुर निवासी लिखा है। इनके आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि नन्ददास गोकुल, मथुरा से पूर्व की ओर स्थित रामपुर ग्राम के रहने वाले थे। रामपुर स्थान की ठीक-ठीक स्थिति का पता नहीं लग सका है। सोरों, जिला एटा वाली सामग्री रामपुर की स्थिति सोरों के पास सिद्ध करती है।

'भक्तमाल' में नन्ददास को सुकुल (शुक्ल आस्पद अथवा उच्च कुल) वंश का व्यक्ति कहा गया है। 'वार्ता' इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण बताती है। 'वार्ता' तथा 'भक्तमाल' में इनके माता-पिता, वंश आदि के विषय में कुछ नहीं बताया गया है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास को नन्ददास का भाई कहा गया है। नन्ददास और तुलसीदास परस्पर सगे भाई थे या चचेरे, यह बात वार्ता में स्पष्ट नहीं की गई है। 'अष्टछाप की वार्ता' में भी नन्ददास को तुलसीदास का भाई कहा गया है।

नन्ददास की प्रारम्भिक शिक्षा एवं उनके अध्ययन का प्रामाणिक आधार नहीं मिलता। वार्ता से विदित है कि इनके दीक्षागुरु श्री बल्लभाचार्यजी के शिष्य और पुत्र, गोस्वामी विट्ठलनाथजी थे। नंददास की रचनाओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका अध्ययन गम्भीर था तथा विद्वत्ता के लिए इनका बड़ा मान था। साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि ये संस्कृत के भी अच्छे विद्वान् थे और इनको हिन्दी भाषा से बहुत प्रेम था। इनके संस्कृत के अध्ययन तथा भाषा प्रेम से स्पष्ट है कि इन्होंने दशम-स्कन्ध की कथा संस्कृत से भाषा में इसलिए लिखी कि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति भी उसका लाभ उठा सकें। संस्कृत भाषा नन्ददास के समय में साधारण वर्ग के लिए दुरूह हो गई थी, नन्ददास का ध्यान इस ओर विशेष रूप

से गया। जनसाधारण की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर इन्होंने सम्पूर्ण भागवत की कथा भाषा में लिखी, परन्तु ब्राह्मणों के संकुचित विचार तथा स्वार्थ-परता से उसका अधिक अंश नष्ट कर दिया गया। वार्ता के इस प्रसंग से नन्ददास के संस्कृत-ज्ञान और इनकी उदार मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

वल्लभ-संप्रदाय में स्थायी रूप से आने के बाद नन्ददास का जीवन कृष्णभक्ति तथा गोकुल और गोवर्धन पर स्थित मन्दिरों के दर्शन एवं सेवा में ही बीता। इनकी जीवनचर्या केवल भगवच्चर्चा तथा पद और छन्दरचना कर भगवान् के समक्ष उन्हें गाने में ही थी। इस बीच में इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। इसके अतिरिक्त इनके जीवन की निम्नलिखित घटनाओं का भी उल्लेख 'दो सौ बावन वैष्णवन तथा अष्टसखान की वार्ताओं' में मिलता है :—

(१) तुलसीदास का इनको रामभक्त बनाने का प्रयत्न करना तथा इनसे मिलने ब्रज में आना।

(२) नन्ददास का अकबर की वैष्णवी दासी से मिलने के लिए उसके डेरे मानसी गंगा पर जाना।

(३) बीरबल का इनसे मिलने आना।

(४) अकबर का इन्हें बुलाना।

तुलसीदास के नन्ददास को रामभक्ति की ओर आकर्षित करने के असफल प्रयास का प्रसंग, कुछ लोगों के अनुसार, वल्लभ-सम्प्रदाय के गौरव को बढ़ाने के के लिए साम्प्रदायिक कल्पना मात्र है।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार नन्ददास की मृत्यु बीरबल और गोस्वामी विट्ठलनाथजी की जीवनावधि में हुई थी। बीरबल की मृत्यु सं० १६४३ वि० में हुई थी, अतः नन्ददास की मृत्यु का समय इससे भी पहले होना चाहिए। गोस्वामी विट्ठलनाथजी की मृत्यु सम्वत् १६४२ में हुई थी। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि नन्ददास की मृत्यु इनकी मृत्यु से पूर्व हुई थी। ऐतिहासिक तथ्यों से यह निश्चित होता है कि अकबर की धार्मिक जिज्ञासा तथा उदारवृत्ति 'दीनइलाही' मत चलाने के पूर्व बहुत प्रबल थी। उसी समय वे हिन्दू देवस्थानों में बहुत जाते थे, संत और भक्तों से मिलते थे और उनके प्रवचनों को बड़े ध्यान से सुनते थे। इतिहासकारों ने यह समय संवत् १६३९ वि० के दो-तीन साल पहले माना है। अनुमानतः अकबर इसी समय मानसी गंगा तथा गोवर्धन पर गया था। उस समय बीरबल जीवित थे और उनके साथ थे। इसी समय नन्ददास के पद से प्रभावित होकर उन्होंने इनसे भेंट की थी। इसलिए नन्ददास का निधनकाल अनुमानतः लगभग १६३९ वि० कहा जा सकता है।

नन्ददास की रचनायें – नन्ददास की रचनाओं की संख्या विविध विद्वानों की संमतियों के अनुसार २८ तक आँकी गई है, परन्तु प्रामाणिक आधार और तथ्यों के अभाव में उन समस्त ग्रन्थों को नन्ददास कृत नहीं माना जा सकता। प्राप्त सामग्री, विषय एवं भाषा शैली के आधार पर निम्नलिखित १४ ग्रंथ ही नन्ददास की अमर-कृतियों के अन्तर्गत सम्मिलित किए जा सकते हैं—रसमंजरी, अनेकार्थमंजरी, मानमंजरी, विरहमंजरी, रूपमंजरी, दशम स्कन्ध, श्यामसगाई, गोबर्धनलीला, सुदामाचरित, रुक्मिणीमंगल, रासपंचाध्यायी, भँवरगीत, सिद्धान्त पंचाध्यायी, नन्ददास पदावली।

रसमंजरी—'रसमंजरी' ग्रन्थ का विषय नायक-नायिका-भेद है। इसका संक्षिप्त विवरण कवि ने स्वयं ग्रन्थ में अपने मित्र के तथा अपने आरंभिक कथन में दे दिया है। इसमें कवि ने नायक-नायिका भेद, भाव, हाव, हेला, रति तथा दूतीभेद का वर्णन किया है। ग्रन्थ की रचना का आधार भानुदत्त कृत 'रसमंजरी' है। इसका उल्लेख नन्ददास ने इस प्रकार किया है—

रसमंजरी अनुसार कै, नन्द सुमति अनुसार।
बरनत वनिता भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार॥

अनेकार्थ मंजरी—ग्रन्थ के मंगलाचरण और आरम्भिक वन्दना में नन्ददासजी ने शुद्धाद्वैत अविकृत परिणामवाद के साम्प्रदायिक विचारों को प्रकट किया है। 'अनेकार्थ मंजरी' में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ

दोहाबद्ध करके दिये हुए हैं। कवि ने ग्रन्थ लिखने का कारण बताते हुए कहा है कि 'जो लोग संस्कृत भाषा नहीं जानते, उनके लिए मैंने अनेकार्थ कोष को भाषा में लिखा है।' हिन्दी भाषा के विद्यार्थियों के लिए ग्रंथ बड़ा उपयोगी है। यथा 'मधु' शब्द के लिए :

मधु वसंत मधु चैत द्रुम, मधु मदिरा मकरन्द,
मधु जल मधु पै मधु सुधा, मधु सूदन गोविन्द।

मानमंजरी—'मानमंजरी-नाममाला' ग्रन्थ में 'अमरकोष' के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची रूप दिए हुए हैं। परन्तु यह केवल कोषग्रन्थ ही नहीं है, इसमें राधा का मानवर्णन भी है। प्रत्येक छन्द की प्रथम पंक्ति में एक-एक शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं और दूसरी में कवि ने उस शब्द का प्रयोग कर दूती द्वारा राधा के मान-मनावन तथा उनके शृंगार का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ से नन्ददास के भाषा-पांडित्य तथा काव्य-कौशल दोनों का परिचय मिलता है। कोष ग्रन्थ में जिस खूबी के साथ कथानक को घटाया है, वह वास्तव में एक कलात्मक कार्य है। कवि की कल्पना-शक्ति अनेक स्थलों पर उत्प्रेक्षा एवं उपमा रूप में प्रकट होकर पाठक के मनोराज में अपूर्व काव्यानन्द का संचार करती है। बीच-बीच में 'भई तवे की वुंद' जैसे मुहावरों के प्रयोग ने भी भाषा में जान डाल दी है।

विरहमंजरी— 'विरहमंजरी' भावात्मक काव्य है। इसमें एक ब्रजबाला की वियोग-दशा का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ में कोई कथानक नहीं है और न कृष्ण-चरित्र से सम्बन्ध रखने वाला कोई प्रसंग है। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य इतना ही है कि कृष्णप्रेम में मग्न एक संयोगिनी युवती कृष्ण के वियोग का अनुमान करती है। यह सोचते-सोचते उसे भ्रम हो जाता है कि कृष्ण द्वारका चले गये हैं। वह इस भ्रम में ही विकल हो जाती है। वह रात्रि में चन्द्रमा को अपनी विरह दशा सुनाती है और उसे दूत बनाकर कृष्ण के पास अपना सन्देश ले जाने की प्रार्थना करती है। यह ब्रजबाला बारह महीनों में होने वाली वियोग-दशाओं का अनुभव इस क्षणिक काल्पनिक वियोग-दशा में ही कर लेती है। जब उसकी चेतना जगती है, वह फिर कृष्णसंयोग की वास्तविक अवस्था में मग्न हो जाती है। अस्तु, कवि ने वियोग-वर्णन की परिस्थिति वास्तविक नहीं रखी; संयोग ही में वियोगावस्था की काल्पनिक अनुभूति कराई है। ग्रन्थ में वर्णित विषय वियोग शृंगार है तथा वर्णन बारहमासे की परिपाटी में किया गया है। चन्द्र-दूत की कल्पना का संकेत कदाचित् कवि ने कालिदास के मेघदूत से लिया हो। इस कृति में कवि को काव्य-प्रतिभा का परिचय तो मिलता ही है, साथ में उसके कुछ धार्मिक सिद्धान्तों की भी पुष्टि हो जाती है।

'विरहमंजरी' में नन्ददास ने चार प्रकार के कृष्णविरह का वर्णन किया है—प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर और देशान्तर। प्रिय के पास रहते हुए भी प्रेमी के प्रगाढ़ प्रेम की उत्कट लालसा में प्रिय के वियोग का क्षणिक भ्रम 'प्रत्यक्ष-विरह' होता है। प्रिय को पल मात्र भी प्रेमी ओट में नहीं देखना चाहता, पलक मारने में जितनी देर प्रियदर्शन से ओट होती है, उतने समय के वियोग को 'पलकान्तर वियोग' कहते हैं। जब कृष्ण गोचारण के लिए वन में जाते हैं, उस समय का विरह 'वनान्तर विरह' है। प्रिय के परदेश चले जाने पर 'देशान्तर विरह' होता है। यह विरह वल्लभ-सम्प्रदाय में यथार्थ नहीं माना जाता।

बारहमासा चैत्र से आरम्भ होता है। चैत्र में चारों ओर बसन्त की बहार है, परन्तु कोकिल की कूक और भौंरों की गुंजार विरहिणी बाला के मन को 'प्रेमपीड़ा' से मसोस रही है। बार-बार प्रिय की याद आती है। उनकी अनुपस्थिति में उसे प्यारे के गुणों का भान होता है, जैसे जल से बिछुड़कर मछली को जल का महत्व ज्ञात होता है। यथा—

जलचर जिमि जल नीर में, परसत नाहिन पीर।
बिछुरि परे जब तीर तें, तब जाने गुन नीर॥

इसी प्रकार प्रत्येक मास में होने वाले विरह दुःख का वर्णन कवि बड़े मार्मिक ढंग से करता है। वर्णन हृदय-स्पर्शी है, प्रसंग काल्पनिक है।

रूपमंजरी—'रूपमंजरी' नन्ददास कृत छोटा सा आख्यान-काव्य है। इसमें एक रूपवती स्त्री 'रूपमंजरी' के रूप, उसके अनमेल विवाह, अलौकिक नायक कृष्ण के साथ 'जारभाव' से उसके प्रेम और इस कार्य में रूपमंजरी की सखी इन्दुमती के साहाय्य का वर्णन है। नन्ददास की एक मित्र 'रूपमंजरी' का उल्लेख 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' तथा 'गोवर्धनदासजी के प्राकट्य की वार्ता' में हुआ है। यह प्रसंग नन्ददास की जीवनी से अभिन्न है। ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की नायिका 'रूपमंजरी' नन्ददास की मित्र रूपमंजरी ही है। इन्दुमती के रूप में स्वयं कवि ने अपने को रूपमंजरी की सहचरी मानकर वर्णन किया है।

इस आख्यान में नन्ददास ने अपनी भक्ति पद्धति के दो रूपों का वर्णन किया है—एक ससीम लोक-सौन्दर्योपासना द्वारा निःसीम दिव्य सौन्दर्य को पाना और दूसरा प्रेम के 'उपपति' भाव द्वारा भगवान् के नैकट्य को प्राप्त करना। कवि ने रूपमंजरी के रूप में इन्दुमती की आसक्ति द्वारा रूपोपासना के मार्ग का वर्णन किया है और कृष्ण में 'जारभाव' से रूपमंजरी की आसक्ति द्वारा भक्ति के माधुर्य भाव को दिखाया है। सौन्दर्योपासना मार्ग के विषय में वर्णन करते हुए कवि कहता है कि आनन्दस्वरूप भगवान् के नैकट्य को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं, उन्हीं में ये दो साधनमार्ग भी हैं—एक नाद का मार्ग और दूसरा रूप का मार्ग। इनमें भी रूप का मार्ग बड़ा सूक्ष्म और कठिन है क्योंकि इस रूपोपासना मार्ग में लोकवासना का विष और निवृत्ति का अमृत दोनों एकत्र स्थित हैं। लोकरूप की आसक्ति से वासना के गर्त में गिरने का इसमें विष है और लोकरूप के भीतर तथा बाहर, सर्वत्र रहने वाले भगवान् के रूप को पहचान कर उनके नैकट्य की आनन्दानुभूति अमृत है।

दशम स्कन्ध—नन्ददास का कहना है—"मित्र के कहने से ही मैं संस्कृत 'भागवत' का भाषा में वर्णन करता हूँ।" ग्रन्थ के पढ़ने से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' का अक्षरशः अनुवाद न होकर केवल भावानुवाद है। कवि ने 'श्रीमद्भागवत' की टीकाओं का भाव लेकर ग्रन्थ-रचना की है। मुख्य टीकाएँ दो हैं, जिनके भावों का इस ग्रन्थ में विशेष रूप से समावेश है। एक श्रीधर स्वामी कृत 'भावार्थ-दीपिका' है, कबि ने स्वयं इस ग्रंथ में श्रीधर स्वामी का उल्लेख किया है। दूसरी टीका श्री वल्लभाचार्यजी कृत 'सुबोधिनी' है। इस दूसरी टीका का कवि के ऊपर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। परन्तु जहाँ श्रीधर स्वामी और वल्लभाचार्यजी के विचारों में मतभेद है, वहाँ कवि ने दोंनों के मतों को दे दिया है। श्रीधर स्वामी की जो प्रशंसा कवि ने की है, उससे ज्ञात होता हैं कि वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के पहले कवि पर श्रीधर स्वामी के विचारों का विशेष प्रभाव था जिसको वह 'सुबोधिनी' के सुनने के बाद भी पूर्ण रूप से नहीं हटा सका था। यह ग्रन्थ २९ अध्यायों में विभक्त है। रासपंचाध्यायी प्रसंग तक ही यह उपलब्ध है। शेष के लिए कहा जाता है कि ब्राह्मणों और गोस्वामी विट्ठलनाथजी के कहने से उसे इन्होंने यमुना में बहा दिया था।

श्यामसगाई—राधा कृष्ण के घर नित्य खेलने आया करती थी। एक दिन राधा के रूपसौंदर्य को देखकर यशोदा के मन में इच्छा हुई कि उसके प्यारे पुत्र कृष्ण के साथ राधा की सगाई हो जाए। इस विचार से प्रेरित होकर उन्होंने अपना प्रस्ताव एक ब्राह्मणी के द्वारा राधा की माता कीर्तिजी के पास 'बरसाने' भेजा। परन्तु कीर्तिजी ने इसे अस्वीकार कर दिया। यशोदा को इस निराशापूर्ण उत्तर से दुःख हुआ। उधर राधा कृष्ण पर मोहित थी। एक दिन राधा पर कृष्ण के मोह का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह बहुत विकल हो गई। उसकी अन्तरंग सखियों ने कृष्णमिलन का एक उपाय निकाल कर उसे बताया कि तू अपनी माता से कहना—'मुझे काले साँप ने काट खाया है', हम कृष्ण को तुम्हारे पास विष उतारने के लिए बुलवा लेंगी। राधा ने ऐसा ही किया। जब कीर्तिजी अपनी पुत्री की मूर्छा पर व्याकुल होने लगीं

तब राधा की सखियों ने सम्मति दी कि कृष्ण बड़ा गारुड़ी है, उसी ने काले नाग को नाथा था। कीर्ति ने सखी को यशोदा के पास भेजा और कहलवाया—'यदि तेरा पुत्र मेरी बेटी को अच्छा कर देगा तो मैं उसे तुझको दे दूँगी।' बरसाने से यशोदा के पास कृष्ण को भेजने के अनेक सन्देश आये। अन्त में कृष्ण राधा के पास गए। उन्होंने वहाँ जाकर उसकी मूर्छा दूर कर दी। कीर्ति ने इस कृतज्ञता में राधा की सगाई कृष्ण के साथ कर दी। काव्य की दृष्टि से यह एक साधारण रचना है। इसमें न तो वर्णन की सजीवता तथा सचित्रता है और न भावाभिव्यंजन की रसात्मकता। प्रसंग रोचक है।

गोवर्धनलीला—गोवर्धनलीला के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस रचना में कृष्णचरित्र की लीलाओं के वर्णन और गुणगान के अतिरिक्त किसी आध्यात्मिक सिद्धान्त के प्रतिपादन का ध्येय नहीं है। श्रीमद्भागवत में इस प्रकार की अनेक कृष्णलीलाओं का वर्णन है। नन्ददास ने उन्हीं लीलाओं में से इस प्रसंग को लेकर यह कृति लिखी है। इन्द्र का मानमर्दन इसका मुख्य कथानक है। इन्द्र का प्रकोप सजीव रूप में दिखाया गया है। गोवर्धन उठाकर उसकी छत्रछाया में कृष्ण ने सब व्रजजनों की रक्षा की। सात दिन तक घोर वर्षा हुई, परन्तु किसी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। इन्द्र की हार हुई। यह कथानक कृष्णचरित्र की एक लौकिक घटना का वर्णन करता है। काव्य की दृष्टि से नन्ददास की यह रचना भी एक साधारण कृति है। भावों का चित्रण न्यून है। कथानक का सांगोपांग विस्तार नहीं है। कुछ अंशों में काव्यमयता अवश्य है। विशेष रूपेण गोपिकाओं का गोवर्धनपूजा के निमित्त जाने का प्रसंग रसमय और सजीव है।

सुदामाचरित—'सुदामाचरित' की कथा 'श्रीमद्भागवत' से ली गयी है। अनेक कवियों ने इस कथानक पर रचनाएँ की हैं। कथानक लोकप्रिय है। नन्ददास को इस रचना का ध्येय कृष्ण की दयालुता, भक्तवत्सलता, दीनप्रतिपालकता, मैत्रीनिर्वाह आदि उदार गुणों को दर्शाना है। ग्रन्थ में कवि की कृष्णभक्ति के भी दर्शन होते हैं। पहले कवि ने सुदामा का परिचय दिया है। इसके बाद उसकी पतिव्रता पत्नी को सच्चरित्रता और कर्तव्यपरायणता की प्रशंसा की है। उसकी स्त्री अपनी निर्धन अवस्था से दुःखी होकर पति के बाल्यकाल के मित्र और सहपाठी कृष्ण के पास आग्रहपूर्वक उनको भेजती है। सुदामाजी द्वारकापुरी जाते हैं। इस प्रसंग में उनकी यात्रा का वर्णन कवि ने छोड़ दिया है। द्वारकापुरी का वर्णन अवश्य किया गया है, पर वह संक्षेप में है और कवि परम्परानुसार अत्युक्तिपूर्ण है। नन्ददास कृत यह 'सुदामाचरित' बहुत साधारण रचना है। इसकी भाषा में 'रासपंचाध्यायी' अथवा 'भँवरगीत' जैसा पदलालित्य नहीं है। रचना में व्यक्त मुख्य भाव सख्य प्रेम है। वर्णन बहुत थोड़ा है। सम्भव है, यह नन्ददास की आरम्भिक रचना हो।

रुक्मिणीमंगल—नन्ददास ने अपने अन्य कथानकों की तरह रुक्मिणीमंगल की कथा को भी 'श्रीमद्भागवत' से ही लिया है। 'श्रीमद्भागवत' में दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध के ५२ वें, ५३ वें और ५४ वें अध्यायों में रुक्मिणीहरण और उसके साथ कृष्ण के विवाह की कथा दी गयी है। भागवतकार ने इस कथा को विस्तार से दिया है। नन्ददास ने कथानक के कुछ अंश को छोड़ दिया है, परन्तु भावपूर्ण स्थलों को इन्होंने कुछ विस्तार के साथ लिखा है। कथानक के विस्तार की कमी को कवि ने भावपूर्ण स्थलों के वर्णन और दृश्यों के चित्रण से पूरा किया है। इन वर्णनों में रुक्मिणी के पूर्वराग की विरह वेदना का चित्रण तथा कृष्ण के रूप और द्वारावती के वर्णन हैं। युद्ध स्थल के वर्णन को कवि छोड़ गया है। नन्ददास शृंगाररस के कवि हैं। शृङ्गार के अन्तर्गत इन्होंने विरहवर्णन की ओर अधिक ध्यान दिया है। प्रेमविरह को कवि ने अधिक महत्ता दी है। ग्रन्थ में कवि का कृष्ण के प्रति भक्तिभाव भी चित्रित है, परन्तु किसी सिद्धान्त अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का वर्णन इसमें नहीं किया गया है।

रासपंचाध्यायी—नन्ददास कृत 'रासपंचाध्यायी' में दो विभिन्न भावधाराएँ प्रवाहित मिलती हैं—एक धारा कवि के आध्यात्मिक भावों की है और दूसरी लौकिक श्रृङ्गार की। लौकिक श्रृंगार की तह में आध्यात्मिक धारा इतनी प्रच्छन्न चलती है कि नन्ददास के काव्य को पढ़ने वाला साधारण विद्यार्थी सहज ही में भ्रमित होकर बहने लगता है कि 'रास पंचाध्यायी' एक श्रृङ्गारिक काव्य है जिसमें लौकिक संयोग प्रेम का दृश्य अंकित है। परन्तु जिन्होंने कवि के आन्तरिक भावों का मनन किया है, उनको ज्ञात होगा कि इस ग्रंथ में व्यक्ति विषय पर कवि के धार्मिक भावों तथा उन आध्यात्मिक आदर्शों की, जिनको श्री वल्लभाचार्यजी ने सामने रखा था, अमिट छाप है। वास्तव में नन्ददास के काव्य का ध्येय धार्मिक था। उस समय प्रवृत्ति भी ईश्वरोन्मुख प्रेम-भक्ति की ओर ही थी। 'रासपंचाध्यायी' में व्यक्त लौकिक श्रृंगार के पीछे अन्योक्ति है और वह अन्योक्ति आध्यात्मिक है। अपनी भक्तिपद्धति में नन्ददास ने माधुर्यप्रेम का अनुसरण किया है। लौकिक-प्रेम के सब स्वरूपों में स्त्री-पुरुष के प्रेम में बहुत अधिक गहनता और तीव्रता होती है। भक्तों ने आध्यात्मिक प्रेमानुभाव की गहनता उससे भी अधिक बताई है और भक्तों ने इस प्रेम की जब अभिव्यंजना की है तो उन्हें यह प्रेमव्यंजना लोकानुभूत प्रेम के रूपकों द्वारा ही करनी पड़ती है। नन्ददास के काव्य में माधुर्य-भक्ति के कारण श्रृङ्गार भाव का समावेश अधिक मात्रा में हुआ है, 'रासपंचाध्यायी' के लौकिक रति के चित्रों में आध्यात्मिक प्रेम का रहस्य छिपा है।

ग्रन्थ के नाम से प्रकट है कि 'रासपंचाध्यायी' में पाँच अध्याय हैं, जिनमें गोपी-कृष्ण की रास-लीला का वर्णन है। आध्यात्मिक दृष्टि से कृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं और गोपियाँ आत्माएँ हैं जो उसी का अंश हैं। भगवान् के आनंदांश से अलग होकर ये आत्माएँ संसार-चक्र के बीच फिर उसी आनन्दस्वरूप परमात्मा से मिलने को लालायित हैं। पाँच अध्यायों में बिछुड़ी हुई आत्मा और रसरूप परमात्मा के साथ उसके पुनर्मिलन की आनन्दावस्था का वर्णन किया गया है। इस कृति का मुख्य आधार 'श्रीमद्भागवत' है। किन्तु उस पर अवलंबित होते हुए भी यह अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। विषय प्रतिपादन की रीति, भाषा सौन्दर्य, कवि-कल्पना से युक्त काव्योक्तियाँ, कला में स्वतन्त्र प्रसंगों का समावेश तथा धार्मिक सिद्धान्त इस मौलिकता के विशेष अंग हैं। 'श्रीमद्भागवत' में दशम स्कन्ध के २९ वें अध्याय से ३३ वें अध्याय तक गोपी-कृष्ण की रासलीला का वर्णन है। ये ही पाँच अध्याय नन्ददास की रचना 'रासपंचाध्यायी' कहलाते हैं।

भँवरगीत—'भँवरगीत' के प्रथम अर्धभाग में गोपी-उद्धव-संवाद है और दूसरे भाग में कृष्ण प्रेम में गोपियों की विरह दशा का वर्णन है। इस रचना का ध्येय केवल गोपी-विरह-लीला का वर्णन करना ही नहीं है, वरन् गोपी-उद्धव-संवाद-रूप में कवि को धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना भी अभीष्ट है। गोपियाँ प्रेमाभक्ति और सगुण ब्रह्म का पक्ष लेती हैं और उद्धव ज्ञान, योग और कर्ममार्ग के साथ निर्गुण ईश्वर का। अन्त में गोपियों की विजय दिखाकर भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता दिखाई गई है। नन्ददास के 'भँवरगीत' में जहाँ सगुण-निर्गुण का विवाद है, वहाँ कवि के विचार प्रधान हैं तथा भावों की न्यूनता है और जहाँ गोपियों के प्रेम और उनकी विरहदशा का वर्णन है वहाँ कविहृदय की भावुकता और काव्य के मुग्धकारी रूप की प्रधानता है, विचार गौण हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी कवि ने सरस और काव्यमयी भाषा को माध्यम बनाया है। नन्ददास का 'भँवरगीत' भागवत के ४७ वें अध्याय के तीसरे श्लोक से आरम्भ होता है। भागवत में दिए हुए भ्रमरगीत का कथानक ही नन्ददास ने कुछ नवीन प्रसंग जोड़कर और कुछ प्रसंगों में हेरफेर कर अपनाया है। अनेक स्थानों में कवि ने भागवत से ज्यों के त्यों भाव भी ले लिए हैं, परन्तु भागवत के अपहृत भावों को कवि ने ऐसी सरस शब्दावली में रखा है कि उनकी व्यंजना में मौलिकता का-सा आनन्द आता है।

सिद्धान्तपंचाध्यायी—'रासपंचाध्यायी' के विवेचन में यह कहा गया है कि रासलीला-वर्णन में नन्ददास की धार्मिक दृष्टि प्रधान है। 'सिद्धांत पंचाध्यायी' का विषय भी कृष्ण की रासलीला ही है। इस ग्रंथ में कवि ने कृष्ण, वृंदावन, वेणु, गोपी और रास की आध्यात्मिक व्याख्या की है। रास का कवितामय चित्र खड़ा करने की ओर कवि का ध्यान नहीं है। श्रीधर स्वामी से लेकर 'श्रीमद्भागवत' के सभी टीकाकारों ने गोपी-कृष्ण-रास को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है और उसे लौकिक कामत्याग का साधन माना है। इसी भाव को नन्ददासजी ने अपने साम्प्रदायिक विचारों से रंग कर 'सिद्धान्त-पंचाध्यायी' में विशद रूप से व्यक्त किया है। ग्रंथ के शीर्षक से अनुमान होता है कि इसमें पाँच अध्याय होंगे, परंतु ग्रंथ को देखने से ज्ञात होता है कि विषय अध्यायों में विभाजित नहीं हैं। ग्रंथ का आरम्भ श्रीकृष्ण की स्तुति से होता है। कृष्ण का स्वरूपवर्णन करने के अनंतर कवि ने 'रासपंचाध्यायी' के अनुसार तथा उसी की शब्दावली में शरद् रात्रि की शोभा का वर्णन किया है। रास के वातावरण का वर्णन यहाँ विस्तार से नहीं किया गया है। कृष्ण अपनी 'शब्दब्रह्ममयी' वंशी बजाते हैं और गोपियों को रास के लिए प्रेरित करते हैं। गोपियाँ अपने गृहबन्धनों को त्याग कर कृष्ण के पास जाती हैं। इस स्थान पर कवि ने ज्ञानमार्ग की अपेक्षा प्रेमाभक्ति के मार्ग को अधिक सुगम बताया है। गोपियाँ इसी मार्ग को ग्रहण करती हैं और वे सफल होकर आध्यात्मिक साधकों के लिए आदर्श बनती हैं। यहाँ कवि ने उन्हें भक्ति मार्ग की आचार्या बताया है। आगे कवि ने कहा है—'कृष्ण-रास-लीला में लौकिक शृंगार का भाव नहीं। इसमें शृंगारभाव द्वारा तो निवृत्ति का साधन वर्णित है।' कवि ने रास के अनेक प्रसंगों का वर्णन बहुत संक्षेप में किया है तथा अन्त में 'रासपंचाध्यायी' की तरह रासलीला का माहात्म्य-वर्णन किया है।

वि० स्ना०

नंदराम

नन्दरामजी का जन्म श्री राधाकृष्ण भार्गव के यहाँ परीक्षितपुरा (दिल्ली) में अनुमानतः संवत् १७८० को हुआ था। इनमें आरम्भ से ही भगवत-लगन थी। संवत् १७९२ के लगभग ये संत चरणदासजी के सम्पर्क में आए। तब से भक्ति और गहरी हो गई। ये दिन में दो बार उनके मठ में जाने लगे। एक बार चरणदास जी इनके घर पधारे और उन्होंने इन्हें विधिवत् दीक्षित किया। ये कृष्णभक्त थे, किन्तु इनकी एक मात्र रचना 'योगसार' मिलती है। सहजो बाई इनकी बुआ थीं।

म० गो० भा०

नंदराम स्वामी

स्वामी नंदरामजी उच्च कोटि के रसिक भक्त थे। साम्प्रदायिक ग्रंथों में इनके सम्बन्ध में कहा गया है—

श्री कुंजलाल गुरु कृपा रीति रस मारग जानी।
वृन्दावन घन वसत जुगल सेवा मनमानी॥
पुनि प्यारी प्रभु कथा सदा श्रवनन पथ धारैं।
हरि संतन सौं नेह दया जुत वचन उचारैं॥
श्री हरिवंश प्रसाद तें सुख प्रापति मंगल धाम कौ।
श्री राधावल्लभ भजन मन स्वामी श्री नन्दराम कौ॥

—रसिक-अनन्य-परचावली

अति सुमति सुहृद श्री नन्दराम।
हित चरन प्रीति रस भक्ति धाम॥
फागुन सुख स्वादी गुननि ग्राम।
भावना परायण अष्टयाम॥

— चतुर्थ-वसन्त-प्रबन्ध

ये गो० श्री कुंजलालजी के शिष्य थे। इनका जन्म एक धनी परिवार में हुआ था। साधुओं के सत्संग से इन्हें संसार की असारता का बोध प्राप्त हुआ और इन्होंने विरक्त वेष ले लिया। इन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति प्रभु सेवा के लिए अर्पित कर दी। इन्होंने एक बगीचा प्रभु की फूल-सेवा के निमित्त बनवाया था। यह वृन्दा-

वन में मदनटेर के बगल में है तथा आजकल "नन्दराम का बगीचा" के नाम से प्रख्यात है।

स्वामीजी यहाँ पर ही रहते हुए श्रीजी की प्रकट-सेवा तथा मानसी-भावना किया करते थे। इनका साधुओं से विशेष अनुराग था। जो भी सन्त इनके यहाँ आते थे, उनका ये यथेष्ट सम्मान करते थे। प्रभु कथा कहना-सुनना इनके जीवन का कार्यक्रम बन गया था। **"कहत सुनत गावत रसिक सुनित नित लीला रस पियत"**—श्री सेवकजी की यह बात इनके जीवन में प्रत्यक्ष देखी जाती थी।

इस प्रकार से अनन्य रसिक जीवन यापन करते हुए इन्होंने व्रज-रज की प्राप्ति कर अपना नित्य सिद्ध वपु—सखी रूप—प्राप्त किया।

गो० कुंजलाल जी का जन्म सं० १६९६ में हुआ था। इस आधार पर इनकी उपस्थिति १८वीं शताब्दी में मानी जा सकती है।

इनका एक पद प्राप्त हुआ है, जो नीचे दिया जा रहा है। भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी और भी रचनाएँ होंगी जो अनुपलब्ध हैं—

ठाढ़े रति मंदिर के आँगन अनंग भरे
तन की सुवास भीर भौंर मँडरात है।
चंदहि विलोकि अवलोकि प्राण प्यारी तन
चाँदनी में चाँदनी सी दिपै दुति गात है॥
छवि की तरंग अंग अंग बाढ़ी 'नंदराम'
लोभी मन लाल कौ ललकि ललचात है।
ज्यौं ज्यौं गहि वाही परछाँहीं तन पावै पीय
त्यौं त्यौं परछाहीं कुंज माँहि चलि जात है॥

श्या० बि० खं०

नंदलालदास

बाबा श्री नंदलालदास का जन्म वि० सं० १९०४ में छपरा जिले के 'उकरेरी' नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिताश्री का नाम पंडित राजाराम मिश्र था। ये सरवरिया ब्राह्मण थे। इन्होंने १३ वर्ष की अल्पावस्था में ही श्री निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत वैष्णवी दीक्षा ग्रहण कर विरक्त वेष धारण कर लिया था।

कुछ दिन गुरुदेव की शरण में रहने के उपरान्त ये नेपाल चले गये। वहाँ इन्होंने नरमहरी नामक पहाड़ के जङ्गल में पन्द्रह वर्ष तक भगवद्भजन किया। इसके बाद पन्द्रह वर्ष तिरहुत के तीर्थस्थानों तथा चारों धाम का भ्रमण करते हुए वृन्दावन आ गये। तब से जीवन पर्यन्त ये श्री धाम में ही निवास करते रहे।

बाबा नंदलालजी अपने इष्टदेव एवं आचार्य चरणों में अटूट श्रद्धा रखने वाले सीधे-सरल स्वभाव के सन्त थे। वृन्दावन से बाहर इनकी एक बगीची थी, उसी में रहकर ये साधु सेवा एवं भगवद् भजन में तल्लीन रहते थे। जो कुछ भक्तजनों से श्रद्धास्वरूप प्राप्त होता उसे एकत्र कर आचार्य-उत्सव एवं आचार्य-ग्रन्थों के प्रकाशन में व्यय कर देते थे। इनके द्वारा निम्नलिखित ग्रंथ प्रकाशित हैं—

१. श्याम विन्दी महिमा, २. तुलसी-कंठी-तत्त्व, ३ लघुस्तवराजस्तोत्रसटीक, ४ स्तोत्ररत्नावली और ५. गोपाल-तापिनी उपनिषद्।

प्रे० ना० श्री०

नंदाजी

श्री नन्दाजी का उल्लेख इतिहास-ग्रन्थों में सत्रहवीं शताब्दी तक नहीं देखा जाता। इनके नाम का सर्वप्रथम उल्लेख श्री अतिवल्लभजी द्वारा प्रणीत श्री हरिवंश जन्मबधाई के एक पद-विशेष में मिलता है, जो इस प्रकार है—

बड़ौ वंश कहँ लगि जस बरनौं हित परिकर गुन गाऊँ।
प्रगटे जिहि जिहि ठाँम नाम लैं तिनके दान सुनाऊँ॥

० ० ०

दास छबीले रस सरसीले नन्द, मनोहर सेवा।
जनम सुजस कहि जन मन राँचे जाँचे आन न देवा॥

चाचा श्रीहित वृन्दावनदासजी ने श्री हरिवंश चन्द्रजी की कलकीर्त्ति गान के व्याज से उनके कृपापात्रों के नाम स्मरण किये हैं। रचनाओं में नाम स्मरण के अतिरिक्त कोई विशेष परिचय नहीं दिया है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ लेखक को रचना करते समय तक कोई परिचय प्राप्त नहीं हुआ था। नाम स्मरण की पंक्ति इस प्रकार है—

नमामि श्री हरिवंश संत, सेवा पुनि मोहन।
रंगा, नंदहि आदि इते भृत किये सुख दोहन॥
—श्री हरिवंश सहस्रनाम

करतार नन्द कर देत शोभ।
तरु फागमई मनौ प्रेम गोभ॥

देखन छैलन मन बदत लोभ।
करैं खेल दोंहि चित मदन क्षोभ॥
—प्रथम-वसंत-प्रबन्ध

उपलब्ध तथ्यों के आधार पर हमें इतनी ही जानकारी से सन्तोष करना पड़ता है कि श्री नन्दाजी श्री हिताचार्य चरण के कृपापात्र भृत्य थे और श्री हितजू की अहेतुकी कृपा से प्राप्त श्री वृन्दावन के रस-रहस्य जैसी अमूल्य निधि के धनी होने पर इन्होंने अपने को तथा अपने साधना-तत्त्व को पूर्ण रूप से गुप्त ही रखा था।

चाचा हित वृन्दावनदासजी ने लिखा है कि चिड़थावल निवासी आत्मदेव ने अपनी कन्याओं को विदा करते समय गो० हितजू के साथ बहुत से दास-दासी दिये थे, कोई आश्चर्य नहीं कि श्री नन्दाजी भी उन्हीं में से एक हों। इस आधार से इनका निवास स्थान चिड़थावल माना जा सकता है। इनका आनुमानिक उपस्थिति काल विक्रम सं० १५५० से सं० १६३० तक प्रतीत होता है।

श्या० बि० खं०

नथिया बाई

सुश्री नथिया बाई का जन्म लगभग सन् १९०० में ब्रज के उमराला गाँव में एक जाट परिवार में हुआ था। इनका परिवार स्वभाव से ही सन्त-सेवी था। इनके यहाँ साधु-समागम भी होता रहता। अपने माता-पिता के साथ ये साधु-सेवा और ठाकुर-सेवा में हाथ बँटातीं। कुछ ही दिनों के बाद इनके माता-पिता की मृत्यु हो गयी। तब इनके भाई ने इनका विवाह कर दिया। लेकिन इनके पति की जल्दी ही मृत्यु हो गयो। अब ये अपने मैके चली आयीं और सारा समय साधु-वैष्णवों की सेवा में बिताने लगीं। कुछ ही दिनों बाद इनके भाई का भी देहान्त हो गया तब इनके चाचा श्री बलराम भगत इन्हें अपने घर ले गये। वहीं पर इन्होंने बाबा रामरतनदासजी से दीक्षा ग्रहण की तथा उन्हीं से भेष ग्रहण कर गाँव चली गयीं। वहाँ श्रीमती पानादेवी के साथ श्रीजी के मन्दिर में रहकर भजन करने लगीं। इसके अनंतर ये वहाँ से वृन्दावन चली आयीं और यमुनागली में रहने लगीं। वहाँ ये श्री कृष्ण-लीलाओं का गान तो करतीं ही, पंचकोसी परिक्रमा भी करती थीं। साधु-समाज में इनकी साधु-सेवा और भक्ति-भाव की धूम मच गयी। श्री गौरांगदास, श्री प्रियाशरण, श्री हरि बाबा, श्री उड़िया बाबा और श्री बालकृष्णदास तक इनसे मधुकरी लेने आते। सन्तों के अलावा बड़े-बड़े सेठ कलकत्ते, बम्बई, जयपुर, लुधियाना तक इनकी मधुकरी मँगवाते। ये ठाकुर-सेवा और सन्त-सेवा के साथ ही गो-सेवा पर भी बहुत बल देतीं। सेवा-कुंज के पास इन्होंने मानगली में 'राधिका-निकेतन' नामक एक आश्रम का निर्माण करवाया। उसका एक ट्रस्ट बनाकर इन्होंने सन्त-सेवा आदि की व्यवस्था कर दी। २५ जनवरी सन् १९८१ को इन्होंने अपनी इह लीला समाप्त कर दी।

मु० ध०

नबी बख्श फलक

मुंशी नबी बख्श फलक का जन्म दतिया में सं० १९५० में हुआ था। ये व्रज, व्रजचंद और व्रजेश्वरी के अनन्य उपासक थे। इनका काव्य भक्तिरस से ओत-प्रोत है। इनकी कविता में रसखान की तन्मयता दिखाई देती है। इन्होंने व्रजभाषा में स्फुट छन्द तथा ७०० दोहों में फलक सतसई लिखी है। इनके कुछ छन्द प्रस्तुत हैं—

राधा रानी के चरन, गहौं बेगि ही जाइ।
बिगरे काज बनाइलै, फलक न देर लगाइ॥

राज के भरोसो कोऊ, काज के भरोसो कोऊ,
साज के भरोसो कोऊ, कोऊ बरवानी के।
देह के भरोसो कोऊ, गेह के भरोसो कोऊ,
नेह के भरोसो कोऊ, कोऊ गुरु ग्यानी के।
नाम के भरोसो कोऊ, ग्राम के भरोसो कोऊ,
दाम के भरोसो कोऊ, कीरत कहानी के।
व्रज है भरोसे सदा स्याम व्रजराज के तौं,
'फलक' भरोसे एक राधा व्रजरानी के॥

स०

नरवाहन

महाप्रभु श्रीहित हरिवंश गोस्वामी से दीक्षा लेने से पूर्व डाकुओं के श्री नरवाहनजी सरदार थे। ये यमुना तट पर स्थित भैगाँव के निवासी थे। वहाँ इनकी गढ़ी के अवशेष अब भी विद्यमान हैं। लोदीवंश का शासन सं० १५८३ में समाप्त हो जाने के बाद दिल्ली के आस-पास कुछ समय तक अराजकता की स्थिति रही थी। इस काल में नरवाहन ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी और सम्पूर्ण व्रजमण्डल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। आसपास के नरेश को इनसे डरने ही लगे थे, ये दिल्ली के शासकों की आज्ञा का भी उल्लंघन करने लगे थे।

वृन्दावन उस समय एक घना जंगल था। श्री चैतन्य महाप्रभु के कृपापात्र कुछ बंगाली सन्त यहाँ बसने की चेष्टा कर रहे थे, किन्तु डाकुओं के आतंक से यहाँ जम नहीं पा रहे थे। इसी काल में सं० १५९१ में श्री हित हरिवंश गोस्वामी श्री राधावल्लभजी के विग्रह एवं अपने परिवार-परिकर सहित वृन्दावन पधारे और व्रजवासियों से भूमि लेकर श्री वृन्दावन में निवास करने लगे। उनकी कीर्ति सुनकर एक दिन ये उनसे मिलने आये। श्री हिताचार्य उस समय अपने शिष्य नवलदासजी के साथ भगवच्चर्चा कर रहे थे। नरवाहन जी एक तरफ बैठकर उसे सुनते रहे और अपलक नेत्रों से महाप्रभुजी के दर्शन करते रहे। उस समय इनको ऐसा लग रहा था कि वे किसी घोर निद्रा से धीरे-धीरे जाग रहे हैं और उनके चारों ओर एन अद्भुत प्रकाश फैलता जा रहा है, जो अत्यन्त सुहावना और शान्ति-दायक है। इनके हृदय में निर्वेद का भाव उठने लगा और इनको अपने पिछले हिंसापूर्ण कृत्यों पर पश्चाताप होने लगा। इनकी आंखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो गई और इन्होंने अपना मस्तक महाप्रभु के चरणों में रख दिया। श्री हिताचार्य ने इनकी ओर करुणार्द्र दृष्टि से देखा और इनके मस्तक पर हाथ रखा।

नरवाहन जी और अधिक भाव विह्वल हो उठे। इन्होंने श्री हिताचार्य से अपनी शरण में लेने की प्रार्थना की। महाप्रभु ने इनको दीक्षा दे दी और भविष्य में सम्पूर्ण क्रूर-कर्मों को छोड़कर वैष्णव-जनोचित आचरण करने की आज्ञा दी। इसके बाद इनको उपासना का स्वरूप बताया और गुरु, इष्टधाम की महिमा समझाई। नरवाहनजी ने अपनी गढ़ी में वापस पहुँच कर वहाँ का सम्पूर्ण वातावरण बदल दिया और सेवा में अपना सारा समय लगाने लगे। लूट-पाट बन्द कर देने से अब इनके तथा इनके आश्रित कर्मचारियों की जीविका का साधन खेती मात्र रह गया था या वह चुंगी रह गई थी जो उनके कर्मचारी यमुनाजी में गुजरने वाली मालवाहक नौकाओं से लेते थे। इनके आचरण परिवर्तन की सूचना चारो ओर फैल गई थी। दबदबा समाप्त हो जाने के कारण इनके कर्मचारियों को चुगी वसूलने में भी कठिनाई पड़ने लगी।

कुछ ही दिन बाद, एक जैन व्यापारी कई नावों में बहुमूल्य सामान लादे हुए यमुनाजी में दिल्ली से

आगरा की ओर यात्रा कर रहा था। व्यापारी ने कई बजरों (बड़ी नावों) में अपने साथ बन्दूकों से सुसज्जित सैनिक तैनात कर रखे थे और वह किसी को चुङ्गी देने को तैयार नहीं था। नरवाहन जी के कर्मचारियों को ऐसे लड़ाकू व्यापारी के आने की पूर्व सूचना मिल चुकी थी और उन्होंने भी अपने सैनिक बुला लिए थे। चुङ्गी माँगने पर व्यापारी ने बन्दूकों से लड़ाई छेड़ दी। इधर से भी बन्दूकें चलने लगीं और उसके शसस्त्र बजड़े डुबा दिये गये। नरवाहनजी के सैनिकों ने नावों का माल लूट लिया और व्यापारी को बन्दी बना लिया। इस युद्ध में दोनों ओर के अनेक सैनिक मारे गये और यमुना जी का जल रक्त-रंजित हो गया।

इनके अनुगतों ने बन्दी व्यापारी एवं उसके तीन लाख मुद्रा के सामान को ले जाकर नरवाहन जी के सामने प्रस्तुत किया। युद्ध का वृतान्त सुनकर नरवाहन का मन खिन्न हो उठा और उनको उस व्यापारी पर क्रोध आ गया। ब्रजवासियों की हत्या करने के कारण इन्होंने व्यापारी की भर्त्सना की और आज्ञा दी कि उसको हथकड़ी-बेड़ी में जकड़ कर कारागार में डाल दिया जाय और जब तक वह इतना ही धन घर से न मँगा दे तब तक उसको छोड़ा न जाय।

नरवाहनजी की एक दासी उस समय वहीं उपस्थित थी। व्यापारी तरुण और सुन्दर था। उसको देखकर दासी के मन में करुणा आ गई। वह उसको मुक्ति का उपाय सोचने लगी। व्यापारी को कारागार में बन्द हुये कई महीने हो गये, किन्तु वह अपने घर से धन न मँगा सका। नरवाहनजी के कर्मचारियों ने कुछ ही दिनों में उसे फाँसी पर लटकाने की योजना बना रखी थी और इनके आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे। दासी को जब इसकी सूचना मिली तो वह घबड़ा उठी और एक दिन अर्द्धरात्रि के समय कारागार के द्वार पर जाकर उसने सोते हुये व्यापारी को जगाया। दासी ने उससे कहा कि तुझको शीघ्र ही फाँसी पर लटकाया जायगा। व्यापारी घबड़ाकर दासी से अपनी जीवन-रक्षा का उपाय बताने की प्रार्थना करने लगा। दासी ने कहा 'तेरे बचने का एक मन्त्र मैं तुझको बताती हूँ। मैं तुझको यह कण्ठी माला दे रही हूँ। इसे तू अपने गले में बाँध ले और 'श्री राधावल्लभ-श्री हरिवंश, नाम की धुन पिछली रात को लगा देना। इस नाम को सुनकर नरवाहन जी स्वयं दौड़े हुये तेरे पास आ जायेंगे। तू उनसे यह यह कहना मैं श्री हरिवंशजी का शिष्य हूँ तब वे अपने हाथ से तेरी हथकड़ी खोल देंगे और तुझे तेरा सम्पूर्ण धन वापिस देकर तुझे आदरपूर्वक विदा कर देंगे।

दासी के जाने के कुछ देर बाद ही व्यापारी ने पूरी शक्ति से 'श्री राधावल्लभ श्री हरिवंश' नाम की धुन लगा दी। नरवाहनजी उस समय नित्य दैनिक कर्मों को कर रहे थे। वे श्री हरिवंश नाम सुनते ही दौड़े हुये कारागार चले आये और व्यापारी से यह सुनकर कि वह श्री हरिवंशजी का शिष्य है, उससे क्षमा माँगने लगे। प्रातः होते ही इन्होंने व्यापारी को स्नान कराकर उसको नवीन वस्त्र पहिनाया तथा उसका पूरा धन वापिस दे दिया। चलते समय इन्होंने व्यापारी को दण्डवत-प्रणाम करके उसकी रक्षा के लिए अपने सेवक उसके साथ कर दिये।

व्यापारी के मन पर नरवाहनजी के व्यवहार का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और वह भैगाँव से सीधा श्री वृन्दावन आया। यहाँ उसने श्री हरिवंशजी महाराज के दर्शन किये और अपना सारा द्रव्य उनके चरणों में समर्पित कर दिया। उसने अत्यन्त दीनता पूर्वक महाप्रभुजी से प्रार्थना की कि आपका मंगलमय नाम कपटपूर्वक लेने से ही मेरी प्राणरक्षा हो गया। अब आप मुझे दीक्षा देकर मेरे इस नये जन्म को कृतार्थ कर दीजिये। महाप्रभुजी ने उसका आग्रह देखकर उसको दीक्षा तो दे दी, किन्तु उसका धन स्वीकार नहीं किया तथा व्यापारी को श्री हरि-हरिजन की सेवा करने का आदेश देकर विदा कर दिया। उसके जाने के कई दिन बाद नरवाहनजी महाप्रभुजी से मिले तो महाप्रभुजी ने उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और उनको किसी भी परिस्थिति में हिंसा का मार्ग न अपनाने की शिक्षा दी। नरवाहनजी की अद्भुत गुरु-

निष्ठा से प्रसन्न होकर श्री हिताचार्य ने अपने दो पदों में उनके नाम की छाप दे दी! ये दोनों पद हित चौरासी में संकलित हैं। इन पदों के अतिरिक्त नरवाहन जी की स्वयं की कोई रचना उपलब्ध नहीं है। नरवाहनजी के सम्बन्ध में ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्त नामावली' में कहा है—

कहा कहों नहि कहि सकौं नरवाहन कौ भाग।
श्री मुख जाकौ नाम धर्‌यौ निज वाणी अनुराग॥

हित चौरासी में उक्त दोनों पद ११ और १२ संख्या के हैं। उन्हें यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

(१)

मंजुल कल कुंजदेस राधाहरि विसद वेस,
राका नभ कुमुद बन्धु 'सरद' जामिनी।
साँवल दुति कनक अंग, विहरत मिलि एक संग,
नीरद मानौ नील मध्य लसत दामिनी॥

अरुण पीत नवदुकूल अनुपम अनुरागमूल
सौरभ जुत सीत अनिल मन्द गामिनी।
किसलय रचित सैन बोलत पिय चाटु बैन,
मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी॥

मोहन मन मथत भाव परसत कुच नीबीहार,
वेपथ युत नेति-नेति वदत भामिनी।
नरवाहन प्रभु सुकेलि बहुविध भरभरत झेलि
सौरत रस रूप नदी जगत पावनी॥

(२)

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान,
रास रच्यौ श्याम तट कलिन्द नंदिनी।
निर्तत जुवती समूह राग रंग अति कुतूह,
बाजत रसमूल मुरलिका अनंदिनी॥

जाती ईसद विकास कानन अतिसय सुवास।
राका निसि सरद मास विमल चंदिनी।
नरवाहन प्रभु निहार लोचन भरि घोस नारि,
नख सिख सौन्दर्य काम दुख निकंदिनी॥

विलसहु भुजमेलि भामिनि सुख सिन्धु झेलि,
नव निकुंज श्याम केलि जगत बन्दिनी॥

नरवाहन की प्रशस्ति निम्न लिखित शब्दों में की गई है—

श्री हरिवंश प्रसाद धाम धन अरु परिवारा।
फल्यौ भक्ति विश्वास सुजस पूरित संसारा॥

श्री गुरु भये कृपाल देखि तिहिं चरित नवीने।
चौरासी पद माँहि जुगल पद ताकौ दीने॥

यह रीझ रावरी अति भई दरसाई वैभव धाम
धुरु।
ज्यौं सीसी झलकि मजीठ रँग नरवाहन उर
भक्ति गुरु॥

ये अपना धाम, धन और परिवार अपने गुरु हरिवंशचन्द्र की कृपा का फल मानते थे। गुरु-चरणों में इनकी अनन्य आस्था थी। इस कारण से इनका यश संसार में फैल गया था। गुरुदेव भी इनकी गुरु-भक्ति के नये नये-चरित्र देखकर रीझ गये और अपने चौरासी पदों में से दो पदों में इनके नाम की छाप लगा दी। इनके साथ ही उन्होंने नरवाहनजी को निकुंजधाम का सम्पूर्ण वैभव भी दरसा दिया। चाचा बृन्दावनदास कहते हैं कि नरवाहनजी के हृदय में गुरुभक्ति इस प्रकार से झलकती थी जिस प्रकार काँच की शीशी में लाल रंग झलकता है—

श्री नरवाहन नर श्रेष्ठ भयौ व्रज मंडल माहीं।
नंद घाट भैगाम तरनिजा निकट रहाहीं॥

सर्वसु श्री हरिवंश नाम राधावर गाइन।
जग में जिनकी ख्याति इष्ट-गुरु-धर्म पराइन॥
रसिकन सुभट उदार मति सुनि हित नाम विवश
हियौ॥
बनिक चरन गहि काटि बन्ध बहुत विनै करि धन
दियौ॥

ल० च० गो०

नरहरिदास (प्रथम)

नरहरिदास (प्रथम) का जन्म ब्रज के निकटवर्ती राजस्थान प्रदेश के सनाढ्य गौड़ ब्राह्मण वंश में हुआ था। इनका बचपन का नाम नारायण था। ये स्वयं कहते थे कि हमें अपने माता-पिता के रूप रंग का भी स्मरण नहीं है। अतः स्पष्ट हैं कि ये माता-पिता के वात्सल्य से वंचित रहे। इनका पालन-पोषण ताऊ-ताई के द्वारा हुआ। ताऊ अवश्य ही पुत्रवत् प्रेम करते, किन्तु ताई सदैव प्रतिकूल व्यवहार करती थीं। परन्तु ये ताई के व्यवहारों से कभी उद्विग्न नहीं हुए। ताऊजी ने इनका ६ वर्ष की अवस्था में ही उपनयन संस्कार कर दिया।

उपनयनोपरान्त इनको तीव्र वैराग्य जागृत हुआ, तब इन्होंने अपने हाथ-पैर के सोने-चाँदी के कड़े उतार कर रख दिये तथा छोटे से गोपालजी की सेवा ले श्री वृन्दावन आ गये। वहाँ उस समय रंगजी के बड़े खटला में इनके परिवार के एक पण्डित पढ़ाते थे। उनके सहयोग से ये खटला विद्यालय में पढ़ने लगे, किन्तु वैराग्य की तीव्रता ने वहाँ भी इन्हें नहीं रहने दिया। वहाँ से निकलकर वृन्दावन में ही चीरघाट पर अहिल्या बाई होलकर की कुन्ज में श्री चैनबिहारी ठाकुर की सेवा करने लगे। कुन्ज के कर्ता-धर्ता उस समय एक बड़े कुशल वैद्य थे। इनकी ठाकुर सेवा, सत्यता, सरलता, कार्य-दक्षता तथा प्रगाढ़ भक्ति से प्रसन्न होकर वे कुन्ज की व्यवस्था का भार सौंपने लगे, परन्तु इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। इस कुञ्ज के सम्पर्क से ये इन्दौर गये। वहाँ पर भी इनकी एक विद्यालय में बैठाया गया, किन्तु इनका अध्ययन में मन न लगा। परिणामस्वरूप ये इन्दौर से ओंकारेश्वर चले गये।

ओंकारेश्वर के समीप ही कुछ दूरी पर सघन बीहड़ जंगल में जयन्ती देवी का मन्दिर है। उस समय यहाँ व्याघ्रादि हिंसक-पशुओं के झुण्ड रहते थे। ओंकारेश्वर से चलकर ये जयन्ती देवी के मन्दिर गये। देवी के दर्शन कर चित्त गद्गद हो गया। वहाँ पर आप सारे दिन तो भगवद्भावावेश में बैठे रहे, किन्तु जब सूर्य अस्ताचलगामी हुआ तब उस गहन जंगल में हिंसक जन्तुओं का कोलाहल होने लगा। मन्दिर के पृष्ठ भाग में ही सिंह की भीषण गर्जना हुई। दस-ग्यारह वर्ष के इस अल्पायु बालक का हृदय काँप उठा। परन्तु इनको श्यामसुन्दर के चरणों की सच्ची भक्ति का सम्बल प्राप्त था। अतएव धैर्य धारणकर ये सोचने लगे कि यह तो माताजी का वाहन है। इससे घबराने की क्या आवश्यकता ? फिर मैय्या से प्रार्थना की कि 'मैय्या ! मैं आज तुम्हारे द्वार पर अतिथि के रूप में उपस्थित हुआ हूँ। यदि आपके वाहन द्वारा शरणागत को भयग्रस्त होना पड़े तो क्या आपके लिए यह शोभनीय होगा ?' प्रार्थना करते ही इन्हें ऐसी नींद आई कि पता ही नहीं चला रात कब बीत गई ? जब खूब धूप फैल गई तब आँखें खुलीं। माँ की कृपा से प्राण-रक्षा हो गई।

इस घटना के बाद वह तीर्थों में भ्रमण करने के लिए निकल पड़े। एक वर्ष पर्यन्त अदीक्षित ही गुरु की खोज में विचरते रहे। इनको जो भी देखता मुग्ध हो जाता, शिष्य बनाने के लिए साधुजन बड़ा आग्रह करते, भाँति-भाँति का लोभ दिखलाते, बड़ी-बड़ी सम्पत्ति वाले मठाधीश इनको मठ सौंपने को तैयार होते, परन्तु इन्होंने किसी का आग्रह स्वीकार नहीं किया। जब मनोनुकूल सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई तब ये निराश हो घूमते-घूमते गिरिराज की तलहटी में आये और गोवर्धन महाराज से सद्गुरुदेव की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की। तब नीम ग्राम में इनकी एक परम विरक्त सन्त से भेंट हुई। दर्शन करते ही उनमें श्रद्धा जम गई। वहीं पर सन्त ने इन्हें विरक्त वैष्णवी दीक्षा प्रदान कर मन्त्रराज का उपदेश दिया। ये सन्त श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के श्री घमण्डदेवाचार्य थे। ये सदा भ्रमण में रहने वाले परमयोगी थे। उनकी दाढ़ी पिण्डलियों तक लटकती थीं।

एक बार भ्रमण करते हुए ये मध्य प्रदेश के सिहोर जिले में पहुँचे। सिहोर के निकट महात्यागी श्री रामप्रियादासजी आश्रम बनाकर रहते थे। वे बड़े विरक्त

और अपने क्षेत्र में अत्यन्त प्रभावशाली थे। ये वहाँ पहुँचे और दण्डवत् करके आसन लगाकर बैठ गये। उनसे सत्संग होने लगा। सत्संग का विषय था—'त्याग का स्वरूप और उसकी महिमा।' महात्यागीजी पैसा नहीं छूते थे या पैसों को छूना दूषित सिद्ध कर रहे थे। इनका कहना था कि पैसा छूना कोई दोष नहीं है, दोष है पैसों में ममता रखना। पैसा न छूना तो एक प्रकार का पाखण्ड है वह भी विशेषकर अपने लिए क्योंकि यदि आप पैसा छूते नहीं तो आश्रम की सेवायें विधिवत् कैसे चल रही हैं? हाथ से नहीं छूते हैं पर मन से तो खूब स्पर्श कर रहे हैं।' महात्यागीजी ने आखिर में चिढ़कर कहा कि 'यदि तुम्हारी पैसे में ममता नहीं है तो उसे धूनी में डालकर जला दो!' इन्होंने कहा—'यह तो बिल्कुल मूर्खता का काम है। हाँ, यदि आप कहते कि सन्तों का भण्डारा हो जाय अथवा गायों के लिए दाना-भूसा मँगवा दिया जाय, तो आपका तर्क ठीक होता। अब आप ऐसा करें कि आश्रम की सारी गाएँ ब्राह्मणों को दान दे दें और मैं उनको दक्षिणा में अपने सब रुपए दिये देता हूँ।' यह सुन महात्यागीजी बोले – 'तुम सिद्ध बनते हो?' इन्होंने कहा – 'इसमें शक ही क्या है?' तब महात्यागीजी ने कहा—'यदि सिद्ध बनते हो तो प्रतिदिन शाम को बुखार क्यों आता है?' इन्होंने कहा—'यह तो मैं उसका सत्कार करता हूँ, पर यदि आप ऐसी बात कहते हैं तो आज से मुझे बुखार नहीं आ सकता।' दूसरे दिन इन्हें बुखार न आकर, महात्यागीजी को ही आ गया। तब महात्यागीजी इनसे बड़े प्रभावित और प्रसन्न हुए तथा इनसे कहा – 'सिद्धजी! हमारा बुखार भी हटाओ!' इन्होंने कहा – 'ठीक है।' फिर उनको भी बुखार नहीं आया।

. . . . .

गुरुदेव को ये साक्षात् भगवत्स्वरूप समझकर उनकी तन, मन, धन से सेवा करते और उनकी आज्ञा का पालन ही अपना परम पुरुषार्थ समझते थे। जिस समय उनका गोलोकवास हुआ तब ये भी वृन्दावन में ही तपस्या रत थे। इनके पास द्रव्य के नाम पर कमण्डल और कौपीन के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। सन्तों में भी यह नियम है कि शिष्य को अपने गुरु का यथाशक्ति भण्डारा करना चाहिए। अब इनके सामने समस्या आई कि इस अवस्था में कैसे भण्डारा करूँ, न तो पास में द्रव्य है और न कोई प्रेमी सेवक हो। तब तुरन्त विचार कर राधारानी का आश्रय ले यमुनाजी से प्रार्थना कर अनशन पर बैठ गये। यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि जब तक वृन्दावन के सन्तों का झरा (समष्टि) भण्डारा नहीं होगा तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। आठ-दस दिन के बाद नगर में यह चर्चा का मुख्य विषय बन गया। कोई कहता कि देखो आज तक वृन्दावन में ऐसा किसी महात्मा ने अड़ंगा नहीं लगाया। वे आपस में उपहास करते हुए कहते–'क्या भूखे मरने से भी भण्डारा होता है?' इनके पास भी आकर कहते—'महाराज! यह तो आपने उचित नहीं किया। व्यर्थ में क्यों जान गँवाते हो।' तब ये कहते कि 'मैंने आप लोगों के भरोसे पर यह संकल्प नहीं किया है जो मैं आपके उपदेश को मानूँ। मैंने तो त्रिभुवन-पोषण-कर्त्री गोलोकादि-पतीश्वरी श्री राधारानी का आश्रय लेकर तथा श्री यमुना मैय्या के भरोसे पर यह संकल्प लिया है। उनका आश्रय लेकर किया गया अभी तक मेरा कोई संकल्प मिथ्या नहीं हुआ। फिर यह संकल्प कैसे मिथ्या हो सकता है?' प्रहलाद सेठ ने टटिया स्थान के वर्तमान स्वामी जी महाराज से आकर पूछा कि 'महाराज क्या महात्माओं के लिए ऐसा करना उचित है?' महन्तजी ने कहा 'महात्मा का तो काम ही है प्राणों की आहुति देकर भी धर्मोपदेश करना। देखो, जो गुरु के नाम पर प्राणों का बलिदान देने में तत्पर है उससे श्रेष्ठ कौन महात्मा हो सकता है? यदि धन का सदुपयोग करना चाहो तो जैसा महात्मा कहें उनकी इच्छा पूर्ण करो।' फिर वह भक्त उनके पास आकर बोला—'महाराज! आप प्रसाद ग्रहण कीजिए, आप जैसा कहेंगे वैसा ही करेंगे।' इन्होंने कहा–'मैं तो स्वसंकल्पानुसार सन्तों के प्रसाद ग्रहण करने के उपरान्त ही

प्रसाद लूंगा।' इस प्रकार सत्रह दिनों तक इन्होंने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। अट्ठारहवें दिन श्री राधारानी की प्रेरणा एवं यमुनाजी की कृपा से आजादपानी घाट पर सन्तों का समष्टि (झरा) भण्डारा हुआ। उसके बाद इन्होंने प्रसाद ग्रहण किया। इसी प्रकार की एक और घटना है—

इनके पास दस-पन्द्रह सन्त प्रायः हर समय रहते थे। एक दिन आजादपानी घाट पर और कोई साधु नहीं था। ये अकेले ही रह गये थे। ऐसा कभी नहीं हुआ था। ये उस समय चिन्तित से हो भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि आज तक जीवन में ऐसा दिन नहीं आया कि मेरे पास एक भी सन्त न रहे। यह दुर्दिन आज कैसे देखने को मिला है ? अब मैं भी अकेला कैसे भोग लगाकर पाऊँ। ऐसा सोचकर उस दिन कुछ भी ग्रहण नहीं किया। दूसरे दिन एक बालक जो हाथ में कमण्डल और कौपीन धारण किये तथा वस्त्र के नाम पर भभूत रमाये हुये था, आया और उसने महाराज को दण्डवत प्रणाम किया। बालक के साँवले शरीर से दिव्य छटा फूट रही थी। इनकी दृष्टि उस पर जम गई और पूछा – 'बालक-भगवान् कहाँ से आये हो ?' उसने अपना स्थान अयोध्या बताया और कहा—'तीर्थ भ्रमण कर रहा हूँ।' तब महाराजजी ने कहा—'अच्छा, तो जो आपकी इच्छा हो बनाओ तथा भोग लगाकर प्रसाद ग्रहण करो।' बालक ने कहा—'मैं तो फलाहार करता हूँ, परन्तु आपके लिए जो आज्ञा करें मैं बना दूंगा।' तब इन्होंने कहा 'ठीक है हम भी फलाहार करेंगे।' तब बालक ने कहा 'मेरा फलाहार तो मेरे पास रहता है।' इन्होंने कहा—'क्या है ?' बालक ने कहा—'देखिए यह पत्ती घोंटकर केवल एक गिलास जल बनाकर पीता हूँ।' तव इन्होंने कहा—'अच्छा दो गिलास बनाइए, एक-एक गिलास दोनों पी लेंगे।' उस दिन तो ऐसा ही किया, दूसरे दिन उस बालक साधु ने कहा — 'आपको तो मैं प्रेम से रसोई बनाकर भोग लगाकर दूंगा। आप ऐसा क्यों करते हैं ?' इन्होंने कहा—'यदि तुमको खाना हो तो बनाओ अन्यथा अकेले हम नहीं पायेंगे।' इनका आग्रह देख बालक ने अपना व्रत भंगकर दिया और इनकी सेवा में रहने लगा। ये कहते थे कि वह बालक जो कुछ भी बनाता, भोग लगाता वैसा अमृतमय स्वाद पूवं में कभी प्राप्त नहीं हुआ। श्रावण मास आने पर जब सन्त झूला देखने आने लगे तब वह बालक-भगवान् न जाने कहाँ चला गया ? बाद में उसके बताए पते पर खोज कराई गई, किन्तु उसका कहीं पता नहीं लगा।

ये किसी प्रकार का संग्रह नहीं करते थे। जैसे ही इनके पास सन्तों की जमात आती वैसे ही अपेक्षित वस्तुओं का आना शुरू हो जाता था। एक बार सनकादि खालसे के श्री महन्त अपनी जमात लेकर आये, जिसमें ७५ सन्त थे। आते ही महाराज ने लस्सी-पानी से सत्कार किया। उसके बाद साग-टिक्कड़ बनाकर भोग लगा सन्तों ने प्रसाद पाया। सायंकाल को जब महन्तजी अपनी जमात लेकर जाने लगे तो श्री महाराज ने कहा 'आप अब यहीं ठहरिए।' महन्तजी बोले 'अरे यहाँ पर ठहरकर क्या करें ? आपके पास तो कुछ है नहीं। सूखे टिक्कड़ पर सन्तों को क्या रोकते हो ?' इन्होंने कहा, 'चिन्ता न करें, राधारानी सब व्यवस्था करेंगी, हमें तो पूर्ण विश्वास है।' परन्तु महन्तजी नहीं माने और अपनी जमात लेकर करौली कुन्ज में पहुँच गये। पीछे से सेठ सागर मल आये और महाराज से कहा, 'कल हो रसोई करनी है। कितने सन्त होंगे ? आप सामान बतला दीजिए।' महाराजजी ने कहा, 'लगभग १०० मूर्ति हो जायेंगे। अतः तीन मन दूध, एक मन आटा तथा दो टीन घी ले आओ। सागरमलजी सब सामान ले आये, रसोई तैयार हुई। करौली कुन्ज जाकर ये मंगलदासजी की जमात को निमन्त्रण दे आये। मालपुआ, खीर, पूड़ी की जोरदार रसोई हुई, सब सन्त प्रसन्न हो गये। दूसरे दिन की रसोई देने वाला भी भक्त तैयार हो गया। महाराजजी ने महन्तजी से कहा—'अब तो आप यहीं आसन ले आओ। राधारानी खूब सन्त सेवा करवायेंगी।' महन्त

जी मान गये। सब सन्त आजादपानी घाट पर हरियाली अमावस्या से जन्माष्टमो पर्यन्त रहे, तब तक प्रतिदिन कोई न कोई नया भक्त आता और रसोई भण्डारा देता। यह देख मन्हतजी भी चकित हो गये और बोले 'वास्तव में श्री राधारानी की आप पर पूर्ण कृपा है। एक बार तेरह भाई त्यागी के महन्त, जो इनके श्री गुरु महाराज के गुरु भाई थे, पानीघाट पर ठहरे हुए थे। उनका तो वही हिसाब था, जो रोज आता उसी का भोग लगता। श्री भगवानदासजी बोले कि-- 'नरहरि! जब यहाँ पर एक दिन का भी ठिकाना नहीं है तो यहाँ क्यों पड़े हो?' इन्होंने कहा "महाराजजी! श्री राधारानी यहाँ नित्य सबकी व्यवस्था करती हैं, अतः घबराना नहीं चाहिए।"

एक दिन की बात है कोई भी भक्त कुछ भी आटा सामान नहीं लाया, दिन के एक बज चुके थे। तब श्री भगवानदासजी बोले, 'नरहरि! आज तो राधारानी भूखा ही रखेंगी।' प्रभु पर अगाध विश्वास करके ये बोले, 'नहीं, आज श्री राधारानी बना बनाया माल भेजने वाली हैं। इसलिए देरी हो रही है। अतः कुछ प्रतीक्षा तो कीजिए।' थोड़ी देर बाद एक भक्त लड्डू-पूड़ी-साग लाया और बोला, 'आपके यहाँ जितनी मूर्तियाँ हैं उतना प्रसाद ले लीजिए।, इन्होंने पूरा सामान लेकर रख लिया, फिर भक्त परिक्रमा के सन्तों को प्रसाद वितरण करने चला गया। तब सन्तों ने प्रसाद पाया एवं भगवानदासजी ने कहा, 'नरहरि! अब तो तुम सिद्ध हो गये हो, इसमें संशय नहीं है।'

श्रावण मास में सन्तों की जमातें इनके पास विशेष रूप में आती थीं। एक दिन एक व्रजवासी भक्त इनके पास आकर बोला, 'यदि फसल के समय आप व्रज में आया करें तो हम काफी अन्न सेवा करवा सकते हैं।' महाराजजी बोले 'यहाँ राधारानी के दरबार में स्वर्ण के खम्भे खड़े हुए हैं, फिर क्या कमी है? सुवर्ण की वर्षा भी होती है। अतः हम श्री वृन्दावन से बाहर नहीं जायेंगे।' तब वह भक्त बोला--'महाराज! आपको तो सोना खूब मिला होगा।' उनका उत्तर था— 'मिलता है, मिला भी है और, खोजने से मिल भी सकता है।' परीक्षा के लिए वह भक्त इधर-उधर खोजने लगा तो जामुन के पेड़ के नीचे जो परिक्रमा मार्ग में था एक अँगूठी मिली। वह बहुत मैली हो रही थी और पहचान में नहीं आती थी। दैववशात्, एक स्वर्णकार भी वहाँ श्री महाराज के चरणों में उपस्थित था। उसने परीक्षा करके बताया कि यह सोने की अँगूठी है। इस घटना से सभी चकित हो गये। उस अँगूठी को बेचकर सन्तों का भण्डारा कर दिया गया।

एक बार यमुना पूजन करने के बाद ये अपना दक्षिणवर्ती शंख तट पर भूल आये। जब दूसरे दिन आने पर खोजने गये तो शंख नहीं मिला। शंख न मिलने पर इनका चित्त उदास हो गया। तीन दिन पश्चात् एक भक्त परिक्रमा करता हुआ आया तथा राधा सहस्रनाम की पुस्तक समर्पित की। ये पुस्तक को देखते ही प्रसन्न हो गये। मन में सोचने लगे कि राधारानी ने ही यह पुस्तक भेजी है। इस पुस्तक का स्पर्श होते ही इन्होंने अनुभव किया कि जैसे भीतर से कोई संकेत कर रहा है कि दक्षिणवर्ती शंख में क्या रखा है, इसका पाठ करो तो कितने शंख आ जायेंगे। अब तो ये राधा सहस्रनाम का पाठ प्रतिदिन करने लगे। एक मास बाद ही उससे सुन्दर शंख आ गया। श्री महाराज राधारानी की अनुकम्पा का अनुभव कर गद्गद हो गये। इसके अनंतर इनके पास सुन्दर-सुन्दर शंख आने लगे और ये भक्तों में वितरण करके अपार तोष का अनुभव करने लगे।

यमुनाजी में प्रायः प्रति वर्ष बाढ़ आती है, परन्तु एक बार ऐसी भीषण बाढ़ आई कि सभी यमुना तटवर्तियों को नगर में शरण लेनी पड़ी। राधाजी के मन्दिर के पास नौका चलती थी, फिर तटवर्ती बस्तियों में कितना जल होगा इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। उस समय नरहरिदासजी बाँसों का माँचा बनाकर रहते थे। इसी कारण इनका नाम माँचे वाले बाबा प्रसिद्ध हो गया था। माचा यमुना

किनारे पर ही था। इस भयंकर बाढ़ में ये माँचे पर हो रहे। माँचे की ऊँचाई काफी थी, फिर भी यमुना जी उससे करीब दो हाथ नीचे रही होंगी। दृश्य बड़ा भयंकर था। बाढ़ में बहकर आये हुए साँप-बिच्छू माँचे का आश्रय लेकर इकट्ठे हो गये। एक शव भी आकर माँचे में अटक गया। बड़े-बड़े कच्छ-मच्छ उसे नोचकर खाने लगे। ऐसी भयावह स्थिति में भी ये निर्भीक शान्तचित्त हो भजन में लीन रहते। प्रतिदिन नागरिक तथा अधिकारी इनके दर्शन हेतु नौका द्वारा आते और नगर में चलने के लिए प्रार्थना करते और कहते, 'इस माँचे के स्तम्भ बड़े कमजोर हैं। यमुनाजी के प्रबल वेग को रोकने की इनमें शक्ति न होने के कारण गिरने की निश्चित आशंका है।' इनका उत्तर होता 'इन्हें कमजोर बाँस के स्तम्भ न समझना, ये सच्चे धर्मस्तम्भ हैं। यमुनाजी धर्म के खम्भों को उखाड़ती नहीं, जमाती हैं। आप निश्चिन्त रहिए।' इस प्रकार भीषण बाढ़ में ये आठ दिन तक निराहार रहकर भजन में तल्लीन रहे। बाढ़ के द्वारा माँचे को कोई क्षति नहीं पहुँची। इससे सबको बड़ा आश्चर्य हुआ।

एकवार श्री यमुनाजी आजादपानी घाट को अंक में लेकर पानीघाट के मन्दिर को भी आत्मसात् करने लगीं। उस समय कुछ लोगों ने इनके पास आकर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा—'बड़ा सुन्दर स्थान था, यमुना जी काट रही हैं।' इन्होंने हँसते हुए कहा—'तुम्हें मालूम नहीं, जमुनाजी ने हमारे लिए कोई बना बनाया स्थान तैयार कर रखा है। इसमें चिन्ता की क्या बात है? सच्चा वैष्णव तो वही है जो अपने इष्ट के प्रत्येक विधान को मङ्गलमय मानता है।' कुछ दिनों बाद दाऊजी पण्डा एक भक्त को लेकर आये और कहा—'महाराज ज्ञानगुदड़ी में एक बना बनाया स्थान महात्मा के निवास योग्य है। आप उसे स्वीकार कीजिए। वह यद्यपि लाखों से भी अधिक की सम्पत्ति है, परन्तु केवल २५ हजार में ही आप ले लो।' इन्होंने कहा—'आप २५००० की बात करते हो', हमारे पास २५ रु० भी नहीं हैं।' तब भक्त ने कहा—'जैसे हम आपके पास आये हैं, वैसे ही कोई देने वाला भगत भी आयेगा, तब ही हमें दे दीजिएगा, नहीं आया तो देखा जायेगा।' इन्होंने तब स्वीकार कर लिया और उसमें रहने लगे। एक वर्ष बाद किसी भक्त ने २५ हजार रुपए देकर रजिस्ट्री करा दी। इस स्थान का नाम 'चैनबिहारी कुञ्ज' पड़ा।

पानीघाट परिक्रमा में कदम्ब, जामुन, मौलश्री, पीपल आदि के विशाल वृक्ष थे। जब जमुनाजी किनारे के वृक्षों को धराशायी कर रही थीं तब लोगों ने आकर कहा—'महाराजजी! यह वृक्ष तो गिरने ही वाले हैं, अतः इनको बेच दो तो हम काट ले जायेंगे।' इन्होंने कहा—'बच्चा! इनका अन्तिम समय है, अब ऐसी अवस्था में मैं इन पर कुल्हाड़ी चलते नहीं देख सकता। ये सामान्य वृक्ष नहीं हैं। ये तो वृक्ष के रूप में सन्त ही व्रजवास कर रहे हैं।' इसके बाद जो भी वृक्ष जमुनाजी में गिर जाता ये उसके नाम का भण्डारा करके जय बोलते थे। व्रज के वृक्षों में इनका यह अद्भुत भाव देखकर रसिक लोगों को बड़ा आनन्द मिलता।

इनका लीलामय स्वभाव था। अतः कुछ न कुछ लीला करते ही रहते थे। एक दिन जब ये प्रसाद पाकर उठने लगे तो कटिवस्त्र फट गया। तब इन्होंने कहा, देखो 'प्रसाद पाते-पाते मेरा कटिवस्त्र फट गया। अब मैं कच्चा प्रसाद (दाल-भात और रोटी) नहीं पाऊँगा और तब तक नहीं पाऊँगा, जब तक १०८ श्रीमद्भागवत पाठ नहीं होगा। पक्का प्रसाद (पाकवान, साग, पूड़ी) जरूर पाऊँगा, वह भी जब कोई भक्त रसोई देगा, केवल उसकी प्रसन्नता हेतु।' इस व्रत का क्रम लगभग तीन मास चला। चौथे महीने के आरम्भ में आजाद पानी घाट पर कोई अपरिचित सज्जन राधारानी की प्रेरणा से आये। उन्होंने श्री महाराज की शिष्यता स्वीकार करके आज्ञानुसार

१०८ भागवत पाठ का आयोजन कराया। इस यज्ञ में विशेषता यह थी कि पण्डितों से प्रतिदिन पूछ-पूछकर नित्यप्रति दो प्रकार की नई मिठाई बनाकर ठाकुर को भोग लगता था। व्रजवासी ब्राह्मण भोजन से तृप्त हो गये। यज्ञ समाप्ति पर पाठ के आयोजक सेठ के पास फोन आया कि आपको व्यापार में दस लाख का लाभ हुआ है। तब सेठ को दृढ़ विश्वास हो गया कि धर्म में यदि श्रद्धा से एक रुपया लगाया जाय तो अवश्य ही दस गुना हो जाता है। कारण कि इस यज्ञ में भक्त का एक लाख रुपया खर्च हुआ था और लाभ दस लाख हुआ। इस भक्त सेठ का नाम श्री भोलाराम अग्रवाल था और यह कानपुर के पोखर पुरवा मुहल्ले का निवासी था। इसने तब से नियम वना लिया कि प्रत्येक अधिक मास में १०८ श्री मद्‌भागवत का सप्ताह परायण कराएगा। उसने आजीवन इस नियम का निर्वाह किया। सिद्ध सन्त नरहरिदासजी संवत् २०४२ के अधिक मास में तीर्थराज प्रयाग में देह त्यागकर परम-पद को प्राप्त हुए।

प्रे० ना० श्री०

नरहरिदास (द्वितीय)

श्री नरहरिदास स्वामी हरिदास की विरक्त परंपरा की गद्दी के चतुर्थ आचार्य थे। ये श्री सरसदेवजी के शिष्य थे। श्री सरसदेवजी की शरण में जाने से बहुत पूर्व ही इन्होंने यह घोषणा कर दी थी कि उनके उत्तराधिकारी नरहरिदास होंगे।

संप्रदाय के सूत्रों के अनुसार नरहरिदासजी का जन्म सं० १६४० वि० को ज्येष्ठ कृष्ण २ को हुआ था। 'निजमत सिद्धान्त' के अनुसार बुंदेलखण्ड में धसान नदी के किनारे गुढ़ा नामक ग्राम के निवासी श्री विष्णुदास के ये पुत्र थे। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे और इनके परिवार के पास अगाध सम्पत्ति थी।

इनके चमत्कार की कथाएँ इनके बाल्यकाल से ही प्रसिद्ध होने लगी थीं। सुखजी नामक एक वैश्य को गलित कुष्ठ का रोग हो गया था। उपचार से निराश होकर वह जगन्नाथपुरी पहुँचा और श्रीजगन्नाथजी से उसने प्रार्थना की कि वे उसका रोग दूर करें। श्री जगन्नाथजी ने उन्हें स्वप्न में आदेश दिया कि मेरे अवतार-स्वरूप नरहरिदासजी बुंदेलखण्ड में प्रकट हुए हैं, तुम उनके पास जाओ। यह आदेश पाकर सुखजी वैश्य पाँच वर्ष के बालक श्री नरहरिदासजी को ढूढ़ंता हुआ, इनके पास पहुँचा। इनका चरणामृत पान करते ही सुखजी का कुष्ठ रोग दूर हो गया। इससे चारों ओर इनका यश फैल गया।

बड़े होकर ये श्री स्वामी हरिदासजी के संप्रदाय के सिद्धान्तों की ओर आकर्षित हुए। उस समय इस संप्रदाय की विरक्त गद्दी पर श्री सरसदासजी विराजमान थे। उन्हीं की शरण में आकर श्री नरहरिदासजी ने दीक्षा ग्रहण की और वेश धारण किया। सं० १६९० के आसपास जब इनके गुरु का निकुंज-गमन हुआ तो इन्हें ही उनकी गद्दी का अधिकारी बनाया गया।

नरहरिदासजी बड़े प्रभावशाली महात्मा थे। इनके पूर्ववर्ती आचार्य वृन्दावन छोड़कर बाहर नहीं जाते थे, परन्तु नरहरिदासजी विभिन्न कारणों से, विशेषकर संप्रदाय की रस-रीति के प्रचार-प्रसार के लिए, वृन्दावन से बाहर विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करते थे। बुंदेलखण्ड में इनके अनेक शिष्य बन गये और दूर-दूर तक इनका प्रभाव फैल गया।

वृन्दावन में इनके पूर्ववर्ती महात्मा निधुवन में निवास करते थे, परन्तु इन्होंने अपना स्थान अलग बनाया। इन्होंने श्री गोरेलालजी के मंदिर के रूप में अपने सेव्य ठाकुर श्री गोरेलालजी की कुंज की स्थापना की।

श्री नरहरिदेवजी के प्रमुख शिष्य श्री रसिकदासजी थे। इनके गृहस्थ शिष्यों में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री केशवदासजी एवं श्री बिहारीलाल के पिता श्री केशवरायजी का नाम भी लिया जाता है। श्री बिहारी

ने निम्नलिखित दोहे में अलंकृत वाणी में जिन "नरहरी" का नाम लिया है, वे नरहरिदास ये ही हैं।

जम मुंह करि तर हरि पर्यौ,
इहि धरि हरि चित लाइ।

विषय तृषा परिहरि अजौं,
नरहरि के गुन गाइ॥

नरहरिदासजी सं० १७४१ वि० तक जीवित रहे।

इनका अधिकांश समय अपने संप्रदाय को संगठित करने में व्यतीत हुआ। इसीलिए इनका वाणी-रचना का कार्य अल्प ही हुआ। इनके द्वारा रचित सिद्धान्त की केवल पाँच साखियाँ तथा एक पद ही मिलते हैं। रस के पदों की संख्या भी कुल दस ही है।

श्री नरहरिदेव की प्रशंसा में लिखा गया है कि ये ललित केलि के दान में बड़े उदार थे, सदा ही भावना से निकुंज महल में विराजते थे और ये स्वयं प्रेम-रस की खान थे—

श्री नरहरि देव उदार मनि,
ललित केलि के दांनि।

कुंजमहल राजत सदा,
महा प्रेम रस खांनि॥

नरहरिदेवजी का सिद्धान्त पक्ष बड़ा ही निष्ठापूर्ण है, साथ ही उसमें अनुभूति की भी प्रधानता है। इनका कथन है कि जो एक बार मनमोहन श्री कुंजविहारी को देख लेता है, वह तो सावन के अंधे के समान हो जाता है, जिसे हरा-हरा रंग ही दिखाई देता है। जड़-चेतन का भेद मिटकर उसे चारों ओर श्याम ही श्याम दिखाई पड़ते हैं, शरीर की संभाल नहीं रहती और नेत्र उसी रूप में भरे रहते हैं। कर्तव्य-अकर्तव्य की सुधि भूलकर वह विधि-निषेध से परे हो जाता है। सचमुच जो प्रेम के प्रवाह में पड़ जाता है, वह बावला जैसा हो जाता है—

जाकी मनमोहन दृष्टि परे।

सो तौ भयौ सावन कौ अंधौ,
सूझत रंग हरे।

जड़-चेतन कछू नहीं समुझे,
जित देखैं तित स्याम खरे।

विह्वल विवस संभार न तन की,
घूमत नैना रूप भरे।

करनी-अकरनी दोउ सुधि भूली,
विधि निषेध सब रहे धरे।

श्री नरहरिदास जे भये बावरे,
ते प्रेम-प्रवाह परे॥

इनकी सिद्धान्त की साखियों में ज्ञान की चक्की से मन को मैदा जैसा पीसने और इन्द्रियों को वश में करने का उपदेश दिया गया है—

नरहरि चाकी ज्ञान की,
मन मैदा करि पीस।

पाँचों इंद्री बस करै,
तुरत मिलै जगदीस॥

इनका मत है कि कर्मकाण्ड का प्रतीक यज्ञोपवीत और भक्ति में समर्पण की प्रतीक माला का कोई संग नहीं बनता, संग होने पर केले और बेर जैसा संग होगा क्योंकि जब हवा चलेगी बेर के काँटे केले के पत्तों को फाड़ देंगे, इसी प्रकार कर्मकाण्ड की भावना भक्ति का उच्छेद करने वाली है—

नरहरि माला जनेऊ ना बनै,
बेर-केरि कौ साथ।

जनेऊ कर्म जो कीजिये,
माला जपै जु हाथ॥

नरहरिदासजी के रस के पदों में परम्परागत नित्यविहार की छटा सर्वत्र अंकित है। रास-नृत्य का एक पद प्रस्तुत है—

खेलत रास लाडिली-लाल ।
तान-गान गुन सिखवत प्यारी
तहाँ न कोई बाल ।
ताल मृदंग संगीत विधि उघटत
भूषन बजत रसाल ।
उरप-तिरप लै नचति सुलय
गति उपजत सुख के जाल।
केलि-कला रस बरसत हरषत
परसत प्रेम बिसाल ।
श्रीनरहरिदास निकट सुख निरखत
स्याम सुभग उर-माल ॥

इनकी रचनाओं में एक पद विरह का भी है। विरह स्वामी हरिदास की मान्यता से पृथक् है क्योंकि नित्य-विहार में नित्य-मिलन ही मान्य है। जब यहाँ संयोग में ही वियोग का भ्रम-तड़पन पैदा कर देता है तब स्थूल विरह की गुंजाइश कहाँ ? फिर भी काव्य की दृष्टि से नरहरिदासजी का वियोग का यह पद मार्मिक है—

अरे कारे बदरा तोही में स्याम हिरानें ।
ताही तैं तू अंतर गरब्यौ,
बिरहिनि पीर न जानें ।
परसि दुकूल दामिनी अति चमकत
सतमख सारंग तानें ।
मंद-मंद मुरली-घन गाजत,
बाजत मदन निसानें ।
रंग-रंग मिलैं सुख उपजत,
आन रंग क्यों आनें ।
श्रीनरहरिदास जे अन्तर कारे,
कारे सौं रति माने ॥

श० वि० गो०

नरहरि महापात्र

नरहरि महापात्र ब्रह्मभट्ट जाति के थे। इनका जन्म सं० १५६२ में रायबरेली जिले की डलमऊ नामक तहसील के पखरौली ग्राम में हुआ था। यहाँ इनके द्वारा स्थापित 'सिंह वाहिनी' देवी के मन्दिर में आज भी इनके वंशज विवाहादि अवसरों पर दर्शनार्थ जाते हैं। वहीं एक 'बरहद' नामक लम्बा-चौड़ा कच्चा तालाब है, जिसका पानी वर्षा-ऋतु में गंगा से जा मिलता है। इसके सम्बन्ध में एक चौबोला प्रसिद्ध है—

बरहद नदी पखरपुर गाँव ।
तेहि के ठकुरै नरहरि नाँव ॥

पखरौली गाँव की पूर्व दिशा में हर नामक एक तालाब में कविवर नरहरि के हाथी नहलाने के लिए ले जाए जाते थे। कविदयाल रचित एक कवित्त में नरहरि के इस पखरौली गाँव, सिंहवाहिनी देवी के मन्दिर, बरहद नदी तथा हर तालाब का वर्णन एक साथ मिलता है—

कोस भर गंगा ते प्रगट पखरौली गाँव,
देव नरहरि की प्रसिद्ध सिंह वाहिनी
हद्द ते बेहदद् नदी हरताल हाथिन के
हलके हिलत के अथाहिनी ।
भनत दयाल भुइयाँ धहि भीतर में
वेतीं व कल्यानपुर सीतला सराहिनी
चक्कवे चकत्ते अकबर बली बादशाह
तेरी बादशाही में इतेक देवी बाहिनी ॥

शिव सिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' में नरहरि के निम्न कवित्त के आधार पर उनका जन्म स्थान असनी माना है—

नाम नरहरि है प्रशंसा सब लोग करैं,
हंसहू से उज्ज्वल सकल जग व्यापै है ।
गंगा के तीर ग्राम असनी गोपाल पुर
मन्दिर गोपाल जी को कर मंत्रत जापे हैं ।

किन्तु वास्तव में नरहरि का जन्म-स्थान पखरौली ही था। हाँ, इतना अवश्य है कि इन्होंने अपने जीवन का बहुत अधिक अंश असनी में बिताया था और वहीं

से अपनी कन्या का विवाह भी किया था। इस कन्या के अतिरिक्त इनके तोन पुत्र थे –हरिनाथ, आदिनाथ और गोपाल दत्त।

अपनी ब्रह्मभट्ट जाति तथा कश्यप गोत्र का उल्लेख इन्होंने स्वयं सूर्य वन्दना सम्बन्धी एक छप्पय में इस प्रकार किया है—

तुअ दरसन तम दलित
ललित पंकज सुहरब्ब सर।
अति प्रगास बहु चक्क चक्र
चविकय आनन्द कर।
विप्र करत षट् धर्म कर्म
वेद संचरहिं उदै दिन।
सुर नर मुनि गन नाम जापु जस
जपहिं यक्क छिन॥

मो प्रभुदयाल कश्यप तनय
कहि नरहरि बन्दों चरन।
जन आपद भय हर कलुष
जहँ तहँ कर राखह सरन॥

इनकी शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट रूप से पता नहीं चलता। किन्तु इनके काव्यालोकन से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि इन्हें संस्कृत और फारसी भाषा का अच्छा ज्ञान था।

दरबार में इनका प्रवेश सं० १५९० में २८ वर्ष की अवस्था में हुमायूँ के समय से हुआ। हुमायूँ की वीरता एवं शौर्य का चित्रण नरहरि ने इस प्रकार किया है—

'पूरब हद्द पछिम पहार
दोउ खन किए विधि जान अगाउँ।

इत सुमेरु उत चढ़त लंक
हय मारि तङ्ग नरपति सब नाउँ।

हिन्द ते खेदि पठान खग्ग वर
दल दलमलि दरियाय बहाउँ।
गज्जिहि बहुरि जिति दिल्लीपति
इर्मीहि डोल रच्यो साहि हिमाउँ॥'

हुमायूँ के इस उत्कर्ष के साथ नरहरि ने उनके दुर्दिन भी देखे थे—

जित्ति जगतु सब कियो अप्पु
बस हुतो समोसन मुख जब ताऊँ।
सोइ छत्रपति बब्बर सुव नन्दन
इह अघ दम सुना अगाऊँ।
नरहरि बान धनुष सोह अस जुन
गोप्पि निरख्खि सके इक ठाऊँ।
विधि विरुद्ध कछु सूझ परत नहिं
कहा करे बरिबंड हुमाऊँ॥

हुमायूँ के पतन के अनन्तर कविवर नरहरि भट्ट उनके प्रसिद्ध शत्रु तथा विजेता शेरशाह की ओर आकृष्ट हुए थे। अपने निम्नांकित छन्द में उनका गुणगान करते हुए ये कहते हैं—

असपति नर गजपति
हुतेउ मुअपति अनेक तब।
ते त्वै समर संघरेउ भरेउ
जसु जंगत जित्ति अब।
तोहि जाँचहि गुनि सकल
कोउ न उघरेउ भूम्मि मँह।
नखत प्रात सम तकत जियत
जलु जलधि अंत कँह।
बोहिन कर्ष भुजिमि पिख्खिअैं
मंगन गति नरहरि भनै।
अस समुझ्झि साहि सेरन प्रकट
ऐसो अस दिहनेहि बनै।

शेरशाह के देहावसान के पश्चात् ये उनके उत्तराधिकारी सलीमशाह (इस्लाम शाह) के आश्रय में गये। इनके एक दोहे में उनके राजपद की स्थिरता तथा आयु-वृद्धि की कामना व्यक्त की गई है।

प्रथम जपि जगदीश कहँ करउँ कवित्त रचि नेमु।
जस निर्मल थिर चिर जिवे छत्रपति साहि सलेमु॥

अंततः सूरवंश का भी सिंहासन डगमगाया। सं० १६१२ में हुमायूँ की विजय के साथ सलीम शाह का शासन समाप्त होते ही सारे देश में अराजकता फैल

गई। नरहरि ने इसका आंखों देखा हाल वर्णित किया है—

उर गवनि जु सुख गएउ
भएउ नाहिं पुहुमि अनंफल।
प्रजा दुखित दल मलित गएउ
फटि फूटि पठान दल।
दत्त सत गरुवत्त रहेउ धन धर्म कित्ति निति।
मंडन सोर चहुँ ओर बहुरि संवरेउ मुगलपति।
जगदीश देखावहिं दिखिअै
कहि नरहरि निसु दिनु खुरुक।
सोर न बिन साहि सलेम बिन
सो अकल विकल हिंदू तुरुक॥

दिल्ली के सिंहासन पर पुनः आरूढ़ होने के बाद हुमायूँ ने पिछली सेवाओं का स्मरण कर नरहरि महापात्र को पुनः अपना दरबारी कवि बना लिया। नरहरि ने इसे स्वीकार करने में संकोच का अनुभव किया—

सेरन साहि सलेम पुहुमि
एक छत्र राजु किअ।
तिन मोहि कहँ करि कृपा
भानु धनु खिति खिताबु दिअ।
तिन्हके मरत नहि मुएउ
लाज गहि बनन सिधाएउँ।
तिहकि सुतन परि विपत्ति
तहाँ केहु काम न आएउँ।
एहि लाज गहेउ जगदीश दरु
नरहरि चल तन चित्त सुख।
फेरि फेरि बोलावहिं साहि मोहि
सो आनि दिखावउँ कोन मुख॥

इस छन्द से इनकी आत्मग्लानि का परिचय मिलता है। सूर-वंश के शासकों से इन्हें पर्याप्त आदर तथा धन प्राप्त हुआ था। इसलिए उनके शत्रु का आश्रय ग्रहण करना नैतिक दृष्टि से इन्हें अनुचित प्रतीत हुआ।

इसके पश्चात् ये जगन्नाथपुरी के राजा मुकुन्द गजपति के यहाँ चले गये, सम्भवतः ऐसा निर्णय इन्होंने राज्याश्रय के साथ ही भगवदाश्रय प्राप्त करने के उद्देश्य से किया था। उनका यशोगान करते हुए ये लिखते हैं—

धन्य धरनि धनि देश नगर कुल धनि सुजाति वर।
धन्य सर्व भूपाल जननि धनि धनि जु गर्भ धर।
धनि सुवर्ष ऋतुमास पाख सो शैल समै धनि।
धनि सुयुग्ग कलियुग्ग धन्य संवत् समत्थ मनि।
धनि तिथि नखत सो द्योस धनि,
कहि नरहरि विधि निर्मयो।
धनि पहर लगन सो महत्त,
धनि जेहि मुकुन्द गजपति भयो॥

इन्होंने एक छप्पय में मुकुन्द गजपति के तुलादान का वर्णन किया है :--

कनक तुला मनि मोत्तिदान दिन कहि जो ग्रन्थगन।
सत सहस गो लच्छि देत विधि सहित सुद्ध मन।
असरथ गजरथ बसन ग्राम जनि कहउ कौन कवि।
बहुरि प्रकट कलि करत सत हरिचंद प्रात रवि।
जस हथ्थ भुगुति अउ मुकुति,
दोउ कहि नरहरि नित संभरिय।
गजपति मुकुन्द दिव देव कह
कहउ कवितु कोइ विधि करिय॥

जगन्नाथपुरी से उत्तर भारत लौटने पर ये विपत्तिकाल में हुमायूँ के सहायक तथा अपने पूर्व परिचित रीवाँ नरेश वीरभानु के पुत्र महाराज रामचन्द्र की गुणग्राहकता से आकृष्ट होकर उनके दरबार में गये।

राजा रामचन्द्र की प्रशंसा में इनके लिखे कई छन्द मिलते हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

बरबत्त निरलोम्म धम्म रत,
सेवत चरन चाहि भुवरत्ती।
यह तो लोम असरन्न सरन्न किय,
मारि भुआरि लेत भुई अत्ती।
नरहरि एक बात सकुचत हो,
परसत पुरुषोत्तम पग सत्ती।
हो अपने नृप रामचन्द्र पर वारों,
मैं कोटि-कोटि गजपत्ती।

अकबर के सिंहासनारूढ़ होने पर शासन तन्त्र को अवस्था बहुत बिगड़ी हुई थी, किन्तु अकबर ने अपने वुद्धि-कौशल द्वारा एक आदर्श राज्यसत्ता स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। अकबर के बुद्धि-चातुर्य्य का वर्णन नरहरि ने इन शब्दों किया है—

को सिखवत कुल वधून लाज गृहकज्ज रंग रति।
को हँसनि सिक्खवत करत पय पानि भिन्न गति।
कै सिंहन को सिक्खत हनत गज बाजि ततच्छन।
कै सज्जनसि सेक्खएउ दत्त गुरुवत सुलच्छन।
विधि रचेउ जानि नरहरि निरखि
कुल सुभाउ नहि मिट्टवे।
गुन धर्म अकब्बर साहि कह कहहु
सो को नरु सिक्खवे।

गुणग्राही अकबर ने नरहरि के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्हें 'महापात्र' की उपाधि से विभूषित किया था, जिसे प्राप्त करने वाले अक़बर के दरवार के नरहरि एकमात्र कवि थे। नरहरि पर अकबर को अटूट विश्वास था, इसी कारण उसने उड़ीसा के राजा के पास हसन खाँ खजाञ्चो के साथ और किसी को न भेजकर इन्हीं को भेजा था।

अकबर द्वारा गो-हत्या-निषेधाज्ञा के प्रेरणा-स्रोत नरहरि ही थे, जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि नरहरि ने स्वयं एक गाय मँगवाकर उसे फरियाद-स्थल पर खड़ा किया तथा उस गाय की मूक-वाणी को इन शब्दों में अभिव्यक्त कर बादशाह के मर्म को स्पर्श किया —

अरिहि दन्त तिनु धरै ताहि नहिं मारि सकत कोइ।
हम सन्तत तिनु चरहिं वचन उच्चरहि दीन होइ॥
अमरित पय नित स्रवहि बच्छ महि थंभन जावहिं।
हिन्दुहि मधुर न देहिं कटुक तुरकहि न पियावहिं॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनौ विनवति
गउ जोरे करन॥
अपराध कौन मोहि मारियत मुएहु चाम सेवइ चरन।

अकबर पर नरहरि के इन तर्कों का क्या प्रभाव पड़ा इसका उल्लेख एक अज्ञात कवि की इन पंक्तियों से हो जाता है —

नरहरि कवि सो गऊ की विनती सुनि
साँची–गुन खलन पै कै मति अकससी।
अकबर जारी परवाने किए मारिबे को
चारिहुँ–महीपन लखानी बात हकसी।
व्यापि गयो हुकुम दिल्लीपति को हिन्द भरि
वाजिबी विचारि मन अति कै करकसी
जीवन कसाइन कौ गाइन को देत भयो
गाइन को मौत ले कसाइन को बकसी।

समय-समय पर नरहरि छन्दों के माध्यम से अकबर को अन्यायपूर्ण रास्तों से बचाते भी थे। इसका उदाहरण निम्न पंक्तियों से मिलता है —

छत्रपति अकबर साहि सुनहु विनतो करै नरहरि।
जो जननि सुतहिं विष देइ नाउ करिया गहि बोरै॥
स्वै पहरु स्वै चोर प्रीति प्रीतम हठि तोरै।
वारि जो खेति हठि चरे साधु पर धनु लेइ॥
कौन समरथ करै धरहरि॥

इससे स्पष्ट है कि नरहरि अकवर के सुहृद और सम्मानी कृपापात्रों में से थे। इनका देहावसान सं० १६६७ में १०५ वर्ष की अवस्था में हुआ। ऐसा कहा जाता है कि अन्त समय निकट जानकर नरहरि असनी में गंगा-किनारे चले गये थे। वहीं कुशासन पर लेटे थे, किन्तु अभी चेतना शून्य नहीं हुए थे। किसी के द्वारा हाल-चाल पूछने पर मरणोन्मुख कवि की सरस्वती इस प्रकार प्रस्फुटित हुई -

कुस की बनी संथरिया, धनियाँ परारि।
सुख सो सोवत नरहरि, पाँव पसारि॥

नरहरि जी के हरिनाथ, आदिनाथ, गोपालदत्त नामक तीन पुत्र और एक पुत्री थी। तीनों पुत्रों ने एक-एक गाँव बसाये—हरिनाथ ने असनो को समृद्ध किया, आदिनाथ ने वेंती और गोपालदत्त ने अपने

नाम पर गोपालपुर। इन गाँवों में बसे हुए ब्रह्मभट्ट आज भी अपने को नरहरि महापात्र का वंशज मानते हैं। इनकी एकमात्र पुत्री असनो (जिला फतेहपुर) के प्रसिद्ध कवि देवकीनन्दन के साथ ब्याही थी, जिन्होंने मझौली (जिला देवरिया) के महराजाधिराज की वंशप्रशस्ति का गान कर उनकी कन्या के विवाह में सहायता की थी और बदले में उनसे प्रभूत संपत्ति तथा 'महापात्र' की उपाधि प्राप्त की थी।

नरहरि के वंशजों में वृजेश तथा लालजी वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में विद्यमान थे और रीवाँ तथा अन्य दरबारों के प्रतिष्ठित कवि थे।

नरहरि ने अपने जीवन काल में तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया--रुक्मिणी-मंगल, छप्पय-नीति और कवित्त संग्रह। किन्तु उनमें से केवल 'रुक्मिणी मंगल' उपलब्ध है। अन्य कृतियों का केवल नामोल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने किया है। इसके अतिरिक्त काशी नागरीप्रचारिणी सभा के प्राचीन हस्तलिखित संग्रह ग्रन्थ में नरहरि की कुछ स्फुट रचनाएं संगृहीत हैं। नरहरि के स्फुट छन्दों का आरम्भ 'वादु लोहे सोने के' शीर्षक से होता है। इसके वाद लोहे सोने का वादु, नैन कान का वादु, तेल तम्बोल का वादु, मंगन दानि का वादु, लज्जा और भूख का वादु आदि पदों का उल्लेख है। उक्त वादों के अतिरिक्त १२३ छप्पय, कवित्त, दोहे आदि छन्द हैं, जिनमें ६० छप्पय, ४० सवैये, १२ दोहे, ५ कुण्डलियाँ, ४ कवित्त तथा ८ सोरठा छन्द हैं। कविकृत 'छप्पय नीति' और 'कवित्त संग्रह' नामक जिन दो कृतियों का उल्लेख हिन्दी के इतिहास ग्रंथों में मिलता है वे सम्भवतः कोई स्वतन्त्र रचनाएं न होकर कवि के ये स्फुट छन्द ही हैं। इन स्फुट छन्दों में सीय-स्वयंबर, राधा-कृष्ण का रूप सौन्दर्य तथा गोपी-विरह वर्णित है। गोपियों का विरह बारहमासा पद्धति में चित्रित किया गया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

आवहि पथिक पेखि घन आगम
राग मलार सुनत मन बाढ़।
अद्रा नृपति पूजा ग्रह संचित
जंपित प्रेम परस्पर गाढ़।
नरहरि बुंद बिंदु बिनोद बसुंधर
हरि बिनु सखि विरहानल डाढ़।
पथु जोवहि जिय जाति जितहिं तित
सब कह मिलनु अवधु आसाढ़।

° ° °

सोभित कास अकास दसों दिसि
चंद को मोद सरोवर सार।
जग्गि जप्पन्न प्रप्पन्न प्रजा सब
स्रथ समुद्र बिविद्ध विचार।
नरहरि प्यास जनाति दुहू कर
पंखि पिऊ पिउ पीउ पुकार।
मोनहु ते नरिंद मनोरथ उओ
भागवत अगस्ति कुँवार।

'रुक्मिणी मङ्गल' में कवि ने कृष्ण और कुन्दनपुर की राजकुमारी रुक्मिणी के गन्धर्व विवाह का वर्णन किया है। सर्व प्रथम कुन्दनपुर के राजा भीषमराउ का परिचय दिया गया है। इसके बाद क्रमशः उनकी कन्या रुक्मिणी की यौवनावस्था का वर्णन, पुरोहित को लगन लेकर भेजना, जरासन्ध, शिशुपाल आदि राजाओं का स्वयंवर में आगम तथा रुक्मिणी द्वारा गुप्त रूप से पुरोहित के माध्यम से कृष्ण के पास परिचय-सन्देश भेजने की कथा वर्णित है। अन्त में कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण होता है। जरासन्ध और शिशुपाल आदि राजाओं द्वारा कृष्ण विजित होकर रुक्मिणी से गन्धर्व-विवाह करते हैं। रुक्मिणी-कृष्ण विवाह के पश्चात् अन्त में कवि ने ग्रन्थ-पाठ का महत्व भी प्रतिपादित किया है—

हरि रुकमिनि लै संग द्वारिका आएउ।
कीन्हो गंध्रप व्याह सुजस जग छाएउ।
महापात्र कवि नरहरि मङ्गल गाएऊ।
जो यह मंगल गावै गाइ सुनावइ।
व्याह काज कल्यान परम पद पावइ।

रुकुमिनी हरन सुनै जो ह्रीदै विचारइ।
आप तरै भवसागर कुल निस्तारइ॥

इनके भक्तिभाव व्यंजक कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं—

(१)

माधव केसव कृस्न विस्नु वयकुण्ठ दमोदर।
हरि मकुन्द गोविन्द अमर अविगत अगोचर॥
नारायन नरसिह सुत्त विट्ठल बलि गंजन।
प्रभु मुरारि वनमालि गोपि जीवनि जुग रंजन॥
सारंग संख गद चक्र धन पद गुन तस कर हनन॥
जै राम नाम भगवंतहि तकहि नरहरि तक्क बसनन॥

(२)

स्रवन सुनिय हरि भगति सुनत
समुझि यसु धर्म अति।
सुनत मुकुति पद लहिय
सुनत ह्वै सुद्रिढ़ सुद्ध मति॥
सुनत परीछित तरेउ
सुनत उपजत अनंत सुख॥
सुनि सुनि बेद पुरान केहु न
परिहरेउ बिध दुख॥
एहि अत्थ स्रवन पहिरिय कब
अजहुँ स्याम किज्जिय नयन।
दिखि देखित पहि परधनु धनिय
निजु नरहरि बोल्लहि बयन॥

(३)

रास विलास बेसु सुर पूरित
खेलत फिरत नृपति प्रजटागुन।
बार्जाहि पँच सद्द बहु भाँतिन
सज्जन समीप सुखिन सुख ता गुन॥
नरहरि निरखि होलिका पूजहि
सब जग मुदित मोर परमागुन।
वै जदुनंदन संग सखा सब
पिया बिनु वृथा फागु भइ फागुन॥

(४)

करत बिनोद स्याम स्यामा संग दोउ
मन मुदित रूप गुन भाजन।
अंग-अंग प्रति रङ्ग-रङ्ग महँ
छबि उप्पम घन बिंदु विराजन॥
नरहरि यह विपरीति सुरत रत
राधे के चरन उचत अति लाजन।
उछरि-उछरि बेनी परति पिट्ठि पर
मारत मनहुँ मनमत्थ ताजन॥

(५)

चोटी गहि द्रोपदी निझोरिबे को ठाढ़ी कीन्ही
कोप्पि कह्यो सुमिरि सहाय कौन करिहै।
लैन पावै उससि उसास न दुसासन
पै दीन ह्वै पुकारी कहूँ दीनबंधु हरि है॥
गुरजन पुरजन देखत तमासो सब
नरहरि कोउ न करत धरहरिहै।
ऐसे में अनाथन की और कौन सुध लैहै
मोर पक्ष धरिहै सो मोर पक्ष धरि है॥

(६)

सुनि रुकमिनि के विपती क्रिपानिधि आइआ।
पाइ लागि जनु रंक परम निधि पाइआ॥
नगर लोग नर नारि सोहे खन आइआ।
देखि रूप बलि जाहि परम सुख पाइआ॥
हरि रुकुमिनी के व्याह सो विधिहि मनाइआ॥
नृप भीखम तब सुनैउ कि जदुपति आइआ॥
आएउ भीखम निकट सो माथ नवाइआ।
रहेउ दोउ कर जोरि चरन चित दीन्हेउ।
मोर जन्म हरि आइ कृतारथ कीन्हेउ॥
रुकुमहि दुख न लाइ सो हरि परितोखउ।
कहेउ मरम सब भेद गोविन्दहि तोखेउ॥
हरि पुनि कीन्ह संतोख बहुत सुख मानेउ।
जरासिधु शिशुपाल काल वश जानेउ॥
गहि करवर तब केश जो लगे नेवारइ।
हरि सनमुख तब रुकुमिनि पगु सिर धारइ॥

भाइ भाइ कै रुकुमिनी प्रभु पद लागेउ।
देखि क्रिपालु भगतु वश अति अनुरागेउ॥
हरि रुकुमिनी मुख देखि छाडि तब दीन्हेउ।
मोछ गोछ शिर मुंडि विरूपी कीन्हेउ।
जादव के संग चले प्रभु चेटक लाएउ॥

श्र० सि०

नरोत्तमदास (प्रथम)

भक्त कवि नरोत्तमदास (प्रथम) ग्राम-बाड़ी (सीतापुर, उ० प्र०) के निवासी थे। बाड़ी में इनकी कुटी का एक अंश अब भी है, जो 'नरोत्तम चौरा' के नाम से प्रसिद्ध है। 'हिन्दी सभा' सीतापुर के प्रयत्न से इसका जीर्णोद्धार हुआ है। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार नरोत्तमदास सं० १६०२ वि० तक यहाँ वर्तमान थे। इन्होंने सं० १५८२ वि० में 'सुदामा चरित' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। प्रस्तुत काव्य की जो सबसे प्राचीन प्रति मिली है, उसका लिपिकाल सं० १६६३ वि० है। यह प्रति प्रस्तुत लेखक को देखने को नहीं मिली। उसे जो प्रति देखने को मिली है, उसका लिपिकाल सं० १८११ वि० है। लिपिकर्ता पीरनगर (सीतापुर) वासी हीरालाल कायस्थ हैं। उन्होंने इसे ज्येष्ठ शुक्ल षष्ठी को पूर्ण किया है। कविवर नरोत्तम दास का जन्म-मरण-काल तथा जीवन-घटनाएँ अभी तक ज्ञात नहीं है। श्री शिवसिंह सेंगर, डॉ० ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु आदि के अनुसार नरोत्तमदास ने दो ग्रन्थ रचे हैं—'सुदामा चरित' तथा 'ध्रुव चरित', किन्तु अब यह प्रमाणित हो गया है कि 'ध्रुवचरित' नरोत्तमदास की रचना नहीं है।

'सुदामा चरित' नरोत्तमदास का एक सुन्दर नाटकीय खण्ड काव्य है। इसे पद्यनाटक का पुराना रूप माना जा सकता है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित सुदामा की कथा को आधार मानकर प्रस्तुत काव्य की रचना की गई है। कवि ने संवादों की मनोरम योजना एवं भावात्मक वर्णन शैली के माध्यम से प्राचीन प्रसंग को भी एक नवीन रूप प्रदान किया है। इस ग्रन्थ में सुदामा की दरिद्रता, भगवान् कृष्ण के प्रति उनकी निष्ठा, पत्नी का आग्रह, भगवान् कृष्ण का मित्र-प्रेम तथा अन्त में सुदामा के भाग्य-विपर्यय का वर्णन कवि ने जिस कौशल के साथ किया है, वह अपूर्व तथा अतुलनीय है। यद्यपि सुदामा चरित १२१ छन्दों का एक छोटा-सा ग्रन्थ है तथापि इसकी रचना बहुत ही सरस एवं हृदयग्राहिणी है और कवि की भाव-प्रवणता का परिचय देती है। इस ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त परिमार्जित और व्यवस्थित है। लोकोक्तियों का समावेश भी बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। प्रसाद गुण सम्पन्न संयत भाषा का एक उदाहरण देखिए। इसमें सुदामा के व्यक्तित्व में कवि ने अपनी स्थिति का प्रछन्न आरोपण किया है, ऐसा प्रतीत होता है—

दाहिने वेद पढ़ैं चतुरानन
सामुहे ध्यान महेश धरचौ है।
बाएँ दुऔ कर जोरि लिये सब
देवन साथ सुरेस खरचौ है।
एतेइ बीच अनेक लिये धन
पाँयन आप कुबेर परचौ है।
देखि बिभौ अपनो सपनो बपुरो
वह बाम्हन चौंकि परचौ है।

काव्य का सर्वोत्कृष्ट अंश है—भगवान् कृष्ण तथा सुदामा का मिलन। इस स्थल पर नरोत्तम की भावुकता मुखर हो उठी है। द्वारपाल के मुख से सुदामा का नाम सुनते ही भगवान् कृष्ण का दौड़ पड़ना, सुदामा को हृदय से लगा लेना, उसकी दुरवस्था को देख कर भगवान् कृष्ण का रो पड़ना, भगवान् कृष्ण की जहाँ दीनदयालुता का प्रतीक है, वहीं मित्र-प्रेम का परिचायक भी है। निम्नलिखित छन्द में कवि ने इसी प्रसंग का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। भगवान् कृष्ण के हृदय में मित्र के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति का प्रत्यक्षीकरण कराने वाली ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

ऐसे बेहाल बेवाइन सों
पग कंटक जाल लगे पुनि जोए।

हाय ! महादुख पायो सखा
तुम आये इतै न कितै दिन खोए।
देखि सुदामा की दीन दसा
करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं
नैनन के जल सों पग धोए।

कवि ने नायक के शील-गुण का सर्वत्र निर्वाह किया है। सुदामा तो जैसे सन्तोष के ही रूप हैं। दरिद्रता के विषम प्रहारों के बीच में भी उन्हें अपनी परिस्थितियों से सन्तोष है। और हो क्यों न ?, जब वे भोग से अनासक्त ब्राह्मण हैं, संसार के वैभवों से सर्वथा उदासीन। इसीलिए पत्नी के बार-बार प्रेरित करने पर भी वह अपने दारिद्रय का प्रदर्शन करने के लिए मित्र कृष्ण के निकट नहीं जाना चाहते। निम्नलिखित छन्द में उनका 'असुन्तुष्टा द्विजा नष्टा'' वाला आदर्श मुखरित हो उठा है। संकोच में भी आत्माभिमान बिम्वित है—

सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय !
ताको कहा अब देति है सिच्छा।
जे तप कै परलोक सुधारत
सम्पति की तिनके नहिं इच्छा।
मेरे हिये हरि के पद-पंकज
बार हजार लै देखि परिच्छा।
औरन को धन चाहिये बावरि !
बाम्हन को धन केवल भिच्छा।

जैसा संकेत किया जा चुका है, कवि ने सुदामा के घर की निर्धनता का चित्रण बड़ी कुशलता से किया है। एक छन्द देखिए। कितना भव्य यथार्थवादी चित्रण है। दारिद्रय की चरम सीमा इससे अधिक और क्या हो सकती है—

फूटी एक थारी बिन टोटनी की झारी हुती,
बाँस की पिटारी औ' कँथारी हुती टाट की।
बँटे बिन छुरी औ' कमंडल सो टूक वहौ
फटे हुते पावी पाटी टूटी एक खाट की।
पथरौटा काठ को कठौता कहूँ दीसै नाहिं
पीतर को लोटा हो कटोरा हो न बाट की।
कामरी फटी सी हुती डोंड़न की माला ताक
गोमती की माटी की न सुद्ध कहूँ माटकी।

सुदामा निस्पृह ब्राह्मण थे। उन्हें अपनी निर्धनता में ही सन्तोष था—**'कै पढ़िबो कै तपोधन है कन माँगतै बाम्हनै लाज नहीं'**, इस बात पर उन्हें विश्वास था। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने धन सुदामा को न देकर उनकी स्त्री को ही दिया क्योंकि धन की इच्छा सुदामा की पत्नी को ही थी।

इस कथा का एक आध्यात्मिक अर्थ भी है और वह है कर्म युक्त भक्ति तथा अनुग्रह सिद्धान्त का समन्वय। सुदामा भक्ति के प्रतीक हैं, भगवान् कृष्ण का अनुग्रह उन्हें प्राप्त है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ कृष्ण की सख्य भाव से उपासना का उत्कृष्ट काव्य है। उसका आदर्श लौकिक होते हुए भी अलौकिक है और इसीलिए वह भक्ति काव्य का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

ग० द० सा०

नरोत्तमदास (द्वितीय)

श्री नरोत्तमदास (द्वितीय) गौड़ीय-सम्प्रदाय के वैष्णव थे। इनके द्वारा विरचित 'नाम संकीर्त्तन' का विवरण नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में आया है। इसमें महाप्रभु कृष्ण चैतन्य की प्रार्थना के बाद भगवान् के अवतार तथा कुछ भक्तों के नाम का उल्लेख है। ये सुप्रसिद्ध 'सुदामा चरित' के रचयिता नरोत्तमदास से भिन्न प्रतीत होते हैं।

न० च० बं०

नवनदास

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के खोज विवरणों (१९०६ व १९२९) में दो नवनदासों का उल्लेख मिलता है। दोनों ने अपने गुरु के रूप में संत चरणदास के शिष्य गुसाईं जुगतानन्द को याद किया है। यद्यपि कुछ रचनाओं की पुष्पिका में नाम 'अलष सनेही' मिलता है।

फिर भी इन रचनाओं में छाप 'नवनदास' या 'नवनसखी' की ही मिलती है। ये तथ्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि दोनों नवनदास एक ही हैं, अलग-अलग नहीं। गुसाईं जुगतानन्द के शिष्य रामचेरा ने गुसाईंजी के शिष्यों की नामावली में 'नवनदास' नाम तो दिया है, किन्तु 'अलषसनेही या 'अलषसनेही नवनदास' का नहीं। इससे भी हमारी मान्यता की पुष्टि होती है। इनकी जीवनी अन्धकार में है। इनका समय संवत् १८१० से १९०० तक अनुमानित किया जाता है।

इनकी रचनाओं का परिमाण विपुल है। इनके बंशी के पद विशेष प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनाओं में प्रवाह. भावात्मकता, अलंकार सभी कुछ है। रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—(१) नवन-प्रकाश (वि० सं० १८३४), (२) समझसार, (३) अनभौसार, (४) आनन्दसार, (५) प्रेमसार, (६) गीतासार, (७) भक्तसार, (८) उपासनासार, (९) सन्त सुमरनी, (१०) कार्त्तिक माहात्स्य, (११) सब्द।

इनकी रस-सानी बानी के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

स्याम सुन्दर मन भावै माई।
बिन देखैं मोहि कछु न सुहावै।
तास सखी के चरन गहूँ नित जो कोई आन मिलावै।
फिरत बावरी भई प्रेमबस गिरधर सेज न आवै।
रोम-रोम उकलात सखी री छिन-छिन बिरह सतावै।
'नवनदास' पिया दास तिहारी काटे नून लगावै।

* * *

बंसी करत अनोखी तान।
सुनत थके रिषि देव मुनीश्वर काज बिसारे आन।
बृजबाला सब भई प्रेमबस दूर करी कुल कान॥
स्वर्गलोक की सकल अप्सरा भूल गई अब मान।
'नवनदास' बंशीधर हरि में सुरति निरन्तर तान॥

म० गो० भा०

नवनागरीदास (गोस्वामी)

गोस्वामी नवनागरीदासजी का जन्म स्वामी हरिदासजी की वंश-परम्परा में १९वीं सदी के बाद में हुआ। इनका एक विशाल संस्कृत ग्रन्थ मिलता है जो 'प्रभावती परिणय' के नाम से अभिहित किया गया है। इसके अतिरिक्त वि० सं० १९९४ में प्रकाशित 'संगीत विन्दु' में भी इनके कुछ पद संगृहीत हैं।

'अन्योक्ति-बिन्दु' तथा 'रस-बिन्दु' भी इनको प्रौढ़ रचनाएँ हैं जो गोस्वामीगणों के पास सुरक्षित हैं। 'संगीत बिन्दु' में संगृहीत पद में नवनागरीदासजी ने किस प्रकार नेत्रों की प्यास को शान्त करने का प्रयास किया है, इसका सुन्दर चित्रण इन्होंने अपने एक पद में किया है। यथा—

रसिक नहीं प्रगटै जो हरिदास।
तौ अनन्य पथ जुगल उपासन को करतौ परकास॥
शम्भु विधि सनकादिक जाकौ।
कर कर जतन अनेक थकित भए लखि न सकत ताकौ॥
निगम जाकों नेति नेति गावैं।
सोई स्वरूप श्री कुंजविहारी दरसन को पावैं॥
प्यास कैसे कै नैनन की।
बिन देखै छवि कुंजविहारी मिटती रसिकनि की॥

* * *

साधन सब पीठ देई सेतौ।
ऐसे पतित दास नागर को शरण कौन लेतौ॥

उपर्युक्त पद आज भी राधाष्टमी के दिन बड़े चाव के साथ गाया जाता है।

प्रे० ना० श्री०

नवनीत चतुर्वेदी

मथुरा के श्री नवनीतजी चतुर्वेदी ब्रजभाषा के रससिद्ध कवि थे। काशी कवि समाज में एक बार कवियों की इन्होंने बोली बन्द कर दी थी। कहते हैं इसी पर काँकरौली नरेश गो० बालकृष्णलालजी ने इनको 'कवींद्र' की उपाधि दी थी। इनकी इतनी ख्याति थी कि विदेशी

विद्वान् डाक्टर गियर्सन और मैक्समूलर इनके घर आये थे। मथुरा के जिलाधीश फ्रीमेंटल ने भी इनको स्वर्ण-पदक प्रदान किया था।

इनके लिखे १६ ग्रन्थ बताये जाते हैं। इनमें कुछ ही प्रकाशित हुए हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं— स्नेह शतक, प्रेम पचीसी, पावन पचीसी, गोपी प्रेम पीयूष प्रवाह, कुब्जा पचीसी, प्रेमरत्न, रहिमन शतक, मूर्ख शतक, श्यामांगावयव भूषण, नवीनोत्सव संग्रह, वैष्णव धर्म, प्रश्नोत्तर, मनोरथ मुक्तावली, हरिदास वंशानुचरित्र, छन्द नवनीत, हरिहराष्टक।

स०

नवनीत राय / व्रजदास / शोभाराम / कृष्णदास

ये चारों भाई जन्मतः व्रजवासी थे तथा सम्भवतः ये चिकसौली-बरसाना के निवासी थे। इनके पिता स्वामी श्री हरिनाथजी और पितामह स्वामी श्री किशोरीदास जी थे। ये चारों भाई भी अपने पिता और पितामह की भाँति रासमण्डली बनाकर श्री हिताचार्य चरण द्वारा संस्थापित रासलीलानुकरण के प्रचार-प्रसार हेतु बरसाना, नन्दगाँव, कामवन, वृन्दावन आदि ब्रज के लीलास्थलों में रास किया करते थे। महत्व की बात यह है कि ये ब्रज की सीमा से बाहर कभी नहीं गये। रास के स्वरूपों में इनका इतना अधिक इष्ट-भाव और विश्वास था कि अनेकों बार रासलीला करते समय स्वरूपों द्वारा अनेक प्रत्यक्ष चमत्कार सभी दर्शकों के सामने प्रकट हुए थे—

हरिनाथ सुवन मति कुशल रास।
व्रज मण्डल में कीयौ प्रकास॥
नवनीत राइ व्रजदास पास।
पुनि शोभाराम जुत कृष्णदास॥
भेषनि परचौ जानौ अनेक।
व्रज तजि न जाइ यह सुदृढ़ टेक॥
श्री हरि प्रसाद गुरु दियौ विवेक।
हित रीति विचक्षण सुमति एक॥

—तृतीय वसन्त प्रबन्ध

ये चारों भाई गोस्वामी नन्दजी के पौत्र गो० हरिप्रसादजी के कृपापात्र थे। गुरुवर्य की कृपा से श्री हिताचार्य चरण की गूढ़ रस रीति का ज्ञान इन्हें भली प्रकार से प्राप्त हुआ था और साथ ही मिला था—खाँड़े की धार जैसी अनन्यता-वीथी पर चलने का अद्भुत बल।

इनके पिता स्वामी हरिनाथजी श्री जुगलदासजी भीम कुंज वाले [विद्यमान काल सं० १७०० से सं० १७९२] के समय रासलीलानुकरण किया करते थे। इस आधार से इनका विद्यमान काल सं० १७२५ से सं० १८२० तक अनुमान किया जा सकता है।

श्या० बि० खं०

नवनीतलाल गोस्वामी (प्रथम)

गो० नवनीतलाल की अनन्य सेवा-भावना की परिचायक पक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं—

चित कोमल नवनीत राधिका वल्लभ पद मन।
मन्नूलाल महामति जिनके जुगल भजन धन॥
सील साधुता धरैं श्री चुन्नीलाल भक्ति पन।
नाम धाम रुचि रहत रास रस वास भूमि वन॥
निज सेवन पूजन इष्ट कौ
प्रनत जनन सुख नित नये।
श्री हित सुखलाल कृपाल के
सुत सबै गुनन कोविद भये॥

—रसिक अनन्य परचावली

नवनीतलालजी गोस्वामी (प्रथम) श्री हिताचार्य चरण के विन्दु कुलोत्पन्न गो० सुखलालजी प्रथम के पुत्र थे। गोस्वामी सुखलालजी के पश्चात् ये ही राधावल्लभ मन्दिर के विलासवंशीय सेवाधिकारी हुए। इनके जन्म सम्वत् का उल्लेख किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता, किन्तु जयकृष्णजी ने अपने 'हित कुल शाखा' नामक ग्रन्थ में इनकी जन्म तिथि सावन शुक्ल तीज लिखी है—

नवनीतलाल तिनके सुख बीज ।
प्रगट भये सुदि सावन तीज ॥

इनके जन्म सम्वत् के निर्धारण के लिए हमें निम्नांकित ऐतिहासिक सामग्री समुलब्ध है —

- ● गो० नवनीतलालजी के प्रपितामह गो० विलासदास जी का जन्म सम्वत् १६६५ सुनिश्चित है। यदि इनके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र के जन्म में कम से कम २५-२५ वर्ष का अन्तर माना जाय तो इनका जन्म सम्वत् १७४० के आस-पास स्थिर होता है।

- ● गो० विलासदासजी के प्रथम पुत्र गो० रसिकलाल जी की एक रचना का सम्वत् १७२४ तथा दूसरी का सम्वत् १७३४ प्राप्त होता है। यदि गोस्वामी श्री रसिक लालजी की आयु रचना काल के समय ३५ वर्ष के लगभग मान ली जाय तो उनका जन्म काल सं० १६९० ठहरता है। अब यदि गोस्वामो श्यामलालजी, जो गो० रसिकलालजी के छोटे भाई तथा गो० नवनीतलाल जी के पितामह थे, का जन्म गो० रसिक लालजी के जन्म के दो वर्ष पश्चात् भी माना जाय तो गो० श्यामलालजी का जन्म सं० १६९२ के आसपास स्थिर होता है। ५० वर्ष की आयु में गो० श्यामलालजी के पौत्र का जन्म मान लेने पर गो० नवनीतलालजी का जन्म सम्वत् १७४२ के लगभग ठहरता है।

- ● गो० नवनीतलालजी के पिता श्री सुखलालजी की एक रचना (टीका-चतुरासी) का निर्माण काल सं० १७७० है। ५० वर्ष की आयु में इसकी रचना मानने पर इनका जन्मकाल १७२० के लगभग स्थिर होता है। अब २५ वर्ष की उम्र में पुत्रोत्पत्ति मानने पर गो० नवनीतलाल का जन्म सं० १७४५ के आसपास ठहरता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गो० नवनीतलालजी का जन्म संवत् १७४० और संवत् १७४५ के बीच हुआ होगा।

हरिद्वार के एक पंडा की बही में इनका उल्लेख इस रूप में मिलता है—

'गु० नवनीत लाल अधिकारी सुखलाल गुसाइं ने प्रमान कर्‌यौ प्रोहित सो हम प्रमान। लिखितं चुन्नूलाल प्रोहित हरिद्वार के प्रमान। सम्वत् १७९९ मिती माह वदि १३ वृन्दावन में दसखत कीने।'

(जून सन् १९५३ में गो० भजनलालजी हरिद्वार गये थे तथा वहाँ के पण्डों की पुरानी बहियों से उक्त लेख नोट करके लाये थे। मैंने उनसे ही ये लेख प्राप्त किये हैं।)

गो० नवललालजी तथा गो० रतनलालजी गो० नवनीतलालजी के चचेरे भाई तथा गो० चुन्नूलालजी एवं गोस्वामी मुन्नूलालजी सगे भाई थे। साधारणतया तीर्थयात्रा जैसे धार्मिक कृत्य करने की प्रवृत्ति ५०-५५ की उम्र के लगभग ही उत्पन्न होती है। इस मान्यता और प्राप्त उक्त लेखों के आधार पर जहाँ एक ओर गो० नवनीतलालजी का जन्मकाल सम्वत् १७४० और १७४५ के बीच मानने की बात पुष्ट होती है, वहीं दूसरी ओर गो० नवनीतलालजी का विद्यमान काल सम्वत् १८०० के लगभग सुस्थिर होता है।

इनके रसिक रूप का चित्रण करते हुए चाचा श्री हित वृन्दावनदासजो ने लिखा है कि 'यथानाम तथा गुण:' वालो कहावत उनके जीवन में पूर्ण रूप से चरितार्थ होती थी। ये मृदु स्वभाव के थे और अपने प्रणतजनों के लिए अत्यन्त सुखद थे। इष्ट के नाम, धाम और सेवा में इनकी विशेष रुचि थी। झूला, शरद, वसन्त आदि नित्य नैमित्तिक उत्सवों के आने पर तो इनकी यह रुचि और भी उल्लसित और विकसित हो जाती थी। श्री हिताचार्य चरण द्वारा आविर्भूत रासलीलानुकरण की परम्परा का निर्वाह भी इन्होंने अपने पूर्वजों की भाँति भलीभाँति निभाया था। चाचा जी ने यह भी लिखा है कि इनकी निश्छल प्रीति के वशीभूत होकर परम इष्ट श्री राधावल्लभलालजी ने किसी समय इनके घर पर पधारकर इनका मनोरथ पूर्ण किया था यह घटना कब और कैसे हुई इस संबन्ध में चाचाजी ने प्रकाश नहीं डाला है—

श्री राधावल्लभ लाल प्रभु लीनौ प्रेम रिझाइ ।
सेये हितके हेत सौं उत्सव सेज बनाइ ॥

प्रीति बिना परचैं नहीं प्रभु जाननि मणि जानि ।
आरति लखि आए भवन लई वीनती मानि ॥

--श्रीहित भक्ति कल्पतरु

अपनी रचनाओं में इन्होंने स्वयं को उपास्य रूप की प्राप्ति कराने वाले गुरु रूप में 'सखि सुख' [गो० सुखलालजी जो कि इनके पिता थे] को स्मरण किया है--

श्री हरिवंशी निज प्रिय सखि सुख
अविलोकत मन लाई ।
जै श्री हित नवनीत जु करी कृपा
मोहि दै कैं सैन बुलाई ।

इनकी कतिपय रचनाएँ उत्सव-पद-संग्रहों में प्राप्त होती हैं। उनमें से तीन नीचे उद्धृत की जा रही हैं—

(१)

अद्भुत वरषा आई देखो भाई ।
श्याम सरूप छटा घहराई प्रिय चपला चमकाई ॥
हित की सखी उज्वल रस भीनी बग पंगति छबि छाई ।
नूपुर शब्द पपीहा दादुर कोकिल मोर कुहुकाई ॥
हरिवंशी धुनि मनौं गरजत घन लरजत घन अकुलाई ।
डरपी जानि प्रिया प्रीतम ने पुनि पुनि लै उर लाई ॥
हलत हिंडोर झकोर पवन की करत कलोल मन भाई ।
जै श्री हित नवनीत परम रस वरषत निरखत
नैंन सिराई ॥

(२)

श्री द्विजराज कै हो आनन्द मंगल भीर ।
सुरवर रिषिवर नरवर आये मिटी हिये की पीर ॥
जय जय कहत देव ऋषि आशिष
नृपति लुठत जन तीर ।
सुर फल वन फल सिंधु सार
फल वलि ल्याये मणि हीर ॥
अचिरज यहै कूखि तारा कैं प्रगटे श्री ब्रजचंद ।
कीनौं तिमिर दूरि मायक सब फूले भावक वृंद ॥

(३)

इक सुनत वधाई धाये । दिस दिस तें गुन गन ल्याये ॥
इक पढ़त वेद सुर साँचे । ब्रज रीति रहसि रस राँचे ॥
भावक जन हिय हरषावैं । मुरि जुगल उपनिषद गावैं ॥
इक बंदी विरद उचारैं । इक मागद कुलहि सम्हारैं ॥
इक प्रेम रंग रस राचैं । इक सूत पुराननि बाचैं ॥
इक समझि सार बहु नाचैं । इक मन चीते फल जाचैं ॥
इक हास रसनि के पाँड़े । इक चोख चबाइ जु चाड़े ॥
दुहुँ दिसि के समधी भाँड़े । आये रंग रंग मुख माँड़े ॥
लियौ जनम पहिले ब्रजपति घर मोहि दैन जो कीनौ ।
श्री कमल नैन अब दीजै दूनौ नवनीतहि रस भीनौ ॥

श्या० बि० खं०

नवनीतलाल गोस्वामी (द्वितीय)

नवनीतलाल गोस्वामी (द्वितीय) राधावल्लभ-सम्प्रदाय के श्रेष्ठ भक्त थे। 'भक्तगाथा' में इनके सम्बन्ध में कहा गया है—

दीन दुखी कौं देखि कृपा करि ता सिर धारैं ।
सदाचार निज धर्म प्रगट हिय में बिस्तारैं ।
अंतरंग हित संग ह्वै कुंजमहल सेवा करैं ।
भाव चाव अनुराग बस दम्पति रस उर में धरैं ॥
घनश्याम लाल सुत रसिक
लघु भजन खेत तें ना टलैं ।
श्री नवनीतलाल नवनीत अति
प्रेम आंच हिय द्रव चलै ॥

गोस्वामी नवनीतलालजो गोस्वामी रूपलालजी के अग्रज गो० मुकुन्दलालजी के नाती थे। इनके पिता का नाम गो० घनश्यामलालजो था। गो० रूपलालजी का जन्म सं० १७३८ में होना सुनिश्चित है। अतः इनके अग्रज गो० मुकुन्दलालजी का जन्म सं० १७३५ के लगभग माना जा सकता है। उस आधार पर गो० नवनीतलालजी का जन्म सं० १७८५ के आसपास स्थिर होता है। इनका हृदय अति कोमल था। दीन

दुखियों को कष्टातुर देखते ही पिघल जाता था और प्रेम की आँच का स्पर्श होते ही प्रेमाश्रु में प्रवाहित होने लगता था। ये अपने इष्ट को सेवा में लगे रहते थे और सेवावकाश के समय अंतरंग भावना में निमग्न हो जाया करते थे। महत् जनों की रहनी का निर्वाह करते हुए इन्होंने हित पद्धति के अनुसार निष्ठापूर्वक नित्य नैमित्तिक सेवा करके एक आदर्श जीवन प्रस्तुत किया था।

श्या० बि० खं०

नवलदास (प्रथम)

श्री नवलदास सतनामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक जगजीवन साहेब के शिष्य थे। ये जाति के क्षत्रिय और बाराबंकी जिले के गूढ़गाँव नामक स्थान के निवासी थे। इनकी रचनाओं के आधार पर इनका उपस्थिति काल सं० १८३८ के आस पास निश्चित होता है। इनके ग्रंथों के नाम हैं—

१--भागवत दशम स्कंध--इसमें साहेब नवलदास का नाम दिया गया है, जिस पर निर्गुनियों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। इन्होंने अजपाजप की साधना की थी।

२--भागवत पुराण भाषा जन्म खण्ड--(सं० १८२३)—इसमें इन्होंने अपने गुरु जगजीवन का भी उल्लेख किया है :

सतगुरु साँच राम, तुम्ह स्वीकृत सद्द ईस प्रभु।
हृदय करिय विश्राम, जगजीवन जग तारन।

३--कहरानामा--इसमें भी इन्होंने अपने को जगजीवनराम का शिष्य स्वीकार किया है :

प्रभु साहेब जगजीवन स्वामी,
भवन भवन विश्रामा रे।

४—सुखसागर (सं० १८१७)।

५—ज्ञान सरोवर (सं० १८१८)—इसमें विविध धार्मिक कथाएं हैं।

६—रामगीता।

७—ज्ञान-रतन (सं० १८३८)।

८—शब्दावली (सं० १८१७)—इसमें जगजीवनदास की आरती भी है।

९—मंगलगीत और शब्दावली।

१०—स्तुति श्री बजरंग जी।

निर्गुण मतावलम्बी होते हुए भी कृष्णावतार में इनकी आस्था की। यह इनकी उपर्युक्त प्रथम तथा द्वितीय रचनाओं से स्वतः प्रमाणित है।

ह. नं. भा.

नवलदास (द्वितीय)

'रसिक अनन्य परचावली' में इनका परिचय इन शब्दों में दिया गया है—

श्री हितगुरु प्रसाद भक्ति सुखसनैं महाई।
छिन-छिन अति उत्साह प्रीति नित नई बढ़ाई॥
सींव त्याग वैराग सकल तीरथ भ्रमि आये।
पुनि वृन्दावन बास इष्ट चरननि चित लाये॥
परचौ दिल्लीपति दियौ
जुगल केलि रस मति पगे।
श्री नवलदास नव कुञ्ज की
चहल पहल टहलहिं लगैं॥

महाप्रभु श्री हित हरिवंश गोस्वामी के शिष्य श्री नवलदासजी (द्वितीय) का जन्म धूसर वैश्य कुल में हुआ था। इनका घर रेवाड़ी (हरियाणा) में था। इनका मन सदा प्रभु के श्रवणकीर्तन और स्मरण भक्ति में लीन रहता था, साथ ही साधु-सन्तों की सेवा में इनकी बहुत रुचि थी। इन गुणों से ये सबके मन को बरबस ही वश में कर लेते थे। एक बार कुछ रसिक सन्तों का संग पाकर ये श्री वृन्दावन आये। यहाँ श्री हरिवंश महाप्रभु के दर्शन करके इनको विशेष आनन्दानुभूति हुई और इन्होंने स्वयं को श्री हिताचार्य की सेवा में समर्पित कर दिया। श्री महाप्रभु कभी परीक्षा के लिये, इनसे कर्कश

व्यवहार भी कर देते थे तो भी इनके सेवा-भाव में किंचित्मात्र भी कभी नहीं आती थी। सेवा में इनकी असामान्य रुचि ने श्री महाप्रभु को मुग्ध कर लिया और उन्होंने इनको अत्यन्त रहस्यमय श्री 'निज-मन्त्र' प्रदान करके अनन्य धर्म की सूक्ष्मताओं में इनका प्रवेश करा दिया। यथालाभ संन्तोषपूर्वक ये अद्वय युगल श्री राधावल्लभलाल के गुणगान करते हुये रसिक समाज के अत्यन्त प्रीति-भाजन बन गये और 'नवलदास बैरागी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

इनकी लोक बाह्य स्थिति का परिचय देने वाली एक घटना सन् १५५६ में घटी। हेमू धूसर मुगलों से युद्ध करता हुआ पानीपत के युद्ध में मारा गया और हुमायूँ दिल्ली का बादशाह बना। बादशाह ने प्रतिशोध में सम्पूर्ण धूसरकुल को ही पकड़ कर मार डालने की आज्ञा दे दी। जहाँ तहाँ से सब धूसर पकड़ लिये गये। श्री वृन्दावन से श्री नवलदास को भी पकड़ मँगाया गया। बादशाह ने पूछा "क्यों रे नवल ! तेरी क्या जाति है ?" इन्होंने उत्तर दिया कि "जिसने हमें पैदा किया उसने हमें अब अपना लिया है और हम जाति से परे हो चुके हैं, हरिभक्तों की ऐसी ही रीति होती है।" बादशाह कुढ़ा हुआ तो था ही, इस उत्तर से और चिढ़ गया और बोला, "ठहर, अभी तुझे जंजीरों से से बँधवाता हूँ। मुझको रीति सिखा रहा है।" भगवद्भावावेश में नवलदासजी ने अत्यन्त साहस और दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया —

जो कोई जरै जंजीर तन, तौ तोरुँ सतसात ।
प्रेमतन्तु अटक्यौ नवल, भटक्यौ तनक न जात ॥

"यदि कोई मेरे शरीर को जंजीरों से जकड़ दे तो मैं सात सौ जंजीरे तोड़ डालूंगा। अभी तक जंजीरें ही तोड़ी हैं और किया ही क्या है ? परन्तु प्रेम तन्तु (सूत्र) में बँधा हुआ यह नवल तनिक भी इधर-उधर नहीं हो सकता है।" वजीर ने बादशाह को जब इस दोहे का अर्थ समझाया तो उसने तत्काल जंजीरे मँगाई और उसने नवलदासजी को भली प्रकार बँधवाकर बन्दीगृह में डलवा दिया। उसके साथ ही उसने इनका अन्नजल भी बन्द कर दिया।

बन्दीगृह में नवलदासजी ने अपना संपूर्ण मन श्री गुरुचरणों एवं इष्टधाम में लगा दिया और देह सहित श्री वृन्दावन आ गये। तीन दिन पश्चात् बादशाह ने जब बन्दी की स्थिति का पता लगाया तो बन्दीगृह में जंजीरों का ढेर पड़ा था और बन्दी का कोई पता नहीं था। बादशाह ने तुरन्त अपने सिपाही पुनः वृन्दावन भेजे। सिपाहियों ने नवलदासजी को बादशाह की आज्ञा सुनाई और ये परोपकार को दृष्टि में रखकर सहर्ष उनके साथ दिल्ली चले गये।

नवलदासजी के महातेज से प्रभावित होकर बादशाह ने इनका सत्कार किया और कहने लगा "नवलदास, तुमने करामात दिखाई है–इससे मेरे मन में दया आ गई है—अब तुम बताओं क्या चाहते हो ?" नवलदासजी सहजभाव से बोले "इन निरपराध धूसरों को तुमने जेल में क्यों डाल रखा है ? जो जैसा करता है वैसा फल तो वह ईश्वर की ओर से ही पा जाता है। तुम इनको क्यों सताते हो ?" इस प्रकार का बहुत उपदेश देकर इन्होंने सब धूसरों को छुड़वा दिया। उसी दिन से सम्पूर्ण धूसर कुल इनका भक्त हो गया। शहंशाह ने नवलदासजी को प्रेमपूर्वक अपने पास बैठाया और इनको बहुत सा धन भेंट में देना चाहा, किन्तु नवलदासजी ने उसे अस्वीकार करते हुये कहा कि, 'यह धन तो आपके ही उपयोग का है। हमको तो मदन गोपाल ही अच्छे लगते हैं और वे ही हमारे काम के हैं। वे हमको तन ढकने को काली कमली और पेट भरने को अन्न पहुँचाते रहते हैं। हमको अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। बादशाह ने उसी समय काली कमली मँगवाकर नवलदासजी को अपने हाथ से उढ़ा दी। इस प्रकार सब धूसरों को जेल से छुड़ाकर नवलदासजी आनन्द पूर्वक वृन्दावन वापस चले आये। इनके चरित्रकार ने लिखा है—

पर दुख दुख पर सुख सुखी भगवत् हरिजन सोइ ।
राधावल्लभ तिनहिं कौं सदा सहायक होइ ॥

ल० च० गो०

नवलदास (स्वामी)

स्वामी नवलदासजी हरिदासी संप्रदाय की परंपरा में श्री स्वामी नागरीदासजी महाराज के द्वितीय शिष्य थे। इनके शिष्य श्री कृष्णदासजी (द्वितीय) थे।

श्री स्वामी नवलदासजी के पूर्व जीवनवृत्त के सम्बन्ध में किसी ग्रन्थ से कोई प्रकाश नहीं पड़ता, परन्तु इनकी वाणी का इतना महत्व है कि उसे अष्टाचार्यों की वाणी के साथ संकलित किया गया है। इनकी रचनाओं का समय-समय पर समाज में गान भी किया जाता है।

इनका समय सत्रहवीं शताब्दी माना जा सकता है। इनकी रचनाओं से दो पद उद्धृत किये जा रहे हैं—

(१)

साँचे श्री हरिदास जिनकी सुदृढ़ उपासना।
मन में बिचारि कैं बिबेक टेक एक आछी,
ध्रुव हू तैं अटल, न टारी टरैं आसना॥
नाना रत मत जीव उपजि विनसि जाँहि,
कर्मठ, ज्ञानी हू की न काल हू की त्रास ना।
आसू कौ रसिक, रस-रीति में हू रस पीवै,
जगत अनन्यनि की पूरी भई बासना॥
नवल बिहारी जू कौ प्रगट बिहार गावें
साँचै श्री हरिदास जिनकी सुदृढ़ उपासना॥

(२)

रंग भर्यौ लालन रंगीली प्यारी राधा।
एक तन, एक मन, एक ही समान दोऊ,
नैक हू न न्यारे ह्वै सकत पल आधा॥
छबि सौं छबीली भाँति नैननि मुसकाति,
मुसकान ही में रंग बढ्यौ है अगाधा।
तैसीयै नवल सखी, तैसेई कुंजबिहारी,
तैसी मेरी प्रान प्यारी पूरी मन-साधा॥

श० बि० गो०

नवल बाई/कल्याणी बाई

नवल कल्याणी सखिन कै, मन हौ अति अनुराग।
लाल लड़ैती कुंवरि कौ, गायौ भाग सुहाग॥

—भक्त नामावली श्री हित ध्रुवदासजो कृत

ये दोनों बाइयाँ समकालिक रही हैं। यद्यपि इनके जीवन वृत्त सम्बन्धो कोई तथ्य प्राप्त नहीं हैं, तथापि ध्रुवदासजी के वर्णन-क्रम को देखते हुए हमारा अनुमान है कि ये दोनों ही गो० वनचन्दजी की शिष्या रही होंगी। ये दोनों ही अत्यन्त सरस हृदया थीं। जब ये लाड़िली-लाल के सुहाग भाग के गीत अपने कल कण्ठ से गाती थीं तो ये स्वयं तो भाव विभोर हो ही जाती थीं। रसिकजन भी तोष और पोष प्राप्त किया करते थे। इनका विद्यमान काल १७ वीं शताब्दो का अन्तर्मध्य-काल अनुमानित होता है।

श्या० बि० खं०

नवललाल/रतनलाल गोस्वामी

गो० नवललाल तथा गो० रतनलाल सहोदर भ्राता थे और अपने समय के प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त थे। 'रसिक अनन्य परचावली' में इनके सम्बन्ध में कहा गया है:—

सत्य वचन साधुता भाँति
सब विदित बड़ाई।
भूषन तन शीलता रहनि
सुचि गुननि निकाई॥
श्री रतन लाल रस रतन
धन्य जननी बड़ ज्ञाता।
एक प्राण द्वै देह न कलि
में ऐसे भ्राता॥
पर कारज अति कुशल मति
बैन मधुर अमृत चुवन।
मूरति विशाल प्रफुलित बदन
श्री नवललाल हलधर सुवन॥

ये दोनों गो० विलासदासजी के पाँचवें पुत्र गो० मुरलीधरजी के पौत्र तथा उनके छोटे पुत्र गो० हलधरजी के पुत्र थे। गो० विलासदासजी का जन्म सं० १६६५ माना जाता है। इस आधार से इनका आनुमानिक जन्मकाल सं० १७५० और सं० १७५५ के बीच सुस्थिर होता है।

ये दोनों भाई परम रसज्ञ, मितभाषी, सत्यवादी, पर दुःख-कातर परहित परायण आदि साधुजनोचित गुणों से समलंकृत थे। इस कारण अपने समकालीन समाज में समादृत थे। इन दोनों के पारस्परिक सौहार्द की प्रशंसा करते हुए चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी ने लिखा है कि—

"एक प्राण द्वै देह न कलि में ऐसे भ्राता।"

श्या० बि० खं०

नवल सखी

श्री नवल सखी राधाबल्लभ सम्प्रदाय के श्रेष्ठ सन्त थे। इनकी प्रशस्ति सम्बन्धी दो अंश यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

गुरुवर श्री व्रजलाल भाल
पर जब कर दीयौ।
सजन सनेही श्याम स्वामिनी
पद मन कीयौ॥

अलबेली ही रहनि कहनि
अति ही अलबेली।
व्रज मंडल जिहि जन्म
सुभाइक भक्ति गहेली॥
अंतर गति की जानिबै भृत
प्रगट क्रिया है अति लड़ी।
तीरथ फिरन उमाह मन रहै
नवलसखी के चित गड़ी॥

—रसिक अनन्य परचावली

गुरु श्री व्रजलाल सु अति कृपाल।
धरचौ नवल सखी के कर सु भाल॥
होरी के नाना रचैं ख्याल।
जस गाय रिझाये राधा लाल॥

—चतुर्थ वसन्त प्रबन्ध

इनका जन्म ब्रज के करहला नामक ग्राम के एक सनाढ्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनका मूल नाम नवलकिशोर था। भगवद् भक्ति इन्हें बचपन से ही संस्कार रूप में प्राप्त थी। इसीलिए इनकी रुचि बाल्यकाल से ही साधुओं के पास बैठने, सत्संग और तीर्थाटन करने में रही। साधुओं के साथ तीर्थाटन करते हुए ये एकबार वृन्दावन गये। वहाँ पर इन्हें गोस्वामी श्री व्रजलालजी की सरस कथा सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। ये उससे इतने प्रभावित हुए कि उसी समय उनके शिष्य हो गये। गुरुवर की अहेतुकी कृपा से ये बहुत शीघ्र ही अद्वय युगल श्री राधा श्यामसुन्दर के अनन्यासक्त भक्त बन गये।

श्री हिताचार्य के रसभजन का प्रभाव इनके जीवन में ही लोक प्रत्यक्ष हो गया था। इनकी विलक्षण 'रहनी' और 'कहनी' देखकर तत्कालीन रसिक इन्हें 'नवलसखी' कहकर पुकारा करते थे। साधु-सेवा का अनुराग तो इन्हें भक्ति के साथ ही मिला हुआ था। वृन्दावन रस रसिकों का संग पाकर वह और भी पुष्ट हो गया। अब ये सन्त-गुरु और इष्ट की सेवा तत्सुख सुखी भाव से इस प्रकार करने लगे कि उसे देखकर सभी के मुख से ये शब्द निकल पड़ते थे—"सखी जी! तुम तो हमारी हार्दिक रुचि ही पहचान लेती हो।"

ये समय-समय पर श्री राधावल्लभलालजी के दर्शन करने के लिए कामवन और कभी लाड़िलीजी के दर्शनार्थ बरसाने भी चले जाते थे। जीवन के अंतिम क्षण इन्होंने बरसाने की मोरकुटी तथा गहवर वन की लता-कुंजों में रस-साधना करते हुए व्यतीत किये थे।

इनकी कुछ रचनायें समुपलब्ध होती हैं। उदाहरणार्थ दो पद नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—

महाराज दिग्विजय सिंह 'भूपविजै' (पृ० ५८२)

पं० दुर्गादत्त : (पृ० ५९४)

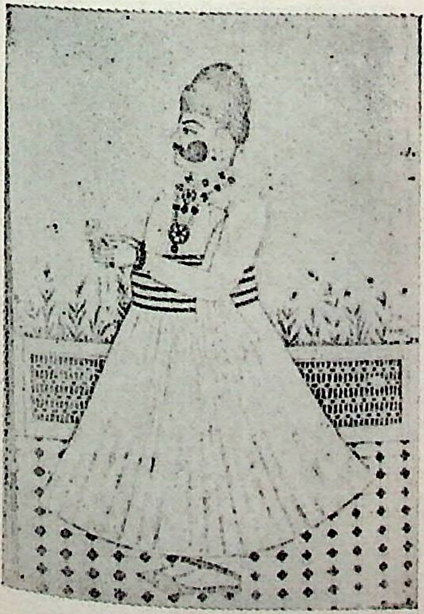

श्री दोलतराम हल्दिया (पृ० ६०८)

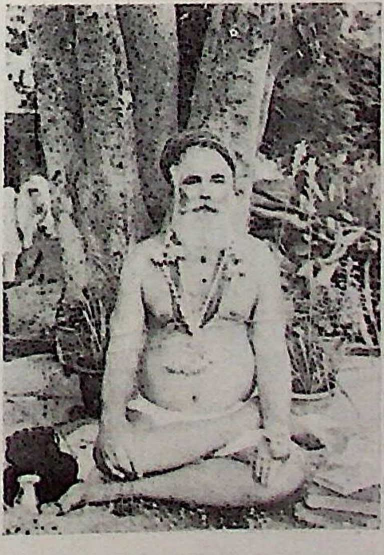

श्री नरहरिदास (पृ० ६५०)

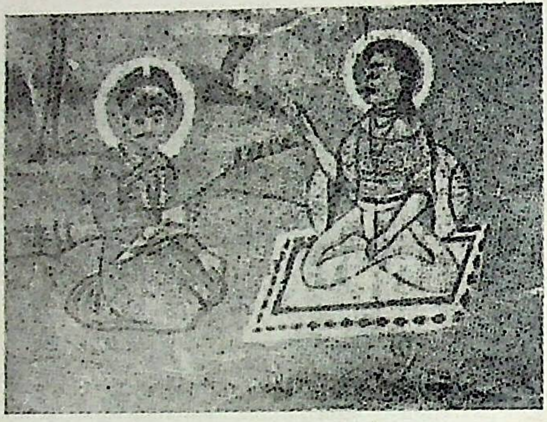

महात्मा नवलदास से बादशाह अकबर राधाबल्लभी कंठी, माला तथा तिलक ग्रहण करते हुए (पृ० ६६९)

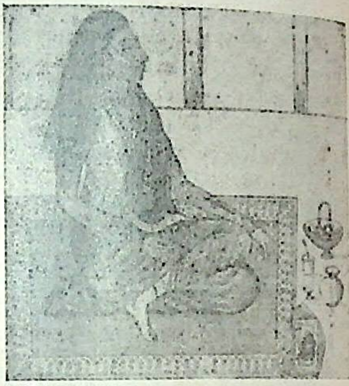

श्री नागरीदास (महाराज सावन्त सिंह) (पृ० ६७८)

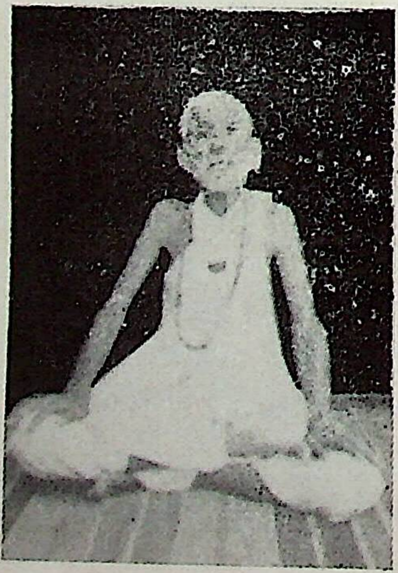

श्री निकुञ्जदास (पृ० ७०७)

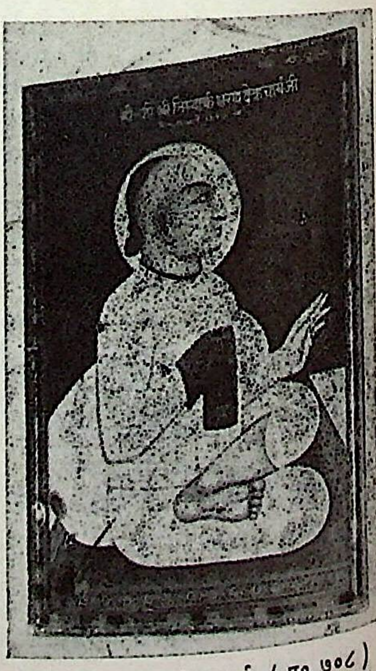

श्री निम्बार्कशरणदेवाचार्य (पृ० ७०८)

(१)

हँसि हँसि दूध पीवत लाल।
मधुर कोमल वचन कहि कहि प्राण प्यारी बाल ॥
कनक कटोरा भर्‌यौ अमृत लिये ललिता हात ॥
लाड़िली अचवाय पहिले पीछे आप अघात।
चिन्ता मचित बसौ री सजनी नहिन और सुहात।
'नवल सखी' सब सौज लीयें निरखि दृग न अघात ॥

(२)

यह बेटी वृषभानु दुलारी।
अद्‌भुत रूप अबहि मैं देखी,
मोहिं सप्त तेरी ललिता री ॥

झनक झनक पैंजनी दुहूँ पग,
कर ककनी नु विराजत भारी।
तनक तनक तर कुलि कानन में,
दुलरी कण्ठ कनक खगवारी ॥

हमरे कछु इक भाग बड़े ते
अब लगि तौ यह रही कुमारी ॥

नित जसुमति कैं यहै मनोरथ,
दूलह श्याम दूलहिनी प्यारी ॥
नहिन सुता त्रिभुवन में ऐसी,
मुरि मुरि महरि लेत बलिहारी।
'नवल सखी' पुनि यहै सगाई
मन वच करि जिय माँझ बिचारी ॥

इनका विद्यमान काल संवत् १७२५ से सं० १८०० के मध्य प्रतीत होता है।

श्या० बि० खं०

नवीन

नवीन जी जयपुर के कवि ईश के शिष्य थे। उन्होंने ही इन्हें 'नवीन' उपनाम से विभूषित किया था। वस्तुतः इनका नाम गोपाल राय था। ये वृन्दावन निवासी कायस्थ थे। नाभा, ग्वालियर तथा भरतपुर राजदरबारों में इनको बहुत प्रतिष्ठा मिली थी। इनका रचनाकाल सं० १९०० के आसपास था। इन्होंने एक महत्वपूर्ण ब्रजभाषा काव्य-संग्रह ग्रन्थ तैयार किया था जो 'सुधासागर' या 'सुधासार' नाम से जाना जाता है। रत्नाकरजी ने इसका एक भाग प्रकाशित किया था। इसमें ब्रजभाषा के अनेक अल्पज्ञात कवियों की रचनाएँ हैं। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—'रस-तरंग', 'सरस-रस' तथा 'नेह-निदान'। ये श्री राधाकृष्ण के उपासक थे। इनके द्वारा रचित यमुना वर्णन से एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

और हरियाई में सकल जग तेरी क्रांति,
हरिहु के हृत्तल की सीतल करैया तू।
कोमल पुलिन रसरास की धुली तू भली,
भक्तन के प्रेमपन पद को दिवैया तू।
बानिक बिसेस सेस गावत न पावै पार।
नित ही 'नवीन' जस-पुंज उपजैया तू।
रस में रसारी रसरंग सरसारी वारी,
वृन्दावन वारी प्यारी तरनि तनैया तू ॥

हं० नं० भा०

नवेली बाई

नवेली बाईजी का जन्म जयपुर राज्यान्तर्गत जटवाड़ा के पास नागल नामक ग्राम में वि० सं० १९५८ में हुआ था। बाल्यावस्था में माता-पिता के वात्सल्य-सुख से ये वंचित हो गई थीं। आठ-दस वर्ष की आयु में ही इनका विवाह एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में हुआ। किन्तु विवाहोपरान्त एक घण्टे पश्चात् ही पति स्वर्ग सिधार गये। फलतः इनका समस्त जीवन दुःखमय हो गया। इनके मौसाजी ने इन्हें हाईस्कूल पास कराकर जयपुर रेलवे स्टेशन के पास स्थित एक स्कूल में अध्यापिका नियुक्त करा दिया।

एक बार इन्होंने अपने मामा के साथ श्री गंगाबक्स जी पूड़ी वाले के घर पर मुखिया श्री गोकुलदासजी एवं श्री बाबा रामचन्द्रजी का दर्शन-सत्संग प्राप्त किया। उसके प्रभाव-स्वरूप इनके भक्ति-संस्कार जाग्रत हो गये। एक दिन शरणागति पर सत्संग चल चल रहा था, शरणागत हुए बिना मुक्ति सम्भव नहीं,

बात हृदय को लग गयी। दूसरे दिन मुखिया श्री गोकुलदासजी से शरणागत होने की प्रार्थना की। मुखियाजी ने बाबाजी से प्रार्थना की। तदुपरान्त बाबा रामचन्द्रदासजो ने इनको विधिपूर्वक अष्टदशाक्षर श्री गोपालमन्त्रराज की दीक्षा प्रदान कर श्री सर्वेश्वर प्रभु का शरणापन्न करा दिया।

कुछ दिनोपरान्त ये स्कूल से प्रधानाध्यापिका के रूप में नीम का थाना आ गईं। अध्यापन काल में ही इन्होंने श्री गोपालमन्त्रराज का अनेक बार अनुष्ठान किया। कभी-कभी वृन्दावनबिहारीजी एवं गुरुदेव के दर्शनार्थ आते रहने से इनमें प्रगाढ़ निष्ठा हो गयी। जब गुरुदेव ने प्रिया-प्रियतम के दिव्यधाम में प्रवेश किया, इन्होंने अध्यापन कार्य छोड़ दिया और श्री धाम वृन्दावन आकर विहारीपुरा में निवास करने लगीं।

धीरे-धीरे इनकी कीर्ति बढ़ने लगी तो भक्तों एवं शिष्य वर्ग ने इनसे अलग आश्रम की स्थापना करने का आग्रह किया। तब इन्होंने सेवाकुंज मुहल्ले में श्री नवलचन्द्र-कुंज की स्थापना की एवं वहीं निवास करने लगीं। ये आचार-संहिता एवं अपरस की तो मानो सम्राट् थीं। श्री गुरुदेव द्वारा प्रवर्तित महावाणी-वसंत-उत्सव का आयोजन कर ये रसिक समाज की सम्यक् सेवा करती थीं। ये अत्यन्त दयावान एवं दीन-हीनों की सेवा करने वाली थीं।

ये इष्टदेव में अटूट आस्था रखती थीं। एक बार इनके शरीर में फोड़े-फुन्सी हो गये और उनमें पीब पड़ गया। डाक्टर द्वारा निदान करने पर, मशीनों द्वारा जब देखा गया तो पता चला कि समस्त शरीर में छिद्र ही छिद्र हो गये हैं। डाक्टर एवं भक्तों ने इलाज के लिए कहा तो बाईजी ने दवा लेने से इनकार कर दिया। तब भक्तों ने कहा, 'बाई जी! आपको ऐसा रोग है कि आपकी सेवा के लिए कोई आपके पास बैठना भी स्वीकार न करेगा।' तब बाईजी ने कहा, 'कोई मेरे पास न बैठे, किन्तु मेरे गुरुदेव ने मुझे तो अपनी गोद में बिठाया है, वे तो मुझे न उतारेंगे।' यह कह कर ये आश्रम लौट आईं। कुछ दिनोपरान्त इनका शरीर इतना स्वस्थ हो गया कि ऐसा लगता था मानो कभी कोई रोग ही न हुआ हो।

एक दिन इनके बुलाने पर मथुरा से रजिस्ट्रार साहब इनके पास आये। इनके पास आने से पूर्व वे अपनी पत्नी तथा बच्चों को मन्दिर में छोड़ आये। देखते ही बाईजी ने कहा, 'पत्नी और बच्चों को क्यों नहीं लाये?' रजिस्ट्रार साहब आश्चर्यचकित रह गये और तुरन्त पत्नी-बच्चों को लेकर बाईजी के दर्शनार्थ आये।

जब इनका अन्तिम समय आया तो इनको श्री प्रिया-प्रियतम, गुरुदेव सभी ने दर्शन दिया। श्री जुगलकिशोर पूड़ी वाले की धर्मपत्नी ने इनसे पूछा — 'बाईजी! प्रिया-प्रियतम कहाँ हैं? सखी परिकर कहाँ हैं?' तब बाईजी की कृपा से उन्हें भी प्रिया-प्रियतम एवं परिकर का दर्शन लाभ हुआ। तदुपरान्त श्री बाईजी ने यह कह कर कि 'अहा! मेरे गुरुदेव अब मुझे लेने आये हैं' नित्य निकुंज धाम में प्रवेश कर गईं। यह आश्विन शुक्ला एकादशी का दिन था। इनके विषय में कहा गया है—

श्यामा श्याम अनन्य भजन गुरु पद अनुरागी।
अपरस अधिक विवेक कबहुँ काषय न लागी॥
जो जन आवे शरण ताहि सुन्दर सिख देवैं।
नित्य नियम बिन किये अन्न जल कबहुँ न लेवैं॥
दस दिवसो उत्सव वसंत, सेवा सन्तन करत हित।
वसत नवेली बाईजी, श्री वृन्दावन धाम नित॥

प्रे० ना० श्री०

नवेली शरण

श्री नवेलीशरण का 'श्री हित अनन्य रसिकावली' में परिचय इन शब्दों में दिया गया है—

राज विभव ज्यौं धूरि तजी बन धूरि जु सेई।
प्रभु सम संत लड़ाए इहि कलि इन सम येई।
अपने इष्ट प्रसाद लैंहि कछु और न परसैं।
इष्ट रूप दृग दरसैं सरसैं हिय अति हरषैं॥

जै श्री किशोरीलाल गुरु कृपा बल राजे रसिका-
भरन जू ॥
नवल नवेली छबि छके रसिक नवेली शरण जू ॥

इनका जन्म सन् १९४८ में टोड़ी-फतेहपुर के राज-परिवार में हुआ था। लाड़-प्यार में पलने के कारण इनकी स्कूली शिक्षा साधारण ही हो पाई। हाँ, भगवदोन्मुख होने की शिक्षा इन्हें अपनी बुआजी से मिलती रही। टोड़ी स्टेट के राजा के कोई सन्तान नहीं थी। अतः उन्होंने इन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित करने का निश्चय किया। जब इस बात का समाचार इन्हें ज्ञात हुआ तो ये इस भावी आशका से कि अब मैं माया जाल में फँस जाऊँगा और भगवद् भजन नहीं कर सकूँगा, बहुत ही दुःखी हुए। अब ये दिन-रात इस चिन्ता में रहने लगे कि इस जाल से कैसे बचा जाय? बहुत सोचने के पश्चात् इन्होंने यही निश्चय किया कि गले में फाँसी लगने से पूर्व यहाँ से भाग ही चलना चाहिए और ये एक रात घर से भाग खड़े हुए तथा सीधे श्रीधाम वृन्दावन आ गये।

इस समय इनकी आयु लगभग १६--१७ वर्ष की थी। वृन्दावन में आकर ये श्री राधावल्लभलालजी के मन्दिर में गये, दर्शन किया और फिर स्वयं का मन्दिर के सेवाधिकारी गोस्वामी श्री किशोरीलालजी के श्री चरणों में समर्पित कर दिया। गोस्वामीजी के दर्शन और सुमधुर उपदेशों को सुनने का सौभाग्य इन्हें टोड़ी में ही प्राप्त हो चुका था। उन्होंने इनकी आन्तरिक आकांक्षा देखकर इन्हें श्री हित सम्प्रदाय की मंत्र-दीक्षा प्रदान कर कहा कि "तुम हमारे यहाँ के परम रसिक श्री संतदासजी की सेवा में तन-मन से लग जाओ। पूर्व रूप से उनके आज्ञावर्ती बनकर रसिक साधना में अपने जीवन को लगा दो। तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा।"

इन्होंने किया भी वैसा ही। रसिकवर सन्तदास जी ने गोस्वामी जी को विशेष प्रेरणा पाकर इन्हें सन्त वेष प्रदान कर दिया और नवल सिंह से 'नवेली शरण' बना दिया। इसके बाद अपने तन-मन के सम्पूर्ण सुखों का विस्मरण करके ये यथोचित रूप से साधना में लग गये।

ये नित्यप्रति प्रातः उठकर श्रीहित वाणियों का पाठ करते, तत्पश्चात् श्री यमुनाजी जाकर स्नान करके श्रीजी की सेवा के लिए यमुना-जल का घट भरकर लाया करते थे। फिर गुरु-मत्र का जाप करके श्री जी की पाक सेवा में लग जाते। श्रीजी के राजभोग होने के पश्चात् साधुओं को प्रसाद पवाते और उनके जूठे बर्तन माँजकर तब स्वयं प्रसाद पाते थे। इस प्रकार ये श्री जी एवं सन्तों की सेवा नित्य करते थे? सन्ध्या तीन बजे से श्री हित सन्तदास जी रसिक वाणियों का पाठ और प्रवचन किया करते थे जिसे ये पूर्ण मनोयोग से सुनते और कथा समाप्त होने पर कथा-श्रवण काल में मन में उठे प्रश्नों का बाबाजो से समाधान किया करते थे। इस प्रकार श्री हित हरिवंश नामवाणी के निरन्तर पाठ-स्मरण और मनन करते रहने से इन्हें इष्ट वस्तु प्राप्त हो गई।

श्री संतदासजी ने भी इनकी इस अनुपम उपलब्धि से प्रसन्न होकर अपने निकुंज गमन की पूर्व-बेला में आशीर्वाद के साथ-साथ आज्ञा दी कि "तुम श्रीहित कृपा से उस धन के धनी हो गये हो कि अब तुम्हें तीन लोक की कोई भी मायिक निधि आकर्षित नहीं कर सकेगी। तुम इसी प्रकार से श्री राधावल्लभलालजी की सेवा और उनके चरण-कमल के संगियों की सेवा करते रहना।" गुरुवर की इस आज्ञा का पालन नवेली शरणजी ने जीवन पर्यन्त किया। अब ये मदन टेर पर निवास करने लगे थे। नगर से भिक्षा प्राप्त करके श्रीजो की पाक सेवा करते और साधुओं को प्रसाद पवाकर स्वयं भी प्रसाद लिया करते थे। थोड़े ही दिनों में इनके स्थान पर विशाल रूप में साधु-सेवा होने लगी। सन्तजन जिस वस्तु का प्रसाद पाने की इच्छा प्रकट किया करते थे, दूसरे दिन उसी वस्तु का भोग लगाकर ये उन्हें संतुष्ट करते थे।

इस प्रकार की वैभव मूलक साधु सेवा देखकर एक रात कुछ चोर इनके स्थान पर आ गये। ये उस समय भी बैठे हुए श्री हरिवंश-नाम-स्मरण कर रहे थे। इन्होंने चोरों को दूर से ही देखकर सादर बुलाया और कहा—"भैया ! ले जाओ जो कुछ और जितना ले जा सकते हो", और आप निकलकर बाहर खड़े हो गये। चोरों ने कुछ भी नहीं छोड़ा, जो कुछ मिला-सब उठा ले गये। किन्तु दो-चार दिनों में ही वे सारी वस्तुयें स्वतः एकत्र हो गयीं और फिर सन्तसेवा उसी प्रकार से चलने लगी। ऐसा एक बार नहीं, कई बार हुआ। नवेली शरणजी ने सोचा कि इस प्रकार की सेवा सामग्री एकत्रित करने में प्रभु को लगना पड़ता है, यह सेवक धर्म के विपरीत है। यह सोच कर इन्होंने स्थान को ही त्याग दिया और एकान्त में भजन-भावना में रत हो गये। अब इनका सारा समय श्री हितवाणी-पाठ और भजन-भावना में ही व्यतीत होने लगा।

वृद्धावस्था के कारण जब इनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया तो निवास-स्थान पुराना कालीदह से श्री राधावल्लभ लालजी के दर्शनार्थ मन्दिर आने में इन्हें कष्ट होने लगा। यह देखकर रसिकों ने इनसे आग्रह किया कि अब आप श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में ही निवास करें। इन्होंने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और मन्दिर में ही निवास करने लगे। अब ये प्रायः मौन रहने लगे थे। एक दिन श्रीजी की मंगला आरती की घरियारी बजते ही ये श्रीजी के सुरतान्त शोभा से समलंकृत मंगल दर्शन के लिए पंचभौतिक शरीर का परित्याग कर नित्य श्रीराधा किंकरी वपु से दिव्यधाम में पहुँच गये। यह घटना संवत् १९२३ की है।

श्या० वि० खं०

नवेलीशरण (बड़े मुखियाजी)

हरिदासी-संप्रदाय के सन्तों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आसपास बाबा नवेलीशरणजी का जन्म किसी संभ्रान्त परिवार में हुआ था। प्रारंभ में इन्हें श्री गौड़ेश्वर-सम्प्रदाय के श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी के परम्परानुवर्ती किसी गोस्वामी से वैष्णवी दीक्षा प्राप्त हुई थी। एकबार इन्होंने बरसाने की यात्रा की तो गह्वरवन के ऊपर पहाड़ी पर मोरकुटी में हरिदासी-संप्रदाय के विरक्त सन्त बाबा स्वामिनीशरणजी से भेंट हुई। उनके सत्संग से ये इतने अभिभूत हो गये कि मोरकुटी पर कई वर्ष उनकी सन्निधि में रहे और जब मोरकुटी से नीचे आये तो हरिदासी-संप्रदाय के विरक्त संतों की भाँति अग-रज से संश्लिष्ट थी एवं लकुटी तथा करवा इनके साथ था।

इसी वेष में ये श्री वृन्दावन आये तो कुछ लोगों ने आलोचनात्मक भाव से इनसे कहा—"बाबा गौड़ेश्वर संप्रदाय में दीक्षित होकर आपने हरिदासी-सम्प्रदाय का वेष लेकर उचित नहीं किया।" सरल स्वभाव नवेलीदासजी यह सुन कर वहाँ से सीधे अपने राधारमणीय गुरुजी के पास गये और उनसे कहा, "आपकी क्या आज्ञा है, मैंने तो बाबा स्वामिनीशरण से विरक्त वेश ले लिया है।" प्रेम तत्व के मर्मज्ञ गोस्वामीजी ने सान्त्वना देते हुये इनसे कहा, 'बाबा वृन्दावनीय उपासना के परम रसिक चूड़ामणि श्री स्वामी हरिदासजी महाराज की कृपा आपने प्राप्त कर ली है, यह तो बड़े सौभाग्य की बात है। आप मेरे यहाँ से भी नियमितरूप से मधुकरी लेने आया करें, यह मेरा अनुरोध है।"

बाबा नवेलीशरणजी के संबंध में ब्रज के प्रख्यात रसिक सन्त बाबा प्रियाशरणजी अपनी कथा में सुनाया करते थे कि सन् १९१० के लगभग कश्मीर से आकर जब ये बाबा रामकृष्णदासजी की सन्निधि में रहने लगे तो श्री रामकृष्णदासजी ने इनको एक सिद्ध कोटि का रसिक सन्त कहकर प्रकीर्तित किया था। श्री प्रियाशरणजी दिन हो अथवा रात्रि का कोई प्रहर हो, जब भी नवेलीशरणजी के समीप जाते तो भावना में उन्हें तदाकार पाते। एकबार श्री प्रियाशरणजी ने यह जिज्ञासा प्रकट की, 'बाबा प्रिया-प्रियतम को कछु

अती-पती तौ चलै नाँय।' श्री नवेलीशरणजी आश्चर्य-चकित होकर कहने लगे —"लाला तू यह कहा कहै — 'विहारिन संग निरन्तर मेरे -" अष्टाचार्यवाणी का यह तुक बोलकर ये भाव-विभोर हो गये।

हरिदासी-सम्प्रदाय के प्रमुख आश्रम टटिया स्थान के समाजगान का संचालन करने के कारण 'बड़े मुखिया जी' कहकर लोग इनको संबोधित करते थे। इनके समय में समाज गायन में सम्मिलित होने वाले अन्य सम्प्रदाय के सन्तों का यह कहना था कि रज से साक्षीवट ये सन्त जब समाज में बैठकर पद-गान करते थे तो ऐसे तदाकार हो जाते थे कि दर्शनार्थियों को ऐसा प्रतीत होता था कि मानों मिट्टी की पुतली बगैर हिले-डुले बैठी हो। बाबा नवेलीशरणजी के समय तक टटिया स्थान के समाज गायन में सभी को वही दिव्यानन्द प्राप्त होता था जो संप्रदाय के सातवें पीठाधिपति श्री स्वामी ललितकिशोरीदेवजी के काल में उपलब्ध होता था—

बाजत है साज मोहि रह्यौ है समाज
चित्रवत सब लसैं लह्यौ प्रेम रंग छटकै।

ये सन् १९२२ के आसपास नित्य निकुंज-लीला में प्रविष्ट हुए।

श० बि० गो०

नागरवर (गो०)

गोस्वामी नागवर जी की भक्तिभावना का परिचय 'रसिक अनन्य परचावली' में इन शब्दों में दिया गया हैं :—

नवल जुगल दुलराय नवल सुख नैंनन देख्यौ।
नवलहि वृन्दा विपिन वास अतुलित करि लेख्यौ॥
नवल पत्र फल फूल नवल वन जेती संपति।
नवलहि मोर चकोर नवल वन राजत दम्पति॥
नव रास रंग वरन्यौ नवल दृग चकोर करि रस पियौ।
श्री नागर नरवर सुभट नवल नेह भींज्यौ हियौ॥

ये गो. वनचन्दजी के चतुर्थ पुत्र थे। इनका जन्म क्वार पूर्णिमा को वृन्दावन में हुआ था—

श्री नागर जनमत आनन्द।
पून्यौ सरद क्वार सुख कन्द॥
चार्यौ भाई प्रगटे पून्यों।
वर्ष अरु मास नाहिं बढ़ि ऊन्यौ॥

—वाणी जयकृष्णजी

इस जन्म तिथि के साथ श्री जयकृष्णजी ने इनके जन्म संवत् का उल्लेख नहीं किया है। इनके सबसे बड़े भाई गो० सुन्दरवरजी का जन्म काल सं० १६०९ है। इस आधार पर इनका जन्म सं० १६२४ के लगभग स्थिर होता है। सबसे छोटे पुत्र होने के कारण इन्हें अपने पिता का सर्वाधिक स्नेह प्राप्त हुआ था। फलतः शिक्षा-दीक्षा भी इन्हें विशिष्ट रूप से प्राप्त हुई थी। इन्हें वृन्दावन रसोपासना सम्बन्धी वाणी ग्रन्थों का अध्ययन तो कराया ही गया था, इसके साथ ही भक्ति-शास्त्रों के गम्भीर अनुशीलन की व्यवस्था कराकर सर्व-शास्त्र निष्णात बना दिया गया था। यही कारण है कि रसिक मण्डली के साथ-साथ ये विद्वद्जनों के भी समादरणीय बने हुए थे। 'कुञ्ज केलि दम्पति तहाँ की करत खवासी'—श्री हिताचार्य चरण की यह अमूल्य देन इन्हें बाल्यकाल से ही पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिल गई थी। इसीलिए यह शैशव और कौमार अवस्था में भी अन्य बालकों के साथ खेल न खेलकर इष्ट की सेवा—शृङ्गार और झूला होली-रास आदि उत्सवों को ही खेलते थे। इनकी यह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। वयस्क होने पर इनका अधिकाधिक समय श्री राधावल्लभलाल जी की सेवा में ही व्यतीत होने लगा। ये अपने हाथों से श्रीराधा वल्लभलाल जी का नख-शिख शृङ्गार करते, फिर घण्टों खड़े-खड़े उनकी रूप माधुरी का पान किया करते थे। राजभोग की पाक सेवा तो जैसे इनके भाग में ही पड़ी हो। राज-भोग अर्पण करने के पश्चात् ये आरती करते। अपने हाथों से शैया रचते, शयन कराते और चरण सम्वाहन

करके तोष का अनुभव करते थे। चाचा हित वृन्दावन दासजी ने इनका कीर्त्ति-गान करते हुए लिखा है—

साखा श्री वनचन्द की चौथी वरनौं और।
श्रीनागर आगर गुननि रसिक जनन सिरमौर॥
श्री भागौत अलाप नित चित नित सांवल गौर।
लता भवन कौ ध्यान उर इष्ट रमैं जिंहि ठौर॥
अति सुन्दर जु सुसील अति बात लाड़ कौ ऐन।
अभी श्रवैं जैसैं जु ससि अस मुख निसरत बैन॥
रविजा तट संघट्ट जु नित रहैं साधु जन लार।
श्री राधावल्लभ लाल कौ सुहथ रचैं शृंगार॥
राजभोग सुख विस्तरैं नाना पाक बनाइ।
आरति करि सिज्या रचैं भींजे रहैं रस भाइ॥
—हित भक्ति कल्पतरु

प्रकट सेवा से अवकाश प्राप्त करने पर ये वृन्दावन के निकुंजों में विलास परायण नव युगल को नित्य नूतन रस-केलियों की मानसी भावना किया करते थे। उन रस-केलियों से सम्पन्न श्रीहित दम्पति के रसपेशल रूप की माधुरी से इनका हृदय रस-परिप्लुत हो जाया करता था। रसिकों द्वारा सचेत किये जाने और प्रार्थना करने पर ये उन्हीं रस लीलाओं का गान करके उनका हृदय भी अभिसिंचित किया करते थे। **"नव रास रंग वरन्यौ नवल दृग चकोर करि रस पियौ"**—चाचाजी की इस पंक्ति के आधार पर यह तो निर्विवाद ही है कि इन्होंने नित्य रास-विलास की पद-रचनाएँ भी अवश्य की हैं, किन्तु अभी तक इनका एक भी पद देखने में नहीं आया।

श्या० वि० ख०

नागर/हरिदास

इन दोनों रसिकों के ऐहिक जीवन से सम्बन्धित तथ्य सर्वथा अज्ञात हैं। इनका नामोल्लेख श्रीहित ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्त नामावली' में इस प्रकार किया है—

नागर अरु हरिदास मिलि, सेये नित हरिदास।
वृन्दावन पायौ दुहुँनि, पूजी मन की आस॥

उक्त दोहे से स्पष्ट है कि ये दोनों ही सन्त-सेवा-परायण थे। इन दोनों ने वृन्दावन प्राप्त किया था अर्थात् इनका अन्तर्धान धाम वृन्दावन में ही हुआ था और जैसी कि कहावत है कि **"वृन्दावन पायौ तौं पाइबौ कहा रह्यौ"** के अनुसार इन्होंने राधिका रति निकुंज मण्डली का अखण्ड साहचर्य प्राप्त कर लिया था।

यद्यपि श्रीहित ध्रुवदासजी के परवर्ती किसी भी भक्त चरित लेखक ने इनके नाम का उल्लेख अपने चरित्र-ग्रन्थ में नहीं किया है, किन्तु श्री गोविन्द अलि जी ने इनका उल्लेख श्री हिताचार्य के शिष्यों में बड़े आदर के साथ किया है। उन्होंने लिखा है कि नागर और हरिदासजी के मन को सम्पूर्ण आशायें श्री व्यास कुमार गो० हित हरिवंशचन्द्र जू ने पूरी की थीं। उनकी अहेतुकी कृपा से ये श्री वृन्दावन रस के अनन्य रसिक बन गये थे और अहर्निशि मानसी भावना द्वारा यमुना तटवर्ती वृन्दावन में अनन्त सहचरियों से संसेवित श्री हितललना लाल की सेवा किया करते थे—

बालकृष्ण मुरलीधरन नागर अरु हरिदास।
इन सबकी पुजई सकल व्यास सुवन मन आस॥
व्यास सुवन मन आस रंग मेधा बड़भागी।
वृन्दा विपिन विहार युगल रस के अनुरागी॥
कीनी सेवा मानसी रिझये ललना लाल।
हंस सुता कौ तीर जहँ सहचरि नव नव बाल॥
— भक्त गाथा

गो० हित हरिवंशजी के शिष्य होने के आधार पर इन दोनों रसिकों का आनुमानिक उपस्थिति काल सं० १५५० से सं० १६५० के मध्य में सुस्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

नागरीदास (प्रथम)

श्री नागरीदास (महाराज सावंत सिंह) कृष्णगढ़ के महाराजा राजसिंह के सुपुत्र थे। इनका जन्म सं० १७५६ पौष कृष्ण १२ को हुआ था। पिता

जी ने इनका दीक्षा संस्कार श्री निम्बार्क पीठाधिपति श्री वृन्दावनदेवाचार्यजी द्वारा सम्पन्न करवाया। श्री वृन्दावनदेवाचार्यजी ही श्री नागरीदासजी के दीक्षागुरु एवं संगीतगुरु भी थे। ज्येष्ठ शुक्ला ११ वि० सं० १७७७ को इनका पाणिग्रहण संस्कार भानगढ़ नरेश श्री यशवन्तसिंहजी की राजकुमारी के साथ सम्पन्न हुआ। १७८३ वि० में इनके प्रथम पुत्र राजकुमार श्री सरदारसिंहजी का जन्म हुआ। सं० १८०५ वि० वैशाख शुक्ल ५ को, ये रार्जसिहासन पर विराजमान हुए। इनके तीन भ्राता और थे जिनमें सुखसिंह एवं फतेहसिंह बड़े तथा बहादुरसिंह छोटे थे। इनकी छोटी बहन सुन्दर कुँवरि भी उच्च-कोटि की भक्त कवयित्री थीं।

इनके पिता महराज राजसिंह का सं० १८०४ में देहान्त हो गया। उस समय ये दिल्ली दरबार में थे। बादशाह अहमदशाह ने वहीं इन्हें कृष्णगढ़ राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। इसके बाद जब ये कृष्णगढ़ आये तो अपने छोटे भाई बहादुरसिंह को सिंहासन पर बैठे पाया। यह देखकर ये ब्रज चले आये और मरहठों की सहायता से कृष्णगढ़ पर आक्रमण करके बहादुरसिंह को अपदस्थ कर सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इस गृह कलह तथा तज्जनित भीषण रक्तपात से इनके मन में तीव्र विरक्ति उत्पन्न हो गई और अपने पुत्र सरदारसिंह को राज्यभार सौंप कर इन्होंने आश्विन शुक्ल १०, सं० १८१४ को वृन्दावन की ओर प्रस्थान कर दिया। इस परिस्थिति का विवरण इन्होंने स्वयं इन शब्दों में किया है—

जहाँ कलह तहँ सुख नहीं,
कलह दुखन को मूल।
सबै कलह इक राज में,
राज कलह को मूल॥

कहा भयो नृप हू भये,
ढोवत जग बेगार।
लेत न सुख हरि भक्ति को,
सकल सुखन को सार॥

राजकार्य करते हुए भी इनका मन वृन्दावनवास के लिए लालायित रहता था। इन्हें इस बात की निरन्तर चिन्ता रहती थी कि सब साधनों से सम्पन्न होते हुए भी मैं वृन्दावन के दर्शन नहीं कर पा रहा हूँ। मुझसे तो ये कुत्ते, कौवे, बंदर, पशु-पक्षी ही अच्छे हैं, जो वृन्दावनवास तो कर रहे हैं—

धन धन वृन्दावन के जन्त।
छोटे-मोटे कहाँ लगि बरणों,
जिनकी जात अनन्त॥

इनकी यही लालसा थी कि मैं कब वृन्दावन की रज का स्पर्श कर उसमें लोटूँ और उसे मुख द्वारा अपने अन्तः करण में प्रवेश कराऊँ —

कब वृन्दावन धरनि में,
चरन परैंगे जाय।
लोट धूरि धरि शीश पर,
कछु मुखहू मैं पाय॥

ये श्री युगलकिशोर को लता-पत्रों की ओट में देखते ही रहना चाहते थे—

कबै झुकत मो ओर कौ,
अैहैं मद गज चाल।
गरबाँहीं दीने दोऊ,
प्रिया नवल नन्दलाल॥

युवावस्था से ही जाग्रत हुई इस भावना ने अन्ततः अपना रंग दिखा ही दिया। छोटे भाई बहादुरसिंहजी के साथ उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मतभेद ने इनके गृह त्याग का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अन्ततः गुरुदेव श्री वृन्दावनदेवचार्यजी की आज्ञानुसार इन्होंने वृन्दावन धाम को प्रस्थान कर दिया। ये जब वृन्दावन पहुँचे और वहाँ इष्टयुगल का दर्शन किया तो इन्हें अपनी बीती हुई आयु की निरर्थकता पर बड़ा ही खेद हुआ—

किते दिन बिन वृन्दावन खोये।
यों ही वृथा गये ते अब लौं,

राजस रंग समोये ।
छाँड़ि पुलिन फूलन की सज्जा,
सूल सरनि पर सोये ॥
भींजे रसिक अनन्य न दरसे,
विमुखनि के मुख जोये ॥
हरि विहार की ठौर रहे नहिं,
अति अभाग्य बल खोये ।
कलह सराय बसाय भिठारी,
माया रांड बिगोये ॥
इक रस ह्यांके सुख तजि कैं,
ह्याँ कभू हँसे कभु रोये ।
कियो न अपनौ काज पराये,
भार शीश पर ढोये ॥
पायो नहिं आनन्द लेस मैं,
सबै देश टकटोये ।
नागरिदास बसे कुञ्जनि मैं,
जब सब विधि सुख भोये ॥

यहाँ आकर इन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि अब मुझे श्यामा-श्याम अवश्य ही दर्शन देंगे। अब मुझे अन्य तीर्थों में जाने की आवश्यकता नहीं—

अब तो यहै बात मन मानी ।
छाँड़ौं नहीं श्याम-श्यामा की,
बृन्दावन रजधानी ॥

हरि भक्तनि मैं रक्तति ह्वै हौं,
निन्दा मुख अभिमानी ।
नागरिया नागर कर गहिहैं,
रहिहैं जक्त कहानी ॥

ये अब पूर्णतया आश्वस्त हो गये कि मनुष्य देह धारण करने का सच्चा फल मिलना अवश्यंभावी है—

देह धरेंको अब फल पायो ।
बीते बहुत बरस असमंजस
माया नाच नचायो ।
थोहर बनते मोहि काढ़ि थिर
वृन्दा विपिन बसायो ।
कौन कृपा अनयास भई
हौं निज मन हेरि हिरायो ।
निसिदिन पहर घरी छिन छिन
नित आनन्द रहै सरसायो ।
नागरीदास दास ह्वैके जो
इहाँ न आयो पछितायो ॥

कहते हैं कि वृन्दावन पहुँचने पर इन्हें राजा जानकर वहाँ का भक्त समुदाय इनसे मिलने नहीं आया। किन्तु, इन्होंने जब यह कहलवाया कि नागरीदास आये हैं तब भक्त जन इनसे सहर्ष मिले। इसका इन्होंने स्वयं उल्लेख किया है—

सुनि व्यवहारिक नाम मो, ठाडे दूरि उदास ।
दौरि मिले भरि नैन पुनि, सुनत नागरी दास ॥

इक मिलत भुजन भरि दौर दौर ।
इक टेरि बुलावत ठौर ठौर ॥

इन्होंने सुखधाम वृन्दावन के अखण्डवास का व्रत ले लिया। ये स्वयं कहते हैं—

हम ब्रज सुखी ब्रज के जीव ।
प्रान, तन, मन, नैन सरबस राधिका को पीव ॥

कहाँ आनन्द मुक्ति में यह कहाँ मृदु मुसकान ।
कहाँ ललित निकुंज लीला मुरलिका कल गान ॥

कहाँ पूरन सरद रजनी जोन्ह जगमग जोत ।
कहाँ नूपुर बीन धुनि मिलि रासमण्डल होत ॥

कहाँ पाँति कदम्ब की झुकि रही जमुना बीच ।
कहाँ रंग बिहार फागुन मचत केसरि कीच ॥

कहाँ श्रवनन कीरतन जगमगनि दसधा रंग ।
कंठ गद-गद रोम हरषन प्रेम पुलकित अंग ॥

'दासनागरि' सबहि सुख
अरु मुक्ति आदि अपार ।
सुनहुं ब्रज बसि श्रवन में
ब्रजवासिनन की गार ॥

इन्होंने वि० सं० १७८० में 'मनोरथ मंजरी' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह वृन्दावन वास से पूर्व की

श्री परमानन्ददास (पृ० ७३४)

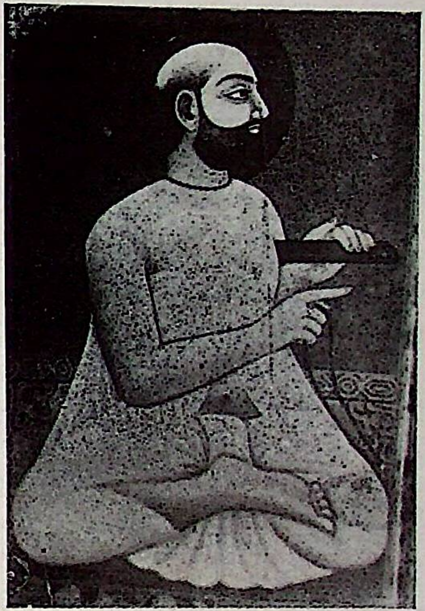

श्री परशुरामदेवाचार्य (पृ० ७३७)

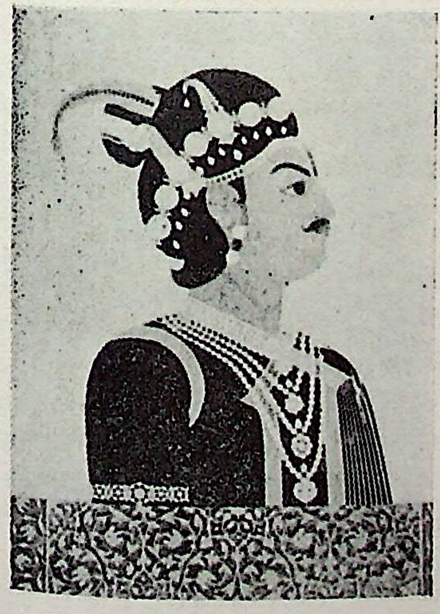

महाराजा प्रतापसिंह 'व्रजनिधि' (पृ० ७६०)

श्री प्रियादास (पृ० ७८०)

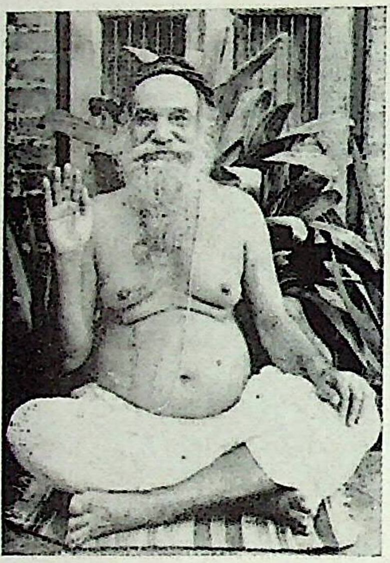

श्री प्रेमदास (काठिया बाबा) (पृ० ७९८)

गोस्वामी ब्रजजीवनलाल

बलदेवजी (पृ० ८१६)

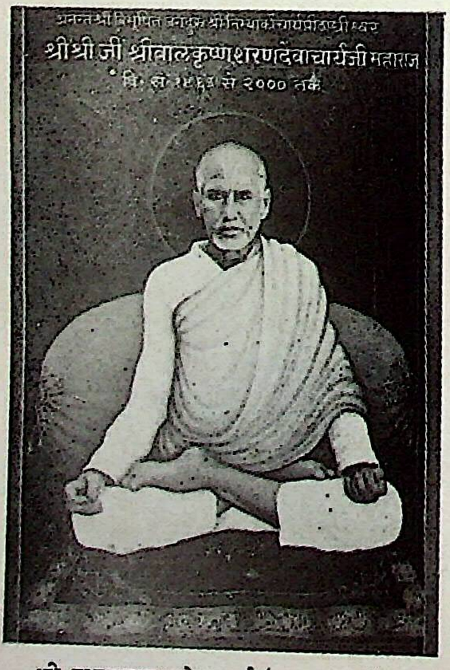
अनन्तश्री विभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर
श्रीश्री जी श्रीबालकृष्णशरणदेवाचार्यजी महाराज
वि. सं. १९६६ से २००० तक

श्री बालकृष्णशरणदेवाचार्य (पृ० ८३७)

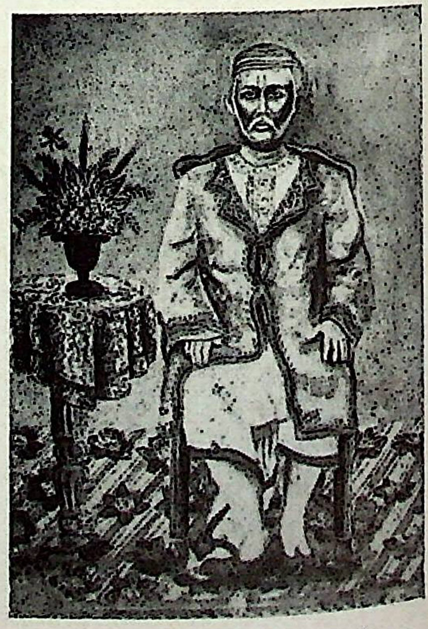

गोस्वामी ब्रजजीवनलाल (पृ० ८६६)

रचना है, जिसमें व्याकुल मन को वृन्दावन-वास की उत्कण्ठा साफ झलकती है। इनकी समस्त कृतियाँ नागर समुच्चय नामक वाणी-संग्रह में संगृहीत हैं।

इनकी वृन्दावन धाम में अगाध निष्ठा थी। वृन्दावन धाम से इनको क्षण भर का भी वियोग सहन नहीं था। एक बार की बात है कि नागरीदासजी वृन्दावन के उस पार जा पहुँचे। जब लौटकर यमुनाजी के किनारे आये तो यमुना पार करने का कोई साधन न था। अब क्या करें ? वृन्दावन का वियोग इतना असह्य हो गया कि इन्होंने किसी भी प्रकार की चिन्ता न कर यमुनाजी में छलाँग लगा दी और तैरकर यमुना पार कर अपने प्रिय धाम वृन्दावन से आ मिले—

देख्यो श्रीवृन्दाबिपिन पार।
बिच बहति महागम्भीर धार॥
नहिं नाव नाहि कछु और दाँव।
हे दई ! कहा कीजै उपाव॥
रहे बार लगन की लगै लाज।
गए पारहि पूरे सकल काज॥
यह चित्त माँहि करिकै बिचार।
पर कूदि जलमध्य धार॥

बाल्यावस्था में एक बार श्री सावन्तसिंहजो अपने पिता श्री राजसिंह जी के साथ दिल्ली दरबार में गये। उस समय इनकी आयु लगभग दस वर्ष की थी। वहाँ बादशाह का एक हाथी बिगड़ गया और वह महावतों के भो वश में न आया। वह बिगड़ा हाथी बालक सावन्तसिंह की तरफ दौड़ता चला आ रहा था, लोगों ने इन्हें हाथी के मार्ग से हटने के लिए कहा, किन्तु ये न हटे. जब हाथी इनके पास आया, तो इन्होंने तलवार का ऐसा वार किया कि हाथी पलटकर भाग खड़ा हुआ। यह इनके साहस और वीरता का प्रथम प्रदर्शन था। तदुपरान्त सं० १७६९ में १३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने अकेले ही बूंदी के हाड़ा जैतसिंह को समाप्त कर दिया था।

वि० सं० १७७१ की बात है। एक बार महाराज राजसिंह जी के साथ स्योपुर के राजा राजसिंह, कोटा नरेश भीमसिंह, महाराजा गोपाल सिंह भदौरिया आदि राज सभा में विराजमान थे। राजकुँवर सावन्त सिंह भी वहाँ बैठे थे। उसी समय एक विषधर नाग कहीं से आ गया, राजकुमार की दृष्टि उस पर पड़ी। सभा में किसी प्रकार का व्यवधान न हो, अतः उसका फन हाथ से मसल कर ये उसे बाहर फेंक आये। इस प्रकार कुँवर सावन्त सिंह जी (नागरीदास इनका गुरु प्रदत्त एवं वैराग्य वेष धारण करने के उपरान्त का नाम है।) बाल्यावस्था से ही पराक्रमी एवं शूरवीर थे।

सम्बत् १७८९ की बात है। सलेमाबाद के नवनीत पुरा नामक गाँव के गोचर वन में एक हिंसक एवं भयंकर सिंह ने उपद्रव मचा रखा था। यह वन ही आचार्यपीठ के गायों का चरागाह एवं ईंधन का साधन था। यहाँ शिकार आदि हिंसा कार्य वर्जित थे। आचार्य पीठ के पशु एवं साधुजन सिंह से अत्यंत त्रस्त हो गये। आचार्य ने नागरीदासजी को सिंह से द्वन्द्व-युद्ध का आदेश दिया। गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य कर नागरीदासजी ने द्वन्द्वयुद्ध द्वारा सिंह को समाप्त कर दिया। सलेमाबाद और रूपनगर में इस विजय का महोत्सव मनाया गया। इस घटना से इनके गुरुदेव एवं पिता महाराज श्रीराजसिंह जी की खुशी का ठिकाना न रहा। उन्होंने वीर पुत्र को साधुवाद दिया एवं इसी प्रकार अपने कुल की मर्यादा के पालन करते रहने का आदेश दिया। इस घटना पर कई कवियों ने वीररस युक्त काव्य रचनायें की। नरवरगढ़ के राय कवि उदयनाथ की 'सिंह का सिकार' शीर्षक निम्नांकित रचना में इसका वर्णन है।

(छप्पय)

थाँन सलेमाबाद माँझ ऋषिराज सुराजैं।
श्री वृन्दावन नाम शीश सरवेशु विराजैं॥
महाशक्ति दृढ़ नेम प्रेम नीकें अवगाहैं॥
अफ भर नर जे होय ताहि दै भक्ति सराहैं॥
जे गहैं आसरों आय कैं,
करत महा उज्ज्वल विमल।

कहैं राय कवित जै जयति
जै परशुराम गादी अटल ॥

दोहा

तिन कै गायन जुत्थ में,
एक सिंह दुःख देत।
उननि कहाये वचन ये,
कुंवर क्यों न जस लेत ॥
करो बरन की रीति अब,
तुम छत्री छिति पाल।
महादुष्ट मारो इहै,
केहरि अति विकराल ॥
सुनत बचन मन मोद बढ़ि,
उमग्यो चित्त उछाह।
बजि ढुंदुभी सावन्त सज्यो,
चोख तीख की चाह ॥
नट नागर नागरि सहित,
लख्यो नागरीदास।
ह्वै सहाय दीनी विजै,
कुंवर मँग्यो वर हास ॥

अन्त में श्री नागरीदासजी वृन्दावन वास कर, विरक्त वेश धारण कर सत्संग, कथावार्त्ता, साहित्य-सृजन, नाम ध्वनि एवं आराध्ययुगल के गुणगान में तल्लीन रहने लगे। इस प्रकार लौकिक आदर्श के साथ ही शरणागत धर्म का पालन करते हुए ६४ वर्ष की अवस्था में वि० सं० १८२१ भाद्रपद शुक्ल ५ को इन्होंने अपने पञ्चभौतिक शरीर का परित्याग कर श्री श्यामा-श्याम की नित्य निकुञ्ज लीला में प्रवेश किया।

नागरीदासजी का कविताकाल लगभग ४० वर्षों (सं० १७८०-१८१९) में विस्तृत है। इस बीच इन्होंने प्रचुर मात्रा में भक्तिपूर्ण ग्रन्थों की रचनाकर हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की। मातृभाषा राजस्थानी के अतिरिक्त ब्रजभाषा, पंजाबी और फारसी में भी इनकी अच्छी गति थी। अब तक छोटी-बड़ी कुल मिला कर इनकी निम्नांकित कृतियाँ प्रकाश में आई हैं—

मनोरथ मंजरी (सं० १७८०), रसिक रत्नावली (सं० १७८२), विहार चन्द्रिका (सं० १७८८), निकुंज विलास (सं० १७९४), कलि वैराग्य बल्लरी (सं० १७९५), पारायण विधि प्रकाश (सं० १७९९), भक्तिसार (सं० १७९९), ब्रजसार (सं० १७९९), गोपीप्रेम प्रकाश (सं० १८००), भक्तिमग दीपिका (सं० १८०२), जुगलभक्ति विनोद (सं० १८०८), फाग विहार (सं० १८०८), वन विनोद (सं० १८०९), तीर्थानन्द (सं० १८१०), सिंगार सार, पद प्रसंगमाला, ब्रज वैकुण्ठ तुला, भोरलीला, प्रात रस-मंजरी, भोजनानन्दाष्टक, जुगलरस माधुरी, फूल विलास, गोधन आगमन दोहन, आनन्दलग्नाष्टक, फाग विलास, ग्रीष्म विहार, पावस पचीसी, गोपी नैन विलास, रासरसलता, नैनरूप रस, शीतसार, इश्क चमन, मजलिस मंडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षा ऋतु की माँझ, होरी की माँझ, कृष्ण जन्मोत्सव कवित्त, प्रिय जन्मोत्सव कवित्त साँझी के कवित्त, रस के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवरी के कवित्त, गोवर्द्धन धारन कवित्त, देहदशा, वैराग्य वल्ली, अरिल्ल पचीसी, छूटक विधि, शिखनख, नखशिख, छूटक कवित्त, चर्चरियाँ, रेखता, रामचरित्र माला, पद प्रबोध माला, रसानुक्रम के दोहे, शरद की माँझ, साँझी फूल बीनन संवाद, वसन्त वर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फाग खेलन समेतानुक्रम के कवित्त, गोविन्द परचई, वनजन प्रशंसा, छूटक दोहा. उत्सव माला, पद मुक्तावली, वेन विलास, गुप्तरस प्रकाश आदि।

भक्त कवि नागरीदास की रचनाओं में श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम निरूपण हुआ है। प्रभु के दर्शनों के लिए अनवरत प्रतीक्षा इनकी रचनाओं में मार्मिक रूप में अभिव्यक्त हुई है। उदाहरण स्वरूप इनकी रचनाओं से कुछ पद प्रस्तुत हैं—

(१)

राज, वन रौ वासी, म्हानै कांई जाणै।
गाय चराअण हार गुवाल्यौ,
सो क्यूँ रतन पिछाणै ॥

दधि, दांनी, चंचल लोभी
जी रौ, मन नहीं रै घै ठिकाणै ॥
नागरीदास कहै कपटी सूं,
कुण थांसूं रंग धन मांणै ॥

(२)

सो सांवलिया सावर म्हांरो।
रूप ठगोरो, कांमणगारो, मोहे मन सगलां रौ।
हिय में बसियौ लोभी, मदन मंत्र बैणां रौ।
नागरीदास हुवौ मन चैडौ, मतवाला नैणां रौ।

(३)

बने माधुरी के महल।
कूल जमुना फूल फल भरि,
भँवर चहला पहल।
सघन वन संकुलित डारैं,
मिटति दिन मनि कहल।
तहाँ विहरति पिया हरि संग,
तजि सुरति रन दहल।
"दास नागरि" सखी फूली,
फिरत आनन्द टहल ॥

(४)

हमारी सब ही बात सुधारी।
कृपा करी श्री कुंज बिहारिनि,
अरु श्री कुञ्ज बिहारी।
राख्यौ अपने वृन्दावन में
जिहि को रूप उज्यारी ॥
नित्य केलि आनन्द अखण्डित,
रसिक संग सुखकारी।
कलह कलेस न व्यापै इहि ठा,
ठौर विश्व ते न्यारी।
"नागरिदासहि" जनम जिवायौ
बलिहारी, बलिहारी ॥

(५)

जाऊँ कहाँ जितही निकसौं
तितही लखिये अति उधम भारौ।
गावत गालि ठठोल ठगी
सुत नन्द कौ छन्द भर्यौ है धुकारौ।
हाथनि में पिचकारी लिए
भरि देत भटू बस नाहिं हमारौ।
औरहू गाँव सखी बहुतैं
पर गोकुल गाँव कौ पैंडो ही न्यारौ ॥

(६)

सब मजहब सब इल्म अरु, सबै ऐश के स्वाद।
अरे! इश्क के असर बिनु ये सबही बरबाद ॥
आया इश्क लपेट में, लागी चश्म चपेट।
सोई आया खलक में, और भरैं सब पेट।

प्रे० ना० श्रो०

नागरीदास (द्वितीय)

नागरीदास नाम के पाँच महात्माओं का उल्लेख ब्रजभाषा साहित्य के कवि-लेखक एवं भक्तों के रूप में मिलता है। इनमें से एक नागरीदासजी 'नेही नागरीदास के नाम से विख्यात हैं तथा दूसरे प्रसिद्ध नागरीदास कृष्णगढ़नरेश महाराज सावंतसिंह का विरक्त उपनाम था। शेष तीन नागरीदास नाम के भक्त-कवि स्वामी हरिदासजी के संप्रदाय के अनुयायी थे, जिनमें बड़े नागरीदासजी (द्वितीय) वे हैं, जिनका परिचय यहाँ दिया जा रहा है। अन्य एक नागरीदासजी स्वामी रसिकदेवजी के शिष्य थे तथा दूसरे श्री पीताम्बरदेवजी के शिष्य थे।

हरिदासी-संप्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री बिहारिनदेवजी के शिष्य स्वामी नागरीदासजी एक प्रौढ़ वाणीकार एवं नित्य-विहार के साक्षात्कर्ता महानुभाव थे। निजमतसिद्धान्त' के अनुसार श्री नागरीदासजी एवं श्री सरसदासजी सगे भाई थे। ये आसाम के वानर-राज्य के मंत्री कमलापति के पुत्र थे। श्री विहारिदेवजी ने अब्दुर्रहीम खानखाना के साथ इसी वानर-राज्य पर चढ़ाई की थी, परन्तु श्री बिहारिनदासजी के प्रसंग में लिखा जा चुका है कि अकबर के समय में आसाम के किसी वानर-राज्य पर चढ़ाई की, घटना केवल कपोल-कल्पित ही है, इतिहास उसका

समर्थन नहीं करता। 'निजमत सिद्धान्त' के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी इनका चरित्र लिखा नहीं मिलता। अतः एक प्रसिद्ध आचार्य और रचनाकार होते हुए भी इनका ऐतिह्य अन्धकाराच्छन्न ही है। इनके उपस्थितिकाल एवं रचनाओं को देखते हुए इनका जन्म सं १६०० वि० के आसपास मानना उचित होगा। सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार इनकी जयन्ती माघ शुक्ला ५ को मनाई जाती है।

नागरीदासजी की रचनाओं से इस तथ्य का संकेत मिलता है कि ये श्री बीठलविपुल देव के समय में ही श्रीधाम वृन्दावन में आ गये थे क्योंकि श्री बीठल विपुलदेवजी और श्रीस्वामी हरिदासजी प्रायः समकालीन हैं। इसलिए इन्होंने अपने गुरु श्री स्वामी हरिदासजी का भी निकट से दर्शन किया होगा। जहाँ तक इनके गुरु श्री विहारिनदासजी का सम्बन्ध है उनका तो इन्हें पूरी तरह सत्संग मिला था। ये बहुत समय तक उनके साथ रहे। जैसा कि इन्होंने लिखा है—

श्री विपुल बिहारिनदास कौ,
मैं पायौं पूरा संग।
श्री नागरीदास फूलत सदा,
देखि दुहुन कौ रंग॥

उक्त अन्तःसाक्ष्य से यह अनुमान किया जा सकता है कि नागरीदासजी श्री विहारिनदेवजी के निकुंज प्रवेश (सं० १६७० के लगभग) के कुछ समय बाद तक जीवित रहे। हमारा अनुमान है कि ये सं० १६८० वि० तक इस धराधाम पर विद्यमान थे। संप्रदाय में इनके लीला-प्रवेश की तिथि वैशाख कृष्ण नवमी मानी जाती है।

नागरीदासजी की प्रशंसा राधावल्लभीय भक्त ध्रुवदासजी ने भी की है। इसके साथ कृष्णगढ़-नरेश नागरीदासजी ने भी इनके नाम का आदरपूर्वक उल्लेख किया है। ललित-सम्प्रदाय के वाणीकार श्री किशोरी अलिजी ने भी अपनी रचनाओं में इनकी प्रशंसा की है। श्री सरसदेवजी ने श्री नागरीदासजी की उदारता, गम्भीरता तथा नित्यविहार की उपासना का यशगान किया है। नागरीदासजी एक अपरिग्राही महात्मा थे जिनके पास अपनी परम्परा के अनुसार केवल करुवा, कोपीन और गूदरी संपत्ति के रूप में रहती थी। अपनी इस विरक्त वृत्ति के कारण ही श्री विहारिनदेवजी के वरिष्ठ शिष्य होने पर भी ये सम्प्रदाय की गद्दी के अधिकारी नहीं बने।

......

नागरीदासजी की रचनाओं का हरिदासी संप्रदाय में बड़ा आदर है। इन्होंने सिद्धान्त की २० साखियां, चौबोला तथा ३९ सवैयों की रचना की। इसके साथ ही श्रृंगार लीला के ७० पद भी इनकी वाणी में विद्यमान हैं।

इनकी रचनाओं में नित्यविहार को सबका सार दुर्लभ, अगम्य और अपार बताया गया है। इस अनन्य धर्म को माया के कठिन किवाड़ लगे रहने तक नहीं समझा जा सकता। श्री बिहारिनदासजी यदि कृपा करें तभी नित्यविहार समझ में आ सकता है। यह वस्तु केवल नित्य सिद्धों की है। नित्यविहार जैसे तत्व को सहज ही प्रकाशित करना नागरीदासजी उचित नहीं मानते। ये तो इसे इस तरह छिपाते हैं जैसे गूदर में हीरा—

श्रीनागरदासजी यौं वस्तु छिपावत ज्यों गूदर में हीरा।

इन्होंने नित्यविहार को दृढ़तापूर्वक ग्रहण किया है और उसके अतिरिक्त अन्य समस्त स्वार्थ, परमार्थ और उपासना पद्धतियों को नीरस माना है। इनका विश्वास है कि नित्यविहार रूपी इस अनन्य-धन-धर्म को जो धारण करता है उसी के हृदय में श्यामाश्याम-रूप सम्पत्ति सच्चे रूप में विराजती है। उसके पश्चात् उपासक भले ही सुख से पाँव पसार कर सोये, उसे किसी प्रकार की आकांक्षा या तत्संबंधित कर्म शेष नहीं रह जाता—

श्री नागरीदास अनन्य धन,
धर्म सुदृढ़ उर धारि।

दंपति-संपति सांचि हियैं,
सुख सोवे पाँव पसारि ॥

इनके शृङ्गार रस के पद रूप-वर्णन और लीला विलास से युक्त हैं। इनके अनेक लम्बे पद संप्रदाय के समाज गान में गाये जाते हैं। इनमें प्रेमवैचित्र्य का अंकन हुआ है। इनकी रचनाओं से दो छन्द यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१)

करत केलि कुंज कुँवर काँमिनी ।
अद्‌भुत बन रूप राज सहचरि सुख अति समाज,
गौर-स्याम मौजनि घन बरषि दाँमिनी ॥
पुलिन नलिन विविध फूल, जल थल कालिंदी कूल,
लेत सुखन देत प्यारी जू रवन राँमिनी ।
दासि श्री नागरी नवेलि, नागर नव रंग झेलि,
बिहरत अंग-संग श्री हरिदासि स्वाँमिनी ॥

(२)

कह्यौ न परत हुलास अँखियन कौ ।
ललित अरुन डोरें, लसत रति रंग बोरे,
सूचत सुहाग भाग नेह नखियन कौ ॥
सिथिल कटि की डोरी, मेरी गरबीली गोरी,
आन भाँति आवै सुबास कलकल कखियन कौ ।
नागरीदासि बलि तलप सुफल फली देखि,
नैक अब जाग्यौ भागि सखियन कौ ॥

श० वि० गो०

नागरीदास (तृतीय)

नागरीदास नाम के कई कवि हिन्दी जगत् में विख्यात हैं, किन्तु आलोच्य नागरीदास (तृतीय) अद्यावधि ज्ञात नागरीदास नामधारी भक्तों से सर्वदा भिन्न हैं। ये सन्त चरणदास के शिष्य थे। पता नहीं कब और क्यों हिन्दी के विद्वानों ने इनके नाम के आगे 'विप्र' शब्द जोड़ दिया। हस्तलिखित प्रतियों में नागरीदास नाम ही मिलता है। मिश्रबन्धुओं ने इनका अवस्थितिकाल संवत् १७९० माना है, जो ठीक मालूम होता है। 'लीलासागर' के अनुसार ये संवत् १८११ में दीक्षित हुए थे। 'गरुभक्ति प्रकाश' इन्हें गृहस्थ बतलाता है। यदि दीक्षाकाल के समय इनकी उम्र ४० वर्ष की मान ली जाए तो इनकी जन्म-तिथि संवत् १७७२ के आस-पास ठहरती है। इनका परलोकगमन सन्त चरणदास के बाद हुआ।

ये जाति के ब्राह्मण थे तथा पहले वृन्दावन में और बाद में कामा में रहने लगे थे। प्रारम्भ में ये राधावल्लभीय सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। एक बार ये सपरिवार जगन्नाथपुरी को चले। जब ये फीरोजाबाद पहुँचे तो वहाँ भगवान् ने रात्रि में स्वप्न दिया कि तुम बेकार इतनी दूर आए। यहाँ से लौटकर दिल्ली जाओ। वहाँ मेरे ही स्वरूप चरणदास के दर्शन पाओगे। परिवार को सोता छोड़ कर इन्होंने दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। दिल्ली से कुछ मील पूर्व इन्होंने अपना पड़ाव डाला। फिर सहसा पता नहीं इनके मन में क्या भाव उठा कि दिल्ली न जाकर ये सीधे अपने घर कामा पहुँचे। रास्ते में लोगों से इन्होंने सुना कि चरणदास महाराज अत्यन्त सिद्ध पुरुष हैं, स्वयं शुकदेव मुनि ने आकर उन्हें दीक्षित किया है तथा मंत्र-कण्ठी आदि भी दिया है। इन्होंने मन में ठाना कि यदि चरणदास सिद्ध पुरुष हैं तो मेरे घर आकर मुझे दीक्षित करें। अन्तर्यामी चरणदास ने स्वप्न में इन्हें दर्शन दिए, गले में कण्ठी बाँधी, मंत्र दिया तथा माथे में श्रीतिलक तथा नागरीदास नाम दिया। सवेरे उठने पर शीशे में अपना मुँह देखा तो गले में कण्ठी तथा माथे में श्रीतिलक दिखाई पड़ा। इस घटना के बाद ये दिल्ली पहुँचे तो चरणदास महाराज में जगन्नाथजी, बलभद्रजी तथा सुभद्राजी के एक साथ दर्शन किये। इन्होंने परिक्रमा करके उनको साष्टांग दण्डवत् किया। सन्त चरणदास ने पीला चोला, टोपी दी तथा गुसाइँ के पद से विभूषित किया। उन्होंने कांमा (ब्रज) में गद्दी स्थापित करके इन्हें वहाँ का महन्त बनाया।

इनका सम्बन्ध अलवर से भी था। वहाँ के राजा प्रताप सिंह के दीवान साह छाजूराम इनके आश्रयदाता तथा प्रेरक थे। कवि को साहजी ने हाथी, अश्व, भूमि तथा वस्त्रादि द्वारा सम्मानित किया था। इनके नाम

से सम्बद्ध तीन रचनाएँ हैं—(१) भागवत भाषा, (२) भगवद्गीता भाषा, (३) बानी। 'भागवत भाषा' की रचना वैशाख शुक्ल तृतीया संवत् १८३२ में आरम्भ हुई। उसकी समाप्ति कब हुई, यह कहना कठिन है; परन्तु साहजी की मृत्यु सं० १८४५ में हुई थी, अतः इन्होंने इससे पूर्व रचना पूर्ण कर ली होगी। दूसरी रचना 'भगवद्गीता भाषा' ज्येष्ठ कृष्ण नवमी, रविवार संवत् १८३६ को पूरी हुई। मिश्रबन्धुओं ने इनकी तीसरी रचना 'बानी' का भी उल्लेख किया है, किन्तु यह अनुपलब्ध है। इनकी काव्यगत विशेषताओं का उल्लेख करते हुए मुनि कान्तिसागर ने ठीक ही लिखा है—'इसमें सन्देह नहीं कि वे उच्च कोटि के साधक व श्रेष्ठतम कवि थे। उनके विशद् पाण्डित्य का सूक्ष्म परिज्ञान भागवत के अनुवाद में परिलक्षित होता है। यह केवल अनुवाद नहीं है। कवि ने इतनी स्वतन्त्रता से काम लिया है कि कहीं-कहीं तो एक ही श्लोक के भावों को स्पष्ट करने के लिए कई स्वतन्त्र छन्दों का निर्माण करना पड़ा है और कहीं-कहीं कई श्लोकों का भाव एक छन्द में व्यक्त कर दीर्घकाल-व्यापी काव्यमयी साधना का सुपरिचय दिया है। .... जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि वह मेवात-मण्डल का ही ऊर्जस्वल व्यक्तित्व सम्पन्न चरित्र का प्रतीक था। न केवल वह कवि था, वल्कि स्वाभिमानी साधक एवं आदर्श जीवन-यापन करने वाला महामानव था। वह अपने स्वामी या आश्रयदाता की प्रशंसा में जिस संयम से काम लेता है, वह उसके वैयक्तिक जीवन एवं पाण्डित्यमयी प्रतिभा को प्रशस्त करता है।" इनकी रचना के दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)

हाथ में हय रसमि गहे जात मारग में,
खेदि कंस तोसो कहि देव की या बानी है।
आठवों गरभ याको मारिहै सु तोको मूढि,
जाहि लिये जातु जिय भगनी सु मानी है॥
ऐसे सुनी कान्ह तब भाजि कुल दोषन ने,
गहि करवाल को स मारबे कौ ठानी है॥
कठिन कठोर निरलज्ज अति देख्यौ ताहि,
बोले वसुदेव वर कोमल सु बानी है॥

(२)

जब जब सुकरम को नाश होत।
मन करत पाप सबके उदोत॥
तब तब जु ईस अवतार लेत।
हनि असुर सुरग साधून देत॥
यह सब हरि की माया जु जान।
सबके स्रष्टा प्रभु कूं जु मान॥
नागरीदास के इष्टदेव।
श्रीचरणदास जाने जु भेव॥

म० गो० भा०

नागरीदास (चतुर्थ)

श्री नागरीदासजी की प्रशंसा में 'रसिक अनन्य परचावली' में कहा गया है—

हित शरनागत होत भावना भक्ति प्रकासी।
बसे सांकरी खोरि भये बानैंत उपासी॥
व्रजवासिन यौं भजैं जुगल परिकर व्रज सिगरौ।
इही भाव दृढ़ होत प्रेम उर परस्यौ अगरौ॥
गुन गन बानी विचित्र कथि
श्री हरिवंश प्रसाद बल।
वृषभानु कुंवरि पद सुदृढ़ रति
करी नागरीदास भल॥

हितधर्म में दीक्षित होने के साथ ही इनके हृदय में भक्ति भावना प्रकाशित हो गयी। ये बरसाने की साँकरी खोरि में रहते थे और उच्च कोटि के उपासक थे। ये व्रजवासियों को युगल श्री श्यामा-श्याम का परिकर समझकर उनका भजन करते थे और इस

भाव के दृढ़ होते ही इनके हृदय में परम प्रेम प्रकाशित हो गया था। श्री हरिवंशचन्द्र की कृपा से इन्होंने गुणगणों से पूरित विचित्र वाणी की रचना की। इनकी श्री वृषभाननन्दिनी के चरणों में बड़ी सुदृढ़ रति थी।

ल० च० गो०

नागरीदासजी (पंचम)

'रसिक अनन्य परचावली' में इनके सम्बन्ध में कहा गया है—

श्री हरिवंश चरन दृढ़ अटकी मति अरबीली।
अक्षर रस कौ गहर गूढ़ बानी गरबीली॥

लाल-लड़ैती दरस चाह जिन यह व्रत लीनों।
त्याग दियौ जलपान कृपानिधि दरसन दीनों॥

रच्यौ बरस गाँठ उत्सव कुँवरि
जुगल रहसि पाई लवधि।
श्री नागरीदास रस भजन हद
गुरु मारग नेही अवधि॥

श्री हरिवंश के चरणों में इनकी हठीली मति दृढ़ता से अटक गयी थी और इन्होंने बड़ी रसपूर्ण, गूढ़ और गर्वीली वाणी की रचना की। श्री श्यामा-श्याम के दर्शनों की इच्छा से इन्होंने एकबार अन्न-जल त्याग दिया था और करुणासिंधु को प्रकट होकर उनको दर्शन देना पड़ा था। इन्होंने बरसाने में श्री वृषभानुनन्दिनी की वर्षगाँठ का शुभारम्भ किया। श्री नागरीदासजी में गुरु मार्गानुसार रस-भजन की पराकाष्ठा देखी गयी है।

ल० च० गो०

नागरीदास/राधिकादास

श्री नागरीदास और श्री राधिकादास नाम के दोनों महात्मा समकालीन थे और श्री राधिकावल्लभजी के मन्दिर में रहा करते थे। मन्दिर में होने वाले प्रत्येक उत्सव की साज-सज्जा की टहल ये दोनों बड़े प्रेम से किया करते थे। इन्होंने श्री हितधर्म की मंत्र दीक्षा और विरक्त सन्त वेष किन महानुभावों से लिया था यह तो अज्ञात है। किन्तु ये दोनों ही महात्मा बाबा श्री वृन्दावनशरणजी की छत्र-छाया में नाम ध्वनि करते हुए मगन रहा करते थे। इससे ऐसा अनुमान होता है कि इन्होंने विरक्त वेष बाबा वृन्दावनशरणजी से ही प्राप्त किया होगा। इनका विद्यमान काल अनुमानतः वि० सं० १९२५ से वि० सं० २००० के मध्य स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

नागाचतुरदास

वार्ता साहित्य में नागाचतुरदासजी का नाम श्रीनाथजी की प्राकट्य वार्ता में तथा कोकिलावन बैठक चरित्र में मिलता है। वार्ता के अनुसार श्रीनाथ जी ने इन्हें टोड के बन में दर्शन दिये थे। कोकिलावन में महाप्रभु श्री वल्लभचार्यजी ने इन्हें खीर खिलाई थी और आशीर्वाद दिया था कि 'तुम्हारी आयु १५० वर्ष की होगी। गो० गोकुलनाथजी, मेरे प्रपौत्र तुम्हारे गुरु होंगे।' हुआ भी ऐसा ही। श्री नागाचतुरदासजी गो० गोकुलनाथजी की शरण में 'माला प्रसंग' के अवसर पर आये थे। यह प्रसंग अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक है।

श्री नागाचतुरदासजी युवाकाल में ही अपनी पत्नी को त्याग कर विरक्त हो गये थे। वृन्दावन की गलियों में श्रीकृष्ण और श्रीराधा के कीर्तन-गान में निमग्न होकर घूमते रहना इनका स्वभाव बन गया था। गोकुलनाथजी की कृपा से इन्हें भक्ति के प्रति आस्था दृढ़ हुई थी। पुष्टिमार्गीय सेवा में भी इनका अभिनिवेश हुआ था। इनका एक पद प्राप्त हाता है, जो ललना शैली में लिखा हुआ है। "ललना", ब्रज का गोपी का नाम है, जो श्रीकृष्ण के प्रेम में सदा सर्वदा निमग्न रहती है। गोपी भाव भावित होकर श्रीभगवान् के गुणानुवाद संकीर्तन का परम स्वाद श्री नागाचतुरदासजी को गुरु कृपा से अविचल रूप में लग गया था। इसकी पुष्टि इनके इस पद से होती है—

"हौ मेरे ललना प्रथम प्रणाम करौं श्रीवल्लभ
सुमिरौं श्री विट्ठलनाथ हो।
हिल मिल झुरमुट खेलिए हो, मेरे ललना ॥
घर आवो रंगीलेनाह हो
नेक होरी श्रीवल्लभ साथ हो।
हिल मिल झुरमुट खेलिए हो, मेरे ललना ॥

इस प्रकार विदित होता है कि नागाचतुरदासजी पुष्टिमार्गीय कृष्ण-भक्त कवियों में श्रेष्ठ भक्त थे।

रा० कृ० श०

नाथकवि

श्री नाथकवि महाराजा प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' (सं० १८२१–१८६०) की 'कवि बाईसी' के प्रमुख कवि तथा ब्रजनिधि के काव्य गुरु गणपति भारती के परमप्रिय शिष्य थे। ये अपने गुरु की भाँति प्रतिभा सम्पन्न थे। ब्रजनिधि के पिता सवाई माधोसिंह (प्रथम) (१७५०–१७६७ ई०) मथुरानाथ कवि को बूंदी से जयपुर लाये थे। सम्भव है यही नाथ ही मथुरानाथ थे, जो सवाई माधोसिंह के पश्चात् ब्रजनिधि के आश्रित रहे। इनका लिखा 'ऋतु कल्पद्रुम' (सं० १८१९) मिलता है। यह एक प्रौढ़ कृति है। अतः इसे प्रारम्भिक रचना नहीं माना जा सकता।

नाथ कवि के सम्बन्ध में विशेष सूचनायें उपलब्ध नहीं हैं। यह माना जाता है कि ये अपने गुरु गणपति भारती के लिए लिखते थे और कविता में सभी स्थानों पर अपनी छाप 'नाथ' लगाते थे। कहीं-कहीं 'कवि नाथ भनत' शब्द का प्रयोग मिलता है। इनकी ५ कृतियाँ मिलती हैं—महाराज कुमार प्रतापसिंह विवाह वर्णन, २. योगवसिष्ठसार, ३. साहित्य-सरिता, ४. ऋतुकल्पद्रुम, ५. 'सरस-बत्तीसी'।

'महाराजकुमार-प्रतापसिंह-विवाह वर्णन' में नाथ कवि ने प्रतापसिंह की बारात के बीकानेर पहुँचने और वहाँ उसके स्वागत का वर्णन ६ पृष्ठों में किया है। 'योगवसिष्ठसार ग्रन्थ' की रचना नाथ कवि ने राजसिंह सेनापति की आज्ञा से की थी तथा ऋतु कल्पद्रुम (सं० १८१९) और 'साहित्य सरिता' (१८३०) की रचना माधोसिंह प्रथम की आज्ञा से—

अष्टादस सतक अधिक साल एकोनविंस तहाँ।
माघ मास गुरुवार कृष्न चौदहि पवित्र यहाँ ॥

● ● ●

हुकम पाय महाराज को, रितुकल्पद्रुम नाम।
सुकवि नाथ वर्णन कर्यो, ग्रन्थ इक्क अभिराम ॥

● ● ●

नृप आयस कवि नाथ तह,
धरि मन अति अभिराम।
ग्रन्थ इक्क कीनों सरस,
साहित सरिता नाम ॥

इन्होंने सरस बत्तीसी की रचना सवाई प्रतापसिंह के प्रीत्यर्थ की थी। 'साहित्य सरिता' नायक-नायिका विषय से सम्बन्धित ग्रंथ है।

यहाँ 'ऋतु कल्पद्रुम' से एक विवाह सम्बन्धी पद प्रस्तुत है—

झूमैं नये बदरा सजिकै
सु समीर तुरंगन ताव कर्यौ।
चहुँ ओर तें घेरि घटा घहरैं
नहिं दुंदुभि नादनि संक पर्यौ।
कविनाथ कहैं ब्रजचन्द बिना
बिरहीन पें फौज से आनि पर्यौ ॥
मृदु फूलन को छन उज्झित कै
फिरि इन्द्र सरासन काम धर्यौ ॥

कवि गणपति भारती के समकालीन तथा शिष्य होने के कारण हम नाथ कवि का समय सं० १८१९ से सं० १८६० तक स्वीकार कर सकते हैं।

रा० प्र० कु०

नाथ भट्ट

नाभादासजी ने अपने 'भक्तमाल' में नाथ भट्ट नामक विद्वान् भक्त के सम्बन्ध में पूरा एक छप्पय लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि ये उस समय के एक प्रतिष्ठित भक्त थे। हितहरिवंशजी के शिष्य ध्रुवदासजी ने भी अपनी 'भक्तनामावली' में चैतन्य-सम्प्रदायी गदाधर भट्ट के साथ नाथ भट्ट को एक दोहे में 'विद्या-भजन-प्रवीन' तथा 'सरस कथा बानी मधुर' बतलाया है—

> **भट्ट गदाधर नाथ भट्ट, विद्या भजन प्रवीन।**
> **सरस कथा बानी मधुर सुनि रुचि होत नवीन॥**

नाभादासजी के अनुसार—

> **आगम-निगम-पुरान सार सास्त्रनि जु बिचार्‌यौ।**
> **ज्यों पारौ दै पुटहि सबनि कौ सार उधार्‌यौ॥**
> **श्री रूप सनातन जीव भट्ट नरायन भाख्यौ।**
> **सो सर्वस उर साँचि जतन करि नीके राख्यौ॥**
> **फनी वंश गोपाल सुव, रागा अनुगा कौ अयन।**
> **रसरास उपासक भक्तराज,**
> **'नाथट भट्ट' निर्मल बयन॥**

मधुरोपासक श्री रूपकलाजी ने उक्त छप्पय के 'वार्तिक तिलक' में लिखा है—"रसराज (शृंगार रस) के उपासक भक्तराज श्री नाथ भट्टजी निर्मल वचन बोलने वाले थे। आगम, निगम और पुराण सत शास्त्रों को विचार कै सबों का सारांश निकालकर जैसे पारा में औषधियों का पुट देकर सिद्ध रसायन बना लेते हैं ऐसे ही आपने रसायन कर लिया। जो श्री रूपसनातनजी ने तथा श्री नारायण भट्टजी ने प्रेम भक्ति प्रतिपादन कथन किया था, वो सर्वस्व भले प्रकार यत्न से अपने हृदय में संचित कर रखा है। फणीवंश में उत्पन्न ऊँचेगाँव वाले के पुत्र गोपालदासजी के पुत्र नाथ भट्टजी रागानुगा भक्ति के (आगार) ही हुए।"

रूपकलाजी ने इन्हें ऊँचेगाँव निवासी गोपाल भट्ट का पुत्र कहा है। प्रियादासजी ने इन्हें ब्रजरस पारायण माना है। बाबू राधाकृष्णदास ने ध्रुवदास कृत नामावली में वर्णित महात्माओं का संक्षिप्त ऐतिहासिक वृतान्त प्रस्तुत करते हुए कथित दोहे का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

'ये श्री राधारमनजी की गद्दी के महन्त श्री गोपाल भट्ट जी के पुत्र थे। भाषा के अच्छे सुकवि थे। परम विरक्त थे और रासलीला के बड़े अनुरागी थे।'

'शिवसिंह-सरोज' के मत से ये ब्रजवासी, गोपाल भट्ट ऊँचेगाँव वाले के पुत्र थे तथा इनका उपस्थिति काल वि० सं० १६४१ था। 'सरोज' में पाँच अन्य 'नाथ' नाम के कवियों का उल्लेख किया गया है। वे प्रायः समकालीन तथा १७ वीं शताब्दी के हैं। डा० ग्रियर्सन ने इन्हें ऊँचेगाँव का निवासी उल्लिखित नहीं किया, किन्तु यह बताया है कि इनके द्वारा लिखी गई ऋतुओं एवं अन्य विषयों की रचनाएँ 'राग कल्पद्रुम' में संगृहीत हैं। उन्होंने इनका जन्मकाल १५८४ ई० (वि० सं० १६४१) माना है।

उपर्युक्त उद्धरणों तथा मतों के अनुसार इनके जीवन-वृत्त की रूपरेखा इस प्रकार बनती है। ये वि० सं० १६५० के पूर्व विद्यमान थे। इस प्रकार इनका जन्मकाल वि० सं० १६१० के लगभग अनुमानित होता है। ये गोपाल भट्ट के पुत्र थे तथा श्री रूपसनातन नारायण भट्ट द्वारा प्रतिपादित रागानुगा-भक्ति के उपासक थे। ये रासलीला के उपासक मधुर वाणीकार (पदकार) तथा सरस कथाकार थे।

वस्तुतः ये नारायण भट्ट की वंश-परम्परा में गोपाल भट्ट के पुत्र न होकर उनके अग्रज गोपाल भट्ट के पुत्र थे। जानकीप्रसाद भट्ट लिखित 'श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्' नामक ग्रन्थ में श्री भास्कराचार्य के एक पुत्र गोपाल भट्ट का नाम आता है। अतः हमारी धारणा है कि ये इन्हीं गोपाल भट्ट के पुत्र थे। रही नाथ भट्ट के नामोल्लेख की बात, तो उसके सम्बन्ध में यहाँ तर्क दिया जा सकता है कि सुबलश्याम तथा प्रो० कण्ठमणि शास्त्री द्वारा दी गयी वंश तालिका में गो० रघुनाथ भट्ट तथा जानकीप्रसाद भट्ट का नामोल्लेख

भी नहीं है। जबकि जानकीप्रसाद भट्ट ने स्वयं को 'श्रीमन्नारदावतार श्री नारायण भट्टाचार्यकुलोद्भव गोस्वामी रघुनाथात्मज' बतलाया है। इसके अतिरिक्त नारायण भट्ट का जन्म वि० सं० १५८८ होने से ये उनके पूर्ववर्ती गोपाल भट्ट के पुत्र होने के नाते वि० सं० १६१० में उत्पन्न हुए माने जा सकते हैं क्योंकि नाथ भट्ट ने नारायण भट्टजी से भी रागमार्ग' की शिक्षा पायी थी। इस प्रकार भक्तमालकार से इनके पूर्ववर्ती होने की संगति वैठ जाती है। शिवसिंह सरोज में निर्दिष्ट संवत् को इनका उपस्थिति काल मानकर देहावसान वि० सं० १६७५ के समीप अनुमानित करना युक्तियुक्त है। इनके द्वारा लिखित कोई रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है, केवल कुछ पद पुरानी पोथियों में संगृहीत मिले हैं। नागरीप्रचारिणी, सभा, काशी की खोज रिपोर्ट में नाथ कवि के नाम 'रसिक श्रृंगार' नामक ग्रन्थ के दानलीला प्रसंग का विवरण दिया गया है। विशेष परिचय अज्ञात वतलाया गया है। कदाचित् यह इन्हीं की रचना हो। 'दानलीला-प्रसंग' बरसाना से ही सम्बद्ध है। इनका लिखा एक पद गो० गोवर्द्धन भट्ट (छुट्टन भट्ट) की समाज-पोथी (लिपिकाल वि० सं० १७०२) में संगृहीत है। यह पद उनके यहाँ की दो पुरानी कीर्तन पोथियों में भी है। पद इस प्रकार है—

'अपनेरी नवल दूलह संग झूलति दुलहिनि गोरी।
प्रथम पावस रितु सुहाई सरस सावन तीज।

नील कंचुकी पीत पट तन सघन-पान रस भीजि।
घनदामिनी लपटाति तन मन
सही न परति रस छीजि॥

हिंडोरे झूलति मथत मन
अरु बचत मनसिज बीज।
सारिका पिक कीर कोकिल मोर चपल चकोर॥

हरित भूमि विचित्र नाचत मुदित मोरी मोर।
मुखर नूपुर किंकिनी रव मिलत धुनि सुनि थोर॥
सप्त सुर संगीत नाचत मन्द मुरली घोर।
निरखि वृन्दाविपिन फूले झूले आनन्द कन्द॥
मंद मंद सखी झुलावति निरखि विवि मुख चन्द।
बनमाल कंठनि चिकुर
कुंडल अरझे प्रेम सुछन्द॥
रंगे प्रीतम प्रेम रंग दोउ परस्पर भुज फुन्द।
श्री वृषभानंद निकेत
प्रकटे रसिक जन सुख देत॥

जितै लोचन कोर चितवत सब सुख ताहि देत॥
ललितादि सौरभ माधुरी
दृग चषक भरि-भरि लेत।
'नाथ' जीवनि मूल दोऊ विलसि वट संकेत॥

न० च० वं०

नाथूराम दरजी

श्री नाथूराम दरजी का जन्म संवत् १९४६ में डीडवाना के नथिया छीपा कुल में हुआ था। पिता मथुरादास कपड़े सोने का पैतृक व्यवसाय करते थे। बचपन में ही इनकी माँ का निधन हो गया। इनकी तीन बहने थीं—धाधी, गणेशी और रामचन्दा। अल्पवय से ही इनका मन घर से विरत रहा करता था। "प्राय: एकान्त में बैठे ये कुछ गुनगुनाते रहते थे, कभी मन्दिर की सीढ़ियों पर विचारमग्न बैठे रहते थे। संवत् १९५५ में जब ये नौ वर्ष के थे, इनका विवाह फूलीबाई से हुआ। वह संस्कारहीन थी। अतः गृहस्थी में इनकी आसक्ति नहीं जगी। बारह वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हो गया। इससे ये विरक्त होते गये और प्रभु का गुणगान इनकी दिनचर्या का प्रमुख अंग हो गया। घर की आर्थिक स्थिति इस तरह की उदासीनता से दिनों दिन बिगड़ती गई और ये भगवद् भजन में उत्तरोत्तर लीन होते गये। भगवान् कृष्ण की कृपाशीलता में अटूट विश्वास रखकर ये पूर्ण निश्चिन्त हो गये।

सोलहवें वर्ष में इनको नन्दलाल नाम के एक गुजराती ब्राह्मण का सम्पर्क प्राप्त हुआ। उनकी प्रेरणा से ये काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए। अपने जीवन के सन्दर्भ में इन्होंने एक पद इस प्रकार कहा है—

तिथि दिन याद नाँय सुनी छियालीस माँय,
पड़े दुख देन ताँय जन्म गिरह खोटा है।
बालपने मात मरी नौवें साल कुनार परी,
बारहवें पितृ सुरपुरी सहे कष्ट टोटा है॥

पढे अंक टुक पोसाल शारदा जगी सोल हें साल,
विप्र कवि नन्दलाल गुरु मिलिया मोटा है।
विधि विष्णु शिव हँसी रचे जग अंशा अंशी।
नाथू नाम देव वंशी कृष्ण पद ओटा है॥

डीडवाना में नागोरिया मठ के महन्त श्री बालमुकुन्दाचार्य से श्रीमद्भागवत सुनकर नाथूराम का जीवन कृष्णमय बन गया था। फिर भी जीविका के लिए ये किसी के आश्रित नहीं रहे। जब तक आँखों में ज्योति रही, ये कपड़े सीकर गुजारा करते रहे। ये अपनी सीमित आय का अधिकांश साधु-सत्कार और समाज-सेवा में व्यय कर दिया करते थे।

भगवान् की अहैतुकी कृपा से इनके मुँह से विविध राग-रागनियों में अप्रातम पद मुखरित होते रहते थे। ये स्वयं लिखने में असमर्थ थे। बाल्यकाल में पाठशाला में अक्षर-ज्ञान ही हो पाया था। रचना लिखने की सामर्थ्य न थी। वृद्धावस्था में तो नेत्रों से दिखना भी बन्द हो गया था। अतएव समझदार लोग इनके पास बैठकर इनकी रचनाओं को लिपिबद्ध कर देते थे, अन्यथा अगणित पद-ध्वनियाँ शून्य में लीन हो जातों। इनकी आशुकविता की शक्ति का प्रचार जोधपुर अंचल में खूब हुआ। कई कवि-सम्मेलनों में इन्होंने भक्तिपरक समस्यापूर्तियाँ प्रस्तुत की। इससे कुछ लोगों ने इन्हें सामान्य कवि समझकर इनसे अपनी प्रशंसा करानी चाही। किन्तु नाराम के हृदय में भक्ति भावना जगी थी। ये जानते थे कि प्राकृत मनुष्यों का गुणगान करने से सरस्वती सिर धुनकर पछताने लगती है। अतः जोधपुर नरेश उम्मेद सिंह के अतिरिक्त इन्होंने अपने जीवन में किसी मनुष्य की प्रशंसा में छंद नहीं लिखे। उम्मेदसिंह ने राजस्थान में पड़े भीषण अकाल के समय मनुष्यों और पशुओं की रक्षा के लिए जिस उदारता से सहायता-कार्य किया था, वह आज भी स्मरणीय है। उनकी प्रशंसा जितनी की जाए, थोड़ी है।

नाथूराम ने कविता के माध्यम से धन कमाकर भाटों का अनुकरण करना उचित नहीं समझा, प्रत्युत् भगवान् कृष्ण की भक्ति में पद गाकर अपना जन्म सार्थक किया। इन्होंने समाज में व्याप्त अश्लीलता एवं अशोभन वातावरण को शिष्ट बनाने के लिए नये ढंग की लावनियों और पदमालाओं की रचना की। "रंग पिचकारी" में होली के समय गाए जाने वाले मधुर एवं शिष्ट गीत प्रस्तुत किए, जिससे लोग गन्दे तथा अभद्र गीतों से दूर रहें।

इन्होंने गरीबी की दशा में भी प्रभु से कभी धन-सम्पति की याचना नहीं की और न ही अपना दुखड़ा रोया। प्रभु की लीलाएँ गाकर ये निरन्तर उल्लास का अनुभव करते रहे। सीधा-सरल भक्ति का मार्ग अपनाया। चमत्कारों के पीछे नहीं पड़े। फिर भी एक बार प्रभु ने संसार में इनकी प्रतिष्ठा की रक्षा की।

घटना इस प्रकार है—

डीडवाना में एक "डाक्टर" नाम के व्यक्ति थे। वे दवायें बेचते थे। उन्होंने सिलाई की "सिंगर" मशीन नाथूरामजी के हाथ किश्तों पर बेची थी। किश्तें चुक जाने पर भी डाक्टर कहते थे कि शेष हैं। कवि की नेत्रज्योति चली गई थी। आर्थिक विपन्नता थी। फिर भी डाक्टर ने मशीन छीन ली और अदालत में उन्हें खड़ा कर दिया। भगवान् का ध्यान कर कवि ने हाकिम से जो कुछ कहा उसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि डाक्टर को मशीन लौटा कर उनसे क्षमा माँगनी पड़ी। कवि का वह कवित्त है—

कवि कलम के प्रभाव राजकमल हाथ लगी,
कलम के कसाई मत कहाइज्यो जहान में।
जो निर्धन शर्मदार भावी वस गुनहगार,
त्याग कर क्रोध रहम कीजियो बयान में॥
राजमद लोभ वशी मुकदमा बिगाड़ दोगे,
कजाबाद जाओगे नरक स्थान में।

नाथू कवि जद कद गरीब की हाय लगे,
होही मुख मेरो सो कलम कहे कान में ॥

इनकी आठ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) हरियश पीयूष वर्षिणी—श्रीनिवास प्रेस, वृन्दावन, सं० १९७४, (२) हरिवंश गीतमाला (भाग १), हरि प्रसाद भागीरथजी का प्राचीन पुस्तकालय, कालवा देवी रोड, रामवाड़ी, बंबई, सं० १९८५ वि०, (३) हरियश गीतमाला (भाग २), भीखमचन्द खत्री, जोधपुर, सं० १९८८ वि०, (४) हरियश गीतमाला, (भाग ३), वही, अप्राप्य, (५) ख्याल सुदामा भक्त का, प्रभाकर प्रिंटिग प्रेस, जोधपुर, सं० १९९२, (६) हनुमान यश पदमाला, विजयप्रेस, हींगमण्डी, आगरा, सं० १९८८ वि०, (७) रंगपिचकारी, प्रजासेवक प्रेस, जोधपुर, सं० २००३ वि० और (८) श्री नामदेव मंगल, हिन्दू सन्देश प्रेस, जोधपुर, सं० २००४ वि० ।

इनकी अप्रकाशित रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) ख्याल भक्त प्रहलाद का, (२) अंगद-रावण-संवाद, (३) हिरण्यकश्यप - प्रहलाद - संवाद, (४) रम्भाशुक-संवाद, (५) शिशुपाल-देवर-भाभी संवाद, (६) शिशुपाल-पांडव-संवाद, (७) गीत-ज्ञान - बत्तीसी, (८) देवीगीता - अष्टकी, (९) नृसिंह - वीरभद्र-संवाद, (१०) हरिहर एकता पच्चीसी, (११) श्रीराम - शम्बूक-संवाद, (१२) शबरी-शिवलीला, (१३) कायस्थ कुल कीरत काव्य (अपूर्ण), (१३) अवतारों की लावणी, (१५) समस्या पूर्तियाँ (प्रायः १००) और (१६) पद एवं भजन (स्फुट प्रायः १७३) ।

ये सभी रचनाएँ मारवाड़ी (राजस्थानी) मिश्रित व्रजभाषा में हैं । 'डीडवाना नागरिक सभा, कलकत्ता' ने इनके प्रकाशन की योजना बनाई है ।

इनका निधन श्रावण शुक्ल १ सं० २०१२ वि० में हुआ । परन्तु यशःकाय भक्त कवि का व्यक्तित्व आज भी भगवद्भक्ति में द्रवीभूत देखा जा सकता है । इसी प्रयोजन से कवि की दो रचनाएँ उद्धृत की जा रहे हैं :—

(१)

होरी खेले श्याम कुंजन-वन में ।
होरी खेले ॥ टेर ॥

ऋतु वसन्त ले रतिपति आए,
गोपियाँ उमँगि रहीं मन में ।
जेती सखियाँ तेते ही मोहन
रूप धरे हैं मदन-रण में ॥
लाल गुलाल उड़े आँधी ज्यूँ
बिजली घाम श्याम घन में ।
घरर घरर घुरै मघवा ज्यूँ
झरर झरर पिचकारी तन में ।
राचे रंग नाचे पंछी ज्यूँ
गान नई नई रागन में ।
हास विलास परसपर करते
लखि आनन्द भयो सुरागन में ।
दर्जी नाथूराम पियारे दर्शन से
दुख जाय छिन में ॥

(रंग पिचकारी से उद्धृत)

(२)

अवतरिया कन्हैयालाल
नंदजी के बधइयाँ बाटें ॥ टेर ॥

पीलो ओढ़ जसोदा रानी बैठी आँगन पाटे ।
वेद विधि से जलवा पूजे मंगल तोरण साँटे ।
नाई दाई ढाढी ढोली लेन बधइयाँ नाँटे ।
चितचाही ते द्रव्य मँगाया बाँधत पोटा फाँटे ।
वृजवासी कई पंच खोबरिया कानाबाती छाँटे ।
गवर मायत के श्याम पुत्र यों आयो छे आटे साटे ।
विषहांचल कर गई पूतना कृष्ण कने क्या लाटे ।
दर्जी नाथूराम पियारे दौड़ी मथुरा घाटे ।

(हरियश गीतमाला भाग-२ से)

आ० मं० बा०

नाथूराम 'प्रवीण'

सागर के नाथूराम 'प्रवीण' का जन्म सं० १९१६ में हुआ था। प्रवीणजी राधाकृष्ण के एकनिष्ठ आराधक थे। इनके विषय में कहा जाता है कि ये भक्त तो थे ही, अच्छे गायक भी थे। ये अपने भक्ति सम्बन्धी पदों को सस्वर गाते थे। एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है :

कैधों विधु मण्डल नखत सुशोभित है,
कैधों मंत्र मोहिनी बसी है चित चोरी की।
कैधों भानु आदि ग्रह पुञ्ज हैं विराजमान,
कृष्ण प्रिया जानि करैं सुश्रुशा सुगोरी की॥
पण्डित प्रवीण कहै मानों विधि जड़िया ने,
जड़े नवरत्न कर यत्न यति जोरी की।
जन दुःख आरती है कारजी सकल सिद्धि,
सौहै शुभ चन्द्रिका जो कीरति किशोरी की॥

त्रि० ना० शु०

नाथूराम शर्मा

नाथूराम शर्मा का जन्म चैत्र शुक्ल ५ गुरुवार सम्वत् १९३५ में शिवाड़ में हुआ था। इनका "भैरव-विलास" शीर्षक ग्रन्थ पाँच भागों में प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कृष्णभक्ति के अनेक पदों की रचना की है, जिससे स्पष्ट होता है कि ये श्रीकृष्ण के भक्त थे। ३२ वर्ष की अल्पायु में ही सम्वत् १९६७ में इनका स्वर्गवास हो गया। इनकी भक्ति-भावना का स्वरूप-व्यंजक एक छन्द द्रष्टव्य है जिससे स्पष्ट है कि नाथूरामजी की भक्ति दास्य-भाव की है—

सारी देव दैत्य सभा गरल बिमारी लख,
भारी पछतात हाय मथ्यो सिंधुवारी क्यों।
जरी जात दशो-दिशा धरनि बिडारी जाति,
विधि न विचारी जाति रहे देहधारी क्यों॥
"नाथू" कवि भक्त भयहारी तुम टारो व्याधि,
ऐसे उपकारी है दयालुता बिसारी क्यों।
नाम गिरधारी तीन लोक हितकारी अब,
विनय हमारी में विलम्ब उर धारी क्यों॥

ग० मि०

नानूलाल राणा

नानूलाल राणा जाति के मुसलमान होते हुए भी श्रीकृष्ण के परम भक्त थे। इनका जन्म चिड़ावा (झुंझुनू) में सम्वत् १९१५ में हुआ था। इन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित ख्यालों का रचना की, जिनकी संख्या ३० है। धार्मिक 'ख्यालों के अतिरिक्त इन्होंने सामाजिक एवं ऐतिहासिक विषयों पर भी ख्यालों की रचना की है। इनका शरीरान्त वि० सं० १९६५ में हुआ। इनकी भक्ति-भावना के स्वरूप व्यंजक दो छन्द यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१)

ज्यूं गिरिराज ध्यारि लियो
नख पर ज्यूं हिरदे धारो जी।
हे गिरधारी आज मेरी नाव
डूबती त्यारो जी॥
जलती अगनी देख अवाँ बिच
मंजारी सुत घबराया।
तेरी रजा से पक्या बरतन
बिच वै जीवत पाया।
प्रह्लाद भगत के कार्जासिंह बण
एक पलक में तुम आया।
असुर मारकर सन्त कारने
राजतिलक थे बैठाया।

(२)

ब्रह्म की पृथ्वी रच्यो डो
दैत्य ले गयो चोर कै।
असुर मार्‌यो धरा ल्याया
बराबण खग ठौर कै।
गरुड तज कर नाथ तुम
गज कूं उबार्‌यो दौर कै।
वैसेहि जानौ पीर मेरी
मैं कहूँ कर जोर कै॥

ग० मि०

नायक गोपाल

श्री नायक गोपालजी की प्रशंसा में 'तृतीय बसंत प्रबन्ध' में कहा गया है—

श्री दामोदर कर धर्यौ माल।
मधुरितु भजनी नायक गोपाल॥
दुलरावैं राधाबल्लभ लाल।
बसैं बृन्दावन अति मति विशाल॥

इनको श्री हितधर्म की मंत्र-दीक्षा अपने समय के परम प्रतापी महापुरुष गोस्वामी श्री दामोदरवरजी से प्राप्त हुई थी। दीक्षोपरान्त ये श्री वृन्दावन के अखण्ड वास का अनन्य व्रत लेकर यही पर रहने लगे थे। इनका सम्पूर्ण समय परमेष्ट श्री राधावल्लभ लालजी की सेवा में ही व्यतीत होता था। इन्होंने श्री हित दम्पति को अपनी सेवा से रिझा लिया था। इनका विद्यमान काल वि० सं० १६५० से १७५० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० बि० ख०

नायक रसिक मुकुन्द

श्री नायक रसिक मुकुन्दजी के सम्बन्ध में साम्प्रदायिक ग्रन्थों में निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं—

नायक मुकुन्द कर लिये ताल।
रसभक्ति जगमगै जिनके भाल॥
गावैं फागु रिझावैं राधा लाल।
सन्तत वृन्दावन सबही काल॥

—द्वितीय बसंत प्रबन्ध

मति अनन्य निज धर्म में,
नायक रसिक मुकुन्द।
बसे विपिन रस भजन कै,
छाँड़ि जगत दुःख द्वन्द॥

—श्री हित ध्रुव वाणी

ये कहाँ के निवासी थे, यह नहीं कहा जा सकता। इन्हें कदाचित् रसिकों के मुख से वृन्दावन-रस-कथा-श्रवण का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ और उसने इन्हें ऐसा मन्त्र-मुग्ध कर लिया कि ये स्वजन, स्वधाम, स्वदेश आदि सब कुछ छोड़कर रसदेश वृन्दावन के अखण्ड वासी बन गये। यहाँ पर इन्होंने गोस्वामी श्री हित हरिवंशजी के बड़े पुत्र गो० वनचन्दजी से रस-भजन की दीक्षा प्राप्त की थी। दीक्षोपरान्त ये रस-भजन के अनन्य आस्वादक बन गये थे। फलतः इन्हें अन्य सभी प्रकार की चर्चाएँ अरुचिकर लगती थीं। ये संगीत के भी अच्छे ज्ञाता थे। इन्हें तार-यन्त्र के वादन में विशेष निपुणता प्राप्त थी। इन्होंने अपनी इस कला की सार्थकता श्री राधावल्लभलालजी महाराज के समक्ष होने वाले नित्य समाज गान में सम्मिलित होकर की थी तथा स्वेष्ट को अपनी इस कला के द्वारा रिझा लिया था। इनका विद्यमान काल वि० सं० १६०० से १६८० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

नारायणदास (प्रथम)

श्री नारायणदासजी के सम्बन्ध में 'बसन्त प्रबन्ध—२' तथा 'रसिक अनन्य परचवली में निम्नलिखित विवरण मिलता है—

बाँभन ग्राम निवास देश उत्कल जग जानै।
श्री हरिवंश प्रताप विपिन वैभव पहिचानै॥
परिचर्या प्रभु सदन बदन रुचि जुगल नाम की।
आरति अति मन बढ़ति वास राधा सुधाम की॥
नित आदर करि हरिजनन कौ पुनि आसा कुंज बिलास की।
सिद्ध दशा भई भजन में सुमति नारायणदास की॥

—रसिक अनन्य परचाली

भरे दास नारायण हिये मोद।
उत्कल वासी करैं सुख विनोद॥
खेलें भाइ भरें जु गुलाल गोद।
अलि भाव भरे रहैं प्रिया कोद॥

—बसन्त प्रबंध-२

चाचाहित वृन्दावनदासजी के उक्त वर्णनानुसार श्री नारायणदास (प्रथम) उड़ीसा प्रदेश के बांभन

ग्राम के निवासी थे। ये किस महापुरुष के शिष्य थे, यह सर्वथा अज्ञात है। यह ठीक है कि चाचाजी ने इनका परिचय श्री नित्यानन्दजी (छप्पय सं० १८२, रसिक अनन्य परचावली) के साथ छप्पय सं० १८३ में दिया है और दोनों को उत्कलवासी लिखा है। इस आधार पर कुछ रसिकों की ऐसी धारणा बन गई है श्री नारायदास जी सेवकजी महाराज के शिष्य अर्थात् श्रीनित्यान्दजी के गुरु भाई हैं, किन्तु इस मान्यता का कोई ठोस आधार नहीं है। उक्त वर्णनानुसार यह भी ज्ञात होता है कि ये श्री हित सम्द्राय में दीक्षित होने के पश्चात् अपने ग्राम में ही अपने अथवा किसी अन्य द्वारा बनवाये मन्दिर में प्रभु की श्री हित पद्धति से सेवा किया करते थे। इनके हृदय में वृन्दावनवास करने की उत्कट लालसा बनी रहती थी।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार मानसी और प्रकट-सेवा परम साधन ही नहीं परम साध्य भी है। अतः सेवा करते-करते इन्हें सेवा की सिद्ध दशा प्राप्त हो गई थी। तात्पर्य यह कि इन्हें इसी जीवन में श्री हित हरिवंशचन्द्र का निज वैभव—श्री वृन्दावन में नित्य होने वाला श्री हित दम्पति का नित्य विहार—स्फुरित होने लगा था।

ये प्रभु और उनके भक्तों में अभेद बुद्धि रखते हुए समागत रसिकों की सेवा सानुराग तन-मन-धन से किया करते थे। तन से सेवा, मन से लीला चिन्तन तथा वाणी से इष्ट की नाम-वाणी का स्मरण और गान ऐसी थी इनकी दिनचर्या, जो इनके प्रकट और अन्तरंग दर्शन के लिए देहली-दीपक बन गई थी।

इनका उपस्थितिकाल सम्वत् १५७० से लेकर १६५० तक सुनिश्चित होता है।

श्या० बि० खं०

नारायणदास (द्वितीय)

नारायणदासजी द्वितीय की भक्ति भावना का परिचय वृन्दावन प्रकाश माला में इन शब्दों में मिलता है :—

ताके आगे देवकी की कुंज अति राजत है।
ता मधि रहै महन्त नारायणदास है।
सबन कौ सुखद सुशील अति नम्र महा,
जाके हिय मांझ नित नौतन हुलास है॥
दम्पति की सेवा करैं संत जहाँ प्रीति ही सौं,
नित ही समीर धीर जिनको निवास है।
आगे वट तट श्री हनूमान जू विराजैं,
नाना द्रुम फूलि झूलि रहे आस पास हैं॥

इनके ऐहिक जीवन सम्बन्धी समस्त ज्ञातव्य बातें अज्ञात हैं। 'वृन्दावन प्रकाश माला' की उक्त वर्णना के अनुसार ये धीर समीर स्थित 'चन्द सखी जी की कुँज' के निकट 'देवकी कुंज' में रहा करते थे। इनमें मृदुभाषिता, सुशीलता, विनम्रता आदि साधु जनोचित सभी गुण विद्यमान थे।

कुंज में वृन्दा-विपिन विलासी रसिक युगल श्री श्यामा-श्याम की अष्टयाम-सेवा विराजमान थी, जिसे धीर-समीर पर रहने वाले रसिक सन्तों के द्वारा प्रीति पूर्वक सम्पन्न किया जाता था। महन्तजी को इस बात का तो ध्यान रहता ही था कि श्रीजी की दैनिक अष्टयाम सेवा सुचारु रूप से चले। वे इस बात के लिए भी विशेष रूप से प्रयास-रत रहते थे कि कोई न कोई नवीन उत्सवानन्द का आयोजन भी आये दिन होता रहे जिससे कि रसिक सन्तों की सेवा भी होती रहे।

इस प्रकार हरि-हरिजन की सेवा करते हुए एक दिन महन्त नारायणदासजी ने अपने पंचभौतिक देह का परित्याग कर नित्य-निकुंज महल की टहल प्राप्त कर ली। इनका विद्यमान काल वि० सं० १७५० से वि०सं० १८५० के मध्य सुस्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

नारायणदास (तृतीय)

ब्रजलीला के प्राकट्यकर्ता तथा रासलीलानुकरण के महान् आचार्य श्रीनारायणभट्ट द्वितीय की शिष्य परम्परा में अनेक भक्त हुए हैं। इनमें एक नारायणदास भालो-

टिया और दूसरे नारायणदास श्रोत्रिय ब्राह्मण मुख्य थे। बलभद्रजी की सेवा करने के कारण नारायणदास भालोटिया को बलभद्र भी कहते थे। ये विरक्त थे, दूसरे नारायणदास गृहस्थ थे। नारायण भट्ट वंशोद्भूत रघुनाथ भट्टात्मज जानकीप्रसाद भट्ट ने अपने ग्रंथ 'श्री नारायणभट्टचरितामृतम्' में इनका जो वृत्त दिया है, उसके अनुसार ये भू-पर्यटन करते हुए बरसाने में आये। तब इनकी अवस्था प्रायः ८० वर्ष की थी। ये श्री नारायण भट्ट जी से ऊँचा ग्राम में मिले तथा उनसे अनेक प्रश्न किए। भास्करनन्दन श्री भट्टजी ने इनके समस्त प्रश्नों का सन्तोष जनक उत्तर दिया तथा इन्हें अनेक भक्ति रहस्यों का अनुभव कराया। इन्होंने ध्यानस्थ होकर देखा कि भट्टजी साक्षात् नारद स्वरूप हैं। ये उनके श्रीचरणों में गिर पड़े और उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। इसी से इनका नाम नारायणदास हुआ। वैष्णवजन इन्हें तपोनिष्ठ होने के कारण 'स्वामी' अभिधान से भी पुकारते हैं।

श्रीनारायण भट्टजी ने अपने पुत्र दामोदर भट्ट तथा श्रोत्रिय नारायणदास को अपना अधिकार दिया था। 'रेवतीरमण' और लाड़लीलालजी' की आरती सेवा इन्होंने दामोदर भट्ट को सौंपी और श्रोत्रियजी को दोनों की अन्य परिचर्या में नियुक्त किया। अपने गुरु की आज्ञा से इन्होंने भी विवाह कर गृहस्थ धर्म का पालन किया। नारायणदास श्रोत्रिय भट्टजी को जिस रूप से देखते थे, उनके वंशज भी दामोदर भट्टजी को उसी भावना से देखते थे। उक्त वृत्त में नारायणदास श्रोत्रिय के शिष्यत्व ग्रहण करने के समय की अवस्था ८० वर्ष बताई गई है—'अशीतिवर्षावस्याद् भूत; तस्य पर्य्यंटतः क्षितिम्।' इसके बाद इनका विवाह करना सामान्यतः असंगत प्रतीत होता है। यदि इनकी अवस्था उस समय ८० वर्ष मानी जाय तो उस समय ये नारायण भट्टजी से आयु में काफी बड़े ठहरेंगे। श्री नारायण भट्ट का जन्म काल वि० सं० १५८८ है और वि० सं० १७०० से कुछ पूर्व हो उनका तिरोधान हुआ था। इससे अनुमानित होता है कि विक्रम संवत् १६६० के लगभग श्रोत्रिय नारायणदास इनके अनुगत हुए होंगे। इस तरह ये नारायण भट्ट से लगभग आठ वर्ष बड़े ज्ञात होते हैं। अतः इनका आविर्भाव काल वि० सं० १५८० और तिरोभाव वि० सं० १६७५ के लगभग अनुमानित होता है।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के खोज विवरणों में आये नारायणदास नामक कवियों से ये सर्वथा भिन्न ज्ञात होते हैं। कारण, वे सभी इनके परवर्ती हैं। 'भक्तमाल' में जिन स्वामी श्रीनारायणदास का वृत्त दिया है वे भी इनसे भिन्न ज्ञात होते हैं क्योंकि दीक्षा ग्रहण करने के बाद वे बरसाना में ही रहे।

स्वामी नारायणदास श्रोत्रिय द्वारा रचित नारायण भट्टजी की वन्दना में एक पद मिलता है। बरसाने के गोस्वामियों के पास इनकी कुछ फुटकर रचनाएँ उनकी समाज पोथियों में उपलब्ध हो सकती है। इन्होंने नारायण भट्ट से 'श्री लाड़लीजी' की सेवा-प्राप्ति, राधा-पदध्यान तथा बरसाने वास का उल्लेख इस प्रकार किया है—

(१)

श्री भट्ट नारायण की बलि जाऊँ।
जा प्रताप राधा-पद पाये,
निसिबासर जाके गुन गाऊँ॥
श्री बरसाने धाम लाड़िली,
जहाँ बसौं राधा-पद ध्याऊँ।
गुरु-पद-रेनु-कृपा-बल स्वामी,
जग नारायनदास कहाऊँ॥
वेई मुनि नारद आदि जुगादि,
वेई बलि बाल-लीला जिहिं गाई।
ब्रज में सदा ब्रजचंद के आगै,
बिराजैं श्रीनारायन भट्ट गुसाईं॥

(२)

रागधनाश्री

नंदजू तेरे सुख दुख गयौ।
सबहिंनि कौ देव पितर भलौ मान्यौ।

तेरौ पुत्र प्रान सबही कौ भवन चतुर्दश जान्यौ ॥
हौं तेरो वृद्ध पुरातन ढाँढ़ी नाम सुने सुख पाऊँ।

गिरि गोबरधन बास हमारौ
गिरि तजि अनत न जाऊँ ॥

ढाँढ़िनि मेरी झाँझ बजावै हो
हूँ हुरक बजाऊँ।

मेरौ चीत्यौ भयौ तिहारै
जो जाँचौ सो पाऊँ ॥

अब तुम मोकौ करो अजाची
जो कहूँ करन पसारौं।

द्वारे देहु एक मंदिर मोंहि
स्याम सरूप निहारौं ॥

महाप्रसाद तिहारे घरकौ
बिन माँग्यौ जो पाऊँ।
जब जब जनम धरौं ढाँढी कौ
जनम करम गुन गाऊँ ॥

लै ढाँढी कंचन मनि मुकुता
और बसन मन भाए।
टोडर और पाटंबर अम्बर
मोहि सबै पहिराये ॥

हँसिबोली ढाढ़िनि ढाँढी सों
अब कछु बरनि बधाई।

जैसो दियौ न देहौ कोऊ
जैसी जसोमति हौं पतिराई ॥

हों पहिरी पहिर्‌यौ मेरौ ढाँढी
दान मान की थान।
नंद उदार भये पहिरावत
जनम करम रुचि मान ॥

बालक बलि भयौ नारायनदासनि
निरखि निधि पाई।

भक्ति करौं पालने झुलाऊँ
अब मन अनत न जाई ॥

न० च० बं०

नारायणदास (चतुर्थ)

आलोच्य नारायणदास (चतुर्थ) नारायणदास वैष्णव के नाम से विख्यात हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना 'छन्दसार-पिंगल' है जो सं० १८२९ में चित्रकूट में लिखी गयी थी—

> द्वादस अरु चालीस ए, छंद जु किए प्रकास।
> चित्रकूट महँ ग्रन्थ यह, कियो नारायन दास ॥

इनका एक अन्य ग्रन्थ 'भाषा-भूषण की टीका' है, जिसकी पुष्पिका में ग्रंथकर्ता के रूप में 'वैस्नव नारायण दास' का उल्लेख होने से वह आपका ही लिखा सिद्ध होता है। इस टीका को 'रहस्य-प्रकाशिका' कहा गया है। यह सं० १८२८ में लिखी गयी है।

इसका एक प्रसिद्ध सवैया यहाँ उद्धृत है :

धीर समीर सु वै मुरली तट
औ जमुना छवि तुंग तरंगित।
फूलि रहे द्रुम, कुंजन कुंज करैं
अलि पुंज पराग सने हित ॥
श्री वृषभान सुता नंदनंदन के
गुन गान सुने जितही तित।
कौन सुनै, सु कहौं किहि सों,
ब्रज की छवि मो मन में खटकै नित ॥

ह० नं० भा०

नरायणदास (पंचम)

श्री गुसाइं विट्ठलनाथजी के एक शिष्य नारायणदासजी (पंचम) थे, जिनकी प्रसिद्धि सम्प्रदाय में कवि रूप में है। इनका उल्लेख वार्ताओं में नहीं हैं, पर कीर्तन की पुस्तकों में इनके बहुत से पद मिलते हैं। इनका कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। इनका बनाया हुआ "ब्याहुला" सम्प्रदाय में प्रसिद्धि-प्राप्त रचना है। इन्होंने 'बारहमासी' भी लिखी है। नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित संस्करण में इसका प्रकाशन हुआ है।

नारायणदासजी की यह आस्था कि भक्ति गोकुल में प्रकट हुई है, पुष्टिमार्गीय मान्यता के अनुरूप हैं।

श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्यासक्ति कवि के विचार में भक्ति-भाव का पोषण करने में एक समर्थ शक्ति है। इस तत्व का ज्ञान श्री वल्लभाचार्य जैसे गुरु और उनके वंशजों से ही प्राप्त किया जा सकता है। इसका आधार प्रेमतत्व है। ये निम्नांकित पद में इस बात को डंके की चोट पर कहते हैं :

भक्ति श्री गोकुल तें प्रकट भई।
पहिले करी श्री वल्लभनंदन फिर औरन सिखई॥

चार्यौ बरन सरन करि अपने विधि सों बांट दई।
श्री विट्ठलेश प्रताप तेज ते तीनों ताप गई॥

प्रगट हुते द्वैत प्रेत अधर्मी तिनहू माँग लई।
अब उधरे कहते मुख अपने पत्री लिखि पठई॥

श्री वल्लभ श्री विट्ठल इनकी प्रीति प्रतीति लही।
नव प्रकार आधार नारायण घोष लोग निबही॥

स्पष्ट है कि श्रीवल्लभाचार्य की कृपा और श्री विट्ठलनाथजी की प्रेरणा से श्री नारायणदास जैसे विभ्रमित सहृदय को भक्ति जैसा अमूल्य तत्व अनायास ही प्राप्त हुआ है। इस अनुकम्पा के लिए कवि नत-मस्तक है।

रा० कृ० श०

नारायणदास (व्रजबासिया)

श्री नारायणदास के विषय में केवल इतना ज्ञात है कि ये ब्रज के निवासी थे। इनकी दो रचनाएँ 'गोवर्द्धन लीला' तथा 'स्वामिनीजी को ब्याह' प्राप्त हुई हैं। दोनों ग्रंथ काँकरौली के सरस्वती भाण्डार में सुरक्षित हैं। इनका लिपिकाल सं० १८२८ है।

'गोवर्द्धन-लीला' में कुल ४० पद हैं। इसमें श्री कृष्ण के गोवर्द्धन-धारण प्रसंग का वर्णन है। कुछ अंश इस प्रकार है—

(१)

गोद बैठी गोपाल कहें तब ब्रजराज सों,
अहो तात एक बात सुनो दे श्रवन हमारी।
भवन माँझ हूँ गयो धरी जहाँ सोंध घनेरी,
मैं हँसि माँग्यो पाय परि मैया दे री मोय।

कर लकुटि लिये खीजि कह्यौ रे,
यह क्यों देऊँ तोहि॥

(२)

कान्ह गए हैं पटपीत आनि जब धोरी बोली।
हूँ कत लेहड़ो फेरि बछ के सन्मुख होरी॥

छुव बछ अकुलाय के डाढ मेलिस महा आय।
भली अली खेली कहें हो कोन गोप की गाय॥

(३)

तब वृजवासी लोक देत ब्रजराज दुहाई।
जै जै शब्द उचारि हमारो देव कन्हाई॥

दै अशीस घर कूं चले ग्वाल गोप ब्रज नारि।
ब्रज जन गिरधर रूप ये हो वार्यो तन मन डारि॥
कहत ब्रजबासिया॥

इनकी दूसरी रचना 'स्वामिनोजी को ब्याह' में राधा के विवाह का वर्णन है। इसमें कुल ११९ छन्द हैं। कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

ब्रज वेद बदित बरसानों।
वृषभान गोप तहाँ आनों॥
ताकी राधा रुचिर कुमारी।
पिता मात हे प्रान पियारी॥

• • •

तब हँसि उठी ब्रज बाला।
भले डहके नन्द लाला॥

एक कहे कह्यो सुनि मेरी।
ए छूयो न खेहे तेरे॥

तेरी देह कांति अति कारी।
ये कंचन बरन कुमारी॥

वा० सिं०

नारायणदास सेंगरिया

श्री नारायणदास सेंगरिया गोवर्द्धन निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म वैसाख संवत् १९०१ में हुआ था। इनके पिता का नाम खुशालीराम था। ये व्रजभाषा के प्रख्यात आशुकवि थे। कविता में 'कविजीत' या नारायण' छाप रखते थे। ये श्री मुकुन्द महाराज के शिष्य थे।

ये अपनी कविताओं को प्रकाशित कराने के पक्ष में नहीं थे। इन्हें स्वरचित और प्राचीन कवियों के सहस्रों छंद कंठस्थ थे। ये अपने शिष्यों को कंठस्थ और आशुरचित कविताएँ सुनाते थे। समय के अन्तराल में इनकी अधिकांश रचनाएँ विस्मृत हो गयीं। ये गिरिराज के अनन्य भक्त थे और गोवर्द्धन में ही निवास करते थे। इसी सम्बन्ध का यहाँ एक छंद उद्धृत है :

बरुन कुबेर सेवें, भूमि गिरि-मेरु सेवें,
रमां उमां हरि सेवें, सुँमन सुमंदला।
गिरिजा-गनेश सेवें, सारदादि सेस सेवें
नारद महेस सेवें, गावैं गति छंदला॥

बुद्ध जन धीर सेवें, 'नाराइन' बीर सेवें,
सकल अहीर सेवें, ध्यान मत मंदला।
सुर सिरताज सेवें, नंद महाराज सेवें,
सेवें ब्रजराज राज गिरिवर की कंदला॥

ह० न० भा०

नारायण भट्ट

श्री नारायण भट्ट के सम्बन्ध में अपेक्षित अन्तःसाक्ष्य के अभाव में 'नारायण भट्ट चरितामृतम्' तथा 'लघु नारायण भट्ट चरितामृत' के आधार पर इनके जीवन-सूत्र आकलित किये जा सकते हैं। इन ग्रन्थों के आधार पर नारायण भट्ट का जन्म वि० सं० १५८८ की वैशाख शुक्ल १४ (नृसिंह चतुर्दशी) को दक्षिण भारत के मदुरा नगर में हुआ था। ये भृगुवंशी दीक्षित ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम भास्कर भट्ट, माता का नाम यशोमती और बड़े भाई का नाम गोपाल भट्ट था। ये बड़े रूपवान थे। गुणानुरूप हो इनका नाम नारायण रखा गया।

इनकी प्रारम्भिक शिक्षा दक्षिण में हुई। इन्होंने बारह वर्ष की आयु में ही विद्याध्ययन समाप्त कर लिया था। बाल्यावस्था से ही ये कृष्ण-भक्त और ब्रज-वृन्दावन के अनुरागी थे। 'ब्रज-दीपिका' नामक ग्रंथ का प्रणयन इन्होंने दक्षिण में अपने पितृगृह में ही किया था। इसके उपरान्त ये अपने आराध्य श्रीकृष्ण की प्रेरणा से ब्रज में निवास करने और लुप्त तीर्थों का प्राकट्य करने के लिए घर से चल दिए। ढाई वर्ष तक तीर्थाटन करते हुए वि० सं० १६०२ में ये ब्रज में पहुँचे। श्री गोपालभट्ट, प्रबोधानन्द सरस्वती, गदाधर भट्ट जैसे अपने युग के महान् रसिक भक्त चैतन्य मत में दीक्षित होकर दक्षिण से ब्रज-वृन्दावन की ओर प्रस्थानित हुए थे। ऐसा ज्ञात होता है कि श्री नारायण भट्ट को भी दक्षिण में चैतन्य-मत के किसी महान् सन्त से ब्रज-वृन्दावन आने की प्रेरणा मिली होगी। इनके साथ भगवान् का श्रीलाड़िलेय स्वरूप भी था। सर्वप्रथम ये श्री गोवर्धन के समीपस्थ राधा-कुण्ड गये जहाँ श्री चैतन्य-मतानुयायी श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी ने इन्हें अपने सम्प्रदाय में आत्मसात् किया और उस के गूढ़ रहस्यों को हृदयगम कराया। वहाँ रहते हुए इन्होंने सात ग्रंथों की रचना की। १२ वर्ष तक राधा-कुण्ड-वास के उपरान्त भट्ट जी ऊंचागाँव चले गये। नारायण भट्ट में श्री रंगदेवी की स्थिति होने से, इन्दुलेखा सखी के अवतार ब्रह्मचारीजी और इनमें परस्पर अतिशय सख्य भाव रहता था। ये शास्त्रोक्त विलुप्त ब्रज-तीर्थों के अद्‌भुत उद्धारक थे। व्रज का पुनरुद्धार करने वाले महात्माओं में नारायण भट्ट का स्थान सर्वोपरि है। ऊँचेगाँव जाकर ये गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट हुए। इनके दामोदर नामक पुत्र हुआ जिसे पितामह भास्कराचार्य ने अपने देश ले जाकर विद्या भी पढ़ाई, पुनः ब्रज में आने पर उसने अपने पिता श्री नारायण भट्ट से युगलोपासना-मंत्रोपदेश तथा संप्रदाय-रहस्यों का ज्ञान प्राप्त किया।

श्री नारायण भट्ट ने ब्रज-मण्डल के विलुप्त तीर्थों का स्थल-निर्धारण और प्राकट्य किया। रामभक्त श्री नाभादासजी ने अपने महान् ग्रन्थ 'भक्तमाल' में इनके विषय में लिखा है—

गोप्य स्थल मथुरा–मण्डल, जिते बाराह बखाने।
ते किये नारायण प्रगट, प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने॥

इसी प्रकार राधावल्लभ-सम्प्रदाय के महान् सन्त ध्रुवदासजी ने अपने 'भक्तनामावली' नामक ग्रंथ में लिखा है –

भट्ट नारायण अति सरस, ब्रज मण्डल सों हेत।
ठौर-ठौर रचना करी, प्रगट कियौ संकेत॥

इन्होंने ऊँचेगाँव में रेवती-बल्देव को प्रकट किया और बरसाने में श्री लाड़लीलालजी को प्रतिष्ठित कर उनकी सेवा प्रचलित की। ब्रजप्रकाशक भट्टजी को तत्कालीन वैष्णव समाज ने इनके महान् कार्यों को लक्षित कर "ब्रजाचार्य" पद पर अभिषिक्त किया।

भट्टजी के अनेक शिष्यों में से इनके पुत्र दामोदर भट्ट, नारायणदास, बलभद्र, नारायणदास श्रोत्रिय, मथुरादास, दामोदरदास और वैश्यलालदास मुख्य थे। प्रतिदिन राधाकृष्ण कीर्तनादि करने का समस्त शिष्यों को इनका उपदेश था। ये शिष्यों को समर्पण-सेवा और भक्ति का महत्व बतलाते थे तथा 'समाज' का आयोजन भी करते थे।

श्रीकृष्ण की आज्ञा से प्रेरित होकर भट्टजी ने ब्रज के सुन्दर ब्राह्मण बालकों को राधावेश, कृष्ण वेश, गोपीगोपवेश आदि से सज्जित कराकर ब्रज-मण्डल में रासादि लीलाओं का प्रचलन कराया। इनमें रंगदेवी का आवेश था। अतः इनकी प्रेरणा से गोचारण लीला, कालीय दमन लीला, साँझी लीला, दानलीला, मान-लीला आदि का दिवस-नक्षत्र और स्थल के अनुरूप ही लीलानुकरण होने लगा। जानकी प्रसाद भट्ट कृत 'श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्' के अनुसार भट्टजी ने ६० ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें प्रथम ग्रंथ दक्षिण में, सात राधाकुण्ड में और शेष ऊँचाग्राम में रचे गए। भट्टजी ने अपने ग्रन्थों का प्रणयन प्रामाणिक रूप में किया है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, संहिता, तन्त्र, पुराणादि शास्त्रों का इन्होंने गम्भीर अनुशीलन किया था। इन ग्रन्थों का सर्वत्र-सन्दर्भ देकर इन्होंने अपने विषय का प्रतिपादन किया है। शत-शत शास्त्रों को हृदयंगम कर भक्ति-सिद्धान्त, उपास्यतत्व और उपास्यस्थली का सम्यक् निरूपण कठिन तपस्या है जो नारायण भट्टजी ने सम्पन्न की है। गौड़ीय-आचार्यों के समान विशाल ग्रंथ-सृष्टि और महत् कार्यों का सम्पादन आधुनिक विद्वानों को विस्मयविबोधक हो सकता है, किन्तु भट्टजी ने गुरुप्रसाद और युगल कृपा से वह सब कुछ साकार किया था।

श्री नारायण भट्ट के महत्वपूर्ण कार्यों का विवरण इस प्रकार है—(१) मथुरा मण्डल में गोप्य तीर्थों का उद्धार, (२) ब्रज के वन, उपवन, तीर्थ, देवी-देवताओं की महिमा तथा भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति के प्रचारार्थ महान् ग्रंथों का प्रणयन, (३) रास-लीला अनुकरण का सर्वप्रथम प्राकट्य, रास-प्रचार तथा रास-मण्डलों का निर्माण, (इससे ब्रज की गान, वाद्य, नृत्य, नाट्य आदि कलाओं की उन्नति हुई) (४) वन-यात्रा तथा ब्रज-यात्रा का प्रारम्भ (ब्रज-भक्ति विलास तथा वृहद् ब्रज गुणोत्सव इसके प्रमाण स्वरूप हैं), (५) रेवती-रमण, बलदेव और लाड़ली स्वरूप की प्रतिष्ठा और (६) कीर्तन-पद्धति में 'समाज' का आयोजन।

नारायण भट्ट के द्वारा रचित कुछ ग्रंथों के नाम इस प्रकार है—(१) ब्रजदीपिका, (२) ब्रज भक्ति विलास, (३) ब्रजप्रदीपिका, (४) ब्रजोत्सव चन्द्रिका, (५) ब्रजमहोदधि, (६) ब्रजोत्सवाह्लादिनी, (७) वृहत्ब्रजगुणोत्सव, (८) ब्रजप्रकाश, (९) भक्त-भूषणसन्दर्भ, (१०) भक्ति विवेक, (११) भक्ति-रसतरंगिणी, (१२) साधनदीपिका, (१३) रसि-काह्लादिनी टीका, (१४) प्रेमांकुर नाटक, (१५) लाडिलेयाष्टक, (१६) धर्मप्रवर्त्तिनी, (१७) सिद्धान्त-चूड़ामणि, (१८) नीतिश्लोकानि, (१९) ब्रजरत्न-

दीपिका, (२०) भक्तिरहस्य, (२१) राधाविनोद काव्यस्य टीका ॥

'व्रज-भक्ति विलास' का रचना काल वि० सं० १६०९ है। 'व्रजोत्सवचन्द्रिका' की रचना राधाकुण्ड में वि० सं० १६१२ में हुई थी। इसमें ८००० श्लोक हैं। 'भक्तिरसतरंगिणो' रूपगोस्वामी कृत 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनोलमणि' पर समाधृत है। जयपुर स्थित श्री गोविन्ददेवजी के मन्दिर से तथा बरसाना निवासी गोस्वामी प्रियालालजी के संग्रह से कुसुम सरोवर निवासी बाबा कृष्णदासजी को उक्त ग्रन्थ की प्रतियाँ मिली थीं। इस ग्रन्थ में चैतन्य-सम्प्रदाय की परकीया भावमयी उपासना का सन्निवेश किया गया है। श्रीपाद् विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने अपनी 'उज्ज्वलनीलमणि' की 'आनन्द चन्द्रिका' टीका में नारायण-भट्ट की 'भक्तिरस तरंगिणो' से ही प्रमाण दिया है। रसिकाह्लादिनी टोका भागवत को टीका है। इसकी सम्पूर्ण प्रति अभी अप्राप्य है, किन्तु दशम स्कन्ध के आरम्भ से रासपंचाध्यायी तक की प्रति मिल चुकी है। यह बड़ी विलक्षण तथा रसभाव-पूर्ण रचना है। संकेत में नारायण भट्टजी वीणा लेकर अपने द्वारा प्रकटित श्री राधारमण के विग्रह के समक्ष रासपंचाध्यायी गाया करते थे, इन्हें भागवत की टीका की प्रेरणा तभी हुई। 'प्रेमांकुर-नाटक' का 'श्री नारायणभट्ट-चरितामृतम्' में उल्लेख हुआ है। ऐसा ज्ञात होता है कि बरसाने तथा समीपवर्ती स्थलों में श्री नारायण भट्ट द्वारा प्रवर्तित जो बूढ़ी लीला होती है वह इसी ग्रन्थ के आधार पर है। 'व्रजोत्सवचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ में भी बूढ़ी लीला का निर्णय उपलब्ध है। इस 'प्रेमांकुर-नाटक' में—जन्मादि लीला, दानलीला, मान लीला, मग रोकन लीला, परस्पर गाली दान लीला, मटकी फोड़नी लीला, वनबिहार, साँझी, पुष्पचयन—हास—परिहास लीला, सखियों द्वारा निकुंज-रचना और निकुंज भेद लीलायें आदि वर्णित हैं। 'बृहत्व्रजगुणोत्सव' में २६ हजार श्लोक बताये गए हैं। 'व्रज-भक्ति-विलास' के सातवें अध्याय में नाराणय भट्ट ने इसका उल्लेख किया है। 'व्रजोत्सवाह्लादिनी' में तिथियोंवार सहित व्रजोत्सवों का सांगोपांग वर्णन है तथा स्वप्नों का शुभाशुभ विचार भी है। इसकी हस्तलिखित प्रति बरसाने के नित्यधाम प्राप्त गोस्वामी कुंजीलाल के सुपुत्र श्री युगल शास्त्री के पास सुरक्षित है। 'व्रजभक्तिविलास' में व्रज के समस्त बन-उपवन, तीर्थस्थल, कुण्ड, लीला स्थल, देवी-देवता तथा मंत्रों का सविस्तार विवरण है। 'मथुरा मेमोयर' नामक महान् ग्रन्थ के प्रणेता मथुरा के विद्वान् जिलाधीश श्री एफ० एस० ग्राउज़ ने नारायण भट्ट जी के 'व्रजभक्तिविलास' का आधार लिया था। 'साधनदीपिका' गोस्वामी गोपाल भट्ट विरचित 'हरिभक्ति विलास' नामक वैष्णवाचार के आकर ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप है। 'साधनदीपिका' के कथ्य के विषय में श्री भट्टजी बतलाते हैं कि यह ग्रंथ मंत्रशास्त्रों के अनुसार सदाचार्यों के सदाचारानुरोध से साधनों के भावो को प्रकाशित करने वाला है। नारायण भट्टजी की उदार दृष्टि का इसमें उल्लास मिलता है। उनके अनुसार सभा वर्गों, वर्णों के लोग दीक्षा के अधिकारी कहे गये हैं। भारतीय राष्ट्रचिति के नव-निर्माण में इस उदारचेता महापुरुष का महत्व-पूर्ण योगदान है।

नारायण भट्टजी के अधिकांश ग्रन्थ अप्राप्य हैं। कुसुम सरोवर क प्रसिद्ध साहित्योंद्धारक संत बाबा कृष्णदास ने अत्यन्त परिश्रम कर नारायण भट्टजी के ग्रंथों को उपलब्ध कर उन्हें प्रकाशित कराया था। इनकी कृतियाँ व्रज-संस्कृति को कीर्ति-स्तम्भ हैं।

इनकी प्रशस्ति में प्रियादास ने अपनी टीका में लिखा है :

भट्ट श्री नारायण जु भए व्रज परायन,
जाय याही ग्राम तहाँ व्रत करि आए हैं।
बोलि कै सुनावैं इहाँ प्रभु को सरूप है जू,
लीला कुंड धाय स्याम प्रगट दिखाए हैं।
ठौर ठौर रास के बिलास लै प्रकास किए
जिए यों रसिकजन कोटि सुख पाए हैं।

मथुरा ते कहो, चलो बेनी, पूछै बेनी कहाँ,
ऊँचे गाँव आप खोदि सोत लै लखाए हैं ॥

एक अन्य स्थल पर भी नारायण भट्ट का उल्लेख मिलता है—

श्री नारायण भट्ट प्रभु
परम प्रीति रस बस किए ।
व्रजवल्लभ वल्लभ परम
दुर्लभ सुख नैननि दिए ॥

शिवसिंह सरोज में इनका निम्नलिखित छन्द उद्धृत है :

आइए जु, भले आए, कत सकुशल हो ।
सुरत संग्राम करि, सौतिन को सुख दीने,
याही रस भीने होय, मोको तो रुचत हो ॥
तुम देखि रिस गई उपजी है प्रीति नई
भई सो तो भई, अब काहे धौं सुचत हो ।
'नारायण' मोहि जानो, वहै चेरी करि मानो,
कही जीय एतो अभिलाष, जू सुचित हो ।

न० चं० बं०
ह० नं० भा०

नारायणशरणदेवाचार्य

श्री नारायणशरणदेवाचार्य ने श्री हरिवंशदेवाचार्य के पश्चात् श्री निम्बार्काचार्यपीठ को समलंकृत किया था। ये बड़े ही प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। वि० सं० १७५० के आसपास इन्होंने महाराणा जगत सिंह के आग्रह पर उदयपुर में निवासकर भक्ति का प्रसार-प्रचार किया था। इन्होंने वहाँ श्री प्रयागदासजी का स्थल एवं बाईजीराज का कुण्ड आदि अनेक मठ-मन्दिरों का निर्माण कराकर भक्ति-प्रचार के स्थायी केन्द्र स्थापित किये।

ये बड़े ही गुरु-भक्त थे, बिना गुरु की आज्ञा के कोई कार्य नहीं करते थे। श्रीगुरुदेव की आज्ञानुसार ही ये अपने सारे दैनिक कार्य सम्पन्न करते थे। एक बार गुरुदेव ने इनको उपदेश दिया कि इस स्थान (सलेमाबाद) पर प्रसाद तभी ग्रहण करना उचित है जब कि सर्वेश्वर प्रभु प्रसाद पा लें। श्रीगुरुदेव के इन वचनों ने नारायणदेवाचार्यजी को बहुत प्रभावित किया। अब ये बिना सर्वेश्वर प्रभु को प्रसाद अर्पित किये प्रसाद ग्रहण न करते। किन्तु इसके कारण इन्हें बड़ी ही कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ा। घटना इस प्रकार है।

एक बार गुरुदेव पुष्कर पधारे। यहाँ आकर उन्हें यह स्मरण ही नहीं रहा कि श्री नारायणदेव बिना सर्वेश्वर प्रभु को भोजन समर्पित किये प्रसाद ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार गुरुदेव को श्री पुष्कर में दस दिन निवास करते बीत गये। ग्यारहवें दिन जब ये पधारे और नारायणदेवजी के विषय में पूछा तो उन्हें विदित हुआ कि नारायणदेवजी प्रतिदिन प्रातः संध्या-वन्दनादि करके आश्रम से वन की तरफ चले जाते हैं। वहाँ जाकर प्रभु का गुणानुवाद करते रहते हैं। शिष्य की इस दशा को देख श्री हरिवंशदेवाचार्यजी प्रेमविह्वल हो गये एवं उनके नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा बह निकली। शिष्य से पूछा "नारायण क्या कारण है, जो तुम इतने दुर्बल हो गये हो ?" तब शिष्य ने उत्तर दिया, "गुरुवर ! सत्व-शुद्धि का ही यह परिणाम है। दुर्भाग्य से मैंने किसी विकृत आहार का सेवन कर लिया था। आपकी कृपा से अब उसका विनाश हो चुका है।" इतना कहकर श्री नारायणशरण देवाचार्यजी गुरुदेव के चरणों में गिर पड़े। उधर शिष्य की गुरुभक्ति से गद्गद हो आचार्य ने उसे गले लगा लिया। गुरु-शिष्य के इस प्रेम-मिलन को देख उपस्थित जन-समूह विस्मित-चकित-सा देखता ही रह गया।

इनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं जिनमें से कुछ का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

एक बार कुछ माथुर चतुर्वेदी एवं अन्य गणमान्य ब्राह्मण नारायणदेवाचार्यजी के दर्शनार्थ सलेमाबाद आ रहे थे। मार्ग में उन्हें डाकुओं ने पकड़ लिया और सर्वस्व लूट लिया। इससे दुखी होकर वे ब्राह्मण कहने लगे "भैया ! हम तो भले श्री नारायणदेवाचार्य के

दर्शन करने आये। हमारो तो जो गाँठ को कपड़ा-लत्ता-लोटा-लंगोटा छिन हू गयो। हम तो सबतरियाँ मारे गये।" जब डाकुओं ने श्रीदेवाचार्यजी का नाम सुना तो उन्हें बड़ी ही ग्लानि हुई और उन लोगों ने ब्राह्मणों का समस्त सामान लौटा दिया एवं उन्हें सादर उस बीहड़-बन से पार करा दिया।

व्रजवासी विप्रवृन्द आचार्यश्री की कृपा का गुणानुवाद करते हुए सलेमाबाद पहुँचे। आचार्यश्री मथुरा-वृन्दावन के निवासियों से मिलकर परम-प्रसन्न हुए। ब्राह्मणों ने आचार्यश्री से निवेदन किया कि 'महाराज जी! हमारे तीर्थन पै यवनन की कुदृष्टि के कारण जजिया कर लग्यौ भयौ है। तो आप कुछ ऐसो उपाय बताय दें जाते जे जजिया कर हट जाय और देश वासिन कोऊ भलो होय।' तब आचार्यश्री ने कहा कि "आप अजमेर जायें। वहाँ पर बादशाह धर्मयात्रा पर आया है। सर्वेश्वर प्रभु आपकी मनोकामना अवश्य पूर्ण करेंगे।"

इस प्रकार आचार्यश्री का शुभाशीष प्राप्त कर सभी अजमेर गये और अपना परिचय दे जजिया कर हटाने का अनुरोध किया। सर्वेश्वर प्रभु की कृपा से बादशाह ने उनका अनुरोध स्वीकार कर जजिया कर समाप्त कर दिया। इस वृत्तान्त का विवरण इतिहास में नहीं प्राप्त होता, किन्तु जजिया कर हटाने के सन्दर्भ में इसका प्रमाण पं० किशोरीनन्दजी ओझा, छोटी बस्ती पुष्कर, अजमेर की बही में मथुरा के ब्राह्मणों के लेख में प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है :—

"सं० १७३७ आ० सु० सप्तमी मथुराजी के समस्त पंच तेरा थोक, चौंसठ अल्ल ···· ···· पंचन ने देख कें लिख दीनी 'जमुना पुत्र होय सो प्रोहित कल्यान ओझा की संतति को माने, सुभम्–अजमेर जजिया छुड़ायबें कूँ आये तब लिख दीनो।"

इस लेख में लगभग बीस व्यक्तियों के नाम हैं, जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—ककोर (अल्ल) विरधीचन्द, हीरामनी, उमेदी, लोदू चौबे, भगवन्त, विहारी, गोवर्द्धन, पद्मनाभ, लोकमनी, इन्द्रमणी, परशुराम, चौधरी वंसीकिसोर, गिरधर एवं जगजीवन हरिवंश।

एक बार नारायणदेवाचार्यजी पुष्करराज के स्नानार्थ पधारे। मार्ग में इनको सिंह की दहाड़ सुनाई दी। साथ के सभी साधु भयभीत होकर, बचने के लिए इधर-उधर सुरक्षित स्थान खोजने लगे। किन्तु स्वामी नारायणदेवाचार्यजी उस सिंह की आवाज की तरफ जाने लगे। उन्हें सिंह की इस दहाड़ से प्रतीत हुआ कि सिंह कष्ट में है। इनके गुरुदेव की शिक्षा थी कि जीवों से डरना नहीं चाहिए वरन् उन पर दया करनी चाहिए। अतः नारायणदेवजी निडर होकर सिंह के समीप जा पहुँचे। उधर वह सिंह शिकारी के वाण से घायल था, जो उसके पाँव में लगा था। दर्द से छटपटाते सिंह को देख आचार्य श्री दया से द्रवित हो गये। भय त्याग कर उसके पास गये, उसके सिर पर स्नेह से हाथ रखा एवं उसका तीर खींच लिया। मुमूर्षु वनराज तीर के निकलते ही मानो जी उठा। आचार्यश्री ने कमण्डलु के जल में से कुछ जल उसके ऊपर छिड़का और वहाँ से चल दिये। मृगराज उन्हें कृतज्ञता की दृष्टि से देखता ही रह गया।

इधर जब अन्य सन्तों ने इन्हें मृगराज की तरफ जाते देखा तो उन्होंने समझा कि नारायणदेवजी सिंह के आहार अवश्य हो जाँयगे। उन्होंने जाकर सबसे नारायणदेवजी के सिंह के मुख में जाने की बात प्रसारित कर दी। जब आचार्यश्री सिंह को मृत्यु के मुख से निकाल कर लौट रहे थे तो मार्ग में उन्हें कुछ शिकारी मिले। उन्होंने आचार्य से पूछा कि 'महाराज! आप इधर कहाँ से आ रहे हैं? इधर तो हमारे बाण से घायल सिंह गया है।'

तब आचार्य ने कहा कि 'वह दुखित वनराज मेरा क्या अहित करेगा? यहीं कहीं होगा।' तब वे शिकारी बोले 'महाराज! आप क्या कह रहे हैं, अपनी सुरक्षा कीजिए। घायल सिंह बहुत ही खतरनाक हो जाता है।' तब आचार्य ने मुस्करा कर कहा 'अब वह सिंह साधु हो गया है। अब वह किसी पर आक्रमण

नहीं करेगा, उसका तीर निकालकर मैंने वहीं वृक्ष में लगा दिया है।' इस बात को सुनकर वे लोग उस स्थान पर गये जहाँ वह घायल सिंह था। वहाँ की स्थिति देखकर वे लोग आश्चर्य चकित हो गये। उन्हें विश्वास हो नहीं हो रहा था कि कोई घायल सिंह के पास जाये और जीवित लौट आये। अन्ततः उन्हें विश्वास करना पड़ा कि ये कोई चमत्कारी महात्मा हैं। अतः वे शिकारी आचार्यश्री से प्रभावित हो उनके चरणों में गिरकर क्षमा याचना करने लगे। इस घटना की चर्चा कुछ ही समय में आस-पास में फैल गयी। इससे हजारों की संख्या में दर्शनार्थी आचार्यश्री के दर्शनार्थ आने लगे।

इन्होंने अपने गुरुदेव श्री हरिवंशदेवाचार्यजी का स्मृति-महोत्सव इतनी धूमधाम से मनाया था जिसकी कि कोई समता न थी। यह महोत्सव गिरिराज में श्रीगोविन्द कुण्ड पर आयोजित किया गया था। इसमें लाखों की संख्या में सन्त-महात्मा सम्मिलित हुए थे। लोगों का कहना है कि ऐसा महोत्सव व्रज में अभी तक नहीं मनाया गया।

इन्होंने वि० सं० १७५४ तक श्री निम्बार्काचार्य-पीठ, सलेमाबाद की गद्दी को सुशोभित किया।

प्रे० ना० श्री०

नारायण स्वामी (प्रथम)

नारायण स्वामी (प्रथम) वृन्दावन के प्रसिद्ध संत थे। रईस घर में पैदा होने पर भी इन्होंने अपने मन को पवित्र रखा, सम्पति का परित्याग कर दिया। ये शरीर पर केवल कौपीन धारण करते थे। कहते हैं इन्होंने श्री कृष्ण का साक्षात्कार प्राप्त किया था। ये सदैव कृष्ण का नाम जपते तथा उनके प्रेम में मग्न रहते थे। इनका अधिकांश जीवन वृन्दावन में व्यतीत हुआ। इनका उपस्थिति काल वि० की २० वीं शती का पूर्वार्ध माना जाता है।

म० गो० भा०

नारायण स्वामी (द्वितीय)

श्री नारायण स्वामी (द्वितीय) का जन्म सम्वत् १८५५ में रावलपिंडी में हुआ था। संवत् १९१६ के लगभग ये वृन्दावन में आकर निवास करने लगे। यहाँ इन्होंने लालाबाबू के कार्यालय में नौकरी कर ली। वृन्दावन के रसिक भक्तों के संसर्ग में इनकी भक्ति-भावना पल्लवित हुई। रास-लीलाओं की प्रेरणा से नारायण स्वामी ने काव्य-रचना प्रारम्भ की। वृन्दावन के टीकरी वाले मन्दिर की रासमण्डली इनके पदों का अभिनय करती थी। कुछ समय उपरान्त नौकरी छोड़कर इन्होंने सन्यास ग्रहण कर लिया और यमुना तटवर्ती केशीघाट में खपटिया बाबा के घेरे में रहने लगे।

नारायण स्वामी की चारित्रिक महानता विषयक अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। कालान्तर में इनकी ख्याति से आश्रितों ने अनुचित लाभ उठाना आरम्भ कर दिया। अतः केशीघाट छोड़कर ये कुसुम-सरोवर पर रहने लगे। वहीं संवत् १९५७ में उद्धवजी के मन्दिर में इनका गोलोकवास हुआ। नारायण स्वामी के समसामयिक श्री राधाचरण गोस्वामी ने अपने 'भक्तमाल' में इनके व्यक्तित्व और कृतित्व की प्रशंसा की है, जिससे ज्ञात होता है कि ये काव्य रचना में प्रवीण थे और रासमण्डलियों में इनके पदों का विशेष आदर था।

नारायण स्वामी ने सर्वप्रथम भागवत सम्बन्धी गजलों की एक पुस्तक प्रकाशित की। संवत् १९४० में लाला गनेशीलाल ने इनके पदों का संग्रह 'व्रज-विहार' के नाम से प्रकाशित करवाया था। इसके अनन्तर सम्वत् १९९५ में वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से भी इसका एक संस्करण प्रकाशित हुआ। नारायणस्वामी का साधनागत नाम 'नवलसखी' था, परन्तु पदों में इन्होंने अपनी छाप 'नारायण स्वामी' ही रखा है। व्रज-विहार के प्रारम्भ और अन्त में 'गोपालाष्टक' और 'अनुरागरस' नामक दो संक्षिप्त रचनाएँ भी संकलित हैं।

गोपालाष्टक आठ स्तोत्रों की एक संक्षिप्त रचना है, प्रत्येक स्तोत्र 'श्री गोपालं दीनदयालं वचन रसालं ताप हरम्' से समाप्त होता है।

व्रजविहार राधा-कृष्ण की विविध लीलाओं सम्बन्धी दोहों और पदों का संग्रह है। इन लीलाओं का स्वरूप निरपेक्ष है। अतएव उन्हें स्वतन्त्र रचना माना जा सकता है। प्रत्येक लीला के अन्त में उसकी पुष्पिका दी गयी है, जिससे इस तथ्य की पुष्टि होती है। रास मण्डलियों के लिए रचे जाने के कारण इनके अन्तर्गत कथोपकथनों की भी योजना हुई है। 'व्रजविहार' में संकलित लीलाओं की सूची इस प्रकार है – माखनचोरी-लीला, उराहनों लीला, आँख-मिचौनो-लीला, उत्थापन-लीला, पनघट-लीला, नवल-सखी की दानलीला, दान-लीला, श्री देवीपूजन-लीला, नव दुलहिनी-लीला, मान-लीला, दोहावली, खण्डिता मान-लीला, संग्राम मान-लीला, रूपगर्विता मान-लीला, नवलविहारी-लीला, श्री श्यामविहारिनी-लीला, युगल छद्म-लीला, प्रथम अनुराग-लीला, चौसर-लीला, सखी खण्डिता-लीला, वंशी-लीला, निकुंज हिंडोरा-लीला, शयन-लीला, साँवरी छद्म झूलन-लीला, वनझूलन-लीला, बसंत-लीला, होरी-लीला, गली होरी-लीला, छद्म होरी-लीला, प्रेम परीक्षा-लीला, रासपंचाध्यायी-लीला, सखी अनुराग-लीला और साँझी-लीला।

अनुराग रस १८४ दोहों की नीतिपरक शैली में रची हुई एक संक्षिप्त रचना है। इन दोहों का महत्व भक्ति और नीति के युगपद प्रतिपादन में है। समस्त दोहे मंगलाचरण, चेतावनी पुनि गुणदोष लक्षण, सन्त लक्षण, कृपानिधान की शोभा और प्रेमलक्षण शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित हैं।

इन कृतियों के अतिरिक्त श्री नारायणस्वामी ने कृष्ण की विविध लीलाओं पर पदों की भी रचना की है। व्रजविहार में संकलित पदों को भी स्वतन्त्र कोटि में रखा जा सकता है। विषय की दृष्टि से ये पद चार प्रकार के हैं:—१. सिद्धान्त के पद, २. बधाई के भजन, ३. यमलार्जुन की स्तुति विषयक पद और ४. स्फुट पद।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के कवियों में राधा-कृष्ण की लीलाओं की विविधता की दृष्टि से नारायण स्वामी का स्थान वृन्दावनदेव के समकक्ष माना जा सकता है। लीला वर्णन में इनकी व्यक्तिगत रुचि और उनका रासमण्डलियों के अभिनेयार्थ रचे जाने के मूल में लीलाओं की विविधता है।

नारायण स्वामी द्वारा रचित कृष्णलीलाओं के बीच-बीच में वार्ता का भी प्रयोग हुआ है, जो इनके लोकनाट्य रूप को पूर्णता प्रदान करता है। व्रजप्रदेश की रासमण्डलियों में नारायण स्वामी द्वारा रचित कृष्ण-लीलाएँ आज भी अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

रा० कु० व०

नाहरमल

श्री हित हरिवंश गोस्वामी के पूर्वज देवबंद में जहाँ रहते थे, वह कायस्थों का मुहल्ला था। आज भी वह मुहल्ला 'कायस्थ बाड़ा' कहलाता है। श्री नाहरमल यहीं के निवासी थे। इनका मकान आज भी श्री हिताचार्य द्वारा निर्मित श्री रंगीलालजी के मंदिर के निकट विद्यमान है। ये तीन भाई थे। तीनों ही उच्च कोटि के रसिक संत थे और तीनों ही श्री हिताचार्य के शिष्य थे। इनके चरित्रकार ने लिखा है कि इन्होंने जब से श्री गुरु की शरण ग्रहण की उसी दिन से इन्होंने श्री राधावल्लभ लाल को अपना सर्वस्व मान लिया और जागतिक पदार्थों से अपनी आसक्ति बिलकुल हटा ली। ये अपने गृहस्थी के पालन के लिये जो कुछ भी उद्यम करते थे वह सब प्रभु का मान कर करते थे। एक दिन ये अपने परिवार सहित श्री गुरु का दर्शन करने के लिये श्री वृन्दावन आये। जिस समय ये मन्दिर में पहुँचे उस समय श्री हिताचार्य ब्रजवासी बालकों के साथ यमुना तट पर गये हुये थे। नाहरमलजी वहाँ पहुँचे तो इन्होंने देखा कि महाप्रभु जी बालकों को तीर चलाना सिखा रहे हैं। इनको

आता देखकर उन्होंने अपने हाथ में ली हुई कमान बालक को दे दी और इनसे बातें करने लगे। नाहरमलजी यह देखकर अत्यन्त दुःखी हो गये। इनके मन में यह आया कि मैंने प्रभु की लीला में व्यवधान डाल दिया। ये गुरु के चरणों में गिरकर फूट-फूट कर रोने लगे और कुछ देर के बाद ही धैर्य धारण कर सके।

श्री हिताचार्य ने वृन्दावन से दो मोल की दूरी पर उत्तर दिशा में स्थित मानसरोवर के तट पर नाम-सेवा की स्थापना की थी और वहाँ वे प्रतिदिन संध्या के समय जाकर स्वयं सेवा करते थे। नाहरमलजी की श्रद्धा देखकर एक दिन वे इनको अपने साथ मान सरोवर ले गये। वहाँ पहुँचकर महाप्रभु ने नाहरमलजी को सरोवर में स्नान करने का आदेश दिया और स्वयं सेवा में प्रवृत्त हो गये। जल में प्रवेश करते ही नाहर मलजी को 'गुन-छवि-रूप-रंग रस भरी' श्री राधा की सहचरियों के दर्शन हुये और वे अत्यन्त चकित होकर जैसे ही बाहर आये तो श्री हरिवंशजी को अकेले विराजमान पाया। उस दिन से नाहरमल जी के भजन-भाव में अत्यन्त गहराई एवं रस पूर्णता आ गई और ये अधिक लगन के साथ श्री गुरु-चरणों की सेवा करने लगे।

एक बार जब ये वृन्दावन आये तो इनसे कहा गया कि श्री गुरुदेव बन में गये हुये हैं। नाहरमलजी इस कोटि के प्रेमी भक्त थे कि वृन्दावन आने के बाद इनको गुरुदेव के दर्शन किये बिना चैन नहीं पड़ता था। अपने इस अधैर्य के कारण पिछली बार भी इनको दुखी होना पड़ा था। इस बार भी श्री गुरुदेव के दर्शन करने के लिये वन में चले गये और उसका परिणाम भी इनके लिए पहले से कहीं अधिक कष्टकर हुआ। इन्होंने देखा कि गुरुदेव वन में श्री ठाकुरजी की रसोई के लिये इंधन बीनकर अपने दुपट्टे में रखते जा रहे हैं। यह देखकर नाहरमलजी का प्रेम आहत हो उठा और इन्होंने व्याकुलता पूर्वक प्रभुपाद से प्रार्थना की कि यदि आज्ञा हो तो धीमर श्रीजी की रसोई के लिये नित्य प्रति एक बँहगी लकड़ी पहुँचा दिया करे। कृपा करके आप यह कष्ट न किया करें। नाहरमलजी की प्रार्थना को सुनकर श्री हितजी का हृदय विदीर्ण हो गया और उनके सहज प्रसन्न मुख मंडल पर मलिनता छा गई। बहुत रूखेपन से उत्तर देते हुये उन्होंने कहा कि जो लोग श्री श्यामसुन्दर की आराधना करते हैं उनको वे वरदान देकर उनसे अपना पीछा छुड़ा लेते हैं, किन्तु किसी को शुद्ध भक्ति प्रदान नहीं करते। मैंने कोटि-कोटि यत्न करके संतों से यह भक्ति पाई है और तुम उसे छुड़ाने आये हो। निष्किंचनों की इस भूमि वृन्दावन में तुम बड़े आदमी बनकर आते हो और मेरे इस भक्ति कर्म को धीमर से कराना चाहते हो। तुमने यह बहुत बड़ा अपराध किया है। मैं तुमको साधु समझ रहा था, किन्तु तुम तो असाधु निकले। मैं तुम्हारा त्याग करता हूँ।

नाहरमलजी के ऊपर वज्रपात हो गया। गुरु से परित्यक्त होकर अपनी दृष्टि में इनके जीवित रहने का कोई प्रयोजन नहीं रहा। ये अपनी कुटिया में आकर पड़ गये और श्री गुरु की प्रसन्नता प्राप्त होने तक अन्न-जल ग्रहण न करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। श्री हिताचार्य तो अपनी भजन भावना में निमग्न हो गये किन्तु उनकी स्वामिनी परम कोमल हृदया श्री राधा नाहरमलजी की दिन पर दिन बिगड़ती स्थिति देखकर चिंतित हो उठीं। उन्होंने श्री हितजी से कहा कि नाहरमल सर्वथा निर्दोष है। उसने आपसे जो कुछ कहा वह प्रेम-विवश होकर कहा था और आपको उसे क्षमा कर देना चाहिये। श्री हिताचार्य ने इनको बुलाकर सिर पर हाथ रख दिया। नाहरमल जी को मानों नया जीवन मिल गया और ये रसिक संतों के साथ मिलकर आनन्दपूर्वक भजन करने लगे। इनके चरित्रकारों ने कहा है—

श्री हरिवंश कृपालु ह्वै, रीझ दयौ निज भौन।
भगवत् नाहरमल्ल सम, गुरु भक्ता कहो कौन॥

ल० च० गो०

निकुंजदास

श्री निकुंजदास की महिमा का वर्णन श्री हित अनन्य रसिकावली में इस प्रकार दिया है :—

> असन वसन निरपेक्ष लतन रहें दुरे दुराये।
> हित वाणी रस मगन गूंग जैसे गुड़ खाये।
>
> अपने रस में डोलें चित की गांस न खोलें।
> सदा रहें अनबोलें बोलें तो रस घोलें॥
>
> पहुँचे हित धुर धाम में चल्यौ जु कलि कौ दाव ना।
> निकुंजदास छाके रहें कुंज केलि कल भावना॥

इनका जन्म सिन्धु प्रान्त के मुल्तान नामक शहर में हुआ था। ये जाति से ब्राह्मण थे। इनका पूर्वनाम जंतूलाल था। पूर्व संस्कार वश बालकपन से ही इनको रुचि तपश्चर्या, प्रभु-भजन और साधु संग करने में थी, फलतः तरुणावस्था में ही ये घर बार छोड़कर हिमालय की तलहटी में चले गये थे। न जाने कितने दिनों तक अनेकों तीर्थ स्थलों में घूम-घूमकर सभी प्रकार के सन्तों की संगति एवं अनेक प्रकार की साधनायें करते रहे। कभी ज्ञानी, कभी योगी, कभी सिद्ध और कभी हरिभजन परायण साधुओं में मिलते रहे किन्तु इनको वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं हुई।

लगभग साठ वर्ष की आयु में ये वृन्दावन आये। यहाँ पर श्री राधावल्लभलालजी, श्री बाँकेविहारीजी, श्री राधारमणलालजो आदि मन्दिरों के दर्शनों, यहाँ के सन्तों के सत्संग, रसमयी कथाओं तथा लताओं के झुरमुटों में इनका मन रम गया। इनका हृदय श्री राधावल्लभीय रसिक जनों के मुख से निकली रस सिक्त उन वाणियों के गायन को सुनकर जिनमें रूपमयी लीला और लीलामय रूप का मधुर वर्णन था रम गया। यह आकर्षण धीरे-धीरे बढ़ता हो गया और एक दिन इन्होंने किसी राधावल्लभीय रसिक सन्त के चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया।

एकान्तप्रियता और मितभाषिता तो इन्हें जन्म से ही प्राप्त थी। वृन्दावन में आकर इन्होंने इसका सदुपयोग रसिक-साधना में लगाकर किया। ये निर्जन और नीरव वन में बैठकर श्री राधा सुधा-निधि का अखण्ड पाठ किया करते थे। प्रत्येक स्वाँस के साथ इष्ट-नाम-स्मरण इनका स्वभाव जैसा बन गया था। इनका भरण-पोषण, जीवन निर्वाह किस प्रकार से होता था— किसी को ज्ञात न हो सका। इन्होंने बरसाना, गोवर्धन, वाद ग्राम तथा वृन्दावन के अनेक स्थानों में बैठकर भजन-भावनापूर्ण जीवन व्यतीत किया था। गूदड़ी में लाल की भाँति ये सदैव अपनी वस्तु और स्वयं को छिपाये ही रहे। श्री हित निकुंजदासजो विक्रम संवत् २०१५ में लगभग ९५ वर्ष की आयु तक एकान्त वनवास कर अन्त में परम एकान्त प्रियाजी के लीला-धाम में सदा-सदा के लिए प्रविष्ट हो गये।

श्या० वि० खं०

नित्यानन्द

नित्यानंदजी उत्कल (उड़ीसा) देश में जाजपुर के एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम देवानन्द था। ये दामोदरदासजी सेवक के शिष्य थे और उनकी कृपा से ही इनको निकुंजोपासना का रहस्य ज्ञात हुआ था। श्री हित हरिवंश की रसभजन पद्धति के प्रति इनका अत्यन्त अनुराग था एवं श्री वृन्दावन रजको ये अपना इष्ट मानते थे। इनके हृदय में श्रो हरिवंश नाम के प्रति अत्यन्त अनुराग था जिसके कारण ये निरंतर भावाविष्ट बने रहते थे। इनके हृदय में ब्रजवास की तीव्र अभिलाषा बनी रहती थी। चाचा वृन्दावनदास ने इनके सम्बन्ध लिखा है—

> श्री सेवक गुरु परसाद सु जुगल रहसि के मरमी।
> व्याससुवन पद्धति रति वृन्दावन रज धरमी॥
>
> देवानन्द सुवन ताही विधि भरे भक्ति रस।
> श्री हरिवंश नाथ रुचि पाई परम प्रेमवर॥
>
> अभिलाषा ब्रज वास बहु जिहि
> निसि दिन लागी रहत उर।

नित्यानन्द भजन आलय भये
उत्कल देश विप्रकुल जाजपुर ॥

—रसिक अनन्य परचावली

ल० च० गो०

नित्यानन्ददास

रसिक भक्तों में गोवर्धन के सिद्ध श्री कृष्णदास बाबा के शिष्य नित्यानन्ददास बाबा का प्रमुख नाम है। ये बड़े विनयी थे—'तृणादपि सुनीयेन' की सजीव मूर्ति। इतने विनयी कि यदि उनका शिष्य सामने आता दिखाई देता तो उसे भी दण्डवत् करते थे।

ये सतत राधा-कृष्ण-लीला में लीन रहते थे। चेतनावस्था में मनोभाव गोपन रखते हुए गम्भीर रहते थे। निद्रित अवस्था में मनोभाव गोपन नहीं रख पाते थे तो वह हास्य-रोदन और प्रलाप के रूप में प्रकट हो जाता था। इसलिए सेवकों के लिए यह जानना कठिन होता कि ये सो रहे हैं या जाग रहे हैं।

सिद्धबाबा वृन्दावन में मदन मोहन ठौर में रहकर भजन करते थे। आज भी इनका आसन वहाँ विराजमान है। इनके शिष्यों में प्रधान और सुविख्यात थे—श्री गौरकिशोर शिरोमणि महाराज, श्री व्रजकिशोर दास, श्री नृसिंहदास, श्रीरामकृष्णदास पंडित और श्री नरोत्तमदास अधिकारी।

स० गु०

निधिवनदास

निधिवनदासजी गोस्वामी ओंकारनाथजी के पिता थे। कवित्त रचना में आप अत्यन्त कुशल थे। पद रचना तो ये चलते-चलते कर देते थे। इनके लगभग ७०० पद प्राप्त हैं। इनकी अधिकांश रचनाएं ब्रजभाषा में हैं। इनकी भाषा लालित्यपूर्ण एवं सरस है। इनकी रचनाओं के भावों में आत्मीयता सन्निहित है। रचना के साथ आत्मीयता होने से वह अधिक सरस बन गयी है। इनका एक पद यहाँ दिया जा रहा है—

दिये गलबाहीं दोउ उठि धाये।
पगे प्रेम गति मन्द मधुर सों नुपुर धुनिन बजाए।
पहुँचे जाय निकुंज-सदन में
ललिता ललित बिठाये ॥
नम्र होइ अति चतुर-शिरोमणि
कर सो चमर ढुराये।
बिजन लिए कोमल निज कर सौं
निधिवनदास सुखाये ॥

प्रे० ना० श्री०

निम्बार्कशरणदेवाचार्य

श्री निम्बार्कशरणदेवाचार्यजी श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य थे। इनका स्थान निम्बार्क पीठ की आचार्य-परम्परा में ४३ वें स्थान पर आता है। ये आचार्य पीठ पर वि० सं० १८७० में विराजमान हुए।

जयपुर नरेश महाराजा जगतसिंह का देहावसान विक्रम सं० १८७५ में हो गया। वे निःसन्तान थे, किन्तु उस समय उनकी एक रानी गर्भवती थीं। राजा के कुछ परिकरों ने एक सामन्त मोहनसिंह को सिंहासनारूढ़ करना चाहा। किन्तु अन्य सामन्तों ने महारानी के प्रसव की प्रतीक्षा करने को कहा। दोनों पक्षों में सहमति हो गई।

महारानी भटियानी श्री आनन्दकुमारी जी ने श्री निम्बार्काचार्य श्री 'श्रीजी' से प्रार्थना की और उनकी आज्ञानुसार पुत्र प्राप्त्यर्थ श्री सर्वेश्वरी प्रभु की विशेष आराधना की। फलस्वरूप प्रभु की कृपा से महारानीजी को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। पुत्र का नाम जयसिंह (तृतीय) रखा गया। जयपुर राज्य की समस्त प्रजा में हर्षोल्लास छा गया। एक वर्ष बाद जयपुर के पूज्यगुरुदेव श्री 'श्रीजी' श्री सर्वेश्वर शरणदेवाचार्य का विशिष्ट-स्मृति महोत्सव मनाया गया, जिसमें महारानीजी ने एक लाख रुपया खर्च किया। इतना ही व्यय आचार्य पीठ द्वारा भी किया गया। यह एक ऐतिहासिक मेला (भण्डारा) था, जिसका

विशद वर्णन महाकवि मण्डन ने अपनो प्रसिद्ध पुस्तक 'जय साह सुजस प्रकाश' में किया है।

जयपुर की राजामाता भटियानीजी ने विक्रम सम्वत् १८७८ में वृन्दावन में एक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया। यह मन्दिर एक्यावन हजार वर्ग फुट क्षेत्र में पाँच वर्षों के सतत परिश्रम के उपरान्त बनकर तैयार हुआ। इसे जयपुर के शिल्पियों ने बनाया था, जो उस समय का अनुपम मन्दिर था। उस समय केवल गोविन्ददेव, मदनमोहनजी, गोपीनाथ, राधावल्लभजी आदि के ५-६ मन्दिर ही थे। किन्तु इन मन्दिरों की शैली भिन्न थी। श्री रंगनाथ मन्दिर, शाह मन्दिर लाला बाबू, टिकारी मन्दिर, विहारीजी आदि सभी विराट् मन्दिर इस मन्दिर से पीछे बने थे। कहने का तात्पर्य यह है कि यह मन्दिर उस समय का सबसे सुन्दर तथा विशाल मन्दिर था। इसका निर्माण राजमाता ने अपने गुरुदेव श्री 'श्रीजी' निम्बार्कशरणदेवाचार्यजी के आदेशानुसार कराया था। तदुपरान्त अपने नाम को प्रभु से संलग्न रखने के लिए विक्रम सं० १८८३ जेष्ठ शुक्ल नवमी को ठा० श्री आनन्दमनोहर वृन्दावनचन्द्रजी की प्रतिष्ठा इस मन्दिर में करवाई। इस मन्दिर की पूजा-सेवा के लिए तीन ग्राम भेंट कर, इसे 'श्रीजी' महाराज को समर्पित कर दिया। आज यह श्री 'श्रीजी' महाराज की बड़ी कुञ्ज के नाम से प्रसिद्ध है।

स्व० महाराज श्री जगतसिंह एवं उनकी महारानी श्री आनन्द कुमारीजी की कृपापात्र रूपाबडास्व ने भी इसी विशाल मन्दिर के पास एक छोटा सा मन्दिर बनवाया। जिस दिन श्री आनन्दमनोहरजी की प्रतिष्ठा हुई उसी दिन इस मन्दिर में भी श्री रूपमनोहर वृन्दावनजी की प्रतिष्ठा की गई। मध्य द्वारों पर संगमरमर के सुन्दर हाथियों की प्रतिमा इन्हीं दोनों मन्दिरों में प्राप्त होती है।

अपने समय के एक महान् भक्त होने के साथ ही ये उच्चकोटि के राष्ट्रभक्त भी थे। जब ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेजों ने भरतपुर राज्य पर आक्रमण किया, तब इन्होंने महाराजा की सहायतार्थ ३०० साधुओं की एक सेना श्री निम्बार्कपीठ से भेजकर भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के संपोषण एवं रक्षा का एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया था।

इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। कुछ फुटकर पद उत्सव संग्रहों में उपलब्ध होते हैं। अपने आराध्य श्री सर्वेश्वर प्रभु के चरणों में इनकी अगाध निष्ठा थी।

इनके द्वारा रचित एक पद प्रस्तुत है :—

अरुन सदन नव मंगल माइ।
कूख जयंती सुभग सुक्ति ते
अद्भुत इन्द्रमणी प्रगटाई।

विधि, शिव, शेष, सुरेश वेद सब
वृन्दारक की भई मन भाई;
रमारमन कर चक्र सुदर्शन
निज भक्तन हित तन दरसाई।
अपनी तेज निंव पर धारे
कमल जयंती मति बौराई;
श्री निंवारक नाम पाय
मुनि नारद चरन-शरन मति धाई।

जगमगात जगमें जस जिनकी
संप्रदाय सनकादिक पाई,
श्री बिंबारकशरणदेव पद-पंकज
परसि अभय भये आई।

प्रे० ना० श्री०

निर्भयराम

निर्भयरामजी संत चरणदास के अन्तेवासी श्री रामरूपजी के बड़े ही योग्य एवं प्रभावशाली शिष्य हुए हैं। इनकी रचनाओं में इनके कई अपर नाम भी प्रयुक्त मिलते हैं, यथा अभयराम, अभयदास और निर्भैदास। कतिपय रसिक बानियों में इन्होंने अपने नाम के साथ 'सखी' विशेषण भी जोड़ा है। इनकी गद्दी एटा जिले के कासगंज तहसील में स्थित

परमौरा नामक कस्बे में थी। यह स्थान गंगा तट पर बड़े ही सुरम्य वातावरण में निर्मित था।

चरणदासी सम्प्रदाय में इनकी गणना उच्चकोटि के कवि एवं आचार्य के रूप में की जाती है। श्री मद्भागवत, महाभारत एवं अन्य पुराणों के कथावाचक-रूप में इनकी बड़ी ख्याति थी। ये केवल विद्वान् तथा अच्छे वक्ता ही नहीं वरन् एक सिद्ध-हस्त कवि भी थे। 'एकादशी महातम', 'अगहन बोधिनी' तथा 'रामचरित महातम' इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त निर्भयरामजी के स्फुट पद भी प्राप्त हैं।

'रामचरित महातम' नामक इनके ग्रन्थ का शीर्षक बड़ा ही भ्रामक है। वस्तुतः यह 'कृष्णचरित महातम' है क्योंकि इसमें रामजन्म की कथा की अपेक्षा श्रीकृष्ण जन्म की कथा अधिक विस्तार से वर्णित है। श्रीकृष्ण की सोलह हजार रानियों का चरित्र वर्णन तो इसका मुख्य कथ्य ही है। तात्पर्य यह कि प्रस्तुत कृति अपने नाम के विपरीत श्रीकृष्ण चरित्र प्रधान प्रबन्ध काव्य है। इस ग्रंथ की एक अन्य. उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें सतयुग से लेकर कवि के जीवन काल तक अर्थात् सं० १८४० तक का संक्षिप्त इतिहास भी वर्णित है।

स्वामी रामरूप जी के ८२ शिष्य बड़े ही नामी महन्त हुए हैं। इन सबने उत्तर भारत के प्रसिद्ध नगरों, तीर्थों और तत्कालीन राजधानियों में अपने डेरे स्थापित किए थे। इनमें भी कुछ स्थान ऐसे थे, जहाँ रामरूपजी स्वयं पधारे थे। परमौरा का स्थान ऐसा ही था। यहाँ रामरूपजी प्रायः पधारते थे और कई-कई दिनों तक सत्संग होता रहता था।

कतिपय विश्वसनीय सूत्रों से इस बात की पुष्टि होती है कि श्री निर्भयराम सं० १८५० तक जीवित थे। इनके बाद परमौरा की गद्दी पर क्रमशः भगतहुलासजी (सं० १९०० वि०) और प्रेमदासजी के महन्त पद पर आने का उल्लेख मिलता है। सं० १९५० के पश्चात् इस गद्दी का इतिहास नहीं मिलता।

'एकादशी महातम' नामक ग्रन्थ की एक पांडुलिपि सरस निकुंज (दरीबापान, जयपुर) ग्रंथागार में सुरक्षित है। इसकी प्रतिलिपि सं० १८५३ वि० की है, जिसे शूकर क्षेत्र में (सोरों-एटा) गंगातट के एक आश्रम में लिपिबद्ध किया गया है। इस पाण्डुलिपि में 'एकादशी महातम' के अतिरिक्त निर्भेरामजी के कुछ पद भी संगृहीत हैं। ये पद अधिकांशतः श्रीकृष्ण और राधा अथवा गोपियों की विविध लीलाओं से संबंधित हैं। उदाहरण के रूप में 'राग काफी' में रचित दो होली विषयक पद द्रष्टव्य हैं—

(१)

साँवरे सूँ खेलूँगी होरी,
लोगों की कहा चोरी।
फागुन के दिन बीत जात हैं,
नीको दाँव लगो री॥

केशर की पिचकारी भरि-भरि,
अबीर लिए भरी झोरी।
चलो सब मिलि एकठौरी॥

सब ब्रजमंडल फाग रचावे,
फगवा ले बरजोरी।
कुंज कुंज अरु बंसीबट पै,
जाय नन्द की पौरी।
बाँह पकरि के नाच नचावैं,
पूरण फाग फगौरी॥

(२)

साँवरे मोंहि दीनी है गारी।
होरी खेलन हेत स्याम सों
हौं मारग चलि जात आपनी ओढ़े कुसुमल सारी॥

गहकर चीर हार मेरे झटको
टूक टूक कर डारी,
बहुत हा हा करि हारी।
चोवा चंदन और अरगजा
फेटन कुंकुम न्यारी॥

ग्वालन सैन बतावत
आपुन केसर भर पिचकारी,
लाल मोरें मुख पर मारी।
या गारी को बदलो लेऊँगी
एक एक की लाख हजारी ॥

पहुँचत घर में काह कहौंगी
सास सुनैगी म्हारी,
लाज गुरुजन घर मारी।
कैसे जाउँ चली घर अपने
यह गत देख विचारी।
मारग घेर ठाढ़ो ठग ओढ़े कामर कारी,
भूल गई सुध सारी।
जतन करत बहु जन नहिं आवै
उमग उठे मन भारी।
निर्भै सखी जा कासूँ कहियै
समझत नाहिं अनारी,
प्रेम की रीत है न्यारी ॥

निर्भैराम जी न केवल अच्छे कवि और भक्त थे बल्कि गद्य रचना में भी इनकी अच्छी गति थी। श्री भगवानदास निरंजनी के 'अमृतधारा' नामक ग्रंथ की पाण्डुलिपि की निम्न चूर्णिका में इनके गद्यकार रूप की एक झलक देखी जा सकती है—

"इति श्री अमृतधारा ग्रंथ सकल विवेक दीप ग्यान को स्वरूप वर्ननो नाम भगवानदास निरंजनी कथिते चतुर्दशो प्रभाव ॥ श्री महाराज चरनदास के शिष्य श्री सिद्धराम जी जिन्होंने लिखवाई यह पोथी रामत में रमते हरियाणे मंडल हाँसी के परगनै कूँ गुड़गाँव में सं० १८३६ वि० क्वार वदी अमावस्या कूँ लिखतं निर्भैराम महन्त सिद्धराम जी का गुरुभाई। पढ़े गुनै ताकूँ सत हरि नाम।"

श्या० सु० शु०

निर्मल प्रकाश

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट (१९२०-२२) में गोंडा के महाराज उद्योतसिंह का उपनाम निर्मल प्रकाश बताया गया है। इनका अविर्भाव काल सं० १७७७ के लगभग बताया गया है। इन्होंने 'भागवत बानी' नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसमें 'कृष्ण चरित' का वर्णन है। इस ग्रंथ की खण्डित प्रति ही उपलब्ध हुई है, जिसकी कुल पृष्ठ संख्या ३१२ है।

ग्रंथारम्भ में त्रिगुण (सत्, रज, तम) से पंचतत्व और उससे स्थावर-जंगम, सृष्टि-उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। भगवान् के विष्णु, ब्रह्मा, शिव, विराट्, नारायण आदि नामों में अभेद बताकर इन्हें एक ही ब्रह्म की शक्ति कहा गया है। भगवान् भक्तों को रक्षा करने तथा अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए संसार में अवतरित होते हैं। ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय कृष्ण की लीला है। कवि ने कृष्णावतार होने पर नन्द के गृह जाने तथा मंगलोत्सव और जात कर्म सम्पादन कराने आदि की कथा का वर्णन किया है। राधा-जन्म, राधा—कृष्ण विवाह, गोवर्द्धन-लीला, रासलीला, चीर-हरण, असुरों का संहार, अक्रूर का आगमन, कृष्ण का मधुपुरी जाना, श्रीकृष्ण और कंस का युद्ध और कंस वध के उपरान्त उग्रसेन को राज्य देना, कौरव-पाण्डव आदि से मिलना, जरासंध से युद्ध, द्वारकापुरी बसाना, रुक्मिणी विवाह आदि प्रसंगों में कथा का विस्तार किया गया है। अन्त में माघ वसन्त के डोल के पद, चैत में फूल डोल, वैशाख में चन्दन डोल, जेठ में जल विहार, क्वार में विजय दशमी के पद, कार्तिक में दीपमालिका (गोवर्द्धन) के पद आदि लिखे गये हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फुटकर दोहे भी उपलब्ध होते हैं। 'भागवत बानी' दोहा-चौपाई छन्द में लिखी गई है।

त्रि० ना० सिं०

नीकाराम

नीकारामजी का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये पहले कहीं बाहर के निवासी थे और बाद में वृन्दावन में आकर रहने लगे थे अथवा मूलतः वृन्दावन के ही रहने वाले थे। 'वृन्दावन प्रकाशमाला' की वर्णना के अनुसार ये 'जुगल घाट' के समीप 'दूसर

वाली कुंज' से पहले आने वाली एक सुखद कुंज में रहा करते थे।

ये बड़े ही विनम्र स्वभाव एवं शान्त प्रकृति के थे। भक्ति के संस्कार इनमें कूट-कूट कर भरे हुए थे। इनका सरस हृदय श्री राधा-माधव की नित्य नव नवायमान रसमयी लीलाओं को सुनकर पुलकित हो जाता था। एकान्त साधना इन्हें अत्यन्त प्रिय थी। ये अपने को हमेशा छिपाये ही रहे।

इनका विद्यमान काल वि० सं० १७५० से वि० सं० १८५० के मध्य अनुमानित होता है। 'वृन्दावन प्रकाश माला' में इनकी प्रशस्ति में कहा गया है :

परम भागवत विप्र हिय,
वैष्णव अति अभिराम।
रहे कुंज सुख पुंज में,
नीका नीकाराम ॥

श्या० वि० खं०

नीलसखी

नीलसखी प्रख्यात भक्त-कवि हरिराम व्यासजी की वंश-परम्परा में गोस्वामी आनन्दकरजी के सुपुत्र थे। नीलसखी इनके सिद्ध परिकर स्वरूप की संज्ञा थी। इनका मूल नाम अमरजू था। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में ये 'अमरेश' छाप से कविता करते थे। 'दिग्विजयभूषण तथा शिवसिंह सरोज' में दिए हुए अमरेश कवि इनसे काफी पूर्ववर्ती ठहरते हैं। इनका जन्म बुन्देलखण्ड के सतारी ग्राम में वि० सं० १७८१ में हुआ था। 'नीलसखी' का रचनाकाल वि० सं० १८४० के आसपास है। इसी संवत् में इन्होंने 'बानी' नामक एक ग्रन्थ रचा, जिसमें ११० पद हैं। प्रारम्भ में ये ओरछावासी थे, पीछे विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे थे। सतारीग्राम इनके पूर्वजों को महाराज छत्रसाल से वि० सं० १७६४ में भेंट में मिला था। कहते हैं कि ये प्रारम्भ में शृङ्गार पर कविताएँ लिखते थे। बाद में चैतन्य-सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति के अनुसार भक्ति-भावाविष्ट होकर अपना घरबार छोड़कर ये श्रीधाम आ गये और वहाँ रहकर अहर्निश राधाकृष्ण की लीला माधुरी का गायन करने लगे।

इनके द्वारा रचित पदों की एक प्रति मिश्रबन्धुओं को छतरपुर में देखने को मिली थी। एक प्रति गोस्वामी कुंजलाल चरखारी के पास सुरक्षित है। इसकी रचना इनकी वृद्धावस्था में लगभग ६० वर्ष की आयु में हुई थी। इस प्रकार इनका निजधाम वास वि० सं० १८५० के लगभग अनुमानित होता है। ये वृन्दावन छोड़कर अन्यत्र बहुत कम जाते थे।

इनको पद रचनाएँ साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से अत्यन्त रसपेशल हैं। भाव तथा कला दोनों ही दृष्टियों से इनकी रचना में प्रौढ़ हैं। हरि अनन्यता, भक्त-आरती, लीला-माधुरी आदि से सम्बद्ध इनकी रचनाएँ इनके श्रेष्ठ कवि होने का प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करता है। नमूने के चार पद प्रस्तुत है—

(१)

हरि तुम दासन की प्रतिपाली।
सर्व रूप सब ठौर सर्वदा,
तजी न बान कृपाली ॥
सुनत पुकार दुखित दीनन की,
उठि दौरे बनमाली।
अति आतुर आवत मन भावत,
ज्यों घन सूखत साली।
ललित स्यामघन सुन्दर की,
आवन की अधिक उताली।
बरनत कछु अनुभव कै संमत,
वह छवि छलक उछाली ॥
मुकुट, इन्द्र, घन हृदय माल,
मुक्ता वग पाँति बिसाली।
अम्बर की फहरान तड़ित,
घुरवा अलकावलि आली।
जनु रवि चक्र किरन मिल मुख पर,
रिस बस रोचक लाली।

स्रम-कन बुन्द प्रेम बरषत,
हरषत द्युति निरखि कपाली ॥
सिंजित धुन घहरान मृदुल सुन,
स्रवनन होत बहाली ।
उच्च नाद खल-दलन बचन,
पवि-पात कठोर कराली ॥
जीवनदान तृषित जीवन कै,
सर्वोपरि सब काली ।
'नीलसखी' घन सुन्दर की,
निबहै यह सदा प्रनाली ॥

(२)

जय जय बिसद ब्यास की बानी ।
मूलाधार इष्ट रस में,
उतकरस भगति रस सानी ॥
लोक बेद भेदन तें न्यारी,
प्यारी मधुर कहानी ।
स्वादिल सुचि रुचि उपजै,
गावत मृदु मनमान अघानी ॥
कलि के कलुष बिदारन कारन,
तीखन तरल कृपानी ।
रस सिंगार सरिता जमुना सम,
बर धारा घहरानी ॥
बिधि निषेध गिरिवर तरु तोरत
हरि जस जलध समानी ।
हरि लीला सागर तें रस भरि,
बरसै सदा सुहानी ॥
दधि माधुर्य माठ वृन्दावन,
भरौ अमोघ अमानी ।
सहज सतोगुन बँधी जासु में,
गोपी सुमुति सगानी ॥
सखी रूप नवनीत उपासक,
अमृत निकस्यौ आनी ।
'नीलसखी' प्रनमामि नित्य,
सो अद्‌भुत कथन मथानी ॥

(३)

अब कहुँ कहबे कों कछु नाहीं ।
पावै कौन सहायक अपनौ
ऐसे या दुख माहीं ।
हितू न और हमारौ हरि सम
जिन रस रीत निबाहीं ।
तेई स्याम नील सजनी कौ
हित करहैं गह बाँहीं ॥

न० च० बं०
न० प्र० गु०

नूपी बाई

सुश्री नूपी बाई श्री आत्माराम इकंगी की पुत्री थीं। यदि पिता-पुत्री की अवस्था में २५ वर्ष का अन्तर माना जाए तो इनका जन्म-काल वि० सं० १७७४ के आस-पास ठहरता है। इन्होंने संवत् १७९७ में चरणदास से दीक्षा प्राप्त की। दीक्षा-प्राप्ति के समय ये विवाहिता थीं। इनका विवाह दिल्ली में ही हुआ था। संवत् १८२० में ये अपने पिता के पास जयपुर चली गईं। वहीं इन्होंने १२५ पदों की रचना की। यह रचना 'नूपी बाई के पद' के नाम से प्रसिद्ध हुई। दुर्भाग्यवश यह रचना अब अनुपलब्ध है। संग्रह-ग्रन्थों में इनके रचे कुछ पद मिल जाते हैं। पिता के परलोक-गमन के पश्चात् ये पुनः दिल्ली आ गईं तथा चरणदास के सान्निध्य में भगवद्-भजन करते हुए जीवन व्यतीत करने लगीं। इनकी परमधाम-यात्रा संभवतः संवत् १८४२ में हुई। इनकी भाषा में अनोखा प्रवाह है। कविता रस एवं अलंकारों से परिपुष्ट है। यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)

मेरे प्रेम नगर में बसत कन्थ,
जाकी ओघट घाटी बिकट पन्थ ।
मैं परसन चाली प्यारो पीव,
कर दीप लियो बिन बाति घीव ॥

ह्वै सुखमन मारग चढ़ी धाय,
निज कुञ्ज पिया की पहुँची जाय।
जहाँ सखी-भाव भीतर को जाय,
रस-केलि करें निज धाम माहि ॥
जिहि रंगमहल के आस-पास,
बहु सन्त सखा राखें निवास।
जहाँ अद्भुत लीला अति अगाध,
तहाँ बाजे बाजैं शंखनाद ॥
जहाँ अमृत बरसे कामधेनु,
लखि कल्पवृक्ष मन भयो चैन।
जहाँ कई रंग के फूले फूल,
कोई निरखै जन जग ब्याधि भूल।
गुरु चरनदास दीन्हो बताय,
सो नूपी बाई लीन्हो पाय ॥

(२)

चलि चलि रे मनुवाँ वाही देस।
जाकी मिहमाँ गावै सिंभू सेस ॥
जहाँ बहत सरसती जमन गंग।
तहाँ शिव शक्ती मिलि रहत संग ॥
जहाँ बरषत सुधा अखंड धार।
तहाँ घन बिन दामिनि कौ उज्यार ॥
जहाँ निसदिन जुगनू जगमगात।
तहाँ चंद सूर दोउ चलत साथ ॥
सुनि गरज घोर भै मानैं काल।
तहाँ व्यापत नहीं जम की जाल ॥
जहाँ फूलि रही नित रुति बसन्त।
कोई जोगेस्वर जा पहुँचे सन्त ॥
चरनदास दया सूँ अगम भेद।
लखि नूपी बाई मिटी खेद ॥

म० गो० भा०

नृसिंहदास

नृसिंहदासजो का जन्म सम्वत् १९०१ में कालिंजर में हुआ था। ये कालिंजर से आकर छतरपुर में बस गये थे। वहाँ ये वैद्यकी करते थे। इन्होंने "सन्तनाम मुक्तावली" ग्रंथ की रचना को थी। इसके सम्बन्ध में एक दोहा मिलता है :—

सन्तनाम मुक्तावली, निज हिय धारन हेतु।
रचो दास नरसिंह ने, श्रद्धा भक्ति समेत ॥

नृसिंहदासजी अनन्य कृष्ण भक्त के रूप में ख्यात हैं। रचना उपलब्ध न हो सकने के कारण इनके सम्बन्ध में ठीक-ठीक कुछ कह पाना कठिन है।

त्रि० ना० शु०

नृसिंहदेव कविराज

श्री नृसिंहदेव कविराज भरतपुर कांचन गढ़िया के रहने वाले थे। इनके माता-पिता बड़े भक्त थे। नृसिंहदेव के नाम से कुछ पद प्राचीन पद-संकलनों में मिलते हैं। 'पदकल्पतरु' में तीन और 'संकीर्तनामृत' में कुछ पद मिलते हैं। डा० सुकुमार सेन महोदय का अनुमान है कि ये गोविन्ददास कविराज के मित्र और समसामयिक थे। जगतबन्धु बाबू ने 'गौर-पद तरंगिणी' की भूमिका में एक नृसिंहदेव, जिनकी उपाधि 'कविराज' थी, का नित्यानन्द प्रभु का परिकर होना बतलाया है। दूसरे उड़ीसावासी नृसिंहदेव का उल्लेख 'भक्ति-रत्नाकर' में मिलता है। 'भक्ति रत्नाकर' के अनुसार श्रीनिवास आचार्य खेतुरी उत्सव में सम्मिलित होने के लिए नरोत्तम ठाकुर महाशय के घर पधारे थे। इस प्रसंग में उनके परिकर शिष्यों का उल्लेख है। उनमें नृसिंहदेव का भी नाम आता है जो नारायण कवि के भ्राता और महाकवि बताये गये हैं—

श्रीनृसिंह कविराज महाकवि जेहौं।
जाँर भ्राता नारायण कवि श्रेष्ठ तेंहौं ॥

'प्रेमविलास' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी इनका उल्लेख आता है—

नरोत्तमेर स्वगण नरसिंह महाशय।
दूर देशे पक्वपल्ली जाँर राज्य हय ॥

किन्तु ये नरसिंहदेव पक्वपल्ली के शासक नित्यानन्द प्रभु के परिकर ज्ञात होते हैं। वस्तुतः श्रीनिवा-

साचार्य प्रभु का भी नित्यानन्द प्रभु से सम्पर्क नहीं हो पाया था। अतः श्रीनिवासाचार्य प्रभु के शिष्य नृसिंह कविराज ही खेतुरी उत्सव में वि० सं० १५९० में विद्यमान थे। इन्हीं के परिकर गोविन्ददास कविराज के एक पद में नृसिंहदेव का उल्लेख हुआ है—

कमलानानित, चरण कमल मधु,
पाओये सोई सुजान।
राजा नरसिंह रूप नारायण
गोविन्ददास अनुमान॥

गोविन्ददास कविराज ने राजा अभिधान दिया है। अतः ये कवि राजा नृसिंहदेव से भिन्न ज्ञात होते हैं।

'सारावली' नामक ग्रंथ में लिखा है—

आचार्य प्रभर शिष्य नृसिंह राजन।
परम पण्डित हय भक्ति परायन॥

पूर्वपुरुष हैते मानभूमे स्थिति।
पदकर्त्ता वलिया सर्वत्र याँर ख्याति॥

इनके द्वारा रचित एक पद यहाँ दिए जाते हैं।

ब्रजनन्दकि नन्दन नीलमणी।
हरि चन्दन तिलक सुभाल बनी॥

अति कुंचित कुन्तल लम्बि चली।
मुख नील सरोरुह वेड़ि अली॥

भुज दण्ड बिखंडित हेम मनो।
नव वारिद विद्युत स्थिर रजनी॥

अति चंचल लम्बित पीत घटी।
कल किंकिनि संयुत प्रीत कटी॥

पद नूपुर बाजत पंच स्वरे।
कर वादन नर्तन गीत वरे॥

योगी योग भुले मुनि ध्यान चले।
ध्याय कामिनि कानने तेजि कुले॥

सुरासुर लज्जित शान्त मने।
पद सेवक देव 'नृसिंह' भने॥

न० च० बं०

नेवाजदास

सन्त नवलदास के भ्रातृज श्री नेवाजदास तोंवरदास के शिष्य और दूलनदास के प्रशिष्य थे। अन्तः साक्ष्य से भी ये तोंवरदास के शिष्य प्रमाणित होते हैं। इनकी वाणी में एक भी पद ऐसा नहीं है जिसमें तोंवरदास को गुरु या पीर रूप में स्मरण न किया गया हो। इनके भौतिक जीवन के विषय में इसके अतिरिक्त कोई सूचना नहीं मिलती।

अभी तक नेवाजदास कृत तीन रचनाओं का पता लगा है—१. लीला, २. हनुमान स्तुति, ३. शब्दावली। 'लीला' ३६० अनुष्टुप छन्द-परिमाण की रचना है, जिसमें भक्ति और ज्ञान का उपदेश दिया गया है। 'हनुमान स्तुति' त्रिभंगी छन्द में रचित हनुमान की वन्दना है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें हनुमान-स्तुति के माध्यम से रामकथा का गायन किया गया है। नेवाजदास कृत 'शब्दावली' योग और भक्तिपरक ललित पदों का संग्रह है। इन पदों में कृष्णकथा को योगपरक प्रतीकों के रूप में ग्रहण किया गया है।

भाषा तथा भाव सम्पदा की दृष्टि से सतनामी सम्प्रदाय के साहित्य में नेवाजदास की वाणी का विशिष्ट स्थान है। यह सच है कि नेवाजदास ने कृष्णकथा को अप्रस्तुत रूप में ग्रहण किया है पर सगुण और पौराणिक राम-कृष्ण कथा को सर्वथा अमान्य घोषित करने वाले सन्तों ने यदि योग को कृष्ण-कथा के नाम एवं स्थान के प्रतीक रूप में अपनाया तो उनके वैचारिक दृष्टिकोण में परिवर्तन अवश्य हुआ है, कृष्ण-कथा के प्रति निष्ठा अवश्य जागी है। रचना-शैली के उदाहरण रूप में इनका एक पद नीचे दिया जाता है:—

मुरली बाजि अनहद तान होत धुनि आसमान।
इड़ा सरिता जानि जमुना, घाट है सुखमान।
सुन्नि सुन्दर कदम द्रुम पर राजते संग कान्ह॥

मोहि पाँच-पचीस गोपी, त्यागि भर्मत वान।
सुनत दवरीं भईं बावरि देखि रह सविधान॥

होत रह झनकार धुनि सुनि मिटत भ्रम अनुमान।
गगन मधुवन ग्वाल-मन तहँ सुनत करत पयान॥

देखि कै सतरूप अद्भुत को करि सकै बखान।
चरन ऊपर वारि डारौ कोटि ससि औ भान॥

राधिका रुक्मिनी ललिता तीनि भये अमान।
नन्द सूरति निरति जसुदा, करत आरति ध्यान॥

साह तोंवर मीत मेरा, दियो यह वरदान।
पास रहस "नेवाज देखत" अलख गति निर्वान॥

रा० प्र० त्रि०

नेही नागरीदास

हिन्दी की कृष्णभक्ति शाखा में नागरीदास नाम के दो प्रसिद्ध भक्त हुए हैं—एक राधावल्लभ सम्प्रदाय के थे और दूसरे बल्लभ-शिष्य परम्परा के। राधावल्लभीय नागरीदास नेही नागरीदास नाम से जाने जाते हैं और पुष्टिमार्गी कृष्णगढ़ नरेश सावन्त सिंह मात्र नागरीदास नाम से। प्रस्तुत नागरीदास कालक्रम से इनमें प्रथम ठहरते हैं। गृहस्थाश्रम में माता-पिता द्वारा प्रदत्त इनके व्यावहारिक नाम का पता न चल सका। गोस्वामी हितहरिवंश में अनन्यनिष्ठा के कारण इन्होंने 'हित' के पर्याय 'नेही' शब्द को अपने गुरु प्रदत्त 'नागरीदास' नाम का अभिन्न अंग बना लिया था। अतः इनकी प्रसिद्धि 'नेही नागरीदास' नाम से हो हुई।

इनका जन्म सं० १५९० के लगभग मध्य प्रदेश के गोंड़वाना क्षेत्रान्तर्गत बेरछा नामक गाँव के एक सम्पन्न पँवार क्षत्रिय परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था से ही भगवद्भक्ति और साधु-सेवा में इनकी रुचि थी। एक बार राधावल्लभीय महात्मा चतुर्भुजदास, जो मध्यप्रदेश के ही गढ़ा नामक गाँव के निवासी थे, सन्त-मण्डली सहित इनके गाँव में पधारे। उनके सत्संग से ये प्रेमोपासना की ओर आकृष्ट हुए और घर-बार त्यागकर वृन्दावन चले गये। साथ में इनकी कृपापात्री ओरछा की रानी भागमती भी गईं। वहाँ जाकर दोनों राधावल्लभीय आचार्य गोस्वामी वनचन्द्र से दीक्षा लेकर रस-साधना में प्रवृत्त हो गये।

श्री हितहरिवंश की वाणी तथा आराध्ययुगल के नित्य-विहार में इनकी अगाध आस्था थी। ये प्रतिदिन हितवाणी के किसी एक पद को उठा लेते और अहर्निश उसी की भावना में मग्न रहते थे। हितवाणी के आगे इनको रासलीला तथा श्रीमद्भागवत की कथा भी फीकी लगती थी। इसलिए उसमें सम्मिलित होने से प्रायः विरत रहते थे। वृन्दावन के कुछ रसभक्तिहीन उपासक इनके इस व्यवहार की आलोचना करते थे।

एक बार की बात है, गोस्वामी वनचन्द्रजी के पुत्र श्री नागरवर गोस्वामी राधावल्लभजी के मन्दिर में भागवत की कथा कह रहे थे। विरोधियों ने उनसे नागरीदास के कथा में सम्मिलित न होने की शिकायत की। इस पर नागरवरजी ने नागरीदास को बुलाकर कहा, "आजकल दशम-स्कन्ध की कथा चल रही है। इसे तो आपको अवश्य श्रवण करना चाहिए।"

गुरुपुत्र की आज्ञा शिरोधार्य कर उस दिन नागरीदासजी कथा-मण्डप में उपस्थित हुए। धेनुकासुर-वध का प्रसंग चल रहा था। कथा में जैसे ही श्रीकृष्ण द्वारा धेनुकासुर के सहायक गधों का पैर पकड़ कर पटकने का वृत्तान्त सुना, ये अकुलाकर उठ खड़े हुए और उसी झोंक में बाहर चले गये। इनके इस आचरण से वहाँ उपस्थित सभी लोग खिन्न हो गये। दूसरे दिन जब गोस्वामी नागरवरजी ने इन्हें बुलाया और शपथ देकर कथा मण्डप से अकस्मात् उठ जाने का कारण पूछा तो ये बोले - "उस समय मैं श्री हिताचार्य के एक पद की भावना में लीन था, जिसमें श्यामसुन्दर मानवती श्री राधा का सुन्दर चिबुक सहलाकर मनुहार कर रहे थे।

आजु निकुंज मंजु में खेलत,
नवल किसोर नवीन किसोरी।
हरि उर मुकुर बिलोकि अपनपौ,
विभ्रम विकल मानजुत भोरी॥

चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधित,
पिय प्रतिबिंब जनाइ निहोरी।
नेति नेति वचनामृत सुनि सुनि,
ललितादिक देखति दुरि चोरी।
हित हरिवंश करत कर धूनन,
प्रणय कोप मालावलि तोरी।।

इसी बीच मेरे कानों में भगवान् द्वारा धेनुकासुर के सहयोगी गधों के पैर पकड़ कर पटके जाने के शब्द पड़े। मन में विचार आया कि प्रिया की सुकोमल ठोढ़ी सहलाने वाले नागर के हस्त-कमल में गधे की टाँग कैसे शोभा देगी—

चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधित,
तिनकर गदहनि पग क्यों सोभित।

अप्रत्याशित व्यवधान से मेरी मानसी भावना खंडित हो गई और मैं उद्विग्न होकर बाहर चला गया। इस स्पष्टीकरण से नागरीदासजी की उच्च आध्यात्मिक स्थिति का संधान पाकर गोस्वामी नागरवरजी ने इन्हें हृदय से लगा लिया। इसके बावजूद निंदकों ने इनका पीछा नहीं छोड़ा। अतः खिन्न होकर ये वृन्दावन छोड़कर राधाजी की लीलास्थली बरसाने चले गये। निंदकों के द्वेषपूर्ण आचरण से उत्पन्न निराशा और असहायता की यथार्थ अभिव्यक्ति इनकी निम्नांकित साखी में मिलती है –

जिनके बल निधरक हुते, तेइ बैरी भये बान।
तरकस के सर साँप ह्वै, फिरि-फिरि लागे खान।।

बरसाने में इन्होंने गहवरवन की पहाड़ी पर अपनी कुटी बनाई। कहा जाता है कि एक दिन यहीं सखियों सहित श्री राधाजी ने इन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। स्वामिनी के तेजोमय दिव्यरूप पर दृष्टि पड़ते ही ये मूर्च्छित हो गये। इसी स्थिति में इन्होंने राधाजी को यह कहते सुना —

भूखे हैं हम आधी रैन,
या बिरिया खावै तब चैन।
बरसाने में अस्थल करौ,
मेरी बरसगाँठ उर धरौ।।

(मैं नित्य प्रति यहाँ खेलने आती हूँ। आधीरात के समय हमें भूख लग जाती है। इस समय यदि कुछ खिलावो तो शान्ति मिले। बरसाने में मेरा मंदिर बनावो और नियमित रूप से मेरी वर्षगाँठ का आयोजन करो।)

नागरीदासजी ने परम हर्षित हो राधाजी को अर्धरात्रि में भोजन कराया और निशीथ-भोग के इस नियम का आजीवन निर्वाह करते रहे। राधाजी ने उस समय दूसरी बात बरसाने में अपना मन्दिर बनवाकर प्रति वर्ष जन्मोत्सव मनाने की कही थी। इसके परिपालनार्थ नागरीदासजी ने अपनी कृपापात्री रानी भागमती के सहयोग से वहाँ श्रीराधा-मन्दिर का निर्माण कराया और बड़ी धूम-धाम से राधाष्टमीपर्व मनाने की परंपरा स्थापित की जो अब तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।

नेही नागरीदास की रचनाओं को विषयानुसार तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—सिद्धान्त दोहावली (छन्द सं० ९३५), रस पदावली (छंद सं० २३२) तथा पदावली (छंद सं० १०२)। इनमें क्रमशः श्रीहित हरिवंश का यशोगान तथा उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति-सिद्धान्त का निरूपण, आराध्य युगल की विहारलीला, रास, वृन्दावन एवं बरसाना की महिमा, मन-प्रबोधन आदि विषयों का भावपूर्ण निरूपण किया गया है।

अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व द्वारा श्री हित हरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय को सुव्यवस्थित रूप देने वाले महात्माओं में नागरीदासजी का नाम अग्रगण्य है। महात्मा ध्रुवदास और चाचा वृन्दावनदास ने इनका स्मरण निष्ठावान भक्त के रूप में किया है।

इनकी भक्ति-भावना के स्वरूप-व्यंजक तीन पद नीचे दिये जाते हैं—

(१)

खरोई कठिन है भजन ढिग ढरिबौ ।
तमकि सिंदूर मेलि माथे पै
साहससिद्ध सती कौ सौ जरिबौ ।
रन के चाइ धाइल ज्यों घूमै मुरै
न गरुर सूर को सौ लरिबौ ।
नागरिदास सुगम जिन जानौ
श्री हरिवंश पंथ पग धरिबौ ।

(२)

बिहरत विपिन फिरत रंग ढरकी ।
हरखि गुलाल उड़ाय लाडिली
सम्पति कुसुमाकर की ।
कसुंभी सारी सोंधे भीजी
ऊपर बंदन झुरकी ।
बोली नील ललित अंचल चल
झलक उजागर उर की ॥
मृदुल सुहास तरल दृग कुंडल
मुख अलकावलि रुरकी ।
नागरीदास केलिसुख तनि रहे
मैन ललकि नहिं मुरकी ॥

(३)

कनक पत्रावलि झूमत घूंघट ।
लँहगा पीत कंचुकी कसूंभी,
तैसोई गोरे तन लसत नील पट ॥
केसर की आड़ जराइ कौ बेंदा,
तैसीय मुख पर रुरत ललित लट ।
वर बानिक छबि रही पिय नैनन,
नागरी दास धीरज न रह्यौ घट ॥

ल० च० गो०

नैनादेव

नैनादेवजी ने आचार्य गद्दी को सुशोभित किया । इनके दर्शन मात्र से एक ब्राह्मण को २० वर्ष की आयु में वैराग्य हो गया । इन्होंने उसे अपनी शरण में लेकर उसे रामदास नाम दिया । ये सदेव हरि का ही जाप करते रहते थे । इनकी जीवन-चर्या के सम्बन्ध में एक दोहा प्रसिद्ध है—

हरि सेवा हरि कीरतन, घर घर किये प्रचार ।
जग सन्ताप छुड़ाय कें, बहुत किये भव पार ॥

इन्होंने हरि नाम का सन्देश देकर वहुतों को भवसागर से पार किया ।

प्रे० ना० श्री०

नौरंगीलाल चौधरी 'नन्द'

नौरंगीलाल चौधरी 'नन्द' का जन्म सन् १८५५ ई० में भागलपुर जिला अन्तर्गत कहल गाँव अंचल के एक सरयूपारीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था । इनके पिता का नाम श्री गजाधरनाथ चौधरी था । चौधरी इनको मुगलों द्वारा दी गई वंशानुगत उपाधि थी ।

ये कृष्णोपासक स्वामी हरिकिंकरजी के शिष्य थे । माध्यमिक स्तर तक शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद ये स्थानीय गांगुली माध्यमिक विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हुए । इसके बाद पुलिस सेवा में चले गये । पुलिस अधिकारी के रूप में इन्होंने पर्याप्त यश अर्जित किया ।

प्रौढ़ावस्था में ये कृष्ण-भक्ति में लग गये और भजन के साथ कृष्ण-लीला विषयक पदों की रचना में कालयापन करने लगे । ब्रजभाषा में रचित इनके पदों का एक संग्रह 'नन्दसागर' नाम से इनके जीवन काल में प्रकाशित हो गया था । इसके अतिरिक्त इनके कुछ अन्य पद्य-संग्रह प्रकाशित हुए । सैकड़ों हस्तलिखित पद अब भी इनके वंशजों के पास सुरक्षित हैं ।

नन्दजी का गोलोकवास १९२१ ई० में हुआ । इनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं :—

(१)

माधव, माया मोहि मताई ।
भूलत भटकत भ्रम भरि भासत,
भरमत भरनि भुलाई ॥
दिन दिन देह दूध दहि देखी,
दौड़त दम्भ दुहाई ।

कृष्ण कहत कफ कंठ कसावे,
कहत न कबहुँ कन्हाई ॥
आपन आप आपे में अपने में,
अपने को अपनाई ।
गावत गुन गृह ग्राम गँवारे,
गोपीनाथ गरुआई ॥

सकल सिद्ध साधन के स्वामी,
सच्चिदानन्द सँचाई ।
नन्द निहोरा तुमहिं नाथ नित,
नैनन नीर नहाई ॥

(२)

दीन दयाल दयापति दानी ।
करु करुना श्रीकृष्ण कन्हैया,
केती कष्ट कहानी ।
मैं मतिमन्द मदन मस्ताना,
मत्सर मोह मतानी ।
राधे कृष्ण रहे नहिं रसना,
राजिव लोचन रानी ॥

विषय बयारि बहुत बौराना,
विषमय वेष बनानी ।
श्याम सदा सुख साथि सदा से
सपनहुँ सो न सुनानी ॥

प्राण प्यारे नन्द दुलारे,
पद रज देइ अपानो ।
नन्द निहोरत नन्द लला पद
नैनन नीर नहानी ॥

त० ना०

पतितराम साव

श्री पतितराम साव का जन्म सन् १९०४ में दुर्ग जिले में हुआ था। सावजी शिशुपाल बल्देव यादव के समकालीन एवं उनके मित्र थे। ये कृष्ण भक्त के रूप में ख्यात थे। इनकी कई भक्ति परक रचनाओं का पता लगता है, किन्तु अद्यावधि एक भी रचना उपलब्ध नहीं है।

त्रि० ना० शु०

पद्मदास

पद्मदास के कुछ पद और 'रुक्मिणी मंगल' नामक रचना प्राप्त हुई है। 'रुक्मिणी मंगल' के अनुसार ये विक्रम की १७ वीं शताब्दी में विद्यमान थे। इनकी रचनाओं पर राजस्थानी भाषा का प्रभाव पाया जाता है। इससे अनुमान होता है कि ये राजस्थान के निवासी थे। इसके अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती।

उपलब्ध पदों में श्रीकृष्ण की भक्ति का वर्णन है। यहाँ दो पद दिये जा रहे हैं—

(१)

चलो सखि देखन जाय स्याम सहजादे बना ।
मालन ल्याई सेहरो दुलहा के सीस बनाय ।
बागो सोहै केसरिया सहजादे बना ।
थारै माथै पचरंग पाग द्वारावती से आईया ।
सहजादे बना ॥

* * *

बनड़ी देखन आइब
माजी पडदा परै करावो ।
रंग रंगीलि का ब्याह
कुमरजी म्हानै मुखै सुनावो ।
के के दान दियो रुकमइये
किसौ दायजो ल्यायो ।
मोड़ बाँधि के सज्या कुंदन पुर
किसि पदमक करि आया ।
हाथ हास्या हाथ लेवा
कीन्हो कित गयो सिर को ताजै ।
धिग धिहि धिग सारे जग माँहि
यहि कुमर नै साजै ॥

वा० सिं०

पद्मनाभदास

श्री पद्मनाभदास का जन्म कन्नौज में हुआ था। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के परम भक्त और जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। वार्ता के प्रमाणों के आधार पर इनका जन्म १५२० विक्रम संवत् में हुआ था। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी की शरण में आने से पूर्व ये कथाव्यास थे और श्रीमद्भागवत की कथा कहकर भक्त-श्रोताओं को विमुग्ध किया करते थे। पद्मनाभदासजी के परिवार का विवरण भी वार्ता साहित्य में मिलता है। इनके तीन लड़कियाँ थीं जिनमें दो के नाम थे तुलसी और जमुना, तीसरी का नाम अज्ञात है। पद्मनाभदासजी के एक लड़का था, जिसका नाम जनार्दन था। वह अल्पायु में ही दिवंगत हो गया और अपने पीछे रघुनाथ नामक पुत्र को छोड़ गया था। पद्मनाभदासजी ने इन विपत्तियों में भी अपने धैर्य को नहीं खोया और अपनी पुत्रवधू पार्वती तथा नाती रघुनाथ को महाप्रभु के द्वारा नाम-निवेदन करवा दिया ताकि वे दोनों ठाकुरजी की शरण में पहुँचकर अपनी मानसिक पीड़ा को भक्ति की तरंगों में डुबो सकें। इस प्रसंग से इनका परम वैष्णवत्व सिद्ध होता है।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने अपनी कन्नौज यात्रा में पद्मनाभदासजी को शरण में लिया था। महाप्रभुजी का कन्नौज आगमन काल विक्रम संवत् १५५२ है। इसी समय इनका महाप्रभुजी की शरण में आना निश्चित होता है। दीक्षा के उपरान्त आचार्यजी के साथ ही पद्मनाभदास भी कन्नौज से ब्रज आ गये थे और इन्हें मथुरा के निकट कर्णावल नामक स्थान से ठाकुर श्री मधुरेशजी का स्वरूप प्राप्त हुआ था। इस स्वरूप में इनकी भाव-भक्ति को देखकर महाप्रभुजी ने इन्हें सेवार्थ सौंप दिया था।

यह तो सर्वविदित है कि कथाव्यास होने के कारण इनमें मूर्धन्य पाण्डित्य था, परन्तु विशेष बात यह है कि इनके हृदय में पाण्डित्य का अहंकार न होकर भक्ति-भाव का दैन्य था। केवल उदरपूर्ति हेतु ये श्रीमद्भागवत की कथा किया करते थे, परन्तु जब आचार्यजी से इनका साक्षात्कार हुआ, तब से इन्होंने कथा को वृत्ति का माध्यम नहीं बनाया। एक बार एक राजा ने इनसे श्रीमद्भागवत कथा सुनाने का आग्रह किया, तो उनसे स्पष्ट मना कर दिया और विनम्रता से कहा—'मैं भागवत सुनाता नहीं हूँ, उसे अब हृदय में बिठाता हूँ।' इससे श्रीपद्मनाभदासजी की गुरुनिष्ठा का पता चलता है और साथ ही प्रभु के श्रीचरणों में इनके हृदय के समर्पण का भी। पद्मनाभदासजी अपने इष्टदेव को श्रीमद्भागवत की कथा सुनाया करते थे तथा उनके समक्ष ही कीर्तन आदि भी किया करते थे। गुरु और हरि में इनका चित्त अभेद-बुद्धि वाला था। इनकी इस अनन्य और अगाध-भक्ति का स्वरूप निम्नांकित पद में द्रष्टव्य है—

हेली नव निकुंज लीलारस
पूरित श्री बल्लभ मन मोरे।
अंगन विपुल छिपत घन-दामिनि
दुति पल पल प्रति दोरे॥

करत अवेस विरह विरहिन सुति
भूतल बहुतक थोरे।
पद्मनाभ मथुरेश विचारत
श्री लक्ष्मन भट्ट सुत ओरे॥

—निज पद संग्रह

इनके कीर्तनों की भाषा में संस्कृत-निष्ठ पाण्डित्यपूर्ण शब्दावली का समाहार है। भावात्मक कक्षा में पहुँचकर भक्त को जब कण-कण भगवत्स्वरूप प्रतीत होने लगता है, तब गुरुदेव तो श्री भगवत्तुल्य ही हैं। पद्मनाभदासजी ने महाप्रभु वल्लभाचार्य की सेवा में जो भी पहुँच गया उसको सौभाग्यशाली माना। श्री दामोदरदास हरसानी, जिन्हें महाप्रभुजी 'दमला' कहते थे, उन्हें श्री पद्मनाभदासजी ने नमन किया है और गुरुदेव का गुणानुवाद भी किया है। निम्नांकित पद इसका प्रमाण है—

श्री लक्ष्मण सुत नेकहू गावै।
दमला प्रभुदास बड़भागी तिनकौ
पुनि पुनि आप सिखावैं॥

प्रेम विवस ह्वै श्री वल्लभ प्रभु
नैन सैन में अर्थ जनावैं ।
प्रगट प्रसिद्ध जसोदानंदन
रसिक सिरोमनि सकल जतावैं ॥
वृंदावन रमणीक रमण अति
उर सम्पुट की कोउ न पावैं ।
पद्मनाभ गिरिधर-रसलीला
वेणुनाद की बतियाँ भावैं ॥

इसी तरह का भक्तिभावपूर्ण यह स्तोत्र द्रष्टव्य है —

रस सोभा मय भाव प्रगट करि
श्री वल्लभ वर देहं ।
नख-शिख आदि ब्रजवधू विरहिनि
व्यापित जुगल सनेहं ॥

वृन्दारण्यं इन्दु-सम्पुटं
हृदयगूढ़ कन्दरा गेहं ।
पद्मनाभ प्रभु सुत हित कृत
इह मारग नेह मुरलिका छेहं ॥

'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' के आधार पर इनका गोलोकवास विक्रम संवत् १६३४ निश्चित किया जा सकता है —

प्रगटे गोपीनाथ फिर, गिरधर गृह सुखदान ।
सोलह सौ चौंतीस के, पौष कृष्ण छठ भान ॥

पद्मनाभदास को समय लखि, विट्ठलनाथ सुजान ।
पधराए मथुरेश को, गिरिधर हित नृपमान ॥

एक अन्य पद के आधार पर भी इनकी उपस्थिति विक्रम संवत् १६३४ तक ही मानी गई है —

मधुर ब्रज देश बसि मधुर कीन्हों ।
मधुर गोकुल गाम मधुर वल्लभनाम

मधुर विट्ठल भजनदान दीन्हों ॥
मधुर गिरिधर आदि सप्ततनु वेणुनाद
सप्त रन्ध्रन मधुर रूप लीन्हों ।
मधुर फल फलित अति ललित
पद्मनाभ प्रभु मधुर अलि गावत
सरस रंग भीनों ॥

इस पद में सप्ततनु शब्द यह सिद्ध करता है कि उस समय तक श्रीगोसाइंजी के सातवें लाल श्रीघनश्यामजी का जन्म हो चुका था। श्रीघनश्यामजी का जन्म संवत् १६२८ विक्रम संवत् है जो पद्मनाभदासजी के निधन से छह वर्ष पहले का है। इस प्रकार पद्मनाभदासजी ११४ वर्ष की दीर्घायु में गोलोकवासी हुए। पदकर्ता और कीर्तनकार के रूप में सम्प्रदाय में इनका विशेष स्मरण किया जाता है। पद्मनाभदासजी ने महाप्रभु की वन्दना में अनेक पद लिखे हैं।

इनकी भाव-भक्ति श्री गोविन्द-माधव के प्रति सतत प्रवाहित है। पद्मनाभदासजी की रुचि परमानन्दमयी वृत्ति में समाहित रहती है। भक्त हृदय की यह चेतना प्रस्तुत पद्य में द्रष्टव्य हैं—

श्री गोविंद जन आनंदकंद ।
देखत दरस परस सुख उपजत
सर्बहि कटत दुखदुन्द ॥
जाको नाम रटत निसिबासर,
कटत भवसागर के फंद ॥
पद्मनाभ प्रभु प्रकट भए हैं,
मानौ उदयौ पूरन चंद ॥

रा० कृ० श०

पद्माकर

पद्माकरजी का जन्म मधुकर भट्ट की सातवीं पीढ़ी में मोहनलाल भट्ट के पुत्र रूप में सं० १८१० (सन् १७५३ ई०) में हुआ था। इनका जन्म स्थान सागर (मध्य प्रदेश) माना जाता है। ये नौ वर्ष की आयु में काव्य-सृजन की ओर आकर्षित हुए। साहित्यिक पूँजी इन्हें विरासत में मिली थी। इन्होंने संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं के साहित्य का गहन अध्ययन किया था। इनका सम्बन्ध नागपुर, पन्ना, बाँदा, दतिया, अभयगढ़, सागर, ग्वालियर, सितारा, उदयपुर, चरखारी, उदयपुर, बूँदी, जयपुर आदि अनेक

राजदरबारों से था। इनका सर्वाधिक साहित्यिक समय जयपुर में व्यतीत हुआ और जितना सम्मान इन्हें यहाँ मिला उतना अन्य राजदरबारों में नहीं। कवि होते हुए भी पद्माकर का वैभव राजाओं जैसा था, यह निम्नलिखित कवित्त से स्पष्ट हो जाता है—

सूरत के साह कहैं, काहू नरनाह कहैं,
काहू कहैं मालिक ये मुलक दराज के।
राव कहैं काहू उमराव पुनि काहू कहैं,
काहू कहैं साहिब थे सुखद समाज के।
देखि असबाब मेरो घर में नरिन्द सबै,
तिन सौं कहै मै बैन सिरताज के।
नाम पद्माकर डराव मति कोऊ भैया
हम कविराज हैं प्रताप महाराज के॥

पद्माकर का जयपुर में आगमन महाराजा प्रताप सिंह के राज्यकाल में सं० १८५६ वि० के लगभग माना जाता है। 'ब्रजनिधि' की 'कविबाईसी' में इनका प्रमुख स्थान था। 'ब्रजनिधि' के दरबार में प्रवेश पाने के सम्बन्ध में दो जनश्रुतियाँ हैं। एक जनश्रुति के अनुसार दूणी के राव शम्भुसिंह ने 'ब्रजनिधि' से इनका परिचय कराया था। दूसरी जनश्रुति के अनुसार पद्माकर जयपुर घोड़े पर बैठकर आये और गिरधारीजी के मन्दिर में ठहरे। इन्होंने महाराजा के दरबार में प्रवेश पाने का बहुत प्रयास किया, किन्तु दरबारी विद्वानों ने ऐसा नहीं होने दिया। एक बार पद्माकर हवामहल की ओर से निकल रहे थे, जहाँ पर महाराज कुमार जगतसिंह अपने शिक्षक से पढ़ रहे थे। गुरु एक समस्यापूर्ति के लिए बार-बार सिर खुजला रहे थे और महाराज कुमार बार-बार उस समस्यापूर्ति के सम्बन्ध में पूछ रहे थे। पद्माकर ने इस परिस्थिति को देखा तथा एक कवित्त में समस्यापूर्ति करके सईस के वेष में शिक्षक तथा महाराज कुमार के सामने प्रकट हुए और उनसे कवित्त सुनने का आग्रह किया। कवित्त सुनकर महाराज कुमार आपकी विद्वत्ता तथा आशुकवित्त शक्ति से अत्यधिक प्रभावित हुए और इन्हें अपने पिता महाराजा प्रताप सिंह 'ब्रजनिधि' के पास ले गये। ब्रजनिधि ने सम्मानपूर्वक पद्माकर का स्वागत किया और भेंट-स्वरूप पुरस्कार एवं जागीर प्रदान की। समस्यापूर्ति का कवित्त निम्नलिखित था—

शंभु के अधर माँहि काहे की सुरेख राजे,
गाई जाति रागिनी सु कोन सुर सन्द्रमा।
देत छवि को है कोकनद में मही में कहो,
नखत बिराजै कौन निशि में अतन्द्रमा॥
एक दृग को है कौन वर्णन असम्भावित,
घटै-बढै सो तो दिन पाय पाय चन्द्रमा।
काली जू के कज्जल की ललित लुनाई सो तो,
सारे नभ मण्डल में भारगव चन्द्रमा॥

'ब्रजनिधि' ने पद्माकर की बहुमुखी प्रतिभा को परखा तथा इन्हें कविराज की उपाधि से विभूषित किया। इन्होंने 'पद्माभरण' (अलंकार ग्रंथ), और जगद्विनोद' (रसपरक ग्रंथ) नामक ग्रंथ क्रमशः महाराज प्रतापसिंह और जगतसिंह के आश्रय में रहकर लिखे थे।

महाराज जगतसिंह के शरीरान्त के बाद ये ग्वालियर चले गये और वहाँ के राजा दौलतराव सिन्धिया के दरबारी कवि बन गये। उनकी युद्धवीरता के सम्बन्ध में इनका निम्नांकित कवित्त प्रसिद्ध है—

मीनागढ़ बंबई सुमंद मंदराज बंग,
बंदर को बंद करि बंदर बसावैगो।
कहै पद्माकर कसकि कासमीर हू को
पिंजर सो घेरि कै कलिंजर छुड़ावैगो॥
बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं
साजि दल पकरि फिरंगिन दबावैगो।
दिल्ली दहपट्टि, पटना हू को झपट्ट करि,
कबहूँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो॥

कवि पद्माकर अन्दिम दिनों में कुष्ठ रोग से ग्रसित हो गये। इसके लक्षण जयपुर में ही दिखाई देने लगे थे। अन्तिम दिनों में ये कानपुर में रहने लगे। इनका देहावसान कानपुर में ही ८० वर्ष की आयु में गंगातट पर सं० १८९० वि० में हुआ।

इनकी अधिकांश रचनायें घनाक्षरी छंद में हैं। इन्होंने लिखा है 'जिह्वा जाने छंद रस'। कहते हैं कि इनको तारादेवी का इष्ट था। अतएव बड़े-बड़े दरबारों में गये पर नीचा कहीं न देखा, इनका सर्वत्र बोलबाला रहा।

पद्माकर के निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध होते हैं –

१. पद्माभरण, २. राम रसायन, ३. जगत् विनोद, ४. प्रबोध पचासा, ५. ईश्वर पच्चीसी, ६. हितोपदेश भाषा, ७. प्रताप-विरुदावली, ८. हिम्मत-बहादुर-विरुदावली, ९. गंगालहरी, १०. षट्ऋतुवणन, ११. कवित्त-संग्रह और १२ राजनीति वचनिका।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त मिश्रबन्धुओं ने पद्माकर कृत 'अलीजा प्रकाश' नामक एक अन्य ग्रन्थ की भी सूचना दी है जो दौलतराम की प्रशंसा में लिखा गया था। डॉ० राजकिशोर पाण्डेय ने पद्माकर की रचनाओं में 'जयसिंह विरुदावली' का उल्लेख किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कवि के समय में जयपुर के शासक जयसिंह नहीं प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' थे। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'पद्माकर पंचामृत' में इस ग्रंथ का उल्लेख नहीं किया है। 'रामरसायन' का लेखन महाराजा जगतसिंह की आज्ञा से हुआ था। जगद्-विनोद भी उन्हीं के प्रीत्यर्थ लिखा गया था। हिम्मत बहादुर विरुदावली (सं० १८४९) में बाँदा के नवाब अली बहादुर के सेनापति अनूप गिरि गोसाईं उपनाम हिम्मत बहादुर के अजयगढ़ युद्ध का वर्णन है। इस लड़ाई में पद्माकर इनके साथ थे। अतः हिम्मत बहादुर की वीरता का आँखों देखा चित्रण किया गया है। प्रतापसिंह विरुदावली में प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' के यश, वीरता एवं महिमा का विस्तृत वर्णन है। प्रारम्भ का छप्पय द्रष्टव्य है –

जय जय गोविन्द देव देवन हितकारिया।
जय जय गोपी नाथ सु जय जय जय गिरधारिया ॥
जय जय गोकुलचंद मदन मोहन मन मोहन।
जय गोवर्धन नाथ नाथ गोकुल के सोहन ॥
जय पद्माकर जयपुर जगत सिंह जय द्विजतिकय।
दिवि देव दलन उद्धत प्रताप जय नरनाह कहे विजय ॥

पद्माकर ने अपनी रचनाओं में मुख्यतः तीन रसों—वीर, शृंगार तथा भक्ति –को महत्व दिया है। इन्होंने वीर काव्य 'हिम्मत बहादुर-विरुदावली' और 'प्रतापसिंह विरुदावली' में चरित्र नायक की ऊहात्मक ढंग से प्रशंसा करते हुए उसके हाथियों, घोड़ों तथा तोप तलवारों के नाम ही अधिक गिनाये हैं। फलतः वीर काव्य की रचना में ये अधिक सफल नहीं हो सके! 'जगद विनोद' में शृंगार रस के आलम्बन, उद्दीपन विभाव, अनुभाव, संचारी भाव का पूर्ण विवेचन करके पद्माकर उसके अधिकारी कवि हो गये हैं।

पीहर में नायक के आ जाने पर माँ के सामने उसे न देख सकने और बिना देखे रह भी न सकने के कारण नायिका की द्वन्द्वात्मक मनोदशा का चित्र देखिए—

नन्दगाँव ते आइगो नन्दलाल लखि
लाड़िली ताहि रिझाइ रही।
मुख घूंघट घालि सकै नहि
माइके माइके पीछे दुराइ रही।
उबके कुच कोरन की पद्माकर
कैसी कछू कनि छाइ रही।
ललचाइ रही सकुचाइ रही
सिर नाइ रही मुसक्याइ रही ॥

पद्माकर के ग्रन्थों में मंगलाचरण के रूप में राधा, कृष्ण, शिव और गणेश की स्तुति के पद मिलते हैं। राम और गंगा की स्तुति में उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ—'प्रबोध पचासा' और 'गंगा लहरी' की रचना की है।

'कवित्त शतक' में २०२ कवित्त हैं। रचना के अंत में उसकी समाप्ति की सूचना नहीं है। इन कवित्तों में से अनेक कवित्त 'प्रताप प्रशस्ति' के भी हैं। संग्रह का आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है—

श्री गणेशायनमः। अथ पद्माकर कवित्त लिष्यते ॥
मौलसिरी मंजुल की कुंजन की गुंजन को,
मो सौं घनस्याम कहि काम की कथै गयो।

कहै पद्माकर अथाइन को ताजे तजि,
गोपगन निज निज गेह के पथै गयो ॥
सोचमति कीजे ठकुरानी हमजानी चित,
चंचल तिहारो चढ़ि चाह के रथै गयो।
छीनन छपाकर छपाकर सुभीत तव,
बदन छपाकर छपाकर अथै गयो ॥

पद्माकरजी रीति परम्परा के कवि थे। यह इनकी उपर्युक्त रचनाओं से स्पष्ट है, किन्तु इसके साथ ही इनके श्रीकृष्ण लीला सम्बन्धी छन्दों में भक्तिभाव की भी झलक मिलती है। उदाहरण रूप में कुछ छन्द नीचे दिये जा रहे हैं—

(१)

अब ह्वैहै कहा अरविंद सो आनन
इंदु के हाथ हवाले पर्‌यो।
पदमाकर भाषै न भाषै बनै
जिय ऐसो कछूक कसाले पर्‌यो ॥
इक मीन बिचारी बिंधी बनसी
पुनि जाल के जाय दुमाले पर्‌यो।
मन तो मनमोहन के सँग गो
तन लाज मनोज के पाले पर्‌यो ॥

(२)

जब लौं घर को धनी आवै घरे,
तब लौं तो कहूँ चित दैबो करो।
पदमाकर ये बछरा अपने,
बछरान के संग चरैबो करो ॥

अरु औरन के घर ते हमसों,
तुम दूनी दुहावनी लैबो करो।
नित साँझ सकारे हमारी हहा,
हरि गैया भला दुहि जैबो करो ॥

(३)

फागु की भीर, अभीरिन में गहि
गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर,
ऊपर नाई अबीर की झोरी ॥
छीनि पितम्बर कम्मर तें सु
विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय,
लला फिर आइयो खेलन होरी ॥

(४)

गोकुल के, कुल के, गली के गोप गाँवन के
जौ लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं।
कहै पदमाकर परोस पिछवारन के
द्वारन के दौरे गुन औगुन गनै नहीं ॥
तौ लौं चलि चातुर सहेली! याही कोद कहूँ
नीके कै निहारैं ताहि, भरत मनै नहीं।
हौं तो श्यामरंग में चोराइ चित चोराचोरी
बोरत तो बोर्‌यो, पै निचोरत बनै नहीं ॥

(५)

ए ब्रजचंद गोबिन्द गोपाल!
सुन्यों क्यों न एते कलाम किए मैं ॥
त्यों पदमाकर आनँद के नद हौ,
नंदननंदन! जानि लिए मैं ॥

माखन चोरी कै खोरिन ह्वै
चले भाजि कछू भय मानि जिए मैं।
दूरि न दौरि दुरयौ जौ चाहौ
तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे हिए मैं?

रा० कृ० श०

पन्नालाल (प्रथम)

पं० रामजीवनलाल भार्गव के सुपुत्र पन्नालालजी (प्रथम) का जन्म अनुमानतः सन् १८५० ई० में हुआ था। आप जयपुर में नाजिम थे। नौकरी के अन्तिम दिनों में ये गुसाईं वासुदेवदास के सम्पर्क में आए, जो उन दिनों जयपुर में ही रहते थे। उनके सत्संग से इन पर भगवद्भक्ति का रंग चढ़ा। फलस्वरूप ये उनके शिष्य बन गये। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—गुसाईं चरणदास, गुसाईं जुगतानन्द, गोसाईं कृष्णकृपाल, गुसाईं श्यामसनेही, गुसाईं हरशरणदास, गुसाईं गोमतीदास, गुसाईं वासुदेवदास।

ये परम कृष्णभक्त थे। अवकाश-प्राप्ति के बाद इनका अधिकांश समय वृन्दावन में बीता। वहाँ रहकर इन्होंने उर्दू में सन्त चरणदास का जीवन-चरित्र लिखा, जो सन् १९०९ ई० में छपकर प्रकाशित हो गया। ग्रन्थ का नाम है—'मज़हरुल मारिफ़त'। इस ग्रन्थ में प्रसंगतः राधा-कृष्ण की रास-लीला का वर्णन हुआ है। कुछ अंश का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है—

वहाँ एक चौसठ सितून का हैवान।
मलायक हों और देवता जिस पै कुरबान॥

उस ईवान में इक मुरस्सा सिंगासन।
बिछा जिसपे कुदरत ही कुदरत का आसन॥

जुगल रूप सरकार उस पर विराजे।
सुहाने थे सखियों के राग और बाजे॥

खड़ी सामने निरत करती थी सखियाँ।
लड़ाती थीं मुरली मनोहर से अँखियाँ॥

चरणदास ने भी सखी रूप पाया।
तो सरकार ने पास अपने बिठाया॥

दिखाने लगे दास को अपने जौहर।
उठे रास करने को मुरली मनोहर॥

उठीं राधका दाहने हाथ आई।
चरणदास प्यारी सखी को भी लाई॥

लगीं लेने वह भाँवरी साथ उनके।
अदा के लिए हाथ में हाथ उनके॥

वह सखियों ही सखियों का पास मंडल।
दिखाया यह आनन्द का रास मंडल॥

उर्दू, अरबी तथा फारसी पर इनका अच्छा अधिकार था। सन् १९२२ के लगभग इन्होंने परम-धाम-यात्रा की।

म० गो० भा०

पन्नालाल (द्वितीय)

पन्नालालजी (द्वितीय) का जन्म मथुरा जनपद के कस्बा फरह में वि० सं० १९१२ में हुआ था। ये गर्गगोत्रीय अग्रवाल वैश्य थे। किशोरावस्था में ही इनके पिता लाला मुकुन्दराम स्वर्ग सिधार गए। इन्होंने अपनी अनाथ अवस्था में अत्यन्त साहस, धैर्य और परिश्रम के साथ अध्ययन जारी रखा और उसके समाप्त होने पर प्राइमरी स्कूल के शिक्षक बन गये।

एतमादपुर, जिला आगरा में ये हिन्दी वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल के ३२ वर्षों तक प्रधानाध्यापक रहे। ये मुन्शीजी' के नाम से प्रसिद्ध थे। बचपन से ही इन्हें हिन्दी-साहित्य से अनुराग था। काव्य, अलंकार, नाटक, नायिका भेद आदि से सम्बन्धित अनेक ग्रंथों और हिन्दी के प्राचीन कवियों की कविताओं का इन्होंने भली-भाँति अनुशीलन किया था। अध्यापकीय जीवन में ही ये समस्या पूर्तियाँ करने लगे थे। अपनी रचनाओं में 'प्रेमपुञ्ज' अथवा 'पुंज' छाप रखते थे। पेन्शन लेने के बाद ये आगरा में रहने लगे। वहाँ चौबे अयोध्या प्रसाद वकील से परिचय हुआ। नागरी-प्रचारिणी सभा, आगरा द्वारा आयोजित कवि सम्मेलनों में ये प्रायः उपस्थित रहते थे और समस्याओं की पूर्ति करके ले जाते थे। इनकी रचनाओं की बड़ी प्रशंसा होती थी। इन्हें आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा-पद्धति की अच्छी जानकारी थी। आगरा के वैद्य और हकीम लोग रोगियों की नाड़ी-परीक्षा कराकर कठिन रोगों में इनसे सम्मति लिया करते थे। परोपकारी ऐसे थे कि रोगियों की चिकित्सा निःशुल्क किया करते थे। रूपगोस्वामी के प्रख्यात दूतकाव्य 'हंसदूतम्' का इन्होंने राधाकुण्ड निवासी प० मोहनलाल गोस्वामी की प्रेरणा से पद्यबद्ध अनुवाद किया था, जो वि० सं० १९७८ में समाप्त हुआ था। इसे जब इन्होंने वृन्दावन में भारतेन्दु-मण्डल के सुकवि राधारमण गोस्वामी तथा श्री राधाचरण को सुनाया तो उन लोगों ने बड़ी प्रशंसा की। कहते हैं कि उक्त ग्रंथ का इन्होंने गद्यानुवाद भी किया था।

इनकी एक अन्य रचना का नाम है 'स्वतन्त्र वनिता विनाश'। पन्नालालजी की अन्तःवृत्ति श्रीकृष्ण-भजन में लीन रहती थी। ये अपना अधिक समय सदाचार शिक्षा, विद्याध्ययन तथा परोपकार में व्यतीत करते

थे। इनके ब्रजभाषा काव्यानुवाद से इनके हृदय की रसात्मकता का सही बोध होता है। इनका देहावसान वि० सं० १९८१ को हुआ था। 'हंसदूत' के पद्यबद्ध अनुवाद में इन्होंने अनेक छन्दों का सफल प्रयोग किया है। इनकी रचना के दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)

अखिल लोक आधार जो, पूरन परमानंद।
मम उर तिन श्रीकृष्ण को, होहु प्रकास अनंद॥

धारत पीतपटा छवि तासु,
दली हरिलाल की काँति दुराई।

पाँति प्रसून जपा जनु सोहति,
जासु पदांबुज की अरुनाई॥

स्याम तमाल सो अंग लसै,
मुसकानि भरी मुख की जु लुनाई।

सो परमानंद पूरन रूप,
प्रकासहु मो उर अन्तर आई॥

(२)

हे जगनेत्र समूह सुखद हरि ! मम सखि राधा।
ताके प्राण छिद्र में अन्तदशा सह बाधा॥

अतिशय लहर स्वतन्त्र नवीन अमंगलकारी।
नृत्य करत सो बार-बार चित शंका धारी॥

बहुतकाल भयो मथुरा गयें, ऐसो दूर निवास का।
अब लौं न सुनी सुधि आपकी यातें दुर्नय त्रास का॥

(३)

अति संतापन माँहि आप नें सखी हमारी।
करी त्याग श्रीकृष्ण ! तबै आकृति यह धारी॥

कृष्ण रूप ह्वै गयो कठिन जिमि हृदय तुम्हारौ।
ताही सरिस कठोर कियौ चित जग तें न्यारौ॥

वह सतिन माँह संसार में अधिक
शिरोमणि गुण मयी।
बनि एकांगी प्रभु प्रेम में वज्र हृदय राधा भयी॥

न० च० बं०

परमानंद (प्रथम)

परमानन्द (प्रथम) का जन्म पंजाब के सेठी नामक स्थान में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके परिवार वाले राधावल्लभी थे, फलतः उन सबकी देखा-देखी ये भी राधावल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए, किन्तु कोई इन्हें राधाकृष्ण के दर्शन न करा सका। इनके मन में दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा थी। सन्त चरणदास का नाम सुनकर ये दिल्ली पहुँचे और उनसे राधाकृष्ण का दर्शन कराने की प्रार्थना की। साथ ही कहा कि 'आपको भी राधाकृष्ण के दर्शन हुए हैं, इसलिए आप दर्शन कराने में समर्थ हैं।' सन्त चरणदास ने कहा, 'मैं तो मतिहीन हूँ, मुझे भला हरि क्यों दर्शन देने लगे ?' ये नहीं माने और हठ करके चरणदासजी के मठ में रुक गये। तीन दिन उपवास किया। अन्त में प्रसन्न होकर चरणदासजी ने मठ स्थित पीपल के पेड़ के प्रत्येक पत्ते पर इन्हें राधाकृष्ण के दर्शन करवाए। ये उनके चरणों में गिर पड़े और विधिवत् दीक्षित होकर उनके शिष्य बन गये। इनका उपस्थितिकाल वि० की उन्नसवीं शती है। इन्होंने बीरबल की गढ़ी में सन्त चरणदासजी की आज्ञा से स्थान बनाया। इनके रचे फुटकर पद और दोहे प्राप्त होते हैं।

म० गो० भा०

परमानंद (द्वितीय)

परमानन्द (द्वितीय) वीठू शाखा के चारण थे। ये बीकानेर के निवासी थे। इनका रचनाकाल सं० १६५० और सं० १७७५ के मध्य माना जाता है। इनकी कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं। कवि ने अत्यन्त सरल, सहज एवं आत्मीय भाव से परमपिता के गुणों की वन्दना की है—

अंग दिपै लाख अंग अगि लख उतमंग
उतमंग मुख द्यै लाख अनंत।
मुखि मुखि रसगि दियै लख माह्व,
मुणि तौ सकां न सुगुण महंत॥
सू तण कोटि तिणि तिणि कोटि सिर,
सिरी सिरी कोटि बदन समराथ।

वदनि वदनि द्वै कोटि जीह बलि,
जपि तौ गुण न सकां जगनाथ ॥

धड़ ध्रू कोटि कोटि घड़ि घड़ि ध्रू
कोटि ध्रुवां ध्रू जिगन करे।
जिगनि जिगनि पै कोटि तवन जो,
प्रिम तो सुगुण न पार करे।
वप ध्रू बदन जीह चित्रवाणै ॥

पारब्रह्म कुण लाभै पार।
पारमाणंदो छोडव्वो केसव,
क्रम बंधण हूँता करतार ॥

स० गु०

परमानंद (तृतीय)

आलोच्य परमानन्दजी (तृतीय , के जीवन वृतान्त के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। ये अन्य समनामी कृष्ण भक्त कवियों से भिन्न प्रतीत होते हैं। कारण कि प्रस्तुत परमानन्द की रचना में गुजराती भाषा का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। इससे अनुमान होता है कि ये अष्टछाप के परमानन्द से भिन्न कवि थे।

इनकी एक रचना 'दान-लीला' प्राप्त हुई है जिसका रचना-काल और लिपिकाल अज्ञात है। इसका विषय है—दानलीला। इसकी भाषा पर गुजराती का बहुत अधिक प्रभाव है।

बजाड़ी रे बिठलवा सरी रे।
गोपी व्याकुल थई छै व्याकुल रे ॥
गोपी कुंज भवन सगली गई रे।
महीनां माहज में ल्यावे गली रे ॥
सहु बाला जी वोही रही रे।
इतठी हती ब्रजनी सुंदरी रे ॥
इतस्यां रूप धर्‌यां छै श्रीहरी रे।
लीधां आलिंगन हित व्याल्या ॥
जिम सागर भर्‌यां नीर के सारंगपाणी जी।
'परमानन्द' प्रभु दाणलीला बखाणी जी ॥

वा० सं०

परमानंददास (प्रथम)

परमानन्ददास (प्रथम) पुष्टिमार्गीय गो० तुलसीदास जी के शिष्य थे। इनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था, परन्तु कुसंगति में फँसकर ये आचारभ्रष्ट तथा कुकर्मी बन गये। एक दिन जब गोस्वामीजी ने इनको इस दशा में देखा, तो इन्हें अपने साथ आश्रम पर ले आये और ब्राह्मण-कर्म की शिक्षा दी, जिससे प्रभावित होकर ये उनके शिष्य बन गये। तदुपरान्त इन्होंने मन लगाकर अध्ययन किया। परिणामतः ये संस्कृत के पण्डित बन गये। इनका लिखा हुआ संस्कृत भाषा का गुरुवन्दना स्तोत्र प्राप्त है। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा में भी इनके कुछ वन्दना के पद प्राप्त होते हैं। इनका लिखा हुआ 'गुसाइं श्री लालजी का जन्मचरित्र' नामक एक लघु ग्रंथ भी मिला है।

इनकी कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

हरि तेरी लीला की सुधि आवत।
कमलनयन मोहन मूरति कौ
मन मन चित्र बनावत ॥

एक बेर जंह मिले दया कर
सो कइसे बिसरावत।
कबहूँ संभ्रम होय मिलन कौ,
संगहि मिलि उठ धावत ॥
मृदु मुसकान वंक अवलोकन
चार मनोहर भावत।
कबहुँक निविड तिमिर अवलंवित
कबहुँक नीके सुर गावत ॥
कबहुँक नइन मूंद अन्तरगत
बनमाला पहिरावत।
परमानन्द उर स्याम ध्यान धर
इह विधि विरहा गावत ॥

सु० श०

परमानंददास (द्वितीय)

"चौरासी वैष्णवन की वार्ता" के अनुसार परमानन्ददासजी (द्वितीय) का जन्म स्थान कन्नौज, जिला

फर्रुखाबाद था। कन्नौज एक ऐतिहासिक नगर है। यहाँ का इत्र-व्यापार प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहा है। वल्लभाचार्यजी की यहां एक बेठक अभी तक विद्यमान है। वार्ता के अतिरिक्त परमानन्ददासजी के जीवन वृत्तान्त का परिचय देने वाले अन्य किसी ग्रन्थ में इनके जन्म-स्थान अथवा बाल्यकाल के निवास-स्थान के विषय में लिखा नहीं मिलता है। वार्ता के अनुसार परमानन्ददास का जन्म एक निर्धन कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था।

वार्ता अथवा अन्य किसी भी सूत्र से इनके माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं होता। वार्ता में लिखा है कि इनके माता-पिता पहले निर्धन थे, परन्तु इनके जन्म दिन ही एक सेठ ने उन्हें बहुत-सा द्रव्य दिया। उस समय उन्हें परमानन्द हुआ था। वार्ताकार ने लिखा है कि इसी से कवि के माता-पिता ने इनका नाम 'परमानन्द' रक्खा। परमानन्ददास का बाल्यकाल सुख से व्यतीत हुआ। इनका यज्ञोपवीत बड़े उत्सव के साथ हुआ। एकबार कन्नौज में अकाल पड़ा तो वहाँ के हाकिम ने इनके पिता का सब द्रव्य लूट लिया। तब इनके माता-पिता ने इनसे कहा—"हम तेरा विवाह भी नहीं कर पाये और सब द्रव्य लुट गया, अब कुछ कमाने की फिक्र करो।" परमानन्ददास की वृत्ति बाल्यकाल ही से वैराग्यमयी थी, इसलिए इन्होंने अपना विवाह तथा द्रव्य संचय करने से इन्कार कर दिया और माता-पिता से कहा, "आप लोग बैठे-बैठे भजन करो और खाने के लिए मैं कमाकर दूँगा।" परन्तु इनके पिता को धनी होने की लालसा थी, इसलिए वे धन कमाने के लिए पूर्व देश को ओर चल दिये। परमानन्ददास कन्नौज में ही रहते रहे। पूर्व देश में जब उनको जीविका न मिली तब वे दक्षिण देश गये। वहाँ उन्हें द्रव्य मिला और वे वहीं रहने लगे। इसके बाद परमानन्दासजी अपने माता-पिता के पास कभी गये अथवा नहीं, इस बात का उल्लेख वार्ताकार ने नहीं किया है। परमानन्ददास ने अपना विवाह नहीं किया। इसलिए इनको गृहस्थी का कोई बंधन नहीं था। हाँ, कीर्तन करने वालों का समाज वल्लभसम्प्रदाय में आने से पहले ही इनके साथ बहुत था और उस समाज में ये 'स्वामी' कहलाते थे। पदों के आत्मचारित्रिक उल्लेखों में जहाँ इन्होंने कहा है कि परमानन्द घर में बटोही की तरह रहता है, वहाँ वार्ता के आधार से यही ज्ञात होता है कि घर का तात्पर्य वे अपने माता-पिता के संसर्ग को ही लेते हैं न कि स्त्री-पुत्रादि की पूरी गृहस्थी को। वार्ताकार ने इनके किसी भाई अथवा बहन का उल्लेख नहीं किया। सम्भव है, इनके माता के दक्षिण देश में कोई अन्य सन्तान हुई हो, परन्तु इस बात का कोई वृतान्त नहीं मिलता।

परमानन्ददासजी की शिक्षा कन्नौज में हुई होगी। ये कहीं अन्यत्र विद्या पढ़ने गये, इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इनके शिक्षागुरु कौन थे, इसका भी उल्लेख वार्ता अथवा अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं है। वार्ता से ज्ञात होता है कि कविता करने और गाने का शौक इन्हें बचपन ही से था और तभी से साधु-संगति में इनका मन बहुत लगता था। वल्लभसम्प्रदाय में आने से ही ये एक योग्य व्यक्ति, कवीश्वर, उच्चकोटि के गायक और कीर्तनियाँ प्रसिद्ध हो गये थे। उस समय इनके कीर्तन का समाज बहुत बड़ा था। उस समाज में परमानन्ददास 'स्वामी' की पदवी से सुशोभित थे। यह बात पीछे कही जा चुकी है। कविता और गान-विद्या सीखने के लिए इनके अनेक शिष्य हो गये थे तथा हमेशा गुणीजनों का ही इनका संग रहता था।

परमानन्ददास के मन की वृत्ति बाल्यकाल से ही वैराग्यमयी थी। इनकी कविता और कीर्तन की कीर्ति दूर तक फैल गयी थी। एक बार परमानन्ददासजी मकर स्नान के लिए प्रयाग गये। वहाँ भी इनके कीर्तन की ख्याति फैली। उस समय आचार्य बल्लभजी प्रयाग के निकट अड़ैल नामक स्थान पर रहा करते थे। अड़ैल के लोगों ने भी परमानन्ददास के कीर्तन सुने और इनके विषय में श्री बल्लभाचार्यजी से कहा। वार्ता में लिखा है कि एक समय उष्णकाल का था।

इस समय परमानन्ददासजी विरह के पद ही गाते थे। एकादशी की सम्पूर्ण रात्रि को कीर्तन करने के बाद, दूसरे दिन परमानन्ददासजी, स्वप्न में प्रेरणा पाकर अड़ैल गये। वहाँ ये वल्लभाचार्यजी के अद्‌भुत-अलौकिक दर्शन से बहुत प्रभावित हुए। जब आचार्यजी से भेंट हुई तब इन्होंने इनसे भगवत् लीला गाने को कहा। परमानन्ददास ने उस समय भी विरह के पद गाये। इसके पश्चात् आचार्यजी ने बाललीला के पदगान की आज्ञा दी। उस समय इन्होंने कहा—महाराज! मुझे बाललीला का बोध नहीं है। तब आचार्यजी ने परमानन्ददास को स्नान कराकर शरण में लिया। चौरासी वैष्णवन की वार्ता से इनकी शरणागति की तिथि ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी सिद्ध होती है।

वल्लभ-दिग्विजय में लिखा है कि आचार्यजी ने जगदीश-यात्रा के बाद अड़ैल में परमानन्द कान्यकुब्ज पर अनुग्रह कर उसे लीलादर्शन करवाये। इसके बाद श्री द्वारिकेशजी का आगमन हुआ। इस प्रकार संवत् १५७६ वि० के लगभग श्री वल्लभाचार्यजी की शरण में आने के बाद परमानन्ददासजी अड़ैल में ही नवनीतप्रियजी के समक्ष कीर्तन गाते रहे। कुछ समय बाद इन्होंने श्री वल्लभाचार्यजी के साथ ब्रज को प्रस्थान किया। रास्ते में इनका जन्मस्थान कन्नौज पड़ा। ये आचार्यजी तथा अन्य वैष्णवों को अपने घर ले गये और सब का अतिथि-सत्कार किया। यहाँ पर परमानन्ददास ने विरह का एक पद गाया जिसको सुनकर आचार्यजी तीन दिन ध्यानावस्थित रहे। उक्त पद का यह प्रतीक है—

हरि तेरी लीला की सुधि आवै।

जब चौथे दिन आचार्यजी सावधान हुए, तब परमानन्ददासजी ने यह पद गाया—

बिमल जस बृन्दावन के चन्द को।

उसी समय परमानन्ददास के जितने सेवक थे वे सब श्री वल्लभाचार्यजी की शरण में आ गये। परमानन्ददासजी ने आचार्यजी से निवेदन किया—"महाराज यह तो पहली दशा में स्वामीपनो हतो, तासो सेवक किये हते और अब मैं आप को दास हौं...... मैं अज्ञान दशा में सेवक किये सो अब आप इनको शरण लेके उद्धार करिये।" इसके बाद आचार्यजी परमानन्ददास को गोकुल ले गये। वहाँ रहकर इन्होंने गोकुल की बाल-लीला के अनेक पद बनाये। कुछ समय बाद ये गोकुल से आचार्यजी के साथ गोवर्द्धन गये। वहाँ पर श्री गोवर्द्धननाथजी के दर्शन से इन्हें परम आनन्द मिला। गोवर्द्धननाथजी के समक्ष इन्होंने अनेक पद गाकर सुनाये। इसके कुछ समय बाद आचार्यजी ने परमानन्ददास को मन्दिर में कीर्तन की सेवा दे दी। फिर जीवन पर्यन्त ये इसी सेवा में रहे।

परमानन्ददासजी बाल्यकाल से ही त्यागी और उदार चरित्र के प्राणी थे। यद्यपि इनके माता-पिता धनलोलुप थे, परन्तु इन्हें लोभ का लेश भी न था। वार्ता में लिखा है कि इनके माता-पिता ने जब इनसे विवाह के लिए द्रव्य इकट्ठा करने को कहा तो इन्होंने उत्तर दिया—"मेरे तो ब्याह करनो नाहीं है और तुमने इतनों द्रव्य मेलो करि के कहा पुरुषारथ कियो, सगरो द्रव्य योंही गयो। तासो द्रव्य आये को फल यही है जो वैष्णव ब्राह्म्मण को खवायबो। तासो मैं तो द्रव्य को संग्रह कबहूँ नाही करूँगों, और तुम खायबे लायक मोसों नित्य अन्न लेहू और बैठे-बैठे श्री ठाकुरजी को नाम लियो करो, जो अब निर्धन भये हो तासो अब तो धन को मोह छोड़ो।' उस समय इनके पिता ने इनकी प्रकृति बताते हुए कहा,—"तू तो बैरागी भयो, तेरी संगति वैरागिन की है, तासों तेरी ऐसी बुद्धि भई। और हम तो गृहस्थी हैं, तासो हमारे धन जोरे बिना कैसे चले, जो कुटुम्ब में जाति में खरचैं तब हमारी बड़ाई होय।" पिता के आग्रह करने पर भी परमानन्ददास ने अपना विवाह और धन संचय नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि ये बहुत दृढ़ संकल्पी थे।

वार्ता से विदित है कि परमानन्ददास कला-प्रेमी-व्यक्ति थे। उनको गान और कविता से प्रेम था और

इन विद्याओं में ये निपुण भी थे। परन्तु इन्होंने इन शक्तियों का प्रयोग लौकिक विषयों में नहीं किया, वरन् भगवद्-यश कीर्तन में लगाया। इससे ज्ञात होता है कि बाल्यकाल से ही इनके मन की वृत्ति भक्ति की ओर झुकी थी। इनका स्वभाव बड़ा नम्र और विनयशील था और ये अपने को भगवान् के दासों का भी दास समझते थे। इनके-सखा-भाव के पदों में कहीं भी गोविन्दस्वामी की सी उच्छृङ्खलता नहीं है। वार्ता में लिखा है कि एक बार सूरदास, कुम्भनदास तथा रामदास आदि बहुत से वैष्णव इनकी कुटी पर मिलने गये। उस समय भगवद्भक्तों के शुभागमन से इनकी आत्मा एकदम फूल उठी। इनको प्रतीत हुआ कि भगवान् कृपा करके साक्षात् भक्त-रूप में दर्शन दे रहे हैं।

वार्ताकार और भक्तमाल के रचयिता, दोनों ने परमानन्ददासजी के काव्य, कीर्तन और भक्ति की प्रशंसा की है। इनके काव्य और कीर्तन का ऐसा प्रभाव था कि सुनने वाले भावमग्न हो जाते थे। यह बात भक्तमाल में कही गई है। वार्ता में अनेक स्थलों पर परमानन्ददास के कीर्तनों की ख्याति का उल्लेख है। वार्ता और भक्तमाल, दोनों में ही इनके काव्य-विषय का भी निर्देश हुआ है। भक्तमाल से विदित है कि परमानन्ददास ने कृष्ण की बाल, पौगण्ड और किशोर-लीलाओं का बड़ा प्रभावशाली तथा भक्तिभाव से ओत-प्रोत वर्णन किया है। वार्ता में भी परमानन्ददास के एक पद में इनके सम्पूर्ण काव्य का विषय दे दिया गया है। इन्होंने प्रथम अवतार-लीला का वर्णन किया है, फिर कुंज की लीला (रासादि) का, फिर चरणारविन्द की वन्दना, स्वरूप-वर्णन और प्रभु का माहात्म्य वर्णन किया। अनेक स्थानों पर वार्ताकार ने बताया है कि परमानन्ददास ने बहुत से पद कृष्ण की बाललीला पर बनाकर गाये।

'वार्ता' में आये हुए कई स्थलों के उल्लेखों के आधार से हम कह सकते हैं कि परमानन्ददास ने बाल-भाव, कान्ता-भाव और दास्य-भाव से भक्ति की, और इन्हीं भावों के अनुसार इन्होंने अधिक संख्या में पद बनाकर गाये। वैसे इनके ग्रन्थों के अवलोकन से यह भी पता चलता है कि इन्होंने सख्य और सखी भावों से भी कृष्ण की भक्ति की थी।

सूरदास और परमानन्ददास के काव्य, कीर्तन और भक्ति की प्रशंसा श्री विट्ठलनाथ जी वार्ताकार श्री गोकुलनाथजी और हरिरायजी, तीनों ने की है। वार्ता से ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी अष्टसखा भक्तों में इन्हीं दो को सर्वश्रेष्ठ मानते थे, क्योंकि इन्होंने कृष्ण की सम्पूर्ण लीलाओं का गान सबसे अधिक मार्मिक शब्दों में किया था। गोसाइंजी ने सूर और परमानन्द, दो ही की रचनाओं को 'सागर' कहा है। परमानन्ददास की मृत्यु के बाद गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने उनके काव्य की जो प्रशंसा की, उसके विषय में वार्ता में लिखा है, 'सो ता समय श्री गुसाईजी आपु उन वैष्णवन के आगे यह वचन श्री मुख सों कहे, जो ये पुष्टिमार्ग में दो ही सागर भये—एक तो सूरदास और दूसरे परमानन्ददास। सो तिन को हृदय अगाध रस, भगवद् लीला रूप जहाँ रत्न भरे हैं सों या प्रकार श्री गुसाइंजी आपु श्रीमुख सों परमानन्ददास की सराहना किये।"

एक स्थान पर वार्ताकार कहता है, "तासों वैष्णव तो अनेक श्री आचार्यजी के कृपापात्र हैं, परन्तु सूरदास और परमानन्ददास ये दोऊ सागर भये, इन दोऊन के कीर्तन की संख्या नाहीं, सो दोऊ सागर कहवाये।"

परमानन्ददास ने बहुत काल तक श्री गोवर्द्धननाथ जी की कीर्तन-सेवा की। इस सेवा को छोड़ कर ये कभी कहीं तीर्थ-यात्रा अथवा अपने गाँव कन्नौज गये, इस बात का वार्ता में कही उल्लेख नहीं है। वार्ता के कथन से यही विदित होता है कि परमानन्ददासजी अन्त समय तक गोवर्द्धननाथ की सेवा में ही रहे। एक बार जन्माष्टमी के दिन गोस्वामी विट्ठलनाथजी परमानन्ददासजी को साथ लेकर गोकुल आये और वहाँ जन्माष्टमी मनाई गई। उस समय परमानन्ददास ने

श्री नवनीतप्रियजी के समक्ष बधाई के कई पद गाये। उनमें से एक पद निम्नलिखित है—

राग कान्हरी।

रानी तिहारो घर सुबस बसो।
सुनो हो जसोदा तिहारे ढोटा को
न्हातहू जिनि बार खसो॥

कोऊ करत बेद मंगल धुनि
कोऊ गावो कोऊ हँसो।
निरखि-निरखि मुख कमल नैन को
आनन्द प्रेम हियो हुलसो॥

देत असीस सकल गोपीजन
कोऊ अति आनन्द लसो।
परमानन्द नन्द घर आनन्द
पुत्र जनम भयो जगत जसो॥

दूसरे दिन नवमी को दधिकाँदो का उत्सव मनाया गया। उस समय परमानन्ददास आनन्द विभोर हो नाचने लगे और प्रेम में इतने विभोर हो गये कि इनको अपने ताल-स्वर का भी ज्ञान न रहा। उसी समय इन्हें मूर्छा आ गई। थोड़ी देर की समाधि के बाद गुसाईंजी के उपचार से ये सचेत हुए। फिर इन्होंने उपर्युक्त एक पद आशीर्वाद का गाया—

"रानी तिहारो घर सुबस बसो।"

इसके बाद इसी दिन गोसाईंजी के साथ ये श्री गोवर्द्धन आये और वहाँ श्री गोवर्द्धननाथजी के समक्ष फिर भावमग्न हो गये। उस समय श्री गुसाईंजी ने कहा—"जो जैसे कुम्भनदास को किशोरलीला में निरोध भयो सो तैसो बाललीला में परमानन्ददास को निरोध भयो।" इसके बाद परमानन्ददासजी की मूर्छा फिर जगी और ये गोवर्द्धन से उतर कर सुरभी कुण्ड के ऊपर अपने ठिकाने कुटी में आये। वहाँ इन्होंने बोलना छोड़ दिया। जब गोस्वामी विट्ठलनाथजी को यह बात ज्ञात हुई कि परमानन्ददासजी विकल हैं और बोलते नहीं हैं तो वे इनके पास आये। गुसाईंजी ने इनके मस्तक पर हाथ फेरा और कहा—"परमानन्द दास हम तिहारे मन की जानत हैं, जो अब तिहारी दर्शन दुर्लभ भयो।" उस समय परमानन्ददास ने आँखें खोलीं और गाया—

प्रीति तो नन्द नन्दन सो कीजै।
सम्पति विपति परे प्रतिपाले कृपा करे तो जीजै॥

परम उदार चतुर चिंतामनि सेवा सुमिरन माने।
चरन कमल की छाया राखे अन्तरगति की जाने॥

बेद पुरान भागवत भाषे कियो भक्त को भायो।
परमानन्द इन्द्र को वैभव बिप्र सुदामा पायो॥

उसी समय एक वैष्णव ने परमानन्ददास से पूछा—"परमानन्ददासजी! मुझे कुछ साधन बताओ, जिससे भगवान् मुझ पर कृपा करें।" उस समय परमानंददास ने कहा—

"या बात को मन लगायके सुनोगे तो फलसिद्धि होयगी।" उसी समय इन्होंने श्री आचार्यजी श्री गोस्वामीजी और उनके सात बालकों के चरणों की बन्दना का निम्नलिखित पद गाया—

प्रातकाल उठि करि करिये
श्री लछमन सुत गान।
प्रकट भए श्री बल्लभ प्रभु देत भक्ति दान॥

श्री विट्ठलेस पूरन कृष्न रूप के निधान।
श्री गिरिधर श्री गिरधर उदय भयो आन॥

श्री गोविन्द आनन्द कन्द कहा बरनों गुन आन।
श्री बालकृष्न बालकेलि रूही सुहान॥

श्री गोकुलनाथ प्रकट कियो मारग बखान।
श्री रघुनाथ लाल देखि मन्मथ ही लजान॥

श्री यदुनाथ (महाप्रभु) महाप्रेम पूरन भगवान।
श्री घनस्याम पूरन काम पोथी में ध्यान॥

पांडुरंग श्री विट्ठलेस करत वेद गान।
परमानन्द नीरखि लीला थके सुर विमान॥

अन्त समय में गोस्वामीजी ने पूछा—'परमानन्ददास ! तुम्हारा मन कहाँ है ?' उन्होंने उत्तर में फिर गाया—

राधे बैठी तिलक सँभारति ।

इस प्रकार युगल-लीला में मन लगाकर परमानन्ददास ने अपनी देह छोड़ी । उस समय, जैसा कि पीछे कहा गया है, गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने परमानन्ददास को, सूर का समकक्ष बताते हुए "सागर" की पदवी से सुशोभित किया और उनकी भक्ति और काव्य की प्रशंसा की ।

वार्ता से विदित है परमानन्ददास की मृत्यु सुरभीकुण्ड पर हुई, जहाँ इनका स्थायी-निवास स्थान था । यह स्थान इस बात के लिए प्रसिद्ध है कि यहाँ परमानन्ददासजी रहते थे । वार्ता से यह भी विदित होता है कि परमानन्ददासजी की मृत्यु सूरदास और कुम्भनदास के बाद हुई ।

कवि के आत्मचारित्रिक उल्लेख, चौरासी वैष्णवन की वार्ता अथवा अन्य किसी ग्रन्थ से परमानन्ददासजी के जन्मकाल अथवा अन्तकाल की तिथियाँ नहीं मिलतीं । वल्लभ-सम्प्रदाय में एक विश्वास प्रचलित है कि परमानन्ददासजी श्री वल्लभाचार्यजी से १५ वर्ष छोटे थे और सूरदासजी आचार्यजी के समवयस्क थे । श्री वल्लभाचार्यजी का जन्म संवत् १५३५ वि० में हुआ । इस संवत् में १५ वर्ष जोड़ने से परमानन्ददास का जन्म संवत् १५५० वि० आता है । वल्लभ-सम्प्रदाय में अष्टसखाओं के जन्म-दिवस प्रकट रूप से नहीं मनाये जाते, क्योंकि उसमें आचार्यों के सिवाय दास अथवा भक्तों के दिवस मनाने की प्रथा नहीं है । फिर भी कुछ महानुभावों के जन्म-दिवस यदि किसी आचार्य के जन्म-दिवस पर आ पड़ते हैं तो गुप्त रूप से मना लिए जाते हैं । इस बात को वे लोग ही जानते हैं जो परम्परा प्राप्त सेवाविधि के मर्मज्ञ हैं । वे इस बात को गुप्त रखते हैं । वल्लभ-सम्प्रदाय में परमानन्ददासजी का जन्म-दिवस श्री गोकुलनाथजी के प्राकट्य के दिन अर्थात् अगहन सुदी सोमवार के दिन मनाया जाता है ।

इस प्रकार प्राचीन किंवदन्ती और वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रत्येक वर्ष व्यवहृत परम्परा के आधार से परमानन्ददासजी की जन्म-तिथि संवत् १५५० वि० अगहन सुदी सप्तमी सोमवार सिद्ध होती है ।

श्री यदुनाथजी-कृत "वल्लभ दिग्विजय" के आधार पर पीछे कह आये हैं कि परमानन्ददासजी संवत् १५७६ वि० जेष्ठ शुक्ल द्वादशी को अर्थात् लगभग २६ वर्ष की अवस्था में, सूर के बाद श्री वल्लभाचार्यजी की शरण में गये थे ।

परमानन्ददासजी ने गोस्वामी विट्ठलनाथजी के सातों बालकों की बधाई और वंदना गाई है । गोस्वामीजी के सातवें पुत्र 'घनश्यामजी' का जन्म संवत् १६२८ वि० में हुआ था । इससे यह सिद्ध होता है कि परमानन्ददासजी कम से कम संवत् १६२८ वि० तक जीवित थे ही । सात बालकों के बधाईवाले पद में कवि ने श्री घनश्यामजी के विषय में इस प्रकार लिखा है—"श्री घनस्याम, पूरन काम, पोथी में ध्यान ।" इससे स्पष्ट है कि श्री घनश्यामजी को परमानन्ददास ने विद्याध्ययन करते देखा होगा । उस समय अनुमातः से घनश्यामजी की आयु लगभग आठ या दस वर्ष की अवश्य रही होगी; क्योंकि दत्तचित्त होकर पढ़नेवाले बालक की आयु नौ या दस वर्ष की अवश्य होनी चाहिए । इससे सिद्ध होता है कि परमानन्ददास ने इस पद की रचना संवत् १६३८ वि० के लगभग की है । वार्ता में लिखा है कि सात बालकों की बधाई का पद परमानन्ददास ने अपने अन्त समय में गाया था । सम्भव है कि इस पद की रचना कुछ पहले की हो और वैष्णवों को उपदेश देते समय यह पद अन्त समय में गाया हो । परमानन्ददास का गोलोकवास कुम्भनदासजी की मृत्यु के बाद हुआ था । इन पंक्तियों के लेखक ने पुष्ट प्रमाण देकर कुम्भनदासजी के निधन का संवत् १६३७ वि० माना है । उसके अनुसार परमानन्ददासजी का

देहावसान सूरदास और कुम्भनदासजी के गोलोकवास के बाद लगभग संवत् १६४० वि० में हुओ होगा।

श्री हरिरायजी-कृत भावप्रकाश वाली चौरासी वार्ता में साम्प्रदायिक विश्वासानुसार अष्टछाप के कवियों के लीलात्मक स्वरूप दिए हुए हैं। उक्त वार्ता में परमानन्ददासजी को दिन की गोचारण-लीला में 'तोक' सखा और रात्रि की कुंजलीला में 'चन्द्रभागा' सखी का अवतार कहा गया है।

इनके भक्ति भाव के व्यंजक कुछ पद प्रस्तुत हैं—

(१)

आये मेरे नंदनंदन के प्यारे।
माला तिलक मनोहर बानी
त्रिभुवन के उजियारे॥
प्रेम समेत बसत मनमोहन,
नैकहुँ टरत न टारे।
हृदय कमल के मध्य विराजत,
श्री व्रजराज दुलारे॥
कहा जानौ कौन पुन्य प्रगट भयौ,
मेरे घर जो पधारे॥
परमानंद प्रभु करौ निछावरि,
बार बार हौं वारे॥

(२)

भली यह खेलिबे की बानि।
मदन गुपाल लाल काहू की
नाहिन राखत कानि॥
अपने हाथ लै लेत हैं सबहिन
दूध दही घृत सानि।
जो बरजौ तौ आँखि दिखावै,
परधन को दिनदानि॥
सुनि री जसोदा सुत को करतब
पहिले माँट मथानि।
फोर डारि दधि डमंर अजिर में,
कौन सहै नित हानि॥
ढोढ़ो देखति नन्द जू की रानी,
मूंदि कमल मुख पानि।
परमानंद दास जानत है,
बोलि बूझि धौं आनि॥

(३)

ब्रज के बिरही लोग बिचारे।
बिनु गोपाल ठगे से ठाढ़े,
अति दुर्बल तन हारे।
मात जसोदा पंथ निहारत,
निरखत सांझ सकारे।
जो कोई कान्ह कान्ह कहि बोलत,
आँखिन बहत पनारे॥
यह मथुरा काजर की रेखा,
जे निकसैं ते कारे।
परमानंद स्वामी बिनु ऐसे,
ज्यों चंदा बिनु तारे॥

(४)

कहा करौं बैकुंठहि जाय।
जहँ नहिं नंद जहाँ न जसोदा,
जहँ नहिं गोपी ग्वाल न गाय॥
जहँ नहिं जल जमुना कौ निरमल,
और नहीं कदमन की छाय।
परमानंद प्रभु चतुर ग्वालिनी,
ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय॥

रा० कृ० श०

परमानंददास (तृतीय)

परमानन्ददास (तृतीय) का ऐहिक जीवन-वृत्त सर्वथा अज्ञात है। इनके कतिपय ग्रन्थ स्टेट लाइब्रेरी, दतिया (म० प्र०) में सुरक्षित हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में गो० गुलाबलालजी का स्मरण किया है। इससे ज्ञात होता है कि इन्हें श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय की मन्त्र दीक्षा गो० गुलाबलालजी से प्राप्त हुई थी। रचनाओं की भाषा को देखते हुए हमारा अनुमान है कि ये राजस्थान के निवासी रहे होंगे। इनका विद्यमान

काल वि० सं० १७०० से वि० सं० १८०० के मध्य बताया जाता है, किन्तु पदों में प्रयुक्त भाषा के आधार पर ये १९ वीं शती के कवि प्रतीत होते हैं। एक पद बानगी-स्वरूप नीचे द्रष्टव्य है —

श्री राधावल्लभ लाल मुझे दीदार दिया करौ।
होजी एक पल की ओट न होई
दोई लोइन रूप भरौ॥

सुन्दर की रीति यही बेदर्द होता है।
देखत ही विरह लागै प्रेम का गोता है॥

नैना रतनाले अदांइ करते हैं।
आसकर उपासकों के मन को हरते हैं॥

मुस्क्यान कहर करिकैं क्यों गरीब को मारते हो।
एक माधुरी तान सुनाइ कटे पै लौन सा डालते हो॥

बाँकी टेड़ी भौहैं सौहैं बान से हिय लगैं।
मुकुट चन्द्रिका की लटक पट क्यौं क्यों जगैं॥

दोनों अलबेलैं झुकि बांसुरी बजावैं।
सन्मुख छबि ओत प्रोत हँसैं औ हँसावैं॥

वेसर कुंडल बुलाक डुलनि मन डुलावै।
काली सटकाली अलकैं झुकनि में झुकावैं॥

सुकुमार कलेवर के जमाल जोवन उलहे।
वहल हल हलानि छबि कीने सब के मन गहे॥

एक ठौर को मुझको करके निठुराई करते।
कोऊ बात कहौं रस भींजी
तिसमें फूल ही से झरते॥

तुम निज हित सौं चाही सोई हम जु कही।
अपनेनु कौ सब विधि पालिबे की
हम टेक यही गही॥

परमानंद द्वार परचौ हित गुलाब कें।
गौर श्याम रूप के परे चसके चाव के॥

श्या० बि० खं०

परमानंददास (चतुर्थ)

परमानन्ददासजी (चतुर्थ) का परिचय 'श्रीहित अनन्य रसिकावली' में इन शब्दों से मिलता है—

बाल काल जग तज्यौ आयु बितयो साधुन संग।
रिद्धि सिद्धि बहु लही तजी जब लग्यौ विपिन रंग।
हित पद्धति सौं अरचैं खरचैं बहु वित हरषैं।
हित वाणी नित चरचैं सुनत श्रवनन अति सरसैं॥

श्री गुरुवर की कृपा सुख लहे जु कुंज विलास के।
कहाँ लौं गुन गन कथि कहौं श्रीपरमानन्द दास के॥

इनके लौकिक जीवन सम्बन्धी लगभग सभी बातें अज्ञात हैं, गुरुजनों से केवल इतना ही पता लग सका है कि इनका जन्म नाई जाति में हुआ था। ये बाल्यकाल में ही घर से निकल गये थे। इन्होंने अनेकानेक मतों के साधुओं के साथ रहकर अनेक तीर्थों में भ्रमण किया था तथा कठोर साधना द्वारा कुछ तान्त्रिक सिद्धियाँ भी प्राप्त कर ली थी। साधुओं के सत्संग से इन्हें सभी मत-मतान्तरों के सिद्धान्तों का परिज्ञान प्राप्त हो गया था।

इस प्रकार से साधु जीवन व्यतीत करते हुए लगभग ५० वर्ष की आयु में एक बार ये श्रीधाम वृन्दावन आये। श्री वृन्दावन के संतों का सत्संग करने से इन्हें अनुभव हुआ कि अब तक का मेरा जीवन यों ही निष्फल चला गया। अतः ये राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य गोस्वामी श्री युगल वल्लभजी महाराज के चरणाश्रित हो गये। गोस्वामीजी ने इन्हें मन्त्र दीक्षा के साथ-साथ उपास्य-उपासक और उपासना पद्धति का स्वरूपज्ञान कराते हुए आज्ञा दी कि, 'तुम श्री नन्दरायजी के बगीचे में स्थित श्रीहित स्वामिनीशरणजी के चरणाश्रय में रहकर भजन करो, तुम्हें इष्ट वस्तु प्राप्त हो जायेगी।'

गुरु आज्ञा शिरोधार्य करके ये नन्दराम के बगीचे में रहने लगे। इन्होंने हित स्वामिनीशरणजी की सेवा हार्दिक अनुराग से की और उन्होंने भी इन्हें सस्नेह श्रीहित धर्म सिद्धान्त, श्रीहित रसिकजननिष्ठा और

श्रीहित दम्पति जू की चरण सेवा प्रदान कर दी। श्रीहित स्वामिनीशरणजी के निकुंजगमनोपरान्त इन्होंने आजीवन उनकी बताई हुई रसिक रहनी का पूर्ण रूप से निर्वाह किया।

ये प्रतिदिन अपने सेव्य विग्रह श्री श्यामावल्लभ की अष्टयाम सेवा पूर्ण अनुराग और ठाट-बाट के साथ किया करते थे। सच पूछो तो सिद्धियों का उपयोग इन परमानन्ददासजी ने ही किया था। ये श्रीजी का प्रत्येक उत्सव पूर्ण उत्साह के साथ करते, उत्तम से उत्तम सुस्वादु पकवान प्रचुर रूप में श्रीजी को भोग रखते और फिर वह प्रसाद साधुओं को प्रदान कर अपने को सौभाग्यशाली समझते थे। श्रीजी की अष्टयाम सेवा से अवकाश पाने पर ये श्रीहित रसिकवाणियों का अध्ययन-अनुशीलन और प्रवचन किया करते थे। इनके सत्संग से अनेकानेक जीव श्रीहित धर्म के अनुयायी बन गये। गुरु-कृपा और साधु-सेवा के प्रताप से इन्होंने इसी जीवन में वह अलभ्य वस्तु प्राप्त कर ली थी जिसे पाकर अन्य कुछ पाने की इच्छा ही नहीं रह जाती।

विक्रम संवत् २०१० के लगभग ८० वर्ष की आयु में ये अपने पञ्चभौतिक शरीर को त्यागकर निकुंजगामी हो गये।

श्या० बि० खं०

परमानंददास (पंचम)

परमानंददास (पंचम) की प्रशस्ति में 'रसिक अनन्य परचावली' में कहा गया है—

ठठ्ठा भरवर नगर तहाँ की सूबेदारी।
सुनि पूरन मुख रीति प्रीति हित पद दृढ़ धारी॥
प्रबल प्रेम उर बढ्यौ चढ़ी चित भजन खुभारी।
ता छिन श्री हरिवंश जाइ उर धरे बिहारी॥
बास कर्‌यौ वृन्दाविपिन राज विभौ तजि ता समै।
श्री राधा रसिक किशोर पद परमानन्द हियै रमै॥

इनका चरित्र श्री ध्रुवदासजी, श्री भगवत मुदित जी, श्री उत्तमदासजी, गो० जतनलालजी, चाचाहित वृन्दावनजी, श्री गोविन्द 'अलि' आदि अनेक हित रसिकों की वाणियों में समुपलब्ध होता है, किन्तु भगवत मुदित विरचित 'रसिक अनन्यमाल' में विस्तार पूर्वक लिखा गया है।

राजा परमानन्ददासजी का जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था। ये हुमायूँ बादशाह के शासन काल में उच्च पद पर नियुक्त थे। इनकी कार्यकुशलता और कर्तव्यपरायणता पर प्रसन्न होकर दिल्लीश्वर ने इन्हें 'राजा' की उपाधि से विभूषित करके सिन्ध प्रान्त में ठठ्ठा नामक नगर की स्वतंत्र जागीरदारी प्रदान कर दी थी। उस समय इनकी अवस्था काफी ढल चुकी थी। अतः ये शास्त्रज्ञों तथा साधुजनों में बैठकर गीता, भागवत या अन्य कोई भगवत चर्चा सुना करते थे। अभी तक इनकी निष्ठा किसी एक सम्प्रदाय विशेष पर नहीं लग सकी थी। अतः ये सभी धर्मों के संतों का संग करते, उनका सिद्धान्त सुनते और तन-मन-धन से उनकी सेवा किया करते थे। ये ऐसे गुरु की खोज में थे जो इनका पूर्ण मनस्तोष कर सके। इनकी चित्तवृत्ति का वर्णन श्री भगवत मुदितजी ने इस प्रकार किया है—

गुरु करिवे की इच्छा करैं।
यह जानैं गुरु बिन काज न सरै॥
कर्म ज्ञान भक्ति कौ जानैं।
सत गुरु बिन निश्चै नहिं आनै॥

—रसिक अनन्यमाल

प्रभु की इच्छा से एक दिन हित धर्म में अनन्यनिष्ठ महाविरक्त श्री पूरनदास जी ठठ्ठा नगर में पधारे। श्री पूरनदासजी तेजस्वी महापुरुष थे। उनके सत्संग से वहाँ के सुधीजनों, साधुजनों तथा साधारणजनों को एक अभिनव आनन्द की उपलब्धि होने लगी। उनकी ख्याति राजा परमानन्ददास के कानों तक पहुँच गई। तब ये उन्हें अपने महल में सादर ले गये

और स्थायी रूप से सेवा-सुश्रूषा करने लगे। एक दिन परमानन्ददासजी ने अपनी हार्दिक इच्छा महात्माजी के सामने भी रक्खी। श्री पूरनदासजी ने इन्हें अधिकारी जानकर श्री हित धर्म और श्री हिताचार्य महाप्रभु पाद का परिचय सुनाया और साथ ही काशी विजेता श्री हरिरामजी व्यास किस प्रकार श्री हिताचार्य के शिष्य हुए, वह घटना भी कह सुनाई। यह सब सुनकर परमानन्ददास जी ने यह निश्चय किया कि 'मैं श्री हिताचार्य महाप्रभुपाद को ही अपना गुरु बनाऊँगा, वे ही मुझे इस असार संसार सागर से पार कर मेरे मनोरथ को सफल करेंगे।' अब परमानन्ददासजी की चित्तवृत्ति अहर्निशि गोस्वामी श्री हित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु के चरणों और उनके पुनीत नाम में रहने लगी और उनकी शरण प्राप्ति की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे।

इनकी हृदय की पुकार से कोमल हृदय करुणार्द्र होकर श्री हित महाप्रभु ने सम्वत् १५९२ की भाद्रपद शुक्ला नवमी की रात्रि में स्वप्न द्वारा दीक्षा देकर इन्हें सफल मनोरथ बनाया—

आरति लखि निज दास की,
सुपन माँझ सुख दीन।
दीक्षा नाम सुनाय के,
भृत्य आपनौं कीन॥
पंद्रह सै बानवै भादौ सुदि।
नवमी दीक्षा लई भरे मुद॥

—रसिक अनन्यमाल

अब इन्हें अन्य कोई साधन करने की आवश्यकता नहीं रही। श्रीहित प्रभु के कृपा स्पर्श मात्र से इनके हृदय में श्रीहित का नित्य वृन्दावन विहार प्रकाशित होने लगा। श्रीहित उपासना, श्री हित अनन्यता सब कुछ सहज-सुलभ हो गई। एक दिन पूरनदासजी ने श्री वृन्दावन जाने की इच्छा प्रगट की। श्री परमानन्ददासजी यह सुनते ही रोने लगे और पूरनदासजी से लिपट गये। परन्तु उन्होंने इन्हें अनेक तरह से सान्त्वना देकर चुप कराया। श्री परमानन्ददासजी ने पूरनदासजी के हाथों बहुत सी भेंट अपने पूज्य गुरुवर्य के लिए समर्पित की। आचार्य महाप्रभुपाद ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

अनन्य हित धर्म निर्वाह के साथ इष्ट सेवामय जीवन व्यतीत करते हुए बारह वर्ष तक ये ठठ्ठा में ही रहे। अब इन्हें पूज्य गुरुवर्य श्री हित महाप्रभु के चरणाश्रय में ही शेष जीवन व्यतीत करने की बलवती जिज्ञासा उत्पन्न हुई। तब आपने बादशाह को इस आशय का एक पत्र लिखा कि यह संसार अनित्य है। अब मैं काफी वृद्ध हो गया हूँ। अतः मेरी जगह पर किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर दें जिससे कि मेरा शेष जीवन श्री वृन्दावन में ही व्यतीत हो। बादशाह तो इनसे बहुत ही प्रभावित था, अतः उसने इनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और ये वृन्दावन आ गये और गुरुवर्य के साक्षात् दर्शन प्राप्त किया।

श्री गुरुवर के पद-प्रान्त में बैठकर वृन्दावन रज सेवन के फलस्वरूप इनके जीवन में आमूल परिवर्तन आ गया। ये राजत्व का अभिमान छोड़कर तन-मन-धन से साधुओं की सेवा करने लगे। तत्कालीन रसिकों ने देखा कि—

जय श्री हित हरिवंश प्रपंच
वंचि सब काल व्याल कौ खायौ।
यह जिय जानि श्याम श्यामा
पद कमल संगी सिर नायौ॥

—श्री हित चतुरासी

महाप्रभु का उक्त उपदेश इनके जीवन में मूर्त रूप से प्रत्यक्ष हुआ। फलतः ये थोड़े ही समय में रसिकों के समादरणीय बन गये। इन्हें वृन्दावन रस उपासना का सम्यक् स्वरूप ज्ञात हो गया था। अतः इनके सत्संग से बहुत से अद्वैतवादी तथा सगुणोपासक भक्त वृन्दावन रस-रसिक बन गये। श्री प्रबोधानन्द सरस्वती पाद को श्री हितशरणागति प्राप्त कराने का श्रेय इन्हीं को है। अनाथ बालिकाओं गंगा और यमुना को भी श्री हित चरणाश्रय दिलाकर इन्होंने उन्हें वृन्दावन

रस-निधि का धनी बनाया था। औदार्य, दया, क्षमा, समदर्शिता, रसिक-सेवा तथा अनन्यता आदि साधुजनोचित गुणों के कारण हित महाप्रभु इन्हें बहुत लाड़-प्यार किया करते थे और रसिक जन इन्हें 'लाड़वावरो' कहा करते थे। इनकी अपूर्व लोकप्रियता का वर्णन चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी ने अपनी एक रचना में इस प्रकार किया है—

लड़ वावर श्री हरिवंश के।
परमानन्द दास पूरन दोउ
गरुवे गुनन प्रसंस के॥
राज विभौ तजि गुरु आराधे
त्रिविध ताप जग नंश के।
जुगल रहस प्रापति सुख नित नव
भेदी हिय की गंश के॥
दम्पति चरित अहार निरन्तर
मो सिर पद अवतंश के।
वृन्दावन हित मिथुन केलि सर
मनु छौना जुग हंश के॥

— भक्ति प्रसाद बेली

इस प्रकार आजीवन वृन्दावन वास करते हुए श्री हित दम्पति की रूप रसामृत माधुरी के आस्वादन के साथ १०० वर्ष की दीर्घायु प्राप्त कर इन्होंने अपनी इहलोक लीला संवरण कर ली—

रूप माधुरी रस में पगे।
परमानन्द सुख विलसन लगे॥
बुधि इन्द्री बल अति अभिराम।
सौ बरष कौ पठ्यौ धाम॥

—रसिक अनन्य माल

ध्रुवदासजी ने इनका सुयशगान करते हुए लिखा है—

परमानन्द किशोर दोउ सन्त मनोहर खेम।
निर्वाह्यौ नीके सबनि सुन्दर भजन कौ नेम॥
छाँड़ि मोह अभिमान सब भक्तनि सौं अति दीन।
वृन्दावन बसिकै तिनहि, फिर मन अनत न कीन॥

—भक्त नामावलि

जैसा कि ऊपर उल्लेख हुआ है कि परमानन्ददासजी की आयु बहुत दिनों तक ठठ्ठा का राज्य प्रबन्ध संभालने के पश्चात् ढलने लगी थी। इनका चित्त संसार से विराग होता जा रहा था और धार्मिक कार्यों में इनकी प्रवृत्ति बढ़ रही थी। साधारण नियमानुसार भी प्रायः तीसरेपन अर्थात् ५० वर्ष के ऊपर ही जगत् से विरक्त उत्पन्न होता है और धर्म की ओर चित्तवृत्तियाँ उन्मुख होती हैं। इस आधार पर गोस्वामी श्री हित हरिवंश से दीक्षा प्राप्ति (संवत् १५९२) के समय इनकी आयु ६० वर्ष के भीतर अनुमानित की जाय तो इनका जन्म संवत् १५३५ के आस-पास निश्चित होता है। भगवत मुदितजी के इस उल्लेख के आधार पर कि—'इन्होंने १०० वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त की थी'—इनका अन्तर्धान काल सं० १६३५ के लगभग माना जा सकता है।

श्री गोविन्द अलिजी ने इनकी प्रशस्ति में लिखा है—

भक्तन हित प्रभु वपु धरचौ ज्यों सेवक के हेत।
सुपने मंत्र सुनाय कें भरे मनोरथ खेत॥

ठठ्ठे कौ वैभव तज्यौ सज्यौ विपिन कौ वास।
पूरन परमानन्द हिय गुरुपद कियौ प्रकास॥

भजन भाव हित रीति सौं महल मिलन के काज।
राज सभा के मुकुटमणि परमानन्द नृपराज॥

—भक्त गाथा
श्या० बि० खं०

परशुरामदेवाचार्य

श्री परशुरामदेवाचार्य निम्बार्कपीठाचार्य हरिव्यास के बारह शिष्यों में सर्वाधिक प्रतापी थे। इनका आविर्भाव जयपुर राज्य के निवासी गौड़ ब्राह्मण वासुदेवजी के पुत्ररूप में हुआ था। दैवयोग से ये बाल्यावस्था में ही मातृ-पितृ हीन हो गये। इसी स्थिति में भटकते हुए ये मथुरा पहुँच गये और सौभाग्य से श्री हरिव्यासदेवाचार्य का सानिध्य प्राप्त कर लिया। अपनी दिव्यदृष्टि से इनकी प्रतिभा पहचान कर आचार्य प्रवर ने कृपा-

पूर्वक इन्हें दीक्षा देकर आचार्य पीठ में ही स्थान दे दिया और इनकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी।

कुछ दिनों बाद गुरुदेव ने इन्हें पुष्कर जाने का आदेश दिया। व्रज में अनन्यनिष्ठा के कारण पहले तो इन्हें उससे दुख हुआ किन्तु बाद में गुरु-आज्ञा को सर्वथा मंगलमयी मानकर तथा गुरु कृपा पर दृढ़ विश्वास के साथ जब ये मथुरा से चलने लगे तब प्रसन्न होकर श्रीहरिव्यासदेवाचार्य ने अपने आराध्य श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा इनको समर्पित कर दी। फिर तो ये उन्हें (प्रभुको) पाकर फूले न समाये—

मन रे ! भयो तुम्हारो भायौ।
गुरु की कृपा साधु की संगति,
मनवाँछित फल पायौ।

- परशुराम सागर

पुष्करारण्य पहुँचकर इन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा एवं कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार-प्रसार किया, किन्तु इनका मन वृन्दावन में ही लगा रहता था। माघ का महीना आया, वसन्त का उत्सव मनाया जाने लगा, मन में वृन्दावन की उत्कण्ठा बलवती होने लगी—

वृन्दावन विहरत श्रीगुपाल,
सँग सखा लिए हैं बहुत-बाल।
बहुविलास जहाँ खेलि हाँसि,
प्रमदा सब परि हैं प्रेम पासि॥

रस विलास आनंद मूल,
निविड़-कुंज तहाँ फूले हैं फूल।
जहाँ विधि-वसंत आनंद होय,
तहाँ परसराम जन देखै सोय॥

—परशुराम सागर

अब होली आ गई, देखिए, परशुरामजी की वृन्दावन की उत्कण्ठा—

वृन्दावन शोभित भयो रंग होरी हो।
चितवत श्याम सरूप श्याम रंग होरी हो॥

देखि अधिक रुचि ऊपजी रंग होरी हो।
ऋतु वसन्त गोपाल श्याम रंग होरी हो॥

वृन्दावन की उस उत्कण्ठापूर्ति का श्री आचार्य के पास एकमात्र साधन प्रभु सर्वेश्वर थे और वे उनकी इस लालसा को पूरा भी करते थे—

परशुराम प्रभु संगि सदा रंग होरी हो।
वे जानत हैं रस-रीति श्याम रंग होरी हो॥

जब इनका मन श्रीबृन्दावन विहारी और उनकी लीलाओं का आनन्द लेना चाहता, वे उसे यही समझाते—

सर्वरूप सर्वेश्वर स्वामी
नित्यरूप अस्थिर पर काजै।
परसराम प्रभु प्रकट विराजै॥

—परशुराम सागर

श्री परशुरामदेवाचार्य से सम्बद्ध कई चमत्कारपूर्ण घटनाएँ हैं, यहाँ हम कुछ चरित्रों का उल्लेख कर रहे हैं।

जहाँ इस समय अखिल भारतीय निम्बार्काचार्य पीठ स्थित है, लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व वहाँ घना जंगल था। उसमें अति सुन्दर जल, पुष्प और लता-वृक्षों से युक्त एक प्राचीन आश्रम था, जिस पर एक सिद्धि-सम्पन्न मुसलमान फकीर मलंगशाह ने अधिकार कर रखा था। उस आश्रम के सन्निकट होकर ही द्वारका धाम जाने का मुख्य मार्ग था। इस मार्ग से जो तीर्थ-यात्री निकलते उन्हें वह बड़ा ही दुःख पहुँचाया करता था। इस प्रकार का अभद्र व्यवहार उसने एकबार कुछ साधु-महात्माओं के साथ किया जिससे तंग आकर उन महात्माओं ने श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी की शरण ली। तब श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने अपने कृपापात्र श्रीपरशुरामदेवजी को उसे परास्त करने की आज्ञा दी। गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर परशुरामदेवजी ने उस यवन फकीर को परास्त कर साधु-महात्माओं तथा धर्मप्राण जनता का दुःख दूर कर वैष्णवधर्म के प्रचारार्थ प्रस्थान किया।

एक दिन पुष्कर तीर्थ में स्नानकर ये सन्त समाज सहित उस अत्याचारी फकीर के निवास-स्थान पर पहुँच गये। सन्तों को आया हुआ जानकर उस फकीर

ने सिद्धियों द्वारा सभी को मूर्छित करना चाहा, किन्तु कई बार प्रयोग करने पर भी वह सफल न हो सका, अपितु उसके सम्पूर्ण शरीर में बिजली गिरने की भाँति जलन होने लगी। उस फकीर के पास तीन पैशाचिक सिद्धियाँ थीं, जिनका श्रीपरशुरामदेवजी ने हरण कर लिया। जब उसने अपने आपको सभी तरह से असमर्थ पाया तो करुणक्रंदन कर क्षमायाचना करने लगा। बहुत अनुनय-विनय करने के उपरांत इन्होंने उसे क्षमादान देकर अन्यत्र चले जाने का आदेश दिया। उस समय तो वह वहाँ से चला गया, किन्तु कुछ समय बाद आकर उसने अपना प्राण-त्याग उसी स्थान पर किया। कहा जाता है कि अन्तिम दिनों में वह परम भगवद् भक्त बन गया था। उसकी कब्र अद्यावधि निम्बार्काचार्य पीठ परशुरामपुरी (सलेमाबाद-किशनगढ़) से कुछ दूरी पर दक्षिण दिशा में स्थित है।

इस प्रकार श्री द्वारकापुरी के मार्गको निष्कंटक बना, इस भयंकर रेतीले प्रदेश में वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए ये पुनः मथुरापुरी आ गये, जहाँ इन्हें इनके गुरुदेव श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने अपना उत्तराधिकारी घोषित कर अपने सेव्य श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा समर्पित कर उसी मरुस्थल प्रदेश में जाकर वैष्णवधर्म के प्रचार-प्रसार का आदेश दिया। आचार्यजी के आदेशानुसार मरुस्थल प्रदेश में आकर ये भगवद्-भक्ति की गंगा बहाने लगे। कभी-कभी ये अपने निवास-स्थान से पुष्कर जाकर नागेश्वर की कन्दराओं में भी निवास किया करते थे। इन्होंने कभी अपने लिए किसी निवास विशेष का निर्माण नहीं किया अपितु एक पीलू के वृक्ष के नीचे ही धूनी रमाकर रहते थे।

श्री परशुरामदेवाचार्यजी के यहाँ चँवर, हाथी, घोड़े, छत्र, रथ, पालकी एवं सोने-चाँदी के बर्तनों को देखकर एक महात्माजी ने कहा कि आप तो प्रपंच (माया) में फँसे हैं। कहीं महात्माओं का रहन-सहन ऐसा होता है ? तब आचार्य श्री ने उससे विनम्र शब्दों में कहा कि 'भाई ! क्या करें यह माया हमें छोड़ती ही नहीं, जहाँ भी जाते हैं पीछे लग जाती है, हम क्या करें ?' महात्मा ने इस बात को सिद्ध करने के लिए कहा। अपनी बात सिद्ध करने के लिए आप सब धन-ऐश्वर्य छोड़ प्रभु सहित पुष्करस्थ एक गुफा में जाकर रहने लगे। एक सप्ताह भी नहीं व्यतीत हुआ था कि एक लखी बनजारा नामक बहुत बड़ा व्यापारी उधर से गुजर रहा था। उसका नियम था कि बिना प्रभु-दर्शन के वह भोजन नहीं करता था। इनके आश्रम से होकर जाते समय जब उसने शंख-घड़ियालों की आवाज सुनी तो दर्शनार्थ गुफा में जा पहुँचा।

वहाँ अपने गुरुदेव एवं आराध्य को देख वह परम प्रसन्न हुआ। उसने अपनी सम्पत्ति का बहुत-सा भाग प्रभु एवं गुरुदेव के चरणों में अर्पित कर दिया। उस दिन भोग प्रसाद का प्रबन्ध भी उसकी तरफ से ही हुआ। यह देख परीक्षा लेने वाला महात्मा बहुत लज्जित हुआ। इनके चरणों में गिरकर वह क्षमा-प्रार्थना करने लगा। सच है, जो भगवान् के सच्चे भक्त होते हैं, माया उनकी सेविका सदृश हमेशा हाथ बाँधे खड़ी रहती है।

श्री सर्वेश्वर प्रभु ने अपने परमभक्त श्री परशुराम देवाचार्यजी के साथ अनेक लीलाएँ थीं। उनमें से एक प्रसंग का वर्णन श्री सुन्दर कुँवरिजी ने अपने ग्रन्थ 'मित्र-शिक्षा' में इस प्रकार किया है —

एक बार श्री परशुरामदेवाचार्यजी पुष्कर के नाग-पहाड़ पर एकान्त में प्रभु का अभिषेक कर रहे थे कि आपकी इच्छानुसार श्री सर्वेश्वर प्रभु युगल रूप में आपसे वार्तालाप करने लगे। उसी समय कुछ दर्शनार्थी वहाँ आते दिखाई दिये तो प्रभु ने इनसे अन्तर्धान होने को कहा, किन्तु दो-तीन बार कहने पर भी इन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। तब दर्शकों को निकट आता जान प्रभु आचार्यवर्य के हृदय में प्रवेश कर गये और मात्र प्रतिमा उनके हाथ में रह गयी :—

परशुराम के करहिं कर, जब नहिं सके छुटाय।
तबै झपटि उर लपटि झट, हृदय सु गये समाय॥

श्री परशुरामदेवाचार्य का लोकान्तरण इनके द्वारा स्थापित निम्बार्क पीठ, सलेमाबाद में ही हुआ और यहीं इनकी समाधि बनी। इस स्थान पर इनके पट्ट-शिष्य श्री द्वारिकेशदेवाचार्य ने सं० १६८९ में एक मन्दिर बनवाया। उसमें प्राप्त शिलालेख में इस तथ्य का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य प्रवर का देहावसान सं० १६८९ के पूर्व हो चुका था।

श्री परशुरामदेवाचार्य तत्वज्ञ महापुरुष होने के साथ ही व्रजभाषा के सिद्धहस्त कवि भी थे। भगवान् के निर्गुण तथा सगुण दोनों स्वरूपों में इनकी प्रगाढ़ निष्ठा एवं गति थी। यह इनके द्वारा विरचित रचनाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है। उसकी सूची इस प्रकार है—

१. तिथि लीला, २. वार लीला, ३. बावनी लीला, ४. विप्रमतीसी, ५. नाम लीला, ६. पदावली, ७. रोग रथ नाम लीला निधि, ८. साँच निषेध लीला, ९. हरि लीला, १०. लीला समझनी, ११. नक्षत्र लीला, १२. निजरूप लीला और १३. निर्वाण।

'परशुराम सागर' इन्हीं सबका संकलित रूप है।

सगुणोपासक भक्तों की परम्परा से कुछ हट कर इन्होंने निर्गुणमार्गी सन्तों की पद्धति पर हिन्दुओं और मुसलमानों की तात्विक एकता पर बल दिया है। तत्कालीन परिस्थितियों में यवन तीर्थ अजमेर शरीफ के निकट वैष्णव केन्द्र सलेमाबाद की स्थापना और उसके चतुर्दिक सगुण-भक्ति के व्यापक प्रचार में आचार्य पाद की असाधारण सफलता के अनेक कारणों में यह प्रमुख रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

नीचे इनकी कृतियों से उपर्युक्त विचार धारा के व्यंजक कुछ छन्द प्रस्तुत हैं—

(१)

भाई रे का हिन्दू का मुसलमान,
जो राम-रहीम न जाणा रे।
हारि गये नर जनम बादि जो,
हरि हिरदै न समाणा रे॥
जठरा अगिनि जरत जिन राख्यो,
गरभ संकट गवाणा रे।
तिहि और तृन तज्यौ न तोकूँ,
तैं कहि सू भुलाणा रे॥

(२)

गोविन्द मैं बंदीजन तेरा।
प्रात समय उठि मोहन गाऊँ।
तौ मन मानै मेरा।
कर्तम करम भरम कुल करणी
ताको नाहिन आसा।
करूँ पुकार द्वार सिर नाऊँ,
गाऊँ ब्रह्म विधाता॥
'परसराम' जन करत बीनती,
सुणि प्रभु अविगत नाथा॥

(३)

श्री गुरु सबद समझि सरि बोलै,
चालै तहीं परवाणैं।
ताको भजन भरम कौं भेदै,
पहुँचै ठौर ठिकाणैं॥

• • •

परम रसाल रसायन रसना,
पीवै प्यास मन साँचै।
परसुराम प्रभु ता जन कैं,
बसि बाँधो तामैं काँचै॥

प्रे० ना० श्री०

पर्वत सेन

भावप्रकाश के अनुसार 'चन्दन वारे वैष्णव की वार्ता' इन्हीं की रचना है। श्री पर्वतसेन पुष्टिमार्गीय भक्त कवि थे। श्री गोसाइंजी के प्रति अनन्य भक्तिभाव रखने वालों में गोंडवाना की रानी दुर्गावती, बाँधवगढ़ के राजा रामचन्द्र बघेला, नरवरगढ़ के राजा आसकरन, आमेर के राजा मानसिंह के अनुज माधवसिंह और उनकी रानी रत्नावली, राजा जोधासिंह,

राजा पर्वतसेन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। राजापर्वत सेन जाति के क्षत्रिय थे तथा गोपालपुर (जतीपुरा) के रहने वाले थे। इन्होंने पुष्टिमार्गीय शरणदीक्षा सं० १६२८ के लगभग ग्रहण की थी। इनके एक कवित्त से यह सिद्ध होता है कि ये मारवाड़ के रहने वाले थे। इस कवित्त की अन्तिम पंक्ति यह है—

गौर भयो गेह, गुजरात भई अँगनई।
पौरी पर्वत भई, प्यारे के सिधारे तें॥

वुन्देल वैभव में इन्हें ओरछा निवासी सुनार कहा गया है तथा इनका जन्म काल १६६४ वि० संवत् और कविता काल १७१० वि० संवत् माना गया है। यह तथ्याश्रित नहीं प्रतीत होता। पर्वतसेन वस्तुतः मारवाड़ के मूल निवासी थे। इनके माता पिता मारवाड़ से ही आकर गोपालपुर में रहने लगे थे।

पर्वतसेनजी के कुछ स्फुट छंद मिलते हैं। 'भावप्रकाश' के अनुसार 'चन्दनवारे वैष्णवन की वार्ता' भी इन्हीं को रचना है।

मिश्रबंधु विनोद तथा सरोज में पर्वत नामक कवि का उल्लेख मिलता है। इनका उद्भवकाल सरोजकार ने सं० १६२४ माना हैं। इनके एक गोपी उद्धव संवाद प्रसंग के सवैये का उल्लेख सरोजकार ने किया है—

फैलि रह्यौ विरहा चहुँ ओर तें,
भाजिबे को कोऊ पार न पावै।

जानत हौं परबत्त सबै तुम,
जाल को मीन कहाँ लगि धावै।

चाहैं कछूक सँदेस कह्यौ,
सु तो जी मँह आवत जीभ न आवै।

ऊधौं जू वा मधुसूदन सों,
कहियो जो कछू तुम्हें राम कहावै।

काँकरौली में फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी के दिन राजभोग में पर्वतसेन का यह पद गाया जाता है—

नंदकिशोर किशोरी की जोरी।
हो हो हो कहि खेलत होरी॥
दूलह पर्वतसेन को प्रभु।
दुलहिन राधा गौरी॥

श्री द्वारकाप्रसाद पारीख ने इनके कतिपय पदों का संकलन किया था। राजकीय पुस्तकालय, जोधपुर में इनके स्फुट पदों का संग्रह 'फुटकल कवित्त' नाम से उपलब्ध है। पुष्टिमार्गीय बालभावोपासना का प्रतिनिधित्व करनेवाला इनका एक कीर्तन यहाँ उद्धृत हैं।

माँ यशोदाजी अपने बालक श्रीकृष्ण को कुलहा (पगड़ी) पहना रही हैं और उस पर फूलों का मुकुट बाँधकर अपने कन्हैया का श्रृङ्गार कर रही हैं—

जसुमति पहिरावति सुत को कुलहै।
तापर मौहर बाँधि फूलन को,
नीकौ बन्यौ आज दुलहै॥

भूषन बसन पहिरि बहुविधि के,
नैनन देखि मदन मन भुलहै।
पर्वतसेन स्याम घन सुन्दर,
दुलहै कोउ नाहिं सम तुलहै॥

भक्त पर्वतसेन का एक कवित्त भी द्रष्टव्य है—

कमला को कोलाहल कमल मुखी सौं केलि,
कवि पर्वत गति मति सब ठान्यौ है।
नाहीं जप नाहीं तप तीरथ न योग याग,
यहै जपि जाति जग आपनौ कै जान्यौ है॥

अधम उधारन मधुर मधुसूदन के,
नाम सुधासिंधु में विषय विष सान्यौ है।
पर तरुनी के सोयौ पर रजनीके रस,
सुरतरु करि सुरतरु करि भान्यौ है॥

रा० कृ० श०

पाना बाई

पाना बाई का जीवन वृतान्त 'भक्तगाथा' में इन शब्दों में मिलता है—

कर्म धर्म व्रत लोक
वेद कुल की गति छाँड़ी ।
जुगल भावना भक्त हृदय
हित पद रुचि बाढ़ी ।।

हानि लाभ दुख सुख
सम निरदूषित बन में बसी ।
भजन सुधा रस पान
बल काल व्याल नाहिन डसी ।।

जब विवस प्रेम मय केलि कल
छिन छिन दम्पति टहल में ।
धनि रसिक व्यास हरिलाल
जा पाना बाई महल में ।।

इनका जन्म समुद्र तटस्थ जूनागढ़ (गुजरात) में हुआ था। इनके पिता का नाम हरिलालजी व्यास तथा पितामह का नाम साहिबराम व्यास था। श्री राधावल्लभलालजी के चरणों के प्रति गहन अनुराग इन्हें माता के दूध के साथ प्राप्त हुआ था। इन्होंने श्री हित-सम्प्रदाय की दीक्षा किससे प्राप्त की यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इनके पिताजी गो० किशोरीलालजी के शिष्य थे। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि ये भी गो० किशोरीलालजी की शिष्या रही होंगी। श्री हरिलाल व्यासजी ने स्वयं अपनी 'सेवक वाणी' की टीका में लिखा है—

कहँ खारी तट जूनिया,
कहँ वृन्दावन धाम ।
कहँ यह वानी हित शरण,
कौन मिल्यो अभिराम ।।

परम भागवत मम जनक,
नाम सु साहिबराम ।
प्रेमदास हित शरण लै,
भजन बिताये जाम ।।

तिन सब परिकर हित शरण,
करवाये हित मौन ।
श्री गोस्वामी श्री रूप सुत,
चरणाश्रित हम कौन ।।

लोक-वेद और कुल की मर्यादा का उल्लंघन नितान्त दुष्कर होता है, किन्तु हित धर्मारूढ़ प्रेमी अनन्यों के लिए यह सब कुछ तृण वत् सरल एवं स्वाभाविक होता है। श्री सेवकजी ने कहा है—

जाति पाँति कुल-कर्म-धर्म-व्रत
संसृति हेतु अविद्या नासी ।
सेवक रीति प्रतीति प्रीति
हित विधि निषेध शृंखला विनासी ।।
अब जोई कही करैं हम सोई
आमुष लियें चलैं निजदासी ।
मन-क्रम-वचन त्रिशुद्ध सकल मत
हम श्री हित हरिवंश उपासी ।।

श्री पाना बाई इसी प्रकार की अनन्य उपासिका थीं। ये लोक की सर्वथा उपेक्षा करके साधुओं के संग रहा करती थीं और उन जैसा ही जीवन व्यतीत किया करती थी। हानि-लाभ तथा दुःख-सुख में इनकी समान दृष्टि हो गई थी। ऐसे अनेक साधुजनोचित गुण इनमें विद्यमान थे। निरन्तर भजन-सुधा-रस पान करते रहने के कारण इन्हें कलिकाल के माया-व्याल का विष प्रभावित नहीं कर सका और इनका पूरा जीवन सभी प्रकार के दोषों से असंपृक्त बना रहा। श्री हित दम्पति की रस-लीलाओं की भावना में ये अहर्निशि छकी रहती थीं। इस प्रकार की छकन जन्य प्रेम वैवश्य-दशा में एक दिन ये नश्वर शरीर को छोड़कर श्री हित के निकुंज महल में प्रविष्ट हो गयीं।

इनका विद्यमान काल अनुमानतः सं० १८१० से १८४० तक स्थिर होता है। गोविन्द अलि जी की यह पंक्ति **"धनि रसिक व्यास हरिलालजी पाना बाई महल में"**, ऐसा संकेत करती है कि पाना बाई जी 'भक्त-गाथा' के रचना काल सं० १८४४ के पूर्व निकुंज महल की टहल की अधिकारिणी बन गईं थीं।

श्या० बि० खं०

पार्वती

भक्तिमती पार्वती पद्मनाभदासजी की पुत्रवधू थीं। सेठ पुरुषोत्तमदास और गुसाइंजी, जब भी कन्नौज आते थे, तो पार्वती की सेवा प्राप्त करने हेतु उसके घर अवश्य पधारते थे। दुर्भाग्य से परमभक्त पार्वती के हाथ-पाँव में श्वेत कुष्ठ हो गया था। श्री ठाकुरजी की सेवा शृंगार तथा भोग इत्यादि की व्यवस्था में उसे बहुत ग्लानि होने लगी थी। इस ग्लानि को पार्वती ने एक पत्र द्वारा सेठ पुरुषोत्तमदासजी से अभिव्यक्त किया था। इस पत्र में पार्वती ने निवेदन किया था कि वे गोस्वामी विट्ठलनाथजी से मेरे भाग्य की विडम्बना को बताते हुए, इस रोग की चर्चा अवश्य करें, क्योंकि मुझे उससे आक्रान्त शरीर से भोग तथा सेवा की व्यवस्था में ग्लानि होती है।

सेठ पुरुषोत्तमदास ने पार्वतीजी के पत्र को गोसाईंजी के सामने रखकर उसकी हार्दिक पीड़ा को कह सुनाया और भेंट में एक मोहर अर्पित किया। गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने दो दिन बाद पुरुषोत्तमदासजी को आज्ञा दी कि वे पार्वती को पत्र लिखकर सूचित कर दें कि उसे ठाकुरजी की सेवा में किंचित् भी ग्लानि नहीं करनी चाहिए। ठाकुरजी उसका सारा रोग दूर कर देंगे।

पत्र प्राप्त करके पार्वती को परम हर्ष की अनुभूति हुई और आज्ञानुसार वह अपने ठाकुर मथुरानाथ की सेवा में अहर्निश लगी रहीं। उसने फिर कभी ग्लानि का अनुभव नहीं किया। श्री ठाकुरजी की परम प्रसन्नता और उसकी अगाध निष्ठा के कारण ऐसा चमत्कार हुआ कि तीन-चार मास में पार्वती का श्वेत कुष्ठ लुप्त हो गया। भगवान् के प्रताप और गुसाइंजी की कृपा से पद्मनाभदासजी की बहू पार्वती का सारा रोग कट गया। यह गुरुदेव तथा इष्ट में इसकी अगाध निष्ठा का ही फल था।

रा० कृ० श०

पासवान खवासिन

पासवान दतियानरेश भवानीसिंह (१८५७-१९०७ ई०) की खास खवासिन थी। ये सेंवढ़ा वाली कहलाती थीं, इसका अर्थ यह है कि या तो ये सेंवढ़ा में जन्मी थीं। या सेंवढ़ा इनकी ससुराल थी। इसके सिवा इनके जीवन के सम्बन्ध में और जानकारी नहीं मिल सकी।

अन्तःपुर की सेवा में लगी हुई पासवान में कब से भक्ति का अंकुर फूटा, यह अन्धकार में है। लेकिन संवत् १९५६ में इन्होंने 'पदरसिक विनोद' की रचना की थी, तभी से ये भक्त के रूप में प्रसिद्ध हुयीं। दतियानरेश भी साहित्य और ललित कलाओं के प्रेमी थे। संभवतः उस स्वर्णिम वातावरण ने कवयित्री को और अधिक प्रोत्साहित किया होगा। इसीलिए इन्होंने 'दान चालीसा', 'भजन चौबीसा' और स्फुट भजनों की रचना की होगी। दोहा, भजन, लावनी, पद, मंज, गारी आदि लिखने में भी ये सिद्धहस्त थीं। उदाहरण के लिए इनकी भक्तिभावना से भरी एक मंज प्रस्तुत है—

मोर मुकुट सिर बिराजै, बलदाऊ के भैया।
करत चरित्र सकल गोकुल में, कंसै मार गिरैया।
जमुना तीर कदम चढ़ि बैठो, गोपिन चीर हरैया।
'पासवान' सेउड़ेवारो कों, दरसन देउ कन्हैया॥

न० प्र० गु०

पीताम्बर/गोपाल/देवकी

श्री पीताम्बर, गोपाल तथा देवकी का संक्षिप्त परिचय 'चतुर्थ वसन्त प्रबन्ध' में इन शब्दों में दिया गया है—

हित रूप शरण पीताम्बर गुपाल।
देवकी सु भक्ति दरसै सुभाल॥
रचै भानु नन्दपुर होरी ख्याल।
गाढौ नातौ राधा नन्दलाल॥

ये तीनों महानुभाव बरसाने के रहने वाले थे। गो० श्रीहित रूपलालजी के बरसाने निवास काल में उनके चारु-चरित्रों से प्रभावित होकर ये तीनों उनके चरणाश्रित हो गये। बरसाने-निवासी होने के कारण इन सब का श्री प्रियाजी के श्रीचरणों में सहज अनुराग तो था

ही, श्रीहित रूप को रसदायिनी कृपा का अभिसिंचन पाकर वह अनुराग बेलि और भी पल्लवित, कुसुमित और फलित हो उठी। राधाष्टमी और होली के उत्सव पर्व पर जब श्रीजी के मन्दिर में नन्दगाँव और बरसाने के ब्रजवासी सजन-सम्बन्धो स्वरूपाविष्ट होकर परस्पर हास-परिहास किया करते थे, तब इनका श्री प्रिया-पक्षपात-पूर्व-अनुराग और भी अधिक उच्छलित होने लगता था।

इनका विद्यमान काल सं० १७५० से सं० १८४० तक अनुमान किया जा सकता है।

श्या० बि० खं०

पीताम्बरदास/बालकदास/वृन्दावनदास

श्री पीताम्बरदास, बालकदास तथा वृन्दावनदास राधा-माधव के अनन्य सेवो थे। 'भक्त गाथा' में इनके सम्बन्ध में यह पद मिलता है :—

जल भरिया राधालाल के नेह रस भरे तीन।
पीताम्बर, बालकदास अरु वृन्दावन रस लीन॥
वृन्दावन रस लीन टहल चित्रा की भावैं।
कुसुम दाम गुहि नीर कलस भरिकै पहुँचावैं॥
कुंज महल की भावना राधावर की केलि कल।
पावै दरस मधूकरी पान हंस जा कौ सुजल॥

ये तीनों ही महात्मा नेह रस से भरे भावुक-हृदय थे। ये कब और किससे राधावल्लभीय सम्प्रदाय में दोक्षित हुए यह अज्ञात है। इतना ही कहा जा सकता है कि ये वृन्दावनस्थ किसी मन्दिर विशेष, सम्भवतः श्री राधा मोहनलाल (गो० कृष्णचन्द्रजी के सेव्य) के जल भरिया थे। श्री यमुनाजी से इनकी सहज प्रीति थी। ये प्रतिदिन प्रातः सायं यमुना स्नान करके उनसे प्रार्थना करते—

हा कालिन्दी त्वयि ममनिधिः प्रेयसा क्षालितो भूद्-
भो भो दिव्याद्भुत तरुलतास्तत्करस्पर्शभानः।

हे राधावा रतिगृह शुका हे मृगा हे मयूराः—
भूयो भूयः प्रणतिभिरहं प्रार्थये वो नु कम्पाम्॥

तदुपरान्त इष्टवर श्री श्रीराधा मोहनलालजी के स्नान आदि के लिए घड़े में जल भरकर पहुँचाया करते थे। अपने इष्ट का दर्शन-प्रसाद और जमुना-जलपान का उत्कट अनन्य व्रत इन्होंने आजीवन निर्वाह किया था।

इष्ट-सेवा में इनका हार्दिक अनुराग था। गर्मी की ऋतु में मन्दिर के वातावरण को शीतल रखने के लिए ये फव्वारे चलाते, खस की टट्टियों को अभिसिंचित करते और यत्र-तत्र से फूल लाकर फूल शृंगार किया करते थे।

सेवा से अवकाश पाने पर ये वृन्दावन-रस की वाणियों का रसास्वाद पाने के लिए उनका कथन श्रवन, गायन और आलोड़न और एकान्त में बैठकर भावना द्वारा वाणियों में प्रत्यक्ष लीलामय रूप का साक्षात्कार किया करते थे।

इनका विद्यमान काल निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता है। इतना निश्चित है कि 'भक्त गाथा' के रचना काल सं० १८४४ से पूर्व ये विद्यमान थे।

श्या० बि० खं०

पीताम्बरदेव

स्वामी पीताम्बरदेवजी आचार्य रसिकदेवजी के शिष्य थे। इनके पिता श्री चौबेलालजी एक समृद्ध गौड़ ब्राह्मण थे। श्री चौबेलाल राजस्थान प्रदेश के नारनौल जनपद में स्थित साँझापुर नामक ग्राम के निवासी थे। ये कट्टर शैव तथा विष्णु के घोर निन्दक थे। संयोग से पं० चौबेलाल की पत्नी श्रीमती रामकुँवरि श्रीकृष्ण की भक्त थीं। वे सदैव अपने कुँवर कन्हैया से प्रार्थना करतीं कि 'हे घनश्याम ! किसी प्रकार मेरे पति में भी आपकी भक्ति का अंकुर प्रस्फुटित हो जाय।' इस प्रकार रामकुँवरिजी ने अपने पति से छिपकर श्री श्यामा-श्याम के एक विग्रह की स्थापना कराई। एक दिन विग्रह ने रामकुँवरिजी को स्वप्न में आशीष दिया कि "अब तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी।"

भाद्र कृष्ण अष्टमी सम्वत् १७३४ को सौभाग्यवती रामकुँवरि की कुक्षि से पुत्ररत्न का जन्म हुआ। नवजात शिशु का नाम प्रयागदास रखा गया। बालक प्रयागदास के अन्दर जन्म से ही अलौकिकता का दर्शन होने लगा। एक बार रामकुँवरि बालक प्रयागदास को लेकर साँझापुर में आये एक सिद्ध फकीर के दर्शनार्थ गयीं। शिशु को देखते ही वह फकीर दौड़कर आया और बालक के चरणों को अपने मस्तक पर रखकर कहने लगा कि "ये मेरे पूर्व जन्म के गुरु हैं। किसी बात पर गुरुजी से मैंने तर्क-वितर्क किया, इसी अपराधवश मुझे यवनकुल की प्राप्ति हुई किन्तु मुझे अपने पूर्वजन्म का समस्त वृत्तान्त याद है।"

जब प्रयागदास किशोरावस्था में पहुँचे तब इनके पिता पं० चौबेलाल ने दिल्ली में आकर व्यापार करना प्रारंभ कर दिया। अतः पिता के साथ ये भी दिल्ली आये, यहीं इनकी भेंट श्रीस्वामी रसिकदेवजी के कृपापात्र श्री मनोहरदासजी से हुई। मनोहरदासजी से श्रीस्वामी रसिकदेवजी की महिमा श्रवणकर ये अत्यन्त प्रभावित हुए। परिणामस्वरूप माता-पिता से छिपकर प्रयागदास उन्हीं के साथ रसिकदेवजी की सेवा में उपस्थित हुये। जिस प्रकार माँ अपने पुत्र को देख वात्सल्य से ओत-प्रोत हो जाती है उसी प्रकार प्रयागदास को देख रसिक देवजी भावविह्वल हो गये। प्रिय शिष्य को देख कृपाकर रसिकदेव ने प्रयागदास को श्रीस्वामी हरिदासजी महाराज की परम्परा में प्रचलित निज-मंत्र एवं करुवा-गुदड़ी से विभूषित विरक्त वेष प्रदान किया। दीक्षोपरान्त इनका नाम दिया गया-श्री पीताम्बरदेव। इसका उल्लेख श्री पीताम्बरदेवजी ने इस प्रकार किया है :—

श्रीस्वामी के मंत्र करि, मंत्रित स्वामिनि स्याम।
श्रीस्वामी के मंत्र कों, जपत जाप दिन रैन॥

* * *

मस्तक तिलक गले बिच कंठी तन गूदर कर हंडी।
कटि कोपीन अंगोछा इकरस ग्रीषम बरषा ठंडी।
पीताम्बर वन देखि रसिक संग
छाँड़ि जगत से भंडी॥

जब यह वृत्तांत पं० चौबेलाल को विदित हुआ तो वे अत्यन्त क्रोधित हुए एवं वृन्दावन आकर प्रयागदासजी को पुनः दिल्ली लिवा लाये। ये श्री श्यामाश्याम के रंग में पूर्णरूपेण सराबोर हो चुके थे। फलतः पिता की इच्छा के विरुद्ध छिपकर पुनः गुरु चरणों में पहुँच गये। अंततः चौबेलाल जयसिंह के पास जा पहुँचे एवं रसिकदेवजी की निन्दा करते हुए बोले —"मेरे पुत्र को रसिकदेवजी ने बहका कर अपना शिष्य बना लिया है एवं एक ब्राह्मणकुमार को गायत्री-सन्ध्या आदि छुड़वाकर महा अमंगल करुवा गूदड़ी का वेष प्रदान कर, सातों जातियों के टुकड़े खिलाकर भ्रष्ट कर दिया है—

गायत्री संध्या सब त्यागैं।
सात जात के टूक मँगावैं।
सो विप्रन को प्रगट खवावैं।

पंडितजी के इन वचनों को सुनकर महाराजा जयसिंह ने पीताम्बरदेवजी से प्रश्न किया कि "क्या तुमने विप्रत्रंश का परित्याग कर दिया है?" पीताम्बर देवजी ने अपने भक्ति-मार्ग का परिचय दिया और कहा :—

स्वर्ग नर्क अपबर्ग की, अब मोहि आस न त्रास।
श्रीगुरु-चरन-सरोज-बल, निधरक बढ़त हुलास॥

पीताम्बरदेवजी के मुख से भक्ति तत्व के रहस्य एवं गुरु चरणों में दृढ़रति को देख महाराज जयसिंह अत्यन्त प्रभावित एवं प्रसन्न हुए। उन्होंने पं० चौबेलालजी को आदेश दिया कि 'आपने एक महापुरुष (रसिकदेवजी) की निन्दा एवं अवहेलना की है, अतः आप उनसे क्षमायाचना करें।" इसके बाद चौबेलाल अपने पुत्र को लेकर घर लौट आये। पीताम्बरदेवजी ने जैसे-तैसे एक वर्ष घर पर व्यतीत किया। अन्त में समस्त परिवार से सम्बन्ध-विच्छेद कर ये पुनः गुरु चरणों में आ गये एवं परम विरक्त वेष धारण कर श्री श्यामा-श्याम के रस-भजन में निमग्न रहने लगे—

कर करुवो कामरि गरे, गौर वर्ण सुठि अंग।
गुरु मूरति हरि रति अतिथि, पगे युगल रसरंग॥

गुरु शरणागति के पूर्व से ही श्री पीताम्बरदेवजी के अंदर अलौकिक सिद्धियों का समावेश था। ये स्वतः किसी भी जीव के तीनों काल की गति को जान लेते थे अर्थात् त्रिकालदर्शी थे। किन्तु ये सिद्धियाँ भक्ति मार्ग की बाधक होती हैं। इनसे श्यामाश्याम के रसमय भजन में विघ्न उपस्थित होता था। अतः एक दिन श्री पीताम्बरदेवजी ने अपने गुरुदेव से प्रार्थना की कि "महाराज! ये सिद्धियाँ श्रीप्रियाप्रियतम के भजन में बाधा उपस्थित करती हैं। अतः इन सिद्धियों से मेरा पिंड छूट जाये तो आपकी अति कृपा होगी।" प्रिय शिष्य के इन वचनों को सुन दयालु गुरुदेव ने ज्यों ही अपने चरणारविन्द का स्पर्श इनके मस्तक से किया, तत्काल ही समस्त सिद्धियाँ विनाश को प्राप्त हो गयीं।

श्री पीताम्बरदेवजी अपने गुरु के परम भक्त थे। इन्होंने अपनी वाणी में कहा है 'मेरे गुरुदेव ने मुझे माला-मन्त्र एवं छाप प्रदान कर मानो श्रीहरि के नाम पत्र ही लिख दिया। परिणामस्वरूप हमारा भक्ति पथ कभी अवरुद्ध नहीं हुआ एवं श्रीस्वामिनीजी ने देखते ही हमें अपने हृदय से लगा लिया :—

श्रीगुरु मोकों सरन लयौ।
पत्र लिख्यौ हरि के सन्मुख कौं,
यह तुम पै पठयौ॥
माला, मन्त्र छाप यह आज्ञा,
तोहि न कोउ हटकै।
भ्रम श्रम कबहूँ नाहिं भयौ मोहिं,
हरि पुर निडर गयौ हूँ नेरे,
मन बच अपनो कीनो।
पीताम्बर श्री रसिक स्वामिनी,
हरि हँसे सुख पायौ।
हँसि हँसि कंठ लगायौ॥

पीताम्बरदेवजी अपने गुरु श्री रसिकदेवजी के नित्य निकुञ्ज गमनोपरान्त वि० सं० १७५८ में श्री रसिकविहारीजी (वृन्दावन धाम) के मन्दिर के पीठाधिपति के पद पर आसीन हुए। इस पद पर ये वि० सं० १८३० तक आसीन रहे। तदुपरान्त श्रीप्रियाप्रियतम के निकुञ्ज धाम में प्रवेश किया। निकुञ्जगमन से पूर्व इन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया :—

हिलिमिलि रहियो सकल तुम,
लहियो भजन विनोद अमायक।
चहियो युगल अनूप छबि,
गहियो यह व्रत चारु सुभायक॥

विदुष गुवर्द्धनदास, पूरब दिसि बिच वास जिहि।
परम रसिक रस रास, ताहि वरासन दीजियो॥

यों कहि के सब सों बचनावलि,
प्रीतम के निज-धाम सिधारे।
पाय अली तनु आलिन सो मिलि,
लालन के अंग संग सुखारे॥

हास विलास भर्यो उर-सागर,
रूप अनूप महा मतवारे।
पति सुअम्बर को कल कीरति,
को बरनै कवि कोटिक हारे॥

श्री पीताम्बरदेव की निम्नलिखित रचनायें उपलब्ध हैं—

१. सिंगार के पद, २. रस के पद, ३. केलिमाल की टीका, ४. सिद्धान्त की साखी और ५. शृङ्गार की साखी।

इनके पद अत्यन्त सरस एवं हृदयग्राही हैं। देखिए एक शृङ्गार का पद :—

आज हमारे चन्दन जात।
प्रिया सैन सहचरि जुरि आई,
चित्र-विचित्र बनावत गात॥

पिय गति मति रति सब हरि लीनी,
कीन्हीं अपनो घात।
स्यामै वाम गौर तन करिकै,
भूषन बसन बनी सब बात॥

यह जानी में कोई पटरानी,
बड़ प्रताप लखि सह न सकात।
लै बैठी ढिंग प्रिया आपनी,
फूले अंग न मात ॥

सबै बढ़ी गुन रूप आगरी,
अभिवन्दन करि वात।
रसिक बनी वरतनी स्याम सुख,
'पीताम्बर' जुग नैन सिरात ॥

हिंडोरे पर श्यामाजी के साथ झूलते हुए श्री श्यामसुन्दर के उल्लास सम्बन्धी एक पद को देखिए :—

सावन आयो हिंडोरे झूले।
कहत प्रिया सों स्याम निरंतर
रीझि-रीझि मन फूलें ॥

सुनि सुकुँवारि निवारि शिंगार
सवार वसन हिय हूलें।
'पीताम्बर' पिय बोलि सहचरी
रसिक सखी अनुकूलें ॥

'धनो श्री श्याम की बनी' मुरली का एक चित्र देखिए : —

मुरली तेरी है जु बनी।
गौरांगी सूधी सुर साँची तूही बजावै धनी ॥

कर पकरी कर तेज करी हरि यह लकरी जु ठनी।
'पीताम्बर' प्रिय छिन नहिं न्यारी
अधर सुधाहि सनी ॥

शरदनिशा में श्री श्यामा-श्याम का मिलाप सहचरी को कितना आनन्दित कर देता है :—

शरद निशा री ! प्यारी पिय कीने।
रूप उज्यारी नेंक निहारी
वाम श्याम गुन हरि लीने ॥

श्री मुखकर अरविन्द मन्द द्युति
ज्यों अपने तनमन कीने।
'पीताम्बर' श्री रसिकस्वामिनी
करि मिलाप अति सुख दीने ॥

इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा के साथ उर्दू, पंजाबी, राजस्थानी, संस्कृत आदि भाषाओं के शब्दों का भी समावेश है। अलंकारों का विधान स्वाभाविक है। पंजाबी भाषा का एक उदाहरण देखिए :—

ऐसी तू चिपटी दिल दी सुहयों
काली कमली कीती है।
हुण आशानूं जावन आवै,
अंग अंग करि जीती है ॥
श्री रसिक विहारी बोलनि वेषनि
सारी निशि यों बीती है ॥
पीताम्बर की रूप माधुरी
श्री रसिक कृपा ते पीती है।

ब्रजभाषा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

झूठे हमहि करत हौ स्याम।
हम नित वृन्दा विपिन बतावत
द्रुम दीसत नहिं धाम ॥
दाझे पर लोन लगावत
भ्रामक जगत हराम।
'पीताम्बर' बन-बेहड़ डोलौ
कहा अरचो इत काम ? ॥

प्रे० ना० श्री०

पीताम्बरदेवाचार्य

श्री पीताम्बरदेवाचार्य का जन्म राजस्थान के लोहार्गल और गणेश्वर आदि तीर्थों के मध्यवर्ती क्षेत्र में हुआ था। यह वैष्णव, शाक्त, शैव आदि सम्प्रदायों के अनेक ऋषि-महर्षियों को उद्भव स्थली रही है। ये पहाड़ों के बीच के सुन्दर एवं समतल भूभाग में विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में अवतरित हुए थे। इन्होंने अनन्त श्री परशुरामदेवाचार्यजी से दीक्षा प्राप्त कर विरक्त वेष धारण किया।

उस समय वैष्णव-विरक्त समाज का यह नियम था कि जो भी शिष्यत्व ग्रहण करता था उसे सर्वप्रथम

देशभ्रमण करना पड़ता था। इसी परम्परानुसार श्री पीताम्बरदेवाचार्य ने आचार्य पीठ श्री निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) से उत्तर की तरफ प्रस्थान किया। इस भ्रमणकाल में जब ये च्यवन ऋषि के आश्रम, ढोसी (नारनौल) तक पहुँच कर लौटे तो एक नदी के तट पर एक अष्टकोण के सुरम्य श्वेत पत्थर के चबूतरे को देखकर इनकी इच्छा वहाँ ठहर कर भजन-साधन की हुई। इस स्थान पर वि० सं० १६११ के लगभग कुछ दिन भजन-साधन कर गुरुदर्शनार्थ आचार्यपीठ लौट आये। कुछ दिन गुरुदेव की सेवा एवं दर्शन कर पुनः भ्रमणार्थ पूर्व दिशा में चल पड़े।

पीताम्बरदेवजी के समय तक किशनगढ़ राज्य का नामोनिशान भी नहीं था। आजकल जहाँ उदयपुर, सिलोरा आदि नगर बसे हुए हैं उन्हीं के पास दो पर्वतों के बीच इन्होंने अपना निवास बनाया। इस स्थान पर इन्होंने कई वर्षों तक भगवान् की आराधना की। आगे चलकर यह स्थान 'श्री पीताम्बरदेव की गाल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कुछ दिनोपरान्त ये वहाँ से उत्तर की ओर प्रस्थान कर उसी नदी तट वाले स्थान पर जा पहुँचे जहाँ वि० सं० १६११ में निवास किया था। वहाँ इन्होंने नदी के दक्षिण तट पर एक कुटी में श्री गोपालजी को स्थापित कर पूजा-सेवा करनी प्रारंभ कर दी। इस पणशाला के आस-पास जंगल ही जंगल था। इसी स्थान पर थोड़ी दूर एक जिन्द (प्रेत) रहता था। आरती में होने वाली घंटा–घड़ियालों की ध्वनि से शनैः शनैः उसके पापों का शमन होने लगा। कहते हैं कि एक दिन वह इनकी शरण में जा पहुँचा और अपने उद्धार की प्रार्थना करने लगा। उस पर द्रवित हो पीताम्बरदेवजी ने उसे मंत्र प्रदान कर भजन-साधन करने की आज्ञा दी। इन दोनों घटनाओं के विषय में टोडा भीम (जयपुर) के भाट रामदास की बही में उल्लिखित है, 'श्री पीताम्बरदेवजी 'चला' में जालक पेड़ के नीचे नदी के ढावे पर वि० सं० १६७२ में बैठे एवं १६७३ में जिन्द को शिष्य बनाया।'

धीरे-धीरे दर्शनार्थियों की संख्या में वृद्धि होने लगी। पीताम्बरदेवजी से प्रभावित हो बहुत से व्यक्ति दीक्षा लेने आने लगे एवं कुछ विरक्त-शिष्य भी बन गये। शनैः शनैः यहाँ बसावट होनी प्रारम्भ हो गयी। सर्वप्रथम यहाँ भडाडरा खण्डेलवाल ब्राह्मण वंश ने अपना निवास स्थान बनाया एवं नदी के उत्तर तट पर एक नृसिंह भगवान् का शिखरदार मन्दिर बनवाया। फिर भी ये पूज्य गुरुद्वारा श्री गोपाल मन्दिर को ही मानते थे। धीरे-धीरे यहाँ 'चला' नामक नगरी का निर्माण हो गया। इस भूभाग के शासक ठाकुर बलवन्तसिंह जी थे।

एकबार जब श्री पीताम्बरदेवाचार्यजी श्रीगोपालजी का लाड़-दुलार कर रहे थे तो क्या देखते हैं कि आकाश पर आकाशगंगा की भाँति गेहूँ का स्रोत बह रहा है। आश्रम में उपस्थित श्रद्धालु स्त्री-पुरुषों का समाज यह देख चकित रह गया। आचार्यवर को समझते देर न लगी कि यह किसी तांत्रिक की करतूत है। गरीब किसानों की खलिहान में पड़ी हुई छः माह की कमाई का तान्त्रिक द्वारा ऐसा विनाश देख एवं उस पर आने वाली विपत्ति का आभास कर आचार्य द्रवित हो गये। उन्होंने जिन्द को उसे नीचे गिराने का आदेश दिया। जिन्द को संत के आदेशानुसार उस गेहूँ के ढेर को चबूतरे पर गिराना पड़ा।

इससे तान्त्रिक का क्रोध चरम सीमा पर पहुँच गया। उसने सिंह का रूप धारण कर आश्रम के समीप पहुँचकर गर्जना शुरू कर दी। सिंह की दहाड़ सुनते ही समस्त नागरिक एवं आश्रमवासी डरकर काँपते हुए आचार्य श्री के चरणों की दुहाई देने लगे। उन्हें डरा हुआ देख पीताम्बरदेवजी ने कहा "डरो नहीं, यह सिंह नहीं, बिल्ली है।" आश्चर्य से सबने पीछे फिरकर देखा तो ज्ञात हुआ कि सचमुच एक छोटी-सी बिल्ली ही है। सभी नागरिकों का भय समाप्त हुआ।

इस प्रकार वह तांत्रिक छः महीने बिल्ली के वेष में मारा-मारा फिरता रहा। एक दिन उस बिल्ली के

किसी स्त्री ने ओंछा-चाटू (काठ का चम्मच) फेंक कर मारा, जिसका पिछला भाग उसकी आँख में लग गया। फलस्वरूप वह कानी हो गयी। उसकी ऐसी दशा देख आचार्य को बड़ी दया आई। फलतः उन्होंने उस (तान्त्रिक को) बिल्ली की योनि से छुड़ाकर पुनः मनुष्य योनि प्रदान की। किन्तु वह काना ही रहा। उसने आचार्य के चरणों में गिरकर क्षमा याचना की।

वैसे तो भगवद्भक्त, सन्त-महात्माओं के ऐसे चमत्कार भजन-शक्ति प्रदर्शन की आकांक्षा से नहीं होते, उनके मूल में जन-कल्याण की ही भावना रहती है। महात्माओं का जीवनोद्देश्य अपने इष्टदेव की पूजा, अर्चना, ध्यान-स्मरण, कथा-कीर्तन आदि में निरत रहना ही होता है। 'श्री गोपाल लहरी-स्तोत्र' के एक श्लोक में इनका संक्षिप्त-परिचय इस प्रकार दिया गया है :—

कृपालेशाधस्य स्वपर वपुषोऽनैक्यकरणान्,
महैश्वर्य्यं विन्देज्जनधनद् पीताम्बर धरः।
नशक्यः सिंहोऽपि ग्रसन विषये यत्पद परम्,
श्रये तं गोपालं विभुरपि चलायां चलति यः॥

श्री पीताम्बरदेवाचार्यजी के निकुञ्जगमनोपरान्त उनके प्रमुख शिष्य दयालदासजी ने वि॰ सं॰ १७३२ में इनका स्मृति-महोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया एवं समाधि का निर्माण कराया। यह चमत्कारिक समाधि आज भी आपकी स्मृति कराती है। यहाँ पर तिजारी, ताप, इकान्तरा, सिया आदि रोगों के रोगी श्री पीताम्बरदेवजी का स्मरणकर निश्चय ही स्वास्थ्य-लाभ करते हैं। यह अनुभव प्रत्यक्षरूप से बहुत से लोगों ने किया है और आज भी कर रहे हैं।

प्रे॰ ना॰ श्री॰

पीताम्बर स्वामीजी

श्री पीताम्बर स्वामी राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य गो॰ दामोदरवरजी के कृपा-पात्र थे। ये अपने समय के सूक्ष्म रस दृष्टि प्राप्त रसिक माने जाते थे। सभी प्रकार के साधुओं की समबुद्धि से सेवा करते हुए भी इनमें हित-रस-रीति की उत्कट अनन्यता थी, बाँकपन प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता था। सब में मिले रहते हुए भी इनकी चित्तवृत्ति इष्ट वस्तु पर ही केन्द्रित रहा करती थी। इनमें रसिक जीवन में समुदित होने वाले औदार्य, सौजन्य, सुशीलता आदि गुणों के साथ-साथ दैन्य तो इतना अधिक था कि इनके इस गुण ने अन्य गुणों में चार चाँद लगा दिये थे। ये संगीत कला के भी मर्मज्ञ थे जिसके द्वारा इन्होंने रसिकों तथा रसिकों के आराध्य श्री हित दम्पत्ति को इसी जीवन में रिझा लिया था। इनका विद्यमान काल त्रि॰ सं॰ १६५० से १७२५ के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है। 'तृतीय बसंत प्रबन्ध' में इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित दो पंक्तियाँ मिलती हैं :—

पीताम्बर स्वामी अति गुनील।
सुख चुनैं खाँड़ ज्यौं मुख पपील॥

खेलैं मिही फाग अति ही सुशील।
करैं गान मधुर सुर लेंहि जोल॥

श्या॰ बि॰ खं॰

पुरुषोत्तमदास 'सैया'

श्री पुरुषोत्तमदास का जन्म मथुरा नगर में सं॰ १८८५ में हुआ था।

'सैंयाजी' मथुरा निवासी थे और वहाँ के पुष्टिमार्गीय द्वारकाधीश मंदिर के समीप ही कंठीमाला की दुकान करते थे। इनकी दुकान कवियों की बैठक के रूप में विख्यात थी। ये 'उत्तम' उपनाम से काव्य रचना करते थे। श्री नवनीत चतुर्वेदी तथा भोलाराम भंडारी से प्रेरणा प्राप्त कर इन्होंने काव्य रचना की।

सैंयाजी ने कृष्ण-भक्ति और पौराणिक प्रसंगों से सम्बन्धित अनेक स्फुट छन्दों की रचना की है। इनके पुत्र श्री चुन्नीलाल शेष भी बड़े काव्य मर्मज्ञ थे।

इनके एक छन्द की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

कंकन करन कटि, किंकिनी बिराज रही,
धीरता विराज रही मन की उमंग में।
'उत्तम' निहार बेनी, सेनी मृगनैनी रहीं,
जम की नसैनी बान सोहत निखंग में॥

ह० न० भा०

पुरुषोत्तम भट्ट

श्री राधा के नामोपासक पुरुषोत्तम भट्ट का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये श्रीमद्भागवत के सुप्रसिद्ध वक्ता थे। इनका जीवन मथुरा में ही व्यतीत हुआ। इन्होंने श्रीमद्भागवत का छन्दोबद्ध अनुवाद किया था। इनका उपस्थिति-काल वि० की २०वीं शती है।

म० गो० भा०

पुरोहित प्रतापनारायण

पुरोहित प्रतापनारायण का जन्म १ जनवरी सन् १९०१ ई० को जयपुर में हुआ था। इनके पिता पुरोहित रामप्रताप तथा पितामह पुरोहित हरिनारायण विद्याभूषण थे। पुरोहित प्रतापनारायण का जन्म ब्राह्मणों की ६ न्यातों में से श्रेष्ठ तथा प्रतिष्ठित पारीक कुल में हुआ था। ये 'कांयड्या' पारीक थे। इनके पूर्वज जयपुर से २० कि० मी० दूर सिरसी गाँव से आकर १५०० ई० के लगभग जयपुर में बस गये थे।

इनकी माता का नाम श्रीमती गुलाब बाई था तथा नाना थे तिवाड़ी स्वरूप लाल। उन्होंने अपनी सम्पत्ति दान कर एस० एस० जी० पारीक कॉलेज, जयपुर की स्थापना की थी।

प्रतापनारायणजी की शिक्षा जयपुर में हुई। इन्होंने मेयो कालेज, अजमेर से डिप्लोमा प्राप्त किया और एफ० ए० महाराजा कॉलेज, जयपुर से किया। सन् १९३२ में बी० ए० की परीक्षा देने आगरा गये हुए थे उसी समय अचानक २० मार्च, १९३० को इनके पिता का निधन हो गया जिससे बिना परीक्षा दिये ये जयपुर वापस आ गये। इसके बाद घर पर ये स्वाध्याय से हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी का ज्ञान बढ़ाते रहे।

इनका विवाह १६ वर्ष की आयु में श्री रामसहाय व्यास की सुपुत्री राजकुमारी के साथ हुआ था। ये निःसन्तान स्वर्गवासी हुए।

पिता श्री पुरोहित रामप्रताप की मृत्यु के पश्चात् इनको सींगर ठिकाना की जागीर प्राप्त हुई। फिर जयपुर राज्य के ताज़ीमी सरदार बने और धर्मार्थ विभाग सँभाला। सन् १९४२ में जयपुर राज्य के पोथी खाने के प्रबन्धक नियुक्त हुए।

सन् १९३७ में सम्राट् जार्ज षष्ठ की ताजपोशी के अवसर पर इन्होंने यूरोप की यात्रा की। २ जुलाई १९४५ ई० को राज्य सेवा से अवकाश ग्रहण कर लिया और १९ जुलाई को अपने अनुज श्री उदयनारायण के पुत्र श्री महेशनारायण को गोद ले लिया।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली के अधिवेशन में २७ मार्च १९३४ को श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की अध्यक्षता में काव्य पाठ किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर के विराट् कवि सम्मेलन में भी इन्होंने काव्य पाठ किया। १६ अगस्त १९४७ को प्रजा-मण्डल द्वारा जयपुर में आयोजित कवि सम्मेलन में भाग लिया।

सन् १९२२ ई० में श्री पारीक हितकारिणी सभा, जयपुर ने इनको 'कविरत्न' की उपाधि से सम्मानित किया तथा अखिल भारतीय पारीक महासभा, मेड़ता ने स्वर्णपदक भेंट किया। सन् १९४५ में इटावा में अखिल भारतीय विद्वद्मण्डल ने इन्हें 'विद्या-विनोद' की उपाधि से विभूषित किया। जयपुर महाराज ने 'राज्याभिषेक सवाई मानसिक पदक' से सम्मानित किया। सन् १९६२ में राजस्थान साहित्य अकादमी ने इनको 'सरस्वती-सभा' का सदस्य बनाया। २८ जनवरी १९६७ को हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया।

पुरोहितजी का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। लम्बा कद, हृष्ट-पुष्ट सुगठित सुन्दर शरीर, गौरवर्ण, प्रशस्त ललाट, घनी भौहों के नीचे बड़ी-बड़ी मोहक आँखें, आकर्षक चेहरा, भरे चेहरे पर किशोरावस्था में मूँछें सिर पर राजसी ढंग का छींटदार जोधपुरी साफा और उस पर जड़ाऊ चाँद, चूड़ीदार पायजामा, शेरवानी, उस पर लगे पदक तथा गले में पन्नों का चारलड़ी कण्ठा, यही था इनके व्यक्तित्व का बहिरंग पक्ष जो राजदरबार की शान-शौकत एवं कुलीनता का परिचायक था।

ऐसे व्यक्तित्व वाले पुरोहित प्रतापनारायण ने २३ जून १९७० को अपना पार्थिव शरीर छोड़ा।

इन्होंने काव्य रचना का आरम्भ सन् १९१४ में किया था। इनकी अन्तिम कृति 'इन्दिरायण' (१९६६) है। पुरोहितजी की काव्य रचना का समय प्रभात-काल होता था। ये नियमित रूप से कविताएँ लिखते थे। सन् १९१४ से लेकर १९७० तक की रचना अवधि में पुरोहितजी ने २१ काव्य-ग्रन्थ लिखे। इनमें एक महाकाव्य और २० काव्य-संग्रहों में स्फुट पद, गीत, गजल, कव्वाली, रूबाइयाँ और लघु कविताएँ संगृहीत हैं। इनकी प्रमुख काव्य कृतियाँ निम्नलिखित हैं :—

१. काव्य कानन (१९३२ ई०), २. नल नरेश (महाकाव्य) (१९३३ ई०), ३. मन के मोती (१९३४), ४. नव निकुंज (१९३८ ई०), ५ श्री रामार्चन (१९४२ ई०), ६. मणियों की माला (१९४६), ७. काव्य श्री (१९४७ ई०), ८. मंदाकिनी (१९४९ ई०), ९. सुषमा (१९५० ई०), १०. अरे वोह वाले ले चल (१९५० ई०), ११. दीपक (१९५० ई०), १२ रसमयी (१९५९ ई०) और १३ इन्दिरायण (१९६६ ई०)।

'काव्य कानन' (१९३२), चार कुंजों में विभाजित है–देव कुंज, प्रकृति कुंज, मानव कुंज, सूक्ति कुंज। मन के मोती (१९३४) में अप्रैल १९३३ से दिसम्बर, १९३४ तक की ३१ कविताएँ सम्मिलित हैं। नव निकुंज (१९३८) में सन् १९३५ से १९३८ के बीच में लिखी गई विविध विषयक ४० रचनायें हैं। 'श्री रामार्चन' (१९४२) में ४०० भक्ति काव्यात्मक छंद हैं। 'मणियों की माला' (१९४६) में १९४५–४६ के बीच लिखी गयी विविध विषयक २१ रचनाएँ हैं। काव्य श्री (१९४७) में विविध विषयों की २३ कवितायें संगृहीत हैं। 'मंदाकिनी' (१९४९) में अगस्त १९४३ से मार्च १९४९ के बीच लिखी गयी ३० कवितायें संगृहीत है। 'अरे वोट वाले ले चल (१९५०) में ४१ रचनायें हैं जिनमें ३० नवीन हैं। सुषमा (१९५०) में ३० कवितायें संकलित हैं, इसमें १० नवीन हैं। दीपक (१९५०) में ३० कवितायें हैं, ८ नवीन कवितायें हैं। रसमयी (१९५९) में ६१ कवितायें हैं, जिनमें ५ कवितायें नयी रची हुई हैं' शेष ५६ कवितायें पूर्व प्रकाशित पुस्तकों से चयनित हैं।

पुरोहित प्रतापनारायण ने ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों में रचनायें कीं। ब्रजभाषा की प्रमुख कवितायें हैं—श्रीकृष्ण और सुदामा, ग्रीष्म-गौरव, वर्षा-वर्णन, पैसे की प्रशंसा और सुन्दर-सूक्तियाँ। प्रकाशित कृतियों में संकलन अधिक है और उनमें प्रथम भाग भक्ति से सम्बन्धित मिलता है।

'माधव-महिमा' कविता श्री कृष्णावतार की स्तुति में लिखी है—

यादव कुल अवतंस, कंस-विध्वंस विधायक।
धीर हीर गम्भीर वीर ब्रजवासी नायक॥
प्रेम परम प्रवीण, विजेता भीषण रण के।
कालियादमन कराल, काल तुम कालयवन के॥

गिरधारी गोपाल तुम, मंगलकारी, मुरलिवर।
भवभयहारी हो, कलित कुंज बिहारी क्लेश हर।

'श्रीकृष्ण और सुदामा' में सुदामा से भगवान् द्वारा कहलाया गया है कि स्वार्थ रहित भक्ति ही भगवान् को प्रिय है—

स्वार्थ छोड़कर मुझे चाहता है जो मन से,
करता मैं भी प्रेम सर्वदा ऐसे जन से।

'गीता-गरिमा' शीर्षक कविता 'काव्य रचना' में संकलित है। एक पद उद्धृत है—

शास्त्र, दर्शन, शीषमणि गीता सदा,
और अति आनन्द-पारावार है।
मुक्तिपथ के ज्ञानहित भगवान का,
भक्त को भेजा हुआ यह तार है।

'केशव-कीर्ति' कविता में कवि श्रीकृष्ण से कर्मण्यता का ही पाठ सिखाने की प्रार्थना करता है—

हे हरे ! कमर्ण्यता के पाठ को
आइए हमको अभी सिखलाइए।

'प्रेम-प्रवेश' कविता में विरह विदग्धा गोपी की वेदना को बढ़ाने में प्रकृति ने उद्दीपन की भूमिका का निर्वाह किया है—

सुधा-सनी श्रावण की छवि पर
विरह गरल को वह बरसा।
वर्षा में जीवन-झूले पर
हमको साथ झुलाती है।

पुरोहित जी ने कुछ सूक्तियाँ भी लिखी हैं। एक सूक्ति उद्धृत की जा रही है—

हरि, राम, कहै रघुवीर कहै,
कोई कान्ह गुपाल बखानत है।
मन मोहन औ नन्दलाल कहै
कोई माधव नाम जनावत है।
प्रभु, ईश, मसीह जिनेन्द्र कहैं
कोई निर्गुण ही अनुमानत है।
पर ईश्वर एक, अनेक मतों
जोंहि भावत है सोहि गावत है।

'कव्वाली' में ईश्वर से कवि यह कहता है कि उसकी भक्ति कवि के मन में सदा बनी रहे—

नाथ इतना चाहता हूँ।
और कुछ तुमसे नहीं॥
यह दया मन में रहे।
राधिका मन में रहे॥

रा० प्र० कु०

पुष्कर दास

पुष्करदास किसी राधावल्लभीय नागा जी के शिष्य थे। इन्होंने बहुत दिनों तक श्री राधावल्लभ जी के मन्दिर में नित्य प्रति होने वाले समाज-गान में झेला के रूप में श्री हित लाड़िली लाल की रस-लीलाओं का अपने सुमधुर कंठ से गायन किया था। जीवन के अन्तिम दिनों में ये अपने गुरु स्थान सैमरी चले गये थे और वहीं पर इन्होंने अपने नश्वर शरीर का परित्याग कर नित्य सिद्ध वपु को प्राप्त कर लिया था। इनका विद्यमान काल अनुमानतः वि० सं० १९२५ से वि० सं० २००० के मध्य स्थिर होता है।

श्या० बि० सं०

पुहकरदास

पुहकरदासजी काठले के रहने वाले थे और श्री हित हरिवंश महाप्रभु के पौत्र श्री दामोदर वरजी के शिष्य थे। वह वैश्यकुल में उत्पन्न हुए थे। श्रीजी की सेवा में इनकी अत्यन्त रुचि थी। जो कोई अच्छी वस्तु उनकी दृष्टि में आती थी उसे खरीद कर श्रीजी की सेवा में अर्पित करते रहते थे। इन्होंने श्री राधावल्लभ लालजी की सेवा में आने वाले अनेक वस्तुएँ बनवाकर मन्दिर को भेंट किया था। श्रावण का झूला उत्सव ये बड़े समारोह से करते थे और विपुल धन खर्च करके नये-नये झूले बनवाते थे। इसी प्रकार फागुन में फाग का उत्सव, ग्रीष्मकाल में पुष्प की रचना, वनविहार आदि बड़े व्यापक स्तर पर करते थे।

श्री राधावल्लभजी की सेवा के अतिरिक्त ये प्रतिवर्ष नन्दगाँव और बरसाने में भी विविध उत्सव बड़े उत्साह से करते थे और वहाँ बहुमूल्य वस्त्राभूषण भेजते रहते थे। इस प्रकार इन्होंने अत्यंत उदार मन से प्रभु की सेवा करके अपने जीवन को सफल बना लिया।

साँचो हित गुरु इष्ट सौं, ऐसे अमित चरित्र।
कछुक सुने ते लिखन कर, भगवत होत पवित्र॥

ल० च० गो०

पूरनदास

पूरनदासजी का जन्म वि० संवत् १५३४ में अलवर राज्य के माचहड़ी ग्राम में श्री जयपाल भार्गव की पत्नी की कोख से हुआ था। जयपाल जी वहाँ के एक धनी-मानी व्यक्ति तथा जमींदार थे।

इनका मूल नाम पूरनमल था। ये जन्म से एक होनहार, उत्साही व धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। इनका स्वभाव बड़ा मृदु व मिलनसार था। बचपन से ही इनको साधु-संगति भाती थी। विवाह भी उस समय की प्रथानुसार छोटी उम्र में हो गया था। इनके दो पुत्र हुए। बड़े पुत्र श्री हेमचन्द्र [हेमू] बड़े वीर थे। उन्होंने यवनों के साथ रह कर ही उनसे २२ बार युद्ध किया। हेमू दिल्ली के सिंहासन पर केवल २९ दिन ही राज्य कर सके। पानीपत के तीसरे युद्ध में आँख में तीर लग जाने से ये पकड़े गए और अकबर के अभिभावक बैराम खाँ ने इनका कत्ल कर दिया।

पूरनमलजी की नारनौल में पैतृक सम्पत्ति तथा खेती-बाड़ी थी। इसलिए ये यदा-कदा वहाँ जाया करते थे। जब फरीद (शेरशाह) के पिता ने दूसरा विवाह कर लिया तो उसको उसके भाई व माता सहित निकाल दिया। फरीद की माँ नारनौल की रहनेवाली थी। उसके सम्बन्ध में 'मखजन-ए-अफगाना' में लिखा है 'साकिन कस्ब-ए-नारनौल'। नारनौल में इन लोगों ने पूरनमल का संरक्षण लिया। इनके साथ वे लोग माचहड़ी चले गए। इस प्रकार शेरशाह के परिवार पर पूरनमल का प्रभाव रहा। सिंहासनारूढ़ होते ही शेरशाह ने अपने बाल-सखा हेमू को दिल्ली बुला लिया।

अब पूरनमलजी भी रेवाड़ी आ गए। वहाँ इनका नवल किशोर [नवलदास] का संग रहा करता था। वह भी बड़े सत्संगी थे। ये दोनों एक ही जाति के थे और इनका कुछ सम्बन्ध भी था।

सत्संग में रहते-रहते एक बार वृन्दावन से राधावल्लभ-सम्प्रदाय के एक सज्जन रेवाड़ी पधारे। वहाँ गोपालजी का एक मन्दिर था। वह उसमें ठहरे। उनके सत्संग में ये जाने लगे। उन्होंने एक दिन यह पद सुनाया :—

रहौ कोऊ काहू मनहि दिये।
मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा शपथ करौं तृण छिये॥
जे अवतार कदम्ब भजत हैं, धरि दृढ़ व्रत हिये।
तेउ उमगि तजत मरियादा, बन बिहार रस पिये॥
खोये रतन फिरत जे घर-घर, कौन काज ऐसे जिये।
जै श्री हित हरिवंश अनत सचु नाहीं
बिन या रजहि लिये॥

पद के सुनने से इन पर ऐसा प्रभाव हुआ कि दोनों मित्र उनके साथ वृन्दावन आकर श्री हित महाप्रभुजी की शरण में आ गए और उनकी सेवा करने लगे। श्री हित हरिवंश ने परीक्षा के उपरान्त दोनों को मंत्र देकर अपना शिष्य बनाया। गुरुदेव ने नवलकिशोर का नाम नवलदास और पूरनमल का पूरनदास रखा।

पूरनदासजी को महाप्रभुजी ने ठट्टा, जो सिंध प्रांत में था, कृष्ण-भक्ति के प्रचारार्थ भेजा। उस समय वहाँ परमानन्दजी बादशाह हूमायूं के जागीरदार थे। उनके पास ५००० सिपाहियों की मनसबदारी थी और हूमायूं की ओर से वहाँ के सूबेदार भी थे। परमानन्द जी बड़े धार्मिक व्यक्ति थे। उनके साथ सदा पण्डित व विद्वान् रहा करते थे, जो सदा उन्हें गीता और भागवत का पाठ सुनाया करते थे। वे उनको अमृतवाणी का श्रवण किया करते थे। उनके सत्संग के प्रभाव से परमानन्दजी के मन में सद्गुरु-प्राप्ति की इच्छा जाग गई थी। इन्हीं दिनों वहाँ पूरनदासजी का आगमन हो गया, जो हित-धर्म के मर्मज्ञ भक्त थे। इनके गुण सुनकर परमानन्दजी ने इनको सादर अपने पास बुला लिया एवं इनके सत्संग में मन लगाने लगे। एक दिन पूरनदासजी ने यह पद सुनाया :—

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायो।
जहँ-तहँ विपति जार जुवती लौं प्रगट पिंगला गायौ॥

द्वै तुरंग पर जोर चढ़त हठि परत कौन पै धायो।
कहि धौ कौन अंक पर राखे जो गनिका सुत जायौ॥

[जै श्री] हित हरिवंश प्रपंच वंच,
सब काल-व्याल को खायौ।
यह जिय जानि श्याम-श्यामा,
पद-कमल संगी सिर नायौ॥

इसे सुनने के पश्चात् राजा परमानन्दजी के मन में आया कि अब तो गुरु श्री हरिवंशजी को ही करना है। उसी क्षण से इनके मन में यह लालसा उत्पन्न हो गई। वे हर समय इस पद के अर्थ को विचारते रहते और हर घड़ी श्री हित प्रभु के चरणों में उनका चित्त लगा रहता था। इस दीनता और प्रेम से प्रभावित हो महाप्रभु ने सम्वत् १५९६ के भाद्रपद शुक्ला नवमी को परमानन्दजी पर कृपा कर स्वप्न में दर्शन दिया, दीक्षा एवं कंठी प्रदान की और हित-धर्म का उपदेश दिया :—

आरत लख निज दास को, स्वप्न माझ सुख दीन।
दीक्षा मंत्र सुनाय के, शिष्य आपनो कीन॥

शिक्षा दे रस रीति की, अपनो धर्म उचार।
विधि-निषेध शंकाहारी, भक्ति प्रेम यह सार॥

कहा न होय सत्संग ते, कह्यो जो हित मुख आप।
पूरन के परताप सैं, मिटचो जगत संताप॥

दीक्षा लेने के बाद पूरनदासजी को परमानन्दजी ने अपने पास रखा। जब काफी दिवस व्यतीत हो गए तो इन्होंने वहाँ से चलने की बात कही। इन्होंने कहा—'श्री राधावल्लभजी व हितप्रभु के दर्शनों की अभिलाषा है। इसलिए अब आज्ञा दोजिए ताकि वृन्दावन जा कर प्रभु के दर्शन करूँ।' यह सुनकर परमानन्दजी ने इन्हें हृदय से लगा लिया और रोने लगे। विदा करते समय उन्होंने इनके हाथों गुरुदेव के लिए भेंट भेजी। वहाँ से पूरनदासजी वृन्दावन आए और गुरु-सेवा में रहने लगे। श्री हितप्रभु के निकुंज गमन से कुछ वर्ष पहले यह रेवाड़ी चले आए थे, कारण कि इनके ज्येष्ठ पुत्र हेमू उस समय शाह सलीम के साथ मध्य प्रदेश की ओर थे। वहाँ हेमू उनके सेनापति और मंत्री भी थे।

सन् १५५६ ई० में पानीपत की तीसरी लड़ाई में हेमू की मृत्यु हो जाने के पश्चात् इन्हें पकड़ा गया और इनसे कहा गया कि तुम मुस्लिम धर्म ग्रहण कर लो तो तुम्हें छोड़ दिया जाएगा। उस समय इन्होंने उत्तर दिया कि 'मैंने गोपालजी की शरण में रह कर अपने ८० वर्ष निकाल दिए, अब थोड़ी-सी जिन्दगी के लिए क्या धर्म परिवर्तन करें?' ऐसा कहने पर इनकी गर्दन उड़ा दी गई। यह घटना हित प्रभु के निकुंज-गमन के ४ वर्ष बाद अर्थात् वि० संवत् १६१३ की है। राधावल्लभ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में पूरनदास के सम्बन्ध में लिखा मिलता है :—

पूरनदास सुवास कर हितजू भये कृपाल।
प्रेम भगति भावन करत सब विधि भये निहाल॥

भावत भवन कुंज की प्रीतम लिये लपटाय।
प्रिया दर्श तें अति छकें, मत्त मनोरथ पाय॥

चाचा श्री वृन्दावनदास ने अपनी 'रसिक परचावली' में इनके विषय में एक छप्पय लिखा है। वह नीचे दिया जाता है —

फिरे सकल हरिधाम जगत व्यौहार न परस्यौ।
गुरु पद सेवा निपुन जुगल परिकर निज दरस्यौ॥
तिनके संग प्रसाद प्रेम परमानन्द भीनें।
राज विभौ सब छाँड़ि रमे वन चरित नवीनें॥
दोऊ गुरु भ्राता सुमति, विषय स्वाद सुख परिहरी।
विरक्त पूरनदास पर, श्री हरिवंश कृपा करी॥

म० गो० भा०

पूरनप्रताप

चरणदासजी के शिष्य श्री पूरनप्रताप भरतपुर (राजस्थान) के राजकुमार बताये गये हैं। इनकी जन्म-मृत्यु तिथि अज्ञात है। श्री जोगजीत कृत 'लीला सागर' के साक्ष्यानुसार इन्होंने स्वेच्छा से राज्य और सांसारिक झंझटों से मुक्ति पा ली थी और चरणदास जी के शिष्य हो गये थे। पूरनप्रतापजी जयपुर के डीग नामक स्थान में रहकर वृन्दावन एवं ब्रज चौरासी कोस की यात्रा करने वाले गुरु-भाइयों, सन्तों-साधुओं

और सद्‌गृहस्थों की यथसम्भव सेवा-सुश्रूषा करते रहते थे। 'लीलासागर' में इनसे संबंधित एक वृत्त भी वर्णित है, जिसके अनुसार एक बार आकस्मिक रूप से श्री चरणदास और उनके शिष्यों की मण्डली वृन्दावन जाते हुए डीग में रुक गई। उनकी आवभगत में पूरनप्रतापजी को एक मोदी से ५०० रुपये उधार लेने पड़े। इसके पश्चात् उस मोदी ने इन्हें तब तक उधार में खाद्य सामग्री देने से इनकार कर दिया जब तक कि उसके रुपये वापस न मिल जायँ। इसी परिस्थिति में साधुओं का एक दल पुनः डीग आ गया। पूरनप्रतापजी को उधार में सामग्री मिलनी नहीं थी और कर्ज चुकाने का तत्काल कोई उपाय न था। साथ ही उन महात्माओं को भोजन देने का भी प्रश्न खड़ा था। इसके आगे की घटना का वर्णन श्री जोगजीत इस प्रकार कर रहे हैं—

मोदी सीधा ना दियो, रहे कड़ाके साधु।
बिनवें श्री चरणदास से, मेटहु तुम्ही उपाधि ॥
पूरणप्रताप को रूप बनायो।
मोदी को गृह जाय जगायो ॥
कह्यो जु ताको लेहु चुकाई।
कछू रुपये मोहर दिवाई ॥
तब मोदी मन में हुलसाई।
हाथ जोड़ दोउ बिनय कराई ॥
महाराज अर्द्धरात्रि जु होई।
अब कब साधू करें रसोई ॥

परन्तु महाराज चरणदास का उक्त मोदी को आदेश था कि चाहे भले आधी रात व्यतीत हो गई है, साधुओं के भोजन की व्यवस्था होनी ही चाहिए। अन्ततः उसे अपनी बेटी के विवाह के लिए रखे गये पक्वान्न के टोकरे चरणदासजी की आज्ञा से पूरणप्रतापजी के यहाँ भेजने पड़े। इस वृत्त से जहाँ पूरनप्रतापजी के दृढ़व्रत एवं अनन्य गुरुभक्ति का प्रमाण मिलता है, वहीं चरणदासजी की दैवीशक्ति एवं शिष्यवत्सलता भी सिद्ध होती है। उन्हें शिष्य के व्रत की रक्षा के लिये उसकी प्रार्थना पर प्रच्छन्न रूप से दिल्ली से डीग पहुँचकर उसके कर्ज को चुकाना पड़ा। इस घटना का वर्णन रामरूपजी के 'गुरुभक्ति प्रकाश' में कुछ भिन्न रूप में मिलता है। तदनुसार कर्जदाता भरतपुर का गोविन्दराय नागर नामक ब्राह्मण था, न कि कोई मोदी। गोविन्द ने अपना कर्ज वसूलने के लिए अनशन कर दिया था। जब दरवाजा बन्द करके वे सो रहे थे, सहसा बन्द द्वार स्वयं खुला, चरणदासजी प्रकट हुए और किसी साधु को इस प्रकार से तंग न करने की चेतावनी देते हुए कर्ज चुकता किया। दूसरे दिन जब पूरनप्रतापजी को इसका पता चला तो वे गुरु की असीम कृपा का अनुभव कर गद्‌गद हो उठे।

यद्यपि डीग को चरणदासी बड़ी गद्दियों की श्रेणी में गिना गया है लेकिन वहाँ स्थापित पूरनप्रतापजी की शिष्य परम्परा का कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। सम्भवतः इन्होंने अपनी शिष्य परम्परा चलाई ही नहीं। इनके सम्बन्ध में यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि इन्होंने आजीवन साधु सेवा की और चरणदासजी के परमप्रिय शिष्यों में से थे। नागरीप्रचारिणी सभा के खोज विवरण में इन्हें जमालपुर (पंजाब) निवासी खत्री बताया गया है, जो अप्रामाणिक है। इस विवरण में भी इन्हें 'आनन्दसार पोथी' का रचयिता माना गया है और चरणदासी परम्परा भी इनकी रचना का यही नाम स्वीकार करती है। अतः निस्सन्देह इस ग्रन्थ के रचयिता डीग वाले पूरनप्रतापजी ही थे, जो जाति के क्षत्रिय थे न कि खत्री।

ये एक बहुश्रुत एवं विद्वान् महात्मा होने के साथ ही अच्छे कवि भी थे। इनकी रचनाओं में तत्सम शब्दों की बहुलता इनकी विद्वता सिद्ध करती है। यद्यपि 'आनन्दसागर' या 'आनन्दसार' के अधिकांश पद ज्ञान-वैराग्य से संबंधित हैं लेकिन कुछ रसिक पदावली भी इसमें उपलब्ध है। ऐसे कतिपय पदों में इनके नाम के साथ 'सखी' और 'दास' शब्द जुड़ा मिलता है। उदाहरणस्वरूप यहाँ इनके दो पद उद्धृत हैं—

(१)

बधाई श्री राधिका जू की

बधाई रावल पति के द्वार।
जन्म लियो है कँवरि राधिका,
मोहन प्रान अधार ॥

गहगह घुरत निसान पौरि पै रोपी सींक सँवार।
मंजुल मुक्ता चौक पुराये बाँधी बंदनवार ॥

मंगल साज सजाय चलीं सब घर-घर तें ब्रजनार।
कीरति कूक महलावति गावति,
हिल मिल मंगलचार ॥

भादों सुदि आठें को शुभ दिन,
आनंद बढ़्यो अपार।
पूर्णप्रताप सखी स्वामिनि को बार-बार बलिहार ॥

(२)

होरी का पद (राग बहार)

होरी खेलूँगी मोहन संग संग।
चोवा अतर गुलाल अरगजा,
मुख मीड़ूँ अरु अंग अंग ॥

बरजि रहीं मोरी सास ननदियाँ,
बहुत कहीं उन ढंग ढंग।
फागुन अवसर नीको पायो,
बिलसूँगी रस रंग रंग ॥

ताल मृदंग मुरली घन घोरा,
डफ बाजत मुहचंग चंग।
पूरन प्रभु से फगुवा लूंगी और करूँगी दंग दंग ॥

श्या० सुं० शु०

पूरनमल

भक्तमाल में एक पूरन भक्त का उल्लेख है जिनको कवि भी कहा गया है। ध्रुवदासजो ने 'भक्त नामावली' में जिन पूरनमल का उल्लेख किया है, वे कोई भिन्न तथा हरिदासजी के सेवक हैं।

पुष्टिमार्गीय भक्त पूरनमल खत्री और महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे। इन्होंने गोवर्द्धन में श्रीनाथजी का मन्दिर बनवाया था।

ह० नं० भा०

पूरनमासी

पूरनमासीजी पुजारी मनुआलालजी की शिष्या थीं और श्री राधावल्लभलालजी की ऐसी समर्पित परिचारिका थीं, जिन्होंने आराध्य को अपनी सेवा से वश में कर लिया था। एक दिन जब ये श्री राधावल्लभलालजी से आँख मिलाये पंखा कर रही थीं तो बाबा श्री राधावल्लभशरणजी ने इनके गाल पर एक थप्पड़ जड़ दिया। बात कुछ नहीं थी, साधारण-सी बात थी, पंखा करते समय इन्हें नींद का एक झोंका-सा आ गया था।

इस घटना से श्रीजी को बहुत कष्ट हुआ। उन्होंने श्री राधावल्लभशरणजी से स्वप्न में कहा—"क्यों? अब तुम हमारे सामने ही हमारी प्रिय सेविका पूरनमासी पर हाथ चलाने लग गये।" बाबाजी की नींद खुल गई और अपनी गलती के लिए मन ही मन बड़ा पश्चाताप करने लगे। दूसरे दिन बाबाजी ने स्वप्न की बात सभी को सुनाई। उस दिन से वे स्वयं तो पूरनमासीजी को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखने ही लगे, अन्य सभी की भी ये श्रद्धापात्र बन गईं।

इनका विद्यमान काल अनुमानतः वि० सं० १९५० से वि० सं० २०२५ के मध्य स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

पूर्णदास

सन्त पूर्णदास की अनन्य सेवा-भावना का परिचय 'वृन्दावनप्रकाशमाला' में इन शब्दों में मिलता है—

कालीदह जहाँ तहाँ तीन घाट छत्री चारु,
ललित कदम्ब अति फूलनि सौं रहैं हैं।
दम्पति सहित पूर्णदास जू विराजैं ते तौ,
राधाकृष्ण नाम सदा प्रीति जुत कहैं हैं ॥

जमुना पुलिन बाग देखैं अनुराग ही सौं,
कैसें कहौं जैसे वे अमित सुख लहैं हैं।
तन मन सौं जे वृन्दावन पै बिकाइ रहे,
तिनके चरन की शरण हम चहैं हैं ॥

ये वृन्दावन स्थित कालीदह पर निवास करते थे और हार्दिक प्रीति एवं लाड़-दुलार पूर्वक श्री श्यामा-श्याम की अष्टयाम-सेवा किया करते थे। इस प्रकार की सेवा करने में इन्हें आत्म-तोष तो मिलता ही था, इष्ट की नाम-अनन्यता और धाम-अनन्यता भी इन्हें अनायास प्राप्त हो गयी थी। फलतः सेवा से अवकाश पाने पर ये नाम-स्मरण में जुट जाते थे। इनका यह इष्ट-नाम-स्मरण वैधीभजन के रूप में न होकर रस-भजन के रूप में होता था। यही कारण है कि इन्हें नाम-स्मरण काल में रसास्वाद की अनुभूति होती थी जो इनमें अष्ट सात्विक भावों के उदय के रूप में रसिक समाज द्वारा प्रत्यक्षतः देखी गई थी। बैठे-बैठे जब ये कुछ थकान अनुभव करते थे तो वृन्दाविपिन की शोभा निरखने के व्याज से घूमने निकल पड़ते थे। यमुना पुलिन और वृन्दावन के बागों की शोभा पर ये लट्टू हो जाते थे। इनके हृदय में श्री राधा-सुधा निधि की निम्नांकित पंक्तियाँ घर कर गई थीं और ये उसी भाव में छके हुए घूमते थे—

राधा करावचित पल्लव वल्लरी के,
राधा पदाङ्क विलसन् मधुर स्थली के।
राधा यशो मुखर मत्त खगावली के,
राधा विहार विपिने रमतां मनो मे ॥

इनका विद्यमान काल वि० सं० १७५० से १८५० के मध्य सुस्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

पृथ्वीराज राठौर

राजस्थान के कृष्ण-भक्त रचनाकारों में बीकानेर राजवंश के राठौर पृथ्वीराज का अप्रतिम स्थान है। ये राव कल्याणमल के पुत्र और अकबर के दरबार के प्रसिद्ध नौ रत्नों में थे।

इनका जन्म वि० सं० १६०६ की मार्गशीर्ष कृष्ण एक को हुआ था। ऐतिहासिक विवरणों से इनके द्वारा तीन विवाह करने का उल्लेख मिलता है। पहली पत्नी जैसलमेर के रावल हरराज की पुत्री लालांदे थी। लालांदे के निधन के बाद इन्होंने उनकी बहन चांपादे से विवाह किया। इनके वंशज 'पृथ्वीराजोत बीका' कहलाते हैं।

उच्चकोटि के कवि होने के साथ-साथ ये श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त तथा प्रसिद्ध योद्धा भी थे। वि० सं० १६३८ में काबुल में तथा वि० सं० १६५३ में अहमदनगर के युद्धों में इनके द्वारा प्रदर्शित अद्भुत पराक्रम के कारण मुगल सम्राट् द्वारा इन्हें गागरोनगढ़ का दुर्ग पुरस्कार-स्वरूप प्रदान किया गया था। पृथ्वीराज के व्यक्तित्व की सर्वाधिक उल्लेख्य विशेषता यह है कि अकबर के कृपा-पात्र तथा विश्वस्त सेनानायक होते हुए भी इन्होंने देश की स्वाधीनता के लिए संघषरत कर्तव्य-निष्ठ वीरों के कृत्यों की मुक्त कंठ से सराहना की। शौर्य और स्वाभिमान के अग्रदूत महाराणा प्रताप द्वारा अकबर से समझौता करने के लिए पत्र लिखने का समाचार पाकर मातृभूमि की स्वतन्त्रता के हितैषी इस देश-भक्त का हृदय तिलमिला उठा। इन्होंने महाराणा प्रताप का तत्काल कतिपय दोहे लिखकर भिजवाए। इन दोहों ने महाराणा प्रताप के सुप्त स्वाभिमान को जागृत कर जातीय गौरव तथा राष्ट्र के सम्मान की रक्षा का थी।

दोहे इस प्रकार हैं :—

पातल जो "पतसाह" बोले मुख हूँतां बयण।
मिहर पछम दिस माँह, उगै कासम राव उत ॥
पहकूं मूंछा पाण के, पटकूं निज तन करद।
दीजै लिख दीवाण, इण दो महली बात इक ॥

बहुमुखी प्रतिभा के धनी पृथ्वीराज महान् भक्त, दार्शनिक और उच्चकोटि के कवि थे। समसामयिक भक्तों और कवियों ने इनकी प्रशस्ति में अनेक पद, दोहे और कवित्त लिखे हैं। कर्नल टॉड और तेस्सीतोरी जैसे विदेशी विद्वानों ने भी इनके अपूर्व शौर्य तथा

भक्तिभावना की प्रशंसा की है। भक्त कवि नाभादास ने 'भक्तमाल' में इनका गुणगान करते हुए लिखा है—

सवैया गीत श्लोक, वेलि दोहा गुण नवरस।
पिंगल काव्य प्रमाण, विविध गायो हरजस॥

परिदुख विदुख सलाध्य, बचन रसना जु उच्चारै।
अर्थ विचित्रन मोल, सबै सागर उद्धारै॥

रुकमिनी लता बरनन अनुप,
वागीस बदन कल्याण सुव।
नरदेव उभै भाषा निपुन, प्रथीराज कविराज हुव॥

अपने समय के प्रसिद्ध चारण दुरसा आढा ने पृथ्वीराज रचित "वेलि" को पाँचवाँ वेद बतलाया हैं :—

रुकमणी गुण लखण रूप गुण रचवण,
वेलि तास कुण करइ बखाण।
पाचमउ वेद भाखियऊ पीथल,
पुणियउ डगणीसमउ पुराण॥

"वेलिक्रिसन रुक्मणी री" के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाएँ हैं—गंगाजी रा दूहा और प्रकीर्णक गीत। किंतु 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री' ही इनको सर्वाधिक लोकप्रिय कृति है। इसको डिंगल साहित्य की अनुपम रचना कहना अतिशयोक्ति न होगी। मध्यकालीन भक्ति साहित्य में यह विशिष्ट स्थान रखती है।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि व्रजभाषा में जो माधुर्य और अलंकरण शक्ति है, वह अन्य भाषाओं में नहीं दिखाई देती। परन्तु पृथ्वीराज राठौर की 'बेलि' ने आलोचकों के इस भ्रम को तोड़ते हुए सिद्ध कर दिखाया है कि डिंगल भाषा में वीररस के साथ, शृंगार और भक्ति की श्रेष्ठ साहित्य सर्जना की अद्भुत शक्ति विद्यमान है।

'वेलि' तीन सौ पद्यों में निर्मित वर्णन प्रधान, शृंगार रसात्मक रचना है, जिसमें श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण और दोनों के परिणय सूत्र में बँधने की घटना का प्रभावपूर्ण भाषा-शैली में चित्रण हुआ है। इस भक्ति ग्रंथ में भावपक्ष और कलापक्ष अपने चरम उत्कर्ष पर है। विषयानुकूल वर्णन, नादसौन्दर्य, दृश्य-मूर्तिमन्तता, शब्द-चयन, अलंकारों की अद्भुत-छटा आदि विशेषताएँ 'बेलि' में सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। इस कृति की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि संस्कृत, पिंगल तथा डिंगल भाषा में "वेलि" की असंख्य टीकाएँ लिखी गई हैं। इन टीकाकारों में जैन धर्मावलम्बियों की संख्या सबसे अधिक है।

आकर्षक भाषा-शैली, सरस-वर्णन, अवसर एवं प्रसंगानुरूप शब्दों का सटीक प्रयोग, भावों की गहराई आदि विशेषताओं ने इस भक्ति-रचना को अनमोल बना दिया है। भाव और भाषा के समायोजन के कारण वर्णित प्रसंग मूर्तिमंत हो उठे हैं। उदाहरण के लिए रुक्मिणी की यौवनावस्था के रूप-सौन्दर्य का शब्दचित्र देखिए —

दल फूलि विमल वण, नयण कमल-दल,
कोकिल-कंठ सुहाइ सर।
पांपणि-पंख सँवारि नवी परि,
भ्रूंहारे भ्रमिया भ्रमर।
आगलि पित मात रमंती आँगणि,
काम विराम छिपाइन काज॥
लाजवंती-अंगि एह लाज विधि,
लाज करंती आवई लाज॥

भक्त कवि ने श्रीकृष्ण और शिशुपाल की सेनाओं के मध्य हुए युद्ध का अत्यन्त चित्रोपम वर्णन किया है। भाले रूपी सूर्य-किरण युद्ध में संतप्त होकर चमचमाने लगे, बाण बन्द हो गये। शरीर-शरीर पर तलवारों की धारें चमक रही हैं, जिन्हें देखकर ऐसा लगता है मानों शिखर-शिखर पर बिजलियाँ चमक रही हैं।

समर-क्षेत्र का एक शब्द-चित्र देखिए—

कलकलिया कुंत किरण कलि ऊकलि,
वरजित विसिख विवरजित बाउ।

घड़ि घड़ि धड़कि धार धारुजल,
सिहरि सिहरि समवइ सिलाउ ॥

जिणि दीध जनम जगि मुखि दे जोहा,
क्रिसन जु पोखण-भरण करइ ।
कहण तणउ तिण तणउ कीरतन,
स्रम कीधाँ विण केम सरइ ?

'जिन भगवान् श्रीकृष्ण ने जगत् में जन्म दिया है जिन्होंने मुख में जिह्वा दी है और जो कृष्ण लोक हितैषी एवं सबका पालन-पोषण करने वाले हैं, उनकी कीर्ति का बिना परिश्रम के वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है ?'

धायौ धावंतांह गरुडै ही माठौ गिणे ।
ग्रह उग्राहण ग्राह वारण वसदे-राव-उत ॥

'हे राजा वसुदेव के पुत्र ! हाथी को ग्राह की पकड़ से मुक्त कराने के लिए दौड़ते समय आप गरुड़ को भी मन्दगामी समझकर, पैदल ही दौड़ पड़े थे। फिर मेरी मुक्ति के लिए देर क्यों लगा रहे हैं ?'

'वेलि' के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पृथ्वीराज राठौड़ उच्चकोटि के भक्त और काव्यमर्मज्ञ होने के साथ-साथ ज्योतिष, शकुन, वैद्यक, संगीत, नृत्य, नाट्य, योगशास्त्र, पुराण, दर्शन, राजनीति, कर्मकाण्ड, भाषाशास्त्र प्रभृति विषयों के भी जानकार थे। "ठाकुरजी रा दूहा" २४० दोहे की भक्ति रचना है जिसमें श्रीकृष्ण और भगवान् श्रीराम का गुणगान किया गया है।

इनका देहावसान विक्रम संवत् १६५७ में हुआ था।

जं० सिं० परि०

प्रकाशदास

रसिक शेखर स्वामी हरिदासजी के विरक्त शिष्यों में बारह के नाम प्रसिद्ध हैं। इनमें एक थे–श्री प्रकाशदासजी। 'निजमत सिद्धान्त' के अनुसार ये कश्मीर के निवासी विरक्त सन्यासी थे। इनका सन्यास आश्रम का नाम पर्वतपुरी था। श्रद्धा के कारण इनकी अवस्था १००० वर्ष की बताई गई है। ये एक महान् योग-साधक थे, जो इच्छानुसार देह धारण करने में समर्थ थे। जब ये वृन्दावन आये तो स्वामी हरिदासजी की परीक्षा लेने के लिए एक मयूर का रूप धारण कर निधिवन के अन्य मयूरों में मिल गये। परन्तु क्या वे स्वामी हरिदासजी की अन्तःदृष्टि से बच सकते थे ? उन्होंने उक्त मयूर को तत्क्षण पहचान लिया और उसे यतिराज के नाम से संबोधित किया। पर्वतपुरी सकपका गये, परन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने दीनतापूर्वक परमसिद्ध श्री स्वामी हरिदासजी के चरणों में प्रणत होकर उनसे नित्य विहार रस की याचना की।

श्रीस्वामी हरिदासजी ने पर्वतपुरी का नाम प्रकाशदास रखा और इन्हें विरक्त वेश प्रदान किया। ये जब तक जीवित रहे, निधिवन के लता-गुल्मों में श्री बिहारी–बिहारिणी का भजन करते रहे।

इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं है।

श० बि० गो०

प्रतापकुँवरि

पन्ना की महारानी प्रतापकुँवरि के बारे में विशेष जानकरी प्राप्त नहीं है। महेन्द्र प्रेस, पन्ना से प्रकाशित इनकी पुस्तक 'प्रेमविहार' की रचनाओं से विदित होता है कि ये कृष्णभक्त थीं। यह पुस्तक सं० १९७५ में प्रकाशित हुई थी। इसमें बारहमासी और ज्ञान-चौबीसी भी सम्मिलित हैं। 'प्रेम विहार' में राग-रागनियों से बद्ध पद और गीत कृष्णभक्ति में तल्लीनता के उत्तम नमूने हैं। यहाँ दो पद प्रस्तुत हैं—

(१)

भींजत भींजत कुंजन में दोऊ आवत ।
ज्यों ज्यों बूंद परे चूनर पै त्यों त्यों स्याम उर लावत ॥
दै हंस कारी कामरि अपनी जतन जतन सों उड़ावत ।
गरजै घुमड़ै तड़पै बरसै द्रुमतर छिन बिलमावत ॥
कहें परताप स्याम छबि बरनौं गोपि देख सकुचावत ॥

(२)

लागी तुमसें यारी कुंजबिहारी ।
तो छब लाल उलझ रहीं अँखियाँ
सुरझत नहीं जतन कर हारी ।
जब सें लख लई साँवरी सूरत
मो अँखियन सें टरत न टारी ।
रानी प्रताप कल हाय परत ना
तलफत मीन मनो बिन बारी ॥

न० प्र० गु०

प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि'

जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' उपनाम से रचना करते थे। इनका जन्म पौष कृष्ण २ सं० १८२१ तदनुसार ९ दिसम्बर १७६४ ई० को जयपुर में महारानी चूड़ावतजी के गर्भ से हुआ था। ये जयपुर नगर के निर्माता सवाई जयसिंह (१६९९–१७४३ ई०) के प्रपौत्र एवं सवाई माधोसिंह प्रथम (१७५०–१७६७ ई०) के पुत्र थे। इन्होंने पन्द्रह वर्ष की अल्पायु में वैसाख वदी ४ बुधवार सं० १८३५ को राजगद्दी प्राप्त की। इनके १२ रानियाँ, ६ पातुरें तथा एक वेश्या थी। महारानी भटियानीजी से पुत्र कु० जगतसिंह उत्पन्न हुए थे जो बाद में जयपुर राज्य के सिंहासन पर बैठे। 'ब्रजनिधि' ने कुल २५ वर्ष, ३ मास २५ दिन राज्य किया। ३९ वर्ष की अल्पायु में श्रावण शुक्ला १३ सं० १८६० (अगस्त १, १८०३) को इन्होंने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया।

'ब्रजनिधि' ने बाल्यावस्था में शास्त्र शिक्षा के साथ युद्ध विद्या की शिक्षा भी प्राप्त की थी। ये हिन्दी तथा संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे तथा फारसी एवं पंजाबी भाषा का भी इनको अच्छा ज्ञान था। इनके प्रारम्भिक शिक्षा गुरु भट्ट जगन्नाथ थे, जो काव्यशास्त्र के विद्वान् थे। उनके अतिरिक्त तत्कालीन अन्य कवियों तथा भक्तों—गणपति भारती, रसरासि, जगदीश भट्ट, वंशी अलि, किशोरी अलि आदि से भी इन्होंने काव्य रीति की शिक्षा ग्रहण की थी।

'ब्रजनिधि' का शासन आन्तरिक आपत्तियों और विप्लवों का युग था। इनके शासनकाल में ११ युद्ध हुए जिनमें तुंगा (सं० १८४३) तथा पाटण, (सं० १८४७) के युद्ध अत्यन्त भीषण थे। महाराज ने नीति निपुणता से राजनीतिक परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाया।

इनके दरबार में कवियों, साहित्यिकों, दार्शनिकों, कलाकारों एवं स्थापत्य विशारदों का जमघट लगा रहता था। इन्होंने अनेक कवियों को आश्रय दिया था। इनके दरबार में साहित्य के साथ संगीत, चित्रकला के उत्कृष्ट कलाकार विद्यमान थे। सभी विषयों के २२-२२ प्रतिनिधियों से इनका दरबार सुशोभित था। जैसे—कवि बाईसी, संगीत बाईसी, वीर बाईसी, वैद्य बाईसी, गंधर्व बाइसी आदि। ब्रजनिधि के विशिष्ट दरबारी विद्वान् कवि थे—बुध प्रकाश, अमृतलाल भक्तेश, शम्भुनाथ, गणपति भारती, रसरासि, गुसाईं रसपुंज, मणीराम, चतुर शिरोमणि आदि। इनको 'बाईसी' शब्द प्रिय था।

ब्रजनिधिजी राधा-कृष्ण के अनन्य भक्त थे। ये निरन्तर भक्तिरस परिप्लुत रेखते, पद एवं छन्द बनाते और उन्हें अपने इष्ट श्रीकृष्ण को समर्पित कर देते थे। राजकार्यों अथवा युद्ध आदि के कारण यदि पद समर्पण में विघ्न हो जाता तो उसका प्रायश्चित अधिक पद बनाकर करते थे। इनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि ये पाँच पद अपने इष्ट देव को नित्य भेंट करते थे। जयपुर नरेशों के आवास चंद्रमहल के बिल्कुल सामने नगर का प्रसिद्ध देवस्थान गोविन्ददेवजी का मन्दिर है। यह इस तरह से बनाया गया है कि राजा-रानी महलों में बैठे-बैठे ही गोविन्ददेवजी के दर्शन कर सकें। आरम्भ से ही राधा-गोविन्द जी महाराज के चरणारविंदों में 'ब्रजनिधि' की प्रगाढ़ भक्ति थी। उन्हीं की कृपा से इनको भक्ति का प्रसाद मिला और उस भक्ति के उद्गार में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। ये नित्य राधा-गोविन्दजी को दण्डवत करते और दर्शन के बाद स्वरचित स्तुति या पद सुनाते थे। विशेष अवसर व उत्सवों को विशाल स्तर पर आयो-

जित कर आनन्द मनाते और रास लीला कराते थे। ऐसा कहा जाता है कि गोविन्ददेवजी इन को बाल तथा किशोर रूप में प्रत्यक्ष दर्शन देते थे। इनके पदों से इस जनश्रुति की पुष्टि होती है। उनमें इस प्रत्यक्ष दर्शन का उल्लेख है—

आजु मैं अँखियन कौ फल पायौ।
सुन्दर स्याम सुजान प्रान पिय,
मोहि लखि सनमुख आयौ॥

सब सखियन को-देखत सजनी
मो तन मृदु मुसकायौ।
मेरे हिय को हेत जानिकैं,
'ब्रजनिधि' दरस दिखायौ॥

अथवा

अब जीवन को सब फल पायो।
मोहन रसिक छैल सुन्दर पिय,
आय अचानक दरस दिखायो॥

जो चित लगनि हुती सो भई री,
सुफल कर्‌यो मन ही को चायो।
'ब्रजनिधि' स्याम सलोना नागर,
गुन मूरति हिय अतिहि सुहायो॥

अवध के नवाब वाजिद अली शाह अंग्रेज सरकार से विरोध करके १८५६ ई० में महाराज प्रताप सिंह के शरणागत हुए। इन्होंने नवाब को इस शर्त पर अंग्रेज सरकार को सौंप दिया कि इन्हें प्राण दण्ड न दिया जाए। 'ब्रजनिधि' के इस अपराध के कारण कुछ वर्षों पश्चात् ये प्रत्यक्ष दर्शन बन्द हो गए। उस समय महाराज बहुत व्याकुल हुए और यह पद लिखा -

अरे पापी जियरा तोहि के लाजन मूल।
हरि बिछुरत या के संग न मरहु,
यहाँ ही रह्यो अब झूल॥
पहले मूढ़ विचार्‌यो क्यों न अब क्यों सोचत सूल।
'ब्रजनिधि' जी म्हें दास तिहारा अब जीवन में धूल॥

—ब्रजनिधि ग्रन्थावली, पृ० ३७५

तब स्वप्न में आप को आज्ञा हुई कि 'तू अपने प्रेम के अनुसार मेरी पृथक् प्रतिमा महल के समीप दूसरा मन्दिर बनवाकर विराजमान कराओ, वहाँ तूझे दर्शन हुआ करेंगे।' अतः महाराज ने 'श्री ब्रजनिधि' की श्याममूर्ति बनवाई। महलों के पास मन्दिर बनवाया जो आज भी 'ब्रजनिधि-मन्दिर' नाम से प्रसिद्ध है। श्याम की मूर्ति का मुखारबिन्दु अपने हाथ से उकेरा था। इस मन्दिर में मूर्ति की प्रतिष्ठा के समय बड़ा उत्सव हुआ और दौलतराम हल्दिया के यहाँ प्रिया-प्रियतम (राधा-कृष्ण) का विवाह सम्पन्न हुआ अर्थात् ब्रजनिधि नामधारी नए आराध्य देव का विवाह होने पर प्रियाजी मन्दिर में पधारीं इस विवाह का वर्णन इन्होंने इस प्रकार किया हैं—

आज ब्रजराज कौं कुंवर चढचो व्याहबे कौ,
मोहे मन नैन छोर काँकन की डोरी कौ।

मोर सोहै सीस लखि देत हैं असीस द्विज,
बिहरत ललित-कुंज 'ब्रजनिधि' चित चोरी कौ॥

भक्त जब भक्ति की चरमावस्था में होता है तो वह तद्‌रूप हो जाता है। कवि का 'ब्रजनिधि' नाम सम्भवतः इस प्रकार सार्थक हो गया है। इष्टदेव ने प्रतापसिंह को 'ब्रजनिधि' उपनाम स्वयं दिया था —

दिल तड़फता है हुस्न तेरे को,
कब मिलेगा मुझे सलोना श्याम।

अब तो जल्दी से आ दरस दीजे,
जो इनायत किया है 'ब्रजनिधि' नाम॥

'ब्रजनिधि' के आध्यात्मिक गुरु श्री जगन्नाथ भट्ट थे। इस तथ्य की पुष्टि ब्रजनिधि के एक पद से होती है—

मै कहौं कहा अब कृपा तुम्हारी।
यही कृपा करि गुरु में पाए जगन्नाथ उपकारी॥

जाते मेरी लगन लगी है ताकौ देव मिला री।
'ब्रजनिधि' राज सांवरी ढोटा ताकौ दिए बतारी॥

'ब्रजनिधि' के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। इनके परवर्ती जयपुर के ही कृष्ण-भक्त कवि मण्डन भट्ट ने अपनी कृति 'जयशाह सुयश प्रकाश' में इन्हें निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित और श्री सर्वेश्वरशरणाचार्य का शिष्य माना है। इनका सम्बन्ध बल्लभ, राधा-बल्लभ तथा ललित-सम्प्रदाय से भी जोड़ा जाता है। वस्तुतः तत्कालीन राजा-महाराजा समकालीन सम्प्रदायों, महात्माओं एवं धर्म का समान रूप से आदर करते थे। ब्रजनिधिजी तो स्वयं गुणग्राहक थे। राधा एवं कृष्ण की उपासना विषयक जो उत्तम भाव उन्हें जिस किसी ने भी दिये उन सब का आभार इन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। वैसे, जयपुर के समस्त नरेश निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित रहे हैं। यही कारण है कि जयपुर में निम्बार्क सम्प्रदाय के स्थान (श्री जी की मोरी, परशुराम द्वारा आदि) प्रसिद्ध हैं। ब्रजनिधि जी ने इस सम्प्रदाय में दीक्षित होते हुए भी अपनी रचना-विविधता में सभी सम्प्रदायों को समाहित कर लिया है। देहावसान के डेढ़-दो वर्ष पूर्व विक्रम सं० १८५८ में इन्होंने अपने गुरु स्थान निम्बार्क सम्प्रदाय की आचार्य पीठ सलेमाबाद की यात्रा की थी। साथ में चार-पाँच सौ व्यक्ति थे। उनका पूरा विवरण सलेमाबाद की उस सम्वत् की रोकड़ में दर्ज है।

ये स्थापत्य कला में भी रुचि रखते थे। यही कारण है कि इनके समय में हवामहल, श्री गोविन्द देव जी के मन्दिर के ठीक पीछे का तालाब, श्री गोवर्द्धननाथजी का मन्दिर, श्री ब्रजराजविहारीजी का मन्दिर, ठाकुर श्री ब्रजनिधि का मन्दिर, श्री मदनमोहनजी का मन्दिर आदि कलापूर्ण देवालयों का निर्माण हुआ। हवामहल बनाने का उद्देश्य स्वयं ब्रजनिधि ने इस प्रकार बताया है—

हवा महल याते कियो, सब समझो यह भाव।
राधे कृष्ण सिधारसी, दरस परस को चाव॥

इन्होंने अपनी रचनाओं में 'ब्रजनिधि' 'परताप', 'पता' 'पते', 'ब्रज की निधि' आदि छापों का प्रयोग किया है।

इस भक्त-कवि और गुणी-ग्राहक शासक ने ३५ वर्ष की अल्पायु में श्रावण शुक्ल १३ संवत् १८६० तदनुसार एक अगस्त, १८०३ को नश्वर शरीर का त्याग कर निकुंज लीला में प्रवेश किया।

ब्रजनिधि की रचनाएँ—

१. प्रीतिलता, २. सनेह संग्राम, ३. फाग रंग, ४ प्रेम प्रकाश, ५ विरह सलिला, ६. मुरली विहार ७. रमक-जमक बत्तीसी, ८. रास का रेखता, ९. सुहाग रैनि, १०. रंग चौपड, ११. नीति मंजरी, १२. शृंगार मंजरी, १३. वैराग्य मंजरी, १४. प्रीति पच्चीसी, १५. प्रेम पंथ, १६. श्री ब्रजनिधि मुक्तावली, १७. दुखहरण वेलि, १८. सोरठ ख्याल, १९. ब्रजनिधि पद संग्रह, २०. हरिपद संग्रह. २१. स्नेह बहार, २२. वृजशृंगार, २३. रेखता संग्रह, २४. आरती संग्रह, २५. अमृत सागर, २६. चन्द्रायण, २७ दान लीला, २८. पदावली, २९. पद मुक्तावली, ३०. प्रेम पदार्थ चन्द्रिका, ३१. प्रेम पदार्थ टीका ३२. पीलू अष्टपदी, ३३. रस भास्कर ३४. रस रत्नाकर, ३५. रास रस रंग तरंगिणी, ३६. राग पद संग्रह, ३७. रेखता संग्रह, ३८. राजनीति, ३९. सनेह लीला, ४० शृंगार सुधानिधि, ४१. होरी बहारपद टीका, ४२. कवित्त सवैया शतक, ४३. स्फुट पद-संग्रह।

इनमें से कुछ प्रमुख ग्रंथों के प्रतिपाद्य का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

'प्रीतिलता' में राधाकृष्ण सम्बन्धी ८२ छंद हैं। 'स्नेह संग्राम' में २६ कुंडलिया छंद हैं। इसमें राधा-कृष्ण का प्रेम प्रकट किया गया है। इसमें प्रेम-युद्ध का रूपक प्रस्तुत किया गया है। 'फाग-रंग' में भी राधा-कृष्ण का प्रेम वर्णन है, जिसका प्रारम्भ इस प्रकार है :—

राधा भव बाधा हरो, साधा सुखनि समाज।
सोई मुद मंगल करहु, सहित सदा ब्रजराज॥

'प्रेम प्रकाश' में ५६ छंद हैं जिसमें राधा और सखियों का संवाद है। 'विरहसलिला' रेखता में है।

'स्नेह बहार' में ४४ दोहे हैं। यत्र-तत्र सोरठे भी हैं। 'मुरली विहार' में मुरली पर ३३ दोहे-सोरठे हैं, पहला दोहा है :—

राधाकृष्ण उपास हिय, गनपति-सारद मांनि।
बंसी गोपिन झगरहीं, मति माफिक कहुँ जानि॥

'रमक-जमक' ग्रन्थ दोहों में है। इसमें अनुप्रास-यमक की छटा निराली है। 'रास को रेखतो' में रेखता में रास है। 'सुहाग रैनि', रंग-चौपरि' प्रेम प्रधान ग्रंथ हैं। 'नीति मंजरी' नीति प्रधान है जिसमें १०१ छप्पय-कुंडलियाँ, दोहे हैं। 'शृंगार-मंजरी' में १०२ और 'वैराग्य मंजरी' में १०३ छंद हैं। 'प्रीतिपचीसी' का वर्ण्य विषय राधाकृष्ण-भक्ति है। 'प्रेम-पंथ' में २७ दोहे हैं।

'व्रज शृंगार' में व्रजभूमि का माहात्म्य वर्णित है :

तीरथ सब देखे सुनैं, कोऊ नहिं या तूल।
व्रज अवनी रगमगि रही, कुञ्ज चरन अनुकूल।

इसमें कुल ६५ छंद हैं। दुखहरनि बेलि' में ३४ दोहे हैं।

'पदों की पोथी' में और 'पद मुक्तावली' में अनेक गेय पद हैं। कुछ पद तो बहुत ही उच्च कोटि के हैं।

'राग हमीर' में एक पद द्रष्टव्य है :—

बिहरत राधे रंग बिहारी।
कुंज भवन सीतल प्रभु छैयाँ
चन्द ज्योति उजियारी॥

गलबाँही दे करत नृत्य
दोऊ उघटत संग ललिता री।
बहसि बढ़ी आपस में
दुहुँवनि रंग रह्यो अति भारी॥

बाजत ताल मृदंग झाँझि
डफ मुरली की धुनि न्यारी।
'ब्रजनिधि' तांन लेत रंग भीनी
अति अनूप पिय प्यारी॥

'पोथी पदों की' में गेय पद है, लगभग सभी पद व्रजभाषा में हैं पर यत्र-तत्र रेखता में भी हैं, जबकि 'पोथी रेखता की' में २१२ गेय पद रेखता भाषा तथा छन्द में है।

ब्रजनिधि उत्तर रीतिकालीन कवि हैं। अतएव इन पर रीति प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इनका साहित्य संगीत और कला का संगम था। अपने समय में प्रचलित सभी राग-रागनियों और तालों से ये पूर्णतया परिचित थे। ये स्वयं गायक थे और गान मण्डली से इनका दरबार सुशोभित था।

इनका राजस्थानी, ब्रजभाषा, पंजाबी तथा तत्कालीन खड़ी बोली पर पूरा अधिकार था। यही कारण है कि ब्रजी के अतिरिक्त रेखता में भी इनका साहित्य मिलता है।

छन्द-अलंकारों के प्रयोग की दृष्टि से इनका स्थान अप्रतिम है। छन्दों का व्यापक प्रयोग इनके पाण्डित्य का परिचायक है।

'ब्रजनिधि-ग्रंथावली' के अतिरिक्त इनके अन्य १५ अलभ्य ग्रन्थ भी अब प्राप्त हो गये हैं, उनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

१. पोथी आरत्यां की भाषाः-इस ग्रन्थ में नृसिंह, परशुराम, मत्स्य, कच्छप, राम, कृष्ण आदि अवतारों तथा शिव, ब्रह्मा, सूर्य आदि देवों की आरती है।

श्रीकृष्ण चन्द्र तथा राधिकाजी की आरती इस प्रकार प्रारम्भ होती है—

(१)

जे पुहुमि भार उतारिबे को प्रगट गोकुल में भये।
वसुदेव औ पुनि देवकी के सकल संकट टरि गये।
ते पूर्ण ब्रह्म सनातन प्रभु प्रणति पुहचो ताहि मां।
जय नंद नंदन जगत बंदन पाहि मां भव पाहि मां॥

(२)

धनि धन्य कीरति कूखि तातें
कवरि ऐसी अवतरी ।
मुख चन्द सोभा मंदतानैं
चन्द सोभा दरमरी ॥

मन करत रंजन नैन खंजन
प्रणति पहुचौं ताहिमां ।
भव सकल व्याधि निकंदिनी
ब्रषभानु नंदनि पाहिमां ॥

२. शृंगार सुधानिधि : - इस ग्रन्थ में अधिकतर दोहा तथा कवित्त सवैया छन्द हैं। एक कवित्त उद्धृत है :—

सारी जरतारी की किनारी अति भारी ताकैं,
बीच बीच मानिक की रचना कई कई ।
वेरदार घाघरी सुमेर समकुच तापैं,
रंग उफनति कसि कंचुकी नई नई ।
ब्रजनिधि कहे मोतीहार सजि नांही तजि,
बैठिये रंजक अंक पिकै सुधामई ।
बैठि कहा प्रान प्यारी करिलै सिंगार भारी,
सीख कै हमारी उजियारी चंद की भई ।

छन्द संख्या १६० से १९७ तक बरवै हैं :

कनक बरन रंग रेजनि पचरंग चीर ।
बरन बरन रंग रंगि हरत पर पीर ।

कहीं-कहीं रेखता भी हैं। ग्रन्थ में कुल २५७ छन्द हैं।

३. प्रेम पदार्थ चन्द्रिका :—एक-एक पंक्ति के पच्चीसों अर्थ दिये गये हैं : जैसे-"जाके लगै सोई तन जानें तू कहा जानैं चित्त की।" इसके पचीस अथ दिये गये हैं।

४. रास रस रंग तरंगनी :—इसका प्रारम्भ इस प्रकार किया गया है :

सुखद सरद सुन्दर निसो प्रगटचो पूरन चन्द ।
जमुना तीर तमाल तरबनि बैठे नन्द नन्द ।
अधर मधुर मुरली धरी करी तान को सेल ।
परी कांन व्रजबधुन के टरी कानि कुल गेल ॥

५. होरी बहार के पद :—इसका प्रारम्भिक पद इस प्रकार है :

अरी यह लालन ललित त्रिभंगी ।
ब्रजराज कुंवर नवरंगी ॥

सिर धरैं जराव किलंगी ।
पोसाक खुली है सुरंगी ॥

होरी खेलन मांझ उपंगी ।
वंसी को तांन तरंगी ॥

६. दानलीला :—इसमें दानलीला का वर्णन दोहा, सोरठा तथा चौपाई छन्द में किया गया है। कुल ४८ छन्द हैं :

बरसानें तैं निकसि कैं, चली लली के संग ।
सखी सबै गोरस लिये, दे जीवन रस रंग ॥

७. चन्द्रायण वा दोहा :-पहला ग्रन्थ दोहा-सोरठा में लिखा गया है व दूसरा चन्द्रायण में। पहले में १३० दोहे हैं तथा दूसरे में ८ चन्द्रायण हैं और अन्त में दोहा। एक उदाहरण इस प्रकार है :

निस दिन रहे प्रसन्न कुंज में डोलते ।
श्रीं राधावल्लभ लाल नेह छकि बोलते ॥
बांके की छबि निरखि जीव को घोलणा ।
इतना दो ब्रजनिधि फेर नहि बोलणा ।

८. कवित्त सवैया की पोथी :—इसका प्रारम्भ इस सवैया से है :

पेरत न्हात मनोहर गात
सुहात सबै जुवती जन कौं ।
केस सुदेस लसैं विथुरे सुथरे
दुख मोचन लोचन कौं ॥
ले चुभकी सुभकी कबहूँ अति
आपस में परसैं तन कौं ।
श्री जमुना जल केलि करैं
ब्रजनिधि हरें सबके मन कौं ॥

ग्रंथ में १९२ कवित्त-सवैये तथा यत्रतत्र छप्पय व कुंडलिया छन्द हैं।

९. पद संग्रह : - इसमें मात्र ८ पद हैं। सभी पद कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित हैं। पहला पद राग भैरव में है :

हम तो राधा कृष्न उपासी।
गौर स्याम अभिराम मनोहर
सुंदर छबि सुखरासी ॥

एक प्रांन तन मन दोऊ नित
बृंदाबिपिन बिलासी।
कृपा दृष्टि तैं पाई ब्रजनिधि
दीपति खास खवासी ॥

१०. पोथी पद्य की :—यह गेय पदों का संग्रह है। अंतिम पद राग बसंत में है :

फूलि फूलि आई ब्रजनारी फूलि रहे बनवारी।
भूषन बसन बनैं फन के लिए हाथ फूलन की डारी।
फूले नैन कमल केलि कासे फूले अंग मनो फुलवारी।
'ब्रजनिधि' राधे के फूलनि सों फूली सखी होत
बलिहारी ॥

११. रागपीलू : अष्टपदी : इसके अंतर्गत राग पीलू में आठ पद (अष्टपदी) दिये गये हैं।

१२. रागावली :—अनेक रागों में पद हैं।

१३. पहेलिका :—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें १११ पहेलियाँ हैं।

१४. राजनीति :—इसमें संकलित छंद राजनीति से सम्बद्ध हैं।

१५. चरित्रशतक :—इसमें १०१ दोहे हैं।

लगभग २०३ पद ऐसे और मिलते हैं जिनका विवरण 'ब्रजनिधि ग्रन्थावली' में तो है पर मूल ग्रंथों में नहीं है।

इनकी भक्ति भावना के स्वरूपव्यंजक तीन पद यहाँ दिए जा रहे हैं—

(१)

तुम बिन करे कौन सहाय।
बिपति दारुन तुव कृपा बिन नांहि आन उपाय ॥
इन्द्र कीनो कोप जब ब्रज बोरिबे के काज।
गर्व गारि सुरेस कौं कर धरि लयो गिरिराज ॥
अब न बार अबार की है करौं विनय सुनाय।
लाज मेरी तोहि 'ब्रजनिधि' खेद मेटौ धाय ॥

(२)

गाइय श्री बृंदावन रानी।
जाकी महिमा बेद बखानी ॥

कुंजेस्वरी बिहारिनि स्यामा।
रास विलासिनि छवि अभिरामा ॥

ब्रज-रमनी गुन-गन-गरबीली।
परम मनोहर रूप रसीली ॥

ललित लडैती लाड गहेली।
सोहत तन मनौ कंचन बेली ॥

गौर बरन नील बिरवारी।
पिय-हिय-संपुट की मनि प्यारी ॥

ललितादिक जिय जीवनि राधा।
पूरन करन लाल मन साधा ॥

साहिबनी बृषभान किसोरी।
ब्रजमोहन की मोहन जोरी ॥

(३)

मेंडा दिल यार त्रिभंगी विहारी वे।
चोरा सुरष सजा हे सिर पर चस्मां
कहर कटारीर वे।
वंसी में तांनों षुष गावे मुझे मस्त कर डारी वे।
ब्रजनिधि दी अदाँ दिट्ठ अनूठी जिसमें
जुलम जिवारी वे ॥

रा० प्र० कु०
ग० मि०
ह० नं० भा०

प्रद्युम्नलाल

वल्लभ-सम्प्रदाय की अष्टमपीठ को परम्परा में इनका नाम कवि के रूप में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। ये गोस्वामी मदनमोहनजी के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनकी माता का नाम बोधी था। इनका जन्म श्रावण शुक्ल गुरुवार संवत् १७२९ में तथा तिरोधान श्रावण शुक्ल पूर्णिमा संवत् १७७४ को हुआ था।

इनके पुत्र अनिरुद्ध कृत स्तुति से स्पष्ट होता है कि ये नवरसों के मर्मज्ञ, अत्यंत सुन्दर तथा अपने समय के प्रसिद्ध कथावाचक थे—

नवरसमय तनधार प्रभु, कीनो जगत विलास।
रुचिर कथा कविता सरस, भावत अधिक हुलास॥

ये जहाँ एक ओर श्रीकृष्णलीला कथा के सरस कथाकार थे, वहाँ दूसरी ओर इन्होंने श्रीकृष्णलीला के श्रृंगार-रसपूर्ण पदों की रचना की है। इनके लगभग २० पद पीठ के व्रतोत्सवपद संग्रहों में प्राप्त हुए हैं। यह स्पष्ट है कि इन्होंने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं की है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

वन ते आवत मदन गोपाल।
गोप मण्डली मध्य विराजत
देख सखी री आज नंदलाल॥
मोरमुकुट मकराकृति कुण्डल,
उर शोभित मोतियन की माल।
'प्रद्युम्न' गिरधर के दरसन पर
तनमन धन वारत व्रज बाल॥

सु० श०

प्रबोधानंद सरस्वती

प्रबोधानंद सरस्वती उदासी सम्प्रदाय के सन्यासी थे। ये अपने पाण्डित्य के कारण द्वितीय सरस्वती माने जाते थे। साथ ही ये बड़े उद्दण्ड भी थे। ये अधिकतर काशी में रहते थे। एक बार ये वृन्दावन आये। इन्होंने यहाँ भी ठाकुर द्वारों के दर्शन किये और सब आचार्यों से मिले। ये वैष्णव सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को अच्छी तरह जानते थे, किन्तु कोई भी मत इनकी समझ में नही आता था। एक दिन रसिक संत श्री परमानंददासजी से इनकी अचानक भेंट हो गई और दोनों में नित्य-विहार की चर्चा छिड़ गई। परमानन्ददासजी ने पुराणों के बहुत से प्रमाण देकर अपने पक्ष को सिद्ध करना चाहा, किन्तु उनकी कोई बात प्रबोधानन्दजी की समझ में नहीं आई। परमानन्ददासजी ने चर्चा में मानसरोवर का उल्लेख किया और बताया कि नित्य-विहार उपासना के लिये यह सिद्ध स्थान है। यह सुनकर प्रबोधानंदजी के चित्त में मानसरोवर के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ और ये वैशाखी पूर्णिमा के दिन वहाँ जाकर रात्रि में ठहर गये।

इन्होंने परमानंदजी के निर्देशानुसार जैसे ही अपने मन को एकाग्र किया, वैसे ही इनको वहाँ अनेक गायें चरती दिखायी दीं। किन्तु थोड़ी देर में सर्वत्र उदासी छा गई। दो घड़ी रात्रि व्यतीत होने पर तो मानसरोवर की निर्जन भूमि इनको भयानक प्रतीत होने लगी। इसके पश्चात् वहाँ सिंह-सिंहनी ने आकर गर्जना आरंभ किया और नाग-नागिनी फन उठाकर फुत्कारने लगे, किन्तु प्रबोधानंदजी अपने आसन पर स्थित रहे, भयभीत नहीं हुये। इसके बाद जोरों की हवा चली और वर्षा होने लगी। वर्षा के थोड़ी ही देर पीछे वातावरण शांत हो गया और शीतल-मंद-सुगन्ध वायु बहने लगी। उसके स्पर्श से प्रबोधानंदजी के शरीर को बहुत शांति मिली और इनको निद्रा आ गई। मानसरोवर में नित्य विहार करने वाले कुंजबिहारीलाल ने यह सोचकर कि यह अभी यहाँ का अधिकारी नहीं है और रसिकों के संगति के बिना इसका भ्रम दूर नहीं होगा, प्रबोधानंदजी को निद्रावस्था में ही मथुरा स्थित कुटी पर पहुँचा दिया।

प्रबोधानंदजी के मन पर मानसरोवर की भूमि और वातावरण का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। वहाँ से वापस जाकर दूसरे दिन ये परमानंददास से मिले। उन्होंने इनको मानसरोवर का अपना अनुभव सुनाकर इनसे कहा कि तुमने नित्य बिहार-रस-पद्धति के

सम्बन्ध में मुझसे जो कुछ कहा उसे मैं और अधिक समझना चाहता हूँ। परमानंदजी इस बात से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि इस रस के एकमात्र दाता श्री हरिवंश गोस्वामी हैं। उनके चरणों का आश्रय लिये बिना इसके रहस्य का ज्ञान नहीं होता। यह बात सुनकर श्री प्रबोधानन्द वृन्दावन आये और वहाँ श्री हिताचार्य के दर्शन करके परम सुख का अनुभव किया। परमानन्ददासजी ने श्री महाप्रभु से प्रबोधानंदजी के सम्बन्ध में प्रार्थना की तो उन्होंने कहा कि भाई ये सन्यासी हैं और हम गृहस्थ हैं। ये नित्यविहारी श्री श्यामाश्याम के चरणों में निष्कपट भाव रखकर उनकी सेवा करें तो उनकी कृपा के अधिकारी हो सकते हैं। परमानंददास से इस बात को सुनकर प्रबोधानंदजी की श्री हिताचार्य के चरणों में निष्ठा और अधिक दृढ़ हो गई। इसके बाद महाप्रभु ने इनको अधिकारी समझकर अपनी उपासना का रहस्य ही नहीं समझा दिया, नित्य-विहार रूपी सुख-सागर के प्रत्यक्ष दर्शन भी करा दिया। चरित्रकार श्री भगवतमुदितजी ने लिखा है कि जिस प्रकार दीपक के स्पर्श से दीपक जल उठता है और दोनों दीपकों के धर्मों में कोई भेद नहीं रहता उसी प्रकार जो प्रेम-ज्योति श्री हिताचार्य के हृदय में झलमला रही थी वह प्रबोधानंदजी के हृदय में भी जगमगा उठी। उनके मन और नेत्रों में श्री वृन्दावन का दिव्य प्रेमस्वरूप प्रकट हो गया और इन्होंने श्री 'वृन्दावन शतकों' की रचना आरंभ कर दी। इन्होंने अनेक रसिकों की रसपरिपाटी को समझकर श्री हितजी महाराज के भजनमार्ग को सम्पूर्णतः ग्रहण कर लिया, नित्यविहार रस का वर्णन करके रसिकजनों के हृदयों का सिंचन किया तथा नितान्त रहस्य केलि का गान करके श्री वृन्दावन निष्ठा को रसिकों के हृदय में सुदृढ़ बनाया—

श्री प्रबोधानन्द की बानी वेद प्रमान।
रसिक अनन्यन कौं सुखद, भगवत मुदित सुजान॥

श्री प्रबोधानन्दजी के सम्बन्ध में श्री चैतन्य सम्प्रदाय में विवाद चला आ रहा है। दोनों सम्प्रदायों के पास प्रबोधानन्दजी के सम्बन्ध में प्रचुर प्रमाण हैं। किन्तु भगवतमुदितजी ने इनके सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ लिखा है उसकी पुष्टि के लिये हम राधावल्लभीय साहित्य में प्राप्त श्री प्रबोधानंदजी से सम्बन्धित उल्लेखों को संक्षेप में नीचे दे रहे हैं।

प्रबोधानन्दजी के सम्बन्ध में उनके समकालीन श्री हरिराम व्यास का एक पद उनकी वाणी में मिलता है—

प्रबोधानंद से कवि थोरे।
जिन राधा वल्लभ की लीला रस में सब रस बोरे॥

• • •

लोक वेद सारंग अंग के सेत हेत के फोरे
यह प्रिय 'व्यास' आस करि
श्री हरिवंशहि प्रति कर जोरे।

श्री हिताचार्य के द्वितीय पुत्र श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी ने अनेक संस्कृत लीला ग्रंथों के साथ एक छंद ग्रंथ 'कर्णानंद' की रचना की है। यह ग्रन्थ सम्वत् १६३५ में पूरा हुआ था। इसकी टीका के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने लिखा है कि मैंने ग्रन्थ रचना के साथ ही टीका लिखना आरंभ कर दिया था। उसकी पूर्त्ति श्री प्रबोधानन्द ने की है—

कर्णानन्दाभिधो ग्रन्थः कृष्णदासेन निर्मितः।
तट्टीका च तदारब्धा श्री प्रबोधेन पूरिता॥

श्री प्रबोधानन्द का तीसरा उल्लेख स्वामी चतुर्भुजदास के 'राधा प्रताप यश' में मिलता है। चतुर्भुजदासजी श्री हिताचार्य के बड़े पुत्र श्री वनचन्द्रजी के शिष्य थे। उन्होंने लिखा है कि श्री हरिवंश चन्द्र ने जिस श्रुति-स्मृति प्रतिपादित श्री राधा चरणों की प्रधानता वाले रस का कथन किया है उसे सर्वप्रथम प्रबोधानंदजी ने ग्रहण करके गाया। उनके बाद महाप्रभुजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री बनमालीदास (श्री वनचन्द्र गोस्वामी) ने उसका निर्वाह किया। श्री वनचन्द्र गोस्वामी महाप्रभुजी के अन्तर्धान के पश्चात् वृन्दावन आये थे—

आगम निगम सिन्धु मथि लह्यौ ।
श्री हरिवंश कृपा करि कह्यौ ॥

पुनि परबोधानन्द जु लही ।
रस सागर लीला कथि कही ॥

श्री राधा सु प्रताप यश ।
श्री वनमाली दास सुरीति ।
निर्बाही दिन दिन अति प्रीति ॥
भजन भक्ति अगनित करत ॥

श्री हिताचार्य की स्तुति में लिखा गया प्रबोधानंद जी का एक श्री हरिवंशाष्टक भी प्राप्त है। भगवतमुदितजी ने अपने उपर्युक्त चरित्र में इस अष्टक का उल्लेख किया है। इसके आरम्भ में उन्होंने श्री महाप्रभु को वंशी का अवतार बताया है—

त्वमसि हि हरिवंश श्याम चन्द्रस्य वंशः,
परम रसद नादैर्मोहिताशेष विश्वः ।
अनुपम गुणरत्नैर्निमितोऽसि द्विजेन्द्र,
मम हृदि तव गाथाश्चिजलेरवेव लग्नाः ॥

वृन्दावन शत किंवा वृन्दावन महिमामृत के अतिरिक्त श्री प्रबोधानंद के दो ग्रन्थ और प्राप्त हैं— 'संगीत माधव' और 'निकुंज विलासस्तव'। ये दोनों ग्रन्थ भी श्री राधाचरण प्रधानवाली रस परिपाटी में लिखे गये हैं। 'संगीतमाधव' में से एक अष्टपदी नीचे दी जा रही है। इसमें श्री राधारूप का वर्णन है—

अष्टपदी (वसन्त रागेण गीयते)

वर सीमन्त रसामृत सरिणी
धृत सिन्दूर सुरेखाम् ।
श्री वृषभानु कुलाम्बुधि सम्भव
सुभग सुधाकर लेखाम् ॥

स्मरति मनो मे निरवधि राधाम् ।
मधुपति रूप गुण श्रवणोदित
सहज मनोभव बाधाम् ॥ ध्रुव ॥

सुरुचिर कवरि विराजित कोमल
परिमल मल्लि सु मालाम् ।
मद चल खंजन खेलन गंजन लोचन
कमल विलासाम् ॥
मद करिराज विराजदनूत्तम
चलित ललित गति भङ्गीम् ।
अति सुकुमार कनक नव चम्पक
गौर मधुर मधुराङ्गीम् ॥
मणि कैयूर ललित वलयावलि
मण्डित मृदु भुजवल्लीम् ।
प्रतिपदमद्भुत रूप चमत्कृति
मोहन युवति मनल्लीम् ॥
मृदु-मृदु हास ललित मुख मण्डल
कृतशशिबिम्ब विडम्बाम् ।
किङ्किणिजाल खचित पृथुसुन्दर
नवरसराशि नितम्बाम् ॥

चित्रित कञ्चुलिका स्थगितोद्भट
कुच हाटक घट शोभाम् ।
स्फुरदरुणाधर सीधु सुधारसं
कृत हरि मानस लोभाम् ॥

सुन्दर चिबुक विराजित मोहन
मेचक विन्दु विलासाम् ।
सकनक रत्न खचित पृथु मौक्तिक
रुचि रुचिरोज्वलनासाम् ॥
उज्वल राग रसामृत सागर सार तनुं सुख रूपाम् ।
निपतित माधव मुग्ध मनोमृग
नाभि सुधारस कूपाम् ॥
नूपुर हार मनोहर कुण्डलकृत
रुचिमरुण दुकूलाम् ।
पथि-पथि मदन मदाकुल गोकुलचन्द्र
कलितपदमूलाम् ॥
रसिक सरस्वति गीत महाद्भुत
राधा रूप रहस्यम् ।
वृन्दावन-रसलालस मनसामिदमुपगेयमवप्रयम् ॥

ल० च० गो०

प्रभुदयाल 'प्रभु'

प्रभुदयाल 'प्रभु' का जन्म सन् १९०१ में जबलपुर में हुआ था। 'प्रभु' इनका उपनाम है। इनके विषय में कहा जाता है कि इन्होंने कृष्ण को अपना आराध्य माना और कण-कण में उन्हीं को देखने तथा सभी को ईश्वरमय जानकर स्वयं अपने को भी वैसा माना। इसलिए इन्होंने अपना उपनाम 'प्रभु' रखा। इनका एक छंद यहाँ दिया जा रहा है—

ब्रजलाल बिना बृजगोप-लली,
ब्रज भूमि फिरे मटकी मटकी।
अति आतुर चातुर टेर रही,
सुध नेक नहीं पटकी पटकी॥

नंदलाल दयाल कृपाल मिले,
प्रभु जानत तो घटकी घटकी।
अब बैग वियोग के प्रान कढ़े,
दृग बीच हरी अटकी अटकी॥

त्रि० ना० शु०

प्रभुदास

प्रभुदासजी ने अपनी गुरु परम्परा के आचार्यों की स्तुति पदों में की है। इनकी अन्तिम स्तुति श्री गोस्वामी बाँकेबिहारीजी की है जिसके आधार पर इनको गोस्वामी बाँकेबिहारीजी का शिष्य माना जा सकता है। इसलिए इनका समय १९ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित किया जा सकता है। इनके शताधिक लीलापद भी प्राप्त हुए हैं। इन्होंने श्रीलालजी के जन्म बधाई-पदों का एक संग्रह-ग्रंथ भी सम्पादित किया है जिसमें पूर्ववर्ती कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं।

ये एक प्रतिभासम्पन्न कवि थे। इनकी कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

सीतकाल के गये पिया, मुरि आये नांहीं।
माधव ग्रीषम तड़फत बीती,
बैरिन ऋतु पुनि आही॥
तुम बिन चातक सिखी कोकिला
की धुनि अति दुख दाही।
घन गरजत चित को मुरझावत,
त्रिविध पवन न सुहाही॥
चन्दन हिम हिमवान् कमल
घनसार भये तपताहीं।
जब प्रभुदास मिले नंदनंदन
यह सब सुख बरसाहीं॥

इनके भावभरित पदों में व्रज लोकसंस्कृति के चित्र इतने सुन्दर रूप से उभर कर आये हैं कि देखते ही बनता है—

फूल्ये फिरत आज व्रजवासी।
फागुन उत्सव जान बढ्यौ जिय,
करत परसपर हाँसी॥
आनंद सिन्धु मगन होइ डोलें,
तन की दसा बिसारी।
होरी दांड़ो रोपन कीनो प्रेम अधिक विस्तारी॥

साढ़े तीन हाथ अम्बर में सुन्दर ध्वज फहरानो।
हरिरस हिय उमग्यौ प्रभुदासें करत सुमंगल गानो॥

वसन्त पञ्चमी के दिन भूमि पूजन कर (होलिका दहन स्थान पर) एक ध्वजारोपण किया जाता है जिसे "होली कौ डाड़ौ" कहा जाता है। तभी से सभी लोग उसी स्थान पर यत्रतत्र से होली की लकड़ी इकट्ठा किया करते हैं। वही लोकोत्सव यहाँ चित्रित किया गया है।

सु० श०

प्रमादास

प्रमादास का जीवन वृत्त अज्ञात है। इनकी एक रचना 'दधि-लीला' की खण्डित प्रति प्राप्त हुई है जिसमें श्रीकृष्ण और गोपियों की दधि-लीला का वर्णन है। प्राप्त प्रति में प्रतिलिपिकार के प्रमाद के कारण लिपि एवं वर्तनी सम्बन्धी बहुत अशुद्धियाँ मिलती हैं। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

प्रथम सुमिरि अपार के प्रभु दान लीला गाइये।
जो कहत सुनत अनंद उपजत प्रेम पद को पाइये।
वृषभान सुता सुकुमारी। दधि गोरस बेचन हारी॥

ह्रिदए धरी अन्तर ध्याना।
चली सुमिरत श्री भगवाना॥

• • •

सुनि गुजरी हरि मुख बैना। त्रिअ बंक भए मुख नैना॥
तुम समझी न बोल मुरारी। हम हैं मथुरा की गुआरी॥
जहँ ठाकुर कंस भुआरा।
पुनि यह सुनतहि करहि संघारा॥
न हम लादे लवंग सुपारी। हम गोरस बेचन हारी॥
जब कंस राइ सुनि पैहैं। तब नंदहि पकरि मंगैहै॥
सब गौअन लैहै छिनाई। गोकुला धन दैहै लुटाई॥
तुम हौ अपने मदमाते। ताते करहु अटपटी बाते॥

वा० सि०

प्रह्लाददास

श्री प्रह्लाददास का संक्षिप्त परिचय 'तृतीय बसंत प्रबन्ध' में इस शब्दों में मिलता है—

प्रहलाद लह्यौ आनन्द भूर।
भेलसा सु वासी भजन सूर॥
चाँचरि रंग माच्यौ बजै तूर।
सुनि सब उर प्रेम भयौ अंकूर॥

ये भेलसा (मध्यप्रदेश) के निवासी थे। इन्हें श्री हित राधावल्लभीय सम्प्रदाय की मंत्र-दीक्षा गो० हित हरिवंशजी के प्रपौत्र गो० दामोदरवरजी से प्राप्त हुई थी। श्री हरिरामजी व्यास ने जिस रसिक अनन्य व्रत की उत्कटता को खाँड़े की धार कहकर प्रकीर्तित किया है, उसे इन्होंने बड़ो वीरता के साथ आजीवन निभाया था। इन्हें तुरही-वादन में विशेष निपुणता प्राप्त थो। जब रसिक समाज के मध्य ये तुरही बजाते, तब स्वयं तो लाड़िलीलाल की ललित-लीलाओं की भावनाओं में तन्मय होते ही थे, श्रोतागण भी इनकी स्वर-लहरी के साथ झूम उठते थे। इन्होंने इसी प्रकार का राग-रंग-पूर्ण जोवन व्यतीत करते हुए एक दिन लाड़िले रसिक युगल श्यामा-श्याम को प्राप्त कर लिया था।

इन्होंने कुछ पद-रचनायें भी की हैं, किन्तु हमें इनका एक पद ही प्राप्त हुआ है, जिसे नीचे दिया जा रहा है—

हिमरितु सुखद सिसिर रितु आई,
देखो अद्भुत शोभा भाई।
प्यारी जू के करगुल सोहे,
प्रीतम पहिरे सरस कवाई॥

कुंज भवन में ऊग सुहाई,
कनक अंगीठी धरी है बनाई।
जरत अगर अम्बर सम्बर अति,
प्रेम सुगन्ध रह्यो तहाँ छाई॥

ज्यौं ज्यौं मधुर सीत तन व्यापत,
मिलि बैठत अंग सौं अंग ल्याई।
'हित प्रहलाद' श्री राधावल्लभ,
देखत मेरे नैन सिराई॥

इनका विद्यमान काल विक्रम संवत् १६५० से १७५० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

प्रागदास

प्रागदासजी का जन्म वि० सम्वत् १७२० के लगभग डेहरा नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता जगन्नाथ दास भार्गव थे। शोभनजी की छठी पीढ़ी में उत्पन्न होने के कारण इन्होंने रिक्थ रूप में भक्ति पाई थी। इनका विवाह अल्पायु में श्रीमती यशोदा देवी से हुआ था। इनके एक पुत्र-मुरलीधर तथा एक पुत्री अनूपी देवी हुई। पुत्री का विवाह इन्होंने दिल्ली निवासी श्री हरप्रसादजी से किया।

संवत् १७६० में इनके सामने ही सन्त चरणदास का जन्म हुआ, जिसपर काफी दान-पुण्य किया। संवत् १७६५ की शरद पूर्णिमा को सन्त चरणदास की भेंट एक नागा साधु से हुई, उसने उन्हें पेड़ा

दिया। लड़कों द्वारा यह खबर पाकर प्रागदास दौड़ते हुए आये तथा बालक रणजीत या चरणदास से सब बातें पूछीं, फिर प्रसाद आदि बँटवाया।

संवत् १७६६ वि० में एक पंडित को बालक रणजीत को पढ़ाने के लिए बुलाया, लेकिन ये उससे पढ़ने को तैयार नहीं हुए। लोगों ने कहा कि खेलने की उमर हैं।

संवत् १७६७ में कार्तिक कृष्ण नवमी को सन्त चरणदास को स्वप्न हुआ कि पिताजो शीघ्र ही परलोक गमन करेंगे। इन्होंने यह स्वप्न घरवालों को सुनाया। तब से प्रागदास चिन्तित रहने लगे। एक माह उपरान्त मार्गशीर्ष शुक्ल मोक्षदा एकादशी संवत् १७६७ में मुरलोधर जी का स्वर्गवास हो गया।

अपने पिता की भाँति ये भी नवधा-भक्ति द्वारा युगलोपासना तथा भगवद् भजन में अधिकाधिक समय व्यतीत करने लगे। एक दिन धर्मशाला में भगवद्-कथा हो रही थी। कथा सुनने के पश्चात् इन्होंने नौकर से कहा कि जमीन को गोबर से लीपो। गोबर से जमीन लिपवाकर उस पर कुश बिछवा कर ये लेट गये और 'राधाकृष्ण' का नाम जपते-जपते फाल्गुन कृष्ण अमावस्या संवत् १७६७ विक्रमी में इन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। नदी के किनारे इनका दाह-संस्कार हुआ। पत्नी श्रीमती यशोदा देवी भी इनके साथ सती हो गईं।

म० गो० भा०

प्रागनि

प्रागनि कवि करौली (राजस्थान) के गौड़ ब्राह्मण राजारामजी के पुत्र थे। ये बाद में मथुरा में आकर बस गये और यहीं पर वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य कल्याणदासजी से दीक्षा ले ली। इनकी एक रचना 'भ्रमरगीत' है जिसका रचना काल सन् १७६५ ई० के पूर्व माना जाता है क्योंकि 'करुण विरह प्रकाश' के कवि सेवादत्त पाण्डेय ने उससे प्रभावित होकर रचना करने की बात लिखी है। सेवादत्त पाण्डेय ने अपनी रचना १७६५ ई० में लिखी थी। ऐसी स्थिति में प्रागनि कवि का उपस्थिति काल अट्ठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सुनिश्चित होता है।

'भ्रमरगीत' में प्रागनि ने गोपियों के माध्यम से अपनी कृष्णभक्ति की अभिव्यक्ति की है—

हमको सपनेहु मिलन बिसारौ।
बिनु अपराध तजी हम दासी, कहा हमारौ चारौ।
मारग जात बिना स्रम सेवा, कियौ कुटिल कौ गारौ॥

कृ० चं० ला०

प्राणकृष्णदास

प्राणकृष्णदासजी का जन्म वर्धमान जिले के बागनापाड़ा में सन् १८०२ में हुआ था। इन्होंने बागनापाड़ा के श्री यदुनन्दन गोस्वामी से दीक्षा ली और कालना के सिद्ध श्री भगवानदास के स्नेहाधीन रहकर भजन करने लगे। कुछ दिन बाद ये कालीदह चले गये। वहाँ सिद्ध श्री जगदीशदास और श्री दयालदास की सेवा करने लगे। इन दोनों सिद्ध बाबाओं की सेवा करते-करते ये स्वयं सिद्ध हो गये। त्याग और वैराग्य में ये सिद्ध श्री जगदीश बाबा की ही प्रतिमूर्ति थे। ये बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु कृष्णदास कविराज का 'गोविन्दलीलामृत' इन्हें पूरा कण्ठस्थ था। ये श्रीकृष्ण की अष्टकालीन लीला का चिन्तन तो करते ही थे, कृष्ण-कथा से भी इन्हें अत्यधिक लगाव था। कृष्ण-लीला का चिन्तन करते-करते ये उसे प्रत्यक्ष देखने लग गये थे। इन्हें कथा कहने-सुनने वाले भक्तों का सान्निध्य अत्यंत प्रिय था। श्री हरिदासजी ने 'गौड़ीय वैष्णव-जीवन' तथा श्री रूपमाधुरीजी ने अपने 'वाणीग्रन्थ' में इनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। रागानुगाभक्ति का उपदेश देते हुए सन् १९३८ में इन्होंने अपना शरीर त्यागा।

मु० घ०

प्राणनाथ

प्राणनाथजी की प्रशस्ति 'रसिक अनन्य परचावली' तथा 'तृतीय वसंत प्रबंध' में इन शब्दों में मिलती है :—

श्री दामोदर चन्द चाँदनी वचन खिले जब ।
सुनि गुनि राख्यौ चित्त लिख्यौ हस्तामल तिनि तब ॥
गुरु करुना रस भवन दूरि कियौ संसै मन कौ ।
दरसायौ हित पंथ भाँवतौ अपने जन कौ ॥
गूढ़ रहस रस माधुरी मिथुन हि लग हित कौ कह्यौ ।
धर्म अनन्य विचार कौं श्री प्राणनाथ निरनै लह्यौ ॥
—रसिक अनन्य परचावली

भक्त प्राननाथ प्रानन समान ।
हस्तामल जिन हित कियौ बखान ॥
तिन सम भावक को कहौं आन ।
हिण्डोल राग कौ करैं गान ॥
—तृतीय वसन्त प्रबन्ध

राधावल्लभीय सम्प्रदाय में श्री प्राणनाथजी का एक प्रभावशाली सन्त के रूप में स्मरण किया जाता है। चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी के अनुसार ये सर्वशास्त्र निष्णात थे। तार्किक प्रवृत्ति के कारण ये भक्ति सिद्धान्त में विविध प्रकार की शंकायें उठाया करते थे और अपने पक्ष के समर्थन में नाना प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत किया करते थे। श्री हिताचार्य के प्रेम सिद्धान्त को ये अश्रव्य कहकर उपेक्षित कर दिया करते थे, किन्तु जब इन्होंने राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य श्री दामोदावरजी गोस्वामी के अकाट्य व सारगर्भित, किन्तु मृदु-मधुर वचनों को सुना तो इनका पांडित्याभिमान दूर हो गया और इनकी सम्पूर्ण शंकायें समाप्त हो गयीं। गोस्वामीजी की इस अहेतुकी कृपा से ये हितपंथ के अनन्य पथिक बन गये।

चाचा वृन्दावनदासजी ने अपनी 'वसन्त प्रबन्ध' नामक रचना में इनके रसिक रूप का सूक्ष्म परिचय देते हुए लिखा है कि ये अपने गुरुवर को प्राणों के समान प्रिय थे। व्यंजना यह कि इनकी भजन भावना, रहनी, कहनी और सानुराग-सेवा से गोस्वामीजी का हृदय पूर्ण रूप से संतुष्ट था। दोनों समानमना और अभिन्न हृदय हो गये थे। यही कारण था कि गोस्वामीजी ने इनके अनुरोध से 'हस्तामलक' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इन्होंने उसे लिखकर रसिक-जगत् में प्रगट किया। चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी की **"हस्तामल तिन हित कियौ गान"** इस पंक्ति की पुष्टि इन्होंने हस्तामलक का शुभारंभ करते हुए इस प्रकार की है—

'प्रथम श्री व्यास नन्द जू कौ हृदय जानै, तब श्री मुख वाणी के रस को समुझै। श्री गुसाईं दामोदरजी पूर्ण जुगल प्रेमानन्द प्रकाशक रूप प्रागट्य है। उनके मुख तें सुनै, ता मधि जु सुधि रह्यौ सु लिखि राख्यौ है।'

इस ग्रंथ-लेखन के अतिरिक्त एक अन्य ग्रंथ—प्रश्नोत्तरी भी निश्चित रूप से इन्हीं की एक पद्य रचना है। हमारी इस धारणा की पुष्टि प्रश्नोत्तरी में ही समुपलब्ध इन दोहों से होती है—

अथ श्री गुसाईं दामोदरजी की कृपा को प्रश्नोत्तर लिख्यते—

एक समै पूछो प्रभू विनती उर धारौ ।
मेरे जिय सन्देह रहै इक सो निरवारौ ॥

• • •

तबै प्रभू निज धर्म भजन की रीति बताई ।
अपने इष्टहि आप भजै औरे न पत्याई ॥

• • •

श्री दामोदरवर चरित जिहि जिहि कौ उपदेश ।
प्राणनाथ कछु लखि लिख्यौ, निज मन के उपदेश ॥

इनके द्वारा रचित एक पद हितोत्सव की प्राचीन पोथी में प्राप्त होता है। इस आधार पर हमारा अनुमान है कि इन्होंने कुछ पदों की रचना भी की है, किन्तु वे अभी तक कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं। प्राप्त पद नीचे उद्धृत है—

मंगल मोद विनोद व्यास घर ।
प्रगटचौ वाद अनादि विमल रस
महाराज गुरुराज रसिक वर ॥
परिपूरन प्रेमा कौ दायक लायक
सब विधि गौर भजन भर ।

कुंज केलि कोविद कल क्रीड़ा
प्राणनाथ मधुमत्त चरन तर ॥

इनका विद्यमान काल विक्रम संवत् १६४० से १७२० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है ।

श्या० बि० खं०

प्रियतमलाल गोस्वामी

प्रियतमलाल गोस्वामी गो० चन्द्रगोपाल के वंशज गोस्वामी वासुदेव के पुत्र थे। इनका जन्म वि० सं० १९३२ में वृन्दावन में हुआ था। ये संस्कृत तथा ब्रजभाषा के अच्छे विद्वान् थे और ठाकुर श्रीराधा-माधव की सेवा में निष्ठापूर्वक निमग्न रहते थे। भागवत के सुप्रसिद्ध वक्ता तथा व्याख्याता गोस्वामी यमुनावल्लभ इन्हीं के सुपुत्र हैं। इन्होंने तथा इनके पुत्र ने ठाकुर श्री राधामाधव के सेवायतों की वंश-परम्परा की जीवनी तथा उनके द्वारा रचित ग्रंथों का यथारूप संक्षिप्त परिचय दिया है। ब्रजभाषा में इनकी 'श्रीरसिकाचार्य चरितावली' नामक बड़ी हृदयहारी रचना है। इसके अतिरिक्त इनके कुछ प्रकीर्ण कवित्त भी मिलते हैं। हिन्दी चरित ग्रंथों में इनके द्वारा प्रणीत 'चरितावली' का अच्छा योगदान है।

इनका परलोकवास ३० वर्ष की आयु में ही हो गया। इनकी रचना पद्धति का एक नमूना नीचे दिया जाता है—

जानिके मोय अजान अनाथ,
सनाथ करें निज कोर कृपा की ।

दुर्गम काज प्रवृत्त भयौ,
इहि टेव खरी सी परी जो सदा की ।
गंगा को नीर पवित्र करे,
हरिनाम हू पाप-पहाड़ को टाँकी ।
ताहू सों शीघ्र जो कारज सारत,
संतत संत पदाम्बुज झाँकी ॥

न० च० बं०

प्रियादास (प्रथम)

प्रियादासजी (प्रथम) 'भक्तमाल' के टीकाकार होने के कारण भक्त-संसार में तो ख्याति प्राप्त हैं ही, अपनी वाग्धारा के कारण साहित्य-जगत् में भी सुविख्यात हैं। गुजराती भक्तमाल के अनुसार इनका जन्म एक ब्राह्मणकुल में सूरत के निकटवर्ती रामपुरा ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम वामदेव और माता का नाम गंगा बाई था। बाबा कृष्णदासजी ने 'प्रियादासजी की ग्रंथावली' में गाँव का नाम राजपुर तथा पिता का नाम वासुदेव दिया है। किन्तु 'भक्त भारत' पत्रिका में प्रकाशित लेख में रामपुरा और वामदेव नाम ही मिलते हैं। खोज रिपोर्ट में एक महाराष्ट्री ब्राह्मण प्रियादास के पिता का नाम वामदेव मिलता है। गोपाल कविराज ने 'वृन्दावन धामानुरागावली' में जिसका रचना काल १९०० वि० संवत् है, प्रियादासजी को अग्रवाल वैश्य और उनके पुत्र का नाम वैष्णवदास बताया है, जिन्होंने 'भक्तिरसबोधिनी टीका' पर टिप्पणी लिखी थी तथा ब्रजभाषा में भागवत का विशद अनुवाद किया था—

तिहि कुल बद्रीदास जु भये
भगतमाल के रूपा ।
कथा कहनि तिनकी अति
रोचक भाविक भगति अनूपा ॥

तिहिको बड़ौ भ्रात वृन्दावन
जमुनादासह ताकौ ।
सौ अब भगतमाल बाँचत
अति हित गुपाल सौ ताकौ ॥

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि जमुनादासजी गोपाल कविराय के समकालीन थे और उन्हीं के पूर्वजों में प्रियादासजी हुए। यह परम्परा इस प्रकार हुई—प्रियादास-वैष्णवदास-बद्रीदास-जमुनादास।

श्री गोपाल कविराय के कथनानुसार प्रियादासजी युवावस्था में ही विरक्त होकर वृन्दावन आ गये और श्रीराधारमणजी के परिवार के मनोहरदासजी

के अनुगत हो गये। मनोहरदासजी का रचनाकाल वि० सं० १७५७ के बाद तक है। मनोहरदासजी स्वयं महान् रसिक, विश्वनाथ चक्रवर्ती के समसामयिक, परकीयावादी और उच्चकोटि के गायक रसिक कवि थे। प्रियादासजी ने लिखा है कि इनके सम्पर्क में आने वाले कवि हो जाते थे। प्रियादासजी ने 'रसिक मोहिनी', 'अनन्यमोदिनी', 'चाहवेली', 'भक्तिसुमिरिनी' में भी अपने गुरु मनोहरदासजी का मंगल-स्मरण किया है। प्रियादासजीके जन्म का समय निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, किन्तु भक्तमाल की टीका तथा 'रसिकमोहिनी' के निर्माणकाल (क्रमशः वि० सं० १७६९ तथा वि० सं० १७९४) से इनके रचनाकाल का बोध होता है। मनोहरदासजी से चैतन्यमत की दीक्षा लेने के पश्चात् प्रियादासजी प्रयाग, चित्रकूट आदि स्थानों का पर्यटन करने के उपरान्त जयपुर गये और वहाँ के सुप्रसिद्ध तीर्थ गलताजी में कुछ दिन रहे। वहीं इनको 'भक्तमाल' पर 'भक्तिरसबोधिनी टीका' लिखने की प्रेरणा मिली। यह प्रेरणा भक्तमालाकर नाभाजी से साक्षात् प्राप्त न होकर मानस-प्रेरणा थी। नाभादासजी ने 'भक्तमाल' की रचना रैवासा (जयपुर) में की थी। किंतु उनके गुरु तथा प्रेरक अग्रदासजी के गुरु श्रीकृष्णदास पयहारी की साधना स्थली गलता थी। श्री गोपीनाथ जी, श्री राधादामोदरजी आदि देवविग्रह ब्रज से महाराज सवाई जयसिंह के राज्य में जयपुर संक्रमण कर गये थे। इनका लक्ष्य उनका दर्शन भी रहा होगा।

राधादामोदर के शिष्य एवं गोविन्द भाष्यकार श्री बलदेव विद्याभूषण के गुरुभ्राता वृन्दावनचन्द्रदास ने अपने 'अष्टयाम' में प्रियादासजी का स्वरूप बड़ी सजीव शैली में प्रस्तुत किया है—

भयौ है प्रकाश देश देशन विदेशन में,
सूरज सुजस रूप गुन बात बात है।
आवें वृन्दावन कोऊ देखे रसवन्त होत,
हेत सों मिले हैं जोतिवंत होत गात है॥

कहैं कबै बात, लै झुलावैं सरसात,
रूप भावै जू प्रेम के कलोलनि अमात है।

जहाँ प्रियादास जू की नैक चितौन होत,
पण्डित दृवै कवि जन रसिक ह्वै जात है।

याही लोक वृन्दावन याही समै बेर याहो,
नित छबि पीवैं नैंन जीवै दुति साज तें।

प्रियदास जू कै मिलें भावत न आन कछू
भई पहिचान हरि रूप रसराज तें॥

इससे ज्ञात होता है कि देश के कोने-कोने में प्रियादासजी का यश फैल गया था और वृन्दावन में इनके दर्शन करके लोग भावुक बन जाते थे। इनकी कृपा कोर से पाण्डित्य तथा रसिकता मिल जाती थी।

'अष्टयाम' की समाप्ति लगभग १७९५ वि० सं० में हुई थी। राधावल्लभ-सम्प्रदाय के हितचंदलाल गोस्वामी द्वारा विरचित 'वृन्दावन-प्रकाशमाला' (रचनाकाल १८२४ वि० सं०) में एक रसिक प्रियादास का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु वहाँ भक्तमाल के टीकाकार का संकेत नहीं मिलता। कदाचित् प्रस्तुत प्रियादास का तब तक तिरोधान हो गया था। यदि वृन्दावन में उस समय तक इनकी कोई समाधि बनी होती तो वे इसकी चर्चा अवश्य करते। इससे निष्कर्ष निकलता है कि प्रियादासजी का निधन वि० सं० १७९५ से १८१५ वि० सं० के मध्य ही हुआ होगा। गोपाल कविराय ने इनकी समाधि का उल्लेख किया है। अतः सम्भव है कि इनकी समाधि वि० सं० १८२४ के बाद ही कभी बनी होगी। इनकी 'भक्तिरसबोधिनी' टीका का रचनाकाल वि० सं० १७६९ है, अतः इनका जन्म अनुमानतः १७२५ वि० सं० के लगभग माना जा सकता है। गोवर्धनभट्ट कृत 'राधाकुण्ड स्तव' से ज्ञात होता है कि ये उस समय तक विद्यमान थे। यह समय वि० सं० १८०० के बाद का है।

'भक्तमाल माहात्म्य' में वैष्णवदास रसजानि ने प्रियादास विषयक दो चमत्कारिक प्रसंगों का उल्लेख

किया है। एकबार प्रियादासजी ब्रज-परिक्रमा के क्रम में होड़ल पहुँचे। वहाँ लालदास नामक एक बड़े सन्त-सेवी रसिक महात्मा रहते थे। प्रियादासजी उनके आग्रह पर वहाँ 'भक्तमाल' की कथा कहने लगे। एक दिन चोरों ने ठाकुरजी सहित उनकी सभी वस्तुएँ चुरा लीं। दुःखी होकर प्रियादासजी वहाँ से चलने को उद्यत हुए। तब लालदासजी तथा उनके सहयोगियों ने उनके चरणों में गिरकर विनती की कि यदि आप यहाँ से चल देंगे तो हम सब प्राण त्याग देंगे। प्रियादासजी ने यात्रा स्थगित कर दी। कई दिवस व्यतीत होने पर चोर ठाकुरजी के स्वप्नादेश से धूमधाम से उन्हें पालकी में बैठाकर चौगुना धन लेकर लालदासजी के स्थान पर आये और प्रियादासजी के चरणों में गिर कर अपने अपराध के लिये क्षमा याचना की। इस चमत्कारिक घटना के उपलक्ष्य में एक उत्सव हुआ। तब से ब्रज में तथा अन्यत्र भक्तमाल की कथा का प्रचार-विस्तार द्रुत गति से होने लगा।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा को 'खोज रिपोर्ट' में इनके द्वारा विरचित निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख मिलता है—

१—अनन्यमोदिनी—खो० रि० २९–२७३ ए, ४१–५१९ (क) अप्र०, (२) पद-रत्नावली खो० रि० २०–१३५ डी०, ४१-५१९ (ख) अप्र०, (३) पीपाजी की कथा—खोज रि० २९–२७३ सी, (४) प्रियादास संग्रह—खो० रि० २६–३६१ सी, (५) भक्तमाल रसबोधिनी टीका—खो० रि० २३–२२३ ए० बी० सी० डी० (अन्य अनेक प्रतियाँ भी हैं), (६) भक्तिप्रभा की सुलोचनी टीका—खो० रि० २०–१३५ सी०, (७) भागवत सुलोचना टीका—खो० रि० ४१–१४१, (८) रसिक मोदनी—खो० रि० २९–२७३ डी, ४१–५१९ घ (अप्र०), (९) संग्रह—खो० रि० २९–२७३ जी, (१०) संगीतमाला—खो० रि० २९–२७३ एफ, (११) संगीत रत्नाकर - खो० रि० २९–२७३ ई।

प्रियादासजी की सभी रचनाएँ बड़ी रसपूर्ण एवं भाव-विधायक हैं; किन्तु इनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार है—'भक्तिरसबोधिनी टीका'। नाभादास कृत भक्तमाल के ६३४ कवित्तों में विरचित यह एक महान् कृति है। महात्माओं की चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख होते हुए भी यह अनेक ऐतिहासिक वृत्तों का एक संदर्भ ग्रन्थ है। प्रियादास चैतन्य-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। अतः उन्होंने चैतन्य-सम्प्रदायी भक्तों का विस्तार से वर्णन किया है। भारत के हस्तलिखित ग्रंथागारों में इनकी टीका की अनेक प्रतियाँ मिलती हैं। भक्तमाल के कथावाचकों में प्रियादास की टीका की विशेष प्रतिष्ठा है। इनके सम्बन्ध में श्रीराधाचरण गोस्वामी कृत नव भक्तमाल' में एक छप्पय इस प्रकार निवेदित है—

श्री प्रियादास रसबोधिनी भक्तमाल टीका करी।
देह प्राण को संग गंग जमना को जैसे।
शिव गौरी अधरंग प्रेम भक्ती को तैसे॥
श्रीधर श्रीभागवत नील कण्ठी जिमि भारत।
निश्चल अर्थ बताय जीव कोटिन को तारत॥

श्री नाभादास हृदय विराज कै जैसी जैसी मति करी।
श्री प्रियादास रसबोधिनी भक्तमाल टीका करी॥

इनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं—

(१)

गोपिन के अनुराग आगै आप हारे स्याम,
जान्यो यह लाल रंग कैसे आवै तन में।
ये तौ सब गौर तनी नखसिख बनी ठनी,
खुल्यौ यौं सुरंग अंग अंग रंगै बन में॥
श्यामताई मांझ सो ललाई हूँ समाई जो ही
ताते मेरे जान फिरि आई यहै मन मैं।
"जसुमति" सुतै सोई "शची सुतै" गौर भये,
नये नये नेह चोज नाचै निज मन में॥

(२)

कालिन्दी के तीर तरु, डारें झुकि नीर आई,
त्रिविध समीर बहै गहै गति मन की।
कुंज कुंज पुंजन में सुगुंजत मधुप माते,
माधुरी मधुर गंध आवत सुमन की॥

राधे-कृष्ण नाम धुनि जहाँ तहाँ छाय रही,
कही न परत शोभा पुलिन-अवनि की ॥
देख देखि रहे फूल सुधि बुधि भूलि-भूलि,
ठौर ठौर ठौर राखे वृन्दावन वन की ॥

(३)

हा हा वृन्दा विपिन रम्य अति सर्वोपरि रसधाम।
दरशावौ काहू विधि छवि-निधि सुख-निधि श्यामा श्याम ॥
हा हा मुरली मधुर शब्द करि जब लाड़िली बुलावौ।
सो धुनि नैक सुनाइ रसिकनी तन मन प्रान जिवावौं ॥

न० च० दं०

प्रियादास (द्वितीय)

प्रियादासजी सम्भवतः कामवन के निवासी थे और पूर्व जीवन में किसी रासमण्डली से इनका सम्बन्ध भी था। श्री राधावल्लभलालजी उस समय कामवन में ही विराजमान थे। वहाँ पर रसिक सन्तों द्वारा नित्य प्रति समाज-गान हुआ करता था। श्री राधावल्लभलालजी की अनुपम रूप-छटा और समाज-गान के मधुर आकर्षण ने इन्हें श्री हरिवंशोदित रसोपासना में दीक्षित होने के लिए विवश कर दिया। अब ये किसी राधावल्लभीय रसिक से विरक्त वेष लेकर राधावल्लभ मन्दिर कामवन में ही रहने लगे। ये अपने पूर्व जीवन में ही पखावज-वादन-कला में लब्ध-प्रतिष्ठ थे। इस कला का समुचित उपयोग करने का भी इन्हें स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ और ये मन्दिर में नित्य होने वाले 'समाज' में पखावज-वादन की सेवा करने लगे। इसका वर्णन गो० चन्द्रलालजी ने इस प्रकार किया है—

ललित पखावज बजावत हैं प्रियादास
बालकृष्ण राधिका दास हैं भजन में।
गावत हैं मुरली सखी लहरी किशोरीदास
श्यामादास गूँजत हैं खँजरी की धुनि में ॥
रासधारी गात प्रेम रंग सरसात उत
रिझवारि रीझि कैं विवस होत तन में।
व्यास के दुलारे ताके नयन के तारे
राधाबल्लभ जू प्यारे चंद हित बसौ मन में ॥

—मन्दिर विलास

श्रीहित भजन और श्रीहित भजनीक रसिकों से इनका सहज अनुराग था, परन्तु समाज-गान की प्रियता के कारण बालकृष्ण, राधिकादास, मुरली सखी और हरिदासजी आदि रसिकों के साथ ही इनका अधिक समय व्यतीत होता था। इस तथ्य का संकेत चाचा श्रीहित वृन्दावनदासजी के इस छन्द से प्राप्त होता है—

हरीदास करैं तानन प्रकास।
पुनि बालकृष्ण राधिकादास ॥
सखी मुरलीदास हिय गहरी आस।
प्रियादास भजन रचैं बहु विलास ॥

—चतुर्थ वसन्त प्रबन्ध

इनका विद्यमान काल अनुमानतः सं० १७६० से सं० १८४० तक माना जा सकता है।

श्या० बि० खं०

प्रियादास (तृतीय)

प्रियादास (तृतीय) के पिता राधावल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित भक्त थे। ये भी जीवन के अन्तिम दिनों में वृन्दावनवासी हो गए थे। ये मूलतः पटना के निवासी थे। इनकी पुस्तकों के उल्लेख मिलते हैं जिनके नाम हैं—प्रियादास की वार्ता, स्फुटपद-टीका, सेवा दर्पण, भाषा वर्षोत्सव, तिथि-निर्णय एवं चाहबेलि। इनका आविर्भाव १८ वीं शती में माना जाता है।

अ० अ०

प्रियादास (चतुर्थ)

प्रियादास की प्रशंसा में 'श्रीहित अनन्य रसिकावली' में निम्नलिखित छन्द मिलता है—

हित रसिकन कौ संग पाय वृन्दावन आये।
गूढ़ भजन हित पगे जु श्री गुरुराज बताये॥
इष्ट दरस कौ चाव दाव पर सब धरि दीनो।
दीनो दरसन रीझि स्वामिनी परिकर लीनो॥
कर प्रशंसा सब रसिक धन्य भाग अस को वियौ।
सब जग सौं निवृत्य ह्वै प्रियादास निजधाम लियौ॥

इनके बाल-जीवन सम्बन्धी कोई तथ्य प्राप्त नहीं है। गुरुजनों से केवल इतना ही सुना जाता है कि ये पूर्वाञ्चल के किसी स्थान से श्रीधाम वृन्दावन आये थे। राधावल्लभीय साधुओं की एक जमात पूर्वाञ्चल प्रदेशों में घूम रही थी, वहीं पर इन्हें हित रसिकों का सत्संग प्राप्त हुआ और ये उसी समय दीक्षित होकर इधर-उधर घूमते हुए श्रीधाम वृन्दावन आ गये तथा श्रीहित रासमण्डल के निकट स्थित गोविन्द घाट पर निवास करने लगे। रसिकों के निरंतर समागम और सत्संग ने इनके जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया। ये कभी श्री राधावल्लभलालजी की रूप माधुरी का पान करते हुए बिना खाये, पिये कई दिन व्यतीत कर जाते, कभी किसी लता के नीचे एकान्त में कई दिनों तक पड़े रहते, कभी निरन्तर गाते रहते और कभी कई दिनों तक एक आसन पर बैठकर निरन्तर नाम-स्मरण करते रहते थे। इस प्रकार ये रस-दशा को प्राप्त हो गये थे।

एक बार इसी दशा में ये बरसाने निवास कर रहे थे। वहीं पर एक दिन अर्द्धरात्रि के समय इनके पास एक बालिका आई। उसने कहा—"बाबा! भूख लग रही है, रोटी दे।" बालिका की बाल-सुलभ-याचना और अत्यन्त सुकोमल मधुर वाणी ने इनके चित्त को भजन से खींचकर अपना अनुगामी बना लिया। ये बालिका की ओर कुछ बढ़े ही थे कि वह चिकसौली की ओर जाती हुई कुछ दूर पर ही लुप्त हो गई। बाबाजी महाराज उसी दशा में चिकसौली ग्राम में पहुँच कर उसे घर-घर में ढूंढ़ने लगे। किन्तु कुछ पता न चला। गाँव वालों ने कहा "अरे बाबा! वो हमारी काहू की लाली नाँय, तोय तौ प्रियाजी ने ही स्वयं कृपा करिकैं दर्शन दिये हैं।" बाबाजी न जाने कितनी देर तक उसी रूप में छके रहे और फिर गहवर वन की झाड़ियों की ओर चल पड़े।

एक बार जब ये पीली पोखर बरसाना पर निवास कर रहे थे, तो इनकी कीर्ति सुनकर साधुसेवी ग्वालियर वाले श्री बलवन्तसिंहजी इनके दर्शनों के लिए इनके यहाँ आये और बहुत सी अशर्फियाँ भेंट कीं, किन्तु इन्हें तो वह निधि प्राप्त हो चुकी थी जिसे प्राप्त कर प्राप्तकर्ता—

तीन लोक की भूत मूत सम सुर नर मुनि धुधकारैं।
स्वर्ग नर्क बैकुण्ठ लोक गौ सब सोटे पर मारैं॥

अतः उन अशर्फियों की ओर परम विरक्त प्रियादासजी ने देखा तक नहीं। जीवन के अन्तिम समय में ये पुनः वृन्दावन आ गये थे। ये प्रायः हर समय रसिकजनों से घिरे रहते थे। लीलामय रूप और रूपमयी लीलाओं के वर्णन से वातावरण आनन्दमय बना रहता था। एक दिन उसी आनन्द वितान के नीचे बैठे-बैठे सहसा इन्होंने अपनी आँखें मूंद लीं, कुछ हँसते-हँसते रसिकजन प्रतीक्षा कर रहे थे कि श्री प्रियादासजी अभी आँखें खोलने वाले हैं, किन्तु उनकी आँखें फिर कभी नहीं खुलीं। सन्तों ने उनके पार्थिव शरीर को यमुनाजी की तरल तरंगों को भेंट कर दिया। वृद्धजनों का कहना है कि उस समय इनकी आयु लगभग १०० वर्ष की थी। इस आधार पर उनका विद्यमान काल सं० १८७५ विक्रम से सं० १९७५ तक अनुमान किया जाता है।

श्या० बि० खं०

प्रियादास (पंचम)

प्रियादास (पंचम) की प्रशस्ति 'रसिक अनन्य परचावली' तथा 'वसन्त प्रबन्ध चतुर्थ' दोनों ग्रन्थों में मिलती है। सम्बद्ध अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

गुरु श्री जुगल किशोर कृपा तें सुमति कमाई।
रहनि रीति निरदूषित सन्त गुरु नमन सबाई॥

बाती आरति जोग बाँटि मन्दिर पहुँचावै ।
प्रभु कृतज्ञ लघु भक्ति माहिली सों सुख पावै ॥
तन तजि ता दिन प्रापति
विपिन जब वरष गाँठ राधा लली ।
प्रियादास निर्वृत्य ह्वै वृन्दावन सेयौ विधि भली ।
—रसिक अनन्य परचावली

गुरुवर श्री जुगल किशोर जास ।
भावुक जु शिष्य उभै रामदास ॥

कहनी रहनी इक सम प्रकास ।
तीजे प्रियादास लह्यौ महल वास ॥
—वसंत प्रबंध चतुर्थ

ये ब्रजभूमि से बाहर के निवासी थे। साधु संग से इनको जगत् से विरक्ति हो गई और ये अपना धन, धाम तथा परिवार त्याग कर श्री धाम वृन्दावन में आ गये। वृन्दावन में इन्हें गो० जुगलकिशोरजी के शिष्य रामदासजी का सत्संग प्राप्त हुआ और उनके उपदेश से ही ये गो० श्री जुगलकिशोरजी के शरणापन्न हो गये। एकान्त-प्रियता, मित-भाषिता, मृदु-भाषिता और निष्कैतव विनम्रता आदि साधुजनोचित गुण इनमें पूर्णतया विद्यमान थे। विशेष रूप से सन्त और गुरुजनों के समक्ष ये अत्यन्त दीन हो जाते थे। श्री राधावल्लभलालजी की रूप-माधुरी का पान और उनकी सेवा इनके भक्त जीवन का मुख्य संबल था। ये श्री राधावल्लभलालजी को प्रत्येक आरती के लिए अपने हाथ से वर्त्तिका बँटकर मन्दिर में पहुँचाया करते थे। प्रभु तो अपने भक्त की छोटी से छोटी सेवा से ही रीझ जाते हैं। वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। इनकी बटी हुई आरती की बत्तियों में आन्तरिक प्रेमार्त्ति ने प्रभु को प्रीति-विवश कर दिया और उन्होंने इन्हें अपने निकट बुलाकर माहिली सेवा प्रदान कर दी।

(श्री राधावल्लभलालजी कामवन से वृन्दावन में सं० १८४१ क्वार सुदी दूज को आये थे। अतः वृन्दावन में आरती की वर्त्तिका की नित्य सेवा का श्री प्रियादासजी का नियम इसके पश्चात् ही सिद्ध होता है)

इनका निकुंज गमन ठीक उस समय हुआ था जब कि श्री राधा-अष्टमी के दिन राजभोग आरती हो रही थी और दधि-काँदौ से सने हुए रसिक जन कूद-कूद कर कह रहे थे—**"श्री राधा प्यारी ने जन्म लियौ है।"**

गो० जुगलकिशोरजी के शिष्यत्व एवं वृन्दावन में राधावल्लभ मन्दिर में आरती की नित्य सेवा के आधार पर इनका विद्यमान काल सं० १७६५ से सं० १८५० के बीच सुस्थिर होता है।

श्या० वि० खं०

प्रियादास (षष्ठ)

'भक्त गाथा' में एक प्रियादास के संक्षिप्त जीवन-वृत्त का संकेत इन शब्दों में मिलता है—

व्यास दास के ऐन चैन करि सन्तत राजैं ।
जिनसौं मन की लाग साख सब रसिक समाजै ॥

अंतरंग हित संग महल में करत खवासी ।
पद पलोट पर्यंक बैंठि बल्लभ ह्वै दासी ॥

श्री किशोरीलाल हित कृपा करि पहिराई उर माल।
श्री प्रियादास के सेव्य बस भये त्रिभंगी लाल ॥

इनके ऐहिक जीवन का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। इतना ही ज्ञात होता है कि ये व्यास-वंशीय किसी गोस्वामी के घर में निवास करते थे। ऐसा ज्ञात होता है कि श्री हित चरणाश्रित श्री व्यासजी के सुचारु चरित्रों एवं उनकी वाणी से इनका हृदय अत्यधिक प्रभावित था। श्री व्यासजी ने कहा है—

जो पै कोऊ सांची प्रीति करि जानै ।
तौ या बन में राधारमनैं मन लगाइ गहि आनै ॥
सुनियत कथा स्याम जू की एकै प्रीति के हाथ बिकानै ॥
ता मोहन की महिमा कैसे विषई व्यास बखानै ॥

व्यासजी की यह उक्ति इनके जीवन में प्रत्यक्ष होती देखी गई थी। इनके सच्चे प्रेम के वशीभूत होकर परमाराध्य विग्रह ललित त्रिभंगी लाल ने

स्वयं इन्हें अपनी हृदय की माला पहनायी थी। अपने नियमानुसार एक दिन इन्होंने मानसी भावना में श्री युगलवर को शयन भोग अर्पित कर शयन आरती की। उसके पश्चात् उन्हें शैया में पौढा कर उनके चरण पलोट रहे थे। इनकी सेवा से प्रसन्न होकर दोनों ने अपनी-अपनी मालायें इनके गले में डाल दीं। कुछ देर पहले रसिकों ने ये मालायें मन्दिर में विराजमान ललित त्रिभंगीलालजी के गले में धारण की हुई देखी थीं। अतः उन्होंने इनसे साश्चर्य पूछा कि ये मालायें आपके पास कैसे आ गईं? तब इन्होंने इस रहस्य को सभी को सुनाया। इनके पूज्य गुरु गो० किशोरीलालजी थे। इस आधार पर इनका विद्यमान काल सं० १७७५ से सं० १८५० तक अनुमान किया जाता है।

श्या० बि० खं०

प्रियादास (सप्तम)

'भक्तगाथा' में प्रियादास (सप्तम) की प्रशंसा इन शब्दों में मिलती है—

अद्भुत तान तरंग रीति हित सौं उर धारैं।
पद धमार रस पुष्ट सुजस सेवक विस्तारैं॥
दिन प्रति करैं समाज विपिन मंडल तहाँ।
छै राग छत्तीसौ रागिनी कर जोरे ठाड़ी तहाँ॥
श्री हितलाल कृपालु ह्वै महल टहल समयौ दियौ।
श्री प्रियादास के भजन सिर व्यास
सुवन चालन कर्‌यौ॥

इनकी लोकयात्रा सम्बन्धी सभी बातें अज्ञात हैं। ये हितलालजी के कृपापात्र थे और वृन्दावन में भीम-कुंज और इमलीतला के मध्यस्थ श्री रूपरामजी की कुंज में निवास किया करते थे। इनके रसिक जीवन का निर्माण 'श्री सेवक वाणी' और 'श्री नेही नागरीदास जू की वाणी' के गहन अनुशीलन से प्रारम्भ हुआ था। भक्त जीवन के आरम्भ से ही उक्त दोनों वाणियों से इनका तादात्म्य स्थापित हो गया था। ये अहर्निश इन वाणियों में छके रहते थे। श्री हरिवंश नाम, श्री हरिवंशवाणी और श्री हरिवंश धर्मियों की सेवा ही इनके प्राण-पोषक तत्व बन गये थे। गोस्वामी चन्द्रलालजी ने इनके रसिक रूप का चित्रण इस प्रकार किया है–

तासों लगी कुंज रूपराम की लसत द्रुम
वसत जहाँ महन्त दामोदरदास हैं।

• • •

ताही कुँज में रहैं रसिक प्रियादास एक जाकौ
नित जीवन श्री हित जू कौ नाम है।
हित धर्म धरैं तासौं यह रति करैं
प्रीति रीति अनुसरैं मति अति अभिराम है॥
सेवक नागरीदास जू की बानी मन मानी
हित रस सानी तामें छक्यौ आठो जाम है।
जिनकी सहाय सदा वृन्दावन धाम है
सु तिनकी कृपा को चहौं यही मेरो काम है॥

—वृन्दावन प्रकाश माला

ये संगीत कला में इतने कुशल थे कि इनके गान करते समय श्रोताओं को अनुभव होने लगता था कि अमुक राग मूर्त्तिमान होकर प्रत्यक्ष हो रहा है। यह संगीत प्रियता इन्हें पूर्व जीवन से ही प्राप्त थी जिसका सदुपयोग इन्होंने समाजगान में किया था। इस मणि-कांचन योग के कारण इनकी संगीत कला में चार चाँद लग गये थे। यही कारण है कि इनके समाज-गान से विशुद्ध संगीतज्ञ और हित धर्मी मर्मी रसिक—दोनों का मनस्तोष होता था। ये प्रतिदिन रसिकों के समूह में श्री हित रास मण्डल पर समाज-गान करते थे।

'रस' जब आकण्ठ भर जाता है तो वह प्रकृतितः रसोद्गलन के रूप में बाहर निकलने ही लगता है। रसिकवर प्रियादासजी के हृदय से रसोद्गार के निर्झर होरी-धमार के पद एवं श्रीहित सेवक जस के रूप में प्रगट हुए हैं। कतिपय पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

(१)

अरी अब रूप झकोरनि लेत।
सुरत सिन्धु बढ्यो ओप चौंप सौं
हित सजनी हित हेत॥

रतन कटाक्ष प्रमाद चिन्ह
रति प्रगटत है रस खेत।
परखि जोखि हरिवंश जौहरी
मन नैनन गहि लेत॥
गाहक रसिक दिसि दिसि ते धावत
सुहृद हियौ भरि देत।
हृदै जहाज भरे सु 'प्रियादास'
प्रमुदित ह्वै ज्यौं चेत॥

(२)

गोरी मैं वारी तेरी हँसनि झिझकि फिर हेरी।
लहलहानि उमगन नव यौवन सद मद गुन अरु झेरी॥
स भ्रू भंगि अनख लट सरकत प्रिय मृग दृगन अहेरी।
माती राती थाती हित गति जीवन मूरि 'प्रिये' री॥

पदावली के अतिरिक्त इनकी सिद्धान्त तथा रस सम्बन्धी उत्कृष्ट कुछ रचनायें दोहा छन्दों में मिलती हैं। बानगी स्वरूप कुछ दोहे नीचे उद्धृत हैं—

युग विलास उत्कर्ष हैं यह वह काम न होय।
ज्यों व ताप दिन मणिदवन कही रसिक मनि जोय॥
शंकर शिर शशि टोल जौं ये उपमा है भाखि।
प्रियादासि हित हीय के को सकिहै गुन चाखि॥
श्री व्यास सुवन की कृपा तें सखी रूप कौं पाय।
भाव अरु प्रापति की कोऊ अवधि जु पूछौ आय॥
अतर्क बात यह अति प्रबल कृपा साध्य ही होय।
प्रतीत कृपा तें आय तौ प्रतीत न अवहिन कोय॥

गुरुवर की महती कृपा से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। फलतः श्री हित लालजी की कृपा से इन्हें रसोपासना की चरम सिद्धि रूप श्रीहित महल में प्रवेश और परिचारिका के रूप से युगल वर की 'टहल' प्राप्त हो गयी। इनका विद्यमान काल सं० १७६० से सं० १८४० तक अनुमान किया जा सकता है।

श्या० बि० खं०

प्रियादास (अष्टम)

प्रियादास जो राधा कृष्ण के अनन्य सेवक थे। उनकी प्रशंसा इन शब्दों में की गई है :—

कछु नहिं पढ़ौ पढ़ायौ चोखौ वनिज कमायौ।
श्री गुरुवर की कृपा सुधानिधि कंठ लगायौ॥

चात्रक ज्यौं व्रत लियौ गिरा हरिवंश नाम कौ।
सेवा श्री गुरुदेव एक व्रत अष्टयाम कौ॥

श्री राधावल्लभ लाल ने सब देखत लीने गहकि॥
प्रियादास भोरौ अधिक पै हित निधि पाई लहकि॥

—श्री हित अनन्य रसिकावली

इनका जन्म विक्रम संवत् १९३० में नन्द गाँव के एक वैश्य परिवार में हुआ था। घर में परचून (खाद्यान्न) की एक छोटी-सी दुकान थी। इसी के सहारे ये अपने परिवार का पालन-पोषण करते थे। लगभग ३५ वर्ष की आयु में इनकी स्त्री, पुत्र तथा पुत्री सभी परलोक गमन कर गये। इसके बाद इनका अधिकाधिक समय प्रभु की पूजा एवं पाठ में व्यतीत होने लगा।

उन दिनों पीली पोखर (बरसाना) पर श्री निकुंजदास नामक एक राधावल्लभीय सिन्धी सन्त रहा करते थे। नंदगाँववासी प्रियादासजी यदा-कदा उनके पास सतसंग करने जाया करते थे। सत्संग का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि इन्होंने बाबा जी महाराज के श्री चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया। श्री हित निकुंजदासजी ने भी इनकी निष्काम प्रीति, साधु सेवी वृत्ति एवं साधुजनोचित दैन्य से प्रभावित होकर इन्हें अपना विरक्त शिष्य बना लिया।

बाबाजी बड़े स्नेह से इन्हें 'श्री राधासुधानिधि' का एक श्लोक नित्य प्रति कंठस्थ कराने लगे। इनके हृदय में गाढ़ी लगन तो थी ही, थोड़े ही दिनों में इन्हें सम्पूर्ण 'राधा सुधानिधि' कंठस्थ हो गई। कालान्तर में श्री निकुंजदास जी की अनुपम कृपा से इन्हें श्लोकों के गूढ़ार्थ भी स्फुरित होने लगे और साथ ही लीला विलासी युगल के लीलामय रूप का अनुभव होने लगा।

कुछ दिन बरसाने रहने के पश्चात् ये अपने गुरुदेव के साथ ही श्री धाम वृन्दावन आ गये। यहाँ पर श्री

राधावल्लभजी की रूप माधुरी देखकर इन पर कुछ ऐसा आनन्दोन्माद चढ़ा कि इन्हें अपने तन-वदन की विस्मृति-सी रहने लगी। ये कभी नीचे की ओर, कभी ऊपर की ओर टकटकी लगाये देखते रहते। किसी के खिलाने पर प्रसाद पा लेते अन्यथा गुरुवर्य के श्री चरणों के सन्निकट चुपचाप बैठे रहते।

इसी आनन्दोन्मत्त दशा में ये गुरुदेव के साथ ही वाद ग्राम गये। इस उन्माद को ये अधिक दिनों तक न झेल सके। वहाँ पहुँचने के आठ दिनों के पश्चात् ही अपने पंचभौतिक शरीर का परित्याग कर ये नित्य निकुंज में प्रवेश कर गये। इनका निकुंज गमन काल विक्रम संवत् २००० है।

श्या० बि० खं०

प्रियादास (नवम)

प्रियादासजी का जन्म उत्तर प्रदेश के कानपुर जिलान्तर्गत चौबेपुर नामक स्थान के निवासी श्री दुर्गा प्रसाद के यहाँ भाद्रपद शुक्ला अष्टमी (राधाष्टमी) वि० सं० १९१५ को हुआ था। इनके मूल नाम का पता नहीं चलता। आगे चलकर ये ही प्रियादासजी के नाम से सुविख्यात हुए। ये शुक्ल गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इस तथ्य का उल्लेख इन्होंने स्वयं अपने "शास्त्र सार सिद्धान्त मणि" नामक संस्कृत ग्रंथ में इस प्रकार किया है—

कान्य कुब्जोद्विजश्चासीच्छुक्ल वंशावतंसकः।
नाम्ना दुर्गा प्रसादेति प्रियादासस्तदात्मजः॥

ये संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इसके साथ ही इन्हें ब्रजभाषा पर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त था। इन्होंने अनेकानेक संस्कृत एवं ब्रजभाषा ग्रन्थों की रचना की है। श्री हित धर्म की दीक्षा इन्हें गो० गोपीनाथजी से प्राप्त थी। हित धर्म में दीक्षित होने के उपरान्त ये वृन्दावन रस के अनन्य निष्ठ और वृन्दावन रस रसिकों के अनन्य सेवक बन गये। इनका निकुंज गमन काल वि० सं० १९७३ है।

श्या० बि० खं०

प्रियादास (दशम)

श्री गोविन्द अली ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—

जन्म भूमि दनकोर रास हित रीति रचावैं।
समय समय कौ भाव चाव करि प्रगट दिखावैं॥
पुनि वृन्दावन वास आस सेवक चित गाढ़ी।
जन्मोत्सव ठिक ठाँव तीज सावन सुदी काढ़ी॥
श्री रसिकानन्द आनन्द दै टहल बताई एक।
हित कहनी मग ही चले प्रियादास गहि टेक॥

—रसिक अनन्य गाथा

इनका जन्म यमुनाजी के तट पर स्थित दनकोर नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीनाथ तिवारी एवं माता का नाम ब्रजकुँवरी था। 'सेवक चरित' में इन्होंने आत्म परिचय दिया है और बताया है कि सुज्ञान सखीजी के संग से बाल्यकाल में ही गोस्वामी रूपलालजी के नाती गो० रसिकानन्दजी से इन्होंने दीक्षा ले ली थी। कुछ दिनों बाद ये विरक्त वेश लेकर श्री वृन्दावन आ गये और अपने गुरुजी के मन्दिर में निवास करने लगे। श्री 'सेवक-वाणी' का पाठ करते ही सेवकजी के चरणों में इनकी प्रगाढ़ आसक्ति हो गयी और सावन बदी चौथ सम्वत् १८३६ को इनको सेवकजी ने स्वप्न में दर्शन देकर बताया कि उनका जन्म श्रावण शुक्ला तीज का है। इस सूचना के मिलते ही प्रियादासजी को सेवकजी का जन्मोत्सव मनाने की धुन लग गयी। सम्वत् १८३८ में अपनी गुरु-बहन श्री आनन्दीबाई के सहयोग से इन्होंने सेवकजी का प्रथम जन्मोत्सव मनाया। इस उत्सव के लिए इन्होंने सेवकजी की जन्म बधाइयों की रचना की, जो 'सेवक चरित' में संकलित हैं।

ऊपर उद्धृत गोविन्दअली के छप्पय से ज्ञात होता है कि श्री वृन्दावन आने से पूर्व इन्होंने दनकोर में एक रासमण्डली बना रखी थी और उसमें ये हित पद्धति के अनुसार अष्टयाम लीला का अभिनय दिखाते थे। इन्होंने १२३७ दोहों तथा १२८ पदों की रचना की है। इनकी वाणी के कुछ चुने हुए उदाहरण दिए जाते हैं—

रसना रस नाँहिन पगी जगी लगी नँहि दीठ ।
ठगी आयु नर तन वृथा हित तन कीनी पीठ ॥
बानी बूझे बूझिहैं रसिक नृपति की बूझ ।
सूझत सूझत सूझिहैं दृग सनेह की सूझ ॥
इह धन पाये दीन रह तब ही संचै वित्त ।
अहंकार जो मेटिहैं जैहै कित कौ कित्त ॥
चक्षु तकनि में लगि रहै जकनि जु करि रहै प्रान ।
धकन धकन काया धकै लगन लगन हित जान ॥
प्रेम गरज हिय में उठयौ बानी बिजुरी सार ।
मन बुधि चित ऊपर परी भीतर भीतर मार ।
रूप सिन्धु उमड़त सदा प्यारी के अंग अंग ।
रोम रोम में बढ़त नित पिय के प्रेम तरंग ।
इत उत की सुधि करत नित पलु पलु नौतन भाय ।
मुदित करत मन दुहनि के नव नव लाड़ लड़ाय ॥

अपनो रचनाओं में इन्होंने कई स्थानों पर नेही नागरीदासजी की वाणी और उनकी रस-दृष्टि की प्रशंसा की है । इनकी रचनाओं पर नेही नागरीदासजी का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है ।

ल० च० गो०

प्रियादास/तारातनयदास

श्री प्रियादास तथा तारातनयदासजी हितदासजी के कृपा-पात्र थे । ये दोनों ही महात्मा अत्यन्त विनम्र स्वभाव वाले, सरल प्रकृति और मितभाषी थे । श्री तारातनयदासजी की स्वल्प काल में ही विक्रम सं० २०१५ के लगभग सर्प दंश से मृत्यु हो गई थी; किन्तु प्रियादासजी बहुत समय तक गो-सेवा, साधु-सेवा और इष्ट युगल-सेवामय जीवन व्यतीत करते रहे । इनका निकुञ्ज प्रवेश वि० सं० २०४१ में हुआ ।

श्या० बि० खं०

प्रियादास और हरिदास

श्री प्रियादासजी और श्री हरिदास जी का सर्वप्रथम उल्लेख श्री अतिवल्लभजी ने श्री हित वंशावली वर्णन करते हुए इस प्रकार किया है—

परमानन्द नवल प्रमदानन्द प्रियादास हरिदासा ।
नाहरमल वीठल श्री मोहन प्रगटत पूरी आसा ॥

अतिवल्लभजी ने इन दोनों - प्रियादासजी और हरिदासजी—का नामोल्लेख नाहरमल, वीठलदास और मोहनदास के साथ किया है जो कि निश्चित रूप से देव वन निवासी थे । इस आधार पर ये दोनों रसिक भी देववनवासी प्रतीत होते हैं ।

चाचा श्री हित वृन्दावन जी ने भी अपनी अनेक रचनाओं में इन दोनों का नामस्मरण एक साथ ही किया है—

नमामि श्री हरिवंश प्रिया हरिदास भजन भट ।
चरन शरण अनुसरत भरी रस भक्ति हिये घट ॥
—श्री हरिवंश सहस्रनाम

श्री प्रियादास सुघर जाकौ सुनाम ।
लिये अमृत कुण्डली अमृत धाम ॥
धुनि सुनि मोह्यौ रिझवार काम ।
तन विवस भई पुनि ताकी वाम ॥
—वसन्त प्रबन्ध

गोविन्द 'अलि' जी ने अपनी मौलिक खोज के आधार पर प्रियादासजी के जीवन सम्बन्धी विशिष्ट तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ये देववन के रहने वाले थे । गो० श्री हित हरिवंशजी की बाल्यावस्था के अलौकिक चरित्रों से आकृष्ट होकर उनके श्री चरणों में इन्होंने आत्म समर्पण कर दिया था । इस आधार पर इनका दीक्षा काल १५७०-८० के बीच और जन्म काल सं० १५५९ के पूर्व माना जाता है । गोविन्द अलिजी आगे लिखते हैं कि जब श्री हिताचार्य चरण वृन्दावन आ गये थे तो ये भी वृन्दावन में ही रहने लगे थे और निरन्तर श्री हरिवंश की वाणी और नाम का स्मरण करते हुए अपना जीवनयापन करते थे । इनकी भजन भावना से प्रसन्न होकर और श्री हित कृपा-पात्र जानकर श्री राधावल्लभलाल जी ने दर्शन देकर इन्हें अपनी नित्य-लीला में बुला लिया । यह घटना कब हुई ? यह अज्ञात है—

श्री हित चरण उपास आस हित ही की राखैं।
श्री हित गिरा प्रमाण नाम हित जू को भाखैं॥

प्रथम देववन वास बाल लीला रस भीनौ।
पुनि पीछे गृह त्यागि वास वृन्दावन कीनौ॥

हित निज सेवक जानि कैं राधावर दर्शन दये।
पद वंदन परिचारिका प्रियादास परिणत भये॥

—भक्त गाथा

श्री हरिदास के विषय में अतिवल्लभजी और चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी के उल्लेखों के अतिरिक्त अन्य किसी सूत्र से अपेक्षित तथ्य प्राप्त नहीं होते। प्राप्त उल्लेख के आधार पर इतना ही ज्ञात होता है कि ये गो० श्री हित हरिवंशजी के परम प्रिय कृपापात्र थे। गुरुवर की कृपा से इन्हें रसभक्ति के सारभूत रस-भजन की सहज ही प्राप्ति हो गई थी। नागरीदासजी ने कहा भी है –

खरोई कठिन है भजन ढिग ढरिबौ।
तमकि सिन्दूर मेलि माथे पै
साहस सूर सती कौ सौ जरिबौ॥
इन के चाय घायल ज्यौं घूमैं
मुरै न गरूर सूर कैसौ लरिबौ।
नागरिदास सुलभ जिन जानौ
श्री हरिवंश पन्थ पग धरिबौ॥

—श्री नागरीदासजी की वाणी

श्री हरिदासजी का नाम श्री प्रियादासजी के साथ स्मरण किये जाने के कारण प्रियादासजी की भाँति ही इनके जन्म, दीक्षा और निकुंज गमन के समय का अनुमान किया जा सकता है।

श्या० बि० खं०

प्रियादासी

हित प्रियादासीजी राधामाधव की एक निष्ठ उपासिका थीं। 'श्री हित अनन्य रसिकावली' में इनकी साधना की प्रशंसा निम्नलिखित पद में मिलती है —

जग के सुख सब त्यागि गरल सम हित पथ लागी।
गुरु गोवर्धन लाल कृपा हित पद अनुरागी॥

प्रीति रीति सौं करैं श्री सेवक जन्म बधाई।
हित रसिकन पद अपनौ सर्वसु दैंहि लुटाई॥

श्री हित जू अति रीझि कैं
हरषि आपनी निधि दई।
वन रज सेई प्रीति सौं
प्रियादासो महलनि मई॥

इनका जन्म मीरपुर (जम्मू कश्मीर) के एक धनाढ्य परिवार में हुआ था। अपने पिता की इकलौती कन्या होने के कारण इनका लाड़प्यार पुत्र जैसा ही हुआ। माताजी इन्हें 'पूनम' कहकर पुकारा करती थीं। माता-पिता धार्मिक प्रवृति के थे, घर पर ठाकुर-सेवा भी थी। इस धार्मिक वातावरण में पलने के कारण इनकी रुचि जागतिक (लौकिक) खेलों में नहीं थी। ये विविध प्रकार के कपड़ों के ही ठाकुरजी बनाकर माता-पिता की तरह उनकी पूजा किया करती थीं।

इनके पड़ोस में लक्ष्मण भगत नामक एक हित धर्म परायण सज्जन रहा करते थे। धनी-मानी एवं सत्संग प्रिय होने के कारण पूनम के माता-पिता का उनके घर आना-जाना बना रहता था। श्री राधावल्लभ लालजी की सेवा विराजमान होने के कारण भगतजी के घर पर समय-समय पर उत्सव होते रहते थे और आनन्द का अनुपम वितान तना रहता था। पूनम की माता और भगतजी की पत्नी में अत्यन्त प्रेम था। अतः बालिका पूनम का अधिक समय उन्हीं के पास व्यतीत होता था, भगतजी की पत्नी और भगतजी भी बालिका को बहुत प्यार देते थे। भगतजी की पत्नी बालिका पूनम को समय-समय पर कहानी के रूप में वृन्दावन की लीला और वृन्दावन लीला रसिकों के चरित्र सुनाया करती थीं। इन कहानियों में पूनम का मन अत्यधिक रमा करता था।

एक बार लक्ष्मण भगत अपनी पत्नी सहित वृन्दावन आने की तैयारी कर रहे थे। पूनम को जब यह

बात ज्ञात हुई तो ये भी अपनी माताजी से हठ करने लगीं कि मैं भी वृन्दावन चलूँगी और लीलाओं के दर्शन करूँगी। इनके माता-पिता ने इनको बहुत समझाया, किन्तु ये वृन्दावन जाने को रोती और मचलती ही रहीं। अन्त में माता-पिता को लाड़िली पूनम की बात रखनी ही पड़ी और वे दोनों भी पूनम को लेकर भगतजी के साथ वृन्दावन की ओर चल पड़े। वृन्दावन आकर सबने श्री राधावल्लभलालजी के दर्शन किए, जहाँ-तहाँ रासलीलाएँ देखीं और वृन्दावन रस-रसिकों के सत्संग में श्रीहित दम्पत्ति की नित्य केलि की सरस कथायें भी सुनीं।

उस समय श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में श्री हित प्रीतमदासजी नामक एक महात्मा रहते थे। अपनी रसिक अनन्यता, हित रस रीति की अभिज्ञता और मृदुभाषिता के कारण वे हित धर्मी समाज में अत्यधिक प्रभावी थे। बाबाजी महाराज के प्रवचन इन सबों ने भी सुने। बालिका पूनम तो इन कथाओं को सुनकर अघाती ही न थी। इस प्रकार वृन्दावन में एक मास व्यतीत हो गया। अब पूनम के माता-पिता मीरपुर जाने की तैयारी करने लगे और इधर पूनम का रोना प्रारम्भ हो गया। बालिका का हठ था कि मैं वृन्दावन में ही रहूँगी। दोनों परिवारों के सामने एक कठिन समस्या थी। अतः दोनों ने रसिकवर श्री हित प्रीतमदासजी महाराज से बालिका पूनम को समझाने की प्रार्थना की। श्रीहित प्रीतमदासजी ने बालिका से कहा "लाली! तुम इस समय यहाँ से एक मन्त्र ले जाओ। घर जाकर जाप करना। वह तुम्हें वृन्दावन ले आयेगा", यह कहकर बाबाजी महाराज ने बालिका को गोस्वामी श्री हित गोवर्धनलालजी महाराज से मन्त्र-दीक्षा दिलवा दी।

बालिका को लेकर दोनों परिवार मीरपुर पहुँचे। इसके बाद दोनों ने मन्त्रणा करके निश्चय किया कि पूनम का विवाह कर देना चाहिए, नहीं तो यह वृन्दावन चली जायेगी। उस समय पूनम की अवस्था लगभग १४-१५ वर्ष की थी। उसका विवाह मीरपुर के राज्य-दीवान के साथ कर दिया गया। यह विवाह पूनम के लिए आपत्तियों का घर सिद्ध हुआ। पति तथा पूरा परिवार धर्म विरोधी प्रकृति का था। फलतः प्रत्येक कार्य में हर समय ही इन्हें उन लोगों की डाट-फटकार सुननी पड़ती थी, अपमानित होना पड़ता था और पति द्वारा लात-घूसों की मार खानी पड़ती थी। ऐसी स्थिति में इनके लिए वहाँ रहकर एक क्षण भी बिताना भारी हो गया। अन्ततः ये एक दिन घर से भाग निकलीं और श्री धाम वृन्दावन आ गयीं।

श्री वृन्दावन आकर इन्होंने सिर मुड़ाकर विरक्त वेष ले लिया और रसिक प्रवर श्री हित प्रीतमदासजी के चरणाश्रय में रहने लगीं। बाबाजी महाराज ने इन्हें 'श्री हित प्रियादासी' नाम प्रदान किया। कुछ दिनों पश्चात् पता लगाकर इनका पति वृन्दावन आया, किन्तु इनका यह वेश और इनकी दिनचर्या देखकर स्वयं ही विमन होकर लौट गया। अब इनका जीवन निष्कंटक बन गया था।

इनका अहर्निशि श्रीजी की सेवा, वाणी पाठ और भजन में व्यतीत होता था। श्री हित प्रीतमदासजी के निकुंज गमन के पश्चात् श्रीहित प्रियादासीजी शाहजहाँपुर वाले मन्दिर में निवास करने लगीं। ये अपने निवास स्थान पर श्री हितोत्सव, श्री प्रिया जन्मोत्सव और झूलनोत्सव आदि किया करती थीं, किन्तु झूलनोत्सव के समय झूल और फूल के साथ-साथ इनके हृदय में एक शूल भी गड़ा करता था। वह यह कि जिन सेवकजी महाराज ने श्री हरिवंश और उनके धर्म का स्वरूप प्रकट किया था, उनका जन्मोत्सव धूमधाम से नहीं मनाया जाता। इस बढ़ती हुई कसक ने इन्हें श्री राधिकावतार श्री सेवकजी महाराज का जन्मोत्सव मनाने के लिए प्रेरणा दी। फलतः इन्होंने उक्त जन्मोत्सव को बड़ी धूमधाम के साथ मनाना प्रारम्भ कर दिया। जन्मोत्सव मनाते समय ये ऐसी भावोन्मत्त हो जाया करती थीं कि स्वयं ही ढांढ़िन बनकर नृत्य करतीं और हित रसिकों के पैरों पड़ती थीं। इतना ही नहीं, इस महोत्सव में ये अपना तन-

मन-धन सब कुछ न्यौछावर कर देती थीं। इनकी यह कीर्ति-कथा श्री सेवक उत्सव आने पर प्रत्येक रसिक के मुख से आज भी सुनी जाती है।

इनका उपस्थिति काल वि० सं० १९५५ से सं० २०१४ तक माना जाता है।

श्या० वि० खं०

प्रियाशरण (प्रथम)

सांप्रदायिक साहित्य में प्रियाशरणजी (प्रथम) का परिचय संक्षेप में इन शब्दों में प्राप्त होता है--

छप्पय

श्रुति पुरान रसछन्द शास्त्र आचारज वाणी।
न्याय भक्ति वैदान्त कंठ बहुयुक्ति प्रमाणी॥
श्री राधा रस उदधि गुप्त रसिकन दरसायो।
अगम भाव गंभीर सरस ब्रज भाषा गायो॥
दंभ खंडि बड़धननि के विचरे ब्रज वन ग्राम में।
प्रियाशरण विख्यात हैं डूबे राधा नाम में॥

— यादवेन्द्र

इनका जन्म बिहार प्रदेशस्थ बक्सर क्षेत्र के 'सुनहरा' नामक ग्राम में मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी विक्रमी संवत् १९५२ में कान्यकुब्ज चतुर्वेदी परिवार में हुआ था। ये कहा करते थे कि हमारे माता-पिता आदि सब परिवार रामानन्दी वैष्णव थे।

कुछ बड़े होने पर ये अध्ययन के लिए अपने ननिहाल काशी चले गये और वहाँ मामाजी के पास रहकर पढ़ने लगे। इनकी सूझ-बूझ देखकर बड़े-बड़े विद्वान् मंत्र-मुग्ध रह जाते और कहते कि बालक होनहार है। शुरू से भक्ति-भाव में आवेश होने से जहाँ भी श्रीमद्भागवत की कथा होती ये वहाँ जाते और बड़े अनुराग से कथा सुनते थे। पढ़ने में समय देना भी अनिवार्य था, किन्तु कुछ काल बाद ही बक्सर स्थित श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के स्वामी श्री शोभूरामदेव द्वारे के स्थानाधीश सर्वेश्वरदासजी के प्रधान कृपापात्र वर्तमान महन्त श्रीस्वामी श्यामदासजी महाराज से इनकी भेंट हुई। फलतः उनमें इनकी अगाध श्रद्धा हो गई और बक्सर जाकर ये उनसे दीक्षा ग्रहण कर विधिवत् उनके शिष्य हो गये। वहाँ से वाराणसी आकर पुनः पढ़ने लगे।

जब आपकी आयु पन्द्रह साल की थी, गर्मियों की छुट्टियों में इन्होंने मुक्ति नारायण की यात्रा की, वहाँ पहाड़ी लोगों के रहन-सहन तथा आचरण से अशान्ति का अनुभव हुआ। जिस उद्देश्य को लेकर यात्रा पर गये थे, उसकी पूर्ति नहीं हुई। छुट्टियाँ बीतने पर पुनः पढ़ने में लग गये। संयोगवश उसी साल वृन्दावन पानी घाट के महन्त पं० श्रीकल्याणदासजी द्वारा लिखित गीता पर एक लेख किसी पत्रिका में इनके देखने में आया। उस लेख के पढ़ते ही इन्होंने निर्णय कर लिया कि आगामी छुट्टियों में श्री वृन्दावन चलना है। समय आने पर ये पं० श्री कल्याणदासजी के पास वृन्दावन पहुँच गये। इस समय इनकी आयु सोलह साल थी। केवल दो ही दिन पानीघाट रहकर ये श्री गोवर्द्धन पधारे, वहाँ उन दिनों पण्डित बाबा रामकृष्णदासजी पूँछरी गुफा पर विराजते थे तथा श्री गौरांगदासजो कुसुम सरोवर पर रहते थे। श्री गिरिराज की परिक्रमा करते हुए कुसुम सरोवर पर श्री गौरांगदासजी से इनका प्रथम मिलन हुआ। इनको संग लेकर वे पूँछरी श्री पंडित बाबा के पास पहुँचे। वहाँ बातचीत हुई। प्रतिभा सम्पन्न मेधावी बालक को देख श्री पण्डित बाबा बोले कि ऐसे ही होनहार साधक कुछ कर सकते हैं। इधर श्री पण्डित बाबा के व्यक्तित्व की इनके हृदय पर गहरी छाप बैठ गई।

उस समय ये स्वयंपाकी थे, किन्तु यह नियम अधिक दिन टिक नहीं पाया। अतः कुछ ही दिनों पश्चात् ये मधुकरी माँगने लगे। इसके बाद श्री पण्डित बाबा कुसुमसर के पास श्यामकुटी में रहने लगे और ये पूँछरी पर रहते। मधुकरी माँगने तीनों सन्त गोवर्द्धन आते, मधुकरी माँगकर मानसी गंगा की उत्तरवाली छतरी में बैठकर पाते और वहीं सत्संग होता। रात्रि के नौ बजने पर ये पूँछरी और पण्डित बाबा तथा गौरांग-

दासजी कुसुमसर पर चले जाते थे। इस प्रकार कुछ ही काल में इन्होंने गौड़ीय ग्रंथों का गम्भीर अध्ययन कर लिया।

उन दिनों बल्लभ-सम्प्रदाय के महात्मा श्री लाड़िलीदासजी गोवर्द्धन भरतपुर वाले महल में रहते थे। उनके माध्यम से इनको वाणी देखने को मिली। उससे ये बहुत प्रभावित हुए। फिर लाड़िलीदासजी ने बयालीस लीला दिखाई, जिसे देखकर ये और अधिक प्रभावित होकर श्रीवृन्दावन पधारे। यहाँ पं० अमोलकरामजी शास्त्री से ज्ञात हुआ कि निम्बार्क-सम्प्रदाय में श्रीहरिव्यासदेवाचार्य विरचित "महावाणी" रसोपासना की अनुपम निधि है। किन्तु मिले कहाँ और कैसे ? यह ग्रन्थ प्रकाशित तो था नहीं, पांडुलिपि भी जहाँ-तहाँ महात्मा लोग छिपा कर रखते थे। मालूम हुआ कि इस समय पं० दुलारेप्रसादजी शास्त्री, जो कानपुर वाली कुंज में निधिवन के पास रहते हैं, श्रीमहावाणी लिखवा रहे हैं। ये पण्डितजी के पास पहुँचे, उन्होंने कहा कि एक संची ले जाओ. उसे देख या लिखकर लौटा देना और दूसरी संची ले जाना। ये स्वयं लिखते नहीं थे। अतः एक संची लेकर अडींग के अध्यापक पं० देवीप्रसाद को देकर गोवर्द्धन आ जाते, वह उस संची की प्रतिलिपि कर लेते। तब ये उसको वृन्दावन पहुँचाकर दूसरी संची ले जाते। इसी प्रकार पैदल आ-जाकर सं० १९७४ में जो प्रति लिखवाई गई वह आज भी बाबा श्रीविशाखाशरण जी के पास सुरक्षित है। अब श्री 'महावाणी' बाबा के गले का हार बन गई। उनका सम्पूर्ण जीवन उसमें वर्णित नित्य बिहार में निमग्न रहते हुए बीता। इन्होंने अन्य कई सन्तों को भी महावाणी की उपासना में प्रवृत्त कर दिया। वाणी ग्रन्थों के प्रताप से श्री गौरांगदासजी भी नित्य विहार के अनन्य उपासक बन गये।

इसके बाद एक दिन इन्होंने गौरांगदासजी से विमर्श करके निश्चय किया कि श्री पण्डित बाबा ने परकीया भाव की जैसी व्याख्या की है, वास्तव में हमारे उपासना करने योग्य नहीं है। दोनों मित्र महात्मा सोच समझकर, सब कुछ पढ़ते, कहते, सुनते हुए भी उपासना श्री महावाणी में उपदिष्ट नित्य विहार की ही करते रहे। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि श्री रूपरसिकदेवजी के बाद श्रीमहावाणी को प्रकाश में लाने का श्रेय बाबा श्री प्रियाशरणजी महाराज को ही प्राप्त हुआ है। महावाणी को अन्य आचार्यों तथा रसिकजनों ने अति गोपनीय वस्तु जानकर अपनी परम्परा तक ही सीमित रखा, अन्य किसी के सामने प्रकट नहीं किया।

उन दिनों समस्त ब्रजमण्डल में जितने भी सन्त, महन्त, भक्तजन तथा पण्डित थे सबकी इनके प्रति गहरी आस्था हो गई। इतने अल्पवयस्क महात्मा की असाधारण प्रतिभा देखकर सभी आश्चर्य चकित थे। पिसाये वाले बाबा राधिकादासजी इनसे बहुत पहले ही आकर ब्रज में रहने लगे थे। पिसाये की झाड़ी में कदम्ब की शाखा पर ब्रजवासी की दी किवाड़ रख के उसी पर रहते थे। मधुकरी लाते, पाते, सो पाते शेष बन्दरों को दे देते। कुछ दिनों बाद ब्रजवासियों ने छोटी-सी कुटिया बनवा दी तथा उसी कुटिया के प्रांगण में छोटा-सा रासमण्डल बनवाया जो आज भी विद्यमान है। पिसाये वाले बाबा अद्भुत महात्मा थे, इनके रहन-सहन और भजन भावना की सुचारुता देखकर सब सन्त चकित रह जाया करते थे।

पिसायेवाले बाबा का और प्रियाशरणजी का प्रथम मिलन पिसाये की झाड़ी में ही हुआ। प्रियाशरणजी की श्रीमहावाणी में निर्दिष्ट रहस्योपासना की चर्चा सर्वप्रथम पिसाये वाले बाबा के सामने होती रही। दोनों में गहरा स्नेह हो जाने से ये भी प्रायः झाड़ी में रहने लगे। उधर श्री गौरांगदासजी गिड़ोह चले गये तथा ब्रज के अन्य अनेक गाँवों में विचरते हुए वाणी ग्रन्थों और वृन्दावन शतक का अनुशीलन करना इनकी जीवन चर्या बन गई थी। उसी समय श्री पण्डित बाबा श्याम कुटी में व्यासवंशी गोस्वामी जगन्नाथ किशोरजी और पं० श्री अमोलकरामजी शास्त्री, नारद कुण्ड बारादरी में रहते थे। नारद कुण्ड मन्दिर के महन्त

बाबा बनवारीदासजी थे। इन महानुभावों का सत्संग कुसुम सरोवर पर होता था। मथुरा वाले चन्दनजी चौबे उन दिनों प्रतिवर्ष गोवर्द्धन जाते और मानसी गंगा की उत्तरी तटवर्ती छतरी में दान एकादशी (भादौं सुदी एकादशी) का जागरन किया करते थे। वे नियमानुसार उस दिन गये और जागरन में दानकेलि माधुरी का गायन किया। वहाँ प्रियाशरण ने पहली बार चन्दनजी चौबे की गायी दानकेलि माधुरी सुनी, जिससे ये बहुत प्रभावित हुए और सबेरा होते ही चौबेजी से कहा कि यदि आप हमें स्वर-ताल का ज्ञान करा दें तो हम भी वाणी ग्रंथों का आस्वादन करेंगे। चौबेजी भी इनकी प्रतिभा देखकर मुग्ध होकर बोले 'आप मथुरा आ जायँ, तो हम थोड़े ही समय में आपको स्वर-ताल का ज्ञान करा देंगे।'

ये मथुरा पहुँच गये और शिवताल पर चौबों के अखाड़े में रहने लगे। दण्ड-बैठक का तो आजीवन शौक रहा। वहाँ से बंगाली घाट दाऊजी के मन्दिर में चन्दनजी का कीर्तन सुनने जाते और गायन भी सीखते। थोड़े ही दिनों में ये अच्छे गवैया बन गये। बीच-बीच में श्री गौरांगदासजी से मिलन होता रहता था। एक दिन दोनों ने एकान्त में बैठकर निर्णय किया कि नित्यविहार की उपासना सर्वोपरि है। इसलिए विधि-निषेध, एकादशी आदि व्रत इस उपासना में आवरण हैं, इन्हें छोड़कर ही भजन करना उचित है। दोनों ही महात्मा विधि-निषेध का परित्याग कर तीव्र वैराग्य से विभूषित हो शरीर में रज, हाथ में करुआ और कन्धे पर गुदड़ी धारणकर ब्रजवासियों के टुकड़ों से क्षुधा निवृत्ति करते हुए नित्यविहार रस के अगाध-रससिन्धु में निमग्न रहने लगे।

कालान्तर में गौरांगदासजी के गुरुदेव रामदास जी नवद्वीप से श्रीवृन्दावन पधारे और चार सम्प्रदाय आश्रम में ठहरे। श्री पण्डित बाबा ने जाकर उनसे प्रार्थना की कि महाराज गौरांगदास ने एकादशी व्रत करना छोड़ दिया है। तब श्रीरामदासजी महाराज ने कहा कि गौरांगदास! तू तो पार हो जायेगा, किन्तु तेरे पीछे चलने वाले साधारण जीवों का क्या होगा, यह बात भी तुमने कभी सोची है? उन प्राणियों के हितार्थ एकादशी व्रत कर लिया करो। श्रीगौरांगदासजी उच्चकोटि के गुरुभक्त थे, आज्ञा मानकर पुनः व्रत करने लगे, किन्तु उपासना आजीवन नित्यविहार की ही करते रहे। आश्रितों को ये स्व-सम्प्रदायानुसार परकीया भाव का उपदेश करते थे। कुछ-एक नित्यविहार के उपासकों को छोड़कर अन्य किसी को यह भेद नहीं बताया।

संवत् १९७५ में बाबा प्रियाशरण महन्त भगवानदास जी टटिया स्थान वृन्दावन के सम्पर्क में आये और स्थान में रहकर श्री महन्तजी महाराज से 'केलिमाल', 'श्रीविहारिनदासजी की वाणी' तथा अन्य स्थानीय वाणियों का गम्भीर अध्ययन किया। एक दिन इन्होंने रस के पद पूछे तो महन्तजी ने कहा कि ये बातें नवेलीशरणजी से पूछो। ये श्री नवेलीशरणजी स्थान के ही सन्त थे, जो उन दिनों रमणरेती बारादरी में रहते थे। इन्होंने उनसे समाज-गायन सीखा था। अब उनसे श्रीविहारिनदासजी की वाणी समझी। टटिया स्थान के ही महात्मा श्रीरमणदासजी मुखिया उन दिनों श्री गोवर्द्धनलालजी भट्ट के यहाँ रहते थे, उनसे मिलने के कारण इनका भट्ट जी के यहाँ आना-जाना हुआ तथा आजीवन गहरा सम्पर्क रहा।

संवत् १९७७ में बाबा श्री विशाखाशरणजी घर-द्वार छोड़कर श्री वृन्दावन पधारे। सं० १९७९ में बाबा प्रियाशरणजी से इनका गहरा सम्पर्क हो गया। श्री विशाखाशरणजी को गोस्वामी श्री जगन्नाथ किशोरजी से दीक्षा प्राप्त थी, किन्तु सं० १९८० फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के दिन पिसाए की झाड़ी में श्री राधिकादासजी महाराज की कुटिया में बाबा श्री प्रियाशरणजी महाराज से विधिवत् विरक्त दीक्षा ग्रहण करके ये सन्त बन गये। उस समय इनकी आयु बत्तीस साल की थी। ये निरन्तर गुरुदेव श्री प्रियाशरणजी की सेवा में तत्पर रहने लगे। वि० सं० १९८४ में श्रीविहारीदासजी वृन्दावन आये और प्रथम श्रीविशाखाशरणजी

से मिलन हुआ। उन्होंने उनको इनके दर्शन कराये। श्री महाराज की आज्ञा से पं० श्री दुलारेप्रसाद शास्त्री से दीक्षा लेने के साथ ही इनकी आज्ञानुसार वे कानपुर वाली कुंज में श्रीगुरुदेव के सम्पर्क में रहकर मन्त्रराज का पुरश्चरण करने बैठ गये। अनुष्ठान पूरा होते ही इन्होंने सिवार ले जाकर श्री विशाखाशरणजी से कहा कि विहारीदास को तुम अपने पास रख लो। तब इनको सिवार ले जाकर श्रीप्रियाशरणजी महाराज ने विधिवत् विरक्त दीक्षा प्रदान कर सन्त बना दिया और कहा कि हड़िया बन में रहकर मधुकरी माँगो और भजन करो। ये दोनों ही सन्त वहाँ भजन करने में निमग्न हो गये।

वि०सं० १९८५ में विशाखाशरणजी को हड़िया वन में रहकर भजन करने की आज्ञा प्रदान करके ये स्वयं भी श्री वृन्दावन आ गये। उस समय राधावल्लभी सन्तदासजी ने इनसे प्रार्थना की कि बाबा मेरे पास सेवक वाणी की टीका है, जो बहुत अशुद्ध है, आप इसे शुद्ध कर दें। इन्होंने कहा कि 'मैं सेवक वाणी की कथा कह देता हूँ, आप उसे सुनकर अपनी वाणी शुद्ध कर लेना।' सन्तदासजी की कुटिया जो श्रीराधारमणजी के सेवायत गोस्वामी श्री विश्वम्भरजी की बगीचा में जो बारह घाट के पास है, में सेवक वाणी की कथा शुरू हो गई। अनेक श्रोता आते। साथ में हरगूलाल जी कलकत्ते से आये हुए थे, वह भी कथा सुनने आते थे। लाला ने पहली बार श्री बाबा की कथा सुनी जिससे बहुत प्रभावित हो गये। दूसरी बार ये कलकत्ते से आये तो श्री बाबा से प्रार्थना की कि 'महाराज! हमको श्री वृन्दावन शतक की कथा सुना दीजिए। श्रीबाबा ने कहा अब तो हमारे पास समय नहीं है, तुम शतक की कथा गौरांगदासजी से सुन लो।' धीरजलाल के बगीचे में श्रीगौरांगदासजी की कथा आरम्भ हो गई। उस समय श्री बाबा सिवार चले गये। इधर लाला हरगूलाल को कथा सुनने का शौक लग गया।

लालाजी ने सिवार जाकर बाबा से प्रार्थना की कि 'बाबा! हमें बयालीस लीला की कथा सुना दीजिए।' श्री बाबा सिवार से आये और रमणरेती और बारादरी में सिद्धान्त विचार लीला की कथा शुरू हुई। उदाहरण रूप में चतुरासी आदि राधावल्लभी वाणियों की भरमार रहती थी, राधावल्लभी श्रोता भी अधिक संख्या में आते थे। तब श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में चर्चा हुई कि निम्बार्की साधु राधावल्लभी वाणियों की कथा कहे, यह ठीक नहीं है। यह बात चार छः दिनों में श्री बाबा के कानों तक पहुँची तब कथा बन्द करके ये सिवार चले गये। लाला हरगूलालजी रामेश्वर को लेकर फिर सिवार पहुँचे और 'सिद्धान्त विचार' पूरा सुनने का पुनः आग्रह किया। निर्णय हुआ कि दतिया वाली कुंज में कथा हो। सं० १९८६ में दतिया वाली कुञ्ज के ऊपर हाल में कथा शुरू हुई, जिसको सुनने लगभग सात सौ श्रोता आते थे। तीन घण्टा प्रतिदिन तीन महीना बोलने पर भी 'सिद्धान्त-विचार-लीला' शेष रह गई। समय पा करके हरगूलाल फिर कलकत्ते से आये। उनके आग्रह से दतिया वाली कुञ्ज में ही तीसरो बार 'सिद्धान्त-विचार' को कथा शुरू हुई। इस बार चार महीना बोलने पर भी 'सिद्धान्त-विचार' की कथा पूरी नहीं हुई। श्री बाबा कुछ दिन मुंशी वाले कुञ्ज में रहे, फिर गोवर्द्धन, सिवार तथा पिसाये में रहने लगे।

एक दिन कुछ प्रेमियों ने श्रीबाबा से प्रार्थना की कि 'बाबा श्रीमहावाणीजी की कथा सुना दीजिए।' श्रीबाबा ने कहा कि 'श्रीमहावाणीजी हमारे हृदय की वस्तु है, साथ ही इसमें इतना गहरा रस है जो अन्य किसी वाणी में नहीं मिलता है, इसलिए कुछ लोग लाभ उठाने के बजाय जान बूझकर इस ग्रन्थ रत्न से ईर्ष्या करते हैं, इसलिए सभा में बैठकर इसका कहना उचित नहीं होगा।' फिर भी भावुकों के आग्रह करने पर सं० १९८९ में विहारीजी के बगीचे में महावाणी सहज सुख की कथा बड़े समारोह के साथ आरम्भ हुई। श्रीबाबा विधि-निषेध से उठे हुए सिद्ध और शुद्ध महात्मा थे। इन्होंने इस कथा में तुलसी से श्रीवृन्दावन की लता का और गोपी चन्दन से वनराज की रज का अत्यधिक महत्त्व दिखाते हुए, रज और रूख का सेवन करना

ही साधक का मुख्य धर्म बताया। यह बात विधि-निषेध मानने वाले लोगों को अच्छी नहीं लगी, किन्तु श्री बाबा के सामने बोलना भी तो साधारण बात नहीं थी।

श्री विहारीजी के बगीचे में ही सं० १९९१ में 'श्री महावाणी-सिद्धान्त-सुख' की कथा आरम्भ हुई। जिनको सुनने हरि बाबा जैसे अनेक सन्त आते थे। इस कथा में श्री श्रीगोपाल मन्त्रराज की विस्तृत व्याख्या तथा श्री वृन्दावनधाम का दिव्य स्वरूप और उत्कर्ष अनूठे प्रकार से वर्णन किया गया। इसके बाद सं० १९९८ से निकुञ्जरस और ब्रजरस को लेकर श्रीबाबा महाराज और हरगूलाल के बीच में विवाद आरम्भ हो गया। इधर-उधर की कही-सुनी बातों से तनाव बढ़ता गया, किन्तु लालाजी ने स्वयं इनके पास आकर इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। सं० २००६ में लाला रतनलाल बेरी वालों के द्वारा ये सब बातें बाबा विहारीदास के सामने आ गईं। विहारीदासजी ने सिवार वाले नम्बरदार को श्री बाबा के पास भेजा, श्री बाबा ने सब बातें आद्योपान्त नम्बरदार को बता दीं। इसके चार ही दिन बाद श्री पिसाये वाले बाबा का स्वास्थ्य खराब हो गया, उनको देखने श्रीबाबा महाराज निम्बार्क सदन आ गये, उस दिन सम्पर्क में सारी बातें स्पष्ट हो गईं।

इसके बाद बगीचे में ही श्रीनिम्बार्क भगवान् की 'दशश्लोकी' तथा 'अर्थपंचक' की व्याख्या श्री बाबा ने प्रारम्भ की। 'अर्थ पंचक' समाप्त होते ही तुरन्त 'राधासुधानिधि' की कथा शुरू हो गई। इस कथा में श्रोताओं की पर्याप्त भीड़ होती थी। इस प्रसंग में श्री बाबा महाराज ने निकुञ्जरस, ब्रजरस का जो लेखा-जोखा किया वह वास्तव में साधक के लिए अमृत स्वरूप था। कथा पूरी करने के बाद ये बरसाने चले गये और वहाँ से केवल महावाणी पुस्तक लेकर सिवार चले आये।

सम्वत् २००८ में श्री बाबा सिवार से वृन्दावन पधारे और निम्बार्क सदन रमणरेती में विराजे। उस समय अनन्तश्री विभूषित श्री "श्रीजी" महाराज के आग्रह से श्रीमहावाणी सिद्धान्त सुख की कथा आरम्भ हुई। यह तीन महीने तक चलती रही।

ये कभी निम्बार्क सदन, वृन्दावन तो कभी प्रेम सरोवर, बरसाने रहने लगे। कहीं भी रहते, थोड़ा बहुत सत्संग प्रतिदिन चलता था। अपराह्न में ये नित्य नियम से महावाणीजी का पाठ करते थे। सं० २०१४ में पिसाये वाले बाबा राधिकादासजी निकुञ्ज पधारे तथा इधर श्रीविहारीदासजी बीमार हो गये। लगातार तीन साल बीमार रहने के बाद सं० २०१७ में बीमारी अन्तिम दौर में थी, उस समय ये प्रेमसरोवर से श्रीवृन्दावन आये और कुछ समय बाद 'प्रीति-चौबनी-लीला' की कथा शुरू हो गई। इस कथा के समापन काल सं० २०१७ आश्विन कृष्णा चतुर्दशी को श्रीविहारीदासजी का देहावसान हो गया। इनका उत्सव होते ही श्री बाबा प्रेम सरोवर चले गये तथा श्री विशाखाशरणजी जो रंग भवन में थे, वहीं रहने लगे। किन्तु दीर्घकाल से हृदय रोग से पीड़ित होने तथा—विहारीदासजी के उत्सव में परिश्रम के कारण कमजोरी अधिक बढ़ गई, जिससे कभी प्रतिदिन तो कभी दिन में दो-तीन बार दिल का दौरा पड़ने लगा। गम्भीर वेदना को देखते हुए प्रतीत होता था कि इनका शरीर रहेगा नहीं। प्रेम सरोवर पर रहते हुए श्री बाबा ने मथुरा वाले लाला हीरालाल सर्राफ की मारफत सेवा लेनी शुरू कर दी।

कुछ दिनों बाद प्रेम सरोवर के महन्त गदाधरदासजी के स्थान को भी छोड़कर ये लाला प्रताप चन्द के रिश्तेदार की धर्मशाला--जो बरसाने अड्डे पर है--में रहने लगे। अन्त में लाला काशीनाथ आकोला वालों की धर्मशाला में स्थायी रूप से रहने का विचार कर ये गोवर्द्धन चले गये और अन्तिम समय तक वहीं विराजे। प्रियादासजी ने ६७ साल ब्रजवास कर ८१ साल ४ माह ७ दिन की आयु में फाल्गुन कृष्णा प्रतिपदा सं० २०३३ के सुबह ९ बजे श्रीगोवर्द्धन की रज प्राप्त की। श्रीगिरिराज की तलहटी में ही इनकी अन्त्येष्टि की गई। वहाँ गोपाल बाबू शर्मा ने छोटा-सा

स्मारक बना दिया है। आधुनिक काल में रसोपासना के पुनरुद्धार में इनका महत्वपूर्ण योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

प्रे० ना० श्री०

प्रियाशरण (द्वितीय)

प्रियाशरण (द्वितीय) का जन्म झाँसी के एक कायस्थ परिवार में हुआ था। इन्होंने राधावल्लभीय सम्प्रदाय की मंत्र-दीक्षा गो० सुखलालजी से प्राप्त की थी। दीक्षित होने के पश्चात् इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन श्रीजी की सेवा में लगा दिया। ये दोनों समय (प्रातः और सायं) श्री राधावल्लभलालजी के मन्दिर की सोहनी सेवा (बुहारी सेवा) अनुराग के साथ किया करते थे। सेवा करते समय श्री हित वाणियों का पाठ भी होता रहता था। मन्दिर में होने वाले दोनों समय के समाज-गान में ये प्रमुख झेला (झाँझिया) भी थे। इन्होंने अपनी गान-कला से श्री राधावल्लभलालजी का अनुग्रह प्राप्त कर लिया था। श्रीजी की ललित लीलाओं का गान करते हुए इनके नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा बह निकलती थी। ऐसा क्यों न होता, इन्हें लाड़िलीलाल के लीलामय रूप का स्फुरण और अनुभव जो होने लगा था। हितोत्सव और राधाष्टमी के अवसर पर जब ये निष्कैतव अनुराग और अनुकरणीय उल्लास के साथ ढाँढ़िन बनकर नाचते थे तो सभी दर्शकगण मन्त्र-मुग्ध से रह जाते थे और जब ये भाँड़ बनकर सभी की नकल बनाने लगते थे तो लोगों के ठहाके छूट पड़ते थे। ५०-५५ वर्ष की आयु में ही ये अपनी पार्थिव देह को छोड़कर नित्य निकुंज में प्रविष्ट हो गये। श्री राधावल्लभजी ने इनकी सोहनी सेवा, गान-कला और नृत्य कला से प्रसन्न होकर शीघ्र ही इन्हें अपने पास बुला लिया। इनका उपस्थिति काल अनुमानतः वि० सं० १९७५ से वि० सं० २०३५ के मध्य स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

प्रियासखी (प्रथम)

प्रियासखी (प्रथम) दतिया राजवंश की थीं। राधावल्लभ-सम्प्रदाय की राजस्थानी कवयित्रियों में इनका विशिष्ट स्थान है। इनकी लिखी 'प्रिया सखी की वाणी' उपलब्ध होती है। इसमें भक्ति-सिद्धान्त, रस का अर्थ, सखी को वचन सखी सों, श्रीलालजी को वचन श्री सखी प्रिया सखी जू सो तथा वेष पलट ये पाँच भाग हैं। इनके काव्य पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव परिलक्षित होता है। ब्रज मिश्रित राजस्थानी में लिखी प्रिया सखी की वाणियों में भाव और भाषा का सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। उदाहरण के लिए उक्त ग्रन्थ से एक छंद उद्धृत किया जाता है—

छैल छबीलो राधा गोरी होरी खेल मचायो।
केसरि ढोरि गुलाल माँड मुख अंजन दे
हँसि प्रिय गुलचायो॥
पीताम्बर सों हाथ बांध करि,
होरी को नाच नचायो।
प्रियासखी को वेष बनायो,
पगनि महावर रंग रचायो॥

श्रीकृष्ण की छवि रोम-रोम में समाई हुई है। भक्तों पर तत्क्षण द्रवित होने वाले अन्तर्यामी कृष्ण को प्रतिपल स्मरण करना ही प्रियासखी को अभीष्ट है—

प्रियतम हरि हिय बसत हमारै।
जोई कहूँ सोई करत रैन दिन
छिन पल होत न जिय ते न्यारै॥
जित तित तन मन रोम रोम में,
ह्वै रहै मेरे नैननि तारै।
अति सुन्दर वर अन्तर्यामी
प्रियासखी हित प्रानपियारै॥

ज० सि० परि०

प्रियासखी (द्वितीय)

श्री प्रियासखी (द्वितीय) वि० सं० बीसवीं शताब्दी के एक उच्चकोटि के महात्मा थे। ये वृन्दावनवासी लब्धप्रतिष्ठ विरक्त सन्त थे। इनके द्वारा रचित बहुत

से फुटकर पद प्राप्त होते हैं। ये पद आचार्य-मंगल-बधाइयों में संगृहीत हैं। इनकी स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप में कोई रचना प्राप्त नहीं होती। इनके द्वारा रचित पदों में आचार्य-निष्ठा एवं मंगल-बधाइयाँ अधिक उपलब्ध होती हैं। देखिए एक पद :—

आज महा मंगल भयो माई।
कृष्णजू हंस रूप धरि प्रगटे आनंद कह्यो न जाई
सनकादिक नारद, निंबारक सबके हिये सिराई;
प्रियासखी कछु कहि न जाय
छवि देखत चंद लजाई॥

प्रे० ना० श्री०

प्रीतमदास

प्रीतमदासजी की मधुरोपासना की प्रशस्ति में 'श्री हित अनन्य रसिकावली' में निम्नलिखित छप्पय मिलता है :—

हित रस जस में मगन सदा उनमादे झूमें।
श्रीराधावल्लभ रूप माधुरी पी दृग घूमें।
जो नाम गिरा हरिवंश कथन पन पूरौ पारचौ।
जो कछु देख्यौ रूप सोइ वाणी उच्चार्यौ॥
मूरति रसिक अनन्यता गुन गन का पै जात मनि।
हित रस रीति रसज्ञ वर श्री हित प्रीतमदास धनि॥

इनका जन्म सं० १९१० के लगभग फतहपुर जिलान्तर्गत किसी ग्राम में हुआ था। विद्यार्थी जीवन में इन्होंने श्री हिताचार्य कृत—"**ब्रज नव तरुणि कदम्ब मुकुट मणि श्यामा आज बनी**"—प्रतीक का पद पढ़ा था। इसके लालित्य और माधुर्य ने इनके चित्त को ऐसा आकर्षित किया कि ये श्री हिताचार्य चरण कृत पदों को पढ़ने और सुनने के लिए लालायित रहने लगे। इन्हें जिस पुस्तक में भी श्री हिताचार्य कृत पद मिल जाते थे, ये उस पुस्तक को खरीद लेते या उन पदों की नकल कर लिया करते थे।

एक दिन इन्हें एक ऐसे महात्मा का साक्षात्कार प्राप्त हुआ जो श्री हिताचार्य द्वारा प्रणीत पदों का पाठ कर रहे थे। इन्होंने उनके चरण स्पर्श किये और प्रार्थना की—"महात्माजी! आप मुझे ये सारे पद लिखा दीजिए।" महात्माजी ने पूछा—"भैया! तुम्हें ये पद क्यों अच्छे लगते हैं?" उत्तर में इन्होंने कहा—"मुझे इन पदों का लालित्य और माधुर्य अत्यन्त प्रिय लगता है।" महात्माजी ने कहा—"भैया! इन पदों ने तुम्हारे चित्त को आकर्षित किया है, यह तुम्हारा भाग्योदय हो है परम सौभाग्य है। किन्तु अभी तुम्हें इन पदों के बाह्य सौन्दर्य की मधुर झलक ही मिल पाई है। इनका अन्तर्भूत रसपेशल रूप तुम्हें अभी सर्वथा अलक्षित है।" इन्होंने पूछा—"महात्माजी! वह कैसा है तथा किस प्रकार लक्षित होगा?" महात्माजी ने कहा—"भैया! वाणी तो वाणीकार के हृद्गत भावों का उद्गार होती है। काव्य-जगत् में उसे कथा-वस्तु और उपासना के क्षेत्र में इष्ट-वस्तु या रस कहकर अभिहित किया गया है। किसी के अन्तःकरण में संगुप्त वस्तु तो एकमात्र उसकी कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। अतएव इस रस वस्तु की प्राप्ति के लिए तुम्हें भी श्री हरिवंश कृपा को उपलब्धि अनिवार्य है और वह कृपा श्री हित हरिवंश चरण शरणापन्न होने पर ही प्राप्त होती है।" महात्माजी की सुमधुर और सारगर्भित वचनावली को सुनकर इनको कुछ ऐसा लगा मानों गन्तव्य स्थान इन्हें सामने दिखाई दे रहा और उस पर चलने के लिए महात्माजी इंगित कर रहे हैं। इन्होंने महात्माजी के चरण पकड़ लिए। कुछ कहना भी चाहते थे, किन्तु गला रुँध गया। महात्माजी इनकी ललचायी आँखों से सब कुछ समझ गये और इनको छाती से लगा लिया और फिर वृन्दावन की ओर चल पड़े। प्रीतमदासजी भी उनके पीछे-पीछे मंत्र-मुग्ध की भाँति हो लिए।

महात्माजी के साथ वृन्दावन आकर इन्होंने श्री राधावल्लभलालजी के दर्शन किए। उसके पश्चात् इनको ऐसा लगा मानों यह रूप मैंने पहले कभी देखा है, पूर्व का जाना पहचाना है। महात्माजी ने इन्हें ले जाकर गोस्वामी गोवर्धनलालजी का शिष्य बना

दिया। गोस्वामीजी ने इन्हें सुपात्र देखकर इनके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा –"प्रीतमदास ! वाणी ही वस्तु रूप है, वाणी में हीं वस्तु है, श्री हित सेवकजी महाराज ने कहा है –

"नाम वाणी जहाँ श्याम श्यामा तहाँ"।
"नाम वाणी निकट श्याम श्यामा प्रगट"।
"नाम वाणी सुनत श्याम श्यामा सुवस"।

—"या लिये भैया ! नाम और वाणी में अपने मन कूँ तथा अपने प्रानन कूँ रमाय देऔ। या रस की प्राप्ति कौ एक मात्र उपाय ये ही है"—

"कहत सुनत गावत रसिक
सु नित नित लीला रस पियत।"

इसके अनन्तर प्रीतमदासजी मन-क्रम-वचन से श्री हरिवंश नाम वाणी की आराधना करने में रत हो गये। इनके मन की गाढ़ी लगन और हृदय के गाढ़े अनुराग ने बहुत थोड़े समय में ही इनके हृदय में इष्ट-वस्तु का साक्षात्कार करा दिया। यद्यपि रसिक जन इस वस्तु को अपने हृदय में छिपाकर ही रखा करते हैं, परन्तु यह कस्तूरी की भाँति अपनी गन्ध फैलाये बिना नहीं रहती। श्री हित प्रीतमदासजी भी वस्तु का दुराव न कर सके। वह प्रत्यक्ष रूपेण इनकी आँखों में झलकने लगा था। अतः वृन्दावन रस लोलुप रसिक-जन प्रायः इनके पास बैठे ही रहते थे और इनके मुख से लीलामय रूप और रूपमयी लीला का रस पान किया करते थे। अन्य साम्प्रदायिक विद्वान् भी वृन्दावन रस का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इनके पास आया करते थे। उदार हृदय श्री हित प्रीतमदास जी अपनी मधुर वचनावली से उन सबका भी मनस्तोष किया करते थे। श्री सेवक वाणी में उद्गीत अनन्य धर्म इनके जीवन में मूर्त्त रूप में प्रत्यक्ष हो गया था।

एक बार एक रामानन्दी महात्मा जो कि भागवत के भी अच्छे विद्वान् थे, इनके पास आए। इन्होंने भी 'श्री राधा सुधा निधि' के कई श्लोकों द्वारा तथा श्री हित चतुरासीजी के कई पदों द्वारा इन्हें वृन्दावन रस की मधुरिमा का लोलुप बना दिया। जब महात्माजी ने इस रस की प्राप्ति के लिए अधिक उतावली प्रगट की तब इन्होंने सदय होकर कहा –"बाबाजी ! तुम 'श्री हरिवंश-श्री हरिवंश' नाम का जाप किया करो।" महात्मा जी ने कहा—"महाराज ! हम रामानन्दी हैं। सदा से राम नाम का जाप किया है। आपकी आज्ञा है तो हम राम नाम के स्थान पर कृष्ण नाम का जाप अथवा राधा कृष्ण नाम का जाप तो कर सकते हैं, किन्तु 'श्री हरिवंश-श्री हरिवंश' तो जप नहीं सकते। श्री हरिवंश तो रामानन्द, रामानुज की भाँति आचार्य ही तो हैं ? इष्ट थोड़े ही हैं ?" श्री हित प्रीतमदासजी ने कहा—"तुम अभी यहाँ से चले जाओ, अब यहाँ नहीं आना।" महात्माजी का हृदय उस रस का लोलुप बन चुका था। वे इस फटकार से दुःखी होकर वहाँ से चले आये और खाना-पीना छोड़कर मन्दिर के एक कोने में पड़ गये। उन्होंने स्वप्न में देखा कि मन्दिर के जगमोहन में एक अरुणाभ गौर मूर्त्ति आचार्य आसन पर विराजमान है। उनके पास ही एक गौर बालिका और एक श्याम बालक खेल रहे हैं। बालक कभी-कभी बालिका की चोटी, कभी-कभी बालिका का कोई अंग-वस्त्र स्पर्श करता है, तभी बालिका कुछ रिस जैसी प्रकट करती है और यह कहती है कि मैं इनसे (आसन पर विराजमान भव्य मूर्ति से) कह दूँगी। श्याम बालक यह सुनकर कुछ सहम-सा जाता है। स्वप्न-द्रष्टा बाबाजी को यह अनुभव हुआ कि ये गौर भव्य मूर्त्ति श्री श्रीहित हरिवंश महाप्रभु पाद हैं और गौर श्याम बालक इनके लाड़िले हैं। उनकी निद्रा भंग हो गई और वे जोर-जोर से 'श्री हरिवंश–श्रीहरिवंश' कहते हुए रसिक प्रवर श्री हित प्रीतमदासजी महाराज के यहाँ पहुँचे। श्री हित प्रीतमदास जी ने पूछा –"अरे क्या हुआ, क्या हुआ ?" किन्तु महात्माजी 'श्री हरिवंश-श्रीहरिवंश' ही कहते रहे, प्रेमाश्रुओं की प्रबल धारा के साथ। श्री प्रीतमदासजी समझ गये और उनको साथ लेकर अपने गुरुवर श्री गोवर्धनलालजी के पास गये। गोस्वामीजी ने भी इनकी प्रार्थना पर रामदासजी (उन महात्मा

जी) को उपासना का मन्त्र प्रदान कर श्री हरिवंश-कृपा भाजन बना दिया। ये महात्मा ही आगे चलकर श्री हित राधावल्लभशरण नाम से प्रसिद्ध हुए। ऐसी थी श्री हित प्रीतमदास महाराज की रसिक अनन्यता। इन्हीं के सत्संग से श्री गंगादासजी, श्री प्रियाशरणजी (निम्बार्कीय) आदि कई महानुभाव वृन्दावन रस के लोलुप बन गये। इन्होंने कुछ सरल पदावली भी लिखी हैं। उदाहरणस्वरूप दो पद उद्धृत किये जाते हैं—

(१)

निरखत गति मन की पंगु भई।
श्याम तमाल तरुण सौं लपटी वेली कनक नई।
लहँगा अरुण हरित कंचुकि छबि सारी नील छई।
लाल पाग उपरैना वागौ कंचन सोभ दई॥
रतन जटित आभूषण रँग-रँग अगनित ओप लई।
मोर मुकुट चंद्रिका मनोहर उपमा सब रितई॥
रविजा तट कमनी मृदु अवनी सरस सुगंध मई।
हित अलि संग दासि 'हित प्रीतम' तन सुधि बिसर गई॥

(२)

राधा प्रिय खेलत होरी।
बनि ठनि यूथ संग सखियन के हाथन रंग कमोरी।
घेरि लियौ चहुँ ओर दिशा तें
मोहन धन चपला छबि छोरी॥
बोलत हो हो होरी॥
बीन मृदंग चंग आवझ डफ ताल मजीरा जोरी।
राधे सैन समुझि नैंनन में सुन्दरि भईं इक ठौरी॥
सबनि मिलि मतौ कियौ री॥
वंशी छीन पीताम्बर छीन्यौ मुकुट लियौ बरजोरी।
सखी वेश करि हरि कौं बोलीं नन्दराय की छोरी।,
बनो छबि काम करोरी॥
औसर चूक भये मन मोहन मुख चूमैं सब गोरी।
काजर आँजत एक-एक भरि ढोरत रंग कमोरी॥
गाल गुलाल मलौ री॥
पटिया करि चुटिया सुठि गूँथी फूलन रेशम डोरी।
हाथ पकरि ललिता यौं बोली मन भांमतौ करौ री॥
नन्द कौ कुल सुधरौ री॥
जग छाई व्याही कहा जाई गौनौ वेगि करौ री।
तब अलि हित राधा 'प्रीतम'
बलि सोई मुकुट धर्‌यौ री॥
अलिन गठजौरों कियौ री॥
हाथ पकरि बैठाई बायें अंग रंग उघर्‌यौ री।
अबीर गुलाल लाल धूंधरि में अति रस रंग रह्यौ री॥
वचन नहिं जात कह्यौ री॥

इनका निकुंज गमन काल संवत् १९८० है।

श्या० बि० खं०

प्रेमकुँवरि

महारानी प्रेमकुँवरि का जन्म सं० १९४५ वि० के लगभग हुआ था। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य जानकारी प्राप्त नहीं है। इनका विवाह दतिया नरेश महाराज गोविन्दसिंह से हुआ था। महाराज के शासन काल (१९०७-४८ ई०) में ही सन् १९४३ ई० में इनके भक्तिपरक पदों का संग्रह 'प्रेम-प्रकाश' नाम से प्रकाशित हुआ था। ये राधाकृष्ण की उपासिका थीं और राधाबल्लभीय-संप्रदाय में दीक्षित थीं। इनके रागबद्ध पदों में राधा-कृष्ण की भक्ति-भावना अभिव्यक्त हुई है। इनके कुछ छन्द उदाहरण रूप में प्रस्तुत हैं—

(१)

राधा राधावर सुमरि, समुझि भक्त की पंथ।
प्रेमप्रकाश प्रकाशमय, रचना रची सुग्रन्थ॥

(२)

ध्यान में राधाकृष्ण सुनाम है
जुगल स्वरूप सदा गुन गाऊँ।
ज्ञान में ज्ञानी रहे लवलीन
सदा मन मोद प्रमोद मनाऊँ॥

(३)

पिया आजा आजा हमारी सिजरिया में।
निसदिन पल न परत मोरी सजनी
जादू डारो नजरिया में॥

स्याम सजन तोरी साँवरी सूरत
निकरत रहत अटरिया में ।
प्रेमकुँवरि वृन्दावन वासिन
सोर मचायो बजरिया में ॥

न० प्र० गु०

प्रेमदास (प्रथम)

श्री प्रेमदास (प्रथम) की वैराग्यभावना तथा भक्ति-निष्ठा का परिचय 'भक्त गाथा' में इन शब्दों में मिलता है—

गुरु ग्रन्थन कौ संग भजन स्थिति निजमन की ।
महा तीव्र वैराग विभौ मघिवा त्रण जग की ॥
यथा लाभ सन्तोष भावना छिन न विसारैं ।
श्री व्यास नन्द पदहि लग विवस ह्वै नाम उचारैं ॥
श्री चुन्नी लाल प्रसाद तें हित दम्पति के पास ।
प्रगट प्रेम की गति यही चले जु मग प्रेमदास ॥

ये गो० श्री चुन्नीलालजी के शिष्य थे। इनका जन्म एक सम्पन्न परिवार में हुआ था, किन्तु सौभाग्यतः किसी वृन्दावन रस-रसिक के संसर्ग से इन्हें जगत् से पूर्ण विरक्ति हो गई और इन्द्र के समान प्राप्त भोग-विलासों को तृण के समान छोड़कर ये श्री धाम वृन्दावन आ गये। सन्त की अहेतुकी कृपा से इनका हृदय लोक-राग से तो शून्य हो गया था, गुरुवर के वरद हस्त का स्पर्श होते ही इनके हृदय में श्रीहित चरण-अनुराग की सरिता बहने लगी। इस हितचरणानुराग से विवश होकर प्रेमदासजी श्री हरिवंश नाम और श्री हरिवंश वाणी के अनन्य गायक और एकान्तिक भजन भावना परायण रसिक बन गये। इस प्रकार की मानसिक स्थिति के कारण ये भूख प्यास से भी बेसुध जैसे रहने लगे। इन्हें जब जो कुछ भी प्राप्त हो जाता उसी से पूर्ण सन्तुष्ट दिखाई देते थे। मानसिक भावना में तन्मय रहने के कारण बाह्य देहानुसन्धान तो इन्हें रहता ही न था। इस विरक्ति के कारण इनका शरीर कृश और पीला हो चला था। प्रेम की चपेट में आ जाने पर तन और मन की यही दशा होती है। ध्रुवदास का यही मत है—

सुनि सखी दशा होत जब प्रेम की ।
ज्ञान कर्म विधि वैभवता सब
नहिं ठहरात व्रत नेम की ॥

रहत अधीर ढरत नैनन जल
मिटत सकल चंचलता मन की ।
परत चित्त आनन्द सिन्धु में
लजि तजि जात लाज गुर जन की ॥

निद्रा आदि लगत सब नीरस
घटत विषय तृष्णा सब घट की ।
रहत मगन औरैं रस सजनी
जब एही दोउ अखियाँ अटकी ॥

रुचत न रसन स्वाद षट् रस के
अरु कछु होत छीन गति तन की ।
हित ध्रुव रहत एक सुख नैंनन
छिन छिन चौंप जुगल दरसन की ॥

—श्रीहित ध्रुववाणी

इस प्रकार की प्रेमोन्मत्त दशा में ही एक दिन इस पंचभौतिक देह का परित्याग कर श्री प्रेमदासजी श्रीहित दम्पति के सन्निकट पहुँच गये। इनका विद्यमान काल सं० १७५० से सं० १८३० तक अनुमान किया जा सकता है।

श्या० बि० खं०

प्रेमदास (द्वितीय)

प्रेमदासजी (द्वितीय) ने "भक्तवर द्वादश कथा" नामक एक वार्ताग्रन्थ की रचना की है जिसमें पुष्टिमतानुयायी गोस्वामी तुलसीदास के १२ शिष्यों की कथा व्रजभाषा में लिखी गई है। इन वार्ताओं में एक भक्त प्रेमदास की भी वार्ता है, परन्तु ये उनसे भिन्न हैं।

इस वार्ता-ग्रन्थ का प्रतिलिपिकाल सं० १८५४ है। निश्चय ही मूल ग्रन्थ प्रतिलिपिकाल से पाँच या सात दशक पूर्व लिखा गया होगा। इस प्रकार इनका जीवन काल अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अनुमानित किया जाता है।

इन्होंने अत्यन्त रोचक शैली में वार्ता लिखी है। प्रस्तुत है उसका एक उदाहरण—

"तब ब्राह्मण विषे श्रेष्ठ अनू नाम ब्राह्मण है। सो पूर्वजन्म में विष्णुदास नाम ब्राह्मण हुतौ, उनकौ दर्शन दीयौ। अरु कहनौ है ब्रह्मन्! मैं तेरे तप पर बहुत प्रसन्न भयो हौं। तुम कोई एक वर माँगौ। तब उन एही वर माँग्यौ जो मेरे घर आप अवतार लेवौ। तब हम कहनौ "एवमस्तु।""

इस प्रकार इनका वार्ता ग्रंथ प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाणों के लिए भी उपादेय है। इनके कुछ पद भी प्राप्त हुए हैं।

सु० श०

प्रेमदास (तृतीय)

प्रेमदास (तृतीय) जयपुर में 'गिरधारीजी का मन्दिर' के महन्त थे। ये श्रीकृष्ण की स्तुति में पद रचना किया करते थे। इसके अतिरिक्त इनके जीवन के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है। इन्होंने पदों के अतिरिक्त 'छन्द तरंगिनी' नामक एक अन्य भक्ति-पूर्ण कृति की भी रचना की है। इनका एक छन्द प्रस्तुत है—

छाकी प्रेम छाकिन कैं नेम में छबीली छैल,
छैल की बँसुरिया के छलन छली गई।
गहरे गुलाबन के गहरे गरुर गरे,
गौरी की सुगंध गैल गोकुल गली गई॥
दर में दरीन हू में दीपति दिवारी दुति,
दंता की दमक दुत दामनी दली गई।
चौसर चमेली चारु चंचल चकोरन तें,
चाँदनी में चंदमुखी चौंकत चली गई॥

ग० मि०

प्रेमदास (चतुर्थ)

प्रेमदास (चतुर्थ) जाति के ब्राह्मण थे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर ये डिप्टी कलक्टर नियुक्त हुए, किन्तु राधाकृष्ण की कुछ ऐसी लौ लगी कि नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और धन-सम्पत्ति, परिवार आदि को त्यागकर पूर्णरूप से वैरागी बन गए। इन्होंने माधव सम्प्रदाय में दीक्षा ग्रहण की तथा संत प्रेमदास नाम से प्रसिद्ध हुए। ये नंदगाँव में ललिता कुण्ड के पास अपना स्थान बनाकर निवास करते थे। इनके यहाँ नित्य सत्संग होता था। इनका उपस्थिति-काल विक्रम की २० वीं शती है।

म० गो० भा०

प्रेमदास (पंचम)

प्रेमदास (पंचम) के विषय में 'रसिक अनन्य परचावली' में कहा गया है—

श्री हित गिरा गंभीर धीर वीरन मति झूलहि।
विढ़ते की अभिलास तीर ठाढ़े सब फूलहिं।
अक्षर सिन्धु अगाध समुझि मरजीया धसिबौ।
अरथ काढ़ि रस रतन जौहरी, रसिक विलसिबौ।
भाव कल्पतरु आदि दै रस ग्रन्थ रचे दृढ़ भाव पन।
श्री रूपलाल गुरुवर कृपा, श्री प्रेमदास लह्यौ गूढ़ धन॥

प्रेमदासजी गोस्वामी श्री रूपलालजी के शिष्य थे। ये अत्यन्त दृढ़-निष्ठा वाले और सुकवि थे। सम्प्रदाय में इनकी कीर्ति इनके द्वारा रचित 'श्री हित चौरासी' की टीका के लिये है। हित चौरासी की तीस-पैंतीस टीकायें उपलब्ध हैं, किन्तु इनकी टीका इस अर्थ में अनूठी है कि उसमें मूल का अक्षरशः अनुसरण किया गया है जब कि अन्य टीकाओं में टीकाकारों ने अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थों का आरोप मूल पदों पर किया है। इसके साथ ही प्रेमदासजी ने प्रत्येक पद का अर्थ करने से पूर्व जो 'आभास' लगाये हैं, उनमें ब्रजभाषा गद्य में पदों की भाव-भूमिका को व्यंजित करने के लिए कुंजों के जो वर्णन किये हैं वे अत्यन्त सरस और ब्रजभाषा गद्य-काव्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। प्रेमदासजी ने इस टीका की रचना संवत् १९९१ में की थी। यह टीका नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। इनसे सम्बन्धित ऊपर उद्धृत छप्पय में चाचा श्री वृन्दावनदासजी ने इनके द्वारा रचित एक ग्रन्थ 'भाव कल्पतरु' का भी उल्लेख किया है, किन्तु वह हमारे देखने में नहीं आया।

श्री राधावल्लभ-सम्प्रदाय के साहित्य की खोज अभी तक अपूर्ण है। सम्भव है प्रेमदासजी का उक्त ग्रंथ किसी संग्रहालय में प्राप्त हो जाये। प्रेमदासजी ने अनेक भावपूर्ण सुललित पदों की रचना की है जिनको सम्प्रदाय के साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। इनका अपने गुरुदेव श्री रूपलालजी के साथ एक चित्र भी उपलब्ध है। संवत् १८१३ में श्री वृन्दावन में होने वाले उपद्रव में अहमदशाह अब्दाली के सैनिकों द्वारा इनका भी वध कर दिया गया था। श्री ध्रुवदासजी ने लिखा है—

खँड खँड ह्वै जाय तन अंग अंग सत टूक।
वृन्दावन नहिं छाँड़िये छाँड़िबौ है बड़ी चूक ॥

—श्री वृन्दावन शत

इनके कुछ पद नीचे दिये जाते हैं—

(१)

फूलन सौं फूली कुंज फूलन की सेज मंजु,
फूले तहाँ सुख पुंज श्यामा श्माम रंग में।
फूल नैंन रूप मूल, हास माँहि झरैं फूल,
भूषन दुकूल सोहैं फूलन के अंग में ॥
फूली फिरैं बैंनी चारु फूलन के डुलै हारु,
फूल भरी धरी बाल लाल लै उछंग में।
प्रेमदासि हितवारी फूले हाव भाव भारी
केलि-बेलि फूली न्यारी छबि के तरंग में ॥

(२)

श्री राधा की जन्म बधाई

आज प्रगटी श्री वृषभानु भवन में श्री वृन्दावन रानी।
रसिकन हित रस सागर नागर ब्रज धरु करी रवानी ॥
सत् चित आनँद लली-लला वन यह मति बिरले जानी ॥
नित्य बिहार प्रगट करबे कौं प्रगटे आनँद दानी ॥
कीरति भानु नंद-जसुमति मिल सुभग सगाई ठानी ॥
संपति सकल लुटाय चाय सौं दै-दै मान अमानी ॥
सुर सुमनन बरसावत गावत बोलत जय जय बानी।
प्रेमदास हित गौर श्याम की नित-चित बसौ कहानी ॥

प्रेमदासजी कृत हित चौरासी की टीका के प्रथम पद के 'आभास' में से एक उद्धरण नीचे दिया जा रहा है—

'श्री लाड़िलीजू कैसी हैं? जिनकी परम सुन्दर भृकुटी कटाक्षनि सों भरी है। सो मानों मुख चन्द्रमा पर नृत्य-कालिनी होड़ा होड़ी नृत्य करें हैं। नेत्रन के कौने कानन सों जाइ लगे हैं। गोलक के आसपास अरुण डोरे छुट रहे हैं सो मानौ निर्मल कुमुद के दलनि पर अरुण वरण के भ्रमर आइ बसे हैं। महासुन्दर आरसी से निर्मल कपोलनि में मकराकृत कुंडल झिलमिलाइ रहे हैं। सो मानो रूप के समुद्र में काम के मीन परे हैं। अतरसों भींजी घुंघरारी अलकें छुट रही है सो मानौं नीलकमल के अनन्य भ्रमर हैं। इक नगी बेसर की मोती थहराइ रह्यौ है। मंद मुसकान सहित जो अधर तिनकी अरुणता दसनन में छाइ रही है सो मानौ सिंदूर सों रंगी मोतियन की लरी नीलकमल के कोष में विराजै है।

परम सुन्दर कंचुकी तनसुख की पहिरे हैं। तामें कंचन के फूल झलमलाइ रहे हैं सो मानो मूर्त्तिवंत सिंगार रस पर हास रस प्रीति सों अलंकृत होइ कै छायौ। सुन्दर पीत उपरैना ओढ़े हैं तामें मुख ऐसो दिपै है मानो कंचन के गगन में चन्द्रमा उदय भयो है। ग्रीवा में मणिगण विराजमान हैं, मोतियन के हार दिपैं हैं, सुन्दर बाजूबंद पहुँची किंकणी आदि आभूषण हीरनमय हैं।'

ल० च० गो०

प्रेमदास (षष्ठ)

प्रेमदास (षष्ठ) आजमगढ़ के निवासी अग्रवाल वैश्य थे। ये रामानुज-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनका समय १९ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। खोज में इनके कई ग्रन्थ मिले हैं जिनमें श्रीकृष्ण लीला से सम्बद्ध तीन रचनाएँ हैं—'मनमोहन लीला', 'प्रेमसागर' और 'गेंदलीला' या 'पंचरतनी गेंद लीला'।

'मनमोहन-लीला' में श्री कृष्ण की 'गेंद-लीला' और 'शिव दर्शन-लीला' का वर्णन है। इसकी प्रति

खण्डित है। प्रारम्भ और अन्त के अंश अनुपलब्ध हैं। अतः रचनाकाल का पता नहीं चल सका है। 'प्रेम-सागर' का रचना-काल सं० १८२७ है। इसकी भाषा त्रुटिपूर्ण है। इसमें श्री कृष्ण और गोपिकाओं के रास का वर्णन है। 'पञ्चरतनो गेंद लीला' का रचना-काल सं० १८४५ है, जो इस प्रकार दिया गया है—

संवत् कहो अठारह सौ कौं, पैतालिस की साला।
मार्ग बदी बार शनि को, भई पूरन कथा रसाला॥

इसमें श्री कृष्ण की पाँच लीलाओं का वर्णन है। पहली लीला के अन्तर्गत श्रीकृष्ण ग्वाल बालों के साथ यमुना के निकट गेंद खेलने जाते हैं, साथ में राधा भी हैं। राधा गेंद की चोरी कर लेती हैं। श्रीकृष्ण के गेंद माँगने पर उत्तर देती हैं, कि 'जैसे तुम चोर हो, वैसे ही मुझको भी समझते हो।' दोनों में प्रेम संवाद चलता है। अन्त में राधा गेंद दे देती हैं और श्री कृष्ण गेंद खेलने लगते हैं। राधा ललिता सखी के साथ यमुना की ओर चली जाती हैं। दूसरी लीला चीर-हरण सम्बन्धी है। तीसरी लीला में राधा-कृष्ण विहार और श्रीफल माँगने का वर्णन है। चौथी मानलीला है। पाँचवीं लीला के अन्तर्गत श्रीकृष्ण द्वारा राधा को देखने के लिए नाइन का वेष धारण करने का वर्णन है।

उपर्युक्त तीनों रचनाओं से कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(१)

मानौ सखी सिखवन मेरो गेंद स्याम को दीजै।
जमुना जी में मंजन करिकै गवन-भवन को कीजै॥
चलो वेग ही घरै आपनै सुनिये विनय हमारी।
तनिक भूल पैहै जो फेरी घर खीझै महतारी॥
हँसि के दीनों गेंद राधिका लीजे मदन गोपाला।
मैं दासी हौं कीस्न तुम्हारी सुनिए दीनदयाला॥
कालिंदी को चली राधिका फिर-फिर चितवत पाछे।
इहाँ क्रिस्न जू खेलन लागे सखा संग पुनि आछे॥
नन्दलाल वृषभान लाडिली सुनिए बिनै हमारी।
कृपा कटाछ करिए जन पै 'प्रेमदास' बलिहारी॥

—मनमोहन लीला

(२)

लगीं लिखन मन के दुख सबरे हती जौन जिय बाधा।
श्रीमोहन नन्दलाल दुलारे जसुदा जू के वारे॥
इतै श्रीराधा गोपिन सबकी है नाम प्रिय प्यारे।
उति के समाचार सुभ चहिए सुनो क्रिस्न जे बैना॥
हित के समाचार सुभ जादिन तादिन देखे नैना॥

—प्रेमसागर

(३)

गेंद लीला

जब जय कृष्ण कमल दल लोचन दुख मोचन सुखदाई।
जै गुविंद ब्रजनंद चंद सुत आरत हरन कन्हाई॥
जै राधे वृषभान लाडिली पूरन करिये साधा।
जे नर आवत सरन तुम्हारी तिनकै रहत न बाधा॥
अपनै हिय यह धरिकै राधै जिय दुविधा जिन राखौ।
लीला ललित लाड़िली जू की प्रेम सहित दुख भाषौ॥
ये सभ प्रभु संग गेंद न खेलत श्री वृन्दावन माही।
जमुना कुञ्ज सघन कौ लीन्हे बंसीवट की छाँही॥
तहाँ आइ निकसी श्री राधे पाँचौ संग सहेली।
तिनकौ लखि रंभा रति लाजै कंचन कैसी बेली॥
देखी गेंद परी मोहन की राधा तुरत उठाई।
हरि की दीठ बचाइ लाडिली ललिता हाथ गहाई॥

—पंचरतनी गेंद लीला
वा० सिं०

प्रेमदास (सप्तम)

श्री प्रेमदास (सप्तम) की प्रशंसा में 'भक्तगाथा' में निम्नलिखित छन्द मिलता है :—

गूजर घर ते आय माय हित चरन बढ़ायौ॥
जुगल महल रस केलि झेलि अतिशय सरसायौ।
वानी वाँचि विहार रस मिथुन मिलन दुलराय॥
ताही रस की भावना और न कछू सुहाय॥
श्री नवललाल गुर कृपा बल युगल ग्रन्थ टीका कियौ।
प्रेमदास वन वास करि गुरु ग्रन्थन सींच्यौ हियौ॥

इनका जन्म गुजरात प्रान्त के किसी नगर में हुआ था। धार्मिक ग्रन्थों के आलोड़न का व्यसन इन्हें

जन्म से था । कभी इन्हें भगवतमुदितजी कृत 'रसिक अनन्य माल' पढ़ने को प्राप्त हुई । उसमें इन्होंने ध्रुवदासजी का चरित्र पढ़ा और उनकी वाणी के सम्बन्ध में यह दोहा भी पढ़ा —

वाणी हित ध्रुवदास की सुनि जोरी मुसिकाति ।
भगवत अद्भुत रीति कछु भाव भावना पाँति ॥

कैसी होगी वह वाणी, जिसे सुनकर लाडिलीलाल भी परम प्रसन्न होते हैं ? इस मधुर जिज्ञासा ने इन्हें उस वाणी को ढूँढ़ने में प्रवृत्त कर दिया और उन्हें वह मिल भी गयी । ये एक दिन में ही उसका पूरा परायण कर गये । इस वाणी के एक ही पारायण ने इन्हें वृन्दावन और वृन्दावन रस के प्रति अनुरक्त बना दिया और ये वृन्दावन की ओर चल पड़े । वृन्दावन में आकर ये रसिकों के पास जा-जाकर उनसे सविनय प्रार्थना करते कि मुझे वृन्दावन-रस कैसे प्राप्त होगा ? खोजी प्रेमदासजी को एक दिन गो-नवललालजी के सत्संग से श्री नाभाजी की निम्न पंक्तियाँ सुनने को मिलीं—

श्रीहरिवंश गुसाइं भजन की रीति सकृत कोउ जानिहै ।
श्री व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानिहै ॥

अब इन्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिल चुका था । इन्होंने गोस्वामी के श्रीचरणों में आत्म समर्पण कर दिया । गोस्वामीजी ने भी इन्हें हित सम्प्रदाय की शिक्षा-दीक्षा देकर हितमार्ग में चलने की शक्ति प्रदान की । गुरुवर की कृपा से इनका श्री हरिवंश चरणानुराग दिनोंदिन बढ़ने लगा । इनका मन वृन्दावन-रस के ग्रंथों के पठन-श्रवन-कथन-गायन में तल्लीन रहने लगा । श्रीसेवकजी ने कहा है—**"नाम वाणी जहाँ श्याम श्यामा तहाँ" "नाम वाणी निकट श्याम-श्यामा प्रकट", "नाम वाणी सुनत श्याम श्यामा सुवस"** नाम वाणी के निरन्तर सेवन करने से इनके हृदय में भी श्रीहित दम्पति की रसमय लीलायें और उनसे निष्पन्न रस रूप स्फुरित होने लगा ।

प्रेमदासजी श्री हरिवंश नाम-वाणी और वृन्दावन रस-कथा के प्रति अनन्य निष्ठा रखते थे । इसके अतिरिक्त कोई अन्य आध्यात्मिक वार्त्ता रुचिकर ही न थी । यदि कभी कोई भागवतादि पुराणों में वर्णित चरित्र का वर्णन करता तो ये बड़े अनुनय-विनय युक्त शब्दों में कहा करते थे—"भैया ! मैं क्या करूँ, मुझे अन्य कोई चर्चा रुचती ही नहीं है ।"

इन्होंने सम्प्रदाय के दो मान्य ग्रन्थों 'श्री हित चतुरासी' एवं 'श्री सेवक वाणी' पर टीका लिखी थी, किन्तु वे प्राप्त नहीं हैं । इनकी विद्यमानता संवत् १७६० से संवत् १८३० तक अनुमानित की जा सकती है ।

श्या० वि० खं०

प्रेमदास (काठियाबाबा)

प्रेमदासजी (काठियाबाबा) श्री वृन्दावन तथा समग्र भारत के साधु-सन्तों एवं महात्माओं में एक बड़े ही महान् एवं अतुलनोय विभूति थे । ये त्याग-तपस्या की प्रति मूर्ति एवं प्रेम और भक्ति के साक्षात् विग्रह थे । श्री काठियाबाबा निंबार्क मतानुयायी व्रजविदेही स्वामी रामदासजी के प्रशिष्य तथा स्वामी सन्तदासजी के सुयोग्य एवं प्रिय शिष्यों में से थे ।

इनका आविर्भाव विक्रम सं० १९७० के आश्विन सुदी सप्तमी तिथि को अखण्ड भारत के तत्कालीन असम प्रदेश के अन्तर्गत श्री हट्ट जिले के काशीपुर ग्राम (वर्तमान बंगला देश) में हुआ था । इनके पूर्वज पश्चिम उत्तर प्रदेश से आकर यहाँ बस गये थे । इनके पिता का नाम प्रसन्न कुमार भट्टाचार्य एवं माताजी का हेमलता देवी था । ये दोनों ही श्रेष्ठ भक्त थे तथा अतिथि नारायण की सेवा में दोनों की बहुत ही रुचि थी ।

इनका बचपन का नाम सनतकुमार था । घर में लोग इन्हें प्रियानाथ नाम से पुकारते थे । कहा जाता है कि इनके जन्म से पूर्व इनकी माताजी ने कई बार स्वप्न में भगवान् श्याम सुन्दर का दर्शन किया था । बाल्या-

वस्था में ये एकान्त में जाकर एकाग्र व तन्मय भाव से भक्त वत्सल भगवान् श्री श्याम सुन्दर तथा परम करुणामयी वृजेश्वरी राधारानी का चिंतन करते थे। इस समय इनको कभी स्वप्न में और कभी प्रत्यक्ष भगवान् श्री कृष्ण का दर्शन होता था, जिससे इष्ट-प्राप्ति के लिए इनका मन उत्तरोत्तर व्यग्र एवं व्याकुल रहने लगा।

ये इस समय सद्गुरु की खोज में रहते थे। एक दिन ये व्रजविदेही स्वामी सन्तदासजी के एक गृहस्थ शिष्य से बात कर रहे थे। इन्होंने उनसे बात करते-करते पूछा कि तुम्हारे गुरुजी कौन हैं और कैसे हैं ? उसने जवाब दिया कि मेरे गुरु स्वामी सन्तदास जी (काठियाबाबाजी) महाराज हैं। वे वृन्दावन के सबसे बड़े महन्त, उच्चकोटि के महात्मा एवं राधाकृष्ण के एकनिष्ठ भक्त हैं। यह बात सुनकर इन्होंने मन ही मन स्वामी सन्तदासजी (काठियाबाबा) को अपने गुरु के रूप में वरण कर लिया। इसी समय से ये जब भी भजन में बैठते तभी भ्रूमध्य में गुरुजी के साफ-साफ दर्शन करते, जबकि इससे पहले इन्होंने गुरुजी के चित्र तक के भी दर्शन नहीं किए थे। इन्होंने अविलम्ब वृन्दावन में गुरुजी के पास उनका विरक्त शिष्य बनने के लिए पत्र डाला। उसके उत्तर में उन्होंने इनसे अपने माता-पिता से अनुमति माँगने के लिए लिखा।

गुरुजी के आदेशानुसार इन्होंने अपने माता-पिता को बहुत ही समझाया, परन्तु वे इन्हें वृन्दावन में जाने देने के लिए तैयार नहीं हुए। उन लोगों ने विचार किया कि अगर किसी सुन्दरी कन्या से इसका विवाह कर दिया जाय तो यह अवश्य ही घर-बार छोड़कर साधु नहीं होगा। परन्तु इनका मन तो बचपन से ही संसार से उचट चुका था। फिर गुरुजी का सहारा भी मिल गया था। इन्होंने पत्र द्वारा गुरुदेव से अनुमति ले ली कि अपने माता-पिता की अनुमति लिए बिना भी छिपकर वृन्दावन आ सकते हो। अतः एक दिन गुप्त रूप से घर-बार छोड़कर ये गुरुजी के पास पहुँच गए। उस समय इनकी उम्र बीस वर्ष की रही होगी। गुरु ने कृपा करके इनको अपना लिया एवं परम्परा सिद्ध अष्टादशाक्षर 'श्री गोपाल मन्त्र' का उपदेश करते हुए इनका नाम 'प्रेमदास' रखा और श्री राधाकृष्ण के चरण-कमलों में प्रेम-लक्षणा-भक्ति का उपदेश दिया।

वृन्दावन में आकर गुरुजी महाराज की कृपा मिलने से तथा भक्त-वत्सल भगवान् श्री श्याम सुन्दर एवं परम करुणामयी वृजेश्वरी राधारानी के परम पवित्र लीला-स्थलों का दर्शन करते हुए इनके मन में अपार आनन्द का अनुभव होता था। ये जब श्री काठियाबाबा आश्रम के श्री ठाकुरजी की सेवा-पूजा एवं शृंगार करते थे तो ठाकुरजी तथा श्री राधारानी प्रायः साक्षात् दर्शन देते थे और अगले दिन शृंगार के समय कौन-सी पोषाक धारण कराना है, यह भी बता देते थे।

गुरुदेव के चरणों में इनकी अटूट श्रद्धा थी। उन्हें ये साक्षात् भगवान् ही समझते थे। वे भी इनको बहुत प्यार करते थे। ये सदैव गुरु की प्रसादी थाली में ही प्रसाद पाते थे।

पूज्य गुरुदेव के गोलोकवास के पश्चात् इन्होंने व्रजधाम के विभिन्न स्थानों में बहुत दिनों तक एकान्तवास करके कठोर साधना की। ये रात्रि में तीन बजे जागकर दूर की नहर में स्नान करके एकान्त में भजन करने बैठते थे और संध्या के तीन बजे भजन से उठकर दूरस्थ गाँवों में जाकर आटा माँगकर लाते थे तथा उससे मोटे-मोटे टिक्कर बनाकर श्री ठाकुरजी का भोग लगाकर करीब ६-७ बजे संध्या को प्रसाद पाते थे। ये टिक्कर के साथ रामरस (नमक), चीनी, गुड़, घी, साग आदि कुछ भी नही लेते थे। करीब तीन वर्ष इसी प्रकार व्रज के विभिन्न एकान्त स्थलों में भजन करने पर भी इनके मन में पूर्णतया शान्ति नहीं मिल रही थी, क्योंकि इस समय भगवान् का जो दर्शन मिलता था उसे ये परिपूर्ण दर्शन नहीं मानते थे। अतः ये बरसाने के पास कदमखण्डी में भजन के लिए पहुँचे, जो इनके ही पूर्वाचार्य ब्रज दूलह स्वामी चतुरचिन्तामणि देवाचार्य नागाजी महाराज की भजन स्थली

थी। इन्होंने नागाजी की कदमखण्डी में पहुँचकर संकल्प लिया कि श्री राधाकृष्ण युगल सरकार के परिपूर्ण दर्शन किए बिना जल भी ग्रहण नहीं करूँगा। इस समय ये दिन में नागाजी की गुफा में तथा रात्रि में गुफा के ऊपर चट्टान पर बैठकर लगातार श्री गोपाल मन्त्र का एकाग्र मन से जप करते थे और मन में हमेशा भक्त-वत्सल भगवान् श्री श्याम सुन्दर एवं परम करुणामयी राधारानी की अनुपम लीलाओं का तन्मय-भाव से स्मरण करते थे।

इस घोर साधना में अन्न-जल के बिना शरीर बहुत ही कृश होने लगा, फिर भी इन्होंने कोई परवाह नहीं की। बरसाने की कदमखण्डी में इस प्रकार आमरण अनशन के साथ निरन्तर भजन करने पर इक्कीसवें दिन सायं भक्त-वत्सल भगवान् श्री श्याम सुन्दर एवं हजारों सखियों से परिवेष्ठित वृजेश्वरी राधारानी को अपने समक्ष देखा। इन्होंने श्री युगल सरकार को साष्टांग दंडवत् किया। भगवान् श्री श्याम सुन्दर ने मुस्कराते हुए इनसे कहा—'तुम अपने संकल्प में सफल हो गए हो। हम हमेशा तुम्हारे साथ रहेंगे। अभी तुम अपना अनशन का संकल्प त्यागकर प्रसाद पाओ।' भक्त-वत्सल भगवान् एवं सखियों के साथ प्रियाजी के दर्शन से इनके मन में अनुपम आनन्द मिला। युगल सरकार के अन्तर्धान होते ही अचानक दूर के गाँवों से व्रजवासी लोग अपने-अपने बर्तनों में हाल का ही दुहा हुआ ताजा दूध लेकर इनके समक्ष उपस्थित हुए। व्रजवासियों के अनुरोध पर तथा श्री युगल सरकार के आदेशानुसार इन्होंने एक साथ लगभग १४ सेर दूध पी लिया। इसके बाद ये सफल मनोरथ होकर श्री वृन्दावन में लौटे तथा पुनः ठाकुरजी की सेवा में तन्मय भाव से लग गए।

इन्होंने व्रज-विदेही श्री महन्त के रूप में साधु-सन्तों की बहुत सेवा की तथा श्री निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रचलित युगल सरकार की उपासना पद्धति एवं उत्तम-प्रेम-लक्षणा-भक्ति के प्रचार-प्रसार के लिए भारत के विभिन्न प्रान्तों में अपने गुरुजी महाराज के नाम से अनेक आश्रम स्थापित किए। इन्होंने हजारों लोगों को दीक्षा दी। इन्होंने सन्त भगवान् की सेवा के लिए कुम्भ मेले में अपने परम गुरुजी की पावन स्मृति में श्री स्वामी रामदासजी काठियाबाबा खालसा की प्रतिष्ठा की।

ये कई भाषाओं के ज्ञाता थे। इन्होंने संस्कृत, हिन्दी एवं बंगला में कई ग्रन्थ लिखे थे। इनके मुख्य ग्रंथ हैं—श्री श्री सन्तदास चरितामृत, श्री श्री सन्तदास बाबाजी की उपदेश मंजूषा, श्री श्री सन्तदास बाबाजी का उपदेशामृत, नित्यकर्म पद्धति, श्री श्री सन्तदासाष्टकम् आदि। इन्होंने श्री हनुमान चालीसा, श्री संकटमोचन हनुमानाष्टक आदि को भी बंगला वर्णमाला में लिखकर तथा बंगला भाषा में इसका रूपान्तर करके बंगाल, आसाम, त्रिपुरा आदि प्रान्तों में श्री हनुमानजी के माहात्म्य का भी प्रचार किया।

श्री निम्बार्क-सम्प्रदाय की सेवा तथा श्री युगल सरकार की अनुपम प्रेम-लक्षणा-भक्ति का प्रचार व प्रसार करते-करते ७० वर्ष की अवस्था में वि० सं० २०४० के भाद्रपद सुदी नवमी को श्रीमद् भागवत जयन्ती के पावन अवसर पर श्री युगल सरकार का स्मरण करते हुए ये गोलोक धाम की नित्य-लीला में प्रविष्ट हो गए।

प्रे० ना० श्री०

प्रेमदास गहोई

प्रेमदासजी ने अपनी कृति 'प्रेमसागर' में अपना परिचय देते हुए लिखा है -

आइ तिवारी रामपुरा कौ उत्तम जिनकौ खेरौ।
निस दिन सुनत पुरांन दुजन सों करत सास्त्र निरबेरौ॥
तहाँ बसत हरवंस बानिया उत्तम बंश गहोई।
तिह के सुत कौ प्रेम नाम है कहत जोर कर दोई॥
संवत कहौ अठारा सैं कै सत्ताइस की साला।
आसुन बदि तिथ चौथ सनीचर भई कथा तिह काला॥

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रेमदास गहोई रामपुरा (तत्कालीन अजयगढ़ रियासत का एक ग्राम)

के निवासी और हरिवंश गहोई वैश्य के सुपुत्र थे। इन्होंने सं० १८२७ में 'प्रेमसागर' ग्रंथ की रचना की थी। इनकी एक कृति 'गेंद लीला' का रचना-काल सं० १८५४ है और शेष कृतियों में रचना तिथि नहीं दी गई है। अतएव प्रेमदासजी १७७० से १७९७ ई० तक विद्यमान ठहरते हैं। इसके अतिरिक्त इनके जीवन के सम्बन्ध में अन्य कोई जानकारी नहीं है।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के खोज विवरण में प्रेमदास को रामानुज-सम्प्रदाय का अनुयायी बताया गया है, जो ठीक नहीं है। प्रेमसागर में अधिकांशतः 'अलि' शब्द का प्रयोग किया गया है और ग्रंथ के अन्त में कवि का संकेत है—

प्रेम करें हरदास मिलत हैं संकर विस्नु विधाता ॥
प्रेम बस्य ये सदा रहत हैं सुनिये सन्तो बाता ॥

इससे प्रकट होता है कि प्रेमदासजी हरिदासी अथवा सखी-सम्प्रदाय के भक्त थे और इन्होंने भक्ति का यह संस्कार पुराण सुनकर पाया था। उस समय बुन्देलखण्ड में कृष्णभक्ति और सखी-सम्प्रदाय का प्रसार-प्रचार अधिक था, जिसका प्रभाव कवि पर अवश्य पड़ा होगा। लेकिन इसके बावजूद प्रेमदास को किसी सम्प्रदाय में बाँधना उचित नहीं है, क्योंकि इनकी रचनाओं में सम्प्रदायगत मान्यताओं का पूर्ण प्रतिफलन नहीं हुआ। इनके लीला-ग्रंथों--कृष्णलीला, प्रेम परिचय, विसातिन लीला, मनमोहन लीला, भगवत बिहार लीला, गेंद लीला तथा ठाकुर कौ लीला—में श्री कृष्ण और राधा की विभिन्न लीलाओं का भक्तिमय वर्णन किया गया है एवं 'प्रेमसागर' प्रबन्ध में भी कथा के माध्यम से राधा के एकनिष्ठ प्रेम की व्यंजना हुई है। लीलाएँ बुन्देली भाषा और लोक-काव्यात्मक शैली में रची जाने के कारण लोकगीतों के रूप में जनप्रिय हो गई हैं। भक्तिभावना से भरे दो उदारण पर्याप्त हैं—

(१)

नग नग छेद गई है आली अगिन पेट में डारी।
तैसी गत वह कीनी हमरी विरह अगिन में जारी ॥
अजहूँ लों सपने में हमकों चित्त चुरावत मुरली।
काहे कों बिधती मोहन सों होत नहीं जौ मुरली ॥

(२)

करे केल जेहि सों निसबासर है अनंद में राधा।
कब देखों नैनन वह मूरत बड़ी हमारी साधा ॥
कबैं आइहैं संग सखिन के श्री वृषभान दुलारी।
कबैं आपने कानन सुनहों नूपुर की झनकारी ॥

न० प्र० गु०

प्रेमदासीजी

हित प्रेमदासी की अनन्य सेवा भावना का परिचय 'श्री हित अनन्य रसिकावली' में इन शब्दों में मिलता है :—

तरुण वैस पति त्यागि भागि वृन्दावन आई।
वन-रस में रही पागि अन्य सुख स्वाद विहाई ॥
हरि-गुरु-सन्तन सेवा भावन-चावन कीनी।
गाय मधुर सुर गीत जुगल की रीझन लीनी ॥
सबै रसिक ऐसी कहैं दूजी भागमती भई।
प्रेमदासी पथ प्रेम में उघरि नची हित निधि लई ॥

इनका जन्म कानपुर के निकट नसिरापुर नामक ग्राम में सं० १९४८ कार्तिक शुक्ला अष्टमी को एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता श्री सुदर्शन नाथ (पं० राधेश्याम जी) दीक्षित अपने पूरे परिवार सहित श्री हित धर्म परायण तथा साधु सेवी थे। श्री राधावल्लभलालजी की चरणानुरक्ति और रूपासक्ति इन्हें माता के दूध के साथ प्राप्त हुई थी। इनके माता-पिता साल में प्रायः एक या दो बार वृन्दावन आकर श्रीराधा वल्लभजी के दर्शन अवश्य ही करते थे। उनके साथ उनकी पुत्री प्रेमवती भी वृन्दावन आया करती थी। यहाँ पर ये श्री राधा-वल्लभलालजी की रूप माधुरी को घण्टों निहारा करती थीं और भागमती, गंगा-जमुना और कर्मठी-बाई जैसी हित कृपा प्राप्त रसिक भक्ताओं के सुचारु चरित्र सुना करती थीं। पिताजी ने इन्हें बचपन में ही मन्दिर के विलास-वंशीय सेवाधिकारी गो० श्री हित

किशोरीलालजी महाराज से मन्त्र-दीक्षा दिलवा दी थी।

प्रेम दीवानी भक्तिमती मीरा बाई की भाँति ये भी बचपन में एक गुड्डे को राधावल्लभ बनाकर अपनी माँ से हठ किया करती थीं कि माँ मेरा व्याह इस गुड्डे के साथ कर दें। यह अनुरक्ति और रूपासक्ति आयु के साथ ही बढ़ रही थी। वयस्क होने पर एक दिन माँ से कह ही दिया —'माँ! मैं विवाह नहीं करूँगी।' यह स्वभाव से हठी थीं। अतः माता-पिता इन्हें वृन्दावन लाये और गुरुजी से आज्ञा दिलाई कि तुम विवाह करो। विवशतः इन्हें विवाह स्वीकार करना पड़ा। पिताजी ने इनका विवाह कानपुर जिलान्तर्गत विल्हौर नामक ग्राम में श्री सूर्य प्रसाद शुक्ल से कर दिया।

दुर्भाग्य से इन्हें अधार्मिक प्रकृति का पति मिला। वह इन्हें पूजा-पाठ करते देखकर क्रुद्ध हो जाता था और इन्हें बेंत से मारा करता था। पति द्वारा दी गई शारीरिक यातनायें तो ये रोते हुए सह भी लेती थीं, किन्तु वे मानसिक यातनाएँ जो पति तथा परिवारीजनों के मुख से निकली हुई इष्ट विरोधी बातों को सुनकर मिलती थीं—असह्य हो चली थीं। फलतः ये मौका पाकर घर से भाग निकलीं और श्री वन में आ गयीं। श्री राधावल्लभलाल की रूपासक्ति ने इन्हें पागल बना दिया था। इस समय इनकी आयु लगभग २० या २१ वर्ष की थी।

पागलपन कुछ बढ़ता ही गया, ये खान-पान को भी भुलाकर श्री राधावल्लभजी की रूप माधुरी का पान करतीं और उनकी सुरम्य रूप की छबि-छटाओं का गान किया करती थीं। प्रेम का पथ विपत्ति के बादलों से सर्वथा घिरा ही रहता है, परन्तु प्रेम-पथपथिक को उसकी किंचित् भी परवाह नहीं रहती। प्रेमवती के सिर पर आपत्तियों की घनघोर घटा अब भी छायी हुई थी। इनका पति इनके पीछे-पीछे चलकर वृन्दावन आ गया और पता लगाकर इनको पकड़ लिया तथा बलात् अपने संग घर ले जाना चाहा। वह इनके बाल पकड़कर घसीटते हुए मन्दिर के बाहर ले आया और फिर बेंतों की मार लगाई। परन्तु ये अपने प्रण से न डिगीं। जब उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि प्रेमवती मेरे संग नहीं जायेगी तो वह अपना-सा मुँह लेकर वापस लौट गया।

अब ये विरक्त वेश लेकर रसिकवर श्री नवेलीशरण के पास मदनटेर पर रहने लगीं। गुरुवर ने इनके उत्सर्ग पर रीझकर 'प्रेमदासी' नाम प्रदान किया। इन्होंने थोड़े ही दिनों में गाढ़ी लगन और आन्तरिक अनुराग से ऐसी साधु-सेवा की कि ये अपने गुरुवर तथा सभी रसिकों की स्नेह भाजन बन गयीं।

श्रीराधावल्लभजी के सम्मुख बैठकर जब ये उनकी रूप-माधुरी का गान करती थीं तब ऐसा लगता था कि श्री राधावल्लभलालजी अपलक नेत्रों से इन्हीं को देख रहे हैं। उस समय दर्शक गण भी मंत्र-मुग्ध जैसे होकर देखा करते थे—श्री राधावल्लभजी के अधरों में एक हल्की मुस्कान की झलक और प्रेमदासीजी के नेत्रों में रूप-माधुरी पान की लोल ललक।

वृद्धावस्था में इनका शरीर रुग्ण रहने लगा था, किन्तु इन्होंने नाम-औषधि के अतिरिक्त काई दवाई नहीं ली। इन्हें श्री हित चतुरासी, सेवकवाणी तथा अन्य रसिकों की वाणी कंठस्थ थीं। अतः उनका पाठ ये रुग्णावस्था में भी निरन्तर किया करती थीं। इन्होंने जीवन के अन्तिम दिन श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में ही व्यतीत किये।

सोलह अक्टूबर सन् १९६३ ई० का प्रभात काल था। नित्य की भाँति श्रीजी की मंगला आरती के पश्चात् उनके मंगल भोग के प्रसाद-प्राप्ति की प्रतीक्षा में ये मन्दिर की परिक्रमा में बैठी हुई थीं। तभी एक साधु ने इन्हें प्रसाद लाकर दिया। इन्होंने 'जय जय श्री हरिवंश' कहते हुए प्रसाद मुख में डाला और सदा के लिए आँखें बन्द कर लीं।

सुना जाता है कि इन्होंने कुछ पद-रचनायें भी की थीं। किन्तु अब तक इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है।

श्या० द्वि० खं०

प्रेममाधुरी बाई

श्री प्रेममाधुरी बाई का वास्तविक नाम धनवन्ती बाई था। इनका जन्म सम्वत् १९५६ की चैत्र शुक्ला सप्तमी को हुआ था। इनके पिता डॉ० नारायणदास परवाल, महेश्वरी) जयपुर दरबार के पारिवारिक चिकित्सक थे। वे आर्य समाजी थे। इसलिए इनका लालन-पालन उसी वातावरण में हुआ तथा इनकी शिक्षा-दीक्षा आर्य-समाजी विद्यालय में ही हुई। अल्पावस्था में ही इनका विवाह हो गया, लेकिन शीघ्र ही इनके पति का स्वर्गवास हो गया। अब ये अत्यंत उदास रहने लगीं। इनके मौसेरे भाई श्री रूपामाधुरी जी ने इन्हें श्री सरसमाधुरीशरणजी से दीक्षा दिलवा दी। इनका गुरुदेव के साथ सत्संग करना इनके घर वालों को अच्छा न लगता। घर के वातावरण से ये ऊब कर अपने ससुराल चली गयीं, लेकिन वहाँ का वातावरण भी इन्हें दुखदायी ही प्रतीत हुआ।

एक बार ये वृन्दावन दर्शन करने के बहाने गयीं और वहाँ जुगल घाट पर मुकुट वालों के मकान में रह कर भजन करने लगीं। इन्होंने वहीं श्री रूपमाधुरीजी से वेश ग्रहण किया। तब से ये श्री प्रेममाधुरी बाईजी के नाम से प्रसिद्ध हुईं। वृन्दावन के दोसायत मुहल्ले में इन्होंने जमीन खरीदा और वहीं रहने लगीं। इनके गुरुभाई मास्टर मूलचंदजी ने इनसे ही वेश ग्रहण किया और उनका नाम हुआ श्रीमती शरणजी। श्रीमतीशरणजी इनकी सेवा में रहते थे। बाबा गौरांगदास, श्री ग्वारिया बाबा, बाबा हंसदासजी, बाबा बालगोविन्ददासजी प्रायः इनके पास आते और सत्संग करते थे। इनकी राधारानी में अत्यंत निष्ठा थी। कुछ दिनों बाद रामगढ़ के श्री नारायण प्रसाद पोद्दार के आग्रह पर ये प्रेमसरोवर में गोपालजी के मन्दिर में रहकर भजन करने लगीं। लगभग ११ वर्षों तक वहाँ रहीं। इसके बाद ये अपने गुरुभाई और बहनों के आग्रह पर शुक भवन में जाकर रहने लगीं। ये बड़ी अच्छी कवयित्री भी थीं। इनका एक पद द्रष्टव्य है :—

सरस घन रस मेंह बरसावें।
करें गरजना जुगल नाम की, रसिक मोर हरषावें ॥

बिच-बिच झलकन रूप छटा की दामिनी दमकावें।
भक्त-भजन की उर अवनी में भाव-वृक्ष प्रकटावें ॥

उमंग हर्ष के भरे सरोवर, नेह लहर लहरावें।
पावस ऋतु श्रीगुरु कृपा नित नई मौज दिखावें ॥

करे प्रफुल्लित तन-मन-सबके चहुँ दिश आनन्द छावें।
प्रेम कोयल मतवाली ह्वै के विनती शब्द सुनावें ॥

अपने अन्तिम दिनों में ये अस्वस्थ हुईं। संवत् २०३३ के आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को इन्होंने अपनी इह लीला समाप्त कर दी।

मु० अ०

प्रेमिन बाई/भगवान बाई/लाड़ाबाई/दमोदर बाई/धर्म बाई/रति बाई/हंस बाई

सर्व श्री प्रेमिन बाई. भगवान बाई, लाड़ाबाई, दमोदर बाई, धर्म बाई तथा रति बाई, हंसबाई नाम की बाइयाँ अपने समय के परम प्रतापी एवं प्रभावशाली गोस्वामी श्री हित रूपलालजी महाराज के द्वारा श्री हित राधावल्लभीय सम्प्रदाय में दीक्षित हुई थीं। इन्होंने अपना तन-मन-धन सब अपने इष्टदेव श्री राधावल्लभलालजी को अर्पित कर दिया था और विरक्त वेष लेकर अखण्ड रूप से श्री धाम वृन्दावन में रहने लगी थीं।

गुरु श्री हित रूप जु शरण आनि।
बाई प्रेमिन भगवान जानि ॥

लाड़ा बाई दमोदर इन समान।
सर्वसु अर्प्यो धनि जनम मानि ॥

—चतुर्थ बसन्त प्रबन्ध

गाननि पुनि जयराम दामोदर वल रज पाई ।
निरदूषित भगवान धर्म रति प्रेमिन बाई ॥
गलबलिया जु किशोर लड़ैती रचना रूरौ ।
पूरब रसिक मुकुन्द कथन वाणी गुन पूरौ ॥
हंसबाई बन घन बसी द्यालदास मन क्रम जु शुचि ॥
जै श्री रूपलाल गुरुवर सुदत
भई जुगल भजन एतेन रुचि ॥

—श्री यमुना प्रताप वेली

इस निष्कैतव समर्पण का परिणाम यह हुआ कि इनकी अहंता और ममता में आमूल चूल परिवर्तन हो गया। ये स्वयं को श्री हित दम्पत्ति की नित्य निकटवर्त्तिनी सहचरी और श्री हित दम्पत्ति को अपना प्राण सर्वस्व मानती थीं। इस प्रकार से इन्होंने इसी जीवन में इष्ट साक्षात्कार प्राप्त कर अपने साधक जीवन को धन्य-धन्य बना लिया था।

इनका विद्यमान काल विक्रम संवत् १७५० से १८५० के मध्य स्थिर होता है।

श्या० वि० खं०

फकीरदास

सन्त फकीरदास ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने कोटवा के महंत जवाहिरदास से मन्त्र-दीक्षा लेकर लखनऊ के सआदतगंज मुहल्ले में हसनगंज बावली के निकट निवास करते हुए साधना की थी। इनकी जन्म-मरण तिथियाँ अभी तक ज्ञात नहीं हैं, किन्तु इनका समय विक्रम की १९वीं और २०वीं शती के बीच निश्चित किया जा सकता है। इनकी वाणी का रचनाकाल सं० १९१९ वि० के मध्य प्रमाणित होता है।

फकीरदास की साधनात्मक अनुभूति अरिल्ल, कुंडलिया, सवैया और दोहा छन्दों में अभिव्यक्त हुई है। "ककहरा नामा", "अलिफनामा" और "निर्णय-प्रकाश-दोहावली" नाम से इनकी स्वतंत्र कृतियाँ भी प्राप्त हैं। "ककहरानामा" शीर्षक से इनकी तीन रचनाएँ हैं और अलिफनामा नाम से दो। इन कृतियों को इनके अन्तेवासी रामलालदास ने 'पंचकृत-वेदान्त' नाम से सन् १९५६ ई० में विश्व प्रिंटिंग वर्क्स, शिवाजी मार्ग, लखनऊ से मुद्रित करवाया था।

वेदान्त-दर्शन में फकीरदास जैसा अभिनिवेश सन्त-परम्परा में विचारदास के अतिरिक्त किसी अन्य का नहीं दिखायी पड़ता। अवधी के साथ उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग करने में इन्हें पूरी दक्षता प्राप्त थी।

साहित्यिक दृष्टि से इनकी वाणी का स्तर बहुत श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। कदाचित् सिद्धान्त निरूपण के आग्रह ने इनकी रचनात्मक प्रतिभा को आहत किया। इनके जीवन परिचय विषयक निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

भे यक दास फकीर कियो बेफिकिर फकीरी।
ब्राह्मण कुल धरि देह कीन सौदा तकदीरी॥

शहर लखनऊ के पछुह, कोने समुझहु खास।
हसनगंज बावली नित, तहाँ फकीर को वास॥

सन्त फकीरदास की वाणी में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति गहरी भक्ति-भावना के दर्शन होते हैं। ब्रजराज से प्रेमपूर्वक भेंटने वाले को ये धन्य मानते हैं। ये कुबरी की वक्र काया को कष्ट मुक्त कर स्वर्णमयी बनाने वाले श्रीकृष्ण की कीर्ति का लोक प्रचार करते अघाते नहीं हैं। इनके कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी दो पद नीचे दिये जाते हैं—

(१)

मुरली बजायो गगन में मनमोहन महाराज।
मनमोहन महाराज सुनै धुनि राधा प्यारी॥
और सखी जो रहैं वोऊ भईं उन पर वारी॥
सोई धुनि सुनि गलतान सन्त जन अबहूँ रहते।
भरे विरह बैराग गुप्त मत प्रगट न कहते॥
चित सिकोरि दृग मोरि उलटि यहि विधि निरतायो।
सुरति मुरति रहे लाय फेरि नहिं भवजल आयो॥
कहै 'फकीर' धनि सन्त वै जिन भेंट्यो ब्रजराज।
मुरली बजायो गगन में मनमोहन महाराज॥

(२)

कुबरी दासी कंस की जानत है संसार ।
चन्दन लीन्हे हाथ माँ जात रहे वहि पार ॥

जात रहे वहि पार बीच मिलिगे यदुनन्दन ।
निरखि रूप रही टेरि ठाढ़ में कंस निकंदन ॥

चन्दन दिहिस लगाय कृष्ण के मस्तक माहीं ।
खुशी भये ब्रजराज कीन्ह कंचन तन ताहीं ॥

कहै 'फकीर' दुःख मेटिकै, सहजै किहो उबार ।
कुबरी दासी कंस की, जानत हैं संसार ।

रा० प्र० त्रि०

फखरुद्दीन

फखरुद्दीन मडौला के निवासी तथा जाति के मुसलमान थे। इन्होंने अपने यौवन-काल में अनेक जीवों की हत्या की थी। एक जीव की हत्या ने इन्हें विरक्ति की ओर उन्मुख किया। ये चरणदासजी के शिष्य त्यागीराम के सम्पर्क में आये। वे इन्हें संत चरणदास के पास दिल्ली ले आए। उनसे इन्होंने दीक्षा ग्रहण की, किन्तु बाद में दोनों में गुरु-शिष्य का भाव न रह कर मित्रता का भाव आ गया। चरण दास और बाबा फखरुद्दीन उम्र में बराबर थे अर्थात् इनका भी जन्म सन् १७०३ में हुआ था। संत चरणदास और ये साथ-साथ भगवद्-चर्चा करते, मन्दिर में सखी वेष धारण करके रहते तथा नित्य रास रचाते थे। ये त्यागीराम तथा चरणदास से परदा करते थे। नृत्य करते-करते ये इतने आत्म-विभोर हो जाते थे कि अपनी सुध-बुध खो बैठते थे। इसी कारण ये 'बाबा फखरुद्दीन पगली' के नाम से प्रसिद्ध थे। किंवदन्ती है कि रात को दो बजे जब ये नमाज पढ़ते थे उस समय इनके हाथ-पैर अलग-अलग हो जाते थे। इन्होंने और चरणदासजी ने तय किया था कि दोनों एक दिन ही निर्वाण प्राप्त करेंगे। हुआ भी ऐसा ही। जिस दिन चरणदास ने समाधि ली, उसी दिन अर्थात् मार्गशीर्ष कृष्ण सप्तमी सम्वत् १८३९ को इन्होंने भी प्रयाण किया। दिल्ली में तुर्कमान गेट से महँदियों के रास्ते की ओर जो सीधी सड़क गई है, वहाँ पर स्थित कब्रिस्तान में इनकी कच्ची कब्र सन् १८९८ ई० तक थी। उसको श्री न्यामत शाह तथा महन्त वासुदेवदासजी ने वहाँ पर देखा था।

म० गो० भा०

फरहत

नाम से ही यह स्पष्ट है कि फरहत जी इस्लाम धर्मानुयायी थे। इनकी उपलब्ध रचनाएं यह प्रमाणित करती हैं कि ये हिन्दी, उर्दू और फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। रूप वर्णन के ये सिद्धहस्त रचनाकार हैं। इनकी कोई सम्पूर्ण रचना प्राप्त नहीं है, मात्र स्फुट रचनाएँ ही मिलती हैं। उनमें बीच-बीच में ऐसे छन्द हैं जो कृष्ण-लीला की ओर संकेत करते हैं। होली-लीला सम्बन्धी निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है—

(१)

मारो मारो रे श्याम पिचकारी हो।
ताक लगाए खड़ी सखियन संग
ओट लेत राधा प्यारी हो ॥

देखो देखो स्याम उहै कोउ आवत
अबीर लिए भर थारी हो।
इक पिचकारी और प्रभु मारो
भींज जाय तन सारी हो ॥

फरहत निरख निरख यह लीला
हरि चरनन बलिहारी हो।

(२)

कोउ उत जिन जैयो श्याम चित चोर।
रोके छैल गैल पनघट की वंशीवट की ओर।
जो निकसत तेहि रंग भिजोवत बहियाँ देत मरोर
जो भटकी फटकी सो बची मानो अटकी सो भई सरबोर।

श्र० सि०

फलताराम

फलतारामजी गोस्वामी सुखलालजी के शिष्य थे। ये विक्रम की १८वीं शती के उत्तरार्ध में विद्य-

मान थे। श्री गुरु कृपा से इनके हृदय में श्री राधावल्लभलाल की सेवा की रुचि उत्पन्न हुई थी और ये श्रीजी के नित्य-नैमित्तिक उत्सव अत्यन्त प्रेमपूर्वक करते थे। वाणी ग्रन्थों के शब्दों में से चोज की बात खोजकर ये रसिकजनों को समझाते थे और प्रेमरस भरे प्रसंगों पर स्वयं रीझकर रसिकजनों को भी उसमें भिगो देते थे। फलतारामजी के हृदय में नित्य विहार उपासना के प्रति गाढ़ी लगन उत्पन्न हो गयी थी। चाचा वृन्दावनदास ने इनकी प्रशस्ति इन शब्दों में की है:—

अक्षर ही में चोज खोज रसिकनि दरसावैं।
प्रेम रस भरो बात रीझि पुनि भींजि भिजावैं॥

नित्य विहार उदार अटक मन की अति गाढ़ी।
श्री सुखलाल प्रसाद जुगल सेवा रुचि बाढ़ी॥

उत्सव नित्य निमित्य हिय, हिलगाने नित जाम के।
रस रीति समझ सब तें विकट, परी बाँटे फलता राम के॥

ल० च० गो०

फूलबाबा

श्री फूलबाबा का वास्तविक नाम इन्दुभूषण वसु था। इनका जन्म बंगाल के जिला बाकरगंज में सम्वत् १९७९ में हुआ था। इनके पिता श्री निशिकान्त वसु उच्चकोटि के कृष्ण-भक्त थे। इसलिए श्री इन्दुभूषणजी की रुचि भी अल्पावस्था से ही धर्म की ओर हो गयी। अट्ठारह वर्ष की अवस्था में इन्होंने इण्टरमीडिएट और मध्यमा की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। बीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने कलकत्ते के नगेन्द्र मठ के विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के संत ध्यानप्रकाश जी से गोपाल मन्त्र की दीक्षा ले ली। तब से इनका नाम हुआ श्री ज्योतिप्रकाशदास, लेकिन ब्रज में 'फूलबाबा' के नाम से आकर प्रसिद्ध हुए। ये अल्पावस्था में ही बंगाल से वृन्दावन बाँकेबिहारी के श्रृंगार के लिए फूलों का चयन करते थे। इसलिये इसी नाम से जाने जाते थे। ये कुछ दिनों तक वृन्दावन में रहे, फिर नन्दगाँव चले गये। जब इन्हें कृष्ण के दर्शन न हुए तो इन्होंने अनशन शुरू कर दिया। कहते हैं, एक दिन कृष्ण ने इन्हें स्वप्न-दर्शन दिया और कहा, 'मेरा दर्शन हठ से नहीं, प्रेम से होता है। कल यहाँ से उत्तर दिशा में चले जाना।' वृषभानुनन्दिनी का स्मरण करते हुए ये बरसाने पहुँचे। वहाँ इनकी मनोकामना पूरी हुई। ये अपने को राधारानी की प्रियसखी मानते थे। इसी भाव से निधिवन में सोहनी-सेवा करते और बाँकेविहारीजी के मन्दिर में फूल-सेवा। अन्तिम दिनों में इन्हें थोड़ा ज्वर हुआ और इन्हें लगा कि प्रभु उन्हें अपने निकट बुला रहे हैं। इस प्रकार, सम्वत् २००३ के आश्विन महीने में इन्होंने अपना शरीर त्याग दिया।

मु० अ०

फूल सखी

फूल सखी के ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी बातें अज्ञात हैं। इन्हें कभी किसी वृन्दावन-रस-रसिक का सत्संग प्राप्त हुआ और ये उनके संग वृन्दावन आ गये। यहाँ पर श्री हित भोरी सखी के दर्शन, आचरण और उपदेशों का प्रभाव इनके जीवन पर इतना अधिक पड़ा कि ये उन्हीं के चरणाश्रित हो गये। अब ये गुरुवर की सेवा में ही रहते हुए श्री हित-भजन-भावना में निमग्न रहने लगे। महत जनों की वाणियों में विशेषत: 'सेवकवाणी' में श्रीहित धर्मी रसिकों के द्वारा बताए गए आचरण, जैसे गुरु निष्ठा, अनन्य धर्म का पालन, श्री हरिवंश नामवाणी का अनुक्षण स्मरण और श्री हित धर्मियों की सेवा आदि इनके जीवन में पूर्णतया आचरित देखे गये थे। कुंजकेलि-विलासी श्री हितदम्पति की अन्तरंग-बहिरंग सेवा ही इनके जीवन को जीविका बनी हुई थी। अन्त में गुरुवर की अहेतुकी कृपा से भौतिक शरीर को त्यागकर वृन्दावन के ललितलता मन्दिर में, जहाँ पर लाड़िलीलाल नित्य केलि परायण बने रहते हैं—फूल सखी के रूप में ये संप्रविष्ट हो गये।

भोरी सखीजी के शिष्यत्व के आधार पर इनका विद्यमान काल सं० १७६० से सं० १८४० के बीच

सुस्थिर होता है। 'भक्त गाथा' में इनके सम्बन्ध में कहा गया है—

भजन भावना सब करैं, हित मारग रस रीति ।।
परमारथ साँची हिलग, व्यासनंद पद प्रीति ।
दम्पति दिन दुलरावहीं, गुरु ग्रन्थन की चाल ।।
वृन्दावन बसि के लहे, श्रीराधावल्लभ लाल ।
भोरी सखी के संग में, रबि तनया के कूल ।।
नव निकुञ्ज में लता तरु, फूल सखी जहँ फूल ।

श्या० वि० खं०

बक्सीराम

बक्सीरामजी जोधपुर के मथानिया ग्राम के निवासी थे। इनका रचनाकाल १७ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

ये ईश्वर भक्त थे। अतः इनकी रचनाओं में भक्ति-भावों का प्रकाशन हुआ है। इनके भक्ति गीतों में राम और कृष्ण दोनों की असीम अनुकम्पा का चित्रण किया गया है। माया-मोह के भ्रामक जाल में उलझकर प्राणी निकृष्ट कर्मों में लिप्त हो जाता है, अविद्या और अज्ञान के मोहान्धकार में पथ विस्मृत मानव के सही दिग्दर्शन के लिए परमात्मा का नाम-स्मरण ही दीपशिखा बन सकता है। कवि ने जीवन की क्षण-भंगुरता तथा ईश्वर महिमा का बखान इन शब्दों में किया है—

थावी केतसी नर अमर थारी ।
भाषे मुख असहा बच भारी ।।
बक्स्यो नहीं आविया बारी।
गावौ रे गावौ गिरधारी ।।

बांटो बीत आपणे बारे ।
लाछ नहीं हालेली लारे ।।
थिर ऐ दिन रहसी थारै ।
तूं नर ईश्वर क्यूं न चीता रै ।।

यूं तरतर पड़ता दिन आसी ।
जीहा कर पद चख थक जासी ।।
पाकड़ जम धातेला फांसी ।
पापी इण दिन नै पिछतासी ।।

बपु माया नैं जाण बिराणी ।
पाँव न धर खोटी दिस प्राणी ।।
रघुवर सांचौ दास रसांणी ।
बोल बकसिया अमरत वाणी ।।

स० गु०

बखतकुँवरि 'प्रियासखी'

रानी बखतकुँवरि के संबंध में प्रामाणिक जानकारी के अभाव में कुछ भी कहना संभव नहीं है। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के खोज-विवरण के अनुसार 'प्रियासखी' जी दतिया की रानी थीं और सं० १८४७ (१७९० ई०) में वर्तमान थीं। खोज में प्राप्त इनके ग्रंथ 'बानी' का लिपिकाल सं० १८४८ दिया गया है, जबकि डा० सावित्री सिनहा को प्राप्त प्रति का लिपिकाल सं० १७३४ (१६७७ ई०) है। इस आधार पर ये १७ वीं शती के उत्तरार्द्ध की या उससे पहले की भक्त कवयित्री ठहरती हैं। इतिहास ग्रंथों के अनुसार उस समय दतिया पर भगवान राय (१६२६-१६५६ ई०) या शुभकरण (१६५६ से १६८३ ई०) का शासन था। उन्हीं की किसी रानी का नाम बखतकुँवरि रहा होगा।

'बानी' के पदों में 'प्रियासखी' के साथ-साथ 'हित' का प्रयोग बखतकुँवरि को राधावल्लभ-सम्प्रदाय की सखी भावना की उपासिका सिद्ध करता है। पदों का वर्ण्य-विषय राधाकृष्ण की प्रेमलीलाएँ हैं। इनके निम्नलिखित पदों में प्रेमाभक्ति की अनुभूति प्रधान अभिव्यंजना है—

(१)

प्रीतम हरि हिय बसत हमारे ।
जोइ कहूँ सोइ करत रैन दिन,
छिन पल होत न जिय तें न्यारे ।
जित तित तन मन रोम रोम में,
ह्वै रहे मोरे नैनन तारे ।

अति सुन्दर वर अन्तरजामी,
प्रियासखी हित प्रानहिं प्यारे ॥

(२)

सखी ये दोई होरी खेलैं।
रंगमहल में राधावल्लभ रूप परस्पर झेलैं।
रूप परस्पर खेलत होरी खेलत खेल नवेलैं।
प्रेम पिचक पिय नैन भरे तिय रूप गुलाल सुमेलैं।
कुंदन तन पर केसर फीकी स्याम गौर भये मेलैं।
समर समर के सूर लरत दोई टूटत हार हमेलैं।
सम्मुख सखि मुसकाति झमकि झुकि,
लाड़िली लालहिं पेलैं।
प्रियासखी हित यह छबि निरखत,
सुख की रासि सकेलैं ॥

न० प्र० गु०

बख्तावर सिंह

बख्तावर सिंह अलवर के राजा थे। ये अलवर राज्य के संस्थापक प्रतापसिंहजी के उत्तराधिकारी थे। ये सम्वत् १८४७ में सिंहासनारूढ़ हुए। इनके सिंहासनारूढ़ होने के कुछ समय पूर्व ही अलवर राज्य की स्थापना हुई थी, अतः इन पर राज्य को व्यवस्थित करने तथा उसके सुचारु रूप से चलाने का गुरुतर भार था। एक ओर भरतपुर तथा दूसरी ओर जयपुर के शासकों से अलवर राज्य का मनमुटाव चला आ रहा था। ऐसी विषम स्थिति में भी ये नियमित रूप से श्रीकृष्ण की आराधना का समय निकाल लेते थे। चौंतीस वर्षों तक राज्य करने के बाद विक्रम संवत् १८७१ में इनका परलोकवास हो गया। अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए ये कहते हैं—

राधा कृष्ण उपास है, बख्तावर निज नाम।
नरु वंस कछवाह कुल, भाचाड़ी सुभ ग्राम ॥

राधा-कृष्ण की सुदृष्टि से ही इनके हृदय में भक्ति का प्रकाश प्रदीप्त हुआ था—

राधा कृष्ण सुदृष्टि सौं, मम उर भक्ति प्रकास।
गढ़ लीला बन दान की, वर्नौं कृष्ण-विलास ॥

कवि स्वयं को अज्ञ, अल्पज्ञ मानता हुआ भगवान् कृष्ण को सर्वज्ञ घोषित करता है—

काव्य रीति समुझौं नहीं, है मेरी मति मंद।
मैं तो कछु जानौं नहीं, तुम जानौ गोविन्द ॥

कवि की नम्रता और शील स्वभाव का इससे स्पष्ट परिचय मिलता है।

बख्तावर सिंह की कृष्ण-भक्ति विषयक एक काव्य कृति 'श्रीकृष्ण दानलीला' उपलब्ध होती है। इसकी हस्तलिखित प्रति राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की अलवर शाखा के ग्रन्थाङ्क २३१ पर सुरक्षित है। इसका रचनाकाल कार्तिक कृष्ण ६, बुधवार सं० १८५४ है तथा कुल छन्द संख्या २५१ है। इन छन्दों में मंगलाचरण के पश्चात् राधा-कृष्ण का नख शिख वर्णन, वन वृक्ष और पक्षी नाम गणना, राधा और कृष्ण की भेंट एवं दान-प्राप्ति, यशोदा द्वारा कृष्ण के निमित्त राई-नमक का टोटका करना और अंत में कथा-श्रवण-पठन-माहात्म्य आदि प्रसंगों का वर्णन है।

इसके रचना स्थल का उल्लेख इन्होंने इन शब्दों में किया है—

जगर मगर संपति अगर, सोहत नगर नगीच।
बखत रची लीला सु यह, अलवर गढ़ के बीच ॥
मंगल श्री गोविन्द को, बरन्यौ बखत प्रवीन।
टरत अमंगल नितहि नित, मंगल करन नवीन ॥

कार्तिक कृष्ण ६, बुधवार संवत् १८५४ वि० को महाराजा बख्तावर सिंह ने "दान-विलास" रचना को पूर्ण कर लिया था।

इसके रचना काल का संकेत करते हुए ये लिखते हैं—

संवत् जुग सिव बदन बसु, ससि युत कातिक मास।
कृष्ण पक्ष षष्टी बुधे, पूरण दानविलास ॥

'दान विलास' के अतिरिक्त इन्होंने 'राधा को नख सिख श्रृंगार वर्णन' की भी रचना की थी। उसमें पूज्य भावना मर्यादित रूप में व्यक्त हुई हैं। इसके वर्णन क्रम में कवि बख्तावर सिंह ने बड़ी कुशलता से काम लिया है। राधा के नख-सिख वर्णन के साथ ही कवि ने कृष्ण के नख-सिख का वर्णन भी उक्त मर्यादित रूप में ही किया है।

व्रजभाषा-काव्य की दृष्टि से भी बख्तावर सिंह कृत ये रचनाएँ बड़ी ही उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें कवि रूप तो उत्कृष्ट है ही, साथ ही रचयिता का भक्त-रूप भी प्रस्फुटित हुआ है। राधा के नख-सिख सौन्दर्य की एक छटा देखिए—

कानन कुंडल कनक कलित हैं।
चारु तरोना चपल चलित है॥

जग मग जूड़ा जोति जुगति है।
परगट पाटी प्रेम पगति है॥

बेनी विमल पीठि पर राजै।
नागिन कदली पत्र विराजै॥

लोल कपोल गोल मन मोहैं।
ठोरी चिबुक चारु द्युति सोहैं॥

उर बिच कुच सुचि रचि रुचि राजैं।
कनक कंद द्युति देखत लाजैं॥

इनकी भक्ति-भावना को व्यक्त करने वाले दो छंद यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१)

अजब महबूब गोकुल में किया घर नंद का रोसन,
धरे सिर मुकुट सुबरन का जराऊ ऊजरा कुंदन।
रवा शुद ओढ पीताम्बर सुबह दम सूर्य ब्रिंदावन,
अजायब नौजवाँ सुन्दर खिलाये जुल्फ वर आनन॥

सकेले गोप के लड़के लई सब धेन आगूधर,
अनूपम बाँस की मुरली बजावत है मधुर तानन।
अगर जो नाहिं तुम ऐसी नचावत नैन हो काहे,
करत मुसक्यान की बतिया चलत मटकाय की चालन॥

(२)

स्यामवर्ण नहि तुम्हें सुहाए।
कारे कब क्यों सीस रखाए॥

कारे नैन ऐन अनियारे।
तापर कारे अंजन सारे॥

मुख पर स्याम दिठौना सोहै।
स्याम चिबुक तिल अति मन मोहै।

देहु दान क्यों रारि मचाओ।
ठाड़ो कबकी बचन बनाओ॥

ग० मि०

आ० श० अ०

बख्शी हंसराज

हमीरपुर के खरे कायस्थ-कुल में प्रसिद्ध वैद्य माधवदास ओरछा नगर में बस गये थे। उनके दो पुत्रों में जेठे मुरलीधर और लहुरे केशवराइ थे। मुरलीधर के तीन पुत्रों में सबसे छोटे हंसराज हुए। एक मत के अनुसार मुरलीधर सागर जिला के गढ़ाकोटा में निवास करते थे और वहीं हंसराजजी उत्पन्न हुए थे।

बखशीजी की जन्मतिथि का प्रामाणिक साक्ष्य न होने से मिश्रबंधुओं ने सं० १७८९ और पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सं० १७९९ मान लिया है, जबकि मुझे उनकी अभी तक अज्ञात कृति 'राजचंद्रिका' की हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है और उसका रचना-काल सं० १७८९ है। 'कृष्ण जू की पाती' और 'जुगलस्वरूप-विरह-पत्रिका' भी सं० १७८९ में रची गयी थीं, लेकिन 'राजचंद्रिका' प्रौढ़ आध्यात्मिक चिन्तन-प्रधान ग्रन्थ है। इससे स्पष्ट है कि कवि की आयु उस समय ३०-३५ वर्ष के लगभग रही होगी और इस आधार पर कवि का जन्म सं० १७५४-१७५९ के बीच कभी हुआ होगा।

'राजचंद्रिका' के नृपवंश-वर्णन में 'हिरदेश' तक का उल्लेख है और इतिहासकार गोरेलाल तिवारी ने लिखा है कि महाराज छत्रसाल के राज्यकाल में

हृदयशाह गढ़ाकोटा के किले पर नियुक्त थे। इससे सिद्ध है कि बख्शीजी हृदयशाह के पन्ना गद्दी पर बैठते ही सं० १७८८ में पन्ना आ गए थे। मेहराज चरित्र के अनुसार ये बख्शी के पद पर नियुक्त हुए थे। महाराज हृदयशाह के बाद महाराज सभासिंह ने भी इन्हें कवीश्वर के रूप में सम्मानित किया था। संभवतः ये महाराज अमानसिंह (सं० १८०९-१५) के राज्यकाल में भी रहे, लेकिन तब ये राजकाज आदि से विरत हो कृष्णभक्ति में लीन रहते थे। इनकी निधन-तिथि का पता नहीं चल सका, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि ये सं० १८१५ के आस पास स्वर्गवासी हुए।

'राजचंद्रिका' (सं० १७८९) एवं 'मेहराज चरित्र' (सं० १८०३) नामक दो कृतियों में बख्शी हंसराज ने प्रणामी सम्प्रदाय के स्वामी प्राणनाथ को सद्गुरु और पूज्य कहा है, जिससे कुछ विद्वानों ने इन्हें प्रणामी सम्प्रदाय में दीक्षित मान लिया है। लेकिन 'सनेह-सागर' के प्रारम्भ में ही कवि स्पष्ट कहता है—

ब्यास बंस अवतंस गुसाईं विजै सखी गुर मेरे।
मन बच कर्मन कर हम उनके चरन कमल के चेरे॥

सखी उपासन परम प्रीति सों तिन यह हमहिं बताई।
जुगल सरूप रहस निज लीला दिल अंदर दरसाई॥

तिनके पद अरविन्द सीस धरि, होय मगन मति भारी।
कहिजुत परम प्रेम उर धरकें, लीला नित्य बिहारी॥

इन पंक्तियों से गोस्वामी विजय सखी बख्शीजी के गुरु ठहरते हैं और सखी भाव की उपासना इनकी भक्ति का मूल सम्प्रदाय। विरह-विलास (सं० १८११) में भी विजय सखी का उल्लेख हुआ है—

'विजय सखी गुरु भाई हमारे।
तिनके चरण कमल उर धारे॥'

लेकिन यहाँ गुरु भाई कहने से अन्तर आ गया है क्योंकि इससे विजय सखी के पिता कवि के गुरु प्रतीत होते हैं। वस्तुतः भाई पाठ ही संदिग्ध लगता है। बहरहाल इतना निश्चित है कि बख्शीजी सखी सम्प्रदाय की माधुर्य भक्ति के उपासक थे। 'सनेह-सागर' और 'विरह-विलास' के सहित आठ कृतियों में इनकी इसी भक्ति-भावना के दर्शन होते हैं। इस कारण 'राजचंद्रिका' और 'मेहराज-चरित्र' में स्वामी प्राणनाथ का सद्गुरु के रूप में स्मरण उनके प्रति श्रद्धा-सुमन का अर्पण ही समझना चाहिए। वास्तव में महाराज छत्रसाल के समकालीन स्वामी प्राणनाथ का प्रभाव उनके धामवासी होने के उपरान्त भी बना रहा और यह भी संभव है कि छत्रसाल के पुत्र हृदयशाह तथा अन्य राजा उनका श्रद्धाभाव से स्मरण करते रहे हों। बख्शीजी ने इसीलिए उन्हें काव्य का विषय बनाया होगा, पर प्रणामी सम्प्रदाय में इनके दीक्षा लेने या उसकी उपासना को अपनाने का संकेत कहीं नहीं मिलता।

अभी तक प्राप्त इनकी कृतियाँ हैं—जुगलस्वरूप-विरह-पत्रिका, श्रीकृष्ण जू की पाती, राजचंद्रिका, मेहराज-चरित्र, विरह-विलास, सनेह-सागर, फागतरंगिनी, चुरहारिन-लीला, बारहमासा और गेंद-लीला। इनमें प्रमुख है—सनेह सागर, जिसे सखी सम्प्रदाय की भक्तिभावना का अनुभूति प्रधान प्रबन्ध कहा जा सकता है। उसी अनुभूति की अभिव्यक्ति निम्नलिखित छन्दों में मिलती है—

(१)

हरषत हियो रोम तन छाये
उमँगे अनन्द आँसू।
चाहि रहे चख दुहूँ ओर तें
आनन्द चन्द प्रकासू॥

छूट गयो सब सोच विरह कौ,
लोक लाज भय भागी।
बरसत इस्क प्रेमरस बुन्दियन
झलनि झलनि झर लागी॥

(२)

बाढ़ो परम प्रेम अन्तर घट
उर बड़ एक न दो मैं ।
छाके इसक सराब सुरस में
मतवारे से घूमैं ॥

चितै रहै लख दरस परस पै
इत उत नैन न डोलैं ।
सुधबुध भूल गई तन मन की
मुख भर बैन न बोलैं ॥

(३)

पावत नहिं परपूरन पद वह
तिल तिल होमै देही ।
एक पलक में परम प्रेम सों
पावत परम सनेही ॥

आयौ ग्यांन पूर उर अन्तर
करम भरम भय भागी ।
लोक वेद विधि कछू न मानत
सुरत स्याम सौं लागी ॥

(४)

कठिन पन्थ है परम प्रेम को
ज्यों सूरा पगु धारै ।
जो कहुँ चित्त चलो इत उत तो
प्रकृति पुरी लै डारै ।
दिल दरियाव उमड़ि उर अन्तर
लहरैं उठत घनेरी ।
बूड़ी बही फिरत बुधि जामें
नाहिन जात उबेरी ।

(५)

जो लीला सखियन संग बिहरत
नित्य अखण्ड बिलासी ।
सो वह लीला अगम अगोचर
ब्रज में आन प्रकासी ॥

अति आनन्द की उठती लहरें
जाको वार न पारू ।
सोई कहिजतु परम प्रेम सौ
राधा कृस्न बिहारू ॥

(६)

लोचन ललित प्रीति रस पागे
पुतरिन स्याम निहारे ।
मानहु कमल बिसद पै बैठे
उड़त न अलि मतिवारे ॥

चुभत चाल चंचल नैनन की
चितवन अति अनियारी ।
अति सनेहमय प्रेम सरस लखि
को न होत मतवारी ॥

(७)

हम तुमरे तुम हमरे मन में
सुनियो चित दै राधे ।
कैसे कर छूटौं छल बल सौं
प्रेम प्रीति के बाँधे ॥

जैसे तन मन तुम दीनो है
तैसे हम रंग राते ।
कहैं तुमारो हियो हमारे
हिय की सिगरी बातें ॥

(८)

सखियन सौ राधा जू कहती
दीजै छोड़ कन्हैये ।
बिबस भये रसबस ए बैठे
अति हितु राखि पठैये ॥

ऐसे वचन सुनत सब सखियन
छोड़े कुँवर कन्हाई ।
बाढ़ौ अति अनुराग परसपर
बरनन कियौ न जाई ॥

न० प्र० गु०
न० च० बं०

वच्चू दूबे

श्री वच्चू दुबे प्रकाश मलिक के नाम से भी प्रसिद्ध थे। इनका सम्बन्ध डुमराँव दरबार से था। परिवार के सदस्यों, विशेषतः अपने अनुज एवं उनके पुत्र की मृत्यु के बाद, विरक्त होकर ये भगवद् भक्त हो गये थे। इनकी एक रचना प्रस्तुत है जिसमें राम एवं कृष्ण को अभिन्न मानकर भक्ति-भावना निवेदित की गयी है—

जोई सीतानाथ सोई राधानाथ मानत,
जोई धनुधारे सोई मुरली सँवारे हैं।

जोई रघुपति सोई जदुपति प्राण प्यारे,
जोई काक पक्ष सोई मोर पक्षवारे हैं।

अवध बिहारी जोई सोई व्रज के विहारी,
जोई सोभा देख सोई तन-मन वारे हैं।

जोई राम सोई कृष्ण रूप नाम है प्रकाश,
एकई प्रभाव सब जग रखवारे हैं।

अ० अ०

वड़ेराइ

वड़ेराइ का जीवन-वृत्त ज्ञात नहीं है। ये गोस्वामी दामोदरवर के शिष्य एवं सखी भाव के उपासक थे, अतः आराध्य युगल के नित्य विहार में सदैव निमग्न रहते थे। कहा जाता है कि कभी-कभी प्रत्यक्ष दर्शन की तीव्र इच्छा जागृत होने पर ये मूर्छित हो जाया करते थे। श्री हिताचार्य के प्रति इनकी अगाध निष्ठा थी। इनके सम्बन्ध में चाचा वृन्दावनदास ने लिखा है—

निपट गह गही लगनि उठति भावनि की पुंजनि।
करत मानसिक टहल आपु अलि तन ह्वै कुंजनि॥

मूर्छित ह्वै धर गिरत दृगनि देखन अभिलाषा।
श्री दामोदर गुरु कृपा नेह तरु बाढ़ी शाखा॥

श्री व्यास सुवन के चरन रति,
नयी नयी निसदिन अति बढ़ी।

शुभ जोरी जुगल किशोर की,
रहै बड़े राइ चित में चढ़ी॥

—र० अ० परचावली, छन्द १७२

ल० च० गो०

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' के परिवार का मूल स्थान मिर्जापुर जनपद था। इनकी सम्पत्ति आजमगढ़ में भी थी, किन्तु बाद में ये अपना हिस्सा लेकर वभनान एवं मसकनवा रेलवे स्टेशन (जिला गोण्डा) के दक्षिण शीतलगंज में स्थायी रूप से रहने लगे थे। इनके वंशधर अयोध्या में भी रहते हैं और शीतलगंज में भी। इस प्रकार भारतेन्दु मण्डल के प्रमुख साहित्यकार आधुनिक युगीन हिन्दी साहित्य के प्रवर्त्तकों में एक प्रमुख कवि 'प्रेमघन' गोण्डा के ही साहित्यकार माने जाते हैं। मिश्रबन्धुओं का विचार है कि "पं० बदरीनारायण 'प्रेमघन' पहले मिर्जापुर वासी, पुनः शीतलगंज गोण्डा में जीवन पर्यन्त रहे। जन्मसम्वत् १९१२ माह पक्ष कृष्ण ६, मिर्जापुर, सरयूपारीण ब्राह्मण, उपाध्याय, भरद्वाज गोत्र, 'नीरदनागरी', 'आनन्द कादम्बिनी' के सम्पादक, भारतेन्दु के साथी, पिता का नाम श्री गुरु चरण लाल। इनका गद्य-पद्य पर अच्छा अधिकार है। ये हिन्दी के वड़े लेखकों में गिने जाते हैं। इन्हें हिन्दी का सदैव अच्छा शौक रहा है।"

हिन्दी साहित्य की सेवा करते हुए इन्होंने फाल्गुन शुक्ल १४ सं० १९७८ में स्वर्गारोहण किया। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट के आधार पर इनकी २९ रचनाएं मानी जाती हैं। इनकी रचनाओं का संकलन 'प्रेमघनसर्वस्व' के नाम से हुआ है। यह तीन खण्डों में विभाजित है—प्रथम भाग में काव्य, द्वितीय भाग में निबन्ध तथा तृतीय भाग में नाटक, उपन्यास, आलोचना आदि से सम्बद्ध कृतियाँ संकलित हैं।

प्रेमघनजी का लेखन मुख्य रूपेण राष्ट्रीय पुनर्जागरण सम्बन्धी विषयों से सम्बद्ध है। फिर भी

कृष्ण भक्ति और कृष्ण कथा से सम्बन्धित इनकी प्रचुर-रचनाएँ मिलती हैं। 'भ्रमरगीत परम्परा' जो कृष्ण कथा में प्रेमाभक्ति की अभिव्यक्ति का केन्द्र है, प्रेमघनजी के आकर्षण का भी केन्द्र थी। इस प्रसंग पर इनके कुछ छन्द उदाहरणार्थ दिये जा रहे हैं—

(१)

कैसो विधान विधिना को न जनाय कछू,
जाइ मधुपुरी फिर इत कब आइहै।
नागसिर नाचिहै उठाइ धर, सिरपर,
दावानल पान करि हमहि बचाइहै।
गाइनि चराइहै कदम्ब चढ़ि 'प्रेमघन'
बाँसुरी बजाइहै औ सबहि रसाइहै।
जाको भुजबल बसो रह्यो बैरहीन ब्रज,
सोई वृजराज आज ब्रज तजि जाइहै॥

दूध दधि माखन को भार कितने ही धरे,
सिर पर लठा कितने ही लिए निजकर।
ब्रज वनिता की अवली अनेक नित्य प्रति,
बकति परस्पर कहति धरौं वंसीधर।
प्रेमघन स्याम के वियोग की व्यथा की घटा,
घुमड़ि रही सी ब्रजमण्डल धरनितर।
बाल वृद्ध युवा नर-नारिनि की एक संग,
भारी भीर जाति है जुरति नन्द द्वार पर॥

कृष्ण के मधुर रूप पर लिखे गये इनके निम्न लिखित दोहे अवलोकनीय हैं—

मुरली राजत अधर पर, उर विलसत वनमाल।
जेहि सोई मो मन बसो, सदा रंगीले लाल॥
सीस मुकुट कर में लकुट, कटि तट पर है पीत।
जमुना तीर तमाल तर, डोलै गावत गीत।
वृजसुकुमार कुमारिका, कालिन्दी के तीर।
गलबाहीं दीन्हे दोऊ, हँसत हरत भव पीर॥

शि० ना० शु०

बनमाली

बनमालीजी बस्ती जनपद के दशरथपुर मंडलान्तर्गत घोरांग नामक गाँव के निवासी और जाति के राठौरवंशी क्षत्रिय थे। इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

दशरथपुर मंडल सुखराशी।
महं मोहाल महुली लघु काशी॥

तेहि परगने मांझ एक ग्रामा।
तहँ राठौर बसैं बहु धामा॥

नाम घोरांग ग्राम सब जानै।
पश्चिम दिशि बह सरित कुआनै॥

तेहि पुर कुल प्रगटे 'बनमाली'।
कुमति कुबेर सुमति कर खाली॥

इन्होंने अपने पुत्र भवानीशंकर की प्रेरणा से 'सुदामा-चरित्र' नामक ग्रंथ की रचना सं० १८५८ में की थी। रचना-काल इस प्रकार दिया गया है—

संवत् अट्ठारह सै अट्ठावन।
शुभ तिथि-नाग पंचमी श्रावन॥

रवि दिन कथा रुचिर अनुसारी।
सुमिरि सेस शारद त्रिपुरारी॥

दोहा चौपाई छन्दों में वर्णित सुदामा की यह कथा अत्यन्त सरस है। ग्रन्थ काव्य और भक्ति दोनों दृष्टियों से उत्तम है। यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)

सुमिरि गणेसहि गौरि गुर, गिरा गंग गौरीश।
रमा रमेश सुरेश सुर, किन्नर रवि रजनीश॥

सहित विद्या त्रिशक्ति सब, विधि अनन्त अनुमन्त।
नाग यक्ष गधर्व अरु, नारदादि मुनि संत॥

मीन कमठ शूकर मनुज, हरि बावन भृगुनाथ।
राम कृष्ण हलधर बउध, कहि तिहिं नावों माथ॥

(२)

चरित सुदामा को विसद, पढ़ै सुनै मनलाइ।
सुख संपत्ति संतति बढ़ै, दारिद को दुख जाइ॥
पिंगल फल गण अगण के, मानुष लहत प्रभाव।
जाको रघुवर नाम है, अगणौ सगण सभाव॥

मिटै न मन की मलिनता, ताते द्रवहिं न राम।
मन पाखंडी बावरे कहा बिगारत काम॥

वा० सि०

बनारसी देव

आचार्य बनारसीदेव का जन्म गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये २० वर्ष की आयु में संवत् १५३० में गुरु की शरण में आये। ये स्वभाव से बड़े धैर्यवान तथा ज्ञानी थे। ये गुरु की आज्ञानुसार आठों पहर हरि भक्ति में तल्लीन रहने लगे। प्रिया-प्रियतम ने जिन-जिन स्थानों पर लीलाएँ कीं, उन वनों और उपवनों में ये निरंतर घूमते रहते थे। प्रिया-प्रियतम को एक क्षण भी नहीं भूलते थे। बहुत से गृहस्थ भी इनके शिष्य बन गये। ये सदैव उनको गुरु सेवा का रहस्य बतलाया करते थे। अपने शिष्यों में मोहनदेव पर इनकी अत्यधिक कृपा थी।

प्रे० ना० श्री०

बनीठनी

कृष्णगढ़ नरेश महाराजा श्री सावंत सिंह जी जब सिंहासनारूढ़ नहीं हुए थे तब ये दिल्ली के बादशाह के यहाँ रहते थे। इन्हीं के साथ रानी चतुर कुँवरिजी भी रहा करती थीं। श्री चतुर कुँवरिजी ने विक्रम सं० १७५६ में विभिन्न परिवारों की ९ लड़कियाँ लीं जिनकी उम्र ५-५,६-६ वर्ष की थी। इन्हीं में से एक श्री बनीठनीजी थीं। इनका जन्म का नाम विष्णुप्रिया था, जो इनकी छतरी के शिला लेख पर अङ्कित है। इनका बनीठनी नाम, इनके बनठन एवं सज-सँवर कर रहने के कारण पड़ा। ये अत्यंत सुन्दरी थीं। विनोद का यह नाम ही आगे चलकर इनका असली अभिधान बन गया।

किशनगढ़ का राजघराना ऐसा था, जिसमें कोई अवैष्णव नहीं था, चाहे वह छोटे से छोटा कर्मचारी या बड़े से बड़ा अधिकारी ही क्यों न हो। अतः श्री बनीठनीजी को भी श्री वृन्दावनस्थ रसिकविहारीजी के महन्त श्री रसिकदेवजी (वि० १७४१-१७५८) से वैष्णवी दीक्षा दिलाई गयी। इसी वर्ष श्री राजसिंहजी के यहाँ एक पुत्र रत्न हुआ जिसका नाम सावंत सिंह रखा गया जो आगे चलकर भक्तवर नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध हुए। बनीठनीजी महाराज राजसिंहजी की द्वितीय पटरानी (जिनका विवाह पहली रानी की मृत्यु के उपरान्त सं० १७७७ में हुआ था) की गायिकाओं में प्रधान थीं। इनका सम्बन्ध राजकुमार सावंतसिंहजी (नागरीदासजी) के साथ किया गया, जिसके अनंतर ये उपपत्नी (पासवान) के रूप में उनके अन्तःपुर में निवास करने लगीं।

जब नागरीदासजी ने राज कार्य का परित्याग कर वृन्दावन वास किया तब बनीठनीजी भी उनके सेवार्थ वृन्दावन चली आईं। जिस प्रकार श्रीनागरीदासजी ने काव्य रचनाएँ कीं, उसी प्रकार बनीठनीजी ने भी काव्यसृजन किया। हिन्दी, पंजाबी, ब्रजभाषा, राजस्थानी आदि कई भाषाओं में इनकी रचनायें उपलब्ध होती हैं। नागरीदासजी द्वारा संकलित पद-मुक्तावली में बनीठनीजी की रचनायें भी संकलित हैं। वि० सं० १९५५ में मुद्रित 'नागर-समुच्चय' के अन्त में भी इनके ६१ पद प्रकाशित हैं। ये अपने गुरुदेव एवं उपास्यदेव के नाम की छाप लगाती थीं।

बनीठनीजी अधिक पढ़ी-लिखी न थीं। उन्हें केवल साधारण अक्षर ज्ञान व घरेलू शिक्षा ही प्राप्त हुई थी, फिर भी इनकी रचनाओं का शब्द-विन्यास एवं भाव-व्यञ्जना दोनों ही मार्मिक हैं। ब्रजभाषा के आदि वाणीकार श्रीभट्ट देव तथा महावाणीकार श्री हरिव्यासदेवाचार्यजी की ही भाँति श्री नागरीदासजी एवं बनीठनीजी ने पद ही अधिकतर रचे हैं। भावों को स्पष्ट करने के लिये पदों के प्रारंभ में दोहे भी दिये गये हैं। इन्होंने श्यामा-श्याम की जन्म-बधाई, होरी, फाग, सुरत, सुरतान्त, नौका-विहार, पावस में युगल-मिलन, झूलन आदि विषयों

पर बहुत सी रचनाएँ की हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, स्वभावोक्ति आदि अलंकारों का सफल समावेश इनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है।

इनकी कृतियों से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१)

वधाई (राग काफी)

बजै आज नन्दभवन बधाइयाँ।
गहमह आनन्द रंगरली अति
गोपी सब मिलि आइयाँ॥

महरि यशोमति कैं भयो सुत
फूली अंग न माइयाँ।
रसिक विहारी प्राणजीवन लखि
देत अशीश सुहाइयाँ॥

(२)

होली के खेल में श्री युगलकिशोर के विवाह का कितना सुन्दर, सरस और मनोरम रूपक प्रस्तुत किया गया है—

उड़ि गुलाल धूंधरि भई, तन रह्यो लाल वितान।
चौरी चारु निकुञ्ज में, व्याह फाग सुखदान॥

फूलन के सिर सेहरा, फाग रँगमगे बेस।
भांवर ही में चलत दोउ, लै गति सुलभ सुदेस॥

भीजे केशर-रंग में, लगे अरुन अरु पीत।
डोलें चांचर चौक में, गहि बहियाँ दोउ मीत॥

रच्यो रंगीली रैन में, होरी के बिच व्याह।
बनी बिहारिनि रस सनी, रसिक बिहारी नाह॥

(३)

हिंडोल-लीला

हिडोरे रँग रह्यो सरसाय।
झूलनि में झुकि झूमि रह्यो पिय प्यारी रूप लुभाय॥
भीजें तन तरवर चुवैं लागा गलबाँहीं लपटाय।
'रसिक विहारीजी' रो झूलबो म्हारा मन में झोटा
खाय॥

(४)

रंगि रह्या युगल रूप-रँग माहीं।
कुंज महल में दर्पन साम्हें दिया रहै गलबाँहीं॥

कदेक संभ्रम ह्वै स्यामारै नेडै स्याम छताहीं।
कदेक रीझि रहैं 'रसिक विहारी' देखि देखि परछाहीं॥

राजस्थानी तो इनकी मातृभाषा ही थी। व्रज में रहने के कारण इन्हें व्रजभाषा का भी अच्छा ज्ञान हो गया था। पंजाबी भाषा में भी इन्होंने बड़े ही सुन्दर भाव व्यक्त किये हैं। श्री श्याम के नयनों को धनुष वाण की उपमा देकर ये कहती हैं कि इन तीक्ष्ण वाण रूपी कटाक्षों से न जाने कितने मारे जा चुके हैं और न जाने कितने तड़प रहे हैं, फिर भी ये वाण रुकते नहीं, वरन् प्रहार करते ही जा रहे हैं—

तीखे नैंन कन्हाई तैंड़े पल-पल जुल्म करन्दे।
भौंहें तो कमान बनी हैं पलकैं तीर परन्दे॥

कित्ते घायल परे कराहैं दिल नाँहि धीर धरन्दे।
रसिक बिहारी नित वार करन्दे टारे नहीं टरन्दे॥

वास्तव में बनीठनीजी एवं नागरीदासजी दोनों ही श्रीयुगलकिशोर के पार्षद थे, जो साथ ही साथ लोकहितार्थ धराधाम पर आये और प्रेम का अपूर्व आदर्श रखकर साथ ही अन्तर्धान हुए। श्रीनागरीदास जी ने भाद्रपद शुक्ला ५ वि० सं० १८२१ को निकुञ्जधाम में प्रवेश किया। उनके कुछ दिनोपरान्त ही श्री बनीठनीजी भी अपने पञ्चभौतिक शरीर का परित्याग कर श्री युगलकिशोर की नित्य-सन्निधि को प्राप्त हुईं। इन दोनों की छतरियाँ (समाधियाँ) वृन्दावन के समीप स्थित श्रीनागरीदासजी के घेरा में एक दूसरे के निकट ही बनी हुई हैं। श्री बनीठनीजी की छतरी (निर्माणकाल सं० १८२२

आषाढ़ शुक्ला १५) पर इन्हीं के द्वारा रचे हुए ये तीन दोहे उत्कीर्ण हैं—

श्रीविहारिनि विहारीजी, ललितादिक हरिदास ।
नरहरि रसिकन की कृपा, दियो वृन्दावन वास ॥

श्रीरसिकदास गुरु की कृपा, लहि मन भरि सत्संग ।
विष्णुहि वृन्दावन मिल्यो, भक्त विहार अभंग ॥

'रसिक विहारी' सामरो, व्रजनागर सुर काज ।
इन पद पंकज मधुकरी, सेवत विष्णु समाज ॥

प्रे॰ ना॰ श्री॰

बफ्फत मियाँ

शायर बफ्फत मियाँ मीरजापुर (उ॰ प्र॰) जनपद के पूर्व मध्य में स्थित सीखड़ गाँव के रहने वाले थे। ये मुख्य रूप से मीरजापुरी कजली के बड़े नामी शायर हो गये हैं। इनके नाम से अभी तक कजली का अखाड़ा चलता है। इनका निधन सन् १९३४ ई॰ के आस-पास हुआ। इनके द्वारा रचित कृष्ण भक्ति की अनेक कजलियों ने अब लोकगीतों का रूप ले लिया है। उदाहरण स्वरूप दो कजलियाँ नीचे दी जा रही हैं—

(१)

राधे मिलन चली है अपने प्यारे श्याम से
सज के निकलीं धाम से ना ।
नैना श्याम रंग का काजल ।
केसिया श्याम रंग का बादल ।
नथ की ज्योति लड़त है सूर्य देव के घाम से
अपने प्यारे श्याम से ना ॥
मन में मिलन की बाढ़ी आस
बतिया आज बा कौनो खास
जौन कि होई कतहूँ कुंजन में आराम से
अपने प्यारे श्याम से ना ।
राधे मिलन चली हैं अपने प्यारे श्याम से
सज के निकली धाम से ना ॥

(२)

केहि बन हेरउँ नन्द लला के,
चित मोर बाउर भइलें ना ।
पात-पात वृन्दावन ढूँढ़िउँ लागल पता न श्याम,
सँवलिया लागल पता न श्याम,
मारे बिरह के मोर करेजवा,
काँकरि अस फटि गइलें ना ॥

ए जमुना ! मैं तोसे पूछूँ कहाँ छिपे हरि मोर,
सँवलिया कहाँ छिपे हरि मोर,
अब तौ कालिउ नाग न बाटै,
के के नाथै गइलें ना,
केहि बन हेरउँ नन्द लला के,
चित मोर बाउर भइलें ना ॥

च॰ मि॰

बलदेव

बलदेवजी १९ वीं शताब्दी के भक्त कवि हैं। इनके द्वारा विरचित बहुत से पद श्री गोकुलदासजी द्वारा संगृहीत आचार्य-बधाई में संकलित हैं। इनका 'आनंदाष्टक' नामक काव्य ग्रन्थ भी प्राप्त होता है। इनकी सभी रचनाएँ कवित्त छन्द में ही निबद्ध हैं। इनके समस्त छन्द आचार्य-निष्ठा पर विरचित हैं। इन छन्दों में साम्प्रदायिक सिद्धान्त, उपासना आदि का विश्लेषण होने के साथ ही साथ दार्शनिकता का भी समावेश है।

इनके अनुसार श्री निम्बार्क-भगवान् की शरण में जाना ही गोविन्द की प्राप्ति में सहायक एवं कलि-काल में धर्म-रक्षा का सुगम उपाय है। इसमें अनन्यता की प्रधानता है। इनकी भाषा सरल तथा प्रसादमाधुर्यादि गुणों से युक्त ब्रजी है। कुछ उदाहरण देखिए—

(१)

आय सनकादिक विरंचि सो कर्यो है प्रश्न,
चित्त अरु विषय को कहौ जो निरधारे हैं।
कातिक आक्षे-नौमी को जनम प्रगट जान्यो,
जग में प्रकाशमान भये सुखभारे हैं।
भागवत पूरन पुरान में प्रमान मान,
कहैं बलदेव भक्त बहुतक तारे हैं।

नीर क्षीर न्यारे करिबे के काज हंसरूप,
आप ही गोविन्द गऊ लोक ते पधारे हैं ॥

(२)

कौन गोलोक के गोविन्द में बताती प्रीत,
बचन कृतारथ के बीच जग बोते ना ।
माता जयन्ती के जन्म लीनो जा दिन ते,
कातिक पुनीत पून्यो सब दुख धोते ना ॥

कहै बलदेव भान नोम में दिखायो जाते,
जीवन पै दया लगे वृथा तो दिन खोते ना ।
बूड़ि जात कलि में सकल धर्म सब भाँति,
अरुन ऋषीस जो पै निम्बारक होते ना ॥

प्रे० ना० श्री०

बलदेव गोस्वामी

गोस्वामी बलदेवजी का जन्म आषाढ़ शुक्ल ९ संवत् १८७२ में डेरा गाजीखाँ में हुआ था। ये गोस्वामी हरिदेवजी के एक मात्र पुत्र थे। इनके सम्बन्ध में जनश्रुति है कि ये अपने शैशव काल में श्री गोपीनाथ जी की सेवा-विधि का निरीक्षण एकाग्र चित्त होकर किया करते थे, फिर उसी का अनुकरण अपनी मित्र-मण्डली के साथ श्री गोपीनाथजी के चित्र को लेकर करते थे। राग-सेवा-काल के सुनकर कण्ठाग्र हुए पदों का ये आत्म-विभोर होकर गान करते थे। इस प्रकार की इनकी स्वाभाविक भगवत्प्रीति को देखकर पिताजी ने किशोर काल में ही यज्ञोपवीत और दीक्षा देकर इन्हें गोपीनाथजी की सेवा में 'वीटिका-सेवक' के रूप में दीक्षित कर लिया। फिर तो ये श्री गोपीनाथजी की अष्टयाम सेवा में वीटिका (पान) सेवक के रूप में लाड़ लड़ाया करते थे और निकुञ्ज-लीला के समय वीटिका दासी (ताम्बूल वाहिनी) के रूप में मनुहार किया करते थे। यही भाव इनकी रचनाओं से परिलक्षित होता है।

इनके दो विवाह हुए। प्रथम विवाह १६ वर्ष की अवस्था में हुआ होगा, क्योंकि प्रथम पुत्र गो० सुखदेव का जन्म १८५० संवत् में हो गया था। सं० १८९२ में इनके पिता का देहावसान हो गया, तदुपरान्त सं० १८९३ में द्वितीय पत्नी से द्वितीय पुत्र का जन्म हुआ। इससे अनुमान लगाया जाता है कि पिताजी के सामने ही इनकी प्रथम पत्नी का देहावसान हो गया होगा और सं० १८९१ के लगभग इनका द्वितीय विवाह हुआ, जिससे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। अन्तिम पुत्र सं० १९३३ में उत्पन्न हुआ था।

पिताजी की मृत्यु के उपरान्त सं० १८९२ में ये गद्दीस्थ हुए। तदुपरान्त इन्होंने वृन्दावन-यात्रा की और लौटकर सिन्धु प्रदेश में सम्प्रदाय के प्रचारार्थ परिभ्रमण किया।

इन्होंने ऋतु-विहार और रसलीलाओं से सम्बन्धित बत्तीसी पद संग्रह के दो वृहद् ग्रन्थों की रचना की थी। प्रथम बत्तीसी में ३६ बत्तीसियाँ हैं तथा द्वितीय-बत्तीसी में २७ बत्तीसियाँ हैं। इसके अतिरिक्त ५०० फुटकर पदों का इनका एक अन्य संग्रह ग्रन्थ भी है। इन्होंने गो० हरिदेवजी के स्तुति-पदों का एक लघु ग्रन्थ भी लिखा है। पावस ऋतु का एक पद प्रस्तुत है—

मेघ महा अब बरसत घोरा ।
देखौ प्रबल धार ढर
तरुतर नाचत मोरी मोरा ॥

पपीहा पी पी धुनि उरजावत,
कोकिल कल मधु घोरा ।
खगमृग पशु 'बल' मुदित पावस रितु
दै रस रहस्य टंकोरा ॥

इनका तिरोधान फाल्गुन शुक्ल १४ संवत् १९३९ में हुआ था।

सु० श०

बलदेवदास

सन्त चरणदास के शिष्य रामरूप की शिष्य परम्परा में बलदेवदासजी अत्यन्त लोक प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। इनकी परंपरा इस प्रकार है—चरण-

दास→रामरूप→रामकृपाल→विहारीदास → ठाकुर-दास→बलदेवदास । चरणदासी-पन्थ के सन्तों में इनके त्याग, वैराग्य और अनन्य निष्काम भाव की बड़ी चर्चा रही है ।

इनका जन्म व्रजक्षेत्र के किसी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये दो भाई थे। जब ये आठ वर्ष के थे तो इनके बड़े भाई की सगाई हो गई। वह भाई बड़ा हरि भक्त था। उसने माता-पिता से कहा कि मेरा विवाह अभी मत करना, छह महीने बाद करना। कुछ दिनों वाद वे स्वर्ग सिधार गए। इस घटना के प्रभाव से वलदेवदासजी के चित्त में ज्ञान का उदय हुआ। ये चुपचाप एक जाट लड़के के साथ घर से चल दिए। रास्ते में एक जगह वहुत से संत ठहरे हुए थे। उन लोगों ने इन्हें वालक जानकर बड़े प्रेम से अपने पास ठहरा लिया और कुछ दिनों वाद इन्हें अपने साथ द्वारकापुरी ले गए। वहाँ रणछोड़जी के मन्दिर में ठाकुरजी का भोग लग रहा था और पुजारी परदे के वाहर इधर-उधर डोल रहा था। वालक वलदेवदास चुपके से परदा (टेरा) उठाकर घुस गया। वहाँ इन्होंने देखा कि ठाकुरजी की मूर्त्ति तो सिंहासन पर विराज रही थी, किन्तु पाँच वर्ष का एक स्वरूप थाल में भोग लगा रहा था। जव भोग लग चुका तो ये चुपके से निकल कर वाहर आ गए। रात को स्वप्न में रणछोड़जी ने इन्हें दर्शन देकर आज्ञा दी कि 'दिल्ली के पास लुकसर ग्राम में ठाकुरदास मेरा परम भक्त है, तुम उसके पास जाकर शिष्य हो जाओ।' उधर ठाकुरदासजी को भी स्वप्न में आज्ञा मिली कि 'वलदेवदास आ रहा है। उसको अपना शिष्य वना लो।' लुकसर ग्राम पहुँचकर इन्होंने दीक्षा ग्रहण की।

सम्प्रदायाचार्य चरणदास की परा-रस का दान करने वाली वाणी का नित्य पाठ, श्रीमद्भागवत और गीता का नित्य नियमपूर्वक अध्ययन, सितार-वादन और आरती के समय मंगल गायन इनकी प्रमुख दिनचर्या थी। सरस माधुरीशरण ने इनके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के राग-भोग और आरती किये जाने का वर्णन करते हुए लिखा है—

राग भोग विधि सों करें, दम्पति भोग धराय।
करें आरती प्रेम सो, प्रभु देवैं पौढ़ाय ॥

संत मंडली संग लै, पावैं महा प्रसाद।
समय अनोसर सेन कर, भरें हृदय आह्लाद ॥

इनका उपस्थिति काल १९वीं शताब्दी है।

म० गो० भा०

रा० प्र० त्रि०

बलदेवदास जौहरी

श्री बलदेवदास जौहरी हाथरस (अलीगढ़) के निवासी अग्रवाल वैश्य थे। इनके पिता का नाम जयगोपाल था। ये भरतपुर के राजा बलवन्त सिंह और धौलपुर के राजा कीरत सिंह के दरबारी कवि थे और माध्व सम्प्रदाय में दीक्षित थे।

खोज में 'श्री कृष्ण-जन्म-खण्ड' नामक इनकी एक कृति का पता चला है जिसका रचना काल सं० १९०३ और लिपिकाल सं० १९२४ है। ग्रन्थ में रचना काल इस प्रकार दिया गया है—

गुण अकाश नव चन्द्रमा, भादव मास पुनीत।
असित पक्ष षष्ठी सुबुध, बरनत कथा विनीत ॥

इस ग्रन्थ में दोहा-चौपाई छन्द में श्री कृष्ण का चरित्र वर्णित है। यहाँ उससे दो छन्द दिए जा रहे हैं—

(१)

विधि हरिहर जाते भये, ताते जग परसंग।
नंद गोप सुत प्रगट सो, जय जय राधा कंत ॥
बंदौं राधा रमणपद, जाहि भजैं अज ईश।
हरनताप त्रय सुखकरन, जन रक्षक जगदीश ॥
जाहि भजैं शिव शेष अज, सुर मुनि इंद्र गणेश।
श्री गिरिजा सरस्वति रटैं, बंदौ वही ब्रजेश ॥

(२)

मति अनुसार कथा सुखदाई।
यों बलदेव जौहरी गाई॥

जद्यपि कविता अंग न जानो।
तद्यपि राधावर गुण सानो॥

जद्यपि अलंकार नहि एका।
तद्यपि हरिगुण भूषण जेका॥

जदपि कूर कविता में कीनी।
तदपि नंद नंदन रसभीनो॥

सुवरण भूषण कूर बनावै।
तौऊ मोल सुवर्नंहु पावै॥

रचि रचि पीत गढ़ै जो कोऊ।
सोने सम दाहै नहि सोऊ॥

वा० सिं०

बलदेवप्रसाद अवस्थी 'द्विज बलदेव'

'द्विज बलदेवजी' का जन्म कार्तिक वदी द्वादशी सं० १८९७ वि० में दासापुर (सीतापुर) में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० ब्रजलाल अवस्थी था। बलदेवजी का व्याकरण, ज्योतिष तथा कर्मकाण्ड पर अच्छा अधिकार था। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में इन्होंने अपनी जिह्वा जगदम्बा की प्रतिमा पर चढ़ा दी थी। कहते हैं, तभी से इनको वाणी सिद्ध हो गई थी। इन्होंने काशीवासी स्वामी निजानन्द सरस्वती से काव्य रीति का सम्यक् अध्ययन किया था। उसी समय इनका भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से साक्षात्कार हुआ। भारतेन्दुजी ने इनको उत्तम कवि होने का प्रमाण पत्र दिया था। बलदेवजी को सं० १९७१ वि० में 'श्री बिसवाँ कवि मण्डल' से 'भारतरत्न कवीन्द्र' की उपाधि प्राप्त हुई थी।

बलदेवजी आशु कवि थे। इनका दावा था 'दीजिये समस्या तापै कवित बनावैं चट, कलम रुकै तौ कर कलम कराइये।' इनके आशुकवित्व की कई स्थानों पर परीक्षा ली गई और ये सर्वत्र सफल हुए। इनका निधन सं० १९७४ वि० में हुआ था।

बलदेवजी ने रीतिवद्ध, रीतिमुक्त तथा प्रबन्ध तीनों प्रकार के काव्यों की रचना की है, जिनकी संख्या एक दर्जन से अधिक है। इनमें 'रागाष्टयाम' तथा 'ब्रजराज बिहार' कृष्ण काव्य हैं। 'रागाष्टयाम' में विभिन्न राग-रागिनियों से युक्त विविध प्रकार के पदों में आठों प्रहरों के लिए उपयुक्त 'भजन' लिपिवद्ध हैं। इनमें शान्त रस के साथ ही विप्रलम्भ शृंगार का भी पुट है।

इनका एक पद द्रष्टव्य है जिसमें भगवान् कृष्ण के ब्रह्मत्व का सुन्दर निर्देश है—

माधव रास रसिक माधव मृदु श्री वृन्दावनवासी।
जाके गुण निगमागम गावत शेष शम्भु अविनासी॥

जग उत्पति पालन लै कारन आपै परम प्रकासी।
प्रेमहि के बस रहत रमापति सब थल में सुखरासी॥

भरत विनोद करत नाना विधि गोपिन के संग हाँसी।
कटि तट कलित काछनी काछे पीत बसन छवि भासी॥

मोर मुकुट मुरली रव पूरित मनहुँ असमसर फाँसी।
मेरी बुधि बलदेव कहत प्रभु करौ आपनी दासी॥

लगी रहै राउर चरनन में होय न पुनि अविकासी॥

—रागाष्टयाम, पद सं० १

'रागाष्टयाम' गीति-काव्य का सुन्दर उदाहरण है। आत्मानुभूति की विशिष्टता, कल्पना की सहज उड़ान तथा संगीतात्मकता का गुण इस ग्रन्थ में सहज संलक्ष्य है।

'ब्रजराज-विहार' बलदेवजी का खण्डकाव्य है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण का चरित्र सविस्तर वर्णित है। ग्रन्थ में कुल ४२ विश्राम हैं। प्रसंगों की समाप्ति पर विश्राम की व्यवस्था है। इसमें कुल २७० पृष्ठ हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने कथानक की सुगठित योजना को ही प्रमुखता नहीं दी है, पारस्परिक

वार्तालाप द्वारा पात्रों के चारित्रिक विकास पर भी वल दिया है। इसी कारण 'व्रजराज-विहार' के अधिकांश पात्र किसी न किसी आदर्श को लेकर उपस्थित होते हैं। यशोदा मातृत्व के, नन्द पितृत्व के कृष्ण शक्ति, शील एवं सौन्दर्य के तथा बलराम भ्रातृत्व के ऐसे आदर्श हैं, जिन्हें विस्मृत नहीं किया जा सकता। गोपिकाएँ तो प्रेम स्वरूपा ही हैं। केवल देवता कोटि के पात्र ही नहीं, कंसादिक असुर भी भगवान् कृष्ण के प्रति अपनी आस्था रखते हैं। यह बात दूसरी है कि वे उनके विरोधी हैं। विरोध करते हुए भी ऐसे पात्र भगवान् कृष्ण की 'ब्राह्मीशक्ति' को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के आदर्शों की प्रतिष्ठा में ही ग्रन्थ की सार्थकता है।

कवि ने 'व्रजराज-विहार' में बाल-मनोविज्ञान का सुन्दर निरूपण किया है। सूक्ष्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति के कारण उसको इस दिशा में विशेष सफलता मिली है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। कृष्ण तथा बलराम की वाल-चेष्टाएँ मन मुग्ध किए विना नहीं रहतीं—

चलन घुटुरुवन लगे राम कृष्णौ द्वौ भाई।
जननी बलि बलि जाय महासुख उर न समाई॥

पग नूपुर लखि चकित होत किंकिणि जब बाजै।
त्रिभुवन शोभा जौन तौन तातन तन राजै॥

दोऊ लोटत भूमि कबौं कर्दम कर पीटैं।
रोवत हँसत तुरन्त परत तन मैं बहु छींटैं॥

हेरत निज प्रतिबिम्ब ताहि कर लातन मारैं।
देखत जहँ कृमि जीव अंगुली ता पर धारैं॥

माता देत डराय कहत जूजू उत हाऊ।
आवत सुनि डरि जात कंठ लपटत हरिदाऊ॥

मूंदि नैन द्वौ लेत साँस शंकित की नाईं।
कहत मातु वह गयो हँसत तब सुख न समाई॥

—व्रजराज विहार, पृ० ४५

ग० द० सा०

बलदेवप्रसाद 'शील'

वलदेवप्रसाद 'शील' का जन्म सम्वत् १९२९ में सागर में हुआ था। शीलजी के पिता का नाम कुञ्जीलाल दुबे था। इनके कई उच्चस्तरीय ग्रन्थों की जानकारी मिलती है जिनमें कुछ इस प्रकार हैं:—शील-विनोद, कृष्णायन, शृंगार-विनोद तथा भामिनी-विलास। इनमें 'कृष्णायन' शीर्षक काव्यग्रन्थ इनकी भागवत-निष्ठा का परिचायक है। इसमें भगवान् कृष्ण के चरित्र पर आध्यात्मिक दृष्टि से दोहा, चौपाई छन्दों में प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण ग्रंथ तीस अध्यायों में विभक्त है। ग्रंथ का मूल स्वर अध्यात्म है। ये ईश्वर के सगुण रूप की उपासना के पक्षधर थे। तत्सम्बन्धी कुछ पक्तियाँ यहाँ दी जा रही हैं:—

निराकार जेहि श्रुत बुध गावैं।
शील रूप लिख बाल पढ़ावैं॥

रूप सहित स्वर ताल पिछानो।
खोपि रेखु बिन परस न जानो॥

बिना नाम नहि रूप प्रकासा।
जानत कटहि जगत कर पासा॥

समुझी सगुन उपासना सकल गुनन की खान।
यहै सिरोमनि जानि कै धरी हृदय बिच आनि॥

त्रि० ना० शु०

बलरामदास

बलरामदास ब्रजवासी थे। इनके अनेक कीर्तन पद 'रागकल्पद्रुम भाग-२' में संकलित हैं। 'शिवसिंह सरोज' में इनका निम्नलिखित पद दिया गया है—

मोहन बसन हमारे दीजे।
बारने जाऊँ सुनो नंदनंदन सीत लगत तन भीजे॥
कौन सुभाव वृथा अन-औसर, इन बातन कस जीजे।
सुनि दुःख पावै महर जसोमति, जाइ कहैं अब हीं जे॥
सब अबला जल माँझ उघारी, दारुन दुःख न सहीजै।
प्रभु 'बलराम' हम दासि तिहारी, जो भावै सो कीजै॥

'मिश्रबंधु-विनोद' के अनुसार इन पदों के रचयिता बलराम सं० १७५० में उपस्थित थे। ग्रियर्सन ने एक अन्य बलरामदास का उल्लेख किया है। निश्चित रूप से बलराम कृष्ण-भक्त कवि हैं और इनके पुष्टिमार्गीय होने की अधिक संभावना है।

ह० नं० भा०

बलवंत भैया साहब

गौड़ेश्वर-सम्प्रदाय के ब्रजभाषा-कवि बलवन्त भैया साहब का जन्म वि० सं० १९११ में आषाढ़ कृष्ण पक्ष की एकादशी को लश्कर (ग्वालियर, में ग्वालियर के राजा की उपपत्नी के गर्भ से हुआ था। इनके पिता का नाम जयाजीराव साहब सिंदे (आलीजा बहादुर) था। छोटी उम्र में ही इन्होंने मराठी, हिन्दी, फारसी, अंग्रेजी तथा संस्कृत आदि भाषाओं और अनेक कलाओं में कुशलता प्राप्त कर ली थी। अपनी योग्यता के बल पर इन्होंने राजकार्य में मंत्री तथा दीवान तक का पद प्राप्त किया था। हिन्दी भाषा के प्रति इनका विशेष अनुराग था। ये ब्रजभाषा के अतीव प्रेमी रसज्ञ और विज्ञ थे। ललितकलाओं में भी इनकी विशेष रुचि थी तथा शिल्प और संगीत-कलाओं में ये निष्णात थे। ज्योतिष एवं वैद्यक में भी इनकी गति थी। इनका व्यक्तित्व समृद्ध और प्रभावशाली था।

इनका विवाह सरदार बापू साहब मोहिते बागीकर वशिष्ठ गोत्रीय की कन्या से वि० सं० १९२५ में हुआ था। कहा जाता है कि १४ वर्ष की अवस्था में ही, विवाह होने के कुछ क्षण पूर्व इन्होंने अपने सहज स्वभाव के कारण, गोस्वामी तुलसीदास का प्रसिद्ध दोहा 'अस्थि चर्म मय……… …' कहा, जिस पर इनके पिताजी महाराज ने इन्हें बहुत डाँटा। यद्यपि इनकी आयु का एक बड़ा भाग राजकार्यों के संचालन में व्यतीत हुआ तथापि अध्यात्म-साधना के लिए ये नित्यप्रति दो-तीन घंटे का समय निकाल ही लेते थे। इनके फारसी भाषा के गुरु एक उच्च कोटि के विरक्त थे।

कहा जाता है कि 'भैया साहब' संगीत-शास्त्र के निष्णात पंडित थे। उस्ताद नत्थू खाँ से इन्होंने गायन और बंदे अली खाँ से वीणा सीखी थी। इनकी अनेक रागों और वाद्यों में गति थी। इनकी कलात्मक निपुणता को देखकर अच्छे-अच्छे संगीत-विशारदों को भी विचार में पड़ जाना पड़ता था। इनके संगीत के शिष्यों में पंडित मल्हार रावजी तथा राजाभैया मोरगाँवकर बुवा के नाम उल्लेखनीय हैं। कहते हैं एक बार अपने कृपा-पात्रों के विशेष आग्रह से इन्होंने अर्ध-रात्रि में आसन जमाकर 'विहाग' शुरू किया। मीठी, सुरीली, पैनी और साथ ही दूर तक पहुँचने वाली आवाज के साथ ठाँह में अस्ताई गाई। अन्तरे के बाद चलत शुरु होते ही लोग अपने-अपने आसन पर हिलने लगे। इनके गायन में यह विशेष बात थी कि चलत-फिरत सब पुराने तर्ज पर, परन्तु बोल और भाव स्वरचित और कृष्ण या राधिकाजी की सेवा पर एक ही शब्द के कई प्रकार के स्वर-फैलाव। इनकी भजन-मंडली में पंडित मल्हार रावजी, भैया मोरगाँवकर बुवा, वामनराव पाटनकर, भास्कर बुवा मुसलगाँवकर, पंडित शिवराम शास्त्री पिंगले और छोटे खाँ आदि शामिल होते थे।

अपनी युवावस्था में इन्होंने गौड़ेश्वर सम्प्रदाय के अन्तर्गत श्रीमन्नाम-मन्त्र की दीक्षा पायी थी। वर्षों तक ये प्रति दिवस तीन घण्टे हरिकीर्तन करते थे। इन्होंने सात वर्षों में हरिकीर्तन के सात 'सप्ताह' किये। जीवन के अन्तिम वर्ष इन्होंने मुख्यतः सत्संग में बिताये। इनका निधन ७० वर्ष की आयु में वि० सं० १९८२ में पौष कृष्ण एकादशी को हुआ।

इनके द्वारा रचित पद हिन्दी तथा मराठी दोनों भाषाओं में प्राप्त होते हैं। 'पदमाला' के अन्त में मराठी पद संकलित हैं। इनके स्वरचित आख्यान और कई पूर्व रंग हैं। उनकी कथा में अकृत्रिम प्रसाद गुण विद्यमान है।

'श्रीमद् भाषा भागवत दशमस्कंध' की रचना तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' की पद्धति पर है।

दोहा, चौपाई, छप्पय आदि छन्दों में इन्होंने अत्यन्त सरस-कविता की है। नवीन कल्पना, उपमादिक सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना तथा सरस, सरल भाषा इनकी एक उल्लेखनीय विशेषता है।

इनके अब तक प्रकाशित ग्रंथों की तालिका निम्नलिखित है—१. मुक्तिद्वार-निदर्शन, श्रीमन्नाम माहात्म्य, २. स्मरण मंगल (गोविंदलीलामृत का पद्यानुवाद), ३. भजनभूमिका, ४. धर्म सन्दर्भ (धर्म और उसके दशांगों का वर्णन), ५ ऊषा नाटक (ऋतु-वर्णन और ऊषा का वर्णन), ६. ग्वालियर किले का इतिहास (अंग्रेजी), ७. भागवत भाषा, ८. पदमाला।

इनके अतिरिक्त भैया सहब के अन्य हस्तलिखित ग्रंथ 'हरिकथा आख्यान' तथा 'पूर्वरंग' हैं।

इन्होंने अपनी विशाल सम्पत्ति का अधिकांश वैष्णव-सेवा में लगा दिया था। मथुरा में इन्होंने श्री राधामाधव भंडार, श्री गौरांग महाप्रभु की भक्ति-स्वरूप गोवर्द्धन और राधा-कुण्ड के बीच 'श्रीकृष्ण चैतन्यालय' बनवाया था जो अब भी स्थित है। राधा-कृष्ण में इनको अनन्य प्रीति देखकर श्री राधा-कुण्ड के पास श्री गोवर्द्धन में साधु, वैष्णव, पंडितों ने इन्हें 'श्रीभागवत-भक्ति-निधि' की उपाधि प्रदान की थी। दिल्ली की एक सभा ने 'भक्तराज' पद से इन्हें विभूषित किया था।

३१५ पदोंवाली 'पदमाला' भैया साहब की सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। इसमें श्री राधामाधव तथा महाप्रभु के प्रति भक्तिपूर्ण विनय के तथा कुछ भ्रमरगीत के भी पद हैं। इनकी भाषा भावों के अनुरूप है। विविध राग-रागिनियों के माध्यम से जिस मधुर पदावली का गायन इन्होंने किया है वह हृदय पर सीधे चोट करने वाली है। अभिव्यक्ति की पारदर्शिता इनकी कविता का सहज गुण है। भक्ति की विह्वलता तथा प्रेम-तत्व की अभिव्यंजना प्रभावशाली भाषा में व्यक्त है। उदाहरण स्वरूप कुछ पद नीचे दिए जाते हैं—

(१)

ऊधो निसिदिन धरकत छातो।
वनिता दृग सरिता सम धारा,
बहत रहत दिन राती॥

आठों जाम रहत तन ताती,
मनहुँ दीप दई बाती।
करो निदान कवन रुज है यह,
जासु जियत जर जाती॥

विपति बड़ी ओछी तिय हिय में,
अब नहि नैंकु समाती।
यह बड़ ब्रह्मज्ञान पढ़बे कों,
जोग न अबला जाती॥

काटत हैं हम काल आपनो,
को जानें किहि भाँती॥
अब 'बलवंत' प्रेम रस तजिके,
और न बात सुहाती।

—पदमाला, पद सं० ९८

(२)

रे मन मानु बिहरि वृन्दावन।
सर्वकाल सौभाग्य सुखद लखि,
लोगन लघु लागत बासव वन॥
धरणि धन्य गिरिधर पदचिन्हित,
तहँ सुरभी नित चरत हरित तृन।

वलित बेलि कुसुमित तरु पुंजन,
कुंजन मंजु तमाल कदंबन॥
मूल कलिंद नंदिनी के बर,
पुलिन पवन बहि सनित सुगन्धन॥

परम पुरुष 'बलवंत' निरंतर,
करत केलि जहँ धरि मानुष तन।

—पदमाला, पद सं० ४८

(३)

गोरे मुख सोहे लट कारी ।
मानहुँ इन्दु बिम्ब पर आई,
सावन मास घटा कारी ॥

कै कहुँ स्वेत सरोरुह बैठी,
आय मधुप अवली प्यारी ।

कै कहुँ सुषमा के मुख ऊपर,
खेले काम कला धारी ॥

कै रहि सकुचि सिमिट देखत ही,
उदय भानु को निशि अँधियारो ॥

—पदमाला, पद सं० २७२

'श्रीमद्भागवत-भाषा' अनुवाद ग्रन्थ है। यह अनुवाद ब्रजभाषा में उपलब्ध 'भागवत' के अनुवादों में अपेक्षाकृत शुद्ध और प्रवाहपूर्ण शैली में है। इस रचना में निम्नलिखित स्थल काव्य-गुणों और भक्ति-रस से परिपूरित हैं—

१. मंगलाचरण, २. ग्रीष्मऋतु वर्णन, (वृन्दावन-शोभा), ३ शरदऋतु वर्णन (मुरली), ४. रास-पंचाध्यायी (गोपीगीत), ५. रंगभूमि-गमन, ६. कंसवध, ७. भ्रमरगीत, ८. जरासंध की लड़ाई, ९. द्वारका-वर्णन, १०. रुक्मिणी-स्वयंवर, ११. नामयोग-हरिभजन माहात्म्य ।

ये गोस्वामी तुलसीदासजी से बहुत प्रभावित थे। अतः इनकी भागवत भाषा, शैली की दृष्टि से तुलसीदास के रामचरितमानस के बहुत निकट है। हृदय की गहन स्थितियों का इन्होंने इस ग्रन्थ में यथा-स्थान प्रभावपूर्ण चित्रण किया है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भागवत के दशम स्कन्ध का ब्रजभाषा में किया गया यह अनुवाद, अवधी की पूरी सरसता और प्रवाहमयता को मूर्त करने में पूर्ण समर्थ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)

अंजन आँजि एक दृग काऊ ।
खंजन गंजन सहज सुभाऊ ॥

कर्णफूल कवरी कोउ साजै ।
तिमिर तोय जन नखत विराजै ॥

लिपटे पट अटपटे सुहावत ।
उलटे भूषण तन अति भावत ॥

सघन केस बिथुरे मुख गोरे ।
जनु निसि दिवस भये इक ठोरे ॥

केश पास बाँधे कोउ आछें ।
रजनी गाँठि दई रवि पाछें ॥

(२)

रवि बिन प्रभा प्रान बिन काया ।
मणि बिन फणि जिमि भई सब जाया ॥

बिरहा बिकल सकल ब्रजनारी ।
चहुँ दिशि शोधत रसिक विहारी ॥

हे सरोज ! कहुँ स्याम निहारे ।
तुम सम नयन अमल अनियारे ॥

कलिका मौन कवन हित धारो ।
कहहु न कवन दिसा गत प्यारो ॥

हा हा पवन ! पतो कछु दीजै ।
गोपिन प्राणदान जस लीजै ॥

हे बिरही ! घनश्याम हमारे ।
बोल सुने कतहूँ कहुँ प्यारे ॥

मधुकर चतुर कहो रे भाई ।
गन्ध जलज तन की कहुँ आई ॥

कहहु अवनि कहुँ कान्ह दुराये ।
जिन गोपी जन चित्त चुराये ॥

न० चं० बं०

बलिहारी

बलिहारीजी वैष्णव भक्त थे और अनुमानतः पंजाब के निवासी थे। इनके विषय में अन्य कोई जानकारी नहीं मिलती। इनकी एक रचना 'पद-संग्रह' नाम से मिली है जिसमें राधा-कृष्ण-लीला, विशेष रूप से दान-लीला, मान-लीला, पनघट-लीला, रास-लीला आदि का वर्णन है। पदों की भाषा ब्रजी

है जिस पर कहीं-कहीं पंजाबी का प्रभाव परिलक्षित होता है। कविता श्रेष्ठ और सरस है। पदों का रचनाकाल अथवा लिपि-काल अज्ञात है तथा प्रति भी अपूर्ण है। यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१)

नृतत मोहन प्यारो रसिक रसीलो रास।
सरद जोन्ह सी भामिनी राधा हँसि हँसि करत प्रकास॥

सुभग पुलिन जमुना बहै सरसत धीर समीर।
नाचत मंडल करि दोऊ जहाँ ब्रज मधुवन की भीर॥

अलग लाग गति भाव सों साँवरे लई प्रवीन।
तबही कुंवरि प्रिया लाडिली रीझि अपनपो दीन॥

भई मन्द गति चंद की देखत नित्य बिहार।
'बलि' बलि बिहरति छबि भरें श्री राधा नंद कुमार॥

(२)

राधा रानी को परम सुहाग।
प्रेम मुदित मन छके रहैं दृग प्रिय मोहन अनुराग॥

अंसनि भुजा दियें दोउ बिहरत
अति ही रम्य वृन्दावन बाग।
जुगल रूप बलिहारी नैन भरि अवलोकत बड़ भाग॥

वा० सिं०

बसुदेवसिंह

श्री सोनूसिंह के पुत्र वसुदेवसिंह का जन्म राँची जिले के कामताड़ा नामक गाँव में सन् १८७४ में हुआ था। इनकी मृत्यु ८४ वर्ष की अवस्था में सन् १९५८ ई० में हुई। ये जमीन्दार थे। नागपुरी के अतिरिक्त ये हिन्दी, बंगला तथा उड़िया भी जानते थे। नागपुरी के संगीत प्रेमियों के बीच इनके अनेक गीत प्रचलित हैं। इनके कुछ गीतों को संकलित कर ग्राम-बाघडेगा, जिला-राँची (बिहार) के निवासी श्री उदितनारायणसिंहदेव ने 'जनानी झूमैर और मर्दानी झूमैर' नामक एक पुस्तिका हितैषी कार्यालय, चाईबासा से प्रकाशित करवाई थी। इसी संकलन से इनका एक रासलीला सम्बंधी गीत प्रस्तुत किया जा रहा है—

हो हो हरि कृसन, कहाँ रउरे भे गेला छन।
हमके बोलाय कन, रास रची वृन्दावन,
रास सुनी आती कुंजाबन, हरोकृसन,
कहाँ रउरे भै गेली छन॥

ऐसनजे रहे मन, काहे के बचाली जान,
छोड़ि देती पर्वत गोवर्धन, हरी कृसन,
कहाँ रउरे भै गेली छन॥

देखल बीन झंखल मन, नखे भूख भूषन धन,
अब न सोहावये अन, हरी कृसन,
कहाँ रउरे भै गेली छन॥

चीत करे छन छन, नोकल चल जाती बन,
एक मन करे तेजती परान, हरी कृसन,
कहाँ रउरे भै गेली छन॥

'बसुदेव' कर भेल मन, हरी के चरणे ध्यान,
बिति गेल अब तरुन के पन,
हरी कृसन रउरे भै गेली छन॥

श्र० कु० गो०

बहादुरसिंह (प्रथम)

राजा बहादुर सिंह की भक्ति-निष्ठा का परिचायक निम्नलिखित छंद 'अभिलाष-बत्तीसी' में मिलता है—

दरसै निर अभिमानता, मन क्रम वचन विशुद्ध।
राजवंश सोभा दई, सब सौं रहि अविरुद्ध॥

मित अलाप कोविद महा, पर कारज जु प्रवीन।
मान देंहि हरिजनन कौं, आपु मानि कैं दीन॥

कवित्त रसीली भावही, सुजस नन्द कुल भान।
लली लला सनबन्ध कौ, रुचै रंगीलौ गान॥

कीरति जसुमति मिलन सुनि, बाढ़ै प्रेम गरिष्ट।
ताते मन अति लरजही, लीला इष्ट सु मिष्ट॥

हरि गुरु पद पूजन निपुन, सुद्ध सुधारन काज।
महत गिरा सोभित करन, दृढ़ रति रसिक समाज॥

सील सुघरता प्रभु धरी, सचि रचि जिनके होय।
नृपति बहादुर सिंह कौं, लगैं रसिक जन प्रीय ॥

नेह अवधि समुझनि अवधि, महत गिरा रस लीन।
आदर दैन जु भक्त जन, सब बिधि परम प्रवीन ॥

प्रभु उत्सव रचनानि में, संतत रहै जु चित्त।
कृपा प्रकट यौं समुझिये, चाह बढ़ति रहै नित्त ॥

—चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी कृत 'अभिलाष बत्तीसी'

ये महाकवि नागरीदासजी के नाम से प्रसिद्ध श्रीकृष्णगढ़ाधीश महाराजा सावंत सिंह के अनुज थे। इनके पिता महाराजा राजसिंह वि० सं० १७६३ से १८०५ तक किशनगढ़ के शासक थे। उन्होंने 'राज प्रकारी', 'रस पाय नायिका', 'बाहु विलास' इत्यादि काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक फुटकर काव्यों की भी रचना की थी। इनकी माता महारानी बाँकावती भी संस्कृत और व्रजभाषा की महान् विदुषी एवं कवयित्री थीं, साथ ही परम वैष्णव भी। ये 'व्रजदासी' छाप से कविता करती थीं। श्रीमद्भागवत में इनकी अत्यन्त भक्ति और रुचि थी। इन्होंने समग्र श्रीमद्भागवत को छन्दों में लिखा है, जो 'व्रजदासी-भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। श्री बहादुरसिंहजी की छोटी बहन सुन्दर कुँवरिजी भी श्रेष्ठ कवयित्री एवं परम भक्त थीं। उन्होंने लगभग ११ ग्रंथ लिखे हैं। वस्तुतः इनके पूर्व वंशधरों को राज्य की भाँति काव्य-प्रेम और भक्ति-निष्ठा क्रमशः विरासत में मिलती चली आ रही थी। अतः वे सभी भक्ति-परायण एवं काव्य-प्रेमी थे। परम्परागत रूप से कविता और भक्ति जहाँ साथ-साथ चली आ रही हो, माता-पिता-भाई-बहन सभी भक्ति और कविता से ओतप्रोत हों, वहाँ श्री बहादुरसिंहजी का भी भक्त एवं कवि होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

प्रसिद्ध भक्तचरितकार चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी अनेक वर्षों तक (लगभग वि० सं० १८३१ से १८३५ तक) कृष्णगढ़ में राजा बहादुरसिंहजी के यहाँ ही रहे और अपनी अनेक रचनाएँ इनके धाम में बैठकर ही की थीं। इसका उल्लेख स्वयं चाचाजी ने अपनी अनेक रचनाओं में किया है। दोहा छन्दों में विरचित 'अभिलाष-बत्तीसी' नामक एक रचना में चाचाजी ने नृपति बहादुरसिंहजी के हृदय में रसिकों से मिलने, उनके द्वारा गाये जाने वाले श्री राधा-माधव के प्रीति-चरित्रों के रसमय पदों को सुनने एवं रसिक-वाणियों के अक्षरों में छिपे गूढ़ार्थ को समझने की निरन्तर वर्धनशील अभिलाषा-बेलि का वर्णन विस्तार से किया है—

होली के दिन थे। चाचाजी होली-धमार के पदों का गान कर रहे थे। अर्द्ध रात्रि हो गई थी। राजा बहादुरसिंहजी ने अपने संगी-साथियों को तो पहले आगे भेज दिया और पीछे स्वयं भेष बदलकर वहाँ आये तथा बड़े मनोयोगपूर्वक उस गान को सुनने लगे। रसिक वाणियों में वर्णित रूपमयी लीलाओं और लीलामय रूप की आस्वादनी उनकी रसना यद्यपि कुछ कहने को आकुल हो रही थी, किन्तु वे इस भय से कि कहीं भेद खुल न जाय, उसे अनेक यत्नों से रोकने का प्रयास कर रहे थे। जिस प्रकार वर्षाकाल में नदियों के जल-प्रवाह को रोकना अत्यन्त दुष्कर है, ठीक उसी प्रकार रसानुभूति के क्षणों में रसिकों के हृदय में आये रस के तूफान को रोकना नितान्त असम्भव है।

यही स्थिति थी राजा बहादुर सिंह जी की। अतः वे कह ही उठे—"भैया! अब तौ होरी के अष्टक लगि गये हैं यातें अब कछू होरी की गारि गावौ।"

चाचाजी के संगी श्री केलिदासजी ने उनसे पूछा—"आप कौन हो, आपकौ कहा नाम है और कहाँ ते आये हो?" इन प्रश्नों के उत्तर में राजा बहादुरसिंह ने तो अपना और ही नाम और किसी अन्य ग्राम के निवासी होने की बात कही, किन्तु वहीं पर व्रजदास वारठ बैठे हुए थे, उन्होंने यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेख

तो नहीं किया, किन्तु संकेत-वाणी में कहा कि "मरुधर मंडल (मरुस्थल) में इस रस-कथा का समझने वाला और कौन हो सकता है ? इन्होंने श्रीनागरीदास जी [ज्येष्ठ भ्राता—महाराजा सावंत सिंह] का संग बहुत दिनों तक किया है, इसी कारण से इनके हृदय में वाणी के अक्षरों की चटक खटकती है।"

चाचाजी की समझ में अब भी नहीं आया था कि ये राजा बहादुरसिंह हैं। अतः वे होरी की गारी गाने लगे जिसे सुनकर अक्षरों के अर्थ को विचार कर राजा बहादुरसिंह का मन आनंदित हो उठा और उनका तन झूमने लगा। यह देखकर चाचाजी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहाँ इस अर्द्धरात्रि के समय ऐसा कौन रिझवार आ गया है। अपने गान को थोड़ी देर के लिए विराम देकर वे बार-बार सोचने लगे कि आखिर ये कौन हैं ? राजा बहादुर सिंह ने यद्यपि अपने सभी अंगों को एक ओढ़े हुए वस्त्र के द्वारा छिपा रखा था और ऊपर से देखने पर कुछ भी मालूम नहीं पड़ रहा था, किन्तु चाचाजी ने ब्रजदास बारठि के कहे उक्त लक्षणों से उनके राजा बहादुरसिंहजी के होने का अनुमान लगा लिया, फिर भी वे असमंजस में थे, अभी निश्चय पर नहीं पहुँचे थे। अतः उन्होंने वहाँ बैठे हरिनाथ सिंह जी कूपावत और ब्रजदास बारठि से स्पष्ट नाम बताने को कहा। उन्होंने चाचाजी से कहा कि आपने जो समझा है, ये वहीं हैं, आप ही नाम बताओ। चाचाजी ने साहस बटोरकर कहा कि "ये राजा बहादुरसिंह से लगे हैं।" जब भेद खुल ही गया तो चाचाजी ने राजा बहादुर सिंहजी से कहा कि "नृप ह्वै कैं हू आप चोरी करौ हो, ये तौ बड़ी विलक्षण बात है।" इस पर राजा बहादुरसिंहजी ने कहा—"इस चोर को अब आप यहीं पर रोक लो और कहीं मत जाने दो"

उक्त घटना राजा बहादुरसिंहजी के रसिक-हृदय होने का पूर्ण परिचय प्रदान करती है। वस्तुतः इस प्रकार का कौतुक तो वही कर सकता है जिसने मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं को प्रभु के लिए समर्पित कर दिया हो। श्री बहादुरसिंहजी को श्री राधा-माधव की ब्रजलीलाओं (विशेषत श्रीराधा-कृष्ण की अद्भुत बाल लीलायें एवं उनके विवाह-सम्बन्ध की सम्पूर्ण लीला) को कहने-सुनने में अतिशय आनंद आता था। चाचा श्रीहित वृन्दावनदास ने 'लाड़सागर' और 'ब्रजप्रेमानन्द-सागर' श्री बहादुरसिंहजी की प्रेरणा से ही लिखी थीं, इस तथ्य का उल्लेख चाचाजी ने दोनों ही ग्रन्थों में किया है। 'ब्रजप्रेमानन्द-सागर' की पंक्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

नृपति बहादुरसिंह के, जुगल चरित हिय लाग।
इहि बातैं छिन-छिन बहै, कहन-सुनन अनुराग॥

श्रीबहादुरसिंहजी में रसिकोचित सभी गुण—परोपकारिता, निरभिमानिता, मृदुभाषिता, मित-भाषिता, स्वयं अमानी बनकर रसिकों का सम्मान करना, हरि-हरिजन में अभेद बुद्धि का होना, रसिकों में हार्दिक प्रीति का होना, रसिकों के सत्संग प्राप्ति की निरंतर बढ़ती हुई लोल लालसा का होना, रसिक वाणियों में वर्णित राधा-माधव की रसमयी लीलाओं के गान को श्रवण करने के लिए आकुलमना होना, रसिक-वाणियों के अक्षरों में छिपे गूढ़ भावों को समझकर उनमें डुबकियाँ लगाना प्रभु के नित्य-नैमित्तिक उत्सवों के आयोजन में विपुल उमंग का होना एवं उन्हें बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न करना आदि—विद्यमान थे।

श्री बहादुरसिंहजी एक कवि भी थे। उन्होंने वि० सं० १८४१ में ख्यालों का एक ग्रन्थ बनाया था। इस तथ्य का उल्लेख श्री राधेश्याम द्विवेदी जी ने अपनी एक रचना 'ब्रजभाषा के कतिपय कवि कोविद' में किया है। इस आधार पर हमारा अनुमान है कि श्री बहादुरसिंह का विद्यमान काल वि० सं० १७७५ से १८५० के बीच रहा होगा।

श्या० बि० खं०

बहादुर सिंह (द्वितीय)

संत चरणदास के पितामह तीन भाई थे—प्रागदास, श्यामदास और सुन्दरदास। सुन्दरदास के एक

पुत्र 'राघोदास' या 'राघवदास' हुए। राघवदास के दो पुत्र थे—परशुराम और होंदराम। होंदराम की वंश-परंपरा अलग चली तथा परशुराम के तीन पुत्र हुए—बहादुर सिंह, जयसिंह राम और रामसुखदास।

बहादुर सिंह भार्गव 'नूह' ग्राम के निवासी थे। ये उच्चकोटि के कृष्णभक्त थे। इनका जन्म अनुमानतः सन् १७३६ ई० (वि० संवत् १७९३) में हुआ था। एक बार इन्होंने बद्रीनाथ की यात्रा की। ज्यों-ज्यों ये बद्रीनाथ के निकट पहुँचते गये, त्यों-त्यों भगवत् प्रेम प्रगाढ़ होता गया। ये रास्ते में एक पड़ाव पर सोये तो इन्हें स्वप्न हुआ कि बद्रीनाथ पहुँचने पर वहाँ के पुजारी द्वारा तुझे 'शालिग्राम' की मूर्ति प्राप्त होगी, उसे तुम संभालकर रखना। जिस रोज 'वह मूर्ति खो जाएगी उसके ठीक ६ माह पश्चात् तेरी मृत्यु हो जाएगी।

उधर बद्रीनाथ के 'पुजारी' को भी स्वप्न हुआ कि 'नूह' या 'नोंह' गाँव से एक भक्त आ रहा है, उसको तुम 'शालिग्राम' की मूर्त्ति दे देना, नहीं तो तेरा सम्पूर्ण परिवार नष्ट हो जाएगा।

जब बहादुर सिंह बद्रीनाथ पहुँचे तो पंडे के यहाँ पुजारी यह पूछता हुआ आया कि 'नूह' गाँव से कोई भार्गव भक्त आया है। पता चल जाने पर उसने इन्हें शालिग्राम की छोटी मूर्ति सौंप दी। ये नित्य ही उस मूर्ति का पूजन करके ही भोजन करते थे तथा मूर्ति को गले में डोरी बाँधकर दिन भर लटकाये रहते थे।

एक बार बहादुरसिंह लघुशंका निवारण के लिए मैदान में गए। वहाँ इन्होंने पेड़ पर शालिग्राम की मूर्ति टाँग दी। लौट कर आये तो उन्हें मूर्ति नहीं मिली। इन्होंने काफी खोज की। अन्त में थककर एवं दुःखी होकर अन्न-जल का त्याग कर दिया। तीसरे दिन इन्हें पुनः स्वप्न हुआ कि—"तुम काहे चिन्ता करते हो। तुम्हारे जीवन में अब केवल ६ माह शेष हैं। अमुक तिथि को ब्रह्म मुहूर्त में तुम्हारी मृत्यु होगी। जाओ, वृन्दावन में जाकर वास करो।"

ये प्रसन्न-चित्त हो वृन्दावन आकर बस गए तथा अपने पूर्वजों की भाँति राधा-कृष्ण की उपासना में अपना समय व्यतीत करने लगे। इन्होंने निश्चित तिथि को समाधि लगाकर ब्रह्मरन्ध्र भेदन द्वारा नश्वर शरीर को छोड़ा तथा परमपद प्राप्त कर अपना जन्म सार्थक किया।

म० गो० भा०

बाँकावती (रानी)

रानी ब्रजदासी बाँकावती का वास्तविक नाम 'ब्रजकुँवरि बाई' था। इनका जन्म जयपुर राज्य में लिवाण प्रदेश के कछवाहा राजवंश में हुआ था। ये राजा आनन्दरामजी बुदेरामोत की पुत्री थीं। अकबर ने इनके पूर्वज भगवानदासजी को उनकी वीरता के कारण 'बाँका' की पदवी प्रदान की थी, इसी कारण उस परिवार के पुरुष अपने पूर्वज की वीरता के प्रतीक स्वरूप अपने नाम के आगे 'बाँकावत' तथा नारियाँ बाँकावती' का प्रयोग किया करती थीं। इनका उपनाम 'ब्रजदासी' था।

इनका जन्म सन् १७६० ई० के आसपास माना जा सकता है क्योंकि वृन्दावन में इनका विवाह कृष्णगढ़ के महाराजा राजसिंह के साथ सन् १७७६ ई० में हुआ था। ये राजा राजसिंह की दूसरी रानी थीं। इनकी दो संतानें-एक पुत्र तथा एक पुत्री थी। पुत्र का नाम वीरसिंह और कन्या का नाम सुन्दर कुँवरि बाई था। महाराजा का देहान्त सन् १८०५ ई० में हुआ था। उनकी मृत्यु के पश्चात् इस राज-घराने में अनेकानेक झगड़े उठ खड़े हुए जिसके परिणामस्वरूप इनकी पुत्री सुन्दरि कुँवरि बाई का विवाह ३१ वर्ष की अवस्था तक न हो सका। अतः पति की मृत्यु के पश्चात् आपसी प्रतिद्वन्द्विता, वैमनस्य और विरोध के कारण इनका जीवन घोर संकट में पड़ गया था। इन्हीं पारिवारिक कलह की चिन्ताओं के

कारण ७१ वर्ष की अवस्था में सन् १९३१ ई० में ये परलोक सिधार गईं।

कृष्णगढ़ के जिस राठौर-वंश में इनका विवाह हुआ था, वह सदैव से प्रतिभा-सम्पन्न कवियों का आश्रयदाता रहा है। इनके पति महाराजा राजसिंह स्वयं अच्छे कवि थे। यही कारण है कि परिवेश के प्रभाववश इस वंश की दासियाँ भी कविता करने में पारङ्गत थीं, जैसे वनीठनीजी। रानी बाँकावती की काव्य-प्रतिभा विवाह के पश्चात् प्रस्फुटित हुई, जिस पर उनके श्वसुर-कुल का स्पष्ट प्रभाव पड़ा था। आगे चलकर यही काव्य-प्रतिभा भक्ति-काव्य के रूप में प्रस्फुटित हुई।

रानी ब्रजदासी बाँकावती राधा-कृष्ण के युगल-स्वरूप की उपासिका थीं। एक दिन पारिवारिक कलह की चिन्ताओं के कारण ये भोजन किए बिना ही सो गईं। रात्रि में राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति का आभास पाकर ये सन्तुष्ट हुईं। उधर राजघराने के व्यक्तियों को रात्रि भर नींद नहीं आई और विविध चिन्ताओं से घिरे रहे। प्रातःकाल उठकर उन सभी ने बाँकावती से क्षमा याचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी मार्मिक घटना ने कवयित्री को राधा-कृष्ण की अनन्य उपासिका बनने के लिए बाध्य किया।

खोज रिपोर्टों में इनके नाम से एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है जो 'ब्रजदासी-भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ श्रीमद्भागवत का छन्दोबद्ध अनुवाद है, जिसमें दोहा-चौपाई छन्द का प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में राधा-कृष्ण और गुरु की वन्दना की गई है। इस ग्रन्थ में भागवत की सम्पूर्ण कथा का वर्णन है। ग्रन्थ अप्राप्त है, किन्तु उसके कुछ दोहे यत्र-तत्र मिलते हैं।

उपलब्ध दोहों तथा चौपाइयों के आधार पर यह स्पष्ट है कि रानी ब्रजदासी बाँकावती राधा-कृष्ण के युगल रूप की साधिका थीं। इनकी रचनाओं में सर्वत्र माधुर्य-भावना की प्रधानता मिलती है। इन्होंने 'कृष्ण' को ब्रह्म माना है और 'राधा' को उनकी शक्ति। वैकुण्ठ उनकी क्रीड़ाभूमि है। इनके प्रधान उपास्यदेव श्रीकृष्ण हैं, जिन्हें ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज-इन छह गुणों से सम्पन्न होने के कारण भगवान् या भगवत् कहा गया है। इनके अनुसार श्रीकृष्ण के तीन रूप हैं—परब्रह्म, अक्षर-ब्रह्म और जगत् ब्रह्म। परब्रह्म के अन्तर्गत श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम, सत्-चित्-आनन्द गुणों से युक्त हैं। अक्षर ब्रह्म के अन्तर्गत वे सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता हैं और जगत् ब्रह्म का रूप अन्तर्यामी है। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत् के रक्षक हैं।

इनके विचारानुसार जीव अणु और सनातन है। चैतन्य जीव का गुण है। चैतन्य सर्वव्यापी है। शरीर में जीवात्मा श्रीकृष्ण का ही सनातन अंश है और वही जीव त्रिगुणात्मि माया में स्थित मन सहित छह इन्द्रियों को अपनी ओर खींच रहा है। अंश-अंशी भाव में ही जीव ब्रह्म की अद्वैतता है। ससार इनके मतानुसार नश्वर है। संसार की चिरतृष्णा मृग-मरीचिका के सदृश है। संसार में जो कुछ भी सत्याभास है वह प्रभु की छाया है। संसार के मोहक रूप से आकृष्ट होकर जीव उसमें उलझ जाता है। सत्य मात्र श्रीकृष्ण हैं। अतः जीव को आनन्द रूपी मुक्ति की प्राप्ति हेतु राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति की उपासना करनी चाहिए।

ये निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित थीं जिसका प्रभाव इनकी रचनाओं पर पड़ा है। इनका अन्तर्मन भगवान् के ऐश्वर्य-माधुर्य परक रूप के ध्यान और उनकी लीला के गान में लीन रहता था। यही कारण है कि इन्होंने माधुर्य के आलम्बन रूप में भगवान् की रूप-माधुरी का जितने विस्तार से वर्णन किया है, उतना और किसी रूप का नहीं। भगवान् की विविध लीलाओं में इन्हें माधुर्य लीलाएँ ही अधिक

प्रिय थीं। लीलाओं के प्रति इनकी आध्यात्मिक भावना बड़ी प्रवल थी।

काव्य-कला की दृष्टि से इनकी रचनाओं की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं—सन्दर्भ का विस्तार, सूक्ष्म निरीक्षण और कलात्मक अभिव्यक्ति। राधा-कृष्ण और बाँकावती परस्पर माधुर्य भाव से अनुरक्त हैं, इसलिए उनकी सहज वार्ता में भी इस भाव का समावेश हो जाता है। सौन्दर्य की दृष्टि से इस कवयित्री ने मात्र राधा-कृष्ण के माधुर्यमय स्वरूप का ही चित्रण किया है, जो रोचक और मार्मिक है।

बाँकावती की रचनाओं में दुर्बोधता के लिए स्थान नहीं है। अलंकारों से हीन सीधे-सादे शब्द अपने अभिप्रेत अर्थ को स्पष्ट करने में ही नहीं, अपितु सौन्दर्य-वोध में भी सहायक हैं। ओज और माधुर्य गुण इनकी रचनाओं का प्राण है। जहाँ कहीं भी अलंकार प्रयुक्त हैं, वे भी स्पष्ट और भावव्यंजक हैं। इनकी भाषा मुख्यतः ब्रजी है, किन्तु उसमें कहीं-कहीं राजस्थानी, वैसवाड़ी के शब्द भी आ गए हैं। मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग नगण्य-सा है। भाषा सरल, सरस और स्वाभाविक है। उपरिवर्णित तथ्यों की सम्पुष्टि के लिए कुछ छंदों को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

(१)

बार बार बन्दन करौं,
श्री वृषभानु कुँवारि।
जय-जय श्री गोपाल जू,
कीजै कृष्ण मुरारि॥

जैसे रेत चमक मृग देखी।
जल के भ्रम मन माँहि सपेखी॥

जल भ्रम झूठ रेत ही सत्य।
भ्रम सों देखि परत जल सत्य॥

जल भ्रम काँच माँहि ज्यों होत।
सो झूठो सति काँच उदोत॥

यों झूठो सबही संसारा।
साँचो हो सबही करतारा॥

(२)

श्री गुरुपद बंदन करूँ, प्रथमहि करूँ उछाह।
दम्पति गुरु तिहुं की कृपा, करो सकल मो चाह॥

बार बार बन्दन करौं, श्री बृषभान कुमारि।
जय जय श्री गोपाल जू, कीजै कृपा मुरारि॥

बन्दौं नारद व्यास शुक, स्वामी श्रीधर संग।
भक्ति कृपा बन्दौं सुखद, फलै मनोरथ रंग॥

कियो प्रकट श्री भागवत, व्यास रूप भगवान।
यह कलितम निर्बार हित, जगमगात ज्यों भान॥

कह्यो चहत श्री भागवत, भाषा बुद्धि प्रमान।
कर गहि मुहि सामर्थ हरि, देहैं कृपानिधान॥

(३)

व्यास भागवत आरम्भ माहीं।
प्रभु को आन हृदय सरसाहीं॥
ऐसो बचन कहत मुनि आनो।
प्रभु सौं परम प्रेम उर ठानो॥
परम प्रेम परमेश्वर स्वामी।
हम तिहि ध्यान धरत हिय ठामी॥
यहै त्रिविध झूठौ संसारा।
भाँति भाँति बहु बिधि निरधारा॥
अरु साँचे सो देत दिखाई।
सो सतिता प्रभु ही की छाइं॥

स० गु०
न० च० वं०
हो० प्र० सिं०

बाँकीदास

आशिया शाखा के चारण कवि बाँकीदास जोधपुर राज्य में स्थित भाडियावास ग्राम के निवासी

थे। ये फतेहसिंह के पुत्र थे। इनका जन्म विक्रमी सं० १८२८ में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही हुई। सोलह वर्ष की अवस्था में ये जोधपुर आ गये। जोधपुर में विविध विद्वानों से ज्ञानार्जन कर इन्होंने वहाँ के तत्कालीन शासक महाराजा मानसिंह को प्रभावित किया। विशेष प्रतिभा के कारण शीघ्र ही इनकी गणना महाराजा मानसिंह के कृपापात्रों में होने लगी और ये उनके काव्यगुरु हो गये। मानसिंह ने अनेक प्रकार के उच्च पुरस्कारों के साथ कवि बाँकीदास को कागजों पर मोहर लगाने का सम्मानपूर्ण अधिकार भी प्रदान किया था। मोहर पर लिखा था—

श्रीमन मान धरणि पति बहु गुन रास।
जिन भाषा गुरु कीनौ बाँकीदास॥

बाँकीदास हिन्दी, संस्कृत प्राकृत, डिंगल, पिंगल, भाषा, साहित्य और इतिहास के विद्वान् थे। इनके समय में भारत में ऐतिहासिक अन्वेषण के लिए आया ईरानी इतिहासकार बाँकीदास के अद्भुत इतिहास-ज्ञान को देखकर दंग रह गया था।

बाँकीदास ने भाषा, साहित्य और इतिहास के अनेक ग्रन्थ लिखे। इनके द्वारा विरचित नीति और भक्ति के स्फुट पद तथा दोहे बहुत प्रसिद्ध हैं।

उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण-भक्ति का एक पद प्रस्तुत है। इस पद में ब्रज की गोपिकाओं के विरह का हृदयग्राही चित्रण किया गया है। श्रीकृष्ण कुछ दिनों में लौट आने का आश्वासन देकर मथुरा चले गये थे। परन्तु दीर्घावधि बीत जाने पर भी उनकी ओर से कोई सन्देश नहीं आया। ब्रजवालाएँ श्रीकृष्ण के वियोग में कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत कर रही हैं। आते-जाते प्रत्येक पथिक की ओर उनकी आँखें लगी रहती हैं। शायद कोई वहाँ तक उनका सन्देश पहुँचा दे या कृष्ण आगमन का सुखद समाचार ले आए। देखिए—

पथिक जाय मथुरा कहे जादवाँपतो नूँ,
आप का मिलण कूँ बात उर ली।
आय गोकल मही लेइ सुख अनोखा,
मया कर सुणावो फेर मुरली॥

सुरभिया चरावो संग लावो सखा,
चैल आवो कदम ताणी चाँही।
पोख हित वेल गावो चरित पेमरा,
मुरलिका बजावो घोष माँही॥

अटक गोपी मही दाँण उघरावजै,
पावजै अधर रस गोरधन पास।
धर लुकट मुकट वन, बीथियाँ धावजै-
बांसरी वावजै अहीराँ वास॥

पुलिण रविसुता फहरावजै पीत पट,
आवजै रास थल ब्रजनाथ आथ।
कांन कँवार बिहरि गली ब्रज कुंज री,
सुभ रली कीजियै लाडली साथ।

वाँकीदास के काव्य में राजस्थानी के प्रसिद्ध अलंकार 'वैणसगाई' का विद्वतापूर्ण निरूपण उनकी असाधारण प्रतिभा का परिचायक है। राजस्थान के प्रायः समस्त गण्यमान्य रचनाकारों ने अपने काव्य में 'वैणसगाई' का न्यूनाधिक रूप में प्रयोग किया है। 'वैणसगाई' का साधारण नियम यह है कि छन्द के किसी चरण के प्रथम शब्द का प्रारम्भ जिस वर्ण से होता है, अन्तिम शब्द का प्रारम्भ भी उसी वर्ण से होता है। उदाहरण—

विकट करो तीरथ वरत, धरा भेष के धार।
बिना नाम भगवान रे, परत न उतरे पार॥

इनका निधन जोधपुर में वि० सं० १८९० की श्रावण सुदी तीज को हुआ था। इनके निधन पर महाराजा मानसिंह ने अपने शोकोद्गार प्रकट करते हुए कहा था—

सद्‌विद्या बहु साज, बाँकी थी बाँका वसू।
कर सूधो कवराज, आज कठी गौ आसिया॥

विद्या कुल विख्यात, राज काज हर रहसरो।
बांका तो विण बात, किण आगल मनरी कहाँ ॥

'हे बाँकीदास ! तेरी सुविद्या रूपी सामग्री के कारण पृथ्वी पर बहुत बाँकपन था। हे आशिया ! आज उसे सीधी करके तूँ कहा चला गया ? विद्याकुल भूषण बाँकीदास ! तेरे विना राजकाज के रहस्य को बातें किसको बतलाएँ ?'

जोधपुर नरेश मानसिंह के इस शोकव्यंजक छन्द से बाँकीदास की असाधारण प्रतिभा का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

ज० सिं० परि०

बाँकेपिया

बाँकेबिहारीलाल सक्सेना उपनाम 'बाँकेपिया' लखनऊ निवासी श्री लाला कन्हैयालाल के पुत्र थे। इनका जन्म वि० सं० १९३२ के लगभग हुआ था। रेलवे की नौकरी से सेवानिवृत्त होने के बाद ये भक्तिमार्ग में दीक्षित हुए थे। पारिवारिक संस्कार के प्रभाव से ये बाल्यकाल से ही भक्तिभावना से युक्त थे। चैतन्य मतानुयायी गोस्वामी मधुसूदनलाल से इन्होंने दीक्षा प्राप्त की। इसके बाद ये सब कुछ त्याग कर वृन्दावन चले आये और फिर यहीं के हो गये। ये परम आस्तिक, रसिकोपासक और सुकवि थे। हस्तलेख तो इनका इतना सुन्दर था कि मानो मोती जड़ देते थे। इन्होंने अपना उत्तरवर्त्ती जीवन पूर्णतया चैतन्य-सम्प्रदाय के लिए समर्पित कर दिया था। गुरु के प्रति इनके हृदय में गहरी निष्ठा थी। वृन्दावन के गोस्वामी राधाचरण, गो० अनंतलाल तथा लखनऊवासी श्री गौरीशंकर दीक्षित पर इनका अतिशय श्रद्धाभाव था। चैतन्य सम्प्रदाय के दर्शन, सिद्धान्त और उपासनापद्धति पर इन्होंने ब्रजभाषा गद्य तथा पद्य में अनेक सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इनके दोनों पितृभक्त पुत्रों (श्री मुकुन्दबिहारीलाल तथा श्री कुंजबिहारीलाल) का इनकी रचनाओं के प्रकाशन में विशेष योगदान रहा है। इनकी रचनाओं की संख्या २४ है। उनकी नामावली इस प्रकार है—

१ प्रेमरसवाटिका, २. भागवत सेवाविधि, ३. नम्र प्रार्थना, ४. श्री राधारमणविहारमाला, ५. रसिकप्रमोदिनी, ६. हरिनाम संकीर्तन, ७ निकुंजमाधुरी छद्म, ८. ऋतुप्रमोद, ९. वाणीप्रमोद, १०. विवेकमंजरी, ११. श्री माध्वगौड़ीय तत्वदर्शन, १२. श्रीकृष्णलीला रहस्य, १३. प्रेमपीयूषनिधि, १४. प्रेमानन्दवर्षिणी, १५ प्रेमोद्दीपनी, १६. सेवाभाव, १७. कलंकभंजनलीला, १८. प्रेमप्रतिमा, १९. ब्रजमाधुर्य दर्पण, २०. वैष्णवसर्वस्व, २१. पथिकमराल, २२. मधुरमिलन, २३. नामसंकीर्तनविधि, २४. हरिभक्तनाममंजरी।

ऐसा ज्ञात होता है कि ये कई भाषाओं में गति रखते थे। संस्कृत और बंगला भाषा में तो इनकी बहुत अच्छी पैठ थी। फारसी-उर्दू का ज्ञान वंशपरम्परा से प्राप्त था। इनकी रचनाओं में कुछ ग़ज़लें भी हैं। ये हिन्दी और उर्दू की भक्तिभावापन्न प्रारंभिक ग़ज़लें हैं। ग़ज़लों के विकासक्रम का जब भी अनुसंधान होगा, इनकी रचनाएँ अध्ययन का प्रमुख विषय बनेंगी। इनका निधन अनुमानतः १९९८ वि० सं० के आसपास हुआ। इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१)

श्री वृंदावन वनराज रम्य रसनिधि सुखदाई।
ऋतु बसंत जेहि ठौर रहत निसि बासर छाई ॥

सघन बिटप जँह हरे भरे फूलहिं बहु भाँती।
नव पल्लव अंकुरित लता झूमैं मदमाती ॥

सीतल मंद समीर लिए सौरभ वन डोलत ॥
पिक सारिका औ कीर जहाँ मधुरे स्वर बोलत ॥

(२)

सीतल जल सों स्वच्छ भरे सरवर बहुतेरे।
पसु-पक्षी आनंदित कलरव करत घनेरे ॥

गिरकलिंद-तनया कल्लोल करत इक ओरी ।
मंद-मंद गति डोलत इक दिसि हंस-चकोरी ।।

सुन्दर ललित निकुंज सघन बहु भाँतिन सोहैं ।
सहित परम माधुर्य कल्पतरु कौ चितमोहैं ।।

कुंज माधवी बैठि लाल प्यारी मग जोहत ।
कोमल पुष्पन सेज रचत पुनि-पुनि टकटोवत ।।

(३)

ग़ज़ल

हे कृष्ण नाम आपका विर्दे ज़बाँ रहै ।
जब तक यह मेरे पैकरे ख़ाकी में जाँ रहे ।।

कर्मों के वश मिलै मुझे जिस योनि में शरीर,
चरणों का आप ही के मुझे ध्यान वाँ रहे ।
हो कान आशना तेरे गुण औ चरित्र के,
चरणों पे सर झुका हुआ मिस्ले कमाँ रहे ।।

सेवा में हाथ ब्रज की प्रदक्षणा में पाँव,
मश्गूल कीर्त्तन में तुम्हारे दहाँ रहे ।
जूठन हो तेरे भक्त की मेरे लिये ग़िज़ा,
ब्रज भूमि बास के लिये मेरे मकाँ रहे ।।

गोखुर की ब्रज रेणु हो पोशाक ज़िस्म पर,
रसिकों के पास मेरी कुटी को निशां रहे ।
आँखों के रूबरू तेरे जलवे का हो ज़हूर,
सीने में तेरे-प्रेम की दौलत निहाँ रहे ।।

ब्रजवासियों से जाके बसद शौक़ जब मिलूँ,
तेरा ही जिक्र हो औ मेरी दास्तां रहे ।

लीला निकुंज केलि की दिल में बसी रहे,
आँखों से मेरे प्रेम का चश्मा रवाँ रहे ।।

स्थाई होवें दिल में मेरे गुप्त भाव सब,
पर्दा न कोई विघ्न का फिर दरमियाँ रहे ।

हो आपकी निगाहे करम दास पर अगर,
अर्मान निकलें दिल के औ दिल शादमां रहे ।।

भूलूं मैं खुद को ध्यान को हो ग़र्क़ प्रेम में,
तेरे सिवा किसी का न नामों निशां रहे ।

कहलावै आप ही का यह 'बांकेपिया' सदा,
अंकित हो तन पे चिह्न चरण का जहाँ रहे ।।

राग खमाच

जयति श्री राधावर ब्रज चन्द ।
वृन्दाबिपिन निकुंज बिहारी ब्रजजीवन सुख कन्द ।।

राधारमण कृष्ण अबिनासी तनय जसोमति नन्द ।
असरन सरन भक्त जन बल्लभ गावत जस स्तुति छन्द ।।

विस्वाधार, परम पुरुसोत्तम जयति सच्चिदानन्द ।
आस्रय भूत सकल लोकन को जेहि पदाब्ज मकरन्द ।।

नाम पुनीत लये अघ भाजत कटत कठिन जम फन्द ।
'बाँकेपिया' जुगल चरनन में, रहत सदा निर्द्वन्द ।।

न० चं० वं०

बाँकेबिहारी गोस्वामी

बाँकेबिहारीजी गोस्वामी चतुर्भुज (अष्टमपीठस्थ) के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनके जन्म के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। इनके छोटे भाई गो० विश्वनाथजी के प्रमाणित जन्म संवत् १८०५ के अनुसार इनका जन्म संवत् १८०० के आसपास अनुमानित किया जा सकता है। प्रभुदास (शिष्य कवि) कृत स्तुति पदों के अनुसार इनका तिरोधान चैत्र शुक्ल पंचमी सं० १८४७ में हुआ था।

ये काव्यरस-संग्रही थे। अपने जीवन काल में इन्होंने अपनी परम्परा के काव्य-ग्रन्थों के पुनरुद्धारार्थ उनकी बहुत सी प्रतिलिपियाँ करवाईं, हस्तलिखित ग्रन्थों की पुष्पिकाओं से यह स्पष्ट विदित होता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि इन्होंने अपने काल में बल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टमपीठ के सुव्यवस्थित पुस्तकालय की भी स्थापना की होगी।

इनके कुछ फुटकर पद ही प्राप्त होते हैं, जो संग्रह-ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलते हैं। इनमें मुख्य रूप से श्रीकृष्ण-लीला का गान मिलता है। इनकी श्री राधा-कृष्ण के नित्यविहार में निष्ठा थी, जैसा कि निम्नलिखित दोहों से स्पष्ट होता है —

बहुविधि सुख उपजाय जग, मन उपजौ वैराग।
फीके लागे जगत सुख, तृणवत् दीने त्याग॥

रससानी बानी सदा, जाने जुगल विहार।
पढ़न मनन में मन लग्यौ, त्याग जगत व्यवहार॥

विनय सम्बन्धी एक पद प्रस्तुत है—

अब मेरौ गोपीनाथ सों नातौ।
गृहकारज सब दूर किये हैं, निसिदिन हरिगुन गातौ॥

जमुनाजल में स्नान करों नित, गोबरधन उठि जाऊँ।
श्री गोकुल की लीला देखूं, ब्रजभक्तनहिं बुलाऊँ॥

श्री प्रभु गोपीनाथ मुख निरखों, जनम-जनम पद ध्यावों।
'बंकविहारि' यही वर मांगों, चरन छांडि नहि जावों॥

सु० श०

बालकदास (प्रथम)

'रसिक-अनन्य-परचावली' में श्री बालकदास की प्रशंसा में निम्नलिखित पद मिलता है—

निशदिन सार विचार त्याग वैराग भली विधि।
ब्रज पुर नित रमैं भक्ति हित दत्त भई सिधि॥

मिथुन रूप दृग छके ध्यान मुद्रा में घूमत।
रहनि सदा एकान्त चलत बैठत सुख झूमत॥

श्री खेमदास गुरुवर कृपा, सब गुन लाइक देखिये।
नवल जुगल रस भावना, हिय बालकदास विशेषिये॥

ये श्री चंदसखीजी के शिष्य श्री खेमदासजी के कृपा-पात्र थे। गुरुदेव के आशीर्वाद से इनमें सभी साधुजनोचित गुण उदित थे। वैराग्यपूर्ण जीवन और एकान्त में निवास इन्हें इतना अधिक प्रिय था कि ये एक दिन से अधिक एक स्थान पर रहते ही न थे। ये सबसे असंग रहकर व्रज के ग्रामों में विचरण किया करते थे। ये उठते-बैठते, चलते-फिरते श्री हित दम्पति की भावना में लीन रहते थे। इनके रस-घूर्णित और अर्द्ध-उन्मीलित नेत्र ही प्रकट किया करते थे कि श्री बालकदासजी युगलवर की रस-केलि-दर्शन का रसासव-पान कर रहे हैं। जो अहर्निश 'श्री हरिवंश-विचार' में ही लगे रहते हैं, अनन्य-धर्म का निर्वाह वे ही कर सकते हैं, और जो अनन्य धर्म का निर्वाह कर पाते हैं उन्हीं को श्री हित-हरिवंश की अमूल्य निधि प्राप्त होती है। श्री बालकदासजी इसी प्रकार के हरिवंश-विचार-परायण और अनन्य धर्म के निर्वाहक थे। तभी तो इन्हें श्री हित प्रदत्त निधि श्री वृन्दावन की माधुरी का विलास सहज ही प्राप्त हो गया था।

इनका विद्यमान काल सं० १८५० से सं० १९३० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

बालकदास (द्वितीय)

बालकदासजी (द्वितीय) निम्बार्क-सम्प्रदाय के व्रजराजशरणदेवाचार्य के कृपा-पात्र थे। ये गुजरात में सिद्धपुर के पास भाटबेड़ा नामक ग्राम स्थित श्री नरसिंहजी के मन्दिर में महन्त पद पर विराजमान थे। इन्होंने श्रीनरसिंह भगवान् की सेवा सुचारु रूप से सम्हाली थी। वहाँ के श्रद्धालु ब्रह्म भट्ट भक्त-वृन्द श्री नरसिंहजी की सेवा-सामग्री जुटाने में सतत प्रयत्नशील रहे, वे सब इनके शिष्य हो गये। ये श्रीमद्-भागवत की कथा बड़े सरस ढंग से कहते थे। इन्होंने वहाँ की जनता को दीर्घ काल तक श्रीमद्भागवत-कथामृत का आस्वादन कराया। रास पञ्चाध्यायी की मधुर-रस पूर्ण कथा के साथ ये वृन्दावनीय लीला-रस का गायन करने में निरन्तर मग्न रहते थे।

प्रे० ना० श्री०

बालकृष्ण (प्रथम)

स्वामी श्री बालकृष्ण (प्रथम) की प्रशस्ति में 'रसिक-अनन्य परचावली' में यह छप्पय मिलता है—

मंडल बैठे जाइ भावना उकति उपावैं।
गूढ़ रहसि की बात काढ़ि रस भोजि भिजावैं॥

दम्पति रूप अगाध परैं ता सुख रस गहरैं।
वदन मौन गहि रहैं हियनि उठैं भावनि लहरैं॥

सने हित प्रसाद सुख स्वाद यौं,
ज्यों रचित मंजरी नूत पिक ।
यह भक्ति रसीली चित चुभी,
बालकृष्ण स्वामी रसिक ।।

स्वामी बालकृष्ण (प्रथम) के न तो ऐहिक जीवन सम्वन्धी कोई बात प्रकाश में आयी है और न यही ज्ञात हो सका है कि ये किन रसिक सन्त से राधावल्लभीय सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। इनके मधुर भक्त रूप का चित्रण करते हुए चाचा श्री हित वृन्दावनदासजी ने लिखा है कि ये श्री हितरास मंडल पर रहा करते थे। इनके हृदय में रस-भक्ति का मधुर आकर्षण इस प्रकार घर कर गया था कि ये निरन्तर नित्य-निकुंज-लीलाओं की रस-भावना में छके रहते थे। इनका अनुक्षण वृन्दावन-रस-लीलाओं के कथन-श्रवण में ही व्यतीत होता था। लीलाओं का निर्वचन करते समय ये स्वयं तो भावविभोर हो ही जाया करते थे, श्रोताओं को भी रस-स्नात कर दिया करते थे। जब इन्हें लीला से निष्पन्न इष्ट के रम्य रूप की अनुभूति होती थी, तब तो ये उस रूप रसासव के मद से मानों झोंके ही खाने लगते थे। उस समय इनकी वाणी मूक हो जाती थी और नेत्र चांचल्य और अचांचल्य के बीच कुछ कहते जैसे दिखाई देते थे।

गोस्वामी चन्द्रलालजी द्वारा संगृहीत अष्टयाम में शयनभोग का इनकाएक पद मिलता है। हमारी धारणा है कि इन्होंने रस-विषयक कुछ पदावली अवश्य लिखी होगी, किन्तु अभी तक की हमारी खोज में उस एक पद के अतिरिक्त अन्य कोई पद देखने को नहीं मिला। शयन भोग का उपर्युक्त पद नीचे दिया जाता है—

करत राधा मोहन ब्यारी,
बैठे कुंज सदन में सोहैं ।
इक थारो एकै जल झारी,
एक वैस इक रूप उजारी ।।
मधु मेवा पकवान मिठाई,
दम्पति अति रुचिकारी ।
प्यारी के कर पावत प्यारौ,
प्यारे के कर पावत प्यारी ।।
दूध सिराइ लै आई श्री ललिता,
'प्यारी जू पियौ' लाल करै मनुहारी ।
'बालकृष्ण' जूठन कौं बोली
लै लै री लै लै प्राण अधारी ।।

श्री चंदसखीजी इन्हीं स्वामी बालकृष्णजी के शिष्य थे। इस आधार पर इनका विद्यमानकाल अनुमानतः विक्रम संवत् १७५० से पूर्व निश्चित होता है।

श्या० बि० खं०

बालकृष्ण (द्वितीय)

बालकृष्णजी (द्वितीय) का ऐहिक वृत्तान्त अज्ञात है। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट (१९२९-३१) में इनके द्वारा रचित 'भागवत एकादश स्कंध' ग्रन्थ उपलब्ध बताया गया है, जिसकी प्रतिलिपि लालदास ने मथुरा में यमुनातट पर की थी। संयोगवश इनके गुरु का भी नाम बालकृष्ण ही था। ग्रंथ की निम्नांकित पंक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

सोई मम श्री गुरु मैं प्रकट,
बालकृष्ण अस नाम ।

• • •

श्री गुरु बालकृष्ण मम स्वामी,
किंकर कृपा तासु अनुगामी ।।

इस ग्रंथ की रचना दोहा, सोरठा और चौपाई छंद में सं० १८०४ में हुई थी। एकादश स्कंध के पूर्व कवि ने कृष्ण की कथा लिखने का संकेत किया है। ग्रन्थ के अंत में श्रीकृष्ण भगवान् के स्वधाम गमन तक की कथा दी गई है।

श्रि० ना० सिं०

बालकृष्ण (तृतीय)

बालकृष्ण (तृतीय) बुन्देलखण्ड के निवासी चौबे ब्राह्मण थे। इनके दो नाम प्राप्त होते हैं—रामकृष्ण चौबे

और मानदास। इनके दो गुरु भी बताये जाते हैं—चरणदास और पुरुषोत्तम। हो सकता है कि इनके प्रथम गुरु ने इनका नाम 'मानदास' रखा रहा हो, बाद में दूसरे गुरु ने 'बालकृष्ण' रख दिया हो। इन्होंने जीवन का अधिकांश भाग घर-गृहस्थी में व्यतीत किया। कुछ वर्षों तक ये पन्ना नरेश अमान सिंह और हृदयसाहि के समय में कालिंजर के किलेदार रहे। जीवन के उतरार्द्ध में ये साधु होकर ब्रज चले गये और कृष्णभक्ति में डूब गये। इन्होंने लगभग २२ ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'रुक्मिणी-मंगल' एक उल्लेखनीय कृति है। इसके रचनाकाल से ज्ञात होता है कि ये सं १७२६ के आस-पास विद्यमान थे।

कृ० चं० ला०

बालकृष्ण (चतुर्थ)

बालकृष्ण (चतुर्थ) के रसिक रूप का परिचय देते हुए ध्रुवदासजी ने लिखा है कि 'श्री बालकृष्णजी का स्वरूप परिचय देने में मेरी वाणी असमर्थ है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि इनके नेत्रों में लाड़िली-लाल का सुरम्य रूप झिलमिलाता रहता है।' ये भक्ति-शास्त्रों तथा वृन्दावन रस के अधिकारी विद्वान् थे। किन्तु इनमें असाधारण बात यह थी कि इतना पांडित्य होने पर भी ये अत्यधिक सरल स्वभाव के थे और अहर्निश मानसी-सेवा में निमग्न रहते थे—

बालकृष्ण गति कह कहौं, कैसेहु कहत बनै न।
रूप लाड़िलो लाल कौ, झिलमिलात तिंहि नैन॥
अति प्रवीन पण्डित अधिक, लेश गर्व कौ नांहि।
कीनी सेवा मानसी, निशिदिन तेहि मन मांहि॥

—बयालीसलीला-भक्तनामावली

'भक्तनामावली' में जिन भक्तों के साथ इनका नामोल्लेख किया गया है वे सब के सब श्री हरिवंश-जी के कृपापात्र और देववन निवासी थे। इस आधार पर ये भी देववनवासी हो ज्ञात होते हैं।

श्री गोविन्द 'अलि' ने भी सम्भवतः 'भक्त नामावली' की उपर्युक्त पंक्तियों के ही आलोक में इनका रसिक रूप चित्रित करते हुए लिखा है कि श्री बालकृष्णजी की सम्पूर्ण आशाएँ श्री व्यासकुमार गो० श्री हित हरिवंशचन्द्रजी ने पूरी की थीं। उनकी कृपा से ये वृन्दाविपिन विहार युगलरस, वनविहार रस अथवा वृन्दावन रस के अनुरागी वन गये थे। ये अहर्निश मानसी-भावना द्वारा यमुना पुलिन में अनन्त सहचरियों से मण्डित लीलारत श्री हित युगल किशोर की सेवा किया करते थे—

बालकृष्ण मुरलीधरन, नागर अरु हरिदास।
इन सबकी पुजई सकल, व्यास सुवन मन आस॥
व्यास सुवन मन आस रंग मेधा बड़भागो।
वृन्दाविपिन विहार युगल रस के अनुरागी॥
कीनी सेवा मानसी, रिझये ललना लाल।
हंस सुता कौ तीर जहँ, सहचरि नव नव बाल॥

—भक्त गाथा

गोस्वामी हित हरिवंशजी के शिष्य होने एवं ध्रुवदासजी के परिचयात्मक दोहों में वर्तमान कालिक क्रियाओं के प्रयोग से इनका उपस्थितिकाल विक्रम सम्वत् १५८० से १६५० तक के बीच स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

बालकृष्ण / तुलाराम (रास मंडली वाले)

श्री बालकृष्ण तथा तुलाराम समकालीन ही नहीं, अभिन्न सखा भी थे। उनकी प्रशंसा में निम्न-लिखित पंक्तियाँ मिलती हैं—

श्री हरिलाल कृपाल गुरुन कौ पाछौ लीयौ।
बसत नगर समसेर भजन मारग चित दीयौं॥
आदि अंत निर्वही जुगल पद रेनु उपासन।
श्री वृन्दावन नित केलि महासुख भरे हुलासन॥
श्री हरिवंश उदार जस, गावत रसना रस खगी।
श्री बालकृष्ण तुलाराम की, नित रास-रंग में मति पगी॥

—रसिक अनन्य परचावली

धर्‌यौ कर श्री हरिलाल माथ।
भये बाल कृष्ण स्वामी सनाथ॥
फिरँ रासमण्डली लिये साथ।
फागुन सु खेल की सौंज हाथ॥
स्वामी तुलाराम उर फागु फूल।
अनुराग रँगे हियँ के दुकूल॥
लेंहि राग तान देंहि मन कौ हूल।
मनु बसीकरन यह मंत्र मूल॥
—चतुर्थ वसन्त प्रबन्ध

ये दोनों भक्त समसेर नगर के निवासी थे और दोनों ही गो० श्री हरिलालजी से श्री हित राधाबल्लभीय सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध था—यह अज्ञात है; किन्तु इन दोनों में इतना प्रगाढ़ प्रेम था कि ये प्रत्येक क्षेत्र में एक साथ ही रहकर कार्य किया करते थे। एक बार ये दोनों अपनी रासमण्डली लेकर रूपनगर गये थे और रासलीलानुकरण करके उपस्थित सभी भक्तजनों को रस विभोर किया था। रासलीला की मण्डली का संचालन ये दोनों मिलकर करते थे। रासमण्डली के माध्यम से हित रसरीति के अनुरूप रसलीलाओं का प्रदर्शन करके ये राधाबल्लभ-सम्प्रदाय का प्रचार करते थे। श्री हिताचार्य चरण का उत्कट अनन्य व्रत इनके जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता था। आचरण का प्रभाव अमोघ होता है। यही कारण है कि रासलीला के अनेक दर्शक इनके सम्पर्क में आने से श्री हित धर्म के अनुयायी बन गये थे।

इन दोनों भावुकों का हृदय वृन्दावन रसोपासना से स्निग्ध रहने के कारण इनके मुख से यदा-कदा पद-रचना के रूप में रसोद्‌गार भी निकल पड़ते थे जिन्हें ये अपने सुमधुर कण्ठ से रासलीलानुकरण में गाकर युगल को रिझाया करते थे। स्वामी श्री तुलाराम जी, जो 'बावरी सखी' के नाम से पद रचना किया करते थे, की गान-कला कोविदों को भी मंत्रमुग्ध कर देती थी। इस प्रकार से ये दोनों रसिक गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी उपासना की चरमोपलब्धि करने में सफल हुए थे। इनका विद्यमान काल सं० १७४० से सं० १८२० के मध्य अनुमानित होता है। इनके कतिपय पद नीचे उद्धृत हैं—

(१)

अरी तेरी साँझी देखन को डोरी लगी रहै,
मन ते डगर बगर घर घर की बाल री।
जो आवै सो फेरि न जावै,
परी रहै तेरी पौरी॥
श्याम सखी आगे निर्त करत है,
दुहुँनि की दृष्टि भई इक ठौरी।
'राधा-बालकृष्ण हित' असीसत
छिन छिन चिरजीवौ यह जोरी॥

(२)

अरी ऐरी पिय वरषत आये री,
रंग गुलाल केशर की बूंद।
मनु नव श्याम सुन्दर घन उनये,
पीताम्बर दामिनि छवि राजति पिचकारिन
झर लाये॥
युवतिन के हिय सरवर पूरे,
रिझै भिजै सुख पाये।
'राधा बाल हित कृष्ण" छबीले,
नये नये सुख दिखराये॥

(३)

लड़ैती जू के नैनन नींद घुरी।
आलस बस, जोवन बस, मद बस, पिय के अंस ढुरी॥
पिय कर परस्यौ सहज चिबुक वर, बाँकी भौंह मुरी।
'बावरी सखी' हित व्याससुवन बल देखत लतन दुरी॥
श्या० बि० खं०

बालकृष्णदास

बालकृष्णदास गो० गिरिधरलाल बनारसी के शिष्य थे और सं० १८८५ में विद्यमान थे। उनकी

ही आज्ञा से इन्होंने सूरदास के दृष्टिकूट पदों की टीका लिखी थी जिसका उल्लेख खोज विवरणों में मिलता है।

ह० न० भा०

बालकृष्णशरणदेवाचार्य

श्री बालकृष्णशरणदेवाचार्यजी ने विक्रम सम्वत् १९६३ में श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ (सलेमाबाद) को सुशोभित किया। इनका आविर्भाव राजस्थान में जयपुर मण्डलान्तर्गत तहसील चाकसू के पूरण की नागल नामक ग्राम में वि० सं० १९१७ की चैत्र शुक्ला ११ रविवार को हुआ था। ये गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पं० गोपालजी शर्मा एवं माता का नाम ललितादेवी था। ये श्री घनश्यामशरण-देवाचार्यजी के कृपापात्र थे।

इन्होंने जीवन पर्यंत संयम-नियम एवं सदाचार का दृढ़ता से पालन किया। इसी कारण अन्तिम अवस्था तक इनकी स्मरण-शक्ति, श्रवण-शक्ति, वाक्-शक्ति एवं नेत्र-ज्योति बराबर काम करती रही। इन्होंने अल्पावस्था में ही श्री घनश्यामशरण-देवाचार्य से विधिवत् विरक्त दीक्षा प्राप्त कर ली थी और अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए श्रीधाम वृन्दावन में रहकर साङ्गोपाङ्ग व्याकरण-वेदान्तादि शास्त्रों का अध्ययन किया था। आचार्य पीठ में आने से पूर्व इन्होंने श्रीधाम वृन्दावन में श्रीजी की बड़ी कुञ्ज के ठाकुर श्री आनन्दमनोहर भगवान् के निज मन्दिर में पूजा का कार्य करते हुए शास्त्रों का अध्ययन किया था। आचार्य पीठ (श्री निम्बार्कतीर्थ, सलेमाबाद) आने पर भी इन्होंने स्वाध्याय को न छोड़ा। अलवर में लक्ष्मणगढ़ के निकट ठुमारेला नामक ग्राम के निवासी पं० गोपीनाथ शर्मा गौड़ से इन्होंने पाणिनीय व्याकरणादि शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया। निम्बार्काचार्यपीठ में भी ये भगवान् श्री राधासर्वेश्वर श्री राधामाधवजी की पूजा-सेवा में स्वाध्याय करते हुए संलग्न रहा करते थे।

विक्रम सम्वत् १९६३ के चैत्र कृष्ण १२ को इन्होंने श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ को सुशोभित किया। इनका स्वभाव अत्यन्त सरल था। भक्तिपरक ग्रन्थों, श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्रों, स्वसाम्प्रदायिक वेदान्त-उपासना-ग्रन्थों का इनका अनुशीलन अनुपम एवं गंभीर था। श्रीमद्भगवद्गीता, सुदर्शन कवच आदि का पठन-पाठन प्रायः चलता ही रहता था। उसके साथ ही गोपाल मंत्रराज का जाप भी प्रतिदिन अनुष्ठान के क्रम से ही दशांश हवन के साथ चलता रहता था।

इनके आदर्श जीवन से प्रभावित होकर अनेक शास्त्राचार्य एवं मनीषीजन इनके कृपापात्र हो गये—जैसे निम्बार्क-सम्प्रदाय के पण्डित प्रवर श्री रामप्रतापजी शास्त्री (प्रोफेसर, नागपुर) ब्यावर (राजस्थान), पं० श्री लाड़िलीशरणजी न्याय व्याकरण काव्यतीर्थ, जोधपुर के महान् यशस्वी बैरिस्टर श्री हंसराजजी सिंघवी आदि। जोधपुर, बीकानेर जैसे राज्यों के राजा-महाराजा, राजरानियाँ, राज्य के कार्यकर्ता एवं नागरिक श्रीजी महाराज के शिष्य-प्रशिष्य थे। मारवाड़ के बहुत से जागीरदार एवं धनीमानी सेठ साहूकार इनके कृपापात्र थे। यही नहीं, एक बार जब श्रीजी महाराज दक्षिण की यात्रा करते समय हैदराबाद पहुँचे तो हैदराबाद के नवाब ने इनकी विराट् शोभा यात्रा का समायोजन किया, जिसमें नवाब ने तो स्वयं भावना युक्त होकर अपनी श्रद्धा समर्पित की ही, साथ ही राजस्थान निवासी सैनिक कमाण्डर श्री हनुमान सिंहजी राठौर ने भी शोभायात्रा, स्वागत समारोह आदि में अतीव तत्परता से अपनी भावभीनी सेवा समर्पित की।

उदयपुर (मेवाड़) के महाराजा भूपालसिंहजी भी आचार्य श्री के चरणों में अगाध निष्ठा रखते थे। आचार्य श्री का हृदय अत्यन्त ही कोमल था। आश्रितों के थोड़े से दुःख से भी ये द्रवित हो जाते थे। ये इतने सहज एवं दयालु थे कि अकालादि दैवी आपत्तियों के समय अनाथ-असहायों को वस्त्र धनादि

से सहायता करने में परमानन्द की अनुभूति करते थे।

गोशाला, संस्कृत पाठशाला एवं संत-सेवा आदि पारमार्थिक कार्य आपके द्वारा सम्पन्न होते रहते थे। अनेक विद्वान् जैसे—वृन्दावन निवासी निम्बार्क सम्प्रदाय के परम मनीषी पं० श्री अमोलक राम शास्त्री, तर्कवागीश पं० श्री वैष्णवदास शास्त्री, पं० श्री विहारीदासजी त्यागी, अतिवयोवृद्ध पं० श्री रमादत्तजी शास्त्री साहित्याचार्य आदि आपके सानिध्य में रहकर परम प्रसन्नता का अनुभव करते थे। वे अनेकों बार तीर्थाटन के समय आचार्य श्री के साथ गये थे। कृष्णगढ़ नरेश महाराजा मदनसिंह जी भी इनसे अत्यन्त प्रभावित थे। वे जब भी निम्बार्क पीठ पधारते आचार्य के दर्शन कर परम-प्रसन्न होते थे। इतना ही नहीं, जब आचार्य प्रातः या सायं भ्रमणार्थ पधारते तो स्वयं अपने हाथों से 'श्रीजी' महाराज को पादुका धारण कराते थे। इसी प्रकार किशनगढ़ नरेश महाराजा यज्ञनारायणसिंहजी भी इनके चरण-कमलों में अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। इस प्रकार श्रीजी महाराज अगणित विशिष्टजनों से पूजित थे।

एक सम्प्रदायाचार्य में जिन-जिन विशिष्ट गुणों का समावेश होना चाहिए वह सब इनमें विद्यमान थे। भगवत्सेवा के निमित्त पुष्पोद्यान की रचना में महाराज श्री की बड़ी रुचि थी। आपके कर कमलों से की गयी भगवत्सेवार्थ पुष्पहार एवं पत्तल दोने की विलक्षण रचना को देख कर पार्श्ववर्तीजन चकित रह जाते थे। रासलीला के दर्शन के समय ये इतने तन्मय हो जाते थे कि शरीर की भी सुधि नहीं रहती थी। दर्शन करते समय इनके नेत्र अश्रुपूर्ण एवं वाणी रुद्ध हो जाती थी, जिसे देख रसिक समाज भाव विह्वल हो जाता था। वस्तुतः आचार्यप्रवर की सरसता, भावुकता, त्याग परायणता, शान्ति-प्रियता सभी कुछ अनिर्वचनीय थी।

श्री बालकृष्णशरणदेवाचार्यजी ने ८३ वर्ष तक इस धराधाम को सुशोभित किया। निम्बार्काचार्यपीठ को ३६ वर्ष पर्यंत अलंकृत कर वि० सं० २००० की जेष्ठ कृष्णा प्रतिपदा को प्रातः ८ बजकर ४५ मिनट पर ऐहिक लीला का संवरण कर इन्होंने श्री सर्वेश्वर प्रभु के चिन्मय धाम में प्रवेश किया। इनके सम्बन्ध में कहा गया है—

मन्त्रराजजपो होमोऽतिथिसेवादि क्रियाः।
यत्र नित्यं प्रवर्तन्ते भक्तिनिष्ठं तपोधनम्॥

तं जगद्गुरु-निम्बार्काचार्य पीठाधिराजितम्।
श्री बालकृष्ण शरण देवाचार्यं सदाऽश्रये॥

प्रे० ना० श्री०

बालचन्द शास्त्री

श्री बालचन्द शास्त्री का जन्म माघ सुदी १० सम्वत् १९२८ में सिस्यू-राणोली (सीकर) गाँव के एक प्रतिष्ठित गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये संस्कृत और हिन्दी साहित्य तथा आयुर्वेद के प्रसिद्ध विद्वान् थे। अपनी विद्वत्ता के कारण ही ये सीकर-नरेश द्वारा सम्मानित हुए थे और इनकी वक्तृता से प्रभावित होकर शंकराचार्यजी ने इनको 'विद्या-वाचस्पति' की उपाधि से अलंकृत किया था। अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् तथा वक्ता होने के साथ ही ये अच्छे कवि भी थे।

इनकी रचनाओं में प्रमुख हैं—द्रोपदी-परित्राणम्. प्रेम-पद्यावली, ललित-रामचन्द्र-काव्य, सिद्धान्त कौमुदी, पंच सन्धि टीका, अथर्ववेद भाष्य, महिम्न-स्तोत्र-टीका, गंगा-लहरी की वेदान्तपरक टीका, माधव-निदान की टीका, शार्ङ्गधर की टीका, भाँग-निषेध, श्येन-कपोतीयम्, लक्ष्मी-सूत्र भाष्यम्, अलंकारतत्त्वम्, निरुक्त नाम वर्णनम् एवं भागवत-पद-रचना।

इनकी भक्ति-भावना का स्वरूप व्यंजक एक पद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

माधव अब काहे तरसाओ॥
कृपा बनाय मनुष तनु देकर दुख में सुख सरसाओ।
तन में पुलक नेत्र रह जल भरे ध्यान माँहि दरसाओ॥

प्रेम भाव मन करो प्रकट हठ माया भाव हटाओ।
सतसंगत नित रहे रसिकन सों अरु बनबास बसाओ॥

विमुख संग मम कबू न हो प्रभु आसा यही पुराओ।
'बालचन्द' मन हरण लाडिले हम सों परे न जाओ॥

ग० मि०

बालमुकुन्ददास

श्री बालमुकुन्ददास का जन्म वि० संवत् १९४० को रोहतक जिले के एक धनी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्होंने संस्कृत-हिन्दी में दक्षता प्राप्त की। यद्यपि इनका प्रारम्भिक जीवन घर में व्यतीत हुआ, किन्तु ये विवाह के चक्कर में नहीं पड़े। शुरू से ही हरिरस में मतवाले हो गए। इनकी गिनती विद्वानों में की जाती थी। ये बहुत कम बोलते थे और सदैव राधाकृष्ण के ध्यान में मग्न रहते थे। इन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति कृष्ण को अर्पित कर दी। इन्होंने संवत् १९७७ में रोहतक के महन्त सुखदासजी से दीक्षा प्राप्त की। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

संत चरणदास—गुसाइँ जुगतानंद—अजुध्याप्रसाद—कृष्णप्रसाद—सुखदास—बालमुकुन्ददास।

संवत् १९८३ में संगरूर (पंजाब) के महन्त बिहारीदासजी के निधन से जब गद्दी खाली हो गई, तब इन्हें महन्त बनाकर वहाँ भेजा गया। कई वर्षों बाद राधाकृष्ण का प्रेम इन्हें वृन्दावन खींच लाया, जहाँ ये अन्त तक रहे। इनका परलोकवास वि० सं० २०२० में हुआ।

म० गो० भा०

बालाबक्स बारहठ

बालाबक्स बारहठ नाम के दो कवियों का उल्लेख मिलता है। एक बालाबक्स बारहठ का जन्म जयपुर जिले के हणूतिया ग्राम में हुआ था, किन्तु इन बालाबक्स बारहठ का जन्म गुजूकी (अलवर) निवासी पालावत शाखा के प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त शिवबक्स के यहाँ सम्वत् १९३० में हुआ था। कृष्ण की उपासना और कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित संस्कार इन्हें विरासत में मिले थे। इनके पिता शिवबखशजी अपनी गृहस्थी त्यागकर वृन्दावन में श्री कृष्ण की शरण में जाकर स्थायी रूप से रहने लगे थे।

पारिवारिक संस्कार के कारण इन्होंने किशोरावस्था में ही कृष्णभक्ति के पदों की रचना आरम्भ कर दी थी। इसके अतिरिक्त छप्पय रामायण, मोसर, झमाल, पच्छी-वयण रूपक, दुरगादासजी रो चरजा आदि विभिन्न विषयों तथा शैलियों में लिखी गई इनकी प्रचुर काव्य कृतियाँ मिलती हैं। कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित इनका 'उद्धव-गोपी-संवाद' तथा पद प्रसिद्ध हैं। इनका परलोकवास सं० १९७४ में हुआ।

इनकी भक्तिभावना के स्वरूप-व्यंजक दो छन्द प्रस्तुत हैं। प्रथम छन्द में उद्धव के 'योग की पत्री' लेकर आने पर गोपियों के हृदय में कुब्जा के प्रति उत्पन्न होने वाली स्वाभाविक ईर्ष्या का वर्णन है—

पत्र जो लिख्यो है सोकि जान्यों हम प्रीति को है,
'बाल' कहै बाँचि ऊधो बालन सुनायो हैं।
सबर कियो हो सोकि साल के जंजालको सु,
पिय मृगछाल माल बहुरि पठायो है।
कंस दासिका कूँ अंक लाय कै कन्हैया लाल,
कुल को कलंक हास्य जग में करायो है।
ए री भद्रू आवने री तेरी सूँ कहत तोहि,
स्याम के संदेसों पै अंदेसो एक आयो है॥

कृष्ण को उपालम्भ—

तातकी न जात की न पांत की हुती जु नांहि,
कहाँ ते अनोखी खानि आनि कै कढ़ाई तैं।
कहै कवि 'बाल' सुनो कुटिल कन्हैया लाल,
लाज न तु आत वा कुजात सूँ लड़ाई तें।
कुबज्या के संग रहा तोहि तो कहै हैं कहा,
बनै हीरा होय अहा प्रभुता बढ़ाई तैं।
विधि ये लिखी हो बात बिचारन बंस की ही,
चेरो कंस को ही ताहि सीस पै चढ़ाई तैं॥

ग० मि०

बिसाहूराम

बिसाहूरामजी मिडिल स्कूल सिमगा, जिला रायपुर (मध्य-प्रदेश) के हेडमास्टर थे। इन्होंने स्वयं को श्री रसिकशिरोमणिदास भी लिखा है। इनके गुरु का नाम शंकरदास था, जो एक जितेन्द्रिय तथा भजनानंदी महात्मा थे। बिसाहूराम ने एक 'विनयपत्र' लिखा जो नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के द्विवेदी-संग्रहालय' में है। मिश्रबन्धुओं ने बिसाहूराम रचित ग्रंथ का नाम 'नाममाला' दिया है। इन्होंने 'कृष्णायन' नाम का एक अन्य काव्यग्रंथ भी लिखा जिसमें कृष्णचरित की कथा रामायण की भाँति सात काण्डों में प्रबन्ध रूप में प्रस्तुत की गयी है। यह ग्रंथ सरस्वती विलास प्रेस, नरसिंहपुर (मध्यप्रदेश) से प्रकाशित हुआ है।

कवि बिसाहूराम ने 'कृष्णायन' की रचना कृष्ण जन्माष्टमी सं० १९५० को प्रारम्भ की थी। कवि ने ग्रंथारम्भ में संस्कृत के ७२ श्लोकों और ५ सोरठों में गणेश, शिव, शारदा, कृष्ण, हनुमान, शंकर-पार्वती तथा अपने गुरु की वन्दना की है। उसके बाद तुलसीदास की रामायण के अनुसार 'कृष्णायन' लिखने का संकल्प व्यक्त किया है। तुलसीदास की भाँति कवि बिसाहूराम ने भी प्रारम्भ में खलों तथा उन बुद्धिमानों की वन्दना की है जो कृष्ण और राम को मनुष्य मानते हैं और तर्क-वितर्क के आधार पर सृष्टि की रचना का विषय 'अपर-विधि' से प्रतिपादित करते हैं। कवि ने 'कृष्णायन' की कथा का विस्तार तुलसीदास, रघुनाथ, केशव, सूर, माखन आदि कवियों की शैली के अनुसार किया है। कवि ने कृष्णकथा का विकास सात काण्डों में किया है—बालकाण्ड, रहस्यकाण्ड, मथुराकाण्ड, मंगलाकाण्ड, पाण्डवकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड।

'कृष्णायन' में कवि ने कंस के अत्याचारों से कथा प्रारम्भ करके कृष्ण-जन्म के कारणों पर प्रकाश डाला है तदनन्तर कथानक का विकास कृष्ण के द्वारकावास, महाभारत-युद्ध, पाण्डवों के राज्याभिषेक तथा श्रीकृष्ण के अन्तर्धान वर्णन के द्वारा किया है। कृष्ण कथा के कहने का क्रम जनमेजय-वैशम्पायन, शुकदेव-परीक्षित और सूत-शौनक संवाद के आधार पर चला है। कथा में प्रवाह, सरलता और तुलसीदास की भाँति विनय-शीलता है। काव्यत्व तो उच्च कोटि का नहीं है, किन्तु कथा के प्रसंगों का वर्णनात्मक पद्धति से भली प्रकार निर्वाह किया गया है। कविता में आवश्यकतानुसार विभिन्न रसों का समावेश है, अलंकारों का प्रयोग भी सुन्दर है। रामचरितमानस की भाँति आठ चौपाइयों के बाद दोहा रखा गया है। काण्ड के प्रारम्भ में श्लोक तथा दोहों या सोरठों में स्तुतियाँ की गई हैं। कविता प्रायः दोहा-चौपाई में लिखी गई है, किन्तु इसके अतिरिक्त भी विविध छंद व्यवहार में लाये गये हैं। भाषा बैसवाड़ी अवधी है।

त्रि० ना० सिं०

बिहारिनदेव

रसिकशेखर स्वामी श्री हरिदासजी महाराज के संप्रदाय में सर्वाग्रगण्य, प्रतिष्ठित एवं प्रमाण रूप में सम्मानित रसिकाचार्य श्री बिहारिनदासजी को संप्रदाय में आदर के साथ श्री बिहारिनदेवजी अथवा 'गुरुदेवजी' के नाम से स्मरण किया जाता है। **'जिते वचन गुरुदेव के तिन ही सौं परतीति'** कह कर प्रमाण कोटि में केवल इन्हीं की वाणी स्वीकार की जाती है। जो सिद्धान्त इनकी वाणी से समर्थित नहीं हैं, वह हरिदासी संप्रदाय में मान्य नहीं हैं। अष्टाचार्यों के क्रम में श्री स्वामी बिहारिनदेवजी का स्थान द्वितीय हैं। स्वामी हरिदासजी को इस संप्रदाय में उपास्य कोटि में माना जाता है। अतः अष्टाचार्यों में प्रथम थे स्वामी श्री बीठलविपुलदेवजी और द्वितीय श्री स्वामी बिहारिनदेवजी महाराज।

स्वामी बिहारिनदेवजी श्री स्वामी हरिदासजी महाराज के समय में ही विरक्त होकर श्रीधाम वृन्दावन में आ गये थे। ये जैसे ही श्री स्वामी

हरिदासजी की शरण में आये, वैसे ही स्वामीजी ने इन्हें कृपापूर्वक देखा, पहचाना और इनके मस्तक पर अपना हाथ रख दिया, जिससे इन्हें नित्यविहार के दर्शन हुए और सखी-समाज में स्थान मिल गया। श्री स्वामी हरिदासजी ने ही इनका नाम बिहारिनदास रखा। स्वयं श्री बिहारिनदेवजी ने एक छन्द में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है—

श्रीस्वामी हरिदासि कर-अम्बुज परसत माथ।
मानौं रचि-खचि चंद्रिका राखी सखियन साथ॥
राखी सखियन साथ नाम धृत दास बिहारिनि।
निरखत नित्यविहार लता-गृह-रंध्र निहारिनि॥
अति नागर वर जानि, निकट स्यामा अभिरामी।
दुतिय रूप इक धर्म धुरा, वाहत श्री स्वामी॥

दिव्य नित्यविहार के कृपापूर्वक दर्शन कराने के उपरान्त श्री बिहारिनदेवजी को स्वामी हरिदासजी ने आज्ञा दी कि ये श्री बीठलविपुलदेवजी का शिष्यत्व ग्रहण करें। उनके आदेशानुसार श्री बीठलविपुलजी ने इनको स्वामी हरिदासजी के समक्ष ही अपने शरणाश्रित किया।

श्री बीठलविपुलदेवजी ने श्री स्वामी हरिदासजी के निकुञ्जप्रवेश के सात दिवस के पश्चात् ही अपना पञ्चभौतिक शरीर गुरु के वियोग में त्याग दिया। उनके बाद नित्यविहार की उपासना और उसकी रहनी का गुरुतर दायित्व श्री बिहारिनदेवजी पर आ गया। भक्तवर श्री हरिरामजी व्यास ने श्री बिहारिनदेवजी की प्रीति को सच्ची प्रीति बताया और लिखा कि हाथ के करुवे और कामरी के अतिरिक्त ये केवल श्री स्वामी हरिदासजी को ही अपने हृदय में स्थान देते थे। कोई भी प्रतिबाधक इनके तेज को नहीं सह सकता था। ये स्वयं त्रास को पहचानते तक न थे, मत्त और मुदित होकर महामाधुर्य का गान करते थे, जगत् से सर्वदा असंपृक्त रहते थे। इनकी भावना क्षण-क्षण में बढ़ती थी और ये नित्यविहार की छबियों का अवलोकन करते थे। ये अंग-संगी बन कर नित्य बिहार के द्रष्टा थे—

साँची प्रीति बिहारिनि दासै।
कै करुआ, कै कुंज-कामरी,
कै धर श्री स्वामी हरिदासै॥
प्रतिबाधक सहि सकत न तिनकौं,
जानत नहीं कहा कहि त्रासै।
महामाधुरी मत्त मुदित ह्वै,
गावत रस-जस, जगत उदासै॥
छिन ही छिन परतीति बढ़त
रस-रीति, निरखि बिबि बदन विलासै।
अँग-सँग नित्यबिहार बिलोकत,
यहै आस निज बन बसि 'व्यासै'॥

राधावल्लभीय रसिक-भूषण श्री ध्रुवदासजी महाराज ने भी श्री बिहारिनदासजी की साधना और स्वामी हरिदासजी की रीति को पूर्णता के साथ निबाहने के सम्बन्ध में लिखा है—

श्री बिहारिनदास निज एक रस, ज्यौं स्वामी की रीति।
निरबाही पाछैं भली, तोरि सबनि सौं प्रीति॥

मत्त भयौ रस-माधुरी, करी न दूजी बात।
बिन बिहार निज एकरस, और न कछू सुहात॥

स्वामी बिहारिनदेवजी के जीवनवृत्त और उससे सम्बद्ध जो सन्-संवत् निजमत सिद्धान्त में लिखे गये हैं, उनसे भ्रम का प्रसार ही अधिक हुआ है। उसके अनुसार श्री बिहारिनदेव के पिता मित्रसेन अकबर के दीवान थे। वे अपने मित्र चतुर्भुज की प्रेरणा से स्वामी हरिदासजी की सेवा में पुत्र की कामना से आये। स्वामी हरिदासजी ने उन्हें पुत्र होने का आशीर्वाद दिया और कहा कि ३२ वर्ष तक घर में रहकर विरक्त होकर यह हमारे पास आ जायेगा। तदनुसार सं० १५६१ वि० की श्रावण शुक्ला तृतीया को श्री बिहारिनदासजी का जन्म हुआ। वे बड़े होकर अकबर की सेना में भरती हुए और अब्दुर्रहीम खानखाना के साथ कामरूप में वानर-राज्य के विरुद्ध चढ़ाई की। खानखाना ने छलपूर्वक वानर-राज्य के मन्त्री कमलापति को मार

डाला। इस पर विहारिनदासजी ने दुःखित होकर अपना एक हाथ काट डाला और कमलापति के पुत्र को दे दिया कि वह इसे अपने पिता के शव के साथ रख दे तो वह जीवित हो उठेगा। श्री बिहारिनदासजी अकबर की चाकरी छोड़ वृन्दावन आकर स्वामी हरिदासजी की शरण में आ गये। उनके आशीर्वाद से बिहारिनदासजी की कटी हुई बाँह फिर से उग आई और उधर कमलापति भी जी उठा। 'निजमत-सिद्धान्त' के अनुसार श्री बिहारिनदास सं० १५९४ वि० में स्वामीजी की शरण में आये। उक्त समस्त प्रसंग इसलिए कल्पित एवं इतिहास विरुद्ध है कि सं० १५९४ तक तो अकबर और खानखाना का जन्म भी नहीं हुआ था। अकबर की सेना द्वारा कामरूप के किसी वानर-राज्य पर चढ़ाई का कोई उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता। यदि सम्राट् अकबर के राज्यारोहण के पश्चात् की किसी घटना के रूप में इसे स्वीकार भी किया जाय तो वह स्वयं 'निजमत सिद्धान्त' की कथाओं के विपरीत हो जायेगा। अब्दुर्रहीम खानखाना का जन्म सं० १६२३ वि० में हुआ था। जिस समय तक ये युद्ध में जाने योग्य हुए होंगे उस समय तक तो स्वामी हरिदासजी के निकुञ्जगमन को भी कितनी दशाब्दियाँ बीत गई होंगी।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि श्री बिहारिनदासजी के जीवन-प्रसंग के साथ अब तक जो कल्पित इतिवृत्त दिये जा रहे हैं, उनकी अप्रामाणिकता प्रकाश में आ जाय।

स्वामी हरिदासजी के वंशधरों की परम्परा के अनुसार श्री बिहारिनदासजी गोस्वामी जगन्नाथजी के प्रपौत्र थे। उनके पिता गोस्वामी गोपीनाथजी थे। इससे इनका सारस्वत ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। इनका मूल नाम हरिराय था। विरक्त होकर ये बिहारिनदास नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका एक ही हाथ था; यह तथ्य श्री बिहारिनदासजी की वाणी के अन्तःसाक्ष्य से भी स्पष्ट है—

काहू कैं बल भजन कौ, काहू शिष्य पचास।
एक हथिया हरिदास कौ, नाम बिहारिनदास॥

श्री बिहारिनदासजी की रचनाओं से अकबर से साक्षात्कार का भी संकेत मिलता है। उन्होंने सम्राट् अकबर का अपनी कई साखियों में उल्लेख किया है। स्वामी हरिदासजी के दर्शन के लिए अकबर वृन्दावन आया था। संभव है, इसलिए उसके प्रति इनका स्नेह हो। हमारी दृष्टि में अकबर सम्बन्धी उल्लेखों को देखते हुए श्री बिहारिनदासजी का जन्म सं० १५९० एवं निकुञ्जगमन १६७० वि० मानना ही उचित प्रतीत होता है।

श्री बिहारिनदेवजी सदा रस-माधुरी में छके रहते थे। एक बार ये श्री यमुनाजी के तट पर प्रातःकाल ही जा बैठे। श्री श्याम-श्यामा की नित्य-विहार माधुरी इनके नेत्रों के समक्ष प्रकट हो गई और उन्हें देखकर ये गाने लगे—

बिहरत लाल बिहारिनि दोऊ श्री जमुना के तीरे।

इस एक तुक के गान में ये इतने विभोर हो गये कि प्रातः से संध्या की बेला आ गई। श्री मदनमोहनजी के मंदिर के एक पुजारी त्रिकाल यमुना-स्नान करते थे। उन्हें इस दृश्य को देखकर आश्चर्य हुआ और उन्होंने अंत में श्री बिहारिनदेवजी से कहा—"महाराज, संध्या हो गई है।" श्री बिहारिनदेवजी बोले "अच्छा, तुमने तीन बार स्नान कर लिया, संध्या भी हो गई।" श्री बिहारिनदेवजी की साखी में इस घटना का कथन इस प्रकार हुआ है—

उठि बैठ्यौ हो भोर ही, एक तान गुन-गान।
तुम्हें आवत जात अथै गयौ, तीन काल अस्नान॥

एक अन्य घटना के अनुसार श्री बिहारिनदेवजी एक बार देहातीत अवस्था में बैठे लीलाराज्य दर्शन में तल्लीन थे। तभी भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ उधर से निकले। सखाओं के आग्रह पर भगवान् श्री कृष्ण ने श्री बिहारिनदेवजी से कहा—

"बाबा ! आँखें खोल।" श्री विहारिनदेवजी जब बाह्य जगत् में आये तो बोले 'आपके साथ हमारे स्वामी हरिदासजी हैं या नहीं, यदि नहीं हैं तो आप ब्रजवासियों के पास जाकर उन्हीं के चित्त हरो, उन्हीं का माखन चुराओ। मैं तो स्वामी हरिदासजी के बिना हरि कौन है, कहाँ के हैं, यह भी नहीं जानता–

चित्त हरौ सब वित्त हरौ,
नवनीत हरौ ब्रजजानि जहाँ कौं।

• • •

हौं तो और स्वरूप पिछानौ नहीं,
हरिदास बिना हरि को है कहाँ कौ॥

श्री बिहारिनदासजी सरस-माधुरी में छके देह-विस्मृति की अवस्था में रहते थे। उस दशा में इन्हें भोजन-स्नान की भी सुधि नहीं रहती थी, भोजन करते समय भी "कर ते कौर गिरै" की दशा हो जाती थी।

श्री बिहारिनदासजी की वाणी विपुल मात्रा में उपलब्ध है। इन्होंने हरिदासी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विस्तार से कथन किया है। इनमें अनन्यता चरम कोटि की है। महामधुर रस के अतिरिक्त ये किसी अन्य रस का स्पर्श भी नहीं करना चाहते थे। ये नित्य-निकुञ्ज-लीलाओं के अतिरिक्त किसी अन्य लीला का गान नहीं करते थे। ये लिखते हैं कि श्रीकृष्ण का चरित्र द्वारका, मथुरा तथा ब्रजलीला इन तीनों दृष्टियों से प्रसिद्ध है। जहाँ जैसा रस है, वहाँ वैसी ही वयस धारण कर वे भक्तों को सुख देते हैं, परन्तु व्रज के गाय, ग्वाल, गोप-गोपीजन का व्यवहार नित्य-विहार की उपासना से भिन्न है। इन सबसे नित्य विहार दूर है, छिपा हुआ है और दुर्लभ है। ये लिखते हैं कि आप देव-पितरों को लिये फिरते हैं, नित्यविहार में तो राम-कृष्ण का भी प्रवेश नहीं है। यद्यपि श्री राधाकृष्ण व्रज में बसते हैं, परन्तु नित्यविहार की प्राप्ति के बिना वे भी बिलबिलाते हैं—

उमा, रमा को, सची, सरसुती, ब्रज-जुवती ललचाहिं।
देव पितर लीने फिरौ, ह्याँ राम-कृष्ण न समाहिं॥

• • •

यद्यपि राधाकृष्ण बसत ब्रज,
बिनु बिहार बिललात॥

इन्होंने अपनी रचनाओं में नित्यविहार को व्रजलीलाओं से भिन्न रूप में साग्रह उपस्थित कर उपास्य रस की विशिष्टता का प्रतिपादन किया है। इनके नित्यकिशोर अजन्मा हैं, जो दो तन में रहते हुए भी एक प्राण हैं—

मेरे नित्य किशोर अजन्मा।
बिहरत एक प्रान द्वै तन मा॥
कुंज-कुटी क्रीड़त छिन-छिन मा।
संतत बास बसत वन-धन मा॥

ये राधा-तत्त्व के भेद को भी उसी रूप में प्रकट करते हैं—

एक राधा व्रज में बसैं, एक राधा रास-बिलास।
तीजी राधा कुंज में, दुलरावैं हरिदास॥

श्री बिहारिनदेवजी का नित्यविहार उज्ज्वल रस की एक ऐसी अखण्ड और अनिर्वचनीय धारा है, जिस पर न तो पुराणों की छाया है, न लोक-वेद का प्रभाव। कर्म, ज्ञान, भक्ति, मुक्ति, बैकुंठ आदि की तो बात ही क्या, ब्रज की रीति भी इधर की ही बात है। ब्रज का रास-रस भी उसके समान नहीं है—

नित्यविहार अधार दुर्‌यौ,
मिहरी के महल टहल में आइबौ।
कर्म, ज्ञान, भक्ति, मुक्ति वैकुंठ में,
बैठि कहाँ लगि धाइबौ॥

यहै सुनि लै ब्रज रीति उरें,
रस-रीति सौं प्रीति अनन्य कहाइबौ।
बिषयानि के लालच पै न सरै,
श्री बिहारिनदास उदास ह्वै गाइबौ॥

नित्यविहार में सहचरियों का ही प्रवेश है, किसी अन्य का नहीं। ये सखियाँ श्यामा-श्याम को लाड़-लड़ाती हैं। उनके श्वास के संकेत को समझ कर उसी स्वर में बोलती हैं और सूक्ष्म प्रेम का प्रकाश करती हैं। यह प्रेमलीला इतनी उज्ज्वल है कि पवित्रता को भी पवित्र करती है।

अपनी शृंगाररस की रचनाओं में बिहारिनदास जी ने प्रिया-प्रियतम का केलि-वर्णन किया है। इस दिव्य वाणी में उच्चकोटि के रस-सिद्धान्त अनुस्यूत हैं। अत्यधिक निकटता होने पर शृङ्गार में भूषणों की क्या स्थिति होती है, अवलोकन करें—

बुरौ सिंगार बिहार में, भूषन दूषन जानि।
श्री बिहारिनदास सेवत सुखै, मन कौ मरम पिछानि॥

• • •

स्यामा स्याम सुकुंवार अंग-अंग अलंकार,
सबही की सोभा सब सोभा वारि डारियै।
जो न पहिर्‌यौ सुहाइ, ताहि पहिरै बलाइ,
पहिरि जि बहुरि उतारि तृसकारियै॥

इनकौ भजन मन-रंजन सजन मिलैं,
अंजन-मंजन सखी सोऊ न सँभारियै।
श्री बिहारिनदास यौं कहति सुख सार,
बिहार में सिंगार भार काहे कौं सिंगारियै॥

इनका एक लीला संबंधी पद प्रस्तुत है—

नैंननि सों नैंन जोरैं, इत-उत मुख न मोरैं।
मंद-मंद हाँसि, मन हुलासि, स्रवत सुधा,
मानौं द्वै ससि मिले चार चकोर के भोरैं॥

जिहीं-जिहीं अंग परनि परैं, तित ही तित हरैं-हरैं,
ढिग अंग-अंग अनंगनि रोरैं।
श्री बिहारिनदासि प्रवीन प्रिया यौं बिहरैं,
भरि भुज सनेह निहोरैं॥

श० वि० गो०

बिहारीलाल

कविवर बिहारीलाल का जन्म माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण कुल में ग्वालियर के समीप बसुआ गोविन्दपुर नामक गाँव में सं० १६६० के लगभग हुआ था। इनका बाल्यकाल बुन्देलखण्ड में बीता, किन्तु यौवनावस्था में ये अपनी ससुराल (मथुरा) में चले आये। तत्कालीन जयपुर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह की गुणग्राहकता से आकृष्ट हो ये मथुरा से जयपुर चले गये और फिर शेष जीवन उन्हीं के आश्रय में व्यतीत किया।

प्रसिद्ध है कि जिस समय ये जयपुर पहुँचे, महाराज जयसिंह अपनी छोटी रानी के प्रेम-पाश में ऐसे निबद्ध थे कि राज्यव्यवस्था विषयक अपने कर्तव्यों से विमुख होकर वे रात-दिन राजमहल में ही पड़े रहते थे। बिहारी को आश्रयदाता की यह विलासिता आत्मघातिनी प्रतीत हुई। सरदारों की सलाह से इन्होंने एक सच्चे हितैषी मित्र की भाँति महाराज को उद्‌बोधित करने के उद्‌देश्य से विश्वस्त सूत्रों से यह दोहा अंतःपुर में उनके पास भिजवाया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहि विकास इहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

काव्यमर्मज्ञ जयसिंह इसका अर्थ हृदयंगम कर सचेत हो गये और सर्वप्रकारेण दत्त-चित्त हो राज-काज संपादन करने लगे। इसके साथ ही अपने मार्गदर्शक और आश्रित कवि बिहारीलाल को अपूर्व सम्मान देकर उन्होंने इसी प्रकार के दोहे लिखकर उन्हें सुनाने का आदेश दिया। कहते हैं कि इसका क्रम चलने पर बिहारीलाल को प्रति दोहा एक अशर्फी अर्पित किया जाने लगा। इस प्रकार ७०० दोहों की रचना हुई। 'बिहारी-सतसई' उन्हीं का संकलित रूप है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए बिहारी स्वयं लिखते हैं—

हुकुम पाइ जयसाहि को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक संवाद॥

बिहारी स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। रीतिकाल के अन्य अनेक कवियों की भाँति आश्रयदाता की

चाटुकारिता कर जीविकोपार्जन करना इनका जीवन-लक्ष्य नहीं था। यह बात महाराज जयसिंह के पास भेजे गये इनके प्रथम दोहे में भी लक्षित की जा सकती है। 'सतसई' के सात सौ दोहों में जयसिंह के विषय में केवल तीन-चार दोहे लिखना और उनमें भी उनकी प्रशंसा की अपेक्षा वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजनीतिक प्रवृत्तियों का उल्लेख और कहीं-कहीं उनकी गति-विधियों की तीखी आलोचना करना इनके खरे तथा बेलौस स्वभाव का परिचायक है। मुगल शासकों के इशारे पर निरपराध स्वधर्मी बन्धुओं पर चढ़ाई कर हत्या, लूट तथा राज्य विस्तार द्वारा विधर्मी शासक को प्रसन्न करने की उनकी नीति की धज्जियाँ उड़ाते हुए इन्होंने निम्नांकित मर्मस्पर्शी दोहा लिखा था—

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु बिहंग बिचारि।
बाज पराये पानि पर, तू पंछीन न मारि॥

दरबारी कवि होते हुए भी बिहारी लोभी नहीं थे। इसीलिए ये आजीवन एक ही खूँटे में बँधे रहे, दर-दर की खाक नहीं छानी, अपने समकालीन अन्य कवियों की भाँति दरबारों का चक्कर लगाकर धनोपार्जन का प्रयास नहीं किया। इनके कुछ दोहे इसके प्रमाण रूप में उद्धृत किये जा सकते हैं—

तौ अनेक अवगुन भरी, चाहै याहि बलाय।
जौ पति संपति हू बिना, जदुपति राखे जाय॥

घर घर डोलत दीन ह्वै, दर दर माँगत जाय।
दिये लोभ चसमा चखन, लघु पुनि बड़ो लखाय॥

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाइ।
वा खाए बौराय जग, या पाए बौराइ॥

बिहारी का आविर्भाव भक्तिकाल के अंतिम चरण में हुआ था, इसलिए इन पर उस युग के संस्कारों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। संसार की नश्वरता, विषयवासनाओं की कलुषितता, दार्शनिक समन्वय, बाह्याचार का खंडन, दैन्य भावना, आराध्य को प्रेमपूर्ण उपालम्भ, सख्य तथा दास्य भाव व्यंजक रसपूर्ण उक्तियाँ, भवसागर से पार उतारने के लिए आर्तस्वरों में निवेदन, आराध्य कृष्ण तथा आराध्या राधा के रूप एवं लीलाओं के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति, सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण, समत्वबुद्धि आदि उपादानों की योजना द्वारा 'बिहारी-सतसई' में भक्ति भाव की गंभीर अभिव्यक्ति हुई है। इनके आधार पर तथा 'सतसई' में राधा-परत्व की झलक पाकर कुछ विद्वान् बिहारी को राधावल्लभ-सम्प्रदाय का अनुयायी मानते हैं। सरस्वती के इस वरदपुत्र ने शृंगार, नीति और भक्ति की त्रिवेणी की सृष्टि द्वारा 'सतसई' में जिस तीर्थराज की स्थापना की है उसका 'दरस-परस-मज्जन और पान' अनन्तकाल तक काव्यरसिकों का अनुरंजन तथा संस्कार-मार्जन करता रहेगा।

नीचे इनकी भक्ति-भावना के व्यंजक कुछ दोहे दिये जाते हैं—

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाइँ परे, स्याम हरित दुति होय॥

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल॥

नित प्रति एकत ही रहत, बैस, बरन, मन एक।
चहियत जुगल किशोर लखि, लोचन युगल अनेक॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै स्याम रंग, त्यों त्यों उज्ज्वल होय॥

जगत जनायौ जिहि सकल, सो हरि जान्यौ नाहिं।
जिमि आँखिन सब देखियत, आँखि न देखी जाहिं।
गिरि ते ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार।
सोई पुनि पसु नरन को, प्रेम पयोधि पगार॥

मोहन मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोय।
बसति सुचित अंतर तऊ, प्रतिबिम्बित जग होय॥

सखि, सोहति गोपाल के, उर गुंजन की माल।
बाहर लसति मनों हियें, दावानल की ज्वाल॥

मोर मुकुट की चन्द्रिकनि, यौं राजत नँद-नंद।
मनु ससि-सेखर के अकस, किय सेखर सत चंद ॥

नाचि अचानक हूँ उठे, बिन पावस बन मोर।
जानति हौं नंदित करी, इहि दिसि नंद-किसोर ॥

जहाँ-जहाँ ठाढ़ो लख्यौ, स्याम सुभग सिरमौर।
उनहूँ बिन छिन गहि रहत, दृगनि अजौं वह ठौर ॥

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज मग, पग-पग होत प्रयाग ॥

प्रलय-करन बरसन लगे, जुरि जलधर इक साथ।
सुरपति गर्व हर्‌यौ हरषि, गिरिधर गिरि धर हाथ ॥

सोरठा

हो समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचों काँच-सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ ॥

दोहा

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राचै राम ॥

तौ लगि या मन-सदन में, हरि आवैं किंहि वाट।
विकट जरे जो लगि निपट, खुलैं न कपट-कपाट ॥

भजन कह्यो तासों भज्यौ, भज्यौ न एको बार।
दूर भजन जासौं कह्यौ, सो तूं भज्यौ गँवार ॥

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निरगुन निकट हीं, चंग-रंगगोपाल ॥

पतवारी माला पकरि, और न आन उपाव।
तरि संसार-पयोधि को, हरि-नामहिं करि नाव ॥

मन मोहनसों मोंह करि, तूं घनश्याम निहारि।
कुंजविहारी सों विहरि, गिरधारी उरधारि ॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
मनौं तज्यौ तारन-विरद, बारक बारन तारि ॥

मोर मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
इह बानक मो मन बसौ, सदा विहारी लाल ॥

हरि कीजत बिनती यहै, तुमसों बार हजार।
जिहि तिहि भाँति डर्‌यो रहौं, पर्‌यौ रहौं दरबार ॥

बिहारीलाल भट्ट

कविराज पं० बिहारीलालजी ब्रह्मभट्ट 'कवि भूषण' का जन्म वीरभूमि बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत विजावर राज्य की राजधानी विजावर में सं० १९४६ वि० आश्विन शुक्ला विजयादशमी के दिन ब्राह्म मुहूर्त में हुआ था। इनके पिता बसंतरामजी काव्य-प्रेमी, साहित्य-रसिक, सरल स्वभाव और सत्य-प्रिय थे। इनके पितामह श्री दलीप कवि को बुंदेलखण्ड के दरबार में अत्यधिक सम्मान प्राप्त था।

इनकी बाल्यावस्था इनके पितामह की देखरेख में व्यतीत हुई और उन्हीं की देख-रेख में प्रारम्भिक शिक्षा सम्पन्न हुई। इसके पश्चात् इन्हें विजावर राज्य के मुसाहब श्री हनुमत प्रसाद जैसे विद्वान् द्वारा शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यथार्थ में वही इनके काव्य-गुरु थे। पितामह की प्रेरणा से इनके हृदय में कविता का बीज अंकुरित हो गया। प्रारम्भिक शिक्षा के साथ ही साथ इन्होंने काव्य की शिक्षा प्राप्त की और दस वर्ष की आयु से काव्य-रचना करने लगे। इसी समय इन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। २६ वर्ष की आयु में ये अपने पिता के साथ मैहर की शारदा देवी के दर्शनार्थ गये, वहाँ देवी के सामने काव्य-रचना की प्रतिभा की प्राप्ति के लिए विनय की। भगवती की स्तुति में दो दिन में इन्होंने एक 'विनय-पच्चीसी' की रचना की, जिसमें २५ कवित्त हैं। उदाहरणार्थ एक कवित्त प्रस्तुत है—

जै जै चंड अखण्ड-ज्योति-धरणी जय सर्व संरक्षिणी।
जै जै शुद्ध स्वरूपिणी अकथनी जै जै जगत व्यापिनी ॥
जै जै निर्गुण नित्य शक्ति सुखदा जै लोकत्रय कारिणी।
जै सत्-चित् आनन्द रूप जननी जै वेद-विस्तारिणी।

विजयादशमी के दिन विजावर-राज्य के शासक भारत धर्मेन्दु सवाई महाराजा सावंतसिंह जू देव बहादुर के दरबार में नवयुवक कवि ने अपनी काव्य-रचना सुनायी। महाराज ने कविता की प्रशंसा की

और काव्यशास्त्र निष्णात विद्वान् मुसाहब श्री हनुमत प्रसादजी को इनका काव्य गुरु नियुक्त किया। इनकी काव्य रचना से प्रभावित होकर विजावर नरेश इन्हें बारंबार पुरस्कृत करते रहे। इनकी उस समय की स्फुट रचनायें असावधानी से विलुप्त हो गयीं।

विजावर नरेश ने इनको अपना दरबारी कवि बनाया तथा जीविका का समुचित प्रबन्ध किया। उनके अतिरिक्त ये अन्य कई राजाओं से समादृत होते रहे। उनमें प्रमुख हैं—ओरछा नरेश, पन्ना नरेश, चरखारी नरेश, अजयगढ़ नरेश, छतरपुर नरेश और धौलपुर नरेश। उनके दरबारों में कविराज ने अपनी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार दिखाकर सम्मान तथा पुरस्कार प्राप्त किया।

उस समय अनेक स्थानों पर आयोजित कवि सम्मेलनों और कवि समाजों में इनको पदक तथा पुरस्कार प्राप्त हुये। 'मिश्रबन्धु विनोद' में बिहारीलाल ब्रह्मभट्ट के निम्नलिखित ग्रंथों का उल्लेख मिलता है—

१. वैराग्य-बावनी, २. पंचानन-चरित्र, ३. मेघदूत का अनुवाद, ४. शृंगार-चूड़ामणि, ५. बिरह-बिलाप, ६. उल्फत-अपील, ७. साहित्य-सागर (रचना सं० १९८१)।

'साहित्य-सागर' नामक रीतिग्रंथ लिखने की आज्ञा विजावर नरेश सर सावंतसिंह जू देव ने दी थी। इन्होंने तीन वर्षों के अथक परिश्रम से लगभग दो हजार से अधिक छंदों में यह रीतिग्रंथ प्रस्तुत किया था। यह पन्द्रह तरंगों में पूरा हुआ है। प्रथम तरंग में पंचदेव का स्तवन करके कवि ने संक्षेप में राजवंश का वर्णन किया है। द्वितीय तरंग में 'काव्य प्रयोजन', तृतीय में पिंगल, चतुर्थ तरंग में वर्णवृत्त छंद और पंचम तरंग में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का वर्णन है, षष्ठ एवं सप्तम में शृंगार रस, अष्टम तरंग में शृंगार के अतिरिक्त अन्य आठ रसों का वर्णन, नवम तरंग में गुण वर्णन, दशम तरंग में शब्दालंकारों का निरूपण, एकादश तरंग में अर्थालंकार, द्वादश तरंग में उभयालंकार, त्रयोदश तरंग में आध्यात्मिक नायिका भेद-वर्णन, चतुर्दश तरंग में निर्वाण का निरूपण तथा पंचदश तरंग में दान प्रकरण है। महाराजा सावंतसिंह जू देव ने कविराज बिहारीलाल भट्ट को 'साहित्य-सागर' ग्रंथ निर्माण करने पर जो विपुल मान-सम्मान और धन दिया था, कवि ने उसका वर्णन बड़ी ओजस्विनी भाषा में किया है। 'साहित्य-सागर' की भाषा में बुंदेलखंडी और ब्रजभाषा का सम्मिश्रण है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्राकृत के शब्दों के साथ-साथ पाया जाता है।

प्रत्येक तरंग के अन्त में बिहारीलाल ने लिखा है 'स्वस्ति श्रीमन्नमहाराजाधिराज काशीश्वर ग्रह निवार पंचम बघेलवंशावतंस श्रीमतसवाई महाराजा साहब भारत-धर्मेन्दु सर सावंतसिंह जू देव बहादुर के०सी०आई०ई० विजावरनरेशस्य कृपापात्र ब्रह्मभट्ट वंशोद्भव कवि भूषण कविराज पं० बिहारीलाल विरचिते साहित्यसागरे देवस्तुति राजवंश ग्रन्थ हेतु प्रकरण वर्णनों नाम प्रथमस्तरंग।" इस ग्रन्थ का प्रकाशन सं० १९९४ में हुआ था। बिहारीलाल भट्ट ने लिखा है—

हौं, अनुसासन पाय हुजूर को,
काव्य कौ ये नव ग्रन्थ बनायो।
आपुन ध्यान लगाय सुन्यो,
अरु प्रेम हिये भरि हौं हूँ सुनायो।
सादर सो अपनाइए याहि,
कवी निज रावरों लेकर आयो,
आपने जो गुन दीनो प्रभु,
वह आपनो आपको आय दिखायो।

इस ग्रंथ की रचना में जगद्विनोद, रसराज, रूपविलास, कविप्रिया, छंदार्णव, छंद-प्रभाकर, भाषाभूषण, भारती-भूषण, द्वितीय भारती भूषण, अलंकार मंजूषा, संस्कृत साहित्य दर्पण, कुवलयानंद, मार्कंडेय-

कृष्ण, मेघदूत, ऋतु संहार आदि ग्रंथों से सहायता ली गई हैं।

'साहित्य-सागर' में 'श्री राधाकृष्ण-पंचक' भी मिलता है। इसमें राधाकृष्ण से सम्बन्धित पद हैं, जिनसे इनकी कृष्णासक्ति व्यंजित होती है। उदाहरणार्थ कुछ छंद प्रस्तुत हैं—

जय ब्रजेश ब्रजचंद, जयति त्रैलोक्य-लुभावन।
जय परिपूरण परम पुरुष पद्मा-पति पावन॥

जय भवपति भगवंत भक्त-भावन भुवनेश।
जय अनंत अज अमर, अकथ अच्युत अखिलेश॥

कह कवि 'विहारि' करुणालयं कलि कंदन केशी-शमन।
जय रमानाथ राजिवनयन, रंग-रसिक राधा रमन॥

चन्द्रावलि, चंपक, चित्रकला,
ललिता सब साज सम्हार रही।
ब्रजराज माधुरी रंग छकी,
राधा मुख चन्द्र निहार रही।
यह युगल प्रिया प्रीतम 'विहार',
छवि देख-देख आनन्द लहौ।
गोविन्द कृष्ण गोविन्द कृष्ण,
गोविन्द कृष्ण, गोविन्द कहौ॥

एक अन्य छन्द में कृष्ण की रूपमाधुरी पर मुग्ध गोपी की मनोदशा का अत्यन्त संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है—

जब से सनेह रीति तब से गई री टूट,
जब से बिलोकी छबि मुकुट बरोर की।
कहत 'बिहारी' आठ जाम नाम रट लागी,
कौन को खबर काम धाम धन ओर की॥

चारों ओर चरचा सुहावै वही स्यामले की,
आँखिन में झूलै वही मूरति किसोर की।
बासी ब्रज केरे करै कैसी हँसी मेरी, हौं तो,
एरी सौंह तेरी, भई चेरी चितचोर की।

रा० प्र० कृ०

बिहारीवल्लभ

कालिंजर-निवासी बिहारीवल्लभ श्री भगवत रसिक के शिष्य थे, जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी कृतियों—'बानी' और 'भगवरतसिकजी की प्रसंसा' में किया है। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के खोज-विवरण में कवि को सं० १६३२ में वर्तमान बताया गया है, जो सही नहीं है क्योंकि इनके गुरु भगवत-रसिकजी का जन्म-काल ही सं० १७९५ अनुमित किया गया है। अनुमान के आधार पर बिहारी-वल्लभ का सं० १८३५–४० में वर्तमान रहना प्रतीत होता है।

'बिहारीवल्लभजू की बानी' में 'सखीसुखसार सिद्धान्त' के ३६ और 'होरी-वर्णन' के २४ छन्द हैं। मुझे इनकी एक अन्य रचना—'भगवतरसिकजी की प्रसंसा' की हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। इसमें भक्त-कवि ने दोहा, सोरठा, चौबोला, कुण्डलिया, सवैया, कवित्त और झूलना छन्दों में गुरु की प्रशंसा की है। काव्य की रचना परम्परा-निर्वाह के लिए जान पड़ती है। एक उदाहरण उद्धृत है—

नैन सैन वर बैन मैन मन मोद बढ़ावत।
अपनी अपनी और सुघर चूड़ामन गावत॥

हाव भाव मनहार करत पिय तब श्रम मेटैं।
भये मनोरथ सिद्ध उमँगि हँसि भुज भरि भेंटैं॥

न० प्र० गु०

बीठलविपुलदेव 'रससागर'

रसिकशेखर श्री स्वामी हरिदासजी महाराज के प्रथम और प्रधान शिष्य श्री बीठलविपुलदेवजी ही थे। जिस प्रकार श्री नाभाजी ने स्वामी हरिदास-

जी की प्रसिद्धि "रसिक" छाप से बताई है वैसे ही ये रसिकों के बीच "रस-सागर" नाम से प्रसिद्ध थे। अष्टाचार्यों में इनका प्रथम स्थान है।

'निजमत-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ के अनुसार श्री बीठलविपुलजी के पिता का नाम गुरुजन था। ये सनाढ्य ब्राह्मण और राजपुर के निवासी थे। उक्त ग्रन्थ के अनुसार ये श्री स्वामी हरिदासजी के ममेरे भाई थे और उनसे आयु में पाँच वर्ष बड़े थे। तदनुसार इनका जन्म सं० १५३२ वि० में हुआ था और एक सौ वर्ष की आयु व्यतीत कर सं० १६३२ की कार्तिक कृष्णा सप्तमी को इनका निकुञ्ज-गमन हुआ।

श्री स्वामी हरिदासजी के प्रसंग में यह लिखा जा चुका है कि 'निजमतसिद्धान्त' एक अप्रामाणिक रचना है, जिसमें तिथि-संवत् और घटनाएँ इतिहास के विरुद्ध तो हैं हीं, स्वयं उक्त ग्रन्थ में परस्पर इतने अन्तर्विरोध हैं कि वह उतने से ही अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है। डॉ० गोपालदत्त ने "स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य" नामक अपने शोध-प्रबंध में स्वामी हरिदासजी के संदर्भ में लिखा है कि राजपुर में ऐसा सनाढ्य वंश कभी रहा ही नहीं, जिसका श्री स्वामी हरिदासजी से कोई दूर का भी सम्बन्ध माना जा सके। ऐसी स्थिति में श्री बीठलविपुलदेव को स्वामी हरिदासजी का ममेरा भाई बताकर उन्हें राजपुर का मानना कोरी कल्पना ही है। जहाँ तक 'निजमत-सिद्धान्त' में दिये गये विवरणों का सम्बन्ध है, वे भी असंगत हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार श्री बीठलविपुलजी ३० वर्ष गृह में रहे और ७० वर्ष विरक्त होकर वृन्दावन में बिताए। परन्तु इसी ग्रन्थ में मध्यखण्ड के पृष्ठ १५९ पर लिखा गया है कि इनकी कुल आयु एक सौ तीस वर्ष की थी—

इक शत तीश वर्ष तनु धार्‌यौ।

इसके अनुसार बीठलविपुलजी की दीक्षा-तिथि सं० १५५० वि० है—**संवत् पंद्रासै अधिक ता ऊपर पंचास**। इसी ग्रंथ में अन्यत्र स्वामी हरिदासजी के विरक्त होकर वृन्दावन आने का समय १५६२ वि० दिया गया है। उसी के पश्चात् उन्होंने अपने शिष्य बनाये होंगे। अतः ये सभी तिथियाँ अशुद्ध हैं।

श्री बीठलविपुलदेवजी के संबंध में दूसरी पुष्ट परम्परा यह है कि वे श्रीस्वामी हरिदासजी के सबसे लघु भ्राता श्री गोविन्ददेवजी के ज्येष्ठ पुत्र थे। अतः ये सारस्वत ब्राह्मण थे और इनका जन्म भी हरिदासपुर में ही हुआ था, जहाँ स्वामी हरिदासजी का आविर्भाव हुआ था। आयु में इनके स्वामी हरिदासजी से बड़े होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

श्री बीठलविपुलदेव के एक महान् रसिक होने में दो मत नहीं हैं। ये निधिवन में रहकर अपने गुरु श्री स्वामी हरिदासजी के अनुसार उपासना में लीन रहते थे। अपने गुरु के ये इतने अनन्य भक्त थे कि स्वामी हरिदासजी के निकुंज लीला-गमन के पश्चात् ये उनका वियोग न सह सके और उसके केवल सात दिन बाद ही ये भी निकुंज में प्रवेश कर गये। श्री नाभाजी की 'भक्त-माल' के टीकाकार श्री प्रियादासजी ने लिखा है—

स्वामी हरिदास जू के दास नाम बीठल विपुल,
गुरु के वियोग दाह उपज्यौ अपार है।
रास के समाज में विराजे सब भक्तराज,
बोलि के पठाये आये आज्ञा बड़ौ भार है॥

युगलस्वरूप अवलोकि नाना नृत्य भेद,
गान तान कान सुनि रही ना संभार है।
मिल गये वाही ठौर पायौ भाव-तन और
कहैं 'रस-सागर' ताकौ यह विचार है॥

प्रियादासजी के अनुसार जब बीठलविपुलजी अपने गुरु श्री स्वामी हरिदासजी के अपार वियोग को न सह सके तो भक्तों ने रासलीला का आयोजन कर उन्हें सादर बुलाया। इससे पूर्व श्री बीठलविपुलजी ने गुरु के वियोग में खान-पान बंद कर दिया था, आँखों पर पट्टी बाँध ली थी और किसी से बोलते भी न थे। रास में आने पर उनकी पट्टी खोली गई। वहाँ प्रिया-प्रियतम के युगल स्वरूप के नृत्य-गान को देखकर ये बेसुध हो गये और वहीं शरीर त्यागकर भाव-देह से निकुञ्ज लीला में प्रवेश कर गये। अन्यत्र लिखा गया है कि रास में जब इन्होंने अपने गुरुदेव को नहीं देखा तो शरीर त्याग दिया। 'निजमत-सिद्धान्त' के अनुसार जब ये रास देखने गये तो प्रियाजी के स्वरूप बने बालक ने इनका हाथ पकड़ लिया। बीठलविपुलदेवजी ने कहा—"जब आपने यह हाथ पकड़ ही लिया है तो अब मुझे अपने साथ ही रखिये" यह कहकर उनका पंचभौतिक शरीर विलीन हो गया और वह सहचरि-स्वरूप से नित्य विहार में प्रविष्ट हो गये।

इनके शिष्य श्री बिहारिनदासजी ने लिखा है कि श्रीबीठलविपुलदेवजी ने कर्म धर्म, धन, धाम सबसे निष्काम होकर, लोक और वेद की मर्यादाओं का अतिक्रमण करके उपासना की थी। इनकी इस अद्वितीय गुरुनिष्ठा की प्रशंसा सखीजनों के मध्य हुई एवं तत्कालीन रसिक समाज में "धन्य-धन्य श्री हरिदास-वंशी" कह कर इनको प्रकीर्तित किया गया—

कर्म अरु धर्म, धन-धाम निहकाम करि,
लोक वेद-विधि विषय नाखी।
सखी मंडल मधि कहत धनि-धनि,
श्री हरिदासबंसी सब अनन्य साखी॥

निपुन अंग अहार करतार उघटत,
सबद श्रीवरु बिहारिनदास प्रेम भाखी।
रास-रवनी-रवन अंग संग नृत्य में,
जय-जय श्री बीठलविपुल सुजस-रेख राखी॥

उक्त छन्द में भी श्री बीठलविपुलदेवजी के रास में रमणीरमण प्रिया-प्रियतम के साथ एक स्वरूप हो जाने का उल्लेख है।

श्री बीठलविपुल की वाणी के कुल ४० पद प्राप्त हैं, परन्तु अपने इतने ही कृतित्व से वे एक महान् और गूढ़ वाणीकार सिद्ध होते हैं। वृन्दावन के यश का प्रकाश करते हुए उन्होंने लिखा है कि इस वन में विहार करने वाली मानिनी-प्रियाजी और मनोहर स्वेच्छा से नहीं अपितु श्रीधाम वृन्दावन के दिव्य सौंदर्य और भावना के अधीन होकर केलि करते हैं। उनकी लीलाओं के लिये यह वृन्दावन अपने लता-द्रुम के कोमल-पल्लवों और दिव्य यमुना-प्रवाह को सँजोये रहता है। नित्य वृन्दावन में विलास करने वाले इन्हीं बिहारी-बिहारिन के रस को रसना पान करना चाहती है।

इस वृन्दावनीय उपासना में श्यामा महारानी का राज्य है। श्याम उनके अधीन हैं। वृन्दावन में ये अविकल रूप में विराजमान हैं और इन्हें अन्य किसी कार्य, सृष्टि आदि के विधान से कोई मतलब नहीं है। ये दोनों प्रिया-प्रियतम इतने अभिन्न हैं जैसे मेघ और बिजली—

हमारैं माई, स्यामा जू कौ राज।
जाके अधीन सदाई साँवरौ,
या ब्रज कौ सिरताज॥

यह जोरी अविचल वृन्दावन,
नाहि आन सौं काज।
श्री बीठलविपुल बिहारिनि के बल,
दिन जलधर संग गाज॥

निकुञ्जोपासना में प्रिया-प्रियतम सम हैं, फिर भी लीला में प्रियाजी की प्रधानता है। वे अनन्त रूप-माधुर्य की अधिष्ठात्री हैं, रति की प्रदाता हैं। अतः लाल उनके समक्ष याचक हैं। श्री बीठलविपुल जी की वाणी में प्रियाजी के रूप चिंतन के अनोखे चित्र विद्यमान हैं। एक पद प्रस्तुत है—

लालहि बस करनी, मदन-मद हरनी,
मल्हकि पग-धरनी, उरज उदित री।
हेमलता की फरनी, श्रम-जल की झरनी,
निकट सुता-तरनी, बदन मुदित री।
रूप-सुधा की भरनी, मोपै क्यों आवै बरनी,
पिय टकटरनी, तृषित छुधित री।
रस-बस कैं बरनी, विपुल प्रेम-परनी,
श्री बीठलविपुल कुंज-घरनी, बिहारी
बुधित री॥

प्रियतम प्रियाजी के अधीन हैं क्योंकि वे प्रिया के रूपजल के मीन हैं। वे प्रियाजी के रस के वश में हैं और उसकी याचना दीन होकर करते हैं—

लालन तेरे ही आधीन।
सुन री सखी, हौ साँच कहति हौं,
तू जल है, ये मीन।
तेरे रस-बस स्यामसुन्दर वर,
जाचत हैं ज्यों दीन।
श्री बीठल विपुल बिनोद बिहारी,
होत मनावत लीन॥

रूप-माधुर्य, संगीत, सुरतांत-रति आदि विभिन्न केलियों के अप्रतिम वर्णनों से श्री बीठलविपुलजी की काव्य-संपदा समृद्ध है। अप्राकृत वृन्दावन की दिव्य प्रकृति के अनूठे वर्णनों के सहज छवि-भरे दृश्य इनकी वाणी के शृंगार हैं। ऐसे दो चित्र प्रस्तुत हैं—

(१)

जमुन-तट स्याम घटनि की पाँति।
हरित भूमि बन हरित सिखंडी,
डोलत अति रस-भाँति।
सुरंग चूनरी की छबि दुलहिनि,
अभरन नाना भाँति।
श्री बीठल बिपुल बिनोद बिहारी सौं,
मिलि बिलसत किलकांति॥

(२)

नीके द्रुम फूले, फूल, सुभग कालिंदी-कूल,
इन्द्र-धनुष राजैं स्याम घटनि में।

नीके गृह-लता-कुंज, नीकी आली, अलि गुंज,
नीकौ राग रमि रह्यो, पिकनि की रटनि में।
नीकी गति मंद-मंद, बिहारी आनंद कंद,
नीकौ भेद बन्यौ अरुन पीत पटनि में।
श्री बीठल बिपुल रंग, ललिता के फूल अंग,
मिले तैं देखौंगी नैन, नीकी बिधि छटनि में॥

बीठलविपुलजी का काव्य सहज अलंकृत, प्रयास-हीन, परन्तु अद्भुत प्रभावकारक है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

प्यारी तेरे नैननि पर तृन टूटत।
मानौं कुंद कली पर भौंरा,
हित-अमृत रस घूंटत॥
कहा री कहौं इन बान बिसेखें,
इत लागत उत फूटत।
श्री बीठल बिपुल बिनोद बिहारिनि,
पिय कौ सर्बसु लूटत॥

बीठलविपुलजी ने स्वामी हरिदासजी के उपासना-आदर्शों को लीला-छबियों में अंकित किया है। इनकी वाणी में सर्वत्र लालित्य एवं सरसता है।

श० बि० गो०

बीरबल (ब्रह्म)

सम्राट् अकबर के प्रसिद्ध दरबारी तथा सहचर राजा बीरबल का जन्म सं० १५८५ में हुआ था। इनके जन्म स्थान को लेकर दो-तीन स्थानों का नाम लिया जाता है। ढूँढार के निवासी इनका जन्म-स्थान अजमेर का एक गाँव बताते हैं। मारवाड़ के लोग इन्हें मकराना से सम्बन्धित मानते हैं। अब्दुल कादिर बदायूँनी ने इनकी जन्म भूमि तिकवाँपुर लिखी है। इसी मत के समर्थन में कवि भूषण की निम्न पंक्ति उद्धृत की जाती है—

द्विज कन्नौज कुल कस्यपी रतनाकर सुत धीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा तरनि तनूजा तीर॥
बीर बीरबल से जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ विश्वेश्वर तद्रूप॥

अबुलफ़ज़ल ने अपनी 'आइने अकबरी' में इन्हें कानपुर जिले के 'अकबरपुर-बीरबल' नामक स्थान का निवासी बताया है। यह स्थान काल्पी से एक दिन की यात्रा की दूरी पर स्थित है। पहले यह स्थान काल्पी सरकार के अन्तर्गत था। वस्तुतः काल्पी सरकार को काँट-छाँट कर बना, हम्मीरपुर और जालौन कानपुर जिले के अन्तर्गत लिया गया। हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने कविवर भूषण की उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर इनका जन्म-स्थान तिकवाँपुर (त्रिविक्रमपुर) माना है। यह स्थान काल्पी सरकार की पुरानी सीमा के घेरे में कानपुर जिले के अन्तर्गत ही आता है। बीरबल की कन्नौजी मिश्रित ब्रजभाषा भी इन्हें तिकवाँपुर से सम्बद्ध करती है। इन तथ्यों के आधार पर बीरबल की जन्मभूमि तिकवाँपुर मानी जा सकती है। बीरबल द्वारा बसाया गया अकबरपुर-बीरबल नामक गाँव तिकवाँपुर से लगभग दो मील की दूरी पर है। ये जाति के ब्रह्म भट्ट थे। वैसे कई विद्वानों व इतिहासकारों ने इन्हें ब्राह्मण जाति का माना है। ब्राह्मणों में भी किसी ने इन्हे कनौजिया दुबे माना है, तो किसी ने इन्हें माथुर चतुर्वेदी। मारवाड़ के लोग इन्हें मकराने का ब्राह्मण मानते हैं और बुन्देलखण्ड के लोग इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण कहते हैं। कविवर बीरबल का निम्न छन्द भी इन्हें ब्राह्मण ही सिद्ध करता है—

नवनीत लिये निरखें कर सों
नव नीरज सी अँखिया जुग राती।
नव पल्लव से फरके अधरा
नव कुन्दकली मुख में मृदु ढाती॥

नूतन श्याम तमाल सखी सुलखे
छवि होंति हिए ते नहाती।
मोहन मूरति नन्द लला की
बलाइ लगो 'द्विज' ब्रह्म की छाती॥

किन्तु ऐतिहासिक ग्रन्थों में बीरबल भट्ट जाति के बताए गए हैं। बीरबल को भट्ट जाति के बताने वाले ग्रंथ हैं—मुहम्मद हुसेन आजाद कृत 'दरबारे-अकबरी', अबुलफ़ज़ल कृत 'आइने-अकबरी', मआसिरुल उमरा और मिफ़ताहुल तवारीख़ नामक फारसी भाषा के ग्रंथ तथा ब्रह्मभट्ट कुल दिवाकर, ब्रह्मभट्ट विजय आदि हिंदी समाचार-पत्र तथा ग्रंथ।

भट्ट ब्राह्मण जाति के ही अन्तर्गत आते हैं। अतः वे 'ब्रह्मभट्ट' कहलाते हैं। सम्भव है इसीलिए इन्होंने 'ब्रह्मभट्ट' से 'भट्ट' शब्द निकाल कर अपना उपनाम 'ब्रह्म' बना लिया हो। ये कविता में अपना नाम 'ब्रह्म' ही रखते थे—

मेरे हये व्रतु संतु सो संगु
सुनाइहि भूलि हुमंगनि लाइल्यो।
तुम हूँ पुनि क्यों न करो मेरे
नाम की एक यह अपराधी रलाइल्यो॥

खोटो खरो जन चेरनि में जनु
'ब्रह्म' चले न तऊ तो चलाइल्यो।
आपुनी ओर चलाय ले मोहि
अरे 'बरबीर' हों तेरी बलाइल्यो॥

ब्रह्मभट्ट जाति आरम्भ से ही हाजिर जवाबी, हँसोड़पन और शौर्यपसन्द रही है। अतः बीरबल को ये जातीय गुण पैतृक संस्कार के रूप में प्राप्त थे।

मुगल दरबार के इतिहासकारों तथा मौखिक परंपरा में सुरक्षित साक्ष्यों के आधार पर इन विशेषताओं से सम्पन्न बीरवल का ब्रह्मभट्ट होना अधिक मान्य प्रतीत होता है।

इनका वास्तविक नाम क्या था, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। मुंशी देवी प्रसाद ने इनका वास्तविक नाम ब्रह्मदास बताया है। बदायूँनी ने अपनी मुन्तख बुत्तवारोख में इनका वास्तविक नाम ब्रह्मदत्त बताया है, किन्तु वास्तव में इनका नाम महेश दास था। 'ब्रह्म' तो इनका उपनाम था, जो इन्होंने अपनी जाति 'ब्रह्मभट्ट' के आधार पर रखा था। सम्भवतः इसी 'ब्रह्म' के आधार पर उपर्युक्त विद्वानों ने इनका नाम ब्रह्मदास या ब्रह्मदत्त बताया है। आजाद कृत 'दरबारे अकबरी' तथा अबुल फ़ज़ल कृत 'आइनेअकबरी' भी इनका नाम महेशदास ही निर्धारित करते हैं। ब्रह्मभट्ट कुल दिवाकर, ब्रह्मभट्ट विजय आदि स्रोत भी इनका नाम महेशदास तथा इनके पिता का नाम गंगादास बताते हैं। इसके अतिरिक्त प्रयाग किले के भीतर जो अशोक स्तम्भ है, उस पर खुदा हुआ है—'संवत् १६६२ शाके १४९३ मार्ग बदी ५ सोमवार गंगासुत बीरबल श्री तीरथराज प्रयाग की यात्रा सुफल लिखितं।' यह बीरबल का लेख है, जिसमे उनके पिता का नाम गंगादास, महेशदास नाम से उसी प्रकार मिलता-जुलता है जैसा कि प्रायः पिता पुत्र का हुआ करता है। अतः इन आधारों पर इनका वास्तविक नाम 'महेशदास' ही निश्चित होता है।

बीरबल अकबरी दरबार के नव-रत्नों में थे। ये प्रत्युत्पन्न-मतित्व के कारण अकबर के अत्यन्त प्रिय थे। दरबार में इनका प्रवेश कब और कैसे हुआ इस सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। एक जनश्रुति के अनुसार बालक बीरबल के माँ-बाप बहुत गरीब थे, उनका घर एक पहाड़ी के नीचे था। बीरबल पहाड़ी के ऊपर चढ़कर एक रस्सी में बाँधकर लकड़ियाँ ले आते थे। एक दिन साथ में रस्सी ले जाना भूल गए। लकड़ियाँ इकट्ठा कर लेने पर उसकी याद आई। माँ को इन्होंने आवाज दी कि कुत्ते के गले में रस्सी बाँधकर भेजो। कुत्ते को बीरबल ने पहाड़ी पर बुला लिया और लकड़ियाँ बाँधकर नीचे उतरने लगे। संयोगवश बादशाह अकबर के डेरे उसी पहाड़ी पर लगे हुए थे। उन्होंने बालक बीरबल को बुद्धि का प्रशंसा करते हुए उन्हें अपने पास बुलाया। रास्ते में नाला पड़ता था। वह लकड़ी को उसी प्रकार सिर पर रखे हुए नाले के उस पार अकबर के पास पहुँच गए। अकबर ने उनकी पीठ ठोंकी और इनाम दिया। वापस लौटते समय उसी नाले को पार करने में बालक को थोड़ी देर लगी तो अकबर ने वापस बुलाकर इसका कारण पूछा। बालक ने निवेदन किया— 'जहाँपनाह, पहले तो मैं हल्का था, किन्तु अब जब कि हुजूर ने मेरे ऊपर अपना हाथ रख दिया, तो मैं भारी पड़ गया। इसी से नाले को पार करने में अधिक समय लगा।' तब अकबर ने बालक की बुद्धिमता व चातुर्य्य से प्रवाहित होकर उसे अपने पास रख लिया। कहना न होगा कि वह बालक बीरबल ही थे। इस जनश्रुति से तो यही पता चलता है कि बहुत कम आयु में ही बीरबल अकबर के दरबार में पहुँच गए थे, किन्तु यह उचित नही प्रतीत होता क्योंकि अकबरी दरबार में जाने से पूर्व ये अन्य राज्याश्रयों में भी रह चुके थे। प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड के अनुसार बीरबल आमेर नरेश राजा भगवानदास के आश्रय में कुछ दिन रहे थे और उन्होंने ही इनको नजर रूप मे अकबर को भेंट किया था। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार काशी में विद्योपार्जन के पश्चात् बीरबल दिल्ली गए और अरबी और फारसी का ज्ञान प्राप्त किया। वहीं उनका परिचय एक हकीम से हुआ। उसने राजा टोडरमल से इनकी भेंट करा दी। राजा टोडरमल ने इन्हें चतुर व बुद्धिमान देखकर अकबर

से मिलवा दिया। अकबर ने उनसे प्रसन्न होकर अपने दरबार में रख लिया।

किन्तु यह जनश्रुति भी ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सही नहीं प्रतीत होती। ऐतिहासिक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ये अकबरी दरबार में आने से पूर्व काल्पी, कालिंजर और रीवाँ के राजाओं के आश्रय में रह चुके थे। 'अकबर नामा' से ज्ञात होता है कि सं० १६२६ में बीरबल ने राजा फजली के वकील को अकबर से मिलाया था। इससे सिद्ध होता है कि सं० १६२६ तक बीरबल अकबर के दरबार में अपनी प्रतिष्ठा बना चुके थे। इस प्रतिष्ठा को बनाने में उन्हें कुछ वर्ष अवश्य लगे होंगे। अत: सं० १६२० के आस-पास इनका अकबरी-दरबार में प्रवेश माना जा सकता है।

बीरबल के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अकबर ने पंजाब में नगरकोट के पास एक अच्छी जागीर देकर इन्हें अमीरों में शामिल कर लिया था और तब ही इन्हें 'राजा' की उपाधि भी दी। लाहौर में मिर्जा इब्राहिम के भाई मसऊद को पकड़ लाने के उपलक्ष में अकबर ने इन्हें 'मुसाहिब दानिशवर' (बुद्धिमान मन्त्री) का खिताब दिया। महेशदास का बीरबल नाम भी अकबर का ही दिया हुआ है। उन्होंने 'महेश दास' नामक व्यक्ति को 'बीरबर' की उपाधि से विभूषित किया था। किन्तु उसकी इस उपाधि ने ही उसका वास्तविक नाम आच्छन्न कर दिया। भाषा विज्ञान के विषमीकरण ध्वनि नियम के अनुसार दो समान ध्वनियाँ पास-पास नहीं आतीं। उनमें से एक का परिवर्तन हो जाता है। उसी प्रकार 'बीरबर' शब्द के दो 'र' से एक के स्थान पर 'ल' प्रचलित हो जाना स्वाभाविक है। अतः 'बीरबर' ही 'बीरबल' नाम से जाने गये। 'रलयोरभेदात्' नियमानुसार यह संस्कृत व्याकरण-सम्मत भी है।

बीरबल बहुत न्यायप्रिय व्यक्ति थे। इनके इसी गुण के आधार पर अकबर ने सं० १६४० में इन्हें न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया। इस प्रकार अकबर के दरबार में ये अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण दिनों-दिन उन्नति के पथ पर बढ़ते गये और दो हजारी पद से पाँच हजारी पद पर पहुँच गये थे—जिसकी प्राप्ति सामान्य जन के लिए सर्वथा असम्भव थी। इन्होंने अपने व्यक्तित्व से अकबर को इतना प्रभावित किया था कि वह इन्हें कभी अपने से अलग नहीं करते थे। फतेहपुर सीकरी में जहाँ उन्होंने अपना दिवाने खास बनवाया था उसके निकट ही बीरबल का महल भी बनवाया था। अकबर का कोई भी ऐसा कार्य जिसमें उनको सफलता में कठिनाई दिखाई देती थी वहाँ वे बीरबल को ही भेजते थे। रीवाँ नरेश अकबर के दरबार में उनके बुलाने पर भी कभी नहीं आये थे। उपहारादि अपने बेटों के माध्यम से ही भिजवा देते थे। इससे बादशाह उनसे अप्रसन्न थे। एक बार अकबर जिस समय इलाहाबाद में थे उस समय उन्होंने रीवाँ नरेश को दण्ड देने के लिए वहाँ अपनी फौज भेजने का निश्चय किया। रीवाँ नरेश का पुत्र तब वहीं था। उसने प्रार्थना की कि फौज न भेजकर अपना एक मुसाहिब भिजवा दें तो महाराज उपस्थित हो जायेंगे। बादशाह ने बीरबल को उपयुक्त समझकर उन्हीं को भेजा और बीरबल को अपने कार्य में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई।

अकबरी दरबार के हिन्दू सदस्यों में बीरबल ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने 'दीने-इलाही' का सदस्य बनकर अकबर को प्रोत्साहन दिया था।

अकबर को बीरबल कितने प्रिय थे इसका प्रमाण निम्न घटना से मिलता है—'सं० १६४० में एक दिन अकबर हाथियों की लड़ाई देख रहे थे। उस समय एक हाथी पागल हो गया। वह एक पैदल की ओर झपटा। किन्तु फिर उसे छोड़कर बीरबल के पीछे पड़ गया। सूँड़ में पकड़कर वह उन्हें खींचने ही वाला था कि अकबर शीघ्रतापूर्वक दौड़ते हुए बीच में आ गये जिससे बीरबल की प्राण-रक्षा हो गई। इससे पता

चलता है कि बीरबल अकबर के लिए कितने महत्वपूर्ण थे ?

बीरबल की मृत्यु एक अप्रत्याशित घटना थी। 'अकबर नामा' से ज्ञात होता है कि बीरबल ने 'स्वात' के मैदान में पहुँचकर पठानों को खूब त्रस्त किया। जो पठान बन्दी बने उन्हें बाहर भेजते गये और जिन्होंने संघर्ष किया वे मारे गये। अन्त में पठानों के कब्जे में केवल कराकुर की घाटी बच रही। इस प्रकार युद्ध के आरम्भ में इनको सफलता मिली। किन्तु हाकिम और बीरबल में पारस्परिक द्वेष था। दोनों में कूच के समय भी प्रायः रोज ही कहा-सुनी हो जाया करती थी। इस मतभेद का पता पठानों को चल गया। शाही फौज जब कराकुर घाटी के नीचे पहुँची तो एक व्यक्ति ने सूचना दी कि पठान रात में छापा मारेंगे, अतः घाटी से दिन ही दिन में निकल जाना चाहिए। उस समय दिन ढलने पर था और घाटी अभी तीन-चार मील दूरी पर थी। राजा बीरबल ने जैन खाँ को बिना सूचना दिए ही लश्कर के साथ कूच कर दिया। किन्तु यह सब बीरबल के साथ किया गया मात्र धोखा था। अभी ये घाटी में ही थे कि पठानों ने टिड्डी दल की भाँति आक्रमण कर दिया। अन्धकार के कारण बीरबल की फौज रास्ता भूल गई। भयंकर युद्ध हुआ जिसमें बीरबल भी शहीद हो गये। इस प्रकार पारस्परिक वैमनस्य के कारण इनको प्राणों की आहुति देनी पड़ी। यह घटना माघ सुदी १२ शुक्रवार, सं० १६४२ की है।

परम सुहृद बीरबल की मृत्यु का समाचार सुनकर अकबर चेतना-शून्य हो गये। उन्होंने दो दिनों तक भोजन नहीं ग्रहण किया तथा समस्त राजकीय कार्यों से अवकाश ले लिया। गुजरात के सूबेदार नवाब खानखाना को अकबर ने पत्र लिखकर उस समय की अपनी मानसिक स्थिति को व्यक्त किया है जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

'वे बड़ी खुशी के दिन थे। प्रत्येक ओर से विजय की सूचनाएँ ही आती थीं किन्तु जो लश्कर स्वात और बाजोड़ के विजय के लिए भेजा गया था, दुःखद रहा। विजय हो ही चुकी थी और पठान पहाड़ियों में छिप गये थे। इसी बीच हमारे सभा के रत्न, हमारे दरबार के स्तम्भ, हमारे चतुर मुसाहिब राजा बीरबल असार संसार से कूच कर गये। इस दुःसह दुःख से हमारी सारी खुशी किरकिरी हो गई। आशा थी कि उनका यह अन्त किसी महान् कार्य में होगा। दुनिया धोखे की टट्टी है। खुशी के पीछे शोक है और सम्पत्ति के पीछे सन्ताप। हमारे हृदय में इतना दुःख है जिसका वर्णन नहीं हो सकता।'

बीरबल की मृत्यु से दुःखी अकबर ने कुछ सोरठे लिखे जिनमें कुछ यहाँ दिए जाते हैं—

दीन जान सब दीन, एक दुरायो दुसह दुख।
सो अब हमको दीन, कछु नहिं राख्यो बीरबर॥
पीथल सूं मजलिस गई, तानसेन सूं राग।
हँसबो रमबो बोलबो, गयो बीरबर साथ॥

आचार्य केशवदास ने बीरबल की मृत्यु का वर्णन एक सवैये में इस प्रकार किया है—

पाप के पुंज पखावज केशव
शोक के शंख सुनै सुखमा में।
झूठे की झालर झांझ अलोक की
आवाझ यूथन जानी जमा में।
भेद की भोरि बड़े डर के डफ
कौतुक भो कलिके कुरमा में।
जूझत ही बलबीर बजे बहु
दारिद के दरबार दमा में।

इनकी कोई पुस्तकबद्ध रचना तो नहीं प्राप्त होती, फुटकर छन्द ही मिलते हैं किन्तु वे छन्द अत्यन्त उच्चकोटि के और सुन्दर हैं जिनसे प्रभावित होकर सम्राट् अकबर ने इन्हें 'कविराय' की उपाधि से विभूषित किया था। याज्ञिक संग्रहालय में इनके लगभग दो सौ छन्द 'ब्रह्म' उपनाम से संगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त अन्य

संग्रहालयों व प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में भी इनके छन्द पाये जाते हैं। इनके कवित्त भक्ति भाव व उपदेश समन्वित हैं। श्रीकृष्ण की बाललीला और मुरली आदि से सम्बन्धित भी अनेक छन्द मिलते हैं। बल्लभ-सम्प्रदाय के कवि छीत स्वामी इनके काव्य गुरु थे। सम्भवतः उन्हीं के प्रभाव से कृष्ण की बाललीला के प्रति इनका आकर्षण बढ़ा। वल्लभ-सम्प्रदाय में कृष्ण की बाललीला का अत्यधिक महत्व है और यही रूप उस सम्प्रदाय के भक्तों का उपास्य है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में कई ऐसी कथाएँ मिलती हैं जिनमें बीरबल का वल्लभ-सम्प्रदाय के अनेक प्रभावी व्यक्तियों से सम्पर्क स्पष्ट होता है। उक्त वार्ता ग्रंथ की 'रूप मञ्जरो' वार्ता से इनका नन्ददास से मिलने का पता चलता है। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि छीत स्वामी के दर्शनार्थ ये समय-समय पर जाया करते थे। अतः इनकी कवित्व शक्ति स्वाभाविक रूप से पुष्टिमार्गी सिद्धान्त से प्रभावित हुई। इन्होंने अपने छन्दों में इसके सिद्धान्तानुसार कृष्णलीला के अनेक आकर्षक चित्र प्रस्तुत किये हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१)

नन्द नन्द अनन्दित ह्वै जलपै
कलपै अति ही गति गातन की।
पद पानि मिले दृग आनन्द सो
छवि छीन लई जन जातन की॥

ब्रह्म भनै चुचकारि कहे
मोहि लागति है तुतरानन की।
छगना मगना अँगना बिहरो
बलि जाइ बबा इन बातनि की॥

(२)

नवनीत लिए निरखें कर सों
नव नीरज सी अँखियाँ जुगराती।
नव पल्लव से फरके अधरा
नव कुंद कली मुख में मृदु राँती।
नूतन श्याम तमाल सखी
सु लखें छवि होति हिए ते न हाती।
मोहन मूरति नन्द लला की
बलाइ लगो द्विज ब्रह्म की छाती॥

(३)

राति अराति भई सजनी सुनि
पावक ज्यों बिधि बूढ़ बढ़ी है।
कान्हि बिना करुना बिनु माई री
जानति जोन्ह सु सीस चढ़ी है॥

ब्रह्म भनै निघटै न घटीक यहो
किंधो ऊधो सो जोग पढ़ी है।

जीवन ज्यों जसु ज्यों बलि को
अलि बामन ज्यों यह रैनि बढ़ी है॥

(४)

जा मुख को सुरपत्ति फनप्पति
स्वर्ग पताल रसातल झूमै।

जा मुख को सिव साधि समाधि
अराधि हुतासन धूम में धूमें।

जा मुख को चतुरानहु भजि
ब्रह्म घटे घंटहू घट घूमै।

सो मुख नन्द की नारि जसोमति
चांपि कपोल दुहू कर चूमै।

(५)

एक समै मन मोहन जू
सजि बीन बजावत बैन रसालहिं।
चित्त गयौ चलि मोहन को
व्रिषभानु सुता उर मोतिन मालहि॥

सो छवि ब्रह्म लपेटत यों कर
लैकर सों कर कंज सनालहि।
ईस के सीस कुसुम के पुंज
मनो पहिरावत ब्यालनी ब्यालहिं॥

(६)

ज्यों नन्दलाल चितें चलिगें संग ही,
चलि चेटकु सो कुछ कीनो ।
नेकु जो देखों दिखाई जु मोहि,
सु देखे हियो हरि जू हरि लीनो ।
ब्रह्म भने तलफे दोउ नैन
विसेखहि नीर से न्यारे कै मीनो ।
गई गड़ि आँखिनि में सजनी,
बड़री अँखियानि बड़ो दुख दीनो ॥

(७)

कालि के कान्ह गए मथुरा
मनो बीत गए जुग बासर से ।
विरहागिनि काम लगाइ दई है
दसो दिस देखि वही दरसे ॥
कवि ब्रह्म भनै मोहि जानि परै
सखि श्याम घटानल सो परसे ।
विरही वर बार ही बार उठे
दृग नीर किंधौ घन धौं बरसै ॥

श्र० मि०

बीराँ

बीराँ के नाम का उल्लेख 'महिला मृदुवाणी' तथा मुंशीदेवी प्रसादजी द्वारा सम्पादित 'राजपूताना में हिन्दी ग्रन्थों की खोज' नामक खोज रिपोर्ट में मिलता है। इनके जन्म, विवाह, पति, कुल, शिक्षा, मृत्यु आदि के बारे में जानकारी प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। निश्चयपूर्वक मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि ये जोधपुर (राजस्थान) की रहने वाली थीं। इस स्थान विशेष से प्राप्त जनश्रुतियों के आधार पर इनकी मृत्यु तिथि सं० १८०० मानी जा सकती है।

इनके रचित पद जोधपुर के पुस्तकालय के एक संग्रह ग्रंथ में वहाँ के महाराजा श्री बख्तसिंहजी के साथ मिलते हैं। इसके आधार पर यह मानना कि राजा बख्तसिंह के साथ बीराँ का सम्बन्ध रहा होगा, उपयुक्त नहीं जँचता है। इनके पद रागबद्ध हैं।

इनके आराध्यदेव श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण इनके उपास्य ही नहीं, पति और ब्रह्म भी थे। बीराँ ने स्वयं को उनकी पत्नी और आश्रित माना है। इनकी भक्ति का चरमोत्कर्ष पति-पत्नी भाव अर्थात् माधुर्य भाव की भक्ति है। उनके पदों में श्रीकृष्ण के रूप वर्णन और उनकी भक्तिभावना की अभिव्यञ्जना मिलती है। बीरां की दृष्टि में श्रीकृष्ण का रूप अद्भुत और अनुपम है, जिसके आकर्षण से ये आवद्ध हैं। उनके आकर्षण का एक और कारण भी है, वह है—मुरली। श्रीकृष्ण की मुरली से प्रादुर्भूत शब्दों में एक विचित्र जादू है जिससे बीरां ही नहीं समस्त चराचर जीव भी आकृष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः बीरां के लिए भगवान् श्रीकृष्ण की नवीनता आकर्षण का विषय है और आकर्षग सौन्दर्य का प्रणेता। जोधपुर से प्राप्त जनश्रुतियों में कई घटनाओं का सम्बन्ध मुरली से है। बीरां जब भी एकान्त में बैठतीं, उन्हें सदैव मुरली का नाद सुनाई पड़ता था। एक दिन रात्रि में आराध्य के मुरली स्वर को सुनकर ये तेज स्वरों में चिल्लाने लगीं—पकड़ो, इस छलिए को, जाने न पाए। पुनः ये चीखने तथा रोने लगीं। कुछ समय के बाद ये किंकर्तव्य विमूढ़ हो गईं। लोगों ने इन्हें 'पागल' घोषित कर दिया। किन्तु एक महीने बाद जब इन्होंने इसका उद्घाटन किया तो वे ही लोग आश्चर्य चकित हो गए। तब से बीरां को कृष्ण की उपासिका मानकर लोग इन्हें आदर देने लगे। इस घटना का साहित्यिक महत्त्व भले ही न हो, किन्तु इनकी भक्ति-भावना की ऊँचाई का भान तो अवश्य ही हो जाता है।

इस घटना के पश्चात् श्रीकृष्ण का एक पल का वियोग भी कवयित्री के लिए असह्य हो गया। वियोगावस्था में समस्त प्रवृत्तियों के अन्तर्मुखी हो जाने के कारण व्यक्ति विगत जीवन की घटनाओं का या तो स्मरण करता है अथवा आकलन। स्मरण की दशा कवयित्री को मृत्यु तक पहुँचा देती है। फिर हृदय की

आकुलता पत्र में अंकित कर वह इन्हें अपनी अन्तर्वेदना का अनुभव कराना चाहती हैं, किन्तु अन्तस् की अकुलाहट से कुछ नहीं कर पातीं। कहना न होगा कि प्रेमातिरेक की यह अवस्था अभूतपूर्व है। श्रीकृष्ण का रूपलावण्य उसके अन्तर्तम में ऐसा प्रवेश कर गया है कि सर्वत्र उन्हीं का दर्शन करने लगती हैं। प्रिय के सान्निध्य में व्यतीत सुख के दिन बार-बार स्मृति-पटल-पर कौंधने लगते हैं। अतः इनका इस प्रकार का वर्णन नवीन उद्भावना और नूतन कल्पना का परिचायक है।

बीराँ की रचनाएँ माधुर्य भाव से अनुरंजित हैं। भगवान् की रूप-सम्पदा को देखने के पश्चात् मन को नियंत्रित करना कठिन हो जाता है। श्रीकृष्ण-प्रीति कवयित्री के लिए साध्य है और भक्ति उसका साधन। श्रीकृष्ण उनके लिए श्रेय है और प्रेय भी। इसलिए वह श्रीकृष्ण की प्रणयानुभूति के लिए सदैव तत्पर और जागरूक हैं।

बीराँ की प्रीति की रीति बड़ी कष्टसाध्य और दुष्कर है। श्यामसुन्दर की सुधि इस प्रीति की संचालिका है। इस पथ पर अग्रसर होने वाला जीव अथवा भक्त जब भी उसका स्मरण करता है, बेसुध हो जाता है। उसका प्रेम प्रतिदान चाहता है। इस प्रतिदान में पावक की आवश्यकता नहीं होती। वह सुधि ही पावक है जो उसे विरहाग्नि में सदैव जलाया करता है। बीराँ प्रेम-साधिका हैं जिनके प्रेम का आलम्बन श्रीकृष्ण हैं और आश्रय वह स्वयं।

काव्य-कला की दृष्टि से इनके पदों में संगीतात्मकता और लयात्मकता का अद्भुत समन्वय है। भावों की रमणीयता, आत्माभिव्यंजना, अनुभूति की सान्द्रता, तन्मयता एवं तल्लीनता, वैयक्तिकता एवं संक्षिप्तता के कारण इनके पदों में प्रभावान्विति की अद्भुत क्षमता विद्यमान है। इनके गीत लोकगीतों के अधिक सन्निकट हैं। सरल, अनलंकृत भाषा के माध्यम से जिस सजीवता की सृष्टि इन्होंने की है, वह प्रशंसनीय है। इनकी भाषा सरल ब्रजभाषा है। माधुर्य गुण भाषा को कोमलता को बनाए हुए है। इन्होंने जितने पदों की रचना की है, उसमें भक्ति-भावना की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरणार्थ यहाँ दो पद उद्धृत किए जा रहे हैं—

(१)

बस रहि मेरे प्राण मुरलिया बस रहि मेरे प्राण।
या मुरली में काह न घोल्यो उन व्रजवासिन कान॥
मुख को सौर लई सखियन मिल अमृत पीयो जान।
वृन्दावन में रास रच्यो है सखियाँ राख्यो मांन॥
धुनि सुनि कान भई मतवारी अन्तर लग गयो ध्यान।
बीराँ कहे तुम बहुरि बजायो नन्द के लाल सुजान॥

(२)

प्रीति लगाय जिन जाय रे
साँवलिया, प्रीत लगाय जिन जाय रे।
प्रीतम को पतिया लिख पठाऊँ
रुचि-रुचि लिखी बनाय रे॥
जाय बंचाओ नन्दनन्दन सो,
जिवड़ा अति अकुलाय रे।
प्रीति की रीत कठिन भई
सजनी करवत अंग कटाय रे।
जब सुधि आवे श्यामसुन्दर की,
बिन पावक जरि जाय रे॥
मिलन-मिलन तुम कह गये
मोहन अब क्यों देर लगाय रे।
बीराँ को तुम दरसन दीजौ,
तब मोरे नैन रिसाय रे॥

हौ० प्र० सिं०

बुलाकीदास

साम्प्रदायिक ग्रन्थों में श्री बुलाकीदासजी का यश वर्णन मिलता है। यहाँ दो ग्रंथों से उदाहरण दिये जा रहे हैं —

गृह बसिकैं वैराग आयु इंहि भाँति बिताई।
वंश सहित हरि नाम संग साचो जु मिताई॥

प्रभु इच्छा बस लाभ हानि सबही जिन जानी ।
भजन भाव मन दियौ समझि आरज मुख वानी ॥
श्री गोपाललाल गुरु कृपा लहि
रुचि श्री वृन्दान वास की ।
जुगल भजन ही गांठ गथ
यह रहनि बुलाकी दास की ॥

—रसिक अनन्य परचावली

गोपाल लाल गुरु पद सनेह ।
सुनौ नाम बुलाकी दास एह ॥
गाढै भावथ वसैं जुगल गेह ।
रटैं इष्ट नाम रसना अछेह ॥

—चतुर्थ वसन्त प्रबन्ध

इनका जन्म किसी महाजन परिवार में हुआ था। जन्म स्थान अज्ञात है। रासवंशीय गोस्वामी गोपाललालजी की कृपा से श्री हित चरणाश्रित होने के पश्चात् ये श्री धाम वृन्दावन में ही सपरिवार बस गये थे। शरण होने के बाद इनके जीवन में आमूल परिवर्तन हो गया था। घर में रहते हुए भी ये जलकमलवत् घर का कार्य करते थे, किन्तु इनकी आसक्ति गृह तथा गृह-कार्यों में बिल्कुल न थी। श्रीजी की सेवा के निमित्त धनोपार्जन तो किया करते थे, किन्तु यथा-लाभ सन्तोष की वृत्ति के द्वारा ही। इस प्रकार से इन्होंने लौकिक सम्पत्ति के स्थान पर रस-भजन और रस-सम्पत्ति (युगल की लीलाओं का अनुचिन्तन) को ही अपनी गुप्त गाँठ में रखी जाने वाली सम्पत्ति बना ली थी। हरिवंश नाम की अनन्यता इनके जीवन में भी सेवकजी की तरह लोक प्रत्यक्ष हुई थी। निम्नांकित दोहों में इन्होंने स्वयं कहा है—

करनी ही सो कर चुके, अब कछु करनी नाँहि ।
सरन गही हरिवंश की, परे विपिन रज माँहि ॥
बिगरो तौ अति की भली, सुधरो तौ सुधराय ।
'बुलाकीदास' हरिवंस बिनु, और न कछू सुहाय ॥

श्री सेवकजी महाराज की वाणी का अन्तराशय समझ कर इन्होंने अपने जीवन में श्री हरिवंश नाम और श्री हरिवंश वाणी को एकमेक कर दिया था। इनका विद्यमान काल विक्रम संवत् १७४० से १८१० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

बुलाखीदास

श्री बुलाखीदास की अनन्य रसिकोपासना का परिचायक निम्नलिखित पद 'भक्तगाथा' में मिलता है—

श्री राधावल्लभ लाल प्रीति बस ह्वै उर आवैं ।
षट रस सौं हिय पोषि कचौरी नित पहुँचावैं ॥
सब देखत गुन गुन करैं सैन बैन नहिं चैन ।
नैन सैन के बैन प्रति उत्तर समझैं नैन ॥
श्री चुन्नीलाल प्रसाद बल श्री व्यास सुवन के पास ।
बुलाखी दास कायथ रसिक सुत वृन्दावन दास ॥

—भक्त गाथा

इनका जन्म कायस्थ परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम वृन्दावनदास था। इन्होंने विलास वंशीय गोस्वामी चुन्नीलाल से श्री हित राधावल्लभीय सम्प्रदाय की रसोपासना की मंत्र-दीक्षा प्राप्त की थी। इनके घर पर श्रीजी की प्रगट सेवा विराजमान थी। श्री हित पद्धति के अनुसार ये अपना अष्टयाम श्रीजी की सेवा में ही व्यतीत करते थे। इन्हें विविध प्रकार के पकवान बनाकर श्रीजी को भोग रखने की बड़ी ही रुचि रहा करती थी। उन पकवानों में ये कचौरी का बड़ी ही रुचि से भोग लगाया करते थे। शायद इस प्रकार से अर्पित की हुई कचौरी श्रीजी को भी बहुत प्रिय लगती थी। यह बात तत्कालीन रसिक जगत् में तब प्रगट हुई जब सबों ने प्रत्यक्ष देखा कि कचौरी भोग धर कर श्रीजी से ये कुछ आँखों-आँखों में ही बातें जैसी करते हैं, ऐसा लगता था जैसे श्रीजी भी इनकी बातों का आँखों-आँखों में ही उत्तर दे रहे हों। श्रीजी तो कुछ नहीं बोलते थे किन्तु इनकी गुनगुनाहट किसी से छिपी नहीं रहती थी।

इस प्रकार भजन-भावना में तल्लीनता के साथ वृन्दावन वास करते हुए एवं श्रीजी को लाड़-लड़ाते हुए ये एक दिन श्री हित महल में प्रविष्ट हो गये।

इनका विद्यमान काल विक्रम संवत् १७७० से १८५० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

बेगमदास

चरणदास के पौत्र शिष्य एवं गुरुछौंनाजी के शिष्य बेगमदासजी दौली (जींद, हरियाणा) के रहने वाले थे। लोगों ने भ्रमवश इन्हें स्त्री मान लिया, वस्तुतः ऐसा नहीं है। इनके एक ग्रंथ में रचना-काल संवत् १८३५ दिया हुआ है। अतएव इनका समय संवत् १८०१ से १९०० के मध्य माना जा सकता है। इनकी कृतियाँ हैं—(१) सुदामा चरित (वि० सं० १८३५), (२) एकादशी महात्म्य, (३) वैराग बारहमासिया, (४) सबद और (५) गुरु भक्ति। इनकी भावभक्ति तथा रचना-शैली का परिचय देने वाले कुछ पद नीचे दिए जा रहे हैं—

(१)

नंददा दुलारा प्यारा मैंनूँ नहीं चांवदा।
औरां देहा हरषांदा सीस निवांवदा॥
मुड मुड नाचै गावै भाव बतांवदा।
बंसुरी मैं नांव लै लै सबन सुनांवदा॥
सखी 'बेगम' है तेंडी क्यूं तरसांवदा।

(२)

हरि अपनौं बल रूप सुदामां कूं दियो।
जानों नाहीं मरम अनुग्रह अति कियो॥
रहे सुदामां तीन द्यौंस हरि पास ही।
किये नवेले अति ही परम विलास ही॥
बोले श्री सुदामां अज्ञा दीजिये।
दिजरानी की वेग जाय सुधि लीजिये॥
तुमरे दरसन करत अघावत हूँ नहीं।
पर तथापि मोहि घर कूं जाना है सही॥
पुन बोलत भये कृस्न तात सुन लीजिये।
कोउ अक दिन तो मोकूं दरसन दीजिये॥
बहुरि सुदामा कही न बिछरो जात है।
तुम सूं छांनो नहीं हमरी बात है॥
श्री सुदामां बहुत भांति हरि सूं कही।
क्रपा करि हम कूं अज्ञा दीजै सही॥
श्री कृस्न जब बिदा सुदामा कूं किया।
दोउ कर लीने जोर चरन माथा दिया॥
निज महलन सूं बाहर पहुंचावन चले।
नैंनन नीर प्रवाह बहन लागे भले॥

म० गो० भा०

बेनी कवि

'चतुर्थ बसंत प्रबन्ध' में श्री बेनी कवि का परिचय इन शब्दों में मिलता है—

गुरु कमल नैन दत कृपा एह।
दम्पति पद जोरी दास नेह॥
हिय रंग भरनि ललकनि अछेह।
भरि भाव सु बिचरैं कुंज गेह॥
यह सुमति लही गुरुवर प्रसाद।
भये रसिक फागु लहि सुख सवाद॥
बेनी कवि वल्लभ सखी आदि।
कह्यौ जुगल रहसि ज्यों श्रुति अनादि।

इनके ऐहिक जीवन सम्बन्धी कोई तथ्य प्राप्त नहीं होते। इन्होंने राधावल्लभीय-सम्प्रदाय की रसोपासना की मंत्र-दीक्षा गो० कमलनयनजी से प्राप्त की थी। श्रीहित शरणागति के पश्चात् इन्होंने अपना शेष जीवन श्रीवन में अविचल वास करते हुए व्यतीत किया था। गुरुवर्य की अहेतुकी कृपा के फलस्वरूप इनके हृदय में श्रीहित दम्पति का रस-लीला विहार स्फुरित हो गया था। फलतः इन्हें वृन्दावन रस-चर्चा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं सुहाता था। इन्होंने श्री लाड़िली लाल के रहस्यपूर्ण लीला विहार से सम्बन्धित काव्य-रचना भी की है, साथ ही हमारा यह भी अनुमान है कि ये श्रीहित धर्म में दीक्षित होने से पूर्व भी काव्य-

रचना करते रहे होंगे। किन्तु दुःख है कि न तो इनके पूर्व जीवन की ओर न दीक्षित होने के पश्चात् की कोई रचना अभी तक देखने में आई है।

इनका विद्यमान काल वि० सं० १७०० से १७८० के मध्य अनुमानतः स्थिर होता है।

श्या० बि० खं०

बेनी प्रसाद

भक्त चरनदास मिश्र के तीन पुत्रों में बेनी प्रसाद जी सबसे बड़े थे। इनका जन्म सं० १९०० (१८४३ ई०) में हुआ था। कृष्णभक्ति का संस्कार इन्हें अपने पिता से मिला था। ये श्रीमद्भागवत के ज्ञाता थे और तीर्थाटन से इन्हें पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हुआ। मधुर भाव की भक्ति में इनका मन लीन रहता था। उसी रस में भींजे इनके स्फुट पद यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। यहाँ इनकी भक्तिभावना के व्यंजक दो पद उद्धृत हैं—

(१)

भाँत-भाँत जो वस्तु विलोकत
मायामय नहिं एकौ काम की।
रतन मान पाखान सदृश जे
रजत सीप ज्यों भास नाम की॥
देह मान यह पंच तत्त्वमय
भोग रोग प्रद नहिं अराम की।
है अमोल डर चोर नहीं है
सोभा होत अनेक धाम की॥
ऐसे नाम रतन की सौदा
बेनीदास वैकुंठ ठाम की॥

(२)

जिहिं चरनों से प्रगटी गंगा संकर जटा समाई।
जिहिं चरनों की चरन पादका भरत गहे लौ लाई॥
जिहिं चरनों से तरी अहिल्या गौतम साथ विहाई।
जिहिं चरनों की ले चरनामृत तरो निखाद निखाई॥
जिहिं चरनन सुरनायक सेवत ब्रह्मा ध्यान लगाई।
जिहिं चरनन सुर नर मुनि सेवत पावत वर मन भाई॥
जिहिं चरनन की बरनत महिमा चारों वेद लजाई।
बेनीदास आस चरनन की कब मिलिहैं सुखदाई॥

न० प्र० गु०

बेनीमाधव "प्रवीण"

श्री बेनीमाधव "प्रवीण" पुष्टिमार्गीय कृष्ण-भक्त कवि थे। अनुग्रह को सर्वोपरि माननेवाले श्री प्रवीणजी का जीवन भक्तिभावमय था। सम्प्रदायनिष्ठ सिद्धान्तों के प्रति इनकी अटूट आस्था थी। ये रेही श्री देवकीनन्दनभट्ट (चिमनजी) के सुपुत्र तथा काँकरोली के तिलकायित श्रीगोवर्धनेशजी महाराज के चरणाश्रित कवि थे। श्रीगोवर्धनेशजी महाराज द्वारा आयोजित सप्त-स्वरूपोत्सव का आँखों देखा वर्णन इन्होंने कविताबद्ध किया। इन्होंने "द्वारिकाधीश-विचित्र-विलास" तथा "शृङ्गारचन्द्रिका" नामक ग्रंथ लिखे हैं। विद्याविभाग-काँकरोली में रक्खी हुई "शृङ्गारचन्द्रिका" को शोध कर विक्रम सं० १९९७ में उज्जैन निवासी श्रीलक्ष्मीसहाय माथुर ने "प्रवीणचन्द्रिका" प्रकाशित करवाई थी। सप्त-स्वरूपोत्सव पर बनाये गये स्फुट कवित्तों में से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

आनन्द अखूट लगे लूटन 'प्रवीन' जन,
ताते अन्नकूट लुटायौ, साँज भारी को।
बाँटि-बाँटि दीनों, सब सबनि ने लीन्हों यह,
महाप्रसाद दुःख मेटत दुखारी को॥
सबै हँस खुले बेरी उत "प्रवीण" मन,
मोद लखि-लखि लाल की चित्तौनी छकवारी को।
मानों चन्द्रवृन्दनि में चन्द्रमा विराजे तैसे—
राजे सुख कंद मुखचन्द गिरधारी को॥

श्रीकृष्ण को 'गिरधारी' के रूप में स्मरण करने वाले कवि 'प्रवीण' जी 'लोकमंगल' की अवधारणा से प्रेरित हैं। इनका चित्त श्रीकृष्ण की लीला में तदाकार हो गया है। इनका काव्यवैभव भी प्रस्तुत पद में अत्यन्त समृद्ध है।

रा० कृ० श०

बैजनाथ

बैजनाथ का 'गोपी-विरह' नामक एक ग्रंथ उपलब्ध है, जिसमें इन्होंने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। बैजनाथ जौनपुर जनपद के मुंगरा बादशाहपुर नामक स्थान के उत्तर दिशा में स्थित नौवाडाड़ी नामक गाँव के निवासी सरयूपारीय (त्रिपाठी) ब्राह्मण थे।

इनकी रचना 'वाम-विलास' से पता चलता है कि इनके पिता का नाम अयोध्या था और ये बादशाहपुर के बाबू सीताराम के आश्रित कवि थे। 'गोपी-विरह' में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

जिला जौनपुर परिगन मूगर, बादशाह पुर गाऊँ।
वास हमारी तिहि के उत्तर, नौआडांडी ठाऊँ॥
नाम हमारो बैजनाथ है विप्र त्रिपाठी हूँ मैं।
बृज में ऊधो जेहि विधि आए सो कछु चरित कहौं मैं॥

'गोपी-विरह' का रचना-काल सं० १९१४ है—

संवत् वनइस सै चौदह में, अगहन दुइजि विचारी।
कृष्ण पक्ष बुध नखत रोहिणी, कृष्ण चरण उर धारी॥

कवि ने यह भी लिखा है कि उसने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना तोस वर्ष की अवस्था में की। इससे इनका जन्म संवत् १८८४ सिद्ध होता है।

बैजनाथजी ने इस बात का संकेत दिया है कि इन्होंने इस ग्रन्थ को काशी में पूर्ण किया था। तेरह अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ का विषय है—उद्धव-गोपी-संवाद। उद्धव श्रीकृष्ण का पत्र लेकर मथुरा से ब्रज आते हैं और गोपियों को ज्ञान का उपदेश देते हैं। लौटने पर वे गोपियों से प्रभावित होकर उनका सन्देश श्रीकृष्ण तक पहुँचाते हैं। यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

जो कछु लीला नंदलाल की बरनि सकौं मैं नाहीं।
तामें कछुक विरह बरनत हौं समुझि सुगम मन माहीं॥
श्री नन्दलाल कह्यौ ऊधौ सो वृन्दावन को जाहू।
हमरे विरह विकल बृजवाला देहु ज्ञान सब काहू॥
अस कहि पाती लिखे साँवरो नन्द जसोदाजी को।
प्रेम पियारी मिलन हमारी सखी सखा सबही को॥
स्वस्ति श्री सुखकन्द नन्द जू और जसोदा मैया।
महर जठेरे कुलपुर केरे तेनकों लिखत कन्धैया॥
पालागन कर जोरि सबै कोउ राम कृष्ण को कीजै।
बालक जानि दया करिके फिरि कुसल आपनी दीजै॥

(२)

चलत संदेश कह्यौ श्री राधा सजल नैन कर जोरी।
किए रास षटमास रैन में भुजा गहे हैं मोरी॥
नारी पुरुष को जितो कर्म सब कियो हमारे साथ।
यह सब लीला ललित कियो अब निठुर भयो बृजनाथ॥
बाँह गहे की लाज गहो हम भव में परन न पावें।
देहि दरस फेरि अंतकाल में निज पदवी पहुचावें॥
सुनत संदेस प्रान प्यारी को प्रभुहि भयो दुःख भारी।
बार-बार पछताय साँवरो फेरि धीरज उर धारी॥
यह ऊधो गोपी की बातैं कहेउ जथामति गाई।
भूल चूक मोरी जो है कछु कविजन लेब बनाई॥

बैजनाथजी ने सं० १९३७ में आल्ह खण्ड की शैली में 'श्रीकृष्ण खण्ड' नामक एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की थी। यद्यपि यह आल्हा शैली का काव्य है किन्तु इससे कवि की कृष्णभक्ति का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१)

पुरी बखानों मैं मथुरा को,
जहँ पर कृष्ण लिहा अवतार।
फेरि गावों गोकुल वृन्दावन,
जहँ बालक होइ किहा विहार॥
नदी बखानौं मैं जमुना को,
जिनकी लहरैं स्याम तरंग।
पहिले आई है बसुधा में,
पीछे मिली प्राग में गंग॥
कोखि बखानो मैं देवकी को,
जहँ पर कृष्ण लिहा अवतार।
गोद बखानो श्री जसुदा को,
जाके गोदन किहा बिहार॥

(२)

जद्यपि हौं मैं हीन कुटिल मति,
सब विधि हौं ऐगुन की खान।
पावन पतित बिरह माधो के,
तरिहैं दास आपनौं जान ॥
गज की टेर सुनत उठ धाये,
बाहन त्यागि उबाहन पाय।
हमरी बेर देर लखत क्यों,
कीधौं आई बैस बुढ़ाय ॥
हे जदुनाथ अनाथ पियारे,
बैजनाथ जन भयो अनाथ।
आरत हरन राधिका माधौं,
मेरे धरो माथ पर हाथ ॥

इस प्रकार वीर रस के प्रसिद्ध 'आल्हा' छन्द में कृष्णभक्तिपरक काव्य रचना कवि की अगाध कृष्ण-निष्ठा के साथ ही उक्त छन्द पर उसका असाधारण अधिकार प्रकट करता है।

वा० सिं०

बैजनाथ सिंह 'किंकर'

बैजनाथ सिंह का जन्म सं० १९१८ में काशी में हुआ था। ये वहाँ के सुप्रसिद्ध राजा मोतीचन्द के यहाँ काम करते थे। बाबू शिव प्रसाद गुप्तजी से भी इनका घनिष्ट सम्बन्ध था। कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी इनकी दो रचनाएँ मिलती हैं—राधारानी का इजलास, सुदामा-चरित्र। इनकी भाषा सरल, सरस तथा प्रसाद गुण युक्त है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मोरन पखौवन की राखि कै किरीट भाल
गुंजन बहोरि गुहि मालहिं सँवारे हौ।
कामरी पुरानी सो चिरानी नन्दराय जू की,
तागि-तागि ताको निज दिवस गुजारे हौ ॥
घूरनि घुरेते पहिरे ते सब साथ लिए
ब्रज बीथिकानि मैं कुकीरति पसारे हौ।
सुनो हो कंधाई ! अब लाज हूँ पराई पेखि,
राधा सों सगाई हेत हौंस हिय धारे हो ॥

ह० न० भा०

बैजू बावरा

मध्यकाल के प्रसिद्ध गायक बैजू बावरा का मूल-नाम बैजनाथ मिश्र था। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती, पर जनश्रुतियों के आधार पर कुछ तथ्य प्रकाश में आये हैं। कहा जाता है कि ये बेतवा तट पर बसे प्राचीन नगर चन्देरी के निवासी थे। मध्ययुग में चंदेरी राज्य का एक गौरव-शाली इतिहास रहा है, अतएव वहाँ के एक युवक का संगीत कला के प्रति लगाव स्वाभाविक था। इनकी माँ धर्म पर आस्था रखने वाली भक्त महिला थीं, इसलिए इनके मन में बचपन से ही भक्ति के बीज अंकुरित हो गये थे। छोटी अवस्था से ही ये इतने मधुर कण्ठ से भक्तिमय पद गाते कि इनका गीत सुनने के लिए लोग इकट्ठे हो जाते और ये चाव से गाते रहते। कहते हैं कि इनकी गायन-कला पर रीझकर एक पड़ोसिन युवती इन पर दीवानी हो गई थी, किन्तु इन्होंने उसकी अवहेलना कर दी और पिता की मृत्यु होने पर वृन्दावन चले गये। वहाँ बैजू की प्रतिभा और निखरी, जिससे प्रभावित होकर स्वामी हरिदास ने इन्हें संगीत की शिक्षा देना स्वीकार कर लिया। 'नाद विनोद' में गोपाल लाल, रामदास, तन्ना मिश्र की तरह इनका नाम स्वामी हरिदास के प्रमुख शिष्यों में उल्लिखित किया गया है। अपनी कला में निष्णात होकर ये ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (१४८६–१५१६ ई०) के आश्रय में चले गये और सभा के प्रमुख रत्न के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

एक किंवदंती के अनुसार तन्ना मिश्र (बाद में तानसेन) अकबर के दरबार में जाने के बाद अभिमानी हो गये थे। उन्हें सबक सिखाने के लिए कुछ लोगों ने तानसेन और बैजू के बीच एक प्रतियोगिता आयोजित करवा दी थी, जिसमें तानसेन पराजित हो गये और बैजू की कला लोकचर्चित हो गई। कहा जाता है कि इनके सहयोग से ही मानसिंह ने ध्रुपद का आविष्कार किया था। पर ध्रुपद की देन का श्रेय बैजू को ही मिलना चाहिए, आश्रयदाता को नहीं।

उनकी गूजरी रानी बैजू से ही इतनी प्रभावित थीं कि उन्होंने इन्हें सारी सुख-सुविधाएँ प्रदान कर दी थीं। शायद इसीलिए बैजू ने अपने नये रागों का नामकरण गूजरी रानी पर किया था। मंगल गूजरी, गूजरी तोड़ी, मृगरंजनी तोड़ी आदि इसके उदाहरण हैं। होरी गायन शैली में ये निपुण थे। 'राग-कल्पद्रुम' में बैजू के अनेक ध्रुपद मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि ये गायक के साथ एक सफल कवि भी थे।

इनके द्वारा रचित पद अधिकतर भक्ति-प्रधान हैं। इन्होंने ब्रह्म के दोनों स्वरूपों निर्गुण और सगुण की उपासना को महत्व दिया है और राम, काली, शिव, सरस्वती, ब्रह्मा, गणेश आदि देवों के भी गुण गाये हैं। किन्तु इनका मन कृष्णभक्ति में ही रमा है। कृष्ण का जन्म, रूप-वर्णन, मुरली, लीलाएँ, विरह आदि से सम्बन्धित प्रचुर पद इनकी कृष्णभक्ति के प्रमाण हैं। यह बात अलग है कि सम्प्रदाय मुक्त होने से इनकी भक्ति और भक्तिपरक काव्य की चर्चा उतनी नहीं हो सकी, जितनी अन्य गायक भक्तों की। सूरदास के पूर्व बैजू-बावरा के रागबद्ध पदों में ध्वनि-माधुर्य और लय-प्रवाह के साथ भक्तिमय काव्य की सरस अभिव्यक्ति अपना ऐतिहासिक महत्व रखती है। दो उदाहरण पर्याप्त हैं —

(१)

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रस तानन सों
सुध बुध सब बिसराई।
धुनि सुनि मन मोहे,
मगन भई देखत हरि आनन ॥
जीव जन्तु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे,
हरे सबके प्रानन।
बैजू बनवारी बंसी अधर धर
वृन्दावन-चन्द बस किये सुनत ही कानन ॥

(२)

कर पै गुलफ धरें तिय दुचित अनमनी
करके सिंगार बिहरन ह्वै बैठी री।
पिय पिय रट लागी मग जोहत मोहत रंग उमंग भरी
आलस अंग अंग मरोरत ह्वै कै ऐंठी री।
नख सिख लों आभूषन भूषन जगमग रह्यो
पिय आवन की उछाह नाहिन पल नेक लेटी री॥
बैजू प्रभु मनमानी आय गये वाही छिन
धन धन भाग सुहाग नार अंग अंग भेंटी री ॥

न० प्र० गु०

बैनजी (गो०)

एक ओर सखी भाव सम्बन्धी साहित्य का सृजन विरक्त शिष्य कर रहे थे तो दूसरी ओर स्वामी हरिदासजी के वंशज गोस्वामीगण भी सम्प्रदाय की साहित्य साधना में लीन थे। गोस्वामी बैनजी का आविर्भाव स्वामी हरिदासजी की इसी वंश-परम्परा में हुआ था। इन्होंने विविध प्रकार की कथा-वार्ताओं द्वारा स्वामीजी की रस-रीति का प्रचार किया। कवि एवं पण्डित होने के कारण ये संस्कृत भाषा में रचना करते थे। इन्होंने ब्रजभाषा में भी रचनाएँ कीं। खेद है कि अब इनकी रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं।

गोस्वामी बैनजी की ब्रजभाषा में रचनाएँ अत्यन्त सुन्दर हैं। इनकी रचनाओं का एक संग्रह गोस्वामी गणों के पास तथा एक संग्रह काशी नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है। उसका रचनाकाल सन् १८२२ ई० माना जाता है। गोस्वामी जी का एक पद उद्धृत है जिसमें इन्होंने श्यामाश्याम को केलि-क्रीड़ाओं का चित्रण किया है—

निरतत कुंजविहारी सघन वन वृन्दावन की कुंजन।
थेई थेई करत राधिकारानी संग सखियन के पुंजन ॥
ताल मृदंग बीन सुर भेद जनावत सबही के मनरंजन।
श्री सुकुमार उदार बैन के स्वामी स्यामा
चितवत कोर द्रगनि की पंकजन ॥

प्रे० ना० श्री०

ब्रजकिशोर

ब्रजकिशोरजी नन्दकिशोरजी के अनुज थे। इनका जन्म सं० १८७५ को वृन्दावन में हुआ था। इनकी एक

छोटी रचना 'सेवा प्रकाश' है। इसमें श्री राधा-माधव जी के सेवा विषयक १०१ दोहे हैं। इनके सम्बंध में अन्य तथ्य अज्ञात है।

सं०

ब्रजजीवन

ब्रजजीवनजी श्री हरिलाल गोस्वामी के शिष्य थे। इनके उपस्थिति काल में श्री राधाबल्लभजी का स्वरूप कामवन में विराजता था और गोस्वामी चतुरशिरोमणिलालजी उस समय मन्दिर के प्रबन्धक थे। ब्रजजीवनजी मन्दिर में ही रहते थे और मन्दिर के समाज (सामूहिक पद गान) में पखावज बजाते थे। इन्होंने लिखा है—

राधावल्लभलाल की भई कृपा अति शुद्ध।
चतुर शिरोमणि लाल बल फुरी जो मेरी बुद्ध॥

ब्रजजीवन उच्च कोटि के संज्ञीतज्ञ और कवि थे। इनके द्वारा विरचित उत्सवों के अनेक पद मिलते हैं। इनकी मुख्य रचना 'हृदयाभरण' नामक ग्रन्थ है जिसमें ११०० के लगभग दोहे हैं। यह संवत् १८६१ की आश्विन शुक्ला द्वितीया को पूर्ण हुआ था। इसके सम्बन्धं में ब्रजजीवनजो ने लिखा है—

अलंकार सब विधि कहे, विविध नायिका भेद।
हृदयाभरण पढ़ै सुनै, मिटैं जनम के खेद॥
हाव भाव सब रस कहै, हित पद्धति अनुसार।
गुरु हरिलाल कृपाल बल निरख्यौ जुगल बिहार॥

इसके अन्तर्गत उत्प्रेक्षा, रूपक, विशद, तद्गुण, प्रतीप, उपमा, विभावना, स्वभावोक्ति आदि अलंकारों के उदाहरण दोहों में दिये गये हैं। विशेषता यह है कि ये सभी दोहे कृष्ण-भक्ति परक है—

'विशेष' अलंकार का उदाहरण :—

राधा मंगल नाम है, राधा मंगल रूप।
राधा मूल सजीवनी, राधा केलि अनूप॥
राधा कृपा कटाक्ष की, लागी है बौछार।
राधा गुन सुमिरन कथन छिन-छिन नित्यविहार॥
जागत, सुपने, सैन में, हिय राधा कौ ध्यान।
अंतर बाहर दिस बिदिस, वही रूप मँडरान॥

स्वभावोक्ति का उदाहरण :—

लाल प्रेम उलही फिरै नव दुलही दिन रात।
रंग रलियाँ अलियान सौं बूझत रस की घात॥
गाय चरावत भानु की, दिन भर नंदकुमार।
जिनकौ पय पीवै लली, करहि तिनहि बहु प्यार॥
बरबस री बसुरी करत, परबस री मन घेर।
रसगंसुरी अँसुरी झरत, सुनि बँसुरी की टेर॥

समाधि अलंकार :—

राधा पग मंजीर धुनि, परै कहूँ जो कौन।
कृत्य कृत्य ह्वै जात पिय, जीवन रसिक सुजान॥

इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में षट्ऋतु विलास, ब्रज की होरी, निकुंज की होरी, ब्रज का ब्याहुला, निकुंज का ब्याहुला, दिवाली उत्सव, नन्दोत्सव, श्री हितजी के जन्मोत्सव आदि का सुन्दर वर्णन दोहों में किया गया है। ग्रन्थ के अंत में ब्रजजीवनजी ने प्रेमतत्व का वर्णन, कृष्णगढ़वाले नागरीदासजी के इश्कचमन के ढंग पर दोहों में किया है—

इश्क शहर बाजार में, लगी हुस्न की पैंठ।
तोलत आशिक नैन मैं, महबूबाँ दी ऐंठ॥
इश्क कहर दरियाब है, बिरला निबहत जाय।
चढ़े चश्म किश्ती तऊ, फिर-फिर गोता खाय॥
इश्क शहर के बीच तू बेसिर होके आव।
इश्क सजीवन है जड़ी, धर मन में यह भाव॥

ब्रजजीवनजी पंजाबी थे। इनकी वाणी में पंजाबी शब्दों का प्रयोग बहुशः मिलता है—

सोना निंगड़ नन्द दा, मायल कर दा चित्त।
नव कुड़िये दे प्यार सौं, सजनी जीवै नित्त॥

उदाहरणार्थ इनका एक झूला का पद दिया जाता है—

आई है सावन तीज सलौनी कल झुलाना होवेगा।
झूलैंगी दूलह संग दुलहिनि कल झुलाना होवेगा॥

सेहरे को लखि मेहरे तू सुनि नेहरा बरसाना होवेगा।
हँसती कामिनि को देख दामिनि चेहरा छिपाना होवेगा॥
कलियों से यों आलियाँ कहैं कल दिल फुलाना होवेगा।
औं भौरों के हलके सुन लो, तुम्हें खूब गाना होवेगा॥
सुनि री कोकिल बनरे के रंग तुझको कुहकाना होवेगा।
मैंने, मयूर मुनियों को भी बाजे बजाना होवेगा॥

झिल्ली, झींगुर तुम भी सुनो घुंघरू बजाना होवेगा।
साँवरी नदी के हंसों को संगीत नचाना होवेगा॥
डरपैंगी बनरी पैंगनि में जद गर लगाना होवेगा।
सदके जावैंगी सहचरी हर दिस फुलाना होवेगा॥
बाँटेंगी वे बधाइयाँ क्या-क्या न पाना होवेगा।
व्रज जीवन हित साधौं के कदमों ठिकाना होवेगा॥

ल० च० गो०

ब्रजजीवन लाल 'निर्मोही'

श्री व्रजजीवनलालजी 'निर्मोही' गोस्वामी श्री गोवर्धनलालजी कवि चूड़ामणि के सुपुत्र और श्री व्रजवल्लभलालजी निर्मोही के अनुज थे। इनका जन्म माघ कृष्ण १५ संवत् १९६० में हुआ था। कुल परंपरानुसार इन्होंने भी मंत्र दीक्षा अपने पिता श्री गोवर्द्धनलाल से ही प्राप्त की थी।

इन्होंने श्री हित हरिवंश महाप्रभु द्वारा रचित 'हितचौरासी' के पदों को स्वरलिपिबद्ध कर अपनी संगीत माधुरी में प्रकट किया। रसिक जन आज भी उसके प्रकाशन की माँग करते हैं तथा उनकी भक्ति-भावना की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। उक्त भजनों का गायन कर ये स्वयं पुलकित और अश्रुपूरित हो उठते थे। इनकी प्रभु-सेवा और श्रृंगार-साधना अत्यन्त लोकप्रिय थी। इनके उत्सवों में भक्तों की भीड़ श्रृंगार-दर्शन एवं भजनोपदेश-श्रवण हेतु उमड़ पड़ती थी। बिहार में इनके असंख्य शिष्य हुए।

इनकी स्वरचित कई रचनाएँ विशेषतः भजन हैं, जो अद्यावधि अप्रकाशित हैं। ये बहु भाषाविद् थे। इनका देहावसान कार्तिक कृष्ण ६, वि० सं० २०२५ को वाराणसी में हुआ। इनकी रचनाओं के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :

(१)

जै जै राधावल्लभ प्यारे।
अति पवित्र तुव नैन बने प्रभु भुवन मोहने हारे॥
इक टक लखियत जो कोइ जावै तुमहूँ ताहि निहारे।
व्रज जीवन तेरी सोभा कूँ बरनत प्रेम काव्य के द्वारे॥

(२)

धरत ध्यान धाये हैं कृपाल आप,
लाये नहिं संग कोऊ इकले ही आये हैं।
न भाये हैं पंक्षि गरुड़राज, धाये इक भक्त काज,
ये ही सब सोच साच और हूँ शर्माये हैं।
त्याग दीनी पादुका पद पदुम ही धाय चले,
मार्‌यो है ग्राह जब गज कूं छुड़ाये हैं।
कहत कवि व्रज जीवन ऐसे ही दयाल आप,
भक्तन के आगे और कोऊ नहिं भाये हैं॥

त० ना०

ब्रजदास विप्र

श्री ब्रजदास विप्र गो० हरिलालजी के शिष्य थे जो श्री हिताचार्य की सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुये थे और विक्रम की १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। ये बरसाने के रहने वाले ब्राह्मण थे।

प्रेम में भीगकर ये स्वामिनी श्री राधा के गुण-चरित्रों को दुलराते रहते थे। नन्द और वृषभान के 'सजन सनेह' (समध्याने) के भाव में ये सदैव निमग्न रहते थे और इस दिव्य प्रेम सम्ब्रन्ध की बात को छोड़ अन्य कोई बात इन्हें नहीं रुचती थी। भगवत प्रेम के स्मरण मात्र से इनके नेत्रों से अश्रुधारा बह निकलती थी। श्री गुरु कृपा से इनके हृदय में श्री श्यामा-श्याम के निकुञ्ज विलास का रहस्य प्रकाशित हो गया था।

ब्रजदासजी के थोड़े दिन पश्चात् ही चाचा हित वृन्दावनदासजी ने अपने 'लाड़सागर' और 'व्रजप्रेमानंद सागर' में नंद और वृषभान के इस 'सजन सनेह' को

आधार बनाकर श्री श्यामा-श्याम के विवाह का बड़े समारोह के साथ वर्णन किया है। 'रसिक अनन्य परचावली' (छप्पय सं० २०१) में इनकी भावभक्ति का परिचय इन शब्दों में दिया गया है—

प्रेम भीजि गुन चरित स्वामिनी कौं दुलरावैं।
सुनि नाते की बात हिये दृग जल भरि आवैं॥
जैसे सजन सनेह नन्द भानुहिं चलि आयौ।
मगन रहैं इहि भाव आन रस श्रवन न भायौ॥
श्री हित हरिलाल प्रसाद गुरु कुंज रहसि दरसी गली।
व्रजदास विप्र बरसानियाँ वृषभानु
सुता अलि सुख फली॥

ल० च० गो०

ब्रज दूल्है

श्री ब्रज दूल्है के आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में कोई विवरण ज्ञात नहीं है। इनकी एक रचना 'जन्मोत्सव-बधाई' प्राप्त हुई है जिसमें श्रीकृष्ण के आविर्भाव के समय की बधाई का वर्णन है। रचना ललित एवं भावपूर्ण है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

(१)

एहो आज बधाई श्री गोकुल
मैं पुरजन अंग न माये हो।
नंद महर जसुदा के मंदिर
सुन्दर हरि अब जाये हो॥
ग्रह ग्रह मंगल चारु पताका
कदली द्वार सुहाये हो।
नगर द्वार तोरन घज चित्रित
बंदनवार बँधाये हों॥
द्वार द्वार फल दूब इक्षु
दधि अक्षत गंध धराये हो।
गंध मिश्र जल बीथिन सींच्यौं
दीपन पाँति जुराये हो॥

(२)

गोप राज महाराज महर घर
आनद बजत बधाई हो।
पावस प्रबल प्रचुर सब ऋतु मधि
जनमे कुँअर कन्हाई हो।
बाजै बीन बाँसुरी मौहर मदन
भेरि सहनाई हो।
धौंसा घोर टकोरा नौबति
दुंदुभि देव बजाई हो॥
गावत नार चलीं सुर भीनी
जसुमति मंदिर आई हो।
गावैं गीत आसिका दे दे
जीवो सुत सुख दाई हो॥

वा० सि०

ब्रजपति भट्ट

ब्रजपति भट्ट बल्लभवंशीय गो० गोकुलनाथ के प्रपौत्र तथा गोवर्द्धनेशजी के पुत्र थे। जगतानन्द ने वल्लभवंशावली में गो० गोकुलनाथजी को तीन पीढ़ी के पाँच वंशजों का उल्लेख किया है। उसमें इनका भी नाम आया है। इनका जन्म सं० १६९३ में हुआ था। इनका रचनाकाल सं० १७२० के आसपास माना जाता है।

इनके पद-रागकल्पद्रुम में संकलित हैं। नमूने के लिए एक पद उद्धृत है :

ग्वालिनि माँगत बसन अपाने।
सीतकाल जल भीतर ठाढ़ी आवत नाहिं दयाने॥
तुम व्रजराज-कुमार प्रबल अति, कौन परी यह बाने।
हम सब दासि तिहारी व्रजपति तुम अति निपट सयाने।

ह० न० भा०

ब्रजपाल भट्ट

ब्रजपाल भट्ट 'कलानिधि' के पौत्र और द्वारकानाथ भट्ट के पुत्र थे। इनका दूसरा नाम चुन्नीलाल भट्ट भी था। ये भी ब्रजनिधि की 'भक्त कवि बाईसी' में से एक थे एवं संगीत के बहुत बड़े ज्ञाता थे। 'ब्रजनिधि' के समय में रचित संगीत के बृहद् ग्रन्थ 'राधा-गोविन्द-संगीतसार' के रचयिताओं में ये प्रमुख थे।

इनके ज्येष्ठ पुत्र मण्डन भट्ट ने अपनी कृति "रावल चरित्र" में इसका उल्लेख किया है—

तिनके सुत ब्रजपाल हुआ कविकलन के गेह ।
श्रीप्रताप महाराज तौं बाढचौ निस दिन नेह ॥

कियो राधा गोविन्द के नाम नयो संगीत ।
प्रीति पाय महाराज की पाय सुरन की रीत ॥

"राधा गोविन्द संगीत सार" ग्रंथ के मूल प्रेरणा स्रोत स्वयं 'ब्रजनिधि' रहे हैं। इस ग्रन्थ की रचना में नंदकिशोर तिवारी, ब्रजपाल भट्ट, श्रीकृष्ण एवं रामराय मिश्र का योगदान था, किन्तु ग्रन्थ-रचना में महत्वपूर्ण भूमिका ब्रजपाल भट्ट की ही रही है। इस विशाल ग्रन्थ में संगीत के सभी अंगों का पूर्ण विवेचन हुआ है। यह संगीत का अद्वितीय ग्रन्थ है। इसका रचना काल सं० १८३७-३८ है। ग्रन्थ में कुल सात अध्याय है, जिन्हें स्वर, वाद्य, नर्तन प्रबन्ध, प्रकीर्ण, ताल एवं रागाध्याय नाम दिया गया है।

चुन्नीलाल भट्ट के निम्नांकित ग्रन्थों की सूचना मिलती है—

१. राधा-गोविन्द-संगीत-सार, २. महाभारत का छन्दानुवाद, ३. चाह-पचीसी, ४. मीराजी की लीला, ५. ग्रीष्म-विलास।

नमूने के लिए इनकी रचना के दो छन्द प्रस्तुत हैं—

(१)

कोऊ पति पास कोऊ सासन की त्रास कोऊ,
जेंवत निवास कोऊ अंग के जिलन को।
तामें सुनि बाँसुरी को पेम मैं मगन भई,
पट न सँभारै धीर धारैं न दिलन को ॥

रोके न रहत तिन्हें गहि गहि हारें सब,
त्रिन सम तोरि चलीं लाज के किलन को।
हरबर गई घरबर सुधि भूली तिय
दरबर धाईं हरिबर के मिलन को ॥

(२)

आई हौं खरक मांझ गाइ के दुहावन को,
आइ गयो मेह दूर रहिगो सहरिया।
चमकत बिज्जु 'ब्रजपाल' अकुलात मन,
ऐसो नहिं दूजो करे छिन को महरिया ॥

अब ही रँगाइ दीन्हीं मां ने बहु दाम देकैं,
जाको है फिकर जामे रंग है गहरिया।
तुम सम स्याम नहिं कोऊ इहि ओसर में
खौंहीं में बचाय मेरो लीजिये लहरिया ॥

ग० मि०

ब्रजभान किशोरी

जोधपुर के महाराजा तखतसिंह की रानी ब्रजभान किशोरी श्रीकृष्ण की उपासिका थीं। इन्होंने विविध राग-रागनियों में श्रीराम और श्री कृष्ण की लीलाओं का गुणगान किया है। इनकी भाषा ब्रज मिश्रित राजस्थानी है। पदों में ये अपनी छाप पतिदेव के ही नाम तखतराज रखती थीं। उदाहरण के लिए एक पद प्रस्तुत है जिसमें गायों को चराकर लौट रहे गोपाल के रूप-सौन्दर्य का चित्रण किया गया है—

धेनु संग आवत स्याम बिहारी।
अंग रज छाजत छुवत नैनन में छरी कंज कर धारी ॥
निरखत नंद ग्वाल सब निरखत-निरखत सबै ब्रजनारी।
गुंजमाल उर माला फूलन की वंसीधर सुर भारी।
तखतराज नंदलाल कुंवर कूं, निरखत नैन निहारी ॥

ज० सिं० परि०

ब्रजभूषण (प्रथम)

ब्रजभूषणजी ने गुरु मुकुन्ददेवजी के पश्चात् गद्दी को अलंकृत किया था। संवत् १४८५ ई० में शुक्ल पक्ष दशमी को गुरु मुकुन्ददेव ने इनको अपनी शरण में ले लिया और वैष्णवी दीक्षा प्रदान की। ये काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा मिथ्या वचनों से हमेशा दूर रहते थे। ब्रजभूषणजी हरि के प्रसाद के अतिरिक्त मुँह में और कुछ नहीं रखते थे। इनके हृदय

में दम्पत्ति के प्रति नित्य नवीन प्रेम उमड़ता रहता था। इनकी रहनी का चित्रण इन शब्दों में किया गया है —

> नित दम्पत्ति को लाड़ लड़ावै,
> मानस भाव सदा उर लावै।
> कबहूँ व्रज में बिचरि जु आवै,
> व्रज लखि बहु प्रमुदित ह्वै जावैं॥
>
> कबहूँ श्री यमुना के तीरा,
> बैठे ध्यान करें मति धीरा।
> सदा मधुर मुख वचन उचारैं,
> मानौं वर्षंत मधु की धारैं॥

इससे स्पष्ट है कि ये उच्चकोटि के धाम सेवी भावासक्त कृष्णोपासक थे।

प्रे० ना० श्री०

ब्रजभूषण (द्वितीय)

ब्रजभूषणजी (द्वितीय) महाराज छत्रसाल के आश्रित कवि तथा शिष्य थे। अपनी प्रसिद्ध रचना "वृतान्तमुक्तावली" में एक स्थान पर ये स्वयं कहते हैं—

> एहि विधि खोज पर पथि मांहि,
> मत देवचन्द्र सतगुरु को गायो।
> नाद पुत्र तेहि छत्रसाल नृप,
> तेहि शिष्य ब्रजभूषण कछु पायो॥

छत्रसाल के आश्रित दरबारी कवि के रूप में इनका उल्लेख मिलता है। मिश्रबंधुओं ने ब्रजभूषण गोस्वामी को बल्लभाचार्य का अनुयायी बताया है और रचनाकाल अनुमानतः १८०० वि० सं० दिया है। वहीं पर उन्होंने ब्रजराज बुन्देलखण्डी का भी उल्लेख किया है और उनका जन्मकाल १७७५ वि० सं० दिया है। इस ग्रंथ में इनके जीवन संबन्धी कोई विवरण नहीं दिया गया है। इनके लौकिक जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है क्योंकि अभी तक इनका कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं मिला है जिससे इनके जन्म तथा निवास स्थान का पता लगे। हाँ, इनकी रचनाओं के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये बुन्देलखंड के निवासी थे। इनका रचनाकाल वि० सं० १७५५ के लगभग माना जा सकता है। यशवंतलाल सी० दलाल के अनुसार ये पंडित बद्रीदासजी के पुत्र थे। स्वामी प्राणनाथ जब पन्ना आये तब सुन्दर, बल्लभ और पं० बद्रीदासजी तीन पंडित थे और वे तीनों शास्त्रार्थ में पराजित होने पर स्वामी प्राणनाथ के शिष्य हो गये थे।

उन दिनों ब्रजभूषण काशी में विद्याभ्यास कर रहे थे। इन्होंने पिता की पराजय के बारे में जब सुना तब बदला लेने के लिए पन्ना आ गए। प्रारम्भ में छत्रसाल से ही शास्त्रार्थ हुआ। उसमें पराजित हो जाने पर इन्होंने छत्रसाल का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। इनका जन्म पन्ना में ही हुआ था, इस सन्दर्भ में एक उक्ति है—

> **भये पन्ना में कई भूषण, भूषण में भी कई भूषण।**
> **ऐसे भये ये कुल भूषण, जो हो गये हैं ब्रजभूषण॥**

इतना स्पष्ट है कि भूषण और ब्रजभूषण दो अलग-अलग कवि थे। ब्रजभूषण की तीन रचनाएं बतायी जाती हैं—१. वृत्तान्त-मुक्तावली, २. परात्पर-दीपक [गद्य] और ३. श्री प्राणनाथ जी का जीवन चरित्र [संस्कृत में]। "वृत्तान्त मुक्तावली" के प्रारंभिक भाग में ३५ प्रकरणों तक गुरु देवचन्द्रजी का वर्णन है, ३६ वें प्रकरण से ६५ प्रकरण तक स्वामी प्राणनाथ का जीवन चरित्र और ६६ से ८० प्रकरणों तक पन्ना, छत्रसाल एवं सांप्रदायिक तत्वों की चर्चा की गई है। परिशिष्ट में ११ प्रकरण हैं। इस प्रकार "वृत्तान्त मुक्तावली" में ८० प्रकरण और ४६७५ चौपाइयाँ हैं। परिशिष्ट भाग में दी गई अष्ट प्रहर की बीतक की ९७० चौपाइयाँ जोड़ने से उक्त ग्रंथ की छंद संख्या ५६४५ (चौपाइयाँ) हो जाती है। यह बीतक भी तीनों स्वरूप की है।

प्राणामी संप्रदाय में इनका नाम अत्यन्त आदर एवं श्रद्धा के साथ लिया जाता है। ये उच्चकोटि के

विद्वान् थे। ब्रजभाषा में इनकी थोड़ी-सी रचनाएँ सांप्रदायिक सिद्धान्त संबंधी प्राप्त होती हैं। प्रणामी-संप्रदाय की रसोपासना का स्वरूप और देवचन्द्रजी का नामोल्लेख इनके निम्नलिखित पद में मिलता है—

अखंड नित्य वृन्दावन भाख्यो,
सो हरिदास चित्त में राख्यो ॥

ताकी चरचा करें प्रेम सों।
सेवें नित आचार नेम सों ॥

निज शिक्षा गुरु और बताई।
सो देवचन्द्र चित्त सों लाई ॥

अपनी सखी भाव करि लीजै।
पुरुषभाव अपनो तजि दीजै ॥

श्रीकृष्णचन्द्र जानौ गुरु आपन।
श्यामा निज उपासना थापन ॥

सखी बिना इत पुरुष न पहुँचें।
कोटि कष्ट करि जो मन सोचै ॥

तातें सखी भाव करि लीजै।
पुनि यह नाम मंत्र रस पीजै ॥

न० पं०

ब्रजभूषण (तृतीय)

ब्रजभूषण (तृतीय) कांकरोली के निवासी थे तथा सं० १७६५ से १८३३ के मध्य विद्यमान थे। कांकरोली में वल्लभ सम्प्रदाय की गद्दी है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि ये उसी गद्दी के गोस्वामी रहे होंगे। कांकरोली के सरस्वती भण्डार में इनकी तीन रचनाएँ सुरक्षित हैं—१. दानलीला, २. सांझी कीर्तन, ३. नीति विनोद भाषा। यहाँ पर प्रारम्भिक दोनों रचनाओं से इनकी कविता के उदाहरण दिये जा रहे हैं—

(१)

दानलीला

अहो प्यारी मनिन जटित की एंडुरी
और रतन जटित को माट।
दधि ले चली चन्द्रावली
अहो मोहन रोक्यो घाट हो ॥
व्रषभान लड़ैती दान दे ॥
अहो प्यारी को लकुटी आड़ी करे
और कोन सके कहि बात।
रस ही रस बस हो गए
मेरे सुफल भए सब गात हो ॥
ब्रषभान लडैती दान दे ॥

(२)

साँझी

सुनहु कुँवरि ब्रखभान की हम सब आईं ब्रजनारि हो।
तुम नित जात फूल बीनन को पूजन साँझी हेत।
आज सबै ब्रजवनिता तुम संग चलिहैं कहो संकेत हो ॥
सुनत बिहँसि उठी कुँवरि राधिका गई कीरति के पास।
आज सबै ब्रजनारि हमारे संग चलत गहि आस हो ॥

(३)

ललिता निरखि परम सुख पायो उर आनंद न समाई हो।
देत असीम सदा यह जोरी सुख विलसो मन भाई हो।
लीलाललित श्यामश्यामा की बरनि न जाई हो।
श्री बल्लभपद रज प्रताप ते ब्रजभूषन कछु गाई हो ॥

कृ० चं० ला०
वा० सिं०

ब्रजराज पण्डित

ब्रजराज पंडित वाराणसी के निवासी मालवीय ब्राह्मण थे और १९ वीं शताब्दी में विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती।

इनकी एक रचना 'दान-लीला' का पता चला है जिसका लिपिकाल सं० १९११ है। इसमें श्रीकृष्ण द्वारा गोपिकाओं से दान माँगने का वर्णन है। रचना दोहा-चौपाई छन्द में है और साधारण स्तर की है। यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१)

प्रभु पुरन प्रेम अखंडा । जाके रोम कोटि ब्रह्मंडा ॥
जब सरगुन ब्रह्म कहाए । मथुरा ते वृन्दावन आए ॥
जहँ देव लोक सब जेते । सब गोप गुआलिनी तेते ॥
देवकी सुत नाम धराए । बसुदेवहि रूप देखाए ॥
तब गोकुल ईछा कीन्हा । वसुदेव ही अओ दीन्हा ॥

(२)

क्रीस्न घंट बजाई आरती जोत बंदन सब करै ।
'व्रिजराज पंडित' प्रसाद पावै जन्म-जन्म को दुख हरै ॥
जो नर गावैं दान लीला सुनहि और सुनावही ।
अनेक जन्म को पाप नासै क्रिस्न लोक सिधावही ॥

वा० सिं०

ब्रजराय गोस्वामी

श्री ब्रजराय गोस्वामी अहमदाबाद के निवासी थे। ये सं० १८५० के आसपास विद्यमान थे। इनकी एक रचना 'नित्यसेवा विधि' प्राप्त हुई है जिसमें पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्तों के अनुसार प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक के दैनिक कार्यों एवं भगवत् सेवा का वर्णन किया गया है।

वा० सिं०
कृ० चं० ला०

ब्रजलाल बोहरे

बोहरे ब्रजलालजी (श्री ब्रजभूषणशरणदेवजी) का जन्म वि० सं० १९२९ की कार्तिक-कृष्णा चतुर्थी को अलीगढ़ जिले के 'फौजुवा' नामक ग्राम में हुआ था। ये जाति के पालीवाल ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम श्री जयकृष्णदास था। ये श्री दामोदरदास के कृपापात्र थे। श्री दामोदरदासजी वृन्दावन-निवासी एक प्रसिद्ध महात्मा थे।

बोहरे ब्रजलालजी का विवाह १६ वर्ष की अवस्था में हुआ था। इनके कई पुत्र एवं पुत्रियाँ हुईं। इतना सब कुछ होते हुए भी इनका मन गृहस्थी के झंझटों में नहीं लगता था। ये श्री श्यामा-श्याम के दर्शनों को लालायित रहते थे। एक दिन ये घर-बार छोड़कर वृन्दावन आ गये। यहाँ आकर टट्टिया संस्थान के सरोवर नामक स्थान पर ठहरे। इस आश्रम में इन्होंने तीन वर्ष तक निवास किया। इसी समय इनके पिताजी इन्हें आग्रह पूर्वक पुनः ग्राम लौटा ले गये। किन्तु इनका मन ग्राम में किस प्रकार लगता ? ऐसी स्थिति में ये कुछ दिन वृन्दावन रहते एवं कुछ दिन ग्राम में। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् इन्होंने समस्त सम्पत्ति का प्रबन्ध संभाला। इतना बड़ा भार सिर पर होते हुए भी इन्होंने वृन्दावन का निवास नहीं छोड़ा। जब पुत्र संभालने योग्य हो गये तो इन्होंने घर-बार का परित्याग कर वृन्दावन अपना निवास स्थान बना लिया।

ये रासलीला एवं 'श्री महावाणी' के अनन्य प्रेमी और रसिकों की वाणियों के ज्ञाता एवं अच्छे प्रवचन-कर्ता भी थे। इनकी वाणी में इतना ओज था कि धर्म विरोधी व्यक्ति भी नतमस्तक हो जाता था। इन्होंने श्रीरामकृष्णदासजी, श्री उड़िया बाबा, श्री ग्वारियाजी एवं हरिबाबा जैसे संत-महन्तों का सत्संग किया था। ४० वर्ष पर्यंत श्रीधाम वृन्दावन वास कर वि० सं० १९९७ में इन्होंने श्री श्यामा-श्याम के नित्य-निकुञ्ज धाम में प्रवेश किया।

इनके द्वारा रचित सैकड़ों पद एवं छन्द प्राप्त होते हैं जो रासमण्डलियों में प्रचलित हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ पद प्रस्तुत हैं—

(१)

(श्री राधाजी का कथन)

अहो मेरे लाल ! भामते प्रीतम ।
आनंद कंद किशोर मूरति प्रेमरस
घन-बरसने प्रीतम ॥
दिव्य चिदघन चारु मनोहर
हे उदार ! मेरे लाड़िले प्रीतम ।
चलो-चलो अब मंडल चलिये
रस ढरिये मेरे लाड़िले प्रीतम ।

(२)

(श्री श्याम का कथन)

प्रान प्रियतमा प्रियवरी प्यारी।
कलवैनी सुकुमारी हो।
तुमरी या मृदु बोलन पर हौं
तन, मन, धन देऊँ वारी हो ॥
कृपा मनाऊँ यह वर पाऊँ
तव सेवा अधिकारी हो।
बेगि पधारो अब पग धारो
परिकर की प्रतिपारी हो।

प्रे० ना० श्री०

ब्रजवल्लभदेव (बल्लभसखा)

ब्रजवल्लभजी का जन्म मथुरा के एक प्रतिष्ठित मैथिल ब्राह्मण परिवार में सं० १९१७ को तथा निधन सं० १९९२ में हुआ था। ये अंग्रेजी की नवीं कक्षा तक ही पढ़े थे, परन्तु घर पर संस्कृत, उर्दू और फारसी सीख ली थी। इनको कविता और चित्रकारी बालकृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित होती थी। इन्होंने उषा-चरित्र, रुक्मिणी मंगल, वीर अभिमन्यु, रामाश्वमेध, कृष्ण जन्म, शकुन्तला, कादम्बरो, रघुवंश आदि नाटक स्वयं लिखे और फिर उनका अभिनय भी किया। ये होली के अवसर पर राधा-बलदाऊजी की होली मंडली धूमधाम से निकालते थे। बंगाली घाट पर ठाकुर मदनमोहन (दाऊ) जी के मन्दिर में भारतेन्दुजी से इनकी भेंट हुई थी। श्रीधर पाठक भी इनसे मिले थे। इन्होंने श्रीमद्भागवत गीता का पद्यानुवाद एक वर्ष मौन धारण करके किया। ब्रजबल्लभजी के संबंध में 'प्रेमप्रीतिमाला' नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना में वियोगी हरिजी ने लिखा है—

'ब्रजवल्लभजी के अनन्य सखा श्री वल्लभजी ने यह 'प्रेम प्रीतिमाला' भावना निकुंज के सरस सुमनों को चुन-चुनकर गूँथी है। यह छोटी-सी पुस्तिका कैसी मंजुल है, कैसी कोमल है और कैसी हृदयहारिणी है—पढ़ने से ही प्रकट होता है। स्मरण आता है कि ब्रजविहारी अवश्य इस माला को ग्रहण करेंगे, ऐसी मेरी धारणा है। सहृदय वल्लभजी ब्रज के धूल भरे हीरे हैं, सचमुच आप मनमौजी या मस्तराम हैं।''

सं०

ब्रजवासीदास

ब्रजवासीदास वृन्दावन के निवासी तथा वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनका जन्म सं० १७९० वि० के लगभग हुआ था। इनके गुरु श्री मोहनजी गोसाइँ गोकुल के निवासी थे। इन्होंने सं० १८२७ में 'ब्रजविलास' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद भी किया था। 'पुरातन कथा' नामक एक ग्रन्थ भी इनकी ही रचना कही जाती है। इसमें माता यशोदा ने श्रीकृष्ण को रामचरित्र सुनाया है।

ब्रजवासी दास संस्कृत तथा हिन्दी के विद्वान् थे। इन्होंने पुराणों का भी गहरा अध्ययन किया था।

'ब्रजविलास' ब्रजवासीदास कृत एक वृहत् काव्य ग्रन्थ है। इसमें कृष्ण जन्म से कंस वध तक की कथा वर्णित है। ग्रंथ के आरम्भ में रचना काल की ओर संकेत किया गया है –

संवत शुभ पुराण शत जानौ,
तापर और नक्षत्र हि मानौ
माघ सुमास पक्ष उजियारा,
तिथि पंचमी सुभग शशिवारा ॥

ब्रज विलास, पृ० १०

अर्थात् ग्रन्थ का रचना काल माघ शुक्ल पञ्चमी चन्द्रवार सं० १८२७ वि० है।

ब्रज विलास को अध्यायों में न बाँटकर लीलाओं में विभाजित किया गया है। इन लीलाओं की संख्या इक्कीस है। मुख्य अध्याय ये हैं—कृष्ण जन्मोत्सव, पूतनावध, कागासुर वध, शकटासुर वध, तृणावर्त वध, बरसगाँठ लीला, चन्द्रप्रस्ताव, शालग्राम लीला, माखन चोरी, दामरो बंधन, वृन्दावन गमन, वत्सासुर वध, वकासुर वध, राधाजू के प्रथम मिलन की लीला, अघा-

सुर वध, धेनुकवध, कालियदमन लीला, दावानल वर्णन, प्रलम्बासुर वध, पनघट लीला, चीरहरण, गोवर्द्धन लीला, दानलीला, स्नान लीला, प्यारी-मिलन-लीला, नयन अनुराग लीला, रासलीला, मन चरित्र लीला, फाग वर्णन लीला, सुदर्शन-शाप-मोचन लीला, केशी वध लीला, व्योरापुर वध लीला, मथुरा गमन लीला, रजक वध लीला, कंसासुर वध, ब्रज की विरह लीला, उद्धव की ब्रज आगमन लीला।

उपर्युक्त लीलाओं को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में बाँटा गया है। पूर्वार्द्ध मंगलाचरण से दानलीला तक है, शेष उत्तरार्द्ध है। पूर्वार्द्ध में श्री कृष्ण की बाल्यावस्था का वर्णन है तथा उत्तरार्द्ध में किशोरावस्था का। सम्पूर्ण ग्रन्थ कृष्ण के प्रेम व्यापार वर्णन से सम्बद्ध है। कथा भागवत के आधार पर ही है।

ब्रजवासीदास भक्त जीव थे। इन्होंने अपने इष्टदेव की पवित्र गाथा का अध्ययन अनेक ग्रन्थों से किया तथा उस कथा को ब्रजविलास में सँजोकर रख दिया। इन ग्रंथों में श्रीमद्भागवत, सूरसागर तथा गीत गोविन्द प्रमुख हैं।

ब्रजवासीदासजी कृष्ण के अनन्योपासक थे। इनके दृष्टिकोण के अनुसार कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। राक्षसों के संहार तथा गौओं के उद्धार के लिए पृथ्वी पर उनका अवतरण हुआ। वे देवकी-वसुदेव के पुत्र ही नहीं अपितु सारी सृष्टि के पालनहार हैं—

पुनि भगवान अनादि अज, ब्रह्मसच्चिदानंद।
प्रगट भये वसुदेव गृह निज इच्छा सुखनन्द॥

(ब्रजविलास, पृ० ४)

ब्रजवासीदास राम-कृष्ण को एक मानते थे। कृष्ण ही पहले युग में राम थे। जिस समय यशोदा ने कृष्ण को रामायण की कथा सुनायी, सीताहरण वृत्तान्त सुनते समय उन्हें अपने पूर्वावतार राम के समान ही कष्ट हुआ—

रावण हरन कियौ तब नारी,
सुनत श्यामघन नींद बिसारी।
चौंक कह्यौ लक्ष्मण धनु देहू,
देखि भयो यशुदाहि सन्देहू॥

(ब्रजविलास, पृ० ९७)

श्री ब्रजवासीदास की भक्ति की आधारशिला प्रेम है। इन्हें प्रेम के बिना सारा संसार सूना दृष्टिगोचर होता है। प्रेम-शून्य आत्मा को ये निकृष्ट मानते हैं। प्रेम का सबसे तीव्र रूप प्रेमी-प्रेमिका की एकात्मता में होता है। अतः ये आत्मा तथा परमात्मा के बीच इसी प्रकार का प्रेम श्रेष्ठतम समझते हैं। इनकी दृष्टि में गोपी प्रेम आदर्श है।

'ब्रजविलास' की कथा सुव्यवस्थित तथा सारी घटनाएँ क्रमबद्ध हैं। समस्त कथा के केन्द्र-बिन्दु कृष्ण हैं। कृष्ण के चारों ओर ही कथा का ताना-बाना बुना गया है।

ब्रजवासीदासजी ने 'ब्रज-विलास' में व्रजभाषा का प्रयोग किया है। भाषा सरस, सुव्यवस्थित तथा चलती हुई है। व्यर्थ शब्दों की भरती न होने से उसमें सफाई भी है। कवि ने इसमें नाटकीयता का भी समावेश किया है। अधिकतर व्रजभाषा के प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया गया है, पर साथ ही कुछ तत्सम शब्द भी हैं। इसमें तीन छन्दों का प्रयोग किया गया है—दोहा, सोरठा और चौपाई। कहीं-कहीं गीतिका, हरिगीतिका तथा चौपाई आदि छन्दों की भी योजना मिलती है।

इससे कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—

(१)

प्रथम कृष्ण को तात मनाऊं।
श्री वसुदेव चरन सिर नाऊं॥
बहुरि देवकी पद जल जाता।
बंदन करौं कृष्ण की माता॥
इन्हते और कौंन बड़भागी,
ब्रह्म धर्‌यो नर तन जेहि लागी॥
बंदौं नन्द महर के चरना।
सहित जसोमति मंगल करना॥

जिन्ह की महिमा भाग्य बड़ाई ।
निगमागम सिव सारद गाई ॥
बंदौ रोहिन पद जल जाता ।
कृष्णाग्रज बलदेव की माता ॥
कीरति युत वृषभान गोपवर ।
बंदौ चरण कमल रज सिर धर ॥
चरण कमल उरधार, श्री राधानन्दलाल के ।
सुन्दर दास अगार, व्रज विलास अब बरनिहौं ।

(२)

सुधि बुधि कछू देह की नाहीं ।
रहत बावरी ज्यों घर माहीं ॥
कबहुँक कृष्ण कृष्ण रट लावै ।
कबहुँक नाम आपनो गावै ॥
विबिदिशि अग्नि काठ हम जैसे ।
सहत बिरह दुख दुहुं दिशि तैसे ॥
लहत न क्यों हूँ शीतलताई ।
कबहुँ रहत मौन शिरनाई ॥

(३)

यद्यपि समुझाये बहुत, हम करि मनहिं कठोर ।
तदपि न कबहूँ भूलई, उद्धव नन्द किशोर ॥
क्यों सुख पावै प्रान, पलक लगत तव सहन नहिं ।
लागें वर्ष विहान, अब बिन देखे श्याम के ॥

(४)

श्याम उंगरियन अन्तर माहीं ।
चंचल नैन दुरे दरशाहीं ॥
मरकत मणि पिंजरा मैं मानों ।
तरफरात बिच खंजन जानों ॥
केसर आड ललाट सुहाई ।
मनहुँ रूप की पाढ़ बधाई ॥
चपल नैन बिच नाक सुहाई,
सोभित अधरन की अरुणाई ॥
मनौ युगल खंजन शुक शोभा ।
देखी एक बिम्बफल लोभा ॥
श्रमित श्रमित जो त्रासते, चपल सजल दृगकोर ।
मनहुँ मीन बंसी बिधे, करत सलिल झकझोर ।

(५)

यह ब्रजविलास हुलास सो
नर नारि सुनहि जे गाइहैं ।
सीखहिं सिखावहि पढ़हि रुचि करि
प्रेम मन उपजाइहैं ॥
धरि भाव भरता कृष्ण सो
उर कमल पद चित लाइहै ।
हरि राधिका परसाद ते
बृज गोपिका गति पाइहै ॥
पूरन सकल मन काम सब
सुख धाम जस नन्दलाल को ॥
दरन दारिद दोख दुख
भौ भै हरन जम काल को ॥
यह जानि गावहिं सुजन गायो
जिन्हन्ह आनन्द पर लह्यौ ॥
तिन्ह की कृपा बल पाय येक
"दास व्रजवासी" कह्यौ ॥

स० गु०
वा० सिं०

ब्रजाभरण दीक्षित (गोस्वामी)

ब्रजाभरणजी दीक्षित गुजरात के निवासी तथा वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—'प्रभु पूर्ण पुरुषोत्तम को रूप तथा गुण नाम वर्णन' और 'वल्लभाख्यान-सटीक'।

इनकी प्रथम रचना में श्रीकृष्ण के चरित्र व गुणों का वर्णन है और 'वल्लभाख्यान-सटीक' में महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा गोसाईं विट्ठलनाथ के चरित्र का वर्णन है। मूल ग्रन्थ गुजराती भाशा में है, जिसकी प्रस्तुत टीका ब्रजभाषा गद्य में की गई है।

वा० सिं०

ब्रह्मगोपाल

चैतन्य सम्प्रदाय में दो ब्रह्मगोपाल हुए हैं—दोनों ही रामराय प्रभु के अनुज चन्द्रगोपाल के वंशज हैं। दोनों के पिता का नाम राधिकानाथ था।

बड़े ब्रह्मगोपालजी की ब्रजभाषा-रचनाओं के नाम 'अष्टयाम' और 'श्री हरिलीला' है।

छोटे ब्रह्मगोपालजी ने ब्रजभाषा गद्य में 'बारह वैष्णवन की वार्ता' लिखी जिसमें इन्होंने अपने पूर्वज श्री रामराय प्रभु के बारह शिष्यों का वृत्त दिया है। इसका रचनाकाल सं० १८२७ है। इनकी ब्रजभाषा की दो पद्य रचनायें भी मिलती हैं—श्री यमुनाष्टपदी और श्रीवृन्दावन विलास।

सं०

ब्रह्मदास (प्रथम)

ब्रह्मदास (प्रथम) का जन्म अठारहवीं शताब्दी में जैसलमेर जिले के माड़वा ग्राम में हुआ था। ये बीठू शाखा के चारण तथा दादू-पंथी सन्त थे। इनका लिखा 'भगतमाल' ग्रन्थ भक्त-समाज में श्रद्धा से पढ़ा जाता है। 'भगतमाल' की गणना डिंगल की सुन्दर तथा संग्रहणीय भक्ति रचनाओं में होती है। पाँच 'भगतमाल' कृतियों में भक्त कवि ने परमात्मा के विविध अवतारों और भक्तों पर समय-समय पर ईश्वर द्वारा की गई अनुकम्पाओं का सरस वर्णन किया है। उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण की भक्तवत्सलता विषयक एक छन्द यहाँ दिया जाता है। इसमें श्रीकृष्ण द्वारा द्रौपदी का चीर बढ़ाने तथा नरसी भक्त का माहेरा भरने का रोचक वर्णन है—

करड़े मचकूर चले कब चौमोय
जात मुरार हजूर जठै।
रथ वाहण झूर रयो बिच
रोहिय तूट थयौ महमूर तठै ॥
धरियो कंध दूर हुवे जद
धमल दीध मनोरथ पूर दरै।
प्रहियां व्रद लाज उवारण
गोविन्द काज इसा महाराज करै ॥
नहचै मन राख लियौ नरसी गैय,
हुँडिय समरथ जाँण हरी।
वण सांवल वाच वखांण भली विध
कंठ लगाय प्रमांण करी।
न भरैं जद बात रसांण न आवै,
साहपणै किम हांम सरैं ॥

चौथी 'भगतमाल' में भक्त कवि ने प्रह्लाद की रक्षा तथा गजेन्द्र मोक्ष के परिप्रेक्ष्य में श्रीकृष्ण की कृपाशीलता का वर्णन किया है—

प्रसण हुय प्रहलाद ऊपर हर दिखाये हत्थ।
पाड़ सब्बल दैत पाड्यौ करण अद्‌भुत कत्थ ॥
तो समरत्थ जो समरत्थ सारी बात हर समरत्थ।
ग्राह पकड़े खाँच गाढौ सलल फिरग्यौ सीस ॥
तज गरुड़ गजराज तारे बात बिसवाबीस।
तो जगदीसजी जगदीस, जन कज दौड़ण जगदीस ॥

सन्त ब्रह्मदास रचित यह 'भगतमाल' पश्चिमी राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध है। दैनिक पूजा-पाठ के समय लोग इसके छन्दों का पाठ करते हैं।

ज० सिं० परि०

ब्रह्मदास (द्वितीय)

महात्मा ब्रह्मदासजी (द्वितीय) पुष्टिमार्ग के उन वैष्णव कवियों में शीर्षस्थ थे, जिनका भावयोग मानसी सेवा के लिए परिपक्वावस्था प्राप्त कर लेता है। महात्माओं में दूसरे के मन की बात समझना उनका अपना सहज योग होता है। जाति के क्षत्रिय होते हुए भी ब्रह्मदासजी अपने सात्विक स्वभाव के कारण गोस्वामी गोकुलनाथजी के प्रभाव में आये थे और इन्होंने उनके पिता गोस्वामी विट्ठलनाथजी से पुष्टिमार्गीय दीक्षा ग्रहण की थी।

श्री ब्रह्मदासजी गोवर्धन के निकट गोपालपुर के रहनेवाले थे। श्री गोवर्धन में मानसी गंगा के तट पर गौड़ीय सम्प्रदाय के अनुयायी एक वैष्णव रहते थे। वे महात्मा ब्रह्मदासजी के मित्र थे। एक दिन उन्होंने दूध के ऊपर मट्ठे का पान कर लिया, अतः ज्वराक्रान्त हो गये। महात्मा ब्रह्मदासजी ने अपनी नित्य बैठक के समय सायंकाल में आकर उन्हें ज्वराक्रान्त देखा,

तो अपनी मानसी सेवा के प्रताप से उनके द्वारा किये गये कुपथ्य का विवरण कह सुनाया। यह सुन कर चैतन्य-सम्प्रदाय के उक्त साधु इनके अन्तर्यामी रूप से परिचित हुए और उस दिन से श्री ब्रह्मदासजी को परम वैष्णव समझने लगे।

ब्रह्मदासजी को मानसी सेवा सिद्ध थी। गोस्वामी गोकुलनाथजी के सदुपदेशों से प्रेरित होकर और महाप्रभु वल्लभाचार्य के कथन—"कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परामता।"—से प्रभावित होकर गोवर्धन के मानसी तट पर रहते हुए श्री ब्रह्मदासजी सदैव समाधि में डूबकर श्रीकृष्ण लीला का गान किया करते थे। इनके दो पद यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१)

बीच ही मिल्यों है साथ बीच ही होत बिहात,
दारा सुत मीत बंधू जिहीं भलो भाखिये।
हाटक हैबर हाथी कौन के भये हैं साथी,
लाख बेर लखि-लखि यहै अभिलाखिये।

ब्रह्मदास नाथ ही सों नीको नातो नीके चलि,
विषय विष बिसराय पीयूष ये चाखिये।
साथ ही रहे सो साथ छोड़े न छिड़ाये छिनु,
साथ आवें साथ जाय सोई साथ राखिये।

(२)

राग-विहाग

सखी री होत कहा समुझाएँ।
नैन वैन थकि रहे री निरखि छवि,
मन पर्‌यौ हाथ पराएँ॥
गड़ी फोर उर बंक बिलोकन,
कटत न क्यों हू कटाएँ।
'ब्रह्मदास' तबही भले जीवन,
मोहन मदन दिखाएँ॥

इस प्रकार ब्रह्मदासजी का वैराग्यपूर्ण जीवन-दर्शन एवं अनुरागमयी भक्ति-भावना उनके प्रत्येक भावोद्गार में व्यक्त हुई है। श्री राधा-कृष्ण को युगल छवि में ही अपनी भाव तन्मयं स्थिति को सुदृढ़ बनाने का योगाभ्यास करते रहना महात्मा ब्रह्मदास की नित्य चर्य्या थी। ये श्रीकृष्ण को ही अपने अन्तस्तल में रखना चाहते थे क्योंकि वैष्णवों से साथ तो श्रीकृष्ण तत्त्व ही आया है और वहीं साथ जायेगा।

रा० कृ० श०
रा० कु० व०

ब्रह्मनिवास

स्वामी रामरूप (शिष्य चरणदास) के शिष्य ब्रह्मनिवासजी की मात्र एक रचना 'सबद' प्राप्त हुई है, जो निश्चय ही वि० संवत् १८४७ के पूर्व रची गई है। इन्होंने विरह, प्रेम, उलटबाँसी, चेतावनी, गुरु-महिमा विषयक अनेक पदों की रचना की है, किन्तु मुझे इनके कुल २६ पद प्राप्त हुए हैं। विरह और प्रेम के पद इनके बड़े ही मर्म भरे और सरस हैं। वहाँ को जगमग ज्योति का और मुरली की अनहद तान का इन्होंने बड़ा ही सरस वर्णन किया है। इनके दो पद प्रस्तुत हैं-

(१)

आली मन मोहि लियौ नटनागर नन्दकिशोर।
मुरली बजाय कियो टौंनां सो ले गयो चित कूं चोर॥
बौरी भई सुध रही न तन की दौरी फिरूं चहूँ ओर।
है कोई मित्र हमारो सजनी मोहि दिखावै ठौर॥
बढो रहत कदम की छाइं मोर मुकुट छवि जोर।
गावत राग रागनी सुंदर दे बंसी की घनघोर॥
घर अंगनां मोहि कछु न सुहावै चैंन नहीं निस भोर।
बिरह बिथा की गासी लागी गई कलेजे फोर॥
'ब्रह्मनिवास' पिया बिन देखैं जीवन नां कछु मोर।
रामरूप गुर आंन मिलावो मोहन चित का चोर॥

(२)

दरस की प्यासी री मैं तो
छिन छिन छिन बेहाल।
क्या जानूं कब मोहि मिलैंगे
मोहन स्याम बिलासी री।

अब व्याकुल मन धरत न धीरज
विरह वियोग उदासी री।
मोर मुकट कुंडल की झलकैं
चुभत कलेजैं गासी री।
भई घायल मायल छवि देखत
परी प्रीत गल फांसी री।
'ब्रह्मनिवासी' तुम रंगराती
मैं हूँ कृस्न उपासी री।
यह दुख दरद दया करि मेटो
रामरूप सुखरासी री॥

म० गो० भा०

ब्रह्मानन्द गोस्वामी (प्रथम)

ब्रह्मानन्दजी (प्रथम) का जन्म हरिदासी संप्रदाय के गृहस्थ गोस्वामी वंश में हुआ था। इस सम्प्रदाय में इस नाम के कई महानुभाव हुए हैं। इसी अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ये ब्रह्मानन्द (प्रथम) के नाम से सम्प्रदाय में प्रसिद्ध हैं। इनके पिता का नाम श्री सुखानन्द गोस्वामी था। ये स्वामी हरिदासजी और गोस्वामी जगन्नाथजी की आठवीं पीढ़ी में हुए थे।

श्री ब्रह्मानन्दजी ने नित्यविहार सम्बन्धी पदों की रचना की है जिसमें श्री वृन्दावन एवं प्रिया-प्रियतम की दिव्य लीलाओं का वर्णन है। इन्होंने संस्कृत में स्वामी हरिदासजी की गृहस्थ परंपरा की वंशावली भी लिखी है। इस वंशावली के आरम्भ में इन्होंने लिखा है—"अथ अनन्त श्री रसिकाचार्य श्री हरिदासस्य कुलाम्नाय वंशावली लिख्यते।" वंशावली को समाप्त करते हुए इनके द्वारा लिखी गई पुष्पिका इस प्रकार है—"इति वंशावली समाप्तम्। विक्रमस्य सप्तदश-सप्तवत्सरोपरिनवसप्तेतिवत्सरे संवत् १७७९ मिती वैशाख—बदि ६ गुरुवासरे रचयिता गोस्वामी ब्रह्मानन्द।" उक्त पुष्पिका से इनका रचनाकाल सं० १७७९ के आसपास निश्चित हो जाता है। 'आचार्य चरितावली' में इनके सम्बन्ध में लिखा गया है कि ये सखी भाव की उपासना के सिद्ध स्वरूप थे और इन्हें श्री स्वामिनीजी का दर्शन हुआ था। इन्होंने एक तांत्रिक के मायाजाल को काटकर उसे भक्ति पंथ में दीक्षित किया और अपना शिष्य बनाया था। प्रसिद्ध है कि इन्होंने अनेक मद्यपों को मद्यपान से विरत कर साधना के मार्ग पर आरूढ़ किया। इस प्रकार स्वामी श्री हरिदासजी के वंश का विस्तार करने में ये प्रसिद्ध हुए। 'आचार्य चरितावली' में इनकी प्रशंसा निम्नलिखित रूप में की गई है –

श्रीस्वामी हरिदास बंस कौ जस बिस्तार्‌यौ।
मन, बानी अरु कर्म सहचरी-सुख सौं सार्‌यौ॥
अतिसय रूप स्वामिनी को नैननि दरसायौ।
संबरमाया भेदि दिगम्बर शिष्य बनायौ॥
ललित केलि में रंगमगे, ब्रह्मानन्द उदार अति।
जिनके शुभ उपदेस ते भई मधुप की विमल मति॥

इनके द्वारा संस्कृत में लिखी वंशावली अपने आप में श्री स्वामी हरिदासजी के भ्रातृवंशियों का एक प्रामाणिक आलेख है। ब्रजभाषा में इन्होंने प्रिया-प्रियतम की मधुर केलियों का सरस वर्णन किया है।

श० वि० गो०

ब्रह्मानन्द गोस्वामी (द्वितीय)

श्री ब्रह्मानन्द (द्वितीय) का भी आविर्भाव श्री स्वामी हरिदासजी की भ्रातृवंश परम्परा में हुआ था। ये श्री बाँके बिहारीजी की शयन भोग की शाखा में गोस्वामी श्री गणेशीलालजी के सुपुत्र थे। ये बड़े ही शान्त स्वभाव के मनमौजी महात्मा थे। गृहस्थी में रहते हुए भी ये उसके जंजाल से दूर रहते थे। हर बात में 'श्री बिहारीजी करेंगे सो होगा' यही इनकी रट थी।

गोस्वामी ब्रह्मानन्दजी ने संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों में ही सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है। उनमें मुख्य हैं—श्रीवृन्दावन महिमा, स्वामी हरिदास परिचयी तथा कुंजविहारी अष्टक। इनके अतिरिक्त इन्होंने अन्य कई प्रबन्ध-ग्रन्थों तथा पदावली की रचना की। 'आचार्य चरितावली' में इनका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

ब्रह्मानन्द दुतिय प्रिया प्रियतम रस पूरे ।
अमर गिरा ब्रजभाषा काव्य कला में सूरे ॥

श्रीस्वामी हरिदास परिचयी प्रनयी सुन्दर ।
वृन्दावन महिमा कहि गायो रूप जुगल वर ॥

औरहु छन्द प्रबंध किय, मेघ भयौ रस-वृष्टि कौ ।
सृज्यौ बिहारीलाल कौ "अष्टक" हर्षक कृष्टि कौ ॥

श० वि० गो०

ब्रह्मानन्द गोस्वामी (तृतीय)

ब्रह्मानन्द गोस्वामी (तृतीय) का आविर्भाव वृन्दावन में श्री नित्यानन्दप्रभु की गद्दी के प्रतिष्ठापक श्री परमानन्द एवं नन्दकिशोर गोस्वामी की चौथी पीढ़ी में हुआ था। ये अत्यन्त रूपवान, भक्तिशास्त्रों के मर्मज्ञ तथा संकीर्तन के महान् पण्डित थे। जब कभी ये अपने ताऊ श्री पूर्णानन्द गोस्वामी प्रभु के सुपुत्र नृसिहानन्द के साथ मिलकर खड़े हो भावभावित नृत्य करते, तो इन दोनों की नृत्य-भंगिमा को देख भक्तों की भीड़ लग जाती और उनके नेत्रों से अश्रुप्रवाह होने लगता। इनके कीर्तनानन्द में लोगों को समय का पता न लगता। कालगति रुक जाती।

ये अपने माता एवं पिता के उत्सवों को विशेष रूप से सम्पन्न किया करते थे। उस समय नवद्वीप ब्रजवासी के पिता श्रीकृष्णदास बाबा तथा उनके चाचा श्री गौरदास बाबा दोनों वृन्दावन के प्रसिद्ध गायक एवं कीर्तनिया थे। ये बड़े संतोषी थे। जो जैसा चाहता, सेवा कर देता, उसे ये मन से ग्रहण कर लेते। श्री प्रेमानन्द गोस्वामी पाद ने एक बार अपने शिष्य माधवदास से कहा था—'दादा (ब्रह्मानन्द) अपने प्रभाव से दो लाख से कम उपार्जन नहीं करते हैं, किन्तु एक भी पैसा अपने पास रखते नहीं।' सिद्ध जगन्नाथ दास बाबा के साथ इनकी गहरी मित्रता थी। एक बार जब ये श्री पाट पुरुनीया में निवास कर रहे थे, एकदिन अचानक इनका बड़ा पुत्र ठीक दोपहरी में चल बसा। प्रभुपाद उसी समय मध्याह्न काल का कृत्यादि करके उठे थे। सभी परिजन-स्वजनादि शोक-सागर में निमग्न हो रुदन कर रहे थे। किन्तु आपने उस ओर देखा तक नहीं और ठाकुर मन्दिर में चले गये। ठाकुर का भोग रखा और उसारा। फिर पुजारी से प्रसाद माँगकर पाया और अपना नित्य कृत्य पूरा करने के लिए मन्दिर में चले गये। पुत्र के मरने की घटना से वे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। बन्धु-बान्धवों ने उसका अन्तिम संस्कार किया। इसके पश्चात् अक्रोध परमानन्द प्रभुपाद के मुख से किसी ने इस प्रसंग में कुछ नहीं सुना।

एकबार उनके आश्रित किसी भक्त के चरित्र-दोष के सम्बन्ध में उनसे किसी ने कुछ कहा तब वे बोले—"भाई इसमें उसका क्या दोष है? दोष तो मेरा है। यदि मैंने यथा समय उसके सम्बन्ध में अपने कर्तव्य का पालन किया होता, तो मुझे यह बात क्यों सुननी पड़ती।" इतना कह उन्होंने उस व्यक्ति को बुलाया, उसे दस रुपये देकर कहा 'तुम कुछ दिन मेरी बहन के घर जाकर रहो। मैं बुलाऊँगा, तब आना।' एकबार गोबर्द्धन के सिद्ध कृष्णदास बाबा के शिष्य दूसरे सिद्ध कृष्णदास बाबा ने ब्रह्मानन्द प्रभुपाद को श्रीराधा की स्नान-शृंगार-लीला सुनाना प्रारम्भ किया। श्रोता और वक्ता दोनों ऐसे भाव-विभोर हो गए कि एक प्रातःकाल से दूसरे प्रातःकाल तक निरन्तर श्रीराधा रसार्णव में डूबते-उतराते रहे। श्री प्रभुपाद राधारस के एकांत साधक थे। वे कथा-कीर्तन, पूजा-आह्निक आदि के बहाने सदा उसी में डूबे रहते। बाह्य जगत् से उतना ही सम्बन्ध रखते जितना देह-रक्षण के लिए आवश्यक था। वि० सं० १९५५ की ज्यष्ठ शुक्ला चतुर्दशी को ये श्री राधारस सागर के अतल-तल में सदा सर्वदा के लिए निमग्न हो गये।

दिव्य कलेवर-कान्ति, कीर्तन में परमाविष्टता, व्यवहार में उदारता, अकूतदैन्य, मधुरभाषिता और भक्ति शास्त्रों में पारदर्शिता उनके चिन्मय व्यक्तित्व की सूचना देते थे।

न० चं० बं०

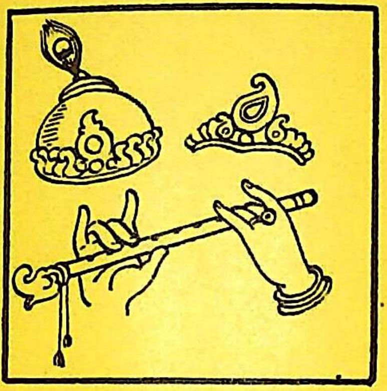

नामानुक्रमणिका

-

ग्रन्थानुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका

अंगदराम ४३५

अंजनीकुमार लाल १५

अंबिकादत्त व्यास १४२

अकबर ३१,६८,६९,१०२,१०३,१०९,१५८,१६३,२२२,
२२३,२३०,२५७,२८५,३२५,३५२,३९८,४४०,४५५,
४५८,४७६,५३८,६६०,६८३,७५३,७९७,८२६,८५२,
८५५,८६३

अकबरपुर ४४०

अकबरपुर-बीरबल ८५२

अकराबाद २८६

अकौना ५८२

अक्षर अनन्य १

अखण्डानन्द सरस्वती ४,५

अखिलानन्द ५

अखैराम ७,४४,३३७,४३०,४६४

अखैरामदास २१४,२१५,४२९

अगमदास "निर्मोही" ११

अगरचन्द नाहटा २१६,५३९

अग्रदासजी १९२,२०९,७७४

अचलसिंह २९१

अजपादास १२

अजबकुँवरि बाई १२

अजब सिंह बारहठ ५५५

अजमेर ३१९,३५७,५३७,५३८,४६७,४७२,८५२

अजमेर शरीफ ७००

अजयगढ़ ९३,७२३,८००,८४७

अजयपाल ५३७

अजराड़ा (हापुड़) ५२१

अजीतजी २७

अजीतसिंह १४,३०९

अजीमबेग १०२,३२१

अजुध्या प्रसाद ८३९

अजूदेव ५४९

अटवा ४४४

अठखम्भा २४८

अडींग ५४

अड़ैल २५७,२८३,३१२,४९४,७२८,७२९

अतिवल्लभ जी १७,७८२,७८३

अदारंग १९

अद्वैतप्रभु २८१

अनन्तदास १९,४४४

अनन्तलाल गोस्वामी २०

अनन्तानन्दजी १९२

अनन्यअलि २१,२३,४५,४६

अनिराय १०९, ११२, ११३

अनिरुद्ध ७६६

अनिरुद्ध गोस्वामी २५

अनिरुद्ध सिह २६

अनुरुद्धसिंह ९५

अनूप कुँवरि २७

अनूपगिरि गोसाइं ७२३

अनूपजी ५०३

अनूपजी नौनेरिया २८

अनूपशहर ५

अनूपी देवी ७७०

अनूपी बाई २९,२४०

अन्नपूर्णादेवी ३३०

अबुल फजल ८५२,८५३

अब्दुर्रशीद खाँ २९

अब्दुर्रहीम खानखाना ३१,२२२,६८३,८४१

अब्दुल कादिर बदायूंनी ८५२

अब्दुल जलील ३४

अब्दुल बार्क ३१

अभयकुँवरि ४३३

अभयगढ़ ७२१
अभयदास ७०९
अभयराम ३५,७०९
अभयसिंह २१६
अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी ६
अमरकोट ४७६
अमरज़ू ७१२
अमरदास ३५
अमरनाथ २७०
अमरसिंह ३९०
अमरापुर ४१४
अमरेशकुमार ३६
अमान २७२
अमानसिंह ८१०,८३५
अमीरचन्द्र शास्त्री १४६
अमृतराज ३६
अमृतराम ३६
अमृतराम निरंजनी ३६
अमृतराम पल्लीवाल ३६,४३
अमृतराम रावत ३६
अमृतलाल ३६
अमृतलाल चतुर्वेदी ३८
अमृतलाल भक्तेश ७६०
अमृतसर ३६०,५५३
अमेठी २७५,२७६
अमोलकराम शास्त्री ३९,७८६,८३८
अम्बाला २८६
अम्बिकादत्त व्यास १७६
अम्बिकादास ४१४
अम्बिकादेवी ३९
अयोध्या ४,९१,१११,११३,२१७,२७६,३७५,४५८ ४६०, ४७९,५८४,८६२
अयोध्याप्रसाद ४०
अयोध्या प्रसाद वाजपेयी 'औघ' ४०
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ४१
अरब ११८
अर्जुन ३८३
अर्जुनदास ४२,३०६
अर्जुनपाल २७३
अर्जुनसिंह ५८३,५८९
अलफ खाँ ५३९
अलबेली अलि ४३
अलवेलीलाल जी ९८
अलवेलीशरण ४४
अलवेलीशरण जी 'फूल शृंगारी' ४४
अलवर ३९,६१,७४,२१५,२७८,३८२,४०८,४१४,४१५, ४२९,४५६,४६४,४७४,४८१,५२२,५६२.६८५,७५३, ८०८,८३७
अलिकल्याण ४५
अलि भगवान ४५,४६
अलिमोहन जी ४५,४६
अलीकुली खाँ ३३
अलीकुलीवेग ३३
अली खान पठान ४६,४८,११४
अलीगढ़ ७२,८७१
अलीबख्श ४९,५०
अलीबहादुर ७२३
अली रंगीली ५०
अलोड्या २८६
अल्मोड़ा १६४
अल्लूनाथ ५१,५२
अवतारूलाल 'मुग्ध' १४
अवध २७६,५२२,५८२,७६१
अवधदास (प्रथम) ५३
अवधदास (द्वितीय) ५३
अवधूतदास ५४
अविनाशचन्द्र सरकार ३१७
अशोक स्तम्भ ८५३
असनी ४०६,४४६
असम प्रदेश ७९८
अहमद उल्लाह ५४
अहमद नगर ४७५,७५७

अहमदशाह अब्दाली ६४,३७१,६७९,७९६
अहमदाबाद ११५,२५०,२८६ ८७१
अहलाददास ४४४
अहिल्याबाई होलकर ६५०
अहोरवा भवानी ३७५
आंतरसुवा २८३
आँतरी ३५०,३५१,३५२
आँधी थोलाई ५३८
आगरा ७७,९१,१५९,१९४,२०९.२८६,३२५,३८६,४९४,
    ५२५,५४३,५४५,५५५,५६४,७२५ ७५०
आजमगढ़ १२०,५८५,७९६,८१२
आजाद ८४३
आजाद पानी घाट ६५३,६५४
आजानगढ़ २२
आतमकुंज २७७,४०१,४९२
आतमराम इकंगी २१४,२७७,४०१
आत्मदेव १६९,२१८
आत्मानन्द ५५,५६,५७
आत्माराम ५६,४९२
आत्माराम इकंगी ५६,४९२,५२७,७१३
आत्माहंस (ठाकुर) ५८
आदिनाथ, ६५८,६६०
आदिल ५९
आदिलशाह (अदली) ५४४
आदीराम २२७
आनन्दकवि (प्रथम) ५९
आनन्दकवि (द्वितीय) ६०
आनन्दकवि (तृतीय) ६०
आनन्द कुँवरि ६१
आनन्द कुँवरि चौहान ४७६
आनन्द कुमारी ७०८,७०९
आनन्द कृष्णबिहारी श्रीवास्तव ६२
आनन्दघन ६३,६४,६६
आनन्दघन चौबे ६४
आनन्दचन्द मिश्र ३८३
आनन्ददास ६६
आनन्द मनोहर जी ७०९
आनन्दमयी माँ ५
आनन्दरामजी बुदेरामोत ८२७
आनन्दलाल ६६,११४,४३९
आनन्दीदेवी ४८२
आनन्दीबाई ७८१
आनन्दीबाई (प्रथम) ६७
आनन्दीबाई (द्वितीय) ६७
आनन्दीमाई १५२
आन्ध्र-प्रदेश २४७
आन्योर १५७,५६८
आमल खेड़ २८६
आमेर ६८,६९,१२८.७४०,८५३
आरा १४२,४५३
आलम ४७७
आलमगीर द्वितीय ४१५
आलमशाह द्वितीय ४१५
आलाजी बहादुर ८२१
आवागढ़ ४५९
आशानन्द ६३
आसकरन (राजा) ६८,६९,७०,७१,२२०,३५३,७४०
आसफखाँ २८५,२८६
आसानन्द ७१,७२
आसाराम ४५७,४७९
आसाम ६८३,८००
आसुधीर ७२
इंदुकुँवरि ४१८
इंदुभूषण वसु ८०६
इंदुलेखा ६९९
इंद्रकुँवरि ५८६
इंद्रकुँवरि (प्रथम) ७४
इंद्रकुँवरि (द्वितीय) ७४
इंद्रदत्त ७४
इंद्रदासजी (काठियाबाबा), ७४
इंद्रपाल त्रिपाठी ११८
इंद्रप्रस्थ २४२

इंद्रभानु 'ललित लड़ैती' ७५
इंद्रमणि गोस्वामो ७५
इंद्रमणी ७०३
इंद्रमल ४७८
इकनौर २२१,२२४
इकौना ११०
इच्छाराम (प्रथम) ७३
इच्छाराम (द्वितीय) ७३
इटावा २२१,७५०
इमदादुल्ला खाँ 'ताब' ३६०
इमर्सन ३१८
इम्फाल ३०७
इलाहाबाद ७४,१२२,१७४,३१९,८५४
इस्लाम शाह सूर ५४४
ईडर ५२
ईश ६७२
ईशरदा २७०
ईश्वरदास ३०७
ईश्वरीप्रताप राय ७६,७७
ईश्वरी प्रसाद ७९
ईश्वरी सिंह ४१५,५२२
ईसरदास ११५
ईसुरी ७९
उग्रसेन ३८३,४४५
उजेहनी १९
उज्जैन २८५,३३१,८६१
उड़िया बाबा ८७१
उड़ीसा ७१४
उणियारा २७
उतरौला ५८४
उत्कल १४९,७०७
उत्तमचन्द ८०
उत्तमदास ८०,३५८,७३५
उत्तर प्रदेश २७५,४०६ ४०५,४९५,५२१
उदगवाँ ९४
उदयनाथ ६८१
उदयनारायण ७५०
उदयपुर १२,३६,१००,२९६,३४२,३६६,४७८.४७९,७०२,
    ७२१, ७४८,८३७
उदयभानुलाल ८१
उदयराम ८१,८२
उदयरामदास ४४४
उदयसिंहजी १३,१००,५३८
उदितनारायण सिंह २८९
उदितनारायणसिंह देव ८२४
उदी २१९
उदैलाल ४०९ ४१०,४११,४३९
उदोतसिंह ४११
उन्नाव १९
उपकारी ४८२
उपगारी ४८२
उपगारी जसराम ८३
उपेन्द्रनाथसिंहदेव ३५६
उप्पल २८६
उमरावसिंह जू देव ३९३
उमापुर ४४४
उमाशंकर द्विवेदी ८३
उमाशशि त्रिपाठी ९८
उमेदी ७०३
उमेश चतुर्वेदी ४५१
उम्मेदसिंह ६९१
उरदाम ८४
उर्फी ३३
ऊँचीराम ५५०
ऊँचीराम कालड़ा ५५१
ऊँचेगाँव ३०८,६८९,७००
ऊधोगिरि गोसाईं ५८३
ऊधोदास ८४
ऋषिकेश ४,५,८५
एकलिंग उस्ताद ८५
एटा २५१,२८६,७०९
एतबारीखाँ २८५

एतमादपुर ३८,७२५
एफ० एस० ग्राउज ४४९
ऐनानन्द ८५
ओंकारेश्वर ६५०
ओरछा ११६,२१९,२४५,३७५,४११,४३१,५१४,५७०,
  ७१६,७४१,८०९,८४७
ओरियण्टल कॉलेज ३१९
ओल २७०
औंरहवा छावनी ५८४
औतार सिंह ५८८
औघबिहारी ११२
औरंगजेब १४.२२,२३,३४,१२०,४०४,४३५,४३६.४७५
औरंगाबाद ४३५
कंचन ८५
कंदेली ४२१
कंधार ४७५
कंस २९६
ककर-कनरा ४३५
ककरा ३३०
ककरोई ५३४
ककोर (अल्ल) ७०३
कछुआनो कोट २८६
कजयाना ११६
कटनी ५५८
कटरा २९१
कटहरिया ८६
कड़ा २४५
कदमखण्डी ४५६
कनक मंजरी २८१
कनकलता ८९
कनकसिंह ८९
कनखल ५
कनाडा ३२१
कनौर २२१
कन्नौज ५४७,७२०,७२७,७२९,७४३
कन्याधारी ५५१

कन्हड़ स्वामी ८९
कन्हाईलाल गोस्वामी ३१८
कन्हैयालाल ९०,२३३,५७५
कन्हैयालाल गोस्वामी ९०
कन्हैयालालजी न्यायाचार्य २६४
कन्हैयालालजी महाराज ९१
कन्हैयालाल 'शाल' ९१,११५
कपड़वनज २८३
कपिलनाथ कश्यप ९२
कपूरियावास ४८१
कप्तान कॉफ ४७८
कबीर ५८,१९१,२३२
कबीरदयाल २९२
कमजी दघवाड़िया ३९१
कमलकुंवरि (प्रथम) ९३
कमलकुंवरि 'जुगलप्रिया' (द्वितीय) ९३
कमलकुंवरि (तृतीय) ९४,९५
कमलदास ९६,१९०
कमलनयन ८४,२३५,२८६,८६०
कमलनयन गोस्वामी १७,९६
कमलनैन ४२३
कमलादेवी, ९०,४४३
कमलानन्द ९७
कमलापति ६८३,८४१,८४२
कमलाबाई ९८
करकट ३७३
करजाली ३८८
करतानन्द ९९
करताराम ९९
करनालक २८६
करनेस महापात्र ४०६
करमसी सांखला १००
करमैती बाई १००,१०१
करहल ३२५
करहला ६७२
कराकुर ८५५

करुणावती सखी ५५४
करौली कुंज ६५२
करौली (राजस्थान) ३९७,७७१
कर्णवलि २८५
कर्णवास ५
कर्णविल ७२०
कर्नल टॉड ७५७,८५३
कर्नल स्लीमन ५८६
कर्नाल ५२२
कर्मठी बाई १०१,८०१
कर्मा ३६४
कलकंठी २४५
कलकत्ता १५१,२४२,३१७,३१८,३१९,४५९,५८७,६९२,
    ७८२,८०६
कलजी २७
कलजी गाउण १०४
कलानिधि ८६७
कलीराम. १०४
कल्याण जोशी १०४
कल्याणदान १०४
कल्याणदास ७७१,८७५
कल्याणदास (प्रथम) १०५
कल्याणदास (द्वितीय) १०५
कल्याणदास (तृतीय) १०६
कल्याणदास पुष्करण ५५१
कल्याण पुजारी ८९,१०६,३१५
कल्याणमल १००,१०७
कल्याणराय १०८,३४५ ३४६
कल्याणराय गोस्वामी १०८
कल्याण सिंह २७
कल्याणीबाई १०९
कविजीत ६९९
कविदयाल ६५७
कविरंगजी ९१
कविराज भाट ११३
कविराव नवल जी ९१
कवीन्द्रजी २७६,६६५
कश्मीर २८४,४५९,७५९
कस्वा फरह ७२५
कहलगाँव ७१८
कांकेर २७०
कांठालिया ३१७
कांतिमुनिसागर २७३
कांदी १७०,१७४
काँकरौली १९१,२५८,२८०,३१२,३६२,३६६,३९६,
    ४४८,४७२,६६५,६९८,७४१,८६१,८७०
काँचन गढ़िया २८२
काँथरिया बागर १०१
काक बलबीर ११४
काका वल्लभ ३१२
काजी ५८४
काठले ७५२
काठियावाड़ ३८१,५६१
कादिरबख्श ११४,४१४
कानपुर ९१,२२१,२६६,२७८,३४६,४६०,४७९,६५५,
    ७२२,७८१,८०१,८०२,८५२
कानबाई ३५०
कानौड़ ९१
कान्हजो व्यास २६०
कान्हजी सहाय ११४
कान्हदास ११४
कान्हरदास ११५
कान्हा ११५
काबुल १४,२९,१६३,७५७
कामतताड़ा ८२४
कामता प्रसाद ११५
कामबख्स ४५२
कामर २५७,२५८
कामरूप २६५,८४१
कामवन १३०,२५८ ३०७,३२७,३६३,७७८,८६५
कामा ६८५
कायम ११६

कायमदास ४४४
कायम सिंह २७०
कायस्थबाड़ा ७०५
कारे कवि ११६
कारे कृष्णदास २०७
कारेखाँ ११६
कार्तिकशंकर तर्कालंकार ३१७
कालकाप्रसाद ९०,११७
कालना ४४९,७७१
कालाचन्द सान्याल ३१७
कालिंजर ७१४,८३५,८५४
कालीदह ४४९,४५०.७५७
कालीप्रसन्न घोष ३१७
कालीप्रसाद घोष ३१८
कालीप्रसाद त्रिपाठी 'भृंग' ११८
कालीप्रसाद सिंह ५८,४४६
काल्पी ८५२.८५४
काशी ६०,९१,१४१,१५०,२४२ २४५,२५३,२५५,२५८,
२६०,२६४.२८९,२९१,३०१,३१२,३१९,३२०,
३२४,३६०,३६२,३९९,४४४,४५५,४५८,८५५,
५९२,७६६,७८५,८५३,८६२,८६३,८६९
काशीगिरि ११९
काशी नागरी प्रचारिणी सभा ८६४
काशीनाथ वेदान्ती ४
काशीपुर ५२०,७९८
काशीपुरी ५६५
काशीराम १२१
काशीराम (प्रथम) १२०
काशीराम (द्वितीय) १२०
काशीराम (तृतीय) १२०
काशीराम भार्गव ४७३
काश्मीर २८६
कासगंज १९४,२७०,७०९
किठूरा ५८३
किरणकुमारी १९४
कीर्तनियाँ बाबा १२२
किशनगढ़ २७,३४२,३४४,३६९,३९०,७३९,७४८,८२५,८३८
किशनजी आढ़ा ४८०
किशनप्यारी (मन्दिरवारी बुआजी) १२२
किसनलाल (कृष्णकवि) १२३
किशनलाज जालान ५५३
किशनसिंह १२३,१२४,५६९
किशुनप्रसाद ५८
किशोर १२५
किशोरदास १२५,१२८,१२९,२८२,४८२
किशोरदास (प्रथम) १२५
किशोरदास (द्वितीय) १२७
किशोरदास (तृतीय) १२७
किशोरदास महन्त १२८
किशोरदास (स्वामी) १३०
किशोरलाल (गोस्वामी) १३१
किशोर सिंह ४५२
किशोरी (प्रथम) १३१
किशोरी (द्वितीय) १३२
किशोरी अलि ४३,१३३,४१६,४६८,६८४,७६०
किशोरीजी ४०३
किशोरीदास १३८,१५२,३०७,४१८,४५६,५०१,६६६
किशोरीदास (प्रथम) १३४,१३५
किशोरीदास (द्वितीय) १३६
किशोरीदास (तृतीय) १३७
किशोरीदास (चतुर्थ) १३८
किशोरीदास (पंचम) १३९
किशोरीदास गोस्वामी १४०
किशोरीदास बाबा ६८
किशोरीनंद जी ओझा ७०३
किशोरीलाल १४३,१४४,१६८,१७६,२००,३८२,४०९
किशोरीलाल अधिकारी १४१
किशोरीलाल गोस्वामी (प्रथम) १४१
किशोरीलाल गोस्वामी (द्वितोय) १४३
किशोरीशरण (सूरदास) १०५
किशोरी सखी १४६
किष्टोबाबू १७२

किशनदास ३६
कीरतलाल १४७,३२८
कीर्तिकेशव १४७
कीर्तिचन्द १४८ १४९
कीर्तिपुर ५७८
कीर्ति मिश्र १४७
कीर्तिलालजी १३८
कील्हदेव ६८
कुंजदास ११९,१५०
कुंजदास नादिया १५०
कुंजनलालजी ५००
कुंजबिहारी ११२,३३०
कुंजबिहारीदास (प्रथम) १५०
कुंजबिहारीदास (द्वितीय) १५१
कुंजबिहारीदास (तृतोय) १५२
कुंजबिहारीलाल ८३१
कुंजबिहारी शरण ६४
कुंजलाल २९,[illegible]५,४६,८०,१६७,१९२,२०१ २०६,२०९,
    ३१६,३२८,५१५
कुंजलाल गोस्वामी (प्रथम) १५२
कुंजलाल गोस्वामो (द्वितीय) १५३
कुंजीलाल दूबे ८२०
कुंजोदेवी १५४,४१४
कुंदनदासजी १५४
कुंदनपुर ६६१
कुंभनदास १५६,१५७,१५८,१५९,१६१,१६२,१६३,३५३,
    ३९४,३९५,७३०,७३१,७३२,७३३
कुचामन ५[illegible],५२
कुबेर भगत १५५
कुम्हेर ५६९
कुरुक्षेत्र ३९,५२१,५५०
कुलपति ४७६
कुलपति मिश्र ३९७
कुलशेखर २७१
कुलोमनपंत 'निर्गुणानन्द' १६४
कुवलयापीड २९६
कुशलसिंह १६४
कुसुमकामिनी देवी ३१७
कुसुम सरोवर ३३६,७०१,७०४
कूचा पातोराम ४९९
कृपाअलीजी १६५
कृपादास ४४४
कृपाराम ३१६,४६०,४६७,५७५
कृपाराम (प्रथम) १६३,१६५
कृपाराम (द्वितीय) १६४
कृपाराम (तृतीय) १६६
कृपाराम (चतुर्थ) १६७
कृपालाल १६७
कृपासिन्धुलाल ३८२,५६७
कृष्ण ४७७,४८१
कृष्णअली १६८
कृष्णकवि १७५
कृष्णकुँवरि १६९
कृष्णकुँवरि (प्रथम) १६८
कृष्णकुँवरि (द्वितीय) १६८
कृष्णकुमारी ४७९
कृष्णगढ़ ३४४,३७०,४३३,६७८,६७९,६८३,६८४,७१६,
    ८१४,८२८
कृष्णचंद १२०,३१३
कृष्णचंद्र ४०४ ४२४
कृष्णचंद्र अग्रवाल १७०
कृष्णचंद्र आचार्य (किष्टोबाबू) १७०
कृष्णचंद्र गोस्वामी १७२,१७३,७६७
कृष्णचंद्रवंशीय १९८,३२८,३३५
कृष्णचंद्र सिंह १७४
कृष्णचरण १७५
कृष्णचैतन्य 'निजकवि' १७५
कृष्णदत्त त्रिवेदो १७६
कृष्णदत्त वाजपेयी १९४
कृष्णदत्तराम पांडे २९१
कृष्णदत्त शर्मा 'सूरि' १७७
कृष्णदत्त शास्त्री १७७

कृष्णदत्तसिंह (महाराजा) १७७
कृष्णदास १७३,१७५,१७९,१८५,१८६,१८७,२२०,२४८, २८१,३०१,३३६,३९४,४२४,४३६,६७१,७७३
कृष्णदास (प्रथम) १७८
कृष्णदास (द्वितीय) १७८
कृष्णदास (तृतीय) १७८
कृष्णदास (चतुर्थ) १७९
कृष्णदास (पंचम) १८०
कृष्णदास (षष्ठ) १८१
कृष्णदास (सप्तम) १८१
कृष्णदास (अष्टम) १८२
कृष्णदास (नवम) १८२
कृष्णदास अधिकारी १८२,३१२,५७४
कृष्णदास कविराज ७७१
कृष्णदास कायस्थ १८९
कृष्णदास गोस्वामी २८१
कृष्णदास छीपा १९०,१९१
कृष्णदास जाड़ा १९१
कृष्णदास पयहारी १९२
कृष्णदास बाबा १९३,७०८,८७८
कृष्णदास भण्डारी १९५
कृष्णदास भावुक १९५
कृष्णदास स्वामी १९६
कृष्णदास हित १९७
कृष्णदासी २१८,५६१
कृष्णदेव ७४,१९७,३३५
कृष्णप्रसाद ८३९
कृष्णभट्ट कलानिधि ४२६
कृष्णराय ३४५
कृष्णलाल गोस्वामी १९८
कृष्णादासी १९८
कृष्णानन्द ५,१९९
कृष्णानन्द रागसागर ७०
कृष्णानन्द व्यास ५४४
कृष्णानन्द व्यासदेव १९९
कृष्णाबाई २००

कृष्णाश्रमजी ६
केदारनाथ ९०,१४१,२६४
केलिदास ८२५
केलिदास (प्रथम) २००
केलिदास (द्वितीय) २०१
केवलकृष्णजी २१०
केवलदासजी ५१७
केवलराम (प्रथम) २०२
केवलराम (द्वितीय) २०३
केवलराम स्वामी २०५
केशव २२३,८४०
केशवकिशोर २०६
केशवदास २०,३३,१४८,१९१,२०७,२२६,२८२,४८०, ५८३ ६५५,८५५
केशवदास (प्रथम) २०६
केशवदास (द्वितीय) २०७
केशवदास गोसाइं २०७
केशवदेव गोस्वामी २०८
केशवराइ ८०९
केशवराय २०८,६५५
केशीघाट ७०४
केशोराम (गोस्वामी) २०८
केशोराय (स्वामी) २०९
के० सी० एस० आई० ५८८
केहरीसिंह ३५९
कैमहरा २४१
कैमारीबन ५७२
कैरू ५५२
कैलाशचन्द्र 'कृष्ण' ९१
कैलाशचन्द्र नियोगी ३२०
कैलाशचन्द्र शिरोमणि ३१९
कैलाशनाथ भार्गव २०९
कोइलारी ४७३
कोकिलसाईंजी ६
कोकिलाबाई ५२६
कोकिलाबाई (बीबादास) २१०,२११,२१२

कोकिलावन २९६
कोटकासिम ४५६
कोटवा ४४३, ८०४
कोटवाघाम ४५०
कोटा ३४२,३४५,५२२,६८१
कोडेहरा ३८२
कोपागंज ९१
कोमलपुर ७२
कोर २८६
कोराम्बे ८६
कोरिया ११८
कोलघाटी ५
कोलीवाड़ा ९
कोले २३४
कोल्ह ५१
कोसाणू २८६
कोसी ४५४
कौड़िया ४२२,५६३
क्षिप्रा २८५
क्षीरभवानी १२९
क्षेमदास २१२
खंडेला १००
खड्गराय (प्रवीनराय) ३००,३०९
खपटिया बाबा ७०४
खरककलाँ ४८२
खरगसेन १९
खरगसेन कायस्थ २१२,२१३
खरयरि ४४४
खरोठ १३
खवास ४३४
खानजहाँ लोदी ४७५
खाने आज़म कोका ३३
खिमनौर ३४५
खीरहटी ३३७
खुमान २७२
खुमान त्रिपाठी २१३
खुरासान २१२
खुर्जा ५२१
खुशहाल ३६०
खुशालीराम ९,६९९
खुसालाबाई (जनखुशाला) २१४,२१५,२२७
खूबचंद २२२,३६१
खूबचंद 'रसेस' २१६
खूबड़ ५१९,५२०
खूबदास ४४,३३७
खेखरुवा ३७५
खेतसिह २१६
खेतसी २१६
खेतुरी ७१४,७१५
खेमकरन २१७
खेमचंद ३६१
खेमजी २१७
खेमदास २१८,२१९,२२०,४१२,४४४,५६७,८३३
खेमदास पुष्करण ५५१
खेमहित २२०
खेमादेवी १२८
खेमानंद ११२
खैरा ५८
ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ५३७
गंग ३३,४७७
गंगकवि २२१,२२२,२२३
गंगनदास २२६,२२७,२२८
गंगल ग्वाल गोसाईं २२८,२२९
गंगवल (बहराइच) ५८२,५८६
गंगा ३८३,७३६
गंगागोविन्द सिंह १७४
गंगादत्त २३२
गंगादास (प्रथम) २३२
गंगादास (द्वितीय) २३४
गंगादासजी ५२०,७९३
गंगाधर ४७९
गंगाधर (प्रथम) २३५

गंगाधर (द्वितीय) २३५
गंगाधर व्यास २३६
गंगाधर शास्त्री २४२,२६०
गंगानाथ झा ३१९
गंगापुर ३७५
गंगाप्रसाद २२१
गंगाबक्स ६७३
गंगाबाई ७९,१८५
गंगाबाई क्षत्राणी २३६,२३७
गंगाराम ३०८
गंगाविष्णु २४०
गंगाविष्णु गोसाईं २९८
गंगासरन २४०
गंगासिंह २४०,४४३
गंजबसौदा ३३५
गंध-मंजरी २८१
गंधौली ९१
गंभीरसिंह २१६
गऊघाट ४९०
गजराज सिंह २४१
गर्जसिंह २९६
गजाधरनाथ चौधरी ७१८
गजाधरलाल गोस्वामी १९८
गजाधर सिंह ५८४
गजानन मिश्र २४३,४५१
गटियावाड़ा ८५
गट्टूलालजी २४२
गट्टूलाल भट्ट (भारतमार्तण्ड) २४१
गढ़मुक्तेश्वर २७५
गढ़वारे ४६७
गढ़ा ३९१,३९२,३९३,७१६
गढ़ाकोटा ८०९,८१०
गणपति भारती ४३,२४३,६८८,७६०
गणेशकुँवरि ५१४
गणेशनाथ ४८०
गणेशपुरी २४५
गणेशराम २७०
गणेश सिंह ५८२
गणेशी ६९०
गणेशीलालजी ८७७
गणेश्वर ७४७
गणेश्वर तीर्थ ५६६
गदाधरदास २४६,२४७,७८९
गदाधरदास (प्रथम) २४५
गदाधरदास (द्वितीय) २४६
गदाधर पंडित गोस्वामी २४७,४४०,५७१
गदाधर प्रसाद ४०
गदाधर भट्ट २४९,६८९,२४७,२४८,६२९
गदाधर मिश्र २४७,२५०,२५१
गदाधर शर्मा १९०,१८२ ५८९
गया ९१
गरीबदास २५१,४११
गरीबदास गोस्वामी २५२
गल्लू जी 'गुणमंजरीदास' २५२,२५३
गवरीबाई २५५
गहर गोपाल २५६,२८४
गह्वरवन ४५६,७१७
गांगू २५६
गागरोनगढ़ ७५७
गाजीपुर १४,३५५
गायत्री देवी ५८
गारबदेसर १२३
गार्डन सैण्डर्स ४१५
गालिब ३८
गिड़ोह ७२६
गिरधर १०४,२५८ २८३,३६३,३९५,७०३
गिरधर (प्रथम) २५७
गिरधर (द्वितीय) २५८
गिरधरदास २५९,३०९
गिरधरदेव २५९
गिरधरलालजी ४५,९४,२८९,४४२
गिरधरलाल (प्रथम) २६०

गिरधरलाल (द्वितीय) २६०
गिरधारीलालजी गयावाल ९१
गिरनार २९९
गिरिजापत्तन १७८
गिरिधरजी १३,१८५ ३१०,३९२,५११
गिरिधरदासजी ३९२,३९३
गिरिधरलाल बनारसी ८३६
गिरिधर शर्मा २६४
गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ५, २६३
गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' २६०,२६३
गिरिधारी २६५,५५१
गिरिधारीलाल २६७
गिरिधारीलाल (प्रथम) २६६
गिरिधारीलाल (द्वितीय) २६९
गिरधारीशरणदेव २७०
गिरिराज ३१२
गिरिराज कुँवरि २७१
गिरिराज जतीपुरा १३
गिरिराज प्रसाद मित्र २७१
गिरिवर सिंह जू २६
गिरिशिखर २७०
गुजरात १८२ २५८,२८३,२८४,२८५,३१२,३३१,३८८
    ३९५ ४९०,४९७,५०५,५९०,७९७,८३३,८५५,८७४
गुजूकी (अलवर) ८३९
गुडगांव २६५
गुढ़ा ग्राम ६५५
गुणमंजरी २७१,२७२,२८१,५६१
गुणमंजरीदास ४४०
गुना ४५७
गुनोर २८६
गुपाल कवि ३००
गुमान २१४,२७२
गुमान कवि २७२
गुमान त्रिपाठी २७२
गुमानसिंह ३८९
गुरछौंना—दे० 'गुरुछौना'
गुरु गोविन्दसिंह १२०,४०६
गुरुचरण लाल ८१२
गुरुछौना ९,४४,२१४,२१५,२२६,२७३,२७४,३६७,४२९
    ४६४,८६०
गुरुजन ८४९
गुरुदत्तराम २७५
गुरुदत्तसिंह 'भूपति' २७५,२७६
गुरुदासपुर १५१
गुरुनिवासजी ५२२
गुरुभक्तानन्द ५२१
गुरुसरनदास २७७,२७८
गुर्जर ४९०
गुलगांव २७
गुलाबकुँवरि ४३३
गुलाबदास ९१
गुलाबदास (प्रथम) २७८
गुलाबदास (द्वितीय) २७९
गुलाब बाई ७५०
गुलाब राय २७९
गुलाबलालजी ७३३
गुलाबी देवी ६४
गुलालचन्दजी १७०
गुलिस्तां ११२
गुसाइं कृष्णकृपाल ७२४
गुसाइं गैबीराम २७५
गुसाइं गोमतीदास ७२४
गुसाइं चरणदास ७२४
गुसाइंजी ७४३
गुसाइं जुगतानन्द २७५,५६२,६६४,७२४
गुसाइं रसपुंज ७६०
गुसाइं वासुदेवदास ७२४
गुसाइं विट्ठलनाथजी ५२५
गुसाइं श्यामसनेही ७२४
गुसाइं हरशरणदास ७२४
गूजरमल फौजदार २८०
गूजरमल्ल जी २८०

गूजरी रानी ८६४
गूढ़गाँव ६६९
गूढ़ाग्राम ५४७
गोंड़वाना ७१६,७४०
गोंड़ा ४०,२९०,२९१'२९४,४४५,४४६,५८६,८१२
गो० अनंतलाल ८३१
गो० आनन्दकरजी ७१२
गो० इन्द्रपतिजी ५०८
गो० ओंकारनाथजी ७०८
गो० कमलनयन ४७१,५२४
गो० किशोरी लाल जी ५६७,७४२,७७९
गो० कुंजलाल ५६१,५६३,५८१,५९३,७१२
गोकुल ४७,२३७२५७,२५८,२८३,२८६ २८९,२९१, २९६,३३१,३४५,३५०,३५१,४४१,४६५,५८२, ७२९,८७२
गोकुल कवि २८०
गोकुलचन्द दीक्षित २७१
गोकुलचन्द्रमाजीवाले ३२७
गोकुलदास २८१,२९८ ६७४,८१६
गोकुलदास (प्रथम) २८१
गोकुलदास (द्वितीय) २८२
गोकुलदास आचार्य २८३
गोकुलदास कविराज २८२
गोकुलदास मुखिया २८२
गोकुलनाथ ७०,१०६ ११४,२०३,२५६,२५७,२८४,२८५, २८६,२८८,२८९,२९०,३६३,४४७,५३९,६८७, ७३०,७३२,८६७,८७५,८७६
गोकुलनाथ (गोस्वामी) २८३
गोकुलनाथ शाहदेव ३७३
गोकुलपुरा २८९,५४०
गोकुलप्रसाद 'बृज' ५८,२९०
गोकुलप्रसाद श्रीवास्तव २९०
गोकुल बिहारी २९६
गोकुलवारे बाबा २९६
गोकुलानन्द विद्यासागर ३९९
गोकुलेश ४४७,५५०
गोकुलोत्सव ३४५
गो० कृष्णचन्द्र ४९७,५०८,७४४
गो० गल्लूजी महाराज ५६१
गो० गोपीनाथ ५२४,७८१, ८४२
गो० गोबर्द्धन भट्ट (छुट्टनभट्ट) ६९०
गो० घनश्यामलालजी ५६१,५६७
गो० चंद्रलालजी ४९१,५०६,७७६ ७७९
गो० चतुरशिरोमणिलाल ४६९,५०४
गोचरबन ६८१
गो० जगन्नाथ ८४२
गो० जगन्नाथ किशोरजी ७८६
गो० जतनलाल ४८४,७३५
गो० जुगलकिशोरजी ७७८
गो० तुलसीदास ५५१,७२७
गो० दामोदरवरजी ७४९,७७०
गोदावाव (गिरनार) २९९
गोधने ५९४
गो० नन्दजी ६६६
गो० नवनीतलालजी ६६७
गो० नवललालजी ७९८
गो० नागरवरजी ७१७
गोपाल ६३,२९७,३६३,४३५,७४३
गोपाल कवि २८१
गोपाल कविराज ७७३
गोपाल कविराय ७७३,७७४
गोपालकृष्ण श्रीवास्तव ५३
गोपालचन्द्र आचार्य १७२
गोपाल (जनगोपाल) २९७
गोपालजी २८३
गोपालदत्त ६५८,६६०
गोपालदास ४२,१३५,२१५,२२०,२५०,२८४,३०१,४६३, ६८९
गोपालदास (प्रथम) २९८
गोपालदास (द्वितीय) २९८
गोपालदास (तृतीय) २९९
गोपालदास (चतुर्थ) २९९

गोपालदास (पंचम) २९९,३००
गोपालदास (षष्ठ) ३००
गोपालदास (सप्तम) ३०२,३०३
गोपालदास (अष्टम) ३०३
गोपालदास (नवम) ३०५
गोपालदास (दशम्) ३०५
गोपालदास (एकादश) ३०५
गोपालदास (द्वादश) ३०६
गोपालदास (त्रयोदश) ३०६
गोपालदास (चतुर्दश) ३०७
गोपालदास 'उत्सवी' ३०७
गोपालदास क्षत्री ३०७,३०८
गोपालदास जटाधारी ३०२
गोपालदास पंजाबवाले ३०२
गोपालद्वारा ५३८
गोपालनारायण ४७६
गोपालनारायण बहुरा ३६,३८६
गोपाल पण्ड्या २८५
गोपालपुर ३१२,३९८,४८८,६६१,७४१,८७५
गोपाल बख्शी २९७
गोपाल भट्ट २७२,२८१,३०८,६७६,६८९,६९०,६९९, ५६१
गोपाल मठ ५९४
गोपालमणि त्रिपाठी २१३,२७१
गोपाल मिश्र ३०८
गोपालराय ३०८,३०९,३१०,६७३
गोपाललाल १६७,२६०,३११,८५९,८६३
गोपालशरण ३११
गोपालशरण सिंह ३११
गोपाल शर्मा ८३७
गोपाल सिंह ३११
गोपाल सिंह भदौरिया ६८१
गोपाल स्वामी २७२
गोपालीबाई ३०७
गोपिकालंकार ३१२
गोपीदास १४९,१५०
गोपीनाथ ७५,१०७,२५७,२६५,२८९,२९०,३१७,३१८, ५७८,८१७
गोपीनाथ (प्रथम) ३१२
गोपीनाथ (द्वितीय) ३१२
गोपीनाथ (तृतीय) ३१६
गोपीनाथ कविराज ५,३१६
गोपीनाथ 'द्विज' ३२५
गोपीनाथ शर्मा गौड़ ८३७
गोपीरमण गोस्वामी २८१
गोपेन्द्रजी ३६३
गोपेशजी ३६३
गोपेश्वरशरणदेवाचार्य ३२५,३२६,३६६
गो० प्रेमपति ४९७
गोबरधन २५७
गोबर्द्धन लालजी ७९१,७९२
गोबर्द्धनलालजी भट्ट ७८७
गो० बालकृष्ण लालजी ६६५
गो० ब्रजपति ४९७,५०८
गो० ब्रजलालजी ४५४
गो० भक्तलालजी ५०४
गो० भजनलालजी ६६७
गो० मुकुन्दलालजी ५६१,५६७,६६८
गो० मुन्नूलालजी ६६७
गोरखपुर ४,१४,४४५,५८४,५८५
गो० रघुनाथ भट्ट ६८९
गो० रसिकलालजी ६६७
गो० रसिकानन्दजी ७८१
गो० रसिकानन्दलालजी ५६७
गो० राधाचरण ८३१
गो० राधावल्लभदासजी ५५६
गो० राधेशलालजी ५०४
गोरीदास ३२८
गो० रूपलालजी ५१५,५६१,५६७,६६८,७८१
गोरेलालजी ६५५
गोरेलाल तिवारी ८०९
गो० वनचन्द जी ४८५,६७१,६७७,६९४

गोवर्द्धन ३५०,३५२,३५३,३९५,४४१,६९९,७०३,७२९
    ७३१,७५६,७८५,७८६,८७५,८७६,८७८
गोवर्धनजी २८३,२८४
गोवर्धननाथ ४४१,५७३.७३०
गोवर्धननाथ गोस्वामी ४०३
गोवर्धन भट्ट २४८,७७४
गोवर्धनलालजी २४२,८६६
गोवर्धनेश ४४७,८६१,८६७
गोवर्धन ३२८,३३२,४५६,४७९,५५५
गोवर्धनदास १३,३३१
गोवर्धनदास (प्रथम) ३२९
गोवर्धनदास (द्वितीय) ३२९,३३०
गोवर्धनदास (तृतीय) ३३०
गोवर्धनदेव ३३१
गोवर्धननाथ ३३२,३३३
गोवर्धननाथ पाठक 'कविनग' १
गोवर्धनभट्ट ३३३
गोवर्धनलाल १९७,३३४,३६६
गोवर्धनलाल गोस्वामी ४३५
गोवर्धनलाल जी अधिकारी १५०
गोवर्धनलाल 'श्याम' ३३५
गोविन्द ७०
गोविन्द 'अलि' १७,४५,१४५,२१८,२२०,२५६,३०५,३१४
    ३१५,३३५,३७४,४८४,५०६,५११ ७३५,७३७,७४२,
    ७८१,७८२,८३५
गोविन्दगिरि ६५१
गोविन्द गिल्ला भाई ५४०
गोविन्दघाट ५७३
गोविन्दचरणदास ३३६
गोविन्ददास ४४,३३८,३४०.४४०
गोविन्ददास (प्रथम) ३३६
गोविन्ददास (द्वितीय) ३३७
गोविन्ददास (तृतीय) ३३७
गोविन्ददास (चतुर्थ) ३३८
गोविन्ददास (पंचम) ३३८
गोविन्ददास (षष्ठ) ३३८
गोधिन्ददास कविराज ७१४,७१५
गोविन्ददास खवास ३३९,३४०
गोविन्ददास भक्तमाली ३४२
गोविन्ददास ब्रजवासी ३४२
गोविन्द देव २०, ८४९
गोविन्ददेवाचार्य ३४२,४३३
गोविन्दपुर ३८३
गोविन्दप्रसाद ५१०
गोविन्दप्रसाद पाण्डेय ३४५
गोविन्दबल २८६
गोविन्द भाष्यकार ७७४
गोविन्द मालवीय २६४
गोविन्द राय १०८,५२१,७५५
गोविन्दराय गोस्वामी ३४५
गोविन्दराय नागर ७५५
गोविन्दराव तैलंग ४५१
गोविन्दलाल गोस्वामी २१,२८१
गोविन्दलाल जी २२
गोविन्दवल्लभ पन्त ५९३
गोविन्दशरण ३४६,३४७
गोविन्दशरण देव ३४७,३६६
गोविन्दशरण देवाचार्य ३४९,३४९;४२२
गोविन्दसिंह ३९९,७९३
गोविन्द सुकवि ३५०
गोविन्दस्वामी ६९,३५०,३५१,३५२,३५३,३५४.४४१,
    ४४२, ५४३,७३०
गो० विट्ठलनाथ जी ४८८,५३९,५७३
गो० विलासदास जी ५११,५१२,६६७
गो० विश्वनाथ जी ८३२
गो० श्यामलाल जी ६६७
गो० श्री हित किशोरी लालजी महाराज ८०१,२
गो० श्री हित गोवर्द्धन लाल ७८४
गो० श्री हित रूपलालजी ७४३
गोसाँईदास ४४४
गोसाइंजी ७२१
गोसाई जुगतानंद ५२१

गो० सुखलालजी ६६६,७९०
गो० सुन्दरवरजी ६७७
गोस्वामी गोपीनाथ ५७२
गोस्वामी चतुर्भुज ८३२
गोस्वामी तुलसीदास ८२१.८२३
गोस्वामी दामोदरवर ८१२
गोस्वामी पाद ४४१
गोस्वामी बाँके विहारी जी ७६९
गोस्वामी वनचंद्र ७१६
गोस्वामी वासुदेव ७७३
गोस्वामी विट्ठलनाथ ४७७
गोस्वामी हरिदेवजी ८१७
गो० हरिलालजी ५१५
गो० हलधर जी ६७२
गोस्वामी हित हरिवंश ५१६,७७७,७८२,७८३
गो० हित हरिवंश चंद्र जू ६७८
गो० हित हरिवंश जी ७७७
गो० हीरालाल जी ५०४
गौड़ ३१२
गौरकिशोर शिरोमणि महाराज ७०८
गौरगणदास ३५५
गौर गरीली ४०२
गौर गुसाइं ३५५
गौरगोपालजी ३९९
गौरदास ३५५
गौरदास बाबा ८७८
गौरहरिदास ४५६
गौरांगदास जी ७८५,७८६,७८७,७८८
गौरांगदास बाबा ४५०,५३२
गौरांग महाप्रभु २८२
गौरांगसिंह (गौरसिंह) ३५६
गौरीशंकर जी ४०६
गौरीशंकर दीक्षित ८३१
गौरीशंकर द्विवेदी १,२१९
गौरीशंकर हीराचंद ओझा २४२
गौस मुहम्मद ५४५
ग्रियर्सन १७७,६३३,६६६,६८९,५७०.८२१
ग्वारिच ४४४
ग्वारिचाजी ८७१
ग्वारिया बाबा २६९ ३५६,३५७,८०३
ग्वारिया भक्त ३५८
ग्वाल ८४,५५१
ग्वालकवि ३५९,३६०,३६१
ग्वालजी गोस्वामी ३६२
ग्वालियर ५,८५,२७०,५४२.५९२,६७३,७२१,७२२,७७७
८४४,८६३
घनदेव ३६२
घनश्याम ८५,२९६,३५३,३६३,३८३
घनश्यामजी २८३,३९५,४४७,७२१,७३२
घनश्यामदास १०५,३६४
घनश्याम पाँड़े ३६५
घनश्याम भट्ट २४१
घनश्यामलाल १४६,३६६,३८२
घनश्यामशरणदेव ३६६
घनश्यामशरणदेवाचार्य ३६६.८३७
घनानन्द १९५,३६९,३७० ४६०
घनारंग दुबे ३७३
घमंडदेवाचार्य ६५०
घमोदा २८६
घरघर २८६
घाघरा ५८४,५८६
घाटी २८६
घास की मंडी ५६,४९२
घासीराम १२८,३३०,३७३,५०३
घासीराम चाड़ ३६८
घासीराम व्यास ३७५
घिसियावनदास ३७५
घोरांग ८१३
चंचल ससि ३७६
चंडोस २८६
चंदनजी चौत्रे ७८७
चंदलाल गोस्वामी १३३

चंदसखी २२० ८३३,८३४
चंदापुर ४०
चंदूलाल मजमूदार ७०
चंदेरी ८६३
चंद्रकिशोर १७०
चंद्रकुँवरि ३९९
चंद्रगोपाल १०८,७७३ ८७४
चंद्रगोपाल प्रभु ३९९,४००
चंद्रदत्त ओझा २६४
चंद्रदास (चन्दसखी) ४०१
चंद्रलाल १४१,३०५,३३३,४१८,४३४
चंद्रलाल अधिकारी ४०२
चंद्रलाल गोस्वामी १७३,४०३
चंद्रभागा ७३३
चंद्रभानुसिंह जू देव 'रज' ४०२
चंद्रशेखर ४६०
चंद्रशेखर वाजपेयी ४०६
चंद्रसखी (प्रथम) ४०९
चंद्रसखी (द्वितीय) ४१०,४११,४१२,४१३
चंद्रावत ४७६
चंद्रिकाप्रसाद २४८
चंद्रेश्वर गोरवाल ४८०
चंपतराय ४३५
चंपानगर १७०
चंपालाल मंजुल २७१
चतुरअलीजी ३८१,३८६,३८७,५६२
चतुरकवि ३८६
चतुर कुँवरिजी ८१४
चतुर चिन्तामणि १५७
चतुर चिन्तामणिदेव ३६६
चतुरदास ३८६
चतुरदास (प्रथम) ३८२
चतुरदास (द्वितीय) ३८२
चतुरदास (तृतीय) ३८३
चतुरबिहारी २२०,३८४,३८५
चतुर शिरोमणि ४३,३८६,३८७,३८८,७६०
    ४/११३
चतुरशिरोमणिलाल ११४,१८१,८३५
चतुरसखी ३८७
चतुरसिंह ३८८,३९०
चतुरसिंह बावजी ३८८
चतुरासीजी ५०४
चतुर्भुज ३२५,३९०,३९१,८४१
चतुर्भुजदास १०५,१५६,१९७,३५३,३९३,५५६,७१६
चतुर्भुजदास (प्रथम) ३९१,३९२
चतुर्भुजदास (द्वितीय) ३९४,३९५,३९६,३९७,३९८
चतुर्भुजदास बाजपेयी ३९७
चतुर्भुजदास मिश्र ३९७
चरखारी २४०,५१४,७२१,८४७
चरणदास ९,२९,४०,४४,५७,८३,९९,१२०,२०७,२११,
    २१४,२१५,२२६,२२८,२४७,२७३,२७४,२७५,२७७,
    ३३६,३४६,३६४,४१५,४१६,४१७,४२८,४३० ४६३,
    ४८२,४९७,५०६,५११,५१९,५६२,६८५ ७०९,७१३,
    ७२६,७५४, ७५५, ७७०, ७७१, ८०५, ८१७,८१८,
    ८२६,८३५,८३९,८६०,८७६
चरणदास (प्रथम) ४१४
चरणदास (द्वितीय) ४१८,४१९
चरणदास (तृतीय) ४२०,४२१
चरणदास (चतुर्थ) ४२१
चरणदास (पंचम) ४२१
चरणदास (षष्ठ) ४२२
चरणदासी सम्प्रदाय ४९२
चरणरेणु ४२२
चरदा ५८७
चरनदास पुजारी ४२३
चरनदास मिश्र ८६१
चर्दा ५८२
चांदनराम ११८
चांपादे ७५७
चाइबासा ८२४
चाकसू ८३७
चाचा ४८८
चाचा वृन्दावनदास १७,४०,१३०,१३६,१३७,१८१,१९५
    ४०१,४११,४१२,४२४,४६३,७५४,८०६,८१२

चाचा हरिवंश जी ४८८
चाचा हित वृन्दावनदास १७,२१,४६,७५,९६,१२७,१३२, १३९ १४३, १४५, ३७२ ३७४, ५६४, ७७२,७८३ ८२५,८२६,८३४,८६६
चाचोड़ा ४५७
चातुरी २५५
चांपा भाई १८८
चारणवास २४५
चिकसौली बरसाना ६६६, ७७७
चिगस २८६
चिड़यावल १२५,२१८
चिडावा (झुंझुनू) ६९३
चित्तौड़ १२७
चित्रकूट ४,३२,३४६,६१७,९७४
चित्रसेन १४८
चिनखनी २८६
चिन्तामणि ४२४
चिन्तामणि काइथ ४२४,४२५
चिमनलाल ४५१
चिम्मनलाल गोस्वाम ४,५
चीमा २८६
चीरघाट ६५०
चुनचुन पाण्डेय ४२५
चुनार ३१२
चुन्नीरामदुबे ८५
चुन्नीलाल जी ७९४,८५९
चुन्नीलाल भट्ट ४२६,४२७,८६७,८६८
चुन्नीलाल शेष ७४९
चुन्नू ४२०
चुन्नूलाल प्रोहित ६६७
चुरु ४९९
चूड़ामणि ४२७
चूड़ावत जी ७६०
चेतनदास ३३७,४८२
चेतनदास (प्रथम) ४२७
चेतनदास (द्वितीय) ४२८
चेतनदास (तृतीय) ४२९
चेतनदास दूधाहारी ४४
चेतसिंह २९०
चैतन्य ५८,३३६
चैतन्यदेव ६३
चैतन्य महाप्रभु २०,१४०,१७५,२४७,२५१,२८१,३०९, ४००
चैनपुर सरैया ५८१
चैनराय ४३१
चोरेया ३७३
चौथमल गिरदावर ४३१
चौधरी बंसीकिसोर ७०३
चौवे अयोध्याप्रसाद ७२५
चौवे दरियावसिह 'दिलदरियाव' ४३२
चौवेपुर ७८१
चौवेलाल ७४४,७४५
च्यवन ऋषि ७४८
छटंकी खलीफा ४३२
छतरपुर २६,७३,२३६, २७२, २७९, ४५५, ५०४, ७१२, ७१४,८४७
छत्तीसगढ़ ९२,३०८
छत्रकुँवरि ४३३,४३४
छत्रपति ४३५
छत्रपुर ९४
छत्रसाल १,३,३०६,४३५,४३६,४३७,८६९
छत्रसिंह ५८२
छपरा ९१
छबिनाथ अवस्थी ४४०
छबि नायक ४३९
छबीलदास ४३८
छबील दे ४३८
छबीलीदास ४३८,४८२
छबीले ४३९
छबीले कवि ९१
छबीले वल्लभ ४३९
छाजूराम ९,६८५

छाता ४४०
छापोली ३८८
छीतरमल शर्मा ४४०
छीतस्वामी ४४०,४४१,४४२,४४३,८५६
छुट्टनभट्ट १३९
छोटी गुजरात २८६
छोटे खाँ ८२१
छोटेलाल 'लाल' ५११
जंगबहादुर सिंह ५८८
जगजीवनदास ४४३
जगजीवन साहब ४५०,६६९
जगजीवन हरिवंश ७०३
जगतनगर ५९४
जगतबन्धु बाबू ७१४
जगत शिरोमणि का मन्दिर ४८०
जगतसिंह १७७,४४५, ४४६,४५२,७०२,७०८,७०९,७२२
    ७२३,७६०
जगतानंद ४४७,४४८,८६७
जगदंबा देवी ४५९
जगदानन्द गोस्वामी ४५६
जगदीश गोस्वामी ४४९
जगदीश जी राठौर ४३०,५२२
जगदीशदास ७७१
जगदीशपुरी ३१२
जगदीशबख्श ४५०
जगदीश बाबा ४४९
जगदीश भट्ट ४५१,४५२,४५३,७६०
जगनिवास नारायण तिवारी ४५३
जगन्नाथ २०३,३१२,८७७
जगन्नाथ (प्रथम) ४५४
जगन्नाथ (द्वितीय) ४५५
जगन्नाथ कॉलेज ३१८
जगन्नाथ किशोर जी ७८७
जगन्नाथदास (प्रथम) ४५६
जगन्नाथदास (द्वितीय) ४५६
जगन्नाथदास (तृतीय) ४५६
जगन्नाथदास (चतुर्थ) ४५६,४५७
जगन्नाथदास कविराज ४५५
जगन्नाथदास बाबा ८७८
जगन्नाथदास भार्गव ७७०
जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ३८,४४,१७६,४०६,४५८
जगन्नाथपुरी ३३४,४५१,५७५,६५५,६८५
जगन्नाथ पुरोहित २५३
जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ५११
जगन्नाथ प्रसाद भक्तमाली ४५७
जगन्नाथ बख्श ४५०
जगन्नाथ भट्ट १३३,७६१
जगन्नाथ मिश्र २५३
जगन्नाथराय ३५९, ४५५
जगमल ४६२
जगराम १६६
जगारामजीलाल ६३
जग्गा खिड़िया ४६२
जटवाड़ा ६७३
जड़भरत ५०८
जतीपुरा २३६,२५७,२५८,३१२,३६३,३९८,४४७,५६८,
    ७४१
जनगोपाल ४६३
जनवेगम ४६४
जनवेगमदास ४६५
जनभगवान ४६५
जनराज ४६७
जनहरि अलि ४६८
जनहरिदास ४६८
जनहरिया २२०
जनार्दन ७२०
जबलपुर ५,३९१,३९२,५५८,७६९
जमली मजरे फूला ३७५
जमालपुर (पंजाब) ७५५
जमुना ७२०
जमुनादास ४६९,७७३
जमुनाबाई ४६९,४७०

जमुनावत्तो ३९४
जयंती देवी ६५०
जयकृष्ण २५९.४७०,६६६
जयकृष्ण तुलाधार ४७०
जयकृष्णदास ८७१
जयकृष्ण पुजारो ४७२
जयगोपाल ८१८
जयगोविन्द ४७३
जयगोविन्द मिश्र ४७३
जयजयराम ४७३
जयदयाल गोयन्दका ४
जयदेव २२९,२४४,३४८.४७३
जयदेव ब्रह्मभट्ट ४७४
जयनारायण भाटिया १२२
जयपाल कुंवरि २९४
जयपाल भार्गव ७५३
जयपुर ९,३६,४४,६२,१०४,२११,२१४,२१५,२२६,
२४३,२४४,२४८.२६०,२६३,२६४,२७०,२७७,
२८१,२८२,२९२,३११,३१८.३२५,३४२,३४५,
३४८,३६४,३६७,३८६,४०१,४१५,४२९,४५१,
४६४,४६७,४९२,४९३,५१०,५११.५१६,५१७,
५२२,५२७,५७२,६७३,६८८,७०८,७१३,७२१,
७२२,७२४,७३७,७५०,७५४,७६०,७७४,७९५,
८०८.८३७,८३९,८४४
जयमल ५७१,७२
जयराम शेषजी ३६९
जयविहारिनिदास ४७५
जय श्रीकृष्णदास ४७२
जयसिंह १२८,२८०,२८१,४३५,४७४,४७५,७२३,७४५,
८२७,८४४,८४५
जयसिंह देव ४७९
जयसिंह नगर ६१
जयाजीराव साहब सिंदे ८२१
जरवा ५८८
जराखर २१६
जरासन्ध ६६१
जरौली ४४४
जलालपुर (पंजाब) ५३३
जलालीदास ४४४
जलालुद्दीन अकबर ४७६
जवानसिंह 'ब्रजराज' ४७८,४७९
जवान सूरज बिहारी का मन्दिर ४८०
जवानस्वरूपेश्वर का मन्दिर ४८०
जवाहरदान ४८१
जवाहिरदास ८०४
जसखेड़ २८६
जसराणा ५१,५२
जसराम उपकारीजी ४८२
जसराम उपगारी ४१४,४८२
जसरोटा ५६४
जसवंत या सदाव्रती ४८७
जसवंतसिंह १४,३६०,४६२
जसवंत सिंह राठौर ४८४
जसोदा माई ४८७
जहाँगीर ३२,११०,१११,१७०,२२१,२२३,२२४,२८४,
२८५
जहाँबल सिंह वैद्य ४८७
जाजपुर ७०७
जाड़ा कृष्णदास जी ४८८
जादमजी ४७६
जादवराय ४८९
जादो रसिक ३३३,४९०,५०५
जानकी ३६३
जानकीदास ४८२
जानकी प्रसाद ७९,९१
जानकीप्रसाद भट्ट ६८९,६९०,६९६
जानकीलालजी बोहरा २६४
जानवार ५८२
जापान ११८
जार्ज ग्रियर्सन २९५,५१२
जालौन ८५२
जिंदौली ४६४

जितेन्द्रनाथ ३२१
जियाजी राव २७०
जिया महाराज ५१३
जियालाल त्रिपाठी ४९१
जींद-हरियाणा ८६०
जीमन ६३
जीवगोस्वामी १८०,२४७,२८१
जीवणदास ४९२
जीवणदास इकंगी ४९२
जीवनदत्त ५
जीवनदास १४६,१९०
जीवनदास क्षत्री ४९४
जीवनधन ४९५
जीवनमस्ताना ४९५
जीवनराम भार्गव ४८९
जीवन लाल २६३,४९६
जीवनशंकर याज्ञिक ५
जीवाभाई खत्री ४९७
जुगतानन्द ५५,२१०,३३६,४१७,४९७,८३९
जुगलकिशोर ब्रजराज ९१
जुगलघाट ७११
जुगलदास २९,३७४,४५५,५०२,५१३,५६४
जुगलदास (प्रथम) ५००
जुगलदास (द्वितीय) ५०४
जुगलदास (तृतीय) ५०५
जुगलदास (चतुर्थ) ५०५
जुगलदास अवधूत ५०७
जुगलदास (जुगलदासि) ५०६,५०७
जुगलदास तुलाधार ५०८
जुगलदास पुजारी ५०८
जुगलपुर ५०२
जुगलबिहारीजी ५०२
जुगलमनोहर शरण ५०९,५१०
जुगलमाधुरी शरण ५१०,५११
जुगलशरण ५११
जुगल सखी ५११
जुगलसुन्दरजी ५०९
जुगल सुन्दरदास ५११
जुगलेश कवि ५१२
जुगुल कवि ५१२
जुगुलदास ४२८,५६३,६६६
जुझारसिंह (महाराज) २४०,५१४
जुबिली स्कूल ३१७
जूनागढ़ (गुजरात) १३८,३०७,७४२
जेठमल ५१४
जेतारण ५३६
जेम्स हेस्टिंग्ज ४१५
जेवनार ५८२
जैकृष्ण दयाराम/नाथू/सदाराम ५१५
जैतपुर २६
जैतसी १२१,५१५
जैदास ४१३
जैदास (जैदासी) ५१६
जैन आनन्दघन ६३
जैनखाँ २२१,२२४,८५५
जैनरायन सिंह ५८३
जैमल ५१७
जैमलजी राठौर ४८५
जैरामदासजी ५१९,५२०,५२१
जैसलमेर ७५७,८७५
जैसीनगर ६०,५११
जोगजीत ९,२७४,३४६,३६४,४१४,४१६,४६३,४९३,
५०६,५२०,५२१,७५४,७५५
जोतूलाल ७०७
जोधपुर १४,२१६,२२०,३२७,३४२,३६७,४०६,४०७,
४६२,५५५,६९१,७४०,८०७,८२९,८३०,८३१,८५७,
८६८
जोरीदास ५२४
जोरीलालजी ७५,१०७,५२४
जोशीनन्दजी ४८०
जौनपुर ९१,५८५,८६२
ज्ञानचन्दजी ५२१

ज्ञानचन्द सेठ ५२५
ज्ञानदास ५२५
ज्ञानधीर ७२
ज्ञानबाई ५२६
ज्ञानबाई (ज्ञानावाई) ५२६
ज्ञानमती बाई ५२७
ज्ञानानन्द निर्वाणी ५२८
ज्ञानूजी/प्रमदानन्द (ब्रह्मचारी) ५३०
ज्योतिप्रकाशदास ८०६
ज्योतिराम ५३२
ज्वालादत्त शर्मा ५३२
ज्वालाप्रसाद मिश्र ५३२
झज्झर ४८२
झाँसी ५१३,५६२,७९०
झाझर ८३,४९९
झाबरमल शर्मा ५३९
झालरापाटन २६०
झाला ५९०
झुंझनू ५३८
झूंसी ४,३६४
झूठास्वामी २५,५५६
टटिया ४१८,४५७,६५१
टढ़नी १४
टहकन ५३३
टहलाग्राम ५५४
टाटीसिलवे ४७३
टिक्कनलाल ७५
टीकम ५३६
टीकमगढ़ ९३,३०७
टेकारी १४७
टोंटपुर ८१
टोडरमल २२३,८५३
टोडा भीम (जयपुर) ७४८
टोड़ी-फतेहपुर ६७५
टोपीकुंज ४५७,५९४
ठट्ठा ७३५,७५३
ठाकुर आत्महंस ५८
ठाकुर जोरावर सिंह ४८०
ठाकुरदास ५११,५१८,५३४
ठुमारेला ८३७
डलमऊ ६५७
डहरा २१५
डॉ० किशोरीलाल गुप्त ५१३
'डाक्टर' ६९१
डॉ० गोपालदत्त ८४९
डॉ० टण्डन ४८८
डॉ० डी० आर० भण्डारकर ३१९
डा० नारायणदास परवाल ८०३
डॉ० पट्टाभिसीतारमैय्या ५९३
डा० राजकिशोर पाण्डेय ७२३
डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ५९३
डॉ राधाकृष्णन ५९३
डॉ० वेनिस ३१९
डॉ० सुकुमार सेन ७१४
डिहिया ५५७
डीग ७,७५४,७५५
डीडवाना ६९०,६९१
डूंगरपुर २५४
डूगासेर ४५
डेडराज ४६७
डेराइस्माइल खां २६६
डेरागाजी खाँ १५७,२१२,२६५,५५०
डेविडसन ५३४
डेहरा २९,४५६,७७०
डोभकटार ४४५
डोड़ियाखेर १९
ढाका ३१७,३१८,३२२
ढूंढार ८५२
ढूढ़ाढ़ (जयपुर) १२८,५६६
ढूसर वाली कुंज ७११,१२
ढोलकिया ३९१
ढोसी (नारनौल) ७४८

तखतराज ८६८
तख्तसिंह ४०६,४०७, ६८
तत्ववेत्ता ५३६
तन्ना अथवा त्रिलोचन ५४३
तन्नामिश्र ८६३
तमाड़ ३५६
तलाबड़ी २८६
ताजबीबी ५३८
तानतरंग खाँ ५४१,५४३
तानसेन ३३,६९,७०,३५३,४७७,५४१,८३३
ताराकवि ३३
तारादेवी ७२३
तारालोचन २६६
तालिब अली 'रसनायक' ५४६
तिंदवारी ५६२
तिंदुवारी ३४६
तिकवाँपुर (त्रिविक्रमपुर) २२१,८५२
तिलपत १४६
तिवाड़ी स्वरूप लाल ७५०
तीकोंदास ५३६
तीर्थराम जोशी ५४७
तुंगा ७६०
तुलसा ५४७
तुलसाना ३६६
तुलसी ३७९,५३३,७२०
तुलसीदास ३०,३५,६४,११२,१९१,२०३,२३२,२६५, ३६२,४७७,५४८,५५०,८४०
तुलसीदास (प्रथम) ५४८
तुलसीदास (द्वितीय) ५४८
तुलसीदास (लालजी) २१९,५४९
तुलसीपुर २९१,५८४,५८६
तुलसीराम २६९,४९६
तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' ५५२
तुलाराम ८३६
तुलाराम भट्ट ५५४
तेजनारायणराय १४
तेज सिंह ५७०
तेजसिंह (प्रथम) ५५४
तेजसिंह (द्वितीय) ५५४
तेस्सीतोरी ७५७
तोंवरदास ७१५
तोला छीपा १९०
तोषकवि ११४
त्यागीराम ५१८,८०५
त्रिकाल यमुना ८४२
त्रिपुरदास कायस्थ ५५५
त्रिपुरा ८००
त्रिलोक स्वामी ५५६
त्रिलोकीसिंह ११७
त्रिविक्रम ५३६
त्रिवेणी ५५७
त्रिवेणीदास ५५७
त्रिवेणीबाई ५५८
थांभा ५२१
थांभे ४८२
थानपुर २६६
थाना २८६
थानेश्वर २८६,४९४
थिरदास ५७४
थिरपाल वाचक ५५९
थूथाजी ५६०
थोखड़ा (राजगढ़) ४८१
दंडीराम ब्राह्मण ५५१
दंपतिकिशोर १७५,१७६
दंपतिदासी ५६१
दक्षसखी ५६१
दक्षिण भारत ६९९
दक्षिणी अफ्रीका ११८
दतिया १,८९,९४,२५२,३४५,३५६,३९९,५१२,७२१, ७३३,७४३,७९०,७९३
दतिया राजकीय पुस्तकालय २२०
दत्तसिंह ५८४

दनकोर ७८१
दनकौर ६३
दमयंती ४७५
दमोह २६९
दयाकुँवर ५६३
दयादास ५६२
दयानिधि ३६०
दयाबाई ५६२,५६८
दयाराम (प्रथम) ५६४
दयाराम (द्वितीय) ५६४
दयाराम मिश्र ४२२
दयाराम/सेवादास ४६७,५६३,४६४,५६५
दयालदास ५६५,६६, ७४९,७७१
दयालदास (प्रथम) ५६६
दयालदास (द्वितीय) ५६६
दयालाल ५६६
दयालाल 'दयानिधि' ४७९
दयालुदास ५६६,५६७
दयासखी ५६७
दयासिंधुलाल ३०३,३८२,५६७
दरभंगा १४७,३३८,४०६,५९४
दरिया खाँ ५६८
दरियासाहब ५८
दरीबापान, जयपुर ७१०
दरोगा बाबा ५६८,५६९
दर्शनसिंह ५८५
दलपतराय डाहिया भाई नागर ५९०
दलपतराव २५२
दलपतिराय १
दलपुर २८६
दलसिंह ५७०
दलीप कवि ८४६
दलेलसिंह ५७०
दशरथपुर ८१३
दशरथलाल ५७०
दाऊ कृष्ण किशोरदास ५७०
दाऊजी ३३०
दाऊ जी पंडा ६५४
दाणी १६६
दानकुँवर ५७
दानबहादुर सिंह ५८४
दानापुर ९१
दानियाल ३२
दामोदर २५७,२६०,५७०,६९९
दामोदर गोसाइँ २२९
दामोदर चेतराम ६३
दामोदरदास ९९,२५२,४७२,५७४, ७००,७०७,८००,८७१
दामोदरदास (प्रथम) ५७१
दामोदरदास (द्वितीय) ५७१
दामोदरदास (तृतीय) ५७१
दामोदर दास (चतुर्थ) ५७२
दामोदरदास (जपराधे बाबा) ५७१
दामोदरदास हरसानी ५७३,५७४,७२०
दामोदर पांडेय ४२५
दामोदर प्रसाद ५७५
दामोदर भट्ट ६९६,७००
दामोदरवर गोस्वामी ५७६,७७२
दामोदरवरजी १०६,३२९,४६३,५७६, ६९४,७५२
दामोदर शास्त्री २४२
दामोदर स्वामी ५७८
दारा ४७५
दास कवि २८२,५८१
दासनिदास/सेवादास ५८१
दिगंबरजैन महाविद्यालय सहारनपुर २६४
दिग्विजय सिंह २९०,२९१,२९२,२९३, २९४,४४५
दिग्विजय सिंह 'भूप विजय' ५८२
दिनेशचंद्र सेन २२०
'दिनेश जी' ५५३
दिल्लराय १०९

दिल्ली ११४,२१०,२११,२२३,२२६,२४२,२६६,२७३,
२७७,२८०,२८५,२८६,३२१,३२५,३३७,३४४,
३६९,४१४,४१५,४६३,४७५,४९९,५०५,५१६,५१९,
५२१,५२७,५३४,५८२,५८७,६५९,६७०,६७९,
६८१,७१३,७२६,७४५,७५३,७५५,७७०,८०५,
८१४,८१८,८५३
दीनदयाल गिरि २९१,३६०,५९२
दीनदयाल गुप्त ३९२
दीनबंधु कविराज ३१९
दीनानाथ 'दिनेश' ५९२
दीपसाह २७२
दीपाबाई/कस्तूरीबाई ५९३
दीवान कम्मोद सिंह ५९४
दीवान भैयालाल राजपूत 'गोविन्द शरण' ५९४
दीवान हीरासिह ५१४
दुआबा क्षेत्र ४६३
दुरसा आढ़ा ७५८
दुरहास्ता २८६
दुर्ग ५७०
दुर्गादत्त ८३,५९४
दुर्गादास १४
दुर्गाप्रसाद ७८१
दुर्गाप्रसाद लाल १५
दुर्गाप्रसाद शर्मा २६४
दुर्गावती ७४०
दुलहापुर ५८३
दुलहिनिदासी जी ५६१
दुलारे प्रसाद शास्त्री ७८६,७८८
दुसायत ३५
दूणी ७२२
दूधनाथ ८१,२९२
दूलनदास ४४४,७१५
दूलह २६,४६०
देव २२३,३१०
देवकरण ४३५
देवकर्ण ६३
देवकी ३८३,५४९,७४३
देवकी कुंज ६९५
देवकीदेवी ९०
देवकीनंदन ६६१
देवकीनंदन भट्ट (चिमनजी) ८६१
देवगढ़वारिया २८३
देवगांव ५७५
देवगिरिजी ५
देवघर ३१८
देवचंद्रजी ५५४,८६९,८७०
देवतहा ४४५
देवदत्त ७२,७३
देवनाथपुरा ३१९
देवबंद १७३,७०५
देवरिया ८१,९९,४४५
देववन ७५,१३२,१६९,२५६,३०५,३१३,४३८,५२४,
५३०,७८२,८३५
देवानंद ७०७
देवाभाई सरानियां २८५
देवीदास ४४४
देवी प्रसाद ७८६
देवी प्रसाद शर्मा ५७५
देवीबख्शसिंह ५८५,५८६
देवीशंकर १९४
देवीसिंह २६
देसासिंह मजीठिया ३६०
देहरादून ९६
दौलतराम ७२३,४५२
दौलतराम हल्दिया ७६१
दौलतराव सिंधिया ४४६,७२२
दौसा ४७५
द्रिगनारायन सिंह ५८६
द्रिगराजसिंह २९१,५८६
द्वारका ३१२,३६२,५६६,८४३
द्वारकादास ५५१
द्वारकादास पारीख ३६३,७४१

द्वारकाधाम ७३८
द्वारकानाथ भट्ट ४२६,८६७
द्वारकानाथ भट्ट 'सरसुती' ४५१
द्वारकापुरी ७३९,८१८
द्वारिकादेवाचार्य २५९
द्वारिकानाथ १७०
द्वारिकेशजी ३१२,७२९
द्वारिकेशदेवाचार्य ७४०
द्वारिकेश्वर २५८
द्विजकवि १७६
द्विज बलदेव नगर ९१
द्विजवेनीजी ९१
द्विजराम ५८
द्विज हरिदास २८२
धनगाँई ३७३
धनवंती बाई ८०३
धनीराम ३८३
धनौली २१७
धमार ११४
धरनीधरजी ५९४
धर्मदास १५७
धर्मपाल ५७०
धर्मशाला शाहजी ५६२
धर्मा मालिक ५७५
धसान नदी २७३,६५५
धाधी ६९०
धानापुर १५५
धामराई ३१७
धारी मिश्र ९९
धीरजलाल ३८२,७८८
धीरदास ५७३,५७४
धौलपुर ८४७
ध्यानेश्वर ५२१
ध्रुवदास २१,२२,१२५,२२८,२३१,२४७,४४१,४७०,
    ४८४,५३०,५९३,६७१,६७८,६८९,७१७,७३५,
    ७३७,७५६,७९४,७९६,८३५
ध्रुवदासजी महाराज ८४१
नंदकिशोर २०८,५५२,८६४
नंदकिशोर गोस्वामी ८७८
नंदकिशोर तिवारी ८६८
नंदकिशोरजी शास्त्री ९०,५९४
नंदकुमार गोस्वामी २८१
नंदगाँव २८,२४८,२९६,५०३,७४४,७५२,७८०,७९५,
    ८०६
नंदग्राम ३५५
नंददासजी २९,२२०,२२७,२२९,२६२,२६३,३९६,७३२,
    ८५६
नंदबाबा ५०३
नंदराम १९२,२७०,३१६,४२१,४९२
नंदराम पाणेरी ४८०
नंदरायजी ७३४
नंदलाल ६९०
नंदनचदेव ५५१
नगजी रत्नू ४८१
नगरकोट ८५४
नगराज मिश्र ४७३
नगेंद्रमठ ८०६
नत्थीलालजी शास्त्री ८३
नत्थू खाँ ८२१
नत्थूमल मिश्र 'द्विजराज' ९१
नयागाँव पालदेव स्टेट ४३२
नरवरगढ़ ६८,६९,६८१,७४०
नरवली १५५
नरसिंहजी ८३३
नरसिंहदेव पक्वपल्लो ७१४
नरसिंहपुर ४२१,८४०
नरसीमेहता १९१
नरहरि ३६५,६६०
नरहरिदास ३६५,५५५,६५३,६५५,६५६
नरहरिदास (प्रथम) ६५०
नरहरिदास (द्वितीय) ६५५
नरहरिदेव ४३६

नरहरि बंदीजन ४७७
नरहरि महापात्र ४७७,६५७,६६१
नरायनापुर १६७
नरी सेंमरो २५८
नरेंद्रसिंह ३१०,४०७
नरेशचंद्र बंसल १९४
नरोत्तम चौरा ६६३
नरोत्तम ठाकुर ७१४
नरोत्तमदास २६७
नरोत्तमदास (प्रथम) ६६३
नरोत्तमदास (द्वितीय) ६६४
नरोत्तमदास अधिकारी ७०८
नरोत्तम स्वामी ३१०
नर्लसिंह ५८३
नवगढ़ ३५३
नवनदास ६६४
नवनदासो ६६४
नवनसषी ६६५
नवनागरीदास (गोस्वामी) ६६५
नवनीत चतुर्वेदी ७४९,६६५
नवनीतपुरा ६८१
नवनीतप्रियजी ३४०,४४१,४८८,७३१
नवनीतराय/व्रजदास/शोभाराम/कृष्णदास ६६६
नवनीतलाल १४६
नवनीत लाल गोस्वामी (प्रथम) ६६६
नवनीत लाल गो० (द्वितीय) ६६८
नवलकिशोर ३८३,६७२
नवल किशोर (नवलदास) ७५३
नवल किशोर प्रेस २९०,४१५
नवलदास ३९२,४४४,६७० ७१५
नवलदास (प्रथम) ६६९
नवलदास (द्वितीय) ६६९
नवलदास (स्वामी) ६७१
नवलबाई/कल्याणीबाई ६७१
नवललाल गोस्वामी २८१
नवललाल/रतनलाल गो० ६७१
नवलसखी ६७२
नवलसिंह १९०,५८२,५८९,६७५
नवाब खानखाना ८५५
नवाबगंज ४०,१०९
नवाब बंगश ४३६
नवाब वाजिद अलीशाह ५८४,५८५
नवाब हाजी ४९९
नवीन ६७३
नवीन मंजरी २८१
नवेलीशरण १४९,१७८,४२०,६७३,६७४,६७५,७८७,
    ८०२
नवेलीशरण (बड़े मुखिया जी) ६७६
नसिरापुर ८०१
नसीरुद्दीन हैंदर ४७९
नागपुर ७२१,८३७
नागपुरी ३७३
नागरजी २६६
नागरवर २०८,३३७,६७७
नागवर गोस्वामी ७१६
नागर/हरिदास ६७८
नागरीगढ़ ७५७
नागरीदास ६५,१३२,१७९,२१२,२४७,२४८,३४४,३६९,
    ३९२,४२०,४४१,४४२,४५४,४६९,५००,६८०,
    ६८१,६८२,६८३,६८४,७१६,७१७,७८३,८१४,
    ८१५,८२५,८२६,८६५
नागरीदास (प्रथम) ६७८
नागरीदास (द्वितीय) ६८३
नागरीदास (तृतीय) ६८५
नागरीदास (चतुर्थ) ६८६
नागरीदास पंचम) ६८७
नागरीदास गोसाइं २१४
नागरीदासजी महाराज ६७१
नागरीदास/राधिकादास ६८७
नागरीप्रचारिणी सभा २३७,२५४,२६६,२७५,२८९,
    ३२५,४१५,४१८,४१९,४३७,४५९,४६०,४६३,
    ५१३,७५५

नागाचतुरदास ६८९
नागाजी ९६,१०३,४०३,७७४,७९८,८४८,८४९,८८४
नागोरियामठ ६९१
नागौर ५२२
नाजिम ५८५
नाटी-इमली २६०
नातिकपुर २४६
नाथकवि ६८८
नाथद्वारा ३४५,४५९
नाथभट्ट ६८९
नाथूराम ६९१
नाथूराम दरजी ६९०
नाथूराम 'प्रवीण' ६९३
नाथूराम शर्मा ६९३
नाथूलाल शाह ३६१
नाथूसिंह २१६
नादिरशाह ४१५
नाना साहब ५८८
नानूलाल राणा ६९३
नाभादासजी ४६,५१,५३,६८,८६,८७,१५७,२२८,२४७,
२५८,३३३,३४२,३५२,३६०,३७३,३९१,४४१,
६८९,७००,७५८,७७४,७७५
नायक गोपाल ६९४
नायक रसिकमुकुन्द ६९४
नारनौल ५०८,७४४,७५३
नारायण ६४,६५०,६९९
नारायण कवि ७१४
नारायणदास २१२,२१६,४००,६९५,६९८,७००
नारायणदास (प्रथम) ६९४
नारायणदास (द्वितीय) ६९५
नारायणदास (तृतीय) ६९५
नारायणदास (चतुर्थ) ६९७
नारायणदास (पंचम) ६९७
नारायणदास भालोटिया ६९५–९६
नारायणदास (व्रजवासिया) ६९८
नारायणदास श्रोत्रिय ७००
नारायणदास सेंगरिया ६९९
नारायणदेव ३६९
नारायण भट्ट ३०८,६९०,६९९,७००,७०१
नारायणलालजी माथुर ५१०
नारायणशरणदेवाचार्य ७०२
नारायण स्वामी (प्रथम) ७०४
नारायण स्वामी (द्वितीय) ७०४
नारायन लाल २७१
नाहरमल ७०५,७८२
नाहरमल्ल १०७
निंब ३३२
निंबार्कशरणदेवाचार्य ३५,७०८
निंबार्काचार्य १३०,३०७
निकुंजदास ७०७,७८०
निकुंजेश्वरी ४९१
निकोदर २८६
निजमत सिद्धांत ६८३
निजानंद सरस्वती ८१९
निजामत खाँ १२०
निजामाबाद ४१
नित्यकिशोर २८२
नित्यानंद १७०,२५१,६९५,७०७
नित्यानंददास ४५६,७०८
नित्यानंद प्रभु २८१,३३६,४४९,७१५,८७८
निधिवन ५६५
निधिवनदास ७०८
निधुवन ६५५
निर्भयराय ७०९
निर्भय सिंह ५७५
निर्भेददास ७०९
निर्मलप्रकाश ७११
निर्मलानंदजी ५१२
निशिकांत वसु ८०६
नीकाराम ७११
नीम ग्राम ६५०
नीमच छावनी ५८२

नीमराना २४७
नीलमणि १७५
नीलसखी ७१२
नूपीबाई ४९२,७१३
नूरजहाँ २२३,२२४,२८५
नूरमहल की सराय २८६
नूह ८२७
नृसिंह कविराज ७१५
नृसिंहदास ७०८,७१४
नृसिंहदेव ७१५
नृसिंहदेव कविराज ७१४
नृसिंह भगवान ५३८
नृसिंहाश्रमजो ५३०
नेपाल ११८,२७१,२९३,५८४,५८७
नेपोलियन १४२
नेवाजदास ७१५
नेही नागरीदास ४५४,६८३,७१६,७८२
नैनादेव ७१८
नैनीताल १६४
नौने अनिरुद्ध सिंह जू २६
नौनेरे ५०३
नौबत खाँ ५४३
नौरंगीलाल चौधरी 'नन्द' ७१८
नौवाडाड़ी ८६२
न्यामतशाह ८०५
पंचगौड़ १५१
पंचपरगना ३५६
पंजाब २३२,३०७,३०८,३६०,३८०,४४४,५६४,७२६,
    ८२३,८५४
पंजाब विश्वविद्यालय २६४
पंडित बाबा ७८५,७८६,७८७
पखरौली ६५७
पचरुवा ७३
पटना ८०,९१,१७८,१९८,२९४,३३४,७७६
पटियाला ३०९,३१०,३६०,४०६,४०७,४०८
पटीबार २८६
पटोहांकोट ५८४,५८७
पडरौना ७६,७७,९९
पतितराम साव ७१९
पतिराम ३७३
पत्तनलाल जी ९१
पत्तादास ४४४
पद्मदास ७१९
पद्मनाभ ७०३
पद्मनाभदास ५४७,७२०,७२१,७४३
पद्मसिंह शर्मा ३८
पद्माकर ४६०,७२१,७२२,७२३
पद्माकर कवि ३५९
पद्मावती ३६३
पन्ना १,२७९,२९९,७२१,७५९,८१०,८३५,८४७,८६९
पन्नादेवी २६०
पन्नालाल ५
पन्नालाल (प्रथम) ७२४
पन्नालाल (द्वितीय) ७२५
पयागपुर ४०,२३१,५८२,५८६
परखम २९९
परमहंस रामकृष्ण ४
परमहंस विशुद्धानंद ३२०
परमानंद ७५३,७५४,७६७,८७८
परमानंद (प्रथम) ७२६
परमानंद (द्वितीय) ७२६
परमानंद (तृतीय) ७२७
परमानंददास १४६,२२०,२३०,२३१,२४६,३९६,७२९,
    ७३०,७३१,७३२,७३३,७३५,७३६,७३७,७६६,
    ८६७
परमानंददास (प्रथम) ७२७
परमानंददास (द्वितीय) ७२७
परमानंददास (तृतीय) ७३३
परमानंददास (चतुर्थ) ७३४
परमानंददास (पंचम) ७३५
परमानंद पांडेय ४२६
परशुरामजी १००,१०१,१०३,७०३,८२७

परशुरामदेव जी ५३६,५३७
परशुरामदेवाचार्य ७३७,७३८,७३९,७४०,७४७
परशुरामपुरी ७३९
परसराम द्वारे ३०७
परासौली १५६
परिहर ५६२
परीक्षित ५०३
परीक्षितपुरा २४०
पर्वत ७४१
पर्वतपुरी ७५९
पर्वत सेन ७४०,७४१
पश्चिमी उत्तर प्रदेश ५८७
पहलवानलाल २९२
पहाड़ापुर २९१
पांडवीय ५४३
पांडेय रामदत्त ५८६
पाटण ७६०
पाड़ामल ४९३
पान-दरीबा ५११,५२७
पाना बाई ७४१,७४२
पानी घाट ६५४,७८५
पानीपत २८०,२८६,४५८,४६६,५२२,५५०,६७०,७५३,
    ७५४
पारीछत २६
पार्वती ७२०,७४३
पार्वती देवी २८३
पावागढ़ ५८२
पासवान खवासिन ७४३
पिपरा ५८५
पियारेदास ४४४
पिसायेवाले बाबा ७८६,७८९
पिहानी ११४
पीतांबर ७४३
पीतांबरदत्त बड़थ्वाल १३९
पीतांबरदास ७४४
पीतांबरदेव १२८,१२९,१४२,३३१,४४८,७४४,७४५,
    ७४६,६८३
पीतांबरदेवाचार्य ७४७,७४८,७४९,५६६
पीतांबर स्वामी ७४९
पीरनगर (सीतापुर) ६६३
पीरा २६
पीली पोखर (बरसाना) ७८०
पीसांगण २७,३६८
पीसांगणां ३२७
पुंज ७२५
पुंडरीक २९
पुरंदर ४७५
पुरी जी ५०५
पुरुषोत्तम १०१,१०३,१३२,२६०,३१२,८३५
पुरुषोत्तमदास ३०१,४५८,५५४,७४३
पुरुषोत्तमदास 'सैंया' ७४९
पुरुषोत्तम भट्ट ७५०
पुरोहित प्रताप नारायण ७५०,७५१
पुरोहित रामप्रताप ७५०
पुरोहित शिवलाल ४८०
पुराहित हरिनारायण विद्याभूषण ७५०
पुष्कर ७३८,७३९
पुष्करदत्तजी ५५२
पुष्करदास ७५२
पुष्करराज ५३७
पुहकरदास ५७ ,७५२
पूंछरी १८७,४४३,५६८
पूनम ७८३,७८४
पूना ३२१
पूरण की नागल ८३७
पूरनदास ७३५,७३६,७५३,७५४
पूरनप्रताप ७५४,७५५
पूरनमल ७५३,७५६
पूरनमासी ७५६
पूर्णदास ७५६
पूर्णमल ४७४

पूर्णानन्द गोस्वामी ८७८

पूर्णेन्दुचन्द्र भट्टाचार्य १७१

पूर्ववंग ३१७,३१९,३२०

पृथ्वीचंद (सिंह) १

पृथ्वीमल्ल ४४५

पृथ्वीराज ६८,७५८

पृथ्वीराज कछवाह ५१

पृथ्वीराज राठौर ७५७,७५८,७५९

पृथ्वीसिंह ४५२

पेशवा ३४६

पैंतेपुर ९१

पोखर पुरवा ६५५

प्रकाशदास ७५९

प्रकाश मलिक ८१२

प्रताप ७१,३१०,३८३

प्रताप कुँवरि ७५९

प्रतापनारायण सिंह ४५९

प्रतापमल्ल ४४५

प्रतापसिंह ९,२७,४३,९३,५२२.६९५,७२२,७६१,८०८

प्रतापसिंह (व्रजनिधि) ३६,६४,६५,१३३,२४३,४५१,
    ६८८,७२३,७६०

प्रतीतराय लक्ष्मणसिंह २१२

प्रद्युम्न लाल २५,७६६

प्रवलराय ९९

प्रबोधानंद ४०४,७६७,७६८

प्रबोधानंद सरस्वती १७५,२०५,२३२,२५१.६९९,७३६,
    ७६६

प्रभुदत्त व्रह्मचारी ४

प्रभुदयाल 'प्रभु' ७६९

प्रभुदयाल मीतल १९४,३४०,४११

प्रभुदान मिश्रण ५२

प्रभुदास १९०,७६९,८३२

प्रमादास ७६९

प्रयाग ४७,२४५,३६४,५७६,५८९,६५५,७२८,७७४,८५३

प्रयागदास ४१४,७०२,७४५

प्रयागराज ५

प्रवीनराय ३१०

प्रसन्नकुमार चक्रवर्ती ३१७

प्रसन्नकुमार भट्टाचार्य ७९८

प्रसाद २९२.२९३

प्रह्लाददास ७७०

प्रह्लाददासजी शर्मा ५१०

प्रह्लाद सेठ ६५१

प्रागदास २९,४५६,७७०,७७१,८२६

प्रागनि ७७१

प्राणकृष्णदास ७७१

प्राणनाथ २७५,२८४,२९२,४३५,४३६,४३७,५७६,७७१,
    ७७२,८१०

प्रियतमलाल गोस्वामी ७७३

प्रियाजी ४५४,५००,७४३

प्रियादास ४६,६७,१२६,२०२,२४७,३३२,३७३,४०३,
    ४८७,५०३,७७४,७७५,७७७,७७९,७८१,७८३,
    ७८९,८४९

प्रियादास (प्रथम) ७७३

प्रियादास (द्वितीय) ७७६

प्रियादास (तृतीय) ७७६

प्रियादास (चतुर्थ) ७७६

प्रियादास (पंचम) ७७७

प्रियादास (षष्ठ) ७७८

प्रियादास (सप्तम) ७७९

प्रियादास (अष्टम) ७८०

प्रियादास (नवम्) ७८१

प्रियादास (दशम) ७८१

प्रियादास और हरिदास ७८२

प्रियादास/तारातनयदास ७८२

प्रियादासी ७८३

प्रियानाथ ७९८

प्रियालाल १६७

प्रियाशरण (प्रथम) ७८५

प्रियाशरण (द्वितीय) ७९०

प्रियाशरणजी ६७६,७८३,७८७,७९३

प्रियासखी (प्रथम) ७९०

प्रियासखी (द्वितीय) ७९०
प्रीतमदास २३३,७९१,७९२
प्रीतमदास महाराज ७९३
प्रेमकुँवरि ७९३
प्रेमचंद १५
प्रेमदास १७.२२१.५०८.५५१.७१०,७९६,७९८,७९९,
    ८०१
प्रेमदास (प्रथम) ७९४
प्रेमदास (द्वितीय) ७९४
प्रेमदास (तृतीय) ७९५
प्रेमदास (चतुर्थ) ७९५
प्रेमदास (पंचम) ७९५
प्रेमदास (षष्ठ) ७९६
प्रेमदास (सप्तम) ७९७
प्रेमदास (काठियाबाबा) ७९८
प्रेमदास गहोई ८००
प्रेमदासीजो ८०१,८०२
प्रेमनारायण गोस्वामी २५२
प्रेमपुंज ७२५
प्रेममाधुरी बाई ५१०,८०३
प्रेमवती ७५१,८०२
प्रेमस्वरूप ब्रह्मचारी ५१०
प्रेमानंद १९३
प्रेमानंद गोस्वामी ८७८
प्रेमिन बाई/भगवान बाई/लाड़ा बाई/दमोदर बाई/धर्म बाई/
    रति बाई/हंस बाई ८०३
प्रेसीडेंसी कॉलिज ३१७
प्रो० कंठमणि शास्त्री ६८९
प्रोफेसर साहब ५१०
फकीरदास ८०४
फखरुद्दीन ८०५
फतूहाबाद (लखनऊ)५८९
फतेहपुर २६६.३७६,४०६,४४६,७९१
फतेहपुर सीकरी १६३,८५४
फतेहपुरी ५३८
फतेहसिंह २९६,६७९,८३०
फदन खाँ ५३८
फरहत ८०५
फरीदखाँ ११०,१११
फरीद (शेरशाह) ७५३
फरीदाबाद २६६
फर्रुखाबाद ९९,२५३
फलताराम ८०५,८०६
फीरोजशाह तुगलक ५८२
फीरोजाबाद ३८,६८५
फुलवरिया गोपालपुर २९२
फूलपुर २९१, ५८५
फूलबाई ४५७
फूलबाबा ८०६
फूलमाल ५३६
फूलसखी ८०६
फ़ला ५८५
फूलीबाई ६९०
फूलोर २८६
फेरी ३२१
फैजाबाद २८६
फोजुवा ८७१
फ्रीमेंटल ६६६
बंगदेश ३२४
बंग प्रदेश ४५६
बंगलादेश ७९८
बंगाल २४६,२८२,३१८,३४८,४००,४४९,८००.८०६,
    ८२१
बंबई ५,१५१,३२१.५३२,७०४
बंशी अलि ४३
बकसर ४४०,७८५
बकसीराम ३२५,८०७
बखत कुँवरि 'प्रियासखी' ८०७
बखतबली सिंह जू देव ५१३
बखत राम आसिंगा ४८०
बखत सिंह १४,५५५,८५७

बख़्तावर सिंह ८०८, ८०९
बख़्तावर सिंह 'बख़्तेश' ४३
बख़्शी हंसराज ८०९
बख़्शू ५४३
बगौरा ८०
बच्चू दूबे ८१२
बछरावां ११५
बटेला २८६
बड़काडीह ८६
बड़ी बड़ौन (दतिया) ५९४
बड़ेराइ ८१२
बढ़वान (बर्द्धमान) ५९०
बदनकुंवरि ४३३
बदनसिंह ७
बदरवास ४२६
बदरीनाथ ६
बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ८१२
बदायूंनी ८५३
बद्रीदास ११४,७७३,८६९
बद्रीनाथ २६४,२६६,·२७
बद्रीनारायण ५७६
बनकटवा ५८८
बनचंद्र १०६,१३६
बन महाराज १९४
बनमाली १९४,८१३
बनमाली गोस्वामी ३९१
बनमालीदास ७६७
बनवारीदासजी २१५,७८७
बनारस ९१,२४२,२६०,३३५,५८५
बनारसीदास चतुर्वेदी ३८
बनारसीदेव ८१४
बनीठनी ८१४,८१५,८२८
बपफत मियां ८१६
बभनान ८१२
बमबहादुर ५८५
बरंदा ३५६
बरजेस ३२१
बरसाना २४८,२९६,३२९,३७३,४६५,७५२,८६६
बरसाने २७०,३६५,४५०,४५४,४५६,७१७,७४३,७४४,
  ७७७
बरहद ६५७
बरायछ ५६४
बरारी ४५४
बरियारशाह ५८२
बरेली ३६०
बर्मा ११८
बलख ५१,४७५
बलदीदास ४४४
बलदेव ९७,१५२,८१६
बलदेव कवि ९१
बलदेव गोस्वामी ८१७
बलदेवदास २७०,५११,८१७,८१८
बलदेवदास जौहरी ८१८
बलदेवप्रसाद अवस्थी द्विज बलदेव' ८१९
बलदेव प्रसाद द्विवेदी ३७५
बलदेव प्रसाद 'शील' ८२०
बलदेवलाल जी १७५
बलदेव विद्याभूषण ७७४
बलभद्र ६८५,७००
बलराम ८२१
बलरामदास ८२०
बलरामपुर ४०,२९०,२९१,२९२,२९४,४४६,५८२
बलरामशाह ५८२
बलवंत भैया साहब ८२१
बलवंत सिंह ३९७,४९९,७४८,७७७,८१८
बलिहारो ८२३
बलुहा २९०
बल्लभ ८६९
बल्लभदास जी ५०१
बल्लभाचार्य ११३,१५७,५५५,६९८,७२९,८६९
बस्ती ९१,२९१,५९४,८१३,८२४,८४४,८४९
बहराइच ११०,१७७,२९१,२९२,२९४,४४५,५८४

बहरियाबाद ५४
बहरेला ४४४
बहरोड ४६४,५६३
बहादुरपुर १५४,२१५
बहादुरशाह ४५२
बहादुरसिंह ९४,१२०,३४४,५८२,५८९,६७९,८२१,८२६, ८२७
बहादुर सिंह (प्रथम) ८२४
बहादुर सिंह (द्वितीय) ८२६
बहावलपुर २३५
बहियल २८४
बांकावती ४३३,८२५.८२७,८२८,८२९
बांकीपुर ९१,२९४,५८८,८२९,८३१
बांकुड़े बिहारी ४८०
बांकेपिया ८३१
बांकेपुर २९१
बांके बिहारी गोस्वामी ८३२
बांके बिहारी लाल सक्सेना ८३१
बांकेराय ११२,११३
बांदा ३४६,३५९,७२१,७२३
बांधवगढ़ ५४३,५४४,७४०
बांसी ५८५
बाइरन ३१८
बाई ४८०
बाई जी राज ७०२
बाकरगंज ८०६
बाकी खाँ ४५५
बागड़ ४९९
बागना पाड़ा ७७१
बाघडेगा ८२४
बाघेली ४८०
बाघेली सुभद्र कुमारी ४८०
बाजोड़ ८५५
बाठरडा ३८९
बाड़ा सीनोर २८३
बाड़ी (सीतापुर उ० प्र०) ६६३
बादल खाँ ५८३
बादलबली २८६
बादशाह अकबर ५७७
बाबर ३१,४७६
बाबा कृष्णदास ७०१
बाबा बालगोविंददास जी ८०३
बाबा बिहारीदास ७८९
बाबा महाराज ७८९
बाबा रामकृष्णदासजी ६७६, ७८५
बाबा हंसदासजी ८०३
बाबा हिम्मतदासजी ५६३
बाबूगढ़ ५३४
बाबू गोपालचन्द २५८
बाबू बेगम ३१
बाबू भट्ट मेवाड़ा ४८०
बाबूराम ११३
बाबूराम (हनुमानप्रसाद) ११२
बाभनौली ४९३
बाहर गनगौर ४९२
बाराबंकी १६४,२१७,४४३,४५०,५८६,६६१
बालकदास ४१२,७४४
बालकदास (प्रथम) ८३३
बालकदास (द्वितीय) ८३३
बालकृष्ण २५८,४१०,४११,७७६,८३५
बालकृष्ण (प्रथम) ८३३,८३४
बालकृष्ण (द्वितीय) ८३४
बालकृष्ण (तृतीय) ८३४
बालकृष्ण (चतुर्थ) ८३५
बालकृष्ण/तुलाराम (रासमंडल वाले) ८३५
बालकृष्णदास ८३६
बालकृष्णशरणदेवाचार्य ८३७,८६८
बाल गुपालली ३६४
बालगोविंद त्रिपाठी १४२
बालचंद शास्त्री ८३८
बालचंद्र ११२
बालदास ४४४

बालमुकुंद ७५
बालमुकुंद अग्रवाल ५३२
बालमुकुंददास ८३९
बालमुकुंदाचार्य ६९१
बालशास्त्री २४२
बालाबक्स बारहठ ८३९
बालाराव ५८८
बावरी सखी ८३६
बावली ८०४
बासदेवजी ९१
बिजावर २६
बिठुर ५६,३४६
बिलग्राम ३४,५४६
बिलाड़ा ४६२
बिशाखाशरणजी ७८९
बिसाहूराम ८४०
बिहार ३७३,४२५,४५३,७८५,८२४,८६६
बिहारिनदासजी ६८४,८४०,८४१,८४२,८४४,८५०
बिहारिनदेव १८२,१९६,६८३,८४०,८४१,८४३
बिहारी ४७६,८४५
बिहारीदास ४५६,४५७,५११,५३४,८१८,८३९
बिहारीपुर ३३७,४८२
बिहारीमल ६८,६९
बिहारीलालजी ६६,२५३,८४४
बिहारीलाल भट्ट ८४६,८४७
बिहारीशरण १७९,५३८
बौंड़ी ५८७
बीकानेर ५१,१२३,१२४,३६४,३६७,५१५,५५३,६८८,
    ७२६,७५७,८३७
बीकावत ४७६
बीजापुर ४७५
बीठलविपुलजी ८४९,८५०,८५१
बीठलविपुलदेव १८२,१९६,८४०,८४१
बीठलविपुलदेव 'रस-सागर' ८३८
बीरबर ८५४
बीरबल १८५,१८८,२२१,२२३,३९७,३९८,४४०,४४१,
    ४४२,४७७,७२६,८५२,८५४,८५५,८५६
बीरां ८५७,८५८
बीहट २७३
बुंडू ३५६
बुंदेलखंड २७२,३४६,३५६,४११,४१२,४१३ ४३५,५१४,
    ५६२,६५५ ७१२,८०१,८३४,८४४,८४६ ८५२,
८६९
बुटवल ५८५, ५८७
बुधसिंह ४५१
बुरहानपुर ४७६
बुलंदशहर १२२
बुलाकीदास १७५,८५८
बुलाखीदास ८५९
बूंदी २४५,२७८,३६७,४३४,४५१,४९६,५२२,६८८,
    ७२१
बेंती ६६०
बेरछा ७१६
बेगमदास ४६४,८६०
बेगम साहिबा ५८७
बेतिया ७७
बेनी कवि ८६०
बेनीजोत ५८३
बेनीप्रसाद ८६१
बेनीमाधव पांडेय ५८६
बेनीमाधव 'प्रवीण' ८६१
बेला ५८३
बेसनगर २८५
बेहर ५४२
बैजनाथजी २५२,५२१,८६२
बैजनाथ धाम ५६५
बैजनाथ मिश्र ८६२
बैजनाथ सिंह ५७५
बैजनाथ सिंह 'किंकर' ८६३
बैजापुर ११८
बैजू ५४३,८६४

बैजू बावरा ८६३
बैनजी (गो०) ८६४
बैराम खाँ ४७६,७५३
बैराम खाँ तातार ३१
बैहटपुरी २७३
बोड़ेया ४५३
बोधगया ४७९
बोधसाप ५७५
बोधी ७६६
बोधी सिंह ५८४
बोस्ताँ ११२
ब्यावर ५
ब्याहुला ६९७
ब्रज २१९,२४३,२७३,२८५,२९६.३२९,७२०,
 ८४३,८६२
ब्रज किशोर ८६४
ब्रजकिशोरदास ७०८
ब्रजकुंवरि ७८१
ब्रजकुंवरि बाई ८२७
ब्रजकुमार गोस्वामी २८१
ब्रजजीवन ८६५
ब्रजजीवनलाल 'निर्मोही' ८६६
ब्रजदास ८२५
ब्रजदास वारठि ८२६
ब्रज दूल्हे ८६७
ब्रजनिधि ७२२,७६२,७६३,८६७,८६८
ब्रजपति ४२४,४२५
ब्रजपति भट्ट ८६७
ब्रजपाल ३६३
ब्रजपाल भट्ट ८६७,८६८
ब्रजभान किशोरी ८६८
ब्रजभूषण १३६
ब्रजभूषण (प्रथम) ८६८
ब्रजभूषण (द्वितीय) ८६९
ब्रजभूषण (तृतीय) ८७०
ब्रजभूषणशरणदेवजी ८७१
ब्रज मण्डल ४८८
ब्रजरत्नजी २८३
ब्रजरत्नदास १७५,१७६,२५८
ब्रजराज ४८०
ब्रजराज पंडित ८७०
ब्रजराज बुन्देलखण्डी ८६९
ब्रजराय २५०
ब्रजराय गोस्वामी ८७१
ब्रजलाल २७,४५५,६७२
ब्रजलाल अवस्थी ८१९
ब्रजलाल बोहरे ८७१
ब्रजवल्लभजी ८७२
ब्रजवल्लभदेव (वल्लभ सखा) ८७२
ब्रजवल्लभलाल जी निर्मोही ८६६
ब्रजवासीदास २२८,३२९,८७२,८७३
ब्रजेंद्रनाथ सील ३१७
ब्रजेश्वर शर्मा २६०
ब्रह्म ८५५
ब्रह्मकुंड २४७
ब्रह्मगोपाल १०८,८७४,८७५
ब्रह्मदत्त ८५३
ब्रह्मदास ८५३,८७६
ब्रह्मदास (प्रथम) ८७५
ब्रह्मदास (द्वितीय) ८७५
ब्रह्मनिवास ८७६
ब्रह्मप्रकास ५
ब्रह्मानंद ५
ब्रह्मानन्द गोस्वामी (प्रथम) ८७७
ब्रह्मानन्द गोस्वामी (द्वितीय) ८७७
ब्रह्मानन्द गोस्वामी (तृतीय) ८७८
ब्रह्मावली १७६
ब्रूस ५८८
भंभोदेवी २५
भक्त-लाल १८१
भगतजी ५१०
भगतहुलासजी ७१०

भगताँ महाराज ५३६
भगवंत ७०३
भगवंतनगर हायर सेकेण्डरी स्कूल, भगवन्तनगर,
उन्नाव २६७
भगवंत सिंह ३८८
भगवतदास पंपू ५५१
भगवतमुदितजी ८०,३१४,३९१,४८४,४८७,७३५,७३७,
७६७,७६८,७९८
भगवत रसिक ८४८
भगवती प्रसाद ७९
भगवती प्रसाद सिंह २९४
भगवान ४६,५५१
भगवान गोस्वामी २५२
भगवान चतुर्वेदी १५०
भगवानदत्त ११२
भगवानदास ११,१९,४४,३२७,४२९,४३०,४५६,४५७,
५६७,७७१,७८७,८२७,८५३
भगवानदास निरंजनी ७११
भगवानदास बाबा ४४९
भगवान राय ८०७
भगवानलाल २६६
भगीरथदास ४१२
भजनलालजी ११४
भटपुरवा १०९
भटियानीजी ७०९,७६०
भट्ट ५२०
भट्ट जगन्नाथ ७६०
भट्टराज सदाशिव ४७६
भट्टदेव ८१४
भट्ट देवाचार्य २६९
भड़ौच २८९
भरतपुर ७,८१,२५३,२७१,२७३,२८२,२८९,२९८,३४९,
३५०,३५९,३६३,३९७,५६९,६७३,७०९,७५४,
७५५,७८६,८०८,८१८
भरतपुर कांचनगढ़िया ७१४
भरपूरसिंह ३६०
भर्तृहरि २८५
भवरमरा ३३०
भवानीदास ४४४
भवानीबख्श राय ७६
भवानीशंकर ८१३
भवानीसिंह ८९,२५२,३०७,३५६,४४०,७४३
भवानीसिंह जू देव ५१२
भाइला कोठारी ५६४
भाईलाल २९०
भागचंद दाधीच ४६७
भागमती ७१६,७१७,८०१
भागलपुर ५३,१७०,१७२,४२५,७१८
भाटवेड़ा ८३३
भाठागाँव ५७५
भाडियावास ८२९
भादेराम ३७३
भानगढ़ ६७९
भानसखी १२८
भानुगढ़ २१२
भानुप्रताप जू देव २६
भामिनी २५७,३६३
भारत ३७१,७७५,७९८,८००,८३०,८४६
भारतदीन ५५७
भारतेंदुबाबू दे० 'भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र' १४१,१७४,१७५,
२४२,२५१,२५२,२५८,२६०,२७८,३३९,३९९,
४५८,५५५,५९४,८१२,८१९,८७२
भावसिंह ४७५
भास्कर बुवा मुसलगाँवकर ८२१
भास्कर भट्ट ६९९
भास्कराचार्य ६९९
भिखारीदास ३९,१५४,४१४
भिनगा १७४,४४५,४४६,५८२
भिवानी ५५२
भीठा जी ४९०
भीमकुंज ५०२,५६५,६६६
भीमसिंह ६८,६९,४७८,५०२,६८१

भीषम राउ ६६१
भीष्म ८
भुजपुरा २६
भूपनारायण मिश्र ४
भूपालसिंह जी ८३७
भूषण ३५५,८५२
भेलसा ७७०
भैंसवाई २६
भैया साहब ८२२
भैरवदान ५१
भैरोप्रसाद जी 'विप्रकवि' ९१
भोगाइया १५१
भोजनगर ८
भोयड़े ३२९
भोरी सखी ८०६
भोलानाथ ४३,१५०,१७०
भोलाराम अग्रवाल ६५५
भोलाराम भंडारी ७४९
मंगलदास ९१,६५२
मंगलशाह ७३८
मंडन ३३,७०९
मंडन भट्ट ७६२,८६८
मंडना भट्ट ४२६
मंदार-मधुसूदन ५३
मंसादास ४४४
मकरंद पांडेय ५४१
मकराना ८५२
मचिया व्यास २८५
मझौली ४४५,६६१
मदनटेर १४९,४२०
मडौला ८०५
मणिदेव १७६,२८९,२९०
मणिपुर ३०७
मणीराय ७३०
मतरोड़ ४५७
मथानिया ८०७
मथुरा ४७,९१,९७,१०२,१०४,१६४,१७१,२१७,२५८,
२६३,२८३,२८५,२८६, ३०४,३३९,३६०,३९५,
४४०,४४२,४७९,४९०,५३२,५९२,६६५,६६६,
६७४,७२०,७३७,७३८,७४९,७५०,७६६,७७१,
७८७,८२२,८३०,८३४,८४३,८४४,८६२,८७२
मथुरादास ४८२,७००
मथुरानाथ २०३,३१२,५५१,६८८
मथुरानाथ भट्ट ४५१
मथुरानाथ शास्त्री २६४
मथुराप्रसाद दीक्षित ५,३३८
मथुराप्रसाद भार्गव ४०
मथुरामल २४३
मथुरामोहन ३१७
मदनगोपाल ७७
मदनगोपाल कवि २९४
मदनगोपाल शुक्ल ५८९
मदनमोहन ७७,११६,२०३,२३५,७६६
मदनमोहन मालवीय ५,४१,१४२,२६४
मदनमोहन व्यास ३७५
मदनलालजी गौड़ २६४
मदनलाल शर्मा २६४
मदन सिंह ८३८
मदुरा ६१९
मघईपुर ४
मधुकर भट्ट ७२१
मधुकरलालजी १४७
मधुसूदन झा २६४
मधुसूदन नारायण तिवारी ४५३
मधुसूदनलाल ८३१
मधेपुरा ४२५
मध्यप्रदेश २६९,२७९,४३२,४५७,५५७,५७४,६५०,७१६,
७५४
मनपुरा ३९९
मनभावन ४३
मनमोहनदास २१०,५२६
मनीराम ३६,४३,४०६

मनीषानंद ४
मनुआलाल ३३८,७५६
मनोहरदास ६३,२३०,७४५,७७३,७७४
मनोहरपुर ३५५
मनोहरलालजी ९०
मनोहरलाल पाठक ९७
मनोहरी १६९,२१८
मन्नालाल १७६,३३१
मन्नालाल 'द्विज' १७६
मरियमजमानी २८५
मलखान सिंह ५१४
मलिक मुहम्मद जायसी २७६
मलूकदासजी २०७
मल्दा ५७५
मल्लापुर ४०
मल्हार रावजी ८२१
मसऊद ८५४
मसकनवा ८१२
मसूरी ५८७
महंत रामदयालजी ४८२
महमूद लोहंग ५४३
महमूदसाहब ५८
महराई ४
महाप्रभु बल्लभाचार्य ८७,९६
महाराजगंज ५८५
महाराजगंज तराई-गोंडा ५८४
महाराज छत्रसाल ७१२,८०९,८१०
महाराजप्रसाद १७६
महाराज रघुराजसिंह ५१९
महाराज सभासिंह ८१०
महाइच ४
महाकुँवरि ४३३
महात्मा लाली बाबा ५७५
महात्मा संतदास ५२५
महादेव ५८३
महादेव प्रसाद ५०९
महापात्र ६६०
महाप्रभु बल्लभाचार्य ४९४,७५६
महाबन ३५०,३५१
महाराजा अजीत सिंह ५५५
महाराजा कॉलेज ३१८
महाराजा म्यूजियम ३११
महाराजा विश्वनाथ सिंह ४७९
महाराजा संस्कृत कॉलेज, जयपुर २६३,२६४
महाराणा प्रताप ७५७
महाराणा प्रतापसिंह १०५
महाराणा राजसिंह १०५
महारावल शिवसिंह २५५
महालक्ष्मी २५७
महावन २३७
महासिंह ११०,१११,४७५
महुआ २८२
महेंद्रनारायणसिंह ५८
महेंद्र प्रेस, पन्ना ७५९
महेंद्रसिंह ४०७
महेबा २७२,२७३
महेशदत्त शुक्ल १६७,२१७
महेशदास ८५३,८५४
महेशदास म्हाई ४३
महेश नारायण ७५०
महेशप्रसाद २३४
महेश्वर बक्ससिंह जी ९१
महेश्वरी ८०३
महोवतराम सनाढ्य २७०
महोबा २३६
माँ आनंदमयी ३२१,३२२
मांचल २७४
मांचे वाले बाबा ६५३
मांडेर ५१३
माखन ८४०
माखनलाल ३८२
माचल ४२९

माचहड़ी ग्राम ७५३
माड़वा ८७५
माणिकचंद्र पांडेय १५८
माथुरराय ३५९
माधवदासजी ९१,३०७,४४४,४५७,८०९,८७८
माधवराव २७०
माधवराव सिंधिया ८
माधवसिंह २७०,५८२,७४०
माधोदासजी २९
माधोसिंह ३६,२१२,२१३,५२२
माधोलाल १४६
मानदास ५१६,८३५
मानबाई २८५
मानसिंह १५९,१६०,२२२,२२३,२६५,४०६,७४०,८३०,८३१
मानसिंह तोमर ५४३,८६३
मानसिंह (द्विजदेव) ५८६
मानसी गंगा ५५५
मानुदासजी ४९३
मानूलाल ४०६
मानोखर १२७
मायाशंकर याज्ञिक ४७८
मारवाड़ ५२,२४५,५४७,५५४,५७१,७४१,८३७,८५२
मालदेव ५२
मालाराम चाड़ ३६८
मालेरकोटला ३८०
माहवी हमदानी ३३
मिथिला ४९६
मिथिला प्रदेश ४५६
मिर्जा अजीज कोकलताश ३१
मिर्जा इब्राहिम ८५४
मिर्जा जुल्फिकार बेग ५८३
मिर्जापुर ८१२
मिर्जा राजा जयसिंह ४७५
मिल्टन ३१८
मिश्र-बन्धु ११४,५७०,६६३,७१२,७२३,८०९,८१२,८४०,८६९
मिश्रित (मिसरिख) ४९१
मिश्री सिंह ५४३
मीठाजी ५०५
मीरजापुर ८१६
मीरन जान ५८३
मीरपुर ७८३,७८४
मीर मुंशी अबुलफजल ५४२
मीर मुर्दरिस ३३
मीर मुहम्मद हसन 'नाजिम' ५८५
मीरा ९४,१९१,३७९,४५०
मीराबाई १३,९४,११९,१८६,३०२,८०२
मीरा मंदिर प्रकाशन संस्थान ५५३
मुंगरा बादशाहपुर ८६२
मुंगेर ४७५,५२१
मुंडावर ४९,५०
मुंशीजी ७२५
मुंशी देवीप्रसादजी ८५३,८५७
मुअज्जम खाँ ५८४
मुअज्जमाबाद ४०६
मुकुंद ६३
मुकुंद कवि ३३
मुकुंद गजपति ६५९
मुकुंददेवजी ८६८
मुकुंदपुर ५५७
मुकुंद बिहारीलाल ८३१
मुकुंद महाराज ६९९
मुकुंदराम ७२५
मुकुंदराय २६०,३५९
मुकुंदलाल १४६,३८२
मुक्तिराम २०७
मुजफ्फरनगर ४६३
मुट्ठीगंज ३६४
मुडोला ५२९
मुनि कांतिसागर ६८६

मुबारक खाँ ३१
मुरलीधर ११२,१५४,२५७,३०६,४१४,५११,६७२,७७०,
    ७७१,८०९
मुरलीधर राय ३५९
मुरली सखी ७७६
मुरारदास जी ५२२
मुरारी जी ५९४
मुरारीलाल शर्मा ४१९
मुरारीलाल शर्मा 'सुरस' ३८२
मुर्शिदपुर ४९९
मुर्शिदाबाद १७०,१७४,५२१
मुल्तान ७०७
मुल्ला मुहम्मद रज़ानवी ३३
मुल्ला हमाते जीलानी ३३
मुसाहिब दानिशवर ८५४
मुहम्मदअली खाँ ५८५
मुहम्मद कुली की घाटी २८६
मुहम्मद खाँ ५८३,५८४
मुहम्मद फाजिल ५५
मुहम्मदशाह ६४
मुहम्मदशाह रंगीले ३६९,४१५,५२२
मुहम्मद हुसन ५८६
मुहम्मद हुसैन आजाद ८५२
मूलचंद ५०९,८०३
मृगावतो राठौड़ ४७६
मेघनाद भट्टाचार्य ३१८
मेघवर्ण शर्मा ३०७
मेड़नदास ४४४
मेयो कॉलेज ३१९
मेरठ ४९३,५३४,५८७
मेलारामजी ५५३
मेवाड़ २३६,२४५,२६०,२६३,३८९,३९०,३९१,४७५,
    ४७८,५५३
मेवात ४९७
मेवाती ५८४
मेहनीन २९१
मैक्समूलर ६६६
मैढुकी ७९
मैनपुरी ३२५,५९४
मैनादेवी ४२५
मैनाबाई ५२६
मैहर ८४६
मोंडप्रदेश ४७५
मोकलपुर ४
मोढ़ाशाह २८३
मोतीचंद साँभर ४८०
मोतीपुरा ३६८
मोतीराम २२७
मोहनचंदजी ३१३
मोहनचंद्र २५९
मोहनजी गोसाइं ८७२
मोहनदास ४४,२१०,२२९,३३७,४००,७८२
मोहनदेव ८१४
मोहननिवासजी ५२१
मोहन भाईजी २८९
मोहनलाल गोस्वामी १९८,७२५
मोहनलालजी ६६
मोहनलाल भट्ट ७२१
मोहन सिंह ७०८
यज्ञनारायण सिंहजी ८३८
यदुनंदन गोस्वामी ७७१
यदुनाथजी ७०,१८७,३६३,७३२
यदुनाथ सान्याल ३१७
यदुपति भट्ट २४८
यमुना २५५,४९४,५०३,५५८,५७८,७३६
यमुनादासजी ५७२
यमुनावल्लभ ३९९,७७३
यशवंतलाल सी० दलाल ८६९
यशवंत सिंह ६७९
यशोदा ५७३
यशोदादेवी ४१४,७७०
यशोमती ६९९

युगल किशोर मिश्र ५१२
युगलदास ३९३
युगलवल्लभ ३९३,४२०,७३४
युधिष्ठिर ५३३
यूरोप ७५०
योगानंद ४
योगिंद्रवर्य ५३
रंगीदासजी 'फूल शृंगारी' ४५
रंगीलदास ५३३
रंगीलाल २९०,३१४,५२४,७०५
रंगून ९१,११८
रतिदेवी ४२५
रघुनाथ ६९६,७२०,८४०
रघुनाथ कवि ५८९
रघुनाथदास २८१,५८३
रघुनाथदास गोस्वामी १८०
रघुनाथप्रसादजी ५५७
रघुनाथभट्ट २४७,२४८,२८१
रघुपति २४३
रघुबरदयाल ९०
रघुवरदयाल सिंह ५८५
रघुराज सिंह ६८,२३९,३१०
रघुवरदास ३०७
रघुवीर सिंहजी २७०
रजनीकांत अमीन ३१८
रडेरवाँ ४९
रणछोड़जी ८१८
रणछोरदासजी २०७
रणजीत ४१४,७७१
रणजीतसिंह ८१,३६०,३८३,४९९
रणजोरसिंह ९३
रतन अलि १३३
रतनदास ५२१,५३३
रतन पंजाल २८६
रतनपुर ३०८
रतनलाल ६२
रतनशाह ४३५
रतना ४६२
रतनीजी ४६३
रतलाम ३९
रत्नपुरी ३८३
रत्नावली ७४०
रनधीरसिंह ३९९
रमणदयालुजी २५२
रमणदासजी ७८७
रमणमहर्षि ६
रमणलालजी ९०
रमाकांत आचार्य १७०
रमादत्तजी शास्त्री ८३८
रमेल गाँव ५६२
रसखान १९१
रसदेव ५८९
रसनायक ५४६
रसपुंज ४३
रसरासि ४३,७६०
रसिक गोविंद ६४
रसिकदास २२०,४१२,४१३,६५५
रसिकदेव ४१८,६८३,७४४,७४५,७४६,८१४
रसिक प्रीतम २२०
रसिकमोहन ४००
रसिकलालजी १७३
रसिकशिरोमणिदास ८४०
रसिक-सभा २७८
रसिकोत्तंस २४८
रसूलपुर ४४४
रहमखाँ २९
रहसो ४९५
रहीम २२३,४७७,५९१
राँची ३५६,३७३,४५३,४७३,८२४
राखन रावत २१६
राघवदास ३९४,३९५,८२७
राघोदास ८२७

राघौदास ६८
राजकवि गोकुल ५९०
राजकीय पुस्तकालय, जोधपुर ७४१
राजकीय संस्कृत कॉलेज, काशी २६४
राजकुँवरिजी ३४५
राजकुमारी ७५०
राजगढ़ २७८,४८१
राज जगदीश ३३६
राजनगर १८२,५६४
राजनांद ३३०
राजनाथ गाँत्र ५७०
राजपुर २७०,३०६,५९४,७७३,८४९
राजवल्लभ ७७
राजसिंह ६९,६७८,६७१,६८१,८१४,८२५,८२७,८२८
राजस्थान १००,२०९,२७१,२७३,३१८,३२७,३३७,३४२,
 ३६०,३६६,३९०,४०३,४१३,४१४,४६२.५०९,५२१,
 ६५०,६९१,७१९,७३३,७४४,७४७,७५४,७५७,८०८
 ८३७,८७५
राजा की सराय २८६
राजा दर्शन सिंह ४७९
राजा नयनसुखदेव ५८२
राजापुर १७८
राजा फजली ८५४
राजा बहादुर ५८६
राजा भैया मोरगाँवकर ८२१
राजा मोतीचन्द ८६३
राजा रामचंद्र ४७,५४४
राजाराम जी ७७१
राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद १४१,१४२,१७५
राजासिंह ३०८
राजा हरदत्त सिंह ५८७
राजा हरवंशराय ५१३
राजौर २८६
राठ २१६
राठौड़ जी १९८
राणा जंगबहादुर २७१,५८७
राणा सुरतान ३६२
राधा ५००
राधाकुंड ३०७,४७४,५६८
राधाकृष्ण २५८,४७३
राधाकृष्णदास ६८९
राधागोविंद १७५
राधाचरण गोस्वामी ३३९,७७५
राधाचरण जी २०,२५२,२५४
राधादामोदर जी ७७४
राधामदनमोहनजी २४८
राधामोहनलाल जी १९८
राधारमण २०,१७५,२५४,७७३,७८८
राधारमण गोस्वामी ७२५
राधारमण चरणदास बाबा ५३२
राधारमणदास १०५
राधारमन जी ६८९
राधावल्लभ २५६.४७३
राधावल्लभ पांडेय २६३
राधावल्लभ लाल २२,४५४,५००,५१८,५७८,७७६,७९०
राधावल्लभशरण ७५६,७९३
राधिकादास १०५,२१०,२५९,३०७,५२६,७७६,७८६
 ७८९
राधिकादास जी महाराज ७८७
राधिकानाथ ८७४
राधेश्याम जी ५१०,८०१
राधेश्याम द्विवेदी १९४,८२६
रानी बहूजी ३४५
रानी भागमती जी ५७८
राप्ती २९०
राम ४७७,४८१
रामआसरे तिवारी ५८३
रामकुँवरि ७४४,७४५
रामकुमार वर्मा ३९२
रामकृपाल ५११,५३४,८१८
रामकृष्ण ९१,२६९
रामकृष्ण चतुर्वेदी २४३

रामकृष्ण चौबे ८३४
रामकृष्णदास ३९,४५७,७०८,८७१
रामकृष्णदेव १४६
रामकोट ४९१
रामगढ़ २६४,५७०,८०३
रामगढ़ गौरी ५८२
रामगिरि २५१
रामगोपालजी २१५
रामघोष १७०
रामचंद्र ३२,१७०,६५९,६७३
रामचंद्रदासजी ६७४
रामचंद्र बघेला ७४०
रामचंद्र शुक्ल १,२४८,२९०,३९२,५५२,६९०,८०९
रामचेरा ६६५
रामजग्गीलाल १४
रामजीवनलाल भार्गव ७२४
रामतीर्थ २३२
रामदयाल ४८२
रामदयाल मजूमदार ३१८
रामदास २९,९६,१२५,१३१,१८६,२०६,२०९,२२८,
 ३१६.३३३,३५३,४३०,४३९,४४४,४५६,५८१,
 ५८९,७१८,७३०,७४८,७७८,७८७,७९८,८६३
रामदास चौहान १५७,१५८
रामदासजी काठियाबाबा ८००
रामदास बाबाजी ५३२
रामदास भार्गव ११७
रामदीन ७९
रामघन ३६७
रामनगर ४३५
रामरेश त्रिपाठी ९५,१२३
रामनारायण मिश्र ७६
रामनिवास बाग, जयपुर २६४
रामपरीक्षण शास्त्री ४
रामपुर ९१,१८९,३६०,३६१
रामपुर-भगवान ४२५
रामपुरा ७७३,८००
रामप्रताप शास्त्री ५,८३७
रामप्रसाद ३७५
रामप्रियादासजी ६५०
रामबक्सजी ३००
रामबख्श ३०८
रामभवन उपाध्याय ४
रामराय २५१,२८६,३९९,५०५
रामरायप्रभु १२७,२०६,५४७,८७४,८७५
रामराय मिश्र ८६८
रामराया २८६
रामरूप ९,१२,२०७,२१०,२११,४१४,४१७,५११ ५३४,
 ७५५,८१७,८१८
रामलालदास ८०४
रामशरण सिंह २६७
रामसजीवनलाल भार्गव ४४
रामसनेहीजी ५२१
रामसहाय व्यास ७५०
रामसहाय श्रीवास्तव ३६४
रामसिंह ५८५
रामसींण १९०
रामसुख ११२
रामसुमिरन त्रिपाठी ११८
रामसेवक १२०,४९८
रामसेवक त्रिपाठी ५५८
रामस्वरूप ५८९
रामहरिदास ४५६
रामादेवी ४५६
रामानंद ६३,१९२,७९८
रामानुज ७९२
रामानुज संप्रदाय ४७३
रामासनी ४६२
रामेश्वरबख्श ४५०
रामेश्वरम् ५७६
रामेश्वर सिंह जी ५९४
रायपुर ३०१,८४०
रायबरेली १९,२९,४०,७१,११५,२६६,३७५,३९७,६५७

रायभारतीचंद ५७७
राया ५९४
राव कल्याणमल ७५७
रावप्रताप सिंह ४९८
रावराजा ३५५
रावलपिंडी ७०४
रावल हरराज ७५७
राव शंभुराम ४३
राव शंभुसिंह ७२२
रासदास १०६
रासबिहारी १७५
रास बिहारी गोस्वामी १९४
राहे ३५६
रिड़ ३६८
रिवाड़ी ४८२
रीडसाहब ५८५
रीवाँ ६८,२३९,२९७,३३०,४७९,५५७,५८९,६५९,६५९,
    ६६१,८५४
रुक्मावती ५८
रुक्मिणी २०३,३०१,३४५
रुक्मिनी देवी २८३,३१३
रुणँचा १००
रुद्रदत्तजी १४२
रुद्रपुर ८१
रुद्रपताप सिंह ३७५
रुहेल खाँ ५६८
रूप २८१
रूपकलाजो २२८,६८९
रूपकुँवरी ४७६
रूप गोस्वामी १३९,२७२,७२५
रूपनगर ३३३,३४४,८३६
रूपमती ६३
रूपमाधुरी जी ७७१,८०३
रूपमाधुरीशरण ६८,३६४
रूपरसिक १३३,४६८
रूपरसिकदेव जो ७८६
रूपराम ५७१,७७९
रूपलाल गोस्वामी ४१०
रूपलालजी ६६,११५,१२७,१४९,१६८,१६९,१९५,२००,
    २८०,५०१,७९५,७९६
रूपसनातन जी ४८८,६८९
रूपसनातन ६८९
रूपसिंह ५१,११२
रूपावडास्व ७०९
रेगिस्तान ३४८
रेणुका २४८
रेवती ५३६
रेवती मोहन नाग ४२५
रेवतीरमण ६९६
रेवतीरमणदासजी २८२
रेवाड़ी ५०,२८०,३२४,७५३,७५४
रेवाणी ७५४
रेवाबाई 'राधादासी' ४३२
रेहली ११६
रैदास १९१
रोटहा ४३२
रोहतक २७५,४८२,५२९,८३९
रोहिणी २८३,३८३
लंका ११८
लक्षदास ३७७,३७९
लक्षिदास २७७,४०१,४९३,५१६
लक्ष्मणगढ़ ८३७
लक्ष्मण भगत ७८३
लक्ष्मणसिंह १६६,३०६,४७९
लक्ष्मीजी ३१२
लक्ष्मीदास २७७
लक्ष्मीनरसिंह ३४५
लक्ष्मीनाथजी शास्त्री २६४
लक्ष्मीनारायण ३६७
लक्ष्मीबाई ५१३,५६२
लक्ष्मीराम वैद्य २६४
लक्ष्मीराम स्वामी २६४

लक्ष्मीसहाय माथुर ८६१
लखनऊ ११३,२५३,३४६,३८३,४१५,४७९,४९६,५८५,८०४,८३१
लच्छीपुरा १६६
लछिराम ९१,२२९
लड्डूगोपाल ४५७
लमहटा २७५
ललना ६८७
ललित कवि ५८९
ललित किशोरी २५३,२५४
ललितकिशोरीदेव ४१९
ललित त्रिभंगीराय ५४०
ललितप्रसादजी ९१
ललित मंजरी २८१
ललितमाधुरी २५३
ललितमोहिनीदेव ३३१
ललितलताअलि ४७०
ललिताचरण ३९३
ललितादेवी ८३७
लल्लूजी लाल २६३
लशकर खाँ २८६
लश्कर (ग्वालियर) ८२१
लसोड़ा २७०
लहनासिंह ३६०
लॉकिट साहिब ४७८
लाड़काना ५४९
लाड़लीलालजी १४७,६९६,७००
लाड़िली ४५४
लाड़िलीदासजी १५४,४१२,४५७,५०५,५७२,७८६
लाड़िलीलाल १४१,८०६
लाड़िलीशरणजी ८३७
लार्ड कैनिंग ५८८
लालकवि ४३६
लालकुँवरि ४३५
लालगिरधर २६६
लालचंद्रजी ५५२
लालचदास ७१
लालजी १४९,२०३,२६५,६६१
लालदास ४१२,७७५,८३४
लालबाबू ७०४
लालसाहब २९२
लालस्वामीजी ३१४,५७८
लालांदे ७५७
लाला काशीनाथ अकोला ७८९
लाला गनेशी लाल ७०४
लालाबाबू १७४
लाला भगवानदीन ७६
लाला रतनलाल बेरी ७८९
लाला रामशंकर ५८८
लाला वृंदावन २८१
लाहड़दास ४५६
लाहौर २६४,२८६,३१९,३६०,३९९,४४०,४४१,४४२,५२२,५५०,८५४
लिवाण प्रदेश ८२७
लुकसर ५३४,८१८
लुधियाना २८६
लुहरग्राम हरपालपुर ७९
लुहारी गाँव २७५
लोकनाथ ब्रह्मचारी ३१७
लोकमनी ७०३
लोचनदास ५९२
लोदू चौबे ७०३
लोहना ३३८
लोहार्गल ७४७
वंशगोपाल २८५
वंशी अलि ७६०
वंशीदास गोस्वामी १४०
वंशीधर ६७,११२,१४४
वच्छगाँव ४७
वच्छवन ४७१
वनचंद्र (वनचंद) १०९,१३१,१३२,२०८,३०५,३१३,३३३,३५६,३९२,४०३,४०९,७६७

वनमाली लाल जी २०,९१
वरधीचंद ७०३
वड्सवर्थ ३१८
वर्णसिंह ३०९
वर्धमान ४४९,४५६,७७१
वर्धा (महाराष्ट्र) ५७३
वल्लभजी ८७२
वल्लभ रसिक २४८
वल्लभसखी ४१२
वल्लभाचार्य ५४,१८३,२४७,२५६,३१२,५७१,५७३,७२०,८७४
वल्लीमारान, दिल्ली २१०
वसुदेव ३८३
वाजिद अलीशाह ५८७,७६१
वाजीराव पेशवा ४२६
वादग्राम २३२,७८१
वानर-राज्य ६८३,८४१
वामदेव ७७३
वामनराव पाटनकर ८२१
वामाचरण सान्याल ३१९
वामा सुंदरी ३१७,३२०
वारठ ८२५
वाराणसी ४,१५५,४३२,४७९,७८५,८६६,८७०
वारेन हेस्टिंग्ज १७४
वासुदेवजी ७३७
वासुदेवशरणदेवाचार्यजी १४१
विंध्यप्रदेश ४०२
विंध्यवासिनी ४७९
विकास-मंजरी २८१
विक्रमाजीत ५७०
विचारदास ८०४
विजयनगर ३८८
विजयराजसिंह २९१
विजय सखी ८१०
विजयानंद सूरि, ३८०
विजयी का नगला गाँव ५३२
विजावर ८४६,८४७
विट्ठलनाथ १३,४७,४९,६९,७०,८६,८७,१०४,१०६,११५,१५६,१६०,१६२,१८५,१८७,२१९,२३६,२३७,२५०,२५६,२५७,२८३,२८५,२८९,३०२,३१२,३३१,३३९,३४०,३४५,३५१,३६३,३८४,३८५,३९४,३९५,३९६,३९८,४४१,४४२,४४३,४४४,४४७,४५६,४६५,५६४,६९७,६९८,७३०,७३१,७३२,७४३,८७४,८७५
विट्ठलेशजी २८३
विट्ठलेश्वर २५६
विठूर (कानपुर) ५६२
विदिशा ३३५
विद्यादेवी ३६४
विद्याधर अग्निहोत्री ३७८
विद्यानिधि ३३२
विधुभूषण गोस्वामी ३१८
विनयचंद १३३
विनयसिंह ६१
विनोददासजी ३०७
विनोदवल्लभ १९५
विनोदसिंह ३५६
विपिनदासी जी ५६१
विपिन-मंजरी २८१
विभूतिसिंह २४१
वियोगीहरि ९४,८७२
विरक्त ६८३
विलास खाँ ५४३
विलासदास १०६,१२५,१३१,५७६,६७२
विलासपुर २३२,५७४,५७५
विलास मंजरी २८१
विलियम बैंटिक ४७८
विल्हौर ८०२
विवेकानंद २३२
विशाखाशरणजी ७८६, ७८७,७८८
विशुद्धानंद ५८,३२३
विश्वंभरजी ७८८
विश्वनाथ ९१

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ६३,१७८,७२३
विश्वनाथसिंह जू देव ९४,२७९,२९७,४७९
विश्वेश्वरपुरी ४४४
विश्वनाथ चक्रवर्ती ७७४
विष्णुदास ६५५
विष्णुदास छीपा २३७
विष्णु दिगम्बर ११८
विष्णुप्रिया ८१४
विष्णुसिंह १९८
विष्णुस्वामी ८०६
विहार घाट ५६७
विहार मंजरी २८१
विहारा (म० प्र०) ४३२
विहारिनदास १७
विहारिनदेव ४३६
विहारी ७०३
विहारीदास ११२
विहारीदास त्यागी २९९,८३८
विहारीपुरा,६७४
विहारीलाल ६५५
विहारीसिंह ९१
वीठलदास १३२,३३८,३३९,७८२
वीठल विपुल ४३६
वीरनारायणसिंह ५७५
वीरभानु ६५९
वीरमदेव ५२
वीरसिंह ८२७
वीरसिह देव ९६
वीरूभगत ५५१
वीरेश्वर जी शास्त्री २६०
वृंद ५९१
वृंदावन ५,२२,३९,५३,८३,१०१,१४७,१६९,१७४,
 १७९,२४७,२५६,२६९,२७०,२७२,२७७,२८१,
 ३१०,४५६,४७४,४७५,४७९,४८५,४९७,५०५,
 ५१६,५१९,५४७,५९४,७१६,७५३,७५७,७६६,
 ७७८,७८४,८१४,८२७,८५९,८६४,८७१,८७२,
 ८७८
वृंदावन चंद्रदास ७७६
वृंदावनजी ७३५
वृंदावनदास १५३,१६७,१९४,१९५,२५६,४००,४२०,
 ४७४,५००,५१५,५१९,५३०,७१७,७४४,७९५,
 ८५९
वृंदावनदेव ३६९
वृंदावनदेवाचार्य जी ६७९
वृंदावन विहारी २८४
वृंदावन भट्टाचार्य ३८६
वृंदावनवासी आनन्दघन ६३
वृंदावनशरण जी ६८७
वृजलाल बोहरे २६९
वृजेश ६६१
वृषभानुकुँवरि ९३
वृषभानु बाबा ५०१
वेणी २५७
वेदवती १४
वेरी ९
वैकुंठनाथ कविराज ३१७
वैरिगढ़ २७३
वैश्य लालदास ७००
वैष्णवदास ७७३
वैष्णवदास रसजानि ७७४
वैष्णवदास शास्त्री ८३८
व्यावर ८३७
व्यास ९४,४८५,५०३,७७८
व्यास कुमार ६७८
व्यास जी मिश्र ५३०
व्रज ३९४
व्रजदास विप्र ८६६
व्रजपति ३२८
व्रजपाल भट्ट ४२६
व्रजभूषण जी १३१
व्रजभूषणदेव जी ७२
व्रजभूषण लाल जी राजभोगिया १६६
व्रजराजशरणदेवाचार्य ८३३

व्रजलता जी ३३६
व्रजलाल ६६,३३५,४०२
व्रजलाल गोस्वामी ४२५
व्रजानंद ३६९
व्रजाभरण दीक्षित (गोस्वामी) ८७४
शंकरलाल भार्गव ९०
शंकर सहाय पाठक ५८४
शंकराचार्य ५,८३८
शंकरानंद ५
शंभूदयालजी भार्गव ५०२
शंभूनाथ ७६०
शमसाबाद १८९
शहरयार ३२
शहाबाद २८६
शांतनुविहारी ४
शारदाप्रसाद १७२
शारदाप्रसाद लाल १५
शागिराम ३९
शालिग्रामजी ९१,२०७,४९८
शाहआलम (द्वितीय) ४९९
शाह ईसा २०३
शाह कुंदनलाल (ललित किशोरी) २५३,३०४
शाहगंज १५१,५८१
शाहगढ़ ५१३
शाहजहाँ ३३७, ४७५
शाहजहाँपुर (रिवाड़ी) २५३,५२०,७८४
शाहजादा बिरजिसक़दर ५८७
शाहजादी देवी १४
शाहजी भोसले ४७५
शाहडीह २९२,५८२
शाहपुर ३६,५८,५२०,८६२
शाहपुरा ३३३
शाह फुंदनलाल (ललित माधुरी) २५३,३०४
शाह भैरवनाथ राय ३१७
शाह वंशीधर ५६२
शाहसलीम ७५४
शाहाबाद ३७३
शिवकवि भरसेला ४४६
शिवकुमारलाल १५
शिवकुमार शास्त्री २४२
शिवगोपाल मिश्र ३७८
शिवचंद्र १७०
शिवदान सिंह ७४
शिवदास ४४४
शिवनंदनसहाय ९१
शिवनाथ ५८९
शिवपुर १३९,५१९
शिवप्रसादगुप्तजी ८६३
शिवप्रसाद सिंह ४४५
शिवबख्शजी ८३९
शिवराजपुर ३४६
शिवराम किंकर योगत्रयानन्द ३२०
शिवरामशास्त्री पिंगले ८२१
शिवलाल दुबे ५८५
शिवसंपत सुजान ९१
शिवसिंह १७७,१९९,४४६,४७८
शिवसिंह सेंगर २२१,२२२,२९५,५७०,६५७
शिवाजी ४३५.४७५
शिवाड़ ६९३
शिशिरकुमार घोष ३१८
शिशुपाल ६६१,७५८
शिशुपाल बल्देव यादव ७१९
शीतलगंज ८१२
शीतलदास ४२९,४३०
शुकदेव २९६,४१६
शुकदेव मुनि ४१४,४१५,६८५
शुजा ४७५
शुजाउद्दौला १९
शुभकरण ८०७
शूकर क्षेत्र ७१०
शूरवीर सिंह २६६
शेक्सपियर ३१८

शेख २८४
शेख फैज़ी ३३
शेथरी ७
शेरगढ़ ५५५
शेरशाह सूरी ५४४,६५८
शेषजयरामजी ३४२
शोभनजी ७७०
शोभनदासजी १२०,३८२,४५६
शोभादास ४४४
शोभापुर ३९३
शोभूरामदेव ७८५
श्यामदास १३२,३०६,३०७,४१२,४२१,४५६,८२६
श्यामदास गुजराती २३,२४
श्यामदासजी महाराज ७८५
श्यामदास जेतली २८५
श्यामदासी ४१८
श्यामलाल २७३
श्यामसुंदर शुक्ल ४१६
श्यामा २६०
श्यामाशरण बड़भागी ३४६
श्रियाचार्यजी ४६७
श्रीकृष्ण ८६८
श्रीकृष्णचंद्र गोस्वामी २४
श्रीकृष्ण चैतन्यदेवजी १४१
श्रीकृष्णदास २२६, ३१२,४१६
श्रीकृष्णदास बाबा ८७८
श्रीकृष्ण भट्ट ३३१,३३३,५०२
श्रीकृष्ण भट्ट 'कलानिधि' ४५१
श्री गोविंद महामंदिर योगपीठ, वृंदावन ३२६
श्रीधर २२०
श्रीधर पाठक ८७२
श्रीनाथजी ४८८
श्रीनाथ तिवारी ७८१
श्रीनाथद्वारा ३१२
श्रीनारायणप्रसाद पोद्दार ८०३
श्रीनारायण भट्ट ६८९,६९५
श्रीनिवासाचार्य प्रभु ७१४,७१५
श्रीपति २८४
श्रीपतिशरणजी ५५७
श्रीपाट पुरुनीया ८७८
श्रीबाबा ४५७
श्रीरंगदेवी ६९९
श्रीरंगपट्टन (दक्षिण-भारत) ५७३
श्रीलालजी ७६९
श्रीलाल स्वामी ५७२
श्रीहट्ट ७९८
श्री हिंदी पुस्तकालय समिति, डीग,भरतपुर २७१
संगरूर (पंजाब) ८३९
संत कवि ५८९
संत चरणदास ४९८,५२७,५३४
संतदास ९६,३८५,४२०,४२१,५०४,६७५,७८८,७९८
संतदास पुष्करण ५५१
संत ध्यानप्रकाशजी ८०६
संसारचंद्र ३१८
संस्कृत कॉलेज (बनारस) ३१९
सआदतगंज ८०४
सकतावती २७,४३३
सखी ७०९
सखीदेव २५३
सच्चिदानंद पाण्डेय ४२६
सज्जनसिंह २४५
सज्ञानसखीजी ७८१
सतघरा २५८
सतलज २३२
सतारी ७१२
सतीशचंद्र मुखर्जी ३१७
सत्यनारायण ५५२
सत्यनारायण 'कविरत्न' ३७
सत्यभामाजी ३१२
सत्येंद्र ५४,२४३,४५१
सदयराम २८६
सदानंद ७९,१०७,४४५,५२४

सद्दू पांडेय १५८
सनकादि खालसे ६५२
सनतकुमार ७९८
सनत्कुमारदासजी ५९४
सनातन २८१
सनातन गोस्वामी ६३,३५५
सनातन धर्म कालेज, लाहौर २६४
सनेहीदासजी ५२१
सनोमानदास ४५०
सप्तसिंधु प्रदेश ५५०
सफीदों (सर्पदमन) ४५८
सबगत राम ४९३
सभूलकच्छ २८६
समगरा २९०,५८२
समसेर ८३६
समेला १०५
सम्राट अकबर ५४२,५५४
सम्राट जार्ज षष्ठ ७५०
सर कालिन कैंपबेल ५८७
सर चार्ल्स विंगफील्ड ५८७
सरजूप्रसाद ११२
सरदहा ४४३,४४४
सरदार बापू साहब मोहिते बागीकर ८२१
सरदार सि़ह २७०,४३३,५८३,६७९
सरस-कुंज ४३०,५११
सरसदासजी ६५५,६८३
सरसदेवजी ६५५,६८४
सरसनिकुंज ५२७
सरसमाधुरी शरण १२,२११,३०७,५०९,५११,८०३,८१८
सरस्वती भंडार २८०,३१२
सरस्वती भवन ३१९
सर होपग्रांट ५८८
सरायनरेला ९९
सराह २८७
सरीला ९५
सर्वेश्वरदासजी ७८५
सर्वेश्वरशरणदेवाचार्य ७०८
सर्वेश्वरशरणाचार्य ७६२
सलीमन ३०
सलीमशाह ६५८
सलीमा सुल्ताना ३१
सलेमपुर ८१
सलेमाबाद २७,२८२,३२७,३४८,३४९,३६६,३६९,४३३,
    ६८१,७०२,७०३,७३९,७४०,७४८,७६२,८३७
सवाई जयसिह १२९,४५१,५२२
सवाई पृथ्वीसिंह ४६७
सवाई प्रतापसिंह १९,४१५,४२६,४२७,४२९
सवाई प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' ३८६
सवाई महाराज प्रतापसिंह २१४,४६४
सवाई माधवसिंह ४४०
सवाई माधोपुर २७०
सवाई मधोसिंह (प्रथम) २४३,६८८,७६०
सवाई रामसिंह ३२५,३२६
सवाद (थानेश्वर, हरियाणा) ५२१
सस्तेखान २८६
सहज कुँवरि ४३३
सहजोबाई ११,९९,२१०,४१४,४१७,४९२,५६३
सहरसा ५८,४२५
सहदेव ४३६
सहाने ३३२
सहारनपुर ७५,३१३,५२४
सहेरे १
साँझापुर ७४४,७४५
साँपला ५२९
सांया झूला १६६
सागर (मध्य प्रदेश) ११६, ४८७,५११,५९४,६९३,
    ७२१,८०९,८२०
सागर कविया ४३
सागरमलजी ६५२
सागोनी ५९४
सातनपुरवा ४०,२६६,३९७
साधुरामदास २१४

सावित्री सिनहा ८०७
सारंगधर ३६
सारनाथ ५८५
सारवाहन ४३५
सारस्वत क्षेत्र २७८
सावंतसिंह (नागरीदास) ३६९,४३३,६८१,६८३,७१६,
 ८१४,८२५
सावंतसिंहजूदेव बहादुर ८४६,८४७
साहिबराम व्यास ७४२
सिंध (सिंधु प्रांत, सिंध प्रांत) ३१२,७०७,७३५
सिंधुनदी ५५०
सिंधु प्रदेश ५४९,८१७
सिंस्यू-राणोली (सीकर) ८३८
सिंहनद ४९४
सिंहरद २८६
सिंह वाहिनी ६५७
सिंहाचंदा २९१
सिकंदराबाद १२२
सिकरौरा ५८७
सिगरा ३२०
सिणली ५१
सितारा ७२१
सिद्धपुर ८३३
सिद्धराम २०७.२१०
सिधुआ ९९
सिमगा ८४०
सियरमऊ ३९३
सिरमौर २३२
सिरसी ९,७५०
सिलोरा ७४८
सिल्ली ३५६
सिवार ७८८
सिसई ५८३
सिहाड़ १३,२३६,२३८
सिहोर ५४०,६५०
सीकर ४८१,८३८
सीकरी १६६
सीतला प्रसाद २८९
सीतानगर २६९
सीतापुर ९०,९१,१७६,२४१
सीताराम ८३,४८२,८६२
सीतारामजी शर्मा ९१
सीताराम पांडेय ३२०
सुंदर ८६९
सुंदरकुंवरि ४१६,४३३,६७९.७३९,८२५,८२७
सुंदरदास ४५६,८२६
सुंदरनाथ ५१३
सुंदरलाल २९२,४०२
सुंदरवर १३१,२०८,१७६
सुआंव २९३
सुकेतमंडी ३६०,३६१
सुख जी ६५५
सुखदास ८३९
सुखदा सुंदरीदेवी ३१७
सुखदेव १९८,८१७
सुखदेव गुसाईं ९
सुखदेव मिश्र ९१
सुखलाल ५४८,६६७,८०५
सुख सिंह ६७९
सुखानन्द गोस्वामी ८७७
सुजान ३६९
सुदर्शनदास (ललितप्रिया) ३००,३०७
सुदर्शननाथ ८०१
सुधारानी ३२०
सुनसौर ४७१
सुनहरा ७८५
सुनाम (संगरुर) ५२९
सुब्रलश्याम ६८९
सुभद्रकुमारी (महाराणीबाघेली) ४७९
सुभद्रा २५७
सुभद्रा कुमारी चौहान ७५०
सुमेरसिंह ४१

सुमेर सिंह जी महन्त 'सुमरेस' ९१
सुरतिसेन ५४३
सुरभी-कुंड ३६३
सुलतानपुर ११८,२७५,२८६
सुवाणाँ ८३
सुवाना ४८२
सूखेर ३८९
सूदन ४३९
सूर ३०,३७९,३९६,४५०,५३३,७३२,८४०
सूरजकुंड ३०७
सूरजपुर २८६
सूरज प्रसाद शुक्ल २६७
सूरजमल ७
सूरत २८४,३०६,७७३
सूरत नगर ४९७
सूरतसिंह १११,३८८
सूरदास ७४,११९,१४६,१६३,१८४,१९९,२२०,४९७,
    ७३०,७३३,८३७,८६४
सूर्यनारायण व्याकरणाचार्य २६४
सूर्यप्रसाद शुक्ल ८०२
सूर्यदेवी २५३
सेंवढ़ा ७४३
सेठी ७२६
सेनानाई ११९
सेनुहरा १
सेमरौता ३७५
सेवक जी २५,३९२,५००,६९५,७४२,७९२,७९८,८५९
सेवकराम ११२
सेवकशरण ४२१
सेवाकुंज ३२८
सेवादत्त पांडेय ७७१
सेवादास जी २०७,३००,३०७,५०२,५६३
सेवाराम ७,८,३६०
सेवारामराय ३२९
सेवासखी ५०१,५०९,५१२
सेहुँड़ा १
सैमरी ७५२
सैयद अली नकी खाँ ५८६
सैयद इब्राहीम ११४
सैयदराजन २९
सोदणी ३८३
सोनपुर १४७,२८६
सोनीपत २८०
सोनू सिंह ८६४
सोम संतदास ३८२
सोरों २५१,२८६
सोहनपाल बुंदेला २७३
सोहनलालजी २६४
सोहागपुर ३९३
सौराष्ट्र ५९०
स्योपुर ६८१
स्लीमन ५८५
स्वर्णमयी ३१७,३२०
स्वात ८५५
स्वामिनीशरण जी ३९,६७६
स्वामी अग्रदास ४७७
स्वामी चतुरचिंतामणि देवाचार्य ७९९
स्वामी चतुर्भुजदास ७६७
स्वामी प्राणनाथ ८६९
स्वामी रामरूप जी ५२१,७१०,८७६
स्वामी विवेकानंद ३१७
स्वामी सिद्धराम ५२६,५२७
स्वामी हरिदास ४७७,५६४,६५५,७५९,८४१,८४३,८४८,
    ८४९,८५०,८५१,८६३,८६४,८७३

हँड़िया १२२
हंसदास ४२९,४३०,४५७
हंसराज ४०६
हंसराजजी सिंघवी ८३७
हजारीबाग ५२१,५७०
हथोधा ४४४
हनुमत प्रसाद ८४६,८४७
हनुमान् कवि १७६

हनुमानघाट ३२०
हनुमानप्रसाद ९१,१५१
हनुमान प्रसाद पोद्दार ४,५
हनुमान सिंहजी राठौर ८३७
हबीबशाह ९
हमीदाबानू बेगम ४७६
हमीरपुर २६,२१६.८५२
हमीरसिंह देव ५७०
हर कुँवरि २७
हरकुमारराय ७६
हरगुलाल १९४
हरगूलालजी ७८८
हरचंदपुर ४४४
हरजीमल ८१,५०२
हरदेव प्रसाद श्रीवास्तव ५१०
हरदोई ११४,४९५
हरनाथ ३३
हरनामदास ३६४
हरनारायण ८,२०७
हरपालपुर २७३
हरप्रसादजी २९,७७०
हरप्रसाद भार्गव २४०
हरप्रसाद शास्त्री ३१८
हरमाड़ा १०४
हरसौरा ४९७
हरिकिंकरजी ७१८
हरिकिशोर ११६
हरिकुँवरी ४७६
हरिकृष्ण कमलेश १९३
हरिगोपालदास ३०७
हरिदास ४३,६३,७२,१०१,१०२,१०३,११८,१२५,१२६,
१३०,१६०,१९३,१९६,२७७,३१०,३३७,३५२,४१९,
४३२,४३६,४४९,४७८,५२१,५४३,५६५,६५५,६५७,
६८४,७४५,७५६,७७१,७७६,७८३,८४०
हरिदासाचार्य २८२
हरिदेव ३३१
हरिदेवदास १२३
हरिद्वार २६४,४५८,४५९,४६०,६६७
हरिनाथजी ५०१,६५८,६६०,६६६
हरिनाथ सिंह जी कूपावत ८२६
हरिनामदासजी ५९४
हरिनारायणजी २०७
हरिनारायण शर्मा २४३
हरिपुर २८६
हरिप्रसाद १३१,५६२,६६६
हरिप्रसाद सिंह ५८
हरिबाबा ४,७८९,८२१
हरिभक्तदास १७८
हरिया ८७
हरियाणा २७५,२८०,४८२,५२१
हरिरायजी ८४१
हरिराम व्यास १२५,२५२,४११,४१२,७१२,७३६,७६७
हरिराय १०८,१५६,१८२,१८४,१८७,१८८,७३०,७३३
हरिलालजी १२१,१४१,१६८,४०९,४१०,४११,८३६
हरिलाल गोस्वामी ८६५
हरिलाल व्यास १३८,१४६,७४२
हरिवंश २४८,५००,५०२,५०५,७५४,७९२,७९३,७९४
हरिवंश गहोई ८०१
हरिवंश गोस्वामी ६६,७०५,७६७
हरिवंश चंद्र ७६७
हरिवंश चंद्र महाप्रभु ७३६
हरिवंशदास १९
हरिवंशदेवाचार्य ७०२
हरिवंश पाठक १९८
हरिव्यास ७३७
हरिव्यास देवाचार्य ७३७,७३८,७३९,७८६,८१४
हरिशरणदाय ४५०
हरिश्चंद्र मौलिक ३१७
हरिहरना टंडन ३९८
हरिहार २६६
हरीजू सिंह ४९९

हरेकृष्णजी ४७२
हरेकृष्ण स्वामी ८९
हर्षचंदजी १४१
हस़नपुरवा ४०
हसनबेग १०२,१०३
हसवा ३७६
हस्तिनापुर ७१,३८३
हस्तेड़ा (हस्तेड़ी) ३२५,३६७
हाकिम ८५५
हाड़ा जैतसिंह ६८१
हाथरस (अलीगढ़) २७०,८१८
हाराणचंद्र चक्रवर्ती ३१७
हिंदुस्तानी एकेडमी ४६०
हिंदू विश्वविद्यालय २६४
हितकिशोरी ३०५,३३३
हितगोपालदास ३०४
हितचंदलाल ३१०,७७४
हित चतुरासीजी ७९८
हित जगद्दीश त्रणेजा ५५१
हित दामोदरदासजी २५
हितदासजी ९९,७८८
हित ध्रुवदास २०५,२१८,३१५,४३०
हित प्रीतमदासजी ७८४
हित महाप्रभु ४०४,५७६,७३७,७५३
हित रूपलालजी १२१,१२८,३७३,८०३
हित लालजी ७७९,७८०
हित वृन्दावनदास १७३,३१६,४७१,४७२,४८४,६७२,
    ७३७,७७६
हित सेवकजी ३०३
हित स्वामिनी शरणजी ७३४,७३५
हितहरिवंशजी २९,४७,८०,९४,१०३,१०९,१६०,१७३,
    २१८,२३०,२५६,२५९,३०५,३१३,३३८,६८९,
    ७०७,७१६,७१७,७३७,७५३
हितहरिवंश गोस्वामी १२५,४२५
हित हरिवंशचन्द्र १४१,४९१,८३५
हित हरिवंश महाप्रभु ५७२,८६६
हिताचार्य २४.९६,१२५,१३६,१६७,१६९,२१२,२५७,
    ४०३,४२४,४३८,४७४,५७६,६७८,७०५ ७१६,
    ७६८,७७२,७९१,८१२,८३६,८६६
हिताचार्य चरण ४५,१७०,२१८,२५६,३३८,३३९,७८२
हिताचार्य महाप्रभु १४६,७३६
हिम्मतबहादुर ३५९,७२३
हिरदेश ८०९
हिरनी ५५५
हिलोल-बसना २८४
हीरानंद ४६७
हीरामनी ७०३
हीरालाल ४४,१८१
हीरालाल कायस्थ ६६३
हीरालाल सर्राफ ७८९
हीरासिह २४०
हुकमीचन्द खोडिया ४३
हुमायूं ३१,४७६,६५८,६७०,७३५,७५३
हुलासराम ३७३
हृदयराम भल्ला १२०
हृदयशाह (हृदय साहि) ८१०,८३५
हेमचन्द्र (हेमू) ७५३,७५४,६७०
हेमराज कविया ५१
हेरम्बचन्द्र मैत्र ३१८
हैदराबाद ८३७
होंदराम ८२७
होड़ल ७७५
होलराय ४७७
होशंगाबाद ३९३

ग्रन्थानुक्रम

अंगचंद्रिका २१६
अंगद-रावण संवाद ६९२
अंतर्लालिसा २६१
अकबर और भूदेव ५९२
अकबरनामा ५४२,८५४,८५५
अकबर संग्रह ४७८
अखैरामजी की वाणी 'अखैसागर' २१४
अखैसागर २२७
अखैसार १०
अगहनबोधिनी ७१०
अघविनास ४४४
अचल-प्रकाश २९१,२९४
अजामिल ४०५
अथर्ववेद भाष्य ८३८
अद्भुत-आनन्द-सत १२९
अद्भुत रामायण २९४
अद्वैतप्रकाश १९१
अधखिला फूल ४१
अध्यात्मप्रकाश १४२
अध्यात्म रामायण २९०
अनन्त-माहात्म्य १७२
अनन्य-प्रकाश १
अनन्य मोदिनी ७७४,७७५
अनन्य-रसिकमाल ३९१
अनन्य-वैष्णव-धर्म-प्रेम-प्रभा ३३४
अनभौसार ६६५
अनुभव-चन्द्रिका ३७१
अनुभव-प्रकाश ३८९
अनुरागबाग ५९२
अनुरागरस ७०५
अनुरागसागर ७०४
अन्तःकरण-प्रबोध २८८
अन्योक्ति कल्पद्रुम ५९२
अन्योक्ति-पच्चीसी ३६०
अन्योक्ति विन्दु ६६५
अपना अपना राग है ५९२
अपरोक्षानुभूति ६
अभिनवकारकरत्नम् २६१
अभिनवसद्वृत्तपुष्पगुच्छ २६१
अभिलाप-बत्तीसी ४०४,८२४,८२५
अभिलाषमाला १३६
अभेद रसः २६१
अमर-कोष-भाषा २९०
अमर लोक ४१६,४१७
अमर-वचन-सुधा (उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद) २६१
अमर सूक्ति सुधाकर २६०
अमरूकशतक का अनुवाद ४५१
अमृत-अटल-पदावली ३७
अमृतधारा ७११
अमृतध्वनि २४३
अमृत-पद-मुक्तावली ३७
अमृतप्रकाश ३६
अमृत सागर ७६२
अमृत-हजारा ३७
अम्बिका-परिणय-चम्पू २६५
अरिल्लाष्टक ६८२
अरे वोह वाले ले चल ७५१
अर्जुन-प्रकाश ५८९
'अर्जुन-विलास' की पद्यबद्ध भूमिका २९४
अर्थपंचक ७८९
अर्थ-पंचरत्न ७८
अर्थशास्त्र २६१
अर्लमेयो १४२

अलंकार-आभा ३९७
अलंकार-कौतुक ४५२
अलंकार तत्वम् ८३८
अलंकार मंजूषा ८४७
अलंकार-साठि-दर्पण ४४६
अलंकार-सुधानिधि २४४
अलख-पचीसी ३८९
अलष सनेही ६६४
अलिफनामा ८०४
अलीजा प्रकाश ७२३
अवतार अष्टक ५२९
अवतारमाला ४९७
अवतारों की लावणी ६९२
अशोक-चरितावली १४२
अश्रुधारा १४२
अश्वमेध भाषा ५३३
अष्टक १७९,४७९
अष्टक रत्नाकर ४५९
अष्टकाल लीला ५६१
अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय ३९२
अष्टछाप वार्ता ३९५
अष्टयाम १३५,२९५,४०४,७७४,८३४,८७५
अष्टयाम के पद १३३
अष्टयामप्रकाश २९४
अष्टयाम-सेवा-सुधा ४००
अष्टसखान की वार्ता ३९५,४४२
अष्टांगयोग १४३
अष्टादश उपनिषद्-भाष्य ३९
अष्टादश पुराण दर्पण ५३२
अष्टादश-रहस्य १६६,१६७
अष्टादश सिद्धान्त पदों की टीका ३९
अष्टावक्रगीता ६
आँखों देखा चमत्कार ५९२
आँझ १३३
आइने अकबरी ५४२,८५२,८५३
आकाश-कुसुम १४२
आगमपद्धति ४४४
आचार्य चरितावली ८७७
आचार्य-चरित्र १४३
आचार्यजी की प्राकट्य वार्ता २८९
आचार्यजी की बंशावली २०६
आचार्य-परम्परा १३५
आचार्य-प्रार्थना १३५
आचार्य-वधाई २८२
आचार्य-मंगल-वधाइयाँ ७९१
आचार्यस्तवमाला ३९
आचार्योत्सव १२९
आठपहर ४९९
आठ पहर दूजै मूल चेत परसंग ४९९
आत्मकथा और संस्मरण २६५
आत्मनिवेदन २६१
आत्मनिवेदनम् २६२
आत्मपरमात्मतत्त्वादर्श ३९
आत्मबोध ६
आत्माराम चरित ३८०
आत्माहंस के पदों का संग्रह ५८
आदि-झूमर-संगीत ३५६
आदित्यहृदय २७९
आनन्दकादम्बिनी ८१२
आनन्द लगनाष्टक ६८२
आनन्द लहरी २६१
आनन्द-विलास ५९,६०
आनन्द शतक २५१
आनन्द-सागर ६१
आनन्द सागर या आनन्दसार ७५५
आनन्दसार ६६५
आनन्दसार पोथी ७५५
आनन्दाष्टक ४२०,८१६
आनन्दोल्लास ६
आपेश्वर-भीमेश्वर १९१
आयुधपूजा ७
आरती संग्रह ७६२

आरसी में हीरे की कनी १४२
आरोग्य-दिग्दर्शक २६१
आर्यशास्त्र-प्रदीप ३२०
आल्हखण्ड ८६२
आसुधीरजी कौ चरित १२९
इतिहास सार समुच्चै ४९९
इतिहासायन ५३२
इन्दिरायण ७५१
इन्दुमती १४२
इन्द्रकोप ४८९
इन्द्रप्रस्थ महातम २०८,२२७
इन्द्रप्रस्थ-महातम-ग्रन्थ २०७
इन्साइक्लोपीडिया ४१५
इश्कलता ३७१
इश्क-लहर-दरियाव ३६०,३६१
ईशावास्य-प्रवचनस्य ६
ईश्वर पच्चीसी ७२३
ईश्वर प्रार्थना २६१
उक्ति-जुक्ति-रसकौमुदी १७५ १७६
उग्रज्ञान ४४४
उत्तममंजरी ४४६
उत्तरार्द्ध-भक्तमाल १७४,२३८,२५१,३४०,५५५
उत्सव माला ६८२
उत्सवमालिका २०४
उद्धव-गोपी संवाद ८३९
उद्धव-पच्चीसी ३६०
उद्धवशतक १७६,४६०,४६१
उद्धव-सन्देश १७६
उपदेश-आनन्द-सत १२९
उपदेशावली २६१
उपदेशाष्टक ५७१
उपनिषद्-ज्ञान ५९२
उपनिषद्-परिशीलन २६५
उपसुधानिधि ४०४
उपासनासार ६६५
उल्फत-अपील ८४७
उषाभाव २६१
उषा-हरण ३७३,४९७
ऊषानाटक ८२२
ऋतु कल्पद्रुम २४३,६८२
ऋतु प्रमोद ८३१
ऋतुराज-मंजरी ८५
ऋतु संहार ८४८
एक-एक के दो दो १४३
एकनारीव्रत १४२
एक सौ बीस वचनामृत ४४२
एकांकी भाव २६१
एकादश चतुष्पदी ५५१
एकादश-स्कन्ध-भागवत भाषा ३८२-३८३
एकादशी-कथा ७३
एकादशी महातम ९९,७१०
एकादशी माहात्म्य २९४,४६४,५५१,८६०
औरंगजेब की राजनीति १४२
कंठमाला १४२
कंठाभरण २७६,४६०
कंदर्पकेलि १४३
कंदर्प-विजय १४२
ककहरा नामा ८०४
ककावली ५९,६०
कक्का बत्तीसी ५१६
कटे मूड़ की दो बातें १४२
कठिनाई में विद्याभ्यास २६१
कठोपनिषद् ६
कनककुसुम १४२
कनक मंजरी १२०
कन्हाईजी की बधाई ११४
कपिल-सूत्र १४३
कपिलोपदेश ६
कबीर-वचनावली ४१
कमला-माला-शतक २७१
करुण प्रशस्ति २६१
करुण विरह प्रकाश ७७१

करुणा-चौंतीसी ९४,९५
करुणानिधि २६१
करुणाभरण नाटक २२९
करुणा वेली १८१,४२०
करुणाष्टक १९१
कर्णकौतुक २४३
कर्णानन्द १७३,४०४,७६७
कर्तव्याकर्तव्य-प्रकाशिनी ४९१
कर्म का कवित्त १३३
कर्म संहार ५५३
कलंक भंजन लीला ८३१
कलकाशी ४५९
कल्याण-मंदिर २६१
कल्याण समस्या २६१
'कवि' ३३५
कविताकुसुम २६१
कविता-मञ्जरी १४२
कविता-रस-विनोद ४६७
कवितावली ३०६
कविता संग्रह १४२
कवित्त २७५,४१६
कवित्त रचनावली ४४०
कवित्तसंग्रह ३७,९५,३७१,४५२,६६१,७२३
कवित्त सवैया की पोथी ७६४
कवित्त सवैया शतक ७६२
कवि दर्पण ३६०,३६१
कविप्रिया ४८०,८४७
कवि बाईसी १३३,२४३,६८८,७२२,७६०
कवि-माधुरी १४२
कवि-मुख-मंडन २९०
कवि वैराग्य वल्लरी ६८२
कवीन्द्र ३३५
कव्वाली ७५२
कहरानामा ४४४,६६९
कादिवर्णमाला १६४
कामकलेवर १२७
कामवन-मन्दिर-विलास ४०४
कामवन-विलास १३८
कायस्थ कुल कीरत काव्य (अपूर्ण) ६९२
कार्तिक-महातम ९९
कार्तिक माहात्म्य ६६५
कालासाहब १४३
काली नथन-लीला ४१६
काली पंचक २७९
काव्य-कानन ७५१
काव्यकुंज २६१
काव्य-कौतुक ११८
काव्य-कौमुदी ३७८
काव्य-नियम २७९
काव्य-रचना ७५२
काव्य-विनोद ४५१
काव्यश्री ७५१
काव्योपवन ४१
काशी-कवि-समाज-की समस्यापूर्ति १४२
काशीराम के कवित्त १२०
किसनजी री वेल १००
किशोर-सुखसागर ४५१,४५२
कीरत प्रकाश ४८०
कीर्तन-कलाप ४०५
कीर्तनकुंज ११८
कुंजकेलिका २०८
कुँजविहारी-अष्टक ४३९,४४९,८७७
कुब्जा पचीसी ६६६
कुब्जाष्टक ३६१
कुम्भ-पर्व-व्यवस्था १४३
कुवलयानंद ८४७
कुसुमकुमारी १४२
कूपविनय दोहावली २४०
कृपाकंद ३७१
कृपाकन्द-निबन्ध ६५
कृष्ण और शिव का अर्धाङ्ग स्वरूप-वर्णन ११९
कृष्ण-कथा ९२

कृष्ण-कवितावली १२३
कृष्ण का जीवन ३७३
कृष्णकुसुमाकर २१६
कृष्ण-कृपा-रस-रास-रसिकनी ९४
कृष्ण कौमुदी ३७१
कृष्ण-खण्ड ४९७
कृष्ण-गोपी-प्रेम २९०
कृष्णचन्द्र लीला ४६७
कृष्णचन्द्रिका २१३,२१४,२७२,२७३
कृष्ण चरित ७११
कृष्णचरितमानस १७७
कृष्णचरितामृत २१७
कृष्ण-चरित्र २६६,२६७,२७९
कृष्णचरित्र सूची २७९
कृष्ण जन्मोत्सव कवित्त ६८२
कृष्ण जू की पाती ८०९
कृष्णजू को चरित ९०
कृष्णदत्तभूषण २९१,२९४
कृष्ण-प्रतीत-परीक्षा ८२
कृष्णमंगल २३४
कृष्ण-रस-सागर ३७७
कृष्ण रामायण ३७३
कृष्ण लीला २७९,८०१
कृष्ण विनोद १९८,३७७,३७८
कृष्ण विलास १९०
कृष्ण-सुदामा १७२
कृष्ण-सुधाधर ३८०
कृष्णायन २१४,४५५,५३२,८२०,८४०
कृष्णार्जुन-संग्राम ४०५
कृष्णावतार के कवित्त ४३७
कृष्णाष्टक ३६१
केलिमाल १३५,७८७
केलिमाल की टीका ७४६
केवल भक्ति ५६३
केशव कीर्ति ७५२
क्यामखाँरासो ५३९
क्रोध-क्रूरता २०७
क्षेत्रलीला १०
खालिक बारी ४१४
खोज रिपोर्ट ७७५
ख्याल-टप्पा २२०
ख्याल भक्त प्रह्लाद का ६९२
ख्याल सुदामा भक्त का ६९२
गंग-पच्चीसी २२५
गंगपदावली २२५
गंग-रत्नावली २२५
गंगाजी रा दूहा ७५८
गंगापंचदशी ३६१
गंगापचीसी ३४५
गंगाबाई के पद २३९
गंगा-माहात्म्य ९
गंगालहरी ७२३
गंगा लहरी की वेदान्त परक टीका ८३८
गंगावतरण ४६०
गंगा-शतक ४९७
गंगाष्टक १७७,२२९,२७९,३१०
गंगा सप्तमी ४५९
गङ्गास्थितिसिद्धान्त १४३
गंधर्वबाइसी ७६०
गज-उद्धार १४
गजेटियर (मथुरा) ५३९
गजेन्द्रमोक्ष १२३
गणपत्रिका १९१
गणेश स्तुति ५४०
गद्दी-प्रकाश २९४
गद्य 'ब्रह्मसम्बन्धमन्त्र' पर टीका २८८
गर्ग-चरित्र ८
गर्गसंहिता ४०५
गायत्री-मन्त्रभाष्यम् ४००
गायत्री-व्याख्या १४२
गायत्री साधना ५९२
गालिब अमृत ३८

गिरधरलालजी के वचनामृत २६०
गिरधर लाल स्वामी की बधाई ९५
गिरधर लीला १८२
गिरधर सप्तशती २६१
गिरधारी-सतसई २६६
गिरवर-विलास ८१,८२
गिरिगाथा ३७१
गिरिधर-गरिमा २६१
गिरिधारी-चरित २६६,२६८
गिरि-पूजन ३७१
गीतगोविन्द २२९,२४४,३७८,८७३
गीत-ज्ञान बत्तीसी ६९२
गीतांजलि २६१
गीता २०,२१०,२५५.४९०,७३५,७५३,८१८
गीता अध्ययन ५९२
गीता के सप्तस्वर ५९२
गीता गरिमा ७५२
गीता ज्ञान ५९२
गीता-दर्शन ६
गीताभाषा ११२
गीतालोक ४०५
गीताव्याख्यानमाला २६५
गीतासार ६६५
गुण-गोविन्द १०५
गुणसागर १४
गुप्तरस ३६३
'गुप्त-रस' की टीका २८८
गुप्तरस-प्रकाश ६८२
गुरछौंनाजी की वाणी २७४
गुरुकृपा-चरित्रबेली २९,३७४,५००,५६४
गुरु-कौमुदी ३१०
गुरु-पचासा ३६१
गुरु प्रणालिका १३३
गुरु प्रताप लीला ५७२
गुरुभक्ति ८६०
गुरुभक्ति-प्रकाश ९,१२,४१४,६८५,७५५
गुरुमंगल १८२
गुरु महिमा १९१
गुलबहार १४२
गुलाबकोष २७९
गुसाइँ श्री लालजी का जन्म चरित्र ७२७
गेंद लीला ७९६,८१०
गोंडा गजेटियर ५८२
गोकुल-गीत ३७१
गोकुल-चरित्र ३७१
गोकुल-विनोद ३७१
गोकुलेश-प्रताप-मार्तण्ड २५६
गोदोहन ३८६,३८८
गोधन आगमन दोहन ६८२
गोपाल-चम्पू १८०
गोपाल-पचीसी २९७,२९८
गोपाल भट्ट-चरित्र ३०१,३०९,३१०
गोपालाष्टक ७०४,७०५
गोपीगीत ६
गोपी नैन विलास ६८२
गोपी-पचीसी ३६१
गोपी प्रेम पीयूष प्रवाह ६६६
गोपी प्रेम प्रकाश ६८२
गोपी-विरह ८६२
गोपी-विरह-वर्णन ४४०
गोपीसागर १६४
गोबर-गणेश १४३
गोवर्द्धन धारन कवित्त ६८२
गो-माहात्म्य २३६
गोवर्धन-चरित्र २९८
गोवर्धननाथ जी की वार्ता १६२
गोवर्धननाथजी के प्राकट्य की वार्ता १५६,१५७
गोवर्धन-लीला १६६,२३५,३०२,३०३,६९८
गोवर्धन शतक १९३
गोविन्द-गीतावली ३३८
गोविन्द-चन्द्रिका ७३
गोविन्द जू को नखशिख ४५२

गोविन्द परचई ६८२
गोन्दि-माधव कथा ४५२
गोविन्द-लीलामृत ४५२,५७०,७७१
गोविन्द-सुखद-विहार २८९,२९०
गोविन्दानन्दघन ६४
गौड़ीयवैष्णवजीवन ७७१
गोमाता ५१२
गौरनामरस-चम्पू १८०
गौर-पद तरंगिणी ७१४
गौरांग-अष्टयाम ४००
गौरांग भूषण-विलास ३५५
ग्यानसमूह १०
ग्रीष्म-गौरव ७५१
ग्रीष्म-विलास ४२६,८६८
ग्रीष्म विहार ६८२
ग्वालियर किले का इतिहास ८२२
घनआनन्द ६३
घन-पच्चीसी ८९
घनश्याम-सागर ३६६
घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर ४५९
घरूवार्ता २८९
चंडाल-चौकड़ी १४३
चंडी-पुराण ३७३
चतुर-चिंतामणि ३८९
चतुर-प्रकाश ३८८,३९०
चतुर्गीति १७३
चतुर्थ-वसन्त-प्रबन्ध १३०,१४८,२०१,३१६,३२८,३७४,
४१२,४२३,५००,५११,५१५,७४३,८६०
चन्द-चौरासी ४००
चन्द छन्द बरनन की महिमा २२३,२२५
चन्दन वारे वैष्णव की वार्ता ७४०,७४१
चन्द्रकुँवर-खेल ३६६
चन्द्रप्रकाश ३९९
चन्द्रसखी का जीवन और साहित्य ४११
चन्द्रशेखराष्टक ३८९
चन्द्रायण ७६२
चन्द्रायण वा दोहा ७६४
चन्द्रावली १४२
चन्द्रावली नाटिका २५८
चन्द्रिका १४२
चन्द्रोदय १४२
चपला १४२
चरण बंदगी ४४४
चरित्र शतक ७६५
चर्चरियां ६८२
चाँदनी के कवित्त ६८२
चाक्षुषोपनिषद् १४३
चाणक्य-दोहावली २६१
चाणक्य-सूत्र-कारिका २६१
चारपदारथ निरूपण ४९९
चारुचिन्तन ६
चाह-पचीसी ४२६,८६८
चाहवेली ७७४,७७६
चित्र-कलाधर २९४,२९५
चित्रकाव्य ४४६
चित्रांगदा २६१
चिन्ता-तन्त्र २७९
चुभते चौपदे ४१
चुरहारिन-लीला ८१०
चेतचन्द्रिका २८९,२९०
चेतनदास जी की वाणी ४३०
चेतनसार २२७
चेतावनी के पद २७९
चैतन्य चन्द्रामृतकणिका १७५
चैतन्य-चन्द्रामृतम् १७५
चैतन्य-चन्द्रोदय १९३
चैतन्य-प्रेम-प्रभा ३३४
चोखे चौपदे ४१
चौंतीसा ३७३
चौपट-चपेट १४३
चौपरिहुलास ३६
चौबीस-अवतार २९४

चौबीस अवतार कथा ५२९
चौबीस एकादसी कथा ५२९
चौबीस-वचनामृत (व्रजभाषा) २८८
चौमासा ४९९
चौरासी की महिमा १३३
चौरासी वैष्णवन की वार्ता ११३,१५६,१५७,१६१,१६२,
    १६३,१८७,३०१,७२७,७२९,७३२
चौर्यलीला २४०
छंद तरंगिनी ७९५
छंद नवनीत ६६६
छंद-पच्चीसी ४५२
छंद प्रभाकर ८४७
छंद लावनी २९९
छंदसार-पिंगल ६९७
छंदार्णव ८४७
छंदाष्टक ३७१
छप्पनभोग-वर्णन ३६६
छप्पय ४१६
छप्पय नीति ६६१
छवि गिरधारी श्याम की २६५
छान्दोग्य-उपनिषद्-भाष्य ३९
छूटक दोहा ६८२
छूटक माला ६८२
छूटक विधि ६८२
छोटी और बड़ी पत्ती ५१३
जगत-प्रकाश ४४६
जगत-भक्त-विलास ४५१,४५२
जगत-रसरंजन ४५१,४५२
जगत-विलास ४४६
जगदीशबख्श की पदावली ४५०
जगद्विनोद ७२२,७२३,८४७
जजमान कन्हाई जस ५७२
जड़ाऊ कंकण में काल भुजङ्ग १४२
जनलालच ७२
जनानी झूमैर ८२४
जन्मोत्सव बधाई ८६७
जयदेव १७२
जयपुर के हिन्दी कवियों का योगदान ४५१
जयपुर वैभवम् ४५१
जयशाह सुयश प्रकाश ७०९,७६२
जयसिंह विरुदावली ७२३
जयाजयन्त २६१
जसतिलक १९१
जागरण-माहात्म्य ४१६
जात-मुकुर ४१
जाति निर्णय विषयकग्रंथ ५३२
जानकी मंगल १९१
जापान विजय २६०
जीवन-प्रयाण ११८
जीविका को नेम २४
जुगलकृत्य ५०४
जुगल-गीत ३०१
जुगल चन्द्रिका ५११
जुगलप्रिया ९४
जुगलप्रियापदावली ९४
जुगलभक्ति विनोद ६८२
जुगलरस माधुरी ६८२
जुगल स्वरूप विरह पत्रिका ८०९,८१०
जैनस्तवन माला २६१
जैमिन-पुराण ४४५
जैमिनि अश्वमेधपर्व भाषा ५२२
जोगीलीला २०४
जोजेफाइन १४२
जोरूदास १४३
ज्ञान-चौगुणी ४११
ज्ञानदीपक २०२,२०४
ज्ञान-प्रकाश ४४४
ज्ञानमाला ४९०
ज्ञानरतन ६६९
ज्ञान-संकलिनी १४३
ज्ञान सरोवर ६६९
ज्ञान-स्वरोदय ४१६

ज्योतिलता-ताजक ४०७
ज्वाला बीसा २६१
टिट्टिभि-आख्यान २९४
टीका-चतुरासी ६६७
ठगिनी १४२
ठाकुर कौ लीला ८०१
ठाकुर जी रा दूहा ७५९
ठेठ हिन्दी का ठाठ ४१
डायबिटीज एण्ड योगिक क्योर्स २०९
ढाढ़िया-दान ४७२
तंत्र ग्रंथों पर-टीकाएँ ५३२
तंत्र-रहस्य १४३
तकरीर-दिलपजीर ४४
तत्वदीप-दोहावली २६१
तत्त्वत्रयी २०७
तत्त्वार्थ प्रबोधिनी २४३
तरुण-तपस्विनी १४२
तर्कसंग्रह ४
तवारीख हुसवा ३७६
तारतम्य की प्रणालिका ५१३
तारतम्य सागर ५५४
तारा १४२
तारिक मन्त्र २७५
तिथि निर्णय ७७६
तिथि लीला ७४०
तिलक संदेश खण्ड काव्य ५५३
तीर्थमहिमा १४३
तीर्थयात्रा ८९
तीर्थानन्द ६८२
तुही अष्टक ३८९,३९०
तुजुक-जहाँगीरी २२४
तुरंग-मंगल २४०
तुलसी चरित (तुलसी-चरित्र) ९५
तृतीय-बसंत-प्रबन्ध ४७२,६९४,७४९,७७०,७७१
त्याग तरणि ५४७
त्रिभंगीछंद ३७१
त्रिवेणी १४२
त्रिशंकु १७२
दंडी-मद-मर्दन (शास्त्रार्थ) २८८
दंपति-काव्यविलास ३००
दंपति-वाक्यविलास ३१०
दंपति-विलास ७५
दक्षन-विलास ५५
दधिलीला ९९,७६९
दयानंद तिमिर भाष्कर ५३२
दयाबोध ५६२,६३
दरबारे-अकबरी २२४,८५२,८५३
दर्शन अनुचिंतन २६५
दशश्लोकी ७८९
दशावतार वर्णन ५४०
दसमस्कन्ध ५५१
दसम स्कंध भागवत भाषा ५२९
दसमस्कंध भाषा ४९९
दानघटा ३७१
दान चालीसा ७४३
दानलीला ४१,१८०,२०४,२१२,२२९,४१६,७२७,७६२,
७६४,८७०
दान विलास ८०८,८०९
दानवीर कर्ण १६
दामोदरदास स्वामी के पद ५७३
दिग्विजय-चम्पू २९०,५८२
दिग्विजय-प्रकाश २९४
दिग्विजय-भूषण १२०,२९४,२९५,४७८,५८२,७१२
दि लिस्ट ऑव्र मुहम्मडन एण्ड हिन्दू मॉन्यूमेन्ट्स ४१५
दिवरी के कवित्त ६८२
दिवाभीति १४३
दीनविनय-शतक ३४५
दीने इलाही ८५४
दीपक ७५१
दीवान ३४
दुखहरण वेलि ७६२
दुखहरनि वेलि ७६३

दुर्गाचरित्र ४९७
दुर्गापाठ-भाषा १४
दुर्गासप्तशती १,३७३
दुर्गास्तुति २७९
दूतीदर्पण २९४,२९५
दूषणविलास ३००,३१०
दृग्शतक ३६१
दृढ़ध्यान ४४४
दृष्टान्तपदी ८४
देवीगीता-अष्टकी ६९२
देवीभागवत दो भाग ४०७
देहदसा ६२२
दैनिक प्रार्थना ५९२
दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता १८८,३५३,३८५,४४२,
५४३,८५६
दोहा ४४८
दोहा फुटकर ३८६
द्रव्यदोष ५४७
द्रोपदी-परित्राणम् ८३८
द्रौपदी-विनय ७३
द्वादश-भक्तवर-कथा २१२,५५१
द्वादश-यश ३९३
द्वादस-महावाक्य-ग्रन्थ २७७
द्वारका-प्रवेश ४०५
द्वारिकाधीश-विचित्र-विलास ८६१
द्वितीय भारती भूषण ८४७
द्वितीय वसन्त प्रबन्ध ४५,६९४
द्वितीय स्कन्ध २६१
धड़े का धड़ाका २७१
धमारि १९७
धरलीला २२९
धर्मप्रकाश ४२१
धर्मप्रवर्त्तिनी ७००
धर्म महिमा २१४
धर्म-मीमांसा १४२
धर्म संदर्भ (धर्म और इसके दशाओं का वर्णन) ८२२
४/११९
धर्म संवाद ५५१
धाम-चमत्कार ३७१
ध्यान तरंग २७५
ध्यानमंजरी ७७
ध्यानयोग १
ध्यान-रूप २७९
ध्यानलीला २४८
ध्रुव-चरित्र (ध्रुव चरित) ११९,६६३
ध्वनिविलास ३००,३१०
नंद-बधाई के पद ३८६,३८७
नंदमहोत्सवार्णव ४९१
नंदसागर ७१८
नई-नई रंग-बहार ९०
नक्षत्रमाला २६१
नक्षत्र लीला ७४०
नखशिख २८०,४०६,४०७,४४६,६८२
नम्र प्रार्थना ८३१
नरसी रो भात २१५
नरहरि लीला १९१
नल-दमयन्ती-चरित्र ८
नल नरेश ७५१
नवन प्रकाश ६६५
नव निकुंज ७५१
नव-भक्तमाल ३३९,७७५
नवरत्न नीति २६१
नवरत्नवर्णमाला २६१
नवरत्न हंसगुटका ५८,५९
नवरत्नोपदेश २६१
नवरस सरवर २४४
नवलनेह ३६२
नवीनोत्सव संग्रह ६६६
नहुष २५८
नागदमण १०४,१६६
नागपुरी गीत-पुस्तक ३७३
नागपुरी फाग शतक ३७३
नागर तंत्रम् २६१

नागर-समुच्चय ४४१,८१४
नागरीप्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक) ३९९
नाग-लीला २३६,४२७
नाग-वंशावली ३७३
नाट्य-सम्भव १४३
नाद-विनोद ५४४,८६३
नामचंद्रिका २७९
नाम-माधुरी ३७१
नाममाला ८४०
नामरत्नमाला-कोश २९०
नाम-लीला २३५,७४०
नाम-विरुदावली १३३
नाम संकीर्तन ६६४
नाम संकीर्तन विधि ८३१
नाम-सिन्धुकोष २७९
नामावली ६८९
नायिकादर्श ४४६
नारदभक्तिदर्शन ६
नारान्तक-वध २७१
नारायणभट्ट चरितामृतम् ६९९
नारायणस्तोत्र २०४
नासकेत ४१६
नासिकेतोपाख्यान भाषा ४९१
निकुंज माधुरी छद्म ८३१
निकुंज विलास ६८२
निकुंज विलासस्तव ७६८
निगमचिन्तन ६
निजघर की पद्धति ५५१
निजमतसिद्धान्त १२८,१२९,४१८,७५९,८४१,८४२,
    ८४९,८५०
निजरूप लीला ७४०
निजवार्ता २८९,५४९,५५१
निजानन्द-भजनावली ५२५
नित्यकर्म पद्धति ८००
नित्यकीर्तन २८२
नित्य-कृत्य-चन्द्रिका १४२
नित्य सेवा एवं वर्षोत्सव सेवापद्धति ५५१
नित्यसेवाविधि ८७१
निम्बार्क माधुरी ५३८
निम्बार्क-स्वाम्यष्टक ३६०
निरालम्बोपनिषद् १४३
निरुक्तनामवर्णनम् ८३८
निरोध कविता ५४०
निर्णय प्रकाश-दोहावली ८०४
निर्णयार्थ २८८
निर्धार-शतक १
निर्वाण ७४०
निर्वाण-दूहा १४
निशीथचिंता ३१७
नीतिचंद्र २७९
नीति मंजरी २३६,२७९,७६२,७६३
नीतिमार्तण्ड २९४
नीति-रत्नाकर २९४,५९०
नीति विनोद भाषा ८७०
नीतिसिन्धु २७९
नीति शतक २६१
नीतिश्लोकानि ७००
नीति सौंदर्योद्यानम् २६१
नीरदनागरी ८१२
नूपी बाई के पद ७१३
नृसिंह ११९
नृसिंह-चरित्र ३६०
नृसिंह-बीरभद्र संवाद ६९२
नेता दर्पण ३८
नेम बत्तीसी ५७२
नेह-तरंग १२९
नेहनिकुंज ४०२
नेह-निदान ६७३
नेहनिबाह ३६१
नेह-निर्वाह ३६०
नेहपचीसी २४३
नेहसमर ३६

नैन रूप रस ६८२
नोटेशन गीता ज्ञान ११८
न्याय दोहावली २६१
न्याय वाक्सुधा २६०
पंचक दहाई ४९६
पंचक प्रकाश ४९६
पंचकृत-वेदान्त ८०४
पंचगीत २६१
पंचतंत्र का अनुवाद ५३२
पंचदूत २६६,३७८
पंचदेव-पंचक २९४
पंच पाण्डव १४२
पंचरतनी गेंद लीला ७९६,७९७
पंचरत्न ७७
पंच सन्धि टीका ८३८
पंचस्तुति २६१,२६२
पंचानन-चरित्र ८४७
पंचामृत ५५३
पक्ष-पच्चीसी ८२
पतित अजामिल ४०५
पथ-प्रदर्शिनी १४२
पथिक मराल ८३१
पद एवं भजन ६९२
पदकल्पतरु ७१४
पद-कीर्तन २७९
पद दामोदर स्वामी ५७२
पद-पंकज ४५१
पद प्रबोध माला ६८२
पदप्रसंग-माला २१२,४४०,४४१,६८२
पद-मकरंद ४५१
पदमाधुरी ४८०
पदमाला ८२१,८२२
पदमुक्तावली ६८२,७६२,७६३
पद-रत्नावली ३७,२४३,७७५
पदरसिक विनोद ७४३
पदसंग्रह ३७,१३३,३८६,३८७,७६५,८२३
पदावली २०५,३७१,३७८,७१७,७४०,७६२
पदावशेष २५४
पदों की पोथी ७६३
पद्मपुराण ३१०,४०५
पद्माकर पंचामृत ७२३
पद्माभरण ७२२,७२३
पद्य पीयूष ११९
पद्य-प्रसून ४१
पद्यरत्न-प्रभा २६१
परचावली ८४
परचुरण-पद ५६
परदेशी-समाचार ३०६
परपक्षगिरि-वज्र ३९
परमधाम की बड़ी वृत्ति ५१३
परमनाम ४४४
परमार्थ-प्रकाश ३९०
परमार्थ-विचार ३८९
परशुराम-संवाद १२०
परशुराम सागर ७४०
परात्पर दीपक ८६९
पहेलिका ७६५
पांडव-गीता १२०
पाक-शास्त्र २७१
पाखण्ड-मुख-चपेटिका ३३४
पाण्डवन को यज्ञ-लीला ४१६
पातंजल-योगसूत्र ३१६
पारायण विधि प्रकाश ६८२
पारिजात ४१
पावनपचीसी ६६६
पावस-ऋतु-वर्णन १७६
पावसपचीसी ६८२
पीपा जी की कथा ७७५
पीयूषपान ४५२
पीयूष-प्रवाह १५,१६
पीलू अष्टपदी ७६२
पुनर्जन्म १४२

पुराण ७६६, ८०१
पुराण परिशीलन २६५
पुराण-पारिजात २६५
पुरातनकथा ८७२
पुरुषोत्तम महाकाव्य ५५३
पुष्टि प्रवाह मर्यादा २८८
पुष्पांजलि ५५३
पूजन प्रकाश ५१४
पूर्वरंग ८२२
पैसे की प्रशंसा ७५१
पोंगावसन्त १४३
पोथी आरत्यां की भाषा ७६३
पोथी पदों की ७६३
पोथी पद्य की ७६५
पोथी-राग ३८७
पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ ६३
प्रकीर्णक गीत ७५८
प्रणय-पारिजात १४३
प्रणयिनी-परिणाम १४२
प्रणयोच्छ्वास १४३
प्रणयोपहार १४२
प्रताप-पीयूष ४५२
प्रताप प्रशस्ति ७२३
प्रताप-मार्तण्ड २४४
प्रताप-विरुदावली ७२३
प्रतापसागर ४२७
प्रथम-गणेशाष्टक ३६१
प्रथम वसंत-प्रबंध २१८
प्रद्युम्न-विजय ४१
प्रन-पच्चीसी २७९
प्रबन्ध-पारिजात १४३
प्रबोध चन्द्रोदय ८७२
प्रबोध पचासा ७२३
प्रभावती परिणय १४३,६६५
प्रभु पूर्ण पुरुषोत्तम को रूप तथा गुण नाम वर्णन ८७४
प्रभु वर्णन अष्टक ४४०
प्रवीण चन्द्रिका ८६१
प्रश्नोत्तर ५७६,६६६
प्रश्नोत्तर-माला २६१
प्रश्नोत्तरी ७७२
प्रसन्नपथिक १४२
प्रस्तार-प्रकाश ३६१
प्रस्तावक-कवित्त ३६१
प्रहेलिका २४४
प्रहेलिका-प्रकाश ४५२
प्रह्लाद-चरित्र ३१०
'प्राकृत-सुगम-सुपंथ' में व्रजभाषा के सभी ग्रन्थ २८८
प्राणनाथ-वाणी १७७
प्राणायाम एण्ड इट्स क्युरेटिव वैल्यू २०९
प्रातरसमजरी ६८२
प्रार्थना २५४
प्रार्थनापट्पदीप्रवचन ६
प्रियदर्शिका १४३
प्रिय-प्रवास ४१
प्रियाजी की बधाई ९५
प्रियादास की वार्ता ७७६
प्रियादासजी की ग्रन्थावली ७७३
प्रियादास संग्रह ७७५
प्रिया-प्रसाद ३७१
प्रिया-प्रीतम विवाह २०४
प्रियासखी की वाणी ७९०
प्रीति पच्चीसी ७६२,७६३
प्रीति-पावस ३७१
प्रीतिप्रमोद ३३५
प्रीतिलता ७६२
प्रीतिवेलि ३६
प्रेम कुंज २६१
प्रेमघनसर्वस्व ८१२
प्रेम जगदीश ३३४
प्रेमदीपिका १,३
प्रेम पंथ ७६२,७६३
प्रेमपंथी ११९

प्रेम पचीसी ६६६
प्रेम पत्तन २४८
प्रेमपत्रिका २१६,३७१
प्रेमपदार्थ चन्द्रिका ७६२,७६४
प्रेम पदार्थ टीका ७६२
प्रेम-पद्धति ३७१
प्रेम-पद्यावली ८३८
प्रेमपयोधिः २६१,२६२
प्रेम-पयोनिधि २१०,५७०
प्रेम परिचय ८०१
प्रेमपरीक्षा २०४
प्रेम-पहेली ३७१
प्रेम पीयूष निधि ८३१
प्रेम-पुकार १९१
प्रेम-पुष्पमाला १४२
प्रेम पुष्पांजलि १४२,५५३
प्रेम-पुष्पोपहार ४१
प्रेमप्रकाश ३३४,७६२,७९३
प्रेमप्रतिभा ८३१
प्रेम-प्रपञ्च ४१
प्रेम प्रवेश ७५२
प्रेमप्रीतिमाला ८७२
प्रेमबत्तीसी ५६६
प्रेमबिहार ३६
प्रेममंजरी २०४
प्रेममयी १४२
प्रेमयोगिनी मीरा ४०५
प्रेमरत्न ६६६
प्रेमरत्नमाला १४२
प्रेमरस वाटिका ८३१
प्रेम वाटिका १४२
प्रेम-विनोद ४३३,४३४
प्रेमविलास ७१४
प्रेमविहार ७५९
प्रेमशतक ३२४
प्रेमसतसई ४०२
प्रेमसम्पुट १९३,३०९
प्रेम-सरोवर ३७१
प्रेमसागर २६४,७९६,७९७,८००,८०१
प्रेमसार ६६५
प्रेमसुधानिधि ५९४
प्रेमांकुर नाटक ७००
प्रेमानन्द-पच्चीसी १२९
प्रेमानन्दवर्षिणी ८३१
प्रेमाम्बु-प्रवाह ४१
प्रेमाम्बु-प्रस्रवण ४१
प्रेमाम्बु-वारिधि ४१
प्रेमोद्दीपनी ८३१
फगुवा ३७३
फलसंचय २६१
फागखेलन समेतानुक्रम के कवित्त ६८२
फाग तरंगिनी ८१०
फाग रंग ७६२
फाग विलास ६८२
फाग विहार ६८२
फुटकल कवित्त ७४१
फूल-निकुंज-वृन्दावन ४३१
फूल विलास ६८२
बंक विलोचन ४३२
बंधु भरत ५५३
बंसी-बीसा ३६१
बजरंग विनय ४७४
बत्तीसी पद संग्रह ८१७
बधाई २२०
बधाई-रसिकमाल १३३
बनयात्रा ३००
बयालिस लीला २१
बरवै नायिका-भेद ३४
बलभद्र पचीसी ५७१
बलभद्रशतक ५७१
बलवीर-विनोद ३६१
बल्लभाचार्य के षोडश ग्रन्थों का अनुवाद ४५१

'बल्लभाष्टक' पर टीका २८८
बसंत प्रवन्ध चतुर्थ ७७७
बसंतराज-शकुनवचनिका ४५२,४५३
बहादुर-विजय-रासो ४५२
बांधव ३१७
बागवान २६१
बाणगंगा महातम १०
बानी २२७,४६४,७१२,८०७,८४८
वानी-प्रकाश २७७
वाबा ताहिर की रुबाइयां २६१
बावी बांदी का झगड़ा ५३९
बावू राधाकृष्णदास १४२
बावू श्यामसुन्दरदास १४२
बायसपच्चीसी २७९
वारभाव २६१
बारहमासा १२०,२०४,२७१,४४४,४९९,५४०,८१०
वारहमासी ८२,२७३,६९७
वारह वैष्णवन की वार्ता २५१,५०५,८७५
बाराखड़ी २७९
बाल-कुतूहल १४२
वालचन्द्र २६१
बाल पद्ममाला ५९२
बालविनोद-पंचासिका ११४
वालाष्टक २७९
बावनी लीला ७४०
बाहु विलास ८२५
बिचार बोध ४९९
बिनती के पद १३३
बिनयमालिका ५६२
बिनैमाल ५६२
विरह-विलाप ८४७
विल्व-मंगल ४०५
विहार वन्धु ३३४
विहारी वल्लभ जू की वानी ८४८
विहारो-रत्नाकर ४६०
विहारी सतसई ८४४, ८४५
बिहारी सतसई की टीका ३८
बीनन संवाद ६८२
वुद्धदेव १४२
वुद्धि-वृद्धि ४४४
वुध प्रकाश ७६०
वुधविलास २१४,२१५
वुन्देल-वैभव १,७४१
वृहत् पद-संग्रह ६४
वृहद्वाणी-ग्रंथ ३४९
वृहद्वावनपुराण ७६
वैठक-चरित्र २८९
वैराग वारहमासिया ८६०
बोल-चाल ४१
व्रजचरित ४१६,४१७
व्रजदासी-भागवत ८२८
व्रज-दीपिका ६९९,७००
व्रजनिधिग्रंथावली ७६३,७६५
व्रजनिधि पद संग्रह ७६२
व्रजनिधि-व्याहलो ४५२
व्रज-परिक्रमा ४४७,४४८
व्रजप्रकाश ७००
व्रजप्रेमानन्द सागर ८२६
व्रजभक्ति विलास ७००
व्रज-भारती २९०
व्रजभाषा के कतिपय कवि कोविद ८२६
व्रजभाषा-ग्रन्थत्रय २८१
व्रजभूषण ८९
व्रज-महात्म्य-चन्द्रिका ५८१
व्रज महोदधि ७००
व्रजमाधुरी १०८
व्रजमाधुर्य दर्पण ८३१
व्रजयात्रा ३००
व्रजरत्नदीपिका ७००
व्रजराज बिहार ८१९,८२०
व्रजराज-विलास २७१
व्रज-लालसा ३८६,३८८

ब्रजलीला ५६
ब्रजवास ५४७
ब्रजविनोदहजारा ११४
ब्रजविलास ३२९,८७२,८७३
ब्रजविलास सारावली ३२९
ब्रज विहार ७०४,७०५
ब्रज वैकुण्ठ तुला ६८२
ब्रज साहित्य का इतिहास ४५१
ब्रजोत्सव चन्द्रिका ७००
ब्रजोत्सवाह्लादिनी ७००
ब्रह्मचारी २६४
ब्रह्मज्ञान १,४१६
ब्रह्मभट्ट २२२
ब्रह्मभट्ट कुल दिवाकर ८५२
ब्रह्मभट्ट विजय ८५२
ब्रह्ममीमांसा १४२
ब्रह्मविलास ७३,८५
ब्रह्मवैवर्त पुराण ४०५
ब्रह्मवैवर्त पुराण का अनुवाद ४५१
ब्रह्मसिद्धान्त २६५
ब्रह्मसूत्र १४१
भँवरगीत २६२,२६०
भक्त अहीर-बालक ४०५
भक्तकवि बाईसी ८६७
भक्तगाथा २५,४५,१०१,१२१,१४५ १६८,१८१,१९७,
२००,२१८,२५६,३०५,३१४,३३५,३३६,४२७,
४७०,४९०,५०५,५०८,५११,६६८,६७८,७४१,
७४२,७४४,७७८,७९४,७९७,८०७,८५९
भक्त जयदेव ४०५
भक्त ध्रुव १७२
भक्त नर्तकी ११८
भक्तनामावली १२५,२१८,२२८,२३१,२४७,३०२,३०५,
४२०,६७८,६८२,७५६,८३५
भक्तप्रबोध ४९९
भक्त प्रह्लाद ११९
भक्तबावनी ४१४,४८३
भक्त भारती ५५३
भक्त-भावना ३६०
भक्तभूपण सन्दर्भ ७००
भक्तमाल ४६,५१,५३,६८,८६,८७,१०३,१२६,१४७,
१९८,२१२,२१८,२२८,२२९,२४६,२४८,२५०,
२८४,३०७,३२५,३३३,३४२,३९१,३९७,४०३,
४५७,४५८,६८९,७००,७०४,७३०,७५६,७५८,
७७३,७७४,७७५ ८४९
भक्तमाल टीका ३०१
भक्तमाल माहात्म्य ७७४
भक्तमाल रसबोधिनी टीका ७७५
भक्तमाल-संग्रह ७८
भक्तमाल-हरिभक्ति प्रकाशिका ५३२
भक्तमाला-रामरसिकावली ६८
भक्त-रहस्य ८५
भक्तवर द्वादश कथा ७९४
भक्तसार ६६५
भक्त-सुमिरिनी २४८,७७४
भक्ताम्बुनिधि ४९१
भक्ति-अर्गजा ४५१
भक्ति-कल्पद्रुम ३८०
भक्तिचिन्तामणि ३०८
भक्तिदर्शनामृत ६
भक्तिपदारथ ४१६
भक्तिपरक कवित्त ५४०
भक्ति प्रबोध ४८३
भक्तिप्रभा की सुलोचनी टीका ७७५
भक्ति प्रसाद बेली ४८५
भक्तिबावनी ८३
भक्तिबोध ८३
भक्तिमग दीपिका ६८२
भक्तिमाला ४१९
भक्तियोग ५०५
भक्तिरजय ३१८
भक्ति रतन-पोथी ५१६
भक्ति रत्नाकर ७१४

भक्तिरस तरंगिणी ७००
भक्तिरस-बोधिनी २१२,३३३,४०३
भक्तिरस बोधिनी टीका ७७३,७७४
भक्ति-रसायन ६
भक्तिरहस्य ७००,७०१
भक्ति-वर्द्धिनी २०७,२४५,२८८
भक्तिविनोद ४४४
भक्तिविवेक ७००
भक्तिशान्ति के कवित्त ३६१
भक्ति-संग्रह २८०
भक्ति-सर्वस्व ६
भक्ति सागर २१०,४१५,४१६
भक्तिसार ६८२
भक्ति-सुधानिधि २७७
भगतमाल ८७५
भगत-विहार ३७७,३७८
भगवत गीतामाला ४९९
भगवत बिहार लीला ८०१
भगवत रसिक जी की प्रसंसा ८४८
भगवद्गीता २०९,२४४
भगवद्गीता का भाषानुवाद ५५५
भगवद्गीता की गंगाजली टीका ३८९
भगवद्गीता ज्ञान ३७७
भगवद्गीता भाषा ६८६
भगवान बुद्ध ५९२
भजन चौबीसा ७४३
भजन-पद्धति २८१
भजन भूमिका ८२२
भजनभूषण ११८
भजनमाला २६३
भजनरत्नमाला २७
भजन-लावनी २९९
भजन-संग्रह ९४
भजनावली ४९१
भजनाष्टक ४२०
भरतपुर-युद्ध ८
भर्तृहरि नीति शतक २६१
भर्तृहरि शतक का अनुवाद ४५१
भवानी वंदना ५४०
भवानी-विनती ५६०
भवानीसिंह कारकरत्नम् २६०
भवानीसिंह सद्वृत्त पुष्प गुच्छ २६०
भाँग निषेध ८३८
भागवत ४,२०,१४१,२४८,३५९,७१६,७३५,७५३,७७३,
७९२,८२०,८२३,८२८,८७३
भागवत एकादशस्कन्ध ८३४
भागवत दशम स्कन्ध ६६९
भागवत-दशम-स्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३२५
भागवत-दशम-स्कन्ध-भाषा ८९,२६६,४४८
भागवत-दर्शन ६
भागवत पदमुक्तावली २५४
भागवत-पद-रचना ८३८
भागवत पुराण २५५
भागवत पुराण भाषा जन्म खण्ड ६६९
भागवत बानी ७११
भागवत भाषा १७९,२७६,४९७,६८६,८२२
भागवत-महात्म्य १७९
भागवत रूप ५५३
भागवत-लीला ४४७
भागवत-व्यञ्जन ६
भागवत-सर्वस्व ६
भागवतसार-पच्चीसी १४२
भागवत सेवाविधि ८३१
भागवत-स्तुति १३३
भागवतामृत ६
भाड़न की नकल ९५
भानुप्रकाशिका ८१
भामिनी विलास ८२०
भारत पत्रिका ७७३
भारती कंठाभरण ४४६
भारती-भण्डार ४०७
भारती-भूषण ८४७

भारतीय संस्कृति ६
भारतोदय १४३
भाव कल्पतरु ७९५
भावना पच्चीसी ४०४
भावना-प्रकाश ३७१
भावना-विलास १३३
भावना सागर ५०५
भावप्रकाश ५४,१८४,१८८,३०८,३८५,७४०,७४१
भावप्रकाशवाली चौरासी वार्ता १८३,१८७,७३३
भावप्रकाशावली १५६
भाव-रसायन २८८
भावविलास ३००,३१०
भाव-सिन्धु २८९,५३९
भाषा काव्य-संग्रह १६७,२१७
भाषा प्रबंध-पंचाङ्ग ३७७
भाषा प्रश्नोत्तरी ४७४
भाषा-भारत २१६,२१७
भाषा-भास्कर २६३
भाषा-भूषण ६९७,८४७
भाषा वर्षोत्सव ७७६
भाष्य-प्रकाश १६७
भीष्म पितामह १४२
भूगोल-पुराण ९९
भूपति सतसई २७६
भूपाल-चौबीसा २६१
भूषणचंद्रिका २७९
भूषणविलास ३००,३१०
भोजन के पद (स्फुट) ४८९
भोजनानन्दाष्टक ६८२
भोजपुर की ठगी १४२
भोर लीला ६८२
भ्रममानलीला ४०२
भ्रमरगीत २०८,२२७,५५४,७७१,८२२
भ्रमरगीत-पचीसी ३७
भ्रमरगीत-भाषा १३३
भ्रमरगीता-दोहावली ४७६
भ्रमर लेहु पहिचान २६५
मंगल १७९
मंगलगीत और शब्दावली ६६९
मंगल में दंगल (नाटक) ५५३
मंगलविनोद-वेली ४२०
मंगला आरती २५४,५६१
मंजरी १९१
मंत्र-ध्यान-पद्धति १८
मंदाकिनी ७५१
मंदिर-विलास १३८
मआसिरुल उमरा ८५२
मरव्जन-ए-अफगाना ७५३
मजलिस मंडन ६८२
मज्हरुल मारिफ़त ७२५
मटकी और धेली ४२१
मणिमाला ५९२
मणियों की माला ७५१
मतवाली-मीरा ५५३
मथुरा डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर ४४९
मथुरानाथ जी की स्तुति २०४
मदनाष्टक ३४
मधु केलिवल्ली २४८
मधुच्छका का सोपान १४२
मधुपुरी ११८
मधुर मिलन ८३१
मधुराष्टक ३६३
मन. शिक्षा १९३,४२०
मन के मोती ७५१
मनपूरन ४४४
मनमोहन रसानन्द-सागर ५१३
मनमोहन लीला ७९६,८०१
मनमोजी-चरित्र ३८३
मनसुबोधिनी १३५
मनशिक्षा ४२०
मनुस्मृति २९४
मनोरथ-बेलि १३३

मनोरथ-मंजरी ६५,३७१,६८०,६८२
मनोरथ मुक्तावली ६६६
मयंक मञ्जरी १४३
मयूष-मालिनी १४३
मरहठों का उदय १४२
मरुसमुद्र सौन्दर्य ५५३
मर्दानी झूमैर ८२४
मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ५९२
मल्लिकादेवी १४२
महत्-मंगल-बेली १४३,१४५
महबूब-सागर ३६६
महाकरण की प्रश्नोत्तरी ५५४
महाकारण ५१३
महाप्रलयलीला ४४४
महाप्रसाद-महिमा ३३४
महाभारत १५१,२१७,२४५,२८९,२९०,४०५,४१०,५२२,
५३३,७१०
महाभारत का छन्दानुवाद ४२६,८६८
महाभारत के वन पर्व का अनुवाद ४५२,४५३
महाभारत के शांति पर्व का अनुवाद ४५१
महाभारत-दर्पण २८९
महाराज कुमार प्रताप सिंह-विवाह-वर्णन ६८२
महारानी धर्मचन्द्रिका २९४
महावाणी १३५,७८६
महाविद्या-पंचदशी ३६१
महावीर-प्रकाश २९१,२९४
महावीर स्तुति ४४४
महिम्न स्तोत्र ३६१,३८९
महिम्न स्तोत्र टीका ८३२
मांडूक्य-कारिका ५
मांडूक्य-प्रवचन ६
महिला-मृदुवाणी ८५७
माखन-चोर-लीला २२८,२२९
माखन चोर है २६५
माखन-चोरी २१६
माघ के शिशुपाल वध का अनुवाद ४५१
माघ-महातम ९९
मातृभूमि-स्तवन ५५३
माधव-निदान की टीका ८३८
माधव महिमा ७५१
माधव महोदधि (अपूर्ण) ५५३
माधव रुक्मिणी-केलि ४८९
माधव-विदग्ध-लीला २२९
माधव सुयशप्रकाश ४४०
माधवानल काम कंदला ४७७
माधवी-माधव १४२
माधवी-बसंत ४०७
माधुरी भजनावली ४०५
माधुरी वाणी १९३
माधुर्य-लहरी १७८
मान पच्चीसी ३००,३०९,३१०
मानलीला ७७,७८,२०४,२२९
मानव जीवन और भागवत-धर्म ६
मानव-मित्र राम चरित्र ३८९,३९०
मान सम्बन्धी फुटकर पद २०४
मारवाड़ महत्व ५५३
मारवाड़ महिमा ५५३
मारुत शक्ति २४२
मारुति-मंदिर ११९
मार्कण्डेय-कृष्ण ८४७,४८
माला-काव्य २५७
माला-प्रसंग २८४,२८७
मालावाद (शास्त्रार्थ) २८८
माहेश्वरी संहिता के व्रजभाषानुवाद ७६
मित्रशिक्षा ४१७,७३९
मिफ़ताहुल तवारीख ८५२
मिश्रबंधु विनोद १३९,१७७,२०४,२२८,३८४,३९२,४४७,
५०४,७४१,८२१,८४७
मीराजी की लीला ४२६,८६८
मीराबाई ११९
मुक्तमाला २४४
मुक्ताचरित-नाटक १८०

मुक्तामणि १९१
मुक्तिद्वार-निदर्शन ८२२
मुक्ति प्रकाश ५५५
मुन्तख बुत्तवारीख ८५३
मुरलिका-मोद ३७१
मुरलीधर के कवित्त ५४०
मुरलीविहार ३७,७६२,७६३
मुल्तानी मांझ २०४
मुहूर्त-चिंतामणि ८
मूर्ख शतक २७९,६६६
मूलज्योत्स्ना २६१
मृगया-मयङ्क २९४
मेघदूत ८४८
मेघदूत का अनुवाद ८४७
मेवाड़-राज्य १४२
मेहराज चरित्र ८१०
मैक्समूलर १४२
मोहनमाल १३
मोहिनी-वाणी १९३
यजुर्वेद पर मिश्र-भाष्य ५३२
यमक पच्चीसी ४७४
यमराज और हम १४३
यमुना-यश २९०,३७१
यमुना-लहरी ३६०,३६१,४४९
यमुनाष्टक ३१०,३३९,४०४,४२०
याकूती-तख्ती १४२
युगनिर्माता महापुरुष ५९२
युगपल (काव्य) २६१
युगल छद्म २५४
युगलप्रिया भजनावली ९४
युगल-रस-माधुरी ६४,१४२
युगलविनय ४३२
युगल-विनोद १३५
युगल श्रृंगार-वर्णन ४३१
युगलार्चन-कौमुदी १४२
योग कल्पवल्ली ५०५
योगपीठ २२९,२४८
योगवसिष्ठसार २४३,६८२
योगसूत्र-टीका ३८९
योगी २६१
योगेश्वर श्रीकृष्ण ५९२
रंग चौपड़ ७६२
रंग-चौपड़ा ३७
रंग चौपरि ७६३
रंग पिचकारी ६९२
रंग-बधाई ३७१
रघुवंश ४
रजिन्दे की लाश १४२
रजिया बेगम १४२
रणकौतुक-प्रबन्ध २४३
रत्नकांड २६१
रत्नमंजरी-कोश ४४६
रत्नसागर २०२,२०४
रमक-जमक ७६३
रमक जमक बत्तीसी ७६२
रम्भाशुक संवाद ६९२
रस-कलश ४१,१४६
रस-कल्पद्रुम ३४५
रसकुल्या १४६
रस के कवित्त ६८२
रस के पद ७४६.
रस कौमुदी १७६
रसखान-शतक १४२
रसतरंग ४३९,६७३
रसतंरगिणी १६४,४५३
रसनायश ३७१
रस पच्चीसी २७९
रस पदावली ७१७
रसपायनायिका ८२५
रसप्रदीप २७६
रस भाषा ७६२
रस-भास्कर २४४

रसमंजरी २०४
रसमयी ७५१
रस-मशाल २६६,२६७
रसमृगांक ४४६
रस-रंग ३६०,३६१
रस-रत्नाकर २७६,४५२,४५३,७६२
रस-रत्नावली २७६
रसराज ८४७
रस-विन्दु ६६५
रसविलास ४३१
रस सरोज ५७१
रससागर ३००,३१०
रस-सार-संग्रह १३१
रस-सिरताज २४४
रस-श्रृंगार २४४
रसानुक्रम के कवित्त ६८२
रसानुक्रम के दोहे ६८२
रसिक-अनन्य-गाथा १७
रसिक-अनन्य-परचावली १७,६६,७४,७५,१०१,१२०,
 १३१,१४८,१४९,१५३,१६७,१६८,१६९,१७२,
 २०८,२०९,२२०,२३०,२५९,३१३,३२८,३२९,
 ३३२,३३९,४०२,४०३,४१०,४११,४२३,४२४,
 ४३८,४६३,४६९,४७०,४७४,४८५,४९०,५००,
 ५०९,५१५,५२४,५४८,६७१,६७७,६८६,६९४,
 ७३५,७७१,७७७,७९५,८३३,८६७
रसिक अनन्य परिचई २१
रसिक-अनन्य-माल ८०,१०१,२१२,३१४,४८५,७३५,७९८
रसिक-अनन्यमाल-परचावली २३७
रसिकगाथा २२०
रसिक गोविन्दानन्दघन ६४
रसिक परचावली ७५४
रसिक प्रमोदिनी ८३१
रसिक-प्रिया १४८,३११
रसिकबसीकरण २१६
रसिक-महिमा १३३
रसिक-माल ८०,८१,३५८
रसिक मोदनी ७७५
रसिक मोहिनी ७७४
रसिक मोहिनी टीका १७३
रसिक रत्नावली ६८२
रसिक रहस्य ३३५
रसिक-विनोद ८९,४०७
रसिक श्रृंगार ६९०
रसिक-सुधार्णव ३४५
रसिकाचार्य चर्या ५४७
रसिकानन्द ३६०,३६१
रसिकह्लादिनी टीका ७००
रसोलि-कहानी १३३
रहस विलास ५७३
रहस्य-काव्य-श्रृंगार ७६,७७
रहस्य चन्द्रिका ४१८,४१९
रहस्य दर्पण ४१८
रहस्यपद २५४
रहस्य-प्रकाशिका ६९७
रहस्य मण्डल २६६
रहिमनशतक ६६६
रहीम सतसई ३४
राई का पर्वत २६१
रागकल्पद्रुम १६४,१९९,२१९,३०२,५४४,६८९,८६४,८६७
रागकल्पद्रुम-भाग २,८२०
रागकाफी ७१०
राग ख्याल २२८
रागपद संग्रह ७६२
राग पीलू : अष्टपदी ७६५
राग बारामास का मंगल २२८
राग-माला ३११,३३४,३७७,५४४
रागरत्नाकर १६४,३५४,३९६
रागरत्नावली ४०
रागसागरोद्भव १६४,१९९,२१९,३४२,४३९
राग-सागरोद्भव-राग-कल्पद्रुम ३५४,३९६
रागहमीर ७६३
रागावली ७६५

रागाष्टयाम ८१९
राजकुमारी १४२
राजगृह की सुरंग १४२
राजचन्द्रिका ८०९,८१०
राजनीति ७६२,७६५
राजनीति वचनिका ७२३
राजपुताना में हिन्दी ग्रंथों की खोज ८५७
राजप्रकारी ८२५
राजयोग १
राजरहस्य ५७०
राजराजेश्वरी १४२
राजर्षि परीक्षित ४०५
राजवंश-प्रकास ५१
राजविनोद ४३७
राजा लक्ष्मणसिंह १४२
राजाशिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' १४२
राजिया रा सोरठा १६६
राधाकुण्ड स्तव ७७४
राधाकृष्ण-चन्द्रिका ५७०
राधाकृष्ण-पचीसी ४३७
राधाकृष्ण रूप युगल विलास ३६
राधाकृष्ण वर्णन ५७२
राधाकृष्णविलास २९०
राधाकृष्ण-विहार २४०
राधा को नखसिख शृंगार-वर्णन ८०९
राधागोविन्द-संगीतसार ४२६,४२८,४९६,८६७,८६८
राधाजी का नख-शिख २९०
राधा प्रताप यश ७६७
राधा-प्रतीत-परीक्षा ८२
राधा महारानी के २६५
राधा-माधव-ऋतु-विहार ४००
राधामाधव-शतक ७३
राधा-मुख-षोडशी ३५०
राधा रानी का इजलास ८६३
राधा-वर्णन ३८६
राधा विनोद काव्यस्य टीका ७०१
राधाषोडसी ४३२
राधाष्टक ११४,३६१
राधा सुधा निधि १६७,७५७,७८९
राधिका-नामावली १३३
राधिकाशतक ४७४
राधिकोपनिषद् १४३
राम-कृष्ण-कीरत ३७५
रामगीता ६६९
रामचंद्रिका २१४
रामचंद्रिका-तिलक ४४६
रामचरित महातम ७१०
रामचरितमानस ३०,८२१,८२३,८४०
रामचरित्र माला ६८२
रामजन्म ३७३
रामरतनगीता १६४
रामरसायन ७२३
रामरसार्णव ५७०
रामरसिकावली २३९
रामलीला २७९
रामविनोद ३७६,३७७
राम-स्वयंवर ३७३
रामायण २०,५३२,४९७,८४०,८७३
रामाष्टक २७९,३६१
रायसा भैया बहादुर सिंह ५८९
रावल-चरित्र ४२६,८६८
रास का रेखता ३६,७६२,७६३
रास पंचाध्यायी ३४,५०,६०,१८९,२९७.३००,३०५,३३६,
    ३७६,४६३,४८९,५७३,५७९,५९४,८३३
रासपंचाध्यायी-भाषा १३३
रासपंचाध्यायी सटीक ३०९,३१०
रासमण्डल ४२४
रासरस ६
रास रस रंग तरंगिणी ७६२,७६४
रासरसलता ६८२
रास-लीला २७९
रास लीला पावस वर्णन ५७३

रास-वर्णन २६६
रुक्मणी-हरण १६६
रुक्मिणी चम्पू २४२
रुक्मिणी-परिणय ४१
रुक्मिणी-मंगल ८,२७२,४९९,६६१,७१९,८३५
रुद्राष्टक २७९
रूपमंजरी १३३,८५६
रूपरसिक को मंगल १३३
रूप विलास ८४७
रेखता ६८२
रेखता भक्ति ३७
रेखता संग्रह ७६२
रैदास ११८
रैनरंग ३६
रोग रय नाम लीला निधि ७४०
रोड टु हैपिनेस २०९
लंकाकांड १९१,४७३
लक्षण-कौमुदी २७९
लक्ष्मी-सूत्र भाष्यम् ८३८
लक्ष्यात्मक ग्रंथ ४५१
लखनऊ की कब्र १४२
लगन पचीसी ४५२,४५३
लघुकौमुदी ४,२६४
लघुगोपाल-चम्पू १८०
लघुजातक ७,८
लघुनारायण भट्टचरितामृतम् ६९९
लछमन-चन्द्रिका ६४,६५
ललना-गीत ३०१,३०२,३०३
ललना-रंजन ३७३
ललितकौमुदी २७९
ललित-रामचन्द्र काव्य ८३८
ललित विनोद ४६७
ललित-विलास १५४
ललिता-मंगल १३३
लवङ्गलता १४२
लॉर्ड रिपन १४२
लाड़ सागर ८२६,८६६
लाडिलेयाष्टक ७००
लालजी की बधाई ९५
लालपचीसी २०४
लालशतक २०४
लावण्यमयी १४२
लीला ७१५
लीला-भावना २८९
लीलावती १४२
लीलाविषयक छन्द ४१६
लीला समझनी ७४०
लीला-सम्बन्धी फुटकर पद २०४
लीलासागर ९,२३२, २७४,३४६,३६४,४१४,
४६३,४९३,५०६,५१९,५२१,५२२,
६८५,७५४,७५५
लोकदीपिका २०७
वंशी-प्रशंसा ३८६,३८८
वंशीलीला ३०१
वंशी-विहार ३६
वक़ायात-बाबरी ३४
वचनामृत २८९,३५३
वचनामृत-साहित्य ८७
वचनिका-राठौड़-रतनसिंघजी महेसदासौतरी ४६२
वनजन प्रशंसा ६८२
वनयात्रा ८९,३०९,३१०
वन विनोद ६८२
वनविहार लीला ५६१
वनिता-भूषण २७९
वणरु-चरित्र ४३०
वर्णमाला-कक्का बावनी ४७४
वर्द्धमान-राजवंश १४२
वर्षा ऋतु की माँझ ६८२
वर्षा-वर्णन ७५१
वर्षाविहार-गोष्ठी १४३
वर्षोत्सव १२९,२८२,३०१,३१०
वर्षोत्सव के पद १३३

वर्षोत्सव-पद संग्रह ३६१
वर्षोत्सव मयूख १४२
वली ४२
वल्लभदिग्विजय १८७,७२९,७३२
वल्लभ-विट्ठल-वार्ता २८८ २८९
वल्लभाख्यान २५०
वल्लभाख्यानसटीक ८७४
वसन्त-चतुर्थ-प्रबन्ध १४९,२२०
वसन्त वर्णन ६८२
वसन्त-प्रबन्ध ४६,१०९,१३७,४१०,७७२
वसन्त लीला ५७३
वाटिका ३३५
वाणी १३९,४३०,५२९
वाणी ग्रंथ ७७१
वाणी जयकृष्णजी ६७७
वाणी प्रमोद ८३१
वाणी-विलास २०४
वाणी-संग्रह १३३
वामविनोद २९४
वाम-विलास ८६२
वारलीला ७४०
वार्ता ३०८,४४०,४४१,४४२
वार्ता साहित्य ३३१
वार्ता साहित्य : एक बृहत् अध्ययन ३९८
वार्तिक तिलक ६८९
वार्षिकोत्सव १३५
वाल्मीकि-चरित्र १४२
वाल्मीकिरामायण ५३२
वासुदेव विज्ञान (अपूर्ण) ५५३
विचारचरित्र १०
विचार-सार ३७१
विजय-विनोद ३६०,१७१
विज्ञानयोग १
विदुभदेश १३१
विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा २६५
विद्वन्मण्डन २५७
विनयचन्द्रिका ९३
विनय-पच्चीसी ७७,८४६
विनयपत्र ८४०
विनयपत्रिका १५१
विनय प्रकाश ४२१
विनय-मंगल १३३
विनय माधुरी ४८०
विनयवाटिका ११८
विप्रमतीसी ७४०
विभीषण-लीला २७९
वियोग-वेलि ३७१
विरह-तरंग ३६
विरह-पचीसी २४३
विहर विलास ८१०
विरह सलिला ७६२
विराट्-षड्दर्शन १७७
विलास-माधुरी ३८६,३८८
विलासिनी-कर्मठी-कार्य ३३४
विवाह-गीतावली २४०
विवेकज्ञान ४४४
विवेक-दीपिका १
विवेक-मंजरी ८३१
विवेकमंत्र ४४४
विवेक-विलास ४०७
विवेकसागर १९१
विवेक सार सुरति ५१२
विश्राम सागर ५३२
विश्वनाथ पताका २३६
विषापहार २६१
विष्णुपत्रिका १९१
विष्णुपुराण ४,२६७
विष्णु-सहस्रनाम ३७७
विसातिन लीला ८०१
विहार चन्द्रिका ६८२
विहार-रहस्य १४२
वी-जान १४३

वीर घोषा ५५३
वीर बाईसी ७६०
वीरबाला १४२
वीर-रत्नाकर २४४
वीर लव-कुश १७२
वीर विनोद २४५
वीरेन्द्र-विजय १४२
वीरेश्वर प्रशस्ति २६१
वृज शृंगार ७६२
वृत्तान्त-मुक्तावली ८६९
वृन्दावन-धाम ७७
वृन्दावन-धामानुरागावली ३०९,३१०,७७३
वृन्दावन चन्द्र-शिखनख ध्यान मंजूषा ५७१
वृन्दावन-प्रकाशमाला १४३,१९२,३०६,३१०,३३३,४०३, ४०४,४१९,४९१,५०६,५६०,५६७,५७१,६९५, ७११,७५६,७७४
वृन्दावनमंगल १३३
वृन्दावन-महिमा १३३,४०७
वृन्दानमहिमामृतम् १७५,२५१,४०४
वृन्दावन माहात्म्य ३०१,३१०
वृन्दावन-मुद्रा ३७१
वृन्दावन रस कथा ७९८
वृन्दावनवासिनी के कवित्त ३०९,३१०
वृन्दावन-विपिन-विलास १२९
वृन्दावनशत ४२०
वृन्दावन-शतक २५१,४०७,४०८,७६७,७८६
वृन्दावनशत किंवा वृन्दावनमहिमामृत ७६८
वृन्दावनाष्टक ३१०
वृषभानुपुर-सुषमा ३७०,३७१
वृहद्व्रजगुणोत्सव ७००
वृहद्-वनिता भूषण २७९
वृहद् व्यंग्यार्थ-चन्द्रिका २७९
वेणु-गीत ३०१
'वेणुगीत' आदि की सुबोधिनी पर स्वतन्त्र लेख २८८
वेणु बजावत धेनु चरावत २६५
वेद ४८८
वेदवती १५
वेदविज्ञान बिन्दु २६५
वेदशिक्षा १४३
वेदान्तकौस्तुभप्रभा ३९
वेदान्ततत्त्वबोध ३९
वेदान्त-दोहावली २६१
वेदान्तरत्न मंजूषा ३९
वेदान्तरत्नमाला ३९
वेन विलास ६८२
वेश्यावल्लभ १४३
वेलि ७५८,७५९
वेलिक्रिसन रुक्मीणीरी ७५८
वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति २६४,२६५
वैदिक विज्ञानम् २६५
वैदेही-वनवास ४१
वैद्यक और ज्योतिष के कुछ ग्रंथों का अनुवाद ५३२
वैद्य वाईसी ७६०
वैद्यबोध १०
वैराग-बारहमासी ४६४
वैराग्यप्रदीप १४३
वैराग्य-बावनी ८४७
वैराग्य मंजरी ७६२,७६३
वैराग्य बल्ली ६८२
वैराग्यशती ३१०
वैराट निरूपण ५१३
वैशाखनन्दन १४३
वैष्णवधर्म ६६६
वैष्णव-नामावली ११४
वैष्णवभेद २०७
वैष्णव सर्वस्व ८३१
वैसाष-महातम १९
व्रजग्राम-वर्णन ४४८
व्रजदासी-भागवत ८२५
वजनिधि-ब्याहुला २४३
व्रज-प्रसाद ३७१

व्रज प्रेमानंद सागर ८६६
व्रज लीला २७९
व्रज-वर्णन ३७१
व्रजवस्तु-वर्णन ४४८
व्रजविलास ३७१
व्रजव्रज्या ४०
व्रज-व्यवहार ३७१
व्रजसार ६८२
व्रजस्थ वल्लभ-सम्प्रदाय का इतिहास ३४०
व्रज-स्वरूप ३७१
व्यंग्य पचासा २३६
व्यंग्यार्थचंद्रिका २७९
व्यंजनावली ५६१
व्यवहार और परमार्थ ६
व्यवहार-शुद्धि ६
व्यापार-शिक्षा २६१
व्यावहारिक जीवन ५९२
व्याससूत्र ४८२
व्याह पदावली ४७१
व्याहलीला २०४
व्याहलो १३३
शक्ति-प्रभाकर २९४
शक्ति साधना ५९२
शबरी ११९
शबरी शिवलीला ६९२
शब्द १०,१२,८३,४१६
शब्द या वाणी ४८३
शब्दसागर ४४४
शब्दावली ३०६,६६९,७१५
शरणबंदगी ४४४
शरद की माँझ ६८२
शरद-निसा २००
शरद-स्तवन ११९
शल्य पर्व का अनुवाद ४५२
शल्यवध ४०५
शांतिपथ २०९,२१०
शांतिपर्व ४०७
शारदाष्टक २७९
शार्ङ्गधर की टीका ८३८
शालिहोत्र ९९
शास्त्रसार सिद्धान्तमणि ७८१
शिक्षा-प्रकाश ४१८,४१९
शिख नख ६८८
शिवजी की स्तुति ३७३
शिवजी की शादी ३७३
शिव दर्शन लीला ७९६
शिवदान-प्रकाश ७४
शिवमहापुराण (अनुवाद) ५३२
शिव-वंदना ३७३
शिवसागर ५७०
शिवसाधना ५९२
शिव सारंगाध्यावली ३७७
शिवसिंह सरोज २२९,२८९,३८४,४३९,५१२,५७०,६६३,
    ६८९,७१२,८२०
शिवादि-स्तुति ३६१
शिशुपाल देवर-भाभी-संवाद ६९२
शिशुपाल-पांडव संवाद ६९२
शीताष्टक ४५२,४५३
शील विनोद ८२०
शुकदेव-स्तुति १३३
शुद्धाद्वैत चन्द्रोदय २४२
शुद्धाद्वैत दोहावली २६१
शुश्रूषा २६१
श्रृंगार की साखी ७४६
श्रृंगारगीता २६६
श्रृंगार चन्द्रिका ८६१
श्रृंगार-चूड़ामणि ८४७
श्रृंगारपचीसी २९८,४४०
श्रृंगार मंजरी ७६२,७६३
श्रृंगार मंजावली ३५५
श्रृंगार माधुरी ४८०
श्रृंगार-रत्नमाला १४३

श्रृंगार विनोद ६८०
श्रृंगार-शतक २५१
श्रृंगार-सागर ३७६,३७७,३७८
श्रृंगार-सुधाकर १४३
श्रृंगार-सुधानिधि ७६२,७६४
श्रृंगार-सुधाबिन्दु १४३
श्रृंगार-सोरठा ३४
शेख नीति २६१
शेष-चरित्र ३८९
शोकविनास २९४
श्याम-सतसई ५५३
श्याम-हितकर ८५
श्यामांगावयव भूषण ६६६
श्येन कपोतीयम् ८३८
श्रमचुर्विशति २६१
श्रवणाख्यान ५९०
श्री आशाशतस्तव मानाष्टपदी १७३
श्री उपसुधानिधि १७३
श्री किशोरीदास की वाणी १३९
श्रीकृष्ण और सुदामा ७५१
श्रीकृष्ण की जन्म कुण्डली ९५
श्रीकृष्ण की सात लीला ८२
श्रीकृष्ण खण्ड ८६२
श्रीकृष्णचैतन्यदेव १४२
श्रीकृष्ण जन्म खण्ड ८१८
श्रीकृष्ण जू की पाती ८१०
श्री कृष्ण जू को नख-शिख ३६१
श्रीकृष्णदान लीला ८०८
श्रीकृष्ण-ध्यान पचीसी २२९
श्रीकृष्ण-नामामृत १३५
श्रीकृष्ण-नामावली १३५
श्रीकृष्ण प्रसंग ३२४,३२५
श्रीकृष्ण-बाराक्षरी १३५
श्रीकृष्णलीला रहस्य ८३१
श्रीकृष्ण-वंशावली ९५
श्रीकृष्णवाक्य (गीता) ४८८
श्रीकृष्ण सहस्रनाम ४३१
श्रीकेलिमाल ४३९
श्री गंगाष्टकम् २६१
श्री गुरुपूर्णिमा २०७
श्री गुरुभक्ति पंचाशिका ४०७
श्री गुसाइं जी की वनयात्रा ४४८
श्री गोपालभट्ट शतक २५४
श्री गोपाललहरी ५६६
श्री गोपाललहरी स्तोत्र ७४९
श्री गोवर्द्धन रूपमाधुरी ३९७
श्री गोविन्दशरणदेवाचार्यजी की वाणी ३४९
श्री घनश्याम घुन घुनियाँ २४१
श्री चन्द्रलाल गोस्वामी की टीका १७३
श्री द्वारिकानाथ जी के वचनामृत २६०
श्री नरसीमेहता या मूंता की हुंडी ५१४
श्री नवभक्तमाल १३३
श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता १३,१०३
श्रीनाथजी की सेवा-विधि ३१२
श्रीनाथजी को प्राकट्य २८९
श्रीनामदेव मंगल ६९२
श्री नारायण भट्ट चरितामृतम् ६८९,६९६
श्रीनिकुंज-वृन्दावन ४३१
श्रीनिम्बार्क-स्वाम्यष्टक ३६१
श्री नेही नागरीदास जू की वाणी ७७९
श्रीपरमधामना पच्चीसपक्ष ५५४
श्री प्राणनाथजी का जीवन चरित्र (संस्कृत में) ८६९
श्री बालाष्टकम् २६१
श्री बिहारिनदासजी की वाणी ८४२
श्री बीठलविपुल की वाणी ८५०
श्री बोधजानकी १९१
श्री व्रजनिधि मुक्तावली ७६२
श्रीभक्तकोकिल ६
श्री भक्तामरस्तोत्र २६१
श्री भक्तामर स्तोत्र का गद्यानुवाद २६१
श्रीभगवतगीता ५६०
श्री भागवत महापुराण ३७८

श्री भागवद्गीता ३७८,८७२
श्रीमद्भगवद्गीता १४१,५५१,८३७
श्रीमद्भागवत ४,२०,६०,१५१,१५४,२६६,२६७,२९६,
४०५,४५७,४५८,४८८,५२९,५५०,५५१,५७०,
५७९,६६३,६९१,७१०,७२०,७५०,७८५,८००,
८१८,८२५,८२८,८३३,८६१,८७३
श्रीमद्भागवत का हिन्दी अनुवाद २६१
श्रीमद्भागवत रहस्य ६
श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-भाषा १६७
श्रीमद्भागवत-भाषा ११,४६४,४९९,८२३
श्रीमद्भाषा भागवत-दशमस्कंध ८२१
श्रीमद्राधासुधानिधि १४१,१४६,४२७
श्रीमद्वाल्मीकिरामायणामृत ६
श्रीमन्नाम माहात्म्य ८२२
श्री महावाणी ७८२,८७१
श्री महावाणी सिद्धान्त सुख ७८९
श्री माधवाष्टकम् ४००
श्री माध्वगौड़ीय तत्वदर्शन ८३१
श्रीमानाष्टपदी १७३
श्री मुकुन्दराय जी की वार्ता २६०
श्री यमुनाष्टक १८
श्री यमुनाष्टपदी ८७५
श्रीयुगलकिशोर-कृपाकटाक्ष १५१
श्री युगल-शतक १३५
श्री रसिकाचार्य चरितावली ७७३
श्रीराधा-उपसुधानिधि ४२०
श्री राधाकृपाभिलाष वेली ४२०
श्री राधाकृष्ण गणोद्देशदीपिका १३९
श्री राधा कृष्ण जन्म ३८८
श्री राधाकृष्ण-पंचक ८४८
श्रीराधागोविन्द-लीलामृत-सरिता २४४
श्रीराधा जू की जन्म-बधाई ९५
श्रीराधानुनय विनोद काव्य १७३
श्रीराधामाधव ४००
श्रीराधामाधव-स्तव ४३१
श्री राधारमण जू को श्रृंगार १७६
श्रीराधारमण पदमंजरी २५४
श्रीराधारमण विहार माला ८३१
श्रीराधा-विरह-शतक ४००
श्री राधाष्टकम् ४००
श्रीराधा-सुधानिधि ९८,३३९,४२०,७८०,७९२
श्रीराधिकास्तवराज ४३९
श्रीराम-शम्बूक संवाद ६९२
श्री रामार्चन ७५१
श्री लोकेन्द्र व्रजोत्सव २५२
श्रीवल्लभ-वंशावली ४४७,४४८
श्री विट्ठलाष्टक ३४५
श्री विहारिनदासजी की वाणी ७८७
श्री वृन्दावनधामानुरागावली ३०१
श्री वृन्दावन महिमा ८७७
श्री वृन्दावन-रहस्य-विनोद ३५
श्री वृन्दावन विलास ८७५
श्री वृन्दावन-वैचित्र्य-प्रभा ४३१
श्री वृन्दावन शतक ७८८
श्री वृन्दावनाष्टक १८
श्री श्याम विहार ५७६
श्री संकटमोचन ८००
श्री संतदास चरितामृत ८००
श्री संतदास बाबा जी का उपदेशामृत ८००
श्री संतदास बाबा जी की उपदेश मंजूषा ८००
श्री संतदासाष्टकम् ८००
श्री सूक्त ५९२
श्रीसेवक वाणी १३२,७९८,७७९
श्री हरिदास अभिनन्दन ग्रंथ ४३९
श्री हरिनाम-माला ४४०
श्री हरिपद भजन-चेतावनी ४३१
श्री हरिलीला ५४७,८७५
श्री हरिवंश नाम वाणी ७९८,८०६
श्री हरिवंश वाणी ७९४
श्री हरिवंश सहस्रनाम २१८,३३९,५३१
श्री हरिवंशाष्टक १७३,४२०
श्री हित-अनन्य-रसिकावली १४१,१४५,१५४,३०३,४२०,
५५७,५७१,६७४,७३४,७८३,७७६,८०१

श्री हितकृपापात्र-नामावलि ४०४
श्रीहित चतुरासी ९८,१३२,३३९,४२०,४२७,५०८
श्रीहित चौरासी २१,७९५
श्रीहित जू को मंगल ३८२,३८३
श्रीहितध्रुववाणी १०९,४९०,६९४
श्री हितध्रुववाणी बयालीसलीला १३२
श्रीहित भक्ति कल्पतरु ६६८
श्री हितरूप-चरित्र-वेली १३८,२८०,५०९
श्री हित वंशावली ७८२
श्री हितवाणी ९८
श्री हित सुधासागर १४१
श्री हित सेवक वाणी ४२०
श्री हित हरिवंश ७९१
श्रीहित हरिवंश जू की नामावली २४
षट्ऋतुवर्णन ३६१,७२३
षट-रूप-मुक्त २७४
षटरूपमोक्ष २२६
षरगराय ३०९
'षोडश-ग्रन्थों' पर टीकाएँ २८८
षोडशी २६१
संकल्प-कल्पद्रुम १०८
संकीतंन-सरिता ४-५
संकीर्तनामृत ७१४
संकेत कौमुदी ५११
संकेत-विहार-लीला १३३
संकेत-समागम ८२
संक्षिप्त सांख्यतत्व १४३
संक्षिप्त-जीवन-चरित्र ४४
संक्षिप्तप्रणालिका १७८
संगीत बाईसी ७६०
संगीत माधव ७५२
संगीतमाला ७७५
संगीत रत्नाकर ७७५
संगीत बिन्दु ६६५
संगीत-संग्रह ९३
संगीत-सागर २४३
संगीतसार ५४४
संग्रह ७७५
संतनाम मुक्तावली ७१४
संतलोक ४०५
संत सुमरनी ६६५
संदेह-सागर ४१६
संध्या-प्रयोग १४२
संध्याभाषा १४२
संध्या-वन्दन ५९२
संध्या-संक्षिप्त १४२
संप्रदाय-कल्पद्रुम १३,७०,२८८,२८९,३०१,३५३,३३५,
३९६,४४२,७२१
सम्प्रदाय-चन्द्रिका १४२
संप्रदाय-दिवाकर १४२
संप्रदाय-प्रदीप २५०
संप्रदाय-सिद्धान्त १७७
संवर्त तीथकंर-स्तोत्र २६१
संस्कृत-रत्नाकर २६४
संस्कृत साहित्य दर्पण ८४७
संहिता भाष्य ४९.७
सखी-समाज नाटक १४८
सखी सुख सार सिद्धान्त ८४८
सच्चाहिन्दू (नाटक) ५५३
सती अनुसुइया ११९
सती-माहात्म्य २८०
सती-साबित्री २६१
सती-सावित्री और अंशुमती २६१
सत्य की खोज में ६
सत्यनारायण की कथा ५९२
सत्य-स्वप्न-सुभाव १५
सत्य हरिश्चन्द्र १७२
सत्याग्रही प्रह्लाद ५५३
सदा की मांझ ६८२
सनेह लीला ७६२
सनेह संग्राम ७६२
सनेहसागर २०४,८१०

सन्यास-निर्णय २८८
सप्तग्रंथी ५५१
सप्तमी-माहात्म्य ४४४
सप्तश्लोकी गीता ५५१
सबद ६६५,८६०,८७६
सभारंजन-स्तोत्र २६१
सभावर्णन ३१०
समझसार ६६५
समय-पच्चीसी ४०४
समय-प्रबन्ध १७,६४,१९७
समय-प्रबन्ध-पदावली ४३
समर-भास्कर २४४
समर्पण श्लोक गद्यार्थ की टीका २५८
समस्या-पच्चीसी २७९
समस्यापूर्ति मंजरी १४२
समस्या पूर्तियाँ ६९२
समालोचनादर्श ४५९
समासकारिका १४३
समुदाई सन्तन को चरित्र ५०६
समुद्र सार २७५
सर एन्टोनी मैकडानल्ड १४२
सरगम-सागर ११९
सरन-प्रताप ४२२,४२३
सरलसंगीत ११८
सरसकुंज ५१७
सरस बत्तीसी ६८२
सरसरस ६७३
सरस वसंत ३७१
सरस्वती ४५९
सरस्वती चन्द्र २६१
सरस्वती-सभा ७५०
सरस्वती समाराधना ५४०
सरोज २१९,२९५,४७८,५१२,६५७,७४१
'सर्वोत्तम' पर छोटी टीका २८८
सवतिकाबद्ध-कृष्णचरित्र २७९
सहजप्रकाश ४१४
सहर-उल-बयान ३६०
सांख्यकारिका की टीका ३८९
सांख्य तत्त्व समाज की टीका ३८९
सांख्यदोहावली २६१
सांख्य-योगशाखा २४३
सांख्य-सुधाकर १४३
साँच निषेध लीला ७४०
साँझ-वर्णन १७६
साँझी कीर्तन ८७०
साँझी के कवित्त २४४,६८२
साँझी फूल ६८२
सांप्रदायिक साहित्य ७८५
साखी ३७७,४४८
साढ़े बारह धमार ५४०
सातवार २१५
साधन-दीपिका ३१२,७००
साधना और ब्रह्मानुभूति ६
साधुमहिमा २१४,२१५
सप्त सल्लोकी गीता भाषा ४१९
सामयिका २६१
सार-चन्द्रिका १३३
सारणेश्वर-स्तोत्र १९१
सारपचीसी २०४
सारसंग्रह ५२८
सारावली ७१५
सालाबाबू १४३
सावित्री १४२,२६१
सावित्री-सत्यवान १४३
साहित्य-रत्नाकर ४५९
साहित्य-सरिता ६८८
साहित्य सागर ८४७,८४८
साहित्य सुधानिधि ४४५,४४६,४६०
साहित्यानन्द ३६०
साहित्यिक निबन्ध २६५
सिंगार के पद ७४६
सिंगार सार ६८२

सिंह का सिकार ६८१
सिद्धान्त की साखी ७४६
सिद्धान्त के पद १९७
सिद्धान्त कौमुदी ८३८
सिद्धान्त कौमुदी अनुवाद ५३२
सिद्धान्त चूड़ामणि ७००
सिद्धान्त दोहावली ७१७
सिद्धान्त-प्रणाली-शाखा ३५५
सिद्धान्तबोध १
सिद्धान्त-रहस्य २८८
सिद्धान्त विचार ७८८
सिद्धान्त विचार लीला ७८८
सिद्धान्त-सरोवर १२९
सिद्धान्त-सार-संग्रह १२९
सीताराम-गुणार्णव २९०
सीहरफी १२०
सुंदरकाण्ड ३७३
सुंदरसंगीत ११८
सुंदर सूक्तियाँ ७५१
सुकवि २६६,३३५
सुखकरणलता ३६
सुखशर्वरी १४२
सुखसागर ६६९
सुजान-रसखान १४२
सुजान विलास ८,८२
सुजान-सम्वत ८१,८२
सुजान-हित ३७१
सुतोपदेश २९४,५९०
सुदर्शन कवच ८३७
सुदामा-चरित (सुदामा-चरित्र) ६६,९७,१०४,२६६,
    २६७,२९७,३११,३७३,४६४,६६३,६६४,८१३,
    ८६०,८६३
सुधाचपक २६१
सुधासर ३१०
सुधासागर-सुधासार ६७३
सुबोधिनी २३८
सुरतान्त-लीला ४९५
सुरथ-उद्धार १७२
सुरमावारी २५४
सुलोचना-लीला २७९
सुषमा ७५१
सुहाग रैनि ३७,७६२,७६३
सुहृद्-वाणी १९३
सुहृदोपदेश २९४
सूक्ति-मुक्तावली २६१
सूरजप्रसाद २१६
सूरदास ११८
सूरसागर २६८,४६०,८७३
सेनानाई ११९
सेवक चरित ७८१
सेवकवाणी ९८,१६५,७४२,७८१,७८२,८०२,८०६
सेवा दर्पण ७७६
सेवा प्रकाश ८६५
सेवा-प्रणाली १२८
सेवाभाव ८३१
सोरठ ख्याल ७६२
सौध-सुधानिधि २४३
सौरभ-संहिता २०७
सौर मण्डलम् २६१
स्तवन-मञ्जरी ३८०
स्तुति बजरंग ६६९
स्त्री शिक्षा ५५३
स्नेह बहार ७६२,७६३
स्नेहशतक ६६६
स्नेहसागर २०२
स्फुट ३७१
स्फुट कवित्त ११,३१०,४०४
स्फुट-काव्य-संग्रह ७८
स्फुट पद ३७
स्फुट पद टीका ७७६
स्फुट पद संग्रह ७६२
स्फुटवाणी ३३९

स्मरण-मंगल २७२,५७१,८२२

स्मरण-मंगल-भाषा २७२

स्मरण स्तोत्र ५७१

स्यमंतकमणि ४०५

स्याम-सँदेसौ ३८

स्वतंत्र वनिता विनाश ७२५

स्वगुरु प्रताप ५७३

स्व० पं० बलदेवप्रसाद मिश्र के टाड राजस्थान का हिन्दी अनुवाद ५३२

स्वप्न-प्रसंग २१

स्वर-साधन-शिक्षा ११८

स्वरूप-भावना २८९

स्वर्ग की सभा १४३

स्वर्ग की सीढ़ी १४३

स्वर्गारोहण पर्व भाषा ३१०

स्वातिग सुभ लक्षिन ५७

स्वामिनीजी को व्याह ६९८

स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य ८४२

स्वामी हरिदास परिचयी ८७७

हंस गुटका भाषा ५८

हंसदूत १९३,७२६

हंसावतार चरित्र १४३

हजारा ४४७

हठयोग १४३

हनुमत्-कीर्तिमाला ३४५

हनुमन्नाटक भाषा १२०

हनुमान चालीसा ८००

हनुमान् जी रौ अष्टक १९१

हनुमान्-पंचक ३८९

हनुमान यश पदमाला ६९२

हनुमान स्तुति ७१५

हनुमानाष्टक ८००

हमीर-हठ ३६०,३६१,४०७,४६०

हम्मीर १४२

हरदेव जी की प्रार्थना ५४०

हरिकथा आख्यान ८२२

हरिगीता ५९२

हरि-गुरु-सुयश-भास्कर ३४२

हरिकला-वेली १९५,३७२,४९१,५०७

हरिगुरु-स्तोत्र ८३,४८३

हरिचरित्र ७२

हरिदास वंशानुचरित्र ६६६

हरिनाम महिमा ५७३

हरिनाम संकीर्तन ८३१

हरिपद २७४

हरिपद-संग्रह ७६२

हरि प्रताप-ब्रेली १०३,४८४

हरिभक्तनाम मंजरी ८३१

हरिभक्त-विलास ४०७

हरियशगीतमाला (भाग ३) ६९२

हरियश पीयूष वर्षिणी ६९२

हरिलीला ७४०

हरिवंश २६७,२९०

हरिवंशगीतमाला (भाग १) ६९२

हरिवंश नाम-वाणी २५

हरिवंश स्वामी की बधाई ९५

हरिवंशाष्टक ७६८

हरिश्चन्द्र ४५९

हरिश्चन्द्र-पंचक २८०

हरिस्मरण-पद्धति २०८

हरिहर एकता पच्चीसी ६९२

हरिहराष्टक ६६६

हस्तामलक ७७२

हास्य-प्रसंग २८९

हिंडोला ४५९

हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास ४१

हिंदी माघ २६१

हिंदी साहित्य का इतिहास २९०,५५२

हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास १,३७६

हित अनन्य-रसिकावली २३२

हितकल्पतरु १३२

हित-कुल-शाखा ३१३,६६६
हित-चरित्र ८९
हितचौरासी १७,१८,५०२,८६६
हित चौरासी की टीका ७९६
हिततरंगिणी ४६०
हितभक्ति कल्पतरु ६७८
हित-रासमण्डल ३३३
हित-रूप-चरित्र-बेली १२१,१२७
हितवंशावली १८
हित स्वामीजी की बधाई ९५
हिताष्टक ४०४, ४६९
हितोपदेश भाषा ७२३
हिम्मत-बहादुर-विरुदावली ७२३
हिरण्यकश्यप-प्रह्लाद-संवाद ६९२
हीराबाई १४२
हृदयहारिणी १४२
हृदयाभरण ८६५
होरी की मांझ ६८२
होरी-फाग ५४०
होरी बहार के पद ७६४
होरी बहार पद टीका ७६२
होरी वर्णन ८४८
होली ५९२